

सम्पादकीय

जगत् के प्रलोभन इतने गहरे होते हैं कि मनुष्य का भोग से योग की ओर या गगन में विराग की ओर उन्मुख होना अत्यन्त कठिन होता है। फिर यदि स्थिति सम्पन्न हो, आमोद-प्रमोद की सामग्री सहज सुलभ हो तो तब तो और कठिन। इतने पर भी जब जीवन में नवनाशक का वसन्त मिला रहा हो उस स्थिति में तो कोई असामान्य लोकोत्तर पुरुष ही निश्चयसे के पथ का अवलम्बन लेने की सोचता है। महर्षिऋषि मूनि श्रीमिश्रीमलजी महाराज ऐसे ही असामान्य लोकोत्तर पुरुषों में हैं। उन्हें क्या नहीं प्राप्त था ? मगर कोई भी प्रलोभन उन्हें उस पथ पर चलने से नहीं रोक सका जिसके विषय में कहा गया है—‘प्रणया बीरा महावीरि’ अर्थात् बीर पुरुष उग महामार्ग पर चले हैं। मुनि-श्री के विषय में शताधिक सज्जनों के उद्गार ग्रन्थ में अंकित हैं। उनमें अधिक यहाँ कुछ नहीं कहना है।

मुनिश्री के श्रद्धालु भक्तों की सख्या विपुल है। जब उन्होंने आपकी दीक्षास्वणजयन्ती के पुनीत प्रसंग पर अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का सकल्प किया तो उसके सम्पादन का भार अकस्मात् मेरे कंधों पर आ पड़ा। इस वृत्तर एवं गुस्तर कार्य को सम्पन्न करने के लिए समय अत्यल्प था और मैंने प्रकाशन समिति से एक वर्ष का समय बढ़ा देने का अनुरोध किया किन्तु वह स्वीकार नहीं किया गया। तब मैं अपने सम्पूर्ण मामर्थ्य के साथ इसमें जुटा और उसका जो फल आया वह पाठकों के समक्ष है।

दीघता के कारण ग्रन्थ के एक साथ अनेक खण्ड व्यतिक्रम में मुद्रित कराने पड़े और चतुर्थ खण्ड के मुद्रणार्थ दूसरे प्रेस को भी सहायता लेनी पड़ी। ऐसी स्थिति में सम्पादन और मुद्रण सम्बन्धी जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनके लिए मैं क्षमाप्रार्थना का अधिकारी अवश्य हूँ। प्रारम्भ में कल्पना नहीं थी कि ग्रन्थ का कलेवर इतना बड़ा जाएगा, किन्तु असाधारण पुरुष के अभिनन्दनग्रन्थ को असाधारण ही होना था। नियति के इस विधान को टालने वाला मैं कौन होता था ?

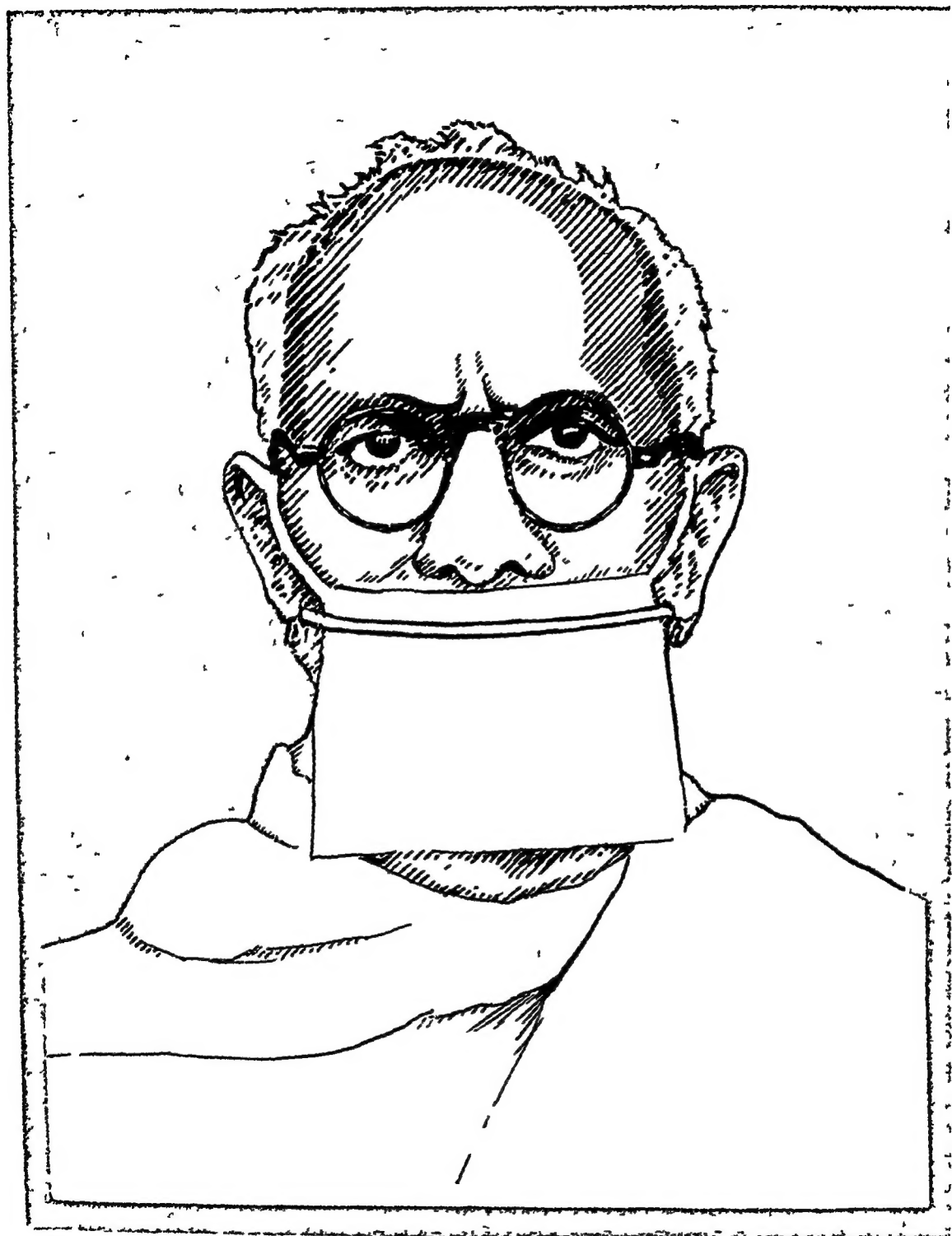
ग्रन्थ में सकलित अधिकांश सामग्री उच्च कोटि की है, मौलिक एवं गम्भीर है। चतुर्वर्ती पट खण्डाधिपति माने गए हैं। चारित्र्यकर्तृ मुनिश्री के अभिनन्दनार्थ प्रस्तुत ग्रन्थ भी पटखण्डों में विभक्त हो, यह विचार समीचीन जान पड़ा। तदनुसार इसे छह खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में मुनिश्री का सक्षिप्त जीवनवृत्त, स्मरण आदि हैं। दूसरे खण्ड में जैनदर्शन और धर्म संबंधी महत्त्वपूर्ण निबन्ध हैं। इनमें कितने ही निबन्ध अपने-अपने विषय की गम्भीर और विशद विवेचना में सम्पन्न हैं। यही खण्ड सबसे बड़ा है। तृतीय खण्ड में संस्कृति, कला एवं इतिहास सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत की गई है। चतुर्थ खण्ड में साहित्य का परिचय और तत्सम्बन्धी गवेषणा है। पंचम खण्ड सर्वसाधारण के लिए उपयोगी है। वह विशेषतः राजस्थानी जनपदीय संस्कृति का दिग्दर्शन कराता है। इस खण्ड की सामग्री के सकलन और सम्पादन का भार प्रसिद्ध विद्वान् डा० वद्रीप्रसाद पचाली ने वहन किया है। छठे खण्ड में आलम्पाविदों के लिए मननीय सामग्री सकलित की गई है।

वे सभी महानुभाव माधुवाद के पात्र हैं जिन्होंने सामग्री, ग्रन्थ तथा अन्य प्रकार से सहयोग प्रदान किया है। साथ ही उन सहयोगी लेखकों के प्रति मैं क्षमाप्रार्थी हूँ जिनके निबन्ध ग्रन्थ में स्थान नहीं पा सके। सकोच से काम न लिया गया होता तो ग्रन्थ को अपना कलेवर सभालना कठिन हो जाता। कुछ वस्तुओं के स्मरण और श्रद्धा-निवेदन भी विलम्ब से प्राप्त होने के कारण स्थान न पा सके।

अर्थमहायकों के चित्र वर्णानुक्रम से देन का विचार था। समिति के अध्यक्ष इसके लिए पुनः पुनः आग्रह भी करते थे, किन्तु बहुत-से चित्र बहुत विलम्ब से आए और अन्तिम समय तक आने ही रहे। उनके कारण चित्रों का मुद्रण रोक रखने का समय नहीं था। अतएव उस विचार को त्याग देना पड़ा। लेखकों के चित्र खण्डशः दिए गए हैं।

उद्योगशाला प्रेम के व्यवस्थापक श्री शान्तिलाल व० ग्रेट का हार्दिक सहयोग तो रहा ही, साथ ही सहृदय और कुशल मशीन-मैन श्री भवानामह जी तथा श्री सहदेवजी की लगन और तत्परता भी अविस्मरणीय है। ग्रन्थमुद्रण को उन्होंने अपना ही काय न समझा होता तो समय पर उसका तैयार होना कठिन था।

आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी के गौरव की ओर साथ ही जैन साहित्य के भण्डार में एक महान् रचना की वृद्धि करेगा।



मरुधरकेसरी पं० रत्न मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज

प्राक्कथन

वर्ष २०१८ की है। अद्वैत गुरुदेव श्रीमहेश्वरकेसरीजी का चातुर्मास मादडी में था। उत्साही युवक श्री मदनलालजी मकलेचा जालना (आंध्र प्रदेश) निवासी गुरुदेव के दर्शनार्थ पधारे। अपार गुरुभक्ति एवं श्रद्धा के बशीभूत हो आपने स्थानीय मध के प्रमुख कार्यकर्ताओं ने महेश्वरकेसरीजी की ५० वीं दीक्षा-जयंती पर मनमार्गेह अभिनन्दन करने की योजना रखी। उत्साही कार्यकर्ताओं ने श्री मकलेचाजी की योजना का मोल्माह स्वागत किया।

उसके बाद गुरुदेवश्री के जोधपुर, मोजन चावण्डिगा, कोटडा, निम्बाज आदि के चातुर्मासों के समय भी इस योजना पर विचार-विमर्श किया जाता रहा। इसी बीच समय की विचित्र गति और कगल काल की दुष्टता ने हम पर वज्राघात किया और मबत् २०२३ में श्री मदनलालजी साहब को हमारे बीच से मदा-मदा के लिये उठा लिया। आपके असामयिक निधन ने अभिनन्दन-योजना में कार्यरत युवकों को झकझोर दिया।

२०२३ का निम्बाज चातुर्मास पूर्णकर गुरुदेव श्री का जोधपुर पदार्पण हुआ। जोधपुर में ही उपग्लावाम स्मित महावीर भवन प्रथम बार आपसी के चरण-स्पर्श में पवित्र हुआ। स्वर्गीय मकलेचाजी की भावना को मूर्तरूप देने की विधिबन् योजना उत्साही कार्यकर्ता श्री लालचंदजी खीवमा विलाडा निवासी द्वारा रखी गई और मधेश्वर-केसरी अभिनन्दनग्रंथ के प्रकाशन हेतु एक समिति का गठन किया गया। जिसका मुख्यालय जोधपुर तथा ग्रामालय ब्यावर में स्थापित किया गया। इस समिति के अध्यक्ष पद के लिये श्रीमान् पुजाराजजी शिशोदिया व्याध निवासी का नाम चयन हुआ तथा प्रकाशन की देखरेख, व सामग्री मकलन एवं सम्पादन का कार्य विद्वान् लेखक ए० गोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सुपुर्द किया गया।

अभिनन्दनग्रंथ समर्पण-ममारोह का विशद आयोजन करने का कार्य मोजत मध ने अपने ऊपर लेकर एक महान् प्रयत्नशील कार्य किया है। ग्रंथ प्रकाशन के लिये आर्थिक सहयोग जुटाने के लिये मोजत के युवक कार्यकर्ता श्री जवरीलालजी बोका, मोहनलालजी गठीड, जुगराजजी कोठागी, मदनलालजी तालेडा आदि ने अपना अमूल्य समय निकाल कर भारतव्यापी पर्यटन द्वारा श्रद्धालु भक्तजनो में लगभग एक लाख रुपया एकत्रित किया है। इन सज्जनो के परिश्रम के फलस्वरूप आज यह विशाल ग्रंथ आपके समक्ष प्रस्तुत है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन के पीछे स्वर्गीय श्री मदनलालजी मा० की प्रबल भावना रही है। इस नाशवान संपार में आज उनका भौतिक शरीर भले ही नहीं रहा हो, किन्तु ग्रंथ उनकी प्रेरणा के अमिट प्रतिबिम्ब के रूप में रहेगा।

गुरुदेवश्री की स्थानकवामी जैन समाज को प्रदत्त सेवाओं के प्रति यह अभिनन्दनग्रंथ मनपित करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। समयाभाव में ग्रंथ का वर्तमान रूप में प्रकाशित कर देने की आवश्यकता के कारण अनेकों लेखों को अप्रकाशित अवस्था में रोकना पड़ रहा है, जिसका हमें खेद है। आशा है लेखकगण इसका कोई अन्य मार्ग नहीं मानकर हमें क्षमा करेंगे।

यह अत्यन्त प्रमत्तता की बात है कि भारतीय मध के उपराष्ट्रपति महामना श्री वी० वी० गिरि ने अभिनन्दनग्रंथ-समर्पण की रम्य अदा करने की स्वीकृति प्रदान कर दी है। इसका श्रेय अ० भा० स्या० जैन कान्फेन्स के अध्यक्ष एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष श्री दौलतसिंहजी कोठागी, माननीय श्री आनन्दराजजी मा० सुगणा, मेड अचलसिंहजी मदस्य लोकनभा, लाला हरिश्चन्द्रजी माथुर सदस्य राज्यमभा, श्री भाणकलालजी माथुर, श्री पुष्करराजजी कालानी मदस्य विद्यानमभा एवं श्री चिम्पनसिंहजी मा० लोहा आदि को है। जिनका हम सहृदय आभार प्रकट करते बिना नहीं रह सकते।

अन मे, मैं उन सभी सज्जनो का जिन्होंने इस अभिनन्दन ग्रंथ के प्रकाशन में तन, मन, धन एवं समय का योगदान दिया है, हादिक अभिवादन करता हूँ। आशा है हमारा यह प्रयत्न उच्चकोटि के प्रकाशन की न्यूनता की पूर्ति में सहयोग करेगा एवं पाठकवृन्द अविकाशिक आभास्विन होकर सामाजिक जागृति की ओर बढ़ेगा।

जोधपुर

श्री श्री स्थापना, २०२५

सम्पतराज वरडिया

मजी, श्रीमहेश्वरकेसरी अभिनन्दनग्रंथ प्रकाशन समिति,

जोधपुर



मरुधरकेसरी पं० रत्न मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज

प्राक्कथन

वान मवन् २०१८ की है। अद्वैत गुरुदेव श्रीमहरकरकेसरीजी का चातुर्मास मादडी में था। उत्साही युवक स्व० श्री मदनलालजी मकलेचा जालना (आंध्र प्रदेश) निवासी गुरुदेव के दर्शनार्थ पधारे। अपार गुरुभक्ति एवं श्रद्धा के वशीभूत हो आपने स्थानीय मध के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं में महरकरकेसरीजी की ५० वीं दीक्षा-जयंती पर नमस्कारोह अभिनन्दन करने की योजना रची। उत्साही कार्यकर्त्ताओं ने श्री मकलेचाजी की योजना का सौत्साह स्वागत किया।

उनके बाद गुरुदेवश्री के जोधपुर, मोजन चावण्डिया, कोटडा, निम्बाज आदि के चातुर्मासों के समय भी इस योजना पर विचार-विमर्श किया जाता रहा। इसी बीच समय की विचित्र गति और कंगाल जाल की दुष्टता ने हम पर बलाघात किया जोर सवन् २०२३ में श्री मदनलालजी माहव को हमारे बीच में मदा-मदा के लिये उठा लिया। आपके अमामयिक निधन ने अभिनन्दन-योजना में कार्यरत युवकों को झुकसोर दिया।

२०२३ का निम्बाज चातुर्मास पूर्णकर गुरुदेव श्री का जोधपुर पदार्पण हुआ। जोधपुर में ही ऊपरलावाम न्यिन महावीर भवन प्रथम बार आपथी के चरण-स्पर्श में पवित्र हुआ। स्वर्गीय मकलेचाजी की भावना को मूर्तरूप देने की विधिवन् योजना उत्साही कार्यकर्त्ता श्री लालचंदजी खीमराग बिलाटा निवासी द्वारा रखी गई और महरकर-केसरी अभिनन्दनग्रंथ के प्रकाशन हेतु एक समिति का गठन किया गया। जिसका मुख्यालय जोधपुर तथा शाखालय व्यावर में स्थापित किया गया। इस समिति के अध्यक्ष पद के लिये श्रीमान् पुनराजजी मिशोदिया व्यावर निवासी का नाम चयन हुआ तथा प्रकाशन की देखरेख, व सामग्री मकलन एवं सम्पादन का कार्य विद्वान् लेखक प० गोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सुपुर्द किया गया।

अभिनन्दनग्रंथ समर्पण-ममार्गेह का विषय आयोजन करने का कार्य मोजत मध ने अपने ऊपर लेकर एक महान् प्रयत्नशील कार्य किया है। ग्रंथ प्रकाशन के लिये आर्थिक सहयोग जुटाने के लिये मोजत के युवक कार्यकर्त्ता श्री जवरीलालजी घोका, मोहनलालजी गठीड, जुगराजजी कोठागी, मदनलालजी तालेडा आदि ने अपना अमूल्य समय निकाल कर भारतव्यापी पर्यटन द्वारा श्रद्धावान् भक्तजनो में लगभग एक लाख रुपया एकत्रित किया है। इन मज्जनों के परिश्रम के फलस्वरूप आज यह विशाल ग्रंथ आपके समक्ष प्रस्तुत है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन के पीछे स्वर्गीय श्री मदनलालजी मा० की प्रबल भावना रही है। इस नाशवान ससार में आज उनका भौतिक शरीर भले ही नहीं रहा हो, किन्तु ग्रंथ उनकी प्रेरणा के अमिट प्रतिबिम्ब के रूप में रहेगा।

गुरुदेवश्री की स्थानस्वामी जैन समाज को प्रदत्त सेवाओं के प्रति यह अभिनन्दनग्रंथ समर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। समयाभाव में ग्रंथ को वर्तमान रूप में प्रकाशित कर देने की विवशता के कारण अनेकों त्रुटिओं को अप्रत्याशित अवस्था में ठोकरों पड़ रहा है, जिसका हमें खेद है। आशा है लेखकगण इसका कोई अन्य कारण नहीं मानकर हमें क्षमा करेंगे।

यह अत्यन्त प्रमत्तना की बात है कि भारतीय मध के उपग्राह्यपति महामना श्री वी० वी० गिरि ने अभिनन्दनग्रंथ-समर्पण की सम्म अदा करने की स्वीकृति प्रदान कर दी है। इसका श्रेय अ० भा० म्या० जैन कान्फेन्स के अध्यक्ष एवं विद्वत्विशालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष श्री दीलतमिहजी कोठागी, माननीय श्री आनन्दराजजी सा० सुराणा, मेठ अचरमिहजी मदम्य लोकमभा, लाडा हरिचन्द्रजी माथुर मदम्य राज्यमभा, श्री माणलालजी माथुर, श्री पुखराजजी कालानी मदम्य विज्ञानमभा एवं श्री चिम्मनमिहजी मा० लोहा आदि को है। जिनका हम सहृदय धामार् प्रष्ट किये बिना नहीं रहसकते।

अन में, मैं उन सभी मज्जनों का जिन्होंने इस अभिनन्दन ग्रंथ के प्रकाशन में तन, मन, धन एवं समय का योगदान दिया है, हादिक अभिवान करता हूँ। आशा है हमारा यह प्रयास उच्चकोटि के प्रकाशन की न्यूनता की पूर्ति में सहयोग करेगा एवं पाठकवृन्द अत्रिकाधिक लाभान्वित होकर सामाजिक जागृति की आर बढ़ेगे।

जोधपुर

चैत्री स्थापना, २०२५

सम्पतराज बरडिया

मत्री, श्रीमहरकरकेसरी अभिनन्दनग्रंथ प्रकाशन समिति,
जोधपुर

प्रासंगिक

महधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज सोजत सिटी पधारे तो मेरे मन में दर्शन करने की अभिन्नाया उत्पन्न हुई और मैं सोजत पहुँचा। व्याख्यानश्रवण आदि के पश्चात् मध्याह्न में महाराजश्री की सेवा में बैठा था। स्थानीय थायकसमुदाय भी उपस्थित था। उस समय अन्यान्य चर्चाओं के बीच मोजत बानो की ओर में यह चर्चा आई कि गुरुदेव की दीक्षा के पचास वर्ष पूर्ण हो रहे हैं। इस शुभ अवसर एक अभिनन्दनग्रन्थ अर्पित किया जाय तो हम लोग अच्छे ढंग से उच्च स्तर पर समारोह का आयोजन करें। आखिर यह तय हुआ कि इस विचार को क्रियान्वित करने के सम्बन्ध में जोधपुर में मुख्य-मुख्य व्यक्तियों की एक बैठक आयोजित की जाय।

विचार की यह लहर शान्त नहीं हुई। मोजत-सघ की भावना गहरी और म्यायी थी। जाँघपुर में मीटिंग का आयोजन किया गया। उसमें अभिनन्दनग्रन्थ अर्पित करने का निश्चय कर लिया गया और तदर्थ अभिनन्दनग्रन्थ-प्रकाशन समिति का भी निर्माण हो गया। जो सज्जन उसमें सम्मिलित हुए थे उन्होंने अपना आत्मीय समझ कर मेरी अनुपस्थिति में ही मुझे उसका अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। मैं इससे नहीं कर सकता।

जोधपुर में मीटिंग करने का सुझाव मैंने ही दिया था और यह इस कारण कि वहाँ व्यावर की अपेक्षा प्रस्तुत कार्य को सम्पन्न करने के लिए विशेष योग्य व्यक्ति मिलना संभव था। वहाँ श्री इन्दरचन्द्रजी मकलेचा जैसे योग्य एवं गुरुदेव के परम भक्त सज्जन हैं। सम्पन्न और प्रतिभाशाली हैं। उनकी देख-रेख में कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकेगा।

लेकिन हुआ यह कि अध्यक्ष पद पर मुझे आमोन कर देने के कारण तथा व्यावर निवासी प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल की प्रधान सम्पादक के रूप में नियुक्ति होने के कारण समिति का प्रधान कार्यक्षेत्र व्यावर ही गया। इससे मेरे ऊपर जो उत्तरदायित्व आ पड़ा उसे मैंने अपनी योग्यता और अवकाश के अनुसार निभाने का प्रयत्न किया है। इसमें व्यावर निवासी उत्साही और कर्मठ कार्यकर्ता श्री चिम्मनसिंहजी लोढा का मुझे पूर्ण सहयोग मिला है। उनके बहुमूल्य सहयोग के बिना उस गुरुतर कार्य को सभालना मेरे लिए अत्यन्त कठिन होता।

इतने विशाल ग्रन्थ का इतने अल्प समय में तैयार हो जाना पण्डित भारिल्लजी के ही पुरुषार्थ का फल है। इसके लिए उन्होंने जो श्रम किया है, वास्तव में वह अविस्मरणीय है।

समिति की ओर से मैं उन सब सहयोगियों को शतश धन्यवाद अर्पित करता हूँ जिन्होंने ग्रन्थ के लिए द्रव्य, सामग्री तथा अन्य प्रकार का सहयोग प्रदान किया है।

अन्त में सोजत-मध का आभार मानना मेरा परम कर्त्तव्य है जिसकी भावनास्वरूप यह ग्रन्थरत्न अस्तित्व में आया और जिसने उसका समर्पण समाराह विशाल पैमाने पर मनाना तय किया है। मुनिश्री के दीक्षास्थान पर ही दीक्षा स्वणजयन्ती का आयोजन सर्वथा उपयुक्त है।

व्यावर
वैशाखी पूर्णिमा
दि० सं० २०२५

—पुष्कराज सिसौदिया
अध्यक्ष
महधरकेसरी अभिनन्दनग्रन्थप्रकाशन समिति

समर्पण



गुरुदेव !

नमर्पण और केवल नमर्पण ही जिनके जीवन का व्रत है, उनमें ग्रहण करने का अनुरोध करना अति माहम ही है। किन्तु इन नमर्पण का अर्थ है श्रद्धा का प्रकाशन, भक्ति का अभिव्यजन और प्रमोदभावना का व्यक्तीकरण। अतएव यह कृति आपके पावन कर-कमलों में सविनय नमर्पित है।



मरुधरकेसरी-अभिनदन-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

Presents by me The: Abraham
Lyath to Marmel - Kesari
Kumar, Minimally on
30/4/68 at - Shopat - City

V. V. Gini
Vice President. Gandhi



कतिपय शुभ सन्देश

राष्ट्रपति सचिवालय,
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-५

पत्रावली सं० १८ (२)-एच/६८

फरवरी ७, १९६८
माघ १८, १८८९ (शक)

प्रिय महोदय,

राष्ट्रपति जी के नाम आपके पत्र मध्या १००८/६८ दिनांक १२ जनवरी, १९६८ से यह जानकारी प्रगल्भता हुई कि मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज को अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने का आयोजन किया जा रहा है।

मुनिश्री की दीर्घायु के लिये राष्ट्रपति जी अपनी शुभकामनाएँ भेजते हैं।

भवदीय,

खेमराज गुप्त
राष्ट्रपति के अपर निजी सचिव



उप-राष्ट्रपति, भारत
नई दिल्ली-१

शिविर-तन्जौर, जनवरी १७, १९६८

प्रिय महोदय,

आपका पत्र दिनांक १२ जनवरी, १९६८ का प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

मुझे यह जानकारी प्रगल्भता हुई कि आप श्री मरुघरकेमरी जी का एक 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' आगामी मान अग्रेल में भेंट करने जा रहे हैं।

य अभिनन्दन-ग्रन्थ की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ भेजता हूँ।

आपका

(बी० वि० गिरि)

क्रमांक ६२७६,

२६ नवम्बर १९६७

राज्यपाल महोदय की इस प्रशस्ति के लिए शुभ कामनाएं प्रेषित की जाती हैं। राज्यपाल महोदय प्राणा करते हैं कि मुनिश्री मिश्रीमलजी जैसे तपस्वी सन्त के मार्गदर्श में जनसाधारण में नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था और भी दृढ़ होगी।

भारतीय

सचिव, राज्यपाल राजस्थान

यह अतीव प्रसन्नता की बात है कि स्थानिकजामी समाज मण्डल के पर महान् ज्योति-पुञ्ज रुक्मिभ्राट् व्याख्यानराजस्यमि एवं समाजमुद्धारक मत् मण्डलकेशरी प० रत्न १००० मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज माण्डवी की १० वीं दीक्षामुवर्णजयन्ती पर अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहा है।

श्री मण्डलकेशरीजी की समाजमण्डल के प्रति की गई सेवाएँ अत्यन्त ही मूल्य हैं। आपकी स्पष्टादिता के कारण जन-मानस सदा ही आपके प्रति आकर्षित एवं श्रद्धावान् रहा है। ऐसे महान् सन्त का अभिनन्दन करने हुए हमें अपार हर्ष व उत्साह होता व्याभाविक है।

यह अभिनन्दनग्रन्थ श्री मण्डलकेशरीजी की समाजसेवाओं के प्रति एक श्रद्धा रा मुमन तथा समाजोपयोगी सामग्रीयुक्त प्रकाशन हो, यही शुभकामना है। ग्रन्थ में मरुस्थित सामग्री से व्याख्यात्मकता का विकास हो जिससे आज भौतिकराष्ट्री युग का मानव लाभान्वित हो सके। यही एक महान् मन्त के प्रति हमारी सहो और रचनात्मक श्रद्धाजलि होगी।

चांदमल लोढा

जोधपुर

दिनांक २४-३-६८

न्यायाधीश, राजस्थान उच्चन्यायालय,
जोधपुर (राजस्थान)

डा० गोपीनाथ शर्मा, एम० ए०, पीएच० डी०, राजस्थान वि० वि०, जयपुर

आप अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने जा रहे हैं। यह पुनीत कार्य हमारे राजस्थान के शोधकार्य की आगे बढ़ाने में बड़ा सहायक होगा ऐसी मेरी मान्यता है।

प्रो० भागवन्त जैन, एम० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ, इटारसी

हमारी शुभ कामनाएँ आपके साथ हैं। हम आपके इस मण्डलमय पवित्र कार्य की सफलता चाहते हैं।

श्री गोवर्धन शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, अहमदाबाद,

महाराजश्री मिश्रीमलजी के सम्मान में आप एक अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशित करने जा रहे हैं इसकी सूचना मिली। बड़ा ही नेत्र काम है। आरक्षी योजना अति उत्तम है।

डा० ज्योतिप्रसादजी जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, लखनऊ

मन्धरकेमरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० के अभिनन्दनार्थ ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं,
- यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। विभिन्न सन्तो और विद्वानों का इस प्रकार
अभिनन्दन करके हम उनके प्रति कुछ कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं। साथ ही इस वहाने
स्वयं लाभान्वित होने हैं—एक सुन्दर साहित्यिक सकलन प्रकाश में आ जाता है।

श्री रामवल्लभ सोमानी, जयपुर।

मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ का आपने बहुत ही सुन्दर सम्पादन किया है। राजस्थान
में इतना सुन्दर स्मृतिग्रन्थ अब तक छपा प्रणीत नहीं होता। सामग्री भी इसमें बहुत
ही अच्छी है। आशा है यह अभिनन्दन ग्रन्थ भी ऐसा ही सुन्दर होगा।

डा० राजाराम जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०, आरा (बिहार)

ग्रन्थ प्रकाशन योजना मुझे मुश्किल लगी। इसकी शानदार सफलता के लिये मेरी
मगल कामना है।

मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'

केमरीजी का अभिनन्दन समाज के लिये अत्यन्त गौरव का विषय है। समाज उनकी
सूचकानेवाओं के ऋण में अभिनन्दनग्रन्थ भेंट कर कुछ अर्थ में उद्धार हो सकेगा।

भोतीलाल जैन 'विजय' एम० ए०

मन्धरकेमरी मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज के पावन अभिनन्दन समारोह पर मुद्रित
हो रहे ग्रन्थ के प्रकाशन पर अत्यन्त प्रसन्नता होती है। मुनियों, तपस्वियों, साध्वियों,
विद्वानों ने स्वसाधना के साथ-साथ लोककल्याणकारी प्रवृत्तियों द्वारा समाज को
यथाकाल नई दिशा दी है। आपकी समिति के इस प्रयास पर हार्दिक बधाई देता हूँ।

महता शिखरचन्द कोचर

बी० ए०, एल-एल० बी०,

पो० झंझनू (राज०)

एफ० एस० आर० आई०,

साहित्यशिरोमणि, साहित्याचार्य,

ता० २-१०-६७

डिस्ट्रिक्ट एण्ड सेशन जज

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज की दीक्षा
की स्मरण जयन्ती के सुअवसर पर एक अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है।
मैं इस सुअवसर पर अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

विषयानुक्रम

प्रथम खण्ड पृ० १—१६८

जीवन-परिचय, सम्मरण, श्रद्धानिवेदन, परम्परा

क्रमाङ्क	विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१	मरुधरकेसरी-जीवनपरिचय	श्रीभाचन्द्र भारिलल	१
२	मरुधरकेसरी और उनकी सघसेवा	चिम्मनसिंह लोढा	२६
३	मरुधरकेसरी की समयनिष्ठा	मुनि श्रीरूपचन्द्र 'रजत'	३२
४	मरुधरकेसरी की काव्यकला	डा० नरेन्द्र जानावत	३४
५	मरुधरकेसरी के चातुर्मासस्थलों की सूची	मुनि श्री रूपचन्द्र 'रजत'	५३
६	मरुधरकेसरी के आगानुवर्त्ती सन्त-सतिया	— — —	५४
७	सम्मरण, श्रद्धानिवेदन, अभिनन्दन	— — —	५५
८	श्री धर्मदासजी महाराज	मुनिश्री रूपचन्द्र 'रजत'	१४०
९	धन्नाजी महाराज	श्री सुफन मुनि	१४४
१०	श्रीभूदरजी महाराज	श्री रजत मुनि	१४६
११	वीरशामन की वरिष्ठ विभूति-आचार्य रघुनाथजी	"	१५१
१२	श्री बुधमलजी महाराज	ज्ञान भारिलल	१५६
१३	लोकाणाह-व्यवित्त और विचार	कृ० लालचन्द्र नाहटा 'तम्रण'	१५९

द्वितीय खण्ड पृ० १—३५५

धर्म, दर्शन, अध्यात्म

१	धर्मतत्त्व का विश्लेषण	प० चैनसुन्दरदास जैन	१
२	अनेकान्त	स्व० मुनिश्री श्रीमलजी	१४
३	जैनदर्शन का व्यावहारिक पक्ष-अनेकान्तवाद	प्रो० भागचन्द्र 'भागवन्दु'	२१
४	जैनदर्शन की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि	प्रो० निहालचन्द्र जैन	३०
५	जैनदर्शन और विज्ञान	महावीरसिंह मुडिया	३६
६	जैनदर्शन का मूलाधार	डा० कुन्दलाल जैन	४०
७	जैनदर्शन की द्रव्यव्यवस्था	प० जुगलकिशोर मुख्तार	४३
८	सम्प्रदाय या धर्म ?	सौभाग्यमल जैन	४५
९	यन्त्रयुग में जट-चेतनविज्ञान	लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज'	४९
१०	लोकस्वरूप-समीक्षा	रिखवराज कर्णवट	५४
११	जैनदर्शन में मानस-विचार	राजकुमार जैन	७०

१० जैन कर्मसिद्धान्त का मूल मन्त्र-स्वावलम्बन	शिवरामचन्द्र कोचर	७३
१३ जैनदर्शन में ईश्वर	श्रीज्ञान मुनि	७५
१८ जैनागमों में अष्ट प्रवचनमानाए	मुनिश्री कन्हैयालाल 'कमल'	७७
१५ नैतिक उत्थान एवं धर्मज्ञान	प्रो० ज्ञानन्त लूनिया	१०७
१६ नावनायोग — एक जीनामा	मुनिश्री गुलाबचन्द्र 'निर्मोही'	११०
१७ पराग्नियोग	मुनिश्री नयमल (निकायसचिव)	१३०
१८ भाषा और धर्म	मुनिश्री मिश्रीमल 'मधुकर'	१३६
१९ जैन आगमों में धर्मनिरूपण	कन्हैयालाल लोढा	१८०
२० जैन खगोलविज्ञान	प० मिलापचन्द्र कटारिया	१८८
२१ जैनागमों में गृहस्थ्याचा	प० जयकुमार	१८९
२२ उपनिषद् का ज्ञान	प० जम्दूप्रसाद	१९५
२३ अतिशयार्थ	हीरालाल शास्त्री	१९८
२४ राम में नाम बड़ा	हरिभाऊ उपाध्याय	२०३
२५ जैनमिथ्यात्व में ज्ञान-कार्यव्यवस्था	अजितकुमार शास्त्री	२०५
२६ जैनागम में प्रयुक्त निश्चय और व्यवहार		
गन्धों का अग्रगण्य	प० वशीधर जैन	२१७
२७ जैनसंस्कृति का प्रागल्भ्य मयमार्ग	श्री सुरेश मुनि	२४६
२८ पथ का मन्त्र-गन्धर्व	मास्त्री उमराव कुवर 'अर्चना'	२५८
२९ तप, तापनारम्भ और महानपन्वी महावीर	मुनि सुशीलकुमार	२५९
३० समाधिभरण	सुरेश मुनि	२६४
३१ जैनदर्शन में नीतिशास्त्र	श्रुतिशील शर्मा	२७२
३२ जैनागमों के तीन प्रेरक प्रमाण	मुनि श्रीचन्दनमल	२७६
३३ जैनागमों में कल्पनिर्माण	श्री देवेन्द्रमुनि	२८०
३४ समन्वय की जैनदर्शन को देन	दरबारीलाल कोठिया	२९६
३५ मुनियों और योगियों के ब्रह्म अनुभव	श्री सीभाग्य मुनि 'कुमुद'	३०४
३६ आत्म-परमात्मवाद	प्रो० जयन्तीप्रसाद जैन	३०८
३७ अमणारम्भ और गगनत्र	डा० ब्रदीप्रसाद पचोली	३१७
३८ गीतावन स्वभाव	राव नारायणसिंह मसूदा	३२८
३९ छद्मस्वरूप	सुमित भिखू	३३२
४० विद्वानों में याज्ञिक	महेन्द्र राजा जैन	३३८
४१ निश्चय और व्यवहार	प० कुन्दनलाल जैन	३४३
४२ दीर्घा की विभूति		
गजस्थान के जैन वीर और प्रणामक	डा० कैलाशचन्द्र जैन	३४९

तृतीय खण्ड पृ० १—१७९

संस्कृति, कला, इतिहास

१ अमणनकृति तथा जैनधर्म	डा० देवेन्द्रकुमार	१
२ जैन संस्कृति-परिचय श्री पाच पञ्चडिया	पारसमल प्रसन्न	६

३	धर्मण मस्कृति और लोकोत्तम	रामावतार शर्मा	१५
४	प्राग्-ऐतिहासिक भारतीय मस्कृति और वैदिक संस्कृति का समन्वय	रिपनदास राका	२४
५	धर्मणसंस्कृति का केन्द्र थावस्ती	डा० हरीन्द्रभूषण जैन	३४
६	भारतीय मस्कृति की वैज्ञानिक विचारपद्धति	डा० मंगलदेव झारजी	४०
७	पालि बाङ्गमय मे निगण्ठ और निगण्ठ नातपुत्त	मुनि श्रीनगराज	४८
८	द्वितीय कल्कियुग के तीन शान्तिकारी सन्त	डा० ज्योतिप्रसाद जैन	६६
९	इतिहास मे जैन साहित्य का स्थान	स्व० जयभगवान जैन	७७
१०	सुगलमन्त्राद् और जैनधर्म	दिगम्बर दास जैन	८३
११	मालवभूमि के दो आचार्य कालीदाम और वात्स्यायन	डा० सूर्यनारायण व्यास	९८
१२	आचार्य सोमदेव	प० कैलाशचन्द्र शास्त्री	१०४
१३	अमर जैन प्रयालय मे सुरक्षित राजस्थानी भाषा के पट्टे, परवाने, पत्र	अगरचंद नाहटा	११८
१४	गोपाचल की मध्यकालीन साहित्यकला माधना	डा० राजाराम जैन	१२७
१५	कुवलयमाला मे वर्णित ७२ कलाएँ	प्रेमसुमन जैन	१३६
१६	चित्रकला मे अभिनयजनवाद	प्रो० परमानन्द चौधरी	१४४
१७	धार्मिकता और राष्ट्रीयता मे समन्वय	दयाचन्द्र जैन	१४९
१८	परोपकार की भूमिकाएँ	डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री	१५६
१९	धर्मनिरपेक्षता	डा० सुशीलचन्द्र दिवाकर	१६७
२०	दानवीर भामाशाह-परिवार	रामवल्लभ सोमानी	१७३

चतुर्थ खण्ड पृ० १८१-४७०

साहित्य

१	मज्झिमनिकाय मे उपलब्ध जैन धर्मावली एव उसका तुलनात्मक विवेचन	डा० परमेश्वरीदास जैन	१८१
२	प्राकृत कथासाहित्य और उसकी विशेषताएँ	डा० नेमीचन्द्र शास्त्री	१९१
३	जैन कथासाहित्य और उसका श्रेय	गणेशप्रसाद जैन	२०६
४	जैन कथासाहित्य— एक अनुवृष्टि	प्रो० श्रीचन्द्र जैन	२१०
५	जैन तत्रसाहित्य	अगरचंद नाहटा	२२३
६	जैनसाहित्य मे रामकथा	प० गोकुलचन्द्र जैन	२३७
७	कन्नड मे जिनभक्तिसाहित्य	प्रो० गुरुनाथ जोशी	२४४
८	मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य मे शान्ता भक्ति	डा० प्रेमसागर जैन	२५८
९	आयुर्वेद को जैनाचार्यों की देन	राजकुमार गोयल	२७४
१०	चम्पू काव्य	के० भुजबली शास्त्री	२७६
११	कन्नड साहित्य मे जैन काव्यो की लौकिक परम्परा	सु० रामचन्द्र	२८२
१२	भारतीय गौरवग्रन्थ भरतेशवैभव और महाकवि रत्नाकर	वर्द्धमान पी० शास्त्री	२९२
१३	अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य	मुनि कान्तिसागर	३०१

१४	आचार्य माण्डवकर और उनका परीक्षामुख	गोपीलाल अमर	३१८
१५	राजस्थानी साहित्य के विविध रूप और जैन काव्य	डा० पुरुषोत्तमदास मेनारिया	३३३
१६	राउलवेन के दो नख-शिल्प और उनकी शब्दावली	डा० हरीश	३४७
१७	कवि जिनहंपंकुन मठ्यमुन्दरी चरित्र	ईश्वरानन्द शर्मा	३५२
१८	धर्मशर्माभ्युदय-एक अध्ययन	पन्नालाल साहित्याचार्य	३६२
१९	राजस्थान के मस्कृतमहाकवि एवं विचक्षण प्रतिभा- सम्पन्न ग्रन्थकार श्री मेघविजयजी	विनयसागर	३७२
२०	धर्मशर्माभ्युदयरचयिता महाकवि हरिचन्द्र	डा० स्वप्ना बनर्जी	३८६
२१	मीयाचरित-एक अध्ययन	परमानन्द शास्त्री	४०२
२२	रहस्यवाद जैनधर्म और साहित्य	देव कोठारी	४११
२३	सन्तकवि रायचन्द्रजी और उनकी रचनाएँ	मुनि श्री लक्ष्मीचन्द्र	४२०
२४	अलकारदण्ड	अनु० भवरलाल नाहटा	४२६

पचम खण्ड पृ० १—११८

जनपदीय संस्कृति

१	लोक और ग्राम्य	अमरदेव शर्मा	१
२	लोक-देवता	प्रो० चेतनप्रकाश पाटनी	८
३	हमारी अद्भुत लोकसंस्कृति	डा० रामानन्द तिवारी	१२
४	लोकसाहित्य	चम्पालाल गुप्त	१८
५	लोकदर्शन और धर्म का स्वरूप	डा० रामप्रसाद दाधीच	२१
६	काव्यरूपों में लोकतत्त्वों की प्रतिष्ठा	डा० सत्येन्द्र	२५
७	लोककला का आधुनिक कला पर प्रभाव	ओमप्रकाश जोशी	३१
८	सांस्कृतिक मन्त्रय के प्रतीक उत्सव	कमला पचोली	३५
९	कहावती ग्रंथों की जैन परम्परा	डा० कन्हैयालाल सहल	४०
१०	धर्मस्थानों का जैन लोकसाहित्य	महेन्द्र भगवत	४४
११	राजस्थानी चित्रकला में लोकतत्त्व	डा० जयसिंह 'नोरज'	५१
१२	राजस्थान का किसान गाथा है	डा० मनोहर शर्मा	५४
१३	राजस्थान की मृदु कला (भाङणा)	कुमारी स्नेहलता	६०
१४	राजस्थान के माङण	" विद्या बशल	६५
१५	राजस्थान के देवी-देवताओं के गीत सांस्कृतिक मूल्यांकन	भागचन्द्र जैन	७०
१६	राजस्थान के चैत्रमासीय पूजोत्सव- गीता में नारीजीवन	डा० रामप्रसाद शर्मा	७४
१७	हाडीती प्रहेलिकामाङ्गल्य की परम्परा	डा० नाथूलाल पाठक	८०
१८	हाडीती लोकगीतों में प्रकृतिचित्रण	डा० चन्द्रशेखर भट्ट	८६
१९	हाडीती अचल के व्रत तथा उत्सव	हरिवल्लभ 'हरि'	९६
२०	निमाड का जीवन और संस्कृति	रामनारायण उपाध्याय	१०३
२१	जैमलमेर के कतिपय लोकविश्वास	मोहनलाल पुरोहित	१०८
२२	भूतव्याधिचिकित्सा ब्रज के मंत्र	रामशरण गुप्त	११३

षष्ठ खण्ड पृष्ठ १-१००

अंग्रेजी भाषा-निबन्ध

1	Antiquity of Jaina Culture	Dr Mohanlal Mehta	1
2	The Concept of Arahanta (Arhat) in Jainism	Dr K C Sogani	10
3	Jainism at a Glance	—Mrs Tushila S Singhvi	15
4	Sramanic Foundations of Ancient Egypt	—Shri Ram Chandra Jain	20
5	The Jain Conception of Ahimsa	—G L Amar	24
6	Reality and Relativity of Space and Time in Jain Metaphysics and Modern Physics—Muni Shri Mahendera Kumarji 'Dwiteeya'		33
7	The Nature of Reality in Jainism and Buddhist Philosophers	—Dr Bhagchandra Jain	40
8	Jaina Ethics Its Ideal and Viewpoint	—S C Jain	60
9	Man-mad God	K B Jindal	65
10	Jain Satirists in Kannada Literature	—Dr B S Kulkarni	67
11	Soul in Jainism	—Khem Chand Jain	71
12	The Buddhist Concept of Vinnana	—Prof P Chandra	76
13	The Place of Yaksha in Ancient Demonology	—R N Misra	84
14	Banavasi and Jainism	—B R Gopal	90
15	The Hunas in Ancient Indian Literature	—K L Agarwal	95

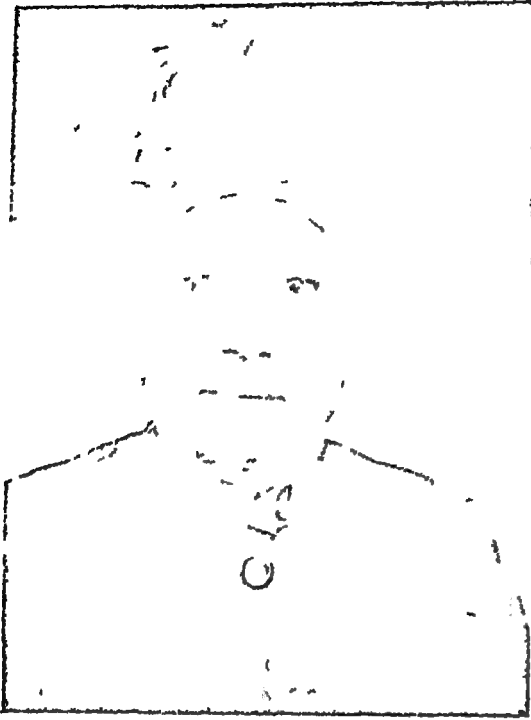


प्रधान सम्पादक
श्री मोनाचन्द्र भागिल्ल



प्रधान व्यवस्थापक
श्री चिम्मनलाल लोढा

प्रकाशनसमिति के पदाधिकारी



अध्यक्ष

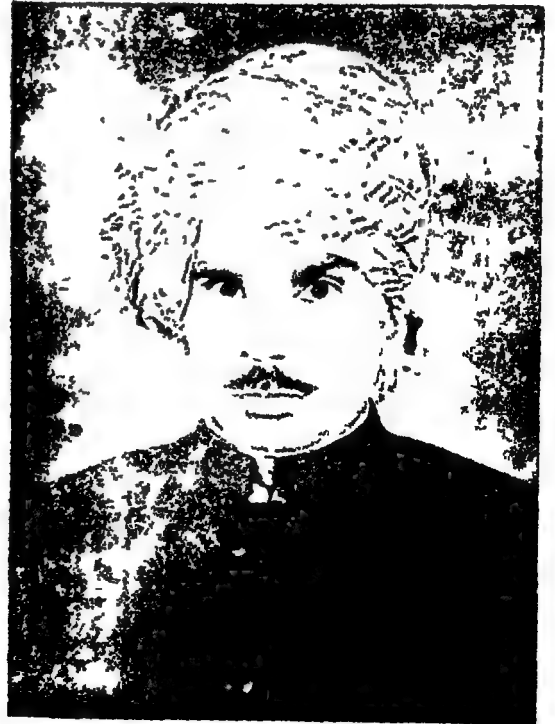
सेठ श्री पुनर्गजजी सीसीदिया

ब्याबर

अथ सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये ।

कोषाध्यक्ष

सेठ श्री इन्दरमलजी सकलेचा



उपाध्यक्ष
मेठ श्री केवलचन्दजी चौपडा
सोजत
अथं महायक-परिचय पृ० ३ पर देखिये ।



उपाध्यक्ष
मेठ श्री बालचन्दजी बाफणा
संरडी
अथं महायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये ।



મંત્રી
શ્રી સમ્પતરાજજી વરડિયા
જોધપુર



વિસ્તમત્રી
શ્રી મવનરાજજી વાઠિયા
સોજત



सहमत्री
श्री मदनराजजी नाहटा
सोजत

प्रकाशन सहयोगी
श्री शान्तिलाल सेठ





परामर्शदाता
श्री प्रेमराजजी कामदार
जावण्डिया
अर्थ सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये ।



परामर्शदाता
श्री पारसमलजी धोका सोजत
सोजत सीटी
अर्थ सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये ।

अर्थसंचय में सहयोग देने वाले सज्जन



श्री मोहनलालजी राठोड



श्री पुर्नगाजजी कोठारी



श्री जवरीलालजी धोका

कायकर्त्ता



श्री लादूगमजी कामदार



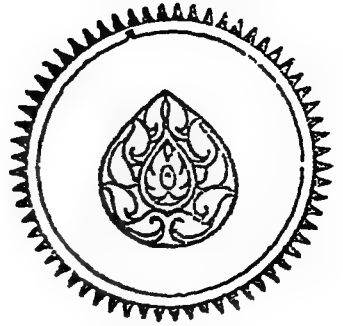
प्रथम खण्ड



जीवन-परिचय, संस्मरण
श्रद्धानिवेदन, परम्परा

मरुधरकेसरी-जीवनपरिचय

शोभाचंद्र मारिल्ल, न्यायतीर्थ



स जातो येन जातेन, याति वश समुन्नतिम् ।

परिवर्त्तिनि समारे, मृत को धान जायते ॥

जो निरन्तर गतिशील है—निममे क्षण भर के लिए भी स्थिरता नहीं, जिसमें परिवर्तन की अजस्रगामिनी धारा प्रवाहित हो रही है, वही मरुधर है ।

इस परिवर्तनशील मरुधर में अमर प्रकाश के अनन्त-अनन्त जीवधारी दृष्टिगोचर होते हैं । वे इस घरातल पर घाने, अपनी जीवनशैली पूरी करते और अन्त में मरने के लिए आखें मूंद लेते हैं । अधुना ज्ञात इस क्षुद्र विद्वत् में ही प्रतिदिन दो लाख मानवों के जन्म का बीज है । फिर हमारे द्वारा अज्ञात जगत् तो बहुत विशाल है । इसके अनिश्चित ज्ञान अज्ञान जगत् में मनुष्येतर प्राणियों की गणना करना असम्भव है । ऐसी स्थिति में कौन जाने कितने प्राणा प्रतिदिन जन्म लेते और महाशून्य के भयानक वन जाने हैं ? कौन उनका नाम लेता है ? कौन उन्हें जानता-पहचानता है ?

किन्तु मान्येतर प्राणियों की धान जाने दीजिए । उनमें मनुष्य जैसी जात चेतना नहीं होती—उन्हें विभिन्न विवेकबुद्धि उपलब्ध नहीं है । वे नहीं जानते कि जीवन का क्या मूल्य है ? क्या उपयोगिता है ? किम महान् उद्देश्य की पूर्ति में जीवन की मायकता है ?

मनुष्य ने इन गहनतम प्रश्नों पर विचार किया है । उस विचार के निष्कर्ष में यद्यपि एकरूपता नहीं है और नचि एक नस्कार की भिन्नता के कारण वह हो भी नहीं सकती, तथापि अभ्युदय-माधना में मानव-जीवन की सफरता है, इस विचार में मतभेद का अवकाश नहीं ।

मगर अभ्युदयमाधना क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर अनेक और परस्पर विरोधी हैं । एक महत्वाकांक्षी समग्र विद्वत् पर अपनी विजय-वैजयन्ती पहना कर ही जीवन को सफल समझता है । दूसरा अर्थप्राण विपुल धनराशि संचित कर और धनकुवेरा फटला कर अपने अहंकार की तुष्टि में जीवन की कुनार्यता अनुभव करता है । तीसरा किसी अन्य प्रजा की भौतिक समृद्धि प्राप्त करने में जीवन की मायकता मानता है ।

दृष्टिकोण सखी इस भिन्नता का मूल 'स्व' के प्रति विविध प्रकार की धारणाओं में निहित है । बहुत लोग हैं जो अपने 'स्व' को वर्तमान जीवन की परिधि में ही घिरा समझते हैं । वे मानते हैं कि इस जीवन तक ही हमारा अस्तित्व है, न इसमें पूर्व था, न आगे रहेगा । वे आत्मा के अनादि, अनन्त, अक्षय, अव्यय अस्तित्व पर विश्वास नहीं करने । ऐसे लोग ऐहिक जीवन में सम्बन्ध रखने वाले उत्कर्ष को ही परम और चरम मानें, यह स्वाभाविक है ।

कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं और उनकी मर्यादा नगण्य नहीं है जो मिथ्यान्त रूप में आत्मतत्त्व को अजर-अमर मानने हैं मगर भौतिक समृद्धि की बड़बड़ी कामना उनकी मान्यता का दबा देती है । जीवनव्यवहार में वे उसे विस्मृत



कर देते हैं और ऐहिक सम्पत्ति को ही अभ्युदयसाधना समझ लेते हैं। इस प्रकार प्रथम और द्वितीय श्रेणी के व्यक्तियों में व्यवहारतः कोई विरोध अन्तर नहीं रह जाता।

तीसरी श्रेणी में ऐसे व्यक्तियों का समावेश होता है जो आत्मा के अमरत्व की आस्था से प्रेरित और प्रवृत्त होते हैं। उनके लिए वर्तमान जीवन आत्मा की सुदीर्घ विजय-यात्रा का पड़ाव मात्र है। वे अतीत और अनागत से वर्तमान को विच्छिन्न करके नहीं देखते। अतएव जिन अभ्युदय का सम्बन्ध केवल वर्तमान में है, - ऐसी धन-सम्पत्ति, सत्ता तथा अन्य भौतिक विभूतियों का उनके मन में कोई महत्त्व नहीं रहता। वे आत्मा में निहित विराट् वैभव को ही अपना मानते और उसी के विकास की साधना में जीवन की गफलता समझते हैं।

जो अभ्युदय इसी जीवन तक सीमित है और इस जीवन में ही बीच में ही प्रिय हो जाता है उसमें आत्मा का स्थायी श्रेयस् मिश्र नहीं हो सकता। वह प्रायः आत्मा के पतन का ही कारण बनता है। अतएव मन्वा अभ्युदय है आत्मिक गुणों का विकास। आत्मा में पारमात्मिक गुणों की मत्ता है—ईश्वरत्वप्राप्ति की क्षमता है। उसे प्राप्त करने के लिए जीवन को सयमय, तपोनिष्ठ और नियमपरायण बनाने की आवश्यकता है। अपने 'स्व' को इतना निराद बनाना पड़ता है कि जगत् के समस्त चराचर प्राणियों का उसमें समावेश हो सके। परोपकार का आत्मोपकार अनुभव करने की उदार दृष्टि का विराग करना होता है। शारदाका एक स्थिति की ओर गंजन करते हैं—

अतस्तम मन्नेज्ज छुप्पि काए ।

पट् निकायो मे वर्गीकृत विद्वत् के समस्त प्राणियों को साधक आत्मसद्ग मान ।

प्राणिमात्र के प्रति आत्मभावना उत्पन्न होने पर मनुष्य के जीवन के समस्त मानदण्ड बदल जाते हैं। वह शरीर में समाहित होता हुआ भी अपने हृदय और मस्तिष्क में विद्वत्वापी बन जाता है। उसकी भावना और विचारणा समस्त सजीव सौमात्रों को पार करके असीम हो जाती है। उसी स्थिति में माधुता का विकास होता है। वस्तुतः यही मानवजीवन की सर्वोत्कृष्ट साधकता है।

यहां इसी श्रेणी के एक महामानव की जीवनी के कतिपय चित्र अंकित किए जा रहे हैं। उन्होंने अपने जीवन को 'सर्वभूतहिताय' अर्पित किया है। उनकी मानसिक, वाचिक और कायिक शक्ति जगत् के नाश्वत श्रेयस् की साधना में लगन है। उनका सात्त्विक 'अहम्' विपर कर व्यापक बन गया है।

मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज का व्यक्तित्व वास्तव में अद्भुत है। उनके हृदय में नवनीत की कोमलता है तो सकल्प में वज्र की कठोरता।

वज्रादपि कठोरानि, मूढानि कुसुमादपि ।

लोकोत्तराणां चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति ॥

—लोकोत्तर पुरुषों के चित्त की गहनता को कौन समझ सकता है ? वह वज्र से अधिक कठोर तो फूल से भी अधिक मृदु होता है।

हमारे चरितनामक 'कडक मिश्री' के नाम से प्रसिद्ध है। जिसने सर्वप्रथम यह उपासना प्रदान की उसकी सूक्ष्म-वृक्ष निस्सन्देह सराहना के योग्य है।

मुनिश्री दूसरों के प्रति अतीव सदय होते हुए भी अपने प्रति, अपने आचार-विचार और शरीर के प्रति अनन्यतः कठोर हैं। जिस महामात्र का उन्होंने अवलम्बन किया है उससे तिल भर डिगने की बात नहीं सोचते। अपने शरीर पर दया किए बिना उन्होंने 'चरैवेति चरैवेति'—चलते रहो, चलते रहो, इस प्रेरणा को जीवन में अपनाया है। इस अपेक्षा वे सच्चे 'परिचाजक' हैं। वृद्धावस्था में और रूग्णावस्था में भी उनके सतत विहार का क्रम भग्न नहीं होता। पथविचलित जनों को पथारूढ करना, जन-मानस में नीति, धर्म और अध्यात्म के बीज बोना, धर्मभावना को उद्दीपन

कला, मंदिर और तर की प्रेरणा देना, मान की पुराने आध्यात्मिक मन्त्रों के मरुपरके के प्रयास में अपने आचार और विचार में दमकित रहना एवं अधि-महर्षियों की परम्परा को अनुसरण कर प्रसरण करना ही उनके जीवन का मुख्य धन गया है।

मुनिश्री के जीवन में जेकानेक तत्व विद्यमान हैं जिन्हें अपनाकर पाठक अपने जीवन को मजबूत एवं सुन्दर बना सकते हैं। उनमें सुन्दर प्रेरणाएँ प्रतीत की जा सकती हैं। उनकी जीवनी एक ऐसा माचा है जिसमें अपने जीवन को टाँस कर कोई भी कृतार्थ हो सकता है।

उनके जीवन के लक्षणों और मुनिजीवन के पञ्चम मन्त्रों पर हमें जोर देना है। इस शीर्षकांक में उन्होंने जो और मंत्र दे लिए वो कुछ विज्ञा है उसका मन्त्रांकन करना मरु नहीं है, किन्तु इस मन्त्रिण मन्त्रांकन में तो मन्त्र ही नहीं। यहाँ मुनिश्री के जीवन की एक मन्त्र ही उक्ति की जाएगी।

जन्म और जन्म

मानवों के पश्चिमी भाग में आरम्भान प्रान्त का जो भाग-भाग है, उसी अपनी कुछ विवेचनाएँ हैं। स्वर्णरत्नानेनी राठी वीर दुर्गाधाम, नरनमि मारा और इतिहास प्रसिद्ध वीर जमर्गमह जैसे महात्मन्वियों की जन्मभूमि होने का गौरव उसी मन्त्रांकन का प्राप्त हुआ है। उन प्रदेश के पूर्वी, पश्चिमी तथा उत्तरी भाग में विद्यमान हैं जहाँ तो दक्षिणी भाग में जगदीश पर्वतमाला के शीखरों में छलनी नुली तथा जवाई जैनी मरिनाए की जमी-जमी उसका बलाप्रधानता देती हैं। यही कारण है कि उस क्षेत्र के कुछ भाग में जहाँ भी और खरीफ की फसल होती है वहाँ अरिमान भूभाग में केवल बाजरा, ज्वार, मूँग, मूँठ, मिठ आदि खरीफ की फसल ही प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती है।

प्रकृति की विविध लीलायुक्ती होने के कारण स्वर्ण वर्षा होने पर भी जहाँ के अनुक्रम तथा स्वादिष्ट फल-काकड़ी, मनीरे, जैंग मागरी, माचरे, टालू और पीठू आदि देश-देशान्तर में प्रसिद्ध हैं।

प्राचीन काल में इस क्षेत्र का प्रशासन अधि-पति के राठीडों के अधिकार में चिरकाल तक रहा।

इसी मरुभूमि के दक्षिणी भाग में पाणी नामक विभाग नगर है जो आज विविध व्यापारिक केन्द्र होने के कारण समस्त भाग में प्रसिद्ध है। इस नगर का भूतकाल भी कम गौरवपूर्ण नहीं रहा है। इसके गौरव को प्रसन्न करने के लिए एक ही मन्त्र प्रार्थना है।

कहा जाता है, यहाँ जमी जमीन एक लाख पाणीवाल ब्राह्मणों के घर थे। वे प्रायः वैद्योचित व्यवसाय करने थे और इस नाम खूब सम्पन्न थे। कोई मामान्य स्थिति का व्यक्ति पाणी में जाकर निवास करना तो उसे प्रत्येक घर में एक-एक गन्तमुद्रा (दरवाजा) और गृहनिर्माण करने के लिए एक-एक ईंट भेंट के रूप में प्रदान की जाती थी। इस प्रकार समान व्यक्ति तन्त्राधिराज होकर नगर का गौरव बढ़ाने लाता था।

आज मान्यवाद और समाजवाद का दौर पीटा जाता है। जानूँ केवल पर समाजवाद की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया जा रहा है, मगर दिनोदिन आर्थिक वैषम्य की वृद्धि होती दिखाई दे रही है। किन्तु पाणी नगर का वह समाजवाद जानूँ के घर पर नहीं, प्रमोदगिर्न वर्णव्य के आधार पर प्रतिष्ठित था। जनतंत्र और समाजवाद की स्थापना प्रजा के जीवन में राष्ट्रधर्म की भावना की प्रतिष्ठा के बिना नहीं होती।

धनदर के माय ही पाणी का वृद्धिबद्ध भी प्रसिद्ध हो चुका था। माग्वाली कहावत "पाणी की पचायन" आज भी प्रदेश के कौन-कौन में प्रचलित है।

इसी पाणी नगर में श्रेष्ठिकर्षे सोलकी महना श्रीधरमठजी निवास करने थे। आपकी पत्नी श्रीमती केसर-कुवर बाई अत्यन्त प्रमोदप्रिया, पतिव्रता एवं शीठसौजन्य की प्रतिमूर्ति थी।





श्रीमती केसरकु वर बाई की पावन कुक्षि से श्रावण शुक्ला १४, विक्रम म० १९५५ की रात्रि के उत्तरार्द्ध में एक नररत्न का जन्म हुआ। वहीं नररत्न आज 'मरुघरकेसरी' की गरिमा से मडित है और कोटि-काटि जनों की श्रद्धा और भक्ति के पात्र बने हुए हैं।। वहीं हमारे चरितनायक हैं।

चरितनायक के पिता श्रीधोपमलजी भाद्राजून नगर के राजा के यहा प्रमुख अधिकारी थे। राजस्थान में उन्हें 'कामदार' कहते हैं। भाद्राजून के राजा जोधपुर नरेश के प्रमुख सामन्त थे। उनके पूर्वजों ने अपनी प्रचण्ड शूरता और ग्णकुशलता के कारण 'राजा' की पदवी प्राप्त की थी। राजा साहब का सम्पूर्ण कार्यभार श्री धोपमलजी साहब के कंधों पर था। आप अपने अताचारण कार्यकौशल और प्रामाणिकता के कारण राजा और प्रजा के पूर्ण विश्वासभाजन थे। राजकाय आपके लिए निजकार्य था।

महापुरुष पूर्वजन्म के कुछ विशिष्ट सत्कारों को लेकर अवतीर्ण होते हैं। प्रायः देखा गया है कि उन सत्कारों को प्रबुद्ध करने के लिए प्रकृति अज्ञात रूप में प्रयास करती है। उनके जीवन में कोई उद्वेगजनक घटना घटित होती है जिससे ब्रह्म या अव्यक्त रूप में मयोग और निर्वेद का बीजारोपण हो जाता है और वह क्रमशः विकसित होता हुआ विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। चरितनायक के जीवन में भी हम यही देखते हैं।

पाच बप की वय में आपको मानवियोग सहन करना पड़ा। प्रकृति ने मोह-ममता का एक बड़ा वन्धन काट कर फेंक दिया।

माता का बिछोह होने पर आपके पिता महताजी आपको भी भाद्राजून ले गए। उस समय तक आपके जीवन में कुछ ऐसी स्पृहणीयता उद्भूत हो चुकी थी कि जो भी आपको देखता, मुग्ध हो जाना था अरिचिन् को भी आकर्षित कर लेने वाला आपका शैशव अनेक दृष्टियों में असाधारण था। राजा साहब की माता देवडीजी ने जब आपको देखा तो आपकी अलीकिक प्रविभा में अनायाम ही आकृष्ट होकर लालन-पालन का भार अपने ऊपर ले लिया। ममम्त राजपरिवार में हता साहब की मेवाओं में प्रमत्त था। अतः चरितनायक का लालन-पालन राजमहल में राजकुमार की तरह ही होने लगा। यही क्रम चलता रहता तो आप एक उच्च पदप्राप्त कुशल प्रणामक होते। किन्तु आपका जीवन ता किसी दूसरी ही दिशा में अग्रसर होने वाला था। अतएव प्रकृति ने पुनः अपना पार्ट किया। वि० न० १९६७ में मेहता साहब का भाद्राजून के शासक में मतभेद हो गया, यहा तक कि पारस्परिक सम्बन्धों में भी कटुता आ गई। स्वाभिमान की और अपने मिद्वान्त पर अटल रहने वाले मेहताजी ने भाद्राजून त्याग दिया और पाली आ गए। चरितनायकजी के जीवन की दिशा में पुनः एक मोड़ आ गया।

विद्याभ्यास

भाद्राजून में पाली लौटने पर आपके विद्याध्ययन का नियमित क्रम प्रारम्भ हुआ। केवल ६-७ मास जितने स्वल्प काल में ही भाषाज्ञान के माध्यम उच्चकोटि के गणित का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। कठिनतम कटमापित के व्याजमिद्वान्त आदि का इनमें से समय में अव्ययन कर लेना आपकी जन्मजात प्रतिभा का परिचायक है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि इसी अन्नराल में आपने चाणक्यनीति के चार अध्याय, जहाँ भाषा के दो कायदे और अंगरेजी भाषा की दो रीडर भी पढ डाली। इस प्रकार छह-मान महीनों में ही आपने मस्कून, हिन्दी, उर्दू और अंगरेजी भाषाओं का प्राथमिक और गणितशास्त्र का अच्छा ज्ञान अभ्यास किया।

चरितनायक की विलक्षण कुशाग्र बुद्धि और मेधाशक्ति पर उस समय विस्मय व्यक्त किया गया। आज भी माध्याग्न व्यक्तियों को आश्चर्य, यहा तक कि अविश्वाम भी हो सकता है, किन्तु जो आत्मा की अनन्त शक्ति पर भरोसा करते हैं, उनके लिए इसमें अविश्वाम का कोई कारण नहीं। ज्ञान और दर्शन ऐसे आत्मिक गुण हैं जो भ्रान्त-नगामी हो सकते हैं। पूर्वभय में अर्जित ज्ञान वर्तमान भय में मस्कार के रूप में आता है और माधारण निमित्त मिलने में 'देवेच्छा बलीयसी' वह व्यक्त हो उठता है।

महापुरुषों की गहनमिष्टि में बानावरण स्वन अनुकूल होना जाता है। अत्यन्त रूप में प्रकृति उनके जीवन-निर्माण में योग देती रहती है। हमारे चरितनायक का मार्ग भी महास्वन प्रगल्भ होता रहा है। जब वे बाल्यजीवन समाप्त हो ही रहे थे, लगभग १३ वर्ष की आयु में उन्हें एक साथ अनेक व्याधियों ने जा घेरा। चैचक और निजाला उनमें प्रसार पड़े। स्थिति ऐसी बिगड़ हो गई कि चरितनायक के पिता महुता माहुर निराशा अनुभव करने लगे। पत्नी का वियोग पहले ही हो चुका था, पुत्ररत्न के वियोग की समावना उनके हृदय को मर्महीन करने लगी। पुत्रप्रेम से व्याकुल मेहता माहुर के प्रेम का बाध टूट गया। नयनों में अजब अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। किन्तिमक पूरा मनोरोग लगा कर चिन्तिमा कर रहे थे, परीक्षण हो रहे थे किन्तु चरितनायक की दया मुखरती नहीं दिखाई देती थी। अन्त में भी निराशा के गहन निमित्त में बैठने लगे।

यस जीवन का प्रदीप किसी भी क्षण गुप्त मरना था किन्तु प्रकृति तब महापुरुष के जीवन-निर्माण में मन्त्रन थी। उतारी चोखा का पार निम्ने पाया है। निर्माता का व्यापार अत्यन्त निगूट और गहनमय होता है। अचानक एक घटना होती है जो बड़ा चरितनायक के जीवन की उस पर भी ओर उन्मुख करती है जिस पर उन्हें आगे चल कर प्रसरण होना था।

चरितनायक उस मूलित प्रसंगा में शय्यागच्छ हो रहे थे, उसी समय पामनाम्बी मन्त्र श्रीमानमलजो महाराज नग मन्त्रमन्त्र श्रीवृद्धमन्त्री महाराज का अकस्मात् पदार्पण हुआ। कहना चाहिए, प्रकृति ने उन्हें मित्रा के निमित्त में मेहता माहुर के द्वार पर भेज दिया। उस समय मेहता माहुर के निवासस्थान पर भीतर और बाहर भीड़ ला रही थी। मुनिमुगल हो रहा था। देव योगों ने प्रार्थना की—पूज्यवर ! अन्दर प्रवेश करने का अवसर नहीं है। मेहता माहुर का पुत्र अन्तिम स्थिति में है। उनके प्राण-रक्षक उठने ही वाले हैं।

गुरुदेव ने कहा—‘शैवेन्द्रा वगीयमी !’ अन्तर पार मगराट गुना देने में क्या हाति है ?

गुरुदेव अन्तर पधार ! दृष्टि पड़ते ही मेहताजी ने उनके चरणों में मन्त्रक रख दिया और वच्चे की भांति बिम्बने हुए कहा—गुरुदेव ! मेरा सर्वस्व टूटा जा रहा है। मेरे जीवन का एक साथ आधार छिन रहा है। प्रभो ! उसे बचाओ ! मेरी रक्षा कीजिए !

अद्भुत चमत्कार

गुरुदेव का अन्तःकरण करणा में परिपूर्ण हो गया। उन्होंने सभी भाव में उत्तर दिया—भावकजी ! धैर्य धारण करो ! निम्ने जन्म दिया है उसकी मृत्युजनिवाय है। अगर आयु का जन्तु था गया है तो देवराज इन्द्र भी किसी को बचा नहीं सकता। अत्यन्त शक्ति के धनी तीर्थंकर भी अपने आयुष्य में पड़ भर की वृद्धि नहीं कर सकते। उपाय नहीं तब तत्कार हाते हैं जब आयु के दक्षिण अश्विष्ट हा। किन्तु आप सर्वथा निराश हो चुके हैं। आपनों करने चिरन्तव के जीवन की आशा नहीं रही है। ऐसी स्थिति में कर्मयान् यदि बालक स्वास्थ्यलाभ कर ले तो क्या आप उसे विश्वहित के हतु म्क्षम बनाने के लिए हमें नहीं देंगे ?

निर्गुण मन्त्र योगपदार और धर्मप्रचार के लिए ही जीवन रहते हैं, मेहताजी इस तथ्य से भीभाति परिचित थे। अतएव गुरुदेव की इस दामयावरी ने उनके हृदय में आशा का किंचित् मचा हुआ। उन्होंने हाथ जोड़ कर निवेदन किया—भगवन् ! आपके आदेशपालन में मुझे किंचित् भी मकोच नहीं होगा।

गुरुदेव ने मगराट का उच्चारण करने के पश्चात् दयाद्वेष ने चरितनायक के मन्त्रक पर कर-स्पर्श किया। गुरुदेव पधार गए। पूरे दिन और रात तो उसी की त्यों स्थिति बनी रही किन्तु दूसरे दिन की अरुण वेला के साथ ही चेतना का पुनरागमन होने के लक्षण प्रकट होने लगे।

तदध्वर्या की शक्ति तर्क और अनुमान ने अगोचर है। जहां समय भौतिक माधन विफल हो जाते हैं वहां भी तप का दिव्य प्रभाव अपना चमत्कार दिखलाता है। यह घटना राजपि नमि का स्मरण दिला देती है।



चरितनायक दूसरे दिन से उत्तरोत्तर आरोग्यलाभ करने लगे। पूज्य महागज साहब बीच-बीच में दर्शन देते रहे। नियमानुसार महाराजश्री का अन्यत्र विहार हो गया और चरितनायक पूर्ण स्वस्थ हो कर समय यापन करने लगे।

ममता की मार

कुछ काल के पश्चात् पूज्य श्री मानमलजी महाराज साहब पुन पाली पधारे। चरितनायक के पिता मेहता साहब दशनार्थ पहुंचे तो गुरुदेव ने प्रश्न किया—मेहताजी कुंवर साहब के विषय में क्या विचार है ?

मेहता साहब प्रश्न का आशय समझ गए। पर सकट टल जागे के पश्चात् उनके हृदय में परिवर्तन हो चुका था। उनका मन पुत्र ममता का परित्याग करने में अममर्थ हो गया था। अतएव वैसे सज्जनों के साथ उन्होंने विवेचन किया—गुरुदेव ! मेरा अन्य कोई उत्तराधिकारी नहीं है। मुझ पर अनुग्रह कीजिए। आप की चरणमेवा से विमुख नहीं होना चाहता किन्तु पुत्र का मोह त्यागने की क्षमता भी नहीं पाता।

गुरुदेव ने निस्तुह्माव में कहा—जैसी आपकी इच्छा ! मगर ध्यान रखिए मिश्रीमल (चरितनायक) आपके घर में रहने वाला नहीं है। उसका विराट् व्यक्तित्व परिवार की परिधि में समा नहीं सकता। उसके द्वारा सघ और ग्रामन का बहुत उपकार होने वाला है।

जिन लोगों ने मुनिराज का यह वक्तव्य सुना वे विस्मृत हुए। उनमें से जो अवशिष्ट है वे आज भी मुनिराज की भविष्यवाणी की यथार्थता देख कर अत्यन्त विस्मय अनुभव करते हैं।

गुरुदेव के प्रति आकर्षण

दिन पर दिन व्यतीत होते गए। चरितनायक गुरुदेव के द्वारा रूग्णस्थिति में किए उपकार में और अपने निषय में तो गई भविष्यवाणी से भीतीभाति परिचित हो चुके थे। इस कारण गुरुदेव के प्रति सहज ही श्रद्धा का भाव पनप गया था।

गुरुदेव का पुन पाली में पदार्पण हुआ। मेहता साहब उस समय कार्यवश बाहर गए हुए थे। चरितनायक गुरुदेव के दर्शन और उपदेशश्रवण के लिए पधारे। उपदेश श्रमण करके आपके मन में अपूर्व आह्लाद उत्पन्न हुआ। जो श्रद्धा भीतर ही भीतर पनप रही थी वह विकसित हुई। जब तक गुरुदेव वहां विराजमान रहे, आप प्रतिदिन उपदेशश्रवण के लिए जाते रहे। आरुपण तीव्र होता गया, श्रद्धा प्रगाढ़ होती गई। गुरुदेव के चरणों में जीवन अर्पित कर देने का सत्करूप सजोव हो उठा।

एक दिन आपने मेहता साहब के अन्यतम मित्र वपतावरमलजी, नथमलजी बुबुकिआ और पूसागमजी घारीवाल के समक्ष अपना मनोभाव व्यक्त कर दिया—मैं गुरुदेव के चरणों में रह कर समय का पालन करना चाहता हूँ।

तीनों सज्जनों ने एक स्वर में कहा—बापू ! यह सभव नहीं है। तुम मेहता साहब के एकाकी पुत्र हो। वे उग्र स्वभाव के व्यक्ति हैं। वे तुम्हें समयग्रहण करने की कदापि अनुमति नहीं देंगे। तुम्हारी यह डच्छा, कितनी ही हो प्रशस्त क्यों न हो, पूर्ण नहीं हो सकेगी।

तेजस्वी पिता के तेजस्वी पुत्र ने दृढ़ स्वर में कहा—यदि मेरे मन में किसी प्रकार की दुर्बलता नहीं है और भावना में पवित्रता है तो मेरे निदिष्ट पथ में कोई अवरोध खड़ा नहीं कर सकता। मेरी विचारधारा जिस दिशा में प्रवाहित हो चली है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। मेरा निश्चय अडिग है। वचन में, रूग्णवस्था में, इस देश का अन्त आ जाता तब भी पिताजी को धर्म धारण करना पड़ता। फिर मेरे स्वस्थ होने पर गुरुदेव को भेंट कर देने का वे वचन भी दे चुके हैं। मेरे जीवनदाता गुरुदेव हैं, मैं उसीकी शरण ग्रहण करना चाहता हूँ।

इसके अनिश्चित, पिना के मरु की रक्षा करना पुत्र का कर्तव्य है। मोहग्रस्त होने के कारण पिनाजी प्रतिज्ञा में विचलित हो तो भी मैं उसकी प्रतिज्ञा भी नहीं होने दूँगा।

चरितनाथ की इस हठता ने नीलों मन्त्र प्रभावित हुए और वे लोकलयाण की भावना में उन्हें परोक्ष रूप में प्रोत्साहन देने लगे।

प्रचंड पितृक्रोध

जन्मशततीरा पर्व अमृत पुगानन है। भावान् आदिनाथ के समय में, इस नमस्सुमिदुग के प्रारम्भ में ही, हम जब भी स्थापना हुई। तन्मन्त्रान् बीच-बीच में पठित होने वाली अनेक मन्त्रपूर्ण घटनाएँ इस पर्व को नूतन गौरव में सज्जित करती रही हैं। यही पर्वदिन था जब हमारे चरितनाथ ने गुरुदेव के साथ विगगी अवस्था में प्रथम विज्ञान किया। इसी दिन जागे चरितनाथ ने प्रवचना अर्थात् कर्क मुनिजीवन में प्रवेश किया। धन्य है अमृत-तृतीया पर्व।

गुरुदेव ने प्रवचनापूजा के दिन पाली में विज्ञान किया तो चरितनाथ ने भी उनके पय का अनुगमन किया। अन्य मन्त्रमन्त्र पिताका ने नाने कुछ दूर तक जाकर लौट गए मात्र चरितनाथ किमी दूर से नाते गए थे। वे जाते पदान नीमनी नर नाग-नाग गए। मन्त्र का समय हो गया। मेहना माहव तब तक भी पाली नहीं गीते थे। आगनी काशी माहवा के उद्वेग का पार न रहा। सभी जोर नश्वर की गई किन्तु कहीं पता नहीं लगा। काशी ने मेहना माहव के पान की एक मेखन भेज दिया कि वे जल्दी पधारें और 'बना' साहव का पता लगाएँ।

मेहना माहव हर मयाद पुनने ही पाली लीटे। तब तक पता लग चुका था कि बना माहव (चरितनाथक) मशान्त्री जो पहुँचाने गए थे, ममवन उन्हीं के साथ चले गए हैं।

गुरुदेव इस समय 'मृगपुग' पढ़ रहे थे। मद्यज्ञ के १२ बजे होगे कि ऊट पर सवार मेहताजी मृगपुग पढ़ा गए। उग्र नृत्य ना रहा था, उग्र मेहना माहव का तेजस्वी चेहरा ममनमा रहा था।

पुत्रविशोग की भीषण रज्ज्या ने मेहना मा० के विवेक की आच्छादन कर दिया था। अनएव आते ही उन्होंने आदेश के साथ गुरुदेव को मर्यादाहीन शब्दों में उपासना देना आरम्भ कर दिया। मगर अमानागर गुरुदेव का मुद्रमाउट रगो नाथों निश्चिन्त रहा। उन्होंने शान्त एवं गम्भीर स्वर में कहा— हम आपके मुपुत्र का साथ नहीं पाए हैं। वह अपनी टुन्डा ने चगा जाया है। यदि आपके मात लीटता है तो हमें क्या आपत्ति है। हम रोकने वाले नहीं हैं। हमें दुःख-मन्त्र वह कर आप अपने गौरव को क्यों कम करने हैं?

मेहना माहव का गान चरितनाथ पर बरम पड़ा। उन्होंने आपकी बटुन और कडोर शब्दों से भर्त्सना भी नहीं की, दो-चार चपल भी जड़ टिग। वे भूट गए कि पुत्र वरम्भ है और गुरुदेव तथा अन्य मन्त्राल पुरुष यहाँ मौजूद हैं।

चरितनाथ फिर भी दृढ़ रहे। बोले—पिनाजी! आप घर प्यारिए। मेरा भाव घर चरने का अब सर्वथा नहीं है।

उन थोड़े-से शब्दों ने आग में घी का काम किया। मेहना माहव का ओंघ और अधिक भड़क उठा। जिस ऊट पर सवार होकर वे आगे थे, उसे बिछलाने हूए बोले—देखता हूँ कैसे नहीं चलते हो। मीथी तरह नैयार न हुए तो ऊट ने बाध कर के चढ़ाया।

मृगपुरा के थावक अब तक पूरी तरह मौन थे। मेहना माहव को आपने ने बाहर होते देख मेठ हीराचद जी बोले—आप क्यों इनने उग्र होने हैं? औरत रज्जिए। आगे कूबर माहव स्वेच्छा में जाते हैं तो ले जाइए। इस प्रकार वह प्रयोग पूर्वक ना हम उन्हें ले जाने नहीं देंगे।





मेहता साहव की उत्तेजना की सीमा न रही। सेठजी के शब्दों में स्पष्ट चुनौती थी। उमे वर्दाश्त करते हुए उन्होंने कहा—किसकी हिम्मत है जो बलपूर्वक मेरे लड़के को रोक सके। मैं एक-एक को समझ लूंगा। अभी मैं जाता हूँ। आप और आपके गुरुजी किस प्रकार इसको दीक्षा देते हैं, मे देख लूंगा।

मेहताजी जैसे गए थे वैसे ही पाली लौट आए। खाना दूर, पानी तक ग्रहण नहीं किया। मगर उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। आपने परिणाम का विचार किये बिना ही गुरुदेव तथा उक्त तीन सज्जनों (बखतावरमलजी नथमलजी वृवुकिया तथा पूषारामजी खारीवाल) के विरुद्ध फौजदारी मुकदमा दायर कर दिया।

इधर सेठ हीराचन्दजी जोधपुर गए और भडारी सूबचन्दजी माहव को मारी घटना सुनाई। भडारी माहव जोधपुर के प्रभावशाली व्यक्ति थे और ऊपर तक उनकी पहुँच थी। उन्होंने सेठ हीराचन्दजी द्वारा पूज्य गुरुदेव के पाम सवाद भेज दिया—‘आप आनन्दपूर्वक विचरें। किसी प्रकार उद्वेग अनुभव करने की आवश्यकता नहीं। चिन्ता और भय तो हम गृहस्थों के लिए है। हम सब निवृत्त रहेगे, आप निर्भय रहें।’

सेठ हीराचन्दजी के अति तेजी से भडारी साहव ने राज्य के उच्च अधिकारियों को मकेत करवा दिया कि इस मामले में वे यथार्थ निर्णय लें। मेहताजी के प्रभाव में कोई गलत निर्णय न ले लिया जाए।

परिणाम यह हुआ कि अभियोग फाइलो में ही दबा रहा। चिरकाल तक कोई निर्णय सामने नहीं आया।

विलक्षण विचक्षणता

गुरुदेव सूरपुरा से बिहार कर मादलिया पधारे। दो दिन ठहर कर तीसरे दिन बिहार करन लगे तो मूया नन्दरामजी, रावनमलजी, मूलचन्दजी तथा लोढा उम्मेदमलजी ने गुरुदेव के चरणस्पर्श कर प्रार्थना की—गुरुदेव! कुछ दिन और विराजिए। आज तो हम हर्गिज न जाने देंगे।

गुरुदेव के उत्तर देने से पूर्व ही चरितनायक ने कहा—भाइयों! आप अतीव आग्रह के साथ महाराज से विराजने का अनुरोध कर रहे हैं किन्तु इन दो दिनों में मैंने देखा कि आप बड़े-बड़े सरदारों में से एक ने भी कभी सामायिक नहीं की। धर्मध्यान न होता हो तो सन्तों को रोकना निरर्थक है।

बैरागीजी के इस संक्षिप्त कथन में अनेक तथ्य सन्निहित थे। एक ओर मादलिया के धावकों के प्रति उपालम्भ था तो दूसरी ओर यह सत्य भी स्पष्ट झलकता था कि धावकों के माथ सन्तों का जो नाता है वह धर्मन्या का ही है।

मूया नन्दरामजी विवेकवान् धावक थे। बैरागीजी का कथन उन्हें अप्रिय नहीं लगा, वरन् उन्होंने उक्त कथन का समर्थन करते हुए विनोद में कहा—गुरुदेव, तीन पीढ़ी तक तो हमें बड़े ही वात्सल्य में रखा गया है, यह चौथी पीढ़ी (चरितनायक) तो बड़ी ओजस्वी प्रतीत हो रही है। जान पड़ता है, अब ढिलाई में काम चलने वाला नहीं। हमें अभी से इनके अनुशासन के अनुकूल अपने को बदलना पड़ेगा। अनुग्रह कर आज मैं ही सामायिक का नियम दिला दीजिए।

गुरुदेव उस दिन मादलिया में ही विराजे। एक नूतन वातावरण निमित्त हो गया।

गुरुदेव ने वि० स० १९६९ का चौमासा जयतारण में और १९७० का कहलवाज में व्यतीत किया। इस अवधि में चरितनायक ने गुरुदेव के चरणों में रहते हुए धावक और साधु का प्रतिनिधमण, दो सौ थोकड़े, दशवैकालिक-मूत्र, नन्दीमूत्र और उत्तराध्ययनमूत्र के १३ अध्ययन कठस्थ कर लिये थे। अनेक स्तवन तथा सज्जाय भी कण्ठस्थ हो चुके थे। रात्रि के समय जब आप सुमधुर स्वर में स्तवनगान करते तो एक ममा बन्ध जाता और भक्ति तथा वैराग्य की लहरें श्रोताओं के मानस-सर में लहराने लगती थी। आप प्रायः निरन्तर स्वाध्याय में लीन रहते थे। आपकी दैनंदिन प्रवृत्तियों से लोगों का आप में एक प्रकार की अलौकिकता का आशय होने लगा था।

गुरुदेव की भविष्यवाणी

दि० न० १६-१ के भाजी—चानुमान्ध मे पिचान गियानी श्री छोटभनजी चो-डिया ने गुरुदेव की सेवा मे फरार चार मान मारीन लिए। चानुमान्ध के अन्न मे गुरुदेव ने कमाया—टोमलजी, दीपक मे अब तैल कम है, धन आत्मनायना ता विशेष गान रगों। अपविग्रह्वति मनुष्य को उच्चो धान्नि प्रदान करती है। वृद्धावस्था मे ता उगे पुगे नया पता हो केना चाहिण।

चो-डियाजी ने घा जाकर अने पाय ता प्यारान्-जवमाय ता मार नभला दिया। वे आत्मारोघन मे ही गीन रह्य गे। अन्न तब गुरुदेव की आज्ञा का पालन किया और कुछ दिनों बाद स्वर्गवासी हो गए।

अद्भुत घटना

उन बीमारों मे एक और उल्लेखनीय घटना घटित हुई। एक श्रावक चौविहार अष्टमभवन की तपस्या मे लगातार मे प्रमत्तमान रह रहे थे। रात्रि के चौर घण्टे मे मँघ जगा कर ५-७ हुआ की चींगी कर ले गए। जब वे तार के रास्ते पहुँचे तो गुरुदेव के जन्मदिन प्रभाव के दिग्भ्रान्त हो गए और मूर्खोदय तक ग्राम के आनपाव ही चक्कर घाटने लगे। प्रभाव मे चोरी का पता लगा। तोफो न पीछा किया और पूरे माल के साथ चौर पकड़ लिये गए। चोरी ने गुरुदेव के चरणों मे नमस्कार गौर क्षमायाचना की।

उन चालाकों का देवदत्त जनता अनीब ध्रुवाणु हो गई। समस्त ग्रामनिवासियों ने मिलकर वैरागीजी (चग्गिनायक) का दीक्षा का समावेश भाजी मे ही करने का अनुरोध किया किन्तु गुरुदेव ने उसे स्वीकार नहीं किया। उल्लेख मे कमाया वैरागीजी का अनी तब आज्ञा प्राप्त नहीं हुई है और आज्ञा के बिना दीक्षा नहीं दी जा सकती।

अद्भुत परीक्षा और शुभाशी :

भाजी चानुमान्ध की ममाणि के पचान् गुरुदेव के साथ चरितनायक जाधपुर होते हुए मोजत पवारे। यशवृद्ध विनायकमर्मज स्वामीजी श्रीप्रमोदचन्द्रजी म० का भी वही पदापण हुआ। चरितनायक इस समय तक अपनी प्रथम प्रज्ञा जी मेरा के राख्य पर्याप्त स्थिति उजाहित कर चुके थे। मन्त्री और श्रावकों का ध्यान अनायास ही आसानी से आकर्षित हो जाता था। मोजत मे उक्त स्वामीजी ने चरितनायक के आगमज्ञान की परीक्षा ली। प्रश्न किया—गुरुदेव भग्दर उपयोग कितने हैं ?

चग्गिनायक—स्वामिन् ! मनुष्य रूप मे रह है और इस समय की अपेक्षा तीन। क्योंकि जब मतिज्ञान और ध्रुवज्ञान होते हैं तब ज्ञान नहीं हो पाते एवं बहुदर्शन के समय बहुदर्शन संभव नहीं है। यह तीन उपयोग भी शक्ति की अपेक्षा के हैं। उपयोग की अपेक्षा मे तो एक समय मे दो उपयोग हो ही नहीं सकते।

स्वामीजी—तुम आहारक हो या अनाहारक ?

चग्गिनायक—स्वामिन् ! आहारक हूँ।

स्वामीजी—भाषण हो या अभाषण ?

चग्गिनायक—स्वामिन् ! भाषक हूँ।

स्वामीजी ये उक्त मुनिक अत्यन्त मनुष्ट और प्रमत्त हुए। बोले—पूर्ण आज्ञा है, हमारे सम्प्रदाय मे यह एक आदर्श मुति होगा। यह रह कर उन्होंने चग्गिनायक के गिर पर कर-कमनाक्षेप किया और शुभाशीर्वाद दिया।

अद्भुत स्मरणशक्ति

स्वामी श्रीप्रमोदचन्द्रजी म० के गुरुजी द्वारा रचित 'द्विधत पण्टो' नामक एक रचना थी जो महाभारत





के कथानक के आधार पर लिखी गई थी। महाभारत की सम्पूर्ण कथावस्तु संक्षेप में किन्तु अत्यन्त सुन्दर ढंग से उसमें गुम्फित की गई थी। रचना की एक ही प्रति थी और वह प्रमन्नचन्द्रजी स्वामी के पास थी। चरितनायक के गुरुदेव ने उसकी एक प्रतिलिपि करानी चाही किन्तु स्वामीजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। तब गुरुदेव ने सहज भाव से फर्माया— रात्रि में यथावसर उम रचना का श्रवण तो करा दीजिए।

अन्य श्रोतृसमूह के साथ स्वामीजी को वह रचना सुनाई गई। श्रोताओं में हमारे चरितनायक भी थे। आश्चर्य है, आपने एक बार सुनकर ही उम समय लावणी रचना को कण्ठस्थ कर लिया। जब सन्त मधुदाय निद्रा में लीन हो गया तो क्षुब्ध ज्योत्स्ना ने कण्ठस्थ की हुई रचना को लिपिबद्ध भी कर डाला।

प्रातः काल गुरुदेव ने स्वामीजी से कहा—स्वामीजी, ज्ञान का अधिक से अधिक विस्तार करना चाहिए। सकोचवृत्ति के कारण भारतीय विद्याओं का बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग नष्ट हो गया है। इस विषय में उदाग्ना वरतनी चाहिए।

स्वामीजी ने उत्तर दिया—आपका कथन यथार्थ है, पर इस रचना पर मेरी ऐसी कुछ ममता हो गई है कि उसे कम करना मेरे लिए मंसव नहीं।

इस वातालाप में भाग लेते हुए चरितनायक ने कहा—आपको कोई आपत्ति न हो और गुरुदेव का आदेश हो तो मैं वह रचना गुरुदेव को सुना सकता हूँ।

गुरुदेव और स्वामीजी विस्मित हो गए। स्वामीजी ने कहा—वैरागीजी ! क्या कह रहे हो ?

वैरागीजी - सत्य निवेदन कर रहा हूँ। आज्ञा हो तो अभी सुना दूँ।

सुनाने की आज्ञा होते ही हमारे चरितनायक ने तत्काल उक्त रचना की २६५ गाथाएँ कण्ठस्थ सुना दी।

दोनों सन्त तथा अन्य उपस्थित श्रोता चकित और विस्मित रह गए। इस काल में इतनी तीव्र स्मरण-शक्ति ! इतनी विद्याल मेधा !

स्वामी प्रमन्नचन्द्रजी ने कहा—वैरागी ! तुम्हारा बुद्धिबल सराहनीय है। अत्यन्त प्रसन्नता है कि सम्प्रदाय में ऐसे भावी सन्त विद्यमान हैं। तुमने मुझे लूटने का सा काम किया है परन्तु लूटने का मुझे दुःख नहीं है। वस, इतना ध्यान रखना कि इस वैगव का अपव्यय न हो। तुम स्वयं इसका उपयोग करना।

वैरागी अवस्था में आपने जिस असाधारण स्मरण-शक्ति का परिचय दिया वह आधुनिक युग में सर्वथा आश्चर्यजनक है !

गुरुदेव का वियोग

वि० म० १९७५ का चौमासा आठवा की देवली में सानन्द व्यतीत कर गुरुदेव ने विहार किया। हमारे चरितनायक छाया की भाँति सदा साथ ही रहा करते थे। थावको का समूह जय-जय के निनाद से आकाश को गुंजित कर रहा था। उनमें एक दलीचन्द्रजी सोलकी भी थे। सोलकीजी चरितनायक के गोत्रीय भाई और गुरुदेव के अनन्य श्रद्धालु भक्त थे। मासालिक श्रवण करने के पश्चात् लौटते समय सोलकीजी का हृदय गद्गद हो उठा। अश्रुधारा प्रवाहित होन लगी। तब गुरुदेव ने फर्माया—दलीचन्द्रजी ! मेरे माय ही दया पाला, शायद अब अपना मिलन नहीं होगा।

दलीचन्द्रजी के कलेजे में जैसे वज्र का आघात हुआ। गुरुदेव के वचनों पर उन्हें अविचल विज्वाय था, अतएव उन्हें निश्चय हो गया कि अवश्य कोई अवाञ्छनीय परिस्थिति उत्पन्न होने वाली है।

गुरुदेव ग्रामानुग्राम विहार करते हुए जोधपुर पधार गए। पीप झुंझला १५ को अपराह्न में गुरुदेव की मीत का किञ्चित् अनुभव होने लगा। सम्पूर्ण रात्रि ज्वर की स्थिति में व्यतीत हुई। प्रातः गुरुदेव ने फर्माया—मेरा भाव सथारा करने का है। मन्तों और थावको को सूचना हो जानी चाहिए।

मिथुदेव ने यह दुःसवाद समग्र जोधपुर में और दूर-दूर तक अन्तर्गत भी फैल गया। अन्ततः माध कृष्णा ने दिन गुदेव ने मनोविप्लवक प्रार्थना किया। उस आश्चर्यजनक दुष्टता का चरित्रनायक के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। जापनी विरगित उस चरित्र सीमा तक पहुँच गई। पूज्य श्री मानमजी म० के स्थान पर अब स्वामीजी श्रीगुरुमठजी म० वास्ते हुए, अभिषेकक एव प्रथमस्तंभ थे।

दीक्षा में विघ्न

गुदेव ने स्वर्गागोष्ठ्य के पञ्चान् चरित्रनायक श्रीगुरुमजी महाराज के पास विहार करने हुए सोजना गया। सोजना श्रीरज ने गुरु महाराज के पास आया श्री—गुदेव ! वैरागीजी के वैराग्य की तुम परीक्षा हो चुकी है। उन्होंने अपने धारणों परम या उन्मूल्य पात्र चित्र न किया है। जय उनकी दीक्षा की स्वीकृति प्रदान कीजिए।

गुदेव ने कहा—वैरागीजी की योग्यता तो सर्वविधि है किन्तु उनके पिताजी की आज्ञा प्राप्त नहीं हुई है।

श्री गुरु ने निन्दित किया—उह! क्या स्थिति है गुरु है। श्रीगुरु उन्हें आज्ञा देगा। अब अधिक प्रतीक्षा करना उचित नहीं।

गुदेव गीत करता। 'मीन स्वर्गागोष्ठ्यम्' की उक्ति को अनुमान करने मध ने वैरागीजी की दीक्षा के लिए अक्षयवृत्तीया का शुभ मुहूर्त निर्दिष्ट कर दिया। तब भ्रम में दीक्षा महाराज की वृत्त मच गई। चरित्रनायक जोवि नदीने पिताजी के नाम से उदात्त भिन्न जाने गये। मध ने अग्रव उत्साह था, महाराज उल्लास या और अनुपम रूप था। एक देवी वानावत्ता की, मुद्रा थी।

मीन विन्दोने निर्दिष्ट था गुरु। चौथे दिन उसी ही आप जुलूम के पास स्थानक में लीटें कि पुलिम मुपरि-टेंटेंट, मीन इन्फेस्ट और मध स्पेस्ट दृष्टिकोण के पास आ घमके। चरित्रनायक के पिताजी ने पुलिम में रिपोर्ट कर दी थी श्री-उत्ती के जापान पर पुलिम ने पारसार्थ शुभ की थी। मेहना गाह्व ने अपनी रिपोर्ट में दीक्षा न होने देने के दो कारण बताए—

- (१) दीक्षा की आवश्यकता नहीं पायागित है, और
- (२) मातृ उते भगा कर के जाण है।

पुलिम ने आकर दीक्षापत्र के गिरन उन्मियन कर दिया। सब के प्रमुख जनों में प्रतिज्ञापन (मुचलके) लिखा जिसे कि दीक्षा नहीं हो जाएगी।

तब मे जिनना हर्ष था उनका ही रिवाद व्याप गया। गुदेव की सेवा में मध एकत्र हुआ। गुदेव उस समय भी मस्तिष्क मुद्रा में थे। बोले—दीक्षा का रत्न या परिणाम देय किया न आपने। किन्तु भयभीत होने का कोई कारण नहीं। रत्न के प्रभाव ने मध और होगा।

उनने मे हा-मानवी मुप्रीधियक मुपरिटेंट श्रीमोतीराज अग्रमान और हाजिम माह्व श्रीन्यू माई गुरु महाराज के दर्शनार्थ पत्रार। उन्होंने। मार्ग परिस्थिति या अध्ययन किया तो स्पष्ट हो गया कि उक्त दोनों आशय मिथ्या थे। फिर उद्यम इन अग्रिनागियों के प्रयत्न से और उपर श्रीगुरुचन्द्रजी भडारी के प्रयत्न में विघ्न के बादत बिचुर गए और राजाज्ञा प्राप्त हो गई कि दीक्षामुष्कार सम्पन्न कर दिया जाए।

दीक्षा-ममारोह

राजाज्ञा प्राप्त होने ही मध में द्विगुणिन उल्लाह और उमग उत्तम हो गई। सभी मण्डलकार्य सम्पन्न होने गये। आग्रि दीक्षा का समय आ पहुँचा। मीनन नगर के नज्जोम द्वार के बाहर, बट वृक्ष के नीचे अगणित मानव-मनुष्य की उपस्थिति में दीक्षामुष्कार का विविधविधान प्रारम्भ हो गया।





पाली के श्रीहस्तीमलजी रानडिया तथा रत्नचन्द्रजी श्यामाजी चरितनाथक के पिता मेरुता मातर का भी मना कर ले आया। मेरुता साहब पर दृष्टि पड़ने ही मुन्देर ने कहा—मरुता साहब, क्या विचार है ? पिता दी जाय ?

मेरुता साहब ने नथो ने उज्ज्वल माती दर्शाने हुए दोनों हाथ जोड़ कर उत्तर दिया मुन्देर ! अपना धर्मा करे। पुत्र के मोह से मूढ़ होकर भगे आपका अभिनय दिया है। अब आप सुधी ने मेरे उत्तर में दीक्षा दिलाए।

सम्पूर्ण वातावरण में अन्तारा परिचयित हो गया। तब मे मेरुता साहब ने प्रति जा कटुता थी वह मधुरता के रूप में परिणत हो गई। चरितनाथका न रोगी अवस्था ने मुनि भगवान में प्रवेश किया।

अनेकानेक कठिनाइयों और विपदाओं को अपने दृढ़ मनोबल ने तब मुन्देर के श्रीश्री प्रभु से पार करके मुनि बने हमारे चरितनाथक आज मरुधरकेसरी, आपुर्वा, पण्डित, मनी मुनि श्रीश्रीचन्द्रजी मठा-राज के रूप में विराजमान हैं।

प्रख्यात-पर्याप्त अमीरार किये पनाम चर्च-आधी घातरी का लम्बा रात थीन गया। इस मुनीयें वा म मुनिधी न समयसाधना के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति के साथ मय, धामा और मन्त्र के उद्घाटन में भी उत्कृष्ट योग प्रदान किया है।

इस आधी घातरी के कार्यकलाप का परिणाम प्राप्त करने के लिए पाठों की तब विस्तृत ग्रंथ की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। यहाँ अतिशय में कतिपय विषयों का ही ज्ञान किया जायगा।

ज्ञानार्जन

मुनिधी की प्रतिभा, प्रज्ञा, मेधा और स्मरणशक्ति कितनी तीव्र है, इसका पश्चात् पाठ प्राप्त कर चुके ह। ६-७ मास नितने स्वल्प काल में हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और अंग्रेजी, इन चार भाषाओं का प्राप्ति प्राप्त कर लेना कोई साधारण बात नहीं है। पूर्वाज्ञित मन्त्रों की महागता ने ही इन प्रकार की मन्त्रों प्राप्त की जा सकती है।

इस प्राथमिक शिक्षण के पश्चात् यह वर्षों तक विरामित रूप में मुन्देर के निम्नलिखित नामों में स्वरूप आपन आगमों का अभ्यास किया। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, एक ही चारुमास्त्राल में आपने दो सौ षोडश, सात आगम तथा अन्य स्तवन सज्जाय आदि कठिन कर लिये थे। इसीने अनुमान किया जा सकता है कि छह वर्षों में आपने विनया अध्ययन, चिन्तन और मनन किया।

मनीषी जन अध्ययन करते-करते कभी अघाते नहीं हैं। उनका ज्ञान ज्या-ज्या गहरा होना जाता है त्यों त्यों उनकी जिज्ञासा प्रबल में प्रबलतर होनी जानी है। मुनिदश में प्रवेश करने के पश्चात् आपकी अध्ययनविषयक उत्कृष्ट अभिलाषा और भी बढ़ गई। आपका प्रथम चीमारा वि० सं० १९७६ में अवधारण में हुआ। इस चीमारे में आपने जोधपुर निवासी पण्डित देवीदत्तजी ने लघुकौमुदी, पञ्चतन्त्र, तर्कमग्न तथा अमरकोष आदि का अध्ययन किया। इनके तात्पर्य को भलीभाँति हृदयगत कर लिया।

तत्पश्चात् दूसरे चीमारे में, जोधपुर में, आपके अध्यापन के लिए भारतविख्यात विद्वान् प० भगवती-लालजी की सेवाएँ प्राप्त की गईं। पण्डितजी की अध्यापनशैली अनूठी थी। दुर्बोध से दुर्बोध विषयों को भी सुबोध शैली में विद्यार्थी को हृदयगत करा देते थे। मुनिधी जैसे कुशाग्रबुद्धि सुपात्र को पाकर उन्होंने अपना ज्ञानमण्डार मुक्त कर दिया और मुनिधी ने भी उस मण्डार के वटवृक्ष रत्नों को आत्मसात् कर लिया। इस चीमारे में आपने अनेक विषयों का प्रौढ़ ज्ञान प्राप्त किया।

नीमरे गोजन—चातुर्मास्य मे पुन १० देवीजननी तथा १० मुन्दरालनी को आमन्त्रित किया गया और मुनिश्री ने पाण्डित्य के जले- सोपानों को पार किया ।

वि० स० १६२३ के चातुर्मास्य मे चरितनाथ जी रवि प्राहृतभाग क अवसरन की हुई । ऐसा जाना स्वाभाविक भी था, क्योंकि समस्त प्राचीन एवं मौखिक जैन वाङ्मय प्राहृतभाषा मे निबद्ध है और उसे मूर्खानाति जाने बिना जाना के वास्तविक श्रोत्र गभीर एवं सा समजना कठिन होता है । आपकी उस जिज्ञासा की पूर्ति प्राहृत भाषा के दुर्लभ विद्वान् प० रामरांजी यामोरा के सहयोग मे हुई । साथ ही प० भगवनीशालनी ने आपको व्याख्या, माहिर्य प्रो-स्वायमास्य या उन्व-वादि सा अवसरन कराया ।

वि० स० १६२४ के वदनाथ चातुर्मास्य मे आपका जन्मन जी नी प्रसिद्ध मिश्रित हुआ । उस वा-
स्या-माहिर्य-भाषाचार्य पाण्डित्यवर विदेह-वत्तजा पात्र भाग तर जन्मरण मे ही रहे । चरितनाथ ने पिढान्गोमुदी, सारमुत्तायन, स्वाहादम-मरी, सन्वायगज्यातिनादराग, सम्मतिनकं तथा महाभाष्य जैसे उच्च शक्ति के ग्रन्थों का जन्मन किया । आपने उस रा वङ्गभाषा अध्ययन मे ही व्यर्जन जाना था । अब आप व्याकरण माहिर्य, सार और आत्म के विभिन्न विज्ञान हो गए । आपका पाण्डित्य प्रज्ञा होकर निखर उठा । उस समय तर आप सम्पूर्ण ज्ञान मे मुन्दर स्वभाव करने लगे थे । जमर काटिज के प्रसिद्ध प० शम्भुनाथजी भी मुनिश्री की परीक्षा के हेतु प्रायः प्रतिभाप पराग्ने रहे ।

मुनिश्री ने हिन्दीभाष्य का विशेष अध्ययन भी उस चीमाने में किया । उस प्रकार आपका अध्ययन स्ना-
नाकोटि पर पहुँच गया और आप प्रथम शक्ति की विद्वाना मे सम्मान हुए ।

विविध भाषाओं और विविध विषयों का ज्ञानार्जन कर देने के पश्चात् आगमों के अध्ययन का मार्ग स्थान प्रशस्त हो गया । आपका बुद्धिर्बल प्रियक्षण तो था ही, स्वाध्यायशील वृत्ति के कारण पैदान्त्रिक ज्ञान भी गहन हो गया ।

कविन्ध और साहित्यमर्जना

वि० स० १६२४ के जाप गद्यप्रारम्भ कर रहे हैं । सर्वप्रथम आपकी दो रचनाएँ प्रकाश मे आई 'ममाज-
मुगार' और 'जैन दिग्गजप्रहार ।' नन्वस्वात् आपका कविन्ध गभीर और व्यापक होता ही गया । आज तक आपके कविन्ध की विमर्यादा अस्मरित गति के प्रशस्ति हो रही है । गद्यों पद्यों का आपकी लेखनी मे निर्माण हुआ है । जोरपुर मे मन्वरा के रचितमान ने आपकी अमायाग्य कवित्वमयि मे विस्मिन होकर 'आधुनिक' के कविष्ठ विरुद्ध मे निर्मूलित किया । गजस्थानी भाषा, वनभाषा और गूडी हिन्दी मे प्रायः समान रूप मे लिखते हैं । 'मन्वानरत' आपकी गजस्थानी भाषा की एक विराट् और उत्कृष्ट छति है । मन्वरी स्वयनों और मजनों की रचना कर चुके हैं । कठिन व कठिन समस्या की नराल पूति कर देना आपके लिए गिठवाट है ।

हिन्दी और गजस्थानी भाषा मे आपका गद्य भी अतीव मनाह्न होता है । सर्वमायाग्य जनना के जीवन मे अन्युद्य के दृष्टिकोण मे ही आप प्रायः लिखते हैं तो आपके मन्वजीवन के अनुस्य ही है । आपका साहित्य जीवन मे प्रम के प्रति आस्था उत्पन्न करने वाला एवं नैतिकता की प्रतिष्ठा करने वाला है । आधुनिकता के नाम पर वाम-
नाश्री की भडमाने वाले, सामाजिक मर्यादाओं को भग करने वाले और उच्छृंखलता उत्पन्न करने वाले कथित साहित्य का आप इन्कार ही समझते हैं । दुर्भाग्य मे आज उस प्रकार का गद्य साहित्य प्रचुर मात्रा मे दिखाई पड़ने लगा है, मुनिश्री के लिए यह पश्चिमाप या विषय है ।

मुनिश्री की साहित्यिक साधना के सम्बन्ध मे एक पृथक् निबन्ध मे सीमासा की जा रही है, अतएव यहां विस्मय मे जाना अन्याय नहीं है ।





वक्तृत्व

तन्त्रज्ञान के अमृत का आरुण्य पान करने वाले विद्वज्जन जब जगत् के उपकार या भव्य जीवों के उद्धार के लिए प्रयत्न होते हैं तो दो प्रकार के उपायों का ही उन्हें अवलम्बन लेना पड़ता है। या तो लेखन द्वारा अपने भावों को व्यक्त करें अथवा वक्तृत्व द्वारा। क्रिमी में लेखनकला की विशेषता दृष्टिगोचर होती है तो कोई विद्वान् अपने चागत्कारिक वक्तृत्व के द्वारा जनता का पथप्रदर्शन करते हैं। कोई विरल प्रतिभावान् ऐसे भी देखे जाते हैं जो दोनों प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न होते हैं। हमारे चरितनायक में अपने विचारों को अभिव्यक्ति देने की दोनों कलाओं का समान रूप में विकास हुआ है।

वि० म० (१७७ के जोधपुर चातुर्मास्य में ही आपने प्रवचन करना प्रारम्भ कर दिया था। आपकी नैमिगिद प्रवचनप्रतिभा का देखकर प्रसिद्धवना जैनदिवाकर श्री चौथमलजी महाराज ने हर्ष व्यक्त करते हुए फर्माया था—‘मुनिजी, एक बात हृदयगम्य कर लेना—जय व्याख्यान करें या स्तवन आदि सुनाए तब अपने मन में यही सोचें कि मैं स्वयं ही सब कुछ सुन रहा हूँ। इसमें आपकी वक्तृत्वयुक्त विकसित हो जाएगी और उत्तरोत्तर प्रसफुटित होती रहेगी।’

चरितनायक ने दिवाकरजी की सूचना को सदैव ध्यान में रखा और पूर्ण सफलता तथा सिद्धि प्राप्त की।

आज मुनिश्री मरुधरा के मन्तो में प्रथम श्रेणी के वक्तार्यों में गिने जाते हैं। आपका व्याख्यान प्रायः राजस्थानी भाषा में होता है। अत्यन्त ओजपूर्ण, प्रभावोत्पादक और श्रोताओं के अन्तर्मन को स्पर्श करने वाला। निर्र-गर्जना के समान आपकी गर्जना को सुनकर शायद ही कोई अवश्य ऐसा हो जो प्रभावित न हो।

सर्वसाधारण जनता की मनोरुचि के ज्ञाता मुनिश्री प्रायः किसी प्राचीन चरित का माध्यम बनाकर प्रवचन करते हैं। जिस चरित को आप लेते हैं, मजीब बना देते हैं। प्रासंगिक उपदेशों द्वारा उसे विभूषित कर देते हैं। वाच्य में आपके उपदेशों में महत्तम पतितों का उद्धार हुआ है। बहुतांश ने आत्मज्ञान का लोकोत्तर आलोक प्राप्त किया है। न जाने कितने श्रोताओं ने जीवन की दिव्यता और भव्यता प्राप्त की है।

वादशक्ति

मरुधरकेसरीजी धामन, मध एवम् सम्प्रदाय के मजग प्रहरी हैं। ऐसे प्रहरी, जो सदा मतर्क और सावधान रहते हैं और क्षण भर के लिए भी कभी गफलत में नहीं पड़ते। आपके जीवन की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है। जन कभी धामन या मध पर अथवा स्वानुवासी सम्प्रदाय पर किसी ओर में आक्रमण हुआ, आपने दृढतापूर्वक उसका सफ़र प्रतिरोध किया है। इस युग में तो प्रायः धार्मिक वादविवाद होते नहीं हैं, पण्डितवर्ग और जनसाधारण की मनोवृत्ति में बहुत परिवर्तन हो गया है, किन्तु अब में पञ्चीम-पचाम वर्ष पूर्व प्रायः वादविवाद और धाम्नार्थ हाँते ही रहते थे।

आर्यसमाज की ओर में जैनधर्म पर होने वाले आक्षेपों का प्रभावशाली उत्तर देने के लिए दिगम्बर जैन-समाज ने धाम्नाथ मध नामक एक पृथक् सस्था की स्थापना की थी किन्तु उसका कार्यक्षेत्र प्रायः पंजाब और उत्तर-प्रदेश था। स्वानुवासी समाज का ऐसा कोई संगठन नहीं था। ऐसी स्थिति में हमारे चरितनायक ने स्वयं ही एक संगठन का रूप धारण किया और जहाँ रुही ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ, आप स्वयं पहुँचे और जैनधर्म के मिथ्यात्वों की स्थापना करके विजय-वैजयन्ती फहराई।

प्रारब्धा ग्रहण करने के एक वर्ष पश्चात् ही एक प्रसंग उपस्थित हो गया। भोजन के निकटवर्ती क्षीरवादा ग्राम में वैष्णव मन्थामियों ने जैनधर्म का उपहास किया। कहा—“जैनसमाज और जैनधर्म हिंसा का पोषक है। उनके जमोरा-मन्थ का प्रथम चरण है—‘जमो अरिहताण’ अर्थात् जा शत्रुओं का घात करने वाला है उसे नमस्कार हो। एगो प्रकार और भी कुछ असंगत आगेव किण।”

श्रीगदादा के श्रावण गुप्तेव की सेवा में उपस्थित हुए। गुप्तेव उस समय चरितनायक के साथ मौज-मोट में विराजमान थे। श्रावणों की प्राचना स्वीकार कर गुप्तेव श्रीगदादा पधारें। वहाँ पहुँच कर चरितनायक ने मन्थानियों को रक्ता-जी-उनकी जिह्वा पर नात्रा लगाया। आपने स्पष्ट किया कि आध्यात्मिक उन्नति के वास्तविक काम, श्रम, मद, मोह आदि शत्रुओं का विनाश करने वाले ही अस्तिहन्त होते हैं। काम-क्रोधादि के विजेता देव ही मन्थे देव हैं। जो बामी है, जाद्वी है, गग-द्वेष में जिनकी आत्मा कलुषित है, वह देवत्व की गरिमा को नहीं पा सकता और न हमारा आराध्य हो सकता है।

मन्था विवाद हुआ। आन्तरिक मन्थानों के ब्यापक गुप्ती ने ही उन्हें समझाया—मूर्ख, क्यों प्रनाप करता है। नेत्र प्रश्न का उत्तर तो मिला ही गया है।

उपस्थित जैन-जैनवर जनता ने मुनिश्री के पाण्डित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की और श्रावणों का चित्त प्रसन्नित हो गया।

दि० स १६८४ के मासश्रावण—चातुर्मास्य में आर्यसमाजियों ने ईश्वरकृतत्व विषय पर गंभीर चर्चा हुई। गुप्तेव तो स्वभावतः शान्त, दान्त तथा योगोदात्त महापुरुषों में देखे गये मुनिश्री प्रनिपक्षिया में चर्चा करने में कभी हिचकते नहीं। आर्यसमाज के विद्वानों के साथ हुए बाल्मार्थ में भी आपने ही प्रसन्न भाव लिया और आपके अकाट्य तर्कों के सामने उन्हें परास्त होना पड़ा।

उसी प्रसन्न विराटा तथा आठवा की देवरी में मूर्तिपूजा समाज के साथ चर्चा करने के प्रसंग उपस्थित हुए। कई बार तैरायती सम्प्रदाय के मन्थों में भी आपका वाद हुआ।

अभिप्राय यह है कि आपकी बादशक्ति भी बड़ी प्रचुर है। स्यानकवामी परम्परा के मरक्षण का आपको मदैव ध्यान रहता है। जैनधर्म अथवा स्यानकवामी परम्परा पर होने वाले आक्षेपों का आने नदैव अपने प्रगाट वैदुष्य में निराकरण किया है। उन विषय में आपकी जागरूकता असाधारण है।

जैनशास्त्रों में श्रावण प्रचार के प्रभाव माने गए हैं। मगर हम देखते हैं कि मन्थरकेसरीजी अकेले में ही प्रवचन, धर्मकथा, तप, व्रत, कष्टित्व एवं वाद आदि के द्वारा अनेक प्रकार के प्रभावकत्व का समावेश है। उनके समग्र जीवन का अध्ययन करने में स्पष्ट हो जाता है कि मन्थरकेसरी बाल्मिव में जिनशामन के एक सुदृढ मन्त्रम है और जैनधर्म के सबल मन्त्र एवं परिश्रमा हैं।

सद्य-एकता

मध और धर्म में आपागम्य का सम्बन्ध है। यही कारण है कि जैनगमों में मध की महिमा बड़े उदात्त शब्दों में प्रकट हो गयी है। नन्दामूत्र में मध की बन्दना जल्यन्त आवर्ण एवं हृदयप्राप्ति शब्दों में की गई है। बाल्मिव में मध के बिना प्रम टिक नहीं सकता। मध जितना मुमगठित और टट होगा, प्रम का प्रभाव भी उतना ही अधिक विस्तृत होगा। जब मध में अनैश्य उठ खड़ा होता है, परम्पर ईर्ष्या-द्वेष का जन्म हाता है और सद्य के सदस्य एक दूसरे को गिरा कर अपनी शक्ति का क्षीण करने लगते हैं तो धर्म को भी आपात पहुँचे बिना नहीं रहता।

मुनिश्री ने इस तथ्य को बड़ी गहराई में अनुभव किया है। इसी कारण आप मध की एकता के प्रबल समर्थन हैं। आपने जिनने ही स्थानों में फीरी हुई छूट को दूर करने का सफल प्रयास किया है।

मागवाड के वमी ग्राम में जंगीर भी घर श्रावणों के हैं। ग्राम में दो दल हो रहे थे। आपने उनमें एकता कराने का अममक प्रयत्न किया किन्तु उहाँ का एव स्वार्थी प्रति एकता में बाधक था। उसे मग में बहुत प्रेम था और उसने मग-वर्तनी के भक्तों का एक गिरोह बना रखा था। उसे आपका एकता का प्रयास अग्निकर हुआ। एक





दिन आप जब बाहर पधारे तो यति ने उपहासपूर्वक कहा—तथा दलवन्दी मिटा कर स्नेहमम्मेलन करा दिया ? दू टिया ही दलवन्दी भग करा देंगे तो हम यहा बैठे क्या गीत गाएंगे ?

गुरुदेव ने कमाया—यतिजी, दलवन्दी रहे या न रहे, उगम उमाग कोई गम्वन्ध नहीं है। हमारा राम उपदेश देना है। हम शान्ति चाहते हैं। आप फूट के पक्षपाती हों तो आप जानें, मगर उगमें आपकी मोमा तो नहीं है।

उसी दिन गुरुदेव और चरितनायक ने श्रावको के समक्ष ऐसा साजग्वी गायन किया कि नराल उमरा गहरा प्रभाव पड़ा और लम्बे काल से चला आने वाला विवाद एक ही दिन में समाप्त हो गया। सब लोग मनभेदों को भूल कर परस्पर स्नेहसूत्र में आवद्ध हुए और 'महावीर स्वामी की जय' के तुमुल नाद ने आकाश व्याप्त हो गया।

वि० स० २००४ में चरितनायक का चौमासा सादरी (मारवाड) में था। उसी समय श्रीलोकेश्वर गुरुकुल का वार्षिक उत्सव आयोजित किया गया। सेठकेवलचन्दजी चौपटा अध्यक्ष निर्वाचित हुए। उत्सवधूमधाम से प्रारम्भ हुआ। किन्तु उस समय भी स्थानकवासी समाज में दो दल थे। चौपटार्जो ने अध्यक्षाय गायन में इस अनैतय पर गहरा रोष प्रकाशित किया, यहा तक कि अनशन की घोषणा कर दी। आपके साथ ही स्थानीय तथा बाहर से आए लगभग ७०० नवयुवकों ने भी अनशन प्रारम्भ कर दिया। ऐसी विषम परिस्थिति में चरितनायक किस प्रकार आहार ग्रहण कर सकते थे ? आपने भी आहार का परिहार कर दिया। एक दिन बीत गया।

दूसरे दिन चरितनायक ने हृदय को हिला देने वाला मर्मस्पर्शी प्रवचन किया। प्रवचनपीथूप की धारा प्रवाहित होते ही लोगों के मन की मलीनता धुल गई और जो हृदय कपाय के ताप से तप्त थे वे स्नेह-मलिल से सीतल हो गए। सब में एकता और प्रेम का प्रसार हुआ। चिरकाल में चली आ रही तरार दूर हो गई।

वि० स० २०१० का चातुर्मास्य बिलाडा में व्यतीत कर अनेक यामों और नगरों में विचरण करते हुए मरुधरकेसरीजी बालोतरा पधारे। वहा करीब २५ वर्षों से जैन समाज में चार दल चले आ रहे थे। इस अन्तराल में एकता स्थापित करने के अनेक बार प्रयास किए गए थे पर वे सभी विफल रहे थे। किन्तु आपके प्रभाव एवं कीर्ति ने ऐसा चमत्कार प्रदर्शित किया कि दलवन्दी समाप्त हो गई और बालोतरा-समाज एकरता के बन्धन में आवद्ध हो गया।

वि० स० २०११ में सिवाना (मारवाड) में आपने वर्षावाम व्यतीत किया। वहा भी चिरकाल से बलेश-पूर्ण दलवन्दी चली आ रही थी। एकता स्थापित करने के लिए आपकी अत्यधिक प्रयास करना पड़ा फिर भी आपके सत्प्रयत्न अन्त में सफल हुए। मुकुन्दमेवाजी का अन्त हुआ। कपाय की आग शान्त हुई। सब में सीमनस्य स्थापित हो गया।

इसी प्रकार ममदडी-सब में व्याप्त कलहाग्नि आपके प्रयासों में शान्त हुई। धवे में तेरह घरों में तीन दल थे। समाज तीन तेरह हो रहा था। इसी कारण धर्मध्यान के लिए कोई ठिकाना नहीं था। एकता स्थापित करने के आपके सत्प्रयत्न सफल हुए। धवे से विहार कर सुणावा पधारे। वहा १० घरों में ही फूट का साम्राज्य था। समझा-बुझाकर वहाँ भी शान्ति स्थापित की। ब्यावर में व्याप्त कलह की आग को बुझाने के लिए तो आपको अनशन करना पड़ा। आपकी सहानुभूति में अनेक श्रावकों और श्राविकाओं ने भी अनशन प्रारम्भ कर दिया। एकता के प्रयत्न सफल होते न देख राव नारायणसिंहजी साहब भसूदा तथा स्थानीय उद्योगपति सेठ मुकुन्ददासजी राठी आदि ने अनशन समाप्त करने का आग्रहपूर्ण अनुरोध किया। किन्तु चरितनायक अपने मकल्प पर दृढ़ रहे। आपने उत्तर दिया—

सद्भिस्तु लीलया प्रोषत शितालितितमक्षरम्।

सत्पुरुष मनोविनोद में भी जो कह देते हैं, वह जिघांसे की तरह अमिट हो जाता है।

जापन फर्माया—मघ की अपेक्षा डम शरीर का मूल्य अधिक नहीं है। मघ के श्रेय के लिए शरीर का डमग न देने में मुझे कोई झिझक नहीं है।

आजिर जापरी नपट्चियां प्रमायजनक मित्र हुई और मघ में क्षान्ति तथा एकता स्थापित हुई।

चरितनायक मघ की एकता के प्रबल समर्थक हैं और उनके लिए उग्र में उग्र प्रयत्न करने में भी कभी नहीं हिनरे। कुछ उदात्तता ही बना प्रभुन लिए गए है। इस दिशा में आपके प्रयत्न बहुत व्यापक और महत्वपूर्ण रहे हैं।

श्रमणमघ की एकता के लिए किए गए आपके मूल्य प्रयत्नों का उत्तम पृथक् निबन्ध में किया जा रहा है।

जीवदया

'दया धर्म का मूल है' यह उक्ति विश्व के समस्त धर्मों और सम्प्रदायों को मान्य है। जैनधर्म की सम्पूर्ण आचारप्रणाली का केन्द्र अहिंसा है और जीवदया उसका प्राण है। इसी कारण अपने श्रमणजीवन के इस लम्बे काल में जानते जीवदया के निमित्त अगणित कार्य किए हैं। अपने प्रभावक प्रवचनों द्वारा तो आप जीवदया की प्रतिष्ठा करने ही रहते हैं किन्तु अनेक बार उनके लिए अन्यान्य उपायों का भी अवलम्बन लेते रहे हैं।

वि० स० १९८७ की घटना है। वनून्दा-चानुमान्य में एक बार करीब १५०० पशु फाटक में बन्द कर दिए गए। निम्नहाय मूक पशु अज्ञान ही वननमद हो दुखी हो रहे थे। चरितनायक को इस घटना का पता चला। आपने हृदय में दया का मागर उमड़ पड़ा। तत्काल वहाँ के ठाकुर माह्व को भेदग प्रेषित किया—'दण्ड अपराधी को मित्रता चाहिए, मित्रगण को नहीं। उन मूक पशुओं ने जगर कोई अपराध किया भी हो तो सहज बुझुसा के बशीभूत होकर ही। वह दण्डनीय अपराध की गोटि में नहीं है। अतः तत्काल पशुओं का मुक्त कर देना ही दया-मुना है।'।

ठाकुर गह्वर मुनियों के तप-त्याग में प्रभावित थे। उन्होंने तत्काल आदेश का पालन किया और पशुओं में स्वाधीनता की मांग ला।

नगर नगर में सर्वत्र समान गति और गति के अनुपपन्न नहीं हैं। यहाँ अव्य भी है, अव्य भी है, धार्मिक भा है और अशार्मिक भी हैं। मुक्तमोक्ष भी है तो दुर्लभमोक्ष भी है। बिलाडा में दुर्लभमोक्ष जनो का नामना करना पड़ा। वि० स० २०१० में जापरी जीवमात्रा मित्राडा में था। नगर प्रवेश के समय ही किनी श्रावक ने आपको सूचना दी तो त्रि कुछ लाग वाणगगा में से मछलिया पकड़ कर लेते हैं। कई बार बाहर पधारने पर मुसलमान ध्यापारी फिर प मछलियों के टोकरे लिये आपको भी मिले।

एक दिन आपकी ने उन्हें समझाया—यह तीर्थन्त्यान है। यहाँ मछलिया पकड़ना चिरकाल से बन्द है। तुम समय का लाभ उठा कर यह निषिद्ध कार्य करते हो, यह अनुचित है। इसमें यहाँ की अहिंसाप्रिय जनता को बहुत दुःख है। अतः मछलिया पकड़ना बन्द कर देना चाहिए।

किन्तु जिनका हृदय अहिंसा करते-करते पापाण बन चुका हो उन पर ऐसी बातों का कहा प्रभाव पड़ने शक्य है? वे बोलें—हमें मछलिया पकड़ने में कौन रोक सकता है? स्वामीजी, अपना रास्ता ला।

मृदु भाषा में स्वामीजी ने कहा—मित्रो! रास्ता तो एक दिन तुम और हम सबको लेना है। कयामत का दिन देखना ही पड़ेगा।

मच्छीमार चले गए। चरितनायक इस हिंसाकाण्ड को महन न कर सके। उपाय सोचने लगे।





एक दिन चरितनायक बीच-निवृत्त होकर वागिस लौट रहे थे कि एक मौलवी २-२ गुम्बिस्तान नवयुवकों के साथ सामने आ गया। उसने कहा—‘तू मछलियों मारना रुकाना चाहता है। ने मजा क्या। और मौलवी ने आपके धरौर पर लाठिया बरमाना आरम्भ कर दिया। मायी मुनिथी रूपचन्द्रजी कुछ आवेश में आए तो आपने उन्हें शान्त रहने का आदेश देते हुए कहा—यही परीक्षा का समय है। जाकमणकारी का प्रतिरोध करना मन्त्रजनों के लिए पराजय का चिह्न है। फिर भी लाठिया बरसती रही। करीब बीस प्रहारों के बाद जब लाठी के तीन टुकड़े हो गए तब मौलवी को प्रहार करना बन्द करना पड़ा। मुनिथी ने शान्त और गम्भीर भाव में यह यातना सहन की।

लोहलुहान धरौर लिए मुनिथी किसी प्रकार स्थानक में पहुँचे। नगर में तहलका मच गया। प्रहार-कर्ता का नाम पूछा गया किन्तु चरितनायक ने तथः मुनिथी रूपचन्द्रजी ने बताने में इन्कार कर दिया। मगर प्रत्यक्ष-दर्शी एक कुम्भकार ने सारा भेद छोल दिया।

सबेगी मुनि श्रीकवीन्द्रसागरजी चरितनायक की दशा देख दयाव्रित हो उठे। गहमा उनके मुख से निकला—‘अरे जैनियो! मर मिटो! यह प्रत्याचार भी क्या सह्य है?’

नगर में हाहाकार मच गया। हडताल हो गई। म्यानक के बाहर बिराट जनसमूह एकत्र हो गया। देखते ही देखते दुण्डों से बदला लो, उन्हें समाप्त करके ही दम लेंगे आदि नारे मगने लगे। ५-६ हजार लोगो ने मुन्निम मुहल्ले को घेर लिया। पुलिस भी घटनास्थल पर जा पहुँची। मगर जोश से उफनती जनता पर नियंत्रण पाना पुलिस के लिए सम्भव न था।

स्थिति की अत्यन्त विषमता देख आहत अवस्था में भी चरितनायक को ह्मक्षेप करना पड़ा। आप अपनी पीडा को भूल गए और मौलवी की मनाव्य पीडा आपके हृदय को मगने लगी। आगिर मछलियों पर ककणा की बर्पा करने वाला धर्मगुरु मानव के प्रति ककणाहीन कैसे हो सकता था?

आपने मौलवी की सुरक्षा के लिए सदैव प्रेरित किया। अधिकारियों ने कौमल से मस्जिद के पिछले द्वार में मौलवी को निकाल कर तहसील में पहुँचा दिया और उसकी सुरक्षा की व्यवस्था कर दी। जनता को ज्यों ही दम छल का पता चला कि उसने तहसील को घेर लिया। दरवाजे तोड़ डाले। गुरुदेव के अपमान का पूरा बदला लिये बिना लोग शान्त नहीं होना चाहते थे। खाली फायर किए गए, फिर भी जान की बाजी लगाकर जूझने वाले लोग इल्ज भर भी नहीं हटे।

स्थिति विषम से विषमतर होती जा रही थी। जनता नियंत्रण में बाहर हो चुकी थी। भयानक हत्याकाण्ड की सम्भावना हृदय को हिला रही थी। इस स्थिति में पुलिस अधिकारी और मजिस्ट्रेट भागे-भागे चरितनायक की सेवा में पहुँचे। बोले—गुरुदेव! अनर्थ होने जा रहा है। रक्त की नदिया बह जाएगी। आप ही इस स्थिति को समाल सकेते हैं।

दयाव्रित चरितनायक ने किसी प्रकार जनता पर नियंत्रण स्थापित किया। लोग क्रिचित् शान्त हुए।

अवसर पारर मुसलमानों के अगुवा आपकी सेवा में उपस्थित हुए। कहने लगे—‘मगधन! आप दयालु हैं। हमारे बालबच्चों की जिन्दगी आपकी मुट्ठी में है। उस नालायक ने आपके ऊपर क्या, हम सब पर लाठी बरसाई है। हम क्षमिन्दा हैं। क्षमा चाहते हैं। हमारे ऊपर रहम कीजिए।’ गुरुदेव ने उन्हें क्षमा का आश्वासन दिया और तीन बातें उनके सामने रखी—

१ आज से मछलियों का पकड़ना पूरी तरह बन्द किया जाय।

२ अभी २१ वक्रे अमर कर दिए जाए।

३ मौलवी को तत्काल यहाँ से हटा दिया जाय, क्योंकि उसके हित में भी उसका यहाँ रहना उचित नहीं।

मुस्लिम नेताओं ने तीनों बातें स्वीकार की। गुरुदेव ने जनता से कहा—माइयो ! अपना जीवदया का उद्देश्य पूर्ण हो चुका है। अब मुसलमानों के प्रति किसी प्रकार का वैरभाव नहीं रखना चाहिए।

जनमभूत मुसलमानों को साथ लेकर बटरे के चौक में पहुँचा और मभा के रूप में परिणत हो गया। वहाँ जनता की ओर से पुनः तीन अनिश्चित धन पेश की गई—

१ अष्टमी और एसादशी को पशुवध सर्वथा न किया जाय।

२ हिन्दुओं के जिन दो मतानों पर अधिकार नग्न तकिया का रूप दे दिया गया है उन्हें नत्काल लौटाया जाय।

३ अश्विन में ऐसा दुस्साहस न करने की शपथ ली जाय।

मुस्लिम नेताओं ने कहा—गुरुदेव की बातें हमें स्वीकार हैं। आपकी दो बातों को मानने में जरा कठिनाई है।

इनका उन्होंने ही शान्त हुई ज्वालाएँ फिर जड़क उठी। मभा ने मुसलमानों के सामाजिक बहिष्कार का फैसला किया। जिन दो मतानों को ताड़ कर तख्ते बना लिये गए थे उनमें से एक में 'रामदेवजी' और दूसरे में "शिवजी" की स्थापना की गई। दस मिनट में ही यह कार्य सम्पन्न हो गया। फिर श्री लोगों का जोश ठंडा नहीं हुआ। एक बड़ा दल जामामस्जिद पर हमला करने के लिए बढ़ा। चरितनायक को जब यह समाद मिला तो आपने सदेश भेजा—मस्जिद पर हमला हुआ तो मैं अनशन कर दूँगा।

इस सन्देश में लोग शान्त हुए। तत्पश्चात् आपने लोगों को समझा-बुझा कर प्रकृतिस्थ किया।

उल्लिखित दो घटनाएँ ही आपकी कल्याणरायणता का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। वास्तव में मुनिश्री जीवदया के प्रबल समर्थक हैं। आपका अन्त्येष्ट कल्याण-वरणालय है। जीवदया के लिए आप द्वारा किए गए प्रयत्नों का उल्लेख करना समभव नहीं है। आपके जीवन में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगशास्त्र में लिखा है— 'अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्यागः।' अभिप्राय यह है कि अहिंसा के साधन के दृष्टिगोचरे हिंसक जन्तु भी वैर का त्याग करके अहिंसक बन जाते हैं। तीर्थंकर के समवसरण में मित्र और मृग जैसे जातिविरोधी जीव भी एक साथ प्रेमपूर्वक बैठते हैं। यह अहिंसा का ही लोकोत्तर प्रभाव है।

चरितनायक के जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा किन कोटि तक हुई है, इसका प्रमाण हमें एक मिह के आचरण में मिलता है।

चरितनायक को एक बार जामुड़ा चौकी पर रात्रिविश्राम करना पड़ा। रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत होने ही अचानक बड़ा गरम मृगगा (नीहत्या सिंह) आ पहुँचा। किन्तु मुनिराज के साथ चार आर्खें होते ही मृगराज के अन्दर का द्वैतत्व जाग उठा और पालतू कुत्ते के समान वह वही बैठ गया। इससे पूर्व कई दिनों से वह प्रतिरात्रि वन्य और ग्राम्य पशुओं का वध करना रूढ़ था। गरवा के कुबरसाह्व द्वारा बाधे गए महर्षि का शिकार करके भी वह माफ़ निरुद्ध भागा था। मगर मुनिराज के सान्निध्य में मृगराज रात्रि भर शान्त बैठा रहा।

मुनिश्री के साथ जो श्रद्धागुण थे, उन्होंने प्रातः काल गुरुदेव के दिव्य प्रभाव का वचन किया तो आपने फर्माया—क्या वन्य चीज है ? यह सब अहिंसाधर्म का ही अलौकिक प्रभाव है।

चरितनायक की अहिंसामाधनता को पशुवन के लिए यह एक अमान्य कमीठी है।

तप. प्रभाव

वि० स० २००८ की एक विशिष्ट घटना भी उल्लेखनीय है। मादलिया ग्राम में आपका चातुर्मास्य था।





दीपावली के दूसरे दिन संध्या समय ३१ ऊठों पर मगार ६१ दस्युओं ने चांग और म गाव को घेर लिया। दस्यु बड़े ही सूरवार और साहसी थे। उसी दिन प्रातः काल मुण्डाणा जीर मरुहार गावों के करीब २० जाटों का मोन के घाट उतार दिया था। उनके सगैर के वस्त्र रत्तरजित दिखाई दे रहे थे।

मयकर डाकुओं द्वारा गाव घिरा देग लोग आतंकित हो उठे। जो लोग गति-पीते थे उन मोन मामने नजर आने लगी। धन के साथ प्राणों का गतरा था। ऐसी स्थिति में लोग भाग कर चरितनायक की चरण-शरण में आए। सबकी जिह्वा पर एक ही प्रश्न था - क्या होगा ?

चरितनायक ने सबको धैर्य बधाते हुए कहा—घबराओ मत। घबराहट किसी भी मर्ज की दवा नहीं है। धर्म के प्रताप से सब ठीक होगा। धर्मों 'धर्मो रक्षति रक्षतः' जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

उधर दस्युओं के नेता का चरितनायक के विराजमान हान का पता चला तो उगने गाथियों का आदेश दिया गुरुदेव (चरितनायक) में पिताजी के गुरु है। जहां वे विराजमान हो वहां हमें कोई अत्याचार नहीं करना है। जल्दी प्रस्थान करो। ऐसा न हो कि गुरुदेव में कोई उपालम्भ सुनना पड़े।

दस्युराज कल्याणमिहजी की गुरुदेव के प्रति यह अद्भुत श्रद्धा देग किसे विस्मय न होता। जैन एवं जैन-तर जनता ने तप और अहिंसा के प्रभाव का प्रत्यक्ष देग। मित्रपुरुष के प्रभाव म जब जन्मजात हिंसक जन्तु भी हिंसा का त्याग कर देते हैं तो डाकू तो मनुष्य थे।

राष्ट्रीय भावना

सन्त जन प्राणीमात्र पर समभाव धारण करते हैं। निज-पर की महीने भावना उनके निकट नहीं फटवती। फिर भी वे जिस देश में जन्म लेते हैं, जो देश उनका कार्यभार होता है, उसे विद्वत् का एक अंग मान कर वे उसके उत्थान में योग देते ही हैं। अन्य राष्ट्रों की अविरोधी उदार राष्ट्रीयता सन्तजनों में भी होनी है। चरितनायक के जीवन के कार्यकलापों का मन्थन करने पर हमें उसका दर्शन हुए बिना नहीं रहना।

वि० सं० १९८४ का समय स्वाधीनतासंग्राम का समय था। समग्र देश अपनी दागतामुष्मि के त्रिग्न जूझ रहा था। मगर रियासतों से व्याप्त होने के कारण राजस्थान की चेतना मूर्छित-भी हो रही थी। राजाओं के प्रचण्ड आतंक ने जनता को दबा रखा था। ऐसे समय में रियासतों में जागृति का मन्त्र फूँकना साहस का काम था। किन्तु हमारे चरितनायक महान् साहसियों में अग्रगण्य हैं। जिसे सत्य और न्यायसंगत समझा, सारी दुनिया विरोध में खड़ी हो जाय तब भी आप परवाह नहीं करने।

सोजतरौठ—वर्षावास में आपने राष्ट्रीय भावना में परिपूर्ण प्रवचन किए। श्रोताओं में नूतन स्फूर्ति और प्राणों का संचार हुआ। दासता से मुक्त होने की तटफ पैदा हो गई। दूर-दूर तक आपके जोशीले व्याख्यानो की प्रसिद्धि हुई। देश के प्रथम कोटि के नेताओं के कानों तक बात पहुंच गई। उसने आक्रुष्ट होकर महात्मा गांधी, सरदार पटेल, भूला भाई देसाई तथा मणिलाल कोठारी आपके दर्शनार्थ उपस्थित हुए। आपका प्रवचन सुनकर सभी ने सन्तोष व्यक्त किया और गुजरात पवारने की प्रार्थना की।

इस प्रकार जहां कहीं भी आपका पदार्पण हुआ, आपने राष्ट्रीय भावना को जागृत करने में मुन्दर योग प्रदान किया।

आपकी राष्ट्रीयमानना धर्मसाक्षेह शान्ति है और वह आपके जीवन का एक अंग बन चुकी है।

जोधपुर में एक बार आप करीब ११ फुट ऊँचाई से जमीन पर गिर गए। नीचे जोधपुरी पत्थरों का फर्श था। इस कारण गहरी चोट ही नहीं आई वरन् वाम पाद की नितम्बाम्बि भी मग्न हो गई। खड़ा होना अमभव हो गया। अमानक वेदना का प्रसंग था, फिर भी आपने असाधारण धैर्य एवं सहनशीलता का परिचय दिया।

गुरुभक्त नेठ श्रीचमकन्दजी उमो नमय डाक्टरों को ले जाए। डाक्टरों उन्चा-कगने का निश्चय किया गया। अन्तर्नाल में प्रविष्ट करने पर भी विचार होने लगा। मगर चरितनायक ने स्पष्ट कह दिया—शरीर शान्धन नहीं कभी न कभी जाने को है। उसकी मुझे चिन्ता नहीं। रहे तो भरे रहे, जाए तो भरे जाए। शरीर के जाने पर भी मेरा कुछ नहीं जाना। मैं विदेशी चिकित्सा नहीं कराऊंगा। डाक्टरों ने बहनेरा विद्वान् दिलाया कि किमी निषिद्ध दवा या प्रयोग नहीं किया जाएगा, किन्तु चरितनायक ने भीन प्राप्ति कर लिया। विवश होकर डाक्टरों को चला जाना पड़ा। एक देशी चर्माह या टाउन चालू किया गया और उमो में स्वास्थप्रदान हुआ।

उसे कहते हैं मन्त्री 'पट्टीयना'।

उग्र विहार

चरितनायक के जीवन की अनेक विशेषताओं में एक बहुत बड़ी विशेषता है—उग्र विहार की। वेद है कि आज उग्र विहार या जय जल्दी-जल्दी चलना समझा जाने लगा है। अगर कोई मन्त्र एक ही दिन में १५-२० मार्ले मार्ग पा-कर लेना है तो उसे उग्रविहारी कहा जाता है। किन्तु यह अर्थ आगममन्त्र नहीं है। साधु की ईशानमिति में मननायक, जागे की चार हाथ भूमि का भरी भानि निरीक्षण करने हुए चलना चाहिए। द्रुतगति में चलने पर ईशानमिति का पावन नहीं होता।

तो उग्रविहार का नवीचीन आगर क्या है? वह मध्यमकेनरीजी की जीवनी में जाना जा सकता है। अगर किसी एक मन्त्र पा-जयित दिनों तक नहीं ठहरते। कहा एक माम तक ठहरा जा सकता है वहां भी प्राय एक मन्त्रा में अधिर नहीं ठहरते। ग्रामों में अमर दो-तीन दिन ठहरते हैं। विशेष कारण की बात अलग है पर साधारणतया मन्त्र में भी कम ठहरना आपकी प्रवृत्ति है। यही कारण है कि चातुर्मान्य के अतिग्विन शेष आठ महीनों में आपके विहार का औसत रग्वि आठ मी मीठ होना है। जिसमें १००-१५० ग्रामों में पर्यटन हो जाता है। वास्तव में यही उग्रविहार है।

आपके चातुर्मान्य स्थलों की सूची देखने से विदित होगा कि आप नगरी की अपेक्षा ग्रामों में बीमामा करना और विहार करना अधिक पसन्द करते हैं। आप स्वयं फर्मते हैं—

'गावों में जाऊँ तो प्राय मन्त्र महात्माओं या योगी योगों को बड़ी ही राठनाई में प्राप्त होता है, क्योंकि मन्त्र जन भी प्राय आचर्यक मापन-मुविद्यार्थों की मूलभूतताओं के कारण बड़े-बड़े शहरों में ही अधिक मन्त्र रहने लगे हैं। छोटी स्थानियों की जो उनका ध्यान आकर्षित नहीं होता। गावों में बहुत कम ही मन्त्र पुरुष पहुंचते हैं। चातुर्मान्य जैसे चार माम या मन्त्रा निवास तो अत्यन्त ही दुर्लभ-सा है। फिर भी जो मन्त्र शुद्ध आहार पानी और खुली परिष्ठापनिका भूमि का सापन चाहते हैं, वह तो केवल गावों में ही सुलभ है। शहरों में तो वह अत्यन्त ही दुष्प्राप्य है।' मगर आपका प्रमाण बड़ा ही अद्भुत है। छोटे ग्रामों में भी आपके भक्तजनों की भीड़ लगी रहती है। जहां प्राय पहुंचते हैं वहीं किसी बड़े नगर का सा दृश्य पड़ा हो जाता है।

आपकी गुरुभक्ति आदर्श है। गुरुभक्ति में प्रेरित होकर आप श्रीगुरुनाथजयन्ती, भूधरजयन्ती, श्रीबुधमल गुरुजयन्ती आदि समारोह प्रत्यक्ष आरोजित करते हैं। लीकाशाह जयन्ती भी मोल्साह मनाते हैं। ऐसे अवसरों पर मन्त्रों नग्न-नानी ग्रामों में एकर होते हैं और उनमें आप धार्मिकता के सम्कारों का आरोपण करते हैं।

अन्य विशेषताएं

चरितनायक की पितृ-परा धर्मियों की है जैसा कि आपके मोलकी गोत्र में प्रतीत होता है। आपके पिताश्री भी गजनीय अधिकारी रहे और बाल्यकाल में आपका पालन-पोषण राजमाना की देखरेख में राजमहल में हुआ। उन सब घटनाओं का प्रभाव चरितनायक के व्यक्तित्व पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उनके जीवन





मे जो असाधारण तेजस्विता, निर्भीकता और स्पष्टतादिता है, वह सम्भवतः इसीका परिणाम है। इसी तेजस्विता के कारण अनेक राजवी आपके आदेशों का उसी प्रकार नतमस्तक होकर पालन करते हैं जैसे विनीत शिष्य गुरु के आदेश का पालन करता है।

श्रीमन्तों का प्रभाव सन्तों पर भी देखा जाता है मगर मरुघरकेसरीजी इसके अपवाद हैं। जैसे सूर्य के तेज के समक्ष अन्य तेज फीके पड़ जाते हैं उसी प्रकार वेसरीजी के सामने बड़े-बड़े तेजस्वी भी तेजोहीन हो जाते हैं। आप किसी के दबाव में आना जानते नहीं। श्रीमन्तों की मण्डली हो, विद्वानों की मभा हो अथवा सन्तों का समूह हो, सदैव मूर्धन्य होकर ही रहते हैं। आप दूसरों के चलाए चलते नहीं, दूसरों को चलाते हैं। चाम्पव में सध द्वारा प्रदत्त 'मरुघरकेसरी' विरुद्ध आपके लिए सर्वथा उपयुक्त ही है।

'विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्' इस उक्ति के अनुसार आपका विद्वानों के प्रति सदैव सहानुभूति-मय व्यवहार रहता है। जो विद्वान् आपकी सेवा में उपस्थित होते हैं वे यथोचित सत्कार पाए बिना नहीं लौटते। यह आपकी विद्वत्ता एवं विद्याप्रेम का परिचायक है।

ज्ञान के प्रचार के लिए आप सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। अभी तक आपके उपदेश एवं प्रेरणा से नि० लि० संस्थाएं स्थापित की गई हैं—

- (१) श्रीलौकाशाह जैन गुरुकुल, सादडी-मारवाड
- (२) श्रीगोतम जैन गुरुकुल, सोजत शहर
- (३) श्रीजिनेन्द्र ज्ञानमन्दिर, सिरियारी
- (४) श्रीपादर्व जैन कन्याशाला, कुशालपुर
- (५) श्रीजैन स्थानकवासी कन्याशाला, नीमाज
- (६) श्रीपूज्य रघुनाथ जैन पुस्तकालय, सोजत शहर
- (७) श्रीजैन बुधवीर स्मारक मंडल, जोधपुर
- (८) श्रीजैन गोशाला, जयतारण
- (९) श्रीवर्धमान आयबिल खाना मादडी, व्यावर, सोजत, जोधपुर

इनके अतिरिक्त वाचनालय, पुस्तकालय आदि अनेक संस्थाएं आपके सदुपदेश से स्थापित हुई हैं।

उपसंहार

मरुघरकेसरी मुनि श्रीमिथीलजी म० के जीवन की यह संक्षिप्त रूपरेखा है। इससे पाठक समझ सकेंगे कि आपका व्यक्तित्व अत्यन्त तेजस्वी, ओजस्वी और वर्चस्वी है जिसकी विराटता शब्दों के सागर में नहीं समाती, जिसकी स्मृणीयता सदा थढ़ास्पद रही है, जिसने सुपुत्र जनमानस में जागृति का स्वर मुखरित किया है और अपने जीवन को दिव्यता के उच्चतर सोपान पर प्रतिष्ठित किया है।

मरुघरकेसरीजी अनूठी प्रतिभा के प्रकाशमय पूज हैं। जैनदर्शन, व्याकरण, साहित्य, गणित, ज्योतिष आदि के ज्ञान के रूप में जिनसे सहस्र-सहस्र किरणें विकीर्ण हो रही हैं। उन्होंने लाख पद्यों का निर्माण किया है, आनु-कवित्व उनके लिए श्रद्धा है।

मरुघरकेसरीजी जीवन, जागृति और पावन प्रेरणा के चलते-फिरते 'मिशन' हैं। उन्होंने श्रमणसंघ के संघटन के लिए असीरुध-प्रयास किया है, जिज्ञासुस्थाओं की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, ग्रामों और

नगरी में फँसी बल्लहाग्नि का उद्गमन किया है, शान्ति, सीमन्मय और एकता की स्थापना की है और समाज का गला घोटने वाली दुरस्तिओं के विरुद्ध सिंहनाद किया है।

आप अनीन की अनुपम गमि में मस्तिन गन्धर्वान के अन्तर्गत मन्थरा की वसिष्ठ विभूति हैं। उन्होंने अपने जन्म की श्रावण ने उसे नूतन योग्य प्रदान किया है जो उनके विश्वविश्रुत यश में चार चाद लगाए हैं।

मन्थरकेसरीजी अनेक जैनमध-जानास के देदीप्यमान नक्षत्र हैं, श्रमणमध के प्रकाशमान सूर्य हैं, आधार-मन्थर हैं, शान्ति हैं, मन्थर प्रहरी हैं।

हादिर कामना है कि मन्थरकेसरीजी निरुजोवी हागर मन्थर और श्रमण के अम्युदय के महान्, उत्तर-दायित्व की मन्थर के माय बहन करने हैं।

०





मरुधरकेसरी और उनकी संघसेवा चिम्मनसिंह लोढा

जैन समाज का एक इतिहास है और वह महत्वपूर्ण है । भगवान् आदिनाथ से भगवान् पार्श्वनाथ तक का इतिहास यद्यपि क्रमबद्ध नहीं है, किन्तु पार्श्वनाथ से महावीर तक का क्रमबद्ध मिलता है । चरम नीयंकर भगवान् महावीर स्वामी से आज तक का इतिहास बहुत अंशों में मरुधर है तथा पट्टावलिओं से या अन्य आधारा से आगे पीछे का क्रम प्रायः बराबर मिल जाता है । जैन इतिहासकारों ने इन दिशा में प्रयत्न नहीं किया, यह कहन का तो मैं माहम नहीं कर सकता, किन्तु जितना करना चाहिये, उतना नहीं किया । ऐतिहासिक गवेषणा के लिये विपुल धनराशि की जरूरत होती है तथा जीवन देने वाले व्यक्तियों की । यहां उस इतिहास तथा उस काल की मान्यताओं में मैं नहीं पड़ना चाहता । इवेताम्बर और दिगम्बर दोनों आम्नायों का प्रचार था और दोनों आम्नायों के आचार्य आज तक हाते आये हैं । उदभट विद्वान्, साहित्यकार तथा क्रियाकाण्डों सभी तरह के आचार्या तथा सन्तों की जीवनिया मिलती हैं । बड़े बड़े राजा महाराजा भी जैनधर्मावलम्बी थे तथा उन्होंने जैनधर्म की महत्वपूर्ण सेवा की है ।

चीज जब पुरानी पढ़ जाती है तो उसमें विकार पैदा होता ही है । विभिन्न युगों की विभिन्न परम्परायें । पार्श्वनाथ और महावीर की परम्पराओं में भी कितना अन्तर ? पार्श्वनाथयुग की मान्यताओं तथा परम्पराओं में महावीर ने बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया, यह कह दू तो भी चल सकता है । हर चीज के अच्छाई और बुराई दो पक्ष हों सकते हैं । समय के साथ परिवर्तन अवश्यभावी है । जब किसी बात की अति हो जाती है तो उसमें परिवर्तन आवश्यक हो जाता है । तापम से सन्त हुए और सन्त से यति । धर्म के नाम पर जब यतियों का पाखण्ड अत्यधिक बढ़ गया तो क्रान्ति का आना स्वाभाविक हो गया ।

पन्द्रहवीं शताब्दी की बात है । धर्मप्राण लोकाशाह धर्मक्षेत्र में अवतरित हुए । लोकाशाह का जन्म कहा हुआ तथा किस रात में हुआ, इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है । विभिन्न लेखकों ने विभिन्न जन्म स्थान तथा विभिन्न जन्म-सत्र बतलाये हैं । हमारी धारणा यही है कि उनका जन्मस्थान अरहटवाड़ा था तथा जन्म सत्र १४७२ । धर्मप्राण लोकाशाह का कार्यक्षेत्र निस्सन्देह अहमदाबाद रहा है, क्योंकि उस काल में अहमदाबाद धर्म का केन्द्र-स्थान था तथा यहां यतियों का बोलबाला था । यतियों में भी चमत्कारी यतियों की कमी नहीं थी, किन्तु धर्म अलग है और चमत्कार अलग । हमारा सम्बन्ध धर्म का था । धार्मिक दृष्टि से शिथिलाचार बेहद घर कर गया था । उसे धर्मप्राण लोकाशाह सह न सके । उन्हें बचपन में शास्त्रवाचन का शौक था, किन्तु यतियों ने ऐसी स्थिति पैदा कर रखी थी कि गृहस्थ को शास्त्र मिल ही न सके । लोकाशाह लिखते बड़ा सुन्दर थे । यह बात जब यतियों को मालूम हुई तो जिन्हें जिस शास्त्र के लिखवाने का काम पड़ता, वे लोकाशाह को बुलवाते । लोकाशाह जो चाहते थे, वही होने लगा । वे लिख कर देते और उन्हें जानने को मिलता । अनेक ग्रन्थों के लेखन का काम उन्होंने किया, अतः ग्रन्थों में उपपादित धर्म के रूप का ज्ञान होना स्वाभाविक था । गम्भीर जानकारी, ज्ञान तथा मनन के पश्चात् ज्ञान ज्ञान उन्होंने जवान खोली तो धर्म के ठेकेदार आग बबूला हो गये । लोकाशाह चातुःप्रवृत्ति को किसी भी हालत में सहन करने की स्थिति में नहीं थे, अतः वे प्रगट में आये और सत्य धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया । उनके प्रवचनों को यति तथा उनके भजन सह न सके और हर कोमत पर उस प्रचार को रोकना चाहा । लोकाशाह तो चूक युग-पुरुष थे अन प्रलोभन, भय या आतंक किसी का उनपर प्रमान नहीं पड़ा । वे निर्भीकतापूर्वक आगमप्ररूपित धर्म के प्रचार में लग गये । उनके तर्कसंगत प्रवचनों का प्रभाव भी वैसा ही पड़ा और अमरुधर नरनारी उनके भक्त हो गये । यतियों के पाखण्ड और शिथिलाचार का भण्डा फूटा और

लोगों को वास्तविक धर्म के दर्शन हुए ।

उम के नाम पर महत्त्वपूर्ण नामों हुए । यतियों की हकानदागी समाप्त हुई । यही समय स्थानकवामी समाज का जन्मसाध हुआ । आगमानुस्य मन्त्रपरम्परा प्रारम्भ हुई जिस की शाखायें-उपशाखायें विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न नामों में चल रही हैं ।

श्रीगंगाजी की प्रेमदानि तथा सघनेवा के तीर्थ-नगीको की मरुवरकेसरी के जीवन पर गहरी छाप है । वे ही वर्ष तानिन् गुप्त का पृथिवी को श्रीगंगाजी-जयन्ती का उत्सव बड़े समारोह के साथ मनवाते हैं । आसपास के क्षेत्रों में मंडलों की पुण्य आर ममारोह में सम्मिलित होते हैं । जयन्ती और भी स्थानों पर मनाई जाती है, किन्तु जो जोम और उन्माह यहा होता है, अन्यत्र दिखाई नहीं देता । मरुवरकेसरी स्वयं कई बार वहाँ भी चुके कि मुझे तो प्रेम्णा ही श्रीगंगाजी के जीवन में मिलती है । श्रीगंगाजी हमारे धर्मगामक हैं अतः उनकी जयन्ती मनाना हमारा धर्म है । यही मानना सबको जानना चाहिये ।

मरुवरकेसरी की धर्मप्राण श्रीगंगाजी की तरह नानिकारी विचारों के मन्त हैं । वे जो मोक्षते हैं, कर गुजरते हैं । मन्त्रों अवश्य उम है, किन्तु मन्त्रबल की बली नहीं । उनके मन्त्र उनके नाम पर निष्ठावर हैं । मरुवरकेसरी के जीवन में अनुपम जाज तथा धर्म के प्रति मन्त्रों निष्ठा है । धर्म के किसी भी काम में पीछे रहना, उनकी प्रवृत्ति के विरुद्ध है ।

यों तो दीवानाग ने ही सघनेवा की ओर उनका झुकाव रहा है, किन्तु म यहा उनके जीवन की सघनेवा सम्बन्धी उन घटनाओं को ही प्रस्तुत करना, जिन्हें धर्म अर्थात् आखों में देखा है । समय परिवर्तनशील है, अतः समय के साथ हर चीज में परिवर्तन आता ही है । स्थानकवामी समाज की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति में दुर्गों होकर धर्मवीर दुर्जनजीभाई आदि व्यक्तियों ने मण्डल का सम्मान किया । साम्प्रदायिक भावनाओं को समाप्त करने का एक ही तरीका है मन्त्र या जी-वन् या सघनेवा-अमणसध या निर्माण । दुर्लभजीभाई इस पुण्यकार्य के लिये निकल पड़े । सभी साम्प्रदायिकों के प्रमुख मन्त्रों ने उन्होंने सम्पूर्ण साधना । वे मरुवरकेसरी की सेवा में भी गये । मरुवरकेसरी उम समय जोरुग ने विराजते थे । मरुवरकेसरी के उग्र स्वभाव के कारण ही मिलनेवाला व्यक्ति हिचकिचाता था, अतः दुर्लभजीभाई ने भी उस भावना का होना स्वाभाविक था । वे मरुवरकेसरी की सेवा में पहुँचे । वन्दनापूर्वक वार्तालाप आरम्भ हुआ । उम समय के कुछ शब्द आज भी कानों में गूँज रहे हैं ।

दुर्लभजी भाई ने कहा — मिश्री भीठी हीनी है, उममें मे रम टपटना है, उसके रसाम्बादन का लाभ समाज को पितना चाहिये । साम्प्रदायिकता के कारण समान में जो बटुता व्याप्त है, उसे मिटाने से दूर करना है तथा सघनेवा का काम हाथ में लेना है ।

मरुवरकेसरी — बाणी में कठारता प्रतीत हो सकती है किन्तु हृदय में मिठाई है । आप जिस पवित्र योजना को चला रहे हैं, मैं हृदय में उसका स्वागत करता हूँ । उम नदर शरीर में आप जो भी सेवा लेना चाहें, ले सकते हैं । सघनेवा के चित्र मेरी मनी सेवायें समर्पित समझिये ।

मरुवरकेसरी उमी गेज में जूझ पड़े । योजनानुसार सर्वप्रथम मरुवरा के श्रावकों का सम्मेलन बगड़ी नगर में आयोजित किया । सभी साम्प्रदायिकों के प्रतिनिधि बड़ी संख्या में उपस्थित हुए तथा श्रीमरदारमलजी ठाकुर शास्त्रपुत्र निरामी की अध्यक्षता में सम्मेलन सम्पन्न हुआ । श्रावक जब एक साथ हो गये तो मन्त्रों को एकत्रित करने की शक्ति । अन्तमें मे माधुन्यमेलन करने का निश्चय हो ही चुका था, अतः वहाँ जाने के पूर्व आपसी विचार-विनिमय तो जरूर हो लेना चाहिये, इस दृष्टि में प्रवक्तृ मुनि श्रीपन्नालालजी म०, बरोवृद्ध मुनिश्रीताराचन्दजी म०, मरुस्वभावी मुनिवर्य श्रीहजारीमलजी म्यामी तथा चौमठजी म० तपस्वी मुनिश्रीचतुर्भुजजी महाराज, बरोवृद्ध श्रीगार्हपत्यजी, प० मुनि श्रीदगनमठजी महाराज तथा फतेहचन्दजी म० आदि सभी से पत्रव्यवहार किया तथा मिलने का स्थान पाठ्य तय हुआ ।





स्वयं मरुधरकेसरी सम्मेलन के पहले पाली पहुँचे तथा आवाजों में जोश फूँका । मरुधरमुनि-सम्मेलन का यह रूप हो सकता है, यह करना ही नहीं हो सकता था । एक माम पहिले से ही विचित्र चहल-पहल था । बूढ़े नवान बच्चे ममी के मुँह पर माधु-सम्मेलन की चर्चा । सुमी लाग सम्मेलन की तैयारी में व्यस्त । कड़ी स्थानकों में गपाई हो रही है तो कहीं अतिथियों के लिये मकानों की देखभाल । कहीं पण्डाज बनाने की तैयारी ता कहीं सम्मेलन के चौड़े लगाने की । जोश फूँक कर वातावरण ही अममय-मा (सम्मेलनमय) बना दिया । सम्मेलन के पहले धर्मवीर दूर्ध्वजीभाई नया श्री धीरजभाई पाली आये और वातावरण देखकर चिंतित हो गये । दुर्लभजीभाई ने मरुधरकेसरी से कहा— मुझे प्रशान्तिता है कि आपने मेरी जोषपुत्र यात्रा को सफल कर दिया । आप जैसा उत्साह तथा मधुप्रम ममी मन्ता में व्याप्त हो जाय तो समाज का कल्याण हो जाय । मुझे यहाँ की स्थिति से बड़ी प्रगन्नता है । इस सम्मेलन का प्रभाव अन्य प्रांतों पर बहुत अच्छा पड़ेगा तथा बृद्धन सम्मेलन की सफलता का मार्ग प्रशस्त हो जायगा ।

मरुधरकेसरी ने वहाँ की व्यवस्था में तो सम्माला ही, आगे वाले मन्तों के स्वागत की भी सुन्दर योजना बनाई । युवक सन्त उत्साह के साथ जाते और सन्तों का स्वागत करते । २०-३०, ३०-३० मीटर दूर आवाजों के झुण्ड जाते और मन्तों की जय-जयकार करते । पधारने वाले मन्ता के दिव भी दूर हो गये । प्रचार ऐसा हुआ कि दूर-दूर से स्वागत-ममिति के पास दर्शनाथियों के आगमन एवं आवागम्यवरण के लिए पत्र तथा तार आने लगे । कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, पानदेव-वराह आदि प्रदेशों में लोग पहुँचने लगे । मरुधरकेसरी जमे हुए थे ही, अतः उत्साह में अभिवृद्धि होनी रही । कई युवक तो आपे को भूल गये । जब देखो, मरुधरमुनि-सम्मेलन का काम या उर्ग की चर्चा ।

ज्यो-ज्यो सम्मेलन का समय नजदीक आता, दूर-दूर, लोगों के उत्साह में वृद्धि होती ।

सन्तों का आगमन — सम्मेलन में पहुँचे ही एक-एक करके ममी मन्त पाली पहुँच गये । क्या उनका स्वागत था । तीन-तीन, चार-चार मील तक स्वागतार्थ स्त्री-पुरुष सामने जाते, साथ में मरुधरकेसरी होते । जय-जयकार के साथ मन्ता का नगर में प्रवेश होता । आगमन के जैन बड़ी मस्ती में आकर यही बस गये थे तथा बाहर से भी काफी लोग आगये थे, अतः स्वागत में अपार भीड़ होती थी । सभी सन्तों का ऐसा ही स्वागत हुआ, क्योंकि साम्प्रदायिकता का त्याग करने के लिये ही सम्मेलन हो रहा था, अतः जाने में साम्प्रदायिक दृष्टि होने का मन्ता ही नहीं था । जो उस समय नहीं पहुँचे, उन्हें पश्चात्ताप करते ही देखा या सुना । लाग पाली नगर का अहोभाग्य मान रहे थे ।

आपस में बपों में न मिलने वाले मन्तों के दिल भी उदाग । बिना किसी के प्रयत्न के मनोमालिन्य समाप्त । मतभेद वाले मन्त भी ऐसे मिलते, मानो इनमें कभी मतभेद था ही नहीं । वातावरण का प्रभाव पड़ता ही है । शिक्षा लेने के लिये एक मुन्दर अमर था ।

सम्मेलन का दिन आया । प्रथम तथा अन्तिम दिन की मभा का दृश्य देखने जैसा था । समय की बलिहारी है । मगठाचरण के पञ्चात् मरुधरकेसरी का प्राग्भिक प्रवचन हुआ, जिसमें उन्होंने सम्मेलन की रूपरेखा रखी । रही सही कमी थी उन्होंने यहाँ पूर्ति कर दी । लोगों में ऐसा जोश भरा कि, सम्मेलन के मिवाय कुछ सूँके ही नहीं । बाद में एक-एक करके सभी प्रमुख सन्तों के प्रवचन हुए । एकता के विषय में सभी एकमत थे ।

मधुप्रम तथा श्रमणमध के सम्बन्ध में सभी के एक ने एक बहस प्रवचन । बीच-बीच में नाटकों के स्थान पर जय-जयकार । ऐसे तो अतृप्त प्रवर्तक मुनि श्रीपन्नालालजी महागज कर रहे थे, किन्तु लगता ऐसा ही था, मानो संचालन मरुधरकेसरीजी कर रहे हों । वास्तविकता भी यही थी । मरुधरकेसरी के दिन का ही जोहर था कि सम्मेलन का यह रूप बना । इसे कौन प्राणीय सम्मेलन कहता । मीटिंग में करीब पन्द्रह हजार स्त्री-पुरुष थे । छोटे में नगर में, जहाँ स्थानकवासी जैनो के मुष्किल में ६०० घर होंगे, इतना बड़ा समूह । जैन-जैनतर सभी अपने आपको भोगवान्वित अनुभव कर रहे थे । सभी आतिथ्य तथा सम्मेलन की सफलता के लिये तत्पर थे । मरुधरकेसरी अपने गुरुतर उत्तर-दायित्व को अनुभव कर रहे थे । प्रथम दिन की सभा के बाद मन्तमण्डल सम्मेलन सम्बन्धी काम में लग गया । जो देखा जाय तो मन्तों के उदार प्रयत्नों के पञ्चात् करना शेष रह ही क्या गया था ? प्रेम में मिले, वन्दना की, साथ बैठे तथा

मभी ने एक आवाज में अजमे-सम्मेलन का समर्थन किया। यह सब कुछ होने के बावजूद सम्मेलन तो होना ही। सम्मेलन हुआ। वातावरण का क्या करना? जिस देशों जगमग तथा जय-जयकार।

प्रस्तावों की लंबाई नौ सौ बरसों में भी मरुप्रकैसरी का प्रमुख भाग। मभी प्रस्तावों का निष्कर्ष लेना के दायर। इम्बोर्न दुर्लभजोर्न की प्रमत्तता का पार नहीं था। यहाँ के वातावरण, जोश तथा उन्माह की देखा के गदगद हो गये। साँचाई समाप्त हुई। अन्दर क्या किया, वह लडा हो था। किसी चर्चा की हवा बाहर जाती भी नहीं तो उन्माह हुई। सम्मेलन के अन्तिमदिन विद्यालय समाप्त हुई। जिस देशों उन्माह की दूर-दूर तक बिनाट जन-समूह दिखाई देता। प्रवक्ता मुनि श्रीपन्नागवती महाशय ने मगठन तथा अमामय के सम्बन्ध में हृदय-वर्षा विचार व्यक्त किए। मभी मभी के दिवस में प्रमत्तता की नया अजमेर-सम्मेलन के लिये उन्माह और जोश था। मरुप्रकैसरी अब बोलने का नौ सौ बरसों का, माना उन्माह रोम-रोम में अमामय समाप्त हुआ है।

उस सम्मेलन में अन्य प्रवक्ता साँचाई ना हूँ, किन्तु एक निष्कर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण था। सम्मेलन अजमे-में हुआ था तथा नया यह क्षेत्र जागती में मरुप्र-मुनियों का है, अब मरुप्र-मुनि-सम्मेलन ने यह भी निर्णय लिया कि वातावरण के प्रभावों से नौ सौ बरसों का स्वागत करने नया मार्ग की कठिनाई में गहन मिते इस दृष्टि में उन्हें लेने जावें। उस सब काम की जिम्मेदारी का वहन करने की घोषणा की। घोषणा के साथ चयन-कार्य हुआ जोर ऐसी हुई, मानो आकाश तब उठा हो। मरुप्रसम्मेलन के मुख्य पञ्चान्तरण मुनियों का मध्ययोग लेकर मरुप्रकैसरी की आगे के काम में जुट गये। कुछ ऐसा भी है कि उन्हें प्रेरान रहना मुश्किल भी कम है।

माधु-सम्मेलन के लिये देश के सभी भागों से मन्त्रमण्डल अजमेर के लिये निकल पड़े। आरू, जयपुर तथा नीरवाडा नर स्वागतकर्ता तब तक गये भी अतिथि ननों की सेवा में लग गये। ननों के पैर लोह मुहान हो गये, किन्तु न प्रशय भी न अतिथि हुए। मानने में आने वाले महापुरुषों के पैरों की भी यही हालत थी।

दक्षिण भाग में, पञ्चायत, नीरवाडा और मध्यप्रदेश में, उत्तरप्रदेश श्री देहली में, मभी और में मन्त्र तेजी से अजमेर की ओर बढ़ रहे थे। तीनों भागों में स्वागत व्यवस्थानी ननों ने किया जो उन्हें लेकर अजमेर पहुँचे। इस स्वागत अतिथि में मरुप्रकैसरी की युवक मन्त्रमण्डली की प्रतिष्ठा में चार चाद लगे गये। अजमेर में लगभग पाँच सौ मन्त्र-मनिये तथा एक लाख से ऊपर आकर-आवाजें उत्थित हुए। मजदूर-मेलना था। मरुप्रकैसरी ने इस महानसम्मेलन में भी जगमग मन्त्रपूर्ण "पाठ" अथा किया और यशस्वी बने। स्थानिकवासी समाज के इतिहास में शायद यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा विनाश अममय था। जैनों तथा अजैनों की दृष्टि में मगठन के इस महामेलने के फलस्वरूप स्थानिकवासी समाज को अच्छा लग भिन्न।

सम्मेलन में नहीं उमरे की पूर्ति के लिये मादडी मारवाड तथा मोजत, मीनामय में भी सम्मेलन हुए तथा यहाँ भी सैकड़ों मन्त्र नया महामनिये तथा असम्य नर-नारी एकत्रित हुए। मरुप्रकैसरी-अमामय निर्माण के महत्त्व की आज कीटि किसी रूप में मरुप्रकैसरी, किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीताता, उसका महत्त्व बढ़ेगा।

मादडी-सम्मेलन के समय का मरुप्रकैसरी का वही स्थान था जो मरुप्र-मुनि-सम्मेलन पाली के समय था। मादडी मरुप्रकैसरी का प्रमुख उद्ये है। मादडी मय का एक महत्वपूर्ण दिन है। गोदावाड प्रदेश भर में प्रमुख रूप से मादडी ही एक ऐसा मय है, जहाँ स्थानिकवासियों के घर हैं। उर्म-गवा के लिये इन्हें बड़े-बड़े कूट सजने पड़े, किन्तु ये विचित्र नहीं हुए। मरुप्रकैसरी तथा उनके गुरुओं ने समय-समय पर उन्हें आज दिया तथा उस पर टिके रहने के लिए इन्हीं दिनों।

उनके भक्त यहाँ बड़ी संख्या में हैं, अब यहाँ माधुसम्मेलन होने का बहुत बड़ा श्रेय मरुप्रकैसरी को ही है। पहले बहुत कम आवश्यक व्यवस्था करवाने में उनका अच्छा योग रहा। लोगों में जोश भरने की कला में तो आप निद्विष्ट हैं। ऐसा जोश भरा कि लोग माधु-सम्मेलन, सेवा तथा अतिथिस्वरकार के लिए पागल हो गये। बाहर से आकर भी सैकड़ों घर बस गये तथा उनके चौके चलने लगे। सन्ध्या के अविवेशन तीनों ही सम्मेलनों



के साथ हुए। अजमेर अधिवेशन की अध्यक्षता हेमचन्द्रभाई ने, सादही-अधिवेशन की अध्यक्षता गेठ चपलालजी वाठिया ने तथा बीनासर-अधिवेशन की अध्यक्षता विनयचन्द्रभाई दुर्लभजी ने की।

मरुधरकेसरी के जीवन की अनेक विजेपताओं में एक विशेषता यह है कि वे जो मोक्ष लेते हैं, उन्हें पूर्ण तरह से छोड़ते हैं। तीन महासम्मेलनों के सिवाय एक छोटा-सा सम्मेलन गोजत में भी हुआ और वह मरुधरकेसरी की धुन के परिणामस्वरूप। इस धुन के धनी ने सोच लिया कि अपने दीक्षाक्षेत्र में प्रमुख सभी मन्त्रों को जाना, ले आये। ऐसी धन्य धून बिरल ही होती है।

श्रमणसूत्र का निर्माण हुआ। बाहर से साम्प्रदायिक भावनाओं से समाप्त हुई, किन्तु अन्दर कहीं-कहीं रह गई। वह साम्प्रदायिकता निरन्तर सताती रही। कभी कभी वहाने में कोई रूठ जाता तो कभी कोई दमगा। आचार्य और उपाचार्य के पद भी चिखत हो गये और कुछ ऐसी समस्याएँ भी उपस्थित हो गईं, जिनका समाधान आवश्यक था। उन चौथे सम्मेलन की योजना बनाई गई। चौथा सम्मेलन भी अजमेर में हुआ। आचार्य पद की चादर वहीं पर पूज्यश्री आनन्दभट्टिजी म० का ओढ़ाई गई।

सभी ऐसे आयोजनों में हमारे इन चरितनायक का सहयोग सक्रिय एवं महत्त्वपूर्ण रहा है। सधमेवा की भावना के बिना कभी सक्रिय सहयोग सम्भव नहीं होता।

अपने क्षेत्रों को सम्भालने में आप जैना पुरुषार्थ बम सन्नों में मिलेगा। जयानी ग्रीष्मप्रदाम्ब्या में तो लम्बे तथा लगातार विहार विस्मयजनक नहीं है, किन्तु आज हम ७५ वर्ष की अवस्था में भी चातुर्मास के बाद दो चार दिन से अधिक अनिवार्य परिस्थिति के सिवाय आप बंही नहीं ठहरते। आठ माह बराबर चिन्तित रहते हैं और प्रायः सभी क्षेत्रों को सम्भालते हैं। इतनी बृद्धावस्था, आगों में मोतिया तथा घुटनों में बाढ़ी का दर्द और फिर लम्बा-लम्बा विहार। आठ महीनों में इतने क्षेत्रों को शायद ही कोई सन्त सम्भालते हो। मार्ग में ब्रुस्तर आगया, गिर गये, चोट आगई, फिर भी विहार। शरीर जब तक चल सकता है, आप उसे अविश्रान्त चलाते हैं। घर में मिली मरुधरकेसरी गिर गये और चोट आगई। डाक्टर गया पट्टे-पट्टी बंधे, दो रोज बाद पुनः सम्भालने गये तो गायब, जब कि डाक्टर एक मन्त्राह तक पूर्ण आराम की हिदायत कर गए। भ्रत लोग कहते हैं—महाराज, आराम किया कीजिये, वे आग बबूला हो जाते हैं। समाज का धाता हूँ, उससे अधिक सेवा कर देना चाहता हूँ। इस तरह आठ महीनों में कम में कम मात-आठ भी मील का विहार कर बहुसरयक गावों का सभाल लेते हैं।

धर्म की अवहेलना आपने कहीं मन्न नहीं होती। कहीं में ऐसी खबर मिल जाय, स्वयं पटुचने का प्रयत्न करेंगे या किसी को भेजेंगे तथा निराकरण की व्यवस्था करेंगे। आपके भक्तों की भक्ति भी कमाल की देखी। छोटे-छोटे दम घीस घरों के सध और मरुधरकेसरी का चातुर्मास। यह जानते हुए कि चार महीनों में एक दिन भी चैन नहीं मिलेगी तथा १००५० दर्शनार्थी स्थायी रूप में रहेंगे, भक्तिवश वे चातुर्मास कराने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ तक छोटे गाव की चिन्तनी होती है, आप वही चातुर्मास करते हैं। जगल में मगल वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। छोटे में गाम में ठाठ। वस्त्रा प्रभावनाली हैं ही, फिर सगीत का पुट। जैनों के मिवाय, दूसरे भी बड़ी मरुधा में व्याख्यान में सम्मिलित हो जाते हैं। मैंने अनेक चातुर्मासों में अनेक स्त्री-पुरुषों को अठाई तक कन्ते देखा है।

बाहर के भक्त भी नाना प्रकार की सेवाओं करते रहते हैं। किसी ने बाटने को पुष्पक भेज दी तो किसी ने बैठके और पूजणी। किसी ने गरीबों के लिये कम्बली, दुर्खा या चादरों की गाँठें, तो किसी ने कुरते चण्डे या मोतिया। मरुधरकेसरी के चातुर्मास में दो-चार व्यक्ति तो ऐसे मिलते ही हैं, जो स्थायी रूप में वहीं रहते हैं। वे उन आई हुई चीजों की आवश्यकतामदों को देन की सेवा प्रदान कर देते हैं। चीजें अधिकतर वे ऐसे लोगों को ही देते हैं, जो आजो-बिना के लिये परिश्रम करते हुए भी आवश्यकतामद होते हैं अथवा जखमत, विधवा या वृद्ध। इसमें भी धर्म की प्रभावना होती है।

एक दान ऐसे ही एक प्रणय में मुझे भी जाना पड़ा। पाकिस्तान के हथले के समय श्रीमोहनलाल मुन्नाडिया, मुख्यमंत्री गजस्थान ने मुझे एक हजार रजार्ड मैजिस्ट्रेटों तथा दारणाधियों को भेजने के लिये कहा। मरुधरकेसरी के गुरु-देव श्रीबुधमजी मन्नागज की जयन्ती का निमन्त्रण मेरे पास आया हुआ था। मैं गया, वहाँ विनाल जनममूह देखकर जूनी गंगा में नहाने की इच्छा हो गई। थोड़े होकर अपील की और बात की बात में लगभग नौ रजार्ड के रुपये एकत्रित हो गये। मोचने का तरीका अलग अलग होता है। जहाँ मोचने है, वहाँ अपील होगी, लोगों को रुपया देना पड़ेगा और वे भविष्य में आने में मनाच रहेंगे। मरुधरकेसरी इस बात का कभी विचार ही नहीं करते। उन्हें यह विश्वास हो जाय कि काम अच्छा है क्या जाने वाला व्यक्ति प्रामाणिक है, वे अपील का समर्थन करेंगे। उनका समर्थन अर्थात् धनगति ही बौद्ध। एक बार किसी ने उनसे कह दिया-मन्नागज, आप कुछ बहन करवा देंगे। मरुधरकेसरी ने उत्तर दिया-मैं जहाँ से उनका भला मानता हूँ। पहले दिया, यहाँ पाया, यहाँ देते, आगे पावेंगे। थोड़ा देने में अधिक मिल जाय यह मोटा बड़ा बुद्धि है ?

लक्ष्मी की अन्तिम देवता कई बार जासूस्य होता है। एक बार मैं मोजन रोड म्यान्क में मुनिश्री के पास बैठा था। एक शर्माजी मन्नागज के पास आया था—कहने लगा—मन्नागज, मैं भी अमुक योजना में एक हजार रुपया खर्च करना चाहता हूँ। मुनिश्री ने कहा—तुम्हारी ऐसी स्थिति हम नहीं मानते। यह तो पैसे बाँटने का काम है। तुम्हें खर्च करना ही है तो जब तुम्हारे पास में आवेंगे और कोई धर्म काम देखेंगे तो वहाँ खर्च करना, अभी नहीं। इस प्रकार आप पात्र देवता ही दान की प्रेरणा करने हैं।

मरुधरकेसरी ने सधोपयोगी अनेक समस्याएँ खड़ी करवा दी हैं। उनके अनुरूप समय-समय पर सहायता भी दिया है, मित्तु उनका मोह अभी नहीं गव्वा। आवश्यक्ता महसूस की, उपदेश दिया, सन्धा बनी और सहायता करवा दी। उन समस्याओं में अपना प्रत्यक्ष कायम करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। जहाँ धर्मस्थानक का अभाव देखा, मन्नागज का ह्यान उन्हें हूण धर्म-स्थानक खड़े करवा दिये।

दर्रना ऐसे नय है, जहाँ वर्षों में खेप था। हमारे चरितनागर बड़ा गये, समझाया और क्लेश समाप्त करवा दिया। बड़ी मादड़ी, जागनाग, मित्राना तथा समझी आदि अनेक स्थानों के लगे आपने मिटाये। जहाँ भी गये, वहाँ फूट डेढ़ी तो पड़ी कहा कि हमें खतम करेंगे। वही आग्रह पर उठे भी तो यह धर्म रखकर ठहरे और फूट को समाप्त करने के लिये बाध्य किया। ऐसे अग्रमर आए कि एतना के लिए आपसे जनशन भी करना पड़ा।

जैन धर्म का शास्त्र अहिंसा तत्व है। जैनधर्म ही पहचान का आधार इसे कहा जा सकता है। अहिंसा जैन-धर्म की देन है। आरम्भ में निश्चय न अहिंसा को जब स्थायता कहा तो जैन के मित्राय काई नामने नहीं आया और गच्छिना महात्मा गान्धी ने जब अहिंसा को ब्रिटिश शासन ने लटने का हथियार बनाया तो सभी अहिंसा के गुण गाते गये।

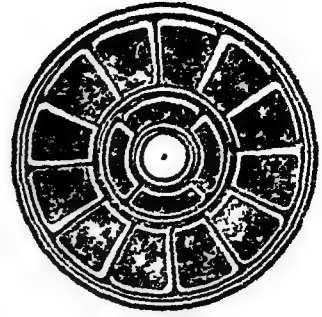
अहिंसा गैरधर्म की देन है, इसे सभी विचारकों ने स्वीकार किया है। मरुधरकेसरी भी हिंसक प्रवृत्तियों के मन्त्र विरोधी रहे हैं। अहिंसा के पालन के लिए उठे-बड़े यत्न तक आपने भेजे हैं। मरुधर की अहिंसा विरोधी प्रवृत्ति का के सिद्ध मरुधरकेसरीजी ने अनेक बार जाबाज उठाई है। अहिंसा प्रचार सम्बन्धी जो भी योजना जब सभी मरुधरकेसरी के नाम पर गई और उन्होंने यदि उसकी उपयोगिता देखी, मुक्तकण्ठ में उसका समर्थन किया।

इस तरह मरुधरकेसरी का जीवन एक अजवाबधर के रूप में है। सघमेवा की भावना तो इनकी रग-रग में समाई हुई है। शक्तिर समता है कि मरुधर के यह अनुपम केसरी युग-युग तक हमारे मध्य रहकर मानव जाति के अम्युदय का पथ प्रशन्न करने रहे।



मरुधरकेसरी की संयमनिष्ठा

मुनिश्री रूपचन्द्रजी 'रजत'



मन एव इन्द्रियो को अपन वश में करने तथा प्राणियों की रक्षा करने का ही नाम मयम है। जो मनुष्य अपने मन और बुद्धि पर नियमन प्राप्त कर लेता है, वही स्रेष्ठ गाधक है। आत्मविक्रम के प्रथम में दा वार्त्त महत्त्वपूर्ण होती है—एक तो अपने आपके दोषों का निरीक्षण-परीक्षण करना और उनके विप्लेपण द्वारा त्याग का मरुधर ग्रहण करना, दूसरे आध्यात्मिक रहस्य को समझकर, सम्यक्चारित्र्य को आत्मनिधि जान कर ससार के मयमन वैभव का परित्याग करना और निर्ग्रन्थ होकर जिन-दीक्षा लेना। यह दृढ़ आस्था रखना कि जगत् में अपने आत्मगुणों का विक्रम ही श्रेयस्कर है और इसी में जीवन की सार्थकता है।

समस्त ससार इन्द्रियों का दास बना हुआ है। इस कारण प्रायः प्रत्येक जीव निर्बल, दीन-हीन और पगधीन बना हुआ है। आत्मा के पराक्रम और स्वाधीनता को इन्द्रियों की दासता छीन लेती है।

आत्मा को आध्यात्मिक दृष्टि में सफर, उन्नत और शक्तिशाली बनाने के लिए इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् मयम-निष्ठा अनिवार्य है। दिनचर्या मनुष्य की संयमनिष्ठा की कनौटी है। नियमबद्ध दिनचर्या ही प्राणी के लिए उपयोगी और फलदायक सिद्ध होती है। महान् पुरुषों की दिनचर्या में वह विशिष्टता होती है, जो माधारण प्राणियों में नहीं पाई जाती है। इस भेद (विशिष्टता) की चर्चा करते हुए श्रुतिकार ने लिखा है—

सरसव मेरु रैन दिन, सिन्धु-विन्दु सम लेख।

शठ-पडित चाकर धनी, तिम यह अन्तर पेत् ॥

यदि व्यक्ति दिनचर्या में सयम में काम लेता है, परन्तु अपने जीवन में विषय-भोग, कलह और प्रलाप आदि को महत्व देन लग जाता है तो उसकी संयम-निष्ठा अर्थहीन हो जाती है।

मयमी जीवन बड़ा कठिन है। सयम के लिए सभी प्रकार के वधन आवश्यक हैं, जिसे शिथिलता नहीं आने पाये। जीवन में जो कार्य हमें शक्ति के समीप पहुँचा सकें, वही मयमनिष्ठा के लक्षण हैं। दिनचर्या को नियमबद्ध करके व्यक्ति सभी आवश्यक कार्यों को उचित रूप में निबटा सकता है और अपनी मान्यता में अग्रसर हो सक्ता है। आत्म-साधन के लिए तो नियमित दिनचर्या अनिवार्य है।

नियमित दिनचर्या हर व्यक्ति को नई प्रेरणा, नया उत्साह और नई स्फूर्ति प्रदान करती है। यहाँ में एक महान् योग-युक्तात्मा सत मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज की दिनचर्या की शांकी प्रस्तुत कर रहा हूँ—

मेरुधरकेसरीजी ऐसे महान् व्यक्ति हैं जिन्होंने अपनी संयमनिष्ठा का आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत किया है। आप के जीवन में नियमों का पालन और इन्द्रियनिग्रह उच्चस्तरीय है। आप प्रतीदिन रात्रि के पिछले प्रहर में दार्द-तीन बजे जाग जाते हैं। मंत्रप्रथम आप पंचपरमेष्ठी महामन्त्र का १०८ बार स्मरण करते हैं फिर शास्त्र-स्वाध्याय में मग्न हो अमृत्य समय का लाभ उठाते हैं। सूर्योदय के आसपास प्राचीन आध्यात्मिक मगीतबद्ध पद्यों का पठन एवं

मनन आदि आवश्यक क्रिया करते हैं। तत्पश्चात् प्रार्थना में पधार कर भक्तगणों को मंगलपाठ सुनाते हैं। आपके वाचन की मधुरता में नभी मुग्ध हो उठने हैं। शीचादि से निवृत्त होकर पुन कविता एवं लेखनकार्य में व्यस्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् व्याख्यान आदि कार्यों में अपना समय लगाते हैं।

आप पहर दिन के पहले विशिष्ट कारण के बिना किनी खाद्य एवं पेय पदार्थ का उपयोग नहीं करते। इस युग में इस प्रकार की कठोर निष्ठा का पालन बहुत कठिन है।

आप प्रतिदिन सात द्रव्यों (वस्तुओं) का ही आहार में उपयोग करते हैं। दूध दही और छाछ आदि गृहस्थों के निजी घरों का ही काम में लेते हैं। बाजार में खरीदी हुई किसी वस्तु का उपयोग नहीं करते हैं। व्यजन भी आप सूखा और बहुत कम (विशेषकर १-६ तरह का) नियमानुसार ही काम में लेते हैं। बाजार के मिष्ठान भी आप काम में नहीं लेते। केवल मिथी व दूध की वस्तु ही काम में लेते हैं।

आप मादा भोजन ही पसंद करते हैं। जिम जाति-कुल में मासादि का प्रयोग होता है, उस के घर से आहार पानी ग्रहण नहीं करते। इसी व्यवस्था के कारण आप प्राय राजस्थान में ही भ्रमण करते हैं। आप अपने शरीर पर भी शुद्ध खादी के बने हुए वस्त्र ही पहनते हैं।

आप चानुर्मान के प्रारम्भ में मौन का तैला अवश्य करते हैं। दिवाली पर भी मौन का तैला करते हैं, जिसमें १८-१२ हजार मूत्र गाथाओं का स्वाध्याय किया करते हैं।

आप सद्यो को प्रतिक्रमण के समय हमेशा मौन रहते हैं। रात्रि को शयन के बाद प्रार्थना के समय ही आपका मौन खलता है। दिन में भी १२ बजे एक घंटा मौन रखते हैं। हर मास में शुक्ला एकादशी और कृष्णा प्रतिपदा को मौन किया करते हैं। आप विदेशी दवा का प्रयोग नहीं करते, अत्यावश्यक होने पर देशी दवा का ही उपयोग करते हैं। बिना शारीरिक कारण के दिन में शयन नहीं करते। हमेशा दो विषय में ज्यादा नहीं लगाते। आप प्रतिदिन दो बार के सिवाय आहार नहीं करते हैं। मरुघरकेसरीजी की यही दिनचर्या है।

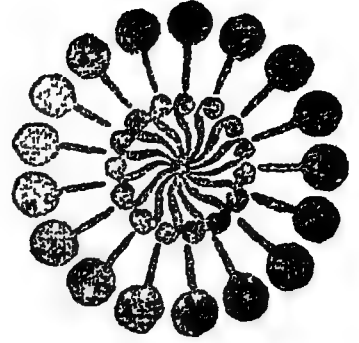
सयम की सुरक्षा के लिए किम प्रकार आहार-विहार को नियमित रखना चाहिए, इस तथ्य को आपने भली-भांति समझा है और इसी कारण आप अपनी रमना-इन्द्रिय पर पूरा नियंत्रण रखते हैं। वस्तुतः आपकी सयम-निष्ठा प्रत्येक साधक के लिए अनुकरणीय है।



मरुधरकेसरी की काव्य-कला

डा० नरेन्द्र मानावत,

एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न,
हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर



मरुधरकेसरी प० मुनिश्री मिश्रीमलजी म० उन कवियों में हैं जिनमें एक ओर सत कवि का प्रचलित रूढ़ परम्पराओं के प्रति विद्रोह और भवत कवि का अपने आराध्य के प्रति स्नेह-समर्पण है तो दूसरी ओर चमत्कारप्रिय कवि का बौद्धिक विलास और इतिवृत्तकार का तथ्यनिरूपक उल्लास है। इनकी सम्मन काव्यचेतना लोक-जीवन से रस-ग्रहण करती है। यही कारण है कि क्या कथा, क्या चरित्र, क्या शिल्प, सभी में लोक-तत्त्व उभर कर सामने आया है। मरुधरकेसरी के व्यक्तित्व का ओज इनके प्रभावशाली पात्रों को मिला है तो 'मिथी' की मिठास काव्यगत शिल्प में विभिन्न राग-रागिनियों में घुलमिल गई है।

काव्य-रचना

मरुधरकेसरी की दृष्टि जीवन के व्यापक फलक पर टिकी है, पर वह सतही नहीं है। अनुभव की गहराई में डूबकर उन्होंने जीवन के सत्यों का मार्मिक उद्घाटन किया है। उनकी तलस्पर्शिनी अनुभूति और तथ्यभेदिनी दृष्टि ने इतिहास के अरिथपजर में नयीन प्राण-चेतना फूकी है, नवल रुधिर प्रवाहित किया है। उपदेश की दुनिया में प्रचलित लोभदृष्टान्तों, लोक-कथाओं और लोक-उपमानों के माध्यम से रस-चर्वणा की है। 'महाभारत' के कथानक में उन्हें जीवन के विविध रूप दिखाई दिये, अच्छे और बुरे पात्र दिखाई दिये। जीवन को संपूर्ण सदर्थों में देखने-परखने की दृष्टि ने उन्होंने विशालकाय 'पाण्डव यशोरसायन' की रचना की। जीवन-समय और जीवन-विकास में दृष्टान्तों का बड़ा हाथ रहता है। शास्त्रीयता से दूर हटकर विमुक्त लोकभूमि पर मुनिश्री ने जिस 'मधुर दृष्टान्त मञ्जूषा' की रचना की वह वर्षों के अनुभवों का सचित कोष है। मुनिश्री की दृष्टि ज्योतिषविज्ञान की ओर भी गई। जैन ज्योतिष के सार-तत्त्वों को उन्हांने 'बुधविलास' के तरंग २ में निबद्ध किया। इमे रचनात्मक साहित्य में न गिनकर भले ही सूचनात्मक साहित्य में ही क्यों न लिया जाय, पर इससे कवि की जीवन-दृष्टि को जानने का तो अवसर मिलता ही है। विभिन्न चरितकाव्यों के माध्यम में मुनिश्री न कर्मवाद, जीवनाचार, जीवनादश की आर सकेत किया है।

मुनिश्री ने गो से भी अधिक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। उनकी सूची इस प्रकार है—

श्रीमरुधरकेसरीविरचित साहित्य (प्रकाशित)

१ पाण्डव यशोरसायन	(महाभारत)
२. मधुरा के महान् मत	(४ चरित्र)
३ सत्त्वविजय	(३५ चरित्र)
४ सच्ची माता का नपूत	(गर्जमिह चरित्र)
५ नन निधान	(नव चरित्र)

- ६ मधुर पचामृत (५ चरित्र)
- ७ पतगमिह चरित्र
- ८ वनन्त-माया मजुघोष चरित्र
- ९ भविष्यदत्त चरित्र
- १० गोविन्दमिह चरित्र
११. शीललता चरित्र
- १२ विनयवती चरित्र
- १३ वक्त्रूल चरित्र
- १४ धर्मदत्त-चरित्र
- १५ पुष्पवती चरित्र
- १६ अपाटा ठाकुर चरित्र
- १७ मदनरेखा चरित्र
- १८ शीलमिह चरित्र
- १९ रुयवन्ताशाह चरित्र
- २० मान मुनि चरित्र
- २१ क्रांतिकारी वीर लोकाशाह (हरिगीतिका)
- २२ धर्मवीर लोकाशाह (राजस्थानी)
- २३ धर्मप्राण लोकाशाह (गद्य)
- २४ दिगम्बरमतसमीक्षा (गद्य)
- २५ क्या मूर्तिपूजा धाम्प्रोक्त है ? (गद्य)
- २६ मूर्तिपूजा धाम्प्रोक्त नहीं है (गद्य)
- २७ सच्चा मूर्त (गद्य)
- २८ लमशेट का लफन्दर (गद्य)
- २९ भायलारो भीड़ (गद्य)
- ३० टणकाई रो तोर (गद्य)
- ३१ मानव बनों (गद्य)
- ३२ अहिमा (गद्य)
- ३३ आदतरा ओखद (नाटक)
- ३४ बुध-विलास . जैनज्योतिष (गद्य पद्य)
- ३५ बुध-विलास द्वितीय भाग (गुरुशिष्य मवाद) (पद्य-गद्य)
- ३६ बुध वावनी (पद्य)
- ३७ पद्यप्रबन्धपट्टावली (पद्य)
- ३८ श्रमणमुक्तर (चाट)
- ३९ जैन दिल खुश बहार (भाग १-२)
- ४० जैन नमाज मुघार (भजन)
४१. जैन मगीन मुघार (भजन)
- ४२ मधुर वीणा (भजन)
४३. नवरत्नलता (भजन)
- ४४ मिश्री के मोदक (भजन)
- ४५ मिश्री का कुजा (भजन)



४६ मिश्री के रवे	(भजन)
४७ मधुर मलय सगीतमाला	(भजन)
४८ मीठी वदी	(भजन)
४९ मोहन-मोहन सवार	(नाट्य)
५० जैन मंगलमाला	(भजन)
५१ अक्षतों के अपमान का फल	(गद्य)
५२ मधुर गायन	(भजन)
५३ मधुर स्तवनवाटिका	(भजन)
५४ गुरुभक्तिभजनमाला भाग १-२	(भजन)
५६, वीरदल गायन	(भजन)
५५ मधुर काव्य	(भजन)
५७ मधुर कविता कुज	(भजन)
५८, अमृत-गुटिका	(भजन)
५९ मधुर रूपमाला	(भजन)
६० मधुर स्तवन सगीत	(भजन)
६१ मिश्री के लड्डू भाग १, २, ३	(भजन)
६२ चम्पा भजनामृत	(भजन)
६३ मधुर काव्य (द्वि० भाग)	(भजन)
६४ गुन्दर-मुख चपेटिका	(भजन)
६५ मधुर शिक्षा छटकाव्य	(गद्य)
६६ मनोहर फूल	(भजन)
६७ जिनागम सगीत भाग १, २ (वास्तवीय पद्य सगीत)	
६८, तत्त्वज्ञानतरंगिणी	(तात्त्विक प्रप)
६९ पथिकप्रबोध	(भजन)
७० पादपत्रभा	(भजन)
७१ पादपत्रचौसी	(गद्य)
७२ मधुर चतुर्विंशति	(भजन)
७३ पूज्य पञ्चोत्ती	(भजन)
७४ रेणु-रसयिनोद	(भजन)
७५ भक्तिरग भजनावली	(भजन)
७६ भक्ति के पुष्प	(भजन)
७७ मधुर हरियाली	(भजन)
७८ चम्पक कली	(भजन)
७९ मधुर मनन	(भजन)
८० मधुर मंगलप्रार्थना	(भजन)
८१ मधुर भजनावली	(भजन)
८२ मधुर वत्तीसी	(भजन)
८३ गगवान महावीर जन्म कल्याणचरित्र	
८४ उपदेश वाचनी	(विविध विषयक छन्द)
८५ आगे ओसा	(नाटक)

८६ जटपूजको ! पट्टो	(गद्य-चर्चा)
८७ मधुर मगल	(झालें)
८८ मधुर काव्यमात्रा	(भजन)
८९ मधुर स्तवननुमनमात्रा	(भजन)
९० नित्य स्मरण	(भजन)
९१ दिव्य मगोन	(भजन)
९२ जयन्ती गायन	(भजन)
९३ श्रीमद् रघुनाथचरित्र	
९४ मधुर साहित्यमाला १	(पद्य)
९५ जैन धर्म पुष्पलता	(भजन)
९६ मधुर हृष्टान्तगनन	(काव्य पद्य)
९७ गजव गो गोडालो	
९८ गोगेने गोडालो	

अप्रकाशित साहित्य

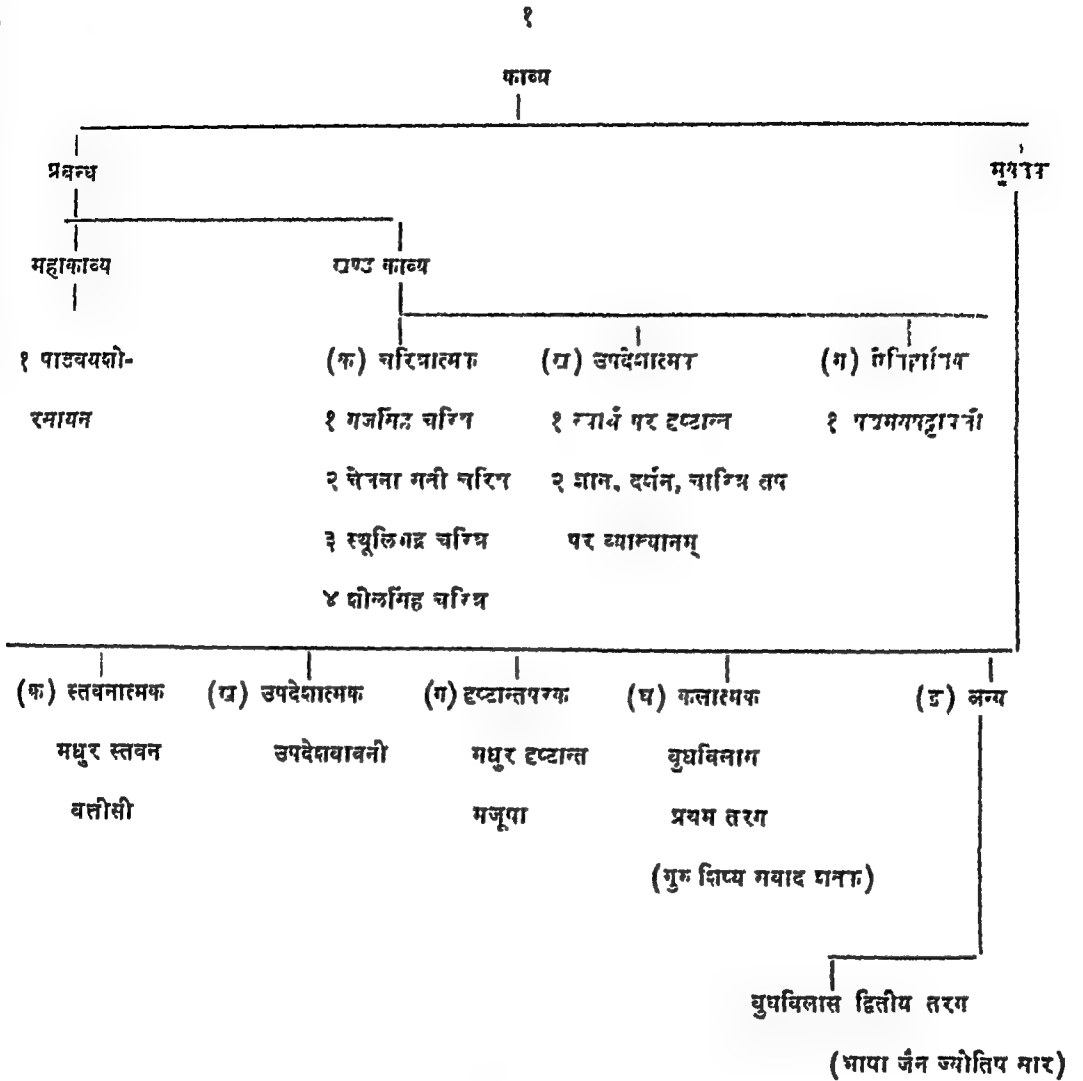
- १ विप्रममेन चरित्र
- २ मिथी काव्यविनाद (पद्य) अनेक विषयो पर
- ३ हृष्टिमिह चरित्र
- ४ विमलहम चरित्र
- ५ वैगम्यापदेश चरित्र
- ६ चौबोली चरित्र
- ७ पचदडचरित्र
- ८ मनी लक्ष्मी चरित्र
- ९ महेंद्रमिह
- १० दानयमनमिह

काव्य-वर्गीकरण

मरुघरकेसरी की रचनाओं को मोटे तौर से दो भागों में बाटा जा सकता है—(१) प्रबन्धकाव्य और (२) मुक्ताव्य । प्रबन्ध काव्य को फिर दो उपवर्गों में विभक्त कर सकते हैं (क) महाकाव्य और (ख) खण्डकाव्य । महाकाव्य में चरित्र नायक की सम्पूर्ण जीवनकथा विस्तार में गाई जाती है जब कि खण्डकाव्य में जीवन के किसी सांक्षिपिक अंग को वर्णन-विषय बनाया जाता है । मरुघरकेसरी की दृष्टि में शायद यह भेद इतना स्पष्ट नहीं रहा है । उनके चरित्राख्यात खण्डकाव्य की कोटि में ही आयेंगे यद्यपि उनमें नायक के जीवन की पूरी कथा है । इन्हें एक शब्द में 'कथाकाव्य' की मजा दी जा सकती है । मुक्ताव्य काव्य में कथा की कोई धारा नहीं चलती । वह पूर्व-परम्परा से श्रावद्ध नहीं होकर अपने आप में स्वतन्त्र और पूर्ण अर्थ का बोधक होता है । मुनिश्री ने मुक्तक काव्य सर्जन में कई नये प्रयोग किये हैं ।

मूत्र रूप में मरुघरकेसरी के काव्य-वैभव को रेखा-चित्र द्वारा यो दर्शाया जा सकता है—





१ यह वर्गीकरण प्राप्त प्रतिनिधि रचनाओं के आधार पर किया गया है।

काव्य-विवेचन

प्रबन्धकाव्य

‘पाटव यशोरसायन’ मुनिश्री का वृद्ध महाकाव्य है। यह जैन दृष्टि में लिखा गया ‘महाभारत’ है। इसमें कवि का ध्यान इतिवृत्त पर अधिक रहा है। इनका विशालकाय ग्रन्थ लिख कर मुनिश्री ने पाठका को जीवन नवर्धों विविध दृष्टिकोण प्रदान किए हैं जो पुरातन आदर्शों के अनुरूप हैं।

कृष्ण हिन्दी कवियों का प्रिय पात्र रहा है। भक्ति एवं रीतियुगीन कवियों ने उसके मोन्दर्य-पक्ष का उद्घाटन किए खोजकर किया है। आलोच्य कवि को दृष्टि कृष्ण के मोन्दर्य पक्ष पर न टिककर उसके शक्ति पक्ष पर अविकल केन्द्रित हुई है। यह प्रयत्न दयाधनीय है। जैन दृष्टि में कृष्ण वामदेव हैं। वे शक्ति के धनी हैं। उनकी यह शक्ति कस जैने अत्याचारों धामक के उन्मूलन में तो लगनी ही है, पूतना-व्रज,^१ कानिया-दमन^२ में भी उनका शक्तिरूप उभरा है। इन शक्ति के माय-माय कल्याण-भाव भी गूँथा हुआ है। नागिन की विनय और लवणप्रभाव से कृष्ण के सहज कर होने में^३ रक्षा और आश्चर्य भाव की मिनी-जुगे जनु भूति है।

शक्ति का यह रूप द्रोपदी की प्रतिज्ञा में भी प्रतिबिम्बित है। नागिन की त्यागभावना और अन्यायी-अत्याचारी में प्रणिग्रोध लेने की बड़बनी वामना का गुन ही उन्मत्त में वर्णन मुन्दर वन पड़ा है—

मुपट्टी न पाऊं सुप, बसन नजीन तन,
ओढ दा को सु स लीनो, सूवणो पिलग पे।
काजर न आल आजू, लेवू ना तबोल मुख,
कचुकी न डोरी कनू, शोभा हित अग पे।

- १ पूतना गलानि बुलवाई, भेद को लेन गोकुल माहो,
भेज दी कम उठे आई, जनोदा दे सुन धवराऊ,
मेरी गोदी में हलराऊ।
जसोदा नहीं देन सातिर डाकिन मा लेन भई आतुर,
बशीयर छूट चलो जाहिर, करता पय-पान चीर टारी,
कृष्ण फिर कीनी किलकारी।

—पाटव यशोरसायन, पृ० १८०

- ० गेद की पगवा नहीं है नागिन। मामा से गयो जुवे हार रे।
धामग शिर देसू मामा ने, आया छू इण च्छार रे ॥
नागिन भागी नाग चेतायो, आयो वरी बलधार रे।
वानग ऊठयो कोपे चढियो, इत पहुच्यो है मुरार रे।
इक कर में झट गेद उठाई, दूजा में फण लियो धार रे।
पुट्ट मच्यो दोनों में जानो, फुण किया नाग हजार रे ॥ —पृ० १८३
- ३ महम कर कर लविध प्रभावे, जीत्यो माघव जिणवार रे।
पकड घीम ले चन्थो कन्हयो, नागिन करी है पुकार रे ॥
कालो घदन अर टक जहरीलो, मत मारो निरधार रे।
पनि भिला अव दे दो दयालु, अजं करो चरणार रे ॥
कृष्ण फटे नहीं मार इसको नाथ लेवू गो इक्वार रे।
घदन मुकोमल वृन्दावन में, ऊपर रमाला चौपट सार रे ॥ —पृ० १८३





माल पे न बिंदी देऊ, बेणी ना गुथाऊ भैया,
होट रु नापून नाही, रघू दुफ रग पे ।
जोलों दृ शासन भुज, उलाटे ना पति मय,
और ना जमावे गदा-भीम उसी जघ पे ॥^१

शक्ति के साथ-साथ प्रेम और सौन्दर्य व्यंजना के लिए भी नवि ने उपयुक्त अमर वृद्ध निकाला है । रुक्मणी ने न्नानोपरान्त शृ गार क्या किया है मानी दम्बाणी का रूप धारण कर लिया है—

स्नान कियो ससरो तत्र सुन्दर और अनुपम रूप सधार्यो ।
माय मरी गज मोतिन से, नय बेमर टोकि दे, अजन मार्ग्यो ॥
कुच कु भ कसे, गल हार धिराजित, साठि निलाम्बर को पट टार्यो ।
कटि मेघस नूपुर नोके पने निज देह शचीपन सो तत्र धार्यो ॥^२

हिन्दी में सामान्यतः कृष्ण और राधा के प्रेम-प्रसंग को लेकर विपुल पदमाहित्य का निर्माण हुआ पर मुनिश्री ने स्वकीय प्रेम-भाव को ध्यान में रखते हुए प्रेम की पवित्रता और एकरमता की अभिव्यक्ति के लिए रुक्मणी को विशिष्ट पद दिया है । रुक्मणी कृष्ण की परिणीता पत्नी है । दोनों में प्रगाढ़ प्रेम है । फूल में गुग्गुलु, शरीर में साम, सूर्य में शिरण, चांद में चांदनी, सर्प में मणि, मुनि-मन में करणी, केसरी के मृग में घाणी आदि की तरह कृष्ण और रुक्मणी परस्पर हिले-मिले हैं—

सुमन बिधे जिम दास, सास पोंजर रधि किरणा ।
चन्द सुधारस जाण, अहि मणि, मुनि मन जिरणा ॥
सोमी धन की राम, भव्य चाहत ज्यों तिरणा ।
उदधि मे अरविन्द, केवली मुख ज्यों निरणा ॥
काष्ठ वह्नि, हिमलू मही, ज्यों पासे हिल-मिल रहे ।
त्यो हरि रत्नमणि मन मिल्यो, कहो अतर कैसे गहे ॥^३

नेमिनाथ और राजमती के प्रसंग में 'बारहमासा' का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है । नेमिनाथ के शीरण में वापस लीटने पर राजमती उनकी अनन्त प्रतीक्षा में बेचैन है । चैत्र मास में वसन्त खिल गया है । वह पल-पल प्रिय का पथ निहारा करती है ।^४ विरह की पीडा में नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है और ऊपर से बैसाख तप रहा है, वह कैसे धैर्य धारण करे ?^५ जेठ की गर्मी में वह शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से जल रही है ।^६ आपाद में

१ पाण्डव यशोरसायन, पृ० ३७३

२ " पृ० २२६

३ पाण्डव यशोरसायन, पृ० २३३-३४

४ चैत्र चह्रविंश खिल रह्योजी, रंग भर राग वसत ।
पल-पल पेखू प्रेममू जी, कथ तुम्हारी पथ जी ॥

५ खलक्या वाला नीर का जी, नयन विरह की पीर ।
ऊपर भास वैशाखरी स्वामी, किण विध धार धीर ॥

६ जोग लीजो मत जेठ में जी काई, वाले लूओं वाय ।
दोनू तरफ लू जल रहीजो, कमवज म्हारी काय ॥

वादगो की घटा देखकर समझा मन-मयूर प्रिय की स्मृति में कूक उठना है।^१ इस प्रकार शेष महीनों में रो-गेकर राजुल पिज्ज मात्र रह गई है। उनमें मयम-पथ पर बट कर ही अन्त अपना कल्याण किया।^२

कुल मिश्रकर कहा जा सकता है कि इस विशालकाय^३ महाकाव्य में मुनिश्री ने शिल्लगत कई नये प्रयोग किये हैं। पूरा ग्रंथ गेय है और विभिन्न नज्मों में लिखा गया है।

मुनिश्री द्वारा लिखित 'ब्रण्डकाव्य' के मोटे तौर पर तीन भाग किये जा सकते हैं। चरित्रात्मक, उपदेशात्मक और ऐतिहासिक।

चरित्रात्मक ब्रण्डकाव्यों में राजनिह चरित्र, चेलना नती चरित्र, स्थूलिभद्र चरित्र और शीलमिह चरित्र उल्लेखनीय हैं। 'गजसिंह चरित्र' लोक-कटिगो पर आश्रित काव्य है जिसमें गजनिह के चरित्र को उभारा गया है। काव्य में स्थान-स्थान पर पुग्ग-भाषा के प्रभाव की विवेचना, कपट का प्रतिकूल और कर्मवाद की भीमामा की गई है। 'चेलना नती चरित्र' में नती चेलना जो प्रेम्णाजविन के रूप में चित्रित किया गया है जो श्रेणिक जैसे राजा को भी उद्यो-घना देकर नराय की ओर प्रणिमुख करती है। नारी के अदम्य नाहन, अनीम धैर्य और विरति-विवेक की गाथा है यह चरित्र। 'स्थूलिभद्र चरित्र' जीवन के अनुराग और विराग दोनों पक्षों को कुलना के साथ उद्घाटित करने वाला मानिक प्रेमान्तर है। इस काव्य का मन्देश है—भोग ने योग की ओर अभिमुख होना। स्थूलिभद्र कोष्या के रूप-रंग में आकृष्ट हुआ है और जब विरक्ति हुई है तो रूप के मरोवर में रह कर भी वह कमल की तरह योग और सयम-मार्ग पर आकृष्ट है। उनमें ईर्ष्या रहित मयम की वह ऊँचाई है जिसे छू सकता महज नहीं।^४ 'शीलमिह चरित्र' भी कथानक-प्रकटियों पर आधारित काव्य है। इसमें शीलमिह की बीरता, माहुरिक कार्य और विरति की विवेचना है।

उपदेशात्मक ब्रण्डकाव्यों में 'स्वार्थ पर दृष्टान्त' और 'ज्ञान दर्शन, चारित्रोपरि व्याख्यानम्' प्रमुख हैं। 'स्वार्थ पर दृष्टान्त' काव्य में नग-भाषा में बोलें मिह की स्वार्थ की चुनीनी को नन्दनशास्त्र स्वीकार करता है। नन्दनशास्त्र के स्थान पर उनके 'नामा' माता,^५ पत्नी^६ आदि कोई भी मिह-मुख के आगे जाने को तैयार नहीं होते। जीवन का यह

१ आयो मान आपाड रो जी, घन चढियो घनघोर।

ओनु आवे आपरी ओ तो, कूक रह्यो मन मोर ॥ पृ० ६४७

२ झुर-झुर पीजर हो गई जी, राजुल बारा माम।

नमता घर मजम नियो, सती छोड़ दियो घर-बास ॥ पृ० ६४८

३ ६७४ पृष्ठों का यह ग्रंथ ५ खण्डों और ३०६ ढाँचों में विभक्त है जिसमें २६४५ गायार्, ४५६ दोहे, १३६ सर्वे, १३१ कवित्त, ८५ चन्द्रायणा, ७२ सौरसे, ६३ पदरी, ३६ हरिप्रेतिका, ३५ शिखरिणी, ३२ मोतीदाम, ३२ छप्पय, १६ त्रोटक, १६ त्रिभंगी, ६ चियेटर, ६ शार्दूल, ६ कुडलिया, ५ छंद और ४ व्रतविलम्बित छंद हैं।

४ होट करे मत डोड बनी कर गीदड शेर सजोड लगे।

कचन पीतल नाहि बराबर, वायस हन हिजार पगे ॥

कया जयन् रवि जोड जचे, नरगज अगाणि बु भील जगे।

त्यो मतिहीन कहे 'मिथी', मननग ममान सु खार जगे ॥

५ सेठ कहे गीताय रे, मरनी मेरी बलाय रे ॥टेरा॥

कुण-कुण मरिया पुत्र पिछाडी, देवेनी एक बताय रे ॥

कई जिपारा वेडा मरिया, हुयगो कोण अन्याय रे।

में दुल पाऊ अवकी मरणो, पुत्र आडो नहीं आय रे ॥

जा-जा मुख से आघो जरदी, नल जन्म्या दुखदाय रे।

मेवा भगती कीव रती ना, हू इण घन के लाय रे ॥

—सकल्पविजय पृ० १६६

—सकल्पविजय, पृ० ८२





कठोर सत्य नन्दनशाह की आखें खोल देता है और वह अनुभव करने लगता है कि यह गगार स्वार्य का मेला है ।^१ समयपथ पर चलने में ही जीवन की सार्यकना है । नन्दनशाह गद्यमी वन कर अपना उद्धार करता है । ज्ञानदर्शन-चारित्र्योपरि व्याख्यानम् प्रतीकाल्पक काव्य है । इनमें चार मित्र-भग्नो-गुप्त, गानी-गुप्त, द्विज-पुत्र और राजकुमार गमर्गमिह ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप के प्रतीक हैं ।^२ चारों बलावार है । एक अपने त्रिधा-युग में धीम शोक की गव वातें जान लेता है, दूसरा आकाश-मार्ग में गमन कर धमीष्ट स्थल पर पहुँचने की क्षमता रखता है, तीसरा मरे हुए का पुनर्जीवित कर देता है और चौथा निर्भीक वीर की भाँति शत्रु को परास्त कर सर्वत्र विजयी बनता है । चारों परम्पर सहयोग और सद्भाव में मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का पार कर मिद्धि प्राप्त करते हैं ।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में खुदा तक पहुँचने के लिए वन्दे को चार दशाएँ—दरीयत, तगीरुन, हसीरुन और मारिफत-पार करनी पड़ती है । आनोच्य कृति में ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप की वही स्थिति है । कुमार समरसिंह आदर्शप्रेमी है । वह प्रेमपात्र की प्राप्ति के लिए सूफी प्रेम-राव्यों के नायक की भाँति योगी बनकर नहीं निकलता । वह अपने बाहुबल एवं पुरुषार्थ से मार्ग में पड़ने वाली गमस्त बाधाओं का दूर कर विजयी बनता है और अन्त में समय-मार्ग का पथिक बनकर आत्मोद्धार करता है । समरसिंह सर्वगुणमम्पन्न है । वह वीर नायक का मानक है । सेना में हाथी, आकाश में सूर्य, देवताओं में इन्द्र, नक्षत्रों में चंद्र, मनुष्यों में राजा, पशुओं में सिंह, बादलों में

६ जरदी बोली रे, करबका भोरी ।

कंसो कुपातर पड़्यो पेट में, आवत भीत चहे भोरी ।

काई निहाल करी निरभागी, खाली जनम दे भई दोरी ।

मरसी तो मरजासी मुझे क्या, मैं न मरू बनकर भोरी ।

किन किन का जग नाम रहता है, दुनियाँ कयन करती कोरी ।

आपों अबीठ होय जा जरदी, अगर अकल राखे थोरी ॥पृ० ८४

७ पर-भीत मरू गतिया विगरे, पति काल मरे भल आज मरे ।

पतिहीन तिया फितरी जग में, वन भूरख कोई जरे लग में ।

मुझको नहीं चाह रही सुख की, परवा न कर पति के दुख की ॥पृ० ८६

१ देख लियो, देख लियो, देख लियो रे,

चिरताली प्रेम थारो पेख लियो रे ॥देर॥

कपट फटारी कारी नागण सी भारी,

श्राज तो जघड गई पोल सब थारी,

जैसे होंगी जन साधु भेल लियो रे ॥चि०॥१॥

छूट थारा माजना में मैं भी घोखो लायो,

मीठोडी बोली में होली रूप लख पायो,

तू तो स्वारय रो बाटियो सेकलियो रे ॥चि०॥२॥ पृ० ८६ ८७

२ मन्त्रि सुतवत् ज्ञान जाणो, अट्टा सूत्रजघार है,

चारित्र्य द्विज सुत समझ लीजे तप जु राजकुमार है ।

ज्ञान दर्शन चरित तप बहु कर्म फाटन की दवा,

जो अराधे शूद्र भावे लहे शिव सुख की हवा ॥पृ० १०५-१०६

विजली, वारात मे दूल्हा और क्रोध मे फणीन्द्र के समान वीरो मे समरनिह है ।^१

ऐतिहासिक खण्डकाव्य के रूप मे 'पद्यमय पट्टावली' का उल्लेख किया जा सकता है। वस्तुतः शास्त्रीय अर्थ मे यह खण्डकाव्य नहीं है पर मुनिश्री ने इसे ६ परिच्छेदों मे विभक्त कर महावीर से लेकर वर्तमान समय तक के विभिन्न सम्प्रदायों के पट्टवर आचार्यों का परिचय प्रस्तुत किया है। प्रथम परिच्छेद मे भगवान् महावीर मे लेकर २७ वें पट्टवर आचार्य देवद्वि क्षमाश्रमण तक का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद आठ निह्नुवों से सम्बन्धित है। इसी मे देवद्वि क्षमाश्रमण के बाद होने वाले ७५ वें आचार्य जीवराजजी तक का पट्ट-परिचय दिया गया है। तृतीय परिच्छेद मे लवजी ऋषि की परम्परा के साथ खभान सम्प्रदाय तथा पञ्जाबी श्री अमरसिंहजी का पाटानुक्रम वर्णित है। चतुर्थ परिच्छेद दरियापुरी सम्प्रदाय के सत्पापक श्री धर्मसिंहजी महाराज से सम्बन्धित है। पचम परिच्छेद मे श्री जीवराजजी म०, श्री हुक्मीचदजी म०, श्री नानकरामजी म०, श्री स्वामीदासजी म०, श्री शीतलदास जी म०, श्री अमरसिंहजी म० और श्री नाथूरामजी म० का पाटानुक्रम वर्णित है। षष्ठ परिच्छेद धर्मोद्धारक श्री धर्मदासजी म० से सम्बन्धित है। इसमे धर्मदासजी म० की परम्परा के साथ श्री रघुनाथजी म०, श्री जयमल्लजी म०, श्री कुशलजी म०, श्री चौथमलजी म०, लीवडी बडी सम्प्रदाय, लीवडी छोटी शाखा, आठ कोटि मोटी पक्ष, मेवाडी सम्प्रदाय, श्री मनोहरदासजी म०, उज्जैन मिथाडा, श्री ज्ञानचदजी म०, तथा रतलाम मिथाडा के पाटानुपाठ का वर्णन है। विभिन्न छन्दों मे निबद्ध यह पद्य-पट्टावली कवि की भाषाधिकार क्षमता व ऐतिहासिक ज्ञान की परिचायिका है।

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य मे कोई सानुबन्ध कथा नहीं होती। वह किसी भाव विशेष को तीव्र आवेग के साथ व्यक्त करने के लिए लिखा जाता है। उसमे विस्तार की अपेक्षा गहराई अधिक होती है। मुनिश्री ने अनुभूत जीवन-सत्य को विभिन्न मुक्तक-मुक्तकों मे प्रतिभासित किया है। उनके समस्त मुक्तक काव्य को अध्ययन की सुविधा के लिए ५ वर्गों मे बाँटा जा सकता है—स्तवनात्मक, उपदेशात्मक, दृष्टान्तात्मक, कलात्मक और ज्योतिष।

स्तवनात्मक मुक्तक मुख्यतः 'मधुर स्तवन वत्तीमी' मे मगूहीत है। इन मुक्तकों मे सामान्यतः तीर्थंकरों, विहरमानों, पंच परमेष्ठी आदि का स्तवन किया गया है। तीर्थंकरों मे कवि २३ वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ से विशेष प्रभावित है। प्रबन्ध काव्य का समारम्भ करते हुए भी कवि ने कई स्थलों पर पार्श्वनाथ का मगलाचरण किया है। वह पार्श्वनाथ के 'परचा' से चमत्कृत है। उनमे वालक को भाँति मा के रूप मे अपने मनोरथ पूरे करने की आशा की है—

श्री पारस परबाधारी, तोरे चरणन से इकतारी ।
चिन्तामणि चित्त चितित आये, ज्यों बालक महितारी ॥
त्यों पुरुषादानी जिन पारस, हाजर हाथ बिचारी ।
पूरे आसा बलिहारी ॥

१ फीज मे गयद नम बीच मे दिनद जैसे,
सुर मे सुरेंद चद तारो बीच चमके ।
नरों मे नरिन्द पशु बीच मे मृगेन्द्र और,
चमरेंद असुरान विज्जु घन शमके ॥
कला मे कविन्द अरु जान मे बु बौद छाजे,
रोप मे फनिन्द दाता धनिद ज्यों धमके ।
ऐसो गुणपूर सूर समर सुचौर अहो ।
नैनन की कीकी सम मन भायो सवके ।



भवत के रूप में कवि ४० पाखनाथ में उसी प्रकार का नैकट्य अनुभव करना है जैसा चक्रारो चाँद में, शकर पार्वती में, कृष्ण राधा में और राम गीता में—

मोहनगारो मन वस्यो, चित्त चरणों में, हाँ चंद चकोरी जेम ।

ज्यों शकर मन गोरजा, हूँ राधा में, राम सियासत प्रेम ॥

वह उन्हें एक पल के लिए भी विस्मृत नहीं करना चाहता । जिन प्रकार चक्रमक पत्थर अग्नि की, वादू विजली की, मछली जल की, कमल सूर्य की, मधुकर मालती की और हनुमानमंगल की नहीं त्यागना उगी प्राण कवि अपने आराध्य में अलग नहीं होना चाहता—

चक्रमक अग्नि ना तजै, धन ज्यों धिजरी, मच्छि निमल नीर ।

कमल रवि बिसरे नहीं, भावे भोले, तरकस हृदो तीर ॥

मधुकर को मन मालती, निस दिन धूम, मानसरोवर हस ।

प्यारी पियू भूले नहीं, क्षणसर सर पे, ज्यों उत्तम निज बस ॥

इण विधि प्रीति आपसे, अविचल म्हारी, चढती कला पिछान ।

तू मुझ जीवनयाल हो, अन्तर्यामी, बिसरामी शिष्यान ॥

अपनी लघुता और प्रभु की महत्ता के प्रतिपादन में भक्तों में विशेष आनन्द आता है । यह निष्काण्ट रूप में निश्चय हो अवगुणों को बढ़ा-चढ़ा कर आराध्य के सम्मुख प्रकट करता है । मुनिश्री का भक्त मन गीतमन्त्रामी के चरणों में निवेदन करता है कि वह सामाजिक कदों में फगा हुआ है, तृष्णा के तन्मू में कमा हुआ है और भक्तता की मेरुपर्वत से भी उसकी 'वित्त शिला' भारी है—

गोयम गुरुवर गुणधारी, है चरणन की बलिहारी ।

काम स्याम रामा को रसियो, फसियो, फद फिरारो ॥

कसियो तन्मू तृष्णा फंसो, बसियो विषय मजारो ।

समल गुण बीना डारी ॥

दाम धाम निज नाम वधारण, ले लीनी मुख त्पारी ।

है भक्तता मेरु से म्होटी, धित्त सिल्ला बिस्तारी ॥

लगे अब कहाँ लो कागो ।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'विनयपत्रिका' में अपने मध्य में ऐसे भाव व्यक्त किये हैं । यह भावना कवि की विनम्रता, क्षालीनता और निरभिमानता की परिचायक है ।

उपदेशात्मक मुक्तक मुख्यतः 'उपदेशावली' में संग्रहीत हैं । ये कुडनिया छन्द में लिखे गये हैं । इनमें सामाजिक प्राणियों को नाम-स्मरण,^१ दया-धर्म-पालन,^२ गुरु-भक्ति, वाणी-मयम,^३ सम्यग्ज्ञान-साधना,^४ कर्मवाद,^५ स्वार्थ-त्याग

१ कहे 'मिश्री' अणगार प्यार-धर पारस जप ले । पृ० ६

२ कहे 'मिश्री' अणगार, दयामय धर्म अराधे ॥ पृ० ७

३ कहे 'मिश्री' अणगार बोलता जतना राखो ।

प्रथम हिंसा में तोल, बोल फिर बाह्य भाखो ॥ पृ० ६

४ कहे 'मिश्री' अणगार भक्त मत वण रे भोलो ।

अन्तर आँख उघाड, दूध ओहर रो धोलो ॥

धोलो पुनरपि आक फो, बडला रो पिण जाण ।

गाय भंस बकरी तणो, उनकी करे, पिछाण ॥ पृ० ११

५ कहे 'मिश्री' अणगार, कठिन कर्मों रो काँटो ।

चुमियों सफे न चल्ल, अचानक फाँटो आँटो ॥ पृ० २६

आदि की शिक्षा दी गई है। नव्यज्ञान का मरल और बोधगम्य बनाने के लिए व्यापार^१ हवाई यात्रा,^२ खेती,^३ स्नान^४ आदि व्यावहारिक शैक्षिक कार्यों को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया गया है। नमाज में व्याप्त होम, पागण्ड और कडाचार के प्रति आक्रोश प्रकट करने हुए नकली वैगणियों की छत्र खबर दी है।^५ कवि की उद्बोधना है कि यदि आप 'मद मुछाने' हैं तो होम, मोह का उन्मूलन कर मच्चे आत्म वीर बनें।^६

दृष्टान्तपरक मुक्त काव्य में 'मधु-दृष्टान्त मजूपा' उल्लेखनीय है। इसमें ११३ दृष्टान्त हैं जो 'कविन' छन्द में लिखे गये हैं। कहीं कहीं 'दोहा' छन्द में निरूपण दिया गया है। जैन मत गूढ़ व गम्भीर तत्त्व-सिद्धान्त को इस प्रकार विवेचन करते रहे हैं कि वह वानक जैसे मद बुद्धि वाले व्यक्ति के हृदय में भी उतर सके। इसके लिए प्राचीन

- १, टोटो है जिन ममज्ञ रो, नर-तन रूप दुकान ।
माल मर्यो जिन धर्म रो, तेजी भाव पिछान ॥
तेजी भाव पिछान, करो शुभ करणी आले ।
कहै 'मिश्री' अणगार, विणज मे नफो कमाले ॥ पृ० १८
- २, कहै 'मिश्री' अणगार, धर्म की एरोप्लेन है ।
झाईवर गुमराज, पावर-सा जैन बैन है ॥
बैन बैन लाईट है, पुनि यतना दुबान ।
बन्दी मर्य के पौन से, है नम श्रद्धाधीन ॥
श्रद्धाधीन चेतन्य, दुखो की मिटै देन है ।
कहै 'मिश्री' अणगार, धर्म की एरोप्लेन है ॥ पृ० १९
- ३, कहै 'मिश्री' अणगार खेन पुन्यों को पाको ।
साधन मिलिया सब, आयो आनन्द को आको ॥ पृ० २०
- ४, कहै 'मिश्री' अणगार साच रो साबू लेलो ।
शील सरोवर जाय, शिक्षा करणीरी झेलो ॥
झेलो घोटो जाय रो, जाती सारो नैल ।
आतम होसी ऊजली, मिलै मुगत रो शैल ॥
शील करेला, स्वच्छ, ज्ञान रो सुन्दर गेलो ।
कहै 'मिश्री' अणगार, साच रो साबू लेलो ॥ पृ० ४७
- ५, कहै 'मिश्री' अणगार, नमूति खूब रमाई ।
जटाजूट-सो मुकुट, तिलक, माला गल भाई ॥
भाई जुगती जोग, हृदय मे बटो धुतारो ।
करे जुलम हृद तोड, भिमकरो मोडो न्यारो ॥
न्यारो प्रभु से निपट मात कह करे लुगाई ।
कहै 'मिश्री' अणगार, नमूति खूब रमाई ॥ पृ० ४१
- ६, कहै 'मिश्री' अणगार, अगर ह्वै मरद मुछालो ।
खग धार सौवर्म, मवर बनकर के चालो ॥
चालो डालो लोभ पै, घोवा नर-नर धूल ।
ओ अन्यायी आकरो, सकल पाप को मूल ॥
मून उखाडो मोह, भूल सम्मुख मत मालो ।
कहै 'मिश्री' अणगार अगर ह्वै मरद मुछालो ॥





गद्य में बालावबोध रूप में वर्णन किया प्राप्त होनी हैं। सामान्य-व्यवहार में भी हम पद-पद पर दृष्टान्त देकर किसी वान की पुष्टि करते हैं। मुनिश्री न लंका-जीवन और व्यवहार में प्रचलित विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम में कई जीवनापयोगी धर्म और व्यवहार की बातें स्पष्ट की हैं।

'हीरा की हाटी' दृष्टान्त में बताया गया है कि मूर्ख व्यक्ति मूर्खवान् वस्तु की कीमत नहीं आक मकना। कटिहार ने हीरे की हाटी और बावने चन्दन की मीली जलान् नष्ट कर दिया—'चन्दन बगन चूले परी हाटी घाट भर।' 'मूर्ख उटना' दृष्टान्त में उस नेठपुत्र का वर्णन है जो प्रातः काल घान की दुकान पर घान खाने हुए गधे को डगलाने नहीं भगता कि मेठ की मित्रा है 'प्रथम ग्रहाक ठाली जान मत दीजे रे।' जब पेट भर घान खा चुम्ने के बाद गया जाने लगता है तो वह उसकी पूँछ पकड़ कर उसमें कीमत माँगने का आग्रह करता है। अथवा घुम न जाय दृष्टान्त में वह की मूर्खता का वर्णन है जो घर में अंधेरे में न घुमने देने के लिए दरजाने पर लाठी लेकर बैठती है और उसका पीटने के स्थान पर घर के भारे वर्तन फोड़ डालती है। साम जब दीप जलाने हैं तब कहीं अग्रज भागता है। रहना न होगा कि मुनिश्री ने विवेकमूर्खता का अच्छा ज्ञान खींचा है।

इन दृष्टान्तों के माध्यम में कवि ने जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। जीवन में उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा है जो किसी वान पर मनन कर उसे पचाना है। जो एक कान में सुनकर दूसरे कान में या मुँह में फोड़ बात निकाल देता है उस व्यक्ति की काई कीमत नहीं। मनन करना ही मानवता है दृष्टान्त इसी मूल्य को प्रतिष्ठित करना है। इसी प्रकार जीवन में ज्ञान और क्रिया का समान महत्व है। क्रिया के अभाव में केवल मात्र ज्ञान बूला या पगु हो जायेगा और ज्ञान के अभाव में केवल क्रिया अधी हो जायेगी। जीवन की सफलता व सार्थकता के लिए ज्ञान और क्रिया

१ मधुर दृष्टान्त मज्जूपा, पृ० ५

२ घान की दुकान पर प्रातः सेठ पुत्र नेच्यो,

प्रथम ग्रहाक ठाली-जान मत दीजे रे।

पुत्र जाय घान के जु डिग कर बैठो तब,

सर छाथ रह्यो घान सूरस पतीजे रे ॥

पेट भर भूष चाल्यो, पूँछहो झाल्यो है तेह,

जावे कटे माल-तणा दाम धरलीजे रे।

लोग कहें छोड, ना तो सिर फूट जाती,

'मिथ्री' ऐमे मूढ, हट ताण के तणीजे रे ॥ पृ० ५०

३ कलाकार त्रय मूर्ति हेम की बनाय नामी,

रूप की सभा में जाय, कीमत कराई है।

सचित्र सुबुद्धि-ज्ञान, डार्यो कान बीच डोगे,

दूजे पान लायो, मूल्य फूटी कोडी नाई है ॥

दूजी के निकरयो मुख, तीसरी ठेट पेट,

पौच्यो डोरो जाई है।

सवा फोड मोर्नये की मूल्य, 'मिथ्री' युनिवहे,

ऐमे जिनवाणो पर हेतु सोचो नाई रे ॥ पृ० ५७



का समायान नन्तुन आवश्यक है। इस जीवन-मरण को दो मिश्री के परस्पर व्यवहार द्वारा उद्घाटित किया गया है।^१

सामान्यतः कहा जाना है कि उदार व्यक्तियों के पाम लक्ष्मी का अभाव रहना है और मक्खीचूम धनी होने हैं। प्रेमचन्द के शब्दों में 'मरस्वनी की कृपा लक्ष्मी की अमविन है।' इसका व्यंग्य मिथित उत्तर देते हुए एक और मुनिश्री ने मक्खीचूम का दृक् चित्र उतारा है^२ ना दूसरी ओर मक्खीचूम पर लक्ष्मी के प्रमत्त होने के कारणों की विवरणिका मध्य लक्ष्मी के मूल में प्रस्तुत करवाई है।^३

कुछ थिलाकर कहा जा सकता है कि इन दृष्टान्तपरक मुक्ताओं के वर्जन में मुनिश्री लोक-जीवन को विविध पाठ्यों में देव मंचे हैं। अनुभव की व्यापना का प्रमाण तो यही है कि इनमें चोर-माहूकान्, बेघरा-मती, गुरु-शिष्य, मूर्ख-बुद्धिमान, जाट-जाटनी तथा परिवार के अन्य सम्बन्ध यथार्थ रूप में चित्रित हुए हैं।

कथामक मुक्ता काव्य के उत्पन्न 'बुवविनाम' प्रथम तरंग उल्लेखनीय कृति है। इसका अपर नाम 'गुरु-शिष्यमत्त-जनक' है। इसमें गुरु द्वारा लौकिक व्यवहार सम्बन्धी प्रश्न पूछे गये हैं। शिष्य उनका बड़ा ही कलात्मक उत्तर देता है। यह उत्तर सामान्यतः एक ही शब्द में दिया गया है। श्लेष के कारण उसके दो या दो में अधिक अर्थ होने के कारण वह कई प्रश्नों का समाधान एक साथ कर देता है। यहाँ कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

१ कमावन दोय मित्र जावे हँ विदेश जब,
एक छोटे चढ चाल्यो, दूजे नीम ढोलियो ।
पन्थ में निहाण लोग ऐसी जो खयाल कियो,
चढ़्यो मोठाकुरबोमवारो भूत्य तोलियो ॥
पनघट ढोल्यो डाग, मित्र एक मोय गयो,
दूजो नीचे सुतो पाय नीकर ही बोलियो ।
दोनों समतुल्य धनी, चाकर नो काम कहा,
'मिश्री' जान किया ऐमे युगपन हो लियो ॥ पृ० २६

२ सुमढो सुज्योडो मूडो, गीढ से गडी है आँख,
मेलो है बदन, धेलो लावे न खबावे है ।
भूत मो है भयानक निकेतन जूवा केरो,
फटे हैं बसन मारे, सेडो सरडावे है ॥
उंट की सी चाल, गाल बँठेो बन्दर मम,
मक्खीचूम आणे-टाणे जावे न बुलावे है ।
अरे मतिहीन लच्छी रसिक उसी पं होगी,
'मिमरी' बनत तोकू दाय कंसे आवे है ॥ पृ० ४

३ लिछमी कहन मूर जग में मरत कट,
जानी गुनियों के हम, दाय नहीं आवे हैं ।
छेल जे छोगाला आला दिल के विलाहे होत,
गपवाला बने काहा अन्य को लुटावे है ॥
बुद्धिवान वान के करैया सो तो राडी कहै,
चचल छिनाल नट्टी ओपमा चढावे हैं ।
इमीलिए मूम मेती जमी है हमारी सो जी,
'मिमरी' बनत सदा बन्दगी बजावे हैं ॥ पृ० ८



(१) आडो जबतो घालणु, तवे न रोटी पाय ।

आमो दोसे ठीगणो, कहो चेला किण न्याय ॥

उत्तर—‘सीधो’ नहीं ।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि आदमी आडा-टेंदा चल्ता है ? तवे पर रोटी नहीं है ? या भा नीचा दीघता है ?

शिष्य उत्तर देता है—मार्ग सीधो (सरल) नहीं है, तवे पर रोटी बनाने के लिए सीधो (आटो, सामान विशेष) नहीं है और आभा भी सीधो (ऊँचा) नहीं है ।

(२) ढोल्यो ढले न चौक मे, शाख सूखती जाय ।

महल टिगे प्यासो मरे कहो चेला किण न्याय ॥

उत्तर—‘पायो’ नहीं ।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि पलग चौक मे नहीं ढलता, फमता सूखती जा रही है, महल डिगता है और आदमी प्यासा है ?

शिष्य उत्तर देता है—पलग के पायो (पागा) नहीं है, फमल को पायो (पानी पिलायो) नहीं है, महल के पायो (सहारा) नहीं और प्यासे आदमी को पायो (पानी पिलाया) नहीं ।

(३) टोडो पडियो माल मे, करणी निरफल जाय ।

कविता फोको कवियणो, कहो चेला किण न्याय ॥

उत्तर—‘भाव’ नहीं ।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि माल मे घाटा पड रहा है, तपस्या निष्फल जा रही है और कवि की कविता अच्छी नहीं लगती ?

शिष्य उत्तर देता है—माल के लिए भाव (बाजार भाव) नहीं है, तपस्या मे भाव (शुद्ध भावना) नहीं है और कविता मे भाव (अच्छे विचार) नहीं हैं ।

(४) पटवासू पदमण लडे, हाली भूखो जाय ।

दर्जोडो धाकल करे, कहो चेला किण न्याय ॥

उत्तर—‘पोयो’ नहीं ।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि स्त्री पटवा से लडती है, मजदूर भूखा रह जाता है और दर्जी अपने आदमी को फटकारता है ।

शिष्य उत्तर देता है—स्त्री के पटवा से लडने मे पोयो (हार पियोया) नहीं है, मजदूर के भूखा जाने में पोयो (रोटी वनी) नहीं है और दर्जी के फटकारने मे पोयो (सूई मे डोरा पोया) नहीं है ।

(५) रगरेजा रुतता फिरे, घर नारी घुरकाय ।

मैदा ज्यों मैदी भई, कहो चेला किण न्याय ॥

उत्तर—‘रग नहीं’ ।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि रगरेज के पान काम नहीं है, धर्मपत्नी प्रेम नहीं करती है, मेहदी मैदा जैसी है ?

शिष्य उत्तर देता है—रगरेज के काम नहीं करने मे रग (रगने का रग) नहीं है, स्त्री के प्रेम नहीं करने

मे रग (आनन्द) नहीं है, मेहदी मैदा जैसी हाने मे रग (मेहदी का रग) नहीं है।

उन उपर्युक्त उदाहरणों मे स्पष्ट है कि कवि ने व्यापक अनुभव, अपार बुद्धि-कौशल और शब्द शास्त्र की सूक्ष्म परख मे उन कलात्मक मुक्तियों की रचना की है। इन्हें लोक अनुभवों का कोप कहा जा सकता है।

अन्य मुक्तियों मे ज्ञानिप, पाचवा आता तथा जैनार्थ के सामान्य मिथान्तों पर लिखे गये मुक्तक गिनाये जा सकते हैं।

लोकतत्त्व

महरकेसरी की काव्य-भाषा का विनिष्ट गुण उसकी लोकतात्त्विकता है। यह लोकतत्त्व बम्बू और शिल्प दोनों मे समान रूप मे अनुस्यूत है। सुनिची के नयानक प्रकृतियों मे प्रभावित है। उदाहरण के लिए गजसिंह चरित मे मुख्यत निम्नलिखित नयानक प्रकृतियों को देखा जा सकता है —

- १ राजा के ७ रानियाँ होने पर भी उसका नि मन्तान होना।
- २ दाम का सूँ न देखना।
- ३ दाँस के चावल जाने पे पेट दुखना व मर जाना।
- ४ मन्त्रि के प्रभाव मे दुखी होकर राजा का जगन मे जाना।
- ५ रात्रि का मपना आना।
- ६ जगन मे त्रिमी पद्मिनी स्त्री का चरखा कातते हुए देखना।
- ७ पद्मिनी स्त्री का गक्षम के चगुल मे फना होना।
- ८ राजस मे बचने के लिए राजा का बापी मे गिरना।
- ९ पानाठ मे पहुँचने पर राजा को मुर-बन्तियों का मिलना।
- १० उनके द्वारा राजा को चार विनिष्ट गुटिकाएँ देना।
- ११ गुटिकाओं के प्रभाव मे राजा का गक्षम को पराजित कर, अन्य बन्दी जनों को बन्धनमुक्त करना।
- १२ बागूँ देला, तेगूँ तेना, पाच अट्ठाया, पाच पाँचा व ग्यारह उपवास की तपस्या करने मे मनोकामना पूरी होना।
- १३ रानियों का अभिमन्त्रित आम देने मे उनका पुत्रवती होना।
- १४ ईर्ष्यावश पटगानी को आम न देना व घोप रानियों द्वारा परस्पर बाँट कर उसका सेवन करना।
- १५ पटगानी का फेंकी हुई गुठली आदि को पीम कर खा जाना।
- १६ ईर्ष्यावश रानियों की मन्तानों का विकलाग और अपाहिज होना।
- १७ पटगानी के (गजसिंह कुमार जैने) रूपवान पुत्र का जन्म होना।
- १८ तैमे रूपवान पुत्र को काण्ववद्यान् देय निकाश देना।
- १९ देयनिकाय की वारहवर्षीय स्थिति मे कुमार का चार स्त्रियों मे विवाह होना।
- २० कुमार के प्रभाव मे सूत्रे बाग का हरा-भरा हा उठना, तोते का विद्याधर हो जाना, अवे को आँख भिन्न जाना आदि।
- २१ तपस्वी की प्रभावनाशक्ति मे मेना का आगे न बटना।
- २२ पिता पुत्र का अन्न मे मुत्रद मिलन होना।
- २३ यमण-दीक्षा अशीकृत कर आत्म-नल्याण करना।

‘मञ्जुविरजय’ मे मगुहीन दो कथा-शाय भी कथानक-प्रकृतियों के आधार पर ही निर्मित प्रतीत होते हैं। ‘स्वार्थ पर हाटान्’ आख्यान मे निम्नलिखित कथानक प्रकृतियाँ टूँढी जा सकती हैं —

- १ पृथक्-पृथक्-देव का मित्र बनकर, जगल मे आम्ना रोक, मित्र को उद्बोधन देना।
- २ मित्र द्वारा परीक्षा लेने पर पिता, माता, पत्नी द्वारा निह-मुत्र मे न जाने की धापणा करना।





- ३ दुनिया में सभी को स्वार्थरत देखकर नायक का समय ग्रहण करना ।
- ४ कठोर साधनामय जीवन जीते हुए अन्ततः देवगति प्राप्त करना ।
ज्ञान, दर्शन, चारित्र्यांशपरि व्याख्यान को कथानकप्रवृत्तियाँ भी इस प्रकार गिनायी जा सकती हैं—
- १ मन्त्री-पुत्र, विप्र-पुत्र, खाती-पुत्र और राज-पुत्र की परस्पर मित्रता होना ।
- २ कारणवश चारों का परदेश-गमन करना ।
- ३ चारों का किसी न किसी विद्या में पारंगत होना । मन्त्री-पुत्र का अपन ज्ञान-त्रय में सब कुछ जानना, विप्र-पुत्र का मृत को जीवित करना, खाती-पुत्र का आकाश में संचरण करने वाला यज्ञ बनाना तथा राजकुमार का सत्रको पराम्न कर सदैव विजयी होना ।
- ४ मार्ग में भयंकर राक्षस का मिलना ।
- ५ मित्रों का परस्पर भटक जाना ।
- ६ राक्षस का नित प्रति किसी न किसी मनुष्य का मक्षण करना ।
- ७ अपनी बारी आई जानकर किसी कन्या का चिन्तित होना ।
- ८ ऐसे अवसर पर किसी राजकुमार द्वारा राक्षस का वध होना ।
- ९ कन्या और राजकुमार का परस्पर विवाह होना ।
- १० कन्या का अत्यन्त सुन्दर राजकुमारी या अप्सरा होना ।
- ११ नाई द्वारा राजकुमारी के बालों को लेकर प्रतिनायक को देना व उसके सौन्दर्य का वर्णन कर विप-मिश्रित आह्वान छिलाकर, नायक को मारकर, उसकी प्राप्ति का उपाय बताना ।
- १२ बालों को देखकर प्रतिनायक का मूर्च्छित होकर गिर पडना ।
- १३ धाखे से नायक को मारकर प्रतिनायक द्वारा नायिका को ले जाना ।
- १४ मित्रों की सहायता में नायक का पुनर्जीवित होना ।
- १५ प्रतिनायक को परास्त कर नायिका को छुड़ाना ।
- १६ प्रतिनायक की कन्याओं से मित्रों का विवाह करना ।
- १७ नाई जैसे दुष्ट पात्रों को उनके किये का दण्ड देना ।
- १८ समय ग्रहण कर चारों मित्रों का आत्मकल्याण करना ।

उपर्युक्त कथानक-प्रवृत्तियों के अध्ययन से यह पता चलता है कि कवि की दृष्टि वस्तुचयन में लोकतत्त्व पर रही है। शिल्पविधान में भी मुनिश्री लोकतत्त्व से अनुप्रेरित होते रहे हैं। अलंकारों का प्रयोग करते समय उनकी दृष्टि शास्त्रीय उपमानों को ढूँढ़ने में नहीं लगी रही। उनके प्रभावशाली जितने भी उपादान हैं वे लौकिक हैं।
यथा—

- १— कहे मिश्री अणगार, मूढ रा मता हजारीं ।
डरे न करता पाप, बन्धों ज्यू ऊँट-नगारी ॥—(उपदेश बावनी, पृ० २७)
- २— कहे 'मिश्री' अणगार, चुशामव मोठी गोली ।—(उपदेश बावनी, पृ २८)
- ३— कहे 'मिश्री' अणगार, मिली स्वारथ रो मेलो ।
अपणायतवश होय, कियो धन अछ कर मेलो ॥
मेलो हुयगो एम, शहद लिपटी जिम माली ।
पूर्व पुण्य सब खोय, रखी बदनामी बाकी ॥—(उप० बावनी, पृ० ३७)
- ४— कहे 'मिश्री' अणगार, धान में पडगी ईली ।
खा—कर कियो सराव, रह्या फोकलिया पीली —उप० बावनी, पृ० ५२

- ५ — कहे 'मिथी' अणगाग, झूठ का बोडे टट्ट ।
किन्नों लगे न बार, जोर का जैसे लट्ट^१ ॥—(उप० बावनी, पृ० ५४)
- ६ — घोना ने धी-प करो, धूल नगापी नाय ।
नेनी केग बल ज्यों, चौ-भी रे माय ॥—(उप० बावनी, पृ० ५७)
- ७ — कमियो तम्बू तृणा केनो — कमियो विषय मजारो—(मधुर स्त० वत्तीनी, पृ० ३)
- ८ — हे ममना मेर से म्हाटी वित्त सिन्हा विस्तानी —(म० स्त० वत्तीनी, पृ० ३)
- ९ — गज-गति गेल प्यारेले नी वत्तीम नार —(मधुर दृष्टान्त मञ्जूषा, पृ० २)
- १० — गजगमनी गोमे चट्टी, देखे टावर नैन —(पाटव यशोरसायन, पृ० ६४२)
- ११ — मुगटो धागो उडाम पडत जम दूग ज्यों रेटों रे (नरूपविजय, पृ० ६३)
- १२ — नैनन की बीसी मम नन नागो सबके (सकल्पविजय, पृ० ६८)
- १३ — एटमल तजे न खाट रो, तजत न कृष कपोत ।
म्याग गोह पुनि गोह मर, प्राणमारि जिय भोत ॥
तैने बेदया विषय-मुप, म्यारिमद्र लव लीन (सकल्पविजय, पृ० १५३)

शोरोनियों और मुहावरों के प्रयोग में भी कवि की दृष्टि जोर-जोवन पर रहीं हैं। उनके मुहावरों-शायरीय न होकर महान हैं और हृदय पर सीधा बात करते हैं। यथा—

- १ डगने का क्या काम, मार दू यम के चोटो रे (सकल्पविजय, पृ० ६३)
- २ भैंसा रोव मचाई रे भोना, भैंसा, रोल मचाई (म० स्तवन वत्तीनी, पृ० २०)
- ३ पापी पेठ दुबाई रे मागी, पापी पेठ दुबाई (म० स्त० वत्तीनी, पृ० २१)
- ४ इण पर भी नहि हो करे हो पचों । ओ घोटा मैदान । (पाटव यशोरसायन पृ० ८)
- ५ मात कहे लडना मत लातू, राउ को मूंड़ों में बानू (पाटव यशोरसायन, पृ० २५)

शब्द-चयन में भी कवि पर्याप्त सजग रहा है। भाषावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि में कवि का कृतित्व अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'माण' 'रागी' 'पोयो' 'मानी' 'दाणो', जैसे अनुक शब्दों को कवि ने नई अर्थवत्ता दी है।

काव्यादर्श

कवि के जो जीवनार्थ हैं वे ही काव्यार्थ हैं। जीवन में वह कर्मवाद, पुण्यार्थ, पराक्रम, स्वार्थ-त्याग, मयम, निरापटना, ईमानदारी आदि चार्ित्रिक गुणों की अवधारणा करना चाहता है इन्हीं गुणों की अवधारणा के लिए यह काव्य-दृष्टि है। जीवन मूडो और समृद्ध हो । उसे अमरकुमार-सी बुद्धि, शालिमद्र-सी श्रद्धा, साह कवन्ना-सा मुख-सीमाग्य, गीतमन्वासी-सी लविर, मरन चरनी-सी श्रद्धा और बाहुबली-सा बल उन्ने, यही कवि के आदर्श-जीवन के मूल हैं।^१ इन्हीं मूल्यों की प्रतिष्ठा में कवि-कर्म की मार्थरुता है।

यद्यपि कवि ने कोई काव्यमाध्यम ग्रथ नहीं लिखा है तथापि यथाप्रमग काव्य-मर्जन के उद्देश्यों, उसकी भाव-अमना एवं शब्द-शक्ति पर विचार प्रकट किये हैं। कवि का उद्देश्य न धनोपाजन है, न यश-अर्जन। यह जीवन में व्याप्त अमदवृत्तियों और विकारों को दूर कर मन्चे अर्थों में आत्मानन्दी बनना चाहता है।^२ जीवन में विवेक जागृत

१ मधुर दृष्टान्तमञ्जूषा, पृ० २-५

२ दुग्नि दलन मुरत भग्न, काटन कर्म कलेश ।

आत्मानदी होन हिन, मिथी दे उपदेश ॥—उपदेश बावनी, पृ० ५





कर चित्त की चतुरता का उत्साह बढ़ाना चाहता है ।^१ इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह कविता को आन्तरिक शक्ति देकर प्रभावकारी बनाना चाहता है और कथा का पुट देकर आकर्षक भी । इसीलिए मगलाचरण करते समय कवि ने जो कामना प्रकट की है या शब्द-शक्ति का जो वरदान मागा है उसमें शब्दों की कोमलता^२ और सुन्दरता के साथ-साथ उनकी प्रभावक शक्ति की भी याचना की है ।^३ कविता का प्रभाव ऐसा हो कि पाठक या श्रोता उसे पढ़कर या सुनकर उमंगित हो उठे,^४ उसका रोम-रोम नाच उठे, वह सीधे हृदय में पैठ जाय ।^५ अन्तरंग और बहिरंग दोनों सुन्दर और शक्तिमत्पन्न हों, यही कवि को इष्ट है । इसीलिए उसने अपनी कविता को मोतियों की लड़ी कहा है जो प्यार के साथ हृदय पर धारण की जा सके^६ और 'चान्दरमाल'^७ की तरह सबको प्रमोद दे सके, रसमय बना सके ।

●

१ गुण-शिष्य-संवाद-शुभ, बिरज्यो मन री मीज ।

'मित्री' भुनि कहै मनुज के, चतुरपणा री चोज ॥ —बुधविलास, १ पृ० ४३

२ (क) गीतम-पद-अरविन्द अलि यो मन मोद अतीय ।

यसत चहत वरदान रस, कोमल बच कमनीय ॥ —पाडव यशोरसायन, पृ० २०६

(ख) नाथ आपजो निपट हो, ललित वयण की लू वे । —पाडव यशोरसायन, पृ० ६६

३ सुमता सदन भर, कुमता निकार कर,

वीनन-दयार सार, शब्दकोय सूय दो । —मधुर दृष्टान्त मञ्जूषा पृ० २

४ सुणतों परिपद ऊमगे, जस कवि पावे झू व । —पाडव यशोरसायन, पृ० ६६

५ रची बावनी रगधर जची सुजन हिय जास ।

नची कली-कलि सुन निपट, पची सु मनसादास । —उपदेशबावनी, पृ० ५६

६. पट्टावली मुफता-लरी, पहनो हिय धरि प्यार । —पद्यमय पट्टावली, पृ० ७२

७. आ कविता री चान्दरमाल । 'मकल्पविजय' का समर्पण ।

मरुधरकेसरी के चातुर्मासः स्थलों की सूची मुनिश्री रूपचंद्र जी 'रजत'



क्रम संख्या	स्थान	स्थान	क्रम संख्या	स्थान	स्थान
१	१६६६ (विष्णु मठ के)	जैनान	२९	१६६७	बीलाटा
२	१६७०	जैनान	३०	१६६८	बुसा
३	१६७१	भार्या	३१	१६६९	बुसी-भारान
४	१६७२	कुम्हार	३२	२०००	मिर्चिया
५	१६७३	जैनान	३३	२००१	जैनान
६	१६७४	मोहन मठ	३४	२००२	जोधपुर
७	१६७५	देवली आठवा	३५	२००३	मोजन मठ
८	१६७६	जैनान	३६	२००४	मादटी (भारवाड)
९	१६७७	जोधपुर	३७	२००५	मगढी-मज्जनपुर
१०	१६७८	मोहन मठ	३८	२००६	पुरझा
११	१६७९	जैनान	३९	२००७	जैनान
१२	१६८०	जोधपुर	४०	२००८	मादलिया
१३	१६८१	महाग	४१	२००९	सादडी
१४	१६८२	जैनान	४२	२०१०	बीलाटा
१५	१६८३	जोधपुर	४३	२०११	सोनाणा
१६	१६८४	मोहन मठ	४४	२०१२	महाग
१७	१६८५	जैनान	४५	२०१३	कुमालपुरा
१८	१६८६	मोहन मठ	४६	२०१४	मोजन मठ
१९	१६८७	बनुदा	४७	२०१५	ध्यावर
२०	१६८८	बानू भागपुर	४८	२०१६	मादटी (भारवाड)
२१	१६८९	जैनान	४९	२०१७	मवामपुरा
२२	१६९०	बानू भागपुर	५०	२०१८	मोजन मठ
२३	१६९१	जोधपुर	५१	२०१९	जोधपुर
२४	१६९२	मोजन मठ	५२	२०२०	माडेगव
२५	१६९३	टांडोटी	५३	२०२१	कोटडा
२६	१६९४	जोधपुर	५४	२०२२	बावण्डिया
२७	१६९५	मोहन मठ	५५	२०२३	निवाज
२८	१६९६	वेगमलानी का गुफा	५६	२०२४	गोठन

१. प्रारम्भ से मात चातुर्मास दीक्षा की अनुमति न मिलने के कारण धरमय भाग से गुरुदेव के साथ रहकर किये ।



मरुधरकेसरीजी म० की आज्ञा में विचरण करने वाले सन्तो और सतियों की शुभ नामावली

(क) सन्त

- (१) प० मुनिश्री रूपचंदजी महाराज
- (२) श्री सुकन मुनिजी ”
- (३) श्री महेन्द्र मुनिजी ”

(ख) सतियाँ

- (१) श्री पानकुंवरजी
- (२) श्री हुलासाजी
- (३) श्री तखताजी
- (४) श्री गुणवन्तीजी
- (५) श्री भीलमाजी
- (६) श्री झणकार कुंवरजी
- (७) श्री पवनकुंवरजी ।
- (१) श्री लक्ष्मी कुंवरजी
- (२) श्री सज्जनकुंवरजी
- (३) श्री मगनकुंवरजी
- (४) श्री दाखाजी
- (५) श्री सायर कुंवरजी ।

- | | | |
|------------------------|------------------------|------------------------|
| (१) श्री तेजकुंवरजी | (२) श्री मनोहर कु वरजी | (३) श्री धन कु वरजी । |
| (१) श्री पवनकु वरजी | (२) श्री वादाम कु वरजी | (३) श्री कसु बाजी । |
| (१) श्री प्रेम कु वरजी | (२) श्री श्रीकु वरजी | (३) श्री मोहनकु वरजी । |
| (१) श्री रतनकुंवरजी | (२) श्री छोगाजी | (३) श्री जतन कु वरजी । |

श्री मणिकु वरजी म० ठाणा २ से पालनपुर से विराजमान हैं ।

संस्मरण, श्रद्धानिवेदन, अभिनन्दन



कार्यकुशल कर्मठ सन्त

जैनप्रतिद्वार आचार्यमन्त्राड्

श्री आनन्दार्यजी महाराज

महेश्वर सन्तकेसरी श्रीमिथिलानन्द जी म० हमारे श्रमणसभ के एक प्रतिष्ठित सन्त हैं। श्रमणसंघीय संगठन के संवर्द्धन तथा पञ्चवर्द्धन में आपने अनुकूलता प्रदान किए हैं। वृहत् अजमेर माधु-सम्मेलन में सन्तों का जाने में आपका जो सहयोग रहा है, उसे कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। स्थानिकवासी समाज के विखरे मोर्चियों को एक माला में पिरोने के लिए माठडी-सम्मेलन में श्रमण-सभ को जो सेवाएँ जिन की तथा अन्य सम्मेलनों में सभ को उन्नत करने में आपने सच्ची निष्ठा के साथ जो सहयोग दिया, वह श्रमणसभ के इतिहास में सदा सम्मरणीय एवं उल्लेखनीय रहेगा।

आपके जीवनवृत्तों का मैंने निकट में अध्ययन किया है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि आप श्रमणसभ के इन्मानी मातृप्रिय और एक कर्मठ सन्त हैं। मुझे अपने श्रमणसभ में आप जैसे कार्य-कुशल समाज-सेवी मुनिगज को देख कर बड़ा स्तोष होता है।

महेश्वरकेसरीजी एक अच्छे व्याख्याता होने के साथ-साथ आशुक्वि भी हैं। आपके अनेक काव्यग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। जनता ने उनको आदर से देखा है। पद्य के अलावा आपने गद्यग्रन्थ भी लिखे हैं। स्थानिकवासी समाज के इतिहास की आपकी अच्छी जानकारी है।

धर्मप्रचार के क्षेत्र में भी आपका योगदान प्रशंसनीय रहा है लोगों की मार मचाऊ करना, धर्मविमुख जनता में जज्ञा उजासीतना छार्ड है, वहाँ पङ्कचर घने का प्रचार करते हुए वामिन् वानावरण तैरा करना, ये सब आपकी ऐसी विशेषताएँ हैं, जो सभी श्रमणसंघीय माधु-मुनिगजों के लिए अनुकरणीय हैं।

अपने अनुभव के आधार पर मैं निम्नोक्त कह सकता हूँ कि आपकी श्रमणसभ जो संगठित देवने की सदा भावना रही है और उनके सर्वदलार्थ पूर्णतया सहयोग देने का नाव दिखलाया है।

अभिनन्दनगर मनपित करके समाज आपकी सेवाओं के प्रति आदरभाव अभिव्यक्त कर रहा है, यह स्तोष की बात है।

मेरी हार्दिक भावना है कि आप सम्प्रदर्शन-ज्ञान की चारित्र्य की आराधना करने हुए श्रमणसंघीय ऐक्य के संवर्द्धन में अधिकधिक्रम सहयोग देते होंगे, जिनसे श्रमणसभ जन-जन तक भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार करने में सफल बन सकेगा। शुभम्।

•

श्रीमरुधरकेसरी : मेरी दृष्टि में

उपाध्याय श्री अमर मुनि

शरीर में दुर्बल-पतन, लघुकाय किन्तु दृढ़ मकल और अद्भुत कार्यशक्ती से युक्त श्री मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व बड़ा ही दिग्दर्शक और विस्मयास्पद है।

श्रमण-सघ के सगठन-प्रसंगो पर कितने ही प्रसंग ऐसे आये जब मैं उनमें एक निर्भीक कर्तृत्व और स्पष्ट व्यवृत्त को आन्दोलित होते देखा। उनकी विलक्षण सगठनशक्ति और स्फूर्तिमान साहस देखकर कई बार मैं आश्चर्य में डूब कर रह गया।

वे दिन स्मृतियों में ओझल नहीं हुए हैं जब सादडी जैसे छोटे में क्षेत्र में अखिल भारतीय श्रमणमध का पहला अभिवेगन बुलाया गया। सैकड़ों गाधु-साधियों और हजारों श्रावक-श्राविकाओं के स्वागत-मत्कार और आवास आदि की सुचारु व्यवस्था में स्थानीय श्रावकसघ ने जिस मनोबल और कार्यक्षमता का परिचय दिया उसके पीछे प्रेरक और मार्गदर्शक व्यक्तित्व कौन था? मैंने जब उसकी पृष्ठभूमि में मरुधरकेसरी के समर्थ व्यक्तित्व को छटा देखा तो सहज ही उनकी सुदृढ़ कर्मठता एवं तेजस्विता का एक चित्र मेरे मन पर अंकित हो गया।

यह सत्य है कि व्यक्तित्व सघर्षों में नहीं, निर्माण से निरतरता है। उसकी तेजस्विता की मार्थकता विध्वंस से नहीं, पुनर्निर्माण में नापी जाती है। मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व समाज में विवायक व्यक्तित्व रहा है। जैन समाज में शिक्षणप्रसार के लिए उनके प्रयत्न बड़े तीव्र रहे हैं। सादडी या लोकासाह जैन गुरुकुल तथा अन्य अनेक शिक्षण-संस्थाएँ उनकी शिक्षा-मन्त्रिणी अभिरुचि एवं निमासीलता का उज्ज्वल प्रमाण हैं। इन शिक्षण संस्थाओं की फुलवारी में जब मैंने सैकड़ों फूलों की धार्मिक संस्कारों की मुगन्ध लिए महकते देखा, तो हृदय एक अनिवचनीय उल्लास से पुलक उठा था।

वे अपनी परम्परा एवं समाज के प्रति-निष्ठावान हैं। लोकासाह तथा स्थानरवासी समाज के प्रति उनकी निष्ठा बड़ी प्रखर है। जब जब समाज पर विरोधी-प्रहार और आक्षेप हुए हैं, उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ उनका उत्तर दिया है।

उनका एक कार्यक्रम मुझे बहुत ही पसन्द आया। वर्ष में एक बार वे मरुधर प्रदेश के प्रायः छोटे-छोटे गावों में भी पहुँच कर वहाँ की जनता में जागृति की नई लहर पैदा कर आते हैं। जन-श्रद्धा का धीमा यथामय मिचन पात्र हरा-भरा धीरे मुक्कराता रहता है। हमारा वर्तमान श्रमण वर्ग, जो बड़े नगरों की धोर आकृष्ट हो रहा है, मरुधर-केसरी के इस आदर्श को अपनाये, तो उन्हें सहरो से अधिक श्रद्धा गावों में मिल सकेगी। नगरों का श्रावकवर्ग आज पहाड़ों की वह तलहटी बन गया है जहाँ पानी बरसता बहुत है, पर सब ऊपर का ऊपर बह कर चला जाता है। गावों में अब भी उपदेशों के पानी को अपने भीतर ही जम्बू करने वाली मनो-भूमि मिलती है।

अभी-अभी सवत्सरी के विवाद पर कुछ विचित्र मन स्थितियाँ सामने आई हैं। सघर्ष के इन नाजुक क्षणों में 'मरुधरकेसरी' ने जिस सत्साहस का परिचय देकर सगठन की सुदृढ़ता के लिए जो कदम उठाया है वह सराहनीय तथा ऐतिहासिक घटना है। उनके इस साहस का मूल्यांकन मैंने उनके पारिपाक्षिक वातावरण के सदस्यों में आका है—जब उन्हीं की अपनी परम्परा के कुछ मुनिराज श्रावण में सवत्सरी का आग्रह ले बैठे हैं, तब भी उन्होंने आचार्यश्री के अनुशासन को लक्ष्य में रख कर आग्रह में सवत्सरी करने की स्पष्ट घोषणा कर दी।

युगों के सघर्ष और वलिदानों के बाद जिस सगठन का सूत्रपात हुआ वह अपने आप में एक ऐतिहासिक घटना थी। हमारे मुनिराज अपनी मान्यताओं एवं प्रतिष्ठाओं के प्रश्न को अलग रखकर जब मरुधरकेसरी की विचार-धारा में सोचेंगे तो उन्हें सगठन की सुदृढ़ता का नया सूत्र मिलेगा और वे इस ऐतिहासिक घटना के महत्व एवं प्रभाव को क्षीण एवं विरिण्डित होने से बचा सकेंगे।

मुझे लगता है कि कभी-कभी मरुधरकेसरी और मैं विचारों के दो भिन्न-भिन्न किनारों पर चलते रहते हैं। पूर्व-पश्चिम का सा एक अन्तर प्रतीत होता है, पर आश्चर्य नहीं हो कि पूर्व-पश्चिम कभी-कभी एक दूसरे में आमने-गामने आकर मिल भी जाते हैं। गतभेद एक अलग चीज है, मनोभेद जैसी चीज हमारे बीच नहीं है, उसका हमें गौरव है।

विचार-भेद का वैषम्य जीव विरोध का आवार बनाकर लड़ना एक बौद्धिक बुद्धता है। मन का छोटापन है। मन्त्रकर्मों के जीवन की नाविक विराटना का विचार करता हूँ तो लगता है कि क्यों न हमारा साधु एवं श्रावक समाज उनके मन मन्त्र आदर्श में प्रेरणा ग्रहण करे और जैनधर्म की श्री-मयूढि के लिए कुनतिन्त्रय बनकर आगे बढ़े।

मन्त्रकर्मों के अभिनन्दनप्रसंग पर उनकी प्रेरण एवं उल्लेखनीय सेवाओं तथा मद्गुणों का सादर स्मरण हो रहा है। उनका अभिनन्दन उनकी सेवाओं का अभिनन्दन है। यह 'गुणिपु प्रमोद' की प्रमोदभावना का प्रतीक है। श्रमण-धर्म के मगधन तथा मन्त्रधर्म के विरोध इस प्रकार के सन्प्रपत्ता की अत्यन्त उपयोगिता एवं आवश्यकता है।

०

स्वामी श्रीमिश्रीमलजी म० ज्यू मू जाण पायो

प्रवक्तृ श्री अम्बालालजी म०

कभी-न जीवन की व्याख्या करणी ने वणी पे आपणा मही मही विचार बतावणा, मू खाडा री धार पे चालवामू भी ज्यादा गहन मानू। अणी ज वांते मू कणीराड जीवन पे केवा सँभोको लागे जठा तक बचतो रूह। गाटी आपवणे तो के मूहू —मार्ड, जो हँ मो थाणाउ छान नी है, ज्यादा कई कू।

अम्बो लवार्पणो नी मननी मुवावे के मूडा आगे तो प्रणारी लाम्बी चौडी टीगा हाकणी ने मन में समझतो रोग के ये तो बगाना गी वाता है। यो मभाव बेरा मूडा मू रणीराई जीवन में गेरो उतरवारी कोशिस नी करू, तो भी थोडाक जम्मा लोगो ने ममारु ता जीवन में वणीज ग्यो जणाने में जाणवा री कोशिस नी कीदी तो भी वे आपो धार जगाड ग्या। बगा थोडा व्यक्तिवा में एन नाम स्वामीजी श्रीमिश्रीमलजी म० ने भी है। अणारे साथ म्हारो सम्बन्ध बहुत पुगणी है। मध वण्णा ने पेरी ने पड़े आज दिन ताई वणी बार भेला रया ने वात्ता-चीना कीदी पण मैं अणारी वाता ने आपाग जीवन नी बनीटा पे परववा रो विचार कदेइ नी कीदी। पण मन अचरज यो वे के जो ये केना रया बने वम्योड जणाने मू करना भी गया। आगे आप मोका भी अम्मा आवता गया के अणारी परीक्षा होती री। मू कदेइ ठेटी मू ने कदेइ नजदीक मू मेजे ही देखतो रयो ये मध दाण छग उतरता ग्या।

मुण्णा मे आयाँ के मध वणवाउ पेली भी आने नराई सघर्ष करना पड्या पण हार्या नी, सप्रदाय रो झंडो पटा गन्तो।

मध वणवा रे वाद जो जो वाता पैदा बी वा रो ममाधान करवा मे, ने मध री बाहवाही राखवा मे जो अणा हान बटायो री मू कुण अणजाण है।

यू हरेक मनध में थोड़ी-वणी कमी लादे ही है, बाडा आपणा आग्रह भी व्या करे, जणारी मोत वो नी देख सके, पण स्वामीजी रा स्वभाव में एक बात देखी, अवसर व्हे तो-नाण लेणी न माकोनी देखो तो छोड भी देणी। पण आपणा आग्रह ने पाड़े नमाज गे व्यापक अहित नी व्हे अणा वान गे ध्यान बराबर रहे।

अणी गो मतलब यो नी है के ये 'गंगा ग्या गंगादास ने जमना ग्या जयनादास' ज्यू अवसरवादी है पण श्रमण ग जाण नकर है। अवसर गे जाण नी वेणी ता मुब्तताई है।

कोई कोई, अणाने कटक मिथी पण के, या बात अणारी बोली रा स्वभाव री है। आपाणें केणावत है 'सरो केवा वालो खोटी गंगे' या विठकुल माच है क्यू के स्वामीजी नगी-खरी बात बना लाग-लपेट साफ मुणाय दे, जीमू लोग मझो ये माटाउव है पण अनम मे बात दूसरी है। कडवी दवाई बना मादगी नी जावे ज्यू खरी क्या बिना काम भी तो नी व्हे।





मनरा साफ ने बोली रा कडवा मनख घतरनाक नी व्या करे । घतरनाक तो वे व्हें है, जो जॅर रा तो घडा है ने अमरत रा ढाकणा है । मन में तो भाटा राखे ने उपर सू मोरिया ज्यू मीठा बोले । देख ने देपा तो आणा री बोली रा तेज सू समाज में फायदाइज व्या ।

बोली रा कडक वेता थका भी स्वामीजी मने स्वभाव सू वडा नरम ने महिण्णु लाग्या । सघ री ममम्याआं रे विपे म्हाणें आपस में नगी दाण वातचीत ने पूछताळ करवा री मोको आयो, कणी कणी वात में म्हाणे विचे जवदंस्त विचार भेद भो र्यो, अवे भी व्हें सके, पण म्हा बाणूहू के वो मतभेद, मतभेद इज र्यो ने रेगा, मनभेद नी व्यो, नी वेगा ।

अणा री या सहनशीलता री ने खमवारी आदरत मने अणारा पूरा जीवन में व्यापक लागी, अणीज गुणसू बीलाडा के धारणे बुंटा रा हाथ सू मार भी खमलीदी पण चू तरु नी बयो ।

आवाणू भ्या फागण री वात है । म्हा विचरतो थको जेतारण आयो । वठे सुणी, स्वामीजी कुशालपुरा में एकाएक पड ग्या ने जोर की लागी । म्हारो थोडा दिन जेतारण में रेवा री मन हो पण स्वामीजी रे लागवारी सुणी तो वर्णी टेम व्यार कर दीदो । कुशालपुरे पाँच ने अणा ने देखा लागी तो गेरी ही पण मने कई चिन्ता नी बी, क्यू कै, स्वामीजी को धीरज भी मेरो हो । मैं सोच्यो धीरज देखता झट ही सब ठीक व्हें जावेला । व्यो भी यू इज, थोडा ही दना में म्हाणो व्यार होग्यो । म्हा साजत ताई साथ आया भेलो ही होली चोमासो कीदो । वडो आनन्द र्यो । साथ रेंता थका कदी भी भेद नी दिख्यो । म्हा उमर ने दिक्षा दोई तरे सू स्वामीजी सू कम हू पण स्वामीजी हमेशा बराबरी री समझते ही उचित ने सम्मान पूर्ण बेवार राखे, या अणारा मन रा मोटापा री वात है । ई में मने बीखावट नी लागी ।

मने भारवाड में विचरता थका जाण बी के अस्या एकान्त ने छोटा-छोटा गाम जठे अक्सर सत-मत्थारा दर्शन दुर्लभ व्हें, स्वामीजी पहुँच-पहुँच ने वाने सम्माले, जीसू वे धर्मध्यान री दृष्टि सू आज भी हर्या-भर्या है । अस्या बुढ़ापा में अतरो व्यार करणी, अपनास राखने कष्ट उठाता थका हर गाम में पहुँचणो, यो शासनसेवा री साची हूम् धना नी व्या करे ।

म्हा तो मानू हू के मारवाड में स्वामीजी एक जगमगाती जोत है, जो सब तरफ धूम-धूम ने सब ने उजालो देती रे । म्हारी तो तहें दिल सू या ही भावना है के ज्योतस्वरूप स्वामीजी आपणा प्रदर तेज सू जुगजुग तक सघ ने और समाज ने जगमगाता रहे ने सघ, समाज अणारा प्रकाश में आगे सू आगे बढ़ना रहे ।

सबरो सार सोरठा में—

मरुधर री या ज्योत, जगमगती रेवे सदा ।

सघ करे उद्योत, अजालो नित पाय ने ॥

०

मरुधरा के महान् सन्त । शतश अभिवन्दन

श्री मधुकर मुनि

परम धर्देय पूज्य मुनिराज मरुधरकेसरीजी श्रीमिश्रीमलजी महाराज मरुधरा के एक महान् सन्त, महा-पुरुष हैं ।

यद्यपि मरुधरा को सजला-मुकला व दास्य-ध्यामला होने का गौरव न भी मिला हो, परन्तु सन्तजनो की आकर-अवनि होने का सौभाग्य तो उसे अवश्य मिला ही है ।

मुझे अनौनसी जो न जाकर भी अगर हम निश्चयन अनौत की ओर ही चले तो भी यह बान मुहता के साथ रह सके हैं कि उन प्रवृत्ति में भी यही अनन्य महान् सन्तजन अवतरित हुए हैं। इतिहास के सर्वांगीण पत्र उद्घाटित है, वे इन बान के मज्जा माखी हैं।

सन्तजन चाहे मन्त्रों के हों या अन्य किसी भी धर्म के हों, वे तो यत्र-तत्र-सर्वत्र अर्चना के अवदात आवाहक ही होते हैं।

मन्त्रों में भी अनेक धर्म-परम्पराएँ प्रचलित हैं प्रायः वे सभी धर्म-परम्पराएँ सन्तजनों की विकास-भूमि धनी हैं।

दिगुदान्तर-न्यायिनी जैनधर्म-परम्परा भी मन्त्रों की एक विशिष्टतम धर्म-परम्परा है। यह जितनी विशिष्टतम है, उतनी ही उच्च उच्चतम सन्तजनों की जननी भी है।

इन परम्परा के सन्त-जनों का त्याग-वैराग्यमय जीवन सदा सर्वांगीण सुन्दर रहा है। आज भी इस परम्परा के सन्त जैनधर्म-मार्ग के प्रशान्तमय रत्न हुए हैं, जिनके अमर आलोक का आश्रय पाकर साधकजन अपनी साधना के मूल्याप-चले चले जा रहे हैं।

एक बात ही नहीं, समाज के सभी महिष्णु मुन्धोजनों का यह डिण्डिम आघोष है कि त्याग और वैराग्य की तुलना में जैन-परम्परा के सन्तजनों के साधनात्मक रत्न का अधिहार आज के दुःख तक अन्य किसी भी धर्म के सन्त-समाज को नहीं मिला है।

हा, तो मन्त्र-कर्मरत्नों महाराज मन्त्रों के एक महान् सन्त हैं। सन्-जीवन की गुण-गरिमा आप में है, यह एक सत्य है।

सुख-सुधा और अन्तर्ज्ञान आपकी विशेषता प्रकट कर रही है। आप में अनुकम्पा की सपना का समावेश है। मृत-दशा और विश्व-प्रेम सन्त-जीवन की मानवीय सम्पत्ति मानी गई है। आप में मृत-दशा है और विश्व-प्रेम की भावना है। यह विश्व-प्रेम की भावना ही व्यष्टि की समष्टि की ओर ले जाती है। यद्यपि कैमरीजी महाराज स्वयं में एक व्यष्टि हैं परन्तु वे समष्टि में सम्मिलित हैं। अतएव वे विघटन के नहीं बल्कि मंगल के प्रेमी हैं।

व्यस्त्य करना भी आपकी एक विशेषता है। नाथु-सम्पन्नो के प्रिय प्रमणों पर सम्मिलित होने वाले सभी सदस्यों ने इस बान का अनुभव अवश्य किया है।

मैंने पाया आपने आदेश के पीछे भी व्यक्ति विमुक्त हो जाता हो—ऐसा कम देखने में आया है। यह आपके व्यक्तित्व का उत्कर्ष है।

आप और हम (उपप्रवर्तक श्री ब्रजलालजी म० और मधुकर मुनि) सन्निकट हैं—बहुत सन्निकट हैं। आज आप और हम श्रमण-मार्ग से हैं इस बात ही यह निश्चय नहीं है, यह निश्चय तो पूर्वजों से सम्बन्धित है।

आप आचार्यवर श्री गुरुनाथजी महाराज की सम्प्रदाय के एक सदस्य हैं तो हम पूज्यप्रवर श्री जयमल्लजी महाराज की सम्प्रदाय के सदस्य हैं। आचार्यवर श्री गुरुनाथजी महाराज व पूज्यप्रवर श्री जयमल्लजी महाराज दोनों सगे पुत्रात्ता थे। हमारी सन्निकटता का यह प्रथम सोपान है।

आप के परमपूजनीय गुरुदेव श्री दुर्गमलजी महाराज और मेरे परमपूजनीय गुरुदेव श्री जोरावरमलजी महाराज के पारम्परिक सम्पर्क अतीव मधुर थे। हमारे सन्निकटता का यह द्वितीय सोपान है।

सयोग की बात है मुझे आपके गुरु महाराज के दर्शन का मौभाग्य नहीं मिला परन्तु आपने मेरे पूज्य गुरुदेव के दर्शन किए हैं। आज भी जब कभी बातों का प्रमाण उपस्थित होता है तब यह आभास मिलता है कि अब भी आपका



वात प्रथम अजमेर-सम्मेलन के समय की है। यद्यपि उस समय मेरा बचपन था फिर भी मेरी स्मृति सजग है कि उस अवसर पर जब वडा मधुधरा की सभी सम्प्रदायों के मुनिराजा को एक आचार्य की अश्वीनता में लाने की विचारणा चल रही थी तब होने वाले मारवाडो श्रमणमण्ड के आचार्य पद के लिये आपसी ओर ने ही स्वर्गीय स्वामीजी धीहजारीमलजी महाराज का नाम उास्थित किया गया था।

मेरे जीवन के अनेक क्षण आपकी गत्मगति में बीते हैं । मुझे मन्नाप हूँ आप के मन्त-गोचन में । मैं आपके प्रति श्रद्धावान्त हूँ । मेरी ओर से इस मरुधरा के महान् तेजस्वी गन्त के लिये क्षान्त अभिवादन ।

प० २० श्री ज्ञानमुनि

मह्वरकेमरी श्रीमश्रीमलजी महाराज एक कार्यक्षेत्र, कमंड, उदारहृदय सघर्षिता मुनिराज हैं, सम्मेलन के सचालन की इनमें विलक्षण क्षमता है। अने देखा है कि गीनासर-गम्मेलन में श्रमणसघ की जितनी भी बैठकें होनी थी, उनका नेतृत्व प्रायः मह्वरकेसरीजी म० ह० किया करते थे। वैसे श्रमणसघ के उपानाय, प्रधानमंत्री, उपाध्याय तथा मंत्री मुनिवर भी योग्यतापूर्ण पद्धति के साथ अपना दायित्व निभा रहे थे, परन्तु मुख्य रूप से सम्मेलन का सचालन इन्हीं के हाथों में देखा जा रहा था। यही सम्मेलन की कार्य-वाही को आगे चलाते थे। एक कार्यकर्ता में कार्य-सम्पादन की कितनी क्षमता होनी चाहिए? कितनी सूक्ष्म, दीर्घ-दक्षिता, समग्रसूचकता और कितनी गम्भीरता होनी चाहिए? आदि सभी प्रश्नों के उत्तर मह्वरकेसरीजी के जीवन में सम्प्राप्त हो जाते हैं। यदि इनके जीवन को उक्त प्रश्नों का सजीव उत्तर ही कह दें तो मेरी दृष्टि में उपयोग्य हो दिखाई देता है।

श्रद्धेय मरुवन्केसरीजी महाराज के पवित्र जीवन में एक खास बात और देगने में आई। यह श्री-स्थानक-वासी श्रावक तथा श्रमणजगत् को सगठित सुव्यवस्थित तथा अनुगामित देवने की महान् लालसा। वे स्थावकवासी समाज में आचार-विचार सम्बन्धी ऐसी उत्क्रान्ति लाना चाहते हैं जिसमें यह समाज सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सम्यक् चरित्र की छाया तले अपनी जीवनयात्रा सम्पन्न करे। इनकी हार्दिक इच्छा रही है कि प्रत्येक श्रमण विद्वान हो, क्रियापात्र हो, त्याग-वैराग्य के महापथ का पथिक हो। सामाजिक गविष्य को समुज्ज्वल बनाने में समर्थ हो। इनकी अन्तरवीणा के यही स्वर सुनाई पड़ते हैं कि—साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका सभी आचार-विचार की दृष्टि में ऊपर उठें। सभी में धार्मिक सगठन हो, अनुशासन हो, निजी महत्वाकांक्षाओं को एक ओर रखकर सर्वव्यय को ही

प्रथम देना चाहिए। उनके नरक्षण और नवर्धन के लिए सभ्य और शक्य प्रयत्न होने चाहिए। श्रीनामर सम्मेलन में इसी स्वर को गुंजाया गया था, इसे ही श्रियात्मक रूप देने के लिए इन्होंने अपनी समस्त शक्तियों का उपयोग किया और वर्तमान में चलने चले जा रहे हैं। यही कारण है कि आज अमणमय के मनो में इनका एक महत्वपूर्ण स्थान है और समाज इनको अभिनन्दनप्रथम भेंट करके अपनी दृष्टिक निष्ठा को अभिव्यक्ति करने का मूल्य प्रयास कर रहा है।

नाम और गुण ये दो वस्तुएँ हैं। वह शब्द जिसमें किसी व्यक्ति, वस्तु या समूह का बोध हो, उसे नाम कहते हैं। निपुणता, विवेकता, कर्मात्मा, अच्छी मित्रता का नाम गुण है। उन दोनों का लेकर विद्वान् लोगो ने चार भग-प्रकार बनाए हैं। जैसे कही नाम प्रशस्त है और उसके अनुसार गुण भी प्रशस्त हैं। कही नाम प्रशस्त है, गुण प्रशस्त नहीं हैं। कही गुण प्रशस्त हैं किन्तु गुण के अनुसार नाम प्रशस्त नहीं है। कही नाम और गुण दोनों प्रशस्त नहीं हैं—न अच्छा नाम है और न अच्छा गुण है। इस अनुसंधान को उदाहरण से समझिए—एक व्यक्ति का नाम शान्ति है, जब उसके जीवन-व्यवहार को देखते हैं तो उसमें शान्ति के दर्शन होते हैं, वह किसी से लड़ता, झगड़ता नहीं किसी के कुछ अनुचित कह देने पर भी आक्रुष्ट नहीं होता, मदा शान्ति रखता है। यहा नाम भी प्रशस्त है और गुण भी प्रशस्त है। एक व्यक्ति का नाम शान्ति है, परन्तु जीवन में शान्ति नहीं, क्रोध की आग में जलता रहता है, समझने पर भी नहीं समझता, बिना कुछ रहे-मुने लड़ने मरने को तैयार बैठता है। ऐसे व्यक्ति का नाम प्रशस्त है, परन्तु गुण प्रशस्त नहीं है। एक व्यक्ति का नाम शान्तिप्रसाद है, प्रकृति में सहिष्णु है, शान्ति-प्रिय है, जीवन के किसी क्षेत्र में अशान्त नहीं होता प्रतिकूल में प्रतिकूल परिस्थिति होने पर भी शान्त है, कभी गरमी को निकट नहीं आने देता। ऐसा व्यक्ति नाम में अशान्त है, किन्तु गुण में प्रशस्त है। एक व्यक्ति है, जिसका नाम मूर्खशिरामणि है। लोगों के ताले तोड़ना, झूठी गवाहिया देना और किसी की बहिन-बेटी को बुरी दृष्टि में देखना ही उस का काम है। ऐसा व्यक्ति नाम में भी अशान्त है और कार्य में भी।

इस चार भगो में मनुष्यों के चार प्रकार बनाने का प्रयत्न हुआ है। समस्त समाज इन चार भगो में विभक्त हो जाता है। हमारे महामान्य सम्माननीय अष्टम बन्धुनीय मन्धरकेनरीजी महाराज प्रथम श्रेणी में आते हैं। इनका नाम भी प्रशस्त है, और उनके गुण भी प्रशस्त हैं। जैनजगत् में ये मन्धरकेनरी के नाम में प्रख्यात हैं। 'मन्धरकेनरी' किना मुन्दर और प्रशस्त नाम है? जैसे मित्र निर्भय रहता है, भय को निकट नहीं आने देता और जगत् का वादग्रह माना जाता है वैसे ही हमारे पद्मश्रेष्ठ मन्धरकेनरीजी भी बिल्कुल निर्भीक मुनिराज हैं। उर क्या होता है? यह इन्होंने कभी जाना नहीं। श्रीनामर-सम्मेलन में मैंने देखा है कि ये सम्मेलन की बैठकों में मित्र की तरह गज्जते थे, बेचडक होकर अपनी बात नहीं करते थे। जिन मतों की धाक थी, डर के भावें जिनके सामने लोगों की जवान नहीं खुलती थी, समझ जाने पर ये उन पर बग्न पड़ते थे। इनके हृदय में मदा समाज एवं मय के नवनिर्माण की एक बलवती तड़प रही है। शून्य है स्थानकवासी जैन अमणसय जिसे मन्धरकेनरी के रूप में एक निष्काम समाजमेवी मयमप्रिय मुनिराज उपलब्ध हुआ है।

अष्टम मन्धरकेनरी! लिखने को बहुत कुछ लिखा जासकता है, किन्तु मन्धर में यदि अपनी बात निवेदन करूँ तो यह मैं दृष्टा के साथ नहीं सकता हूँ कि आपको नामाजिक जीवनगत विवेकताओं का अन्तर्गत की मौलिक रेखाओं में बाधा नहीं आ सक्ता, तथा आपने स्थानकवासी जैनजगत् पर जो उपकार किए हैं उनका बदला भी चुकाया नहीं जा सकता। "श्रीमन्धरकेनरी-अभिनन्दन-प्रथम-प्रकाशक-ममिति" आपको "अभिनन्दनप्रथम" समर्पित करके आपके पुण्य-वर्णा में जो श्रद्धानुमन समर्पित कर रही है, यह बहुत मुन्दर दूरदर्शिता तथा कृतज्ञतापूर्ण प्रयास है। मैं हृदय में इसका अभिनन्दन करना हूँ।





कोटि-कोटि अभिनन्दन

मुनि कन्हैयालाल 'कमता'

पूज्य मरुधरकेसरीजी महाराज मरुधरा के महान् सन्तरत्न ह। आपने भ्रमणजीवन की दम अर्धशताब्दी में चतुर्विध सघ की जो सेवा की है वह इतिहास के अमर पृष्ठों पर स्थायित्व पवित्यों में सर्वदा अंकित रहेगी। अब तक हुए साधुसम्मेलनों में आपने जो कार्य किया है उसके मूल्यांकन में आज मरुधरा का गगन-एक कण प्रुपारित हो उठा है। सादही और गोजत के सम्मेलन के तो आप प्रमुख सूत्रधार रहे हैं। वर्धमान भ्रमणमघ के गगठा का बीजागोपण आप के असीम प्रयासों का ही सुकन है। आप के द्वारा लोकहित के अनेक कार्य सम्पन्न हुए हैं। आप की धुनमें आब साध-सेवा प्रमोद सिद्ध हुई है। आपकी ओजस्वी वाणी से सघ को जो स्फूर्त चेतना प्राप्त हुई है उसे शब्दश्रृंगार में आरद्ध करना गागर में सागर समाने जैसा प्रयत्न सिद्ध होगा।

वालयकाल में अब तक अनेक बार आपके अति निरुद्ध गणक में रहने के प्रसंग मुझे प्राप्त हुए हैं। मैंने देखा है—आप उदारमना, स्पष्ट, निर्भीक बक्ता, रसमयी राजस्थानी गद्य-पद्य गीतगाथा के प्रणेता, मन्मथ-विजेता, सर्वप्रिय लोकनेता हैं। आप के इस लोकोत्तर व्यक्तित्व के प्रति मेरा शान-शत अभिवादन, कोटि-कोटि अभिनन्दन।

०

दिल की दिवाल पर टगे सस्मरण

हीरामुनि 'हिमकर'

महापुरुषों का गुणानुकीर्तन करना जीवन की निमल और पवित्र बनाने का एक साधन है। क्योंकि महापुरुष का जीवन परोपकारी होता है। दूसरों के लिए वे स्वयं को अर्पित कर देते हैं। मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी म० भी एक ऐसे ही महापुरुष हैं। उनके जीवन के अनेक सस्मरण मेरे दिल की दीवार पर सुनहरे और रंगीन चित्रों की तरह टगे हुए हैं।

विक्रम सं० २००४ का प्रसंग है। परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य महास्वामि श्री ताराचन्दजी म० की आज्ञा में मैं अपने भूतपूर्व सम्प्रदाय के सुलेखक श्रीनारायणचन्दजी महाराज एवं सेवामूर्ति श्री प्रतापमलजी म० की सेवा में था। उस वर्ष श्री नारायणचन्द्रजी म० के साथ मरुधरकेसरी मिश्रीमलजी म० का संयुक्त वर्षावास सादही राजस्थान में हुआ। उस समय मैंने बहुत ही नजदीक से मरुधरकेसरीजी म० को देखा। वे ऊपर से वस्तुतः मिश्री की तरह कठोर थे। उनका अनुशासन गजब का था। उन्होंने भ्रष्ट पर जिस तरह उस समय कड़क अनुशासन किया वह प्रारम्भ में मन को कुछ अवरता रहा। मैंने सोचा—ये महाराज तो काफी तेज स्वभाव के हैं। पर ज्यों-ज्यों मैं उनके अत्यधिक सन्निकट होता गया त्यों-त्यों मुझे यह भी अनुभव होने लगा कि यह तो मिश्री की तरह मीठे भी हैं। ये बाहर से जितने कड़क हैं उतने ही अन्दर से मुलायम भी हैं। कवि की भाषा में उनका वस्तुतः यही परिचय है

नालिकेरसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जना ।

मरुधरकेसरीजी का हृदय मखन से भी अधिक मुलायम है। जब कभी कोई दीनहीन जन उनके पास जाकर अपनी कष्ट कथा सुनाता है तो वे कष्टों से विह्वल हो जाते हैं। विह्वल ही नहीं होते पर किसी भावुक भक्त को प्रेरणा कर उसके दुःख-दर्द को जब तक नहीं मिटाते तब तक उन्हें चैन नहीं पड़ता। मैंने आँखों से देखा है—संकटों गरीब बन्धुओं को गुप्ता रूप से सहायता के लिये उनको सकैन करते हुए। यदि कोई अनुदार सपन्न व्यक्ति ननु-नच करता है तो उस पर केमरी की तरह गरज भी पड़ते हैं। और उनकी गभीर गर्जना के बाद अनुदार भी उदार

की श्रेणी में बैठ जाता है। ऐसे भी अन्तुदाग व्यक्ति देखे हैं जो मन न होते हुए भी केवल मरुधरकेसरी के आदेश को पालन करने के लिए मुक्त हाथ में दान देने में मन्त्रोद नहीं करते।

आपकी दुमरी विशेषता, जो मेरे को आकर्षित करती है, यह है कि आपका तन-मन और वचन मेम्भानकवामो जैन समाज के प्रति गहरी निष्ठा है। म्भानकवामी समाज के सिद्धान्तों के प्रति अपूर्व आस्था है। ममाजोन्म न के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना आपका स्वभाव है। जहाँ कहीं भी आपने जानुर्मास किया या शेष काल बिाजे वहाँ के भावुक भक्तों में भी यही भावना भरी है कि समाज के कार्य के लिए यदि तुम्हें प्राण अर्पित करना हो तो वीर नैतिक की तरह अर्पित करो। जड की उपासना नहीं किन्तु गुणों की उपासना करो। वीर लोकाशाह की तरह तुम्हें भी क्रान्ति या शत्रुनाश फूँकना है तो उन महापुण्यों की जयन्तियाँ बड़े ही उत्साह और उत्साह के साथ मनाओ।

आपका भाषण बड़ा ही जोशीला होता है। विषय के प्रतिपादन के साथ जब किसी भी विषय का खण्डन या मण्डन करना होता है, उस समय भाषण ऐसा जमना है जैसे आबल की बर्षा जमी हो। तर्कों पर तर्क बरस पड़ते हैं।

आपका माह्ति्य अधिकांशतः राजस्थानी भाषा में है। आपकी राजस्थानी भाषा सुहावनेदार और प्राजल है। पाठक पढ़ते-पढ़ते आनन्द-विभोर हो जाता है।

मरुधरकेसरीजी का अभिनन्दन-ग्रन्थ निकाला जा रहा है, यह जानकर हादिक प्रसन्नता है। उनका अभिनन्दन ग्रन्थ होना ही चाहिये। मैं आशा करता हूँ—मरुधरकेसरीजी स० दीर्घकाल तक समयमाधना कर जैनधर्म की प्रभावना करते रहें।

श्री मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व

जैनसिद्धान्ताचार्य श्रीनानुश्रुपिजी स०

मरुस्थली श्रुति, महर्षि, मन्त्र, तपस्वी, चिन्तक और विचारको की भूमि रही है। वहाँ की मिट्टी के कण-कण में पवित्रता की मुग्ध आती है। ऐसी मरुधरा में मरुधरकेसरीजी का अवतार हुआ है।

आप जैन सिद्धान्तों के प्रखर विद्वान् एव जाता हैं। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि भाषाओं में पाण्डित्य प्राप्त किया है। राजस्थानी भाषा तो आपकी अपनी ही है। आपके लेख प्रायः राजस्थानी भाषा में ही रहते हैं। आप न्याय, दर्शनशास्त्र, माह्ति्य एव इतिहास में भी पारंगत हैं। आपने खूब परिश्रम के साथ इतिहास का अवलोकन करके मन्त्रों की नामावली श्रमणतरु वगावली बनाकर प्रकाशित कर जैनो की परम्परा का दिग्दर्शन कराया है।

आपके उपदेश की प्रेरणा में अनेक विद्यालय तथा गौशालाएँ, स्थापित हुई हैं। लोकानाह जैन गुरुकुल सादडी (मारवाड़), जिनेन्द्र ज्ञानमन्दिर सिरियारी, गौतम जैन गुरुकुल भोजत आदि अनेक संस्थाओं की स्थापनाएँ की एव उनको प्रोत्साहन दिया, निचन किया।

आप मरुधरा के मन्त्रों में प्रसिद्ध अवता हैं। आपका राजस्थानी भाषा के प्रति विशेष जाकर्षण है। राजस्थानी भाषा में ही अधिकतर प्रवचन फरमाते हैं। निह जैमी गर्जना करते हैं इसलिये आपको 'मरुधरकेसरी' का विरुद प्राप्त है। राजस्थानी भाषा आपके मुखारविन्द में अच्छी लगती है। जनता मुग्ध बन जाती है और व्याख्यान में नें उठने को जी नहीं चाहता है। जनता आप की वाणी की प्यामी रहती है।





आपने प्रचुर साहित्य का मूजन किया है। अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। ग्रन्थों में आप की साहित्यिक सेवा प्रशंसनीय है। उम्र में वृद्ध होते हुए भी आपका विहार एवं उपदेश जवानों का मातृ हृदय है। आत्मनिश्ठा एवं आत्मभावना के साथ पचार काय करते हैं।

साधुसम्मेलन के आयोजना में आपका विशेष सहयोग रहा है। अजमेर, मादड़ी, मात्रत, भोनामर के सम्मेलन में आपका विशेष योग रहा है। सभी सम्मेलनों के आय प्राण थे। आपकी विचारधारा समाज के गिरे बटो उपधायी मित्र हुई है।

आप स्थानिकवादी समाज में एक याव्य विद्वान्, ग्राहिक, आन्विकारी, मृगयुग्, मिलनमा, मद्दयध्यास्यानी कवि, लेखक, महर्षि एवं महापुरुष हैं। आप जहाँ भी पधारते हैं वहाँ आनन्द छा जाता है। दर्शनार्थिया या ताना-ना लग जाता है। राजा, महाराजा, जागीरदार आदि आपके प्रभाव में आकर्षित हो जाते हैं। आपकी महान् बहूत प्रिय लगता है और चातुर्मां भी प्रायः वहीं कर डालते हैं जिनमें देहाती जनता धर्माश्रय के सम्मुख आ जाती है।

आपकी कीर्ति और नाम काफी अर्थ से सुनता था, मगर प्रत्यक्षदर्शन एवं मिलन का अवसर हम नेत्रक को मिला। मन्त्रकनरीजा जैसे महान् क्रान्तिकारी मत का अभिनन्दन उनकी सेवा का अभिनन्दन है।



व्यक्तित्व और सयमनिष्ठा का अभिनन्दन

श्री पुष्कराज सीसोदिया, अध्यक्ष, श्रीस्वा० जैन धीर सच, व्यावर

दि० मघ २०१७ की घटना है। मैं मरुधरकेसरीजी म० के महान् व्यक्तित्व ने भतीजी परिचित था, वे मुझे शायद न भी जानते हों। उम्र समय तीन भागों में विभक्त व्यावर का धीमध एन-सूत्र में आवद्ध था। सध ने ५० र० मन्त्री श्रीपुष्कर मुनिजी म० का चीमामा कराना सर्वगम्भस्ति में निश्चित किया। उम्र समय मुनिजी पदराहा में विराजमान थे। तीनों दलों के मुखिया आपकी सेवा में चितति करने गए किन्तु कारणवश उनका चीमामा व्यावर में न हाकर धाधपुरा में निश्चित हो गया। व्यावर सध के प्रतिनिधि निराज होकर देल्वाहा में विराजित पूज्य श्री-मोतीलालजी म० के दर्शन करते हुए व्यावर लौटे।

इसी अवसर पर मेठ देवराजजी सुराणा निजी कार्य से सोजत गए थे। मरुधरकेसरीजी म० वहाँ विराजमान थे। उन्हें विदित हुआ कि मुनिजी का चीमामा व्यापारी गाव में होंने वाला था परन्तु वह किसी कारण से स्थगित हो गया है। सुराणाजी ने मरुधरकेसरीजी म० से प्रार्थना की कि व्यावर में किसी का चीमामा तय नहीं हुआ है। व्यावर सध की ओर आप की सेवा में प्रार्थना करने आएगा। तब तक आप वहाँ चीमामा की प्रार्थना स्वीकार न करें। मुनिजी ने कर्मिया—जैसी फरमना।

सुराणाजी व्यावर लौटे। तत्पश्चात् विजयनगर में विराजमान स्थविर मन्त्री मुनि श्रीपन्नलाल म० की आज्ञा प्राप्त कर तीन कागों में व्यावर सध के प्रमुख प्रतिनिधि सोजत गए। चीमामे की प्रार्थना की और वह स्वीकृत हो गई।

दूसरे दिन मे ही व्यावर का वातावरण दूषित होने लगा। तरह-तरहकी चर्चाएँ और गलतफहमिया फैलने लगी। सयोगवशात् उस समय व्यावर में मन्त्री मुनि श्रीपुष्कर मुनिजी पधारें हुए थे। उनके समक्ष मागीवातें रखी गईं जो उपाचार्य श्रीगणजीलालजी म० के श्रावकों की ओर से उठाई गई थी। तीनों तरफ के श्रावकों के समक्ष वात्ता हुई जिनमें उपाचार्यजी के श्रावक भी सम्मिलित थे, परन्तु उपाचार्यजी के श्रावकों का मन्त्री युगल के समाधान ने सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने उपाचार्यजी म० से समाधान कराना चाहा। उपाचार्यजी विहार में थे और समय

इतना स्वल्प रह गया था कि उनमें सम्पर्क साधकर समाधान करवाना सम्भव नहीं था। तब आचार्य श्री आत्मारामजी म० ने समाधान मांगा गया और वह मिल गया। मध्वरकेनरीजी पूर्व निश्चयानुसार चौमामे के लिए पधार गए। विरोधी वातावरण बना ही रहा वनिक दिनोदिन बढ़ता गया।

इस प्रकार के विरोधपूर्ण वातावरण में भी श्री मध्वरकेनरीजी की शान्ति अमग थी, समाधि अबाध थी और धैर्य अविग्न था। चंडी बीरता के साथ उन्होंने स्थिति का सामना किया। उनकी इस विनिष्टता का परिचय देना ही इन घटना के उल्लेख का प्रयोजन है।

इस घटना के साथ ही उनके निकट आया। मैंने अनुभव किया कि उनका धैर्य अथाह है, साधन अविचल है, चारित्र्य उज्ज्वल है, किया उच्चकोटि की है, साधना मन्तो के अनुरूप है। इसके पश्चात् ज्यो-ज्यो मैं आपके निकट आता गया त्यो-त्यो मेरी उल्लिखित बाग्या पुष्ट पुष्टन ही होनी गई है।

मध्वरकेनरीजी इनने स्पष्टवक्ता हैं कि अपने मन में मन सावका को उचित बात कहने में नहीं हिचकते। श्रावको की भी आपके प्रति दृढ़ता प्रगाढ़ श्रद्धा है कि वे आपके वचन को टाल नहीं करते। आपके तेज के समक्ष सभी की क्षमिन् हो जाना पड़ता है। कच्ची-पक्की बात कहने का किमी को माहम ही नहीं होता।

वास्तव में मध्वरकेनरीजी हमारे समाज के एक महर्षि रत्न हैं। उनके अनूठे और असाधारण व्यक्तित्व एवं मयमनिष्ठा का धत-धन अभिनन्दन।

●

गुणों के सागर

श्री अनोपचद पुनमिया

पूज्य गुरुदेव मध्वरकेनरीजी प० श्रीमिश्रीमलजी म० ने मेरा करीब २५-३० वर्षों में निकट का परिचय रखा है। पुण्यभूमि भारतवर्ष इस समार में ऐसे उत्कृष्ट क्रियापात्र, नगठन के अपूर्व हिमायती सत्ता के कारण ही सर्वोत्कृष्ट होने का दावा करता है।

आपकी मने बहुत ही समीप में देखा है। आपका अन्तरंग फूल में भी उपादा कोमल है। जब कभी किसी दीनदुःखी अक्षय्य रोगग्रस्त प्राणी को देखने हैं तो उसे महायत्ना पहुँचाने हेतु नतन प्रयत्नशील रहते हैं लेकिन जब स्वयं पर शयकर में शयकर योग आश्रमण करना है या बाहर में कोई कष्ट देना है तो आप उसे हमते हुए सहन करते हैं, तनिकमात्र भी खराने नहीं है। इसका ज्वलन उदाहरण हमने बिनाडा में प्रत्यक्ष देखा है। जब एक कमाई मछलियों को तालाब पर मार रहा था और उनकी पकड़ रहा था तब आपने उसको प्रेमपूर्वक समझाया कि ऐसा करना तुम्हारे अन्त्याह में भी मना किया है। इस पर वह मुद्द हो उठा और आप पर लाठियों में कई एक प्रहार किये। आपन सब प्रहागे को शानिपूर्वक सहन किया और मन में यही चिन्ता करते रहे कि यह तो केवल शरीर को पीट रहा है, आत्मा की नहीं। आत्मा तो अजर अमर है। वन्य है मारने के इस पुनीत मत की क्षमा और दया एवं सहनशीलता।

जब बिनाडा-म्यानार में पधारें तो यूँ तक नहीं कहा कि उस व्यक्ति ने मुझ को इसलिये पीटा है। जब यह वृत्तात विगडा नगर में फैला तो उस व्यक्ति की खोज की गई। उसको नामने लाया गया। उस समय गुरुदेव ने यही फरमाया कि मैं अन्न-जल सभी ग्रहण करूँगा जब आप इसे क्षमा कर दो और इसको मुग्धनि स्थान पर पहुँचा दो। इसे कोई हानि न हो। इस भाँति आने अपूर्व क्षमाप्रदान की जो स्थानिकवासी जैन इतिहास में सदैव के लिये अजर अमर रहेगी।

आप अनुग्रामन एवं मगठन के अपूर्व हिमायती हैं। अनुग्रामनरहित जीवन आप कतई पमन्द नहीं करते हैं।





इसी कारण कमी २ आपको कुछ कठोर शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ता है। इसमें कुछ सज्जन आपमें रुष्ट हो जाते हैं। चाहे कोई बड़े से बड़ा भी क्यों न हो, आप नि सकोच होकर उसे अनुशासन हेतु आदेश देने में तनिक भी पीछे नहीं हटते। इसके लिये चाहे कितनी भी बाधाएँ आवें आप क्षाति के साथ सहन करने की अपूर्व शक्ति रखते हैं।

सादडी मे १६ वर्ष पूर्व जब अखिल भारतवर्षीय माधु सम्मेलन व कान्फ्रन्स का १२ वा अधिवेशन हुआ था, तब इन दोनों को सफलतापूर्वक सम्पन्न कराने का एक मात्र सर्वोच्च श्रेय आपको ही है। आपके पुण्यप्रताप में ही श्री बडमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ की ओर श्रावकमठ की प्रथम स्थापना हुई है। कठियों को इस साधुसम्मेलन का सफल होने में बड़ा भारी सदेह था परन्तु आप अपूर्व उत्साह, प्रेम, परिश्रम, लगन के साथ इस कार्य को सफल बनाने में सलग्न हो गए। अन्त में उसको सफल बनाकर ही सास ली।

जिस भाति एक सिंह जंगल में निर्भय होकर सबत्र घूमता है और उसके अनुशासन को सभी जंगल के प्राणी नतमस्तक होकर मानते हैं, क्योंकि सिंह में अपूर्व शक्ति रही हुई है और वह जंगल का राजा समझा जाता है, उसी भाति पूज्य गुरुदेव का समय भी जीवन सिंह के समान है। आपके पास गम्यज्ञान-दर्शन-चारित्र्य-तप की अपूर्व शक्ति रही हुई है। इसके आगे मिथ्यास्त्री लोग नतमस्तक हो जाते हैं। कोई भी नास्तिक या विधर्मी आपमें बहस करने आता है तब उसको युक्तियुक्त प्रत्युत्तर देकर क्षाति कर देते हैं और निरुत्तर कर देते हैं। वह नतमस्तक होकर ही जाना है। इसी कारण मारवाड़ में आप 'मरुधरकेसरी' के नाम से पुकारे जाते हैं।

आपकी विहारभूमि प्रायः मारवाड़ ही रही है। यहीं आपने अपनी ओजस्विनी सम्यक्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य से युक्त भाषा की गंगा प्रवाहित की है। आपके सदुपदेश से प्रभावित होकर इस मरुधरभूमि में कई संस्थाएँ खुली हैं जिनमें 'श्री लोकाशाह जैन गुरुकुल सादडी मारवाड़' भी एक प्रमुख संस्था है जो गोंडवाड़ प्रांत में लोकाशाह के मित्रान्तों का प्रचार करने वाली एवं अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की शिक्षा देने वाली एक मात्र संस्था है। विशेष क्या लिखूँ? पूज्य गुरुदेव शतायु हो जिससे जैनधर्म की अधिक में अधिक प्रभावना हो।

•

श्रद्धाकुसुम-समर्पण

श्री माधोमल लोढ़ा

मुझे यह योग्यता नहीं कि किसी सतजीवन का सही सही विश्लेषण कर सकूँ। फिर भी एक श्रावक के नाते मुनिजीवन से मेरा सम्पर्क अवश्य रहा है। धीयुत मरुधरकेसरी श्री मिथीमलजी महाराज सा० मरुधर के एक जाने पहिचाने सन्त रत्न हैं। उनकी पवित्र सेवा का अवसर भी मुझे यदा-कदा मिलता रहा है। मुख्यतया सन् २०१६ में जबकि मरुधरकेसरीजी म० सा० का चातुर्मास जोधपुर में था, और जोधपुर श्रीमठ ने मुझे सन्नीत्य का कार्य सौंप रखा था—उस अवसर पर केसरीजी महाराज साहब की सेवा का सर्वोत्तम सौभाग्य मुझे मिला। मैंने जिस रूप में मरुधरकेसरीजी को पाया वह आज भी स्मृति के रूप में मेरे विचारों में जमा हुआ है। मैंने अनुभव किया कि मरुधरकेसरीजी एक ऐसे मुनिवर हैं कि जिनके कठोर अनुशासन के नीचे कष्ट का स्रोत भी बहता है। श्रमणसंघ के सज्ज प्रहरी, एकता के हामी व साहस के पुंज हैं। श्रमणसंघ का कार्य उनके जिम्मे आया, उन्होंने बहुत ही दृढ़ता व सहनशीलता के साथ उसे सम्पूर्ण किया। मरुधरकेसरीजी म० के व्यक्तित्व और उनकी वाणी में एक ओज है, एक आकर्षण है। मारवाड़ी भाषा में स्फुरित होनेवाले इनके प्रवचन बड़े रोचक एवं प्रभावशाली होते हैं। अधिक विस्तार में नहीं जाते हुए केवल इस आशा के साथ कि मरुधरकेसरीजी म० अपनी विशिष्ट योग्यताओं के द्वारा संघ शक्ति व एकता को बढ़ाते हुए शांति को लाभान्वित करेंगे, मैं अपने हार्दिक श्रद्धाकुसुम समर्पित करता हूँ।

•

श्रद्धा-सुमन

श्री चम्पानान कर्पास

स्वान्तर्दामी समाज का प्रत्येक प्रीट व्यक्ति मस्मरकेरी के सुमनाम मे परिचिन है। जिनवाणी का एक मेला होने के जाने में महागन्त्री के सुम नाम से तो बहुत पहिले मे ही जानना था पर जब मैं जोधपुर आया व 'वीन नोकगाह' का साप्ताहिक बनारस उम्मा मगदन—प्राग्भ दिया तब मे निरुद्ध मर्क मे आया। उम्मे बाद तो निगर मेवा का नाम भी लेना आया है।

नवदुरों के दूर मन्नाद—मस्मरकेरीजी—नवयुवों को खूब पहचानते हैं और सामाजिक सेवाओं मे नवयुवों की टोली बनारस बटे मे उडे राम बगन मे मदा मफर रहे हैं।

लोकशाह के पन्म पुजारी

साग स्वान्तर्दामी समाज लोगशाह की सही विद्वान्प्रख्यापना का मुफल है, अब हम सभी उस महापुरुष के बटे ही आती हैं। मस्मरकेरीजी ने लोकशाह के जटे की अदम्य उत्साह व जोश के मान उठाया तथा जगह-जगह हमी सुमनाम मे सामाजिक एवं प्रामिद मस्याओं को मरुद किया। लोकशाह पर आदि ना काफी प्रमिद्वि पा चुके हैं व समाज की बहुत पैरा उन मस्याओं के द्वारा हा चुरी है। लोकशाहजयनी जिननी उमग व उम्माह मे—मुनिश्री के तत्वावधान मे मनाई जाना है, उननी श्री नहीं नहीं।

मस्मरकेरी केवल अपने कल्याण की ओर ही न देख सामाजिक कल्याण की ओर भी पूरी तरह मे लगने व मनन प्रेरणा देने रह है। मस्मरकेरी होने मे नमो-नमो कई लाग उन्हे वटक मिथी भी रहा करते हैं पर वे हैं—व्यक्तिगत वयोगांग सुदृढि वृत्तुमादरि। दोन दु गी व जमहायों के निवे कल्या के आगार है।

कार्यकर्ताओं के रुद्रदान

जान कार्यकर्ताओं को पहचानने मे बटे विचक्षण हैं। सभी सामाजिक मस्याओं की सहायता के निवे मदा तत्प रहते हैं—चाहे वे किसी मप्रदाय मे मवधिन बरा न हो।

मादटी या ऐतिहासिक सम्मेलन

स्वान्तर्दामी समाज मे अनेक मातुसम्मेलन मे भी यह विद्यालय मे था और सभी मप्रदायों के आचार्यों ने अनो-अनो मप्रदायों का मात्र ठाट लागायाह के एव ही जटे के नोचे—उत्तमान अमानमध व आवरमध की स्थापना की। उन सम्मेलन की महान् मकरना का बहुत बरा श्रेय मस्मरकेरीजी को है।

राजस्थानी भाषा के हिमायती

आप राजस्थानी के मदा पय मे रहे हैं और जान यह भी उन भाषा की सेवा मे मलग्न है। आपने काफी मास्त्रिय राजस्थानी भाषा मे किया है।

मास्त्रियकार के रूप मे आपकी सेवाओं का उल्लेख स्वयन्त रूप मे किया जाय तो कुछ आभाम पाठकों को हो मरना है। आपने अध्यात्म-वर्ग्य तथा ऐतिहासिक मवेपणा मे मवधिन काफी मास्त्रिय कित्ता जो प्रमिद्व हो चुका है।

ओजम्बी दयता

नैन समाज के अनेक स्थानिप्राण वक्ताओं मे आपका विजेष्ट स्थान है। आपकी बाणी मे ओज व प्रेरणा-दायक मदेश मिटना है।





औद्योगिक प्रतिष्ठान

श्री लोकाशाह जैन उद्योगमंदिर की स्थापना आपके समाज की उन्नति के लिये प्रेरणाप्रद विचारों से ही हुई थी। यह लिखते हुए मुझे अवश्य प्येद होता है कि यह महत्व की योजना मफल न हो सगी व सुयोग्य कार्यकर्त्ताओं के अभाव में बीच में ही छोड़ देनी पड़ी।

स्वतंत्रता के पुजारी

भारत के स्वातन्त्र्यसंग्राम में अपनी मर्यादा में रहते हुए मुनिश्री ने सदा पूर्ण सहयोग दिया है। स्वर्गीय क्षेत्र राजस्थान श्रीजयनारायणजी व्यास जैसे नेताओं ने आपमें प्रेरणा व समय समय पर उद्बोधन प्राप्त किया है। आपकी रचनाओं में स्वदेशप्रेम की मदाकिनी सदा प्रवाहित है और आज भी जनहित के कार्यों में उसी तरह उत्साहपूर्ण प्रेरणा देते हैं।

आपका 'मरुधरकेसरी' विरुद्ध यथार्थ ही है। केसरीजी की हुकार ने समाज में नवजीवन का मचार किया है।

आपके त्याग व वैराग्यमय जीवन पर जितना लिखा जाय थोड़ा ही है। मुनिश्री के चरणों में मैं अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हूँ।

•

क्या गुरुदेव ओसवाल थे और अब भी हैं ?

श्री धरमचन्द सारीवाल

श्री मिश्रीमलजी म० उन्हीं व्यक्तियों में एक हैं जो जन्म से ही अपनी जाति धर्म के प्रति विशेष प्रेमी व अनुरागी थे। कहते हैं, जब वे ११ वर्ष के थे, गाली के बाजार में एक पब्लिक मीटिंग में किसी वक्ता के इन शब्दों पर अडपडे — "ओसवाल जो बनिया ठहलावे, वडा ही निर्दयी कजूस होवे है। धीरत में पड़ीयोडी माक्खी भी ले लेवे है।" आप बोल उठे "वक्ता महोदय, शब्द वापिस ले लीजिये, यहाँ राई का पर्वत खड़ा करते हो ? यह अपमान मेरी जाति का है।" वक्ता महोदय को घुटने टेकने ही पडे व प्रत्युत्तर में क्षमा याचना भी की। वम, अब क्या था, सितारा चमक उठा, सीना खुल गया। प्रगति का पथ सुलभ हो गया। अध्ययन मनन की ओर रुचि बढ चली।

तदुपरान्त ससारी मिश्रीमलजी वैरागी बन गये लेकिन जातीयता के भावों की उत्तरीत्तर वृद्धि होती ही रही। विना हिचकिचाये भाषणकला में प्रवीण हो द्वितीया के चन्द्रमा की तरह प्रगति करने लगे, निर्भीक होकर। तद्वर्ण अवस्था में ही प्रकाश व्याख्याता की सज्ञा पाली।

वर्षों गुरुचरण की सेवा करते रहे फिर विहार भी किया तथा गुरु के रूप में जैन पताका लहरा रहे हैं। लेकिन वह जोश क्रमवत् चलता ही रहा है।

मनसा वाचा कर्मणा रात दिन इसी भावना में ओतप्रोत रहने वाले गुरुदेव समाज व जाति के गौरव रहे हैं तथा मृत्यु पर्यन्त रह्ये भी।

अभी अभी नीमाज के वर्षाकाल में मैं देखा कि किसी मुसलमान ने गुरुदेव को सड़क पर चौचादि हेतु निकलते देख कहा कि ये तो बाणियों के महाराज हैं।

बन्दूक की गोली की नाई झट उनके मुखारविन्द से माधुसूय बाणी निकली कि भाई मुल्तानजी, है तो हम महाराज ओसवशीय जैन सन्त हैं, पर तुम लोगों से कोई विरोध है क्या ? यह सुनते ही मिथाजी लज्जित हो क्षमा मागने लग गये।

मानव मे मच्चाई, नैतिकता, सहिष्णुता, परोपकारिता, निर्भीकता मधुरभाषण एव मद्भावना का होना इनका ही जन्म है जिनका निज ज्ञान-जर्म का मान जाना अनिवार्य है।

०

कोमल और कठोर

मुया नादुगम कामदाग, हाजीवाम

पूज्य गुरुदेव मधुरमेमरी १० रत्न मुनि श्री १००८ श्री मिथीमलजी म० मा० राज्याग के एक विद्वान, योग्य एवं आदर्श मन्त्र हैं। आपका स्वभाव जिनका मन्त्र है, मिद्वान और माधना के आदर्शों का पालन करने समर्थ वही कठोरम भी हो जाना है। आप नर्यों की शकाओं का समाधान इनने मज्जा दग में करते हैं कि जो आपमें एक दाग मिल लेता है उसमें हृदय में दाग-दाग मिलने की कामना रहती है। आप अपना को मुधारने के लिए कभी-कभी गुरु शब्दों का प्रयोग भी करते हैं पण्डित उनका प्रभाव अमृत के समान होता है। सामायिक आदि के नियमों का आप कठोरता से पालन करवाने हैं। फटकार का प्रभाव ऐसा होता है कि भक्त जीवन में कभी भी उस प्रकार की भूल करने का माहम नहीं रहता है।

मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि म० मा० की दृष्टि मन के मर्म का पहिचान करती है। वे जाने वाले भक्त की कष्टाओं को समझकर यथार्थि व्यवस्था करने हैं। मेरे शर्णाटकेमरी गंगोमीशालजी म० खादीधारी भी थे, दिनकी परम्परे की दृष्टि दृष्टी पैनी थी। पूज्य गुरुदेव मधुरमेमरीजी की हमारे ऊपर पूर्ण कृपा है। आपके पूर्वजों की हम पर परम्परा में कृपा रही है, हम लोग भी पीढ़िया में मर्तो के प्रति जितनी श्रद्धा रखी है, उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है। हमारी भगवान एवं पुत्र श्री में प्रार्थना है कि इस प्रकार की कृपा सदैव बनी रहे। पूज्य श्री के आदर्श हमारा पर-प्रभुत्व करते हैं निम्ने हमारे समाज का उद्धार हो सके। पूज्य श्री में मेरा निवेदन है कि वे इसी प्रकार हमें सम्मान की ओर अग्रसर करने रहें।

०

वक्ता, लेखक एवं कवि के रूप में मरुधरकेसरी

नलितकृमार जैन

गन आवाग मुन्का १८ की नीमाज में मरुधर के महान् मन, समाजोद्धारक एवं सामाजिक क्रान्ति के प्रणेता मधुरमेमरी १० रत्न मुनि श्रीमिथामलजी म० का जन्मदिवस मनाया गया था। पाली (मार्गवाड) में श्री महेश्वरमलजी के परिवार में केशरदे की राय में जन्म लेने वाली उस महान् विभूति ने अपने माय ही अपने माता-पिता का नाम भी स्थानकवासी जैन इतिहास में अमर कर दिया। मार्गवाड में कहावत है "बादनी खवदम रा जाया अमर राज करजो ने"। वस्तुतः विद्वान् श्री पुण्डवान् प्राणियों का उस निधि को समार में पदार्पण होता है।

गुरुदेवश्री ने अपनी अन्त वय में ही १९७७ की अक्षय तृतीया को स्वर्गीय बुचमलजी स्वामी ने मुनि-दीक्षा ग्रहण कर अक्षय तृतीया के महान् महत्त्व का चार चाँद लगा दिए। बचपन में ही विद्या-अध्ययन की धुन के कारण योग्य गुरु के तत्पर में शाम्भो का अध्ययन, हिन्दी, प्राकृत, राजस्थानी, उर्दू, आदि भाषाओं का पूर्ण ज्ञान अर्जित कर समाजोद्धार के मार्ग में चलने वाले महान् मन ने समूचे मरुधर में ज्ञान का शखनाद फूँक दिया।

जब बचपन के दिनों की बातें याद आती हैं तो स्मरण हो आता है कि स्वर्गीय मूर्तिपूजक ज्ञानमुन्दरजी ने स्थानकवासी समाज को चुनौती दे रखी थी। नाना ज्ञान के आक्षेपों में परिपूर्ण ग्रंथों की रचना, जैसे पेशावपथी





हूँदियों की उत्पत्ति, क्या तीर्थंकरों ने डोरा डालकर मुँहपती बांधी, श्रीमद् लोकाशाह आदि की चर्चा की जा रही थी। स्थानकवासी समाज के बड़े-बड़े दिग्गज मुनिराज यह सब कुछ देखकर भी केवल हमीलिएँ घात थे कि विरोध करने से सम्भवतः मूर्तिपूजक समाज नाराज हो जायगा। यह कौसी विद्वम्बना थी। माना कि हम किसी पर आक्षेप न करें किन्तु हमारी मान्यता पर किया गया प्रहार अगर हम सहन कर लें तो उसका तात्पर्य यह होगा कि हमारी उन विरोधी विचारधाराओं को भीन स्वीकृति प्राप्त है।

समाज के इस नर-रत्न का मून गोल उठा। गुरुदेव श्री ने ग्रन्थालीन और आक्षेपपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशकों की ललकारा। मुँहनाड उत्तर देने वाले ग्रन्थों की रचना की गयी। आगिर सूख की मित्रों के सामने रात्रि ना घोर अन्धकार टिक नहीं सका। मूर्तिपूजक समाज के आक्षेपपूर्ण ग्रन्थों का धाम्त्रमम्मत विराध कर उन्हे धाम्त्रार्थ कर्त्तों को आह्वान किया। फिर क्या था। जनता को गुमराह करने वाले ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन अविलम्ब बंद हो गया।

गुरुदेव श्री ने अनेकों ग्रन्थों की रचनाएँ की। जिनका प्रकाशन श्री बुद्धवीर जैन स्मारक मण्डल, जोधपुर के तत्वावधान में किया गया। इन ग्रन्थों में जीवनचरित्र, स्थानकवासी जैन मान्यताओं का धाम्त्रमम्मत विवेचन, समाज पर किये आक्षेपों का उत्तर आदि अत्यन्त प्रभावशाली एवं रोचक प्रकाशन हैं। कुछ ग्रन्थ अभी भी प्रकाशनाधीन हैं, जो समयानुकूल परिस्थितियों में प्रकाशित होते जायेंगे।

वक्ता के रूप में गुरुदेव श्री की मिहगजेंता में मरुधर का चप्पा-चप्पा परिचित है। वाणी की ओजस्विता, सरलता और स्पष्टवादिता से श्रोतागण उत्तरे प्रभावित हैं कि वे स्वयं गुणानुवाद किये बिना नहीं रह सकते। आपमें विरोधता यह है कि वगभेद आपके पाम नहीं है। चाहे कोई बड़ा ने बड़ा पूँजीपति हो या सामान्य स्थिति का श्रावक, आपके सम्मुख सभी एक ही श्रेणी के हैं। एक बार का वृत्तान्त स्मरण हो आता है। गुरुदेव जोधपुर में विराज रहे थे। तत्कालीन सभ के एक प्रमुख श्रावकजी के पाम एक सज्जन गये और उन्होंने कहा—आजकल कमजोरी बहून आ गयी है, कोई उपचार हो तो बतावे। उन्होंने गण्डे का प्रयोग करने का आग्रह किया। जब यह स्थिति गुरुदेव के सम्मुख रखी गयी तो बड़ा दुःख हुआ। दूसरे ही दिन व्याख्यान में उन प्रतिष्ठित एवं श्रीमन्त कहे जाने वाले श्रावकजी को गुरुदेव ने ललकारा और कहा, क्या हम गण्डे के प्रयोग का प्रचार कर अपनी मान्यता का पावन कर रहे हैं? जर्म के मारे वे नतमस्तक अवस्थ हो गये किन्तु गुरुदेव श्री की स्पष्टवादिता ने चिढ़कर उन्होंने व्याख्यान में आना बन्द कर दिया। मरुधरकेसरी की यही गजना रही कि मुझे किसी से राग-द्वेष नहीं। मैं यह चाहता हूँ कि समाज का श्रावक-समुदाय अपनी मान्यताओं के विरुद्ध आचरण न करे। चाहे वह छोटा है या बड़ा, मेरे लिये सब बराबर हैं।

स्पष्टवादी नीति के कारण ही आज भ्रमणमय के बड़े-बड़े मुनिराजों में आपके प्रति अगाध श्रद्धा है। आपमें कथनी और करणी का अन्तर लेश मात्र भी नहीं है। वाणी की ओजस्विता के कारण हजारों के जनसमुदाय में आपके प्रवचन सृष्टि ही सुनने में आ सकते हैं। “लोकाशाह अर्धमहसाब्दी” के अवसर पर सोजत में दस हजार से ज्यादा एकत्रित जनसमूह के समक्ष आपका प्रभावशाली भाषण ऐतिहासिक वस्तु बन चुका है।

सैकड़ों हजारों राजस्थानी, हिन्दी और उर्दू की कविताएँ, दोहे, सौरसे, चौपाइयाँ आपकी याद हैं। जिन्हें सुनकर श्रोता सृष्टि ही आश्चर्यचकित रह जाते हैं। ऐसा अनुभव होता है कि आप पर देवी सरस्वती की महान् कृपा है। व्याख्यान में प्रसंगानुसार कविता बनाकर कह देना तो आपके लिये कोई कठिन कार्य नहीं। अनेकों कविताओं की रचनाएँ आपकी ने की हैं। बीररम की कविताओं को पढ़कर मुर्दा दिलों में भी जीवन का संचार हो जाता है।

एक बार सादर चातुर्मास में गुरुदेवश्री ने गोडवाड प्रान्त में स्थानकवासी मान्यताओं के प्रचार-प्रसार के लिए लोकाशाह गुरुकुल स्थापित करने की योजना रखी। यह तो गुरुदेव श्री की वाणी का ही प्रताप था कि एक ही दिन में लगभग २॥ लाख रुपये की टीप कर दी गयी। आज यह गुरुकुल समूचे भारत में अपनी शान्ति का एक अद्वितीय गुरुकुल है।

आपकी की मदद यही प्रेरणा रही कि समाज में सगठन हो, सम्प्रदायवाद की देवार बह जाय और एक ही

आचार्य के जर्जन रह रू नाग धमणवर्ग धर्म का प्रचार करे। मादडी का वृहन् नाधुमस्मैरन आप की इन नीति का ही मुफ्त या निने शानकवानी चैन इतिहास मे स्वर्गाक्षरों मे लिखा जायगा। अपनी उनी एतता की धुन मे रन गुरुदेव जनेक परिपहा री मन्त्र रने हुए प्रतिवर्ष मैकडो छोटे-मोटे गाँवों मे वीरसदेव ने काम जनता को आमान्त्रित करने रहे हैं जबकि अधिकांश धमणवर्ग शहरों की ओर विचरण श्री अधिप पमन्द करते हैं।

शान्तदेव ने प्रार्थना है कि हमे मरुतरा की महान् विभूति त्यागी, तपस्वी, धर्मश्रेष्ठ मत की जन्मजयन्ती मनाने का जीवनभर अवसर प्राप्त होता रहे। गुरुदेवश्री शतायु हो जिनमे हमे उनके सुधागन्ध से जिनवाणी श्रवण का अवसर प्राप्त होता रहे।



आदरणीय मरुधरकेसरीजी को अभिनन्दन

श्री सुधीन्द्र गोमावत

परम श्रद्धेय, प्रान्तीय मरुधरकेसरी श्री सिथीमलजी महागज से मेरा साक्षात्कार बनून्दा मे एक गति हो हुता या और म जदवापन लोटा ना मुझे अपने प्रयास की सफलता की खुशी थी। आप मे शल्यचिकित्सा श्रवणों हेतु आर्षोवाद प्राप्त हो चुका था श्री जनवरी सन् १९६६ के प्रथम मघाह मे नीम्बाज मे जो गिविर लगा वह अपने आप मे अभूतपूर्व था। उनका उद्घाटन भी आप के आर्षोविचन ने हुआ जिन ममाराह की अध्यक्षता डा० एम० सी० येन्ना मवालक, भ्रमणशील शल्यचिकित्सा उकाई, राजस्थान ने की।

वह उन वर्ष का सर्वोत्तम गिविर था और उसके बाद अब प्रतिवर्ष नीम्बाज मे यह गिविर लगता है और महन्त्रों व्यक्तियों की नि शुरु शल्यचिकित्सा (ओपरेशन) का काम मिलता है। एक जैन नावु साधारणतया इन कार्यों मे रुचि नहीं लेता। उसका दायारा तो धर्मग्रन्थों, मन्दिरो, उत्सवों तक ही सीमित होता है। श्रद्धेय गुरुदेव, काम जनहिन् और ननसेरा के मामलों मे अत्यन्त रुचि लेने ह और जहाँ भी जनश्रमण की वान हो अपने पूर्ण सहयोग और प्रभाव से उस कार्य को पूरा बना लेने की क्षमता रखते हैं।

उन एन मयोग के बाद आपकी मूर्त पर असीम अनुकम्पा गयी है। और आपके शान्तिधर्म मे एक आत्मिक शान्ति का मेने मदा अनुभव किया है। मेरे जैसे महन्त्रों, लांगो नाग आपके दर्शनार्थ दूर-दूर से आते हैं और आपके एक संकेत पर अपना सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहते हैं। ऐसी अद्भुत श्रद्धा और भक्ति का एक मात्र कारण है आपका उच्च चार्मश्रवण, जीवनपर्यन्त त्याग एवमपन्या। आपके अमृत-वचन सुनकर मनुष्य मात्र सन्मार्ग पर चलने की प्रेरित हो उठता है। आप के लिये ज्ञान, रण, धर्म का कोई भेदभाव नहीं है। अन सभी वर्गों के लोग अपना मुख-शुभ मुनाने आपके पास आते हैं। और आपके अनन्त प्रेम और दयाभाव से प्रेरित एव आनन्दित होकर लौटते हैं।

मैं परमपिता परमेश्वर मे प्रार्थना करता हूँ कि आप मदा हमारे बीच अन्धकारमय समुद्र मे देशीयमान प्रकाश-मन्त्र की तन्त्र ममात्र का मार्गदर्शन करते रह और मध्याह्न के प्रखर सूर्य की तरह अपने तपोबल और तेज-स्विता से मनुष्यमात्र के मन मे कलुष, धृणा, द्वेष, लोभ, मोह-माया के अन्धकार को नष्ट करते रहे।

जिसे मेने अत्यन्त गुरु मिल जाय, उसका जीवन सफल हो जाता है।





मरुहरकेसरिमुणिमिसिरिमल्लस्साऽहिणन्दण

सिरी पुष्प भिक्षू

मगलाचरण

णायपुत्त महावीर, सव्वन्नु सव्वदसिण ।
णमसित्ता करिस्सामि, मिस्सिमल्लमिणन्दण ॥१॥

सबोहण — वत्ती ! णिण्णीयत्ताट्ठ । जम्मभूसुहणिप्पिह ।
राघवकुलतिरीडोसि, मोलकीवसमभव । २
भवदमणनिविण्ण । अणासत्त ! विरत्त ! या
कायामणयिहामुत्त । भव्वसारगतप्पग । ३
देहभावनिगवेमस । सासणसेवा पारग ।
सिद्धिसगमसावेपस । सुमेरु इय निच्चल । ४
जोईयहुव्वअमल । निस्सगो पवणी वि या ।
निम्ममत्तसमाउत्त । विस्सविज्जाविमारअ । ५

दण्डओ — सत्सजमधुराधारज्ञाणघणेसर ।
भाणावमाणासुरदलणमहेसर ।
गामकण्टगपरीसहवालनिदमअ ।
सियसाणचिन्तणत्तसत्थ अच्युअ ।
रागाइरयणीयरकसायागरयियारग ।
तवत्तिव्वइगालसरकामणयर दाहग ।
निस्सगत्तयाए णाणरज्जसासग ।
काम-कोह-मोह-लोह-आइपावणासग । ६

चउप्पई — तण्हच्चीहिम ! तण्हाकात्तजलुग्गम हे ।
डुम्सगमणोमायगनिगहे अकुस भे ।
अइउगगतवग्गिणमोहकट्ठभस्सीकय ने ।
उद्दामघटामायगसन्तरसवाउहणे । ७

गाहा — सरीराहारचीहारससारभोगणिप्पिह ।
विमुद्धोहपोऊत्तपाणपुण्णीकयासअ । ८
विरोही जगज्जन्तुकणावरुणालय ।
अनेई कामघेणुच्च । अभिनन्दन्ति त जणा ९

गज्ज — पगुरुआयरियमहसत्तामयगामपेत्तसम्पया सम्भालिया । ते य अगुकम्पा वच्छल्लया वास वामित्ता अज्जत्तभावे थिग्गिया । पइवरिसट्टामेसु परिकट्ठियमव्वगामेसु गामाणुगाम द्दइज्जित्ता नेसु धम्ममुल्लासेण सिरिजीवराय भूहग्-रघुणाहायग्गिय-सगुरुहुहमल्लाडयाण मृमिरण उरावेमि तेसु अत्तिमत्तिवीररस च ओयप्पोय करेसि, ते नासणसेवा-वियारलहग्गिमालाए पुणो पुणोऽभिणदण । तुमाए सव्वेसु सन्तवीर-अभयरस च भरिय धम्मज्जोओ कओ । भत्तभावुगा य त कयावि न भुरिलउ नक्का । अहो केरिमो अण्णुणासयमम्पन्वो पयईए सजोइओ । मच्च तु इण ज तडकायव्वपरायणया नियगुरुहुहमल्लेण अट्ठिमिजयेम्माणुरागरत्ता कया । अहा सोल-सी-ग्घुयडआयरियकुलसिरोमणि ते इणमेव जुत्त । विट्ठा परिक्खिया य तव कायव्वया मच्चवूर्हि सादडीसम्मेलणे, निग्गियया ते आयतेयप्पहावा । विट्ठा भीणासरे तव पयावत्तावो

जो वहीआ जानी । जट मुगिमवो तुज्जगुणपञ्चदश किच्चा तुम पहापात्रियपडवि पयच्छन्तो ता अज्ज उवेकखाघडा न उट्ठेन्ती । नो वि तादेवहि पञ्चिओनि ते नत्ता वेव अभिणन्दन्ति थुणन्ति य । तवोहरिममहिमावण्ण मच्चुलोए ममाडन्ति । ते मायव्वतायासाग पनत्ता पणच्चन्ता उल्लभिया एव मन्नित्ता भवन्ति । तेहि मद्धि अहमवि तवाहि-
पन्दा करमि ।

पनत्यो—फरीरचदनित्सेण, णामेण पुष्फभिवलुणा ।

मरुहरसेसरीमिक्खू, मिस्तीमन्ताहिणदण ॥१॥

झाण-णेत्त-ख दो वामे, वेक्कमे वच्छरे मुहे ।

अम्मिणीसुव्वपरत्तम्मि, तेग्गी सोनवासरे ॥२॥

गुडगामम्मि तुग्गामे, ठाणे परमसोहणे ।

अणेगन्तविहारम्मि, कय चित्ताहिणन्दण ॥३॥

उवसहाणे—जयउ-जयउ घोरो, सत्त्वक्न्ताणकारी ।

जयउ जयउ घोरो पावमन्तावहारी ।

जयउ य मरुदेसे णाणमुह्वुट्टिकारी,

जयउ मिग्गिन्नन्तो केमगे इव विहारी ॥४॥

•

इस अभिनन्दन का अभिनन्दन

श्री सुरेशमुनि, शान्त्री,

वागजन्मवैफल्यमनहृदाल्प ।

गुणाद्भुते बन्धुनि मौनिता चेत् । —महाकवि हर्ष

मूल किमी भी ममान जयवा राष्ट्र का एक मजग प्रहरी है । अपनी मयम-माधना के अग्नि-पथ पर आगे बढ़ना हुआ वह लोक-हित के लिए नी जने आपको जपित करना चरुना है । अपने वैराग्य-मूलक पुनीत-पवित्र विचारों में वह जनमानस को जानता और 'वह्जजनहिताय वह्जनमुखाय' अपनी वैचारिक यानी का अभेद-अवेद भाव में लुटाता चलता है । जीवन-मय के मूले-मटके पत्रिकां या वह मरुल-निष्ठाया मार्ग-दर्शन करता है । प्यानी आत्माओं को वह अपनी बाणी या अमृत पित्राता है और अग्नि समाज तथा राष्ट्र का मनन कल्याण-माधन करता है ।

औ, जन-मानस या जाना, नामाजिक उदय जन्मुदय की प्रेणा प्रदान करना—मन्त जीवन की यह जीविता-माधना नहीं, प्रत्युत उसकी जीवन-माधना, अध्यात्म-माधना या मयम-माधना का एक महत्वपूर्ण अंग है—जिसे लिए वह निरन्तर नगर-नगर, डगर-डगर घूमता है, हमन मुन्तराना, हजार्-हजार् कष्टों-कठिनाइयों को भेलता है, अपमान-निम्नता के जहनीरे वृष्ट पीनर भी, वह जन-जन को अमृत वाटना है, जने मजबूत हाथों में ज्ञान की जगती मशाल लेकर मन-मानस का अन्वेषण पित्राता है और समाज तथा राष्ट्र के मोरे भाग्य को जगाना है ।

मरुहरकेमनी श्रीमित्रीमरुजी महाराज राजस्थान में स्थानकवासी जैन-समाज के एक ऐसे ही प्रबल समाज-मुधारक, निर्भीक प्रचारक, प्रतिष्ठित, यशस्वी तथा सर्वतोमुखी प्रतिना के धनी सत्त ह । राजस्थान की मरुधरा में उन्होंने अपने आचार-विचारमूक ज्ञान की मरुदकिनी प्रवाहित की है । समाज या वैचारिक एवं चारित्रिक धरातल ऊंचा उठे, समाज विज्ञान एवं प्रगति की मजिठ पर मनन आगे बढ़े—यह उनके मन की माय रही है । और इसके लिए वे सर्वतोभावेन गतिशील तथा प्रयत्नशील रहे ह । ममान या नैतिक एवं दैक्षणिक स्वर ऊंचा उठाने के लिए अनेक शिक्षण-मन्थाओं ने मन्थान में उनका ठोस योगदान र्हा है । नामाजिक एकीकरण तथा रूढ़िवाद के जन्मूलन के लिए भी वह जन-मानस के लिए ज्ञान रहे है । सादरी, भोजत, गीनामर के नामाजिक सम्मेलनों के मय





पर भी उन्होंने अपनी कठोर कर्मठता, विलक्षण कुशलता तथा गहन सनकता का माफ़ा परिचय दिया है। उनकी इन लोकोपयोगी एवं सामाजिक उपलब्धियों को कैसे भुलाया जा सकता है ?

तो, लोकापकारी प्रवृत्ति, व्यक्तित्व की कमठा और जीवन की गरिमा लोकोपयोगी पर चढ़ ही जाती हैं, जनता के अन्तः-मूल-ममस्थल का दू ही जाती है। जग ममाज के हृदय ही श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति तथा ओझोपयोगी कार्यों के प्रति मानसिक आकर्षण की आन्तरिक अभिव्यक्ति का नाम ही तो अभिनन्दन है। इसका स्पष्टतः यही तो अर्थ है कि, मरुधरकेसरीजी के प्रखर व्यक्तित्व, निर्भीक चतुर्वृत्त, एवं कुशल कर्तृत्व ने राजस्थानी जैन-ममाज का ध्यान बलात् अपनी ओर आकर्षित किया है। “अभिनन्दन” और होता ही गया है ? व्यक्ति के विलक्षण व्यक्तित्व, प्रभाव-शील चतुर्वृत्त, महाम कर्तृत्व तथा ममाजहित के प्रयत्नों में उनके योग-महयोग की मुवा-कठ से प्रशंसा एवं मराहना !

भारत में मयम, त्याग, तप, सदानार-मूलक जीव के उच्च आदर्शों का सदा ही स्थापन-मरुधर होना आया है। यह व्यक्तित्व का नहीं, व्यक्ति के जीवन की मौलिक विशिष्टताओं तथा तत्प्रेरक सामाजिक उत्पत्तियों का सम्मान है। व्यक्ति तो एक माध्यम है। “गुण-पूजा” का एक महत्त्वपूर्ण एवं जीवित-जाग्रत ढंग है यह एक।

राजस्थान के जैन ममाज का यह परम सीमाग्रह है कि, ऐसे कर्मठ, समाज-हितैषी, एवं समाजमुधारक सन्त उसके बीच में आज भी विद्यमान हैं। राजस्थानी दुनिया के हम जाने माने मत की मयम-माधना के पंचम वर्ण की प्रति की हादिक प्रगल्भता की अभिव्यक्ति के रूप में राजस्थानी जैनसमाज ने जो अपनी आस्था-श्रद्धा के गुमन अर्पित-ममर्पित किए हैं और उनके जीवन की सामाजिक सेवाओं तथा लोकोपयोगी उपलब्धियों का सार्वजनिक अभिनन्दन किया है, यह हर्षका विषय है। इस अभिनन्दन का अभिनन्दन। अपनी मयम-माधना के पथ पर अग्रसर होते हुए, वह जनहितकारी ध्येय की दिशा में सतनगतिशील रहें। हम हृदय की यही मंगल कामना !



श्रद्धा के फूल

शुनिश्री सुशीलकुमार

मरुधरकेसरीजी ममाज की वह ज्योति हैं, जो सदा ही जागृत्यमान रही है। उनकी स्पष्टवादिता, कडक-पना, गावा के प्रति मोह-ममता, कर्तव्यपरायणता, मरुधर देण को ही नहीं, पूरे ही भारत को एक देण है।

उनके सध-सगठन का अद्वितीय कार्य इतिहास के लिए एक सुनहरा पृष्ठ है। विप्रे समाज के हीरे-पन्नों का श्रमणसध में गूथना एवं ‘श्रमणमुरतह’ का निर्माण उनके मस्तिष्क की अमूल्य देण समाज को है। मेरी तहदिली श्रद्धाजलि इसी रूप में सदा ही उनके साथ रही है। इसी भावना के साथ ये ‘श्रद्धा के फूल’ प्रस्तुत हैं।



कलाधर महान् केसरी

प० सीमाग्र मनि ‘कुमुद’

भूमंडल पर कुछ ऐसे आश्चर्यजनक व्यक्तित्व पाये जाते हैं जिनमें धिरोधी तत्वों का अद्भुत मिश्रण होता है। मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमरुजी म० सा० का व्यक्तित्व भी कुछ ऐसी विविधता लिये हुए है कि यकारु कोई अपने निश्चित मापदंड में उसे नहीं माप सकता।

शान्ति, क्रान्ति दोनों अपने आप में चरम सीमाएं रखती हैं किन्तु केसरीजी का व्यक्तित्व दोनों की अति में

निर्दिष्ट है। फलतः यहाँ सा एक लया मजूर तथा जयिनेरी नमिश्रण उगमे पाया जाना है कि बिनाका यत्र-नत्र पाया जाना लक्षित है। द्रवित-रूप जेम्सो नापा ने कटाने हुए जेम्सो सा मुनर-सायद ही ऐसा कोई मोच पाए कि बिना 'मद्युगनीर' 'मद्युग्' भी है, किन्तु थोड़ा कुछ मगर मे ही प्रमुख करने जाता है कि यह प्रकार बहुत महत्त्वपूर्ण म परिचित है। कुत्ती है। विवेचना यह है कि व किसी अति मे नहीं जाएँ। वस्तुतः उनका यह गढ़ा-भीटा स्वभाव ही उनम मत्त-रक्त-प्रतिन ता निर्माण कता हुआ समाज मे सर्वनाम्न उपलब्धियों का मटार बन गया है।

मान में पैदा होने वाली प्रत्येक मनुष्या को स्वर्गीयता का व्यक्तित्व प्रभावित करना है। उनका ही नहीं जो मनुष्यता का देने की क्षमता भी जाता है। अमरार्थीय उन्निहाम की अनन्तता घटनाओं में आपका महान् धर्मियता है। यह है कि आपका निर्निर्माता भी भी मूल्य है।

व्यक्तित्व की स्थापना तकला उभरा समुचित प्रभावप्रयोग है और उस आवश्यकता होती है बौद्धिक तत्त्वता ही। मरणा की उन्निर्देशन के बिना उन्निर्देशन प्रभावकारी व्यक्तित्व की स्थापना, गिरने व दबने के गये है। जगत् में केवलीजी के व्यक्तित्व का प्रभाव है यह अन्तर्गत यह तथ्य ना जाना है कि उन्निर्देशन समुचित तत्त्वता बौद्धिक निर्देशन साधन तत्त्वता है और उन्निर्देशन है कि केवलीजी का व्यक्तित्व व्यापक, व्यापक, व्यापकता होता चला जा रहा है।

आगे समझें कि आग्नि-आग्नि मिश्रित प्रतीति। मे ही एत ऐसा जादू है कि दर्शन प्रख्या आरपित व प्रमाणित हो जाता है। अग्नि के समान मोक्षदा व विज्ञान के समान विज्ञान के प्रमाणित हो ऐसा सुन्दर समन्वय अन्वय विज्ञान रहित है। अग्नि के समान मोक्षदा व विज्ञान के समान विज्ञान के प्रमाणित हो ऐसा सुन्दर समन्वय अन्वय विज्ञान रहित है। अग्नि के समान मोक्षदा व विज्ञान के समान विज्ञान के प्रमाणित हो ऐसा सुन्दर समन्वय अन्वय विज्ञान रहित है।

जाना ही नी तुम विद्यात ही क्षमी तर्हि तुमों तर बराबर महान् रोगों अपनी सीखि-बन्धनों को
प्रसन्न करने हुए सब : समाज का उत्थान ही आरंभ करने रहेंगे ।

चमकते दिन के सम केसरी

श्री हीरामुनिजा 'हिमश'

जगत में मिमरी मुनि राजते,
नगर में पुत्र में न्या गाजते ।
भगवान् गुरुते जिस वेंसरी,
चा गये मरु वें तम केमरी ॥

धन गृह अथ तो मुर देसरी
अमर हो दिल में तुम जेमरी ।
गगन में घर में चरखा मनी,
तग्न ताग्न है मिसरी गुनी ॥

वरुत ह गुन गायन आपके,
 फटन ह जममे जह पाप के ।
 नुगुन शिष्य मुधाकर आपके,
 गगन के गन आवर नारते ॥

मरुधरे मिमरी मुनि केसरी,
चमकते दिन के सग केसरी ।
कु-जट पूजन की जट काटते,
वचन दीज जिनेश सुनावते ॥

नित करो मिसरी गुण गान थे,
उत्तर जो जिन से भव पाग थे ।
हिमकरो विधि ने कर वन्दना,
विनय से विनये भक्त तारना ॥



गौरव-गीत

श्री रसिक मुनि

तर्ज—थारी मोह माया ने छोड़

हो जिनशासन-सिनगार, सदा गुणधारी ।
 गुरुदेव आपकी बारबार बलिहारी—टेर ।
 “मरुधर” मे सुन्दर पाली शहर कहलावे ।
 है जन्मस्थान वहा सौम्य-छटा मन भावे ॥
 है मिश्रीमत्तजी नाम जगत मे जहारी ।
 गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
 थे पिता आपके सहस्रमलजी नामी ।
 थे धर्मी और धनवान श्रावक गुण धामी ॥
 लिया केसर कुवर की गोद जन्म सुखकारी ।
 गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
 नित मात पिता परिवार सभी हर्षया ।
 पुण्यवान पुत्र यह पुण्योदय से पाया ॥
 मुख-मण्डल शशिवत् सूरत मोहन गारी ।
 गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
 जब पाँच वर्ष मे जननी स्तन सिधाई ।
 तब से दिल मे बैराग्य भावना आई ॥
 मैं लेऊँ सयम वनू महाव्रत धारी ।
 गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
 आराध्य देव श्री बुधमल जी थे प्यारे ।
 महा ज्ञानवान वे पटकाया रखवारे ॥
 कर लिया सयम स्वीकार आत्महितकारी ।
 गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
 किया ज्ञान ध्यान महापण्डित बन गये ज्ञानी ।
 मरुधर मे मोटा सन्त, सकल गुण-लानी ॥
 आगम के ज्ञाता तत्व मनन मन हारी ।
 गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
 हो निर्भय-व्रता आप सुपथ बतलाओ ।
 भगवान वीर का अमर सन्देश सुनाओ ॥
 हो मरुधर-केसरी रटे सदा नर नारी ।
 गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
 शासन की बढाओ ज्ञान भारत के माही ।
 युग-युग तक जीयो मंगल-कामना या ही ॥
 अभिनन्दन चाहे ‘रसिक’ मोद मन हारी ।
 गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—

जय मारवाड़ का सन्त पुनीत

श्री गणेश भुनि शास्त्री साहित्यरत्न

जय मारवाड़ का सन्त पुनीत ! बोले जन जय तेरी ही विनीत !

तमनामयी निशा चीकर, तू नाचुमम प्रस्ता कुल मे,
निले पन्निन के आनन, ज्यों कमलदल मुजल में,
ईशवास्या धीन चली और तरपाई आकर फूट पटी,
तभी मयम-रदिम घरमे जो, एक बिग-नेरा अउपडी,

बना नू जग्ने लयनी जीत ! जय मारवाड़ का सन्त पुनीत !

जनल्लिप्ता निर्मोही धन साधना मे कदम बढाया,
बीर-शामन की मेया का, सुदृढ मरत्य बनाया,
आये ये विघ्न कई पय मे, फिर भी न उनमे तू डरा,
धर्म-वन्धनों ने नय दियाये, ग्राह्य पर मेर-सा गया,

निभाना धर्म की मन्त्र-रीत ! जय मारवाड़ का सन्त पुनीत !

मर्यादा की पावन धरा पर, जहाँ भी पडे तेरे चरण,
मध-मगदन और धर्म का होना मानों बहा नया घरन,
दियिन्वाचार मिटाने मे, फूँक दिया निज जीवन बल,
सत्य-मर्य बल्लाने मे, किंचित् रणता न मन मे छल,

जय हो एकना के मुनीन ! जय मारवाड़ के सन्त पुनीत !

पाण्डित्य तेरा जति श्लाघ्य, साहित्य नी तेरा हे मरा,
अदभुत तेरी यश-रेखा, तू नन्दनवन सा हरा-नरा,
तू केसरी सत्य ही 'केसरी' गिरा मे अभित ओज-बल,
कस्ता है तू अभिगुजित, समाज हित का गीत प्रतिपल,

बनी गृही नदा मुनीन ! जय मारवाड़ का सन्त पुनीत !

जन धुनि से कडक निथी, पन्, अन्त मे तू नबनीत,
दयालु, कृपालु, नाबुद्धता की, बहती त्रिवेणी अपरिमित,
मुर्गा-जघन्ती पर हे तपस्वी, करते हम तेरा अभिनन्दन,
महके तू चहुँ दिशि-दिशि मे, ज्यों धूप, मलयज-चन्दन,

रखता साधुता मे मुनीन ! जय मारवाड़ का सन्त पुनीत !





म्हारी पण अभिनन्दन

मदन मुनि 'पथिक'

मन्धरकेसरी मुनिराज श्रीमिश्रीमलजी म० मा० आपणी समाजरा जाण्या पिछाण्या पुरुषरत्न स्वयंभू रूपसू चमक रता है । अटे गुसार्डजी महाराज ने दुहा चौको फिट दिह्यो—

“जेने ताणे गगन मे तेते दुश्मन होय ।

कृपा होय रघुनाथ की, बाल न बाका होय ॥”

खगपर आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज री 'दया पालो' घापणा मुनिराज ग विराजवा सू सार्थक है । रणी नरह मू आप पर भी घणा विघ्न आया ने आई रह्या है पर अणाहीज दयालु आचार्य श्री रघुनाथजी म० मा० ने कृपा सू आपग एक रोम पण बाको नी व्हो । बटो ज्योति ने हवा बाई विगाड सके ? उल्टी बत्ती-बत्ती तेज वणे ।

बढ़मान सध न रुद्धि मू वृण गेक मके ? आपरो अन्त करण मिश्री जस्यो मधुर है । पण शब्द भी मिश्री जस्या ही कटक है । ढिलो-ढालो मीघा माघो मधु व्हे पण उण मे घणा जन्तु मर जाय । पण आप तां आपरा रूप ने श्री रघुनाथजी की हृपा सू तरास, तराम ने अस्यो वणाई दीधो जो अणी स्मृतिग्रन्थ रा रूप मे सोमे है । म्हारो पण अभिनन्दन ।

श्रद्धांजलि

कविरत्न श्रीचन्दन मुनिजी

मधुपरा के केसरी जो, इक सितारे सध के
हे उन्हें श्री सध प्यारा, वे हैं प्यारे सध के,

सध-सगडन से उन्हें है, प्रेम सच्चा जिस कदर
काश ! हर इक ही मुनि को, हो मुहुब्बत इन कदर ।

सध से ही जैन की ससार में इक ज्ञान है
है जुड़ा श्री सध से हर—जैन का कल्याण है,

सध का जिसने बढ़ाया-मान आगे बढ़ गया
उन्नति के पथ पे वह इसान आगे बढ़ गया ।

पर, अह का त्याग करना, है भन्ना आसान क्या ?
त्यागिणों को तग करता ये नहीं अभिमान क्या ?

झू नहीं किन्तु गया ये, आपको मिश्री मुनि !
आप-सा दुनिया मे होगा, सयमी कोई गुणी ।

सौम्यता भी, सग्लता भी, धीरता भी, धीरता
है अनूठी आपके सद् ज्ञान की गम्भीरता,

लौन गहने हैं सदा, स्वाध्याय, तप मे, ध्यान में
इक अनोखा आ रहा है, आपको रन ज्ञान मे ।

दूग रहते जा रहे हैं, दग्ध, दहन में द्वेष ने
कर लिया सबको को वश आचरण युक्त उपदेश ने ।

आग्यों के ज्ञान की ही, इक लगाते हैं सडी
लोग यो एसा बनने, देखते फिर ना घड़ी ।

हम कहें नाथन उसे या मोनियों की इक लडी
जब मिलाने आप जानें, हैं कडी में ही कडी,

आप की शून प्रेरणाए, पूज जिनके साथ हैं,
मादडी, चीजन, गुरुकुल, विद्या में विरपात हैं ।

हैं अनेकों नस्याए, और गजस्थान में
आपके नकेन पर रत, हैं जो जन-कल्याण में ।

मादगी के हो पुजारी, तडर है न भडक है
त्याग की वराग्य की पर, आप में इक नडक है ।

आप अपने श्रावकों का, मुख रखने हैं पयात
धूम आने हैं अन हर गाव में हनुएक माल

गृहिणा कुछ और भी लो, आप श्री में पात हैं,
नीह तज नगरों का करते, गाव में जीमात हैं ।

यस कहें मैं आपके जीवन की जो भी शान है
आप पर श्रीमघ को, सतार की अनिमान है,

हैं अभिनन्दन 'मुनि चन्दन' के द्वारा आप का
और भी जग जलवा देखे, आपने प्रताप का ।



मैं टकरा गया

मुनि गजन जैन

इस जिन्दगी में मैं कठिन पाषाण में टकरा गया,
हा ! नाथ खल-दल के गिरा झमझार में चढ़ा गया ।
मच्छा नहाया आपका उस वक्त था मुझको मिला,
जिमके सुवन पर ही सुखद जीवन सुमन मेरा खिला ।
सौजन्य-मुचि धीप्रूप में सब आधि मेरी दूर कर ।
पुनि पूर्ण-प्रेम-प्रवाह से मेरी तमन्ना पूर कर ॥
दुर्दान्त बनि-अरि हेतु श्रीमन् ! आप मदघर केमरी ।
कर जोड अभिनन्दन करू-गाई भूल सम-जीवन तरी ॥
तेरा विमल विदवास मेरे श्वास के सग घुल रहा ।





ऐसी वरिष्ठ विभूति इस युग में भला पाता कहा—
है भुक्ति करतल-विश्वकी मन त्याग कर जाता नहीं ।
सत्य का शिवरूप सुन्दर, ज्ञान जग की भा गया ।
है भुक्त जगती पर वही जो शरण गुरु के आ गया ॥
कट जाए वन्दन कर्म के इसमें भला शका कहा ।
परस पारस तोह कचन, बन गया कुन्दन महा ॥
इस दुर्गम भव की अटवी-में-उपदेशवि तुम्हारा स्पन्दन है ।
अतएव विभो अन्तस रे मेरा प्रेममरा अभिनन्दन है ॥

७

मेरी श्रद्धांजलि

श्रीसुकन मुनि

मनुष्यजीवन की प्राप्ति के साथ कर्म के प्रभाव में आशिक सदिच्छाएँ अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती हैं, वही कालान्तर में सद्गुरु और मत्संग से विकासशील स्वरूप ले लेती हैं। मेरा जीवन भी इसी प्रकार प्रारम्भ होना है।

प्राय निश्चित है कि बाल्यकाल में जीवन जिस ओर मोड़ लेता है, वही आगे जाकर पुष्ट होता हुआ उत्तरोत्तर मशवत होता जाता है। आवश्यकता है, सद्गुरु की चाह, सद्गुरु का माक्षाकार और सद्गुरु की सेवा।

मैंने अपने जीवन में पहली बार जब गुरु के दर्शन किये तो पूर्व कर्म गतिशील न होने पर भी प्रगतिपथ पर अग्रसर होने लगा और मैं गुरुदेव की ओर आकर्षित होता ही गया। मैं पहली बार जान पाया कि सद्गुरु माक्षान् परब्रह्म स्वरूप हैं, जो कचन से कुन्दन बनाकर निराली आभा उत्पन्न कर देते हैं।

मुझे गुरुभक्त एकलव्य की साधना याद हो आई जो अरण्य में रहकर गुरु द्रोण के लाग्य मना करने पर भी प्रिय शिष्य बन ही गया। इसमें उसकी साधना ही एकमात्र निमित्त कारण बनी किन्तु गुरु भी यदि ऐसा हो जो परीक्षा भी ले और बरव हस्त सर पर भी धरें, तो क्या कहना !

मेरी किशोरावस्था होने पर भी मेरे पूर्व कर्मों ने जहाँ मुझे पहुँचना चाहिए, वही पहुँचा दिया। यह बात वि० स० २०१६ के लगभग ही है। मुझमें वैराग्य भाव विकसित होने लगा और अन्त में सद्गुरु पंडितरत्न मरुधर-केसरी महामुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज के चरण-कमल की सेवा प्राप्त हो गई।

वैराग्य भाव का उदय स० २०१६ के चैत्र सुक्ला पंचमी को होता है और इसी वर्ष के अन्त में फागुन शुक्ला ५ को मेरी आगवती मुनि दीक्षा भी बड़ी धूमधाम में थावला (पुष्कर) में सम्पन्न हो गयी। यद्यपि मेरी दीक्षा हेतु व्यावर, वनू दा, सोजत आदि नगरों के श्रावको ने काफी प्रयास एवं प्रयत्न किया किन्तु थावले के श्रीमन्न मेठ मोहनलालजी भोजतिया तथा उनकी विदुषी धर्मपत्नी कौशल्या बाई का आग्रह और सदिच्छा ही प्रबल रही और थावला गांव मानवमेदिनी से व्याप्त हो गया।

दीक्षा महोत्सव का इसी से अन्दाज लगाए कि राज्य की विविध शिक्षण संस्थाओं को पचास हजार रुपये महाराजताथ प्रदान किया गया। यह गुरुदेव का महान प्रभाव है कि मुझ अकिंचन के हेतु थावकमध कटिवद्ध हो कार्य-रत रहा और आयोजन की सफलता के साथ सम्पन्न कर पाया।

मेरे पूर्व शुभ कर्मों के प्रभाव ने ही सद्गुरु की प्राप्ति हुई, जिसका सखिप्य वर्णन कर गया हूँ। किन्तु गुरुदेव के सान्निध्य में मैं क्या ने क्या हुआ ? उसकी चर्चा लोह-लेखनी से कागज पर उतारना कठिन है। इतना ही काफी होगा कि सद्गुरु ने चरण छूने ही मैं लोह में स्वर्ण में बदल गया। आज मेरा जीवन जगत्जन की धरोहर है और मैं गुरुपद-पराज का चर्चोच समझा जाता हूँ।

मन्त्रमुच सद्गुरु ने मुझे क्या नहीं दिया ? सब कुछ प्राप्त है और आपके चरण-कमलों में मुझे विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त हो गयी है। इन बार हमारा चानुर्मम गोष्ठन ग्राम में है, और एक नूतन ही विषय हमारे सामने आया है। गुरुदेव को धर्मप्रचार करते आज पचास वर्ष होने जा रहे हैं और आपकी आयु भी पचहत्तर से आगे पहुँच गयी है। इस अवसर पर श्रावणमघ स्वर्ण-जयन्ती का आयोजन करने जा रहे हैं। मैं किन शब्दों में अपनी श्रद्धा व्यक्त करूँ, श्रद्धाजि मँड करूँ जिसका जीवन ही मिट्टी में मोना बन गया ?

उपकार अनुपम आपका, जाने अमण-समार है।
जो स्नेह-कर सिर पर घगा उमका भी वेडा पार है ॥
जिसको न छाया आपकी, वह भटक्ता लाचार है।
जिसको न आश्रय आपका वह डूबता जलघार है ॥
मैं क्या कहूँ, क्या-क्या कहूँ, इसका न मुझ को ज्ञान है।
गुरुदेव ! तुमसा अन्य अवनी पर नहीं सतिमान है ॥
आपके पद-पद्म का पूजक रहूँ यह चाह है।
आपमें ही मिल सकी यह सिद्धि की शुभ राह है।

मेरी श्रद्धा

श्रीमहेंद्र मुनि

मैं अश्विन हूँ, पटा लिखा भी नहीं। मेरे जीवन में जो भी प्राप्त है, वह मरुधरकेमरी की ही देन है। मैं, जब मैं आपने चरणों का चारन बना हूँ—मभी उपलब्धिया, मभी माघन और ममस्त सुख स्वाधीन बन गये हैं।

मन्त्रमुच गुरु की कृपा मेकना नहीं है ? रक्त में राजा, श्रीरगना में मगराज यह जीवन बन गया और आगे भी अलग बनकर रहेगा, यह मेरा दृष्टन अट्ट विश्वास है। मन्त्रमुच यदि गुरुदेव की कृपा न होती तो मैं कहीं का न रहता और जीवन व्यर्थ चला जाता।

गुरुदेव पण्डितगल महामुनि श्री मिश्रीमनजी महाराज माह्व ने जिसे छू लिया उसे कचन बना दिया। विविध भावनाएँ और विमल विवेक उमे प्राप्त हो गया। आज मैं कृतकृत्य हूँ। आने जैसे जनो को मैं विश्वास दिला सकता हूँ कि सद्गुरु प्राप्ति की अभिलाषा करने वाले को डम दिव्य तन्त्र दयानु प्रतिभापुज गुरु की शरण लेनी चाहिए।

सफल पथिक के प्रति

जैनमाध्वी उमरावकुवर 'अर्चना'

निज की माधना के अनुल ममुद्र में निमग्न कर पदार्थ को माघने वाला महान् है, स्वमुक्ति के साथ-साथ परमुक्ति की आकांक्षा की क्रियान्वित करने वाला सर्वतो महान् है।



३. य उक्तोपाश्रितः । पाप्य पवित्रः नो पावनं नो पवित्रं हाना चाहिण, पयः पवित्रं हो, लम्बा हो, तो पाप्य नो उक्तोपाश्रितः होना चाहिण अन्यथा पवित्र भटक जाता है ।

विष्णु का जन्म प्रसाद विस्मय के वश था रहा है। यह बात प्रवचनश्रीला नेममो स्तोत्रिणी को भी मालूम। वह जानते पसन्दगी उपरागिता पर अभी नहीं रुकते, यह बहती गई और अपने सुमधुर गलरव में उस गान को गल्यापित करने गई। विन्दोने उमा पाव किया वे धन्य हुआ गए, विन्दोने इसके बाद को सुना वे कृत-मन्त्र '॥ गम् ।

मगान् । ११—मगार का पय ही मग्ने तस्या पय हे उमे पार करने के लिए पाथेय है—सम्यग्गान,
मग्गसिग्ग जीर मग्गपान्नि ।

अपने सम्पूर्ण मनो जो म० मन्त्र पवित्र है, पश्यते हैं, और पाथेय के विवेकदाता । वे मानव मन के मूल-तत्त्वों का पुनः वर्णन करने लगे हैं । और स्वयं ध्रुव जालाक बन प्रकाश विद्येते हैं । जो भी इस प्रकाश में लगे जाय वह श्रेया, वह अश्रेय ही लाजान्वित होगा ।

माधवी मन्मथगारी

एक विद्वत् स्त्री बाजार में खोद प्राणी जाते हैं। वे अपने कनक के द्वारा अपने जीवन में क्या करना चाहते हैं, इस बारे में सोचते हैं, अपने जीवन को उन्नत कैसे बनाएं, मगर वे बाजार दूधरी के साथ क्या व्यवहार करती हैं, सोचती हैं और फिर तब ही नीचे जानते हैं। उनमें माचने की चिन्ता नहीं होती। गन्नाहीम होते हैं। वे सोचती हैं कि मैं क्या करूँगी और मैं क्या करूँगी और मैं क्या करूँगी। जगदीश गुरुजी ऐसे ही होते हैं जिन्हें आज की भाषा में 'गन्नाहीम' कहेंगे। उन्हीं में से एक व्यक्ति है, जो सोचते हैं कि मैं क्या करूँगी और मैं क्या करूँगी और मैं क्या करूँगी। अपने आपको पहचानने या जीवन में क्या करूँगी की सोचती हैं क्या ?

उमि। किमी जी रई महां गन हय मयाय मे जय तेने हे जा राय मरते हैं और हूंगरी की तारने हैं ।
रा. और मे राई हे हूंगरी ता मारद्वजय मया है । उमि ने राय महां गन है मधरवेगरी श्री मिश्रीमलजी
मयाय । उमि मयाय मे मरिा मरे हूदय मे अद्राक्षि के मृग्य पेट करे ता मीनाय प्राप्ता पर महां हय ता
मयाय उमि है ।

॥ अथ शिवाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीशिवाय नमः ॥ श्रीशिवाय नमः ॥ श्रीशिवाय नमः ॥

मंगल-कामना

जैन माध्वी मुनीलाकुमारी शास्त्री,

जैनमनाज के लिए विशेषण स्यान्तवामी जैनमनाज के लिए यह गौरव का विषय है कि आज हममें 'मरुग्रकेमरी' जैने मशान् मन् जनी जनीनिक मुवांस में विष्ट को सुवासित कर रहे हैं।

'मरुग्रकेमरी' यह नाम यथायथा को लिए हुए है। क्योंकि सम्पूर्ण मरुग्र में आप सिंह की भाँति विचरण करने हैं। ५ वर्ष की आयु होने पर भी यह आपकी विशेषता है कि आप अपने प्रान्त में अभी तक भी सर्वत्र विष्टा करने हैं। इसके प्रतिगित 'मिश्रीमल' यह नाम भी मत्तना को प्रकट करने के कारण मायक है। अपनी मिश्री जैनी मत्तना के कारण मारप्रिय हाना हो उन नाम की मायकता है।

आप जैन-श्रामों में वर्गित म्यविर की तीनों उपाधियों में विभूषित हैं। वय म्यविर तथा मूत्रम्यविर होने के साथ ही त्रिदोषरूप में दीक्षाम्यविर हैं। विगति वर्ण की दीक्षायर्थाय जाने को दीक्षाम्यविर कहा जाता है। किन्तु आपकी दीक्षा पर्याप्त तो हमने अटार्क पुण अधिक है। यह अन्यन्त प्रमन्नता का विषय है। इसी प्रमन्नता में अभिप्रेरित होकर ही तो आज इन-उन या मन आपकी दीक्षा अर्धशताब्दी दिवस पर आपका अभिनन्दन करने के लिए तत्पर हो उठा है।

आप मगटन के अग्रदूत हैं। माट्टी-सम्मेरन के वार्षिक मूत्रधार तो आप ही थे। जजमेर और भोजत सम्मेरनों में भी आपका मन्व्युर्ण रोशान रहा है। यह आपकी शान्तिप्रियता और एकताप्रियता का परिचायक है।

हे तेजोमूर्तिन् ! मदन-निर्धन, गर-क कोटि भी आपके मन्त्रक में आ जाय किन्तु आप हममें प्रभावित नहीं होने प्रवृत्त अपने मायभाव में हमें ही प्रभावित कर देते हैं।

लग्नवर्ती होने प्रवृत्त आप में देख निम्न अपन मनाह मीरम में चतुर्दिक को सुवासित करती है। इसी प्रकार जीवन के दोनों (मानव और माधुजन्म के) प्रारम्भों में अब तक आप अपने महामानवीय गुणा की मुग्ध में दिग्दिल्ल को सुवासित करने रहे हैं।

उन पुर्णत अवसर पर आपकी कोटि-काटि अभिनन्दन और अभिनन्दन। आप शतायु हों, यही मंगल-कामना है।

हादिक अभिनन्दन

हरिनाज उपाध्याय

अध्यक्ष राजस्थान माहित्य अकादमी

नैतिकता का हलाम मानवजाति की वडी में वडी क्षति है। नैतिकता किसी भी देश की सर्वोत्तम पूजा है। उसके विकास पर राष्ट्र का विकास निर्भर है। हमारे देश में आज नैतिकमूल्यों की जिनगी अवगणना हो रही है, सभवत हमनी हममें पूर्व कभी नहीं हुई। प्रत्येक मन्म नागरिक के लिए स्वभावत यह चिन्ता का विषय है। ऐसे अवसर पर जो मन्म-महान्मा आगे आकर नैतिकता के विकास के लिए प्रेरणा करते हैं वे वम्नुन अभिनन्दनीय हैं। मरुग्रकेमरी मुनि श्रीमिश्रीमनजी म० उन्ही मन्मा में से एक हैं। नैतिक जागरण का अक्षनाद फूटने हुए वे मारवाड में पैदल विचरण करके जनता को जागृत कर रहे हैं। आपका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली और वक्तृत्व बड़ा ओजस्वी है। दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ती के शुभावसर पर हम आपका हादिक अभिनन्दन करते हैं।





गुरुदेव के चरणकमल में सादर अभिनन्दन

आर्या रोशनकुवर, जैनप्रभाकर

धन्य मात तात जात जगत विख्यात आत, मरुधर पाली नग्न ओसवशरारी ।
जाहि मे जनम पाय, पूरण बँराग्य लाय, जग छिटकाय सीनी दीक्षा जैन वेशरी ॥
तरत अनेक तार-भार मोह मच्छरता, धैर्य को वृद्धाय क्षमा तजि वात पलेशरी ।
प्रतख चमत्कार निहारे अनेकवार-ऐसे योगीराज महा मरुधरकेसरी ॥



वीर प्रभु से प्रार्थना

जैनार्या जैनमती

आपने स्थानकवासी जैन समाज के ऊपर जो उपकार किया है वह कदापि भुलाया नहीं जा सकता, फिर भी भुलाया नहीं जा सकेगा । पूज्यश्री की अवस्था वृद्ध होते हुए भी कार्यप्रणालिका युवकों को लज्जित कर रही है । आप अप्रमत्त रूप से ग्राम-ग्राम विहार करके धर्मप्रचार का कार्य अविश्रान्त करते रहते हैं ।

शारीरिक मानसिक कष्टों को परवाह न करते हुए भगवान् की वाणी का अमृतमय पान कराने के लिए सर्वद्व तत्पर रहते हैं । आपने अत्यन्त परिश्रम से जैन-जैनेतर जनता पर असीम उपकार किया है ।

हमारी सुप्तप्राय समाज में अगर आप जैसे योग्य विद्वान और महाकवि अनेक हों तो ज्ञान, चरित्र तथा सच का शीघ्र दिन-प्रति-दिन उदय होता रहे ।

परमपिता महावीर प्रभु से प्रार्थना है कि आपको उत्तरोत्तर अधिकाधिक शक्ति प्राप्त हो ताकि जैनसमाज के ऊपर और भी उपकार करते रहे ।

आप चिरजीवी हों, आयुष्मान् हों ।



उपाधि चरितार्थ है

अचलसिंह जैन, एम० पी०

श्री मरुधरकेसरी हमारे समाज के वास्ते उत्तम देन हैं । आप दृढप्रतिज्ञ, त्यागी और वक्ता हैं । मुझे आपके व्याख्यान दो एक बार सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है । आपको जो 'मरुधरकेसरी' की उपाधि दी गई है वह चरितार्थ है । मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि श्रमणसच को दृढ और मजबूत बनाने में उनका पूर्ण सहयोग आवश्यक है । मुझे विश्वास है कि वे इसमें कोई कोर कसर नहीं रखेंगे ।



पूज्य गुरुदेव के चरण-सरोज में

आर्या बिलमकवर जैन

आदि अन्त टीकामय नापी महाभारत को, जिन्हा जग दीनो है अनाथ सुधा स्वर में ।
कीनो है उट्टार अति जैन अन्य जातीय को, गुरु मिश्री मुनि आय नग्न पालीपुर में ॥
आवत अनेकों लोभ पायपर पाने दर्श थावक हुलाम नई नास की चतुर में ।
भाषण दे हमेसरी "मरुवरकेनरी" ने धर्मध्यान जूको बीज बोये भव्य उर में ॥

•

श्रद्धा-सुमन

डॉ० दीलतसिंह कोठारी

अध्यक्ष वि० वि० अनुदान-आयोग, दिल्ली

युग-युग ने चली आ रही भारतीय सभ्यता की प्रतिष्ठा में मन्त्रों, महात्माओं, ऋषियों और मुनियों का स्थान सब से ऊपर है। इन निम्नूत तपोवनो के महत्त्वपूर्ण योगदान के कारण ही हमारे देश की संस्कृति महान् बन सकी है। अन्य दृष्टियों में पञ्चासद होने पर भी भारत सांस्कृतिक महत्त्व की दृष्टि में आज भी विश्व में गौरवशाली गिना जाता है। अतएव हम मन्त्रों के प्रति श्रद्धा रखते हैं, कृतज्ञ हैं। उनका मस्तिष्क, अभिनन्दन और उनके प्रति श्रद्धाभिषेक करना स्वयं हमारे ही लाभ में है। मैं समारोह की और अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता चाहता हुआ मुनिश्री के प्रति अपनी आन्तरिक श्रद्धा व्यक्त करता हूँ।

•

श्रद्धांजलि-अर्पण

शोभाराम

कृषिमन्त्री, राजस्थान

राजस्थान वीरप्रसविनी भूमि है। वीरता के इतिहास में राजस्थान का स्थान समग्र विश्व में अनुपम है। इस तथ्य को बहुत लोग जानते हैं। परन्तु धर्म के क्षेत्र में राजस्थान का जो गौरवपूर्ण स्थान है उससे कम ही लोग परिचित हैं।

मुनी श्री मिश्रीमलजी महाराज राजस्थान के एक वर्योपदेष्टा महापुरुष हैं। उनकी वाणी से महान् मानवों ने अपने जीवन को उच्च और नाटविक बनाया है। मैं उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

•

विशिष्ट साधक

शिवचरण मायुर

शिक्षामन्त्री राजस्थान

भारतीय सभ्यता सन्तों की साधना से ही अकुण्ठित, पल्लवित और पुष्पित हुई है। सन्तजनों की दिव्य चर्या और वाणी का इतिहास ही भारत की आध्यात्मिक सभ्यता का इतिहास है।



भारतवर्ष में अज्ञान अनीत काल में लेकर आधुनिक युग तक सन्तो की अनवच्छिन्न परम्परा चालू है। इन सन्तो ने जन-जीवन के विभिन्न अंगों को परिमार्जन करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

मुनि श्री मिथीमलजी म० उसी परम्परा में हैं। आप एक विशिष्ट माधक हैं। आपने अपना समग्र जीवन स्वपरकृत्याण के अर्थ ही उत्सर्ग कर दिया है। वे जनजीवन को उन्नत बनाने में मदैव प्रयत्नशील रहे हैं। मैं उनकी दीर्घायु की कामना करते हुए हृदय से श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

सराहनीय देन

दामोदरदास व्यास

गृहमंत्री, राजस्थान

भारतीय मस्कृति के निर्माण में सन्तो, ऋषियों, मुनियों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। यही कारण है कि यह संस्कृति अथवा अनुष्ठेपन के कारण विदेश को प्रभावित करती रही है। उसने देश को गौरव प्रदान किया है। हम उन सन्तो के ऋणी हैं। मध्वरकेसरी मुनिश्री मिथीमलजी उन्हीं परम्परा की एक कड़ी के रूप में हैं। विविध क्षेत्रों में उनकी देन सराहनीय है। दीक्षा स्वर्णजयन्ती के अवसर पर मैं मुनिश्री का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

श्रद्धा सुमन

राजप्रसाद लब्धा

विकासमंत्री, राजस्थान

राजस्थान की भूमि ने जहाँ अनेकानेक शूराग्रणी महान् पुरुषों का जन्म दिया वहीं उच्च में उच्च कोटि के सन्त महात्माओं को भी जन्म दिया है। सन्तो की यह परम्परा आज तक अछड़ रूप में चली आ रही है, यह हम प्रदेश का सीमाग्य है। हर्ष का विषय है कि उनमें से एक वयोवृद्ध सन्त के अभिनन्दन का शुभ आयोजन किया गया है। मध्वरकेसरी मुनि मिथीमलजी म० की साधना सदा अभिनन्दनीय रही है। इस अवसर पर उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करनेवालों में एक मैं भी हूँ।

शत-शत श्रद्धाजलियाँ

(राव) नारायणसिंह, मसूदा,

वनमंत्री, राजस्थान

पच्चीस वर्ष के उठते जीवन में जिसने सासारिक प्रलोभनों को ठुकरा अकिंचनता अगीकार की और त्याग-वैराग्य की राह पकड़ी और जो निरन्तर पचास वर्ष से स्व-युग के अशुद्धय में निरत है और पच्चीस वर्ष की उम्र में भी पैदल धूम-धूम कर जनता को त्रय और नीति का पथ प्रदर्शित कर रहा है, उस महान् सन्त का अभिनन्दन करना भी एक पुण्यकृत्य है।

मध्वरकेसरी मुनि श्रीमिथीमलजी म० ने राजस्थान में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है—अपने प्रवचनों द्वारा, साहित्यमंजना द्वारा और मम्मकं द्वारा उनका समग्र जीवन इसी पुण्यकार्य में व्यतीत हुआ है। इस परम अव्यवसायी सन्त की मेरी शत शत श्रद्धाजलियाँ समर्पित हैं।

अभिनन्दन

श्री वरकतुल्ला सा

विधिमन्त्री, राजस्थान

जात्मसाधना के माय साहित्यमृञ्ज की प्रवृत्ति का विधिष्ट महत्त्व है। मायक साहित्यकार अपने पाठको के जीवन में ऐसी उदात्त भावनाएँ जगाना है जिनमें उनका जीवन दिव्यता की दिशा में अग्रसर होता है। वह साहित्य पाण्डित्यप्रदर्शन के लिए न होकर यदि जनसाधारण की गंजमर्मी की भाषा में हो तो उसमें विशेष लाभ पहुँचता है। मर्यादकेमर्यादी के साहित्य में मर्याद वही विशेषता परिलक्षित होती है। राजस्थानी में आपने विपुल साहित्य की रचना की है। उनके अभिनन्दन का आयोजन वस्तुतः अभिनन्दनीय है।

•

हार्दिक अभिनन्दन

श्री मयुगादास मायुर

वित्तमन्त्री, राजस्थान

किसी भी अध्यात्मसाधक की साधना के विषय में कुछ कहना या लिखना कठिन है। फिर जिन्होंने उस साधना के क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं किया, उनके लिए तो और भी कठिन। तथापि ऐसे साधकों के उपदेशों से सर्वसाधारण को जो लाभ मिलता है, उसके सम्बन्ध में तो कहा ही जा सकता है।

मुनि श्रीमिश्रीमन्त्री म० निम्बन्देह एक महान् उपदेशक हैं, प्रखर वक्ता हैं। सफल साहित्यकार भी हैं। आपका वक्तृत्व और लेखन जन-जीवन को उच्च धरातल पर ले जाना वाला होता है। असंख्य नर-नारी उसमें प्रेरणा ग्रहण करने हैं। महान् साधक का जनक अभिनन्दन।

•

शतायु हो

प्रभा मिश्रा

उपमन्त्री, राजस्थान

मुनिश्रीमिश्रीमन्त्री म० लगातार पचास वर्षों में मरुभूमि में पैदल भ्रमण करते हुए जन-जीवन के उन्मूलन में महत्त्वपूर्ण योग दे रहे हैं। पञ्चहत्तर वर्ष की इस बुढ़ावस्था में भी उनका विचरण वायु-वेग की तरह अप्रतिहत गति में चल रहा है। अपने प्रभावशाली प्रवचनों द्वारा ही नहीं बल्कि अपनी साहित्यिक रचनाओं के द्वारा भी उन्होंने मानव-जीवन के उच्चतर आदर्शों को सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया है। विशेषता तो यह है कि आप जिन आदर्शों के लिए प्रेरणा देते हैं, वे आपके जीवन में मूर्तरूप में विद्यमान हैं। यही कारण है कि लाखों नर-नारी आपको अपना पथ-प्रदर्शक, परिश्रान्त और उदात्त मान कर अपने को धन्य समझते हैं। मुनिश्री का मध्यममय जीवन सर्वथा स्तुत्य है। शार्दिक कामना है कि आप अनाम होकर जनता का कल्याण करते रहे।

•

नैतिक जागरण के अग्रदूत

जगन्नाथमिह महता

किसी भी देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए अनिवार्य है कि उस देश की प्रजा का चरित्र उच्चकोटि का हो, उसमें नैतिकता हो और उसका दृष्टिकोण व्यापक एवं उदार हो। इस आवश्यकता की पूर्ति सन्तजन प्रभावशाली ढंग





मे वर सकते हैं जिनकी सख्या हमारे देश में कम नहीं है। मुनिश्री मिश्रीमलजी म० गजस्थान में नैतिक जागरण के लिए अपने प्रवचनों और निबन्धों आदि के द्वारा दीर्घकाल से यही प्रयाग करते आ रहे हैं। पैदल भ्रमण करके गाँव-गाँव में जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने के उनके प्रयाग सुविदित हैं। दीक्षाम्वर्णजयन्ती के अवसर पर हम उनका अभिनन्दन करते हैं—दीर्घजीवन की कामना करते हैं।

प्रकाशपथ के नेता

सत्यप्रसन्नसिंह भट्टारी

जो तत्त्व मानव जीवन में सर्वोत्तम है और जिसकी वशीकृत समाज में आज भी प्रशस्त भावनाएँ प्रभावहीन नहीं हुई हैं वह उच्चतम प्राणिमात्र को अपने समान मान कर व्यवहार करने वाले महान् सन्तों की ही देन है। सन्त का जीवनव्यवहार और उपदेश मानवजाति को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला होता है। समाज ऐसे सन्तों का मदा शृणी रहा है।

राजस्थान की एक विशिष्ट विभूति मधुकरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म० भी ऐसे ही सन्तों में से एक हैं। मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

श्रद्धाभिव्यक्ति

टी० बी० रमणन

सचिव, राजस्थान विद्युत् बोर्ड

सन्त पुरुष मानवजाति की सर्वोत्तम विभूति हैं। जीवन के उच्चतम आदर्शों की उलट्टि के लिए वे तप-त्यागमय जीवन यापन करते हैं और समाज के समस्त मयम एव राग का आदर्श उपस्थित करते हैं। इसने जनमाधारण का बड़ी प्रेरणा मिलनी है। सन्तों की यह देन बहुत मूल्यवान् है। सीमाग्य में हमारे देश में आज भी ऐसे अनेक सन्त विद्यमान हैं जो सत्य, तप और त्याग की महान् परम्परा को स्थिर रखने का पुण्य-प्रयाग कर रहे हैं। वयोवृद्ध मुनि श्री मिश्रीमलजी म० भी उन्हीं में से एक महान् सन्त हैं। पञ्चहत्तर वर्ष की वय में भी आपका पाद-विहार मत्त चालू रहता है। आपकी दीक्षा-स्वर्णजयन्ती का आयोजन उनके प्रति श्रद्धाभिव्यक्ति के लिए ही नहीं बरन् लोकजीवन को दैवी प्रेरणा प्रदान करने का भी निमित्त सिद्ध होगा। मैं हृदय से इस आयोजन की सफलता चाहता हूँ।

श्रद्धासुमन-समर्पण

बालकृष्ण जुत्सी

पवित्रता मादगी, और उच्चता भारतीयसंस्कृति का मूल है। हमारे सन्तों ने हमारी संस्कृति के उन मूल्यवान् तत्त्वों का सर्वदैव ही सुरक्षित रखा है और समय-समय पर विकसित भी किया है। उनके जीवन से प्रेरित होकर हम लोग भी अपनी इस महान् संस्कृति की धारा के साथ चलते हैं और बढ़ते हैं।

मधुकरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म० का जीवन एक तपोनिष्ठ सन्त का जीवन है। मैं उनके चरणों में अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हूँ।

कोटि-कोटि अभिनन्दन

कन्हैयालाल कोचर

जनकल्याण की तीव्र भावना ने मनुष्य किन्ना कार्य कर सकता है, यह ममभने के लिए गांधीजी का जीवन मननीय है। उन्होंने जनजीवन के किना भी क्षेत्र का अछूना नहीं छोड़ा था। गांधीजी की यही प्रवृत्ति मरुधरकेसरी मुनि मिश्रीमलजी म० के जीवन में भी परिलक्षित होनी है। पचास वर्ष के अपने मुनिजीवन में उन्होंने जो बहुमुखी प्रवृत्तियाँ की हैं उनका लेना-नोवा करना भी बड़ा कठिन कार्य है। अनाधिक ग्रन्थों का प्रणयन, अनेक शिक्षासंस्थाओं की स्थापना, पुस्तकालयों और वाचनालयों की प्रतिष्ठा, घराबखोरी के विरुद्ध किया गया अभियान, समाज में नैतिक मूल्यों को बचावा देने के लिए फिर गर उनके प्रयास, एकता और मगठन के लिए किए गए सत्याग्रह, प्रतिदिन के प्रार्थना-प्रवचन, पीड़ितों की सहायता के लिए उठाई गई बुलुड आवाज, आदि-आदि उनके कार्यकलाप मारवाड की ग्रामीण जनता कदापि भुलना नहीं सकती। मुनिजी आत्मभावना के नाम लोक-कल्याण की माधना में भी सदा अग्रसर रहते हैं। उनका परहिनपगणन जीवन कोटिग अभिनन्दनीय है।

०

मुनिश्री का महत्वपूर्ण योगदान

रानी उर्मिला देवी, मनुदा

अध्यक्ष, ममाज कल्याणविभाग, राज०

जन जीवन में नैतिकता की भावना का ह्दाम किसी भी देश के लिए सब में बड़ा खतरा है और जब वह निरन्तर वृद्धिगत हो रहा हो तो देश के नेताओं के गिग बोधनीय स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति का सामना करने में देश के मन्त्र, जो निम्नाथभाव में माधना में निरत हैं, उपयोगी और प्रभावशाली कार्य कर सकते हैं। प्रसन्नता का विषय है कि मरुधरकेसरी मुनिजी टम देश में महत्वपूर्ण योग दे रहे हैं। धर्म, नीति, मदाचार आदि नास्विक भावों का प्रचार कर रहे हैं। मुनिश्री के इस महान् "मिशन" का मैं हृदय में अभिनन्दन करती हूँ और उनकी दीर्घायु की कामना करने हैं।

—

महान् उपदेशक

वी० एन० भाटिया

लॉ मेनेटरी केन्द्रीय सरकार

जिम्मी भी अध्यात्मभाव की माधना के विषय में कुछ रहनाया लिखना कठिन है फिर जिन्होंने उन साधना के क्षेत्र में प्रवेग ही नहीं किया, उनके लिए तो और भी कठिन। तथापि ऐसे साधकों के उपदेशों में सर्वमाधारण को खान मित्रता है, उसके सम्बन्ध में तो रहा ही जा सकता है।

मुनि श्री मिश्रीमलजी म० निम्नन्देह एक महान् उपदेशक है, प्रखर वक्ता है। सफल साहित्यकार भी हैं। आपका वक्त्व और लेखन जन-जीवन को उच्च धरातल पर ले जाने वाला होता है। असह्य नर-नारी उसमें प्रेरणा ग्रहण करते हैं। महान् माधन का प्रतग अभिनन्दन।

●





यथा नाम तथा गुण

ओंकारलाल बोहरा,

ससद सदस्य

मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० एक तपस्वी श्रमण के रूप में ही नहीं, प्रत्युत राजस्थानी साहित्य के साधनाशील मर्जक के रूप में अत्यन्त अभिनन्दनीय हैं। राजस्थानी साहित्य की पुरातन परम्परा को अप्रसर करने में आपका बड़ा हाथ है। आपने बहुमूल्य ग्रंथों की रचना करके राजस्थानी साहित्य के भटार को भरपूर करने का प्रयत्न किया है। आपके साहित्य में तप, त्याग, समय आदि की उदात्त भावनाएँ ही अभिव्यक्त हुई हैं, जिनके कारण मानव का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन ऊँचा उठता है और जिगसे राष्ट्र को प्रेरणा मिलती है। आपके प्रवचन भी प्रायः राजस्थानी में होते हैं। निस्सन्देह मरुधरकेसरीजी मरुधरा की एक विशिष्ट विभूति हैं। उनका जीवन आदर्श है। मैं इस उदात्त मन्त्र के चरणों में अपनी श्रद्धा प्रकट करता हूँ।

एक मनीषी को

मगलादेवी तलवार,

ससद सदस्य

भारतवर्ष में सन्तों की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल में चली आ रही है। इस महान परम्परा की इस देश को जो देन है, उसका पूरी तरह आकलन कर सकना संभव नहीं। हमारी समग्र संस्कृति, जिसके कारण विश्व में भारतवर्ष को अद्वितीय गौरव प्राप्त है, मन्त्र महात्माओं की साधना का ही मुफल है। देश का सीमावर्त्य है कि यहाँ आज भी उच्च चरित्र के धनी सन्त विद्यमान हैं। मरुधरकेसरी मुनि मिश्रीमलजी भी उनमें से एक हैं। पञ्चहत्तर वर्ष की वृद्धावस्था में वे निरन्तर पदयात्रा करते हुए धर्म, अध्यात्म और नैतिकता का प्रचार कर रहे हैं। दीक्षा के पचास वर्षों की पूर्ति के अवसर पर मुनिश्री का हार्दिक अभिनन्दन।

सर्वजनहिताय

श्री भोलानाथ

ससद सदस्य

मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० राजस्थान के उन विशिष्ट सन्तों में से एक हैं जिनका समग्र जीवन सर्वजनहिताय, बहुजनसुखाय ही नहीं वरन् सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय व्यतीत होना है। आत्मकल्याण के माध्यम से लोककल्याण करना सन्तों का सहज स्वभाव है। मुनिश्री ने सर्वसाधारण जनता का प्रवचन और साहित्यमूजन द्वारा जो उपकार किया है, वह भूनाया नहीं जा सकता। उनकी देन महान् है। इस वृद्धावस्था में भी वे मर्दव परोपकारनिरत रहते हैं। हम हृदय में मुनिश्री का अभिनन्दन करते हैं और कामना करते हैं कि वे चिरकाल तक जनता का पथ-प्रदर्शन करते रहें। एवमस्तु।

चिरायु हो

विश्वेश्वरनाथ मार्गव
सदस्य लोकनभा

मरुघरकेमयी मुनि श्रीमिथीमलनी य० राजस्थान के एक उच्चकोटि के व्यक्तिस्वम्पन्न मनीषी सन्त हैं। उनका जीवन आदर्श है। सत्रम साधना और तपोनिष्ठ उनके जीवन की प्रेरक शक्तियाँ हैं। मुनिजी ने अपने उज्ज्वल चरित्र ने तो जनसाधारण के समस्त म्यूठनीय आदर्श उपस्थित किया ही है, अपने उपदेशों से तथा स्वरचित विपुल साहित्य ने भी उज्जल पथ प्रदर्शित किया है। स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर हम आपका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं और आपकी चिरायु की कामना करने हैं।



सिंह-सी दहाड़ और सगठनशक्ति रूप गुरुवर

आनन्दराज सुराणा

विश्व में महामानव अवतार ले भाँति-भाँति के पाठ पढ़ाते गये हैं। उनके वचन, कार्य, कर्म सदा ही अनुकरणीय रहे हैं। "करो या मरो" का सात्त्विक नवक जीवन पर्यन्त, बौद्धिक दृष्टि ने जग को सदा ही पान कराते आये हैं।

मानवता पददलित हो अवनति की आग मुड़ी कि तेजस्वी बन सदा ही प्रकाश-स्तम्भ प्रकाश दिया करते हैं।

मुझे अनेको अवसर आपके दर्शन के हाथ लगे व आपका साहित्य भी हाथ लगता रहा है। मेरे मनन चिन्तन व अध्ययन के उपरान्त मेरे विचार ने अगर सही निष्कर्ष निकाला है तो यही कि आपकी स्मरणशक्ति, सिंह-सी दहाड़ व सगठन शक्ति सर्वोपरि है।

स्मरणशक्ति तो आपका जन्मजात विशेष गुण ही है। सिंह-सी दहाड़ में कदुता के साथ ही माधुर्य टपकता देखा है। सगठन-शक्ति के तो आप अटूट नौन ही हैं। मिमाल के तौर पर "श्रमण-सघ" ही देखिये।

अगर आपके मन व मस्तिष्क में यह भावना घर नहीं करती तो ऐसे श्रमणमघ का शायद ही कभी निर्माण होना। भले ही कुछ मन्त्रगण उससे परे हों पर आप तो आज भी उस दिन-प्रहरी के समान जागरूक हैं। सारवाड के बाहर विहार नहीं कर गाँवों की मन्त्री में मस्त रहे, ममत्व को निलाजलि दे सादडी में जो शीर्षगेश किया वह मदियों तज अनुकरणीय सचक इस विश्व को देता रहेगा ही।

आपकी मलाह मशविरा पूज्य गुरुदेव आचार्य, महामन्त्री, उपाध्याय व प्रवर्तक सन्त-गण ही नहीं मानते हैं बल्कि मारा श्रावक-ममाज भी श्रद्धा में मानता है। आप अवस्था या शरीर में भले ही वृद्ध हैं पर आपका नाटा कद व देदीप्यमान चेहरा आज भी जवान-मा ही दृष्टिगोचर होना है।

शहरी कोलाहल में परे रहते हुए आपने गाँवों में अपना जीवन व्यतीत करते या वर्षाकाल बिताते, जैनधर्म की आन शान एवं मर्यादा सदा बढ़ाई है।

मेरी वीर प्रभु से यही प्रार्थना है कि इन धर्मवीर व कर्मवीर योद्धा, नेता, मन्त की आयु भी से भी परे जाय ताकि जैनशामन आपके दिव्य गुणों में मिर ऊँचा कर सके।





सच्चै मणिकार, कर्षक, वणिक

डा० लक्ष्मीमल सिंघवी

श्रद्धेय मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व हमारी भारतीय धर्म-परम्परा का एक लोकात्मकता का प्रतीक है। उनके धर्म-प्रवचन जन-जन को सुबोधगम्य भाषा में व्यापक और गहरा प्रभाव करते हैं, उनके उपदेश अपना निर्भीक गत्यान्वेषी विशेषताओं के कारण जन-साधारण के हृदय में समा जाते हैं। उनका स्वभाव मधुर कर्णान्वित और उनकी शिक्षा यथार्थ पर आधारित है।

धर्मगुरुओं का समाज में आचार-विचार के समय और निर्देशन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। वे जीवन की प्रवृत्तियों और उदात्त आदर्शों के बीच नामजस्त का नेतृत्व बनाते हैं। धर्म के माध्यम में जीवन के उदात्तीकरण की प्रेरणा देते हैं। वे हमें आत्मशुद्ध, आत्मविक्रम और आत्मनिरीक्षण की ओर प्रवृत्त करते हैं और इस प्रकार हमें समाज और उसकी इकाइयों की मशक्कत बनाते हैं। समाज की अन्तरात्मा उनके स्वर में जीती और जागती है। यही मुनियों की साधना का सामाजिक अन्तःप्राण है। श्रद्धेय मुनिवर मिश्रीमलजी महाराज इसी मेधा और साधना की अन्तःचेतना के प्रतीक हैं।

श्रद्धा, ज्ञान और कर्म की जीवन-त्रयी में मरुधरकेसरीजी ने अपनी साधना और मेधा में कई अनमोल मोती-मनके पिरोये हैं। वे जैन श्रमण-परंपरा के अनुसार सही माने में सद्विचारों का सफल मार्गक कर्पण और वाणिज्य करते हैं। उनका वरद हस्त मरुधर में सुदीर्घकाल तक रहे।

हादिक कामना

सरदारमल छाजंड

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० सा० की दीक्षामुर्वर्णजयन्ती के शुभावसर पर आयोजित अभिनन्दन-समारोह मर्वया उचित है। मुनिश्री के दर्शन करने और पावन प्रवचन सुनने का मुझे अनेक बार पुण्यावसर प्राप्त हुआ है। आपके प्रवचन आपके व्यक्तित्व के ही अनुरूप प्रभावशाली होते हैं। मारवाड़ प्रदेश में आप निरन्तर धार्मिक चेतना को जागृत रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। आपके मरुपदेश में अनेक शिक्षा मस्थाएँ स्थापित हुईं और चल रही हैं। साहित्यिक क्षेत्र में भी आपकी मेधाएँ सराहनीय हैं। मरुधरकेसरीजी म० स्थानज्वाामी समाज के सुदृढ़ स्तम्भ हैं। संगठन के प्रबल समर्थक हैं। हादिक कामना है कि मुनिश्री चिरकाल तक श्रमणमार्ग की घोषा की वृद्धि करते रहें और अपने उच्च आचार-विचार में समाज का पथ-प्रदर्शन करते रहें।

कड़क मिश्री और सघ

श्री सूरजचन्द डागी

मगठन के विशेषी बहुत तड़ाने रहे परन्तु कड़क मिश्री तो बहुत ही प्रमाणित हुई। मारे माधुमार्गी-सघ का मादटी में बुरा लिया। राजस्थान को पुन पुन बग्न बना दिया। कौलाहल-पूर्ण वातावरण में भी अपने रूप का ऐसा निखाग कि समान उनकी घोषा गान करने लगा है अभिनन्दन समर्पित कर रहा है। यदि मगठन सुदृढ़ रहा तो इस कड़क मिश्री में उनकी ताकत है कि समत्ववादी मन्त्र पर लगने ही उनमें से बून के स्थान पर अमृत भरने लगे। उसी के छिटाव ने सघ की नीच मजबून जमे।

उम प-ज्ञान-दर्शन-मुख और पुनपार्थ के नृदर भवन निर्माण हो।

॥

श्रद्धा-सुमन

विज्ञान जारिल्ल,

साहित्यरत्न, बी० फॉम०, सी० ए०

विगणी। समान के समस्त जीवधारियों के कोमल प्राणों को आगद कर देने वाले सौन्दर्य एवं मोह के बरानों को तुमने तोड़ दिया है और अपने अशौचिक ज्ञान के नेत्रों के प्रकाश की जगि ने नीलकण्ठ की तरह विष्व के आकर्षण रूप कुमुमायु को मन्त्र कर दिया है।

योर्ग। तुम्हारी तपस्या की अनुपम तेजपुञ्ज किरणों ने वातगवि की विविधवर्णी आलोक-रश्मिया मन्द पड जाती हैं और अन्धकार के गिन्-घात्रों को अपने गूँगावी सौन्दर्य ने अलकून कर देने वाली जगमोहिनी सान्ध्य मुपमा घग पर तुम्हारी तपोभूमि में उगने के पूर्व ही यामिनी की कालिमा ने विलीन हो जाती है। मृदुजय। अनन्त बहुमूल्य मोतियों के स्वामी समुद्र की लहरें अनादिकाल से तुम्हारा यशोगान गाना है और मुक्ति के मार्ग को प्रगल्भ करने वाली तुम्हारे चरणों की रज अमर लोख के अधिपति अपने मन्त्र पर लगा कर कुतार्थ होते हैं। हे तपोधन। उसी चरणों में, मानस तिरुज में प्रस्फुटित श्रद्धा के सुमन समर्पित है जिन्हें स्वीकार करना।

॥

मरुधर-केसरी अमर हो

शाह हीराचन्द नीरमचन्द, जोधपुर

पूज्य गुरुदेव मन्त्र-रमणीजी म० का अनुग्रामन बड़ा कठो, ओम्स्वी एवं कड़क मालूम होता है मग-आत्मकराण के लिए अनीव हिनकारी है। पूज्य गुरुदेव के पूर्वजों की हमारे पूर्वजों पर कृपा बनी है, उमो प्रकार गुरुदेव की हम परह हमारे पूर्वजों की और हमारी, गुरुदेव के पूर्वजों और गुरुदेव के प्रति किनारी और कैंनी श्रद्धा-भक्ति है, गुरुदेव का व्यक्ति नहीं की जा सकती। हमारी हादिस कामना यह है कि पूज्य गुरुदेव अमर बनें जिसने मानव-समाज का उदा पथप्रदशन दाना रहे और उत्थाण का मार्ग मिलता रहे।





प्रेरणा-स्रोत

रिखवराज कर्णावट, एडवोकेट

मरुधरकेसरीजी महाराज समाज के नवरत्नों में से हैं। समाजहित में उनकी मयमयात्रा निरिच्छन अवस्था गति से सुखशान्तिपूर्ण चलती रहे, यह सभी समाजप्रेमी व्यक्तियों की आकांक्षा है। हम आशा में हैं कि समाज की उद्बोधित करने की उनमें अपरिमित शक्ति है। उनके दर्शन में कर्मठ जीवन बिताने की बड़ी प्रेरणा मिलती है।



नमस्कार शतवार

जतनराज मेहता साहित्यरत्न

हृदयगत स्पन्दनों से उठकर मेरा मन-अमर गुरुदेव श्रीमरुधरकेसरीजी महाराज के चरण-रामनों में पहुँच कर एक अलौकिक शान्ति का अनुभव करता हूँ। आपके शान्तिघन में शान्तिपथ का अनुपम पाये प्राप्त करना है। नमस्कार। शतवार नमस्कार।



एक महान् क्रान्तिकारी विचारक व स्पष्टवक्ता सत

हुकुमचन्द जैन, एडवोकेट, जोधपुर

पूज्यपाद मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज जाने पहचाने जैन महात्मा हैं। उनकी मृदुता, उनकी सरलता व कठोर सत्यपूर्ण अभिभाषण में जनममुदाय को धार्मिक मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। उनका क्रान्तिकारी सत्य सोच समाज के लिए बहुत लाभकारी मित्र हुआ है। जोधपुर में ही अभी हाल के प्रवास में आपकी सत्प्रेरणा व प्रभावोत्पादक वाणी के प्रभाव में आयबिलम्बाता का समुचित मचालन होना प्रारम्भ हुआ है। आपने जैनसमाज की महती सेवा की है। आप केवल मरुधरा के ही रत्न नहीं, वरन् समस्त भारतवर्ष के देदीप्यमान नक्षत्रों में हैं। जैनसमाज की समृद्धि व जैनधर्म के उत्थान में आपका महयोग बहुत रहा है। आपकी स्मरणशक्ति भी बड़ी विलक्षण है। महावीर भगवान् से आज तक की पट्टावली आपको कठिन है। मरुधरा के महारत्न का वरद हस्त जैनसमाज पर अनेकों वर्षों तक छाया रहे और जैन समाज आपके रास्ते पर चलता रहे। मैं अपनी ओर से मरुधरा के महान् सत, चितक, एवं प्रसिद्ध वक्ता श्री मिश्रीमलजी महाराज का अतः से विधिवत् अभिनन्दन करता हूँ।

मरुधरकेसरी और जैनेतर जनता

विमलकुमार राधा, नीमाज

मानव में मानव के प्रति कितना प्रेम-प्यार, संवेदना और सहानुभूति होनी चाहिए, यदि इसका मूल्यांकन करना हो तो इसे मरुधरकेसरीजी के दरबार में जाना चाहिए। मानव-मानव के साथ कैसा व्यवहार करें, इसका सही निर्देशन भी उनके प्रवचनों में किया जा सकता है।

सामाजिक जीवन में गुरुदेवश्री सत्यवादी, निर्भीक और स्पष्टवक्ता थे। सन्तत्येणी में आ चुकने के पश्चात् आपके इन गुणों में वृद्धि ही हुई है।

मरुधरनेमरीजी के प्रयत्नों को श्रवण करने के लिए जैनो की अपेक्षा जैनतर जनता का अपार समूह उपस्थित होता है। जहाँ जैनो के स्वल्प घर होते ह वहा भी आपके श्रोताओं की सख्या विपुल होती है।

आपकी जिज्ञानावृत्ति कभी मान्य नहीं हानी। व्याकरण, न्याय, भूगोल, खगोल, प्राकृत, मस्कृत, हिन्दी आदि का अध्ययन आप बताते ही रहते हैं।

आपका अन्यमनावर्त्मिका के साथ महदयनापूर्ण व्यवहार होता है। जहा कोई गलत बान कही जाती है चाहे स्वमत के सम्बन्ध में या पामन के सम्बन्ध में, चाहे किसी व्यक्ति के विषय में या समूह के विषय में, आपकी मर्त्य नहीं होती। तत्काल मुहताड उतार देते हैं। कहने वाला चाहे अमीर मेठ, मन्त्री, ठाकुर या राजा ही क्यों न हो। हिचक जैनी चीज उनके निम्न नहीं फटकती। वे कहते मुने गए ह—‘क्यों नहीं कहने में डर, पेटभराई तो कम में होती है।’

फटकार लगाने समय आपने आज तक कभी विचार ही नहीं किया कि भक्तगण अप्रमत्त या अमन्नुष्ट हो जाएंगे। कोमल या रडोर, जो भी कहना हो, मामने ही कह देते हैं। जमत्य के मामने मौन धारण कर लेना आपने सीखा ही नहीं।

जब कभी प्रभावना की जाती है तो आप जैनतर आइयो को कभी नहीं मूलते। जैसा सम्बन्ध स्वमत वालों में ईसा ही अन्यमनावर्त्मिकों में रहते हैं।

कुत्ता की आयतें, गीता के श्लोक और मन्थार्यप्रकाश आदि के उद्धरण आपके मुख्यागबिन्द से निरन्तर ही टपकते मुने जाते हैं। मेरे पैरों बाध्य आपके कठम्य हैं। राम और कृष्ण के उदाहरण तो आपके लिए रोजमर्रा की चीज है।

अनिप्राय यह है कि गुरुदेव का हृदय अत्यन्त विद्यान है। आपकी हिनकामना किसी एक वर्ग तक सीमित नहीं है। आपका जीवन, चिन्तन और प्रवचन ‘सर्वभूतहिताय’ होता है। यहा रागण है कि आप वास्तव में ममत्त जैन-जैनतर जनता के गुरु माने जाते हैं। मरुधरा के जमींदार, जागीरदार, ठाकुर आदि सभी वर्गों की जनता हृदय में आपका सम्मान करती है, आपको गुरु मानती है। गरीब में गरीब भी आपका आत्मीय मानता है। उसे आप कभी अनुभव नहीं होने देते कि उसकी उपेक्षा की जा रही है। जिन ग्रामों में आपका पदार्पण होता है, वहा सवनाधारण का कोई उन्मय हो, ऐसा प्रतीत होने लगता है।

प्रभावक गुरुदेव ! आपका गोटि-कोटि अभिनन्दन !

०

अभिनन्दन ।

गजगज भडारी, एटवीनेट

नया स्या० जैनसमाज, बाली

परमपूज्य मरुधरकेशरी मुनिश्री मिश्रीमठजी महाराज साहब की दीक्षा की अर्द्धशताब्दी के शुभ अवसर पर हम बाली नगर के स्थानस्थानी जैन आपका अभिनन्दन करते हुए अमीय आनन्द अनुभव करते हैं।

मुनिश्री में हमारा काफी उम्मीद अवधि में सम्पर्क रहा है। हमे समय-समय पर आपके महान् ओजस्वी विचारों ने मुने का अग्रम प्राप्त हुआ है। आपके विचारों में समीचीनता, गम्भीरता तथा परिपक्वता का आभास





स्पष्ट दृष्टिगन होता है। माध्याग्न में माधारण व्यक्ति भी आपकी शैली, भाषा विचार, दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, आदर्श आदि में आत्मविभोर हुए बिना नहीं रह सकता।

आप मन वचन व कर्म से पाचो महाव्रतों का निष्ठा से पालन करते हुए सत्य मार्ग के अनुगामी हैं। आपने अहिंसा का प्रदीप जनजीवन में प्रदीप्त किया है। इसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह की प्रेरणा की है। आपका जीवन त्याग व तप की सच्ची व सजीव तस्वीर है। आप अन्तरंग में वीतरागभाव की ज्योति जला रहे हैं, जिनसे समाग मस्तक आपका चरणस्पर्श का भुक्त जाए, यह स्वाभाविक है।

आप विशुद्ध भावना में जैनधर्म के प्रचार हेतु अनवरत अथक प्रयत्न कर रहे हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य की पूर्णता का ज्ञान कराना ही आपका अभीष्ट द्येय है। जहाँ-जहाँ भी आपका पदार्पण हुआ है, आपन उस क्षेत्र की जनता में धर्म की लहर फैला दी है।

वर्तमान समय में, जब कि जन-जीवन कई समस्याओं में उलझा है, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं, धर्म की ओर रुचि होना कठिन होता है, श्रद्धेय मरुधरकेसरी मुनिश्री ने समय के आव्हान को गलीभांति पहचाना तथा धर्म का ऐसा विश्लेषण किया है जिससे धर्म मानव-जीवन का अंग बन सके।

आगामी अक्षयतृतीया के दिन आपके दीक्षापर्याय के पचास वर्ष पूर्ण होने जा रहे हैं। इस अवसर पर सब की प्रसादभावना को साकार करने के लिए हम आपका अभिनन्दन करते हैं तथा आपकी दीर्घायु की कामना करते हैं।



प्रणामाञ्जलि

लालचन्द जैन, जोधपुर

श्रमण मस्कृति के महान् नेता, समाजोद्धारक एवता के अग्रणी, जन-जागृति के प्रतीक, चारित्र्यचूडामणि वाल्मिल्याचार्य १० रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहब की ५० वी दीक्षा-जयन्ती पर प्रकाशित होने वाले मरुधरकेसरी अभिनन्दनग्रन्थ की योजना अत्यन्त मूल्य है।

सनातनधर्म मरुधरकेसरीजी के पावन चरणों में मरुधर का चप्पा चप्पा पुलकित होता रहा है। मस्त योगी की भांति प्रतिपक्ष सैकड़ों मोठ का उग्र विहार कर हज़ारों लाखों प्राणियों को प्रतिबोध द्वारा सन्मार्ग बताने वाले महामनीषी के उपकारों को लिपिवद्ध करना असम्भव कार्य है। फिर भी श्रद्धालुजनों द्वारा जो प्रयास किया जा रहा है, वह प्रशंसनीय है। मैं अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ।



अहिंसा के पुजारी के प्रति

केवलचन्द पगारिया, सोजत

महान् धर्म का विषय है निजो धर्मादेष्टा, मरुधरकेसरी १० मुनिश्री मिश्रीमलजी म० दीक्षा के पचास वर्ष की ६९ लम्बी मजिन महान् मक़तापूर्वक तय कर ५१ वें वर्ष में प्रवेश करने जा रहे हैं। मुनिश्री के मरुपदेशों

एवं तत्र त्याग ने जन-जन के हृदय में एक विशिष्ट स्थान बना लिया है, और यही मात्र कारण है कि आज हजारों की संख्या में भक्तों का मुनिश्री के दर्जनों के लिये भेजा-सा लगा रहता है।

पूज्य-स्वामीजी के त्यागमय जीवन ने, प्रभावित होकर जनसमाज ने दीक्षा स्पर्धजयन्ती समारोह मनाने का निश्चय किया है। इसी अवसर पर पूज्य गुरुदेव के कर्मलो में अभिनन्दनार्थ भेंट करने का आयोजन किया गया है। यह एक महान् ऐतिहासिक प्रसंग है कि मृत्यु एवं अहिंसा के पुजारी के त्यागमय जीवन की अवगताही मनाई जा रही है। जिसने जन-जन में मुनिश्री के त्यागमय जीवन की अमिट छाप बनी रहे।

हमारे गुरुदेव

श्री पारममल धोका,

मंत्री, श्रीरघुनाथ जैन पुस्तकालय सोनतमिदो

पूज्य गुरुदेव महारकेसरी पं० ग्ल श्री मिथीमलजी म० ना० एक उच्चकोटि के महान् योगी अध्यात्म-निष्ठ एवं दीर्घ संयमी मन्त्र हैं।

आप जैसे बाहर हिनकर हैं वैसे ही भीतर हैं। आप ज्ञानिक और समाजिक जीवन के उत्थान में सतत मग्न रहते हैं।

आपके नेत्रों में पवित्रतम नास्त्रिज नेत्र और व्यवहार में मन्तजनोचित सहृदयता का प्रभाव भी फूटता रहता है। आप ही बान मुनने में कुछ नहीं-सी प्रतीत होती है परन्तु आपका हृदय नवनीत-सा खुलु है। मैंने गुरुदेव की निरुद्ध ने देखा है, परन्तु है। मेरा सम्पर्क बटन काल में जुड़ा हुआ है।

आपका प्रभावशाली उपदेश हर व्यक्ति की अज्ञानता ही अपनी जोर बाहुल्य कर लेता है। आपका स्नेह हमारे व हमारे नगर पर अपार रहा है।

आपके अज्ञान-जीवन का प्रारम्भ इसी पवित्र भूमि में हुआ है, आपके प्रेमोपहार के रूप में ही हमारे यहां पूज्यवर्गी रघुनाथ जैन पुस्तकालय की स्थापना हुई है।

आप महेश्वर के एक निर्मल निश्चल यशस्वी मित्र मन्त्र हैं। आप समाज की निस्वार्थ और निष्काम भाव में सेवाग्न होकर समाजोन्नति के पूर्ण डम्पक हैं। मैं महान् गुरुदेव के गुणों में आकर्षित होकर चरणों में दो शब्द लिख कर अपने आपको गौरवशाली समझता हूँ।

श्रद्धा के फूल

फूलचन्द बोहरिया

तद्वय मे मयम ग्रहण करके और उत्तम ज्ञान-वारिज की आराधना करके पं० रं० महेश्वरकेसरीजी महाराज ने स्वर्ण के परम कल्याण में अपना समग्र जीवन समर्पित किया है। अज्ञानान्धकार में भटकती जनता को आध्यात्मिक मार्ग का समार्ग प्रदर्शित किया है। उनके जीवन में अपूर्व तेजस्विता और कर्मठता है। सब पर उनका महान् उपकार है। ग्राम-ग्राम में विचरण करके धर्म और नीति का प्रभावक संदेश और उपदेश देने वाले तपोधन मन्त्र के पावन चरणों में मेरा बार-बार वन्दन।





अनूठा व्यक्तित्व

वंछ मोहनलाल गोड, आयुर्वेदरत्न

सयम की साकार मूर्ति मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज का व्यक्तित्व अद्भुत है। उसमें परस्पर विरोधी में प्रतीत होने वाले अनेकानेक सद्गुणों का सुन्दर समावेश हुआ दृष्टिगोचर होता है। उनके स्वभाव में जहाँ मिश्री का माधुर्य है वहाँ भवयोग का समूल उन्मूलन करने के लिए वे कुटकी के समान भी हैं। दूसरे के प्रति अतिशय दयालु हैं तो स्वकीय सयमसाधना में वज्र के समान कठोर हैं। उनकी भाषा में सुधा का पुट होता है तो कभी कभी कटुकता भी आ जाती है। किन्तु उस कटुकता में भी उनकी अनन्त करुणा का मिश्रण होता है, मंगल-कामना छिपी रहती है। वे अतीव सहृदय, प्रतिभाशाली और ज्ञानी सन्त हैं। गौडन चातुर्मास में आपके इन गुणों का परिचय पाकर मैं अन्य हो गया। राजस्थान भाग्यशाली है जिसे ऐसे श्रेष्ठ सन्त पावन कर रहे हैं।



मरुधरकेसरी का अभिनन्दन

कविराज प० मूलचन्द्र भट्ट

हमारे चिरपरिचित मरुधरकेसरी तपोधन महामुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज एक आदर्श सन्त हैं।

आपके जीवन के साथ एक महान् पृष्ठभूमि है। आपका जन्म ऐसे स्थान से है, जिसके इतिहास में समाज, संस्कृति एवं धर्मसाधना की एक विशाल कड़ी है। पाली नगर पुणवती पारा नगरी तथा सम्प्रति पाली है। मारवाड़ में राठौड़ राज्य के मूल पुरुष पाली से ही अपना इतिहास प्रारम्भ करते हैं। इसके पहले चौहान, परमार, चालुक्य आदि का सदियों तक शासन रहता पाया जाता है।

मेठ सहस्रमलजी और केसगवाई महामुनियों की पदरजप्राप्त पाली नगर में ही रहते थे। मरुधरकेसरी के पिता श्री सहस्रमलजी उदारचेता थे और केसरबाई सरल प्रकृति की महिला रही, यह दोनों महान् गुण मुनि श्री मिश्रीमलजी का विरासत में मिले। जिस पर पूज्य गुरु की मरण २५ वर्ष के पूर्ण जीवन में प्राप्त हो गई। पूज्य बुधमलजी महाराज साहब परम शान्त विरक्त तपस्वी तथा तप पुत्र पुरुष थे।

पाली नगर ऐतिहासिक एवं संस्कृतियुक्त रहा है तो साहित्यिक रुचि भी यहाँ प्रबल रूप में रही है। योगी-राज कवि गिर, भक्तराज पूनमचन्द्र, महाकवि मनोहर तथा देवकरण, महात्मा गणेशानन्द एवं कविराज लालचन्द्र जैसी महान् कविआत्माओं तथा विभूतियों ने जन्म लेकर 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' को ही प्रकट किया। हम अपने चरित्रनायक में इन सभी गुणों को प्रचुर मात्रा में पाते हैं।

मुनिश्री के जीवन में क्या नहीं पाते? उदारता का पितृगुण प्रत्येक प्रेमी देखता आ रहा है। सरलता व सेवापरायणता मातृदुधामृत का प्रभाव रहा। जैन-अजैन वालाओं की शिक्षा और धर्मशिक्षाशालाओं की व्यवस्था से भी प्रत्यक्ष है। बीलाडा चातुर्मास वि० स० २०१० म यवनो द्वारा किए गए प्रबल प्रहारों को सहकर भी क्षमा दे देना किस पाठक में छुपा है? मुनिधर्म की महान् सेवा के साथ समाजसेवा से आप विमुक्त नहीं।

महाकवियों के काव्यगुण का विकास भी आप में अमीम है। आपने दीर्घकाय महाभारत आदि विविध ग्रंथों की रचना कर महाकवि की प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

तप पुत्र महामुनि बुधमलजी महाराज साहब से वि० स० १९७५ में मुनिव्रत ग्रहण किये आज ५० वर्ष हो जाते हैं और श्रद्धालु श्रावक स्वर्णजयन्ती मनाए तथा अभिनन्दनग्रन्थ भेंट करें यह परम श्रद्धा का द्योतक ही है।

में स्वयं मुनिगण के नगर का निवृत्तनम परिचिन हू। अन अधिक कुछ कहना सत्य होने पर भी पाठक कही अतिशयोक्ति नमज नरने ह। एम भय ने आयोजको मे महमत होता हुवा विराम लेता हू

प्रकृष्ट पुण्य का परिणाम

कामदा प्रेमराज तिलेनरा

जिन्ही पूर्वजन्म में पाँच विशेष तपश्चर्या की होंगी, धर्मक्रिया में रुचि जगाई होगी, दीन-दुखियों को दान दिया होगा, उनकी सेवा में मन पिरोया होगा अथवा अन्य साधना की होंगी, जिनके फलस्वरूप श्री मरुधरकेसरीजी महाराज जैसे परममान गुरु के चरणों में स्थान मिला। गुरुदेव अज्ञान का निवारण करने के लिए भानु के गान हैं। प्रायः उल्लेखनीय भक्तियों का दर्शन करने वाला और अमरत्व प्रदान करने वाला है। हार्दिक कामना है कि गुरुदेव की कृपा विराम न बनी रहे और हम अपने जीवन को सार्थक बना सकें।

प्रतिभापुंज मरुधरकेसरी

जन्माल दस, एम० एल० ० 'पक्क'

गुरुदेव की अमर गुणधर्मों का प्राप्त सर्वव्याप्त है। उनका स्थान करना न तो मेरी जिज्ञा की शक्ति में है, नहीं मेरे अज्ञान में उद्भूत शब्दकोष ही उपलब्ध है। फिर भी मेरा तुच्छ अनुभव आपके विशाल चरित्र को प्रष्ट किए बिना नहीं हो सकता।

चटखटती मर्त्य जीव तनी गर्मी में भी ताज्जुबान की मरुभूमि और पहाड़ी क्षेत्रों में केसरी सिंह, निष्कपट भाव में डूबे की बात का उद्घाटन करने हुए विचरण करता है। यह निर्भीक मन-रत्न श्री आत्मा की आवाज को महज भावों में प्रकट करता है, जिन में श्रवण निगूहता है। सामाजिक चेतना और सघीय एकता की टीस झटकती है जो श्रोता के हृदय में स्पष्ट पैदा करती है। आत्मा का अदृष्ट मन्त्र लेकर यह सजग धर्मग्रहरी जब नगर-नगर ग्राम-ग्राम जंगे बटती है तो प्रेम में उमड़ी जनता उनकी अगुआई के लिए बड़ी सत्ता में उपस्थित हो जाती है। प्रभु के गमय दिग्दर्शनार्थी भाई-बहनों का ताता उगा रहता है।

उनके पर भी उस महान् निर्भूति को चैन कहाँ ? न जाने कब समय मिलता होगा, छोटे-मोटे सवा सी से अधिक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें जनेक वाक्य और वृत्त वाक्य भी हैं। डिगल और पिगल का समावेश करते हुए मारवाडी, राजस्थानी और हिन्दी भाषा में आपकी लोकप्रिय रचनाएँ खूब प्रचलित हैं। ५० वर्षों की कठोर समय-साधना में त्रिधायीत आपने जना सब रंग रिया ? वर्तमान समाज में व्याप्त अव्यवस्था और जनवस्था को देखकर आपका सोमल हृदय दुःख है। लुप्त होती जा रही गौरवशाली प्राचीन और विशुद्ध परम्पराओं को पुनः प्रकाशित करने की तीव्र जमिलापा में आपने मत्मान्द्रित्य के द्वारा पुनर्जागरण का सकल्प किया है। नवीनतम वृहत्काव्य 'महा-भारत' के औरों पाण्डवों के माध्यम में आपने धर्म की अमर पर विजय और सत्य की असत्य पर विजय के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। आपने 'मित्रनाद' नामक एक छोटी-सी कृति में गागर में सागर भरने की कला का परिचय देते हुए जीवनपयोगी उपदेशों का सजाना जोड़ दिया है। "विगाड होता है" धीरे-धीरे सूर्य दृष्टि में विनाश के कारणों का पता बनाने हुए आपने लिखा है—





झूठ बिगाड़े पैठने, रुठ बिगाड़े खेल ।
फूट बिगाड़े फीजने, तूट बिगाड़े रेल ॥

इस महान् सत्तरत्न का समाज युगो तक ऋणी रहेगा । ऐसे प्रतिभापुज मरुघरकेसरीजी म० सा० के श्री-चरणों में शत-शत वन्दन के पदचात् मेरी यही कामना है कि पूज्यश्री चिरायु हो, आपकी यश-कीर्ति दिन दूनी गत चोगुनी बढ़े और समाज के बहुमुखी विकास में आपका पूर्ण योगदान रहे ।



श्रद्धा-पुष्प

बादलचन्द काकरिया

सद्भवता सोभासदन, रयत-शील गुणरास ।
मिथी मुनि अनमोल मणि, करता ज्ञान प्रकाश ॥
ओसवाल वश को उजावला हुलास होय,
एकदम त्यागी-भो सजोग ज्ञान गेस को ।
शिक्षा सद पाय "बुधगुरु" हू से दीक्षा लेके,
गाय जिनवाणी रूप जाण्यों है जिनेश को ॥
भाषण बिस्तार सार-भार अधताड हुए,
स्वैत रग भीनो रहे सोमित हमेश को ।
मार लीनों मार-को अपार तपताप तप-
तन को सुधार कीनो तार दीनो देश को ॥



पुष्पाञ्जलि

कृपाराम परमहंस

मुनिवर की वर महर से, आनन्द रहे अपार ।
अष्टसिद्धि नवनिद्धि दे, भवरा मिटै विकार ।
मनुष्योनि आछी मिली, कर लो सुकृत काम ।
दरसन मुनिया देखना, इनमे है आराम ॥
मिसरीमल मुनिराज को, वन्दन बार हजार ।
केहरि-पदवी सत करी, घरम भुजा पर धार ॥
शरणागत रखक सदा, केहर-सत कृपाल ।
"कृपाराम" सत कहत हैं, झलक रयो निज भाल ॥

मूरवीर सत यही सन है मराहनीय,
घग्मरुसाता ध्यानी धर्म मतवाना है ।
विकट ममत्ताओं को दूर कर दीनी सब,
पतपात पाले नहीं सनी नव वाला है ॥
दंष्ट्राव व जैन भाई एक निगा देगे आप,
दिव्यभाव दानो दया सन का रसाता है ।
मरुपरकेशरी की जय जं पुकारे जन,
कृपागम कहै ऐसे एक ही निराला है ॥

•

गुरु स्वागत-गीत

धर्मचन्द जैन

आ निरण तारण री जहाज, कि भवजल तारेला जी तारेला ।
श्री जैन मध मिग्ताज, कि भवजल तारेला जी तारेला ॥ ८८ ॥
चदा मुं ज्यादा उज्जवल है, अमृत सु ज्यादा भीठा है ।
है मिग नैमी आयाज, कि भवजल तारेला जी तारेला ॥ ८९ ॥
ज्ञान ध्यानमगम गुण भरिया, क्षम दम शील रतन का दगिया ।
मरुपरकेशरीराज, कि भवजल तारेला जी तारेला ॥ ९० ॥
जिनमन धाक जमाने वाला, बीर ध्वजा फहराने वाला ।
जग जाहिर मुनिराज, कि भवजल तारेला जी तारेला ॥ ९१ ॥
आज नाग्य को चढी चमकियो, सोना री मुरजडी दमकियो ।
धन्य हुआ मैं आज कि भवजल तारेला जी तारेला ॥ ९२ ॥
आज तुमही को पार नहीं है, धर्म की गंगा अठे यही है ।
हृष्यो मन्त्र ममाज, कि भवजल तारेला जी तारेला ॥ ९३ ॥
स्वागत गुरुवर स्वागत थारो, मरुधरा रा उजयाला थारो ।
'धर्म' की राखी लाज, कि भवजल तारेला जी तारेला ॥ ९४ ॥

•

शत शत वन्दन

श्री प्रेमचन्द लोढा, जयपुर

त्यागी मत तप पून होने हूँ उनमें ग्रहकारणहित ज्ञान-गर्भा होती है । स्वभाव मे वे एक निश्चल बालक के समान अत्यन्त निरुद्ध होते हैं । उनका दिव्य व्यक्तित्व और मौन साधना स्वन धन-धन रूप मे मुखरित होती है । वे आत्ममात्रान्न महापुरुष अवधार मे भटकने वालों के लिये एक प्रकाश-दीप होते हैं । ऐसे मयमी तपोधन श्री





मिश्रीमलजी महाराज साहब के चरणा में मेरा क्षत-क्षत वदन हो ।

जब मैं छह वर्ष का बाल था, मुझे तपोधन वैराग्यभूति, परमकारुणिक आचार्य श्री श्रीलालजी महाराज साहब के वचनामृत सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । उनकी अमृतवाणी के वे मनोवैज्ञानिक शब्द आज भी मेरे अन्तर में गूँज रहे हैं । इस तरह बाल्य में ही मेरा ऐसे मतों के प्रति सहज अनुराग रहा है जिनका अन्तर-वाह्य एक है । मेरे देवतुल्य म० पिता के लाख चाहने और सत्तो के सम्पर्क होने पर भी जब उनका साया अचानक उठ गया, मेरे में पड़ताई घुसगिती हो नहीं पाई । इस प्रपंची जीवन में जब कभी किसी दिव्यज्योति के दर्शन होते, मन में एक अन्तर-द्वन्द्व छिड़ जाता । फिर भी मैं भटक जाता । इस वर्तमान भौतिक समार में सत्याचरण और सत्य निष्ठामय जीवन जीना कितना कष्टसाध्य है । छल दण और बाहरी दिखावे में हमारे जीवन का अधिकांश भाग जब गुप जाता है तब हम अपने को स्वयम्भू मान बैठते हैं । जीवन की यह कैसी विडम्बना है । हमारे अन्तर में बँटे हुए उस पिशाच को हम बाहर प्रकट नहीं होने देते और जब तक हम इस दैत्य (राक्षसी) जीवन में छुटकारा नहीं पाते, हम सतजीवन के सच्चे अनुगामी नहीं होते ।

पर सौभाग्य में जब कभी हमें सच्ची साधुता के दर्शन होते हैं, हमारे अन्तर का यह पिशाच रूप जब तिल-मिला उठता है, वही हमारा वास्तविक अभिनन्दन होता है ।

सतशिरोमणि श्री मिश्रीमलजी महाराज

कधिराज हेमधिराजीदास

सततत्व क्षताब्दियों से मानव सस्कृति को अनुप्राणित करता रहा है । सत श्रमण-साधु-मुनियों ने भारतीय सस्कृति के अमर और उत्प्रेरक तत्वों का दैनिक जीवन में स्थान देकर अव्यात्म की भौलिक परम्परा को न केवल सुरक्षित ही रखा, अपितु, युगानुकूल नव्य-मव्य उपादानों द्वारा उसका प्रवर्द्धन भी किया । किसी भी ममाज और राष्ट्र की यही एक ऐसी निरासत है जिसके आधार पर वह अपना भावी ऊर्जस्वलय पथ निर्माण करता है । मेरा तो दृढ विश्वास है कि राजनीति द्वारा प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा और उत्कर्ष नैतिकतामूलक सत्तो के मदाचारमय जीवन के माध्यम से ही सम्भव है, कर्मों और कथनों को ही वे आदर्श मानते आये हैं और इसीलिए जन-हृदय पर मतों का अमिट स्थान बना हुआ है ।

जैनधर्म क्रांतिकारियों का धर्म रहा है । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार महापुरुषों द्वारा इसे वेग मिलता रहा है । महाप्राण लोकाशाह ऐसे ही क्रान्तिवीर महामना थे । आपने अपने समुज्ज्वल चारित्र्य के बल पर ऐसी क्षयध्वनि की कि उस समय का सारा जैनसमाज उनका घोर विरोधी बन गया । पर कहना उचित होगा कि लोकाशाह सत्य के अनुयायी और सद्धर्म के पोषक थे । धर्म के नाम पर परिवर्द्धित आडंबरों के प्रति उनके हृदय में स्थान न था । वे वीतराग प्रणिपादित सिद्धान्तों को मुनियों के दैनिक जीवन में देखना चाहते थे । उनका मयमौर मन सस्कृतिगत विकारों से त्रस्त हो उठा था । इसीलिए आपने परमत्यागमूलक मार्ग का न केवल अनुसरण ही किया, वरिन् तन्मूलक परम्परा भी वायम की । इस परम्परा के मक्षम पालकों ने जैन-सस्कृति को गौरवमय स्थान प्रदान किया ।

महामुनि श्री मिश्रीमलजी उमा मणिमाला के एक रत्न हैं, आपने कष्ट सहन कर विरोधों की पर्वाह न करते हुए जिनप्रणीत धर्म और सत्य को सामन रख कर ही औपदेशिक अमृत वाणी के माध्यम से जनता को नैतिकता की ओर आकृष्ट किया । उनका बहुमूल्य जीवन आज एक आदर्श उपस्थित करना है ।

चारित्रिक ऊर्जा के धनी

कमला जैन 'जोजी' एम० ए०

झंले झंले न माणिक्य, भीमिक न गजे गजे ।
साधवो न हि सर्वत्र, चन्दन न वने वने ॥

महानीतिज चाणक्य का यह कथन अक्षर्य नत्य है। प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नहीं होता, प्रत्येक हाथी में मुक्ता नहीं मिलती, मद्य नाथु उग्रद्वय नहीं होने और सब धनी में चन्दन नहीं होता।

विश्व-चारित्रिक के असीम अन्त्यलि से अगणित रत्न निम्लते हैं। और उनकी काति जन-मानस की प्रभावित और व्यापित करती है। किन्तु विश्व की पैनी दृष्टि उनमें से भी सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम, सर्वोपरि और अमूल्य रत्नों का चुनकर अपने बस का हाथ बनानी है।

मन्त्ररक्षेत्री मुनिर्यः मिथीमन्त्री म० भी ममार के उन जगमगाने रत्नों में से एक है। आपकी प्रतिभा, विद्वत्ता, निर्भयता, तथा चात्रि निष्ठा जन-जन के जल करण में अपना उच्च स्थान बना ही रही है। विराट् व्यक्तित्व, उत्कृष्ट आचार एवं श्रेष्ठ विज्ञानों को लेकर आप उन प्राणों में जहाँ भी चरण रखते हैं, वहाँ जागरण की लहर दौट जाती है। और उसी प्रकार जिस प्रकार कि मिह जहाँ भी जाता है अपना राज्य राज्य कर लेता है।

आपका "मन्त्ररक्षेत्री" का उपाधि दी गई है। वह सर्वथा उपयुक्त ही है। मिह-मन्त्री के समान ही आप की ओज-पूर्ण वाणी श्रोताओं का जीवन और जात के रहस्यों को समझाती हुई सचेत कर देती है। अद्भुत जागृति पैदा करती है। अनेकों पत्रपत्रों के लिए पत्रप्रदर्शन बनती है और अग्रमं तथा मिथ्यात्व के पान में जकड़े हुआ को मुक्त करती है। आपकी वाणी में अपूर्व बल है। जो भी भाग्य का धनी आपके सम्पर्क में आता है, प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। तभी कहा गया है—*"The finest eloquence is that which gets things done"*

वाणी के समान ही आपकी नेत्रों की भी लोहेपत्थनी की मजा प्राप्त है। इसके द्वारा आपने अनेकानेक विषयों का भंडार अपनी अद्भुत प्रतिभापूर्वी द्वारा बना है। आपका अध्ययन अत्यन्त प्रगाढ़ और विचार है।

आपकी रुचिबोधन भी अत्यन्त विलक्षण है। पद्यों का निर्माण आपके लिये सीढ़ा है। अनेक पद्यमय रचनाएँ तथा महाभारत के महान पद्यमय वृत्तकाय ग्रन्थ भी आपने समाज को भेंट किया है। इस अद्भुत शक्ति ने आपको एक मन्त्र आधुनिक के रूप में भी हमारे समक्ष उपस्थित किया है।

हिं बहूना, आर प्राज के श्रमणमथ की एक बहुमूल्य वरिष्ठ विभूति है। हादिक कामना है कि आर गन-जीवी हो और आपकी प्रतिभा व शक्ति युगों तक जीवित रहे। अगणित काल तक वह विश्व की श्रद्धाजति का पात्र बनी रहे।

श्रद्धा के फूल

गोचनदास मोदी

एम० एल० ए०

मन्त्ररक्षेत्री मुनिर्यः मिथीमन्त्री महाराज का नाम जिज्ञासु लोगों में कई बार सुना था। लोग उन्हें महान सन्त बताकर उनकी चर्चा किया करते थे।

मयाग में मन् ६७ के आम चुनाव में पहिले जनवरी मास में महाराजश्री ने साक्षात्कार करने व उनके





विचार सुनने का अवसर मिला। महाराजश्री वास्तव में महान विद्वान सन्त हैं। साथ ही विचारक एवं ओजस्वी वक्ता भी। यही कारण है कि महाराज श्री का प्रवचन मानव की हृदयतंत्री को झकड़ करते हुए उसे ज्ञान के साथ देश व समाजहित की प्रेरणा देता है।

देश की दयनीय अवस्था, चारित्रिक पतन, गोवश का वध व देश की गरी गजनीति ने भी महाराजश्री के हृदय को काफी झकझोरा है। इसी कारण आप में एक महर्षि के साथ माय राजश्री के भी दर्शन होते हैं। हमारे देश के सन्ता-ऋषियों और मुनियों का, जब भी देश पर विपत्ति आई, अन्याय व अत्याचार बढ़े, उसे निरस्त करने के लिये, समाज को सत्य एवं वर्तमान की प्रेरणा देने के लिये समय समय पर प्रादुर्भाव होता रहा है। उन्हीं में मरुधरकेसरी भी हैं, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

●

जैन जगत की विमल विभूति

मदनलाल जैन

परम श्रद्धेय मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साक्षात् स्नेह की मूर्ति हैं। आपके हृदय में पवित्र प्रेम का अथाह सागर हिलोरे लेता रहता है। मायावी ससार के मोह जाल को त्याग कर आपने अपने मिलते जीवन, उभरती जवानी के २५ वें वर्ष में स्वामीजी श्री बुधमलजी महाराज के चरणों में पहुँचकर दीक्षा ग्रहण की। तब से आज जीवन के लम्बे पचास वर्षों तक समाज एवं साहित्य की मेवा में अपने को अर्पित कर दिया एवं शिक्षा प्रसार के कार्य में सलग रहे।

आप युगप्रवर्तक महापुरुष हैं। जैन दर्शन, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, पिगल आदि के ज्ञाता एवं अनूठी प्रतिभा के धनी हैं। आशुकवित्व जिनके लिये मात्र क्रीडा है। महाभारत जैसा वृहत्काय ग्रन्थ जिनकी कवित्व शक्ति का मूर्तिमान प्रतीक है। मरुधरा के कवि समाज ने आपकी प्रतिभा से प्रभावित होकर ही आपका आशुकवि की पदवी में विभूषित किया है। आपने राजम्यानी भाषा में प्रखर पाण्डित्य प्राप्त किया है।

मरुधरकेसरीजी सर्वजन हितैषी महापुरुष हैं। आपके दिल में सभी के उत्थान की मंगल कामना बनी रहती है। आप एक दीर्घदृष्टा अनुभवी सन्त हैं। जिन्होंने नदा ही जीवन में सुख और शान्ति को स्थिर रखने के लिये ममता सत्य और अहिंसा को ही परम आवश्यक बताया है। भगवान महावीर के "अहिंसा परमो धर्म" के सिद्धान्त को अपने जीवन में पूर्णरूप से उतारा और उनका घर घर में प्रचार किया है।

मरुधरकेसरीजी स्थानकवासी जैनसमाज के एक प्रकाश-स्तम्भ हैं। आपने श्रमणसंघ के सगठन के लिये भागीरथ प्रयत्न किया और उसे सुदृढ बनाया। समाज की गला घोटने वाली अनेक कुरूपियों के विरुद्ध सिंहनाद किया और शुद्ध धार्मिक भावनाओं का प्रसार किया। और साधारण जनता को सन्मार्ग का दर्शन कराया।

आपने श्रमणसंघ की मर्यादा में रहकर गत पचास वर्षों में जैन-शासन, जैन-सच और जैन-पंक्ती की जो महान् सेवा की है वह अनेकों साधकों के लिये पथ-प्रदर्शक सिद्ध होगी। जैन समाज के लिये अपने सम्पूर्ण जीवन को समर्पित करने वाले कर्मठ सन्त की हार्दिक श्रद्धा एवं सम्पूर्ण निष्ठा के साथ यह श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ और यह मंगल कामना करता हूँ कि आप दीर्घायु हों। इति।

●

हार्दिक अभिनन्दन

मदनलाल काटेह व्यावर

जीवननिर्माण में मन्त्रों की मगनि और उनके उद्देश्यों का अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है। पूज्य गुरुदेव मन्त्ररत्नेमगीजी म० मा० भी एक ऐसे मन्त्र हैं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण बहुमूल्य जीवन आध्यात्मिक भावना एवं मानव कल्याण के हेतु समर्पित कर दिया। आपके उद्देश्यों को श्रवण कर अगणित व्यक्तियों एवं परिवारों ने अपना कल्याण किया है। ऐसे महापुरुषों के मान्निष्ठ्य में रहने का मुझे अवसर मिला है। उन मंगल-कामना के साथ कि वे शतायु वन ममाज का दिन साधन करते रहे, मैं अपना हार्दिक अभिनन्दन एवं अनंत प्रणाम समर्पित करता हूँ।

०

मानव हुआ कृतज्ञ

श्री दिनेशचन्द शर्मा,
सोजत उपखंडाधीन

अभिमन्यू की वेदना, द्रुपद मुता की भीर,
यशो रसायन में प्रगट, मानव मन की पीर।
अलंकार बहु, छंद बहु, बहु उपमा, बहु प्राप्त,
तारक खचित खगोल सा, यशो रसायन खात।
भाषा की मदाकिनी, श्रेष्ठ नाव अनुरूप,
छंद प्रथम विचित्र, कवि मिथी चंद स्वरूप।
मत्त वाणी, मत्त आचरण, सत्य भावमर्मज्ञ,
मिथीमल महाराज से, मानव हुआ कृतज्ञ।

०

श्रद्धाजलि

माधवप्रसाद जैन

पूज्य श्री मन्त्ररत्नेमगीजी महाराज ने स्थानरुक्मिणी जैन ममाज में जासन मेवा का अनूठा आदर्श उपस्थित किया है। आज वयोवृद्ध होने पर भी वे उग्र विहार करते हुए जनना को मृत्यु और अहिंसा का अमृत पान करा रहे हैं। आपका उपहार भुलाया नहीं जा सकता। ममाज पर आपकी छत्रछाया चिरकाल तक बनी रहे यही हार्दिक भावना।

०

पहले दोस्त आज गुरुदेव के रूप में

पारसमल सुराणा, सोजतशहर-मंसूर

मैं और वे (मन्त्ररत्नेमगी) बालपणारा दोस्त हैं। साथ ही पटिया ने खेलिया कूदिया, एक दिन एडो आयो कि वे मने छिटकाय माधुपणों अगीकार कर लियो। जो दोस्त हा गुरुजी बन गया। मने तो या ही बड़ी खुशी है कि





वे तारण तीरण बन तिर गया ने में हाल तक भव-ज्वाल ही में मदक रहियो ह । मरुघरकेसरीजी ने हाथ जोड़ वदना करू हू है । आही मारी छोटी-सी भक्ति भावना भेंट है ।

गाढी रुचि और विश्वास

फूलचन्द लूणिया बंगलौर

पूज्य गुरुदेव श्री श्री १००८ श्री मिश्रीमलजी भ० मा० का पञ्चिच पढ़ने पहल करीब ४२ वर्ष पहले चडावल मे हुआ था । और फिर जब २ भी मेरा भारवाट जाने का अवसर हाता कहीं न वही दर्शन का लाभ मिल ही जाता था । वैसे गुरुदेव श्री बड़े ही विद्वान् और व्याख्यान वाचस्पति है । आप मे बहु आकर्षण दवित है कि कोई भी व किसी भी मजहब वाला क्यों न हो उसको अपने मे मिला ही लेते है । मुझे आपके मिट्टानों पर गाढी रुचि और विश्वास है ।

तपे-तपाये स्वर्ण

मिश्रीमल कातरेला बंगलौर

सन्त, अनगार, महाराज, महात्मा ससार के लिये प्रकाश-स्तम्भ है । वे जगत् के भूले भटको को प्रकाश देते ही जीये और मरे है । सारा इतिहास इसी मत्य का प्रमाण है । वेने मुझे सन्तो के सम्पर्क मे आने का बहुत अवसर मिलता है तथा उनके चरणों मे बैठ विश्राम भी लेना ही पडता है ।

में मरुघरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज साहब के गम्पर्क मे बहुत बार आया हू । आप तपे तपाये स्वर्ण-वत् समाज के जगमगाते अनगार महात्मा है । श्रमणसभ मगठन के प्राण एव सच्चे कर्म-धर्मवीर सन्त हैं ।

कामना

राजेन्द्र सुमन, सिंगोडी

प्रणाम पूज्य श्री सुसन्त प्रणाम पुण्यधी अनन्त
प्रणाम शत प्रणाम प्रभु ! मुमुक्षु और कर्म हन्त
सत्य ज्ञान-दृष्टि से विवेक यत्न-यष्टि से
सद्धर्म का किया प्रचार साधना की सृष्टि से
इस तरह बता दिया हमे सहज मुषित पन्थ ।
शत्रु-मित्र सब से प्रीत सदा स्वरस आत्म-गीत
पचास वर्ष साधना के आपके गये हैं बीत
आपको सबर नहीं मृत्यु का भी डर नहीं

स बोध, धन्य धैर्यवन्त चिरायु आपको बरे
आप ऋद्धि-सिद्धिदा रहें हमारे मध्य मे—
‘समृद्ध वर्ष यों अनन्त ।’

•

गुरु गुणगान

के० मधराज जैन मयक

“मिश्री गुरु महाराज, तुमको लाखों प्रणाम ।
“रूप” मुनि महाराज, तुमको लाखों प्रणाम ॥६॥
नवयोवन मे सयम लीना, पच महाव्रत धारण कीना ।
धवल सुयश है जग मे लीना ॥१॥
शान्ति सुधाके सागर गुरुवर, दयानिधी सबके हो हितकर ।
“मिश्री” मन मोहन मुनिवर ॥२॥
सब जन को उपदेश सुनाते, शांति सुधा का पान कराते ।
मोक्ष मार्ग बतलाते ॥३॥
जानामुन का जल बरसाते, शुष्क चमन को हरा बनाते ।
जन मन अति हरपाते ॥४॥
महक रही मरुधर फुलबारी, नमन करत है जनता सारी ।
बन्दन है बारम्बार ॥५॥

•

कार्यकुशल कर्मठ सन्त

गेन्दमल देशलहरा, गुडरदेही

महागज श्री की नम्र्या, मयम, उच्च चाग्नि माहिन्यिक योग्यता, अपूर्व कवित्वशक्ति, आदि दैवी गुणों ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया है । एक तोषन मन्त्र मुनिराज मे जो गुण एव विनोयनाएँ होनी चाहियें उन सब के दर्शन आपमे होते हैं । आगरी ग्विन मावपूर्ण कविनाएँ पङ्क्त में अत्यधिक प्रभावित हुआ हूँ । मैं मुनिश्री के प्रति हार्दिक श्रद्धा व्यक्त करना हूँ ।

•

जीवन के अनेक पहलू

पारसमल बाफना, व्यावर

मन्त्ररकेमरीजी म० का स्थानकवामी श्रमणमध के प्रतिभा-सम्पन्न मुनिराजों मे नाम लिया जाता है । आपका जीवन प्रारम्भ मे ही विक्रामोन्मुखी रहा है । निरन्तर प्रगति करना, आगे बढ़ते रहना, अपनी साधना मे





प्रमाद न करना—ये आपके पावन जीवन के सहज गुण हैं।

मारवाड़ प्रांत में पूज्य रघुनाथजी महाराज के सम्प्रदाय में अनेक तेजस्वी मतों में आपका भी उच्च स्थान है। ज्ञानसाधना के बल पर, सत्य वात पर अडिग रहने के कारण, आगम एवं ग्रन्थों व दर्शन ग्रंथों का गम्भीर अध्ययन करने से सत्य वात ही वह अपनी मानना, प्रत्यक्ष प्रतिभा और स्मरण शक्ति के बल पर, जो पाण्डित्य आपका सरम्भती देवी की कृपा से मिला है, वह वस्तुतः सम्मान की वस्तु है।

आपने अनेक पुस्तकें लिखी व मारवाड़ी भाषा में कवितामय शैली में जीवन चरित्र लिखे हैं, तथा 'श्रमण कल्पतरु' का चार्ट आपके ज्ञान का प्रकाश चमकाता है।

आपका व्यक्तित्व बड़ा ही अद्भुत एवं प्रभावशाली है। जो व्यक्ति एक बार आपके परिचय में आया, वह सदा के लिए आपका अनुयायी बन गया। बातचीत में आप बड़े पटु और साथ ही विनोदप्रिय भी हैं। समाज को मार्ग-दर्शन कराना व प्रेरणा देना, समाज की कुरीतियों व कुलुहियों को दूर करना, हिंसा को दब कराना आदि कारणों से आप लोकप्रिय हैं।



क्रांतिकारी वीर मरुधरकेसरीजी

मेघराज मेहता

मरुधरकेसरी प० रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी म० भारतप्रगिद्ध जैन माधु हैं। आपने जैन समाज के उत्थान के लिये विशेष कार्य किया है। राजस्थान में आपके सँकड़ो क्षेत्र हैं। हर तीन माल में आप उन सभी का दोग करते हैं। आप हर सम्प्रदाय से मिलजुल कर रहने की भावना में विश्वास रखते हैं। स्थानिकवादी सम्प्रदाय पर अटूट श्रद्धा होने पर भी सम्प्रदायवादिता उनमें नहीं है।

आपकी साहित्यिक सेवाएं प्रशंसनीय हैं। आपके अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं और हा रहे हैं। आपके उपदेशों में सदैव नवीनता रहती है। उम्र में बढ़ते होते हुए भी आपके विहार और उपदेश जवानों को मात कर देते हैं। आप देश और समाज के उत्थान में विश्वास रखते हैं।

माधुसम्मेलन के आयोजनों में आपका विशेष सहयोग रहता है। अजमेर, नादड़ी, मोजत, मीनासर और द्वितीय (साधुसम्मेलन) अजमेर के सम्मेलनों की सफलता में आपका विशेष हाथ रहा है। सादडी सम्मेलन और उसके पश्चात् के सम्मेलनों के तो आप प्राण थे। आपने आपसी विरोध को मिटाकर भाति स्थापना के सफल प्रयत्न किये। आपकी विचारधारा समाज के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई।

आपकी सदैव यही भावना रहती है कि समाज में एक ही रीति और नीति हो। इसी भावना के आधार पर समाज में संगठन कायम रह सकता है। श्रमणसंघ के ता आप प्राण हैं।

आप स्थानिकवादी समाज में एक विद्वान, क्रांतिकारी, सुमधुर, मिलनसार और व्याख्यानी सत हैं। आपके व्याख्यानों में बड़ी धूम रहती है। आपकी आज्ञा में प्रमुख तीन सत और हैं। अनेक माधवियाँ भी आपकी आज्ञा में हैं।

आपके उपदेश में कई शिक्षणसंस्थाओं का भी निर्माण हुआ है जैसे लोकागाह जैन गुरुकुल सादडी, सिरधारी श्री गौतम गुरुकुल, मोजत और विराडा आदि कई क्षेत्रों में वाचनालय आदि भी खुले हैं। सादडी क्षेत्र पर तो आपकी विशेष कृपा है। व्यसन होते हुए भी आप समय निकाल कर पधारते हैं। सादडी, मुन्दारा, वाली, सान्ढेराव,

दुमी यदि क्षो ने आपके उपदेशों का विशेष प्रभाव है।

आप कठिन परिश्रमी हैं। 'माचो' (मात्रस्थान) जैसे दूर क्षेत्र में जाकर चतुर्मास कर चुके हैं। आप छोटे छोटे देशों में विचार करना विदेश में पसन्द करते हैं।

गामन देश में यही प्रार्थना है कि मरुधरकेसरी १० रत्न मुनिजी मिश्रीमन्जी महागुरु जैसे महान् आत्मिकी सब हा मातृजी नमोज की सेवा करने के लिये विशेष वन प्रदान करें।

•

एक आदर्श महर्षिवर

वैद्य अमरचन्द्र जैन, धरनाला

मरुधरकेसरी, हा जीवन क्या है? अहिंसा, सत्य, मरम नय जी-धमा या माधान् द्विष्य अशौचिक जगन्माणा दीयते है। जो जन-पद त धर्म की निर्मलता का खान बहाल, उनके मानस को पवित्र स्वच्छ बना रहा है।

मेरा जीवनमा व्यस्त जैन समाज में होगा जो आपके नाम, तप, त्याग और ईश्वर में परिचित न हा? आप समाज के ही नहीं मानवस्य के देने गिन महर्षियों में न एव है।

आप स्वयं क्या तप सद्-ज्ञान की प्रवृत्ति ग्योति स्थिता में मरुधर ना प्रकाशित कर रहे हैं। सत्प्रकाश हाता ज्ञान ज्ञान के प्रति मन्त्री निष्ठा पैदा कर मन्त्री का अनु-माग त पश्य बना रहे हैं।

आपके तप, मरम और वैराग्य जीवन ही सुनसुर सुनसुर मान के जग-रण का युगधिन कर मौम्यता और गति प्रदान कर रही है। ऐसे महानमानव का पद-प्रदर्शन सुदीर्घ रात्र तक जन-जन को मिश्रता रहे।

•

मरुधरकेसरी • एक परिचय

रघुचन्द्र पितलीया, मादरी

मरुधर गुरुदेव त्रिकुटमिरोमणि मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमन्जी महागुरु जैन जगत् के युगपुरुष है। जन्मे 'वारा जीवनर्म या मार्ग ब्रह्मा है 'ब्राह्मे की या' का समजते हुए समग्र जातिजाति के भवेदनाश को तिलाजलि देकर मोक्षमाग या अनुमाग करने वाली दीक्षा त। स्वोन्मा किया। आप अपने जीवनपथ को ज्ञान दर्शन की ओर निरन्तर अग्रसर करने आ रहे हैं।

निरन्तर अग्रणीय रहते हुए भी आप अद्ययन को अपना जीवनमाजी मानते हैं। आप हम बुद्ध अवस्था में भी प्रत्येक क्षण का उपयोग किया के विमल में मग्न करने रहते हैं। दर्शनार्थ ज्ञानवाने आसक-आविष्कारों का अपने ब्रह्मनामून में मनुष्ट कर दोष ममय अवयव तप साहित्यनिर्माण में लगाते हैं। आप प्रारम्भ में ही दृढ निश्चयी रहे हैं, तप प्रारम्भ लिये हुये कार्य को पूर्ण करने की कठिन श्रम भी करने रहे हैं। चाह हमसे किसी भी कठिनाईया उपस्थित हो परन्तु समस्त बाधाओं को पार कर समाज के हित को ही लक्ष्य में रखते हुए आपका सदा आर्गोवाद पत्र सहयोग बना रहता है। आपका महान् मंत्र "तिन्नाण तारियाण" आज लोकप्रिय है।





आप लोकहित के लिये भ्रमण करते हुए अपनी ज्ञानमाधना में सामारिक सुख में लिप्त व किंकर्तव्य-विमूढ़ मानवों का अपने वचनमृत से अज्ञान दूर कर सच्चे मार्ग का प्रदर्शन करते हैं। आपके व्याख्यान सर्वदा समाजवाद की प्रेरणा देते हैं। आप इस समय में अत्यन्त विस्तृत भ्रष्टाचार, कालावाजार, रिश्वतपोरी आदि का निरन्तर बहिष्कार करते हैं। इसके लिये आप प्रारम्भ से ही शुद्ध खट्टर के बन्धुओं को धारण कर अपने तपस्वी जीवन को सच्चे कमयोगी की तरह यापन कर रहे हैं। आप विश्व में शान्ति के सदा पुजारी रहे हैं परन्तु सर्वदा शान्ति की प्राप्ति वीरता से करने में विश्वास रखते हैं।

आप नियमों का पालन साग्रह करते हैं। जैन शब्द का निर्माण 'इन्द्रियजय' में हुआ है जिसके कि यम-नियम मूर्तिमन्त उदाहरण हैं। सतत चिन्तन अध्ययन लेखन आदि विषयों में इतने व्यस्त रहते हुए भी सगठन में आप पूर्ण विश्राम रखते हैं। सगठन में दरार होना आपको कतई अभीष्ट नहीं तथा सगठन हेतु आप महान् से महान् त्याग करने का भी मत्त तत्पर रहते हैं।

आपकी आरौरिक मुपमा तब के तेज से सतत दीप्त रहती है। इतना होते हुए भी आपका जीवन त्याग तपस्या एवं सरलता-सादगी की साक्षात् प्रतिकृति है।

हम सर्वदा से अनुभव करते आये हैं कि आपका अमूल्य उपदेश मानव के समस्त दुर्गुणों को दूर करने वाला महौपधिबल काय कर रहा है क्योंकि प्रवचन में सदा समभाव, सहिष्णुता और विश्वमैत्री की शिवेणी प्रवाहित होती है। विध्वंसान्ति की साकार कल्पना की अनुभूति आपके वचनों में मानव प्राप्त करता है।

•

श्री मिश्रीमलजी म० सा० के प्रति मेरी अभिव्यक्ति

जगदीशकुमार बंजणव, सादबडी

मेरे दृष्टिकोण से श्री मिश्रीमलजी महाराज हमारे मारवाड़ प्रदेश के अवतारी हैं। आप अनेक सद्गुणों की खान हैं, जिनका संपूर्ण वर्णन मेरी यह लेखनी सैकड़ों वर्षों में भी नहीं कर सकती, किन्तु "अकरणान् मदकरण श्रेय" तथा वास्तव में "महापुरुषों के कुछ गुणवर्णन भी अपने आपको पवित्र करने वाले होते हैं" की उक्ति अनुसार यथा-सामर्थ्य कुछ लिखना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

इस वैज्ञानिक चक्राचौध के समय जबकि सब प्रकार के आनन्द के साधन मानव मात्र के इन्द्रिय सुखों को प्रदर्शित कर रहे हैं, उस समय ममम्त आकांक्षाओं को रोककर अपन आपको जैनसाधु के रूप में दीक्षित कर प्रतिवर्ष हजारों मील की पैदल यात्रा करते हुए तथा छोटे-बड़े नगरों में रहने वाले अज्ञान में लिप्त हमारे आवालट्टद्ध मानवों को अपने त्यागमय सादगी के जीवन के मार्गमृत अमृतमय उपदेशों का आप दान करते रहते हैं। आपने रुई पथभ्रष्ट तथा विलुठित व्यक्तियों को केवल मात्र दर्शन देकर या साधारण उपदेश से भी इतना प्रभावित किया कि अपने ममम्त जीवन के मर्चित दुर्गुणों को क्षण मात्र में ही त्यागने को उद्यत हो गये। यह मैं तो आपकी सच्ची तपस्या का ही वरदान समझता हूँ। आपके एक बार दर्शन करने वाले व्यक्ति की सदा यही लालमा बनी रहती है कि वह आपका सान्निध्य सदासर्वदा बनाये रखे। आपने भी स्वाभाविकतया सबको संभालते रहना अपना कर्मक्षेत्र बना रखा है जो कि हम सामारिक मानवों पर उपकार करने हेतु है।

•

मेरे हृदय में मरुधरकेसरीजी महाराज का स्थान

कन्हैयालाल सेठ, सादडी

मरुधरकेसरीजी जैनधर्म का आलोकप्रसारण करने के लिए इस मोहमयी विद्वन्मयी में मूर्ख के समान कार्य करने जा रहे हैं। निम्न प्रकार सूर्य का प्रकाश अति प्रखर होने हुए भी प्राणीमान के जीवन की स्थिति को बनाये रखने के लिये अत्यन्त आवश्यक होना है तदनुसार ही मशीन के प्रवचन बाहर से दीखने पर कठोर होने हुए भी इह-लोक पद्मोद के लिये श्रेयस्कर होने हैं। आपकी उक्तिचानुर्य के सामने लच्छे में अच्छे साहित्यिक भी द्रवीभूत हो जाते हैं। ज्ञान जन्म के गूढ़ रहस्यों को जनसाधारण के मानस में तथा अनिविचारवान् व्यक्तियों के लिये भी समभाव में मान्यता भी भाषा में गलत बनाने समझाने का सतत प्रयत्न करते जा रहे हैं। आपने देश विदेश में जैनत्व के प्रचार का बहुत बड़ा काम किया है।

आपका हृदय दुःखी पंडित एवं ज्ञान जनों के प्रति फूल में भी फीमल है, जबकि आप नियम पालन करने में बख्श में बड़ा हैं। आपके दर्शन या प्रवचन सुन लेने के बाद कोई भी व्यक्ति आपसे प्रभावित होकर आकर्षित नहीं हो सकता हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। प्रायः यही देखा गया है कि आपके उपदेशामृत को सुनने वाला व्यक्ति अपने जीवन में उन बातों को प्रायोगिक रूप में उतारने का प्रयत्न करता ही है। यह मैं आपकी तपस्या का ही उज्ज्वल प्रमाण मानता हूँ।

एक हजार वर्ष पूर्व या प्राचीन काल में जिस प्रकार स्वामी महावीर या लोकाशाह ने जैनधर्म की प्रक्रियाओं को अपने जीवन में उतारा उसकी शास्त्रनिष्ठियाँ को प्राणी मात्र को दिया ठीक उसी प्रकार आज हमारे सामने कालपर-परा में निर्गुण जैनधर्म का पुनर्निर्माण करने हेतु आप महापुरुष का जीवन हमारे सम्मुख है। आप निरंतर भ्रमण करने हुए जैनधर्म के ध्वज का, तथा उनके वाक्यों की मूर्तों का आलोक प्रसारित कर रहे हैं। मैं तो यहाँ तक भी रहने का महत्त्व कर सकता हूँ कि इस विचित्र परिवर्तित समय में जैनधर्म के अस्तित्व को रखने के लिये आपने अपना समस्त जीवन उत्सर्ग कर दिया है। आप प्राणदण्ड में इसी चेष्टा में लगे रहने हैं कि विश्वधाम्नि के लिये धर्म की प्रगल्भता तथा उसके नियमों का पालन येन केन रूप में बनता रहे।

●

विनम्र अभिव्यक्ति

भागीलाल भंडारी अधिष्ठाता,
सादडी गुरुकुल

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरीजी महाराज से आगन्वर्ष का स्थानस्वामी समाज बहुत अच्छी तरह परिचिन है। स्थानस्वामी जैन समाज को तथा, समस्त आगन्वर्ष के जैन समाज तथा मारवाड़ प्रान्त के जैन समाज पर भी आपके प्रेम, सहिष्णुता, त्याग, वैराग्य और चारित्र्य आदि का अमिट प्रभाव है। आपके जोखन्दी सम्पत्तिजन दर्शन चारित्र्यादि गुणों में परिपूर्ण अधुनतम व्याख्यानो में एवं वाच्यरम से परिपूर्ण कविताओं के कारण जैन व जैनतर समाज के आवागच्छद नर-नारी प्रभावित हैं।

आपका जीवन कष्ट में भी अधिष्ठत फल एवं बख्श में भी अधिक कठोर है। ऐसा सन्निधन उनीगिनी गोरोलर विभूतियों में ही प्राप्त होता है। जब भी आपके समक्ष कोई अनाथ अमहाय दीन छात्रवृत्ति का इच्छुक ब्रह्मचारी व दुःखी गेगप्रश्न आ जाता है और अपने दुःख में मुक्त होने की प्रार्थना करता है तब आप उसे सच्चे दिल से सान्त्वना देते हैं जिसमें कि उसे तत्क्षण शानि प्राप्त हो जाती है। वह अपने दुःख को विस्मरण कर देता है।





आप अनुशासन और सम्यक् के भी पूर्ण हिमायती हैं। इन दोनों के बिना समाज का अस्तित्व चलने में खामी नहीं है। इसी कारण मैं आपको कृता में श्री लोकशाह जैन मुस्कल मास्ती के भव्य विद्यालय प्राण में अग्रिम भारतवर्षीय स्थानकवासी जैन माधु मम्मलन एकलौभूत हुआ उसी समय तरीब ३०० मन गरी और पचास हजार धावरु-आरिकाएँ आयालवृद्ध नगर गरी मुपमिन्न थे। इनको एक मूत्र में गिरीने, सम्प्रदायवाद को समाप्त करने, आचार्य पदवी को सहायितार्थ समर्पित करने में आपका अथक परिश्रम, अनुमत्त त्याग, मधुर व्यवहार गयमानिष्ठ जीवन और सब सत-मनियों का स्नेहपूर्वक समझाना ही अथक काम आया है। इस वद्वमान स्यात्कवासी जैन श्रमण मधु व आरक मधु को समस्त भारतवर्ष में स्थापित करने में प्रमुख भाग आप श्री ही ने लिया है। इसके लिये आपको जितना भी धन्यवाद दिया जाये उतना ही कम है। जब कभी श्रमणमधु ही रहन समस्त मुनिजनों के सामने आ पड़ती है तब उस कठिनाई के समय आप द्वारा मन्त्र मरुधर के नाम प्रदर्शन कर दिया जाता है। यह आपकी अपूर्व मूर्तभूत का सफल परिचायक है। इसी कारण मैं प्रमुख मुनिजनों समक्ष-समय पर सहायितार्थ आपकी सम्मति की प्रतीक्षा किया करते हैं। आप जैने समाज को सुसज्जित एवं सुनिश्चित बना रहे हैं। आपकी मान्यता है कि साधुवर्ग और मनीवर्ग चाहें किन्ना भी समानिष्ठ चरित्रनिष्ठ क्रियाएँ करा न हों यदि उनके अनुयायी मन्त्र मुस्कलन सुमन्य विनीत न हों तो उनका गवणी जीवन मोक्षक दिन तक मुश्किल रहना असंभव तो नहीं मगर दुःख अवश्य होगा। हमारी जैन समाज के बालक व बालिकाएँ अधिक में अधिक मात्रा में सुमिक्षित हों, यमोदयन करें, विनीत बनें, जैन धर्म की शिक्षालता को अपनायें, यह पूज्य गुरुदेव की हृदय तमन्ना रहनी है। इसी कारण आपके मङ्गलदेन में प्रभावित होकर कई सम्भाव्य स्थापित हुई।

स्व० प्रधानमन्त्री श्री नेहरू का यह नाम कि आराम उगम है, आपने कई वर्षों में अपने जीवन में कार्यान्वित कर रखा है। आप एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहते हैं। हर समय कुछ न कुछ जन्ममान्य के हितार्थ विचार करते हैं या कविता या लेख के रूप में लिखते रहते हैं। आपके अनमोल उच्च गद्य, पद्य, कहानियाँ, कविता आदि के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। इनका प्रकाशन भी पूज्य गुरुनाथ जैन पुस्तकालय राजत मिटी न और बुद्धजी जैन स्मारक मण्डल जोधपुर ने करवाया है। जब आप विद्यार्थिद्वारा, समायण, महाभारत आदि रचनाओं को सुनाने बैठते हैं तो श्रोतागणों का हृदय ऐसा हो जाता है कि हम हर समय पढ़ा करें और सुना करें तो अच्छा हो। इनको पढ़े बिना या सुने बिना कभी भी जाने की उच्छा नहीं होती है। मन्त्र और सहाय्य रचना के एक कवि की असली पहचान भी तो यही है कि श्रोतागण या पाठकगण उसकी रचना को पढ़ या सुनकर अधिक में अधिक पढ़ने सुनने को आतुर हो उठें।

पूज्य गुरुदेव की अपने मिशन में सहयोग देने हेतु विद्या-विनोदी उपग्रन्थ श्री रूपचन्द्री म०, शास्त्रत्वभाव सेवाभावी श्री महेंद्र मुनिजी म० विद्यार्थी श्रीमुरुन मुनिजी म० जैसे शिष्यरत्न प्राप्त हुए हैं जो आपको प्रतिदिन प्रतिक्षण सहयोग देते रहते हैं और आपके आदर्श जीवन को अपने जीवन में उतारने के लिये मर्द सचेष्ट रहते हैं। पूज्य गुरुजनों की सेवा-मूर्तुपा करते हुए ये शिष्यगण श्रुतीय आनन्दानुभव करते हैं।

पूज्य गुरुदेव इस मरुधरकेसरी के केसरी हैं। आपका विहार प्रायः इस माग्वाड की धरा में हुआ है। जिस माति सिंहगर्जना को सुनकर सिंहाल, लामडी, हाथी, व्याघ्र आदि प्राणी रक्कूचकार हो जाते हैं उसी भाँति आपकी मध्यम-ज्ञानदर्शन से युक्त जिनवाणी की सिंहगर्जना का सुनकर भ्रम्यात्व, भ्रान्तान, हिमा, झूठ, चोरी, दम्भ, जड़पूजा, निर्दयता आदि तमोगुण भाग जाते हैं। जिस माति तिमिर मूय के उद्दिन होते ही स्वतः समाप्त हो जाता है तद्वत् मिथ्यात्वो देवी-देवताओं की उपासना, अज्ञानान्धकार, अनुकम्पारहित भावना स्वतः जहाँ जहाँ आपका पदार्पण हो जाता है वहाँ में समाप्त हो जाते हैं।

गुण गान

गिरधरात्मज सवाईराम शर्मा, सोजत

(तर्ज — वनञ्याम तेरी वगी हुमको भी मुना देना)

बुद्धमल गुरु के शिष्यवर, मरुधर के केशरी हो ,
 ग्युनाय सम्प्रदाय मे, मुनिवीर केशरी हो ॥ १ ॥
 मन्त्री मुनि श्री मिथीमल क्यो न केशरी हो ,
 अवतार शाह कुल मे, श्री सघ केसरी हो ॥ १ ॥
 मयम ले सिद्ध पद पे, अधिकार यूँ जमाया ,
 त्यागी हो जीतगागी, जिनवीर केशरी हो ॥ २ ॥
 गुरु बाल ब्रह्मचारी, वसु कर्म को बिडारे ,
 सिद्ध अष्ट गुन को धारे, बलवान केशरी हो ॥ ३ ॥
 सिद्धान्त सूत्र जाता, उद्देश के हूँ दाता ।
 भवि जीव तत्त्व बोधक, गुनवान केशरी हो ॥ ४ ॥
 उपकार भी अनेकों करते, सदा विचर के ।
 सत शील ज्ञान जप तप, तप-तेज केशरी हो ॥ ५ ॥
 धरते चरण जे भूमि, होती पवित्र धन धन ।
 बलिहाज इन चरण पे, मम ध्यान केशरी हो ॥ ६ ॥
 दयानिधि दिवाङ्ग गुन हूँ अनन्त धारे ।
 अनुचर लुक्वि सवाई, कवि किरत केशरी हो ॥ ७ ॥

श्रद्धेय मरुधरकेसरी, काव्य-काननकेसरी के चरणो मे

अम्बादान भट्ट, 'अम्ब' कुरहाया (राज०)

दाहा — जयजिनेन्द्र भवदुखहरण, मंगलकरण महान ।

चारवरण-तारनतरण, अमरण सरण निधान ॥

मत्तगयन्द्र — जो करुनानिधि राज निरन्तर, जाहिर जाकी विभूति भलाई ।

देवतरु सम "कामद-अम्ब" अघामुर हेतु हु यादवराई ॥

मशाय-लक विध्वंसक मारुति ज्ञाननिधान सुध्यास जुन्हाई ।

"मिश्री मुनीश्वर" मो कविराज, हरे मम मानस की जडताई ॥





मरुधरकेसरीजी म० के चरणों में श्रद्धासुमन

हरिसिंह वारहट, जोधपुर

महिमा "मिश्री" मुनीश की, पृथ्वी माहि प्रसिद्ध ।
 सेवा सधिया सापरत, शीघ्र कार्य व्हे सिद्ध ॥
 पारस-कहै सारा पुरुष देख्या आसन दोष ।
 ए "मिश्रीमुनि" है अठे, जन लीजो सह जोय ॥
 लोह दूर भेलो-परो, मूरख लोह समान ।
 पर मिश्री मुनि के परस, हाटक होतु महान् ॥
 है जु पख हमायुसी, मिश्री अख-महान ।
 शकलेत जन विश जरा, हुवे रकताहान ॥१॥
 ज्ञान मतवालो-आलां वालो जिनराय हू की,
 जैन उजवालो तेज-सविता समान है ।
 वर बुद्धिवालो वर सत्य-व्रत वालो सदा,
 श्रौत प्यालो पीन वालो सर्वगुणज्ञान है ॥
 भाषण भान वालो दुनिया को टालो बुद्ध,
 धर्म-ध्यान वालो झण्डो रोप्यो महान है ।
 भगती को भालो-चमकानवालो चहु दिश—
 "मिश्री" निरालो मुनि सयमी सुजान है ॥
 तुम केसरी देश-मरुस्थल के, अधनासन तेज गिरा उनी है ।
 फिरणा नित ज्ञान हू की प्रगटा, धर्मध्यान झलान रखे धुनी हैं ॥
 सतवन्त रटे अरिहन्त सदा, कर दर्शन होत खुशी दुनी है ।
 मुनिभीर धिभाकर से भव मे सुविवाकर जैन "मिश्री" मुनि है ॥
 घर अम्बर श्वेत भये यश से, रसभाषण हृत प्रजा भई हैं ।
 उमडे नित ज्ञानघटाभत ही, दशहू विश माहि छटा छई है ॥
 अध दीन दरा घट ज्ञान घटा, सुष आवक लोग भये सद्ध हैं ।
 सुख सान्ति सदैव "हरिसिंहरे" मुनि मिश्रीकृपा से बणी रही है ॥

केसरी हमारे है

मोहवर्तसिंह राठोर, 'मोवतेश'

सिधिल एण्ड ए० कोसन्स जज, जोधपुर

भीठे भीठे बदन वारे धर्मज्ञान देन हारे,
 शुभचित्त चैन वारे दया उर धारे हैं ।
 कहे 'मोवतेश' अहो, भालहू विशाल वारे,
 सार सार शास्त्रन को, मिश्री सारे हैं ।
 जैन मुनि कवि महा, करत कविता बहु,
 सिंहनाद सम कई ग्रथ रच डारे हैं ।
 औगुन हरन वारे, तप के करन वारे,
 धर्म के धरन हारे, 'केसरी' हमारे हैं ।

हमारे आराध्य

मोहनकुमार पूनमिया, साहित्यरत्न

हमारे आराध्य, श्रद्धेय, पूज्य गुरुदेव, मरुधरकेसरी, पंडितरत्न श्री मिश्रीमलजी महाराज साधुत्व के लक्षणों में पूर्ण तथा नपुष्ट हैं। यथार्थ में मरुधर के केसरी ही हैं। निर्भीक हैं। शेर के सदृश गर्जक हैं, जिनकी दहाड़ से मरुधर ही क्या समस्त समाज थरता है। उनकी भाषा में ओज है, उनके मानस में स्वाभिमान है, व्यवहार में अपनापन है। मानस स्थिर है। विचार स्थिर हैं जो अपने आप में स्पष्ट हैं। मत्यवक्ता हैं। निष्कपट हैं। सरल हैं। केवल त्रिधाकाण्डी ही नहीं हैं, जैसा अन्तर है वैसा बाह्य है। अन्तर्मन व बहिर्मन में एकरूपता है। बनावट उनसे कोसों दूर है। धूर्तता उनमें रच मात्र नहीं है।

पंडितरत्न हैं। शीघ्र कवि (आमुकवि) हैं। अजोड स्मरण-शक्तिमान् हैं। ज्ञान पुंज हैं। प्रकाश पुंज हैं। नेत्ररूप होंते हुए भी साहित्यमाधक हैं। ब्रह्मावस्था होने हुए भी अविचल विहारी हैं। शान्तदान्त हैं, वक्ता हैं, गायक हैं, कार्यकर्ता हैं, नेता हैं। नेतृत्व का क्षमतावान् हैं। पद-प्रतिष्ठा का उन्हें मान है।

वे दीन दुखी के प्रति कृपालु हैं, साथ ही आत्मनिष्ठ भी हैं, मामाजिक भी हैं और राष्ट्रवादी भी हैं। पुरातन और नवीनतम युग की मधि-कडी हैं। वृद्ध भी हैं, युवक भी हैं, धार्मिक जनो के हृदयसम्राट हैं। सबके अपने हैं। पराये तो किसी के हैं ही नहीं। ऐसे अनूठे व्यक्तित्व के धनी गुरुदेव का गत-गत अभिनन्दन।

•

श्रमणसंघ के केसरी

अमरचन्द मोदी

भारतीय सस्कृति व्यक्तिपूजा में नहीं, गुणपूजा में विश्वास करती है। मन्त भारतीय सस्कृति के प्राण हैं। सन्तो का जीवन आदर्श और पवित्र होता है। उनके दर्शन और प्रेरणा में जीवन पावन हो जाता है। भारतीय सस्कृति में 'मन्य' विचारों का केन्द्र माना जाता है। भारत की पुण्यभूमि में समय-समय पर सन्त पुरुषों के आगमन ने यहाँ की मिट्टी और हवा में अपने जीवन में, अपने उज्ज्वल कर्म में और अपनी वाणी में जो मस्कार-बीज बोये थे, वे आज भी त्याग-नपस्या और ज्ञान के रूप में अकुम्भित हैं। मन्त जीवन भारतीय सस्कृति का केन्द्र बिन्दु रहा है। स्थानकवामी समाज के युग पुरुषों की लम्बी परम्परा ने समाज को बहुत कुछ दिया है।

पूज्य मरुधरकेसरीजी म० म्यानकवामी जैन समाज के एक अनमोल रत्न हैं जिन्होंने समाज के लिये अगणि महान् कार्य किये हैं। मध ऐक्य के लिये आप हमेशा अग्रणी रहते हैं। आप प्रकाश-स्तम्भ की तरह विषयान्धकार में भूने-भटके जन-मन को सत्य पर चलने की प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं। श्रमण मध के निर्माण में आपका अत्यधिक योगदान रहा। आप श्रमणमध के 'केसरी' हैं।

•



पेखो मुनि मिथ्री प्रभा

पं० बालाराम 'बाल' जोधपुर

सोरठा

सद्गुरु ने सो वार, करु नमन कर जोर ने ।
 जिण निज विरद विचार, वर्ण बोध दीनो विमल ॥१॥
 अनुपम ओ उपकार, सद्गुरो स्वीकार कर ।
 सुगुन लिखू श्रीकार मिथ्री मुनि रा मोदसू ॥२॥
 घरकर उर मे ध्यान, आदिनाथ अरिहन्तरो ।
 कायारो कल्याण, करते मरुघर—केशरी ॥३॥
 सिद्धा ने सो वार, शीस नमावे स्नेहसू ।
 उर ज्यारो उपकार, माने मिथ्री मुनि महा ॥४॥
 अति उत्तम उपकार, उर मे घर आचार्यरो ।
 वन्दन बारम्बार, करते मरुघर—केशरी ॥५॥
 आछो ओ उपकार, उपाध्याय रो है सही ।
 सुत्तागम रो सार, समजायो मुनि मिथ्री ने ॥६॥
 अधिकारी अणगार, जेते हैं इण जगत मे ।
 व्हाने बारम्बार, वन्दे मिथ्री मुनि विमल ॥७॥
 सादर और सहर्ष, पूज पञ्च—परमेष्ठि पद ।
 उत्तम गुण आदर्श, मिथ्री मुनि मन मे नढे ॥८॥
 जबर वतायो जाय, सद्गुरु श्री बुधमल अहा ।
 जिणरे पुण्य प्रताप, मोहे जन-मन मिथ्री मुनि ॥९॥
 नाव सुद्ध हो भक्ति, सद्गुरु री कीवी सरस ।
 इण कारण आ शक्ति, पाई मिथ्री मुनि प्रवल ॥१०॥
 करन आत्म कल्याण, अपनायो गुरु-ज्ञान उर ।
 पेखो पुण्य प्रधान, मिथ्री मुनिरा जगमगे ॥११॥
 निगमागमरो नाण, गुरुमुख सेती ग्रहण कर ।
 काया रो कल्याण, करते मरुघर केशरी ॥१२॥
 सुत्तागमरो सार, सद्गुरु समजायो सही ।
 उणहीरे अनुसार, वाणी मुनि मिथ्री वदे ॥१३॥
 सुज्ञ न करते स्नेह, सुगुरु-भक्ति तज मुक्ति से ।
 अति उत्तम मत एह, मन मे घरयो मिथ्री मुनि ॥१४॥

काटन अरि करि श्रोथ, तरकस सम निज तोद मे ।
 बाण मरिस गुरु बोध, धारयो मरुधर-केशरी ॥१५॥
 जा दरशनरी दौर पद-दरशन दोरे सदा ।
 प्रतिपल उणरी पोर, धुनि मुनि मिश्री री धुके ॥१६॥
 जगरी ममता जीत, प्रभू पारस से प्रीत कर ।
 इन्द्रियजीत अतीत, वनिगे मिश्री धुनि विमल ॥१७॥
 हिय मे अति हरपाय, पारस—प्रभुरा पाय ने ।
 मिश्रीमल मुनिराय, पूजे प्रतिदिन प्रेमसू ॥१८॥
 भेदन नव—भय आन्ति, जाप शानि रो नित जप ।
 मिश्री मुनिरी क्रांति, पसरि याते पुहुमि पं ॥१९॥
 पूरन पाले प्रेम, नित्य नेम से निरखलो ।
 टाले टुक ना नेम, गुरु मिश्री गुनसिधु अस ॥२०॥
 क्षुपा, तृपा अरु, शीत, उष्ण आदि परिपह सहै ।
 पर ना तोड़े प्रीत, महावीर से मिश्री—मुनि ॥२१॥
 चार कपाय बिसार, पचमहाव्रत पेखलो ।
 ए मिश्री अणगार, पाले पूरन प्रेमसू ॥२२॥
 मुक्ति—हेतु तज मार, समयरे समरागणे ।
 ए मिश्री अणगार, जवरा जुझे जाबलो ॥२३॥
 अविचल धृति उर-धार, मार तणो मद मार के ।
 त मिश्री अणगार, महि मे विचरे मोदसू ॥२४॥
 जारन जग जंजार समय ले बुध सुगुह से ।
 पार ब्रह्मसू प्यार, करते मरुधर केशरी ॥२५॥
 तज तामस ततकार, उगविच समता आदरे ।
 पुष्ट इसासू प्यार, करते मरुधर केशरी ॥२६॥
 मन की ममता मार, जल मे रहता जलज जिमि ।
 ओ मिश्री अणगार, सादर जग मे सचरे ॥२७॥
 अनशन, कायाक्लेश, ऊलोदरि, भिक्षाचरि ।
 “रस परिहरु र हमेश” प्रतिसलीनता तप तप ॥२८॥
 प्रायश्चित्त र ध्यान, विद्युत्सर्ग स्वाध्याय पुनि ।
 वेयावच्छ महान, नपे विनय तप मिश्री मुनि ॥२९॥
 मन को रख मजबूत, मेख लेख पं मारते ।
 अंसे ओ अवधूत, मिश्रीमल मुनिराज है ॥३०॥





शोधन आत्म—स्वकीय, दीनवन्धु, गुनसिन्धु की ।
 कविता अति कमनीय, करते मरुधर—केशरी ॥३१॥
 धन सम अति-गम्भीर, गुरु मिश्री री सुन गिरा ।
 धरते मन मे धीर, चातक-से चातुर लखो ॥३२॥
 सज्जन को सन्मान, करते पै करते नहीं—
 मन मे अपने मान, कबहू मरुधर—केशरी ॥३३॥
 मुनि-मग की भयाव, पाले प्रतिदिन प्रेमसू ।
 पै पल भर न प्रमाद, करते मरुधर—केशरी ॥३४॥
 भञ्जन-हित भव-भीर, धीर बघावे धीर ने ।
 गुन ऐसे गम्भीर, गुरु मिश्री मे हैं धनें ॥३५॥
 देकर विद्यादान, शुचि शिष्यन की सर्वदा ।
 भद्रात्मा को भान, मिश्री मुनि करवा रहे ॥३६॥
 महिमा लखो महान, जग मे जिनकी जलद सम ।
 अल्प न पै अभिमान, करते मरुधर केशरी ॥३७॥
 गिरते आ जो गोद, भव-भय से भयभीत हो ।
 उनको दे आभोद, भलयागिरि सम मिश्री मुनि ॥३८॥
 चंचल चित चार्वाक, चरपर चरपर जे करें ।
 मिश्री मुनि की घाक, सुन शरमाये वे सभी ॥३९॥
 शरणागत को साज, सदाय हृदय से सर्वदा ।
 मिश्रीमल मुनिराज, सुर पादप सम दे सही ॥४०॥
 विमल सुधा सम वेण, दूर करे दिल वेण ने ।
 सुण सुख पावे तेण, मिश्रीमल मुनिराजरा ॥४१॥
 शील तणो शृङ्गार, अनुपम लखि के अग पर,
 मन मुझित हो मार, गुरु मिश्री रा पद गहे ॥४२॥
 जिनवाणी री जोड, फोड छोड, अडव न करे ।
 मन मे विमल भरोड, गुरु मिश्रीरे आ घणो ॥४३॥
 दम्भ-तिमिर को दूर, सतत कण-हित सूर सम ।
 मुनि मिश्री रो नूर, जगमगात जग मे जवर ॥४४॥
 करि-सम शत्रु करूर, कर्म करन चकचूर ओ ।
 मुनि मिश्री रो नूर, हेरो है हर्यक्ष-नाम ॥४५॥
 सन्तन की सुचि सेव, तन से, मन से, वचन से ।
 अलगो रत अहमेव, करते मरुधर—केशरी ॥४६॥

पेगो यह परतच्छ, विद्या, विनय, विवेक बल ।
 श्रमण-सघ के स्वच्छ मथी सोहे मिथी मुनि ॥४७॥
 त्यागी त्रिगुणातीत, बीतराग-पद फज के ।
 बनिगे और बनोन, मिथीमल मुनिराज ओ ॥४८॥
 छल-छिहर को छोर, दीर-दीर मिथ्यात्व द्रुत ।
 बनिगे भायुक्त नीर, मिथी मृनि-पद फज्ज के ॥४९॥
 दीन दुग्गी की दाज, देवि दया से द्रवित हो ।
 मिथीमल मुनिराज, छुनराये शिक्षा मदन ॥५०॥
 जग मे प्राणी जेह आत्म-सरित उनको अहा,
 निगि कने है नेह, मिथीमल मुनिराज ओ ॥५१॥
 यमु विपु मभ फर धर्य, नाल बाल शशि नादवे ।
 हुई प्रकट है हर्ष, पेगो मुनि मिथी प्रना ॥५२॥

•

प्रणाम अर्पण

मुदमत्त मुत्ता 'ब-पुष''

जय जय गुरुधन ! जयगुरुधाम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ।
 "मिथी मुनि शुभनाम तुम्हारा, लगना है मज्जी अति प्यारा ॥
 भाय भधुत्ता के शुभ धाम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ।
 तरण अरुन्धता मे जग छोडा, माया-ममता से मुह मोडा ॥
 धन्य-धन्य मुनिवर अनिराम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ।
 पिता दीपमलजो के प्यारे, 'केसर' अगज विधव दुलारे ॥
 ओतवश अवनम प्रणाम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ॥
 गुरुवर के जो गुण गण गावें, नव सागर से ये तिर जावें ।
 दुःख सबट बट जाय तमाम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ॥

•

सगठन के अमर साधक

कनहत्तिह, जैन

मम्पादक 'तरण जैन'

महामना मन्त्र-पूजारी प० रत्न श्री मिथीमलजी म० मा० मे मेरा सम्पर्क मेरे स्वनामधन्यमूक-समाजसेवक
 म्थ० पिता श्री बाबू पद्ममिहजी (मम्पादक जैन पथ प्रदर्शक, वीर लोवाशाह और तरण जैन) द्वारा ८-१० वर्ष
 पूर्व हुआ था । तभी ने श्रद्धेय मरघरखेमगीजी म० का अमीम हार्दिक स्नेह मेरे प्रति उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है, जहाँ
 तहाँ मुझे अनुभव है, आपके हृदय मे समाज के प्रति जो दर्द है, वह अन्यत्र मिलना कठिन है ।



समाज के प्राण में आपका विशिष्ट 'व्यक्तित्व' है। आप सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण से सर्वाच्चता रखते हैं।

अन्त में मैं परम श्रेष्ठ मरुधरकेसरीजी के प्रति हार्दिक मंगल कामना करता हूँ। आप युग-युगों तक इसी तेजस्विता-ओजस्विता के साथ चिरजीवी रहें।

मरुधरकेसरी सिलोका

जोगीलाल सेवक

समस्त शारदने गौतम गुण ज्ञाता, सानिधकारी करजो मुप जाता ।
 मिथी मुनि की महिमा मुख गाऊ, शब्द सुकोमल आपसू चाऊ ॥१॥
 मरुधर पाली में जन्म्या जयकारी, महता सोलकी जाति है श्हाणी ।
 सहस्रमलजो तात कहाया माता केसरदे निज कूले जाया ॥२॥
 रूप अनोपम बुद्धि रा सागर पूरा पुनर्वता वश उजागर ।
 बाल बुद्धि में विद्या बहु सीखी, बाल चतुराई देवी में नीकी ॥३॥
 सद्यत उन्नीसे गुणतर नामी, पाली पधार्या बुद्धमलजो स्वामी ।
 धाणी सुणोने वंरागी बैगा, दिक्षा लेयागा मुख से यों केगा ।
 स्वामी जी साथे आप सचर्या, मुयाजी आय गुरुवर सू लडिया ॥४॥
 मारा टावर ने सिखा कर लाया, आछी कीनी घर ताला जडयाया ।
 भाखे स्वामीजी म्होतो नहीं लाया पाछा चाले तो ले जायो भाया ॥५॥
 बोले वंरागी घरे पधारो म्हारे श्रावणरी आसा निवारो ।
 करियो ऋमेतो कारी नहीं लागी आखिर में सज्जम लीनो बड भागी ॥६॥
 बोलचाल ने थोकडा गहरा, सूत्र अठारा शिख्या गुण शहरा ।
 काव्य न्याय ने व्याकरण पढिया, विनय करी ने अच्छा गुण मडिया ॥७॥
 वर्ष सतरा लो सेवा गुरु कीनी, भवित करीने आशिसों लीनी ।
 समत उन्नीसे पिच्यासी वर्षे, स्वर्ग सुगुरजी पधार्या हर्षे ॥८॥
 विरह गुणघर रो खमियो नहीं जावे पल पल ज्याने यादज आवे ।
 आखिर विचारियो ज्ञान गुणवता, सधर छातो तो करलो सतवता ॥९॥
 केई विगयरा त्याग कर लीना, खाना पीना सब ऊँचा घर बीना ।
 सात द्रव्य तो राख्या गुण जाहर, सहन परिग्रह गुरु बनिया ज्योनाहर ॥१०॥
 वाणी अमृतसी वर्षे एक धारा, सुणतो हरसावे नर नारी सारा ।
 हेतु जुगती तो स्वामी इसठो जो मेले ग्यान गगा तो घर घर रेले ॥११॥
 कविता करवा में बुद्धि अनमोली मानो घट में तो शारदा बोली ।
 आसू कवि री पडवीजी पाया, चर्चावादी ता मोरे मन भाया ॥१२॥

नाम सुणतों ही पाछडी झूले, 'मिथ्री' मुनि तो सिंह ज्यो गुंजे ।
 रिसों चलनोडा केई आल चढावे, गुरु कृपा सू सारा बह जावे ॥१३॥
 छोटा मोटा परवा नहीं राखे, साची बात तो चीडे ही भाजे ।
 मिथ्या अधारों केई नामों ने टायों उग्रबिहारी काल सुघायों ॥१४॥
 गुरुकुल विद्यालय कई खुलवाया, लाखों ब्रह्मों रा दान दिराया ।
 उपदेश महा परचो है ऐनों, काय बन जावे मन चाहे जैसो ॥१५॥
 गुरु कृपापागर ने कृपा बहू आवे गोशाला केई नामों सुलवावें ।
 श्रद्धा पक्की है लाखों नहीं चूने, केई परवादी उभोडा कूके ॥१६॥
 जैन जर्म रा श्रद्धा लहराया दया धर्म रा ठाट लगाया ।
 पुण्य रघुपतजी गादी दीपाई, भलो सुत जायो केशरदे माई ॥१७॥
 चारों दिशा मे बाजे इक डको, स्वमत परमत रा आणे मन मकी ।
 सामी बोलन री हिम्मत नहीं होवे, निगुरा निदक छानेजी रोवे ॥१८॥
 छोटा मोटा कई श्रव बनाया, स्तवन चौप्यों रा पार न पाया ।
 स्वामी बुद्धमलजी सा साथे जो गाजे, ज्यारी गादी पं आप विगले ।
 कीर्तन कम्ला तो केल करावे, दिन-दिन स्वामीजी नाम दिपावे ॥१९॥
 साधू सम्मेलन सादटी माई, भारत रा मुनिवर मिलिया सब माई ।
 बाडा बन्दी तो जनता नहीं चावे, भेद गछों रा बधुनी दफनावे ॥२०॥
 मच्चियोझमेलो अद्भुतरंग छायो मानस मन्दिर तो एकदम पलटायो ।
 बीर नौकाशाह बीनी ललमारो, नूतोडा जाग्या सबही अणगारो ॥२१॥
 गुरुवर हमारा कमरा रुस लीनी, मनना गछो री सारी तज दीनी ।
 मिथ्री मुनिवर महनत कर भारी, प्रेम वर्षायो खिलगी फुलवारो ॥२२॥
 झूजो नम्मेलन सोजत गे नगो उठे पण मुनिवर बरियो उद्धरणो ।
 शहर बिलाडे दपलि आया, मध मारा मे हर्ष सवाया ॥२३॥
 अमावस सायन केरी छल आई, गुन्वरने दिल मे दया दर्शाई ।
 मरती मठीया नेरोकी वडभागी, मारण वालो रे तामस अति जागो ॥२४॥
 मारण रे काजे साढी वर्षाई, धन धन हो मुनिवर समता अपनाई ।
 शहर मारा री जनता जब हिलगी, बत्ती प्रेम री सारा में बजगी ॥२५॥
 हिन आखा में होगयो हाकी, नाम तो बढियो गुरुवरजी याको ।
 शतों मजूर होगी पल माहीं, लाभ कमायो स्वामी इत आई ॥२६॥
 जैन मुनियों री शान्ति जे केसी चौडें दिखलाई जनता में बेनी ।
 ताजुब तो पाया बड बड ओफिमर, इन्दी प्रम्या किम राजी इण अवनर ।
 लोग हजागे दर्शन ने आया, शहर बिलाडे आनन्द रंग छाया ।
 सुकन्त में रुपिया हलारो उडिया मोनारा आवर चौमासे मडिया ॥२८॥





वीरवल्लभ मठल रासेधर गुणदत्तिया, किनी भल भक्ति करके पेशिया ।
 कितरा गुण भागू बुद्धि छे थोड़ी, याग तीनाउन मने या जोड़ी ॥२६॥
 रूप मुनि की सेवा अति नागी, सत्त रत्नानी आनन्दनागी ।
 गुरु आत्मा में रहते उपकारो, धन्य धन्य मुनिदय जाऊ गनिहारो ॥२७॥
 दोष हजार धर्य दसरो, भाग कानि न मे पक्ष उजियारो ।
 ज्ञान पचमी धुधजवारो, 'जोनी मेधन' की विनाश घारो ।
 मिथी मुनि रो जस सयायो, 'विजयमोहन' तो जोड़ बयायो ॥२८॥

८

मिश्रीमल-वत्तीसी

कधिराज बढरोवास, एडबोकेट, जोधपुर

- १— नूमि धन धन वार्याउन, रीति मुत्तिया रो राज ।
जिण घर गानी जनमिया, मिश्रीमल महाराज ॥
- २— मगज राजम्यान मे, कौरी मगज आज ।
तु तानी कौरी जिणद, मिश्रीमल महाराज ॥
- ३— धन धन ह मारवरा, गारी पुन ती राज ।
जिण पाली मे जामिया, मिश्रीमल महाराज ॥
- ४— मा केदार पितु मेनमल, जोगमल दिन प्रा ।
जाया जठ पुजाचिया, मिश्रीमल महाराज ॥
- ५— वाचपणै रंगरा बह, करिया उजाति राज ।
चण्डिका भुल चाणा, मिश्रीमल महाराज ॥
- ६— जिण प्रभु जैनी धर्म न, जतो रीमो आज ।
बीले दुआ हि ज चल रत्ता, मिश्रीमल महाराज ॥
- ७— भान कबीरवर वीरवर, ताग मिरनाज ।
उण घरती मे अतर्वा, मिश्रीमल महाराज ॥
- ८— गती गुरमा द्वा मुहुर, बमंडीर मम राज ।
जिण घरती मे जामिया, मिश्रीमल महाराज ॥
- ९— उचनाष्टन रा बाहला, गहना करे अयाज ।
ग्यान तणी देवे मुद्रक, मिश्रीमल महाराज ॥
- १०— बाठा बहै व्याख्यान रा, ग्रीपम बन्मा गा ।
तू पायर कर दै तृप्त, मिश्रीमल महाराज ॥
- ११— अलग रहै आटम्बर, तपस्या रा मिरनाज ।
ज्ञानी ध्यानी अनगहर, मिश्रीमल महाराज ॥
- १२— बडभागी दयागी विहर, जाहिर पुन जहाज ।
चरण-मल दरसन करा, मिश्रीमल महाराज ॥

- १३— शुद्ध भाव हृद मादगी, लोचन भर्या लिहाज ।
निर्मल आत्मा अन निडर, मिथीमल महाराज ॥
- १४— शान्त चित्त हिय भाव शुद्ध, समता जाति समाज ।
मोठी नार्कि महामुनी, मिथीमल महाराज ॥
- १५— वर भाव बरें नही, तिनरो ड करो अकाज ।
नमदृष्टी नंदे नदा, मिथीमल महाराज ॥
- १६— गर्मी नदी नहि गर्म, समता मुख दुख माज ।
विग जूनी पैदल बहे, मिथीमल महाराज ॥
- १७— घूमे घर घर गाव प्रति, सारा तज मुग्रमाज ।
आछ रु छाछ अरोग ले मिथीमल महाराज ॥
- १८— जाणे म्याद न जीम रो, सूका लूका नाज ।
घर घर मूं ले गोचरी, मिथीमल महाराज ॥
- १९— जनता मे दागुनि करे, गाव गाव प्रति गाज ।
गजम्मान ने केमरी, मिथीमल महाराज ॥
- २०— मल्ल विनोबा माहमी, इणरे जिनी न आज ।
भूरो ह पैदल बहे, मिथीमल महाराज ॥
- २१— वृद्ध वीर त्रान्ति विहद, माहम पण हृद नाज ।
पैदल थके न पथ मे, मिथीमल महाराज ॥
- २२— प्राकृत मस्कृत पारमी, घण गुजराती गाज ।
टिगड ने दिगज कवी, मिथीमल महाराज ॥
- २३— कठिण व्रत कुण कर मके, इत बुद्धाई आज ।
माहम फूके आवको, मिथीमल महाराज ॥
- २४— मिष्ट नाथ ने आवको, माछवी जैन समाज ।
माग नै ट मुद्याख्या, मिथीमल महाराज ॥
- २५— फूट घटा पट फेलगी, इया मु हुवे अकाज ।
कूट फूट ने काढ दी, मिथीमल महाराज ॥

निवेदन

- २६— गीदट री गत व्हे गयो, नागे ई जैन समाज ।
मर दा वामे वीरता, मिथीमल महाराज ॥
- २७— त्रिन्ट भागई हिन्द रा, डालगडा ज्यू गाज ।
नगना फूरो व्हे निशक, मिथीमल महाराज ॥
- २८— व्यवसायी व्योपा घण, पूजोपत भ्रम पाज ।
दवा पाना हट को, मिथीमल महाराज ॥
- २९— फूट माहि हिन्दू फम्या, दिल मे पडी दराज ।
मगटिन मर मर शून्ता, मिथीमल महाराज ॥





- ३०— महावीर प्रभु आदि मही शून्वीर सिंगताज ।
अनुयाई उणरा करो, मिश्रीमल महाराज ॥
- ३१— अहिंसा वरतो अजल पग, सखला दया न साज ।
दमन करावा दुष्ट दिल, मिश्रीमल महाराज ॥
- ३२— वैष्णव वैरागी विहद, मगता मोड समाज ।
सगठिन कर समक्षा दो, मिश्रीमल महाराज ॥

•

श्रीमरुधरसिंहाष्टकम्

दे धकीनन्वन शर्मा, शास्त्री

यो हि क्रियाज्ञानविशिष्टरूप, सच्छिष्यरयातो बुधपु गवस्म ।
स्थितो मरी केसरिवन्मुनीन्द्र नमामि मिश्रीं गुरुवरवरण्यम् । १॥

रत सदा धर्मसमाजकार्ये, जेनेग्रमागंमतिक्रामति नो ।
सम्मेलने मन्त्रिपदेऽभिषिक्त, नमामि मिश्रीं गुरुवरवरण्यम् । २॥

गोवधरक्षाममिवाञ्छति यस्त्रिनिहि योगेस्तद् रत्नणे मन ।
विभेति नो दण्डप्रहार-मृत्यो नमामि मिश्रीं गुरुवरवरण्यम् । ३॥

कुयाददुःशीलनिवारणाय फडकेति नाम्ना जगति प्रसिद्धो ।
मधु इवामाति परोपकार्ये नमामि मिश्रीं गुरुवरवरण्यम् । ४॥

रजत-शुक्ल-नामधरी हि शिष्यो आचारनिष्ठो श्रुतसम्पदी च ।
ताभ्या सदा पट्टमिराजमान, नमामि मिश्रीं गुरुवरवरण्यम् । ५॥

ध्यानाद्विन्नश्यन्ति नवदुःखीया हाकिन्य हाकिन्य पिशाचभूता ।
अनीप्सितार्थ लभते मनुष्यो नमामि मिश्रीं गुरुवरवरण्यम् । ६॥

स्मरामि गुरुवर तव नाम पूतम्, न कामये राजपपव न ऋद्धिम् ।
जिनेश्वराद्यौ मम प्रीतिरस्तु नमामि मिश्रीं गुरुवरवरण्यम् । ७॥

श्रीनन्दनो यस्य पदारविन्दमहानिशो ध्यायति दत्तचित्त ।
श्रेयस्कृते भव्यजनेषु सूयान नमामि मिश्रीं गुरुवरवरण्यम् । ८॥

•

पद्यपुष्पाञ्जलि

श्री रघुवरदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य

मरुधरकेसरीति विरदालङ्कृताना विद्वत्कुलावतसाना
पूज्यमुनिवर्याणा श्री मिश्रीमल्लमहाराजाना
स्वर्णजयन्त्युषलक्ष्ये पद्यपुष्पाञ्जलि ॥

(१)

महस्यलालङ्करणेऽतिरम्ये पालीतिनाम्ना प्रथिते पुरे य ।
सहलमल्लाख्यपितुनिकाये श्रीकेसरीमातुरलङ्कजम् ॥

(२)

पञ्चाशताधिक्ययुते शतेऽभूर्चकौनविशे सलु वेप्रमेऽब्दे ।
महात्मानो यस्य जनु प्रशस्त पित्रोर्महासमदमाततान ॥

(३)

दैवयोगात्पञ्चमेऽब्दे जननीविरहे सति ।
ग्रन्थान्त करणे जज्ञे निर्वेदस्य शुभाकुर ॥

(४)

अनेकशास्त्राध्ययनेन शैशवे विद्वन्मुनीनामुपदेशनस्तथा ।
शर्नं शर्नं बृद्धिमवाप यस्य सा समारमोगेषु विरागभावना ॥

(५)

पुण्यात्मना लोकहितानुबन्धिना कामानुरागेषु न जायते मति ।
स्वकर्मवन्धक्षयमात्रभावना यतन्त एते ननु मुक्तयेऽनिशम् ॥

(६)

वत्सरे पञ्चविंशतो बुद्धमल्लमुनीवरात् ।
श्रामण्यदीक्षामादाय श्रमणत्वमवाप्नुवन् ॥

(७)

काव्यालङ्कृतिकोशशब्दरचनामभ्यस्य बुद्धेर्बलाद्
विद्वद्भूय परिलभ्यतस्तत्तन्निचय पाण्डित्यपूर्णा इमे ।
मिश्रीमल्लमहोदया मुनिवरा लोके प्रसिद्धिं गता
नानापद्यविधायकाशुकद्वय स्याता पुरुभूतले ॥

(८)

तपस्विन कोविदवशमानवो न केवल बुद्धिबलोपवृ हिता ।
शारीरसन्नापणशक्तितोऽप्यहो महस्यले केसरितामुपागता ॥

(९)

मरुधरकेसरिवर्या विहाय विपयवासनाजालम् ।
मयमवर्नपरीना निर्वाणार्थमेव प्रयतन्ते ॥





(१०)

समस्तजीवेषु दयालवोऽपि समारभोगेषु कठोरभावा ।
परोपकारेषु च मोदमाना कृपायवृन्देषु निरुद्धचित्ता ॥

(११)

अयं किं मातृण्डं स तु विपुलतन्तापनिवह
सुराचार्यं किं वा नहि तलु स नार्ककनित्य ।
अहो किं पञ्चास्यो नहि स पशुहिंसाप्रकृतिको
विशङ्कन्ते लोका मुनिवरमवेक्ष्येत्यमवनी ॥

(१२)

श्रीमद्भिः प्राप्तेभावलेन नितरा जनीयसदंशे
व्योतिर्व्याकृतिकाव्यपिस्तुल्यविधौ ग्रन्था अनेके कृता ।
नानापद्यमय विधाय विपुल श्रीभारत प्रस्तुत
यद् दृष्ट्वा भवता कवित्वपटुता सर्वैरभिज्ञायते ॥

(१३)

नानाशास्त्रविचक्षणा कृतधियो धान्पाटवालङ्कृता-
दृश्यन्ते भुवि मानवा बहूनरा शिष्यप्रदेयागमा ।
किन्तु ज्ञानसवृक्षकर्मकुशलाश्चारिश्रचर्यापरा
स्थल्पा एव भवादृशा ध्रुववरा लक्ष्यन्त अग्राधुना ॥

(१४)

सयम्येन्द्रियवाजिनो दृढतया चित्तं विशोष्यात्मन-
स्त्यक्त्वाभोगसुखा स्वयुद्धिबलतो बराग्यनिष्ठा इमे ।
दग्ध्वा कर्मतांति कृपायनिचय प्रोत्साहं त्वच्छान्तरा
निर्वाणंकरसा स्वधर्मनिरता मुष्यं यतन्तेऽनिशम् ॥

(१५)

मान्या मानविर्जिता भमतया मुपता मनोहारिणो
मर्त्याभोदमनोविनोदरसिका मात्सर्यमन्दादरा ।
माधुर्यामृतमण्डितान्तरधियो मोमुद्यमाना मुहु-
र्मोहध्वान्तद्विवाका मरुधरासिंहा महीमण्डले ॥

(१६)

परोपकारकंधिया भवद्भिः ध्यामण्यसद्य परिनिष्ठितोऽन ।
अनेकशिक्षालयनिर्मितिद्विच विद्यानुराग भवता व्यनक्ति ॥

(१७)

कालक्रमेणाद्य समाजमध्ये कुरीतयो भूरितरा प्ररुढा ।
तासां निरानार्यकृतप्रयत्ना स्तुत्या न वेया मुनयो जनानाम् ॥

(१८)

नान्नीनि यो वं परकार्यजात न एव सावु कथितो मुनीन्द्रं ।
मा मापुता मृनिमनो प्रदृष्टा भवन्तु लोकं तनयमानचित्तं ॥

(१९)

धन्याम्न एव भुवने नगपुङ्गवा ये
स्वार्यं विहाय परकार्यपरा नमन्ति ।
तेषां जनु मफलमत्र मनुष्यलोके
स्वार्यकृतिनिग्तान् नृपशून् मुहुर्धिक ॥

(२०)

जाडधान्यकारयतिनीकृतमानमाना
कस्मान्नुणा समनविष्यदिहोपकार ।
श्रीमद्दृशा मुनिर्ग न महस्यले चेद्
विद्वद्वरा समवतारमवाग्रहीष्यन् ॥

(२१)

आजन्मधर्मपरिवेणजातकीर्ति-
राधूर्यचन्द्रमिह गोक्मलङ्कुरिण्णु ।
त्वर्गं क्षितौ क्षितितले वसता जनानां
चेतश्चमत्कृतिमवाप्स्यति व समन्तात् ॥

(२२)

मन्यक् चारित्र्यलक्ष्या दिगलितरुतुपा मन्यमस्त्वर्चार्चा
मन्यरदुष्टेरवाप्त्या शुभनन्तिलमिता धर्मचर्यानुवता ।
सम्यग्ज्ञानोपलम्भात्ममुदिनस्त्वयस्त्वरेतां एते
मिथीमलानिधाना मुन्निवृत्तगणा कस्य न स्पृहंमया ॥

(२३)

अधीतमन्त्रलागमा नमुपलब्धबोध्योच्चया
शुभाचरणतीर्णिन प्रसृतशास्त्रचर्याध्वगा ।
नवाद्दशमनीषिपन्निचतुर्ग नवेष्टुर्यदि
जना भुवि कथं पुनं लुहतिन समे म्युर्नहि ॥

(२४)

धन्येयमद्य धरती भवदाश्रयेण
धन्या वयं मुनिवराद्भुतदर्शनेन ।
धन्याऽन्त्रिलथमणमण्डलिका भवद्भि-
र्यन्यो नराङ्गिरभवन् स्मिन् जैनमङ्ग ॥

(२५)

श्रीमत्स्पर्णजयत्वा श्रद्धान्मन्त्रमनोदमानचिन् ।
माञ्जलिबन्धमह भो पद्याञ्जलिं समर्पये व ॥





अभिनन्दनम्

कविभूषण रामचन्द्र शास्त्री, थावला

(१)

विश्वस्यप्राणिना यो वे, हिताचारपरायण ।
वरो विश्वम्भरो देव, प्रसीदतु दयापर ॥

(२)

प्रभवतु जन-यून्दहेयदुर्वोधहारी ,
सफलमनुजबन्धो ज्ञान-विज्ञानधारी ।
जयतु भुविस्तलेऽस्मिन् जैनसिद्धान्तसूयं ,
निमित्तनिरपराधो "मिश्रिमल्लो" मुनीन्द्र ॥

(३)

जैनसिद्धान्तमात्तण्डो मरुमण्डलकेसरी ।
यतीन्द्र "श्रीमिश्रिमल्लो" जीयाहं शरदां शतम् ॥

(४)

श्रीजैनधर्मगमपारद्वद्वा,
अहिंसया भासितविष्यदेह ।
विद्या-तपोज्ञानवरिष्ठवृत्त ,
"श्रीमिश्रिमल्लो" मुनिराजराज ॥

(५)

जिननयजननेता धन्यमत्री महात्मा,
विमलमत्तिविशुद्धप्रोक्तविज्ञानराशि ।
विद्युद्यजनसमाजप्राप्तसम्मानबुन्द ,
जयतु जगति बन्धो "मिश्रिमल्लो" कवीन्द्र ॥

(६)

यो लोकाञ्जिनधर्मकर्मरहितान् हिंसारताञ्छिन्नयन् ,
सच्छास्त्रप्रपटून्मनीषिमुज्जान्नित्य मुदा वर्धयन् ।
अज्ञानान्धविमूढबुद्धि- कुपयान्सन्दर्शयन्सत्ययम् ,
पूर्णज्ञानदिवाकर प्रतिदिश "श्रीमिश्रिमल्लो" ह्यटन् ॥

(७)

सेवकाना कल्पवृक्षो, बन्धो विश्वहितैषिणाम् ।
"श्रीमिश्रिमल्लो" विद्यात्मा, पावक पापसन्तते ॥

श्री मिश्रीमल्लमहाराजजीवनचरितम्

- १— ज्ञानागाधपयोनिमग्नरूपो ज्ञानप्रभाभामुग ।
ज्ञानश्रीनरगिवाञ्छितप्रदा ज्ञानाखिलप्रेक्षिण ।
ज्ञानाङ्गमवितामदिविभवा स्वात्मस्वरूपस्थिता ।
नाभ्यादिजिनेश्वरा शिवरुग व मन्तु मन्त्र नदा ।
- २— अज्ञानैकमहान्तरास्पदलीपाटात्मगामिनी ।
मृगनाम्नादमराग्यानविदिता चचट्टिपचीकग ।
मागमागविचात्राधनपरा विद्वज्जनमोदिनी ।
तरागजिनेश्वरास्यनिलया वागादिनी स्नाच्छिन्ने ।
- ३— चाश्रितमन्दनश्रीधनवाग्निवाह्यमान्स्वभावविमरीश्वरदात्मजी ।
दृगानीजिनागमपदु पराप्रदधाय बुद्धाभ्यमल्लगुगाट् जयताद्विनाय ।
- ४— मयागमादरमनेविमस्मृतीर्तेषांभ्यानिजग्गुगे कविपद्यमाना ।
श्रीमिश्रीमल्लमरुदेशमहामृगाणे मवर्णयामि चरित मुनिरूपचन्द्र ।
- ५— तत्राश्रममुनिर्नुमनिगिगनाम्नमग्नि वरायस्मृतिमृगपतिनिगमागमज
र्तन रश्मिवनिनामगुणानुप्रादे, मन्वेष्टागुणरश्मय ममान्तु मिदर्थ
- ६— श्रीमिश्रीमल्लमुनिगजगुणानुप्रादे, स्याद्वापनावचिदत्रोमममन्दबुद्धया
प्राप्तवन्तु त्रिवुपा मूनर मुनेन, नो नामिकाभ्रवुष्टिकुचनमाविदधु
- ७— शीतशोभनमिनोमिक्किलनीभिर्दोषोऽस्मि मेदुग्गम मिठ जाम्बुनाम ।
या विद्वज्जनगणे विभवप्रपाना, यन्मस्मिनाम्ननुभगा मुखिन सदैव ।
- ८— मा यत्र तीर्थविचारमुष्ठा, नगनते भाग्यभूमाया ।
स्वैर्मनुष्यैरपि निम्नानि मां दलाद्यने दशाध्यनमा मदैव ।
- ९— नत्र मनोया गिगो महान्त रालप्रजा मुनयश्च शान्ता ।
मन्यश्च नाथो गुप्ता गुणज्ञा, धान्यादिमम्पद्विपुठा च यत्र ।
- १०— दशरूपो यौवनयात्रिदेहा गम्भास्त्रागवपग विद्योका ।
ते निजग या बहुनामयन्ते मन्वे ततो भारतभूप्रधाना ।
- ११— त्रियाप्रभात्रे कमलानिराने, विद्याप्रधाने विनयैरमृते ।
मद्यागियोम्ये मल्लेष्टपू, पुण्येन जन्तु लंघतेऽय जन्म ।
- १२— वर्षेष्ट देशाऽस्मिन्देष्टमान्य विगाक्षमातेजमहामहेम्य ।
मगजते वरायनधनामा, धर्मप्रपानो गुरुदेवयवन ।
- १३— वैशाखात्मा वरचिदन्तरात्रे, यथास्मि मा मैकतपुजमाला ।
गम्पस्मनाप्येष विचित्रमेतत् सर्वैर्मनोवाटिनवस्तुदायी ।





- १४— तत्रास्ति पालीनगरी विद्याला, नामानुक्कृता बहुगुणिता च ।
धर्मप्रधाना नगरीप्रधाना व्यापारसिद्धा त्रिदिता हरित्यु ।
- १५— मन्ये च या सिन्धु नदी नदाश्च, सन्तर्जयन्तीव सगेवग्ण ।
केपा न मोदाय विराजतेत्र का माऽलका केवलनागगम्या ।
- १६— गव्य प्रभूत विपुल च धान्य, मुम्बादुमिष्टान्नमवातिशाकम् ।
स्वगार्गनाभाललना ललाभा-मन्ते श्रेष्ठिना यत्र त्रिगान्ति विज्ञा ।
- १७— श्रीजैनधर्मः सदया विशिष्टः यत्रास्ति दैवाद्वनाधिगम्य ।
तस्मिन् केपा श्रुतिगाचराभूत्सोऽमरमागिरप ।
- १८— वशेऽतिपुण्ये शुभकर्मवारी जज्ञे धनी पावनवृत्तरम्य ।
श्रीमान् यणस्वी कुलवाग्जिज्ञाको भाग्यन केपाप्रमलामिधान ।
- १९— अर्थानुकूला गुणराजयोस्मिन् प्रादुर्बभूवर्जलघी तरगा ।
काम्कान्न लोके कुरुते गुणीधो नैजास्त्रिपक्षभ्रमराभिवृत्तीन् ।
- २०— शाखीव नाऽकेऽमृतपायिना यो दाना पगक्षापिपूरकोऽभूत् ।
सोलकिवशे नितरा गराज पुण्य कृत धावति धावतीह ।
- २१— श्रीकेजरास्या गृहिणी तदीया जज्ञे गुणैश्चारुनमैर्विशिष्टा ।
नामापि यस्या निखिलागिधार्य रेजे च या येन सचाव धन्या ।
- २२— मा चेष्टमार्गं भुवि या मरुन्तु म्वान्तानुगा स्याच्छुभशीलभूपा ।
मैमी नलरय कियता न नास्ये, सन्तूयते शीलपरापरा वा ।
- २३— पुण्यात्मनो सौख्यमनन्तमेतयोर्भुजानयोर्मक्षु गता हि वासरा ।
कालेन कुक्षी शुभभाग्यगार्धि दधे च गर्भे गृहिणीमलस्य ।
- २४— प्रामाण्यं माता समये सुखेन, सत्पुत्ररत्न शुभयोगयोग्यम् ।
श्रुत्वा शिशोर्जन्म मुदा न पात्र, लेभे पितासी निजवधमानु ।
- २५— जाते भूते पुण्यनभे च ताता, माता तथा बाधवमिश्रवर्ग ।
लेभे यथानन्दमहो तथा त्व, वस्तु क ईश शरदा शतैश्च ।
- २६— हर्षाच्छिन्नोर्नामि चकार तातो, विसानुकूलमह बान्धवैश्च ।
मिश्रोतिमल्लो महता महेन, मिष्टान्नपानाभ्यरदानपूर्वम् ।
- २७— केलिप्रियोप्येव प्रभावधीरां, बाह्यं विनोदं सह पाशुलोले ।
श्रीदशच वालैर्नितरा जहाग, चेतासि पिशोरपि बान्धवानाम् ।
- २८— दैनन्दिन वृद्धिमवाप वाल शुक्ले मशीव प्रव्रतप्रभाव ।
वालपि तालश्चटुलोषितदश नवैषु बालेषु बभूव मुख्य ।

- २८ — मात्रिप्रदानं किं केन गोप्यं मिश्रगुणमन्त्रिन्वित्रिन्मरुतम् ।
हृद्वास्य नर्वे द्रिपणा विशिष्टाभाश्चर्यभाजं वनमे वसूदु ।
- २९ — तृतीयस्त्रिपदानवद्विजे, वालोऽननागौ विभया यशस्वी ।
उत्तम्य त्रिस्त्रिपदानवद्विजे वै जगत् नूनु पवनस्य किम् न ।
- ३० — प्रातिष्ठितशक्तिमिमां पितृना न, विद्याभयेऽप्यापत्पादमूले ।
उत्पन्नतारिण विद्या निघ्नानो, जज्ञेऽनिगिष्ठ श्रुतिमात्रनो हि ।
- ३१ — अत्रापिप्राप्यस्य निरीक्ष्य कृति त्रेतेऽनिर्हर्ष विषयेऽपिलेपि ।
घने पद ना किञ्च न्यचित्ते चानुर्यगाभ्योऽयमुद्रा गुणोद्य ।
- ३२ — निम्नात्मनादिगमनागौ अत्रान नान्ते निमित्तञ्च मिथ्या ।
स्याच्चेत् मुञ्च तत्र तथ प्रवर्गाणां तत्र नमूद मुमुक्षु क्षणेन ।
- ३३ — वंशप्रभासगुणा यदाऽत्र, शान्तात्मगेह पदमादवेऽलम् ।
नावद्गुणं दमलाभिधानो, भाग्येन पाली ममलञ्चका ।
- ३४ — श्रुत्वागतिं चननमस्मिन्, प्राजीगमनं सम्पुत्रमस्य मनु ।
ह्यौ न वेदा ममुनेन चात्र चित्तामणी पाणिगते प्रयानात् ।
- ३५ — नन्त्यागनार्थं नष्ट सधरेन, वाताप्यनी मुद्धमना जगान् ।
हन्वा त्वादननमात्मनीपी मेन अनुर्वन्धनम निनान्तम् ।
- ३६ — दीर्घेऽप्यगं गृहं सुगटे, राज्ञश्च चाग्निमणिप्रशानि ।
दशाग्रागुहा नाद्वनन्तरेऽत्र प्राणां पिबन्त्यान्तर्यामिणः ।
- ३७ — दीर्घमात्रा विधिवन्निगम्य, वाणी गुणवार्ता अप्य भव्य ।
दीक्षां प्रहीतुं मनसः प्रवृत्तिञ्च त्रे त्रिमा मनु फल्यमाने ।
- ३८ — दीक्षाप्रेक्षीय मनस्तु तस्य मोहेन दृग्गता जननी यमन ।
वयस्य तेन सत्मा विह्वलं तस्या जनो वाटनि पुनमत्र ।
- ३९ — नन्दापि शाली गुणा महव, तस्या विह्वलं मुदिता वभूव ।
नन्त्यान्त्यामा भन तावतामेता वयने वनापि विमुद्विष ।
- ४० — जानीय पुन निगोहमध्ये, द्वाग दिवाप्रावस्त्रात्र तान् ।
दीर्घप्ररात्रिचन्द्रवृत्तेऽपि, त्रे नादय एव चानीत् ।
- ४१ — मन्त्रा नदीपानिहता हि तान दीक्षाहने माव वयोचकार ।
प्रादायिचाक्षा विप्ररात्रयोग, तं यन्निमान् खण्डयितुं मनस्वी ।
- ४२ — वागापि वागा त्रुणादुतर्क, भाग्येन यो मुदिय भवेद्वि ।
लन्त्यान्त्यामा मुमुद विद्यीय, पर्वन्तरावेण तन्मन्त्रात् ।





- ४४— बाणाद्विनन्देन्दुमिते हि वर्षे वैशाखमासे मितवर्हपक्षे ।
श्रीसोजताख्ये नगरे मदेन, दीक्षा ग्रहीताऽऽभुवकर्महन्त्री ।
- ४५— दीक्षा च शिक्षा समकालमेव, स्वात्पीकृताऽनेन गुरुदयेन ।
राज्यञ्च पैत्र्य रिपुवाहिनीञ्च, गृह्णाति किं नो भुवि राजसूनु ।
- ४६— सम्कारित साधु चकार सेवा, बृद्धादिमल्लस्य गुगुस्त्रिदाऽग्रम् ।
मेवा गुरुणाम् मफली भवेच्चेत्-प्राप्य ततोऽन्यच्च किमस्ति लोके ।
- ४७— द्वात्रिंशसूत्राध्ययनैकदक्षो, जग्राह मार जिनभागीयम् ।
शब्दे च तर्क परास्त्रनागे, वेनेव मिन्धो प्रसृताऽभ्य बुद्धि ।
- ४८— दाक्षिण्ययोगाज्जनराजिमध्ये, प्याति सुनेगे मुनिगेय मद्य ।
ध्वान्न विनार्ण्यैव हरित्सु भानुर्धत्ते पद भिन्न च राजमान ।
- ४९— व्यायानदाने कविताविनोदे, लोकोक्तिवादे परबोधने च ।
काप्यस्य शवितर्हृदये रराज, प्राग्जन्मदत्त फलतीह सर्वम् ।
- ५०— शुश्रूषमाणे सुगुरो दिनानि, श्रौतार्थतत्त्वान्तरबुद्धिबोधे ।
यातानि कालो मत्ता मदैव, मत्कर्मणा याति शिवाध्वहेतु ।
- ५१— समार एष क्षणभगुगो हि, नित्या स्थिति कस्य न चात्र दृष्टा ।
कालस्य पन्था कुटिल करालो, नापेक्षते क समये कदाऽग्रम् ।
- ५२— पञ्चाष्टनन्देन्दुमिते हि वर्षे, निर्वाणमाच्छन्दगुरुबुद्धमल्ल ।
नाम्ना गुणै को गुरुराजमेन, वयत्तु समर्थो गुरुगौरवाढ्यम् ।
- ५३— यातेऽभ्ये वारिधिधीरभावो, मिश्रीतियोगी स्वगुगो दयालो ।
तत्राटराजी गुरुता दधान सर्वाङ्गिगमान्य ममभून् क्षणेन ।
- ५४— शोका गुरुणा मनमोन्तराले, कीदृक् कय तस्य स एव वेत्ता ।
जानी यथा ज्ञानमहामाहात्म्य, जानाति नान्यो विषयी विरोध ।
- ५५— वैराग्यमूमिर्मुनिरेष धीमान्, मद्योत्थामास समाजमध्ये ।
आस्थाङ्गुरोश्चारुविचारवामा किं हेलिरक्षिन्मनच हेलिरूप ।
- ५६— ध्यानक्रियाग्रहातप ममाविद्योगैश्च यार्थ्यमुनिमिष्टमल्ल ।
धन्वे बिहार परितो विक्षेपात्, कुर्वन् केपा विदितो वसूच ।
- ५७— शवितश्च सा वापि यया मुनीशो निर्दम्भनिर्भीचिचरत्यल की ।
भद्राणि कार्पाणि वचाविदासै सङ्काश्यत्यत्र बहूनि योगी ।
जैना परे वैतर्क्यशैली दृष्ट्वा जहर्ष प्रकृतिगुणानाम् ।
ग्राह्यो गुणत्र मन्त्रै मदैव, नो पक्षपातो गुणशम्भि पुमि ।

- ५६— वार्णां यदीया श्रुतनाम्पूता, नार्थो नरा वा भवभावभेदीम् ।
श्रुत्वा क्रियन्तो विरता बभूवुः, मिद्धि मदावाचि महामुनीनाम् ।
- ५७— उत्पातबुद्धे पुरतोऽस्य केपि वादे रुदा नो जयितो बभूवुः ।
गैलप्रमाणापि घटा गजाना, का रक्त्तवक्त्रैणपते पुरस्तात् ।
- ५८— इभ्येऽल्लकेषु ननु दीनवर्गो म्वीये परे वा गतक्षपात् ।
वक्ता ययार्थस्य यतोऽखिलेषु, मिश्रीतिमिष्टोपि बद्धुप्रवाद ।
- ५९— सर्वत्र सर्वेषु ममानबुद्धिर्योवा भवेत् भोत्र महामन्त्रात्मा ।
भेदे जिनोक्तौ व्रत दोषपातो रक्षा ततोऽस्या मुनिभि सुकार्या ।
- ६०— मिथ्यान्धकारम् निजबोधदीप्या, सञ्चक्रमाणो हृग्तेऽखिलानाम् ।
थेयो द्वयो कीर्तिकर मदैव कम्बो न बाडेद्धि विना समूढम् ।
- ६१— उग्र विहारी मुनिराजिचारी, वाग्मी जिनादेशपथप्रपाली ।
चञ्चन्मुनिश्चैष जन मुभापी, तोष्ट्यमानो नितरा विभाति ।
- ६२— विद्याधन सर्वधनप्रधान, बुद्धधेति सर्वत्र मुनीश एष ।
विद्याभिवृद्धयै विमलोपदेशै प्राचोऽग्रच्छादकवर्गमादौ ।
- ६३— प्रोद्धादिता येन पुरे पुत्रेण विद्यालया जीवनमारभूता ।
इत्यट्गदै पीडितजीवरात्रे, कल्याणहेनोविविधौपधौक ।
- ६४— धन्या जनि सैव यका जनाना दुःखौघनाशाय मदोद्यतास्ति ।
जीवन्ति नश्यन्ति परे मुद्यात्र, सजा पर हा गणनाभिकाले ।
- ६५— मन्दाष्टनन्देन्दु मिने च वर्षे, मामे शुभे फाल्गुनशुक्ल वक्ता ।
पाल्यामभून्मेलनमार्थद्वेषा, धन्वीयपट्पूज्यमुनीश्वराणाम् ।
- ६६— नम्मिन् गुणैर्मन्य विकृष्टचित्तं प्रादामि तन्मन्त्रिणद मुनीशै ।
सत्सम्प्रदाये रघुनाथकस्य, योग्ये रुचि कस्य भवेन्न पुमि ।
- ६७— सा मादडी कस्य न कर्णमूला, व्योमोन्नत यत्र विभाति दिव्यम् ।
गुर्वादि कील मुनिमिश्रिकीति मद्योत्तयद्दिष्टु प्रकाशमानाम् ।
- ६८— मधे तथा यत्र विभेदताऽऽनीतत्रापि मेल मुनिरेष चक्रे ।
यक्ने प्रभाव किल चेद्व्यास्ति सर्वत्र ना नो विरले च पुसि ।
- ६९— गोगोष्ठदीनादिमहत्सरेभ्य मन्दापित दानमनेन भूरि ।
पद्माविरामोपि गुणैर्जनेभ्य कल्पायते या मरुदेजसिंह ।
- ७०— मधट्टन नित्यमसौ करोति, धर्मद्विहेनोजिनशायनस्य ।
ग्रामे पुरे श्रावकमधकस्य, मधे कलौ शक्तिरपूर्वशस्त्रम् ।





- ७४— धन्वे प्रचारो मुनिना ह्यकारि धर्मस्य तस्मान्मुदितो हि मध ।
धन्वेणमिह पदमिन्धमस्मै युत ददौ तत्र गुणा हि हेतु ।
- ७५— व्यस्तारि वर्मा जिनग्रामनीया नादस्तथाऽकारि दयापद्वया ।
प्रादायि यस्मै पञ्चभिश्च चाजीर्यागिश्चिञ्चिञ्चिञ्चि त्वितिष्ठुवाणै ।
- ७६— यो दीपयामाग विद्या मुभूति , पाट गुरो श्रीगुणावक्रम्य ।
पात्रे च शिष्ये विमला क्रिया वै, सद्य फलन्तीहृत्कारमुक्ते ।
- ७७— मन्ये प्रसू सा वरकेशराख्या कुशो च यस्या सुत ईदृशोऽभूत् ।
यनात् भूम्ना वृषवैजयन्ती चारोपिता शामनयूपमूर्ध्नि ।
- ७८— पत्युग्रहाणा पुरतो दशा या दीपस्य सैवास्य पुर परेषाम् ।
जाता, प्रभावो महता सदैव सर्वत्र सर्वेषु पद विधत्ते ।
- ७९— ग्रन्था क्रियन्त कविकोविदेन, विनिमिता उत्तमशोधपूरा ।
आस्थेऽस्ति यस्यामरभारतीता मन्ये च मित्रि कण्डू कजेऽलम् ।
- ८०— ध्यानस्थराजद्गुरुवृद्धमल्ल-पादाब्जरोलम्भगारिरेप ।
तत्ताटमिहासनमार्यमार्य मन्दीपयत्यत्र मगी नमस्ते ।
- ८१— यत्कीर्तिपद्मा मृगदा मनोज्ञा, चान्द्रीव ताप हृते बहूनाम् ।
अद्यापि य कीर्तिरमाप्रमादात् सम्पूज्यते देव इवात्र पुष्पि ।
- ८२— मा मादटी मादरपूजिताऽभूत् सम्मेलनेनैव महामुनीनाम् ।
तत्रापि वादे मुनिरेप रेजे चक्रीव भूपेषु रणोद्यमेषु ।
- ८३— जैनागमेन्द्रप्रसिद्धशाम्भ्रे, दक्षस्य चास्य प्रतिवादिनस्ते ।
सूका इव क्षीणप्रभातयून्या के के न जाता प्रथित यशोऽन ।
- ८४— आचार्यमुख्या मुनयोऽपि चासन् गम्भीरवादस्य विप्रदिनकायाम् ।
वक्ता यथाय निरपेक्षतोऽभून्नान्यस्तथा केपि वदन्ति विजा ।
- ८५— मस्याप्य कीर्ति मुनिमेतनेऽथ, देवेन्द्रिवाचार्यगुरुर्महीयान् ।
वभ्राम भूयस्नकमिद्वयेऽल, धन्वान्गालेषु पुरान्तरेषु ।
- ८६— श्रीमोजते मन्त्रिमहामुनीना निर्व्याजमाकार्यपरम्परायाम् ।
मन्दर्शयामास प्रभावमेव, धान्त्या यत् मिद्विरभूत् क्षणेन ।
- ८७— शैवेन्द्रप्रत्यावलिमिन्द्रक्षस्य मेघावलि वायुश्चाति गाढाम् ।
दाग्निद्रव्येण तर्कस्मुराणा चिच्छेद मिश्र मरुत विवादम् ।
- ८८— तद्वेपमाग अपि ये महान्तरनट्वाक्-छटाभि स्त्रयमेव लीता ।
अग्रे मुराणा गतितो गति का वर्षाभिहाले प्रचलन्नीनाम् ।

- ८९— दृश्यं मुनिनिष्ठं महार्थनामा श्रीरत्वबोधस्त्वयदुत्त्वभावान् ।
नमस्मलनादी बहुधा विराग, मगजतेऽनरुणशान्तिवान् ।
- ९०— तायोनिं भूमीनि निजोपदेयैश्चक्रे मुनिः साधु गणेष्वगारि ।
तेनाश्रयेण परदेयकेन, मित्राभिधानेन प्रसिद्धिमेति ।
- ९१— नृयेन्दुन्यात्रिमिते च वर्षे, श्रीमद्विनाडानममधवेन ।
नम्राधिनोऽप्य विनयेन मार्गा, वर्षाभिधानां कवीन्द्रनिध ।
- ९२— स्त्रीकृत्य तेषां विनयि महात्मा, मन्त्रागनेन पुग्माविबेज ।
व्याघ्रानुगाभिर्देविना मनसि, प्रानोपयन्त्याः पराप्रवीण ।
- ९३— तत्रास्मि नाम्ना पुत्रि बाणगङ्गा मदान्ठतोया विमलप्रवाहा ।
पाठोत्तराजिनिजकेलिगोला, मगजते यश्च लिमालनीया ।
- ९४— तान् त्रिमनो मुस्मिमलोडिमान्, गच्छन्मुनिः स्मरितभूमिकायाम् ।
दैवेन हृष्ट्वा कणापयोऽस्मान् धान्नवृत्त्या प्रथमं त्यपेक्षीन् ।
- ९५— कृग प्रकृत्या यवना हि हिवा वागन्तरा मृदु विनकाय शका ।
नो मेनिरे वाचमयी हसन्तो, मृदा यथा ज्ञानिवच प्रमाणम् ।
- ९६— वैदेशिकं कञ्चन तत्र काजी पीनाङ्गप्रगटितनिरा विभूत ।
पाण्डेयस्य जग्मुस्त्वगितञ्च बाला वत्सा यथा मानग्मात्रजलीम् ।
- ९७— धृत्वा च काजी मुनिवर्जनादि, मोक्षेयं योऽदु मयमाचुकोप ।
मृदो विचारं मुनिमेव हन्तु, व्याधो यथा गा सरयुगिकाऽभूत् ।
- ९८— रग्नेक्षणश्चामु मुने धरीरे, त्रि यष्टिदृष्टि विदप्रश्चकार ।
दम्भोनिपात गिरिवन्मुनीश, समोदवान् कर्मप्रधानमन्ता ।
- ९९— काशदनादेर्महता स्वभादश्चायां परम्यात्ममपेण हि ।
छायाङ्कितेव तत्र स्वमेतुर्नु मूर्ध्निगन्धो हि तथा कुठारे ।
- १००— ज्ञयायमेत मुनिर्यचन्द्रो, हृष्ट्वाऽहं न मौम्यः । कगेपि कित्वन् ।
वाणी मदः मिष्टमयी मुनीना, जैत्य हिमायाग्वि राजतेऽत्र ।
- १०१— तस्मिन्लपि स्मेन्जनिस्त्वरैव, चक्रे प्रहारलगुडं त्रियद्वि ।
शान्तिं स्वनेभ्यो न च रोचनेन नीनिर्यथा गृह्णुमहीपकेभ्य ।
- १०२— मिश्रीमुनिमौ नितयैव धीरो, यमोक्त एवागमदायभाव ।
रष्टे प्रभूतेपि जगाद नैव, श्राद्धान् परान् वा प्रतिशान्तचेना ।
- १०३— ज्ञान महानिष्टमिदं जनोयै सर्वत्र वाक्ता प्रमया नद्य ।
श्लाघ्यमाना नवनीह केपा, शोकाय नो हेल्नि राट्टयोग ।



- १०४— दुष्टो विमूढो यवनो दुरात्म पाणिङ्गतोऽमूलगुडप्रहारी ।
रुद्ध गलोऽसौ नगरान्तरीयैर्भेद विहार्यैव मुनिप्रतापी ।
- १०५— हस्तव्य एष श्रमणप्रहारी, सर्वैर्मिलित्येति मिथ्या न्यगादि ।
केचित्मकोपा लगुडैस्त्वरैः, चाद्गाभिभङ्गोऽस्य विधेय आहु ।
- १०६— इत्यञ्च नान् ज्ञान्तिपदाभिग्रापी, क्रुद्धान्हो धैर्यगदागलम्बी ।
मिश्रीति यागी मदयोन्यपेत्रीत्पन्था सदा ज्ञान्तिमयो मुनीनाम् ।
- १०७— जिनवचनप्रमाणी योगिराट् वा परो वा, परम्कुशविघाती जायते नो कदापि ।
कुमतिगयनमलने योगिमिश्रीदयावान्, ममजनिशिवमार्गश्चान्यथा लभ्यते वै ।
- १०८— निजचरणरताना भक्तिभाजा नराणामुपरि यदि दयानु स्यायंता तत्र हेतु ।
परमरिपुजने योऽनाद्यवादोपितनिष्ठे, भवति मदयनाय न मुनि कर्तव्यम् ।
- १०९— दक्षिणि हिमकदम्बे चन्दने जीतता या, मुमुनिगणनानात्तरलम्बीति मन्ये ।
कनकरजतमणीना भूषणान्यत्र पुमानथ परममुनीना भूषण ज्ञान्तिरेव ।
- ११०— अतिविदयप्रहारी पीडितोऽप्येष योगी मधुरवचनयोगाढोऽयामास सर्वान् ।
अमु-रहितकृतेस्मिन् मज्जना वात्रसिद्धिनिधनपथविचारस्त्यज्यता त्यज्यता भी ।
- १११— भद्राभिवादी मुनिराह भूयो म्लेच्छैरमीभिर्यवनैः ममस्ते ।
सन्धाञ्च तिस्र परिपालनीया कल्याणवाछा ननु चेदमीषाम् ।
- ११२— मीना न मार्या जलहर्म्यभाजो, निष्कापनीयो यवन प्रहारी ।
कार्यास्तथाजा अमरा इदानी, तैरेकविंश प्रतिपष्टिमस्या ।
- ११३— वृत्त मुनीना परम पवित्र यत्ते सहन्ते स्वयमेव कष्टम् ।
नो चेत्स्मिन्नेव धर्गणि कथ स्याद् धर्मस्य पन्था हि मदोज्ज्वलोऽयम् ।
- ११४— इत्य ममाधानमय मुनीशो धर्मैकनिष्ठ पुरतो ममेषाम् ।
चक्रे च सर्वैर्यवनैर्मिलित्वा, सर्वं च तत् स्वीकृतमेव सद्य ।
- ११५— हिंसापि नाभूत्त्रयन वृषभ्य, जाता च मिद्धिर्मुनिवाक्प्रमाणा ।
देहो विनाशो ममता मुघा का, पाठोऽयमस्मान्निघिलैरपाठि ।
- ११६— ये राजकीया पुरुषा प्रघाना आमन्मुनेर्वृत्तमिदं समीक्ष्य ।
कर्तव्यमृद्धाश्चकिता बभूवु शिक्षा च शान्तेर्हृदयेषु दद्यु ।
- ११७— अद्गाभिभङ्गोऽपि सुशान्ताभावो दुष्टे मुनिश्चैव कृतापराधे ।
इत्य वृत्राणाञ्च मिथोऽस्त्रिलास्ते, श्रद्धायिता स्वरमयुर्यवेष्टम् ।
- ११८— वृत्तान्त एष त्वरित दिशासु, प्राजीगमद भेव दिवाकरस्य ।
श्रुत्वा हि भक्तेषु पद दत्ताते, माक ध्यथाकारकमन्युशोकी ।

- ११२— तद्वृत्तबोधाय च दर्शनाय श्राद्धा कियन्तस्त्वरित प्रचेलु ।
श्रुत्वा न किं यान्ति भटा ग्णाग्रे, कष्टे परीक्षा भवतीह पुमान् ।
- ११०— वृष्टिस्त्रिदाऽमृद् हृदिस्वगत्मा याऽदृष्टपूर्वा वनतारकाणाम् ।
जैपूरगज्जरेऽथ मुने प्रवृत्तिः कान्कालं सस्यान् विक्रीचकार ।
- १११— मृषात्रदिवपालप्रधानभृगो, दृष्टा न चेत्येकं ताग्वृष्टि ।
कां मुनिर्यस्य हृते प्रयानो, जाजायते जैनसमाजमध्ये ।
- ११२— जैनेषु मिथीमुनिनाम एष स्यात् पुगर्मादनुनाशितेषु ।
पञ्चेषु मान्त्रेषु मुनीश्वर्येषु विज्ञोपि भद्राय तथानिकीर्त्ये ।
- ११३— यैर्वृत्तमश्रावि मुनेरिदं हि, शान्तोदधेस्तैजिनवापभाणाम् ।
प्राग्निं धमा मुनिगङ्गा विज्ञेपाल्लोकोत्तरे पुमि न पक्षपात ।
- ११४— इत्येव विनाशानगरे स्वकीति नम्याप्य मिथी गुरुगोत्राद्य ।
वर्षान्तकानि विह्वलिञ्चकार, नैकनवामा मुनयो भवन्ति ।
- ११५— ऽन्वस्यदेहेषि जिनेश्वरगणामानुवर्ती प्रतिपोग्मेप ।
गच्छञ्जनान् अर्पये प्रभावी मन्त्रापश्यायु निजान्तरान्वा ।
- ११६— विनाशानगरेऽप्योऽन्वस्योऽपि दिव्यमस्त्वन ।
विह्वन्तायथी पाल्या यनामन् मुनयस्त्वमे ।
- ११७— नदानन्दमना शिष्यैः प्रशित्यैश्चान मेविन ।
स्ववीर्यान् शक्तिमान् दयानी, श्रीमच्छात्रूलमिहक ।
- ११८— उपाचायपदामीना गणेशीलालयोगिन ।
इनरेऽपि महाभागा मुनय श्रुतशान्ति ।
- ११९— मन्त्रीर्चिता ध्यवस्था नै, मधस्य तत्र नामवत् ।
यत्नेनास्य मुनेस्तत्र स्थापित श्राद्धमघव ।
- १२०— बालोन्नगमहारी गत्वने मुनिपुङ्गवा ।
दिव्योपदेशदानेन स्थापितस्तत्र मघव ।
- १२१— नरामीद्वहुभिर्वर्षे मिथ मधे विभेदता ।
माऽभेदि शान्तिनो मान्यैरिन्द्रेणैव गिरिज ।
- १२२— नाकाहापाश्वनायेऽमृत् नद्यो हि मिलिनस्तदा ।
तस्य प्रार्थनया तत्र जग्मुर्गते तपस्विन ।
- १२३— मन्त्रैक्ये मुनिभिस्तैश्चो दत्तोपदेशमालिना ।
गणद्वेषी विहायैव कार्यं कार्यं प्रयत्न ।





- १३४— इत्य सर्वत्र सर्वव्यस्थापनाविषये मुषी ।
परामर्शञ्च प्रस्तावाश्चक्रे धामनवृद्धये ।
- १३५— साचोरादिप्रदेशेषु प्रथम पदमादधे ।
प्रतिपीर प्रतिग्राम यद्य स्तम्भ नियोजयन् ।
- १३६— श्रीक्षायनगरे रम्ये चन्द्रमृदून्यन्तरे ।
राकाया चित्रमासे च शुवीदयगुभायके ।
- १३७— महोत्साहेन मघम्य राद्यघोषपूरम्भरम् ।
दीक्षाऽभूत्पूर्णमल्लस्य श्रीमन्मन्त्रिमुनिभिः ।
- १३८— मन्नादीक्षा ततो जाता दाम्प्यानामपुरान्तरे ।
तत्रापि वरसघेन महोत्साह प्रदर्शित ।
- १३९— जालोरनगरे तस्मादाययी मन्त्रिराह्वयम् ।
वापिकपारणाहेतोस्तत्राभीष्टापि तप ।
- १४०— दुग्धाढानगरे चामीस्त्वामिनागायणो मुनि ।
सर्वमान्य प्रसन्नात्मा तदानी गेगपीडित ।
- १४१— तन्त्रिरामयपृच्छाया धन्वेणकेमरी तन ।
दुग्धाढानगरे रम्ये प्राढीकिष्ट महापथा ।
- १४२— समदडीमहापुर्यां दुग्धाढायास्तथैव च ।
सर्वव्यस्थापना चक्रे मुनिनाऽनेन मन्त्रिणा ।
- १४३— पालीपुर्यां महापुर्यां ततोऽपि जग्मिवान् मुनि ।
सीवाणास्यमहासघदचाययो तत्र गायत ।
- १४४— सेवाणापीरसघेन चातुर्मासाय प्रायित ।
रूपेन्दुमुनिना तत्र चानुर्मानाय मस्थित ।
- १४५— चातुर्मासे पुरे तत्र धर्मकार्याणि भूरिण ।
जातानि जानवृद्धिश्च भाग्येन मुनिसगम ।
- १४६— सर्वव्यस्थापना तत्र श्राद्धानाहूय सर्वत ।
कारिता पुष्टये तस्य द्रव्यकोशोऽपि पुष्कल ।
- १४७— प्रवचनपटुचारो न्यवकृन्नाङ्गचार श्रुतकलगन्धारस्तीर्थपदेशधार ।
मरुधरमृगनाथश्चातुरीसिन्धुपात्रं जयतु जयतु दीर्घं ज्ञातसिद्धान्तसार ।
- १४८— श्रीमन्मुनीना गुणवर्णनेन, कल्याणमान्धा भवता जनानाम् ।
बुद्धयेति तावच्चरित मनोज हृदय मया स्तात् पठना शिरात् ।

श्रद्धासुमन-समर्पण

शान्तिलाल व० सेठ

मरघरवेमने मुनिश्री मिश्रीमलजी म० राजस्थान के उन विशिष्ट नन्तो में से एक हैं जिनका समग्र जीवन बहुजनहिताय बहुजनसुखाय, ही नहीं बरन् सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय व्यतीत होता है। आत्मकल्याण के साथ लोककल्याण करना मन्तो का महज स्वभाव है। मुनिश्री ने सर्वज्ञाद्वारण जनता का प्रवचनों और साहित्य सृजन द्वारा जो उपकार किया है वह भुलाया नहीं जा सकता। उनकी देन महान् है। इस वृद्धावस्था में भी वे सदैव परोपकार निम्न रहते हैं। इस हृदय में मुनिश्री का अभिनन्दन करते हैं और कामना करते हैं कि वे चिरकाल तक जनता का पथप्रदर्शन करने लगे। एवमस्तु।

०



श्री धर्मदासजी महाराज

मुनिश्री रूपचंदजी 'रजत'



अहमदाबाद के पास एक मन्वेजा नामक ग्राम था। वहाँ लगभग मात भी भावसागर रंगे जाति के मद्-ग्रहस्थ रहते थे। ये सभी लोकागच्छीय जैनधर्म के अनुयायी थे। उनका जीवन बड़ा ही मुख्यमय था। ये सभी श्रीमम्पन्न एवं उच्चकोटि के व्यापारी थे। कालिदास के पुत्र जीवनदाय भी उसी वर्ग के मौभाग्यशाली वन्धुओं में थे। वे स्वभाव में बहुत मरल, शांत और उदार थे। उनके चरित्र की उच्चता एवं व्यक्तित्व की गम्भीरता के नागण समाज में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। उनकी पत्नी हीरादेवी गुणीर एवं धार्मिक प्रवृत्ति वाली थी।

दि० २० सत्तरह सौ एक की चैत्र शुक्ला एकादशी को अर्धरात्रि के समय जीवनदामजी के यहाँ पुनरत्न की प्राप्ति हुई। बच्चे का जन्म भाग्यशाली नक्षत्रों में हुआ। नवजात शिशु का नाम 'धर्मदास' दिया गया। आपका वचन बड़े ही मुख्यमय वातावरण में बीता।

आठ वर्ष की अवस्था में धर्मदामजी ने लोकागच्छीय जैन यति की पाठशाला में अध्ययन प्रारम्भ किया। इन यति का नाम केशवजी था। व्यावहारिक एवं नैतिक अध्ययन के साथ ही आपने धार्मिक शिक्षा भी वहाँ प्राप्त की। आपकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी एवं प्रश्नों का उत्तर आप इतनी गम्भीर तर्कपूर्ण शैली में दिया करते थे कि मुनने वाले आश्चर्यचकित रह जाते थे। दार्शनिक विषयों पर चर्चा करने की इनकी प्रवृत्ति देखकर केशवजी यति ने दर्शन के गहन तत्त्वों की व्याख्या आपको समझायी। आप सदैव दार्शनिक तत्त्वों के गूढ़ रहस्यों का चिन्तन किया करते थे। आपने लोकागच्छीय यति तेजसिंह ने भी इस सम्बन्ध में चर्चा की। आध्यात्मिक तथ्यों के अध्ययन, मनन और चिन्तन से इनकी रुचि परिमार्जित हो गई और परमतत्त्व को जानने की इच्छा प्रबल हो उठी।

सामाजिक विषयों के प्रति आपकी रुचि प्रारम्भ से ही नहीं थी। वचन में ही एकान्तप्रिय एवं कम बोलने वाले थे। अध्ययन ने इस वैराग्य की भावना को प्रोत्साहन दिया और आपने सम्मग पर चलने के लिये किसी धार्मिक सम्प्रदाय में दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया।

आप माता-पिता के बड़े आज्ञाकारी थे। अत उचित अवसर देखकर धर्मदामजी ने अपने माता-पिता ने विनयपूर्वक दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा मागी। उनके वचनों की सुनकर माता-पिता और परिवार वाले आश्चर्यचकित रह गये। उन्होंने बहुत ही दयनीय स्वर में कहा—“तुम ही तो हमारे एक मात्र जीवन के आधार हो, अन्धे की लकड़ी हो, यदि तुम ही हमें बेमहारा करके चले जाओगे तो हमारा क्या होगा ? इस प्रकार के शब्दों को कहते हुए सभी विलाप करने लगे। दुःख और वेदना का इतना तीव्र प्रवाह वह उठा कि सभी कहना चाह कर भी कुछ नहीं कह सके।

धर्मदामजी के हृदय में पूरा आस्था, स्थिरता एवं धैर्य था। उन्होंने सभी वन्धुओं का धैर्य, विनय और प्रेम से समझाया कि यह जगत् नश्वर है। मनुष्य काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह में पड़कर धर्म और दर्शन के मत्त्यों को भूल जाता है। मनुष्य की यह काया भी नश्वर है और जिसने जन्म लिया है, उसे निश्चिन्त रूप से एक दिन मृत्यु

[illegible]

श्री सुकनमुनि जी



की गोद में मोना पड़ेगा। मनुष्य माया के जाल में उलझा हुआ इन सत्त्वों को जानता हुआ भी नहीं जानता है। अतः मनुष्य मात्र को चाहिए कि जीवन रूपी इस अमृत्यु रत्न को कल्याणमार्ग की ओर अग्रसर करे।

परिवार के मानाधिकारियों और आपसी के त्यागमय भावों के बीच लगातार संघर्ष चलता रहा। उस समय श्री महाराज सा० धर्म ज्ञान एवं गुरु की खोज में प्रयत्नशील रहते थे।

इन दिनों 'पोनियावध पथ' का प्रचार राजस्थान और गुजरात में बड़ी तेजी से हो रहा था। इस सम्प्रदाय का सम्प्रदायक जयमाल का पुत्र प्रेमचन्द कहा जा सकता है। यह प्रेमचन्द पहिले लोकागच्छीय कुँवर यतिजी का शिष्य था और मन्व्या ग्राम का रहने वाला था। किमी विरोध कारण से वि० स० १६६० में उसने इस पथ को छोड़कर स्वयं एक नये पथ की स्थापना की।

माचोर, जाशर, मिोही, मालवा, गुजरात और मेवाड़ में इसके अनुयायी विशेष रूप से बढ़ने लगे। मन्व्याजी इस पथ के पथपति थे। अपने पथ का प्रचार करने के लिए वे पैदल यात्राएँ किया करते थे। इस पथ में बाह्यात्म्य की ही प्रशंसा है। माधु के समस्त उल्लासों का इस पथ में अभाव ही दिखलाई देता है। इस पथ का न तो दार्शनिक पक्ष ही स्पष्ट है और न ही मिथ्यात्वों की स्थिरता मिलती है। इस पथ के अनुयायी लाठ रंग के वस्त्र पहनने से और केवल एक पान मांस में संतोष लेते थे। वे मित्र पं चाँदी रखते थे और कथाओं का वाचन करके जनसाधारण की प्रशंसा करते थे।

मन्व्याजी के माथ उनके बान्धव रत्नावर शिष्य अपने पथ का प्रचार करते हुए धर्मदासजी के गांव पहुँचे। मन्व्याजी उठे वाक्यद्वय से और कथा का वाचन करने मधु एवं प्रभावशाली ढंग में किया करने से कि मुने वाले सुधे हा उठते थे। धर्मदासजी ने भी उनकी कथा श्रवण की। कथा के वाचन की शैली में आप बहुत प्रभावित हुए और मन्व्याजी के पास जाकर आपने हृदयजनित वैराग्य एवं अपनी श्रद्धा प्रगट की। योग्य व्यक्ति को देखकर मन्व्याजी ने इन्हें अपने पथ में ले लिया। पथ स्वीकार करने के पश्चात् श्री आप इस पथ के मिथ्यान्त और व्यावहारिक पक्ष में मनुष्य नहीं हो सके। आप नरसमाग की ओर जमस होने के लिये मनुष्य प्रयत्नशील रहा करते थे। मीमांस्य ने आपसे स्वकीय श्रुति ने सम्पर्क में आने का अवसर मिला। लवजी श्रुति में आपने अम एवं दणन मन्वसी चर्चा की। उन्हें इस्लाम प्रश्नों का जो उत्तर मिला उसने हृदय को नन्तु नहीं हुआ। कुछ समय पश्चात् अहमदाबाद में आचार्य प्रेममिहजी ने भी आपसे धर्म सम्बन्धी चर्चा की पश्चात् कि भी 'मान कोने' का अन्त रह गया।

राज्य गुरु एवं नृत्य माग की खोज में घूमते हुए धर्मदासजी मालवा पहुँचे। मार्ग में जाशरों जगजग यति के शिष्य जगजग जीवराजजी महाराज के दर्शन हुए। जीवराजजी महाराज का व्यक्तित्व बहुत ही प्रभावशाली था। वे ज्ञान के असाह नदार और मीमांस्य की मूर्ति थे। आप क्रियाशील एवं योग्य माधव थे। जब धर्मदासजी ने उनके दर्शन किये तो वे प्रत्यात्मचिन्तन में रत थे। उनके दर्शनमात्र ने ही धर्मदासजी के हृदय में भावा का तूफान उठ खड़ा हुआ और श्रद्धा की उड़रें उमट पड़ी। धर्मदासजी ने श्रद्धापूर्वक उनसे जगजग चर्चा की। जीवराजजी ने ज्ञान एवं श्रुति बुद्धि से धर्मदासजी की शकाओं का समाधान किया। वाणी के माधुर्य एवं ज्ञान की गतिमान धर्मदासजी की प्यारी आत्मा को शान्ति प्रदान का।

धर्मदासजी एक वर्ष और कुछ दिनों तक 'पोनियावध' पथ के अनुयायी रहे। योग्य गुरु के मित्र ज्ञान पर उन्होंने गुरु पात्र और रत्न वस्त्रों वाले पोनियावध पथ के प्रपञ्च में मर्दव के लिये किनारा बन लिया। जीवराजजी की कृपा से श्रवण रूपी वादक हट गए और ज्ञान रूपी प्रकाश फैल गया।

वि० स० सत्रहवीं सदी की वाणिज्य युक्ता पश्चिमी के दिन तीन अन्य व्यक्तियों के साथ धर्मदासजी ने जीवराजजी से दीक्षा ग्रहण की और गुरु नयम व्रत को धारण कर लिया।

गुरु की आज्ञा टेरकर आप प्रथम दिवस ही 'गोचरी' के लिये निकले। विरोधी लोगों ने आपके प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई और न ही आहार-पानी आदि दिया। आप शांत एवं निर्लेप भाव में सब कुछ सहन करने लगे। घूमते-घूमते एक राजपति (कुम्हार) के यहाँ पहुँचे। उसने हार्ममिथिन व्यग्र में कहा—'हमारे गुरु, क्या रखा है ?





खाने के लिये यह राख पड़ी है, यदि चाहो तो दे दूँ।' उसने कुटिलता से महाराज की ओर देखा। मीम्वमूर्ति धर्म-
दामजी महाराज ने कहा - "बन्धु ! यदि तुम्हारी इच्छा राख देने की ही है तो राख दे दो।" कुम्हार ने हाथों में
राख उठा कर महाराज की ओर फेंक दी। उसमें से कुछ तो हवा के प्रवाह के साथ उड़ गई, शेष बची हुई राख
पात्र में लेकर आप गुरु की सेवा में उपस्थित हुए। शांत और कौमल शब्दों में आपने गुरुदेव का सभी वृत्तान्त सुनाया
अपने शिष्य के धैर्य एवं आत्मविश्वास से गुरुदेव गद्गद हो उठे। उन्होंने कहा—“तुम बड़े मीमांसक हो। प्रथम
दिवस ही तुम को राख जैसी पवित्र शिक्षा मिली है। इस कलियुग में तुम धर्मरक्षा करने में समर्थ होगे और तुम्हारे
द्वारा धर्म का प्रचार और प्रसार होगा। तुम्हारे अनुयायी बहुत अधिक संख्या में बढ़ेंगे। जिस प्रकार प्रत्येक परिवार
में हमें राख मिल सकती है ठीक उसी प्रकार ग्राम-ग्राम में तुम्हें शिष्य मिलेंगे।”

श्रद्धापूर्वक गुरु की आज्ञा को निवेद्य आपने राख को पानी में मिलाकर तीन बार पिया।

चातुर्मास्य के पश्चात् विहार कर आप एवं गुरुदेव यात्रा करते हुए उज्जैन की ओर चले। वहाँ अचानक
गुरुदेव के शरीर में वेदना उठी। पीड़ा की अमहनीय स्थिति और अन्त समय को नजदीक जानकर उन्होंने मथारा
ले लिया। मार्गशीर्ष कृष्ण एकादशी को जीवराजजी महाराज स्वर्ग सिंघारे।

धर्मदासजी महाराज पर गुरुदेव की छत्र-छाया केवल इक्कीस दिन तक ही रही। इस अल्प समय तक ही
गुरुसम्पर्क में रहने के कारण ऐसी प्रसिद्धि हो गई कि आप स्वयं दीक्षित थे। गुरु की कृपा में ही आपके हृदय में
मृत्यु की प्रेरणा मिली थी एवं आपने गुरुजी की पूर्ण श्रद्धा से सेवा भी की थी।

समय, क्षुब्ध एवं साधना के साथ धर्मदासजी महाराज ने धर्म प्रचार का कार्य तीव्र रूप से प्रारम्भ किया।
धर्म का प्रचार और प्रसार करते हुए आपके मार्ग में अनेक बाधाएँ आईं, परन्तु आपने असीम धैर्य में उन पर विजय
प्राप्त की।

धर्मप्रचार के लिये आप विविध यात्राएँ करते रहते थे। वि० स० सत्तरह सौ चालीस में यात्रा करते हुए
आप ग्वालियर पहुँचे। ग्वालियर नगर के बाहर शीतल जलाशय के किनारे विशाल वृक्ष देखकर रात्रि में विश्राम
क्रिया। विश्राम के पश्चात् आप आध्यात्मिक चिन्तन में लीन हो गए। दैवयोग की बात है, उसी दिन बड़ा का राजा
शिकार खेलने के लिये अपने दल-जल सहित जंगल में गया। जंगल में राजा को किसी जहरीले सर्प ने काट खाया जिससे
राजा को मूर्च्छा आ गयी। मूर्च्छा की स्थिति में राजा पृथ्वी पर गिर पड़ा। राजा की यह हालत देखकर उमका मन्त्री
बहुत चबराया। राजा के मृत (वस्तुन मूर्छित, जिसे उन लोगो ने मृत समझ रखा था) शरीर को लेकर जब वे नगर
की ओर लौट रहे थे तो उनकी दृष्टि धर्मदासजी महाराज पर पड़ी। मन्त्री राजा की मृत्यु में उद्दिग्ध तो था ही,
जब उसने महाराज को ध्यानस्थ देखा तो उमका क्रोध उमड़ पड़ा। बहुत ही कटु शब्दों में (परन्तु क्षीण नमाकर जैसे
कि उस युग की परम्परा थी) उमने कहा—‘हे सन्त ! आप आँखें खोलकर मेरी बात ध्यान से सुन लो। आपका
इस नगर में आना बहुत ही अशुभ हुआ है। सब जगह ब्राह्म-ब्राह्मि मच गई है। सारी जनता राजा के चिरह में दुखी
हो रही है। महाराज ! यदि तुम सच्चे भाधु और ज्ञानी हो तो किसी प्रकार राजा को जीवित करो अन्यथा आपको
निश्चित रूप में सोच लेना चाहिए कि आपके प्राण भी सकट में हैं। निवेदन है कि आप साँप के जहर को दूरकर
राजा को स्वस्थ कर दें।’

गुरुवर धर्मदासजी मन्त्री की वान को सुनते रहे। फिर उन्होंने गम्भीर ओजस्वी शब्दों में कहा—“मन्त्री !
तुम अज्ञानी हो। मनुष्य को मृत्यु का भय नहीं करना चाहिए। मुझे मृत्यु से किञ्चित् मात्र भी भय नहीं है। परन्तु
यदि तुम्हें विश्वास हो कि तुम्हारा राजा मविष्य में शिकार न खेलने की प्रतिज्ञा करेगा और अन्य जीवों को अपने
हो समान जीवन का अधिकार देगा तो उमकी चेतना लौट सकती है।” मन्त्री ने ससम्मान नतमस्तक होकर कहा—
“महाराज ! ऐसा ही होगा।”

उसी समय राजा की स्वास्थ्यलाभ हो गया। उसने श्रद्धा सहित महाराज के चरणों में सिर रख दिया।
राजा ने जीवहत्या न करने की प्रतिज्ञा की।

नगर में महाराज का भव्य स्वागत किया गया। राजा एवं प्रजा ने आचार्यश्री से वही चार्तुमास करने की वाग-वाग प्रार्थना की। आचार्य श्री ने वहीं पर चार्तुमास किया और धार्मिक मित्रान्तों पर चर्चा हानी रही। इन्हीं दिनों पांच महानुभावों ने आपने श्रमणदीक्षा ग्रहण की।

इन दिनों धर्म का खूब प्रचार और प्रसार हुआ। महाराज की वाणी में इतना मिठास और गाम्भीर्य था कि श्रावक सुन्न हो जाते थे। आपने वहां प्रमुख निम्नानवे (६६) शिष्य बनाये और अनेक परिवारों ने आपके मित्रान्तों को स्वीकार कर लिया। आचार्य श्री न वि० सं० १७७७ के चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को २७ नवाटक (मिघाडे) स्थापित किये। धनराज, दालचन्द, हरिदास, जीवराज, (बडा) पृथ्वीराज, लखु हरि, लखु पृथ्वी, मूचन्द प्रेम, चेतनी, लोचपन्त, भवानी, मून मुनि, पुष्पात्तम मुनि, मुकुटमी, तुल्लहाय, मनोहर, वागसी, मिमग्य और मुवारमी आदि। आचार्य श्री ने धारा नगरी में बार्देन सम्प्रदाय को स्थापना की। इस प्रकार मन की व्यवस्था होने में प्रचार एवं प्रसार में स्थिरता आई।

महाराजश्री धर्म का प्रचार और प्रसार करने हुए गुजरात, पंजाब, उत्तरप्रदेश, काठियावाड़, कच्छ महाराष्ट्र और राजस्थान में भ्रमण करते रहते थे। महाराज के अनुयायियों की मख्या बढ़ती जा रही थी। महाराज की वाणी इतनी मधुर और प्रभावशाली थी कि उसका प्रभाव आत्मा पर पड़ता था, उसमें रोम-रोम आप्लावित हो उठता था और आत्मा मुदृह जा जाती थी। महाराज नदैव धर्मप्रचार और जाध्यात्मिक चिन्तन में रत रहा करते थे।

महाराज के एक शिष्य ने धारानगरी में 'मथारा' लेने की घोषणा की। कुछ समय तक तो उस शिष्य का चित्त स्थिर रहा परन्तु बाद में उसकी भावना अस्थिर होने लगी। उसने मन के नामने आहार लेने की इच्छा प्रगट की। उपस्थित समुदाय ने स्थिर रहने के लिये निवेदन किया परन्तु वह स्थिर नहीं रह सका। सध ने उपर्युक्त घटना की सूचना जीत्र ही महाराज मा० को दी। महाराज मा० को उसका बहुत दुःख हुआ और वे उसी समय धारानगरी के लिये रवाना हो गए। मार्ग में केवळ तेरह के भुजिये का ही आहार कर जापथी और जप मन्त्र धारानगरी पहुँचे। आर इतने अधिक चिन्तित हो उठे थे कि आसकी मार्ग में जल ग्रहण करने की भी इच्छा नहीं हुई। मन्थरा समय आचार्य धारानगरी पंजारे। आपने शिष्य का मनी प्रकाश में उपदेश दिया परन्तु उसका चित्त स्थिर न हो सका। तब गुन्धेव ने बड़े ही गम्भीर एवं दाल्भ स्वर में उस स्थान पर बैठकर अपने नथारा लेने की घोषणा की।

महाराज मा० की इस घोषणा को सुनकर उपस्थित जनसमुदाय किर्तव्यविमूढ हो गया। महाराज ने उन्हें धर्म का उपदेश दिया और जल ग्रहण करना बन्द कर दिया। उस समय गर्मी की श्रुति थी और गर्मी इतनी प्रचंड थी कि मनुष्यों के प्राण सूखने जा रहे थे। परन्तु महाराजश्री के चेहरे पर वही कान्ति जो भावपूर्ण मुस्कान रहती थी। अट्टा में जनसमुदाय उमड़ पड़ा। उनके बैठने की व्यवस्था करना भी एक समस्या बन गई। महाराजश्री तीन दिन तक ध्यान, स्थिर एवं मौन रहे और वि० सं० १७७२ की ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी को उन्होंने इस नथार काया को छोट दिया।

आचार्यप्रवर श्री धर्मदासजी का जीवन आदर्श जीवन था। उन्होंने मर्यादा, अहिंसा, मर्यादा गुट्टि, गहन चिन्तन और श्रान्ध, मनी जो अपने चरित्र में समेट रखा था। जीवन भर उन्होंने धर्म का प्रचार और प्रसार किया और धर्म के नाम पर ही उन्होंने अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया।

आज भी उनके अनुयायी वही मख्या में विद्यमान हैं और उनके 'पाठ' की पूजा धारानगरी में आज तक होती है।



धन्नाजी महाराज

श्री सुकन मुनि



मारवाड के माचों परगना के माठगाटा ग्राम में पोग्वाड जानीय बागाजी मूया रहते थे। उनकी गणना वहाँ के श्रेष्ठ नागरिकों में की जाती थी। उनकी पत्नी का नाम कमकुवाई था। वि० स १७०१ की चैत्र शुक्ला दशमी का उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। बच्चे का नाम 'धन्ना' रखा गया। बच्चे का लालन-पालन बड़े प्रेम में हुआ। धन्ना जी बचपन में ही शाल एव एरान्तमेवी थे। परिवार बाढ़ों ने उनकी बाल-प्रवृत्तियाँ पर ध्यान नहीं दिया और वे लगातार गहन चिन्तन में व्यस्त रहने लगे।

१३ वर्ष की अवस्था तक आरुण व्यावहारिक जीवन की शिक्षा ग्रहण करती थी। आप प्रकृति में ही बड़े दयालु नाबुद्ध थे। एक दिन किसी कार्यवश आप बाहर जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक मार रों लोगों द्वारा मार्गते देखा। इस घटना ने उनके हृदय को प्रबुद्ध कर दिया। उन्होंने सोचा यह समार नद्वर है। प्राणी मात्र जीवन लेकर कर्मों के फल को भागता है और मृत्यु के पश्चात् फिर जीवन का यह क्रम चरता ही रहता है। उन्होंने जन्म-मरण के इस चक्र में छूटने के लिये चिन्तन प्रारम्भ किया।

जीवन और जगत् के प्रति आपने हृदय में तीव्रतम वैराग्य था। मुक्ति का माय बताने वाले किसी योग्य गुरु की आपने लोच प्रारम्भ की। उस समय राजस्थान में पोतियावध पथ का विशेष रूप में प्रचार हुआ था। अपने माता-पिता की आज्ञा ग्रहण कर धन्नाजी ने उस पथ में दीक्षा ग्रहण की। कुछ समय तक उन्हीं के साथ रहकर आप ज्ञान की चर्चा करते रह परन्तु उन्हें इस पथ के सिद्धान्त और साधना में कोई अनुमति नहीं मिली। उनका मन स्थिर नहीं रह सका और वे किसी योग्य गुरु की लोच निरन्तर करते रहे।

करीब आठ वर्ष तक वे लगानार गुरु की लोच के लिये प्रयत्नशील रहे। एक दिन नीलामय में आपकी श्रीधर्मदामजी महाराज के दर्शन हुए। उनके साथ धार्मिक चर्चा करने पर आपका परम शानि का अनुभव हुआ। वि० स १७२१ की शारदिक शुक्ला की धन्नाजी ने धर्मदामजी ने दीक्षा ग्रहण की।

धन्नाजी ने सभी प्रकार के प्रपञ्चों का त्याग कर साधना प्रारम्भ कर दी। वे सच्चे साधक थे। उन्होंने इतनी कठोर साधना की जो कल्पना में भी परे है। जेठ महीने की श्रवणक गर्मी में वे नदी की तीरी हुई बालू पर नो जाते थे। उनके लिये मर्दी और गर्मी की ऋतु का कोई विशेष भेद नहीं था। उनकी काया दम तरह में टल गई थी ऋतुओं के परिवर्तन का उस पर बड़ी विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। वे गर्मी में मिट्टी पर और मर्दी में पहाड़ों पर इस प्रकार विराम करते थे माना आगम में नो रहे हो। मर्दी की ऋतु में भी वे केवल एक 'चादर' में काम चलाते थे। इस प्रकार का शायमय आश्चर्य की ही वस्तु है। उन्हें भोजन में स्वाद की इच्छा ही नहीं रहती थी। वे मीन रहकर अध्यात्मचिन्तन ही किया करते थे। उनकी स्मरणशक्ति विचित्र थी। उन्होंने सभी मूत्रों को कठस्थ कर रखा था और उनकी बड़ी शार्मिक व्याख्या करते थे।

धन्नाजी महाराज का जिस प्रकार काया पर अधिकार था ठीक उसी प्रकार वाणी पर भी पूर्ण मयम था। उनकी वाणी शान्तिमय एव शान्ति में श्रोतप्रोत थी। श्रावक मयमय में उनके उपदेशों को सुनते रहते थे। आप बड़े वाक्पटु थे। समझने का तरीका बड़ा शार्मिक था। आपकी भाषा बड़ी सरल थी और उसी भाषा में आप जनसमुदाय

को उपदेश दिया करने थे। आपके प्रमुख पात्र गिप्य हूँ। वे कम ने श्री भूधरजी, श्री मूलचन्दजी, श्री लखचन्दजी, श्री नवरमलजी और श्री देवीचन्दजी थे। सभी गिप्य योग्य एवं गुणवान थे। सभी ने मिलकर जैनधर्म के उत्थान में महयाग दिया। आपके मित्र ने जला-जलग क्षेत्रों में नगर धर्म का प्रचार किया।

वि० न० १७८८ में मेरुता के बाहर कट नामक नानाव के पास बनी हुई छतरियों में आपने रात्रि विश्राम किया। रात्रि के समय आप ध्यानमग्न थे सभी आपका आन्तरिक प्रेरणा मिथी। आप छतरी के वन हुए धमे के पाम खटे श्रेष्ठ ध्यान में ग्न हो गये। प्रातःकाल सभी ने आपको धमे के महारे ध्यानमग्न देखा और नाशने के के गिप्य निवेदन किया ना आपने मुस्कन्ते हुए कहा कि यदि पराग (धमा) धान उाएगा तो मैं भी धान उाऊंगा। धन्नाजी के इन वचनों को सुनकर सभी विस्मित हो गये। धन्नाजी महाराज ने महारे की घोषणा करते मीन ग्ध लिया।

दो दिन नर के नानाग जीन रर और तत्पश्चात् इन नरवर काया को छोड़कर स्वर्गामीन हुए। मृत्यु के पश्चात् भी धन्नाजी की कमल के समान बड़ी शान्ति खुनी हुई थी और उनके मुह पर नम्र्या का तेज झरक रहा था। राज के दीवान खीवमी ने जब उन्हें हम मित्रि में देखा तो बड़ा आश्चर्य हुआ। भडागीजी ने ही उनका मन्त्रा किया।

आपका व्यक्तिग्न प्रभावशाली था। आपने मरम की साधना उत्कृष्ट रूप में की थी। कामायम और वाणीमयम वाक्की विधिदनाए कर्ह जा नरनी है। आपके गिप्य श्रीभूधर स्वामी आदि ने धर्म का ब्रूव प्रचार और प्रभाव किया।



श्री भूधरजी महाराज श्री रजत मुनि



मारवाड के नागौर क्षेत्र में मुणोयत खाप के माणकचन्दजी बहुत ही विद्वान् पुरुष हुए हैं। उनकी पत्नी का नाम रूपादे था। वि० स० १७१२ की विजयादशमी के दिन उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। परिवार में बड़ा आनन्द और उत्सव मनाया गया। सभी ने मिलकर इनका नाम 'भूधर' रखा। भूधरजी बचपन से ही बहुत सुन्दर और भावुक थे। जिनने ही वे सुन्दर थे उतने ही गुणी और चतुर भी थे। आपकी चाल मन में बड़ी ही लुभाने वाली थी और चेहरा अत्यन्त आकर्षक था। उनकी आँखें सदैव लाल रहती थीं और उनमें भावकता बरसती थी। भ्रमरों के समान व्याम रंगों वाली आपकी जुलफें सदैव लहराया करती थीं।

शिक्षा के प्रति आपकी प्रारम्भ से ही रुचि थी। आपने व्यावहारिक एवं मौखिक शिक्षा विशेष रूप से ग्रहण की। कौजी शिक्षा में विशेष रुचि थी। युद्धकला में निपुणता प्राप्त करने के कारण यौवन में आपका कौज के ऊँचे अधिकारी का पद दिया गया। आपने स्वेच्छा से सोजत नगर में अपनी नियुक्ति करवायी। सोजत की कचहरी में आपने सुव्यवस्थित रूप से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय सोजत राज्य में अधिकतर उपद्रव होते रहते थे। डाकुओं आदि के कारण अराजकता फैलती जा रही थी। भूधरजी ने अपनी बुद्धि और बल द्वारा उन पर विजय प्राप्त कर ली। उन दिनों सोजत ही आपका प्रिय स्थान रहा। यही पर माहू दलाजी रातडिया मूवा के यहाँ आपका निवास हो गया। राज्यकार्य के साथ सामाजिक कार्यों में भी आप सदैव रुचि लिया करते थे।

वि० स० १७४० के लगभग की घटना है। कटानिया ग्राम पर चौरासी डाकुओं ने ऊट पर मबार होकर हमला बोल दिया। वहाँ के ठाकुर के निमंत्रण पर भूधरजी बड़ा सहायता के लिये पहुँचे। बल और बुद्धि के प्रयोग से आपने डाकुओं को पीछे हटा दिया। भूधरजी ने डाकुओं का पीछा किया और काजलबाल नामक स्थान पर फिर आपने लड़ाई प्रारम्भ की। इस मर्घ में भूधरजी की विजय हुई।

इन लड़ाई के बीच एक मार्मिक घटना हुई जिसने आपके हृदय में वैराग्य उत्पन्न कर दिया। युद्ध के समय एक ठाकुर की तलवार में उनका घोड़ा घायल हो गया और उसकी गर्दन एक तम्फ लटक गयी। अमीम वेदना से तड़फ-तड़फ कर घोड़े ने आपके हों गामने प्राण दे दिये। इन घटना का प्रभाव आप पर इतना गहरा पड़ा कि आपको हिंसा में ग्लानि और समार में वैराग्य उत्पन्न हो गया। सोजत पहुँचकर आपने मरकागी मवा में अवकाश प्राप्त कर धार्मिक चिन्तन प्रारम्भ कर दिया। परिवार बाँटो ने आपको लौकिक सुखों में उलझाये रखने के लिये हर सभव प्रयत्न किये। परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

एक दिन आपन 'पोतियावध पथ' के प्रचारकों के आगमन की बात सुनी और उनमें साक्षात्कार किया। उनके सिद्धान्तों को सुनकर आपके हृदय में इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने की भावना प्रबल हो उठी। आपने परिवार और वैभव के मोह को छोड़कर पोतियावध पथ को स्वीकार कर लिया।

बुट ममर नर इन १५ के अनुयायियों के साथ रहने भी जब आपकी मनोप प्राप्ति नहीं हुआ तो आपने शानि में योग शुरू की योग प्रारम्भ की। सांख्यिक ज्ञानि के दिने आप यन्त्र-यन्त्र भ्रमण किया करने थे।

सोमनाथ के ज्ञान-माहा के गुरु-गुरु में आपकी भेट आचार्य श्री धन्नाजी म० ने हो गई। महाराज उन दिनों मन्त्रा १०० प्रचार का गुरु दिया करने थे। श्री धन्नाजी म० के उपदेशों को श्रवण कर आप बहुत अधिक प्रभावित हुए श्री भूधरजी महाराज ने भी जादुआत्मिक चर्चा करने का दबकर आपका मिला। इस सम्प्रदाय के दर्शन और मित्रान के प्रभावित हुए आपने उसमें दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त की। वि० म १७५१ की शरद पूर्णिमा पक्षी के दिन आपने धन्नाजी म० ने समय की दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् आप सदैव आपने चिन्तन में मग्न रहा करने थे।

आप सदैव प्रगल्भमान में गुरु की सेवा में नरत रहने थे। जेक प्रकार के कष्टों को सहन करने भी भूधरजी महाराज किया करने थे। आप अहिंसा पर विशेष बल दिया। उपदेशों का प्रचार उस तरह हुआ माना किसी जन्मदाता का ही वह प्रथम मान हुआ था। जेक शब्दों व्यक्त शर-आप ने विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछा करने थे और आप बहुत ही दुर्गमों के उत्तर दीक्षाओं का समाधान किया करने थे। बाह्यादम्ब का प्रचार करने वालों की आपने उक्त आलोचना की। आपने नर गुरु बुद्धि द्वारा जनता का ज्ञान अधिष्ठान प्रभावित कर दिया कि विद्यापी श्री शर-आपने चर्चा में गिने-गिने।

भूधरजी महाराज का प्रभाव उन दिनों मर जगह फैल रहा था। उनकी बुद्धि की जगहियता प्रगल्भीय थी। वे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर उनकी अधिष्ठान चर्चाओं में दीक्षा करते थे कि भुक्तने वाले को उमे स्वीकार करना पड़ता था। इस प्रश्न में एक घटना का उल्लेख किया जा सकता है, वह इस प्रकार है—

जोगपुर के गौतमीजी भट्टाजी बड़े बुद्धिमान् और योग नागिक थे। महाराज जमवतमिहजी की आप पर विशेष कृपा थी। आपकी प्रथमा मुनिर दिवशी के बादशाह ने आपका दिल्ली बुलाकर सैनिक उच्च अधिकाारी का पद दिया। शीघ्र ही अपनी योजना के शर बादशाह के विश्वासपात्र एवं कृपापात्र बन गए। बादशाह ने आपको सिरपाव और हुज्जाला देकर सम्मानित किया।

बादशाह की प्रिय प्रेम की पूर्ण (जाहजादी) बहुत ही मौन्दर्य वाली थी। उसके रूप की प्रथमा चर्चा का विषय थी। किसी कारण से राजकुमारी मर हो गई। जब रिमाता को उसका पता लगा तो उसने इन घटना की चर्चा बादशाह से की। बादशाह इस घटना को मुनिर आग-बबूला हो गया। बादशाह ने ओपिन होकर राजकुमारी से कहा—तुम्हें मेरे पिता का शरक रखाया है। उस व्यक्ति का नाम बना जिम्मे मुझे नीचा दिवान की मुन्नाखी की है।

राजकुमारी ने कहा—“अमीरनाम ! बादशाह-ए-जाल्म ! पिताजी ! मैं कम खाकर कहती हूँ कि मैं सदैव नेर गुरु पर चर्चा रही हूँ और पवित्रता में ही जगने मर न रहती हूँ। यह गर्भ शर नरह में हो गया है, यह ना केवल बूढ़ा ही जानता है। यह बूढ़ा का नाप है जिम्मे पद्वय में मैं उलझा दी गयी हूँ। यथार्थ में इन तथ्य का मुझे ज्ञाति पता नहीं है।”

महाराजों के उस उत्तर में बादशाह का शर और भी भटक उठा। रोषित होकर बादशाह कचहरी में आया और उसने गुरु, मुन्ना, ओपिया और पद्वियों को शीघ्र बुलावाया। उन सभी की उपस्थिति में बादशाह ने प्रश्न किया कि—“आप सभी अपने अपने धार्मिक रथों का अध्ययन करके बताओ कि बिना शारीरिक सगम के गर्भ शर मतना है या नहीं ? मुझे उस प्रश्न का उत्तर बहुत ही शीघ्र चाहिए।”

प्रश्नों का अध्ययन कर सभी ने शर जोड़कर बादशाह के निवेदन किया—“पता माफ हो, श्रीमन् ! सभी धार्मिक प्रश्नों की उत्तरजीन में जेबक उत्तरा ही पता चलता है कि सम्भोग के बिना गर्भ नहीं रह सकता है।”





बादशाह ने उसी समय अपने दरबार को वर्गस्थित करके आज्ञा दी कि दुष्ट राजकुमारी को शीघ्र ही मार जाना जाय। बादशाह को फ्रांजित मुद्रा देकर किसी की हिम्मत नहीं हुई कि वे उनमें रहम के लिये निवेदन कर सकें। तभी बहुत ही नम्र स्वर में खीसमी ने कहा—“यना माफ हो स्वामी ! निवेदन है कि मुझे एक बार मठ में जाकर राजकुमारी में मिलन की आज्ञा दी जाय।” बादशाह ने पढ़िखे तो आनाकानी की परन्तु खीसमी ने कहा—“शीघ्र निणय देने में सम्भव है अन्याय हो जाय और आपकी वदनामी हो, अब आप इस तथ्य पर ध्यान में विचार कर।”

बादशाह की आज्ञा लेकर खीसमी भठारी महल में गए और साधारण पूछताछ करने वापिस लौट आए। उन्होंने बादशाह में निवेदन किया—“राजकुमारी को नम्र तक दंड नहीं दिया जाय जब तक कि मत्स्य की पुष्टि न हो जाय।” इस तथ्य के निणय के लिये उन्होंने बादशाह में कुछ समय मागा। बादशाह ने उन्हें मत्स्य का पता लगाने के लिये अग्रसर दे दिया।

भठारीजी ने फिर सभी धार्मिक विद्वानों में सम्पर्क स्थापित किया और बिना सम्मोग के ही गर्भ उत्हरने के तथ्य की पुष्टि के लिये प्रमाण एकत्रित करना चाहा। सभी ने कहा—कि हमने शास्त्रों का पूर्ण अध्ययन कर लिया है और उसी के आधार पर निणय दे दिया है। परन्तु भठारीजी को उनके उत्तर में संतोष नहीं मिला।

विशेष काम में उसी दिनों भठारीजी को इन्दौर जाना पड़ा। वे अपने दत्त बल सहित इन्दौर की ओर जा रहे थे। इन्दौर के पास एक यादव नामक गांव है। वहां भूधरजी महाराज अपनी श्रमूत-बाणी में जैनधर्म का प्रचार कर रहे थे। भठारीजी उधर से ही निकल रहे थे। भूधरजी की सौम्यता और गम्भीर वाणी का आप पर विशेष प्रभाव पड़ा। खीसमीजी भठारी अपना ऐसा स्थापित कर कीजी बन्ध्या में ही महागज के पास घाये और उनकी वन्दना की। तत्पश्चात् उन्होंने अपना परिचय दिया और भूधरजी के सामने यह शका प्रस्तुत की कि क्या बिना सम्मोग के गर्भ उत्हर सकता है? भठारीजी ने कहा कि मेने इस तथ्य की ग्राह्य अनेक विद्वानों में की परन्तु मुझे कहीं भी सत्तापप्रद उत्तर नहीं मिला। अब आप से निवेदन है कि आप इस शका का समाधान करें और आगमों में उसकी पुष्टि करें।

भूधरजी महाराज ने कहा—स्वाम्याग सूत्र के पंचम अध्याय में गर्भ के पाच प्रमुख कारण लिखे हैं। वे मत्स्य हैं और हमें उन पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। उन्होंने कहा—“जिग जल में पुष्ट पान्ना किया ही और पुष्ट के बीच-मुद्गल उसमें तैर रहे हो वही पर यदि कोई स्त्री पाना बन्ध्यों के स्नान करे तो उसे गर्भ उत्हर जाता है। यदि कोई स्त्री घुले में बिना उम्बों के सो रही हो और ऊपर में बीचों गिर पड़े तो उसमें भी गर्भ रह सकता है। यदि किसी बन्ध्या पर बीचों गिरा हुआ हो और रजयुक्त योनि या उसमें गमन हो जाय तो भी गर्भ उत्हर सकता है। दैवयोग में भी गर्भ उत्हर सकता है। इस पाचवें प्रकार को तुम लोग कहते हो।”

भूधरजी म० ने आगे कहा—यदि सम्मोग में गर्भ उत्हरगा तो बच्चे के शरीर में हड्डियाँ बढेंगी परन्तु यदि शारीरिक सम्मोग नहीं किया गया तो बच्चे के शरीर में अस्थि नहीं होगी। भठारीजी ने कहा—महाराज, यदि आपका यह वचन मत्स्य हो जायेगा तो आपमें मत्स्य की शिक्षा ग्रहण कर शायद बन जाऊंगा।

इन्दौरयात्रा में लौटकर खीसमीजी भठारी ने गौरी घटना विचार में बादशाह को सुनाई। बादशाह यह तथ्य सुनकर आश्चर्यचकित रह गया। उसने कहा—मुझे इसमें बहुत कम मत्स्य दिखाई देना है, फिर भी यदि तुम कहते हो तो मैं इसे मान लेता हूँ। बादशाह ने महल में पूरी व्यवस्था कर दी। यदासमय राजकुमारी ने बच्चे का प्रगट किया। उसने महाराज के वचनों को मत्स्य सिद्ध कर दिया। नवजात बच्चे के शरीर में हड्डियाँ नहीं थी और वह कई के समान नम्र हो या। जब बादशाह या वह समाचार मिला तो उसका हृदय मनुष्ट हो गया।

बादशाह बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने खीसमी को कहा—“मैं भूधरजी महाराज के दर्शन करना चाहता हूँ। उनका कथन पूर्ण सत्य है। ऐसी आत्माएं बहुत ही कम होती हैं। तुम ऐसे महान् व्यक्ति में मेरे मिलने की शीघ्र व्यवस्था करा। यदि यह महान् आत्मा मही समय पर मेरा मार्ग-दर्शन नहीं करती तो शीघ्र में शत्रुता की शक्त का देता और वह कलक मेरे पर उग्र भार के लिये लग जाना अब शीघ्र ही उसे गोपनीय ले आओ।”

वादशाह की आज्ञा पाकर खीवनी भडारी ने शीघ्रता से आचार्य श्री भूधरजी की खोज प्रारम्भ की। महाराज भूधरजी के दर्शन करके भडारीजी ने थढ़ा में अपना सिर झुका दिया। उन्होंने निवेदन किया कि स्वयं वादशाह आपके दर्शनो के लिये व्याकुल हो रहा है, अतः आप दिल्ली की ओर विहार करने के लिये अपना कार्यक्रम बनाओ। इस प्रकार आपकी यात्रा में जैनधर्म का प्रचार और प्रसार भी हो जायेगा और हमें आपके वाणीश्रवण का भी भाग्य भी मिलेगा। जब भडारीजी ने अनुनय विनय की तो आचार्यश्री ने आपकी बात मान ली और दिल्ली की ओर गमन किया। महाराज ने भडारीजी को कहा कि हमारे साथ चलने में मार्ग में अनेक कष्ट होंगे अतः तुम हमसे दूर ही रहो। खीवनी ने जब इस प्रकार की आज्ञा सुनी तो वे तीन कोम आगे या पीछे दूरी में चलने लगे। इस प्रकार यात्रा करते हुए आचार्य श्रीभूधरजी महाराज भरतपुर नगर पधारे। नगर के बाहर तालाब के किनारे पर आकर आपने विश्राम किया। वहाँ के व्यक्तियों ने इनकी वेश-भूषा आदि देखकर इन पर दया व्यक्त की और चौर ममझकर इनका निरस्कार करने लगे। उन्होंने महाराज ने अनेक प्रश्न किये और पूछा कि तुम यहाँ आकर क्यों ठहरे हो? यदि तुमने मत्तोपजनन कारण नहीं बनलाया तो हम राज्य में तुम्हारे आने की सूचना दे देंगे। आचार्यश्री ने कहा कि हम चौर नहीं हैं। हम धर्मप्रचार करने के लिए निकले हैं। इस पर उन्होंने म० मा० में धर्मप्रचार के उपदेशों को श्रवण करने की इच्छा प्रगट की आचार्य श्रीभूधरजी महाराज ने जब उनको आध्यात्मिक विषय पर प्रवचन दिया तो सभी उपस्थित जन समुदाय मुननर मुग्ध हो उठा। यहाँ पर अनेक पल्लीवालों और अग्रवालों ने आप से शिक्षा ग्रहण की।

यात्रा करते करते आचार्यश्री भूधरजी महाराज आगरा पहुँचे। आगरा में कुछ समय रहकर भूधरजी दिल्ली में तीन कोम दूर ठहरे। आचार्यजी पेड़ की छाया में विश्राम कर रहे थे तभी खीवनी भण्डारी वहाँ उपस्थित हुए। म० मा० ने उनसे कहा कि आज हमारे आने की खबर तुमको किस प्रकार मिल गई? और तुम इतने शीघ्र यहाँ पर किस प्रकार पहुँचे? उन्होंने कहा—आपके डर में मैं कुछ दूरी पर चल रहा था। महाराजश्री की आज्ञा लेकर भडारीजी वादशाह के पास गये। वादशाह ने बड़ी प्रसन्नता और उत्साह में श्रीभूधरजी को लाने की आज्ञा दी, महाराज भूधरजी का सम्बन्ध स्वागत किया गया। राजकुमारी भी महाराज भूधरजी के दर्शनो के लिये आई, वादशाह ने भी भूधरजी को सब तरह में प्रसन्न किया।

आचार्यश्री ने दिल्ली में ही चातुर्मास किया। वहाँ महाराज के उपदेशों का सुनने के लिये सभी वर्ग के उपहार बन्धु आने लगे। भूधरजी न्याययुक्त, सरल भाषा में बोलते थे। खीवनी ने उचित अवसर जानकर महार की ओर चलने का निवेदन किया। भूधरजी ने चातुर्मास के पञ्चात् चलना तय कर लिया। वादशाह ने आचार्यश्री की कुशल-यात्रा की व्यवस्था की। यात्रा करते हुए आपकी वि० स १७८० में मेटता आये। यहाँ पर आपकी के गुरु श्रन्नाजी ने मयारे की घोषणा कर दी और वही उन्होंने इस नखर देह को त्याग दिया। वहाँ में यात्रा करते हुए भूधरजी कानू ग्राम पहुँचे। वहाँ आपने उपदेशों का प्रचार किया और अनुयायी भी बढ़े। आप सच्चे साधक थे और श्रद्धा की परवाह न करके भूधरजी तपस्या में लीन रहा करते थे।

एक समय की बात है। महाराज गाव के बाहर ध्यानस्थ थे। एक रामा नाम का जाट ऊपर में निकल रहा था। उसने देखा कि यह महाजनो का माधु है। सभी महाजन मिलकर उसे अपार द्रव्य देंगे जिसमें यह अपनी तपस्या और मन्त्रों द्वारा वर्षों की रोक लगा। इसमें सभी व्यक्तियों का जीवन दुःखमय हो जायेगा, अतः इसी को मार डालना चाहिए। यह सोचकर उसने आचार्यश्री के पाँव पकड़ कर बिल्हे हुए काटों की ओर खींचा। काटे पूरे अंग-अंग में चुभ गए पर आचार्यश्री ने उसे कुछ नहीं कहा। फिर गुस्से से आकर उसने अपने हाथ पकड़ी हुई फर्मी को महाराजश्री के सिर पर दे माग जिससे उनके सिर में खून बहने लगा। सामने में एक पुरोहित मौख जाने के लिये आया था। उसने इस कुकृत्य को देखा और बाजार में आकर सभी को सूचना दी। महाजनो को यह सुनकर बहुत क्रोध आया। उसमें में कुछ तो आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित हुए और कुछ ने जाकर हवलदार ने इस कांड की शिकायत की। हवलदार ने उस जाट को पकड़ कर बुलवाया और उसे बहुत बुरी तरह में पीटना शुरु किया।

गाव के बाहर भूधरजी की स्थिति देखकर कई व्यक्ति रो पड़े। सभी ने उनकी महनशीलता की मराहता की





और स्थानक में उनका उपचार किया गया। आचार्यश्री को जब जाट के पिटवाने की भनक पड़ी तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने कहा कि किसी तरह से जाट को थाने से छुड़वाकर लाओ, फिर मैं अन्न ग्रहण करूँगा। श्रद्धालु भक्तों ने दीडकर रावले में और हवलदार को जाकर महाराज की प्रतिज्ञा सुनायी। सभी महाराज के वचनों को सुन कर दग रह गये। जाट को छुड़वाकर महाराज के पाग में ले जाया गया। जाट ने म० मा० के चरण पकड़ लिये और बार बार माफी मागी। महाराज ने कहा कि तुम्हें मास और मदिरा छोड़ देनी चाहिए इसी में तुम्हारा कल्याण है। यह घटना महाराजश्री भूधरजी की सहनशीलता और दयालुता की प्रतीक है।

यात्रा करते हुए भूधरजी सोझत पहुँचे। वहाँ पर विरोधी लोगों ने मिलकर ठल-थुल आदर के साथ आपश्री को ठहरने के लिये गेवालों की हवेली में स्थान दिया। आपश्री ने रात्रिवास उम्मी हवेली में किया। यह हवेली बड़ी मयानक थी और लोगों की ऐसी मान्यता थी कि डग हवेली में ठहरा हुआ व्यक्ति प्रगात को जिन्दा नहीं बच सकता। रात्रि को महाराज के सामने श्री वह जात्मा आई पर म० सा० ने उसे ममझाया जिसमें उमंगी शांति मिली। प्रातः काल जब आपश्री को लोगों ने स्वस्थ अवस्था में देखा तो सभी को परम आनन्द हुआ। विरोधियों ने आपश्री से क्षमायाचना की। उसी समय जोधपुर के भटारी खीवसीजो वहाँ पर आर और उन्होंने आदर में आपश्री के सामने सिर झुकाया। शहर के कोट के मोहल्ले में, पहले जहाँ चारभुजा मन्दिर था और बाद में उसे मस्जिद बना दिया गया था, उस स्थल पर आपश्री न ठहर कर उपदेश दिया। उस स्थान का पट्टा स्थानक के नाम कर दिया गया।

आपने प्रमुख ६६ शिष्य बनाये थे। यह शिष्य, प्रशिष्यों की शाखा आगे चलकर छूब फैली। महाराज ने अनेक अज्ञानी मानवों को सत्य मार्ग की ओर अग्रसर किया।

वीरशासन की वरिष्ठ विभूति आचार्य श्री रघुनाथजी मुनिश्री रूपचन्द्रजी 'रजत'



मारवाड के अन्तर्गत मोजतनगर प्रसिद्ध है जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है। इस नगर में बल्लावत (बाफणा) गोत्रीय शाह नरमजी थे। उनकी धीलवती पत्नी भीमादे थी। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न और सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त प्रतिष्ठित था उनका परिवार। शाहजी पहले रामानुज मन्त्रदाय के अनुयायी थे। एक बार भीमादे ने स्वप्न में रामचन्द्रजी को देखा और उनके कुछ ही मन्त्र के पठनात् एक पुत्ररत्न का प्रभव किया। स्वप्न के अनुसार पुत्र का नाम 'रघुनाथ' रखा गया।

नवजात शिशु बड़ा ही तेजस्वी, गौरवर्ण और कमल के समान नयनों में मुशोभित था। उसके मुख पर एक असाधारण आभा झलकती थी जो उसके भाग्यशाली होने की सूचना देती थी। बाल्यकाल में ही उनकी चाल बड़ी मतवाली और बाणी इनकी मधुर थी कि अनायास ही प्रत्येक का मन मोह लेती थी।

सान वर्ष की उम्र में आपके शिक्षण की मुन्दर व्यवस्था की गई। एक सुयोग्य विद्वान की विनोद व्यवस्था की गई। रघुनाथजी जन्मजान प्रतिभा के धनी थे और अतीव विनयवान् भी। अल्पकाल में ही आपने शिक्षा प्राप्त करनी। अध्ययन के प्रति आपकी रुचि बहुत गाढ़ी थी। परिचित जन कहा करते थे - बालक बहुत होनहार है।

मोलह वर्ष की अवस्था में पिता ने आपको घर का काम-काज सम्हालने की आज्ञा दी। पिता के आदेशानुसार आप पारिवारिक कार्य में मलग्न हुए। आपकी योग्यता देख जोनपुर-नरेश ने आप को सोजत का हाकिम नियुक्त कर दिया। काम इतनी कुशलता से सम्हाला कि देखने वाले चकित रह गए। आप की विनम्रता एवं दयालुता के साथ शरीर की मुन्दरता प्रत्येक का मन मुग्ध कर लेती थी। जीवन की चंचलता आपमें नहीं थी, था वह गंभीर जो सम्पद में आने वालों को विस्मित कर देता था।

अद्यानक एक मित्र की मृत्यु ने आपके जीवन में नया मोड़ ला दिया। मित्र के वियोग ने मस्तिष्क में एक नूतन विचारधारा प्रवाहित कर दी। आप सोचने लगे—मनुष्य किस प्रकार जन्म-मरण की व्यथा से मुक्ति पा सकता है? इसका सही मार्ग कौनसा है? अपने मित्रों में भी वे यही प्रश्न किया करने—अमर होने का मूल मन्त्र क्या है? मे अमरत्वप्राप्ति की दिशा में प्रज्ञान करना चाहता हूँ। मित्र कहते—'अमर होना मभव नहीं है। जन्म-मरण का चक्र अनादि और अनन्त है।' मगर रघुनाथजी के हृदय में आन वैठनी नहीं और वे निरन्तर इसकी चर्चा करते रहते।

कुछ लोगों को उपद्राम करने की सूझी। उन्होंने आपको सलाह दी—यदि चापु डा देवी को अपना मिर काटकर चढ़ा दिया जाय तो अमरत्व प्राप्त हो सकता है। देवी ही प्रसन्न होकर अमर कर सकनी हैं। और तो कई मार्ग दिखाई नहीं देता।

रघुनाथजी के चित्त में अमरत्वप्राप्ति की लिप्ता इतनी गहरी घुम गई थी कि उन्होंने यही मार्ग अपनाने की ठान ली। मित्रों को पता चला तो ममसाया—'यह क्या पागलपन मवार हुआ है तुम्हारे मन में। उधर



विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं, अगर तुम देवी का प्रसाद पाने के लिए गिर पाद कर चढ़ा देने की तैयारी कर रहे हो ।'

मित्रों की बात का श्रुताश्रयी के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । मित्रगण उनके पिता के पास पहुँचे । पिता ने गम्भीरता से समझा-बुझाने का प्रयत्न किया, किन्तु अमर होने की स्पृहा से न मारी । उन्होंने पिता से कहा—'मेरा स्थान अब चासुआ गाथा के चरणा में है । मुझे मित्रों ने बहकाया नहीं, मेरे ही मन में मानवृत्त्या में अपने आपका अंकित करने की भाव उदरान्न हुई है । मुझे आशीर्वाद दीजिए । मैं जन्म-मरण के चक्र में मुक्ति पाना चाहता हूँ ।'

रघुनाथ का अटल मानस दण्ड मज्जा हुआ था । दैवयोग ने गौतमी कर्तृक आचार्य श्री गृध्र स्वामी का अचानक पदार्पण हुआ । समग्र ज्ञानान्त विद्वान् कर्माजी ने कहा 'बालक ! किन्तु तुम्हें भ्रम में डाल दिया है ? जगत् साक्षरता का देव कि क्या कोई किमी को अमर बना सकता है ? अपने पुण्याय और पापना के डारण ही अमरत्व प्राप्य किया जा सकता है—यह दान में नहीं मिलता, न आत्महत्या करने में मिल सकता है । आत्मयत्न तो जन्म-मरण की श्रृंखला का तुष्ट करने वाला घोर पातक है । अमर होना है तो मैं तुम्हें मार्ग दिखा सकता हूँ ।

श्रुतार्ज्य स्वामी के अत्यन्त गौण्य सुग-मण्डल, ग्लिग्ध नेत्रों और प्रभासपेन वाणी ने श्रुताश्रयी को तत्काल प्रभावित किया । वे स्वामीजी के भाव स्थानक पहुँचे । स्वामीजी ने आपके समक्ष अध्यात्म एवं दर्शनशास्त्र में सम्बद्ध ऐसी प्रणयन की कि उनका मन मत्त हो गया । यह तत्पर्यन्त लगाना नौन दिन तक चालू रही । अन्त में रघुनाथजी आत्मसाक्षात्कार का गम्भीर मार्ग समझे और चले — 'गुरुदेव ! आपने ज्ञानजान ने मेरे नेत्र खोल दिए हैं । अब मैं आपकी चरण-शरण छोड़कर जीवन नहीं रह सकता । मुझे अपने में अन्तर्गत न होजिए । अपने चरणों में स्थान दीजिए ।'

पारिवारिक जनो के अत्यधिक विचार और निवेदन के कारण आचार्यदेव ने आपको घर लौट जाने के लिए कहा । मगर आपका हृदय तडप उठा । अतीव दुखी होकर उन्होंने आचार्य महाराज के पैर पकड़ लिए । कहा— 'गुरुदेव ! मैं मुझे कौन से कपने का परामर्श किंग प्रकार दे सकूँ हूँ ? मेरा तो निश्चय है कि मैं लौटकर परिवार में नहीं रहूँगा ।'

मगर आचार्य की आज्ञा की शिरोधार्य करके वे एक बार घर जाने को उत्थन हुए । मार्ग में सोचते जाते थे—प्रभु की लीला कैसी विचित्र है ! मनुष्य बन्धनों को तोड़ना चाहता है और माया के बन्धन उसे उलझाना चाहते हैं ।

मार्ग में ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं घर वालों को इस प्रकार समझाऊँगा कि उनका मातृ पट जाए, वे प्रसन्नतापूर्वक मुझे आत्मसाक्षात्कार की अनुमति प्रदान करें । उन्होंने यही किया । माता पिता को समझाने का यत्न किया, भावी शत्रु के सामन समझ ही अगारता प्रदर्शित की । मगर न वे समझे, न वे समझे । दोनों पक्ष अपने-अपने विचार पर दृढ़ थे । कुटुम्बी राग का त्याग न कर सके, श्रुताश्रयी विराग न प्राप्त नके । आग्रि कुटुम्बियों के प्रबल आग्रह को देखकर आचार्यश्री ने रघुनाथजी से कहा—वत्स ! काललक्षि अभी आई नहीं है । इस समय गृहत्याग करना उचित नहीं होगा । अवसर की प्रतीक्षा करो । माता-पिता के आग्रह का धार करके चार वर्ष तक घर में रहने में क्या हानि है ?

रघुनाथजी ने इस आग्रह को मान तो लिया मगर वे गृहगन्धामी की भाति विवर्त रूप में रहते और अपनी साधना में व्यस्त रहते । किन्तो प्रकार चार वर्ष की अवधि पूरी हुई और आप गृह-कागजार में बाहर निकलने का उपाय ग्राजने लगे । आचार्यश्री ने जोरपुर्-पदार्पण का समाचार सुनकर एक दिन वे बिना किसी से कहे, पैदल, नगे पैरों, जोरपुर् की ओर चले पड़े । कितना माहम, कैसी लगता ।

जोधपुर पहुँच कर आपने गिरामन के दीवान ने मुलाक़ात की। प्रभावशाली टग ने अपनी स्थिति समझाई। उधर आचार्यश्री महागज के समक्ष भी दीक्षा ग्रहण की प्रार्थना की। जोधपुर के राजमान्य प्रतिष्ठित गृहस्थ भट्टाजी श्रीवर्माजी को तैयार कर लिया। श्रीवर्माजी ने जोधपुर-नगरे में अनुमति माँगी। नरेश ने प्रसन्नतापूर्वक अनुमति प्रदान करने का कड़ा—नृसंहारे गुण प्रशंसा के पात्र है, उच्चशक्ति में मयम के धनी है। तुम निश्चित होकर दीक्षा-महागोष्ठ का आयोजन करो। जो भी खर्च हो वह राजकीय कोष में किया जाय।

एक प्रकार राजानुमति प्राप्त कर श्रीवर्माजी ने दीक्षा की उच्चस्तर पर व्यवस्था की। वैरागी का जूलूस बड़ा ही भव्य, दर्शनीय और विचित्र था। उस ठाठ का क्या कहना! अद्भुत दृश्य था। एक हजार घोड़े, दो सौ हाथी और बहुत-संख्य पैदल सैनिक उस घोभा यात्रा के दृश्य को अमाधारण बना रहे थे। प्रभावशाली वेग-भूषा ने सुनजित होने पर सग्वार उच्चव्यक्तिकारी और उनके नामदार सम्मिलित थे। सुन्दर, स्वस्थ, सम्पन्न तरुण आज जगत के प्रशोभनी को टुकुराक, वाग्दत्ता भावी पत्नी के मोह को त्याग कर और सम्पन्न भोग-उपभोगों में विभुत होकर त्याग-वैराग्य के कष्टकाकीर्ण पथ पर प्रयाण कर रहा है, उस भावना ने वानावरण में अपूर्व गम्भीरता भर दी थी। आग्न की विरागत तप-प्राण की नमस्कृति ने आज मानो मूर्तिमान् रूप धारण किया था। देवदुर्लभ वह दृश्य किनासा स्मृतनीय था।

नियत समय पर रघुनाथजी अपने केशों का लुचन करके तथा ह्रिम-धवल ध्वेत वस्त्रों में सजित होकर, मातु वेग ने आचार्य श्रीमूधर स्वामी के समक्ष कर्बवद्ध उपस्थित हुए। प्रव्रजित होने की प्रार्थना की। आचार्यश्री ने उन्हें प्रव्रज्या प्रदान की। वे मुनिसदली में सम्मिलित हो गए।

उपस्थित विगत जनमपूष्ठ में वैद्य गडमठजी नामक एक मज्जन थे। उस समय उन्होंने जिज्ञासा व्यक्त की—'जैनधर्म क्या है? मैं उसका मर्म जानना चाहता हूँ।'

रुट की अनुमति प्राप्तकर मध्य प्रव्रजित श्री रघुनाथजी ने मन्त्र में जैनधर्म की व्याख्या करते हुए उनकी जिज्ञासा का समाधान किया। उस घटना में आपके प्रतिभा-वैभव का ओज, तेज एवं साहस का अनुमान किया जा सकता है। गडमठजी गति अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने सम्भवतः ग्रहण किया। उसी समय में पाँच पाँच की नपथक्या आरम्भ कर दी और चार विषयों का त्याग कर दिया।

मुम्बेर ग्राम में आपकी वहाँ दीक्षा सम्पन्न हुई। तत्पश्चात् आप पूज्यश्री की सेवा में रहते हुए ज्ञान-चारित्र्य की आगधना में निग्न रहते लगे। अन्तर्गत में ही आप में असाधारण तेज का प्रादुर्भाव हो गया। जागम में बहा है—

देव-दानव-गणधरा-जबल रक्षस-किन्नरा ।
यमयारि नमसन्ति दुक्कर जे करेति त ॥

दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी के चरणों में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर भी मस्तक टेकते हैं। मुनि रघुनाथजी वा ब्रह्मचारी थे। और ज्ञान तथा तपस्या के तेज में देखीप्यमान। यही कारण था कि मेरुता में भैरव की भी आपने भजना बना दिया।

बान यों हुई कि मेरुता में आप एक मूर्ति न्याय में उठे। लोग ने उन न्याय में ठहलें के लिए नावगान किया मगर आत्मबली नल भून-प्रेतो ने नयमीन नही होने। आप पूज्यश्री के साथ वही उठे। लद्धरात्रि में शोधमय मूद्रा में भैरवजी का आगमन हुआ। अनेक प्रकार ने डगन-प्रमकाने का प्रयत्न किया। तब मुनि रघुनाथजी ने भैरव ने कहा—'आपकी महिमा ने हम धवगत है। जैनमूर्तों में आप की प्रजमा की गई है। फिर क्यों आप उत्थान मचाते हैं? उनता रहकर आपन मानुषान् थोरुडा मृताया। भैरव की मुनकर प्रयत्न हुए और बाले—'आप जानी सन है। मुख में विश्राम नीजिए।





प्रातः काल कोतुहलवश लोगो की भीड़ लग गई। सभी मनो को मनुमल देव लोग अत्यन्त वक्रित और प्रभावित हुए। सैकड़ों नये भक्त बन गए। आपके वदने प्रभाव को देख स्थानीय यति जल-मुन गए। उन्होंने उन सतों को सताने के प्रयत्न में कोई कसर न रक्खी—यहां तक कि मूठ भी चलाई। किन्तु 'धर्मो रक्षति रक्षित' अर्थात् जो धर्म की रक्षा करता है, उसे उसकी रक्षा करता है। किसी मन्त्र का बाल भी बाका न हुआ। यही नहीं, यतियों की कुत्सित करतूतों के कारण मुनियों के प्रभाव में बहुत बृद्धि हुई। यतियों के माय शम्भुश्रम में विजय प्राप्त करके तो श्री रघुनाथजी ने अपनी प्रतिष्ठा में चार चाद लगा ली। वहां के अनेक प्रतिष्ठित आगेजान आपके श्रद्धानु बन गए। वही आपका चौगासा हुआ। पुरुषोत्तम पर्व की आराधना के निमित्त जोधपुर के भडारी श्रीवर्माजी भी अपने लठकर के साथ सेवा में आए। भडारीजी के गमक भेड़ता-निवामियों ने मुनि श्रीरघुनाथजी की मुक्त कंठ में भूमि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा— उनकी महिमा का वर्णन करना बुद्धि में पड़े है। वे ज्ञान के अथाह सागर और शान्ति तथा धर्म के प्रतीक हैं।

इस चानुमास में मुनिश्री ने १२८ दिन की तीव्र तपस्या की। इसमें जहां आपकी जाया कृप हो गई वहां आत्मिक तेज में अपूर्व वृद्धि भी हुई। पारणा के दिन नगर के समस्त कारगजाने बन्द रखे गए। उस समय भेड़ता में जैनो के ३००० परिवार थे, अतएव उसे जैनपुरी कहा जाता था। यही श्रीजयमठजी महाराज ने दीक्षा ग्रहण कर आचार्यश्री भूधरजी का शिष्यत्व स्वीकार किया जो आगे चल कर मन्मदायप्रवर्तक आचार्य पद में विभूषित हुए।

श्रीरघुनाथजी महाराज ने गाव-गाव विचरण करके अपने गंभीर तत्त्वज्ञान और छुट्ट नयन के बल से सहस्रो तर-नारियों को सन्मार्ग पर आरुढ़ किया, धर्म का प्रकाश दिया और धर्म की प्रशम्न प्रभावना की।

किन्तु यह सब सहज ही नहीं हो गया। उसके लिए उन्हें भीषण से भीषण कष्ट सहन करने पड़े। यतियों और पोतियाबन्दों की ओर से किये गये उपसर्गों को सहना पड़ा। कई बार निराहार रहना पड़ा, बन्ती में बाहर बूझों की छाया में निवास करना पड़ा, कटुक वचनों को सुनना पड़ा, अपमान और तिरस्कार के गरल को अमृत समझना पड़ा। विरोधियों ने छुछकार कर कुत्ते आपके पीछे छोड़े, तरह तरह में परेशान किया और लक्ष्य में च्युत करने के लिए कोई उपाय जेप न रक्खा। मगर महात्मा रघुनाथजी इन सभी उपसर्गों को हिमालय की तरह अचल, समुद्र की तरह गंभीर और पृथ्वी की तरह सर्वसह भाव से सहन करते हुए अपने पथ पर अग्रसर ही होते गए। भयानक विपत्तियां उन्हें निराश न कर सकी, उनकी प्रगति को रोक नहीं कर सकी और उनके विजय प्रयाण की दिशा का बदल न सकी। यही, घोर-अतिघोर विपदाओं को उन्होंने आत्मबल की वृद्धि का साधन बना लिया। उनमें उनका मत्त्व और उत्साह बढ़ा।

वि० सं० १८०४ की विजयादशमी के दिन, पचोले की पारणा में चड़े-चड़े शीरस्तुति का पाठ करते हुए, ६२ वर्ष की उम्र में आचार्यश्री भूधरजी ने नक्षत्र शरीर का त्याग किया। तत्पश्चात् श्रीरघुनाथजी म० पर गच्छ के नेतृत्व का उत्तरदायित्व आ गया। आप आचार्य के पद पर आसीन हुए। आचार्य पद की प्राप्ति के पश्चात् भी आपकी धर्मप्रचार और आत्मसाधना का 'मिशन' यथापूर्व चलता रहा।

तेरापथ के प्रवर्तक श्री भीष्मजी आपके शिष्य थे। मैदान्तिक मतभेद के कारण बगड़ी (मारवाड़) में आचार्यश्री ने आपका मधवाह्य घोषित किया और तेरह साधुओं के साथ पूवक् होकर उन्होंने तेरापथ मन्मदाय का प्रवर्तन किया।

इस महान् ज्योतिर्धर आचार्य ने लगातार साठ वर्ष तक जिन शायन की अपूर्व सेवा की। जन-मानस में पड़े अज्ञानान्धकार का निरसन किया। अपन दिव्य तेज में सब की महिमा बढ़ाई।

राजस्थान तो आपकी प्रधान विहारभूमि थी, जोधपुर, बीकानेर, जाऔर, मोजत, भेड़ता आदि राजस्थान के विभिन्न प्रदेश आपके चरणरज में पावन हुए। मगर आपका प्रचार-क्षेत्र यही तक सीमित नहीं रहा। गुजरात, काठियावाड़ कच्छ, मेवाड़, मालवा, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, यहां तक कि जम् जैमे सुदूरवर्ती प्रान्तों तक

इन महापुरुष ने पदार्पण करके धर्म का उद्घोष किया। सर्वत्र जिनशामन की प्रभावना की और जानामृत की वर्षा की। इनका विस्तृत विद्या-क्षेत्र आपकी धर्मप्रचार-भावना का प्रकट करता है। उस काल में स्थानरुवासी मृत्तियों का विहार राज की तरह मरल नहीं था। उस समय यतिनमाज का काफी प्रभाव था और साम्प्रदायिक दुराग्रह बहुत उग्र था। अतएव जगह-जगह प्रबल विरोध का सामना करना पड़ता था। अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ और मुसीबतें झेलनी पड़नी थीं। आचार्य श्रीरघुनाथजी महाराज ने उन सभी को झेलने हुए भारत के अनेकानेक प्रदेशों में धर्म-जाग्रति का शब्दावली किया। आप अद्वितीय प्रभावशाली महापुरुष थे। आपका विशाल शिष्यपरिवार था। पाच सौ पञ्चोम दीक्षाएँ आपने प्रदान कीं। आपके वार्डन प्रसिद्ध, सुशील और विनीत शिष्य थे, पञ्चमी प्रशिष्य, पैसठ प्रशिष्यों के शिष्य थे। मान सौ गृहस्थों का दूत सम्पत्कवधारी बनाया। महाराजाओं ने आपके चरणों में नतमस्तक शिरा अपने जीवन को प्रत्य माना।

श्रीचैतन्य, जयमन्त्री तथा कुशलजी आदि महाप्रभावशाली गुरुभ्राता थे, जो उच्चकोटि के सयमी और ज्ञानी थे।

आपकी आज्ञानुगामी मत्तियों की मर्या भी विपुल थी, उनमें महामती श्रीरत्नकुवरजी मुख्य थी जिनके साथ आपका विवाह होने वाला था। चरितनायक के दीक्षित होने पर आपके माता-पिता ने किसी मुयोग्य वर के साथ आपका विवाह कर देना चाहा था, परन्तु राजनीति की परम्परा में पत्नी इस आदर्श नारी ने दृढतापूर्वक स्पष्ट कह दिया था—‘‘मैं मन्त्र में कोई अन्ध पुरुष भोग पति नहीं हो सकना। मैं किसी भी स्थिति में विवाह करना स्वीकार नहीं करूँगी। आदिग ग्यारह अन्य मन्त्रियों के साथ वह दीक्षित हो गई थी। उसी समय मत्तरह स्त्री-पुरुषों ने भी दीक्षा अंगीकार की थी।

बान्धव में आचार्य श्रीरघुनाथजी ने जिनशामन के उद्योग में महत्वपूर्ण योग प्रदान किया है। वे जैनसंघ की जम्बू विभूति थे। स्थानरुवासी सम्प्रदाय की जड़े जमाने वाले प्रमुख महापुरुष थे। उनके महान् उपकारों को समझ कर भी विस्मृत नहीं कर सकता।

अन्तिम दिनों में पूज्यश्री ने वि० सं० १८८६ में पाली नगर में पदार्पण किया। नहीं कहा जा सकता किम योगबल में अथवा विद्विष्ट ज्ञान में आपने भविष्य का नाथात्कार कर लिया था। पाली में पधारते ही आपने सब मन्त्रों को शीघ्र आकर मिलने की सूचना भिजवा दी। स्थानीय मन्त्र इस आकस्मिक निमन्त्रण की बात जान कर चकित था। लोग मोचते थे—‘‘न जाने क्या घटना घटित होने वाली है। उनके रहस्य को आचार्य श्री जानते ही थे।

आदेश पाकर मन्त्रों और मत्तियों का आगमन प्रारम्भ हो गया। मौजत में महामती रत्नकुवरजी भी जा पहुँची। माघ कृष्ण अष्टमी के दिन आपने अनुविध मन्त्र में क्षमा का आदान-प्रदान किया। मन्त्र-सत्तियों को बुलाने का रहस्य खुलने लगा। सब तार उठा। लोगों के नेत्र अन्ध-वर्षा करने लगे और निवेदन करने लगे—‘‘अन्नदाता! हमारी अवस्था नहीं है। बिना अवसर का कार्य।

महान् पुरुषों की महान् उनके अटल सकल में रहनी है। पूज्यश्री का सकल भी मुमेर के समान अटल था। उन्होंने मन्त्रों का मन्त्र प्रकाशित कर दिया।

एक ओर मयमी-जीवन की अद्भुत, अन्विम और देदीप्यमान भावना चल रही थी, दूसरी ओर विपाद की मयन मेघ-माला उमड़ रही थी और वह दिनानुदिन मयन में मयनतर होनी जा रही थी। अन्त में माघ शुक्ल एकादशी के दिन, मत्तरह दिना का मन्त्राग सम्पन्न हुआ और जैन-संघ का देदीप्यमान मय अस्त हो गया।

जन्मि अवस्था में प्रणाम करते हुए शिष्यों को उनका अन्तिम सदेश था—

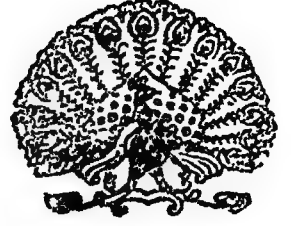
‘‘वत्स ! चिन्ता न करो। वीर प्रभु के धर्म को उज्ज्वल करना। आत्मा में समता-मुद्रा का निर्धार वधाना। समा-असार और शरीर अनित्य है।’’



श्री बुधमलजी महाराज

ज्ञान भारिल्ल,

एम० ए०



स्थानकवामी जैन सन्तो की परम्परा में स्वामी श्रीबुधमलजी महाराज का नाम इतिहास में गदा आदर और श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाएगा। स्वामीजी महाराज एक आदर्श त्यागी, नपम्बी, प्रभावशाली और अनामदा सन्त थे। आपका व्यक्तित्व अत्यन्त उच्च कोटि का था और आप साधुजीवन की समग्र त्रिशिष्टनाओं में सम्पन्न थे।

सन्तजीवन का प्रमुख लक्ष्य है—राग-द्वेष आदि कषायों को अधिक से अधिक उपशान्त करके धैर्यभाव को जागृत करना और जगत् के प्रपञ्च से अलिप्त रह कर आत्मस्वरूप में निष्ठा प्राप्त करना। स्वामीजी की जीवनी का पर्यालोचन करने पर यही तथ्य स्पष्ट प्रतिभासित होने लगता है। धाम्न्य में आप उच्च कोटि के कषायविज्ज्ञा थे और साधुचर्या में गदा निरत रह कर अनासक्तभाव में विचरण करते थे। अपनी प्रतिष्ठा का प्रसार करना या होना आपको अभीष्ट नहीं था। प्रसिद्धि की कामना में योजनों दूर रहते थे। मानसम्मान की वाछा नहीं थी। फिर भी आपने सद्गुणों ने, आपके निर्मल चरित्र ने, आपकी सादगी और मात्स्यिकता ने, आपकी तपोनिष्ठा और अनामिका ने आपका जो प्रतिष्ठा, प्रख्याति और प्रसिद्धि प्रदान की, वह विरले ही महापुरुषों को प्राप्त होती है।

स्वामीजी महाराज के जीवनकाल में, जिन्हें उनके सम्पर्क में आने का गीर्वाण प्राप्त हुआ, वे धन्य हुए। जीवनपथमें स्वामीजी आत्मकल्याण के साथ जगत् का रक्षण करने रहे। किन्तु मरुवरकेशरीजी म० ने रूप में अपने उत्तराधिकारी का छाउ कर आज भी वे परम्परया महान् उपकारक हैं।

स्वामीजी का जन्म भग्नपुर में हुआ था। आपके पिता श्रीहीरालाल जी छाजेट (जमेमान) गोश्रीय ओम-वाल थे। यशोधना श्रीमती चम्पादेवी के उदर में आपका जन्म हुआ। वि० सवत् १९२४ की श्रावणशुक्ला १५ को अर्थात् रक्षावन्धन पर्व के दिन आपने इस भूतल को पावन किया। आपके जन्मदिन में ही माता आपके मायी जीवन की सूचना दे दी कि रक्षावन्धन के दिन जन्म लेने वाला यह महाभाग शिशु गविष्य में मगर के मयी प्राणियों का रक्षक होगा। लोकोक्ति प्रसिद्ध है 'पूत के पाव पालने में दीग्न पाते हैं।' अर्थात् वास्तव के जैविक में ही उसके भविष्यत् जीवन की सूचना मिल जाती है। किन्तु आपके मायी जीवन की सूचना प्रकृति ने जन्म होने के साथ ही प्रदान कर दी। वास्तव में प्रकृति के रहस्य इतने निगूढ़ होते हैं कि उन्हें बड़े-बड़े सुजीवन भी नहीं समझ पाते।

किसने करारना की होगी कि रक्षावन्धन के दिन जन्म ग्रहण करने वाला यह बालक पट्काया नो रखा प्रदान करने वाला बनेगा। मगर चौदह वर्ष बीतते ही जो रहस्य छिपा हुआ था वह प्रकाश में आ गया। श्रीबुधमलजी के अन्तःकरण में वैराग्य की उत्ताल तरंगें तरंगित होने लगी। समार का कोई भी प्रलोभन उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ नहीं हो सका। विरक्ति के बीज हृदय-क्षेत्र में पनपने लगे और वे किसी सुयाग्य पथ-प्रदर्शक की वाट जोहने लगे। सांभाव्य से आपको विरक्तात्मा स्वामी श्रीमानमलजी महाराज का गान्धित्य प्राप्त हो गया। स्वामी मानमलजी महाराज उस समय बड़े तेजस्वी और ओजस्वी सन्त थे और उच्च श्रेणी के नयमपरायण सन्तों में से थे। स्वामीजी के मतसमागम में श्रीबुधमलजी को अपन जीवन की सही दिशा प्राप्त हुई। आपके विचारों में नूतन स्फूर्ति आई। जीवन का उच्चतर लक्ष्य निश्चित हो गया।

मन्वन्तर्गामी पुण्यो का मन्त्र अटल होता है। वि० सवत् १९३६ में, एक वर्ष के पश्चात् ही १४ वर्ष की आयु में आपने भागवती जिनकीशा अंगीकार कर ली। आपके दीक्षामन्त्रोक्त का नौभाग्य व्यावर तार को प्राप्त हुआ जो धनवृद्धि और शासन प्रसादना के कार्यों में सदा अग्रसर रहा है।

स्वामी श्री मानमन्त्री महाराज पूज्य श्री गुरुनाथजी न० के मन्त्रप्रदाय के एक रत्न थे। आपके गिष्यत्व की अंगीकार करके श्रीबुधमन्त्री महाराज समयमात्रना में प्रवृत्त हुए और ज्ञान तथा चारित्र्य की जागृयता करने लगे।

उन दिनों विविध भाषाओं के अध्ययन की अपेक्षा आगमों के और उनके धर्म को समझने के लिए चावी के समान घोरडों के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया जाता था। तदनुसार आपने भी घोरडों के तथा जिनागमों के अध्ययन पर ध्यान दिया और उसे समझने के उद्देश्य में व्याकरण तथा साहित्य का भी अध्ययन किया।

इन प्रमाण ज्ञान और चारित्र्य में सम्पन्न होकर आप स्वपर के श्रेष्ठ में अपना समय व्यय करने लगे। अमरावती के अनुना विचरण करने हुए आपने जन समाज का महान् उपहार किया। अपने जीवन्मोक्षकार में तो आप उनका ने समझ उनमें आदर्श उपस्थित करने ही थे, प्रवचनों द्वारा भी उद्बोधन देने थे। आपका प्रवचन वटा ही मारिक होता था। श्रोताओं के अन्तर्मन तक पहुँच कर उसे मार्ग करना था। उसमें जड़भूत प्रभावशक्ति थी। इन विवेचनाओं के साथ आपके व्याख्यानों की एक विशेषता थी—गोचरता। श्रोता गहरी रुचि के साथ उसे श्रवण करते थे। गहन में गहन और नीच में नीच विषय भी आपकी मनोहर शैली के कारण सरल, सरल और रुचिकर बन जाता था। श्रोता अभी ऊँचा नहीं था। इन्हीं दिनों—आपके प्रवचन-पीठ पर पान करते ही रहे।

आपने प्रवचनों का प्रभाव तत्काल पटना दिखाई देता था। आपकी देयता ने विनये ही लोगों के जीवन की मोट दिया। न जाने कितने प्रयत्नश्रुतों को मुप पर लगाया। अगणि अन्तराल में ठोकरें जाने वालों को दिव्य प्रमाण दिखाया। शायद आपकी मन्त्र सुबोध राजस्थानी थी। अमरावती के मन्त्रों ने कभी भाषा के प्रति किसी प्रकार का सम्मन या आग्रह नहीं रखा। उन्होंने मदैव हम मिदाल का अनुसन्ध किया—‘भाव अनूठा चाहिए सामा काँक होई।’ अमरावती प्रदेश में गए यथाशक्त उसी प्रदेश की भाषा को उन्होंने अपनाया और अधिक ने अधिक जनता का कल्याण का मार्ग समझाया। स्वामी बुधमलजी न० का मुख्य विहारमन्त्र राजस्थान रहा और हम राज्य आपकी प्रवचनभाषा भी राजस्थानी ही रही। स्वामीजी ने यद्यपि राजस्थान में बाह्य गुजरात और मध्यप्रदेश तक भ्रमण किया था और वहाँ भी हम का उद्घाटन किया था, मगर आपका अधिनायक समय राजस्थान में ही व्यतीत हुआ।

स्वामीजी का जीवन तप और त्याग का निदर्शन था। समय-समय पर आप उपवास, देला, तैला आदि तप करने ही रहते थे। आपने टक्कीन दा अठाइया की और एक पक्ष तक की भी उग्र तपस्चर्या की। जो आपका समग्र जीवन ही तपोमय था। हाथ में रत्ने-रुने गेजे की एक ही चादर तन पर गड़ते थे, चाहे गीतबाल भी कटकडाती मर्दी पड़ती हो या शीघ्र का तार हो। तन पर आपकी ममता न थी। समय-मात्रना में जिन प्रकार वह सहायक बना रहे, वम उनकी ही महारता थे उनकी करने थे।

आगमा के अध्ययन-अध्यापन के अनिरिक्त आप आगमों की प्रतिलिपिया करके भी श्रुतनेवा किया करने थे। आपकी श्रुतिपि वृत्त नन्दर थी। आपके द्वारा लिखित अनेक ग्रन्थों की प्रतिया आज भी मौजूद हैं जो आप की ज्ञानागमना की माझी दे नहीं हैं।

स्वामीजी प्रवृत्ति में अतीव मौम्य और शान्त थे। उत्तेजना के प्रसंगों पर भी कभी उत्तेजित नहीं होते थे। भाषा का प्रयोग कम करते थे। आपकी भाषा नपी-नुकी हानी, हिन-मिन होती और कटुकता ता उसमें कभी आनी ही नहीं। उही शरण था कि आपकी वाणी में अत्यन्त ही आदेयता और चमत्कृति थी। वचनसिद्ध सन्त के रूप में उनकी न्यायि दूर-दूर तक फैल गई थी।



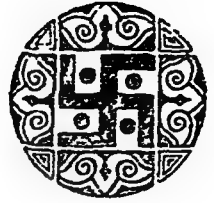
उनमें से श्रीजगन्नाथजी म० तथा श्रीगुणेशजी म० आपसी विद्वानता के ही कारणों से ही चुने थे ।

स्वामीजी जंग जपन मुकदमे के प्रति राज्य विरुद्ध गये थे। इसी प्रकार आपके नामांकन मन्त्रालय की आपके प्रति अनिवार्य आस्था, श्रद्धा ली गयी थी। "यमबाग" के समय मन्त्रालय स्वामीजी को न भेजा था। आपकी अन्तिम आराधना में सहयोग दिया।

आपके जीवन में अनक घटनाएँ घटती-प्रतीती होती हैं, वे आपकी भावनाओं को छूती हैं, आपका हृदय छूता उल्लेख नहीं किया गया है।

लौकाशाह : व्यक्तित्व और विचार

कुं० लालचंद्र नाहटा 'तरुण'



सत्मग्रह—श्रीकल्पसूत्र^१ में उल्लेख है कि गरुड ने श्री महावीर स्वामी ने पूछा—भगवन् ! आपके निर्वाण के समय आपके जन्मनक्षत्र (उत्तरफाल्गुनी) पर मन्त्रानुष्ठान हुआ मन्मन्त्र का क्या प्रभाव होगा ? भगवान् ने उत्तर दिया—इंद्र ! इस ग्रह के फलस्वरूप २००० वर्ष तक नाशु-नाश्वियों का उदय, पूजा, सम्मान नहीं होगा । अर्थात् धर्म की अवनति होगी । जब मन्मन्त्र दूर होगा तभी मच्छे नाशु-नाश्वियों का पूजा-सम्मान होगा ।

भगवान् की अविष्मवाणी अक्षरान् ठीक निकली । दो हजार वर्ष तक धर्म की क्रमिक अवनति हुई । यज्ञों बीच-बीच में स्थिति समालने के लिये दृष्टपुट प्रयत्न भी हुए किन्तु ये व्यायक नहीं हो सके, केवल माहिन्त्यनेन में प्रज्वलित हुए और बुझ गये । दो हजार वर्ष की अग्नि शताब्दियों तक तो परिस्थितियाँ अत्यन्त गंभीर हो गई । अमणवर्ग में मिथिलाचार का बोलबाला हो गया । उनके आचार-विचार गृहस्थों में भी निकुष्ट हो गये । इधर गृहस्थों में भी नरदूतगृह के आडम्बरों का प्रादुर्भाव हो गया । धर्म का मूल मुला दिया गया और धर्म की लाश को ही धर्म माना जाने लगा । धर्म के चमकने न्यू को ग्रहण लग गया । त्याग और वैराग्य पर आपारित धर्म में विगमिता और आडम्बर का घुन लग गया । तप, त्याग अहिंसा और नियम के स्थान पर परिग्रह और बाह्य क्रियाकांडों का जा-हो गया । चैत्यवाद का विकार सर्वत्र व्याप्त हो गया । प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, कृष्ण के बाद शुक्ल और शुक्ल के पश्चात् कृष्ण-पक्ष आना ही है । आन्तरिक एक दिन धर्म का मूर्य उदय होता है और पाण्डव का जयराग खड़-खड़ जाता है । प्रकृति के इसी अटल नियमानुसार जैनधर्म में जब विकार-तिमिर अत्यन्त घना हो गया तब लौकाशाह रूपी भास्वर का उदय हुआ ।

जन्म और बाल्यकाल—गजम्यान के निराही राज्य में, निगोही नगर से लगभग १८ मील उत्तर में अठवाग नामक एक छोटा-सा गांव है । पहले इसे अर्हन्वाडा अथवा अरहटवाडा के नाम से पुकारा जाता था । पद्महरी शताब्दी में यह अच्छा नगर और व्यापार का केंद्र था । वर्तमान में, प्राचीनकाल के ब्रह्मर, भगवद्वेष इनके गी-वशाली इतिहास का स्मरण कराते हैं । इसी गांव के नृप्रनिद, धर्मपरायण मेठ हेमाशाह की धमपत्नी गंगाबाई की कुक्षि में

१ ज रयणि च ण ममणे भगव महावीरे जाव सव्वकुस्सत्पहीणे त रयणि च ण खुहाए भासरासी नाम महागहे दो—
वानमहस्सट्ठिं समणस्म नगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्त सक्ते । जप्पभिइं च ण से खुहाए चानगसी महगहे दो
दामसहस्सट्ठिं समणस्म भगवओ महावीरस्म जम्मनक्खत्त सक्ते, तप्पभिइं च ण समपाण निग्गयाण निग्गयाण
य नो उदिए पूजा मक्कारे पवत्तई । तथा ण मे खुहाए जाव जम्मनक्खत्ताओ विइक्कते भविस्सई तथा ण ममपाण
निग्गयाण निग्गयाण य उदिए पूजा सक्कारे भविस्सइ ।

—श्री कल्पसूत्र श्री जैनदेवाकरली द्वारा संपादित, पृष्ठ १५६-६०

२ लौकाशाह के जन्मस्थान के विषय में कुछ मतभेद हैं यथा—

(१) दिगंबर श्री रत्ननदी स्वामी भद्रबाहु चरित्र पृ० ६० पर लिखते हैं कि लौकाशाह का जन्म पाटन में हुआ था ।



(२) इन्हों का अनुकरण करते हुए वि० स० १६२७ मे हुए दि० श्री सुमतिकीर्तिजी ने भी जन्मस्थान पाटन ही बताया है ।

(३) लो० गच्छीय यति केशवजी २४ फडी का शिलोका मे लिखते हैं—

‘इण कालई मोरप्ट धरा मई नागवेश तटिनी तट गामई
हरिचद श्रेष्टि तिहा वसई, मउघी वाई घरणी शोल लराई ॥१०॥’

इन्होने लोकाशाह का जन्मस्थान सौराष्ट्र का नागदेश ग्राम बताया है व माता पिता का नाम मउघी वाई व हरिचद सेठ बताया है ।

(४) कच्छी मुनि श्री नागेश्वर जी —

एह अवसर पोसालिया गढ जालोर मझार,
ताडपत्र जोरण थया कुलगुरु करे विचार ॥४०॥
लु को महतो तहा वसे अछर सु दर तास,
आगम लिपया स्रु पिया लिखे शुद्ध सुधिलास ॥४०॥

इसमे उनका जन्मस्थान जालोर बताया गया है ।

(५) इनके अतिरिक्त कुछ सम्मानीय लेखक—श्री वा० मो० शाह, आचार्य श्री अमोलय ऋषिजी म० एव श्री सतवालजी उन्हें अहमदाबादवासी बताते हैं ।

(६) तपागच्छीय यति कातिविजय जी (स० १६३६) लिखते हैं—

—आ महात्मानो जन्म अरहटवाढाना ओसवाल गृहस्थ चौधरी अटयना सेठ हेमानाईनी पवित्र पतिव्रतपरायण भार्या गगानी कुक्षि थीं सवत १४८२ चौदा सो व्यासी ना कार्तिक शुद्ध पूनम ने दिवसे थयो । प्रभुवीर पट्टावली, पृष्ठ १६१

स्वामी मणिलाल जी म० ने स्वयं ने भी पट्टावली मे उपर मत का समर्थन किया है ।

(७) श्री मरुघरकेसरी मिश्रीमराजी म० सा० ने भी अरहटवाढा को ही लोकाशाह का जन्मस्थान माना है । धर्मवीर लोकाशाह पृष्ठ ११-१४

(८) सिंगेही राज्य के अरहटवाढा ग्राम की चर्चा अभय जैन प्रयालय बीकानेर की स्पष्टिवावली प्रति न ७५८८ पत्र ५ मे भी हुई है, किन्तु वहा लोकाशाह को नहीं, माणो जी को अरहटवाढावासी बताया है और उनकी दीक्षा का उल्लेख भी किया गया है—जिनवाणी वर्ष २४ अंक ६ एव पुस्तक १५ भाग २

इससे भी सिद्ध होता है कि लोकाशाह या लोकागच्छ के साथ अरहटवाढा का संबंध रहा है ।

उपर मतों के अनुसार लोकाशाह के जन्मस्थान के विषय मे (१) पाटन (२) नागवेश (३) जालोर (४) अहमदाबाद (५) अरहटवाढा । पांच स्थानों का वर्णन मिलता है ।

जहा तक जालोर का प्रश्न है, श्री वा० मो० शाह को उपलब्ध कुछ पन्नों के अतिरिक्त किसी भी लोकागच्छीय अथवा विरोधी साहित्य मे, किसी भी पट्टावली मे, कहीं भी उसका उल्लेख नहीं पाया जाता है । यह समभव है कि लोकाशाह युवावस्था मे कभी जालोर गये हो । जहा भी कुछ समय तक श्रुतसेवा की हो । अतः उन्हें जालोर का किसी लेखक ने लिख दिया हो । परंतु इस मत का समर्थन भी अन्य प्रमाणों से नहीं होता । इसी प्रकार नागवेश का समर्थन भी अन्यत्र कहीं नहीं मिलता । स्वयं लोकागच्छीय यति भानुचंद्रजी भी इसे सही नहीं मानते । पाटन अहमदाबाद का ही उपनाम था अतः पाटन और अहमदाबाद मे कोई विरोध नहीं है । रहा अहमदाबाद, सो अहमदाबाद

विश्वम मवन^१ १८८० की शान्ति युक्ता पूर्णिमा की शुभ्र ज्योत्स्नामयी दुग्धधवल निर्मल निशा में लोकशाह का जन्म हुआ ।

बाल्य नाम गोचन्द्र रचा गया । युक्त-पक्ष के रजनी-पति की तन्त्र बाल्य वृद्धि को प्राप्ति होने लगा । पाच वर्ष की अवस्था में बालक का पाठशाला में प्रविष्ट कराया गया । बालक पूर्व मस्कारों के कारण प्रारम्भ में ही तीव्र मेधावी था । उत्तम अथवा ध्यानावस्थित में अध्यापकगण भी चकित रह जाते थे । अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण गोचन्द्र स्वला समय में ही व्याख्यान शिक्षण में पारंगत हो गया । टेम्पाई एव गंगाबाई स्वयं धर्मप्रेमी थे । उनके घर में बालावस्था में ही धार्मिकता का जन्म था । उन लोकचन्द्र पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा ।

तो लोकाशाह का कमक्षेत्र भी था और धर्मक्षेत्र भी । उनके जीवन का अधिकांश और महत्वपूर्ण भाग अहमदाबाद में ही बीता था अतः उन्हें इसी दृष्टि से अहमदाबाद का मान लिया गया हो तो कोई आश्चर्य और आपत्ति नहीं । इसके अतिरिक्त जन्म ही अहमदाबाद में हुआ हो ऐसा कोई प्राचीन उल्लेख उपलब्ध नहीं होता जैसा अरहटवाडा के विषय में होता है । स० १९३६ में हुए कांति विजयजी के लेखन से भी इसकी पुष्टि होती है ।

- (६) अनी २ प्रकाशित लुका ना सहृदिया ५८ बोल की भाषा भी राजस्थानी प्रभावित गुजराती है । यदि उनका जन्म सौराष्ट्र, गुजरात, में ही होता, तो उनकी भाषा शुद्ध गुजराती होती, यदि उनका जन्म और कमक्षेत्र दोनों राजस्थान में होते तो भाषा शुद्ध राजस्थानी होती । परन्तु भाषा सिरोही जैसी दोनों राज्यों के सीमांत पर स्थित जिलों की सी है जिससे उनका जन्मस्थान अरहटवाडा होना अधिक सम्भव लगता है । तथा भाषा में गुजराती प्रभाव से उनका चिरकाल तक अहमदाबाद रहना भी सिद्ध होता है ।

श्री मधुधरकेमरी जी म० ने भी जेतारण कुरडाया जैसलमेर आदि भंडारों के लोकाशाह सबधी साहित्य के अवलोकन के पश्चात् अरहटवाडा को ही लोकाशाह का जन्मस्थान माना है ।

उपरोक्त सभी मतों पर विचार करने के पश्चात् अरहटवाडा ही लोकाशाह का जन्मस्थल सिद्ध होता है ।

१ इसी प्रकार जन्ममन्त्र के विषय में भी मतभेद हैं यथा—

- (१) पंडित मुनिश्री लावण्यसमयजी (वि० म० १९४३)

“सइ उगणीस वरिस थया पणयालीस प्रसिद्ध ।

थ्योर पछी लुक्कु हुई अत्तमजम तोणई किद्ध ॥३॥”

—सिद्धान्तचोपाई

श्री महावीर स्वामी ने १९४५ वर्ष बाद अर्थात् वि० स० १९७५ में इन्होंने लोकाशाह का जन्म बताया है ।

- (२) मुनिश्री बीका उत्सूत्रनिराकरण बत्तीमी में—

“वीर जिणेवर मुवित गया सइ ओगणीस वरस जव थया,

पणयालीस अधिक भाजनई प्रागवाट पहलई साजनई ।”

आप भी लोकाशाह का जन्म उपरोक्त मतानुसार स० १४७५ में मानते हैं ।

- (३) लोकागच्छीय यति केशवजी २/ बडो का शिलोका में—

“पुत्र सगुण थयो लपु हरपि, जल चउदे सत सितर वपि ।”

आपका मत है कि लोकाशाह का जन्म वि० स० १४७७ में हुआ था ।





प्रारम्भ में ही उसके सस्कार निर्मल, प्रवृत्ति धार्मिकता की थी। सामायिक प्रतिक्रमण स्वाध्याय गुरुनन्दन प्रवचनधरण आदि का संयोग मिलते रहने में उसकी धार्मिक भावनाओं प्रतिदिन बढ़ने लगी। लोकचन्द्र की स्मरणशक्ति भी ऐसी तीव्र थी कि एक बार सुना हुआ व्याख्यान उन्हें पूरा याद हो जाता था। इस प्रकार कुछ ही काल में लोकचन्द्र ने अपना शिक्षण संपूर्ण कर लिया।

गृहस्थ जीवन—जब लोकचन्द्र किशोर हुन ता हेमाशाह ने अपने कागजार का उत्तरदायित्व लोकचन्द्र को सौंप दिया। सतोष वृत्ति, न्यायनीति, सत्यता, प्रामाणिकता एवं सश्रमता में लोकचन्द्र का कागजार जम गया और अधिकाधिक विस्तृत होता गया, उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी। लोकचन्द्र वाक्चतुर्य, कायकीशत्रु एवं मापणमाधुर्य से ब्राह्मणों का मन जीत लेते थे। लोग उन्हें प्रेम से लोकाशाह कहने लगे। उन्हें अपने व्यापार के निमित्त दूर २ तक जाना पड़ता था। एक बार जब वे मिर्गहो गये तो वहाँ के नगरगठ ओषधजी छाह में परिचय हुआ। ओषधजी क्षात्र मानव-मन के पारंगत थे। वे लोकाशाह की कुशाग्र बुद्धि और तेजस्विता से अत्यन्त प्रभावित हुए। दूसरे ही दिन वे अरहटवाड़ा आये और अपनी कन्या सुदर्नना की सगाई लोकाशाह के साथ कर दी तथा कुछ समय पश्चात् विवाह भी हो गया। विवाह के तीन साल बाद लोकाशाह के पुत्र हुआ जिसका नाम पूनमचन्द रखा गया। पीन प्राप्ति के पश्चात् हेमाशाह और गंगाबाई निवृत्तिमय जीवन व्यतीत करने लगे।

अहमदाबाद प्रवास—कुछ समय पश्चात् उनके माता पिता का स्वर्गगमन हो गया। इसी समय अनादृष्टि आदि कारणों से अकाल की स्थिति भी उत्पन्न हो गयी, एतत्कालीन छाटे २ राज्यों के आगमी बैंग के कारण चोरी, डकैती आदि से वहाँ का जनजीवन भी असुरक्षित हो गया। अतः लोकाशाह परिवार गृहित अहमदाबाद आकर बस गये और वहाँ पर जवाहरात का व्यापार प्रारम्भ किया।

विलक्षण प्रज्ञा के धनी तो थे ही लोकाशाह, स्वल्प समय में ही जवाहरात के व्यापार में पुरस्न में वे पारंगत हो गये। एक बार मुहम्मदशाह बादशाह के दरबार में मूर्त का एक जीहरी दा मोती लेकर आया जिसकी परख के लिये बादशाह ने नगर के सभी प्रमुख जीहूरियों को बुलाया। सभी ने दोनों का मूँचा और मूरयवान बताया किन्तु

(४) लोकागच्छीय यति मानुचन्द (वि० सं० १५७८) दयाधर्म चोपाई में—

“चौदसय व्यासी बहसाखई चंद चौदस नाम लु को राखई।

आठ बरिसनी लु को घोयो सा दुगर परलोखई गयो ॥४॥”

ये लोकाशाह का जन्म सं० १४८२ मानते हैं।

(५) तपागच्छीय यति कातिविजय जी (सं० १६३६)

‘आ महात्मानो जन्म अरहटवाटाना ओसवाल गृहस्थ चौधरी अटकना सेठ हेमाभाई नो पवित्र पतिव्रतपरायण भार्या गंगा बाई नो कुष्टि थी सवत १४८२ चौदा सो व्यासी ना कार्तिक शुद्ध पूनम ने दिवसे थयो।”

ये भी लोकाशाह का जन्म सं० १४८२ मानते हैं।

(६) इनके अतिरिक्त लोकाशाह के जीवन पर विशिष्ट प्रकाश टालने वाले श्री सतवालजी एवं श्री स्वामी मणिलालजी आदि भी उनका समय सवत १४८२ ही स्थिर करते हैं।

हमें भी यही मत उपयुक्त लगता है, कारण यति मानुचन्द्रजी लोकाशाह के ही अनुयायी थे और उनके कुछ समय (८० वर्ष) बाद ही उन्होंने लोकाशाह का चरित्र लिखा है, तथा यति कातिविजय जी ने यही लिखा है।

श्री सतवालजी द्वारा लिखित ‘जातिनो युगसृष्टा’ एवं श्री मरुधरकेसरीजी द्वारा लिखित ‘धर्मवीर लोकाशाह’ के आधार पर।



इधर मुहम्मदशाह बादशाह को विपप्रयोग में मार दिया गया था। इसकी लोकाशाह पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। पहले ही वे जल-कमलवत् जीवन तो बिता ही रहे थे, अब उन्होंने नौकरों त्याग कर नये बादशाह कुतुबशाह द्वारा दिये गये बड़े-बड़े भौतिक प्रलोभनों को अस्वीकार कर निरुत्तमय जीवन बिताने का निश्चय किया। इसके बाद मिन गया ज्ञानजी यति का सयोग। ज्ञानजी यति ने उपाध्यय में लोकाशाह के समक्ष समस्त आगमों की प्रतिलिपि का प्रस्तान किया। लोकाशाह को तो मुहमागी मुगद मिली, उन्होंने यतिश्री का प्रस्तान तुरन्त स्वीकार कर लिया। शास्त्रों की वे दो दो प्रतिलिपियां करने लगे—एक अपने क्रिये, एक यतिश्री के क्रिये। अन्य लेखकों का भी मह्याग लिया। इस प्रकार उनको कई वर्षों तक षण्णों के चिन्तन-मनन और स्वाध्याय का अग्रसर मिला। मनन माधनों में स्नान कर उनका अध्ययन निरर गया। उनके जीवन का प्याला ज्ञान के मारमर ने परिपूर्ण हो छरकने लगा।

लोकाशाह ने अपन माधना-शिविर में बाहर की ओर देवा-चारा आर धर्म के नान पर र्शनानियत का साम्राज्य छाया हुआ था। उनकी मावना विद्रोही हो उठी। उा नमर भस्मक प्रर का प्रभाव भी समाप्त हो रहा था। एक दिन उन्हें ऐसा आभास हुआ मानो कोई कह रहा हो—ओ मरान प्रातिकार ! उठ, उठ। निराश होन का नाई कारण नहीं है, शिविलाचारियों के पापों का घटा भर गया है, उसे फोड़ दे जय ममय आ गया है। ऐसी अतर्ध्वनि सुनते ही उनके दिन में नया उत्साह, नयी चेतना, नयी ज्योति जागृत हो गयी।

प्रातिनाद—अब लोकाशाह ने प्रवचन देना प्रारभ कर दिया। प्रवचन क्या वे प्रातिनाद थे। उन्होंने कहा अवे होकर र्शनानियत के पीछे दोटने वाला ! आरंभ र्वात कर देगो ! किमी भी विचार की किमी भी पथ को बुद्धि की कसीटी पर कस कर ही ग्रहण करगे। जहा हिमा है वहा धर्म नहीं हो सकता। आगमगाहिर्य में भूतिपूजा का विद्यान कही नहीं है। शास्त्रों के पठन-पाठा का सब ना अधिकार है। स्वाध्याय और अग्रविद्वांसों का तोड़ना र्जन्य है। सच्चा धर्म आडवरयुक्त क्रियाकांडों में नहीं क्रान्ति ज्ञान्तरिक गुणों के विकास में है। यर्तमान यनियों का आचार विचार निकृष्ट, हीन, गया गुजरा एव आगमविषद है। इन मुग्ध मुग्ध जीवकों की ध्यात्वा जब लोकाशाह विभिन्न नयनिक्षेपा, आगमप्रमाणों, युक्तियों, तर्कों, एव हेतु-हेत्वांतों के माध ररते ता जनता अत्यन्त प्रभावित होनी थी।

अधविद्वांस की उम अरेरी दुनिया में लोकाशाह के बुद्धिवाद की गजना प्रलपकालीन विजली की तरह कोध गयी। जनता चौंकी, स्वार्थाय र्माधिकारी धवराए। उन्होंने देखा उनके दुर्घर्ष दुर्ग में एक नर-नाहर कही से आ घुसा है और उनके गुरउम के गड की दीवारें उनकी दहाड़ में डगमगा रही हैं। इगं तरकारीन रुद्धिवादियों में मगदड प्रांम हो गयी। पुरातन पथी कठमुल्लो के रोमें में गलगली मन गयी। उन्होंने अणहलपुत्र पाउन में प्रभावशाली सठ श्री लखमसी शाह की लोकाशाह का ममज्ञान-बुझाने भेजा। लखमसी शाह को पहले लोकाशाह के निरुद्ध मूव वरगलार एर तकलश्य में मज्जित कर भेजा। जब लखमसी शाह आय तो लोकाशाह स्वाध्याय में तरलीन थे।

दोनों के बीच भूतिपूजा आदि विषयों पर लम्बी चर्चा हुई। लोकाशाह ने आगम प्रमाणों में अपने विचारों का प्रमाणित किया। उनकी सबल युक्तियां सुन कर लखमसी अत्यन्त प्रभावित हुए। तत्पश्चात् लखमसी शाह लोकाशाह के अनुयायी हो गये और दोनों ने मिन कर बुद्ध र्जनधर्म का मफल प्रचार किया।

१ लु कहि वात प्रकासी इसि, तेहु सोस हुइ लखमसी।

तिणई बोल उयाप्या घणा, ते सघला जिनशासन तथा ॥११॥

लावण्यसमय कृत मिह्रात चौपाई (सं १५४३)

(क) तेहवई शिष्य मिलई लखमसी, तेहुनी बुद्धि हो आयी रियसी।

टालई जिन प्रतिमा नई मान दया दया करि टालई दान ॥३॥

(खरतरगच्छीय उपाध्याय कमलसमय कृत मिह्रातसारोद्धार चौपाई)

घातप्रत्याघात—लोकाशाह का प्रचार प्रचंड वेग में अब बढ़ने लगा तो कुछ दुस्माहमी व्यक्तिगो ने उसका प्रतिवाद किया किन्तु लोकाशाह ने, आगम प्रमाणो एव युक्तियों से सबको निरन्म कर दिया । कुछ नमूने उन समय की मापा ने देखिये—

पूर्वपक्ष—'जु दयाई धर्म, तु चारित्रीउ नदी काई उत्तरई ?

लोकाशाह—जउ नदी उत्तरई धर्म हई, तउ वहु बहनि न उत्तरई ।

श्रीचीनगो तु नदी उत्तरवानो नर्या बोली । तथा श्री ममवायागनई एकवीन मे ममवाये । नया दशाश्वन मध्ये एहवा कथा जे—जतो मामन्म तउ उदकनेवे कारमाणे मवले । इहा तउ इम कह्यु । जे महीनाना महेने त्रिणि नेप लगाई ने न बलउ । वरमशीममाही दम लेप लगाई ते मवलू । तु हई जेओ नई नदी उत्तरई धर्म, तु श्री चीन-गो जिनो अहिनी नदी उत्तरई नेहने मवलउ का कहई ? तथा जे उमकतव्य छई ते बहू बहू कीजई । अनई-बल चीनई अनुमोदीई । अनई नदी तु गह बह उत्तरवी नहीं । जनई उत्तरिया पटी अनुमोदई पनि नहीं । ज विराधना हुई हई ने निदई गहई । नया मापुनई विहा ननड केहउक वरिमई तया केहइक मानउ तथा केहइ गइ दिवमि पेश विधेपड नया देग विधेपड नदी, नावी तथा न उत्तरिउनु काई माधु नदी जणऊनरि आनउ पञ्चात्ताप तउ न करइ । पनि प्रतिमानउ पूजापहार केहई नई मामि केहई कई दिवमि कारण विधेपड प्रतिमा पूजा न सनई तु पञ्चात्ताप करइ दम चीनवई जे माहृड पोतड पार जे मइ प्रतिमा न पूजाणी । पनि नावू नहीं अणऊनरइ इम न चीनवइ जे - "माहृड पोतड पार जे नदी न ऊनपाणी ।" जिनो प्रतिमा ऊपरि नदी नु दृष्टात माडई छइ ते मृत्रविरुद्ध दीमई छई । ते ऐतला अपिजे प्रतिमा ना पूजापहारनइ प्रतिमानी पूजा वनुमोदणनइ वातइ छई । अनई नावू नई नदी नु उत्तर निदवानइ वातइ छइ । तथा हवइ जेउड वातइ नदी नु ते प्रीछया । नदी अशक्य परिहार छइ । अनई अमाकुटि छइ ते अनाकुटि श्री ममवायाग मध्ये एव चीनमउ नमनाउड छई । त्रिनेत्री हउ ते विचारी जोजे ।

टीका श्री निर्युक्तियो के द्विपय मे लोकाशाह ने कहा— "तया तेनाएर इम नई छइ जे अम्हारइ वृत्ति टीका चूणि निर्युक्ति नापर नहु प्रमाण ।" ते डाहू हउ ते विचारी जोज्यो । ज मित्राननई मिलइ ते प्रमाण । अनइ जे मित्रानविरुद्ध हई ने किम प्रमाण थाइ । वृत्ति टीकामाहि गहूना अधिकां छई ते निवीड छउ-जे माधु चारित्रीओ चक्रव-निना वटक ब्रूण कइ । उतराध्वयननी वृत्ति चूणि मध्ये । नया चातित्रियो पञ्च माहि काल कइ तु डाभ ना पूतला कथा उइ ने त्रिबीड छउ-दुनि अ दिवइइ गित्त ददनमया पूतला य कायन्त्रा, तमखिनमि अ इको, अउड आभई न नायवो ॥२॥ जावव्यक निर्युक्ति पण्डाविगिया ममिति माहि । तथा बृहदरत्न नं. वृत्तिमध्ये पनि पूतला करवा कथा । ते वृत्ति चूणि किम मनाइ ? डाहू हउ ते विचारी जाज्ये । एह मस्तवनवु बो ॥५७॥

अनिम अद्वादनवे बाल मे लोकाशाह कहने हैं—जे अनता मोक्ष पुहता । वतमान कालइ मोक्ष जे माक्ष पुहवइ नउ । अनउ अनागन वातइ अनता मोक्ष पहुचम्यइ ।—मृत्रपाठ—जीवदयाइ करी मोक्ष पुहता । अय म्पण्ट है ।

(त्र) लखमनी ते तिहा छई कारभारी, सा० लु का नो थयो सहचारी ।

अमाग राजिमा उपदेश करो दया धर्म छई सहुथी खरो ॥१०॥

लोकागच्छीय यति नानुचद्र कृत दयाधर्म चौपाई ।

(ग) द्विच मोरुई लीवडी ग्राम कामदार यझे लखमशी नाम ।

तु का गुर नो ग्रही उपदेश धर्म पसार ओ देश विदेश ॥१६॥

(लोकागच्छीय केशव ऋषि कृत लोकाशाह को सिलोको)

(घ) तन अनुवई हउओ लमममोह जिणवर तणी तीण लोपी लीह ।

चउपपदी कौखड सिद्धात सता ससार अनत ॥३॥

(मुनि बीका कृत असूत्रनिराकरण वत्तीसी) ।

१. प० दलमुख भाई नालवणिया द्वारा प्रकाशित 'लु का न सहहिआ अद्वावन बोल विवरण' मे का छठा बोल ।





लोकाशाह ने प्रतिपूजा के पक्ष में दी जाने वाली युक्तियों का तो मफरतापूर्वक खंडन किया ही था, किन्तु उस समय के यतियों में व्याप्त भयंकर शिथिलाचार एवं अनागमिक प्रथाओं पर भी भयंकर प्रहार किया था। ऐसी ही ५४ बातों का वर्णन लुंका ना गहूहिन्ना ५८ वाल विवरण के अन्त में किया गया जैसे—दीक्षा लेकर नाम फिगना, नामलेप डालना, शर्बोल करना, ज्योतिषप्रयोग, जीर्णार्ध बनाकर देना, मुद्रावन्निर्माण कानों में गिराने के लिये छेद बढ़ाना, उटारना करना, प्रतिमा की पविष्टा करना, झूला करना, ओषा फेंगना, देवद्रव्य रखना, पर्युषण पर्व का प्रतिक्रमण चीप का करना, आदि।

प्रचार-प्रसार—अहमदाबाद उस समय व्यापार का एक आवागमन का केन्द्र था। तार्कशास्त्री भी वहाँ होकर जाया करने थे, अतः उहाँ पर मनुष्यों का आवागमन प्रायः बना ही रहता था। लोकाशाह की कीर्ति उस समय दिग्-दिग्गज्यपिनी हो रही थी। अतः जो भी श्रावक अहमदाबाद आते थे लोकाशाह के प्रवचन सुनने (अद्यायन, कुतूहलजन्य अथवा ईर्ष्याजन्य भी) अवश्य आते और जो भी एक बार उनका उपदेश सुन लेते थे उनके ही हो जाते।^१ एक बार अहमदाबाद मूरत आदि स्थानों के चार बड़े २ मधु शत्रु जय की यात्रा को जाते हुए अहमदाबाद आये और कुतूहलजन्य लोकाशाह के पास उपदेश श्रवण को चले गये। लोकाशाह की अमोघ युक्तियों एवं प्रमाणों से प्रभावित होकर उन्होंने अपनी यात्रा त्याग दी और लोकाशाह की प्रमाणों में शामिल हो गये।^२ अब तब लोकाशाह ने किमी को दीक्षा नहीं दी थी न स्वयं ने ही ली थी। अब लोकाशाह के उपदेशों से प्रेरित होकर भाणाजी, जगमालजी, मर्बोजी, दयालजी आदि ४५ व्यक्तिगणों ने लोकाशाह से प्रार्थना की—हमें दीक्षा लेकर प्रचार करने की अनुमति दीजिये। लोकाशाह ने कहा—मैं तो स्वयं ग्रहस्थ हूँ, यदि आपको दीक्षा लेनी है तो किमी शुद्धाचारी के पास दीक्षा लो। आपिर जानजी ऋषि के पास उनकी दीक्षा हुई।^३

लोकाशाह की दीक्षा—लोकाशाह की दीक्षा के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि उन्होंने स्वयं न दीक्षा नहीं ली, किन्तु तपागच्छीय यति कातिविजयजी, स्वामी मणिलालजी म०, शान्धो-द्वारक पूज्यश्री धर्मोलकरूपिजी म० का मत है कि उन्होंने दीक्षा ली थी। मधुकरकेसरी श्रीमिश्रीमलजा म० को शाह जी की दीक्षा का उत्प्रेषण कल्याणजी भमाली जैलसमेरवालों के मस्कृतमय पट्टे में, जपतारण के गुजराती उपाधय के अन्तर्गत में प्राप्त पुरान पत्रों से, एवं ज्ञानसागरजी यति द्वारा रचित धर्मपरीक्षा नाटक में मिला है। तदनुसार उन्होंने म० १५३८ की मगमर मुद्रि ५ को दीक्षा ली।

बलिदान—दीक्षा के उपरान्त उनका प्रचार और अधिक बढ गया। उनके दिन दुगुने रात चौगुने बढते हुए प्रचंड प्रताप में प्रतिक्रियावादियों का मिहामन डोल उठा। उनके मस्तिष्क का अनुलन समाप्त हो गया। उनके हृदय में ईर्ष्याद्वेष की अग्नि भमर उठी। उन्होंने पद्मपत्र चक्र तैले के पारने पर उन्हें विषमिश्रित आहार बहुरा दिया। विष का आभास होने पर भी उन्होंने ममता बनाय रखी और मथारपूर्वक स० १५४६ में स्वर्गवासी हुए।^४

अहिंसा के अवतार, मत्स्य के पुजारी, ज्ञान के देवता, कति के युगसृष्टा धर्मप्राण श्री लोकाशाह धर्म के दीवानों द्वारा अग्रविग्रह की चलिदेदी पर उल्लिखित कर दिये गये। प्रत्येक महात्मानव की—चाहे ईसा हो या सुकरात मीरा हो या गांधी प्रतिक्रियावादी लोग ऐसी ही गति किया करते हैं। किन्तु इसमें उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता।

१ दया धर्मो थयो बहु लोग। एहविधिलयो भाणा नो सयोग।

— लो० गच्छीय यति भानुचक्रवर्त दयाधर्मचोपाई

२ 'पट्टावलीपत्राग' में इस घटना का वर्णन यों है—तेणें समय मारवाड्यो एक सध सेजुजानो जात्राइ जाई तेमा आठ सध मुति छे, भाणा भोग जगमाल सखा प्रमुप ते पाटन आव्या ते लोकाशाहूतो नवीन धर्मप्रबोध सांसलवा बाव्या, तेणे प्रबोध बई सिद्धात ओलखायो तेणे पोसाती धर्म, देहरो प्रतिगापुजा सुकी, साध थया।

३ 'धर्मवीर लोकाशाह' (न० के० श्री मिश्रीमलजी म०) पृष्ठ ५८

४ धर्मवीर लोकाशाह

गोकागाह के बलिदान में उनकी उद्योगि बुझी नहीं अपितु अधिकाधिक प्रज्वलित होती गयी । आन नी लाडो अदमी उनसे द्वा प्रचानि मित्रानो को मानने हैं ।

लोकगाह के समर्थो—पन्द्रहवीं शताब्दी तक प्रायः समार के समी धर्मों ने विचार अत्यधिकत गये थे । ईसाई धर्म में गोर का शिकता प्रोपीय जनता प वृत्ती तरह कम गया था । जीवा के प्रत्येक क्षेत्र में चर्च का हम्म-क्षेत्र वृत्ती तरह स्थान हो गया था । कृष्णों और अदमोयो ने मनोविक्रम व्रत हा गया था । पाप व पादो वैन लम्प-मर्ग के टिकित दिया करने थे । योग और चर्च के दिग्द एक वास्य भी रहने वाले का धिच्छेद पर दिया जाना था । गोकागाह के कुछ ही समय पश्चात् जननी के एक महान् मुवाक माटिन लुय हूए, जिन्होंने इस पारगाही के विरुद्ध आवाज उठाया । उन्होंने भी मूर्तिपूजा को अस्वीकार कर दिया । एक जोजे लेखिका लिखती है—

About A. D. 1452 Lonka sect arose and was followed by Sthanakwasi, sect, dates coincid strictly with the Luther and Puritan movement in Europe (Heart of Jainism)

हिन्दू समाज की शान्त नी कम उब्जा नहीं थी । लोकगाह के बाद उसमें भी कई क्रान्तिकारी हुए जिन्होंने मूर्तिपूजा का बहिष्कार कर उस में मुधार किया । इनमें ऊबीर, दादू, मिथमन प्रवर्तक नानक, तमचरगजी म्हागज, गजा तममोहन गय, म्हामी दमानन्द आदि हुए, दिगम्बर जैन समाज में मूर्तिपूजा को अस्वीकार करने वाले नागण म्हामी हुए ।

इसी प्रकार बौद्ध सम्प्रदाय में भी विहृनिया घा कर गयी थी, किन्तु उसमें लोकगाह जीग माटिन लूथर जैसे समर्थ शानिवादी नहीं होने के कारणवर्ष में उसका नाशनिगान ही नित गया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकगाह समाज में धर्मशानि की मयप्रथम बोणा बजाने वाले थे, मय का मय मयमे पहने फूटने वाले थे । शताब्दियों ने कौनी विकट अन्धकारमयी रज्जो में सुषुप्त जनमानस को शानिजाति का सर्वप्रथम दशन कराने वाले थे ।

लोकगाह पर आक्षेप—लोकगाह के धर्म प्रचार ने जिन स्वार्थी व्यक्तिओ के स्वार्थ प उग्रान टूटा वे उन पर विभिन्न प्रकार के निरमंत्र आक्षेप किया करने हैं ।

जहाँ तक उनके उद्दिष्टा होने की बात है, यह सर्वथा निम्नार है क्योंकि कोई व्यक्ति पैसे लेकर कोई काम करता है ना उसकी दृष्टि में फिर वह आजीविका ही मुख्य रहती है । लोकगाह ने जो प्रचार किया उससे तो उनकी उस मरारथित आजीविका पर ही कुठागातात होता था । पैसा केरु नाम करने वाला अपनी आमदनी पर ज्ञान का काम कभी नहीं करेगा । हाँ, वे धुनमेवा की दृष्टि में अवश्य ठिठके होंगे जिसमें द्वेषवश पहने लहिये जैसा और बाद लहिया ही ठिठका जाने लगा होगा । जहाँ तक उन प उग्रानता का आरोप है वह मरामर ही मिय्या है । शताब्दियों में जमे अश्रविश्वाना में मयमयित, नयययित, औषधययित, यनयन, जनयन, गज्यबल, एव ज्ञानबल आदि मुमपल्ल मूरि-मम्राटो ने उन्हीं के गट में पुन कर टस्क लेना और विजयदु दुमि बजाना स्या किनी माधारण या जल-ज्ञानी में नभव है । कदापि नहीं । “तु राना महहिवा यदबाल” प्रशानित होने के बाद उन विषय में मूर्तिपूजक विद्वानो का भी भ्रम विख्यति हा गया है । उन्हीं नी स्वीकार करना ही पडा कि—

‘ऐवा उन्नेयो मले छे के लोकगाह लहिया हना, पण अ हम्म प्रत एव वावन स्पष्ट करी आपे छे के तेआ अमण उद्दिष्टा हना नहि, अनेको मास्त्रानु अवगाहण नेमयो कयू हतु । अही जानेना मूयपाठा प्राय नुद छे अने प्राकृत जागुकरे ते उनागेना होय अम स्पष्ट पणाय छे, एटले लहिया-मान नकल करनार-ऐवा जयथी काट विशेष अर्थमा लोकगाह उद्दिष्टा हये’ आ उग्रान्त मय लोकगाहना म्हाव विषे, नेमना ज्ञान विषे पण छे दावतमा अग्राने दनिशम दृष्टिए लगमण ज्ञान प्रवर्त छे — आ कृतिमायी घणु जाणमानु मने छे । अनेक नूल ज्ञानो निर्मुक्ति जूणि अने वृत्तिमायी मादीपाठो आप्पा छे ने तेमनु मास्त्रीय अवगाहन बनावे छ ।”

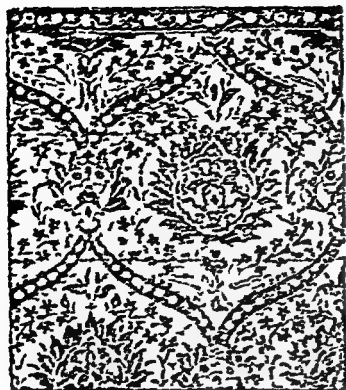


लोकाशाह ने अपने मन के समयन में जिन युक्तियों आगमप्रमाणों एवं टीकाओं आदि के साक्षी पाठों को उन्मिथन किया है उनमें उनके पाठित्य, अद्भुत तर्कगति एवं प्राकृतादि भाषाओं पर उनके अधिकार एवं उनके गभीर शारत्रज्ञान का पता चलता है।

रही मुसलमानों के प्रभाव की बात तो कुछ व्यक्तियों को जहाँ मूर्तिपूजा का विरोध दीयता है वही उनको मुसलमान नजर आने लगते हैं। परन्तु यह उनका दृष्टिदोष और मतिविभ्रम ही है।

लोकाशाह के पास मूर्तिपूजा के विरोध में गहन चिन्तन, गवल आधार और प्रबल युक्तियाँ थी जिनका उत्तर विरोधियों ने न बन पाया। इनके मद्भाव में यह आरोप, आरोपकर्त्ताओं के ओछेपन का प्रतीक बनकर रह गया है।

हमारा कर्त्तव्य—लोकाशाह ने जिस अद्वितीय अनुपम क्रांति का सर्जन किया, हमारा कर्त्तव्य है कि हम उस क्रांति की मशाल को जलाये रखें। उन्होंने जिन रूढ़ियों का, बुराईयों का विरोध किया यदि वे हम में हों तो हम उनको दूर कर। श्रीमालवणिया जी उनके विषय में एक महत्वपूर्ण कृति को प्रकाश में लाये इसके लिये उन्हें धन्यवाद है। अन्य विद्वानों को भी लोकाशाह के जीवन एवं माहिन्य के विषय में अधिक शोध-प्राप्त करनी चाहिये ताकि हम अधिक प्रकाश को प्राप्त कर सकें।



द्वितीय खण्ड



- धर्म
- दर्शन
- अध्यात्म

धर्मतत्त्व का विश्लेषण

पं० चैनसुखदास जैन न्यायतीर्थ,

आचार्य, दि० जैन संस्कृत कालिज, जयपुर



भारतीय वाङ्मय में धर्म शब्द के व्यवहार ने काफी स्थान रोक रखा है। वह कहा नहीं है ? आध्यात्मिक और दार्शनिक साहित्य में तो वह खोजप्रश्न है ही, किन्तु आदर्शों की बात तो यह है कि ज्योतिष एवं आयुर्वेद आदि विद्याओं के विभागों में भी किसी न किसी रूप में वह उलझा पड़ा है। ज्योतिष शास्त्रों में प्रतिकूल ग्रहों के दुरे असर को निष्फल करने के लिये विभिन्न धार्मिक क्रियाणाण्डों का वर्णन है। इसी तरह आयुर्वेद में भी रोगों को दूर करने के लिए अनेक धार्मिक विधि-विधानों का आश्रय लिया गया है। राजनीति भी अनेक बार धर्म के आधार के बिना नहीं चलती। वर्राकि उसमें भी युद्ध में विजय पाने के हेतु मन्त्रादि की साधनाओं के विधानों की कमी नहीं है। इस तरह धर्म का प्रभाव अथवा आतंक हमें हर जगह देखने को मिलता है।

धर्म शब्द का अर्थ और प्रयोग

अमरकोषात् धर्म शब्द के कई अर्थ करने हैं। उन्होंने इसका लिंगभेद भी स्वीकार किया है। पुण्यवाचक धर्म शब्द को वे पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिंग मानते हैं।^१ उन्होंने धर्म का अर्थ पुण्य, यमराज, न्याय, स्वभाव, आचार और मोक्षमार्ग का पीनेवाला माना है।^२ विश्वकोष के कर्त्ता आचार्य श्रीधर^३ पुण्य, न्याय, स्वभाव, उपमा, यमराज आचार्य, वेदान्त, यज्ञ, योग, अनुप, जटिमा और मोक्षमार्ग का पीने वाला धर्म शब्द का अर्थ करते हैं। इनमें पुण्यवाची शब्द पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिंग एवं अवशिष्ट पुल्लिङ्ग है। यजुर्वेद में भी धर्म शब्द का प्रयोग नपुंसकलिंग में हुआ है। इस प्रकार धर्म शब्द के अनेक अर्थ होने लगे भी हमें यहाँ उस धर्म शब्द में प्रयोजन है, जिसका अर्थ है स्वभाव तथा मनुष्य का आचरण। ऋग्वेद और यजुर्वेद में इस शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग मिलता है। ईशावास्योपनिषद्,^४ केनोपनिषद्,^५

१ स्याद् धर्ममस्त्रिया पुण्यश्रेयसि मुक्त्त वृष ।-अमरकोष प्र० काण्ड, २४

२ धर्मा पुण्ययमन्यायस्वभाववाचारमोक्षपा ।-अमरकोष तृतीय काण्ड, श्लोक १३६

३ धर्म न्यायस्त्रिया पुण्ये धर्मो न्यायस्वभावयो ।

उपमाया यमाचारे वेदान्तेऽपि धनुष्यपि ॥ १ ॥

यागे योगेऽर्पाहिंसाया सोमपेऽपि अचिन्मत ।-विश्वकोषकोष सान्त द्वितीय

४ हिरण्ययेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं भुजम् ।

तत्त्व पूषन्तपावृणु मत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥-ईशावास्योपनिषद्

५ ओं आप्यायन्तु ममागानि वाक् प्राणश्चक्षु श्रोत्रमथो वलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं श्रद्धोपनिषद माह ब्रह्म निराकुर्या मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरण मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धामास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ।-केनोपनिषद् शान्तिपाठ



कठोपनिषद्^१ और श्वेताश्वतरोपनिषद्^२ आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में इसका अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलेगा। इन ग्रन्थों में भक्ति के अर्थ में भी धर्म शब्द आया है। मीमांसा आदि सभी दर्शनसूत्रों में इसका बहुतायत से प्रयोग हुआ है। धर्मसूत्रों और स्मृतिग्रन्थों का तो प्रधानतया विषय यही है। रामायण, महाभारत और गीता तो हमें अत्यन्त प्रभावित हैं ही। जैन और बौद्ध साहित्य भी इस शब्द के व्यवहार से भरा पड़ा है। कहना यह है कि समूचा भारतीय वाङ्मय धर्म तत्त्व के प्रतिपादन, इसकी विभिन्न व्याख्याओं और विविध परिभाषाओं में भरा पड़ा है।

धर्म की आवश्यकता कब और क्यों हुई ?

कोई समय था जब मनुष्य में जिज्ञासा का उदय नहीं था। पशुओं की तरह उसका जीवन भी मधर्पविहीन था। उसकी इच्छायें अत्यन्त सीमित थीं और प्रकृति ही उन्हें स्वतः पूरी कर देती थी। लाखों वर्षों तक उसकी यही स्थिति रही, किन्तु युगपरिवर्तन हुआ और मनुष्य की इस स्थिति में पलटा आया। पहले वह वर्तमान ही में तन्मय था। न उसे भविष्य की चिन्ता थी और न मृत का विचार। अब वह आने वाले कल के विषय में भी सोचने लगा। उसकी जिज्ञासायें बढ़ने लगी, प्रकृति भी पहले की तरह उसके अनुकूल न रही, इसीलिये भविष्य की चिन्ता ने उसमें सग्रह की भावना भी उत्पन्न कर दी और उसके जीवन में सधर्म का जन्म हुआ। जीवन में अनेक अभाव उसे खटकने लगे और इन अभावों की पूर्ति को ही वह मानव-जीवन का उद्देश्य मानने लगा। उसके सामने जीवन की सुविधाओं का प्रदन तो था ही, जिसे भारतीय मनीषियों ने 'काम' कहा है, किन्तु उनमें भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न अर्थ, अर्थान् धन का था। बहुत दिनों तक अकेला काम ही पुरुष का प्रयोजन बना रहा। अब अर्थ भी उसके साथ हो गया और इसी तरह काफी असें तक इन दो पुरुषार्थों के बीच यह मनुष्य जूझता रहा। तब तक धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई थी, पर अब उसे धर्म की आवश्यकता का भी अनुभव होने लगा। अभावों की पूर्ति के लिये जो सधर्म हुआ उसके लिये हिंसा, झूठ आदि का प्राश्रय लेना पड़ा। किन्तु ये चीजें सभी के लिये प्रतिकूल थी, इसलिए इनका निषेध करना जरूरी माना गया और यही मनुष्य का धर्मतत्त्व कहलाया।

धर्म की विविध परिभाषायें और व्याख्यायें

धर्म की उत्पत्ति के बाद विभिन्न विद्वानों ने उसकी विभिन्न व्याख्यायें की। पूर्वमीमांसादर्शन के निर्माता महर्षि जैमिनि ने अपने द्वादशाध्यायात्मक मीमांसादर्शन में धर्म-जिज्ञासा को सबसे अधिक महत्त्व दिया और अपने दर्शनमूत्र को 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र से प्रारम्भ किया। वे धर्म का लक्षण करते हुये इनसे अगले सूत्र में कहते हैं कि "चोदनालक्षणायां धर्मः"। इस लक्षण से ज्ञात होता है कि वे धर्म के विषय में एक मात्र वेद को ही प्रमाण मानते हैं। "वेदाद् धर्मो हि निर्वर्णः" इत्यादि वाक्य भी इसी बात का अनुमोदन करते हैं। मनुस्मृति भी "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" कहकर इसका समर्थन करती है। यद्यपि वह वेद जानने वालों की स्मृति, शील और आचार को भी धर्म कहती है। धर्म का यह लक्षण विलकुल स्पष्ट है। किन्तु वैशेषिकसूत्रकार महर्षि कणाद अपने वैशेषिक सूत्रग्रन्थ में धर्म का लक्षण इससे अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि म धर्मः" अर्थात् जिससे लोकाभ्युदय और मुक्ति की प्राप्ति हो वह धर्म है। जैमिनि की तरह यह भी धर्म को कम महत्त्व नहीं देते और अपने वैशेषिक-दर्शन की रचना केवल धर्म की व्याख्या करने के उद्देश्य से ही करते हैं। तभी तो इस दर्शन का पहला सूत्र 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' के रूप में प्रकट होता है। इन दोनों ही दर्शनों में धर्म की जिज्ञासा अथवा व्याख्या को असाधारण महत्त्व दिया गया है। आचार्य कणाद ने धर्म की व्याख्या अधिक व्यापक और मनोग्राह्य की है। साथ ही आत्मा के

१ अन्यत्र धर्मादित्यत्राधर्मादित्यत्रास्मात्कृतात् ।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥—कठोपनिषद्

२ स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्च परिवर्ततेऽयम् ।

धर्मावह पापनुद भगेश ज्ञात्वात्मस्थममृत विश्वधाम ॥ ६ ॥

चर्म पुनर्प्राप्त मोक्ष की ओर भी उनका लक्ष्य है। उनके विपरीत जैमिनि मोक्ष का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते, यद्यपि वे पण्डित को अवश्य मानते हैं। फिर भी भीमानाश्वर का चर्म पुरुषार्थ मुक्ति नहीं अपितु स्वर्ग है और वह केवल यज्ञ से प्राप्त होता है। उस दर्शन में यज्ञ धर्म का पर्यायवाची बन गया है। जितना महत्व धर्म को इन दोनों दर्शनों ने दिया है उसना महत्त्व वेदान्तदर्शन के प्रणेता महर्षि व्यास नहीं देना चाहते। यह बात नहीं है कि उन्होंने अपने वेदान्तसूत्र में धर्म शब्द का प्रयोग न किया हो, किन्तु वे धर्म की अपेक्षा ब्रह्म को अधिक महत्व देते हैं और उनके दर्शन का प्रयोजन परमेश्वरार्थ नहीं अपितु ब्रह्मविज्ञाना है। वह दर्शन धर्म और वेदान्त में भेद नहीं मानता और यही कारण है कि वेदान्त गच्छकोषों में धर्म शब्द का पर्यायवाची मान लिया गया है।

मान्यदर्शनका मुनि कपिल धर्म की अपेक्षा ज्ञान का अधिक महत्त्व देते हैं। यद्यपि वे धर्म को ऊर्ध्वगति का कारण मानते हैं, किन्तु उस स्थान में जो महत्ता ज्ञान की हो गई है वह धर्म की नहीं। अपरग अर्थात् मुक्ति धर्म से नहीं अपितु ज्ञान से मिलती है। उक्ति के मान्यिक रूप चार हैं — धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। इनमें धर्म का प्रधान दया, दान, धर्म की नियम माना गया है। किन्तु ये सामाजिक सुखों के कारण हैं, मुक्ति के नहीं। उस दर्शन ने राजादि धर्मों को ब्रह्मविद्धि, धर्म की अनिश्चय भूत मानकर उनकी हत्या करवाई है। गीता भी यही कहती है —

ते त भुक्त्वा स्वर्गलोकं दिशालः,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
तत्र त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना ,
गतागता कामकाना लभन्ते ॥

अर्थात् वे उक्त दिशातः स्वर्ग का भोग कर पुण्य क्षीण होने पर मनुष्य-लोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के साधन का तीनों वेदा में उल्लेख है। परन्तु धर्म के आश्रित हुए और भोगों की कामना वाले पुरुष बारम्बार जन्म-जाना करने लगते हैं अर्थात् पुनः वे प्रलय में स्वर्ग में जाते हैं और पुनः क्षीण होने पर पुनः मर्त्य लोक में आ जाते हैं।

न्यायदर्शन में यद्यपि धर्म शब्द की व्याख्या नहीं मिलती, फिर भी धर्म शब्द का प्रयोग यहाँ मिलता है। इस दर्शन का उद्देश्य लोगों को केवल आर्थिक (नर्त) विद्या के तत्त्व को समझाना था, धर्म की व्याख्या करना नहीं। अतः इस ओर हमने ध्यान नहीं दिया। न्यायसूत्रों में जो ज्ञान-स्थान पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है वह दूधने अर्थात् सम्बन्धित है।

पातञ्जल साधना में उक्त स्थानों पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु इस दर्शन का उद्देश्य धर्म तत्त्व की व्याख्या करना नहीं अपितु योगतत्त्व का समझाना है। यज्ञ सत्यता यो की है, धर्म की नहीं। यहाँ योग की इनका महत्त्व दिया गया है कि साधकों ने योग की भी धर्म शब्द का एक पर्यायवाची मान लिया।

जैनदर्शन के सत्त्वग्रन्थ नामक ग्रन्थ में कई ही धर्मतत्त्व का उल्लेख मिलता है। वहाँ धर्म शब्द और धर्म शब्द का उल्लेख अत्यन्त मिलता है, किन्तु उनका मतलब है जीव और पुण्यश्री की कर्मण गति और स्थिति का साध्यम्। इस धर्मशब्द में इन दोनों शब्दों का समर्थन नहीं है। इस सूत्रग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य मोक्षमार्ग का विवेचन करना है, धर्मतत्त्व की व्याख्या करना नहीं। फिर भी इस ग्रन्थ में उत्तम क्षमादि धर्म के दस भेदों को अवश्य गिनाया गया है। परन्तु वे केवल आरम्भ-ग्रन्थों में धर्म की विस्तृत और विविध व्याख्या मिलती है। जैनो के प्रख्यात तार्किक विद्वान् आचार्य मम्मनसिध अपन "ल्लङ्कारश्रवणकाचार नामक ग्रन्थ में सवने पढ़ने धर्म शब्द की निरूपण करते हैं "ममागृह्यत मत्त्वान् यो ग्रन्थुत्तमे मुने" अर्थात् जो जीवों को समार के दुखों में डूबाने उत्तम सुख में धारण करता

१ धर्मेण गमनमर्ध्वं गमामधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।

ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्ध ।—सात्यकारिका, ४४





है, वह धर्म है। इसके बाद वे कहते हैं कि—“सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मद्वारा विदुः” और तीर्थकारी ने मच्छी श्रद्धा, सच्चे ज्ञान और सच्चे चरित्र को ही धर्म कहा है। उनमें भी पहले जैनों के महान् आचार्य कुन्दकुन्द वस्तु (आत्मा) के स्वभाव को ही धर्म कहते हैं। ‘धम्मो वत्थुमद्भावो’। अर्थात् आत्मादि पदार्थों का स्वभाव ही धर्म है। जैनों के प्राचीन सूत्रों में धर्म के विषय में लिखा है कि —

धम्मो भगलमुक्खिदुट्ठ अहिंसा सज्जो तवो ।

देवा धि त नमसति जस्स धम्मो सया मणो ॥

अर्थात् धर्म ही उत्कृष्ट भगल है। जिसका मन उम धर्म में लगा रहता है, देव भी मदा उसे प्रणाम करते हैं।

बौद्धधर्म के ‘धम्मपद’ नामक ग्रन्थ में धर्म के नाना रूपों का वर्णन किया गया है। इसमें मनुष्य में अधिक मनुष्य के आचरण पर जोर दिया गया है। इसमें यमक वर्ण आदि २५ वर्गों में धर्मतत्त्व का विस्तृत विवेचन है। बौद्ध साहित्य में धर्म की कोई छान परिभाषा या लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हुआ अपितु वहाँ उसके विभिन्न रूपों का विस्तृत वर्णन है। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि —

नहि धेरेन धेरानि सम्मती ध कदाचन ।

अधेरेन च सम्मन्ति एसे धम्मो सनातनो ॥

अर्थात् धर्म में धर्म कभी नष्ट नहीं होता, किन्तु धर्म में धर्म का नाश होता है। यही सनातन धर्म है।

धर्मों की विभिन्नता

दुनिया में इस समय करीब आठ सौ धर्म हैं। इनमें ग्यारह धर्म ऐतिहासिकता, साहित्य और सम्प्रदाय आदि अनेक दृष्टियों में उल्लेखनीय हैं। चाहे कुछ भी हो, धर्मों की उस विभिन्नता में भी मनुष्य में विवेक और सहृदयता हो तो समग्र्य और एकता की हृदयगम कर सर्वधर्मसमभाव के तत्त्व को समझा जा सकता है। तो भी इसमें कोई शक नहीं है कि धर्मों की विभिन्नताओं ने धर्म के विषय में मानव के मन में व्यामोह पैदा कर दिया है और धर्मतत्त्व विवादों का कारण बन गया है। किन्ती धर्मतत्त्व के गवेषी विद्वान् ने ठीक ही कहा है—

श्रुतिविभिन्ना स्मृतिविभिन्ना,

नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम् ।

धर्मस्य तत्त्व निहित गुहायाम्,

महाजनों येन गत स पन्था ।

धर्मतत्त्व के प्रतिपादन के विषय में श्रुति अर्थात् वेद एकमत नहीं है। वह विभिन्नताओं से भरी पड़ी है। और यही बात स्मृतियों के विषय में भी है। कोई एक मुनि नहीं है जिसका वचन प्रमाण माना जाय। इसलिये यही कहना ठीक है कि धर्मतत्त्व गुहा में छिपा हुआ है। इस विषय में वही रामना पकड़ना चाहिए जिसमें महाजन, (महापुरुष) गया हो।

कठोपनिषद्^१ की द्वितीय वक्त्र के बाह्वर्च पद और मुण्डकोपनिषद्^२ के प्रथम खण्ड के आठवें सूक्त एव

१ त दुवर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देव भत्वा धीरो हर्षशोकी जहाति ॥ १२ ॥

—कठोपनिषद्, द्वितीय वक्त्र

२ सप्त प्राणा प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिष सीमध सप्त होमा ।

सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त ॥ ८ ॥

—मुण्डकोपनिषद्, प्रथमखण्ड

इवेताम्बनगेरनिपद्^३ के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि ऊपर के पद्य में गुहा का अर्थ हृदय है। धर्म का सम्बन्ध भी हृदय से ही है और बड़े लोगों ने धर्म को प्राप्त करने के लिए अपने हृदय को ही टटोला है तथा उसी के द्वारा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करके वे सफल हुए हैं। दया, महानृमति, पशु-वृत्तान्त आदि धर्म के लक्षण भी हृदय में ही सम्बन्ध रखते हैं। हमें हम कह सकते हैं कि चाहे धृति, स्थिति और विभिन्न धृतिओं के बचनों में किन्ना ही विरोध क्यों न हो, उनका समझना और पाना उनका निगूट नहीं है जिनका नाशरक्षण माना जाता है।

धर्म जीवन के लिए अनिवार्य

धर्म के विषय में चाहे किन्ने ही मनभेद क्यों न हो, फिर भी वह जीवन के लिये अनिवार्य है। धर्म के बिना मानवजीवन की कोई सीमा नहीं है। किन्तु अवश्य ही उस धर्म का अर्थ है नैतिकता और सदाचार। प्राण-रक्षित धर्म की तरह उस जीवन का कोई मूल्य नहीं है जिसमें धर्म अथवा नैतिकता नहीं रहती। अगर जीवन में धर्म का प्रकाश न हो तो वह अंधा है और वह अपने लिये भी भयानकर है एवं दूसरे के लिये भी। मनुष्य में मनुष्य के निगमन का श्रेय धर्म को ही है। धर्म ही मनुष्य में सामाजिकता लाता है किन्तु धर्म निगमन के नाम से धर्म को बहाने में लोग धर्म बैठे हैं उसे धर्म मानना एक आत्मवचना है और वह मनुष्य को कभी सामाजिकता को छोड़ नहीं ले जा सकता।

धर्म मनुष्य की देवी धृति है। यह धृति ही हमें दया, दान, सहाय, करुणा, अनुकम्पा, क्षमा, अहिंसा आदि अनेक गुणों को उत्पन्न करती है। जिससे-जिनसे अर्थों में जहा-जहा धर्म की प्रगति है वहा-वहा धानि, सुख और सौम्य का विकास देखने को मिलेगा।

धर्म की प्रशंसा में एक प्राचीन जैन महर्षि आचार्य गुणधर कहते हैं --

धर्मो बनेन्मनसि यावदल मतावद्-
हृत्तान हृत्पुरपि पश्य गतेऽप्य तस्मिन् ।
दृष्ट्वा परस्परहृतिर्जनान्मज्जानाम्-
रक्षा ततोऽप्य जगत् खलु धर्म एव ।

अर्थात् जब तक मनुष्य के मन में धर्म रहता है तब तक वह मानने वाले को भी नहीं मारता। किन्तु देना, जब अपने मन में से धर्म निष्कृत कर जाता है तब औरों की कान बूढ़े, पिता पुत्र का मार डालना है और पुत्र पिता को, धन यह निश्चित है कि जगत् की रक्षा का कारण धर्म ही है। हमें यह कहा जा सकता है कि सफल और सुखदम्य जीवन विनाश के लिये धर्म अनिवार्य है।

धर्म और एकान्त बाह्याचार

यद्यपि धर्म जीवन के लिये अनिवार्य है, किन्तु उसका स्वरूप एकान्त बाह्याचार कभी नहीं है। 'आचार प्रथमो धर्म' अर्थात् आचार ही सर्वप्रथम धर्म है। आचार के इस वाक्य को लोगों ने इस तरह पकड़ा कि बाह्य आचार उनकी पराट में न आया। आचार तो मनुष्य को उठाने का प्रयत्न है। यह प्रयत्न मनुष्य में न हो तो हमें जीवित रहने पर भी उसकी मानवता मालूम होती है। मनुष्य वह नहीं है जो हमें दीख रहा है, वह तो केवल उसका बाह्य रूप है। मनुष्यत्व तो दृढ़ता ही तो हमें उससे सत् प्रयत्नों में दृढ़ता होगी। पर हमें केवल बाह्य न होने, क्योंकि उनमें धोरा होना सम्भव है। आचार में मनुष्य के उन श्रेयकर प्रयत्नों की गणना है जो अन्तर्मुख हो। जगत् में अधिकांश मनुष्य मानवता में बहिर्मुख है, चाहे वे किन्ने ही बड़े आचारी माधु, नेता जैसा आत्मप्रणेत्य क्यों



३, अपोर्णीयान्महो महीयान्मा गुहाया निहिनोऽप्य जन्तो

तपश्च पश्यन्ति शीतशोरो धातु प्रमादान्महिमानमीशम् ॥ २० ॥

— इवेताम्बतरोपनिषद् तृतीय अध्याय



न हो। यदि बहुत समीप जाकर उनका अध्ययन करे तो हमें निराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा। यह मनुष्य का बुद्धिभ्रम है कि वह एकान्त बाह्याचार को धर्म मानता है। पर अब यह इसका फैला हुआ अर्थ बन गया है और बहुत से मनुष्य इससे चिपटे पड़े हैं। एकान्त बाह्याचार में न वास्तविक श्रद्धा रहती है और न मच्चा ज्ञान। जो श्रद्धा और ज्ञान इस सदाचार में है उसे अधविश्वास और अज्ञान कहने हैं। यह इतना निष्फल और अमल्य हा जाता है कि इसे न मनुष्य का हृदय छूता है और न मस्तिष्क। तब फिर वह उसे क्यों करता है? इसका उत्तर है कि वह परम्परा का पुजारी है, गतानुगतिक है, रुढ़ियों के विराट् में उठकर ब्रह्म क्यों न? आफन मोल लें? मल-घट की तरह वह पापों में गरा पुरा रहने पर भी अपने बाह्याचार के बल पर दूसरों से अपने को ऊँचा समझता है, उनमें घृणा करता है और इस तरह अभिमान के सिर पर बैठकर वह अपने को एक भिन्न वर्गीय समझने की वृष्टता करता है।

आचारतत्त्व में जाने-भीने, नहाने-घोने, उठने-बैठने आदि क्रियाओं का समावेश करना ही तो पहले इनका एकान्त आग्रह छोटना होगा। निराग्रहपूर्वक कायिक शुद्धि के लिये जहाँ तक इनकी आवश्यकता का संवध है इन्हें स्वीकार किया जा सकता है। पर इन्हें आचार जैसा महामहिमावाली नाम देना तो मुर्दे को जीवित कहने के बराबर है। इन बाह्य क्रियाओं से आचार में भी कमी मजीबता नहीं आती। इसीलिये महावीर और बुद्ध ने स्थान-स्थान पर इनकी नि सारता बतलाई है और कहा है कि हृदय को शुद्ध रखो, अहंकार को छोड़ो, समभाव धारण करो, सहानुभूति, क्षमा, भान्ति, क्षम, दम, आदि को जीवन में उतारो। वही आचारस्तर के मूलव्यवहार हैं।

मदाचार और धर्म में कोई भेद नहीं है। सदाचार से जीवन नीतिवृत्ता में हटकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होना है। मदाचार स्वयं ही आध्यात्मिकता है। इससे जीवन में स्फूर्ति और चैतन्य आता है। मदाचारी मनुष्य पर जगत् के घात-प्रतिघात का कोई असर नहीं होता। वह प्रलय की बात सुनकर भी धुँधल नहीं होगा। कोई भी सम्प्रदाय तभी विजयी हो सक्ता है जब उसमें आचारवान् मनुष्यों का बाहुल्य हो। भूतकाल में जो महात्मा हो गये हैं वे भी आचार-व्यवस्था के बल पर ही मानव को ठीक रास्ते पर लाने में सफल हो सके थे। हमें इसका ताजा उदाहरण देयना ही तो महात्मा गांधी के जीवन में देय सकते हैं।

आचार की तेजस्विता बातें बनाने से नहीं, उन्हें जीवन में उतारने से आती है और वह तेजस्विता जब उत्पन्न हो जाती है तब तो ऐसे महात्माओं के पैरों में गिरकर सम्राट् भी अपने को धन्य मानता है, किन्तु तेजस्विता बाह्याचारियों के जीवन में कदापि नहीं आती। आचार ग्रन्थवा आचरण के नाम से हमारे देश में आज जो कुछ प्रचलित है उसने राष्ट्र की प्रगति में बहुत कुछ बाधा पहुँचाई है। इसने राष्ट्र के प्राण निकाल कर हमें निर्जीव बना दिया है। इस बाह्याचार के एकान्त आग्रह ने ही हमारे देश में करोड़ों अज्ञान पैदा किये और इसी की राक्षसी सस्कृति और कृपा से करोड़ों भारतवासियों को ऐसे धर्मों में परिवर्तित होने की बाध्य होना पड़ा जो उनकी सस्कृति और सम्यक्ता के विन्तुल प्रतिकूल थे। और दुःख तो यह है कि आज भी यह स्थिति बदली नहीं है। इस बाह्याचार ने सचमुच हमारे जीवन को कलाहीन बना दिया है।

जीवनकला और धर्म

कला शब्द से हम बहुत परिचित हैं। नृत्यकला, गानकला, वाद्यकला आदि शब्दों का प्रयोग हम बहुत बार करते हैं। पुरुष की वृहत्तर और स्त्री की चीसठ कलाओं के बारे में भी हमने सुना है किन्तु जीवनकला, मृत्युकला आदि शब्दों से हम परिचित नहीं हैं। यथार्थ यह है कि कोई सब कलाओं को जानकर भी यदि जीवन-कला को न जाने अर्थात् अपने जीवन को कलामय न बनावे तो उसका कला-ज्ञान व्यर्थ है। वह उसके लिए भार स्वरूप है, किन्तु किसी का जीवन कलामय तभी कहला सकता है जब उसके जीवन में धर्म उतरे।

हम कैसे जीवें? जीवन की उचित विधि क्या है? किस क्रम से जीने से हमारे जीवन में उपयोगिता है? आदि अनेक प्रश्न, यदि हममें विवेक हो तो, हमारे मन में जन्म उठेंगे। कोई प्रश्न बिना उत्तर का नहीं होता, इसलिये

उन प्रश्नों का भी अध्ययन है। उनके उत्तर में ही जीवनरत्न की परिभाषा है।

धर्म हमें क्या शक्ति है कि हम नरक नीचे की आग में आगनी चाखिये जिसमें हमारे अन्तःकरण में अशान्ति, धोम, प्रमत्तता जैसी कोई चीज पैदा न हो। क्योंकि वह सब जीवन-रस को नष्ट करने वाली है। जीवन-रस वह वस्तु है जो आत्मा की श्रुति वनक उमड़ती पोषण देता है। जगत् में ऐसा क्यों होता है कि मनुष्य जीवन के माते बाह्य मायों को पाक भी अपने आरक्षों द्वारा चखा मूना जाता है? इसका कारण दूँटना होगा। महाशायक की भी शान्ति नहीं है। कुवेरेश्वर विनूति का स्वामी भी सुख के लिये तड़प रहा है। सब कुछ होते हुए भी उनके पास रस नहीं है जिससे उन्हें बेचैनी हो रही है? हमारे विचारों का एक यही उत्तर है कि रसों की तरह उन्हें भी अभाव पता रहें हैं। उनके घर में जना अग्रिम जीर है कि उनके अभाव मोटे, विमाल, वृक्षम है, हमने उनके दुःख का परिमाण भी बट जाना है। हम दूर में मर्यादालिखों को सुखी देखने का विभ्रम करते-रहते हैं, मन्त्राद, प्रनृक्षर एक वैनवधायी को महान नदीन में नहीं देखने। यदि देखें तो निमन्त्रेह प्रमाण यह भ्रम दूर हो जायगा कि उनका, अभावों का अभाव है और वे नाने दुःखों पर विनय पाये हुए हैं। सब तो यह है कि वे केवल देखने मात्र में सुखी हैं। तभी तो हमने जीर माध्यापजन में कोई उल्लेख नहीं है। गेमरट वैभव के आग में लदे हये लोग हमें मित्र मानते हैं जो अपने अन्तर में अनेक दुःखों का शिरो बँध है जिनमें उनके नारे सुख के माधन व्यर्थ हो जाते हैं। जो अपनी व्यापक मन्त्रोपवृत्ति द्वारा नाने अभावों को निक्षेप करने की रस को नहीं जानता वह सुखी कैसे हो सकता है? नहीं तो पृथ्वी का सन्तर्पण स्वर्ग उन्ड या खो-कोई भी हो, अशान्त, अननुष्ट, क्षुब्ध एक दुखी ही रहेगा। हमने हमें हमें परिणाम पर पहुँचना चाहिये कि कोई भी अपने को जीवन-रस में ही सुखी बना सकता है, बाह्य माधनों में नहीं, और इसका धर्म है जीवन में प्रेम का उनागना।

यह एक आश्चर्यमय बात है कि अधिकांश मनुष्य जीवन-विधि में अपरिचित हैं। उनके मन में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि वे कैसे जीएं? जो कुछ प्रवाहित हो रहा है। हमने मिल-जोड़कर जीवन की उपयोगिता उनके सामने नहीं रखी। पद्यार्थीमाना हो गेने श्रोता के जीवन का उद्देश्य है। उनकी इच्छा का किसी के साथ सम्पर्क न हो और यदि हो तो वे उसे पगल्ल कर आगे बढ जायें, उनका भर के चाहने ह। पर यह क्या सम्भव है? उनकी यह चाह ही उनके जीवन में मरत जाती है, जिसका अर्थ है उनके मानस में धम नहीं ह।

जीवन में बिचित्र यही है कि हम परिस्थितियों को समर्पित न हो जायें। जब तक परिस्थितियाँ हम पर शान्त उगनी रहेंगी तब तक जीवन-महा इमारत टूट न पड़ेगी। परिस्थितियों को अपने काबू में रखने के लिए हम में शक्ति मात्र ही होनी है प्रतिकूल या अनुकूल बना सकने है। पर वह शक्ति बाहर से आने वाली शक्ति नहीं है। यह तो हताश ही जाग्रत चेतन है जो बड़े-बड़े भौतिक शक्तिशालियों को परास्त कर देता है। प्रतिकूल को अनुकूल अनुभव करने लगना जीवनबिचित्र का आत्मनूत प्रमाण है। जो प्रतिकूल हमारे बाह्य प्रयत्नों से, हमारी आत्मशक्ति को बिना चिह्नित बिन्दु, अनुकूल बन सके, वह सफल अर्थव्यवस्था हमारे जीवन रस को नष्ट नहीं करता। पर जो प्रतिकूल बना प्रयत्न (घात) चिरिन्मय नहीं है उसका उपचार तो उसे अपना चेतन्यवश जाग्रत करके ही करना होगा। मैत्री, प्रमोद, वाग्व्य और भावनाओं के मनु अन्वय से हम अपना चेतन्यवश जाग्रत कर सकते हैं। प्रतिकूलता का यह उपचार अधिस्तनात्मादक होगा। किन्तु उन सबका वह अर्थ उदात्त नहीं है कि मनुष्य अकर्मण्य होकर बैठ जाय, प्रवृत्तियों से प्रवर्तित लगे और पापाण की नाह निष्प्रेष्ट हाक पड़ा रहे। नमस्ते की बात केवल इतनी ही है कि समार मधर्माय है, प्रतिनिधायी है, प्रतिज्ञानाण उदा अधिस्त टटगनी है। उनकी चिकित्सा यही है कि मनुष्य उनकी बिना प्रवृत्ति दिये उन पर शासन करना हुआ अपनी मार्ग जालि और धर्म को अपने में समेट कर चलना रहे, न उनमें उसे हर्ष हो और न विषाद। वह रोना और हसना दोनों नष्ट जायें। मनुष्य यदि हम उस से जीने का अभ्यास हो जाये तो हमें निम्माह, निराशा एवं नीचता जैसी वृत्तियाँ कभी उत्पन्न न हों। हर्ष, विषाद, क्रमना, रोना, मफलता, विफलता आदि द्रष्ट ने हैं कि किसी एक ने हमें पकड़ा ना हमारा भी अवश्य पकड़ेगा। उन द्रष्टों की पकड़ ही जीवन को क्रमशः बनाने में सहाय है। धर्म हमें बताता है कि यह द्रष्ट वांछा है और उनके द्वारा मनुष्य अपनी मन शान्ति की व्यतीत न होने दें।





कला, अशिव को शिव और असुन्दर को सुन्दर बनाती है। अव्यवस्थित और विकीर्ण को व्यवस्थित और केन्द्रित करना ही कला का काम है। कला रस-प्रवाहिनी होती है। जैसे हर एक गाना, हर एक वजाना और हर एक नाचना कला नहीं है वैसे ही प्रत्येक जीवन कलामय नहीं कहला सकता। गाना, वजाना और नाचना आदि को कलामय बनाने के लिये हमें इनमें रहने वाली अव्यवस्था, अरुण एव अनौचित्य को दूर करना पड़ता है। हमारे जिस प्रक्रम से इनमें रसोत्पादन आये वही हम करते हैं। रसोत्पादकता की सफलता ही कला की सफलता है। जीवन के सम्बन्ध में भी यही बात है। यदि वह अव्यवस्थित अनुचितोपयुक्त एव रसहीन है तो उसमें कला का अभाव है। उसे कलामय बनाने के लिये उसकी ये बुराइयाँ दूर करनी होंगी। हम यह जान लें कि जीवन को रसहीन बनाने वाला असयम है। असयम दूर हो तो जीवन व्यवस्थित हो जाता है और उसके फलस्वरूप उसमें रसोत्पादकता भी आ जाती है। यही तो जीवन की कलात्मकता है। जो विलासी एव विपयापेक्षी है और जगत् की नानाविध एषणाओं के द्वारा सताये हुए है उनका जीवन कलामय नहीं है। अनित्य को नित्य और अपावन को पावन, दुःख को सुख और अस्व को स्व मानने के भ्रम में पड़ना जीवन की कलात्मकता को नष्ट करना है। इमों का दूसरा नाम अधर्म है।

अहिंसा और धर्म

यहाँ यह नहीं मूलना चाहिये कि अहिंसा और धर्म न केवल एक दूसरे से पूरक हैं अपितु एक दूसरे के लक्षण हैं। यही कारण है कि मसार का ऐसा कोई धर्म नहीं है जिसमें अहिंसा की महत्ता का उल्लेख न मिलता हो। धर्म का मूल स्रोत अहिंसा है, इसलिये प्रत्येक धर्म ने अपने को प्रतिष्ठित एव गौरवान्वित करने के लिये अहिंसा को किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है। अहिंसा इतना व्यापक धर्मतत्त्व है कि कोई भी सम्प्रदाय इसमें पृथक् रहकर धर्म कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। आचार्य समन्तभद्र ने ठीक ही कहा है कि —

“अहिंसा सूतानाम् जगति विदितं ब्रह्म परमम् ।

“अहिंसा परमो धर्मः, हिंसा सर्वत्र गहिता ।” व्यास का यह वचन भी कम महत्वपूर्ण नहीं। अहिंसा प्राणी की स्वाभाविक आकांक्षा है। जगल के भयकर पशु भी अनेक अशो में अहिंसक रहकर ही जीवित रह सकते हैं। सिंह भी अपने बच्चों से प्रेम करता है और उनकी रक्षा करने के लिये हर तरह का प्रयत्न करता है। दुनिया के इतिहास का अध्ययन करने से भलीभाँति ज्ञात होता है कि मसार के सभी देशों के साहित्य अहिंसा की प्रतिष्ठा से अनुप्राणित है।

यूनान के सत पीथागोरस ने अहिंसा की महत्ता का जो वर्णन किया है उसे पढ़कर ऐसा कौन है जो दयाव्रं न हो ? ससार के सभी सतों ने अहिंसा की आवश्यकता पर जोर दिया। भारतीय सभ्यता में तो अहिंसा को सर्वाधिकारणीय स्थान प्राप्त हुआ है। जैन और बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस देश के मनीषियों ने अहिंसा की विस्तृत व्याख्यायें की हैं और उसे जीवन में उतारने की मानव को हर प्रकार की प्रेरणा दी है। जैनशास्त्रों में हिंसा व अहिंसा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्यायें हमें आश्चर्यचकित कर देती हैं। उसकी अहिंसा का विस्तार कीट, पतंग, वनस्पति और पीछो तक पहुँचा है। अहिंसा का इतना गहन वर्णन शायद ही कहीं पर मिलता हो। इससे हम कह सकते हैं कि अहिंसा और धर्म का अग्रदूत सम्बन्ध है।

धर्म के दस भेद

धर्म के दस भेद जैनों की तरह बौद्धों, ईसाइयों और हिन्दुओं ने भी माने हैं। बौद्धों के दस धर्म ये हैं — (१) अधिकारी मनुष्य को दान देना (२) सदाचार की शिक्षाओं के अनुकूल अपना जीवन बिताना (३) सद्बिचारों की उत्पत्ति तथा वृद्धि में सदा तत्पर रहना (४) सेवा को ही अपना उद्देश्य बना कर दूसरों की सेवा में लगना (५) अपने माता-पिता और अपने से बड़े लोगों की रोगादिक कष्टों में सेवा श्रुयूया और सदा उनका आदर-सत्कार करना (६) अपने गुणों का लाभ दूसरों को भी देना (७) दूसरों के गुणों को ग्रहण करना (८) न्यायपथ पर चलने वाले

मिद्वान्त्रों को मुनना (६) न्यायमार्ग पर चलने वाले मिद्वान्त्रों का अन्य लोगों को भी उपदेश देना (१०) अपने धर्म मन्वन्त्री विद्वान्त्रों को नदी निर्मल और शुद्ध रखना ।

ईसाइयों के दस धर्म

(१) तुम अपने लिए कुराई की हुई मूर्ति मन बनाओ । न तो स्वर्ग में ऊपर को जो है उनकी, न पृथ्वी पर नीचे है उनकी । तुम मेरे नामने और किसी को ईश्वर मत मानो । (२) इन मूर्तियों के नामने भक्तक मत नमाओ (३) अपने स्वामी ईश्वर का नाम व्यर्थ मत लो, क्योंकि ईश्वर का नाम जो लोग व्यर्थ लेते हैं उनकी ईश्वर निरपराध नहीं समझता (४) पवित्र दिन को याद रखओ । इसको पवित्र ही रखो, ६ दिन तक परिश्रम करो और अपना पूरा, काम करो, परन्तु मानवा दिन तुम्हारे ईश्वर का पवित्र दिन है । इस दिन तुम कोई काम मत करो । न तो तुम, न तुम्हारे लटके न लटकी, न नौकर न नौकरानी, न तेरी भवेली और न तुम्हारे घर के अतिथि इस दिन काम करें । क्योंकि ईश्वर ने छ दिन में सम्पूर्ण स्वर्ग, पृथ्वी, समुद्र और जो कुछ भी बन्पुए हैं उन सबको बनाया और सातवें दिन आराम किया । अब ईश्वर ने मज्जाय के दिन को बरकन दी और पवित्र कर दिया (५) तुम्हारे माता-पिता का आदर करो ताकि पृथ्वी पर जो दिन तुमका ईश्वर ने दिये हैं उनकी वृद्धि हो । (६) किसी को मारो मत (हत्या मत करो) (७) व्यभिचार मत करो । (८) चोरी मत करो । (९) अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत दो (१०) अपने पड़ोसी के घर को छीनने का आशय मत करो । न उनकी स्त्री के विषय में, न उनके नौकरों के विषय में, न नौकरानी के विषय में, न उनके बैट या गजों के विषय में, और न किसी भी बन्पु के विषय में जो तुम्हारे पड़ोसी की है, सभी भी छीनने का विचार करो ।

हिन्दुओं के दस धर्म

(१) धर्म धारण करना, (२) महत्तम होना, (३) मन को वन में करना, (४) बिना दिये किसी की चीज न लेना (५) लोभ न करना (६) इन्द्रियों को वन में करना, (७) बुद्धि का उपयोग करना (८) ज्ञान बढ़ाते रहना, (९) सब बोलना और (१०) क्रोध न करना ।

जैनों के दस धर्म

(१) क्षमा-कैसी भी परिस्थिति में, मन में क्रोध के भाव न उत्पन्न होने देना । (२) मार्दव-जाति, कुल, शक्ति, वैभव विद्या आदि का किसी अभिमान न करना (३) जाल-छल, कपट, विद्वान्प्रधान, दगाबाजी आदि न करना । (४) धीव-प्रन में आमनन रखना, शोक, आश, तृष्णा आदि के प्रभाव से रोकना । (५) नन्द-भूत न बोलना, हर एक के साथ श्रित, श्रित और प्रिय शब्दों का प्रयोग करना । (६) मयम-मन और इन्द्रियों को वन में करना (७) तप-इच्छाओं का विचार न होने देना और ध्यान एवं अध्ययन में अपने को लगाना । (८) त्याग-इच्छा पाम जो कुछ है, शक्ति के अनुसार उमरा दीनों, जनाओं और अमराओं में वितरण करना (९) आश्रित्य-परिग्रह का सचय न करना, क्योंकि यही सब पापों की जड़ है । (१०) ब्रह्मचर्य-सम्पूरा स्त्री तथा पुरुषों को माता, बहन, भाई आदि की तरह समझना ।

धर्मों की यह दस की मर्यादा सबमें समान क्यों है, यह ऐतिहासिक शोधना का विषय है ।

क्या धर्म भारस्वरूप है ?

माना क्यों में धर्म की महत्ता का अनुभव होने पर भी कभी-कभी लोग यह कहते मुने गये हैं कि धर्म मनुष्य के लिये एक बोझा है । पर उनका यह कहना गलत है । धर्म का स्वरूप तो हल्का है । वह स्वयं हल्का होकर ही तो प्राणी को ऊपर उठाना है । प्राणी का जड़ में निष्ठ और आत्मा के अभिमुख होना ही उसका ऊपर उठना है । जो मार्ग होगा वह गिरेगा और दूसरे का भी गिराएगा । धर्म मार्ग हो तो उसका पतनशील होना निश्चित है । तब वह अनुदयामिमुख न होकर पतनमिमुख होगा और अपने आश्रित को भी गिरायेगा । इसीलिए यह मानना चाहिये कि जो अनुष्ठान के समय बोझा-सा मालूम पड़े वह धर्म नहीं है । उसने मनुष्य कभी न उठेगा ।





जो नित्य है, जो कालातीत और क्षेत्रातीत है, जिसे पात्र की भी अपेक्षा नहीं है, न जिसके लिये किसी प्रकार की योग्यता ही अपेक्षित है, वह धर्म कभी किसी के लिये भारग्रहण नहीं हो सपता, पर इसे पाने के लिये मनुष्य जो विधि-विधान करता है, वह यदि युगानुसारी न हो तो वह उसको थका देता है। अतः इस यथार्थ धर्म की प्राप्ति के लिये साधना को बदलते रहने की जरूरत है। यदि मनुष्य ऐसा करने लगे तो उसे धर्म कभी भारग्रहण ज्ञात नहीं होगा।

जैसे सुख के साधन परिवर्तित एवं युगानुसारी होते हैं वैसे धर्म के साधन भी बदलते रहते हैं। पर मनुष्य जितना जल्दी सुख को पहिचानता है उतना जल्दी धर्म को नहीं पहिचानता और न उसको आवश्यक ही समझता है। इसलिये सुख के साधनों को बदलने में किसी की सलाह लेने की जरूरत नहीं होती, वह डम विषय में अपने आप ही प्रयुक्त है। गर्मी बीत जाने पर जाड़ा लगे तो वह किसी के पास कब यह पूछने जाता है कि कहीं मुझे जाड़ा लग रहा है, लिहाफ आढ़ या नहीं? किन्तु अहिंसादि नित्य धर्म पाने के साधनों को अपनाने में मनुष्य इतना स्वतन्त्र नहीं है। इसलिये शास्त्रों को धारण लेनी पड़ती है। पर शास्त्र तो भूतकाल के विधानों में भरे पड़े हैं। वर्तमान में उन साधनों का क्या उपयोग हो सकता है? गर्मी के छमछम के पड़े अतुलित शीत वरगाने वाली हेमन्त ऋतु के समय किम काम के हैं? हमारे देश में धर्म के प्रायः नब्बे प्रतिशत अंश केवल चौके, खाने-पीने, नहाने-धोने, किसी को न झूठे आदि में उलझे पड़े हैं और अवशिष्ट दस अंश नानाविध क्रियाकाण्ड ने रोक रंघे हैं। बेचारे यथार्थ धर्म के हिस्से में तो निश्चित रूप से एक भी अंश नहीं आता, इसलिये यह मृतप्राय-मा हो रहा है। परम्पराओं ने उसका गला घोट रखा है। खाने पीने में धर्म का इतना दखल है कि कई उच्चगुलाभिमानी स्थिति-पालक नर-नारी तो सुबह में शाम तक केवल चौके की चिन्ता में ही व्यस्त रहते हैं। रसोई में कोई न चला जाय, किसी की छाया भी वहां न पड़ जाय, इस बात के लिये वे इतने सतर्क रहते हैं कि इसकी तुलना में अपनी अन्यान्य बड़ी-बड़ी हानियां भी गी चिन्ता नहीं करने। गिर देश में युद्ध के समय विदेशी आक्रमणकारियों के भयंकर तात्कालिक आक्रमण का आघात बर्ती रहने पर भी फौज की दाल-वाटी के लिये धर्म के ठेकेदारों के द्वारा न्यारे-न्यारे जंगरे जलवायें जाते ही उग देश में यदि शांति के समय चौके के लिये सारा धर्म-सर्वस्व अर्पण कर दिया जाय तो क्या आश्चर्य है? इस बात को समझाना न होगा कि जब बाहरी दिशावे में ही मनुष्य सतोष पा लेता है, चाहे वह कृत्रिम ही क्यों न हो, तो उसे आभ्यन्तर का यथार्थ पाने की उत्सुकता प्रायः नहीं होती। धर्म के सम्बन्ध में भी यह बात हम सोलहो आना देखने हैं। उसका फल यह हुआ कि मनुष्य यथार्थ धर्म से दूर हटता गया और बाह्यचार के व्यवहार में ही अपने की भुला दिया। आज्ञानावस्था में यह व्यवहार भार-स्वरूप अनुभव नहीं हुआ पर ज्यों ही आँखें खुली, बाह्याट्म्वर भार की तरह मताने लगा और मनुष्य को इसके प्रति घृणा हो गई। इस अधश्चक्र को दूर करने का एक ही मार्ग है कि हम धर्म के साधनों को युगानुसारी बनावें। ऐसा करने से धर्म के नष्ट होने की आपत्ता करने का कोई कारण नहीं है। सत्र धर्मप्रवर्तकों एवं आचार्यों ने ऐसा किया है। धर्म को समझने के लिये हमें उनके भेदों की ओर ध्यान देना चाहिये। मोटे तौर से धर्म के तीन भेद हैं — नित्य धर्म, युगानुसारी धर्म और आपद्धर्म।

इनमें पहला अपरिवर्तनीय और दूसरे दोनों परिवर्तनीय हैं। युगानुसारी और आपद्धर्म धर्म के साधनों के नाम हैं। आयुर्वे चतुर्म् — जो ही आयु है, 'अन्न प्राणा' — अन्न ही प्राण है, धन व प्राणा — धन ही प्राण है, आदि की तरह उपचारकल्पना से धर्म के साधनों को भी धर्म कह दिया गया है। ऐसा कहने की प्राचीन शास्त्रकारों की आदत थी। वस्तुतः मूल माध्य तो नित्य धर्म ही है। इसी को पाने के लिये उन दोनों की आवश्यकता है। नहीं तो ये निरर्थक और निर्जीव ही हैं। इन भेदों का संक्षेप इस प्रकार है —

नित्य धर्म अहिंसा, गत्य, अस्तेय आदि है, क्योंकि ये त्रिकालाबाधित हैं और काल तथा क्षेत्र की सीमा का भी इन पर कोई अमर नहीं पड़ता। इनमें धर्म शब्द का व्यवहार भी मुख्य वृत्ति से होता है। यही प्राप्तिव्य और यथार्थ धर्म है।

युगानुसारी धर्म — उपासना की बाह्य विधियाँ, खानपान के नियम, विवाहादि सारे मस्कार और अन्य सभी

त्रिशाकाण्ड युगानुसारी धर्म है, अर्थात् ये स्वतन्त्र धर्म नहीं किन्तु धर्म के माधन हैं। हमारे वेश-भूषा, रश्मि-महल, व्यापार और शासन के तरीके ऐसे शिक्षापद्धति आदि सभी परिवर्तनीय हैं। प्रत्येक युग की आचार-महिनारें भिन्न-भिन्न होती हैं। उनमें परिवर्तन होना आवश्यक है। यह माना कि धर्म शाश्वत है, पर उसके माधन शाश्वत कैसे हो सकते हैं? माधनों पर परिस्थितियों का प्रभाव अनिवार्य है। यदि हम इस ओर ध्यान नहीं देंगे तो धर्म सर्वथा उपेक्षा का कारण बन जायेगा, जैसा कि आज हो रहा है। धर्म को युगानुसार बनाये बिना हम उसमें सम्बन्ध नहीं जोड़ सकते। कोई धर्म राष्ट्रीय बन कर ही विश्वजनीन बन सकता है। धर्म का सम्बन्ध यदि मानवता से जोड़ना हो तो उसके माधनों पर ध्यान करना मूर्खता होगी। इसमें परिवर्तन स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता, नहीं तो धर्म आरम्भ हो जायेगा। राष्ट्र-धर्म, समाज-धर्म आदि युगानुसारी धर्म के भेद हैं।

आपद्धर्म — यह नास्तिक आस्था की पूर्ति के लिये है। इसके बाद इसका परिष्कार कर देना ही उचित है। यदि धर्म के जाग्रदृष्टि फिर भी उसका उपयोग करते रहें तो यह धर्म धर्म के विरुद्ध पड़ेगा। इसमें जो नियमोन्मूलन होता है उसका नाम मनुष्य की अज्ञानता है। नतीजा सम्प्रदायों के धर्मों में आपद्धर्म के उदाहरण मिलते हैं। मनुष्य को इसका निर्णय अपने विवेक के द्वारा ही करना चाहिये कि वह कैसे मनुष्य के समय क्या करे, क्योंकि धर्म को परखने की कमीटी तो विवेक ही है। विवेक हो तो किसी के भी दुरुपयोग होने की आशंका नहीं होती है।

धर्मों का यह स्थूल विभाग है। मनुष्य इनको समझे तो धर्म को अपनाने के सम्बन्ध में उसमें गल्ती न होगी, और न यह उसे बोझ ही मानूँ पड़ेगा। अपने आपसे लिये यह समझता हुआ भी कि मैं धर्म का भक्षण कर रहा हूँ, मनुष्य अपने को न समझे तो समझना चाहिये कि उसका वह धर्म-मेधन अधर्म ही है, नहीं तो उसका विपरीत फल पड़ेगा ही रहा है? जो धर्म व्यक्ति समाज, अथवा राष्ट्र का उत्थान नहीं कर सकता, अथवा उसके उत्थान में बाधा उपस्थित कर देता है, वह किसी परिभाषा के अनुसार धर्म नहीं कहला सकता। धर्म का सर्वोत्तम एवं अन्त्य फल मानव की स्वतन्त्रता है। वह स्वतन्त्रता केवल पारलौकिक ही नहीं ऐश्वर्यहीन भी है। यह फल जहाँ दृष्टिगोचर हो रहा है समझो कि वहाँ धर्म भी है। हमने निरपेक्ष जहाँ सब ओर केवल परतन्त्रता ही दिखाई पड़े ता समझना चाहिये कि वहाँ एकान्त में भी धर्म नहीं है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र में धर्म के अस्तित्व की परखने की कमीटी यही है। हम कमीटी का उपयोग कर जो अपना चैनल जाग्रत करने हैं उन्हें धर्म का प्रकाश दिखाई देना है। इसीसे उनको धर्म के माधन आत्मिक माधन होने लगते हैं।

•



अनेकान्त

स्व० मुनिश्री श्रीमलजो



प्रत्येक दर्शन एवं धर्म का एक विशिष्ट मौलिक सिद्धान्त होता है, जिसके आधार पर उसके विचारों का महल खड़ा होता है। जैनदर्शन एवं जैनधर्म भी एक स्वतन्त्र और मौलिक दर्शन तथा धर्म है। उसका भी अपना सिद्धान्त है, अपनी दृष्टि है, अपना मौलिक चिन्तन है। और उसका मौलिक रूप आगम एवं दर्शनसाहित्य के पृष्ठों पर अंकित है।

भगवतीसूत्र में उल्लेख मिलता है कि श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के पूर्व दस स्वप्न आयें थे। उनमें एक स्वप्न का वर्णन करते हुए आगम में लिखा है—“एग च ण मह चित्तचित्तपक्खण पुसकाइल्लग मुविणे पासित्ताण पडिबुद्धे” अर्थात् एक महान् चित्र-विचित्र पक्ष वाले पुष्कोकिल को देखकर प्रतिबुद्ध हुए।

इस स्वप्न का क्या फल मिला, इसका उल्लेख करते हुए बताया गया है—“जण्ण ममणे भगव महावीरे एग मह चित्तचित्त जाव पडिबुद्धे तण्ण समणे भगव महावीरे चित्त ससमय-परममइय दुवाल्लसग गणिपिडग आघवेहिंति पन्नवेहिंति पल्लवेहिंति।” अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर ने स्वप्न में एक चित्र-विचित्र पक्षवाले पुष्कोकिल को देखा है, उसका फल यह है कि वे स्व-पर—सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले विचित्र द्वादशांग का उपदेश देंगे।

प्रस्तुत पाठ का पारामर्श करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आगमकार ने अनेकान्त सिद्धान्त का कितने सुन्दर एवं व्यवस्थित ढंग से वर्णन किया है। यह चित्र-विचित्र पक्ष वाला पुष्कोकिल अनेकान्त या स्याद्वाद का प्रतीक है। श्रमण भगवान् महावीर ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह एक वर्ण के पक्ष वाला कोकिल नहीं, विभिन्न रंगों के पक्षों वाला है। जहाँ एक ही वर्ण के पक्ष होते हैं, वहाँ अनेकान्त नहीं, एकान्तवाद होता है।

एकान्त और अनेकान्तवाद में यही मौलिक भेद है कि एकान्तवादी वस्तु के स्वरूप को एक ही दृष्टि से देखता है। अनेकान्तवादी उसके स्वरूप को एक दृष्टि से ही नहीं, विभिन्न दृष्टियों से देखता है। वस्तु एक रंगवाली नहीं, विभिन्न रंगों में समुक्त है। अतः उसे किसी एक विशेष रंग की मानना और उसमें स्थित अन्य रंगों का अपलाप करना सत्य का तिरस्कार करना है। इसलिए एकान्तवाद सत्य नहीं, मिथ्या है। वह वस्तुस्वरूप को जानने की परिपूर्ण एवं सही दृष्टि नहीं है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने-समझने की सही दृष्टि है अनेकान्त या स्याद्वाद।

जैनविचारणा की भाँति जैन साधना का भी प्राण अनेकान्तदृष्टि है। अनेकान्त की नींव पर ही समस्त विचार और आचार का भव्य भवन खड़ा है। इसलिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि अनेकान्तदृष्टि का मूल आधार क्या है? आगम साहित्य एवं अनेकान्तवाद का अनुशीलन-परिशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेकान्तदृष्टि सत्य पर स्थित है। प्रत्येक व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है परन्तु उसकी दृष्टि में अन्तर रहता है। हम देखते हैं कि तथागत बुद्ध भी सत्य को जानना चाहते थे। परन्तु सत्य को देखने की उनकी दृष्टि दूसरी थी। आचार्य शंकर ने भी वेदों एवं उपनिषदों के आधार पर सत्य को समझने का प्रयत्न किया है। अन्य दार्शनिकों एवं विचारकों ने भी सत्य को परखने का प्रयास किया। परन्तु सत्य को देखने की सबकी दृष्टि एकांगी रही है। श्रमण भगवान् महावीर की दृष्टि इन सबमें भिन्न थी। उन्होंने सत्य को एक दृष्टि से, एक अपेक्षा से नहीं, प्रत्युत अनेकान्त-मयी दृष्टि में देखा। इसीलिए भगवान् महावीर की सत्यप्रतिपादनशैली का नाम अनेकान्तवाद पड़ा। उसके मूल में दो

बाने है—पूर्णता की वयाधेता । जो तन्त्र पूर्ण है और पूर्ण होकर भी वयाधेता रहिलक्षित होता है, वही सत्य है ।

अनेक व्यक्ति की वस्तु का पूर्णतया विनाशवाधित वयाधे दर्शन हो सके, यह समझ नहीं है । उनके विनाशवाधित पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार पूर्ण पुरुष ही कर सकते हैं, साधारण व्यक्ति नहीं । पूर्ण पुरुष भी अपने ज्ञान के वस्तु के पूर्ण एवं वयाधे स्वरूप को देख सकते हैं, वस्तु उनके बाणी के द्वारा प्रकाशित नहीं कर सकते । अस्मिन् देश जगत्, पश्चिमिनि, भाषा एवं शैली आदि की विविधता के कारण पूर्ण पुरुषों के कथन में भी धार्मिक भेद दिखाई दे सकता है । जैसे भावान् महावीर एवं म्यान प कहते हैं —‘एते आवा’—आत्मा एक है । जो अपने उद्देश्य में हमारे म्यान प कहते हैं ‘अनेके जावा’ अर्थात् आत्मा अनेक है । धार्मिक दृष्टि में दोनों स्थितियों में अन्तर दिखाई देता है । वस्तु में दार्मिक दृष्टि में उनमें कोई विरोध नहीं है, केवल भेद है, अतः उन दोनों में सत्यता है ।

वयाधेता की दृष्टि में देखते हैं तो आत्मा का एकत्व और अनेकत्व दोनों वयाधे हैं परन्तु दोनों में से किसी भी एक स्थान में पूर्णता नहीं है । उक्त स्वरूप की दृष्टि में सब आत्माएँ एक समान प्रदेशों में युक्त हैं एवं अनन्तज्ञान दर्शन मनु, और का अस्मिन् स्थिति है । उन सामान्य की अनेकता में आत्मा एक है । परन्तु व्यक्ति की दृष्टि में सबका अस्मिन् भिन्न भिन्न है । अस्मिन् आत्मा अनेक है । अन्त की दृष्टि में आत्मद्वय एक है परन्तु प्रदेशों एवं पर्यायों की दृष्टि में एक नहीं, अनेक है । दोनों दृष्टियाँ वयाधे होने हुए भी परस्पर-वृत्त्य में पूर्ण हैं । अस्मिन् उनमें धार्मिक भेद दृष्टिमान होता है ।

एक पूर्ण पुरुष की वस्तु के पूर्ण रूप की वयाधे के द्वारा प्रकट नहीं कर सकते, सब अपूर्ण व्यक्ति वयाधे-वादी होने पर भी वस्तु के पूर्ण रूप का प्रकट करने की क्षमता नहीं है, ऐसा नहीं हो नहीं सकता है । जब वे वस्तु के एक-तम को जानते-देखते एक प्रकट करने हैं तब हमारे द्वारा विभिन्न दृष्टियों में देखे हुए प्रगतिनि क्रिये हुए वस्तु के स्वरूप में भेद माना स्यात्तविर है । अतः यह नहीं है कि उनमें दृष्टि में वयाधेता नहीं है । वयाधेता होने पर भी हममें पूर्णता नहीं है । इसी कारण उनकी विभिन्न दृष्टियों का अन्तःकरण ही, और अस्मिन् सत्य होता है । उन प्रकार के दार्मिक एवं सत्य का होने का कारण, उनके द्वारा भावान् महावीर के विषय को अनेकान्तदृष्टि दी । अनेकान्त दृष्टि अनेक अनेक का अनेक वस्तु के पूर्ण स्वरूप का अविच्छिन्न रहने की एक राह है । वह समस्त सत्य को हमारे समस्त प्रमाण दर्शाते हैं ।

वस्तु अपने स्वरूप में पूर्ण है, एक है, अनेक है, परन्तु यह अनेक धर्मों में युक्त है जिसे आगमिक भाषा में ‘गुण’ और ‘व्यय’ कहते हैं । वस्तु में स्थित समस्त गुणों और पर्यायों को पूर्ण पुरुष—सबज ही गुणान् देख सकते हैं, अनेक व्यक्ति नहीं । वस्तु ऐसा कि पहले कहा जा चुका है, उस अनन्तसमस्त वस्तु का ‘गुणान्’ प्रतिपादन सक्य नहीं है । सत्य सत्य है और दृष्ट का सामर्थ्य सीमित है, सीमित नहीं ।

वस्तु अनेक-पर्यायान्त है । हममें उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिति तीनों धर्म गुणान् स्थित हैं । आगम एवं दार्मिक साहित्य के उनके द्वारा अनेक उदाहरण, अनेक और अनेक उदाहरण का प्रयोग किया है ।

अनेकान्तधर्म मन् की व्याख्या करने हुए कहा है—“उदाहरणान्द्रोव्ययुक्त मन्” अर्थात् मन् वह है, जो उत्पाद व्यय, और प्रोव्य के युक्त है । उन विचार का आगे उन धर्मों में अभिव्यक्ति दिया—“गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्”— अर्थात् अनेक गुण और पर्याय के युक्त है । उदाहरणमन्त्र में भी कहा है— द्रव्य गुणों का आश्रय है, और गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं । वस्तु पर्याय द्रव्य और गुण उभय के आश्रित होता है ।

गुणानामान्तो द्रव्य एतद्व्यस्मिया गुणा ।

सर्वत्रापि अनेकान्त तु उभयो व्यस्मिया भवे ॥

हमें धर्म के म्यान प गुण धर्म का प्रयोग किया है और उदाहरण एवं व्यय के म्यान प पर्याय धर्म का । उनमें उदाहरण और व्यय अनेकान्त के प्रतीक हैं और धर्म स्थिति या नित्यता का सूचक है । गुण नित्यता





का बोधक है और पर्याय अनित्यता का । यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—नित्यता- अनित्यता, एकता-अनेकता, स्थायित्व- परिवर्तनशीलता, सदृशता-विसदृशता आदि । इनमें प्रथम पक्ष ध्रौव्य गुण का समूचक है और उत्तर पक्ष उत्पाद और व्यय-पर्याय का परिचायक है ।

वस्तु के स्थायित्व में एकान्तता रहती है, समानता रहती है, स्थिरता रहती है, और परिवर्तन में वस्तु के पूर्व रूप का विनाश एवं उत्तर रूप की उत्पत्ति होती है । वस्तु के परिवर्तन में व्यय और उत्पाद के होने हुए भी न तो वस्तु का संस्था नाश होता है न पूर्णरूपेण नए रूप में उत्पादन ही होता है । जैसे स्वर्णकार स्वर्ण के कण को तोड़कर हार बनाता है । इसमें कण का नाश होता है और हार की उत्पत्ति होती है । परन्तु इस व्यय और उत्पाद दोनों में स्वर्ण का स्थायित्व बना रहता है । इसी तरह वस्तु के उत्तर एवं व्यय के समय में मूल स्वरूप की स्थिरता रहती है । उसका न तो कभी विनाश होता है और न उत्पाद । वस्तु की जो यह स्थिरता है, एकरूपता है, उसी को आगमिक भाषा में ध्रौव्य-नित्यता कहते हैं, इसी को तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'तद्भावाद्या' कहा है ।

भगवतीसूत्र में प्रश्न किया गया है—भगवन् ! परमाणु पुद्गल शाश्वत है या अशाश्वत ? भगवान् महावीर कहते हैं—हे गौतम ! द्रव्याधिक नय की अपेक्षा से परमाणु पुद्गल शाश्वत नित्य है । और वस्तु पर्यायो में लेकर स्वयं पर्यायो की अपेक्षा से अर्थात् पर्यायाधिक नयदृष्टि से वह अशाश्वत अनित्य है, अस्थिर है, क्षणिक है । इसका स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य ।

द्रव्य और सत् एक है, इसलिए जो लक्षण द्रव्य का है वही सत् का है । उन प्रकार जैनदर्शन द्रव्य या सत् को न तो एकान्त रूप से नित्य मानता है और न एकान्त रूप में अनित्य । वह उसे नित्यानित्य स्वीकार करता है । वह गुण की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा में अनित्य है ।

जैन दर्शन वस्तु में उत्पाद और व्यय मानता है । परन्तु वह वास्तव में मूल वस्तु का व्यय या उत्पाद नहीं, प्रत्युत वस्तु की पर्यायो का व्यय और उत्पाद है । जैन परम्परा में उत्पाद एवं व्यय की व्याख्या इस प्रकार की गई है—स्वजाति का परित्याग किए बिना पर्यायान्तर का ग्रहण करना उत्पाद है और स्वजाति को बिना छोड़े पर्याय के पूर्य भाव का विगम होना व्यय है । उदाहरण के लिए मिट्टी का पिण्ड स्वजाति का परित्याग किए बिना घट रूप पर्यायान्तर को ग्रहण करता है, यह उसका उत्पाद है । और घट की आकृति में परिणम होने ही मिट्टी-पिण्ड की आकृति का नाश हो जाता है, यह व्यय है और पिण्ड एवं घट रूप दोनों अवस्थाओं में जो मिट्टी का अन्वय है, वह ध्रौव्य है । यहाँ जो मिट्टी का उदाहरण दिया गया है, वह केवल वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए दिया गया है क्योंकि मृत्तिका कोई द्रव्य नहीं, पुद्गलद्रव्य या पर्याय है, अतएव जैनदर्शन उसे एकान्त नित्य नहीं मानता । परमाणु पुद्गल नित्य है, वह सदा परमाणुरूप में रहेगा । परन्तु मिट्टी, पानी वस्त्र आदि पर्याय हैं और इनमें परिवर्तन होता रहना है । मिट्टी रूप में दियाई देने वाले परमाणु वस्त्र के या वनस्पति के रूप में भी परिवर्तित हो सकते हैं, परन्तु परमाणु द्रव्य का कभी नाश नहीं होता ।

निष्कर्ष यह रहा कि वस्तु में नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व, आदि अनेक धर्म हैं और उनको हम एक अपेक्षा से समझ सकते हैं । इन अपेक्षादृष्टि को जैनदर्शन में नय कहते हैं । नय में वस्तु के स्वरूप को देखने-परखने की समस्त दृष्टियों एवं दर्शनों का समावेश हो जाता है । जैसे द्रव्याधिक नय की अपेक्षा से हम वस्तु के नित्यत्व स्वरूप को देखते हैं और उसे नित्य कहते हैं, और पर्यायाधिक नय की दृष्टि में हम उसके पर्यायो को परिवर्तित होते हुए देखकर अनित्य कहते हैं । दोनों दृष्टियाँ यथार्थ भी हैं और दोनों में सत्याश भी है । हम दोनों को तब तक असत्य नहीं कह सकते, जब तक दोनों मिलकर चलती हैं । एक नय अपनी दृष्टि में वस्तु स्वरूप का अलोकन करता है, परन्तु दूसरे नय का तिरस्कार करके उसे अमत्य या मिथ्या नहीं कहता है, तो वह सम्यक्नय है और उस नय से या उस दृष्टि से वस्तुस्वरूप को देखने वाला दर्शन भी सम्यग्दर्शन है ।

नयवाद में जितने भी एकान्तवादी दर्शन हैं । उन सबका समावेश ही सन्ता है क्योंकि वे वस्तु के स्वरूप



इनमें प्रथम भग विधेयात्मक विचार के आधार पर निर्मित है। इसमें वस्तु के अस्तित्व का विधेयात्मक ढंग में प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय भग का आधार निषेध है। इस में वस्तु के अस्तित्व रूप का निषेध की भाषा में विवेचन किया गया है। प्रथम में अस्तित्व की स्थापना की गई है, और इसमें उसका निषेध किया गया है।

तृतीय भग विधि और निषेध का क्रमशः प्रतिपादन करता है। यह प्रथम और द्वितीय भग के संयोग में बना है।

चतुर्थ भग विधि और निषेध का युगपत् प्रतिपादन करता है। दोनों का युगपत् प्रतिपादन करना याणी के सामर्थ्य से बाहर है। अतः इसे अवक्तव्य कहा गया है।

पञ्चम भग विधि और अवक्तव्य दोनों का प्रतिपादन करता है। यह प्रथम और चतुर्थ के संयोग से बना है।

षष्ठ भग निषेध और अवक्तव्य का विवेचन है। यह द्वितीय और चतुर्थ के संयोग में बना है।

सप्तम भग विधि, निषेध, और अवक्तव्य का प्रतिपादन है। यह तृतीय और चतुर्थ भग के संयोग में बना है।

जब हम आगम और दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में ये प्रश्न चर्चा के महत्त्वपूर्ण विषय थे। कोई विचारक वस्तु के अस्तित्वरूप को प्रधानता देता था और उसी का सत्य मानता था। कोई उसके निषेध रूप को प्रधानता देकर उसका प्रतिपादन करता था।

यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि मूल रूप में वस्तु में विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म विद्यमान हैं। इनका अपेक्षा से विवेचन करना स्याद्वाद है। जैसे हम कहते हैं कि मनुष्य मनुष्य रूप से है। उसी समय इनका विरोधी पक्ष हमारे सामने उभर आता है कि मनुष्य पशु रूप में नहीं है। वह मनुष्य रूप में अस्ति है, शरीर पशु रूप से नास्ति।

अभिप्राय यह है कि किसी भी वस्तु में जो अस्तित्व है वह निरपेक्ष नहीं बरन् उसमें अपने स्वरूप की अपेक्षा से है और अपने स्वरूप में सत् वस्तु पररूप की अपेक्षा से असत् भी हैं। इसके बाद तृतीय पक्ष को हम उभय के स्वीकार रूप में कह सकते हैं—यस्तु सत् भी है असत् भी है। यह पक्ष स्वरूप-पररूप दोनों की क्रमिक अपेक्षा से है।

प्रथम के दो भगों में वस्तु का एक-एक रूप सामने आना है परन्तु तीसरे भग में दो रूप हैं। उसमें उभय पक्ष को स्वीकार किया गया है। अगर हमसे पूछा जाय कि वस्तु सत् है या असत्? तो हमारा उत्तर यही होगा कि वस्तु स्वरूप में सत् और पररूप से असत् है। यही तीसरा भग है। इसी कारण जैनविचारकों ने सदनत् के क्रम-पूर्वक कथन को तृतीय भग में रखा। 'स्याद् अवक्तव्य' नामक चतुर्थ भग में उभय के युगपत् प्रतिपादन को स्वीकार किया। इसका अभिप्राय यह है कि सत्ता और असत्ता दोनों धर्म अपेक्षाभेद में विद्यमान हैं परन्तु इनका एक साथ प्रतिपादन नहीं हो सकता, क्योंकि शब्दकोश में ऐसा कोई शब्द ही नहीं है और न हो सकता है जो युगपत् दोनों का वाचक हो। ऐसी स्थिति में विवक्ष होकर हमें वस्तु को अवक्तव्य ही कहना पड़ता है।

अन्तिम तीन भग संयोगज होने से सुगम हैं। वस्तु का और वस्तुगत धर्म का विश्लेषण करने की यह एक अनूठी पद्धति है जो हमें सत्य की ओर ले जाती है और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों में समन्वय स्थापित करने की सुन्दरतम कला का निदर्शन कराती है। यह जैन विचारकों की अनुपम सूझ एवं अनुपम देन है।

स्याद्वाद में वस्तु के स्वरूप का निश्चित बोध होता है। यहाँ स्यात् का अर्थ शायद नहीं, अपेक्षा है। जब हम कहते हैं—आत्मा स्याद् अस्ति, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि शायद आत्मा है, परन्तु इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप की अपेक्षा से है। इसी तरह स्यात् नास्ति का तात्पर्य यह है कि पररूप अथवा जड़ता की

जगत्ता में आत्मा नहीं है। तौमने पक्ष में चैतन्यस्वरूप की अपेक्षा में आत्मा है और परस्वरूप अर्थात् जड़ता की अपेक्षा में नहीं है। उभय पक्ष के युगान् कथन की अपेक्षा से आत्मा अवक्तव्य है। इस प्रकार भगवान् महावीर के कथन में सृष्टि को स्थान नहीं है। सर्वत्र वस्तु का निश्चयात्मक बोध जाना है।

इसने अपने विवेचन में यह स्पष्ट हो गया कि अग्नि, नान्ति, अग्नि-नान्ति और अवक्तव्य में चारों भग्न मौलिक हैं। जेप भग्न अग्नि-नान्ति के संयोग से बने हैं। इन मात भग्न में समस्त अपेक्षाओं का समावेश हो जाना है।

इस तरह दार्शनिक क्षेत्र में चलने वाले मनुष्यों को समाप्त करने के लिए भगवान् महावीर ने विज्व को अनेकान्त एक स्याद्वाद की भाषा में वस्तु स्वरूप को समझाया। जीव की नित्यता-अनित्यता की तरह, जब उनके सामने यह प्रश्न आया—नारक शास्त्र है या अशास्त्र है? उसके समाधान में भी उन्होंने स्याद्वाद की भाषा का प्रयोग करने शुरू कर दिया—नारक शास्त्र भी है और अशास्त्र भी।

यह कैसे हो सकता है ?

अद्वैत-निष्ठा-व्याप्ति नर की अपेक्षा नारक शास्त्र है और व्युच्छिन्ति-पर्यायाधिक नर की अपेक्षा में अशास्त्र है। जिस प्रकार जीवज्ञानान्तर को द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और नारक आदि गति रूप पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा, उसी तरह नारक आदि जीवों को जीव द्रव्य की अपेक्षा में नित्य और नारकत्व आदि पर्यायों की अपेक्षा में अनित्य कहा है।

भगवतीसूत्र ६० ६, ७० ६ सूत्र ३८७ में नीचे लिख है या अनित्य, इन विषय को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर जमाती को समझा रहे हैं—हे जमाती ! जीव शास्त्र है, नित्य है, ध्रुव है, अक्षय है। क्योंकि भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कारणों में ऐसा कोई क्षण नहीं जिस समय जीव का अस्तित्व नहीं रहा हो।

हे जमाती ! जीव अशास्त्र है, क्योंकि वह नरक भव का त्याग करके निर्वच योनि में उत्पन्न होता है, निर्वच भव में निरक्त मनुष्य बनता है, मनुष्य ने देवगति को प्राप्त करता है। इस प्रकार विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होने के कारण वह अनित्य है।

नित्यता-अनित्यता की तरह भगवान् ने प्रश्न किया गया—जीव मान्य है या अनन्त ?

उत्तर दिया गया—जीव मान्य भी है और अनन्त भी है। द्रव्यदृष्टि में जीव द्रव्य एव है। अतः वह मान्य है। अथ नर की अपेक्षा में जीव असन्तान प्रदेश में युक्त है, इसलिए वह मान्य है। काल की अपेक्षा में जीव मदा-सर्वदा से है और मवदा रहेगा, इसलिए वह अनन्त है। नाश की अपेक्षा से जीव के अनन्त ज्ञान-पर्याय है, अनन्त दर्शन-पर्याय है, अनन्त चारित्र-पर्याय है, अनन्त श्रुति-गुरु-पर्याय है, इस कारण वह अनन्त है। इस प्रकार द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा में जीव मर्याम है, इसलिए वह मान्य है। नाश और भाव की अपेक्षा में वह अनीम है, अतः अनन्त है।

इस प्रकार गोमित्र के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर कहते हैं—हे नोमिल ! द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूँ। ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा में मैं एक नहीं, दो हूँ। वही नहीं बदलने वाले आत्मप्रदेशों की दृष्टि में मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अव्यभिचारी हूँ। और परिवर्तनशील उपयोग की अपेक्षा में मैं अनेक रूप हूँ।

इसके अतिरिक्त अग्नि और नान्ति के सम्बन्ध में भी मनुष्य चिन्ता था। एक विचार कहता 'सर्वमस्ति' मव मन् है, दूसरा कहता 'मव नान्ति'—मव असन् है। परन्तु भगवान् महावीर ने दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया। उन्होंने अग्नि और नान्ति दोनों का परिणमनशील माना। और स्याद्वाद की भाषा में कहा कि अग्नि और नान्ति दोनों मापेक्ष हैं। पटत्व की दृष्टि में पट को हम मन् कहते हैं और पटत्व की अपेक्षा में असन् कहते हैं। पट पटत्व की अपेक्षा में मन् है और घटत्व की अपेक्षा में असन् है। इसलिए मव वस्तुओं में अस्तित्व भी है और नान्तित्व भी है।



भगवती सूत्र श० ७ उ० १० सूत्र ३०४ में भगवान् महावीर ने कहा—“हम अस्ति को नास्ति नहीं कहते और नास्ति को अस्ति नहीं कहते। जो पदार्थ जिम अपेक्षा से है, उसे अस्तित्व कहते हैं और जो नहीं है, उसे नास्ति रूप कहते हैं।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अनेकान्त एव म्याद्वाद के द्वारा वस्तु के यथार्थ एवं सत्य स्वरूप को समझा कर दार्शनिक सधर्षों को समाप्त करने का प्रयत्न किया और हम बात पर जोर दिया कि सधर्षों का समाप्त करने का अर्थात् उपाय अनेकान्त है। एकान्त आग्रह असत्य पर अवलम्बित होने के साथ-साथ सधर्षों की जड़ है, वैमनस्य, राग द्वेष, एवं वैर-विरोध को बढ़ाने वाला है। अतः पूर्ण सत्य को जानने-देखने एवं पूर्ण शान्ति को प्राप्त करने का मार्ग अनेकान्त ही है।

आज भी हम सैद्धान्तिक चर्चा के समय अनेकान्त को गमने रगृत हैं। अपने आपको अनेकान्तवादी कहने एवं मानने में गौरवानुभूति करते हैं। परन्तु जब जीवन-व्यवहार की ओर देखते हैं तो अनेकान्तवाद में उठत ही दूरनजर आते हैं। प्रत्येक जैन विचारक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने जीवन में इस बात का अनुलोमन करे कि उसने अपने जीवन में अनेकात एव म्याद्वाद को कितना उतारा है।

प्रत्येक जैन, भले ही वह दिगम्बर हों, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक हों, स्थानकवासी हों या सेरहपथी हों, अपने आपको अनेकान्तवादी मानता है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आपको अनेकान्तवाद का उपासक मानता है। फिर भी प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आप को सम्यग्दृष्टि और अपने से भिन्न सम्प्रदाय को मिथ्यादृष्टि कहने में शकोच नहीं करता और विचारभेद को लेकर कभी-कभी एक दूसरे से सधर्ष करता है।

यह सत्य है कि जैनतर दर्शनो की मान्यता में भी सत्याज है। परन्तु उनके विचारों में एकान्तवाद का आग्रह होने के कारण वे पूर्ण सत्य को समझ नहीं पाते। इसलिए उनमें सधर्ष होता है। और इस एकान्तवाद के कारण ही हम उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं परन्तु अनेकान्त के उपासकों में भी विचारभेद को लेकर सधर्ष होते हैं और वे एक दूसरे को मिथ्यात्वा समझते हैं, यह कितने दुःख एवं आश्चर्य की बात है। यदि अनेकान्तवाद में तू-तू-मै-मै को पनपने का अवकाश है, और वहाँ भी मिथ्यात्व रह सकता है, तब फिर पूर्ण शान्ति कहाँ मिलेगी और सम्यक्त्व का उदय कहाँ होगा ? जहाँ अनेकान्त है वहाँ सधर्ष एवं मिथ्यात्व सम्भव ही नहीं है। यदि अनेकान्तवादियों में भी पारस्परिक सधर्ष होता है, तो समझना चाहिये कि उन्होंने अनेकान्त को न तो पूरी तरह समझा है और न जीवन में उतारा है। वे अनेकान्त के स्वर में एकान्तवाद का पोषण करते हैं, जिममें मन में वैर-विरोध, ईर्ष्या, मत्सर एवं प्रतिशोध की भावना जागृत होती है और परिणामस्वरूप हिंसा की ज्वाला भग्न उठती है। हमें के नाम पर होने वाले साम्प्रदायिक सधर्षों का मूल कारण एकान्तवाद का आग्रह है।

जैनदर्शन का व्यावहारिक पक्ष अनेकान्तवाद

प्रो० भागचन्द्र भार्गेन्दु,

एम० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ,
अध्यक्ष मध्यत विभाग,
महात्मा गांधी स्मारक स्नातकोत्तर विभाग, इटारसी



दर्शन-शास्त्र के जिनहास में 'जैनदर्शन' या "जाह्नवदर्शन" वस्तुवादी एवं बहुन्ववादी है। इसके अनुसार मन्त्र में प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म-पक्ष होते हैं। आचार्य गुणरत्न ने "अनन्त-प्रमाणिक वस्तु" कह कर वस्तु के अनन्त धर्मों की ओर मनेत्र दिया है। किन्तु वस्तु का ज्ञान अपूर्ण है, अतः वह एक ही समय में और एक साथ उन सभी धर्मों को, वस्तु के विविध पक्षों या स्वरूपों को नहीं जान सकता। भारतीय दर्शन व्याकृत्य के विकास हेतु उचित ज्ञान प्रदान करता है। जैनदर्शन में भी व्यक्ति के पूर्ण विकास परन्तु निम्न प्रणाली पर जोड़ना (प्रमाणिक) प्रमाणित होती है। प्रथम श्रावक को ११ प्रतिमाओं के रूप में श्रीन तन्त्रज्ञान १४ गुणधर्मों के रूप में। अत्रादन प्रतिमाओं को विचारों के प्रमाणिक अध्ययन की स्मरण रक्षाओं के लक्षण हैं, जिनमें श्रावक अपने व्यक्ति-त्व को समझ कर प्रमाणिक रूप से प्रतिष्ठित करना जानता है और १४ गुणधर्मों आध्यात्मिक विकास के लिए योगदान की जानि है।

व्यक्ति के परिपूर्ण विकास के पूर्व जैनदर्शन के अनुसार व्यक्ति का ज्ञान अपूर्ण एवं अस्थिर होता है किन्तु परिपूर्ण विकास के पश्चात् बड़ी ज्ञान परिपूर्ण और परिपक्व हो जाता है। ऐसे महात्मानों को जैन दर्शन में 'जिन' मन्त्र प्राप्त है। य 'केवल-ज्ञान' सम्पन्न होते हैं "श्रीर केवलज्ञान" द्वारा वस्तु के समस्त धर्मों-पक्षों को एक साथ जानते हैं।

भारत में जिनने श्री धार्मिक सम्प्रदाय विकसित हुए, उनमें अहिंसा का उतना महत्व किसी ने नहीं दिया, जितना जैनधर्म ने दिया है। बौद्धधर्म में फिर भी अहिंसा की एक नीति है कि—अपनी किसी का वध न करो, किन्तु जैनों की अहिंसा पूर्णतः निष्पक्ष है। स्वयं हिंसा करना, दूसरों में हिंसा करवाना या अन्य किसी भी तरह में हिंसा में योग देना, जैनधर्म के विरुद्ध है। जैनधर्म केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नहीं, बल्कि वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य मानता है। यह बौद्धिक अहिंसा ही जैनदर्शन का 'म्यादाद' या 'अनेकान्तवाद' है। यह विश्व के दर्शनों में अनूठी वस्तु है। इसके महत्व को देशी-विदेशी सभी दार्शनिकों ने उच्च स्तर में स्वीकार किया है।

आज विश्व में अमानि का मूल कारण यही है कि एक मन या वाद को मानने वाले लोग अपने में भिन्न

१ पूर्ण व्याख्या के लिए देखिए—पद्धतदर्शनसमुच्चय, पृ० ५५ तथा उत्तर आचार्य गुणरत्न की टीका।

२ (अ) डा० हर्षन याकोपी—जैनसूत्रात्, प्रथम भाग (मद्रवाहकृत कल्पसूत्र)

(ब) मिमेस स्टीवेनसन—हार्ट ओफ जैनज्म, चतुर्थ अध्याय।



मत या वाद को मानने वाले लोगो को आप बन्द कर गलत समझते हैं। लोग अपने प्रतिपक्षियों के प्रति असहिष्णु हो गये हैं। ऐसी स्थिति में भी यह सत्य है कि—कोई भी मत सोलह आन मत्स्य एवं सोलह आने असत्य नहीं है। वस्तु एक ओर में जैसी दिखाई पड़ती है, दूसरी ओर से भी वैसी ही दिखाई नहीं पड़ती। अतः बिना विवेक के किसी भी मान्यता या मत को सर्वथा खण्डित करने का कार्य हिंसा का कार्य है। सत्य को पहचानने के अनेक मार्ग हैं, सत्य के मार्ग पर आरुढ़ व्यक्ति का दुराग्रह और हठधर्मी समाप्त हो जाती है। सत्यान्वेषक की दृष्टि उदार होती है। ममन्वय, सह अस्तित्व और सहिष्णुता ये एक ही तत्त्व के नामान्तर हैं। जनसाधारण को जीव-हिंसा में बचाने के लिए जैन-दर्शन ने अहिंसा का उपदेश दिया, किन्तु चिन्तकों और विचारकों को हिंसामय प्रवृत्तियों से विरत करने के लिए 'अनेकान्तवाद' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

जैनदर्शन का कथन है कि दर्शन नाना रूपिणी सत्ता के अग्र मात्र का विवेचन करने में अपना महत्व रखते हैं। उनमें आपस में किसी प्रकार के मतभेद के लिए स्थान नहीं है। इस उदार चित्तवृत्ति तथा विशाल-हृदयता के कारण जैन तत्त्वज्ञान का किसी भी दर्शन से विरोध नहीं है। जैनदर्शन युक्तिपूर्ण तथ्यों को ग्रहण करने का मदैव मदेश प्रस्तुत करता है, उसका व्यक्तिविशेष में कोई आग्रह नहीं, बल्कि वह तो सिद्धान्त की उदात्तप्रवृत्ति पर बल देता है। आचार्य हरिभद्र का कथन इसी तथ्य की पुष्टि करता है—

पक्षपातो न मे धीरे, न द्वेष कपिलादिषु ।

युक्तिमद् वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ॥

भगवान् महावीर के प्रति न तो मेरा विशेष अनुराग है, और न ही साध्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल आदि से कोई द्वेष ही है, जिसका कथन युक्तिपूर्ण हो, उसे स्वीकार करना चाहिये।

इतनी उदारता सम्भवतः अन्य दर्शनों में नहीं दिखाई पड़ती। इस उदारता का मुख्य आधार है—अनेकान्तवाद। अनेकान्तवाद का दार्शनिक आधार यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण, पर्याय और धर्मों का अक्षण्ड पिण्ड है। वस्तुको तुम जिस दृष्टिकोण में देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है। उसमें अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट् स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम पड़े, उस पर ईमानदारी से विचार करो तो उसका विषयभूत धर्म वस्तु में विद्यमान प्रतीत होगा। चित्त से पक्षपात की दुरभिसंधि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण के विषय को भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो, वह भी वहा लहरा रहा है।

भारतीय संस्कृति के विशेषज्ञ मनीषी डा० दिनकर का स्पष्ट अभिमत है कि 'अनेकान्त का अनुमन्वान भारत की अहिंसामार्गना का चरम उत्कर्ष है, और सारा समार इसे जिनना ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति उत्तनी ही शीघ्र स्थापित होगी।'

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतिप्रकरण (३-४७) में अनेकान्त को एक ऐसे समुद्र की भाँति निरूपित किया है जिसमें सभी वाद विलीन होते हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर डा० आर्चीब्राह्म अनेकान्तवाद के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

“अनेकान्त जैनदर्शन का वह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसका पाश्चात्य अथवा हिन्दू दार्शनिकों ने समुचित मूल्यांकन नहीं किया है। यह अपने तत्त्वज्ञान के द्वारा समार का बड़ा उपकार कर सकता है।”^१

१ दिनकर, डा० रामधारीसिंह—संस्कृति के चार अध्याय।

२ जैन, स० डा० कामताप्रसाद, विश्व को जैनधर्म की देन, पृष्ठ १६ से उद्धृत—

The Anekant is an important principle of Jain Logic not commonly asserted by the Western or Hindu logician, which promises much for world peace through Metaphysical harmony

भारतीय दर्शन के गम्भीर गवेषक डा० सी० डी० शर्मा अपने ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' में स्याद्वाद के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हैं।

"स्याद्वाद, जिसको सप्त-भंगिनय भी कहते हैं, ज्ञानप्राप्ति के मदर्भ में मान्यता का सिद्धान्त है। स्यात् शब्द का शाब्दिक अर्थ है सम्भावित, शायद, हो सकता है। और इसीलिए यदा यदा स्याद्वाद का अनुवाद "सम्भावना का सिद्धान्त" (Theory of Probability) जयवा 'हो सकता की मान्यता (Doctrine of the may be) किया जाता है, किन्तु 'स्याद्वाद' शब्द यहा सम्भावना के शाब्दिक अर्थ में नहीं ग्रहण किया गया है। क्योंकि सम्भावना में सन्देहवाद (Scepticism) को स्थान प्राप्त है, जब कि जैनदर्शन में 'सन्देहवाद' का कोई स्थान नहीं है।

इसी वशी 'स्यात्' शब्द का अनुवाद 'किमी तरह' (Some-how) किया जाता, है किन्तु इस शब्द में 'अज्ञेयवाद' (Agnosticism) की गन्ध निहित है, जब कि जैनदर्शन यदापि अज्ञेयवाद नहीं है।

यहा जैनदर्शन में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग मान्यता के अर्थ में हुआ है और स्याद्वाद का समुचित अनुवाद मान्यता का सिद्धान्त" (Theory of Relativity) है।

जैनदर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य उमास्वामी के 'तत्त्वार्थ-सूत्र' के प्रथम अध्याय का द्वितीय सूत्र "तत्त्वार्थ-श्रद्धान् सम्यग्दर्शन" है। वस्तुतः नतीज पर यथार्थ श्रद्धा स्याद्वाद के बिना नहीं हो सकती। स्याद्वाद ही एक ऐसी दार्शनिक प्रणाली है, जो तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का बोध करती है। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रत्येक तत्त्व या पदार्थ अनन्त गुणों का भण्डार है, उन अनन्त गुणों में वे गुण भी सम्मिलित हैं, जो परस्पर विरोधी हैं फिर भी एक ही देव और काल में एक साथ पाये जाते हैं। उन विरोधी तथा भिन्न गुणों को विचार-वृत्ति में परस्पर न टकराने देकर उनका सुस्पष्टता नामजस्त या समन्वय का देना ही स्याद्वाद, मान्यवाद या अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

चिन्तन की अहिंसामयी प्रक्रिया का नाम 'अनेकान्त' है और उक्त प्रकारीय चिन्तन की 'अभिप्राय की शैली' स्याद्वाद है। यथार्थ अनेकान्तवाद या सम्बन्ध मनुष्य के विचारों में है, किन्तु स्याद्वाद उस विचार को व्यक्त करने योग्य अहिंसामय भाषा की खोज करता है।

अनेकान्तवाद शब्द के तीन अर्थ हैं—अनेक, अन्त और वाद। अनेक=नाना अन्त=वस्तुधर्म, वाद=मान्यता। एत वस्तु में विभिन्न धर्मों=स्वभावों (विरोधी और अवरोधी) की मान्यता का नाम अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद, एक वस्तु में परस्पर विरोधी और अवरोधी धर्मों का विधाता है। वह वस्तु को नानाधर्मा-

१. शर्मा, डा० सी० डी० इडिथन फिलासफी

Syadvada which is also called "Sapta Bhanginaya" is the theory of relativity of knowledge. The word Syat literally means probable, perhaps, may be. Ant Syadvad is sometimes translated as the theory of probability or the doctrine of the may be. But it is not in the literal sense of probability that the word 'Syat' is used here. probability suggests scepticism and Jainism is not scepticism.

Sometimes the word 'Syat' is translated as 'some how'. But this too smacks of agnosticism and Jainism again is not agnosticism.

The word 'Syat' is used here in the sense of the relative and the current translation of 'Syadvad' is the theory of relativity of knowledge.





त्मक वतलाकर ही चरितार्थ हो जाता है। जहाँ अनेकान्तवाद हमारी बुद्धि को वस्तु के समस्त धर्मों की ओर समग्र रूप से गीचता है, वहाँ स्याद्वाद वस्तु के एक धर्म का ही प्रधान रूप में बोध कराने में समर्थ है। नाना धर्मात्मक वस्तु हमारे लिये किस प्रकार उपयोगी हो सकती है, यह बात स्याद्वाद वनलाता है। सक्षेप में कहा जा सकता है कि अनेकान्तवाद का फल विज्ञानात्मक और स्याद्वाद का फल उपयोगात्मक है। यह भी कहा जा सकता है कि अनेकान्तवाद का फल स्याद्वाद है। अनेकान्तवाद की मान्यता ने ही स्याद्वाद की मान्यता को जन्म दिया है। क्योंकि जहाँ नाना धर्मों का विधान नहीं है, वहाँ दृष्टिभेद की कल्पना ही की जा सकती है।

स्याद्वाद और सप्तभगीवाद

सप्तभगीवाद जैनदर्शन के स्याद्वाद का विश्लेषण है। जैन आचार्यों ने स्याद्वाद को सात रूपों में विभक्त कर समझाने का सफल प्रयास किया है। इन सात रूपों को ही 'सप्तभग' कहते हैं। प्रश्न हो सकता है कि यह सप्तभगी क्या है और उसका क्या उपयोग है? इसका उत्तर स्याद्वादमञ्जरी के रचयिता आचार्य मल्लिपेण के शब्दों में निम्न प्रकार है—

“सप्तभि प्रकारं वचनविन्यास सप्तभगीति गीयते।”^१

(विषय की प्रत्येक वस्तु के स्वरूपकथन में सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जा सकता है, यही 'सप्तभगी' है।)

सप्तभगी की परिभाषा करने हुए कहा गया है कि —

“प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुव्यतिरोधेन त्रिधि-प्रतिषेधिकल्पना सप्तभगी”^२

(प्रश्न उठने पर एक वस्तु में अविरोध भाव में एक धर्म-विषयक जो विधि और निषेध की कल्पना की जाती है, उसे सप्तभगी कहते हैं।)

भग का अर्थ है—विकल्प, प्रकार या भेद। किसी भी एक वस्तु के किसी भी एक धर्म के विषय में सात प्रकार में ही विवेचन मग्न होने से इसे 'सप्त भगीवाद' कहते हैं।

अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभगी

अनेकान्त दृष्टि का ध्वनितार्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु में सामान्य रूप से, और विशेष रूप से मिश्रता की और अमिश्रता की दृष्टि से नित्यत्व की अपेक्षा से और अनित्यत्व की अपेक्षा में तथा सद् रूप से और असद् रूप से अनन्त धर्म होते हैं। अनेकान्त दृष्टि का प्रयोजन यही प्रष्ट करना है कि “प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है”। परन्तु सप्तभगी की उपयोगिता इस बात में है कि वह वस्तुगत अनेक धर्मों की दोषहीन भाषा में अपेक्षा का विश्लेषण करे।

उपर्युक्त प्रतिपादन का अभिप्राय यह है कि—अनेकान्त, अनन्त धर्मात्मक वस्तु स्वरूप की एक दृष्टि है, और स्याद्वाद तथा सप्तभगी उस मूल ज्ञानात्मक दृष्टि को अभिव्यक्त करने की अपेक्षासूचक एक वचनपद्धति है। अनेकान्त एक लक्ष्य है और सप्तभगी एवं स्याद्वाद एक माधन है, उसे समझने का प्रकार है। अनेकान्त का क्षेत्र व्यापक है जबकि स्याद्वाद का प्रतिपाद्य व्याप्य है, दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है।

स्यात् शब्द के विभिन्न अर्थ

‘स्यात्’ पद संस्कृत की ‘अस्-भुवि’ धातु से बना है। स्यात् का ही विगडा हुआ हिन्दी में ‘शायद’ मिलता है।

१ आचार्य मल्लिपेण-स्याद्वादमञ्जरी डॉ० जगदीशचन्द्र जैन सम्पादित, (बम्बई, १९३५ ई०) कारिका २३—टीका

२ आचार्य अकलकदेव तत्त्वार्थराजवार्तिक सूत्र १—६ टीका।

“हो सकता है”, “Perhaps, May be, Probable” के अर्थ में इसका प्रयोग होना है। कुछ विद्वान इसका अर्थ “Some-how” ‘किसी तरह’ भी करते हैं। किन्तु जैनदर्शन में इसका प्रयोग इनमें से किसी भी अर्थ में नहीं हुआ है।

भारत की पुरातन भाषाओं-पाली और प्राकृत में ‘स्यात्’ पद का रूप ‘सिगा’ उपलब्ध होना है। वही यह वस्तु के सुनिश्चित भेदों के साथ प्रयुक्त दिखाई पड़ता है।

‘स्यात्’ शब्द का पारिभाषिक प्रयोग

जैनदर्शन में ‘स्यात्’ शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया गया है। इसका अर्थ है—मापेक्ष, कथञ्चित्, मापेक्षना का मिद्वान्त। ‘स्यात्’ व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति के अनुसार ‘अम्’ धातु का विधिलिङ्ग लकार, अन्य पुरुष, एक वचन का रूप है जिसका अर्थ होना है ‘ऐसा हो’ या एक सम्भावना यह भी है। जैनदर्शन में इसे मापेक्ष विज्ञान का वाचक अर्थ बनाकर अपनी अनेकान्त विचार-शैली को प्रकट करने का साधन बनाया गया है। इसे अनिश्चयबोधक समझना उचित युक्तिमय नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसका उल्लेख और विवर्णन ‘मापेक्षना का मिद्वान्त’ (Theory of Relativity) के नाम से किया है।

म्यादादमजरीदार आचार्य मल्लिपेण ‘स्यादित्यव्यम् अनेकान्त द्योतकम् तत स्याद्वाद अनेकान्तवाद इति यावत्’^१ कहकर अनेकान्त के प्रतिपादन में ‘स्यात्’ पद का महत्त्व स्वीकार करते हैं। आचार्य हेमचन्द्रभूरि भी ‘स्यात्’ को अनेकान्तबोधक मानते हैं।^२

आचार्य अण्णक देव त्थीमस्सय टीका में ‘अनेकान्तात्मसायकयत्तं स्याद्वाद’ उल्लेख कर यह स्पष्ट करते हैं कि विद्यमान अनेक धर्मों का मापेक्ष दृष्टि में प्रतिपादन ‘स्याद्वाद’ है।

‘स्यात्’ और ‘कथञ्चित्’ ये दोनों शब्द एक अर्थ के बोधक हैं। ‘कथञ्चित्’ शब्द का अर्थ है—किसी प्रकार। ‘स्यात्’ शब्द का भी यही अर्थ समझना चाहिये। किसी प्रकार के अर्थान् दृष्टि विशेष में या किसी विशेष अर्थप्राय में—इन प्रकार की मान्यता का ही नाम ‘स्याद्वाद’ है।

स्व० प्रो० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने ‘स्यात्’ शब्द के प्रयोग का विवर्णन करते हुए उल्लेख किया है कि —

“ कोई ऐसा शब्द नहीं है जो वस्तु के पूर्ण रूप का स्पर्श करने के। हर शब्द एक निश्चित दृष्टिकोण में प्रयुक्त होता है और अपने विविध धर्मों का स्पर्श करता है। उस तरह, जब शब्दों में स्वभावतः विविधानुसार अमूर्त धर्मों का प्रतिपादन करने की शक्ति है, तब तक यह आवश्यक हो जाता है कि विविध धर्मों की सूचना के लिए एक ‘प्रतीक’ अवश्य हो, जो वस्तु और श्रुति को सूचित न दे। ‘स्यात्’ शब्द यही कार्य करता है, वह श्रोता को विविध धर्मों का, प्रधानता में, ज्ञान करके भी विविध धर्मों के अस्तित्व का द्योतन करता है।

‘स्यात्’ शब्द जिस धर्म के साथ प्रयुक्त होता है, उसकी स्थिति कमजोर न करके वस्तु में रहने वाले तत्प्रतिपक्षा धर्मों की सूचना देता है।^३

स्याद्वाद का प्रयोग

प्रत्येक शब्द के दो वाच्य होते हैं—विधि और निषेध, प्रत्येक विधि के साथ निषेध है और प्रत्येक निषेध के साथ विधि है। एकान्त रूप में न कोई विधि है और न कोई निषेध। प्रत्येक वस्तु का विवेचन द्रव्य, क्षेत्र, काल और

१ म्यादादमजरी, कारिका ५ टीका।

२ अन्ययोगव्यवच्छेदिका, कारिका २८।

३ जैनदर्शन, प्रथम संस्करण, काशी १९५५ ई०, पृ० ६८।





भाव की अपेक्षा से किया जाता है। विवेचन के पूर्व विवेच्य वस्तु के साथ 'स्यात्' पद का प्रयोग आवश्यक है। गौण अथवा प्रधान विवक्षा की सूचना इस पद के माध्यम से प्राप्त होती है।

'स्यात्' शब्द के साथ किसी वस्तु का विश्लेषण अधिक से अधिक ७ प्रकार से हो सकता है। प्रयोग करने पर भी ७ से अधिक प्रणालियों से विवेचन सम्भव नहीं है। वे सात प्रकार या भग अग्रलिखित हैं

- (१) स्याद् अस्ति
- (२) स्याद् नास्ति
- (३) स्यादस्ति नास्ति
- (४) स्याद् अवक्तव्य
- (५) स्याद् अस्ति अवक्तव्य
- (६) स्याद् नास्ति अवक्तव्य
- (७) स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

इस पद्धति में मूल भग तीन ही है। पहला दूगरा और चौथा, अर्थात् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। उक्त सात भगो में से तीन द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी है।

उदाहरणार्थ —

(१) स्याद् अस्ति	लौकिक प्रयोग	=	नमक
(२) स्याद् नास्ति	" "	=	मिर्च
(३) स्याद् अवक्तव्य	" "	=	जीरा

देखिये, सर्व प्रथम तो इन तीनों वस्तुओं का पृथक् पृथक् उपयोग हो सकता है, तत्पश्चात् एक को दूसरे में मिश्रित करके उपयोग कर सकते हैं और अन्त में तीनों को एक साथ मिलाकर काम में ला सकते हैं। जैसे —

(१) नमक, (२) मिर्च, (३) जीरा, (४) नमक मिर्च, (५) नमक जीरा, (६) मिर्च जीरा, (७) नमक, मिर्च, जीरा,

उपर्युक्त ७ भगो या प्रणालियो से वस्तु की विवेचना सम्भव है। उसमें अधिक से नहीं।

विवेचन

(१) स्याद् अस्ति

पदार्थ कश्चित् सत् है। उदाहरणार्थ एक घड़े का विवेचन करना है। घट के अनन्त धर्मों में एक सत् (Existence) अस्तित्व है। प्रश्न हो सकता है कि वह अस्तित्व किस अपेक्षा में है? इसी का उत्तर स्याद्वाद् या अनेकान्तवाद की पद्धति से पहले प्रकार में प्राप्त होता है।

१ इस सदर्थ में देखिये — आचार्य अकलकदेव का 'लघोयस्त्रय' जहाँ उन्होंने उल्लेख किया है कि वक्ता और श्रोता यदि शब्दशायित और वस्तु के स्वरूप के विवेचन में निपुण हैं, तो 'स्यात्' पद के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। उसके अभाव में भी अनेकान्त का प्रकाशन हो जाता है —

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।

विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र, कुशलश्चेत्प्रयोजक ॥

घट का अस्तित्व क्यचित् 'स्यात्' है, 'स्यात् अस्ति घट' अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा यह घड़ा है। यह घटे के अस्तित्व की विधि है, अतः यह विधि भग है। परन्तु यह अस्तित्व की विधि स्व की अपेक्षा है, पर की अपेक्षा में नहीं है, क्योंकि—

'सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च'

यह पवित्र 'स्याद् अस्ति' इस कथनपद्धति की विवेचना है।

यदि स्वपर्याय में भिन्न पर स्वरूप में भी घड़े का अस्तित्व हो तो घड़ा एक घड़ा ही क्यों रहे ? वह विश्व-रूप क्यों न हो जावे ? और वैसे स्थिति में उसमें घट-व्यवसाय के अनिरिक्त वस्त्र आदि के क्रिया-कलापों का समावेश हो जाना चाहिये और वैसा हो सकना नभव नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि घड़े की सत्ता किसी एक अपेक्षा से है, नव अपेक्षाओं में नहीं।

(२) स्याद् नास्ति

हमारी बार जब उसी का कथन होगा तो यह कदा जावेगा कि पूर्व में जिस घट का प्रतिपादन हुआ है, उसका यदि हमने छोटे या हमने बड़े घड़े की दृष्टि में न्य कर अथवा मोने, पीतल या कपड़े की दृष्टि में रखकर प्रतिपादन किया जाय कि पूर्व स्थिति के अनुपपन्न क्या यह घड़ा है, तो उत्तर होगा—'स्याद् नास्ति घट'

यहां घट की सत्ता या निषेध पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा से किया गया है। अतः घट क्यचित् नहीं है, घट में भिन्न वस्त्र, सोने, चांदी आदि की—परचतुष्टय की अपेक्षा में घट नहीं है।

(३) स्याद् अस्ति-नास्ति

पर्याय क्यचित् सत् अमत् समय रूप है। पूर्व वर्णित घटे का स्पष्ट रूप यह है कि "घड़ा तो है, किन्तु सोने, पीतल या कपड़े की अपेक्षा वह नहीं है।"

यहां पर स्व की अपेक्षा सत्ता का और पर की अपेक्षा असत्ता का, अर्थात् दोनों का किन्तु क्रमशः कथन किया गया है।

प्रथम और द्वितीय विवेचन-पद्धति क्रमशः विधि और निषेध का स्वतंत्र रूप से पृथक् पृथक् प्रतिपादन करती हैं, जब कि यह तीसरी पद्धति विधि-निषेध दोनों का किन्तु श्रमशः उल्लेख करती है।

'स्याद् अस्ति नास्ति घट'। स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा घड़ा है, किन्तु पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा में घड़ा नहीं है।

(४) स्याद् अवक्तव्य

अवक्तव्य का अर्थ है कहा नहीं जा सकता। जब एक ही समय में विधि और निषेध दोनों की विवेक्षा होनी है, तब दोनों को एक ही समय में एक साथ व्यक्त करने वाला कोई शब्द न होने से उसे 'अवक्तव्य' कहते हैं।

शब्द की क्षमता सीमित होती है। जब वस्तु के विधि पक्ष का विश्लेषण होता है, तो निषेध पक्ष उपेक्षित हो जाता है, और जब निषेध पक्ष का प्रतिपादन किया जाता है, तो विधिपक्ष गौण हो जाता है, यदि वस्तु के विधিনিषेध पक्षों का पृथक् पृथक् या क्रमशः एक साथ प्रतिपादन करना हो तो पूर्ववर्णित तीन विवेचनपद्धतियों में क्रमशः (१) अस्ति, (२) नास्ति, (३) अस्ति नास्ति शब्दों के द्वारा काम चल जाता है, परन्तु विधিনিषेध की एक साथ अभिव्यक्ति में कठिनाई है, जिसे 'अवक्तव्य' शब्द के द्वारा हल किया गया है।

इस पद्धति में यह भी ध्यानित हाता है कि वस्तु के युगपद् अस्तित्व नास्तित्व का वाचक कोई शब्द नहीं है।



इमलिये विधिनिषेध का युगपत् कथन अशभव है। परन्तु स्मरणीय है कि वह अवक्तव्यत्व सर्वथा सर्वतोभावेन नहीं है। अतः 'स्याद् अवक्तव्य' पद से विदित होता है कि घडे के सन्न्य मे पूर्व वर्णित जो तीन दृष्टिकोण है, वे एक साथ कहे नहीं जा सकते। यह है 'स्याद् घट अवक्तव्य'।

(५) स्याद् अस्ति अवक्तव्य

कथञ्चित् सत् है किन्तु अवक्तव्य। इसका अभिप्राय है—घट है, और अवक्तव्य भी है। किसी विशेष दृष्टि से घडे को लाल कह सकते हैं, किन्तु जब दृष्टि का स्पष्ट निर्देश न हो, तो घडे के रंग का वर्णन असम्भव हो जाता है, अतः अपने स्वरूप से घडा है तो, किन्तु उसका रूप स्पष्ट न होने के कारण उमगा प्रतिपादन नहीं कर सकते।

(६) स्यात् नास्ति अवक्तव्य

कथञ्चित् असत् है किन्तु अवक्तव्य। यहा पर प्रथम समय मे निषेध और द्वितीय समय मे एक साथ-युगपत् विधि-निषेध की विवक्षा होने से 'स्यात् नास्ति घट अवक्तव्यश्च' घडा नहीं है, और वह अवक्तव्य है, ऐसा कहा जाता है।

(७) स्यादस्ति, नास्ति, अवक्तव्यश्च

पदार्थ कथञ्चित् सत् है, कथञ्चित् असत् है, साथ ही उभय दृष्टिकोणों का युगपत् प्रतिपादन शभव नहीं है। किसी दृष्टि से घट है, किसी दूसरे पदार्थ की विवक्षा से घट नहीं है, और परस्पर विरोधी इन दोनों धर्मों का एक साथ निरूपण करना शभव नहीं है।

उपरिविवेचित सातो वचन-पद्धतिया अपनी अपनी सार्थकता रखती है, तथापि अलग अलग रूप मे वस्तु-स्थिति के एक अक्ष को ही प्रकट करती है, उसके सपूर्ण स्वरूप को नहीं। इसीलिए जैनदर्शन इस बात पर बल देता है कि पूर्वविवेचित सात वचन-पद्धतियों मे से प्रतिपादनकर्ता अपने अभिप्राय के अनुसार चाहे जिस वचन-पद्धति का उपयोग करे, परन्तु उसके पूर्व 'स्यात्' शब्द अवश्य सयुक्त करे, जिससे यह सुस्पष्ट ज्ञात होता रहे कि वस्तुस्थिति मे अन्य सम्भावनायें भी हैं। अतः प्रतिपादनकर्ता का कथन सापेक्ष रूप से ग्रहण किया जावे।

ऊपर प्रतिपादित भिन्न भिन्न दृष्टियों से विचार करने पर ज्ञात होता है कि एक ही वस्तु के अनेक धर्मस्वरूप या पक्ष होते हैं। प्रत्येक वस्तु एक दृष्टि से भावात्मक है तो दूसरी दृष्टि से अभावात्मक किसी वस्तु के सम्बन्ध मे हम जो विचार करते हैं, उसकी सत्यता हमारी विशेष दृष्टि पर निर्भर करती है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विचार सीमित ज्ञान तथा हमारे हुआ करते हैं। हमें यह नहीं मोचना चाहिये कि किसी विषय सबधी कोई एक मत ही एकान्त सत्य है, दूसरा अभिमत भी सत्य हो सकता है।

जैन तीर्थंकरों ने मानव की अहंकारमूलक प्रवृत्ति और उसके स्वार्थी वामनामय मानस का स्पष्ट दर्शन कर उन तत्त्वों की ओर प्रारम्भ से ध्यान आकृष्ट किया है, जिसे मानव की दृष्टि का एकागीपन दूर हो और उसमे अनेकांगिता का समावेश हो, वह अपनी दृष्टि की तरह सामनेवाले मनुष्य की दृष्टि का भी सम्मान करना सीखे, उसके प्रति सहिष्णु बने। दृष्टि मे इस प्रकार के भावों का समावेश हो जाने से उसकी भाषा परिवर्तित हो जाती है, उसमे स्वमत की हठाग्रहिता हटकर समन्वय की प्रवृत्ति आ जाती है। उसकी भाषा मे दूसरों के तिरस्कार का भाव न होकर उनके अभिप्राय, विवक्षा और अपेक्षादृष्टि को समझने की क्षमता आ जाती है। यही स्थिति उसकी मानसिक शुद्धि अर्थात् स्याद्वादमय वाणी के स्वीकरण की है और वैसी स्थिति में मानव का आचारव्यवहार पूर्णतः 'मनस्येक वचस्येक कर्मण्येकम्' के अनुरूप हो जाता है।

अनेकान्तवाद और न्यायाद्वय को पूर्णतः समझने में अनेक वैदिक और बौद्ध, प्राचीन और अर्वाचीन पाश्चात्य और पौराणिक विद्वानों को बहुत भ्रम हुआ है। उनके अनेक कारण रहे हैं, परन्तु अब उन मनो या आलोचनाओं का विस्तारपूर्वक निराकरण हो चुका है और अनेकान्तवाद के सार्वभौम रूप को सभी विद्वान् एक स्वर में स्वीकार करते हैं।

न्यायाद्वय या अनेकान्तवाद मिथ्यात्व में यह स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि कितनी उदार है। जैन अन्यान्य दार्शनिक विचारों को नाश नहीं समझते, प्रत्युत अन्य दृष्टियों से उन्हें भी सत्य मानते हैं। हा, वे किसी एक दर्शन की हठोक्ति को नहीं मानते क्योंकि ऐसी हठोक्तियों में 'एकान्तवाद' (Fallacy of exclusive particularity) का दोष होना स्वाभाविक है। वर्तमान में अमेरिका के नव्य बन्तवादियों ने इस 'एकान्तवाद' का घोर विरोध किया है।^१

भारतीय दर्शन के गम्भीर गवेषक विद्वानों का यह अभिमत अत्यन्त सुविचारित है कि "इस एकान्तवाद के दोष से मुक्त होने की जैमी युक्ति जैनों ने निकाली है, वैसी किसी अन्य प्राच्य या पाश्चात्य दार्शनिक ने नहीं।"^२

जैनदर्शन का यह मिथ्यात्व अनेक प्रकार से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके मूल्य अध्ययन तथा मनन की निराला आवश्यकता है। मन्त्रव्य, महिष्णुता और मह-अभित्व आदि की भावनाओं ने ओतप्रोत इस अत्यन्त व्यावहारिक मिथ्यात्व के आधार पर आचार्यप्रवर श्रीमन्मन्त्र स्वामी ने अब ने लगभग १७ मी वर्ष पूर्व भगवान् महावीर के जैन-धामन की सर्वप्रचारीय आपत्तियों का निवारक, शाश्वत तथा सर्वोद्भयकारी तीर्थ के रूप में स्मरण किया है—

सर्वापदामन्तर निरन्तम् सर्वोदय तीर्थमिदं तदैव ।^३

आज जबकि सम्पूर्ण विश्व बालू के ढेर पर बैठा हो और एटम बम्बों 'Atom Bombs' के जोर पर ऐँठा हो, तब इन प्रकार के अनेकान्तात्मक विचारों के अनुशीलन में अन्धविश्वास, साम्प्रदायिक सत्कीर्णता और असहिष्णुता आदि कुप्रवृत्तियाँ नष्ट हो सकती हैं और मानव लोककल्याणवादी हो सकता है।

१ देखिये दि न्यू गियलिज्म, पृ० १४—१५

२ देखिये टी० सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय और डा० धीरेन्द्रमोहनदत्त कृत 'भारतीय दर्शन' पटना, पृष्ठ ५४

३ आचार्य मन्त्रभद्र 'युक्त्यनुशासन' कारिका ६१



जैनदर्शन की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

प्रो० निहालचन्द्र जैन

एम० एस०सी०

महावरा (शासी)



(१) धर्म और विज्ञान के समन्वय की आवश्यकता

आज के इस वैज्ञानिक युग में बुद्धिजीवी मानव अपने को निरन्तर जकिनशाली बनाने का प्रयास कर रहा है और वह उन्हीं सत्यो एवं तथ्यों को मान्यता दे रहा है, जो प्रयोग-परीक्षण (Experimental verification) की कसौटी पर खरे उतर रहे हैं। इसके बावजूद वह अपने भीतर एक शून्यता (vacuum) और अशान्ति का गहन अधकार पा रहा है। लगता है, जकिन-उपलब्धि में शान्ति खोता जा रहा है। इससे एक तथ्य सामने अवश्य आया है कि जिन्होंने मान विज्ञान की खोज की, वे शक्तिशाली हो गये पर अशान्त और विपन्नता में डूबे हुए हैं। और जिन्होंने मात्र धर्म का अनुसंधान किया, वे शान्त हो गये पर अशक्त और पिछड़े हैं। ऐसा मानव या राष्ट्र जो अपने को शक्ति और शान्ति में अखण्ड रूप से प्रवर्तमान रखना चाहता है, उसे विज्ञान और धर्म, दोनों की क्षरण लेनी होगी, क्योंकि एक की भी कमी से मानव की साधना और राष्ट्र की मस्कृति अधूरी रह जायेगी। इतिहास इसका साक्षी है कि ऐसी शक्ति, जो शान्ति से अक्षूती रही, क्रूरता और संहारकता के विकृति रूप में पनपी और मानव का उससे कुछ शुभ नहीं हो पाया।

विज्ञान ने जहाँ मानव को ज्ञान (knowledge) से भरा, वहाँ धर्म की रिक्तता में वह विवेक-शून्य हुआ। और फिर विवेकरहित ज्ञान ने अणुबम्ब और उद्‌जन बम्बों का निर्माण कर मानवमस्कृति पर कुठाराघात किया, जिसका दोषारोपण विज्ञान पर थोपा गया। मानव ज्ञान की आवश्यकता के साथ विवेक की अनिवार्यता भुला बैठा। परिणाम में विवेकशून्य ज्ञान से उसमें गति (speed) तो भरी लेकिन वेग (velocity) उत्पन्न नहीं किया और बिना वेग के वह दिशा-भ्रष्ट हो मान भटकना रहा। लक्ष्य की सिद्धि मात्र गति करने से नहीं मिल सकती, उसके लिए तो एक खास दिशा में जाना होगा।

मानव ने धर्म (अन्तस् की चेतना) के विस्मरण-मूल्य पर शक्ति की होड़ में सघर्ष खगीदा है, जो मात्र विज्ञान रूपी करघे में मौत का कफन बुनने जैसा ही है

एतएव धर्म और विज्ञान में समन्वय लाने की अनिवार्य आवश्यकता है। यद्यपि विज्ञान का विषय उन प्रयोगों का अध्ययन और निरीक्षण है। जो प्रकृति की गतिविधियों से सम्बद्ध हैं, जबकि दर्शन वहाँ से शुरू होता है जहाँ विज्ञान अपनी अन्तिम पगकाप्ला पर पहुँच जाता है। फिर भी सत्य हर पहलू से सत्य होता है और इसलिए धर्म या दर्शन के सत्य भी क्रिमी भी नगापू के पलड़े से तीले जा सकते हैं। यह विश्लेषण, सिद्धान्तों के प्रति अधिक आस्था पैदा करे वगैरह इसका उद्देश्य है।

(२) जैनदर्शन का परमाणुवाद और आधुनिक विज्ञान की मान्यता

जैनदर्शन समाग की रचना छह द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अघर्म, आकाश और काल) से हुई मानता

है। इनमें से केवल पुद्गल द्रव्य (matter and energy) भौतिक या रूची है। शेष अभौतिक। मुख्य रूप से यह समार जीव और पुद्गल का सम्मिश्रण है, शेष चार द्रव्य इनके सहायक हैं।

चूँकि भौतिक विज्ञान भौतिक पुद्गल द्रव्य से ही सम्बन्ध रखता है, इसलिए यहाँ पुद्गल द्रव्य (परमाणु-वाद) की चर्चा दर्शन और विज्ञान की पृष्ठभूमि में करेंगे।

‘पुद्गल’ दो पदों में मिलकर बना हुआ है। पहला पुद् जिमका अर्थ है मिलना (Combination) और दूसरा गल—जिनका अर्थ गलना या बिनाग (Disintegration) है। इस घटना को इस प्रकार समझाया गया है कि एक अणु (Molecule) दूसरे अणु या एक अणु में मिश्रित अधिक अणु या अणु गुणधृत अणु उत्पन्न करेगा। इसी प्रकार एक अणु में से कुछ अणु या अणु अणु निकल जाने से कम अणु या एक गुणधृत अणु प्राप्त होगा।

वैज्ञानिक-पारिभाषिक शब्दों में अणु और एक परमाणुओं में तात्पर्य अविभाज्य घनात्मक विद्युत्प्रभ कण (Positive charged particle) और ऋणात्मक विद्युत्प्रभ कण (Negative charged particle) ही हैं। इन दोनों प्रकार के कणों में मिश्रित उदासीन (Neutral) परमाणु (Atom) बनता है जिन्हें प्रमाण प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन (Electron) नाम से पुकारा जाता है। इसके अलावा न्यूट्रॉन उदासीन कण भी परमाणु में अपना स्थान रखता है।

परमाणु की रचना में इलेक्ट्रॉन (Electron), नाभिक (Nucleus) के चारों ओर बाह्य परिसरों में तीव्रगति में घूमते रहते हैं। परमाणुओं के बीच इलेक्ट्रॉनों की सहभागिता (Co-valency) और विद्युत्-संयोजकता (Electrovalency) से जो बन्धना (Combination) होती है वह ही जैनदर्शन के सिद्धान्त में मेल खाती है।^१ इसके अनुसार दो या दो परमाणु मिलकर किसी योगिक के अणु बनेंगे जिनके बाह्य कक्ष में इलेक्ट्रॉनों (रक्षक) के अभिभागी प्रतिच्छेदों की संख्या समान नहीं होती तथा जो अधिक गुण वाले के साथ ही बन्ध होता है। चाहे वह बन्ध अणु-अणु या अणु-अणु अथवा अणु-अणु का हो।

उदाहरणार्थ—माधारण तमक, सोडियम और क्लोरिन परमाणुओं में मिलकर बना होता है जिनके बाह्य-कक्ष में प्रमाण एक और मान इलेक्ट्रॉन होते हैं। परन्तु अर्गॉन (Argon), क्रिप्टॉन (Krypton), जेनॉन जैसी अभिभागीय तमकों के परमाणु जिनके बाह्य-कक्ष में आठ आठ इलेक्ट्रॉन होते हैं कभी भी आपस में बन्धता को प्राप्त नहीं होते हैं।

१९वीं शती के प्रारम्भ में डाल्टन ने अपने पारमाणविक सिद्धान्त (Dalton's Atomic theory) में यह उक्त था कि एक तत्व के परमाणु दूसरे तत्व के परमाणुओं में नहीं बदल जा सकते, लेकिन जैनदर्शन के अनुसार पुद्गल द्रव्य (जिनके अन्तर्गत विज्ञान सम्मन १०२ तत्व हैं) अपने द्रव्य-लक्षण के अनुसार एक तत्व की पर्याय (Modification) में दूसरे तत्व की पर्याय धारण कर सकता है। इस तथ्य की पुष्टि आधुनिक भौतिक विज्ञान के रेडियोधर्मीय घटना (Radio-activity) ने कर दी है। जिसके अनुसार यूरेनियम अथवा एक्टिनियम धातु के अणु अपनी कई शृङ्खलाओं को पार करने के बाद सीसा (Lead) के अणु में परिवर्तित हो जाते हैं। पानी में प्राप्त होने वाली विविध धातुएँ और हीरा (Diamond) आदि इसी सिद्धान्त में एक रूप से दूसरे रूप में उसी पृथ्वी के गर्भ-गुह में पड़े बदलते रहते हैं।

परन्तु पुद्गल द्रव्य का सूक्ष्मतम अविभाज्य कण परमाणु अविभाजी है, शब्द रहित है, एक प्रदेशी तथा





मूर्तिक है। परमाणु-ध्रुवता की पुष्टि डाल्टन के परमाणुवाद के अन्तिम नियम तथा उर्जा-अविनश्यता के सिद्धान्त (Principle of conservation of energy) ने की है। जिसके अनुसार द्रव्य न तो पैदा किया जा सकता और न ही नष्ट, परन्तु उसके रूप में ही परिवर्तन आ सकता है। अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की विविध उर्जाओं का मान हमेशा एक ही रहता है।

पुद्गल द्रव्य की अन्य कुछ और विशेषताएँ हैं जिनको विज्ञान के आलोक में अध्ययन कर सकते हैं—

- (१) पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण ये चार गुण पाये जाते हैं।
- (२) पुद्गल-परमाणु गतिशील, सक्रिय तथा अनन्त शक्ति वाला होता है।
- (३) शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, मस्थान (आकार), भेद, अधकार, छाया, आताप, और उद्योत ये सब पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं।

(i) पुद्गल-परमाणु की गतिशीलता — पुद्गल के एक परमाणु में एक समय में (Absolute unit of time) १४ राजू गमन करने की जो शक्ति बतलायी है उसमें इसकी गतिशीलता का प्रमाण मिलता है। इतना तो वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों द्वारा बतला दिया कि प्रकाश-पिण्डों (Quantum) का वेग १८६००० मील प्रति सेकेण्ड है। ये प्रकाश पिण्ड जो कि प्रकाशीय-कणों (Photons) के खजाने हैं, पुद्गल के रूप हैं। विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों, प्रकाशकिरणों, ताप-किरणों आदि के गमन का तरंग-सिद्धान्त (Wave theory) इस बात का द्योतक है कि पुद्गल परमाणु तीव्रतम गति रखता है और अन्त में परमाणु रचना में इलेक्ट्रॉनों का अपने बाह्य कक्षों में तीव्रतम गति से हमेशा घूमते रहना इस बात की पुष्टि का सबल-प्रमाण है।

(ii) पुद्गल अनन्त शक्ति का खजाना — आइन्स्टीन के सहित-उर्जासूत्र (mass-energy relation) $[E=mc^2]$ जहाँ E =उर्जा, m =संहति, c =प्रकाश-वेग] ने यह स्पष्ट कर दिया कि वस्तु की मात्रा को उर्जा में परिवर्तित किया जा सकता है। एक ग्राम यूरेनियम धातु जब शक्ति में परिवर्तित होती है तो उससे उतनी ही शक्ति प्राप्त होती है जितनी ३ हजार टन कोयला जलाने से मिल सकती है। इसी प्रकार Annihilation Phenomenon द्वारा यह देखा लिया गया कि शक्ति को संहति में बदला जा सकता है। डॉ. भाभा ने अपनी Cosmic Rays की ध्योरी में यह बतलाया है कि निश्चित संहति वाले प्रकाशीय कण (Photon), अ-कणों (α-particles) से मिलकर बनते हैं जो कि शक्ति के रूप में होते हैं।

इसी प्रकार जब एक शक्ति, दूसरी शक्ति के रूप में परिवर्तित होती है तो परिणाम में भारी अतिरिक्त उर्जा निकलती है। जो इस बात का प्रमाण है कि पुद्गल अनन्त शक्ति रखता है।

(iii) बन्ध — पुद्गल परमाणुओं के बन्ध की प्रक्रिया पहिले ही बता आये हैं। आगे कर्म सिद्धान्त में कार्मण वर्णना रूप पुद्गल परमाणु, जीव के माथ कैसे बन्ध को प्राप्त होते हैं, बताया है।

(iv) शब्द — वैज्ञानिक दर्शन का मत था कि शब्द (ध्वनि) आकाश द्रव्य का गुण है। परन्तु आधुनिक प्रयोगों ने जैनदर्शन के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए सिद्ध कर दिया है कि यह पुद्गल द्रव्य की पर्याय है क्योंकि ध्वनि को ग्रामोफोन या टेपरिकार्डर द्वारा बाँधा जा सकता है। सग्राहक (Receiver) द्वारा पकड़ा जा सकता है। वायरलेस द्वारा भेजा जा सकता है। यह परावर्तित होकर प्रतिध्वनि (Echo) उत्पन्न करता है। तथा हवा के माध्यम से अनुप्रस्थ और अनुदैर्घ्य तरंगों में गमन करता है। गमन करने का अनुनाद नली (Resonance-tube) द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। चूँकि इसे मूर्तिक कर्णन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं इसलिए, भले ही आँखों से वह न दिखे, मूर्तिक ही है। इस प्रकार स्पर्श के परस्पर स्पर्श से उत्पन्न शब्द पुद्गल की ही पर्याय है।

(v) छाया — जिस प्रकार ध्वनि को रोका या पकड़ा जा सकता है उसी प्रकार छाया को भी तरंगों के माध्यम में एक स्थान में दूसरे स्थान को भेजकर टेलीविजन द्वारा पकड़ा जा सकता है। जिसमें वस्तु की प्रतिच्छाया

(Image) पर पद बनती है। इन प्रति-छायाओं के देखने से यह बात स्वयमिद हो जानी है कि आकार भी पुद्गल का एक रूप है।

(vi) तम या अन्धकार — यह केवल प्रकाश का अभाव ही नहीं जैसा कि कण्ठ आदि दार्शनिकों ने स्वीकार किया है, बल्कि पुद्गल पदार्थ है। क्योंकि प्रकाश की अनुपस्थिति में भी अन्धकार में वे Ultraviolet, Infrared और Cosmic rays आदि जैसी किरणें गुजरती रहती हैं जो फोटोग्राफिक प्लेट पर अपना प्रभाव डालती हैं। इसलिए विज्ञान इसको पुद्गल का एक विशेष रूप स्वीकारता है।

(vii) प्रकाश और आनाप — प्रकाश प्रकाशीय पिण्डों (Optical Quanta) के रूप में गमन करता है। ये प्रकाशीय पिण्ड फोटॉन कहा जा सकते हैं जो निश्चित महति वाले प्रकाशीय-रश्मि होते हैं। यही Photon नामों के रूप में अन्धकार प्रकाश उत्पन्न या विनाश करने होते हैं।

जो प्रकाश ताप, विकिरण-तरंगों (Radiation) के रूप में उच्च तापक्रम वाली वस्तुओं से निम्न तापक्रम वाली वस्तुओं में गमन करता होता है। ताप को मापने भी प्रयोगों द्वारा करने में नापी जा सकती है। इस प्रकार प्रकाश और आनाप पुद्गल रूप की पर्याय है।

(३) वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर कर्म-निष्ठागत का स्पष्टीकरण

प्रत्येक द्रव्य का अपना कार्य होता है जिसे जैनदर्शन के अनुसार उपग्रह या उपकार कहते हैं। यह उपकार पुद्गल-द्रव्य अपने स्वयं में या अन्य पुद्गल द्रव्यों के साथ करता है तथा जीव द्रव्य के प्रति भी करता है।

पुद्गल रूप में २३ वर्गों (Classifications) में रखा जाता है।^१ इन वर्गों में से कामण वर्गों में है जिसमें २३ वर्गों में पुद्गल परमाणुओं में है या जीव द्रव्य के परिणमन के अनुसार (कभी क्षीर, कभी मन, कभी वृक्ष और कभी पशु-पक्षी के रूप में) अपना स्वयं का परिणमन करने हुए जीव द्रव्य का उपकार करते हैं। इन नामों वर्गों रूप पुद्गल परमाणुओं का जीव द्रव्य के साथ संयोग होने की प्रक्रिया वैज्ञानिक आधार में जो समझ सकते हैं —

यह सम्पूर्ण लोकागत इन कामण वर्गों रूप पुद्गल परमाणुओं में ठीक उसी प्रकार भरा पड़ा है जिस प्रकार समूचा ब्रह्माण्ड में विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें (Electromagnetic waves)। ये परमाणु बहुत ही सूक्ष्मतरंग होने के कारण अल्प रूप में गमन करने हुए मान सकते हैं। यदि तरंग लम्बाई—उनकी बारम्बारता (Frequency) n तथा c प्रकाश के वेग के द्वारा दर्शाये ली $(c = n\lambda)$ के प्रकाश वेग में तरंगों के रूप में लोकाकाश के एक प्रदेश में दूसरे प्रदेश की ओर गमन करने रहते हैं। इसी कम्पन-शक्ति बहुत ही उच्च, यहाँ तक कि x —Rays की कम्पन-शक्ति $(10^{13}$ से 10^{15} चि० माईकिल प्रति से०) में करोड़ों गुनी ज्यादा होती है।

अब एक ग्राम बारम्बारता की विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों को एक प्रापक द्वारा पकड़ने के लिए हमें एक ऐसे ओमिनेटर या उपकरण दिया जाता है कि यह उन्हीं बारम्बारता पर कार्य कर रहा हो। इस विद्युतीय साम्या-वस्था (Electrical resonance) के निदान से वे आकाश में व्याप्त तरंगें प्रापक द्वारा आसानी से ग्रहण कर ली जाती हैं।

ठीक यही घटना आत्मा में कामण-स्वभावों के आसृपित होने में होती है। विचारों या भावों के अनुसार मन, वाणी या शारीरिक क्रियाओं द्वारा आत्मा के प्रदेशों में कम्पन उत्पन्न होते हैं जिसे जैनदर्शन में 'योग' कहा जा रहा है अर्थात् नाग शक्ति में आत्मा में पृथक् वे उपस्थित कर्म रूप पुद्गल परमाणुओं (या आत्मा के प्रदेशों में एकत्रभावगाहों





होकर पूर्व से प्रवर्तमान थे) में कम्पन होता है। इन कम्पनों की वारम्बारता की न्यूनाधिकता कपायो की ऋजुता या घनी सक्लेशता के अनुसार होती है। शुभ या अशुभ परिणामों से विभिन्न तरंग लम्बाइयों की तरंगें आत्मा के प्रदेशों से उत्पन्न होती रहती हैं और इस प्रकार की कम्पनक्रिया से इसे एक ओसिलेटर की भाँति मान सकते हैं, जो लोकाकाश में उपस्थित उन्हीं तरंग लम्बाई के लिए साम्य (Tuned or resonance) समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति में (मात्र कर्मों के माध्यम से ठीक उसी प्रकार की तरंगें आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। और आत्मा को अपने स्वभाव गुण के कारण विकृत कर नयी नयी तरंगें पुनः आत्मा में उत्पन्न करती हैं। इस तरह यह स्वचालित ओसिलेटर (Self Oscillated Oscillator) की भाँति व्यवहार कर नयी नयी तरंगों को हमेशा प्रीचता रहता है। इसे जैनदर्शन में आक्षव नाम से कहा है।

लेकिन एक बात अवश्य ध्यान देने की है कि ये पुद्गल परमाणु आत्म-प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध ही स्थापित करते हैं न कि वे दोनों एक दूसरे में परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसे सम्बन्ध के वावजूद भी जीव, जीव रहता है और पुद्गल के परमाणु अपने परमाणुओं में ही। दोनों अपने मौलिक गुणों (Fundamental Properties) को एक समय के लिए भी नहीं छोड़ते। जैनदर्शन में इस एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध को ही बन्ध कहा है।

यदि आत्मा के प्रदेशों में परमाणुओं की कम्पन-प्रक्रिया ढीली पड़ने लगे, जो कि योगी की सरलता से ही सम्भव हो सकती है, तो बाहर से उम्मी अनुपात में कार्मण परमाणु कम आयेंगे अर्थात् आकर्षण-क्रिया हीन होगी अर्थात् सबर होगा। जब नयी तरंगों के माध्यम से पुद्गल परमाणुओं का आना बन्द हो जाता है तो पहिले से बँटे हुए कार्मण परमाणु Damped Oscillation करके निकलते रहेंगे। अर्थात् प्रतिक्षण निर्जरा होगी। और एक समय ऐसा आयेगा जब प्राप्तक का ओसिलेटर कार्य करना बन्द कर देगा। निर्विकल्पता की उस स्थिति में योगी की प्रवृत्ति एक-दम बंद हो जायेगी और सचित्त कर्म शेष न रहने पर फिर प्रदेशों की कम्पन-क्रिया का प्रदन ही नहीं उठेगा अर्थात् कर्मों की निर्जरा हो जायेगी। सम्पूर्ण कर्मों की निजीर्णवस्था ही मोक्ष कहलाती है।

इस प्रकार तरंग सिद्धान्त के विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) की घटना से शेष पाच तत्त्व (आक्षव, वध, सबर, निर्जरा और मोक्ष) समझाये जा सकते हैं।

कर्मों की वध अवस्था के अलावा अन्य नौ अवस्थायें होती हैं, जैसे — उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय उदीरणा, राक्रमण, उपशम, निश्चिन्ता और निकाचना, जिन्हें करण कहते हैं। इनका स्पष्टीकरण उपर्युक्त सिद्धान्त से दिया जा सकता है।

(४) आकाश और काल द्रव्य की रूपरेखा

^१ जिसमें अस्तित्व हो वही द्रव्य है और जो उत्पाद, व्यय एवं धीव्य सहित होता है वही अस्तित्व वाला कहा जाता है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि जिसमें गुण (जो निरन्तर द्रव्य के साथ रहे और द्रव्य के रूप-परिवर्तन के समय भी द्रव्य से पृथक् न होता हो) और पर्याय पाई जावे उसे द्रव्य कहते हैं। ^२ द्रव्य की परिभाषा के अनुसार “काल” भी द्रव्य मिश्र होता है जिसका अविभाज्य कण या परमाणु “समय” कहलाता है।

काल द्रव्य अनन्त समय वाला होता है। व्यवहार में आने वाला समय उस निश्चय काल द्रव्य की पर्याय है जो लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित है तथा ये कालाणु आपस में नहीं मिलते हैं।

१ सद् द्रव्यलक्षणम् ॥२६॥ उत्पादव्ययधीव्ययुक्त सत् ॥३०॥ गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ॥३८॥ तत्त्वार्थ सू० अ० ५-२ कालश्च ॥३६॥

2. Minko four Dimention theory

$$(dx)^2 + (dy)^2 + (dz)^2 + (ict)^2 = 0$$

इन का द्रव्य का मुख्य कार्य पुद्गल में परिणमन उत्पन्न करना है। व्यवहार काल की अपेक्षा यह हमेशा उपजना तथा विनश्वरता है परन्तु द्रव्य रूप निश्चय काल की अपेक्षा अविनाशी है।

मिन्को के चतुर्ध्रुवाग्रम मिद्धान्त (Four-dimensional theory) ने आधुनिक विज्ञान को नयी दिशा-दृष्टि दी है और मिन्को ने अपने क्रान्तिकारी विचारों एवं मिद्धान्तों में इस बात की पुष्टि कर दी है कि वस्तु के परिवर्तन में उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई के साथ एक चौथा पद समय भी है जिसको छोड़ा नहीं जा सकता। अर्थात् पदार्थ के रूप में जल्लर डालने वाला मात्र आकृति ही का परिवर्तन नहीं बल्कि उसके साथ समय भी परिवर्तन में सहायक होता है। मिन्को का यह मिद्धान्त जैनदर्शन के काल-द्रव्य-मिद्धान्त में बिलकुल मेल खा रहा है।

जाइन्स्टाइन ने अपने आपेक्षिक-मिद्धान्त (Theory of Relativity) में गणित-मिद्धान्तों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि किसी वस्तु के समय-पद को बदल दिया जाय तो वह वर्तमान में भी अतीत या भविष्य का स्वरूप ग्रहण कर सकती है।

इसी प्रकार उनमें व्यवहार काल के ऊपर अपने मिद्धान्तों का निरूपण करने हुए लिखा कि यदि दो एक-सी घड़ी, जो वैज्ञानिक दृष्टि से निर्मित की हुई माइक्रोमेकैण्ट में भी समय को बतलाती है, को लेकर उनमें से एक तो ध्वनि के वेग में चले गये तो तीव्र गति में चलने वाले वायुयान में और दूसरी को विराम स्थिति वाले वायुयान में रखें, तो पहिले वायुयान की घड़ी, दूसरे वायुयान की घड़ी में तेज चलती हुई नजर आयेगी।

ये सब तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि वस्तु के परिणमन में काल अपना सक्रिय सहयोग देता है।

आकाश द्रव्य (Space, Medium of Location of Soul, Matter and Energies etc)

जो सब जीवों को, धर्म, अधर्म एवं काल को अवस्थान देता है वह आकाश कहलाता है। परन्तु यह जीवादि द्रव्यों के गमन और स्थिति में सहायक नहीं होता। लोक में अमर्याद (Countless) प्रदेश (Absolute-Units of Space) ही होते हैं जिनमें अनन्तान (Infinite in number) जीव और उनमें अनन्तगुण पुद्गल परमाणु तथा अज्ञान-प्रदेश के प्रमाण कान्दागु तथा अमर्य प्रदेशी धर्म और अधर्म द्रव्य अवस्थित हैं।

इसमें यह धरा उठ सकती है कि अनन्यात प्रदेशी आकाश में ये सब किन तरह अवकाश पा लेते हैं ?

इसका समाधान तत्त्वार्थ सूत्र अ० ५ का १६वाँ सूत्र “प्रदेश-महार विमपाभ्या प्रदीपवत्” करता है।

जैसे एक मोटरी में अनेकों दीपनों का प्रकाश व एक तहखाने में अनेकों उपकरणों से उत्पन्न शब्द अवगाहना पा लेते हैं ठीक उसी प्रकार प्रदेशों के मनोव और विस्तार गुण के द्वारा भी जीव व अन्य द्रव्य लोकाकाश के अस्तव्यस्त प्रदेशों में निपटे रहते हैं।

इस प्रकार जैनदर्शन के कतिपय मिद्धान्तों का अवलोकन आधुनिक विज्ञान की पृष्ठभूमि में करने पर इनकी साम्यता एवं सत्यता का महज भान हो जाता है। युग ऐसे विश्लेषण की अपेक्षा करना है जो धर्म-दर्शन और विज्ञान में तान्त्रिक बैठे सके।

१ सर्व्वेति जीवाण मेमाण तह्य योगलाण च ।

जं देदि विवरमस्सित्त लोए हवदि आयास ॥ —पचास्तिस्साय

आकाशम्यावगाह ॥१८॥ तत्त्वा० सू० अ० ५



जैनदर्शन और विज्ञान

श्री महावीरसिंह मुर्डिया,

एम० एस-सी०

उदयपुर



जैनदर्शन एक प्राचीन वैज्ञानिक दर्शन है। निस्सन्देह विज्ञान-जगत् में हो रहे नित-नूतन आविष्कारों तथा अनेक वैज्ञानिक मान्यताओं का अभूतपूर्व वर्णन जैन ग्रन्थों में किया गया है। यही नदी, 'अनेक ऐसी जटिल समस्याएँ, जिनके बारे में आज के वैज्ञानिक प्रायः हतप्रभ हैं, उनका अनूठा समाधान भी कई जगह पर जैन आगमों में प्राप्त होता है। वनस्पति में जीव हैं, यह मान्यता जैनदर्शन की बहुत पुरानी है। वैज्ञानिक लोग इस बात को मानने के लिए तब तक तैयार नहीं हुए जब तक कि श्री जगदीशचन्द्र बसु ने अपने यन्त्रों के द्वारा यह पूर्ण रूप से सिद्ध नहीं कर दिया। इसी प्रकार पानी में भी कीड़े (germs) हैं और इसलिए जैन साधु रुच्छे पानी का उपयोग नहीं करते हैं, इसे वैज्ञानिकों ने माइक्रोस्कोप के आविष्कार के बाद ही मान्यता दी। वास्तविकता तो यह है कि जैनदर्शन का यदि वैज्ञानिक रूप से गंभीर अध्ययन किया जाए तो विज्ञान-जगत् को अभूतपूर्व लाभ तो होगा ही, साथ ही वैज्ञानिकों की अनेक समस्याएँ, जिन्हें वे दिन-रात प्रयोग कर सुलझाने में लगे हैं, स्वतः ही हल हो जाएँगी।

जैनदर्शन और परमाणुवाद — जैनदर्शन में परमाणुवाद पर विस्तृत वर्णन किया गया है। आश्चर्य तो यह है कि जैनदर्शन में जिन परमाणु का वर्णन आया है, वह आज के परमाणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। जैनदर्शन के अनुसार वैज्ञानिकों के परमाणु (Atom) से भी छोटा कण, जो अविभाज्य है, अच्युत, अघेद्य, अदाह्य, और अप्राप्य है, किसी भी उपचार, उपाय या उपाधि से जिसका भाग नहीं हो सकता, किसी तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र में जिसका विभाजन नहीं हो सकता, जो अग्नि में जलता नहीं, जिसकी न लम्बाई है, न चौड़ाई है और न गहराई है, ऐसे इकाई रूप का परमाणु माना गया है। सूक्ष्मता के कारण वह परमाणु स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्त है।

आधुनिक विज्ञान ने परमाणु के भीतर भी कई कणों को खोज निकाला है, जो कि परमाणु की बनावट जानने में बड़े सहायक हुए हैं। तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक लोग जिस छोटे कण को परमाणु समझ बैठे थे, अब वे ही उससे भी छोटे छोटे कण, यानि इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, मेसॉन, पोझिट्रॉन, न्यूट्रिनो आदि अत्यन्त सूक्ष्म कणों का पता लगाने में समर्थ हुए हैं। उपर्युक्त कण भी जैनदर्शन के परमाणु से बड़े हैं। स्पष्ट है कि आगे आने वाले आविष्कार जैनदर्शन के परमाणु की यथार्थता को पुष्ट कर सकेंगे। वैज्ञानिक प्रगति बड़ी तेजी में हो रही है और अब तक परमाणु के भीतर इस प्रकार ३३ कणों का पता लगा लिया गया है। यह विश्वासपूर्वक साविकार कहा जा सकता है कि सूक्ष्म स सूक्ष्म कण के अस्तित्व का पता भी विज्ञान प्राप्त कर सकेगा।

जैन शास्त्रों में परमाणु की गति के सम्बन्ध में बताया गया है—“परमाणु एक समय में कम में कम एक आकाश-प्रदेश का अतिक्रमण कर सकता है और अधिक से अधिक एक ही समय में चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोक के पूर्व चरमान्त से पश्चिम चरमान्त या उत्तर चरमान्त से दक्षिण चरमान्त तक पहुँच सकता है। 'समय' एक जैन पारिभाषिक शब्द है। परमाणु की तरह वह काल का अन्तिम टुकड़ा है। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि आँकों के पलक के एक बार उठने या गिरने मात्र में असंख्य समय व्यतीत हो जाते हैं। इस एक समय में परमाणु चतुर्दश रज्ज्वात्मक सारे विश्व का भ्रमण करता है। यदि एक हजार मन लोहे के गोले को इस अनन्त आकाश में छोड़ा जाए और वह गोला छ महीने तक गिरता ही जाए, इस अवधि में जितने आकाश-देश का अवगाहन गोला करता है, वह एक रज्ज्

है। यह ब्रह्माण्ड ऐसे चौदह रज्जुओं का है। अतः एक समय में इस छोर से उस छोर तक पहुँचने वाला परमाणु अत्यन्त तीव्र गति करता है।

आधुनिक विज्ञान ने भी अणु और परमाणु की गति को खोज निकाला है। एक इलेक्ट्रॉन अपने कक्ष में १३०० मील प्रति सेकण्ड की रफ्तार से गति करता है। प्रकाश की गति १,८६००० मील प्रति सेकण्ड है। हीरे आदि ठोस पदार्थ में अणुओं (Molecules) की गति प्रतिसेकण्ड ६६० मील है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन के अनुसार प्रकाश की गति अन्तिम है अर्थात् कोई भी कण १,८६००० मील प्रतिसेकण्ड की गति से अधिक नहीं कर सकता है। काफी समय तक वैज्ञानिक जगत् में यह मान्यता थी और आइन्स्टीन का यह निर्णय सर्वमान्य हो गया था। प्लाज्मा कणों पर ओष के फलस्वरूप अब यह गति अन्तिम नहीं माने लगी है। प्लाज्मा कणों को प्रकाश की गति में भी अधिक गति प्रदान की गई है। वृद्ध मम्भव है आने वाले नये आविष्कारों के फलस्वरूप वैज्ञानिक अभी तक प्राप्त तथ्यों में भी आगे बढ़ने में सफल हो सकेंगे।

जैनदर्शन के अनुसार थोड़े से परमाणु एक विस्तृत आकाशखण्ड को घेर लेते हैं और कभी-कभी वे परमाणु घनीभूत होकर बहुत छोटे से आकाश-खण्ड में समा जाते हैं। पदार्थ की सूक्ष्म परिणति के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की पहुँच इस पराकाष्ठा तक तो नहीं हुई है, किन्तु आने वाले दिनों में निविड पदार्थों का पता चल रहा है, जो परमाणु की सूक्ष्म परिणति के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों द्वारा कही गई बातों की पुष्टि करते हैं। एक एक स्ववायु फीट लकड़ी के टुकड़े में और उतने ही बड़े लोहे के टुकड़े के वजन में काफी अन्तर होता है। इस विस्तृत आकाश में ऐसे भी ग्रहपिण्ड देखे गये हैं जो प्लेटिनम धातु से भी दोहजार गुना मघन हैं। इन आकाशीय पिण्डों में से कुछ पिण्डों में तो पदार्थ इतनी मघनता में भरा है कि एक ब्रूविक इंच में २७ मन वजन होता है। सबसे छोटा तारा जो हाल ही में खोजा गया है, उसके एक ब्रूविक इंच में १६७४० मन वजन होता है।

जैनदर्शन के अनुसार छोटे से छोटे एक बालू कण में अनन्त परमाणु होते हैं। वह एक स्कन्ध कहलाता है। स्कन्ध द्विप्रदेशात्मक अर्थात् दो परमाणुओं का भी हो सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी स्कन्ध का यदि तोड़ा ही जाता रहा तो एक स्कन्ध अनन्त स्कन्धों में बँट जाएगा। विज्ञान के क्षेत्र में भी माना गया है कि एक बूँद पानी के अन्दर ५० लाख स्कन्ध होते हैं तथा इसमें भी अधिक हो सकते हैं।

महर्षी वर्प पूर्व प्रतिपादिन जैनदर्शन का परमाणुवाद आज भी विलकुल नया लगता है। आज के इस यन्त्रप्रधान युग में जब परमाणुवाद एक पहेली बना हुआ है, तो उस युग में जब प्रयोगशालाएँ और यान्त्रिक माधन नहीं थे, जैनदार्शनिकों ने परमाणु की सूक्ष्मता का जो वर्णन किया है, निश्चय ही अद्वितीय है।

यह पृथ्वी-लोक — मानवमस्तिष्क में पृथ्वी हमेशा ही एक रहस्य बन कर रही है। पृथ्वी कब बनी, इसका नाम कब होगा और अभी क्या अवस्था है, आदि प्रश्नों को मनुष्य मुलझाता रहा है। मनुष्य का ज्ञान ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, पहेली की कल्पनाएँ उनके लिए निरर्थक होती गईं। प्राचीन हिन्दू धर्मविलम्बियों का विश्वास था कि पृथ्वी ईश्वर की कला है और शेषनाग के मस्तक पर टिकी हुई है। यूनानियों का विश्वास था कि पृथ्वी बारह खम्भों पर टिकी हुई है। आकार के बारे में भी नाना प्रकार के मत थे। किसी ने पृथ्वी को गोल के समान माना तो किसी ने त्रिकूजे के समान।

आधुनिक विज्ञान में भी पृथ्वी की उत्पत्ति के बारे में यह माना गया है कि कम से कम दो अरब वर्ष पूर्व एक तारा आकाश में चलता हुआ सूर्य के पास आया। जिस प्रकार हमारी पृथ्वी पर सूर्य और चन्द्र ज्वार पैदा करते हैं उसी प्रकार उस तारे ने भी सूर्य की सतह पर ज्वार पैदा किये होंगे और एक भयंकर लहर सूर्य की समूची सतह पर फैल गई। ज्यों-ज्यों वह तारा निकट जाया वह लहर एक ऊँचे पर्वत का रूप लेती गई। कालान्तर में पर्वत के टुकड़े टुकड़े हो गये और ये छोटे टुकड़े अपने सूर्य के चारों ओर घूमने लगे। ये ही हमारे छोटे और बड़े ग्रह हैं जिनमें पृथ्वी भी एक है।





पृथ्वी के भविष्य के बारे में विज्ञान का मत है कि धीरे धीरे पृथ्वी की पत्रिकमा-गति भी मन्द्य होती जा रही है। अभी पृथ्वी को घुरी की परिक्रमा करने में २४ घंटे लगते हैं किन्तु पहले कभी वह तीन-चार घंटे में ही अपनी परिक्रमा समाप्त कर लेती थी। उस समय दो घंटे के दिन और दो घंटे की रात होती थी। एक लम्बी अवधि के बाद पृथ्वी की गति इतनी मन्द हो जायगी कि २४ घंटों का ग्रहोरात्र, १४०० घंटों का हो जायगा। गति के साथ पृथ्वी की उष्णता भी कम होनी जायगी और कन्नानादी भयंकर ज्वारों में पृथ्वी पर से प्राणीमात्र का लोप हो जायगा। यह भी हो सकता है कि कभी यज्ञ मार्ग पृथ्वी अणु अणु होकर अनन्त शून्य में विलीन हो जाए।

पृथ्वी की उत्पत्ति विनाश आदि के सम्बन्ध में जैनदर्शन में माना गया है कि विश्व की अनेक पृथ्वियों में से हमारी यह पृथ्वी (तियंक्लोक) एक है। इससे ऊपर भी अनन्त आकाश में पृथक् २ अनेक पृथ्वियाँ हैं और नीचे भी अनेक पृथ्वियाँ हैं। इस प्रकार यह चतुर्दश रज्ज्वात्मक समस्त विश्व है। यह शाश्वत है और अनेक ढीपात्मक व अनेक समुद्रात्मक यह हमारी पृथ्वी भी उसकी एक शाखत इकाई है। माराज यह हुआ कि पृथ्वी न कभी बनी, और न इसका कोई अन्त है। न यह सूर्य ने टूटी और न चन्द्रमा इसमें अलग हुआ। पृथ्वी अनादि काल में है अनन्त काल तक रहेगी। जैनदर्शन का यह अभिमत तर्क एवं बुद्धि-मगत है। पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो नाना प्रकार के विचार हैं वे काल्पनिक ही लगते हैं।

पृथ्वी की रचना के सम्बन्ध में पुरातत्त्ववेत्ता व भूगर्भशास्त्री, पर्वत, चान एवं भूगर्भ की रामायनिक प्रक्रियाओं के यथार्थ प्रमाणों से उसकी उत्पत्ति और विनाश की जो कल्पना करते हैं, जैन पदार्थविज्ञान के अनुसार उसका उल्लेख अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालक्रम में लिया जा सकता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का अर्थ है ह्याम व विक्राम का एक मूढीर्घ कालचक्र। यह कालचक्र सख्यातीत वर्षों में पूरा होता है। उत्सर्पिणी के आधे कालचक्र में पृथ्वी की सारा क्रियाएँ क्रमशः निर्माण की ओर बढ़ती हैं और अवसर्पिणी के आधे कालचक्र में क्रमशः ध्वस्त की ओर। इस प्रकार एक कालचक्र सम्पन्न होता है। यह कालचक्र हमारे क्षेत्र की तरह विश्व के अन्य सभी क्षेत्रों में नहीं होता। प्रकृति के इतिहास में होने वाले इस अध्यायपरिवर्तन को प्रलय और सृष्टि कहा जाता है। जैन विचारधारा के अनुसार प्रलय का अर्थ आत्यन्तिक नाश नहीं, बल्कि ध्वस्त की अन्तिम मर्यादा है। बहुत कुछ सम्भव है कि ध्वस्त और निर्माण के भूदेह पर और भूगर्भ में होने वाले परिवर्तन ही नवीन विज्ञान की पृथ्वी की उत्पत्ति व विनाश सम्बन्धी कल्पनाओं के हेतु हो।

वैज्ञानिक आज इस तथ्य की खोज में जुटे हैं कि अन्य ग्रहों पर भी जीव हैं अथवा नहीं? नाना प्रकार के यन्त्रों के द्वारा अध्ययन किया जा रहा है कि मंगलग्रह पर मनुष्य का निवास सम्भव है या नहीं? किसी भी अनहोनी घटना में यह भी माना जाता है कि जिस प्रकार आज इस पृथ्वी के निवासी अन्तरिक्ष में नये नये राकेट छोड़कर पहुँचने की कोशिश कर रहे हैं, उसी प्रकार सम्भवतः इस पृथ्वी पर भी बाहर में कभी दूरी प्रकार के अन्तरिक्ष यान में बैठकर अन्य निवासी आए हों। जैनदर्शन का स्पष्ट अभिमत है और वह मानता है कि हमारी पृथ्वी की तरह इस विश्व में अनेक पृथ्वियाँ हैं। इस प्रकार जैन पदार्थविज्ञान युग के इस नवीन चिन्तन में नाना प्रकार के रहस्यों को प्रकट करने में विविध प्रकार के योगदान कर सकता है।

धर्मद्रव्य और ईश्वर — भगवान् महावीर ने बताया—“धर्मद्रव्य एक है। वह लोकव्याप्त है, शाश्वत है। वर्णशून्य है, गन्धशून्य है, रसशून्य है, स्पर्शशून्य है। वह जीव और अणु की गतिक्रिया में सहायक है। जीवों का आगमन, गमन, विलोप, उन्मेष, मानसिक वाचिग कायिक व अन्य प्रवृत्तियाँ भी धर्मास्तिकाय से होती हैं।”

पञ्चास्तिकाय में श्रीबुद्धकुन्दाचार्य लिखते हैं—“धर्मास्तिकाय न स्वयं चलती है और न किसी को चलाती है। वह तो केवल गतिशाली जीव व पुद्गल की प्रमाण है। मछलियों के लिए जल जैसे गति में अनुग्रहशील है, उसी प्रकार जीव और पुद्गलों के लिये धर्मद्रव्य है।” रेल के लिए पटरियों की सहायता जिस प्रकार अनिवार्य अपेक्षित है, उसी तरह गतिशील जीव व पुद्गल की गति में धर्मद्रव्य की अनिवार्य अपेक्षा है। पटरी रेल को चलने के लिए प्रेरित

नहीं करनी, फिर भी ऐल के चलने में उनकी महायत्न रहनी है। जीव और पुद्गल की गति में यही सम्बन्ध घर्मद्रव्य का है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व वैज्ञानिकों में ईश्वर का कोई स्थान नहीं था। इस ओर वैज्ञानिकों का ध्यान तब तब नहीं गया था। किन्तु प्रश्न सामने आया—सूर्य, ग्रह और तारों के बीच जो दूरी धूम्र प्रदेश पड़ा है, प्रकाश किरणें कैसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाती हैं? उनकी गति का माध्यम क्या है? बिना माध्यम यह असम्भव माना गया कि प्रकाश, जो एक भागवान् वस्तु है, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक पहुँच सके। परिणामस्वरूप ईश्वर की कल्पना की गई। माना गया—ईश्वर तारों, ग्रहों और अन्य जगत्कीय पिण्डों की जाली जाह में नहीं भरा है, अपितु अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों के गिन देस में भी व्याप्त है। आइन्स्टीन के अनुसार ईश्वर जनीनिक, अपारमाणविक लोकव्याप्त, नहीं देखा जा सकता तथा एक अचक्षुष द्रव्य है। ईश्वर की गति मालूम करने के लिए अनेकों प्रयोग हुए और अन्तिम निष्कर्ष यह निकला कि ईश्वर में कोई गति नहीं है। वह निराल निष्क्रिय है। ऐसा लगता है कि आज में मनुष्यों वषट् पूरे, जब कि विज्ञान का प्राट्याय ही नहीं हुआ था, जैन-दार्शनिकों ने मृष्टि के इस सूक्ष्मतम तत्त्व का प्रामाणिकता के साथ निम्नता कर दिया था।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद — स्याद्वाद जैनदर्शन की अनोखी देन है। स्याद्वाद के अनुसार वस्तु अनन्त-धर्मात्मा है। अर्थात् वस्तु जननमृत्यु व विशेषताओं को धारण करने वाली है। जिस प्रकार एक घड़े के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह मृष्टी का है, राख्यान में बना है, गीमन्तु में बना है, उसी समय दूसरा व्यक्ति यह कहना है—यह मोने का घड़ा नहीं है, मध्यप्रदेश का नहीं है, यह हेमन्त ऋतु में नहीं बना है। यहाँ “है” व “नहीं है” देस का मोने है। ‘अस्ति, नास्ति’ की बात जैन स्याद्वाद में मिलती है उसी प्रकार सापेक्षवाद में पायी जाती है। यदि किसी वस्तु का भाग १०० पीट है सापेक्षवाद कहना है यह है भी और नहीं भी। क्योंकि भूमध्य रेखा पर यह १०० पीट है तो दक्षिणी ध्रुव पर १०१ पीट है।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद में कई प्रसंग समान ही दिखाई देते हैं। एक नीहारिका में हाते वाला बिम्फोट, एक लाख प्रतापवर्ष दूर स्थित हमारी पृथ्वी पर एक लाख वर्ष बाद मालूम पड़ेगा, क्योंकि प्रकाश की हम तक पहुँचने में एक लाख वर्ष की गति थी। हमें ऐसा मालूम पड़ेगा कि यह घटना अभी ही हुई है। नयोंग में यदि उस नीहारिका का भाग प्राणों हमारे मिते तो इन घटना के विषय में दोनों के निर्णय विपरीत होंगे, पर अपने अपने क्षेत्र की अपेक्षा में दोनों निर्णय सही हैं। सापेक्षवाद के अधिष्ठाना आइन्स्टीन कहते हैं—“हम केवल आपेक्षिक मत्त को ही जान सकते हैं, सम्पूर्ण मत्त तो सर्वज्ञ के द्वारा ही ज्ञात है।” गति और स्थिति आपेक्षिक धर्म हैं। एक जहाज जो स्थिर है, वह पृथ्वी की अपेक्षा स्थिर है लेकिन पृथ्वी सूर्य की अपेक्षा में गति में है और जहाज भी फिर गतिशील है। सूर्य भी यदि गतिमय हो जाए तो भी वह दृश्य नीहारिकाओं की अपेक्षा में गतिशील होंगे। तात्पर्य यह है कि सापेक्षवाद के अनुसार प्रत्येक ग्रह व पदार्थ चर भी है। और स्थिर भी है स्याद्वाद कहना है, परमाणु निरन्तर भी है और अनिरन्तर भी, मन्ता शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद दोनों ही मिथ्या अपने अपने क्षेत्र में सत्य भी हैं और कठिन भी हैं। स्याद्वाद की जटिलता विषयप्रसिद्ध है। शकालाचार्य ने स्याद्वाद को नश्वरवाद कहा है। सापेक्षवाद का मिथ्या भी गणित की गुत्तिरा ने भरा पड़ा है और विश्व के केवल भी वैज्ञानिक ही इसे समझ पाए ह। आज सापेक्षवाद वैज्ञानिक जगत् में बीमारी मरी का महात्मा जातिनार मान लिया गया है। यही मिथ्या स्याद्वाद के क्षेत्र में आज में सहनों वर्ष पूर्व व्यवस्थित रूप में जैनदर्शन में प्रतिपादित किया गया है।



जैनदर्शन का मूलाधार

डा० कुन्दनलाल जैन,

एच० ए०, पी-एच० डी०



प्रत्येक दर्शन में इहलोक और परलोक आदि के विषय में तात्त्विक अनुशीलन एवं परिशीलन करने के पश्चात् उसके मूलभूत तत्वों की स्थापना की गई है। प्रसिद्ध षड्दर्शनयाग, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा और वेदान्त में यही बात प्रत्यक्ष होती है। जैनदर्शन में भी, इसी प्रकार, उसके मूल तत्वों को आधार मानकर, उनका सविस्तार विवेचन किया गया है।

जहाँ अन्य दर्शनों में इन तत्वों की संख्या चौबीस तक परिगणित की गई है, वहाँ जैन दर्शन में केवल दो तत्व ही मूल तत्वों के रूप में स्वीकार किए गए हैं। वे तत्व हैं जीव और अजीव। वस्तुतः यह दो तत्व ही जैन-दर्शन के मूलाधार हैं। इन्हीं तत्वों के पारस्परिक समन्वय, आदान-प्रदान से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रूप प्रत्यक्ष होता है।

जब तक जीव तत्व का अजीव तत्व से सम्बन्ध बना रहता है तब तक वह जीवात्मा या ससारी जीव के नाम से अभिहित होता है, किन्तु ज्योंही आत्यन्तिक रूप से जीव तत्व से अजीव तत्व का सम्बन्ध टूट जाता है तभी वह शुद्धात्मा, परमात्मा या मुक्तात्मा कहलाने लगता है। मुक्तात्मा हो जाने पर फिर कभी उसका अजीव से सम्बन्ध होने की संभावना नहीं होती है। जीव की यही वह अवस्था है जो उसका चरम लक्ष्य होती है और इसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए जीवात्मा सदैव प्रयत्नशील रहता है। इन अवस्थाओं को ही दृष्टि में रखते हुए जैन-दर्शन में जीव के दो भेद परिकल्पित किए गए हैं —ससारी जीव और मुक्त जीव।

जीव या आत्मा के स्वरूप का विस्लेषण करते हुए अपने ग्रन्थ 'ब्रह्मसंग्रह' में आचार्य श्रीनेमिचन्द्र ने लिखा है:-

तिवकाले चतुषाणा इन्द्रिय बालमायु आणपाणो य ।

ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्त ॥

अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से तीनों कालों में जिसके इन्द्रिय, बल (मनोबल, वचोबल और कायबल) आयु और श्वासोच्छ्वास—ये चार प्राण पाये जाते हैं, किन्तु निश्चयात्मक दृष्टि से जिसमें चेतना (उपयोग-ज्ञान दर्शनादि) पाई जाती है वह जीव कहलाता है।

इसी जीव की विशेषताएँ बताते हुए कहा गया है —

जीवो ज्योगममो अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।

भोत्ता ससारत्यो सिद्धो सो विस्सोद्धगई ॥

जीव उपयोगमय (ज्ञानदर्शनयुक्त), अमूर्त, स्वर्गों का कर्ता, अपनी देह के परिमाण वाला, कर्मफल का भोग करने वाला, होता है। कर्मरहित विमुक्त अवस्था प्राप्त करने पर वह नियम से ऊर्ध्वगति वाला होता है।

जीव (आत्मा) ज्ञानदर्शनमय तथा सूक्ष्म होने के कारण अमूर्त है । उसका कोई रूप नहीं होता, इसीलिए इन्द्रियातीत (अगोचर) होता है । किन्तु जब तक रागद्वेषादि कषाय रूप परिणामों के कारण अजीव (पुद्गल) शरीर में उसका सम्बन्ध है, तब तक वह शरीरमारी होने से मूर्त (स्पर्श गन्वादि गुणवाला) रहता है । दूसरे शब्दों में पुद्गावस्था में वह अमूर्त (अचाक्षुष) और अनुद्गावस्था में मूर्त (चाक्षुष) होता है । आत्मा में सञ्च-प्रसारण की शक्ति होती है अतः वह सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों में प्रवेश करके नान्तरीर के परिमाण वाला होने में समर्थ होता है । वह स्वकर्मों का कर्ता और उनके फल का भोगी भी है । किन्तु जब कषाय रूप परिणामों के कारण वह हल्का हो जाता है, तब उद्भ्रमगमन करके मिद्गावस्था को प्राप्त कर लेता है । जिस प्रकार मिट्टी से सनी हुई तूमड़ी मिट्टी के भाग के कारण जल में डूब जाती है, परन्तु उसी ही उसका मिट्टी का भाग हल्का हो जाता है वह ऊर्ध्वगति में पानी के ऊपर आ जाती है, क्योंकि यह उसका स्वभाव है । उसी प्रकार जीवात्मा भी कर्मों के भार में भारी होने के कारण समारुपी जलोदधि में डूबा रहता है, परन्तु कर्मों का भार हल्का हो जाने पर (मुद्गावस्था में) वह भी ऊर्ध्वगति करना हुआ मिद्गावस्था को प्राप्त करके शुद्ध अथवा मुक्त जीव बन जाता है ।

समारी जीव इन्द्रियमय्यन्त होता है अतः इन्द्रियों की दृष्टि से भी उसका वर्गीकरण किया जा सकता है । इन्द्रियाँ पांच होती हैं — स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रुति और वर्ण । इन्द्रियों का यह क्रम वस्तुतः वैज्ञानिक है । कर्ण-इन्द्रिय वाला अवस्था ही पाँचों इन्द्रियों का स्वामी होता है, चक्षुरिन्द्रिय वाला चार इन्द्रियों वाला होता है, घ्राण-इन्द्रिय नहीं होगी । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी समझना चाहिये । अतः इन्द्रियों की दृष्टि से समारी जीव पांच प्रकार का हो सकता है ।

(१) एकेन्द्रिय जीव (इसके केवल स्पर्शन इन्द्रिय ही होगी, अन्य इन्द्रियाँ नहीं—जैसे पेड़ पौधे आदि । इसे म्यावर जीव की मजा दी गई है ।) (२) द्वीन्द्रिय जीव (३) त्रीन्द्रिय जीव (४) चतुर्इन्द्रिय जीव (५) पञ्चेन्द्रिय जीव । इन चार प्रकार के जीवों को तम जीव कहा जाता है । पञ्चेन्द्रिय जीवों में भी कुछ ऐसे होते हैं, जो मन वाले होते हैं, वे समनस्क या मजी जीव कहलाते हैं, किन्तु कुछ जीव बिना मन के भी होते हैं, वे असमनस्क या अमजी जीव कहलाते हैं ।

जैन-दर्शन में इस जीव तत्त्व का विवेचन बड़े विस्तार के साथ किया गया है । अनेकों ग्रन्थ केवल इसी तत्त्व को लेकर लिखे गए उपलब्ध होते हैं । विस्तृत जानकारी के लिए जिज्ञासुओं का गोम्मतमार जीवकाण्ड, समयमार, प्रवचनमार जैसे अध्यात्म ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिये । इस लघुकृतेवर सक्षिप्त निबन्ध में विस्तृत विवेचन संभव नहीं है ।

अजीव तत्त्व जीव तत्त्व में विपरीत स्वरूपवाला है । आत्मा के गुणों से विहीन जितने भी पदार्थ अस्तित्व में हैं वे सब अजीव तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं । धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल भी अजीव ही हैं, किन्तु ये सब द्रव्य रूप हैं । इनमें धर्म द्रव्य जीव और अजीव को गति करने में और अधर्म द्रव्य उन्हें स्थिर होने में सहायक होता है । आकाश द्रव्य सबको स्थान देने का कार्य करता है । किन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल में (यद्यपि ये सभी अजीव हैं) थोड़ा अन्तर होता है । पुद्गल द्रव्य स्वयं, तम, गन्ध और वर्ण नष्ट होने के कारण रूही होता है, जबकि धर्म अधर्म और आकाश निरूप एवं स्वनादि गुणों में रहित होते हैं । इनमें पुद्गलद्रव्यका ही जीवात्मा में जितनी सम्बन्ध होता है । दर्शन की भाषा में जीवात्मा में सम्बन्ध करने वाले पुद्गलों को कार्माण या कर्मवर्गणा या कर्म कहते हैं । इन कर्मों का कार्य है आत्मा के स्वाभाविक गुणों पर आवरण डालना । इसी आवरण में पड़ जाने पर जीवात्मा अपने शुद्ध रूप को विस्मरण करने समार में परिभ्रमण करता है, आवागमन करता है । इन कर्मों में सम्बन्धित सिद्धान्त को जैन दर्शन में 'कर्मवाद' की मजा दी गई है । यह 'कर्मवाद' गीता के कर्मयोग में बिल्कुल भिन्न है । इस कर्मवाद का भी बड़ा व्यापक विवाद विवेचन जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है । देखिए गोम्मतमार कर्मकाण्ड, कर्मपथडी, कर्मग्रन्थ आदि ।

जब आत्मा में इन पौद्गलिक कर्मों का आना प्रारम्भ हो जाता है, तब इस आगमन का दार्शनिक भाषा में 'आश्रय' तत्त्व की मजा दी जाती है । इन के कारण ही जीव और अजीव तत्त्वों का सम्बन्ध होता है और जब तक यह





सम्बन्ध बना रहता है तब नरु जीव ससारावस्था में ही रहता है ।

‘आध्रव’ के कारण आते हुए कर्म आत्मा से चिपटते जाते हैं-बन्धते जाते हैं और आत्मा इन कर्मों के बन्धन में निश्चित कालस्थिति तक बधा रहता है । इसी बन्धन का नाम है ‘बन्ध’ तत्त्व ।

किन्तु जब जीवात्मा अपनी साधना द्वारा कर्मों के आगमन को रोकने का प्रयास करता है तो उस रुकने का नाम है ‘मवर’ । किन्तु वह ‘मवर’ तत्त्व आत्मा के साथ बन्धे हुए कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं होता । पूर्ववद् कर्मों का अभाव करने के लिए तपश्चर्या की आवश्यकता होती है और तपस्या द्वारा ही उन कर्मों का शून्य शून्य अभाव होता है ।

निर्जरा करते करते जब कर्मों का आत्यन्तिक अभाव या विनाश हो जाता है तब आत्मा बन्धन से मुक्ति प्राप्त करता है । इस अवस्था का नाम है ‘मोक्ष’ । मोक्ष की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है । यही परम पुरुषार्थ है ।

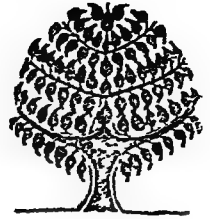
इस प्रकार ये—जीव, अजीव, आध्रव, बन्ध, मवर, निर्जरा और मोक्ष—जैन-दर्शन में सप्ततत्त्व कहे जाते हैं ।

‘जीवाजीवाश्रवबन्धसवरनिर्जराभोक्षास्तत्त्वम्’ (तत्त्वार्थसूत्र)

इनमें जीव और अजीव ही मुख्य तत्त्व हैं, शेष तत्त्व उन दोनों के ही सम्बन्धित रूप हैं । अतः यही तत्त्व जैन-दर्शन के मूलाधार कहे जाते हैं । जैन दर्शनकारों ने इन्हीं को आधार मानकर उनका बड़ा विशद व्यापक विवेचन किया है । वस्तुतः इन्हीं तत्त्वों के ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रहस्य प्रत्यक्ष हो सकता है ।

जैनदर्शन की द्रव्य-व्यवस्था

पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'



जैनदर्शन में द्रव्य के मूत्र भेद छह प्रतिपादित हुए हैं, जिनके नाम हैं-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काश । इन छहो द्रव्यों में जीवद्रव्य चेतनामय (चित्तन) और शेष चेतनारहित अचेतन हैं । पुद्गलद्रव्य मूर्तिक और शेष अधूर्तिक हैं, शाल द्रव्यप्रदेशप्रचय में रहित होने के कारण अकाय हैं और शेष प्रदेश-प्रचय से युक्त होने के कारण अन्ति-काय कहे जाते हैं । परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य मद्यपि एक प्रदेशी है, परन्तु नाना स्कन्धों का कारण तथा उनमें मिलकर स्कन्धरूप हो जाने के कारण उपाचार में 'अकाय' कहा जाता है ।^१ जीव और पुद्गल सक्रिय हैं, शेष सर्व निष्क्रिय है, ये ही दोनो द्रव्य कथञ्चित् विभाव रूप भी परिणमने हैं, शेष नव नवा स्वाभाविक परिणमन को ही लिये रहते हैं । धर्म अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य नम्या में एक-एक ही हैं, काल द्रव्य अनम्यात हैं, जीव द्रव्य अनन्त है और पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त है । जीव, पुद्गल दोनों द्रव्यों में सकोच विन्तार समभव है, शेष द्रव्यों में वह नहीं होता अथवा उनकी सम्भावना नहीं । आकाश अन्तः एक द्रव्य होने हुए भी उसके दो भेद कहे जाते हैं-लोकाकाश और अलोकाकाश आकाश के जिन बहुमध्य प्रदेश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पांच द्रव्य 'अवलोकित' होते हैं उसे लोकाकाश और शेष को 'अलोकाकाश' कहते हैं । धर्म और अधर्मदो द्रव्य मदा नारे लोकाकाश को व्याप्त कर स्थिर रहते हैं, जब कि दूसरे द्रव्यों की स्थिति बँसी नहीं । काशणुरूप कालद्रव्य तो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में स्थिर है और इसलिये लोकाकाश के निम्न प्रदेश है उत्तम ही काशद्रव्य है । एक जीव की अपेक्षा जीव लोक के एक अमस्यातर्वं भाग से लेकर दो आदि अमस्यातर्वं भागों में व्याप्त होता है और लोकपूर्ण-ममुद्धान के समय सारे लोकाकाश को व्याप्त कर तिष्ठता है । नाना जीवों की अपेक्षा मारा लोकाकाश जीवों में भरा है । पुद्गल द्रव्य के अणु और स्कन्ध दो भेद हैं । अणु का अवगाह्य-क्षेत्र आकाश का एक प्रदेश है, द्रव्यणुकादिरूप स्कन्धों का अवगाह्य-क्षेत्र लोकाकाश के द्विप्रदेशादिकों में है ।

द्रव्य का लक्षण मत् है, और मत् उसे कहने हैं जो प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पत्तिव्यवसायक हो अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त हो । जीवद्रव्य का लक्षण उपयोग है, जो ज्ञान-दर्शन के भेद में दो प्रकार का है और इसलिये जीव द्रव्य को 'ज्ञानदर्शनरक्षण' भी कहा जाता है । जीवों के समारी और युवन ऐसे दो भेद हैं । मसारी जीव त्रस, और 'स्यावर' के भेद में दो भेदा में विभक्त हैं, जिनमें पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, और वनस्पतिकाय के एकेन्द्रिय जीव 'स्यावर' कहलाते और शेष द्वीन्द्रियादि जीव 'त्रस' कहे जाते हैं । त्रस जीवों का निवासस्थान लोक के मध्यवर्तिनी त्रसनाडी है और स्यावर जीव त्रसनाडी और उससे बाहर नारे ही लोक में निवास करते हैं ।

जो स्पर्श-रस-गन्ध वर्ण गुण वापे होते हैं उन्हें 'पुद्गल' कहते हैं । स्पर्श के कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, मृग्य और ह्य ऐंमे आठ, रस के तिक्त (चरपरा), कटुक, अम्ल, मधुर और रुपायला ऐंमे पांच, गन्ध के सुगन्ध दुर्गन्ध ऐंमे दो, और वर्ण के नील, पीत, मुक्क, कृष्ण और रक्त ऐंमे पाँच मूलभेद हैं । शब्द, वन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सम्यान, भेद तम, छाया, आताप और उद्योत वालों को भी 'पुद्गल' कहा जाता है अथवा यो कहिये कि पुद्गल के इन दस विशेषों अथवा पर्यायों में से जिस किमी में भी कोई विशिष्ट अथवा युक्त है वह पुद्गल है ।

गतिरूप परिणत हुए जीवों तथा पुद्गलों को जो उनके गमन में उस प्रकार महायक-उपकारक होता है जिस



प्रकार जल मछलियों के चलने में, परन्तु गमन न करनेवालों को उनके गमन में प्रेरक नहीं है, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। अधर्मद्रव्य^१ उसका नाम है जो स्थिति रूप परिणत हुए जीवों तथा पुद्गलों को उनके ठहरने में उस प्रकार सहकारी-उपकारी होता है जिस प्रकार पथिकों को ठहरने में वृक्षादि की छाया, परन्तु चलते हुए को ठहरने की प्रेरणा नहीं करता और न उन्हें बलपूर्वक ठहराता है। जो जीवादिक द्रव्यों को अपने में अवगाह-अवकाश-दान देने की योग्यता रखता है उसे आकाश द्रव्य^२ कहते हैं, जिसके लोक-अलोक के विभाग में दो भेद ऊपर वतलाये जा चुके हैं। जो द्रव्यों के परिवर्तन रूप है—उनके परिवर्तन में सहकारी है—उसे कालद्रव्य^३ कहते हैं। कालद्रव्य के भी दो भेद हैं—एक निश्चय का^४ और दूसरा व्यवहार काल। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में जो अनादि-निघ्न एक-एक कालाणु स्थित है और जिसका वर्तना लक्षण है, जो जीव पुद्गलादि द्रव्यों को उनके प्रतिक्षण उत्पाद व्यय-ध्रौव्यात्मक मत् रूप वर्तन में महायक अथवा स्व-सत्तानुभूति में कारण है—उसे निश्चय काल द्रव्य कहते हैं। व्यवहार काल द्रव्य उसका नाम है जो समय (क्षण), पल, घड़ी, घटा मुहूर्त, पहर, दिन, रात्रि, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि के भेद को लिए हुए आदि-अन्त-सहित है, निश्चय कालद्रव्य के पर्यायरूप है और जिसके परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व ये चार लक्षण हैं। द्रव्य में अपनी जाति को न छोड़ते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक स्थूल परिवर्तन-पर्याय में पर्यायान्तर होता है उसे 'परिणाम' कहते हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणों से द्रव्य में जो परिस्पन्दात्मक-परिणाम होता है उसका नाम 'क्रिया' है। कालकृत बड़ापन को 'परत्व' और छोटापन को 'अपरत्व' कहते हैं।

इस प्रकार जैन-दर्शन की द्रव्यव्यवस्था और उसके अन्तर्गत छहों द्रव्यों का यह संक्षिप्त सार है, विवेक तथा विस्तृत परिचय के लिए तत्त्वार्थ-सूत्र की तत्त्वार्थ-राजवार्तिकादि टीकाओं तथा दूसरे आगम-ग्रन्थों को देखना चाहिये।

०

१ गह-परिणयाण धम्मो पुगल-जीवाण गमण-सहयारी ।

तोय जह मच्छाण मच्छता नेव सो जेई ॥ (द्रव्यसंग्रह)

२ ठाण-जुदाण अधम्मो पुगल-जीवाण ठाण-सहयारी ।

छाया जह पहियाण गच्छता नेव सो धरई ॥१८॥ (द्रव्यसंग्रह)

३ अवगास-दान जोग जीवादीण वियाण आयास ॥१९॥ (द्रव्यसंग्रह)

४ दच्च-परिवट्ठरूवो जो सो कालो हवेइ, ववहारो ।

परिणामादीलक्खो, वट्ठणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥ (द्रव्यसंग्रह)

सम्प्रदाय या धर्म ?

सौभाग्यमल जैन



भारतवर्ष धार्मिक वृत्तिवाला देश है, तथापि जनमाघ्राण मे धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट नहीं है। यही नहीं अपितु जनमाघ्राण सम्प्रदाय को ही धर्म मानता रहता है। देश के विद्वद्बर्ग मे धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट हो सकना था किन्तु जनमाघ्राणी विचारणा के अभाव के कारण यह वर्ग भी स्पष्ट नहीं कर पाता। वास्तव मे धर्म तथा सम्प्रदाय मे महान अंतर है। धर्म उदार तथा विद्याल दृष्टिकोण अपनाता है जब कि सम्प्रदाय अथवा पथ मकुचित दृष्टिकोण। सम्प्रदायवादी या पथवादी मनुष्य केवल उस सम्प्रदाय अथवा पथ के अनुयायी को ही स्वर्ग तथा मोक्ष मे प्रवेश का अधिकारी मानता है जब कि धार्मिक मनोवृत्ति के निकट प्रत्येक मज्जन, साधुमना व्यक्ति के लिये स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार खुला है। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् जब मध्यासन ने "धर्मनिरपेक्ष नीति" की घोषणा की तब मे यह प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र मे भी वृद्धचर्चन रहा है। धर्मनिरपेक्ष नीति की व्याख्या इस गहन तरीके पर हुई है कि जनमाघ्राण मे यह भ्रान्त धारणा गहगई मे बैठ गई है कि भारतीय शासन अधार्मिक राज्य है अथवा उसका धर्म या धार्मिक मिद्धान्तो मे कोई मवध नहीं है। जहा तक मे ममझता हू, यह तात्पर्य नहीं था। धर्मनिरपेक्ष नीति का उद्देश्य केवल यह था कि शासन किसी सम्प्रदाय विशेष की प्रश्रय नहीं देगा। न उसका प्रचार करेगा। वास्तविक रूप मे नीति का नाम यदि "सम्प्रदाय-निपेक्ष नीति" रखा जाना तो अधिक उपयुक्त रहता। विश्व मे सम्प्रदायो के नाम पर जो रक्तपात पूर्व काळ मे हुआ है वह इस नीति के निर्मानागण की दृष्टि मे था। किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय देने का अर्थ यह होता कि शासन उस सम्प्रदाय विशेष का हामी है। इस कारण इन नीति को अपनाता उचित था। जैना ऊपर निर्देश किया गया है, धर्म तथा सम्प्रदाय मे आकाश-पाताल का अन्तर है। भारतीय शासन का धार्मिक सिद्धान्तो मे कोई विरोध नहीं हो सकता। आखिर धर्म क्या है ? मेरे मत मे जिन मिद्धान्तो मे मनुष्य का जीवन उदार, उन्नत, सामाजिक जीवन बन सके, नैतिकता के उन उत्तम नियमो का नाम "धर्म" है। किन्तु धर्मनिरपेक्ष नीति के कारण उत्पन्न भ्रान्त धारणा ने केवल २० वर्ष के अल्पकाल मे ही भारतीय जन-जीवन मे नैतिकता, मदाचार का जो अवमूलन किया है वह विचारकरबर्ग के लिये अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है। भारतीय जनजीवन मे आध्यात्मिकता के म्यान पर भीतिवतावादी विचारो का प्रभाव स्पष्ट है। गत आम चुनाव के पूर्व तथा पश्चात् दो वर्ष मे जो घटनाएँ देश मे, लोकमता, विधानमताओ मे घटी उनको दृष्टिगत रखते हुए यह सोचने को विवश होना पडता है कि क्या भारतीयो मे मार्क्सजिनक प्रश्नो, समस्याओ को हल कराने का यही एक तरीका शेष रह गया है ? हमारे जन-जीवन मे चाहे व्यक्तिगत प्रश्न हो, चाहे मार्क्सजिनक प्रश्न हो, महनशीलता की कमी, सात्विकता की कमी होती जा रही है। इस पृष्ठभूमि मे यह आवश्यक है कि हम सम्प्रदाय तथा धर्म का भेद स्पष्ट समझें तथा यह भी निश्चय करें कि जैनधर्म एक सम्प्रदाय है अथवा धर्म है ?

विद्याल जैन साहित्य के महत्वपूर्ण तथा प्राचीनतम ग्रंथ आचाराग सूत्र मे भगवान महावीर ने यह सद्घोषणा की है कि —

मे वेमि-जे अईया, जे य पडुपण्णा, जे य आगमिस्सा अरिहता भगवतो, ते सव्वे एवमाइक्खति, ए व भासति, एव पण्णविति, एव परविति — मव्वे पाणा, मव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हुतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघिसव्व्वा, न परियावेयव्वा, न उद्देवयव्वा । एम धम्मो सुद्धे निइए सासए, समिच्च लोय खेयन्नेहि पवेइय तज्जहा-उट्टिएसु वा अणुट्टिएसु वा, उवट्टिएसु वा अणुवट्टिएसु वा, उवरयदडेसु वा अणुवरयदडेसु वा, सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा सजोपरएसु वा



असजोगरएसु वा, तच्च चेष, तहा चेष अस्सि चेष पवुच्चड ।

अर्थात् भूतकालीन, वर्तमान कालीन तथा भानी तीर्थार यही प्रतिपादित करने हैं कि नगी प्राणी, मगी भूत, मगी जीव, मगी मत्त को दण्डादि से नहीं मारना चाहिये उन पर आज्ञा नहीं चलाना चाहिये, उनको दाम की भाँति अपने अधिकार में नहीं रखना चाहिये, उन्हें शारीरिक मानसिक सताप नहीं देना चाहिये और उन्हें प्राणी में रहित नहीं करना चाहिये । यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है । समार के दुःखों को जानकर जगन्-हितकारी भगवान ने मयम में तत्पर अथवा अतत्पर, उपस्थित, अनुपस्थित, मुनि, गृहस्थ, रागी, त्यागी, योगी, योगी को समान भाव में यह उपदेश दिया है, यह मत्त है यह तत्प्राण्य है और ऐसा धर्म जिनप्रवचन में कहा गया है ।

उम प्रकार से प्राणी मात्र को अभयदाना, आश्रयस्तर्त्ता धर्म जिमी भी दृष्टिकोण ने सम्प्रदाय नहीं हो सकता । यह धर्म शब्द में निहित उच्च तथा महान् विचारों में समन्वित होने के कारण "धर्म" है । यह त्रिविध है कि 'धर्म' शब्द अनेकार्थी है । विभिन्न मदर्मा में विभिन्न अर्थ का श्रोतक है । यहाँ जिस अर्थ का उद्देश्य है यह कर्त्तव्य अथवा आचार-महिता वा ध्यानक है । एक प्राचीन आचार्य न जैनधर्म की व्याख्या निम्न श्लोक में अत्यन्त मक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण की है—

स्याद्वादो यतंते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते ।

नास्त्यन्यपीडन किंचित् जैनधर्मं स उच्यते ॥

जिस दर्शन में स्याद्वाद हो, अनैकाती दृष्टिकोण अपनाया जाना हो, विभिन्न धर्म, दर्शनों के प्रति समन्वयात्मक दृष्टि रखी जानी हो, जिसमें किसी के प्रति पक्षपात न हो, जिसमें किसी प्राणी को पीडा न पहुँचाने का विधान हो उसको जैनधर्म कहते हैं । यह सर्वविदित है कि विश्व में विभिन्न वादों की प्रवृत्ति करने वाले कई धर्मविद्यमान हैं । उन विभिन्न वादों में एकांगी सत्य (Partial Truth) का अस्तित्व जैनधर्म मानता है । यदि उन आंशिक सत्यों को एकत्र कर लिया जावे, उनमें समन्वय कर लिया जाये तो सत्य का साक्षात्कार हो सकता है । इस प्रकार जैनधर्मानुसार विद्वान् में प्रचलित विभिन्न धर्मों के प्रति उदार विचार रखना आवश्यक है । यह मुनिश्चित है कि भगवान महावीर के समय विभिन्न वादों के विस्तार में ३६३ मतों का प्रचलन था । भगवान महावीर ने विभिन्न मतों के दृष्टिकोण से उन सबके प्रति अनैकाती दृष्टिकोण अपनाया, तथा अपना सतत्त्व समन्वयात्मक रूप में प्रकट किया । उस गौली को स्याद्वाद कहा जाता है । यह मत्त है कि जैनागम में स्याद्वाद के विचार बीज रूप में मक्षिप्त विद्यमान थे । पदनात्-वर्ती जैनाचार्या ने उन बीज रूपी विचारों को पुष्पित, पल्लवित करके स्याद्वाद पर विशाल साहित्य की रचना की और स्पष्ट रूप से घोषणा की कि—

पक्षपातो न मे धीरे, न द्वेप कपिलादिपु ।

युवितमद्वचन यस्य, तस्य कार्यं परिग्रह ॥

उक्त जैन आचार्य ने घोषणा की कि उनका महावीर के प्रति कोई पक्षपात नहीं है, न कपिल आदि मुनियों के प्रति द्वेप ही है । जिसका वचन युक्तिपुरस्सर होगा उसको अंगीकार करने में हिचक नहीं है "यन्ना ममिक्खए तत्त" सत्व की समीक्षा प्रज्ञा द्वारा (युद्धपूर्वक) की जानी चाहिये । इसी विचारसरणि के अनुरूप जैनाचार्यों ने तत्कालीन प्रचलित भारतीय दर्शना में विभिन्न नयों के दृष्टिकोण से 'आशिर' सत्य का दर्शन किया जैसा कि महान् साहित्यकार ममदर्शी विचारों के जनक जैनाचार्य हरिभद्र सूरि के "पडदर्शनसमुच्चय" के पृष्ठ १५७ पर टीकाकार ने अंकित किया है कि—

बौद्धदर्शन	}	श्रुजुसूत्रनय
वेदान्त		
सांख्य		संग्रह नय
मीमांसा		

चारार्क	व्यवहारनय
न्याय वैशेषिक	नैगमनय
मन्त्र-मन्त्रादी	शब्दनय

यही नहीं, जाचार श्रीमिदमेन त्रिगुण ने तो यहा तक प्रस्थित करने मे हितचिन्ता नही की कि जैनधर्म 'मिन्नडात्मनोऽहो' है। स्पष्टवादिता की यह चरम सीमा है। तान्त्रिक यह कह कि विभिन्न वादो मे जाधिक नय्य हाने के कारण वे तिन्या दमन है क्योंकि यह एरागी दृष्टिकोण रखकर केवल उसी की समग्र सत्य के रूप मे प्रत्यक्षा करने हैं और अपने से तिन राद को जग्य मानने है, जैनधर्म समस्त वादो के प्रति उदार विचार-उक्त अनेकानी दृष्टिकोण धरनाता है। जाचार्य श्री मिदमेन उसी कारण उनको तिन्या दर्शनो का समूह कहते है। वास्तविकता यह है कि तान्त्रिक रूप मे अन्य प्राचीन ग्रन्थो मे भी कहा गया है कि 'एक गद्विधा बहुधा वदति' एक ही मन्त्र को विभिन्न रूप मे विप्र (विद्वान्) कहते है। यहा तक तो तन्त्रमन्त्राण की जान हुई। तिन जैनाचार्यों ने इसे व्यावहारिक रूप की प्रदान किया। पाठ्य जालने के जैनधर्म मे 'नमस्कार मन्त्र' का उत्पन्न महत्त्व है। वास्तव मे यह नमस्कार का मन्त्र है जिसमे आत्मनिष्ठ पूजना का प्राप्त निद धादि का तथा मुक्तिमार्ग के पवित्र साधना का नमस्कार किया गया है। उन मन्त्र मे जैन दृष्टि तिनको व्यापक हो गई है, एक तरफ बहुत कम विद्वानो का ध्यान गया है। इन मन्त्र मे अहिंस, मिद, आचार्य, उपाध्याय के पञ्चानु 'प्रिय के समस्त माधुनता' को नमस्कार अर्पित किया गया है। पूर्व मे ४ वद त्रिगुणित जग्य के दोनर हैं जो प्रायसिद्ध सीटी 'माधुना' के प्रियान उन मे प्राप्त होती है। प्रायसिद्ध छहई माधु है। 'माधु' मे प्रिय के समस्त माधुनता को सम्मिलित कर दिया जाता जैन धर्म की विद्यागता का ज्वनन प्रमाण है। यहा पाठ्य भगवान ने त्रिगुण विद्वान् तिन धारक जैन माधु को ही मान्यता नही दी। यही नहीं, जो साधुतायुक्त आत्मा है उन तबरा नमस्कार करने जगता सम्मान व्यक्त किया है। एरा जैनाचार्य ने बहुत मुन्द-ढग मे अन्य धर्मों द्वारा मान्य देवता (श्रद्धा, प्रिय, महेश) का भी नमस्कार किया है। उन जैनाचार्य ने एक श्लोक मे यह प्रतिपादित किया है कि मैं श्रद्धा प्रिय, महेश, तिन, तबरा नमस्कार करना हूँ, केवल वह ऐसे है कि जिनमे भव भ्रमण 'जावा-गमन' के बीच रूप गग, द्रव्य तमू नष्ट हो गये हैं। यह परमार्थिक है कि जैन धर्मांतरण मुक्ति आत्मा की उत्तम जग्यता का नाम है 'यहा अनन्यीय, अनन मुन, जनन ज्ञान, अनन्य दर्शन प्रकट ज्ञाना है, जहा पर जाऊ आत्मा का नरभ्रमण समाप्त हो जाता है। मुक्तिपथ के पवित्र का अपने जीवन मे पूर्ण आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना होता है। तब यह आत्मा का आत्मकारण के पुनर् होना है। जैनधर्म की मान्यता के अनुसार मुक्त १५ प्रकार मे हो सकते हैं तिनमे यह स्पष्ट उपाया गया है कि जैनधर्म के अनुयायी हो या जैनधर्म के अनुयायी न हो अर्थात् जैनधर्म द्वारा मान्य त्रिगुण प्राप्ति करने हो या न करने हो, मुक्त हो सकते हैं। तीर्थमिद्धा जनीर्धमिद्धा, स्वीर्धमिद्धा अन्य लिगमिद्धा, आदि। यही नहीं, यह भी जानकर नहीं कि यह धर्मावेग मे ही हो, जग्य के वेग मे भी हो सकता है।

भगवान् महावीर के अनुयायियों मे राजा-महाराजा जैसे आभिजात्य वर्ग के लोग, विभिन्न प्रकार के व्यवसायी, मध्यमवर्ग के लोग, चाण्डाल जैसे निम्न जाति के लोग, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चूद्र वर्ग के लोग भी सम्मिलित थे। यही नहीं, महाराष्ट्र त्रिभिन्न परम्पराओं के जैन परित्राजक न्यायानी आदि भी भगवान के अनुयायियों मे सम्मिलित थे। यह सब भगवान महावीर की उदार, स्वाहादमय समन्वयकारी वृत्ति का परिणाम था। वास्तव मे अनेकाली दृष्टिकोण अथवा स्वाहादमय भाषा भगवान् की अहिंसानीति का ही एक अंग था। भगवान् ने 'यहा जाचार मे अहिंसता का उपदेश दिया यहा विचारो मे अनेकानी दृष्टिकोण का तथा वाणी मे स्वाहाद का उपदेश दिया। जहा तक आचार्यगत अहिंसा का सम्बन्ध है, उन देश के ही नहीं अपितु विद्व के न्यातिप्राण विद्वानो ने भी यह स्वीकार किया है कि 'अहिंसा' की जो बुद्ध व्यापक तथा जिनका विचार जैनधर्म मे लिया गया है उनका निम्नी भी धर्म मे नहीं किया गया। अहिंसा मे तान्त्रिक केवल प्राणिवध को रोकना नहीं है अपितु मन, वचन, काया मे किसी भी प्राणी को दुःख देना, मराना, दास बनाना सामाजिक अथवा आर्थिक शोषण करना यह सब हिंसा मान कर उनका निषेध किया गया है। यही नहीं, जहा-यहा जीव की समापना हो सकती है, चेतनत्व की समापना है, उस-उस स्थान पर भी अहिंसा का पालन आवश्यक माना गया। अहिंसा केवल एक नारात्मक मिद्वान्त नहीं है अपितु उसका विधेयात्मक स्वरूप





वता कर उसको जीवन में उतारने का उपदेश भी दिया गया है। अहिंसा का उनका विशाल दृष्टिकोण देखकर भगवान् महावीर ने प्राणिमात्र का उपाकार किया है। इस देश में यद्य-नय अहिंसक वृत्ति के जो रत्न होते हैं वह उस महान् पुरुष के उन प्रयत्नों के परिणाम हैं जो उन्होंने देश भर में घूम-घूम कर लगभग २५०० वर्ष पूर्व किये थे। वास्तव में जैनधर्म, धर्म है, सम्प्रदाय नहीं। केवल मानवधर्म नहीं अपितु प्राणिमात्र का धर्म है। विश्व-धर्म है। आवश्यक्ता इस बात की है कि “अहिंसा” के नाम पर जो इस लम्बे काल में भ्रान्त धारणाएँ बन गई हैं, उनका निराकरण करके उसको वैज्ञानिक स्वरूप दिया जावे। मेरा यह निश्चित विश्वास है कि यदि जैन समाज अथवा गमन्यवादी दृष्टिकोण-सम्पन्न देश के प्रमुक्त वर्ग ने इस दिशा में सक्रिय प्रयत्न किया तो विश्व का बहुत बड़ा उपकार होगा। दुर्भाग्य यह कि आज के परस्पर राग, द्वेष, असहिष्णुता के इस युग में अहिंसक, सात्विक विचारों का अभाव होता जा रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी का परिणाम यह है जो हमें देश के जनजीवन में यद्यत्त सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। इस युग के महान् क्रांतिकारी सन्त महात्मा गांधी ने अहिंसा का प्रयोग सामूहिक तथा राजनीतिक प्रश्नों को सुलझाने में किया। गांधीजी ने जीवन के कई क्षेत्रों में अहिंसा का प्रयोग किया। पशुबल, क्षत्रबल के प्रतीकार के रूप में भी उसका प्रयोग किया तथा सफलता प्राप्त की। आज गांधीजी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी शन्न विनोदा उसका प्रयोग कर रहे हैं। किन्तु अभी पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकी। आज बड़ी निराशाजनक स्थिति है। आज प्राणीमात्र की बात तो दूर है किन्तु मनुष्य-मनुष्य के बीच भी स्नेह, प्रेम, मीठाई, सज्जनता की कड़ी नहीं है। अन्तराष्ट्रीय स्तर पर बड़ा देश, कमजोर देश को दबाकर गुलाम बनाना चाहता है। व्यक्तिगत जीवन में भी तबल, निर्भय का घोषण कर रहा है। अस्त्राभियन्त कराह रही है। देश में आज के युग में भगवान् महावीर की वाणी उनके उपदेश, अहिंसा की अत्यन्त आवश्यक्ता है। स्थिति बड़ी विपरीत है। कोई मार्ग नजर नहीं आता है जैसा कि उर्दू के एक कवि ने कहा है—

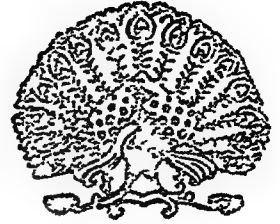
“इक रह गई थी मजहबे इन्सानियत की बात ।

यह बात भी वा फजले दुदा, गुम हो गई ।

यन्त्र-युग में जड़-चेतन-विज्ञान

लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज'

एम० ए०, बी०एड माहिप्यगल



आधुनिक मानव चिन्तनागर्जन की समस्या में इनका अग्रिम स्थान हो गया है कि धर्म और द्रव्य माहित्य और मनुष्य के बीच की आत्मा, जड़ की चेतन जैसे मार्बमौमिद मार्बतामिद मूल्या का मान लेने के लिए भी वह मानव का प्रमाण साधित करने गया है। विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण आज के ज्ञानी का जीवन जनीव यान्त्रिक की प्रथा में परिवर्तित हो गया है। चूंकि विविध व्यंग्याओं के बावजूद भी वैद्यकी महगाई-व्यमना बदरी का ही है, प्रभाव जान का मानव दिन-रात यन्त्र तद्वत् कार्य करके भी सुख, शान्ति, मन्नाप और सम्पत्ति की मान नहीं देता रहा है।

ज्ञान का आदमी 'कामायनी' में शक्ति जयकारप्रसाद के शब्दों में कहना चाहता है —

प्रहृन् शक्ति यन्त्रों ने तुमने सबकी छोदी।

शोषण कर लीजती बना दो जर्जर शीनी ॥

आधुनिक यन्त्रवादी युग में मानव-शरीर की तुलना यन्त्र में की जाती है। यह अवधारण नहीं है, बल्कि वास्तव में मानव-शरीर है तो एक यन्त्र ही, हमारे यन्त्र में अनेक वैद्य-चिन्त्य है, जो जरीर को ताई-म्यायु-धिरा-इड्डों का पिट मानते हैं। हमारे चिन्तित मानव-शरीर की यन्त्र में अनियत समानताएं-असमानताएं भी हैं।

समानता की दृष्टि में कहा जा सकेगा कि दोनों कार्य करने हैं, शान्ति गतिशील हैं शान्ति की गति-शक्ति क्षीण होती है, शान्ति के लिए शक्ति की शक्ति (विद्युत और अनुगम) अपेक्षित हैं। दोनों शक्ति की पुन प्राप्ति में विद्यमान रहते हैं। इन विषय में विवेचना करने के लिए यह है कि मानव-शरीर जहाँ अपनी शक्ति हवा, पानी, भोजन, वयानुष्ठान, शान्ति, विश्राम, स्वच्छन्दता, सुन्दरता में पाता है वहाँ यन्त्र अपनी शक्ति के लिए कोयला, तेल, मफाई, गरिष्मा चाकर, दुराग्र माला पर निर्भर है। विश्राम-यन्त्र होने पर मानव-शरीर जैसे यन्त्र की शान्ति विश्राम चाहता है वही यन्त्र भी मानव-शरीर की शान्ति प्राप्त अपनी शक्ति शक्ति में बचिन और जर्जरित क्षीण होता जाता है।

प्रमानता की दृष्टि में कहा जा सकेगा — (१) मानव विचारक है। वह आगा-पीछा मोच-विचार कर कार्य करता है। दर्शक यह एक ही परिस्थिति होने पर भी यन्त्र जैसा करने का काम नहीं कर सकता है। (२) मनुष्य में यन्त्र के समान स्थानांतर काम करने की क्षमता स्वाभाविक नहीं है। इतने पर भी वह यन्त्रवत् कार्य करने लगे तो न केवल उसका जीवन जीवित ही नो-म-असामाजिक-प्रव्यावहारिक होगा बल्कि शीघ्र थककर अममय हो दम तोड़ देगा और दुनिया में चर बसेगा।

आधुनिक आदमी की जनीव यान्त्रिकता अथवा अस्पष्टता को देखकर मुझे यन्त्रवादी प्रकृतिवादी की स्मृति हो जाती है।^१ उन विचारधारा के अनुसार पुद्गल और गति में निमित निष्पन्न यन्त्र ही जगत् है। इस दृष्टि में मनुष्य भी एक ऐसा यन्त्र है जो बाह्य प्रभावों में निर्देशित होता है। विस्मय की बात तो यह है कि यन्त्रवादी प्रकृतिवाद

१ कभी प्रकृतिवाद के दर्शनशास्त्र के तीन तत्त्व हैं। (६) पदार्थविज्ञान प्रकृतिवाद (२) यन्त्रवादी प्रकृतिवाद (३) जीवविज्ञान प्रकृतिवाद। शक्ति-प्रगति-प्रकृति को भी प्रकृतिवाद का तत्त्व माना गया।



केविचारक एक ओर मनुष्य के चेतनत्व में विश्वास नहीं करते हैं और दूसरी ओर वे मानते हैं कि मनुष्य में एक ऐसी शक्ति का अस्तित्व है जिसके आधार पर वह मौलिक वस्तु का निर्माण करता है। ये आध्यात्मिक ध्येय-प्रयोजन को कोणी मृगतृष्णा मानते हैं और इन्हीं जैसी भावनाओं की नींव के आधार पर उस व्यवहारी मनाविज्ञान का जन्म हुआ, जो मानसिक क्रियाओं को बाह्य क्रियाओं की उत्तेजना कहता है और मानव की गतिशील ग्रन्थ मानता है।

ग्रन्थवादी प्रकृतिवाद ने भले ही जड़ और चेतन के विज्ञान को, शिक्षित ज्ञान का, भुग्रा दिया हो पर उन दोनों में जो मौलिक भेद है, उसे अतीत के धर्माचार्यों की भाँति आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी किन्हीं अंशों में स्वीकार कर लिया है।

दुनिया दुरगी है। द्विज्यात्मक है, द्विधामूलक है। दुनिया के स्वभाव में हमें विदित होता है कि उसके मूलज और सरक्षण के तत्त्व जड़ और चेतन हैं। उन दोनों में एक दूसरे में उतना ही अन्तर है जितना कि श्वेत और मम्भव है। ये दोनों तत्त्व बाह्यदृष्टि से एक-दूसरे से दूध और पानी जैसे मिल भी सको न जायें, बरगो तक साथ ही सको न रहे पर अन्ततोगत्वा है ये भिन्न ही, अभिन्न तो कदापि नहीं। यदि ये दोनों अभिन्न होते तो उनके नाम-गुण पृथक्-पृथक् नहीं होते और उनका एक दूसरे में अन्तर्भाव या समावेश कब का हो हो गया होता। पर हुआ नहीं और हो भी नहीं सकता।

उल्लिखित अभीष्ट सत्य एवं तथ्य को धार्मिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ने समझ लेना समुचित और श्रेयस्कर होगा।

धार्मिक दृष्टिकोण

(१) चूँकि शरीर स्वयं कोई कार्य नहीं करता है और उसे कार्य करने के लिए प्रेरणा देने वाली आत्मा है तथा आत्मा के अभाव में शरीर निष्क्रिय और नगण्य हो जाता है, अतएव शरीर जड़ है और आत्मा चेतन।

(२) वह मूर्ति, जिसे मनुष्य जन्म और जीवन देना है, जिसकी प्रतिष्ठा करता है, मन्दिर की वेदी पर स्थापित कर मान्यता देता है, जिसे अपने अन्तर की श्रद्धा का सम्बल मानता है, जड़ है, पर उसे नगण्य से सर्वस्व घोषित करने वाला मनुष्य चेतन है। मूर्ति और मनुष्य में आकार-प्रकार विषयक समानता होने पर भी आकाश-पाताल जैसा भेद है, अतएव मनुष्य मूर्ति नहीं है और मूर्ति मनुष्य नहीं है।

(३) वह लेखनी, जिसमें लेखक निबन्ध लिखता है और ज्ञान की दिशा में पाठक का अपने साथ ले चलता है, जड़ है—अचेतन है। लेखनी में बुद्धि नहीं। बुद्धि तो लेखनी का प्रयोग करने वाले लेखक में है। अगर लेखक में शैक्षिक क्षमता अथवा विचार-शक्ति अथवा भावनामयी मोन्दर्यानुभूति नहीं होती तो न निबन्ध लिखा जाता और न पाठक लेखक के साथ ही चलता। लेखक चेतन है और लेखनी जड़ है।

(४) घर के चूल्हे में अभी जो लकड़ी जल रही है, वह कभी पेड़ पर थी। इसमें अणुभर मन्देह नहीं, पर पेड़ जहाँ आज भी अकड़ लिये खड़ा है वहाँ चूल्हे की लकड़ी जलकर कोयला बन गयी और कोयला राख का रूप धारण कर रहा है, चूँकि पेड़ वृद्ध रहा है, हरा-भरा है। अतएव वह चेतन है और लकड़ी वृद्धी नहीं, अतएव अचेतन है।

(५) पुस्तक, शिक्षक की जीवन-संगिनी है। पुस्तक, शिक्षक और शिष्या के लिये शिक्षा का माध्यम बनी है पर इतने पर भी शिक्षक और पुस्तक में अथवा विद्यार्थी और पुस्तक में काफी अन्तर है। शिक्षक और विद्यार्थी के ज्ञान में न्यूनाधिकता के दर्शन होते हैं पर वे एक पुस्तक में अनेको पुस्तकें तैयार कर सकते हैं। परन्तु पुस्तक के शब्द,

उमकी घृष्टमत्स्या, उनमें पुरीभूत भावना सीमित है। अन शिल्पक और विद्यार्थी चेतन हैं पर उन्हें बाह्य चेतना देने वाली पुष्पक जड़ है।

(६) जैसे शिल्पक को पुष्पक प्रिय है वैसे ही योद्धा को तलवार प्रिय है। तलवार में योद्धा का बल बढता है तलवार के प्रयोग में योद्धा अपने विरोधी को ध्वंसायी कर सकता है पर इनके पर भी शक्ति योद्धा में है, तलवार में नहीं। चूंकि योद्धा को जानी शक्ति का ज्ञान है पर तलवार को नहीं, अतः योद्धा चेतन है और तलवार जड़ है।

(७) वक्ता बोल्ता है और श्रोता सुनता है वक्ता और श्रोता के मध्य शब्द ज्ञान के माध्यम बने हैं। ज्ञान की बात जो अनुभवजन्य है और व्यवहारजन्य है वह वक्ता और श्रोता के हृदय और बुद्धि में सीमित होकर भी सीमित है। सारा, वक्ता और श्रोता शब्दों के प्रयोग को जानते हैं पर शब्द न वक्ता को जानते हैं और न श्रोता को तथा न उनके प्रभाव को भी। अतएव शब्द जड़ हैं पर वक्ता और श्रोता चेतन हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

(१) नीति पदार्थ स्वयं काम नहीं करता है। मनुष्य की शक्ति में वह नियामक होता है। मोटर चलाते के लिए मनुष्य चालक (Driver) चाहिये अन्यथा वह स्वयं को टम में मग सी नहीं हो सकती है। पर चीटी अपने काम चाली है। आकाश-प्रसार में बड़ी होने पर भी मोटर जड़ है, अचेतन है और चीटी छोटी होने पर भी चेतन है, संवेदनशील है।

(२) प्राणियों का व्यवहार बाहरी वातावरण में कभी-कभी प्रभावित होता है पर पूर्ण रूप में वह उसपर उत्तरा निर्भर नहीं जिनका कि आन्तरिक प्रतिक्रिया पर। विज्ञानी के बटन को ऊपर-नीचे कर दो तो तत्काल बिजली चुप या जल जायेगी पर मनुष्य के मस्तिष्क में यह ज्ञान नहीं कि गुणवत्तामूल देखने ही मूल्य का चाहेगा अथवा वह अपमानजनक ज्ञान जो उसे जग में नष्ट जावेगा। विज्ञानी यांत्रिक है, उसमें व्यवहार को ग्रहण करने की क्षमता नहीं है, अतएव वह जड़ है। पर मनुष्य का व्यवहारविद् है वह चेतन है, संवेदनशील है, अन चेतन है। मनुष्य बाहर से विज्ञानी महान प्रभावनाशन नहीं बल्कि अन्तर्गत में ही मूल्य सारंगी है।

(३) हम जिस दिशा में पत्थर फेंकेंगे, वह उसी दिशा में चला जावेगा, क्योंकि वह जड़ है, उसकी गति निश्चय है पर मनुष्य महत्ता केर की निश्चय देखकर भाग सकता है, बेहता हो सकता है, पेड़ पर चढ़कर अथवा अग्नि जागृत जात्मशक्ती को मरना है। सारा, वह चेतन है, उसका अन्तर्गत विविध कार्यकलापों का स्रोत है। वह व्यवहार होता किसी भी दृष्टि युक्त के लिए लक्ष्य मरना है।

(४) ज्ञान शाल होने की सूचना देने वाले, कठ-वकारी चूचकाने वाली चिड़िया सविष्य के लिए भोजन का प्रयत्न करती है क्योंकि वे चेतन हैं, ज्ञानमय हैं, उनमें जीवन की भावना है, पर रेलगाड़ी का इंजन आगे आगे के लिए अपने कोपों और पानी का हाट प्रयत्न नहीं करता है, क्योंकि वह अचेतन है, जड़ है।

(५) पाच कर्म का वाक्य जात्रम में जैसा लिखा है वैसा ही वह आगे नहीं लिखना रहता है। उसके व्यवहार और जात्रम की भाति समय दिनोंदिन उसकी तेलमत्स्या का विकास होता है पर हवाई जहाज का इंजन ज्यों का त्यों निश्चय दिशा में निश्चय मात्रा में निश्चय समय तक कार्य करता है। इस अन्तर का कारण भी बालक का चेतन होना और इंजन का अचेतन होना है।

(६) जड़ पदार्थों में जब तक शक्ति नहीं है, वे वायवीय बने रहते हैं, पर चेतन प्रेरक शक्ति का होने पर भी रह सकते हैं। पृथ्वी में चाही वे हैं तो वहचौबीस अथवा छत्तीस घंटे वसुंधी अवश्य चरती रहेगी पर गाय बालक को मार्ग के लिए छोड़े ना वह दौटन की क्षमता होने हूँ भी पड़ोसी के घर में घुस जावेगा या मुरझित स्थान में पहुँचने ही उस के लोभा। इसका भी सूचनन कारण यह है कि वह जड़ है और बालक चेतन है।





(७) जड़ में विकास नहीं होता है, चेतन में विकास होता है। जन्म के समय जिस बालक के मस्तिष्क का वजन ३५० ग्राम होता है उसी बालक का मस्तिष्क, किशोरावस्था में १२६० ग्राम वजन वाला हो जाता है पर कपड़ा सीने की मशीन, भले ही वह ऊपा हो या रीता, आदि से अन्त तक वजन की दृष्टि से व्यो की व्यो बनी रहती है। इसका भी रहस्य बालक के चेतन और मशीन के जड़ होने का परिचायक है।

निश्चित निष्कर्ष

पूर्वोक्त एक से अधिक उदाहरणों के आधार पर यह महज हो जात किया जा सकता है कि जड़ और चेतन में जो मौलिक अन्तर है उसे जीवन (Life) शब्द द्वारा सहज ही जाना जा सकता है। जीवन का अस्तित्व गतिशीलता, परिणमनशीलता, सुदूरदर्शिता, आत्म-रक्षा, परिवार-रक्षा, जाति-रक्षा, धन-रक्षा, समाज और देश-रक्षा जैसे तत्त्वों से जाना जा सकता है।

(१) यन्त्र में जीवन नहीं है, जीवधारी में है। जीवधारी जीवी (Organism) है। यद्यपि वह इकाई की भाँति काम करता है तथापि उसका प्रत्येक भाग यों काम करता है, जैसे वह जानता हो कि दूसरे भाग किस प्रकार काम कर रहे हैं। जीव या देही अथवा जीवात्मा, अपने अंगों का सम्मिलित रूप मात्र नहीं है, वह अतीन्द्रिय चेतन है। इसके विरुद्ध यन्त्र जड़ है, वह पुरजों का पिंड है, एक भी पुरजा न होने पर निष्क्रिय हो जाता है।

(२) सरटी० पर्सीन के शब्दों में "प्रत्येकस्तर पर प्राणी में अनेकता में एकता (unity in denersity) की उपलब्धि होती है। पर यन्त्र की स्थिति इससे विपरीत है। वह अनेक पृथक-पृथक अंगों का समूह है। उसका एक अंग दूसरे अंग की क्रिया से नितान्त अनभिज्ञ रहता है। इसका मूलभूत कारण यन्त्र में जीवनदायिनी चेतना शक्ति का अभाव है।

(३) प्राणधारी में भोजन के पाचन द्वारा स्व-शरीर की वृद्धि करने की क्षमता है तथा अपनी जाति की रक्षा की योग्यता है। वह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण में वशानुक्रम और वातावरण की सम्मिलित अथवा गुणित प्रतिक्रिया है। उसमें सजीवता, सरलता, सुबोधता जैसे सद्गुण हैं पर यन्त्र में ऐसा कुछ भी नहीं है। और जब वह स्वयं ही घट-बढ़ नहीं सकता है तब वह दूसरों को क्या घटावेगा-बढ़ावेगा? उसके वशानुक्रम का तो सवाल ही नहीं पर बाह्य वातावरण से अवश्य उसकी जीवनोपयोगी शक्ति में न्यूनाधिकता संभव है और यह व्यवस्था भी उसके स्वामी पर निर्भर है।

(४) प्राणधारी शरीरी जीव स्वशासित है, स्वनियन्त्रित है, वह अन्तरात्मा से आदेश भी प्राप्त करता है। वह एक ऐसा खिलाडी है, जो सभी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं, विवि-निषेधों को करने के लिए स्वतन्त्र है। इससे विरुद्ध यन्त्र है, जो दूसरों के द्वारा शासित है, दूसरा व्यक्ति जिसका नियामक है, संचालक है। यन्त्र वह गेंद है जो पूर्वोल्लिखित खिलाडी के हाथों की कठपुतली बनी है।

(५) जीवधारी का जीवन G W T Patric के शब्दों में आत्मसंयोजन, आत्मपोषण, आत्मरक्षा और आत्मशास्वतता का स्रोतक है परन्तु यन्त्र में समायोजन, पोषण, रक्षा और शास्वतता जैसा एक भी गुण नहीं है।

(६) जीवधारी के पास इन्द्रिया हैं। उनके प्रयोगों की अपनी सीमायें व शक्तियाँ हैं। जीवात्मा के पास मन और मस्तिष्क हैं, उसका सन्देशवाहक व्यवहार है जो उसकी और दूसरों की क्रिया-प्रतिक्रिया पर आधारित है पर यन्त्र में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है।

(७) जीवात्मा अनुभव करता है। वह ज्ञान-संवेदन-चेष्टा लिये है (भले वह चीटी या अमीबा भी क्यों न हो) और अपने अस्तित्व की घोषणा करता है। जीव आत्मरक्षा और विश्वशांति के लिये भी प्रयत्नशील रहता है पर

यन्त्र के पास अनुभवमूलक दृष्टि नहीं। (वह चाहे रेल का इंजन अथवा पुनर्लीवर का भीमकाय लोहयन्त्र भी क्यों न हो, पर उसमें ज्ञान-अनुभव-चेष्टा न होने से अस्तित्व की घोषणा करने की क्षमता नहीं है।)

अद्ययन और अनुभव बनता है कि जड और चेतन का ताना-बाना इतना जटिल बन रहा है कि अणु सी आकस्मिक विभिन्नतायें-समानतायें एक दूसरे के लिये जीवन-मर्षण और वरिष्ठ अनिजीवित रहने की चेतनावाहक बनी हैं। जड और चेतन में, यन्त्र और मनुष्य में हम सजग दृष्टिकोण निचे भन्त भेद बिरे रहे और समझते-समझाते रहे।

"मनुष्य ने यन्त्र को बनाया। यन्त्र ने मनुष्य को नहीं बनाया। जो यन्त्र है वह मनुष्य नहीं और जो मनुष्य है वह यन्त्र नहीं।"

आज ज्ञाना ही मुझे प्रस्तुत प्रसंग में लिखना है।

०



लोकस्वरूप : समीक्षा

श्री रिखबराज कर्णावट,

एडवोकेट,

जोधपुर,



कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसके हृदय में यह जानने की आकांक्षा न रही हो कि विश्व में दृष्टिगोचर होनेवाली ये वस्तुएं किस प्रकार अस्तित्व में आईं ? यह सूरज, यह चन्द्रमा, ये तारे, यह आसमान, ये पहाड़, ये नदियां, ये बड़े-बड़े समुद्र, झीलें, वाग वगीचे, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष, क्या स्त्रन अपने आप ही संयोगवश अस्तित्व में आगये या कोई ऐसा हेतु है जिसके प्रभाव से किसी प्रक्रिया द्वारा इन सब का आविर्भाव हुआ है ?

अत्यन्त प्राचीन समय में भी मनुष्यों का ध्यान इन बातों की तरफ आकर्षित हुआ था और उनमें से जो विशेष प्रज्ञावान् पुरुष थे, उन्होंने ज्ञान की साधना कर उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर खोजने के प्रयत्न किये और वे अपने अनुभवों का निचोड़ अपनी भागी पीढ़ियों को देते गये। उनमें से अनेकों ने इस विश्व को रचने वाले की कल्पना की और उस तथ्याकृत रचयिता को ईश्वर की मज्ञा दी। क्रिश्चियन मतानुसार सृष्टि की रचना महोमा परमेश्वर ने छ दिन में की, और अन्त में आदम को भूमि की मिट्टी में रच कर उसमें जीवन का सौम फूँक दिया। आदम को नौद में डाल दिया, और इसकी पसली निकाल कर उसे नारी बना दिया। उन दोनों की पुत्र-पुत्रिया बढ़ती गईं। ईश्वर ने पशु-पक्षी भी बनाये और वे भी बढ़ते गये और इस तरह सृष्टि का निर्माण होता गया। मुस्लिम मतानुसार भी खुदा ने मिट्टी से आदम को बनाकर उसको हुक्म दिया कि 'हो' और वह हो गया। पारसी धर्म के अनुगाम अहूर मज्द ने तमाम वस्तुएं पैदा की। वैदिक धर्म में भी पुगणों में सृष्टि का कर्ता ईश्वर को माना गया। सृष्टि की रचना कब और कैसे हुई, उन बारे में अनेक प्रकार की कल्पनाएं पुराणों में भी की गई हैं। इन कल्पनाओं और मान्यताओं से साधारण लोगों को भले सन्तोष हुआ हो किन्तु विचारशील लोगों का समाधान नहीं हुआ, क्योंकि इन कल्पनाओं में दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को कोई स्थान नहीं है। अतएव उन कल्पनाओं पर प्रकाश न डालकर यहाँ हम भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के विचारों पर ही दृष्टिपात करेंगे। पहले पाश्चात्य प्राचीन तथा अर्वाचीन दार्शनिकों के और तदनन्तर भारतीय दार्शनिकों के विचारों की मक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जाएगी।

यूनान के दार्शनिकों की विश्वसमस्या

पाश्चात्य ससार में यूनानी दार्शनिकों ने ही सबसे पहले विश्व स्वरूप की समस्या का समाधान ढूँढने में दिलचस्पी ली। जिम तरह बच्चे खिलौने किस वस्तु के बन हैं, यह जानने के लिए खिलौने को तोड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार विश्व जिन उपादानों से बना है, उनका पता लगाने में ये दार्शनिक लग गये। वे केवल कल्पना के आकाश में उड़ने वाले न थे बल्कि अपनी समस्या का समाधान वैज्ञानिक आधार पर ढूँढना चाहते थे। थैल (Thales) नामक यूनानी दार्शनिक ने, (जो ईसा से लगभग छ सौ वर्ष पूर्व हुआ था) विश्व का मूल उपादानकारण जल बताया। उसने देखा कि पानी जम कर ठोस वर्ण के रूप में आ सकता है और वाष्प के रूप में भी बदल सकता है। इसने उसने अनुमान लगाया कि कड़ी में पड़ी चट्टानें बहती से हल्की हवा पानी से निर्मित हैं और समय पाकर पानी में परिणत हो जायेगी। इस दार्शनिक के परचात् ही यूनान के एक अन्य दार्शनिक अनक्सीमण्डर (Anaximander) ने कहा कि भूतों के जिन स्थूल सान्त रूप को हम देते हैं मूल तत्त्व को उनसे अत्यन्त सूक्ष्म होना चाहिये। उसने इसका नाम 'अनन्त' 'अनिश्चित' रखा। इस अनन्त में उसने गति मानी और यह माना कि गति के कारण अनन्त शनैः शनैः टुकड़ों

में विचार कर उस विषय के भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप में प्रकट हुआ है। इसी 'अनन्त' में आग, हवा, पानी आदि तत्व बने हैं।

मिन्तु उनके बाद एक अन्य दार्शनिक जनक्सीमन (Anaximenes) ने उल्लेखित विचारकों के साथ सह-मति प्रकट नहीं की और कहा कि मूल तत्व हवा है जिससे सम्पूर्ण विश्व का प्रादुर्भाव हुआ है। मनुष्य और पशु-पक्षी भी वायु में ही ध्यान लेते हैं और वायु के ही कारण जीवित रहते हैं। बादल, पानी, पृथ्वी, पत्थर इन सबकी उत्पत्ति वायु में हुई है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यूनान के इन दार्शनिकों ने यह प्रश्न नहीं पूछा कि उन्हें 'कैसे' बनाया? उनका प्रश्न था—ये कैसे बन?

पाश्चात्य दशन के विकास में इन लोगों का चिन्तन बड़ा प्रयत्न था। इन दार्शनिकों के बाद अगले विज्ञान में हम विचारकों को सूक्ष्म तर्क-वितर्क की शक्ति रखते देखते हैं। पियागोरस (Pythagoras) जैसे दार्शनिक द्वाारा मान्यता आगे बढ़ते नए आने हैं। पियागोरस स्पष्ट चिन्तन का छोटका आकृति की ओर दौड़ता है। उनका कहना है कि महाभूत मूल तत्व नहीं हैं। मूलतः शक्ति या आकार है। बीणा के ना की डम्बाई और स्वर का सम्बन्ध बनाना उनका बनाया कि अगुली में दबाकर जिनकी लम्बाई या आकार या हम प्रयोग करते हैं उसी के अनुसार स्वर निकलता है। आकार यानि आकृति मनुष्य में प्रकट की जा सकती है। इसलिए सभी चीजें मर्याद हैं और यह सम्पूर्ण विश्व मर्यादा में बना हुआ है। उन दार्शनिकों ने मूल तत्व का परिवर्तन होना मान कर उससे विश्व-रचना की समस्या मुक्ताने की कोशिश की।

हेराक्लिट (Heraklitus) नामक दार्शनिक ने मूल तत्व अग्नि की उपाया। क्योंकि अग्नि सतत परिवर्तनशील होती है। उसका कथन था कि नगर में कुछ भी स्थायी नहीं है। नदी में दूसरी बार डुबकी लगा कर आप उसी पानी में नहीं नहा सकते।

इसके विपरीत एम्पेडोक्लस (Xenophanes) नामक दार्शनिक की यह मान्यता थी की समूचा विश्व एक ठोस पदार्थ है या परिचरितशील जो अनिर्गम्य नहीं है। दूसरे दार्शनिक पार्मेनिड (Parmenides) ने इसी बात को बढ़ाते हुए बताया कि जगत् एक अज्ञान जड़ताशील तत्व वस्तु है। गति या हमारे परिवर्तन, जो हमें दिखाई देते हैं, भ्रम हैं। एम्पेडोक्लस के एक अन्य दार्शनिक जेनो (Zeno) ने यह साबित करने का प्रयत्न किया कि जो लोग परिवर्तन की सिद्धि करने का प्रयत्न करते हैं वे अपना स्वयं का प्रतीकार करते हैं। यह दार्शनिक भी एलिफा के उपनिषद् दार्शनिकों की भाँति स्पष्ट अद्वैतवादी था।

हेराक्लिट और एलिफा के उल्लेखित विचारों की श्रृंखला आदि दार्शनिकों के अनुभव में लाभ उठाकर एम्पेडोक्लस (Empedocles) नामक दार्शनिक ने अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी ये चार चीज स्थिर कर दिये और बताया कि इन चीजों में अमर्याद कण (Particles) बरे हुए हैं। इन कण के संयोग और वियोग में सभी पदार्थ बनते और बिगड़ते हैं। इस विचारधारा परमाणुवादियों के लिए एक रास्ता खोल दिया। परमाणुवादियों में उस समय लेउसिप्पस (Leucippus) और उसका प्रसिद्ध मित्र डेमोक्रीट (Democritus) हुए हैं। डेमोक्रीट चरम परिवर्तन को नहीं मानता। उसका कहना था कि जो परिवर्तन दिख रहा है वह वस्तुओं की निरन्तर गति में हुआ है। उसका कहना था कि मूल तत्व एक है जिसको वह परमाणु कहता है। सभी परमाणु एक आकार के नहीं होते, उनके बने पिण्डों के आकारों में भेद है। ये परमाणु निरन्तर चलते रहते हैं और हरकत करते रहते हैं उनका दूसरों से संयोग हाता है तथा इन तरह में जगत तथा हमारे पिण्डों का निर्माण होता है।

अफलातून (Plato) की विचारधारा (४२७ मे ३४७ ई० पू०)

गोदस्वरूप मनुष्य के सभी मिथ्या यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून (Plato) को मत्तु नहीं कर सके। वह अपने गुणगुणों की इस बात में महत्तया कि ठीक ओर में प्रयत्न करने पर ज्ञान सम्भव है। साथ ही हेराक्लिट की





राय से भी सहमत था कि इन्द्रियगम्य वस्तुएँ मदा बदलती हैं और उनमें सत्य पर नहीं पहुँचा जा सकता। यह एलिया-तिको की भाँति एक परिवर्तनशील जगत् को मानता था और उसने परमाणुवादियों के बहुत्ववाद या भी समर्थन किया। इन सब के सम्मिश्रण में इस परिणाम पर पहुँचा कि ज्ञान का विषय इस जगत् की दिग्गता हुई चीजें नहीं बल्कि एक इन्द्रिय-अगोचर पदार्थ विज्ञान (Idea) है जो पिथागोरस की आकृति में मिश्रित था। वह सामान्य का पक्षपाती था। उसका कथन था कि विश्व में जितने पदार्थ हैं वे वस्तुतः सत्य नहीं हैं, असली विज्ञान [Idea] की अपूर्ण प्रतिलिपि मात्र हैं। विश्व में जितने अक्षय दिग्गता पड़ते हैं वे सब अश्व के विज्ञान (Idea) की प्रतिलिपियाँ हैं। अक्षय दिग्गता पड़ते हैं पर अश्वता (सामान्य) को कोई नहीं देख सकता। यह सामान्य अनादि अगोचर मूल स्वरूप है और नित्य तत्त्व है। एक मूल तत्त्व की अनगुनी प्रतिलिपियाँ सम्मिश्रित हैं। जिस तरह मूर्ति के सामान्य (Idea) से उस आकृति की अनेकों मूर्तियाँ पत्थरों पर अंकित की जा सकती हैं। अफलातू (Plato) की मान्यता के अनुसार सामान्य तत्त्व या नि मूल स्वरूपों का इस लोक में परे अन्य लोक है जहाँ पर ये मूल तत्त्व (Ideas) क्रमशः व्यवस्थित हैं। उनमें पूर्ण शिव (Perfect god) का विज्ञान सर्वोच्च है। चूँकि सामाजिक वस्तुएँ उन विज्ञानों की प्रतिलिपियाँ हैं और वे प्रतिलिपियाँ भौतिक तत्त्वों का आवार लिय हुए हैं, इसलिए अफलातू ने भौतिक तत्त्वों का अस्तित्व भी अनादि काल में माना है। विज्ञान (Idea) और भौतिक तत्त्वों को साथ लाने के लिए अफलातू ने एक विधाता 'देमिउर्ग' (Demiurge) की रचना की है जिसमें उसने मूर्तिकार की उपमा दी है। विधाता मानवमूर्तिकार की भाँति विज्ञानजगत् (मानसिक दुनियाँ-World of Ideas) में मौजूद नमूने (मूल स्वरूप-सामान्य-Ideas) के अनुसार भौतिक विश्व को बनाता है। भौतिक तत्त्व अपूर्ण होने से विज्ञान की शुद्ध प्रतिलिपियाँ पैदा होने में बाधा पड़ती है, इस कारण इस विश्व में कमियाँ नजर आती हैं। अफलातू ने इन्द्रियगम्य प्रत्यक्ष जगत् से अलग बुद्धिगम्य विज्ञान-जगत् को वास्तविक जगत् बताया है।

अरस्तू (Aristotle-३८४-३२२ ई० पू०)

अफलातू के बाद उसका शिष्य अरस्तू (Aristotle) एक महान् दार्शनिक के रूप में ससार के समक्ष आया। वह अफलातू के विज्ञान (Ideas) को तो मानता था किन्तु विज्ञान-जगत् की जड़ता को स्वीकार नहीं करना था। उसकी मान्यता थी कि विज्ञान (Ideas) जिसे वह आकृति कहता था, भौतिक तत्त्वों (Matters) में मौजूद है। उदाहरण के लिये एक वट वृक्ष को लीजिये। इसके बीज में वट वृक्ष की आकृति समाई हुई रहती है। इसी प्रकार वट वृक्ष में लकड़ी के तत्वों की आकृति समाई हुई है और लकड़ी के तत्वों में Furniture की आकृति है। इन हरक में बीज में, वृक्ष में, लकड़ी के तत्वों में और Furniture में भौतिक तत्व और आकृतियाँ समाई हुई हैं। इन सब वस्तुओं के मूल में वट वृक्ष की आकृति (मूल-स्वरूप) रही हुई है, वह आरिवर्तनीय है। केवल भौतिक तत्व भिन्न-भिन्न आकृतियों में बदलकर उपरोक्त वस्तुओं के रूप में हमारे समक्ष आया। भौतिक तत्त्व सदा आकृति पाने की चेष्टा में रहता है। भौतिक तत्व और आकृति अनादि काल से हैं। इनको किसी ने पैदा नहीं किया और ये सदा शाश्वत रहेंगे। भौतिक तत्वों की आकृति लेने की प्रक्रिया से इस विश्व में उत्पन्न हुई सब वस्तुएँ रामझाई जा सकती हैं। इस विश्व के स्वरूप को समझने के लिये हम मूर्तिकार द्वारा मूर्ति बनाने के उदाहरण को लेते हैं। अफलातू का मूर्तिकार मूर्ति के सगमरमर से भिन्न भिन्न है। किन्तु अरस्तू का मूर्तिकार सगमरमर पर निर्भर है। पूर्ण मूर्ति का विज्ञान अरस्तू के अनुसार सगमरमर में रहा हुआ है जो स्वरूप सगमरमर प्राप्त करता है। अरस्तू के विचार से विधाता नहीं है तो भी सभी वस्तुओं का प्रिचाव पूर्ण विकसित विज्ञान-ईश्वर की ओर है। अरस्तू की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु चार कारणों से बनती है —

- (१) विज्ञान कारण (Formal cause) — मूर्तिकार के मन में मूर्ति के स्वरूप का विचार।
- (२) उपादान कारण (Material cause) — सगमरमर वा भौतिक तत्व जिससे मूर्ति की रचना की जाने को है।
- (३) निमित्त कारण (Efficient cause) — वे औजार आदि जो मूर्ति के निर्माण में सहायक हों।
- (४) अन्तिम कारण (Final cause) — जिस उद्देश्य के लिये मूर्ति निर्मित की गई हो।

अस्तु का रहना है कि भौतिक तत्वों और आकृति के मिलने में गति पैदा होती है। और जब कभी भौतिक तत्व आकृति प्राप्त करने में सफल हो जाता है तो गति, बुद्धि और कर्मिया हम देखते हैं। वैसे भौतिक तत्व आकृति प्राप्त करने में सफल होते हैं। अस्तु की दुनिया केवल भौतिक पैदावार नहीं है किंतु कुछ वस्तुओं के उद्देश्य में प्रयत्नशील है। उन प्रक्रिया के अन्तिम रूप को अस्तु विश्व का अचल चालक के नाम से सम्बोधित करता है। यह भौतिक तत्व नहीं है न किसी की पैदावार का कारण है। हम इस अचल चालक का अनुभव नहीं कर सकते लेकिन विचारों के रूप में है। अस्तु का रहना है कि बिना आकृति के भौतिक वस्तु की कल्पना और बिना भौतिक वस्तु के आकृति का कल्पना भी अन्तिम कल्पना है जिसका अनुभव हमें नहीं हो सकता। विश्व की वस्तुएं टेबल, कुर्सियाँ, मनुष्य, आत्मा, आदि भौतिक रूप और आकृति दोनों के मेल में बनती हैं।

इन प्रक्रिया अस्तु विश्व के स्वरूप का समझने का प्रयत्न किया है।

एपिकुरीय भौतिकवाद व स्तोइको का शारीरिकवाद

अस्तु के समय यूनानी गण्य या पवन हो गया था, इन प्रक्रिया हमके दर्शन की भी जाये प्रगति नहीं हुई। एपिकुर (Epicurus) नामक दार्शनिक ने, जो भोगवाद का मन्त्रापक था, डेमोक्रेट (Democritus) के परमाणुवाद के आधार पर अपने दर्शन का निर्माण किया। उनके अनुसार विश्व की सब वस्तुएं शरीर हैं जो छोटे बड़े भिन्न प्रकार के प्रणुओं से बना है और यह विश्व मय, रुद्धता में स्थिति में बन गया है। इसी बात के स्तोइको (Stoicos) का दर्शन विश्व-स्वरूप के सम्बन्ध में अस्तु ने कुछ भिन्नता-डुल्लता था। वे भी विश्व को भौतिक तत्व और आकृति अथवा शक्ति इन दो तत्वों से बना हुआ मानते थे। उनका कहना था कि भौतिक तत्वों के बिना शक्ति नहीं और शक्ति के बिना भौतिक तत्व नहीं मिल सकते। इसलिए भौतिक तत्व को सर्वत्र शक्ति (ईश्वर) में व्याप्त मानना चाहिये। अतः कुछ ने कुछ वस्तुओं को शक्ति का अंग है। इस प्रकार ईश्वर सब का पिता है।

ईसाई धर्मवादी दार्शनिकों के विचार

उनके पश्चात् ईसाई धर्म के विचारों ने अपने धर्म में यूनानी दर्शन का मेल बिठाकर यह बताया कि विज्ञान-आकृति-शक्ति (Idea, Form, Force) यह ईश्वर के सम्पत्ति में थे और भौतिक तत्वों को ईश्वर ने धूल से पैदा किया था और इन सब मूर्ति अपने स्वरूप में शक्ति। इन सब के प्रणेता अगस्तिन (Augustine) का यह भी कहना था कि विज्ञान (Ideas) दैविक होने में पुन ईश्वर में मिलना चाहते हैं किन्तु भौतिक तत्व उन्हें रोकने का प्रयत्न करता है। ईश्वर द्वारा मूर्ति की उत्पत्ति के विचार को इसी भाँति कुछ जोड-मोड के साथ ईसाई धर्मवादी दार्शनिक कहते हैं।

नवीन यूरोप के जागरण के पश्चात् की दार्शनिक धारा

फ्रान्सिस बेकन — सोफिस्टी गरी में फ्रान्सिस बेकन ने धर्म की दर्शन में अलग रूप में समझने की कोशिश की। उनमें विश्व के स्वरूप को पूरा समझने की कोशिश तो नहीं की किन्तु वैज्ञानिक रूप में विश्व-स्वरूप को समझने का रास्ता उजाड़ दिया। बेकन के मतानुसार उन विश्व में केवल शरीर (Individual bodies) है जो निश्चित नियमों के नियंत्रण में हैं। उन नियमों को समझने में विश्व-स्वरूप की समस्या की सुटती मूलज सकती है।

दकार्त (Descartes, १५९६-१६५०) — दकार्त ने यान्त्रिक तरीके से प्रकृति की प्रक्रिया को समझाया, 'मैं सोचना है उसका मैं हूँ।' यह स्पष्ट और अमरिग्र है इसलिए यह सब है। स्पष्ट और अमरिग्र विचार होने से दकार्त ने ईश्वर को भी सब मान लिया। जगत् को ईश्वरनिर्मित माना। आत्मा और शरीर (Mind and body) का इतने भिन्न-भिन्न माना और यह कहा कि भावान की दिव्य महायत्ना से आत्मा शरीर की गति को



संचालित कर सकती है। ईश्वर के नाम के बार में दार्ता का कहना है कि ईश्वर ने प्रकृति में जो गति पैदा की उसे जारी रखने के लिये ईश्वर को अब भी सक्रिय रहना पड़ता है।

स्पिनोजा (Spinoza १६३२-१६७७) —किन्तु स्पिनोजा ने ईश्वर को एक परम तत्त्व के रूप में माना है और उसी को विश्व सम्बोधित किया है। उसका कहना है कि एक मान्य वस्तु अपनी सत्ता के लिये अग्रगण्य तत्वों पर निर्भर है और इनमें से भी प्रत्येक तत्त्व दूसरे अनगिनती तत्वों पर निर्भर है। इस तरह कोई ऐसा तत्व अवश्य होना चाहिये जो स्वयंसिद्ध, स्वयं अपना आधार हो। ऐसा तत्व स्वयं प्रकृति या ईश्वर है जो अनन्त और पूर्ण है। हरेक अन्तिम शक्ति ईश्वर का गुण है। मनुष्य इन गुणों में दो गुणों को जानता है — विस्तार (Extension) और चिन्तन (Thought)। ये दोनों गुण अपने आप में स्वतंत्र हैं। परन्तु एक ही परम तत्व ईश्वर के दो भिन्न-भिन्न रूप हैं। इस प्रकार स्पिनोजा के अनुसार सम्पूर्ण विश्व एक तत्व है जिसे वह परमात्मा या प्रकृति के नाम से पुकारता है।

जोह लॉक (Johan Lock, १६३२-१७०४) —इस दार्शनिक ने दार्ता के विचार को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। उसका कथन है कि जगत् द्रव्यों से निर्मित है जो शक्तियों और गुणों के आधार हैं, और जिनमें क्रियाएँ निहित रहनी हैं और निष्पत्त होती हैं। द्रव्य गुणों और क्रियाओं के कारण और आधार हैं। द्रव्य दो तरह के हैं—शरीर और आत्मा। शरीर द्रव्य के विशेषणप्रपञ्च यानि विस्तार (Extension) कठोरता (Solidity) अभेद्यता (Impenetrability), ये प्रसर (Space) में भरे हैं। आत्मा एक वास्तविक सत्ता है जिसके विशेषण प्रत्यक्ष या विचार शक्ति और सकल्य या शरीर को गतिमान करने की शक्ति है। इन गुणों को हम विमर्श (Reflexion) द्वारा जान सकते हैं। आत्मा, मन और शरीर एक दूसरे पर प्रभाव डालते रहते हैं। उदाहरण के लिये शरीर मन पर प्रभाव डालता है जिससे हम रग, दर्द, स्पर्श आदि को अनुभव करते हैं। लॉक का सिद्धान्त द्वैतवादी है। उसके कथनानुसार आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्य हैं जिनमें विश्व का निर्माण होता रहता है।

बर्कले (Barkeley १६८५-१७५३) —बर्कले भौतिक तत्व के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता था। उसका कहना था कि मुख्य या गौण गुणों के सम्बन्ध में हमारे विचार या वेदनाएँ हैं, वे किन्हीं वास्तविक बाह्य तत्वों की प्रतिविम्ब नहीं हैं। वे सिर्फ मानसिक वेदनाएँ हैं। बर्कले के अनुसार मनु के तत्व हैं भगवान्, उसकी धनाई आत्मा और भिन्न-भिन्न विचार, जो उसकी आज्ञानुसार विशेष अवस्थाओं में पैदा होते हैं। बर्कले का कहना है कि मेरे मन में संवेदनों (Sensations) या प्रत्ययों (Ideas) का कोई कारण होना चाहिये। और यह कारण कोई सक्रिय द्रव्य होना चाहिये, क्योंकि यह कारण भौतिक द्रव्य नहीं हो सकता, अतएव यह अमूर्त नक्रिय द्रव्य या स्पिरिट होना चाहिये। स्पिरिट एक है, अविभाज्य है, सक्रिय है। हम स्वयं स्पिरिट को नहीं देख सकते किन्तु उसके द्वारा उत्पन्न कार्यों (Effects) को ही देख सकते हैं। फिर भी हमें आत्मा या स्पिरिट का और मनस् की क्रियाओं (मकल करना, प्यार करना, घृणा करना आदि) का, जिस अर्थ में भी हम उन्हें समझते हैं, बोध होता है। इस प्रकार बर्कले ने दार्ता, स्पिनोजा और लॉक द्वारा बताये गये भौतिक विश्व को स्वीकार नहीं किया। उसकी मान्यतानुसार जो कुछ भी अस्तित्व में है वे मनस् में रहे हुए प्रत्यय हैं। उसका कथन था यदि वे मेरे मनस् में नहीं हैं तो आपके मनस् में हैं, परात्मा के मनस् में हैं, वे निम्नदेह भौतिक (Material) दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

ह्यूम (Hume १७११-१७७७) —इस दार्शनिक ने यह महसूस किया कि बर्कले के दावे नहीं जा सका। हमको केवल द्रव्य का ही विचार नहीं छोड़ना चाहिये बल्कि ईश्वर का विचार (Idea) छोड़ देना चाहिये, जिसके मनस् में सब प्रत्ययों का होना माना है। ह्यूम का कथन है कि द्रव्य (Substance) की धारणा निरर्थक है, चाहे उसे मनस् पर उपयोजित किया जाय या पुद्गल पर। मनस् द्रुत गति में एक के बाद एक आने वाले अविच्छिन्न प्रभाव युक्त विभिन्न प्रत्ययों की राशि है। इन्द्रियजन्य अनुभव के अतिरिक्त ज्ञानप्राप्ति का माधन ह्यूम ने स्वीकार नहीं किया, और इसी कारण आत्मा व ईश्वर की सत्ता भी उसने स्वीकार नहीं की। ह्यूम के संदेहवाद से यह स्वाभाविक था कि लोगों को कोई सतोपकारक समाधान नहीं दिया।

लाइब्निट्ज (Leibnitz १६४६-१७१६) — यह जर्मन दार्शनिक आत्मरूपवाद (Monadism) का प्रवर्तक था। इसके अनुसार ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो क्रिया नहीं करता हो। उन पदार्थ का मुख्य विशेषण प्रसरण (Extension) न होकर शक्ति (Force) है। लाइब्निट्ज के दर्शन में प्रकृति की गतिशील व्याख्या की जगह गतिशील (dynamic) या ऊर्जाशील (energetic) व्याख्या की गई है। जो शक्तिशाली जगत् का उद्गम है। चूंकि अनेक वस्तुओं की सत्ता होती है, अतएव प्रकृति में एक शक्ति न होकर अनन्तमध्यक शक्ति है, जिनमें से हर एक विशिष्ट प्रत्यक्ष द्रव्य होता है, जिनकी इकाई मोनड (Monad) कहलाती है। पदार्थजगत अनन्तमध्यक गतिशील इकाइयों या अमूर्त, अप्रविष्ट, निरवयव शक्ति की इकाइयों से निर्मित है। प्रत्येक मोनड में प्रत्यक्ष या उपलब्ध (Representation) शक्ति होती है, वह नारे विश्व का प्रत्यक्ष, अभिव्यक्ति और उपलब्ध करता है। इस अर्थ में वह स्वयं एक मध्य द्रव्य है। वह विश्व का जीवन द्रोत है या महाशक्तिशाली जगत् है। मोनड सीमित होता है, वह अलग-अलग होता है और उनके बाहर उसमें अन्य मोनड भी होते हैं। मोनड जिनकी ऊंची धरोहर का होगा वह जगत् के अनेक भाग की अपनी ही सत्ता प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करेगा। इनमें यह नवीजातिकावा कि 'विश्व में होने वाली प्रत्येक घटना की अनुमति प्रत्यक्ष की होती है। जो सब कुछ देखता है वह प्रत्येक विशिष्ट वस्तु में हर जगह होने वाली चीज को देख सकता है। वह वर्तमान में प्रसरण (Space) और काल में उन दूरस्थ चीजों को भी देख सकता है, जो हुई हैं और होंगी।

लाइब्निट्ज के अनुसार मोनड आत्मरूप (Monad) विकास में एक में नहीं हैं। कुछ का विकास अत्यन्त अल्प है, कुछ का विकास इनमें ऊँचा और कुछ का बहुत ऊँचा है। जीवित प्राणियों में आत्मा (Queen Monad) होता है जो सब दूसरे मोनडों का प्रत्यक्षदर्शक है। सबसे ऊँचा मोनड चरम विकास की प्राप्ति ईश्वर है। उसकी चेतना गंभीर, अत्यन्त और पूर्ण अत्यन्त सक्रिय है। मनम् ईश्वर का विलक्षण स्पष्ट प्रत्यक्ष (Idea) नहीं बन सकता, क्योंकि ईश्वर सबसे बड़ा मोनड है और मनम् सीमित है। पूर्ण मनम् को एक पूर्ण मनम् की पूरी तरह समझ सकता है। ईश्वर की वात्सा बुद्धि में परे है किन्तु बुद्धि के विरही नहीं है। मोनड एक दूसरे पर प्रभाव नहीं डालते किन्तु सर्वोच्च मोनड ईश्वर उस नियम का अपवाद है। उनमें एक तरह आने में वे उन आत्मरूपों को पैदा किया। आत्मरूप अपनी क्रियाओं के समन्वय में जो आपस में सहयोग करते दीप्त पड़ते हैं वह "प्रत्येक में स्थापित समन्वय (Harmony) के कारण है।" लाइब्निट्ज अविच्छिन्नता (Continuity) के सिद्धांत को मानता है जिसका आवश्यक परिणाम है कि मोनड में वह चीज नहीं हो सकती जो उसमें सदा से नहीं हो। मोनड विकास की विभिन्न अवस्थाओं में गुजरता है जिसमें उसकी पूर्वनिर्मित चीजों का प्रादुर्भाव होता रहता है। आदम के वीर्य और ईव के गर्भ में मानव जाति पूर्वनिर्मित थी। जिस व्यक्ति का आज विकास हो चुका है वह कल बीज रूप पूर्वनिर्मित था। भविष्य की अवस्थाएँ पहले की अवस्थाओं में पूर्वनिर्मित रहती हैं। ईश्वर ने विश्व को इस प्रकार व्यवस्थित कर दिया है कि उसके हस्तक्षेप के बिना विश्व का संचालन होता रहता है।

इमैनुएल कान्ट (Immanuel Kant १७२४-१८०४) — हाफज, स्पिनोजा, देकार्त, लाइब्निट्ज आदि के दर्शनों में या तो भौतिक तत्त्वों को ही मूल तत्त्व होने पर जार दिया गया है अथवा प्रकृति की उपेक्षा करके विज्ञान (चेतना) को ही एक मात्र परम तत्त्व कहा गया है। जर्मनी के नुविस्व्यान दार्शनिक कान्ट के दर्शन का मुख्य उद्देश्य था ह्यूम के नद्वैवाद और पुरानी रूढ़ि को सीमित करना तथा भौतिकवाद, अनैश्वरवाद को नष्ट करना। उनमें ईमाट्यन की तग चहान्दीवारी को बड़ाकर ईश्वर, कर्म, आतम्य तथा आत्मा के अमरत्व आदि धर्मों के भौतिक सिद्धान्तों का त्याग करनी चाहती। इन्हीं को लेकर उनमें अपने प्रकट तर्कों के ताने-बाने बुने। उसका कथन था कि मानवबुद्धि बहुत दूर जा सकती है, किन्तु उनकी गति अत्यन्त तक नहीं हो सकती। ईश्वर और परलोक मानव के तजुओं के बाहर की चीजें हैं। इसलिए उनके बारे में कोई तर्क-वितर्क नहीं किया जा सकता है, बल्कि उन्हें अज्ञात माना जाना है। सिद्धान्तिक तौर पर वह अज्ञात ही कमजोर मान्यता पड़ती हो, लेकिन व्यवहारमूलक (Practical) होने में वह काफी प्रबल है। ईश्वर तथा परलोक में विश्वास, समाज और व्यक्ति में दानि और नियम का प्रचार करते हैं। कान्ट का कहना है कि जो ज्ञान हमें मिलता है वह वास्तविक पदार्थों का उद्गम नहीं होता। यह है कान्ट का नद्वैवाद। तजुओं और प्रयोग से ज्ञान आने की बात कह कर वह प्रयोगवादी-सा मालूम पड़ता है। वादही





वाता की बिना परवाह बिबे अपने अनुभवों के चिन्तन से अपने स्वभाव के अनुसार गृहण करना बुद्धिवाद है। कान्ट ने अपने मतलब के लिये प्रयोगवाद, मदेहवाद, बुद्धिवाद तीनों का प्रयोग किया है। आत्मा के सम्बन्ध में उसने कहा कि हम साक्षात्कार नहीं कर सकते किन्तु उसके अस्तित्व पर मनन कर सकते हैं। आत्मा को इन्द्रियों की सहायता में नहीं जान सकते क्योंकि वह सीमातीत और इन्द्रियागोचर है। वस्तुमात्र (Nomen) भी अज्ञेय है किन्तु वह है अवश्य।

वस्तुसार, अमर आत्मा, कर्मस्वातन्त्र्य, ईश्वर यदि हमारी समझ के विषय नहीं हैं तो उनसे उनका न होना साबित नहीं होता।

शुद्ध बुद्धि लिखने के बाद व्यावहारिक बुद्धि लिखकर कान्ट ने अपने अनुभवशील ज्ञान के सिद्धांत पर लीपा-पोती की है। इस प्रकार कान्ट ने दो प्रकार के विश्व बतलाये हैं— एक अनुभव के आधार पर जिसे उसने फिनिमेनल वर्ल्ड (Phenomenal World) कहा और दूसरा बुद्धि और तर्क के आधार पर (Noumenal World) है। एक शुद्ध वैज्ञानिक, दूसरा व्यावहारिक जगत् है।

फिच्टे (Fichte १७६५-१८१४) —कान्ट ने बहुत प्रयत्न से वस्तुमात्र की समाज की सीमा के पार बुद्धि-अगम्य साबित किया था, किन्तु जर्मनी के एक अन्य दार्शनिक फिच्टे ने कहा कि वस्तुमात्र भी मन में परे की चीज नहीं। विश्व में प्रत्येक वस्तु एक सजीव प्रवाह है। फिच्टे का विचार Ego को लेकर प्रारम्भ हुआ जिसे वह स्वतन्त्र और स्वयं निर्माणकर्ता के रूप में देखता है और उसे "परमात्मा" कहता है। परमात्मा ने अपने को ज्ञाता (आत्म) और ज्ञेय (विषय) के रूप में विभक्त किया। क्योंकि आत्मा के आचारिक विकास के लिये ऐसे बाधा डालने वाले पदार्थों की जरूरत है, जिनको फिच्टे आत्मा अपने आचारिक प्रयत्न से पार करे। इन्हीं कारणों से परमात्मा को अनेक आत्माओं में भी विभक्त होना पड़ता है। विश्व की समस्त भौतिक दिखने वाली वस्तुएँ इसी परमात्मा में उत्पन्न हुई हैं।

हेगेल (Hegel, १७७०-१८३१) —आधुनिक युग में भौतिकवादी दर्शन का जो नया प्रवाह प्रारम्भ हुआ, हेगेल के दर्शन के रूप में चरम सीमा पर पहुँचा। उसके दर्शन के विकास में अफलातू, अरस्तू, स्पिनोजा, कान्ट का हाथ है। कान्ट से उसने लिया कि मन सारे विश्व का निर्माता है और हमारे वैयक्तिक मन विश्व-मन के अंग हैं। स्पिनोजा से उसने यह लिया कि आत्मिक और भौतिक तत्त्व उभरी एक अनादि तत्त्व के दो रूप हैं। अफलातू से उसने यह लिया कि सामान्य विज्ञानों (Ideas) का ही वास्तविक जगत् है, भौतिक जगत् उसी आत्मिक जगत् की प्रतिच्छाया है। हेगेल ने अरस्तू के आत्मिक विकास को भी रोना चाहा। हेगेल की देन है "द्वन्द्वात्मक विकास" (Dialectical Evolution)। उसके अनुसार विश्व निरन्तर होते विकासों का प्रवाह है। परमात्मतत्त्व (Absolute) विश्व के विकास का परिणाम है। वस्तु आगे बढ़ते-बढ़ते अपने विरोधी रूप में बदल जाती है। इन दोनों का द्वन्द्व चलता है, फिर दोनों का समन्वय एक तीसरी चीज में होता है। इनमें पहली बात वाद (Thesis) दूसरी प्रतिवाद (Anti-thesis) और तीसरी मवाद (Synthesis) कहलाती है। उदाहरण के लिये परमेन्द्र ने कहा— मूल तत्त्व स्थिर है, यह वाद हुआ। हेराक्लितु ने कहा कि वह निरन्तर परिवर्तनशील है यह प्रतिवाद हुआ। परमाणुवादियों ने कहा यह न तो स्थिर ही है न परिवर्तनशील ही, वरिष्ठ दोनों हैं, यह मवाद हुआ। हेगेल के अनुसार जगत् मवाद बनाया जा रहा है। वह विश्व में परिवर्तन की बात करता है किन्तु वास्तविक परिवर्तन की वह एक तरह से इन्कार करता है। क्योंकि उसके कथनानुसार जो भविष्य में होने वाला है वह पहले से ही मौजूद है। इस परम तत्त्व की एकता में वह विश्व की विचित्रताओं को खपा देना चाहता है।

स्पेन्सर (Spencer, १८२०-१९०३) —स्पेन्सर ने अपने दर्शन के सिद्धांतों को डार्विन आदि Biologists के सिद्धांतों पर विरसित किया है। उसका कहना है कि हम सीमित वस्तु को जान सकते हैं। परमतत्त्व को जानना हमारी शक्ति से बाहर है। उसके अनुसार परम तत्त्व अज्ञेय है जो परस्पर विरोधी बड़े समुदायों में अपने को प्रकाशित करता है, वह है अन्तर और बाह्य, आत्मा और अनात्मा, मन और भौतिक तत्त्व। उसका कहना है कि विकास के

प्रभाव में हम भिन्न-भिन्न रूप देखते हैं। जैसे मानवशरीर-हाथ, भुजाएँ, हृदय, फेंफड़े, पाव आदि पिण्डों में एक व्यवस्थित रूप में एकीकृत निर्माण में आता है। इनमें सब पिंड आने अलग-अलग काम करने रहते हैं। इनके विपरीत वही शरीर विनाश में विभाजित होता है और भौतिक तत्त्वों को विनाश नित्य-चक्र कर देता है। स्पष्ट मानव को इन्द्रियों की दुनियाँ तक ही सीमित रखना चाहता है। फिर भी अज्ञेय जगत् को झमलिये स्वीकार करना है कि विकास पर प्रभाव डालने वाले कारण कहीं होने चाहिये, और उन्हीं को अज्ञेय नाम में उनमें सम्मिलित किया है।

मार्क्स (Marx, १८१८-१८८३) —यह भौतिकवादी दार्शनिक था। हेगेल के दर्शन परिवर्तनवाद प्राणिगतिवाद का मन्कार करके मार्क्स ने अपने दर्शन की स्थापना की। उसकी मान्यता है कि भौतिक तत्त्व प्राणी में पहले मौजूद थे। प्राणीवाद की उपज है। मन प्राणी की भी पिछली अवस्था में पैदा हुआ है। इस तरह साफ है कि मन भौतिकतत्त्व की उपज है किन्तु मन स्वयं भौतिक तत्त्व नहीं है। मार्क्स के अनुसार मूल भौतिकतत्त्वों से परमाणु, अणु, गुच्छक, फिर आरम्भिक निर्जीव द्रव्य पिण्ड, तथा जीव-अजीव के बीच के विरस (Virus) और बैक्टीरिया जैसे एक मेल बाने अत्यन्त सूक्ष्म मत्त्व बने। एक मेल बाने प्राणियों में क्रमशः विकास होते-होते अस्थि-रहित, अस्थिवहारी, स्तनधारी जीव यहाँ तक कि कुछ लाख वर्ष पहले मनुष्य या उपस्थित हुआ। इस तरह मानवजाति और मारा विश्व प्रकृति की उपज है। प्रकृति ही मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करती है। भौतिक उपज-जाना, कपड़ा आदि तथा उस उपज के साधनों पर ही मानव-मयाज कायम है।

“महान् मानविक मन्कृति” “दिग्ध चिन्तन” चाहे जैसे ही बटे-बटे जल्दों का इन्फेमाल नीजिये, है वह सभी भौतिक उपज की करतूतें।

ना कुछ देखा भाव-भजन में ना कुछ देखा पोयी में।
कहे कबीर जुनो भाई सन्तो, जो देखा सो रोटी में ॥

मार्क्स की इन मान्यताओं ने आध्यात्मिक क्षेत्र के ईश्वर को गायब कर दिया और इस विश्व को भौतिक तत्त्वों के विकास का परिणाम बताया।

जेम्स (James, १८८२-१९१०) —जेम्स के दिल में माईस के प्रयत्नों, उसकी गवेषणाओं और सच्चाइयों के प्रति बहुत प्रेम था। अमेरिका का यह दार्शनिक मस्तिष्क की कल्पनाओं को महत्त्व नहीं देता था। इसका विश्वास था कि किसी भी मिथ्यात की जांच उसके परिणामों से करनी चाहिये। जेम्स दर्शन के दर्शन को प्रभाववाद (Pragmatism) कहते हैं। इसके अनुसार सच्चा ज्ञान वह है जिसकी हम परीक्षा कर सकें। जो प्रयोग या अनुभव से मिश्र है वही सत्य है। इसके दर्शन के अनुसार ईश्वर का मानना युक्तिमगत नहीं है, फिर भी वह ईश्वर को विश्व का एक शक्तिशाली अंग मानता है। आत्मा को वह वास्तविक नहीं मानता है और कहता है कि वास्तविकता एक अंग में हमारी वेदनाओं (Sensation) का निरन्तर चला आता प्रभाव है, जो आते और विलीन होते जाते हैं। किन्तु आते कहाँ में हैं, हम नहीं जानते।

बेर्गसा (Bergson, १८७६-१९४१) —इस फ्रेंच दार्शनिक के अनुसार अमली तत्त्व न भौतिक है न मन यानि विज्ञान, बल्कि दोनों में भिन्न अनुभव है। उससे भौतिक तत्त्व तथा मन दोनों उत्पन्न होते हैं। ये मूल तत्त्व सदा परिवर्तनशील हैं। बेर्गसा के दर्शन को “परिवर्तन का दर्शन” या “सृजनात्मक विकास” कहा जाता है। माईस इस हिनते-चलते विश्व का केवल एक अंग हमें बतलाता है। अंग समूचा विश्व नहीं हो सकता। एक भिन्न हुआ या एक कटा हुआ अंग निर्जीव और अव्यस्तविक होता है। बेर्गसा का कथन है कि विश्व एक सृजनात्मक विनाश की क्रिया है, जिनमें नये-नये पदार्थ प्रस्फुटित होते रहते हैं।

बर्ट्रैंड रसल (Bertrand Russell, जन्म १८७२ ई०) —यह अंग्रेज दार्शनिक मानता है कि मूल तत्त्व न विज्ञान (मन) है, न भौतिक तत्त्व। दोनों से अलग “अनुभव तत्त्व” है, जो तत्त्वों की एक जाति है। जगत्





अनेक या असंख्य तत्त्वों का समूह है। यह अपने दर्शन को सध्या की भाषा में यानि लोम-विलोम भाषा में प्रकट करता है। जिसे हम रात और दिन दोनों कह सकते हैं। म्रव्य रगल ने अपने दर्शन को तार्किक परमाणुवाद, अनुभववाद, अद्वैतवाद, द्वैतवाद, वस्तुवाद कहा है। कहीं-कहीं रमल हमारे गारे अनुभवों का विश्लेषण प्रकृति के मूल तत्त्व परमाणुओं के रूप में करता है।

भारतीय दर्शनों में विश्व-स्वरूप

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार लोक-स्वरूप के भिन्न-भिन्न पहलू हमने देखे। अत्र भारतीय दर्शनशास्त्रियों के अनुसार जगत् का स्वरूप देखें। भारतीय दर्शनों में चार्वाक के अतिरिक्त सभी मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। यद्यपि भिन्न-भिन्न दर्शनों में मोक्ष के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। सभी दर्शन प्रायः सृष्टि-क्रम को अनादि मानते हैं। वर्तमान सृष्टि के पहले अन्तः सृष्टियाँ हुई हैं तथा अनेक प्रलय भी हुए हैं। सृष्टि और प्रलय का क्रम अनादि है। अनादि विश्व की विशालता की दृष्टि से भारतीय विद्वानों ने पृथ्वी को अत्यन्त नगण्य माना है। अन्त आकाश में पृथ्वी एक बिन्दु मात्र है। जीवन मानो काल-मनुष्य में एक छोटो सी रङ्ग है। काल-चक्र के साथ-साथ सभ्यता का विकास और विनाश, उत्थान और पतन होना ही रहना है। आइये, अब हम भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शन-शास्त्रियों की विश्व-स्वरूप की मान्यता को देखें।

चार्वाक दर्शन — विश्व के मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में चार्वाक का मत उनके प्रमाण सम्बन्धी विचारों पर अवलम्बित है। उनके अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। इन्द्रिय वह ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, अदृष्ट आदि को नहीं मानते। चार्वाक केवल जड़ को ही एक मात्र तत्त्व मानते हैं। जड़-जगत् के निर्माण के सम्बन्ध में अनेक भारतीय दार्शनिकों का मत है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन पंच भूतों में जगत् बनता है। किन्तु चार्वाक आकाश के अस्तित्व को नहीं मानते क्योंकि आकाश का ज्ञान अनुमान से होता है, प्रत्यक्ष में नहीं। अतः वे केवल चार तत्त्वों से ही ससार की उत्पत्ति मानते हैं। उनके कथनानुसार प्राणियों का जन्म तत्त्वों के सहयोग में होता है। मृत्यु उनका विपर्यय है। चैतन्य को वे शरीर का गुण मानते हैं। वे जगत् के किसी सृष्टा की कल्पना भी अनावश्यक मानते हैं। जड़ तत्त्वों के सम्मिश्रण से ससार की उत्पत्ति होती है।

महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन — ससार के सभी कार्य-द्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) से बनते हैं। परमाणुओं के मयोग और विभाग यों ही नहीं हुआ करते। वे कर्मफल के अनुसार प्रेरित होते हैं। इनके अनुसार परमाणुओं की गति का सूत्रधार ईश्वर है, जो जीवों के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिये परमाणु की क्रियाओं को प्रवर्तित करता है।

वैशेषिक का परमाणुवाद जगत् के उस भाग के बारे में है जो अनित्य है। नित्य पदार्थों (आकाश, दिक्, काल, मन, आत्मा और भौतिक परमाणु) की न तो सृष्टि होती है, न विनाश। जगत् में जो क्रम देखने में आता है उसकी उत्पत्ति के बारे में उनका कहना है कि जगत् में परमाणुओं के मयोगजन्य भौतिक कार्य द्रव्य भी हैं और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार से युक्त जीवात्मक भी है। ये दिक्, काल, और आकाश में अवस्थित कार्य व काल की श्रृंखला में बंधे हुए हैं। जीवात्मा अपनी बुद्धि ज्ञान और कर्म के अनुसार सुख और दुःख का फल प्राप्त करते हैं। सृष्टि और संहार का कर्ता परमेश्वर है। उसी की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होता है। इसलिये किसी सृष्टि को प्रथम सृष्टि नहीं कहा जा सकता। प्रलय के समय केवल चार भूतों के परमाणु, पाँच नित्य द्रव्य (दिक्, काल, आकाश, मन और आत्मा) तथा जीवात्माओं के संस्कार बच जाते हैं, जिनसे फिर अगली सृष्टि की रचना होती है। सृष्टि का यही स्वरूप न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम भी मानते हैं और जीवात्मा की स्रस्तत्र सत्ता भी स्वीकार करते हैं। जीवात्माओं को कर्मफल भोग कराने तथा अन्ततः उन्हें अपना स्वरूपज्ञान कराने के निमित्त ही ईश्वर सृष्टि की रचना या उसका संहार करता है।

सांख्य दर्शन (महर्षि कपिल का) — इस दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष के मयोग से सृष्टि होती है। प्रकृति जड़ है, अतः अकेली सृष्टि नहीं कर सकती। प्रकृति की क्रिया पुरुष के चैतन्य में निरूपित होती है सभी सृष्टि

का उद्गम होता है। जैसे अग्नि और लकड़ा एक दूसरे की सहायता से जगल पाए कर सकते हैं, वैसे ही प्रकृति और पुष्प परस्पर मिल कर सृष्टि के कार्य को सम्पादित कर सकते हैं। प्रकृति और पुष्प का संयोग होने पर नत्, रज और तम तीनों गुणों की साम्य अवस्था में विकार उत्पन्न हो जाता है, तीनों गुणों का प्रयत्न करण व संयोजन होता है और फलस्वरूप नाना प्रकार के सामाजिक विषय उत्पन्न होने हैं। साध्यमानुसार सृष्टि के क्रम में सबसे पहले "महत्" या बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। यह प्रकृति का प्रथम विकार है। प्रकृति का दूसरा विकार है अहंकार, यह महत् तत्त्व का परिणाम है। अहंकार तीन प्रकार का माना जाता है — (१) सात्विक, (२) राजस, (३) तामस। सात्विक अहंकार में एकाग्रता चिन्तनों की उत्पत्ति होती है (पांच ज्ञानेन्द्रिया, पांच कर्मेन्द्रिया और मन) तामस अहंकार में पाँच तन्मात्राओं (गन्ध, स्पर्श, रूप, रस और गंध) की उत्पत्ति होती है। राजस अहंकार, सात्विक अहंकार व तामस अहंकार का महायुक्त होता है। पाँच तन्मात्राओं में पाँच महाभूतों का आविर्भाव होता है।

(१) शब्द में आकाश।

(२) स्पर्श और शब्द के योग में वायु।

(३) रूप, स्पर्श और शब्द के योग में तेज या अग्नि।

(४) रस, शब्द, स्पर्श और रूप के योग में जल।

(५) गंध, शब्द, स्पर्श, रूप और रस के योग में पृथ्वी की उत्पत्ति होती है जिसमें ये पाँचों गुण पाए जाते हैं।

इस प्रकार सृष्टि इन तत्वों का खेल है जो प्रकृति में आरम्भ होता है, और पाँच महाभूतों में समाप्त होता है। मन्त्र परमाणुओं के अन्ध्राधुन्य सहायका का फल नहीं है बल्कि एक विवेक प्रयोजन में सृष्टि होती है, ताकि पुरुषों को अपने धर्मात्म या सुख-दुःख का भोग करना सम्भव हो। योग-दर्शन करीब-करीब उपर्युक्त लोकस्वरूप के विवेचन में सहमत है।

मीमांसादर्शन — प्रत्यक्ष ज्ञान की सत्यता के आधार पर मीमांसा जगत् और उसके समस्त विषयों को सत्य मानती है। प्रत्यक्ष विषयों के सिवाय यह नरक, स्वर्ग, आत्मा आदि के अस्तित्व को भी अन्य प्रमाणों के आधार पर मानती है। आत्मा और परमाणु नित्य अविनाशी पदार्थ हैं। कर्म के नियमानुसार सृष्टि की रचना होती है। मन्त्र इन तत्वों में बना है —

(१) ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय, जो मुख-दुःखभोग के माध्यम हैं।

(२) गरीज या भोगायतन जिसमें जीवात्मा अपने-अपने पूर्व कर्मों का भोग करते हैं।

(३) बाह्य वस्तुएँ जो भोग के विषय हैं।

कुछ मीमांसक वैशेषिकों की तरह परमाणुवाद मानते हैं, किन्तु मीमांसा मन में परमाणु ईश्वर द्वारा संचालित नहीं होते। कर्म के नियमानुसार ही परिवर्तन होते हैं। इनके अनुसार जितने जीव हैं उतने ही आत्मा। जीवात्मा वस्तु में आते हैं और उनमें मोक्ष भी पा लेते हैं। ये ईश्वर को जगत्कर्ता नहीं मानते।

वेदान्तदर्शन — वाद-प्रमाण का अनुसरण करते हुए शंकर और रामानुज दोनों इन विषय में सहमत हैं कि अचेतन तत्त्व में जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती। उनमें अनुमान ईश्वर सर्वव्यापी है, विश्वव्यापी भी है और विश्वातीत भी है। वेदान्त साहित्य में ब्रह्म को मूल तत्त्व (Ultimate reality) माना है। सृष्टि उसी ब्रह्म की शक्ति से प्रकट हुई है। माया ब्रह्म की प्रकृति और शक्ति है। इसी माया के द्वारा मायावी ईश्वर वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि की लीला दिखलाते हैं। इसी लीला को अज्ञानी मत्स्य समझ लेते हैं। माया हम लोगों के लिये भ्रम का कारण है। इसी भ्रम के कारण जगत् के आधार ब्रह्म का स्वरूप छिप जाता है, और मत्सर के रूप में दिखाई पड़ता है। जब शंकर प्रकृति को माया





कहते हैं तब उनका मतलब रचनात्मक जगत् में है। शंकर अद्वैत वेदात्त को मानते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता अद्वैतवादी नहीं मानते — “ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या”। जो पदार्थ सत्य, ममत्वाव में ग्रन्थमान रहे वह सत्य कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार जगत् की सत्यता अद्वैतवादियों को मान्य नहीं, क्योंकि जगत् सदा परिवर्तनशील है। जगत् की पारमार्थिक स्थिति न होने पर भी व्यावहारिकी गत्ता है। आचार्य धारण ने ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण बतलाया है, वे कर्म का तिरस्कार नहीं करने, प्रत्युत चित्तशुद्धि के लिये फाफामनाहीन निष्काम कर्म के अनुष्ठान पर जोर देते हैं। अद्वैत मत में जीव स्वभावतः एक है, परन्तु देशादि उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीय होता है। रामानुज मत में जीव अनन्त है, वे एक दूसरे में निरन्तर पृथक् हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार सुषुप्त आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप हो जाता है, परन्तु विनिष्ठाद्वैत (रामानुज) के अनुसार वह ईश्वर के समान है। ईश्वर के साथ उसका एकात्म्य नहीं हो जाता। वह ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण को अवश्य पा लेता है परन्तु ब्रह्म के साथ मिलकर एक नहीं होता। सुषुप्त जीव में मज्जता या जाती है, परन्तु गर्वकृत्य गुण ईश्वर में ही साथ रहता है। जीव में अविद्या के आविर्भाव होने की योग्यता सदा बनी रहती है।

सृष्टि का विकास क्रम ने हुआ, इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की गई हैं। परन्तु महाशारदाचार्य उसको अग्रिम महत्त्व नहीं देते। भिन्न भिन्न श्रुतियों में सृष्टिविषयक भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते हैं। पुराणों में भी अनेक तरह की कल्पनाओं का महाशारदाचार्य ने अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। महाशारदाचार्य ने सृष्टि का मूल तत्त्व शुद्ध, सत् चित्त को ही माना है। जगत् के प्रथम विकास की उपमा मनुष्य की तीन अवस्थाओं में दी गई है — (१) सुषुप्तावस्था, (२) स्वप्नावस्था, (३) जाग्रतावस्था। सुषुप्तावस्था का ब्रह्म ईश्वर है। स्वप्नावस्था का ब्रह्म हिप्प्यगर्भ है, जाग्रतावस्था का ब्रह्म वैश्वानर है। ये अवस्थाएँ क्रम में जान पड़ती हैं, तथापि ये एक ही साथ हैं ऐसा माना जा सकता है। क्योंकि शुद्ध चैतन्य का कभी लोप नहीं होता।

बौद्धदर्शन — महात्मा बुद्ध ने आत्मा और जगत् के मूल तत्त्व के अनुसन्धान करने में अपना समय नहीं लगाया। उन्होंने दुःख-निरोध की समस्या पर ही अधिक बल दिया। बुद्ध समार में दिखने वाली सब वस्तुओं को सत्य मानते हैं। उनका कहना है कि किसी कारण के बिना किसी भी घटना का आविर्भाव नहीं हो सकता। ये नियम किसी चेतन-शक्ति के द्वारा परिचालित नहीं होते किन्तु स्वयं चालित होते हैं। गामघी (समग्र कारणों के समूह) से ही कार्य उत्पन्न होता है, जैसे मन, चक्षुः, विषय का रूप, आलाक आदि के सहयोग में रूपज्ञान हो जाता है। इस नियम की प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य समुत्पाद के कर्मवाद की स्थापना होती है। वर्तमान जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का फल है और साथ ही वर्तमान जीवन का भविष्य के जीवन से भी सम्बन्ध है। प्रतीत्य समुत्पाद से सात्त्विक वस्तुओं की अनित्यता भी प्रमाणित होती है। बुद्ध सभी वस्तुओं को परिवर्तनशील तथा नाशवान् मानते हैं, इसलिये बुद्ध ने क्षणिकवाद और अनित्यवाद का प्रतिपादन किया।

प्रतीत्य समुत्पाद के कारण ही बुद्ध परिवर्तनशील दृष्ट घटों के अतिरिक्त किसी अदृष्ट स्थायी द्रव्य को नहीं मानते, अतः वे आत्मा को भी नहीं मानते। फिर भी बुद्ध ने पूर्व जन्म को माना है और दीपक की ज्योति का दृष्टांत दिया है। एक ज्योति से दूसरी ज्योति को प्रशिक्षित किया जा सकता है, किन्तु दोनों ज्योतियाँ एक नहीं समझी जाती। बुद्ध के अनुसार मनुष्य पांच प्रकार के परिवर्तनशील तत्वों का समूह है जिसे पंच स्कन्ध कहते हैं। पहला स्कन्ध है रूप, जिसके अंगगण आकार, रंग, आदि आते हैं। दूसरा स्कन्ध है वेदनाओं का, जिसके अन्दर सुख-दुःख आते हैं। तीसरा स्कन्ध सज्ञा अर्थात् नानाविध ज्ञानों का है। चौथा स्कन्ध संस्कार है, जिसके अन्तर्गत पूर्व कर्मों के कारण जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं वे आती हैं। पांचवा स्कन्ध विज्ञान यानि चेतना है। इन पाँचों स्कन्धों की समष्टि का ही नाम मनुष्य माना है। आत्मा नाम का कोई स्कन्ध नहीं माना है, किन्तु पीछे जाकर बौद्धदर्शन में नये विचारों का समावेश हुआ है और आत्मा का भी अस्तित्व स्वीकार किया गया है। और यह कारण बताया गया है कि महात्मा बुद्ध ने भक्ति बताया है, यदि आत्मा नहीं है तो मुनि (निर्वाण) प्राप्ति किम्की होगी ?

जैन दर्शन—अब तक हमने पारमार्थिक और अज्ञान भारतीय दार्शनिकों के लोकान्तरूप सम्बन्धी विचार देखे।

अब इस सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों ने विचारधारा रखी ।

जैन दार्शनिकों ने लोक के सम्बन्ध में अपने मनव्य को प्रस्तुत करने के लिये चार अपेक्षाएँ प्रस्तुत की हैं —

(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल और (४) भाव ।

द्रव्य अपेक्षा के द्वारा उन्होंने यह लोक किन वस्तुओं में है, यह प्रकट किया है । क्षेत्र के द्वारा उन्होंने इस लोक की लम्बाई चौड़ाई और ऊँचाई बतलाई है । काल के द्वारा लोक की आदि-अनादिता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं । तथा भाव के द्वारा उन्होंने यह बतलाया है कि लोकगत द्रव्यों का स्वभाव क्या है और इनमें परिवर्तन कैसे होता है ?

द्रव्य की अपेक्षा—द्रव्य की अपेक्षा में जैन दार्शनिकों का मन है कि आकाश एक भवमे बड़ा द्रव्य है और वह अनन्त है । उसमें एक बहुत लघु क्षेत्र में जहाँ पर अर्धमास्त्रिकाय, अधर्मास्त्रिकाय, पुद्गल और जीव ये चार अस्त्रिकाय विद्यमान हैं, वह (उम आनाम नमेन) लोक कहलाना है ।

जैनधर्मप्रवर्तकों के अनुसार आकाश, धर्म, जर्म, जीव और पुद्गल ये पाँचो अस्तिकाय हैं, क्योंकि ये सभी छोटे-छोटे अल्पान् मूक्ष्म व अविभाज्य प्रदेशों की राशि रूप हैं । गणना के अनुसार अर्धमास्त्रिकाय, अधर्मास्त्रिकाय और आकाशमास्त्रिकाय एक-एक अश्वत्थ द्रव्य हैं तथा जीव और पुद्गल मर्मा में अनन्त हैं ।

क्षेत्र की अपेक्षा में यह लोक अमर्य पात्रन लम्बा, चौड़ा और ऊँचा है, जिनमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति बहुत मोमिन क्षेत्र में है तथा लोक का अधिकांश भाग मृत्पत्र वायुपूति है ।

काल की अपेक्षा—काल की अपेक्षा में ये पाँचो द्वी द्रव्य अनादि हैं, अर्थात् न कभी स्वन उत्पन्न हुए और न कभी किसी ईश्वर या ऐने ही किसी नत्व के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं । जिस प्रकार यह लोक आदि रहित है उसी प्रकार अन-रहित भी है, अर्थात् यह न कभी स्वन नष्ट होगा, न अन्य के द्वारा नष्ट किया जा सकेगा ।

लोक की भवता नवीन उत्पत्ति और भवता विनाश दोनों ही असम्भव इसलिये हैं कि यदि भवता नवीन उत्पत्ति मानी जानी है तो उसके लिये प्रश्न यह पैदा होता है कि लोक का उपादान द्रव्य क्या रहा होगा ? यदि अन्य उपादान द्रव्य की स्वीकार किया जाता है तो उस अन्य उपादान द्रव्य के रूप में ही नहीं, लोक अनादि मिट्ट हो जायगा यदि लोक की उत्पत्ति के लिये उपादान द्रव्य स्वीकार नहीं किया जाता तो विना उपादान शून्य में किसी पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है ।

ईश्वर में लोक की उत्पत्ति नहीं मानने के लिये जैन दार्शनिक यह तर्क देते हैं कि ईश्वर ने यदि इसे भवता नवीन बनाया तो उपादान द्रव्यों को लेकर बनाया या शून्य में ही निमित्त किया ? यदि उपादान द्रव्यों से बनाया तो उन उपादान द्रव्यों की अपेक्षा लोक अनादि सिद्ध हो गया । ईश्वर चाहे कितना ही शक्तिमान् क्यों न मान लिया जाय, अभाव में किसी पदार्थ को निमित्त नहीं कर सकता । भवता अमत् का उत्पाद और मत् का विनाश कदापि सम्भव नहीं है । प्राचीन दर्शन और अर्वाचीन विज्ञान, दोनों एक स्वर में इन सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं । जिसे हम उत्पाद और विनाश कहते हैं, वह वास्तव में पदार्थों का एक अवस्था में दूसरी अवस्था में पलटना मात्र है । शून्य का अस्तित्व में आ जाना अथवा किसी विद्यमान पदार्थ का शून्य रूप में हो जाना सम्भव नहीं है । कुम्हार घट बनाता है तो मिट्टी के पिण्ड की आवश्यकता होती है और घट जब नष्ट हो जाता है तो वह कपालों का रूप धारण कर लेता है । वस्तुतः घट का उत्पाद और विनाश मिट्टी के रूपान्तरों के अतिरिक्त और क्या है ? मिट्टी अपने पिण्ड-पर्याय को त्याग कर घट के रूप में आती है और घट के रूप को त्याग कर कपाल रूप को धारण कर लेती है । प्रत्येक रूपान्तर में मिट्टी अपने रूप में स्थायी है । यही प्रक्रिया जगत् के समस्त पदार्थों पर लागू होती है और समस्त पदार्थराशि ही लोक है । इस प्रकार जैन दर्शन मूलभूत द्रव्यों का अनादि—अनन्त अश्वत्थ अस्तित्व स्वीकार करता हुआ भी अवस्थाओं का





परिवर्तन मान्य करता है। अतएव द्रव्यदृष्टि से लोभ नित्य और पर्याय दृष्टि में अनित्य है।

पर्यायों के परिवर्तन के लिए किसी निगूढ रहस्यमयी एव कल्पनातीत शक्ति की आवश्यकता नहीं है। वह प्राकृतिक कारणों एव मानवीय आदि प्रयत्नों से होता रहता है। आज भी परिवर्तन का अप्रतिहत प्रवाह चल रहा है और सदैव चालू रहेगा।

यह एक ऐसा वृद्धि एव तर्क से सगत दृष्टिकोण है जिसका विरोध नहीं किया जा सकता। इस मन्त्र में आगे विशेष प्रकाश डाला जायेगा।

भाव की अपेक्षा—भाव के अनुसार, जैसा कि पहले कहा है, गुण और पदार्थ दोनों ही ग्रहण किये जाते हैं। पाचो द्रव्यों के गुण क्रमशः इस प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय का स्वभाव गतिमान् जीवों और पुद्गलों की गति में सहायता देना है। अधर्मास्तिकाय स्थिर होने वाले जीवों और पुद्गलों की स्थिति में सहायता देता है। आकाशास्तिकाय स्थान (प्रवकाश) प्रदान करता है। जीवास्तिकाय का स्वभाव ज्ञान और दर्शनमय है। अर्थात् द्रव्यों में रही हुई एकता को और भिन्नता को जानना और देखना वह उसका गुण है। अगुद्ध दशा में पदार्थों के प्रति मोहित होना और उनकी प्राप्ति के लिये वीर्य का प्रयोग करना आदि और भी गुण माने गये हैं। पुद्गलास्तिकाय का स्वभाव वर्ण, गंध, रस और स्पर्श है।

इन पाचो अस्तिकायों में पर्यायों का परिवर्तन इस प्रकार माना गया है—

धर्मास्तिकाय कभी किसी क्षेत्र में कुछ जीवों और पुद्गलों की गति में सहायता देता है तो वही दूसरे क्षण उन जीवों और पुद्गलों से अन्य जीवों और पुद्गलों को सहायता देता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के सम्बन्ध में भी माना गया है। अन्तर यही है कि धर्मास्तिकाय गति में सहायता देता है जब कि अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायता देता है।

लोक में व्याप्त जीव और पुद्गल जब एक स्थान को छोड़ कर अन्य स्थान में जाते हैं तो आकाश के साथ उनका संयोग-वियोग होता है। अर्थात् वे आकाश के जिन प्रदेशों से संयुक्त थे, उनसे वियुक्त हो जाते हैं और जिनसे वियुक्त थे, उनसे संयुक्त हो जाते हैं। संयोग-वियोग रूप अवस्थाओं का यह परिणामन आकाश का पर्यायपरिवर्तन है।

जीवास्तिकाय में पर्याय बदलने का क्रम यह है कि कभी वह दर्शन उपयोग में रहता है तो कभी ज्ञान उपयोग में रहता है। अर्थात् वह कभी सब पदार्थों में रही हुई एकता को जानता है तो कभी पदार्थों में रही हुई भिन्नता को। इसी प्रकार अन्यान्य रूपों में भी उसके पर्यायों का परिवर्तन होता है।

पुद्गलास्तिकाय में वर्ण की अपेक्षा काले से नीले में, नीले में लाल में, लाल से पीले में, इस प्रकार कभी क्रमबद्ध तो कभी क्रमरहित बदलने की क्रिया होती रहती है। गंध की अपेक्षा सुगंध से दुर्गंध में और दुर्गंध से सुगंध में परिवर्तन की क्रिया चलती है। इसी प्रकार रस और स्पर्श की पर्यायों का परिवर्तन होता रहता है।

पाचो द्रव्यों के सामान्यतः गुण और पर्याय बतलाए जा चुके हैं, परन्तु इन पाचो द्रव्यों में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों को मुख्यतया हमारे लिये अनुमानगम्य बनलाया गया है। आकाश का भी ज्ञान यद्यपि उन दोनों की अपेक्षा कुछ सीमा होता है परन्तु वह भी अनुमानगम्य ही है। अतः जो शेष जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय हैं, वे भी जड़ शुद्ध स्वभाव में तथा शुद्ध पर्याय में रहते हैं तब तब दूसरे सामान्य लोगों के लिये प्रत्यक्षगम्य नहीं माने गये हैं।

जैन दार्शनिकों के अनुसार जीव की शुद्ध दशा सिद्ध दशा मानी गई है, जो कि देह रहित, इन्द्रिय रहित और कर्मपुत्र अवस्था है। जीव की अगुद्ध दशा ससार-दशा है जो देह, इन्द्रिय और कर्म महित होती है। जीव की शुद्ध दशा एक रूप ही होती है किन्तु अगुद्ध दशा के प्रकार विभिन्न हैं। उन प्रकारों को जैनदर्शन में विभिन्न रीतियों से बाट कर बताया है। उनमें से एक रीति के अनुसार १२ प्रकार हैं—

१. पृथ्वीकाय . ज्ञान आदि मे रहने वाली वह मिट्टी जो बढती हो ।
२. अक्काय ऐना जल जिनको अग्नि आदि का सम्पर्क न हुआ हो ।
३. तेजमहाय : सघर्ष आदि मे उत्पन्न होने वाली अग्नि ।
४. वायुकाय हवा ।
५. वनस्पति वृक्ष, पीपे, आडिया, लतायें, वेलें, हरा धान, शाक, वान्य ।
६. द्वान्द्रिय जिनको स्पर्शेन्द्रिय और जिह्वा इन्द्रिय मिली हो ।
७. त्रीन्द्रिय जिनको स्पर्शेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और सूँघने वाली नासिका इन्द्रिय मिली हो ।
८. चतुरिन्द्रिय जिनको स्पर्शेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, नासिकाइन्द्रिय और रूप को पहिचानने वाली चक्षु इन्द्रिय हो ।
९. नाग्य नगक भूमि मे रहने वाले पाच इन्द्रियो मे शुक्ल अति दुर्लभ जीव ।
१०. निर्यचपचेन्द्रिय . पशु-पक्षी, मछली, सर्प, नेबने आदि ।
११. मनुष्य ।
१२. देव . देव म्यानों आदि मे रहने वाले जीव ।

पिछले चारों प्रकार के जीव पाच इन्द्रियो मे युक्त होते हैं । मनुने वाली इन्द्रिय पाचवी इन्द्रिय है । कुछ लोगो ने द्वान्द्रिय मे केवल पिछले जीव-प्रकारो मे ही जीवत्व माना है । परन्तु जैन दार्शनिको के अनुसार पृथ्वीकाय मे लेकर वनस्पतिकाय तक के पाच प्रकारो मे भी जीवत्व विद्यमान है । यद्यपि उनका जीवत्व मनुष्य आदि के जीवन की तरह नहीं है, फिर भी अनुमान एवं आगम के आधार पर उनमे भी जीवत्व है, ऐसा जाना जा सकता है । वनस्पति मे जीवत्व होना भारतीय वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बसु ने सिद्ध किया है, जिमे वैज्ञानिको द्वारा निर्विवाद स्वीकार कर लिया गया है । हवा, पानी, अग्नि आदि पदार्थो को अकेले मे या सांस्कृतिक रूप मे कई दार्शनिको ने इन लोक के मूल तत्व के रूप मे माना है और वेप द्वान्द्रिय आदि जीवो की उत्पत्ति इसी मे बाद मे हुई, ऐसा कहा है । किन्तु जैन मतानुसार उपरोक्त वास्तव ही प्रकार के जीव अनादि काल मे हैं और अपने ही शुभाशुभ पुरुषार्थ के द्वारा शुभाशुभ कर्म उत्पन्न करके उनके निमित्त मे इन विभिन्न प्रकारो मे अनादि काल मे परिभ्रमण करते हैं । ये प्रकार भविष्य मे भी मरना विद्यमान रहेंगे । इनमे से प्रत्येक वर्गमे-२ कुछ जीव विकसित दशा को प्राप्त कर लेते हैं । मानव जैसा विकसित प्राणी भी कर्मोदय मे पृथ्वीकाय आदि अविकसित रूप मे जन्म ले लेता है । विकसित जीव अपने पुरुषार्थ की प्रबलता मे विमुक्त दशा प्राप्त कर लेता है । अमुक्त दशा या वाग्ण कर्म है । कर्म का अर्थ यहा कार्य या आचरण नहीं, बरन् पुद्गलशक्तिनाय के जन्मर्गन एक विधिष्ट प्रकार का भौतिक द्रव्य है जिमे जैनदर्शन मे कर्मणवर्गणा कहते हैं । कर्मणवर्गणा के यह पुद्गल जन्मन्त मूढम और सर्वत्र व्याप्त है । गण-द्वेष आदि की सहायता पाकर वे जीवप्रदेशो के साथ ऐसे बद्ध हो जाते हैं जैसे दूध और पानी ।

ये कर्म आत्मा के साथ आन्तरिक राग-द्वेष आदि निमित्तो मे जुड़ते हैं । अध्यवसाय अर्थात् विचार जैसे भी शुभ या अशुभ हो, उसी प्रकार के शुभ या अशुभ कर्म आत्मा के साथ जुड़ते हैं । वे इस जगत के पीद्गलिक सुखो की प्राप्ति मे तथा दुःखो मे निमित्त बनते हैं ।

जो विचार कर्मवध मे निमित्त बनते हैं, वे मूलन आत्मा के गुण होने पर भी बाह्य पुद्गलो को लेकर हांते हैं । जब तक विचार बाह्य पुद्गलो का लेकर बनते हैं तब तक वे नवीन कर्मवध को उत्पन्न करते रहते हैं । जो विचार बाह्य पुद्गलो के निमित्त मे नहीं बनते उनके वाग्ण आत्मा के साथ कम-पुद्गलो का सम्बन्ध भी नहीं होता । जिन





विचारों से आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध होता है, जैन दार्शनिकों ने उन्हें 'लेइया' कहा है।

राग-द्वेष आदि आन्तरिक कारणों में कर्मपुद्गलों का बन्ध होता है और वद्ध कर्मपुद्गल जड़ अपना फल प्रदान करते हैं तब राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह दुर्गुण कार्यकारणभाव अनादिकाल से चला आ रहा है। इस प्रकार जीव की अशुद्ध दशा बनी रहती है। जिस समय जीव अपने आन्तरिक कारणों को दूर करके बाह्य कारणों को हटाता जाता है तब वह क्रमशः अनन्त होकर शुद्ध दशा को पहुँच जाता है।

पुद्गलास्तिकाय की शुद्ध दशा और अशुद्ध दशा दोनों का ही परिवर्तन अनादि काल से माना गया है। और यह परिवर्तन किसी समय रुक कर मात्र शुद्ध या अशुद्ध दशा ही रह जायगी ऐसा भी नहीं माना है। अर्थात् परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ संयुक्त होकर सदा के लिये स्क्व रूप में ही रहे, ऐसा कभी नहीं होगा और परमाणु स्क्व से पृथक् होकर सदा के लिये परमाणु रूप में ही रहे, ऐसा भी नहीं होगा।

पुद्गलों में यह जो परिवर्तन बताया गया है, जैनदर्शन के अनुसार उसके तीन कारण होते हैं —

१ स्वतः — अर्थात् बिना किसी चैतन्य शक्ति के भी इन में संयोग-वियोग चलता रहता है।

२ परत — कभी जीव के प्रयोग से भी पुद्गलों में परिवर्तन होता है।

३ उभयतः — कभी पुद्गल और जीव दोनों की शक्ति से पुद्गलों में परिवर्तन आता है।

जीव और पुद्गल के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों ने जो कुछ बताया है उससे पता यह चलता है कि इस विषय में मुख्य रूप से परिवर्तनशील में दो ही पदार्थ हैं और विषय की जितनी रचना दिखाई देती है उन्हीं दो तत्त्वों की प्रधानता है। ईश्वर द्वारा लोक या निर्विषय का निर्माण या संचालन किये जाने की बात जैनदर्शन कतई नहीं मानता।

जैन दार्शनिकों के अनुसार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह लोक धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, इन छः द्रव्यों का समूह है, जो अनादि और अनन्त हैं। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य, द्रव्य रूप से ध्रुव हैं और पर्याय रूप से उत्पत्ति-विनाशशील हैं। द्रव्यों के पर्यायों की प्रतिक्षण उत्पत्ति व प्रतिक्षण विनाश होने पर भी द्रव्य अशायम रहता है। यही जैनदर्शन के स्थावराद का रहस्य है। जैन-दर्शनानुसार कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य नहीं है, किन्तु द्रव्यरूप से नित्य और पर्यायरूप से अनित्य (विनाशशील) है। स्थावराद के सिद्धांत से जैनदर्शन ने पर्याय की दृष्टि से बौद्धदर्शन को और द्रव्य की दृष्टि से सांख्यदर्शन को अपने में अन्तर्भूत कर लिया है।

जैनदर्शन के लोकस्वरूप के विषय में जो थोड़ा-सा विवेचन दिया है उससे प्रतीत होगा कि जैनदर्शन सर्वांगसम्पूर्ण दर्शन है। वह तर्क एवं बुद्धि से मगत है और उसके पीछे विज्ञान का समर्थन है।

डाक्टर एल० पी० टेसीटोरी (इटालियन विद्वान्) का कथन है कि "जैनधर्म बहुत ऊँची पक्ति का है। इसके मुख्य तत्त्व विज्ञान के आधार पर खड़े हुए हैं। ज्यों-ज्यों पदार्थविज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों वह जैनधर्म के सिद्धांतों को सुदृढ़ कर रहा है।"

अजाधर सरकार एम० ए० बी० एल० लिखते हैं कि "जैनदर्शन में जीवन-तत्त्व की जैसी विस्तृत आलोचना है, वैसी किसी भी दर्शन में नहीं है।" इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध साहित्यकार ज्याज्ज बर्नार्डिन्ग ने तो जैन-सिद्धांतों और दर्शन के प्रति अपना अगाध प्रेम प्रदर्शित करने हेतु यहाँ तक कह दिया कि वे श्रृष्टि के बाद जैन परिवार में जन्म लेना चाहते हैं। महात्मा गांधी के पुत्र स्व० देवदास द्वारा इसका कारण पूछने पर बर्नार्डिन्ग ने कहा कि "जैनधर्म में ईश्वर या

परमात्मा का परवाना किसी एक व्यक्ति को नहीं दिया गया है। जगत् का कोई भी विशिष्ट योग्यता वाला मनुष्य म्रान्मा की उत्पत्ति करके परमात्मा बन सकता है। दूसरी बात यह है कि इसमें परमात्मपद की प्राप्ति के लिये व्यवस्थित एवं क्रमिक नाशना-मार्ग बताया गया है जो वैज्ञानिक भी है। ऐसा व्यवस्थित सक्रिय और वैज्ञानिक माधना-मार्ग अन्यत्र नहीं है।”

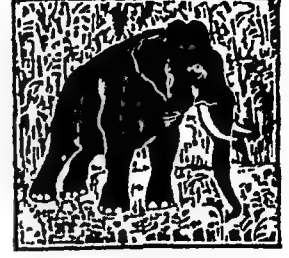
उन प्रकार विद्वानों की सम्मति में जैनदर्शन अत्यन्त उच्च कोटि का दर्शन है। लोक मन्वी इस विज्ञान-सम्पन्न विवेचना ने ही इस तथ्य का आभास मिल सकता है।



जैनदर्शन में मानस विचार

राजकुमार जैन,

एच० पी० ए०, दर्शनाधुर्वेदाचार्य,



अन्य दर्शनो की भांति जैनदर्शन में भी मनोव्यापार या चित्तवृत्ति की अत्यन्त समुचित व्यवस्था की गई है। मानस विचार में जैनदर्शन ने बिल्कुल ही स्वतन्त्र मौलिक और स्पष्ट दृष्टिकोण अपनाया है। तदनुसार मन का सम्बन्ध शरीर से उतना नहीं है जितना आत्मा से है। मन की सत्ता स्वतन्त्ररूपेण नहीं है। वह एक स्वतन्त्र पदार्थ या तत्त्व नहीं है। वह तो आत्मा की ही एक विशेष शक्ति है। उसी प्रवृत्ति भी स्वतन्त्र नहीं है, वह पूर्णतः कर्मनिर्गत सापेक्ष है अतः मन के स्वरूप एवं प्रवृत्ति का ज्ञान आत्मा व कर्मज्ञान सापेक्ष है। क्योंकि मन का सम्बन्ध इन्हीं दो पदार्थों में विशेष है। शरीर से मन के सम्बन्ध का जहाँ तक प्रश्न है, वह पूर्णतः आत्मा पर आधारित है। आत्मा का मूल गुण है चैतन्य। अतः चैतन्ययुक्त शरीर में ही मन की अभिव्यक्ति सम्भावित है। आत्मशून्य शरीर में चेतना एवं मन का पूर्णतः अभाव रहता है। इसी भांति शरीर रहित आत्मिक स्थिति में भी मनोव्यापार नहीं होता। अतः शरीरयुक्त आत्मा अथवा आत्मयुक्त शरीर में ही मन प्रवृत्ति बोधगम्य है।

स्पष्ट देखा जाता है कि शरीर पर मन एवं मन पर शरीर का प्रभाव होता है। इनमें दोनों की ही प्रवृत्ति अन्योन्याश्रित की भांति प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त दोनों का विकृतिजन्य प्रभाव भी एक दूसरे पर परिलक्षित होता है। अतः शरीर के साथ ही आत्मा की ही भांति मन का घनिष्ठतम सम्बन्ध अपेक्षित लगता है। जैन आगमों में इस तथ्य को अत्यन्त ही समुचित रूपेण सुस्पष्ट किया गया है। जैनदर्शन में मन दो प्रकार का माना गया है—एक चेतन या भावमन और दूसरा पौद्गलिक या द्रव्यमन। चेतन मन ज्ञानात्मक होता है। उसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। किन्तु हमें सहयोगी होता है पौद्गलिक मन, जो मनोवर्णना के पुद्गलों से निमित्त है। उसके अभाव में ज्ञानात्मक मन अपने कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। क्योंकि पौद्गलिक मन वस्तु के स्वरूप को ग्रहण करता है और तत्संयोजित चेतन मन उस वस्तु को उपलब्ध करता है। अतः कहना न होगा कि दोनों के संयोग से ही समस्त मानसिक व्यापार संचालित होता है। दोनों में से किसी एक का ही अभाव मानसिक क्रिया प्रतिपादन में बाधक बन जाता है। अपने अपने स्थान पर दोनों की ही अपेक्षा, आवश्यकता एवं महत्ता है। पौद्गलिक मन चेतन मन का सहयोगी है, किन्तु उसके कारण या औजार के रूप में।

ज्ञानात्मक मन चेतन होता है। वस्तुतः वह आत्मा की ही एक शक्ति है। उसकी उत्पत्ति निर्माण अथवा अभिव्यक्ति पौद्गलिक परमाणुओं द्वारा सम्भावित नहीं है। क्योंकि पौद्गलिक वस्तु से उत्पन्न वस्तु पौद्गलिक ही होगी। अतः ज्ञानात्मक चेतन मन पौद्गलिक नहीं कहा जा सकता। वस्तु के स्वाभाविक गुण तज्जनित अन्य वस्तु में भी विद्यमान रहते हैं। वस्तु का स्वरूपान्तर हो जाता है, उसके मूलगुणों में न्यूनाधिक्य सम्भावित है, किन्तु वह गुण वस्तु से पृथक् नहीं किया जा सकता। दो या अधिक वस्तुओं का संयोग एक अन्य वस्तु का निर्माणक हो सकता है। उस अन्य वस्तु के गुण भी उपादानभूत वस्तुओं के गुणों से ही निमित्त होते हैं। ऐसी स्थिति में पौद्गलिक परमाणु द्वारा चेतन मन की निमित्ति असम्भावित है। क्योंकि न तो भावमन का विघटन किया जा सकता है और न ही हमें पौद्गलिकत्व पाया जाता है।

पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि ज्ञानात्मक चेतन मन को वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए पौद्गलिक मन

महयोगी के रूप में कार्य करता है। इमान मानस चिन्तन में प्रवृत्त होता है और उसे पौद्गलिक मन के द्वारा पुद्गलों (वस्तुओं) का ग्रहण करना ही पड़ता है। अन्यथा उनकी प्रवृत्ति असम्भावित है। मानव द्वारा प्रतिपादित चिन्तन कार्य में जिन प्रकार के भावों का समावेश होता है, उसी प्रकार के पुद्गलों को द्रव्य मन (पौद्गलिक मन) ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है। अनिष्ट भावों का चिन्तन अनिष्ट द्रव्यों के ग्रहण का कारण एवं इष्ट भावों का चिन्तन इष्ट द्रव्यों के ग्रहण का कारण होता है। परिणामस्वरूप मानसिक भाव रूप में परिणत हुए अनिष्ट पुद्गलों में शरीर की हानि होती है जो मन रूप में परिणत इष्ट पुद्गलों में शरीर को लाभ होता है। इसी तथ्य को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया गया है—

‘मनसपरिणतानिष्ट-पुद्गलनिचयस्य द्रव्यमन अनिष्टचित्ताग्रतनेन जीवस्य देहदीर्घत्वाद्यापत्त्या हन्निद्वयव्युत्पत्तिरुपपन्नजनयति, तदेव च शुभपुद्गलपिष्टस्य न्यानुक्चिन्ताजनस्त्वेन हर्षादिभिनिरुत्था भेषज-वदनुग्रह निघने इति ।

—विशेषावश्यक भाष्य वृ० गाथा २२०

इन प्रकार शरीर पर मन का प्रभाव पड़ता है और शरीर मानसिक क्रियाओं के परिणाम की अभिव्यक्ति का वाहन बन जाता है। मानस भावों का प्रवृत्ति अनिष्ट शरीर के बाह्य अवयवों को अभिभूत करता है, जिनके द्वारा अन्न मन की स्थिति का आभास होता है। यद्यपि शरीर पर प्रभाव उसके मज्जानीय पुद्गलों द्वारा ही होता है, तथापि उन पुद्गलों का ग्रहण मानसिक प्रवृत्ति पर निर्भर है। इसलिए उस प्रक्रिया को हम शरीर पर मानसिक प्रभाव कह सकते हैं। इसने ही शक्ति ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का गुण है। फिर भी ज्ञान के बिना मनुष्य देख नहीं सकता। ज्ञान में विकृति होने पर दर्शनक्रिया का विनाश हो जाता है। उपचार द्वारा विकृति दूर करने पर पुन दर्शनक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यही बात मन और मस्तिष्क की श्रिया के विषय में है। इसी प्रकार साधनभूत शरीर के द्वारा मत्स्यादिन जीवित प्राणियों से मन प्रभावित होता है।

इन्द्रियाँ, मन और ज्ञान

इन्द्रियाँ जो मन विविध ज्ञान के वाहन हैं। जब तक आत्मा की धर्मियों का पूर्ण तरह विकार नहीं हुआ और वह स्वयं अर्थ-ग्रहण में सक्षम नहीं बन पाया है, तब तक मन्त्र के समस्त भीति विषयों का ज्ञान इन्द्रिय और मन के द्वारा होता है। जैनशास्त्र में ज्ञान की जो व्यवस्था की गई है, उसके अनुसार उसका विभाजन पञ्चविध रूपेण किया गया है, यथा—मनिज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान। इनमें से केवल मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान में ही इन्द्रिय और मनजनित होने हैं। ये समस्त ज्ञान अनीन्द्रिय होते हैं। यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान शरीर ही इन्द्रिय और मन में होने हैं तथापि शरीर में निम्नता है। मति द्वारा इन्द्रिय और मन की महारता मान में अर्थ का ज्ञान होता है। उनमें दर्शन या श्रवण में प्रतीति मात्र होती है जो मतिभूलक है। इसने आगे की स्थिति श्रुतज्ञान का विषय है। यद्यपि श्रुत का शब्द या मनेन की भी अपेक्षा रहती है। किसी वस्तु का ज्ञान जब उसको देखने मात्र में होता है—यह मतिज्ञान है और जहाँ इसी वस्तु का ज्ञान तद्बोधक शब्द या मनेन द्वारा होता है—वह श्रुतज्ञान है। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि मतिज्ञान के पश्चात् शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचकभाव के आशय पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। प्रथम इन्द्रियों द्वारा मतिज्ञान होता है, ‘घट’ को देखने मात्र में जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है और तत्पश्चात् ‘घट’ शब्द या मनेन के द्वारा जो घट ज्ञान होता है वह श्रुत है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण ग्रन्थों में निम्न प्रकार से किया गया है—

‘मनेन श्रुतप्रवृत्त श्रुतग्रन्थमन्वयिन् वा घटादिशब्दमनुसृत्य वाच्यवाचकभावेन मयोज्य ‘घटो घट’ इत्याद्यन्तज-न्यायमन शब्दान्ते ज्ञानिनमिन्द्रियादिनिमित्त यज्ज्ञानपुटेति तत् श्रुतज्ञानमिति ।’

—विशेषावश्यक भाष्य वृ० गाथा १००

इसी प्रकार —“श्रुत पुन श्रुतज्ञानमपक्षिगम्य वस्तुच्यते, विषये विषयिण उपचारात्”

—तत्त्वानुशासन २।११





उपर्युक्त क्रमानुसार वस्तु के स्वरूप ज्ञान में इन्द्रिय और मन की सापेक्ष वृत्ति रही है। वस्तुतस्तु इन्द्रिया प्रतिनियत अर्थग्राही हैं, किन्तु मन सर्वार्थग्राही है।^१ पाच इन्द्रियों-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के पाच ही विषय हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द। अतः प्रत्येक इन्द्रिय अपने ही विषय को ग्रहण करती है। मनममस्त इन्द्रियों के सभी विषयों को ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त मन का मुख्य विषय श्रुत है। यथा “श्रुतमनिन्द्रियस्य”

—तत्त्वार्थसूत्र २।२२

‘पुस्तक’ शब्द सुनते ही अथवा पढ़ते ही मन को ‘पुस्तक’ वस्तु का ज्ञान हो जाता है। मन को शब्द-रास्पृष्ट वस्तु की उपलब्धि होती है। इन्द्रिय को पुस्तक देखने पर पुस्तक वस्तु मात्र का ज्ञान होता है और ‘पुस्तक’ शब्द सुनने पर श्रोत्र को उस शब्द मात्र का ज्ञान होता है। किन्तु पुस्तक का ‘पुस्तक’ यह वाच्यार्थ है—यह ज्ञान इन्द्रिय को नहीं होता। इन्द्रियो में मात्र विषय की उपलब्धि-ग्रहण शक्ति होती है, उसमें ईहा-गुण-दोषविचारणा, परीक्षा या तर्क शक्ति नहीं होती। मन में ईहापोह शक्ति होती है। ‘नन्दोद्भूत’ में इसी विषय का विवेचन किया है—

(क) “जस्म ण नत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, बीमसा मे ण अमण्णिप्पि लब्धई—४१।

(ख) “जस्म ण अत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, बीमया, मे ण सण्णीत्ति लब्धई—४० ॥

अर्थात् जिसके डब्छा, ऊड़ापोह, विचार, गवेसणा, चिन्तन और भीमासा नहीं है वह असन्नी कहलाता है और जिसके उपरोक्त समस्त बातें होती हैं वह सन्नी (समनस्क) कहलाता है।

इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय मति और श्रुत दोनों में वार्तमानिक बोध कराती है। वह सम्बद्ध विषय को जानती है। मन-ईहा-गुण-दोषविचारणा के अन्वय-व्यतिरेकी धर्मों के परामर्शपूर्वक ज्ञान में तत्तमय श्रैकालिक रूपेण अवस्थित रहता है।

नैयायिकों के मतानुसार मन इन्द्रिय में पृथक् होता है। साख्य मतानुसार मन का इन्द्रियो में ही अन्तर्भाव किया गया है। किन्तु जैनदर्शन में मन को मन-इन्द्रिय माना गया है। कथन का अभिप्राय यह है कि मन इन्द्रिय की भाँति मान प्रतिनियत अर्थग्राही नहीं है। अतः वह इन्द्रिय नहीं हो सकता, तथापि वह इन्द्रियो को उन्हीं के माध्यम से जानता है, अतः कथञ्चित् इन्द्रियत्वेन (स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार) वह इन्द्रिय भी कहा जा सकता है। शक्त्यपेक्षया वह इन्द्रिय नहीं है और इन्द्रिय-मापेक्षता की दृष्टि से उसमें भी इन्द्रियत्व विद्यमान है।

इस प्रकार जैनदर्शन में दोनों व्यापार एव मन स्थिति विवेचन भी उतना ही व्यापक रूप से किया गया है, जितना कि अन्य मतों में। इन्द्रियो को ज्ञान का बाह्य साधन मानकर वास्तविक ज्ञान का प्रतिपादक मन को ही माना गया है।

जैन कर्म-सिद्धान्त का मूलमंत्र : स्वावलंबन

श्री शिखरचन्द्र कोचर,
बी० ए०, एल-एल० बी०



जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा कर्म करने तथा उसका फल भोगने में पूर्णरूपेण स्वतंत्र है। कहा भी है कि—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति समारे, स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥

अर्थात्, जानना स्वयं कम करती है, और स्वयं उसका फल भोगती है। वह स्वयं ममार में भ्रमण करती है और स्वयं भव-भ्रमण में मुक्ति प्राप्त करती है।

पूज्य आचार्य श्री अमृतगणिजी न लिखा है कि —

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥
निजाजितं कर्म विहाय देहिनी, न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन ।
विचारयन्नेवमनन्यमानसं, परो ददातीति विमुञ्च श्रेयोषीम् ॥

अर्थात् आत्मा जैन कम करती है, उसके अनुसार उसे शुभाशुभ फल प्राप्त होते हैं। यदि उसे अन्य-कृत कर्मों के फल की प्राप्ति मानी जावे तो स्वयं-कृत कर्म निरर्थक हो जाते हैं। वास्तव में स्वयंकृत कर्मों के अनिरिक्त कोई किसी को फल-प्रदान करने में समर्थ नहीं है। इन बातों को भलीभाँति समझकर अन्य द्वारा फल-प्राप्ति की आशा का परित्याग कर देना चाहिए।

जैन-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा पर ने कर्मों का आवरण दूर हो जाने पर वह सिद्धावस्था को प्राप्त करती है, और वह जन्म-मरण के चक्र में मदा के लिए मुक्त हो जाती है। कहा भी है —

दग्धे बीजे यथात्यतः, प्रादुर्भवति नाकुर ।
कर्म-बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाकुर ॥

अर्थात्, जिस प्रकार बीज के जल जाने पर अकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के जल जाने पर भव-रूपी अकुर उत्पन्न नहीं हो सकता।

इसी कारण से जैन-मान्यतानुसार आत्मा के परमात्मा बन जाने के पश्चात् उसका अवतरण नहीं हो सकता। इसे दूसरे शब्दों में यो कहा जा सकता है कि जैन-धर्म परमात्मा का अवतार होना स्वीकार नहीं करता।

जैन-धर्म के सर्वोच्च मंत्र “नमोऽकार मंत्र” में जिन पाँच परमेष्ठियों को वन्दन किया गया है, वे ईश्वर के अवतार अथवा देवी-प्रतिम नग्न व्यक्तित्व नहीं हैं, किन्तु उनकी आत्माएँ भी माधारण आत्माओं जैसी थीं, अथवा हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि उन्होंने दृढ़ निष्ठापूर्वक आत्मा के गुणों का विकास किया, अथवा कर रहे हैं, जबकि



साधारण आत्माओं में वे गुण प्रसुप्त पड़े हैं। जैन-मतानुसार किसी आत्मा को परमात्म-दशा प्राप्ति के लिए किसी वाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं है। उस आत्मा को स्वयं ही अपने गुणों का क्रमशः विकास करते रहने की आवश्यकता है। भगवान् महावीर पर अनेक घोर उपसर्ग आने पर उन्होंने सबका वीरतापूर्वक सामना किया। देवराज इन्द्र ने उनकी सेवा करने के लिए उनसे प्रार्थना की, किन्तु उन्होंने उस प्रार्थना को यह कर अस्वीकार कर दिया कि तीर्थंकर-पद की प्राप्ति किसी अन्य व्यक्ति की सहायता से नहीं, अपितु अपने बल पर ही होती है। जैन-सिद्धान्तानुसार जाति जन्म से नहीं, किन्तु कर्म से होती है। भगवान् महावीर का कथन है कि—

“कम्मुणा वम्भणो होई, कम्मुणा होइ पत्तिओ,
कम्मुणा वइसो होइ, कम्मुणा होइ सुइओ।”

किसी भी जाति का स्त्री या पुरुष अपने पुरुषार्थ में अपने कर्मों का ह्याम तथा आत्मिक गुणों का विकास करता हुआ परमात्मा बन सकता है। इस प्रकार जैन-कर्मसिद्धान्त हमें जिस पुरुषार्थ एवं स्वावलम्बन का अनुपम पाठ पढ़ाता है, वह अन्यत्र अत्यंत दुर्लभ है।

जैनदर्शन में ईश्वर

श्री ज्ञानमुनिजी



ईश्वर शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। प्राकृत के 'पाडम-मद्-महणवो' नामक कोप में ईश्वर शब्द के निम्नोक्त अर्थ दिए गए हैं --

(१) परमेश्वर, प्रभु, (२) महादेव, शिव, (३) स्वामी, पति, (४) नायक, मुखिया, (५) देवताओं के एक आवाग, बेलघर-देवों का आवाग विनेप, (६) एक पातालकलश (७) आद्वय, धनी, (८) ऐश्वर्यशाली, वैभव, (९) युवराज, (१०) माण्डलिक, नामन्त राजा, (११) मंत्री, (१२) इन्द्र विनेप, भूतवादि-निकाय का इन्द्र, (१३) पातालविनेप, (१४) एक राजा का नाम, (१५) एक जैन मुनि, (१६) यक्षविनेप ।

बनारस ज्ञानमण्डल त्रिमिटेड, द्वाग प्रकाशित 'वृहत् हिन्दी कोप' में ईश्वर शब्द-स्वामी, राजा, धनी या बड़ा व्यक्ति, पति, जगन्निगन्ता, परमेश्वर, आत्मा, एक भवत्तर, शिव, कामदेव, पारा, पीनल, रामानुजी वैष्णवों के अनु-सार तीन पदार्थों में से एक, ऐश्वर्ययुक्त, भक्तिमान, नमर्थ, इन अर्थों में प्रयुक्त बताया गया है ।

इस तरह ईश्वर शब्द अनेक अर्थों का परिचायक है । पर दार्शनिक दृष्टि में जब 'ईश्वर' शब्द के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो यह मानना पड़ता है कि वह वैदिक दर्शन का अपना एक पारिभाषिक शब्द है । वैदिक दर्शन के अनुसार उस परम भक्ति का नाम ईश्वर है, जो इस जगत् की निर्मात्री है, भाग्यविद्यात्री है, कर्मफलप्रदात्री है, एक है, सर्वव्यापक है, और नित्य है । वैदिक दर्शन का विश्वास है कि नसार के कार्य-चक्र की बागडोर ईश्वर के हाथ में है । नसार के ममन्त न्यन्दन उनी की प्रेरणा में हो रहे हैं, वह ईश्वर-नर्गभक्तिमान है, जो चाहे कर सकता है, कर्तव्य को अनर्गव्य और अनर्गव्य को कर्गव्य बना देता उसके लिए माधारण-मी बात है ।^१ सारा ससार उसकी इच्छा का खेल है ।

वैदिक दर्शन की मान्यता है कि अज्ञ होने के कारण जीव अपने सुख-दुःख का स्वयं स्वामी नहीं है ।^२ इसका स्वर्ग या नरक में जाना ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है । मनुष्य कुछ नहीं कर सकता । जीव जीव है, ईश्वर ईश्वर है । भक्ति, धर्म आदि अनुष्ठानों में जीव ईश्वर कदापि नहीं बन सकता । ईश्वर और जीव के बीच में जो फौलादी दीवार खड़ी है, वह कभी नमोपत नहीं की जा सकती । इस के अलावा, वैदिक दर्शन कहता है—नसार में जब अधर्म बढ जाता है, पाप सर्वत्र अपना शासन जमा लेता है, तो पापियों का नाश करने के लिये तथा धर्म की स्थापना करने के लिए ईश्वर किसी न किसी रूप में अवतार धारण करता है, भगवान में इन्मान बनता है । यही तथ्य भगवद्गीता के शब्दों में इस प्रकार है —

१ कर्तुमकर्तुमन्यया कर्तुं समर्थ ईश्वर ।

२ अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदुःखयो ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ —महानारत

यदा यदा हि धर्मस्य, स्तानिर्भयति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् । —अध्याय ४/७ ।

अर्थात् - हे अर्जुन ! जब धर्म की हानि हानी है और अधर्म की वृद्धि होती है तब मैं (श्री कृष्ण) अवतार धारण करता हूँ ।

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्टकृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय, समवाप्तिं युगे-युगे ॥ —अध्याय ४/८

अर्थात् साधुओं के परित्राण-संरक्षण के लिए, दुष्ट कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए, तथा धर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ ।

उपयुक्त पवित्रता वैदिक दर्शन द्वारा मान्य ईश्वर के स्वरूप का भक्षण में परिचय करा रही है । परन्तु जैनदर्शन का परिशीलन करने से पता चलता है कि उसमें परमात्मा के अर्थ में ईश्वर शब्द का कहीं प्रयोग नहीं मिलता है । जैनदर्शन में परमात्मा के लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग न करके सिद्ध, बुद्ध, पारगन, परम्परगत, उन्मुक्त-कर्म-वच, अजर, अमर, असग, निस्तीर्ण-सर्वदुःख, जाति-जरा मरण वन्धन-विमुक्त^१ आदि शब्दों का व्यवहार मिलता है । ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं । सिद्ध कृत्तकृत्य को कहते हैं । केवलज्ञान के द्वारा विद्वत् का जानने वाले बुद्ध कहलाते हैं । ससार रूपी समुद्र से पार हुए को पारगत कहा जाता है । सर्वप्रथम मम्मगुदजन की प्राप्ति, पुनः मम्मगुजान की प्राप्ति, तदनन्तर सम्मक्चाग्रि की प्राप्ति, इस परम्परा द्वारा जिसने मोक्ष को प्राप्त किया है उसे परम्परगत कहते हैं । सर्व प्रकार के कर्मों से रहित उन्मुक्त-कर्म-वच, जरा आदि अवस्थाओं से रहित अजर, आयुर्कर्म से रहित अमर, सर्व प्रकार के क्लेशों से रहित असग, सब प्रकार के दुःखों से रहित निस्तीर्ण-सर्वदुःख, और जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से विमुक्त जाति-जरा-मरण-वन्धन-विमुक्त कहलाते हैं ।

इसके अलावा, जैनमाहित्य में ईश्वर के प्रनिबोधक सर्वदुःखप्रहीण, मुक्तात्मा आदि शब्द भी देखने में आते हैं । सर्वदुःख-प्रहीण का अर्थ स्पष्ट ही है । मुक्तात्मा का विवेचन करते हुए भगवान् महावीर ने आचारागसूत्र में कहा है —

“मुक्तात्मा का स्वरूप बताने के लिये कोई भी शब्द समर्थ नहीं है, तर्क की वहा गति नहीं होती है । बुद्धि वहा तक जा नहीं सकती है । उसकी कल्पना नहीं की जा सकती है । वह मुक्तात्मा सरल कर्मरहित है, सम्पूर्ण ज्ञानमय दशा में विराजमान है । वह न लम्बा है, न छोटा है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चौरस है, न मण्डलाकार है, न काला है, न नीला है, न लाल है । वह पीला और सफेद भी नहीं है । सुगन्ध और दुर्गन्ध वाला नहीं है । तीक्ष्ण और कटुक नहीं है । कर्मला, खट्टा और भीठा नहीं है । वह न कठोर है, न सुकुमार है, न हल्का है, न भारी है, न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है, न पुरुष है, न गणुसक है । वह ज्ञाता है, परिज्ञाता है, उसकी उमरा नहीं है, वह अरूपी है, अवर्णनीय है, शब्दों द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है । मुक्तात्मा शब्द, रूपा, रस, गन्ध, और स्पर्शस्वरूप भी नहीं है ।^२

जैनदर्शन में मुक्तात्मा के अर्थ में ईश्वर शब्द का व्यवहार नहीं किया जाना है । वैदिकदर्शन द्वारा माने गए ईश्वर का ईश्वरत्व (जगत्-कृतृत्व आदि) जैनदर्शन को स्वीकार भी नहीं है । संभव है, इसीलिए वैदिक दर्शन ने जैन-

१ सिद्धं त्ति यं बुद्धं त्ति यं, पारगयत्ति यं परंपरगयत्ति यं ।

उन्मुक्त-कर्म-वचया, अजरा अमरा असगा य ॥

निच्छिद्यणसत्त्वदुक्खा जाड-जरा-मरण-वधण-विमुक्का ।

अव्वावाहं सुखं अणुहोति सासयं सिद्धा ।

२ आचाराग सूत्र प्रथम, श्रुतस्कन्ध, अ० ५ उ० ६

दर्शन को अनीश्वरवादी दर्शन घोषित किया है। परन्तु जैनदर्शन के अनीश्वरवाद या निरीश्वरवाद का यह अर्थ नहीं समझ लेना चाहिए कि जैनदर्शन ईश्वर को मानता ही नहीं है। जैनदर्शन ईश्वर को मानता है, पर अपने दृष्टि में। वस्तुतः ईश्वर का जिनता शूद्र, सामन्तिक और प्रामाणिक दृष्टि जैनदर्शन ने दार्शनिक जगत् के मनुष्य प्रत्युत किया है, उनका तो अन्य किसी दार्शनिक ने आज तक किया ही नहीं है। जैनदर्शन ने ईश्वर सम्बन्धी इतना गभीर और सूक्ष्म चिन्तन किया है कि कुछ कहने नहीं सकता। यह सत्य है कि जैनदर्शन वैदिक दर्शन की तरह ईश्वर को ज्ञान का वर्ण, भाग्यविज्ञान, कर्मफलदान का समार का सर्वोत्कर्ष नहीं मानता है। जैनदर्शन का विश्वास है कि ईश्वर नित्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, अनन्त-स्वरूप है, वीरगाय है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है। उसका दृश्य या अदृश्य जगत् के विषय में प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नहीं है। वह जगत् का निर्माता नहीं है, भाग्य का विज्ञाता नहीं है, कर्म-फल का प्रदाना नहीं करता वह स्वतन्त्र तत्त्व मनुष्य या किसी अन्य पशु आदि के रूप में समार में जाना भी नहीं है।

आज के प्रज्ञात्मजान में ईश्वर के सम्बन्ध में जो विचार पाए जाते हैं मुख्यतः में उनके तीन विभाग किए जा सकते हैं। वे विभाग इस प्रकार हैं —

ईश्वर एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, जगत् का निर्माता है, भाग्य का विज्ञाता है, कर्म-फल का प्रदाना है, समार में जो कुछ हो रहा है वह सब ईश्वर के सत्त्व में हो रहा है, उसी दृष्टि के बिना वह न पता भी स्थित नहीं हो सकता, वह सत्त्व का सर्वोत्कर्ष है। ईश्वर पापियों का नाश करने के लिए तथा धार्मिक लोगों का उद्धार करने के लिए कभी न कभी किसी न किसी रूप में समार में जन्म लेता है, वैकुण्ठग्राम में नीचे उतरता है, और अरुणी तीरता दिखाकर वापिस वैकुण्ठग्राम में जा विराजता है। वह मदा स्मरणीय है, नमस्कर्णीय है।

ईश्वर का यह एक रूप है जिसे आज हमारे मतान्त धर्मों भाई मानते हैं। वैदिक धर्म को मानने वाले लोग दो वर्गों में विभक्त हैं। एक वर्ग जो मतान्ताधर्मों कहते हैं और दूसरा वर्ग आर्य समाज के नाम से पुकारा जाता है। ईश्वर सम्बन्धी उक्त मान्यता मतान्त धर्मों की है। ईश्वर का दूसरा रूप यह है —

ईश्वर एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, समार का निर्माता है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, हमसे डरना या कोई दखल नहीं है। जीव अच्छा करे या बुरा, जैसा भी कर्म चाहे, वह करता है, वह उस की इच्छा पर निर्भर है। ईश्वर का उस पर कोई नियंत्रण या अकुल नहीं है। पर जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों का फल ईश्वर देता है। अपनी लीला दिखाने के लिए, पापियों का नाश करने के लिए या धर्मियों का उद्धार करने के लिए ईश्वर अवतार धारण नहीं करता, भगवान् में मनुष्य या पशु नहीं बनता। वह मदा स्मरणीय है, नमस्कर्णीय है।

यह ईश्वर का दूसरा रूप है। या ईश्वर को मानने का यह दूसरा दृष्टि है, जिसे आजकल आर्यसमाजी स्वीकार करने हैं। ईश्वर का तीसरा रूप निम्नोक्त है —

ईश्वर एक नहीं है, अनादि नहीं है, सर्वव्यापक नहीं है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, अनन्त शक्तिमान है। जगत् का निर्माता नहीं है, भाग्य का विज्ञाता नहीं है, कर्मफल का प्रदाना नहीं है, समार के किसी धन्वे में उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है ईश्वर जीव को कर्म करने में प्रेरणा नहीं देता, उसे निषिद्ध भी नहीं करता। जो कर्म करता है, उसका फल उसे स्वतः ही मिल जाता है, आत्मा पर लगे कर्म-परमाणु ही कर्म-फल प्राणी को स्वयं अपना फल देते हैं। ईश्वर या उनके साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म-फल पाने के लिए जीव को ईश्वर के द्वार नहीं बटखटाने पड़ते, जीव सर्वथा स्वतन्त्र है। किसी भी दृष्टि में वह ईश्वर के अर्थात् नहीं है, ईश्वर अवतार भी धारण नहीं करता है। वह किसी को भाग्य नहीं है और किसी को जिलाता भी नहीं है। मते में—





राम किसी को मारे नहीं, मारे तो नहीं राम,
आप ही आप मर जाएगा, करके छोटा काम ।

जीव अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है । स्वर्ग, नरक मनुष्य की अपनी सद्-असद् वृत्तियों के परिणाम हैं । अपनी नैया को पार करने वाला भी जीव स्वयं है और उसे दुबोने वाला भी वह स्वयं ही है । इसमें ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है । इतना होने पर भी ईश्वर अध्यात्म जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है, ध्येय है, अहिंसा, सत्य, तप की मंगल-मय अध्यात्म साधना द्वारा जीव ने स्वयं तो ईश्वरीय रूप में प्रकट किया है । कर्मों के आवरण को हटाकर जीव स्वयं ईश्वर बन जाता है । आत्मा और ईश्वर में कोई मूलभूत पार्थक्य नहीं है । दोनों सजातीय हैं, अन्तर केवल विकास का है । ईश्वर नमस्करणीय है, स्मरणीय है ।

यह ईश्वर का तीसरा रूप है । ईश्वर के इस रूप को जैनदर्शन स्वीकार करता है । जैनदर्शन ने सिद्ध, बुद्ध आदि पदों से जिम परमोच्च अध्यात्मशक्ति की ओर संकेत किया है, ईश्वर का तीसरा रूप उन्हीं में समाविष्ट हो जाता है । शब्दकृत भेद को छोड़ कर अर्थकृत कोई अन्तर नहीं है । इस प्रकार जैनदर्शन मनुष्य के समक्ष अनन्त आध्यात्मिक विकास प्रस्तुत करता है ।

ईश्वर शब्द की ऐतिहासिक अर्थविचारणा पर विचार करते हुए मालूम होता है कि वैदिक दर्शन के धीन-काल में ईश्वर शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ़ था, उस समय जगत्कर्तृत्व आदि विविध शक्तियों की धारिका महाशक्ति को ईश्वर के नाम से व्यवहृत किया जाता था, किन्तु अन्तिम कुट्ट शताब्दियाँ से ईश्वर शब्द सामान्य रूप से परमात्मा का निर्देशक बन गया है । इसीलिए आज कहीं ईश्वर शब्द का जब उच्चारण किया जाता है तो उसमें मनुष्य की सामान्य रूप में परमात्मा का बोध होता है । ईश्वर शब्द से किसी जगत्निर्मात्री, भाग्यविधात्री, कर्मफलप्रदात्री या ससार की सर्वोच्च शक्ति का बोध नहीं होता है । माधारणतया उसमें श्रोता परमात्मा, प्रभु, अजर, अमर या एक परमोच्च शक्ति का ज्ञान प्राप्त करता है जो सर्वथा निर्विकार है, जन्म मरण के प्रपञ्च से अलग है, जिसका स्मरण करने से आत्मा परमशान्ति को प्राप्त करता है, तथा उसके ऐहिक और पारलौकिक बलेश दूर होते हैं । जैनदर्शन, जो कभी अनीश्वरवादी कहा जाता था, और जिसने ईश्वर शब्द को कभी अपनाया नहीं था, आज उन्हीं के अनुयायी अपने को ईश्वरवादी कहने व मानने में जरा संकोच नहीं करते हैं । कारण स्पष्ट है कि ईश्वर शब्द आज वैदिक परम्परा का ही अपना पारिभाषिक शब्द नहीं रहा है, अब तो सभी अध्यात्म-परम्पराएँ उसे परमात्मा का पर्यायवाचक मानकर स्वीकार करने लग गयी हैं । आज जैन सन्तों के व्याख्यानो में —

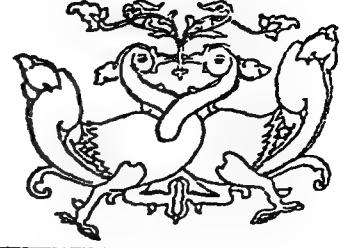
ईश्वर से करते जाना प्यार, ओ नादान मुसाफिर,
जीवन की कर ले नय्या पार, ओ नादान मुसाफिर ।

यह गीत सानन्द सुने जाते हैं, सुनाए जाते हैं । सङ्कीर्णता की चहारदीवारी से निकल कर यदि स्वस्थ हृदय से चिन्तन करें तो सभी मतभेद रामान्ध या समाहित होते एक क्षण नहीं लगता । जैनदर्शन तो अनेकान्तवाद-प्रधान दर्शन है । वह सङ्कीर्णता से पूर्य रह कर उपयोगी तत्व को अपना लेता है । इसीलिए जैनजगत में ईश्वर शब्द का व्यवहार आज दृष्टिगोचर हो रहा है । पर एक बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि ईश्वर शब्द सामान्यतया परमात्मा का, सिद्ध प्रभु का संसूचक समझना चाहिए । वैदिकदर्शन-सम्मत ईश्वर के लिए जैन साहित्य में कोई स्थान नहीं है । जैनागमों में परमात्मतत्त्व को लेकर कहा-कहा वर्णन मिलता है तथा किस-किस रूप में मिलता है ? इस प्रश्न का समाधान प्राप्त करने को इच्छा रखने वाले भज्जनों को जैनधर्मदिवाकर आचार्यप्रवर पूज्य गुरुदेव श्री आत्मारामजी महाराज द्वारा लिखित “जैनागमों में परमात्मवाद” नामक पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए । जैनदर्शन के ईश्वर जगत्-कर्तृत्व आदि से क्या इन्कार करता है ? यह समझने के लिए इन पक्तियों के लेखक की “भगवान महावीर के पांच सिद्धान्त” या “प्रश्नों के उत्तर” (दो खण्ड) पुस्तक पढ़ना चाहिए ।

१ उक्त पुस्तकें श्री आत्माराम जैन प्रकाशक समिति, जैनस्थानक, लुधियाना से प्राप्त की जा सकती हैं ।

जैनागमों में अष्ट प्रवचनमाताएं

मुनिश्री कन्हैयालालजी “कमल”



पांच समिति और तीन गुप्ति

- (१) ईर्ष्या-समिति^१
- (२) भाषा-समिति^२
- (३) एषणा-समिति^३
- (४) आदान-माण्ड-मान-निक्षेपणा-समिति^४
- (५) उच्चार-प्रथवण-उत्पन्न-मिषाण-जल्ल-परिष्ठापनिका-समिति^५
- (६) मन-गुप्ति
- (७) वचन-गुप्ति

- १ (क) 'स्त्रीरूप-विरतिसमिति' भी ईर्ष्यासमिति का एक नाम है क्योंकि यह चक्षु इन्द्रिय की यतना है। प्रश्न० सू० २७
- (ख) 'पूर्वरत-पूर्वफ्रीडित-विरतिसमिति' भी ईर्ष्यासमिति का ही एक नाम प्रतीत होता है क्योंकि चारित्र्य ईर्ष्यासमिति का एक आलम्बन है। पूर्वरत-पूर्वफ्रीडितविरतिसमिति ब्रह्मव्रत का एक भेद है और ब्रह्मव्रत सामायिक चारित्र्य का एक भेद है। अतएव यह ईर्ष्यासमिति का ही एक नाम हो सकता है। प्रश्न० सू० २६
- २ (क) इसका एक नाम 'अनुविचिन्त्य समिति' है। प्रश्न० सूत्र० २५
- (ख) 'स्त्रीकयाविरतिसमिति' भी भाषासमिति का नाम है।
- ३ (क) इस का एक नाम 'अवग्रहसमिति' है। प्रश्न० सूत्र० २६
- (ख) निर्दोष उपाश्रय की प्राप्ति भी एषणासमिति का विषय है अतः "विविक्तवाससमिति" भी इस का नाम है। प्रश्न० सूत्र० २६
- (ग) आहारसमिति भी इसका नाम है, क्योंकि आहार एषणा द्वारा प्राप्त होता है। प्रश्न० सू० २६
- (घ) 'नाधारणपिण्डपात्रसमिति' भी एषणासमिति का नाम है। प्रश्न० सू० १, २६
- (ङ) 'असततवामवसति समिति' भी एषणासमिति का नाम है।
- (च) 'प्रणीत-आहारविरति' परिभोगेयणा समिति का विषय है अतएव यह एषणा समिति का ही एक नाम है।
- ४ (क) अति मक्षिप्त नाम—'आदान-समिति'। उक्त० अ० २४, गाथा २।
- (ख) मक्षिप्त नाम—'आदान-निक्षेपणा-समिति'।—तत्त्वा० अ० ६, सू० ५
- ५ (क) सक्षिप्त नाम—'उच्चार-समिति'। यहा नाम के एक अक्षर का ग्रहण करके पूरे नाम के ग्रहण करने का मकेत है।—उक्त० अ० २४, गाथा २।
- (ख) सक्षिप्त नाम—'उत्पन्न-समिति'। तत्त्वा० अ० ६, सू० ५

(८) काय-गुप्ति^१

प्रवचनमाता की सार्थक सज्ञा —

इन अष्ट प्रवचनमाताओं में मपूर्ण द्वादशांगी समाविष्ट है,^२ इसलिए इनकी 'प्रवचनमाता' सज्ञा है। और इस सज्ञा की सार्थकता सिद्ध करने के लिए यह हेतु दिया गया है कि —“ये प्रवचनमाताएँ चारित्ररूपा हैं। चारित्र, ज्ञान दर्शन के बिना नहीं होता है।^३ द्वादशांगी में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का ही त्रिमूर्त वणन है,^४ अतः द्वादशांगी प्रवचनमाता का ही विराट् रूप है।”

जिस प्रकार माता की कुक्षि में शिशु सूक्ष्म रूप में स्थित रहता है और वही शिशु जन्म के पश्चात् क्रमशः बढ़ता हुआ माता पिता के समान विशाल शरीर वाला हो जाता है। शिशु के उस विकसित शरीर को देखकर भी हम यह सहमा मान लेते हैं कि यह एक दिन इस माता की कुक्षि में सूक्ष्म रूप में स्थित था, इसी प्रकार इतना विशाल जिनप्रवचन इन अष्ट प्रवचनमाताओं में समाविष्ट है।

माता की गरिमा जितनी लौकिक जीवन में है,^५ आध्यात्मिक जीवन में उतनी ही इन अष्ट प्रवचन-माताओं की है। वास्तव में ये अष्ट प्रवचन-माताएँ अध्यात्मजगत् की जगदम्बा हैं और जिन भगवान् जगत्पितामह।^६ इह लौकिक जीवन में मानव पर माता का जितना उपकार है,^७ उससे अनन्त गुण अधिक आध्यात्मिक जीवन में इन अष्ट प्रवचन-माताओं का है। इन तथ्य की अनुभूति का अधिकारी मुमुक्षु मानव ही है। इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध में मुमुक्षु साधक का ही परिलक्षित कर समस्त विधि-निषेध प्रस्तुत किए गए हैं।

१ (क) सम० ८ वा समवाय, सू० २

(ख) अद्भुत पवयणमायाओ, समिई गुप्ती तहेव य।

पचेव य समिइओ, तओ गुप्ती उ आहिया ॥

इरियाभासेसणादाणे, उचच्चारे समिईसु य।

मणगुप्ती वयगुप्ती, कायगुप्ती य अट्टमा ॥—उत्त० अ० २४, गाथा १, २

(ग) मातरोऽष्टौ प्रकीर्तिता ।—योग० प्र० प्रका० २ श्लोक ४५।

२ हुवालसग जिणवलाय, माय जत्थ उ पवयण ।—उत्त० अ० २४, गाथा ३

यत्र यास्वष्टासु मातृषु द्वादशाङ्ग जिनार्यात प्रवचन श्रुत चारित्र वा 'माय' इति मात—संपूर्णत्वेन सस्थितम् ।
—लक्ष्मीवल्लभी टीका।

३ नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूण—उत्त० अ० २८, गाथा २६

नादसणित्स नाण,—उत्त० अ० २८, गाथा २६।

४ यतो हि सर्वा एता अष्टावमी चारित्ररूपा चारित्र हि ज्ञान-दर्शन बिना न भवति, ज्ञान-दर्शन-चारित्र्येभ्योऽतिरिक्त द्वादशाङ्ग न भवति, तस्माद् द्वादशाङ्ग्यष्टासु मातृषु स्थिता, तेनैतासा प्रवचन-जननीसज्ञा।

—लक्ष्मीवल्लभी टीका।

५ (क) “देव य गुह्य जणणी”

जननी-माता देव, गुरु के तुल्य है—उपा० अ० ३, सू० १३१

(ख) जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी ॥

६ “जगनाहो जगवधू, जयइ जगप्पियामहो भयव ।—नदी० स्थ० गाथा १

७ तिण्ह दुप्पडियार समणाउसो । त जहा—अम्मापियउणो, भट्टिस्स, धम्मायरियस्स । सपातो वि य ण केइ पुरित्ते अम्मापियर सयपाग-सहस्सपागेहिं तिल्लेहिं अब्भगेत्ता सुरमिणा गघुट्टएण उव्वट्ठित्ता तिहिं उदगेहिं मज्जावित्ता सव्वालकारविभूसिय करेत्ता मण्णुन थालीपागसुद्ध अट्टारसवज्जाउल भोयण भोयावेत्ता जावज्जीव पिट्ठि-वडेसियाए परिचहेज्जा, तेणावि तस्स अम्मापियउस्स दुप्पडियार भवइ ।

—स्या० अ० ३, उ० १, सू० १३५

ममिति और गुप्ति मज्ञा

द्वैतममिति आदि पात्र की ममिति मज्ञा है^१ और मनगुप्ति आदि तीन की गुप्ति मज्ञा है^२ किन्तु इन आठ की 'ममिति मज्ञा' भी है।^३ सर्वविघ्न मुमुक्षु नयन की चारित्र्य में जो सम्यक् प्रवृत्ति होती है उसे 'ममिति' कहते हैं।^४ तथा उसी मुमुक्षु की जो युग्म योगों में प्रवृत्ति होती है उसे भी 'ममिति' कहते हैं।^५ मुमुक्षु का अयुग्म योगों में सर्वथा निवृत्त होना "गुप्ति" कहा जाता है।^६ इस प्रकार इन अष्ट प्रवचन माताओं की ममिति और गुप्ति मज्ञा भी आगम-साहित्य में प्रसिद्ध है।

पांच समिति और तीन गुप्ति की आधारभूमि

श्रमण-भगवान् के आदि पुण्य भगवान् आदिनाथ के मान्निष्ठ्य में कुछ माधक श्रमण अध्यात्म-आराधना का अन्तर्गम करने लगे। ये श्रमण मान्ति ५ किन्तु मज्ञा न वे जत भगवान् उन्हें कदम कदम पर सावधान करते, शिक्षा देने और प्रत्येक कार्य विप्रेरपूर्वक करने के लिए प्रेरित करते।

एक दिन एक श्रमण भिक्षा के लिए चला। गत तीन दिनों में वह तपश्चर्या कर रहा था, आज उसे भोजन लेना था। वह तेज रफ़्त में चला तथाकि भुजा की वेदना में व्याकुल था अतः भगवान् के बोध-पाठ को वह भूल गया।

कुछ समय बीता। श्रमण भिक्षा तपश्चर्या आ रहा था। जब भी उस के चरण चचल ये, वह चाहता था स्वस्थान पर शीघ्र पड़वूँ, दे-हाने पर यह पात्र और पेय उगल न रहेंगे।

भगवान् यह सब कुछ देख रहे थे। वे जानते थे, इस युग के मानव तैल बुद्धि नहीं हैं फिर भी उस श्रमण को भगवान् ने कहा—जागृमान् ! तुम्हें प्रत्येक कार्य विप्रेरपूर्वक करने के लिए कहा गया है, याद है न ? विस्मृत तो नहीं हुआ ?

नने ! याद है विस्मृत नहीं हुआ।

आयुष्मन् ! अभी तुम भिक्षा के लिए गए और आए बिना तेज चर रहे थे ?

१ पच समिद्धिओ पणत्ताओ, त जहा-ईरियासमिद्धि-जाव-पारिदुठावणियासमिद्धि।

—स्या० अ० ५, उ० ३, सू० ४५७

—सम० अ० ५, सू० ७

२ तओ गुत्तीओ पणत्ताओ, त जहा मणगुत्ती-जाव-कायगुत्ती।

—स्या० अ० ३, उ० १, सू० १२६

—सम० अ० ३, सू० २

३ (क) अट्ठ समिद्धिओ पणत्ताओ, त जहा—ईरिया-समिद्धि-जाव-कायसमिद्धि। —स्या० अ० ८, सू० ६०३

(ख) एयाओ अट्ठममिद्धिओ, समासेण विषाहिषा। —उत्त० अ० २४, गाथा २६३

४ एयाओ पच समिद्धिओ, चरणस्म यपवत्तणे। —उत्त० अ० २४, गाथा ३२६

५ सम्यग् इति प्रवृत्ति समिति,

मनस कुशलताया समिति, वाचोऽजुशलत्वनिरोधे समिति, कायस्य स्थानादिषु ममितिरिति।

—स्या० अ० ८, सू० ६०३ की टीका।

६ (क) गुत्ती नियत्तणे वृत्ता, अमुनत्तेषु सव्वसो। —उत्त० अ० २४, गाथा २६

(ख) गोपन गुप्ति —मन प्रभूतीना कुशलाना प्रवर्तनमकुशलाना च निवर्तनमिति।

(ग) "मन्ययोगनिग्रहो गुप्ति" —तत्त्वा० अ० ६, सू० ४

७ "पुग्निमा उज्जुजटा उ" —उत्त० अ० २३।





हाँ भते ! एक ओर क्षुधा सता रही थी दूसरी ओर प्यास एव पेय शीतल हाते जा रहे थे, इसलिए भगवन्, मैं जल्दी-जल्दी गया और जल्दी-जल्दी आया हूँ ।

आयुष्मन् ! यह श्रमण-चर्या नहीं है । साधक श्रमण को इतना तेज नहीं चलना चाहिए ।

भते ! आप ने तेज न चलने के लिए तो आज ही कहा है, पहले तो रुकी कहा नहीं था ।

आयुष्मन् ! पहले तू गृहस्थ था, पाप कर्मा से अविरत था । अब तू प्रव्रजित हो गया है, सर्व साधक कार्यों से विरत रहने की तूने प्रतिज्ञा ली है । गृहस्थ-चर्या भिन्न है आयुष्मन् !

तब श्रमण ने सविनय प्रश्न किये—

भते ! मैं कैसे चलूँ ? और कैसे पड़ा होऊँ ?

भते ! मैं कैसे बैठूँ ? और कैसे सोऊँ ?

भते ! मैं कैसे छाऊँ-पीऊँ ? और कैसे धोऊँ ?^१

जिससे मैं पापकर्म से लिप्त न होऊँ ?

आयुष्मन् ! तू यतना से चल और यतना से पड़ा हो,

आयुष्मन् ! तू यतना मे बैठ और यतना मे सो,

आयुष्मन् ! तू यतना से खा-पी और यतना से धो ।^२

इस प्रकार तू पाप कर्म से लिप्त नहीं होगा ।

ईर्या समिति के ६ निक्षेप

(१) नाम-ईर्या, (२) स्थापना-ईर्या, (३) द्रव्य-ईर्या, (४) क्षेत्र-ईर्या, (५) काल-ईर्या, (६) भाव-ईर्या ।

(१) नाम-ईर्या—किसी व्यक्ति या वस्तु का 'ईर्या' नाम हो वह 'नाम-ईर्या' निक्षेप है ।

(२) स्थापना-ईर्या—चलते हुए व्यक्ति की प्रतिकृति या फोटो ।

(३) द्रव्य-ईर्या—तीन प्रकार की है —सचित्त, अचित्त और मिश्र ।

(क) सचित्त-ईर्या—वायु का या पुरुष आदि का चलना ।

(ख) अचित्त-ईर्या—परमाणु आदि पुद्गल द्रव्यों का चलना ।

(ग) मिश्र-ईर्या—रथ आदि का चलना ।

(४) क्षेत्र-ईर्या किसी क्षेत्र—प्रदेश में किसी व्यक्ति आदि का चलना ।

(५) काल-ईर्या—किसी काल में किसी व्यक्ति आदि का चलना ।

(६) भाव-ईर्या—दो प्रकार की है —(१) चरण-ईर्या, (२) समय-ईर्या ।

चरण-ईर्या—

(क) श्रमण का—निर्दोष चलना ।^३

१ कह चरे कह चिट्ठे, कहमासे कह सए ।

कह भुजतो भासतो, पावकम्म न वधइ ॥—दश० अ० ४, गाथा ७

२ जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सए ।

जय भुजतो भासतो, पावकम्म न वधइ ॥—दश० अ० ४ गाथा ८

३ आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० १, निर्युक्ति गाथा ३०५, ३०६

निम्नलिखित आगमोक्त निर्देशों के अनुसार चलने वाले श्रमण का चलना ही निर्दोष चलना माना गया है ।

- (१) श्रमण को चलने समय श्रमम्भ्रान्त रहना चाहिए, क्योंकि भ्रान्त अवस्था में चित्त अशान्त रहता है अतः चलने समय जीव-ध्या नहीं कर सकता ।
- (२) श्रमण को अमूर्छित-आमन्त्रित गति चरना चाहिए, क्योंकि आमन्त्रित व्यक्ति का मन किसी अभिल-
षित वस्तु में डगा रहता है अतः वह जीवरक्षा में उपयोग नहीं लगा सकता ।
- (३) श्रमण को मन्द गति में चलना चाहिए, क्योंकि धीम्र गति में चलने वाला जीवरक्षा करता हुआ नहीं
चल सकता ।
- (४) श्रमण को चलने समय 'अनुद्विग्न'—प्रशान्त रहना चाहिए, क्योंकि—उद्विग्न अवस्था में व्यक्ति
भयभीत रहता है अतः वह विवेकपूर्वक नहीं चल सकता ।
- (५) श्रमण को 'अव्याक्षिप्तचित्त' में चलना चाहिए, क्योंकि—विक्षिप्त, चित्त-वचल चित्त-वाला व्यक्ति
मार्ग पर दृष्टि रख नहीं चल सकता ।^१
- (६) श्रमण को दौड़ते हुए नहीं चलना चाहिए, क्योंकि दौड़ने वाला जीवों को बचाता हुआ नहीं चल
सकता ।

श्रमण घोर धी-मादमी होना है अतः उसका दौड़ना व्यावहारिक दृष्टि में भी अच्छा नहीं माना
जाता, क्योंकि जमीन या भयभीत व्यक्ति ही प्रायः दौड़ते हैं ।

- (७) श्रमण को चलने समय धारें नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जब मन बातचीत करने में लगा रहता है तब
वह चोखला करने में दलचित्त नहीं हो सकता ।
- (८) श्रमण को चलने समय हँसना भी नहीं चाहिए, क्योंकि हँसते हुए मार्ग पर दृष्टि रख कर नहीं चल
सकता । जो प्रसन्न गाने हुए, गाने हुए या ऐसी ही कोई अन्य क्रिया करते हुए नहीं चलना
चाहिए ।^२
- (९) श्रमण को गवाक्ष, गरी, स्नानागृह आदि पर दृष्टि डालने हुए नहीं चलना चाहिए, क्योंकि गवाक्ष आदि
की ओर देखने हुए चलने वाला गमने के जीव-जन्तुओं को नहीं देख सकता । गवाक्ष आदि की ओर
देखने हुए चलने में श्रमण भी माधुना के मकर में धका उत्पन्न होती है । अतः श्रमण को मार्ग पर
दृष्टि रखने हुए ही चलना चाहिए ।^३
- (१०) श्रमण को क्रुद्ध होकर नहीं चलना चाहिए, क्योंकि क्रुद्ध मानव का मन अशान्त होता है अतः वह
विवेकपूर्वक नहीं चल सकता ।^४
- (११) श्रमण चलने समय अपने माथी श्रमणादि को पहाड़ पर, समभूभाग पर या सरोवर आदि के किनारे
पर चलने हुए पशु तथा पक्षी आदि की ओर अगुली निर्देश करके या हाथ लम्बा करके न दिखावे ।
ऐसा करने से पशु-पक्षी भयभीत होते हैं ।
- (१२) श्रमण चलने समय अपने माथी श्रमणादि को पहाड़ पर बने किले आदि की ओर संकेत करके न
दिखावे ऐसा करने से किले आदि के रखकों को श्रमण के प्रति गुप्तचर होने की आशंका होती है ।

१ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १, २

२ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १४

३ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १५

४ दश० अ० ८, गाथा २५





(१३) श्रमण को मनहर शब्द सुनते हुए नहीं चलना चाहिए ।

(१४) श्रमण को मनहर रूप देखते हुए नहीं चलना चाहिए ।

(१५) श्रमण को चलते समय सुगन्ध या दुर्गन्ध के सम्बन्ध में राग-द्वेष भरे मकल्प ग्राह्य नहीं करना चाहिए । सुगन्ध के सम्बन्ध में—“अहा, कैसी मनहर गन्ध आ रही है, सुगन्ध का आनन्द लेता हुआ धीमे धीमे चलूँ” ऐसे विचारों में आसक्ति बढती है ।

दुर्गन्ध के सम्बन्ध में—“अरे, कैसी दुर्गन्ध आ रही है, नाक फट रहा है, दम घुट रहा है” इस प्रकार के घृणा भरे मकल्पों से पुद्गलपरिणति का विवेक नष्ट हो जाता है ।

अतः सुगन्ध आते समय मन्द गति से और दुर्गन्ध आते समय द्रुत गति में श्रमण को नहीं चलना चाहिए । अपितु दोनों स्थानों पर स्वाभाविक गति में चलना चाहिए ।

(१६) श्रमण को मनहर रसास्वादन करते हुए नहीं चलना चाहिए ।

(१७) श्रमण को सुषुप्त स्पर्श का भवेदन करते हुए नहीं चलना चाहिए ।

(ख) समय ईर्ष्या – सत्तरह प्रकार के मयम का विवेकपूर्वक पालन करते हुए करना ।^१

१ ईर्ष्यासमिति

ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की प्राप्ति या वृद्धि के लिए उपयुक्त अवसर में युगपरिमाण भूमि^२ (चार हाथ प्रमाण) को एकाग्र चित्त में देखते हुए प्रशस्त-पथ में यतनापूर्वक (जीपरक्षार्थ प्रयत्न करते हुए) गमनागमन करना ईर्ष्यासमिति है ।^३

ईर्ष्यासमिति की विमुक्त आराधना के लिए मुमुक्षु साधक को आलम्बन, गात्र, मार्ग और यतना का विवेक करना अत्यावश्यक है, क्योंकि ये चार ईर्ष्यासमिति की विमुक्ति के हेतु हैं ।^४

(क) आलम्बन

ईर्ष्यासमिति के आलम्बन ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य है । जिस प्रकार स्थविर आलम्बन से त्रिना किसी असुविधा के अभिलषित ऊँचाई पर पहुँच सकता है । उसी प्रकार साधक भी ज्ञान-दर्शन चारित्र्य के आलम्बन से उग्र एवं कठिन परीपक्ष सह्य बिना सर्वोच्च शिवपद प्राप्त कर सकता है । क्योंकि ज्ञानादि की आध्यात्मिक शक्ति का सम्बल ही दुर्लभ शिवपथ पर साधक को अग्रसर करता है ।

अधा और पशु भी आलम्बन के बल से द्रष्टव्य स्थान पर पहुँच सकता है । पक्षी पत्तों के आलम्बन में गगन-गामी होता है । सामान्यतया पत्नी को पति का, शिष्य को गुरु का, भृत्य को स्वामी का, पथिक को साथी का, मित्र का माता का, समाज को नेता का और भक्त को भगवान् का आलम्बन ही जीवनयापन व जीवननिर्माण में उपयोगी होता है ।

यह आलम्बन का अर्थ महारा ता है ही, उद्देश्य और लक्ष्य अर्थ भी यही संगत है । बाधक-जीवन में जितनी आवश्यक क्रियाएँ हैं उनका प्रधान लक्ष्य रत्नत्रय की प्राप्ति या वृद्धि है । गौण लक्ष्य अनेक हैं और वे प्रत्येक

१ आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० १, निर्युक्ति गाथा ३०७

२ “युगमित्त च क्षेत्रो” — उक्त० अ० २४, गाथा ७, पद २

३ उक्त० अ० २४, गाथा ७

४ “चउकारणपरिसुद्ध”

श्रिया मे निगलन सारं है जो माधकजीवन मे निगलन सिरे जाने है । अनिप्राय यह है कि अमण आहार करता है तो उसका प्रधान लक्ष्य अन्न ही अभिवृद्धि है औ गौण लक्ष्य उदरपूर्ति है । यहा यह विस्मय की बात है कि गौण लक्ष्य ही मिट्टि सर्वप्रथम होती है औ प्रधानलक्ष्य की मिट्टि मध्यस्थान । इसी प्रकार माधक की प्रत्येक आवश्यक श्रिया के मध्यस्थ मे समानता चाहिए । जिस श्रिया द्वारा ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की प्राप्ति या अभिवृद्धि न हो उस श्रिया के लिए माधक धन्य न हो वरना वह उदम दस्ताना है औ न उस श्रिया के करने मे अपना एक मग लगाना है ।

माधक जीवन मे यदा-कदा ऐसे प्रसङ्ग भी उत्पन्न होते हैं जब माधक अपने प्रधान लक्ष्य की मिट्टि के लिए अर्थात्—लक्ष्य ही प्राप्ति या वृद्धि के लिए उन्मत्त मार्ग या उन्मत्त मार्ग अपवादमार्ग का आश्रय ले लेता है ।

- यथा—
- १ ज्ञान ही प्राप्ति के लिए,
 - २ दर्शन ही प्राप्ति के लिए
 - ३ चारित्र्य ही प्राप्ति के लिए,
 - ४ अन्न या उपाध्याय ही मृत्यु होना प,
 - ५ अन्न या उपाध्याय की सेवा के लिए अन्न जाना आवश्यक होने प ।

इसी मार्ग मे वर्षावास मे अन्न जाना उदया निषिद्ध है किन्तु आपवादक स्थान मे ऊपर लिखे कारणों मे वर्षावास मे अन्न-अभिवृद्धि अन्न या अन्न है ।

- (१) किसी आचार्य को कुछ ऐसा अन्न प्राप्त है जो अन्य किसी का प्राप्त नहीं है । वे अन्नप्रत्याख्यान करना चाहते हैं पर उन्मत्त पुत्र के किसी कारण पात्र को अपना अपवादलक्ष्य ज्ञान देना चाहते हैं । योग्य पात्र किसी मुदरवर्ती अन्न मे वर्षावास विना रहा है । मध ने उस पात्र पात्र का आचार्य का मदेश पहुँचाया । अन्न भक्षण आचार्य का मदेश पहुँचने ही वर्षावास मे ज्ञानोपार्जन के लिए चतुःपत्र । यह है ईर्ष्या-वृत्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष ।
- (२) किसी विविष्ट व्यक्ति की अन्न मुदर उन्न के लिए या अन्न दान की स्थापना के लिए वादविवाद-तन्त्रन अमल का मध या आचार्य का उदय यदि वर्षावास मे भी जाने तो मुनि की दानविमुक्ति के लिए श्रिया करना पटना है । यह है ईर्ष्यावृत्ति का दर्शन प्रत्यक्ष ।
- (३) वर्षावासस्थित अमल को यह अनुभव हो कि —“यदा उन्मत्त स्थितों का उपश्रव है या तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिए अमल का चारित्र्य मे विचारित कान वाली कुछ विविष्ट वर्ग की श्रिया है, अतः यदा अन्न पर मेरा चारित्र्य मुगलन नहीं रहेगा”—ऐसी स्थिति मे अमल वर्षावास मे ही विचार कर पटना है । यह है ईर्ष्यावृत्ति का चारित्र्य प्रत्यक्ष ।

यदा ईर्ष्यावृत्ति का प्रधान लक्ष्य ज्ञानादि की प्राप्ति, गुणजनों के अनुमानन मे रहना और गुणजनों की सेवा करना है । वर्षावास मे उत्पन्न हुए जीवजन्तु, वनस्पति और अकुल आदि की सेवा यहा गौण है । प्रधान लक्ष्य की मिट्टि होने पर गौण लक्ष्य की मिट्टि हो या न हो अथवा गौण लक्ष्य की उद्देश्यता पर ही अन्न—यहा यह अभिप्राय नहीं है । यहा केवल प्रथमिकता देने की विचारणा है । प्रधान लक्ष्य की मिट्टि के लिए प्रयत्न करने हुए जीवजन्तु के लिए भी सतत प्रयत्नशील रहना माधक का कर्तव्य है । माधक के मनग रहने पर भी यदि जीव-जन्तुओं की हिंसा हो जाए तो यह केवल “वृथारहित” ही माना जाएगा ।

१ आचाराग धृत० २, अ० ३, उद्दे० १, सू० १११

२ स्थाना० अ० ५, उद्दे० २ सूत्र ४१२



साधक श्रमण के चलने के चार मुख्य उद्देश्य —

(१) स्वाध्याय तथा ध्यान के लिए स्वाध्यायभूमि (विहारभूमि) या ध्यानभूमि तक पहुँचने के लिए साधक श्रमण चलता है ।^१

(२) आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, और वसति आदि एषणीय पदार्थों की एषणा के लिए साधक श्रमण चलता है ।^२

(३) आवश्यक शारीरिक क्रिया (मल-मूत्रादि विसर्जन के लिए उच्चार-प्रश्रवणादि के परिष्ठापनार्थ निश्चित भूमि तक साधक श्रमण चलता है ।^३

(४) एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने के लिए साधक श्रमण चलता है ।^४

मुमुक्षु श्रमण निरुद्देश्य नहीं चलता, वह जब कहीं जाना चाहता है तो अपने स्थविर गुरुजनों या मायी श्रमणों का आवश्यक कार्य सम्बन्धी विवरण बताकर जाता है ।^५

उपाश्रय से बाहर जाने समय वह उच्चरवर से "आवस्सिया" और उपाश्रय में प्रवेश करते समय "णिसीहिया" का तीन-तीन बार उच्चारण करता है । यह उमाती समाचारी-आचरण-पद्धति है ।^६ यह है ईर्या ममिति का आलम्बन ।

(ख) काल

अब ईर्याममिति के काल के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं । यहा काल का विभाजन दो भागों में किया गया है । ये दो विभाग हैं—दिन और रात । ईर्याममिति का पालन दिन में हो सकता है,^७ रात्रि में नहीं । दिन में सभी साधक श्रमण-श्रमणिया देव कर चल सकते हैं । सूक्ष्म-स्थूल जीव-जन्तुओं को बचाकर चल सकते हैं और इस प्रकार वे स्वरक्षा और पर-रक्षा करते हुए समय का पालन कर सकते हैं ।

साधक श्रमण-श्रमणियों को रात्रि में नहीं चलना चाहिए, यदि एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय कदाचित् मार्ग में सूर्यास्त हो जाए तो वही ठहर जाना चाहिए । भूमि सम हो या विषम, इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए । कदाचित् रात्रि में वहाँ श्वापद या सर्प आदि का भय हो तो समभाव से सहन करना चाहिए ।^८ रात्रि में एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाना या भिक्षा के लिए जाना सर्वथा निषिद्ध है । केवल शारीरिक आवश्यक क्रिया के लिए उच्चार-प्रश्रवणादि भूमि तक, स्वाध्याय के लिए स्वाध्याय भूमि तक तथा ध्यान के लिए ध्यान करने योग्य किसी स्थान तक रात्रि में साधक श्रमण जा सकता है किन्तु रजोहरण से प्रमार्जन करते हुए ही जा सकता है, किन्तु बिना प्रमार्जन किए उसे एक कदम भी नहीं चलना चाहिए ।

१. आचा० श्रुत०, अ० ८, सू० ६०, १६३, १६४

२. आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

३. आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

४. आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

५. कल्पसूत्र० सूत्र ६१

६. उक्त० अ० २६, गाथा २

७. उक्त० अ० २४, गाथा ५

८. (क) बृह० उद्दे० १, सूत्र० ४७

(ख) जत्थज्जत्थमिए अणाउले, समविसमाहं भुणिज्जहियासए ।

चरगा अट्ठवा वि भेरवा, अट्ठवा तत्थ सरीसिवा सिया ।।

—सूत्र० श्रुत० १, अ० २, उद्दे० २, गाथा १४

विकाल

विकाल मन्त्रा समय को कहते हैं। मन्त्रा में भी चलने का निषेध है, क्योंकि मन्त्रा वेला प्रतिक्रमण का कार्य है। श्रमण को सभी क्रियाएँ निश्चिन्त समय पर करना चाहिए। जन सूर्यास्त के समय और सूर्योदय के समय ग्रामानुग्राम आदि के लिए गमनागमन नहीं करना चाहिए।

वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म

प्रमुख ऋतु-विभागों के अनुसार एक वर्ष के तीन विभाग हैं। वर्षाकाल के चार मास हैं—श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक। इन चार मासों में श्रमण-श्रमणिया का ग्रामानुग्राम विहार नहीं करना चाहिए। यह श्रमणोक्त विज्ञान है।^१

वर्षाकाल के दो विभाग हैं—प्रावृत् और वर्षा। प्रावृत् के भी दो विभाग हैं—प्रथम प्रावृत् और द्वितीय प्रावृत्। प्रथम प्रावृत् में ग्रामानुग्राम विहार करने का सर्वथा निषेध है^२, क्योंकि प्रथम प्रावृत् में सूक्ष्म-सूक्ष्म जीवों की अधिक उत्पत्ति हो जाती है। नदी नाले बंदम और बाई में मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। किन्तु श्रमण-श्रमणिया जाग-मोहन पाच कारण उपस्थित होने पर आत्म-क्षा के लिए प्रथम प्रावृत् में भी वर्षावास क्षेत्र को छोड़कर जंगल जा सकते हैं। यथा-

- (१) अग्नि-वना फैलने पर या मुरझावप्रस्था समीचीन न होने पर।
- (२) दुर्गात होने पर या भिक्षा दुर्लभ होने पर।
- (३) विर्मा के व्यापक होने पर।
- (४) बाट आने पर।
- (५) अनागों का उदभव होने पर।^३

यथा ईशानिमिति का प्रमुख उद्देश्य “आत्मरक्षा” है क्योंकि आत्म-क्षा के बिना ज्ञान दर्शन-चारित्र्य की प्राप्ति या अभिवृद्धि नहीं होती। पर-क्षा अर्थात् प्रावृत् काट में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं की रक्षा यहाँ गौण है।

वर्षाकाल के तीन विभाग भी माने गए हैं। यथा—जघन्य, मध्य और उत्कृष्ट।

- (१) जघन्य वर्षाकाल—भाद्रपद शुक्ल पक्षमी में कार्तिक पूर्णिमा पर्यन्त ७० दिन का।
- (२) मध्यम वर्षाकाल—इसके ग्याह विरल्य है। कार्तिक पूर्णिमा में आपाट पूर्णिमा तक व्यक्तिक्रम से जघन्य वर्षाकाल के ७० दिनों में ५-५ बटाने पर १२० दिनों तक ग्याह विकल्प होते हैं।
- (३) उत्कृष्ट वर्षाकाल—६ मास का। प्रथम प्रावृत् का एक आपाट मास, वर्षावास के चार मास, यदि कार्तिक पूर्णिमा के पश्चात् भी वर्षा होती रहे तो एक भागशीर्ष मास मिलाने पर वर्षावास के ६

१ जे भिन्नू वामावाम पञ्जोमवियसि बूइज्जइ, बूइज्जत वा साइज्जइ।—निर्वाण उद्दे १०, सूत्र ६४१

२ अभिधान०—‘पाउम’ शब्द।

३ (क) नो कप्पइ निग्गयाण वा, निग्गयाण वा पद्धमपाउससि गानाणुगाम बूइज्जितए।

(ग) पच्चहि ठाणोहि कणइ, त जहा—(१) भयसि वा, (२) दुट्ठिक्खसि वा, (३) पच्चहुजे वा ण कोइ,

(४) दओघमि वा एज्जमाणसि, (५) महया वा अणारिएमु।

—स्थाना० अ० ५, उद्दे २, सूत्र ४१२





मास होते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट ६ मास पर्यन्त के वर्षावाम में श्रमण-श्रमणियों को ग्रामानुग्राम विहार नहीं करना चाहिए।^१

प्रथम समवसरण और द्वितीय समवसरण

एक वर्ष के ये दो विभाग समवसरण शब्द में बने हुए हैं। समवसरण शब्द समनागमन अर्थ का सूचक है। प्रथम समवसरण—वर्षावाम काल को कहते हैं और द्वितीय समवसरण—हेमन्त और ग्रीष्म के ८ मास को कहते हैं। प्रथम समवसरण में ग्रामानुग्राम विहार का निषेध है और द्वितीय समवसरण में ग्रामानुग्राम विहार करने का विधान है।^२

वर्षावास और ऋतुवद्ध काल

एक वर्ष के ये दो विभाग भी आगमों में उपलब्ध हैं—वर्षावामकाल के चार मास और ऋतुवद्ध काल के आठ मास। हेमन्त आदि चार ऋतुओं में आठ मास विभाजित हैं इसलिए यह ऋतुवद्ध काल है।^३ यदि आपवादिक स्थिति न हो तो ऋतुवद्ध काल में श्रमण एक स्थान में उत्कृष्ट एक मास तथा श्रमणियाँ एक स्थान में उत्कृष्ट दो मास ठहर कर अवश्य विहार कर दते हैं।^४ ग्रामानुग्राम विहार के नौ कल्प (विभाग) हैं। आठ मास के आठ कल्प और नौवाँ चार मास का वर्षावामरूप है।^५

मार्ग

मार्ग दो प्रकार के होते हैं—द्रव्यमार्ग और भावमार्ग।

द्रव्यमार्ग तीन प्रकार के होते हैं—(१) स्थलमार्ग (२) जलमार्ग और (३) नममार्ग।

स्थलमार्ग दो प्रकार के होते हैं—सम और विषम। सभी स्थलचर प्राणी सम मार्ग पर ही चलना चाहते हैं। सम मार्ग के अभाव में या भय तथा त्वरावश उन्हें विषम मार्ग पर चलना पड़ता है। साधक श्रमण-श्रमणियों के लिए भी सम मार्ग पर ही चलने का विधान है, किन्तु विशेष हेतु से उन्हें विषम मार्ग पर भी चलना पड़ता है।

विषम मार्ग पर चलते समय या चढ़ते-उतरते समय सहारे की अपेक्षा हो तो ढण्ड अथवा किसी पथिक के हाथ आदि का सहारा लिया जा सकता है क्योंकि विषम मार्ग में गिरने पर आत्म-विराधना और अन्य जीवों की विराधना होने की सम्भावना रहती ही है।

प्रकारान्तर से मार्ग तीन प्रकार के—हैं

(१) सक्रमण मार्ग, (२) स्थलमार्ग, (३) नोस्थलमार्ग।

१ सक्रमणमार्ग—पुलपर होकर जाने वाला मार्ग।

२ स्थलमार्ग—दो प्रकार का होता है—सम और विषम।

३ नोस्थल मार्ग—चार प्रकार का होता है—

(१) पापाणशिलाओं पर बहने वाले जल में होकर जाने वाला मार्ग।

(२) बालू-रेती पर बहने वाले जल में होकर जाने वाला मार्ग।

१ निघोष० उद्दे० १०, सूत्र० ६४१

२ बृहत्कल्प उद्दे० ३, सूत्र० १७ और १८ में 'प्रथम, समवसरण' और 'द्वितीय समवसरण' शब्दों का प्रयोग हुआ है।

३ आचा० श्रुत० २, अ० २, उद्दे० २, सूत्र० ७८ और ७९ में 'ऋतु वद्धकाल' तथा 'वर्षाकाल' शब्दों का प्रयोग हुआ है।

४ बृहत्कल्प० उद्दे० १, सूत्र० ३७

५ कल्प० सूत्र०

(३) नचिन पृथ्वी पर बहने वाले जल में हा कर जाने वाला मार्ग ।

(८) पक्मिश्रित जल में होकर जाने वाला मार्ग ।

उन्मार्ग का परित्याग

मानव मत्ता मार्ग पर ही चलना चाहता है, उन्मार्ग पर^१ नहीं । यदि पक् विस्मृत हो जाए, दिग्भूट हो जाए या विषम विप्लव हो जाए तो उसे उन्मार्ग पर चरना पड़ता है । श्रमण-श्रमणियों भी पक् पर ही चलते हैं, किन्तु पूर्वोक्त कारणों से उन्हें यदा-यदा उत्तरय भी चलना पड़ता है ।^२

सक्षिप्तमार्ग और लम्बा मार्ग

मायागण मानव हो या मायक श्रमण, सभी सक्षिप्तमार्ग (पगदड़ी) में जाना चाहते हैं । अल्प समय में अभीष्ट स्थान तक पहुँचने की इच्छा होना मानव का स्वभाव है, किन्तु सक्षिप्तमार्ग में कुछ कठिनाइयाँ होती हैं ।

सक्षिप्तमार्ग प्रायः विषम होने हैं, दुष्प्र होने हैं या उनमें ज्वापदों तथा मुट्टरों का भय होता है । यदि सक्षिप्त मार्ग में जल, बीज या घाम हो, वेन या छड़हट हो, बर्दम या कटेटा, पर्वत-पहाड या झाड-झाडा हो, फिगन हो या बीहट वन हो, कुछ माड या ज्वापद हो, उन्मत्त मनुष्य या महिष हो, शूकर या बवान कुछ खा रहे हो, कुर्बट या कपोंन दाने चुग रहे हो अथवा ऐसी ही कोई अन्य बाधा हो तो श्रमण-श्रमणियों को उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए । यदि सक्षिप्त मार्ग के अनिर्गुण अन्य कोई मार्ग न हो तो विवेकपूर्वक अपनी या अन्य प्राणियों की रक्षा करते हुए उसी सक्षिप्त मार्ग में श्रमण-श्रमणियाँ ना मरने हैं । ऐसे लम्बे मार्ग से जाना भी निषिद्ध है जो अटवी में होकर जाता है और अनेक दिन चलने के पश्चात्त नमाप्त होना हो । जो लम्बा मार्ग सम विशाल तथा निरापद हो उसी से साधकों को जाना चाहिए ।

सुमार्ग और कुमार्ग

भाव मार्ग दो प्रकार के हैं — सुमार्ग और कुमार्ग । यह दोनों सममार्ग और असममार्ग और प्रशस्त मार्ग अप्रशस्त मार्ग भी कहे जाते हैं ।

सुमार्ग वह है जिस पर चलने में ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की प्राप्ति या वृद्धि होती है ।

कुमार्ग वह है जिस पर चलने में ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की हानि होती है ।

वेद्याओं की बीबी में हाँक या गमीय होकर जाने-जाने से चारित्र्य की हानि होती ।^३ धूतगृह के समीप हाँक जाने-जाने में जनमायागण में आगच्छा पैदा होती है । राज-प्रासाद या अन्तपुर के समीप होकर जाने-जाने से तथा मेनाशिवियों के या गुप्त मन्त्रशास्त्र के समीप होकर जाने-जाने में श्रमण-श्रमणियों के प्रति गुप्तचर होने की आशङ्का हो जाती है अथवा कायिक क्लेश होना भय है । जिस मार्ग में जाने-जाने में मानसिक, वाचिक या कायिक क्लेश हो उस मार्ग में जाना-जाना सर्वथा निषिद्ध है ।^४

१ मार्ग छोटकर चलना ।

२. (क) आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० ३, सूत्र १३०

(ग) "उप्पह परिवज्जए"

३ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा ६, १०

४ निशोय० उद्दे० ६, सूत्र ११

५ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १६ का पूर्वार्द्ध ।

६ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १ का उत्तरार्द्ध ।





भावमार्ग का अभिप्राय है आचरण करना । सर्वज्ञ या बहुश्रुतविहित विधि-विधानानुसार चलना मुमार्ग पर चलना और इससे विपरीत चलना कुमार्ग पर चलना है । जिस प्रकार लौकिक जीवन में जाति, कुल और समाज की तथा ग्राम, नगर और राष्ट्र की मर्यादाओं का पालन करना सन्मार्ग पर चलना है और मर्यादाओं को भंग करना असन्मार्ग पर चलना है, उसी प्रकार कुल, गण और सच की मर्यादाओं का पालन करना प्रशस्त पथ पर चलना है और मर्यादाओं का भंग करना अप्रशस्त पथ पर चलना है ।

जलमार्ग

मनुष्य स्थलचर प्राणी है इसलिए उसका स्थल-भूमि पर चलना स्वाभाविक है, जल में चलना अस्वाभाविक । अतः बिना विशेष हेतु के वह जलमार्ग से जाना नहीं चाहता ।

साधक श्रमण भी मानव है, साथ ही अहिंसा महाव्रत का पालन भी । जैनदर्शनप्रतिपादित प्राणी-विज्ञान के अनुसार पानी के एक बिन्दु में असंख्य जीव हैं । उन असंख्य जीवों की हिंसा करता हुआ जैन श्रमण जलमार्ग से कैसे जा सकता है ? जब जैन श्रमण सजीव (सचित्त) पानी का स्पर्श भी नहीं कर सकता तो फिर वह पानी में कैसे चल सकता है ?

ये प्रश्न तर्कसंगत हैं और जैनागमों में इनका समाधान भी तर्कसंगत ही मिलता है । समाधान इस प्रकार है —

साधारण मानव के समान साधक श्रमण भी विशेष कारण होने पर जलमार्ग से जा सकता है जैनागमों में जिन विशेष कारणों का उल्लेख है वे इस प्रकार हैं —

(१) वर्षा हो रही हो, पानी वह रहा हो और उस समय श्रमण-श्रमणियों को यदि धौंच के लिए गाँव से बाहर कुछ दूरी तक जाना आवश्यक हो तो वे जा सकते हैं ।

इस विधान की पृष्ठभूमि में श्रमण की स्वास्थ्यरक्षा का विचार प्रधान है और जल के जीवों की रक्षा का विचार सौण । यद्यपि जैनदर्शन ने स्वास्थ्यरक्षा और जीव-रक्षा दोनों का महत्वपूर्ण माना है किन्तु स्वास्थ्यरक्षा को प्राथमिकता देने का हेतु यह है कि मल-मूत्र के वेग का अवरोध करने में श्रमण अस्वस्थ हो जाएगा और उसकी सयम-भाराघना अवरोध हो जाएगी । औषधोपचार के निमित्त से भी अनेक दोष लगेंगे । मल-मूत्र का वेग रोकने से श्रमण का मरण भी संभव है । इस प्रकार का मरण प्रायः असमाधिमरण ही होता है, इसलिए जैनदर्शन का उपरोक्त विधान महत्वपूर्ण है ।

“साधक असमाधिमरण से न भरे” जैनदर्शन का सर्वोपरि लक्ष्य है क्योंकि असमाधिमरण से भव-भ्रमण की वृद्धि होती । भव-भ्रमण की वृद्धि से हिंसा आदि अनेक पापकर्मों की वृद्धि होती है । इस भव-परम्परा में होने वाली जीव-हिंसा से बचने के लिए वर्तमान में हो रही जल-जीवों की हिंसा नगण्य मानी गई है ।

श्रमण जब जल में चलता है तब जल के जीवों की हिंसा करने के मकल्प से नहीं चलता है । वह तो केवल अन्य मार्ग के अभाव में जल में होकर जा रहा है ।

श्रमण यद्यपि यह जानता है कि जल में चलने पर जीवों की हिंसा अवश्य होगी किन्तु उस जीवहिंसा से बचने का कोई उपाय उसके पास नहीं है अतः वह विवश होकर जल में चल रहा है । यह हिंसा द्रव्यहिंसा है और इस की शुद्धि केवल प्रतिक्रमण द्वारा हो जाती है । इस प्रकार की द्रव्यहिंसा से कर्मबन्ध भी नहीं होता क्योंकि यह हिंसा कपायपूर्वक नहीं हुई है । जिस प्रकार काँच पर पड़ी हुई मिट्टी अल्प प्रयत्न से दूर हो जाती है उसी प्रकार यह द्रव्य-कर्म-रज भी केवल प्रतिक्रमण द्वारा परिमार्जित हो जाती है ।

(२) श्रमण या श्रमणियाँ भिक्षा के लिए गए हो और भिक्षा लेकर लौटते समय यदि मार्ग में वर्षा आ जाए तो कुछ समय तक कहीं पर रुक कर वर्षा बन्द होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए । यदि वर्षा बन्द न हो तो सायंकाल से पूर्व उन्हें उपाथय में पहुँच जाना चाहिए ।

इन विधान की आधारभूमि में व्यवहार-रक्षा प्रधान है और जीव-रक्षा गौण है। रात्रि में उपाश्रय के बाहर रहने में श्रमण या श्रमणी के प्रति अन्य श्रमण-श्रमणियों का अनेक प्रकार की आशङ्काएँ हो सकती हैं। बाहर रहने वाले श्रमण या श्रमणियों की समय-माधना में अनेक बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं। यद्यपि जीवरक्षा भी समय माधना है किन्तु यहाँ जीवरक्षा में भी अधिक महत्वपूर्ण व्यवहार-रक्षा है। व्यवहार-रक्षा के मामले जीवरक्षा इतनी नगण्य अवश्य हो गई है कि उसके लिए एक रात्रि उपाश्रय के बाहर नहीं रहा जा सकता और उसके लिए लोकापवाद या ऐसा ही कोई अत्र परीषद् महा नहीं जा सकता।

जल-प्रवाह को पार करना

- (क) श्रमण-श्रमणियाँ एक गाँव में दूसरे गाँव जाते समय यदि मार्ग में ऐड़ी, पिष्टाड़ी, घुटना या जघा चिनना गहरा जल-प्रवाह आ जाए तो पैर में लेकर मम्मक पर्यन्त धरीर का प्रमार्जन करके, एक पैर जल में और एक पैर अग्र उठा कर पानी नितारते हुए क्रमशः यन्नापूर्वक जल-प्रवाह को पार करें।
- (ख) जलप्रवाह का पार करते समय एक श्रमण दूसरे श्रमण के हाथ में हाथ का, पैर में पैर का, धरीर में धरीर का स्पर्श न करें।
दूसी प्रजा श्रमणियाँ भी परस्पर स्पर्श न करें।
- (ग) जलप्रवाह को पार करने समय श्रमण-श्रमणियाँ शीत सलिल की मुखद स्पर्शानुवृत्ति के लिए गहरे पानी में डुबकियाँ न लगावें किन्तु जिस तरफ अल्प प्रवाह हो उस तरफ में पार करें।
- (घ) जलप्रवाह को पार करने पर धरीर जब तक गीला रहे तब तक किनारे पर शान्त भाव में स्थिर रहें।
- (ङ) गीत धरीर की जपटे आदि में पीड़ कर सुखाने का प्रयत्न न करें। जब धरीर का गीनापन स्वतः समाप्त हो जाये तब प्रमाजन करके आगे विहार करें।

पकिल पथ

श्रमण-श्रमणियाँ ग्रामानुग्राम विहार कर रहे हैं, मार्ग में कुछ दूरी तक कीचड़ में चलने में पैर कीचड़ में सन गए हैं। पैरों के कीचड़ को दूर करने के लिए श्रमण न जन्मार्ग में चले और न घास में पैर माफ करे अपितु घाम रहित मार्ग में जावे।

नौका आरोहण का विधान

- (क) श्रमण या श्रमणियाँ ग्रामानुग्राम विहार कर रहे हों और मार्ग में नौका द्वारा पार होने योग्य नदी आदि का प्रवाह आ गया हो तो नौका में बैठने में पूर्व नौका के सम्बन्ध में पूरी जानकारी करनी चाहिए।
- (१) श्रमण के लिए नौका गरीबी गई हो।
- (२) श्रमण के लिए नौका उधार ली गई हो।
- (३) श्रमण के लिए नौका के बदले नौका ली हो।
- (४) श्रमण के लिए नौका जल में स्थल पर या स्थल में जल पर लाई गई हो।
- (५) श्रमण के लिए पानी उड़ीचकर नौका त्वाली की गई हो।
- (६) श्रमण के लिए कीचड़ में फँसी हुई नौका बाहर निकाली गई हो तो इस प्रकार की नौका





चाहे प्रवाह के मनुष्य अनुकूल या तिरछी जाने वाली हो और योजन, अर्ध योजन या न्यूनाधिक जान वाली हो, श्रमण-श्रमणियाँ इस प्रकार की नौका में न बैठें। श्रमण-श्रमणियाँ नौका में बैठने से पहले यह जान ले कि—नौका गृहस्थों के लिए नदी के उस पार जाने वाली है तो अपने उपकरणों को अच्छी तरह व्यवस्थित कर लें पश्चात् शरीर का प्रगार्जन करके सागारिक भवतप्रत्याख्यान (नदी के उस पार पहुँचने तक चार प्रकार के आहार का त्याग) करे, एक पैर जल में और एक पैर ऊपर उठाकर पानी नितार कर रखते हुए क्रमशः विवेकपूर्वक नौका पर बैठे।

नौका में अग्रभाग, पृष्ठ भाग या मध्य भाग से न बैठें अपितु जहाँ में चढ़ने की व्यवस्था हो वहाँ से चढ़कर बैठें।

नौका के पार्श्व भाग को पकड़कर किमी ओर अगुली से सकेत न करें और न शरीर को ऊँचा-नीचा करके देखें।

(ख) नौका पर आरुढ श्रमण को नाविक निम्न प्रकार के वाक्य कहे तो श्रमण उनके वाक्यों पर ध्यान न दे अपितु मौन रहे—

- (१) हे आयुष्मान् श्रमण ! आप इस नौका को आगे खींचें या पीछे खींचें। अथवा नौका को चलावें या नौका का रस्ता खींचें।
- (२) यदि आप नौका को आगे-पीछे खींचने में असमर्थ हैं तो केवल नौका की रस्सी लावे।
- (३) डाढ़, पाटिया, वाम या वरले से नौका चलावें।
- (४) नौका के पानी को हाथ पैर से पात्र में या किमी और उपकरण से उलीचें (निकाल दें)।
- (५) नौका के छिद्र को हाथ, पैर, भुजा, जघा, पेट या किसी शरीर के अवयव से, वस्त्र से, मिट्टी से, कुण्ड से या कमलपत्र से ढँक दो।
- (६) हे श्रमण ! इस छत्र-यावत्-चर्मद्वेदक को लो, इन नाना प्रकार के शस्त्रों को धारण करो या इस बालक को पानी पिलाओ।

(ग) (१) नौका पर आरुढ श्रमण या श्रमणियाँ नौका के छिद्र से पानी आता देखकर या आते हुए उम पानी में नौका डगमगाती देखकर किसी से यह नहीं कहे कि—आयुष्मन् ! छिद्र से पानी आ रहा है और उससे नौका डगमगा रही है।

(२) नौका के छिद्र में से पानी आता देखकर श्रमण या श्रमणियाँ न मन में घबरावे और न घबराकर कुछ वाक्य कहे, अपितु शरीर का मोह त्याग कर शान्त एवं स्वस्थ मन से आत्म-रमण करते हुए समाविष्ट हो जावें।

(घ) (१) नौकारुढ एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कहे कि “आयुष्मन् ! इस श्रमण से नौका में भार अधिक हो गया है अतः इसे इस प्रवाह में फेंक दो” इस प्रकार के वाक्य सुनकर श्रमण यदि वस्त्रधारी हो तो सारे वस्त्र उतार कर सिर पर धर ले या अत्यल्प वस्त्र पहन ले।

(२) इतने पर भी यदि वे क्रूर व्यक्ति न मानें और भुजाएँ पकड़कर फेंकने लगें तो मुनि उनमें इस प्रकार कहे —

आयुष्मन् ! मुझे न फेंको, मैं स्वयं ही पानी में उतर रहा हूँ। इतना कहने पर भी यदि वे पानी में फेंक दे तो श्रमण को उनका अनिष्ट न मोचना चाहिए, न अप्रसन्न होना चाहिए

जीर न अगान्त होना चाहिए, अपितु स्वस्थ चित्त में तैरते हुए उस पार पहुँच जाना चाहिए ।

- (३) पानी में तैरते हुए किसी दूधने के हाथ में हाथ आ, पैर में पैर का —यावत्— शरीर में शरीर का स्पर्श न होने दें ।
- (४) पानी में तैरते हुए न डुबझियाँ लगावे और न नाक जान या मुँह में पानी का प्रवेश होने दे ।
- (५) तैरते हुए यदि थकान आ जाए तो अधिक भार वाले उपकरणों को त्याग देना चाहिए ।
- (६) किनारे पहुँचने पर गँले शरीर का गड़ना ममलना या कपड़े में पोछ कर मुखाना तथा अग्नि में लपाना नहीं चाहिए ।
- (७) गीला शरीर स्नान सूख जाने पर ग्रामानुष्ठान बिहार करना चाहिए ।
- (८) (१) जहाँ गहरा पानी हो और उस पार जाने के लिए नौका न हो तो तैर कर ही उस पार पहुँचना चाहिए ।
- (२) तैरते हुए आवश्यकता में अधिक हाथ पैर न पटकने चाहिए ।

महानदियों को पार करना

- (क) श्रमण या श्रमणियों को निदिष्ट पाँच महानदियाँ एक मान में दो या तीन बार पार नहीं करनी चाहिए अर्थात् विमेष प्रयाजन हों तो एक मान में केवल एक बार महानदी को पार कर सकते हैं । वे ये हैं—गंगा, यमुना, नर्यू, सोमिका और मही । इन महानदियों में से किसी महा नदी का पानी कहीं पर इतना शून्य हो कि एक पैर जल में और एक पैर ऊपर उठाकर पानी नितार कर रखता हुआ श्रमण उस पार पहुँच नके तो एक मान में दो या तीन बार भी पार कर सकते हैं ।

नदी पार करने के प्रमुख कारण

- (१) जिन गाँव में या जिन स्थान पर श्रमण ठहरे हुए हो वहाँ निर्दोष शिक्षा प्राप्त न होनी हो ।
- (२) श्रमण जिन गाँव जाना चाहते हों वहाँ के लिए स्थूलमार्ग नव्या न हो ।
- (३) श्रमण जहाँ ठहरे हुए हो वहाँ बस्ती न हो ।
- (४) स्थूलमार्ग में जाने में जहाँ निह आदि व्यापदों का भय हो ।
- (५) स्थूलमार्ग में जाने में जहाँ चोरों का भय हो ।
- (६) दुर्भिक्ष वाले प्रान्त में सुभिक्ष वाले प्रान्त में जाना चाहते हो ।
- (७) अराजकता वाले प्रान्त में शान्ति वाले प्रदेश में जाना चाहते हो ।
- (८) अनार्य आदि के उपद्रव वाले प्रान्त में शान्तिवाले प्रदेश में जाना चाहते हो ।
- (९) सर्पविष या विमूचिका आदि की औषधि के लिए जाना आवश्यक हो ।
- (१०) कुल (एक आचार्य के शिष्य) के लिए कोई अत्यावश्यक कार्य हो ।
- (११) धार्मिक उपकरणों के लिए जाना आवश्यक हो ।

नौका द्वारा नदी पार करने के हेतु

- (१) पूर्वोक्त हेतुओं में नदी पार करना आवश्यक हो किन्तु नदी में मगरमच्छ का भय हो ।
- (२) नदी में पानी अधिक हो या डूबने का भय हो तो नौका में बैठकर नदी पार करना चाहिए ।^१





भ० महावीर का नौकारोहण

“भ० महावीर ने मुरमिपुर से धूणाक सन्निवेश पधारते हुए मार्ग में गगानदी को नौका द्वारा पार किया ।^१ यह भगवान् के द्वितीय वर्षावास के पूर्व का वर्णन है । भगवान् उस समय छद्मस्थ थे । इस घटना को स्थानरुवामी विद्वानों ने अमान्य नहीं घोषित किया है ।^२ अतः यहाँ इस सवध में कुछ उद्भूत प्रश्नों की विचारणा आवश्यक है ।

१ भ० महावीर का धूणाक सन्निवेश की ओर पधारने का हेतु क्या था ?

२ न पधारते तो क्या होता ?

३ नौका द्वारा होने वाली जीवविराघना में होने वाला आश्रय और भ० महावीर ।

बिना प्रयोजन नौका में बैठना निषिद्ध है ।^३ इसलिए यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि—

भ० महावीर के नौकारोहण का हेतु क्या था ?

ग्रामानुग्राम विहार ही यदि नौकारोहण का हेतु माना जाय तो यह हेतु ऐसा नहीं है जिसे अनिवार्य माना जाय ।

सुदण्ट देव द्वारा जो उपसग हुआ था वह तो अन्यत्र भी हो सकता था ।

नौकारोहण के हेतु वे ही हैं जो नदी पार करने के हेतु हैं ।^४ भ० महावीर ने जब गंगा नदी पार की थी^५ तब उनमें का एक भी हेतु उनके सामने नहीं था । फिर भी उन्होंने गंगा नदी नौका द्वारा पार की है ।

दो योजन की दूरी तक यदि स्थलमार्ग मिल जाए तो नौका द्वारा नदी पार करना निषिद्ध है ।^६ पर इस दूरी के सवध में तो तब सोचा जाए जब जाने का कोई अनिवार्य हेतु हो ।

(२) भ० महावीर धूणाक सन्निवेश की ओर न पधारते तो उन्हें कभी कोई हानि हाती । उनके निजी लाभ का तो कहीं कोई प्रश्न ही नहीं था क्योंकि वे वीतराग थे । यदि वे मध्य जनो के हित के लिए पधारते तो हमारे सामने यह एक उदारहण योग्य प्रसंग है ।

भ० महावीर ने जब गगानदी नौका द्वारा पार की थी उस समय वे छद्मस्थ थे फिर भी उन्हें लगने वाली सभी क्रियाएँ साम्प्रदायिक नहीं थी—यह निश्चित है । इसलिए इस प्रसंग को प्रमाद रूप नहीं कह सकते क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में भी भगवान् अप्रमत्त थे । नौका द्वारा गंगा नदी पार करना—उत्तम मार्ग नहीं है यह तो स्पष्ट है । अपवाद मार्गों में यह किस प्रकार का अपवाद मार्ग है जिसे भगवान् ने अपापरूप कह कर^७ स्वयं आचरण किया और श्रमणों के लिए विधान किया ।^८

१ आवश्यकं सू० प्र० भा० प० २८२

२ स्व० विवाकरजी भ० लिखित-भगवान् महावीर का आदर्श जीवन, पृष्ठ २३६-२४३

३ निशीथ० उद्दे० १८, सूत्र १

४ निशीथ० उद्दे० १२, सूत्र ४२ । माष्य गाथा ४२५४

५ निशीथ० उद्दे० १२, सूत्र ४२ । माष्य गाथा ४२१८

६ निशीथ० उद्दे० १२, सूत्र ४२ । माष्य गाथा ४२४७

७ आचा० श्रुत० १, अ० ६, उद्दे० ४, गाथा १५

८ आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० २, सूत्र ११८ ११६

विहार क्षेत्र

पूर्व में अगदेश की राजधानी चपानगरी^१ और माघदेश की राजधानी राजगृह^२ पर्यन्त ।

पश्चिम में धृणा नगरी^३ पर्यन्त ।

दक्षिण में कौशाम्बी नगरी^४ पर्यन्त ।

उत्तर में कुणाल देश (आवन्ती नगरी)^५ पर्यन्त ।

इन चार दिशाओं में चारों राजधानियों की सीमाओं तक जैन श्रमण-श्रमणियों के लिए विहार करने का विधान है और इन सीमाओं में बाहर विहार करने का निषेध है ।

इन विधान का तात्पर्य यह है कि जैन श्रमण-श्रमणिया केवल आर्य क्षेत्र में ही विहार करें। अनार्य क्षेत्र में विहार करने में उनकी मर्यादना में अनेक विघ्न-बाधाएँ आती हैं ।

यदि ज्ञान-दर्शन चारित्र्य की वृद्धि के लिए इन सीमाओं में बाहर जाना उचित प्रतीत हो तो जा सकते हैं ।

इन आगमोक्त विधान में जाधुनिक विद्वानों की यह धारणा बनती जा रही है कि जैन श्रमण-श्रमणियों का विहारक्षेत्र सर्वदा सीमित रहा है ।

भगवान् महावीर एक बार लाट देश के वज्जभूमि और शुभ्रभूमि नाम के दोनों प्रान्तों में पधारे थे । यद्यपि लाट देश विहा के अयोग्य माना गया है फिर भी भगवान् वहा पधारे और जितने पनीपह हुए उन्हें वे समभाव में

१ (क) औप० नू० १ तथा स्थाना० अ० १०, सू० ७१८

(ख) ज्ञाता० श्रुत० १, अ० ८

(ग) महाभारत के वनपर्व, शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व में जिस 'चम्पानगरी' का उल्लेख है वह इस अग देश की राजधानी चम्पा से भिन्न है ।

(घ) वर्तमान में विहार के नागलपुर जिले में चम्पापुर नाम का गाव ही प्राचीन चम्पा है ।

२ (क) ज्ञाता श्रु० २, अ० १ तथा स्थाना० अ० १०, सू० ७१८

(ख) मगध का उल्लेख महाभारत के समापर्व आदि अनेक पर्वों में है ।

(ग) राजगृह का महाभारत के आदिपर्व में भी वर्णन है ।

(घ) वर्तमान में विहार प्रान्त के दक्षिणी भाग में यह राजगिर नाम से पहचाना जाता है । यह पटना से ७ मील और नातन्दा से ८ मील है ।

३ धृणा नगरी किस देश की राजधानी है—यह जानने के लिए प्रयत्न होना चाहिए । उपलब्ध आगमसाहित्य से इस सन्दर्भ में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है ।

४ (क) कौशाम्बी नगरी वत्स देश की राजधानी थी । प्रज्ञा० पद १

(ख) महाभारत के समापर्व में यह जनपद पूर्व में माना गया है । मगध है यह वत्स देश आगमोक्त वत्स देश से भिन्न है ।

(ग) वर्तमान में—कोशम नाम में यह प्रसिद्ध है जो इलाहाबाद से ३० या ३१ मील की दूरी पर यमुना के किनारे है ।—देखिए तीर्थंकर महावीर पृ० २३ का टिप्पण ।

५ (क) कुणाल देश की राजधानी आवन्ती है । प्रज्ञा० पद १

६ (क) बृह० उद्दे० १, सूत्र ५१





सहन करते रहे। यह लाढ़ देश अनार्य जनपदों में माना गया है।^१

आगमोक्त चार सीमाओं में बाहर अतीत में अनेक श्रमण गए थे। जैन गमायण आदि कथाग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं।

आर्य जनपद और उनकी राजधानियाँ

१ मगध	राजगृह
२ अंग	चम्पा
३ वज्ज	ताम्रनिर्झरी ^३
४ कलिंग ^४	काचन पुर
५ काशी ^५	वाराणसी ^६
६ कोशल ^७	माकेन (अयोध्या) ^८
७ कुरु ^९	गजपुर ^{१०}

१ (ख) आचा० श्रुत० १, अ० ८, गाथा

अनार्य जनपद लाढ़ बगाल का वह भाग जो गंगा के पश्चिम में स्थित है। उसमें तमलुक, मिदनापुर तथा हुगली और बर्दवान जिले सम्मिलित थे। मुर्शिदाबाद जिले का कुछ भाग उसकी उत्तरी सीमा में था। तीर्थंकर महावीर पू० २११, १२१ का टिप्पण।

२ वज्ज-भारत का प्रसिद्ध पूर्वी जनपद है।

३ देखिए—मग० श्र० ३, उद्दे० १

४ कलिंग पूर्वी समुद्र तट पर एक जनपद।

५ मध्य देश में यह एक जनपद था।—पाणि० पू० ७४

६ (क) काशी जनपद की वाराणसी राजधानी थी।—पाणि० पू० ७४ तथा ज्ञाता० अ० ५ और ज्ञाता० अ० ८

७ (क) कोशल-मध्य देश में यह एक जनपद था।—पाणि० पू० ७४

(ख) महाभारतकाल में कोशल के दो विभाग थे, जो दक्षिण और उत्तर में विभक्त थे।—भीष्म पर्व।

८ (क) देखिए—भरत चक्री घर्णन-जबू०।

(ख) इसका एक नाम 'विनीता' भी है—जबू०।

(ग) यह महाभारतकाल में भी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की राजधानी थी। देखिए आदि पर्व।

(घ) अयोध्या का साकेत नाम बहुत प्राचीन है। देखिए—स्थाना० अ० १०, सूत्र० ७१८

९. (क) सरस्वती और दृशद्वती नामक नदियों के मध्य का प्रदेश कुरु या कुरुक्षेत्र कहा जाता था।

—महाभारत वनपर्व।

(ख) देखिए—ज्ञाता० अ० ८

१० (क) कुरु-जनपद की राजधानी हस्तिनापुर है।—ज्ञाता० अ० ८

(ख) कुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर है। महाभारत आदिपर्व।

(ग) आधुनिक बिहान् मेरठ से २६ मील उत्तर पूर्व में और बिजनौर से दक्षिण-पश्चिम में इसकी स्थिति मानते हैं।

(घ) हस्तिनापुर का ही अपरनाम 'गजपुर' है।—प्रज्ञा० पर्व० १

८ कुशावर्त ^१	सौरिकपुर ^२
९ पचाल ^३	कापिल्यपुर ^४
१० जागल ^५	अहिच्छत्रा ^६
११ मीगण्ड ^७	द्वारका ^८
१२ विदेह ^९	मिथिला ^{१०}
१३ वत्स ^{११}	कौशाम्बी ^{१२}
१४ शाण्डिल्य	नन्दिपुर ^{१३}

१ कुशावर्त—महाभारत काल में इस नाम का एक तीर्थ था ।—अनुशासनपर्व ।

२ (क) सौरिकपुर और शीरोपुर दोनों एक हैं या भिन्न भिन्न, इस सम्बन्ध में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता ।
(ख) देविए—विषाक अ० ८ और उत्त० अ० २२, गाथा० ३

३ (क) पचाल-पचाल क्षत्रियों के सन्निवेश का जो स्थान था वह 'पचाल' कहा जाता था ।—पाणि० पृ० ४२५
(ख) पचाल और कुरपचाल इन दो जनपदों का उल्लेख महाभारत के भीष्म पर्व में है ।
(ग) पचाल जनपद भी वर्तमान में पजाब कहते हैं ।

४ (क) कपिलपुर में भगवान् महावीर का इक्कीसवां वर्षावाम हुआ था ।—उपा० अ० ६
(ख) कपिलपुर दक्षिण पचाल की राजधानी थी ।—महाभारत आदि पर्व ।

५ (क) जागल-निर्जल जनपद—महाभारत भीष्म पर्व ।
(ख) 'कुबजागल' नाम से भी यह जनपद प्रसिद्ध है ।

६ (क) अहिच्छत्र-उत्तर पचालवर्ती राज्य, इसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी—महाभारत आदि पर्व ।
(ख) जनागमों के अनुसार जागल जनपद की राजधानी अहिच्छत्रा है ।

७ (क) मीराण्ड-गुजरात और काठियावाड़ का सम्मिलित जनपद ।
(ख) सौरठ-मीराण्ड देवतकगिरि के समीप का जनपद ।

८ (क) सौराष्ट्र की राजधानी द्वारका के द्वारकावती या द्वारावती नाम भी थे । इसके चारों दिशाओं में चार पर्वत थे । इस महापुरी के पचास द्वार थे ।—महाभारत समापर्व ।
(ख) द्वारका के विस्तृत वर्णन के लिए—देखिए अन्तकृत प्र० वर्ग० अ० १
(ग) वनमान में यह नगरी समुद्र में विलुप्त मानी जाती है ।

९ (क) विदेह जनपद का दूसरा नाम 'मिथिला' जनपद था । मिथिला के राजा निमि देहाभिमान से रहित थे इस इमलिए वे 'विदेह' नाम से विख्यात हुए । सारा जनपद भी 'विदेह' नाम से प्रसिद्ध हो गया था ।—उत्त० अ० ६ तथा महामा० आदि पर्व ।
(ख) वर्तमान में तिरहुत का प्राचीन नाम 'मिथिला' एवं 'विदेह' है ।

१० मिथिला-पूर्वोत्तर भारत का एक प्राचीन जनपद म० मल्लिनाथ की यह जन्मभूमि है ।

११ वत्स-पूर्वी भारत का एक जनपद । महामा० समापर्व ।

१२. (क) कौशाम्बी का वर्णन देखिए—विषा० अ० ५
(ख) प्राचीन भारत की दस राजधानियों में एक कौशाम्बी नाम की राजधानी ।—देखिए स्था० अ० १० सू० ७१८

१३ शाण्डिल्य जनपद और उसकी नन्दिपुर राजधानी कहा थी, इसका निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है ।





१५ मलय ^१	मदिलपुर ^२
१६ वच्छ	वैराटपुर ^३
१७ वरण	अच्छापुरी ^४
१८ दशार्ण ^५	मृत्तिकावती ^६
१९ चेदि ^७	श्रीमत्तिकावती ^८
२० सिन्धु सीवीर ^९	वीतमयपत्तन ^{१०}
२१ शूरसेन ^{११}	मथुरा ^{१२}
२२ भग ^{१३}	पावा ^{१४}

- १ मलय-दक्षिण में मलय पर्वत के समीप का एक जनपद ।
- २ मदिलपुर का वर्णन देखिए अत० अ० पृ० १०३,
- ३ विराट नगर मत्स्य देश की राजधानी थी ।— देखिए महाभा० विराटपर्व । प्राकृत में मत्स्य का मच्छरूप होता है ।
संभव है लिपिदोष से मच्छ के स्थान में वच्छ लिखा गया हो । अन्यथा आर्य जनपदों में वच्छ नाम के दो जनपद
हो जाते हैं । जो सकलनशैली से उचित प्रतीत नहीं होते ।
- ४ वरण जनपद और उसकी राजधानी अच्छापुरी की भौगोलिक स्थिति जानने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है ।
- ५ (क) दशार्ण जनपद के दो विभाग थे । पूर्वी भाग में छत्तीसगढ़ का कुछ भाग और पश्चिमी भाग में पूर्वी मालवा
और भोपाल की रियासत सम्मिलित थी ।
(ख) हिंदी शब्दसागर के अनुसार विन्ध्यपर्वत के पूर्व-दक्षिण की ओर स्थित उस प्रदेश का प्राचीन नाम
'दशार्ण' है ।
(ग) मेघदूत के अनुसार इस जनपद की राजधानी विदिशा-आधुनिक 'भेलता' थी ।
(घ) जैन कथाग्रन्थों के अनुसार इस जनपद की राजधानी 'दशार्णपुर' थी । भ० महावीर के समय में यहाँ का
राजा 'दशार्णभद्र' था । वह भ० महावीर के समीप दीक्षित हुआ था ।
- ६ मृत्तिकावती-यह दशार्ण जनपद की राजधानी थी ।—देखिए प्रज्ञा० पद० १
- ७ (क) चेदि-एक प्राचीन जनपद था, वहाँ का अधिपति शिशुपाल था ।—महाभा० आदि पर्व ।
(ख) चेदि और वत्स ये दोनों जनपद पास पास में थे ।—पाणि० पृ० ५७
- ८ (क) श्रीमत्तिकावती-चेदि जनपद की राजधानी थी ।—प्रज्ञा० पद० १
(ख) शुक्तिमती नाम भी इस नगरी का है ।—देखिए ज्ञाता० अ० १६
(ग) शुक्तिमती नाम की नदी के समीप शिशुपाल की राजधानी थी ।—देखिए महाभा० आदि पर्व ।
- ९ (क) सिन्धुसीवीर दो जनपदों का संयुक्त नाम है ।—देखिए-पाणि० पृ० ५७
(ख) सिन्धु नदी के पूर्वी किनारे की तरफ पंजाब में फैला हुआ प्राचीन सिन्धु जनपद था ।
(ग) वर्तमान सिंध प्रांत का पुराना नाम सीवीर जनपद है ।—देखिए पाणि० पृ० ५०
- १० (प) वीतमयपत्तन सिन्धु और सीवीर इन दो जनपदों की संयुक्त राजधानी थी ।
- ११ (श) शूरसेन एक प्राचीन जनपद है । वर्तमान में मथुरा के आसपास का प्रदेश जो वज्रमण्डल के नाम से प्रसिद्ध
है वह प्राचीन शूरसेन जनपद है ।
- १२ (फ) मथुरा का एक नाम शूरसेनपुर भी है ।—देखिए महाभा० समापर्व ।
(ख) मथुरा भारत की प्रमुख दस राजधानियों में से एक राजधानी है ।—स्थाना० अ० १०, सू० ७१८
- १३ भग-जनपद आधुनिक बिहार के समीप का जनपद है ।
- १४ पावा-नगवान् महावीर की निर्वाणभूमि जो आजकल बिहार प्रान्त में पावापुरी नाम से प्रसिद्ध है ।

२३ पुरिवर्त	मामा ^१
२४ कुणाल ^२	आवस्ती ^३
२५ लाट ^४	कोटीवप ^५
२६ केकयार्थ ^६	श्वेताम्बिका ^७

आकाशमार्ग

अथन जब आकाशमार्ग में इष्ट स्थान पर पहुँचना चाहता है तब वह वायुयान (आकाशगामी विमान) आदि किसी माधन का उपयोग नहीं करता है अपितु केवल लट्टि-बल का ही उपयोग करता है। वह लट्टि चारणलट्टि के नाम से प्रसिद्ध है। उन नवोन्नत चारणलट्टि के दो प्रमुख भेद हैं—विद्या-चारण और जघाचारण।

चारणलट्टिनमय अथन की आकाशगामिनी गति देवगति के समान तीव्र हो जाती है। महर्षिक देव तीन चूटकी बजावे जितनी देर में जम्बूद्वीप की तीन परित्रमाएँ कर लेता है। विद्याचारण अथन भी इतनी तीव्र गति में आकाश में गमनागमन कर सकता है।

निम्नतर पट्टभ्रम तप करने-करते आकाशगामिनी विद्या द्वारा आकाश में गमनागमन का सामर्थ्य जब अथन को प्राप्त हो जाता है तब वह विद्याचारण कहलाता है।

निम्नी दिशा में वह एक उडान में मानुषोत्तर पर्वत पर और दूसरी उडान में नन्दीश्वर द्वीप पहुँच जाता है। तथा लौटने समय एक ही उडान में स्वस्थान पर पहुँच जाता है।

उर्वर्दिशा में विद्याचारण एक उडान में नन्दन वन (सिम्पद्वन पर) और दूसरी उडान में पलक वन (मेरु-पर्वत पर) पहुँच जाता है। लौटने समय एक उडान में स्वस्थान पर पहुँच जाता है।

जघाचारण लट्टि निम्नतर अष्टममक्त तप करने करते प्राप्त होती है। विद्याचारण में जघाचारण की आकाशगामिनी गति अधिक होती है। महर्षिक देव तीन चूटकी बजावे जितनी देर में जम्बूद्वीप की इक्कीस परित्रमाएँ

१ पुरिवर्त-जनपद और मामा राजधानी की भौगोलिक स्थिति जानने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है।

२ कुणाल जनपद का उल्लेख—देखिए शांता० अ० ८

३ आवस्ती-इन समय 'सहेन महेत' के जग्गाबशेजों के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान उत्तरप्रदेश के गोंडा और बहराइच जनपदों की सीमा पर स्थित है। महेत महेत उत्तर पूर्वी रेलवे की गोंडा-गोरखपुर लाइन पर बलरामपुर स्टेशन से बहराइच जाने वाली सड़क इसके पास से जाती है। और इस स्थान से छोटी सड़क छडहरी तक पहुँच जाती है।

४ वर्तमान में लाट जनपद की भौगोलिक स्थिति उत्तरी बंगाल है। अनार्य जनपद लाट आर्य जनपद लाट से भिन्न है।

५ दिनाजपुर जिले में स्थित जानगढ़ का प्राचीन नाम कोटिखर्ब था।—देखिए तीर्थकर महावीर पृ० २११

६ (क) केकयार्थ-केकय जनपद का उपनिवेश था। केकय जनपद झेलम, शाहपुर और गुजरात प्रदेश का पुराना नाम है।—देखिए पाणि० पृ० ६७

(ख) केकय जनपद ध्याम और सतलज के बीच का नू भाग है।—देखिए महाभा० भीष्मपर्व।

केकय जनपद के संबंध में ये दो मत हैं। वास्तव में केकय जनपद की भौगोलिक स्थिति शोध का विषय है।

७ श्वेताम्बिका-सावर्त्य की समीप थी। यह सावर्त्य कुणाल जनपद की राजधानी आवस्ती से भिन्न है या वही है? यह ज्ञातव्य है।





कर लेता है। जघाचारण श्रमण भी इतनी ही तीव्र गति से आकाश में गमनागमन कर सकता है।

तिरछी दिशा में जघाचारण एक उडान में रुक-रुक कर द्वीप पहुँच जाता है तथा लीटते समय एक उडान में नन्दीश्वर द्वीप और दूसरी उडान में स्वस्थान पहुँच जाता है।

ऊर्ध्व दिशा में जघाचारण एक उडान में पड़क वन (मेरुपर्वत पर) पहुँच जाता है। लीटते समय एक उडान में नन्दन वन और दूसरी उडान में स्वस्थान पहुँच जाता है।

विद्याचारण का गमन दो उत्पात (उडान) से होता है और आगमन एक उत्पात से होता है।

जघाचारण का गमन एक उत्पात में होता है और आगमन दो उत्पात से होता है। यह इन लब्धियों का स्वभाव है।

चारण लब्धि के अन्य अनेक भेद हैं। यथा—

- १ जल-चारण-जलकायिक जीवों की हिंसा न करता हुआ जो जल पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।
- २ जघा-चारण-पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर आकाश में पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।
- ३ फल-चारण-फलों के जीवों की हिंसा न करता हुआ फलों पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।
- ४ पुष्प-चारण-पुष्पों के जीवों की हिंसा न करता हुआ पुष्पों पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।
- ५ पत्र-चारण-पत्तों के जीवों की हिंसा न करता हुआ पत्तों पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।
- ६ श्रेणी-चारण-चार सौ योजन ऊँची निपध और नीलवत पर्वत-श्रेणी पर ऊपर या नीचे चलता है।
- ७ अग्निशिखा-चारण-अग्नि कायिक जीवों की हिंसा न करते हुए अग्निशिखाओं पर चलता है।
- ८ धूम-चारण-ऊपर या तिरछे जाते हुए धूम का आलम्बन करके चलता है।
- ९ नीहार-चारण-जलकायिक जीवों की हिंसा न करते हुए हिमकणों के साथ जो गति करता है।
- १० अवक्षय-चारण-जलकायिक जीवों की हिंसा न करते हुए ओसकणों का अवलम्बन लेकर जो चलता है।
- ११ मेघ-चारण-जलकायिक जीवों की हिंसा न करते हुए जो मेघ के साथ गति करता है।
- १२ वारिधारा-चारण-जलकायिक जीवों की हिंसा न करता हुआ जो आकाश से गिरती हुई जल-धारा का अवलम्बन लेकर चलता है।
- १३ मकंदतन्तु-चारण मकड़ी के तन्तु का अवलम्बन लेकर जो आकाश में गमनागमन करता है।
- १४ ज्योति-रश्मि-चारण-चन्द्रादि ग्रहों या नक्षत्रों की रश्मियों का अवलम्बन लेकर जो आकाश में गमनागमन करता है।
- १५ वायु-चारण-वायु के अनुकूल या प्रतिकूल जो आकाश में गमनागमन करता है।^१

चारण लब्धि सम्पन्न श्रमण सत्रह हजार योजन ऊपर उठकर तिरछी गति करता है। आधुनिक अन्तरिक्ष विज्ञान के अनुसार जहाँ आविस्जन (प्राण वायु) का अभाव है वहाँ भी चारण लब्धि सम्पन्न श्रमण गमनागमन करने में समर्थ होता है।

लब्धिप्रयोग प्रमाद-कार्य है अतः लब्धि-प्रयोग करने वाले को लब्धि-प्रयोग के पश्चात् आत्मशुद्धि के लिए आलोचना-प्रतिक्रमण आदि करना आवश्यक होता है अन्यथा वह भगवान् की आज्ञा का आराधक नहीं माना जाता है।

विद्याचारण और जगत्चारण त्रिच्छा दिया मे या ऊर्ध्व दिशा मे उत्र जाना है नव चैत्य वदन के लिए ही जाता है। चैत्य क्या है ? उन विषय मे मननेद है। म्यानस्वामी परम्परा की मान्यता के अनुसार यहाँ चैत्य का अर्थ ज्ञानी नाथक अमण होना है। चैत्यवासी परम्परा के अनुसार चैत्य का अर्थ—जिन स्मारक होना है। वदन के मवध मे दोनों परम्पराएँ एक मत हैं। वदन विनय है। विनय आभ्यन्तर तप है। तप निजरा का हेतु है। वन्दन विनय तप द्वारा निर्जग वन्दन के लिए चारण अमण को उच्चि प्रयोग का (प्रसाद) आशय करना पड़ता है।

अधिक निर्जग श्रम हा वो अन्य आशय वाले कुछ कार्य, जिनकी श्रुद्धि सामान्य प्रायश्चित्त मे ही मक्ती हो, अकर्णीय कोटि के नहीं माने जाते हैं। अपितु कर्णीय कार्य से भी अधिक उन कार्यों को महत्व का माना जाता है। यह म्यानस्वामी मान्यतामयमन विचारधारा है। एक जोर बाहुकाय की रक्षा के लिए सतत जागरूक रहना तथा दूसरी ओर शास्त्रन शास्त्रों यौनो नक अनि तीव्रतम उदान मे चैत्य वन्दन के लिए जाना ऐसी विमर्शनीयों का अनेकान्त मे मापेक्ष समन्वय का गोचरपूर्ण म्यान देकर जैन-दृष्टि की विशालता जिन अर्थों ने बनाई है उनके चरणों मे हमारा शतशत वन्दन, अभिनन्दन।

वर्षिय गन्धि मे मायितान्मा (उत्कृष्ट चारित्र्य पालने वाला श्रमण) जनगण अनन्त आकाश मे उड़ाने भरता है नव अनेक प्रकार के आभरणधारण रूप बनाना है। उनकी एक लकी सूची उन प्रकार है—

- १ टोरी बाँधी हुई पट्टियाँ नेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बनाकर श्रमण आकाश मे उड़ाने भरता है।
- २ सोने की पेटो, रत्नों की पेटो, वस्त्र (हीरे) की पेटो, वस्त्र की पेटो और आभूषणों की पेटो नेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बनाकर श्रमण आकाश मे उड़ाने भरता है।
- ३ धाम की या धाम की चटाई, चर्मरज्जु मे बगी हुई खाट, कबूतर का आसन लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बना कर श्रमण आकाश मे उड़ाने भरता है।
- ४ गोश, ताश, नरुई, घोषा, हिरण्य, स्वर्ण और वस्त्र (हीरा) का भार लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बनाकर श्रमण आकाश मे उड़ाने भरता है।
- ५ बटवागद (जो बट जादि वृक्षों पर लगेला लटकता है) के समान पै ऊपर और सम्यक नीचे रन कर श्रमण आकाश मे उड़ाने भरता है।
- ६ यज्ञोपवीत पहने हुए ब्राह्मण जैसा रूप बनाकर श्रमण आकाश मे उड़ाने भरता है।
- ७ जगोवा जिस प्रकार पानी मे गमन करती है उसी प्रकार श्रमण आकाश मे गमन करता है।
- ८ जीवजीवक पक्षी (जो घोंडे के समान नामने के दोनों पैरों का पट की ओर मोड़ कर उड़ता है) के समान श्रमण आकाश मे उड़ाने भरता है।
- ९ त्रिदालक पक्षी (जो एक वृक्ष मे दूसरे वृक्ष पर और दूसरे वृक्ष मे तीसरे वृक्ष पर छतरींग मार कर उड़ता है) के समान श्रमण आकाश मे उड़ता है।
- १० जीवजीवक पक्षी (घोंडे के समान सामन के दोनों पैरों को पेट की ओर मोड़ कर उड़ता है) के समान श्रमण आकाश मे उड़ाने भरता है।
- ११ हृत् (जो मानमनोवर्ग के एक किनारे से दूसरे किनारे उड़ता उड़ता है) के समान श्रमण आकाश मे उड़ाने भरता है।
- १२ समुद्र-काय (जो पृथ तरण मे दूसरे तरण तक जाता है) के समान श्रमण आकाश मे उड़ाने भरता है।
- १३ चक्र लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश मे चलता है।
- १४ छत्र नेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश मे चलता है।
- १५ चाकर लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश मे चलता है।





- १६ रत्न, वज्र, वैदूर्य-यावत्-रत्न हाथ में लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश में चलता है ।
- १७ उत्पल, पद्म-यावत्-महस्रपत्र हाथ में लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश में चलता है ।
- १८ कमलनाल तोड़ता हुआ व्यक्ति जिस प्रकार मरोवर में नौका द्वारा गति करता है इसी प्रकार श्रमण आकाश में गति करता है ।
- १९ मृणालिका (जो हवा के झोंके में कभी पानी में डूबती है और कभी ऊपर उठती है) के समान श्रमण आकाश में गति करता है ।
- २० ध्याम, अतिध्याम-यावत्-मेघवर्ण रमणीय एवं दर्शनीय वन का रूप धारण करके श्रमण आकाश में गति करता है ।
- २१ चतुष्कोण, समनट मुशोभिन प्राकार वाली एवं शुक्लमूह के सुमधुर कलरव वाली पुष्पगिणी वापिका के समान रूप धारण करके श्रमण आकाश में गति करता है ।^१

वैश्वी-लब्धि में उद्यत रूप धारण करके आकाश में गमन करने का सामर्थ्य श्रमण में रहता है किन्तु वह धारण करता नहीं है । यदि सध-हित के लिए प्रभावोत्पादन के लिए एवं जिनप्रवचन के प्रति जनमूह या विशिष्ट व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिए श्रमण को अनेक आश्चर्यजनक रूप धारण करने पड़े तो वह लक्ष्यसिद्धि के पदचातु आलोचना प्रतिक्रमण आदि करके आत्मशुद्धि कर लेता है ।

कतिपय भावित आत्मा अनगार जब लब्धिसम्पन्न हो जाते हैं तब वे ऐसा सोचने लगते हैं कि—अब हमारी मात्रता पूर्ण हो गई है, अतः हम इस विशिष्ट शक्ति में बहुत कुछ कर सकते हैं । यह अकुरित अहं उन भावित आत्मा अनगारों की आध्यात्मिक प्रगति को अवरुद्ध कर देता है और धर्म धर्म नष्टोत्तर तप-माधना में उन्हें घिरा कर मयम में विमूढ कर देता है । वे अपनी महत्वादावाओं की पूर्ति के लिए अथवा सामान्य मुक्त सुविधा के लिए लब्धि का प्रयोग करते हुए नहीं सज्जते ।

लब्धि-प्रयोग करने वाले अनगार मायावी माने गये हैं, क्योंकि वे लब्धि-प्रयोग में विविध प्रकार के आश्चर्य-जनक रूप एवं गगन में गमनागमन आदि क्रियाएँ दिखाकर व्यक्ति विशेष को या जनमूह को प्रभावित करते हैं ।

दम श्रमणधर्मों में तृतीय श्रमणधर्म 'आर्जव' है । आर्जव अर्थात् नरलता । मरलता माधु का धर्म है । माया अधर्म है । अतः श्रमण को लब्धिप्रयोग का प्रायश्चित्त करना पड़ता है ।

परिवर्तित वेप माया आदि में जिस प्रकार लौकिक जीवन में मायावी लोग जनता को प्रभावित कर अपना स्वार्थ मिट्ट करत हैं, इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में श्रमण भी यदि लब्धिप्रयोग में परिवर्तित वेप-माया द्वारा जनता को प्रभावित कर झटमिट्ट करता है तो वह मायावी ही है ।

आगमों में मायावी और अमायावी के जीवन की झलक दिखाते हुए कहा गया है कि—“मायावी मनुष्य (अनगार) प्रणीत (स्निग्ध घृत आदि का) आहार करता है । और वह जिह्वा लोलुप होकर बारबार स्निग्ध आहार करता है तो उसे कभी कभी वमन भी हो जाता है । अतः अस्थि एवं मज्जा उसके घन हो जाती है । मांस और रक्त उसके अल्प परिमाण में बनते हैं । भुक्त आहार के स्थूल पुद्गलों का परिणमन श्रोत्रेन्द्रिय-यावत्-स्पर्शेन्द्रिय रूप में, अस्थि एवं अस्थि-मज्जा के रूप में, केश, दमपु, रोम, नख, वीर्य और रक्त के रूप में होता है ।

अमायावी मनुष्य (अनगार) रक्ष आहार करता है और वह नीरसभोजी इतना अल्प आहार करता है कि वमन तो उसे होता ही नहीं । अतः अस्थि एवं मज्जा उसके प्रणु (अल्प) बनते हैं । मांस और रक्त उसके घन हो जाते

हैं। भुक्त आहार के सूत्र पुद्गल के परिणमन उच्चार-प्रवचन रूप में यावत् रक्त रूप में होता है। इसलिए मायावी अनगार लब्धि प्रयोग करता है और अमायावी अनगार लब्धिप्रयोग नहीं करता है।^१

आगमरूपाओं में वैक्रिय लब्धिमम्यल आपाटभूनि अनगार की कथा मायावी तथा अमायावी अनगार का प्रभु उदाहरण है।

वह आह्वानप्राप्ति जैसे साधारण कार्य के लिए लब्धिप्रयोग करता है और इस तुच्छ तृष्णावश ही उसका पतन होता है। एक दिन समय में विमुक्त हो वह नष्ट बन जाता है। यह है उनके मायावी जीवन का चित्रण।

वही आपाटभूनि जब अध्यात्मचिन्तन में रत हो मायावी जीवन में मुक्त हो जाता है तो एक दिन केवलज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। यह है उसने अमायावी जीवन की लब्धि रूपरेखा।

यतना

यतना का ज्ये है प्रत्येक श्रिया को विवेकपूर्वक करना। यतना के चार प्रकार हैं —

- | | |
|----------------|-----------------|
| (१) द्रव्ययतना | (२) क्षेत्रयतना |
| (३) कालयतना | (४) भावयतना |

(१) द्रव्ययतना—दिन में लाखों में देख कर चलना। रात्रि में रक्षाहरण में प्रमाणन करके चलना।

(२) क्षेत्रयतना—चार हाथ प्रमाण क्षेत्रों को देखने हुए चलना।

(३) कालयतना—निर्णय समय नष्ट चलना उनमें समय नष्ट विवेकपूर्वक चलना।

(४) भावयतना—मदा उपयोगपूर्वक चलना।^२

भावयतना में श्रमण के समय की रक्षा होनी है। समय की रक्षा का ज्ये है स्वयं श्रमण की रक्षा और अन्य प्राणियों की रक्षा। श्रमण के भाव-दिशान्-मग्न में विचलित न हो यही भावयतना है। वाचिक और कायिक क्रियाओं का महत्त्व श्रमण के मानसिक मन्त्रों के माध्यम से श्रमण को आशमोक्त उन सब नियमों का पालन करना चाहिए जो आत्म-आगमना में सहायक हो जो आत्म-विशुद्धता न होने देते हैं। यही भावयतना के लिए आशमोक्त विधान प्रस्तुत हैं —

श्रमण को इन निर्दिष्ट स्थानों में नहीं जाना चाहिए —

- १ जहाँ राजा की मृत्यु के पञ्चानु नया राजा पाट पर न बैठा हो
- २ जिन गणराज्य में अशान्ति हो
- ३ जहाँ युवराज का राज्याभिषेक न हुआ हो
- ४ जहाँ दो राजाओं का शासन हो
- ५ जहाँ समीपवर्ती राज्य निरोधी राज्य हो
- ६ जहाँ राजा के विरुद्ध प्रताप हो

इन स्थानों में जाने में श्रमण को अनेक पगोपह होते हैं।^३

१ मग० श० ३, उद्दे० ४

२ उक्त० अ० २४, गाथा ७

३ आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० १, सूत्र ११६





निदिष्ट स्थानों में होने वाले शब्द सुनने के लिए श्रमण को नहीं जाना चाहिए —

- १ प्राकार परिखा आदि स्थानों में होने वाले शब्द
- २ नदी, तालाब या मरोवर आदि स्थानों में होने वाले शब्द
- ३ कच्छ में होने वाले शब्द
- ४ वृक्ष पर होने वाले शब्द
- ५ वन में होने वाले शब्द
- ६ वन-दुर्ग में होने वाले शब्द
- ७ पर्वत पर होने वाले शब्द
- ८ पर्वत-दुर्ग में होने वाले शब्द
- ९ ग्राम-पावत्-राजधानी में होने वाले शब्द
- १० आश्रम आदि में होने वाले शब्द
- ११ आराम आदि में होने वाले शब्द
- १२ देव कुल, सभा या प्रभा आदि में होने वाले शब्द
- १३ अट्टालिका, चरिका, द्वार या गोपुर पर होने वाले शब्द
- १४ तिराहे चौराहे आदि मार्गों पर होने वाले शब्द
- १५ महिषशाला आदि विविध पशुशालाओं में होने वाले शब्द
- १६ कर्पिजल आदि पक्षियों की पक्षिशाला-चिडिया घर में होने वाले शब्द
- १७ महिष आदि पशुओं में होने वाले युद्ध के शब्द
- १८ कर्पिजल आदि पक्षियों के युद्ध के शब्द
- १९ लग्नमण्डप में होने वाले शब्द
- २० अश्व-गज आदि के यूथ में होने वाले शब्द
- २१ धर्मकथा के अतिरिक्त गेप कथास्थानों में होने वाले शब्द
- २२ तोल-माप होने वाले स्थानों में होने वाले शब्द
- २३ नाट्य में होने वाले शब्द
- २४ कलह में होने वाला शब्द
- २५ जिस राज्य में श्रमण सन्तुष्ट है उस राज्य में होने वाले युद्ध के शब्द
- २६ पर-राज्य में होने वाले युद्ध के शब्द
- २७ दो परस्पर विरोधी राज्यों के युद्ध के शब्द
- २८ परस्पर विरोध के शब्द
- २९ वधस्थान पर ले जाई जाने वाली बालिका का या वधस्थान पर ले जाए जाने वाले पुरुष का शब्द
- ३० अनेक शकटों के शब्द
- ३१ अनेक रथों के शब्द
- ३२ अनेक म्लेच्छों के शब्द

- ३३ जनेन अरुजी के शब्द
- ३४ महोत्तरी में होने वाले शब्द
- ३५ महाभोज में होने वाले शब्द
- ३६ दृष्टीरहित मनुष्यों के शब्द
- ३७ गार्गीयिन देवी के शब्द
- ३८ श्रुत शब्द
- ३९ अश्रुत शब्द
- ४० द्रष्ट, ज्ञान, प्रिय शब्द
- ४१ स्त्रियों के ज्ञान-श्रवण, योगाह्वय, गायन और हँसने के शब्द

उन शब्दों से सुनने में गण-श्रेय की छद्मि होती है। मयम में मन स्थित नहीं रहता अतः इस प्रकार के शब्द सुनने के लिए श्रवण की नहीं जाना चाहिए।^१

कारण जिनने शब्द-व्याप्त रहते हैं उनमें से वाच्य म्यानों के अतिरिक्त वे सभी म्यानों में दृश्य देखने के लिए भी श्रमण को नहीं जाना चाहिए।

पथिक प्रश्न

- (१) आचार्य उपाध्याय या ज्ञानाधिक आदि के नाय माधु या प्रवर्तिनी आदि के नाय नाद्विषया ग्रामानुग्राम विज्ञा-रहने हुए मार्ग में एक दूर के हाथ में हाथ का, पैर में पैर का या शरीर में शरीर का मयम रहने हुए चले। अर्थात् पूज्य गुरुजनों का अविनय न हो इस प्रकार चले।
- (२) आचार्य उपाध्याय या ज्ञानाधिक आदि के नाय श्रमणों की तथा प्रवर्तिनी आदि के नाय श्रमणियों की ग्रामानुग्राम विज्ञा-रहने हुए मार्ग में पथिक मिलें और “आयुष्मन् श्रमण” (आयुष्मती श्रमणियो) आप कौन हैं? कहा में आप हैं और कहा जाएंगे? उत्वादि प्रश्न करें तो जो उत्ताधिक (दीक्षा में बढा) हा उस ही उत्तर देना चाहिए।
- (३) ज्ञानाधिक जब उत्तर दे रहे हो तब समय अन्य किसी श्रमण (श्रमणी) को बीच में नहीं बोलना चाहिए।
- (४) ये पथिक पृष्ठ—आगने उपर किती मनुष्य या मन्त्री को, बैल आदि पशुओं को, तीतर आदि पक्षियों को, उरग आदि मरीमृषों का, त्रुम आदि जलचरों का देखा हो तो दियाइए या कहिए।
श्रमण-श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्नों को सुन कर मौन रहे। न उन्हें दिखावे न उन्हें कुछ कहे और न उन्हें उत्तर देने का आग्रामन दें। यदि किसी प्राणी को पीडा होने की सम्भावना हो तो जानने हुए भी “हम नहीं जानते” ऐसा कह।

इस विधान का प्रमुख उद्देश्य प्राणी-रक्षा है। पथिक के इन विशेष प्रश्नों का उत्तर श्रमण दे या न दे, यह एक समस्या है। इसका मर्मममत समाधान किसी भी परम्परा के आगम-साहित्य में नहीं मिलता। यहाँ समाधान के दो पक्ष दिए गए हैं। प्रथम पक्ष है—मर्मसा मौन रहना। इसका आशय यह है कि—श्रमण छद्मस्थ है अतः पथिक





के पूछने का आशय क्या है ? यह वह नहीं जान सकता । पथिक ने प्रश्न का उद्देश्य भी बता दिया और वह उद्देश्य भी हिंसा का नहीं है फिर भी वह उद्देश्य सरल हृदय में बताया गया है या मायापूर्वक ? यह निश्चय नहीं होता अतः मौन रहना ही सर्वथा उचित है ।

द्वितीय पक्ष है —“जानते हुए भी नहीं जानता हूँ” ऐसा कहना । इस पक्ष के समर्थक हैं टीकाकार आचार्य । इस पक्ष के दो विभाग हैं —प्रथम पक्ष वह है जो मौन रखने का समर्थक है । उनका कहना है —“जानता हुआ भी मैं नहीं जानता हूँ” यह कथन अतथ्य है अतः श्रमणमर्यादा के विरुद्ध है ।

द्वितीय पक्ष का कहना है —अतथ्य होते हुए भी असत्य नहीं है, क्योंकि जिन प्राणियों के संवध में पथिक पूछ रहा है उनका हित मान कर ही श्रमण अतथ्य कह रहा है । वास्तव में सत्य असत्य तो मानव के सकल्प हैं । शब्द जड़ है, वे स्वयं न सत्य हैं और न असत्य । कपायपूर्वक कहा हुआ सत्य जब आगम की परिभाषा के अनुसार असत्य माना जा सकता है तब प्राणिमात्र के हित के सकल्प से कहे हुए अतथ्य को सत्य न मानने का क्या कारण है ?

दोनों पक्षों के समर्थन के लिए हेतु हैं, युक्तियाँ हैं और प्रमाण हैं, फिर भी “परम सत्य तो वही है जो जिन भगवान् ने कहा है ।”

(ङ) पथिक पूछें—हे आयुष्मन् श्रमण ! मार्ग में कहीं जलज, कद, मूल, त्वचा, पत्र-पुष्प, फल, बीज, वनस्पति, जलाशय या अग्नि आदि देखें हो तो दिखावें या कहें ।

(च) पथिक पूछें—हे आयुष्मन् श्रमण ! मार्ग में कहीं खेतों या चलियानों में धान्य देखा हो तो दिखावें या कहें ।

श्रमण-श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्न सुनकर मौन रहे । श्रमण-श्रमणियों को आरभजा हिंसा का निमित्त नहीं बनना चाहिए । इन विधानों की पृष्ठभूमि में यही भावना है ।

(छ) पथिक पूछें—हे आयुष्मन् श्रमण ! मार्ग में कहीं सेना का पड़ाव है ? सैनिक देखे हैं ? सैनिकों की वेपभूषा कैसी है ? इत्यादि के सम्बन्ध में बताइए ।

श्रमण-श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्न सुनकर मौन रहे क्योंकि उनका जीवन आध्यात्मिक है । वे ऐसे प्रश्नों का उत्तर देकर सकट में क्यों पड़ें ? मेरा सबंध जानकारी देने से अनेक प्रकार के उपसर्ग होने की संभावना रहती है । इसलिए यह विधान किया गया है ।

(ज) पथिक पूछें—हे आयुष्मन् श्रमण ! आगे कौन-सा गाव-यावत्-राजधानी आएगी ? अथवा-अमुक गाव-यावत्-राजधानी को कौन-सा मार्ग जायेगा ?

श्रमण श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर न दें । जानते हुए भी मौन रहे क्योंकि न जाने मार्ग पूछने का उद्देश्य क्या है ? उद्देश्य बताने वाले ने जो उद्देश्य बताया है वह कपटपूर्वक बताया है या मरलतापूर्वक ? छद्मस्थ को इन तथ्यों का ज्ञान नहीं होता । इसलिए मौन रहने का विधान किया गया है ।

प्रस्तुत अग्निदानग्रन्थ के लिए अष्ट प्रवचनमाता पर निबन्ध लिखने का मैंने सकल किया था किन्तु ईर्या-समिति पर लिखे हुए पृष्ठों की पर्याप्त सत्यापन देख कर आगे लिखना मुझे म्यगित करना पड़ा क्योंकि पूरा निबन्ध इतना विशालकाय बनता कि उसके लिए अनुमानतः ग्रन्थ का आधा भाग आवश्यक होता । चरणानुयोग के प्रकाशन का कार्यभार अधिक रहने से इतना लिखना मेरे लिए शक्य भी नहीं था और इतने बड़े निबन्ध को ग्रन्थ में स्थान मिलना भी संभव नहीं था, अतः इनका लिखकर ही विराम लेता हूँ ।

नैतिक उत्थान एवं धर्मशासन

प्रो० अनंत लूनिया



वर्तमान भौतिकवादी युग में नैतिकता का अवमूल्यन हुआ है। छद्म, माया, कपट ने वस्तुतः इन विद्वत् में, नच्चार्ट, जैसासों एवं पण्डितज्ञानरत्ना का स्थान भूत, वैदिकी एवं स्वार्थपरायणता में ले लिया। भाई-भाई, मित्र-पुत्र, और बहन-भाई के स्नेह-मित्र दूटने जा रहे हैं। नैतिक पतन जगती चरमसीमा पर है। मानवता एक खोखला श्राव्य भाव बन गया है एवं मानवीय भावनाएं समाप्त हो चली हैं। नीचैयतों एवं महापुरुषों का यह देश भी "मादा जीवन उच्च विचार" के ज्ञान में हृदय भौतिकवाद के चक्कर में पड़ गया है। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं नवी क्षेत्रों में मनुष्य का पतन हुआ है। स्वार्थ, दुःख, जलमयता, चक्रीयता, भ्रष्टाचार, इत्यादि प्रवृत्तियाँ बढ चली हैं। मानव महावीर के संदेश "जींओ जीर जीन दो" के स्थान पर 'न जींओ एवं न जीने दो' का महन्व दिया जाने लगा है।

इन परिस्थितियों में छुटकारा पाने का प्रयत्न व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के कल्याण के लिये अत्यन्त आवश्यक है। नैतिक उत्थान के परिणामस्वरूप, राष्ट्रपतन और द्वेष वृत्त में छुटकारा पाकर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। अध्यात्मवाद के ज्ञान में मानवीय कमजोरियों पर नियंत्रण रिया जा सकता है। धर्म, साधना, तप, एवं ज्ञान में अनैतिकता को समाप्त रिया जा सकता है। व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध, समाज-समाज के सम्बन्ध एवं राष्ट्र-राष्ट्र के सम्बन्ध नैतिकता की नींव पर ही दृढ़ हो उठने हैं। जगद्गुरु लिन, मनवान मेन और महात्मा गांधी नैतिकता को व्यक्तिगत जीवन में लाने में सफल रहे। श्री, रैदाम, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि ने नैतिक मूल्यों को समाज में प्रतिष्ठित करने का सुन्दर प्रयास रिया। गांधी नेहू एवं भास्कर ने तो राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के मजाल एवं शासन में भी नैतिकता लाने का प्रयत्न रिया है। दान्तव ने इन विमूर्तियों के पश्चात् ता नैतिकता की आधारभूमि के निर्माण का कार्य और भी बढाया है। जातुनिक विश्व के वर्द्ध धार्मिक समय-समय पर हमारा ध्यान इस ओर बढने के लिये प्रेरित रहे हैं। ब्रह्म, रमेल, डा० गच्छा कृष्णन ज्योदि महानुभाव आज भी नैतिकता का सडा बुलद किये हुये हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि नैतिक उत्थान का सबसे मुख्य तत्व क्या है? मनीषियों एवं विचारकों ने धर्म को नैतिक उत्थान का सर्वश्रेष्ठ माध्यम माना है।—उनके अनुसार धर्म के अभाव में ही आज विश्व अधकार में डबा हुआ है। वर्तमान अनैतिकता का प्रमुख कारण भी धर्मविज्ञा एवं सिद्धान्तों का लोप माना गया है। आर्थिक एवं व्यवसायीक मान्यता ने धार्मिक जगत् में मानवता को आत्ममूल्य कार्यकुशलता के यत्नजाल के रूप में ढाल दिया है। अब नैतिक प्रगति के लिये एक ऐसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसके अन्दर न केवल अर्थशास्त्र और राजनैतिक आर्थिकपूर्ण जीवन हो अपितु आत्मा की नुड आवश्यकताओं के लिये भी स्थान हो। किसी समाज के दान्तविक रूप का पता उसकी रूढियों में उतना नहीं चलता जितना कि उसके आत्मिक मूल्यों और मन की सज्जा से। धर्म, मन्यता का आन्तरिक पक्ष है। यह समाज रूपी शरीर की आत्मा है। विज्ञान का उपयोग, आर्थिक समझौते और राजनैतिक कार्य एवं मजदूर, इस विश्व को, बाह्य रूप में ही मालिन कर नकने हैं परन्तु, नुदृष्ट एवं स्थिर विचारों एवं आदर्शों की कटिया हो, उसे नुदृष्टता प्रदान कर सकती हैं। धर्म मानव समाज के पुनर्निर्माण में सन्धि महयोग दे सकता है। मनुष्य शरीर, मन और आत्मा का सम्मिश्रण होता है। उसके इन तत्वों को भी पोषक पदार्थ चाहिये। भोजन और व्यायाम शरीर को सुल रखता है। विज्ञान और आलोचना द्वारा मन को मजान रखा जा सकता है। परन्तु आत्मा की प्रबुद्धता धर्म पर ही आधारित है। धर्म ही सत्य, प्रेम, चरित्र, त्याग, दया, नम्रता,



विवेक, समय, गृहाचार्य अहिंसा, सत्प्रेरणा, शान्ति एवं साहस का स्वात है। ये विशेषतायें मानव को अनैतिकता में नैतिकता की ओर प्रेरित करती हैं। इन्हीं की सहायता से व्यक्ति छल, कपट, क्रोध, अहंकार, माया, अविवेक, अमयम, इत्यादि बंधनों से बचता है।

आज धर्मशासन की आवश्यकता है। इसके अन्तर्गत रचनात्मक प्रवृत्तियों का विकास आवश्यक है। आज विश्व का स्वरूप बदल रहा है। पूर्व और पश्चिम के विचारों में शृंगलावद्ध परिवर्तन पैदा हो रहे हैं। विघ्न के राष्ट्र अधिकाधिक परस्पर सख्त होते जा रहे हैं। सम्मतियों और सस्कृतियाँ अपना रूप परिवर्तन कर रही हैं। ऐसे समय बुद्धि और आत्मा में एकता स्थापित करने की आवश्यकता है। पृथ्वी पर ईश्वर के सर्वोत्कृष्ट रूप मानव में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। इन सभी के लिए आध्यात्मिक पुनर्गन्तव्य ज़रूरी है।

जैनधर्म एक रचनात्मक धर्म है। वह रुढ़िवादी, भकीर्ण एवं थोड़ी कल्पनाओं के न्याय पर आदर्श विचारों को साकार रूप प्रदान करता है। जैनधर्म का तत्त्वज्ञान अनेकात पर आधारित है और उसका आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठापित। जैनधर्म कोई पारस्परिक विचारों ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अघरावा, रगकर चढ़ने वाला सम्प्रदाय नहीं है। वह मूलतः एक विमुक्त वैज्ञानिक धर्म है। इसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढंग में हुआ है। अहिंसा एवं अनेकात के सर्वांगीण विवेचन पर प्रतिष्ठित है। यह आत्मा की शुद्धि एवं मुक्ति पर विश्वास करता है। भगवान् महावीर ने सूत्रकृतांग में बतलाया है।—

“निध्वाणसेट्ठा जह सत्त्वधम्मा”

अर्थात् सभी धर्मों का अन्तिम ध्येय मुक्ति है। जैनधर्म निर्वाण-प्राप्ति को धर्मसाधना का अन्तिम साध्य मानता है और इसी उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त उसने मोक्ष का विधान किया है। जैनधर्म ने सम्पूज्य, सम्पूज्य-दर्शन एवं सम्पूज्य चारित्र्य की सीढ़ियों पर चलकर मोक्षप्राप्ति के लिये पथ निर्माण किया है। इन तीन सिद्धान्तों की प्राप्ति मोक्षप्राप्ति का तरीका है।

जैनधर्म की सबसे बड़ी देन है अहिंसा। भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक २८ तीर्थंकरों ने इसी का उपदेश दिया। आज अहिंसा का यही सिद्धान्त व्यक्ति समाज एवं मानव मात्र के लिये आदर्श बन गया है। व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र की सुरक्षा, क्षोणहीन विद्वत् की कल्पना एवं न्याय व समानता के मानवीय सिद्धान्त अहिंसा ही की देन है। भगवान् महावीर ने फर्माया था—

“सत्त्वे जीवा न हन्तव्या”

अर्थात् किसी जीव की हिंसा न करो। किसी को मार सताओ एवं न किसी के पराधीन बनो और न किसी को पराधीन बनाओ। जैनधर्म की अहिंसा का तात्पर्य कार्यरता से नहीं लिया जा सकता। यह हिंसा पर प्रेम की विजय चाहता है। आध्यात्मिक जीवन का विकास ही वह बल है जो पड़ोसी को प्रेम करने की क्षमता प्रदान करता है। प्रेम का अर्थ स्वार्थविक कोमलता से नहीं है, जो प्रत्येक व्यक्ति में उसकी क्षीररचना के अनुसार कम या अधिक होता है। अपितु विवेक और धर्मनिष्ठा पर आधारित आत्मा का एक अधिक व्यापक सिद्धान्त है।

जैनधर्म धार्मिक सहिष्णुता का सदेश देता है। धार्मिक असहिष्णुता के कारण इस विश्व ने बड़े दुःख उठाये हैं और रक्त बहाया है। इतना ही नहीं, समय-समय पर राजनीतिक असहिष्णुता ने भी धार्मिक जामा ओढ़कर महत्वपूर्ण आकांक्षाएँ कीं। कई बार दर्प आत्म-प्रशस्ति घृणा और अत्याचारों ने मानवता का गला घोट दिया। जैनधर्म ने पीडित विश्व को सहिष्णुता का पाठ पढ़ाकर मानव मात्र की बहुमूल्य सेवा की। अन्य धर्मों के साथ भी बढ़ते हुये जैनधर्म ने एकता का पाठ पढ़ाया। उसने धर्मनिष्पेक्षता के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया।

जैनधर्म ने नैतिकता के एक अन्य पक्ष को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया। “स्थानांग सूत्र” में भगवान् महावीर ने धर्म के दो पक्ष बतलाये हैं।

(१) श्रुत और (२) चारित्र

श्रुत का अर्थ ज्ञान और चारित्र का अर्थ सदाचार है। ज्ञान के विभिन्न पक्ष हमें प्रकाश देते हैं और सदाचार निर्वाण या पथ प्रशस्त करता है। जर्म के व्यक्तियों को मोक्ष के लिये ज्ञान और चारित्र दोनों की ही आवश्यकता है। भगवान महावीर फमनि हैं कि अहिंसा, मयम और नप ही धर्म का स्वरूप है। जैनधर्म मयम को भी अन्यधिक महत्व देता है। उनमें त्याग और तपस्या को भी प्रमुखता प्रदान की। इन्हीं की महात्मता में असीमित आवश्यकताओं पर नियन्त्रण लगा कर माया उल और कष्ट से मनुष्य मात्र को बचाना है। भगवान ऋषभदेव ने भी सदाचार में प्रीति करने का आदेश दिया।

जैनधर्म असंगत्याग का उपदेश देता है। भगवान पार्श्वनाथ ने असुर को त्यागने का अनुरोध कई बार अपने अनुयायियों से किया। भगवान महावीर ने कहा है - लूट मन बोलो।

नैतिकता का मनुष्य के आचार-विचार में भी सम्बन्ध है। मनुष्य का आचार-विचार बहुत हद तक उसकी दृष्टियों में संचालित होता है। जैनधर्म पाँचों दृष्टियों पर विजयप्राप्ति का मार्ग बनाना है, जिनमें मानवीय आचार-विचार अनैतिकता की ओर नहीं जावे। भगवान महावीर मन पर नियन्त्रण हेतु मन का निग्रह करने का फर्माते हैं। श्रेष्ठ को छोड़ने का उत्तरा उपदेश आदि में भी मानसिक मनुष्य स्थिर रहना है। श्रेष्ठ की प्रवृत्तियों से रक्षा करने में जैनधर्म सहायक सिद्ध हुआ है। मान, माया और श्रेष्ठ के सम्बन्ध में भगवान महावीर का फर्माना है कि—

“श्रेष्ठ प्रीति का नाम करना है, मान चिन्तन का, माया मिथ्या का और श्रेष्ठ सभी मनुष्यों का नाम करना है।” (दशरूपकसूत्र ७० = गा० ३८, ३९)

दार्शनिक दृष्टि में जागे रहा गया है कि शान्ति में श्रेष्ठ को, मृदुता में मान को, मर्यादा में माया को और मनोप में लोभ का जीतना चाहिये। भगवान महावीर ने धर्म के सात ब्रह्मचर्य पर जोर दिया है। उत्तराध्यायन अ० १० गा० ४६, ४७ में कहा गया है कि धर्म मेरा जगन्मय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-नीर्य है। इसी प्रकार गाथा ४० कहती है कि धर्महीन नीति जगन् के लिये अनिष्टाकार है।

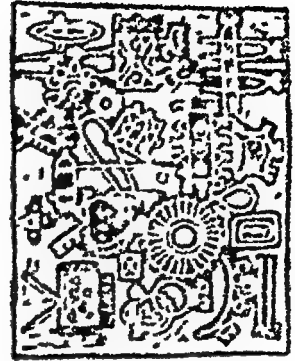
मध्यम में यह कहा जा सकता है कि नैतिक उत्थान के लिये धर्मशासन की अविवेक आवश्यकता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्रियेगीपारा मुक्ति का पथ प्रशस्त कर रही है। जीवन के मूलभूत दोषों जैसे हिंसा, असत्य, पशुप्रादि की समाप्ति करने में जैनधर्म महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। तीर्थंकरों ने नेकर वर्तमान जैन विद्वानों ने धर्म के अनुशासन में अवधार में प्रकाश फैलाने का प्रयत्न किया। जैनधर्म का सबसे महत्वपूर्ण पर्व पर्युषण पर्व आज भी नैतिकता की प्रीति जगने में असीमित समाज और राष्ट्र पर प्रभाव डालता है। समाशासना के स्वर एवं प्रेम और मित्रता, मन, वचन और काया को शुद्ध करने हैं। जीवन में मत्सर, विवेक, मयम, नाह्य जाग्रत रहते हैं। समा, चिन्तन, मर्यादा, त्याग को उपलब्धि, छत्र, कष्ट, श्रेष्ठ, अनाचार, अप्रवृत्ति, एवं धूँन्धोरी की समाप्ति में महायत्न हो सकती है।

हम नये युग के उपाकाय में हैं। हमने शाया की उत्तेजना है। मर्यादा के विकास एवं मानवता की रक्षा करने के लिये हमें नैतिक उत्थान के लिये प्रयास करने ह। यदि हम विश्वव्युत्थ की कल्पना को साना देवता चाहते हैं और समस्त विश्व में सुख, शान्ति और समृद्धि का विस्तार चाहते हैं तो युग की पुकार को ध्यान में रखकर धर्मशासन को महत्ता प्रदान करनी ही होगी। धर्मशासन ही उत्थान की कमीटी एवं विश्वव्युत्थ की चरमसीमा होगी।



भावनायोग-एक मीमांसा

मुनिश्री गुलाबचन्द्र 'निर्मोही'



भगवान् महाशेखर ने कहा—जाण तो जान गया है, पर मरने का क्या है। तो मरने का क्या है, यही तो तो जानना है। उपनिषद् तो भाषा है जो ब्रह्मा को जान देता है, उसके लिए सब साधन तो बताते हैं। विष्णु प्रवृत्त होता है कि जो ब्रह्मा अद्वैत है, उस में तो जाना जान है भगवान् महाशेखर ही भाषा में आत्मनिष्ठ रहते हैं कि वे दण्ड, रथ, गध, रथ और रथन भोजनार्थ जान देते हैं। आत्मनिष्ठता का साधन है—विष्णुभक्ति। परन्तु वार्त्ता में विषयवर्ती प्रवृत्ति का विचार हम तो साधना करते हैं। दण्डों के तो विषय है, उनके सब जानने हैं कि साधना की भाषा में ज्ञेय ही अर्थ होता है—ज्ञान और रथ का अर्थ होता है—गन्धिमान। किसी भी वस्तु का प्रतिपादन और भाषा समीचीन होता है, जब उसका स्वभाव भोजनार्थ जान दिया जाय। रथ का विषय क्या है। रथ का साधन क्या है? उपाय क्या है? प्रदान करने में ब्रह्मा है? किं जाना है? यदि प्रदान का विचार करने करने पर कि विचार होता है, तब विचारवृत्ति स्व-विषयवर्ती प्रवृत्ति है। इसी प्रकार अन्तर्दृष्टि के विषयों में भी विचार की विचारविषय होता है। इस अन्वय में दण्डियों के विषयों का मुख्य भाव प्राप्त होता है। दण्डों के आचरण भी तो है। उपाय के द्वारा व दूध-पान आदि की विचारों विचारित होती है।

पुनः प्रवृत्त होता है कि विचारों का बोध क्या है? उपाय समाधान पाते हैं कि आत्मनीय विचारों में सर्व की अपेक्षा श्रद्धा और चरित्रधर्म की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि का अन्तिम महत्त्व दिया है। सर्व की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि अन्तर्दृष्टि ही समाधान होती है। अन्तर्दृष्टि का आत्मन होता है। जो शरीर, वाली और सब की प्रवृत्तियों का है, तब अन्तर्दृष्टि प्रवृत्त होता है। जो दण्डिया अपने विषयों में विरत होती है, यही अन्तर्दृष्टि प्रवृत्ति होता है। यह अन्तर्दृष्टि ही मरने की उपलब्धि का साधन है। जिन्हें यह प्राप्त हुआ, उसी भाषा में मरने है—आत्मा।

सत्यवाद की परिधि में जो हम विषय में है, वह सब मरने है। अन्तर्दृष्टि ही तो नहीं है। मरने का अन्तिम की उपलब्धि का जो साधन है, वह भी मरने है। सत्य की दृष्टि में आत्मा मरने है। उसी उपलब्धि का जो साधन

१ आचार्य १।३।४।७४

जे एग जाणइ से सव्य जाणइ । जे सव्य जाणइ मे एग जाणइ ।

२. बृहदारण्यक २।४।६

आत्मनि विज्ञाते सत्यमिव विज्ञात भवति

३. आचार्य १।३।१।४

जस्तिमे सद्वा य स्या य रथा य गधा य फासा य अभितमन्नामया भवति से आयय ।

४ पातजलयोगवर्शन १।३।५

धियययती या प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनस स्थितिनियन्त्रिणी ।

है, वह भी मर्य है। पदार्थोपलब्धि का भावन ज्ञान और आत्मोपलब्धि का साधन धर्म है। जैन आचार्य इन्ने मोक्षमार्ग, पतञ्जलि योग आत्मरीनता तथा बौद्धाचार्य इन्ने विमुक्तिमार्ग कहते हैं। शब्दार्थ में तीनों कुछ भिन्न हैं किन्तु फलिनाथ में अभिन्न। चित्तवृत्तियों की एकाग्रता के बिना न मोक्षमार्ग उपलब्ध है, न आत्मलीनता होती है और न विमुक्तिमार्ग मिलता है। चित्त एकाग्र बनना है तभी ये सत्र बनते हैं। पतञ्जलि की भाषा में चित्तवृत्तियों का जो निरोध होता है वह योग है।^१ जैनों की भाषा में शरीर, वाणी और मन का जो सर्वनवर है—वह योग है।^२ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य को मोक्षमार्ग कहा है।^३ उन्नी को आचार्य हेमचन्द्र ने योग कहा है।^४ हरिभद्र सूरि के अभिमत में धर्ममार्ग योग है। योग वह है—जो मोक्ष में योग-सम्बन्ध का हेतु हो। धर्म मोक्ष का साधन है। इसलिए धर्म का जिनता परिशुद्ध व्यापार है—वह सब योग है।^५ यह निश्चयदृष्टि है। व्यवहारदृष्टि से योग स्थान, आसन आदि एकाग्रता के विशेष प्रयोग को कहा जाता है।

योग शब्द जैन आसो में व्यवहृत है। समाधियोग, ध्यानयोग, भावनायोग आदि शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। जैन आचार्यों ने इस सम्बन्ध में समाधिनन्द, ध्यानजनक, ज्ञानमुधारण आदि अनेक ग्रंथ भी लिखे हैं। प्रस्तुत निबन्ध में मुख्यतः भावनायोग की ही चर्चा की गई है।

भावना के प्रारम्भ में प्राचीन जीवन का विघटन और नये जीवन का निर्माण करना होता है। इस प्रक्रिया में भावना का बहुत बड़ा उपयोग होता है। जिन चेष्टाओं और सकल्पों के द्वारा मानसिक विचारों को भावित या वासित किया जाता है, उन्हें भावनायोग कहते हैं।^६ महर्षि पतञ्जलि ने भावना जीर जप में अभेद का निरूपण किया है।^७ भगवान् महाश्वरी ने कहा—जिनकी आत्मा भावनायोग में शुद्ध है, वह जल में नौका के समान है। वह तट को प्राप्त कर सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।^८

भावना के अनेक प्रकार हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, भक्ति आदि जिन-जिन चेष्टाओं व अभ्यासों में मानस को भावित किया जाता है, वे सब भावनाएँ हैं, अर्थात् भावनाएँ अनन्त हैं।^९ फिर भी उनके कई वर्गीकरण मिलते हैं।

१ पातञ्जलयोग सूत्र १।७

योगश्चित्तवृत्तिनिरोध

२ उत्तराध्ययन २६

३ तत्त्वार्थ सूत्र १।१।

सम्यग्दर्शनज्ञान चाग्नित्राणि मोक्षमार्ग

४ अभिव्यानचिन्तामणि १।७७

मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धान्तरणात्मक

५ योगविशिका १ व्याख्या

६ पामणाहचरित्र्य पृ० ४६०

भाविज्जइ वासिज्जइ जीए जीवो विमुद्धचेट्ठाए सा भावणत्ति वुच्चइ

७ पातञ्जलयोगसूत्र १।२८

तज्जपस्सदर्यभावनम्

८ सूत्रकृतांग १।१।५

भावणाजोगमुद्धप्पा जले नावा व आहिया।

नावा व तीरसपग्गा सच्चद्वपसा तिरट्ठइ ॥

९ पामणाहचरित्र्य पृ० ४६०





पाँच महाव्रत की पञ्चोस भावनाएँ हैं।^१ ये भावनाएँ महाव्रतों की स्थिरता के लिए हैं।^२ प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। आगमों में इनका वर्णन आचाराग, समवायाग और प्रश्नव्याकरण में मिलता है, किन्तु उनके क्रम तथा नामों में एकस्वता न होकर विभेद है। जैसे —आचाराग के अनुसार—^३

अहिंसा महाव्रत

- (१) ईर्यासमिति
- (२) मनपरिज्ञा
- (३) वचनपरिज्ञा
- (४) आदान-निक्षेपसमिति
- (५) आलोकित-पान-भोजन

सत्य महाव्रत

- (१) अनुवीचिभाषण
- (२) श्लोघप्रत्याख्यान
- (३) लोभप्रत्याख्यान
- (४) अभय (भय-प्रत्याख्यान)
- (५) हास्यप्रत्याख्यान

अचौर्य महाव्रत—

- (१) अनुवीचिमितावग्रह याचन
- (२) अनुज्ञापित पान-भोजन
- (३) अवग्रह का अवधारण
- (४) अभीक्षण-अवग्रह-याचन
- (५) सार्धार्थिक के पास से अवग्रह-याचन

ब्रह्मचर्य महाव्रत

- (१) स्त्रियों में कथा का वर्जन
- (२) स्त्रियों के अग-प्रत्यगो के अवलोकन का वर्जन
- (३) पूर्व-भुक्त-भोग की स्मृति का वर्जन
- (४) अतिमात्र और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन
- (५) स्त्री आदि में ससक्त शयनासन का वर्जन

१ उत्तराध्यायन ३।१।१७

पण्योसभावर्णाहि उद्देसेषु वसाइर्ण ।

जे भिषखू जयई निच्च से न मच्छइ मण्डले ॥

२ तत्त्वार्थसूत्र ७।३

तत्स्यैर्यार्थं भावना पञ्च पञ्च ।

३ आचाराग २।३।१५।४०२

अपरिग्रह महाव्रत

- (१) मनोज और अमनोज द्वाद मे समभाव
 - (२) मनोज और अमनोज रूप मे समभाव
 - (३) मनोज और अमनोज गन्ध मे समभाव
 - (४) मनोज और अमनोज रस मे समभाव
 - (५) मनोज और अमनोज स्पर्श मे समभाव
- समवायाग के अनुसार महाव्रतों की भावनाओं का वर्गीकरण^१ —

अहिंसा महाव्रत —

- (१) ईर्ष्यामिनि
- (२) मनोगुणि
- (३) वचनगुणि
- (४) आहार नाशन-भोजन
- (५) आदान-भट्टमाश्रितक्षेपणा ममिनि

सत्य महाव्रत

- (१) अनुवीचिमापणता — विचारपूर्वक बोधना
- (२) नाशविवेक — गोप का प्रत्याख्यान
- (३) लोभविवेक — राम का त्याग
- (४) मयविवेक — मय का त्याग
- (५) हास्यविवेक — हास्य का त्याग

अचौर्य महाव्रत

- (१) अवग्रहानुज्ञापना
- (२) अवग्रहसीमापग्नान
- (३) स्वय ही अवग्रह की अनुग्रहणता
- (४) मातृमित्रों के अवग्रह की याचना तथा परिभोग
- (५) माधारण भोजन को आचार्य आदि को वतारु परिभोग करना

ब्रह्मचर्य महाव्रत

- (१) स्त्री, पशु और नपुंसक मे सम्बन्ध दायन और आसन का वर्जन करना
- (२) स्त्री-कथा का विवर्जन करना
- (३) स्त्रियों की इन्द्रियों के अवग्रहों का वर्जन करना
- (४) पूर्वभुक्त तथा पूर्वश्रुति नामभोगों का स्मरण नहीं करना
- (५) प्रणीत आहार का विवर्जन करना

अपरिग्रह महाव्रत

- (१) श्रोत्रेन्द्रिय-रागोपगति
- (२) चक्षुरिन्द्रिय-रागोपगति



(३) आनन्दितमगोदरति

(४) रम्योदितमगोदरति

(५) रम्योदितमगोदरति

प्रत्यक्षारण के अनुसार महाप्रती की भावनाओं का वर्गीकरण १—

अहिना महाप्रत—

(१) ईशानगति

(२) जगत् मन

(३) जगत् मन

(४) मयना ममिति

(५) आनन्द-विशेष ममिति

मरु महाप्रत

(१) अनुगति भाषण

(२) शीघ्र प्रत्यागमन

(३) शीघ्र प्रत्यागमन

(४) शीघ्र (भय प्रत्यागमन)

(५) शीघ्र प्रत्यागमन

मरुचोय महाप्रत—

(१) निमित्तता तम-वसति

(२) अनील जगत्-मन

(३) मयना ममिति

(४) भाषण विष्ट भाषण भाष

(५) शीघ्र प्रत्याग

मरुचोय महाप्रत -

(१) जगत्-मन-ममिति

(२) मयना म ममिति

(३) ममिति ममिति और ममिति के प्रत्यागमन का ममिति

(४) ममिति ममिति ममिति ममिति

(५) ममिति ममिति ममिति ममिति

मरुचोय महाप्रत

(१) ममिति ममिति ममिति ममिति

(२) ममिति ममिति ममिति ममिति

(३) ममिति ममिति ममिति ममिति

(४) ममिति ममिति ममिति ममिति

(५) मनोज और अमनोज स्पष्ट में समभाव

उपरोक्त तीनों वर्गीकरणों में आचाराग और प्रत्यव्याकरण के वर्गीकरणों में अपेक्षाकृत कुछ माम्य है। समवायाग का वर्गीकरण नाम और अर्थ दोनों ही दृष्टियों में कुछ भिन्न है।

आगनोत्तर माहिन्त्र में सर्वप्रथम आचार्य बुन्दबुन्द ने पट्टाभूत ग्रन्थ में पञ्चम भावनाओं का एक वर्गीकरण दिया है, जो इस प्रकार है—

अहिंसा महाव्रत

- (१) वचनगुप्ति
- (२) मनगुप्ति
- (३) ईर्ष्यागुप्ति
- (४) मुदान-निक्षेप
- (५) अवशोक्ति पान-भोजन

सत्य महाव्रत

- (१) अश्रोत्र
- (२) अमय
- (३) अहास्य
- (४) अरोग्य
- (५) अमोह

यहाँ अनुवीचि भाषण के स्थान पर अमोह भावना का उल्लेख हुआ है। टीकाकार ने भगवान गीतम का एक श्लोक उद्धृत करते हुए इसका अर्थ भी अनुवीचि भाषणकुशलता ही किया है। अनुवीचि भाषणना में तात्पर्य है—“वीची वाग्गहनी तामनुकृत्य या भाषा वतते नानुवीची भाषा-जिनमूत्रानुसारिणा भाषा, अनुवीची भाषा पूर्वाचार्य-मूनपरिपाटीमनुकृत्य भाषणीयमित्यर्थ । “पूर्वाचार्य और सूत्रानुसारिणी भाषा । इत्येनाम्बर परम्परा में अनुवीचि-भाषणता का अर्थ प्रायः ‘अनुविचिन्त्य भाषण’ विचारपूर्वक बोलना ही किया गया है। किन्तु तत्त्वार्थराजवार्तिक में

१ चारित्र प्रामृत ३१-३५

वयमुत्ती मणमुत्ती इरिया समिदी मुदाणनिबलेवो ।
अवलोय भोयणाए हिसाए नावणा होंति ॥
कोहभयहासलोहा मोहा विवरीय नावणा चेव ।
विदियत्स नावणाए ए पचेव य तहा होंति ॥
सुण्णायारनिवासो विमोचितवास ज परोष च ।
एसणसुद्धि सउत्त साहम्मी सवितवादो ॥
महिलालोपण पुव्वग्दमरणससत्तवसहि विकहाहि ।
पुट्ठि रमेहि विरलो नावण पचावि तुरियम्मि ॥
अपरिगह समणुण्णेषु सङ्गरित्सरसद्वगधेनु ।
रायदोसाईण परिहारो नावणा होंति ॥

२ चारित्र प्रामृत ३२ (टीका)

अकोहणो अन्तोहो य भयहस्सविज्जिदो ।
अणुवीची नासकुसलो विदिय वदमस्मिदो ॥





दोनो ही अर्थों का ग्रहण किया है ।^१

अचौथ महाव्रत

- (१) शून्यागार निवास
- (२) विमोचितावास
- (३) पर-उपरोध न करना
- (४) एषणाशुद्धि
- (५) साधमि अविस्वाद (साधमिको के साथ विस्वाद न करना)

ये पाँचो भावनाएँ श्वेताम्बर परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं ।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

- (१) महिला अवलोकन विरति
- (२) पूर्वभुक्त का स्मरण न करना
- (३) ससक्त वसति विरति
- (४) स्त्रीरागकथा विरति
- (५) पौष्टिक रस विरति

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ में जो भावनाविषयक वर्गीकरण दिया है उसमें ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ उक्त भावनाओं से भिन्न है । वे इस प्रकार हैं ।^२—

- (१) स्त्री-रागकथावर्जन
- (२) मनोहर अगनिरीक्षणविरति
- (३) पूर्वरतानुस्मरण परित्याग
- (४) वृष्येष्ट रस परित्याग
- (५) स्वशरीरसंस्कार त्याग

अपरिग्रह महाव्रत

- (१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में रागद्वेष का वर्जन
- (२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में रागद्वेष का वर्जन
- (३) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस में रागद्वेष का वर्जन
- (४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्ध में रागद्वेष का वर्जन
- (५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में रागद्वेष का वर्जन

नामभेद और क्रमभेद होते हुए भी आगमोक्त और आगमोत्तर सभी वर्गीकरणों का प्रतिपाद्य एक है । धर्म्य और शुक्ल ध्यान की चार-चार अनुप्रेक्षाएँ हैं ।^३ वे मिलित रूप में आठ भावनाएँ हैं —

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक ७।५

अनुवीक्षिभाषणम् अनुलोमभाषणमित्यर्थ

विचार्य भाषणमनुवीक्षिभाषणमिति वा

२ तत्त्वार्थसूत्र ७।७

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरागनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागा पञ्च ।

३ स्यान्नाग ४।१।२४७

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ

- (१) एस्त्यानप्रेक्षा—मैं अकेला हूँ ।
- (२) अनित्यानप्रेक्षा—सब सयोग अनित्य है ।
- (३) अक्षरणानुप्रेक्षा—दूसरा कोई प्राण नहीं है ।
- (४) मसारानुप्रेक्षा—जीव समार में पणिभ्रमण कर रहा है ।

धर्मध्यान के लिए श्रद्धा, स्वाध्याय और भावना अपेक्षित है, यह उसकी अनुप्रेक्षाओं में फलित है ।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ

- (१) अनन्तदृष्टि-अनुप्रेक्षा—सब परम्परा अनादि है ।
- (२) विपणिगामानुप्रेक्षा—सब पदार्थ परिणमनशील हैं ।
- (३) अशुभानुप्रेक्षा—ममार्ग के सब मयोग अशुभ हैं ।
- (४) अपायानुप्रेक्षा—आत्मव बन्धन के हेतु हैं ।

शुक्लध्यान के लिए आत्मा के स्वभाव या अवगाहन और भावना अपेक्षित है, यह उसमें और अनुप्रेक्षाओं में जान होता है ।

महाप्रती की भावनाओं व धर्म तथा शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाओं के वर्गीकरण आगमकालीन है । उत्तरवर्ती साहित्य में दो वर्गीकरण और प्राप्त होते हैं । एक बारह भावनाओं का तथा दूसरा चार भावनाओं का । इन दोनों वर्गीकरणों की मोलह भावनाओं का प्रकीर्णरूप तो आगमों में भी मिलता है किन्तु इनका वर्गीकृत रूप उत्तरकाल में ही हुआ है । विक्रम की दूसरी मलावदी में आचार्य कुन्दकुन्द ने "वारस अणुवेवखा" की रचना की । इसमें बारह भावनाओं का वर्गीकरण दिया गया है, जिसे सर्वप्रथम ही मानना चाहिए । वह इस प्रकार है ^१ —

- | | |
|-------------|----------------|
| (१) अनित्य | (७) अशुचि |
| (२) अक्षरण | (८) आत्मव |
| (३) एस्त्य | (९) सबर |
| (४) अन्यत्व | (१०) निर्जरा |
| (५) ममार | (११) धर्म |
| (६) लोक | (१२) बोधिदुलंभ |

चार भावनाओं का वर्गीकरण सर्वप्रथम उमास्वाति ने किया था । वह इस प्रकार है^२ —

- (१) मंत्री
- (२) प्रमोद
- (३) काक्ष्य
- (४) माध्यम्य

बारह भावनाओं के वर्गीकरण में उत्तरवर्ती साहित्य में कमभेद है । उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र और प्रम-

१ वारस अणुवेवखा २

अद्भुतमसरणमेगत्तमणसमारलोगमसुचित्त ।
आमवसवरणिज्जरधम्म बोहि च चित्तेज्जा ॥

२ तत्त्वार्थसूत्र ७।११

मंत्रीप्रमोदकाक्ष्यमाध्यम्यानि च सत्त्वगुणाधिकविलम्बमानाविनेयेषु ॥





मरुतिप्रकरण में बारह भावनाओं का जो वर्गीकरण दिया है, वे उक्त वर्गीकरण से भिन्न होते हुए परम्पर भी भिन्न हैं। तत्त्वार्थसूत्र का वर्गीकरण इस प्रकार है^१ —

(१) अनित्य	(७) आसन्न
(२) अक्षरण	(८) सवर
(३) ससार	(९) निर्जरा
(४) एकत्व	(१०) लोक
(५) अन्यत्व	(११) बोधिदुर्लभ
(६) अशुचि	(१२) धर्म

तत्त्वार्थ और प्रथमरतिप्रकरण का रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी है। प्रथमरतिप्रकरण का भावनाविषयक वर्गीकरण इस प्रकार है^२ —

(१) अनित्य	(७) आसन्न
(२) अक्षरण	(८) सवर
(३) एकत्व	(९) निर्जरा
(४) अन्यत्व	(१०) लोक
(५) अशुचि	(११) धर्म
(६) ममार	(१२) बोधिदुर्लभ

विक्रम की पाचवी शताब्दी में श्रीमद् वट्टकेर ने मूलाचार की रचना की। उसमें भावनाविषयक वर्गीकरण आचार्य कुन्दकुन्द की बारस अणुवेक्षा के अनुरूप है^३ —

विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी में आचार्य नेमिचन्द्र हुए। उन्होंने बृहद्ब्रह्म-संग्रह में भावनाविषयक एक वर्गीकरण दिया है, जो ठीक तत्त्वार्थसूत्र के समान है।^४ इसी शताब्दी में श्रीमत्सोमदेव सूरि ने यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य की रचना की। उसमें बारह भावनाओं का भी वर्णन किया है। इस वर्णन में पूर्वोक्त वर्गीकरणों की अपेक्षा कुछ क्रमभेद है। वह इस प्रकार है^५ —

१ तत्त्वार्थसूत्र ६।७

अनित्याक्षरणससारैकत्वान्यत्वाशुचित्वाल्लवसवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाध्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा

२ प्रथमरतिप्रकरण ८।१४६, १५०

भावयितव्यमनित्यत्वमक्षरणत्व तत्त्वैकतान्यत्वे ।

अशुचित्व ससार कर्मास्त्रिवसवरविषिद्वय ॥

निर्जरणलोकविस्तर-धर्मस्वाध्यातत्त्वचिन्ताश्च ।

बोधे सुदुर्लभत्व च भावना द्वादश विशुद्धा ॥

३ मूलाचार ८।२

अद्भुतमसरणमेगत्तमणससारलोगममुचित्त ।

आसन्नवसवरणिज्जर धम्म बोधि च चित्तेज्जा ॥

४ बृहद्ब्रह्म संग्रह ३५ (वृत्ति)

अध्रुवाक्षरणससारैकत्वान्यत्वाशुचित्वाल्लवसवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मानुचिन्तनमनुप्रेक्षा

५ यशस्तिलकचम्पू २।१०५-१५७

- (१) अनित्य
(२) अशरण
(३) ममार
(४) एकत्व
(५) अन्यत्व
(६) अगुचि

- (७) आलव
(८) सवर
(९) लोक
(१०) निर्जरा
(११) धर्म
(१२) बोधिदुर्लभ

विक्रम की बारहवीं शताब्दी में आचार्य शुभचन्द्र हुए। उन्होंने योग के विभिन्न पहलुओं, बारह भावना, पाच महेश्वर, कपायविजय, ज्ञानन, प्राणायाम, आत्राविचय, विषाकविचय, नम्यान, पिण्डम्य, पदम्य, रूपम्य, शुक्लध्यान आदि पर विचार में प्रकाश डाला है। ज्ञानार्णव इन विषय में उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें भी भावनाविषयक वर्गीकरण में क्रमबद्ध है। वह इस प्रकार है^१ —

- (१) अनित्य
(२) अशरण
(३) ममार
(४) एकत्व
(५) अन्यत्व
(६) अगुचि

- (७) आलव
(८) सवर
(९) निर्जरा
(१०) धर्म
(११) लोक
(१२) बोधिदुर्लभ

इसी शताब्दी के लगभग स्वामी कार्तिकेय ने “कार्तिकेयानुप्रेक्षा” ग्रन्थ की रचना की। इसमें केवल भावनाओं का ही संविस्तार वर्णन है जो ठीक तत्त्वार्थनूत्र के अनुरूप है।^२

विक्रम की इसी शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र हुए। उन्होंने योग विषय पर “योगशास्त्र” नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें भी बारह भावनाओं का एक वर्गीकरण है जो “ज्ञानार्णव” के अनुरूप ही है।^३

विक्रम की मध्यहवीं शताब्दी में उपाध्याय विनयविजयजी ने “शान्तमुधारस” की रचना की। यह संस्कृत भाषा का एक उत्कृष्ट संगीत-काव्य है। इसमें सोलह भावनाओं पर विविध रागनियो में सोलह गीतिकाएँ हैं। इस काव्य में बारह भावनाओं का वर्गीकरण ठीक ज्ञानार्णव या योगशास्त्र के अनुरूप है।^४

१ ज्ञानार्णव २

२ कार्तिकेयानुप्रेक्षा २-३

अद्भुतसरणमणिया ससारामेगमणममुदत्त ।

आसव-सवर-णामा णिज्जर-लोयानुपेहाओ ॥

इय जाणिऊण नावह दुल्लह-धम्मणु भावणा णिच्च ।

मण-वय-काय-शुद्धी एवा दस दोय मणिया हु ॥

३ योगशास्त्र ४।५५, ५६

सा स्यान्निर्ममत्वेन तत्कृते भावना श्रयेत् ।

अनित्यतामशरण भवमेकत्वमन्यताम् ॥

अशोचमाश्रयविधि सवर कर्मनिर्जराम् ।

धर्मस्वात्पातता लोक द्वादशीं बोधिभावनाम् ॥

४ शान्तमुधारस १।७, ८ (श्लोक)

अनित्यताशरणते भवमेकत्वमन्यताम् ।

अशोचमाश्रय चात्मन् । सवर परिभाषय ॥





विक्रम की द्व्यंशसंगी शताब्दी में आचार्यश्री तुलसी ने योगविषयक “मनोनुशासन” ग्रन्थ का प्रणयन किया। इसमें वारह भावनाओं का वर्गीकरण है जो ठीक “शान्तमुधारम” से मिलता है।^१

इस विषय पर आज तक जो ग्रन्थ लिखे गए उनमें से कुछ एक वा ऊपर उल्लेख किया गया है। प्रश्न होता है—वारह भावनाओं में यह क्रमभेद क्यों है? इसका स्पष्ट और निश्चित समाधान तो नहीं मिल पाता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आगमों में वारह भावनाओं का वर्गीकरण न होना ही इसका मूल कारण है। वारह भावनाओं का जो प्रकीर्ण रूप आगमों में मिला, उसे उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी स्वतन्त्र दृष्टि से वर्गीकृत किया। आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति, सोमदेव सूरि, शुभचन्द्र आदि ने जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया, उनके बीच मैकड़ों ग्रन्थों का अन्तर्ग है। सम्भव उत्तरवर्ती आचार्यों ने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किए गए वर्गीकरणों को न देखा हो अथवा आगमोक्त न होने से अपने स्वतन्त्र वर्गीकरण किए हो।

आचार्य कुन्दकुन्द और श्रीमद्वट्टकेर में लगभग तीन शताब्दी का अन्तर होते हुए भी भावनाओं के वर्गीकरण में एकरूपता है। आचार्य कुन्दकुन्द जैन परम्परा में एक सुप्रसिद्ध आचार्य हैं। भावनाविषयक वर्गीकरण भी सर्वप्रथम उन्होंने ही किया है। अतः समझ है कि श्रीमद्वट्टकेर ने मूलाचार में भावनाविषयक वर्गीकरण के लिए कुन्द-कुन्द का ही प्रमाण माना है।

उमास्वाति, नेमिचन्द्र और स्वामीकातिकेय में काल का व्यवधान अधिक होते हुए भी भावनाओं के वर्गीकरणों में समरूपता है। तत्त्वार्थसूत्र के अध्ययन-अध्यापन का काम जैन परम्परा में बहुत प्राचीन है। जैनदर्शन में प्रवेश पाने के लिए उसे द्वार के रूप में माना जाता है। यद्यपि आचार्य नेमिचन्द्र और स्वामी कातिकेय ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी तत्त्वार्थसूत्र या उमास्वाति का उल्लेख नहीं किया है किन्तु सम्भव है, उन्होंने इसका आधार तत्त्वार्थसूत्र में ही लिया हो। इसमें असंगति भी नहीं लगती क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द की “वारह अणुवेक्का” उतनी प्रसिद्ध नहीं है जितना कि तत्त्वार्थसूत्र। और यह पहले कहा जा चुका है कि उमास्वाति और नेमिचन्द्र व कातिकेय में लगभग आठ-नी शताब्दियों का कालान्तर था। प्रश्न होता है कि उमास्वाति ने ही अपने दो ग्रन्थों में दो प्रकार के वर्गीकरण क्यों किए? इसके समाधान में तो यही कहना अधिक उपयुक्त होगा कि तत्त्वार्थ की रचना सूत्ररूप में है और प्रदामरति प्रकरण पद्यात्मक है। सम्भव है प्रदामरति प्रकरण में छन्दोमय के भय से उन्होंने क्रमभेद किया हो। तत्त्वार्थसूत्र की रचना पहले हो चुकी थी अतः बाद में उसमें परिवर्तन संभव न हुआ हो। परिवर्तन का अधिक आग्रह भी नहीं रहा होगा क्योंकि यह पहले स्पष्ट हो चुका कि वारह भावनाओं का कोई एक निश्चित वर्गीकरण आगमों में नहीं मिलता है। उत्तरवर्ती माहित्य में तो केवल उसका प्रकीर्ण रूप ही सङ्गृहीत है।

आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय विनयविजय और आचार्य तुलसी द्वारा किए गए वर्गीकरणों में एकरूपता है। इसका कारण यह हो सकता है कि आचार्य हेमचन्द्र का योगशारंग आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव से बहुत प्रभावित है। ज्ञानार्णव का अध्ययन करने के पश्चात् यदि योगशास्त्र पढ़ा जाए तो यह महसूस होगा कि सम्पूर्ण योगशास्त्र पर ज्ञानार्णव छाया हुआ है। ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ शब्दसाम्य और उचितसाम्य के साथ-साथ उदाहरण और अनुप्रास में भी साम्य है। श्रीगोपालदास पटेल ने लिखा है—“दोनों ग्रन्थों का विषय निरूपण देखते हुए ऐसा ही लगता है कि हेमाचार्य का योगशास्त्र बहुत व्यवस्थित और संक्षिप्त है। जबकि ज्ञानार्णव शास्त्रग्रन्थ की अपेक्षा उपदेश-ग्रन्थ अधिक है और इस कारण उसका निरूपण जरा शिथिल है। अर्थात् ज्ञानार्णव को ही अधिक व्यवस्थित

कर्मणो निर्जरा धर्मसुकृता लोकपद्धतिम् ।

बोधिदुर्लभतामेतां भावयन् मुच्यसे भवात् ॥

३ मनोनुशासन ३।२२

अनित्याशरणभवेकत्वान्यत्वाशीचास्त्रवसरनिर्जराधर्मलोकसस्यानबोधिदुर्लभता ।

और मक्षिप्त नरके योगनाम्न रचा गया हागा, ऐसा जान पटना है ।^१

इस अमिमत को और दृष्ट करते हुए श्री पटेल ने अपने उपोद्धान^२ में लिखा है—

“हेमचन्द्राचार्य के अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों के विषय में भी उनके समय में नूतन आक्षेप किए गए थे कि इनमें तुम्हांग नया क्या है ? इस आक्षेप का जवाब उन्होंने ‘प्रमाणसीमाया’ के प्रारम्भ में इस प्रकार दिया है—“पाणिनि, पिगल, नाद, अक्षपाद आदि आचार्यों ने जब अपने व्याकरणादि सूत्र लिखे तब उनके पहले उन-उन विषय के दूसरे नूतन थे ही । तो फिर उनका भी तुम किमत्रिण उन सूत्रों के उत्तरा कहते हो ? वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि ये सभी विद्याएं अनादि हैं पन्तु उनका मक्षेप किया जाना है या विस्मरण किया जाना है । इस अपेक्षा से वे नई-नई होती हैं और तब उन लोगों को उनका उत्तरा कहा जाना है ।”^३ इस उत्तर में यह मालीभाति प्रमाणित होता है कि उनके कुछ ग्रन्थ पूर्वग्रन्थों के मुख्यवस्थित मक्षेप-विस्मरण रूप हैं और इसमें वे कोई दोष नहीं समझते । अब योगनाम्न को भी जानागंव का मक्षेप, कण या अनुकरण कहा जाय तो कोई जाचचर्च नहीं होगा । ग्रन्थनाम्न के साथ ही भावनाविषयक वर्गीकरण में भी नाम्य सम्भव है ।

आचार्य हेमचन्द्र का उल्लेख जैन परम्परा में दिग्गज विद्वानों की कोटि में होता है । दर्शन, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, काव्य आदि विभिन्न विषयों में उनकी रेखनी या अमदिग्य और अप्रतिहत प्रभाव मिलता है । इसी प्रभाव के कारण सम्भव है उगाध्याय विनयविजयजी ने अपने भावनाविषयक वर्गीकरण में उनका अनुसरण किया हो ।

उगाध्याय विनयविजयजी द्वारा प्रणीत “शान्तमुद्राङ्ग” सम्बन्ध भाषा का सुमधुर गेय काव्य है । श्रमण-परम्परा में उसके कण्ठीकरण श्री पुनरावर्तन का एक अनूठा रूप है । अविकाश दीक्ष इमे कण्ठस्थ करते हैं । इसका मङ्गल आध्याय आत्मप्रवेष्टी के लिए अत्यन्त प्रेरक होता है । इस काव्य का अत्यधिक प्रचलन होने के कारण ही मनोनु-धानन में भावनाविषयक वर्गीकरण के लिए आचार्यश्री तुम्ही ने इसका आधार लिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं । मनोनुधानन योगविषयक मध्य प्रणीत ग्रन्थ है । अब इसके पश्चात् भावना विषयक अन्य वर्गीकरण उपलब्ध नहीं होता ।

बारे भावनाओं के वर्गीकरणों में अभेद होने हुए भी आर्योद्दिष्टि ने उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है । आगमों में उनका प्रकीर्ण रूप इस प्रकार है—

अनित्य भावना

घोर पुष्प को मुहूर्त भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए । अवस्था बीती जा रही है । जीवन चला जा रहा है । रात्रियां बीटी जा रही हैं । मनुष्यों के भोग भी नित्य नहीं हैं । वे मनुष्य को प्राप्त कर उसे बँसे ही छोड़ देते हैं, जैसे क्षीण-पत्र बाने वृक्ष को पक्षी ।^४

१ योगशास्त्र (गुजराती) का उपोद्घात पृ० ४० ।

२ योगशास्त्र (गुजराती) का उपोद्घात पृ० ७ ।

३ प्रमाणसीमाया

पाणिनि-पिगल-कणादाक्षपादादिन्योऽपि पूर्वं कानि किमीयानि वा व्याकरणादिसूत्राणोत्प्रेदपि पर्यनुयुङ्क्ष्व । अनादय एवता विद्या मक्षेपविस्तरविवक्षया नवमवीनवन्ति तत्तत्कर्तृकाश्च उच्यन्ते ।

४ आचाराग १।२।१।१०-१२

इच्छेव समुद्रादृष्टो अहो विहाग । अतर च खलु इम मपहाए घोरे मुहूर्तमवि गोपमाय । बओ अच्चेइ जोव्वण व । उत्तराध्ययन १३-३१

अच्चेइ कान्नी तूरन्नि राइओ न यावि नोगा पुरियाण निच्छा ।

उविच्च नोगा पुग्गि चयन्ति इम जहा लीणफल व पक्खी ॥





अशरण भावना

सगे-सबन्धी त्राण नहीं है। जब मैं अपने द्वारा किए गए कर्मों से छेदा जाता हूँ तब माता, पिता, पुत्र, वधू, भ्राता, पत्नी और औरस पुत्र ये सभी मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते।^१

ससार भावना

इस जन्म-मरण के चक्र में सुख नहीं है। मैंने सभी जन्मों में दुःखमय वेदना का अनुभव किया है। कहीं निमिष मात्र भी सुख नहीं है।^२

एकत्व भावना

आदमी अकेला जन्मता है और अकेला मरता है। उसकी मज्जा, विज्ञान, और वेदना भी व्यक्तिगत होती है। स्त्रिया, पुत्र, मित्र और बान्धव जीवित व्यक्ति के साथ जीते हैं, किन्तु वे मृत के पीछे नहीं दौड़ते। पुत्र अपने पिता को बड़े दुःख के साथ दमशान ले जाते हैं और इसी प्रकार पिता भी अपने पुत्रों को और बन्धुओं को दमशान ले जाता है।^३

अन्यत्व भावना

काम-भोग मुझ से भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूँ। पदार्थ मुझसे भिन्न है और मैं उनसे भिन्न हूँ।^४

अशीघ्र भावना

यह शरीर अपवित्र है, पित्त, फोड़ा, फुन्सी, हैजा और विविध प्रकार के क्रीमघाती रोग इस शरीर का स्पर्श

१ आचाराग १।२।१।२०-२१

जोहि वा सौंदि सवसति ते वा ण एगया गियगा त पुंवि परिहरति । सो वा ते गियगे पच्छा परिहरेज्जा । नाल ते तव ताणाए वा, सरणाए वा । तुमपि तेसि नाल ताणाए वा सरणाए वा ।

उत्तराध्ययन ६-३

माया पिया ण्हसा माया भज्जा पुत्ता य ओरसा ।

नाल ते मम ताणाय लुप्पन्तस्स सकम्मुणा ॥

२ उत्तराध्ययन १६-७४

सव्वभवेसु अस्साया वेयणा वेइया मए ।

निमेषन्तरमित्तिपि ज साया नत्थि वेयणा ॥

३ सूत्रकृताग २

अन्नस्स दुवल अन्नो न परियाइयइ अन्नेण कळ अन्नो न पडिसवेदेइ पत्तेय जायइ पत्तेय भरइ पत्तेय चयइ पत्तेय उववज्जइ पत्तेय ज्ञप्ता पत्तेय सन्ना पत्तेय मन्ना एव विन्तू वेयणा ।

उत्तराध्ययन १८।१४-१५

दाराणि य सुया चैव मित्ता य तह वग्घवा । जीवन्तमणुजीवन्ति, मय नाणुव्वयन्ति व ॥

नीहरन्ति मय पुत्ता पियर परम दुक्खिया । पियरो चि तहा पुत्ते, वग्घ राय तव चरे ॥

४ सूत्रकृताग २।१।१३

पुरिसे वा एगया पुंवि कामभोगे विप्पजहइ, कामभोगा वा एगया पुंवि पुरिस विप्पजहन्ति । अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमसि ।

करते हैं, जिनमें यह गरीब शक्तिहीन और विनष्ट हो जाता है ।^१

आलस्य भावना

आलस्य कर्म-बन्धन का हेतु है । ये हेतु ऊपर भी है, नीचे भी हैं और मध्य में भी है ।^२

संवर भावना

नाले को बन्द कर देने में जिस प्रकार ताजाव में पानी आना रुक जाता है उसी प्रकार समभाव की साधना में मावद्य योग की विवृति होती है । प्राण-उद्य, श्रुतावाद, अदत्त ग्रहण, मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन में विरत जीव अनालस्य होता है । पाच समितियों से नमिन, तीन गुणों से गुण, अकपाय, जितेन्द्रिय, अगौरव (गर्व रहित) और निःशय जीव अनालस्य होता है ।^३

निर्जरा भावना

तालाब में भरे हुए जल को उलीच-उलीच कर बाहर निकाल देने में जिस प्रकार महातालाब सूख जाता है, उसी प्रकार पूर्व नचित कर्मों को तपस्या द्वारा निर्जोर्ण करने पर आत्मा कर्ममुक्त बन जाती है ।^४

लोक भावना

जो लोकदर्शी है, वह लोक के अधोभाग को भी जानता है, ऊर्ध्व भाग को भी जानता है और तिर्यग् भाग को भी जानता है ।^५

बोधिदुर्लभ भावना

लोगों ! क्यों नहीं जाग रहे हो ! जीवन बीता जा रहा है । इस संसार में प्राणियों के लिए चार परम अग

१ उत्तराध्ययन १०-७

अर्द्धं गण्ड विसृज्या आयका विविहा फुसति ते ।
निवड्डं चिद्धसङ्गं ते सरीय समय गोयन । मा पमायए ॥

२ आचाराग १।५।६।११७

उट्ठ सोता अहे सोता, निरिय सोता वियाहिया ।
एते सोया विषक्खाया जेहि सगति पासहा ॥

३ उत्तराध्ययन ३०।२-३

पाणवहुमुसावाया अवत्तमेहणपरिगहा विरओ ।
राईभोयणविरओ जीवो भवई अणासवो ॥
पच समिओ तिगुत्तो अकसावो जिह्णन्दिओ ।
अगारवो य निस्तल्लो जीवो होई अणासवो ॥

४. उत्तराध्ययन ३०।५-६

जहा महातलायस्य सन्निरुद्धे जलागमे ।
उत्सिचणाए तवणाए कमेण सोसणा भवे ॥
एव तु सजयस्सावि पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडोसचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जइ ॥

५ आचाराग १।२।५-१२५

आययचक्खु लोगविपस्ती-लोगस्स अहोभाग जाणइ, उट्ठ भाग जाणइ, तिरिय भाग जाणइ ।



दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और समय मे पराक्रम ।^१

धर्म भावना

धर्म जीवन का पाथेय है। यात्री के पास पाथेय होने से उसकी यात्रा सुखपूर्वक संपन्न होती है। इसी प्रकार जिसके पास धर्म का पाथेय होता है, उसकी जीवन-यात्राएँ सुख से सम्पन्न होती हैं।^२

अनित्य, अशुचि आदि शब्दों का प्रयोग महर्षि पतञ्जलि ने भी अपने योगदर्शन में किया है।^३ वेद, पुराण और उपनिषदों में इन शब्दों का पूर्णतः अभाव है। उत्तरवर्ती ग्रन्थों में इस प्रकार के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया है जो वैदिक साहित्य के पारिभाषिक शब्दों से भिन्न हैं और श्रमणों के पारिभाषिक शब्दों से अभिन्न हैं। इससे यह फलित होता है कि पतञ्जलि की दृष्टि में श्रमणों की साधना-पद्धति प्रतिविम्बित थी। पातञ्जल योगदर्शन का रचनाकाल जैन आगमों में उत्तरवर्ती है। मौर्य साम्राज्य का अस्तित्व ई० पू० ३२२ से ई० पू० १८५ तक माना जाता है। मौर्य वंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था। वह ई० पू० १८५ में अपने सेनापति पुष्यमित्र द्वारा मारा गया। महर्षि पातञ्जलि पुष्यमित्र के समकालीन थे। इस तथ्य के आधार पर उनका अस्तित्वकाल ई० पू० दूसरी शताब्दी है। उत्तराध्ययनसूत्र (जिसमें भगवान् महावीर की अन्तिम वाणी का सकलन है) इससे पूर्ववर्ती है। अतः यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ग्रन्थों पर जैन आगम साहित्य का प्रभाव रहा है।

तत्त्वार्थसूत्र में चार भावनाओं का जो एक और वर्गीकरण मिलता है उसका आगमों में प्रकीर्ण रूप इस प्रकार है—

मैत्री भावना

सब जीव मेरे मित्र हैं। इस प्रकार सबके साथ मैत्री का चिन्तन करना मैत्री अनुप्रेक्षा है।^४

१ सूत्रकृताग १।१।२-१

सबुज्जह किं न बुज्जह समोही एतु पेच्च दुल्लहा ।
नो हूवणमन्ति राइओ नो सुलभ पुणरामि जीविय ॥

उत्तराध्ययन ३।१

चत्तारि परमगाणि दुल्लाहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्त सुई सद्धा सजममि थ वोरिय ॥

२ उत्तराध्ययन १६।१८-२१

अद्धाण जो महन्त तु अपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होइ छुहातण्हाए पीडिओ ॥
एव धम्म अकाऊण जो गच्छइ पर भव ।
गच्छन्तो सो दुही होइ वाही-रोगेहि पीडिओ ॥
अद्धाण जो महन्त तु सपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ छुहातण्हाविवज्जिओ ॥
एव धम्म पि काऊण जो गच्छइ पर भव ।
गच्छन्तो सो सुही होइ अप्पकम्मे अवयेणे ॥

३ पातञ्जल योगसूत्र २।५

अनित्याशुचिद्रु खानात्मसु-नित्यशुचिसुखात्मस्यातिरविद्या ।

४ उत्तराध्ययन ६।२

मेतं भूएसु कप्पए

प्रमोद भावना

तुम्हारा आर्जव आश्चर्यकारी है और आश्चर्यकारी है तुम्हारा मादव । उत्तम है तुम्हारी क्रिया और उनमें है तुम्हारी मुक्ति ।^१

कारण भावना

वन्दन में मुक्ति का प्रयत्न और चिन्तन ।^२

साधनमय भावना

मनजाने बुझाने पर भी नामने ब्राह्मण व्यक्ति दोष का त्याग न करे, उस स्थिति में उन्नेजित न होना, किन्तु योग्यता की दिव्यता का चिन्तन करना ।^३

अर्थात् पञ्चविंशति ने भी अपने जोरदर्शन में चार भावनाओं का एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जो ठीक उपासक वर्गीकरण में मिलता है ।^४ पञ्चविंशति ने इसे वित्तप्रसादन और निर्मलता का हेतु माना है ।

चार अन्य भावनाओं का एक वर्गीकरण ध्यानशनक में उल्लेख होना है ।^५ इनके द्वारा पूर्वाभ्यास करने पर मात्रक ध्यान की योग्यता प्राप्त कर सकता है । विन्दन की पाँचवीं शताब्दी में आचार्य भद्रबाहु ने ध्यानशनक की रचना की । इसी प्रकार का एक वर्गीकरण आदिपुराण में मिलता है ।^६ विन्दन की नवमी शताब्दी में आचार्य जिनमेन ने इसकी रचना की । वह इस प्रकार है—

- (१) ज्ञान भावना
- (२) दर्शन भावना
- (३) चारित्र्य भावना
- (४) वैराग्य भावना

१ उत्तराज्ययन ६।४।३

अहो ते अज्जव साहु अहो ते साहु महव ।
अहो ते उत्तमा खन्ती अहो ते मुत्ति उत्तमा ॥

२ उत्तराज्ययन १३।१६

तीसे य जाईइ उ पाविषाए बुद्ध्यामु सोबागनिवेमणेमु ।
सव्वम्म लोणस्त दुर्गणज्जा इह तु कम्माइ पुरेकडाइ ॥

३ उत्तराज्ययन १३।२३

न तुज्ज भोगे चइऊण बुद्धी गिद्धो नि आरनपरिगहेसु ।
मोह कओ एत्तिउ विप्पलाओ गच्छामि राय आमन्तिओसि ॥

४ पानजलयोगसूत्र १।३३

संश्लेषणमुदिनोपेक्षाया सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

५ ध्यानशनक ३०

पुष्पवन्दनो भावणाहि ज्ञानस्त जोगयमुवेइ ।
ताओ य नाण-दमण-चरित्त-वेरग जणियाओ ॥

६ आदिपुराण २१।६५

भावनानिस्तम्रदो मुनिध्यानस्थिरो भवेत् ।
ज्ञानदर्शनचारित्र-वैराग्योपगताश्च ता ॥





ज्ञान भावना

इससे मन का धारण-अशुभ व्यापार का निरोध और शोधन होता है इस प्रकार सुस्थिर मति में तत्वातत्त्व के विवेकपूर्वक यह ध्यान में योगभूत होती है। श्वाभ्यो का अध्ययन, जिज्ञासा, पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन, कण्ठीकरण तथा धर्मापदेश ये सब ज्ञान भावना के प्रकार हैं।^१

दर्शन भावना

इससे दर्शन की विशुद्धि होती है। भका, काक्षा आदि दोष दूर होते हैं। प्रशम और स्थैर्य गुणों की प्राप्ति होती है व चित्त अन्नात होता है। सवेग, अमूढता, अगर्व, अनुकम्पा, आदि इसके प्रकार हैं।^२

चारित्र्य भावना

इसमें नए कर्मों का अनादान-अग्रहण, पुराने कर्मों का निर्जरण और शुभ का ग्रहण होता है। इसमें ध्यान सुलभता में होता है। पाच समिति और तीन गुप्ति का पालन तथा परीपहो को महना इस के प्रकार हैं।^३

वैराग्य भावना

इसमें व्यक्ति जगत के स्वभाव को जान लेता है। तथा निस्मग, निर्भय और आगसारहित होकर ध्यान में सुस्थिर होता है।^४

१ ध्यानशतक ३१

नाणे निच्चवन्नासो कुण्ह मणो धारण विसुद्धिं च ।
नाणगुणमुणियसारी तो ज्ञाह मुनिच्चलमईओ ॥

आदिपुराण २१-६६

वाचनापृच्छने मानुप्रेक्षण परिवर्तनम् ।
सद्धर्मदर्शनं चेति ज्ञातव्या ज्ञानभावना ॥

२ ध्यानशतक ३२

सकाइदोसरहिओ पसस्येज्जाइ गुणगणोवेओ ।
होइ असमूढमणो वसणसुद्धोए ज्ञाणमि ॥

आदिपुराण २१-६७

सवेगप्रशमस्थैर्यमसमूढत्वमस्मय । आस्तिक्यमनुकम्पेति ज्ञेया सम्यक्त्वभावना ॥

३ ध्यानशतक ३३

नवकम्मणायाण पोरणविणिज्जर सुभायाण ।
चारित्तभावणाए ज्ञाणमपत्तेण य समेइ ॥

आदिपुराण २१-६८

ईर्ष्याद्विषया यत्ना मनोवाक्कायगुप्तयः ।
परीपहसहिष्णुत्वमिति चारित्र्यभावना ॥

४ ध्यानशतक ३४

सुविदियजगत्सभावो निस्सगो निव्वओ निरासो य ।
वेरगभावियमणो ज्ञाणमि मुनिच्चलो होई ॥

आदिपुराण २१-६९

विषयेष्वनभिष्वग कायतत्त्वानुचिन्तनम् ।
जगत्स्वभावचिन्तेति वैराग्यस्थैर्यभावना ॥

आचार्य जिननेन ने इन चारों भावनाओं को मुनि के लिए ज्ञान और चारित्र्य की सम्पदा में स्थिरीकरण का हेतु माना है ।^१

माघक मुमुक्षु कैवल्य प्राप्ति के लिए माधना करता है । विभिन्न प्रकार की तपस्या और भावना से आत्मा को भावित करना हुआ वह क्रमशः अपने गन्तव्य के प्रति गतिशील होता है । प्रतिमा (कायोत्मर्ग की विशेष विधि) व जिनकल्प (माधना की उत्कृष्ट विधि) को स्वीकार करने वाले भिक्षु के लिए पाच भावनाएँ हैं ।^२

- (१) तप भावना
- (२) सत्त्व भावना
- (३) सूय भावना
- (४) एतत्त्व भावना
- (५) वज्र भावना

भिक्षु इन भावनाओं में अपनी आत्मा को भावित करना है । ये पाच भावनाएँ पाच तुलाओं के तुल्य हैं । इनसे अपनी आत्मा को तोल कर ही वह प्रतिमा या जिनकल्प स्वीकार करता है ।

तप भावना

इसमें क्षुधा पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है ।^३ वह परम माघक क्षुधा पर विजय प्राप्त करता हुआ इनका अभ्यास कर लेता है कि छ महीनों तक कुछ न खाने पर भी भूख में पीड़ित नहीं होता । उसका मन आर्त नहीं होता और शरीर में भी शक्ति उत्पन्न नहीं होती ।^४

सत्त्व भावना

इसमें भय और निद्रा पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है ।^५ इसके क्रमिक अभ्यास के लिए मुनि उपाध्यय, उसके बाह्य भाग, चतुर्ग, द्रव्यगृह और ध्यमान इन पाच स्थानों में कायोत्मर्ग करता है ।^६

रात्रि के समय जब सब साधु सो जाते हैं तब मुनि अकेला उठ कर निद्रा और भय पर विजय पाने के लिए

१ आदिपुराण २:१:१००

एव भावयतो ह्यस्य ज्ञानचर्याविसर्पदि ।
तत्त्वज्ञस्य विरागस्य भवेदव्यग्रता धिय ॥

२ मनोनुशासन ७:१

तप सत्त्वमूर्त्रैकत्वबलभेदात् पञ्चभा भावना प्रतिमा जिनकल्प वा प्रतिपद्यमानस्य ॥

३ मनोनुशासन ७:२

तपसा क्षुधाजय

४ मनोनुशासन ७:३

पण्मासयावद् न वाध्यते क्षुधया ॥

५ मनोनुशासन ७:४

सत्त्वभावनया नय निद्राश्च पराजयते ॥

६ मनोनुशासन ७:५

उपाश्रयतद्वहिश्चतुष्कशून्यगृहदमशानेप्विति स्थानभेदात्पञ्चया ॥





उपाश्रय मे कायोत्सर्ग करना है—यह पहली महा भाषणा है ।^१

पहला अभ्यास परिपाय होने पर उपाश्रय मे प्राप्ति होने का ज्ञान मे कायोत्सर्ग करना दूसरी महा भाषणा है ।^२

उस प्रकार अभ्यास का परिपाय प्राप्त होने पर जब मूर्ति चीगा, मूर्ति पर उद्भवात्त मे कायोत्सर्ग करने का ज्ञान है यह तमस नीमरी, चोनी और पात में गहरा भावना है ।^३

सूत्र भावना

उपमे समय ता ज्ञान होता है ।^४ सूत्र के परात्मन (स्मरण) के अनुसार बाल के रूप में ता ज्ञान हो जाय, उस प्रकार मूर्ति का परिचित करने का अभ्यास किया जाता है । उद्भवात्तयाग की भाषा में पाथ उनका उच्चारण होता है ।^५

एकत्व भावना

उपमे देह और उद्भवात्तों मे अती आत्मा को निम्न रूप में मानि पर निर्वैतना का अभ्यास किया जाता है ।^६

बल भावना

उपमे परीपहों पर निम्न प्राप्ति की जाती है ।^७ बल का प्रसरण का होता है - शारीरिक और मानसिक ।^८ इन दोनों प्रकार के बलों द्वारा मोक्ष प्राप्त करना परिचित किया जाता है, जिसमें मूर्ति परीपहों व उद्भवात्तों के उद्भवात्त होने पर भी निर्वैतन नहीं होता ।^९

१ मनोनुशासन ७।६

राश्री मुत्तेषु सत्यसाधुषु नयनिद्राजयार्थमुपाश्रय एव कायोत्सर्गकरण प्रथमा ॥

२ मनोनुशासन ७।७

पथचिह्नमुपाश्रयाद् बहिस्तयापामोत्सर्गकरण द्वितीया ॥

३ मनोनुशासन ७।८

चतुष्कक्ष्ण्यगृहसमक्षानेषु कायोत्सर्गकरण परा ॥

४ मनोनुशासन ७।९

सूत्रभावनाया कालज्ञानम् ॥

५ मनोनुशासन ७।१०

सूत्रपरावर्तनानुसारेण उच्छ्वासप्राणादय सत्य कालभेदा व्यवहता ह्युत्तया सूत्रपरिचय ।

६ मनोनुशासन ७।११

एकत्वभावनाया देहोपकरणादिभ्यो निम्नमात्मान भावयन् नवति निरभिधाय ॥

७ मनोनुशासन ७।१२

बलभावनाया परीपहानां जय ॥

८ मनोनुशासन ७।१३

- बल शारीर मानस च ॥

९ मनोनुशासन ७।१४

तत्र मानस तथा परिवर्धित यथा परीपहैरुपसर्गकंच नोत्पद्यते वाया ॥

प्रनिम्नायक व जिनकल्या मूनि इन भावनाओं से अपने आपको पूर्णतः भावित करते हैं। किन्तु यथाशक्ति हमारे भिक्षु व गृहस्थ भी अपने आपको भावित कर सकें हें।^१

इस प्रकार भावना विषयक विभिन्न वर्गीकरण हमें उपलब्ध होने हैं। आगम तथा उत्तरवर्ती ग्रंथों में संक्षिप्त भावनाओं व भी एक वर्गीकरण है किन्तु यहाँ केवल अमूर्त भावनाओं का ही कथन किया गया है। क्योंकि अमूर्त भावना-योग ही मुक्ति का मार्ग है।



पर्याप्ति-योग

मुनिश्री नथमलजी (निकाय-सचिव)



जैन तत्त्व-विद्या के अनुसार हमारे जीवन के छह शक्ति-स्रोत (पर्याप्तियाँ) और दस शक्ति-केन्द्र (प्राण) हैं।

छह शक्ति-स्रोत

- १, आहार पर्याप्ति
- २ शरीर पर्याप्ति
- ३ इन्द्रिय पर्याप्ति
- ४ द्वासोच्छ्वास पर्याप्ति
- ५ भाषा पर्याप्ति
- ६ मन पर्याप्ति

दस शक्ति-केन्द्र

- | | |
|-------------------------|-----------------------|
| १ श्रोत्रेन्द्रिय प्राण | ६ मनोबल-प्राण |
| २ चक्षु इन्द्रिय प्राण | ७ वचनबल-प्राण |
| ३ घ्राणेन्द्रिय प्राण | ८ कायबल-प्राण |
| ४ रसनेन्द्रिय प्राण | ९ द्वासोच्छ्वास प्राण |
| ५ स्पर्शनेन्द्रिय प्राण | १० आयुष्य प्राण |

इनमें परस्पर कार्य-कारण का भाव प्रतीत होता है। शक्ति-स्रोत कारण हैं और शक्ति-केन्द्र उनके कार्य हैं। सख्याविस्तार को संक्षेप में लाने पर दोनों की सख्या समान हो जाती है।

शक्ति-स्रोत

आहार पर्याप्ति
शरीर पर्याप्ति
इन्द्रिय पर्याप्ति
द्वासोच्छ्वास पर्याप्ति
भाषा पर्याप्ति
मन पर्याप्ति

शक्ति-केन्द्र

आयुष्य प्राण
कायबल-प्राण
इन्द्रिय-प्राण
द्वासोच्छ्वास-प्राण
वचनबल-प्राण
मनोबल-प्राण

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र न तो चेतन की विशुद्ध अवस्था में होते हैं और न अचेतन में होते हैं। ये चेतन और अचेतन के संयोग में उत्पन्न होते हैं। हम जितने प्राणी हैं, वे सब चेतन और अचेतन (पुद्गल) के संयोग की अवस्था में हैं। हमारे विशुद्ध चैतन्य का उदय नहीं हुआ है, इसलिए हम केवल चैतन्य की भूमिका में अवस्थित नहीं

हैं। हम अनुभव-शक्ति व ज्ञान-शक्ति में सम्मग्न हैं, इसलिए हम केवल अचेतन की भूमिका में भी नहीं हैं। हम चैतन्य और अचैतन्य की सम्यक् भूमिका में हैं।

ये शक्ति-ज्ञान और शक्ति-केन्द्र ही जीव और निर्जीव तत्व के बीच व्यावर्तक (भेद डालने वाले) हैं। जिन में आहार करने, शरीर-रचना, इन्द्रिय-रचना व ज्ञान लेने की शक्ति है वे जीव हैं और जिनमें ये शक्तियाँ नहीं हैं, वे निर्जीव हैं।

माया-शक्ति व चिन्मय-शक्ति जीव के उद्धार नहीं हैं, किन्तु वे विनाश-क्रम के अग्रिम मोड़ हैं।

ये शक्ति-ज्ञान जीवन के चारों ओर फैल जाते हैं। इनकी क्रियाशीलता ही प्राणी का जीवन है। प्रश्न होता है कि जीवन का माध्यम क्या है? जीवन का कोई एक निश्चित माध्यम है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। जीवन जय प्रयुक्त होता है, तब उसका माध्यम होता है मुक्ति। मुक्ति के दो साधन हैं—साधन और निरोध। विनाश में उनके बाह्य प्रसार हो जाते हैं—

- | | |
|-------------------|---------------------------------|
| १ आहार-शुद्धि | ७ द्वाभ्यांश्चक्षुःशुद्धि |
| २ आहार-निरोध | ८ द्वाभ्यांश्चक्षुःशुद्धि-निरोध |
| ३ शरीर-शुद्धि | ९ वाक्-शुद्धि |
| ४ शरीर-निरोध | १० वाक्-निरोध |
| ५ इन्द्रिय-शुद्धि | ११ मन-शुद्धि |
| ६ इन्द्रिय-निरोध | १२ मन-निरोध |

प्रथम भूमिका शरीर की है। शुद्धि जब अपने चरम बिन्दु पर पहुँच जाती है तब निरोध की भूमिका का प्रारम्भ हो जाता है।

आहार-शुद्धि के उपाय

- १ हिताहार
- २ मिनाहार
- ३ सात्त्विकाहार

हिताहार—जो आहार नम्रधातुओं को प्रकृति में स्थापित करता है और विषम धातुओं को सम करता है, उसका नाम हिताहार है। प्रकृति के अनुकूल भोजन करना, विरुद्ध वस्तुएँ न खाना, विकृत वस्तुएँ न खाना आदि-आदि।

मिनाहार—परिमित भोजन करना। भोजन की निश्चित मात्रा का निर्देश करना बठिन है। जितना खाने पर पच घण्टा बाद भी पेट पर भार न हो, पानी पीने पर पेट फटना न हो, वह मित-भोजन है।

सात्त्विकाहार—मादक व उत्तेजा वस्तुओं का वर्जन, शरीर, इन्द्रिय व मन की प्रसन्नता व लाभ में बाधा न पड़े वाला भोजन।

काय-शुद्धि के उपाय

राशोत्तम, आमन, मृदुगन्ध, उद्दीयानगन्ध, जाठरचरगन्ध, व्यायाम, प्राणायाम और निलोपता।

वायोत्मक का अर्थ है शरीर की चञ्चलता का विमर्जन। काय-शुद्धि के उपयुक्त आसनो का वर्णन आसन-प्रकरण में किया गया है।

जालधर—शुद्धी को कष्टरूप में स्थापित करने को जालधरगन्ध कहा जाता है।

सर्वांगामन, इलायन तथा मत्स्यामन की एक मुद्रा में यह अपन आप हो जाता है। मानसिक विकास के लिए यह उद्भूत उपयोगी है। हमने कण्ठमणि (थाटरायड गैण्ड) पर उचित दबाव पड़ना है। आधुनिक शरीर-शास्त्रियों





के अनुसार कण्ठमणि ही शरीर में खेत-ताप तथा प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष और आदि वृत्तियों को उत्पन्न करता है। यह हमारे शरीर की नियामक ग्रन्थि है। इस पर जालधरवन्ध के द्वारा हम नियंत्रण रख सकते हैं और अनेक उपयोगों रसों का लाभ कर सकते हैं।

ध्यायाम—हाथ, पैर या किसी भी अंगयव को इच्छानुसार सिकोड़ते हैं, फैलाते हैं, उसका नाम ध्यायाम है।

प्राणायाम—श्वास का सकोच और विस्तार। इसके ३ अंग हैं—(१) पूरक, (२) रेचक, (३) कुम्भक। श्वास भरने को पूरक, बाहर निकालने को रेचक और रोकने को कुम्भक कहा जाता है। श्वास बाहर रोका जाता है, उसे वहि कुम्भक और भीतर रोकता है, उसे अन्त कुम्भक कहा जाता है।

प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं किन्तु वायुमुद्रि के लिए सर्वाधिक उपयोगी और सर्वाधिक निर्दोष अनुलोम-विलोम प्राणायाम है।

अनुलोम-विलोम प्राणायाम—दाएँ हाथ के अंगूठे में दाएँ नथुने को बंदकर बाएँ नथुने में ध्याम लें और दाएँ नथुने से उमका रेचन करें। दाएँ हाथ की अनामिका और कनिष्ठा इन दो उंगलियों में बाएँ नथुने को बन्दकर बाएँ नथुने से श्वास लें और बाएँ नथुने से उसका रेचन करें। प्रारम्भ में ऐसी ८-१० आवृत्तियाँ की जा सकती हैं, फिर धीमे-धीमे ३० तक बढ़ाई जा सकती हैं।

प्राणायाम की कालमात्रा इस प्रकार होती है

पूरक	सोलह मात्रा
रेचक	बत्तीस मात्रा
कुम्भक	आठ मात्रा

सुकुम्भक अनुलोम-विलोम प्राणायाम—प्राणायाम की द्वितीय भूमिका में कुम्भक किया जाता चाहिए। कुम्भक का काल-मान ऊपर बताया गया है।

समूल-बन्ध अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया में अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ मूलबन्ध और जुड़ जाता है।

सोड्डीयान अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया में कुम्भक और मूलबन्ध सहित अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ उड्डीयानबन्ध और जुड़ जाता है।

निलेपता—विषयों की आसक्ति से शरीर की अशुद्धि होती है। विषय विकार के हेतु बनते हैं और विकार से कायिक दोष उत्पन्न होते हैं। अनासक्ति (निलेप) व्यक्ति सहज भाव में कायिक दोषों से बच जाता है।

इन्द्रियशुद्धि के उपाय—१ इन्द्रियों का सम्यक्-योग २ प्रतिसलीनता।

इन्द्रियों की प्रवृत्ति के तीन प्रकार हैं—अयोग, अतियोग और योग। इन्द्रियों की सर्वथा प्रवृत्ति न करना अयोग है। उनकी मर्यादा से अधिक प्रवृत्ति करना अतियोग है। ये दोनों इन्द्रिय-दोष उत्पन्न करते हैं। इन्द्रियों की उचित प्रवृत्ति करना योग है।

इन्द्रिया ज्ञान के साधन हैं। वे विषयों के प्रति व्यापृत होनी हैं, यह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह शक्य नहीं कि आग हो और वह रूप या वर्ण को न देखे। यह शक्य नहीं कि कान हो और वह शब्द न सुने। यह शक्य नहीं कि घ्राण हो और उसे गन्ध की अनुभूति न हो। यह शक्य नहीं कि रसना हो और उसे रस की अनुभूति न हो। यह शक्य नहीं कि स्पर्शन हो और उसे स्पर्श की अनुभूति न हो। इन्द्रियों के योग का सबब हमारे म्वास्थ्य में है, जबकि उनके सम्यक्-योग का सबब हमारी साधना से है। साधक को आख प्राप्त है, इसलिए वह रूप को देखता है

पर उमरे मात्र कल्पनाओं का बाग नहीं करता। स्वयं और विकार एक नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा दृश्य जगत् का ज्ञान करना ऐन्द्रिय ज्ञान है। यह ज्ञान कल्पना से मिथित हा गगनद्वीप में जुड़ जाना है तब वह ऐन्द्रिय विकार हो जाता है। सम्यग् योग का अर्थ है, वर्तमान में प्राप्त विषयों को जानना, उनके मात्र अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पनाओं को न जोड़ना—वेद न कर को देखना, केवल शब्द सुनना, केवल गद्य, रम और स्पर्श की अनुभूति करना।

इन्द्रिय-शुद्धि का दूसरा उपाय प्रतिवर्तनता है। इन्द्रिय शुद्धि की प्रथम भूमि में विषय और इन्द्रियों के मध्य की शुद्धि का अध्ययन किया जाता है जो द्वितीय भूमि में विषयों से सम्पर्क-विच्छेद का अध्ययन किया जाता है। आत्म ब्रह्म के तेना—यह शब्द के मात्र चक्षु का मध्य-विच्छेद है। गान ब्रह्म के तेना—यह शब्द के मात्र श्रोत्र का मध्य-विच्छेद है। नास को ब्रह्म के तेना—यह शब्द के मात्र घ्राण का मध्य-विच्छेद है। स्पर्श नहीं करना—यह स्पर्श के मात्र स्पर्श का मध्य-विच्छेद है। इन्द्रियों का वहिर्जगत् में प्रयोग न करना, उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में ही सीमित करना प्रतिवर्तनता है।

इन्द्रियों की वाह्यता का समाप्त कर उनमें अन्तर्लीनता उत्पन्न करना, यह भी प्रतिवर्तनता है। यह आकर्षण के विकर्षण का निष्ठान्त है। अन्तर् के प्रति आकर्षण कम होगा तो वाह्य के प्रति आकर्षण अधिक होगा। वाह्य के प्रति आकर्षण कम होगा तो अन्तर् के प्रति आकर्षण बढ़ जाएगा। आकर्षण की दो भूमिकाएँ हैं वाह्य और अन्तर। इन्द्रियों की शक्ति अन्तर आकर्षण की ओर मुड़ जाए तो अन्तर शक्ति का क्षेत्र खल जाता है। दोनों भूमिकाओं का तुलनात्मक रूप निम्न यत्र में स्पष्ट हो जाएगा—

वाह्य-आकर्षण	अन्तर-आकर्षण
वाह्य-शक्ति	अन्तर्-शक्ति
वाह्य-दृश्य	अन्तर्-दृश्य
वाह्य-रस	अन्तर-रस
वाह्य-स्पर्श	अन्तर्-स्पर्श
वाह्य-गद्य	अन्तर्-गद्य

प्रसारी चेतना श्रवण, स्पर्श, रस, स्पर्श और गद्य है।

हम अन्तर्-शक्ति के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर शुद्ध चेतना की भूमि में नहीं पहुँच जाते हैं। इस प्रयत्न में हम केवल स्वयं में मूढम जगत् तक पहुँच पाते हैं। हमारे मूढम शरीर के मात्र भी शब्द, रूप, रस, गद्य और स्पर्श का मध्य होता है। उन्हीं के प्रति एकाग्र होकर हम अपनी इन्द्रिय-शक्ति का नया आयाम प्राप्त करते हैं।

इवासोच्छ्रयाम श्रुति के उपाय

१ प्राणायाम, २ समतालध्यान, ३ दीर्घध्यान, ४ कायोत्थान

उस प्रश्न में श्रुति आदि अनेक प्राणायामों के नाम सुझाए जा सकते हैं, फिर भी इवास-श्रुति के लिए अनुशोम-विशोम प्राणायाम को ही अधिक उपयोगी मानना है। इवास के दोष विषम और ह्रस्व ध्वाम में उत्पन्न होते हैं और वे मन का चञ्चल बनाने हैं। मन की स्थिरता के लिए ध्वाम को विशुद्ध जानना निम्न आवश्यक है। मावता का भाषा में, तेना जि में समन पाया है इवास और मन का गहरा मध्य है। ध्वाम की चञ्चलता मन की चञ्चलता की जन्म देती है और मन की चञ्चलता फिर ध्वाम को चञ्चल बनानी है। उस रूप में स्थिरता कम होती चली जाती है। अतः मन की शुद्धि के लिए ध्वाम की शुद्धि बहुत आवश्यक है।

समताल ध्वाम—त्रितनी मात्रा में पद्य ध्वाम लिया गया, उन्नी हो मात्रा में दूसरा, तीसरा, इस प्रकार सात-ब्रह्म ध्वाम तेना समताल ध्वाम होता है।

दीर्घध्वाम—गम्य ध्वाम तेना।



वाक्-शुद्धि के उपाय — १ प्रलम्ब नाद का अभ्यास, २ सत्यपरक प्रयोग ।

वाक् मनपरिष्कृत होकर ही प्रगट होती है । मन की सरलता होती है, तब वाणी शुद्ध रहती है । मन की कुटिलता होने पर वह भी अशुद्ध हो जाती है । जिस साधक का मन सरल और पवित्र होना है, उसे वाक्-सिद्धि प्राप्त होती है । वह जो कहता है, वही हो जाना है । वाणी में यह शक्ति उसकी मानसिक पवित्रता से प्राप्त होती है ।

ओ, अह, मोहम् आदि मन्त्राक्षरो का दीर्घ उच्चारण करने से मन, वाणी के साथ जुड़ जाता है । मन का योग पाकर वाणी शक्तिशाली हो जाती है । वह वायुमण्डल में तीव्र कम्पन पैदा कर देती है । उसमें अनिष्ट परमाणु हट जाते हैं और इष्ट परमाणुओं का परिपार्श्व बन जाता है ।

दीर्घोच्चारण का अभ्यास दो मिनट से प्रारम्भ कर १५ मिनट तक बढ़ाना चाहिए । प्रति मप्ताह दो मिनट बढ़ाया जा सकता है । इस अभ्यास में मन को समस्याओं से मुक्त और सरल रखना आवश्यक है ।

मन की शुद्धि के उपाय

१ दृढ सकल्प

२ एकाग्र सन्निवेशन

दृढ सकल्प—हमारे मन में कामनाएँ उठनी रहती हैं । उन कामनाओं में कार्यरूप में बदलने की क्षमता होती है, इसीलिए उन्हें सकल्प कहा जाता है । सपुत्र में उर्मियों की भाँति सकल्प हमारे मन में उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं । वे अस्थिर सकल्प होते हैं । उनसे हमें कोई लाभ प्राप्त नहीं होता । स्थिर सकल्प कार्यरूप में परिवर्तित हुए बिना विलीन नहीं होता । वह दीर्घकाल तक टिका रहता है । उसे भावनात्मक रूप देने—बराबर उसकी पुनरावृत्ति करने में वह रुढ़ बन जाता है । दृढ सकल्प में कार्यरूप में परिणत होने की क्षमता पैदा होती है । उसके द्वारा हम मन के स्वभाव को बदल सकते हैं । बुरे विचारों को छोड़ने व अच्छे विचारों की आदत डालने में दृढ सकल्प हमारी बहुत सहायता करता है ।

एकाग्रसन्निवेशन

एकाग्रता मन की विरोधावस्था नहीं है । यह उसकी किसी एक विषय में निरोधावस्था है । अनेक भागों में जाते हुए प्रवाह को एक मार्ग में मोड़ देना है । नदी का प्रवाह जब अनेक भागों में बहता है, तब वह क्षीण हो जाता है । एक प्रवाह में जो शक्ति होती है, वह विभक्त प्रवाहों में नहीं हो सकती । सूर्य की बिखरी किरणों में वह शक्ति नहीं होनी, जो केन्द्रित किरणों में होती है । मन का प्रवाह भी एक आलम्बन की ओर निरन्तर बहता है तब उसमें अकल्पित शक्ति आ जाती है । एकाग्रता के क्षेत्र में मन की शान्ति और स्थिरता का अर्थ है चिन्तन प्रवाह को एक ही दिशा में प्रवाहित करना । मन के एकाग्र प्रवाह की अनेक पद्धतियाँ हैं । उनमें से कुछेक पद्धतियों को मैं यहाँ प्रस्तुत करना चाहूँगा ।

१ द्रष्टा की स्थिति—मन की चंचलता को रोकने का यत्न मत कीजिए । वह जहाँ जैसे जाता है, उसे देखते रहिए । उस समय दृश्य या ज्ञेयमन को ही बना लीजिए । इस प्रकार तटस्थ द्रष्टा के रूप में जागरूक रहकर आप मन का अध्ययन ही नहीं कर पाएँगे, किन्तु उस पर अपना प्रभुत्व भी स्थापित कर लेंगे ।

२ विकल्पों की उपेक्षा—आपके मन में जो विकल्प उठते हैं, उनकी उपेक्षा कीजिए, जो प्रदत्त उठते हैं, उनके उत्तर मत दीजिए । जैसे प्रदत्त करनेवाला व्यक्ति उपेक्षा पाकर (उत्तर न पाकर) मौन हो जाता है, वैसे ही मन भी उपेक्षा पा कर (प्रश्नों के उत्तर न पाकर) शान्त हो जाता है ।

३ अप्रयत्न—मन को स्थिर करने का बलात् प्रयत्न मत कीजिए । अप्रयत्न से मन सहज ही शान्त हो जाता है । शरीर में स्थिर और श्वास को मद कीजिए । जैसे-जैसे शरीर स्थिर और श्वास मद होगा, वैसे-वैसे मन अपने आप शान्त हो जाएगा ।

४ श्वास-योग—मन का श्वास की गति के साथ योग कीजिए । श्वास के आने-जाने के क्रम पर ध्यान

लगाए, स्वाम की गिनती कीजिए, मन अपने आप स्वाम में लीन हो जाएगा ।

५ आकृति-आत्मस्वन—अने आराध्य की आकृति का मानसिक चित्रण बनाइए । पहले देश-काल और वाह्य-वनावरण के साथ उस आराध्य की आकृति की कल्पना कीजिए फिर उसे मानसिक चित्र में बदल दीजिए । वह चित्र बहुत स्पष्ट और प्राग्वान् जैसा कीजिए ।

यदि प्रारंभ में ऐसा करना कठिन लगे तो दृश्य आकृतियों पर मन को स्थापित कीजिए और साथ-साथ मानसिक चित्रण बनाने का अभ्यास भी करने रहिए ।

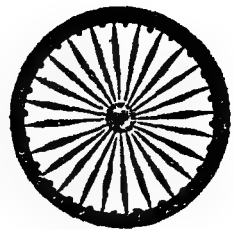
६ शब्द-आत्मस्वन—दृष्ट मंत्रों में मन को लगाइए । मन का प्रवाह शब्द की दिशा में प्रवाहित होकर अन्य विषयों से शून्य हो जाता है ।

७. दृढ-इच्छा-शक्ति—इच्छा-शक्ति भावों में उत्पन्न होती है । भावों की प्रबलता का नाम ही इच्छा-शक्ति है । भावों की इच्छा-शक्ति के रूप में बदलने का माध्यम है, स्वन सूचना (ऑटोमजेशन) । मन का सूचना देने से भावों में उत्तेजना आरंभ होती है, और वही इच्छाशक्ति के रूप में परिणत हो जाती है । इच्छाशक्ति के विकास का निरन्तर अभ्यास करने से वह दृढ हो जाती है । दृढ इच्छा-शक्ति में मन की एकाग्रता महज ही मय जाती है ।



भाषा और शब्द

सुनिश्चि मिश्रीमलजी “मधुकर”



मानव जाति के सांस्कृतिक विकास में भाषा का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा विचारों के आदान-प्रदान का असाधारण माध्यम है। कल्पना कीजिए, कदाचित् मनुष्य को भाषा का माधन प्राप्त न होना तो उसकी क्या स्थिति होती? न उसे वैचारिक समृद्धि उपलब्ध होती, न आज जैसा ज्ञान-विज्ञान प्राप्त होता, यहाँ तक कि समाज-रचना भी संभव न होती और मानव-जीवन पशुजीवन के सदृश ही होता। अतएव असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि मानवीय अभ्युदय में भाषा का स्थान अद्वितीय है। व्यक्त भाषा ने मानव को जाग्रत चेतना प्रदान की है।

सिंह गजना करता है, घोड़ा हिन-हिनाता है, गाय रमाती है, कुत्ता भोकता है, पक्षी चहचहाते हैं और इसे हम श्रुतिगोचर करते हैं। अतएव गजना, रमाना आदि भी भाषा की परिधि में हैं किन्तु यह निरर्थक भाषा है, वर्णात्मक नहीं। यहाँ हम सार्थक भाषा के विषय में ही विचार करेंगे।

भाषा शब्दों से बनती है और शब्द वर्णात्मक हैं अतएव भाषा के तात्त्विक एवं मौलिक विचार के लिए वर्ण-विचार भी अनिवार्य है। जैसे उपाग और अग शरीर से अभिन्न हैं उसी प्रकार वर्ण और शब्द भाषा से अभिन्न हैं।

चिरतन काल से भारतीय दार्शनिक शब्द के विषय में विचार करते आ रहे हैं। अनेक दार्शनिकों ने शब्द-विचार में गहरे गोते लगाए हैं। शब्द क्या है? उसका मूल उपादान क्या है? वह किस प्रकार उत्पन्न या अभिव्यक्त होता है? उत्पन्न या अभिव्यक्त शब्द किस प्रकार श्रोता को कर्णगोचर होता है? इत्यादि प्रश्नों पर भारत के दर्शन-शास्त्रों में हमें गभीर विचार मिलते हैं।

शब्दविषयक मान्यताएँ

वणद आदि कतिपय दार्शनिक शब्द को द्रव्य न मानकर आकाश का गुण मानते हैं। सात्यदर्शन उसे आकाश का जनक अथवा आविर्भावक स्वीकार करता है। मीमांसादर्शन की मान्यता है कि शब्द की उत्पत्ति ही नहीं होती, वह नित्य और व्यापक है। आकाश की भाँति उसकी सर्वत्र सर्वदा सत्ता है। जब व्यञ्जक निमित्त मिलते हैं तब वह हमारे श्रवण में जाता है, अन्यथा नहीं।

भर्तृहरि जैसे वैयाकरणों की मान्यता के अनुसार समस्त विश्व शब्दमय है। जगत् में जो कुछ है, शब्द ही है। शब्द के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ-वाच्य की वास्तविक सत्ता नहीं है। शब्द का ही विविध अर्थों के रूप में प्रतिभास होता है।

जैनदर्शन का अभिमत

जैनदर्शनानुसार शब्द पुद्गल द्रव्य के अन्तर्गत है। वह भाषा-वर्णना के पुद्गलों का पर्याय है। पुद्गल-द्रव्य मूर्तिक होता है अतः शब्द भी मूर्तिक है। रूप रस गंध और स्पर्श ये सभी पुद्गलधर्म उसमें विद्यमान हैं। उत्तराख्ययन सूत्र में कहा है —

सद्दधयार-उज्जोओ, पहा छायाऽस्तवत्ति वा।

वर्ण-रस गंध फासा, पुग्गलाण तु लक्ष्ण ॥

(क) शब्द की पौद्गलिकता का निषेध करने के लिए निम्नलिखित युक्तिया दी जाती हैं शब्द आकाश का गुण है, अनर्थ शब्द का आधार आकाश द्रव्य है। आकाश स्वर्ण से रहित है, इस कारण उसका गुण शब्द भी स्वर्ण रहित होना चाहिए। जब शब्द में स्वर्ण नहीं हो सकता तो उसे पौद्गलिक स्वीकार करना भी तर्क संगत नहीं।

(ख) पुद्गल स्वी होना है मगर शब्द स्वी नहीं है, क्योंकि इसका प्रवेश सघन वस्तु में भी देखा जाता है। वह स्वर्ण-रपाट अपवरक के भीतर प्रवेश कर जाता है और उसमें बाह्यनिकलता है। जैसे स्वी घट दीवाल में प्रवेश नहीं कर सकता उसी प्रकार शब्द यदि स्वी होना तो वह भी प्रवेश न कर पाता।

(ग) घट बनने में पहले उसका पूर्वरूप-मृत्तिा दिखाई देता है और घट नष्ट होने के पश्चात् उसका उत्तर रूप कपालमूह दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ का पूर्ववर्ती और परवर्ती रूप देखा जाता है। किन्तु शब्द का न पूर्ववर्ती रूप उपलब्ध होता है और न परवर्ती। अतः शब्द पुद्गल नहीं माना जा सकता।

(घ) प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ दूसरे पौद्गलिक पदार्थ में किसी न किसी प्रकार की प्रेरणा उत्पन्न करता है। शब्द पुद्गल होना तो वह भी अन्य पौद्गलिक पदार्थों में प्रेरणा उत्पन्न करता किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। ऐसी स्थिति में शब्द को पुद्गलरूप स्वीकार करना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

(ङ) जैन दार्शनिकों ने इन युक्तियों पर भौतिकी विचार किया है। उनका कथन है कि शब्द का आधार आकाश मानना ही अप्रामाण्य है। शब्द का आधार तो वस्तु पुद्गल मापावर्गणा है और उसमें स्वर्ण होता ही है। यह मत है कि शब्द में रह हुए स्वर्ण का हमें प्रत्यक्ष प्रतिभास नहीं होता, तथापि हमने स्वर्ण का अभाव नहीं माना जा सकता। हमारा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष अव्यक्त स्थूल होता है। वह परमाणु का साक्षात्कार नहीं कर सकता फिर भी उसकी सत्ता अनुमान प्रमाण के आधार पर निश्चिन्त स्वीकार की जाती है। इसी प्रकार शब्द के स्वर्ण का निर्णय भी अनुमान के आधार पर किया जा सकता है। वायु का गति अनूक्त होता है तो दूरी पर प्रयुक्त शब्द भी स्पष्ट कर्णगोचर होता है। वायु का गति प्रविष्ट होने पर समीप में बंटा गया शब्द भी स्पष्ट सुनाई नहीं देता। इसका एक मात्र कारण यही है कि प्रविष्ट वायु शब्द के प्रसार में प्रतिवध उपस्थित करती है जबकि अनुकूल वायु उसके संचार में सहायक होती है। शब्द स्वर्णहीन होता तो वायु उसके संचार को प्रभावित कर ही नहीं पाती।

(च) बाहर प्रयुक्त शब्द का बदल वाला कमरे में शीत बदल वाला कमरे में प्रयुक्त शब्द का बाहर सुनाई देना सघन वस्तु में प्रवेश करना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहाँ विद्यमान सूक्ष्म छिद्रों में होकर ही शब्द का प्रवेश-निर्गम होता है। इसीसे छिद्र में जैसा स्पष्ट सुनाई देता है वैसा बदल किवाड़ी में होकर सुनाई नहीं देता।

(छ) विद्युत् और उद्गम आदि दृष्टिगोचर होने के कारण पौद्गलिक तो है मगर उत्पत्ति में पहले उनका पूर्वरूप और नष्ट हो जाने के पश्चात् उत्तरावस्थीन रूप दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार शब्द का पूर्व-उत्तर पर्याय यदि दृष्टिगोचर न हो तो भी उसे पौद्गलिक ही स्वीकार करना चाहिए।

(ज) शब्द यदि पौद्गलिक होता तो दूसरे पदार्थों को प्रेरित करता, यह युक्ति भी समीचीन नहीं कही जा सकती। यह नियम स्थूल पुद्गलों में ही देखा जाता है। गन्ध तथा रजकण जैसे सूक्ष्म पुद्गल दूसरे पुद्गलों को प्रेरित नहीं करते किन्तु भी उनकी पौद्गलिकता अव्याहत है। शब्द सूक्ष्म होने के कारण अन्य पुद्गलों को प्रेरित नहीं करता है।

शब्द की वाचक शक्ति

वस्तु चाहे चेतन हो या जड, भौतिक हो या अभौतिक, उसमें अनन्त शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। दीपक में प्रदार्थों को प्रकाशित करने का नैमिक सामर्थ्य है, इसी प्रकार शब्द में पदार्थ का बोध कराने की शक्ति स्वाभाविक विद्यमान है। किन्तु यहाँ ज्ञानव्यय यह है कि शब्द की अर्थबोधक शक्ति नियत या सीमित नहीं है, बल्कि प्रत्येक शब्द में विद्यमान के समस्त पदार्थों का प्रतिपादन करने की शक्ति विद्यमान है। 'घट' शब्द जैसे कलश वस्तु का वाचक है उसी प्रकार वस्त्र का वाचक हो सकता है, मेज कुर्सी कलम पुस्तक आदि का भी वाचक हो सकता है किन्तु मानव ने शब्द





के इस वाचक-सामर्थ्य को सकेत के द्वारा सीमित कर दिया है। अतएव शब्द समस्त पदार्थों का वाचक होने की शक्ति से सम्पन्न होने पर भी मानव समाज द्वारा निर्धारित सकेतप्रणाली के अनुसृत ही अपने वाच्य का प्रतिपादक होता है।

सकेत की आवश्यकता

शब्द के व्यापक सामर्थ्य को यदि सकेत द्वारा नियत न किया जाय तो वह वक्ता के अनौष्ठ निर्वाणित अर्थ का प्रतिपादक न होकर श्रोता की इच्छानुसार किसी भी अर्थ का वाचक हो जाएगा और उस अवस्था में शब्द के प्रयोग का उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा। गाय मगवाने की इच्छा में वक्ता कहेगा "गो लाओ।" यदि गो शब्द जगत् के सभी पदार्थों का वाचक है तो श्रोता अपनी इच्छा में किसी भी पदार्थ को ले आएगा। ऐसी अव्यवस्थित दशा में भाषा का प्रयोग निरर्थक ही मिथ्य होगा। इस अव्यवस्था में वचन के लिए शब्द की वाचकत्व-शक्ति मकेतद्वारा निर्धारित कर दी गई है। पूर्व परम्परा से जो शब्द जिस अर्थ के वाचक रूप में रूढ़ हैं उसी के अनुसार वह अर्थ का उद्वाचक होता है। हाँ, सकेत नये भी बनाए जाते हैं। उन नवीन मकेतों का अनुसरण करके शब्द नवीन अर्थ का वाचक हो जाता है। पिछले कुछ समय में ऐसे सैकड़ों शब्द गढ़े गये हैं और जो विज्ञान उन मकेतों में परिचित हो चुके हैं वे उन सकेतों के अनुसार शब्दप्रयोग करते हैं। पचास वर्ष पहले अंग्रेजी शब्द Police के लिए हिन्दी भाषा में 'पुलिस' शब्द ही व्यवहृत होता था, आज उसके स्थान पर "आरती" शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार के बहुमध्यक दूसरे शब्दों का भी प्रचलन हुआ है।

अभिप्राय यह कि शब्द अपनी स्वाभाविक अर्थप्रतिपादन शक्ति और सकेत से पदार्थों का वाचक होता है।

नयदृष्टि

मगर जैनदर्शन का शब्दार्थ-विचार हमें भी आगे चलता है। उसमें विभिन्न दृष्टियों के आधार पर उसका सूक्ष्म विश्लेषण किया है। मुख्य रूप से तीन दृष्टिकोण हमारे समक्ष प्रस्तुत किये हैं। शब्दनय की मान्यता के अनुसार लिंग काल पुरुष और वचन आदि के भेद से एक ही शब्द का अर्थ भिन्न हो जाता है।

समभिरूढ नय शब्दभेद से ही अर्थभेद स्वीकार करता है, चाहे लिंगादि का भेद ही अथवा न हो। इस नय की दृष्टि से कोई भी दो शब्द एकार्थक नहीं हो सकते क्योंकि उनकी व्युत्पत्ति पृथक्-पृथक् होती है। राजा चृपति और भूपति जैसे एकार्थक समझे जाने वाले शब्द वास्तव में एकार्थक नहीं हैं। इन शब्दों की वनावट पर ध्यान दिया जाय तो इस दृष्टिकोण की वास्तविकता महज ही ममझ में आ सकती है। छत्र, चामर, मिहामन आदि राज्य-चिह्नों से सुशोभित होने वाला पुरुष 'राजा' कहा जा सकता है। मानवप्रजा का पालन-पोषण करने वाला 'नृपति' और भूमि की रक्षा करने वाला 'भूपति' कहलाता है।

तीसरा दृष्टिकोण एवभूत नय कहलाता है। यह समझ सूक्ष्म दृष्टिकोण है जो क्रिया के भेद में ही शब्द के वाच्य में भिन्नता स्वीकार करता है। किसी व्यक्ति को तभी भिक्षु कहा जा सकता है जब वह भिक्षावृत्ति कर रहा है। तभी मुनि कहा जा सकता है जब मनन क्रिया कर रहा हो और तभी माधु कहा जा सकता है जब स्वप्न का कार्य कर रहा हो। निद्रा करते समय वह मुनि नहीं कहा जा सकता और मनन करते समय भिक्षु नहीं कहा जा सकता।

शब्द का ग्रहण —

श्रोत्रइन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है। वक्ता द्वारा उत्सृष्ट शब्द-पुद्गल श्रोता के कर्णधुहर को जब भर देते हैं तब श्रोत्रइन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है। किन्तु श्रोत्रइन्द्रिय मात्र करण है, शब्द को ग्रहण करने में कर्ता नहीं है। शब्द के वाच्य अर्थ की प्रतीति तो आत्मा को ही होती है।

शब्द का संचार

वक्ता के द्वारा बोले हुए शब्द को श्रोता किस प्रकार श्रवण करता है ? शब्द कितनी दूर तक जा सकता है ?

किस वेग से जाता है ? इत्यादि प्रश्नों का विषय उत्तर जैन ग्रन्थों में मिलता है ।

बनलाया जा चुका है कि शब्द भाषावर्गों के परमाणुओं से बनते हैं । भाषावर्गों के परमाणु सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं । जब बक्ता बोधने को उद्यत होता है तो उन पुद्गलों को ग्रहण करता है, उन्हें शब्द रूप में परिणत करता है और फिर उन्हें बाहर निकालता है । उनका वेग इतना तीव्र होता है कि एक ही समय में वे लोक के अंत तक जा पहुँचते हैं । उस वेग की तीव्रता का हम अनुमान तक नहीं कर सकते ।

जैसे पृथ्वी पर राजमार्ग, पथ या पगडड़ियाँ बनी हैं और अधिक उनका अनुसरण करके चलते हैं इसी प्रकार आकाश में भी उनके प्रदेशों की श्रेणियाँ हैं । ये श्रेणियाँ पूर्व-पश्चिम उत्तर-दक्षिण ऊपर तथा नीचे इस प्रकार छहों दिशाओं में विद्यमान हैं । इन्हीं श्रेणियों में होकर शब्द गति करता है और सिर्फ चार नमों (वायु के सूक्ष्मतम अणु) में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाता है ।

मिश्र और वासित शब्द

श्रोता यदि नमश्रेणी में स्थित होना चाहता है तो बक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषा की अवस्था वाद्य आदि के शब्दों की मिश्र रूप से सुनता है और यदि विश्रेणी में स्थित हो तो वासित शब्दों की ही श्रवण सम्भवा है । बक्ता द्वारा प्रयुक्त कोई शब्द ही श्रोता की ध्वनितोषक नहीं हो सके ।

मिश्र एवं वासित शब्द क्या हैं, यह जान लेना आवश्यक है । जब बक्ता भाषाद्रव्यों का निर्माण करता है अर्थात् ग्रहण करने हुए भाषा द्रव्यों को शब्द रूप में परिणत करके उनका त्याग करता है तो आकाश में फैलते हुए वे शब्द आकाश में व्याप्त अन्त्याग्र भाषा-पुद्गलों की भी शब्द के रूप में परिणत करने लगते हैं । इस प्रकार उनका रूप भिन्न-बुद्ध हो जाता है अर्थात् बक्ता द्वारा त्यक्त पुद्गल और उनके उपयोग में शब्द रूप में परिणत हुए अन्य पुद्गल मिश्रित हो जाते हैं, ऐसे पुद्गल मिश्र शब्द कहलाते हैं । ये मिश्र शब्द नमश्रेणी में ही गति करते हैं । यही कारण है कि नमश्रेणी में स्थित श्रोता मिश्र शब्दों की ही सुनता है ।

बक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द-पुद्गलों के उपयोग में आकाश में व्याप्त जो अन्य भाषाजातीय पुद्गल शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं, उनमें प्रयुक्त शब्द विस्तृत नहीं होते—वे वासित शब्द कहलाते हैं । विश्रेणी में स्थित श्रोता इन शब्दों की ही सुन पाता है क्योंकि बक्ता द्वारा त्यागे गये पुद्गल विश्रेणी में जाते नहीं हैं । उनका संचार नमश्रेणी में ही होता है ।

प्रश्न हा सनता है कि शब्द एक ही समय में श्रेणी के अनुसार लोक के चरम भाग तक पहुँच जाता है, दूसरे समय में विविधता में जाता है और तीसरे समय में समस्त लोक में व्याप्त हो जाता है तो विविधता में स्थित श्रोता भी मिश्रशब्द क्यों नहीं सुन सनता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैनदर्शन के अनुसार भाषा जिस समय बोली जाती है उसी समय में वह भाषा रहती है । उस एक समय के पश्चात् भाषा अबभाषा हो जाती है ।^१ इस प्रकार विश्रेणी में जो शब्द सुनाई देता है वह प्रथम समयवर्ती न होने के कारण मूल शब्द नहीं है । मूल शब्द ने अन्य भाषा-जातीय पुद्गलों का शब्द-परिणत कर दिया है, अतएव वह वासित शब्द है और वही विविधता में सुनाई देता है । भरे हुए मर्गवर्ग में पत्थर या अन्य कोई भारी वस्तु टाँसे जाय तो उनके द्वारा आग एक उद्गम उत्पन्न होती है । वह लहर दमरी उद्गमों का उत्पन्न करती है और उद्गमों का प्रवाह मर्गवर्ग के अंत तक पहुँच जाता है । इसी प्रकार बक्ता द्वारा उच्चाग्न शब्दद्रव्य आगे बढ़ते हुए आकाश में स्थित अन्त्याग्र भाषाद्रव्यों का शब्द रूप में परिणत करते हुए लोक के अंत तक पहुँचते हैं । वहाँ पहुँचते पर शब्दों की सुनाई देने की योग्यता समाप्त हो जाती है ।

भाषा द्रव्यों का ग्रहण और निमग्न

प्रज्ञापना सूत्र में जीव के द्वारा ग्रहण करने जाने वाले भाषा-द्रव्यों का विशद और सूक्ष्म प्रतिपादन किया





गया है। यहा सक्षेप मे उमका उल्लेख करेंगे। इससे विदित होगा कि जैनदर्शन का शब्दविचार विश्व के समस्त दगनो मे अनूठा परिपूर्ण और वैज्ञानिक विचारधारा के अनुरूप है। प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

प्रश्न—जीव स्थित-अचल भापाद्रव्यो को ग्रहण करता है अथवा चल द्रव्यो को ?

उत्तर—स्थित द्रव्यो को ग्रहण करता है, चल द्रव्यो को नहीं।

प्रश्न—स्थित द्रव्यो को द्रव्य से क्षेत्र से काल से अथवा भाव से ग्रहण करता है ?

उत्तर—द्रव्य से भी, क्षेत्र से भी, काल से भी, भाव से भी।

प्रश्न—द्रव्य से एक प्रदेशी, द्विप्रदेशी, सख्यात प्रदेशी, असख्यात प्रदेशी या अनत प्रदेशी द्रव्यो को ग्रहण करता है ?

उत्तर—असख्यात प्रदेशी तक के भापाद्रव्य सूक्ष्म होने के कारण ग्रहण नहीं किये जा सकते, अनत प्रदेशी द्रव्यो को ही जीव ग्रहण कर सकता है।

प्रश्न - आकाश के कितने प्रदेशो मे अवगाढ द्रव्य ग्रहण किये जा सकते है ?

उत्तर—जो भापाद्रव्य आकाश के असख्यात प्रदेशो मे अवगाढ होते है उन्ही को जीव ग्रहण कर सकता है।

प्रश्न—कितने समय की स्थिति वाले द्रव्य ग्रहण किये जा सकते हैं ?

उत्तर—एक समय की, दो समयो की यहा तक कि असख्यात समयो की स्थिति वाले द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं।

प्रश्न—भाव से क्या वर्णवान्, रसवान्, गन्धवान् और स्पर्शवान् भापा-द्रव्य ग्रहण किये जाते है ?

उत्तर—हाँ, ग्रहण किये जाने वाले द्रव्यो मे कोई एक वर्णवाले होते है, किमी मे दो, किसी मे तीन, किसी मे चार और किमी मे पाचो वर्ण हाते है। किन्तु इन सब द्रव्यो का समूह नियमन पञ्चवर्ण ही होता है। यही नियम रस और गन्ध के सब्ध मे समझना चाहिए।

हा, एक स्पर्श किसी भी पुद्गल द्रव्य मे नहीं होता। छोटे से छोटा पुद्गल अणु है और उसमे भी दो स्पर्श अवश्य होते है अतएव दो स्पर्शो वाले, तीन स्पर्शो वाले तथा चार स्पर्शो वाले भापा-द्रव्यो को ही जीव ग्रहण करता है।

जीव उन्ही भापा-द्रव्यो को ग्रहण करता है जो उसके माथ स्पृष्ट ही नहीं वरन् एक क्षेत्रावगाढ होते हैं। अभिप्राय यह है कि जिन आत्मप्रदेशो मे जो भापाद्रव्य स्थित हैं उन आत्मप्रदेशो से उन्ही भापाद्रव्यो को ग्रहण करता है, व्यवहित द्रव्यो को ग्रहण नहीं करता।

जब जीव मे भाषण करने का सकल्प उत्पन्न होता है तब वह पूर्वोक्त प्रकार से भापा-द्रव्यो को ग्रहण करता है। भापाद्रव्यो का यह ग्रहण मान्तर अर्थात् समय का व्यवधान करके भी हो सकता है और निरन्तर अर्थात् लगातार भी होता है। सान्तर ग्रहण मे एक समय से लेकर अवस्थात समयो तक का अन्तर पड सकता है। अगर जीव निरन्तर भापा द्रव्यो को ग्रहण करे तो कम से कम दो समय तक और अधिक से अधिक असंख्य समयो तक लगातार ग्रहण करता रहता है।

गृहीत भापाद्रव्यो को जीव धारण करके नहीं रखता किन्तु जिस समय मे ग्रहण करता है उसके बाद दूसरे ही समय मे शब्द के रूप मे परिणत करके उन्हे त्याग देता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय मे ग्रहण और उत्तर-उत्तर समय मे त्याग करता रहता है। ग्रहण और त्याग की इस प्रक्रिया को इस प्रकार समझा जा सकता है—

प्रथम समय द्वितीय स० तृतीय स० चतुर्थ स० पंचम स० षष्ठ स०

ग्रहण ग्रहण ग्रहण ग्रहण ग्रहण ०

० निमग्न निमग्न निमग्न निमग्न निमग्न निमग्न

स्पष्ट है कि प्रथम समय में भाषा द्रव्यों का सिर्फ ग्रहण ही होता है और अन्तिम समय में सिर्फ निमर्ग ही होना है। मध्य के समयों में ग्रहण और निमर्ग दोनों चालू रहते हैं किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है प्रथम समय में गृहीत पुद्गलों का दूसरे समय में, दूसरे समय में गृहीत पुद्गलों का तीसरे समय में, इसी प्रकार आगे के समयों में ग्रहण और निमर्ग होना रहता है। जिस समय जो भाषा-द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं उसी समय उनका निमर्ग नहीं किया जा सकता।

निमर्ग के दो प्रकार

वक्ता दो प्रकार के होते हैं—तीव्र प्रयत्नवान् और मंद प्रयत्नवान्। निरोग, बलवान् एवं गहरी लगन वाला वक्ता तीव्र प्रयत्नवान् कहलाता है और जो इनमें विपरीत हो वह मंद प्रयत्न वाला। तीव्र प्रयत्नवाला वक्ता भाषा-द्रव्यों को ग्रहण एवं निमर्ग मन्वी प्रयत्न के द्वारा उण्ड-खण्ड करके त्यागता है। उनके द्वारा त्यक्त भाषाद्रव्य सूक्ष्म और बृहन् होने के कारण बहुसंख्य द्रव्यों को शब्द रूप में वासित करते हैं और जनन गुण वृद्धि को प्राप्त होते हुए उन्हीं द्रव्यों में लोकात्मक नव जा पहुँचते हैं। इनके विपरीत मंद प्रयत्नवाला वक्ता जैसे पूर्व में ये वैसे ही अत्रिचित भाषाद्रव्यों को भाषा रूप में परिणत करके त्यागता है। ये भाषाद्रव्य असंख्य अवगाहन-वर्गणाओं तक ही जाते हैं और विनष्ट हो जाते हैं अर्थात् शब्द रूप परिणति को त्याग देते हैं। ये मन्थात योजनों से आगे नहीं पहुँचते।

तीव्र प्रयत्न करने वाले वक्ता के द्वारा भाषा द्रव्यों का जो भेदन किया जाता है वह पाँच प्रकार का होता है—

- १ उण्डभेद—लट्टे के टुकड़े टुकड़े कर देने के समान।
- २ प्रसरभेद—अन्न के तड़ पृथक्-पृथक् करने के समान।
- ३ चूणिका भेद—चूना-चूरा कर देना।
- ४ अनुनादिका भेद—ईश के डिलके को हटाने के समान।
- ५ उन्मूलिका भेद—किसी वस्तु को रगड़कर पीस देने के समान।

औदात्तिक वैश्विय जीव आहारक शरीर वाला जीव कायिक प्रयत्न के द्वारा भाषा द्रव्यों को ग्रहण करता है और वाचनिक प्रयत्न से द्वारा उनका त्याग करता है।

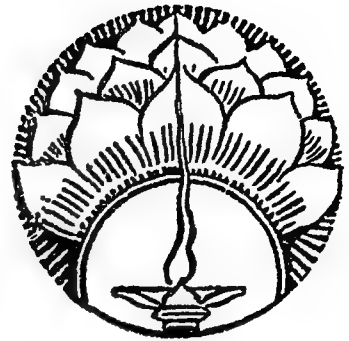
जैनाग्रहों में भाषा की मन्थात असंख्यता आदि के मन्थ में भी अत्यन्त सूक्ष्म और मौलिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं किन्तु उनका मन्थ धर्म-मीनिगमन के माय है, दर्शनगमन के माय नहीं। अनएव यहाँ उनका विचार नहीं किया गया है।



‘जैन आगमों में वनस्पतिविज्ञान’

श्री कन्हैयालाल लोढा,

बी० ए०, केफडी,



प्रारम्भिक—जैनदर्शन एक मौलिक दर्शन है और विद्वद् क अन्य दर्शनो से अपने में अनेक विशेषताएँ रखता है। आज से सहस्रो वर्ष पूर्व जन्म वर्तमान युग के समान न वैज्ञानिक यन्त्र थे और न प्रयोगशालाएँ, उस समय हमने अनेक ऐसे विलक्षण सूत्रों व सिद्धान्तों का निरूपण किया जो तत्कालीन किसी भी अन्य दर्शन में विद्यमान नहीं थे। वे सूत्र इतने मर्म व अर्थगाभीर्य लिए हुए थे कि अन्य दर्शनो के विद्वान् उनके अन्तर्गत तक नहीं पहुँच पाते थे। फलतः उनकी ओर से उन सूत्रों का विरोध व खंडन होता रहता था और यह खंडन तब तक चलता रहा जब तक कि विज्ञान ने विकसित होकर उन सूत्रों का रहस्योद्घाटन कर उनकी सत्यता को प्रत्यक्ष प्रमाणित न कर दिया। उदाहरणार्थ ‘स्याद्वाद’ सिद्धान्त को ही लीजिये। जैनदर्शन प्रत्येक पदार्थ को अनन्त गुणात्मक मानता है और उन गुणों में परस्पर विरोधी गुणों को भी स्थान देता है। अन्य दर्शनकार दो विरोधी गुण एक साथ रह सकें इसमें सहमत नहीं थे परन्तु विज्ञान के ‘द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विरोधी समागम’ (Unity of opposition) के सिद्धान्त ने आज इसे सत्य प्रमाणित कर दिया है। दूसरा उदाहरण लीजिये—जैनदर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा आदि को अलग-अलग तत्त्व स्वीकार न कर समस्त पार्थिव या भौतिक द्रव्यों का एक ही उपादान तत्त्व ‘पुद्गल-परमाणु’ मानता है। अन्य दर्शनकार इसमें सहमत नहीं थे परन्तु आज विज्ञान-जगत् में यह सिद्ध हो गया है। यही बात जैनदर्शन के कर्म-सिद्धान्त, ग्रन्थभेद, लेश्या आदि अन्य विलक्षण सिद्धान्तों के विषय में कही जा सकती है।

जैनदर्शन के विलक्षण सिद्धान्तों में ‘वनस्पतिविज्ञान’ भी एक है। जैनदर्शन वनस्पति को सजीव कहकर ही विराम नहीं लेता अपितु उसमें आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि वृत्तियों या प्रवृत्तियों का भी सविस्तर वर्णन करता है और आज उसकी मर्यादा विज्ञान से सिद्ध है। मैं इस विषय में पाठकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि सर्वसाधारण जन वनस्पति को बल-फिर, बोल न सकने के कारण प्रथम तो सजीव मानने को तैयार ही नहीं हो सकते, यदि सजीव मान लें तो उसमें माया, मैथुन, परिग्रह आदि प्रवृत्तियों की विद्यमानता को तो स्वीकार कर ही नहीं सकते, क्योंकि उनका इन्द्रिय और बुद्धिज्ञान इसका समर्थन करने में असमर्थ है। इस प्रकार जो ज्ञान मानव की इन्द्रियों और बुद्धि के साधारण ज्ञान की सीमा से पड़े हो उसका निरूपण वही कर सकता है जिसे अतिशय अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान हो।

हर्ष की बात है कि आज विज्ञान ने मानव की ऐन्द्रियिक व बौद्धिक शक्ति में असीम वृद्धि करने वाले यन्त्रों का निर्माण कर दिया है। फलतः आज का मानव पदार्थों के उन रहस्यों को भी समझने में सक्षम होता जा रहा है जो उसकी इन्द्रियों की सामान्य शक्ति की परिधि या पहुँच में पड़े हैं। अब वह अतीन्द्रिय ज्ञानियों द्वारा प्रतिपादित वनस्पतिविषयक सूत्रों को यन्त्रों के माध्यम में किसी सीमा तक निरखने, परखने व समझने में समर्थ है। प्रस्तुत निवध का क्षेत्र भी यही विषय है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि आगम में प्ररूपित विषय सर्वज्ञप्रणीत होने से स्वतः प्रमाण है फिर उन्हें विज्ञान में प्रमाणित करने में क्या लाभ है ?

उत्तर में यह निवेदन है कि प्रथम तो प्रमाण के क्षेत्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपाय और आगम इन चार प्रमाणों में नवमे मवल प्रमाण प्रत्यक्ष ही है और विज्ञान किसी भी सिद्धान्त को प्रयोगशाला में प्रत्यक्ष प्रमाणित होने पर ही अपने यहाँ न्याय देता है। अब किसी सिद्धान्त को विज्ञानसम्मत सिद्ध करना, प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रमाणित करना है। इस प्रकार आगम प्रमाण को विज्ञान सम्मत सिद्ध करने से उसे प्रत्यक्ष प्रमाण का बल मिलना है और वह मवल बनना है। उसकी मत्यता मर्वसाधारण के लिए भी अमदिव्य हो जाती है। इसमें आगमप्रणेता के प्रति यद्वा-भाव का उद्भव होता है। इसके अतिरिक्त मेरी ऐसी मान्यता है कि मय्यक्ज्ञान के समान ही मय्यक् विज्ञान भी साधना का मोपान या सहायक बन सकता है। कारण कि विज्ञान का उद्देश्य भी 'मत्य' का उद्घाटन करना है और धर्म या आत्मज्ञान का उद्देश्य भी मत्य का अनुभव करना है। अतः दोनों का उद्देश्य एक ही है और वह है सत्योपलब्धि। मत्य धर्म है, मत्य ईश्वर है, यह अध्यात्मक्षेत्र में भी मान्य है। अतः मत्य की ओर आगे बढ़ाने वाला 'विज्ञान' धर्म या आत्मज्ञान का विरोधी हो, यह मभव नहीं लगता है, प्रत्युत विज्ञान आत्मज्ञान में पूरक व सहायक हो सकता है, यह अधिक मगत प्रतीत होता है।

इसी प्रसंग में यह शका उठायी जा सकती है कि विज्ञान के विकास में प्रलयकारी विश्वयुद्ध का वातावरण व खनग उत्पन्न कर दिया है अतः यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता कि विज्ञान आध्यात्मिक माधना में सहायक हो सकता है।

इस विषय में यदि यह कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा कि वर्तमान में विज्ञान में जो विश्वयुद्ध का खतरा नजर आ रहा है इसका कारण विज्ञान का विकास नहीं है अपितु आध्यात्मिक विकास की प्रगति का धोमापन है। अब आज के युग की प्राथमिक आवश्यकता है आध्यात्मिक विकास की, न कि विज्ञान के विकास को अवरोध करने की। इस तथ्य को विश्व के दो महान् देश रूस और अमेरिका ने ममझ लिया है। आज दोनों ही देशों में भौतिक-विज्ञान के विकास के साथ पुनर्जन्म परामनोविज्ञान, टेलीपथी आदि अध्यात्म से सबधिन सिद्धान्तों का जितना वैज्ञानिक अनुमधान हो रहा है, अध्यात्म-प्रधान देश में उसका अताश भी नहीं हो रहा है। लक्षणों से ऐसा लगता है कि वह ममय भीष्ट ही आने वाला है जब भौतिक विज्ञान, आध्यात्मिक ज्ञान में अनुप्राणित होकर एक नये ही विलक्षण मगलकारी रूप में प्रकट होगा। इस विषय में विश्वविख्यात विद्वान् विनोबा भावे का यह विचार द्रष्टव्य है कि 'विज्ञान आत्मज्ञान के अतर्गत ही है उसका विरोधी नहीं, वह आत्मज्ञान का ही एक माग है, वह अदर आत्मज्ञान के रूप में प्रकट होता है तो बाहर विश्वज्ञान के रूप में। अन्ततः वह (आत्मज्ञान और विज्ञान) एक ही है।'^१

मच तो यह है कि विज्ञान अभी विकास की प्रारम्भिक अवस्था में है और वह अभी अपना विस्तार भौतिक क्षेत्र तक ही कर पाया है परन्तु अब उसकी कुछशाखाएँ आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर बढ़ने लगी हैं, परामनोविज्ञान, पुनर्जन्म का अन्वेषण, आध्यात्मिक चिकित्सा (Sophrology) आदि इसके दिशामकेन हैं। अतः जब विज्ञान का प्रवेग आध्यात्मिक क्षेत्र में हो जायेगा तब भौतिक विज्ञान और आत्मज्ञान का विरोध मिटकर मामञ्जस्य हो जायेगा तथा दोनों परम्पर पूरक व सहचर बनकर प्रगति-पथ पर आगे बढ़ने लगेंगे।

जैनआगमविशेषज्ञों के लिए आत्मज्ञान और विज्ञान का एक क्षेत्र के अनर्गत रहना कोई नवीन या आश्चर्यजनक बात नहीं है क्योंकि वे इस बात से पूर्वत ही परिचित हैं कि अध्यात्मप्रधान जैनधर्म के प्रवर्तक तीर्थंकरों ने परमाणुवाद के सूत्रों की निम स्तर पर रचना की है वहाँ तक आज का भौतिक (परमाणु) विज्ञान अभी तक भी नहीं पहुँच पाया है। इसमें स्पष्ट प्रकट है कि अगर वे तत्त्वज्ञ 'तीर्थंकर' परमाणुविज्ञान को माधक के लिए आवश्यक न ममझते तो अपने प्रवचनों में उसका इतना विनद विवेचन कदापि न करते।

मिति यह है कि ज्ञान हो चाहे विज्ञान, जैनधर्म की दृष्टि में वह म्वय में हेय उपादेय अथवा मय्यक्-अमय्यक् नहीं है अपितु उसका मय्यक्त्व, असम्यक्त्व उसके उपयोगकर्ता की मय्यक्-अमय्यक् दृष्टि पर निर्भर करता है। एक ही विषय का ज्ञान सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान रूप और मिथ्यादृष्टि के असम्यग्ज्ञान रूप में प्रकट होता है। चाहे ज्ञान हो या





विज्ञान, सम्यक्त्व होने पर ही मायना के क्षेत्र में स्थान पाना है। अगम्य होने पर तो विज्ञान ही नहीं ज्ञान भी अहितकर होता है।

इसी विषय पर दूसरी दृष्टि में विचारने से ज्ञात होता है कि मायारिक प्राणियों का जीवन न केवल भौतिक है, और न केवल आध्यात्मिक, प्रत्युत दोनों प्रकार का है। अतः प्राणा के विकास या मुक्ति हेतु दोनों ही पक्षों पर प्रकाश डालना आवश्यक होता है। जैसा आगमकारों ने यह तथ्य छिपा नहीं था। उन्होंने मात्रा के विकासक्रम का विवेचन करते हुए उक्त दोनों ही पक्षों के ज्ञान पर यथोचित प्रकाश डाला। आगम में निम्नलिखित वनस्पतिविषयक वर्णन भी इसी ज्ञान का एक भाग है।

यह भी प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि आगमों में वनस्पति के विषय में उतना विस्तृत विवेचन क्यों किया गया? इसमें साधनाक्षेत्र में क्या लाभ?

इस विषय में मक्षेप में यही कहा जा सकता है कि आगम में पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि स्थावर जीवों पर सज्ञा, कपाय, नैद्या, उपयोग आदि जिन पंचामों द्वारा (प्रकाश) में प्रकाश डाला गया, उन्हीं द्वारा में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि अन्य समस्त जीवों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस वर्णन के तुलनात्मक अध्ययन से प्राणी के विकासक्रम और कमफल-प्राप्ति के समझने में सहायता मिलती है तथा उनकी जिज्ञा के पाप में बचने में भी सहायता मिलती है, जिसका साधना के क्षेत्र में बड़ा महत्त्व उपयोगी स्थान है।

जैनागमों में वनस्पतिविषयक विपुल विलक्षण विवेचन सूत्रात्मक भाषा में किया गया है, उन्हीं समस्त रचने हुए, उनका वैज्ञानिक विश्लेषण व समर्थन करना ही प्रस्तुत लेख का विषय है। इस प्रांग में यह ज्ञानव्य है कि जैन आगमों में वनस्पतिविषयक जो गूढ़ सूत्र आये हैं उनका आधुनिक विज्ञान की भाषा 'वनस्पतिविज्ञान' व उसकी उप-शाखाएँ भ्रूणविज्ञान (एम्ब्रियोलॉजी) आदि जैसा रहस्याद्घाटन कर रही हैं वही जैन ही नहीं जैनेतर जनता के लिए भी आश्चर्यजनक, रोचक, कीर्तुलकारक तथा उपयोगी है। प्रस्तुत निबन्ध के पढ़ने पर पाठक स्वयं भी चमत्कृत हो इस मूल्यता का अनुभव कर सकेंगे।

जैनदर्शन

जैनदर्शन विद्वद् या उगीकरण दो तत्वों में करता है—“जीवा चेत्त अजीवा य एम् लोए विद्याहि।”^१ अर्थात् लोक में जीव और अजीव ये दो ही मुख्य तत्व हैं। विद्वद् की समस्त वस्तुएँ इन्हीं दो तत्वों के मिश्रण के विविध-रूप व परिणाम हैं।

जीव तत्त्व के मुख्यतः दो भेद कहे हैं—“समात्समावन्ना तमा चेत्त^२ थावर चैव।” अर्थात् समारी जीव दो प्रकार के हैं—जल और थावर। जो जीव चलते-फिरते हैं वे जल और जो जीव स्थिर रहते हैं वे थावर कहे जाते हैं। थावर जीवों के पाँच भेद हैं—

‘पञ्च थावरकाया पणत्ता तज्जा—उदे थावरकाए, वसे थावरकाए, सिण्णे थावरकाए, ममती थावरकाए, पायावच्चे थावरकाए।’^३

पृथ्वी स्थावरकाय, जल स्थावरकाय, अग्नि स्थावरकाय, वायु-स्थावरकाय, और वनस्पति स्थावरकाय, ये स्थावरकाय के पाँच भेद हैं।

स्थावर के इन पाँच भेदों में से इस निबन्ध का क्षेत्र केवल ‘वनस्पतिकाय’ के विवेचन तक ही सीमित है।

१ उत्तराध्ययन अ० ३६ गा० २

२ स्थानाग स्थान २ उ० १ सू० ५७

३ स्थानाग स्थान ५।३६४

साधारण जन, वनस्पति व वायु न समझने में वनस्पति मजीब है, इसके प्रति भी मन्देह्योक्त होते हैं। उक्त सर्वप्रथम वनस्पति की मजीबना पर वैज्ञानिक दृष्टि ने विचार किया जाता है।

सजीवता

विज्ञान-ज्ञान में वनस्पति को मजीब सिद्ध करने वाले वैज्ञानिकों में सर्वप्रथम नाम श्रीजगदीशचन्द्र बसु का जाता है। उन्होंने सन् १९२० ई० में वनस्पति में चेतना अभिव्यक्त करने वाले ऐसे यंत्रों की रचना की जो पौधों की गति-विधि को एक बगोड गुण बड़े रूप में दिखाते थे। साथ ही इनमें समय का बोध भी एक सैकेण्ट के महसुसों भाग तक होना था। ये यंत्र स्वयंसेवी थे। इनमें पौधा की गतिविधि की क्रिया, प्रतिक्रिया, प्रक्रिया, स्वतः अंकित होनी थी। इन यंत्रों ने उन्होंने स्पष्ट रूप में यह सिद्ध कर दिखाया कि वनस्पतियों और प्राणियों के समुदाय पर नींद, ताप, वायु, आहार आदि का प्रभाव बहुत कुछ एक तरह का ही पड़ता है।^१

एक बार बसु^१ जब पेरिस में वनस्पति को उच्चतम सिद्ध करने वाले प्रयोग दिखा रहे थे, उस समय इन्होंने पौधे पर 'पाथानिजम नाटनाट' विप का प्रयोग किया। यह विप इनका नींद होना है कि इसकी नींद भू-जितनी-सी माया भूत ने करने में समर्थ की तत्क्षण मृत्यु हो जाती है। परन्तु वहाँ उस विप के प्रयोग में पौधा मुग्धान्ते के स्थान पर प्रसन्न हो गया। उक्त ज्ञान यंत्रों पर उपस्थित द्रव्य का ये समस्त प्रत्यक्ष कर्म ही। बसु विचार में पड़ गये। परन्तु बसु को अपने सिद्धान्त की सच्चाई पर दृष्टि विज्ञान था। अतः अनुमान में जान लिया कि यह विप न होकर कोई अन्य स्थाविर बोध प्रदान ही हो सकता है। अतः आपने तत्कालिन उस अत्यन्त वातव्य विप को मक्के समक्ष ला लिया और बसु ने विप का दवाखाने में आया हुआ वह विप विप नहीं चीनी है। दवाखाने में यह विप देने वाला व्यक्ति भी वही दर्जनों में उपस्थित था। उसने उक्त तथ्य स्वीकार किया और विप के बदले चीनी देने के कारण का स्पष्टीकरण करने का कहा—'मुझे ज्ञान नहीं था कि विप का उपयोग इस प्रयोग में होने वाला है तथा यह मन्देह हो गया था कि विप-रेखा अश्वि आत्मप्राप्त करना चाहता है, इसीलिए विप के बदले उसी वर्णवासी यह चीनी दी था।'

'बसु ने यह भी सिद्ध किया कि जीवित प्राणियों में पाए जाने वाले^१ सचेतनता (Irritability),^२ स्पन्दन-शीलता (Movement) (३) आर्यारण्य ण (Organisation) (४) भोजन (Food) (५) वृद्धि (Growth) (६) श्वसन (Respiration), (७) प्रजनन (Reproduction), अनुकूलन (Adaptation) (८) निर्वर्जन (Excretion), (९) मरण (Death) आदि समस्त विशेष गुण वनस्पतियों में विद्यमान हैं। ये गुण निर्जीव पदार्थों में नहीं पाये जाते हैं, अतः वनस्पति निर्जीव पदार्थ न होकर मजीब है। आज विज्ञान-ज्ञान में वनस्पति विज्ञान, जीवविज्ञान की प्रमुख शाखा बन गयी है। आगे वनस्पति जीवा में पाये जाने वाले उपरोक्त विशेष गुणों पर क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा है—

(१) सचेतनता—जीवित पदार्थों का प्रथम प्रमुख गुण है सचेतनता अर्थात् अनुभव या संवेदन करने की शक्ति। इस गुण के कारण ही जीव बाहरी वस्तुओं के प्रभाव या अनुभव करना है तथा उनके प्रति उचित क्रिया या प्रतिक्रिया करता है। वनस्पति में भी सचेतनता उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार पशु-पक्षी, मनुष्य आदि अन्य प्राणियों में। प्याने केने के पीछे जो जल मिलने की वह उसे पीने लगता है। उसके खलपान की इस क्रिया की आवाज पीछे के पान बँटने अश्वि न स्पष्ट सुनाई देती है। पौधों का जल मिलने पर उनके सुरक्षाये हुए फूल पुनः खिल उठते हैं, कुम्हलपे हुए पत्ते हरे हो जाते हैं।

प्रकाश, पानी, ध्वनि, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति, परिस्थिति-परिवर्तन ताप आदि उत्तेजकों का प्रभाव वनस्पति पर विभिन्न प्रकार से पड़ता है। वनस्पतिविज्ञान में प्रकाश के प्रभाव को हेलियोट्रोपिज्म (Heliotropism)



पानी के प्रभाव को हाइड्रोटापिज्म (Hydrotropism) और पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के प्रभाव को जियोटापिज्म (Geotropism) कहते हैं। प्रयोगों से इन उत्तेजकों के प्रभावों के प्रति वनस्पति की क्रिया-प्रतिक्रिया स्पष्ट देखी जा सकती है।

हिलियोटापिज्म — प्रकाश का प्रभाव वनस्पति के अलग-अलग अंगों पर अलग-अलग प्रकार से पड़ता है। तना प्रकाश की ओर बढ़ता है, जहाँ प्रकाश से विरुद्ध दिशा में बढ़ती है, पत्तियाँ अपने को प्रकाश-किरणों में समन्वय पर रखने का यत्न करती हैं।

प्रयोग १ — पीधे लगे गमले को एक अड़ेरे कमरे में रप दिया जाय और कमरे की गिड़की को थोड़ा-सा खोल दिया जाय तो कुछ ही दिनों में यह दिखाई देगा कि पीधों के सिरे उगी और मुड़ गये हैं जिधर से प्रकाश आ रहा है।

प्रयोग २ — एक अकुरित चने को एक आलपिन द्वारा एक बोतल के कार्क में जड़-नीचे की ओर लटकनी रखकर लगा दिया जाय। इस बोतल को उलट कर ऐसे बरम में बद कर दिया जाय जिसके ऊपर से कुछ छेदों द्वारा प्रकाश आता हो। इस स्थिति में चने की जड़ ऊपर की ओर प्रकाश की तरफ होगी। कुछ दिनों के पश्चात् आपको ज्ञात होगा वह जड़ अपने आप ही मुड़ गई है और प्रकाश आने की विरुद्ध दिशा में बढ़ने लगी है।

पीधों की इसी प्रकृति के कारण उनके तने सदा भूमि में ऊपर प्रकाश की ओर व जहाँ जमीन के अंदर प्रकाश से विरुद्ध अवकाश की दिशा में बढ़ती है।

हाइड्रोटापिज्म—जिधर जल की मात्रा अधिक मिलती है, जहाँ उधर ही मुड़ जाती हैं। यदि किसी पीधे को एक ओर जल से सींचा जाय और दूसरी ओर सूखा ही रहने दिया जाय तो पीधों का बहुत बड़ा भाग मुड़कर जलवाले भाग की ओर बढ़ने लगेगा।

जियोटापिज्म—जिस प्रकार मनुष्य पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से परिचित होने से पैर पृथ्वी की ओर और सिर अंतरिक्ष की ओर रखता है, इसी प्रकार वृक्ष भी गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से परिचित होते हैं। वे अपने पैर (जहाँ धरती की ओर और घड़ (तना) अन्तरिक्ष की ओर रखते हैं। उदाहरण के लिए किसी पर्वत की ढलान वाली भूमि पर उगे हुए चीड़, देवदार आदि के किसी वृक्ष को देखिए। वह वृक्ष ढलानवाली मतह के साथ ९०° का कोण कदापि न बनायेगा अर्थात् वहाँ भी धरती की सतह के साथ ९०° का कोण बनाता हुआ सीधा ही गड़ा होगा। दूसरा उदाहरण लीजिये—एक पीधे युक्त गमले को पड़े की बजाय आधा लिटा दीजिये। कुछ दिनों में आप देखेंगे कि पीधे का तना घुमाव लेता हुआ धरती में समकोण (९०°) बनाता हुआ सीधा ऊपर जा रहा है।

जिस प्रकार मनुष्य को जल, ताप आदि की अत्यधिक व अत्यल्प मात्रा अमह्य होती है, उसी प्रकार वनस्पति को भी अमह्य होती है। पौधा अधिक जल में गल जाता तथा जल के अभाव में सूख जाता है। अधिक धूप में जल जाता तथा अधिक शीत में ठिठुर कर टूट बन जाता है। यही नही, वनस्पति में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष शोक, निद्रा आदि चेतनत्व के अभिव्यक्तक सब गुण पाये जाते हैं। इनका विशेष वर्णन अगले प्रकरणों में किया जायेगा।

स्पदनशीलता (Movement) जीव अपनी आंतरिक शक्ति तथा प्रेरणा से स्पदन, हलन-चलन व गति करते हैं। जीव की इन्ही गतिविधियों को जीव-विज्ञान में गति कहा जाता है। यह गति दो प्रकार की होती है—एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना व शरीर के अंग-उपांगों में स्पदन व मचरण होना। चर जीवों में दोनों प्रकार की गतियाँ पाई जाती हैं। साधारणतः वनस्पतियाँ अपने स्थान पर ही स्थिर रहती हैं। उनमें गति तने, पत्र, पुष्प आदि की वृद्धि के रूप में या संवेदन से होने वाली हलन-चलन के रूप में देखी जाती है। छुरई-मुई के पीधे को छूते ही उसमें हलचल प्रारम्भ हो जाती है। उसकी पत्तियाँ सट जाती हैं व टहनियाँ झुक जाती हैं। सूर्यमुखी फूल सदा सूर्य की ओर मुँह किए रहता है और सूर्य के घूमने के साथ-साथ अपना मुँह भी घुमाता रहता है। मल्लिनी की कलियाँ सूर्यास्त के

समय स्वतः बढ़ जा जाती है और मूर्खोद्देश होने पर पुनः सिल उठती हैं। सनड्यू और चीनस-फ्लाइट्रेप के पौधे अपने फूलों पर कीट-पतंगों के बैठने ही उन्हें अपने नागपाश में बाँध लेते हैं। इस शिकार-क्रिया की कुर्ती इतनी चामत्कारिक होती है कि एक मैक्विड के यताग में ही खेग खत्म हो जाता है।”

शारीरिक गठन (Organisation)—जीवधारियों के शरीर का गठन किसी विशेष व निश्चित आकार-प्रकार और रूप में होता है। एक ही जाति के जीव-जन्तु रूप व आकार में एक से होते हैं। निर्जीव वस्तुओं में यह बात नहीं होती है। उदाहरणार्थ निर्जीव पदार्थ कागज को लीजिये। वह किसी भी आकार-प्रकार, रूप-रंग का व छाटा-पटा हो सकता है पन्तु मजबूत कुत्ता न तो चीता के बराबर बड़ा ही और न चीता के बराबर छोटा ही हो सकता है। चाय ही कुत्तों के शरीर का गठन व आकृति एक-सी व अन्य प्राणियों में भिन्न होती है। इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी अपना निश्चित प्रकार शारीरिक गठन, रूप व आकार रखती हैं अर्थात् एक जाति की वनस्पति का रूप, पत्ते, फूल, फल आदि का गठन एकसा होता है।

भोजन और उसका स्वीकरण (Food and its assimilation)—प्रत्येक जीव शारीरिक शक्ति, वृद्धि व क्षतिपूर्ति के लिए भोजन करता है। भक्षित पदार्थों को शारीरिक तत्वों के रूप में परिणमन कर उसे शरीर का अंग बना लेने की क्रिया को स्वीकरण या अमीकरण कहते हैं। यह क्रिया जीवधारी में ही पाई जाती है, जब वस्तु में नहीं। वनस्पति में यह क्रिया प्रत्यक्ष देखी जाती है। वह मिट्टी, पानी, पवन आदि से भोजन ग्रहण कर शक्ति प्राप्त करती व अंगों को पुष्ट करता है। यही नहीं, अन्य प्राणियों के समान वनस्पतियाँ भी दुग्धाहारी, निरामिषाहारी, मामाहागे आदि कई प्रकार की होती हैं। इसका विशेष वर्णन ‘आहार के प्रकार’ प्रकरण में देखने को मिलेगा।

प्रवृद्धि (Growth)—जीवित पदार्थों के शरीर में वृद्धि होती है। पशु-पक्षी आदि जीवों के वच्चे बढ़कर बड़े होते हैं। यह वृद्धि आनग्वि होती है। इस वृद्धि में समय, आकार व आयतन की अधिकतम सीमा निश्चित होती है। यह गुण जब पदार्थों में नहीं पाया जाता है, केवल जीवित प्राणियों में ही पाया जाता है। वनस्पतियों में भी यह गुण विद्यमान है। वटवृक्ष का एक नन्हा-सा बीज अपनी आतंग्वि शक्ति में बढ़कर विपाल वृक्ष बन जाता है। उसके फल, फूल, पत्ते एक निश्चित सीमा तक ही बढ़ते हैं। उसके फल बटार न तो लोकी जैसे लम्बे हो होते हैं और न पेंडे जैसे मोटे ही।

श्वासन (Respiration)—जैनदर्शन के समान विज्ञान की भी यह साम्यता है कि विश्व के समस्त सजीव प्राणियों में श्वसन क्रिया विद्यमान है। इस विषय में वैज्ञानिकों का कथन है कि जीवित प्राणियों में सतत क्रिया चलती रहती है। इस क्रिया के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। जीवों को इस शक्ति की प्राप्ति उनके द्वारा ग्रहण किए आहार में उद्भूत शक्तिपूर्ण अवस्था में होती है। श्वसन क्रिया के परिणामस्वरूप कार्बन डाइ-ऑक्साइड बनती है। यह एक विषैली गैस है जिसे शरीर में बाहर निकालना अत्यावश्यक है। जीवित रहने के लिए आक्सीजन प्राप्त करना व इसमें उत्पन्न कार्बनडाइ-ऑक्साइड बाहर निकालना नितात आवश्यक है। प्राणी हवा से आक्सीजन प्राप्त करने के लिए श्वास लेता है और उच्छ्वास के रूप में कार्बन डाइ-ऑक्साइड शरीर में बाहर फेंकता है। जीव-विज्ञानशास्त्र में इसी श्वाशोच्छ्वास प्रक्रिया को श्वसन कहा जाता है। वन जीवों में यह क्रिया श्वसन-सम्पान (फेफड़े, गलफड़े आदि) द्वारा होती है और वनस्पति में पत्तों आदि द्वारा होती है। हवा या जल के अभाव में अन्य प्राणियों के समान वनस्पति में भी श्वसनक्रिया में अवरोध उत्पन्न होने पर मुरझा कर मर जाती है। वनस्पति में श्वसन-क्रिया होती है, इसे निम्नांकित प्रयोगों में देखा जा सकता है।

प्रयोग १ —काँच के एक जार में कोई पौधा रखिये। उसे किसी बड़े बेलजार से ढकिए। बेलजार के अन्दर एक काँच के गिलास में चूने का माफ पानी भर कर रख दीजिए। बेलजार को काले कपड़े में ढककर रात भर पड़ा रहने दीजिए। प्रातः चूने के पानी को हिलाकर देखेंगे तो वह दूधिया होगा। इसके दूधिया होने का कारण पौधे





के उच्छ्वास द्वारा छाटी गई कार्बन-डाई-आक्साइड गैस ही है।

प्रयोग २ —झींजे की चौड़े मुँह वाली वातल में थोड़े में अकुरित चने भरकर डाट इस प्रकार बंद कर दीजिये कि हवा उसमें न जा सके। उसे अन्दरे में रखा दीजिये। इसी प्रकार की दूसरी वातल में कुछ अकुरित चनों को पानी में डबालने के बाद भरकर उसी प्रकार रखा दीजिये। दूसरे दिन पहली वातल को खोलकर उसमें जलता हुआ पत्तीता छोड़िये। पत्तीता तुरन्त बुझ जायेगा। दूसरी वातल में भी ऐसा ही कीजिये। इसमें पत्तीता जलता रहेगा। इसका कारण यह है कि पहली वातल में जो अकुरित चने थे, वे जीवित थे। अतः उनकी दमोच्छ्वास क्रिया द्वारा कार्बन-डाई-आक्साइड गैस उत्पन्न हुई और इसी गैस की विद्यमानता से उसमें पत्तीता बुझ गया। दूसरी वातल में जो अकुरित चने थे वे डबाले जाने से मृत हो गये थे। इसलिए उनमें दमोच्छ्वास नहीं हुआ और कार्बन-डाई-आक्साइड गैस पैदा नहीं हुई। इसीलिए पत्तीता जलता रहा। हमें सिद्ध होना है कि जीवित जीवों में दमोच्छ्वास क्रिया होती है, मृत में नहीं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जैनागमों में वनस्पति का मृत या निर्जीव हो जाना बतलाया गया है जो जीव-विज्ञान विषयक उपर्युक्त प्रयोगों से प्रत्यक्ष प्रमाणित होना है।

उत्पादन या प्रजनन (Reproduction) जीवधारियों में अपनी जाति को स्थायी रूप से के लिए प्रजनन की शक्ति होती है। पक्षी अंडे देकर तथा पशु अपनी ही आकृति-प्रकृति के बच्चे पैदा करके अपनी जाति की वंश-परम्परा को बनाये रखते हैं। इसी प्रकार वनस्पति भी अपने बीज से अपने ही समान नए पौधों को जन्म देकर अपनी वंश-परम्परा का बनाये रखती है। इतना ही नहीं, अन्य प्राणियों के समान इनमें सभोग व गर्भावधान भी होना है। आज इस विषय का ज्ञान इतना अधिक विस्तृत हो गया है कि वनस्पति-विज्ञान में भ्रूण-विज्ञान नामक एक नई शाखा ही खुल गई है।

अनुकूलन (Adaptation) जीवधारियों में अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल ढालने की अनुपम क्षमता होती है। घास में रहनेवाले जन्तुओं का रंग हरा या उभरी घास के रंग का तथा मिट्टी में रहने वाले जन्तुओं का रंग मटमैला या उसी मिट्टी के रंग का होता है, जिससे वे जन्तु अपने को शत्रुओं से छिपाकर जीवन निर्वाह व रक्षा कर सकें। गिरगिट तो प्रकृति के अनुरूप रंग बदलने में प्रियतम ही है। पौधों में भी यह अनुकूलन क्रिया होती है। रेगिस्तान के पौधों की पत्तियाँ सजल स्थानों के पौधों की अपेक्षा छाटी होती हैं, जिसे उनके द्वारा आप वनकर कम पानी उठे और वे कम पानी में जीवन-यापन कर सकें।

विसर्जन (Excretion) जीवों की शारीरिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप यूरिया, यूरिक अम्ल, कार्बन-डाई-आक्साइड आदि अनेक दूषित व मल पदार्थ बनते हैं। इनको शरीर से बाहर निकालने की क्रिया को विसर्जन या नोहार कहा जाता है। पशु-पक्षियों में यह क्रिया गुर्दा, त्वचा, फेफड़ों, आंतों आदि द्वारा होती है। पौधों में यह क्रिया पत्तियों द्वारा श्वसन, स्वेदन व झड़ने के रूप में होती है।

मृत्यु (Death) जीवित पदार्थ कुछ समय तक तीव्र वृद्धि करते हैं। फिर वृद्धि धीमी पड़ जाती या रुक जाती है और अन्त में वे मर जाते हैं। यहाँ मर जाने का अर्थ है जीवन-क्रियाओं का सदा के लिए बंद हो जाना। जीवों की अधिकतम आयु निश्चित होती है। वनस्पति भी जन्म लेती, बढ़ती व जीवन-क्रिया बन्द हो जाने पर मुरझाकर मर जाती है।

मजीवना-निर्देशक उपर्युक्त लक्षण—चेतनता, स्पन्दशीलता शरीर निर्माण, भोजन, ध्वसन, प्रजनन, अनुकूलन, विसर्जन और मरण-केवल जीव-धारियों में ही पाये जाते हैं। निर्जीव पदार्थों में इनमें से एक भी नहीं पाया जाता है। इनमें केवल एक गुण या लक्षण की उपलब्ध या अभिव्यक्ति ही सजीवता का ज्वलन प्रमाण होना है। उपर्युक्त प्रमाणों से यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि वनस्पति में मजीवना-प्रदर्शन उक्त सभी लक्षण या गुण विद्यमान हैं। अतः वनस्पति की सजीवता में सन्देह को स्थान नहीं रह जाता है।

जैनदर्शन की समानता —जैन आगमों में वनस्पतिविषयक विभिन्न वर्गीकरणों द्वारा जो वर्णन आया

है उसमे और उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन मे पर्याप्त समानता है, यथा-वनस्पति मे चार पर्याप्तियाँ कही गई है —

नेति य मने । जीवाणवत् पञ्चत्तो जा पणत्ताआ ? चत्ताणि पञ्चत्तो जा पणत्ताआ, तत्ता-जाहाणपञ्चत्तो, मरीणपञ्चत्तो, इदिपञ्चत्तो, जाणापुणञ्चत्तो । — जीवानिमग

अर्थात् पृथ्वीराज के समान वनस्पतिराज जीवों मे भी जाहार, शरीर, दन्त्रिय और स्वाभोच्छ्वास य चार पर्याप्तियाँ होती हैं । जमिप्राय यह है कि वान्स्पतिराज के जीव उत्पन्न होने ही सर्वप्रथम आहार करते ह । जाहार मे शरीर का गठन व वर्धन होता है । शरीर के गठन मे दन्त्रिय का प्रादुर्भाव होता है जिसमे प्राणी मे संवेदन-संवेदन आदि क्रियाएँ होती हैं । पश्चात् चीरनक्षम व्यस्तियन चलने के लिये शरीर के अन्तर्भागों में क्रिया प्राप्ति होती है । इन प्रकार पर्याप्तियों के अन्तर्गत में संवेदनता के साथ साधारणरूपि में भावना, शरीररूपि में शारीरिक गठन एवं वर्धन, दन्त्रिय-पर्याप्तियों में संवेदन व संवेदनशीलता का स्वाभोच्छ्वास पर्याप्तियों में स्वयं क्रिया का म विज्ञान-वस्तु मे वसित मजीवता के ६ अंग समझि जाते हैं । जैन आगमो मे वनस्पति मे चार प्राण-पर्याप्तियों का, स्वाभोच्छ्वास तीर जागुण-तह है । इसमे वसित जागुण प्राण की अतिम स्थिति ही विज्ञान मे अति "मग" है । भगवतीसूत्र धनक १६ उ० ३ सू० ८ मे वनस्पति गृहीत आहार के निम्नार पदार्थ का विमर्जन या मोहा कती है, यह स्पष्ट उल्लेख है । प्रजनन, संयुग्मन का व अनुत्पन्न की प्रवृत्ति मति-युत ज्ञान की द्योतक है । संयुग्मन-पक्षा जीव मति-युत ज्ञान जैनागम वनस्पति मे मानते हैं । उन मय का विशेष वर्णन उनके प्रवचनानुसार प्रत्यक्षों मे मिलेगा । आशय यह है कि जैनागम मे विज्ञान-जगत् मे वसित वनस्पति की मजीवता के सभी अंगों का विमर्द वर्णन मिलता है ।

उपर्युक्त वनस्पतिविषयक 'जैनागमो मे जाण सूत्रो' एवं 'वैज्ञानिक विवेचन' के तुलनात्मक अध्ययन मे यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वान्स्पति का उत्पन्न पदार्थ जैन धर्म का वय विज्ञानजगत् मे अन्वेषणा मे अभी सामने आया है, उनमे जीव जैन-आस्था मे प्रवेश हो मिश्रमान है । जैनागमकार उनमे नहना वय पूर्व ही परिचित थे ।

वनस्पतिकार के भेद

"वाग्म्यमन्त्राद्या दुष्टिहा पणत्ता, तज्जा-पुद्गमवाग्म्यमन्त्राद्या य वाग्म्यमन्त्राद्याकाट्या य ।"

— पन्नावणा प्रथम पद, सूत्र १३

अर्थात् वनस्पति काय के दो भेद हैं सूक्ष्म वनस्पतिकार, आदर वनस्पति काय ।

वाग्म्यमन्त्राद्या दुष्टिहा पणत्ता तज्जा-पुद्गमवाग्म्यमन्त्राद्या य वाग्म्यमन्त्राद्याकाट्या य । मे कि त पुद्गमवाग्म्यमन्त्राद्याकाट्या ? पुद्गमवाग्म्यमन्त्राद्याकाट्या दुष्टालाविहा पणत्ता, तज्जा-पणत्ता, गुच्छा, गुम्मा, जना य वशी य पञ्चगा, चैव ना-वलय-शरिर-आहि-वत्तह-कुट्टणा य बोद्धवा ।

— पन्नावणा पद प्रथम

आदर वनस्पतिकार दो प्रकार की है, यथा — प्रत्येक शरीर आदर वनस्पतिकार और माधारण शरीर आदर वनस्पतिकार प्रत्येकशरीर आदर वनस्पतिकार के १० भेद कहे हैं— (१) द्रुम (२) गुच्छ (३) गुल्म (४) लता (५) वशी (६) पर्व (७) तृण (८) वलय (९) शरिर (१०) औषधि (११) जलरुह (१२) कुट्टन ।

आधुनिक वनस्पतिविज्ञान भी वनस्पति के उपर्युक्त वर्गीकरण को प्रायः पूरा का पूरा स्वीकार करता है । यही नहीं, पन्नावणापुत्र मे उक्त प्रकरण मे जाये उन वनस्पतियों के उल्लेख को भी स्वीकार करता है । विस्तार के लिये मे यथा लक्ष्य मे ही उल्लेख किया जा रहा है ।

प्रत्येकशरीर जीव उन्हें कहा जाता है जो एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो अर्थात् प्रत्येक जीव का अपना शरीर पृथक्-पृथक् होता है, यथा — "जह मगलमिमाण, मिनेममिमाण वट्टिआवट्टा । पत्तेजमरीण तह होति मरीमयाया ।

— पन्नावणा प्रथम पद





जैसे अनेक सरसक के दानो को गुड में मिलाकर उसकालङ्क बनावें। वह लड्डू एक पिण्ड रूप में रहता है। इसमें सरसो के सब दाने पृथक्-पृथक् रहते हैं, वैसे ही बाह्य में एक ही पिण्ड रूप में दीखने पर भी जो जीव अपना शरीर या व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् रखते हैं वे प्रत्येकशरीरी कहलाते हैं। ये प्रत्येकशरीरी वनस्पतिकार्यिक जीव अनेक प्रकार के हैं। पूरे पौधे में रहनेवाला एक जीव भी प्रत्येकशरीरी है और उसके भाग मूल, स्कंध, शाखा, पत्र, पुष्प व फल में व इनके विभिन्न भागों में संयुक्त रूप में रहनेवाले भी प्रत्येकशरीरी हैं। ये सख्या में एक, दो, सख्यात, असख्यात, अनन्त हो सकते हैं। एक बार स्व० बाबू छोटेलालजी ने एक मडली महित श्रीजगदीशचन्द्र वसु की प्रयोगशाला से इसका समाधान चाहा कि वृक्ष के पत्ते, फल, फूल, बीज आदि में भी अलग-अलग जीव हैं या नहीं? अनुसंधानशाला में यंत्रों के माध्यम से पत्र-पुष्प आदि में पृथक्-पृथक् जीव प्रमाणित किए थे। पौधे के अतिरिक्त पुष्प में भी अपना पृथक्-पृथक् जीव है, यह निम्नांकित प्रयोग से सिद्ध होता है —

“एक तुरन्त के तोड़े डबल सहिन सफेद गुलाब को या अन्य किसी फूल को लाल पानी में डूब डुबाकर रखिये। थोड़ी देर में फूल की पखुडियों पर लाल रंग जगह-जगह दिखलाई देगा।”

उपर्युक्त प्रयोग से स्पष्ट प्रकट होता है कि यदि फूल में अपना पृथक् जीव न होता तो वह पौधे में टूटने पर मृत हो गया होता और लाल रंग का जलपान न कर सकता। फूल ही नहीं प्रत्येक बीज भी सजीव होता है। कहा भी है —

जोनिभूए बीए जीवो वक्कमइ सो व अन्नो वा ।

जोधि य भूले जीवो, सो वि हु पत्ते पडमयाए ॥ —पन्नवणा प्रथम पद सूत्र १४

अर्थात् योनिभूत बीज ही उत्पन्न होने हैं। जो बीज छेदन-भेदन करने व भूने जाने से निर्जीव हो गये हैं वे उत्पन्न नहीं होते हैं। जो, गेहू, मक्का, ज्वार, बाजरा, आदि अनाज के दान योनिभूत बीज ही हैं और सत्तित्त(सजीव) हैं, जैन साधु इन जीवों को किसी प्रकार का कण्ट या सताप न हो एतदर्थ छूते भी नहीं हैं। आधुनिक वनस्पतिविज्ञान इन्हें जीव स्वीकार करता है। खाद्य-विशेषज्ञ डा० पिंगले का कथन है—“अनाज भी एक जीवित प्राणी है और उसकी सुरक्षा आदमी की तरह ही करनी चाहिये।”

आगे आगमकार साधारण वनस्पतिकार्य या निगोद जीवों का वर्णन करते हुए कहते हैं —

सुद्धमा आणागिज्झा चक्खुपास न ते एति ।

एगस्स दोण्ह तिण्ह व, सखेज्जा ण णपासउ सक्का । दीसति सरीराइ णिगोअजीवाणताण ।

—पन्नवणा, प्रथम पद

अर्थात् साधारण वनस्पतिकार्य या निगोद के जीव इतने सूक्ष्म हैं कि वे चक्षु से अप्राप्य हैं और देखने में नहीं आते हैं। तथा बादर निगोद के भी एक, दो, तीन, सख्यात व असख्यात जीवों का शरीरपिण्ड नहीं देखा जा सकता है परन्तु अनेक जीवों का शरीरपिण्ड ही देखा जा सकता है।

जस्स भूलस्स भग्गस्स समो भगो पदीसइ । अणत्तजीवे उ से भूले जे आवण्ण तहाविहा । साधारणसरीर-वायर-वणस्सइकाइया अणेगविहा पणत्ता, तज्जहा-अवए, पणए, सेवाले, लोहिणी, णिहूत्थिभगाय ।

—पन्नवणा, प्रथम पद

एत्थ ण वायरवणस्सइकाइयाण पज्जत्तगाण गणा पणत्ता, उववाएण, सव्वलोए, समुग्घाएण सव्वलोए,

—पन्नवणा, द्वितीय पद

अर्थात् त्रिस्र वनस्पति का मूल स्वध, धान्वा, पत्ता, पुष्प व फल में वे जिनको तोड़कर टुकड़ा करने से चमत्कार-गोलाकार समविभाज दिशाई दे वह अननवीकरण माधारण वनस्पतिकार है। इनके अवन, पणक, शीवादि अनेक प्रकार हैं। वाटर वनस्पतिकार भी उष्ण श्रेणी में उत्पन्न होती है।

उपर्युक्त आगम-वचन में यह स्पष्ट है कि वनस्पति संपूर्ण विश्व के लोकाकाश में विद्यमान है। माधारण वनस्पतिकार जीव अल्पजन्म मृदम व गोगमा हैं तथा धौवाल, पणक, त्रिख, अवक, कुहण आदि भी वनस्पतिकार जीव हैं।

यहां प्रथम वनस्पति विश्व में सर्वत्र विद्यमान है, जैनदर्शन के इस सूत्र को लेते हैं। इन विषय में "जाम्बवत्त में पीने" शीर्षक वाग्विन्नाकिन उदाहरण द्रष्टव्य है —

तुनिर्वादि आक कौटिल्योनिता, बर्ले जमर्गका श्री एक विद्यात नयोप्री में विद्यात औपोगिक प्रतिष्ठान 'इनेपट्टो अप्टिस्ट मिट्टम' के डा० फ्रेड एम० जाम्बन ने एक मौखिक व्याख्यान में पढ़ा है — "दूर अन्तर्गत में फेंडे धृष्टिगो श्री वाचन यह आम धारणा है कि वे अप्टिस्ट अथवा वक के बने हैं" अब बहुत मर्ही नही मालूम देनी। स्पष्ट-परीक्षा के आधार पर मेरी राय है कि ये जण क्लोरोफिल में बने हैं। सभी पेड़ पौधों का वह पदार्थ, जो उन्हें हरा रंग प्रदान करता है, क्लोरोफिल ही है।"

मृदमवनस्पतिकार के विषय में आगमों में आया है कि उन पर जिनमें भी पदार्थ का मरण, छेदन-भेदन, चीन-नाश रूप प्रभाव नहीं पड़ता है, इसी विज्ञान का समर्थक उद्धरण पठनीय है —

"जमरीग श्री अनरित-प्रयोगशास्त्रों द्वारा किये गये प्रयोगों में यह सिद्ध हुआ है कि प्लैवावेजिटल जीवाणु अति सूक्ष्म व अद्भुत प्राणी हैं क्योंकि न इनमें जन्म है, न मृत्यु है, न विकास है, न नाश। उन्हें जीवित रहने के लिए न भोजन की आवश्यकता है, न वायु की। वे बिना किसी धान के अन्तर्गतीय यात्राएँ कर सकते हैं। "प्लैवावेजिटल" जीवाणुओं पर अधिक ताप और चीन का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे अवातजीवी हैं। इनका भोजन मास्वीन है।" जैनागमों में इसी में मित्रा-जुना वर्गन मृदम स्याव व निगोद के जीवों का आता है। केवल विद्या-शील है तो जन्म-मरण न होने का विषय है।

इसे समझने के लिए दर्शन में वर्णित एक विश्लेषण तथ्य श्री ध्यान में आना चाहिए और वह तथ्य यह है कि जैनदर्शन निगोद के शरीर के जन्म-मरण में निगोद के जीवों का जन्म-मरण नहीं मानता है अपितु उस शरीर के जीवों के ऐसे विद्यमान रहने हुए भी उस शरीर में स्थित अनन्त जीवों का जन्म-मरण निरन्तर होता रहता मानता है। इस दृष्टि में यदि वैज्ञानिकों को इन सूक्ष्मजन्म जीवों के शरीर नष्ट होने नजर न आये हों और इसलिए उनका जन्म-मरण न माना हो तो इसमें जैनागमों में कोई कमजोरी नहीं होती, प्रत्युत समर्थन ही रहता है। वैज्ञानिकों द्वारा इन जीवों को एक और तो अनाशरी मानना और दूसरी ओर मास्वीय आशरी मानना जैनदर्शन की इस मान्यता को पुष्ट करने वाला है कि मृदम-निगोद के जीव आशरी हैं।

जैनागमों में निरूपित सूक्ष्म स्याव जीवों की तुलना बैक्टेरिया जीवों में की जा सकती है। बैक्टेरिया जीवों के विषय में वैज्ञानिकों का कथन है कि "ये कीटाणु अपने छोटे होने के कारण सूक्ष्म-दृशक-यंत्र से भी इनका पता लगाना कठिन है। नमक में सोडे वाहने में नहीं जहाँ ये न हों। ये कीटाणु हर जगह के पानी में, हवा में, हर ऊर्ध्व पर, जमीन की गहराई तक, मरे हुए या जीवित जानवरों में और पौधों के जन्तु पाये जाते हैं। बहुत से कीटाणु तो हल्का ताप-क्रम पर रह सकते हैं।" यह तथ्य जैनागमों में सूक्ष्म स्याव जीवों के आये हुए विवेचन में

१ नवनीत अमृत ६७, पृ० २१

२ नवनीत जून १९६३, पृ० ५६-६०

३ कृषि-शास्त्र पृ० १०५



मिलना है। वेनटेरिया प्राणी आकृति-प्रकृति के अनुसार जिने ही प्रकार के हैं। इन में से मूढग गोलाकार आकृति के कीटाणु जिन्हें कोकोई (Cocci) कहते हैं तथा चक्करदार आकृति के कीटाणु जिन्हें स्पाइरल (Spiral) कहते हैं।^१ सूक्ष्म या निगद वनस्पतिकाय में गणित हो सकते हैं।

पन्नपणा-जीवाभिमग आदि आगमा में मीलन-फूटण, काई-फफूंदी आदि की भी वनस्पतिकायिक जीव माना है। उन्में में कुष्ठक का नीचे सकेन रूप में विवेचन कर यह दिवाया जायगा कि सूत्रागो का उक्त प्रतिपादन पूर्णत विज्ञ नमस्त है

प्रथम पणक जाति की वनस्पति का ही लिया जाता है—“पण-मात्रोत्क भूमि-गुह्योद्भवान्का”^२ अर्थात् इंट गृमि, गीत की नगी में उत्पन्न हुई भाजिक-काई-गणक वनस्पति है। उक्त विषय में वनस्पतिविज्ञान का कथा है कि “दीपाओ पर तथा नगी वाले स्थानों पर हरी-नी काई होती है यह पयूनरिया (Funaria) जाति की वनस्पति है।”

कुष्ठ-आहारकजिवाभिमगगिरा।^३ अर्थात् ग्राह्य पदार्थ व काजी आदि में उत्पन्न हुई फफूंदी (फूटण) कुष्ठ जाति की वनस्पति है। “किण्व उपाकाओद्भवउत्प्राणि।”^४ वर्षा-मात्र में उत्पन्न छत्र-गुह्योद्भवमुत्ता किण्व वनस्पति है। अर्थात् जैनागम में अचार पर छाई जाने वाली रात्री-नी फफूंदी, १-२ दिन की चामी रोटी पर जमान बाठा फफूंद या ताती रुई का या पदार्थ, सड़ो-गली वस्तुओं पर आन वाली पुई का कुष्ठ वनस्पति कहा है। वर्तमान वनस्पतिविज्ञान भी इनका पक्षों पर आने वाली पुई या फफूंदी को फणगी (Fungi) वनस्पति मानता है।^५ तथा किण्व-गुह्यमुत्ता-गोप को भी फफूंदी जाति की ही वनस्पति मानता है।^६

“धैरागुह्यकण्ठकामिका हस्तिउपा।”^७ अर्थात् जल में रही हरे वर्णवाली धैराग जी वनस्पति है तथा “कयक गुह्योद्भववामुरा जटागा।”^८ अर्थात् रीगो पर जटाकार अकृति वनस्पति “कयक” बही जाती है। वर्तमान विज्ञान भी इन दोनों का तथा पन्नपणा सूत्र में पेड के तो व छाल में धननकाय वनस्पति को एल्गी (Algae) जाति की वनस्पति मानता है। पयुओं के गीन आदि पर उत्पन्न होने वाली धनस्पतियों में सिमवियो-टिली, ज्वरीशेला, हायड्रा थिरिउग आदि मुख्य हैं।^९

जैनदर्शन पमीर व मनुष्य के पमीर में भी निगोद जीव मानता है। आधुनिक कीटाणुवाद के जनक लुईपाश्चर ने पमीर को एक वानस्पतिक जीवकोष तित्त किया है। पमीर के पीछे की थारीरिक रचना अन्य वानस्-तिक जीवकापो जैसी होती है। वह या तो गोलाकार होता है या अडाकार। वजन में एक ग्राम का दम अरबवा हिस्सा होता है। पमीर का पीछा मिठान का बड़ा गोलीन होता है इसलिए फूँगे के मरुदों में तथा अपूर-मेव के छिलकों पर नफेदी की जो टन्की-नी परत छापी रहती है वह पमीर के पीछो का जल ही होता है।

पमीर अनेक जाति का होता है। इनकी एक जाति मनुष्य की रक्षा पर भी लग आती है। उसे बग्रेजी में यीस्ट कहा जाता है।^{१०}

“श्रीम श्रुतु में आटे के गट्टा हो जाने, शर्वत के उट्टे पड जाने में भी एक सेल वाली फफूंदी ही कारण है। पेनिगिलिन जैसी दवाग भी फफूंदी ही से बनती है।”^{११}

आशय यह है कि जीवाभिमग व पन्नपणा सूत्र में साधारण-निगोद वनस्पतिकाय की ऐसी जातियों का उल्लेख मिलता है जो न ता चक्षुओं में दिखाई दी देती है और न बुद्धि जिन्हें वनस्पति मानने को ही तैयार होती है उन्हें

१ २ कृषि शास्त्र पृ० १२६

३ ४ ६ १० आशाधर, अनगर धर्मसूत्र टीका

४ ७ ८ ११ देखिये हा० कृषि शास्त्र पृ० १२०-१२५।

१२ नवनीत मई ६० पृ० ३३

१३ प्रा० कृषि-शास्त्र पृ० १२५

आज वनस्पति-विज्ञान और उसी प्रकार की वनस्पति मानता है जैसा कि आगनों में उनका निम्न है। यह हम बात की जाती है कि उन पौधों के प्रयोग निम्न ही अनुसंधान से। विज्ञान इसे अपने पौधों का विषय बनाकर आधुनिकारी पण्डित मानने ला सकते हैं।

मज्जा

जैन-जैन वनस्पति को साथ सजीव वस्तु की टिप्पणी कर देता है प्रसिद्ध इसकी प्रकृति, प्रवृत्ति, प्रवृत्ति या पत्रांगों प्रकाश में वर्गीकरण कर विज्ञान में प्रकाश डालता है। जीवों में मज्जा (टिप्पणी) होती है। अतः आगनों में मज्जाओं का समानोत्पत्ति करने हुए कहा गया है —

चत्वारि मज्जाः पञ्चानां नवह-जाह्नव्या, नमज्जा, मेहुमज्जा, पण्डितमज्जा।

—स्थानाग, म्यान् ४ उ० ८ सूत्र ०३

अर्थात् मज्जा चार होती है, यथा —आज्ञा-मज्जा, मय-मज्जा, मैतुल-मज्जा, प्रसिद्ध-मज्जा। आगम में मज्जा के समान प्राणियों में इन चारों ही मज्जाएँ मानी गई हैं। वनस्पति भी इसका अन्वय नहीं है। प्रकृति में सर्वप्रथम वनस्पति की “आज्ञा-मज्जा” का विवेचन किया गया है।

आहार मज्जा —आहार-मज्जा इस बात से जान ली प्रसिद्ध है कि पौधे बढ़ते हैं प्रत्युत यह बात बहुत कम व्यक्ति जानते हैं कि पौधों की यह वृद्धि इसी प्रकार मानने से होती है जिस प्रकार हमारे शरीर की वृद्धि भोजन से होती है। प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि पौधा का आकार बड़ा, बालु, प्रकाश आदि आहार मिलना बन्द हो जाने पर वे मुरझाने लगे मृत्तम होते हैं।

जैनागम में वनस्पति के आहारविषय विभिन्न पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वनस्पति किस प्रकार का आहार करती है, उसका वर्णन करने हुए कहा गया है —

‘जोम-राग-पञ्च-वर्ग-का-रा-न-जाव-मुक्ति-का-ट, तप-आ-मुक्ति-गवा-ड, दु-नि-गवा-ड, म-ना-नि-त-जा-व-मु-ग-ड, फ-व-जा-व-मु-ग-ड म-उ-व-जा-व-मु-ग-ड, नै-मि-पा-ग-ले-व-मु-ग-ड जा-व-फ-म-गु-ले-वि-परि-णाम-नि-ता, परि-ण-ल-ड-ता, परि-मा-ड-ता, परि-वि-म-ड-ता, अ-ले-अ-पु-ले-व-मु-ग-ड, ग-प-गु-ले-जा-व-फ-म-गु-ले-उ-पा-ए-ता आ-न-म-री-र-नी-गा-ले, पो-ग-ले-म-व-का-रा-ग-जा-ह-म-हा-र-नी’।

—जीवानिमग, प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र १३

अर्थात् वनस्पति-साधक और स्वाभाविक कारण रूप में आग, नील आदि सब वर्गों का, मुगध-दुर्गन्ध का, रक्त-गन्ध, रक्त, सत्व, तादि सब वर्गों का, कठोर, कामर, रुद्ध, स्निग्ध आदि सब वर्णों वाले पदार्थों का आहार ग्रहण करने है। प्रत्यक्ष रूप से आहार के प्रत्यक्ष पुष्पों के वर्ण, गन्ध, रस, स्निग्ध का नवीन वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श में परिणत करने हैं तथा सब कारण प्रयोगों में आहार करने हैं।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार वनस्पति-विज्ञान-अनुसंधान-आगम में निम्न प्रयोगों में प्रगट में आग है। प्रयोगों में यह जान हुआ है कि वनस्पति अपनी पत्तियाँ हवा के साथ कार्बन डाइ-ऑक्साइड का आहार ग्रहण करती है, उसे वह प्रकाश संश्लेषण (Photosynthesis) क्रिया द्वारा ग्लूकोज (जक्कर) में परिणत करती है। फिर ग्लूकोज का कुछ भाग स्टार्च में बदल कर कुछ भाग कार्बोहाइड्रेट में परिणत होता है तथा शेष भाग ऊर्जा द्वारा प्राप्त किए पदार्थों को अनेक स्थानों में बदल देता है। उनमें से कुछ है—आक्सीजन, ग्लूकोज, हाइड्रोजन, मल्ल, फास्फोरस, कैल्शियम, पोटैशियम, मैगनेशियम, आयोडिन आदि। उनमें से आक्सीजन और हाइड्रोजन पानी के परिशोधन रूप में, इसी प्रकार अन्य सब भी दूसरे पदार्थों के रूपान्तर है। तात्पर्य यह है कि वनस्पति में भोजन को विविध स्तरों में ग्रहण करने एवं उनका विनिर्माण करने की विलक्षण शक्ति है। इसी शक्ति ने मिट्टी में नोटियम और पाटाशियम सम्मिश्रण में मिले होने पर भी जहाँ नोटियम की अपेक्षा पाटाशियम को अधिक मात्रा में लेनी है। जहाँ फास्फोरिक एमिड जैसे कठोर पदार्थ का-जो-ज-में भी रठिनाई में जुलना है-भी भोजन में ग्रहण करती हैं। काले व





लाल वर्ण का गोबर-मेगनी खाद, पीले वर्ण का सल्फर, श्वेतवर्ण का सुपरफामफेट, हरे वर्ण का पत्तियों का खाद वनस्पति का आहार बनकर विविध वर्ण, गंध, रस, स्पर्श में परिणत होता है। पीछे इसी से पुष्ट तथा तुष्ट होते हैं।

वर्तमान में प्रायः सभी नगरपालिकाएँ मनुष्य के मल का खाद बनाती हैं और वह दुर्गन्धित खाद पीछो को दिया जाता है तो वही खाद खरबूजे के पीछे के तने में रुठोर व रूख स्तंभों में, फूलों में विविध वर्णों में, फलों में खट्टे, मोठे, रुडवे आदि विविध रसों में रूगन्तरित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वनस्पति में आहार के पुद्गलों को विविध वर्ण, गंध, रस व स्पर्श में परिणमन करने की विलक्षण शक्ति है।

इसी प्रसंग में श्रीगीतम स्वामी भ० महावीर से पूछते हैं—

कम्हाण ण भते । वणस्पइकाइया आहारेंति कम्हा परिणामेंति ? गोयमा । मूला मूलजीवफुडा, पुढवीजीव-पडिवद्धा तम्हा आहारेंति, तम्हा परिणामेति, कदा कदजीवफुडा मूलजीवपडिवद्धा तम्हा आहारेंति, तम्हा परिणामेति एव भाव बीया जीवफुडा फलजीवपडिवद्धा तम्हा आहारेंति तम्हा परिणामेति । —भगवती शतक ७ उ० ३ सू० ३

हे भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीव कैसे आहार करते हैं ? तथा किये हुए आहार को किम प्रकार परिणमन करते हैं ? भगवान् फरमाते हैं—गीतम । मूल को मूल जीव स्पर्शों हुए हैं परन्तु पृथ्वीजीव से प्रतिबद्ध हैं इसलिए मूल (जड़) के जीव पृथ्वीकाय का आहार करते हैं और उन्में शरीर में परिणमाते हैं। इसी प्रकार आहार में से कुछ आहार कन्द के जीव आकर्षित करते हैं। कन्द में से मूकन्ध (तना) के जीव, मूकन्ध में से शाखा के जीव, शाखा में से प्रतिशाखा के जीव, प्रतिशाखा में से पत्ते और फूल, फूल में से फल और फल में से बीज के जीव आकर्षित करते हैं और शरीर में परिणमाते हैं।^१

वनस्पति की आहार ग्रहण व उन्में परिणमन करने की आगम में प्रतिपादित उपयुक्त प्रक्रिया का उद्घाटन वर्तमान में विज्ञान के प्रयोगों ने कर दिया है। वनस्पति के आहारग्रहण का विवेचन आधुनिक वनस्पतिविज्ञानवेत्ता इस प्रकार करते हैं —

“मूल रोम मिट्टी के कणों से चिपटे रहते हैं और उन कणों में मौजूद खनिज पदार्थों के पतले विलयन के सम्पर्क में आते हैं। खनिजों का विलयन अन्त रसाकर्षण द्वारा मूल रोमों के भीतर पहुँचता है। मूल रोमों की कोशिकाओं में पदार्थों के गाढ़े विलयन सदा मौजूद रहते हैं। इन कोशिकाओं के बाहर मिट्टी के खनिज पदार्थों के बहुत पतले विलयन (घोल) रहते हैं। कोशिकाओं की दीवारों अर्धप्रवेद्य झिल्लियों का कार्य करती हैं। अन्दर का गाढ़ा विलयन बाहर के पतले विलयन को रसाकर्षण के नियमानुसार अपनी ओर खींचता है जो अतः रसाकर्षण द्वारा कोशिकाओं के भीतर पहुँचता है। मूल रोमों की कोशिकाओं में इस पतले विलयन के पहुँच जाने से वहाँ का विलयन थोड़ा पतला हो जाता है। इसके पास ही अन्दर की कोशिका विलयन इसकी अपेक्षा गाढ़ा रहता है। अतः मूल रोम से पानी और पतला विलयन अन्दर की कोशिका में रसाकर्षण द्वारा चला जाता है। अब इस अन्दर की कोशिका का विलयन इसके पास की अन्दर की दूसरी कोशिका के विलयन से पतला हो जाता है और फलस्वरूप यह विलयन अन्दरवाली दूसरी कोशिका में चला जाता है। इस प्रकार कोंटेक्स की एक कोशिका से दूसरी कोशिका में रसाकर्षण द्वारा पानी और पतला विलयन पहुँचता जाता है और अन्त में जाइलम नलियों में पहुँचता है। इन नलियों द्वारा फिर यह ऊपर तने और पत्तियों में पहुँचता है। इस प्रकार कोशिकाओं के अन्दर, बाहर का पानी तथा खनिज पदार्थों का पतला विलयन रसाकर्षण क्रिया द्वारा पहुँचकर तुरन्त तने की ओर आगे बढ़ता जाता है और शाखा, प्रशाखा और फूल में होता हुआ फल तक पहुँचता है।”^२

उपर्युक्त कथन का तुलनात्मक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि वनस्पति के आहार की क्रिया व परिणमन-विषयक विवेचन में वर्तमान वनस्पतिविज्ञान व आगमनिष्पन्न कथन में पूर्ण साम्य है।

वनस्पति के न्याय पदार्थों का वर्णन आगम में इस प्रकार है —

“ते ण भन्ते । जीवा किमाहारमाहारंति ? गोयमा । दव्वओ ण अणतपदेमियाड दव्वाइ एव जहा पन्नवणाए पट्ठे आहान्हेमए जात्र-मव्वण्णयाए आहा-आहारंति । ते ण भन्ते । जीवा जमाहारमाहारंति त चिज्जति, ज नो आहारंति त नो चिज्जति, चित्ते वा मे उट्ठाड पल्लिमपति वा ? हता गोयमा । ते ए जवा जमाहारंति त चिज्जति ज नो जाव-पल्लिमपति वा ।

—भगवती शतक १६, उ० ३, सूत्र ७-८

हे भगवन् ! वे (पृथ्वी, जल वनस्पति कार्यात्मक) जीव क्या आहार करते हैं ?

हे गौतम ! वे द्रव्य में अन्न प्रवेशवाने पुद्गलो का आहार करते हैं। विशेष वर्णन पन्नवणा के प्रथम आहार उद्देशक के अनुसार नमज्जना यावत् नव आत्मप्रदेशों द्वारा आहार ग्रहण करते हैं।

किन्तु गौतम स्वामी पूछने हैं—हे भगवन् ! क्या वे जीव जो आहार करते हैं उनका “चय” होता है, जिनका आहार नहीं करने है उनका चय नहीं होता है ? तथा जिन आहारों का चय होता है, वे आहार असारभाग रूप में बाहर निकलने हैं और साग भाग शरीर-इन्द्रिय रूप परिणमता है ? भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम ! हा, वे जीव जिन पदार्थों का आहार करते हैं उनका “चय” करते हैं, जिन पदार्थों का आहार नहीं करते हैं उनका चय नहीं करते हैं तथा जिन आहारों का चय किया है उनका मार भाग शरीर-इन्द्रिय रूप परिणमता है और अमार भाग का नीहार या विमर्जन हो जाता है।”

यहाँ सूत्र में आया ‘चिज्जति’ शब्द विशेष उल्लेखनीय है। ‘चिज्जति’ शब्द चय अर्थ का श्रोतक है। चय का अभिप्राय है असीम पदार्थों को चुनकर सचय करना। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि वनस्पति अपने मनन में आए सभी पदार्थों को भोजन रूप में ग्रहण नहीं करती है अपितु उनमें से आहार योग्य पदार्थों का ही चयन कर उनका ग्रहण या सचय करती है। आहार के अयोग्य पदार्थों का चयन या सचय नहीं करती है—उन्हें छोड़ देती है। वनस्पति की इन विलक्षण चयनशक्ति को वनस्पतिविशेषज्ञ भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने प्रयोग द्वारा सिद्ध किया कि यदि मिट्टी में सोडियम और पोटेशियम दोनों ही पदार्थ समाना में मिले हों तब भी वनस्पति सोडियम की अपेक्षा अपने शरीर भोज्य पदार्थ पोटेशियम का ही अधिक सचय करती है।

आगम के उपर्युक्त कथन से यह पहले दिखाया जा चुका है कि वनस्पति विविध द्रव्यों के स्क्वों का आहार करती है। उस आहार का साग भाग शरीर रूप परिणमता है तथा शेष रहता हुआ निस्सार भाग दूषित मल के रूप में शरीर से बाहर निकलता है। मलविमर्जन की यह क्रिया वनस्पति में उत्प्रेदन के रूप में होती है। इसके विषय में कहा है —“जिम प्रकार लोग अपने शरीर में पत्थरों के रूप में पानी निकालते हैं, उसी प्रकार पत्तियों की सतह से पानी वाष्प बनकर उड़ा करता है। वृक्ष जड़ों द्वारा मिट्टी में पानी सोखते हैं और जाड़लम नलियों द्वारा उसे पत्तियों की सतह तक पहुँचाते हैं। जहाँ से वह वाष्प बनकर उड़ जाता है।” तात्पर्य यह है कि आज जीव-विज्ञान ने आगम-प्रवर्णित इन सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन कर दिया है कि वनस्पति आहार करती है। उसे शरीर रूप परिणमन करती है तथा उसके शेष रहे वर्ज्य पदार्थ मल का विमर्जन या नीहार करती है।

वनस्पति किम ऋतु में अधिक और किस ऋतु में कम आहार करती है, आगम में इसका विवेचन इस प्रकार आया है —

१ भगवती सूत्र खण्ड ४, पृ० ८१ (प० बेचरदासजी के अर्थ का हिन्दी अनुवाद)

२ प्रा० जीव विज्ञान





वणम्मइकाइयाण भवे ! किं कालं सव्वणाहारगा वा, सव्वमहाहारगा व भवति ? गोयमा ! पाउम-वरिमार-
त्तेमु ण एत्थ ण वणम्मइकाइया मव्वमहाहारगा भवति, तयाणतर च ण सरण, तयाणतर च ण हेमने, तयाणतर च ण
वसते, तयाणतर च ण गिम्हासु ण वणम्मइकाइया मव्वणाहारगा भवति ।

—भगवती शतक ७ उ० ३ सूत्र १

हे भगवन् ! वनस्पति किम समय अधिकतम आहार करती है और किम समय अल्पतम आहार करती
है ? भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम ! पावस व वर्षा ऋतु में वनस्पतिनायिक जीव सबने अधिक आहार करते हैं ।
तदनन्तर अनुक्रम से शरद्, हेमन्त, वगन्न व शीष्म ऋतु में अल्प में अल्प आहार करते हैं ।

आधुनिक वनस्पतिविज्ञानवेत्ताओं का कथन है कि वर्षा ऋतु में जल की अधिकता में वनस्पति के खाद्य
पदार्थों में घोल व विलयन अधिक होता है और जड़ों द्वारा आहार ग्रहण की अधिक मात्रा विलयन की मूलभूत पर-
निभर करती है । अन आहार के विलयन की अनुकूलता व मूलभूत होने में वर्षा ऋतु में वनस्पति अन्य ऋतुओं की
अपेक्षा अधिक आहार करती है तथा शीष्म ऋतु में जल की अत्यधिक कमी होने में आहार का घोल या विलयन अत्यल्प
बनता । शीष्म ऋतु में वनस्पति अत्यल्प आहार करती है ।

आगम के उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करने पर सहज ही जो प्रश्न उठ सकता है उसे उठाते हुए गणधर
गौतम श्रीमहावीर प्रभु से पूछने हैं—“जइ ण गते ! गिम्हासु वणम्मइकाइया सव्वणाहारगा भवन्ति कम्हा ण भवे !
गिम्हासु बहवे वणम्मइकाइया पत्तिया, पुप्फिया, फलिया हरियगरेरिज्जमाणा सिरिए अतीव अनीव उवमामेमाणा उव-
सोमेमाणा चिट्ठति ? गोयमा ! गिम्हासु ण बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोगला य वणम्मइकाइयत्ताए विउत्तममि
चयन्ति उववज्जन्ति । एव एलु गायमा ! गिम्हासु बहवे वणम्मइकाया पत्तिया, पुप्फिया जाव चिट्ठन्ति ।”

—भगवती शतक ७ उ० ३ सू० २

हे भगवन् ! जब वनस्पतिनायिक जीव शीष्म ऋतु में अत्यल्प आहार करते हैं तब फिर क्या कारण है कि
शीष्म ऋतु में बहुत सी वनस्पतिया अधिक फलती, फूलती व हरीतिमा को प्राप्त होकर अपनी घोषा को बटाती हैं ?
हे गौतम ! शीष्म ऋतु में (गर्मी की अनुकूलता के कारण) बहुत में उष्णयोनिसूत जीव व पुद्गल वनस्पतिनायिक रूप
उपजते हैं, अधिकता से उपजते हैं, विशेष रूप से बढ़ते हैं, इसी कारण से शीष्म ऋतु में बहुत में वनस्पतिनायिक पत्र,
पुष्प आदि हरीतिमायुक्त होते हैं ।”

आगम के उपर्युक्त कथन की पुष्टि वनस्पति-विज्ञान-विशेषज्ञों द्वारा वनस्पति के आहार-संग्रह, प्रजनन
आदि पर किए गए प्रयोगों से प्राप्त परिणामों से हाती है । उन विशेषज्ञों का कथन है कि जब वर्षाकाल में आहार के
विलयन की सुविधा व मूलभूत अधिक हाती है तब पौधे छूब ठूम-ठूस कर आहार करते ही नहीं, भरते भी हैं । उसमें
से जितना आहार पौधों की वर्तमान आवश्यकता से अधिक होता है वह उनकी जड़ों, रुन्दों व स्कन्धों में जमा हो जाता
है तथा वसन्त व शीष्म ऋतु में तापमान की वृद्धि में उत्पन्न उष्णता की ममीचीनता में पौधों में सर्जन व प्रजनन शक्ति
सक्रिय हो जाती है जिसे पौधे फलते-फूलते व हरीतिमा को प्राप्त होते हैं । उस समय उसी पूर्वसंचित आहार में पौधों
को पोषण प्राप्त होता है । परिणामस्वरूप पौधे के अन्य अंग तो फलते-फूलते व हरे-भरे होते हैं परन्तु जड़, कन्द, स्कन्ध
पूर्व की अपेक्षा अधिक दुबले-पतले हो जाते हैं । इसका कारण पौधे की जड़, कन्द आदि में संचित आहार के पुद्गलों
का उष्णता व प्रजनन क्रिया के कारण विक्रमण^१ अर्थात् चलायमान होकर पौधे के अन्य अंगों में पोषण-रूप परिणत
होना ही है ।

तात्पर्य यह है कि जैन आगम के इस कथन का वर्तमान विज्ञान पूर्ण समर्थन करता है कि शीष्म ऋतु में

१ भगवती सूत्र तृतीय खंड, पृ० १२ (प० बेचरवासजी कृत अनुवाद का हिन्दी रूपांतर)

२ सुनिश्चो अमोलकऋषिजी ने विक्रमण का अर्थ चलायमान होना लिया है, यह अधिक उपयुक्त लगता है ।

पीछे के छत्रिक फलने-फूलने व हरीनिम्बा में जानी घोसा बटाने का कारण उष्णता में पुद्गलों का चलायमान व प्रजनन शक्ति का सक्रिय होना है ।

इसी प्रसंग में प्रश्न उपस्थित होता है कि वनस्पतिकार्मिक जीव जयना आहार किम अग में करने हैं ? इस विषय में निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है—

भन्ने । रि वादि आहारंति मज्जे जाहारेन्ति पज्जवणाणे जाहारेन्ति ? गोयमा । आदिमि आहारंति मज्जेवि आहारंति पज्जवणाणे वि जाहारेन्ति ।
—जीवानिगम ८४म प्रतिपत्ति

हे भगवन् ! वनस्पतिवायिन जीव क्या जादि में आहार करने हैं ? क्या मज्ज में आहार करने हैं ? क्या पर्यवसान में आहार करने हैं ? भगवन् कम्मान्ते हैं—हे तीनम् । वनस्पतिवायिन जीव जादि (जड रुद्ध) में आहार करने हैं मज्ज (नन्दा, धात्रा, प्रधात्रा आदि) में आहार करने हैं तथा जन्तु (पूत-पत्ते आदि) में आहार करने हैं ।

इसी प्रसंग में ऊपर कहा गया है कि वनस्पति “पद्मपद्मपाण्डु आहामाहारेन्ति”—मज्ज प्रदेशों में आहार करती है । हमने यह कथित हुआ है कि आगमकार, वनस्पतिवायिन जीवों द्वारा जड, वृक्ष, स्कन्ध, धात्रा, प्रधात्रा, फूल, पत्ते आदि जैसे शरीर में आहार करना मानते हैं ।

वनस्पतिविज्ञान में भी इसका स्पष्ट व विस्तृत विवेचन है कि वनस्पति अपने शरीर में आहार करती है । वनस्पति अपने मूल-शेखों द्वारा पत्तियों पदार्थों का विलयन व जड़ आदि तरल पदार्थों का आहार करती है । स्कन्ध, धात्रा, प्रधात्रा, पत्तों आदि अन्य जगों के पदार्थों द्वारा प्रसाधन व वाहरी वानावरण में कार्बन-डाई-ऑक्साइड आदि अन्य गैसों का आहार करती है । वनस्पति द्वारा प्रयत्न जग में आहार लेने की प्रक्रिया का वनस्पति-शास्त्र में विस्तार में वर्णन है । साफ़ यह है कि वनस्पति अपने सब जगों में, शरीर में, आहार करती है । यह बात वनस्पतिविज्ञान में जोर का विषय न होकर सिद्धान्त स्वीकार कर ली गई है ।

जैन-शास्त्रों में सामान्यतः तीन प्रकार के बड़े गण हैं, यथा—(१) प्रक्षेपाहार, (२) रोमाहार, (३) ओमाहार । उनकी व्याख्या इन प्रकार की गई है—

सरीरेणोपाहारो, तथाऽपिनेण लोम आहारो ।

पवनैवाहारो पुण कबलितो होइ नापचो ॥

—अनुश्रुत मन्त्र, गा० टी० ७ (भा० पृ० १०८)

अर्थात् शरीर द्वारा किया जाने वाला आहार ओमाहार है । त्वचा के रोमों के द्वारा स्पर्शपूर्वक लिया जाने वाला आहार रोमाहार है तथा पवन (वायु) का शरीर द्वारा किया जाने वाला आहार प्रक्षेपाहार है ।^१ इनमें से वनस्पति में दो आहार-ओमाहार और रोमाहार की माने गए हैं ।^२ आधुनिक विज्ञान भी वनस्पति में दो प्रकार की आहारक्रिया मानता है—फैसीमिलेशन और जलमाप्ति । फैसीमिलेशन की ओमाहार में और जलमाप्ति की रोमाहार में तुलना की जा सकती है । वनस्पतिविज्ञान में आहार की इन दोनों क्रियाओं पर हजारों ग्रंथ लिखे हुए हैं । इन क्रियाओं का संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

ओमाहार—आहार की इस क्रिया में पीछे जलनी पत्तियों, धात्राओं आदि शरीर के मध्यम हरे भाग (पद्मपाण्डु) द्वारा वायुमण्डल में कार्बन-डाई-ऑक्साइड आदि गैसों को सोखते हैं । फिर वे गोपित पदार्थ स्टोमटा द्वारा जलों में श्राव्य भोजन के तन्वीय भाग में घुल जाते हैं । तदनन्तर प्रकाश-मश्लेपण क्रिया द्वारा इसमें रासायनिक प्रक्रिया होती है जिसमें शर्करा बनती है । इसी शर्करा का कुछ भाग स्टार्च में व कुछ भाग कार्बोहाइड्रेट में बदल जाता है व कुछ भाग प्रोटीन बनता है ।

१ भगवती मूल प्रथम सूत्र, पृ० ६४ (प० बेबरदामजी कृत अनुवाद का हिन्दी रूपांतर)

२ देखिये—पन्नवणा पद २८ उ० १





रोमाहार—आहार की इस क्रिया में पीवे मूल (जड़) रोमों द्वारा जमीन से जल तथा मोडियम, फामफोर्स एमिड, पोटाश आदि खनिज पदार्थों का घोल सोखते हैं। वह घोल जाइलम नलियों द्वारा तने की तरफ जाता है जहाँ वह पीवे के ओजाहम द्वारा लिये गये कार्बन-डार्ड-आक्साइड आदि पदार्थों में मिलता है। फिर इन दोनों आहार की प्रक्रियाओं द्वारा तैयार किए पदार्थों का मिश्रण रासायनिक प्रक्रिया द्वारा स्टार्च, प्रोटीन आदि भोज्य सामग्री का रूप ले लेता है। यही भोज्य-सामग्री वनस्पति का पोषण व सवर्धन करती है। इस प्रकार वनस्पति रोमाहार और ओजाहार इन दोनों ही क्रियाओं से भोजन-सामग्री जुटाकर अपना जीवन-संचालन करती है।

प्रागम में भोज्य पदार्थों का वर्गीकरण करते हुए कहा है—

उरालियसरीरा जाव मणुस्ता सचित्ताहारावि, अचित्ताहारावि, भीमाहारावि ।

—पन्नवणा पद २८ उ० १ सूत्र २

औदारिक शरीर वाले मनुष्य पर्यंत जीव सचित्त, अचित्त और मिश्र, तीनों प्रकार का आहार करते हैं। इसमें स्पष्ट है कि औदारिक शरीरवारी वनस्पति भी उक्त तीनों प्रकार का आहार करती है। पीवे जड़ों द्वारा, फास्फोरस, कैल्शियम, सोडियम आदि निर्जीव खनिज पदार्थों का आहार लेते हैं, यह अचित्त आहार है। मिश्र आहार अचित्त (निर्जीव) और सचित्त (सजीव) इन दोनों पदार्थों के मिश्रण में बना होता है। जड़ द्वारा लिए जाने वाले घुले विलयन प्रायः मिश्र आहार ही होते हैं। वनस्पति द्वारा किया जाने वाला दुग्धाहार भी इसी श्रेणी का है। वनस्पतिविशेषज्ञों का कथन है कि "जिम प्रकार गाय, भैंस, बकरी आदि के दूध का आहार लेने में मनुष्यों के शरीर का पोषण होता है, इसी प्रकार वनस्पतियों में भी दूध में पोषण होता है। नारियल का दूध पेड़ों में वही काम करता है जो माधारण दूध पशु-शावकों के लिए करता है। जिस प्रकार शावक के शरीर में जाकर दूध मासपेशियों में परिवर्तित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार यह दूध पौधों में जाकर काष्ठ आदि में परिवर्तित हो जाता है और उनके ठोस भाग का पोषण और वर्द्धन करता है।" अमेरिका के कार्नेल विश्वविद्यालय के कृषिविभाग ने इस पर विशेष प्रयोग किए हैं। नारियल का दूध गाजर के पौधों को दिया गया। फलस्वरूप वे कद में बीसों गुने अधिक बड़ गये। अन्य पौधे भी औमत में अधिक ऊँचे हुए। जंगली चैम्पदर, अंग्रेजी अखरोट, मेवे आदि के दूधों के प्रयोगों का प्रभाव भी आश्चर्यजनक देखा गया। इन दूधों में पौधों का विकास बड़ी शीघ्रता से होता है।"^१

सजीव प्राणियों का आहार सचित्ताहार कहा जाता है। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए प्रागम में कहा है—

गोयमा ! पुंस्वभावपणवण पडुच्च एव चैव, पडुप्पणभावपणवण पडुच्च गियमा एगिदियसरीराइ आहारंति ।

—पन्नवणा पद २८ उ० १

भगवान् फरमाते हैं—गीतम । पृथ्वी, पानी आदि स्थावरकायिक जीव पूर्वभावे अर्थात् आहार रूप परिणत होने के पूर्व की अपेक्षा एकेन्द्रिय में लेकर पचेन्द्रिय तक का आहार करते हैं और वर्तमान की अपेक्षा अर्थात् पुद्गलों के आहार रूप परिणत होने की अपेक्षा एकेन्द्रिय का आहार करते हैं। दूसरे शब्दों में स्थावरकाय वनस्पति भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रैन्द्रिय, चतुन्द्रिय एवं पचेन्द्रिय जीवों का आहार करती है।

एकेन्द्रिय के पांच भेद हैं—पृथ्वी, पानी, पावक, पवन, वनस्पति। वनस्पति अपनी जड़ों से सजीव पृथ्वी व पानी का, पत्तों, शाखाओं आदि से उष्मा व वायु का आहार लेती है। यही नहीं वनस्पति वनस्पति का भी आहार करती है। ऐसी वनस्पतियाँ परोपजीवी (Parasites) वनस्पतियाँ कहलाती हैं। ये दो प्रकार की होती हैं, पूर्ण-पराश्रयी व अर्ध-पराश्रयी। पूर्ण-पराश्रयी वनस्पति वह है जो अन्य पौधों पर उगती है और अपना पूरा का पूरा भोजन उन वनस्पतियों से ही ग्रहण करती है। ये जिन वृक्षों पर उगती हैं उनमें अपनी पतली जड़ें घुसा देती हैं और उनका शोषण कर अपना भोजन बनाती हैं। अमरवेल ऐसी ही पूर्ण-पराश्रयी वनस्पति है। अर्ध-पराश्रयी वनस्पतियाँ

१ नवनीत अगस्त १९५७, पृ० ५२

२ नवनीत अप्रैल १९६२, पृ० ७५

वे हैं जो उगती तो दूसरे वृक्षों पर हैं परन्तु वे कुछ भोजन तो अपनी पत्तियों द्वारा हवा में ले लेती हैं और कुछ भोजन उनकी जड़ें उस क्षेतों में लेती हैं जिन पर वे उगती हैं। जड़, विमल, बादा नोनेनम, मिसटेलेटम आदि अर्धराश्री वनस्पति हैं।

यह जो वृक्ष वनस्पति द्वारा किया जाने वाला एकैन्द्रिय-आहार का रूप। इसके अनिश्चित वनस्पति वेश्मिन्, नेडमिन्, चडमिन् जीवों का आहार भी होती है। हमारे घड़ों में वृक्ष तो वनस्पति हलने-चलने जीव-पशुओं, कीट-पतंगों, मनुष्यों व मानवों का आहार भी करती हैं। वनस्पति-विज्ञान में ऐसी वनस्पतियों को माना-जाती वनस्पति कहा है। उनके विस्तृत वर्णन में वनस्पति गान्ध भरे पड़े हैं।

मायाहारी-वनस्पति—उनके सर्वांगिक जाल-जालेपि हैं। उन जालों को पार करने हुए मनुष्य उन विविध वृक्षों की देखने के लिए रस ही उनके पाम जाने हैं, उन वृक्षों की डागिया और जटार इन्हें अपनी लपेट में जकड़ लेती हैं जिनमें घुटनारा पाना महत्ता नहीं है। फल मनुष्य रोना, चिल्लाता, पुकारता है और अंत में दम मोट देता है।

वन्स्पति के पौधों की वृद्धि में 'होर्गिटिल' नामक वृक्ष होता है। यह आगन्तुक पशु-पक्षी व मनुष्य को अपने घूर पक्षों का निहार बना लेता है। कहा कि यदि कोई घुटनवार भी इसके पाम में गुजरें तो वह उसे भी दाना जाहार बना लेता है।^१

कीट-मक्षी-पीपे—ये पीपे कीट-मक्षी पकड़ कर खाते हैं। युट्रिकुलरियड (Utricularied) इसी जाति का पीपे है। यह अपनी जमीन, जालेपि, दलियाँ जमीन, मृजीमट तथा कुछ अन्य देशों में पाया जाता है। यह हमारे घरा में मिला है। यह पानी का पीपे है और स्थिर पानी में उगता है। इसकी पत्तियाँ मुँह के जाकार की होती हैं और पानी पर तैर करती हैं। पत्तियों के बीच में छोटे-छोटे हरे रंग के गुब्बारे के आकार के फूल आते हैं। पीपे अपनी गुब्बारे में कीटों को पकड़ता है। प्रत्येक गुब्बारा पानी में भरा होता है और उसके मुँह पर एक छोटा-सा छेद रहता है। उस छेद पर एक ग्राट रहता है जो केवल जड़ की ओर ही खुलता है। कपाट पर बाहर की ओर नहीं बाल रहते हैं। वे बाहर संवेदन होते हैं जो उनमें हमारी स्पर्श की भाँति कार्य अनुभव करने की शक्ति होती है। जब कोई कीट पानी में सँभल-सँभल गुब्बारे के पाम पहुँचता है और ग्राट के बालों को छूता है तो तुरन्त कपाट जड़ की ओर खुल जाता है जिसमें छोटा गुब्बारे के भीतर गिर जाता है। कीट के भीतर पहुँचे-पहुँचे ही कपाट फिर उठकर गुब्बारे का मुँह बन्द कर देता है। इस प्रकार वेचारा काटा गुब्बारे में बन्द हो जाता है। गुब्बारे के भीतर शीशों में एक-एक निश्चय है जो कीट के मार को दूला देता है। इस घोल को गुब्बारे के भीतर की शीशों ने सोँदा बना लेते हैं।^२

“बट-ग्राट पीपे भी कीटों को पकड़ने व खाने की कला में बड़ा प्रवीण होता है। बटरग्राट फूल बहुत मुन्द होते हैं जो उनके समर्क में आने वाले वेचारा कीट यह कल्पना भी नहीं कर पाता कि इनके रा-विरों मुँह फूलों वाला यह पीपे प्राणायाम भी हो सकता है। इस पीपे का पना पूर्ण रूप में विरोध होता है। उस पर एक चिन्तित रहता है। यह लक्ष्य स्वाद में मीठा होता है। परन्तु यह मीठा म ही कीटों के लिए मानक विष है। जब कीट इसके रा-विरों मुँह फूलों में आकृष्ट हो उसके पत्ते के पाम आता है और पत्ते को छू जाता है तो वह चिन्तित पदार्थ उस पीपे की मजबूती में पकड़ व जकड़ लेता है। फिर जो-जो कीट अपने को छुड़ाने का प्रयत्न करता है त्यों-त्यों पना ऊपर और ऊपर की ओर मुड़ता जाता है और कीटा एक जीविन समाधि में बदल जाता है। फिर पीपे उसे अपने ऊपर पचा लेता है।”^३





मानव-मक्षी वृक्ष — “अफ्रीका महाद्वीप तथा मेडागास्कर द्वीप के सघन जंगलों में कहीं-कहीं मानवमक्षी वृक्ष मिलने हैं, जो मनुष्यों और जंगली जानवरों को अपना भिकार बनाते हैं। कहा जाता है कि एक मनुष्य-मक्षी वृक्ष की ऊँचाई २५ फुट तक होती है। इस त्रिशूल और भयानक लगने वाले वृक्ष की अनेक शाखाओं के अग्र भाग में चाली के आकार के बड़े फूल लगे रहते हैं। ये शाखाएँ १-२ फुट लंबे काटों से गरी रहती हैं।

जब भी अंधेरे में कोई जानवर या मनुष्य अनावधान होकर उस वृक्ष के पास में गुजरता है तब वृक्ष की काटेदार शाखाएँ अपने भिकार को चारों ओर में घेर लेती हैं। काटे शरीर में घुसकर रून चूस लेते हैं और बाहर निकल जाते हैं। तब वृक्ष की शाखाएँ निर्जीव शरीर को छोड़ देती हैं। शिकार का खूना चूसने पर फूलों का आकार बढ़ जाता है, किन्तु कई दिनों बाद वे फिर अमली हालत में आजाते हैं। इस प्रकार वृक्ष के नीचे कफ़ालों का ढेर लग जाता है। कुछ वर्ष पूर्व साउथ्रिल के द्वारा विद्व-भ्रमण करने वाले श्री मिथीलाल जायमवाल न युगाण्डा के भयानक जंगल में मनुष्य-मक्षी वृक्ष की शाखाओं में फंसे हुए एक वारहसिंघे को स्वयं अपनी आंखों से देखा था।”

रैन हैटटम्पट, नेपथीज, जीन्सलापोटिया, बीनसपार्ड टैप, डामरा, पिचर प्लान्ट आदि अन्य मांसाहारी पौधे भी पीटों का शिकार करने व उन्हें पकटने में बड़े निपणात होते हैं।

तात्पर्य यह है कि आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व जिन काल में विद्व के अन्य दार्शनिक व विचारक वनस्पति का मजीब मानने में ही ननु-नच करने के उस काल में जैनदर्शन ने वनस्पति को न केवल असंदिग्ध रूप में स्वीकार किया अपितु इस पर पचासों दृष्टियों में प्रकाश भी डाला। इनमें में एक दृष्टि आहार के प्रकार व पदार्थों पर भी डाली गई। इनमें वनस्पति द्वारा आहार-ग्रहण क्रिया, आहार-ग्रासनन प्रक्रिया, नीहार, ओजाहार-गोमाहार तथा वनस्पति के ऐकेन्द्रिय होने पर भी पचेन्द्रिय जीवों तक का भोजन करना आदि के निरूपक सूत्र सयथा मौलिक व निराले ही थे। ये सूत्र विज्ञान के विकास के पूर्व विद्वानों को आश्चर्यजनक व कल्पनाप्रसूत लगते थे। परन्तु आज ये ही सूत्र विज्ञानजगत् में प्रयोगों से परिपुष्ट व प्रत्यक्ष प्रमाणित होकर आगमप्रणेताओं के अनीन्द्रिय ज्ञानी होने की उद्घोषणा कर रहे हैं।

भय सत्ता — भय दो रूपों में व्यक्त होता है—(१) आगत आपत्ति से भयभीत होना, डरना, कापना, रोना का खडा होना आदि (२) आगति से बचने के लिए सुरक्षा का प्रबन्ध करना। सुरक्षा की भावना का उद्गमस्थल भय ही है।

वनस्पति में ‘भय’ के दोनों ही रूप स्पष्ट अभिव्यक्त होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य आपत्ति या प्रतिकूल परिस्थिति आते ही भयभीत हो जाता है और उसके निवारण या प्रतिरोध के लिए सुरक्षात्मक प्रयत्न करता है, उसी प्रकार वनस्पति भी आपत्ति आते ही भयभीत हो जाती है और रक्षात्मक प्रयत्न करती है। श्री जगदीशचन्द्र बसु ने यंत्रों की सहायता से स्पष्ट दिखाया कि वनस्पति के किसी अंग पर प्रहार होते ही या सहार का खतरा उपस्थित होने ही वह थर-थर कापने लगती है—उसके रोए खड़े हो जाते हैं। छुई-मुई वनस्पति पर तो भय का प्रभाव त्रिभुजों के भी देखा जा सकता है। उसके किसी अंग को अगुली छू जाय तो वह भयभीत हो जाती है और रक्षा के लिए सारे शरीर की पत्तियों को सिकोड़ कर अपने मूल अंग ढक लेती है। कश्मीर में ‘जवागल’ नामक वनस्पति होती है यह हथेली पर रखते ही ज्वर-नीडित मनुष्य की तरह कापने लगती है।

जिस प्रकार मनुष्य अपने शत्रुओं से बचने के लिए विविध उपाय काम में लेता है, ठीक उसी प्रकार पौधे भी अपने शत्रुओं से बचने के लिए विविध उपाय काम में लेते हैं। बिच्छू जाति का गोधा अपनी रक्षा पत्तियों के रोओं से करता है। इन पौधों को छूने व खतरा पहचानने वाले व्यक्ति की छाल में ये रोए चुभकर एक प्रकार का विष फेरते हैं जो जल पैंदा करता है। उससे अमह्य पीडा होती है। फलन व्यक्ति उसे छोड़ देता है और पीवा खतरे में छुटकारा पा जाता है।

है।^१ चमचमो नामक वनस्पति को—जो प्रायः नागव के गिनारे होती है—छूँसे छूँसे वाले व्यक्ति के मारे जरीर में उजड़ी चढ़ने लगती है। जन-व्यक्ति हमने दूर ही रहने है और यह वनस्पति पर रहती है। 'काक-गुरई' अपनी आदुगन्ध से खती है। उसे छूँसे में बहुत समय तक हाथ न दुर्गन्ध नहीं जाती है। इसलिए इसे छूना कोई पसंद नहीं करना है। प्राचीन दूर के कालों में इनकी सीखा होने है कि स्वयं मात्र में ही ऐसा अनुभव होता है मानो किसी ने मृदा ही चुभोई हो मात्र ही जान भी इसकी पैदा करने है कि मनुष्य की तो क्या बात, पशु भी उनके निकट जाने का साहस नहीं कर पाते हैं।

आज का पीला जलनी 'धन चिकनाई' में खता है। यह चिकनाई एक लेमदार द्रव की होती है और मारे पीछे पा-छाई रहती है। शानिनाक पीछे यह पीछे पा-चटने है जो उनके पाव ननेपा-छाई कोमल-नी चिकनी तह में पन पाते हैं। उन मकड़ में सुविन पाते हैं कि वे पीछे पीछे का शानि पड़वाने बिना हो स्फुक्कर हो जाते हैं।^२

विदेशी, जिस द्वारा जलनी 'धन' जाने वाला पीला है 'उत्तम'। यह जावा के भीतरी भागों में घने जंगलों में लाटियों की जालि के तटों पर पाया है रूप में मिलता है। रन्ध्रनि-शाम्भ ने इसे 'एट्रिफिक-टोकिनकारिया' कहा जाता है। उसमें जड़ें जैसा केमदार द्रव निकलता है जो पाटेलियम साइनाट के समान अत्यन्त विषैला होता है। यह जलनी जिस की लाटिया है जिसमें बाग जो-रा बायुमडल विपाकन हा जाता है। इसका दुःप्रभाव पन्द्रह मील तक फैला है। मनुष्य उसे दू-रे ही समझता है कि निल-जाने है। इन पेटों के विपाकन प्रभाव में उनके आम-पास पशु-पक्षियों के शरीरों में ऐस-ए इडिडियों के बीजे म-रते हैं। इन प्रकार के पीछे अपने विपाकन मया गन्ध से अपनी 'जा' रहने है। मरीचिक की माला के पत्रों में व बोटाभिर-गाउन में आज भी ऐसे वृक्ष मिलते हैं।

जिन प्रकार जलनी द-रन्धा की मु-जा की दृष्टि में अपना घांसग झूने वाली स्थिति में बनाते हैं, वही प्रकार कुछ वृक्ष प्र-नी मु-जा हेतु हमेशा दीवार के गगन में झूलन वाली स्थिति में उत्पन्न होते हैं। 'धानी-य' ऐसे ही वृक्ष है। यह जलनी जलन वगैरे की भीतरी भागों में पाये जाते हैं। उन्हें बन्ना के निवासी 'धुवान' रहते हैं। उनकी जाति शानिनाक के आ-पस होती है। यह जलन व लाटियों पर भूमि की ओर मुड़ किए पाँच-पाँच उंच के पेटों से जलन रहते हैं। इन गडों की मर्याद जलनी अधिक होती है कि नवा व डालें पूरी तरह इनमें टूटती रहती हैं। उन्हें जिन प्रकार की शानि पड़वाने का प्रयत्न करने वाले को उनके झूल जैने काटा का मामना करना होता है। इन के गडों में अपनी मु-जा रहते हैं।

पीछे केवल जलनी रक्षा के लिए ही नहीं अपितु अपनी मनान की रक्षा के लिए भी प्रयत्न करते देखे जाते हैं। जिनिया 'उनी प्रता' का पीला है। यह पदमी चट्टानों में उगता व पनपता है। चट्टानों के बीच कहीं छोटा सा छेद जलना नाशग-मी गगन मिलन ही वह उमा आती चट्टे जमा जेना है और बाह्य निकल कर चट्टान की दीवार पर अपना शरीर झुकाते स्वयं को नीरिन खता है। पर मात्र जीवित रहने में ही उसका स्वभावमिद्ध कार्य सम्पादित नहीं हो जाता। अन्त्याय पीछे की भाति उसके लिए भी यह आवश्यक है कि वन-वृद्धि करे और मीछी खड़ी पदमी की दीवार पर वन-वृद्धि करना कोई असामान्य काम नहीं है। जिनिया अपन इस कार्य को आश्चर्यजनक दृष्टि में सम्पन्न करता है। उसके लिए मन्त्रम पढ़ते मन्त्रमन्त्रियों की बातें जाहनी पडती है। मधुमन्त्रिया उसके फूलों का पगल स्पर्शित करने का माय मिलाक-मन्त्रिमान करने में समर्थ होती है। मधुमन्त्रियों को आकृष्ट करने के लिए इने अपने फूलों की वस्त्र दिव्यता पन्ती है और मन्त्रमन्त्रियों की प्रतीक्षा में चट्टान की दीवार से फूल कहीं सब न जाय, यह मोक्षर जिनिया अपने फूलों को यथामय दीवार में अल-रखता है। देखा गया है कि लिनेरिया की जो शाखा दीवार में दूर जाती है, उसी पर अग्रिकन पुष्प खिलते हैं। वीन तैयार हो जाने पर पीछे के मामने यह मन्त्रिया जानती है कि वह उन बीजों का नहीं डाले क्योंकि चट्टान की दीवार में पीछे के बीज न ठहर सकते हैं,





न पनप सकते हैं। अतः वह अपनी महज बुद्धि का मरगा लेता है। गर्भाधान की प्रिया उषा ही समान होनी है क्या ही वह फिर दीवार की ओर झुकना शुरू कर देता है और दीवार के सहारे पनपक आगे बढ़ता है जब तक कि उसे बीजों को गिराने के लिए छेद या ग्रायरी जगह न मिले जाय। छेद मिलत ही वह उसके भीतर घुसकर अपने बीज डाल देता है। इस प्रकार बीजों को उगन व पनपने के लिए गुरुशिव स्थान पर रख निरन्तर व निश्चिन्त हो जाता है।^१

अभिप्राय यह है कि वर्तमान वनस्पतिविज्ञान जैनागमों में प्रतिपादित इस तथ्य का समर्थन करता है कि अन्य प्राणियों के समान वनस्पति भी भयाक्रांत होती है और अपनी मरणा की रक्षा के लिए विविध प्रकार के विविध उपायों का सहारा लेती हैं।

मैथुनसंज्ञा —आगमों में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के समान वनस्पति में भी मैथुनसंज्ञा मानी है। आज के वनस्पतिविज्ञान ने न केवल इसे स्वीकार ही किया है अपितु इस प्रिय कोण अलग उपजाया का रूप दे दिया है वह है "भ्रूण-विज्ञान"। भ्रूण-विज्ञान का मध्य-वनस्पति की "मैथुनक्रिया" गर्भाधान व भ्रूण व बीज बनने आदि में है। भार्गवीय वैज्ञानिक प्रो० पचानन माहेश्वरी विद्य के वनस्पतिभूग वैज्ञानिकों में अग्रणी हैं। आपने प्रयोगों द्वारा आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट किए हैं। पुरुषों पीधों के लगभग ६२ गुणों के पीधों के भ्रूण-परिचर्चन ही तथा उनके अलग परिचरम की साक्षी है।

वनस्पति-विज्ञान में पीधों में मैथुनक्रिया का विशद वर्णन है, उसे संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

फूल ही वनस्पति के गर्भाधान व प्रजनन का मुख्य स्थान है। फूल में मुख्य ५ भाग होते हैं—(१) पुच्छ-वृत्त (Pedicel) —फूल का डठल (२) बाह्य दलपुत्र (Calyce) —इसमें स्थित पत्तियां फूल के सब से नीचे या बाहर की ओर रहती हैं व फूल के भीतरी भागों की रक्षा करती हैं (३) दल पुत्र (Corolla) —इसमें स्थित पत्तियां या कलियां चिन्ताकर्षक चटकोले रंग की होती हैं। ये फूल के जननांगों की रक्षा करती तथा अपनी सुन्दरता से कीट-पतंगों को आकर्षित कर परागण कार्य में सहायता करती हैं (४) पुमग-गणकेसर (Androecium) —यह पुष्प का नर-जनन अंग होता है, यह चटकोली कलियों के भीतर की ओर होता है। इसके दो भाग होते हैं पुंस्तम्भ और पराग कोष। पुंस्तम्भ परागकोष को ऊपर उठाये रखते हैं। परागकोष में पराग बंध होते हैं जिनके फटने पर अगणित पराग-कण बाहर निकलते हैं। (५) जायांग-गर्भकेसर (Gynaecium) —यह फूलों के भीतरी-भीतरी भाग होता है। इसके तीन भाग होते हैं—(१) अंडाशय (Ovary), (२) शैली (Style), (३) शैलीकण (Stigma)। जायांग या निचला चौड़ा व चपटा भाग अंडाशय कहलाता है। वह फूल का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग है। इसी में बीजाण्ड-भ्रूणधानी आदि होते हैं। इसी से एक सत्री नत्री निचली है जिसे शैली या योनिनी कहते हैं। उसके सिरे पर एक गोल घुटी सद्गर्भ रचना होती है जिसे शैलीकण या योनिछत्र कहते हैं।

पुंकेसर के परागकणों का शैलीकेसर के योनिछत्र में सम्मिलन, मगम या सदाजन ही वनस्पति की प्रजनन-क्रिया है। परागकण योनिछत्र पर आकर गिरते हैं और योनिनी में होते हुए अंडाशय-गर्भाशय में चले जाते हैं, वहां फल और बीज बनते हैं।

वनस्पतिविज्ञान में परागकोष में परागपत्र का योनिछत्र तक पहुंचने का प्रिया का मेचन (Pollination) कहा जाता है। यह दो प्रकार की होती है—स्व-मेचन और पर-मेचन। जब किसी फूल का परागपत्र उसी फूल के योनिछत्र तक पहुंचता है तो यह स्वमेचन कहलाता है, जैसा कृष्णमोली, सूर्यमुखी आदि फूलों में होता है। जब किसी फूल का परागपत्र दूसरे फूल के योनिछत्र पर पहुंचता है तो उसे पहुंचने में वायु, कीट-पतंग, जानवर, जड़ आदि अन्य माध्यमों की आवश्यकता होती है। यह पर-मेचन कहलाता है। वायु-मेचन, गेहूं, जौ आदि में, कीटमेचन-मुद्गर-मुगधित

फूलों में, जलवेचन वेलमनेरिया जादि जल में लगे पौधों में तथा जन्तुओं द्वारा मेचन-कदब आदि पेड़ों के फूलों में होता है।

गर्भाधान — मेचन क्रिया द्वारा पागकरण योनिनली के मार्ग से गर्भाशय (Ovary) में पहुँचते हैं। वहाँ प्रत्येक पागकरण एक रज्ज्वर में जुड़ता है। पागकरण और रज्ज्वर का यह मिलन ही गर्भाधान है। गर्भाधान के फल-स्वरूप बीजों की उत्पत्ति होती है। गर्भाशय में जिनमें रज्ज्वर होते हैं उनमें जिनमें पागकरणों द्वारा गर्भ स्थिति हो जाती है उनमें ही बीज गर्भाशय में पैदा होते हैं।

यदि पागकरणों या रज्ज्वरों से मिलन न हो या बीज नहीं बन सकते। फूल तीन प्रकार के होते हैं नरलिङ्गी, मादालिङ्गी व उभरालिङ्गी। पपीता खट्वड़ा, रसेरा, लीची आदि में नरलिङ्गी और मादालिङ्गी फूल अलग-अलग में होते हैं और मादा फूल पैदा करने वाले पेट जन्म होते हैं। इन प्रकार के फूलों में गर्भाधान परमेचन में ही होता है। यही कारण है कि पपीते के बगीचे में मादाबूखों के साथ यदि कोई नरबूख न हो तो वे फलते ही नहीं हैं। गुलाब, तुलसी, मख, नेम आदि उभरालिङ्गी हैं। उनमें एक ही फूल में पुंकेसर तथा स्त्रीकेसर दोनों ही मिलते हैं।

मैनुन या गर्भाधान की यह क्रिया केवल फूल देने वाली वनस्पतियों में ही नहीं अपितु बिना फूल देने वाली वनस्पतियों में भी होती है। ऐसी वनस्पतियाँ मुख्यतः तीन प्रकार की हैं — चैरोफाइट्स, ग्रायोफाइट्स और टेरिडोफाइट्स। चैरोफाइट्स में चैबात्र, कर्ट तथा फकूदी मुख्य हैं। चैबात्र में नरयुग्मक और स्त्रीयुग्मक का सायुज्य होता है, फकूदी में घन तथा शृंग जन्मते हैं। ग्रायोफाइट्स में नर और स्त्री के अंग अलग-अलग होते हैं। इन्हीं के मिलन में स्पोरेनिफियस होता प्रजनन होता है। टेरिडोफाइट्स में भी इसी में मिलनी-जुलती प्रक्रिया में प्रजनन होता है।

नामक यह है कि फूल और बिना फूल वाली सब ही जानियों की वनस्पति में मैनुन व प्रजननक्रिया विद्यमान है आज यह वनस्पतिविज्ञान में निर्विवाद मान्य है। इसमें जैनागम में प्रतिपादित इन सिद्धान्तों की पुष्टि होती है कि वनस्पति में मैनुन होता है।

परिग्रह मत्ता — "मूत्रा परिग्रहो वृत्तो।" — दश० अध्यायन ६ गाथा २१

अर्थात् पदार्थों में मुच्छा या समन्व भाव रखना, एवं उनका सद्व्यवहार करना 'परिग्रह' है। वनस्पति में परिग्रहवृत्ति भोजन-संग्रह रूप में पायी जाती है। इस विषय के विज्ञान-तत्त्व में महत्त्वपूर्ण तत्त्व सामने आए हैं जो द्रष्टव्य हैं।

वैज्ञानिक समर्थन — (१) पतझट के दिनों में जब पेड़ों की पत्तियाँ झड़कर गिर जाती हैं तब उनके भोजन बनाने का कार्य समाप्त हो जाता है। उस समय यदि पेड़ों के पाम पत्रों में इकट्ठा किया हुआ भोजन न हो तो वे उन दिनों अपना जीवन प्रारम्भ न कर सकें। ऐसे अवसरों के लिए बड़े पेड़ों के तनों में भोजन एकत्रित रहता है जिसके द्वारा वे जीवित रहते हैं। ऐसी प्रणाली बहूत-सी ऐसी प्राकृतिक परिस्थितियाँ आती हैं जिनमें पेड़ों को अपना जीवन सुरक्षित रखने के लिए अपने दिनों भाग में विशेष रूप से भोजन इकट्ठा करना पड़ता है।

(२) गरम इमर काय, जो एकत्रित भोजन द्वारा पेट करते हैं, वह ही प्रजनन कार्यों का सम्पादन करना। फूलों या विकसित करने तथा फल और बीज पैदा करने के लिए पेड़ों को बहूत ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है जो उन्हें पतझट भोजन द्वारा प्राप्त होती है। पेट बीजों में भोजन एकत्रित करने हैं जो बीजों के अंकुरण-काल में उनकी आवश्यकता पूर्ति करता है।

(३) बीजों के अतिरिक्त तने तथा जोड़ में विशेष रूप से भोजन संग्रहीत कर पेड़ उनके द्वारा वर्षों प्रजनन का कार्य करते हैं।

(४) जड़ों तथा तने के अतिरिक्त पेट प्रायः पत्तियों में भी अपना भोजन एकत्रित करते हैं। बद गोभी में पत्तियों में भोजन इकट्ठा रहता है जिसके कारण वे मोटी हो जाती हैं। प्याज की गाँठ के भीतर भी पत्तियों में ही भोजन एकत्रित रहता है जिसके सबब वे पत्तियाँ मोटी तथा फूली हुई रहती हैं।





पेड़ों के बीजों के सग्रहीत भोजन में स्टार्च, चर्बी तथा प्राचीन जीवा प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। जइसा तथा तना के सग्रहीत भोजनों में स्टार्च विद्यमान है। चर्बी की कुछ मात्रा रहती है किन्तु प्राचीन बहुत ही कम पायी जाती है। इस प्रकार हमें मालूम हुआ है कि पेड़ बीज, जड़, तना और पत्तियों में भोजन सग्रहीत करते हैं।

बीज में भोजनगामग्रो सग्रह करने वाले पौधों में नास्तिवल्ग तथा लिखा जा सकता है। यह अपने नीचे इतनी पर्याप्त मात्रा में भाजन-मागग्रो सग्रहीत करता है कि इसका बीज जब तक सोपने की तीन जीवा में से एक को फाटकर अपनी जड़ जमीन में नहीं जमा लेता है, तब तक उसके भोजन के लिए अपने का मरुधर, नम, पोष्टिक गुदा विद्यमान रहता है। अमरगोद, बादाम, मेम, मटर के बीजों की अपनी मतान के लिए पोष्टिक छाद्यगामग्रो सग्रह कर पतक मरुधर के रूप में अपने बीज में छोड़ जाते हैं। यह पतक इन छिद्रों के नामें मुद्रित रहता है। एक बीज को जलने वाला बीज ऐसा नहीं है जो अपने बच्चे के लिए बीज रूप में पर्याप्त भोजनगामग्रो स्रष्टी न कर लेता हो।

तने में पाद्य पदार्थ सग्रह करने वाली वनस्पतियों के अनेक प्रकार हैं, यथा — (१) वृक्षविना-गन्धू, अनन्नाम, रामबाग आदि (२) राइजाम-अदरक-हरी आदि (३) घुट्या-बटा, जमीकद, घनपद आदि (४) दूधर-आमू, सनावर, उहलिया आदि। ये पौधे भोजन-गामग्रो अपने तने में विभिन्न प्रकार में संचय करते हैं। इनके तने भूमि के अन्तर्गत जड़रूप में रहते हैं।

पत्तियों में भाजन-गामग्रो सग्रह करने वाली वनस्पतियों में प्याज, बंदगोभी आदि हैं। अनेक जालि के पौधों की पुगनी पत्तियाँ जड़ों के पूर्व ही नवीन पत्तों पैदा करने वाली कली में वह सब गान्धरी सग्रह करके रखती हैं। जिसका समय आने पर पत्ती उपयोग कर अपने को विकसित कर मते।

फूलों में भाजन-गामग्रो सग्रह करने वाली वनस्पतियों में नागफनी जाति के स्रष्टार पौधे मुख्य हैं।

मनुष्यों की ही भांति कुछ पौधे मुरझाती दृष्टि न अपनी स्रष्टीत सपत्ति का भूमि में छिपा देते हैं। गाजर, मूली, शलजम, जकरकद आदि इस प्रकार की वनस्पतियाँ हैं। मनुष्य उनका भूमिगत भाग उनकी जड़ न होकर तना ही होता है। उन पर आये होती है वे उनके बीज व मताने हैं और आसोके गान्धरी के चारों ओर का भाग बीजों के द्वारा इनके लिए संचय की हुई भोजनगामग्रो है। उसका सेवन कर वे मताने-नये पौधे उसी प्रकार जीते व बढ़ते हैं, जिस प्रकार बालक माना का दूध पीकर जीते व बढ़ते हैं। ये आये ही उनकी मताने हैं, यह जमीन में गिद्ध हो जाता है कि आलू या अदरक के जिस टुकड़े को बाया जा सकता है उसमें यदि आये विद्यमान है तो वह टुकड़ा नवीन पौधे का रूप ले लेता है, अन्यथा नष्ट हो जाता है।

कृपण व्यक्तियों के समान जलघनित आदि कुछ वनस्पतियाँ भी कृपण होती हैं जो अपने लिए कुछ भी पचने न कर सब कुछ अपनी मतान के लिए ही छोड़ जाती हैं ता जिस प्रकार मनी जन्म अपने व अपनी मतान के लिए समान रूप में सग्रह नहीं कर पाते हैं, इसी प्रकार ये वनस्पतियाँ भी समान रूप में सग्रह नहीं कर पाती हैं। पीपल, पोस्ता, चना, मूँग आदि वनस्पतियाँ मतान के लिए बहुत ही कम भोजनगामग्रो का सग्रह छोड़ जाती हैं। अतः उनके पौधे बीज से बाहर निकलते ही क्षीय हो जाते हैं और भोजन-गामग्रो के लिए स्वयं परिश्रम करने लगते हैं। जिस प्रकार कुछ व्यक्ति बड़े निर्धन होते हैं वे अपनी मतान के लिए कुछ भी नहीं छोड़ जाते हैं, उसी प्रकार दूध आदि के पौधे बड़े निर्धन होते हैं और मतान के लिए कुछ नहीं जोड़ने व छोड़ने हैं। ऐसे पौधे अपनी वन-वृद्धि के लिए एक विशेष गति क्रम में लेते हैं। ये अपने तने भूमि पर फैलाने शुरू करते हैं। इस प्रकार नवीन पौधे भोजन-गामग्रो के स्रष्टार के अभाव में भी अपना पोषण बिना अधिक श्रम किये कर लेते हैं।

अभिप्राय यह है कि, वनस्पति-विज्ञान ने प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि मानव के समान ही

वनस्पति में भी परिग्रहणमा विद्यमान है श्री यद् अने नविम्य व भार्वा ममान की मुग्धा, सुत्रिचा के लिए नामग्री व मर्गनि मचिन बानी है ।

कपाय

जैन-ग्रन्थों में प्रयुक्त 'कपाय' शब्द अपना विशेष परिभाषित अर्थ रखता है, यथा —

मुप-मुपय मुपहुमम्म वम्मवनेत्त कणेदि जीवम्म ।

ममान्-हमेर तेण जमाजोत्ति प वेत्ति ॥ — गो० जी० २८०, प्रबला १-१-८

तीव्र के मुप-ह्मु य् अन्तः प्रकार के आग्न को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी ममार रूप मर्वाडा अन्तः ह्मु ह्, एने रमं म् जेनी मा रपण म्मा कड दने गग्न बनाना है, उसे 'कपाय' कहते हैं ।

आत्मा का समन्वय करने वाला रमं है । वम की उत्पत्ति या साधन गग-ह्मेप रूप परिणाम-भाव है । अतः गग-ह्मेपामम परिणाम ही रपण रूप कपाय है । कपाय के चार भेद हैं ।

जेनागि रज्जा पान्ता, जहा नाह-रनाए, माण-रनाए, माया रनाए, ठाम-रनाए, एव नग्दयाण जाव वेमार्जिता ॥

— स्थानाग थु० १ अ० ४ उ० १ सू० १८

कपाय चार हैं — श्वाय, मान, माया, जी लोम । ये चारों ही कपाय नारक जीवों में लेकर वैमानिक देवों तक अर्थात् जन मनोगी जीवों में पाय जात है । अतः वनस्पति में भी कपाय के ये चारों ही भेद माने गये हैं ।

जैन कपाय — जिस प्रकार मनुष्य, पशु आदि अन्य प्राणी कुट्टिन व ह्मिपि हाने हैं उसी प्रकार वनस्पतिवा भी कुट्टिन व ह्मिपि होती हैं । 'मुष्टान् जी' वस्तु उत्पन्न में एक ऐसा वृक्ष पाया जाता है, जिसमें से बड़ी अद्भुत प्रकार की गण-गणियाँ निकलती हैंगी हैं और जल में डूबी वृक्षों में ऐसा गन्ना घोंटा आरम्भ होता है कि जमी-जमी मार्गों पर समन बैठता है कि निगट हो कहीं कोई ऐसा परिवार है, जिसमें कोई मर गया है और सब बैठे रो रहे हैं, निरत हैं हैं ।^१

काय या एव रूप 'योग' है । जिस प्रकार बरें जादि मन्त्रियों के ठने के पास कोई व्यक्ति पहुँच जाये तो वे मन्त्रियों गट्ट शायं उन व्यक्ति को उर मारन उगर्ती है । उनके उर माने में तीव्र पीडा होती है जो तीन-चार दिन तक चली रहती है, इसी प्रकार कर्षीय और ग्लू माडव वेल्स म एव ऐसा वृक्ष कहा जाता है जो अपने पास जाने जाने व्यक्ति का उर मारता है । इसे 'उव मी नाट, या 'उर मारन बाग वृक्ष' कहा जाता है ।

उन वृक्षों पर उनके आकार-प्रकार के अनुसार बड़े नुकीले और तेज चारपाये लटके होते हैं । उसके अग्रावा उस वृक्ष की चोटी, १० उव लगी, लूय जनी और पान के आकार की पत्तियाँ होती हैं और उन पत्तियों पर लम्बे बाल के समान गण होते हैं । अगर कोई व्यक्ति उस के पास पहुँच जाये, तो वे पत्तियाँ उन व्यक्ति में धिसन जाती हैं और उर मारने उगर्ती है । इनके एक मार्ग में बड़ी समानक पीडा हाती है यदि तुरन्त कोई दवा न दी जावे तो यह पीडा गगानार चार दिन तक चली है ।^२

रुद्र-मधप भी काय या कोप का ही एक रूप है । वनस्पतियों भी अपनी रक्षा व स्वार्थ हेतु मधप करती हैं । यथा— "ममी पीडे अपनी विपरीत परिस्थितियों में मधप करने जीवन-रक्षा करने हैं । जहाँ महायत्ना मिल सकती हैं वहाँ वे पारम्परिक मशायना करने और एव दूसरे का आश्रय लेते हैं । जहाँ महायत्ना महज में नहीं मिलती वहाँ लता वृक्ष के सहारे पनपती है, एव में दूसरा पीडा पोषण पाना है । जहाँ महायत्ना महज में नहीं मिलनी वहाँ वरवम ली

१ नवनीत जून १९६६, पृ० ८७

२ नवनीत जुलाई १९६०, पृ० ७०





जाती है। आत्म-रक्षा के लिए आपम में रगड़ा-झगड़ा भी होता है—एक दूसरे का वे नाश भी करते हैं।”

मान—जैनदर्शन मनुष्य के समान वनस्पति में भी मान कपाय मानता है। समवायाग सूत्र में मान के रूपों का वर्णन करते हुए कहा है —

“माणे, मदे, दप्ने, थमे, शतुरकोमे, गव्वे, परपरिवाए, उक्कोमे, अवक्कोसे, उन्नए, उन्नामे” —समवायाग — ५२

अर्थात् मान, मद, दर्प, स्तम्भ, आत्मोत्कर्ष, गर्व, परपरिवाद, उत्कर्ष, अपकर्ष, उन्नत और उन्नाम, ये ग्यारह मान के अभिधान हैं। संक्षेप में कहा जाय तो धन-धान्य आदि पर-पदार्थों व गुणों में अहत्त्व भाव होना ही ‘मान’ है, जैसे धन होने में अपन का धनी मानना, विद्या में अपने को विद्वान् मानना आदि। मानी व्यक्ति की सक्ति में अहत्त्व वृद्धि हाती है। अतः सम्पत्ति के विस्तार में अपना विस्तार व उत्कर्ष मानता है। यही कारण है कि मानी प्राणी में नन, धन, जन आदि सपत्ति के विस्तार की बड़ी भूय होती है। सपत्ति के विस्तार में उसके अहवार का पोषण होता है और फिर यह अहकार गर्व, मद, उन्मत्तता आदि रूप धारण करता है। मान के ये रूप वनस्पति में भी पाये जाते हैं।

जिस प्रकार मनुष्य धन से सम्पन्न होता है तो गर्व से फूला नहीं समाता है उसी प्रकार पौधे भी फूलों में सम्पन्न होते हैं तो प्रफुल्लित हो फूले नहीं समाते हैं। और गर्व में उन्मत्त हवा में झूलने लगते हैं। उनकी यह उन्मत्तता उनके अंग-प्रत्यंग में फूट पड़ती है। श्री जगदीशचन्द्र बसु ने यन्त्रों की सहायता में सिद्ध किया कि मनुष्य की भाँति पौधे भी अनुकूल भोजन-मामग्री पाकर एवं मधुर संगीत सुनकर हर्ष से उन्मत्त हो जाते हैं और इन्हें और प्रतिकूल पाकर मुरझाने लगते हैं।

उत्कर्ष मान का ही एक रूप है और उत्कर्ष की यह उपलब्धि धन, जन आदि सपत्ति के विस्तार से होती है। मनुष्य में विस्तार की यह भूय कई रूपों में प्रगट होती है। उनमें मुख्य है वैयक्तिक व पारिवारिक रूप। मनुष्य वैयक्तिक उत्कर्ष के लिए अपने बल, बुद्धि, विद्या, धन-धान्य आदि का विस्तार करता है और पारिवारिक उत्कर्ष के लिए वध-वृद्धि करता है। इसी प्रकार वनस्पति में भी विस्तारवृत्ति के वैयक्तिक और पारिवारिक ये दोनों रूप देखे जाते हैं। वृक्ष का अपने क्षीर व शरीर सबधी विस्तार वैयक्तिक उत्कर्ष का रूप है व अपनी जाति या वंश का विस्तार पारिवारिक उत्कर्ष का रूप है।

वनस्पति अपना वैयक्तिक उत्कर्ष भोजन-समग्रह के रूप में सपत्ति जुटाकर करती है। मूली, गाजर आदि कई पौधे जब अपनी जड़ में पर्याप्त भोजन संग्रह कर लेते हैं तो फूलकर कुम्पा हो जाते हैं। घुड़या आदि पौधे अपने तने में भोजन-संग्रह होने पर गर्वोन्मत्त हो जाते हैं। वदगोभी आदि पौधे अपने पत्तों से भोजन का भंडार भरकर अहकार का पोषण करते हैं। नागफनी आदि पौधे फूलों में भोजनमामग्री जमा कर फूले नहीं समाते हैं। तात्पर्य यह है कि वनस्पतियाँ अपनी जड़े, तने, पत्ते, फूल आदि अंगों में खाद्य सपत्ति का संचय होने पर उन्मत्त हो झूमने लगती हैं।

वनस्पति अपने वंश के विस्तार या उत्कर्ष के लिए भी पूर्ण प्रयत्नशील रहती है। जिस प्रकार जीव-जन्तु प्रजनन द्वारा अपनी जाति या वंश का विस्तार करते हैं, इसी प्रकार वनस्पतियाँ अपने वंश का वीर्यता से विस्तार कर अपना उत्कर्ष देखना चाहती हैं। उदाहरणार्थ ‘आघासीधी का डोढा’ वनस्पति को ही लीजिये। एक समय था जब इसका डोढा बड़ी कठिनाई से मिलना था। और बड़ा महंगा विकना था। परन्तु कुछ समय पूर्व इसने अपने वंश का विस्तार करना प्रारम्भ किया और अल्प काल में ही अपने जंगल के जंगल छूँटे कर लिए। इसका यह विस्तार विस्मय-कारी था। जहाँ कहीं भी इसे यत्किंचित् भी खाली जमीन मिली, इसने अपनी जड़ें जमायी और फैलकर उस पर अपना ऐसा साम्राज्य स्थापित किया जिसमें मानव भी प्रवेश करते हुए हिचकता था।

राजम्यान के अनेक भूभागों का तो यह हाल था कि उनमें स्थित पर्वत, खेत, पड़त भूमि आदि पर जहाँ कहीं भी दृष्टि पड़ती थी यह वनस्पति अपने विस्तार के गर्व में उन्मत्त हो झूमती दिखाई देती थी।

जीव-जन्तु के नयान वनस्पतिवा भी अपने वन-वृद्धि के लिए विविध व विलक्षण उपाय काम में लेती हैं। अनेक वनस्पतियों के बीजों के पत्र होते हैं जिनसे वे उड़कर दूर-दूर पड़कर वन का विस्तार करते हैं। ब्राजील के वृक्ष 'हुराक्रे पिटाग्य' की ना अपने वन-विस्तार की विधि बड़ी विचित्र है। इसके टेनिम बाल जितने बड़े फल या गुच्छ काष्ठ नगीचा आवरण अचानक फूटना है। फूटने की ध्वनि श्राव्य भील दूर तक सुनाई देती है और फलों में वे पके बीज उछलकर दूर दूर तक पहुँचने हैं।

विस्तार के भूवे वृक्षों में वे 'वट' भी एक है। यह आनी डालियों में घासाए फैला है जो धूमि पर अपने पैर जमाकर नये व जड़ का रूप में लेती हैं। इस प्रकार बराबर अपना विस्तार करना हुआ आगे में आगे बढ़ता जाता है। कलकत्ते के बोटेनिकल बाग में बड़े बगुन के ५०० तने हैं। बगुन का यह गड्ढा में भी छोटा बीज आज ३००० फुट की परिधि में विस्तार कर अपने उत्कर्ष का प्रदर्शन कर रहा है।

“मैनग्रोज” वनस्पति भी विस्तारवादी प्रकृति की है। “पृथ्वी के तेजीय अलायन में लेकर अट्ठाईस अलायन तक भूमध्यरेखा के उत्तर-दक्षिण दोनों ओर समुद्र के किनारे पर ‘मैनग्रोज’ वृक्षों के जंगल के जंगल फैले हुए हैं और बराबर समुद्र की ओर बढ़ते चलते हैं। ये फ्लोरिडा के समुद्रतट पर हजारों वर्ग मील में फैले हुए हैं। प्रशान्त महासागर के किनारे-किनारे इनका वन विस्तार है। इनकी जड़ें ऊपरी तने और शाखाओं में रस्सी की तरह लटकती हैं और ज्वार-भाटा छोटी गड्ढा नीचड़ मिट्टी में घुमती जाती हैं। ये जड़ें लंबी होती हैं और इन पर बड़ा पेड़ वैसा ही लगता है जैसे कोई व्यक्ति दो लंबे-लंबे बामों में पावदान लगाकर लंबे-लंबे डग भरता हो।”^१

माया —आगम में माया के नाम का वर्णन करते हुए कहा है—

“माया उवही, नियती, बलए गहणे, लूभे, कल्के, दमे, कूडे, क्षिमे, किञ्चिमे, आयरण्या, गूहण्या, वचण्या, पटिकुचण्या, मातिजागे।”—समवायाग ५२

माया, उवहि, निहृति, बलए, गहन, लूम, कल्क, दम, कूट, जिह्वा, कित्तिपिक, आयरण्या, गूहण्या, वचनता, पटिकुचनता और मातियोग ये माया के नाम हैं। हिन्दी भाषा में माया के लिए कपट, कुटिलता, छद्मता, धूर्तता, छल, वचना, जिह्वा, निहृति आदि शब्दों का प्रयोग होता है।

वनस्पतिविज्ञान के मदीन अनुमधान ने यह मित्र कर दिया है कि अन्य प्राणियों के समान वनस्पति में भी माया प्रकृति पायी जाती है। जिन प्रकार मायावी पुरुष पहले तो मिष्ट वचन व शिष्ट व्यवहार में दूसरे पुरुष को अपने प्रेम-प्राप्त में फास लेता है और फिर धोखा देकर उसका सर्वस्व छीन लेता है, इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी दूसरों को अपने मायाजाल में फाँसने में निपुण होती हैं। ऐसी ही वनस्पतियों में से कुछ के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

मलाया में ‘फिगम ल्वी जिनीमा’ नामक विषाक्त वृक्ष पाया जाता है। यह अजीर्ण-जाति का वृक्ष होता है। यह बड़ा मायावी होता है। पहले यह अपने पत्तीय पड़-पड़ों को बड़े प्रेम से गले लगाता है। फिर उनका रस चूसकर पत्तियों को फेंक देता है। यहाँ के निवासी इन वृक्षों का देव रूप मानते हैं।

मायावी मनुष्य बड़े कुटिल होते हैं। वे बाहरी व्यवहार में तो बड़े सीधे-सादे भाले-भाले लगते हैं परन्तु जा उनके चंगुल में फँस जाता है उसे दुरस्त दुष्ट भोगना पड़ता है, इसी प्रकार की कुछ वनस्पतियाँ भी हैं। उनमें से एक ‘जीनम लापोटिया’ भी है। यह न्यूसाउथवेल्स तथा क्वींसलैंड के घने वनों में पायी जाती है। इसके दैत्याकार वृक्ष की ऊँचाई ८०-९० फुट होती है। इसके पत्ते हृदय के आकार के तथा एक फुट में भी अधिक लम्बे होते हैं। इन पत्तों में भूरे रंग के रेजिन जड़ने काटते हैं। देखने में ये वृक्ष बड़े सीधे-सादे लगते हैं। परन्तु भूल में कोई पशु-पक्षी या मनुष्य इन पत्तों में छु भी जाय तो उसे कुछ दिन तक मर्मांतक वेदना महन करनी पड़ती है। इसीलिए इनको वहाँ के निवासी ‘टच भी नाट’ मुझे मन छूना, इन नाम से पुकारते हैं।





कपट व्यवहार में 'वीनग फ्लाई ट्रॉप' (Venus fly trap) पौधा भी कम निपुण नहीं है। यह कपट कपाटों के सहारे करता है। यह त्रिदोषतया अर्मेगिका में होता है तथा नमी व दलदल वाले स्थानों पर उगता है। इसका पत्तल बीन लम्बाई में दो भागों में विभाजित रहता है। ये दोनों भाग कपाट की भाँति अन्य की ओर मुड़कर बन्द हो सकते हैं। पत्तल के प्रत्येक अर्ध भाग की ऊपरी सतह पर तीन चम्बे बाल होते हैं जो बहुत ही गन्धर्व होते हैं। त्रिदोष बाल का जरा सा छूने पर ही पत्तल के दोनों अर्ध भाग झीझता में अन्दर की ओर कपाट की भाँति बन्द हो जाते हैं। पत्ती की ऊपरी सतह में ताल रंग की बहुत-सी छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं। जब कोई वाड़ा पत्ती की बाल ग छू जाता है तो पत्ती बन्द हो जाती है और पौधा उगने बन्द हो जाता है। फिर पत्ती की सतह पर स्थित ग्रन्थियों में एक प्रकार का पाचक रस निकलता है जो कीड़े के मांस को पचाकर विलयन के रूप में बदल देता है। यह विलयन फिर पत्ती के गंधो द्वारा चूस लिया जाता है।

धूर्तता भी माया का ही एक रूप है। मनुष्यों के समान कुछ पौधे भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने में धूर्तता में काम लेते हैं। 'पश्चिमी द्वीप मूल और अर्जेन्टाइना में विशेष जाति के वृक्ष पाये जाते हैं, जिन्हें बड़ी के निवासी 'कलारो फाम ट्री' कहते हैं। ये वृक्ष बड़े धूर्त होते हैं। पहले तो वे सुगन्धी लोरिया जैसे ध्वनि निकालते हैं जिसमें मिठाई मस्त होकर गये जाते हैं। फिर ये वृक्ष उम गोये हुए ध्वनि का गूँगु पिताम की भाँति चूस लेते हैं।

जिस प्रकार कुछ मनुष्य पहले तो भोले-भावे व अने वनस्पति किमी के उदा जम जाते हैं, फिर धाने-धीरे आश्रयदाता के व्यवसाय को छीनकर स्वयं उगने वमाने लगते हैं। उनके उम कपटपूर्व कार्य में परिणाम स्वल्प वैचार्य आश्रयदाता तो कगाल हो जाता है और वे स्वयं करने-फूलने लगते हैं। इसी प्रकार कुछ पौधे भी कपटपूर्ण व्यवहार करने में बड़े निष्णात होते हैं। उनमें में 'जमरवेल' भी एक है। यह भारत में प्रायः वृक्ष पायी जाती है। यह दायने में बड़ी सुन्दर, रसम में बड़ी मुलायम होती है। इस प्रकार यह अपने रस-रूप में उड़ी हो जाती व भाली-भाली लगती है। यह स्नेहता इतना दीपाती है कि जिस वृक्ष का मग करती है उमने लिपट ही जाती है। परन्तु फिर यह धीरे-धीरे 'मुह में रस रगल में छुड़ी' कहावत चरितार्थ करती है। यह अपनी धायाओं या बाल-जिमे मायाजा ही बहना चाहिये—चारा आर फैलाती है और उनके द्वारा अपने आश्रयदाता वृक्ष का मर्मस्थ हृदयकर उम कगाल व ककाल बनाकर ही छाहती है।

मलेमिया के बर्बिस लैण्ड प्रांत में अमरवेल जैसी ही एक अन्य वेल होती है। यह बड़ी प्राण-पातन हानी है। यह वेल जिस वृक्ष पर चढ़ती है, छ मास के भीतर उम पर अपना जाल बिछा देती है जिसमें वह वृक्ष मृग्य जाता है। जब उम वृक्ष पर चूमने व लूटने को कुछ भी क्षेप नहीं रहता है तो अपना माया-जाल दूसरे वृक्ष पर फैलाने के लिए उधर-उधर अपने चरण बटाती है।

अपनी माया में फँसाने जीव-जन्तुओं का शिकार व आहार करने में नवेराज या घटपर्णी वनस्पति भी कम नहीं है। यह आस्ट्रेलिया, अफ्रिका, लवा व भारत के आसाम के वनों में मिलती है। अमेरिका में भी इसकी कई जातियाँ पायी जाती हैं। यह कीचड़ व दलदली भूमि में होती है। इसका पौधा छोटा होता है तथा तना जमीन पर रेंगता हुआ आगे बढ़ता है। इन तने में से शाखाएँ निकलती हैं जो ऊपर की ओर उठी रहती हैं। इन शाखाओं पर मोटी, चौकीनी व लम्बी पत्तियाँ होती हैं। पत्तियों की लम्बाई तीन फुट से भी अधिक तक होती है। प्रत्येक पत्ती का सिरा पतला होकर धागे के रूप में हो जाता है। यह धागा किसी दूसरे पेड़ या किसी अन्य वस्तु के चारों ओर लिपट जाता है। इस धागे में लटका हुआ एक गोष्ठे घड़े-मा फूल होता है। घड़े का मुँह सदा ऊपर की ओर रहता है तथा उसके मुँह पर एक ढक्कन होता है। मुँह के पास से एक मोटा रस निकलकर उसके चागे ओर लगा रहता है। पौधा अपने इसी रस से या कभी-कभी अपनी गंध से कीड़े-मकोड़ों को आकृष्ट करता है। वैचारा कीड़ा स्नाद व गंध के बन्धीभूत हो फूल के मुँह तक पहुँच जाता है। घड़े की मुँह की सतह अन्दर की ओर बहुत चौकीनी व फिमलनदार

होती है। इन काण्ण कीडा जैसे ही घड़े के मुँह पर बैठना है फिमलकर घड़े के भीनर-विने भीत का कुवा ही कहना चाहिये-गिर जाना है जोर अपने को एक पेटी में, जिसका कुछ भाग पाचक तरल पदार्थ में भरा रहना है, बन्द पाता है। कीडा ऊपर की ओर अपने ना बलन करना है तो नीचे की ओर झुके हुए नुकीले वाक उसके इस बलन को निष्फल कर देने हैं। कीडा मृत्यु-रूप के तरल पदार्थ में गोते खाने लगता है और प्राण दे देता है। फिर यह तरल पदार्थ उसे पचाकर पीये का भोजन बना देता है।

सनड्यू या ड्रसरा (Sundew or Drasara) वनस्पति भी घोड़ेवाक वनस्पतियों में से एक है। ऐसे तो हमका पीसा प्रायः समार के प्रत्येक महाद्वीप में पाया जाता है परन्तु भारत के चटगाँव व पूर्वी बंगाल के जंगलों में विशेष पाया जाता है। इनके फूल नहीं, पत्तियाँ चित्ताकर्षक होती हैं। यह पीछा कुछ डच ही ऊँचा होता है और इस पर पत्तियों के गुच्छे निम्न रहते हैं जिन्हें टेंटेकिल (Tentacles) कहते हैं। प्रत्येक टेंटेकिल में एक छोटा डठल होता है जिसके निचे पर एक फूनी हुई घुडी रहती है। घुडी में से लाल गुलाबी रंग का गाढा-ना रस निकलकर घुडी के चारों ओर की पत्तियों पर फैल जाता है। जो धूप में दूर में ही आँसु कणों के समान बहुत तेज चमकता है। कुछ कीड़े तो मात्र इस चमक में ही और कुछ इसकी गंध में आकृष्ट होकर इनके पास आते हैं और घुडी पर बैठते हैं। ये कीड़े घुडी पर बैठते ही रस में चिपक जाते हैं। जैसे जैसे कीडा अपने को छुड़ाने का प्रयत्न करता है वह और भी अधिक चिपकता जाता है। मात्र ही पत्ती के बीच का भाग डचकर प्याने की तरह हो जाता है। टेंटेकिल मुड़कर कीड़े का इसी प्याले में डाल देता है। अन्य टेंटेकिल भी मात्र ही मुड़कर अपनी अपनी घुडियों द्वारा कीड़े का प्याले में दबोचते हैं। इस प्रकार कीडा इन प्याले में कैद हो जाता है। फिर टेंटेकिल की घुडियों ने एक प्रकार का रस निकलना है जो कीड़े के पाच्य भाग को घुला देता है। इसी विलयन को फिर टेंटेकिल चमकर पीये का आहार बना देते हैं। टेंटेकिल वापिन सौधे खड़े हो जाते हैं। और कीड़े का जो भाग पचने में बच जाता है, वह पत्ती में झडकर नीचे गिर जाता है।

आशय यह है कि वनस्पतियाँ भी माया-जाल रचने में मनुष्य की भाँति विविध उपाय काम में लेती हैं।

लोभ — राग, आसक्ति या आसक्ति को लोभ कहा गया है। आगम में लोभ के रूप इस प्रकार कहे हैं—

‘शोभे, इच्छा, मूच्छा, क्वा, गेही, तिण्हा, भिज्जा, अभिज्जा, कामाना, भोगाना, जोवियाना, मरणाना, नदी, रागे ॥

सनवायाग—५२

अर्थात् लोभ, इच्छा, मूच्छा, रागा, मूदता, तृष्णा, भिजा, अभिजा, कामाया भागाना, जीविताया, मर-गाना, नदी और राग, ये शोभ के रूप हैं। आगम में लोभ के रूप अन्य प्राणियों के समान वनस्पति में भी माने हैं। इस विषय में डॉ० श्री जगदीशचन्द्र वसु ने यशो व प्रयोगों की सहायता से यह सिद्ध कर दिखाया कि वनस्पति में इच्छा, तृष्णा, नामना, ममता आदि गणात्मक वृत्तियाँ विद्यमान हैं। प्रयोगों में यह जात हुआ है कि यूकलिप्टिस का पीछा अपनी भागेच्छा की पूर्ति हेतु अपनी जड़ें उसी ओर आगे बढ़ाना है जिस ओर उसका मुख्य पदार्थ जल होता है। फिर यह जल चाहे बँकटों फुट दूर ही क्यों न हो व मार्ग में किनारी ही बाधाएँ क्यों न आवें।

इच्छा भी लोभ का ही एक रूप है। जिस प्रकार मनुष्य इच्छा-पूर्ति हेतु प्रयत्नशील होता है, उसी प्रकार वनस्पतियाँ भी अपनी इच्छा-पूर्ति हेतु प्रयत्नशील होती हैं। विश्वविख्यात विज्ञानवेत्ता ‘डार्विन’ का कथन है कि इतना तो निम्नस्तर मानना ही पड़ेगा कि जटें वहाँ ऊपर की ओर चलती हैं तो वहाँ नीचे की ओर, कहीं झुकती हैं तो कहीं हटती हैं। तबरे की आशका होने पर मुटकर आगे बढ़ती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पीछा अपने भोजन की इच्छा-पूर्ति के लिए मोच-विचार पूर्वक अपनी जड़ों को बरती के भीतर आगे बढ़ाने का प्रयत्न करता है।^१

तृष्णा भी लोभ का ही एक अंग है। जिस प्रकार लोभी व्यक्ति तृष्णा के वश हो वस्तुओं का ग्रहण करता





है, इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी तृष्णा के वश हो भोजन-मग्नह करती हैं। इस विषय में वनस्पतिविज्ञान-विशेषज्ञों का कथन है कि पौधों की वे आँखें हैं जिनमें वगत ऋतु में नई पत्तियाँ फूटती हैं। वनस्पतिविज्ञान से अभिन्न व्यक्ति समझते हैं कि ये पत्तियाँ शुरु में वगत ऋतु में ही बनती होगी परन्तु गन तो यह है कि पुगनी पत्तियों के गिरने में पहले ही उनका स्थान ग्रहण करने वाली पत्तियाँ बन जाती हैं। गर्मी भर मेहनत कर पौधे पत्ती पंदा करने वाली कली में सब सामग्री जमा करके रखते हैं जिसमें उचित ऋतु आने पर नयी पत्तियाँ बन सकें।^१

जैसे कुछ मनुष्यों में अपने अथवा अपनी सतान के भविष्य की सुरक्षा के लिए धन-मग्नह करने का लोभ-भावना होती है, इसी प्रकार कुछ वनस्पतियों में अपने या अपनी सतान के भविष्य की सुरक्षा के लिए प्रायः-पदानाँ संग्रह करने की लोभ-भावना होती है। पहले परिग्रह-प्रकरण में बताया जा चुका है कि पौधे जड़ों, तनों, कलियों, फूलों, बीजों, आदि में साध-सामग्री संग्रह करने हैं। वनस्पति की यह संग्रहवृत्ति उसके लोभ या तृष्णा भाव की ही परिचायक है। प्राणी के लोभ या संग्रहवृत्ति का एक रूप वचन करना भी है। पौधे भी वचन करना खूब जानते हैं। जगली गाजर, मलजम और चुकन्दर की जड़ें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और कुद्रेत पौधों में तो यह जड़ प्रति साल मोटी होती जाती है क्योंकि अपनी आगदनी में से कुछ न कुछ बचाकर ये पौधे अपनी जड़ में जमा कर लेते हैं।

जिस प्रकार कुछ व्यक्ति अपनी वचन की सुरक्षित रखने के लिए जमीन में गाड़ देते हैं, इसी प्रकार पौध भी जो कुछ वे बचाते हैं वह जमीन के नीचे कद के रूप में जमा कर देते हैं। आलू-गकरकन्द आदि ऐसे ही चतुर पौधे हैं। सब से बड़े मजे की बात यह है कि ममार भर में अच्छी नम्ल के सभी पौधे इसी प्रकार अपनी भोज्य सामग्री चतुरार्ध से जमीन के अन्दर सुरक्षित रखते हैं अगली फसल या नवीन पौधे के लिए।

जिन प्रकार मनुष्य की लोभ या सचय वृत्ति का एक कारण यह भी है कि भविष्य में विवाह, बीमारी, भीम आदि अवसरों पर जरूरत पड़ने के समय घुठकर पर्व कर सकें, कुछ पौधों में भी यही बात लागू होती है। धी-कुवार जाति के पौधे फूलने से पहले वर्षों तक बढ़ते रहते हैं और अपनी जड़ों में भविष्य के लिए आवश्यक सामग्री का सचय करते हैं। इस कार्य में इन पौधों को अत्यन्त सावधानी व धैर्य का परिचय देना पड़ता है। बाद में फल पंदा करने के लिए जब एकाएक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है तो वे अपनी संचित शक्ति का सामानी में उपयोग कर लेते हैं। दक्षिणचय में काफी समय लगता है और इसी से ये पौधे शीघ्र नहीं फूलते। वही प्रसिद्ध कहावत है कि धीकुवार वर्षों में एक बार फूलता है।^२

जैसे कुछ मनुष्य लोभ के वशीभूत हो, जिन हाडी में पाते हैं उसी में छेद करने वाले होते हैं अर्थात् जिनसे पलते हैं उन्हीं का व्यवसाय व संपत्ति छीनने वाले होते हैं। परिणाम-स्वरूप पालक याचक बन जाता है और याचक पालक। इसी प्रकार की कुछ वनस्पतियाँ भी ऐसी होती हैं जो अपने आश्रयदाता पालक को हटाकर स्वयं ही बड़ा जम जाती हैं। पीपल, वरगद आदि में यह प्रकृति विशेष देखी जाती है। कलकत्ता के 'बोटानिकल गार्डन' में एक वरगद का पौधा ताड़ के वृक्ष पर याचक के रूप में उगा। धीरे धीरे उसने ताड़ को बर्बाद कर उसके स्थान पर अपना जामन जमा लिया। आज उस स्थान पर ताड़ का पेड़ नहीं, वरगद का पेड़ है।

आलू, बैंगन, आदि पौधों में, लगनेवाला गठवा रोग भी और कुछ नहीं, एक वनस्पति द्वारा टाला गया डाका है। यह वनस्पति अपनी जड़ें जमीन के अन्दर दूसरे पौधों के पास पहुँचाती हैं और उसकी पोषण-सामग्री का शोषण कर स्वयं पुष्ट बनती है।

सातपर्यं यह है कि वनस्पति में भोगेच्छा, काक्षा, संग्रहवृत्ति, शोषण आदि लोभ के रूप विद्यमान हैं।

उपयोग

‘उपयोग’ शब्द जैनआगम में अपने विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसके अन्तराल में ज्ञान और दर्शन सम्मिलित हैं। उपयोग का वर्णन पल्लवणा सूत्र में इस प्रकार है—

कनिविहे प भने । उवओगे पणत्ते ? गोयमा । दुविहे उवओगे पणत्ते तजहा-मागारोवओगे य, अणा-मागरोवओगे य ॥
—पल्लवणानूत्र, पद २६ सू०१

गौतम गनवर श्री गृहादीर प्रभु ने पूछने हैं—भगवन् ! उपयोग कितने प्रकार के हैं ? भगवान् फरमाते हैं—गौतम ! उपयोग दो प्रकार के हैं—माकार उपयोग (ज्ञान) और वनाकार उपयोग (दर्शन) ।

पुटविकाइयाण भते । मागारोवओगे कनिविहे पणत्ते ? गोयमा ! दुविहे पणत्ते तजहा-मतिअण्णाण-सागारोवओगे, सुयअण्णाण-मागारोवओगे एवं जाव वणप्फइकाइयाण ।—पल्लवणा, पद २६ सूत्र ३

प्रश्न—हे भगवन् ! पृथ्वीकाय में साकार उपयोग कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय पर्यन्त मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान यह दो प्रकार का साकारोपयोग है। अज्ञान में प्रकृत में अनिष्टाव ज्ञान रहित अवस्था न होकर अमम्यक् या अममीचीन ज्ञान में है। जैनदर्शन में सम्यग्दृष्टि प्राप्ति को छोड़कर जेप नभी में अज्ञानरूप असम्यक्ज्ञान ही माना है।

मति-श्रुत ज्ञान—जिसके द्वारा पदार्थ का स्वस्व जाना जाय उसे ज्ञान कहते हैं। जैनदर्शन वनस्पति में ज्ञान के केवल दो भेद मनिज्ञान और श्रुतज्ञान मानता है। पदार्थ के अभिमुख होने पर अर्थात् पदार्थ की उपस्थिति में इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला नामान्य-विशेष अवबोध मनि और श्रुत ज्ञान कहा जाता है। इन दोनों में धनिष्ठ सबध है, यथा—

अज्ज आभिणिवांहियनाण तत्थ मुयनाग, जत्थ मुयनाण तत्थाभिणिवांहियनाण, दोवि एयाइ अण्णमण्णमणु-गयाइ ।
—नदी सूत्र २४-

अर्थात् जहा मनिज्ञान है वहा श्रुतज्ञान है। जहा श्रुतज्ञान है वहा मनिज्ञान है। दोनों एक दूसरे के अनुगत है नया साथ-साथ रहते हैं। अतः प्रकृत में इन दोनों ज्ञानों का समुच्चय ही वर्णन किया जाता है।

आधुनिक विज्ञानवेत्ता वनस्पति में सुख दुःख का वेदन करने, अपना हिनाहिन सोचने, स्मृति में लाभ उठाने, मूल-वृत्त में काम लेने की शक्तियाँ मानते हैं। जैनदर्शन के अनुसार इन शक्तियों का अन्तर्भाव मतिश्रुत ज्ञान में ही होता है। इस विषय में वनस्पति-वैज्ञानिकों के निम्नांकित उद्धरण व मन्तव्य हैं—

श्री जगदीशचन्द्र बसु ने अपने प्रयोगों में यह सिद्ध कर दिया है कि पौधे त्वचा के नहारे अपने वे सब काम कर तेते हैं जो हम ज़रूरी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में करते हैं। इनका ही नहीं, वे समय पर भोजन करते हैं, समय पर श्वागम करते हैं, समय पर मोंते हैं और समय पर जागते हैं।

हंगरी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक राडल्फ़ क्रोचे ने ब्रुडापेस्ट के विज्ञान पत्र ‘पेन्टर लाउड’ में लिखा है कि पौधों में मार्चन-समकले की शक्ति वर्तमान है। उनके कयनानुसार पौधों ने दृग्दक्षिता और बुद्धिमानी आश्चर्यजनक रीति से विकसित हुई है। कोई भी व्यक्ति व्यानपूर्वक पौधों की जीवनचर्या का निरीक्षण करता जाये, तो उनकी बुद्धिमत्ता देखकर उसे चम्पित रह जाना पड़े।^१

“वगीचो, कोठियों की दीवारों तथा जालियों से लिपटी हुई सेम, तोरई, मटर आदि की बेलें आप अकसर देखते ही होंगे। इनमें सिर्फ़ कहावत ही न समझें बल्कि मचाई है कि ये बेलें आपकी उगली पकड़ते कलाई भी पकड़ लेंगी। कुछ बेलें तो चन्द्र मिनटों में ही आपको नर्म-नर्म हथकड़ियाँ पहिनाना शुरू कर देंगी। मार्क की बात है कि इनके लिपटने की वृत्ताकार गति नदैव ही घड़ी की तरह बायीं में दायीं दिशा को रहनी है।





सनहू वा फूल इनना नाजुकमिजाज है कि स्पर्श की तो बात ही क्या, वर्षा की एक बूंद, और उममे भी खबर हवा के एक झोके में ही भ्रमर दिया देता है। इस हृद दर्जे की नजाकत के बावजूद भी नन्हें-नन्हें जीवों के शिकार में वह एक और कमाल दिखाता है। उसे छोटा देने की नीयत में रजकण जैसी चीज उसके ऊपर रखकर आप उसे एक दो बार ही बहका सकेंगे, लेकिन बार-बार आपकी वह काठ की हडिया नहीं चढ़ सकेंगी। फूल वाणी हंसियार है और असल शिकार न आने तक वह अपना तमाशा आप को फिर नहीं दिखायेगा।^१

'यूकलिप्टस' की दूरदर्शिता तो प्रसिद्ध ही है। यह पेड़ कहीं भी उगे, अपनी जड़ को फैलाकर पानी के उद्गम-स्थान तक ले जायगा-चाहे पानी उस स्थान से मितनी ही दूर गया न हो। यूकलिप्टस के एक पेड़ के सम्बन्ध में आंखों-देखी घटना है। वह जहाँ पर उगा था, उममे थोड़ी दूर पर एक नहर थी। वह पेड़ अपनी जड़ों को फैलाते-फैलाते नहर की ओर ५० फुट तक तो निविघ्न ले गया, फिर रास्ते में उसे एक दीवार मिली, जिसके भीतर उसकी वह जड़ प्रवेश नहीं कर सकती थी। पर हताश नहीं हुआ। उसने दीवार के ऊपर ही अपनी जड़ फैलानी शुरू कर दी। अन्त में, उसे दीवार में कई फुट ऊपर एक छेद मिला। तुरन्त छेद के भीतर वह प्रवेश कर गया और भीतर ही भीतर तब तक फैला गया, जब तक कि नहर तक पहुँच नहीं गया।

पीधों की बुद्धिमानी यही तक सीमित नहीं रहती। वे राजनीतिक और सामाजिक नियमों में भी पूर्णरूपेण अभिज्ञ हैं और अपने जीवन में उन्हें अपनाते भी हैं। उनके जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण करते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।^२

कुछ पीधों में अन्त प्रेरणा या सहजज्ञान की अद्भुत शक्ति होती है। उसी शक्ति से उन्हें बिना किसी बाहरी साधन-प्रकाश, तापमान व पृथ्वी के घूर्णन के भी सही समय का पता चल जाता है। उदाहरणार्थ-सेम की पत्तिगर्त दिन को खुल जाती है और रात का बन्द हो जाती है। उसका यह कार्य घड़ी के काँटे की तरह बिल्कुल ठीक वक़्त पर होता है। जब कोई पीधा ठीक से बढ़ता नहीं या ठीक ढंग से फल नहीं देता है तो इसका कारण 'जैविक घड़ी' में दूबा जा सकता है।^३ भारतीय कृषिअनुसंधान परिषद् के पोधाशरीर-विज्ञान विभाग के वर्तमान अध्यक्ष डॉ० गिरिराज किशोर सिरौही के उपर्युक्त कथन में स्पष्ट यह ध्वनित होता है कि जिस प्रकार मनुष्य के अनेक रोगों का कारण अन्तःकरण की विकृति होती है, उसी प्रकार वनस्पति की रुग्णवस्था का कारण भी उसके सहज ज्ञान या अन्तःप्रेरक शक्ति की विकृति में विद्यमान रहता है।

वनस्पति में व्यक्त होने वाला यह अन्तःप्रेरणा रूप मति-श्रुत-ज्ञान किसी-किसी वनस्पति में इतना उच्च-स्तरीय होता है कि जिसे जानकर पचइन्द्रियधारी, अपने को अत्यधिक विरसित मानने वाला मानव भी दातों तले अंगुली दवाने लगता है। दिक्,काल व भविष्य सूचक ऐसे ही विलक्षण ज्ञानधारी वनस्पतियों में से कुछ के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

'डार्विन का कहना है कि उद्भिजों के दिमाग नहीं है।' इतनी बात तो प्रत्यक्ष है ही कि जहाँ कहीं झुकती है, कहीं हटती है, कहीं जग ऊपर की ओर चल पड़ती है, तो कभी फिर नीचे की ओर जाती है और इसका अर्थ हुआ कि धरती के भीतर जहाँ काफी सोच-विचार के साथ अपने भोजन की तलाश करती है। शोधों से यह प्रमाणित हो चुका है कि जड़ का 'रेसा' बहुत फूल-फूक कर कदम रखता है। जहाँ खतरे की आशका हुई वहाँ से हट जाता है, कड़ी जमीन पाकर मुड़ जाता है तथा नमी और जल पाकर चाव से आगे बढ़ता है।^४

१. विज्ञान लोक अप्रैल, १९६२, पृ० १३-१४

२. नवनीत जुलाई, १९५७, पृ० ४

३. दिनमान ६ अगस्त १९६७, पृ० २८-२९

४. नवनीत जुलाई ५७, पृ० ५२

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि जैन-आगम वनस्पति में मति-श्रुत ज्ञान तो मानते हैं परन्तु उसमें मन-मस्तिष्क नहीं मानते हैं। यह वान नामान्य विचार में बड़ी अटपटी-सी लगती है परन्तु विकासवाद के प्रतिपादक प्रसिद्ध विद्वान् 'हार्विन' के उपर्युक्त इन मन्तव्य में कि उद्भिजो के दिमाग नहीं होता है फिर भी वे बड़ी सूक्ष्म-सूत्र पूर्वक कदम उठाते हैं, जैनागमों की उक्त मान्यता का पूर्ण समर्थन हो जाता है।

इस प्रकार जैनागमों में प्रतिपादित इस सिद्धान्त का कि वनस्पति में मति-श्रुत ज्ञान है—विज्ञान पूर्णरूपेण नमर्शन करता है। अब वनस्पति में अनाकार उपयोग (दर्शन) के विषय पर विचार किया जाता है—

पुटकिफाइयाण भन्ते ! अणागारोवओगे कतिविहे पणत्ते ? गोयमा ! एगे अचक्षुदक्षणाअणागारोवओगे पणत्ते, एव जाय पणफइकाइयाण ।
— पन्नवणा पद २६ सूत्र ४

भगवन् ! पृथ्वीकाय में अनाकार उपयोग कितने हैं ? गोयमा ! पृथ्वीकाय में वनस्पतिकाय पर्यन्त एक ही 'अचक्षुदर्शन' होता है।

अचक्षुदर्शन—देखने की शक्ति को दर्शन कहा जाता है। अचक्षुदर्शन में अग्निप्रेत है चक्षु इन्द्रिय के बिना भी स्पर्शन आदि अन्य उद्भिजों के माध्यम में वस्तु एवं उसके आकार-प्रकार को देखना। वनस्पति में एक ही इन्द्रिय स्पर्शन होती है। जैन वनस्पति को यह दर्शन केवल स्पर्शेन्द्रिय में ही होता है। इस विषय में वैज्ञानिकों के मन्तव्य की नूतन जनव है तथा जैन आगम में कितने मेल पाते हैं, यह ज्ञातव्य है, यथा—

एक जैन वनस्पति-विज्ञानवेत्ता ने वृक्षों की देखने की शक्ति का पता लगाया है। आँखों का मुख्य कार्य होता है ज्ञान के जगत् के ज्ञान को भीतर पहुँचा देना। पेड़ों में यह कार्य उनकी त्वचा करती है। उनकी त्वचा के ऊपरी भाग पर जो बिन्दु नष्ट छोटे-छोटे बोध होते हैं, उनमें से वृक्षों में एक प्रकार का तरल पदार्थ बरा रहता है। इसी तरल पदार्थ की सहायता में वृक्ष वातवी पदार्थों की उपस्थिति का अनुभव करते हैं।^१

जामय यह है कि वैज्ञानिक वनस्पति में उनकी त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) में देखने की शक्ति को स्वीकार करते हैं और वनस्पति में यह शक्ति उसी प्रकार अधिक तीव्र होती है जिस प्रकार मानव की किसी इन्द्रिय की शक्ति का नाश हो जाने पर उसी अन्य उद्भिजों में अधिक क्षमता पा जाती है। उदाहरणार्थ आँखों के चल जाने पर जब व्यक्ति की श्रवण आदि उद्भिजों की शक्ति तीव्र हो जाती है।

लेख्या

"पपायानुरजिता गंगप्रवृत्ति लेख्या।"^२ अर्थात् पपाय युक्त मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को लेख्या कहा गया है। लेख्या में छ भेद हैं—(१) कृष्ण लेख्या (२) नील लेख्या (३) कापोत लेख्या (४) तेजो लेख्या (५) पद्म लेख्या (६) शून्य लेख्या।

एगिविद्याण ! कइ लेस्माओ पणत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि लेस्माओ पणत्ताओ, तजहा-कणहलेस्सा ! जाव तेउलेस्सा । पुटविनाइयाण भन्ते ! कइ लेस्माओ पणत्ताओ ? गोयमा ! एव चेव, आउ-वणस्सइकाइयाणवि

—पन्नवणा पद १७ उ० २

अर्थात् एकैन्द्रिय पृथ्वी, जल और वनस्पतिकाय में कृष्ण, नील, कापोत और तेजस् ये चार लेख्याएँ पायी जाती हैं।

लक्षण के रूप में वही तो लेख्याएँ शुभ-अशुभ वृत्तियों व प्रवृत्ति की द्योतक हैं।^३ अशुभ वृत्तियाँ क्रूरता के

१ नवनीत दिसम्बर १९६२

२ धवला टीका प्रथम एवं प्रथम पुस्तक

३ भगवती सूत्र, पृष्ठ २ पृ० ६१ के यत्रगत (प० बेचरदासजी कृत अनुवाद)





रूप में व शुभ वृत्तियाँ दयालुता के रूप में व्यक्त होती हैं। कृष्ण लेश्या-अशुभतम (क्रूरतम) वृत्ति की, नील लेश्या अशुभतर (क्रूरतर) वृत्ति की, कापोत लेश्या-अशुभ (क्रूर) वृत्ति की, तेजोलेश्या शुभ वृत्ति की, पद्मलेश्या-शुभतर वृत्ति की, शुक्ल लेश्या-शुभतम वृत्ति की परिचायक हैं। लेश्याओं के अन्तर्हित वृत्तियों, उनकी तरतमता व पारस्परिक सम्बन्ध समझने के लिए थर्मामीटर-तापक्रम का उदाहरण लिया जा सकता है। जिस प्रकार तापमापक में उष्णता से पारा चढ़ता है तथा शीतलता से पारा उतरता है तथा पारे का यह उतार-चढ़ाव तापमान की न्यूनाधिकता के साथ घटता-बढ़ता रहता है, इसी प्रकार प्राणी की वृत्तियों की उष्णता-अशुभत्व (क्रूरत्व) की वृद्धि में लेश्या रूप पारा चढ़ता जाना है तथा वृत्तियों की शीतलता-शुभता (दयालुता) की वृद्धि से लेश्या का पारा उतरता जाता है। लेश्याओं के पारे का यह उतार-चढ़ाव वृत्तियों के शुभाशुभ अंशों की वृद्धि-ह्रास के साथ सदा घटता बढ़ता रहता है। परन्तु जिस प्रकार मानवशरीर का तापमान एक निश्चित सीमा 37° से 40° के बीच ही में रहता है, इसमें ऊँचा-नीचा नहीं जाता है तथा प्रत्येक स्थान, समय आदि की निम्नतम व उच्चतम तापमान की सीमा निश्चित होती है, उसी प्रकार लेश्याओं के उतार-चढ़ाव की भी प्रत्येक वर्ग के प्राणियों की, निम्नतम व उच्चतम निश्चित सीमा होती है। वनस्पति-काय के जीवों में यह सीमा कृष्णलेश्या से लेकर तेजोलेश्या तक है अर्थात् वनस्पति में वृत्तियों का उतार-चढ़ाव कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या के बीच चलता रहता है। परन्तु जिस प्राणी में जिम वाँस की अधिकता या मुख्यता होती है उसे उसी वृत्ति या लेश्या वाला कहा जाता है। उक्त चारों लेश्याओं में से किस लेश्या की प्रधानता किस वनस्पति में स्पष्टत मिलती है, यह नीचे दिखाया जाता है—

कृष्णलेश्या —यह अशुभतम वृत्ति, प्रवृत्ति व प्रकृति मुख्यतः मानव, पशु, पक्षी आदि पञ्चन्द्रिय जीवों का भक्षण करने वाली होरिजिटल स्तम्भ आदि वनस्पतियों में देखी जाती है। ये अपने क्रूरतम भावों से सदैव शिकार की ताक में रहती हैं। जैसे ही कोई मूला-मटका अपरिचित पशु-पक्षी या मनुष्य इनके पास पहुँचता है, वे उस पर दूट पड़ती हैं। उसे अपन पजे में ऐसा फसा लेती हैं कि बहुत प्रयत्न करने पर भी वह छूट नहीं पाता है। अन्त में वे उसका रक्त चूसकर ही छोड़ती हैं। ऐसी वनस्पतियाँ अफ्रीका महाद्वीप, तस्मानिया, मेडागास्कर द्वीप में विशेषत पायी जाती हैं।

नीललेश्या —यह अशुभतर-क्रूरतर वृत्ति मुख्यतः कीट-भक्षी यूट्रोकुलेरिया, वटर-वार्ट, सनड्यू आदि वनस्पतियों में पायी जाती है। जैसे ही कोई कीड़ा इनके फूलों पर बैठता है, वे उसे अपनी कलियों के कपाट लगा कारागार में बंद कर लेती हैं व अपना आहार बना लेती हैं।

कापोतलेश्या :—यह अशुभ-क्रूर वृत्ति मुख्यतः कटीले, विपरीत दुर्गन्धित पौधों में पायी जाती है। ये वनस्पतियाँ आगन्तुक को काटि चुसोकर, दुर्गन्ध व विष फैलाकर परेशान करती हैं। ऐसे वनस्पतियों में 'टच मी नाट' काक तुरई, चमचमी आदि को लिया जा सकता है।

इस लेश्याप्रकरण में ऊपर जिन वनस्पतियों का नामोल्लेख किया गया है, इनकी प्रवृत्तियों की विलक्षणता का वर्णन इस निबन्ध के अन्य प्रकरणों में आ चुका है।

तेजोलेश्या —यह शुभ वृत्ति भयुर जल, सरस फल, सुरभिषत फूल वाली वनस्पतियों में मुख्यत पायी जाती है। मेडागास्कर में नारियल के पत्तों के आकार का एक 'जलवृक्ष' पाया जाता है। यह यात्रियों को पीने के लिए पर्याप्त मात्रा में जल देता है। यह तीस फुट तक ऊँचा होता है। इसकी पत्तियाँ पत्ते के आकार की चौड़ी होती हैं। प्रत्येक पत्ती के डठल के अन्त में कटोरा-सा बना होता है जिसमें जल भरा रहता है। यात्री उसमें एक छेद बनाता है जिसमें जल निकलने लगता है। इस प्रकार यात्री को छ सात डठल में लगभग एक किलोग्राम जल मिल जाता है जिसे पीकर यात्री अपनी प्यास बुझा लेता है।

मेडागास्कर के रेतीले प्रात में एक दूसरे प्रकार का शाहीदार पौधा होता है जिसकी जड़ों में जल जमा रहता है। यह जल बड़ा ही स्वच्छ, शीतल, स्वादिष्ट व स्वास्थ्यवर्धक होता है। अनेक प्यासे यात्री इसमें प्यास बुझा-

कर अपनी जान बचाने हैं।

“उण्डोनेमिया के सुमात्रा द्वीप में एक ऐसा वृक्ष होता है जो जल वर्ष्माता है। अन वहाँ के निवासी इसे ऊन-वर्षक वृक्ष कहते हैं। द्रोण्ड के समय जब सूर्य की किरणें काफी तेजी से चमकनी हैं, तब यह पेड़ हवा के द्वारा भाप उड़ा करता है। कुछ देर बाद यह भाप एकत्र होकर जल के रूप में वर्ष्मने लगती है। पेड़ के नीचे थोड़ी देर में जम्हा चाना घटा भी जाना है।”^१

“अजिगी अमेरिका के ग्राजील देश के घने जंगलों में एक विशेष प्रकार का वृक्ष पाया जाता है जिसके तने में छेद कर देने से दूध के समान सफेद तरल पदार्थ निकलने लगता है। पीने में यह तरल पदार्थ गाय के दूध के समान मीठा और पोष्टिक होता है। इसलिए वहाँ के जंगली लोग बड़े चाव से पीते हैं। बड़े तड़के उठकर लोग अपने-अपने घनत लैम्प पेट के पान पहुँच जाते हैं और तने में छेद करके पान से तरल पदार्थ में भर लेते हैं।

आशय यह है कि जागम में वनस्पति में वर्णित लैम्पाएँ प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं।

अन्य विशेषताएँ

आयु — जागमों में वनस्पतिशास्त्र की आयु के विषय में कहा है—

ठिठो जहल्लेण अनोपुत्त, उरकोसेण इम वासमहस्ताइ—जीवामिमम प्र० प्रणिपत्त । अर्थान् वनस्पति की आयु जगन् अन्तर्महर्षं व उत्कृष्टं दम इज्जा वर्यं रही है।

एंगेजाना विट्त्वविद्यालय के प्रसिद्ध वनस्पतिविज्ञानविशेषज्ञ डा० एडमंड ग्र्या ने कैलिफोर्निया के इन्वो मेगनर जंगल में एक ऐसा पेड़ देखा है जिसकी आयु का अनुमान ४६०० वर्ष के लगभग लगाया गया है।

“मनुस्त राज्य अमेरिका के डर्बी कैलिफोर्निया प्रदेश में बड़े-बड़े ‘डगलम फर’ नामक वृक्ष पाये जाते हैं, जिसकी ऊँचाई ३०० से ६०० फुट तक होती है। किसी किसी डगलम फर के तने का व्यास ५० फुट से अधिक है। इनमें कुछ वृक्ष ६-१ हजार वर्ष की आयु के हैं। उनकी विद्यमानता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यदि किसी एक वृक्ष के तने को ग्राह्यता न दिया जाय तो उसमें २०० से भी अधिक बालक बैठकर आसानी से पट सकते हैं। बड़ी म्हर बनाने समय माँ में बाधा डालने वाले डगलम फर के वृक्षों का गिराया नहीं जाता है, केवल उनके तनों को बोझला कर मड़क जा-या निराश दी जाती है। उजीनियरो का कथन है कि एक डगलम वृक्ष की लकड़ी में यदि विद्यमानाई की नीलियाँ बनाई जाय तो वे समान के कुल दो अश्व में भी अधिक मनुष्यों के उपयोग के लिए एक वर्ष तक चाली होगी।”^२

निद्रा

धर्मग्रन्थ में तेरह जीवस्त्रानों में दर्शनावरणीय कर्म की चार-पाँच प्रकृतियों का उदय माना है।^३ इन तेरह जीव स्त्रानों में एकोदश जीव वनस्पति आदि भी हैं व पाँच प्रकृतियों में निद्रा भी एक है। अतः वनस्पति में निद्रा तेना माना गया है। और कहा भी है—

‘उटमत्थेण स्ते ! मणुसे निद्राएज्ज वा, पयलाएज्ज वा ? हुता निद्राएज्ज वा, पयलाएज्ज वा ।

—भगवती ग० ५ उ० ८ सूत्र ७

गीतम गगनर पूरते है—भगवन् ! क्या उद्मस्य मनुष्य निद्रा या ऊँच तेने है ? भगवान् फरमाते हैं कि केवली को छाडकर वेप मय जीव निद्रा तेने हैं। अभिप्राय यह है कि वनस्पति निद्रा लेनी है। इस विषय में वैज्ञानिक हिण्ण-

१ मा० हिन्दुस्तान १७ जून १९६०

२ मा० हिन्दुस्तान १७ जून १९६०

३ पण्ड कर्मण्य, गाथा ३५





मय योग का कथन है—“जैसे जीवित (चलते-फिरने) प्राणी पार्थिव में या रात में गोबर अथवा दूर करने हैं वेम ही पेड़-पौधे भी रात को गाते हैं।”

“मशम में खजूर या पत्र ऐसा वृक्ष है जो मध्य रात में ऊँचकर गिरने लगता है और खोपड़ा तक गिरता है। मध्याह्न के बाद फिर खड़ा होने लगता है और रात में खड़ा होकर पूर्णरूपेण रात ही जाता है।”

सत्यान — जैनागमों में जनस्पति का अनेक प्रकार के मन्त्रान (आचार) बार्ता बताते, यथा—

‘अणित्त्वत्तत्तिष्ठा’—जीवाभिपन्न प्रथम प्रतिपत्ति, मंत्र १८.

एत अनेकविध मन्त्रानों में एक याम्य भी है। मनुष्य के मगान जनस्पति से भी कुछ पीछे आगे होते हैं। जापान के एक उद्यान में एक विशेष प्रकार के पेड़ का पत्र लम्बा है जो पीछे की धर्म पुराणा होने पर भी नैयत ३ फुट ऊँचा है। यह वृक्ष एक घंटे मगने में उपाया गया है। अमेरिका के म्प्रां, नम- म म्परे प्रेमिस्ट मि० ता एडम की स्त्री ने १४६ वर्ष पूर्व अपने ही ग्राम में गुलाब का पौधा लगाया था जो अब तक पूरा देता है।

उद्योत नामकर्म — जैनागमों में जनस्पति में उद्योतनाम मंत्र का उदय माना है। अर्थात् जनस्पति की प्रकाशमान भी माना है। ऐसे वृक्ष आज भी यम-यम मिलने हैं जो प्रकाशयुक्त होते हैं। अमेरिका के निरासी प्रान्त की वस्ती में सात फीट ऊँचा वृक्ष है, जिसे ‘शको’ कहते हैं। यह एक भीड़ पर नेशनी देता है जिसमें बार्ता के बार्ता अक्षर पड़े जा सकते हैं।

सागरीय जनस्पतिर्वा — शागमों में जल में जन्म लेने वाली वाय्वनिया का विस्तार में वर्णन है। वाय्वनि-विशेषज्ञों ने साध करके पता चलाया है कि “धरती पर जितने पत्र जगम २ मनुष्य में उगने तम घने जगल नहीं है। यह बात अभी भी लगती है, लेकिन सत्य है। समुद्र में पर्वत है, घाटि या है और गहरी नहीं हैं। वहाँ पौधों के अनेक समूह हैं, पर ये आज भी अपनी पुरानी ही अवस्था में हैं। उनकी जड़ नहीं है। और इनमें पुनरुत्पादन बीज द्राग नहीं होता, लेकिन अणुवाद रूप में कुछ पीछे ऐसे भी है - ईलग्राम (Elgrass) ऐसा ही उदाहरण है।”

जनस्पति की निर्जोयता — जनस्पति में जनस्पति जिन कारणों ने निर्जोय होने हैं वे एम प्रकार हैं—

सुषक पक्षक तत्त अचित्त लवणेण मिस्तभ दव्य।

ज जतेण म छिण्ण त सव्य फामुअ भण्ड।

अर्थात् जनस्पति मृदाने, पकाने, नपाने, सटाई तथा लुण्ण मिलाने, यत्र द्वारा छेदने में प्रामुक्त (जीवरहित) हो जाती है। आधुनिक वैज्ञानिक भी जनस्पति का निर्जोय करने के लिए उबालना आदि उपयुक्त क्रियाओं या उपायों का ही उपयोग करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त गाय में विहित नथ्य को प्रमाणित करने हैं।

उपसंहार

वर्तमान युग में विज्ञान का बाँलवाला है और प्रत्येक सिद्धान्त की प्रामाणिकता विज्ञान के प्रकाश में निरक्षी-परखी जाती है। दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। आज वही दार्शनिक सिद्धान्त जगत् में प्रतिष्ठा पाता है जो शास्त्र-सम्मत तो हो ही, साथ ही विज्ञानमग्न भी हो। इस बात का लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत निबन्ध में जनस्पति-विषयक विद्वलेपण किया गया है।

यह विद्वलेपण आगम और विज्ञान इन दोनों पर विविध विवेचनाओं से तुलनात्मक तथा विवेचनात्मक दृष्टियों को लिए हुए है। तुलनात्मक दृष्टियों से आगम और विज्ञान में समता तथा विवेचनात्मक दृष्टि से आगम की महत्ता स्पष्ट प्रकट होती है।

आगमों में निम्नलिखित निगूट सूत्रों की मत्थना शब्दज विज्ञान में प्रमाणित होने से सहज ही हृदय में यह भाव स्फुरित व स्फुटित होना है कि इन सूत्रों के प्रणेता निश्चय ही अनौद्भिय ज्ञानी थे, अन्यथा भौतिक प्रयोगशालाओं व वायित्र माधनों में शून्य उम युग में वे इनका प्रपञ्चन न कर पाते। वनस्पतिविज्ञान के समान ही जैनागमों में निम्नलिखित पद्मसुखाद, कर्म-निवृत्ति आदि भी विज्ञानसम्मत तो हैं ही, साथ ही अत्यन्त कल्याणकारी भी हैं। शास्त्र-प्रणेताओं के इस ज्ञान-दान की महान् दन के आभार में मन्त्र उनके चरणों में स्वन झुक जाता है।

ऊपर वनस्पति-विषयक जिन सूत्रों को विज्ञानसम्मत सिद्ध किया गया है उनमें से एक भी विश्व के अन्य किसी दर्शन ग्रन्थ में नहीं मिलता है तथा वे विज्ञान के जन्म के पूर्व जन्मभव समझे जाते थे। इन सूत्रों की रचना जैन आगमकारों ने भौतिक विज्ञान के जन्म से हजारों वर्ष पूर्व की थी। अतः यह कहा जाय तो अत्युक्ति या अतिशयोक्ति न होगी कि वनस्पतिविज्ञान के सूत्रों के मूलप्रणेता जैनागमकार ही थे।

निवृत्ति की सीमा में निरुद्ध होने में मने प्रसन्न निवृत्ति में प्रयुक्त सूत्रों का विश्लेषण व विवेचन अति सक्षिप्त व गान्धर्व रूप में किया है परन्तु इनका विस्तृत विवेचन व विश्लेषण भी अत्यन्त अपेक्षित है।

•



जैन खगोलवि-ज्ञान

पं० मिलापचंद कटारिया
विद्याभूषण,



आसमान में चमकने वाले सूर्य चंद्रमा तारे कौन हैं ? और इनका स्वरूप जैनधर्म में कैसा बताया है ? ये हमारी इस पृथ्वी से कितने ऊँचे हैं ? इनका आकार कैसा है ? लंबाई चौड़ाई इनकी कितनी है ? इनकी कितनी सन्ध्या है ? ये चलते हैं ? या स्थिर ? और इनके द्वारा किस तरह से रात्रि-दिन बनते हैं ? इत्यादि वर्णन जैसा भी जैनशास्त्रों में पाया जाता है उसकी भी जानकारी न केवल सामान्य जैनो को किन्तु कितने ही जैनविद्वानों को भी नहीं है और न उनको इतना अवकाश है जो वे इस विषय के संस्कृत-प्राकृत के षडे-२ जैन ग्रन्थों का अध्ययन-मननकर इन विषयों को अच्छी तरह हृदयगम कर सकें। इसलिये इच्छा हुई कि इस दिशा में कुछ ज्ञान की सामग्री प्रस्तुत की जावे उसीके फलस्वरूप यह लेख लिखा जा रहा है।

जैनशास्त्रों में सूर्य चन्द्रादिकों के विमान लिखे हैं। ये विमान चमकदार पार्थिव परमाणुओं से बने हैं। इनमें भिन्न २ रंगों की प्रभा निकलती है। सूर्य से तपे हुये सोने जैसी, चंद्रमा से सफेद रंग की, राहु-केतु से काले रंग की, शुक्र से नई चमेली जैसी, बृहस्पति से मोती की सीप जैसी, बुध से अजुंनमय, शनि से तप्त सुवर्णसदृश और मंगल से लाल रंग की प्रभा निकलती है। किन्हीं की प्रभा गहरी है और किन्हीं की हल्की। सूर्य चंद्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये इनकी ५ किस्म हैं और ये ज्योतिष्क कहलाते हैं।

ठोस गोल चीज जिसकी गोलाई गेंद जैसी हो उसके दो खंड करने पर उनमें से एक खंड को ऊपर हम प्रकार स्थापन करें कि गोल भाग नीचे की तरफ रहे और समतल भाग ऊपर को रहे, ठीक ऐसा ही आकार इन ज्योतिष्कों का समझना चाहिये। ये सब ऊपर को थाली जैसे गोल होने के कारण जितनी इनकी चौड़ाई है उतनी ही इनकी लंबाई है। चंद्रमा की चौड़ाई एक योजन के ६१ भागों में ५६ भाग प्रमाण है। सूर्य की चौड़ाई एक योजन के ६१ भागों में ४८ भाग प्रमाण है। शुक्र की १ कोश, बृहस्पति की कुछ कम १ कोश। बुध-मंगल-शनि की आधा-२ कोश की चौड़ाई है। तारों की चौड़ाई किन्हीं की पावकोश, किन्हीं की आधकोश, किन्हीं की पौन तथा एक कोश की है। किन्तु कहीं यह भी लिखा मिलता है कि—कोई भी तारा आध कोश से अधिक विस्तार का नहीं होता है। और न कोई भी ज्योतिष्क पाव कोश से कम विस्तार का होता है।

मोटाई का हिसाब प्रायः ऐसा है कि—जिसकी जितनी चौड़ाई है उससे आधी उसकी मोटाई होती है। किन्तु राजवातिक—श्लोकवातिक आदि शास्त्रों में शुक्र-बृहस्पति-बुध-शनि-मंगल और राहु की मोटाई ढाई सौ धनुष की ही लिखी है। प्रसंगोपात् यहाँ हम क्षेत्रमान का भी कथन कर देते हैं—

यवधान्य के मध्य की जितनी चौड़ाई हो उतन साप का एक उत्सेधागुल होता है। ऐसे २४ अगुलों का एक हाथ, चार हाथ का १ धनुष्य, दो हजार धनुषों का १ कोण और ४ कोशों का १ योजन होता है। यह उत्सेध योजन कहलाता है। इससे पाच सौ गुण एक प्रमाण योजन होता है।

ऊपर नूर्यादि का नाम प्रमाण योजन में बनाया है। उत्प्रेष की अपेक्षा वह माप पाचमी गुण अधिक होगा।
उल्लेखवानि में लिखा है कि—

"अष्टचर्याग्निशोधनैकपटिभागवान् प्रमाणयोजनापेक्षया, मातिरेकत्रिनवतियोजनशनत्रयप्रमाणत्वादुल्लेखयो-
जनापेक्षया ।"

—गुल मुद्रित पृ० २७८

अतः सूर्य का विस्तार जो एक योजन के ६१ भागों में ८८ भाग प्रमाण बनाया वह प्रमाण योजन की अपेक्षा में बनाया है। उत्प्रेष की अपेक्षा में उमरा विस्तार कुछ अधिक २६३ योजनों (१५८२ बीग) का होता है।

उत्प्रेषाद्वारा प्रमाणयोजन की उत्प्रेष योजन में चारगुनी गुणा माना है न कि पाच भी गुणा। जत उनके अनुसार मोरकवास नामक ज्वेनारत्रय में सूर्य का विस्तार उस प्रकार बनाया है—

शानानि द्वादशकोनपटि प्रोशास्तयोपरि ।

चापाद्वात्रिंशन् त्रिहस्तो त्रयोगुनाश्च साधिरा ॥

तनायन सूर्यविश्वमुल्लेखागुलमानन ॥

अतः - १०८६ कोन, ३० अनुद, ३ शाय और साधिर ३ अगुल उतना विस्तार उत्प्रेषागुलकी अपेक्षा में सूर्य-
विश्व का तनना साधिर ।

ऊपर चंद्रमा का विस्तार एक योजन के ६१ भागों में ५६ भाग प्रमाण बना आये हैं। यह विस्तार पूर्णचंद्र
का है। त्रिचंद्रमा घटता बढ़ता भी दिनाई देता है। उमरा कारण यह है कि—चंद्रमा के नीचे राहू का विमान
बिचरना रहता है। यानी राहू के विमान के धरजदर में ६ प्रमाणागुल (उत्प्रेष की अपेक्षा कुछ जटिक ८३ हाथ) ऊपर
घटता दिखता है। राहू के विमान का वर्ण दगम है जब उसकी ओट में चंद्रमा का अंग आजाने में वह अंग हमको
दिखाई नहीं देता है। यानी राहू की गति चंद्रमा की गति के समान नहीं है। इसलिये वह चंद्रमा में जिनना आगे
पीछे रह जाता है तदनुसार चंद्रमा हमको इस घातल पर घटवट दीखता है। दोनों की गति में अगर कुछ ऐसे दग
का रहता है जिसमें दृग्पक्ष में चंद्रमा का मोरह भाग (१६ कशजो) में प्रतिदिन एक एक भाग टकना रहता है और
शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन एक एक भाग घाट होता रहता है। मिहानमाग्दीपर ग्रय में दिखाई है कि—

शुक्ल पक्ष में राहू की गति चंद्रमा में नदीव पीसी रहती है और कृष्ण पक्ष में नदीव तेज रहती है। इसलिये
दोनों पक्षों में चंद्रमा घटता बढ़ता नजर आता है। कर्त्तव्य है इसका यह हुआ कि दृग्पक्ष के अंत में जब चंद्रमा १६
भागों में के १५ भाग प्रमाण राहू की ओट में घुस जाता है तो शुक्लपक्ष में चंद्रमा की गति में राहू की गति घीसी होने
में दृक्पक्ष का प्रतिनिदा में चंद्रमा धीरे २ प्यो प्यो राहू के आगे निकलना जाता है, त्यो त्यो ही वह हर दिन सोरह
भागों में एक-एक भाग जटिक २ बढ़ता हुआ नजर आता है। परहर्बे दिन वह अपने आगे निकल जाता है कि उसके
नीचे राहू की ओट रहती ही नहीं। वह दिन पूनम की तिथि का होता है। उस दिन चंद्रमा हमें पूर्णरूप में दिखाई देता
है। फिर उसके अनंतर यह दृग्पक्ष में घुस जाता है तो राहू की गति चंद्रमा की गति में तेज हो जाने के कारण चंद्रमा
धीरे २ पीछे रहता है। त्यो त्यो त्यो ही राहू आगे जागे बढ़ता जाता है त्यो त्यो ही चंद्रमा हर दिन सोरह भागों में
एक-एक भाग टकना हुआ चरना जाता है उसमें वह हमें प्रतिदिन कम कम नजर आने लगता है। अमावस को चंद्रमा
के १५ भाग राहू में जट्टादिता हो जाने पर भी उमरा एक भाग फिर भी अनावृत हो रहता है और नूर्यान्त के वक्त
में ही चंद्रमा भी उस दिन अपने अस्तन्याय पर पहुच जाने के कारण उमरा वह अनावरण एक भाग भी हमको अमावस
की तिथि में नजर नहीं आता है। यह स्थिति भी नित्य राहू की वजह में होती है। त्रिचंद्रमा पर्व राहू और होता है,
वह भी दगम होता है जिसकी वजह में चंद्रग्रहण होता है। पूनम के दिन जब नित्य राहू चंद्र के नीचे नहीं रहता ता
कभी-२ उस दिन परराहू चंद्रमा के नीचे जा जाता है। वह जितना कुछ आगे पीछे होता है उसी माफर चंद्रग्रहण हमें
दिखाई देता है। त्यो तरह दगमवर्ग का एक केतु नामक ज्योतिष्क भी होता है। वह भी कभी २ अमावस के दिन





सूर्य के नीचे आजाता है जिससे सूर्यग्रहण होता है। त्रिलोकसार गाथा ३३६ में चन्द्र को राहुग्रस्त और सूर्य को केतुग्रस्त ही होता बताया है। किन्तु भक्तभारस्तोत्र (मानतुंगकृत) के श्लोक न० १७-१८ में क्रमशः सूर्यचन्द्र दोनों को राहुग्रस्त ही होना बताया है। स्वे० सग्रहणी सूत्र में लिखा है कि—राहु के समान कभी कभी केतु से भी ग्रहण होना है। चन्द्रग्रहण सदा पूर्णिमा को और सूर्यग्रहण सदा अमावस को होता है। सूर्य और चन्द्रग्रहण कम से कम छह मासों में एक बार और अधिक से अधिक चन्द्रग्रहण ४२ मासों में एक बार और सूर्यग्रहण ४८ वर्षों में एक बार होता है।

धरातल से ज्योतिष्को की ऊँचाई

इस धरातल से ७६० योजन की ऊँचाई पर तारे हैं। उनमें दम योजन ऊपर सूर्य है। सूर्य से ८० योजन ऊपर चद्रमा है अर्थात् पृथ्वी से ३५ लाख २० हजार मील की ऊँचाई पर चन्द्रमा है। चद्रमा से ४० योजन ऊपर नक्षत्र है। ग्रहों की संख्या ८८ में से बुध का स्थान नक्षत्रों से ४ योजन ऊपर है। बुध से आगे शुक्र, बृहस्पति, मंगल और शनि ये क्रमशः तीन तीन योजन ऊपर-२ है। राहु-केतु का स्थान चद्र-सूर्य से नीचे है। शेष ८१ ग्रहों का स्थान बुध और शनि के अंतराल में है। इस प्रकार ज्योतिष्क पटल इस धरातल से ७६० योजनों की दूरी से प्रारम्भ होकर ६०० योजनों पर्यंत स्थित है अर्थात् ऊपर ७६० योजनों बाद ११० योजनों तक ज्योतिष्को का सद्भाव पाया जाता है। और उन सबका तिथि अवस्थान प्रायः एक राजपूमान्न वसनाली में है। किन्तु इसमें इतना विशेष समझना कि—जवूद्वीपस्थ मेरु के इर्दगिर्द ११२१ योजनों तक किसी भी ज्योतिष्क का सद्भाव नहीं है। वल्लि सूर्य-चन्द्र तो हमेशा जवूद्वीप में मेरु से कम से कम ४४८२० योजन दूर रहकर ही घूमते हैं। जिस ज्योतिष्क की धरातल से जितनी ऊँचाई बताई है वह धरातल से सदा उतना ही ऊँचा रहता है जैसे सूर्य की ऊँचाई पृथ्वी से ८०० योजन ऊपर बताई है तो वह उदयास्त के वक्त भी पृथ्वी से उतना ही ऊँचा रहता है। दूर रहने की वजह से अपने को नीचा पृथ्वी से लगा हुआ दिखाई देता है।

ऊपर सूर्य से चद्रमादि की जो ऊँचाई बताई है उससे यह नहीं समझना कि चद्रमादि सूर्य की सीध में इतने ऊँचे हैं। जब परस्पर में इनकी समानगति नहीं है तो वे सदा एक सीध में कैसे रह सकते हैं? कदाचित् कोई कभी एक सीध में भी आजाये तो आजाये पर इस सीध की अपेक्षा यहाँ एक में दूसरे की ऊँचाई बताने की विवक्षा नहीं है। यहाँ तात्पर्य ऐसा समझना कि—जो ज्योतिष्क आकाश की जिस सतह में घूमता है वह सतह अमुक ज्योतिष्क में उतनी ऊँची है। जैसे चद्रमा से ४ योजन ऊपर नक्षत्र बताये तो इसका अर्थ यह हुआ कि आकाश की जिस सतह में नक्षत्र विचरते हैं वह सतह चद्रमा की विचरने की सतह से ४ योजन ऊपर है। यह ध्यान में रखना कि जिनका स्थान जितनी ऊँचाई पर बताया है वे सब आकाश में उम स्थान में एक ही सतह में विचरते हैं।

यह नियम है कि जिस द्वीप में जितने चद्रमा होते हैं उनमें में प्रत्येक चद्रमा के माथ निम्नलिखित ज्योतिष्क भी अवश्य होते हैं। यह उमका परिवार कहलाता है—

“१ सूर्य, २७ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६६७५ कोडाकोडी तारे” यहाँ कोडाकोडी में मतलब है ६६६७५ कोड को एक कोड से गुणा करने पर प्राप्त होने वाली संख्या। वह संख्या प्रचलित के अनुसार ६६ लाख, ६७ पद्म ५० नील होती है। जवूद्वीप में २ चद्रमा होने में ज्योतिष्को की उक्त संख्या जवूद्वीप में दूनी समझना चाहिये। जवूद्वीप में जब कभी एक चद्रमा जहाँ अपने समस्त सूर्यादि परिवार के साथ, आकाश की गोलाई में विद्यमान होगा, उसी वक्त आकाश की गोलाई में सामने दूसरा चद्रमा भी अपने सूर्यादि परिवार के साथ विद्यमान रहेगा। जवूद्वीप में जिस समय एक सूर्य अम्यतर की प्रथम वीथी में विचरेगा, उसी समय ठीक उसी के सामने दूसरा सूर्य भी उसी प्रथम वीथी में (आकाश की गोलाई की वीथी कहते हैं) विचरेगा। उस वक्त दोनों सूर्यों के बीच ६६६४० योजनों का अंतर रहेगा। वह इस तरह कि अम्यतर की प्रथम वीथी जवूद्वीप की अन्तिम सीमा से १८० योजन भीतर है। अब दोनों तरफ का १८०-१८० मिलाने पर ३६० योजन हुए जिन्हें एक लाख योजन प्रमाण जवूद्वीप में में रूप करने पर ६६६४० योजनों की दूरी अम्यतर की प्रथम वीथी स्थित दोनों सूर्यों के बीच जाननी चाहिये।



मामने के दो सूर्यो से दिन रहता है तब उसी वक्त विचले भाग में पूर्व-पश्चिम विदेह में रात होती है। और विचले भाग में आमने सामने के दोनों सूर्यो से पूर्व व पश्चिम विदेह में दिन रहता है तब अगल बगल दोनों भागों में (जबू-द्वीप के दक्षिण और उत्तर भाग में) रात होती है। जब निपधगर्वत पर पूर्व दिशा में सूर्य उदय होता है तब उस वक्त जबूद्वीप के दक्षिण भाग में दिन हो जाता है। इसी वक्त इसी मूर्य का मामने वाला सूर्य नील पर्वत पर पश्चिम दिशा में उदय होकर उसमें जबूद्वीप के उत्तर भाग में दिन हो जाता है। तब उस वक्त पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह में रात्रि हो जाती है। जब निपधगिरि के पूर्व गिरे पर उदय होने वाला मूर्य चलकर निपध के पश्चिम गिरे पर आ जाता है तब वह जबूद्वीप के दक्षिण भाग के लिये अस्त होकर वहा रात्रि हो जाती है। और उसी सूर्य का उसी वक्त पश्चिम विदेह में उदय माना जाकर वहा दिन हो जाता है। तब इसी तरह जो दूसरा मूर्य नीलगिरि के पश्चिम गिरे पर उदय हुआ था वह चलकर जब नीलगिरि के पूर्वोय गिरे पर आता है तब वह जबूद्वीप के उत्तरीय भाग के लिये अस्त होकर वहा भी रात्रि हो जाती है। और उसी सूर्य का उसी वक्त पूर्व विदेह में उदय माना जाकर वहा दिन हो जाता है। यह ध्यान में रखना कि ऐसा सम रात्रिदिन के वक्त होता है। पूर्व विदेह में उदय होने वाला दूसरा सूर्य जब नीलगिरि से चल कर निपध पर आता है तो वही दूसरा मूर्य भरतक्षेत्र में दूसरे दिन उदय होना है। न कि पूर्व दिन में भरत में अस्त होने वाला सूर्य। वह तो भरत में तीसरे दिन उदय होगा। क्योंकि जिस दिन जो सूर्य भरत में अस्त होता है उस दिन की रात्रि में वह पश्चिम विदेह में रहता है। उसके दूसरे दिन वह ऐरावत में रहता है और दूसरे दिन की रात्रि में वह पूर्व विदेह में रहता है। वही मूर्य फिर तीसरे दिन भरत में प्रकाश करता है। इसी रीति से ऐरावत क्षेत्र का अस्त हुआ मूर्य पुन तीसरे दिन ऐरावत में प्रकाश करता है। एक सूर्य आधे विदेह को ही प्रकाशित करता है। बीच में पड़े मेरु से विदेह के दो भाग माने जाते हैं। पूर्व दिशा की ओर के एक भाग को पूर्व-विदेह और पश्चिम दिशा की ओर के भाग को पश्चिम विदेह कहते हैं। दोनों भागों में दो सूर्य का प्रकाश रहता है। निपध और नील पर्वत के बीच में विदेह क्षेत्र स्थित है। निपध से नील तक जाने में सूर्य का उतना ही समय लगता है जितना निपध या नील के पूर्व गिरे से पश्चिम गिरे तक जाने में लगता है। क्योंकि जबूद्वीप के कुल १६० भागों में ६४ भागों में बीच का अकेला एक विदेह क्षेत्र है। और क्षेत्र ६३-६३ भागों दोनों तरफ के दक्षिण-उत्तर के सब कुलाचल और क्षेत्र है।

तत्वार्यमूत्र के श्री अकलकदेवकृत भाष्य में मेरु को सब क्षेत्रों में उत्तर में बताते हुये इस विषय में निम्न प्रकार प्रतिपादन किया है—

“पूर्वविदेहे हि सविता नीलादुदेति, निपधेऽन्तर्मुपति। तत्र प्राङ् नील, प्रत्यङ् निपध, अपाक् समुद्र मेरुदक्। अपरविदेहे तु निपधे उदय नीलेऽस्तमय इति। तत्र प्राङ् निपध, प्रत्यङ् नील अराक् समुद्र, उदङ् मेरु। उदक्कुरुपु गधमादनादुदयो माल्यवत्यस्तमय। तत्र गधमादन प्राक्, माल्यवान् प्रत्यक्, नील अपाक्, मेरु उदक्। देवकुरुपु सोमनसादुदय, विद्युत्प्रभेऽस्तमय। तत्र सोमनस प्राक्, विद्युत्प्रभ प्रत्यक्, निपधोऽपाक्, मेरुदगिति।”

—अध्याय ३ सूत्र १० की व्याख्या

अर्थ—पूर्व विदेह में मूर्य नीलकुलाचल पर उदय होता है। निपध पर अस्त होता है। वहा पूर्व में नीलाचल है, पश्चिम में निपध है। दक्षिण में समुद्र और उत्तर में मेरु है। पश्चिम विदेह में सूर्य निपध पर उदय होता है नील पर अस्त होता है। वहाँ पूर्व में निपध है, पश्चिम में नील है, दक्षिण में समुद्र, और उत्तर में मेरु है। उत्तर-कुरु में गधमादन पर सूर्य उदय होता है, माल्यवान् पर अस्त होता है। वहा पूर्व में गधमादन है, पश्चिम में माल्यवान् है, दक्षिण में नील और उत्तर में मेरु है। देवकुरु में सूर्य सोमनस पर्वत पर उदय होता है, विद्युत्प्रभ पर अस्त होता है। वहा सोमनस पूर्व में है, पश्चिम में विद्युत्प्रभ है, दक्षिण में निपध और उत्तर में मेरु है। इस प्रकार सब स्थानों से मेरु उत्तर की तरफ रहता है। माल्यवान्, सोमनस, विद्युत्प्रभ, और गधमादन ये ४ गजदत्त पर्वतों के नाम हैं और इनका स्थान क्रमशः मेरु की ईशानादि विदिशाओं में है। गधमादन और माल्यवान् के बीच उत्तरकुरुक्षेत्र व सोमनस और विद्युत्प्रभ के बीच देवकुल क्षेत्र है।

लोकप्रकाश (ध्वेतावर) ग्रह के १८ वें सर्ग में लिखा है कि—

पूर्वापरविदेहेषु निशीथेऽर्हज्जनिर्यदा ।
भरतैरावतक्षेत्रे मध्याह्ने स्यात्तदा यत ॥२४४॥

अर्थ—पूर्वपश्चिम विदेहों में अर्द्धरात्रि में जब तीर्थंकर का जन्म होता है तब भरत-ऐरावत क्षेत्र में मध्याह्न होता है ।

सूर्य की गमन करने की कुल १८ वीथियाँ हैं । प्रत्येक वीथी में दो योजन का अन्तराल है । कुल अंतराल १८३ हैं । प्रत्येक वीथी में दो सूर्य आने नामने चलने हैं । किसी एक वीथी में चलकर दूसरी वीथी में आने में दोनों सूर्यों को एक अहोरात्र (३० मूर्त) सम्मिलित काट लगना है । इस तरह एक अग्रन के १८३ दिन होते हैं । दो अग्रनों के ३६६ दिनों का एक सूर्य-वर्ष कहलाता है । अन्यतर की प्रथम वीथी से लेकर ६३वीं वीथी में निष्ठना सूर्य भरत-क्षेत्र में निषघर्षवर्ष १-उदय होता दिखाता है । ६४वीं ६५वीं वीथियों में निष्ठना सूर्य हरिक्षेत्र पर उदय होता दिखाता है । और जेप ११६ वीथियों में निष्ठना सूर्य भारतवर्षियों को लवणसमुद्र पर उदय होता दिखाता है । प्रथम वीथी स्थित सूर्य निषघर्षवर्ष के उत्तरतट से १४६२१ $\frac{१}{१००}$ योजन औंली तरफ (दक्षिण की ओर) आने पर भरतक्षेत्र के अयोध्यावर्षियों को उदय होना नजर आना है । और निषघर्षवर्ष के दक्षिणतट में करीब १५७५ योजन पर जाने पर अन्न होना नजर आता है । ये वीथियाँ ज्यों ज्यों दक्षिण से उत्तर को गई हैं त्यों त्यों ही वे गोलाई में उत्तरांतर कम होती गई हैं । तथापि उन सब में प्रत्येक को अपनी गति में पूर्ण करने में एक सूर्य को ६० मूर्त से अधिक समय लगता है न कम । ऐसा नियम है । अन्न कहा जा सकता है कि सूर्य जब दक्षिण में उत्तर को जाने लगता है तब उसकी चाल प्रत्येक वीथी में समान होती जाती है और उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वक्त उसकी चाल उत्तरांतर तेज होती जाती है । वीथियों में सब में कम गोलाई वाली अन्यतर की वीथी है । इसकी गोलाई ३१५०८६ योजनों की है । इसमें ६० का भाग देने में सूर्य की एक मूर्त की गति ५२५१ $\frac{१}{१००}$ योजन प्रमाण निकलती है । इसको सवा से गुणा करने पर उत्तरे प्रमाण सूर्य की एक घटे की गति होगी । यह गति सूर्य की अन्यतर की प्रथम वीथी में जाननी चाहिए । अग्रे की वीथियों में उत्तरांतर गति बढ़ती जाती है । अन्तिम १८४ वीं वीथी की गोलाई ३१८३१४ योजनों की है और उसमें सूर्य की एक मूर्त की गति ५६०४ $\frac{१}{१००}$ योजनों की होती है ।

चंद्रमा की कुल १५ ही वीथियाँ हैं और प्रत्येक वीथी में ३५ $\frac{१}{१००}$ योजनों का अंतराल है । ये वीथियाँ भी दक्षिण में उत्तर की तरफ ज्यों ज्यों जाती गई हैं त्यों त्यों ही वे उत्तरांतर गोलाई में कम होती आई हैं । चंद्रमा की प्रथम वीथी और अन्तिम वीथी सूर्य की प्रथम वीथी और अन्तिम वीथी के ठीक ८० योजन ऊपर सीध में है । इसलिये सूर्य की इन दो वीथियों की गोलाई जितने योजनों की बनाई उत्तनी ही चंद्रमा की भी इन दो वीथियों की समझनी चाहिये । चंद्रमा प्रत्येक वीथी को चाहे वह किननी भी छटी बड़ी हो एक से दूसरी पर जाने में उसे ६२३ $\frac{१}{१००}$ मूर्त लगते हैं कम अधिक नहीं । अतः वह भी सूर्य की तरह दक्षिण से उत्तर में आते वक्त उत्तरांतर मंदगति में और उत्तर से दक्षिण में जाने वृत्ते उत्तरांतर तीव्रगति में गमन करता है ।

गो तो जव्हीन ने मभी ज्योतिष्क गमनगोल है किन्तु इसमें भी एक अपवाद है । इस द्वीप में कुछ (३६) तारे ऐसे भी हैं जो गमन नहीं करते हैं । उन्हें ध्रुवतारे कहते हैं । (त्रिलोकमार गाथा ३४७) ।

ध्व० तन्वाग्राधिगम भाष्य में लिखा है कि—ध्रुवतारा की गति मेरु की प्रदक्षिणा रूप में नहीं है । वह अपने ही स्थान पर घूमता रहता है । यथा—

“तस्यैव स्थाने न ध्रुव परिभ्राम्यति न तु मेरो प्रादक्षिणेन गतिं प्रतिपद्यते । तथाहि तदद्यापि ध्रुवतारा-चक्रमानात्तात्तरदिक् पञ्चवर्तमानमुपलभ्यते प्रत्यक्षप्रमाणैर्नैव ।” (४ थे अध्याय के १८वें सूत्र का भाष्य)

नक्षत्रों का गमन

जिन प्रकार सूर्य चंद्रमा एक से दूसरी और दूसरी में तीसरी आदि वीथियों में भ्रमण करते हैं उसी प्रकार





नक्षत्र भ्रमण नहीं करते हैं। जिन नक्षत्रों की जो छाम एक वीथी नियम है वे उसी में सदा भ्रमण किया करते हैं ऐसी वीथियों सब तक्षना की कुल ८ हैं। उनमें २ वीथी जवूद्वीप में हैं और ६ लवण समुद्र में हैं। प्रथम वीथी से अंतिम वीथी उत्तर दक्षिण में ५१० योजन दूर है। नक्षत्रों की प्रथम वीथी चंद्रमा की प्रथम वीथी के ऊपर है और ८ वीथी चंद्रमा की अंतिम १५ वीथी के ऊपर है। नक्षत्रों की शेष २ री से ७ वीथीक्रम में चंद्रमा की ३ री, मातवी, छठवी, आठवी दशवी, ११ वी वीथी के ऊपर है। तक्षत्रों की प्रथम वीथी में १२ नक्षत्र घूमते हैं, उनके नाम—

अभिजित्, ध्रुवण, वनिष्ठा क्षतमिषा, पूर्वामिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, स्वाति, पूर्वाफाल्गुनी, भरणी।

तीसरी वीथी में—मघा, पुनर्वसु ये २ नक्षत्र घूमते हैं। मानवी वीथी में रोहिणी, चित्रा, ये २ नक्षत्र घूमते हैं, छठवी में कृत्तिका, आठवी में विशाखा, दशवी में अनुराधा, और ११ वी में ज्येष्ठा सदा भ्रमण किया करता है। १५ वी वीथी में ८ नक्षत्र भ्रमण करते हैं उनके नाम—

हस्त, मूल, पूर्वाषाढ, उत्तराषाढ, मृगशीर्षा, आर्द्रा, पुष्य और अश्लेषा। जो नक्षत्र जिस वीथी में घूमता है वह अपनी चाल से उस वीथी को ५६ ३/४ मुहूर्तों में पूर्ण कर लेता है अर्थात् पूरा एक चक्कर लगा लेता है।

प्रकाश और अंधकार

काई कहते हैं—“सूर्य जब, मेरु की आड में आ जाता है तब वह हमें अस्त होता नजर आता है। और आड से निकलते वक्त उदय होता नजर आता है। परन्तु ऐसी जैन-मान्यता नहीं है। क्योंकि मेरु उत्तर दिशा में है और सूर्य का उदयास्त पूर्व-पश्चिम दिशा में होता है। दूसरी बात यह है कि मेरु की चौड़ाई जैनागम में दस हजार योजनों से अधिक नहीं लिखी है। इसको तो सूर्य अपनी गति में करीब दो मुहूर्त से कम में ही लाध सकता है। ऐसी अवस्था में मेरु की आड की बात बनती नहीं है।

कोई कहते हैं—“पृथ्वी नारगी की तरह गोल है और सूर्य उसके नीचे ऊपर चक्कर लगाता है अतः उसकी आड में आने से सूर्य अस्त और आड से निकलने पर उदय होता है। जिससे उदयास्त के वक्त सूर्य पृथ्वी से निरलता व उसमें प्रवेश होता नजर आता है। और इसी में उदयास्त के वक्त सूर्य का पाव आधा आदि हिस्सा भी दृष्टिगोचर होता है। एक दम पूरा मंडल दिखाई नहीं देता है।”

किन्तु इस प्रकार की भी जैन मान्यता नहीं है, इसका कारण यह है कि—यद्यपि सूर्य पृथ्वी में आठ मी योजन ऊंचा है यथापि वह उदयास्त के वक्त हमसे बहुत दूर रहने के कारण पृथ्वी से लगा हुआ प्रतीत होता है और दूर होने में पहिले उसका आगे का भाग नजर आता है, बाद में फिर पिछला भाग भी दिखने लगता है उसी से हमको उस के पाव आधा आदि हिस्सा देखने का भ्रम हो जाता है।

तथा हम यह भी सर्वथा नहीं कहते कि पृथ्वी वित्कुल दर्पण के समान सपाट ही है, उसमें भी कालादिवशा से ऊंचाई नीचाई हुई है। यह बात आचार्य श्री विद्यानंद स्वामी ने श्लोकवार्तिक के निम्न वाक्यों में प्रगट की है—

“न च वयं दर्पणसमतलमेव भूमिं आपामहे प्रतीतिविरोधात् तस्या कालादिवशादुपचयापचयसिद्धेर्निम्नोन्नताग्रसद्भावात् तत एव नोदयास्तमययोः सूर्यादिविवाहदंर्शनं विरुध्यते। भूमिमलमनतया वा सूर्यादिप्रतीति-नं मन्वाभ्यां, दूरादिभूमिस्तथाविधदर्शनजननशक्तिसद्भावात्।”

(अध्याय ४ सूत्र १३)

अर्थ—हम जैन यह भी नहीं कहते कि पृथ्वी दर्पण के समान समतल ही है। समतल कहना प्रतीति के विरुद्ध है। कालादि के वक्त से घटावही होकर पृथ्वी में ऊंचा नीचापन देखा जाता है। इसलिये उदयास्त के वक्त सूर्यादि का आधा विव दिखाई देने में कोई आशंका नहीं है। और विपक्षी का यह कहना कि “पृथ्वी नारगीवत् गोल न होती ता

उपशान्त के वक्त मुर्दादि का काम से भाग हुआ दृष्टि में शान्त नभ्र नहीं था” उचित नहीं है। वैया तां भूमि में दूरी होने की वजह पृथ्वी में लगे हैं नभ्र आदि ऐसी स्थिति होने में भी हो सकता है।

[illegible]

जीर जब सूर्य जन्मि वायुवीर्य में विचरता है तब यहा दोनों तन्म के मूर्तों का ताप १२:३३:५३
 प्राप्ता जा रहता है। जीर दोनों तन्म का प्रसरण १६०:६८ है जो जल प्रमाण रहता है। प्रकारानुसार में दो
 वर्गों में विभक्त प्रमाण जीरों में जब सूर्य विचरता है तब उन प्रमाण बीर्य जो आदि नेत्र, मनो बीरियों की अपनों-अपनी
 परिधियों में १० भागों में से ६ भाग में ताप रहता है जीर / भागों में प्रसरण रहता है। तथा जब सूर्य जन्मि
 वायु बीर्य में विचरता है तब उसमें दोन तन्म बीर्य बीरियों की परिधियों में १० भागों में से ४ भागों
 में ताप य ६ भाग में प्रसरण रहता है। अथ की दोन बीरियों में से जन्मि जन्मि बीर्य में सूर्य के विचरने वक्त अन्य
 दोन बीरियों में ताप प्रमाण विचरता है ? यह ज्ञान के लिये उन बीर्यों की परिधियों में ६० का भाग देने पर जो
 "दिन गतरे इत" सूर्य के विचरने वाले बीर्य के दिनमान के मुहूर्तों में गुणा करने पर जो मत्ता हो उतने योजनों का
 उतने ताप प्रमाण सम्यक्ता चाहिये। इसमें प्रगट हुना है कि राशिपत्र में बाह्यपत्र की जर जाते समय सूर्य का
 अभ्यास ही ताप उत्तरोत्तर पटना जाता है जीर बाह्यपत्र में जन्मनर पथ की जर जाने समय ताप उत्तरोत्तर
 बढ़ता हुना जाता है। जन्मि वायु बीर्य में सूर्य के विचरने वक्त प्रायः जवद्वीप में दिनमान १२ मुहूर्त का जीर राशि-
 मान १८ मुहूर्त का होता है। यह सब में छंटा दिन जीर मन्त्रों बर्दी। जल—माघ मान में होती है। तथा १८ मुहूर्त
 का मन्त्रा दिन मन्त्र १० मुहूर्त का छंटा मान आकाश मान में होती है। वैशाख जीर कान्तिक में १५-१५ मुहूर्तों का
 समगति दिन होता है। उस समय सूर्य मन्त्रम बीर्य में विचरता है। और उस समय सभी बीरियों में ताप
 श्रीर तम का प्रमाण समान भागों में रहता है। अन्यतर की प्रथम बीर्य में बाह्य का जन्मि बीर्य में जाने में सूर्य
 की १८३ दिन मान है। इसको दृष्टिमान रहते है। इसमें उल्टे बाह्य से जन्मनर में जाने में उनी तरह सूर्य को





१८३ दिन लगते हैं। उसे उत्तरायण कहते हैं। दक्षिणायन में क्रमशः दिन घटता है, और उत्तरायण में क्रमशः दिन बढ़ता है। यह घटावढी ६ मुहूर्त तक होती है। १८३ दिनों में ६ मुहूर्त की हानि-वृद्धि हो तो एक दिन में कितनी हो ऐसे श्रैगमिक करने में २ मुहूर्त का ६१ वा भाग प्रमाण काल की प्रतिदिन हानि-वृद्धि होगी। अर्थात् २०॥ दिन में १ मुहूर्त दिन घटे बड़ेगा। यानी आयण में १८ मुहूर्त का, भाद्रपद में १७ मुहूर्त का आगे माघ मास तक प्रति मास एक एक मुहूर्त दिन घटना समझ लेना। इस प्रकार दक्षिणायन में दिनमान घटता जाता है। इसमें आगे उत्तरायण चलना है। उसमें धावण मास तक प्रतिमास इसी क्रम में दिनमान घटना जाता है। जैसे फागुन में १३ मुहूर्त का, चैत्र में १२ का इत्यादि। प्रायः ३० मुहूर्त का अहोरात्र होता है ऐसा नियम है इसलिये जब जितना दिनमान होगा तब ही शेष मुहूर्तों की राशि होगी।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि—हमारे यहाँ दिन होगा तो विदेह क्षेत्र में राशि होगी और विदेह में राशि होगी तो हमारे यहाँ दिन होगा, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि—हमारे यहाँ सूर्यास्त होते ही विदेह में सूर्योदय होने लग जाय या वहाँ सूर्योदय होने ही यहाँ सूर्यास्त होने लग जाय। ऐसा तो समराशि दिन के वक्त हो सकता है। विषम राशि दिन में तो ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि जब १८ मुहूर्त का दिन और १२ मुहूर्त की राशि होती है तब भरत क्षेत्र में सूर्यास्त होने के ३ मुहूर्त पहिले ही पश्चिम विदेह में सूर्योदय हो जायेगा। और पूर्व विदेह में सूर्यास्त के ३ मुहूर्त पूर्व ही भरत में सूर्योदय हो जायेगा। मतलब कि उस वक्त भरत में जो दिन का अंतिम ३ मुहूर्तात्मक भाग है वही पश्चिम विदेह में दिन का ३ मुहूर्तात्मक प्रारम्भिक भाग है। तथा पूर्व विदेह में जो दिन का अंतिम ३ मुहूर्तात्मक भाग है वही भरत में दिन का ३ मुहूर्तात्मक प्रारम्भिक भाग है। और जब १८ मुहूर्त का दिन होता है तब सूर्यास्त के तीन मुहूर्त बाद में पश्चिम विदेह में सूर्योदय होता है। और पूर्व विदेह में सूर्यास्त के ३ मुहूर्त बाद में भरत में सूर्योदय होता है। कारण कि दिनमान और राशि मान में जो काल का अंतर है उसमें दिनमान जितना अधिक होगा उसका आधा समय पूर्वक्षेत्र में सूर्याग का शेष रहते ही उत्तर (अंगरे) क्षेत्र में सूर्योदय हो जायेगा। तथा जितना अधिक राशिमान होगा उसका आधा समय पूर्व क्षेत्र में सूर्यास्त के बाद उत्तर क्षेत्र में सूर्योदय होगा।

शुक्ल-कृष्णपक्ष

जिम पक्षवाड़े में सूर्यास्त के बाद प्रतिगति उत्तरोत्तर बढ़ने हुए एक एक मुहूर्त तक चन्द्रमा दिखाई देता है, और फिर अस्त हो जाता है वह शुक्लपक्ष कहलाता है। और जिस पक्षवाड़े में सूर्यास्त के बाद प्रतिराशि उत्तरोत्तर बढ़ते हुए एक एक मुहूर्त तक चन्द्रमा का उदय नहीं होता बाद में उदय होकर नागरी राशि तक चन्द्रमा दिखता रहता है वह कृष्णपक्ष कहलाता है। ऐसा चन्द्रमय की समानगति न होने के कारण से होता है। हमेशा चन्द्रमा सूर्य में धीमी गति चलता है। चले २ हर अमावस को चन्द्रमय साथ हो जाते हैं। इसीलिये अमावस का पर्यायनाम सूर्येन्दुमगमभौ है। उस दिन दोनों साथ साथ अस्त होते हैं। दूसरे दिन शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को चन्द्रमा अपनी चाल में सूर्य से इनका पीछे रह जाता है कि उस दिन जहाँ उसे अस्त हुआ है वहाँ वह सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद में पहुँचता है इसलिये शुक्ल प्रतिपदा का सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद तक चन्द्र दिखना रहता है। फिर अस्त हो जाना है। आगे द्वितीया को २ मुहूर्त, तृतीया को ३ मुहूर्त बढ़ते बढ़ते पूर्णिमा को सूर्यास्त के १५ मुहूर्त बाद तक चन्द्र दर्शन होता रहता है। समराशि दिन में राशि १५ मुहूर्त की हानी है। अब तब पूर्णिमा का नागरी राशि में चन्द्रमा की चाँदनी रहनी है। उस दिन जिस वक्त पश्चिम में सूर्यास्त होता है उसी वक्त पूर्व दिशा में चन्द्रमा अपने उदय स्थान में आकर उदय हो जाना है। आगे कृष्ण प्रतिपदा का चन्द्रमा चार में इतना पीछे रह जाना है कि सूर्यास्त के मुहूर्त बाद में चन्द्रमा अपने उदय स्थान पर आकर उदय होता है। इसीलिये कृष्ण प्रतिपदा को चन्द्रमा का उदय सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद होता है। आगे द्वितीया को २ मुहूर्त बाद, तृतीया को ३ मुहूर्त बाद, इत्यादि प्रतिदिन एक एक मुहूर्त बढ़ते २ चतुर्दशी को सूर्यास्त के १४ मुहूर्त बाद चन्द्रोदय होता है। आगे अमावस को सूर्यास्त के वक्त ही चन्द्रमा की अपने अस्त स्थान पर पहुँच कर अस्त होकर सूर्य चन्द्र दोनों साथ साथ हो जाते हैं। चूँकि चन्द्रमा की सूर्य में समगति होने के कारण उस राशि के अंत में चन्द्रमा के अपने उदयस्थान पर पहुँचने के पहिले ही सूर्य आगे चलकर उदय हो जाता है उससे अमावस की मारी राशि में चन्द्रदर्शन नहीं होता है। इस प्रकार यह सूर्य का निम्न में समझाया समय तक चन्द्रदर्शन होना जानना

चाहिये । ज्येष्ठ के धृक् में चन्द्रमा के छोटे बड़े आकार का हाना गहू के निमित्त में बनाया है—यह इन दोनों कथनों में खान अन्तर समझना चाहिये ।

भूगोल-खगोल के विषय में कुछ विशिष्ट ज्ञानार्थ बातें हमने “जैन-निबन्ध रत्नावली” पुस्तक में भी ग्रथित की हैं—देखो पृ २८/५ “भर्तृरावत में वृद्धि-ह्राम क्रमिका है ?” शीर्षक निबन्ध तथा पृ० २६१ पर—“उपलब्ध जैन ग्रंथों में ज्योतिष-वृत्त की व्यवस्था” शीर्षक निबन्ध ।

भारतीय वर्ष मास नियम नक्षत्रादि की गणना सूर्य चन्द्र तारों की चाल पर आधारित है जब कि अन्य नर्षों की कैलेंडर (Calander) पचांग पद्धति काल्पनिक है अतः वह ऋतुओं में भी मेल नहीं खाती । प्रमगोपात्त भूभ्रमण के विषय में भी कुछ समीक्षात्मक विचार नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं—

भू-भ्रमण मान्यता की सदोष्णता

जैन-जैन-जीवनी-जीवनी एवं शास्त्राचार्य सभी के वर्णग्रन्थ (आगम, पिटक, वेद, वाईविल, कुगन आदि) में पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर माना है किन्तु जब ज्योतिष और गणित पद्धतियाँ में विकास का युग आया तब इस विषय में नास्तिर दृष्टि में उद्घापोह होने लगा । बराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, लल्ल, भास्कर तथा महावीर आदि प्रसिद्ध गणिताचार्य इस विषय में प्रमग्न्यों की मान्यता के ही समर्थन में रहे पर इम बीच आर्यभट्ट (वि० स० ५३३) आदि कुछ गणिताचार्यों ने पृथ्वी को चर बनाया । भारतवर्ष में वह युग भी इस विषय के खडन-मडन का रहा ।

भू-स्थिर वादियों के जोरदार तर्क (प्रश्न) निम्नांकित थे—

- १—अगर पृथ्वी चर है तो पक्षी मुबह अतः घोरनों को छाडकर शाम बही वापिस कैसे आ जाते हैं ?
- २—जानाघ में फेंके जाने वाले बाण विलीन क्यों नहीं हो जाते ? आकाश में फेंकी गई वस्तु विषम-गति-धील और दिशान्तर क्यों नहीं हो जाते ?
- ३—पृथ्वी की गति ना मद होना इसमें कारण माना जाय तो एक दिन-रात में इस विस्तृत पृथ्वी का पूरा भ्रमण कैसे हो पायेगा ?

इसके विपरीत अगर पृथ्वी का तीव्र वेग में घूमना मानते हो तो इसमें उस पर इतनी प्रचंड वायु चलेगी कि जिनमें मनुष्य, मरान, वृक्ष, पर्वतादि ही चोटिया, ध्वजाएँ आदि सब छिल्ल-भिन्न हो जायेंगे । अतः पृथ्वी का भ्रमण किसी भी तरह मिथ्य नहीं होना ।

४—पृथ्वी समान रूप में गति करने लूई वर्ष अर्ग में सूर्य का एक पूरा चक्कर लगाती है तो ऋतुओं का परिवर्तन कैसे समझ है ?

५—अगर पृथ्वी चलती है तो प्रवृत्ताग उत्तर की ओर ही मर्या एक स्थान पर ही क्यों दिखाई देता है ? पृथ्वी के माप्राग्न दैनिक भ्रमण में प्रतिदिन सूर्य पूर्व में पश्चिम में जाता हुआ दिखता रहे और पृथ्वी के दैनिक-वापिक भ्रमण में भी प्रवृत्ताग ज्यों का त्यों स्थिर पडा रहे यह कैसे माना जाय ?

इन प्रश्नों और नर्षों का कोई समुचित उत्तर भू-भ्रमणवादियों के पास नहीं ।

इसके सिवा भू-भ्रमण प्रत्यक्ष-वाचित भी है क्योंकि सब देश काल में मर्व प्राणियों को पृथ्वी की स्थिरता का ही अनुभव होता है । अनुमान में भी भू-भ्रमण का कोई निश्चय नहीं होता क्योंकि उस प्रकार का कोई अविनाभावी हेतु नहीं दखा जाता । (विशेष जानने के लिए—“पी० एल० ज्योग्राफी” ग्रंथ द्रष्टव्य है) ।

इस तरह भू-स्थिरता का निष्ठात मुदीघ काल तक मान्य और प्रचलित रहा किन्तु पाश्चात्य देशों में सर्व-प्रथम १६ वीं शती में कोपरनिकस ने पृथ्वी को चर और सूर्य को स्थिर बताया । गैलिलियो ने भी विभिन्न प्रमाणों से





इसकी पुष्टि की वस्तु पोप लोगो ने इसे बाउविल का अपमान बताया। परिणाम स्वरूप गेलिलिओ आदि का राजकीय दण्ड भोगने पड़े। फिर भी यह मान्यता नये नये सिद्धांतों की खोजों से उत्तरोत्तर बढ़ती रही और पश्चिम को लापकर यह पूर्व में भी प्रचलित हो गई एवं राज-मान्यता के साथ विद्यालयों में पाठ्य-विषय भी बन गई।

इस प्रकार भ्रमण का मिथ्यात काफ़ी लोकप्रिय हो गया और सूर्य-भ्रमण का मिथ्यात प्राचीन ग्रंथों का विषय रह गया।

फिर भी बहुत से ऐसे पाश्चात्य विचारक विद्वान् भी होते रहे हैं जिन्होंने भू-स्थिरता को ही मान्य किया है। हेनरी फास्टर ने मन् १६४८ में एक लेख में लिखा है कि "विलियम गडगल ने ५० वर्षों के महान् प्रयत्न के बाद यह निर्णय प्रकट किया कि पृथ्वी आली के समान चपटी है और इसके चारों ओर सूर्य भ्रमण करता है।"

दूसी तरह जे० मेरुडानल्ड ने भी मन् १६४६ में अपने विस्तृत लेख में यह लिखा है कि सूर्य गति करता है। और जा यह मानते हैं कि -पृथ्वी अपनी धुरी पर १ हजार मील प्रति घंटे की गति में गमन करती है वह हास्यास्पद है।

आधुनिक वैज्ञानिकों से अभी भू-स्थिरवादियों के पूर्वोक्त प्रश्नों का ही यथोचित समाधान नहीं हो रहा है कि—सापेक्षवाद मानने आ उपास्थित हुआ जिसके प्रस्तुतकर्त्ता इस २० वी ईस्वी सदी के विद्व-प्रगिद्ध गणितज्ञ वैज्ञानिक आइंस्टीन हैं। उन्होंने बताया है कि —“गति व स्थिति केवल सापेक्ष-धर्म हैं। ‘प्रकृति’ कुछ ऐसी है कि किसी भी ग्रह-पिण्ड की वास्तविक गति किसी भी प्रयोग द्वारा निश्चित रूप में नहीं बताई जा सकती। पृथ्वी की अपेक्षा में सूर्य चलता है या सूर्य की अपेक्षा में पृथ्वी चलती है। दोनों सिद्धान्त अपनी अपनी जगह ठीक हैं फिर भी पहला सिद्धान्त कुछ जटिल है और दूसरा मिथ्यात सरल है।

इस तरह भू-भ्रमणवाद पर जो बल दिया जा रहा है वह सिर्फ सामान्य जनता की भ्रमिधा की दृष्टि में है। अतः यह भ्रमिधावाद भी एक तरह में सापेक्षिक ही है।

आइंस्टीन के सापेक्षवाद ने वैज्ञानिकों के एतान्ताग्रह को क्षमजोर दिया है और अब वे यह कहने को बाध्य हो गए हैं कि—

सूर्य चलता है या पृथ्वी, यह विवाद महत्वहीन और निरर्थक है। दोनों में से कुछ भी माना जा सकता है। कोई बाधा नहीं। प्रकृति अनन्त धर्मात्मक होने से अति सूक्ष्म है अतः वास्तविकता का माधात्कार करना असम्भव-ना है।

जैनागमों में गृहस्थाचार

पंडित जयकुमार,

काव्यतीर्थ, शास्त्री, नोमच



जैनागम में गृहस्थ-आचार ने अभिप्राय जैन धर्म ग्रंथों में वर्णित श्रावक अथवा श्रमणोंसमूह के आचरण में है। न जाने कब तीन जीवात्मा का जन्म के योग में श्रमण-माद्यु जनन मुक्ति-योग का वरण करने में समर्थ हो जाए। विचार के इस धननल को ध्यान में रखते ही आचार ही जैनाचारों द्वारा देना ही। दृष्टि में सर्वप्रथम मुनि-धर्म का प्रतिपादन किया जाना चाहता, अनन्तर श्रावकधर्म का जोर फिर श्रावकधर्म अथवा गृहस्थ-आचार स्वयं भी अनगार के आचरण का एक अंग ही है।

जैनागम एक रिकार्ड

जैनागम एक गिगल है। जैसे गिगल गात्रक की मगीनमयी आरोह-अवरोहमयी स्व-लहरी में सुपरिचित कगता है, वैसे ही महर्षियों के मुन्ना-बन्ध द्वारा उच्चरित जयवा मकलिन-रिपिबद्ध मन्देश भी उनके आपणों-धर्मग्रन्थों के माध्यम में परम्परागत तन्त्र एवं तथ्य का माताकार करना है।

प्रस्तुत प्रमा में तो दो मत हा ही नहीं मक्ने है कि मानव-जीवन में आचरण का महत्त्व अत्यधिक है। जैसे फूट में मुगल का, मणि में कान्ति का, दीप में ज्ञानि का, दूध में धवलता का, धी में स्निग्धता का महत्त्व है वैसे ही जीवन में आचरण का। मनु के शब्दों में आचरण या आचार सभी धर्मग्रन्थों में सर्वोपरि है। आचार प्रथम धर्म है और मनुष्यों के लिए अतीव श्रेष्ठ है।^१ बर्क के शब्दों में आचरण दृष्टान्त ही मानवजाति की पाठगाला है। आचार के आचार पर ही जिन्हा का महत्त्व मुन्वि, मुदीर्नजीवी और ममुन्न होगा।

जैनागमों की दृष्टि में आचरण को मुद्याने के निम्ने मिथ्यात्व का निगार कगना अतीव आवश्यक है। हमारे शब्दों में मिथ्या आचरण (अवधार) को सम्यक् आचरण (चरित्र) के रूप में परिणित करने पर ही जीवात्मा को च्चानुमृति नमव है, अन्य किन्हीं प्रकार नहीं। मिथ्या आचरण ने अभिप्राय कुदेव, कुगुरु और कुशाम्त्र को मान्यता देने का है और सम्यक् आचरण ने आनर मुदेव, मुगुरु और मुशाम्त्र पर अपनी अखण्ड अपार आस्था बनाये रखने का है। पट्टा कृष्ण त्रिपुक्क है, इमग मच्चा एवं सफल है। यदि हम गृहस्थों के आचरण के सम्बन्ध में स्वामी समस्त-भद्राचार्य ने परामर्श चाहें तो वे अपने अनर ग्रन्थ 'रत्नकरण्डधावकाचार' का उद्धरण प्रस्तुत कर कहेंगे—

सत्तल विकल चरण तत्तल सर्वसगविरतानाम्।

अनगाराणा विकल सागाराणा समगानाम्॥

गृहिणा त्रेधा तित्थ्यगुणुशिक्षावतात्मक चरणम्।

पचत्रिचतुर्भेद त्रय ययासह्यमाह्यातम्॥

चारित्र्य के दो भेद हैं—(१) सकल (२) विकल। सकलचारित्र्य अपरिग्रही मुनिजनों के होता है और विकलचारित्र्य मर्मादिन परिग्रही गृहस्थों के होता है। गृहस्थों का चारित्र्य तीन प्रकार का है—(१) अगुवत (२)



गुणव्रत और (३) शिक्षाव्रत । इनमें से अगुव्रत के पांच, गुणव्रत के तीन और शिक्षाव्रत के चार भेद होते हैं ।

पंडितप्रवर आशाधर जी से गृहस्थ-आचार के विषय में पूछें तो वे 'सागारधर्मोऽयम्' के आधार पर कहेंगे —

सम्यक्त्वममलममलान्यगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते ।

सल्लेखना च विधिना पूर्णं सागारधर्मोऽयम् ।

उल्लिखित पक्तियों में सम्यक्त्व शब्द सर्वप्रथम है । अगुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत और अन्त में सल्लेखना सहित मरण, गृहस्थ का धर्म या कर्तव्य है । सम्यक्त्व से अभिप्राय उस जीवत्व भाव की श्रद्धा प्राप्त करना है जो कल था, आज है और अनागत में रहेगा । धर्म के आचार्यों की भाषा में परम पारिणामिक भाव पर आस्था रखना गृहस्थ का कर्तव्य है । यह गृहस्थ-धर्म की सर्वप्रथम वह भावभूमि है जिस पर आस्था न रखने से मुनिधर्म भी पुण्यवन्ध का कारण होकर लगभग निष्फल सा हो जाता है । सम्यक्त्वमूलक परमपारिणामिक भावानुभूति बिना अनन्त अट्टण्ड ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति सम्भव नहीं है ।

सब व्यवहार किया का ज्ञान, भयोअनन्ती द्वार प्रधान ।

निपट कठिन अपनी पहिचान, ताके पावत होत कल्याण ॥

यह कहकर भूधरदासजी ने परमपारिणामिक भाव पाने की प्रेरणा दी ।

सम्यक श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यक ज्ञान ।

स्वपर अर्थ बहुधर्म जुत, जो प्रगटावन भान ॥

यह लिखकर दौलतरामजी ने भी आत्मानुभूति के लिये प्रेरित किया । सम्यक्त्व का या परमपारिणामिक भावानुभूति का महत्व गृहस्थ अथवा मुनि के लिये उतना अधिक है, जितना भी शक्य और संभव है ।

अहिंसा और सत्य का समर्थक

अगुव्रत से तात्पर्य अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन व्रतों का अपूर्णतया, एक देश पालन करने का है । दूसरे शब्दों में हिंसा, झूठ, चोरी, अश्रद्धाचर्य और परिग्रह, इन पाचों पापों से लोक-जीवन में यथासंभव बच कर रहने का है ।

'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसा'—तत्त्वार्थ सूत्र । प्रमादपूर्वक कपायों के सबध से प्राण-घात करना हिंसा है । चूँकि गृहस्थ को सासारिक जीवन विताना है, अतएव वह पूर्णतया अहिंसक जीवन व्यतीत करने में असमर्थ है । गृहस्थ की इस अक्षमता को ध्यान में रखते हुये भगवान् ने उसे सकल्पी हिंसा से पूर्णतया और आरम्भी, उद्यमी, विरोधी हिंसा से यथासंभव बचने की सलाह दी है । इस आधार पर कहा जा सकेगा कि उद्योग के निमित्त और दायु में अपने को बचाने के लिये परिस्थिति विशेष में जीवन-यात्रा के लिये गृहस्थ आरम्भी हिंसा का त्यागी नहीं होता । पर गृहस्थ को निरुद्देश्य अस और म्यावर जीवों के घात से तो बचना ही है ।^१ इस हेतु वह अनावश्यक रूप से न अन्न का सचय करेगा और न धन का, कोयला लाख बनवाना, वन कटवाना, मद्य-मांस-मद्यु का क्रय विक्रय करना जैसे हिंमामूलक कार्य वह कदापि नहीं करेगा । अच्छा सच्चा अहिंसागुव्रती न तो अमक्ष्य वस्तु का भक्षण करेगा और न बिल्ली, कुत्ता, तीतर-मुर्गी जैसे मांसभोजी जीवों को पालेगा । वह जहा लोह-प्रचलित वाईस अमक्ष्यो से बचेगा, वहा धागव और मछली के तेल से बनी विदेशी दवाइया भी नहीं भेवन करेगा । उतना ही नहीं बल्कि बहुत दिनों के वने अरिष्ट, ग्रामव, आचार-भुरग्या, मिष्टान्न पत्रवान्न को भी ग्रहण नहीं करेगा ।

यों वह एक ओर अपने को हिंसा में बचाएगा और दूसरी ओर अपने जीवन तथा स्वास्थ्य की भी रक्षा करेगा। उसी दिशा में वह यथाशक्य एकाग्र-उपवास भी पर्व के अवसर पर आत्मशुद्धि की दृष्टि में करेगा और आचार्य उमास्वामी के शब्दों में अहिंसाधन की पांच भावनाएँ ध्यान में रखेगा।^१ दूसरे शब्दों में वह अधिकाधिक अहिंसक जीवन बितावेगा तथा अहिंसाधन के अधिकारों में भी अपने को मतरुं होकर बचावेगा।^२

यह बचनों का मावधानी से प्रयोग करेगा, मनोनिग्रह करेगा, आगे निर्जिव जमीन देखकर बलेगा, जीव-रहित भूमि पर ही मनकंठा पूर्य यन्त्रु को रखेगा तथा देव-शोऽ कर ही दिन में भोजन-पानी ग्रहण करेगा। मनु के शब्दों में 'दिवाचरेण्यो नमः' कहकर उनके अनुस्य अपने जीवन को टांसेगा।

पूर्वोक्त पाचों भावनाओं को बटाने के लिये यह उच्छिन्न म्यान में जान में किसी को रोकेगा नहीं। वह किसी की शपथ-रोटा-ब्रँन मारेगा नहीं। यह किसी के नाक-तान छेदेगा नहीं। वह न तो अशानस्य पशुशो-गुरुषो पर शक्ति में अहित माग-तान आदेगा और न उनके साजन पानी में किसी प्रकार की बाधा ही पहुँचावेगा।

जैन धावर मन्त्रापी होगा। शक्य मन्त्र हिन-मिन-प्रिय होगा। वह अप्रिय-अमत्य में बचेगा और प्राण-रक्षा के निमित्त परिस्मृति विशेष में अमत्य बोलकर भी अहिंसाधर्म का पालन करना अगीकार करेगा। उदाहरण के लिये, कोई उरिया मित्रारी गृहस्थ ने पूछेगा कि पत्नी मरा है या जीवित? ता वह जीवित पत्नी का देखकर भी मित्रारी उसे माग न टाँसे, उन मित्रा- में पक्षी का मरा वह कर उसकी प्राणरक्षा करने का प्रयत्न करेगा।

मत्सरन का पालन करने के लिये जैन गृहस्थ क्रोड और लोभ, भय और हास्य का त्याग करेगा और निश्छिन्न होकर निर्दोष बचन रहेगा। वह धर्म-राज की भांति न तो 'नरा वा राजरो वा' कहेगा और 'न अर्जयंष्टव्यम्' के मन्दमं में 'अद्र' का अर्थ बर्णन करेगा। उसका मनन-चिन्तन-नापण मुष्पट होगा।

अपने मन्त्र अग्रज का बटान के लिये ग्रहस्थ न तो किसी का मिथ्या उपदेश देगा और न किसी की गुल्फ बात का प्रसन्न ही करेगा। वह न गूठ टनावेन बनावेगा और न किसी की घरोहर का जपहरण करेगा। वह सकैन हाग किसी का अभिप्राय जानने भी प्रकट नहीं करेगा। दूसरे शब्दों में जैनगृहस्थ यथाशक्य अहिंसा और सत्य का नमस्कार होगा।

अर्चोय और ब्रह्मचर्य का उपामन

चाँची का त्याग करने, ओम कपाय का कम में कम करने का प्रयत्न जैनगृहस्थ करेगा। वह किसी की गिरी-नूरी-ग्री यन्त्रु का अपन लिये अगीकार नहीं करेगा। निर्गुणवादी मन्त्र कवीर के शब्दों में वह स्वयं भले ही ठगा जावेगा परन्तु दूसरों को नहीं ठगेगा,^३ वह मय दुखी हा वेगा पर दूसरों को दुख पहुँचाने का विचार स्वप्न में भी नहीं करेगा। वह न भ्रातृ की चाँची करेगा और न द्रव्य (धन-वस्तु) की। वह न भ्रष्टाचारी होगा और न शिष्टवत्पौर या शिष्टनदाना भी। उसका जीवन आत्मी या निर्मल और गुदाव-सा सुवासित होगा।

वह नष्टा मुश्रित म्यान में रहेगा, उष्टा दूसरों का भी रहने में रोकेगा नहीं। वह शान्ति के अनुस्य ही भोजन-पानी ग्रहण करेगा। अपने मष्टप्रमी यन्त्रुओं में मिमवाद नहीं बटावेगा। वह मददाशय और महदयता का एक केन्द्र ही होगा। अर्चोय अग्रज की उमासना करने के लिये वह न तो चारों चारी रहने की प्रेरणा देगा और न चुगई हूई यन्त्रु को भी खरीदेगा। शासन की आज्ञा के विरुद्ध वह आचरण नहीं करेगा और लेन-देन के वाट-नगाठ नम-वट नहीं रहेगा। वह प्रहृत्य यन्त्रु में अल्प मूष्य की यन्त्रु मिलाकर नहीं बेचेगा।

१ वाहमनोगुप्तीयदाननिलेपणममित्यालोफितपानभोजनानि पच ।

२ अन्धजपच्छेदानिमित्तारोपणान्नपाननिरोगः ।

३ कधिरा आप टाहये और न ठगिये कोय ।

आप ठगे मुय ऊपज और ठगे दुख होय ॥





जैनगृहस्थ यथाशक्य ब्रह्मचर्य की उपासना करेगा। वह अपनी स्त्री में ही मग्नपुष्ट होकर रहेगा और अन्य स्त्रियों को छत्रपति शिवाजी और धनुर्धारी अर्जुन की भाँति अपनी माँ बहिन-बहू-बेटी ही समझेगा। दूमरे शब्दों में वह ग्रन्थ स्त्रियाँ का विषय की दृष्टि से त्यागी होगा। 'सहवास में अनेकानेक जीवों की हानि-हत्या होती है।' इस वचन को ध्यान में रखकर वह अपनी स्त्री से भी अत्यधिक काम-वासना की पूर्ति के लिये लालगा नहीं बढ़ावेगा।

ब्रह्मचर्य व्रत का सुगमतापूर्वक पालन हो सके, इसके लिये बहू स्त्रियों में राग घटाने वाली न तो बातें करेगा-सुनेगा, न चलचित्र देवेगा, न बदलील उपन्यास ही पढ़ेगा। वह न स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखेगा और न पिछले भोगों का स्मरण ही करेगा। काम के वेग को रोकने के लिए न केवल गरिष्ठ राजनी और निकृष्ट तामसी भोजन का ही परित्याग करेगा अपितु शरीर की सज्जा भी ऐसी नहीं करेगा, जो उसके अथवा अन्यजनों के ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में बाधक हो।

जितन भी माधक पराजित हुये, वे प्रायः स्त्री के क्षेत्र में हुये। इस बात को ध्यान में रखकर वह यथाशक्य उनसे बच कर ही रहेगा और ब्रह्मचर्यव्रत की आराधना के लिये पण्डित धानतरायजी के शब्दों में 'समार में विष-नेत्र नारी तजि गये जोगीद्वारा' भी कहने में नहीं चूकेगा। इस प्रकार जैन गृहस्थ ब्रह्मचर्यव्रत का मार्गानुसार पालन करेगा।^१

अपरिव्रह का आराधक

इच्छाये असीमित है। आकाश की तरह अनन्त है। उनका पूर्ण होना सम्भव नहीं है। यह विचार कर जैन श्रावक अपनी इच्छाओं को यथाशक्य कम से कम कर लेगा और स्वप्न, रमना, घ्राण, चक्षु और कर्ण-इन पाचों इन्द्रियों सबधी आसक्ति को घटाने वाली उस्तुओं और बातों को अतीव सीमित रख लेगा। इन इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने के लिये वह एक ओर भोगोपभोग विषयक सामग्री कम करेगा और दूसरी ओर उपलब्ध सामग्री में अत्यधिक राग-भाव नहीं बढ़ावेगा। राग कम करने के लिये, प्रतिदिन-प्रतिक्षण सावधान रहने के लिये वह भोजन-पानी, वस्त्र-मुगन्ध, घी-तेल आदि के प्रयोगों के सम्बन्ध में निश्चित नियम बनाकर पालन करेगा।

अरिव्रह का आरम्भिक आराधक होने के नाते जैन गृहस्थ परिव्रह-परिमाण अणुव्रत का धारक बनेगा। वह सीमित परिव्रही बनेगा। वह घेत और घर दुकान और व्यवसाय को सीमित रखेगा। वह न तो नर्मदा से आगे चादी-सोना-रुपया बढ़ावेगा और न गाय-भैंस, हाथी-घोड़े जैसे पशु बढ़ावेगा तथा न गेहूँ-चना-दालें-शकर आदि की मात्रा बढ़ावेगा। वह जहाँ नौकर-नौकरानी सीमित सख्या में रखेगा, वहाँ बन्ध और वर्तन आदि के प्रमाण का भी उल्लघन नहीं करेगा।^२

यों अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को कम से कम करके जब जैन गृहस्थ अपरिव्रह की आराधना करने लगेगा तब वह देश और काल तथा ममाज को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहेगा। उसका यह आचरण समाज में समता लाने वाला और विषमता मिटाने वाला सिद्ध होता है।

दिग्नत और देशव्रत तथा अनर्थदण्डव्रताचारी

गुणव्रत के तीन भेद हैं—(१) दिग्नत (२) देशव्रत (३) अनर्थदण्ड विरमण व्रत। इन्हें सच्चा धर्मणोपासक बखूबी समझेगा। वह सूक्ष्म पापों से निवृत्ति के लिये दशो दिशाओं में आने-जाने का परिमाण कर लेगा और दिग्नतधारी बनेगा तथा जीवन-पर्यन्त अपनी भर्मादा नहीं छोड़ेगा। स्वीकृत दिग्नत के क्षेत्र में क्रमशः कमी करता जाएगा। घड़ी-

१ वह न तो अन्य जनों के विवाहों में उत्सवों और न अभिचारिणी स्त्रियों से अनुचित सम्बन्ध ही रखेगा। वह न निश्चित अंगों के सिवाय अन्य अंगों से काम-सेवन करेगा और न काम-सेवन की अत्यधिक लालसा रखेगा।

२ क्षेत्रवास्तुहिरण्यस्वर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमः ।

घटा, दिन-महीना आदि की दृष्टि में भी नगर-मुहल्ला तक ही आवेगा-जावेगा और देशव्रत-का पालन करेगा। इस स्त्रीकृत मर्यादा को न तो भूलेगा और न उसके बाहर की वस्तुयें मगावेगा। न व्यक्तिगत को भेजेगा, न मकैतो द्वारा ही जाने का मनोभाव दूसरों पर प्रकट करेगा। वह प्रयोजनरहित पापवर्धक क्रियाओं का त्याग करके अनर्थदण्ड विरमण व्रताचारी बनेगा अर्थात् वह न किसी का पाप का उपदेश देगा और न हिंसा के साधन देगा तथा न दूसरे का बुरा ही विचारेंगा। न वह राग-द्वेषवर्धक खोटे शास्त्र पढ़ेगा और न बिना प्रयोजन डघर-उधर घूमेगा। न निरर्हस्य पृथ्वी को जोड़ेगा न जल का अपव्यय करेगा। वह न तो कभी अशिष्ट वचन कहेगा और न शारीरिक कुचेष्टा करेगा। वह न वाचात्र बनेगा और न मन-वचन काय को मनमानी करने देगा। वह भोग-उपभोग के पदार्थों का अधिक मग्न नहीं करेगा।

पूर्वोक्त तीनों व्रतों के सम्यक्करीत्या आचरण के द्वारा जैनगृहस्थ उस समय की ओर उन्मुख होगा, जिसके सम्बन्ध में आचार्य आदि युग-युग में कहते जा रहे हैं कि 'समय के बिना एक घड़ी भी न बीते।'।

शिक्षाव्रतचारी

मुनियों के व्रतों का पालन करने की प्रेरणा देने वाले शिक्षाव्रत ४ हैं—(१) मामाधिक (२) प्रोपधोपवास (३) भोगोपभोगपन्निमाण (४) अतिथिसविभाग व्रत। चारों ही सार्थक सजा वाले हैं।

मामाधिक शब्द नम-आय-इह में मिल कर बना। जिस का आशय समभाव की प्राप्ति की साधना में है। प्रत्येक जैन गृहस्थ के लिये मामाधिक करना अतीव आवश्यक है। वह कम से कम दो घड़ी के लिये, ४८ मिनट के लिये तो अवश्य ही अहिंसक जीवन जिनाये। इतने समय तक वह न केवल पापों से ही बचे अपितु विघ्न आने पर भी भयभीत न हो। मामाधिक करने वाला गृहस्थ इसके छह श्रमों को उदापि नहीं भूलेगा। वह ममता, वन्दना, प्रतिक्रमण-स्वाध्याय, कायोत्तमर्ग और श्रुति पर आग्रह होकर दृष्टि रखेगा। आचार्य समन्तभद्र ने सामाधिक में स्थित गृहस्थ की उपमा राख में दबे अंगार में दी है। सामाधिकव्रती गृहस्थ को सवन्त्र मुनि भी कह दें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सामाधिक करने में गृहस्थ न केवल पापों से ही बचना है बल्कि आत्मिक सुखानुभूति भी पाता है।

जैन गृहस्थ प्रोपव (एकाग्र) करेगा, उपवास करेगा तथा प्रोपधोपवास भी अर्थात् पहले दिन एकाग्र, दूसरे दिन उपवास तथा तीसरे दिन पुनः एकाग्र भी करेगा। प्रोपधोपवास के दिना में वह मसूर के कायों से उदासीन रहेगा और एकान्त गान्तिपूर्ण स्थान में रहेगा। वह अजन-मजन, स्नान-उबटन, तेल फुल्ल से जहाँ बचेगा वहाँ सिनेमा, नाटक, आदि में भी बचेगा। वह देखी-गोधी भूमि पर मल-मूत्र त्याग करेगा। सभी वस्तुओं को सावधानी में रखेगा-उठावेगा। मूत्र में व्याकुल होकर भी धार्मिक क्रियाओं में उत्साहित रहेगा।

भोग और उपभोग की वस्तुओं की मर्यादा करके उन्हें ही जैनगृहस्थ ग्रहण करेगा, भेष को त्याग देगा। त्यागी हुई वस्तु का स्पर्श हो जाने पर या मिला जान पर वह स्त्रीकृत वस्तु को भी भोजन में नहीं लेगा।

अपने और दूसरों के उपकार के लिये दान देना भी गृहस्थ का कर्तव्य है। विधि, द्रव्य, दातृ और पात्र-विशेष की अपेक्षा दान के फल में विशेषता होती है। यह विचार कर जैन गृहस्थ अतिथिसविभाग व्रत का पालन करेगा। वह मुनि या श्रावक के लिये भोजन देकर ही स्वयं भोजन करेगा। एक कवि के शब्दों में उसकी प्रवृत्ति यों होगी—

मुनि आवन विरिया जोने । तव जोग अजन मुख लेवे ॥

जब जैन गृहस्थ प्रसन्न मुग्धमुद्रा लिये समुचित पात्र को दान देगा तो उसकी उदारता में भारतीय सस्कृति बड़ेगी। तीर्थंकरों को जिन लोगों ने दान दिया, उनके यहाँ देवताओं ने पात्र आश्चर्य प्रकट किये।





समाधिमरण का इच्छुक

गृहस्थ प्राण-त्याग के समय सल्लेखना अथवा समाधिमरण को प्रीतिपूर्वक स्वीकार करे। वह इहलोक-परलोक सबधी किसी भी प्रयोजन की इच्छा न करे और कपायो को तथा शरीर को कुश-क्षीण करे। पर क्यों ? इसलिये कि वह अन्तिम समय में समाधिमरणपूर्वक अपने प्राणों को वैसे ही छोड़ सके, जैसे साप केंचुली को छोड़ देता है अथवा हम पुराने कपड़े को छोड़ देते हैं। अन्तिम समय में समाधिपूर्वक मरण से चारों गतियों में भ्रमण करने से वच-कर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

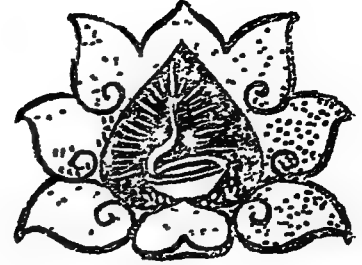
अन्ते समाधिमरण चउगड्डुसल्ल निवारैई ।

इस स्वर्णसूत्र को दृष्टिपथ में रखता हुआ जैन गृहस्थ समाधि के समय न तो मन-वचन-काय की अन्यथा प्रवृत्ति ही करेगा और न समाधि दशा में अनादर रखेगा अथवा न स्मरणीय पाठों को दुखी होकर भुला ही बैठेगा। वह सल्लेखना या समाधिमरण को स्वीकार करने के बाद—न जीवन की इच्छा करेगा न मृत्यु की, न मित्रों का स्मरण करेगा न अनीत के भोगों का भी ध्यान रखेगा तथा न आगे के लिये भी विषयों की इच्छा करेगा। ऐसा करने से उसके प्राण सहज स्वाभाविक रूप से छूटेंगे, वह जैनधर्म के वीजभूत वीतरागता के रहस्य को भी समझ सकेगा।

संक्षेप में जैनागमों में जो गृहस्थ के आचार का वर्णन मिलता है, वह बहुत ही उच्च कोटि का है। उसकी भाव-भूमि बड़ी ही मनोहारी है। उसमें आहार-विहार और निहार पर नियन्त्रण है, अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही दृष्टियों से त्याग की कामना है, लोक और परलोक की दृष्टियों से उसमें वैराग्य की भावना है। जैन गृहस्थ का जीवन जैनमुक्ति के जीवन की पूर्व भूमिका है। जैन धर्म जनधर्म है, अतएव जैनाचार प्रत्येक प्राणी का कल्याण करने में सक्षम है।

उपासक का आचार

पं० जम्भू प्रसाद शास्त्री



जो मत्-व्रद्धा सद्-विवेक और सद्-आचरण रूप क्रिया करना है वही श्रावक कहलाने का पात्र हो सकता है। अस्मिन् गुण को धारण कर सर्वप्रथम आत्मा के अस्तित्व, तथा यह चैतन्य स्वभाव वाला, अविनाशी और अनन्त गुणों का समूह है, इसकी मुख शान्ति इसी के पान है, आदि आत्मविषयक बातों पर श्रद्धादान करना, पुनर्जन्म पर आस्था, कर्मों का आगमन, उनका आत्म-प्रदेशों में वन्द्य, उनका रक्षना और उनकी निर्जरा तथा अन्तिम परिणाम मोक्ष किम तरह होना है, आदि का आगमानुक्ल श्रद्धादान करना, मत्-व्रद्धा में आता है।

विवेक सद्ज्ञान को कहते हैं जिनके प्राप्ति कर लेने में आत्म-दर्शन हो जाता है। स्वानुभूत्यावरण कर्म का क्षयोपगम हो जब आत्म-बोध होता है तो माधव आत्मा का उन्नति के पथ पर ले जाता है। हित की प्राप्ति और अहित का परिहार विवेक में ही होता है। जैसे दीपक अंधकार में डूबे मार्ग को प्रशस्त करता है ठीक उसी भाँति विवेकी आत्मोन्नति के मार्ग में बटता है।

जिम प्रकार औषधि का परिज्ञान मात्र, रोगी को रोग-मुक्त नहीं कर सकता परन्तु उसका सेवन आवश्यक हो जाता है, इसी प्रकार आत्मकल्याण के लिए सम्मार्ग पर चलना भी अनिवार्य है। कहा है—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा,
यस्तु क्रियावान् पुरुष स विद्वान्।

अर्थात् शास्त्र को पढ़कर भी बहुत में मूर्ख होते हैं किन्तु जो क्रियावान् है वही विद्वान् है। इसीलिए आचरण की प्रमुखता है। यही कारण है कि सदाचरणमम्पन्न श्रावक ही प्रशंसनीय होता है। शेष कीदृश्विक व्यवधानों में फने और शास्त्रोक्त आचरण न करने वाले गृहस्थ श्रावक कहलाने के योग्य नहीं हैं।

मत्कर्तव्य की आवश्यकता क्यों है ? इस प्रश्न पर थोड़ा विचार करें।

प्रत्येक प्राणी मुख चाहता है और दुख से डरता है। 'जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुखते भयवन्त।' वास्तव में यह उद्देश्य प्रत्येक प्राणी मात्र का है। जिम प्रकार 'उपयोगो लक्षणम्' जीव का लक्षण उपयोग है, यह सभी समारी और मुक्त जीवों में घटित होता है उसी प्रकार मुख की चाह और दुख की अचाह, यह समारी प्राणी मात्र की अभिलाषा है और यही जीव मात्र की समानता का बोध करणी है। इसी हेतु की प्राप्ति के लिए मत्कर्तव्य की आवश्यकता होती है, जो मनुष्यदेस के श्रवण और सद्विवेक की सहकारिता से मिलता है। लेकिन व्यवहार में हम करते कुछ हैं और चाहते कुछ हैं—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्य नेच्छन्ति मानवा ।
पापफल च नेच्छन्ति, पाप कुर्वन्ति यत्नत ॥



यह सर्वविदित है कि पुण्य का फल इन्द्रिय-सुख और महानता आदि तथा पाप का फल दुःख एवं तिरस्कृत अवस्था है। परन्तु यह प्राणी पुण्य के फल को चाह कर भी पुण्य नहीं करता और पाप के दुःख रूप फल को न चाह कर भी यत्नपूर्वक पाप करता है। इस विपरीतता में जाता हुआ मनुष्य कैसे सुखी हो सकता है ?

पुण्य और पाप क्या है ? यह भी ज्ञातव्य है। 'सुहृन्ममृभावमुत्ता, पुण्यं पापं हवन्ति यलु जीवा ।' अर्थात् शुभ और अशुभ परिणाम सहित यह जीव पुण्य और पाप रूप प्रवृत्ति वाला होता है। पाप शब्द की व्याख्या में कहा है—

'पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम् । अर्थात् जो आत्मा को शुभ से दूर करे वह पाप है। पाप ऐसा शत्रु है जो आत्मा के साथ छायावत् चलता है। जिस व्यक्ति को आत्मा से प्रेम नहीं वही आत्मा के हित की उपेक्षा करता हुआ पापाचरण करता है। आत्मा का समझने वाला आत्मन्नेही पाप नहीं किया करता। समार में जितने भी दुष्ट दैत्य में आ रहे हैं, वे सब पाप के फल हैं। वे पाप प्रधानतः हिंसा, झूठ, चोरी अत्रह्यचर्य और परिग्रह के भेद में पाच प्रकार के हैं। यद्यपि अभयभक्षण, रात्रिभोजन और सप्त व्यसन भोजन भी पाप हैं तथापि उन पापों का समावेश इन्हीं पाच में हो जाता है।

पुण्य की व्याख्या में कहा है कि—'पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्' अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करे वह पुण्य है। इसलिए जो गृहस्थ समर्थ होकर भी नित्य जिनेन्द्र भगवान् की उपासना, आराधना, स्तुति आदि नहीं करता है और जो मुनि आदि सुपात्रों को दान नहीं देता है उगका गृहस्थाश्रम भवमागर में पापाण-नीका के समान है जो उसे दुवाकर नष्ट कर देता है।

जो मूलोत्तर गुणों में सहित पच परमेष्ठी के चरणों की शरण वाला है, योग्यतानुसार पदकर्म जिसका प्रधान कार्य है, ऐसा ज्ञान-अमृतपिपासु श्रावक ही उत्तम है।

अहिंसागुणव्रत, मत्यागुणव्रत, अचौर्यागुणव्रत, ब्रह्मचर्यागुणव्रत और पश्चिग्रहपरिमाणव्रत, इन पच अणुव्रतों को धारण करना तथा मद्य, मांस एवं मद्य का त्याग, ये अष्ट मूलगुण श्री समन्तब्रह्मचर्याय के कथनानुसार हैं। यद्यपि कोई कोई पच उद्भव फल के त्याग के साथ तीन मकारों के त्याग को भी अष्टमूलगुण मानते हैं, लेकिन मेरी अपनी आस्था उपर्युक्त मूलगुणों में ही है।

जब पच अणुव्रतों में दिव्यत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, पोषधोषवास, भोगोषभाग—परिमाण और अतिथि-सन्निभाग ये चार निष्ठाव्रत सम्मिलित हो जाते हैं तो श्रावक के १२ व्रत कहलाने लगते हैं। इनका पालन करते हुए अंतिम समय निरनिचार मल्लेखना धारण करना गृहस्थ का श्रावकाचार है। बारह व्रतों का मभीचीन रूप से पालन करने के लिए भूमिका रूप में गृहस्थ में निम्न विशेषताएँ जरूरी हैं—

(१) न्याय पूर्वक धन का कमाना—क्योंकि अन्यायपूर्वक कमाया हुआ धन एक तो ठहरता नहीं और दूसरे उसमें जो भोजनादि किया जाता है उसके प्रभाव से बुद्धि धामिक नहीं बन सकती।

(२) अपने में अधिक गुणों वाले व्यक्ति का सम्मान करना।

(३) सत्यभाषी प्रकृति वाला होना।

(४) पश्यार में निरोध रहित धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का सेवा करना।

(५) योग्य धामिक कुलवधू का होना।

(६) योग्य स्थान (आलय) का होना।

(७) लज्जावान् होना।

(८) योग्य आहार-विहार करने वाला हो।

(६) भक्तगति करने वाला हो ।

(१०) बुद्धिमान् हो (११) कृत्तव्य हो । (१३) धार्मिक विधि-विधानों को हमेशा प्रेमपूर्वक सुनने वाला हो । (१४) पापों से हमेशा दूर रहने वाला हो । (१५) दयावान् हो, आदि ।

ये उपर्युक्त बातें जिन गृहस्थ से होती हैं वही निर्दोष आचाराचार का पालन कर सकता है । आत्मसहायण-पुरुषों को इन गुणों को धारण करना चाहिए ।

उसके अनिश्चित निमित्त मानना के लिए आचार के ग्राह्य दर्ज होने हैं जिन्हें ग्राह्य 'प्रतिमाओं' के नाम से कहा गया है । उन दर्शन, दान, मानसिक, पोषण, मन्त्रित्वाग, तन्त्रिनोपनयनाग, ब्रह्मचर्य, आत्मस्वाग-यज्ञित्वाग, अनुमतिनाग और उद्दिष्टत्वाग प्रतिमाओं से पालन करने वाला कम से उच्च-उच्चतर श्रेणियों पर चढ़ता हुआ उत्तम आचर की श्रेणी पर पहुँचता मुनि के सम्मान से जाचरण करने वाला हो जाता है । इसलिए आचरों को अपने योग्य जितना भी इन गवर्ण हो उड़े, पालन करने हुए अनुपपन्न को मकल करना चाहिए ।

जिस अनुपपन्न के लिए उन्मादिक महान् देव भी जानाये रहने हैं, यदि मौनान्त से वह प्राप्त हो गया तो उसे धर्म नहीं तो देना चाहिए । उनसे भी वह उनम वृत्त, निनवाणी का अवगण नत्वविद्या की बुद्धि, अनेकगता और मन्मथता आदि ऐसी बातें प्राप्त हूँ जो बिना पूर्वोक्तानि पुत्र के नहीं हो सकती । अब पुण्याय-पूर्वक आत्मो-ल्लसि द्राग उन मानसों से मकल करना चाहिए । क्योंकि मोज्ञाणि में पुण्याय की प्रगणता का प्रतिपादन करते हुए श्री अक्षर देव ने तत्त्वार्थानुवादिन (अध्याय १ सूत्र ३) में कहा है—मात्र जाने का कौटुम्बिक नियम नहीं है । उस भी वह आत्मा योग्य पुण्याय करना है तो द्रव्य, देय, सत्य और भाव की अनुकूलता मिलने पर इसकी मुक्ति हो सकती है ।

यह राग वही आग जीव का हमेशा से जलानी आ रही है । उसे समझा लो जड़ में ज्ञान करना चाहिए । विषय और स्थायक प्रवृत्ति जीव के अनादि राग से रक्खी, अब उसे त्याग करके ज्ञान-स्वरूप की प्राप्ति करनी चाहिए । भागों की रिप्ता उन देवों व चरित्रों के मुक्तों को भोगने पर भी प्राप्त नहीं हूँ तब उस स्वयंकालिक रूप से क्या तृप्ति होगी ? मनुष्य का जड़ पीकर जिसकी प्यास नहीं बुझी रहा वह तृण के ऊपर स्थित जल-विन्दु के पीने से कुछ सकती है ? बताय नहीं । उस प्रकार अपने मन में निश्चय कर भागों की प्राप्ति का छोड़ना चाहिए ।

धार्मिक-गैर जैसे मोटे ध्यान, तो कि नरक और निरव गति के कारण हैं, छोड़कर मोक्ष के कारणभूत धर्म-ध्यान का चिन्तन करना चाहिए । यद्यपि गृहस्थ धर्मध्यान की चरम परकाण्ड तक नहीं पहुँच सकता तथापि पंचप-संश्लो के मंत्रों का जाप व स्मरण कर ध्यान तो निश्चय ही सकता है ।

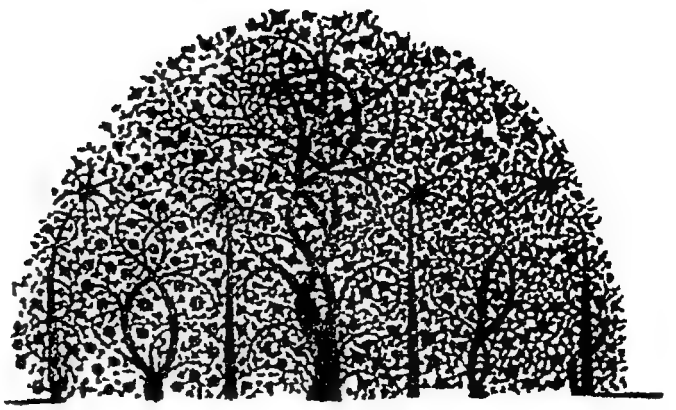
सबके प्रति सद्भावना रखना आचर का पाम स्वतंत्र है, क्योंकि जिनवाणी में वध और माक्ष मुन्नन मानना पर ही निर्भर है । यदि ऐसा न होता तो इस जीव जन्तुओं में भ्रम नश्वर में अहिमात्मक प्रवृत्ति न बनती और न भूमि-प्राप्ति की सम्भावना ही हो सकती थी । इसलिए मन बचन काय की शुभ प्रवृत्ति को, जो पुण्य का कारण है, करने हुए शुद्धांगयोग की ओर ध्यान रखना चाहिए, जो भुक्ति का साक्षान् कारण है ।

मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता होता है । जैसा शुभ या अशुभ जाचरण वह करता है वही चरकर वही भाग्य रूप में गणित होकर फल देता है । यह विशेष जानने की बात है कि मनुष्य कम करने में तो स्वयं होना है परन्तु उन्ने पर भोगने में परमत्र । इसलिए आत्मसन्तुष्टि को नन्-धर्म करना चाहिए ।



अतिचार-रहस्य

पं० हिरालाल सिद्धान्तशास्त्री,



देव, गुरु, सच, आत्मा आदि की साक्षी-पूर्वक जो हिंसादि पापों का — बुरे कार्यों का — परित्याग किया जाता है, उसे व्रत कहते हैं। पाँचों पापों का यदि एक देश, आशिक या स्थूल त्याग किया जाता है, तो उसे अणुव्रत कहते हैं और यदि सर्वदेश त्याग किया जाता है, तो उसे महाव्रत कहते हैं। यत पाप पाँच होते हैं, अत उनके त्याग रूप अणुव्रत और महाव्रत भी पाँच-पाँच ही होते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार महाव्रतों के धारक मुनि और अणुव्रतों के धारक श्रावक कहलाते हैं। पाँचों अणुव्रत श्रावक के दोष व्रता के, तथा पाँचों महाव्रत मुनियों के दोष व्रतों के मूल आधार हैं, अतएव उन्हें मूलव्रत या मूलगुण के नाम से भी कहा जाता है। मूलव्रतों या मूलगुणों की रक्षा के लिए जो अन्य व्रतादि धारण किये जाते हैं, उन्हें उत्तर गुण कहा जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार मूल में श्रावक के पाँच मूल गुण और सात उत्तर गुण बताये गये हैं। कुछ आचार्यों ने उत्तर गुणों की “शीलव्रत” सज्ञा भी दी है। कालान्तर में श्रावक के मूलगुणों की सत्ता पाँच से बढ़कर आठ हो गई, अर्थात् पाँचों पापों के त्याग के साथ मद्य, मांस और मद्यु इन तीन मकारों के सेवन का त्याग करने को आठ मूलगुण माना जाने लगा। तत्पश्चात् पाँच पापों का स्थान पाँच उदुम्बर फलों ने ले लिया और एक नये प्रकार के आठ मूलगुण माने जाने लगे। इस प्रकार पाँचों अणुव्रतों की गणना उत्तर गुणों में की जाने लगी और सात के स्थान पर बारह उत्तर गुण या उत्तर व्रत श्रावकों के माने जाने लगे। किन्तु यह परिवर्तन श्वेताम्बर परम्परा में दृष्टिगोचर नहीं होता।

साधुओं के पाँचों पापों का सर्वथा त्याग नव कोटि से अर्थात् मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनु-भोदना से होता है, अतएव उनके व्रतों में किसी प्रकार के अतिचार के लिए स्थान नहीं रहता है। पर श्रावकों के प्रथम तो सर्व पापों का सर्वथा त्याग सम्भव ही नहीं है। दूसरे हर एक व्यक्ति नव कोटि से स्थूल भी पापों का त्याग नहीं कर सकता है। तीसरे प्रत्येक व्यक्ति के चारों ओर का वातावरण भी भिन्न-भिन्न प्रकार का रहता है। इन सब बाह्य कारणों से, तथा सज्ज्वलन और नोकपायों के तीव्र उदय से उसके व्रतों में कुछ न कुछ दोष लगता रहता है। अतएव व्रत की अपेक्षा रखते हुए भी प्रमादादि, तथा बाह्य परिस्थिति-जनित कारणों से ग्रहीत व्रतों में दोष लगने का, व्रत के आशिक रूप से खण्डित होने का और स्वीकृत व्रत की मर्यादा के उत्प्लवण का नाम ही शास्त्रकारों ने ‘अति-चार’ रखा है। यथा-

‘सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोऽज्ञमज्जनम्।

—सागारधर्मावृत अ० ४ श्लो० १८

जब अप्रत्यास्थानावरण कपाय का तीव्र उदय आता है, तो व्रत जड़-मूल से ही खण्डित हो जाता है। उसके लिए आचार्यों ने ‘अनाचार’ नाम का प्रयोग किया है। यदि किसी व्रत के लिए १०० अक मान लिये जावें, तो एक से लेकर ९९ अक तक का व्रत-खण्डन अतिचार की सीमा के भीतर आता है। क्योंकि व्रत-धारक की एक प्रतिशत

अपेक्षा ब्रत-धागा में बनी हुई है। यदि वह एक प्रतिग्रत ब्रत-नापेक्षता भी न रहे और ब्रत शत-प्रतिग्रत छण्डिन हो जावे, तो उसे अनाचार कहने हैं।। अनेक जाचारों ने इसी दृष्टि को लक्ष्य में रख करके अतिचारों की व्याख्या की है। किन्तु कुछ जाचारों ने अनिचार और अनाचार इन दो के स्थान पर अनिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार ऐसे चार विभाग बिभे हैं। उन्होंने मन के भीतर ब्रत-सम्बन्धी शुद्धि की हानि को अनिक्रम, ब्रत की रक्षा करने वाली धीम-बाट के उल्लंघन को व्यतिक्रम, विषयों में प्रवृत्ति करने को अनिचार और विषय-नेवन में अति आमक्ति को अनाचार कहा है। जैसा कि आ० अमिनानि ने कहा है—

क्षति मन शुद्धिविधेरतिक्रम व्यतिक्रम शीलेवृत्तेविलघनम् ।

प्रमोऽतिचार विषयेषुर्ननं चदन्त्यनाचारमिहातिमत्तताम् ॥

— तामाधिक श्लोक

उक्त व्यवस्था के अनुसार / ने नेर ३३ अंग तक के ब्रत-भग को अनिक्रम, ३४ से लेकर ६६ अंश तक के ब्रत-भग को व्यतिक्रम, ६७ से नेर ६९ अंग तक के ब्रत-भा को अनिचार और शत-प्रतिग्रत ब्रत-भग को अनाचार समझना चाहिए।

परन्तु प्रायश्चित्त-शास्त्रों के प्रणेताओं ने उक्त चार के मान 'आभोग' को बढ़ा करके ब्रत-भग के पाँच विभाग बिभे हैं। उनमें मन में एक ब्रत उल्लिखित करके भी पुनः ब्रत में बाधित जा जाने का नाम अनाचार है और ब्रत उल्लिखित होने के बाद निराश्रित होकर उल्लिखित अभिनाया के माथ विषय-नेवन करने का नाम 'आभोग' है। किसी-किसी प्रायश्चित्त-शास्त्रकार ने अनाचार के स्थान पर 'उन्मत्त' नाम दिया है।

प्रायश्चित्त-शास्त्रकारों के मन में १ अंग से लेकर २५ अंग तक के ब्रत-भग को अनिक्रम, २६ से लेकर ५० अंग तक के ब्रत-भग को व्यतिक्रम, ५१ से नेर ७५ अंग तक के ब्रत-भग को अतिचार, ७६ से लेकर ९६ अंश तक के ब्रत-भग को अनाचार और शत-प्रतिग्रत ब्रत-भग या आभोग समझना चाहिए।

श्रावण के तीसरे राहू ब्रत बनलाये गये हैं उनमें से प्रत्येक ब्रत के पाँच-पाँच अतिचार बनलाये गये हैं। जैसा कि तत्त्वार्थसामुद्र अ० ७ के सू० २४ में मिलता है—

“ब्रत-शीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ।”

ऐसी दशा में स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रत्येक ब्रत के पाँच-पाँच ही अतिचार क्यों बतलाये गये हैं? तत्त्वार्थसूत्र की उपपद्य समझ दिगम्बर और ध्वेताम्बर टीकाकारों के भीतर इस प्रश्न का कोई उत्तर दृष्टि-गोचर नहीं होता। जिन-जिन श्रावण-भागों में अतिचारों का निरूपण किया है उनमें, तथा उनकी टीकाओं में भी इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं मिलता है। पर इस प्रश्न के समाधान का संकेत मिलता है प्रायश्चित्त-विषयक ग्रन्थों में—जहाँ प्रायश्चित्त, व्यतिक्रम, अनिचार, अनाचार और आभोग के रूप में ब्रत-भग के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं।

कुछ वर्ष पूर्व अजमेर के बीम पय घड़े के शास्त्र-भंडार में जो 'जीतमार-समुच्चय' नामक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है, उसके अन्त में 'हेमनान' नाम का एक प्रकरण दिया गया है। इसके भीतर भरन के प्रश्नों का उपपद्य के द्वारा उत्तर दिया गया है। वहाँ पर प्रस्तुत अनिचारों की चर्चा इस प्रकार की गई है—

दुग्ध-व्रत-गुण-शिलाणा पञ्च पञ्चैकशो मता ।

अतिश्रमादिभेदेन पञ्चपण्डितश्च सन्तते ॥

जहाँ उपपद्य, पाँच अणुब्रत, तीन गुणब्रत और चार शिलाब्रत इन तेरह ब्रतों में से प्रत्येक ब्रत के अतिश्रम आदि के भेद से पाँच-पाँच मल या दोष होते हैं अतएव सर्व मलों की संख्या (१३ × ५ = ६५) पैसठ हो जाती है।





इसके आगे सातवें आदि श्लोको में अतिक्रम-व्यतिशय आदि पाँचों भेदों का स्वरूप देकर कहा गया है—

त्रयोदश-व्रतेषु स्पर्मानस-शुद्धिहानित ।
 त्रयोदशातिचारास्ते विमर्शयन्त्यात्मनिन्दनात् ॥१०॥
 त्रयोदश-व्रतानां स्वप्रतिपक्षामिलायिणाम् ।
 त्रयोदशातिचारास्ते शुद्धयन्ति स्यान्तनिग्रहात् ॥११॥
 त्रयोदश-व्रतानां तु क्रियाऽऽलस्यं प्रकुर्वन्त ।
 त्रयोदशातिचारां स्युस्तत्पापान्निर्मलो गृही ॥१२॥
 त्रयोदश व्रतानां तु छन्नं भग वितन्वत ।
 त्रयोदशातिचारां स्युः शुद्धयन्ते योगदण्डनात् ॥१३॥
 त्रयोदश-व्रतानां तु साभोग-व्रतभंजनात् ।
 त्रयोदशातिचारां स्युदछन्नु शुद्धिचधिकान्नायात् ॥१४॥

अर्थात् उक्त तेरह व्रतों में मानस-शुद्धि की हानिरूप व्यतिक्रम से जो तेरह अतिचार लगते हैं, वे अपनी निन्दा में दूर हो जाते हैं । तेरह व्रतों के स्व-प्रतिपक्ष रूप विषयों की अभिलाषा में या व्यतिक्रम-जनिन तेरह अनिचार लगते हैं, वे मन के निग्रह करने से शुद्ध हो जाते हैं । तेरह व्रतों के आचरण रूप क्रिया में आलस्य करने में तेरह अतिचार लगते हैं, उनके त्याग करने से गृहस्थ निर्मल या शुद्ध हो जाता है । तेरह व्रतों के अनाचार रूप छन्न भग को करने से जो तेरह अतिचार लगते हैं, वे मन-वचन-काय रूप तानों योगों के निग्रह से शुद्ध हो जाते हैं । तेरह व्रतों के आभोग-जनिन व्रत-भग में जो तेरह अतिचार उत्पन्न होते हैं, वे प्रायश्चित्त-वर्णिन नय-मार्ग से शुद्ध होते हैं ॥१०—१४॥

इस विवेचन से मिथ है कि प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचारों में में एक-एक अतिचार अतिशय-जनिन है, एक-एक व्यतिक्रम-जनिन है, एक-एक अतिचार-जनिन है, एक-एक अनाचार-जनिन है और एक-एक आभोग-जनिन है । उक्त सन्दर्भ में दूसरी बात यह भी प्रकट होती है कि प्रत्येक अतिचार की शुद्धि का प्रकार भी भिन्न-भिन्न ही है । इसमें यह निष्कर्ष निकला कि यत व्रत-भग के प्रकार पाँच हैं, अतः तत्तज्जनिन दोष या अतिचार भी पाँच ही हो सकते हैं ।

प्रायश्चित्तचूलाका के टीकाकार ने भी उक्त प्रकार से ही व्रत-मन्वन्धी दोषों के पाँच-पाँच भेद किये हैं । यथा—

“सर्वेऽपि व्रत दोषा पञ्चपण्डितैर्वा गम्यन्ति । तद्यथा-अतिक्रमो व्यतिक्रमोऽतिचारोऽनाचारो आभोग इति । एषामर्थद्वयमभिधीयते जरद्-गवन्त्यायेन । यथा-कश्चिद् जरद्-गव महाशस्यसमृद्धि-सम्पन्न क्षेत्र समन्तोन्मत्त-तत्समीप-प्रदेशे समवस्थितस्तत्प्रति स्पृहा सविधत्ते सोऽतिक्रमः । पुनर्विवरोदरान्तरास्य सप्रवेश्य प्राप्तमेक समाददामीत्यभिलाषा-लुप्यमस्य व्यतिक्रमः । पुनरपि तद्-वृत्ति-समुत्पन्नमस्यातिचारः । पुनरपि क्षेत्रमध्यमधिगम्य प्राप्तमेक समाददामीत्यभिलाषा-पसरणमनाचारः । भूयोऽपि निश्चित क्षेत्रमध्य प्रविश्य यथेष्ट समक्षण क्षेत्रप्रभुणा प्रचण्डदण्डताडनखलोकार आभोग-कार आभोग इति । एव व्रतादिष्वपि योज्यम् ।

—प्रायश्चित्तचूलाका० श्लो० १४६ टीका

भावार्थ—प्रत्येक व्रत के दोष अतिक्रम आदि के भेद से पाँच प्रकार के होते हैं । इन पाँचों का अर्थ एक वृक्ष वृक्ष से दृष्टान्त-द्वारा स्पष्ट किया गया है । कोई वृक्ष वृक्ष धान्य के हरे-भरे किसी खेत को देखकर उसके समीप बैठा हुआ उसे खाने की मन में इच्छा करता है, यह अतिशय दोष है । पुन वह बैठा-बैठा ही बाड़ के किसी छिद्र से भीतर मुख डालकर एक घास घान्य खाने की अभिलाषा करे तो यह व्यतिक्रम दोष है । अपने स्थान से उठकर और खेत की बाड़ को तोड़कर भीतर घुसने का प्रयत्न करना अतिचार नाम का दोष है । पुन खेत में पहुँचकर एक घास घास या घान्य को खाकर वापिस लौट आवे, तो यह अनाचार नाम का दोष है । किन्तु जब वह निश्चय होकर और खेत के

मीनर घुम यथेच्छ धाम खाता है और जेत के स्वाभी-द्वारा डण्डो में पीटे जानेपर भी घास खाना नहीं छोड़ता तो आभोग नाम का दोष है। जिस प्रकार अतिश्रमादि दोषों को बूटे बेल के ऊपर घटाया गया है, उनी प्रकार में व्रतों के ऊपर भी लगा लेना चाहिए।

इन विवेचन में यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि अतिश्रमादि पाँच प्रकार के दोषों को ध्यान में रखकर ही प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं।

आवकधर्म का वर्णन करने वाले जिनने भी ग्रंथ हैं उनमें वे व्रतों के अतिचारों का वर्णन उपामकदशाम-मूत्र और तत्त्वार्थमूत्र में ही सर्व प्रथम दृष्टिगोचर होता है। तथा आवकाचारों में वे सर्वप्रथम रत्नकरण्डआवकाचार में अतिचारों का वर्णन पाया जाता है। जब तत्त्वार्थमूत्र-जिनि अनिचारों का उपामकदशाममूत्र में—जो ध्वेताम्बरी द्वारा सर्वमान्य है—तुलना करते हैं, तो यह निश्चय कहा जा सकता है कि एक का दूसरे पर प्रभाव ही नहीं है, अपितु एक ने दूसरे के अनिचारों का अपनी भाषा में अनुवाद किया है। यदि दोनों के अतिचारों में कहीं अन्तर है तो केवल भोगोपभोग-परिमाण व्रत के अतिचारों में है। उपामकदशामूत्र में इन व्रत के अतिचार दो प्रकार से बतलाए हैं—भोगन और कर्मन। भोग की अपेक्षा वे ही पाँच अनिचार बतलाये गये हैं जो तत्त्वार्थमूत्र में दिये गये हैं। कर्म की अपेक्षा उपामकदशामूत्र में पन्द्रह अनिचार कहे गये हैं जो कि ऊर-कर्म के नाम में प्रसिद्ध हैं और ५० आमाधरजी ने मागारधर्मांशुत में जिनका उल्लेख किया है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि उपामकदशाम में कर्म की अपेक्षा जो पन्द्रह अतिचार बतलाये गये हैं, उन्हें तत्त्वार्थमूत्रकार ने क्यों नहीं बतलाया? मेरी समझ में इसका कारण यह प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थमूत्रकार 'व्रत-शीतेषु पञ्च-पञ्च यथाक्रमम्' इन प्रतिज्ञा में बड़े हुए थे, इसलिए उन्होंने व्रत के पाँच-पाँच ही अतिचार बताये। पर उपामकदशामकार ने इस प्रकार की कोई प्रतिज्ञा अतिचारों के वर्णन करने के पूर्व नहीं की है। अतः वे पाँच में अधिक भी अनिचारों के वर्णन करने के लिए म्बनत्र रहे हैं।

तत्त्वार्थमूत्र और रत्नकरण्डआवकाचार-जिनि अनिचारों का जब तुलनात्मक दृष्टि में मिलान करने हैं, तो कुछ व्रतों के अनिचार में एक खाम भेद नजर जाता है। उनमें में दो मूल्य खाम ताँगे में उल्लेखनीय हैं—एक परिग्रह-परिमाण व्रत और दूसरा भोगोपभोगपरिमाणव्रत। तत्त्वार्थमूत्र में परिग्रहपरिमाणव्रत के जो अतिचार बताये गये हैं, उनमें पाँच की एक निश्चिन्त मत्स्या का अनिक्रमण होना है। तथा भोगोपभोगव्रत के जो अतिचार बताये गये हैं, वे केवल भोग पर ही घटित होते हैं, उपभोग पर नहीं, जबकि व्रत के नामानुसार उनका दोनों पर ही घटित होना आवश्यक है। रत्नकरण्ड के कर्ता स्वामी मन्मन्त्रजैयें तार्किक व्यक्ति के हृदय में उक्त बात खटकी थी, इसीलिए उक्त दोनों ही व्रतों के एक नये ही प्रकार के पाँच-पाँच अतिचारों का निरूपण किया जो कि उपर्युक्त दोनों आपत्तियों में रहित हैं।

यहाँ पर मध्यदर्शन, बाह्य व्रत और मल्लेखना के अतिचारों का अतिश्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोग इन पाँच प्रकार के दोषों में वर्गीकरण किया जाना है—

१	२	३	४	५
व्रतनाम	अनिश्रम	व्यतिक्रम	अतिचार	अनाचार
मध्यदर्शन	शका	काक्षा	विचिकित्सा	अन्यदृष्टिप्रशमा
अभिमाणव्रत	वन्धन	पीडन	छेदन	अतिभारोपण
मत्स्यागुप्तव्रत	गिवाद	रहोऽभ्याख्यान	पशुगुण्य	कूटलेखकरण
अचीर्षागुप्तव्रत	विरुद्धराज्यातिक्रम	महशमस्मिथण	हीनाधिकविनिमान	चौरप्रयोग
ब्रह्मचर्यागुप्तव्रत	अन्यविवाहकरण	अनगर्नीडा	विटत्व	विपुलनृपा
परिग्रहपरिमाणव्रत	विन्मय	अतिलोभ	अतिवाहन	अतिभारोपण
				अतिसग्रह





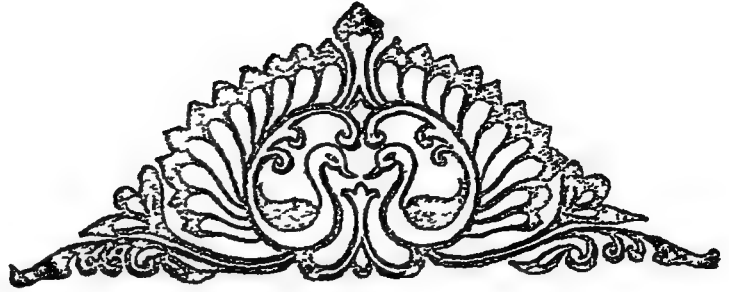
दिग्गत	ऊर्ध्वगतिक्रम	अधोऽपतितक्रम	तिर्यग्गतिक्रम	अवधिचिह्नमरण	धोमट्टि
देशगत	रूपानुपात	शब्दानुपात	पुद्गलदोष	आनयन	प्रेम-प्रयोग
अनर्थदण्डगत	कन्दर्प	कौत्सुच्य	मौम्य	अगभीक्ष्ण्यधिकरण	अतिप्रमादन
सामायिक	मनोदुःखप्रणिधान	वचादुःखप्रणिधान	कायदुःखप्रणिधान	अनादर	विस्मरण
प्रोपधोपवास	अदृष्टमृष्टग्रहण	अ० मृ० विसर्ग	अ० मृ० आस्तरण	अनादर	विस्मरण
भोगोपभोग	विषय-विषयोऽनुप्रेक्षा	अनुस्पृष्टि	अतिलोभ्य	अतितृप्ता	अतिअनुभव
अतिथिसविभाग	हरित-पिधान	हरित-निधान	मात्सर्य	अनादर	विस्मरण
सल्लेखना भय		मिथानुराग	जीतितागसा	भरणाशसा	निदान

उपर्युक्त वर्गीकरण रत्नकरण्ड-वर्णित अतिचारों को लक्ष्य में रखकर किया गया है, क्योंकि ये अतिचार सबसे अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होते हैं। तथा भोगोपभोग व्रत के अतिचारों में जो विसर्गति ऊपर बताई गई है, वह भी रत्नकरण्ड के अतिचारों में नहीं रहती है।

सारे लेख का सार यह है कि सभी अतिचारों को एक सा न समझना चाहिए, किन्तु प्रत्येक व्रत के अतिचारों में व्रतभंग-सम्बन्धी तर-तमता है, उनके फल में भी उनकी धृष्टि में भी तर-तमता-गत भेद है, भले ही उन्हें अतिचार, मल या दोष जैसे किसी भी सामान्य शब्द से कहा गया हो।

राम से नाम बड़ा

श्री हरिमाज उपाध्याय,
अध्यक्ष राजस्थान साहित्य अकादमी,



यह कहावत कई बार सुनी थी। इसकी एक कथा भी प्रसिद्ध है। भगवान् राम ने जब सुना कि नल-नील नमुद्र पर पुत्र बना रहे हैं तो उन्हें बटा आश्चर्य हुआ और जब वह मालूम हुआ कि वे एक पत्थर पर 'रा' और दूसरे पर 'म' लिख देने हैं तो दोनों पत्थर नमुद्र में तंगने लगते हैं और इस तरह पुल बनता जा रहा है, राम की उत्सुकता बढ़ी और वे खुद देखने गये। उनके मन में हुआ कि जब मेरे नाम ने पत्थर तिर जाते हैं तो मेरे लिए तो यह बहुत ही सरल है। उन्होंने एक पत्थर अपने हाथ में लिया, खुद उसे नमुद्र में डाला तो वह धम से डूब गया। अब तो राम-चन्द्रजी के विस्मय का पात्र न रहा। कहने लगे—यह क्या बात है—मैंने खुद पत्थर डाला तो डूब गया—मेरे नाम से परवर तैर रहे हैं। तब किसी ने बताया—यह नाम की महिमा है। आपका नाम आप से भी बड़ा है। व्यक्ति तो घनीर रहने तक ही रहता है, परन्तु नाम मदा चलता है। व्यक्ति का प्रभाव सीमित है, नाम के प्रताप की कोई इति ही नहीं है।

मुझे इनका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। कई बार लेख मेरे लिखे थे, वे महात्माजी के नाम से छपे। या तो उन्होंने अपने विचार सुना दिये और मैंने उन्हें लेखनी में उतार दिया—या मेने लेख लिखे और उन्हें पसन्द आ गया तो वह उन्हीं के नाम में छपा। यदि उनके नीचे मेरा नाम लिख दिया जाता तो उनका मूल्य गिर जाता। यह प्रभाव व्यक्ति का नहीं, व्यक्तित्व का, नाम का है। व्यक्ति के नाम के साथ उसका भूत, वर्तमान, भविष्य, उसकी सब शक्तियाँ, सारा प्रभाव, पुण्य, प्रताप, इतिहास, जुड़ा हुआ रहता है। अतः यह निर्विवाद है कि व्यक्ति से उसका नाम बड़ा है।

व्यक्ति तो हमारा तभी तक सहायक हो सकता है जब तक वह जीवित रहता है, परन्तु उसका नाम तो अनन्त काल तक हमारी सहायता करता है, हमारा सहारा रहता है, यह प्रत्यक्ष है। इसी प्रभाव में नामस्मरण का रहस्य छिपा हुआ है।

प्रायः सभी वर्गों और देशों में नामस्मरण की महिमा गाई गई है। नामस्मरण प्रार्थना-उपासना का एक महत्वपूर्ण अंग है। जन-साधारण प्रार्थना का मतलब समझते हैं—भगवान् से कुछ मागना। अधिकांश अशिक्षित लोग तो सभी तरह की अपनी कामना-वृत्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। प्रायना में यह तो गृहीत ही करके चला जाता है कि कोई अव्यक्त चेतनशक्ति है। ऐसा भी माना जाता है कि वह मनोवाञ्छित फल देती है। कई लोगों को ऐसा अनुभव भी होता है। किन्तु अधिक अनुभवी और समझदार लोग मानते और कहते हैं कि भगवान् जैसे से छोटी-बड़ी साधारण चीज मागना, जो मनुष्य अपने ही प्रयत्न में प्राप्त कर सकता है, उचित नहीं है। किसी बड़े राजा-महागजा या प्रधान-मंत्री से जो मनुष्य अपने ही प्रयत्न में प्राप्त कर सकता है, उचित नहीं है। अतः उन्होंने यह सलाह बताई कि जो वस्तु अपने बल-जाकर दो-गोटी मागना जैसे हान्यास्पद है, वैसे ही यह भी है। अतः उन्होंने यह सलाह बताई कि जो वस्तु अपने बल-वृत्ति के बाहर हो, या हम प्रयत्न करके थक गये हैं, तब विशेष शक्ति या प्रकाश पाने के लिए भगवान् से प्रार्थना करना उचित है। नीचे कोई वस्तु मागने की अपेक्षा, उसे प्राप्त करने की शक्ति या साधन मागना उचित है। स्वयं कोई बनी बनाई वस्तु हमारे हाथ में लाकर नहीं दे देना। अतः कोई वस्तु मागना निकृष्ट और शक्ति या साधन या अवसर मागना उत्कृष्ट माग मानी जानी है।



जब हम मागने निकले है तो किसी न किसी रूप में दीनता तो आ ही जाती है। दीनता का परिणाम है स्वाभिमान का ह्रास। जीवात्मा परमात्मा का अंग है, इसलिए उससे छोटा है परन्तु चिनगारी तो उमी की है। हाथ पसारने का अर्थ है उसचिनगारी को भुला देना और केवल अपने अल्पत्व को याद रखना। यह अधूरी चेतना है। जहाँ हम अल्प हैं वही हम चेतन-कण भी है, यह पूर्ण बोध है। अतः क्या प्रार्थना की कोई ऐसी विधि नहीं हो सकती, जिसमें न स्वाभिमान रहे, न हीनता? ऐसे प्रश्न या शका मेरे मन में उठते रहे। अपने को मर्दव अल्प, दीन, हीन, पतित, पापात्मा मानने की कल्पना मेरे गले नहीं उतरती थी। अपनी कमियों और दापों की मोज के सिलसिले में मन की एक ऐसी अवस्था जरूर आ जाती है, जब हमारे गुण-प्रति हमारी निगाहों में ओझल हो जाती है और बेचल दोष ही बड़ी मात्रा में दिखाई देते हैं। चित्त-शुद्धि की अभ्यास में आप से यह कहे बिना रहा ही नहीं जाता—‘मैं सम कौन कुटिल छल कामी’ या ‘पापोऽह, पापकर्मिऽहम्’ पापात्मा पाप सम्भव आदि। परन्तु यह सज्ञ अवस्था नहीं है। इसे आदर्श मानकर नहीं चला जा सकता। मन में मचाल उठा कि भगवान् से मागने के बजाय क्या उसके स्मरण-मात्र से उस अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती? उसका स्मरण हमारी इस बात का छोटक नहीं है कि हमारा कोई अभाव है? और यदि भगवान् या परमात्मा नायक कोई शक्ति है तो क्या हमारा स्मरण ही हमारे अभाव की पूर्ति के लिए काफी नहीं है? बच्चा सिर्फ मा मा चिल्लाता है, उसमें बोझने बतलाने की शक्ति नहीं है, तो क्या मा अपना नाम सुनकर ही उसके अभाव की पूर्ति के लिए नहीं दौड़ पड़ती? इस उत्तर में मुझे समाधान मिला। एक चरण याद आया—‘अन-बोलत मेरी बिया जानी।’

फिर मैंने पुराने स्तुति-स्तोत्र देखना शुरू किया—कि देवें शंकराचार्य ने, तुलसीदास ने भगवान् से क्या मागा है? शंकराचार्य ने तो केवल भगवान् का भिन्न रूपों में, देवी-देवताओं के माध्यम से, गुणगान ही किया है। अलवत्ता तुलसी ने मागा है—पर हृदय में केवल रामभक्ति हो, अर्थात् ऐहिक वस्तु किसी ने भी नहीं मागी। तुलसी से भी शंकर की स्थिति मुझे ज्यादा सही मालूम हुई। तुलसी भूल गये कि मैं परमात्मा का अंग हूँ, उन्होंने इनना ही याद रखा कि मैं उनका एक भवन हूँ। जब कि शंकराचार्य के मन में यह चेतना जाग्रत रहनी दिवनी है कि मैं ब्रह्म हूँ। जब उन्होंने देवी-देवताओं की स्तुतियाँ की हैं—स्तोत्र बनाये हैं तो उनमें अलत्ता का भाव तो था, परन्तु किसी से कुछ मागा नहीं, केवल उनके गुणों का स्मरण किया, यह उनकी अद्वैत-धारणा का प्रभाव है। भक्त और ज्ञानी में कौन बड़ा है, कौन सही है—यह कहना तो कठिन है, परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि शक्ति भक्ति में है, ज्ञान में नहीं, परन्तु प्रकाश ज्ञान में है, भक्ति में नहीं। मनुष्य को शक्ति और प्रकाश दोनों की आवश्यकता है। भक्ति का सम्बन्ध भावना से है, जबकि प्रकाश का ज्ञान में। मानवजीवन में भावना ही मुख्य बल है, जो ज्ञान की महायता में उसके दिखाये प्रकाश-पथ में दौड़ता हुआ अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच जाता है। भक्ति और ज्ञान का जोड़ा मुझे ‘अन्ध-पगु’ न्याय की तरह लगता है।

इस विवेचन से हम नतीजे पर पहुँचते हैं कि प्रार्थना में उत्तम वस्तु तो नामस्मरण है, परन्तु यदि किसी ने मागे बिना नहीं रहा जाता तो तुलसी की तरह ‘राम चरण रति देहु’—यही मागने योग्य है, और कुछ नहीं। और कुछ मागना पुरुषार्थ-हीनता है और कदाचित् वह मिल जाय परन्तु मनुष्य नामधारी के लिए वह कोई गौरव की वस्तु नहीं जान पड़ता।

जैनसिद्धान्त में कारणकार्य-व्यवस्था

पं० अजितकुमार शास्त्री,

दिल्ली,



यह दृश्यमान जगत् अनादि काळ में विद्यमान है और अनन्त काल तक विद्यमान रहेगा। अतएव यह अद्वितीय है, किसी के द्वारा किसी विशेष समय में बनाया नहीं गया है तथा यह अविनश्यकर भी है, यानी कभी भी यह जगत् किसी भी व्यक्ति के द्वारा न नष्ट हुआ, न कभी नष्ट होगा।

ऐसा क्यों है ? इस प्रश्न का बहुत सुन्दर उत्तर श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने पञ्चमिकाय ग्रन्थ में दिया है—

सत्ता सच्चपयन्या, सचित्सत्त्वा अपतपञ्जाया ।

नगुप्पादधुवत्ता, सप्पटिवक्खा हवदि एक्का ॥ ८ ॥

इसका अक्षिप्त अंगितार्थ ऐसा है कि इस जगत् की महानता नमन्त पदार्थों में रहन वाली है। वह सत्ता विद्य के प्रत्येक पदार्थ में है, वह सत्ता अनन्त पर्याप्त है, वह सत्ता उत्पाद वर्य औद्यम्य है, वह सत्ता अपने प्रत्येक गतिन है यानी प्रत्येक पदार्थवर्तिनी एव प्रत्येक पर्यायवर्तिनी तथा प्रत्येक गुणवर्तिनी अग्रान्तरमत्ताओं सहित है, ऐसे पांच विशेषगमयी वह महानता एक है।

इसी गाना के अनुरूप श्री उमान्धानि आचार्य ने नृत्वार्यसूत्र के पाचवें अध्याय में दो सूत्र लिखे हैं—मद् द्रव्यलक्षणम् । २९ । (सत्ता द्रव्य का लक्षण है), उत्पादव्ययऔद्यम्यवृत्त मन् ॥ ३० ॥ (सत्ता उत्पाद वर्य औद्यम्यसहित है)।

इसने अनुसार जगत् का प्रत्येक द्रव्य अपनी सत्ता रखता है अतः जगत् के सभी पदार्थ सत् हैं, एक भी पदार्थ असत् नहीं है।

तथा पदार्थ-द्रव्य या वस्तु का यह एक स्वाभाविक नियम है कि सत् पदार्थ कभी असत् (नष्ट) नहीं हो सकता। विज्ञान के इस मूल नियम को श्री मन्तमन्त्र आचार्य ने स्वयम्भूस्मृत में श्री मुमतिनाथ तीर्थकर की स्तुति करने हुए निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है—

“नैवासतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तम पुद्गलभावतोऽस्ति ॥ २४ ॥

यानी—“असत् (सत्ता-हित) पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होता और सत् पदार्थ का कभी नाश नहीं होता।”

इस अमर नियम को आचार्य टाटान्त द्वारा समझाते हैं कि दीपक जलने पर जो अन्धकार का नाश देखा जाता है या दीपक के बुझ जाने पर जो अन्धकार हुआ दीख पड़ता है, उसमें मूल पदार्थ पुद्गल द्रव्य का न तो नवीन उत्पाद हुआ है क्योंकि वह तो पहले से ही विद्यमान है और न वह नष्ट हुआ है क्योंकि वह दीपक बुझ जाने के



पश्चात् तथा अन्धकार नष्ट हो जाने के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। अन्धकार और प्रकाश तो उस मूल द्रव्य पुद्गल की भिन्न-भिन्न दो पर्यायें (अवस्थायें-दशाये) हैं।^१

इस कारण जगत के सभी पदार्थ अकृत्रिम हैं, अनादि हैं और अविनश्वर या अपनी सत्ता से अनन्त (अन्त रहित अस्तित्ववाले) हैं।

मूल पदार्थ, जिसको जैनगम 'द्रव्य' शब्द से उल्लेख करता है, उस मूल पदार्थ रूप द्रव्य का लक्षण बतलाते हुए पचास्तित्राय ग्रन्थ बतलाता है—

द्वय सत्त्वस्वणिय, उत्पादव्ययधुवत्तसजुत्त ।

गुणपञ्जयासय वा, ज त भण्णति सव्वण्ह ॥ १० ॥

अर्थ—जो सत्ता लक्षण वाला है, उत्पाद व्यय ध्रुव्य से सहित है, गुणों और पर्यायों का आश्रय है उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इस गाथा में क्षणिकवाद, नित्यवाद का तथा गुण की स्वतन्त्रता या पृथक्ता बतलाने वाले बौद्ध, जैनेपिक, वेदान्त आदि दर्शनों की अशुद्धी यानी-एकान्तवादिनी मान्यता का निरास करते हुए द्रव्य वस्तु या पदार्थ का यथार्थ सर्वांगीण अनेकान्तमय लक्षण बतला दिया है। द्रव्य के लक्षण को सम्पुष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं—

पञ्जयविजुद द्वय, द्वयविजुत्ता य पञ्जया णत्थि ।

दोण्ह भण्णणभूद, भाव समणा पर्लवन्ति ॥ १२ ॥

अर्थ—पर्याय (परिणमन) के बिना द्रव्य नहीं होता और द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती। द्रव्य और उसके पर्याय दोनों अनन्यभूत हैं (एक रूप हैं भिन्न-भिन्न या अन्य-अन्य नहीं हैं)। ऐसी सत्ता (अस्तित्व) या पदार्थ धमण भगवान् महावीर कहते हैं।

इसी प्रकार गुण और द्रव्य की एकता के विषय में बतलाया है—

द्वयेण विणा ण गुणा, गुणेहं द्वय विणा ण सभवदि ।

अव्वदिरित्तो भावो, दव्वगुणाण हवदि तम्हा ॥ १३ ॥

अर्थ—द्रव्य के बिना गुण नहीं होते और गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता, इस कारण द्रव्य और गुणों की अभिन्नता है।

इन दो गाथाओं के अनुरूप तत्त्वार्थसूत्र के पाचवें अध्याय का सूत्र "गुणपर्यायवद् द्रव्यम्" है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जगत का प्रत्येक पदार्थ गुणपर्यायमय है। यानी-प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं और अनन्त पर्याय होती है। अपने समस्त (अनन्त) गुण सहभावी रूप से सदा द्रव्य के साथ रहने हैं और क्रम-क्रम से प्रतिक्षण द्रव्य की पर्याय बदलती रहती हैं।

यहां इतना और समझ लेना आवश्यक है कि पर्यायपरिवर्तन केवल द्रव्य का ही नहीं होता किन्तु उसके सहभावी (सदा साथ रहने वाले) प्रत्येक गुण की भी पर्याय पलटती रहती है। इस कारण यह भी अटल स्वाभाविक नियम है कि बिना पर्याय के कोई गुण नहीं होता और बिना गुण के उसकी पर्याय नहीं होती। इस तरह गुण और पर्याय का भी परस्पर अविनाभावी (एक के बिना दूसरे का न होना) सम्बन्ध है।

द्रव्य गुण पर्याय के इस वास्तविक नियम को निम्नलिखित उदाहरणों से अवगत कर लेना चाहिये।

जैन ममार्गी आत्मा मनुष्य, पशु, देव, नारक पर्याय अपने सामान्यिक भ्रमण में जन्म-मरण द्वारा बदलता रहता है अथवा मनुष्य शरीरधारी आत्मा मिथु, किशोर, यौवन, प्रौढ़ वृद्ध पर्याय रूप बदलता रहता है परन्तु उन सभी पर्यायों में आत्मा वही एव रहता है।

मोक्षार्हा, अगूँही, कवचण, भुजवन्द आदि अनेक पर्यायों में बदलता रहता है परन्तु वह मद्रा माने हुए में बना रहता है।

आत्मा का ज्ञानगुण प्रतिक्षण विभिन्न ज्ञेय पदार्थों को विभिन्न रूप में जानने हुए पर्याय बदलता रहता है परन्तु वह ज्ञानगुण रहता मद्रा एक रूप ही है।

आम का रूप गुण रस, पीला, लाल आदि पर्यायों में बदलता रहता है परन्तु वह रूप गुण रहता मद्रा रूप ही है, अन्य गुण नहीं बन जाता।

इस तरह दो बातें मित्र होनी हैं—(१)द्रव्य अपने सामान्य स्वरूप में जिविनाशी या ध्रुव है, गुण भी अपने स्वरूप में ध्रुव है। (२)परन्तु द्रव्य की या गुण की पर्याय प्रतिक्षण बदलती रहती है। पदार्थों पर्याय नष्ट होती हैं, उनका स्थान नई पर्याय उत्पन्न होकर ले लेती है। इस कारण द्रव्य तथा उनके आदिन रहने वाले समस्तगुण अपने सामान्यरूप में श्रौंध्य (स्वायी-अविनश्य, अग्निविनि) रूप हैं तथा द्रव्य और गुण अपनी अपनी विशेष-विशेष पर्याय रूप में उत्पाद-व्य (उत्पत्ति और नाश) मय भी हैं। यह सामान्य रूप में जगत के पदार्थों की व्यवस्था है।

द्रव्यों के भेद — जगतवर्ती समस्त अनन्तानन्त पदार्थों को मूल दो क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है— चेतन और अचेतन। जानने देखने वाला (चैतन्यमय) पदार्थ चेतन है जिसका प्रसिद्ध नाम जीव या आत्मा है। चैतन्य में शून्य (न जानने, न देखने वाला) पदार्थ अचेतन है जिसका प्रसिद्ध नाम अजीव या जड है।

जीव या आत्मा के मूल दो भेद हैं— (१)मसार्गी, (२) मुक्त। कर्मदश मसार की चार गतियों या चौरासी लाख धोत्रियों में भ्रमण करने वाले अनन्त जीव मसार्गी हैं और कर्म-बन्धन, जन्म-मरण से छूटे हुए अनन्त मुक्त जीव हैं।

अजीव के भी मूल दो भेद हैं—(१)मूर्त, (२)अमूर्त। इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने वाला (जानने योग्य) पदार्थ मूर्त है जिसका प्रसिद्ध नाम पुद्गल है। इन्द्रिय-अगोचर (रूप-रस, रस, गन्ध, स्पर्श, इन चार गुणों में रहित) अमूर्त द्रव्य है।

पुद्गल द्रव्य अपनी मूल शुद्ध अवस्था में अखंड परमाणु (जरी-पेटम) रूप है। अपनी अशुद्ध अवस्था में वह अनेक परमाणुओं में भिन्नकर बन हुए विविध प्रकार के स्फुरणों के रूप में होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रकाश, अप्यकार, छाया, धूप, शब्द आदि सब पुद्गल स्फुरणों की पर्याय हैं। मसार्गी जीवों का शरीर भी पौद्गलिक है।

अमूर्त जड द्रव्य चार प्रकार के हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

समस्त मनुष्य-चरने वाले जीव और पुद्गल पदार्थों का उदासीन रूप में सहायता करने वाला त्रिलोकव्यापी धर्म द्रव्य है। ठहरने वाले अनन्त पदार्थों को उनकी स्थिरता में उदासीन रूप में सहायता करने वाला त्रिलोकव्यापी एक अखंडद्रव्य अधर्म है। समस्त अनन्तानन्त द्रव्यों को रहने के लिये स्थान देने वाला लोक-अलोकव्यापी एक अखंड द्रव्य आकाश है। और प्रत्येक पदार्थ को प्रतिक्षण पर्याय-परिवर्तन में उदासीन सहायक काल द्रव्य है। काल द्रव्य अणु के बराबर है। अन अमूर्त अणुरूप का जड द्रव्य लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर विद्यमान है।

इस तरह यह सामान्य और संक्षेप रूप के द्रव्यों का विवरण है।

सामान्य कार्यकारणभाव

पीछे बताया जा चुका है कि प्रत्येक पदार्थ या द्रव्य स्वरूप है और मद्रा उत्पाद-व्य-श्रौंध्य रूप है। एव प्रत्येक पदार्थ शब्दान्तर में गुणपर्यायमय है। इस तरह प्रत्येक पदार्थ मद्रा अपने सामान्य स्वरूप में स्थिर रहता हुआ





भी प्रति-समय क्रम में अपनी नवीन-नवीन पर्याय भी पनटता रहता है। इस तरह पर्यायों का परिणमन रूप कार्य जगत में प्रतिक्षण हुआ करता है, कभी भी क्षण भर के ठिमे वह रुकना नहीं है।

इस पर्यायपरिणमन रूप कार्य में दो प्रकार के कारण प्रयुक्त होते हैं—(१)उपादानकारण, (२)निमित्त कारण। इनमें से उपादान कारण उसको कहते हैं जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है, जैसे कि घड़ा रूप कार्य बनने में मिट्टी घड़े का सा धारण करती है इसलिये वह घड़े का उपादान कारण है। इस तरह जगत् का प्रत्येक पदार्थ अपनेपर्यायपरिणमन में स्वयं उपादान कारण होता है।

उपादान कारण के विना जो अन्य पदार्थ उस कार्य के होने में सहायता करते हैं, जिनकी सहायता बिना वह कार्य ही नहीं सकता, वे निमित्तकारण कहलाते हैं।

ऊपर बतलाये गये जगत के मूल पदार्थ छह हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें में धर्म अधर्म, आकाश और काल ये चार शुद्ध द्रव्य हैं, इनमें कभी किसी अन्य पदार्थ का मिश्रण नहीं होता, अतः इन चारों द्रव्यों का सदा (अनादि काल में अनन्तकाल तक) शुद्ध परिणमन होना रहता है। किन्तु जीव और पुद्गल द्रव्य का परस्पर मिश्रण के रूप में अशुद्ध परिणमन तथा अमिश्रण रूप में शुद्ध परिणमन होता है।

शुद्ध द्रव्यों का परिणमन

शुद्ध द्रव्यों के परिणमन रूप कार्य में उपादान कारण तो वे शुद्ध द्रव्य स्वयं होते ही हैं परन्तु उनके सम शुद्ध परिणमनकार्य में अन्य द्रव्य भी निमित्त रूप में उदासीन रूप में सहायक कारण हुआ करते हैं।

जगद्वर्ती समस्त क्रियाशील (एक स्थान से अन्य स्थान पर आने-जाने आदि रूप क्रिया करने वाले) जीवों तथा पुद्गल द्रव्यों की उनकी गतिरूप क्रिया में उदासीन रूप में सहायता करने वाला धर्म द्रव्य है। धर्म द्रव्य त्रिलोक-व्यापी एक अव्यञ्ज्य अरूपी द्रव्य है। वह किसी भी द्रव्य को प्रेरणा करके यानी बलपूर्वक चलाता नहीं है किन्तु जब कोई पुद्गल या जीव एक स्थान में स्थानान्तर में गमन करता है तब उसके गमन में वह सहायता करता है। जिस तरह तालाब में भरा हुआ जल तालाब में रहने वाली मछलियों को चलने-फिरने में सहायता करता है।

चलने-फिरने की शक्ति स्वयं मछलियों में है। वे अपनी इच्छा से इधर-उधर चलती फिरती हैं परन्तु तालाब का ठहरा हुआ भी जल उनके चलने में सहायक होता है। यदि वह जल न हो तो मछली चलने-फिरने की शक्ति रहते हुए चल-फिर नहीं सकती। सूखी जमीन पर यदि मछली को रख दिया जाय तो वह जहाँ की तहाँ पड़ी रहेगी, चल-फिर न सकेगी। इसलिये जल मछली के चलने में उदासीन निमित्तकारण है। इसी प्रकार जीवों, पुद्गल-परमाणुओं तथा स्कन्धों में स्वयं चलने-फिरने आदि क्रिया करने की शक्ति है, परन्तु धर्म द्रव्य की सहायता मिलने पर ही वे गति करते हैं, अतः धर्मद्रव्य समस्त क्रियाशील जीवों तथा पुद्गलों को उदासीन (निरपेक्ष-अप्रेरक) रूप से गति में सहायक होता है।

अष्ट कर्मजाल को छिन्नभिन्न करके मध्यलोक का मुक्त जीव जब स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करता है तब त्रिलोक-व्यापी धर्मद्रव्य उन मुक्त जीवों के ऊर्ध्वगमन में सहायता करता है। धर्म द्रव्य अलोकाकाश में नहीं होता, अतः मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन भी मात राजू तक ऊपर जाकर लोकशिखर पर ही अचरुद हो जाता है। अलोकाकाश में उनका गमन नहीं होने पाता।

नियमसार ग्रन्थ में इस विषय में लिखा है—

जीवाण पुण्यलाण, गमण जाणेहि जाव धम्मत्थी ।

धम्मत्थिकावभावे तत्तो परदो ण गच्छति ॥ १८ ॥

अर्थ—जीवों का तथा पुद्गलों का गमन वही तक होता है जहाँ तक धर्मास्तिकाय होता है। उनमें बाहर (लोकाकाश के बाहर) धर्मद्रव्य न होने में जीव पुद्गल नहीं जा सकते।

यो उमास्वानि आचार्य ने तत्त्वार्थम्त्र में लिखा है—

धर्मस्त्रिकायाभावान् । १० । यानी-लोक के आगे धर्मद्रव्य न होने से मुक्त जीव उनमें ऊपर नहीं जाते, या नहीं जा सकते।

अभिप्राय यह है कि मुक्त जीवों में लोक में बाहर भी ऊर्ध्वगमन करने की शक्ति विद्यमान है परन्तु धर्मद्रव्य की महायता अलोकाकाश में न मिलने के कारण मुक्त जीवों का ऊर्ध्वगमन लोकाकाश में बाहर नहीं होने पाता।

इन तरह धर्मद्रव्य शुद्ध तथा अशुद्ध जीवों और पुद्गलों के गमन में निमित्त कारण है।

उन्नी प्रवाह पुद्गल का शुद्ध परमाणु भी जो अत्यन्त तीव्र गति में एक समय में १४ गज तक तथा अत्यन्त मन्दगति में एक समय में आकाश के एक प्रदेश में साथ बाले दूसरे प्रदेश पर गमन करता है, एवं मध्यम गति में अनेक प्रकार गमन करता है, उस में भी धर्मद्रव्य महायता करता है।

अधर्मद्रव्य

अधर्मद्रव्य भी एक अखण्ड अमूर्तक नमस्त लोकव्यापक द्रव्य है। यह द्रव्य अन्य नमस्त जीवपुद्गल द्रव्यों को अपने-अपने स्थान पर ठहरने में उदासीन रूप में सहायता करता है। तीनों लोकों में बाहर कोई भी द्रव्य स्थित नहीं है, इसका मूल कारण यही है कि वहाँ पर अधर्मद्रव्य नहीं है।

जैसे धर्मद्रव्य किसी को प्रेरणा करके नहीं चलाता है इसी प्रकार अधर्मद्रव्य किसी चलने हुए द्रव्य को वलपूर्वक (जबरदस्ती) ठहराना नहीं है। यदि कोई चलता हुआ द्रव्य ठहरता है तो उसकी उदासीन रूप में सहायता करता है। यदि अधर्मद्रव्य न हो तो बहिरंग नैमित्तिक महायता न मिलने में कोई भी गणितीय पदार्थ ठहर नहीं सकता।

धर्म अधर्म द्रव्य के कारण लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाग होता है।

आकाश द्रव्य

जो नमस्त द्रव्यों को रहने का स्थान देता है वह आकाश द्रव्य है। वैसे प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने प्रदेशों में रहता है परन्तु उनको रहने के लिये बाहरी, नैमित्तिक सहायता आकाश द्रव्य की प्राप्त होनी है। आकाश द्रव्य न हो तो किसी पदार्थ को रहने का स्थान न मिले।

आकाश एक, अखण्ड सर्वव्यापक, अमूर्त द्रव्य है। जितने आकाश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल द्रव्य रहते हैं। उसने ३४३ घनगज प्रमाण आकाश को लोकाकाश कहते हैं और उससे बाहर के अनन्त राजू प्रमाण आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश में आकाश के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नहीं है। इस तरह आकाश द्रव्य नमस्त द्रव्यों को अवगाह (निवास) का निमित्त कारण है।

कालद्रव्य

जो प्रत्येक द्रव्य की क्रमिक पर्याय परिणमन में बहिरंग, उदासीन, निमित्तरूप में सहायता करता है वह काल द्रव्य अणु के बराबर अमूर्तक द्रव्य है। अलोकाकाश के पर्याय परिणमन में भी लोकाकाशवर्ती ही कालद्रव्य निमित्त रूप में सहायता करता है।

प्रत्येक द्रव्य में स्वभावानु प्रतिक्षण पर्यायपरिणमन करने की उपादानशक्ति होती है परन्तु उस परिणमन में काल द्रव्य की नैमित्तिक सहायता अनिवार्य आवश्यक है। तदनुसार यदि काल द्रव्य न हो तो किसी भी द्रव्य की पर्याय



का परिणमन न हो सके। पचान्निनाय (गाथा १०० की टीका) में भी अमृता ३ गुणों में विभा है—

“जीवपुद्गलानां परिणामस्तु बहिर्द्वा, निमित्तद्वयस्यानगद्वयत्वे सति मूल्यं तत्र द्रव्यत्वान्मभूतं प्रयत्निधीयते।”

अर्थ— जीव पुद्गलों का परिणमन बहिर्द्वा निमित्तनाशप्रभय तात्पर्य में ही हो जाता है उस समय प्रतीयमान जीव पुद्गलों का परिणमन काष्ठ द्रव्य में होता है या पचान्नि।

आमतौर पर ही कि जीवा एव पुद्गलों के परिणमन में ये दो स्वयं स्थायी कारण, जो तात्पर्य दोनों निमित्त कारण हैं।

तत्प्राप्त्यर्थ के कारणों जटाय के ‘यथापरिणामविनाशस्यापत्तेरपि कालम्’ सूत्र में, दशरथा १२३२ श्रीपूज्यपाद आचार्य ने तर्क निदिष्ट कर म किया है—

“धर्मदीना द्रव्याणां स्वयमिति प्रति स्वयमर्थे धर्मभावात् सादृश्यप्रतीतिना तत्तद्व्यवसायान्तर-वर्तनोपलक्षितं कालः।”

अर्थात्-अपनी पर्याय में परिणमन में स्वयं (जटादाय जति में) प्रतीति करने वाले धर्म, धर्म, कारण पुद्गल, मुक्त, तथा सत्तरी जीवों का परिणमन सादृश्य निमित्त कारण ही तात्पर्य में विधान ही हो गया। इस परिणमन में सहायक ताल द्रव्य है।

अभिप्राय यह है कि तात्पर्य प्रतीति कुछ मय समुद्र द्रव्य में परांत परिणमन में निमित्त कारण अत्यंत होता है।

इस तरह समस्त बुद्ध द्रव्य अपने प्रति ही हैं। तब ही तात्पर्य विनियोग में जहां स्वयं स्थायी कारण होते हैं, वहाँ अन्य द्रव्य उसमें उदासीन सहायक रूप में निमित्त कारण होते हैं।

पुद्गल द्रव्य

जीव, धर्म, सधर्म, आकाश, काल, ये पांच द्रव्य रूप स्वयं स्थायी स्वयं स्थायी चार गुणों में विभा होने के कारण अमूर्त होते हैं, अतएव वे इन्द्रियों द्वारा अगाधर होने हैं— इस द्रव्य में नहीं जाने जा सकते। इसी प्रकार वे अत्र परांत होते हैं, उनका कभी भी किसी तरह में कोई विभाग नहीं होता।

परन्तु पुद्गल द्रव्य में ये दोनों बातें नहीं होती। पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के चार गुण होते हैं, अतः पुद्गल मूर्त द्रव्य है, इन्द्रियों में जानने में आता है तथा तत्प्राप्त्यर्थ के अन्तर स्थायी रूप में अनुसार पुद्गल द्रव्य अणु (परमाणु) तथा सन्ध रूप में दो प्रकार का होता है। बुद्ध पुद्गल परमाणु (जैसे छोटा टुकड़ा, जिम्मा और टुकड़ा न हो सके) जगह होता है। परन्तु दो या दो से अधिक ३-४-५ आदि मर्यादा अतः, अनन्त परमाणु परस्पर में मिलकर जो स्कन्ध बन जाते हैं, वे अनेक तरह के (२३ प्रकार की समस्त रूप) पुद्गल द्रव्य विभिन्न प्रकार के निमित्तों में कभी टूटते हैं, गलकर छोटे-बड़े टुकड़े बनते हैं, तभी उस और दो स्थायी मिश्रण के बने हो जाते हैं, उस तरह की पूरण और गलन क्षतिवत्ता होने में इस मूल द्रव्य का नाम ‘पुद्गल’ है। उचित भाषा में इसे (Matter) मटर कहते हैं।

हमको जितने भी पदार्थ नेत्रों में दीर्घ पड़ते हैं, सूँघने में आते हैं, छूने में आते हैं, जीभ द्वारा चखने में आते हैं या कानों में सुनाई देते हैं, वे सब पुद्गल पदार्थ हैं। जीवों के होने का पर अर्थात् शरीर भी पुद्गल स्कन्ध है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु भी स्थावर जीवों का शरीर है। उनके आश्रित जीव स्वयं ही पृथक् हैं।

बुद्ध पुद्गल परमाणु तो अतिमूढ होने में इन्द्रिय-अगाधर होता ही है परन्तु पुद्गल स्कन्धों में भी बहुत स्कन्ध ऐसे सूक्ष्म होते हैं जो नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा जानने में नहीं आते और यद्यपि वे स्कन्ध स्वरूप होते हैं जो कि इन्द्रियों में जाने जाते हैं। उन इन्द्रियगोचर स्कन्धों में भी दो प्रकार हैं (१) कुछ स्वयं अन्तः काष्ठ आदि जो ऐसे हैं जो स्पर्श (त्वचा) रसना (जीभ), घ्राण (नाक), नेत्र और कान, इन पांचों इन्द्रियों द्वारा छूने, चखने, सूँघने, दिखने

मुनने में आते हैं परन्तु वायु आदि कुछ ऐसे स्वस्थ होते हैं जो दिखाई नहीं देने परन्तु छूने में आते हैं। अथ रूप पुद्गल स्वस्थ ऐसे होते हैं जो मुनने में आते हैं, जिनका स्पर्श-इन्द्रिय पर आघात भी होता है परन्तु आँखों से दिखाई नहीं देते। प्रज्ञा और अन्तरा रूप पुद्गल स्वस्थ आँखों में दिखाई तो देने में परन्तु नाक, कान, जीभ इन्द्रिय द्वारा नहीं जाने जाते। घूष और चाँदनी रूप परिणत होने वाले पुद्गल स्वस्थ ग्रीन, गर्म रूप से छूने में तथा देखने में आते हैं परन्तु उनको परस्पर न तो स्थानान्तर किया जा सकता है, न अन्य इन्द्रियाँ उनको जान सकती हैं।

उस तरह पुद्गल द्रव्य अनेक प्रकार का है। पुद्गल द्रव्य के विविध प्रकार के परिणमन विविध प्रकार के निमित्त कारणों द्वारा होता करने हैं। जलमीन और हाईड्रोजन गैसों के मिल जाने में पानी बन जाता है। पानी को अतिठंडा वायु या गरम ऐमोनिया गैस का निमित्त मिलने में बर्फ बन जाती है। अग्नि की तथा सूर्य किरणों की गर्मी के निमित्त में पानी भाप बन जाता है, भाप में बादल बन जाते हैं, पार्थिव लकड़ी तथा सोना, चाँदी, लोहा आदि पार्थिव धातुओं अग्नि के निमित्त में जलकर राख हो जाती हैं, ममम्न धातुओं पिघलकर अन्य आकार-प्रकारों में परिणत होती हैं। इनमें भी अग्नि निमित्त कारण होती है।

पृथ्वी के भी अनेक विभिन्न स्थानों पर या विभिन्न प्रकार के कंकड़, पत्थर, मिट्टी, गन्धक, कोयला, लोहा, सोना, चाँदी, ताम्र, तांबा, रागा, तेज आदि बनने रहते हैं, उनके भी भिन्न-भिन्न प्रकार के निमित्त कारण होते हैं।

भिन्न-भिन्न स्थानों की पृथ्वी में विभिन्न प्रकार के वस्तुओं के निमित्त में विभिन्न प्रकार की उपादान शक्ति होती है वन, रेत, मीना, चाँदी, लोहा, तेज, रागा, ताम्र, नफेद पत्थर आदि पदार्थ सब जगह उत्पन्न न होकर विशेष-विशेष स्थानों पर ही उत्पन्न होते हैं।

फल के बीड़े, मारे, गूट्ट, मुगन्धिन, दुर्गन्धिन, बर्फ, गैस, भाप आदि जो परिणमन होते हैं उनके भी विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक निमित्त कारणों पर जोर मनुष्य भी वैसा कारण मिलाकर बर्फ, भाप, बिजली आदि बनाकर विभिन्न प्रकार में उनका उपयोग या प्रयोग करता है।

इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के निमित्त कारणों में वायु भी विभिन्न प्रकार की गैसों में परिणत हो जाती है। विभिन्न विभिन्न कारणों में स्पष्ट वायु भी मुगन्धिन, दुर्गन्धिन हो जाती है।

मोटरकार पेट्रोल, मास्त्रि आयल, तथा टायर ट्यूबों में भरी हुई वायु आदि निमित्त कारणों में चलती है। टैंक दिया और गैस आदि पर चलाने वाला चालक-डाइवर रूप प्रेरक निमित्त कारण भी मोटर के चलने में सहायक है। यदि निमित्त कारणों में से एक भी कारण ही नहीं रहेगा तो मोटर न चल सकेगी। पेट्रोल समाप्त हो जाए या टायर ही हवा निकल जाए तो मोटर न चलना बन्द हो जाता है।

मोटरकार के निमित्त में उनका चालक अन्य समय में दूर देश की यात्रा कर लेता है। सार्किल अपनी उपादान शक्ति में सभी चला सकती है जब उसके पट्टियों में हवा भरी हो और उसको चलाने वाला चालक हो। चालक के निमित्त में सार्किल चलती है और सार्किल के निमित्त में उसका सवार मनुष्य चलता है। नाव के निमित्त में साराह नदी पार हो जाता है और साराह के निमित्त में नाव नदी में चलती है।

आधा रूप उपादान कारण में गैरी सभी बनती है जबकि रसोइया, चकला, बेलन, तवा, अग्नि, लकड़ी, कोयला आदि निमित्त कारणों की योजना हो। यदि एक भी निमित्त कारण की कमी होगी तो उपादान कारण आधा गैरी न बन सकेगा।

इसी कारण श्रीविद्यानन्द आचार्य ने कहा है—‘सामग्रोजनिकाकार्यस्य नैक कारणम्’ अर्थात् उपादान कारण के साथ समस्त आवश्यक निमित्त कारण सामग्री हो सभी कार्य होता है, केवल एक ही कारण में कार्य नहीं होता।

उस तरह पुद्गल द्रव्य के विविध प्रकार के परिणमन में विविध प्रकार के निमित्त कारण सहायक होते हैं।



जीव द्रव्य

पुद्गल द्रव्य की तरह जीव द्रव्य के भी दो प्रकार के परिणमन होते हैं—(१) शुद्ध परिणमन करने वाले मुक्त जीव हैं, वे अनन्तज्ञानी, आन्तमुषी, अजर, अमर, अजन्मा होते हैं। (२) कर्मबद्ध, मत्तार में जन्म मरण-करते हुए भ्रमण करने वाले मत्तारी जीव अशुद्ध जीव हैं।

आत्मा का स्वभाव शास्त्र निगूढ शुद्ध बुद्ध चैतन्य रूप है, आत्मा न कभी मरता है, न जन्म लेता है परन्तु अपने राग द्वेष काम क्राध आदि अशुद्ध परिणमन द्वारा अपनी यागजक्ति (मन वचन ताय की इन्द्रिय-बलन रूप प्रवृत्ति) द्वारा पीद्गलिक कार्मणि वर्गणाओं का अपनी ओर आकर्षित करता है। वे कार्मणि वर्गणाएँ आकर्षित होकर आत्मा के प्रदेया में दूत-पानी की तरह में मिलकर आत्मा के राग द्वेष क्रोध आदि रूपाय भावों में कर्म रूप बन जाती हैं और वे कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, प्रेरीय, मात्नीय, आयु, नाम, भोग, अनाराम रूप हो जाते हैं। उन कर्मों के निमित्त से आत्मा का ज्ञान, दर्शन, निराकुलता, आन्त, स्वच्छ भाव विकृत हो जाते हैं। इस कारण वह जन्म-मरण करता है और नरक, पशु, मनुष्य, देव गति तथा चौरा-नी लाग् योनिया में भ्रमण करता रहता है।

उस तरह आत्मा के राग-द्वेष आदि भावों के निमित्त में पीद्गलिक कार्मणि वर्गणाएँ ज्ञानावरण आदि द्रव्य-कर्म रूप बनती हैं और उन कर्मों के उदय निमित्त में आत्मा में अज्ञान (अल्पज्ञान तथा आत्म-अनुमान में मूल्य कुज्ञान), मिथ्यात्व, अमयम (राग, द्वेष, क्राध, लोभ, माया मान, कामवासना, भय, घृणा आदि दुर्भाव) के विकृत भाव होते हैं। इस तरह द्रव्यकर्म (ज्ञानावरण मोहनीय आदि कर्म) में भाग्यार्म यानी आत्मा के रागद्वेष अज्ञान आदि विकृत भाव एवं जन्म-मरण होता है और उन विकार भावरूप भावबन्ध के निमित्त में प्रव्ययन्त्र होना है। श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार में लिखा है—

जीवपरिणामहेतु कम्मत्त पुगलत्ता परिणमत्ति ।

पुगलकम्मणिमत्त, तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥

अर्थ—जीव के राग द्वेषादि परिणामों के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप परिणमन होते हैं और पीद्गलिक कर्मों के निमित्त से जीव भी रागद्वेष आदि विकार रूप परिणमन करता है।

इस तरह परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है।

जिस तरह शराय, जड़ पदार्थ हैं परन्तु उम जड़ शराय का भी लेने पर अमूर्तिक आत्मा का ज्ञान, सुय-युष विगड जाती है, इसी तरह पुद्गल कर्मों के निमित्त में आत्मा के गुण विकृत हो जाते हैं।

जन्म-मरण

जैसे ज्ञानावरण कर्म के निमित्त से आत्मा का ज्ञान बहुत हीन हो जाता है, दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से आत्मा का सम्यग्दर्शन गुण मिथ्यात्वरूप हो जाता है, चारित्रमोहनीय कर्म के निमित्त में आत्मा का सच्चा-रित्र गुण अरायम या कुचारित्र बन जाता है, इसी तरह आयु कर्म के उदय के निमित्त में आत्मा का किमी नये शरीर में जन्म होता है उस भय में वह आयु कर्म के कारण जीता रहता है, जब आयु कर्म ही समाप्ति हो जाती है तब आत्मा का उस भाव से मरण हो जाता है। नये आयुर्कर्म के निमित्त से आत्मा दूसरे शरीर में जन्म लेता है।

काई भी जीव नरक निगोद के दुख नहीं भोगना चाहता परन्तु नरक निगोद में ले जाने वाला गतिनामकर्म आत्मा को बलपूर्वक नरक निगोद में ले जाता है। इस तरह आयुर्कर्म और नामकर्म के निमित्त से ससारी जीव का ससारभ्रमण या जन्म-मरण होता रहता है।

सुख-दुःख

सातावेदनीय के निमित्त ने मनारी जीव का इन्द्रिय भुज् की मासरी मिलनी है और अमाता वेदनीय के निमित्त ने भूत्र, प्यास, रोग, चिन्ता, व्याकुलता आदि अनेक तरह के दुःख मिलते हैं।

पारस्परिक सुख-दुःख

मनार में आत्मा तब और द्वेषभाव से किसी को (माना पिता पुत्र स्त्री भाई मित्र आदि को) अपना हितकारी मानता—उन्में प्रीति करता है, वे भी उन्में प्रेम करते हैं, एक दूसरे का सुख देते हैं। इसी तरह भुज्-गिण्य, मेदक च्वाभी आदि भी राग भाव से एक दूसरे का सुख देकर परस्पर उत्साह करते हैं। द्वेषभाव ने पिता पुत्र, भाई-भाई तथा अन्य व्यक्ति भी एक दूसरे के अनु बन्धन पारस्पर में दुःख देने ह। उन्में तब वन, उत्कार जकार, हातिशम आदि निमित्त कारणों ने मनारी जीव राग द्वेष करने हुए परस्पर सुख-दुःख देने ह।

पुरुषवेद करने के उदय में स्त्री के साथ उन्में जलने की सामना पात्रन होती है। स्त्रीवेद के उदय में पुरुष के साथ कामरौडा करने की भावना पैदा होती है। नय रम्य के उदय के निमित्त ने जात्मा भयभीत होता है।

प्रायः अभिमान मात्रा लाम जपायों में ने उन्में जिन कपाय के उदय का निमित्त मिलना है, अन्तरग बहिरग निमित्त कारण मिलते हैं उन समय आत्मा के परिणाम सौर आदि रूप हो जाते हैं। यदि उन्में समय आयुर्कर्म का बध हो तो उन्में प्रगल्भ या अप्रगल्भ कपाय के अनुमा भुम या जभुम जायु कर्म का बध हो जाता है।

दान, तान, नाग, उपभोग, बर्ष अन्त्यायनर्म के उदय के निमित्त ने तथा बहिरग कारणों के निमित्त ने जात्मा को दान करने में, विविध प्रकार के त्याग होने में, भोग्य-उपभोग्य पदार्थों के नाग-उपभोग में और जक्ति के प्रवृत्त होने में विघ्न-बाधा उत्पन्न होती है।

कभी ऐसा भी अवसर आता है कि किसी कर्म के उदय के समय यदि बहिरग निमित्त कारण न हो तो कर्म का उदय अपनी प्रवृत्ति की गति के अनुसार जात्मा का कर्म नहीं दे पाता। जिस तरह तरह में यदि माना वेदनीय कर्म का उदय हो तो वही सुख के जाहरी निमित्त कारण विद्यमान न होने में माना वेदनीय कर्म पुत्र प्रदान नहीं कर पाता। देवर्षि में दाहनी दुःख-मानसरी का निमित्त न होने में जमानावेदनीय कर्म का उदय निष्फल रहता है।

कर्मवन्ध हो जाने में पञ्चात् तो जात्मा के अच्छे या बुरे अथवा शुद्ध भावों के निमित्त में बाँधे हुए कर्मों की प्रवृत्ति, स्थिति, अनुभाग में वृद्धि, हानि, परिवर्तन, निश्चित समय में पहुँचने का देना आदि की घटना घटित हो जाती है, जिसे कर्मवन्धों में उत्कर्षण, अवकर्षण, मन्त्रण, उद्धारणा आदि नामों से कहा गया है। इस तरह अन्तरग बहिरग कारणों के निमित्तों ने कर्मों का वेद भी विविध प्रकार का जात्मा के साथ हुआ करता है।

कर्म-मोक्षन

कर्मवन्ध भव्य जीव मत्ता मनारी ही नहीं बना रहता। वह अनुकूल भुजवन्ध पाकर मनार से मुक्त होने के लिये जो आध्यात्मिक कार्य करता है उनके लिये भी निमित्त कारणों की जेक्षा होती है। तत्कार्यभूत का प्रथम सूत्र है—

मम्यग्दर्शनं चान्तराणि मोक्षमार्गं ११-१। (मम्यग्दर्शन, मम्यग्ज्ञान और मम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है। मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है।)

इस आगमविधान के अनुसार मुक्ति का मूल कारण मम्यग्दर्शन (शुद्ध आत्मतत्त्व की धृष्टा, खि, अनुभूति) है। वह मम्यग्दर्शन तब होता है जब कि मद्गुण का उद्देश या अर्हस्त भगवान की वाणी सुनने का वाहरी निमित्त भव्य जीव को मिले (जिनको दयनालब्धि कहते हैं) तथा दयनमोहनीय कर्म का क्षय, उत्सम आदि अन्तरग निमित्त कारण भी मिले। नियमनार में श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने बतलाया है—





सम्मतस्त निमित्त जिणमुत्त तस्त जाणया पुरिसा ।

अतरहेऊ भणिथा दसणमोहस्स तप्पपहुदी ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने या (बहिरंग) निमित्त कारण जिनवाणी का गुणता तथा उगता सुनाने वाले एवं उमके ज्ञाता पुरुष (आचार्य उपाध्याय माधु या अर्हन्त भगवान्) हैं। अन्तरंग निमित्त कारण अर्शनमोहनीय क्रम का धय आदि है।

सम्यग्ज्ञान होने का निमित्त कारण सम्यग्दर्शन है तथा धाम्म, उपाध्याय, अध्यापक आदि भी हैं।

सम्यक्चारित्र्य का निमित्तकारण निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा तथा प्रत्याप्तानाशरण वपाय का अशोषणम्, मुनिमघ आदि है।

इनके सिवाय मोक्ष के निमित्त कारण मनुष्य आयु, अश्वशृपभनागच गहनन, मुनिदीक्षा के योग्य उत्तुल मे जन्म, कर्मभूमि, दु पमसुपमा काल, शुश्लघ्यान आदि भी है। इन नमस्त निमित्त कारणों तथा उपादान कारण के बिना मिले मोक्ष की मिद्धि नहीं होती। यदि इन निमित्त कारणों में से एक भी कारण की कमी रहेगी तो मोक्ष भी नहीं होगा।

निमित्त कारणों के भेद

निमित्त कारण प्रेरक, उदागोन, बलाघायक आदि अनेक प्रकार के होते हैं। जो उपादान कारण को बलपूर्वक अपनी प्रवृत्ति के अनुत्त परिणामते हैं वे प्रेरक निमित्त कारण होते हैं। जैसे भोजन बनाने में रमोइया प्रेरक निमित्त कारण है। वह अपनी इच्छानुसार भाटे की रोटी, चाटी, पूड़ी-कचौटी, परामठा, हनुवा आदि के रूप में परिणामता है। पानी की प्रबल वाह मनुष्यों को, पशुओं को तथा वृक्ष आदि को जवरदन्ती बहा ने जाती है।

धर्म, अधर्म, काल, आकाश-प्रकाश आदि उदागोन कारण होते हैं, जो कि उपादान कारण को बलपूर्वक नहीं परिणामते।

जिन पदार्थों में कार्य होने में उपादान को छल प्राप्त होना है वे बलाघायक निमित्त कारण होते हैं, जैसे लगडे मनुष्य को चलने में लाठी सहारा देनी है, नेत्रों की हीन ज्योति वाले मनुष्य को देखने में उपनेत्र (ऐनक, चश्मा) बल प्रदान करता है।

इनके सिवाय अगस्य प्रकार के अभावात्मक निमित्त कारण भी होते हैं। जिन पदार्थों के गद्भाव में कार्य नहीं हो सकता उन पदार्थों का अभाव होना कार्य होने में आवश्यक निमित्त कारण है। जैसे कि विद्यार्थी के पढ़ने में ज्वर, उदरपीडा, भयानक सिर की पीडा, नेत्र दुबला, कुण्ठ, जलोदर आदि अगस्य प्रकार के भयानक रोगों का अभाव, जलप्लावन, घाट, भूकम्प, वज्रपात, काली आबी, राजक्रान्ति, अल्लिकाड आदि अगस्य प्राकृतिक बाधक कारणों का अभाव होना आवश्यक है। वह जहाँ पढ़ता है वहाँ सर्प, भिन्न, भेडिया, चीता, बाघ आदि हिंसक जीवों आदि असह्य बाधक कारणों का अभाव होना भी परम आवश्यक है। यदि ये बाधक निमित्त कारण वहाँ पर हों तो कोई भी पठन-पाठन आदि कार्य शान्तिपूर्वक वहाँ पर नहीं हो सकता।

जिस समय उपादान कारण और समस्त भावरूप तथा अभाव रूप निमित्त कारण मिल जाते हैं, उसी समय कार्यसिद्धि होती है।

हमारा जीवन

आत्मा यद्यपि द्रव्यदृष्टि में अजर-अमर अविनाशी है परन्तु ससार में प्रत्येक पर्याय में उसे जीवित रहने को श्वाभ लेने के लिये वायु, पीने के लिये जल, भूख मिटाने के लिये भोजन, रहने के लिये स्थान, प्रकाश, अन्धकार, गर्मी आदि जीवन-उपयोगी पदार्थों का निमित्त मिलना आवश्यक है। मछली आदि जलचर जीवों को जलाशय (तालाब नदी, समुद्र आदि) मिलना आवश्यक है। गाय, घोड़ा, कुत्ता, सिंह, हिरण आदि थलचर जीवों को अपने जीवन के लिये सूखी पृथ्वी या मिलना आवश्यक है, नमचर पक्षियों के लिये मुक्त आकाश की आवश्यकता है, मनुष्य को भी

वानु, लल, भोजन प्रकाश, आद्यैक गर्मी अपने जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। यदि पदार्थों का निमित्त मयारी जीवों को न मिले तो वे जीवित नहीं रह सकने।

लघ्विअपर्याप्तक निमित्तजीव को अर्थाधिकर्म के उदय के निमित्त से एक स्थान से जिनने छंटे न बाल से १८ बार जन्म-मरण करना पड़ना है

वृद्धमान निमित्त-उपादान कारण

प्रायः सभी वस्त्र उत्पन्न होने समय भोजन-भाले होते हैं परन्तु उनको जैसे-जैसे टूटते-बूटते, मिश्रित-मिश्रित, दुर्जन मज्जन, मदाचारी, माना-पिता भाई-बहिनों का निमित्त मिश्रित है, उनके लाल और मरमात्र जैसे ही जाने हैं। पाठशालाओं स्कूलों और जालियों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों को जैसे टूटते-बूटते मृगदियों की सानि ना निमित्त मिश्रित है सभी तरह के वे मदाचारी या दुराचारी बन जाते हैं।

इसका इतिहास यही है कि मनुष्य में अनेक प्रकार की उपादान-शक्ति है, उसमें मनुष्यी निमित्त मज्जन करने की भी शक्ति है और दुर्गुणी को लुका बरमान गुंडा दुष्ट करने की भी उपादान-शक्ति है। किन्तु जैसे निमित्त कारण मिश्रित हैं उस तरह की उसकी मनुष्य-मयी या दुर्गुणमयी शक्ति का विकास हो जाता है और वह उस प्रकार का बन जाता है।

आटे में अनेक प्रकार की उपादानशक्ति है जिसके कारण वह गेंदी, धूर्त, कचैड़ी आदि बन सकता है। बड़ी आटा धीरे-धीरे का मैदा छुटाने का उदयन भी बन सकता है, जलिन में जल भी सकता है हवा में उड़ भी सकता है। वह मिट्टी बालू भी बन सकता है इन यदि उसको कुशल ग्वाहक का निमित्त मिलेगा तो वह आटा अच्छा भाजन बन सकता है, आग में गड़ जायेगा तो जलिन के निमित्त से आक भी बन सकता है, आटी का निमित्त मिले तो वह उड़ सकता है और बल मिट्टी बालू में पड़ जाय तो उस निमित्त से वह बल मिट्टी बालू भी बन सकता है।

इन तरह उपादान कारणों को जैसे निमित्त कारणों का मद्रांश मिलता है उपादान उसी प्रकार परिणत करता है।

मानश्री

इसके निदान एक बात यह भी है कि एक कारण के लिये अनेक निमित्त कारणों की आवश्यकता होती है। उन सब निमित्त कारणों या मानश्री के मिलने पर ही दोष काट होता है। यदि निमित्त की कमी होती तो वैसा दोष कार्य न हो पायेगा।

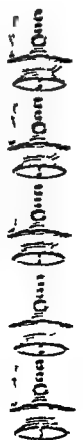
जैसे आटा सब उपादान कारण से संजन-कार्य होने के लिये निमित्त मोहक का निमित्त कारण से ही काट नहीं हो सकता, उसके लिये जल, धी, लम्क, साइ आदि कुछ जैंग भी उपादान कारण मिलने होंगे तो चक्का, बेसन, नवा, जलिन आदि अन्य निमित्त कारणों की भी संजन करनी पड़ेगी, सभी जलिन से गेंदी आटी, धूर्त, हलुक, आदि कार्य हो सकेगा।

यदि अन्य निमित्त कारण हों, जलिन न हो तब भी गेंदी न बनेगी। जलिन मोहक आदि निमित्त कारण तो हों परन्तु नवा न हो तब भी सुन्दर पनदी गेंदी न बन सकेगी।

पढ़ने के लिये विद्यार्थी जो अध्यापक, पुस्तक, कागज, दैनिम प्रकार आदि अनेक निमित्त कारण निमित्त चाहिये। यदि उनमें से किसी भी कारण की कमी होगी या विद्यार्थी ठीक तरह से न पढ़ सकेगा इस प्रकार कहते हैं कि कार्य होने के लिये उपादान तथा पूर्ण निमित्तकारण-मानश्री आवश्यक होती है।

एक निमित्त से विभिन्न प्रकार के कार्य

माध्याह्न जनता के आवागमन के एक स्थान पर एक मन्दिर हुआ। मन्दिर के अन्दर अनेक मूर्तियों के मुखमूर्ति





वेदया मरी हुई पड़ी थी। एक चोर, एक कामातुर पुष्प, एक साधु और एक कुत्ता उसको देने के लिये उसके पास लड़े हो गये। वेदया को मरा हुआ देखकर चोर ने विचार किया कि इसके शरीर पर कीमती वस्त्र आभूषण हैं, यदि यह एकान्त स्थान में होती तो मुझे अनायास बहुत धनलाभ होता। कामातुर पुष्प ने मन में विचार किया कि यदि यह जीवित होती तो मैं इसके साथ कामक्रीड़ा करता। कुत्ते ने विचार किया कि वहाँ पर यदि मनुष्य न होते तो मैं इसका शासनाक्षेपण करके अपनी गूँस खाना करता। साधु ने वेदया को देखकर विचार किया—मनुष्यभय पाकर हमन तप त्याग धर्म नहीं किया। विषयभोगों में निग्न रहकर इसने मनुष्यजन्म का लाभ नहीं उठाया।

यहाँ प्रश्न यह है कि एक ही निमित्त (मृतक वेदया) से चार उपादान कारणों (उसे देने वाले जीवों) में विभिन्न प्रकार के चार कार्य का विचार क्यों हुए? इसका उत्तर यह है कि मृतक वेदया को देने वाले चारों जीवों के विचारा (उपादान कारणों) के लिये वहाँ निमित्त कारण थे। चोर के लिये निमित्त कारण वेदया द्वारा गहने हुए मूल्यवान् वस्त्र आभूषण थे। कामातुर मनुष्य के लिये वेदया का सुन्दर शरीर निमित्त कारण था। साधु के विराग-भाव के लिये वेदया का मनुष्य भव था। कुत्ते के लिये निमित्त कारण वेदया का मांस शरीर था। इस तरह जीवों के लिये मृतक वेदया-शरीर के विभिन्न चार निमित्त कारण थे।

निमित्त मिलने पर भी कार्य का न होना

भगवान् ऋषभनाथ के निमित्त में उनका पौत्र (पोता) मरीचिकुमार मिथ्यादृष्टि क्यों बना रहा? एक कामातुर रानी की अनेक प्रकार की कामोत्तेजक चेष्टाओं का निमित्त मिलने पर भी सुदर्शन सेठ के मन में कामवामना जाग्रत क्यों न हुई? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि दोनों के उपादान कारण उन प्रारंभ की कायमिद्धि के योग्य न थे। तथा अन्य निमित्त कारण भी न थे। मरीचिकुमार की अन्तरंग निमित्त कारण (मिथ्यात्व कर्म का उपशम) उपलब्ध न था अतः उसका उपादान (आत्मा) सम्यक्त्वप्राप्ति का कार्य प्राप्त न कर सका।

सुदर्शन सेठ आत्मध्यान-निमग्न थे। उस समय उनके पुरुषवेद का उदय न था इस कारण वे भी अन्तरंग निमित्त कारण के अभाव में कामातुर न हुए। उनका उपादान कारण (आत्मा) कामवामनामय न था।

सारांश यह है कि कोई भी कार्य तब ही होता है जब उसके अनुकूल उपादान कारण तथा उसके लिये सब तरह के (अन्तरंग, बहिरंग, बलाघायक, प्रेरक आदि) निमित्त कारण मिल जायें। यदि उन कारणों में से एक भी कारण की कमी रहती है तो कार्यसिद्धि नहीं होती।

जैनागम में प्रयुक्त निश्चय और व्यवहार शब्दों का अर्थख्यान

प० ब्रशीधर जैन,
ध्यावरणाचार्य, बीना (म० प्र०)



मनु जीवनम रा चा नाग मे विनत तित गरा हे—प्रमानुयोग (धमक्यानुयोग), चणानुयोग, कणानुयोग गी प्रमानुयोग । प्रमानुयोग न है । तने जगतरा नी न्दय मे ग्यतर महापुरुषा के जीवनचरित्र के ज्ञान-ए पाप, पुण और धर्म रा निर्धारण तराया गया है, चणानुयोग वह है जिसमे अध्यात्म की लक्ष्य मे रख ए-पाप, पुण और धर्म की प्रवर्धना रा निर्देश किया गया है, कणानुयोग वह है जिसमे जीवो की पाप, पुण्य और प्रवर्धन परिणितियों तम उनक तात्ता रा नियंत्रण किया गया है जी-द्रव्यानुयोग वह है जिसमे विद्व की सम्पूर्ण वस्तुता के दृक् दूर अन्तिम रा प्रवर्धन राते स्वन विद्व स्वरा एव उनके परिणमनो का निर्धारण किया गया है । उनमे मे चणानुयोग, प्रमानुयोग जी-द्रव्यानुयोग मे जायस्थानानुसार विविध श्रों मे निश्चय और व्यवहार शब्दों का बहुवृत्ता के नाम प्रदान हुआ है, उनकर ता ताता शब्दों का कहा गया अ प्राप्त है ? इन विषय पर यहा विचार किया जा रहा है ।

निष्चय और व्यग्रहाण सन्धो का व्युत्पत्त्य

निम्नय 'अं' व्ययहार होता शब्दा में न निम्नय शब्द तो 'निम्' उपसर्गपूर्वक चयनायक 'चिञ्' धातु से 'अं' प्रत्यय ग्राह्य निम्न य 'अ' है जो व्ययहार शब्द 'चि' तथा 'अ' उपसर्गपूर्वक हरणायक 'हृञ्' धातु में 'ण' प्रत्यय ग्राह्य निम्नय शब्द है। उस प्रकार इन व्युत्पत्तियों के अनुसार वस्तु में मभवनीय परस्परविरुद्ध धर्मयुगलो में एक एक प्रमत्ता निम्नय शब्द का तथा एक एक प्रम व्ययहार शब्द का अर्थ समझना चाहिये। वस्तु में सभवनीय परस्परविरुद्ध धर्मों के दो युगल निम्न प्रकार मगहीन किये जा सकते हैं—

अणुरूपना-प्रणुरूपना, एकरूपना-नानारूपना, तदूनना-अतद्रूपता, भावरूपना-अभावरूपता, नित्यरूपता-अनित्यरूपता, आश्रयरूपता-परआश्रयरूपता, मग्नहृदयना-विस्माररूपता, मामान्यरूपता-विशेषरूपता, अन्वयरूपता-व्यतिरिक्तरूपता, द्वय्यरूपता-पर्यायरूपता, गुणरूपता-पर्यायरूपता, स्वभावरूपता-विभावरूपता, उद्देश्यरूपता-विधेयरूपता, मात्ररूपना-माधनरूपता, कायरूपता-कारणरूपता, उपादानरूपता-निमित्तरूपता, माक्षाद्रूपता-परपरारूपता आदि । इनमें पूर्व-प्रथम तो वस्तु ना निश्चय धर्म और उत्तर-उत्तर धर्म वस्तु का व्यवहार धर्म समझना चाहिये ।

यदा परं मत्प्रथमं हम् यत् त्रिवेचनं वरुण जा रहूँ किं चरणानुयोग मे प्रयुज्यते निश्चयं और व्यवहारं नन्दा वः कथा-व्याख्या आगम मं ग्रहणं किया गया है ?



चरणानुयोग मे निश्चय और व्यवहार शब्दो का अर्थ

जैन मस्कृति के अध्यात्म का प्रधान और अन्तिम उद्देश्य जीवां द्वारा सामारिक बन्धनो से छुटकारा पाकर आत्मस्वातन्त्र्य प्राप्त कर लेना ही जैनागम मे बतलाया गया है । जीवो द्वारा सासारिक बन्धनो मे छुटकारा पा लेने का नाम मोक्ष है^१ और इस मोक्ष का प्राप्त करने का जो उपाय ही मकता है उसे मोक्षमार्ग जानना चाहिये । जैनागम में मोक्ष-मार्ग को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के रूप मे प्रतिपादित किया गया है ।^२ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को आगम मे निश्चय और व्यवहार के भेद मे दो-दो भेद रूप बतलाया गया है ।^३ इस तरह मोक्ष-मार्ग वहा पर दो भेद रूप बतला दिया गया है—एक निश्चय मोक्ष-मार्ग और दूसरा व्यवहार मोक्ष-मार्ग ।^४ साथ ही इतना स्पष्ट कर दिया गया है कि निश्चय मोक्ष-मार्ग तो मोक्ष का साक्षात् कारण है और व्यवहार मोक्ष-मार्ग परपरया, अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर कारण है ।^५

श्रद्धेय पण्डित दीलतरामजी ने छह ढाला मे तीसरी ढाल के प्रारम्भ मे इस विषय को बहुत ही सुन्दरता के साथ सारगर्भित दो पद्यो द्वारा स्पष्ट रूप मे प्रतिपादित किया है । वे पद्य ये है—

“आत्म की हित है सुख, सो सुख आकुलता चिन कहिये ।
आकुलता शिव भाहि न, ताते शिवमग लाग्यो चाहिये ॥
सम्यग्दर्शन ज्ञानचरण शिवमग सो दुषिय विचारो ।
जो सत्पारय रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो ॥१॥
पर द्रव्यन ते भिन्न आप मे रचि सम्यग्त्व भला है ।
आप रूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है ॥
आप रूप मे लीन रहे धिर सम्यक् चारित सोई ।
अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये हेतु नियत को होई ॥२॥

१. बन्धहेत्वभायनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष ॥१०-२॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

२. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ॥१-१॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

सम्मत्तणानुजुत्त चारित्त रागदोसपरिहरण । मोक्षस्स हवदि मग्गो भव्वाण सद्धबुद्धीण ॥१०६॥

(पचास्तिकाय)

३. धम्मादी सद्दहण सम्मत्त णाणमगपुव्वगद । चेद्धा तव हि चरिया व्यवहारो मोक्षमग्गोत्ति ॥१६०॥

(पचास्तिकाय मे व्यवहार मोक्ष-मार्ग)

णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहि समाहिदो हु जो ।

अप्पा ण कुणवि किच्चिवि अण्ण ण सुयदि सो मोक्षमग्गोत्ति ॥१६१॥ (पचास्तिकाय मे निश्चय मोक्ष-मार्ग)

४. निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं भवति । (पचास्तिकाय गाथा १६० की टीका मे आचार्य जयसेन)

५. निश्चयव्यवहारयो साध्यसाधनभावत्वात् । (पचास्तिकाय गाथा १६० की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र)

निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम् ।

(पचास्तिकाय गाथा १६२ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र)

व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम् ।

(पचास्तिकाय गाथा १६३ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र)

साधको व्यवहारमोक्षमार्ग साध्यो निश्चयमोक्षमार्ग (परमात्मप्रकाश टीका पृष्ठ-१४२)

एव निश्चयव्यवहाराभ्या साध्यसाधनभावेन तीर्थगुरुदेवतास्वरूप ज्ञातव्यम् ।

(परमात्मप्रकाश श्लोक ७ की टीका)

प्रथम पद्य में पण्डितजी ने कहा है कि आत्मा का हित मुख है, मुख जाकुल्ला के अभाव में उत्पन्न होता है और जाकुल्ला का अभाव मोक्ष में है अतः जीवों को मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिये। मोक्षकामार्ग मय्यदर्शन, मय्यज्ञान और मय्यक्चारित्र्य रूप है। ये तीनों निश्चय रूप भी होते हैं और व्यवहार रूप भी होते हैं अतः मोक्षमार्ग भी निश्चय और व्यवहार के भेद में दो प्रकार का हो जाता है। इनमें से मय्यदर्शन, मय्यक् ज्ञान और मय्यक्चारित्र्य रूप निश्चय मोक्षमार्ग तो मोक्ष का सीधा कारण है तथा मय्यदर्शन, मय्यज्ञान और मय्यक्चारित्र्य रूप व्यवहार मोक्षमार्ग इस निश्चय मोक्षमार्ग का साधनहोकर मोक्ष का साधन है अर्थात् परंपरया कारण है।

द्वितीय पद्य में पण्डितजी ने कहा है कि समस्त चेतन-अचेतन पर-द्रव्यों की ओर से मुहकट अपने आत्मस्वरूप की ओर जीव की अनिच्छा (अन्मृता) होना निश्चय मय्यदर्शन है, उसको अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाना निश्चय मय्यज्ञान है और बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक होने वाले कर्मावस्थ पाप और पुण्यरूप समस्त प्रकार की प्रवृत्तियों में निवृत्ति पाकर उनका अपने आत्मस्वरूप में लीन हो जाना निश्चय मय्यक्चारित्र्य है।

तृतीय पद्य के अन्तिम चरण में अर्द्ध पण्डितजी ने कहा है कि आगे छहटांग में निश्चय-मय्यदर्शनादि रूप उक्त निश्चय मोक्षमार्ग के साधनमूल व्यवहार मय्यदर्शनादि रूप व्यवहार मोक्षमार्ग का विवेचन किया जायगा। इस तरह छहटांग में दिये गये विवेचन के अनुसार व्यवहार मोक्षमार्ग रूप मय्यदर्शन, मय्यज्ञान और मय्यक्चारित्र्य का पृथक्-पृथक् जो स्वरूप निर्धारित होता है उनका कथन यहां पर किया जाता है।

व्यवहारमय्यदर्शन का स्वरूप

छहटांग में जीव, अर्थात्, आत्मन, वन्य, मय्य, निर्गम और मोक्ष ये मान लिये गये हैं और कहा गया है कि उनके प्रति जीवों के अन्तःकरण में अर्द्धाध्यात्म इनके स्वरूपादि की आत्मविकृता के मय्यदर्शन में ज्ञान की दृष्टि या आत्मिक भाव जागृत हो जाने का नाम व्यवहारमय्यदर्शन है। इसके आधार पर ही जीवों को निश्चय-मय्यदर्शन की उपरान्त जाना है।

अचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में और स्वामी ममलभद्र ने रत्नकरण्डधावकाचार में मय्यदर्शन का जो स्वरूप बताया है उसे व्यवहार मय्यदर्शन या ही स्वरूप समझना चाहिये। अचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार उक्त सूत्र मान लें तो वे अर्द्धाध्यात्म का नाम मय्यदर्शन है।^१ और स्वामी ममलभद्र के रत्नकरण्डधावकाचार के अनुसार परमार्थ अर्थात् बीतरागता के आदर्श देवी, परमात्मा अर्थात् बीतरागता के पोषक आत्मो और परमार्थ अर्थात् बीतरागता के मार्ग में प्रवृत्त गुरु का प्रति जीवों के अन्तःकरण में अर्द्धाध्यात्म का जागरण हो जाना मय्यदर्शन है।^२

अचार्य तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डधावकाचार में निबद्ध मय्यदर्शन के उक्त उक्तियों में परस्पर भेद दिखाई देना है परन्तु मन्वन् उनमें भेद नहीं है, क्योंकि स्वामी ममलभद्र द्वारा रत्नकरण्डधावकाचार में प्रतिपादित उक्तियों में भी निश्चय के रूप में जीवों के अन्तःकरण में उक्त मान लें तो उनके प्रति आत्मिक भाव की जागृति हो जाना ही मय्यदर्शन या स्वयं निश्चय जाना है।

व्यवहारमय्यज्ञान का स्वरूप

बीतरागता के पोषक अथवा सात तत्त्वों के यथावस्थित स्वरूप के प्रतिपादक आगम का अथर्व, पठन, पाठन, श्रवण, चिन्तन, मनन और उपदेश यह सब व्यवहारमय्यज्ञान है। इस प्रकार के मय्यज्ञान में जीवों को समस्त वस्तुओं के जी-विशेष आत्मा के स्वतन्त्र निष्ठ स्वरूप का बोध होता है। जैसे आत्मा का स्वतन्त्र निष्ठ स्वरूप ज्ञापक पना अर्थात् समस्त पदार्थों का देखने-जानने की शक्ति रूप है। इसके आधार पर ही आत्मा का अनादि, अनिघन,

१ तत्त्वार्थाध्यात्म मय्यदर्शनम् ॥१-२॥, जीवाजीवात्मवत्त्वमवरनिर्जरा मोक्षान्तत्त्वम् ॥१-४॥

२ अर्द्धाध्यात्म परमार्थानामाप्तागमपतपोभूनाम् । त्रिमुद्रापोढमष्टाङ्ग मय्यदर्शनममयम् ॥४॥



स्वाश्रित और असङ्ग (स्वरूप के साथ तादात्म्य को लिए हुए) अतएव अस्तित्व मिट्ट होता है । आत्मा के इस स्वरूप को समझने के लिये उपर्युक्त प्रकार के आगम का श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन, मनन और उपदेश नहायक होता है ।

विचार कर देखा जावे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पूर्व ही जीवों को इस प्रकार के सम्यक् (वीतरागना के पोषक) आगमज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है इसलिये यद्यपि मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन के पूर्व ही सम्यग्ज्ञान का स्थान मिलाया चाहिये परन्तु वहाँ इसको जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के मध्य स्थान दिया गया है इसका एक कारण तो यह है कि जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर ही उक्त प्रकार के ज्ञान का सम्प्रक्षेपना (मार्यकत्व) माना जा सकता है और दूसरा कारण यह है कि उक्त ज्ञान की उपयोगिता मध्यदीपक न्याय से सम्यग्दर्शन की तरह सम्यक्-चारित्र पर आरुढ़ होने के लिये भी आवश्यक है ।

व्यवहारसम्यक्चारित्र का स्वरूप

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होने वाली समस्त कषायजन्य पाप और पुण्यमय प्रवृत्तियों से निवृत्ति पाकर अपने आत्मस्वरूप में लीन होने रूप निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिये यथाशक्ति अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म और तप आदि क्रियाओं में जीव की प्रवृत्ति होना व्यवहारसम्यक्चारित्र है ।

निश्चय सम्यक्चारित्र का अपर नाम यथारथाचारित्र है । इसे वीतराग चारित्र और करणानुयोग की दृष्टि में औपशमिक तथा क्षायिक चारित्र भी कहा जाता है^१ । इन की प्राप्ति जीवों को उपशम श्रेणी चढ़कर ११वें गुणस्थान में पहुँचने पर औपशमिक चारित्र के रूप में अथवा शपक श्रेणी चढ़कर १२वें गुणस्थान में पहुँचने पर क्षायिक चारित्र के रूप में होती है परन्तु ११ वें गुणस्थान के औपशमिक चारित्र और १२ वें गुणस्थान के क्षायिक चारित्र में इतना अन्तर है कि उपशम श्रेणी चढ़कर ११वें गुणस्थान में पहुँचने वाला जीव अन्तर्मुहूर्त के अल्पकाल में ही पतन की ओर मुड़ जाता है । अतः जहाँ उसका औपशमिक चारित्र तत्काल समाप्त हो जाता है वहाँ शपक श्रेणी चढ़ कर १२वें गुणस्थान में पहुँचने वाले जीव का क्षायिक चारित्र स्थायी रहता है और वह जीव पतन की ओर न मुड़ कर अन्तर्मुहूर्त के अल्पकाल में ही १२वें गुणस्थान से १३वें गुणस्थान में पहुँच कर भवजन्ता को प्राप्त कर लेता है । इसी निश्चय चारित्र की प्राप्ति के लिये चतुर्थ गुणस्थान का अविरतसम्यग्दृष्टि जीव पाचवें गुणस्थान में अणुव्रत धारण करता है तथा और भी आगे बढ़ कर छठे गुणस्थान में महाव्रत भी धारण करता है । इनका ही नहीं, घोर तपश्चरण करके आगे बढ़ना हुआ वह जीव सातवें गुणस्थान में श्रुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त हो कर आत्मपरिणामों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई यथायोग्य विशुद्धि के आधार पर उपशम श्रेणी या शपक श्रेणी साझता है । इस तरह कहना चाहिये कि जब तक उस जीव को उपर्युक्त निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं हो जाती है तब तक वह पाचवें और छठे गुणस्थानों में तो बुद्धिपूर्वक और सातवें से लेकर १० वें तक के गुणस्थानों में अबुद्धिपूर्वक उपर्युक्त व्यवहार-चारित्र की पालना में ही लगा रहता है । इस व्यवहारचारित्र का भी अपर नाम मरागचारित्र और करणानुयोग की दृष्टि में क्षायोपशमिक चारित्र है ।

यद्यपि अणुव्रत और महाव्रत तथा समिति, गुप्ति, धर्म, एवं तपश्चरण आदि क्रियाएँ पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन में रहित कोई-कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी करने लगते हैं । इतना ही नहीं, इन क्रियाओं को सलग्नता के नाश करने से वे यथासंभव स्वर्ग में जन्म धारण करके नवें त्रैवेयक तक भी पहुँच जाते हैं, परन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इन क्रियाओं की निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति पूर्वक मोक्षप्राप्ति रूप मार्यकता सम्यग्दर्शन के आधार पर ही हुआ करती है अन्यथा नहीं, क्योंकि जीव जब तक मिथ्यादृष्टि बना रहता है तब तक उस को अप्रत्यास्थानावरण और

१ चारित्रं खलु धर्मो धर्मो जो सो समोत्ति निहिद्धो ।

मोहकलोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥७॥

प्रदानानुसार ब्रह्मो ना लोकोत्तम होना असम्भव है जबकि अगुणन श्रौ महावन आदि रूप व्यवहार सम्यक्चारित्र यशोयोग इन ब्रह्मो ना ज्ञान मे वनलायी गयी प्रशिक्षा के अनुसार लोकोत्तम होने पर ही उत्पन्न होना है ।^१

इन विवेचन मे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चर्यानुयोग मे सम्यग्दर्शनादि रूप निश्चय और व्यवहार के भेद मे दो प्रकार के मोक्षमार्ग का कथन मिलता है उसका आशय निश्चय मोक्षमार्ग को ही मोक्ष का साक्षात् कारण बनाना है तथा व्यवहार मोक्षमार्ग को मोक्ष का परमार्थ अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर साक्षात् बनाना है । विचार कर देखा जावे तो यह आशय मोक्षमार्ग शब्द के साथ गये हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों मे ही ध्वनित होना है । इसी प्रकार निश्चय मोक्षमार्ग स्वतन्त्र निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र को भी कार्यरूप तथा व्यवहार मोक्षमार्ग स्वतन्त्र व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्रको इन निश्चय मोक्षमार्ग स्वतन्त्र सम्यग्दर्शनादि का कारण बन बनाना भी इसी का आशय है । यहाँ पर भी यदि विचार करते देखा जावे तो यह आशय ही सम्यग्दर्शन आदि शब्दों के साथ गये हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों मे ही ध्वनित होना है । इस तरह ज्ञान होना है कि चर्यानुयोग के प्रवृत्त प्रयोग मे मोक्षमार्ग शब्द के साथ गये हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों का प्रम मे कारण ही साक्षात्प्राप्ति और परमार्थरूपता ही अर्थ होना है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र जड़ों के साथ गये हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों का प्रम मे निश्चय रूप और व्यवहार रूप सम्यग्दर्शनादि की कार्यरूपता और कारणरूपता ही अर्थ होना है । इस तरह यह विवेचन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचा देता है कि मोक्षप्राप्ति के लिये जीव को मात्र के साक्षात् कारणभूत निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र की तथा परमार्थ साक्षात्प्राप्ति कारणभूत व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र की जलिवार आवश्यकता है । ऐसी स्थिति मे या व्यक्ति निश्चय मोक्षमार्ग रूप निश्चयसम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति के बिना केवल व्यवहार मोक्षमार्ग रूप व्यवहार सम्यग्दर्शनादि मे ही मोक्षप्राप्ति प्रयत्न चाहते हैं, वे गलती पर हैं कारण कि उपर्युक्त विवेचन के अनुसार उन्हें अपने मोक्षप्राप्ति रूप उद्देश्य मे सफलता मिलना असम्भव है । इसी तरह जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि “जब निश्चय मोक्षमार्ग के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है तो निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति का ही जीव का प्रयत्न करना चाहिये, व्यवहार मोक्षमार्ग के ऊपर ध्यान देने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है”, तो ये व्यक्ति भी गलती पर हैं क्योंकि ऊपर के विवेचन मे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जीव जो व्यवहारमोक्षमार्ग पर आश्रित हुए बिना निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होता असम्भव है । यह बात पूर्व मे ही स्पष्ट की जा चुकी है कि मोक्षमार्ग के प्रगभूत निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति जीव को औपशमिक रूप मे तो उपशम श्रेणी माड कर ११ के गुणस्थान में पहुँचने पर ही होती है और आश्रित रूप मे अपक श्रेणी माड कर १० वें गुणस्थान मे पहुँचने पर ही होती है । इन प्रकार कहना चाहिये कि जब तक जीव उपशम या अपक श्रेणी माड कर ११ वें अथवा १० वें गुणस्थान मे नहीं पहुँच जाता है तब तक अर्थात् १० वें गुणस्थान तक इन के व्यवहार सम्यक्चारित्र, जिसे मरागचारित्र या चर्यानुयोग की दृष्टि मे लोकोपशमिकचारित्र कहा जाता है, हो रहा होता है ।

इसमे यह सांग्रता बण्डित हो जाती है कि “व्यवहारसम्यक्चारित्र को धारण किये बिना ही निश्चयसम्यक्चारित्र की उपलब्धि जीव का असम्भव है”, कारण कि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव यशोयोग गुणस्थान प्रम मे वृत्ता दृष्टा है ११ वें या १० वें गुणस्थान मे पहुँच कर निश्चयसम्यक्चारित्र को उपलब्ध कर सकता है और यह बात स्पष्ट ही जा चुकी है कि १० वें गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्र ही मरागचारित्र या यो कहिये कि लायापशमिक चर्या के रूप मे रहा करता है ।

१ पञ्चवक्त्राणुदयादो मज्झिमावो ण होदि पव्वरि तु ।

योववदो होदि तदो देनवदो होदि पच्चमओ ॥३०॥

मज्झिमावो कयायाणुदयादो मज्झिमा हवे जम्हा ।

मज्झिमावो वि य तम्हा तु पमत्तविरदो सो ॥३१॥





उपर्युक्त कथन से एक यह मान्यता भी स्पष्टित हो जाती है कि "जिम जीव को निश्चयमम्यकचारित्र की प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारचारित्र हो ही जाता है।" कारण कि पूर्वोक्त प्रकार से व्यवहारसम्यक्चारित्र का अभाव हो जाने पर ही निश्चय मम्यक्चारित्र की प्राप्ति जीव को होती है। क्या कोई ध्येय उग बात का स्वीकार करेगा कि क्षायोगक्षमिन् चारित्र रूप गगनचारित्र या व्यवहारचारित्र का सम्भाव रहते हुए भी जीव में औपक्षमिन् या क्षागिन्—य बीतगगनारित्र, यथाप्यातनारित्र या निश्चयचारित्र रह सकता है? अर्थात् कोई भी ध्येयिन उग बात का स्वीकार नहीं करेगा और यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा २३५ की टीका में व्यवहाराचार' गुण का उद्धरण देकर व्यवहारमम्यक्चारित्र को तब तक अमृतकुम्भ कहा है जब तक जीव ने निश्चयमम्यकचारित्र की प्राप्ति नहीं हो जानी है और भगवान् मुन्दमुन्द ने उमा व्यवहारमम्यक्चारित्र को तब विष्कुम्भ की उपमा दे दी है जब जीव का निश्चयसम्यक्चारित्र की उपलब्धि हो जाती है।" उग तरह यह बात निर्णीत हो जाती है कि जब तक जीव को निश्चय मम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं हो जाती है तब तब मोक्षप्राप्ति के उद्देश्य में परंपरया मोक्ष के कारणभूत व्यवहारसम्यक्चारित्र की नियम ग उपयोगिता है लेकिन तभी तक व्यवहारमम्यक्चारित्र की उपयोगिता है जब तक जीव को निश्चयमम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं हो जाती है, आगे नहीं।

अब आगे इस बात पर विचार किया जाता है कि आगम में निश्चय मोक्षमार्ग को जो भूतार्थ, मदभूत, वास्तविक या सत्यार्थ आदि नामों से पुकारा जाता है और व्यवहार मोक्षमार्ग को जो अभूतार्थ, अगदभूत, अवास्तविक या असत्यार्थ आदि नामों से पुकारा जाता है तो उगमें आगम का अभिप्राय क्या है?

आगम में निश्चय मोक्षमार्ग को जो भूतार्थ आदि नामों से पुकारा जाता है इसमें आगम का अभिप्राय इतना ही लेना चाहिये कि निश्चय मोक्षमार्ग की इगते भाग्यात् कारणता का बोध हो जाता है और चूँकि मोक्ष की साक्षात् कारणता का व्यवहार मोक्षमार्ग में अभाव पाया जाता है कारण कि उगमें तो परंपरया ही कारणता पायी जाती है अतः उसे अभूतार्थ आदि नामों से पुकारा जाता है, लेकिन उगका यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिये कि "व्यवहार मोक्षमार्ग की मोक्ष की प्राप्ति में कुछ भी उपयोगिता नहीं है वह तो उहा पर मर्यादा अकिञ्चित्कर ही है", कारण कि पूर्वोक्त प्रकार से व्यवहार मोक्षमार्ग मोक्षप्राप्ति में परंपरया कारण नियम से होता है। उग तरह व्यवहार मोक्षमार्ग में मोक्षप्राप्ति की साक्षात् कारणता का अभाव रहने में जहा अभूतार्थता आदि धर्म मिष्ट होते हैं वहा उसमें मोक्षप्राप्ति की परंपरया कारणता का सम्भाव रहने से भूतार्थता आदि उर्म भी मिष्ट होने हैं। इस तरह कहना चाहिये कि निश्चय मोक्षमार्ग तो सर्वथा भूतार्थ आदि है क्योंकि उसमें मोक्ष की साक्षात् कारणता विद्यमान है और व्यवहार मोक्षमार्ग कश्चित् भूतार्थ आदि है क्योंकि उगमें मोक्ष की परंपरया कारणता विद्यमान है और कश्चित् अभूतार्थ आदि भी है क्योंकि उगमें मोक्ष की साक्षात् कारणता का अभाव है। इस तरह उमें सर्वथा अभूतार्थ तो नहीं माना जा सकता है कारण कि जत्र पूर्वोक्त प्रकार से व्यवहारमम्यक्चारित्र का सम्भाव १० वें गुणस्थान तक मानना अनिवार्य है, ११ वें और १२ वे गुणस्थान में ही निश्चय सम्यक् चारित्र की उपलब्धि जीव को हो सकती है तो उमें मोक्ष का सर्वथा अकारण कैसे माना जा सकता है? जिसे कि इमे मंत्रया अभूतार्थ आदि माना जा सके।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि मोक्षप्राप्ति के साक्षात् कारणभूत निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति किसी भी जीव को व्यवहार मोक्षमार्ग को अपनाये बिना संभव नहीं है। अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिये

१. अपटिकमण अपरिसरण अप्पटिहारो अधारणा चेव । अणियत्तो य अणिवासरहासोहीय विसकुभो ॥१॥

पटिकमण परिसरण परिहारो धारणा णियत्तो य । णिवा गरहा सोही अट्टविहो अमयकुभो दु ॥२॥

(व्यवहाराचार सूत्र)

२. पटिकमण पडिसरण परिहारो धारणा णियत्तो य । णिवा गरहा सोही अट्टविहो होई विसकु भो ॥३०६॥

अपटिकमण अपटिसरण अप्पटिहारो अधारणा चेव । अणियत्तो य अणिवासरहासोही अमयकुभो ॥३०७॥

(समयसार)

प्रत्येक जीव जो ह् हात्त मे व्यवहार भोजमार्ग को ग्रहणाना ही होगा ।

इसना स्पष्टीकरण हो जाने के बाद जो व्यक्ति व्यवहार भोजमार्ग को समार का कारण मानने है वे बहुत भागी भूल वर्त्तने है काग मसार के मुख्य वाग तो मोहनीय कर्म के उदय मे होने वाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारिण ही हैं तथा व्यवहार अर्थात् क्षायोपगमिक भोजमार्ग मे देशपाती प्रकृतियों का उदय विद्यमान रहता है वह यद्यपि समार का वाग होता है त्वेति उनमे (क्षायोपगमिक माक्ष मार्ग मे) जितना अय यथाविधि उपगम ग अय के रूप में सर्वधानी कर्म के उदयाभाव रूप रहा करता है वह कभी समार का कारण नहीं होता है ।^१ यही वाग है कि देशपाती प्रकृति के प्रभाव ने ऐसा जीव मर कर उत्तम गति मे हो जन्म लिया करता है^२ और परंपरया उप देशपाती प्रकृति के प्रभाव से समाप्त कर्मे माक्ष भी प्राप्त क लेता है ।^३

निश्चय भोजमार्ग की मर्या भूतार्थना और व्यवहार भोजमार्ग की कयचित् भूतार्थना और कयचित् अभूतार्थना की मिद्धि मे एक तर्क यह भी है कि निश्चय भोजमार्ग सर्वथा वन्ध का अकारण है जबकि व्यवहार भोजमार्ग पूर्वोक्त प्रकार ने कयचित् वन्ध का अकारण है और कयचित् वन्ध का कारण भी है अत मुक्ति का मर्या कारण होने मे निश्चय भोजमार्ग को सर्वथा भूतार्थ आदि रहता उचित है और कयचित् वन्ध का कारण तथा कयचित् वन्ध का अकारण होने से अब व्यवहार भोजमार्ग मे कयचित् समार की कारणता और कयचित् मुक्ति की कारणता मिद्ध हो जाती है तो एक प्रकार मे उसे मुक्ति की कयचित् अकारणता के आधार पर कयचित् अवान्मविक या अभूतार्थ आदि मानना तथा मुक्ति की कयचित् कारणता के आधार पर कयचित् वान्मविक या भूतार्थ आदि मानना ही उचित है । उसे सर्वथा अभूतार्थ मानना तो विन्कुट अनुचिन् है क्योंकि सर्वथा अभूतार्थना तो समार के सर्वथा कारणभूत या भोज के सर्वथा अकारणभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारिण मे मिद्ध होना है । यदि व्यवहार अर्थात् क्षायोपगमिक भोजमार्ग मे मर्या अभूतार्थना स्वीकार की जायगी तो फिर उसका मिथ्यादर्शनादि की अपेक्षा भेद ही क्या रह जायगा ? अर्थात् कुछ भेद नहीं रह जायगा ।

करणानुयोग में निश्चय और व्यवहार शब्दों का अर्थ

इस लेख के आरम्भ मे हम कह आये है कि ऋगानुयोग वद है जिसमे जीवों की पाप, पुण्य, और धर्म-मय परिणामियों तथा उनके कारणों का विवेचन किया गया है और आगे चल कर एक स्थान पर हम यह भी कह आये है कि आत्मा का स्वभाव जाग्रत्पना अर्थात् विष्व के समस्त पदार्थों को देखने-जानने की शक्ति रूप है । प्रकृत मे जो कुछ विवेचन किया जाना है वह सब इससे आधार पर ही किया जाना है ।

उपदुर्गत प्रकार जाग्रत्पना आत्मा का स्वप्न सिद्ध स्वभाव है । इसलिये इस आधार पर एक तो आत्मा का स्वप्न और अनादि-निघन अस्तित्व मिद्ध होना है, दूसरे जिस प्रकार आकाश अपने स्वप्न मिद्ध अवगाहक स्वभाव के आधार पर विष्व की सम्पूर्ण वस्तुओं को अपने उदर मे एक साथ हमेशा समाये हुए रह रहा है उसी प्रकार आत्मा को भी अपने स्वप्न मिद्ध जाग्रत् स्वभाव के आधार पर विष्व की सम्पूर्ण वस्तुओं को एक साथ हमेशा देखने-जानने रहना चाहिये, परन्तु जो जीव अनादि काग मे समार परिभ्रमण करते हुए अभी भी इसी चक्र मे फसे हुए हैं उन्होंने अनादि

१ येनाशेन मुदृष्टिस्तेनाशेनाम्य वधन नास्ति । येनाशेन तु राग तेनाशेनाम्य वधन भवति ॥२१२॥

येनाशेन ज्ञान तेनाशेनाम्य वधन नास्ति । येनाशेन तु राग तेनाशेनाम्य वधन भवति ॥२१३॥

येनाशेन चरित्र तेनाशेनाम्य वधन नास्ति । येनाशेन तु राग तेनाशेनाम्य वधन भवति ॥२१४॥

(पुरपार्थमिद्-मुपाय)

२ धम्मेण परिणश्या अप्पा जदि मुदमपयोगजुदो । पावदि णिव्वाणसुह मुहोवजुत्तो व सग्गमुह ॥११॥

अमुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवत्तेरडो । इक्खनहम्मेहि सदा अभिबुदो नमइ अच्चत्त ॥१२॥

(प्रवचनसार)

३ अममय नावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मवन्धो य । न विपक्षकृतोऽवश्य मोक्षोपायो न वन्धनोपाय ॥२६॥

(पुरपार्थमिद्-मुपाय)





काल से अभी तक न तो कभी विषय की गूढ़ वस्तुओं को एक साथ देखा-जाना है और न वे अभी भी उन्हें एक साथ देख जान पा रहे हैं। उनका ही नहीं, इन मसारी जीवों में एक तो तत्पर भाव में ज्ञान की मात्रा अल्प ही पायी जाती है दूसरे जितनी मात्रा में इनमें ज्ञान पाया जाता है वह भी इन्द्रियादिक अन्य साधना की अधीनता में ही हुआ करता है। एक बात और है कि ये समागे जीव पदार्थों को देखने-जानने के पश्चात् उन जाने हुए पदार्थों में उद्भय या अनिष्टपने की रचना रूप मोह किया करते हैं और तब वे दृष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों में प्रीतिरूप राग तथा अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों में अप्रीति (घृणा) रूप द्वेष गन्त किया करने हैं जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हें सतत दृष्ट कराना के विषयभूत पदार्थों की प्राप्ति में और अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की अप्राप्ति में तो हृष हुआ करता है तथा अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की प्राप्ति में और उद्भय कल्पना के विषयभूत पदार्थों की अप्राप्ति में विषाद हुआ करता है। यदि किन्हीं-किन्हीं जीवों को इन प्रकार में हर्ष और विषाद न भी हो, तो भी ऐसे जीव भी जब शरीर की अधीनता में ही रह रहे हैं और उनका अपना शरीर भी किन्हीं दूसरे पदार्थों की अधीनता स्वीकार किये हुए है तो ऐसी स्थिति में शरीर के लिये उपयोगी आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति व अप्राप्ति में अवशय शरीर के लिये पीडाकारक पदार्थों की अप्राप्ति व प्राप्ति में उन्हें भी भ्रम में मग्न व दुःख का संवेदन हुआ करता है। इनके अतिरिक्त सभी समागे जीव अनादि काल में अभी तक कभी देव, कभी मनुष्य, कभी निर्यच और कभी नारक भी हुए हैं। कभी ऐन्द्रिय, कभी द्वेन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय, कभी चतुरिन्द्रिय और कभी पचेन्द्रिय भी हुए हैं। इसी तरह कभी मनरहित असजी और कभी मनगर्हित सजी भी हुए हैं। इन्होंने कभी पृथ्वी का, कभी जल का, कभी तेज का, कभी वायु का और कभी वनस्पति का भी शरीर धारण किया है। हम यह भी देखते हैं कि एक ही श्रेणी के जीवों के शरीरों में भी परस्पर विलक्षणता पायी जाती है। गाय ही कोई जोन लोक में प्रभावशाली देखे जाते हैं और कोई जीव प्रभावहीन भी देखे जाते हैं। एक जीव में उच्चता का और एक जीव में नीचता का भी व्यवहार लोक में देखा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव को जन्म-मरण भी धारण करना पड़ रहा है।

यह मन क्यों हो रहा है? इसका समाधान आगम-ग्रन्थों में इस प्रकार किया गया है कि प्रत्येक मसारी जीव अपने स्वतः मित्र जानने-देखने के स्वभाव को न छोड़ते हुए भी अनादि राग में स्वर्ण-पाषाण की तरह पीदगलित कर्मों के नाश गम्बद्ध (मिथुन) यानी एकक्षेत्राग्रग्राही रूप में एकमेवपने की प्राप्ति हो रहा है।^१ ये कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के भेद में आठ प्रकार के आगम में वर्तकिय गये हैं।^२ आगम में यह भी बतलाया गया है कि ज्ञानावरण कर्म का कार्य जीव की जानने की शक्ति को आवृत करना है, दर्शनावरण कर्म का कार्य जीव की देखने की शक्ति को आवृत करना है, वेदनीय कर्म का कार्य जीव की पर पदार्थों के आधार पर यथायोग्य भ्रम और दुःख का संवेदन करना है, मोहनीय कर्म का कार्य जीव को पर-पदार्थों के आधार पर माही, रागी और द्वेषी बना कर उचित-अनुचित के भेद से रहित प्रवृत्तियों में व्यवहृत करना है, आयु कर्म का कार्य जीव की प्राप्ति शरीर में सीमित काल तक रोक रखना है, नाम कर्म का कार्य जीव को मनुष्यादि रूपता प्राप्त कराना है, गोत्र कर्म का कार्य कुल, शरीर और आचरण आदि के आधार पर जीव में उच्चता-नीचता का व्यवहार करना है और अन्तराय कर्म का कार्य जीव की स्वावलम्बन शक्ति का घात करना है।^३

करणानुयोग की व्याख्या यह है कि इन सब प्रकार के कर्मों को जीव हमेशा करने विचारी भावों (परिणामों)

१ पयडी सोल सहाचो जीवगाण अणाइ सबधो । कणयोवले मत्त वा ताणत्थित्त सय सिद्ध ॥२॥

(गो० कर्मकाण्ड)

२ णाणत्त दमणत्त य आवरण वेयणीय मोहणिय । आउगणाम गोदतरायमिदि अट्टपयडीओ ॥३॥

(गो० कर्मकाण्ड)

३ किस कर्म का क्या कार्य है? इसकी सामान्य जानकारी के लिये गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा १० से गाथा ३३ तक देखना चाहिये।

द्वारा वाचना^१ है और तब ये कर्म जीव के माथ बघ कर उसमे सीमित काल के लिये अपनी मत्ता बना लेते है तथा अन्य मे उदय मे जाकर अर्थात् जीव को अपना फलानुभव करा कर ये कर्म तो निर्जस्त हो जाते है^२ लेकिन उन फलानुभव मे प्रभावित होकर अपने मे उत्पन्न विकारी भावों द्वारा वह जीव दूसरे इमी तरह के नवीन कर्मों मे पुन बघ जाता है। ये कर्म उदय मे आकर अपना फलानुभव जिस रूप मे जीव को कराते है वह जीव का औद्योगिक भाव कहना है^३ क्योंकि जीव का उन रूप भाव उस कर्म का उदय होने पर ही होता है। अन्यथा नहीं। कदाचित् कोई जीव अपने मे मत्ता को प्राप्त यथायोग्य किमी कर्म को अपने पुण्याय द्वारा इस तरह अतिहीन बना देता है कि वह कर्म अपनी फलदानशक्ति को मुरझाते हुये भी जीव को एक अन्तःपूर्व के लिये फल देने मे अममर्थ हो जाता है, कर्म की उन अवस्था का नाम उद्यम है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे जीव का औद्योगिक भाव कहते है।^४ कदाचित् कोई जीव अपने पुण्याय द्वारा कर्म को सर्वथा अतिहीन बना देता है जिसमे वह कर्म उन जीव मे अपना सम्बन्ध नष्ट नमूल विच्छिन्न कर लेता है। कर्म की इन अवस्था का नाम क्षय है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे जीव का क्षयिक भाव कहते है।^५ इसी प्रकार कदाचित् कोई जीव अपना पुण्याय इस तरह करना है कि कर्म के कुछ उज (देवघाती रूप) तो उदय रूप रहें, कुछ अथ (मर्दघाती रूप) उदयाभावो क्षय रूप हो नावें और कुछ अथ (मर्दघाती रूप) मर्दवस्था रूप उद्यम की स्थिति को प्राप्त हो जावें तो इनका नाम कर्म की क्षयोद्यम अवस्था है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे जीव का क्षयोपशमिक भाव कहते है^६। क्षयोपशमिक भाव का अपर नाम मिथ भाव भी है।

इस प्रकार कहना चाहिये कि कर्मों के यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम होने पर जीव की अवस्थायें भी उद्यम, औद्योगिक, क्षयिक और क्षयोपशमिक रूप हो जाया करती है^७ अब इनमे यदि कारणता की व्यवस्था की जाय तो कहा जा सकता है-जीव को इन औद्योगिकादि अवस्थाओं की उत्पत्ति मे कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओं के आधार पर व्यवहार कारण होता है और जीव स्वयं निश्चय कारण है। जैसा कि नवचक्र की निम्न-लिखित गाथा से स्पष्ट होता है -

“बधे ख मोक्षहेऊ अणो व्यवहारदो य पायव्वो ।
निच्छयदो पुण जीवो भणिदो खलु सब्बदरितीह ॥२३५॥

अर्थात् बन्ध और मोक्ष मे अन्य अर्थात् कर्म अपनी यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम रूप अवस्थाओं के आधार पर व्यवहार रूप मे कारण होता है और जीव निश्चय रूप मे कारण होता है।

यहाँ पर “कर्म व्यवहार रूप मे कारण होता है” इसका अभिप्राय यह है कि कर्म निमित्त या महायत्न रूप से कारण होता है और “जीव निश्चय रूप से कारण होता है” इसका अभिप्राय यह है कि जीव उपादान रूप मे कारण होता है। इस प्रकार कहना चाहिये कि उक्त गाथा द्वारा कर्म मे जीव के बन्ध और मोक्ष की उत्पत्ति के प्रति यथा-

१ जीवपरिणामहेतु कम्मस पुग्गला परिणमति । पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवोऽपि परिणमइ ॥८०॥

(समयसार)

२ विपाकोऽनुभव ॥८-२१॥ स यथानाम ॥८-२२॥ ततश्च निर्जरा ॥८-२३॥ (तत्त्वार्थ सूत्र)

३ कर्मणामुदयाद्य स्याद् भावो जीवस्य सत्तुनी । नाम्नाप्यौदयिकान्तर्यात्पर वग्राधिकारवान् ॥२-६७॥ (पञ्चाध्यायी)

४ कर्मणा प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमत्वम् । यो नात्र प्राणिना स स्यादौपशमिरुसन्नक ॥२-६८॥ (पञ्चाध्यायी)

५ यथास्व प्रत्यनीकानां कर्मणा मर्दत क्षयात् । जातो य । क्षायिको नाव शुद्ध स्वभावोऽस्यस ॥२-६९॥

(पञ्चाध्यायी)

६ यो नाव मर्दतो घातिस्पर्धनानुदयोद्भव । क्षायोपशमिक स स्यादुदयाद्देशयातिनाम् ॥२-६६॥ (पञ्चाध्यायी)

७ तत्रोपशमिको नाम नाव स्यान् क्षायिकोऽपि च । क्षायोपशमिकश्चेत् नावोप्यौदयिकोऽस्तु नु ।

॥६६२॥ (पञ्चाध्यायी)





योग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के आधार पर निमित्त कारणता का मद्भाष मित्र होता है तथा जीव स्वयं में अपने उस वन्ध और मोक्ष के प्रति उपादान कारणता का मद्भाष मित्र होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कर्म की उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम रूप अवस्थाएँ होती हैं तब जीव अपनी योग्यता के अनुसार क्रमशः औदयिक औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक अवस्थाओं के रूप में अपनी परिणति बना लेता है। यानी जीव उन औदयिकादि परिणतियों के रूप में परिणत हो जाता करता है, कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओं के आधार पर आत्मा की उन अवस्थाओं की उत्पत्ति में महायक मात्र हुआ करता है।^१ अर्थात् कर्म की कोई परिणति वहाँ पर जीव की परिणति बन जाती हो — ऐसी बात नहीं है।

“उपादीयत अनेन” इस विग्रह के आधार पर ‘उप’ उपसर्ग पूर्वक आदानार्थक “आ” उपसर्ग निमित्त ‘दा’ धातु से कर्ता के अर्थ में ‘ल्युट्’ प्रत्यय होकर उपादान शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ यह होता है कि जो कार्य रूप परिणत हो उसे उपादान कहते हैं।^२ इसी प्रकार “निमेद्यनि” इस विग्रह के आधार पर ‘नि’ उपसर्ग पूर्वक स्नेहार्थक ‘मिद्’ धातु से कर्ता के अर्थ में ‘क्त्’ प्रत्यय होकर निमित्त शब्द निष्पन्न हुआ है। मित्र शब्द भी इसी स्नेहार्थक ‘मिद्’ धातु से ‘क्’ प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस तरह कहना चाहिये कि जो मित्र के समान उपादान का स्नेहन करे अर्थात् उपादान को उसकी अपनी परिणति में मित्र के समान महयोग प्रदान करे वह निमित्त कहलाता है।

यद्यपि यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपादान स्वयं के कार्य रूप परिणत होने के कारण “स्वाश्रितो निश्चय”^३ इस आगमवाक्य के अनुसार उसे कार्य का निश्चय कारण मानना उचित है और कार्यरूप परिणत न होकर उपादान को उसकी अपनी कार्यरूप परिणति में सहयोग गाय देने के कारण “पराश्रितो व्यवहार”^४ इस आगम वाक्य के अनुसार निमित्त को कार्य का व्यवहारकारण मानना उचित है, परन्तु गाय ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उपादान और निमित्त दोनों कारणों में निश्चयकारणता और व्यवहारकारणता का अन्तर रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति में दोनों ही कारण उपयोगी सिद्ध होते हैं। इसलिये जिस प्रकार उपादान कारण को निश्चय कारण के रूप में भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ कहा जाता है उसी प्रकार निमित्तकारण को भी व्यवहार कारण के रूप में भूतार्थ, नद्भूत, वास्तविक या सत्याय कहा जाना अयुक्त नहीं है क्योंकि जिस प्रकार उपादान का कार्यरूप परिणत होना वास्तविक है उसी प्रकार निमित्त का उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायक होना भी वास्तविक है। इसी बात अवश्य है कि चूँकि निमित्त उपादान की तरह कार्यरूप परिणत नहीं होना अतः इस दृष्टि में उसमें यदि अभूतार्थता आदि धर्मों का सद्भाव माना जाय तो यह भी असंगत नहीं है। इस प्रकार कहना चाहिये कि उपादान चूँकि कार्यरूप परिणत होता है इसलिये सर्वथा भूतार्थ आदि है और निमित्त चूँकि कार्यरूप परिणत नहीं होता इसलिये तो कथञ्चित् अभूतार्थ आदि है लेकिन उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायक होना है अतः कथञ्चित् भूतार्थ आदि भी है। अतः जो व्यक्ति निमित्त को कार्यरूप परिणति में सर्वथा अकिञ्चित्कर मानकर उसे सर्वथा अभूतार्थ आदि मान लेना चाहते हैं उनका यह प्रयास गलत ही है।

अनुभव में यह बात आती है कि उपादान की कार्यपरिणति में निमित्त के सहयोग की अनिवार्य रूप में सर्वदा अपेक्षा रहा करती है और प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जब तक उपादान को आवश्यकतानुसार स्वाभाविक रूप से अथवा पुरुषकृत प्रयत्न द्वारा निमित्त का सहयोग प्राप्त नहीं होता है तब तक उपादान कार्यरूप परिणत नहीं होता है। इसका अभिप्राय यह है कि निमित्त उपादान में कार्योत्पत्ति के लिये उसकी कार्योत्पत्ति न हो सकने रूप असामर्थ्य

१ परिणममानस्य चित्तश्चिदात्मकं, स्वयमपि स्वकर्मभिर्वा ।

मयति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥ (पुरुषार्थसिद्धमुपाय)

२ समयसार गाथा ८६ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा “य परिणमति स कर्ता” आदि पद्यों द्वारा यही आशय व्यक्त किया गया है।

३ ४ देखो समयसार गाथा २७३ की समयसार टीका।

का निग्रम में भेदन करने वाला है। आगम में भी इन बातों को स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि निमित्त कार्योत्पत्ति में यदि उपादान की कार्योत्पत्ति न हो सकने रूप असामर्थ्य का भेदन नहीं करता है तो फिर उसे निमित्त कहना ही असत्य होगा।^१ उदाहरण जो महानुभाव कहते हैं कि "कार्य तो उपादान स्वयं अपनी सामर्थ्य में ही उत्पन्न कर लेता है उसमें उसका निमित्त के महयोग की विलक्षण अपेक्षा नहीं रहती है, वह तो वही पर सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है," ना उनका ऐसा कहना गलत ही है। साथ ही जो व्यक्ति व्यवहारविमूढ होकर ऐसा कहते हैं कि "निमित्त अपने स्वयं का समर्थन कार्य में करता है" तो उनका ऐसा कहना भी गलत है। कारण कि निमित्त यदि कार्य में अपना रूप समर्थन करने लग जाय तो फिर निमित्त में उपादान की अपेक्षा अन्तर ही क्या रह जायगा? अर्थात् ऐसी स्थिति में निमित्त स्वयं ही उपादान बन जायगा और तब उसे निमित्त कहना ही असंगत होगा। वेदान्त और चार्वाक दर्शनों में यही बात बतलायी गयी है कि वेदान्त के मतानुसार चित्त में अचित्त की उत्पत्ति होती है और चार्वाक के मतानुसार अचित्त में चित्त की उत्पत्ति होती है अर्थात् वेदान्त चित्त को अचित्त का और चार्वाक अचित्त को चित्त का उपादान कारण मानते हैं। जैनदर्शन इन दोनों ही मान्यताओं का खण्डन करता है कारण कि जैनदर्शन का यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्य सभी दूसरे द्रव्य पणित नहीं होता और न सभी एक द्रव्य के गुणधर्म ही किन्ती अन्य द्रव्य में सम्मिलित होते हैं।^२ लेकिन वेदान्त और चार्वाक की उक्त मान्यताओं का खण्डन करता हुआ भी जैनदर्शन चित्त को अचित्त की परिणति में तथा अचित्त को चित्त की परिणति में निमित्त कारण अवश्य मानता है।^३ यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समय-मर में इन दोनों बातों का विम्वार में विवेचन किया है। अर्थात् समयमर में स्थान-स्थान पर यही बात देखने को मिलती है कि उसमें जहाँ एक वस्तु में दूसरी वस्तु की उपादानकारणता के सम्बन्ध का दृष्टा के माय निषेध किया गया है वहाँ उनकी ही दृष्टा के माय एक वस्तु में दूसरी वस्तु की निमित्तकारणता का समर्थन भी किया गया है और यह बात हम पूर्व में स्पष्ट ही कर चुके हैं कि निमित्तकारणता उपादानकारणता के रूप में अनुभूत, अनुभूत, अवाम्ब-विक और अनुभूत होते हुए भी स्वयं अपने रूप में तो वह भूतार्थ, अनुभूत, वास्तविक और नित्यार्थ ही है। यही कारण है कि आचार्य विद्यानान्द ने तत्त्वार्थसंग्रह-वार्तिक में तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के सूत्र ७ की व्याख्या करते हुए वार्तिक-श्लोक १३ के अन्तर्गत पृष्ठ ५७ पर महकामी (निमित्त) कारण की उपादान की कार्यपरिणति में महकारिता रूप में पारमार्थिकता (वास्तविकता) का स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है।^४

यहाँ पर उपादान कारणता और निमित्त कारणता के स्वरूप का, उनकी क्रम में निश्चयरूपता और व्यवहाररूपता का एक दोनों की अपने-अपने रूप में वास्तविकता का जो विन्नेषण किया गया है, उसका प्रकृत में उपादान यह है कि जीव की पूर्वजन्म औद्योगिक, औद्योगिक, आर्थिक और आधोपार्थिक परिणतियों के प्रति कर्म में

१ तदसामर्थ्यमप्यण्डवदकिंचित्कर कि सहकारिकारण स्यात् ?

(आप्तमीमासा कारिका १० की अष्टशती टीका)

२ जो जन्मि गुणे दब्बे नो अणमिह दु ण मकमदि दब्बे ॥ (ममयसार गाथा १०३ का पूर्वार्द्ध)

३ जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपञ्च पुनरन्ये । स्वयमेव परिणमन्ते पुद्गला कर्मभावेन ॥१२॥

परिणममानस्य चित्तश्चिदात्मकं स्वयमपि स्वकर्मवि ।

भवति हि निमित्तमात्र पीद्गनिक कर्म तस्यापि ॥१३॥ (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

४ जीवपरिणामहेतु कम्मत्त पुगला परिणमन्ति । पुगलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥

ण वि कुव्वइ कम्ममुणे जीवो कम्म तहेव जीवमुणे । अणोणणिमित्तेण दु परिणामजाण दोण्ह पि ॥८१॥

(समयसार)

५ क्रमभुक्त्वा पर्यागोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनान् न चैवविध कार्यकारणभाव सिद्धान्तविरुद्ध ।

महकारिणकारणेन कार्यस्य च तत्त्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् ? कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धि ।

यदनन्तरं हि यदवश्य भवति तत्तस्य कारण भिन्नकार्यमिति प्रतीतम् । तदेव व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारण-भावो द्रिष्ट सम्बन्ध यदयोग-यमवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव, न पुन कल्पनारोपित सर्वथाप्यन-वद्यत्त्वान् ।





जो उदयादिक के आधार पर कारणता विद्यमान है वह तो व्यवहार रूप से अर्थात् निमित्तरूप से है और जीव स्वयं में उन औदयिकादि परिणतियों के प्रति जो कारणताये विद्यमान हैं वह निश्चयरूप से अर्थात् उपादान रूप से है तथा साथ ही ये दोनों ही कारणतायें अपने-अपने रूप में भूतार्थ, मदभूत, वास्तविक और सत्यार्थ ही हैं क्योंकि जिस प्रकार उक्त औदयिकादि परिणतियों के प्रति जीव स्वयं की उपादानकारणता पूर्वोक्त प्रकार से कल्पनारोपित नहीं है उसी प्रकार जीव की उन औदयिकादि परिणतियों के प्रति अपनी उदयादि परिणतियों के आधार पर सहायोगी होने के कारण कर्म में विद्यमान निमित्तकारणता भी कल्पनारोपित नहीं है। इतना अवश्य है कि चूँकि उपादान कारण होने के सबब जीव ही कार्यरूप परिणत होता है इसलिये उपादान कारणता तो सर्वथा भूतार्थ आदि है, लेकिन निमित्त कारण होने के सबब चूँकि कर्म स्वयं कार्यरूप परिणत नहीं होता इसलिये तो वह कथञ्चित् अभूतार्थ आदि है फिर भी उपादान भूत जीव की कार्यभूत औदयिकादि परिणतियों में अपनी उदयादिपरिणतियों के आधार पर सहायक अवश्य होता है अतः वह सहायकपने की अपेक्षा कथञ्चित् भूतार्थ आदि भी है।

यहाँ पर इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जीव की औदयिकादि परिणतियों के प्रति जो कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता है वह उसकी उदयादि परिणतियों को छोड़कर और कुछ नहीं है अर्थात् कर्म का उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम रूपसे परिणत होना ही जीव की औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणतियों के प्रति कर्म की क्रमशः निमित्तकारणता है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि कर्म की उदयादिक परिणतियाँ अलग हैं और जीव की औदयिकादि परिणतियों के प्रति उसमें (कर्म में) विद्यमान निमित्तकारणता अलग है। इसीलिये यदि इस तरह से विचार किया जाय तो कर्म की उदयादिक परिणतियाँ उसकी अपनी स्वाश्रित या स्वात्मभूत परिणतियाँ होने के कारण जहाँ “स्वाश्रितो निश्चय” इस आगमवाक्य के आधार पर उसके निश्चय धर्म हैं वहाँ कर्म की वे ही परिणतियाँ जीव की औदयिकादि परिणतियों के प्रति यथायोग्य रूप में निमित्तकारणता का रूप धारण कर लेने से “पराश्रितो व्यवहार” इस आगम वाक्य के आधार पर निमित्तकारणता के रूप में उसके व्यवहार धर्म भी हैं। अब ऐसी हालत में भी यदि निमित्तकारणता की भूतार्थता आदि के विषय में विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलना है कि जीव की औदयिकादि परिणतियों के प्रति कर्म में विद्यमान निमित्तकारणता जहाँ उस कर्म की उदयादि परिणतियों के रूप में भूतार्थ, सदभूत, वास्तविक या सत्यार्थ धर्म हैं वहीं उसका कर्म में उदयादि परिणतियों से पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व न रहने के कारण वह कर्म का अभूतार्थ, असदभूत, अवास्तविक या असत्यार्थ धर्म भी है। इस तरह से भी जीव की औदयिकादि परिणतियों के प्रति कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता उस कर्म का कथञ्चित् वास्तविक और कथञ्चित् अवास्तविक धर्म ही सिद्ध होती है। गये के सींग की तरह उसे सर्वथा अभूतार्थ आदि के रूप में कदापि नहीं माना जा सकता है।

इस कथन का निचोड़ यह है कि जीव की जो औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप परिणतियाँ हुआ करती हैं वे सब परिणतियाँ जीव की अपनी ही परिणतियाँ हैं इसलिये जीव इन परिणतियों का उपादान कारण या निश्चय कारण होता है। साथ ही ये सभी परिणतियाँ क्रमशः कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के होने पर ही होती हैं इसलिये कर्म जीव की इन औदयिकादि परिणतियों का अपनी उदयादिक परिणतियों के आधार पर निमित्तकरण या व्यवहार कारण होता है। चूँकि कर्म के उदयादिक के अभाव में जीव की ये औदयिकादि परिणतियाँ कदापि नहीं होती हैं अतः कर्म को जीव की इन परिणतियों में अकिञ्चित्कर या निरूपयोगी मानना मिथ्या है और चूँकि कर्म की कोई परिणति कदापि जीव की परिणति नहीं बनती है इसलिए कर्म को जीव की औदयिकादि परिणतियों का उपादान कारण या निश्चय कारण मानना भी मिथ्या है।

इस प्रकार अब तक के विवेचन में यह बात अच्छी तरह समझ में आ जानी चाहिये कि चरणानुयोग के प्रकरण में मोक्षकार्य की दृष्टि में जो निश्चय मोक्ष मार्ग और व्यवहार मोक्ष मार्ग का क्रम किया गया है वह कथन निश्चय और व्यवहार शब्दों के आधार पर क्रमशः निश्चय मोक्ष मार्ग में मोक्ष की माझात् कारणता के और व्यवहार मोक्ष मार्ग में मोक्ष की परपरया कारणता के अस्तित्व का ही बोध कराता है। इसी प्रकार वहाँ पर जो निश्चय मन्मन्द्शन, निश्चय सम्मन्द्शन और निश्चय सम्मन्द्धारित्र का तथा व्यवहार मन्मन्द्शन, व्यवहार सम्मन्द्शन, और व्यवहार

मन्मक्चारित्र का कथन किया गया है यह कथन भी निश्चय और व्यवहार शब्दों के आधार पर त्रयम निश्चय सम्यग्दर्शनादि में तो कथनों के और व्यवहार मन्मग्दर्शनादिक में कारणों के जन्मत्व का ही बोध कराता है । इसके अतिरिक्त कानुयोग के प्रकरण में जीव के बन्ध और मोक्षरूप अथवा जीव की जोदधिकारि परिणति रूप कार्य की दृष्टि में जो नयन की उपायों का उद्देश्य भी गाया के अनुगम निश्चय का और व्यवहार कारणों के रूप में दो कारणों का कथन किया गया है वह कथन निश्चय शब्द के आधार पर जीव स्वयं में उपादान कारणों के और व्यवहार शब्द के आधार पर कर्म में उपायोग उदादि रूप में निमित्तकारणता के जन्मत्व का ही बोध कराता है । अब आगे हम इस विषय पर विचार करना चाहते हैं कि द्रव्यानुयोग में निश्चय और व्यवहार शब्दों का क्या अर्थ ग्रहण किया गया है ।

द्रव्यानुयोग में निश्चय और व्यवहार शब्दों का अर्थ

नेत्र के प्रारम्भ में हमने यह भी कहा है कि द्रव्यानुयोग वह है जिसमें विन्व की संपूर्ण वस्तुओं के पृथक्-पृथक् जन्मत्व को वस्तुनेवाले स्वन मिद स्वहन एव उनके परिणामों का विवेचन किया गया है । यहाँ प्रकृत विषय पर हमें दो आश्चर्यजनक विचार मिल जा रहा है ।

जैनागम में बताया गया है कि पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी स्वतन्त्र सद्रूपता ही वस्तु का लक्षण है । प्रत्येक वस्तु की यह सद्रूपता स्वतन्त्र नहीं मानी जा सकती है जबकि वह स्वतन्त्र मिद हो, अतः कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी सद्रूपता स्वतन्त्र मिद है और तब प्रत्येक वस्तु की सद्रूपता स्वतन्त्र मिद है तो इस आधार पर प्रत्येक वस्तु में निमित्तगिद्धि चार विवेचनाएँ बनाया हो जानी ह ।

प्रत्येक वस्तु जनादि है (जनादि शब्द में रहनी या रही है), अनश्वित है (अनल काल तक रहने वाली है), स्वाश्रित है, (स्वावस्थानपूर्ण है) और अश्वगड है (अपने-अपने स्वरूप के नाम तादात्म्य को छोड़कर है) । इस विषय को पचाध्यायी में निम्नलिखित प्रकार में स्पष्ट किया गया है-

‘तत्त्व मन्माक्षणिक सम्मात्र वा यत् स्वतः सिद्धम् ।

सम्मादनादि-निघन स्वमहाय निश्चित्य च ॥८॥’

इस प्रकार विद्वत् में अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र सद्रूपता को प्राप्त संपूर्ण वस्तुओं की मन्माअनन्ता-नन्त है । इनमें भी तीनों की मन्मा अनन्तान्त है, पुद्गल जीवों की मन्मा में भी अनन्तान्त गुण हैं, का अमर्याद है और त्रय, अघर्म तथा आकाश एक-एक है ।^१ इस प्रकार के सभी अनन्तान्त वस्तुओं नामान्वयत्व में जीव, पुद्गल, अघर्म, अमर्य, आकाश और शाल नाम के छह द्रव्य प्रकारों में समाविष्ट होती हैं ।^२

प्रत्येक वस्तु में अपने-अपने पृथक् पृथक् अनन्तघर्म विद्यमान हैं । इन्हें गुण या स्वभाव भी कहते हैं ।^३ वस्तु का जो एक गुण है वह उसका सभी अन्य गुण नहीं हो सकता है । इस तरह प्रत्येक वस्तु में गुणों की सन्ना जनन ही मिद होती है ।^४

१ जीवद्रव्याणि तावदनन्तान्तानि, पुद्गलद्रव्याणि च ततोऽप्यनन्तान्तानि-अणुक्लृप्तेभ्यो भिन्नानि, धर्माप्रमाणाशानि शोणि, दातादचामह्येया । (सर्वविमिद्धि टीका-१- ७६)

२ अजीवकाया धर्माप्रमाणाशपुद्गला ॥५-१॥ द्रव्याणि ॥५-२ जीवाश्च ॥५-३॥, कालश्च ॥५-३॥

(तत्त्वार्थसूत्र)

३ शक्तिर्लक्ष्म विदोषो धर्मा रूप गुण स्वभावश्च ।

प्रकृति शीन चाकृतिरेतर्थावकाशो अमी शब्दा ॥१-८८॥ (पचाध्यायी)

४ देशम्येना शक्तिर्मा काचित्मा न शक्तिरस्या स्यात् ।

कननो धिनवर्माणा नवन्यनन्ताश्च शक्तयो व्यक्ता ॥१-४६॥

एव य दोषि गुण नोऽपि च न म्यात्तन्यत्पो वा ।

स्वयमुच्छन्ति तदिमा मियो विनिन्ताश्च शक्तयोऽनन्ता ॥१-५२॥ (पचाध्यायी)

प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक गुण परिणमन क्षील है^१ इस प्रकार सभी वस्तुओं की निम्न प्रकार स्थिति निश्चित होती है ।

“वस्तु की आकृति (प्रदेशवत्ता रूपा द्रव्यरूपता), वस्तु की प्रकृति (स्वभाववत्ता रूप गुरुरूपता और वस्तु की तथा वस्तु के प्रत्येक गुण की विकृति (परिणामवत्तारूप पर्यायरूपता) ।”

इस तरह कहना चाहिये कि द्रव्यानुयोग में द्रव्यरूपता के साथ-साथ वस्तु की अनन्त द्रव्यपर्यायों तथा वस्तु के अनन्त गुणों और उन गुणों में प्रत्येक गुण की अनन्तगुणपर्यायों के रूप में वस्तु का जैनागम में विवलेपण किया गया है ।^२

प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी उक्त प्रकार की द्रव्यरूपता और गुणरूपता दोनों ही शाश्वत (स्थायी) हैं तथा पर्यायरूपता समय, आवृत्ति, मुहूर्त, घड़ी, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि के रूप में विभक्त होकर अशाश्वत (अस्थायी) हैं । इस तरह प्रत्येक वस्तु को जैनागम में सत् मानते हुए भी उस सत्ता को उत्पाद, व्यय और ध्रुव्यत्मक स्वीकार किया गया है ।^३ अर्थात् जैनागम में प्रत्येक वस्तु में द्रव्य पर्यायों और गुण पर्यायों के रूप में तो उत्पाद तथा व्यय और द्रव्यत्व और गुणत्व के रूप में ध्रुव्य का सद्भाव स्वीकार किया गया है ।

परिणमन करते हुए भी प्रत्येक वस्तु की द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता प्रतिनियत है । अर्थात् परिणमन में वस्तु न तो अपने अस्तित्व (सद्रूपता) को छोड़ती है और न ही एक वस्तु की अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता कभी अन्य वस्तु की द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता बन सकती है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि परिणमन करते हुए भी वस्तु न तो कभी सर्वथा नष्ट हो सकती है और न वह कभी अन्य वस्तु रूप में परिणमती है ।

इस प्रकार जीव परिणमन करते हुए भी एक तो कभी सर्वथा नष्ट नहीं हो सकता है और न ही वह कभी अन्य द्रव्यरूप परिणत हो सकता है, वह हमेशा से जीव ही रहा आया है, जीवही है और जीव ही रहेगा । यही व्यवस्था पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी द्रव्यों में समक्षता चाहिये । इतना ही नहीं, एक जीव कभी दूसरे

१ वस्त्वस्ति स्वत सिद्ध यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि । (पञ्चाध्यायी १-८६ का पूर्वार्द्ध)

वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि । (पञ्चाध्यायी १-११२ पूर्वार्द्ध)

२ अत्यो सत्तु द्रव्यमयो द्रव्याणि गुणरूपगणि भण्डाणि । तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥१॥

(प्रवचनसार श्रौतत्वाधिकार)

इह हि किल य कश्चन परिच्छिद्यमान पदार्थ स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यमय । द्रव्याणि तु पुनरेकाग्रविस्तारायतविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वात्-गुणात्मकानि । पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उपलक्षणैर्गर्ध्वैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि ।

(प्रवचनसार श्रौतत्वाधिकार गाथा १ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र)

३ सद् द्रव्यलक्षणम् ॥५-२६॥ उत्पादव्ययध्रुव्ययुक्त सत् ॥५-३०॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

वस्त्वस्ति स्वत सिद्ध यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि ।

तस्मादुत्पादस्थितिभगमय तत्सदेतदिह नियमात् ॥१-८६॥

जैनाना मतमेतन्मित्यान्तित्यात्मक यथा वस्तु ।

क्षोयास्तथा गुणा अपि नित्यान्तित्यात्मकास्तदेकत्वात् ॥१-१०८॥

ज्ञान परिणमति यथा घटस्य चाकारत पटाकृत्या ।

किं ज्ञानत्व नष्ट न नष्टमिति चेत्कथं न नित्य स्यात् ॥१-११०॥

वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि ।

तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणाना तु ॥१-११२॥ (पञ्चाध्यायी)

जीव रूप परिणत नहीं होता, एक पुद्गलाणु कभी दूसरा पुद्गलाणु नहीं बनता और एक कालाणु कभी दूसरा कालाणु नहीं हो जाता। इनका अर्थ है कि सभी वस्तुयें यथायोग्य एक-दूसरी वस्तु के साथ मयुक्त होकर ही रह रही हैं।^१ उनके अनिश्चित जीवों और पुद्गलों में ऐसी स्वन मिश्र (स्वाभाविक) वैभाविकी शक्ति नाम की विशेषता विद्यमान है कि जिसके आधार पर सभी जीव अनादि काल में यथायोग्य पुद्गलों के साथ मयुक्त (मिश्रित) यानी एक अभाव-गाही रूप में एकमेक-दूसरे को प्राप्त रहे हैं। उनमें से बहुत से जीवों ने यद्यपि पुद्गलों के साथ विद्यमान अपनी अनादि कालीन उस बढ़ता (मिश्रण) को समाप्त कर दिया है, परन्तु उनमें अनन्तगुण जीव अभी भी उसी बढ़ाव-रूप में रह रहे हैं।^२ बहुत से पुद्गल अपने में विद्यमान उपर्युक्त वैभाविकी शक्ति के आधार पर अनादिकाल से जीवों के साथ तो मयुक्त रहे ही रहे हैं, साथ ही बहुत से पुद्गल एक-दूसरे पुद्गलों के साथ भी इसी तरह मयुक्त होकर रह रहे हैं।

जिन जीवों ने पुद्गलों के साथ अनादिकाल से विद्यमान अपनी उद्धमिति को समूल समाप्त कर दिया है वे अब कभी पुन पुद्गलों के साथ वद नहीं होंगे परन्तु पुद्गल एक बार जीव के साथ अथवा अन्य पुद्गलों के साथ विद्यमान अपनी वदमिति में मयुक्त समाप्त करने भी पुन उन योग्य बन जाया करते हैं। यही कारण है कि वे यथायोग्य जीवों, पुद्गलाणुओं और पुद्गल स्फुटों के साथ हमेशा ही बँधने और बिछुड़ने रहते हैं।

जिन प्रकार वस्तु परिणमन करते हुए भी कभी अपने द्रव्यत्व को नष्ट नहीं होने देती है और न कभी अन्य द्रव्यरूप ही परिणत होती है, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक गुण परिणमन करते हुए भी न तो अपने गुणत्व को सभी मयुक्त नष्ट होने देता है और न वह कभी उस वस्तु के अन्य गुण रूप अथवा अन्य वस्तु के गुण रूप ही परिणत हो सकता है। उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु की अथवा प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक गुण की प्रत्येक पर्याय यद्यपि उत्पाद और व्यय रूपना को धारण करने हुए है वस्तु इन सभी पर्यायों में भी यह व्यवस्था बनी हुई है कि एक वस्तु की कोई भी पर्याय केवल उसी वस्तु की पर्याय होनी है व एक गुण की भी कोई पर्याय केवल उसी गुण की पर्याय होनी है। इस प्रकार कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु की द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता वे तीनों ही उपर्युक्त प्रकार से मयुक्त प्रति-नियता को ही धारण करने हुए हैं।^३

प्रत्येक वस्तु में प्रथममय जो भी द्रव्यपरिणमन होते हैं वे सभी नियम से स्वरूप-प्रत्यय ही हुआ करते हैं लेकिन प्रत्येक वस्तु में जो गुणपरिणमन होते हैं उनमें से कुछ तो स्वरूप-प्रत्यय होते हैं और कुछ स्वरूप-प्रत्यय होते हैं। इन प्रकार सामान्यरूप में यह बात निश्चित हो जाती है कि परिणमन दो प्रकार में होते हैं। उनमें से एक प्रकार तो

- १ सर्वत्रापि धर्माधर्मकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्त केचनाप्यस्तित्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्त-मंगमानन्तस्वधर्मचक्रभुम्बिनोऽपि परस्परमभुम्बिनोऽप्यन्तप्रत्यामत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादापतन्त परलयेणा-परिणमनादविनष्टानन्तव्यवित्तस्वात् कोत्कीर्णा इव तिष्ठन्त समस्तविरुद्धाविरुद्धकायहेतुतया शब्ददेव विश्वमनु-गृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौन्दर्यमापद्यन्ते (प्रकारान्तरेण सर्वमकरादिदोषापत्ते ।

(समयसार गाथा ३ की टीका में आचार्य अभुतचन्द्र)

अण्णोण पविमता दिता ओगासमण्णमण्णत्तम् ।

मेत्तन्ता विय णिच्च सगमगभाव य विजहनि ॥७॥ (पचास्तिकाय)

- २ अयस्कान्तोपलाकृष्ट-मूलोवत्तद्वयो प्रयक् ।

अस्ति वैभाविकी शक्तिमयो वज्राधिकारिणी ॥२-४५॥ (पचाव्यायी)

- ३ एगणिगोदनरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।

मिद्धोहि अणतगुणा मव्वेण वित्तीदकालेण ॥१६५॥ (जीवकाण्ड)

- ४ जो जम्ह गुणे दव्वे नो अणमिह ण सकमदि दव्वे । (समयसार गाथा १०३ का पूर्वार्ध)

य वि परिणमइ मिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जए । णाणी जाणतो वि ह पुग्गलकम्म अण्येविह ॥७६॥

इसके आगे गाथा ७७, ७८ और ७९ में भी यह बात देखें—(समयसार)



स्वप्रत्यय का है और दूसरा प्रकार स्वपरप्रत्यय का है ।^१ यह बात निश्चित ही समझना चाहिये कि वस्तु वा कोई भी द्रव्यपरिणमन अथवा गुणपरिणमन परप्रत्यय नहीं होता है ।^२

प्रत्येक वस्तु में जो गुण का परिणमन उग वस्तु की अपनी परिणमन शक्ति के आधार पर पर की अपेक्षा के बिना ही केवल स्वतः होता है वह स्वप्रत्यय परिणमन कहलाता है और प्रत्येक वस्तु में जो द्रव्य या गुण का परिणमन उस वस्तु की अपनी परिणमन शक्ति के आधार पर पर वस्तु का सहयोग मिलने पर होता है वह स्वपरप्रत्यय परिणमन कहलाता है ।

प्रत्येक वस्तु के अगुणलघु गुण के शक्तियों में अनन्त भाग हानि, अमस्यात भाग हानि, गम्यात भाग हानि, सत्यात गुण हानि, अत्ययात गुण हानि और अनन्त गुण हानि के रूप में तथा इसके अनन्तर अनन्त भागवृद्धि, असत्यात भागवृद्धि, सत्यात भाग वृद्धि, सत्यात गुणवृद्धि, असत्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि इन प्रकार पट्टस्थानपतितहानि और वृद्धिरूप में जो परिणमन गमय-नमय के विभागपूर्वक सतत हुआ करता है इसे तो स्वप्रत्यय^३ परिणमन जानना चाहिये । इसके अलावा प्रत्येक वस्तु में होने वाले दोष सभी गुणपरिणमन और सभी द्रव्यपरिणमन स्वपरप्रत्यय^४ ही हुआ करते हैं । ये सभी परिणमन यथायोग्य व्यवहार काल के समय, आवृत्ति, घड़ी, मृहत्, दिन, गत्याह, पक्ष, मास और वर्ष आदि विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं ।

यद्यपि वेदान्त और चार्वाक जैसे दर्शन में पर प्रत्यय परिणमनों को भी स्वीकार किया गया है जैसा पूर्व में हम बतला आये हैं कि वेदान्त दर्शन में चित् को अक्षित का उपादान मान लिया गया है और चार्वाक दर्शन में अक्षित को चित् का उपादान मान लिया गया है परन्तु जैनदर्शन में चित् पर-प्रत्यय परिणमन का सर्वथा निषेध कर दिया गया है और जो अनुसूय सिद्ध भी है इत्येव वस्तु में पर प्रत्यय परिणमन मानने वाले वेदान्त आदि दर्शनों की इन मान्यताओं का बहा पर (जैनदर्शन में) खण्डन किया गया है और यही कारण है जैन मान्यता के अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काठ द्रव्यों की जितनी मर्याद विद्वत् में निर्धारित की गयी है वह नियत है उसमें कभी घटा-वृद्धि नहीं हो सकती है ।

प्रत्येक वस्तु के अगुणलघु गुण के शक्तियों के आधार पर होने वाले पट्टस्थानपतित हानि-वृद्धि-रूप स्वप्रत्यय गुण परिणमनों का सकल ऊपर हम कर चुके हैं । वस्तु के स्वरूपप्रत्यय द्रव्यपरिणमनों और गुणपरिणमनों का विवरण निम्न प्रकार जानना चाहिये ।

जीव का शरीर के छोटे-बड़े आकार के अनुसार जो छोटा-बड़ा आकार यथा समय बनता रहता है तथा जीव की नर-नारकादि पर्यायों के रूप में पर्यायें बनती रहती हैं ये सभी या इसी प्रकार के प्रत्येक वस्तु में अन्य वस्तु के यथायोग्य संयोग या मिश्रण से होने वाले सभी द्रव्यपरिणाम स्वपर प्रत्यय द्रव्यपरिणमन कहलाते हैं । इसी प्रकार आत्मा

१ द्विविध उत्पाद स्वनिमित्त परप्रत्ययश्च । (सर्वार्थसिद्धि टीका ५-२)

नोट—यहां पर पर-प्रत्यय से तात्पर्य स्वपरप्रत्यय का ही आगमानुसार ग्रहण किया गया है ।

२ देखो समयसार गाथा ११६ से १२० व १२१ से १२५ तक

३ स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुणलघुगुणानामागमप्राप्त्यावभ्युपगम्यमानानां पट्टस्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च । (सर्वार्थसिद्धि ५-७)

४ स्वदच पदच रजपरी, स्वपरी प्रत्ययो ययोस्ती स्वपरप्रत्ययो । उत्पादश्च धिगमश्च उत्पादविगमो, स्वपरप्रत्ययो उत्पादविगमो येषां ते स्वपरप्रत्ययोऽरादविगमः । के पुनस्ते ? पर्याया । द्रव्यलेशकालमावलक्षणो बाह्य प्रत्यय तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरमास्कुन्दति । तत्समदर्शक स्व प्रत्यय । तावुभौ सभूय भावानामुत्पादविगमयोर्हेतु भवतः, नान्यतरापाये, कुञ्जलस्थमाय पच्यमानोऽकस्यघोटकमायवत् ।

(तत्त्वार्थराजवार्तिक ५-२)

की ज्ञानशक्ति का पदार्थ को जानने का परिणाम आत्मा की उस ज्ञानशक्ति में विद्यमान परिणाम ब्रह्म की वाग्मता के आधार पर उस उस पदार्थ का योग मिलने का ही हुआ जाना है। यह आत्म-ब्रह्म का स्वरूपप्रत्यय गुणपरिणाम है। इसी प्रकार सर्वत्र ज्ञानता चाहिये।

आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थ को जानने का परिणाम में पदार्थ तो सर्वत्र काण्य होता है। वह ज्ञानशक्ति चाहे मनिज्ञान का हो ज्यवा चाहे श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान या केवलज्ञानरूप हो। अर्थात् इन पांचों ज्ञानों में से कोई भी ज्ञान पदार्थ के ज्ञाता में कदापि पदार्थज्ञान का परिणाम नहीं कर सकता है। यही काण्य है केवलज्ञान की शक्ति त्रिष्टय में विद्यमान सभी पदार्थों में अनन्तगुणी होकर भी सर्वत्र उनके द्वारा केवल उन्हीं पदार्थों को जानता है जो धर्म की मद्रूपता को वाच्य किने हुए हैं। इसका अभिप्राय यही है कि बिना पदार्थ का महयोग मिले केवलज्ञान का परिणाम पदार्थ को जानने का नहीं हो सकता है। इस प्रकार केवलज्ञानशक्ति का पदार्थज्ञान का परिणाम पदार्थहीन हो निष्ठ होता है। मनिज्ञान, और श्रुतज्ञान तो पदार्थ के माय-माय यथायोग्य पात्र पौद्गलिक इन्द्रियों तथा छठे मन की स्थापना न हो उत्पन्न हुआ करते हैं। इस प्रकार यह बात निष्ठ हो जाती है कि आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थ को जानने का परिणाम में स्वतन्त्र वाग्मता के माय-माय पदार्थों तथा आवश्यकतानुसार इन्द्रियों और मन की कारणता भी रहती है। तबना ही नहीं, मनिज्ञान में प्रकाश भी यथायोग्य कारण हुआ करना है और श्रुतज्ञान में छठे भी कारण हुआ करते हैं।

यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि पदार्थज्ञानरूप परिणाम में आत्मा की ज्ञानशक्ति में रहने वाली काण्यता निम्न प्रकार की है, पदार्थों में रहने वाले काण्यता निम्न प्रकाश की है तथा इन्द्रियों में, मन में और प्रकाश में रहने वाली काण्यता निम्न-निम्न प्रकार की है। उन्हीं तरह श्रुतज्ञान में शब्द की कारणता भी निम्न प्रकार की है। अर्थात् आत्मा की ज्ञानशक्ति की जो कारणता है वह उपादानरूप है क्योंकि वह ज्ञानशक्ति ही पदार्थज्ञानरूप परिणाम होती है। पदार्थों में, मन में, इन्द्रियों में, प्रकाश में और शब्द में जो काण्यता है वह निमित्त का है क्योंकि ये सब स्वयं पदार्थज्ञानरूप परिणाम न करने हुए आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थज्ञानरूप परिणाम में महायक होते हैं। इनमें भी आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थज्ञानरूप परिणाम में पदार्थ अवयवस्वरूप में निमित्त होता है अर्थात् पदार्थ जब आत्मप्रदेशों पर दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित होता है तभी आत्मा की ज्ञानशक्ति का पदार्थज्ञानरूप परिणाम होता है, अन्यथा नहीं। इन्द्रियों और मन कारणरूप में निमित्त होते हैं। प्रकाश की विद्यमानता ही निमित्त हुआ करती है। श्रुतज्ञान में शब्द अवयवपूर्वक निमित्त होते हैं।

पूर्व में हम इस बात का ध्यान कर आये हैं कि कार्य के प्रति कार्य में अभिन्न ब्रह्म में विद्यमान उपादान-काण्यता स्वाश्रित प्रम होने के कारण "स्वाश्रितो निश्चय" इस आगमवाक्य के अनुसार निश्चय रूप है और उन्हीं कार्य के प्रति कार्य में निम्न ब्रह्म में विद्यमान निमित्तकाण्यता "पराश्रितो व्यवहार" इस आगमवाक्य के अनुसार व्यवहार रूप है।

पूर्व में हम यह भी कह आये हैं कि निमित्त निश्चयरूपता रहती है वह सर्वथा वास्तविक, भूतार्थ, मद्रूप या मन्याने हुआ जानता है और जिसमें व्यवहाररूपता ग्राह्य होती है वह कश्चित् वास्तविक आदि होता है और कश्चित् अवास्तविक आदि भी होता है। इस प्रकार उपादान काण्य कश्चित् निश्चय का कारण है इसलिये उसे सर्वथा वास्तविक होना ही चाहिये और वह सर्वथा वास्तविकता उपादान कारण में इस तरह निष्ठ होती है कि कार्य जब तक

१ त्रिविह जहणार्णत घण सला दल छिदीमगादिपद । जीवो योगल काला मेढी आगाम तपवर ॥६६॥

धम्माधम्मामुत्तमेषु इगजीवस्मानुरलपुत्त होति तवो । सुहमाणि अपुण्णणाणे अवरे अविनागपडिच्छेदा ॥७०॥

अवरा खइय लद्धी वगमलामा तवो सगद्धिदी । अइसग छप्पण सुरिय तदिय विदियादि मूल च ॥७१॥

सइयादिमूल चणो केवलमत पमाणेठु मण । वर खइय लद्धिणाम सवग सला हवे ठाणं ॥७२॥

(त्रिलोकसार द्विरूपवर्णनारा प्रकरण)





रहता है तब तक कार्य में उपादान की अपेक्षा रहता रहती है, उगति में वह मर्यादा वास्तविक आदि है लेकिन निमित्त की अपेक्षा तभी तक रहती है जब तक कार्य उत्पन्न नहीं हो जाता। कार्य के उत्पन्न हो जाने पर निमित्त की अपेक्षा समाप्त हो जाती है अतः जब तक कार्य में उगती अपेक्षा है तब तक निमित्त का उस अपेक्षा के रूप में वास्तविक ही कहा जायगा और कार्य के उत्पन्न होने पर चूँकि उसकी अपेक्षा समाप्त हो जाती है अतः तब उस उग दृष्टि से अवास्तविक ही कहा जायगा। दूसरी बात यह है कि निमित्त तो तत्त्वोत्पत्ति में मर्यादा ही होता है अतः उस दृष्टि से तो वह वास्तविक ही होगा और चूँकि वह कार्यरूप परिणत नहीं होता अतः उस दृष्टि में वह अवास्तविक ही होगा, यह हम पूर्व में स्पष्ट कर ही चुके हैं।

इस तरह उपादान में तो मर्यादा वास्तविकता और निमित्त में अचिन्त वास्तविकता तथा तत्त्वित् अवास्तविकता रहने के कारण उपादान तो कार्य में निश्चयवाचक होता है और निमित्त व्यग्रहण होता है।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में जो अनन्त धर्म विद्यमान है उनमें से प्रत्येक धर्म की मर्यादा उस वस्तु में अपने अपने विरोधी धर्म की अमर्यादा के साथ ही रहता रहती है। जैसे 'आत्मा चिन् है' उसने जिस प्रकार आत्मा में चिन् स्वरूप का मन्त्राव मिष्ट होता है उसी प्रकार उसमें अचिद्रूपता का अभाव भी मिष्ट होता है। अतः वरना चाहिये कि आत्मा में चिद्रूपता का मन्त्राव और अचिद्रूपता का अभाव इन दोनों धर्मों में से चिद्रूपता का मन्त्राव आत्मा का स्वरूपपरक धर्म होने में स्वाभाविक धर्म होने के कारण निश्चय धर्म है व अचिद्रूपता का अभाव अस्वरूपपरक धर्म न होने में परावृत्त धर्म होने के कारण व्यवहार धर्म है। ये दोनों ही भावात्मक और अभावात्मक धर्म आत्मा में अपनी-अपनी मर्यादा जमाकर बैठे हैं। यही कारण है कि जैनागम में यह निश्चयवाचक स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक प्रकार की सत्ता अपनी प्रतिपक्षभूत अमर्यादा के साथ ही रहती है। यदि ऐसा नहीं माना जायगा अर्थात् आत्मा में चिद्रूपता के मन्त्राव के साथ अचिद्रूपता का अभाव नहीं माना जायगा तो फिर चिद्रूप आत्मा का अचिद्रूप पुद्गल आदि द्रव्यों के साथ वास्तविक भेद मिष्ट नहीं हो सकेगा। इसलिये जिस प्रकार आत्मा में चिद्रूपता का मन्त्राव वास्तविक है उसी प्रकार उसमें अचिद्रूपता का अभाव भी वास्तविक ही है। उनकी तान उद्देश्य है कि चिद्रूपता का मन्त्राव अपनी स्वाध्यायता के कारण जहाँ मर्यादा वास्तविक है वहाँ अचिद्रूपता का अभाव परावृत्तता के कारण अचिन्त वास्तविक है और कश्चित् अवास्तविक भी है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार आत्मा में चिद्रूपता का मन्त्राव एक और अखण्ड धर्म है उस प्रकार अचिद्रूपता का अभाव एक और अखण्ड धर्म नहीं है, क्योंकि पुद्गल, धर्म, अम, आकाश और काल इन सभी अचिद्रूप वस्तुओं की अचिद्रूपता भिन्न-भिन्न है। इसलिये उनमें से प्रत्येक की अचिद्रूपता का अभाव भी आत्मा में भिन्न-भिन्न ही होगा। इस तरह आत्मा में नाना अचिद्रूपताओं के अभाव भी नाना मिष्ट हो जाते हैं और तब अचिद्रूपता भी अखण्ड व नानारूप मिष्ट हो जाती है। नानारूपता और अखण्डता को व्यवहार धर्म व एकरूपता और अखण्डरूपता को निश्चय धर्म इन दोनों धर्मों की व्युत्पत्ति के आधार पर हम पूर्व में प्रतिपादित कर ही चुके हैं।

भावरूपता को निश्चय धर्म का प्रतिपाद्य और अभावरूपता को व्यवहार धर्म का प्रतिपाद्य मानने में एक कारण यह भी है कि प्रत्येक वस्तु का भावरूप धर्म अपने वैशिष्ट्य के कारण उस वस्तु की स्वतन्त्रता का निर्णायक होता है, अभावरूप धर्म नहीं। इसका कारण यह है कि अभावरूप धर्म तो नाना वस्तुओं में भी समानता लिये हुये पाये जाते हैं। जैसे जीव में पुद्गलद्रव्य-अचिद्रूपता का जैसा अभाव है वैसा ही पुद्गलद्रव्य की अचिद्रूपता का अभाव आकाशादि वस्तुओं में भी है अन्यथा आकाशादि वस्तुओं में पुद्गलद्रव्य से भेद करना असंभव हो जायगा। अबवा यों कहे कि पुद्गलादि अचिद्रूप वस्तुओं की अचिद्रूपता का जैसा अभाव एक जीव में है वैसा ही अभाव अन्य जीवों में भी है तो इस तरह नाना जीवों में परस्पर पारस्पर्य मिष्ट करना असंभव हो जायगा। इसलिये मानना पड़ता है कि प्रत्येक वस्तु का भावरूप धर्म ही उस वस्तु की स्वतन्त्रता का निर्णायक होता है अभावरूप धर्म नहीं। इस तरह भावरूप धर्म को निश्चय धर्म तथा अभावरूप धर्म का व्यवहार धर्म करना ही उचित है।

अनन्तानन् जीवो, अनन्तानन् पुद्गलो, नान्यथा कालद्रव्यो तथा एक धर्म, एव धर्म और एक आकाश इन सबका अपना-अपना पृथक्-पृथक् भावरूप धर्म ही इन सब वस्तुओं के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को सुरक्षित रखे हुए है। अन्यथा जीव, ही अनन्तता, पुद्गलो ही अनन्तता और कालद्रव्यो को अमरतातना भग्न हो जायगी। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण वस्तुओं में एतत्त्व का द्रव्यापन हो कर तत्पूर्ण जगत् अद्वैतता के नाँव में टल जायगा। एक बात और है। जमाव को जैनदगन में भावान्तर स्वभाव माना गया है, भाव को अभावान्तर स्वभाव नहीं। इसका भी कारण यह है कि जमात्मक (भावत्मक) धर्म के आधार पर ही वस्तु ही स्वतन्त्रता का भान हो सकता है अमतात्मक (अभाव-त्मक) धर्म वस्तु ही स्वतन्त्रता का भान करने में सक्षम नहीं होता मरना है। ये सब कारण हैं जिनके आधार पर हमें प्रत्येक वस्तु के भावान्तर धर्म को निश्चय धर्म और अभावान्तर धर्म को व्यवहार धर्म ही स्वीकार करना पड़ता है। यह सब निश्चय और व्यवहार की व्यपञ्चा वस्तु के नित्यत्व-अनित्यत्व, तत्त्व-अतत्त्व, अभेद-भेद, एकत्व-अनेकत्व जादि वस्तु उसी के विषय में भी समझ लेना चाहिये। इस विषय को पचाइयायी ग्रन्थ में अध्याय प्रथम के श्लोक १७ में श्लोक २२ तक विस्तार में स्पष्ट किया है।

उक्त के अन्त में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिन प्रकार वस्तु के निश्चय धर्म को निश्चय रूप में अर्थात् मरना ही में वास्तविक माना जाता है उसी प्रकार वस्तु के व्यवहार-धर्म को व्यवहार-रूप में अर्थात् कथञ्चित् रूप में वास्तविक मानना ही उचित है। गुरु के लोग ही तरह नववा जवान्तरिक, कल्पित या मिथ्या मानना उचित नहीं है।

इन सब निश्चय-व्यवहार धर्मों के अभाव भी यदि निश्चय-व्यवहार धर्मों के विषय में विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि जहाँ द्रव्यानुयाय की दृष्टि में उपर्युक्त प्रकार में विविध धर्म और निषेध रूप धर्म व्यवहार-धर्म माना जाता है वहाँ कणांनुयाय की दृष्टि में निषेध-धर्म निश्चय-धर्म और विविध धर्म व्यवहार-धर्म कहा जाने योग्य है। जैसे मुनि मरना ही अमर ही धर्म है लेकिन पराश्रितता का अभाव रूप धर्म हाकर भी आत्मा की स्वतन्त्रता रूप स्वाश्रयता का बोध होने में निश्चय धर्म है मरना मरना आत्मा की पराश्रितता पराश्रितता का बोध होने के कारण भावरूप धर्म होकर ही व्यवहार है। इसी प्रकार उद्देश्यरूपता-विधेयरूपता, कार्यरूपता-कारणरूपता, साध्यरूपता-साधन-रूपता जादि परस्पर विरोधी धर्मों में भी निश्चय और व्यवहार ही व्यवस्था बँठा लेना चाहिये। लब्धि और उपयोग, स्वभाव और विभाव, द्रव्य और पर्याय, गुण और पर्याय, अन्वय और व्यतिरेक, अन्तरंग और बाह्य आदि के विस्तार में भी पूर्व-पूर्व का धर्म निश्चयरूप और उत्तर-उत्तर का धर्म व्यवहाररूप ही होता है। किस धर्म को वस्तु का निश्चयधर्म माना जाय और किस धर्म का वस्तु का व्यवहारधर्म माना जाय, इसका निर्णय हमें सर्वत्र निश्चय और व्यवहार शब्दों के वृत्तान्तों के आधार पर प्रमाणानुसार ही कर लेना चाहिये। लेकिन सर्वत्र इस बात का ध्यान रखना ही चाहिये कि वे तो निश्चय धर्म हैं जो अपने-अपने दग में सर्वथा वास्तविक हैं और वे ही व्यवहार धर्म हैं जो अपने-अपने दग में कथञ्चित् वास्तविक और कथञ्चित् अवास्तविक हैं। इस तरह जो भी सर्वथा अवास्तविक धर्म हो उसे व्यवहारधर्म कहना असंगत, मिथ्या या अज्ञानरूप ही है। इसीलिये जो व्यक्ति सर्वथा अवास्तविक धर्मों को ही व्यवहार धर्म के रूप में समझ बैठे हों वे महान् भ्रम के शिकार हो रहे हैं। इसी तरह जिन लोगों ने व्यवहारधर्म को भी सर्वथा वास्तविक धर्म मान लिया है वे भी महान् भ्रम के शिकार हो रहे हैं।

शोक में भी व्यवहारधर्म का कथञ्चित् वास्तविक मानना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे “यह शरीर मेरा है” “यह मगन मेरा है”, “यह द्रव्य मेरा है”, “ये मेरे स्वजन हैं”, “मैं अमुक समाज का व्यक्ति हूँ” और “अमुक ग्राम या देश का रहने वाला हूँ” इत्यादि व्यवहार यदि सर्वथा अवास्तविक ही हैं तो लोक की और अध्यात्म की सम्पूर्ण व्यपञ्चा ही टिल-मिल हो जायगी क्योंकि फिर तो सर्वत्र अराजकता फैल जायगी व अध्यात्मिकता का ही बोलबाला हो जायगा। विवेकी पुरुषो ही तो कल्पना करके नष्ट करने लायक नहीं हैं।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ जहाँ वस्तु का जो व्यवहारधर्म है वह दूसरे स्थान पर निश्चयधर्म हो सकता है परन्तु ऐसे भी निश्चयधर्म होते हैं जो सर्वथा निश्चय होकर ही रहते हैं जैसे पुद्गलाणुओं के मिश्रण में बनी हुई मिट्टी का स्वरूपवाय व्यवहारधर्म है परन्तु वही मिट्टी घटात्पत्ति में निश्चयरूपता को प्राप्त





हो जाती है। यही कारण है कि मिट्टी रूप रक्षपर्वण्य को द्रव्य के रूप में यदि कहा जाय तो वह अशुद्ध द्रव्य ही कहा जायगा। इस तरह केवल अणुगुण पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जिसे एकान्त (मर्त्या) वास्तविक या शुद्ध द्रव्य कहा जा सकता है। यह व्यवस्था सर्वत्र लागू कर लेना चाहिये।

इस तरह हम पुनः कह देना चाहते हैं कि सर्वथा वास्तविकता का होना निश्चय ही कसौटी है, वयचित् वास्तविकता और कथचित् अवास्तविकता का होना व्यवहार की कसौटी है न कि अवयव वास्तविकता का होना मिथ्या-रूपता की कसौटी है।

विषय का उपसंहार

अध्यात्म के प्रकरण में जो सम्म्यग्दर्शन, सम्म्यग्ज्ञान और सम्म्यक्चारित्र्य रूप मोक्षमार्ग का निवेदन किया गया है और उसमें जो निश्चयसम्म्यग्दर्शन निश्चयसम्म्यग्ज्ञान और निश्चयसम्म्यक्चारित्र्य को निश्चयमोक्षमार्ग तथा व्यवहार सम्म्यग्दर्शन, व्यवहारसम्म्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्म्यक्चारित्र्य को उपसंहारमोक्षमार्ग कहा गया है, इनके विषय में हम तत्त्व निश्चय-व्यवहार का विभाजन करना चाहिये कि किम में किस तरह के स्वाश्रयता या अभेदरूपता पायी जाती है और किसमें किस तरह के पराश्रयता या भेदरूपता पायी जाती है। इस प्रकार यह निर्णय होता है कि औपनिषदिक सम्म्यग्दर्शन और क्षायिक सम्म्यग्दर्शन तथा औपनिषदिक सम्म्यक्चारित्र्य और क्षायिक सम्म्यक्चारित्र्य में भी निश्चयधर्म की तोटि में आते हैं। यह बात दूसरी है कि औपनिषदिक सम्म्यग्दर्शन और औपनिषदिक सम्म्यक्चारित्र्य अज्ञाद्वय (अन्तर्मुहूर्तस्यायी) है जननि क्षायिक सम्म्यग्दर्शन और क्षायिक सम्म्यक्चारित्र्य साद्वय (स्थायी) है। इन सब को निश्चयधर्म इसलिये कहा जाता है कि ये सभी उस-उस कर्म के उपशम या क्षय के उत्पन्न होने के कारण सर्वथा आत्माश्रित धर्म सिद्ध होते हैं। क्षायोपनिषदिक सम्म्यग्दर्शन और क्षायोपनिषदिक सम्म्यक्चारित्र्य ये दोनों व्यवहारधर्म की तोटि में आते हैं। इनको व्यवहारधर्म कहन का कारण यह है कि ये दोनों उस-उस कर्म के क्षयोपशम से पैदा होते हैं अर्थात् इनकी उत्पत्ति में उस-उस कर्म की सर्वथा प्रकृतियों के वर्तमान में उदय आने वाले निषेका का उदयमासी क्षय, आगामी काल में उदय आने वाले निषेका का सद्व्यवस्था उपशम तथा देशपाती प्रकृति का उदय, इस तरह कर्म का उदयाक्ष, उपशमाक्ष और क्षयाक्ष तीनों ही कारण होते हैं। ऐसी स्थिति में इनमें जहाँ कर्म के उपशम और क्षय की अपेक्षा आत्माश्रितता पायी जानी है वहाँ धर्म के उदय की अपेक्षा पराश्रितता भी पायी जाती है। इस तरह इनमें जहाँ समार की कारणता का अभाव पाया जाता है वही समार की कारणता का सदभाव भी पाया जाता है अथवा यों कहिये कि जहाँ इनमें मोक्ष की कारणता का सदभाव पाया जाता है वही मोक्ष की कारणता का अभाव भी पाया जाता है।

व्यवहार या क्षायोपनिषदिक सम्म्यग्दर्शन की स्थिति जीव के चौथे गुणस्थान में सप्तगुणस्थान तक ही सम्भव है, औपनिषदिक रूप निश्चयसम्म्यग्दर्शन की स्थिति चौथे से सातवें तक तथा उपशमश्रेणी के सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानों में एवं उपशान्त नामक ११वें गुणस्थान में सम्भव है तथा क्षायिक रूप निश्चयसम्म्यग्दर्शन की स्थिति चौथे से सातवें तक तथा उपशमश्रेणी के सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानों में एवं ११वें उपशान्त नामक गुणस्थान में भी सम्भव है इसके अतिरिक्त क्षयकश्रेणी के सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानों में तथा क्षीणमोह नामक १२वें गुणस्थान में एवं उसके आगे सर्वत्र नियम से क्षायिक सम्म्यग्दर्शन विद्यमान रहना है। चौथे गुणस्थान से पूर्व प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व के रूप में, द्वितीय गुणस्थान में सामादन अर्थात् अनन्तानुबन्धी कपाय के उदय से उत्पन्न ओदयिकभाव के रूप में तथा तृतीय गुणस्थान में सम्म्यग्मिथ्यात्व (मिथ्याभाव) के रूप में सम्म्यग्दर्शन का सर्वथा अभाव रहा करता है अर्थात् इन गुणस्थानों में निश्चय और व्यवहार दोनों ही प्रकार के सम्म्यग्दर्शन नहीं रहा करते हैं।

व्यवहार या क्षायोपनिषदिकचारित्र्य या यों कहिये कि सराग चारित्र्य नियम में पाचवें से लेकर दशवें गुणस्थान तक रहा करता है, ११वें गुणस्थान में नियम से औपनिषदिक रूप निश्चयचारित्र्य, वीतरागचारित्र्य या यथारथाचारित्र्य रहा करता है और १२वें गुणस्थान से लेकर आगे १४वें गुणस्थान के अतक क्षायिक रूप निश्चय चारित्र्य वीतरागचारित्र्य या यथादयाचारित्र्य रहा करता है। आगे मोक्ष में चूर्णि आत्मस्वरूप में कारणरूपता समाप्त होकर कार्यरूपता का प्रादुर्भाव हो जाता है अतः वहाँ पर चारित्र्य की स्थिति को आगम में अस्वीकृत कर दिया गया

विषय ग उपदेश मने हूँ हमने इन यदारे निश्चय और व्यवस्थान्त्र विभाजन भागना ग हटि
ने चरु अवा रा गटिरे वि सम्यग्जनन, सम्यग्जनन और सम्यक्चारित्र का दृष्टिमें चरु गिया है पानु नेत्र ने
शान्त र दृष्टि में चरुगानुगो, चरुगानुगो और व्यवधानुगो उन मनो अनुगो के आदा ए विचार से गिया है । नाय

१. देवो-नित्वायंमूत्र जग्याय १० के मूत्र ३ व ४ की श्लोक्वाचित टीका
२. देवो-नित्वायंमूत्र जग्याय १ के मूत्र १ की श्लोक्वाचित टीका में वाचिक श्लोक ८३ में वाचिक श्लोक ६७ पर न
हस्ता भाष्य ।
३. देवो-नित्वायंमूत्र जग्याय १ मूत्र १ की श्लोक्वाचित टीका में वाचिक श्लोक ६३, ६४, ६५ ।

$$-\frac{d}{dt} \left(\frac{\partial L}{\partial \dot{x}} \right) + \frac{\partial L}{\partial x}$$

ही लौकिक दृष्टि से भी सक्षिप्त रूप में किया है। इसलिये इसके मन्त्रग्रन्थ में विष्णुग्रन्थ न करके अब इस बात पर विचार करते हैं कि जब आगम में 'निश्चयनय' और 'व्यवहारनय' शब्दों का भी सर्वत्र उद्घुल्ला में प्रयोग मिलता है तो इनका अर्थ और प्रयोजन क्या है ?

निश्चयनय और व्यवहारनय का अर्थ और प्रयोजन

नयो को जैनागम में प्रमाण का अर्थ स्वीकार किया है।^१ जैनागम में यह भी बतलाया गया है कि वस्तु-तरंग को गमज्ञान के लिये जो साधनान्न (करणरूप) माधन हा उसे प्रमाण गमज्ञाना चाहिये।^२ इसके साथ ही वहाँ पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वस्तुतत्त्व को गमज्ञान का साधनान्न (करणरूप) साधन ज्ञान ही होना चाहिये अतः ज्ञान ही को प्रमाण जानना चाहिये।^३ इस तरह चूँकि वस्तुतत्त्व को गमज्ञान का साधनभूत ज्ञान ही पूर्वोक्त प्रकार से प्रमाण होता है और प्रमाण का अर्थ ही नय होता है अतः इसके अनुसार यह निर्णय होता है कि जो वस्तुतत्त्व के अर्थ को गमज्ञान का साधनभूत ज्ञान ही उसे नय कहना चाहिये।^४

प्रमाणरूप ज्ञान जैनागम में पाया बतलाये गये हैं — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान।^५ इनमें से मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारों ही ज्ञान वस्तु का ज्ञान लगते हैं और इनमें से भी केवलज्ञान तो वस्तु का सर्वोत्तम ज्ञान करता है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान एकदेशात्मना वस्तु का ज्ञान कराने हैं। श्रुतज्ञान की वस्तु का ज्ञान कराने की प्रक्रिया उन चारों ज्ञानों में निम्न प्रकार की है। अर्थात् श्रुतज्ञान वस्तु का यद्यपि सर्वात्मना ज्ञान करता है, परन्तु केवलज्ञान में वस्तु का ज्ञान सर्वोत्तम होता है वह युगपत् प्रत्यक्षरूप में होता है और श्रुतज्ञान से जो वस्तु का सर्वात्मना ज्ञान होता है वह क्रमशः एक-एक अर्थ के ग्रहणपूर्वक परोक्ष रूप में होता है। इस तरह कहना चाहिये कि श्रुतज्ञान द्वारा वस्तु के एक-एक अर्थ का क्रमशः पृथक्-पृथक् ही ग्रहण होता है इसलिये श्रुतज्ञान में नया की व्यवस्था को अनायाम स्थान प्राप्त हो जाता है और यही कारण है कि आगम से श्रुतज्ञान में ही नयो की व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान में नयव्यवस्था का निषेध किया गया है।^६

उपयुक्त कथन का अभिप्राय यह है कि वस्तु के एक-एक अर्थ का पृथक्-पृथक् रूप में क्रमशः बोध होने का नाम नय है। ऐसा बोध श्रुतज्ञान को छोड़ कर मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान में तो सम्भव नहीं है। श्रुतज्ञान में कैसे सम्भव होता है ? इसका समाधान यह है कि श्रुतज्ञान की उत्पत्ति वचन के आधार पर ही हुआ करती

१ नाप्रमाण प्रमाण वानयो ज्ञानात्मको मन । स्यात्प्रमाणकदेशस्तु सर्वथाप्य विरोधतः ॥ (तत्त्वा० श्लो० १-६ वा० २६)

२ प्रकर्षेण सशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्व येन तत्प्रमाणम् (प्रमेयरत्नमाला १-१ की टीका)

३ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम् ॥ १-१॥,

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ हि प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत् ॥ १-२॥ (परीक्षामुख १)

४ स्वार्थकदेश निर्णीतिलक्षणो हि नय स्मृत ॥ १-६॥, (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-६ वा० ४)

५ मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ १-६॥, तत्प्रमाणे ॥ १-२०॥, आद्ये परोक्षम् ॥ १-११॥ प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १-१२॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

६ मतेरवधितो वापि मन पर्ययतोऽपि वा । ज्ञातस्वार्थस्य नाशेऽस्ति नयाना वर्तनं ननु ॥

नि शेषदेशकालार्थागोचरत्वविनिश्चयात् । तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टत ॥

त्रिकालगोचराशेषपदार्थाशेष वृत्तिः । केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥

परोक्षाकारतावत् स्पष्टत्वात्केवलस्य तु । श्रुतमूलानया सिद्धावश्यमाणा प्रमाणवत् ॥

(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-६ वा० २४, २५, २६, २७)

है और चूँकि वचन मात्र होता है उन भाव वचन के जाग्रत पर उत्पन्न होने वाला जो श्रुतज्ञान स्वी ही होता है उसमें भी भावना की निद्रि हो जाती है। इन प्रकार श्रुतज्ञान में नय व्यवस्था की भाँट हो जाती है।^१

वचन में भावना की निद्रि अनुभवविद्ध है वाक्य कि वाक्यों के समूह रूप महावाक्य में समाविष्ट जितने वाक्य हों उनका उच्चारण या लेखन रूप में ही होता है। इसी तरह प्रत्येक वाक्य में जितने पद हों उनका भी उच्चारण या लेखन रूप में होता है जी- प्रत्येक पद में जितने अक्षर हों उनका भी उच्चारण या लेखन रूप में होता है। यही वाक्य है कि निरर्थक अक्षरों के समूह का नाम शब्द कहलाता है, अर्थात् शब्द यदि विभक्त्यन्त हो जावे तो वह पद कहलाने लगता है।^२ पद दो प्रकार के होते हैं एक मन्त्रापद और दूसरा क्रियापद। इन दोनों के योग में वाक्य बनता है।^३ दो आदि वाक्यों के योग में महावाक्य बनता है।^४ इसी प्रकार दो आदि मन्त्रवाक्यों के योग में भी महावाक्य की निष्पत्ति होती है।

मन्त्र में बड़ा महावाक्य प्रत्य होता है, मन्त्र के अन्तर्गत अध्याय आदि के रूप में भी महावाक्य होते हैं। एक एक अध्याय में कई कई महावाक्यों का समुदाय होता है। एक-एक महावाक्य में दो आदि अनेक भाग होते हैं और एक-एक वाक्य में दो आदि अनेक पद होते हैं। इन प्रकार वचन रूप श्रुत का रूप पद में लेकर बड़े में बड़े महावाक्य बन हो जाता है। जैनागम का मन्त्र में बड़ा महावाक्य द्वादशांग रूप है इसमें १२ अन्तर्ग हैं १२ वें अन्तर्गद दृष्टिवाद के मुख्य भाव भेद हैं और फिर इनके भी अनेक उपभेद हैं। ये मन्त्र भेद वचनरूप श्रुत के हूँ तथा इनके ध्वनि या पाठ में जो वस्तुतः भाव या वाक्य श्रोता या पाठक को हुआ लगता है वह ज्ञानरूप श्रुत कहलाता है। ज्ञानरूप श्रुत अर्थात् वचन के आशय में जो भाव श्रोता या पाठक को हुआ करता है उसे आगम में स्वार्थश्रुत भी कहा गया है और वहीं पर उस वचनरूप श्रुत का वचन की पर्यायश्रुत भी कहा गया है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन परमज्ञान और केवलज्ञान ये चारों ही ज्ञान चूँकि ज्ञानरूप ही हुआ लगते हैं अतः अपनी ज्ञानरूपता के कारण ये चारों ज्ञान स्वार्थ प्रमाण रूप हुआ करते हैं। इस तरह कहना चाहिये कि प्रमाण दो तरह का होता है—एक स्वार्थरूप और दूसरा परार्थ रूप। जो प्रमाण ज्ञानरूप हो उसे स्वार्थ प्रमाण और जो प्रमाण वचन रूप हो उसे परार्थ-प्रमाण जानना चाहिये। इस प्रकार मति, अवधि, मन-परम और केवल ये चारों प्रमाण तो अपनी ज्ञानरूपता के कारण स्वार्थ प्रमाण रूप ही होते हैं और श्रुत प्रमाण अपनी ज्ञानरूपता के कारण जो स्वार्थप्रमाणरूप होता है तथा अपनी वचनरूपता के कारण वह परार्थप्रमाणरूप भी होता है।^५

जो वचन वक्ता या लेखक के अभिप्राय रूप वस्तुतः का पूर्णरूप में प्रतिपादन करता है वह तो प्रमाण रूप

१ नीयते गम्यते येन श्रुतार्थाक्षो नयो हि स ॥ (तत्त्वा० श्लो० १-३३ वा० ६)

२ सुप्तिश्च । पदम् ॥ १-४-१८ ॥ (पाणिनीय अष्टाध्यायी)

३ पदानां परस्परमापेक्षाणां निरपेक्ष समुदायो वक्ष्यम् । (अष्टाशती में अकलकदेव आप्नमो० का० १०३)

४ वाक्योच्चयो महावाक्यम् । (साहित्यदर्पण २-१) । यहाँ पर 'वाक्योच्चय' पद का विशेषण इसकी टीका में "योग्यताकाक्षान्तिपुस्त" दिया गया है इस तरह महावाक्य का लक्षण निम्न प्रकार हो जाता है—

‘परस्परमापेक्षाणां वाक्यानां निरपेक्ष समुदायो महावाक्यम्’

इन लक्षण के अन्तर्गत पर ही गोमटदास जीवकाण्ड में श्रुतमार्गणाप्रकरण में गिनाये गये श्रुत के बीस भेदों में से आदि के अक्षर, पद और सवात (वाक्य) से आगे जितने भेद गिनाये गये हैं वे सब यहाँ वाक्य के भेद समझना चाहिये।

५ महावाक्यों के योग से जो महावाक्य बनता है उसका लक्षण निम्न प्रकार जानना चाहिये—परस्परमापेक्ष महावाक्यों के निरपेक्ष समुदाय का नाम भी महावाक्य है। (लेखक)

६ प्रमाण द्विविध स्वार्थ परार्थ च । तत्र स्वार्थ प्रमाण श्रुतार्थम् । श्रुत पुन स्वार्थ भवति परार्थ च । ज्ञानात्मक स्वार्थ वचनात्मक परार्थम् । तद्विकल्पा नया ॥ (सर्वार्थसिद्धि १-८)





होता है और जो वचन वक्ता या लेखक के अभिप्राय रूप वस्तुतत्त्व के एक देश (अंश) का प्रतिपादन करता है वह नय रूप होता है ।^१ इस तरह पद, यदि वाक्य से सम्बद्ध हो तो वह नयरूप होगा और पद तभी नयरूप होगा जबकि वह वाक्य में सम्पन्न होगा । स्वतंत्र पद प्रमाण रूप तो होगा ही नहीं लेकिन अर्थात् के भी प्रतिपादन में असमर्थ रहने के कारण वह नयरूप भी नहीं होगा । चाय यदि अपनी स्वतंत्र हालत में वक्ता या लेखक के पूर्ण अभिप्राय का प्रतिपादन करता है तो वह प्रमाण रूप होगा और यदि किसी महावाक्य का अंशवत् होकर वक्ता या लेखक के अभिप्राय के एक देश का प्रतिपादन करता है तो वह नय रूप होगा । यही व्यवस्था वाक्यों के समूह रूप महावाक्यों के और महावाक्यों के समूह रूप महावाक्यों में भी जाना चाहिये । लेख विस्तार के भय से यहाँ पर इन सब बातों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा रहा है ।

जैनागम में नयों की व्यवस्था त्रिविध प्रकार में की गयी है उनमें एक प्रकार तो नैगम, मग्नह, व्यवहार, ऋजुगून, शब्द, रामगिरिद और एवभूत नाम के सात नयों का है,^२ दूसरा प्रकार द्रव्याधिक और पर्यायाधिक नाम के दो नयों का^३ है और तीसरा प्रकार निश्चय तथा व्यवहार नाम के दो नयों का है ।^४ नयों का इन प्रकारों के अलावा एक प्रकार वह भी है जिसमें वचन के सभी प्रकारों का समावेश हो जाता है । इसे हम लोकग्राहक नयों का प्रकार कहना उचित समझते हैं । इस सम्बन्ध में गोमटसार कर्मकाण्ड की निम्नलिखित गाथा ध्यान देने योग्य है —

जावदिया घयणपहा तावदिया चेव होंति णयवादा ।

जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥ ८६४ ॥

अर्थात् -जितने वचन बोलने के मार्ग हैं उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय है । नयों के इन सब प्रकारों का विवेचन यहाँ हमें नहीं करना है । प्रकृत प्रसंग तो निश्चयमय और व्यवहार-नय का है अतः इन्हीं दो नयों पर ही हम यहाँ प्रकाश डाल रहे हैं ।

सर्वप्रथम यहाँ पर इस बात की समझना है कि उपर्युक्त पदादि महावाक्य पयन्त वचन दो प्रकार का होता है—एक तो वस्तुतत्त्व को सत्य (यथावस्थित) रूप में प्रतिपादित करने वाला वचन और दूसरा वस्तुतत्त्व को अगत्य (जैसा नहीं है वैसा) रूप में प्रतिपादित करने वाला वचन । इनमें से वस्तुतत्त्व को सत्य रूप में प्रतिपादित करने वाला वचन सकलादेशी प्रमाण रूप होता है और वस्तुतत्त्व के एक देश को सत्य रूप में प्रतिपादित करने वाला वचन विकलादेशी नयरूप होता है । इसी प्रकार वस्तुतत्त्व को असत्य रूप में प्रतिपादित करने वाला वचन प्रमाणाभास और नयाभास के भेद से दो प्रकार का होता है । जो वचन अवस्तु को वस्तुरूप में प्रतिपादित करता हो वह भी प्रमाणाभास रूप होता है तथा जो वचन वस्तु के एक अंश को संपूर्ण वस्तु रूप में प्रतिपादित करता हो, वह वचन भी प्रमाणाभास रूप होता है । इसी प्रकार जो वचन वस्तु के अंश को दूसरे अंश रूप में प्रतिपादित करता हो वह वचन नयाभास रूप होता है ।

जैनागम में वस्तु को अनेकान्तात्मक माना गया है अर्थात् जैनागम में बतलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और वस्तु के वे अनन्त धर्म वस्तु में जो रह रहे हैं सो उनका वह रहना विरोधी धर्म के साथ हो रहा है । जैसे प्रत्येक वस्तु में भाव रूप अंश रह रहा है तो उसका विरोधी अभाव रूप अंश भी उसमें रह रहा

१ सकलादेश प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति । (सर्वार्थसिद्धि १-६)

२ नैगमसंग्रहव्यवहारजुसूत्रशब्दसमभिरुद्धैवम्भूता नया ॥ १-३३ ॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

३ नयो द्विविधः । द्रव्याधिक पर्यायाधिकश्च । (सर्वार्थसिद्धि १-६)

(नय) द्वेधा द्रव्याधिक पर्यायाधिकश्चेति । द्रव्य सामान्यमुत्सर्ग अनुवृत्तिरित्यर्थः, तद्विषयो द्रव्याधिक । पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः तद्विषयः, पर्यायाधिक । (सर्वार्थसिद्धि १-३३)

४ पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते । तावन्मूलनयो द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च । तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भवविषयः । (आलापपद्धति)



रूप में प्रतिपादन करने वाला वचनरूप व्यवहारनय होता है और उसका उसी रूप में बोध कराने वाला ज्ञानरूप व्यवहारनय होता है । इस बात को लक्ष्य में रखकर ही सर्वत्र हमें वस्तु तत्त्व का निर्णय करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

इसका तात्पर्य यह है कि जब ऐसा आगम में बतलाया गया है कि मोक्षमार्ग दो प्रकार का है एक निश्चय-मोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग, तो दोनों ही मोक्षमार्गों की वास्तविकता को मान कर नय प्रक्रिया से इस बात का निर्णय करना चाहिये कि निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्ष का साक्षात् कारण होता है और व्यवहारमोक्षमार्ग पर-परयाकारण होता है जैसा कि पूर्व में प्रतिपादित किया गया है । इस तरह मोक्षमार्ग की स्वतन्त्र-स्वतन्त्र दो भेदरूपता के प्रत्यय के भय से जिनको व्यवहारमोक्षमार्ग को अकिञ्चित्कर मानने का महारा लेना पड़ता है उन्हें उस महारे की फिर आवश्यकता नहीं लेनी पड़ेगी । इसी प्रकार आत्मा की परिणति को जब औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षयोपशमिक नाम से पुकारा जाता है तो नयात्मक दृष्टिकोण रहने में उसका अर्थ यही होता है कि आत्मा की उक्त, औदयिकादि परिणतियों में कर्म की उदयादि परिणतिया निमित्त कारण हुआ करती हैं । यदि कर्म की उदयादि-परिणतिया आत्मा की औदयिकादि परिणतियों की उत्पत्ति में निमित्त कारण नहीं होने पर उन्हें आत्मा की औदयिकादि परिणतियों में निमित्तकारण कहा जाता है तो फिर यह कथन तो असत्य ही हो सकता है । इसको व्यवहार नय का कथन किमी भी हालत में नहीं कहा जा सकता है । इसे व्यवहार नय तभी कहा जा सकता है जब कि कर्म की उदयादि-परिणतियों में आत्मा की औदयिकादि परिणतियों की निमित्तकारणता का सम्भाव माना जायगा और उपादान कारण ही कार्यरूप परिणत होता है निमित्त कारण नहीं, क्योंकि उपादान कारण का कार्य ही कार्यरूप परिणत होना है निमित्त-कारण का कार्य तो उपादान को कार्य रूप परिणत होने में केवल सहायता देने का ही रहता है इसलिये किमी को ऐसा भय करने की आवश्यकता नहीं कि "यदि कार्य में निमित्त कारण की निमित्त कारणता को वान्त-विक मान लिया जाना है तो निमित्त कारण ही कार्य बन जायेगा ।" इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार ग्रन्थ में आत्मा को स्वतन्त्र और अनादि-निघन वस्तु मिष्ट करने के लिये सर्वप्रथम उक्त के स्वतन्त्र मिष्ट ज्ञायक स्वभाव का प्रतिपादन किया है लेकिन जब आत्मा अनादिकाल से अपने उक्त स्वभाव में स्थिर न रह कर विकारी बन रहा है तो इसके लिये उन्होंने आत्मा की पुद्गल कर्म के साथ बद्धता को भी स्वीकार किया है । अर्थात् जिस प्रकार आत्मा के स्वभाव ज्ञायक भाव को आचार्य कुन्दकुन्द स्वतः सिद्ध मानते हैं उस प्रकार वे आत्मा के विकार को स्वतः सिद्ध नहीं मानते हैं । इस बात को बतलाने के लिये सर्वप्रथम उन्होंने शुद्धनय और व्यवहारनय का आश्रय लिया है । इससे आचार्य कुन्दकुन्द यह दिखलाना चाहते हैं कि यदि आत्मा को स्वतन्त्र और अनादि-निघन वस्तु के रूप में जानना है तो आत्मा के स्वतः मिष्ट स्वरूप को बतलाने वाले शुद्धनय का अवलम्बन लेना होगा, कारण कि वस्तु के स्वतः सिद्ध स्वरूप का प्रतिपादक शुद्धनय है अथवा यो कहिये कि वस्तु के स्वतः मिष्ट स्वरूप का प्रतिपादन करना ही शुद्ध नय है । इसी तरह यदि आत्मा की अनादि काल से चली आ रही विकारी समार रूप अवस्था को समझना है तो इसका ज्ञान शुद्ध नय से ही होगा नहीं, कारण कि वह तो वस्तु के स्वन मिष्ट स्वरूप का ही जापक होता है जबकि आत्मा की विकारी समार रूप अवस्था उक्त की स्वतः सिद्ध अवस्था न होकर ऊर्गोदघटन्य अवस्था है इसलिये इसको समझने के लिये व्यवहार नय का ही अवलम्बन लेना होगा कारण कि वस्तु के पराश्रितस्वरूप का प्रतिपादक व्यवहार नय है अथवा यो कहिये कि वस्तु के पराश्रित धर्म का प्रतिपादन करना ही व्यवहारनय है । इस के भी अतिरिक्त यदि आत्मा की समार रूप विकारी अवस्था को समाप्त कर के उत्पन्न होनेवाली मोक्ष रूप अवस्था को समझना है तो इसका भी ज्ञान शुद्ध-नय में नहीं होगा कारण कि यह अवस्थायी आत्मा की स्वतः मिष्ट अवस्था न होकर कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशमजन्य अवस्था है इसलिये इसको समझने के लिये भी वस्तु के पराश्रित धर्म के प्रतिपादक व्यवहार नय का अवलम्बन लेना होगा ।

अब प्रश्न उठता है कि आत्मा की समार और मोक्ष दोनों ही प्रकार की अवस्थाएँ जब तमस कर्म के उदय में जन्य और कर्म के उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम से जन्य हैं तब आत्मा की समार रूप अवस्था में कर्म का उदय

कारण है और मोक्षरूप अवस्था मे कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम यथायोग्य साक्षात् और परंपरया कारण है तो क्या कर्म के ये उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम आत्मा मे तद्रूप परिणमन की योग्यता के अभाव मे आत्मा को ससारी या मुक्त बना सकते हैं ? इस विषय मे आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है कि वस्तु मे स्वगत योग्यता के अभाव में अन्य कोई भी कारण उस को किनी रूप परिणमन कराने में असमर्थ ही रहा करता है । यही कारण है कि जैनागम में आत्मा की मसार रूप अवस्था का कारण आत्मा की स्वत सिद्ध वैभाविकी शक्ति को तथा प्रात्मा की मोक्षरूप अवस्था का कारण आत्मा की स्वत सिद्ध भव्यत्व शक्ति को भी स्वीकार किया गया है । इस तरह यह बात निर्णीत होनी है कि यथायोग्य कर्म का उदय होने पर आत्मा अपनी वैभाविकी शक्ति के आधार पर समारी बना हुआ है और कर्म का उपशम अथवा क्षयोपशम होते हुए अन्य मे सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा अपनी भव्यत्व शक्ति के आधार पर मोक्ष रूप अवस्था को भी प्राप्त कर लेगा ।

इन मे यह निष्कर्ष निकल आता है कि आत्मा के समार मे उसकी वैभाविकी शक्ति और कर्म का उदय ये दोनों कारण हैं तथा आत्मा के मोक्ष मे उसकी भव्यत्व शक्ति और कर्म का यथायोग्य उपशम, क्षयोपशम और क्षय कारण है । अब यदि मसार के दोनों कारणों के विषय मे यह विचार किया जाय कि मसार के दोनों कारणों मे ने कौन किस रूप में कारण होता है और मोक्ष के दोनों कारणों में से कौन किस रूप मे कारण होता है ? तो आत्मा के मसार मे कारणभूत उसकी वैभाविकी शक्ति उसके मसार मे तथा आत्मा के मोक्ष मे कारणभूत उसकी भव्यत्व शक्ति उसके मोक्ष मे उपादान कारण है कारण कि ये शक्तिया ही व्यक्त होकर क्रमशः मसार और मोक्षरूपना को प्राप्त होती हैं । इसी प्रकार आत्मा के मसार मे कारणभूत कर्म का उदय आत्मा के मसार मे व आत्मा के मोक्ष मे कारणभूत कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम आत्मा के मोक्ष मे निमित्त कारण हैं । कारण कि कर्म का उदय आत्मा के समार रूप मे और कर्म का उपशम, क्षय व क्षयोपशम आत्मा के मोक्ष रूप मे कदापि परिणत नहीं होने केवल आत्मा के उस परिमाण मे महयोग मात्र दिया करते हैं क्योंकि कर्म के उदय का सहयोग न मिलने पर आत्मा की वैभाविकी शक्ति मसार रूप परिणत नहीं हो सकती है और कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम का महयोग न मिलने पर आत्मा की भव्यत्व शक्ति भी मोक्ष रूप परिणत नहीं हो सकती है ।

इस तरह उपर्युक्त निमित्त और उपादान दोनों कारणों मे ने उपादानकारण को तो स्वाश्रयता के आधार पर निश्चय कारण कहना योग्य है और निमित्त कारण को पराश्रयता के आधार पर व्यवहार कारण कहना योग्य है । यह सब विषय पूर्व में विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है । अब यदि इन दोनों ही कारणोंओं के प्रतिपादन करने या बोध करने की दृष्टि मे विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि उपादान कारणता रूप निश्चय कारणता प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव के आधार पर निश्चय नयरूप वचन तथा ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव के आधार पर निश्चय नय रूप ज्ञान का विषय होनी है और निमित्तकारणतारूप व्यवहारकारणता प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव के आधार पर व्यवहार नय रूप वचन का तथा ज्ञाप्य ज्ञापक भाव के आधार पर व्यवहारनय रूप ज्ञान का विषय होनी है । इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने ममयमार मे शुद्धनय और व्यवहार नय के विकल्पो के ममान निश्चय नय और व्यवहारनय के विकल्पो का भी समावेश किया है ।

आगम मे निश्चय नय के भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय इन तरह दो भेद कर दिये गये हैं । इनमें मे आत्मा का विकाररहित शुद्ध स्वरूप स्वाश्रितपने की दृष्टि से शुद्धनिश्चयनय का विषय होता है और आत्मा का विकारी अशुद्ध स्वरूप भी स्वाश्रितपने की दृष्टि से अशुद्धनिश्चयनय का विषय होता है । आत्मा के इसी स्वरूप को यदि पराश्रितपने की दृष्टि मे देखा जाय तो फिर यह व्यवहारनय का विषय हो जाता है । व्यवहार नय के भी आगम मे दो भेद किये गये हैं—एक मद्भूत व्यवहारनय और दूसरा अमद्भूत व्यवहार नय । सद्भूत व्यवहारनय भी दो प्रकार का है—एक अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा उपचरित सद्भूत व्यवहारनय । इसी प्रकार अमद्भूत व्यवहारनय भी दो प्रकार का है—एक अनुपचरित अमद्भूत व्यवहारनय और दूसरा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय । इस विषय को आलापपद्धति में निम्नप्रकार निबद्ध किया गया है—





“तावन्मूलनयो द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च । तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः । तत्र निश्चयो द्विविधः — शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च । तत्र निरुपाधिरगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीवः । रोपाधिर (गुणगुण्यभेद) विषयोऽशुद्धनिश्चयः । यथा मतिज्ञानादयो जीवः । व्यवहारो द्विविधः मद्भूत-व्यवहारोऽमद्भूतव्यवहारश्च । तत्रैकवस्तुविषयः मद्भूतव्यवहारः, निम्नवस्तुविषयाऽमद्भूतव्यवहारः । तत्र सद्भूत-व्यवहारा द्विविधः उपचिन्तानुपचरितभेदात् । तत्र रोपाधिरगुणगुणिनाभेदविषय उपचरितः मद्भूतव्यवहारः यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः । निरुपाधिरगुणगुणिनाभेदविषयानुपचरितमद्भूतव्यवहारः यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः । असद्भूतव्यवहारो द्विविधः-उपचिन्तानुपचरितभेदात् । तत्र मन्त्रेपरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितमद्भूतव्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनम् । मन्त्रेपरहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितमद्भूतव्यवहारो यथा-जीवस्य शरीरम् ।” इमका अर्थ ऊपर स्पष्ट है ।

इस तरह नयो के स्वप्न को यथावत् प्रकार समझने की अत्यन्त आवश्यकता है कारण कि सपूर्ण वस्तु-तत्त्व को समझने का साधन अल्पज प्राणियों के लिये नय व्यवस्था ही है ।

इस नय-व्यवस्था को लौकिक दृष्टान्त द्वारा इस तरह समझा जा सकता है कि “कुम्भकार ने दण्ड और चक्र के सहयोग से मिट्टी से घड़ा बनाया” ऐसा वाक्य यदि बोला जाना है तो इसका अभिप्राय निम्न प्रकार होता है—

यह सपूर्ण वाक्य वक्ता के सपूर्ण अर्थ का यदि निगराक्षरूप में बोधक है तो उसे अपने वर्तमान रूप में प्रमाणवचन और इसमें होने वाले बोध को प्रमाणज्ञान ही कहा जायगा । इस वाक्य के सपूर्ण अर्थ में इनने प्रत्यक्ष गमित है—

अभेददृष्टि से मिट्टी और घट में जो अभेद का बोध होता है यह निश्चयनय है, कार्यकारण-भाव की दृष्टि से जो भेद का बोध होता है यह सद्भूतव्यवहारनय है, मिट्टी की घट रूप परिणति रूप उत्पाद में मिट्टी में जो उपादान-कारणता का बोध होता है यह भी निश्चयनय है, यही पर कुम्भकार में जो निमित्तकारणता का बोध होता है यह अनुपचरित अमद्भूत व्यवहार नय है कारण कि कुम्भकार मिट्टी की घट रूप परिणति में मात्रात् निमित्त कारण है, यही पर चक्र में जो निमित्त कारणता का बोध होता है यह उपचरितअमद्भूतव्यवहारनय है क्योंकि मिट्टी की घट रूप परिणति में परपरया अर्थात् कुम्भकार का सहयोगी होकर ही चक्र निमित्त कारण होता है, और यही पर दण्ड में जो निमित्त कारणता का बोध होता है, यह उपचरितोपचरितअमद्भूतव्यवहारनय है क्योंकि मिट्टी की घट रूप परिणति में दण्डनिष्ठ निमित्त कारणता दो परपरयाओं में अनुरक्त है अर्थात् दण्ड चक्र का सहयोगी होता है, चक्र कुम्भकार का सहयोगी होता है और तब कुम्भकार मिट्टी का सहयोगी होता है ।

इस तरह यह बात अच्छी तरह समझ में आ जानी चाहिये कि चाहे निश्चयनय हो, अथवा चाहे व्यवहार-नय हो, इसमें भी चाहे सद्भूतव्यवहार नय हो अथवा चाहे अमद्भूत व्यवहार नय हो और इसमें भी चाहे अनुपचरितअमद्भूतव्यवहारनय हो या उपचरितअमद्भूतव्यवहारनय हो और अथवा चाहे उपचिन्तानुपचरित-अमद्भूतव्यवहारनय हो—ये सभी नय अपने-अपने ढंग से सद्भूतता प्राप्त वस्तुओं को ही विषय करते हैं । इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि निश्चयनय का विषय ही मद्भूत होता है तथा व्यवहार नय का विषय सर्वथा अमद्भूत ही होता है । इतना अवश्य है कि निश्चयनय सर्वथा मद्भूत विषय को ग्रहण करता है लेकिन चाहे मद्भूत व्यवहारनय हो अथवा चाहे अमद्भूत व्यवहारनय हो दोनों ही कश्चित् मद्भूत विषय को ही ग्रहण करते हैं । कोई भी व्यवहार नय न तो सर्वथा अमद्भूत विषय को ग्रहण करता है और न सर्वथा सद्भूत विषय को ही ग्रहण करता है क्योंकि सर्वथा अमद्भूत वस्तु गद्य की भाँति सर्वथा अभाववात्मक हो जाने में वह नय अथवा प्रमाण किसी का भी विषय नहीं होती है । सर्वथा मद्भूत वस्तु तो निश्चयनय का ही विषय होती है व्यवहार-नय का नहीं । अन्त में उतना ध्यान और रचना चाहिये कि व्यवहार नय का विषय भी भेद और पराधनता की दृष्टि से निश्चयनय का विषय हो जाता है और निश्चयनय का विषय भी भेद और पराधनता की दृष्टि से व्यवहारनय का

विषय हो जाता है। जैसा कि पञ्चाध्यायी में कहा है—

“इदमत्र समाधान व्यवहारस्य च न यस्य यद्वाच्यम्”

मर्दविस्त्यामावे तदेव निश्चयनस्य यद् वाच्यम् ॥ ६४३ ॥

अर्थात् जो व्यवहार नय का विषय है वही संपूर्ण विस्तार का जमाव होने पर निश्चयनय का विषय हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि संपूर्ण नय पृथक्-पृथक् एक-एक दृष्टि है और वस्तु अनन्त धर्मात्मक एवं अनेकान्तात्मक है अन सभा अविरट्ट है।

•



जैन-संस्कृति का प्राण-तत्त्व संयम-योग

सुरेश मुनि,
शास्त्री, साहित्यरत्न



सयम की मौलिकता

जैन-संस्कृति सयम, अव्यायम तथा जीवन-बुद्धि की संस्कृति है। सयम अपने कुछ ऐसा गुणा हुआ-सा, सिला हुआ-सा, रमा हुआ-सा है कि यदि सयम को ऊपर में अलग कर दिया जाय, तो जैन संस्कृति कुछ रहती ही नहीं है और जैन-संस्कृति से अलग सयम का कोई मूल्य-महत्त्व नहीं। तप से भी सयम श्रेष्ठ है। सयम नहीं, तो तप भी तप नहीं—यह जैन-संस्कृति का मूल मन्त्रव्य है। सयम-मूलक तप ही तप है। इस दृष्टि से सयम को जैन-संस्कृति का प्राणतत्त्व—आत्मा कह दिया जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

जैन-संस्कृति की मूल परम्परा के दृष्टिकोण में सयम को धर्म का प्रधानतम अंग माना गया है—जो सीधे तौर पर मोक्ष का प्रमुख कारण है। जैन-संस्कृति के महान् उन्नायक श्रमण भगवान् महावीर ने जब धर्म की व्याख्या के सम्बन्ध में पूछा गया, तो उन्होंने अनेक स्पष्ट-गम्भीर स्वर में कहा—अहिंसा, सयम और तप—यही धर्म का स्वरूप है—

“धम्मो मगलमुक्खिदुट्ठ, अहिंसा सज्जो तवो।”

—दशवैकालिक, १।१

कलिकल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के पास एक जिज्ञासु माधक पहुँचा और बोला—आचार्यवर, आप जैन-संस्कृति के महान् दृष्टा एवं सृष्टा हैं। जैन-वाद-मय का कहीं पार नहीं है, और मेरी बुद्धि भी इतनी स्फीत नहीं है कि मैं उगकी गहराई में पैठ कर उसके मर्म-म्यल तक पहुँच सकूँ। अतः जैन-संस्कृति का मर्म जानने की कामना मन में मजो कर ही मैं श्रीचरणों तक पहुँचा हूँ। कृपया, बतलाइए—मक्षेप में, जैन-संस्कृति का सारतत्त्व-निचोड़ क्या है?

आचार्य हेमचन्द्र ने उस जिज्ञासु की बात को ध्यान-पूर्वक सुना और अपने अत्यन्त मृदुल-मधुर स्वर में कहा—वत्स! आश्रय-असयम ससार की अवेरी गलियों में अटकने का कारण है और सवर—मयम, मोक्ष अर्थात् वन्दन-मुक्ति का साधन है। वस, सक्षेप में जैन-संस्कृति का सारतत्त्व इतना ही है, अपेक्ष समस्त वाङ्मय इसी तत्त्व-दृष्टि का विस्तार है—

आत्मवो भवहेतु स्यात्, सवरो मोक्षकारणम् ।

इतीयमाहंती दृष्टिरन्यदस्या प्रपञ्चनम् ॥

—वीतरागस्तोत्र,

मनुष्य की महत्ता क्यों और किमलिए ।

भारत के महापुरुषों, तीर्थंकरों, ऋषियों और आचार्यों ने समवेत स्वर में मनुष्य की महत्ता-महिमा एवं

गौरव-गरिमा का गान किया है । उस पर विचार-प्रश्न होता है कि, मनुष्य-जीवन की इस गौरव-गाथा का अन्त मूलाधार क्या है ? मनुष्य की अन्तरात्मा में ऐसी क्या विशेषता अन्तर्निहित है, जिसके कारण यह जीवन मृद्गीय तथा नवोन्मृष्ट जाना-माना जाता है ? क्या सपनावातु के इस मिट्टी के पिण्ड के कारण ? मनोऽप्य इन्द्रियो, ऐश्वर्य-भोग एवं वैभव-विलास के कारण ? उत्तर में एक बार नहीं, हजार बार नकार कहना होगा । मनुष्य का शरीर पाकर भी जिसने मानव का-या जीवन नहीं पाया, उसने कुछ नहीं पाया । और, जिसने मानव-मन के साथ मानव-मन भी पाया, उसने सब कुछ पाया, वह हृत्कार्य ही गया ।

स्पष्टतः, इसका अर्थ हुआ कि, मनुष्य केवल भरावर्मा, हाड-मांस का पुतला नहीं है । वह अपने बहुत बड़ी चीज है । मनुष्य जितना बड़ा है, उनका ही बड़ा उसका व्यक्तित्व है और उनका ही बड़ा दायित्व एवं दृष्टिभोग भी । आध्यात्मिक उत्कर्ष, मय्य के उच्च जाद्यों की जितनी भी माधनाएँ तथा उच्च भूमिकाएँ हैं, उन सब का स्रोत मनुष्य की ओर ही प्रवाहित होता है । अहिंसा, मय्य, दया, करुणा, क्षमा और कर्तव्य की धाराएँ हैं, उन सब का उद्गम-उद्गम तथा पाक-परिष्कार मनुष्य-जीवन में ही सम्भव है । मानव की महत्ता का मूल मानदण्ड अन्तर्जा-गता, सत्यमाधना एवं अध्यात्म-उत्कर्ष, इसी भूमिका पर ही टिका हुआ है । जिसने जितना अधिक मय्य, उसमें उनका ही अधिक मनुष्यत्व । इस विद्यार्थ-विद्यार्थि ज्ञानीनर पर मानव-जीवन ही एक ऐसा स्वर्णमय जवमर है जहाँ अन्तर्विवेक का प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है । इस जीवन में ही सत्य-माधना की धूनी गमायी जा सकती है । मनुष्य का क्या बनना चाहिये, क्या करना चाहिये और जीवन को किस माधे, टाधे में टाठना चाहिये यह उच्च विचार, मय्य, अन्तर्जागरण तथा अध्यात्म-विकास की समस्त भूमिकाएँ और सत्य-माधना की पगडिआ इस मनुष्य-जीवन में ही पायी जा सकती है । यह मनुष्य-जीवन ही है, जहाँ अन्तःकार के साथे पर पटी मोह-ममता की धूल को उड़ा, माफ किया जा सकता है । मनुष्य-जीवन ही है, जहाँ विकार-वानताओं ने लडक्का आत्मा पर पटे समस्त कर्म-बन्धन तोड़े जा सकते हैं । यह मानव-जीवन ही है, जहाँ इन्द्रिय, मन, बुद्धि और तन को माधर उनमें सत्य-माधना का मौलिक उद्देश्य पूर्ण किया जा सकता है । यदि यह अवसर हाथ में निकल गया तो फिर पञ्चाक्षर के अतिरिक्त और कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं । यही जैन-संस्कृति का प्राण-धेनू है । जैन-संस्कृति के योगनिर्घण भाग्य-विधायकों ने एक दिन ऊर्ध्वबाहु होकर उद्घोषणा की थी — मानव ! इस जीवन को पकर विकार-वानताओं तथा कर्म-शुद्धों ने मुड़कर बाह्य मुड़ में लुके क्या ? यदि इस बार भी जवमर चुक गए तो फिर ज्ञात-मुद्ध के लिए इस जीवन का भित्ति अवश्य कठिन है —

“इमेण चेव बुज्झाहि, किं ते बुज्जेण बज्जओ ।
बुज्झारिह खलु दुग्गह ।”

—आचार्य, १।१।३

और भी,

“मबुज्झह किं न बुज्झह सबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
नो हूवगमनि गइजो, नो सुनन पुणरावि जीविअ ॥”

—मनुष्यो जाओ, जाओ ! अरे सुन जाते क्यों नहीं ? यहाँ नहीं गये तो परलोक में अन्तर्जागता की प्राप्ति दुर्लभ है । वही तो गने और जीवन की पड़िया कभी लौटकर नहीं आती । मनुष्य-जीवन का पुनर्वाग भित्ति आसान नहीं ।

और भी,

“पुव्वकम्मखयट्ठाए, इम देह ममुद्धे ।”

—उत्तमगयन ६।१८

—पूर्वकर्मों को छोड़ करके के लिए ही इस जीवन को प्राण करना चाहिये ।

इस संदर्भ में जैन-संस्कृति के इस मूल्य तथ्य का एक क्षण के लिए भी नहीं भूलना चाहिये कि मानव





कुठ, करने के लिए है, यो ही गवान, मिटाने और खपाने के लिए नहीं है। मनुष्य इस चिन्तामणि रत्न से, इस अनमोल जीवन में बड़े-से-बड़े माध्य—जो अन्यत्र दुर्लभ एवं दुप्राप्य है—प्राप्त कर सकता है, यदि वह उगे माज ले, परिष्कृत कर ले, मयम तथा मयदा के माचे में ढाल ले। जैन-संस्कृति मानव-मात्र से यही अपेक्षा रखती है कि, उसका जीवन समय की पवित्र भावना में कमा हा, मया हो, नियन्त्रित हो। समय की इस अमूल्य शक्ति की उपलब्धि के लिए, मयम-माधना की उच्च-उदात्त भावनाओं को आत्ममात् करने के लिए मानव-जीवन एक स्वर्णिम अवसर है, एक दुर्लभ 'चाम' है। अतः अत्यन्त दुर्लभ तथा विजली की चमक के समान चंचल मनुष्य-जन्म को पाकर जो व्यक्ति मयम-माधना में प्रमाद करता है, वह कापुरुष है, सत्यपुरुष नहीं —

“त तह दुल्लह लभ, विज्जुलयाचचल मणुस्सत्त ।

लद्धूण जो पमायइ, सो कापरिमो न सप्परितो ॥”

—आचार्य मलयगिरि

जैन-संस्कृति का महान् आघोष

मनुष्य के मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा शरीर के प्रवाह को समय की दिशा में मोड़ने के लिए और कर्तव्य की भावना जगाने के लिए एक दिन मानव की अन्तरात्मा को शकओरते हुए जैन-संस्कृति के मनीषी विचारकों ने महान् उद्घोष किया था मानव ! तेरे जीवन पर, तेरी आत्मा पर तेरा अधिकार नहीं है। उन पर अधिकार और किसी का है, दूसरों का है, तेरे विराजियों तथा शत्रुओं का है। तेरे ऊपर, तेरे घर पर, अधिकार जमाने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ, अमयम तेरे मित्र नहीं, प्रत्युत अन्तरंग शत्रु हैं। इन अन्तरंग शत्रुओं ने ही तेरी आत्म-शक्ति को, तेरी इन्द्रियों, तेरा मन, बुद्धि और तेरे शरीर, तेरे जीवन के कण-कण को चंचल एवं अशान्त बनाया हुआ है, बेभान कर रखा है। इन्हीं विकारवामनाओं एवं असयम-मूलक भावनाओं के कूड़े-कंकट के नीचे ही तो दबा हुआ है तेरी आत्मा का शुद्ध स्वरूप। इन्हीं विकार-वासनाओं ने तो छीन ली है तेरी आत्म-ज्ञानि, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की अमूल्य आत्म-निधि। इन अमयम पोषक विकारों के मूल ने ही तो विकृत-गदला किया हुआ है स्फटिक के समान तेरे आत्म-स्वरूप को। इन्हीं अमयम की कामनाओं के कुहरे ने तो धुंधला बना दिया है तेरे मन-मानस के दर्पण को। अमयम में पराजित यह तेरी आत्मा, कपाय और इन्द्रिया-यही अन्तरंग शत्रु हैं तेरे। असयम मेरची-पची आत्मा, अपना जितना अनर्थ कर बैठती है, उतना अनर्थ मिर काटने वाला शत्रु भी नहीं कर सकता —

“एगप्पा अजिए सत्तू, कस्ताया इदियाणि य ॥

—उत्तरा०, २३।३८

‘न त अरी कच्छेत्ता करेइ, ज से करे अप्पणिया दुग्ग्पा ॥

—उत्तरा०, २०।४८

उपर्युक्त अध्यात्म-विचारों के प्रकाश में, जैन-संस्कृति के ज्योतिर्धर-चिन्तकों ने मानव की अन्तरात्मा को आत्म-मनन, आत्म-दमन एवं आत्म-मयमन की प्रबल प्रेरणा प्रदान करते हुए एक दिन यही उद्घोष किया था—पुण्य ! यह जीवन पाकर तुझे अपने आपका दमन एवं मयमन करना चाहिए। पर अपने आप का दमन करना है अत्यन्त कठिन। किन्तु जो, अपने आपका दमन कर लेता है, वह इस लोक तथा परलोक में-उभयत्र सुखी होता है —

अप्पा चेव दमेयवो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।

अप्पा दतो सुही होई, अस्सि लोए परत्थ य ॥

—उत्तरा०, ६।१५

और भी,

अप्पा हु खलु समय रत्तियवो,

सच्चिदिहं सुसमाहिएहि ।

अग्निश्रोत्रो जाइपहं उवेह,
सुरविश्रोत्रो मन्व-दुक्खाण मुच्चइ ॥

—दशर्वे०, द्वितीय जूलिका गा० १६

मात्र को अपनी समाहित-भाविन इन्द्रियों के द्वारा जन्म में सनन अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। अर्गलिन आत्मा कुछ पर चल्कर समार में भटकती है और मुक्ति आत्मा प्रशन्न-पथ पर चलकर सब दुःखों में मुक्त हो जाती है।

समय का अर्थ क्या ?

चित्रकार जब जिमी की चित्र का निर्माण करता है, तो उन के लिए उसे सर्व-प्रथम रेखाएँ खींचनी होती हैं। उन रेखाओं के आधार पर ही वह चित्र का निर्माण करता है। रेखाओं का आधार पाए बिना चित्र का सर्वांग-सुन्दर एवं सुगठित मृज्ज नहीं हो सकता। ठीक यही स्थिति जीवन के सम्बन्ध में भी है। मानव-जीवन का मुख्यवर्णन, सुगठित विज्ञानात्मक एवं साधनात्मक निर्माण करने के लिए भी, उसे रेखाओं पर टालना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। यह रेखाएँ हैं मर्यादा की, समय की, आत्म-विवेक की जैन-संस्कृति की भाषा में इन अध्यात्म-मर्यादाओं तथा मर्यादों की स्वीकृति का नाम है — समय।

‘समय’ का विशद-व्यापक अर्थ है—जबने ऊपर, अपने द्वारा अपना नियन्त्रण। मम् + यम = विवेक-पूर्वक अपनी इच्छाओं, मृगा-मृगक गन्माओं तथा पायिक गमनाओं का नियमन करना। जीवन में नैतिकता आध्यात्मिकता, आन्तरिक शान्ति एवं उद्वेगन ताने का नाम है समय। समय का अर्थ है कि, मनुष्य अपने इस जीवन में विकार-बामनाओं, इच्छाओं तथा भौतिक एषाओं से परहेज कर, बुगड्या में दूर रहे। मनुष्य अपने शरीर, इन्द्रिय और मन का स्वयं संयोजक बने। जीवन का यह एक स्पष्ट-प्रत्यक्ष तथ्य है कि ग्राह्य, नाक, कान, जिह्वा आदि जितनी भी इन्द्रियाँ हैं, वह सब अना-अनात्म दृष्टि के लिए इन्द्र-इन्द्र लपकती हैं। आत्म-नस्व इन इन्द्रियों की ललक-गन्माओं एवं मन के विषय-विशयों में खोना-खाया न दिने, इनके लिए जीवन में समय अनिवार्य है, अपरिहार्य है। समय का उद्धार अर्थ है—अने मन पर, अने मन पर, अपनी इन्द्रियों पर, उनकी कामनाओं-लालमाओं पर, उनकी गठन शोड-पूरा पर अना-अधिव्यन स्थापित करना, उन पर विजय प्राप्त कर लेना। जीवन का सार्वभौम एवं सर्वानुवर्ती विकास बिना इस आध्यात्मिक के हो नहीं सकता। अब जैन-संस्कृति का एक अमरगात्र अपने समय-स्वर में गा रहा है। यदि तु समार से भय खाता और मोह-प्राप्ति की आकांक्षा रखता है, तो इन्द्रियों को जीतने के लिए, उन पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए अपने प्रव्रज पुण्याय का काम मेरा —

“विभेदि यदि समागन्, मोक्षप्राप्ति च वाङ्मनि ।

तदेन्द्रियजय कर्तुं, स्फोरय स्फार पोसपम् ॥

—उपाध्याय यज्ञविजय, ज्ञानमार, इन्द्रिय-जयाष्टक ज्यो० १

जैन-संस्कृति के मुख्य तत्त्व-द्रष्टा आचार्यों का कहना है कि, ये इन्द्रियाँ जीवन में प्रकाश भी फैकती हैं और अन्धकार एवं धुँआ भी फैकती हैं, ये जीवन में अमृत का संचार भी करती हैं और विष का प्रसार भी करती हैं। ये जीवन का उद्धार भी करती हैं और महार भी करती हैं। ये इन्द्रियाँ जीवन में स्वर्ग का अवतरण भी करती हैं और नरक का मृज्ज भी करती हैं। समय एवं नियन्त्रित इन्द्रियों स्वर्ग का निर्माण करती हैं, तो अमयत तथा अनियन्त्रित इन्द्रियाँ नरक का मृज्ज करती हैं —

“इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं, यत्स्वर्गनरकावुनी !

निगृहीत-विमृष्टानि, स्वर्गाय नरकाय च ॥”

और मनुष्य के पान हैं भी क्या ? मन, वाणी तथा शरीर यह तीन ही तो साधन हैं उसके पान, जीवन का वनाव-विगाह करने के लिए। वह इन तीनों साधनों का सदुपयोग भी कर सकता है और दुष्योग भी कर





सकता है। इनके द्वारा वह अमृत भी पी सकता है और विष भी पी सकता है। ये तो साधन है—जैसा उपयोग किया जाएगा वैसा ये अपना चमत्कार दिखावा देंगे। प्रकाश और अन्धकार अथवा अमृत तथा विष—यह सब तो मनुष्य की अपनी बुद्धि तथा योग्यता पर निर्भर है। जो व्यक्ति सयम, विवेक, विचार में काम नहीं लेता है, मन में सयम का सकल्प नहीं रखता, वाणी पर सयम की लगाम नहीं लगाता, और शरीर की चेष्टाओं पर भी कोई विवेक अथवा सयम का अकुश नहीं लगाता उसके लिए ये मन, वाणी और शरीर अन्धकार तथा विष भरने वाले बन जाते हैं जीवन में। और, जो व्यक्ति मन में सयम का शुभ सकल्प रखता है, वाणी को भी सयन रखता है और शरीर की चेष्टाओं-क्रियाओं पर भी सयम तथा नियन्त्रण का अकुश लगा लेता है, उस सयमशील साधक के लिए वे ही मन, वाणी और शरीर प्रकाश देने वाले, बन्धन टोलने वाले, गुणकारी साधन बन जाते हैं —

मणो य वायकाओ य, तिविहो जोगसगहो ।

ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स उ गुणावहा ॥

—बृहत्कल्प, ४४४६

और भी,

हृत्थसजए, पायसजए, वायसजए, सजइविए ।

—दशवैकालिक, ६० । ५

साधक ! तू अपने हाथों को सयत रख, पैरों को सयत रख, अपनी वाणी को सयत रख और अपनी इन्द्रियों को सयत रख ।

और भी,

इन्द्रिययो न जितो सो, धीराण धुरि गण्यते ।”

—ज्ञानसार, इन्द्रियजयाष्टक

—जो इन्द्रियों के द्वारा नहीं जीता गया—इन्द्रियों के अधीन नहीं हुआ, वस्तुतः वही धीर—बुद्धिमान् पुरुष है ।

प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का सन्तुलन ही संयम का मूलभूत अर्थ है ।

जैन-संस्कृति के मूलभूत दृष्टिकोण से जीवन का अर्थ निष्क्रियता एवं जडता नहीं है। जीवन का अर्थ है क्रियाशीलता, गतिशीलता। गति-विहीन जीवन, जीवन नहीं है, जीवन की लाश है। सुर्वे की तरह निष्क्रिय पड़े रहना अपने-आप में कोई धर्म नहीं है। कोई भी व्यक्ति छोड़े पर चढ़ता है, तो चलने के लिए चढ़ता है। इसलिए नहीं चढ़ता कि गही जाम हो जाए। वह छोड़े पर चढ़ता है और उसे गति देता है, चलाता है। साथ ही, उसकी लगाम भी हाथ में याम लेता है। जहाँ तक उसे चलना है, चलने की आवश्यकता है, उसे चलाता है, और जहाँ आवश्यकता खड़ा होने की होती है, वह उसे खड़ा कर लेता है उसकी लगाम ढींचकर। वही गति है, प्रवृत्ति है छोड़े पर चढ़कर चलना और यत्ति-निवृत्ति है, आवश्यकता पड़ने पर झट से लगाम ढींच कर उसे खड़ा कर लेना। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के इस सन्तुलन में ही जीवन का वास्तविक विकास है। जीवननिर्माण की यही सही दिशा है। जैन-संस्कृति का यह महान् स्वर आज भी हमारे कानों में गूँज रहा है कि, “साधक एक ओर से निवृत्ति करे और दूसरी ओर प्रवृत्ति करे। अमयम से निवृत्त हो और सयम में प्रवृत्त हो —

“एगओ विरइ फुज्जा, एगओ य पयत्तण ।

असजमे नियत्ति च, सजमे य पवत्तण ॥”

—उत्तरा०, ३१ । २

सयम-साधना जीवन का एक सार्वभौम नित्य है। सयम का अर्थ है आत्म-शक्ति बढ़ाना और उस शक्ति का उद्देश्य है—जीवन का सर्वांगीण विकास करना। इस सम्बन्ध में, श्रमण भगवान् महावीर न कछुए का एक

मुन्दर रूपक समाज के सामन गया है। उन्होंने कहा है कि, जब कछुआ चरना है, तो अपने अंग-प्रत्यंगों को खोलकर चलता है। मिल्तु जहा जग भी भय या डरना होना है, तो तत्काल वह अपने सब अंगों को अन्दर निकोड़-मकोड़ लेता है, छिपा लेता है। उतग टला, तो पन्-भर मे फिर फैला-निकाट लेता है, बाहर अपने अंगों को। इसी प्रकार माधव भी अपनी मयम-यात्रा के भाँ पर मनकना, नावधानी और विवेक के साथ चले। जब आवश्यक हो अपनी इन्द्रियों ने, मन ने, तन ने काम ने श्री- जहा मयम-विगधना का भय हो, जहा बाह्य-जातु में कहीं तन, मन, इन्द्रियों के अंतर, भटम जीन बहर जाने का प्रमग जा जाए, वहा कछुए की भांति अपने अंगों—तन, मन, इन्द्रियों को आत्म-जान मे छन्नर मे ही गोपन करे रहे -

"जहा कुम्मे सअगाड, मए देहे समाहरे।

एय पावाइ मेहावी, अज्जापेण समाहरे ॥

— सूत्रकृतांग, १।८।१६

जीवन की गाड़ी चलाने की मनाही नहीं

जैन-मन्युति की मूक्तानी अध्यात्म-परम्परा के अनुसार जीवन यात्रा की गाड़ी का चलाने की मनाही नहीं है ! प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की यह गाड़ी मिली है, ता उसे चलाने का अधिकार भी देने साथ ही मिला है। जैन-मन्युति का उम मन्थन ने मनेन केव- उल्ला ही है कि जीवन-यात्रा पर ज़रमर होते हुए, जीवन की गाड़ी को चलाने हुए बेमान-उल्ला तन अविवेकी न बनो। तने ही ज्ञान मे गाड़ी को बेनहामा दीडाने मन चलो। मन-मन्थिण एव विवेक-तुष्टि को नडा-मवंडा उरं, जात्रण एव विवेक-युक्त ला, नाकि जीवन नहीं गड्ढे में न गिर जाए, द्रवर-उधर किसी मे टकरा न जाए, नाई तुम्हारी गाड़ी ने आगे आकर रुकन न जाए। जीवन की गति न एकदम उन्मुक्त, मयदा-हीन, एव उन्मुक्त ही होनी चाहिए और न एकदम गति-युक्त तथा निष्क्रिय हो होनी चाहिए।

जैन-मन्युति के महान् मन्थारक भगवान् महावीर के पाम एर जिज्ञामु माधक पट्टचा। बन्दन किया और विनत मुद्रा मे प्रमन रिता मने। जीवन-यत्र पर हम चलने हैं, तो भी पाप लगता है, खडे होते हैं—तो भी पाप येन लेना है, बंटेने हैं तो भी पाप दगा लेना है, ताने हैं तो भी पाप पिट नहीं छोटना, खाते हैं तब भी पाप हो जाता है। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति एव क्रिया पर पाप की कारन छाया बुगी तन छाया हुई है। जीवन का प्रत्येक स्पन्दन पाप मे मना है। जीवन की समस्त क्रियाए-बेन्टाए पापमय हैं। तो प्रभो ! हम कैसे चले, कैसे खडे हो, कैसे बैठे, कैसे जाए, लाए-पिए जी- हीने बोवें-जिवने पाप हमे न टू मने ? भगवन् ! क्या ऐसा भी उपाय है जिसमे जीवन-यात्रा मे उम पाप मे टुटकारा मिग मने ?

"कह चरे कह चिट्ठे, कहमासे कह मए।

कह भुजनी भामनी, पाव-कम्म न बधइ ॥

— दगवैकानिक, ४।७

तो, भगवान् महावीर न अपनी धी-गम्भीर मुद्रा मे उम माधक के मन के लिए समाधानात्मक मार्ग-दर्शन करने हुए कहा कम्म ! निगम मन होओ। जीवन ही ये मार्ग प्रवृत्तिया तथा क्रियाए—जिनमे तुमने पाप-ही-पाप देखा है—धर्म का रूप मे मरती है, पाप-विस्तृत हो मरती है यदि तुम जीवन की एक कण का अभ्यास कर लो। उन गत के जाने ही जीवन की समस्त बेन्टाए-प्रवृत्तिया उज्ज्वल-मणुज्ज्वल जात्म-स्वरूप की ओर मुड जानी है और वह दगा है त्रय की, अलविदेव की, मनेन नावधानता की। मयम मे चलो, मयम से बडे होजा, मयम मे बैठो, मयम मे मोक्ष, मयम मे ज्ञान, जीन मयम मे वाओ। जीवन को प्रत्येक स्पन्दन का मयम एव विवेक के प्रकाश मे नोट हो, तो पाप का अन्वसा जीवन मे आही नहीं मरना—पाप-कर्म तुम्हारी आत्मा को छ नहीं मक्ता, पाप का बन्धन हो नहीं पटना। क्योंकि, पाप किसी क्रिया अथवा प्रवृत्ति मे नहीं रहा हुआ है। पाप रहता है अमयम मे, अविवेक मे, अयत्ना मे —



“जय घरे जय चिट्ठे, जयमागे जय सोए ।

जय भुजतो नामतो, पावकम्म न वणइ ॥

— दशमिका, ८।८

जीवन के सारथि बनो

जैन-संस्कृति की मूल परम्परा की भाषा में, इन्द्रिय, मन और शरीर का जीवनका अंग उन्हीं मारना, उनके साथ श्रवणाय करना नहीं, प्रत्युत उन्हें समय एवं त्याग के प्रयोग पर पर चलाकर ठीक ढंग में साधना और साधना उनमें मनचाहा अध्यात्म-उत्कर्ष का सर्वोच्च-सर्वोपरि काम लेना है । जैन मार्गविद्या का जीवन है, यह तो ठीक ढंग से चलाने के लिए उन्हीं तैयार करता है और फिर उस में जोड़कर उनकी वाग्विधि अपने मनुष्य ज्ञान के मन्त्राङ्ग बनाता है, उनसे मनचाहा काम लेना है—उनको जिधर चाहता है, चलाता है, जाता चाहता है, मानता है, जैसा गति में चाहता है, वैसे ही गति से काम लेता है और जहाँ रास्ता होता है वहाँ से बागडोर नीचकर उन्हीं रास्ते लेता है, इसी प्रकार मानव शरीर भी एक रथ है । आत्मा उसका मार्गवि । इन्द्रिया घोंटे हैं और मन बागडोर । आत्म-माधक उन सबको साधकर इनमें मयेच्छ साधना का काम ले, इनका अपने उद्योगपर चलाए—जैन-संस्कृतियोगीयम-माधना की कला सिगलाने की प्राणनेतना प्रदान करती है । मानव अपने आप में योगी योगी, विद्यार-विद्यार न रहे, किन्तु समय-पथ की ठीक दिशा में गति-प्रगति करे, मनुष्य की अन्तरात्मा को जैन-संस्कृति यहाँ बोध-परिवोध कराना चाहती है । आर्य जिधर चाहें उधर न दौड़ सकें, रूप रंग पर न लुभा सकें, जो चाहें, वह न देन सकें, प्रत्युत माधक जो देखना चाहें, वही आर्य देवें और जो वह न देना चाहें, न देवें । जान जो सुनना चाहें, वह न सुन सकें, माधक की अन्तरात्मा जो सुनना चाहें, वही कान सुनें, जो वह न सुनना चाहें, वह न सुनें । माधक जिस रंग का आस्वादन करना चाहें, वही रंगना आस्वाद करे और जो वह न चाहें, रंगना उस और न जा सके । नाक जो चाहें, वह न मूँच सके प्रत्युत साधक जो चाहें वही नाक सूँघे और जो वह न चाहें, वह न सूँघ सके, मन जो चाहें, उद्योगकूद न मरा सके, जा चाहें, वह न सोच सके, इधर-उधर के व्यर्थ के मकल्प-विषयों के भ्रम-आश्रय में न उलझे, प्रत्युत साधक अपने मन से जो साधना चाहें, वही मन मोचे, और जो वह न मोचना चाहें, मन झूल कर भी उसे न साध सके । शरीर में जो भी साधना का कार्य माधक लेना चाहें, वही शरीर चेष्टा करे—अपनी मनचाही शरीर भी न कर सके—समय का मूल तात्पर्य यही तो है ।

जैन-संस्कृति की मूल प्रेरणा यही है कि साधक अपने मन, इन्द्रिय तथा शरीर का अधिपति तथा स्वामी बन कर रहे—उनका दास, नौकर अथवा गुलाम बनकर नहीं । स्वामी का यह कार्य नहीं कि वह अपने नौकरो के इशारे पर चले, उनके नचाये नाचे, उनकी गुलामी करे । नौकर इधर-उधर गट-गट, गल-गल करते रहे, हुडदग मचाते रहे, तांड-फोड़ करते रहे, अराजकता फैलाते रहे और स्वामी टुकुर-टुकुर देखता रहे, बैठा-बैठा घामू बहाता रहे यह स्वामी का स्वामित्व नहीं है । स्वामी का अर्थ है कि वह अपने नौकरो को आज्ञा दे, उन्हें अपनी आज्ञा के इशारे पर चलाए, उनमें यथष्ट काम ले, उन्हें पूर्णतः अपने अनुशासन में रखे, अपना पूर्ण आधिपत्य रखे उन पर । ये इन्द्रिया, यह मन, यह शरीर भी तो नौकर ही हैं न आत्मा के । इनका स्वामी आत्मा उन्हें गलत दिशा में जाने में रोके, गलत काम करने में मना करे और उचित कार्य करने की प्रेरणा दे—उनसे कार्य कराए । उनका शासक बने— उनके ऊपर अपना अनुशासन चलाए, जिससे आर्य जहाँ जाना चाहें, न जा सकें, जान जिधर चाहें, न दौड़ सकें, जिज्ञा जो चाहें न बोल सके, जो चाहें वह न चख सकें । हाथ-पाव भी अपनी मनमानी करने पर न उतर आए । आत्मा के गक्रेत की ओर ही मन इन्द्रिया, मन और हाथ-पाव गति-यति करें । ये सब नौकर तो सभी ठीक ठीक त्रिया करेंगे, जब साधक का उन पर कडा पहरा होगा । प्रत्येक इन्द्रिय पर, मन पर, शरीर पर अपना पहरा बैठा देन पर ये साधक की आत्मा को चकमा न दे सकेंगे, बोध में न डाल सकेंगे, प्रत्युत अपनी चिर-अव्यस्त उच्छृंगलता एवं स्वच्छन्दता का परित्याग कर साधक की प्रबुद्ध आत्मा के अनुशासन में चलने के लिए विवश हो जाएंगे । समयशील साधक अपनी आश्रयों पर, अपने कानों पर, अपनी रगना पर, अपनी नाक पर, अपने हाथ-पाव पर, अपने मन पर, अपने जीवन की मयस्त गति-विधियों पर अपना शासन चलाता है, उन पर अपने आधिपत्य तथा स्वामित्व का वचस्व सस्थापित करता है । आत्म की वागडोर वह प्रतिक्षण अपने

हाथ में रखना है—जैसे फीनवान अपने हाथ में अकुश लिये रहता है। जब हाथी उन्मत्त होकर इधर-उधर भागने का यत्न करता है, उन्मार्ग पकड़ लेता है, तो वह तत्काल उस पर अकुश लगाना है। अकुश का प्रहार होते ही हाथी काठ में जा जाता है, नियमित हो जाता है, ठीक-ठीक चलने लगता है। इसी प्रकार जब इन्द्रिया, मन और शरीर उन्मार्ग—रागना-पद में उधर-उधर घटने-भटने का यत्न करते हैं, तो समयी साधक भी उन पर समय, आत्म-चिन्तन, ज्ञान-विचार का अकुश लगाना है, उन्हें आन नियंत्रण में ले आता है, जिसमें वे सब अपनी-अपनी सीमा-मर्यादा में रहकर ठीक-ठीक कार्य करने लगते हैं। जैन-संस्कृति के वरिष्ठ विधायकों की समय के सम्बन्ध में यही मूलभूत दृष्टि है कि तुम अपने कामों को जानो। आने भग्न-विज्ञान और जीवन-निर्माण उनकर स्वयं अपने जीवन का निर्माण करो। आत्म-ज्ञान एवं जीवन-विज्ञान ही यही सही पगडंडी है।

०



पथ का सम्बल : रत्नत्रय

साध्वी उमरावकुंवरजी 'अर्चना'

जनसिद्धान्ताचार्य



प्रत्येक मननशील मानव के समक्ष एक ही मुख्य प्रश्न रहता है कि आत्मान्ति कैसे करें ? अनादि काल से मानव इस उन्नति-क्रामना का मजोए हुए है ।

लेकिन देखना यह है कि उसके पास पर्याप्त मोरल, निर्भयता, आज्ञा, उत्साह, साहस, धैर्य आदि, जो आत्मोन्नति के लिए अनिवार्य हैं, हैं या नहीं ? इन मायों के बिना वह उन्नति-पथ की ओर अग्रसर हो नहीं सकता । साथ ही उसकी बुद्धि में जागरूकता, प्रगल्भता, विवेक और दूरदर्शिता होनी चाहिए । बुद्धि ही मानव का विलक्षण बल है—'प्रज्ञाना बल एवे निष्प्रज्ञस्य बनेन किम् ?' इसी दीपक ने मनुष्य को ससार में सब कुछ दिखाई पड़ना है—'बुद्धिर्दीपकला लोके यया सर्वं प्रकाशते ।' अतएव बुद्धि निर्वल, निष्क्रिय और मलिन हागी तो मनुष्य लक्ष्यच्युत हो जायगा ।

मन्दबुद्धि या दुष्टबुद्धि भी कही उन्नति कर सकता है ? जिसे सूझ-बूझ नहीं जानी वह मतिहीन साथ ही गतिहीन भी हो जाता है ।

प्रज्ञाशील पुरुषों ने आत्मोन्नति के इच्छुकों को तीन साधन अनिवार्यरूपेण अपनाने का निदेश किया है । तत्प्राथम्य में कहा है—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चात्रि, ये तीन मुक्ति पथ के परम साधन हैं । इन के सहयोग के बिना साधक की उद्देश्यपूति असम्भव है ।

अग्नेजी के प्रसिद्ध कवि टेनीसन ने भी एक स्थान पर लिखा है—आत्मज्ञान, आत्मविश्वास और आत्ममयम केवल ये तीन ही जीवन की परमशक्तिसंपन्न बना देते हैं ।

आत्मविश्वास

आत्मविश्वास का मुख्य उद्देश्य है आत्मशुद्धता का निराकरण । आत्मविश्वास के बिना मनुष्य एक कदम भी प्रगतिपथ की ओर नहीं बढ़ सकता । आत्मविश्वास के बिना आत्मा बलवान नहीं हो सकता । एक शक्त का यह मुहूर्त सरूप होना चाहिए—आत्मा ऐसी बलशालिनी बन जाए कि मन-मेरु कभी विचलित न हो । विशालकाय पर्वत आगर मेरी राह गाँव और भीम-प्रवाहिनी वेगवती नदियाँ पथ की बाधक बनें अथवा गजना के साथ गागर हिलोरोँ ले रहा हो उसके बीच में मेरी नौका डगमगा रही हो ऐसी भयानक अवस्था में भी आत्मविश्वास डिगने न पाये ।

आत्मविश्वास के अभाव में मानव पशुवत् हो जाता है । मन के लगडे को स्वर्ग के अगस्त्य देव भी नहीं उठा सकते और आत्मा की अपरिमित क्षमिता में विश्वास रखने वाला व्यक्ति असंख्य देवों को अपने सामन झुका सकता

है। आत्मविश्वास की कहीं भटकना नहीं, कहीं अटकना नहीं, पथभ्रष्ट हाता नहीं। वह अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए साहस का सम्बल लिए प्रतिष्ठा प्रयत्नशील बना रहता है। उसे अपनी आत्मा की अजेय शक्ति और अमरता पर पूर्ण विश्वास होना है।

—स एव धन्यो विपदि स्वरूप न विमुञ्चति

वही धन्य है, जो विपत्ति में अपने स्वरूप को नहीं छोटता है। श्री तिलक महोदय लिखते हैं—“कठिनाइयाँ हमारे साथ अनेक उपकार करती हैं। वे हमारे अन्दर नाहुँ भरती हैं और हमें सब प्रकार से योग्य बनाती हैं। अतएव श्रीगुरु, इन में डरो नहीं, इन्हें प्रसन्नता से गले लगाओ” चाहे आकाश गिर पर गिर पड़े, चाहे हिमालय पर्वत मार्ग रोक कर उठा हो जाए चाहे मृत्यु सामने आ जाए, परन्तु फिर भी मन टगे।

मनुष्य जैसा मोचना है वैसा ही बन जाना है। मन उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को महापुरुषों की जीवनियों का अवलोकन करना चाहिए।

मर्यादा पुस्तोत्तम श्रीराम का वन में मच्छा नाथी सिवाय आत्मविश्वास के कौन था ? उनके सामने कितने विकट कार्य थे ?

“विजेतव्या लका, चरणतरणीयो जलनिधि ,
विपक्ष पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपय ।
तथाप्येको राम सकलमवधीडाससकुल,
क्रियातिद्धि सत्त्वे भवति, महता नोपकरणे ।”

लंका को जीतना था, समुद्र को पैदल पार करना था, शवण जैसा विरोधी था, और उस रणभूमि में जानर ही महायज्ञ थे। फिर भी अकेले राम ने राजसकुल का महार कर डाला। महापुरुषों की कार्यनिधि साधनों पर नहीं उनके आत्मबल पर निर्भर रहती हैं।

प्रायः लोग अपने दुर्बल अंग का ही ध्यान रखते हैं किन्तु प्रबल पक्ष-विश्राम-में विश्वास नहीं करते। यही आत्महीनता का कारण है। इस में मनुष्य को अपने जातिमिक बल की अनुभूति नहीं होती और उसका मन बाहरी परिस्थितियों में परास्त, पराधीन हो जाता है। योगवासिष्ठ में कहा है—

“मं ब्रह्म नहीं हूँ” इस दृष्टिकल्प में मन व्यग्र में पड़ जाता है — “नाहं ब्रह्मेति सकल्पात्समुद्वाद् वक्ष्यते मम ।” अपने प्रति अविश्वास या मिथ्या विश्वास होने में मनुष्य में विद्यमान शक्ति भी पलायन कर जाती है। जागृत ही मोक्ष रई तेहि को मर्क जगदी ? अपने ही को छोकर कोई क्या क्रमाएगा ?

आत्ममर्पण करने वाला भी कहीं विजयी होना है ? यात्रियों को लेकर एक जहाज समुद्र पार जा रहा था। दुर्भाग्य ने अचानक तूफान आ गया। नाविकों ने यात्रियों को बचाने का शक्ति-शर प्रयत्न किया मगर वे सफल नहीं हो सके। अन्त में जहाज दुर्घटनाग्रस्त हो गया। देखने-देखने नागर के वृक्ष म्यल पर लार्थें तैरने लगी। नाविक तैर कर किनारे पहुँच गये। उन समय का दृश्य अत्यन्त करुणाजनक था। आठ-दस वर्ष का बालक निर्भीकता से, चेहरे पर मुन्कगहट लिए, हाथ पैर मार रहा था और समुद्र तैरकर किनारे लगने का बड़े साहस के साथ प्रयत्न कर रहा था। छोटे बच्चे का आत्मविश्वास और अपूर्व साहस निकटवर्ती व्यन्तर देव ने देवा और महसा उपहामपूर्वक कहा—अरे बच्चे, निरर्थक क्यों हैगन हो रहा है ? जब जहाज के मर्मी यात्री अनीम नागर के उदर में नमा गये हैं तो तेरी क्या विमात है ? छोड अपना व्यर्थ का प्रयाम। बच्चे ने अत्यन्त दृढता से कहा—आप अपना काम करें, मैं अपना काम कर रहा हूँ। बिना मागे सलाह देना क्या उचित है ? देव ने दुबारा समझाने की कोशिश की पर बच्चे ने अपना साहस नहीं छोडा। उसने दृष्टापूर्वक कहा—जब मरना ही है तो वीरों की मौत क्यों न मरू ।



बच्चे का अद्भुत साहस देख कर देव ने प्रमन्नता में बच्चे को इच्छित स्थान पर ले जाकर छाड़ दिया। आत्म-विश्वासी के उन्नति-पथ में विकट में विकट परिस्थितियाँ भी बाधक नहीं बन सकती। पत्थर की चट्टान जो बमजोरो की राह का रोड़ा होती है, शक्तिशालियों के लिये मफ़ता की मीठी बन जाती है। टालपटाय ने कहा है—“विश्वाम जीवन की शक्ति है।” जर्मी टेलर ने कहा—

विश्वाम सारे वरदानों का आधार है। विश्वास तूफानी नागर में हम गो घेना है, पर्वतों को ढिगा देना है, नागर लाघ जाता है। विश्वाम एक कोमल पुष्प नहीं है जो मातारण वायु के झोंके में कुम्हला जाय। यह हिमालय के समान अडिग है। उन्नति-सदा का यह प्रथम सोपान है।

आत्मज्ञान

आत्मोन्नति का दूसरा माधन आत्मज्ञान है। अन्तर्ज्ञान या आत्मज्ञान का मन्त्र अर्थ है अपने को पहचानना, अपनी आत्मशक्ति की यथार्थ जानकारी होना। जब तक मानव वस्तु के गुण-दोष की जानकारी में अवगत नहीं हो जाता है, वह दोषों में बच कर गुणों को अपना नहीं सकता। पुरखे यदि घर में घन गाड़ जाए और हमें पता न हो तो हम उस गुप्त घन का लाभ नहीं उठा सकते। जीवन में जो दैवी तन्त्र है उन में अनभिज्ञ रहने पर भी ऐसा ही होता है। अपनी सद्बुद्धियों को जानने का अर्थ है, उन्हें जगा लेना, पकड़ लेना। इसमें आत्मनान्ति का अनुभव और जीवन के लक्ष्य का ज्ञान होता है। जब तक हम अपने लक्ष्य का ज्ञान नहीं होता है तब तक किया जाने वाला उग्र क्रियाकाण्ड गार्थक नहीं होता। आप एक कागज लेते हैं, मुन्दर अक्षरों में और सजे हुए घट्टों में अपने घनिष्ठ मित्र को लक्ष्य कर अपने हृदयगत भावों को अभिव्यक्त करते हैं। कई प्रकार की मुन्दर उपमाएँ देकर हृदय का समस्त स्नेह उडेर देते हैं। तत्पश्चात् उसे लिफाफे में बन्द करके लैटर बाक्स में डाल देते हैं। क्या पत्र आपके मित्र को मिल जायगा? मित्र कहाँ है, इसका आपको ज्ञान नहीं है तो क्या बिना पते का पत्र मित्र तक पहुँच सकेगा? इसी प्रकार यदि हम में आत्मज्ञान का अभाव है तो अपना लक्ष्य हासिल नहीं कर सोंगे और फिर निदिष्ट न्यान पर न पहुँच कर बीच ही में भटक जायेंगे। इसलिए सर्वप्रथम आत्मज्ञान की आवश्यकता है।

आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है, स्वनन्द सत्ताधारी अस्पी चिन्मय द्रव्य है। ज्ञान-शक्ति प्रत्येक आत्मा में अखण्ड रूप में और अपने आप में परिपूर्ण रूप में परिग्राह्य है।

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैन दहति पावक,
न चैन वलेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽप्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन।—गीता

आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है न इसे पानी गला सकता है। न वायु सुखा सकता है। वह आत्मा न कभी कटने वाला है, न कभी जलने वाला, न भोगने वाला और न सुखन वाला है। वह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचन, एव सनातन है। इस प्रकार की अनुभूति प्राप्त कर लेना ही तत्त्वज्ञान है। तत्त्व-ज्ञान से अनभिज्ञ माधक की माधना छार का लीपना है। दीपक में तेल भी है, वाती भी है, मगर जलाया नहीं तो क्या उस ज्योतिहीन दीपक में अन्धकार नष्ट हो सकेगा? कदापि नहीं।

ज्ञानाभाव में साधक का साधना रूमी शरीर ज्योतिहीन दीपक के समान है। ‘ज्ञान जगत्लोचनम्’ ज्ञान ही ऐसी आग है जो जगत में घटने वाली त्रैकालिक घटनाओं को देख सकता है।

जर्मद्रोही का मन मुर्दा, पापी का मन रोगी, लोभी व स्वार्थी का मन प्रमादशील और ज्ञानी का मन स्वस्थ होता है। मलिन दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब प्रतिभाषित नहीं हो सकता, इसी प्रकार काम, क्रोध, मद, लोभ, अज्ञान आदि मल में मने हुए अन्तःकरण में मत्स्य की अनुभूति नहीं हो सकती। ज्ञानी का ही हृदय स्वच्छ रह सकता है और हृदय की स्वच्छता ही सब में बड़ी स्वच्छता है, क्योंकि इस स्वच्छता में परमात्मा प्रतिबिम्बित होता है। अतएव

आत्मा के उद्धार के लिए आत्मज्ञान ही परम आवश्यकता है। भजनानन्द ने ठीक ही कहा है—जैसे स्वप्न में काटे गये मित्र का दुःख बिना कोरे हुए नहीं होना, इसी प्रकार इस संसार का दुःख बिना आत्मज्ञान हुए दूर नहीं होता।
आत्मनयम

आत्मनयम का हीना यात्रा आत्मनयम है। नयम का नीचा अर्थ है आत्मनिग्रह। प्रकृति में जब कुछ नियमबद्ध है, अतएव मानव-जीवन को भी नियमित, मर्यादित होना चाहिए, तभी वह स्वस्थ और चैतन्य हो सकता है। अनियमित जीवन के व्यापारिक गतिियों की प्रतीक्षा नहीं हो सकती। मनुष्य जब अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन रखता है जहाँ उस उमर में भौतिक जीवन उसके आध्यात्मिक जीवन के नियन्त्रण में रहता है, तभी वह स्वार्थीन और प्रतिभाशाली होता है।

मन में शक्तिशाली व्यक्ति नहीं है जो जाने तो अपने अनुशासन में रहता है। समय में ही आत्मबल, मनोबल, शारीरिक बल दृढ़ होते हैं। जलद्वन्द्व मिटना है, मनोरोग और वागनाओं का दमन होना है और चित्त की एकाग्रता बढ़नी है।

मयमो हि महामन्त्रप्राप्ता सर्वत्र देहिन् ।

उस राजा और पण्डित में तब प्रशिक्षण का रक्षण करने वाला नयम ही है और इसीलिए वह महामन्त्र कहलाता है।

आत्मनयम के बिना विराट् ही रक्षा करना ही निरर्थक है। विश्वास हो, ज्ञान भी हो, पर चलने की ताकत न हो तो सब व्यर्थ है। अज्ञान का दमन करना ही विमुक्ति है, इसी को नयम और आचार कहते हैं। विश्वास, ज्ञान, और समय यह त्रिपुटी विन्यास पवित्र है। उनसे पवित्रता को जीवन के रक्षण-रक्षण में रखने दो। फिर देखा तुम क्या थे और क्या हो गये। ये तीन गुरु ही आत्मा की वास्तविक विभूति हैं।

नयम का मूल स्वरूपता है और यह तीन प्रकार की है। मन की, वाणी की और कर्म की। मन की स्वरूपता इस प्रकार है—

- १ श्रोत्र न रज्ज्वा, शान्ति रज्ज्वा
- २ मांस न रज्ज्वा, मन्त्रना रज्ज्वा ।
- ३ तपस् न रज्ज्वा, तपस्ना रज्ज्वा ।
- ४ योग न रज्ज्वा, योग्य रज्ज्वा ।
- ५ शिवा ही शिवा न अपमान न रज्ज्वा ।
- ६ शिवा का दुःख न शोचना ।

मन ही स्वरूपता का अर्थ है—मन में किसी के प्रति राग, द्वेष, ईर्ष्या और बुरे विचार न रखना।

वाणी की पवित्रता के त्रिग वाणी का नयम आवश्यक है। वाणी की पवित्रता का उपाय है—

- १ तारुमय २ शान्ति भाषण ३ प्रिय एवं तत्त्व भाषण ४ मधुर भाषण, मृदु एवं कोमल भाषण ।

मानव कर्मशील है। वह कुछ न कुछ कर रहा ही है। परन्तु उसके कर्म में पवित्रता होनी चाहिए। और कर्मस्थ ही पवित्रता इस प्रकार है—

- १ निष्काम-नाम पूर्वक कर्म करना ।
- २ कर्म के फल के प्रति आसक्ति न रखना ।
- ३ मुक्त विवि-व्यस्य व्यत्यय पालना ।





४ विवेक पूर्वक क्रिया करना ।

इस प्रकार समयपूर्वक कर्तव्य पालन करने में ही जीवन की उन्नति हो सकती है । कर्तव्यमूल्य के त्रिपय में कहा जाता है—जो कर्तव्य पालन न करके कोरी बातें ही बनाना हों यह व्यक्ति उम उन्नति के समान है जिस में फूलों के स्थान पर व्यर्थ की घास-फूस उगी हुई हो ।

आत्मसमय मानव का भूषण है । यह उम की उच्चता का लक्षण है । उमकी मर्यादा का प्रमाण है । यह एक ऐसा मन्त्र है जिसका सहारा लेते ही जीवन की समस्त वेदना शान्त हो जाती है ।

असमय के परिणाम इष्ट नहीं होते । मानव का मार्ग इतिहास पुकार-पुकार कर कहता है कि अगम्य में बचो, अगणित फासियाँ जेलमाने, युद्ध, दगे, तथा जीवन की दान-शत अगफरनाय पुकार-पुकार कर कहती हैं इससे बचो । इस प्रकार जिस का जीवन आत्मविद्वान्, आत्मज्ञान और आत्मसमय में हीन है वह व्यक्ति के समान स्वयं के नाश का हेतु स्वयं ही बन जाता है । इसके विपरीत, जो इस रत्नत्रयी में सम्पन्न है उसमें ईश्वरत्व की अभिन्न और अमित ज्योति प्रकट हो जाती है ।

तप, तापस-परम्परा और महातपस्वी महावीर

मुनिश्री सुशील कुमारजी,



भगवान् महावीर ने राज की शक्ति परंपराओं में तापस-परंपरा का विशिष्ट महत्त्व है। यद्यपि यह परंपरा चित्रांग में विद्यमान थी, किन्तु भगवान् न ज्ञानमार्ग का उद्घाटन करते हुए परमपद की प्राप्ति के लिए तप को अनिवार्य मानन प्रोत्पन्न कर उस परंपरा का एक नया ऐतिहासिक मोड़ दिया।

मानव के जिनान में सामाजिक मान्यता के रूप में तप का साहाय्य प्राप्त है। तप में जहां ऐतिहासिक मुद्रा का चमत्कार मनुष्य के लिए है, वहां समकालीन में विद्यमान भी तप में ही सम्मिल है। चाहे इसके मिष्ट-मन की प्राप्ति की चाहता हो अथवा ज्ञान के अन्तर्गत ही उद्घाटन करने की मांग, दोनों तरफ ही प्राप्त हो सकती है। तप का प्राप्ति एवं साहाय्य मानवीय शक्ति विचार-प्रणाली में उत्पन्न माना गया है कि ना के समान की नीति-नैतिक, भूमि के समान नैतिक, ज्ञान के अन्तर्गत ही उद्घाटन करने की मांग, दोनों तरफ ही प्राप्त हो सकती है। तप का प्राप्ति एवं साहाय्य मानवीय शक्ति विचार-प्रणाली में उत्पन्न माना गया है कि ना के समान की नीति-नैतिक, भूमि के समान नैतिक, ज्ञान के अन्तर्गत ही उद्घाटन करने की मांग, दोनों तरफ ही प्राप्त हो सकती है। तप का प्राप्ति एवं साहाय्य मानवीय शक्ति विचार-प्रणाली में उत्पन्न माना गया है कि ना के समान की नीति-नैतिक, भूमि के समान नैतिक, ज्ञान के अन्तर्गत ही उद्घाटन करने की मांग, दोनों तरफ ही प्राप्त हो सकती है।

किन्तु, तप का नाम पर भी उस देश में तप पाखण्ड नहीं हुए। देहीदा और कायकलेन, अज्ञानक्रिया व मिथ्याप्रवच, दृष्टी प्रोत्पन्ना श्री सामाजिक दाप, तप के नाम पर तथा तप की ही आड में पनपते व पनते रहते हैं।

भगवान् महावीर शीर्षतन्त्रों महापुरुष थे। किन्तु, वह तप को जिनना महत्त्वपूर्ण मानते थे, उतना ही ज्ञान तप के प्रति ज्ञानमय दृष्टि की स्थापना पर दत्त थे। निवेद और नयम तथा समता और वैराग्य के द्वारा जब नाथक देशाभिमान का उद्घाटन आत्मशोधन की ओर चलाता है, तप उद्घाटनित एवं अन्तर्निवास स्वन होने लगते हैं और वह धर्म धर्म नीति-नैतिक परंपरा के उद्घाटन की ओर उन्मुख हो जाता है। यह एक दृढ़ इच्छाशक्ति एवं निष्ठा के अन्तर्गत निजस्वी रूप का नाम है।

भगवान् महावीर ने तप का विस्तृत विवेचन किया है, जिसमें तप के द्वारा पनपन वाले पाखण्ड एवं तप के द्वारा आत्मनिष्ठिदान का ही विशद विवेचन है। वैचारिक धूमना के नाते तप को केन्द्रबिन्दु बनाकर किम-किम प्रणाली परंपरागत उस युग में चल रही थी, उसका भी जैनशास्त्रों में नमिस्कार वणन है।

तप के माध्यम में अज्ञान पर ज्ञान की प्रतिष्ठा भगवान् महावीर की एक विशिष्ट देन है। उन्होंने स्वयं अपने जीवन में १३ वर्ष की तपोमय यात्रा द्वारा केन्द्रज्ञान प्राप्त कर इस मत्त का प्रतिपादन किया कि तप में विवेक आनन्द है और उन्हीं के द्वारा परमनन्द प्राप्त हो सकता है।

किन्तु भगवान् के युग के उन्हीं नाम अत्यन्त विशिष्ट तप करने पर भी परमनिष्ठि न पा सके वे तप-यथ पर अग्रसर होने हुए भी ज्ञानावृत्त थे। औपपातित मूत्र में गंगा के तट पर बने कुछ ऐसे वानप्रस्थतापमों का जिक्र आता है, जिन्हें 'दक्षिणकुंडल' का और 'उत्त-कुंडल' मजा में सम्बोधित किया गया है अर्थात् गंगा के दक्षिणी और उत्तरी तट पर



रहने वाले । इन तापसों की अनेक श्रेणियाँ एवं भेदोपभेद हैं । कुछ तापस शिकार करते थे और मांसाहारी भी थे । कुछ जल पी कर, वायुसेवन कर, केवल कन्दमूल, वृक्ष की छाल, पत्र, मेवा, पुष्प अथवा वीज खाकर निर्वाह करते थे । इनके स्नान के भी विविध प्रकार थे । यथा कई बार गोता लगाकर स्नान करने वाले, क्षणमात्र में स्नान कर लेने वाले, मिट्टी घिसकर शरीर साफ करने वाले और बिना स्नान भोजन न करने वाले आदि । कुछ तापस तम्रव्रत अथवा वृक्ष के नीचे या जल में रहते थे ।

इसी श्रेणी के एक बहुचर्चित हस्तितापस के रूप में एक हाथी मारकर वर्ष भर उम्र पर निर्वाह करने की परम्परा थी और मुनि आर्द्रक से हुए शास्त्रार्थ के अनुसार उन्होंने दावा किया था कि वर्ष में अपने लिए केवल एक जीव मारने के कारण वे निर्दोष हैं ।

औपपातिक के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में भी उस युग के कुछ तापसों का उल्लेख आया है । जैसे चक्र धारण करने वाले, चण्डी के भजन, साख्यमत के अनुयायी, दाढ़ी रखने वाले, भिक्षा पर जीवन-निवाह करने वाले, पानी में ही कल्याण मानने वाले तथा मिट्टी से शुद्धि करने वाले आदि-आदि ।

सूक्तताग में आर्द्रककुमार से विभिन्न धर्मावलम्बियों के मिलने का उल्लेख है ।

जैन साहित्य के समान बौद्ध साहित्य में भी विविध श्रमण-ब्राह्मणों के तप की चर्चा है, जिनमें उस युग की धार्मिक सकलता एवं जटिलता का आभास होता है ।

अन्धकार से प्रकाश की ओर

ऐसे समय भगवान महावीर ने मानवता को अज्ञान के अन्धकार से हटाकर ज्ञानरूपी प्रकाश की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया । अज्ञान-तप का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा कि विवेक-विचार के बिना यह निरर्थक है । विवेकरहित तापस इसी कारण योगभ्रष्ट और तपोभ्रष्ट हो जाते थे । उन्हें कुछ सिद्धियाँ तो प्राप्त हो जाती थी, परन्तु वे परमतत्त्व की प्राप्ति में वचित रहने थे जो तप का चरमलक्ष्य है ।

दीर्घकालिक कठार साधना के १३ वें वर्ष में जुद्ध ज्ञान की प्राप्ति कर भगवान ने तप के द्वारा परमतत्त्व की प्राप्ति का आदर्श प्रस्तुत किया । इस दौरान उन्होंने ६ मास तक के अनेक तप किये तथा विविध स्थानों पर तप के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए अनेक ऐतिहासिक दृष्टान्त अपने आचरण द्वारा प्रस्तुत किये ।

सकल्प

३० वर्ष की अवस्था में भगवान महावीर ने ग्रहत्याग करते हुए सकल्प किया था कि '१२ वर्ष, में जब तक मुझे केवल-ज्ञान न होगा, इस शरीर की सेवा-सुश्रूषा नहीं करूँगा, देव-मनुष्य या पक्षियों द्वारा आये कण्टों को ममभाव से सहन करूँगा तथा मन में किंचित् उद्वेग न आने दूँगा ।

इस प्रतिज्ञा के साथ भगवान साधना-पथ पर अग्रसर हुए । वह सदा ध्यानमग्न रहते और किसी जीव को जरा-सी भी तकलीफ नहीं होना देते थे । सासारिक पदार्थों के प्रति ममत्त्व से वह परे थे और अपने व पराये का भाव उनमें किंचित् नहीं था । सर्वप्रथम वह एक आश्रम में ठहरे, किन्तु आश्रमवासियों के व्यवहार में ऊँचकर उन्होंने उस स्थान का भी परित्याग करने का निश्चय किया । तब उन्होंने ये ५ प्रश्न किये-अप्रतीकारक च्यान में कभी नहीं रहूँगा, सदा ध्यान में लीन रहूँगा, भोजन खाऊँगा, हाथ में भोजन करूँगा और गृहस्थों का विनय नहीं करूँगा । अपना प्रथम चातुर्मास भगवान ने १७-१५ दिन के ८ अर्द्धमास-तप द्वारा व्यतीत किया ।

प्रथम और द्वितीय वर्षावास में भगवान को अनेक यन्त्रणाओं का सामना करना पड़ा, पर वे जरा भी विचलित न हुए । तृतीय चातुर्मास में गोशाला नामक एक ममकालीन साधु भगवान की तेजस्विता में प्रभावित होकर इनके पास निष्य की तरह रहने लगा । कर्मों का त्याग करने में विलम्ब न हो, इस उद्देश्य में भगवान ने अपरिचित क्षेत्र की

और विहार करना अधिक उपयुक्त मनसा, वह गट देग गये जो उन समय अनार्य प्रदेश गिना जाता था। आर्य देश में आते देखकर अनार्यों ने उन्हें विविध याननाग दी, किन्तु, नव कटों को उन्होंने स्वस्थभाव में समायुर्वन सहन किया।

छठे चातुर्मास के पूर्व भगवान ने तब कूपिय मन्निवेन में बैंगाली की ओर विहार किया तो गोंगागा ने उनके साथ चले ने इन्कार करने हुए कहा कि "जाय न ना मेरी रक्षा करने हैं और न आपके साथ रहने में मुझे मुच है। आपके साथ रहने भी मेरना पड़ता है तथा भोजन की चिन्ता बनी रहती है।" तदनन्तर गोगाला गजगृह नगरी की ओर गया और भगवान् बैंगाली की ओर।

इसी बीच भगवान् ने जनग रहकर गानाग का अनेकानेक कट भेजने पड़े। भगवान् को खोजने हुए ६ मास पन्चात् गौरीशीर्ष ने वह पुनः उनमें जा मिला और उनके साथ रहने लगा। गौरीशीर्ष से भगवान् ने बहुत नगरी की ओर विहार किया और छठा चातुर्मास वही व्यतीत किया। वंश चातुर्मासिक तप में योगमनों द्वारा वह निरन्तर ज्ञानचिन्तन में ही मग्न रहने। तदनन्तर उन्होंने मगध भूमि की ओर विहार किया, जहाँ आलम्बिया नगरी में उन्होंने यात्रावा चातुर्मास किया। आठवा वर्षावाम उन्होंने राजगृह में किया तथा वहाँ भी तप के द्वारा आत्मचिन्तन में निमग्न रहे और अनेक प्रकार के तप-अनुष्ठान किये।

कर्मक्षय

भगवान् ने अनुभव किया कि अनेक क्लिष्ट कर्म अभी उनमें विपने हैं। उन्होंने पुनः अनार्य देश में जाने की ठानी ताकि वहाँ कोई परिचित न मिले और वे कर्मों के पूर्ण क्षय में मफल हो सकें। इस उद्देश्य में वह राट देश की मुष्ट भूमि में चले गये। ठहरने का स्थान न मिलने के कारण वह वृक्ष के नीचे जा लण्डहर में ही रुककर माधना में लीन रहने। इस प्रकार प्रसूने हुए उन्होंने नवा चातुर्मासपूर्ण किया। उन्हें अनार्यों ने कई यन्त्रणाएँ सहनी पड़नी, किन्तु, समाजीत भगवान् के मन में तनित भी आवेग उत्पन्न न होता। कर्मों का क्षय होते देखकर उन्होंने अलौकिक शान्त का अनुभव किया और उन्नी मुखावृत्ति कान्तिमान होकर खिल उठी।

६ मास तक अनार्य देश में विचरण का भगवान् आर्य देश में लौट आये। इसका चातुर्मास आपने धावम्नी में और ११वाँ बैंगाली में किया। इस वर्षावास में अनेक प्रकार के तप करने के साथ उन्होंने कई योग-क्रियाओं की सिद्धि भी की।

तदनन्तर गौगाम्बी जाकर आपने मित्रा सम्बन्धी यह कठोर अभिग्रह प्राण किया कि 'मित्रा का समय व्यतीत होने पर मित्र ने मुण्डिन, पैरो में वेदी पहने दानीपन को प्राप्त, ३ दिन में उपवामी, हमनी और रानी हुई किमी राजकुमारी ने उड्ड के बाहुन के रूप में मित्रा मिले तो लेनाज्जयानही मनन। त्रमण के पन्चात् चन्दना नामक इतिहासप्रसिद्ध पुत्री, जो राजकुमारी ने दानी में परिग्रह हो चुकी थी, उड्ड के बाहुन लिये उक्त दशा में भगवान् को प्रसन्नवदना सिद्ध हुई पड़ी और उनमें भगवान् ने यह अन्न ग्रहण करने की प्रार्थना की। अपने अभिग्रह में कभी देखकर भगवान् लौट ही रहे थे कि चन्दना की जाखों में निराशा के आसू आ गये। जब भगवान् ने अपना अभिग्रह पूर्ण जानकर ६ मास में ४ दिन शेष रहने पर चन्दना के हाथों से पाण्या किया। यह चन्दना काशान्तर में भगवान् की प्रथम साध्वी बनी जो चारित्र्यवर्म का पालन कर मोक्ष का प्राप्त हुई।

भगवान् ने १३ वाँ चातुर्मास छम्माण्णगाव के बाहर उद्यान में ध्यानावस्थ रहकर किया।

सर्वज्ञ केवली

इन प्रकार अनेक कठोर अभिग्रहों का निर्वह करते तथा जीपग उपवास सहन करने हुए भगवान् ने कनिष्ठ माटे १० वर्षों की दनव्रत नान्दर्या में ३५० दिन भोजन किया और शेष दिन निर्जल उपवास के रूप में व्यतीत किये।





जब तप का १३ वा वर्ष चल रहा था तो ग्रीष्मकाल के दूसरे महीने और चौथे पक्ष में वैशाख शुक्ल के १० वें दिन उज्ज्वालुका नदी के उत्तरी तट पर एक रेत में शालवृक्ष के नीचे गोदीहिका आगमन पर ४ घातिकर्मों का क्षय हो जाने पर भगवान् को केवलज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति हुई। तब श्रमण भगवान् अर्हत् अर्थान् पूजनीय हुए और राग द्वेषविजिता सर्वज्ञ-केजली बने।

इस प्रकार भगवान् महावीर की तप-परम्परा शुरू हुई। इसकी विशिष्टता यह थी कि तप उनके लिए आत्मोपलब्धि का साधन था, साध्य नहीं। उनके तपोमय जीवन में अनेक प्रकार के अनुष्ठान, विविध योगागमन एवं विभिन्न योगश्रियाओं के दृष्टान्त मिलते हैं, जिनके द्वारा उन्होंने एक पुद्गल पर निनिर्गेष दृष्टि को टिकाये रखने का अभ्यास किया था।

कोई भी मानव जब आत्मसाक्षात्कार के लिए उद्यत होता है तो इस भौतिक देह में गे आत्मतत्त्व की पृथग्ता का आभास करता है। धीरे-धीरे जब चिन्तन के द्वारा ऐसी प्रतीति हो जाती है कि मैं जडस्वरूप नहीं, बरन् चैतन्यस्वरूप हूँ तो उसकी पृथक् अनुभूति का साक्षात् करने और उसे पूर्ण रूप से पा जाने के लिए साधक ज्ञान के द्वारा चैतन्य की स्वीकार करता है। एक-एक भूतत्त्व के बन्धन में अलग होकर वह आत्मतत्त्व को कमीटी पर कसकर देखा करता है तथा जो राग-द्वेषात्मक ग्रन्थिया आत्मा को जड के साथ बाधती हैं, उन्हें वह ज्ञान एवं तप के प्रहार द्वारा तोड़ देता है।

सांसारिक व्यभिचन प्रायः मानते हैं कि अन्न ही प्राण है—“अन्न वै प्राणा”। किन्तु आत्मवेत्ता पुरुष अन्न को छोड़ कर आत्मा की उपासना करता है ताकि अन्न के बिना शरीर की अपेक्षा आत्मा की अनुभूति हो सके। अन्न, जल, वायु और अग्नि की पराधीनता में मुक्ति, भूतजगत में रहते हुए भी जीवयोनि की हिंसा से विरत होने तथा पुरातन जन्म-जन्मान्तरों से सम्बद्ध कर्मणुओं का क्षय करने के लिए भगवान् महावीर ने तप को सबसे अधिक महत्त्व दिया है।

उत्तराध्ययन सूत्र में आत्मवृद्धि के लिए तप करने का आदेश दिया है। अन्तर्गड सूत्र में उन ६० दीर्घतपस्वी महान् आत्माओं की कथा है, जिन्होंने तप के द्वारा आत्मसिद्धि प्राप्त की। नातासूत्र में धर्मवर्षि अनगार की कठोर तपस्या का वर्णन किया गया है। किन्तु, समग्र जैन वाङ्मय में तप को आत्मोपलब्धि के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, कर्मकाण्ड धाट्टम्बर अथवा प्रदर्शन के रूप में नहीं।

तप का सार्वभौम माहात्म्य

तप शक्ति, शक्ति और मुक्ति तीनों का केन्द्रबिन्दु है। यह वह शक्ति है, जिसके द्वारा कोई महान् सम्भावना वास्तविक रूप धारण करती है। कण्ठराहन की पराकाष्ठा से तप का सृजन होता है और यह तप तभी सोद्देश्य है जब इसके द्वारा हम आत्मा के परमतत्त्व को पा सकें।

ममार के सभी धर्मों में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। महात्मा जम्बुसूत्र ने १५ वर्ष तक, ईसा ने १८ वर्ष तक और हजरत मुसा ने भी १६ वर्ष तक तप के माध्यम से सिद्धि को पाने का प्रयास किया। समूचा बौद्ध वाङ्मय तप के आख्यानों से भरा पड़ा है। चीन का ताओ धर्म, ताओत्जे जिसके प्रवर्तक ये, कठोर तप का पक्षपाती है। मुसलमानों में रोजे, यहुदियों में तपोनुष्ठान और वैदिक धर्म में चान्द्रायण आदि अनेक तप-परम्पराएँ आज भी विद्यमान हैं।

किन्तु, भगवान् महावीर यह मानते थे कि जब तक ज्ञानपूर्वक तप नहीं किया जायेगा, तब तक इससे वास्तविक लाभ नहीं हो सकता। विवेक और समता से प्रेरित होकर आत्मसिद्धि के लिए नियमित तप का पालन जिस साधक ने भी किया, उसने परमसिद्धि का अनुभव प्राप्त किया है। परन्तु, जब तक तप के पीछे मानापमान की भावना, कर्मकाण्ड का आग्रह और केवल देह को कष्ट देने की लालसा बनी रहेगी, तब तक इससे वास्तविक लाभ नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर तप के अन्यतम शोधक थे। जिस पैनी दृष्टि से उन्होंने तप का विशद विश्लेषण किया है, मानवजाति उसमें लाभ उठाये, यही कामना है।

समाधि-मरण

श्री सुरेशमुनि शास्त्री,
साहित्यग्ल



मृत्यु एक अनिवार्य तथ्य

जगत् में जीवन है और जीवन के साथ मृत्यु । मृत्यु जीवन के आगे है, पीछे है, अगल-अगल है, चारों ओर है—उपलब्ध है । और जीवन है कि उस मृत्यु के सागर में फूल के फूल की भाँति खिलता हुआ है ।

जीवन जय नहीं मरना तो मृत्यु होनी है, मरण होना है । मृत्यु जानी है तो थल का विशालतम जन्तु हाथी भी न चला जाता है, न कि मरना है । वह ठठ भी नहीं मरना । उठने की शक्ति भी नहीं होती उसमें और न उखाड़ी होनी है । जगत् में हमारी ये कई गुना उठा जन्तु होता है हलैल । वह भी मृत्यु के विरुद्ध हाथी ने अधिक मकराना प्राप्त नहीं कर सकता । जब मृत्यु आती है तो उसे भी मरना होता है, आगे के लिए चलना होना है । जगत् का राजा मिट्ट है । उसकी एक ही दृष्टि ने नाचा बा—जगल गुंज उठता है जी—जगल का प्रत्येक जन्तु घर-घर काँपने लगता है । वह भी नीम-वालीन वर्ष में अधिक मृत्यु को दूर नहीं रख सकता । और तो और, मनुष्य है जो हठ के साथ जितना करता है, मिट्ट को पिज्जे में डालता है, हाथी को पालता है, इगारे पर नचाता है । पर, वही मनुष्य एक दिन मृत्यु का ग्राम बन जाता है । मनुष्य ही म्या, स्वर्ग का अधिपति इन्द्र भी, एक दिन अपना सब कुछ पश्चिमाग मृत्यु के मुँह में समा जाता है । प्राणिमान मृत्यु के मुँह का ग्राम है ।

तो, यह एक निश्चित, स्पष्ट एवं प्रखर सत्य है कि मृत्यु दुनिवार्य ही नहीं, अनिवार्य है, वह रोके रुक नहीं सकती । टाँके टाँक नहीं सकती । जीवन के साथ ही व्यक्ति मृत्यु का वाग्द लेकर जाता है । अतः उसे जहा रहना नहीं, चरना है, जम्मा चरना है । बन्द गिनती के दिन इस दुनिया की राह में रह लेना है और फिर उठकर आगे की राह पकड़नी है । मरने का नाम जीवन है और चलने का नाम मरण ।

जीना भी एक कला मरना भी एक कला

जीवन और मरण के इस सन्दर्भ में, मनुष्य का चिन्तनशील मन इस प्रश्न का समाधान माँगता है कि, क्या ऐसा भी कोई कारण स्थापित है, जिससे हम जीवन के मोड़ में भी पूरे उत्तर मर्के और मरण के काटे पर भी पूरे उत्तर मर्के ? यानी जिस ढंग से जिए और किस ढंग में मरें—जिनसे जीवन का मूल्य भी मिले और मरण का शूल भी न चुभे । जीवन और मरण—दोनों ही हमारे लिए वरदान बन सकें ।

जैन-मम्कृति अध्यात्म-मम्कृति है, यम-नियम-मयम की सम्कृति है, तप त्याग-विराग की मम्कृति है । यहा प्रत्येक बान्ठो साटे पर तुर्ती है । जैन-मम्कृति की दृष्टि में जीवन भी एक कला है और मरण भी एक कला है । जो व्यक्ति जीवन-मरण की उभय-कला में पारंगत है, निपुण है, वही जीवन का अमर कलाकार है । जैन मम्कृति जानने की कला भी सिखाती है और मरने की कला भी बतलाती है । जैन-मम्कृति का जय-गोष है "जीने के ढंग में जिकी, मरने के ढंग में मो, ता तुम्हारे दोनों हाथ लड्डू हैं—जीवन पर भी नियन्त्रण और मरण पर भी नियन्त्रण—



यहा भी जय और आगे भी जय—यहा भी मगल और आगे भी मगल ।

यो, जीना भी अपने-आप में कोई महत्वपूर्ण नहीं और मरण का भी अपने-आप में कोई मौलिक मूल्य नहीं । जीवन और मरण का यह खेल तो अनन्त-काल में चलता ही रहा है । क्या मूल्य महत्त्व रहा, इस जीवन-मरण के अनन्त चक्र का ? अतः कर्तव्य के लिए जीना है, कर्तव्य के लिए मरना है । समय के लिए जीना है और समय के साधना के पथ पर अचल-अविचल भाव से चलते-चलते ही मरना है । तप, त्याग, विराग, अहिंसा और मृत्यु की साधना के लिए जीना है, और जीवन की इन्हीं सावना-पथ की उच्च भूमिकाओं की छाया में हृसते-मुस्कराने-प्रसन्न-भाव में आगे चलना है । आत्मा के बोध-परिवोध तथा शोध-परिशोध के लिए रहना है और आत्मा के मन्कार-परिष्कार तथा मार्जन-शोधन करते हुए ही आगे चल देना है । आत्म-पोषण तथा विकार-शोषण के लिए साधनामय जीवन जीना है और इसी आत्म-साधना में रत-निरत रहकर आगे की मजिल पर कूच कर जाना है ।

यह जीवन-मरण तो एक खेल है और तुम निलाडो हो । जीवन के खेल को भी वाकेपन से, कनात्मक ढंग से खेलो और मरण के खेल को भी ध्यान से, ठाठ में खेलो । न जीवन से चिपको और न मरण में डरो । जिसे न जीवन की आसक्ति और न मरण की आकांक्षा, जीने की स्पृहा और न मरण का भय—वस्तुतः उभरा जीना ही जीना है और उसका मरण ही सच्चा मरण-ममाधि-मरण है ।

अणिस्सिओ इह लोए, परलोए वि अणिस्सिओ ।

जीविय नाभिकलेज्जा, मरण नो वि पत्यए ।

समाधि-मरण की अर्थ-भावना

‘समाधि और मरण’ इन दो शब्दों का मेल है—समाधि-मरण । समाधि का अर्थ है—चित्त की एकाग्रता, मन की आन्त-स्थिर वृत्ति और मरण का अर्थ है देह का परित्याग, शारीरिक ममत्व का परिहार । मरण को निकट आया देखकर, अथवा किसी प्राकस्मिक जीवन-मकट के क्षणों में अनशन-पूर्वक देह-ममत्व तथा उपधि-जीवन की साधन-सामग्री का परित्याग करना ही समाधि-मरण का मूलार्थ है । बाधक की अन्तरात्मा बोल उठती है—आहार, उपधि देह-सब का मैं मन-वचन-काय में त्याग करता हूँ —

‘आहारमुवहि देह,

सव्व तिविहेण ओसिरिअ ।”

—सथारपइत्ता, ७

इतना ही नहीं, वह जाग्रत मात्रक तो अपने-आपको, अपनी अन्तरात्मा को संसार के समस्त पापोंसे विरत कर लेता है । उसके तन का रोम-रोम, मन का कण-कण तथा जीवन का क्षण-क्षण बोल उठता है—भते । हिंसा अमृत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्यास्यान—मिथ्यादोषारोपण, पैशुन्य रति-अरति, पर-परिवाद, मायाभूषा, मिथ्यात्व धत्य—ये अट्ठारह पाप-स्थान मोक्ष के मार्ग में विघ्नरूप हैं, बाधक हैं । इतना ही नहीं, दुर्गति के कारण भी हैं । अतएव मैं मन, वचन, शरीर में इन सभी पाप-स्थानों का परित्याग करता हूँ —

पाणाइवायमलिअ, चोरिवक मेहुण दविणमुच्छं ।

कोह माण, माय, लोह, पिज्ज तथा दोस ॥

कलहं अचमवखाण, पेसुन्न रइ—अरइ-समाउत्त ।

परपरिचाय माया—मोस मिच्छत्तसल्ल व ॥

ओसिरिसु इमाइ, सुबलमगससग्गविग्गनुमाइ ।

दुग्गइ-निअवणाइ, अट्ठारस पावठाणाइ ॥

—सथारपइत्ता, ८-९-१०

नो, यह प्रश्न तब मृत्यु के प्रकाश की भाँति उजागर एक स्पष्ट है कि जब माधक जीवन की अन्तिम वेला में अथवा किसी त्रासपूर्ण नाट्यान्त अवस्था में उत्तर-उत्तर के विक्षेप-विचित्र, माया-ममता, वैभव-विलास एवं ललक-तालाश न पृथक् होकर अपनी स्मृतित नाशना, जन्म-मरण के प्रति एक रूप हो जाता है, और समस्त पाप-ताप-तन्ताप, समस्त आसक्ति-शीति ने विमुक्त होकर अनशन-वृक्ष देशध्याम एवं शरीर के माह-ममत्व का परित्याग कर देता है, तो साक्षात्-जीवन ही उस उच्च, पुनीत एवं विद्युत् स्थिति का नाम है समाधि-मरण । साधना की उस अन्त-सूत्र स्थिति में नाशक पवित्रा-घर-वा-जड-चेतन सभी पदार्थों में-आमक्ति-आकर्षण के धारों पूर्णतः विच्छिन्न कर देता है । आत्मा, तब, प्राण-अपनी समस्त शक्ति का उस तत्त्वमाधना के साथ एकनिष्ठ तथा एकरम कर देता है । उसे न तो लोभ का पाह रचना है, और न ही जगत् की दुनिया का प्रलोभन आकर्षण छेप रहा है । सब ओर से निमग्न होकर वह तो आत्मा ही विमुक्त परिणति में रमण करता है । विद्युत् चरित्र-आत्म-भाव में आत्मा के रमण करने का नाम ही ना समाधि-मरण का तात्पर्य सम है

“अप्यास्तु मयागो, हृवई विमुक्तचरित्तिम् ।”

अतः उस विमुक्त जन्म स्थिति में माधक मय-यागो, मय-योगो, ध्यान-यागो बन जाता है और उसके अन्तर्गत में ही हृवनि निरवनी है -

‘गोहृ नश्य मे कोड, नाहमन्तस्म कम्बह ।
एवमदीनमणनो, अप्पापमणुनासड । ।
गो मे मानओ अप्पा, नापदमणसजुओ ।
मेमा मे दाहिरा भावा, नद्ये मजोगलसवणा । ।
मजोगमृता जीवेण, पत्ता दुवउपपणा ।
तप्पा मजोगसवध, नद्ये तिविहेण बोमिग्गि ।

—नथारपटना,

—म हा अपनी आत्मा को छोड़ता है कि, न जोता है, मेरा कोई नहीं है, और मैं भी किसी दूसरे का नहीं हूँ ।

ज्ञान, दर्शन, नाशिन ने तन्मय मेरा आत्मा ही घाटन है, मय मनानन है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य मय पदार्थों मयंगमात्र ने मिटे है ।

और, ना आत्मा ने आज नव जो भी दुःख भोगे हैं, वह मय इन पदार्थों के मयों के कारण ही भोगे हैं । अतः, मैं उस मया-तन्मय का मन-वचन-ता ने परित्याग करता हूँ ।

समाधि-मरण का मूल दृष्टि-चिह्न

श्रुत्यु ने आ उपस्थित होने के पूर्व ही, अपनी मनन इच्छा ने, मजान अवस्था में मसार का त्याग-परित्याग करने के लिए उद्यत हो जाना दम्भन आत्म-गीय का लक्षण है । यो तो त्याग और निवृत्ति जीवन में अवश्यम्भावी है । हम त्याग नहीं करेंगे, तो श्रुत्यु हमसे छुड़ा देगी । हम यहाँ से नहीं हटेंगे, श्रुत्यु हमें धक्का मार कर परे कर देगी । मसार में ऐसा जाना आया है, ऐसा हो रहा है, ऐसा हाता रहेगा । किसी सराय, पराये घर को स्वयं छोड़ देने की कान पकड़कर निकाले जाने में क्या अन्तर नहीं है ? परिणाम एक ही है—पर घर का त्याग, मरग का छोड़ना । श्रुत्यु हम परिणाम को जैनमस्मृति की वरिष्ठ-श्रेष्ठ विचार-परम्परा ने कितना लोक-मननकारी, आत्म-प्रतिबद्ध एवं मुक्तप्रद बना दिया है—समाधि-मरण की अध्यात्म-साधना के द्वारा ?

और भी स्पष्ट भाषा में दाहना दू नो, यह जानते हुए भी कि, जीवन में कूच का डका एक दिन वजता ही है, नो हम पचास-साठ, अथवा सत्तर-अस्सी वर्ष के जीवन में स्वयं बोरी-विस्तर बाँधकर पट्टे में ही उद्यत रहे, तैयारी





करें अथवा तब तक बैठे रहें जब तक कोई हमें घसीटकर आगे फेंक न दे ? यह एक विचारणीय प्रश्न पड़ा है, मानव-जीवन के चौराहे पर और सहस्र मुख होकर माग रहा है अपना समुचित समाधान । जो व्यक्ति इस प्रतीक्षा में बैठा रहता है कि, कोई आकर उसे बाहर धक्का देकर निकाले, वह परले भिरे का ढीठ होगा, दुराग्रही होगा, अडियल होगा दूरदर्शी अथवा बुद्धिमान् तो वह कदापि नहीं होगा वास्तव में ।

समाधि-मरण, को समय, तप, त्याग, का रूप देने वाले जैन-संस्कृति के वरिष्ठ विधायको ने इस तथ्य को हृदयगम तथा स्वीकार कर लिया था कि—यहाँ से चलना तो है—आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसो ! जब चलना ही है, जब कूच की भेगी बजनी ही है, तब यह कहाँ की बुद्धिमत्ता तथा कौशल है कि, पीछे से काँडा या हूण्टर ही लगे, तब चलें—स्वयं अपने-आप हिलने, उठने, चलने का नाम ही न लें ।

समाधि-मरण की स्थिति विवश होकर ससार का त्याग परित्याग करना नहीं, प्रत्युत सज्जन अवस्था में आन्तरिक प्रमत्त एव स्वतंत्र इच्छा से, जीवन का सिरा निकटतम आया जानकर, ससार की आसक्ति, शारीरिक ममता, पारिवारिक मोह तथा सुख-भोग के जाल-जाल की जड़ को मदा सदा के लिए काट देना है । यह भयभीत होकर ससार में पलायन करना नहीं, प्रत्युत दृढ़ साहस, आत्म-शौर्य तथा स्वतंत्र इच्छा-पूर्वक जिन्दगी की मजिल पर चलना है, भुक्ति-पथ का यह एक स्वतंत्र अभियान है । पड़ाव को घर बनाकर बैठे रहना नहीं, प्रत्युत एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव को चलने के लिए प्रसन्न-भाव से कटिबद्ध होना है । जो चीज होनी ही है, वह यदि हमारी स्वतंत्र इच्छा से हो, इसमें कितना आनन्द तथा उत्साह है ? जब ससार छूटना ही है, तो वह हमारी आन्तरिक इच्छा से ही क्यों न छूटे ? यदि लाज प्रयास करने पर कोई हम विष्व-मच पर जमा रहता, तब तो हमसे चिपटे रहने का विचार ठीक भी था । किन्तु, जब यह असम्भव—नितान्त असम्भव है, तब क्यों न वह कार्य स्वयं आनन्दात्मक स्थिति में किया जाए ! तप, समय, शान्ति तथा समाधि के परम लाभ से फिर वंचित क्यों रहा जाए ? समाधि-मरण की उच्च उज्ज्वल परम्परा की पृष्ठ भूमि में यही जीवन का सर्वोपरि दृष्टिबिन्दु अन्तर्निहित है ।

एव नाणेण चरणेण, दसणेण तवेण य ।

भावणाहि य सुद्धाहि, सम्म भावेत्तु अप्पय ॥

बहुयाणि उ वासाणि, सामणमणुपालिया ।

मासिएण उ भत्तेण, सिद्धि पत्तो अणुत्तर ।

—उत्तरा०, १६।६४-६५

और, समाधि-मरण की यह उच्च स्थिति तात्कालिक एव आकस्मिक नहीं है और न यह स्थिति एकदम अधिगत की ही जा सकती है । साधक का यह दृष्टिबिन्दु साधना के उपाकाल से ही प्रारम्भ हो जाता है । और साधना की परिपक्वता के साथ-साथ यह मनोभाव हृदय की भाव-भूमि में गहरी जड़ पकड़ता जाता है । समाधि-मरण वस्तुतः साधक के अन्तर्मन की चिर-पोषित साध की मगल-पूति अथवा पूर्णाहुति है । जीवन-पर्यन्त साध-प्राप्त भक्ति-भाव तथा अध्यात्म-रूप में भाव-विभोर होकर प्रभु-चरणों में वह यही तो भावना-उद्भावना करता रहा है—हे त्रिलोक बन्धु जिन देव, आपकी चरण-शरण से मेरे दुःखों का क्षय, कर्मों का क्षय, समाधि-मरण तथा बोधि की प्राप्ति हो —

“दुक्खसंश्रयो कम्मसत्तो, समाहिमरण च बोहिताहो य ।

मम होउ त्तिजगवधव तथ जिणवर चरणसरणेण ॥

समाधि-मरण-मृत्यु को एक महान् चुनौती

जैन-संस्कृति की मौलिक विचारपरम्परा के अनुसार “समाधि-मरण” एक जीवित-जागृत जीवन का अमर प्रतीक है । वास्तव में, साधक को प्राप्त अन्तरात्मा की मृत्यु को यह एक चुनौती है—निर्भीक ललकार है । मृत्यु

को मलिन-मलिन आया देखकर माधक आने वर्य स्वर में बोल उठता है-ऐ मौन ! वा, तेरा स्वागत है, प्रमत्त-भाव में स्वागत है । इस जीवन के मोर्चे पर मैं एक धम-धड़ का मंगनी बन कर अपनी इन्द्रियो, मन और जीवन के विचारों में निरन्तर लड़ा हूँ । अहिंसा, सत्य, क्षमा, जीवन, मत्प्राप्ति ही धर्म-मात्रता के मार्ग पर मैं एक माधक के रूप में चला हूँ और मानव-जीवन के समस्त धर्मों का मैंने पूरा-पूरा लाभ उठाया है । आत्म-माधना के नाम पर बहुत-कुछ कर लिया है, अब थोड़े-साँ जागे की मजिह में रहेंगे—जगते पडाव पर चढ़कर हम फिर अपनी ज्ञान और धर्म, स्वा-वैराग्य की पूर्ण प्राप्ति पाएँगे । जीवन का तो हमने पूरा-पूरा लाभ उठाया ही है, अब मन की प्रमत्तधारा तथा जीवन के सत्य धर्मों में तेरा स्वागत करके तुझे गम उठाएँगे—तेरे आगे रुकेंगे नहीं, तुझे ही अपने आगे बुलाएँगे । तेरा पता हमें ठग नहीं मरना, दवा नहीं मरना । हमारा पग तो बसा, एक रोम भी लड़खड़ा गडबडा नहीं मरना । हम गायक हैं, माधना में रम रहे हैं । तेरे जाने में पहले माधना का मार्ग बहुत-कुछ नथ कर लिया है । तेरे जाने पर भी हम स्वा-विगा, तप-प्राप्त की माधना में रम रहे जीव-जीवन की अन्तिम साम तरु हम आगे ही आत्म-माधना में ध्यम-मय रहेंगे । उठ, नू अपना काम कर, हम अपना काम करेंगे । तू आध्यात्मिक दृष्टि में देखना और हम आगे माधना की मन्त्री म झूमेगे—चेहरे पे ही नहीं, अन्तरात्मा में, मन में, रोम-रोम में हम मुस्कुराएँगे—अपने जीवन की मन्त्रा जी-तेरे आधम की खुशिया मनाएँगे । ऐ मौन वा, हम तेरा भी जवन (उपव) मनाएँगे । न हम जीवन के ठिग चढ़ाएँगी जी-न भयभीत होकर तेरे आगे जीव के लिए गिडगिडाएँगे । हम ना जाने क्या रक्सा, स्वा-विगा में तुझे भी इन-प्रम चलाएँगे और अन्तर्मन की प्रमत्त-मय लहरो में क्रम-क्रम कर आगे आत्म-मन्त्री का दर्जा करना बि-र-निश्चिन् आत्म-मर्गान दोहाएँगे —

“देह बिनामी, मैं जिविनामी, अपनी गति पकरेंगे ।
नामी जानी मैं चिरवानी, चोखे हूँ निरखेंगे ।
अज हम अमर भये न मरेंगे ॥”

शादगना तन्मय में भी उमरा दिल या झूम उठता है —

“मरने की दूआएँ क्यों मागू-जीने की तमन्ना कौन करे ?
यह दुनिया हो या वोह दुनिया, अज स्वाहिसे-दुनिया कौन करे ?
दुनिया ने हमें कोटा जखी, हम टोड न दें क्यों दुनिया को ?
दुनिया को ममय कर बैठे हैं, अब दुनिया-दुनिया कौन करे ?”

माधक ही जीवन का आनन्द लूटता है

जीवन के अन्तिम चरण में “समाधि-मरण” की भाव-भूमि पर दृष्ट भाव से पडा आत्म-माधक ही वस्तुतः जीवन का सच्चा जानद नूटता है । और शरादर भाषा में नर दू, तो माधक जीवन का तो आनन्द लूटता ही है, वह समाधि-भाव, स्वा-विगा, तप मधम-तप ही माधना में लीन-नलीन रहकर मृत्यु की घड़ियों में भी वास्तविक आनन्द की अनुगति का स्वा-वैराग्य करना है । उमरा जागमक तथा चिन्तनशील मन मोचना है—जब बरबस एक दिन मर कुछ छोटता ही है तो फिर जगती स्वतन्त्र दृष्टि में प्रमत्त-भाव की तरंग में समार के मोह, शरीर की ममता, और जीवन-मरण की आसक्ति ने जाठ को मूगन उच्छिन्न करके स्वा-विगा की मन्त्री का मजा क्यों न लूटें ? समाधि-मरण के मय मगठ धर्मों में माधक ही समाधि-भाव और आत्म-मन्त्री के सच्चे आनन्द का उपभोग करता है, सुख-चैन की बनी वजाना है । मृत्यु ने आने पर दुःख का काटा चुभ ही नहीं पाना । जीवन में दुःख मारा मोह-ममता तथा आसक्ति का ही ता है । और अपने अन्तर्मन में हम मोह-ममता तथा भांगकाजा के काटे को पहले ही निकाल फेंकता है । अपने अन्तजगत् की भाव-भूमि में हम ममता-तत्त्वता के वह सब विष-दन्त उखाड डालता है और जीवन की निर्द्वन्द्व-निर्मम स्थिति में आत्म-समाधि के अखय-अनुपम आनन्द का साक्षात्कार करता है । जीवन-मरण के प्रति निरीह-अनामकन गृह्य आनन्द के झूले पर झूलता है ।

माधक ता समाधि-माधक ही पडता है । हर कोई छाडता ही है । पर, समाधि-आन्ति के क्षणों में मरण





करने वाला साधक तो जीते-जी ही 'मरण' का मजा तूटना है और पत्ला झाँककर दुनिया में मूढ़ मोड़ने तथा काया के पिंजरे को छोड़ने के लिए प्रगल्भतापूर्वक सख्त, कटिबद्ध हो जाता है । मरण-वेला में भी साधना-समाधि के रम में गहरा डूब जाता है । बात भी ठीक है । मृत्युक्षी कल्पवृक्ष के उपस्थित तान पर जिसने आत्म-हित का साग्न न किया, वह जन्म के कीचड़ में फंसा हुआ वाद में गला क्या करेगा ?

“मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते, येनात्माथा न साधित ।
निमग्नो जन्म-जन्माले, स पदचार्त्तिक करिष्यति ?”

— आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डध्यावकाचार

मोह-गन्त अज्ञानी व्यक्तित्व मृत्यु का गामने जाया देकर नाम खाता है, गिड़गिड़ाता है, राता है, आगू बहाता है, परन्तु त्यागी, विवक्त, ज्ञानी साधक मृत्यु के जाने पर भी तप-विभोर हो उठता है । आनन्द ही मर्त्या में जूम जाता है । वह मृत्यु में उरे और लडगडग भी क्या ? उरेगा वह, जिने अन्धकार में जीवन गुजारा है । रोएगा वह, जिसने जिन्दगी का दोवाला निकाला है । गिड़गिड़ाएगा वह, जिसका चित्त समाज की मोह-ममता में आमक्त है । जो अपना जीवन प्रकाश में लेकर चला है, जो पग-पग पर समन कर साधना के मार्ग पर चला है, जिसने जीवन में त्याग, विराग, सयम, तप, धर्म-भावना गमिन और ज्ञान ही गम्भीर बनाई की है, जीवन को आत्म-ऐश्वर्य से समृद्ध बनाया है, वह तो मृत्यु को देकर भी प्रगल्भता में नाच उठता है, मुद्दिन-मुग्ध हो जाता है उसका मन—

“ससागसक्तचित्ताना, मृत्युभीर्त्यं नवेन्नुणाम् ।
मोदायते पुन सोऽपि, ज्ञान-वैराग्य-वासिनाम् ॥”

— समन्तभद्र, रत्नकरण्डध्यावकाचार

“समाधि-मरण” आत्म-हत्या नहीं, आत्म-सजीवन है

जैन-संस्कृति का जीवन क सम्बन्ध में यह तत्त्व-पूर्ण विचार रहा है कि, मानव-जीवन एक अमूल्य वार्ता है । आत्म-उत्कर्षण एवं जीवनविकास की सर्वोच्च परिणति के लिए यह अमूल्य-अलम्प्य एवं स्वर्णिम अवसर है । मनुष्य को जीवन जीने के लिए मिला है । अतः जिम्मा, आनन्द पूर्वक जिम्मा, पूरा जीवन जिम्मा । उच्च आदर्शों के लिए, यम-नियम-सयम तथा त्याग-विराग तप के अनुष्ठान के लिए जीवा के कर्ण-कण और क्षण-क्षण का उपयोग करो । समग्र जीवन जीने का तुम्हारा जन्ममिद्ध अधिकार है । मरने की जल्दी मत करो । जल्दी मरकर लेना भी क्या है ? यो ही मरने से हाथ भी क्या आता है ? जहर की पुटिया लेकर, पर्वत-शायर अथवा किसी मीनार से छलांग लगाकर, नदी, नाले, कूप, अग्नि-कुण्ड में गूदकर, गले में फासी लगाकर जीवन को हान देना, समाप्त कर देना अपने आप में धर्म नहीं, अधर्म है, कारा अधर्म है, एक महान पाप है ।

किन्तु, मरण-वेला अथवा धर्म-मकट के आने पर धर्म की शरण ले लेना, आत्मनिष्ठा एवं धार्मिक आस्था के साथ अनशनपूर्वक देह का त्याग कर देना, मसार को ममता, मूर्च्छा का परित्याग कर देना अपने आप में धर्म है, एकान्त धर्म है, शाश्वत धर्म है । वह अपने आपमें हत्या नहीं, प्रत्युत एक उज्ज्वल समुज्ज्वल त्यागनिष्ठा का प्रतीक है । और इसीलिए वह साधकजीवन के लिए स्पृहणीय अथ च अभीष्ट है ।

कुछ विचारकों को साधनामय जीवन के प्रतीक स्वरूप इस समाधिमरण की भावना में मे आत्महत्या की वृत्ति आती है । उनकी दृष्टि में यह शरीर के प्रति अन्याय एवं उलाहल है, आत्म-वीर्य तथा आत्महनन है । किन्तु गहराई से विचार करने पर उनका यह विचार नितान्त भ्रामक एवं अतार्किक ही प्रतीत होगा । जैनसंस्कृति के महान उन्नायकों की तो यह स्पष्ट घोषणा है कि आत्महत्या महापाप है, एक अविचारपूर्ण एवं जघन्य कर्म है । परहत्या की गति आत्महत्या भी कोरा अधर्म है, नरक की राह है । अत्महत्या करना जीवन से पराजित करना है, भागना है । आत्मघाती कोणी भावनाओं के लोक में मचरण करता है । वह जीवन के यथाय की ओर खुली आँखों से नहीं

केवल । मायक नो न जीवने की आशा करना है और न मरने की कामना करता है । वह जीवन और मरण दोनों में ही आनन्द नहीं रखता —

“जीवित नाभिकलेखा मरण नो वि पत्यए ।

बुहओ वि न मज्जेज्जा, जीविए मग्गे तथा ॥

—आचार्य, १।८।८।४

मला जीवन-मरण के प्रति विना मन्त्रि की यह प्रथम प्रेरणा एवं दिव्य प्राणा गयी है, वह समाधि-मरण के माध्यम से आत्म-ज्ञान का विज्ञान देने का नतीजा है ? समाधि-मरण की पृष्ठभूमि में आत्म ध्यान, का कोई कारण भी नहीं दृष्टि में आ रहा है । विना व्यक्ति ने जीवन में कोई बड़ा उपार्जन किया हो, बलात्कार किया हो, दुसरे का धन चुराया हो, किसी प्रसिद्धि तथा व्यक्तित्व पर बाँट दिया गया हो, महत्वाकांक्षाओं पर तुल्यता होने के कारण जो जीवन में पतन निराशा-हत्या का गया हो, वह आत्म हत्या कर बैठता है । अनिष्टय महत्वाकांक्षी, अल्प परिश्रम तथा निरुद्ध व्यक्ति भी आत्म-ध्यान के कारण पतन पहुँच जाते हैं । तुल्यत्वों की अतिशय मानना की पूर्ति करने तथा दृष्टि के भावों न हो सकने के कारण भी मनुष्य आत्म-हत्या के दूर पर आ जाता होता है । उसी मानसिक वेदना दृष्टि की प्रथम हानी है कि उनमें मान का बंधन एक पल को टोले नहीं देता ।

‘समाधि-मरण’ की प्रथम पुनीत मायना-प्राप्ति के मूल में जो उद्भूत कारणों में से एक भी कारण उभरता नहीं होता । वह उपर्युक्त में उपर्युक्त नहीं होता । वह ना आशाओं की जड़ का ही काट देता है । वही जीवन अथवा समाधि के प्रति निराशा नहीं होती । वही ना मायक के जन्म में प्रतिकूल आशा का प्रकाश जग-पगाना है । उसी मानस-वेदना के तपस्य आत्म-हत्या नहीं प्रत्युत मरणात्मा ही होती है । वह जीवन का भाव नहीं होता, किन्तु जीवन का तपस्य एवं आत्म-हत्या स्थिति मरणात्मा ही के रूप में जीता है । वह मरने की चिन्ता में भी नहीं होता । वह ना जीवन को मरण का जीवन के रूप पर आनन्द में रहता है ।

यह ही है कि “समाधि-मरण” के कारणों में उभरता ही अदृश्य हानी है । आध्यात्मिक कष्ट तो अपने-आप ही प्रतीत होता है उस में । किन्तु, यह कष्ट भी जानना का कष्ट मिश्रित, भावी जीवन को सुखमय बनाने की दृष्टि से महाकायिकी है

“देहदुःखमहाफ” ।

—दशवैकालिक, ८

यन्तु भावी आत्म-सुख की उल्लिखित की लीनता में वर्तमान दुःख भूत जाता है, वह उस दुःख को भी अपने आत्म-प्रियता में मग्न रूप में परिणत कर देता है । उसी दैहिक कष्ट भी अध्यात्म दृष्टि के कारण समय-त्याग-नर का रूप धारण करता है । जैसे वैद्य अथवा डाक्टर के द्वारा किया जाने वाला प्रणाली — फोड़े का आपरेशन पीडाकारी होने हुए भी आनन्द का निमित्त होने से निर्दोष होता है वैसे ही मरण एवं मरण के हेतु की जाने वाली प्रवृत्ति भी निर्दोष होती है —

“सजमहेऊ जोगो, पडजमाणो अदोमव होइ ।

जह आरोगणिमिन, गडछेदो व विज्जस्य ॥

—बृ० भा० ३६५१

“समाधि-मरण” की धर्म-मायना अथवा दैहिक पीडा मरने के लिए नहीं, प्रत्युत मरण का राग मिटाने के लिए प्रसन्न एवं स्वतन्त्र मनोभाव में की जाती है, अतः वह एकात्म धर्मरूप है, मरण रूप है, त्याग रूप है । मला कोई फोड़े का आपरेशन अंगन की पीडा मरण के लिए महन करता है ? फोड़े की पीडा मिटाना तथा मुख-आग्नि प्राप्त करना ही वही व्यक्ति का एक मात्र उद्देश्य होता है—अतः वह पीडा और दुःख भी सुख रूप ही है —



मरणपडियारभूआ ऐसा, एव च ण मरणणिमिस्ता ।

जह गउच्छेअकिरिआ, णो आसविराहुणाएवा ॥

— ८० ओ० चि० गु० १

और फिर, "समाधि-मरण" की माधना मे अन्तर्लीन माधक तथा आत्मघाती विराधक की जीवन-मारा, भावना, दृष्टि तथा लक्ष्यविन्दु मे तो आकाश-पाताल का-सा अन्तर होता है । "समाधिमरण" की वेला मे माधना की अध्यात्म-दृष्टि तथा अन्तर्भावना उतनी निमल एव विशुद्ध होती है कि त्याग-तप एव विमूढ़ आत्म-परिणिधि के द्वारा बड़ा साधक की आत्मा का मैल कटता-उटता है, अन्तर्जीवन प्रति-क्षण उज्ज्वल निर्मल होने लगता है, इधर-उधर के ममस्त विकल्पो तथा समस्त सम्बन्ध बन्धनो से विमुक्त होता है । गहरी आत्म-समाधि की माया मे माधक मोचना है-मे विशुद्ध स्वरूप ही है । शेष अन्य पर है, पराये है । यह विमूढ़ आत्म निष्ठा मोह की जटिल ग्रन्थि को ग्राहती चलती है । सचमुच उस स्थिति मे साधक मरीर, उपधि, समाग, वैभव-ऐश्वर्य मे पूर्णतः निर्मोह हो गया होता है । अतः "समाधिमरण" विशुद्ध आत्म-योग है, विशुद्ध-मयम-योग है, तब-सा शुद्ध ध्यान-योग है—शीतराग परिणिधि की पराकाष्ठा है यह ।

इसके विपरीत, आत्म-हत्या करने वाले व्यक्ति की मन-स्थिति परिस्थिति गहरे-घने मोह की होती है । आर्त एव रौद्र परिणिधि के कारण वह क्रूर कर्मों का बन्धन अपने ऊपर डाल लेता है । बड़ा तो जीवन की, ममार की, एगान्ता आसक्ति की आसक्ति है । समाधिमरण मे आत्म-स्वरूप का दिव्य प्रकाश है, तो आत्म-हत्या मे मोह-ममता का गहन अन्धकार है । समाधिमरण आत्म-जीवन है, मद्गति का कारण है, तो आत्मघात जीवन का विनाश है, मद्बृत्तियों का पूणतः ह्लास है, दुर्गति का विधायक है । समाधिमरण आत्म-सजीवन है, तो आत्महत्या आत्म-पीडन है । समाधि-मरण अमृत है तो आत्महत्या हठाहल विष है । समाधिमरण अपने बल, वीर्य, धृति तथा पुरुषार्थ का मोक्ष-अभियान के लिए अधिक मे अधिक सदुपयोग है, तो आत्महत्या जीवन की समस्त शक्तियों का एक साथ दुरुपयोग है ।

समाधि-मरण साधनामय जीवन का एक सफल परीक्षण

मक्षेप मे, 'समाधिमरण' धर्म-प्राण साधक के जीवन का एक सफल परीक्षण है । साधक-सिंह की यह अपनी देह पर विजय है, इन्द्रियो पर विजय है, मन पर विजय है, आसक्तिमूलक ममस्त्व विकार-वासनाओं पर विजय है । आत्मा पर विजय है, इस लोक पर विजय है, परलोक पर विजय है । साधनामय जीवन का यह एक वीरतापूर्ण युक्ति-अभियान है । साधक की दृष्टि मे यह मृत्यु नहीं मृत्यु के प्रति एक विजय-अभियान है, एक नए जीवन का आह्वान है । मृत्यु की भी जीवन के रूप मे परिवर्तित करने की एक धर्म-यात्रा है । धारणी की माया मे यह तो साधक के लिए मीत मे भी जिन्दगी का पैगाम है । अब विभोर होकर साधक का रोम-रोम गा उठता है —

"भुवारक जिन्दगी के वास्ते दुनिया को मर मिटना ।

हमे तो मीत मे भी जिन्दगी मालूम देती है ॥

मीत जिसको कह रहे वो जिन्दगी का नाम है ।

मीत से उरना-टराना कायरों का काम है ॥

जैनदर्शन में नीतिशास्त्र

श्रुतिशील शर्मा

एम० ए० शान्त्री, तत्त्वज्ञानविधि



‘दृग् दर्शने’—यह ने निद्र हुए दर्शन शब्द का अर्थ ग्रहण किया है। व्यापक इस दृष्टि में कि उसमें प्रायः सभी प्रकार के ज्ञानों का समावेश है। जाता है। इसलिए प्राचीन दर्शनिक परिभाषा में सभी ज्ञान विज्ञानों का दर्शन कहा गया है। ‘दर्शन’ का शाब्दिक अर्थ है “मननम् का नाशनाशक”। मनुष्य सामान्य विषय-वस्तुओं में जनपद प्राप्त एवं ऐसे तत्त्वों की शक्ति में जाना चाहता है, तथा उसे शास्त्रन सृष्टि की प्राप्ति हो। इसी जनपद भावना एवं शास्त्रन सृष्टि-प्राप्ति की अभिलाषा ने दर्शन की उत्पत्ति दी। इसी प्राप्ति जाति एवं पृथक् शास्त्रन बन गया। इस शास्त्र में मनविषय, ज्ञान-विषय यदि सभी ज्ञानों का समावेश होता था, पर प्राप्ति जाति-जब इन विषयों पर पृथक् पृथक् ने विस्तृत विचार किया जाने लगा, तो उस दर्शनशास्त्र की धाराओं भी विभिन्न हो गई। मन सम्बन्धी ज्ञान का विचार मनोविज्ञान के अन्तर्गत किया जाने लगा, आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी ज्ञानों का विचार अध्यात्मशास्त्र (Metaphysics) के अन्तर्गत होने लगा, इसी प्राप्ति ज्ञानों या व्यवस्था का विचार आचारशास्त्र के अन्तर्गत होने लगा। इसी ज्ञान-शास्त्र दर्शनिक परिभाषा में “नीतिशास्त्र” कहा जाता है, अर्थात् में इसके लिए “ईथिक्स” (Ethics) शब्द है। प्रायः हर धर्म या दर्शन के अन्तर्गत उस शास्त्र का अपना प्रधान स्थान होता है, अर्थात् यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इन शास्त्रों के बिना किसी दर्शन का उद्देश्य नष्ट होना ही नहीं के महत्त्व खड़ा करने के समान है। अतः जिस धर्म में यह शास्त्र जितना विचार होगा, उतना ही वह धर्म दृढ़ होगा।

जैन दर्शनिक इस तथ्य में सर्वज्ञान परिचित थे, इसीलिए इस शास्त्र पर उन्होंने अत्यधिक जोर दिया। विशेषतः जैन और बौद्धदर्शन में आचारशास्त्र का बहुत वर्णन है। जैन का अध्यात्मवाद भी नीतिशास्त्र में प्रभावित है। डॉ० रामाद्वयानु जयने प्रथम में लिखते हैं—

In metaphysics Jainism is opposed to all theories which do not emphasis ethical responsibilities¹

मनुष्य के स्वतन्त्र कर्तृत्व में नीतिशास्त्र का अपना एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। मनुष्य हर तरह के कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है। मनुष्य शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जैनदर्शन के अनुसार मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है, भाग्य मनुष्य का निर्माता नहीं। परमात्मा के द्वारा समार की उत्पत्ति अर्थात् प्रकृति के अन्दर में समार का विकास अर्थात् उस समार के विनाश आदि सिद्धान्तों पर जैन दर्शनिकों ने इसी कारण खण्डनात्मक टीका की है कि यह सभी विषय भाग्यवाद पर ही निर्भर रहते हैं। जैननीतिशास्त्र के अनुसार मनुष्य का एक मात्र उद्देश्य दुःखों में सुखित पाना ही है। जिन पदार्थों में दुःख की निवृत्ति नहीं होती, जैननीतिशास्त्र की दृष्टि में उन पदार्थों का कोई मूल्य नहीं। यह प्रकृति अथवा परमात्मा मनुष्यों के दुःखों का निवारण नहीं कर सकते, इसीलिए जैननीतिशास्त्र में इनका कोई महत्त्व नहीं।² इस समार में कोई गरीब है, दुःखी है तो कोई धनी है, सुखी है, इस प्रकार समार में



विभिन्नता दृष्टिगोचर होनी है अतः यह मानना कि किसी बुद्धियुक्त तत्त्व ने पञ्च महाभूता को उत्पन्न करके इस विभिन्नता में युक्त ससार को उत्पन्न किया, नीतिशास्त्र की दृष्टि में विन्मूलक निरर्थक है।^१ यदि यह कहा जाए कि आत्मा तो उदासीन है, अतः इस समार की विभिन्नता में आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं, तो इस प्रकार के धर्पनाजन्य मिद्वान्तों में नैतिक मिद्वान्तों का मूल्य हो क्या रह जाता है ?^२ उदाहरणार्थ—प्रश्न है कि एक मनुष्य उत्तम कर्म क्यों करे ? उत्तर है पुण्य के लिए। पुण्य का प्रलाभन ही मनुष्य को उत्तम कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। फिर प्रश्न उठता है कि पुण्य का प्रयोजन क्या है ? उत्तर मिलता है—सुख की प्राप्ति। सुख की प्राप्ति के लिए पुण्य के मन्थनार्थ मनुष्य उत्तम कर्म करने की तरफ प्रेरित होता है। पर यदि आत्मा का सुख या दुःख में कोई प्रयोजन ही न हो अथवा कहा जाये कि सुख दुःख दोनों में वह उदासीन है तो दुःखों में मुग्ध होने का वह प्रयत्न ही क्यों करे और उस समस्या में वह पुण्य सचय के लिए उत्तम कर्मों की तरफ प्रेरित ही क्यों हो ? और तब नैतिक मिद्वान्तों का मूल्य ही क्या रह जाएगा ?

नीतिशास्त्र के मिद्वान्तों पर दूसरा आक्रमण जिसने किया है, वह है भाग्यवाद। प्रश्न उठता है कि यदि यह समार परमात्मा ने बनाया है तो वह इतना पक्षपाती क्यों है कि एक आदमी तो सुखों में लोट रहा है जब कि दूसरा जिन्दगी भर दुःखों का बोझ लादे येन-केन प्रकारेण जी रहा है। इसका उत्तर भाग्यवादी देते हैं कि यह तो अपना अपना भाग्य है। पर इस भाग्यवाद में नैतिक मिद्वान्तों के कारण हो जाते हैं। यदि भाग्य ही मनुष्य के सुख-दुःखों का निर्णायक है, तो मनुष्य कर्मों को करने का प्रयत्न क्यों करे ? यदि भाग्य में होगा, तो बिना कर्म किए ही सुख मिल जाएगा। भाग्य में नहीं होगा, तो हजार प्रयत्नों के बावजूद भी वह सुख मिलने वाला नहीं है, तो फिर मनुष्यों के प्रयत्नों की नैतिक दृष्टि का मूल्य ही क्या रहती ?^३ पर नीतिशास्त्र में कर्मों का बड़ा भारी महत्त्व है। नीतिशास्त्र के अनुसार कोई भी मनुष्य अपने कर्मों के आधार पर अपने को बना या बिगाड़ सकता है।^४ इस विषय में डॉ० राधाकृष्णन् के विचार मननीय हैं—

The fatalist Theory (भाग्यवादी मिद्वान्त) that all things are fixed by nature, obviously leaves no room for individual effort. Ethical values require that the individual can make or unmake himself in the world and the soul has a self identity, which it preserves even in the ultimate condition.^५

जैननीतिशास्त्र कर्मवादी है, भाग्यवादी नहीं। उसके अनुसार कोई भी मनुष्य अपने कर्मों के आधार पर 'अहंत्' बन सकता है। मनुष्य के अन्दर योग्यता रहती है, ज्ञान रहता है, पर वह अज्ञान से ढका रहता है, यही दुःखों का कारण है। अतः यदि इन दुःखों में कोई मुक्ति पाना चाहते तो उसे चाहिए कि वह प्रथम अपनी आत्मशक्ति से इन सासारिक विषयों पर विजय प्राप्त करे। जब आत्मा अपने को गिराने वाले दुर्गुणों से ऊपर उठ जाती है, तब वह उस स्थान पर पहुँच जाती है कि जहाँ सुवर्तात्मायें रहती हैं। मनुष्य की अन्तरात्मा का उत्तम मार्ग में प्रेरित करना ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है। ये कर्म ही हैं जो मनुष्यों को उन्नत अथवा अवतल करते हैं।

कर्म सिद्धान्त

जैनशास्त्रों में कर्म-सिद्धान्त पर बड़े विस्तार से विवेचना की गई है। जीव अपने कर्मों के गुणदोष के आधार पर ही देव, नारक, मनुष्य या जानवर बनता है। जब मनुष्य के पिछले कर्मों का विनाश हो जाता है और

१ सूत्रकृतांग—११।१।७-१०, ११-१२, २।१।१६।१७

२ उपर्युक्त—१।१।१।१३

३ उपर्युक्त—१।१।२।१-५

४ उपर्युक्त—१।१।३।११

५ Indian Philosophy, I Vol P 312

नये कर्म भी निरुद्ध हो जाते हैं, तब जीव निष्कर्म होकर मुक्तात्मा बन जाता है। पर इस स्थिति तक पहुँचने के लिए ही जीव को नैतिकता की आवश्यकता होती है। जैनगमों में आठ तरह के कर्मा का वर्णन है, जिनमें से चार धार्मिक कर्म हैं जो आन्तरिक गुणों का निर्माण करने हैं—

(१) ज्ञानावर्णीय—यह कर्म मनुष्यमान को एक तरह मनुष्यों को अज्ञान की ओर प्रेरित करना है। मत्स्य का कुछ हमेशा ऐसा रहना है, जो उसे मोटी-मोटी ही जान पाना है। ईश्वरनिषेध के ऋषि का कथन है—

हिंसयेन पात्रेण मय्यभ्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूयन् अपावृणु मय्यग्रमात्रं दृष्टये ॥

“हे पूया देव ! मैं का कुछ मोट के टुकड़ों में टँका हुआ है, जो उसे नूट्टा दे, ताकि हम मय्यग्रम का दर्शन कर सकें।” इसका यह ज्ञानावर्णीय कर्म ही वह जाने का टुकड़ा है, जिसमें मत्स्यनख टका हुआ है।

(२) दर्शनावर्णीय—यह कर्म मनुष्यमान का जो कुछ उसके मनुष्यता का छान्ति उक्त एवं अमर्यमात्र का दर्शन करना है। निश्चय यदि प्रमाण दर्शनावर्णीय कर्म का परिणाम है। इस कर्म से प्रेरित होकर जीव इस प्रकार से उन-उत्तर प्रदर्शन करता है।

(३) अन्त्याय—यह कर्म मनुष्य जीवों का उत्पादन है। आत्मा बन्तुन जन्तु बन्तुन है, आनन्दमय है। इतिहास का ऋषि कहता है—“आनन्दमय एवं दर्शनमय मनुष्यता, आनन्दमय आनन्दमय आनन्दमय प्रयत्न आनन्दमय” अर्थात् ये सब प्राणी आनन्दमय ही उत्पन्न होते हैं आनन्दमय ही जीवित रहने हैं और अन्त में आनन्दमय ही जीवित हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मा का स्वभाव आनन्दमय ही है, पर जब वह इन कर्मों से प्रभावित होता है, तब वह अपने मूल स्वभाव से उठकर कुछ और कुछ का अनुभव करने लगता है। पर जब वह उस अल्पमत्त्व का दर्शन करता है, तब वह बीनमान होकर उन सुख-दुःखों से ऊपर उठकर अपने मूल स्वभाव आनन्दमयता का दर्शन करने लगता है और उसमें जन्तुमत्त्व प्रकट हो जाती है।

(४) मोहनीय—आत्मा के प्रत्यक्ष मत्त्व और मत्त्व अवधारण के, ताक ही जाने हैं, पर कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जो उसे अपनी अर्थात् और मनुष्यप्रकार के मांस से भटका देते हैं, ऐसे कर्मों का जैनगम में “मोहनीय” कहा गया है।

चार ज्ञानविद्या कर्म भी जीव में माना प्रमाण के विचार उत्पन्न करने हैं किन्तु पापिगा कर्मों की तरह नहीं, अन्यथा यथा इतरा दृष्टेयं नहीं गिया जाता है।

इस प्रकार इन आठ तरह के कर्मों के कारण आत्मा इस समा में अनेक प्रकार के सुख-दुःखों को भोगता है। इसी कर्मों के विनाश के विनाश एवं अधिक्यमात्र कर्मा के निर्माण के लिए नीतिशास्त्र की आवश्यकता होती है। डॉ० गणेशदास के शब्दों में—

The apparatus of morality is necessary to bring about the reformation of man's nature and prevent the formation of new karma¹

नैतिक विद्यालयों का व्यवस्थापन के मनुष्य इन कर्मों से छूट सकता है। मनुष्य कर्मबन्ध के कारणमूल जो कर्म करता है, उन कर्मों का जैनगम में “आचर्य” कहा है। “द्रव्यमग्रह” के टीकाकार श्री नेमिचन्द्र के अनुसार ये आचर्य भावाचर्य और कर्माचर्य या द्रव्याचर्य रूप में दो प्रकार के हैं। मनुष्य जो कुछ सोचना है, वह भी एक तरह की मानसिक क्रिया ही है। इस मानसिक क्रिया के परिणामस्वरूप जो कर्म आत्मा के मांस बढ़ जाने हैं वे “भावाचर्य” कहलाते हैं। कर्म-माण्डूओं का आत्मा में जाता द्रव्याचर्य या कर्माचर्य है। इस प्रकार आचर्य निरन्तर होता रहता है। जिन कर्मों का फल भोग दिया जाता है, वे नाश हो जाते हैं। इन जैन परिभाषा में “निर्जरा” कहते हैं। मनुष्य





यदि चाहे तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान इन पांच प्रकार के सत्यज्ञानों की महारत्ना से आसन्न-कर्मों का निरोध कर सकता है और इस प्रकार कर्म के बधनों से छूटकर निर्वाण का अधिकारी बन सकता है। श्री उमास्वाति कृणु "तत्त्वार्थभूष" में इन पांच प्रकार के ज्ञानों की विवेचना विस्तार में की गई है।

यदि मनुष्य इन मामारिक दुखों से मुक्ति पाना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह "त्रिरत्न" का आचरण करे। वे "त्रिरत्न" ये हैं—

- (१) सत्य तत्त्व में विश्वास
- (२) सत्य का ज्ञान
- (३) शुद्ध चरित्र

इसी "त्रिरत्न" को 'पचास्तिकाय' के रचयिता ने मत्यमाग, सत्यज्ञान और मत्यचरित्र के शब्दों में व्यक्त किया है। "वास्तविक तत्व की सत्ता में श्रद्धा रखना ही सत्यमार्ग है। तत्त्विक प्रकृति का मगयातीत ज्ञान ही सत्यज्ञान है और सासारिक विषयों की ओर से उदासीन होकर ऐयणाओं से रहित होना ही मत्यचारिण्य है।" ये तीनों मिलकर एक ही मार्ग को प्रकाशित करते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—“भूमा च सुप्त नाल्पे सुखमस्ति।” सासारिक दुखों में मुक्त कराकर भूमा सुख या शाश्वत आनन्द को प्राप्त करना ही दर्शनों का मुख्य उद्देश्य है। यही उद्देश्य जैनदर्शनियों के सामने भी था। पर इस दर्शन की विशेषता यह है कि जहाँ अन्य दर्शनों ने अध्यात्ममार्ग पर ज्यादा जोर दिया, वहाँ जैनदर्शन ने नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों पर भी उतना ही बल दिया है। जैनदर्शनिक इस बात से अच्छी तरह परिचित थे कि नि श्रेयस् का लाभ मनुष्य के अम्युदय पर ही निर्भर है। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह मनुष्य, जिसका इहलोक विगड़ा हुआ है, निर्वाण का अधिकारी कभी भी नहीं हो सकता। और यह लोक मदाचार और सद्-व्यवहार से ही सुधर सकता है। इसी कारण दूरदर्शी जैनदर्शनियों ने आचारशास्त्र पर ज्यादा जोर दिया।

पांच महाव्रत

जैनदर्शन के अनुसार पांच महाव्रतों का विस्तार ही समग्र नीतिशास्त्र का मूलधार है। वे पांच महाव्रत इस प्रकार हैं—

(१) अहिंसा—यह अहिंसा न हिंसा के रूप में केवल निषेधात्मक ही नहीं है, उनका एक विधेयात्मक रूप भी है और वह है—“सर्व प्राणियों के प्रति दया करना।”

(२) सत्याचरण—कायेन, मनसा और वाचा कभी भी असत्याचरण न करना।

(३) सम्मान्य व्यवहार—कभी चोरी न करना, दूसरों को कष्ट न देना आदि।

(४) वाणी, विचार और कर्मों में अव्यभिचारिता।

(५) ममता, भूच्छा, आसक्ति का परित्याग।

इन्हीं पाँच महाव्रतों को योगदर्शन में पांच यम के नाम से कहा गया है—“तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्या-परिग्रहा यमा।” इस प्रकार मानसिक शान्ति प्राप्त कराने वाले सभी कर्म जैनदर्शन के अनुसार विधेय हैं।

जैनागम के अनुसार हिंसा सबसे बड़ा पाप है और सर्व प्राणियों के प्रति दयाभाव ही सबसे बड़ा पुण्य है। सबके प्रति दया करना ही परमात्मा की सच्ची भक्ति है। अग्नेज कवि कालेरिज के शब्दों में—

He prayeth well, who loveth well
Both man, bird and beast

He prayeth best, who loveth best
All things both great and small
(Coleridge)

जैनधर्म का नीतिशास्त्र बौद्धधर्म की अपेक्षा ज्यादा कठोर है । जैनदार्शनिकों के अनुसार “सन्नोप ही सर्वोत्तम शिव” (highest good) है और मनु की आलस्य ही पाप का मूल है ।^१ इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सुख और दुःख में उदासीन रहे । वह बाह्य पदार्थों पर निर्भर न रहकर उनसे स्वतंत्र रहे । “जो मनुष्य बाह्य पदार्थों की अभिलाषा करता है, वह सुख और दुःख का अनुभव करता है और अपनी आत्मा पर अपना अधिकार गवा बैठता है । उस पर कामनायें या ऐश्वर्यायें शासन करने लगती हैं और बाह्य पदार्थ ही उसके चरित्र के निर्णायक बन जाते हैं ।”^२ इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह बाह्य पदार्थों पर निर्भर न रहे ।

जैनदर्शन या धर्म सृष्टिवादी नहीं है, वह अपने धर्म के प्रति हठवादी नहीं है । वह यह नहीं कहता कि अमुक प्रकार के वेप के धारक ही निर्वाण के अधिकारी हो सकने हैं । इसके विपरीत वह कहता है कि किसी भी पथ का अनुयायी नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र के नियमों का मध्यम पालन करके निर्वाण का अधिकारी बन सकता है । अपने ग्रन्थ “मम्बोधमनरी” में रत्नशेखर कहते हैं—“मने ही कोई ध्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो या किसी भी धर्म का अनुयायी, जो अपनी आत्मा का मायात्कार कर लेता है, सब प्राणियों को अपने समान समझ लेता है, वह निर्वाण प्राप्त कर सकता है ।”

इसी प्रकार जैनधर्म वर्णव्यवस्था का विरोधी नहीं है । पर यहाँ पर भी वर्ण का निर्णायक नीतिशास्त्र ही है । “मनुष्य अपने ही कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बनता है जो कर्मों को अनामकृतभाव से करता है, उसे ही हम ब्राह्मण कहते हैं ।”^३ जैन परिभाषा के अनुसार ब्राह्मण एक सम्मान्य पदवी है, जो एक उत्तम कर्म करनेवाले ब्राह्मणेश्वर को भी दी जा सकती है ।^४ वशाभिमान पाप का कारण होता है ।” (सूत्रकृताग)

इस प्रकार जैनदर्शन में नीतिशास्त्र बहुत ऊँचे स्तर पर स्थापित है और जैनदार्शनिकों ने इसे अपने दर्शन का आधार माना है ।

०

१ आचाराग सूत्र २२ पृ० ४८

२ पचास्ति काय पृ० १६३

३ Sacred Book of the East XIV P 140

४ Ibid XXII P. XXX



जैनागमों के तीन प्रेरक प्रसंग

मृनिश्री चन्दनमलजी,
साहित्य-निकाय व्यवस्थापक



किसी भी नगर में प्रवेश पाने के जैम पूर्व जादि दिनाओं में चार मुख्य दरवाजे रखे जाने हैं, वैसे ही द्वादशांगी रूप जिन-वाणी का आज्ञान करने के लिये द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग गणिनानुयोग, और धर्मकथानुयोग, ये चार सिंहद्वार माने गये हैं। इन अनुयोगों का यथार्थ मनन करने में ही आहंतीज्ञान-गंगाहृदयागण में प्रवाहित हो सकनी है। यह तो सर्वजिदित है ही कि जैनागमों का निरूपण केवल अध्यात्म-मन्त्र को हृदयगत करने के लिये ही हुआ है। यहा धर्म को उकृष्ट मंगल माना है। अहिंसा को "सर्वभूत-नेमकरी" कह कर पुकारा है, नत्य को "भगवान्" शब्द से सम्बोधा है और ब्रह्मचर्य को "व्रतराज" कहकर सम्मानित किया है। प्रकाशपुञ्जमयी इस दिव्यवाणी के चारों तरफ वैराग्य की किरणें फूटनी हैं। अनागमिनी की रेखायें अंकित हुई हैं और मन्त्र शान्ति का प्रसार हुआ है, यहा मिलते भागों को न चाहने वाले को त्यागी कहा गया है, मायी का 'मिथ्याहृदि' व अमायी को 'मय्यहृदि' की राज्ञा दी गई है। भोगों को 'अनर्थों की पान' तथा लोग का 'मर्वचिनाशक' कहा गया है।

अहा ! क्षीर-समुद्र का पानी कटी में भी, कभी भी पीकर देखिये, वह तो प्रतिक्षण अनुपम मधुरिमा को त्रिये हुए ही है। आगमों के कुछ एत स्वरूप तो इतने मार्मिक और अनूठे हैं कि उनकी गरिमा का अन्दाज लगाना भी कठिन-सा प्रतीत होता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं -

(१)

भगवान् महावीर के दम लकावतारी श्रमणोपासकों में आनन्द गाथापति को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। कोट्यशील होते हुए भी उसने असाधारण धर्म-साधना की। वह कृष्णकाय होकर पोषधशास्त्र में अन्तिम मारणातिक-सन्नेखना में सलग्न था तब उसने क्षयोपशम की विषेय उज्ज्वलता में त्रिगिण्ट अवधिज्ञान प्राप्त किया। उसके द्वारा वह पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा में, लवण समुद्र को पांच मी योजन तक, उत्तर में लघुहिमवन्त वर्षधर पर्वत तक, ऊर्ध्व-लोक में सौधर्म देवलोक तक और अधोलोक में रत्नप्रभा पृथ्वी के चौरासी हजार वर्ष की मितिवाले "लोलुपचुप" नामक नरकावाम का जानना-देखना था।

इधर भगवान् महावीर बहा पवारे और उनके ज्येष्ठ अन्तेवासो इन्द्रभूति (गीतम स्वामी) छट्ठ भन्त के पारणे में शिक्षा के लिये 'वाणिल' गाम में पवारे। माधुकरी लेकर जब वापिस आ रहे थे तब बहुत से लोगों के मुंह से आपने आनन्द की मारणातिक सन्नेखना की बात सुनी। कृपामागर गीतम ने उसे दर्शन देने की कृपा की। भगवान् गीतम को आते देखकर आनन्द अत्यन्त आनन्दित हुआ। वन्दन-नमस्कार करता हुआ कहने लगा—गन्ते ! मैं उदार तब के द्वारा कृपा एवं चलने-फिरने में अशक्त हूँ। यदि आप मेरे समीप पधारन की कृपा करें तो मैं आपके चरणकमलों का मस्तक द्वारा अभिनन्दन कर सकूँ। गीतम स्वामी समीप गये। आनन्द ने सविधि वन्दना की और पूछा—गृहस्थाश्रम में रहते हुए क्या गृहस्थ को अवधिज्ञान प्राप्त हो सकता है ?

गीतम—हाँ ! हो सकता है।

ज्ञानन्द—अन्ते ! मुझे अविज्ञान प्राप्त हुआ है। उसने मैं पूर्व जन्म में लवण समुद्र में पांच मी योजन तक, ऊपर में लघुहिमवन्त वर्षपर पर्वत तक ऊर्ध्वगत में नीचतम देवलोका तक जी-अवतारों में अन्तर्गता पृथ्वी के नीचतमी हस्ताक्षरों में निहितवाले 'गन्धर्व' नामक नागराजों का जानना-देखना है।

गीतम्—जानद ! गृहस्थ जो, गृहस्थाश्रम में उपविष्ट हो सकता है किन्तु इतना विस्तृत नहीं हो सकता। अब उस मित्राश्रम के निवेष्ट आश्रयना व प्रायश्चित्त है।

ज्ञानन्द—भगवन् ! क्या जैन भगवन् में यथायुक्त, मत्त, तथ्य निष्पन्न का भी प्रायश्चित्त है ?

गीतम्—नहीं, विस्तृत नहीं।

ज्ञानन्द—तो फिर भगवन् ! आपही उस कर्म के निवेष्ट आश्रयना व प्रायश्चित्त करें।

ज्ञानन्द के इस कथन पर गीतम् जयित, साक्षित और निश्चिन्त्यामनपन्न हुए और ब्रह्मा वे भगवान् महावीर के पास आकर, ज्ञानद सम्बन्धी घटना मुझसे भी पूछा—आवन् ! उस कथन में ज्ञानन्द को प्रायश्चित्त लेना होगा या मुझे ?

भगवान् ने कहा—गीतम् ! ज्ञानन्द का कथन सत्य है उसने उक्त प्रायश्चित्त कर और अपनी भूल के निवेष्टे उनसे क्षमा-आचना है।

गीतम् ने उस कथन का प्रियतमपुत्र जयित लिया, आश्रयना की और ज्ञानद के पास जाकर अपनी गल्ती स्वीकार करने का क्षमा-आचना की।

उत्पन्न पटना जैनो में आचार-वृद्ध प्रसिद्ध है। तेजिन इस घटना की सम्झौता में यदि हम जानें तो एक अद्भुत माधुर्य का प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान है। गीतम् यदि तेज-दीन माधुर्य मुनि नहीं थे, वे चौदह हजार सत्तों में प्रथम थे, चतुर्दशी तथा चतुर्दशी थे। उन बड़े गीतम् स्वामी का एक श्रावक के नामने अपनी गल्ती स्वीकार करने जाना, क्षमा मागना तो सामान्य पटना नहीं है। निश्चित ज्ञान है कि गीतम् ने गर्व का ठेग भी नहीं था और माया की छाया भी नहीं थी। 'तबोप वाचक' की तरह मत्त हृदय ज्ञान गीतम् अपनी भूल की स्वीकृति में बिल्कुल नहीं हिचकिचाये। तब ऐसी सत्यता जानने माधुर्य में है ? क्या अपनी भूल की स्वीकृति में वह इतना माहुर्य का परिचय दे सकता है ? यह चिन्तनीय प्रश्न है।

(२)

भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में तानात्म्यशक्ति पुत्रनाम के एक मुनि थे। एक समय वे भगवान् महावीर के स्वयंसे के पास आते और कहते थे—

१. स्वयं ! आप सामायिक नहीं जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।
२. स्वयं ! आप प्रत्याग्रह नहीं जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।
३. स्वयं ! आप समय नहीं जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।
४. स्वयं ! आप मकर नहीं जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।
५. स्वयं ! आप विवेक नहीं जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।
६. स्वयं ! आप धुन्मर्ग नहीं जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।

प्रत्युक्त म स्वयंसे ने कहा—आर्य ! हम सामायिक जानते हैं और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते हैं। आर्य ! हम प्रत्याग्रह भी जानते हैं और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते हैं। आर्य ! हम समय भी जानते हैं और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते हैं। आर्य ! हम मकर भी जानते हैं और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते हैं। आर्य ! हम विवेक भी जानते हैं और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते हैं। आर्य ! हम धुन्मर्ग भी जानते हैं और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते हैं। आर्य !

१ भगवती शतक १-३-६

गौतम ने कहा—भन्ते ? कब कैसे और जिनकी देर में देखूंगा ? भगवान ने सब मित्रों वरुण मुनिते हुए कहा कि वह बहुत नजदीक था चुका है, तू उसे आज ही देखेगा । फिर गौतम ने पूछा—भन्ते ! क्या यह गाँवके पाम नाथुन्व नेने में भी नमर्थ होगा ?

भगवान ने कहा—हा ! ऐसा होगा ।

इनने में स्क्खर कहा जाता हुआ दिखाई दिया । भगवान गौतमस्क्खर को नमीप जाने देखकर तत्काल खड़े हुए, शीघ्र सामने गये और उनके पाम आकर कहने लगे—

स्क्खर ! स्वागत है ।

स्क्खर ! मुन्वागत है ।

स्क्खर ! अन्वागत है ।

स्क्खर ! स्वागत-अन्वागत है ।

स्क्खर ! तुमने त्रिगल निर्गन्ध ने—ठाक म-अन्त है या अनन्त ? जीव म-अन्त है या अनन्त ? मिद्धि म-अन्त है या अनन्त ? मिद्धि म-अन्त है या अनन्त ? किम मरग में मरना हुआ जीव नमार का बढाना है और किम मरग ने बढाना है ? ने प्रण पृष्ठे ।

स्क्खर—हा, भन्ते ! पृष्ठे ।

फिर वे दोनों भगवान महावीर के पाम चले गये ।

वर्तमान वानावरण में यह त्रिविध-मा लगने वाला प्रसंग बड़ी चिन्तन-सामग्री प्रस्तुत करता है । पहली बात, स्क्खर पन्निवाज जैन मुनि नहीं था, जैन भाषा में सम्यग्दृष्टि भी नहीं था, उस स्थिति में, उसके सामने जाकर गौतम स्वामी का स्वागत-मुन्वागत करना क्या उचित था ? उन्होंने ऐसा किया तब भगवान महावीर ने उन्हें क्यों नहीं टोका ?

आज के ल्ट मन्त्रदायवादियों के लिये यह बहुत आपत्ति का विषय बन सकता है लेकिन व्यवहार-निवहण रहा तब और किनना आवश्यक है यह गहरा परामर्शनीय विषय है ।^१

•



जैन आगमों में कल्पनिरूपण

देवेन्द्रमुनि शास्त्री,

साहित्यरत्न



कल्प की परिभाषा

कल्प का अर्थ है तीर्था, जातार, मर्गाद, विधि अथवा समारोह । उक्तार्थों में से है—“ता रात्रं, ज्ञान, धीम, तप का उपसर्ग करता है और बोधा का निष्पन्न करता है वह विद्याय द्युति से जाता है और ज्ञान अन्तर्गत है ।” कल्पसूत्र की टीका के अनुसार धर्मशास्त्र का जातार कहा है ।^१ मर्यादों आगम भाष्य निर्गुण और चूर्ण भाष्य में अथवा अन्तर्भेद निर्दिष्ट है । उक्त सभी तीर्थों का नाम कल्प पड़ता है । कल्प ही विद्याय विद्या का रहस्य है । ये दस तरह के पञ्च हैं—

(१) आचेलीय, (२) गौह्मेयिक, (३) मज्झिम, (४) मज्झिम, (५) गुर्गुणा-नन्, (६) यम, (७) खेच्छ, (८) प्रतिश्रमण, (९) मागकन्त, (१०) वर्गुणा-नन् ।^२

आचेलीय

‘विद’ शब्द का अर्थ यज्ञ है । ‘व’ नेल-अन्त है । ‘म’ शब्द का अर्थ अर्थ अर्थ ही है ।^३ तैम अनुसरा गन्था । आचाराग के टीकाकार ने ईश्वर (अर्थ) में ‘तू’ मगम मातक’ शब्द का अर्थ अन्तर्गत किया है ।^४

१ यज्ज्ञानशीलतपमासुपग्रह, निग्रह च बोधानाम् ।

कल्पयति निश्चये यस्तत्कल्पमकल्पमयशेषम् ॥ (प्रशमरतिप्रकरण १४३)

२ कल्पशब्देन साधूनामाचारोऽयं प्रकथ्यते ।

—पर्युषणाकल्पसूत्रम्, वैश्वरमुनि

३ (क) आचेलमकुह्येति, सिद्धाचार-मार्गाद-किङ्कम्मे ।

यय जेष्ठ-पट्टिकम्मे, मास पञ्चोत्सवणकल्पे ॥

—आपश्यकनिर्युमित-मलयगिरिवृत्ति, १२१

(ख) निशीथ भाष्य, मा० ५६३३ भा० ८, पृ० १८७, सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा

(ग) बृहत्कल्पनाय भाषा ६३, ६४

(घ) भगवती आराधना, पृ १८१, मा० ४०७

(ङ) कल्पसूत्र कल्पलता, समयमुत्तर गणि भाषा १, पृ० २ में उद्धृत, तथा अन्य कल्पसूत्र की टीकाओं में भी ।

४ आप्तेज् सरकृत द्विगताश्च डिपशनरी—भाग-१ पृष्ठ १

५ अचेल — अत्पचेल ।—आचाराग टीका पत्र २२१-२

उत्तराध्ययन^१ और कल्पसूत्र^२ की टीकाओं में भी यही अर्थ है ।

श्रमणमन्त्रिण के श्रमणों के दो कल्प हैं—जिनकल्प और अश्रितकल्प । निरुक्ति और भाष्य के अनुसार जिनकल्पी श्रमण वह होता है जो वज्र-श्रमणाराध—महान्त वाला हो, तथा कम से कम नव पूर्व की तृतीय वाचारवस्तु का पात्रो हो और अश्रित ने अश्रित कुछ कम दम पूर्व नव अनुपाठी हो ।^३ जिनकल्पिक श्रमण भी पूर्व अश्रितकल्पी ही होता है । अश्रितकल्पिक श्रमण ही जिनकल्प को स्वीकारता है ।

जिनकल्पिक श्रमण 'नग्न' निःप्रतिवर्ग और विविध जमिग्रहणाग्ने होने हैं । उनके दो प्रकार हैं—

(१) पाणिपात्र—हाथ में भोजन करने वाले ।

(२) पात्रधारी—पात्र में भोजन करने वाले ।^४

पाणिपात्र जिनकल्पिक श्रमण भी उपर्युक्त की दृष्टि ने चार प्रकार के होते हैं । जिनने ही श्रमण (१) मुख-वस्त्रिका, (२) और रजोहरण ये दो उपधि रखने हैं जिनने ही श्रमण मुखवस्त्रिका, रजोहरण और एक चदर रखते हैं । जिनने ही मुखवस्त्रिका, रजोहरण, और दो चदर रखने हैं और जिनने ही मुखवस्त्रिका, रजोहरण, तथा तीन चदर रखते हैं ।

पात्रधारी जिनकल्पिक श्रमण भी उनके दो, तीन, चार, और पाँच उपकरणों के अनिश्चित मात्र प्रकार के पात्रनियोग रखने में क्रमशः, नौ, दस, ग्यारह और बारह प्रकार की उपधि से उनके भी चार भेद होते हैं । इस प्रकार जिनकल्पिक श्रमणों के मुख्य दो और उत्तर भेद आठ होते हैं ।^५

१ लघुत्वजीर्णत्वादिना चेलानि वस्त्राग्न्येत्येवमचलेक ।

—उत्तराध्ययन बृहत्सूत्र पत्र ३५६।१

२ (क) श्वेतमानोपेनवस्त्रधारित्वेन अचेलकत्वमपि

—कल्पसूत्र-सुबोधिका, टीका पृ ३ विन०

(ख) 'अचेलत्व' श्री आदिनाथ-महावीरसाधूना वस्त्र मानप्रमाणमहित, जीर्णप्राय, धवल च कल्पते । श्री अजितादि-द्वाविंशतितीर्थंकरसाधूना पञ्चवर्णम् ।

—कल्पसूत्र-कल्पलता प० २।१ समयसुन्दर

(ग) 'अचेलत्वम्' मानोपेन धवलवस्त्र धारयन्ति,

—कल्पद्रुमकलिका १, पृ० २।१

३ विशेषावश्यकताप्य नापातर नाग १, पृ० १० —(आगमोदय ममिति आवृत्ति १)

४ जिणकप्पिया उ दुविधा, पाणीपाता पडिगहुरा य ।

पाउरणमपाउरणा, एककेक्का ते नवे दुविधा ॥

—निशेयभाष्य गा० १३६० ना० २, पृ० १८८

जिणकप्पिया दुविधा नवति-पाणिपात्रनोजिन प्रतिग्रहवारिणश्च । एकैका दुविधा ददुत्वा सपाउरणा इयरे य ।

—वही १३६०

५ जिणकप्पे उयहीविभागे इमो-दुग-तिग-चदक्क-पणण, णव दम एक्कारम एव बारसग । एते अट्ट विकप्पा, जिणकप्पे होंति उवहिम्स—निशेयभाष्य गा० १३६१

पाणिपडिगहियम्म पाउरणवज्जियम्म जहणोवही दुवियो—रथहरण मुहपोत्तिया य । तस्सेव सपाउरणम्म एगकप्पणा-हणे ति विहो, दुक्कप्पणहणे चदव्विहो, तिक्कप्पणहणे पच्चविहो । पडिगहवारिस्स, अणाउरणस्स मुहपोत्तिय—रजो-





आगमानुसार स्थविरकल्पिक श्रमण के भी उपधि की दृष्टि ने अनेक भेद विधे जा सकते हैं। कितने ही श्रमण तीन वस्त्र और एक पात्र रखते थे। किन्तु ही श्रमण दो पात्र और एक वस्त्र रखते थे। और कितने ही श्रमण एक पात्र और एक वस्त्र रखते थे।

उपर्युक्त चर्चा का सार यह है कि जिनकल्पिक हो या स्त्रिकल्पिक, वे सब ने कम मुद्रास्त्रिका और रजोहरण ये दो उपकरण तो रखते ही हैं। अतः यहाँ पर आचेलव्य परत का अर्थ वस्त्रों का नाशका अभाव नहीं किन्तु अल्प मूल्य वाले प्रमाणोपेत जीर्ण-शीर्ण उत्तरधारण करना है।

'कल्पसमर्थन' में कहा है कि प्रथम और अन्तिम ती किरा का धर्म अचेलक है और बाकी तीर्थारों का सचेलक और अचेलक दोनों प्रकार का है।^१ इनका अर्थ यह है कि, भगवान् गुणमदेय और महावीर के श्रमण ने लिए यह विधान है कि वे श्वेत और प्रमाणोपेत उत्तर रखें पर बाकी तीर्थारों के श्रमण के लिए प्रयुक्त विधान नहीं है।^२ वे अतीव धिक्कानिष्ठ और जागरूक नाथका ये अन चमत्कारों स्त्रिकल्पिक अधिक उत्तर भी रख सकते थे किन्तु उन वदिया उत्सवों के प्रति आगन्तित नहीं थी।

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् पाद्वर्गाय के श्रमण केशीकुमार और भगवान् महावीर के प्रधान जन्मेवागी मणधर गौतम का मधुर सवाद है। केशीकुमार श्रमण ने गौतम ने जिनागा प्रयुक्त ही, कि भगवान् महावीर का धर्म अचेलक है और पाद्वर्गाय का सचेलक है वया इन लिंगभेदको देखकर आप के मानन में भ्रम नहीं गौरी।^३ मयाघान

हरण पादविज्जोगसहितो णवविहो, जहणओ। तस्सेव एकप्पगहणे वसविहो। दुक्कप्पगहणे एक्कारमविधो।
तिक्कप्पगहणे चारसविधो। पच्छद्द कठ।—यही १३६१
अहवा दुग य णवर, उक्ककरणे, होति दुण्णि तु विक्कप्पा।
पाउरण वज्जित्ताण, विसुद्ध जिणकप्पियाण तु ॥

—यही गा० १३६२

जे पायरणवज्जिया ते विसुद्धजिणकप्पिया भवति। तेतिं दुयिघ एव उक्करी भवति। दुयिघो णवविधो वा।—१३६२
अविसुद्ध—जिणकप्पियाण इमो-पत्त पत्तावधो पायद्वयण च पादकेमरिया।
पडलाइ रयत्ताण, च गोच्छओ पायविज्जो गो ॥
तिण्णेय य पच्छागा, रयहरण चेव होति मुहपोत्तो।
एतो दुवालसविधो, उक्कधी जिणकप्पियाण तु ॥

—निशेयसूत्र, समाप्य-वर्ण द्वि० उ० द्वि० भा० पृ० १८८-१८९, सम्मति ज्ञानपीठ

१ आचेलुवको धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।

मच्छिमगाण जिणाण होइ सचेलो अचेलो य ॥

—कल्पसमर्थन, गा० ३, पृ० १

२ (क) "अचेलत्व" श्रीभादिनाथमहावीरसाधूना वस्त्र मानप्रमाणसहित जीर्णप्राय धवल च कल्पते। श्रीअजि-
तादि २२ तीर्थंकरसाधूना तु पञ्चवर्णम्।—कल्पसूत्र-कल्पलता पृ० २११

(ख) कल्पार्थबोधिनी पृ० १

३ अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सतरुत्तरो।

देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥

एककज्जपवन्नाण, विसेसे कि नु कारण।

लिगे दुविहे मेहावी, कह विप्पच्चओ न ते ॥

—उत्तराध्ययन अ० २३, गाथा २६-३०

करने हुए गौतम ने कहा — विज्ञावर ! विज्ञान में जानकर ही धर्मसाधनों की आज्ञा प्रदान की गई है । लोक में प्रतीति के लिए ही बन्धादि उपकरणों की आवश्यकता है । वस्तुन दोनो तीर्थंकरों की प्रतिज्ञा मोक्ष के मद्भूत साधन ज्ञान, दर्शन और चास्त्रि रूप ही है । उनमें कोई अन्तर नहीं है ।^१

आगमानुसार सभी तीर्थंकरदेवदूष्य वस्त्र के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं । कुछ समय तक वे देवदूष्य वस्त्र को रखते हैं ।^२ भगवान् महावीर ने भी एक वर्ष तक देवदूष्य वस्त्र को रखा था । उसके बाद वे पूर्ण अचेलक बने थे ।^३

वादीन परीपत्रों में छट्ठा परीपत्र उल्लेख है ।^४ उसका भी अर्थ है—वस्त्रों के जीर्ण होने पर श्रमण यह चिन्ता न करे कि, मैं वस्त्र धारित हो जाऊँगा । अथवा यह भी विचार न करे कि अच्छा हुआ वस्त्र जीर्ण हो गये हैं और अब मैं नये वस्त्रों में मचेलक हो जाऊँगा । सचेल और अचेल दोनों ही अवस्था में श्रमण खिन्न न हो ।^५

हाँ, तो अचेलपत्र वस्त्र का मन्त्र में उल्लेख हुआ अल्प, प्रमाणोंपेन एव श्वेत वस्त्रधारण करने की मर्यादा ।

- १ केमिमेव बुद्धाण तु गोयमो इणमव्वदी ।
 विन्ताणेण समागम्म, धम्ममाहणमिच्छिय ॥
 पच्चत्थस्य च लोगम्म, नापाविहवियण्ण ।
 जत्तस्य गहणस्य च, लोणे तिापमोयण ॥
 अह भवे पइसा उ, मोक्खमव्वसूयसाहणा ।
 नाण च दसण चेव, चरित्त चेव निच्छए ॥

—उत्तराध्ययन २३। ३१ से ३३

- २ (क) जम्बूद्वीप प्रजाप्ति, कम्पमूत्र
 (ख) कम्पमूत्र
 (ग) तहवि गहिणवत्था, सवन्थित्तोवरा सणन्थति ।
 अभिनिक्खमति मव्वे तम्मि चुएज्जेलया होंति ॥
 —विशेषावश्यक भाष्य गा० १५८६
 (घ) सव्वेवि एगदूमेण निगगा,
 (ङ) मत्तग्गि न्यानक
 (च) निपट्टिदालाका पुरयचरिअ

३. णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तस्स हेमते से पारए आवकहाए, एय खु अणुवम्मिय तस्स सबच्छर साहिय मात्त ज न गिरिनात्ति वत्थेण भगव अचेलए तथो, 'वाइ त वोसिज्ज वत्थमण्णारे—आचाराण १।६।१

- ४ भगवती सूत्रशतक ८, उद्देशक ८, पृ १६१

- (ख) उत्तराध्ययन अ २
 (ग) समवायाङ्ग २०
 (घ) तत्त्वार्थमूत्र अ० ६
 ५. (क) परिजुण्णेहि वत्थेहि, होइखामि त्ति अचेलए ।
 अदुवा मचेलए होइत्त, इइ भिक्खू ण चित्तए ॥
 एगया अचेलए होइ, सचेले या वि एगया ।
 एय धम्महिय णच्चा, णाणो णो परिदेवए ॥

—उत्तरा० २।१२-१३

- (ख) प्रवचनसानेद्वार वृत्ति पत्र १६३





औद्देशिक

औद्देशिक कल्प का अर्थ है श्रमण का दान देने के उद्देश्य में, परित्राज, श्रमण, निर्धन आदि सभी को उद्देश्य कर निमित्त अन्न-पान भवन आदि ।^१ वर श्रमण के लिए अन्न आदि और अंगुष्ठ है । यदि श्रमण का यह ज्ञान हो जाय तो वह कह दे कि यह अन्न आदि मुझे नहीं करना ।^२ प्रथम जोर अन्नित तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए यह विधान है कि एक श्रमण को उद्देश्य करने निमित्त आहार जानि न उसे ग्रहण करना करना है और न अन्य श्रमणों को ही ग्रहण करना कल्पना है किन्तु बाविस तीर्थंकरों के समय जिस श्रमण को उद्देश्य कर आहार आदि निमित्त किया गया हो वह उसे ग्रहण करना नहीं कल्पना, पर गैर श्रमणों के लिए यह शास्त्र में मकना है ।^३

दशवैकालिक,^४ प्रश्न व्याकरण,^५ सूत्रशास्त्र,^६ उत्तराध्ययन,^७ आचाराग^८ और नगवती,^९ यदि आगमों में अनेक स्थलों पर औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने का निषेध है, योंपि औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने में प्रस और स्थावर जीवों की हिता का अनुमोदन होता है ।^{१०}

१ (क) उद्दिष्टं कज्जह त उद्देशिय, साधुनिमित्त आरम्भोत्ति युते भवति ।

— दशवैकालिक अगस्तिसिंह चूणि

(ख) "उद्देशिय ति उद्देशन साध्याद्याधित्य वागारम्भस्येत्युद्देश तत्र भवतीद्देशिक ।

— दशवैकालिक-हारिभद्रोपाधुनि ११६

२ अमण पाणम वा वि, छादम सादम तहा ।

ज जाणेज्ज सुणेज्ज वा, समणद्धा पण्ड इम ॥

त भवे भत्तपाण तु, राजयाण अकप्पिय ।

वेत्तिय पडियाइयने, न मे कप्पई तारित्त ॥

— दशवैकालिक अ० ५ उ० १ गा० ५१-५२

३ (क) सधाहुद्देशेण ओघाद्धि, समणाइ अहिगच्छ ।

कडमिह सव्वेत्ति चिय न कण्हि पुरिमच्चरिमाण ॥

मज्झिमगाण तु इम, ज कडमुद्दिस्ता तस्स चेवत्ति ।

नो कप्पइ सेसाण उ कप्पइ त एत्त मेरत्ति ॥

— कल्पसमर्थन गा० ४-५ प० १

(ग) "औद्देशिकम्" एकस्य साधोनिमित्त कृत आहारपानोप्य च आधाकर्माद्य सय्येषा साधूना न कल्पते । द्वावि-
द्वातितीर्थंकरसाधूना तु यस्य साधोनिमित्त कृत भवेत्, तस्यैव साधोस्तद् आहारपानोप्य न कल्पते, अन्येषा
तु कल्पते ।— कल्पसूत्र कल्पद्रुमकलिका

(ग) कल्पसूत्र कल्पलता, टीका—प० २।१

(घ) कल्पसूत्र-कल्पार्थवोधिनी

४ दशवैकालिक—५-१, ५५।६, ४८-४९।८, २३।१०४

५ प्रश्नव्याकरण, सवर, द्वार १, ५,

६ सूत्रकृताङ्ग, १।६।१४

७ उत्तराध्ययन २०।४७

८ आचाराग अ० २, उद्दे० ६,

९ नगवतीशतक १, उद्दे० ६

१० जे नियाग ममायति, कीयमुद्देशियाहड ।

वह ते समणुजाणति, इइ वुत्त महेसिणा ।— दशवैकालिक ६।४८

अध्यातर पिण्ड

अमा जो जन्म (वर्णन-उत्पादन) देने समार-समुद्र को तैरने वाला गृह्य अध्यातर है।^१ अर्थात्, वह गृह्यनि जिनके मान में अमा टूटने हुए हो।^२ निशीथभाष्य के अभिमतानुसार स्वयं गृह्यपति या उसके द्वारा निर्दिष्ट कोई भी तत्र वर्णित अध्यातर होता है।^३ अध्यातर क्या होता है? उस पर आचार्या के विभिन्न मत हैं।^४ निशीथ भाष्य जी चूर्ण में उन सभी मतों का निर्देश किया गया है, तथा भाष्यकार ने अपना स्पष्ट मत इस प्रकार दिया है—
“अमा जिन अन्न के रात्रि में मोए जीर चामादयक कार्य करे उसका अधिपति अध्यातर होता है।^५

अध्यातर के अन्न, पान, प्राय, स्वाद्य, वस्त्र, पाय आदि अत्रात्य हैं और तृण, राख, पाट, बाजाट आदि अत्रात्य हैं।^६ पुनर्दृष्टान्त में अध्यातर के अन्न में—‘मागारिय पिण्ड’ लिया है।^७ पर उसका अर्थ भी टीकाकार ने

१ तस्य दनहीए माहूणो छिना ते वि मागविलउ तरनि, तेण मेज्जादाणेण भासमुद्र तरति त्ति मिज्जन्तरो ।

—निशीथभाष्य पृ १३१

२ (क) मेज्जा दमती, म पुा मेज्जादाणेण समार तरति, सेज्जातरो तम्म भिक्खा मेज्जातरपिणो ।

—दशवैकालिक अगस्तसिह चूर्ण,

(ग) आश्रयोऽनित्थे, तेण उ तस्स य याणेण माहूण समार तरतीति सेज्जातरो तस्स पिणो, भिक्खत्ति कुत्त मय—दशवैकालिक जिनदान चूर्ण पृ० ११३

(ग) अद्या-उमतेनया तरनि मनार इति अध्यातर मायुवसतिदाता तत्पिण्ड ।

—दशवैकालिकहारिभद्राया वृत्ति ११७

३ मेज्जातरो पभू या सुसुविट्ठो उ होति नानयो ।

—निशीथभाष्य गा० ११४४

४ निशीथ भाष्य गा० ११८६-४७ चूर्ण

५ जस्य गड्ढिना तत्तेय सुत्ता तत्तेय चग्गिमा-यम्मय कय तो मेज्जातरो भवति ।

—निशीथ भाष्य गा० ११४८ चूर्ण

६ दुग्धि चउग्धि उउच्चिह, अट्ठविहो होति वाग्गविधो वा ।

मेज्जानरम्म पिण्ठो, तव्वतिग्गित्थो अपिणो उ ॥

दुग्धि चउग्धि छिच्छिह च एगगाहाए वव्वानेति—आधारोवधि दुग्धि, विदु अण्ण पाण ओहुवगहिओ । असणादि चउग्गे ओग्गे, उवगह्ते छ्विओ एमो ।

आहाणे उववगण च एम दुग्धिहो । वे दुग्धा चउरो त्ति, सो इमो-अण्ण पाण ओहिय उ वगहिए य, एसो छ्विहो । इमो अट्ठविहा—

अमणे पाणे यत्थे, पाने मूयादिना थ चउरट्ठा ।

अमणादी यत्थादी, सूयादि चउवक्का तिण्णि ॥

अमणे पाणं यत्थे, पादे सुनी आरि जेसि ते मूतीयादिगा-मूती पिप्पल्लगो नल्लरदनी कण्णसोहणय इमो वारसविहो अमणादया चत्तारि, यत्थादया चत्तारि, सूतिपादिया चत्तारि, एते तिण्णि चउक्का वारस भवति । इमो पुणो अपिण्डो—

तण-टगल-छाग, मल्लग, मेज्जा-सथार-पोढ-लेवादी

सेज्जातरपिण्डेसो, ण होति सेहोव सोवधि उ ॥

रेवादी, आदि सटातो, कुट्टमुहादि, एसो सव्वो सेज्जातरपिण्डो ण भवति । जति सेज्जापरस्स पुत्तो घूया वा वत्थ-पायमहिता पच्चएज्जा मो सेज्जातरपिण्डो ण भवति ।—निशीथ भाष्य, गा० ११५१-५४ चूर्ण

७ सागरिय च पिंड च, त विज्ज परिजाणिया । —सुत्रकृताङ्ग १।६।१६





अध्यातर पिण्ड किया है ।^१

राजपिण्ड

मूर्धामिपिक्त अर्थात् जिमना राज्याभिषेक हुआ हो वह राजा कहलाता है उसका भोजन राजपिण्ड है ।^२ जिनदासगणि महत्तर के अभिमतानुसार सेनापति, अमात्य, पुणेहित, श्रेष्ठी, और सार्यवाह सहित जो राजा राज्य का उपभोग करता है, उसका पिण्ड ग्रहण नहीं करना चाहिये । अन्य राजाओं के लिए नियम नहीं है । यदि दोष की सम्भावना है तो ग्रहण नहीं करना चाहिए और निर्दोष है तो ग्रहण किया जा सकता है ।^३

राजपिण्ड का तात्पर्य राजकीय भोजन है राजकीय भोजनमरम मधुर व मादक होता है । जिमके सेवन से रमलोलुपता बढ़ने की सम्भावना रहती है । वह सरम आहार सर्वत्र सम्भव नहीं, रमलोलुप भुनि कही अनेपणीय आहार ग्रहण न करे अन राजपिण्ड का निषेध किया है । एषणा बुद्धि ही प्रस्तुत विधान की आत्मा है ।^४ यदि कोई डम विधान का विस्मृत करके राजपिण्ड को ग्रहण करता है या राजपिण्ड का उपयोग करता है तो श्रमण को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ।^५ राजपिण्ड के निषेध के पीछे अन्य तथ्य रहे हुए हैं,^६ जिनका उल्लेख निगोषभाष्य और चूर्णि में किया गया है । राजमवन में प्रायः सेनापति आदि का आवागमन रहता है । कभी शीघ्रतादि के कारण

१ सागारिक "शध्यातरस्तस्य पिण्डम्-आहार ।

—सूत्रकृताङ्ग १।६।१६ टीका प० १८१

२ (क) मुद्धाभिसित्तस्स रण्णो भिक्षा रायपिण्डो ।

—दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

(ख) मुद्धाभिसित्तरण्णो पिण्ड -राजपिण्ड ।

—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि ११२-१३

(ग) मुविसाइगुणो राया महुविहो तस्स होइ पिडुत्ति ।

पुरिमेअराण एसो वाघायाइहि पडिकुट्ठो ॥

—कल्पदर्शनम् भा० ६ पृ० १

(घ) "राजपिण्ड" राजा-छत्रधर, तस्य पिण्ड ।

—कल्पसूत्र कल्पलता ४ पृ० २ समयसुन्दर

(ङ) 'रायपिण्ड' न्ति राजपिण्ड, तत्र राजा-छत्रधर सेनापति-पुरोहित-श्रेष्ठ-अमात्य सार्यवाहरूपे पञ्चमिल-क्षणपुंत्तो मूर्धामिपिक्तस्तस्य अशनादिचतुर्विध आहारो वस्त्र पात्र कंचल रजोहरण चैत्यपटविध पिण्ड ।

—कल्पार्थबोधिनी ४ पृ० २

३ निशीथभाष्य भा० २४८७, चूर्णि

४. (क) अतो सो रायपिण्डो गेहिपडित्तेहणत्थ एषणा रक्खणत्थ च न कप्पइ ।

—दशवैकालिक जिनदाम चूर्णि पृ० ११२-६३

(ख) एषणा रक्खणाए एतेसि अणात्तिण्णो ।

—दशवै० अगस्त्यसिंह चूर्णि ।

५ जे भिक्षू रायपिण्ड गेण्हइ गेण्हत वा सातिज्जाति जे भिक्षू रायपिण्ड भुजइ भुजत वा सातिज्जति ।

—निशीथ ६।१।२

६ (क) निर्गच्छदागच्छन्सामन्तादिभि स्वाध्यायस्य अपशकुनबुद्ध्या शरीरादेश्च व्याघातसम्भवात्सरवाद्यलोभ-लघुत्व-निन्दाविबुधदोषसम्भवाच्च " —कल्पार्थबोधिनी कल्प ४ पृ० २

(ख) ईसरपभिर्दहि तांहे, वाचाओ खदलोहु दाराण ।

दसण सगो गरहा, इअरेसि न अप्पमायाओ ॥—कल्पसमर्थन १०।१

श्रमण के चाट गगने की और पायादि फूटने की मभावना रहती है ।^१ वे अथगमुन भी समझ सकने हैं अतः गजपिण्ड को अनाचार माना है ।^२

महावीर और श्रीश्रुपनदेव ने श्रमणों के लिए ही गजपिण्ड का निषेध है १० बावीस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए नहीं है। गजपिण्ड में चाट प्रसार के आशय, बन्धन, पाप, सम्बन्ध, रजोहरण के आशय वस्तुएँ ग्रहण की गई हैं और आठों वस्त्रों को गनी है ।^३

कृतिरुमं

कृतिरुमं ना जने है अपने में तयमादि में जेष्ठ व उद्गुणा में श्रेष्ठ श्रमणों का खट होकर हृदय में स्वागत करना । उन्हें सम्मान देना । उनकी शिक्षाओं को अन्त में नमस्कार होकर स्वीकार करना ।^४

चौबीस हैं तीर्थंकरों ने श्रमण जपन में चाटि में जेष्ठ श्रमणों का वन्दन—नमस्कार करते हैं । यह रूप्य मार्गशान्ति है ।^५

१ निशीथ भाष्य गा० २४०३-२४१०

२ मन्निही गिहिमत्ते य, गायपिडे रिमिच्छए ।

मवाहणा दतपहोयणा य, सपुच्छणा देहपनोयणा य ॥

—दशवैकान्तिक ३३

३ (क) श्रीआदिनायकमहावीरमाधूना न कल्पने अजिनादि २२ तीर्थंकरमाधूना तु कल्पते ।

—कल्पलता टीका

(ग) कल्पद्रुमकलिका पा० २

४ श्रमणाईण चउपर वत्थ तह पत्त पायपु छणए ।

नित्रपिटम्मि न कप्पई पुरिमत्तिमजिणजईण तु ॥

—कल्पसमर्थन गा० ११ पा० २

५ (क) त्रितिकम्म दुविध-जन्मुट्ठाण वदण च । त दुविह पि इमोवि "जहारह करेति इमो वि जहारह ।

अह्या-किनिकम्म मग्गाहि मज्जीहि जज्जदिक्खित्तस्स वि सज्जत्तस्स पायव्व दो वि तुल्लमिच्छति । इमस्स पि पच मह्वयाणि । जो पढम पचमह्वयाण्हो सो जिट्ठो सामाहए वा ठविओ ।

—निशीथ चूर्णि द्वि० भा० पृ० १८७-८८

(ग) किट्टकम्मपि य दुविह, जन्मुट्ठाण तहए वदणय ।

ममणीहि ममणीहि य, जहारह होइ कायव्व ॥

—कल्पसमर्थन गा० १२ पा० २

(ग) कृतरुमं वदणर चतुर्विंशतितोयंकराणामपि लघुमाधुना वृद्धसाधु बन्धनीयो बन्धनकानि देयानि ॥

—कल्पसूत्र कल्पलता पा० २

(घ) कियरुम्मे । कृतरुमं-लघुना साधुना वृद्धस्य साधोदचरणयोर्वन्दनकानि दातव्यानि ।

—कल्पद्रुम कलिका टीका पा० २

(ट) कल्पार्थबोधिनी टीका ।

६ सव्वाहि मज्जीहि, त्रितिकम्म सजयाण कायव्व ।

पुरिमुत्तमुत्ति धम्मो मह्वजिणाणपि तित्थेसुं ॥

—कल्पसमर्थन गा० १३





व्रत

व्रत का अर्थ विरति है ।^१ विरति अमत् प्रवृत्ति की होती है । अकर्ण, निवृत्ति, उपरम और विरति ये पर्यायवाची शब्द हैं ।^२ व्रत शब्द का प्रयोग निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों ही अर्थों में होता है । जैसे—

“वृषणान् व्रतयति” अर्थात् वह शूद्र के अन्न का परिहार करता है । “पयो व्रतयति” अर्थात् पय पीना है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं खाता । इसी तरह अमत् प्रवृत्ति का परिहार और मत् में प्रवृत्ति इन दोनों अर्थों में व्रत शब्द का प्रयोग हुआ है ।^३ भगवान् श्री महावीर और ऋषभदेव के श्रमण पाँच महाव्रत का धर्म का पालन करते हैं और अन्य बावीस तीर्थंकरों के श्रमण चार यामो का । इसका क्या रहस्य है ? यह प्रश्न भगवान् पाष्वनाथ की परम्परा के अन्तिम प्रतिनिधि वैश्वीकुमार श्रमण के मन को काँचोंट रहा था । उन्होंने गौतमगणधर से पूछा ।^४ गौतम ने समाधान करते हुए कहा—

विज्ञवर । प्रथम तीर्थंकर के श्रमण ऋजु जड़ होते हैं । अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण वक्रजड़ होते हैं और मध्य के तीर्थंकरों के श्रमण ऋजुप्राज्ञ होते हैं । प्रथम तीर्थंकर के मुनि कठिन्ता से सम्भक्त हैं और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यों को धर्मपालन करना कठिन होता है किन्तु मध्यवर्ती श्रमणों के लिए समझना और पालना सुलभ होता है ।^५

चातुर्याम और पचयाम का जो भेद है वह बहिर्दृष्टि से है न कि अन्तर्दृष्टि में । मध्यवर्ती श्रमण परिग्रह-त्याग में ही चातुर्यव्रत का समावेश कर लेते थे । कञ्चन और तान्ना दोनों का वे अग्न्याश्रय सम्बन्ध समझते थे ।^६ कुछ आधुनिक चिन्तकों ने लिखा है कि वे कान्तायुक्त थे, पर उनकी यह कल्पना अनागमिक है ।

ज्येष्ठ

जैनधर्म गुणप्रधान होने पर भी पुष्पज्येष्ठ है । शतवर्ष दीक्षिता साध्वी भी अद्यदीक्षित श्रमण को भक्ति-भावना से नमन करती है ।^७

ज्येष्ठ कल्प का दूसरा अर्थ है—बावीस तीर्थंकरों के समय श्रमणों के सामायिक चाग्नि ही होता है पर

१ हिसानुतस्तेषामग्रहपरिग्रहेभ्यो विरतिर्ब्रतम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र ७।१

२ अकर्ण निवृत्तिरूपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र ७।१ भाष्य

३ तत्त्वार्थसूत्र ७।१ भाष्य की टीका

४ उत्तराध्ययन अ० २३, गाथा २३-२४

५ उत्तरा० अ० २३ गाथा २५-२७

६ पचवओ खलु धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।

मज्झिमगाण जिणाण, चउवओ होइ विन्नेओ ॥

नो अपरिगहिआए, इत्थीए जोण होइ परिभोगो ।

ता तव्विरई इच्छिअ, अयभविरइत्ति पज्जाण ॥

—कल्पसमर्थनम्, गा० १४-१५ प० २

७ वरिससयदिविआए, अज्जाए अज्जदिविआओ साहू ।

अभिगमगवदणनस—सणेण विणएण सो पुज्जो ॥—कल्पलता टीका में उद्धृत

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय श्रमणों के सामायिक चारित्र के साथ ही द्वेदोपस्थापनिक चारित्र भी होता है। उसके आधार में ही श्रमण श्रेष्ठ या निष्ठ होना है। आज के युग में सामायिक चारित्र के ग्रहण को लघुदीक्षा और द्वेदोपस्थापनिक चारित्र के ग्रहण को बड़ी दीक्षा कहते हैं।^१

जेट्ठ उल्ल वा तीमगा अर है कि पिता, पुत्र, राजा, मंत्री, मेठ, मुनीम, माना, पुत्र आदि एक ही साथ प्रव्रज्या ग्रहण करें या पिता, राजा, मेठ, माना आदि न प्रथम सामायिक चारित्र आदि ग्रहण कर लिया है और फिर पिता आदि के अनमर्तम में प्रव्रज्या करने की भावना उद्बुद्ध होती है, तो चार उ माह तक उसे द्वेदोपस्थापनिक चारित्र न दे। प्रथम पिता आदि को चारित्र देकर जेट्ठ बनाने में।^२

प्रतिश्रमण

प्रतिश्रमण जैनधर्म की भावना का आवश्यक अंग है। प्रतिश्रमण का अर्थ है प्रसादवश शुभ योग में च्युत होकर जमुन योग का प्राप्ति करने के पश्चात् पुनः शुभ योग का प्राप्ति करना।^३ मन, वचन और तन में कृत कारित और अनुमोदन पाशों की निवृत्ति के लिए आगे बढ़ना, पञ्चानाप करना, निन्दा करना, जमुद्वला का त्याग कर शुद्धता प्राप्त करना। हिंसा, दूषण, चोरी, मैथुन और पण्डित का चित्तपाप यमों का निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए निषेध किया गया है, उनका यदि भक्षण हो गया तो प्रतिश्रमण करना चाहिए। जिन शुभ कृत्यों का आचरण करना श्रमण के लिए आवश्यक है यदि उनका आचरण न किया गया हो तो भी प्रतिश्रमण करना चाहिए। बावीस तीर्थंकरों के समय के मात्रक जर्नीव त्रिवैरनिष्ठ एवं नागकाये, धन के दाप आदि पर ही प्रतिश्रमण करने में।^४

हुट्ट आचार्यों का अभिमत है कि देवमित्र, मित्र, पारित्र, चानुमामित्र, और मावत्सरिक इन पाँच प्रतिश्रमणों में वे बावीस तीर्थंकरों के समय द्वैरनिष्ठ, और मित्र के वाही प्रतिश्रमण हाते थे।^५ ऐसा नहीं। जिनदास गण महन्तर ने स्पष्ट कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय निरामिन् रूप में उभयशालिक प्रतिश्रमण करने का विधान है और साथ ही दोषाचार में भी उपरिप्राप्त आदि के रूप में तत्काल प्रतिश्रमण का विधान है। बावीस तीर्थं-

१ (८) उचठावणाइ जिहो, चित्तो धुग्मिपच्छिमज्जिणाय ।

पन्नग्गाए उ सहा, मज्जिमगाण निग्दयागे ॥

—कल्पमस्यन्तम्, गा १३ पं ०

(९) श्री आर्दश्वर-महावीरयो माधूना दीक्षाद्वय भवति, एका लघ्वी दीक्षा, अपरा बृहती दीक्षा भवति। लघुत्वम् बृहत्त्वं च बृहद्दीक्षया गम्यते। द्वाविंशतितीर्थंकरमाधूना तु दीक्षाया भवन्त्या सत्यामेव लघुत्वम् बृहत्त्व गम्यते एव जेट्ठरूप उच्यते।—रत्नप्रदमकरिका टीका पं २-३

२ सह प्रप्रिताना पितापुत्र-मातामुना-नृपामात्यादीना समकमेव पट्जीवनिकायाव्ययनयोगोद्बुद्धनादियोग्यताप्राप्ताना म्त्तोकात्तन्गिताना वा त्रिन्विद्विलम्बेनापि पितादीनामेव प्रथममुपस्थापना विधेया।

—कल्पसूत्रकल्पार्थबोधिनी टीका पा० २

३ देविए आवश्यक एक जीवनदृष्टि १ निवन्ध टिप्पण।

८ मण्डिबकमणो धम्मो, पुग्मिस्स य पच्छिमस्स म जिणस्स ।

मज्जिमगाण जिणाय, काग्गजाए पट्ठकमण ॥

—आवश्यक निर्युक्ति गा० १२४४

५ देवमिय, गइय, पक्किय, चउमामिय, वच्छरिय नामाओ ।

हुण्ट पण पट्ठकमणा, मज्जिमगाण तु पडमा ॥

—सप्ततित्थानक





करो के यासनकाल मे दोप लगते ही शुद्धि कर ली जाती थी, उभयकाल नियमेन प्रतिक्रमण का विधान नहीं था ।^१

मासकल्प

श्रमण एक स्थान पर स्थिर हो कर न रहे ।^२ भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त होकर ग्रामानुग्राम बिहार करे ।^३ विहार की दृष्टि से काल को दो भागो मे विभक्त किया गया है ।^४ वर्षाकाल और ऋतुवद्ध काल, वर्षाकाल मे श्रमण चार माह तक एक स्थान पर स्थिर रह सकता है और ऋतुवद्ध काल मे एक माह तक । वर्षाकाल का समय एक म्यान पर स्थिर रहने का उत्कृष्ट समय है । अतः उने मवत्सर कहा है ।^५ बृहत्कल्पभाष्य मे वर्षावास का परम-प्रमाण चार माह बताया है ।^६ और शेषकाल का परम-प्रमाण एक माह ।^७ जिस स्थान पर श्रमण उत्कृष्ट काल रह चुका हो, अर्थात् जिस स्थान मे वर्षाऋतु मे वर्षावास किया हो उस स्थान मे दो चातुर्मास्य अन्यत्र किये बिना चतुर्मास्य न करे और जिस स्थान पर मासकल्प किया हो उस स्थान पर दो मास अन्यत्र बिताये बिना न रहे । यद्यपि गायत्रा मे तृतीय बार का स्पष्ट उल्लेख नहीं है । किन्तु म्यविर अगस्त्यमिह के अभिमतानुसार चकार के द्वारा वह प्रतिपादित है ।^८

भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिए ही मासकल्प का विधान है । नेप बावीस तीर्थंकरों के लिए नहीं । वे चाहें तो दीर्घकाल तक भी एक स्थान पर रह सकते हैं और चाहें तो शीघ्र ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रस्थान कर जाते हैं ।

पर्युषणाकल्प

“परि” उपसर्गपूर्वक वस् धातु से “अन” प्रत्यय लगकर पर्युषण शब्द बना है, जिसका अर्थ है आत्मा के समीप रहना । परभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना । आत्ममज्जन, आत्मरमण, या आत्मस्थ होना । यह

१ पुरिमपच्छिमएहिं उभयो कालं पडिक्कमित्तव्व इरियावहियमागतोहिं उच्चारपासवण-आहारादीण वा विवेग काऊण, पदोसपच्चूसेसु, अतिपारो होतु वा मा वा तहावस्त पडिक्कमित्तव्व एतेहिं चेव ठाणेहिं । सज्झिमगाण तित्थे जवि अतिपारो-अत्थि तो दिवसो होतु रत्तो वा, पुब्बण्हो अवरण्हो मज्झण्हो, पुव्वत्तावरत्त वा अड्ढरत्तो वा ताहे चेव पडिक्कमन्ति । नत्थि तो न पडिक्कमन्ति, जेण ते असट्ठा पण्णावन्ता परिमाणगा न य पमावबहुला, तेण तेति एव भवति ।—आवश्यकवृत्ति, जिनदास

२ कप्पइ निग्गयाण वा निग्गयीण वा, हेमत-गिम्हासु चारए ।

—बृहत्कल्पभाष्य का० १।३६

३ भारड पवली व चरेऽप्पमत्ते —उत्तराध्ययन अ० ४ गा० ६

४ सवच्छर इति कालपरिमाण । त पुण नेह चारसमासिण सवज्झति किन्तु वरिसारत्ता चातुर्मासित्त स एव जेठोगहो ।—दशवर्षकालिक, अगस्त्यमिह चूणि ।

५ बृहत्कल्पभाष्य भाग १।३६

६ बृहत्कल्पभाष्य भाग १।६।७।८

७ सवच्छर चावि पर पमाण, वीय च वास न तहिं वसेज्जा ।

सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू, सुत्तस्स अत्थो अइ आणवेइ ॥—दशवर्षकालिक, द्वितीयचूलिका गा० ११

८ वित्थि च वास-वित्थि ततो अणतर च सहेण तत्थियमवि जतो मणित्त तदुगुण, दुगणेण अपरिहरित्ता ण वट्ठति तत्थि च परिहरिऊण चउत्थे होज्जा ।—दशवर्ष० अगस्त्यमिह चूणि

पूनीन पर्व आषाढी पूर्णिमा में उनपंचाम और पंचामवें दिन मनावा जाता है।^१ जिसे मन्वत्सरी महापर्व कहते हैं।

पर्युषणा कल्प का दूसरा अंग है एक स्थान पर निवास करना। वह मालवन और निरावलवन रूप दो प्रकार का है। मालवन का अर्थ है—नकारण और निरावलवन का अर्थ है विना कारण। निरावलवन के भी जघन्य और उन्मूल्य रूप दो भेद हैं।^२

पर्युषणा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार बतलाये गये हैं—(१) परियाय वल्यवणा (२) पञ्जोमवणा (३) पागड्या (४) पञ्चिमना (५) पञ्जुमणा (६) वामावाम (७) पटमममोनरण (८) ठवणा और (९) जेट्टोगह।^३

यद्यपि ये सब नाम एकार्यक हैं तथापि व्युत्पत्तिभेद के आधार पर उनमें किञ्चित् अर्थभेद भी है।^४ पर्युषणा के वर्षों की गणना के आधार में दीक्षापर्याय की जेष्ठना-कनिष्ठना गिनी जाती है, अतएव पर्युषणा दीक्षापर्याय की व्यवस्था का कारण है।^५ वर्षात्राम में भिन्न प्रकार के द्रव्य-जेठ-काल-भाव सम्बन्धी पर्यायों का आचरण किया जाता है। इन कारणों इनका दूसरा नाम “पञ्जोमवणा” है। गृहस्थ आदि सभी के लिए समान होने से यह ‘कल्प’ ‘पागड्या’ कहलाता है।^६

१ (क) पुरिमन्मिसित्यगण, मामकप्पो ठिओ भुण्येव्वो।

मज्झिमवणा जिणाण, अट्ठियओ एम विन्नेओ॥

—कल्पसमर्थनम् गा० १६ प० २

(ग) ‘मामकल्प’ श्रीआदिनायमहावीरमाधुनि शेषकाले अष्टमासेषु मासकल्प क्रियते। द्वाविंशतितीर्थंकर-माधुनिन्तु न मामकल्प क्रियते।—कल्पसूत्र कल्पलता टीका

(ग) कल्पसूत्र मुद्रोपधिका टीका ध्यात्यान—कल्पद्रुम कलिका प० ३।२

२ (क) नमणे भगव महावीरे वासावाम नविसईगइ माने विइक्कते सत्तरि राइविह्णि वासावास पज्जोसवेइ।

—समवायाङ्ग ७ वा समवाय

(ख) तेण कालेण तेण ममएण नमणे भगव महावीरे वासाण सबोसइराए मासे विइक्कते वासवास पज्जोसवेइ।

—कल्पसूत्र २२४ पृ० ६६ पुण्य

३ (क) कल्पसूत्र कल्पायंबोधिनी टो ० प० ३।१

(ख) कल्पसूत्र मुद्रोपधिका टीका

४. (क) पञ्जोमवणाए अक्खराइ, होंति उ इमाइ गोण्णाइ।

परियायवल्यवणा, पञ्जोमवणा, य पागड्या॥३१३८

परिवमणा पञ्जुमणा पञ्जोमवणा य वासवामो य।

पटम समोनरण ति य, ठवणा ‘जेट्टोगहगट्टा’॥ ३१३९

पञ्जोसवणं त्ति एतेम अक्खरारणि इमाणि एगट्ठिताणि गोण्णणामाणि अट्ठं भवति। त जहा—परियायवल्यवणा पञ्जोमवणा य, परिवमणा, पञ्जुमणा वामावासो, पटमममोनरणं, ठवणा, जेट्टोगहो त्ति एते एगट्ठिता।

—निशोयसूत्र सभाष्य चूर्णि, तृतीय भा० प० १२५-१२६, ज्ञानपीठ, आगरा

(ग) कल्पसूत्र नियुक्ति, गा० १।२

५ (क) एतेम इमो अत्थो-जम्हा पञ्जोसवणादिवसे पव्वज्जापरियागो व्यपदिश्यते-व्यवस्थाप्यते सत्ता—‘एत्तिया वरिमा मम उवट्ठावियस्म त्ति तम्हा परियायवल्यवणा नण्णति—निशोयसूत्र सभाष्यचूर्णि ३।१२५

(ग) कल्पसूत्र नियुक्ति एव, चूर्णि १।२१८५ पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित

६ (क) जम्हा उट्ठवट्ठिया दव्व-वैत्त-कान-भावा पज्जाया, एत्थ परिसमता ओसविज्जति-परित्यजन्तीत्यर्थं, अण्णे य दव्वादिया वरिमकालपायोगा वेत्तु आयरिज्जति, तम्हा पञ्जोसवणा नण्णति ‘पागय’ त्ति सब्वलोगपसिद्धेण पागनभिधानेण पञ्जोसवणा नण्णति।—निशोयसूत्र सभाष्य चूर्णि ३।२२५-२६

(ख) कल्पसूत्र नियुक्ति एव चूर्णि १।२६।८५





इस कल्प में एक स्थान पर चार मास तक निवास किया जाता है, अतएव यह वासवास-वर्षावास कहा गया है ।^१ कोई विशेष कारण न हो तो प्रावृट् में ही चानुमास व्यतीत करने योग्य क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है, अतएव उसे 'पढमसमोसरण' कहते हैं ।^२ ऋतुवद्धकाल की अपेक्षा इसकी मर्यादाएँ भिन्न होती हैं अतएव यह 'ठवणा' है ।^३ ऋतुवद्धकाल में एक-एक मास का क्षेत्रावग्रह होता है किन्तु वर्षाकाल में चार मास का अतएव इसे जेट्टोग्रह—जेठ्ठा-वग्रह कहते हैं ।^४

अगर साधु आषाढी पूर्णिमा तक नियत स्थान पर आ पहुँचा हो और वर्षागम की जाहिरात कर दी हो तो श्रावण कृष्णा पचमी से ही वर्षावास आरम्भ हो जाता है । उपयुक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावण कृष्ण दशमी का, फिर भी योग्य क्षेत्र की प्राप्ति न हो तो श्रावण मास की पचदशमी (अमावस्या) को वर्षावास आरम्भ करना चाहिए ।

इतने पर भी सुयोग्य क्षेत्र न मिले तो पाँच-गाँच दिन बसाते हुए अन्ततः भाद्रपद शुक्ला पचमी तक तो आरम्भ कर देना अनिवार्य माना गया है । इस गमय तरु भी उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त न हुआ हो तो अन्ततः वृक्ष के नाचे ही पर्युपणाकल्प करना चाहिए । पर इस तिथि का किसी भी स्थिति में उल्लंघन नहीं करना चाहिए ।^५

पचमी, दशमी और पचदशमी इन पत्रों में ही पर्युपणा कल्प करना चाहिए, अपर्व में नहीं । इस प्रकार का सामान्य विधान होने पर भी विशिष्ट कारण से आर्यकालक ने चतुर्थी तिथि में पर्युपणा की प्रवृत्ति की थी, मगर इसे

१ जम्हा एगखेत्ते चत्तारि मासा-परिवसतीति तम्हा परिवसणा भण्णति ।

—निशोथ सभाष्य चूर्णि ३।१२५

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति ८५

२ उदुवद्धिया वास समीयातो जम्हा पगरिसेण ओसति सव्वविसासु परिमाण-परिच्छिन्न तम्हा पज्जुसणा भण्णति पज्जोसवणा इति गतायं ।—निशोथ सभाष्य चूर्णि ३।१२५-१२६

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति पृ० ८५

(ग) प्रथम आय बहूण समवातो समोसरण ते य दो समोसरणा-एग वासासु वित्तय उदुवद्धे । जतो पज्जोसवणा तो वरिस आढप्पति अतो पढम समोसरण भण्णति ।—निशोथ, सूत्रभाष्य चूर्णि ३।१२६

(घ) कल्पचूर्णि बृ ८५

३ वासकप्पातो जम्हा अण्णा वासकप्पमेहा ठविज्जति तम्हा ठवणा भण्णति

—निशोथ वही ३।१२६

४ (क) जम्हा उदुवद्धे एवक मास खेतोगाहो भवति, वासावासासु चत्तारि मासा, तम्हा उदुवद्धियाओ वासे उग्गहो जेट्टो भवति । एपा व्यजनतो नानात्वं, नत्वयंते ।—निशोथसूत्र-सभाष्यचूर्णि ३।१२६

(ख) कल्पसूत्र चूर्णि ८५

५ (क) एत्थ तु पणग पणग कारणिय, जा समीसतीमासो ।

सुद्धदसमीठियाण च, आसाढीपुण्णि-मोसरण ॥

कल्पसूत्र निर्युक्ति गा० १६

(ख) आसाढपुण्णिमाए ठियाण जति तणङगलादीणि गहियाणि पज्जोसवणाकप्पो य कहितोतो सावण बहुलपचमीए पज्जोसवेंति । असति खेत्ते सावणयहुलदसमिए असति खेत्ते सावण बहुलस्स पण्णरसीय, एव पच पच ओ-सारेंतेण जाव असति भद्दवत्सुद्धपचमीए, अतो परेण ण वट्ठति अतिक्रामेत्तु । आसाढपुण्णिमातो आढत्त भग्गताण जाव भद्दवय जोण्हस्स पचमीए एत्थतरे जति ण लद्ध ताहे जति रुक्खहेट्ठितो तो वि पज्जोसवे-तव्व एतेसु पव्वेसु जहा लभेण पज्जोसवेयव्व, अप्पव्वे ण वट्ठति ।

—कल्पसूत्र चूर्णि० पृ ८६ पुण्यविजयजी, सपा०

मानान्न निमन नर्त्तनं चान्द्रिम् ।

वर्षावाम में भी विभिन्न ऋणों में श्रमा विज्ञान कर मन्ना है । म्नाना में पाँच कारणों का निर्देश किया गया है । वे जाग्य के हैं—(१) ज्ञान के लिए, (२) धर्म के लिए, (३) चाण्डि के लिए, (४) आचार्य और उपाध्याय के साथ रहने के, (५) गार्वाज उपाध्याय आदि के वैवाचन्य के लिए ।

मान्न चूणि तीक्ष्ण म्नाहिम् में कुछ अन्य भी जाग्य वर्षावाम में विज्ञान करने के बताये हैं—जैसे कि "कुञ्जाल के जाग्य निमन में उत्पन्न न होने में, गन्धकोष होने में, रोग आदि उत्पन्न होने में, जीवात्मनि का आदिगम होने में, आदि-आदि ।

वर्षावाम म्नाना होने पर श्रमा में विज्ञान करना चाहिए । किन्तु यदि वर्षा या आधिक्य हो, वर्षा में मार्ग दुर्गम व भग्न हो गये ह, गीच्छा श्रित हो, बीमारी आदि गई जाग्य हो तो वह अधिक भी रहकर मन्ना है ।

१ कल्पसूत्र चूणि पृ० ८६

२ कल्पसूत्र पर्वोहि टापोहि पितायाण पितायोऽपदनपादनमि गामाणुगाम इहज्जनए त० पाण्डुयाए, दमण्डुयाए चत्तिट्टाए, टापोहि उज्जयाया वा मे विनु मेरुना आयसियउवज्जायाया वा बहिया वेयावच्चकरणाए ।

—म्यानाङ्ग सूत्र ५ वा स्थान

३. (क) तस्य जपने इमे कारणे —

गवा कुतु मप्ये, जगणिज्जाणे य थटिन्मज्जनी, एणहि कारणेहि अपत्ते होइ पिगमण ॥३१५८
गया कुट्टो, मप्यो वा वमहि पविट्टो, कुचहि वा वमही ममत्ता, आगिणा वा वमही बट्टा, गिलाणसु पणिच्चरणट्टा गिलाणसु वा ओमहट्टे, चडिन्म वा अमतीने, एतेहि कारणेहि अपत्ते चउपाडिवए पिगमण भवति । अहवा इमे कारणा—

काइयभूमी मय्याणए, य ममत दुल्लभे निव्वे ।

एणहि कारणेहि, अपत्ते होनि पिगमण ॥ ३१५९

काइयभूमी ममत्ता, मय्यागा वा ममत्ता, दुल्लभ वा निव्व जात, आयवरममुचेहि वा दोनेहि मोहोदओ नाओ, अमिय वा उप्पणा एनेहि कारणेहि अपत्ते पिगमण भवति ।

—मनाय्य निशीय चूणि तृ० भा० पृ १३०-१३३

(ख) कल्पममर्थतन् गा० २४-२५ पत्र २

(ग) कल्पसूत्र-कल्पमना, व्याख्यान १ पत्र २-३

४ चउपाडिवए अइवक्ते निगमो इमेहि कारणेहि—

वाम न उवरमती, पया वा दुग्गमा मच्चिज्जिना ।

एणहि कारणेहि अइवक्ते होइ पिगमण ॥३१६०

अइवक्ते वामान्ने वाम मोवरमड, पयो वा दुग्गमो, अइज्जलेण सच्चिवल्ली य, एवनाइएहि कारणेहि चउपाडिवए अइवक्ते पिगमण भवति । ३१६०

अहवाइमे कारणा—

अनिवे ओमोयरिए णकुट्टे नए व गेनणे ।

एणेहि कारणेहि, अइवक्ते होयनिगमण ॥ ३१६१

वाहि अमिच्च ओम वा, वाहि वा गयकुट्टे, बोहिगादिनय वा आगाड, अगाटकारणेण वा ण पिगच्छति ।

एणेहि कारणेहि चउपाडिवए अनिवक्ते निगमण भवति । ३१६१

—निशीयसूत्र, मनाय्य चूणि तृ० भा०

(ख) कल्पममर्थतन् गा० २६, पृ २

(ग) कल्पसूत्र, कल्पमना पृ० ३१ ममथमुच्चर ।





वर्षावाम के लिए भी वही क्षेत्र उत्तम माना जाता है जहाँ पर तेरह गुण हो। वे गुण इस प्रकार हैं—
(१) जहाँ पर विद्योपकीचट न हो (२) अधिक जीवों की उत्पत्ति न हो (३) बीच स्थल-निर्वाप हो, (४) रहने का स्थान शान्तिप्रद हो (५) गोरम की अधिकता हो। (६) जन समूह विशाल और मद्र हो, (७) गुञ्ज वैद्य हो, (८) औषध सुराभ हो, (९) गृहस्थ वर्ग धन धान्यादि से समृद्ध हो, (१०) राजा धार्मिक हो, (११) श्रमण ब्राह्मण का अपमान न होता हो, (१२) शिक्षा सुलभ हो, (१३) और जहाँ पर म्याध्याय योग्य स्थान हो।^१

मगवान् ऋषयः गदेव और महावीर के श्रमणों के लिए वर्षावाम-पर्युपणा का अनिवार्य विधान है, जेप वार्डम तीर्थङ्गों के श्रमणों के लिए नहीं। वे वर्षा आदि के कारण में ठहरते भी थे और कारणाभाव में विहार भी करते थे।^२

इन दस कल्पों में (१) आचेलवय (२) औद्देशिक (३) प्रतिक्रमण (४) राजपिण्ड (५) मासकल्प (६) पर्युपणा कल्प ये छह कल्प अस्थिर हैं।^३ और (२) म्यात्तर पिण्ड (२) चतुर्थ महाव्रत रूप धर्म, (३) पुरुष जेष्ठ, (४) और कृतिकर्म ये चार कल्प अवस्थित हैं, और चौबीस ही तीर्थङ्गरों के शासन में होते हैं।^४

जिज्ञासा हो सकती है कि सभी तीर्थङ्करों के श्रमणों का लक्ष्य मोक्ष है तो फिर प्रथम अन्तिम और बावीस तीर्थङ्करों के श्रमणों के आचार कल्प में यह अन्तर क्यों है? अस्थिर और अवस्थित कल्प क्यों हैं।

समाधान है—प्रथम तीर्थङ्कर के श्रमण जड़ और मरल होते थे। अजित आदि बावीस तीर्थङ्करों के श्रमण विज्ञ और सरल होते थे। महावीर के श्रमण जड़ और वक्र होने हैं अतः मोक्षमाग एक होने पर भी आचार कल्प में अन्तर किया गया है।

- १ (क) चिपखल पाण थठिल, घसही गोरस जणाउले विज्जे ।
ओसहु निचयाऽहिवई, पासडा भिषा सज्जाए ॥

—कल्पसमर्थनम् गा० ३६, पृ० ३

(ख) कल्पसूत्र कल्पलता पृ० ५ में उद्धृत

(ग) कल्पसूत्र कल्पद्रुम कलिका पृ० ५ में भी उद्धृत

- २ दोसासइ मज्झिमगा, अच्युति अ जाय पुव्वकोट्ठीवि ।

इहरा उ न मासपि हु, एव खु विदेहजिणकप्पी ॥

—कल्पसमर्थनम् गा० २८ पृ० २

- ३ (क) शेपेपु चाचेलवयादिपु पटसु अस्थितास्तत्कल्पोऽस्थितकल्प उक्तं च—

ठिय अट्ठितो य कप्पो, आचेलवकाइएसु ठाणेसु ।

सव्वेसु ठिया पढमो, चउठिय छमु अट्ठिया बीओ ॥

—आवश्यक नियुक्ति, मलयगिरि वृत्ति में १२१

(ख) आचेलवकुद्देशिय, पडिक्कमणे रायपिण्ड मासेसु ।

पज्जुमणाकप्पम्मि य, अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो ॥

—कल्पसमर्थनम् गा० २९ पृ० २

- ४ (क) सेज्जायय पिडमि, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य ।

किइक्कम्मस्स य करणे, चत्तारि अयट्ठिया कप्पा ॥

—आवश्यक मलयगिरि वृत्ति में उद्धृत पृ० १२१

(ख) सिज्जाययपिडमि य, चाउज्जामे य पुरिसजिट्ठे अ ।

किइक्कम्मस्स य करणे, ठियकप्पो मज्झिमाणपि ॥

—कल्पसमर्थनम् गा० ३० पृ० ३

(ग) कल्पद्रुमकलिका व्या० १ पृ० ३

पूर्वाचार्यों ने कल्प का महत्व प्रतिपादन करते हुए उसे तृतीय वैद्य की औषध के समान ममी के लिए हिता-
वह बतलाया है ।^१ कल्प एक ऐसी अनमोल रसायन है जो दोष लगने पर भी और दोषयुक्त-अवस्था में भी ग्राह्य है ।
दोष लगा है तो शुद्धि हो जाती है और दोष नहीं लगा है तो जागृति रहने में भूल की धूल नहीं लगती ।

कल्प मानव को श्रेय की ओर ले जानेवाला आध्यात्मिक उपक्रम है । आत्मशुद्धि का अमोघ उपाय है ।
जीवन को निर्मल बनाने की एक कला है । इसके पानन से नये प्रकाश की आभा जगमगा सकती है, और अन्यकार
विनीत हो सक्ता है ।

•

१ बाहिमचणेइ नावे, कुणइ अभावे तय तु पढमति ।
विइअमचणेइ न कुणइ, तइय तु रसायण होइ ।
एव एसो कप्पो दोसा-भावेइवि कज्जमाणो अ ।
सु दरभावाओ खलु, चारित्तरसायण होइ ॥
एव कप्पविभागो, तइउरोसहनायओ गुणैयवो ।
भावत्यज्जो इत्य उ, सच्चत्यधि कारण एय ॥

—कल्पसमर्थन, गा० ३१ से ३३, पृ० ३



समन्तभद्र की जैनदर्शन को देन

श्री दरबारीलाल कोठिया,

एम० ए०, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य,
प्राध्यापक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



आ० कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छ (उमास्वाति) के पश्चात् जैन वाङ्मय को जिस मनीषी ने सर्वाधिक प्रभावित किया और यशोभाजन हुआ वह स्वामी समन्तभद्र है । ये साहित्य और शिलालेखों में विशिष्ट सम्मान के प्रदर्शक 'स्वामी' पद से विभूषित मिलते हैं । इनका यशोगान शिलालेखों तथा वाङ्मय के मूर्धन्य ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में बहुलतया उपलब्ध है । अकलकदेव ने^१ स्याद्वादनीय का प्रभावक और स्याद्वादमार्ग का परिपालक, विद्यानन्द ने^२ स्याद्वाद-मार्गप्रणी, वादिराज ने^३ सर्वज्ञका प्रदर्शक, मलयगिरि ने^४ आद्यस्तुतिकार तथा शिलालेखों ने^५ 'वीरजामन की सहस्र गुणी वृद्धि करने वाला, श्रुतकेवलि-सन्तानोन्नायक', 'समन्तविद्यानिधि', 'शास्त्रकर्त्ता' एवं 'कलिकाल-गणधर' कहकर उनका कीर्तिगान किया है । यथार्थ में जब तत्त्वनिर्णय ऐकान्तिक होने लगा और उसे उतना ही माना जाने लगा तथा आर्हत-परम्परा ऋषभादि तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्थापक स्याद्वादन्याय को भूलने लगी, तो महान् आचार्य ने उसे उज्जीवित एवं प्रभावित किया । अतः ऐसे शासन-प्रभावक और तत्त्वज्ञान-प्रसारक मूर्धन्य मनीषी का विद्वानों द्वारा गुणगान हो तो कोई आश्चर्य नहीं ।

इनका विस्तृत परिचय और समयदि का निर्णय प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पण्डित जुगलकिशोर जी मुस्तार ने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक इतिहास-ग्रन्थ में दिया है । वह इतना प्रमाण-पूर्ण, अविकल और शोधार्थक है कि ४२ वर्ष बाद भी उसमें सशोधन, परिवर्तन की गुंजाइश प्रतीत नहीं होनी, वह आज भी विल्कुल नया और चिन्तन पूर्ण है । अतएव यहाँ समन्तभद्र के परिचयादि के सम्बन्ध में कुछ न कहकर उनकी उपलब्धियों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे ।

समन्तभद्र से पूर्व का युग

जैन अनुश्रुति के अनुसार जैनधर्म के प्रवर्तक क्रमशः काल के अन्तराल को लिए चौबीस तीर्थंकर हुए हैं । इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, बादिसर्वे अरिष्ट नेमि, तेईसर्वे पादर्वनाथ और चौबीसवे बर्द्धमान-महावीर तो ऐतिहासिक

१ (क) तीर्थ सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधेर्भव्यानामकलङ्कभावकृतये प्राभावि काले कलौ ।

येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः सन्ततम्

(ख) मध्येकलोकनयन परिपालयन्त

स्याद्वादवर्त्म परिणीमि समन्तभद्रम् ।

—अष्टशती आरम्भिक मंगल पद्य २ तथा समाप्तिश्लोक १

२. अष्टसहस्री, समाप्ति मङ्गल-पद्य १, पृ० २६५

३. पादर्वनाथचरित १-२२

४. आवश्यक सूत्र-टीका

५. स्वामी समन्तभद्र पृ० ४६, ४७, ५० जुगलकिशोर मुस्तार

और लोक प्रसिद्ध भी है। इन तीर्थंकरों ने द्वारा जो उपदेश दिया गया वह 'द्वादशा' कहा गया है। जैसे बुद्ध के उपदेश को 'निर्दिष्ट' कहा जाता है। वह 'द्वादशा' श्रुत दो भागों में विभक्त है—(१) अग प्रविष्ट और (२) जावात्। यदा भेद प्रवक्ता विषय के कारण है। जो श्रुत तीर्थंकरों तथा उनके प्रधान एवं साक्षात् शिष्यों द्वारा उक्त है वह अन्तर्प्रविष्ट है। तथा जो उनके आचार में उल्लेखनीय आचार्य-प्रवक्ताओं द्वारा रचा गया वह जह्न-वाह्य है। जह्नप्रविष्ट और जह्नवाह्य के भी क्रमों बाह्य और अन्तर्भेद है। अन्तर्प्रविष्ट के बाह्य भेदों में एक दृष्टिवाद है जो बाह्यवा श्रुत है। इस बाह्यवा दृष्टिवाद श्रुत में विभिन्न वादियों की एकान्त दृष्टियों एवं मान्यताओं के निरूपण और समीक्षा के कारण इनका स्याद्वादनाय में मम्मन्त्र किया गया है। इस तथ्य को मम्मन्त्र न अपनी दृष्टियों में 'स्याद्वादिनो नाय सर्वत्र युक्तम्' जैसे पद—प्रमाणों द्वारा व्यक्त किया है और सभी तीर्थंकरों को स्याद्वादी (स्याद्वाद-प्रतिपादक) कहा है। भट्ट-कृत देव ने भी उन्हें स्याद्वाद का प्रवक्ता तथा उनके नामन उपदेश को स्या-द्वार के क्रमों कारण में विज्ञित बताया है।

आर्याना तथा पट्टपादगम में यद्यपि स्याद्वाद की मम्मन्त्र चर्चा एवं प्रवृत्ति नहीं मिलती, फिर भी सिद्धान्त प्रतिपादन 'स्यात्' (मिया पञ्चत्तिय) शब्द का प्रयोग हुआ अवश्य उल्लेख होता है। उदाहरणार्थ मनुष्यों को पर्याप्तक तथा आर्याप्तक दोनों बनाने हुए कहा गया है कि 'मिया पञ्चत्ता, मिया अपञ्चत्ता' अर्थात् मनुष्य स्यात् पर्याप्तक है, स्यात्, अपर्याप्तक। भावना (१८, ८, ५६०) में एक प्रश्न का उत्तर देने हुए प्रतिपादन किया है कि "गोयमा । सिय नाम्म मिय अमात्तए ।" अर्थात् हे गोतम । पुद्गल परमाणु स्यात्—द्रव्यदृष्टि में शाश्वत है और स्यात्—रूपादि पर्याप्तों की अपेक्षा में अशाश्वत है। उन्हीं प्रकार जगम में कुछ दूसरे विषयों का भी निरूपण मिलता है। भा० कुन्द-कुन्द नेभागम में उक्त दो (किंति ती-निपेय अथवा तद् और अनद्) वचन-प्रकारों में पांच वचन-प्रकार और मिला कर तीन वचन प्रकारों के दम्प (द्वय) प्रमाण का स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

मिय अत्थि गत्थि उत्थि अवत्तत्थि पुणो य तत्तिय ।

द्वय तु मत्तनग आदेसवसेण सभरदि ॥

—पञ्चान्त्रिकाय गा० १४

'स्यादस्ति द्रव्य स्यान्नास्ति द्रव्य स्यादुभय स्यादप्रवक्तव्य स्यादस्यवक्तव्य स्यान्नास्त्यवक्तव्य स्यादस्तिनास्त्य-वक्तव्यम् ।' अर्थात् स्यात् द्रव्य है, स्यात् द्रव्य नहीं है, स्यात् उभय है, स्यात् अवक्तव्य है, स्यात् है और अवक्तव्य है, स्यात् नहीं है और अवक्तव्य है, स्यात् है और नहीं है तथा अवक्तव्य है। इन सात भङ्गों का कहा उल्लेख हुआ है और उन्हें तैत्तिरीय आदेशवशान् (नयविविधानुसार) द्रव्य-निरूपण करने की सूचना दी है। कुन्दकुन्द ने यह भी प्रतिपादन किया है कि यदि मद्दृष्ट ही हो तो उसका विनाश नहीं

१ 'एषा दृष्टिगताना त्रयाणा पट्टपुस्तगणा प्रहरण निग्रहश्च क्रियते ।'

वीरमेन, घवला पुस्तक १ पृ० १०८ ।

२ अन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतु ब्रह्मश्च मुक्तश्च फल च मुक्ते ।

स्याद्वादिनो नाय सर्वत्र युक्तं नैकान्तदृष्टेः प्रमत्तोऽपि शास्त्रा ॥ स्वयम्भूस्तो० श्लो० १४ ।

३ (क) धर्मनीयैर्येन्योऽस्तु स्याद्वादिन्यो ननो नम ।

ह्ययनादिमहावीरान्तेन्य स्यात्सोपलब्धये ॥

—लघोय० १ । १

(ख) श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शानन जिनशामनम् ॥

—प्रमाणस० १ । १ ।

४ पञ्चान्त्रिका० गा० १५, १७





हो सकता और यदि असद्वृत्त ही हो तो उगका उत्पाद सम्भव नहीं है और चूँकि यह देखा जाता है कि जीव मनुष्य पर्याप्त से नष्ट, देवपर्याय से उत्पन्न तथा जीव सामान्य से द्रुव रहने से वह उत्पाद-व्यय-धीव्य स्वरूप है। इससे प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द के समय में जैनवाङ्मय में दर्शन का रूप तो आने लगा था, पर उसका अभी विकास नहीं हो सका था। आ० गृहपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्र में कुन्दकुन्द द्वारा प्रदर्शित दर्शन के रूप में कुछ श्रद्धा मिलती है। एक तो उन्होंने प्राकृत में सिद्धान्त प्रतिपादन की पद्धति को संस्कृत-गद्यशृंगों में बदल दिया। दूसरे, उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्तों का निरूपण आरम्भ किया। तीसरे, आगम-प्रतिपादित ज्ञान मागणागत मत्यादि ज्ञानों को प्रमाण सज्ञा दी तथा उन्हें प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदों में विभक्त किया। चौथे, दर्शनान्तरो में प्रत्यक्ष प्रमाण रूप में स्वीकृत सृष्टि, प्रत्यभिज्ञान और अनुमान को मतिज्ञान कहकर उनका 'आद्य परोक्षम्' (त० सूत्र १/११) सूत्रद्वारा परोक्ष प्रमाण में ही अन्तर्भाव किया। पाचवें, नैगमादिनयों को अर्थाद्विगम का उपाय बताया। इस प्रकार उन्होंने कितना ही नया चिन्तन आरम्भ किया। इतना होने पर भी दर्शन में उन एकान्तवादों, मध्वों और अनिच्छनों का तार्किक समाधान अभी तक नहीं आ पाया था, जो उस समय की चर्चा के विषय थे।

तत्कालीन स्थिति

यिन्म की दूसरी-तीसरी शताब्दी का समय भारतवर्ष के इतिहास में दार्शनिक क्रान्ति का समय रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनों में अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् हुए हैं। श्रमण और वैदिक दोनों परम्पराओं में अवधौष, मातृचेष्ट, नागार्जुन, कणाद, गोतम, जैमिनि जैसे प्रतिद्वन्द्वी विद्वानों का आविर्भाव हुआ और ये सभी दार्शनिक अपने मण्डन तथा दूसरे के सण्डन में लग गये। शास्त्रार्थों की बाढ-भी आ गई। सद्वाद-अगद्वाद, शाश्वतवाद-अशाश्वतवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद और अवस्तव्यवाद-वस्तव्यवाद इन चार विरोधी युगलों को लेकर तत्त्व की मुख्यचर्चा होती थी और उनका चार कोटियों से विचार किया जाता था। तथा वादियों का अपनी इष्ट एक-एक कोटि (पक्ष) को ही मानने का आग्रह रहता था। इस खींचतान के कारण अनिश्चय (अज्ञान) वादी सजय के अनुयायी तत्त्व को अनिश्चित ही बतलाते थे। उपर्युक्त युगलों में लगने वाली चार कोटियाँ इस प्रकार होती थी—

१. सदसद्वाद

- १ तत्त्व सत् है।
- २ तत्त्व असत् है।
- ३ तत्त्व उभय है
- ४ तत्त्व अनुभय (अवस्तव्य) है

२ शाश्वत-अशाश्वतवाद

- १ तत्त्व शाश्वत है
- २ तत्त्व अशाश्वत है
- ३ तत्त्व उभय है
- ४ तत्त्व अनुभय है

१. सदेकनित्यवयवतव्यास्तद्विपक्षादयं ये ज्ञया ।
सर्वथेति प्रबुध्यन्ति पुण्यन्ति स्यादितिह ते ॥

—स्वयम्भूतो० श्लोक १०१, समन्तभद्र

२ दीर्घनिकाय सामञ्जस फलसूत्र में सजय का मत 'अमरा-विक्षेपवाद' के रूप में मिलता है। अमरा एक प्रकार की मछली का नाम है। उसके समान विक्षेप (अस्थिरता) का होना—मानना 'अमरा विक्षेपवाद' है।

३ द्वैत-अद्वैतवाद

- १ तत्त्व द्वैत है
- २ नन्व अद्वैत है
- ३ तत्त्व उभय है
- ४ तत्त्व अनुभय है

४ वक्तव्यावक्तव्यवाद

- १ तत्त्व वक्तव्य है
- २ तत्त्व अवक्तव्य है
- ३ तत्त्व उभय है
- ४ तत्त्व अनुभय है

ममन्तभद्र की देन

ममन्तभद्र ने प्रतिपादन किया कि तत्त्व उभय चार ही शक्तियों में समाप्त नहीं है, अपितु सात शक्तियों में यह पूर्ण ज्ञान है।^१ उन्होंने बताया कि तत्त्व अनेकान्त रूप हैं—एकान्तरूप नहीं और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों (गन्-धर्मत्, शाश्वत-अशाश्वत, एत-अनेत आदि, के युग्म के आशय में प्रकाश में आने वाले वस्तुगत सात धर्मों का समुच्चय है।^२ 'मे' 'मे' 'मे' धर्मन्त मन्तमन्त-मनुच्चर विगद् अनेकान्तात्मक तत्त्व-मागर में अनन्त सहस्रों की गणना लगा रहे हैं जो उभय में उभय अनन्त मन्त शक्तिया (मन्तमन्तिया) भरी पड़ी हैं। हाँ, दृष्टा को सजग और समदर्शि ज्ञान चाहिए। जो यह ध्यान रहे कि यह जब तत्त्व का अमुक एक कोटि में कहे या देवे-जाने तो यह समझे कि तत्त्व (वस्तु) में वह धर्म अमुक जगत् में रहता हुआ भी उसमें विद्यमान अन्य शेष धर्मों का

१. न्यासाद मर्यकालन्यागान् निवृत्तचिद्विनि ।
सप्तभूतन्यापेक्षो ह्यादेयविशेषः ॥

—आप्तमी० का० १०४ ।

२ (अ) तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम् ।

युवत्यनु० का० ४६ ।

(आ) एषान्तदृष्टिप्रतिपेति तत्त्व प्रमाणसिद्ध तदतन्वभावम् ।

—स्वयम्भूतो० ४१ ।

(इ) न सत्त्वं नामच्च न दृष्टमेकमात्मान्तर मर्यनियेषगम्यम् ।

दृष्ट विमिश्र तदुपाधिभेदात् स्वप्नेऽपि नैतत्सदृशे परेषाम् ॥

—युवत्यनुशा० का० ३२ ।

३ (क) विधिनिषेधोऽननिन्त्याप्यना च त्रिर्येकशक्तिद्विधा एक एव ।

अथो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी स्याच्छब्द-नेपा मन्त्रेऽर्थभेदे ॥

युवत्यनु० ना० ४७ ।

(ख) विधेय वार्यं चानुमयमुनय मिश्रमपि तत्

विशेषं प्रत्येक नियमविपर्ययैश्चापरिमितं ।

मदन्योन्यापेक्षं मन्त्रभुजज्येष्ठगुरुणा

त्वया गीतं तत्त्व बहुनयविवक्षेनरवशात् ॥

—स्वयम्भूतो० का० ११८ ।





निषेधक नहीं है । केवल वह विवक्षावश मुख्य और अविवक्षावश अन्य धर्म गौण है ।^१ इसे ठीक तरह समझने और कहने के लिए उन्होंने प्रत्येक कोटि (भङ्ग वचन प्रकार) के साथ 'स्यात्' निपात-पद लगाने की मिफारिज की^२ और 'स्यात्' का अर्थ 'कथञ्चित्'—किसी एक दृष्टि—किसी एक अपेक्षा बतलाया ।^३ साथ ही उन्होंने प्रत्येक कोटि की निणयात्मकता को प्रकट करने के लिए प्रत्येक वाक्य के साथ 'एव' कार पद का प्रयोग भी निदिष्ट किया,^४ जिसमें उस कोटि की वास्तविकता—निश्चयात्मकता प्रमाणित हो, कारान्विता या सावृत्तिका नहीं । तत्त्व प्रतिपादन की इन सात कोटियों को उन्होंने एक नया नाम भी दिया । वह नाम है भङ्गिनी प्रक्रिया^५ - सप्तभङ्गी अथवा सप्तभङ्गन ।^६ समन्तभद्र की वह परिष्कृत सप्तभङ्गी इस प्रकार प्रस्तुत हुई—

सप्तसद्भाद

- १ स्यात् मद् रूप ही तत्त्व है ।
- २ स्यात् असद् रूप ही तत्त्व है ।
- ३ स्यात् उभयरूप ही तत्त्व है ।
- ४ स्यात् अनुभय (अववत्तव्य) रूप ही तत्त्व है ।
- ५ स्यात् सद् और अववत्तव्य रूप ही तत्त्व है ।
- ६ स्यात् असद् और अववत्तव्यरूप ही तत्त्व है ।
- ७ स्यात् सद् और अमद् तथा अववत्तव्य रूप ही तत्त्व है ।

इस सप्तभङ्गी में प्रथम भङ्ग स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से, द्वितीय परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से, तृतीय दोनों की सम्मिलित अपेक्षाओं से, चतुर्थ दोनों को एक साथ कहने की अपेक्षा में, पञ्चम प्रथम-चतुर्थ के

१ (क) विधिनियेधश्च कथञ्चिद्विष्टी
विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।

—स्वयम्भूस्तो० का० २५

(ख) विवक्षितो मुख्य इतोप्यतेऽप्योगुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।

—वही, का० ५३

(ग) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्य प्रति विशेषणम् ।

स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तत्र केवलिनामपि ॥

—आप्तमी० का० १०३

२ (आ) तद्योतन स्याद् गुणतो निपात ।

—युक्त्यनु० ४३

३. स्याद्वाद् सर्वर्थकान्तःपागात् किंवृत्तचिद्विधि ।

—आप्तमी० का० १०४

४ (क) यदेवकारोपहित पद तदस्वार्थत स्वार्थमवच्छिनत्ति ।

—युक्त्वयजनु० का० १४

(ख) अनुक्त-तुल्य यदनेवकार व्यावृत्तभावाग्नियम-द्वयेऽपि ।

—वही, का० ४२

५ प्रक्रिया भङ्गिनीमेना नयनयविशारद

आप्तमी० का० २३ ।

६ सप्तभङ्गनयापेक्ष ।

वही, का० १०४ ।

मार्गों में, पण्डितों-चतुर्षु के नेत्रों ने और मन्त्रों नृणां-चतुर्षु के निश्चय ने विवक्षित हैं और प्रत्येक मन्त्र का प्रयोजन पृथक्-पृथक् है। जैसे कि समन्वय के निम्न प्रतिपादन में प्रकट है।

मदेव सर्व को नेच्छेत् स्वत्पादितुष्ट्यात् ।

अमदेव विपर्यामान् देन द्यवनिष्ठे ॥

कर्मपितृदयात् हंत सहायान्यमशक्तित ।

अवसन्ध्योत्तम शेषान्त्रयो नृणां स्वहेतुत ॥

धर्म धर्मोऽय एवायं धर्मिणोऽन्तर्निष्ठ ।

अज्ञेयैः प्रत्यक्षान्त्रय शेषान्त्रयो तदज्ञेय ॥

—आप्तमी० का० १५, १६, २१

समन्वय में मदनदाद जी तरह अद्वैत-हैतुवाद, आचर्य-प्रमाद्वैतवाद, वचन-अवचनव्यवाद, अन्तः-अन्तर्गतावाद, अनेका-अनेकावाद, हेतु-हेतुवाद, विज्ञान-वहिर्यवाद, देव-पुरुषाद्यवाद, पाप-पुण्यवाद और वच-मोल आरात्राद इन एकान्तावादों पर भी विचार किया गया उक्त प्रकार में उनमें भी मन्त्रमङ्गी (सप्तकोटियों) की योजना करके स्याद्वाद की स्थापना की।^१ इस तरह विचारकों को उन्होंने विचार की एक नयी दृष्टि (स्याद्वाद-दृष्टि—तत्त्व-विचार की पद्धति) देकर नस्वालीन विचार-मार्ग एवं जीवनान को मिटाने में मन्त्रपूर्ण योगदान दिया। मात्र ही दर्शन के लिए पितृ उपादानों की आवश्यकता होती है उनका भी उन्होंने मृज्जित किया तथा आह्वन दर्शन को जग्य दर्शनो के समन्वय की नहीं, उसे गौरवपूर्ण भी बनाया।

निम्न उपादानों की उन्होंने मृष्टि क-के उन्हें जैनदर्शन को प्रदान किया वे इस प्रकार हैं—

- १ प्रमाण या नस्वज्ञान अथवा स्वपरावधानि लक्षण।^२
- २ प्रमाण के अक्रमनावि और क्रमनावि भेदों की शक्तिरचना।^३
३. प्रमाण के मात्रान् और परस्पर फलों का निरूपण।^४
- ४ प्रमाण का विषय।^५
- ५ नयका स्वरूप।^६
- ६ हेतु का स्वरूप।^७
- ७ स्याद्वाद का स्वरूप।^८

१ कथञ्चित्ते मदेवेष्ट कथञ्चिदमदेव तत् ।

तथोनयमदान्त्रय नययोगान्त्रय मर्त्या ॥

—आप्तमी० का० १४

२. अवसन्ध्योत्तम शेषान्त्रयो नृणां स्वहेतुत ।

—वही, का० १६

३ आप्तमी० का० २३, ११३

४ वही, का० १०१ तथा स्वपद-नूत्नो० का० ६३

५ आप्तमी० का० १०१

६ वही, का० १००

७ वही, का० १०३

८, ९ वही, का० १०६

१० वही, का० १०४





८ वाच्य का स्वरूप ।^१

९ वाचक का स्वरूप ।^२

१० अभाव का वस्तु धर्म निरूपण एव भावानन्तर कथन ।^३

११ तत्त्व का अनेकान्त रूप प्रतिपादन ।^४

१२ अनेकान्त का स्वरूप ।^५

१३ अनेकान्त में भी अनेकान्त की योजना ।^६

१४ जैनदर्शन में अवस्तु का स्वरूप ।^७

१५ स्यात् निपात का स्वरूप ।^८

१६ अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि ।^९

१७ युक्ति पूर्वक स्याद्वाद की व्याख्या ।^{१०}

१८ आप्त का तार्किक स्वरूप ।^{११}

१९ वस्तु (द्रव्य-प्रमेय) का स्वरूप ।^{१२}

जैन न्याय के इन उपकरणों का उपस्थापन अथवा विकास करने के कारण ही मनीषीगण ने समन्तभद्र को जैनन्याय का आद्य-प्रवर्तक कहा है ।^{१३}

कृतियाँ

समन्तभद्र की ५ कृतियाँ उपलब्ध हैं—

१ देवागम—इसे आप्तमीमांसा भी कहते हैं । इसमें दस परिच्छेद और ११४ कारिकाएँ हैं । यह समन्तभद्र की सबसे अधिक लोकप्रसिद्ध और प्रभावपूर्ण रचना है ।

२ स्वयम्भूस्तोत्र—इसमें चौबीस तीर्थंकरों का दार्शनिक शैली में गुणस्तवन है और १४६ श्लोक हैं जो बहुत गम्भीर और दुर्लभ हैं ।

१ वही, का० १११, ११२

२ वही, का० १०६

३ भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्म
भायान्तर भाववद्वहस्तस्ते

—युवतयनु० वा० ५६

४ युवतयनु० का० २३

५ आप्तमी० का० १०७, १०८

६ स्वयम्भूस्तो० का० १०३

७ आप्तमी० का० ४८, १०५

८ स्वयम्भू० का० १०२

९ आप्तमी० का० ५

१० वही, का० ११३

११ वही, का० ४, ५, ६

१२ वही, का० १०७

१३ जैनदर्शन (मासिक)—स्वाद्वाद अरु वर्ष २, अंक ४-५ पृ० १७० ।

३. युनत्पनुभासन—यह ६४ पद्यों की अत्यन्त गम्भीर और जटिल दार्शनिक कृति है। इसमें वीरजिन की मूर्ति की गई है।

४ जिन-अतक—इसे 'मूर्ति-विद्या' भी कहते हैं। इसमें ११६ पद्यों के द्वारा चौबीस तीर्थंकरों की मूर्ति प्रस्तुत की गई है। यह आधिकारिक अपूर्व राज्य-रचना है।

५ उत्तकरण्डक आचकाचार - यह उपानवाचार विषय ११० पद्यों की अत्यन्त प्राचीन और लोचप्रिय महत्व की कृति है।

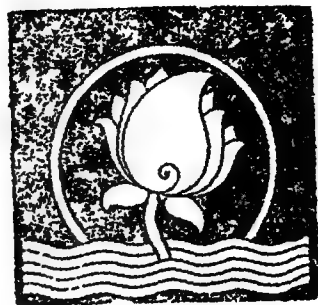
इसमें आदि की तीन दार्शनिक, चौथी काव्य और पाँचवी धार्मिक, (आचार-विषयक) कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त भी समन्तभद्र की जीवमिद्वि जैसी कुछ कृतियों के उल्लेख मिलते हैं, पर वे अनुपलब्ध हैं।

इन प्रकार हम देखते हैं कि समन्तभद्र की जैनदर्शन को अपूर्व देन है। इन्हीं में सम्भवत उत्तरवर्ती ग्रन्थ-कारों द्वारा उन्हें बढ़ावा दिया गया है और उनके प्रतिपादन को प्रमाणवाक्य मानकर उन्हें अपने ग्रन्थों में उद्धृत करके अपने कथन को प्रमाणित एवं समर्थित किया है।



मुनियों व योगियों के अद्भुत अनुभव

श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'



गमय भारतीय अध्यात्मसाधना का चरम लक्ष्य पारमात्मिक भाव की उपलब्धि है। आर्मी की आत्मा में सम्पूर्ण आनन्दमूलक जो आस्था है, वह साधक को निरन्तर आगे बढ़ने हेतु प्रेरित करती रहती है।

आत्मपरक समस्त वाङ्मय का यह स्पष्ट उद्घोष है कि कर्म विघ्न और विकृति, ये आत्मस्वभाव नहीं हैं। जो आत्मस्वभाव है वह इन से परे, अनिर्वचनीय सम्पूर्ण अविनाशी आनन्द में ओतप्रोत है। यह आत्मस्वभाव अभिन्न होते हुए भी सहज-अनायास वास्तव नहीं होता। उसे पाने के लिये वैभाविक शक्तियों में सघर्ष कर उन्हें आत्यन्तिक रूप में समाप्त करना पड़ना है। तभी आत्मा अपने ज्ञान दर्शन मुख और वीर्य रूप सम्पूर्ण स्वभाव-वैभव को प्राप्त कर पाता है।

ऐसी ही दृढ मान्यताओं के आधार पर आर्य साधकों की साधनाएँ खड़ी होती हैं तथा श्रद्धा और अनुभव के सहारे आगे बढ़ती हैं। प्राचीन ऋषि महर्षि व लोकोत्तम महापुरुषों ने दीर्घ साधनाएँ करके सत्य का साक्षात्कार किया और उनकी व्याख्याएँ प्रस्तुत की जो कई धर्मों व पथों के रूप में आज विद्यमान हैं।

लक्ष्य एक होते हुए भी प्रक्रियाओं में जो भिन्नता है वह देश काल तथा अधिकारी व अनुभव की दृष्टि में समझना चाहिये।

उन विभिन्न प्रक्रियाओं को, जिनमें से कई प्रसिद्ध तथा कई गुप्त हैं, अपनाकर साधक जब साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता है तो उसे कई तरह के अनुभव होते हैं। वे अनुभव बड़े विभिन्न तथा घ्रादचर्यपूर्ण हैं। सामान्यतया उनको दो भागों में बांट सकते हैं —

(१) वे अनुभव जो अध्यात्मसाधना में सहायक बनकर साधक के उत्साह को बढ़ाते हैं।

(२) वे अनुभव जो साधक को आकर्षित करके चमत्कृत कर देते हैं। अपरिपक्व साधक उन चमत्कारों में उलझ कर साधनापथ में व्युत्त हो जाया करते हैं।

अध्यात्मसाधना के क्षेत्र में जैनधर्मानुसार प्रत्येक साधक को अपना लक्ष्य पाने के लिए चौदह भूमिकाएँ पार करनी होती हैं। जिन्हें चौदह गुणस्थान कहते हैं।

यों तो लक्ष्य पाने तक साधक में योग्यता तथा अनुभवों की दृष्टि में अनेक परिवर्तन होते हैं किन्तु जो परिवर्तन प्रमुख तथा ग्राह्य हैं उनकी दृष्टि में ही यह विभाग है।

जैन्द्र (आर्हत) साधना करने वाला एक सफ़र साधक प्रारम्भ में अन्त तक अपने अन्तर-ग्राह्य परिवर्तनों को प्रत्यक्ष अनुभव करता है, कर्म प्रवृत्तियों के क्षय और उपशम को समझता भी है और उनकी आत्यहृष्ट्या विवेचना भी करता है।

उन्हे कई उदाहरण आत्मों में और अन्य उपलब्ध होते हैं। तीर्थंकर अपने भोगावली (उदय में आने वाले) रमं और उनकी स्थिति को पहचाने ही पहचान लेते हैं। फिर भी वे भ्रमण उदय में आने वाले कर्मों को भोग कर निर्माण करने हैं।

अनादि मित्रान्त्र ने निरुद्ध होकर सम्यक्त्व में विवरण करने वाली आत्मा को अपूर्व आनन्द का साक्षात् अनुभव होता है, यद्यपि ऐसे अनुभव सूक्ष्म व अनुभवगम्य हैं किन्तु आत्मा ने परे नहीं है। महान् आध्यात्मिक महर्षि आनन्दघनजी ने ऐसे ही अनुभव आनन्द का अनुभव प्रकट करने का कहा —

‘अत्र हम् एवमर भये न मरेगे’

पापिक जीवन में प्रमत्ता ही दिव्यशक्ति कर्मक्षय पण्यग के अनुभव बिना प्रकट हो नहीं सकती।

मात्र को उच्च भूमि में जाने पर ही ऐसा अनुभव होता ही ऐसा वान नहीं, साधारणतया सम्यक्त्व (सत्य) आनन्द होने-होने ही को विवरण अनुभव होने जाना है। श्रीमद्वासुदेव ने कहा —

दर्शन मोह व्यतीत यथो, उपज्यो योय ज्यो
देहभिल्ल केवल सैन्यनु ज्ञान जो ।

अवस्थान का प्राप्ति अनुभव भी नहीं मात्र के लिये अनुभव ही होता है।

धैर्यपूर्वक साधना में निमान होने पर अनुभव का साक्षात् उजागर होता है। एक जगह उपा-
नर आनन्द ने उद्भूति गौतम से बताया कि मुझे विविध अवस्थित है। किन्तु श्रीशुद्धभूति का विश्वास नहीं हुआ कि वह तत्त्व आनन्द का ही ज्ञान उच्च ज्ञानानुभव हो सकता है। जल में श्वमण नगणन महावीर ने आनन्द की वान का सम्पन्न किया तब ही श्रीगौतम का मया मिला।

जैनान्द्र पठति या मात्र भ्रमण अर्थात् (समस्त ज्ञान पदार्थों को जान लेना), मन पर्याय (मन के स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन), वैश्वज्ञान (मानसिक मात्रात्मक समस्त अभिव्यक्तियों का सर्वथा साक्षात्कार होना) के महान अनुभव का ज्ञान है। उनके अनिर्वक्त्य वेदादेश्या (अग्निमयी दृष्टि), आहारकमरीर मिद्धि (समाधान प्राप्ति का मात्रात्मक विविध शरीर), वैश्व शरीर (विभिन्न प्राणों की जाह्नविया बनाने की क्षमता), जघाचारण, विद्याचारण आदि गणनगामिनी विद्या आदि कई प्रकार की शक्तियों से भी प्राप्त कर लेता है, जिनका प्रयाग समय को विग-
पना (समय में जान) कहलाता है। मुनियों के अनेक ज्ञानानुभव तथा शक्तियों के प्रयोगों की वानें आत्मों और चरित्रों में उपलब्ध होती हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने भी अपने योगसूत्र में ऐसे कई अनुभवों की वानें बड़ी हैं, जो बड़े विचित्र लगते हैं।

(१) श्रुतमगानुद्धि^१ (मुनी हुई और आनुमानिक सर्वश्रेष्ठ ने भी अधिक बताने वाली बुद्धि)।

(२) अज्ञातमगानुद्धि^२ (निर्विचार समाधि में प्राप्त होने वाला अन्तर का अनुभव)।

स्वप्नात्मज्ञान^३ (निरीतममात्र-श्रुतमग के सकारण का भी मिट जाना) जैसे उच्चतम आध्यात्मिक अनु-
भवों के साथ महर्षि ने कहा कि योगी आत्मा को अन्तर्धानमिद्धि, अन्तर्धर्ममिद्धि, सविन्मिद्धि, परशरीरप्रवेश, उत्कान्ति, गणनगमन, अग्निमा, महिमा, अग्निमा, महिमा आदि-आदि अनेकानेक ऐसी मिद्धि-श्रुद्धिया भी प्राप्त हो जाया करती हैं जो अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं।

१ श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यधिपया विशेषार्थस्त्वात् (योगसूत्र)

२ निर्विचारवशादप्रेत्यात्मप्रमाद (योगसूत्र)

३ तस्यापि निगोधे सर्वनिगोधान्निर्घोष ममाधि (योगसूत्र)





इसमें कोई सदेह नहीं कि महर्षि पतञ्जलि ने भी ऋद्धियों और निद्धियों को हेय ही माना है। उन्होंने कहा कि साध्य^१ के सिद्ध होने से पूर्व कई लालच आते हैं। न तो उनमें उलझना चाहिये और न उनका अभिमान ही करना चाहिये, अन्यथा पुनः महादुःख आ सकता है।

जैनेन्द्र साधना तथा योगसूत्रीय प्रक्रिया के अनुभव विचित्र अवश्य लगते हैं किन्तु रहस्यपूर्णता आध्यात्मिक अनुभवों की एक और ऐसी विशेषता है जो अत्यन्त अनिर्वचनीय तथा दुरुह है। रहस्यमय विचित्र अनुभव के बीज स्मृतियों में भी पाये जाते हैं। एक जगह उल्लेख है कि^२ चन्द्रमण्डल में आकर एक स्त्री ने दो को छाया, तदनन्तर तीसरा पैदा होता है वह अजर-अमर होता है।

एक जगह ऐसा कहा गया-नाभिदेश^३ में एक जलता हुआ सूर्य है और तालमूल में अमृतमय चन्द्रमा नित्य स्थित है। अधोमुख चन्द्र वर्पता है और ऊर्ध्वमुख सूर्य ग्रहण करता है। वहाँ पर जिनके द्वारा अमृत पाया जा सके उस कारण को जानना चाहिये।

तनिक सोचिये उपर्युक्त अनुभवपूर्ण निर्देश के सत्य रहस्य को अनायास कौन पा सकता है ?

रहस्यमय राजयोग और हठयोग के अनेक अनुभवों का चित्रण हमें योगियों व सत्तों की अनुभववाणियों में भी मिलता है। प्रसिद्ध योगी गोरखनाथ का एक पद देखिये —

देह मे महादेव विराजे, गुप्त गुणेश सहलाणी ।
सिव सगति देवी हाजर बोले—पापर पूजे नर कहा जाणी ॥
पर वस फोड एक गगा खल की चहु दिस पाणी पाणी ।
उस परवत पर दोय मछली बैठी जिसमे नीर घण जाणी ॥
चाच नई ज्याके पांख नई बो झूल रई जल ताणी ।
सब बचना सू चढी सिखर गढ बोले अनहद बाणी ।
मछत्रि परताप जती गोरख बोलिया छांणिया दूष ने पाणी ॥

—(गोरखवाणी)

सत कबीरदासजी ने भी ऐसे अनुभवों का कई भजनों में वर्णन किया है। एक दोहे में ही जो अकल कला का खेल बना दिया वह कम आश्चर्यपूर्ण नहीं है। वह दोहा है—

घरता गगन के अन्तरे, चद सूर के मेल ।

जो जोगी गुरु मुख लहे तड अकल कला का खेल ॥

ऐसे ही गोस्वामी तुलसीदासजी, पलटूदासजी, सत रेदासजी, ईसरदासजी, बालकदासजी, केसोदासजी आदि अनेक भक्तों, सत्तों के पदों, भजनों व वाणियों में ऐसे रहस्यमय अद्भुत अनुभवों का चमत्कारपूर्ण वर्णन पाया जाता है।

१ स्थान्युपनिमन्त्रणे सगस्मयाऽकरण पुनरनिष्टप्रसगात् (योगसूत्र)

२. एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमण्डले ।

तृतीयो यः पुनस्ताभ्या, स भवेदजरामर ॥

३. नाभिदेशे च सत्येको भास्करो बह्नात्मक ।

अमृतात्मा स्थितो नित्य तालमूले च चन्द्रमा ।

वर्षत्यधोमुखश्चन्द्र ग्रहणात्पूर्ध्वमुखो रवि ।

ज्ञातव्य कारण तत्र येन पीयूषमाप्यते ॥

अद्भुत अनुभवों का अपने दम में बाँगा या नष्ट देने की एक लम्बी परम्परा रही है जो अब तक विद्यमान है। किन्तु आधुनिक दम ज्ञान का है कि युग के इनने महान् परिवर्तनों में भी उनके रहस्य में कोई कमी नहीं आई। वस्तुओं का तबो विद्यमान है।

प्रसिद्ध योगीश्वर चतुर्गुह्यिनी के गुरु राजर्षि गुमानसिंहजी अधिक प्राचीन नहीं हैं किन्तु उनके ग्रन्थ 'माध-भवन' में आध्यात्मिक अनुभवों का जो रहस्यपूर्ण वर्णन है वह प्राचीन किमी यागी की बागी में कम नहीं है।

अनुसम अनुभवों की इस अविच्छिन्न परम्परा के द्वारा यह ता ज्ञान हो ही जाता है कि अध्यात्मचिन्तन, मनन ध्यान योग और समाधि में व्यक्त होने वाला एक ऐसा अन्तर्गत अवस्था है जिसे साधारण नया मध्यवृद्धि-व्यक्ति समझ ही नहीं सकता।

आश्चर्यपूर्ण विचित्र अनुभवों ने परिपूर्ण उस अध्यात्मजगत् और उसके मिथानों का हम एक साथ साम्य-निक मो कट ही नहीं सकते क्योंकि गहरी में जाकर छानबीन किए बिना किमी ज्ञान के विषय में निर्णय देना अनधि-कारक्षेप्य है।

आजकल समाचारपत्रों में महर्षि महेश जी ध्यानमाधना की वरी चर्चा है जिनने पश्चिम के वाट्सन जी की नई विद्वान प्रभावित होकर भारत में योगमाधना हेतु आ रहे हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र की यह एक और समन्वित-पूर्ण विजय है जो सिद्ध करती है कि योगियों के अनुभवों में साथ कल्पना नहीं है अपितु साम्यविज्ञान है।

हम देखते हैं कि प्रत्येक जीवन धानदार परम्परा के मूल में कुछ सचाट सत्य होते हैं जिनके आधार पर वह धर्मी-धर्मनी है, साथ रहस्य के हेतु पर सुखी परम्पराएँ टिख नहीं पाती।

अध्यात्मानुभव की विद्या परम्परा जो अब तक टिकी है तो इनके मूल में अवश्य सत्य है। अन्तर्या वे सन्-महात्मा ऋषि-महर्षि, आ समस्त गुह्य-गुह्यियाओं का टुकटाकर समस्त कामनाओं का समाप्त कर आत्मसाधन में प्रवृत्त होते हैं, जमी उनका प्रकाश-निर्माण नहीं करते।

यह तो हम मोक्ष ही नहीं सकते कि ननिक पाप का भी महान् प्रायश्चित्त करने वाले सन् मुनि महात्मा नितान्त अपाठकनित्त गुह्य चरने रहे और वराने रहे। अब मुनियों व योगियों के अद्भुत अनुभवों में सम्यका की पूर्ण चमक है। कि भी ज्ञान का युग विज्ञान का युग है। इसमें अनुभवान् चले रहे हैं। मनाविज्ञान का तरफ भी कई परीक्षण हुए और कुछ नये नये सामन आये हैं। जी भी परीक्षण किए जा रहे हैं।

यहाँ ही अच्छा हो आज के वैज्ञानिक इस अद्भुत अनुभवों के गुण उजाने का भी अपनी विज्ञान की चावियों में खोलने का प्रयत्न करें। यह एक महान् प्रयत्नशील प्रयत्न होगा किन्तु क्या यह महान् प्रयत्न निर्दोष विमुक्त अध्यात्ममुखी दृष्टि पाय बिना सफल हो सकेगा ? यह एक ऐसा प्रयत्न है जो समन्वित रहने के साथ-साथ ही सन्निध में इनके रहा है।

०

१. अग्रत बीच आयकं मुक्त चक्षु मोक्षय, अवेत तीर त्रायेके अनन्तुत टोक्षय।

मुनाग द्वार देखके हृल्लभ्य जीवको हृय, भजो जुमत्त देवदत्त श्रम नित मोक्षय ॥

अनोक्ष देन आय के अग्रत मट्ट मोक्षय, एगल्ल धाम देखके प्रचट मुन भोगय ॥

अन्वड जोति हं वहा जु दीप मानवो नय।

अनेक वृक्ष ज्ञान ज्ञान पुष्प नीरज देव्य, मुत्तल धन बाग में फलादि जुत्त रहे नय ॥

शियत्त नीर झोकरे परत्त गाह वृन्द य।

मुधा जु घूट दीवप हरक जुत्त रहे हम, मिह हृत्त पाय के अनरक दार मोक्षय ॥

—(मोक्ष भवन)



आत्म-परमात्मवाद

प्रो० जयन्तीप्रसाद जैन

एम० ए०, शास्त्री



बृहदारण्यक उपनिषद् में गात्रत्राण-मंत्रेणी तवार् मे कृता गवा है— “अत्र मंत्रेणी, पत्यु कामाय प्रिया प्रिया न भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय प्रिया प्रिया भवन्ति ।” “पुत्राणा तामाग पुत्रा प्रिया न भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय ।” पति के सुख के लिए पत्नी को पति प्रिय नहीं जाना अपितु अपने सुख के लिए होता है। पुत्र के सुख के लिए पुत्र, माता के सुख के लिए माता, लोगों के सुख के लिए लोग, देवों के सुख के लिए देव प्रिय नहीं होते किन्तु ये सब आत्म-सुख के कारण ही प्रिय होते हैं। अतः आत्मा का दर्शन, श्रवण, मान एवं निदिध्यासन करना चाहिए।

वस्तुतः श्रेयोमार्ग की प्राप्त्यभिलाषा आत्मा में ही है। जैना कि आचार्य अकालकंदेन ने “रात्रात्मिक” प्रथमाध्याय, प्रथमाह्निक में कहा भी है—“श्रेयोमार्गप्रविप्तात आत्म-द्रव्यप्रमिद्धे ।” अनात्म को सुख-दुःख का परिचय भी क्या? अतः उसे निजी मरुता में व्यक्त होने वाला तत्त्व कहा गया है। यदास्तिकक चम्पूकार आचार्य मोमदेव ने उसके विशेषण दिये हैं—

“ज्ञाता दृष्टा महान् सूक्ष्म, कृतिभुषत्यो स्वयं प्रभु ।

भोगायतनमाश्रित्य, स्वभावाद्बुध्यं पुमान् ॥”

(पण्डितवाग, १०४ श्लोक)

आचार्य नेमिचन्द्र ने लिखा है—

“जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेह-परिमाणो ।

भोत्ता ससारत्यो सिद्धो सो विस्तसोड्डुगई ॥”

(द्रव्यमण्ड, २ गाथा)

पचास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

“जीवोत्ति हववि चेवा, उवओगविसिसिद्धो पण्ण कत्ता ।

भोत्ता य देहमत्तो, णहि मुत्तो कम्मसजुत्तो ॥२७॥”

भाव सबका एक ही है कि आत्मा चेतन, उपयोगवान, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहमात्र, मूर्ति रहित, एवं कर्मसंयुक्त है। स्वभावात् ऊर्ध्वगामी भी है।

गीता में इसी के लिए निम्न विशेषण दिये गये हैं—

“न जायते वा जियते कदाचिन्नाय भूत्वा भविता पुनश्च ।

अजोऽजय्य शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥”

तथा

“नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं वहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति नास्त ॥”

वह अज, अमर, अविनाशी, शाश्वत, चिरवालीन एवं सदा विद्यमान तत्त्व है । शरीर के नाश में भी अ-
प्रणष्ट है । शस्त्र, अग्नि, जल एवं वायु की भी पहुँच ने दूर है ।

शरीरस्थ एवं स्वानुभूति-रूप्य इन आत्मा की प्रथमा में अनेक कवियों की मूर्तिना सुप्रचलित है । यथा—

“प्रीतम पनिया नव लिखू, जब तुम होउ विदेश ।
उन में, नन में, नैन में, ताको कहा नदेश ॥”

तुम्हारा कीजिए—

“आपकी प्राद में, गुल श्री किनायत कैसी ?
मन्गीए कुल हूँ मैं हाजन नहीं मयखाने की ॥”

तथा

“करें हम किम की पूजा और लगायें किमको चन्दन हम ।
मनम हम, दैर हम, बुतखाना हम, बुत हम, बिरहमन हम ॥

पर डमरा यह अर्थ भी नहीं कि दुनिया को बिन्दुल भुला दिया जाय ।

“नैमी गोयम कि अज आलम जुदा बाश ।
वहर कारे कि बागी, वास्तुदा बाश ॥”

अर्थात्

मैर कर, और दूर से
गुल देख डम गुलजार के
पर बना अपने गले का
इन को मत जिन्हा हार ॥

(स्वामी रामतीर्थ के उपदेशों में)

अनेक दर्शनकारों ने इसकी मिट्टि का प्रयास किया है । भौतिकवादियों को समझाते हुए आचार्य विद्यानन्द
अपने ‘मूर्तीरुचिक’ में लिखते हैं—

“स्वसवेदनत सिद्ध सदात्मा बाधवर्जितात् ।
तस्य क्षमादिविवर्तस्मिन्यात्मयनुपपत्तिः ॥१०२॥”

अर्थात् आत्मा जो जड़ का परिणाम मानने पर स्वसवेदन ज्ञान सिद्ध नहीं होगा । आत्माकी उसी ज्ञान से
मिट्टि है । भूत-घट पटादि पदार्थों में स्वसवेदन नहीं है ।

स्वसवेदनमप्यस्य बहिः करणवर्जनात् ।
अहंकारास्पद स्पष्टमवावगमनुभूयते ॥१०३॥

बाह्य पात्रों इन्द्रियों में रहित मैं-मैं इन निर्वाच प्रतीतिस्वरूप स्वसवेदन प्रत्यक्षसे आत्मा का अनुभव होता है ।
आचार्य शंकर ने लिखा है—

“सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति ।
यदि नात्मत्वप्रसिद्धिः स्यात्, लोको नाहमस्मीति प्रतीयात् ।

(ब्राह्म सूत्र, साकरभाष्य, १-१-१)





ऐसा कोई नहीं है जो विद्याम करे "मैं नहीं हूँ। यदि आत्मा का अग्निस्व नहीं होता तो सबको अपने अस्तित्व का ही सीधा ज्ञान होता। वैशेषिक दर्शनमात्र कहने हैं -

‘अहमिति प्रत्यगात्मनि भावान् परमाभावावर्त्यन्तिप्रत्यक्ष ॥१४॥

(अ० ३, आ० २)

“मैं हूँ” इस प्रकार आत्मा में अनुभूति होता और पर पदार्थ में न होता यह आत्मा का मानसिक प्रत्यक्ष है। न्यायमूयकार के मन में भी आत्मा इन्द्रियों में भिन्न है। हम एक वस्तु को अपनी आँखों में देखते हैं। रुचिकर होने से उसे अपने हाथ से छूते हैं। इस प्रक्रिया में हम वस्तु से एक ही सम्पर्क में हैं। दो इन्द्रियों में माध्यम अनुभव में यदि आत्मा इन्द्रिय रूप होता तो वस्तु कैसे पहचानी जाती कि वही है।

(न्यायमूय ३-१।१।३)

दाहिने हाथ में छुए गए पदार्थ को बाएँ हाथ में छूने पर उमंगी गमना का गण्डन नहीं होता। (३-१-३) एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर पड़ता है। वृक्ष पर लटाने हुए आमों को आप देखती है पर जीम में पानी टपकने लगता है। यदि आत्मा उन्द्रियात्मक होता तो यह बात न होती। हमारा राग पूर्वजाल में आम्बादित आम का स्मरण ही है।

इसने स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रिया स्वयं कर्ता नहीं बरन कर्ण हैं। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा रूप रस आदि का अनुभव करने वाला तत्त्व एक ही है और वही आत्मा है। (३-१-१०)

चक्षु इन्द्रिय के नष्ट होने पर भी पहले उसके द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण होता है। हमने भी यही मित्र होता है कि जानने वाला इन्द्रियों में भिन्न आत्मा ही है।

अनेक आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी आत्मतत्त्व की सत्ता आश्चर्यजनक एवं विरोधताओं की ओर उन्मुख हो रहे हैं। पुनर्जन्मादि की शतश प्रामाणिक घटनाएँ इस ओर महायुक्त मित्र हो गयी हैं।

प्रो फ्रेड्रिक्स के मन में ‘मैं’ एक अध्यात्म सत्ता है। एक अन्य वैज्ञानिक के अनुसार “यदि हम मनुष्य इस जीवन में ही अन्त होता है तो प्रकृति की शक्ति का व्यर्थ अपव्यय मानना चाहिए। पर यह असम्भव है।” एक कहते हैं—“परिस्थिति से उत्पन्न अनुभवों को भौतिकवादियों के यथोक्त अथवा गणितज्ञों के मापों द्वारा नापना असंभव है। आसू एवं पसीना निकलने के नियम तक तो अभी स्पष्ट नहीं हैं।”

पृथ्वी पर गिने जाने तारकाओं द्वारा जीवन का बीज हमारे पाम पट्टाचा-यह कैसे नभय है ? क्या प्रोटो-प्लाज्म में इतनी शक्ति है कि तारकाओं द्वारा पृथ्वी पर पहुँचने तक समस्त जीवन अश्लिष्ट रहा होगा ? अथवा हजारों मील प्रति मिनट उड़ने वाले श्वेत परमाणु अपना ज्ञान दूसरे परमाणुओं में डाल सकते होंगे ? जब कि एक विद्यार्थी गुरु से बीस वर्ष पढ़ कर भी किसी बात को भूल सकता है। वस्तुतः भौतिक-विज्ञान की पट्टा के बाहर भी पदार्थों का अस्तित्व है। हैरत एवं हैम्पले का युग अब प्रभावक नहीं रहा है। शुद्ध यात्रिक विद्याओं में व्याग, कालिदास, होमर, हेमचन्द्र एवं रवीन्द्र का जन्म असंभव ही है।

मस्तिष्क शास्त्र के जन्मदाता “गाल” के अनुसार देखने, सुनने, स्पर्श करने, प्रेम, विचार अथवा स्मरण करने वाली एक ही वस्तु होनी चाहिए। उसके पाम भौतिक साधन अवश्य अनेक होंगे। यही तो उपनिषद्-कारों के इस वचन में भी मित्र हुआ है कि—

एष हि दृष्टा, स्पृष्टा श्रोता, प्राप्ता, रसयिता मन्ता, बोद्धा, कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष ।”

सत्य ही है रथ की गति देखकर साँच का अनुमान होता है तो इन्द्रियों की प्रवृत्ति देखकर आत्मा का अनुमान क्यों न हो ?

“प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथ-गत्येव सारथि ।”

परन्तु वह सारथि मत्त, रूप, रस, स्पर्श एवं गन्ध रहित होने में इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। अनिर्दिष्ट मस्थान एवं चेतना गुणमय है।

‘अरसमरुचमगध, अद्वत्त चेद्व्यागुणमसह ।’

ज्ञान अलिङ्ग्यहण, जीवमणिदिट्ठमहाण ।’

(आ० कुन्दकुन्द, ममयमार, जीवाजीवाधिकार ४६ ।)

[२]

राज-प्रेमणिय-मुक्त में प्रदेशी राजा और कैशीकुमार के मवाद में आत्म-नन्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वह इन प्रकार है।

प्रदेशी—भगवन् ! आपका मानना है कि जीव एवं शरीर भिन्न २ हैं। परन्तु यह बात मेरी समझ में नहीं आती। देखिये, मेरे बाबा बड़े श्रद्धामय थे। अपनी प्रजा का पान पोंपण ठीक तरह नहीं करते थे। आपने ब्रह्मानुमार वे भर कर नरक में गये हैं। अपने बाबा का मैं लाडला पोता था। अब यदि मेरे बाबा नरक में आकर मुझे उपदेश दें कि देखो बेटा, तुम अधर्म कृत्य न करना, नहीं तो मेरी तरह तुम्हें भी नरक में यातनाएँ भोगनी पड़ेगी तो मैं समझूँ कि परशोक है तथा जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन मेरे बाबा अभी तक तो नरक में आये नहीं हैं अब शरीर को छोड़कर आत्मा काई जगत् गन्तु नहीं है।

कैशीकुमार—देखिये, मैं आपसे एक प्रश्न पूछना हूँ। कल्पना कीजिए, आपको सूर्यशान्ता रानी तथा धाँवर, ब्रह्मावतार में मुमूर्तिन होकर किनी परपुरुष में सङ्ग हो जाय और आप उनको देख लें तो आप उस पुरुष को क्या दण्ड देंगे ?

प्रदेशी—मैं उनके हाथ पाव बटवा कर, झूली पर चढ़ाकर मरवा डालूँगा।

कैशीकुमार—यदि वह पुरुष आपसे कहे कि महाराज, आप थोड़ी देर ठहर जाइये। मैं जरा अपने मित्रगण से कह आऊँ कि तुम भी इस तरह का कुकृत्य करोगे तो तुम्हें भी मेरी ही भाँति दण्ड भगना होगा, तो क्या आप उसे क्षमा कर के छोड़ देने जानें की आज्ञा देंगे ?

प्रदेशी—नहीं भगवन् !

कैशी—क्यों ?

प्रदेशी—क्योंकि वह पुरुष अपराधी है।

कैशी—वन, इसी प्रकार तुम्हारे बाबा नरक से आना चाहते हैं—पर कई कारणों से आने में अनमर्थ हैं।

[आ]

प्रदेशी—भगवन् ! मेरी एक दादी थी। वह श्रमणों की उपामिका और अत्यन्त धार्मिक थी। आपके कथनानुसार वह मरकर देवलोके में गई है। वह मुझे अत्यन्त प्रेम करती थी। अब यदि वह आकर मुझे धार्मिक कृत्य करने का उपदेश दे तो मैं समझूँ कि परमात्म है।

कैशी—कल्पना करो, तुम नानादि कर मंदिर जा रहे हो। मार्ग में गीचालय में बैठे कोई मनुष्य क्षण भर के लिए तुम्हें बुलावे-तो क्या तुम उनके पास चले जाओगे ?

प्रदेशी—नहीं महाराज।

कैशी—क्यों ?

प्रदेशी—भगवन् ! वह म्यान अपवित्र है।





केशी—वस, इसी प्रकार तुम्हारी दादी देवलोक से इस अपवित्र स्थान में उन्ना होने पर कई कारणा में नहीं आ सकती ।

[द]

प्रदेशी—भगवन् ! एक दिन मैं अनेक गणनायक, दण्डनायक आदि में परिचिन्तित होकर गया-मण्डप में बैठा था । इतने में नगर-रक्षक एक चोर को पकड़ कर लाये । मैंने उसे जीविन अवस्था में ही लाले की कोठी में टांग कर ऊपर में गूल जोर में ढक्कन बंद कर दिया और निद्रास्थ पुरुष नियुक्त कर दिये । कोठी का मध्य जाकर देखा । उसका ढक्कन गुलवाया । उगमे कोई छिद्र आदि न था । फिर भी चोर का जीव कोठी में बाहर कैसे निकल गया ? अतएव जीव दारीर में भिन्न नहीं है ।

केशी—कल्पना कीजिए-किसी पर्वत पर कोई गयन बना हुआ है । उसमें बड़ी बड़ी छिद्र नहीं जिसमें नीतर का शब्द बाहर आ सके । उसके द्वार भी निश्छिद्र हैं । उस भवन में बैठकर यदि कोई पुरुष भेरी बजाये तो क्या उसका शब्द बाहर जायेगा ?

प्रदेशी—जी हा, जायेगा ।

केशी—वस उसी तरह कोठी में चोर का जीव बाहर आ सकता है । क्योंकि वह अप्रतिहतगति है । निम्न पर्वत आदि को भेद सकता है ।

[ई]

प्रदेशी—भगवन् ! एक दिन मैं अनेक गणनायक आदि के साथ गया-मण्डप में बैठा हुआ था । इतने में एक चोर पकड़ कर लाया गया । मैंने उसे जीवन में बन्धन कर दिया और उसे एक लोहे के मटके में डाल दिया । ऊपर ढक्कन लगा दिया । अब कुछ दिनों बाद देखता हूँ कि वह मटका कोठों में भर गया है । उगमे कोई छिद्र न था । अतः जीव-दारीर भिन्न नहीं है ।

केशी—क्या तुमने कभी लोहे का घाँकनी में तपाया जाता हुआ देखा है ?

प्रदेशी—भगवन्, देखा है ।

केशी—जिस प्रकार उस लोहपण्ड में अग्नि प्रविष्ट हो जाती है उसी प्रकार जीव भी अन्दर पहुँच जाते हैं । जीव की गति किसी में रोगी नहीं आ सकती ।

[उ]

प्रदेशी—मैं एक और उदाहरण देता हूँ । कोई तरुण पुरुष पाच बाण छोड़ सकता है । परन्तु जब वह बालक था तो उसमें इतनी शक्ति नहीं थी । यदि तब भी इतनी ही शक्ति रहती तो दोनों को पूर्व-समझा जा सकता था ।

केशी—मैं आपसे पूछना हूँ कि कोई तरुण नये धनुष और डोरी का नेहरु पाच बाण छोड़ सकता है किन्तु जीण धनुष से एक भी नहीं । ऐसा क्यों ?

प्रदेशी—भगवन् ! उसके उपकरणो-साधनों की कमी है ।

केशी—वस, इसी प्रकार बाल्यकाल में उपकरण-इन्द्रियों में पर्याप्त शक्ति नहीं है ।

[ऊ]

प्रदेशी—मैं एक अन्य दृष्टान्त देता हूँ । कोई तरुण लोहे के महान् भार को बहन कर सकता है लेकिन वह अञ्जूर-देह हो जाने पर नहीं । यदि दोनों अवस्थाओं में एक ही जीव होता तो वृद्धावस्था में भी उस महान् भार को

उठाने में समर्थ होना था। इन जीव-शरीर अभिन्न हैं।

बेसी—देखिये, कोई मन्दिर अपनी नई बहरी में मरान् भार को उठाकर ले जा सकता है, जीर्ण जीर्ण में नहीं। उसी प्रकार जीर्ण शक्ति होने पर सुखावस्था की भाँति बलपूर्वक कार्य नहीं हो सकता।

[१]

प्रदेशी—मैं एक दूसरी बात कहना हूँ। मेरे पास एक चोर लाया गया। पहले तो मैंने उसे जीवन अवस्था में रखा। पञ्चात् उसने जा-अन्ता का गगन किये बिना ही, जीवन में वचन करके तोला परन्तु तोल में कोई अन्तर नहीं था। शरीर में जीव भिन्न होना जीव वह चला गया जाना तो तोल में अन्तर पड़ता। इसलिए मैं जीव और शरीर को एक ही मानता हूँ।

बेसी—क्या तुम कभी किसी चमड़े की थैली को हवा से भरा है? जैसा वायु सहित एवं रहित थैली की ताल में जो अन्तर नहीं पड़ता उसी प्रकार जीव को विद्यमानता-अविद्यमानता में शरीर के वजन में अन्तर नहीं पड़ता। जीव अशून्य है।

[२]

प्रदेशी—महाशय। यदि जीव है तो वह दिखाई क्या नहीं देता? मैंने एक चोर के दो तीन चार और बहुत दुकटों के चारों ओर से उल्ट पलट कर देखा, भार मुझे तो कभी जीव दिखाई नहीं दिया।

बेसी—प्रदेशी, तुम अदृष्टान्ते में भी अदृष्ट मृद हो। मुनी, कुछ तकडवाने जगत् में गये। माथ में उन्होंने अग्नि की अग्निपात्र ली है। जब वे एक निर्वन स्थान में पहुँचे तो उन्होंने अपने एक साथी से कहा—तुम इस अग्निपात्र में अग्नि लेकर भोजन तैयार करो। अग्नि वृष जाय तो इस काष्ठ में अग्नि निकाल लेना। उनके जाने के कुछ समय पञ्चात् वह भोजन बनाने को उद्यत हुआ पर अग्नि कुछ चुली थी। अतएव उसने काष्ठ को चारों ओर से घुमा फिर देखा, अग्नि काष्ठ में अग्नि दिखाई नहीं दी। वह कटिबन्धन बाध कर परशु हाथ में लेकर तैयार हो गया। काष्ठ के दो दुकटे लिये। चारों ओर देखा पर जग नहीं था। उसने काष्ठ-खंडों के और भी छोटे छोटे टुकड़े किये पर फिर भी अग्न न था। अन्त में वह कर उसने परशु को एक ओर डाल दिया और कटिबन्धन उतार दिया। अब वह पुरुष जाय पर जाय खड़ा चिल्ला-मल्ल हो बैठ गया। भोजन नहीं बना। साथी आये। उसने सब हाल कह सुनाया। उनमें से एक दुष्ट पुरुष बोला—चिन्ता न करो, मैं सब तैयार कर दूँगा। उसने परशु उठाया, एक घात बनाया, उसने अग्नि को मारा, अग्नि उतरान की ओर भोजन तैयार कर दिया। अनिष्टाय यह है कि जिस अग्नि में विद्यमान अग्नि दृष्टिगोचर नहीं होती उसी प्रकार शरीर में विद्यमान आत्मा भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

[३]

प्रदेशी—भगवन् आपकृपा है, दया है, यदि कस्तूरामकृपा जीव को प्रत्यक्ष दिखा सकें तो मैं जानूँ कि जीव पृथक् वस्तु है।

(उनने मे ओर में हवा चली, घाम तृण हिलने लगे)

बेसी—जानने हो, इन घात तृण आदि को कौन हिला गया है।

प्रदेशी—भगवन्, य हवा से हिल रहे हैं।

बेसी—क्या तुम इस हवा के रूप को देख सकते हो?

प्रदेशी—नहीं।

बेसी—जब तुम हवा के रूप को भी नहीं देख सकते तो मैं जीव कैसे दिखा सकता हूँ। इस सवाल से आत्मा के विविध पक्षों पर अन्तः प्रसंग पड़ता है।





इसीलिए आत्मवादीदर्शन समझने का उपदेश देते हैं—

‘अपने को जानो ।’

“जुस्तजूकुन, जुस्तजूकुन, जुस्तजू, दर दर गुदवी कि बेरू नेस्त ओ ।” अत्यधिक नोज करो ओर उमे अपने भीतर देखो, वह बाहर नहीं है ।

(३)

यह आत्मा अपने कालुष्यों का नाश कर शुद्ध निज-स्वभाव परमात्मरूप प्राप्त कर सकता है । आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलक के पंचमाश्वाम में कहा है—

“मलकलुषतायात रत्न विशुद्धयति यत्नतो—

मयति कनक तत्पापाणे यथा स कृतक्रिय ॥

कुशलमतिभि कौचिद्धन्यैस्तयाप्तनयाधितं

अयमपि गलत्प्लेशाभोग क्रियते पुमान् ॥”

जैसे यत्न के द्वारा रत्न त्रिशुद्ध रूप धारण कर नेता है, कनक पापाण शुद्ध काचन का रूप प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार कुशल पुरुष भी नयों के द्वारा आत्मा को पूर्ण मुग्धी एवं परम शुद्ध बना लिया करते हैं ।

कर्तृत्व न होने से अनेक ईश्वरों में विवाद का प्रद्वन ही नहीं है ।

शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है । भक्त में भगवान्, सेवक में स्वामी, उपासक में उपास्य, ज्ञाता में परमात्मा, अपवित्र से पवित्र, पतित से पावन एवं भूमिस्थ में गिहामनामीन होना ही आत्मा का वास्तविक लक्ष्य है । एतदर्थ मोह, अज्ञान, माया, अथवा मिथ्यात्व का नाश आवश्यक है । कर्मों—सन्निह, प्रारब्ध एवं क्रियमाण, व्रथ, उदय, मत्ता, उत्त-पण, अपकर्षण सक्रमण, आदि रूपों का नाश कर स्वपरिणति प्राप्त करती है । मिथ्यात्व, अविज्ञति, कपाय, लोभ, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, राग अथवा अविद्या, तृष्णा के क्षय बिना यह स्थिति सम्भव नहीं है ।

बौद्धधर्म की यह बात समझ में नहीं आती कि दुःख है पर कोई दुःखित नहीं है । क्रिया है पर कारक नहीं हैं । निवृत्ति है पर निवृत्त पुरुष नहीं है । मार्ग है पर गमक नहीं है ।

“दुःखमेव हि, न काचिदुचिपतो ।

कारको न, किरिया वि विज्जति ॥

अस्ति निवृत्ति, न निवृत्ता पुमान् ।,

गमगमस्ति, गमको न विज्जति ॥”

आत्मा, महात्मा, परमात्मा रूप विक्रम की तीन स्थितियों के लिए वेदान्त एवं जैनदर्शन में प्रोक्त तीन तीन भावनाएँ विशेष महत्त्व की हैं ।

वेदान्तीय भावनाएँ निम्न प्रकार हैं—

(१) तत्सर्ववाहम्

(२) तत्तत्वाहम्

(३) त्वमेवाहम्

प्रथम भावना का अर्थ है—मैं उसी का हूँ । “वह-जो कोई मूलतत्त्व अभी मेरे सामने नहीं है । भक्त यह सोचता है कि मेरा यह दृश्यमान व्यक्तित्व कुछ है । बाह्य पदार्थ, सम्बन्ध, अधिकार, प्रयोजन, मेरे नहीं हैं । मैं उसी का हूँ जो अनन्त, अव्यय, सर्व-व्यापक, चेतन, अनादि एवं अरूप है ।” इस दशा में भक्त ब्रह्म को अपने से बहुत दूर समझ कर उसकी चर्चा अन्य पुरुषों से करता है । यह विकास की प्रथम धोणी है । यहाँ भक्त ब्रह्म से अपने को जोड़ने का प्रयत्न प्रारम्भ करता है । अपनी जीवनचर्चा में उसी की अनुकूलता लाता उसी की प्रसन्नता का ध्यान रखता है । श्रुति

होने पर प्रायश्चित्त करता एवं भविष्य की भावधानी रखता है। अपनी कामनाएँ कम कर उसी के ध्यान कीर्तन, जप स्मरण, कथन एवं चर्चा में निग्न रहता है। अपनी इन्द्रिया, शरीर भाव एवं कार्यों को उसी की अनुरक्ति का साधन बनाना है। ऐसा पुण्य जन्मायी नहीं हो सकता। वह सामारिक पुण्यों में ऊँचे धरातल पर होता है—निष्पिण लोक—मेवक मुख दुःख में हर्ष-विषाद-हीन। उसी की कृपा का चिन्तामी। इनके पञ्चात् दूसरी भावना आती है।

तबेवाहम्—मैं तेरा ही हूँ। यहाँ परोक्ष स्मरण प्रत्यक्ष दर्शन का स्थान ले लेता है। आवर्णन हटता है। प्रसन्नता बढ़ती है।

भावक की दृष्टि में जागो घड़ी चौमठ पहर ब्रह्म ही नग्युद्ध है। उसमें नई स्फूर्ति, निर्भयता, पावित्र्य एवं चेतन की धारा बहने लगती है। पहली भावना में उसकी दशा उस दलाल के समान थी जो विदेश में अपने स्वामी के व्यक्तित्व से अपना व्यक्तित्व नूतन करना था। यहाँ वह स्वामी के सामने ही खड़ा है। फिर तीसरी भावना आती है—

त्वमेवाहम्—मैं तू ही हूँ। यह वह माधक है जिसकी प्रिय से अग्रन्त घनिष्ठता है। प्रेमी एवं प्रेमपात्र भीतर में एक हो गये हैं। वह स्वामी के परम विश्वास में सर्वत्र स्वाधीन विचरता है। बैर से रहित। अनन्य। इस दशा में बाधा, दण्ड, नाछन, अपमान एवं प्रताड़नाएँ उसे क्षुब्ध नहीं बना पाती। पञ्चमूत स्वाधीन हो जाते हैं। वह प्रिय से अभिल्ल जो है।

जैनधर्म में यह तीन भावनाएँ निम्न प्रकार हैं।

दामोहम्—स्थूल अर्थ है मैं दास हूँ। सामारिक मात्रा-अपघातों से बचिन पुण्य जब अनेक प्रकार में अपने को दुःखी पाना है, चेष्टाएँ करते रहने पर भी धन, स्त्री, पुत्रादि में उसे तृप्ति नहीं होती, भौतिक आकर्षण उसे पतन-कारक प्रतीत होने हैं—तब उनके अन्तर में एक विचित्र द्रष्टव्य वेदना का अनुभव होता है। विह्वल हो—पदार्थों में अन्विष्ट या वह भीतर पैठने का प्रयत्न करता है। वह अपनी अवस्था का निदान करना चाहता है। अपने को असमर्थ अउद्भय एवं अस्वाधीन अनुभव करता है। तब कहता है—दामोहम्। प्रभो! मैं तेरा दास हूँ। तत्पश्चात् वह एक चरण आगे बढ़ता है और दामोह में वह अपने को जो आत्मा का सेवक समझने लगता है। कहता है—जब मैं तेरा दास नहीं हूँ और इस भावना से वह गभीर, सीम्ब, शाल, अनामक अन्तर्दृष्टि, धर्म, दम, शील, नयम, स्वाध्याय एवं अनुभव-मग्न बन जाता है। सम्पद्-विषद्, योग-वियोग, एवं रति विरति-विरक्त। उनका पद पतला पड़ जाता है। अब द्वितीय चिन्ता आती है—

सोऽहम्—“दा” मनाएँ हो चुका है। वहीं मैं हूँ जिसे पूज रहा था। जो बनना चाहता था। वह अब कुछ मेरी आत्मा का ही तो निज-स्वरूप है। मेरे अधिवार उसी के शरावर हैं। मेरी वस्तु मेरे पान है। तब मैं किम की आशा करूँ? बड़ प्रकाशों का प्रकाश मैं हूँ।

कोई शारीरिक कर्म-बुग या भला, कोई मानसिक कर्म-पुण्य या पाप मुझे छ नहीं सकते। यद्यपि अपयग, निन्द्य या प्रशंसा, मुझे मलिन नहीं बना सकते। अपार अनल हूँ मैं। निर्वोष, निर्भय, स्वाधीन। मैं वही हूँ—जो हूँ।

यदि दामोह की भावना बाल्य पुरुष पार पढ़ने को तत्पश्चात् है तो सोऽह ध्याना वह है जो किनारे लग रहा है। एक ही छलांग में पा पढ़ने को है—जीवनमुक्त। आत्म-नाम्नाय का उत्तराधिकारी युवगज।

अहम्। जब ‘म’ भी अलग हो चुका है। पहली भावना मधुर एवं विमुद्ध है तो दूसरी मधुरतर एवं विमुद्धतर और अहम् यह भावना मधुरतम तथा विमुद्ध तम। निजानन्द-रम लीन। अवर्णनीय।

ईश्वर का अकर्तृत्व—ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है। जगत् स्वयसिद्ध अनादि अनन्त है। यगमिलक के द्वितीयाध्याय में आचार्य सोमदेव कहते हैं—उस मन्दार में ज्ञान अथवा इच्छाशक्ति द्वारा इस लोक का निर्माण करने वाला कोई नहीं है। अन्यथा चटार्ट आदि के निर्माण कारणों ने नदा रहने और ईश्वर की नित्य इच्छाशक्ति के वर्तमान रहने में ये वस्तुएँ नदा उगल होनी हुई दिखाई देनी चाहिए। यदि ईश्वर परमाणुमनुह को सयुक्त करके पृथ्वी आदि





बनाता है तो गृह-निर्माण के लिए राज, मिन्त्री, बडई आदि की क्या आवश्यकता है । (यज० १।३६)

“कर्ता न तावदिह कोऽपि धियेच्छया वा ।
दृष्टोऽ न्यथा कट कृतावापिस प्रसग ॥
कार्यं किमत्र सदानादिषु तत्सकाद्यै—
राहत्य चेत् त्रिभुवन पुरुष करोति ॥”

यदि ईश्वर उपादान कारण है तो रचना तत्सदृश ही होगी थी ।

बुद्ध, निर्विकार, निराकार एवं निर्दोष । यदि प्रेरक निमित्तकारण है तो वह ससार में होने वाले अपराधों का उत्तरदायी होने से बच नहीं सकता । उदासीन निमित्त है तो पापों को टुकुर-टुकुर देखा रहेगा ।

न्यायदर्शन में कर्तृत्वसाधक एक प्रसिद्ध अनुमान है । “उर्वीपर्वततरतन्वादिक बुद्धिमद्वेतुक, कार्यत्वात्, घटवत् ॥”

पृथ्वी आदि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान् के बनाये हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं । जो जो कार्य होते हैं वे बुद्धिमान् के बनाये होते हैं जैसे घर । पर इम हेतु से कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता ।

कार्यत्व के चार अर्थ हो सकते हैं —

(१) सावयवत्व, (२) असन् पदार्थों के साथ अपने कारणों का समवाय । (३) “किया गया” (कृत-बुद्धि) ऐसे ज्ञान का विषय होना (३) विकारीपन । प्रथम पक्ष सावयवत्व अर्थात् प्रदेश वाला याने से कार्यत्व हेतु में आकाश के साथ अनैकान्तिक दोष आता है । क्यों कि वह प्रदेश वाला होने पर भी कार्य नहीं है । यदि दूसरा पक्ष अपने कारणों में कार्य का समवाय सम्बन्ध माना जाय तो उम सम्बन्ध के नित्य होने से शरीर आदि अनित्य कार्यों में उसकी समावना है । यदि पृथ्वी आदि को नित्य मानकर उनमें समवाय सम्बन्ध स्वीकार भी किया जाय तो पृथ्वी आदि कार्य नहीं हो सकते । इसलिए यह हेतु अमभव ठहरता है । तीसरे पक्ष में (कृत-बुद्धित्वका विषय) कूप आदि खोदने पर आकाश निरुल आया इस प्रकार की बुद्धि होती है अत अनैकान्तिक दोष है । चौथे पक्ष विकारीपन में ईश्वर में अनित्यता आ जायगी । क्यों कि जब वह कार्य करेगा तो उसमें परिणमन अथवा विकार अवश्य आयेगा । अत यह कार्यत्व हेतु अकिञ्चित्कर है ।

अन्वय एवं व्यतिरेक न मिलने में ईश्वर एवं सृष्टि में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है । क्योंकि ईश्वर का सृष्टि के साथ व्यतिरेक नहीं बनता । इसके लिए किसी क्षेत्र अथवा काल में उसका अभाव मिट्ट करना होगा । (प्रमेय-कमलमार्तण्ड—प्रभाचन्द्र, आप्तपरीक्षा”, विद्यानन्द)

वस्तुतः जगत सनातन है । अनादि अनन्त । छह द्रव्यों से परिपूर्ण । निष्क्रियता अथवा कृतस्थता में रहित है । फिर भी पुद्गल का अनन्त परमाणु समूह और उसकी परिणमन-शक्ति एकसी बनी रहती है । पीद्गलिक कर्मों से पराधीन जीव ही स्वप्रयोजनवश पदार्थों का संचालक बनता है । द्रव्यों का स्वभाव भी स्वयं परिणमन का है । द्रव्य और उसके गुण अपरिवर्तनीय हैं । जगत क्यों, कहा, कैसे और कब बनाये प्रश्न तर्कसंगत उत्तर नहीं पाते । इम सम्बन्ध में ‘दो रिडिल आफ् दो यूनीवर्स’ में बड़ा सुन्दर वर्णन है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी अण्ययोगव्यवच्छेदशाश्रितिका में ठीक ही लिखा है—

“कर्तास्ति कश्चिज्जगत स चैक स सर्वग स स्ववश स नित्य ।
इमा कुहेवाकविटम्बना स्युस्तेषा न येषामनुशासकस्त्वम् ॥”

श्रमण-परम्परा और गणतंत्र

डा० बद्रीप्रसाद पंचोली

एम० ए०, पी-एच० डी०,

मदनगज, किशनगढ़



गान्धर्व के कुछ मिथ्याओं का आधार बनाकर चलने वाले राजर्षि-समूह का नाम नहीं है। यह जीवन ही एक उत्कृष्ट पद्धति है जो उसके प्रत्येक सदस्य में अनिवार्य रूप से विरसित होती है। ऐसा न होने पर गान्धर्व भीड़ बन जाता है। गान्धर्व व्यक्ति-तन्त्र का जगत् विनाश है और उसका सम्पूर्ण लोभ कल्याण के लिए आत्मविमर्श करने वाले लोगों के गा या समूह में होना है। गान्धर्व का आधार गण नहीं तन्त्र है। गण का तन्त्र ही गान्धर्व है और पक्षात्कृत्य के रूप में प्रस्तुत हो यह तन्त्र में समाज के नियमों के अनुसार भी दूसरा पद ही प्रधान है और प्रथम पद उसका विरोध। यह विरोध व्यक्ति-तन्त्र में इस नवीन प्रकार के तन्त्र को पृथक् करना है। तन्त्र क्या है? यह तान समस्त ऐसे पर गान्धर्व का जमिन् और उसका व्यक्ति-तन्त्र में जन्म समझ में आ जायेगा।

तन्त्र शब्द सम्पूर्ण ही तनु और तन्त्र तानुओं में विरसित हुआ है। तनु धातु तनादिगण में विस्तार अर्थवाची और चुकादिगण में श्रद्धा एवं उपकार अर्थवाची है। इसी तरह तन्त्र धातु पाठन या रक्षा करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। तन्त्र शब्द ही व्युत्पत्ति तनु धातु में बहुलार्थक 'त' प्रत्यय जुड़ने में भी होती मभव है। इस रूप में यह शब्द राष्ट्र (ग या गज् धातु के प्र जुड़ कर बनने वाला शब्द) और चरित्र (चर् धातु में प्र प्रत्यय-पूर्वक बनने वाला शब्द) का महोदर माना जा सकता है। अर्थ-निगमन ही उन सारी व्युत्पत्ति-परक सम्भावनाओं के आधार पर तन्त्र शब्द के अर्थ इस प्रकार तामने आते हैं—अर्थव्यक्ति विस्तार करना, तनन-पूर्वक अपनी रक्षा करना, श्रद्धा-सम्पन्न होना, उपकार में लगना, श्रद्धा उपकार आदि के रूप में या उनके माध्यम में आत्म-तनन करना आदि। यही तन्त्र शब्द के साथ कर्म-विज्ञान और क्षमिन्विज्ञान के व्यञ्जक तन्त्र (या तन्त्र-तन्त्र-यज्ञ-अर्थवाची) शब्द ही स्मृति का विषय बना लेना उचित होगा। तन्त्र शब्द देवताना-मानिष्य-दान-अर्थवाची यज्ञ शब्द का समानार्थक भी रह चुका है और तान्त्रिकों ने इसे इसी रूप में अपनी मान्यता की सूचना देने वाला स्वीकार किया है।

तन्त्र में तनन विमर्श किया जाय और तनन की सीमाएँ क्या हों? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए सत्यतन्त्र शब्द पर ध्यान केन्द्रित करना होगा जो यज्ञ का पर्यायवाची शब्द है। हमारा जीवन तीन स्तरों पर किया-गत रहता है। भौतिक-स्तर पर पञ्चतत्त्वों में निहित शरीर है जो मृत्यु के उपरान्त भी बना रहता है, परन्तु उसमें किसी प्रकार की मज्ञा विद्यमान नहीं रहती। उसको प्रेरित करने वाले शक्ति को देवता कहा जाता है। देवराज इन्द्र को श्रुत द्वारा देवों को प्रेरित करके अलङ्कृत करने वाला कहा गया है—यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् श्रुता पर्यभूतः।¹ कर्म-सामर्थ्य को श्रुत कहा जाता है। देवगण इन्द्र की शक्ति में ही पञ्चतत्त्व-निमित्त शरीर का नवाचन करने हैं। इस प्रकार इन्द्र शरीर की केन्द्रभूता देवशक्ति की मज्ञा है। वह पांच रूपों में पञ्चतत्त्वों को चेतना का विषय बनाता है और इस रूप में उसके ये सत्य इन्द्रिय नाम में जाने जाते हैं। इनकी वैदिक परम्परा में देव मज्ञा है। देवता और भी हैं, परन्तु व्यावहारिक जीवन में पञ्चदेव लोक और वेद की दृष्टि में प्रतिष्ठा-श्रम कर चुके हैं। यह जीवन का अधिदेव-स्तर है। इसमें भी मूढम जीवन का आध्यात्मिक-स्तर है जिसे समीप-जीवन असीमता की सीमाओं को छू लेता है। जीवन सम गति का नाम है जिसे प्राणी प्रकृति की सीमाओं को तोड़ कर अपने असीम स्वप्न की प्राप्ति के लिए करता है। इस



गति द्वारा व्यक्त की चेतना का क्रमशः विस्तार होता चलता है। इसी विस्तार को तन्त्र शब्द द्वारा संकेतित मानना चाहिए। भूत-निमित्त शरीर गति करने में असमर्थ है। गति करने वाले पाँच इन्द्रिय-मज्जर प्राण होते हैं। दृश्यजगत् में इनकी दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, स्पर्शन, घ्राणन आदि की सीमाएँ हैं जिन्हें छन्द कहा जाता है। आत्मा का माम छन्दों का बन्धन तोड़कर लयानुगत होना है। तनन की चरमसीमा आत्मा के साम तक है जहाँ सभी प्रकार के बधन समाप्त हो जाते हैं।

जैसे शरीर में भूतसृष्टि को देवगण प्रेरित करते रहते हैं उसी तरह ब्रह्माण्ड में भी देवगण भूतों को अधिष्ठान बना कर कार्यरत रहते हैं। वस्तुतः शरीर ब्रह्माण्ड का सक्षिप्त संस्करणमात्र है। 'यत्किञ्चे तद् ब्रह्माण्डं' सूत्र में इस बात को मज़ी प्रकार समझा जा सकता है। शरीरगत प्राणों को ब्रह्माण्डोद्य-प्राणों से क्षिति मिलती है। इसीसे उनका विस्तार संभव है। ब्रह्माण्ड के दिव्य-प्राणों में आत्म-तनन के लिए शरीर में क्षयित सचित करने की प्रक्रिया का नाम ही श्रम है। आश्रम और श्रमण परम्पराओं में श्रम का यही रूप स्वीकार किया गया है। तत्र-साधना अनिवार्य रूप से श्रम ही आधार मानकर चलती है। इस प्रकार आश्रम और श्रमण दोनों प्रकार की जीवन-परम्पराओं का तन्त्र से माध्य-माध्यन सम्बन्ध है। गणतन्त्र का आधार भी वही हो सकता है जो इन श्रम-केन्द्रित व्यवस्थाओं का रहा है। अतः श्रम गणतन्त्र का भी आधार है। उसका स्वरूप समझना गणतन्त्र की आधारभूमि को निर्मित करने की ओर पड़ता कदम माना जाना चाहिए।

अथर्ववेद के भूमिसूक्त में तप को राष्ट्र के धारक सात तत्वों में परिगणित किया गया है। वहाँ तप श्रम का अर्थवाची है। अथर्ववेद में ही श्रम को किसी भी लौकिक या पारलौकिक मिट्टि, समृद्धि या क्षिति के समान बहु-मूल्य कहा गया है^१ और श्रम की गणना ऋतु, मृत्यु जैसी आध्यात्मिक विभूतियों और राज्य, धर्म एवं कर्म जैसी पार्थिव क्षितियों के साथ की गई है।^२ ऋग्वेद के अनुसार श्रम के बिना देवता भी सहायता नहीं करते—न ऋते भ्रान्तस्य सरयाय देवा।^३ श्रम से देवत्व, अमरत्व और इन्द्रदेव की प्राप्ति होती है।^४ जीवन की समर्पित गति का नाम ही श्रम है। गति कभी निरुद्देश्य नहीं होती। ऊपर बताया जा चुका है कि जीवन की गति गैतिक सीमाओं को तोड़ कर आत्मा के असीम स्वरूप का साक्षात्कार करने की दिशा में होती है। 'स्व' अपनी छिन्दित अवस्था में तनन करता हुआ परमावस्था को प्राप्त कर ले—यही जीवन ही गति है। 'स्व' से 'परम' की ओर जाने वाला मार्ग 'पर' में होकर गुजरता है और इस मार्ग पर चलने वाला 'परा' क्षिति का साक्षात्कार करता हुआ अपनी यात्रा को फलीभूत पाता है। 'स्व' क्या है? सु + अ से 'स्व' शब्द बनता है। विपर्ययपूर्वक यह 'असु' हो जाता है जो प्राण की एक सज्ञा है। 'असु' की प्रधानता के कारण 'स्व' की छन्दोबद्ध स्थिति का नाम अमुर भी है। परमावस्था की सिद्धि हो जाने पर असुर देवत्व में परिणत हो जाता है। अमुरों को देवों का विरोधी इसीलिए समझा जाता है। शनवर्षीय परमायु में व्याप्त होने से अमुरों को सी अथवा निनानवे पुरो के अधिवामी कहा जाता है। इन्द्र इन पुरो को स्वयं या अन्य देवों के साथ मिल कर तोड़ देता है। आसुर अवस्था में चेतना प्रच्छन्न बनी रहती है और इसीलिए इस अवस्था को असत्-रूपा, तमोमयी या मर्त्यप्राया कहा जाता है जिससे छुटकारा पाने के लिए स्तोत्रा प्रार्थना करता है—

असतो मा सद् गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्मा अमृत गमय ।

प्रथम छिन्दित अवस्था से सम्बद्ध होने के कारण अमुरों को देवों के अग्रज के रूप में स्वीकार किया गया है और प्रजापति की सन्तान माना जाता है।^५ जीवन ही देवासुर संग्राम है। पुराणों में सदैव वर्णन किया जाता रहा है

१ अथर्ववेद ११।६।१७

२ अथर्ववेद ११।६।१७, ८, ९, ६

३ ऋग्वेद ४।३४।४

४ ऋग्वेद ३।६।२, १।११।०।३, ३।६।३, १।११।०।४

५ शतपथ ब्रा० १।२।३

कि पराजित होने पर अत्रिमाण अमुने के शरीर में से एक दिव्य-ज्योति निकल कर विजेता देव में प्रविष्ट हो जाती है। जन्म-अप्रिष्ठित अष्टम् के परमत्व में विमर्जन होने में 'सोऽष्टम्' की अनुभूति होने लगती है और यही स्वाज्य की स्थिति है जिनके लिए प्रयत्नशील होने की बात बेशे में कही गई है—स्वागज्ये यतेमहि।^१ स्वन्त्या या 'स्व' के तत्त्व का उद्देश्य स्वाज्य समिद्धि है। स्व ना प' में होकर परम की ओर चले वाली यात्रा का नाम ही स्वन्त्या है, जो श्रम की अपर मजा है और इसका उद्देश्य स्वाज्य है—स्व का दीप्तिमान् होकर परम में विलय।^२

वैदिक परम्परा के मानने वालों के लिए श्रम का अनुविष्टित नमोरोजन आश्रम व्यवस्था में हुआ है। जब तक जीवन में श्रम की ऐसी योजना चरनी रही तब तक आश्रमव्यवस्था के स्थान पर कोई अन्य व्यवस्था प्रवर्तित नहीं हुई परन्तु उसी समय व्यवस्था में श्रम की प्रतिष्ठा समाप्त हुई क्योंकि श्रम की ओर मानव की सहज प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए नई व्यवस्था का समान में प्रवर्तन हुआ जिन श्रमण-व्यवस्था कहा जाता है। यद्यपि श्रमण-परम्परा को निवृत्ति-परक माना जाता है और आश्रम-व्यवस्था को पूर्णतया प्रवृत्तिमार्गी मान कर उसमें श्रमण-परम्परा को द्वितीय मान दिया जाता है, परन्तु न तो आश्रम-व्यवस्था पूर्ण तरह प्रवृत्तिमार्गी है और न श्रमण-परम्परा पूरी तरह में निवृत्तिमार्गी है। प्रवृत्ति की निवृत्ति की पृथक्-पृथक् रूप में अवस्थिति होनी नहीं सकती। श्रमणवाद में यह कहा गया कि मच्छा श्रमण बड़ी है जो अपने श्रम का पर्यवसान 'धर्म' में कर दे।^३ श्रम का श्रम-पर्यवसायीकरण ही आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य था। डा० मगधदेव शास्त्री 'श्रमण और वैदिक परम्पराओं को एक दूसरे का पूरक कहते हैं।^४ श्रम बनायी हुई समानता का देखते हुए तो उन्हें पूरक कहने के स्थान पर परस्पर अभिन्न ही रहना अधिक उपयुक्त होगा। दोनों व्यवस्थाओं में अन्त-सादृश्यतेमहोत्तर-जगदृष्टि में है। बड़यह है कि वैदिक परम्परा में ब्रह्मचर्य के उपरान्त गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना अनिवार्य माना गया था। प्रजान्तु मा व्यवच्छेत्सी—यह ऋषियों का आदेश था। श्रमण-परम्परा में इन सबका विहित माना गया कि कोई चाहे तो सामाजिक हितचामना की दृष्टि में और ब्राह्मण-श्रम की तापना के लिए आजीवन पचमहाव्रतों की साधना कर सकता है और इसके लिए बड़े गृहस्थ आश्रम में मुक्ति देने का अग्रणी है। यह कार्य साधना का उठार माग था और हर किसी के वश की बात नहीं थी। इसलिए साधारण लोगों के लिए अगुत्रनों की व्यवस्था रखी गई। इस बात की ओर भी ध्यान दिया गया कि महाव्रती मुनियों से अगुत्रनी साधारण साधकों का समय-समय पर मिशन होता रहे। इनके लिए मुनियों को गोचरी-वृत्ति अपनाने की जिम्मेदारी लेनी पड़ी। गोचरीवृत्ति ही जैन और बौद्ध धर्मानुयायियों के ब्राह्मण-गणराज्य के रूप में सगठित होने का आधार माना जाता है। इन वृत्ति को स्त्री भी गणतंत्र की भावात्मक आशा-भूमि निमित्त करने के लिए अपनाया जाना मभव है।

गोचरीवृत्ति के विषय में सबसे प्रामाणिक जानकारी जैन-परम्परा में मिलती है जिनमें आज भी मुनियों की गोचरी के लिए गन्धर्वना करने की प्रथा प्रचलित है। बौद्धधर्म में आर्यों के गोचर में लीन साधकों को आदर्शपूर्वक सम्मान किया जाता है—जार्वाणा गोचरे ग्ता।^५ इसी तरह वैदिक-परम्परा में भी वेदानुयायी को गोचर्या अपनाने के लिए कहा गया है—गोचर्या नैगमच्छरेत्।^६ गोचरी वैदिक-परम्परा में प्रचलित गोमेध में अभिन्न ज्ञात होती है। चान्मोर्मा ने अश्वमेध के लिए अश्वचर्या शब्द का प्रयोग किया है।^७ इसी तरह गोमेध का पर्याय गोचरी या गोचर्या को

१ ऋग्वेद ५।६६।६

२ डा० वसुधेन्द्र प्रसाद पञ्चोली-राष्ट्र-रक्षा विचार और व्यवहार, विश्वज्योति, मार्च १९६६

३ डा० फर्हानिह—वैदिक-समाजशास्त्र में यज्ञ की कल्पना, पृ० २६

४ डा० मगधदेव शास्त्री-भारतीय संस्कृति का विकास-वैदिक धारा, पृ० १६६

५ धम्मपद २।२

६ श्रीमद्भागवतपुराण १।१।२२६

७ रामायण, बालकाण्ड ३६।६





ममज्ञाना चाहिए। यज्ञ और मेघ धातुओं का एक अर्थ मेल करना है। अतः इनमें उत्पन्न यज्ञ और मेघ शब्द समानार्थक हैं और सामूहिक-आचरण की व्यवस्था करते हैं। अश्वमेघ, गोमेघ और पुरुषमेघ शब्दों में प्रयुक्त अश्व, गो और पुरुष शब्द ममाज-मगठन की विशिष्ट परम्पराओं के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक सज्ञाएँ हैं। पुरुषयज्ञ की समाजशास्त्रीय व्याख्या डा० फनहसिंह न अपने 'वैदिक समाजशास्त्र मूलाधार' तथा 'वैदिक-समाजशास्त्र में यज्ञ की कल्पना' नामक ग्रन्थों में की है। गोमेघ पर इन पक्षियों के ढ़ेव करने अपने अनेक लेखों में विचार प्रकट किये हैं। इन सभी यज्ञों का सम्बन्ध आचरण में है। परवर्ती काल में यज्ञ के स्थान पर आचरण के अर्थ में धर्म सज्ञा का प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेद में गो मूल प्रकृति का नाम है।^१ यद्यपि सृजक गो एक ही है और वह उस यक्ष से अभिन्न है जिसे ब्रह्म कहा जाता है।^२ परन्तु सृजन की विविध प्रवृत्तियों के रूप में वह अनेक नामों से जानी जाती है। एक होते हुए भी वह अपने एक रूप में देवमाता है, दूसरे से देवस्वसा और तीसरे से देवदुहिता।^३ कामधेनु पृथ्वी, वृहती, वशा, ब्रह्मगवी, विराज, वामवी, सोम्या ऐन्धी, पारमेष्ठिनी, बार्हस्पत्या, स्वयम्भुवी आदि नामों से गो के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। अदिति, ब्रह्मगवी, वशा आदि नामों में वेदों में उल्लिखित महाधेनु ही तान्त्रिकों की महानिपुरसुन्दरी, शक्तियों की महाविद्या, महालक्ष्मी अथवा महाकाली तथा वैष्णवों की उद्भव-स्थिति-सहार-कारिणी श्रीदेवी (जिसके सीता, गङ्गा आदि विविध रूप हैं) जैन परम्परा में चक्रेश्वरी देवी और बौद्ध-परम्परा में तारा अथवा मञ्जुश्री, जिसको बहुधा पुरुषरूप में भी चित्रित किया जाना है, भी उन्हीं आदिशक्ति या महाधेनु के रूप ज्ञात होते हैं। इस आदिशक्ति का वात्सल्य ही इस जगत् के रूप में व्यक्त हो रहा है। इस सृजक धेनु को अन्य सृजक-शक्तियों की जननी अद्वितीय उपा कहा गया है^४ जिसका वत्स सूर्य है।^५ ऋत के सदन में वह एक धेनु मृष्टि के बीज रूप अग्नि की परिचर्या करती रहती है।^६ अपने अन्य धेनु रूपों के साथ वह एक धेनु ही सबका पालन करती है।^७ वह सृजक देव की सामर्थ्य ही नहीं, बरन् उसमें अभिन्न भी है।^८ वाक्पृथिवी सृजकशक्ति के वात्सरय का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है—

वाच धेनुमुपासीत तस्यादत्त्वार स्तना स्वाहाकारो वपट्कारो हन्तकार स्वधाकारस्तया दीस्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकार वपट्कार च हन्तकार मनुष्या स्वधाकार पितरन्मस्या प्राण ऋषभो मन वत्स।^९

इस कथन में स्पष्ट है कि देव, पिता तथा मनुष्यों को जन्म देकर इस महाधेनु ने अपने वात्सल्य का विषय बनाया। असुर या प्राणी का अमत् रूप इन तीनों में पहले का है। यज्ञ रूप जगत् के द्वारा देवों ने असुरों पर विजय प्राप्त की।^{१०} अमत् प्राणी का सत् रूप ही जगत् है। सृजन का प्रारम्भ महाधेनु के वात्सल्य-प्रदर्शन से होता है। सोम्या गो के नाम में सुजात यह शक्ति ही परम-वत्सला होने पर सबका पोषण करने वाली कामधेनु कही जाती है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह विश्वधायिनी धेनु है जिसका काम ही दूध देना है और विश्व ही उससे तृप्त होने वाला वत्स है।^{११}

१ ऋग्वेद में गोतस्य राज० वि० विद्यालय का शोध प्रबन्ध, १९६४ पञ्चोली

२ एको गीरेक एक ऋषिरेक धर्मैकवाशिय । यक्ष पृथिव्यामेकवृद्धेर्जुनातिरिच्यते । अथर्ववेद ६।२६

३ माता रुद्राणा दुहिता वसूना स्वसादित्यानाममृतस्य नामि । ऋग्वेद १०।१।१५

४ गवा जनिनी—ऋ० १।१२४।५, माता गवाम्-ऋ० ४।५२।२, ३

५ ऋ० ३।५८।६ तथा १।११३।२

६ ऋग्वेद ३।७।२

७ ऋ० ३।३८।७

८ इमा या गाव स जनास इन्द्र — ऋ० ६।२८।५

९ बृहदारण्यकोपनिषद् ५।८।१

१० ताण्ड्य महाब्राह्मण १६।२।२, ३

११ वैदिक विज्ञान और भारतीय सस्कृति, भूमिका, पृ० १६

वेद भारतीय जीवन में व्याप्त विचारों और विश्वासों का आधार है। डा० वासुदेवगणेश अग्रवाल के अनुसार उर्मी मधुमय उत्पत्ति में भारतीय अध्यात्मशास्त्र के निर्धार प्रवाहित हुए हैं।^१ वेद में प्रणीतमक गौरी का आश्रय लेकर मृष्टि के रहस्यों पर प्रकाश डाला गया है। वहाँ अनन्त और अनादि प्रकृति का गो व वहाण्ड को वत्स मान कर मृष्टि-प्रक्रिया का जो वर्णन किया है उसको आधार मानकर पञ्चवीं काल में समाज में गो प्रणीक की प्रतिष्ठा समाज में दो तरह से हुई। प्रथम आत्मन्य प्राप्ति के हेतु गोनस्व की उपासना प्रारम्भ हुई। द्वितीयत गो व वत्स का सम्बन्ध सामाजिक जीवन की एक विशिष्ट परम्परा का द्योतक बन गया और उनके अनुकरण पर विशिष्ट समाजतंत्र का विकास हुआ।^२ यही समाजतंत्र गणतंत्र-परम्परा का मूल है।

बौद्धग्रन्थ चुल्लनिहम् में अश्वत्थिको और गोत्रतिको का उल्लेख मिलता है। इनका विरोधतया गोत्रतिको का जैन और बौद्ध जीवन-नान्ताओं पर प्रभाव पड़ा। महाभारत में पशुप्राय गोधर्म का उल्लेख भी मिलता है।^३ इसका तात्पर्य भुवनभोग ज्ञान होता है। इसका गोत्रन या गोचरी से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। गोधर्म का सम्बन्ध गोपशु को प्रणीक मानकर उसकी तरह जाचग्न करने में ज्ञात होता है जबकि गोचरीवृत्ति का विकास शब्द-प्रतीक गो में वैदिक-परम्परा के अनुसार हुआ है। गोचरीवृत्ति का आधार वात्मन्य है जो वैदिक वाक्-रूप गो का प्रमुख धर्म है और जिसका एक अर्थ पशु-गो में भी मिलता है। भक्ति सम्प्रदाय में भक्तों के शान्त, दाम्य, सहज, वात्मन्य और मधुर—ये ५ प्रकार के स्वभाव माने गये हैं। वात्मन्य की श्रेष्ठता इनने सिद्ध है कि उसे अष्टनमः-मधुमय-जीवन की पृष्ठभूमि माना गया है। मधुमय-जीवन के त्रिं यन्तमीन माधक मधुकरीवृत्ति अपनाकर नृमेघ नमन्य करता है जिसके द्वारा उसमें नेतृबुद्धि का विकास होता है। इनके पूर्व प्रजावल की समिद्धि के लिए माधक को गोचरीवृत्ति अपनाना आवश्यक है।

महानात्त में कहा गया है कि नित्य नहा तहा मो जाना, जो कुछ मिले खा लेना, और जा कुछ मिले पहन लेना—यह गोत्रन है। गोत्रनी विप्र स्वाध्याय और वेदाम्याम करते हुए कृणकाय होकर प्राण त्यागकर स्वर्ग को जीत कर उन्नत लोकों में निवास करते हैं।^४ अश्वत्थियों का सम्बन्ध विजेता क्षत्रियों में रहा है जबकि पुरुषमेघ का सम्बन्ध सामाजिक-मगडन के मृदधा-सन्ध्यामियों में। गोमेध या गोचर्यों का सम्बन्ध समाज के प्रजावल के घनी पशुप्राजकों और कर्मवल के घनी गृहस्थों—दोनों में रहा है। मनु ने गृहस्थ जीवन छोड़कर भी गृहस्थों से सम्बन्ध बनाये रखने वाले सन्ध्यामियों को 'वेदमन्थ्यामी' की पृथक् मजा में अभिहित किया है।^५ ये गृहस्थों में रहते हुए उनके कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहते थे। गोचर्यों अपनाने वाले माधक की एक साथ दो उत्तन्दायित्व निभाने पड़ते हैं। वह सूर्य रूप गो के घटी-गन प्रतिनिधि विज्ञानमयकोश की ध्वनि के प्रति अपने मन को वत्स बनाकर साधना भी करता है और दूसरी ओर व्यवहारिक जीवन-रन, किन्तु श्रेष्ठमार्ग के लिए प्रयत्नशील मद्गृहस्थों के लिए गोवत् आचरण करता हुआ वात्मन्य प्रदान करता है।^६

श्रम करना हुआ माधक श्रम के सूक्ष्म रूप शम या शमी में स्थित होता है। भक्ति-परम्परा में यही स्थिति ध्यान्निरति ज्ञान होती है जिससे आन्ताभक्ति का विकास होता है। इनी शम या शमी में गो का प्रादुर्भाव होता है—जस्या गोजागार।^७ डा० फर्नहिह के अनुसार स्थूल शरीर की ध्वनि श्रम है। उसका सूक्ष्म रूप प्राणमय कोश में

१ उल्लेखोति, भूमिका, पृ० क

२ वात्सल्यधर्म—वज्रीप्रसाद पचोली, कल्याण-धर्मिक, पृ० ३८५-६४

३ महाभारत, आदिपर्व १०५।२६, नीलकण्ठ का अर्थ—'प्रकाश मैथुन'

४ यत्र तत्र शयो नित्य येन केनचित्साक्षित । येन केनचित्साक्ष्यन् स गोत्रत इहोच्यते ।

अत्र गोत्रतिनी विप्रा स्वाध्यायाभ्यायकशिता । त्यक्तप्राणा जितस्वर्ग निवसन्ति महर्षयः ।

—महाभारत, उद्योगपर्व ६६।१४, १३

५ मनुस्मृति ६।८५

६ गोचरीवृत्ति-पचोली, वेदवाणी, १६।१

७ ऋ० १०।३१।१०



[illegible]

१. यदिकि सम्मानशास्त्र में यज्ञ की कल्पना, पृ० २६

२. विद्य आर्यभूति — डा० पचोली, वैदिकधर्म पारखी - अगस्त १९६६

३ उत्तररागधरित ४।१८ यहाँ यह विक्षेपण पतिष्ट के लिए प्रयुक्त हुआ है।

४ ताण्ड्यमहासाहस्य १६।१३।१

५, यही १६।१३।३

६ गोसाय-शा० पचोली, टंकारापत्रिका वर्ष ६ अंक ७

७ शब्दकल्पद्रुम, प्र० खड्ग, पृ० २८७ पर 'ऋषभस्वर को ऋषभ या चातक के समान बताया गया है। चातक जैसी वेदना घटा के स्वर में होती है। अतः घटा जैसा स्वर ही ऋषभस्वर कहा गया होगा।

वत्सवत् आचरण का आधार श्रद्धा है। मत्स्यपरक श्रद्धा ही जीवन को यज्ञ बनाती है।^१ वत्सवत् साधना करके महा-वेनु का वात्सल्य पाने पर मात्रक स्वयं अन्य लोगों पर वात्सल्य प्रकट करने का अधिकारी बन जाता है। साधना की सभी पदानियों में मिद्धपुरुषों को ऐसा ही सम्मान दिया गया है। ये मिद्ध पुरुष सामान्य लोगों को उत्तम मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हुए लोकहित में लगे रहते हैं। गोस्थानीय सिद्धपुरुषों का वत्सस्थानीय सामान्य नागरिकों से मिलन गोमव या गोमेष का स्वरूप प्रस्तुत करता है। गोसव में स० शब्द पु-प्रसवैश्वर्ययो अथवा पु-अभिपवे धातु से व्युत्पन्न है और इस प्रकार गोसव का अर्थ है—गोओं का प्रसव, गोओं के ऐश्वर्य से युक्त होना, गोओं का दोहन करना। यहाँ गो का अर्थ मिद्धपुरुष लेने पर गोसव का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। गोमव में सिद्धपुरुष रूप गो का प्रसव होने पर द्विजम्भा (द्विज)माधक प्रादुर्भूत होता है। वही उनमें ज्ञान का दोहन करता है और उनके साहचर्य में ऐश्वर्य में युक्त होना है।

विष्णु के परमपद में भूरिशृगा गोओं का निवास है।^२ मन्त्र के इस भाव की रूप-मधुद्वि के लिए गोसव के प्रतीक रूप में १०००० गौर एकत्र की जाती हैं और माधनाममाप्ति के बाद उनको दान कर दिया जाता है।^३ ये गौर प्रतिव्यक्ति एक के हिमाव से दी जाती होगी। यज्ञ में इनको १०००० विद्वानों (गोस्थानीय सिद्धपुरुषों) को दुग्धादि प्रदान करने के लिए एकत्र किया जाता होगा और बाद में इनको उन्हें ही देकर यजमान आत्मदक्षिण हो जाना था।^४ आगन्तुकों की मगति का लाभ करता हुआ जब यजमान अपने प्रशासनिक पदों आदि को भुला कर सामाजिक चेतना के साथ तादात्म्य अनुभव करने लगता है तभी उसे आत्मदक्षिण की स्थिति को प्राप्त माना जाता है। इस निर्गमिमानता के फलस्वरूप उसे विद्वत्समाज का वात्सल्य प्राप्त होता है। इस प्रकार विष्णु की उपासना करते हुए समाज के प्राजवर्ग का वात्सल्य पाकर उत्कृष्ट सामाजिक मगठन में वध जाना ही गोमव का उद्देश्य ज्ञात होता है जिसे पशुवर्गी गोचर्या अग्नाने वाने लोगों ने अपना कर गणतन्त्र की आधारभूमि तैयार की है।

मधु शब्द मगति-अर्थवाची मेष और यज्ञ का पर्यायवाची है^५ और जैन और बौद्ध मधो को वैदिक यज्ञ-परक सामाजिक-मगठनों का युगानुसार परिवर्तित रूप मानना चाहिए। ये आध्यात्मिक गणतन्त्र के रूप में विकसित हुए थे और आध्यात्मिक गणतन्त्र के प्रवर्तक के रूप में ही वर्द्धमान महावीर और बुद्ध की चिरम्यायिनी कीर्ति है।^६ बुद्ध का एक नाम ऋषभ भी है।^७ उनकी यह मजा गोचरीवृत्ति अपनाने से ही प्रचलित हुई है। उन्होंने आर्यों के गोचर में रीति होन की बात कही है।^८ जैनसंघ में भी साधना का उद्देश्य गोचर-पद की प्राप्ति ही माना गया था।^९ जैनमध में तप पून जीवन विताने वाले सिद्धो-मुनियों और श्रद्धापरक जीवन में विश्वास करने वाले श्रावकों के सम्मिलन की व्यवस्था भी है। भवत्समरी, पर्युषण आदि पर्वों में ऐसे सम्मिलन की व्यवस्था की गई है। इन्हीं के कारण जैन-समाज मगठित है। जैन-मध में माधना का उद्देश्य है रत्नत्रय की समिद्धि-दर्शन, चारित्र्य और ज्ञान में पूर्णता या सम्यक्त्व प्राप्त करना। वात्सल्य इनमें सम्यक्-चारित्र्य का समानार्थवाची है।^{१०}

१ ऐतरेय ब्राह्मण ३२-१० यज्ञ का आधार श्रद्धा और सत्य का नियुन माना गया है।

२ यज्ञ गाव भूरिशृगा अयास — ऋ० १।१५।६

३ ताण्ड्यमहाब्राह्मण १६।१३।६

४ गोचरीवृत्ति-पचोली-वेदवाणी (धनारस) वर्ष १६ अंक १-२

५ वही।

६ महावीर द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य और उनकी परम्परा—पचोली, मुनिहजारीमलस्मृति-ग्रन्थ

—पृ० ६४६-५३

७ धम्मपद ३६-४०

८ धम्मपद २-२

९ ममाधितन्त्र ६/१-६८

१० जैनधर्म में वात्सल्य—पचोली, स्मारिका (जयपुर) १९६६



- [illegible]

प्रियवचन माना जाता है। जिना मुझे तब से ही बहुत प्रेम का साथ देने परितान उनके दिया देना प्रियवचन
जन्मात्त तने ता तने द न प्रसा । अनुया तो नहीं उगरे पाप तो बोचना चाहिए। अन्ते व्यक्ति अपने
मूर्ति ता गले साध ने ही प्रत्यक्ष दर्शक :-

नायाग दारह ता नु जे चरिदेहि 'हिषा होनि'

यदा भिन्नमनसः स गच्छति तदा नन्द्यन्त्यानि च ज्ञाना ह ।

[illegible]

एव नान्यं कृत्वा तदन्तः, हे शम्भु पापपुण्यदाने दक्षिणा तरेण्य ।

भगवन् नमो भक्ति योगेन इषा विद्यां तु तातुरादृशमानता विधेहि ॥४॥

जिसके अन्तर्गत ही वह। वैदिक के इन शब्दों की समान भाव्य दिया गया है। भगवन्नेया
 दा सन्मन्त्र उताः तान्नेया । इति उताः अस्ति उताः दा प्रयुक्त है। नाथु पुण्यां ही मगनि मे
 रनेम शी उताः तान्नेया । के पुनः भी पवित्रता प्राप्त।—सुवर्ग-मन्त्रादी नि दुर्जनो पूज्यो हाड।
 उताः उताः माता तन्नेया उताः तान्नेया ही उता उताः माता तान्नेया ही अन्य परम्पराओं की तरह
 वैदिक-मन्त्रों की ही भाँति है।—प्राचीन के के अन्तर्गत तान्नेया शब्द के अन्तर्गत के मन्त्र-मन्त्राण्य प्राप्त
 प्राप्त गया है।—उताः तान्नेया तान्नेया तान्नेया । उताः तान्नेया तान्नेया तान्नेया । उताः तान्नेया तान्नेया तान्नेया
 और वास्तविकता के अन्तर्गत तान्नेया ही ही प्रमत्ति है।

या तद न संविता मा न श्रद्धा । तस्मान्मुक्तं ते आद्यात्मि-
 श्रद्धा शीतं त्वा प्रवृत्तिं । अन्ते म श्रद्धा । तौ मगानि ण मीरं, प्रातिगम्यति । तत उपमना अग्ने याग्य वहा
 मता । तौ वैत-त-तम नं शीतन स्याम न श्रद्धा । तानगर, तप एव तत् । या उग्रवी जायते, क्षमा ता श्रेष्ठ पर-
 पाठा, आगम्य । अथ तस ईरं विगतिं तौ द्वावी दोरी प्रजा वर । अथ ते प्रांत तत् तप स्त्री बाण मे कमलवच
 त्वा नंद न श्रद्धा कर्ते तान तौ विष्णु विष्णुता ताता, गर्तं है ।^{१०} आवाग नं विष्णु विष्णु ताते वाता उग्रम ही तप
 अग्निं शीतं श्री तत्ता ताता है ।^{११}

- १ भगवती सांगरना ३६६
- २ भगवती जारागना ३११
- ३ भानामर स्त्रोत्र (मानवुगाचार्य), ६
- ४ क-सांगमन्त्रि-त्रोत्र (मिष्टमेग दिवारग), ३६
- ५ नागनी सांगरना ३११
- ६ हेममुद्रा मयगन्दन रियो—नेन साहित्य और इतिहास—नायगम प्रेमी, पृ० ४५५
- ७ मुक्तनिषान, उगगगग, कनिशाद्वाज मुक्त
- ८ श्रुग्दे ०११५१
- ९ उत्तराग्ययनमुत्र २१०१००
- १० उत्तराग्ययनमुत्र १०-८३



इस प्रकार प्रिययचन, भक्ति, श्रद्धा, सुधाचरण के द्वारा वरस अनन्तर वात्सल्य प्राप्त करना जैन दृष्टिकोण से जीवन का परम लक्ष्य है।^१ जैनधर्म में ईश्वर (पूयक) की सत्ता नहीं मानी गयी। इसलिए प्रश्न होता है कि जैन-माधक वात्सल्य किमका चाहता है? इस विषय में यही कहना है कि जैनमा आत्मा की मिद्वान्मथा की मानना है। परम-भाव में स्थित पञ्चपरमेष्ठियों की सत्ता भी मानी गई है। इसलिए बाह्य रूप में परमेष्ठियों में और आध्यात्मिक दृष्टि में धारीगन्तर्गत प्राणादि आत्मा की दिव्यशक्तियों में वात्सल्य की कामना की जाती है। समानासीन जीवन में माधक मुनि ही वरमल होकर सद्गुणस्थियों को वात्सल्य प्रदान करते हैं। इसीलिए उनकी जीवनचर्या का गोचरीयत्ति आवश्यक अंग बन जाती है।

यति और मुनि परिव्राजक का जीवन विताते हुए भी समाज के कल्याण में गोचरीयत्ति द्वारा लीन रहते हैं। वे समाज के प्रज्ञावल् के पतीक हैं। सासारिक विषय वासनाओं से निरलिप्त बुद्धि न्यक्ति के निवेक की जागन करने में जो कार्य करती है वही कार्य समाज में गोचर्या अपनाने वाले यति, मुनि और सन्यासियों का होता है। उनके पाग सामना का बल होता है, जीवन का व्यापक अनुभव होता है और सबसे अधिक होती है। लोकरहित के लिए अपनी रामस्त क्षमताओं का उपयोग करने की तीव्र लालसा। साधना के क्षेत्र में वह भी बल होता है, परन्तु व्यवहार में वह स्वयं बलवत् बन कर समाज के योगदोम का वाहक बन जाता है। आचार्य भगवन्चन्द्र के अनुसार सद्धर्मविनासी मुनि को निरन्तर अहिंसा में, विनयगुणलक्ष्मी की प्राप्ति में सहायक धर्म में प नधर्मों बन्धुआ में वात्सल्य का अवलम्बन लेना चाहिए। और ऐसा ही करने के लिए श्रावकों को प्रेरणा देनी चाहिए—

अनवरतमहिंसाया शिष्यमुत्तमस्मिन्निबन्धने धर्मं ।

सर्वेष्वपि च सधर्मिष्वपि परम वात्सल्यमात्मन्व्यम् ॥^२

स्वामी समन्तभद्र के अनुसार सधर्मियों के साथ निदृष्टल, मरल व्यवहार करना व उनका वयायोग्य उपयोग ही वात्सल्य है।^३ इन कथनों का यही तात्पर्य ज्ञात होना है कि श्रावक विनयशीलता, श्रद्धा और भक्ति के द्वारा वरम-वत् आचरण करे और मिद्धिसम्पदा के कारण मुनि सधर्मियों को धार्मिक प्रोत्साहन आदि के निमित्त वैसे ही वात्सल्य प्रदान करे जैसे वह स्वयं आध्यात्मिक साधना के द्वारा प्राप्त करता रहा है। वीतराग होते हुए भी विनयशील श्रावकों के प्रति गोचरीयत्ति का अवलम्बन लेकर वह आध्यात्मिक-कृपि में योगदान करता हुआ सध के उत्तरदायित्व को भी निभाता है। जैन सध में व्यवस्था के अनुसार मारे भारत को कुछ क्षेत्रीय इलाहों में बाटा गया है। मुनि ऐसे किमी क्षेत्र का गणधर भी होता है। इसीलिए उसके लिए गोचरीयत्ति को अपनाना आवश्यक होता है। मुनि का साथ आर्थिक-मध्य की माधिकाएँ भी देनी हैं। बौद्ध और जैन दोनों परम्पराओं में सध को बड़ा महत्त्व मिलने का कारण इन दोनों के अनुयायियों का आध्यात्मिक गणराज्य के रूप में किया गया संगठन है। बौद्धगध की कार्य-प्रणाली का उत्तरेख बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। जैन-परम्परा में भी सध की कार्य-प्रक्रिया का वही रूप था। जप्ति, अनुधावण, और धारणा द्वारा सम्मतिग्रहण, छन्दग्रहण आदि की व्यवस्था जैनसध में भी थी। परन्तु जहाँ बौद्धगध में स्थविर और स्वविराएँ ही सम्मिलित थे वहाँ जैनसध के मदस्य गुनि और आर्थिकाओं के अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाएँ भी सम्मिलित थे। इसलिए हममें वात्सल्य के आधार पर साधनामार्ग अधिक गुरु हो गया था।

जैन-परम्परा में सध की महत्ता हमसे समझी जा सकती है कि उमे गुणों का क्रीडासदन परस्फूर्ति प्रदान करने वाला^४ तथा पापापहारी कहा गया है। प्राचीन भारत में अनेक गणराज्य स्थापित हुए थे। उनके गठन का

१ जैनधर्म में वात्सल्य—पंचोली

२ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय २६

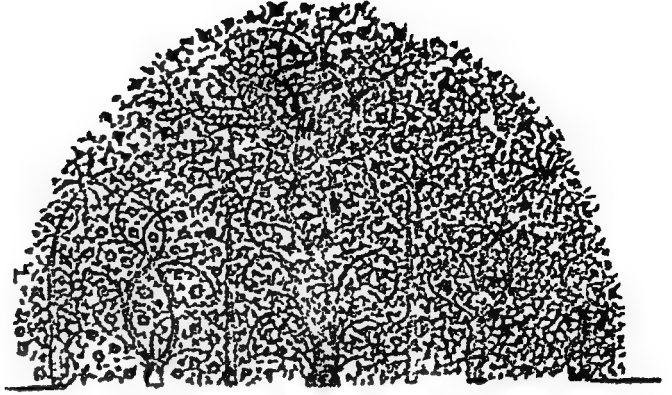
३ रत्नकरण्डकश्रावकाचार १७

४ सोमप्रभाचार्य विरचित सूचितमुखतावली, श्लोक २३

५ सूचितमुखतावली, श्लोक २२

गीतोक्त स्वभाव

राव नारायणसिंह मसूदा



आधुनिक भारत ने गीता का अपना प्रदान अर्थमय मान लिया है। चाहे हमारे युगप्रवर्तक गार्गीजी की प्रेरणा ने हो अथवा तिलक, ज्ञानेश्वर एवं रामानुजाचार्य की मूल परम्परा के कारण। इसलिए यह और भी आवश्यक हो जाना है कि गीताकथित सकेतो में हम जीवनरहस्य की गहुरावों में गोना लगाने की क्षमता बढ़ें। प्रत्येक धर्मग्रन्थ एवं दर्शनशास्त्र जीवन के रहस्य की खोज एवं अनुभूति ही है और प्रत्येक वैयक्तिक अनुभव जहाँ जाने आपमें एक सुपुस्तप्राय दर्शन बन कर वैयक्तिक जीवन प्रवाह के साथ बहता है, परम्परागत परमेश्वर एवं दर्शन के साथ वहीं समुचित होकर एक जागृत वैयक्तिक दर्शन भी बन सकता है। इस प्रकार का संयोग ही प्राचीन धर्म एवं दर्शन या बुद्धिमयुक्त मण्डनात्मक विवेचन एवं अनुमान कहलायेगा।

इसी प्रकार का प्रयत्न गीता के कुछ सकेतपाठों में करना सर्वेव उचित है। इसी सदर्भ में हमारे सामने अठारहवें अध्याय में "स्वभाव" शब्द का प्रयोग निम्न गीताक्त पाठ में प्रस्तुत है —

“स्वभावनियतं कर्म कुरुन्नाप्नोति किल्बिषम्”

इस स्वभाव का अर्थ क्या ? जबकि यह कहा गया है कि स्वभाव की रेखा पर चरना हुआ मनुष्य द्रुति-शील नहीं। निश्चय ही यह स्वभाव प्राकृत्यम स्वभाव नहीं हो सकता क्योंकि तब तो मनुष्य 'आहारनिद्राभयमैश्वर्य' के साथ केवल पशु की समानता ही लेकर रह जाता है। मनुष्य में बुद्धिमय विवेक है और उसका प्रत्येक कार्य विवेकमय होना आवश्यक है। जहाँ बुद्धि और विवेक का सम्बन्ध नहीं होता वहीं वह प्राकृत-बुद्धि लेकर आसक्ति दोष ग्रहण करता है जिसे हम धरातल आदत के रूप में पहचानते हैं। यहाँ द्वितीय अध्याय का यह कथन —

“ध्यायतो विषयान्मुम सगस्तेषूपजायते ।
सगात्सजायते काम कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
‘क्रोधाद् भवति समोहः समोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥”

मनन योग्य है, जिसमें यह मुस्पष्ट सकेत है कि केवल विषयविवेक के अन्तर्भावमय चित्त इन्द्रियों के अनुकूल प्रवाहित अविरल जीवनधारा में विक्षेप उत्पन्न कर देता है जिसमें मानस एवं क्रिया का मनुजल विगड कर सुख-मय सरल कार्यगति विधुव्य हो जाती है। गीता में ही यह सकेत भी है — “अनात्मस्य कुत सुख”। चित्तविक्षेप ही अशांति का कारण बनता है। चित्तविक्षेप के साथ सरल स्वभाव कायम रह नहीं सकता।

स्वभाव शब्द का जहाँ प्रयोग होता है, अधिकांश वह अच्छी-बुरी आदत में मिला दिया जाता है। इसलिए गीता के उपर्युक्त कथन में जो 'स्वभाव' साकेतिक है उसको समझने के लिए गीता के कलेवर में ही गीता लगाना पड़ेगा।

बाफ़ी मज़न के बाद अन्तिम अध्याय में जाकर इस गीतोक्ति में इस शब्द का प्रयोग सुस्पष्ट मार्गदर्शन के रूप में पाया जाता है। इसका अर्थ ठूटने के लिए हमें उसी अध्याय में आगे के श्लोकों की तरफ ध्यान देना पड़ेगा जहाँ कहा है —

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
भिर्य्यं व्यवभाषस्ते प्रकृतिस्त्वा निषोक्ष्यति ॥
स्वे स्वे कर्मण्यनिरत ममिद्वि लभते नर ।
स्वकर्मनिरत निद्रि यया विन्दति तच्छृणु ॥
श्रेयान्स्ववर्षो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
सहज कर्म कौन्तेय मदोपमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥

इनमें सबसे पहले स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ अर्जुन के स्वभाव का प्रश्न है, उसके कुलाचारप्रेरित अध्रिय स्वभाव में मन्त्रव है और जागे की गुरु को उद्दिष्ट पश्चिम्ति में उसका संयोग है। उसी को लेकर कृष्ण ने हमारे ही अध्याय में मकेन करना प्रारम्भ कर दिया है। जिसका माराग यही है कि सम्भारजनित स्वभाव में परिस्थिति जो उत्पन्न की गई है उसका निर्विकार मामना करना ही एकाग्रि निम्तरण है। वहाँ झूठा त्याग, हृदयदौर्बल्य अथवा और कोई आनक्ति अथवा परम्परादान का बहाना नहीं चल सकता। अपनी प्रकृति के अनुसार जिस स्थिति में जो मनुष्य बैठे है उसी में वह ध्रुव कर्म का निश्चय कर अनामक्त भाव एवं स्थितप्रज्ञ बनकर चल सकता है और इस प्रकार चल कर ही वह अपने जमली स्वभाव का प्राप्ति कर सकता है। जब तक जीवनरहस्य का पूरा ज्ञान प्राप्त न हो जाये, जब तक गीताक्त 'बुद्धिगो' का पूरा संयोग न बैठ जाये, तब तक स्वकर्म को, जो जातिसिद्ध अथवा अन्य प्रकार में मिद्ध है—छोड़कर नया मार्ग बनाने की उलझन में मनुष्य सर्वथा मार्गविहीन बन सकता है। यदि नया मार्ग बनाने की हम में क्षमता नहीं है तो कृत्रिम मार्ग पर चलने में कभी आपत्ति नहीं हानी चाहिए और नया मार्ग बनाने की सृष्टि क्षमता की टिड्डाई में अतः आगेको झा देना भी निम्नान् मुखाना के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

इन मकेनों के साथ गीता का पाठ कभी-कभी स्थितिपालकता का समर्थन-सा जचने लगता है परन्तु जहाँ अपने-अपने कर्म में अपनी-अपनी प्रवृत्ति को ममझकर लगे होने हुए भी गीता के द्वितीय अध्याय के —

“यामिमा पुष्पिता वाच प्रवदन्त्यविपश्चित्त ।
वेदवादरता पार्थ नाग्यदस्तीति वादिन ॥
कामात्मान स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुला भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रमत्तानां तथापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धि समावीन विधीयते ॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यमस्त्वम्यो निर्गोणोऽसौ आत्मवान् ॥”

मकेन मामने आते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता केवल बने बनावे मार्ग पर ही अधविश्वास लेकर चलने को नहीं कहती। और जब स्थान-स्थान पर बुद्धियुक्त होने की बात कहती है तो वह निश्चय ही इसी बात का संकेत करती है कि परम्पराप्राप्त मार्ग को तो केवल मङ्गलप्रिय के लिए पकड़ना चाहिए किन्तु जो पथ पर अग्रसर होने हुए जीवन की प्रत्येक दिनचर्या में से बुद्धियुक्त मथन महिन अनुभूति की आधारशिला पर सदैव विवेकशील जीवन की मार्शना का अर्थ ठूटता रहता है, वही कुशलसर्मा मानव है—योग कर्ममु कौशर्यम् ।





इस प्रकार अग्रमं होने की विधि बताकर गीता स्वभाव की निष्पत्ति की ओर गये हैं और अन्ततः गत्वा उम स्वभाव की प्राप्ति का पूरा अध्याय प्रति अध्याय में बहता हुआ एक मार्ग बताती है जहाँ कर्म की प्रवृत्ता प्रतिपादित है, व्यष्टि एवं समष्टि का विवेचन है, त्रिगुणभाव का वर्णन है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का त्रिवेक प्रान्म्यापिन है और अच्छी और बुरी प्रवृत्ति की ओर मकेत है। इन सब अध्यायों की भाषा में गमकालीन वातावरण की छाप हा मकनी है जहाँ चतुर्वर्ण अथवा ऐसे ही प्रचलित शब्दों का या विचारों का प्रयोग किया गया है परन्तु अर्थ की प्रवृत्ता युगान्तर के लिए अधुण है, इसमें मुझे कोई सशय नहीं।

यह स्वभाव शब्द का प्रयोग एक पूरी जीवनयापन-शैली, साधना और जीवनदर्शन की ओर गये करने वाला है और इस स्वभाव का अनायाम ही पूर्ण सकेत आठवें अध्याय के श्लोक ३ में मिल जाता है जहाँ मृगयु शब्दों में—“यथावाऽध्यात्ममुच्यते।” स्वभाव शरीर का धर्म है, धर्म ही नहीं सवित्त धर्म है, सविचार धर्म है, गव्य-बहार धर्म है और यह जब प्राप्त हो जाता है तो जीवन का अत्रिरु प्रवाह सागोपाग सतुलन के साथ चलता है। वह सतुलन जो व्यक्तित्व शरीर, मन और बुद्धि में स्थापित होता है और उसके साथ ही परिस्थिति अथवा पट्टी के अवलोकन में।

इस स्वभाव को प्राप्त करने के लिए गीता में स्थान-म्यान पर—“इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु सम्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता” आदि शब्द आये हैं जिनमें इस बात का सुस्पष्ट सकेत है कि इन्द्रियों की सहज एवं नैमगिक आवश्यकता के अनुकूल वर्तित करते हुए चलने में कोई बच नहीं सकता और इस प्रकार से चलते हुए कोई विभ्रान्त भी हो नहीं सकता। यही व्यावहारिकता का प्रथम सूत्र है और यहाँ इस बात का सुस्पष्ट ज्ञान है कि—“भोजन प्राणग्रहणाय” जहाँ स्वाभाविक धर्म है वहाँ ‘भोजन स्वादाय’ सारी विकृति को स्थापित करने वाला बन जाता है।

इस प्रकार से स्वभाव का प्राप्त करने के लिए गीता ने एक बड़ा ही व्यावहारिक ज्ञान प्रतिपादित किया है जो स्वयं एक आचरणीय धर्म बन जाता है। कर्म की प्रवृत्ता को बताकर अपने स्वधर्म के अनुसार प्रस्तुत परिस्थिति का सामना करने का गीता में एक विलक्षण उपदेश है। स्वधर्म विगुण भी श्रेयस्कर है क्योंकि वह एक जाना हुआ परीक्षित जीवनमार्ग है और परधर्म, नयाकि परीक्षित नहीं, भयानक हो सकता है। इस उपदेश के साथ गीता ने कर्म करने का अधिकार व्यक्ति का बताया है परन्तु उसके फल का चिन्तन पहले से ही करना कर्म में बाधा बताया है। इसलिए फल की तरफ में निश्चित हाकर स्वधर्म की माक्षी के साथ कुशलतापूर्वक कर्म करना ही गीता का योग है—“योग कर्मसु कौशलम्।” इस प्रकार के कर्मयोग के लिए नखर बना वस्तु है जो परिस्थिति के साथ बदलती जाय और अनग्रर क्या है, जिसे लेकर व्यक्ति काम करता जाय, इस प्रकार का मागोपाग उपदेश द्वि० अध्याय में सन्निहित है। इसी प्रकार का कर्मयोग गीता का योग है जिसमें कर्त्तव्य विवेक और कर्मकुशलता स्थापित हो जाती है।

सन्तुलित आहार-विहार द्वारा (जैसा कि विशेषत छठे अध्याय में कहा गया है) शरीरक्रिया में एक पूर्ण सतुलन जमाने का उपदेश है कि जिससे कर्मयोग का पूर्ण विवेक स्थापित हो। इसके बाद मनोनिग्रह का उपदेश है जो अनासक्ति द्वारा, कर्मविवेक द्वारा तथा अस्याम द्वारा स्थापित करने का है और उसके बाद बुद्धि का वह सतुलन प्राप्त करने का विधान है जो अविभूत, आधिदैव, अध्यात्म और अधियज्ञ आदि के विवेक से स्थापित होने वाला है। शरीर की नखर शौनिकता उम पर स्थापित शरीर का जीवत्व जो पुरुषभाव में अन्दर स्थापित है और इन्द्रियों में विकीर्ण है (समष्टि में व्यष्टि) तथा जिसका प्रसार जीव मान में है और जो एा यज्ञमय चक्र में अधियज्ञ रूप से स्थापित है (जिसका कि सकेत तृतीय अध्याय में किया गया है) इसी प्रकार की बुद्धि की स्थापिति ही मोना का बुद्धि-योग है। यहाँ यदि “अधियज्ञ” को हम वेदात का “ऋतु” कह और बुद्धियोग लिए हुए विवेक को “अध्यात्म” या “ऋतु” कह तो अतिगोपिन नहीं होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर मन और बुद्धि का पूर्ण सतुलन स्थापित करने का महान उपदेश एवं उसकी विधि गीता के क्रमवार अध्यायों में चली है जिसमें वैयक्तिक शरीर सन्तुलित होकर पूर्ण सतुलन प्राप्त कर परिस्थिति के साथ ऐसा मेल बढ़ाने कि जीवन की जाग मरल एवं शविरल बहती रहे

और वह विवेक प्राप्त हो कि जहा—

“यो मा पश्यति नर्चत्र सर्वं च मयि पश्यति” इन प्रकार का व्यष्टि में समष्टि दर्शन रहे । इस विवेक के लिए ही गीता में व्यवहार्य धर्म के माथ आने अन्दर एव बाहर के “पुरुष पर” के लिए भक्तिभावपूर्वक समर्पण भाव प्रतिपादित किया है और आन्तरिक वह दिया है कि—“सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज” । यह “माम्” हमारा अन्तर्निहित जीवन-मत्त है जो गीता का “पुरुष पर” कहा जा सकता है । यही वह है जिसके लिए कहा है—

“ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया ॥

इसको समझने के लिए गीता ने प्रतीकोपासना की ओर संकेत किया है जिसमें चौथे अध्याय का अवतार-रहस्य छुपा है तो ग्यारहवें अध्याय का विराट् दर्शन भी तथा पन्द्रहवें अध्याय का पुरुषोत्तम योग । और यह स्पष्ट मनेन किया है कि भूमाभाव में स्थित शरीर भूमाभाव ने ही प्रेरणा ले सकता है और इसलिए सूक्ष्म तत्व का भी मत्त-दिव-मुन्दरम् गुणमय भूमा स्वरूप देकर उनके प्रति भक्ति और समर्पण बुद्धि स्थापित कर व्यक्ति अपने स्वभाव को प्राप्त कर सकता है—

“क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहयद्भिरवाप्यते ॥”

अन्त में जहा स्वभाव शब्द गीता में प्रयुक्त होता है, गीता के सारे मदर्भ में उसे समझने का प्रयत्न करते हुए पुके यही ममज्ञ मे आता है कि आत्ममनुलनपूर्वक परिस्थिति के साथ पूरी तरह सन्तुलित होकर जो बुद्धियोग मद्दिन जीवन प्रवाहिन होना है, वही स्वभाव को प्राप्त कर सकता है और स्वभाव की प्राप्ति ही मौलिक अध्यात्म के साथ सम्पर्क की म्थापिति है । जिसमें पुन्य में पूर्णत्व स्थापित हो सकता है और जीवन का रहस्य उद्घाटित हो हो सकता है । यह स्वभावप्राप्ति ही ‘ब्राह्मी स्थिति’ कही जा सकती है । यही स्थितप्रज्ञ अवस्था कही जा सकती है और मारे जीवन की माधना का फल हो सकती है ।

अन्त में, यह भी कहे विना नहीं रह सकता कि गीता ने सुस्पष्ट रूप में स्थितिपालकता, अधविश्वास एव हठयोग आदि की कथावाजी ने दूर रहने का काफी मनेत दिया है । हमारे मम्मुत्र जब यह वाक्य आता है—

‘नात्मानं अवसादेत्’ अर्थात् अपने आपको वृथा क्लेश न दिया जाय क्योंकि शरीर तोड़ने से ज्ञान नहीं मिलता ।

यह इन बात का स्पष्ट मनेत है कि स्वभाव-नियत स्वधर्म का आग्रय लेकर एक सरल सतर्क और व्यवहारगम्य जीवन बनाने में ही पूर्ण ज्ञान और निद्रि प्राप्त हो सकती है । गीता का ज्ञान कोई बहुत पारदर्शी अप्राप्य आदर्श नहीं, वह तो स्वभावनियत जीवन का मुचार वाहक स्वधर्म मात्र है ।



छद्मवसरूवं-मूलं-टीगा

सुमित्त-मिक्खू



गाहाओ—जम्स सम्मण्णाणि, पमेया पडिभासिया ।
गुरुपरमप्पसाया उ, तप्पाए पणमेमि ह ॥१॥
सियावायसुसिद्धन्ते, सम्मण्णाणि पमाणम् ।
तेण विसिट्ठसामण्णा, जाणियव्वा पमेअवा ॥२॥
सव्वे पयइसिद्धा य, अओ सुट्ठु पभासद्द ।
सियावायस्स मन्तव्वे, सरूव वत्थुयाण उ ॥३॥

दव्वलक्खण—सह्वलक्खणमुप्पायवयघोव्व इलक्कद्द ।
ण ठावह् हिंयम्मि, जिणवाणिमणोवम ॥४॥
अणाद्द अणत्ता दव्वा, लक्खणत्तिण्णि सज्जुया ।
ससगुणपज्जाएसु, मेर धारित्तु ते ठिया ॥५॥

छद्मवणामाद्द—धम्माधम्मा आगास, कालो पुग्गलजन्तवो ।
एयाइ उ छद्मवाद्द, सहावम्मि निए यिरा ॥६॥

दव्वसामणसक्ख—सव्वान्त्यकियाविस्ती, साहइयक्खम्मि य ।
सव्वे सकज्ज कुव्वन्ति, कूडत्थणत्थि कपि वि ॥७॥
णत्थि अकिरिय कपि, लब्भइसाहिया किया ।
ससगुणपज्जाएसु, दव्वन्ति य णिरन्तर ॥८॥
सहभावी गुणो सम्म कमसो पज्जवा गुणो ।
नियगुणपज्जवेसु च, ठिया सव्वे णिरन्तर ॥९॥

गुणलक्खण—सव्वे गुणा उ एसु सहभावी य गासया ।
तह् दव्वसिया सन्ति, णत्थि कोवि परग्गुणो ॥१०॥

सामण्णगुणा(अज्जा)—अत्थित्त वत्थुत्त, अगुरुल्लुत्त तहेव दव्वत्त ।
पमेअपएसवत्त, सामण्णगुणा उ वुच्चन्ति ॥११॥

विसेसगुणा—जीवो णाणसरूवो य, अजीवा सेस पच वि ।
णिच्छएणवगन्तव्व, जडत्त तेसि लक्खण ॥१२॥
रूवी पुग्गल दव्व, सेसा पच अरुविणो ।
वण्णगन्धरसो फासो, एसु च न विज्जए ॥१३॥

धम्ममधम्म आगाम, दब्बमिक्किक्कमाहिं ।
मेनाइ निणि दब्बाइ, एगाणेजसत्तया ॥१४॥
पुटा काजणवो णिन्ध, अमत्तेज्ज पनाणया ।
तोंगागामपण्णमेमु, यणगामिच्च ते ठिया ॥१५॥

पएत्तववना—अविभागी परमाणू, आगामम्म य जेतिय ।
नेत्तयमवगाहेट, पएमे ने पवुच्चड ॥१६॥
जीवदब्बमण्णमा उ, ते य नब्बे पिह्णिहा ।
पण्णि एत्थ उ मदेहो, नब्बे जीवा उ नारिना ॥१७॥

पचत्तियनाया—अकाजो केवन कालो, अत्तिनाया उ पचवि ।
जो पएनेहि मज्जुत्तो, सो काओ नि पवुच्चड ॥१८॥

पचत्तियकायपएम्मना—धम्ममधम्मो जीवाण, पएमा उ अमन्धया ।
लोणालोगागामम्म, पएमा हु अणन्धया ॥१९॥
जो मचोती विजोगी य, सुत्तामखो अणन्धो ।
काओ अन्धो एगट्ठो, अपण्णमिति आहिजो ॥२०॥ जुम्म ॥

आगामवत्तं—लोणालोगागामम्म, पएमा उ अणन्धया ।
गुणोअवाहगाण, मत्तो माहाविग मया ॥२१॥
केवि मणन्ति आगाम, पयडोपणा नहा ।
णिक्कियसक्किय दब्बाइ, वोच्छमगेमुण्ह ने ॥२२॥
धम्मे जयम्मे आगामण्णे, न लम्भट धम्मगुणो य केनु ।
गन्ता महाणेगवियारक्कता, जीवा तहा पुण्णमेव दोउ ॥२३॥

उवादाणणिमित्तकारणसमत्ती य उवादाण, णिमिन्न वज्जकारण ।
कज्जनिट्ठी उ वेहि पि, भेयमाव मणे ठवे ॥२४॥
णिमिन्नणेमित्तियभावमाई,
पाणापगारा जे अणमावा ।
अपाडणिह्णा मव्वाण भावा,
परुपर साहइया कहन्ति ॥२५॥

धम्मदब्बोवगारो—जीवपुण्णमण्णे, धम्मो उवयरेड उ ।
मच्छन्नाडगमणम्मि, सहाराणी जल जहा ॥२६॥

अहम्मदब्बुवगारो—ठिई देड साहेज्ज, जहाण चैयणाण य ।
अधम्मदब्ब पण्णिम्म, वच्छच्छाया जहा म्हा ॥२७॥

कालदब्बुवगारो—कालदब्ब दुहा वुत्त, णिच्छजो ववहारखो ।
णिच्छजो वट्ठकालागु, डयगे नणलवाड य ॥२८॥
सब्बदब्बपरिणमणे, कालो अत्ति उ कारण ।
परिवट्ठणचिन्नेण, जायइ तण्णिवारण ॥२९॥





जेसि पचिन्दिद्यजीवाण मणो सह्याहियवियारो ते सन्निणो अन्न असन्निणो । दुतियचर्चरदिया असण्णिणो विगलिदिया वि वुच्चन्ति ।

पचिन्दिद्या चउविहा पणत्ता, तजहा-देवमग्गुस्स-णारयतिरिक्खा ।

आरियमिलिक्खुमेण मणुस्मा वि दुविहा होन्ति । आरिया आरियखेत्तेसु, मिलिच्छा मिलिच्छल्लडेसु वसन्ति । देवा चउविहा पणत्ता, तजहा-भुवणवासि-णो जे पायाले वसन्ति । वाणमन्तरा जे इमीमे पुढवीए क्व-पव्वयाइमु वसन्ति । जोइसिया सूरिअ-चदगहणक्खत्ताराओ । जेसि विमाणाइ सुमेह-पव्वयन्स सव्वओ समन्ता परिभ-मन्ति । कप्पवासिणो जे वारस देवलोयणवेवेज्जगपचणुत्तरविमाणेमु णिवसन्ति ।

सत्तविहा खेरइया-एयाए पुहवीए हेट्टा सत्त णरया सन्ति । तासु एए जीवा वसन्ति । अहोणिसि परोप्पर-मारण-मरण-पिट्ठण-तज्जण-तालण-छेयण-भेयण-जलणाइदसविह खेत्तवेयणदुह पचणुभवमाणा विहरन्ति । अम्हारिस भोयणपाण ण लब्भइ । सागरोवमपज्जन्त मारीरमाणसाइ दुक्खाइ महेन्ति । ण तेसि खणमेत्त पि सुह लब्भइ ।

तिरिक्खा पचविहा-जलयर, थलयर, णहयर, उरपरिसप्प, भुयपरिसप्पा य । जे जले परिवमन्ति ते जलयरा मीणमगराइ । जे थले चलन्ति ते थलयरा, जहा-घेणूमहिसअस्साइ । जे आगासे उड्डेति ते खहयरा जहा-कावोय-साम-लियाइ सव्वे खेचरा । उरओ परिमणत्तित्ति उरपरिसप्पा, भुयासएण भमिरा णेउलमूसयाइ भुयपरिसप्पा ।

ते थावरा जे उप्पज्जन्ति, वड्डन्ति, मरन्ति, पर सयमेगठाणाओ वीय ठाण ए गन्तु सक्का । अथा एगिदिय-जीवा जेमिगे फासिदिय मरीरमेत्त भवइ । थावरा पचविहा पणत्ता त जहा-पुढविकाइया, आउ०, तेउ०, वाउ०, वणप्फ-इकाइया ।

पुढवी एव जेसि सरीर ते पुढवीकाइया । एव आउ-तेउ-वाउकाइया वि अवगन्तव्वा । वणप्फइफल-फुल्ल-वेलि-रुक्ख-पत्ताइ एव, जेसि सरीर ते वणप्फइकाइया जीवा वुच्चन्ति । एए पचविहा थावरा, तसकाइया य छज्जीवणि-काया वुच्चन्ति । एए सव्वे वेयणा-जुता जहा-जहा सुहासुह(पुण्ण-पाव)कम्माइ कुणन्ति तहा-तहा फलपरिणाम लहन्ति । कयाइ पावकरणेण सहेन्ति णिग्गदुह, कयाइ पुण्णपयावेण भुजन्ति सग्गसुह । एव सव्वे जीवा अणाइकालेण एयम्मि परिवत्तणसीलससारे सुहदुहण्णडाइ सहन्ता परिभमन्ति, भमिस्सन्ति य जाव जाव मोक्खोवाय कट्टु कम्ममुत्ता ण होन्तु ।

अजीवदव्व — जम्मि फास-रस गन्ध-वण्णा एए चउगुणा होज्जा त पुगलदव्व ति वुच्चइ । इगलिसे 'matter' उर्इ ए 'माहा' ति कहेन्ति ।

अट्टविह्ने फासगुणे-लड्डअगइअक्खडसूमाललुख-णिद्धसीओण्हे । अत्रित्लमहुरकडुअकसायित्ता पच रसा । सुगन्धदुगन्धा गन्धा । नीलपीयकसिणरत्तसेया पचवण्णा ।

पुगलदव्वे (जडपयत्थे) उवत्तचउमुक्खगुणा अवस्स लब्भन्ति । जहा सयवत्तपुप्फे फासो सूमालो, रसो कडुओ, गन्धो सुगन्धो, वण्णो रत्तो ति । एवामेव पच्चेअपुगले एए चउगुणा लब्भन्ति । जत्थेगो गुणो तत्थ तिणिण गुणा अवस्स होन्ति ।

पुगलदव्वमग्गुखन्धमेण दुविह । पुगलमव्वलहुखण्डो जस्स पुणो खण्डो न होइ तो अग्ग परमाणु ति वा वुच्चइ । 'Atom' जरा ति इगलिमुर्इसु । दुतिअ अणेगपरमाणुपिण्डो खधो ति भणइ ।

खधा छविह्वा पणत्ता, तजहा-थूलथूले, थूले, थूलसुहुमे, पुहुमथूले, सुहुमे, सुहुममुहुमे ।

थूलथूले — पुगलखन्धे जे भिण्णे समाणे पुणो तहेव न मिलइ, जहा पत्थरकट्टमिच्चाइ ।

थूलपुगले — जे भिण्णे वि मिलइ, जहा पाणीय, दुद्ध, तइल्ल, घयमिच्चाइ ।

थूलसुहुमे — जे दिट्ठिपहभागच्छइ फिन्तु ण गिण्हज्जइ, जहा-छाया, आयव, चदिया ।

सुहुमथूले — जे दिट्ठिगोयरे न भवइ फिन्तु फासरसणणक्कण्णेहि णज्जइ । जहा-वाउ-सहाइ ।



विदेशों में शाकाहार

महेन्द्र राजा जैन

एम० ए०, डिप० लिपि एम० सी०,

एफ० एस० ए० (लदन)



आज से करीब १२ वर्ष पूर्व जब मैं लंदन जाने की योजना बना रहा था ता बनारस में मेरे अधिकांश मित्रों ने पुस्तकों एवं समाचारपत्रों से प्राप्त अपने ज्ञान के आधार पर इंग्लैंड के विषय में मुझे जो कुछ बतलाया था, उससे मेरे मन में कुछ भय-सा समा गया था। मैं सोचने लगा था कि वयाद में परिस्थितिवश वहा शाकाहारी न रह सकूँ। पर लंदन में करीब ७ वर्ष और अफ्रीका में ४ वर्ष तथा लगभग ३२ देशों की यात्रा करने के बाद मुझे यह कहने में जरा भी झिझक नहीं कि कोई भी शाकाहारी व्यक्ति विदेशों में वही आसानी से, बिना किसी परेशानी के रह सकता है। आवश्यकता यदि है तो केवल आत्मनियंत्रण की।

मैं शुरू से ही शाकाहारी हूँ। इसका कारण यह नहीं है कि मेरा जन्म जैन घराने में होने के कारण मुझे बचपन से ही शाकाकारी रहना पड़ा। क्रिओरावस्था तक आते ही उक्त कारण से शाकाहारी रहना पड़ा हों पर अब मेरे शाकाहारी बने रहने का एक मात्र कारण यह कहा जा सकता है कि मैं मांस खाना उचित नहीं समझता। मेरा हृदय यह स्वीकार नहीं करता कि दूसरों का जीवन मेरे आहार का साधन बने।

बम्बई से जब रवाना हुआ तो पहले ही दिन जहाज पर शाकाहारी भोजन की समस्या सामने आई। इसके पूर्व मैंने कभी किसी भी मार्ग से विदेशयात्रा नहीं की थी। अतः मुझे यह पता नहीं था कि जहाज का टिकट बुक कराते समय या सीट रिजर्व कराते समय इस बात की सूचना भी दे दी जाती है कि भोजन की व्यवस्था शाकाहारी हो या मासाहारी हो।

दुर्भाग्य से मैं जिस कंपनी के जहाज में सफर कर रहा था वह फ्रांसीसी थी। उनके सभी कर्मचारी भी केवल फ्रांसीसी भाषा में ही बातचीत करते थे। अतः उन्हें समझाना बहुत कठिन था कि मैं शाकाहारी हूँ। भोजन के समय जब मैं डाइनिंग हाल में गया तो बेटर को किमी प्रकार इशारे से यह समझा दिया कि मैं मांस नहीं खाता। बेटर ने जिस ढंग से हावभाव प्रदर्शित किये, उससे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह मेरी बात अच्छी तरह समझ गया है।

वह थोड़ी ही देर में मेरे लिए एक प्लेट में खाना ले आया। प्लेट में जितनी वस्तुएं थी, उनमें से एक को छोड़कर बाकी सभी मेरे उपयुक्त थी। एक पीली-सी चीज जो देखने में बेसन की बनी-सी जान पड़ती थी, मेरे लिए समस्या बन गई। काफी सोचने-मसझने पर भी मैं यह निर्णय नहीं कर पाया कि यह क्या वस्तु हो सकती है।

इसी उलझन में पड़े हुए मैंने प्लेट की अन्य वस्तुएं तो खा ली और उस पीली-सी वस्तु के विषय में सोचता रहा। अंत में यह सोचकर कि उसे पहले चख कर देख लेना चाहिए, मैंने उसका थोड़ा-सा अंश चम्मच में लिया ही था कि मन में ख्याल आया कि बगल में बैठे हुए सज्जन से इस सबब में पूछ लेना चाहिए। मैंने जब उनसे पूछा तो उन्होंने बतलाया—आमलेट।

उस दिन पहली बार मुझे यह मालूम हुआ कि यूरोप में अब शाकाहारी भोजन में शामिल किया जाता है। इसके बाद जहाज में ही एक और नया अनुभव हुआ।

आमिटेड में बचने के बाद मैं जहाज के काउन्टर पर प्रतिदिन "नो मीट, नो एग" कहकर वेटर को बतला दिया करता था कि मुझे मांस एंव अंडे के अनिरिक्त बाकी बन्नुए दे दी जाए। एक दिन जब मैंने ऐसा कहकर रोज के समान अपनी प्लेट जागे बटार्ट नो उनमें आल् एंव मटर के साथ खट से मछली का एक बड़ा टुकड़ा प्लेट में रख दिया। मैं भौंचक सा रह गया और वेटर की आंख गुम्मे में देखने लगा। वेटर मेरे शोध का कारण नहीं समझ पाया। जब मैंने मछली के टुकड़े की जो इशारा किया तो वह मेरी नाममझी पर हमला हुआ बोला, "नो मीट, नो एग, फिश, फिश" अर्थात् "यह मांस या अंडा नहीं, मछली है।"

मैं भला ठप्पे क्या जवाब देना। बन्नु दोप मेरा ही था जो मैंने मछली को भी मांस में शामिल कर लिया था। उस दिन के बाद मैं जब तक जहाज पर रहा, वेटर ने "नो मीट, नो फिश, नो एग" कहकर नाम चलाता रहा।

जहाज में नौ किसी प्रकार काम चला गया, पर मार्मेलोज में जब जहाज छोड़ा तो फिर वही परेशानी उपस्थित हुई। मार्मेलोज में हमें ट्रेन द्वारा पेरिस होते हुए कैंले पहुँचना था। वहाँ मैं जहाज द्वारा डाक्टर और डाक्टर में लड़न। मार्मेलोज में हमें दिन भर ठहरना था और शाम की ट्रेन में पेरिस के लिए चला जाना था।

मार्मेलोज में दो-तीन रेस्टा में जाकर हमने पता लगाया कि वहाँ किसी को अंग्रेजी का ज्ञान है या नहीं। पर वहाँ कोई यह भी नहीं समझ सका कि मैं क्या पूछ रहा हूँ। लाचार होकर मैं अपने एक साथी सरदारजी के साथ एक रेस्टा में गया और वहाँ 'मेनु' पढ़कर हम यह देखने लगे कि उसमें अंग्रेजी का कोई शब्द है या नहीं। पर फ्रामीसी लिपि की हम लोगों के लिए अध्ययनी थी। वैसे फ्रामीसी और अंग्रेजी लिपि में कोई अंतर नहीं, पर फ्रामीसी लिखावट हम लोगों के लिए नई थी।

मार्मेलोज में नौ किसी प्रकार अपने लिए आर्टें दे दिया (विमानाहारी थे) और मैं रेस्टा में खाना खा रहा अन्य लोगों की प्लेट देखने लगा। उनकी प्लेटों में आलू, मटर, गोभी आदि कई सब्जियाँ थी। मैंने वेटर को बुलाकर उन बन्नुओं की खाना दिखा कर दिया और इन प्रकार एक परेशानी में मुक्ति मिली।

लड़न में मेरे खाने का प्रबन्ध कानेज की कैन्टीन में ही हो गया था। पहले करीब ७-८ माह (अर्थात् जब तक मैं लड़न में रहा) मुझे कोई परेशानी नहीं हुई। लेकिन जब कानेज छोड़ा तो बाहर खाना खाने की परेशानी सामने आई।

कुछ मित्र न मछल दी कि यदि मैं 'मेलक मर्विस' रेस्टा में जाया करूँ तो कोई परेशानी नहीं होगी। 'मेलक मर्विस' रेस्टा में पनाई हुई बन्नुएँ जलग-जलग प्लेटों में रखी रहती हैं तथा ग्राहक को जो बन्नु पसंद हो उसे उठाकर अपनी ट्रे में रखता जाता है। अतः मैं जब वह अपनी पसंद की सभी बन्नुएँ ले चुकता हूँ, तब काउन्टर के क्लर्क पर आकर उनका मूल्य चुका देता हूँ।

मेलक मर्विस रेस्टा में मैंने कुछ मृदुमात्रा वन्दान मिष्ट हुए। यहाँ न बन्नुएँ छूने की आवश्यकता थी, न उनका नाम जानने की और न किसी से कुछ पूछने की। मैं वहाँ जाकर अपनी ट्रे में भुन हूँ आलू, मटर, फलिया, टमाटर का सूप, उबरी हुई सब्जी आदि कई बन्नुएँ ले लिया करता था। उनका मूल्य भी अधिक नहीं होता था तथा वे पूजन मनोपजनक भी थी।

कानेज में मैं जब पटना था तो वहाँ कैन्टीन में कभी-कभी अपने यहाँ की आलू-चाप जैसी एक टिकिया भी मिलती थी। उसका नाम 'बीज-कैक' था। 'बीज' को हमलोग वैसे पनीर के नाम में जानते हैं पर यह उसका सही अर्थार्थ नहीं। 'बीज' दूध से बनाया एक पदार्थ होता है तथा बीज-कैक उसी पदार्थ में बनाई जाती है।

यह बन्नु मुझे बहुत पसंद थी। मेलक मर्विस रेस्टा में भी जब मुझे एक प्लेट में रखी हुई यह वस्तु दिखी





तो बहुत खुशी हुई और मैं प्रायः प्रतिदिन इसे पाने लगा। वहाँ पाते हुए मुझे लगभग तीन माह हो चुके थे और उहाँ के पाने से मुझे कोई शिकायत नहीं थी।

एक दिन जब मैं वहाँ 'बीज-केक' खा रहा था तो उम्मे काटते समय उसके अंदर पतली-पतली दो-तीन सीकें-सी दिखी। मैं समझ नहीं पाया कि उसके अंदर ये सीकें कैसे आई तथा क्या हो सकती हैं। सहगा मेरा ध्यान लगभग ३ वर्ष पूर्व की एक घटना की ओर गया जब मैं बनारस में एक बार अपने एक बगानी मित्र के यहाँ गया था तथा उनके यहाँ आगमन में इसी प्रकार की छोटी-छोटी सीकें-सी देखी थी जिनके विषय में उन्होंने बाद में बतलाया था कि वे मछली के काटे हैं।

मेरे हृदय को एक चक्का-सा लगा और मैं सदेह में पड़ गया। बाद में वेस्ट्रिम ने पूछने पर पता चला कि पिछले तीन माह में जिस वस्तु को 'बीज-केक' गमझकर खाता आ रहा था, वह वास्तव में फिश-केक थी।

'बीज-केक' और 'फिश-केक' में कोई विशेष अंतर नहीं होता। आकार-प्रकार, स्वरूप में दोनों एक सी ही होती हैं। पर यह तो उन्हें बनाने वाले की कुशलता थी कि एक साल तक कालेज में 'बीज-केक' और तीन माह तक रेस्ट्रा में 'फिश-केक' खाते रहने पर भी मैं दोनों का अंतर नहीं समझ सका।

इसके बाद तो मैं पाने-पीने के मामले में और भी सतर्क हो गया, फिर भी काफी सचेत रहने के बावजूद कुछ ऐसे अवसर आए जब कुछ न कुछ गलती हो ही गई।

एक बार लंदन विश्वविद्यालय के 'स्कूल आफ ओरिएंटल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज' के पुस्तकालय में कुछ कार्य-बना जाता पड़ा जहाँ निश्चित समय से कुछ अधिक देर हो गई और वही पाना पाने का समय हो गया। उहाँ पूछने पर पता चला कि कालेज में ही कैंटीन है जहाँ कालेज कर्मचारियों एवं विद्यार्थियों का सुलभ मूल्य में अच्छा पाना मिल जाता है। चूँकि उस कालेज में भारतीय छात्र भी काफी संख्या में हैं अतः भारतीय ढंग के पाने का भी वहाँ प्रबंध रहता है।

कैंटीन में पहुँचने पर पता चला कि वहाँ सेल्फ सर्विस व्यवस्था है। डबल रोटी (ब्रेड), मक्खन, दूध आदि तो मैंने स्वयं ही ले लिया पर शाक के लिए वेट्रेस से कहना पड़ा कि मैं शाकाहारी हूँ। उसने बतलाया कि उस दिन वहाँ मांस की कोई वस्तु नहीं थी अतः सभी लोगों के लिए एक शाक थी। ऐसा कहते हुए उसने एक ही गहरी प्लेट में शाक दे दी।

इसे मैं सभी सामान लेकर मैं जब टेबिल पर पाना पाने बैठा तो देखा कि शाक में बड़े-बड़े बिना कटे पूरे आलू एवं गोभी के टुकड़े थे। पाते-पाते एकाएक एक लम्बे गोल आलू पर ध्यान अटक गया। उसका आकार प्रकार सामान्यतः अन्य आलुओं में भिन्न था अतः मेरा मन उम्मे तुरन्त ही आलू मानने को तैयार नहीं हुआ। जब सोचते-सोचते थक गया और किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका तो पास में बैठे एक व्यक्ति ने उम्मे विषय में पूछा। उसने बतलाया कि यह आलू नहीं बरन पूरा उबला हुआ अंडा था तथा वहाँ इस प्रकार शाक सब्जी में अंडे डालने की प्रथा है।

इंग्लैंड में २-३ वर्ष तक रहते हुए मैं वहाँ के पान-पान से बहुत कुछ परिचित हो चुका था। अब पहले जैसी मुश्किल नहीं होती थी। पर एक बार जब कान के आपरेशन के सिलसिले में दो मप्ताह तक अस्पताल में रहना पड़ा तो फिर मुश्किल पड़ी।

ब्रिटन में 'नेशनल हेल्थ सर्विस' योजना लागू रहने के कारण अस्पतालों में सभी प्रकार की निःशुल्क व्यवस्था रहती है। खाना भी वहाँ निःशुल्क मिलता है। अतः पहले ही दिन मैंने अपने वाड की 'सिस्टर' को अपने शाकाहारी होने तथा मांस, मछली, अंडे से परहेज की सूचना दे दी। इसके परिणाम स्वरूप मेरे लिए कुछ चीजें अलग से पकाई

जाने लगीं पर कुछ बन्तुए ऐसी थीं जो सनी मरीजों के लिए ममान स्नान से बनती थी और मैं भी उनमें से कुछ अपने लिए ले लेता था।

मेरी बन्तुओं में हम सबसे पहले मूत्र मित्रा था जो प्रायः विविध प्रकार की शाक मन्डियों से बनाया जाता है। एक बार जब मैं 'मूत्र' पी चुका तो एक साथी मरीज ने उत्पुङ्गवाक्य कहा कि जब आप शाकाहारी हैं तो आपने यह मूत्र कैसे पी लिया। वह मुत्तूर में चौका पर बाद में शीघ्र ही अपनी गलती का पता चला गया।

इंग्लैंड में बड़े चीजें ऐसी हैं जिनके नाम बड़े विचित्र होते हैं और मूत्र मन्डियों में उनका कोई संबंध नहीं होता। यथा खाने-पीने की बन्तुओं में एक अमेरिकी चीज 'हाट डॉग्स' (Hot Dogs) नामक है। जिसका मन्डियार्थ होता है "गरम कुत्ते" पर गरम ता ब्या ठंडे कुत्तों में भी उसका कोई संबंध नहीं है।

इसी प्रकार मूषों में "आक्सटेल" (OXTAIL) नामक एक मूष होता है जिसके संबंध में मेरी उक्त-छाया थी। यह मूष मैं पहले भी बड़े बर पी चुका था। पर उस दिन साथी मरीज ने बताया कि 'आक्सटेल' मूष नाम प्राप्त मार्यक है (आक्सटेल मूष जाने बिल की पूछ का धोखा) क्योंकि वह बिल की पूछ से ही बनाया जाता है।

मूष के मामले में इसी प्रकार गटरडम (हार्ड) के एक रेन्डा में भी गडबड हो गई। वहा टमाटर के आंगरे का आर्टन देने पर जो मूष नामने आया, उसमें छोटी-छोटी गोमिया पड़ी हुई थी। चखने पर जब मूष का स्वाद भी कुछ नया-सा लगा तो पूछने पर पता चला कि हार्ड में टमाटर के मूष में गार्डन के भूने या तले हुए टुकटे भी डाल देने की प्रथा है।

दान्मगम (पूर्वी अफ्रीका) में भी इसी प्रकार खाने के मामले में जा एक घटना हुई, वह जल्दी नहीं बुझ गई आ सकती। वहा टूनिवमिटी जालेन में सीनियर छात्रों की विदाई के उपरत्य में आयोजित एक पार्टी में मुझे भी बुलाया गया। कैमटीन की व्यवस्थापिका में मैंने पहले ही कह दिया था कि चूंकि मैं शाकाहारी हूँ अतः मेरे लिए वे विशेष व्यवस्था कर दें। उन्होंने यह कह कर आश्वासन दिया कि पार्टी में वे मेरे साथ ही रहेंगे और बतला देंगी कि क्या क्या चीजें मैंने उपयुक्त हैं।

पार्टी में यूरोपीय टा की नेल्क नविम व्यवस्था थी। बड़ी-बड़ी प्लेटों में चीजें सामने रखी हुई थी और लोग टच्छानुसार चीजें लेकर अपनी प्लेटों में रखते जाते थे। मैंने भी एक खाली प्लेट लेकर चीजें रखना शुरू की। उबरी हुई मटर, आलू, जाद्री कई चीजें मैंने लिए उपयुक्त थी। व्यवस्थापिका मेरे साथ ही थी अतः मैं और भी निश्चिन्त था। तो जो बन्तुए मैं ले रहा था, उन्हें वह बड़े गौर में देख रही थी। और सब चीजें लेने के बाद मैंने गोमी के टुकड़े भी लिए जो दूध में मिश्रण गए जात पड़ने थे।

सब चीजें लेकर मैं टेबिल पर आ गया और खाने के लिए ज्यों ही गोमी का पहला टुकड़ा मुह में डाला, उसे चखने ही उन्दी-सी होतें लगी। लगभग १०-१५ मिनट तक पानी से कुंठे करने रहने के बाद भी मुह में वह स्वाद नहीं गया जिसके कारण उन्दी का अनुभव हो रहा था। मैं तो कुछ समझ ही नहीं पा रहा था कि उन गोमी के टुकड़ों में ऐसी क्या बात थी कि यह स्थिति हो गई। व्यवस्थापिका भी मेरी हाजिर देव कर अलग परेशान थी। वह बात में पता चला कि जिस चीज को मैं गोमी के टुकड़ोंमनके हुआ था, वे वास्तव में माफ़ किये हुए कंकड़े (Lobster) थे। तिनपर से चमड़ा (छिलका) उतार दिया गया था। और इसी कारण वे देखने में गोमी के फूट जैसे लग रहे थे।



निश्चयनय और व्यवहारनय

पं० कुन्दनलाल

स्वायत्तीय, शास्त्री



ममस्त ममार के जीवधारियो ता गत दिन का प्रयत्न एक मात्र मुग्धप्राप्ति के उद्देश्य ने प्रेरित है । विद्याप्राप्ति, व्यापार-उद्योग, मनोरंजन के नाना प्रकार के माधन, भोगोपभोग के निम्न नये माधनों का आविष्कार आगिर क्यों ? सब का एकमात्र उद्देश्य स्वाधी मुग्धप्राप्ति ही इच्छा ही है । परन्तु यह स्वाधी मुख मिलना नहीं । इसीलिये विचारशील मनीषियो ने अथवा तत्त्वमीमांसा के द्वारा स्वाधी मुग्धप्राप्ति का ज्ञ लक्षण व उपाय पोज्ञा उने एक महान् दार्शनिक कवि अपी इन चार पत्तियो मे बड़े सुन्दर ढंग में बतलाते हैं—

आत्म को हित हे सुख, सो सुख आकुलता जिन कहिये ।
आकुलता शिष्य माहि न, ताने शिष्य भग लाग्यो चाहिये ॥
सम्पददर्शन ज्ञान चरित शिष्य-भग सो दुषिय विचारो ।
जो सत्पारस्य रूप सुनिश्चय, कारन सो व्यवहारो ॥१॥

प्रत्येक जीवात्मा का वाछिन-अभिलषित-एक मात्र इष्ट सुख है । और उस की परिभाषा है आकुलता-व्याकुलता का सर्वथा अभाव । आकुलता का अभाव, आत्मा की मर्कित का नाश करने वाले, आत्मा को चिह्नित एवं मलीन करने वाले जानावरणादि ममस्त शुमानुष कर्मों का सबर निजंग के द्वारा सर्वथा नाश रूप मोक्ष मे है । इन लिये सुख चाहने वाले मुमुक्षु जीवों को मोक्षमार्ग मे लगना चाहिये । वह भोग का मार्ग सम्पददर्शन-सम्पदज्ञान-सम्पद-चारित्र्य रूप है । सम्पददर्शन, सम्पदज्ञान, सम्पदचारित्र्य रूप मोक्षमार्ग से प्रकार का है । निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग । जो वास्त्विक श्रद्धा ज्ञान आत्म-मरणरूप आत्मपरणति है वह निश्चय मोक्षमार्ग है और उस निश्चयमोक्षमार्ग की प्राप्ति मे जो कारणरूप है वह श्रद्धा ज्ञान और आत्मा की ममार के त्रिपद भोगों मे विरतिन रूप पणिनि व्यवहारमोक्षमार्ग है ।

ममार के क्षणिक ऐन्द्रिय सुखों के लिये लोंग दिन-गत पचने है, अर्थोत्तर्जन करने है, और पूरा जीवन व्यतीत कर देते हैं किन्तु उसका फल आगिर क्या मिलता है ? क्षणिक शांति और उसके बाद अनन्त अशांति । पर जिन मुमुक्षु को पा लेने के बाद दुःख की हवा भी छू नहीं सकती उसकी प्राप्ति के कारणभूत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की ओर हमारी रुचि ही नहीं । शाश्वत सुख पाने के लिए उस तत्त्वज्ञान को जानना होगा । उस की कुत्री निश्चय और व्यवहारनय का ज्ञान ही है । इसलिये सबसे पहले इन नयों का ही स्वरूप समझना है । वस्तुतत्त्व को समझने के लिये नयवाद म्याद्वाद-अनेकान्तवाद रूप दृष्टि जैनधर्म की द्वाज के क्षेत्र मे अधूरे देन है । महान् दार्शनिक आचार्यप्रवर अमृतचन्द्र सूरि अपने “पुरुषार्थ सिद्धयुपाय” ग्रन्थ मे अनेकान्त को नमस्कार करते हुए स्तुति करते हैं—

परमागमस्य बीज निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसिताना बिरोधमयन नमाम्यनेकान्तम् ॥

जैसे जल के डब्बे पुरुषार्थों के पृथक् २ व्यवहारों का स्थान करने उनमें हाथों के शरीर का आकार निश्चय करने में परस्पर वाद-विवाद करने हुए भी प्रत्यर्थ निश्चय नहीं कर सकते, परन्तु नेत्रवान् पुण्य उनके विवाद को क्षण मात्र में दूर कर देता है, उसी प्रकार अज्ञानी लोग वस्तु के अनेक अंग (सम-स्वभाव) आनी हुई से, भिन्न-भिन्न रीति से निश्चय करने हुए भी सत्यज्ञान के बिना सबों वस्तु को न जान कर परस्पर विवाद करने हैं और इसी में समार में मनन होते हैं। अतएव वस्तु के अनेक पहलू होने हैं, अतः समस्त पहलुओं को जाने बिना विरोध दू हो ही नहीं सकता। क्योंकि पदार्थ में अनेक गुण हैं और भिन्न-भिन्न लोग उन्हें दृष्टि २ ग्रहण कर लेते हैं। पर मूल प्रश्न यह है कि अपने माने हुए विचार अन्य लोगों की मन्ता स्वीकार नहीं करते। इसी कारण झगडा होता है कि यदि उन सब के सम्मेलन में यह विचार पर कर जाय कि सैने पदार्थ के यह गुण माना दूसरों के दूसरे गुण माने हैं और पदार्थ में वे सब गुण हैं, इनमें से अपेक्षा अन्त में ठीक है तो सब में सामञ्जस्य पैठ जायगा और मतभेद-विरोध का जन्म हो जायगा। इसी विरोधों के कारण प्राचीनों के जनेगल की महत्ता स्वीकार कर उसकी स्तुति की है।

“अनेकालं शब्द का अर्थ है—एक ने अधिक ज्ञान” अर्थात् धर्म। अर्थात् पदार्थ में केवल एक गुण-स्वभाव झगडा धर्म नहीं, बहुत से गुण रहते हैं। वस्तु के अनेक धर्म एक साथ ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं परन्तु दूसरे का सम्मान के माध्यम शब्द है और शब्दगत सत्य में एक धर्म को कहने की प्रीति रहती है, एक साथ समस्त गुण धर्मों को नहीं यह कहना। हमारे उन ज्ञान धर्मों को बतलाने की पद्धति का नाम स्याद्वाद है। इसी का दूसरा नाम अपेक्ष-वाद या तन्त्रवाद है। ‘स्यात्’ का अर्थ ‘जिसी अपेक्षा में’ यह है और ‘वाद’ का अर्थ कहना है अर्थात् एक अपेक्षा से एक धर्म की पुनरावृत्ति ऐसा कहा गया है और दूसरी अपेक्षा में यह नहीं कहा जायगा, वह दूसरी तर्क कहा जायगा।

इसीलिए न्याय सिद्धान्त (नायम) में यह कहा गया है कि—“वक्ता ने अनेक धर्मात्मक वस्तु के जिन धर्म की सुन्यता में शब्द कहा है उनके उर्ध्व अभिप्राय को जानने वाले ज्ञान को न्या कहते हैं। यह भावना का लक्षण है और वह धर्म तथा उन धर्म के वाचक शब्द को व्यवहार करने हैं। इसी को कार्तिकेय स्वामी ने इस प्रकार कहा है —

लोपाग वदहानं वस्त्विवक्त्याऽपि पमाहेति ।

सुप्रागत्य विषयो सो वि गतो लिंगसम्बन्धो ॥

धर्म विविक्षा में (कहने वाले की कहने की इच्छा से) लोप व्यवहार के माध्यम लिंग (हेतु) से उत्पन्न श्रुत ज्ञान के विषय को नय कहते हैं।

ते जाणिञ्जई जीवो इदियवावाराकाचिद्वाहि ।

त अपुमान नगदि त पि णय बहुविह जाण ॥

जीव का इन्द्रिय व्यापार और कायवेष्टा के द्वारा जानना अनुमान कहलाता है। यह अनुमान भी नय ही है। क्योंकि अनुमान प्रमाण को भी अनुमान ही माना है।

नो चिय इक्को अम्मो वाचय सद्दो वि तत्तल वम्मत्त ।

ते जाणदि ज पाणं ते तिवि पयविमेना य ॥

वस्तु का एक धर्म, उन धर्म का वाचक शब्द और उन धर्म को जानने वाला ज्ञान, ये तीनों नय विषय हैं। न्याय में श्री वेत्तेन स्वामी कहते हैं —

ज पाणीण विषय्य सुयनेय वत्थु अमसगहण ।

न इह पयं पदत्त पाणी पुण तेण पाणेहि ॥



पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है —

“वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेष-याथात्म्यप्रापणप्रवण प्रयोगो नयः ।” अर्थात् जो प्रयोग अनेकान्त स्वरूप वस्तु में अविरोध हेतु अर्पणा में साध्य विशेष की यथार्थता प्राप्त करने में समर्थ है उसको नय कहते हैं। इन सब का भाव वही है जो ऊपर लिखा जा चुका है। “जो इतर धर्मों की अपेक्षा सहित हैं वे मुनय हैं और जो इतरधर्मों से निरपेक्ष हैं वे कुनय हैं। उनसे पदार्थ की मिश्र नहीं होती।”^१

श्रीदेवसेन स्वामी ने नयों की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है परन्तु सब का माराण एक गाथा में इन प्रकार है—

जे णयदिद्विविहणा, ताण ण वत्थू सहावजवलद्धो ।

यत्थुसहावविहणा सम्मादिट्ठी कहं होति ॥१॥

अर्थात् जो पुरुष नयदृष्टि से रहित हैं उनको वस्तु स्वभाव का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, और वस्तु स्वभाव के यथार्थ ज्ञान के बिना वे सम्यग्दृष्टि किसी प्रकार नहीं हो सकते। इन प्रकार नयज्ञान के बिना जैनागम का रहस्य नहीं जाना जा सकता।

जैनाचार्यों ने नयवाद का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म, विशद और व्यापक रूप में किया है। विविध प्रकारों से नय के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है। सिद्धसेन दिवाकर ने अपने सन्ततिप्रकरण में कहा है—

जावइया वयणपहा तावइया चेव होति णयवाया

अर्थात् जितने वचन के मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं। इस प्रकार नयों की संख्या निर्धारित नहीं हो सकती। तथापि विभिन्न दृष्टिकोणों में नयों के भेदों का कथन किया गया है। यहाँ हम नयों के कर्तव्य भेदों पर प्रकाश डालेंगे।

नय के मूल दो भेद हैं। एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। व्यवहारनय का दूसरा नाम उपनय भी है। “आगम म निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते हैं।”^२ अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही जानना या कहना यह निश्चयनय है। यह पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कहता और जानता है इसीलिए इसे भूतार्थ—वास्तविक तत्त्व को विषय करने वाला—कहते हैं। व्यवहारनय वस्तु के परनिमित्तक स्वरूप को कहता या जानता है इसलिये वह अभूतार्थ है। जैसे घृत के निमित्त में किसी घट को घी का घड़ा कहना। घड़ा मिट्टी, पीतल या चादी आदि का होता है पर उसमें घी रखा होने से अन्य अनेक घड़ों में से उसे जल्दी में ढूँढ़ कर लाने का व्यवहार चलाने को कहा गया कि “घी का घड़ा लाओ।” यह व्यवहार अभूतार्थ है। अभूतार्थ का अर्थ झूठा नहीं है। किन्तु वह स्वरूप है जो स्वाभाविक सिद्ध अथवा निरपेक्ष न होकर परसापेक्ष हो।

निश्चय नय के दो भेद हैं। एक द्रव्याधिक और दूसरा पर्यायाधिक। जो विशेष स्वरूप से अविनाभावी सामान्य स्वरूप-द्रव्य को नाना युक्तियों के बल से सिद्ध करता है उसे द्रव्याधिकनय कहते हैं।^३ द्रव्य का अर्थ सामान्य है, तात्पर्य यह है कि वस्तु में सामान्य और विशेष दोनों धर्म रहते हैं। उनमें विशेष स्वरूपों को गौण करके जो सामान्य भाग को

१ मिथ्यासमूहो मिथ्याचेन्न मिथ्याकान्ततास्ति न ।

निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतोऽयं कृत् ॥१०८॥

—आप्तमीमासा—स्वामी समन्तभद्र

२ निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।

३ जो माहृदि सामण्यं अविणाभूदं विसेसखेवोहं ।

णाणाजुत्तिवलादो दब्बत्थो सो णओ होदि ॥ —स्वामी कार्तिकेय

मुख्यता से ग्रहण करना है उसे द्रव्याधिकनय कहने हैं। उसके विपरीत पर्यायाधिक नय है। पर्याय नाम विशेष का है इसलिए जान नय वस्तु के सामान्य स्वरूप को गीण करके विशेष को ही मुख्यता से ग्रहण करना है उसे पर्यायाधिकनय कहते हैं। जीव द्रव्य है। उसके नर-नागक देव निर्धन, मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि, मसागी और मुक्त आदि अनेक पर्याय हैं।

द्रव्याधिक और पर्यायाधिक नयों के दानो भेद हैं। अध्यात्मद्रव्याधिक और शास्त्रीयद्रव्याधिक तथा अध्यात्मपर्यायाधिक और शास्त्रीयपर्यायाधिक। इनमें आध्यात्मिक द्रव्याधिक नय के १० भेद और शास्त्रीय द्रव्याधिक के तीन भेद हैं—नैगम, मग्रह, और व्यवहार। उनमें नैगमनय के ३, मग्रह के २ और व्यवहार के २ भेद होने से शास्त्रीयद्रव्याधिकनय के ७ भेद होने हैं। आध्यात्मिक व्यवहारनय के ६ भेद हैं। शास्त्रीयपर्यायाधिक के १ ऋजुसूत्र २ ध्वज ३ समभिष्टुत गीण ४ एकभूत इस प्रकार भेद चार हैं। इनमें ऋजुसूत्र नय के २ भेद हैं, शेष के एक एक इस प्रकार शास्त्रीयपर्यायाधिक ५ भेद हुए। उस तरह आध्यात्मिक के १६ और शास्त्रीय नय के १२ भेद मिलाने में कुल निश्चयनय के २८ भेद हुए।

(१) जो मर्मवन्तयुक्त मसागी जीव को मिद समान शुद्ध ग्रहण करे उसे कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध-द्रव्याधिक नय कहते हैं। जैसे मसागी जीव मिद महेश शुद्ध बुद्ध जायक रूप है।

(२) जो उत्पाद वर्य को गीण करके केवल सत्ता-श्रीव्य मात्र को ग्रहण करे उसे सत्ता ग्राहक-शुद्ध द्रव्या-याधिक नय कहते हैं। जैसे द्रव्य निम्न है।

(३) गुणगुणी और पराध-परासी में भेद न करके, जो द्रव्य को गुणपर्याय में अभिन्न ग्रहण करे उसे भेद-त्रिकल्पनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्याधिक नय कहते हैं। जैसे द्रव्य अपने गुण पर्याय में अभिन्न है।

(४) जो नीच में प्राधादि भावों को ग्रहण करे उस कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्याधिक नय कहते हैं जैसे जीव शोधी, मानी मायावी, त्रांभी है आदि कहना।

(५) जो उत्पाद वर्य मिश्रित सत्ता को ग्रहण करे उसे उत्पाद-व्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्याधिक नय कहते हैं। जैसे द्रव्य पर समय में उत्पाद, व्यय और श्रीव्य युक्त है।

(६) जो द्रव्य को गुणगुणी आदि भेद नष्टित ग्रहण करे उसे भेदकल्पना-सापेक्ष-अशुद्ध द्रव्याधिक नय कहते हैं। जैसे दर्शन, ज्ञान आदि नीच के गुण हैं।

(७) जो मनस्व गुण पर्याय में द्रव्य को अन्य रूप ग्रहण करे उसे अन्वय द्रव्याधिक नय कहते हैं। जैसे द्रव्य गुण-पर्याय स्वरूप है।

(८) जो स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा में द्रव्य को मत् स्वरूप ग्रहण करे उसे स्व-द्रव्यादि-ग्राहक-द्रव्या-धिक नय कहते हैं। जैसे स्वचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य 'है' कहना।

(९) जो पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य को अमत् रूप ग्रहण करे उसे परद्रव्यादिग्राहकद्रव्याधिक नय कहते हैं। जैसे परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य 'नहीं' है।

(१०) जो मुद्राशुद्धापचार रहित द्रव्य के परमभाव को ग्रहण करे उसे परमभावग्राही-द्रव्याधिक नय कहते हैं।

पर्यायाधिकनय के ६ भेद

(११) जो अनादिनिघन चन्द्र मृयादि पर्यायों को ग्रहण करे उसे अनादि नित्यपर्यायाधिक नय कहते हैं। जैसे मरु पुद्गल की नित्य पर्याय है।





(१०) जो कर्मक्षय से उत्पन्न और कारणभाव से अविनाशी पर्याय को ग्रहण करे उसे सादि नित्य-पर्यायाधिक नय कहते हैं। जैसे जीव की मिद्वपर्याय नित्य है।

(११) जो सना बो गीण करके उत्पादव्यय भाव को ग्रहण करे उसे अनित्य-शुद्धपर्यायाधिक नय कहते हैं।

(१४) जो पर्याय को एक समय में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वभावयुक्त ग्रहण करे उसे अनित्य-अशुद्ध-पर्यायाधिक नय कहते हैं। जैसे पर्याय एक समय में उत्पादव्ययध्रौव्यरूप है।

(१५) जो ससारी जीवों की पर्याय को सिद्ध सदृश शुद्ध रूप ग्रहण करे उसे कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्ध पर्यायाधिक नय कहते हैं। जैसे ससारी जीव की पर्याय सिद्धसदृश शुद्ध है।

(१६) जो ससारी जीवों की चतुर्गति सम्बन्धी अनित्य अशुद्ध पर्याय को ग्रहण करे उसे कर्मोपाधि-सापेक्ष अनित्य-शुद्ध पर्यायाधिक नय कहते हैं। जैसे ससारी जीव पैदा होते हैं और मरते हैं।

शास्त्रीय नय के १२ भेद

(१७) जहां भूत में वर्तमान का आरोप किया जाय उसे भूतनैगमनय कहते हैं। जैसे आज दिवाली के गंज भगवान् महावीर मोक्ष गये।

(१८) जहां भविष्यकाल का भूतकाल के समान कथन किया जाय उसे भावीनैगम नय कहते हैं। जैसे अहन्तो का कहना कि वे मिद्व ही हैं।

(१९) जिस कार्य को आरम्भ कर दिया जाय और एक देश वह कार्य तैयार भी हो जाय, पर पूरा तैयार नहीं हो फिर भी उसे तैयार हो गया, ऐसा कहना वर्तमाननैगमनय है। जैसे कोई आदमी भोजन बनाने के लिए सामग्री तैयार कर रहा है अथवा आधा भोजन तैयार हो गया, किसी ने पूछा भोजन बन गया तो कहना बन गया।

(२०) सत्त्व सामान्यकी अपेक्षा में सत्रद्रव्यों का जो एक रूपग्रहण करे उसे सामान्यसग्रहनय कहते हैं। जैसे द्रव्य मन् की अपेक्षा एक है।

(२१) जो एक जाति विशेष की अपेक्षा से अनेक पदार्थों को एकरूप ग्रहण करता है उसे विशेषसग्रहनय कहते हैं। जैसे चेतना की अपेक्षा समस्त जीव एक है।

(२१) जो सामान्य सग्रहनय के विषय को भेद रूप करता है उसे शुद्धव्यवहारनय कहते हैं, जैसे द्रव्य के दो भेद हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य।

(२२) जो विशेष सग्रहनय के विषय में भेद करे उसे अशुद्धव्यवहारनय कहते हैं, जैसे जीव दो प्रकार के हैं—समार्ग और दुश्चन।

(२३) जो एक समयवर्ती सूक्ष्म अर्थपर्याय को ग्रहण करता है उसको सूक्ष्मशुद्धसूत्रनय कहते हैं। जैसे मय शब्द क्षणिक है।

(२४) अनेक समयवर्ती स्थूल पर्याय को जो विषय परे उसे स्थूलशुद्धसूत्रनय कहते हैं। जैसे मनुष्यादि पर्याय आयुष्यवन्त रहते हैं।

(२५) एक पदार्थ में भिन्न लिंगादि की स्थिति को जो नहीं मानता उसे शब्दनय कहते हैं।

(२६) एक शब्द के अनेक वाच्य हैं उनमें से एक मुख्य वाच्य को किसी एक पदार्थ में देय उसमें आश्रित ही, उस पदार्थ के अन्य क्रिया रूप परिणत होने पर भी उस पदार्थ को अपना वाच्य मानना समसिद्ध नय का विषय है। जैसे

गी शब्द के भूमि स्थितिवाणी जदि ११ अर्थ हैं । उनमें से एक अर्थ गतिमन्त्र है, वह गतिमन्त्र मनुष्य, हाथी, घोडा, बैल इत्यादि अनेक पदार्थों में पाया जाता है किन्तु गाय बैल पदार्थ में ही आसृष्ट होकर उन गाय बैलों को मोने-उठने-बैठने आदि सभी उद्वेगना में गो शब्द का वाच्य मानना समझिए नय का विषय है ।

(२८) जिस श्रिया का वाच्य जो शब्द उसी श्रिया पणित पदार्थ में प्रयुक्त करे उसे एवभूतनय कहते हैं । जैसे गो जिस शाल में गमन करे उस शाल में ही उसे गो कहे, अन्यत्रिया करने हुए गो न कहे, यही एवभूत नय है ।

शब्द, समझिए और एवभूत के तीनों नय शब्द की प्रयानता से होते हैं, इस कारण इन्हें शब्दनय कहते हैं । नाम, मन्त्र व्यवहार और अनुसूत्र, ये चारों नय अर्थों की प्रयानता के कारण इन्हें अर्थनय कहते हैं ।

व्यवहारनय के निम्न ८ भेद

व्यवहारनय के ८ भेद हैं—मद्भूत, अमद्भूत और उपचरित व्यवहारनय । इनमें मद्भूत के दो अमद्भूत के तीन और उपचरित के तीन भेद हैं । विस्तार में इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) ११ द्रव्य में गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी, साक-साकवान्, स्वभाव-स्वभाववान् इत्यादि भेद रूप स्वरूपना करना शुद्धमद्भूतव्यवहारनय है ।

(२) आशु-द्रव्य का बहुप्रदेश रूप स्वरूपना करना अशुद्धमद्भूतव्यवहारनय है ।

(३) मत्तान्यमद्भूत व्यवहारनय ४ विज्ञान्यमद्भूत व्यवहारनय ५ स्वज्ञानिविज्ञान्यमद्भूत व्यवहारनय । इन तीनों में प्रत्येक के २-२ भेद होने हैं ।

१ द्रव्य में द्रव्य का समावेश २ द्रव्य में गुण का समावेश ३ द्रव्य में पर्याय का समावेश ४ गुण में गुण का समावेश ५ गुण में द्रव्य का समावेश ६ गुण में पर्याय का समावेश ७ पर्याय में पर्याय का समावेश ८ पर्याय में गुण का समावेश ९ पर्याय में द्रव्य का समावेश । जैसे चन्द्रमा के प्रतिविम्ब को चन्द्रमा कहना यथा मत्तानि पर्याय में मत्तानि पर्याय का समावेश है (४) विज्ञान जो मूल स्वरूप करना विज्ञातीय गुण में विज्ञातीय गुण का समावेश है (५) नीच अनीच का ज्ञेय को ज्ञान का विषय होने में ज्ञान रहना मज्ञानिविज्ञानि द्रव्य में मज्ञानीय विज्ञातीय गुण का समावेश है । (६) पदमागु का बहुप्रदेश रहना यथा ज्ञानि-द्रव्य में मत्तानि विभावपर्याय का समावेश है । (७) उसी प्रकार शेष उदाहरण समझना चाहिये ।

अमद्भूत व्यवहार मित्या है, यह शक्य निर्मूल है । समाज का व्यवहार उस नय के बिना चल नहीं सकता । यह बान अनुसूत्र मिष्ट है कि किसी पुरुष ने अपने बड़े ने कहा कि “घो का घड़ा लानो” तब यह शब्द सुनते ही उठकर तुम्हारे ही ने मत्तानि मिष्टी श्रयवा अन्य धानु का घड़ा उठा लाता है । यह नय मित्या होना तो उस लडके को उपर्युक्त अवज्ञान कैसे होता ?

मृत्त पदार्थ का अनुसूत्र होने पर प्रयोजन और निमित्त के वन में जिसकी प्रवृत्ति हो उसे उपचरितमद्भूत व्यवहारनय कहते हैं । प्रयोजन का अर्थ व्यवहार मिष्टि है और निमित्त का अर्थ विषय-विषयी, परिणाम-पणिामी कार्य-कारण सम्बन्ध है ।

(८) मित्र-भुयादि बन्धु वर्ग भेदे हैं, यह करना मज्ञात्युपचरितामद्भूत व्यवहारनय है ।

(९) आभरण स्वर्णरत्नादिभेद भेदे हैं, यह करना विज्ञात्युपचरितामद्भूत व्यवहारनय है ।

(१०) देश राज्य दुर्गादिक भेदे हैं, यह करना मिश्रोपचरितामद्भूत व्यवहारनय है ।

इस प्रकार निश्चय के २८ भेदों में व्यवहारनय के ८ भेद मिलायें तो नय के सब भेद ३६ होते हैं ।



व्यवहार के बिना अज्ञानी प्राणी मोक्ष की सीढ़ी स्वरूप निश्चयमार्ग को पा नहीं सकता । इसलिये जब तक पूर्ण व्यवहारनिवृत्ति कर आत्मतत्त्व में लयलीनता न हो तब तक व्यवहार-अशुभ में निवृत्तिरूप शुभ प्रवृत्ति का मार्ग श्रावक गो तथा मुनि को पानना श्रेयस्कर है ।

आचार्यों ने दोनों नयों की आवश्यकता एक पद्य में दृष्टान्तपूर्वक यों बतलाई है—

एकेना-आकर्षणी श्लययन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।

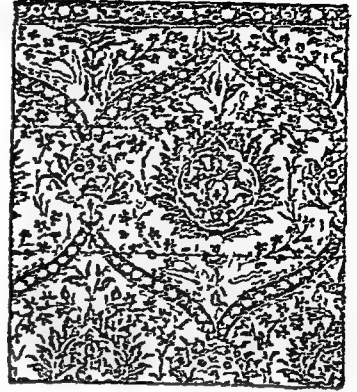
अन्तेव जयति जैनीनीतिमन्यानेत्रमिव गोपी ॥

जिम प्रकार दहीबिलोने वाली ग्वालिन गयानी की रस्सी को एक हाथ में खींचती है, दूसरे से ढीली कर देती है और दोनों क्रियाओं में दही से मक्खन निकाल लेती है, उगी प्रकार जिन वाणी का मर्मज्ञ सच्चा साधक व्यवहार-नय से या निश्चयनय में पदार्थ को ग्रहण कर दूसरे प्रतिपक्षी नय को सर्वथा छोड़ नहीं देता, ढीला कर देता है—गौण कर देता है, तभी वह तत्त्व के पूर्ण रहस्य को प्राप्त कर परमात्मपद को प्राप्त करता है ।

वीरसंघ की विभूतियां :

राजस्थान के जैनवीर और प्रशासक

डा० कैलाशचन्द्र जैन,
एम० ए०, पी० एच० डी०, डॉ०-लिट्,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन



राजस्थान में अनेक जैनवीर और कुशल प्रणामक हागये हैं। उन्होंने राजाओं के प्रति मच्छी स्वाभिमान दिख-
लाई और जनता की सेवा की। लोगों के मनुष्य उच्च नैतिक आदर्श रत्ने। लडाइयों और युद्धों में अपनी गौरवीरता का
अद्भुत परिचय दिया। राज्यों में व्यवस्थित शासन-प्रबन्ध की स्थापना की। कला और संस्कृति को समृद्ध किया। कला-
पूर्ण भव्य मन्दिरों का निर्माण किया और उनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। विद्वानों को प्रोत्साहन दिया एवं साहित्य
और शिक्षा की उन्नति के लिए प्रयासों और विद्यालयों की स्थापना की। उनकी सत्या बहुत अधिक है। सक्षिप्त
निबन्ध में उन मन्त्रों को उल्लेख नहीं किया जा सकता, अतएव यहाँ उन्हीं की चर्चा की जाएगी जिनके नाम विशेष उल्ले-
खनीय हैं।

विमल :—विमल ग्यारहवीं सदी का एक चतुर राजनीतिज्ञ था। वह अपनी सैनिक योग्यता के कारण
गुजरात के राजा भीम का मन्त्री बन गया। मन्त्रित्व अपने स्वामी के साथ वह महामुद गजनी में भी लडा। प्रबन्धों के
अनुसार उसने बारह मामलों को भी हराया। वह उन्मेष पौराणिक नहीं है किन्तु इसमें सत्य अवश्य है। ये महामुद
गजनी के मामल व सेनापति हो सकते हैं। उसने मौर्याष्ट्र व कच्छ को फिर से अपने स्वामी का दिलाया, जो मुस्लिम
आक्रमण का लाम उठाकर स्वतंत्र हो गये थे। उसने अपने स्वामी भीम को आवू के समीप चन्द्रावती के राजा धधुक को
हराने में सहायता दी। विमल की इन सेवा के बदले में भीम ने उसे आवू का गवर्नर बना दिया। कुछ समय पश्चात्
विमल ने धधुक और भीम को ममता बुझाकर दोनों में मुल्ह करा दिया। भीम ने धधुक को उसका राज्य लौटा दिया
किन्तु विमल को पहिले की मानि अपने प्रतिनिधि के रूप में चन्द्रावती में रखा। विमल धार्मिक प्रकृति का भी था
और उसने आवू में बहुत ज्ञानदार जैन-मन्दिर बनवाया।

उदयन —उदयन का जन्म भारवाड में जालोर में हुआ था। वह भीमाल जाति का था। बड़े होने पर
वह जालोर छोड़ कर कर्णावती में जाकर बस गया। धीरे-धीरे भारगोदय होने लगा और वह समृद्ध हो गया। उसकी
यश और कीर्ति बढ़ने लगी और जर्मिह मिहगज ने उसको मन्त्रित्व का राज्यपाल नियुक्त कर दिया। वह पक्का
जैनभक्त भी था। उसने हेमचन्द्र सूरि के पिता चाचिग को अपने पुत्र को दीक्षा देने को प्रेरित किया। जब कुमार-
पाल अपने चाचा के कोप में अपनी प्राणरक्षा के लिए भ्रमण कर रहा था, उदयन ने ही उसको शरण दी और अंत में
गजगद्दी दिलाने में भी सहायता दी। कुमारपाल ने उसे मोरठ के राजा से लड़ने को भेजा जिसमें वह वीरगति को
प्राप्त हुआ। मृत्यु के पहिले उसने विमलाचल और भृगुकच्छ में जैनमन्दिर बनाने का दृष्ट मकल्प किया था जिसको
उसके पुत्रों ने पूरा किया।^१

१ विमलचरित्र, पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ० ८१-८२

२ प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० ६१-६८, पृ० १०४-१०५



वस्तुपाल —वस्तुपाल^१ तेरहवीं शताब्दी में धवलक और धोल्का के बाघेल राजा वीरधवल का प्रधानमंत्री था। वह एक कुशल शासक ही नहीं किन्तु कला व साहित्य का भी प्रेमी था। पहिले वह गुजरात के राजा भीमदेव का अधिकारी था किन्तु १२२० ई० में उसने आवू के राजा वीरधवल की सेवा को स्वीकार कर लिया।^२ उसको स्तभतीर्थ या केम्बे का गवर्नर नियुक्त किया गया जहां उसने बड़ी कुशलता से शासन किया। उसने भ्रष्टाचार को दूर कर लोगों का नैतिक स्तर ऊँचा किया।^३ वह एक योग्य सैनिक भी था। जब लाट प्रदेश के राजा सभ ने स्तभतीर्थ पर आक्रमण किया तो उसने उसे पराजित किया। दक्षिण के देवगिरि के राजा सिंहण और मारवाड़ के चार राजाओं ने मिल कर वीरधवल के राज्य पर आक्रमण किया किन्तु उसने अपने स्वामी और आक्रमणकारियों में समझौता करवा दिया। उसने वनस्थली (वन्यली, जूनागढ़) को विजय किया। जब वीरधवल की रानी के भ्राता सांगन और चामुंड ने कर देने से इनकार किया तो उसने उन पर भी आक्रमण किया। वीरधवल ने उसको कच्छ में भद्रेश्वर के प्रतिहार राजा भीमसिंह पर भी आक्रमण करने को भेजा किन्तु अंत में दोनों में संधि हो गई। उसके पश्चात् वीरधवल ने गोधरा के राजा धूधुल को जीतने का भी सफल किया और उसके लिए वस्तुपाल ने अपने भाई तेजपाल को भेजा। उसने धूधुल को जीता और उसे बंदी बनाया।^४

जब देहली के सुल्तान मोजदीन ने वीरधवल पर आक्रमण किया तो वस्तुपाल ने बड़े चातुर्य से उसको पीछे हटने को बाध्य किया। मोजदीन वास्तव में देहली का सुल्तान अल्पमश था। सुल्तान की माता को तीर्थयात्रा मक्का जाते हुए समुद्री डाकुओं ने लूट लिया किन्तु वस्तुपाल ने लूटी हुई वस्तुयें डाकुओं से छीन कर वापिस उनकी माता को लौटाई और उसके साथ बड़ी भद्रता से व्यवहार किया। मक्का से वापिस लौटने पर वह वस्तुपाल को अपने साथ देहली ले गई और सुल्तान से मिलवाया।^५ सुल्तान ने वस्तुपाल को वीरधवल के साथ मित्रता रखने का वादा किया और इस प्रकार राज्य को भलीभांति सुरक्षित किया।

वस्तुपाल धार्मिक स्वभाव का भी था। उसने गज्रजय व गिरनार की तेरह बार तीर्थ यात्राएँ की। उसने स्थान-स्थान पर मंदिर, मठ, धर्मशालाएँ और औपघालय बनवाये।^६ उसके द्वारा आवू में बनवाया हुआ लूणवसही मंदिर प्रसिद्ध है। वह धार्मिक मामलों में उदार था और सब धर्मों का आदर करता था। उसके काँ केवल जैनियों तक ही सीमित नहीं थे किन्तु सबके लिए थे। उसने शैव मन्दिर और यहाँ तक कि मस्जिद भी बनवाई।^७

वस्तुपाल साहित्यप्रेमी भी था और उसने अतुल धन राशि खर्च करके अणहिलवाड, स्तभतीर्थ और भूमि-कच्छ में शास्त्रभण्डार स्थापित किये।^८ उसका राज्य का ग्रन्थभण्डार बड़ा समृद्ध था और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की प्रतियाँ भी थीं।^९ वह विद्वानों के प्रति बड़ा उदार था और जैन व जैनतर विद्वानों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं करता था। वह स्वयं भी कवि था और उसने आदिनाथ स्तोत्र, नेमिनाथ स्तोत्र, अविकास्तोत्र, नरनारायणनन्द, सूक्तिया आदि लिखी हैं। दरबार में विद्वान लोग राजा की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित थे क्योंकि वही उनकी योग्यता का वास्तविक पारखी था।

१ वस्तुपाल चरित्र, १

२ नरनारायणनन्द, १४, ३५

३ कीर्ति कौमुदी, ४ १६

४ प्रबन्धकोश, पृ० १०३, १०४, १०७

५ प्रबन्धकोश, पृ० ११६, प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० १०३

६ विविध तीर्थ कल्प, पृ० ७८, प्रबन्धकोश पृ० १३०

७ प्रबन्धकोश, पृ० १२६

८ वही

९ वस्तुपाल चरित्र, पृ० ८०

जोधपुर के वीर-शासन

तेजा गदहिया — मगधराज मे राजस्थान मे जैनो ने भिन्न-भिन्न राज्यों मे मंत्री, सैनिक व नामक के रूप मे महत्वपूर्ण पद निभे हैं। जोधपुर राज्य मे तेजा गदहिया का नाम प्रसिद्ध है। वह मालदेव का एक स्वामिभक्त योद्धा था। १५८९ ई० मे धोलाभाट ने विहार मेना के साथ जोधपुर पर आक्रमण किया और घाटे मे मालदेव को हराया। उतने जोधपुर पर अग्रिमर का हमला ना वहा का सामना निवृत्त किया। ओमवाल बग्यादली^१ मे पना चलता है कि तेजा गदहिया ने हमला ना शत्रु के घाट उतारकर जोधपुर को फिर मे मालदेव को लौटाया। इसमे उनकी बहादुरी और स्वामिभक्ति प्रगट होती है।

मुहाने जयमल और उमरा पुत्र नैणमी — मुहाने जयमल एक योद्धा और दयालु व्यक्ति था। मुगल सम्राट ने जालोर और नाबो गनगिह को दिये जिन्होंने मुहाने जयमल का बहादुर गवर्नर बनाया। उतने मुबारक रूप मे सामन मगाना। जब मराठा ने नाबो पर आक्रमण किया तो उतने उनको बुरी तरह मे हराया। १६३० ई० के मगान मे अथमर पर उतने नागो मे मुन अनाज बांटकर उनके प्राणो की रक्षा की। उनका पुत्र मुहाने नैणमी ने एक कुशल शासक और नैतिकता का। उतने नाग व वेगार को हटाकर सामनप्रवन्ध मे महत्वपूर्ण सुधार किये। वह जायसमिह का दीवान था। उतने प्रसिद्ध 'मुहाने नैणमी रा स्याम' लिखी है जो इतिहास के लिए उपयोगी ग्रंथ है।

रतनसिंह भट्टारी - रतनसिंह भट्टारी ने अपने स्वामी राठीड राजा अमरसिंह की सच्चाई मे सेवा की। १६३० ई० मे मुगल सम्राट ने अमरसिंह का अजमेर और गुजरात का गवर्नर नियुक्त किया। अमरसिंह ने इन दोनों प्रान्तों मे शासन की देशभक्त का साथ रतनसिंह भट्टारी को मिला। उन समय मुगलसत्ता पतन अवस्था मे थी। एक तरफ मराठा मुगलसाम्राज्य पर आक्रमण कर रहे थे और दूसरी ओर प्रान्तो मे गवर्नरो के उपद्रव हो रहे थे। रतनसिंह भट्टारी ने मराठो के साथ युद्ध करने पडे और साथ मे गवर्नर के उपद्रव को भी दबाना पडा। रतनसिंह भट्टारी ने समय शत्रु की दामदे के नेतृत्व मे मराठो ने गुजरात पर आक्रमण किया किन्तु उसने बड़ी चतुराई से प्रान्त की रक्षा की। उतना दामजी मराठो के साथ भी लड़ना पडा। वीरमगम भी उनके समय एक समस्या के रूप मे बना था। १७३७ ई० मे मुहम्मदशाह ने अमरसिंह का हठान्त मेमिन खाँ को गुजरात का वाइसराय नियुक्त करने का आदेश दिया। उतने मेमिनखाँ का बड़ा विरोध किया तथा ब. कौशिक ने उतने और मराठो मे मेग नही होने दिया। अन्त मे मेमिनखाँ ने उतने समझौता किया। उने अतुल धनराशि दी और उतने अहमदाबाद से अपना अधिकार त्याग दिया। श्रीरामेश मे जारावरसिंह की मृत्यु के बाद १७४५ ई० मे गर्जसिंह और अमरसिंह मे युद्ध हुआ। रतनसिंह भट्टारी को अमरसिंह का पल लेने के लिए भेजा गया और युद्ध मे लडते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।^२

धनराज — जब जोधपुर के महाराजा विजयसिंह ने १७६७ ई० मे मराठो से अजमेर जीत लिया तो उतने धनराज का अजमेर का गवर्नर बनाया। चार साल पश्चात मराठो ने फिर मे मारवाड पर आक्रमण किया। मेडता और पाटन मे भयानक युद्ध हुआ जिसमे राठीडो की हार हुई। इस समय मराठो के मेनापति डीवीडो ने अजमेर पर आक्रमण कर ले लिया। धनराज ने बहादुरी मे उनका सामना किया। विजयसिंह ने उने अजमेर को शत्रुओं को मुमुर्द करने का आदेश दिया। आदेश पाकर वह अमनजम मे पड गया। अजमेर को शत्रुओं को समर्पित करना ही वह अपनी मानहानि मानता था तथा साथ मे स्वामी के आदेश का उत्तरधन करना भी ठीक नही समझता था। उतने अपने जीवन का अन्त करना उचित नमन्ना। उनके पाम हीरे की अगूठी थी। उतको पीमकर वह निगल गया। उतने कहा, 'महाराजा को बहना कि मेरी नाग पर ही मराठा अजमेर मे प्रविष्ट हो सकते हैं' और इस प्रकार उसने अपनी वीरता तथा स्वामिभक्ति का परिचय दिया।

१ अनेकात, २, पृ० २४६

२ सम डिस्टिग्विशड् जैन्स, पृ० ६०-६३ और जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ० ६३८-४१।





शमशेरसिंह बहादुर —शमशेरसिंह बहादुर भी महाराजा विजयसिंह के मेनापति थे। उन्होंने अनेक युद्धों में भाग लिया और अपनी शूरवीरता का परिचय दिया। इस पर प्रमन्न होकर विजयसिंह ने १७६२ ई० में उसे राव-गजा की उपाधि दी और २६००० की जागीर दी।^१

इन्द्रराज सिंघी —जयपुर के राजा जगत्सिंह ने बीकानेरसिंह का पक्ष लेकर विद्याल मेना के साथ मारवाड़ पर आक्रमण कर दिया। बीकानेर के महाराजा सूरजसिंह, पिंडारी अमीर खाँ और अन्य सरदारों ने भी आक्रमणकारी का साथ दिया। उन्होंने मारोठ, मेडता, परवतनगर, नागौर, पाली, सोजत आदि पर अधिकार कर लिया। यहाँ तक कि जोधपुर नगर पर भी इनका अधिकार हो गया। केवल दुर्ग पर महाराजा का अधिकार रहा। ऐसी परिस्थिति में सिंघी इन्द्रराज दुर्ग के गुप्त मार्ग से अपने साथियों सहित बाहर निकला। मेडता में आकर उसने नई मेना एकत्रित की। उसने पिंडारियों के नेता अमीर खाँ को एक लाख रुपये की रक्कत देकर अपने पक्ष में कर लिया। यह सेना लेकर जयपुर पर आक्रमण करने को रवाना हुआ। जब जगत्सिंह को पता चला तो उसने राय शिवलाल के नेतृत्व में जयपुर की रक्षा को मेना भेजी। अमीरखा और सिंघी इन्द्रराज ने इस सेना को टोकर के पाम फागी नामक स्थान पर घुरी तरह से हराया। जब जगत्सिंह को इसका समाचार मिला तो उसने बेरा हटा लिया और जयपुर को रवाना हो गया।

सिंघी इन्द्रराज के जोधपुर लौटने पर मानसिंह ने उसका बड़ा सम्मान किया और उसको मुन्षमन्त्री बना दिया। इसके पश्चात् सिंघी इन्द्रराज को बीकानेर पर आक्रमण करने को भेजा गया और बीकानेर महाराजा को चार लाख रुपये सधि करके देने पड़े। उसने अपने स्वामी को अमीरखाँ के पद्यों से भी बचाया किन्तु अमीरखा के पठानों ने सिंघी का वध कर दिया। मृत्यु उपरान्त उसकी सेवाओं से प्रभावित हांफर महाराजा ने उसके पुत्र फतहराज को बीकानेरी तथा २५ हजार की जागीर दी।^२

बीकानेर के बीर-शासक

नागराज —बीकानेर के जैनशासकों में नागराज का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह जैतसिंह का स्वामिभक्त अधिकारी था। जब जोधपुर के राठौर राजा मालदेव ने बीकानेर को विजय करने की सोची तो जैतसिंह ने नागराज को शेरशाह के पाम सहायता के लिए भेजा। जैतसिंह मालदेव के साथ लड़ता हुआ मारा गया और बीकानेर पर मालदेव का अधिकार हो गया। नागराज ने शेरशाह को मालदेव पर आक्रमण के लिए उकसाया। युद्ध होने पर मालदेव घुरी तरह से हारा और जैतसिंह के पुत्र कल्याणसिंह ने परिस्थिति का लाभ उठाकर फिर से बीकानेर पर अपना अधिकार कर लिया।

कर्मचन्द्र वच्छावत —कर्मचन्द्र वच्छावत उज्जकोटि का राजनीतिज्ञ, सेनापति और धार्मिक प्रवृत्ति का पुरुष था। वह रायसिंह का मुख्यमन्त्री था। जब जोधपुर के राठौड़ अमरसिंह ने बीकानेर पर आक्रमण किया तो उसने अपने स्वामी को सधि की राय दी क्योंकि उस समय राज्य युद्ध के लिए तैयार न था। जब नागौर के मिर्जा इब्राहिम ने बीकानेर पर आक्रमण किया तो उसने उसको भगा दिया। उसके प्रयत्नों में बीकानेर राज्य की सीमा बढ़ी।

कर्मचन्द्र वच्छावत ने जैनधर्म के उत्थान में योगदान दिया। उसने तीर्थयात्रा-सभ निकाले। १५५५ ई० में बड़ी धूमधाम में उगने जिनचन्द्रसूरि का नगर प्रवेश मनाया। १५७० ई० में अकाल के अवसर पर लोगों में मुफ्त अनाज वितरण कर उनके प्राणों की रक्षा की। उसने बहुत-सी मूर्तियाँ मूसलमानों द्वारा नष्ट होने से बचाई और उन्हें बीकानेर के विनामणिके मन्दिर में सुरक्षित रख दी। उसके प्रभाव के कारण ही अकबर के मन में जैनधर्म के प्रति

१ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ५५

२ वही पृ० ५६-६३

यदा उग्ररत्न हर्ष और १५६० ई० में उसने विनयन्तमुनि को सम्मनित करने लाहौर में आमंत्रित किया।

कर्मचन्द्र दूरदर्शी भी था। जब उसने रागमिह जी किञ्चन उर्ची के कारण राज्य का खजाना खाली होने देखा तो राजा को समझाने का भी प्रयत्न किया। इसका विरहीत प्रभाव पड़ा। उसके शत्रुओं ने भी राजा के कान भर दिये। रागमिह ने कर्मचन्द्र को दन्दी बनाकर वध करने का पट्टत्र किया। किसी भाँति पना करने पर वह बीरानेर छोड़कर देहली चला गया जहाँ सम्राट् अकबर ने उसके साथ दण्डा व्यवहार किया।^१

अमरचन्द्र मुगल — अमरचन्द्र मुगल मृगमिह के समय दीवान रहा और उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य था नामनी से विद्रोह को दबाना। उसने मदुरो के मुगलान राजा को हराकर जिन पर अधिकार किया। उसने ठाकुर नारसिंह जी मृगमिह पर जायका कर उनको बन्दी बनाया। १८१४ में वह चूक के राजा मिर्जामिह से लड़ने निकला गया। मिर्जामिह ने आत्महत्या करनी और अमरचन्द्र ने चूक पर अपने स्वामी का आधिपत्य स्थापित कर दिया। महाराजा मृगमिह ने उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे विशेष सम्मान दिया। उसके शत्रु इमका महल न कर मके और उसके विरुद्ध पट्टत्र किया। महाराजा को बहकाया गया कि वह आपके खिलाफ रिटारिया के नेता अमीरखान से मिल गया है।^२

उदयपुर के वीर-शासक

आमागाह और मेहता चीन्नी — उदयपुर राज्य में भी उनके जैन सैनिक, मेनापति व शासक हुए हैं। उनमें आमागाह भी था जो कूँभमेरु का विजेदार था। जब पला धाय उदयमिह का बनवीर के पक्ष में जुड़ाकर आमागाह के पास गया के लिए आर्ट तो उसने उसको घेर लिया। उस वान का गुप्त रखने के लिए वह उदयमिह को अपना भतीजा पुकारने लगा। जब उदयमिह बड़ा हुआ तो उसने कुछ मरदाओं की महारत में उसे राज्य गद्दी पर बिठाया और राज्यवश को लपट होने से बचाया।^३ इस समय एक अन्य राज्य के अधिकारी मेहता चीन्नी ने भी स्वाभिमतकित का पत्रिचय दिया। यद्यपि वह बनवीर के अर्धत चितौड़ का विजेदार था, उसने दुर्ग की सब गुप्त बात उदयमिह को बतला दी जब उसने आश्रमा लिया।^४

नामागाह — नामागाह ने भी स्वाभिमतकित का एक उच्च उदाहरण सामने रखा। जब महाराणा को सम्राट अकबर ने उड़ने के लिए धन की आवश्यकता पड़ी तो उसने अपनी समस्त सम्पत्ति महाराणा का समर्पित कर दी। उसके द्वारा महाराणा विजयी हुई मेना एकत्रित कर मके और अकबर के साथ फिर से युद्ध चालू कर मके। उस महारत के परिणामस्वरूप महाराणा ने चितौड़, अजमेर व माटंगट को छोड़ कर समस्त मेवाड़ का पुन हस्तगत कर दिया।^५

संघवी श्यामदास — मन्वी श्यामदास महाराणा रागमिह का दीवान था। जब १६७६ में औरंगजेब ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तो उसने ज़ुल्फुन मूरवीरता का परिचय दिया। वह धार्मिक प्रकृति का भी था। अपने व्यक्तित्व के प्रभाव में महाराणा से आदिश निकलवाकर उसने जैन मंदिरों व उपाधियों के आन पान पगुहिमा को दण्ड मरवा दिया। उसने राजसमूह के समीप पहाड़ी पर दुर्ग के आकार के जैन मंदिर का निर्माण करवाया।^६

१. ओमवान जानि का इतिहास, पृ १००-१०४। कर्मचन्द्रवंश-प्रवरण और कर्मचन्द्रवर्गोत्कीर्तनकाव्यम्।

२. मम टिमिर्गविशद, जन्म, पृ० ७१-७८

३. ओमवान जानि का इतिहास, पृ० ७०-७१

४. वही, पृ० ७१-७२

५. उदयपुर राज्य का इतिहास, १३०४-०५ और बीरविनोद, पृ० २५१

६. वही,





मेहता अगरचन्द — अठारहवीं सदी में मेहता अगरचन्द मेवाड़ के एक सफल राजनीतिज्ञ हुए हैं। इस समय मेवाड़ पर मराठों के लगातार आक्रमण हो रहे थे। महाराणा और सरदारों के बीच मनमुटाव था। ऐसी परिस्थिति में मेहता अगरचन्द को दौत्रान बनाया गया। सर्वप्रथम मेहताजी ने महाराणा और सरदारों के बीच समझौता करा कर राज्य में शान्ति व एकता स्थापित की। जय रत्नसिंह ने मिथिया और माभतों में मिलकर महाराणा के विरुद्ध पटयन किया, तब मेहता अगरचन्द ने ही डाको बचाया। रामपुरा के चूडावतों के शरण देने पर जब खालियर के मिथिया ने महाराणा पर आक्रमण किया तो मेहताजी के प्रत्यनों में ही महाराणा को पूर्ण सफलता मिली। गवर्नर के रूप में इन्होंने मांडलगढ़ का शासन-प्रबन्ध भी सटे मुचार्ड रूप से किया। इन्होंने तालाब बनवाये और दुर्ग की मरम्मत की।^१

मेहता देवीचन्द — महाराणा भीमसिंह के समय मेहता देवीचन्द भी कुशल प्रशामक हुए हैं। कुछ दबाव के कारण महाराणा भीमसिंह मांडलगढ़ का दुर्ग जालिमसिंह को देने को तैयार हो गये थे। देवीसिंह ने महाराणा के आदेश पर ध्यान न देकर अपना अधिकार बनाये रखा क्योंकि उसे भय था कि मांडलगढ़ सैनिक दृष्टि में महत्वपूर्ण स्थान है और जालिमसिंह युद्ध की तैयारी कर रहा है। देवीचन्द ने जाला पर आक्रमण कर सीमा पर से उसकी सेना को हटाया। महाराणा इस पर उसमें प्रमन्न हुए।^२

जयपुर के वीर-शासक

जयपुर राज्य के इतिहास में भी जैनियों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। करीब पचास जैनियों ने राज्य का कार्य मंत्री के रूप में किया है और राज्य की महान् सेवा की है। इनमें कुछ के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।

विमलदास — विमलदास महाराजा रामसिंह प्रथम (१६६८-१६९० ई०) और विशनसिंह का दीवान था। वह एक घोड़ा भी था और लानसोट की लड़ाई में मारा गया था। उसकी यादगार में एक छत्री भी बनी हुई है।

रामचन्द्र — विमलदास के पश्चात् उसका पुत्र रामचन्द्र प्रधानमंत्री हुआ और उसने विशनसिंह और उसके उत्तराधिकारी सवाई जयसिंह के जीवन कार्य किया। १७०७ ई० में मुगलमन्त्राट्य बहादुरशाह ने आवेर पर आक्रमण किया और उस पर अपना अधिकार कर लिया। उसने सैयद हुसैन को वहा का गवर्नर नियुक्त किया। जयसिंह ने अपने मंत्री रामचन्द्र का साथ लेकर मेवाड़ के महाराणा के यहाँ शरण ली। तत्पश्चात् रामचन्द्र ने सेना को भली भाँति संगठित करके आवेर पर आक्रमण किया और हुसैन या को आवेर छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया। इस प्रकार से आवेर को जयपुर के पजों से मुक्त किया और सवाई जयसिंह का आधिपत्य फिर से स्थापित किया। इस पर महाराजा सवाई जयसिंह बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने इस सेवा के बदले में उन्हें भूमि दान दी और उनका नाम सिककों पर 'वन्दे दीवान रामचन्द्र' लिखा जाने लगा। रामचन्द्र न्याय के लिए भी प्रसिद्ध थे, जब जोधपुर और जयपुर के महाराजाओं में सागर के विवाहन के बारे में झगड़े होने लगे सभाबना थी तो दोनों ने रामचन्द्र को मध्यस्थ नियुक्त किया और उसका निर्णय दोनों को मान्य हुआ।^३

कृपाराम और विजयराम छावड़ा — सवाई जयसिंह के समय अन्य जो श्वाभिभक्त सेवक थे, वह कृपाराम था। वह देहली में राजदूत था। सवाई जयसिंह के प्रतिद्वन्द्वी विजयसिंह ने जयसिंह के विरुद्ध मुगल सम्राट और उसके वजीर कमरुद्दीन को अपने पक्ष में किया और पाँच करोड़ रुपये और पाँच हजार घोड़े देने का वादा किया। जब

१ वही, पृ० १३११ और ओसवाल जाति का इतिहास पृ० ७७-८२

२ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ८७-८८ और उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० १३१३-१६

३ वीरवाणी, प्रथम जिल्द, पृ० ६८-८३ और राजपूताने का इतिहास, पृ० ६१५-१६

कृपागम को इस पङ्क्ति का पना दाऊदखा के द्वारा चल गया और उसने जाने स्वामी को सूचन कर कर दिया। इस पर वह कृपागम ने बहुत प्रमत्त हुआ और उनको मनोहरपुर का ग्राम दिया।^१ विजयराम छावडा भी नवाई जयसिंह का मंत्री रहा है। नवाई जयसिंह की वहन मुगलसम्राट बहादुरशाह ने व्याही जा रही थी। विजयसिंह छावडा के प्रयत्नों ने उसका विवाह बूढ़ी के राजा बुधसिंह हाडा ने हुआ। बाद में उसने मुगलसम्राट बहादुरशाह और नवाई जयसिंह में समझौता भी करवा दिया।

हरिसिंह — हरिसिंह एक कुशल प्रशासक था। नवाई जयसिंह को मुगलों ने शेखावाटी दरबार के रूप में मिली थी। इस कारण १७२६ व १७२७ में उसने कर एकत्रित करने को हरिसिंह को नियुक्त किया। इस क्षेत्र पर बगामदानों नवाबों का अधिकार चला आ रहा था। उन्होंने कर देने में मना कर दिया और चार्ज और उपद्रव होने लगे। हरिसिंह ने मैना की महायता ने उद्भवों को दवा दिया और शेखावाटी में जयसिंह की मत्ता की स्थापना की।

रामचन्द्र — रामचन्द्र भी एक चतुर राजनीतिज्ञ था। कृष्णकुमारी के विवाह के प्रश्न को लेकर जयपुर व जोधपुर के राजाओं में झगडा होने की सम्भावना थी किन्तु रामचन्द्र के प्रयत्नों ने वह टला। जब जोधपुर के राठीडों और अमीरन्वा ने जयपुर पर आक्रमण करने का मकल किया, तो रामचन्द्र की समझदारी ने ही स्वामी और नगर की रक्षा हो सकी।

शिवाजीलाल — शिवाजीलाल भी एक योग्य राज्य अधिकारी था। महाराजा प्रतापसिंह के समय में कर-व्यवस्था ठीक रूप में नहीं थी और उसमें अनेक अनियमितताएँ थी। शिवाजीलाल ने व्यवस्थित शासन-प्रबन्ध स्थापित कर उनको दूर किया और आय के बृद्धि में साधन जुटाये। उसने नमक का प्रबन्ध भी ठीक रूप में किया। महाराजा ने उसको राठीडों और पिंडारियों ने युद्धों में लड़ने का भी भेजा और उसने अपनी शूरवीरता दिखलाई। इसके बदले में महाराजा ने उसे खिताब दिये।

झूताराम सघी — उन्नीसवीं सदी में सघी झूताराम भी एक प्रसिद्ध मंत्री हो गया है। जयपुर दरबार में उसका इतना प्रभाव था कि कर्नल टाड ने उसको झूता दरबार और बनिशाराज कहा है। कर्नल टाड के विचार पक्षपात पूर्ण हैं। झूताराम के प्रभाव के कारण जयपुर ने ब्रिटिश समझौते को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह भविष्य के परिणाम को जानता था। अब में ब्रिटिश शासन ने मामोद के ठाकुर बैंगेमाल को अपने पक्ष में फोड़ लिया। बैरीमाल और झूताराम में आपसी झगडा चली आ रही थी। बाद में अगरेजों और बैरीमाल ने पङ्क्तियों के द्वारा इस का पतन किया।

१ एनलम एण्ड ए टिविक्ट्रीज आफ राजस्थान, पृ० ५६२

२ रिपोर्ट ऑन पचापन मिथाना, पृ० ६-१०। ए रिपोर्ट ऑन दी लैंड रीन्योरज एण्ड स्पेशल पावर्स आफ सर्टेन ठिकानेशारास् आफ दी जयपुर स्टेट, पृ० ४५-४६

३ जयपुर स्टेट ट्राइल्स





तृतीय खण्ड



संस्कृति • कला • इतिहास

श्रमण-संस्कृति तथा जैनधर्म

डॉ० देवेन्द्रकुमार

शास्त्री, एम ए, पी-एच डी



भारतवर्ष की प्राचीनतम मन्त्रियों में श्रमण-मन्त्रि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग रहा है। विभिन्न देशों और कालों में यह विधिष्ट नामों में व्यवहृत रही है। यद्यपि इतिहास के विद्वान् तथा मनीषी इसकी प्राचीनता लगभग तीन सहस्र वर्ष की स्वीकार करने हैं किन्तु वैदिक साहित्य, जैन आगम-साहित्य तथा अन्य देशों के साहित्य एवं परम्परा में यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग के पूर्व आर्य मन्त्रि का प्रचार भलीभाँति इस देश में व्याप्त था। वेदों में हमें जिस यज्ञपरायण मन्त्रि के दर्शन होते हैं वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्म की प्राप्ति के लिए यज्ञ-कर्म को परम पुण्यार्थ निरूपित करती है। परन्तु इस मान्यता का वेद-काल में और उसके बाद भी घोर विरोध हुआ। वैदिक काल के पहले में ही ब्राह्मण मन्त्रि तथा सृष्टिकर्तृत्वविरोधी ब्राह्मण तथा माध्य श्रेणी के लोग आर्य मन्त्रि के प्रचारक थे। ये ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते थे। इनका विश्वास था कि सृष्टि प्राकृतिक नियमों से बनती है। प्रकृति के नियमों को भलीभाँति ज्ञात कर मनुष्य भी नये समार की रचना कर सकता है। मनुष्य की शक्ति सब में बड़ी शक्ति है। वह समस्त शक्तियों में श्रेष्ठ है। कहा जाता है कि माध्यों ने सरस्वती और सिन्धु के संगम पर विज्ञान-भवन स्थापित कर सूर्य का निर्माण किया था। उस विज्ञान-भवन में बैठ कर समस्त ब्रह्माण्ड का माझात्कार किया था। आर्य लोग कर्म में विश्वास रखते थे और यही उनके सृष्टिकर्ता ईश्वर को न मानने का मूल कारण था। आर्य लोग मुख्य रूप में क्षत्रिय थे। गजनीति की भाँति वे धार्मिक प्रवृत्तियों में विशेष रुचि रखते थे और समय पड़ने पर वाद-विवादों में भी भाग लेते थे। वे “अर्हत्” के उपासक थे। उनके देवस्थान पृथक् थे और पूजा अवैदिक थी। इस आर्य परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण और शिव-पुराण आदि पौराणिक ग्रन्थों में होती है। इनमें जैनधर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं।^१ यद्यपि ये आर्य धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदों, उपनिषदों, जैनधर्म तथा पुराण-साहित्य में यत्किंचित् परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप में झिलमिलती हुई लक्षित होती है। निश्चय ही तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैनधर्म के लिए “आर्य” शब्द ही प्रचलित था। बौद्ध पालि ग्रन्थों में तथा अशोक के शिलालेखों में “निगठ” शब्द का प्रयोग मिलता है। निगठ या निर्ग्रन्थ शब्द जैनो का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है—भीतरी (काम, क्रोध, मोह आदि) और बाहरी परिग्रह में रहित श्रमण अथवा साधु। इण्डो-ग्रीक और इण्डो-मीथियन के समय में यह धर्म “श्रमण-धर्म” के नाम से प्रचलित था। मेगस्थनीज ने मुख्य रूप से ब्राह्मण और श्रमण दार्शनिकों का उल्लेख किया है^३। पिछले दो दशकों में जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में कई प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिनसे पता

१ देखिए, देवदत्त शास्त्री द्वारा लिखित—चिन्तन के नये चरण, पृ० ६८।

२ श्रीमद्भागवत ५।३।२०, पद्मपुराण १३।३५०, विष्णुपुराण १७-१८ अ०, स्कन्दपुराण—३६-३७-३८ अ० और शिवपुराण ५।४-५।

३ एन्ड्रियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड अर्यन, पृ० ६७-६८।



चलता है कि वेदों के युग में और उसके पूर्व जैनधर्म इस देश में प्रचलित था। वैदिक काल में यह “आर्हत” धर्म के नाम से प्रसिद्ध था। आर्हत लोग “अर्हत्” के उपासक थे। वे वेद और ब्राह्मणों को नहीं मानते थे। वेद और ब्राह्मणों को मानने वाले तथा यज्ञ-कर्म करने वाले “वार्हत” कहे जाते थे। वार्हत “वृहती” के भक्त थे। वृहती वेद को कहते थे। वैदिक यजन-कर्म को ही वे सर्वश्रेष्ठ मानते थे। वेदों में कई स्थानों पर आर्हत और वार्हत लोगों का उल्लेख हुआ है तथा “अर्हन्” को विद्व की रक्षा करने वाला एव श्रेष्ठ कहा गया है।^१ शतपथब्राह्मण में अर्हन् को आह्वान किया गया है और कई स्थानों पर उन्हें श्रेष्ठ कहा गया है।^२ यद्यपि ऋषभ और वृषभ शब्दों का वैदिक साहित्य में कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है पर ब्राह्मण साहित्य में वे भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं उनका अर्थ बैल या साँड़ है तो कहीं मेघ और अग्नि तथा कहीं विश्वामित्र के पुत्र और कहीं वलदायक एव कहीं दिववनों के राजा भी हैं। अधिकतर स्थलों में “वृषभ” को कामनापूरक एव कामनाओं की वर्षा करने वाला कहा गया है। सायण के अनुसार “वृषभ” का अर्थ कामनाओं की वर्षा करने वाला तथा “अर्हन्” का अर्थ योग्य है। किन्तु ऋग्वेद में दो स्थलों पर स्पष्ट रूप से “वृषभ” परमात्मा के रूप में वर्णित है। ऋग्वेद में वृषभ को कहीं-कहीं रुद्र के तुल्य और कहीं-कहीं अग्नि के सन्दर्भ में वर्णित किया गया है।^३ इसी प्रकार “अरिष्टनेमि” का अर्थ हानिरहित नेमि वाला, त्रिपुरवासी असुर, पुरुजित्सुत और श्रौतों का पिता कहा गया है। किन्तु शतपथब्राह्मण में अरिष्ट का अर्थ अहिंसक है और “अरिष्टनेमि” का अर्थ अहिंसा की धुरी अर्थात् अहिंसा के प्रवर्तक है। अर्हन्, वृषभ और ऋषभ को वैदिक साहित्य में प्रशस्त कहा गया है। वृष को धर्मरूप ही माना गया है। जैनागमों में ऋषभदेव धर्म के आदि प्रवर्तक कहे गये हैं। अन्य देश-विदेशों की मान्यताओं एव उनकी आचार-विचार पद्धति से इसकी पुष्टि होती है। कहीं यह वृषभ “धर्मध्वज” के रूप में, कहीं कृषि-देवता के रूप में और कहीं “वृषभध्वज” के रूप में पूजे जाते हैं। कहीं यह आदिनाथ है तो कहीं आदि धर्मप्रवर्तक और कहीं परमपुरुष के रूप में वर्णित हैं। बृहस्पति की भाँति अरिष्टनेमि की भी सत्सुति की गई है।^४

वैदिक युग में पणि और ब्राह्मण आर्हत धर्म को मानने वाले थे। पणि भारतवर्ष के आदिम व्यापारी थे। वे अत्यन्त सख्द और मत्पन्न थे। घन में ही नहीं ज्ञान में भी बड़े-बड़े थे। इसलिए यज्ञपरायण सत्सुति को नहीं मानते थे। वे ब्राह्मणों को हवि, दक्षिणा-दान नहीं देते थे। देश का लगभग सभी व्यापार उनके हाथों में था। वे कारवा बनाव कर अरब और उत्तरी अफ्रीका को जाते थे। बाद में चीन तथा अन्य देशों में भी पणि लोगों ने व्यापारिक सवध स्थापित कर लिये थे। पणि या पणिक ही आगे चल कर वणिक् बन गये जो आज वनिया रूप में जाने जाते हैं।

ब्राह्मण आर्य तथा क्षत्रिय थे। इन्हें अब्राह्मण-क्षत्रिय कहा गया है। ये ब्रह्म-ब्राह्मण तथा यज्ञ-विधान आदि को नहीं मानते थे। किन्हीं विद्वानों के अनुसार ये दलित और हीनवर्ग के थे—यह ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि पञ्च-विश्वब्राह्मण में (१७-१ में) ब्राह्मणों के लिए यज्ञ का विधान किया गया है। वस्तुतः ब्राह्मण लोग व्रतों को मानते थे। अर्हन्तो (सन्तो) की उपासना करते थे और प्राकृत बोलते थे। उनके सन्त और योद्धा ब्राह्मण सूत्रों के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय थे^५। अथर्ववेद में “ब्राह्म्य” का अर्थ घूमने वाला साधु है। ब्राह्मकाण्ड में पूर्ण ब्रह्मचारी को “ब्राह्म्य” कहा गया है^६। इससे भी व्रतों की पूजा करने वालों की पुष्टि होती है। अथर्ववेद में ब्राह्म्य की भाँति “महावृष” भी एक जाति कही

१ ऋग्वेद २।३३।१०, २।३।१, ३, ७।१८।२२, १०।२।२, ६६ ७।

तथा—१०।८।५।४, ऐमा० ५।२।२, शा १।५।४, १८।२, २३।१, ऐ० ४।१०।

२ ३।४।१।३-६, तै० २।८।६।६, तैमा० ४।५।७, ५।४।१० आदि।

३ ऋग्वेद ४।५।८।३, ४।५।१, १०।१६६।१।

४ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ —ऋग्वेद १।८।६

५ मैकडानल और कीय वैदिक इण्डेक्स, दूसरी जिल्द, १९५८, पृ० ३४३।

६ सूर्यकान्त वैदिक कोश, चाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३।

गई है^१। महाद्वय लोग आर्य जाति के कहे गये हैं। जो भी हो, इसने यह पता लग जाता है कि वैदिक काल में ब्राह्मण-विरोधी जातियाँ भी थी जो प्राकृतिक नियमों में नृपति का वर्तन-प्रवर्तन मानती थीं। वस्तुतः यह अध्यात्मवादी परम्परा थी जो आत्मा को सर्वोपेक्ष मानती थी और यह कहती थी कि जब आत्मा ही सर्वोपरि है तो अलग में ब्रह्म या ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता रह जाती है? यद्यपि वैदिक युग में ब्राह्मण जाति की प्रधानता थी पर उस समय माध्यो का पूरे समाज पर पूर्ण प्रभाव और नियन्त्रण कहा जाता है। प्रागैदिक साध्यों को देवद्रोही कहा जाता था। वे मसार की रचना प्राकृतिक नियमों से मानते थे^२। परन्तु प्रत्येक युग-युग में समय-समय पर सघर्ष हुए। और उम सघर्ष का परिणाम ब्रह्मवाद की स्थापना में परिलक्षित हुआ।^३ ज्यों-ज्यों युग चलते गये त्यों-त्यों यह अन्तर अधिक बढ़ता गया और विभिन्न सम्प्रदाय एवं धार्मिक विचार-क्रान्तियों का जन्म तथा विकास होता गया। इस प्रकार यह एक ही परंपरा विभिन्न केन्द्रों में विकसित होती रही है। और सामाजिक तथा राजनैतिक कारणों से इसके विविध रूप कहे जा सकते हैं। परन्तु आर्हत और वाहंत दोनों ही एक परम्परा के दो प्रारम्भिक मुख्य केन्द्र-बिन्दु हैं जिनके चिह्न आज भी परिलक्षित होते हैं।

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में आर्हत धर्म एवं अमण-संस्कृति का महत्वपूर्ण योग रहा है। सहस्र शताब्दियों में प्रचलित इन धर्म और संस्कृति ने देश-विदेशों के हार्दों को प्रभावित किया है जिनके चिह्न आज भी विविध रूपों में लक्षित होते हैं। सहस्रों वर्षों में भारत और बेबीलोन, ईरान, एजिप्ट, अफ्रीका आदि देशों में व्यावसायिक और सांस्कृतिक संधि बने हुए हैं। इन देशों में धर्म और संस्कृति का प्रचार करने वाले अधिकतर अमण माधु और बौद्ध भिक्षु थे। मैगस्थनीज ने अपनी भारतयात्रा के समय में दो प्रकार के दार्शनिकों का उल्लेख किया है। ब्राह्मण और अमण उन युग के प्रमुख दार्शनिक थे।^४ उन युग में अमणों को बहुत आदर दिया जाता था। कालब्रुक ने जैन सम्प्रदाय पर विचार करते हुए मैगस्थनीज द्वारा उल्लिखित अमण सम्बन्धी अनुच्छेद को उद्धृत किया है और बताया है कि जिन और बुद्ध के धार्मिक सिद्धान्तों की तुलना में अन्तर्विवासी हिन्दू लोगों का धर्म और मन्थान आधुनिक है^५। मैगस्थनीज ने अमणों के सम्बन्ध में जो विवरण दिया है उसमें कहा गया है कि वे वन में रहते थे। सभी प्रकार के व्ययनों में अलग थे। राजा लोग उनकी बहुत मानते थे और देवता की भाँति उनकी स्तुति एवं पूजा करते थे^६। रामायण में उल्लिखित अमणों में भी इनकी पुष्टि हो जाती है। टीकाकार भूपण ने अमणों को दिगम्बर कहा है^७। सम्भव है कि उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों प्रकार के माधु रहते हों और वस्त्र के रूप में बिल्कुल परिधानों को धारण करते हों जैसा कि मैगस्थनीज ने लिखा है। ब्राह्मण-साहित्य में भी अमणों का उल्लेख मिलता है^८। किन्तु इस पर अधिकतर विद्वान् मौन हैं।

रामायण की टीका में जिन वातव्रतन मुनियों का उल्लेख किया है वे ऋग्वेद में वर्णित वातरशन मुनि ही जात होते हैं। उनका विवरण उक्त वर्णन से मेल भी खाता है।^९ केही मुनि भी वातरशन की श्रेणी के थे।^{१०} वातरशन

१ अथर्ववेद ५-२२, ४-५, ८।

२ देवदत्त शास्त्री चिन्तन के नये चरण, पृ० ६७-६८।

३ वही, पृ० ६६।

४ एन्ड्रियेन्ट इण्डिया एज डिस्कावर्ड बाय मैगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, १६२६, पृ० ६७-६८।

५ ट्रांसलेशन आव द फ्रेग्मेन्ट्स आव द इण्डिया आव मैगस्थनीज, वान, १८४६, पृ० १०५।

६ वही, पृ० १०१-१०२।

७ “नायवन्त दासा शूद्रादय इति यावत् अमणा दिगम्बरा” अमणा वातवसना इति निघण्टुः। यद्वा “चतुर्यमाश्रम प्राप्ता अमणा नाम ते स्मृता” इति स्मृतिः।—गोविन्दराजीयरामायणभूषण।

८ शं० १४।७।१।२२, तैआ० २।७।१।

९ “वातरशना वातरशनस्य पुत्रा मुनय अतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवातजूतिप्रभृतय पिशगा पिशगानि कपिलवर्णानि मत्ता मलिनानि वक्त्ररूपाणि वासांसि वसते आच्छादयन्ति।”—सायण भाष्य, १०।१३६।२।

१० वही, १०।१३५।७।





मुनि उत्कृष्ट कोटि के मुनि थे जो निर्ग्रन्थ साधु थे। ज्ञान, ध्यान और तप में वे सबसे बड़े माने जाते थे। बाहुवर्गी ने भी इसी प्रकार की तपश्चर्या की थी। तप ही इनकी एक मात्र चर्या रह गई थी। ब्राह्मण साहित्य में मुख्य रूप से तैत्तिरीय आरण्यक में इनका विस्तृत उल्लेख मिलता है। कई स्थलों पर इनकी स्तुति की गई है^१। इस प्रकार जैनधर्म आर्हत और श्रमण नाम से प्राचीन काल में प्रचलित रहा है। अर्हन् के उपासक आर्हत कहे गये हैं जो आगे चल कर जिन के अनुयायी जैन हो गये। किन्तु यह श्रमण शब्द बराबर प्रचलित रहा है। और महावीर को श्रमण कहते देख कर बुद्ध को मानने वाले गौतमबुद्ध को “महाश्रमण” कहने लगे^२। परन्तु जैन परम्परा में “श्रमण” शब्द अपने मूल रूप में आज तक सुरक्षित है^३। वस्तुतः ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन में यह निश्चित हो जाता है कि श्रमणों की अपनी परम्परा रही है जो पुराणकाल तक और तब से अब तक अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित है। श्री मद्भागवत में भैरवदेवी (भरुदेवी) तथा नाभि राजा के पुत्र भगवान् श्रृणुभदेव वातरशन श्रमणों के धर्मप्रवर्तक कहे गये हैं^४ और उन्हें “योगेश्वर” कहा गया है^५। इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी आर्हत धर्म का उल्लेख मिलता है जिसे कहीं-कहीं जैनधर्म कहा गया है। पद्म-पुराण, विष्णुपुराण, स्कन्द और शिव पुराणों से आहत परम्परा की पुष्टि होती है। इन पुराणों में जैनधर्म की उत्पत्ति तथा विकास के सबंध में कई आख्यान भी मिलते हैं। मत्स्यपुराण में स्पष्ट रूप में उल्लिखित है कि जिनधर्म वेदवाह्य है जा वेदों का नहीं मानता^६। इसमें यह तो पता लग ही जाता है कि जिस युग में वेदों की सृष्टि हुई थी उस समय आर्हत लग ब्रह्मविरोधी थे और तभी से वेदविरोधी धर्म के रूप में उनका स्मरण एवं उल्लेख किया जाता रहा। क्योंकि किसी वैचारिक प्रान्ति के सन्दर्भ में ही अपने आप की पुराना मानने वाले इस प्रकार का नाम देते आये हैं। किन्तु इसमें जैनधर्म की प्राचीनता पर और भी प्रकाश पड़ता है। संक्षेप में, तीर्थंकर पादरचना के समय तक यह आर्हत धर्म के नाम से ही प्रचलित था। बौद्धग्रन्थों तथा ग्रन्थों के शिलालेखों में यह “निगठ” के नाम से प्रसिद्ध रहा और इण्डो ग्रीक तथा इण्डो-मीथियन के युग में “श्रमण” धर्म के नाम में देश-विदेशों में प्रचलित रहा। पुराण-काल में यह जिन या जैनधर्म के नाम में विख्यात हुआ और तब से यह इसी नाम से सुप्रसिद्ध है। जैनागम तथा शास्त्रों में इनके जिनशामन, जैनतीर्थ, स्याद्वादी, स्याद्वादवादी, अनेकान्तवादी, आर्हत और जैन आदि नाम मिलते हैं। देव के विभिन्न प्रान्ती में समय-समय पर यह भिन्न नामों से प्रचलित रहा है। जिस समय दक्षिण में शक्ति-आन्दोलन जोर पकड़ रहा था उस समय वहाँ पर यह भव्यधर्म के नाम से प्रसिद्ध था। पंजाब में यह “भावादाम” के नाम से प्रचलित रहा^७। तथा “सरा-वग-धम” के नाम से आज भी राजस्थान में प्रचलित है। गुजरात में और दक्षिण में यह अलग-अलग नामों से प्रचलित रहा है। और इस प्रकार आर्हत, वातवसन या वातरशन श्रमण से लेकर जिनधर्म और जैनधर्म तक की एक बृहत् तथा अत्यन्त प्राचीन परम्परा प्राप्त होती है।

जैन पुरातत्त्व में भी अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते हैं जो उस धर्म की प्राचीनता पर प्रकाश डालते हैं। यद्यपि मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त मूर्तियों के सबंध में अभी तक निश्चय रूप से नहीं कहा जा सका

१ तैत्ति० १।२।३, २।२, २।४, ३।१, २।७, १।

२ समुद्र कण्ठाकूर्च सर्वदर्शी महाबल ।

विश्वबोधी धर्मकाय सगुप्तोऽर्हन्सुनिश्चित ॥

व्यायामो द्वादशाख्यश्च चीतरामः सुभाषित ।

सर्वार्थसिद्धस्तु महाश्रमण कलिशासन ॥ त्रिकाण्डशेष, १, १०-११ ।

३ मुमुक्षु श्रमणो यति ।—अभिधानचिन्तामणि, १, ७५ ।

४ “नामै प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने भैरवदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामृष्यधर्मन्यनां शुक्लया तनुवावततार ।”—श्रीमद्भागवत, ५।३।२०

५ “भगवान् श्रृणुभदेवो योगेश्वर प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्धमजनाभ नामाभ्यवर्धत् ।” वही, ५।४।३

६ गत्वाऽथ मोहयामास रजिपुत्रान् ब्रूहस्पति ।

जिनधर्मं समास्थाय वेदवाह्यं स वेदवित् ॥ मत्स्यपुराण, २४।४७

७ डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन जैनजन्म द ओल्डेस्ट लिबिंग रिजोजन, पृ० ६२ ।

है कि वे जिन हैं या शिव, किन्तु कालीवगा के उत्खनन में यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में भी जैनधर्म का प्रचार उत्तर-पश्चिम भारत में रहा है। उपलब्ध जैनमूर्तियाँ ई० पू० ३०० तक प्राचीन कही जाती हैं। मौर्यकालीन कुछ मूर्तियाँ पटना मग्नहालय में सुरक्षित हैं^१। इसी प्रकार लगभग प्रथम ई० पू० से जैन चित्रकला के स्पष्ट निदर्शन मिलने लगते हैं। पुरातन गिलालिपि में वीर नि० ८४ का सर्वप्राचीन सवत्सूचक लेख मिलना है। मथुरा के जैनलेख तो अन्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जिनके बाजार पर डा० हर्मन जेकोबी ने जैनागमों की प्राचीनता सिद्ध की है^२। समार की प्राचीन लिपि एवं कला की भाँति अमण संस्कृति एवं कला में मूर्धम भावों का अवन कर्ण के लिये प्रतीक शैली की परम्परा प्रचलित रही है। मूर्तिनिर्माण में, चैत्य या मन्दिरों की रचना में, मिट्टी-यन्त्रों तथा चित्रों की कला में यह प्रतीक शैली अत्यन्त रहस्यमय रूप में अभिव्यक्त हुई है। यही नहीं, जैन साहित्य में भी यह परम्परा सुरक्षित है। यदि इसका भलीभाँति अध्ययन किया जाये तो इसी प्राचीनता के अन्य प्रमाण भी स्पष्ट रूप में मिल सकते हैं। गिलालेखों में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर अत्र तीर्थंकर नेमिनाथ की ऐतिहासिकता भी निश्चित हो गई है। क्योंकि प्रभाम-पट्टन का एक प्राचीन ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है जिसका अनुवाद डा० प्राणनाथ विद्यालंकार ने किया है। उसमें वेवीलोन के राजा नेवुचन्दनेजर के द्वारा मौर्यराष्ट्र के गिरिनार पर्वत पर स्थित नेमि मन्दिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। वेवीलोन के राजा नेवुचन्दनेजर प्रथम का समय ११४० ई० पू० और द्वितीय का ६०४-५६१ ई० पू० के लगभग कहा जाता है। उस राजा ने अपने देश की उस जगह को, जो उसे नाविकों के कर-द्वारा प्राप्त होती थी वह जूनागढ़ के गिरिनार पर्वत पर स्थित अरिष्टनेमि की पूजा के लिए प्रदान की थी^३। इसी प्रकार अन्य बौद्धयात्रियों के उल्लेखों में भी जैनधर्म की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। यूनान और मिस्र के दार्शनिकों ने भी अमण मन्त्रों का उल्लेख किया है और उनका प्रभाव स्वीकार किया है।

जैनधर्म के मुख्य चार सिद्धान्त कहे जा सकते हैं—अहिंसा, आत्मा का अमूर्तत्व एवं पुनर्जन्म, कर्मवाद तथा न्यायवाद। अहिंसा एक व्यापक तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है। जैनधर्म का यह मूलभूत सिद्धान्त है। “अहिंसा परमा धर्म यतो धर्मस्ततो जय”। अमणसंस्कृति का यह प्राणतत्व है। इसमें व्यक्ति और समाज की मजीवनी शक्ति निहित है। वस्तुतः मानव का मूल धर्म अहिंसा है। अहिंसा व्यक्ति की भीमता, शिथिलता या समाज के मन का परिणाम न होकर मोह की अनामक्ति और मन्त्रांगन एवं शील की राष्ट्रव्यापिनी शक्ति है जो प्रेम और शान्ति को जन्म देती है। जिससे कृपा तथा दया का मन्त्र होना है। और जो समाजकल्याण के लिए अमोघ शक्ति है। इसलिए अहिंसा हमें कायर और डरपोक नहीं बनाती। वह हमें मोह और धुंधलकाओं को जीतने के लिए प्रेरित तथा उत्साहित करती है। उसमें ध्यानधर्म का दर्प एवं तेज है। जैनो ने व्यवहार में ऐसी अहिंसा का सर्वथा विरोध किया है जो ठर के मारे अपने या दूसरे के प्राण नष्ट का पाठ सिखाती हो। जैनधर्म के सभी तीर्थंकर क्षत्रिय एवं राजपुत्र थे। अधिकतर तीर्थंकर इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए थे। अपने जीवन में उन्होंने कई युद्ध किये थे। चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्प्रति, खारवेल, अमोघवर्ष, चेटक, श्रेणिक, शिवशेठि तथा कलचुरि, गंग और राष्ट्रकूटवंश के अनेक राजा जैन थे। चन्द्रगुप्त, विम्बसार, अजातशत्रु, उदयन, महापद्म, विन्दुमार और अशोक को जैन तथा बौद्ध परम्पराएँ अपना सत्तावलम्बी मानती हैं। जो भी हो। इनमें स्पष्ट है कि ज्ञान-अज्ञान न जाने कितने सम्राट् और राजा हुए जिन्होंने युद्ध और अहिंसा का सफलता से संचालन किया था।

जैन-शास्त्रों में हिंसा के मन्त्री, विरोधी, आरम्भी और उद्यमी ये चार भेद किए गए हैं। ये हिंसा के मूल भेद हैं। इसका मूल है—प्रमादपूर्वक कार्यन करना, मावधानी रखना।^४ और यही आगे चलकर द्रव्य रूप और भावरूप भेदों से

१ मुनि कान्तिसागर अमण संस्कृति और कला, १९५२, पृ० २४।

२ वही, पृ० ८०।

३ देखिए, “अनेकान्त” वर्ष ११, फिरण १ में प्रकाशित बाबू जयभगवान, बी० ए० एडवोकेट का “मोहनजोदड़ो-कालीन और आधुनिक जैन-संस्कृति” शीर्षक लेख, पृ० ४८।

४ प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसा।—तत्त्वार्थसूत्र, ७।८।





हिंसा मुख्य रूप से दो कोटियों में विभक्त हो जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भाव पक्ष की मुख्यता को लेकर स्पष्ट रूप से कहा है कि जीव का घात हो या नहीं, यदि अमावधानी से प्रवृत्ति की गई है तो निश्चय से वह हिंसा है। और सावधानी से प्रवृत्ति करने वाले से यदि कदाचित् प्राणों का घात भी हो जाये तो उसे हिंसा के निमित्त से बन्ध नहीं होता।^१ वस्तुतः अच्छे और बुरे भावों पर जीवन की नींव टिकी हुई है। जीव को जैसा अन्न और जल मिलता है वैसा ही उमका निर्माण होता है। भाव और प्रवृत्ति जीवन में अन्न और जल की भाँति पोषक तत्त्व हैं जिनसे धर्म की सरचना होती है, धर्म का विग्रह जन्म लेता है।

अहिंसा का सभी धर्मों में महत्त्व वर्णित है। भारतीय सस्कृति तो मूलतः अहिंसानिष्ठ रही है। वाल्मीकि ने भी अपनी रामायण में अहिंसा का आचरण करने वाले मुनियों को पूज्य तथा श्रेष्ठ कहा है^२। वस्तुतः अहिंसा की उपस्कारक श्रमण-सस्कृति थी जिसने सूक्ष्म से सूक्ष्म अहिंसा का निरूपण एवं निर्वचन किया है और समस्त धर्मरूपों को अहिंसा की व्यापक व्याख्या में समाहित कर लिया। यदि हम विभिन्न मप्रदायों एवं धर्मों का इतिहास देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि किसी न किसी रूप में सभी हिंसा का प्रत्याख्यान करते रहे पर किसी न किसी रूप में सभी धर्म मानने वाले हिंसा को करते रहे और अपने प्रमाण में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा यह धर्म की हिंसा है—कह कर अपने को बचाते रहे। किंतु जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसने किसी भी रूप में हिंसा को मान्य नहीं स्वीकार किया और उसके विभिन्न स्तरों का मागोपाग विवेचन किया। आज भी यह जाति अहिंसानिष्ठ एवं आचारप्रधान देखी जाती है। यथार्थ में यह तप, त्याग एवं आचारप्रधान सस्कृति है जो अनेक आघातों को सह कर भी आज ज्यों की त्यों स्थिर है।

जैनधर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। यह शुद्धरूप में आत्मा को शुद्ध, बुद्ध तथा निरजन मानता है। परन्तु अनेक जन्मों के कर्मों से आवद्ध होने के कारण आत्मा अशुद्ध एवं मैली होने से ससार के परावर्तनों में भटक रही है। यद्यपि इसमें अनंत शक्ति और गुण विद्यमान हैं और इतनी क्षमता है कि अपनी निवृत्तिप्रधान क्रिया से स्वयं मुक्त हो सकती है किन्तु कर्मों के तिमिर-जाल में उलझी होने से मुक्त होने में समर्थ नहीं हो रही है। इसलिए कर्म-बन्धन में मुक्त होने का नाम ही मुक्ति है। इसके लिए किसी परमात्मा के आने की आवश्यकता नहीं है कि वह अपने स्थान से नीचे उतर कर हमारी सहायता करने के लिए यहाँ आए, बल्कि आत्मा में वह परम शक्ति विद्यमान है कि वह नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा बन सकती है। यदि उसमें यह शक्ति विद्यमान नहीं है तो ससार की कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उसे ईश्वरत्व प्रदान कर सके। उसमें स्वयं शक्ति का वह प्रकाश है। तभी तो वह अपनी ज्योति को ऊर्ध्वगामी बना सकता है। इसी रूप में जैनधर्म आत्मा को स्वीकार करता है। और यह तो सद्वाद का सिद्धान्त है कि जो विद्यमान है, जिसका अस्तित्व है वह कभी अभावरूप नहीं हो सकता और सद्भाव का कभी विनाश नहीं होता। इसलिये कर्म-बन्धनों को काटने का अर्थ है उनसे अलग हो जाना, जडत्व को सर्वथा छोड़कर आत्मा के यथार्थ को, पूर्ण चेतन रूप को प्राप्त कर लेना।

अहिंसा की भाँति कर्मवाद और स्याद्वाद भी जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त हैं। जैनधर्म के अनुसार कर्म एक स्वतंत्र द्रव्य है। आत्मा के साथ मिल कर चलनशील होने पर यह विभिन्न भावों की सृष्टि करता है। यह अपनी

१ मरुदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।

पयडस्स णत्थि बन्धो हिंसामत्तेण समिदस्स ॥ प्रवचनसार, ३।१७

२ धर्मं रता सत्पुरुषं समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधाना ।

अहिंसका वीतमत्ताश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनय प्रधाना ॥ वाल्मीकि-रामायण, १०६।३६

तथा—अहिंसासत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।

एतत् सामासिक धर्मं चातुर्वर्ण्यंऽब्रवीन्मनु ॥

यन्नूनमश्या गतिं मित्रस्य याया पया ।

अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सचिरे ॥ ऋग्वेद, ५।६४।३

क्रियाओं में जीव को मग्न करने रखता है और पूरी तरह से उस पर छा जाता है। इसलिए आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्मन्दन होता है उसमें कर्मण वर्णणाओं का योग रहता है। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया कर्मों के अनुसार सम्पादित होती रहती है। गौतम बुद्ध भी ज्ञानानुसार पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। कर्म अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध कहा जाता है। यह समूचे शरीर में व्याप्त रहता है। जिन प्रकार बीज के दण्ड हो जाने पर फिर वृक्ष उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार जन्म देने वाला कर्म ममार का बीज है और उसका आत्यन्तिक क्षय या दण्ड हो जाने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। कर्म से ही आत्मा में विकृति उत्पन्न होती है। इस विकृति को दूर करने के लिए जिनशानन में ज्ञान, ध्यान और तप का आचरण मुख्य बनलाया है। तीर्थंकर महावीर ने भी अहिंसा की मुख्य प्रेरक शक्ति को समय कहा है। समय एक आत्यन्तिक माधना है जो भीतरी शुद्धि पर अधिक बल देती है और मग्नता को प्रकट करती है।

विज्ञान की भाँति जर्म का भी अपना ज्ञान-विज्ञान है जिसके अनुसार यह कर्म स्कन्ध रूप (परमाणुसमूह) होने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु रज के सूक्ष्मतरंग कणों के समान सम्पूर्ण लोक में व्याप्त रहता है। और इसलिए कर्मवाद में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। जर्म ही ईश्वर के स्थान पर माना जा सकता है। यद्यपि ममार के कार्य किन्हीं न किन्हीं कारणों में उद्भूत होते हैं पर जिनका कारण प्रतीत नहीं होता, जो विभिन्न विषमताओं के जनक हैं और जिनका स्पष्ट अनुभव होता है वे सब किन्हीं अलौकिक शक्ति में उत्पन्न न होकर कर्मों में उत्पन्न होते हैं। ममार की विभिन्न विषमताओं का कारण कर्म है। कर्म ही मूलभूत विषमताओं का मूल है। कर्म जन्म-जन्मान्तरो के चक्र के रूप में विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं की सृष्टि करता रहता है। और इस प्रकार जैनधर्म का कर्मवाद ईश्वर का स्थान ग्रहण कर लेता है। जैनधर्म में कर्मों के विभिन्न भेदों तथा विविध अवस्थाओं का गणित के आधार पर विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन मिलता है। और कर्मों में अलग होने का उपाय तप कहा गया है। जिन समय में जिस प्रकार का तप सम्पादित हो जाता है वह अनुद तप विकृत भाव अलग हो जाता है। इन्हीं ही पारिभाषिक शब्दावली में 'निर्जरा' कहते हैं। और जहाँ न इन्द्रिया हैं, न उपमाँ (मिलने वाला कष्ट) है, न मोह है, न आश्चर्य, न मित्रा, न प्यास और न भूख ही है वहाँ निर्वाण होता है। वास्तव में निर्वाण वही स्थिति है जिसमें सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती, केवल अनीन्द्रिय निरावाध अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है।

स्याद्वाद जैनों का दार्शनिक मिथान है। इसमें विभिन्न दृष्टिकोणों में पदार्थ की सत्यता का व्याख्यान किया जाता है। वस्तुतः जड़ और चेतन सभी में अनेक धर्म विद्यमान हैं। उन सब का एक-मात्र कथन नहीं किया जा सकता। विवेक्षा के अनुसार एक समय में किसी एक की मुख्यता लेकर कथन किया जाता है। उसको दार्शनिक शब्दावली में "कथञ्चित्"—अपेक्षा में कहा जाता है जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है। अपेक्षावाद का यह सिद्धान्त दार्शनिक मतवादों के आधार को स्थिर करता है और जीवन का यथार्थ दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे सामने प्रस्तुत करता है। अपेक्षाओं के आधार पर किया जाने वाला कथन किन्हीं दृष्टिकोणों (नयों) की अपेक्षा रखता है। जैनागमों में सान दृष्टिकोणों को सात भगिमाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है। जो इन दृष्टिकोणों को समझे बिना स्याद्वाद की समझने का प्रयत्न करने हैं उन्हें यह मशयवाद जान पड़ता है। यथार्थ में स्याद्वाद मशयवाद न होकर समन्वयवाद कहा जा सकता है जिनमें विभिन्न धर्मों की दृष्टि को कथञ्चित् रूप में, किसी अपेक्षा में व्यवहार में या निश्चय में मत्त स्वीकार किया गया है। स्वयं तीर्थंकर महावीर स्वामी वैर-विरोध को हिंसा मानते थे। वे सत्य को मत्त के रूप में ही देखना और कहना चाहते थे। इसलिए उन्होंने वस्त्रों का त्याग किया, मनुष्य की वास्तविक अवस्था प्राप्त कर आध्यात्मिक उत्थान की ओर सब में समताभाव का प्रचार किया। यह वैर-विरोधमूलक समन्वयवादिनी

१ जह कालेण तवेण य भुत्तरस कम्मपुगल जेण ।

भावेण सडि पेया तस्सडण चेदि णिज्जरा दुविहा ॥ द्रव्यसंग्रह, ३६

२ णवि इदियउवमगा णवि मोहो विम्हियो ण णिहा य ।

ण य तिण्हा णेव शुद्धा तत्थेव य होइ णिव्वाण ॥—नियमसार, १८०





वह दृष्टि थी जो अनेक केन्द्रविन्दुओं पर एक वस्तु का विचार कर उसकी वास्तविकता को परखती थी। क्योंकि सत्य अखण्ड होता है। शब्दों के सीमित घेरे में उसके अनन्त गुणों की व्याख्या संभव नहीं है। किन्तु उसके केन्द्र में व्याप्त मुख्य विन्दुओं को अलग अलग तथा समाहार रूप में समझ कर उसकी अखण्डता का बोध किया जा सकता है। जब तक वस्तु के अनन्त तथा विभिन्न अवयवों का एवं उसके रूपों का ज्ञान नहीं होता तब तक न तो विश्लेषण ही किया जा सकता है और न उसका सामासिक कथन ही किया जा सकता है। इस प्रकार स्याद्वाद सत्य तक पहुँचने की वह पद्धति है जो जीवन को आत्मा के आन्तरिक व्यापारों से जोड़ती है और जिसमें बाहरी तथा भीतरी जीवन की एक प्रणाली समाहित है जो विविध दृष्टियों को एक केन्द्र में स्थापित कर वस्तु की सत्यता का निर्वचन करती है। सच यह कि वस्तु को किसी धर्म विशेष के साथ मानना ऐकान्तिक है। और इस ऐकान्त का परिहार अनेकान्त के बिना संभव नहीं जान पड़ता। विभिन्न नयों एवं दृष्टिकोणों से एक ही वस्तु को समझने पर उसकी सच्चाई समझ में आती है। आचार्य समन्तभद्र ने 'आत्म-मीमांसा' में यहाँ तक कह दिया है कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय वस्तु को सिद्ध करने वाले होते हैं। जीवन का यह दृष्टिकोण सापेक्षिक ऐकान्तवाद या अनेकान्तवाद से प्राप्त हो सकता है जो जैनधर्म के मूलभूत रहस्य को प्रकट करता है।

तीर्थंकर महावीर के लिए स्याद्वाद कोई नया सिद्धान्त नहीं था। यह तो बहुत पहले से ही चला आ रहा था। वैदिक युग में विभिन्न दार्शनिक मतवाद थे। ऋग्वेद से पता लगता है कि साध्यों का मूल सिद्धान्त मद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद, रजोवाद, अभिवाद, आदर्शवाद, अहोरात्रवाद और भयवाद इन दस सिद्धान्तों पर आधारित था^१। सदसद्वाद का सिद्धान्त बहुत ही व्यापक रहा है। दार्शनिक जगत् में किसी ने सत् और किसी ने असत् पक्ष को ग्रहण कर विविधवादों को जन्म दिया। किन्तु जिनमें उन सभीवादों का विचार अनेकान्त तथा स्याद्वाद के सिद्धान्त की व्यावहारिक एवं पारमार्थिक कसौटी पर करता है। समन्वय की यह पद्धति सिद्धान्तिक रूप में विश्व के किसी भी धर्म एवं दर्शन में अभिलक्षित नहीं होती। वस्तुतः यह सिद्धान्त प्राग्वैदिक युग से आज तक अप्रतिहत रूप में अवस्थित है। यद्यपि पिछली कई शताब्दियों में इसका डट कर विरोध किया गया पर इम वैज्ञानिक युग में आकर यह फिर से सुस्थिर हो गया है। यथार्थ में समय, काल, गति और परिमाण आदि के लिए सापेक्ष दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। वस्तु के विविध रूपों, गुणों तथा कार्यों को समझने के लिए किसी एक को मुख्य तथा गौण रूप में देखना ही पड़ता है। फिर, वस्तु की सभी कोटियों का एक-साथ निर्वचन ही नहीं सकता। इस प्रकार भ्रमण-संस्कृति के साथ इस देश में जिस धर्म और दर्शन का शत सहस्राब्दियों से प्रचलन होता आ रहा है वह जैनधर्म या जैनधर्म है। और हजारों ही नहीं लाखों तथा करोड़ों वर्षों के जीवन में कदाचित् ही किसी युग में इस सनातन आचार-विचार पद्धति में यत्किंचित् अन्तर आया हो। इसी से इसकी गौरव-गरिमा स्वयमेव सिद्ध है और भविष्य में भी इसके उज्ज्वल रूप में कुछ अन्तर नहीं आ सकेगा।

●

जैन-संस्कृति-सरोज की पाँच पंखुड़ियाँ

पारसमल 'प्रसून'

एम ए, साहित्यरत्न



यदि अमेरिका को अपने घन-वैभव पर गर्व है, रूस को अपनी वैज्ञानिक शक्ति पर नाज़ है, इंग्लैंड को अपनी शक्ति पर घमट है और फ्रांस को अपनी विद्यामिता, चमक-दमक पर अभिमान है तो कहना न होगा कि उसने भी ज्ञानादा गर्व है भारत को अपनी आध्यात्मिकता पर, नैतिकता पर ।

पुण्यभूमि नन्द्य भारत धर्मभूमि है । यहाँ के पुनीत वातावरण में हमेशा 'भोग से त्याग की ओर', 'प्रेय से श्रेय की ओर' और 'गगन में प्रियाग की ओर' के निनाद गुञ्जायमान रहे हैं । यहाँ जीवन का मार-खान-पान और गान-तान नहीं रहा है । यहाँ का उद्देश्य है त्याग, तप और कष्टमहिष्णुता । यहाँ त्याग का महत्त्व सर्वोच्च प्रतिपादित किया गया है । महाप्रिय, चन्द्रवर्मा मन्नाटो के गविन धिर नन हुए हैं त्यागी के चरण-कमलों में । पराक्रमी अर्जुन, बलधारी भीम ने अज्ञात गुण-गौरव-गाथा सुझाई है धर्मधारी युधिष्ठिर की । हमने आत्मा का महत्त्व हमेशा शरीर से ऊँचा समझा । शरीररोपण आत्मरोपण है । आत्म-नेत्र के ममल कोई तेज नहीं । इस आत्मिक शक्ति, त्याग-विभूति, आध्यात्मिक उत्थानि, नैतिक जागृति के सर्वोच्च, अमल, विमल, अनिच्छ स्वरूप का अगर हमें दर्शन करना है तो आइये, हम जैन-मन्त्रि का स्वरूप समझें ।

जैन-मन्त्रि अर्थात् धर्म-मन्त्रि विद्वत् में अजेय और अनन्य है । इसकी अनुपम वरीयता किने अमान्य होंगी ? पूर्ण विकासप्राप्त जैन-मन्त्रि-सरोज की मुवाब इतस्तन सर्वत्र मुवासित है । उसी सरोज की पाँच पंखुड़ियाँ प्रस्तुत हैं यहाँ ।

प्रथम पंखुड़ी—अहिंसा

“द्वैर किन्नी के लिये नहीं है, प्रीति सभी के लिये समान ।”

प्रेम-युद्ध निश्छत्र, सात्त्विक प्रेम का पुनीत अना बहाया है जैन-मन्त्रि ने । अहिंसा का जितना गहन, विराट् व विस्मयकारी आह्लादपूर्ण स्वरूप जैन-मन्त्रि ने दिया, वह अद्भुत ही है । यहाँ अहिंसा एकागी या सुकुचित न हो अपने सपूर्ण रूपों में निरुत्तर है । हिंसा का अर्थ मात्र शारीरिक हिंसा ही नहीं है, प्रत्युत मन-वचन से पीडा पहुँचाना भी हिंसा है । अहिंसा की नव कोटियाँ हैं । और प्राणी की परिभाषा मनुष्य या पशु-पक्षी तक ही अटक कर भटक नहीं गई है । उसकी विस्तृत परिधि में आने हैं एकेन्द्रिय में लेकर पचेन्द्रिय तक समग्र चराचर जीव । कीड़ी में कुजर ही क्या, पर पृथ्वी-काय में लेकर वनस्पति-काय तक के ककर में फूल तक के जीव—सभी को अभय-दान दिया गया है भगवती अहिंसा के हाथ, क्योंकि—

“सत्त्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविन न मरिज्जिज ।”

प्राण किने अप्रिय है ? जीवन सबको इष्ट है । विकनेन्द्रिय व अज्ञानी भी सुखेच्छुक हैं । अतः जैन-संस्कृति का यह महान् उद्घोष है, “आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।” जो हमें अप्रिय है, अवचिकर है, उसका आचरण अन्य के प्रति मत करो । जितना पावन व मनसावन मदेश है ! जिसकी प्रतिध्वनि अगर भारत में “अहिंसा परमो



धर्म." के स्वरो मे गूँजी तो पश्चिम से आवाज आई—“जीओ और जीने दो ।”

जैन-संस्कृति के इस अहिंसा-सुधाकर की एक कला को ही अगोचर कर विदग्ध बापू ने महान् शक्तिशाली अग्नेजी साम्राज्य से सफल टक्कर से इतिहास के पृष्ठों में एक नई महत्त्वपूर्ण, शानदार कहानी अंकित की ।

लोकमान्य तिलक भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के अमर सेनानी की यह उक्ति क्या कम उल्लेखनीय होगी—
“जैन धर्म ने अहिंसा का सर्वोच्च उदाहरण प्रस्तुत किया” ।

जैन संस्कृति की इस उच्च अहिंसा के ये कुछ चित्र कितने गव्य होंगे ।

भगवान् नेमिनाथ २२वें तीर्थंकर निर्दोष, निरीह, मृक पशुओं के करुण चीत्कार में द्रवित हो तोरण से मुह मोट गये । शृङ्गार क्षेत्र से विद्युत् हो धर्म-जगत् में प्रवेश करना युवक नेमिनाथ के जीवन की एक कितनी महान् क्रान्तिकारी घटना है ।

२३वें तीर्थंकर भगवान् पादवेनाथ ने तो बाल-वय में कमठ को प्रेम में समझाया कि इस तपस्या में क्या है ? देखो, काष्ठ में राख-सापिणी जल रहे हैं । उन्होंने जलता नाग बचाया ।

और चरम तीर्थंकर महावीर ने अहिंसा के बल से विष को अमृत में बदल दिया था । चटर्पणिक की रक्षा अहिंसा के चमत्कार की बोलती गाथा है ।

मुनि मेतार्य ने युगों की रक्षा में अपनी जान की बलि दे दी । कितने शुभ रूप हैं ये अहिंसा के । पर जैनधर्म की अहिंसा कायरो का दास्त्र नहीं, प्रत्युत चीरो का भूषण रही है । डरपोक होकर अन्याय व अत्याचार सहन करना हिंसा ही है । शान्ति का विगुल बजाते भी यदि जबरदस्ती हम पर युद्ध थोपा जाय तो उगका उठकर मुकाबला किया गया है । चेडा-काणिक का युद्ध, वरुण नाग नटुआ का युद्ध-जोहर आज भी जैनागमों के पृष्ठों पर चमक रहे हैं ।

“सर्वे भवन्तु सुखिन” की भगवद्-भाषना को अपने में राजीये विद्वद्शान्तिदायिनी यह अहिंसा जैनधर्म की एक वह अमूल्य देन है जो आज के युद्ध-जर्जर, भयाक्रान्त, विक्षुब्ध विदग्ध में शान्ति व आनन्द सरसा सकती है ।

(२) दूसरी पखुडी—मानव का अनन्य महत्त्व

“विहग सुन्दर, सुमन सुन्दर, पर मानव तुम हो सुन्दरतम ।”

जैन-संस्कृति मानव के अनन्य महत्त्व को प्रदर्शित करती है । मनुष्य इस विदग्ध की सर्वश्रेष्ठ कृति है । वह अनंत क्षमति का पुत्र है । अतुलित आनन्द का स्रोत है । चराचर जगत् का सम्राट है । उसकी मुट्ठी में हीरा है, पर उसे भान नहीं, अतः वह अपने को कगाल माने बैठा है । अनंत ज्ञान का सूर्य कर्म-बादलों से आच्छादित है । नर-नाहर का वच्चा गटक कर भुण्ड में चला गया है । मानव बेभान हो प्रकृति, देवशक्ति, तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना आदि के चक्र में उलझ जाता है ।

जैन-संस्कृति ने समझाया —

अरे मानव ! तू सर्वशक्तिमान् है । तेरी आत्मा अपने सत्कृत्यों से आश्रय को रोक, सबर व निर्जरा की साधना कर, मोक्ष-पद को प्राप्त कर, जीव से शिव, नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा बनने में सार्वथा सक्षम है ।” मानव की इस महान् क्षमिनी स्थापना जैन-संस्कृति की एक नितात क्रान्तिकारी देन है ।

पर मानव का महत्त्व अपने सदाचार से है । लिंग, वय, जाति या जन्म से नहीं । साधना के क्षेत्र में हर आत्मा समान है । मानव की महत्ता का मापदण्ड जाति-कुल नहीं, पर सद्गर्भ है । जातिवाद तो एक ढगोसला है । ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य आदि वर्ण या जाति से नहीं होता है । वर्ण-भेद जन्म से नहीं होता । जो जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है वह वैसा ही ऊँचा-नीचा हो जाता है ।

“जाति पाति पुछे नहि कोई, हरि को भजे सो हरि का होई” यह ४००-५०० वर्ष पूर्व की ही उक्ति है । और •

“दिल मे दिल को जोड़ो, दूआदून को छोड़ो”, यह तो अभी की ही पुकार है। पर जैन-संस्कृति का यह वचन-आघोष तो अताद्वियो पूर्व का है

“कम्मणा वनणो होइ, कम्मणा होइ खत्तियो ।
वइसो कम्मणा होइ, सुहो हवइ कम्मणा ॥”

कितना दिव्य साम्यवाद है यहाँ ! मानव-मानव में कोई फरक नहीं।

मानव-मानव में क्या फरक ? फिर वह नर हो या नारी। नारी यो कहने को सदा पूज्य रही है। “यत्र नार्य-स्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता” —पर वान्मव में नारी अवग्राही रही है। धार्मिक जगत् में तो उसका प्रवेश निषिद्ध ! कोई कोई तो नारी को नरक की अर्गला तक कहते हैं—“द्वार किमेक नरकस्य ? नारी ।”

पर जैन-संस्कृति—साम्यवाद की शुभ्र ध्वजा लहराने वाली संस्कृति ने नारी का महत्त्व प्रतिष्ठित किया। साधनाक्षेत्र में नरको समान अधिकार है। यहाँ नर व नारी का महत्त्व नहीं, पर राग-द्वेष-विजय का महत्त्व है। गुणवती नारी भी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त कर सकती है। उसका नाम अग्रिम पक्ष में सबसे ऊपर अंकित रहता है।

नारी का भव्य स्वरूप देखिये

जयन्ती राजकुमारिका के भगवान् महावीर से भविष्य, निर्भय, निर्द्वन्द्व भाव से पूछे गये ज्ञान-विज्ञान से भरे प्रश्न आज भी भगवती मून में चमकते हैं।

दशवैकालिक सूत्र में राजीमती ने पयभ्रष्ट बने रथनेमि को कितनी आत्मशक्ति से समझाकर पुनः पतन से उत्थान की ओर मोड़ा ? नारी की वीर अवला कहेगा ?

भगवान् ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी ने अपने गवित भाई बाहुवलि को किस प्रकार प्रेम से समझाया है ? “भूहारा वीर, गज यको ऊतरो, गज चडिया केवल न होय” की मधुर उक्ति में भगिनी का सलीला स्नेह, नारी का प्रेम व कर्तव्य झलक रहा है।

उत्तराध्ययन के १४वें अध्याय में उल्लेख है—कमलावती रानी ने राजा को समझा-बुझा कर सत्यमार्ग पर आन्त किया है। नारी वान्मव में अर्द्धाग्निनी होनी है।

अनट्टनाग सूत्र में मगधमन्नाद् श्रेणिक की महागनियाँ महाकाली, सुकाली आदि के प्रचण्ड विकट तपक्रम का वाचन आज भी पर्युपण पर्व में किया जाता है। यह बताता है कि फूल-सी कोमल राजरानी भी साधना के क्षेत्र में वच सी मुट्ट बन सकती है। नारी कोमल भी है और कठोर भी।

ये उदाहरण सुस्पष्ट करते हैं कि जैन संस्कृति ने नारी के गौरव को भडित कर यह स्पष्ट सिद्ध किया है कि “नारी, तुम केवल श्रद्धा हो।”

और जैन-संस्कृति ने समाज के तिरस्त्रित, दीन-हीन, घृणित शूद्रों को भी नया रूप दिया। इनके लिये भी यहाँ द्वार खुला था। धर्म-दरवार में क्या ऊँच नीच ? यहाँ तो साधना का महत्त्व है। श्री हरिकेशी मुनि, मेतार्य स्वामी के उदाहरण यह स्पष्ट मिद करते हैं कि कीचड़ में कमल होते हैं। साधारण भी अपनी शक्ति प्रदर्शन कर असाधारण बन सकती है। गुटडी के लाल भी बहुमूल्य होते हैं। वन्य कुसुम भी मुवास फैलायेगा ही। कस्तूरी काली व कुरूप क्यों न हो, पर काटे से तुनेगी।

तो जैन-संस्कृति ने विश्व को दिया कि मानव नगण्य व जघन्य नहीं है। हर मानव में साम्य है। प्रत्येक प्राणी अपने सत्पुरुषार्थ में सर्वोच्च पद भी प्राप्त कर सकता है।

तृतीय पंखुडी—बाहर नहीं, अंदर की ओर

“विज्ञान तुम्हारे झूठे हैं, सच्चा है केवल आत्मज्ञान”। बाहरी चमक-दमक, भौतिक चकाचौंध में अन्धे बने मानव को जैन-संस्कृति ने सर्व महत्त्वपूर्ण बात बताई, “बाहर नहीं, अन्दर की ओर झाँको।” शरीर तक ही अटक कर न





रह जाओ। यह क्षणिक है। नश्वर है। इसके अन्दर विगजमान आत्मदेव को पहचानो। अरे मानव, तू कहीं मृग समझ बैठा है? इस कार, वगला, सोना, चादी, पुत्र-कलत्र में मृग नदी पर गुछा मान है। इनका म्याद मरुतिप्ल घटग की भक्ति है। प्रारम्भिक क्षणिक सुख की समाप्ति सर्वनाश में होगी। मृग की खोज बाहर व्यर्थ है। कर्मरु की मृग की खुशबू वन की छाड़ियो में न होकर उसकी नाभि में ही है। वैसे ही मृग का अक्षय श्रोत अन्तरतम में प्रवाहित जाता है। "बहिर्मुखी प्रवृत्ति से विलग हो अंतर का अवलोकन" जैन मस्कृति की एक जगदम्त देन है।

कीन हमारे मित्र व कीन हमारे शत्रु? हम बाहर समझ बैठे हैं। यही तो भ्रम है, भूल है। हम ही सब-कुछ है। जैन मस्कृति की स्वर-रहरी कितनी उद्बोधक है

"अप्या कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।

अप्या मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिअ सुपट्ठिअओ ॥"

यह आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता व भोक्ता है। मित्र भी और शत्रु भी। यही तो वैतरणी नदी व बूट-शालमलि वृक्ष है। और यही स्वर्ग की कामधेनु तथा नन्दन वन है।

बाह्य शत्रु क्या शत्रु रगते है? इन हजार शत्रुओं को जीतना भी व्यर्थ है यदि आत्मा का वन नहीं किया। अपन आभ्यन्तर कपायादि शत्रुओं को ही हमें जीतना चाहिए। देखिये, श्रेष्ठ विजय कीनमी है

"जो सहस्त सहस्ताण सगामे बुज्जए जिणे।

एण जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ ॥"

आत्मविजय ही तो वीर की कगीटी है। इस एक को जीतना अर्थात् सबको जीतना है। इस विजय के पश्चात् क्या शेष रह जाता है? यह विजय मोक्ष का राजमार्ग है। इस विजय के साधन-शस्त्र है—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारिप्राणि मोक्षमार्गं ।"

सच्ची श्रद्धा, विश्वास और उससे उत्पन्न विमल निर्मल सद्ज्ञान और फिर "ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष" के अनुसार अहिंसादि पञ्च महाप्रती का सम्यक् पालन अर्थात् सम्यक् चारित्र्य-व्रत, ये तीनों मिलकर ही तो बनते हैं मोक्षमार्ग की सीढ़ी सड़क। और इसपर वेधदहक हो चलकर हम मोक्ष मजिल को पहुँचकर अरिहन्त सिद्ध बनकर सर्वश्रेष्ठ विजेता बन सकते हैं।

इस विजय का सलक्ष्य जैन धर्म की अनुपम और अनन्य देन है।

चतुर्थ पखुडी—कर्मवाद

"बोओगे जँसा वीज, तए वँसा स्हरायेया ।"

मानव जब दुःखी अवस्था में अत्यन्त निराश व हताश हो जाता है तब इस महान् अमा के धनीभूत अधकार में आशा व उल्लास की एक नई रोशनी बन आती है जैन-मस्कृति। उसका यह उद्बोधक कितना आशाप्रद है।

"जँसी करणी वँसी भरणी"। "जो जस करद गो तम फउ चाग्या"। मनुष्य को अपने मुभाशुभ कर्म अवश्य ही भोग्य होते हैं। दुःख या सुख, जो कुछ भी हमें प्राप्त होता है, यह हमारी ही करणी है।

यह कर्मवाद मानव के स्वयं के महत्त्व का सूचक है। इस आत्मा को ईश्वर या परमात्मा नाम की कोई अदृश्य शक्ति नियंत्रित नहीं करती है, बल्कि मानव स्वयं ही अपने भाग्य का प्रेरक, उद्बोधक है। वही अपनी जीवन-नैया का केवट है। डूबना या तिरना उसके अपने हाथ में ही है। अपना मन ही वधन या मोक्ष का कारण है।

जैन-मस्कृति का यह अटल विश्वास है कि कृतकर्म भोगे जिना छुटकारा सम्भव नहीं। कर्म किसी को नहीं छोड़ता—चाहे राजा हो या रक। इसकी शक्ति अप्रतिहत है। अनियंत्रित है, सबशक्तियान् सर्वोच्च पदधारी तीर्थंकर तक

को इस वजह से नहीं छोड़ा। विगृष्ट बालुदेव के म्व में अपने सेवक के कानों में मन्वादे शीघ्र के जागृत स्वाने के द्वारा भगवान् महावीर के कानों में भी कीर्तन छोकी गई। अग्निनाथ के जागृत देवारे बैठे जो १२ पटे भूला-प्योना रहना पड़ा था, उनके परम्परागत भावान् श्रृणुमन्वेव को माधु बनने के अन्तर १२ मास तक निगाहर रहना पड़ा।

और भी कई उदाहरण हैं जैसे उदना की गड्ढकाना का धिमंडल व जागृत, कशवती के कर-द्वय का काटा जाना, अन्ना का पति-विछोह व कपट, चक्र श्रृषि की माठ उठाना, गजमुकुमर के गिर पर बीरो की पाठ आदि कर्म की प्रवृत्ता की घोषणा करने हैं।

अतः जैन-संस्कृति समझनी है जिन्नाम शुन जनों का ही सूत्र करे। पुण्य प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष होती हैं। निर्जग सुवर की करणी हमें निराने वाली है। पापशय्य स्वस्था है। हम यदि सुख में हैं तो फूल नहीं, दुःख में गीत-नडपे नहीं। बल्कि मम विषम अवस्था में मध्यस्थ रहें। जैसे तो जीवन का महान् मार है। अलग पर हर्ष-बाधा की शास्त्रिपूर्वक सहन करना, 'ह' के अन्त की उत्पत्ति बनना—जैन-संस्कृति की यह चिन्ता प्राणान्, अमाप्राण देत है।

पंचम पंखुड़ी—अपरिग्रहवाद

“जग पीडित है अनि दुःख से, जग पीडित है अनि सुख से।

मानव-जग में बंट जाये, सुख दुःख में जो दुःख सुख में ॥”

सुप्रसन्न अगान्ति का अग्रदूत है। जिन्नी बन्धु के प्रति आकर्षण गेभ का चिह्न है। गेभ अथवा परिग्रह कभी ममान नहीं होता। क्योंकि “इच्छा ह आगामममा अणतिया।” ममान में पदार्थ तो अवश्य ही है और गमा अनन है। पर इच्छा की वृत्ति का अर्थ होता है दूसरी जानना की जागृति। और ‘जहा लाहो तहा तोहो’। जैन-जैन राम बटेगा, बैसे-बैसे नृणा भी बटेगी। परिग्रह वृत्ता की अग्नि में घृत या डबन का काम करेगा।

हम परिग्रह से—ममत्व भाव ने विव्ध-उत्तिष्ठान में क्या कारनामे बनाये हैं। प्रीति का नायक यह गेभ आज घर, समाज और मन्त्रा में विग्रह का जागृत बना है। विव्ध अगान है। आन का ससार सुखी कहा ? वर्ग-मजप का दौर है। शोषण व शोषित की टक्कर है। इस दृष्टि पर परिग्रह के विरोध में रूप, प्राय, चीन आदि में मण्यन्त्र, रत्नमय जनिता हुई है। जाल् मारम् का मम्यवाद इस गेभ की दवा नहीं है—क्योंकि हिंसा में हिंसा घान नहीं हो सकती। लन का खपटा पानी में ही साक होता।

तो ऐसी विकट, विषम बीमारी की एक अचूक दवा ही है जैन संस्कृति ने और वह है—‘अपरिग्रहवाद’। पदार्थ पर स्वामित्व के अधिकार का त्याग करना ही पूर्ण शानि का मार्ग है। अपने को संपत्ति का स्वामी नहीं बनने दृष्टी समझो। अमक्ति भाव को हटाओ। क्योंकि ‘मुच्छा परिग्रहो बुद्धो’ या ‘मुच्छा परिग्रह है।’ बन्धु के प्रति आर्माक्त या ममत्वभाव ही परिग्रह है। मन की भावना का महत्त्व ज्यादा है। मग्न चरित्रों विपुल वैभव के बीच भी निर्दिष्ट भाव से रहने थे, जग में कमज की तरह।

अतः जैन-संस्कृति का महान् नाद रहा है—“मग्रह नहीं बनने विनरग।” “असंविनागी न हु तस्म मोक्कतो।” —विनाग नहीं करने वाले के वास्ते मोक्ष का द्वार ही बंद है।

जैन-संस्कृति की आध्यात्मिकता ही अपरिग्रह है। जैन अमरा कागी कौडी भी पास नहीं रखते। उनके बन्ध, आहार याचिन, सीमित व परिमित होते हैं। परिग्रह को गान का जनक कहा है। गेभ को सर्वाधिक धनिकाली खपाय बनाया गया है।

तीर्थंकर शीघ्र होने के पूर्व बर्षों दान देने हैं और दुनिया को द्रियात्मक रूप में समझाते हैं—“शनहस्तं ममाहर महत्तहस्तं भक्ति” अर्थात् मैं हाथ में कमा और हजार हाथ में विनिग्न कर।

नृणा का अन मज कैसे हो ? दो माया स्वर्ग की इच्छा बढ़ती-बढ़ती अनत मगर साम्राज्य-याचना तक भी परिसमान नहीं हुई ? अन में कपिल को आत्मज्ञान हुआ। सर्वपरिग्रह के वधन से विमुक्त हो केवली बने और अपरिग्रह का एक जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत किया।



आनन्द आदि श्रावक ऐश्वर्य के माग में लीन होते भी ममत्वहीन थे । संपत्ति का अर्जन लाभ या लोभ के लिये नहीं करते, पर बहुजनहिताय—विश्वकल्याण का मलक्ष था उनका । जीवन की उत्तर अग्रथा में वे विलकुल निमग्न हो जाते थे ।

तुगियापुरी नगरी के श्रावकों के विषय में क्षात्रग्रीव उल्लेख है

"उत्तिहफलिहा, अवगुयदुयारा"—उनके द्वार अतिथियों के स्वागत-सत्कार के लिए प्रतिपन्न घुने रहते थे ।

अहिंसा के मूलमंत्र में अभिपिबत, हृदय की उदार भावना से परिपूजित, यह शुभ मंगलमय अपरिग्रह जितना मूल्य है । सायद आज के इस आणविक होठ एवं उद्जन घम के युग में विश्वयाति की एकमात्र यही मुराह है । आश्रयकता है जैन-संस्कृति की, इस मंगलमय रत्नलहरी को ममझने की व सदनुसार आचरण करने की । यथार्थ ही है

He is richest who has the least

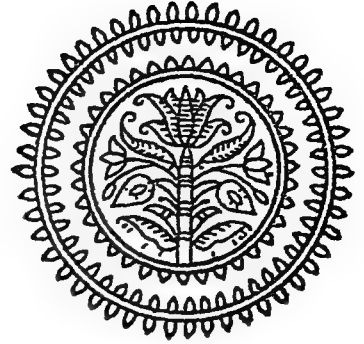
अब यह सुस्पष्ट है कि यदि गनुष्य, मानवता और ससार की सुरक्षा एवं उन्नति का कोई मार्ग है तो उसका दर्शन हमें यह शुभ जैन-संस्कृति ही करवाती है । कई एक विशिष्टताओं को अपने में समाहित किये इस अद्भुत जैन-संस्कृति को अनन्य कहना एक निर्विवाद सुस्पष्ट तथ्य है ।

अतः मैं इस मंगल आशा के साथ विराम लेता हूँ कि जैन-संस्कृति की अमल-धवल ज्योत्स्ना विश्व को आनन्द-प्रसूत-सिन्धु में नहलायेगी ।

श्रमण-संस्कृति और लोकतन्त्र

रामावतार शर्मा

राजनीति विभाग,
श्रमजीवी कालेज (विद्यापीठ),
उदयपुर ।



भारतीय संस्कृति का प्रवाह एक विशाल नदी की भांति है जो राह की छोटी-मोटी नदियों को अपने में समोकर—मोक्ष रूपी ममुद्र में जा मिलती है। भारत अनादि काल से ही संस्कृति के क्षेत्र में विश्वगुरु रहा है। इसके आचल में विभिन्न संस्कृतियों का जन्म और विकास हुआ है। सैन्धव, वैदिक, श्रमण संस्कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। यहाँ हम केवल श्रमण संस्कृति में लोकतन्त्री-जीवन के विभिन्न तत्वों का अध्ययन करेंगे। यदि धर्म सामाजिक जीवन का नियमन करता है तो संस्कृति उस पर नियंत्रण करती है। श्रमण-संस्कृति का विकास ऐतिहासिकों के मतानुसार भारत में इसलिए हुआ कि इसके पूर्व वैदिक धर्म में हिंसापूर्ण यज्ञों का प्रावलय हो गया था। हिंसापरक वैदिक यज्ञ और बुद्ध तथा महावीर की अहिंसा—दो मूलतः श्रमण-संस्कृति के स्रोत माने गये हैं।

हिंसा तथा वर्णव्यवस्था का विरोध

भारत में जितनी प्रकार की संस्कृतियों का विकास हुआ है उनमें अहिंसावाद को उतना महत्त्व किसी ने भी नहीं दिया जितना कि श्रमण-संस्कृति में और विशेषतः जैनधर्म में दिया गया है। बुद्धदेव से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व हम जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ को अहिंसा का विमल उपदेश सुनाते पाते हैं। पार्श्वनाथ के उपदेश को चातुर्ग्राम सवर सवाद कहते थे। ये चातुर्ग्राम सवर थे—

१ हिंसा का त्याग, २ असत्य का त्याग, ३ स्तेन का त्याग और ४ परिग्रह का त्याग। उल्लेखनीय बात यह है कि पार्श्वनाथ के पूर्व अहिंसा केवल तपस्वियों के आचरण का क्षेत्र मानी जाती थी किन्तु मुनि पार्श्वनाथ ने उसे सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के साथ जोड़कर सर्वसाधारण के आचरण के लिए उपयोगी बना दिया। पार्श्वनाथ ने सब की स्थापना की और सबों के द्वारा जनता में अहिंसा का प्रचार करना आरम्भ कर दिया।

इतिहास में एक ऐसा भी समय आता है जब कि हिंसा और अहिंसा में सघर्ष चला है। ब्राह्मणों ने हिंसा का पक्ष लिया। सम्भवतः समाज में उनका स्थान यज्ञों की वजह से अक्षुण्ण बना हुआ था और यज्ञों के प्रति आन्दोलन ब्राह्मणों ने वर्णव्यवस्था के विरोध में समझा। परन्तु श्रमण-संस्कृति ने वर्णव्यवस्था को भी स्वीकार नहीं किया। यह घटना भी संभवतः आकस्मिक ही रही होगी कि बौद्ध और जैनधर्म के प्रवर्तक क्षत्रिय वर्ण के थे, उन्होंने ब्राह्मणवाद की कटु आलोचना की, क्योंकि धर्म को साधन मानकर पुरोहितों का वर्ग अपने सुखों की वृद्धि कर रहा था और जनता पर उल्टे रीति भी जमाता था। परिणामस्वरूप श्रमण-संस्कृति की सबसे बड़ी देन यह भी है कि समाज में कोई भी वर्ण-व्यवस्था स्वीकार नहीं की जावे। सभी प्राणिमात्र समान हैं। समानता की यह देन ही लोकतन्त्र का मूल आधार है।

लोकतन्त्र की व्याख्या करते हुए पाश्चात्य विद्वान् लार्ड ब्राइस ने कहा है कि लोकतन्त्र केवल मात्र शासन-पद्धति ही नहीं है। समाज और धर्म का भी रूप है—क्योंकि आदर्श लोकतन्त्र के लिए आवश्यक है कि समाज में ऊँच-नीच का



भाव न हो और औसत स्तर का नागरिक इतना समझदार हो कि वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हो, समाज का संगठन और सिद्धान्त दोनों ही की दृष्टि से विशालहृदयी होना चाहिए। यह ध्रुव सत्य है कि कितना ही जनतन्त्र-वादी राज्य क्यों न हो यदि समाज में समानता, सहिष्णुता, और मज्जनता नहीं है तो वह अन्ततागत्वा असफल ही होगा। किसी भी प्रकार की मदान्विता, कट्टरता और हिंसा की प्रवृत्ति लोकतन्त्र की जड़ों की खाँचला कर देगी।

बौद्धिक अहिंसा

बौद्धिक अहिंसा पर जोर जैनमत ने म्याद्वाद के द्वारा दिया है। मुनियों की वाणी में हम सर्वत्र एक तरह की चौकसी और सतर्कता देखते हैं कि जब वह किसी मत का पटन करते हैं तब भी उनके तर्क हिंसा से भीगे नहीं होते हैं। उनमें वह निर्ममता नहीं होती जो हठी विद्वान् का लक्षण मानी जाती है।

सत्य किसे मिलता है और किने नहीं, यह विवाद का विषय है, मगर एक बात व्यावहारिक मालूम पड़ती है कि जो आदमी सत्य की राह पर चलता है वह हठ नहीं करता, किसी बात की जिद नहीं पकड़ता और दूसरों को चुप करने के लिए जोर-जोर से बोलने नहीं लगता है। कभी-कभी ऐसा समझ लिया जाता है कि विनम्र व्यक्ति मध्यवादी है। किन्तु वह मध्यवादी नहीं होता। विरोधी मत के विषय में यह मात्र लेकर ज़रूर चर्चा है कि क्या आश्चर्य, सत्य का एक पहलू उसे भी दिखाई पड़ा हो। और यही बात विरोधी मत के बारे में उसे अहिंसक बना देती है। वर्तमान युग में म्याद्वाद का अंत होता जा रहा है। यह गुण लोकतन्त्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। लोकतन्त्र के लिए यह आवश्यक तत्त्व भी है।

लोकतन्त्र की बुनियाद म्याद्वाद पर ही आधारित है। लोकतान्त्रिक जीवन की झाकी इस घटना से प्राप्त हो सकती है कि एक बार सकुदी अरब का ग्राह इंग्लैण्ड गया। इंग्लैण्ड की सम्राज्ञी ने परम्परागत पद्धति से शाह का स्वागत करते हुए प्रधानमंत्री से परिचय कराया और उसके तुरन्त बाद ही अपने वाम-अंग पर आसीन विरोधी दल के नेता का परिचय कराया। शाह ने सरल ढंग से उत्तर दिया कि महारानी, यह आपकी ही उदारता है कि बकादार प्रधानमंत्री के साथ ही आप विरोधी दल के नेता को भी सम्मान देती हैं। हमारे यहाँ सरकारविरोधी नेता के लिए केवल कारागार और फाँसी के तख्ते हैं। बात में कितना बल है, यह लोकतन्त्र के जीवन की विशेषता पर बल देता है कि म्याद्वाद लोकतन्त्र का अभिन्न अंग है।

जैन धर्म में उदारता

जैन सुदूर प्राचीन काल में जिस तरह त्यागीसध में जाति, लिंग आदि के भेद की अपेक्षा न करके सबको स्थान देते आये हैं, उन्नी तरह वे मदा अपने धर्मस्थानों में जन्म से जैन नहीं ऐसे व्यक्तियों को समझाकर अथवा परिचय बढ़ाकर तथा अन्य शिष्ट रीति से ले जाने में गौरव मानते हैं। कोई भी विदेशी हो या विधर्मी, और चाहे जिस वर्ग का पुरुष हो या नारी, कोई सत्ताधारी हो या वैभवशाली, चाहे पारसी हो या मुसलमान, कोई शासक हो या ठाकुर या भील या अन्य कोई, पर जो भी सत्ता, सम्पत्ति और विद्या में उच्च समझा जाता हो उसे अपने धर्मस्थानों में किसी भी प्रकार ले जाने में जैन लोग जैनधर्म की प्रभावना मानते हैं और यदि ऐसा व्यक्ति स्वयं ही जैन स्थानों पर जाने की इच्छा प्रदर्शित करता है तब जैन गृहस्थों और व्यक्तियों की युष्ती का कोई ठिकाना नहीं रहता, और यह स्थिति अभी तक सामान्य रूप से चली आ रही है। ऐसे समय में कोई त्यागी या गृहस्थ जैन यह नहीं समझता कि मंदिर और उपाश्रय में आने वाला व्यक्ति राम का उपासक है या कृष्ण का, या खुदा अथवा अन्य किसी देवी देवता का। उसके मन में तो केवल यही होता है कि भले ही वह किसी पथ का मानने वाला हो, चाहे वह भासभसी हो या मद्यपान करने वाला, यदि वह स्वयं या अन्य की प्रेरणा से जैन धर्मस्थानों में एक बार भी आता है तो कुछ न कुछ प्रेरणा और बोध ग्रहण ही करेगा, कुछ न कुछ सीखेगा ही। यह उदारता चाहे ज्ञानमूलक हो या निर्बलतामूलक, पर इसका पोषण और उत्तेजन करना हर तरह से उचित समझा जाता है। यही चरित्र धमण-संस्कृति की देन है। उदारता लोकतन्त्र का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

श्रमण-संस्कृति में त्रिरत्न

मम्यक् दर्शन, मम्यक् ज्ञान और मम्यक् चारित्र यद्यपि हिन्दुओं के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग से ही मिलने-जुलते हैं, किन्तु थोड़ा भेद अवश्य है। हिन्दु-धर्म में ज्ञान, कर्म और भक्ति में से कोई भी एक मार्ग मुक्ति के लिए यथेष्ट समझा जाता है किन्तु श्रमण-संस्कृति में मोक्षलाभ के लिए मम्यक् दर्शन, मम्यक् ज्ञान और मम्यक् चारित्र—तीनों को आवश्यक माना जाता है।

त्रिरत्न में पहला स्थान मम्यग्दर्शन का आता है जिसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य तीन प्रकार की मूढताएँ और आठ प्रकार के अहंकारों को बिल्कुल छोड़ दे। तीन प्रकार की मूढताएँ हैं, लोक-मूढता, देव-मूढता और पाखंडी मूढता। नदियों में स्नान करने से पवित्र होना, देवी-देवताओं में विश्वास और ऐसे सभी अन्व विश्वास श्रमण-संस्कृति में त्याज्य हैं। इन त्रिरत्नों का प्रभाव लोकतन्त्र के लिए वास्तव में बहुत महत्वपूर्ण है। जो मनुष्य विवेकपूर्ण होगा वही अन्वविद्वान और सभी मूढताओं ने ऊपर उठकर सुज्ञ नागरिक बन सकेगा। अन्वविश्वासी मनुष्य भेद की भाँति कहा गया है जो कि लकीर का फकीर बन अपनी आत्मा का हनन करता है। ऐसे व्यक्तियों से बाह्य लोकतन्त्र के लिए खतरा है क्योंकि तानाशाही के लिए ऐसा मूढता बहुत उपयोगी होता है।

प्रत्येक जैन गृहस्थ को पचव्रत लेने पड़ने हैं, जिनके नाम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। गृहस्थों के लिए जो व्रत परिमित रखे गये हैं, श्रमणों पर वे ही व्रत अत्यन्त कठोरता से लागू किये जाते हैं, क्योंकि उन्हें छूट की आवश्यकता नहीं है। उन्हें प्राणपण से इन व्रतों के पूर्ण पालन का प्रयत्न करना चाहिए। श्रमण-संस्कृति के पचव्रत लोकतान्त्रिक जीवन के महत्वपूर्ण और अविच्छिन्न अंग मान जा सकते हैं।

राजनय व प्रजातन्त्र

उपर्युक्त वर्णन में श्रमणसंस्कृति के लोकतन्त्र के विभिन्न तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। अब प्राचीन साहित्य के आधार पर प्रजातन्त्र के व्यवहार-पक्ष पर भी विचारविनिमय करना युक्तिसंगत होगा। प्राचीन ग्रन्थों में राजा शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ का मम्यक् निरूपण किया गया है। वहाँ समझाया गया है कि प्रजा रञ्जन करना, उसे समृद्धिगील बनाकर प्रमन्न करना ही राजा का मुख्य कर्तव्य था। बालिदाम ने भी रघुवंश में रघु के लिए यही भाव व्यक्त किया है। प्राचीन भारत के राजा अपने कर्तव्यों के पालन में कोई बात उठा न रखते थे। लोकाराधन के लिए राम ने अपनी प्रिय पत्नी सीता को भी त्याग दिया था। प्राचीन साहित्य के अध्ययन में ज्ञात होता है कि समाज ने अराजकता को दूर करने तथा सुख, सम्पत्ति एवं शान्तिपूर्ण जीवन के लिए राजा का नियन्त्रण स्वीकार किया। परन्तु राजा निरकुश नहीं बन सकता था। वह प्रजा का रक्षण करने के लिए नियुक्त किया जाना था और उसे इस कार्य के लिए कृषि की आमदनी का छठवा हिस्सा तथा व्यापार की आमदनी का दसवा भाग वेतन के रूप में दिया जाता था। उसे अपना कर्तव्य न निभाने पर पदच्युत भी किया जा सकता था।

दो प्रकार के राजा

प्राचीन भारत में राजा दो प्रकार के रहते थे—वशन्मागत व निर्वाचित। वेद, ब्राह्मण, महाभारत, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में राजाओं के वशन्त्रम का उल्लेख है। रामायण, महाभारत, पुराण आदि में उनकी वशावलि या भी दी गई है, जिनमें पता चलता है कि राजाओं के अधिकार वशन्त्रमागत ही रहते थे। किन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा जैन व बौद्ध साहित्य में प्रजा के प्रतिनिधियों की एक समिति होती थी जिसके द्वारा निर्वाचन हुआ करता था। कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि मन्त्रिमण्डल का नाम ही मन्त्र था।

वैदिककाल के पश्चात् भी राजा के चुनाव का सिद्धान्त कार्यरूप में लाया जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में आये राज्याभिषेक के वर्णन का पढ़ने में चुनाव के सिद्धान्त का पता लग जाता है। इस काल में समिति का स्थान पीर जनपद में ले लिया था। यह मन्त्र पीरजनपद इसलिए कहलाती थी कि नगरो व ग्रामों के प्रतिनिधि इसके सदस्य हुआ करते थे।





वाल्मीकीय रामायण के अयोध्याकाण्ड से पता चलता है कि राम को राजतिलक करने में पूर्व राजा दशरथ को पीरजान-पद की सम्मति लेनी पड़ी थी । राजा दशरथ की मृत्यु के बाद नये राजा के चुनाव के लिए पीरजानपद की बैठक हुई थी ।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजा के चुनने का सिद्धान्त भी वर्तमान या श्रीर तत्पश्चात् पीरजानपद द्वारा होने लगा । इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि आधुनिक काल में भारत के राष्ट्रपति या अमेरिका के प्रेसिडेण्ट के समान ही राजा का चुनाव होता था तथा उस पद के लिए दो-तीन प्रतिस्पर्धी रहा करते थे, जिनमें से बहुमत प्राप्त करने वाला विजयी कहलाता था । आजकल प्रजातन्त्र के नाम पर चलनेवाली राजनैतिक दलबन्दी प्राचीन भारत में नहीं थी । राजा के चुनाव से तो उसका कोई सम्बन्ध नहीं था । साधारणतः राजा वशकमागत ही रहता था । उसके उत्तरदायित्व व कर्तव्यों का स्पष्टीकरण कर दिया जाता था । जो राजा अपने उत्तरदायित्व की समझकर कर्तव्यों का पालन नहीं करता था वह समिति या पीरजानपद के द्वारा राजपद से च्युत किया जाता था तथा अन्य योग्य व्यक्ति राजा बनाया जाता था, जो कि साधारणतः राजकुल का ही होता था । इसके अतिरिक्त प्रत्येक राजा को अपने पुत्र का राज्याभिषेक करते समय समिति, पीरजानपद आदि से स्वीकृति प्राप्त कर लेनी पड़ती थी । इस प्रकार राजपद का कार्य सुचारु रूप से चलता था ।

स्थानीय शासन

आधुनिक लोकतन्त्र के सिद्धान्त में स्थानीय शासन पर अत्यधिक बल दिया गया है । प्राचीन भारत में स्थानीय शासन का प्रारम्भ ग्रामों से होता था । ग्राम के शासन-संचालन में सरकारी व गैर-सरकारी ऐसे दो प्रकार के कर्मचारियों का हाथ रहता था । गांव में पटेल व व्यापारी सरकार की ओर से रहते थे और ग्रामपंचायत जनता की ओर से रहती थी । कदाचित् उन दोनों सरकारी कर्मचारियों को भी पंचायत में रहना पड़ता था । गांव का मुखिया ग्रामीण कहलाता था । महा-बग, कुलावक जातक, खरस्तर जातक, उमेतोभट्टजातक आदि में ग्रामीण का उल्लेख है, जिनके अनुसार वह कर वसूल करता था तथा चोर तथा दुश्चरित्र व्यक्तियों को गिरफ्तार करता था । इसे ग्राम सम्बन्धी देख-रेख करनी पड़ती थी ।

ग्राम-पंचायत

भारत की ग्रामपंचायत संस्था भी बहुत प्राचीन है । अग्नेजी साम्राज्य के प्रारम्भ से पूर्व तक यह एक जीवित संस्था थी । इस संस्था के ऊपर अग्नेजी शासनकाल में प्रशासनिक अधिकार समाप्त हो जाने पर भी अधिकांश सामाजिक व पारिवारिक झगड़ों के निवटारे के लिए बराबर पंचायतों का योगदान रहा है । ग्राम के वयोवृद्ध व अनुभवी लोग उसके सदस्य रहते थे । ग्राम सम्बन्धी सब बातें उसी में तय कर ली जाती थी । उसकी न्याय करने का अधिकार भी प्राप्त था । श्रमण-साहित्य में कितने ही स्थलों पर ग्रामपंचायत का उल्लेख आता है । शिला-लेखों में उसके सर्वोपरि कर्मचारियों को ग्रामाधिप, ग्रामणी, ग्रामकूट, ग्रामपति, पट्टलकि आदि कहा गया है । जातक साहित्य में उसे ग्रामभोजक नाम से उल्लिखित किया गया है । उसकी सहायता के लिए दो-तीन सदस्यों की एक छोटी-सी उपसमिति रहती थी, जिसे बड़ी पंचायत के सामने जवाबदेह होना पड़ता था । अधिकार के स्थान पर साधारणतया वशकमागत थे । कभी-कभी एक से अधिक भी उपसमितियां रहती थी ।

पंचायत की भावना

प्राचीन जीवन के—सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन के विकास में पंचायतभावना का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान था । इसीलिए प्राचीन भारत का सार्वजनिक जीवन सुखी था । पंचायत की भावना समाज में इतनी प्रबल हो गई थी कि सार्वजनिक जीवन का प्रत्येक पहलू उसी के द्वारा संचालित होता था । हर प्रकार के सार्वजनिक कार्य के संचालन के लिए पंचायती प्रथा थी । आजकल भी इस प्रथा का विगड़ा हुआ स्वरूप जाति पंचायतों के रूप में

दिखाई देता है। ऊँचे में ऊँचे और नीचे में नीचे व्यक्ति का सामाजिक जीवन जाति-पंचायतों द्वारा ही संचालित होना है।

वर्तमान भारत के संविधान-निर्माता भारत भूमि की परम्पराओं में गहरी बैठी हुई पंचायत भावना की अवहेलना नहीं कर सके, फलस्वरूप संविधान में पंचायतों के गठन की व्यवस्था हो गई और आधुनिक काल की महत्त्वपूर्ण लोकतन्त्र की द्वाड़ का पुनर्गठन किया गया।

नागरिक जीवन

समाज के आर्थिक जीवन का संचालन श्रेणी, पूंग, निगम आदि संस्थाओं द्वारा होता था। इसमें भिन्न-भिन्न व्यापार व उद्योग-धंधों को बन्ने वालों के संगठित जीवन का पता लगता है। ये संस्थाएँ बहुत प्राचीन थीं। बौद्ध साहित्य, रामायण स्मृत्यादि में उनके अस्तित्व का पता लगता है। इन्हें बहुत से अधिकार भी प्राप्त थे। इस सम्बन्ध में मनु, राजबन्धु, बृहस्पति आदि स्मृतियाँ में तथा नामिक, जुन्नार आदि के प्राचीन शिलालेखों में बहुत कुछ मालूम होता है। ये संस्थाएँ न केवल आर्थिक जीवन को संगठित करती थीं, अपितु राजनैतिक दृष्टि में स्वतंत्रता का वातावरण निमित्त करके समाज या समूह के मामलों में भी अग्रसर करती थीं। इन सब संस्थाओं के अपने न्यायालय भी होते थे, जिनमें साधारणतः जमीन-नायदाद आदि के दीवानी झगड़े नए होते थे। बड़े-बड़े मन्त्रियों ने बाद में दीवानी पर भी अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया, फलतः श्रेणी, पूंग, ग्रामपंचायत आदि के अधिकारों में कुछ कमी अवश्य आती चली गई।

बौद्ध साहित्य में मध

बौद्ध साहित्य में मधों का उल्लेख है, यहाँ उन्हें गण कहा गया है। अवदान-अतक (२।१०३) में वर्णन आता है कि मध्यप्रदेश में कुछ वर्षापूर्व दक्षिण में गये और वहाँ के राजा से मिले। राजा ने उनसे पूछा कि तुम्हारे यहाँ शासन कैसे चलाया जाता है? उसपर उन्होंने कहा कि हे देव! कुछ देस गणाधीन है व कुछ राजाधीन हैं। शाक्य, कौलिय, लिच्छवी, विदेह, मल्ल, मगध, कुलिय, मगध आदि मधों का भी बौद्ध साहित्य में उल्लेख है। इन मधों की एक सभा रहती थी जिसकी बैठक पर बड़े भवन में होती थी। इस भवन का मयागार कहते थे। इसी में राजा का चुनाव होता था। उनके शाय में सभ शासनमूर्त रहते थे। वह राजा उभय भूषण का प्रधान रहता था जिसका चुनाव कदाचित् प्रतिवर्ष हुआ करता था। राजा शब्द पदवी मात्र का सूचक था। बौद्ध साहित्य में सभ के अन्य कर्मचारियों का भी उल्लेख आया है, जैसे उपासका, नेतापति, भाण्डागारिक आदि। इन मधों की सभा के महत्त्वपूर्ण निश्चय पुस्तक रूप में सुरक्षित रखे जाते थे। न्याय का कार्य करने के लिए विनिच्च महामात, बोहागिक सूत्रधार, अष्टकुलक आदि न्यायाधीश थे।

उपर्युक्त वर्णन से विदित होता है कि श्रमण-संस्कृति और साहित्य ने लोकात्मिक सिद्धान्त को भली प्रकार संचालित है। संस्कृति के नैतिक सिद्धान्त शासन की नींव को सुदृढ़ करते हुए दिखाई देते हैं तथा प्राचीन भारत में लोकतन्त्रों शासनप्रणाली का पर्याप्त मात्रा में विकसित होना दिया है। जनसाधारण में पर्याप्त राजनीतिक विचारों को जागरूकता प्रमाण श्रमण-साहित्य में पूर्ण तरह से उपलब्ध है। जो राजनीतिक सिद्धान्त आधुनिक समय के होते हैं तथा जिन पर यूनान, अंगरेज, फ्रांस और अमेरिका की छाप लगी हुई है, जिनके प्रवर्तक होब्स, लॉक, रूसो इत्यादि माने जाते हैं, वे सब प्राचीन भारत को ज्ञात थे। राजा का निर्वाचन, सभासमिति व पौरजानपद, मन्त्रिमंडल, सभ-शासन आदि के बारे में जो कुछ भी प्राचीन साहित्य उपलब्ध है उसमें भारत में विकसित लोकतन्त्र की समस्याओं का आश्चर्यजनक विकास होना ज्ञात होता है।





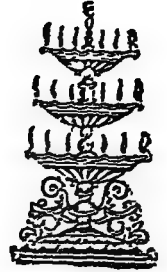
संदर्भ ग्रन्थ—

- १ भारतीय सस्कृति—लेखक श्री गौरीशंकर भट्ट ।
- २ सस्कृति के चार अध्याय—श्री दिनकर ।
- ३ भारतीय सस्कृति का इतिहास—दिनेशचन्द्र भारद्वाज ।
- ४ भारतीय सस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी ।
- ५ भारत का सास्कृतिक इतिहास—हरिदत्त वेदालकार ।
- ६ रामायण—चाल्मीकि—कृत, अयोध्याकाण्ड ।
- ७ महाभारत (अंग्रेजी)—श्री राजगोपालाचार्य ।
- ८ कापरेट लाइफ इन एशियन्ट इण्डिया—डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ।
- ९ ए हिन्दू आफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज़—डा० यू० एन० घोशाल ।
- १० हिन्दु पोलिटी—डा० जायसवाल ।
- ११ भारतीय मन्थता तथा सस्कृति का विकास—वी० एल० लूनिया ।
- १२ मादन डेमोक्रेसीज़—लाहं ब्राह्म ।
- १३ महावीर जयन्ती स्मारिका—वार्षिक (१९६४) जयपुर ।
- १४ मुघर्मा—मासिक विभिन्न अंक ।
- १५ ज्ञानोदय—विभिन्न अंक ।
- १६ ग्रामर आफ पोलिटिक्स (अंग्रेजी)—लास्की ।
- १७ पोलिटिकल साइन्स (अंग्रेजी)—गेटेल ।
- १८ राजनीति सार (हिन्दी)—अप्पादुराई ।
- १९ रघुवन्ध (हिन्दी अनुवाद)—कालिदास ।
२०. मीडर्न इण्डियन पोलिटिकल थॉट—डा० वी० पी० वर्मा ।
- २१ श्रमणोपासक—विभिन्न अंक ।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की एक कड़ी : श्रमणसंस्कृति

वैद्यरत्न प० सुन्दरलाल जैन

निलरु फार्मोसो, इटाली



मानवजपे मे एनेन मन्वृतिर्जा प्रचरति है किन्तु विविधता ज्ञाने हए भी उनमे भारतीयत्व की गहरी छाप है। उन भारतीयता के नाने समस्त मन्वृतिरा एन है। 'भगनीय मन्वृति' शब्द का उच्चारण जग्ने मे भारत की समस्त मन्वृतिरा उनमे अन्तर्भूत हो जाती है। फिर भी प्रत्येक मन्वृति का अपना धृक्-गृह्यक् अस्मिन्त्व एव महत्त्व है। भाग्य-वर्ष मे प्रचरित समस्त मन्वृतिरा का स्वरूपविभाजन साक्षेपत दो रूपों मे किया जा सकता है—सामाजिक एव धार्मिक। मन्वृति का सामाजिक रूप वह है जो विविध ज्ञानों, विज्ञान, अनुसंधान, एवं आविष्कारों मे निरन्तर परिपुष्ट एव मधुद होता रहता है। इसमे निम्न मन्वृति का धार्मिक स्वरूप लोक-व्यापार की भावना मे परिपुष्ट एव योगोत्तर सुक्षोपनद्वि का भावत होता है। मन्वृति के इस आध्यात्मिक पक्ष का साकार रूप है—अमण-मन्वृति, जिसमे अनैतिक भौतिक व अणिज सुखों के विषे न कोई स्थान है और न कोई मान्यता। अमण-मन्वृति निवृत्ति-प्रधान है किन्तु उसका उद्देश्य प्रवृत्ति-मात्र को निर्मूल बनने का नहीं। मन्वृति मे वही प्रवृत्ति हेतु है जो आत्मनि के बिना कभी सम्भव ही नहीं। यथा कामवासना, वैशमित्र परिग्रह, लाल, माह आदि। इस प्रकार के सामाजिक आदि अनैतिक तत्त्व समाज मे दूषित वानावस्था की स्थिति उत्पन्न कर देने है और समाज के प्रवृत्त स्वरूप को बिह्वल कर देने है। जब एतद्विष कुपय से बचने के लिए यह मन्वृति मानवता की रक्षा और सदाई के विषे निरन्तर प्रयत्नशील एव अग्रसर रहती है। अमण-मन्वृति का क्षेत्र सर्वत्र व्यापक रहा है। रुद्धिगत मान्यताओं एवं परम्परा का इसमे स्थान भी स्थान नहीं है। प्राणिमात्र की आत्मरक्षागामिमुख प्रवृत्ति ही इसका मुख्य उद्देश्य रहा है।

आत्मवत्स्या-मवशी ठान निदाल्ना का न केवल प्रतिपादन अपितु उन्हें त्रियात्मक स्वरूप प्रदान करना ही अमण-मन्वृति की मूल परम्परा रही है, ताकि उसे जीवन मे उतार कर आत्मरक्षा का साधन बनाया जा सके।

आध्यात्मिक एव आत्मवादी होने के कारण अमण-मन्वृति ने भारतीय जन-जीवन को अमूल्य देन दी है। निवृत्तिपरक उद्देश्यों के लिए तथा इस परिवर्तनशील समाज मे आत्मा की मुक्ति के विषे जितना जोर अमण-मन्वृति ने दिया उतना अन्य किसी मन्वृति ने नहीं दिया। अमण के विषे आत्म-भुक्ति प्रधान लक्ष्य है, अन्य कार्य गौण हैं। अतः अमण-मन्वृति मे आत्मतत्त्व एव मोक्षतत्त्व सर्वत्र मुख्य विचारणीय विषय रहे हैं। वस्तुतः ये दोनों ही तत्त्व एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। मोक्ष की द्विदि आत्मतत्त्व के अस्तित्व मे है। आत्मा का मुख्य लक्ष्य है—मोक्षप्राप्ति। तदर्थ आत्मा को मोक्षाभिमुख प्रेरित करना आवश्यक है। अतः इसके विषे आरम्भ मे ही दो श्रेणियाँ चली आ रही हैं—कर्म का परित्याग कर मोक्ष-प्राप्ति और मत्कर्म जग्ने-जग्ने आत्ममुक्तिपूर्वक मोक्ष-प्राप्ति। ये दोनों ही श्रेणियाँ अमण निवृत्ति एव प्रवृत्तिमूलक है। दोनों का उद्देश्य एक ही है—निष्कर्म बन जाना। भेद है केवल अनुष्ठान या प्रक्रिया में। प्रथम अनुष्ठान है कर्म का पूर्ण परित्याग और द्वितीय अनुष्ठान है, कर्मोपशानपूर्वक उसका क्षय। कर्मपरित्याग (नय्याम) अनुष्ठान लक्ष्याभिमुख दुर्लभायी है और कर्म-त्याग लक्ष्याभिमुख मन्दगतिपूर्वक होता है।

जैन धर्म और अमण-मन्वृति के सम्बन्ध का जहाँ तक प्रश्न है, वह निर्मूल है। दो वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध केवल वही होता है जहाँ दोनों वस्तुएँ निम्न हों। यहाँ अमण-मन्वृति जैन धर्म से कोई भिन्न वस्तु नहीं है,

अपितु उसका ही विशेष अंग है। श्रमण-संस्कृति को जैन धर्म से पृथक् नहीं किया जा सकता, जैन धर्म के कारण ही उसे इतना महत्त्व एवं गौरव प्राप्त है।

श्रमण-धर्म किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र-विशेष की सम्पत्ति नहीं है। प्राणिमात्र उसके सैद्धान्तिक एवं प्रियात्मक पक्ष की समाराधना का अधिकारी है। आत्म-साधन ही श्रमण-धर्म का मूलोद्देश्य है, जिसके लिये प्रवृत्ति के अलावा अश का त्याग और सत् अश के साधन का अवलम्बन लेना तथा क्षमता व वैराग्य-वृत्ति के अनुरूप निवृत्ति की ओर अग्रसर रहना चाहिये।^१ अभिप्राय यह है कि प्रवृत्ति की भी निवृत्ति में ही आत्यन्तिक परिणति कर अंत में मोक्षाभिमुख होना श्रमणधर्म का प्रमुख लक्ष्य है। इस प्रकार श्रमणधर्म मूलरूपेण निवृत्तिपरक ही सिद्ध होता है। यह निवर्तक धर्म व्यक्तिगामी है और वह आत्म-साक्षात्कार की उत्कृष्ट वृत्ति में से उत्पन्न होने के कारण मुमुक्षु एवं जिज्ञासु को आत्मतत्त्व के चिन्तन के लिये अनेक जिज्ञासाओं से परिपूर्ण बना देता है। आत्मतत्त्व के विषय में एतद्विध जिज्ञासाएँ एकान्तचिन्तन, ध्यान, तप और असंगतापूर्ण, सत्यमय जीवन के अभाव में समाधान-योग्य नहीं हैं।

एतद्विध वास्तविकतापूर्ण, सत्यमय जीवन विशिष्ट व्यक्तियों के लिये ही सम्भावित है। उन व्यक्तियों के लिये भीतिक सुगम नगण्य एवं तुच्छ प्रतीत होते हैं, सासारिक आकर्षण उन्हें ससार में बाँधने में असमर्थ रहते हैं और वे गृहस्थाश्रम के बंधन से मुक्त रहते हैं। श्रमणधर्म के अनुसार मुमुक्षु व्यक्तियों के लिये मुख्य कर्तव्य एक ही रहता है और वह है—आत्मसाक्षात्कार-हेतु आत्मशुद्धि एवं कर्मनिर्जरा में प्रतिरोध या रुकावट उत्पन्न करने वाली इच्छाओं के समूल विनाश के लिये सतत प्रयत्नशील रहकर लक्ष्य की प्राप्ति करना।^२

जैसा कि उपर्युक्त प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है, श्रमण-संस्कृति ने आत्मा और मोक्ष इन दो तत्त्वों के विषय में मुख्य दृष्टिकोण अपनाया है। यही कारण है कि वह सदैव आत्मदर्शी रहती है। शरीर के भरण-पोषण एवं रक्षण की उपेक्षा यद्यपि सम्भव नहीं है, किन्तु उसका दृष्टिकोण मात्र देहलक्ष्यी नहीं रहा है। वस्तुतः देखा जाय तो आत्म-साधन के समक्ष शरीर-साधन अत्यन्त निष्कृष्ट एवं महत्त्वहीन है। जैन धर्म ने सदैव ऐसे सिद्धांतों का प्रतिपादन एवं पोषण किया है जो आत्मा को ऊँचा उठाने में सहायक हैं। आत्मतत्त्व, मोक्षतत्त्व एवं इनसे सम्बन्धित अन्यविषयों में जैन दर्शन का जितना व्यापक दृष्टिकोण रहा है, उतना किसी भी अन्य धर्म या दर्शन का नहीं है।

श्रमण का श्रामण्य भी इसी में निहित है कि वह प्रथम आत्मदर्शी बने।^३ इसके अभाव में उसका श्रमणधर्म ही पण्डित हो जाता है। एक व्यक्ति जब तक श्रमणधर्म के मूल तत्त्वों को अपने जीवन में पूर्णरूपेण नहीं उतार लेता तब तक न तो उसमें श्रामण्य ही रहेगा और न वह श्रमण कहलाने का अधिकारी है।^४

“श्रमणस्य भाव श्रामण्यम्” ससार के प्रति मोह या ममत्वभाव का त्याग अथवा ससार से पूर्णतः सन्यास ग्रहण करना ही श्रामण्य कहलाता है। एतद्विध श्रामण्य से युक्त व्यक्ति ही श्रमण कहलाता है। श्रमण पंचमहाव्रतों का पालक एवं सासारिक वृत्तियों का परित्याग करने वाला होता है। वह निष्कर्म भाव की साधना से पूर्ण एवं एकाग्रचित्तेन आत्म-साधना (चिन्तन) में लीन होता है। आडम्बरपूर्ण व्यावहारिकता के लिये उसके जीवन में कोई स्थान नहीं रहता। बाह्य जगत् उसके लिये अवधारक्य हो जाता है। किन्तु उसका अतस्तल आत्म-ज्योतिषु से ज्योतिमान रहता है, जिससे वह ससार के समस्त भावों को अविच्छिन्न रूप से देख सकता है। केवलज्ञान उसकी समस्त सीमाओं को तोड़कर उसे त्रिकालदर्शी बना देता है। यही उसके श्रामण्य की चरम सीमा है। तदनन्तर उसकी अभीष्ट-प्राप्ति के लिए कोई व्यवधान की समुपस्थिति सम्भाव्य नहीं।

१. असुहावो विणिचित्ति सुहे पविस्सो य जाण चारित्त—आचार्य नेमिचन्द्र।

२. कामे कमाहो कमिय सु दुक्ख—दशर्वकालिकसूत्र।

३. पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिनिगिज्ज, एव दुक्खा पमोक्खसि—आचारागसूत्र।

४. गुणेहि साह् अगुणेहिज्जाह्, गिण्हाहि साह्गुण मुचज्जाह्।

श्रमण के जीवन में नयम एवं तपश्चरण का अधिक महत्त्व है।^१ समयपूर्ण जीवन उसे सामारिक वृत्तियों की ओर अभिमुख होने से रोकना है, और तपश्चरण उसकी कर्मनिर्जंग से सहायक होता है। मयम के अभाव में वह तपश्चरण की ओर अभिमुख नहीं हो सकना और तपश्चरण के बिना कर्मबन्धन में उसकी मुक्ति अमम्भावित है। ऐसी स्थिति में उसका मोक्षप्राप्ति हेतु जात्म-साधना का ध्येय अपूर्ण ही रह जाता है। अतः यह मुनिचिन्तन है कि मयमवर्म तपश्चरण का पूरक है। "इच्छानिरोधस्य" तपकी डम परिभाषा से यह तथ्य स्वतः ही उद्भासित हो जाता है कि मयम और तप परम्परा-सम्बद्ध है। इच्छाओं का निरोध करना ही मयम है, और तत्त्वान्निष्ठेन विहित क्रियाविशेष ही तपश्चरण है। मन्त्रा में मयम इच्छाएँ-वाननाएँ इन्द्रियजनित होती हैं। ये इच्छाएँ एवं वाननाएँ भौतिक व सामारिक क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिये अभिव्यक्त होती हैं। इन इच्छाओं एवं वाननाओं को राककर ममार के प्रति विमुखता, इन्द्रियों को अपने आधीन करना एवं चित्तवृत्ति की एकाग्रता ही मयम है।^२ एतद्विषय मयम का चरम विकास मुनित्व-काल में सम्भावित है। श्रमण-परम्परा ने अनुशा-आपेक्षिक दृष्टि में यद्यपि गृहस्थ को निम्न एवं श्रमण को उच्च स्थान प्राप्त है, किन्तु साधना के क्षेत्र में निम्नोच्च की कल्पना को प्रश्रय नहीं दिया गया है। वहाँ मयम की ही प्रधानता है। इन विषय में उत्तराश्रम में भगवान् महावीर के वचन द्रष्टव्य हैं—'वड्गृहत्यागी भिक्षुवा की अपेक्षा कुछ गृहस्थों का मयम और उनकी अपेक्षा साधनाशील मयमी मुनियों का मयम प्रधान है।^३ श्रमण-परम्परा कोरे वेपपरिवर्तन को महत्त्व नहीं देती है। जिनमें भोग तो छोटा, आनन्द नहीं छोड़ी, वह न भोगी है न त्यागी है। भोगी इसलिए नहीं है कि भोग नहीं भोगता, त्यागी उन्निष्ठ नहीं कि वह आनन्द का त्याग नहीं कर सका। पराधीन होकर भोग-त्याग करने वाला व्यक्ति त्यागी या श्रमण नहीं है। त्यागी या श्रमण वह है जो स्वाधीन भावनापूर्वक भोग में दूर रहता है।^४

अपने विभिन्नचरण एवं त्यागभावना के कारण श्रमण सदैव गृहस्थ की अपेक्षा उच्च माना गया है। अति-चाररहित व्रतों का पालन ही उसका वैशिष्ट्य है। मनना, वाचा, कर्मणा पाँच महाव्रतों का पालन ही उसकी आत्मा की शुद्धि एवं निर्मलता का परिचायक होता है, जिनमें आत्मा सामारिक कर्मबन्धन में गहित होकर निरन्तर मुक्ति की ओर अग्रसर होती है। यही ध्यामय है, एवं श्रमण-संस्कृति का मूल है। जैन धर्म के अतिरिक्त इसकी अवस्थिति नहीं है। अन्य मन्त्रनियों में इस मन्त्र का स्वतन्त्र अस्तित्व एवं महत्त्व है। जैन धर्म के अपने मूलभूत सिद्धान्तों एवं मन्त्रतिपरक विद्योपनाओं के कारण ही श्रमण-संस्कृति का भारतीय मन्त्रति में महत्त्वपूर्ण स्थान बनाने में समर्थ हो सका है।

५

१ धम्मो मगलमुक्खिकदुठ अहिमा सज्जो तवो—दशवैकालिक ।

२ आस च छदं च विगिच धीरे—आचारागसूत्र ।

३ मति एगेहि निबलूहि गारत्या नजमुत्तरा ।

४ वत्तगधमलकार इत्थीओ सयणाणि य ।

अच्छदा जे न भुजति न से चाइति बुच्चइ ।

जे य कते पिए भोए लढे वि पिट्ठकुब्बइ ।

साहीणे चयइ भोगे से ह चाइति बुच्चइ । ।



प्राग् ऐतिहासिक भारतीय संस्कृति और वैदिक संस्कृति का समन्वय

रिषभदास रॉका



भारतीय प्राचीन सस्कृति अत्यन्त गौरवमयी और उन्नत होते हुए भी उसका सम्यक् परिचय पाने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। भारत में व्यवस्थित इतिहास लिखने की प्राचीन काल में प्रथा नहीं थी। प्रारम्भ में तो लिखने का रिवाज ही नहीं था इसलिये प्राचीनकाल में माहिल्य पाठान्तर के रूप में पाया जाता है। यह प्राचीन साहित्य जो वेद के रूप में मिलता है उसका निर्माण भी बहुत बाद में हुआ था और लेखन उसके भी बहुत बाद में।

प्रारम्भ में तो ऋचाएँ ऋषि-मुनि अपने शिष्यों को मुखोद्गत कराते थे और उनका पठन होता था। इसलिये प्रारम्भ में भारतीय सस्कृति को अन्य प्राचीन सस्कृतियों से अर्वाचीन समझा जाता था। इसमें यह भी कारण रहा हो कि प्राचीन इतिहास की धोत्र का काम प्रारम्भ में अधिकतर विदेशियों ने ही किया था, जिनकी मारतीयों के प्रति उपेक्षा थी। वे प्राचीन भारतीयों की सस्कृति का प्रारम्भ वेदकाल के बाद में मानते थे, क्योंकि प्राचीन साहित्य में वेद की गणना से इन्कार नहीं किया जा सकता था। पर कुछ वर्ष पहले प्रायः सभी इतिहासज्ञ भारतीय सस्कृति का प्रारम्भ आर्यों के आगमन के बाद और वेदों के निर्माण के बाद ही मानते थे। पर मोहनजोदडो, हड़प्पा तथा अन्य स्थानों की खुदाई ने इतिहासज्ञों को पुनर्विचार करने को बाध्य किया और अब यह माना जाने लगा है कि आर्यों के आगमन के पहले भारत में विकसित और सुसस्कृत योग बसते थे।

वेदपूर्व भारतीय सस्कृति

आर्यों के भारत में आगमन के पहले जो सस्कृति थी उसकी धोज होने लगी है और अनेक विद्वान् इस बात को मानने लगे हैं कि वह श्रमण या आर्हत सस्कृति होनी चाहिये जो यज्ञपरायण वैदिक सस्कृति से भिन्न थी। डा० रामवारीमिह 'दिनकर' ने 'सस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है कि "यह मानना युक्ति-युक्त है कि श्रमणसंस्था भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व विद्यमान थी और ब्राह्मण इस संस्था को हेय समझते थे। यह श्रमण-ब्राह्मण सघर्ष बौद्धों के पूर्व भी था। क्योंकि पाणिनि ने, जिनका समय ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व माना जाता है, श्रमण-ब्राह्मण सघर्ष का उल्लेख 'शास्त्रविकि विरोध' के उदाहरण के रूप में किया है। वे आगे चलकर लिखते हैं,— 'धोराणिक हिन्दु-धर्म निगम और आगम दोनों पर आधारित माना जाता है। निगम वैदिक प्रधान आगम है। प्रारंभिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक परम्परा का वाचक है। जैनियों के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों का आज भी आगम नाम से ही उल्लेख किया जाता है। बौद्ध धर्म की स्थापना भगवान् बुद्ध ने की, जिनका काल आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। इसलिये बौद्धों के पहले भारत में श्रमणसंस्कृति थी और उसके जैन होने की संभावना ही अधिक है। बौद्धधर्म के २५० वर्ष पहले जैनियों के तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए थे। उनका तथा उसमें भी प्राचीन काल में जिनका उल्लेख मिलता है, वे अरिष्टनेमि तथा ऋषभदेव जैनियों के उपाम्य देव तीर्थंकर थे। इसलिये अधिक संभव यही लगता है कि प्राग् ऐतिहासिक काल में यहाँ जो श्रमण-संस्कृति हो वह जैन संस्कृति से मिलती-जुलती या जैन-संस्कृति ही रही हो। जो जैनियों की अनुश्रुतियों से भी

मकेन मिलता है कि उनका धर्म अत्यन्त प्राचीन काल में चला आ रहा है। उत्खनन में मिली वस्तुओं के अनिरिक्त मानव-वशान्त्र, भाषा, धार्मिक विचार, साहित्य और उपाम्य देव आदि साधनों का भी शोधको ने उपयोग किया जिन्में शोधकर्ता इन निर्णय पर पहुँच गये हैं कि वैदिक संस्कृति के पूर्व यहाँ जो आर्यतर जातियाँ बसती थी उनके धार्मिक गीति-रिवाज और विचार सुसम्बन्ध थे और उनका गहन-गहन और वर्तव्य सम्प्रदायपूर्ण था। आर्यतरो की नागरिक मभ्यता थी। उनके मकान सभी सुव्यवस्थाओं में युक्त थे। गृहनिर्माण तथा म्यापत्य कला में उनकी अच्छी प्रगति थी।

प्रागवैदिक और वैदिक संस्कृति में भेद

अब हमें यह देखना होगा कि उन समय की वैदिक संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति में किन किन-बातों में मतभेद था? वेदों में जिम यज्ञप्रधान संस्कृति के दर्शन होते हैं उसमें वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्मशास्त्र के निम्ने यजनकर्म को परम पुष्टपार्थ निरूपित करती है। यज्ञप्रधान वैदिक संस्कृति का वेदकाल तथा उनके पूर्व भी विरोध दिखाई देता है। ब्राह्मण और माध्य लोग आर्हत संस्कृति को माननेवाले थे। वे ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि सृष्टि प्राकृतिक नियमों में बँधी हुई है। प्रकृति के नियमों के ज्ञान में मनुष्य अपने ममार की रचना कर सकता है। मानव की शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है और वह ममस्त शक्तियों में श्रेष्ठ कहा जाता है। श्री देवदत्त नास्त्री ने 'चिन्तन के नये चरण' में लिखा है कि "माध्यों ने सरस्वती और सिन्धु के संगम पर विज्ञान-भवन स्थापित कर सूर्य का निर्माण किया था। विज्ञान-भवन में बैठकर समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था। डा० देवेन्द्रकुमार ने लिखा है कि 'आर्हतों का धर्म में विश्वास होने में ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानने का कारण था। वे आर्हत मुद्रा रूप में ध्वज थे। राजनीतिके साथ-साथ धार्मिक कामों में भी उनकी रुचि थी। समय आने पर वे धार्मिक वाद-विवादों में भी भाग लेते थे। वे 'अर्हत' के उपनाम थे। उनके देव-म्यान पृथक् थे और पूजा अवैदिक थी। आर्हत परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण, और शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थों में होती है। इनमें जैन धर्म की उत्पत्ति के विषय में भी अनेक आख्यान उपलब्ध हैं। यथार्थ में आर्हत धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदों, उपनिषदों, जैनागम महाभारत और पुराण साहित्य में कुछ परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैन धर्म के लिए अर्हत शब्द ही प्रचलित था।

"वैने जैनान्धों में भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि धर्म का हरेक तीर्थंकर के तीर्थ में देश, काल, परिस्थिति के अनुसूय परिवर्तन पाया जाता है। जैना कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में चार याम वाला धर्म था। उसे भगवान् महावीर ने पञ्चरतो में विकसित किया। मूलरूप में अर्हत-संस्कृति अहिंसा, समता-प्रधान तथा कर्म-प्रधान थी, जब कि आर्य भौतिक सुखों को प्राप्ति कर वर्तमान जीवन को सुखी बनाने वाले प्रवृत्तिमूलक विचारों के तथा यज्ञों के उपासक थे। उनपर निवृत्तिपरायण और अहिंसक संस्कृति का प्रभाव पड़ा और श्रमण-संस्कृति ने भी वैदिक संस्कृति में कई बातें ग्रहण की। यज्ञों में पशु-हिंसा बन्द होकर दोनों संस्कृतियों का समन्वय हुआ। वह हमें उपनिषद तथा महाभारत-काल में देखने को मिलता है। श्रमण-संस्कृति पुनर्जन्म को मानती थी और वह आध्यात्मिकता-प्रधान थी।"

आर्हतों के उपाम्य ऋषभदेव को आर्यों ने अपने यहाँ पूज्य पुरोषों में स्थान दिया। वेद में उनका उल्लेख मिलता है पर जब दोनों संस्कृतियों का समन्वय हुआ तब तो उन्होंने ब्राह्मणों के २४ अवतारों में स्थान पा लिया। ऋषभदेव श्रमणों की तरह ब्राह्मणों में भी पूज्य और आदरणीय बने। वैने ऋषभदेव आर्यों के आगमन के बहुत पहले हुए हों, ऐसा लगता है। क्योंकि मोहनजोदड़ो में कार्यात्मगं मुद्रा में जो ध्यानमूर्तियाँ मिली हैं उनमें वैने का चिह्न पाया जाता है। ऋषभदेव की तरह शकर का प्रतीकचिह्न भी वैने ही है। दोनों ही साधना में योग को प्राधान्य देनेवाले थे। इनीनिने कई लेखकों ने दोनों की तुलना कर उन्हें एक बनाने का प्रयत्न किया है। वे दोनों एक ही या भिन्न, पर निवृत्ति-प्रधान और योग को प्राधान्य देनेवाले थे। अध्यात्म, नादगी, मयम, पुनर्जन्म को माननेवाले, तथा पशुयज्ञों के विरोधक थे। डा० मालदेव शान्त्री ने भारतीय संस्कृति की दोनों विचारधाराओं को शुद्ध कहा है। वे कहते हैं—





“भारतीय समाज मे एक द्वन्द्व तो कर्म और सन्यास को लेकर है, दूसरा प्रवृत्ति और निवृत्ति को मध्य लेकर है और तीसरा स्वर्ग और नरक की कल्पनाओं को लेकर। अत्यन्त प्राचीन काल से भारत की मानसिकता दो धाराओं में विभक्त रही है। एक धारा कहती है कि जीवन सत्य है और हमारा कर्तव्य है कि हम वाधाओं पर विजय प्राप्त करके जीवन में जयलभ करें एवं मानव-बन्धुओं का उपकार करते हुए यज्ञादि से देवताओं को भी प्रसन्न करे, जिससे हम इस और उस, दोनों लोको में सुख और आनन्द प्राप्त कर सकें। किन्तु दूसरी धारा की शिक्षा यह है कि जीवन नाशवान् है। हम जो भी करें किन्तु, हमें रोग और शोक से छुटकारा नहीं मिल सकता, न मृत्यु से हम भाग सकते हैं। हमारे आनन्द की स्थिति वह थी, जब हमने जन्म लिया था। जन्म के कारण ही वासनाओं की जज़ीर में पड़े हैं। अतएव, हमारा श्रेष्ठ धर्म यह है कि हम उन सुखों को पीठ दे दें जो हमें ललचाकर ससार में बाँधते हैं। इस धारा के अनुसार मनुष्य को घर-बार छोड़कर सन्यास ले लेना चाहिये—और देह-दहनपूर्वक वह मार्ग पकड़ना चाहिये जिससे आवागमन छूट जाय।

अनुमान यह है कि कर्म और सन्यास में से कर्म तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति में से प्रवृत्ति के सिद्धान्त, प्रमुख रूप से वैदिक हैं तथा सन्यास और निवृत्ति के सिद्धान्त अधिकांश में प्राग्-वैदिक मान्यताओं से पुष्ट हुए होंगे। किन्तु भारतीय अध्यात्मशास्त्र और दर्शन पर जितना प्रभाव सन्यास और निवृत्ति का है, उतना प्रभाव कर्म और प्रवृत्ति के सिद्धान्तों का नहीं है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। ऋग्वेद के आचार पर यह मानना युक्तिसंगत है कि आर्य पराक्रमी मनुष्य थे। पराक्रमी मनुष्य सन्यास की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व देता है, दुःखों से भाग खड़ा होने के बदले वह बटकर उसका सामना करता है। आर्यों का यह स्वभाव कई दशाओं में विलकुल अक्षुण्ण रह गया है। विशेषतः योरोप में उनकी पराक्रमशीलता पर अधिक आँच नहीं आई। किन्तु, कई देशों की स्थानीय सस्कृति और परिस्थितियों ने आर्यों के भीतर पस्ती डाल दी एवं उनके मन को निवृत्ति-प्रेमी बना दिया। भारत की प्राग्वैदिक सस्कृति ने आर्यों की वैदिक सस्कृति के चारों ओर अपना विशाल जाल फैला दिया, उसे देखते हुए यह सूक्ति काफी समीचीन लगती है कि “भारतीय सस्कृति के बीच वैदिक सस्कृति समुद्र में टापू के समान है।”

वैदिकों की प्रार्थनाओं से भी यह बात स्पष्ट होती है। वे मानते थे कि “सारी सृष्टि किसी एक ही प्रच्छन्न शक्ति से चालित और ठहरी हुई है। उस शक्ति की आराधना कर मनुष्य जो भी चाहे प्राप्त कर सकता है। उनकी प्रार्थनाएँ लम्बी आयु, स्वस्थ शरीर, विजय, आनन्द और समृद्धि के लिये की जाती थी। कुछ हम यहाँ देते हैं

हम सौ वर्ष तक जियें।

हम सौ वर्ष तक अपने ज्ञान को बढ़ाते रहें।

हम सौ वर्ष तक पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करें।

हम सौ वर्ष तक आनन्दमय जीवन व्यतीत करें।

हम सौ वर्ष तक अदीन होकर रहें।

जो स्वयं उद्योग करता है, इन्द्र उसकी सहायता करते हैं।

जो श्रम नहीं करता है, देवता उसके साथ मिश्रता नहीं करते।

भगवन् ! जीवन-यात्रा में हमें समुन्नत कीजिये।

हम सदा प्रसन्नचित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें।

ओ मेरे आराध्य देव !

आप तेजस्वरूप हैं, मुझ में तेज को धारण कीजिये।

आप वीर्यरूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिये।

आप बलरूप हैं, मुझे बलवान् बनाइये।

आप ओजरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइये।

वैदिक तथा आगमिक मर्घ्य

वैदिक और आगमिक तत्त्वों में मर्घ्य वेदों के समग्र भी चलना होगा, इसमें सन्देह नहीं है। आगम हिंसा के विरुद्ध थे और यज्ञों में हिंसा होनी थी। आगे चलकर दोनों मन्त्रितियों में समन्वय हुआ जिसमें अहिंसक यज्ञ होने लगा। गीता, महाभारत, भागवत तथा उपनिषदों में दोनों मन्त्रितियों का समन्वय पाया जाता है। दोनों मन्त्रितियों के समन्वय में प्रवृत्त नया श्रीकृष्ण का हिंसा महत्त्वपूर्ण है।

समय यह हो सकता है कि महाभारत की हिंसा ने भारतीयों में हिंसा के दुष्परिणाम की जानकारी करा दी हो और उनका अहिंसा की ओर अविक मुड़ाव हुआ हो। कई इतिहासज्ञों का मानना है कि आर्यों का उत्साह और प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण महाभारत के पूर्व तक अशुभ रहा हो। बाद में अहिंसा के प्रति आकर्षण बढ़ा हो। और यह शका निर्माण हो गयी हो कि यज्ञ में हिंसा मर्द्धम नहीं हो सकती। जीवन का ध्येय साम्प्रतिक समन्वय के बाद माना रिक विवर्तन नहीं किन्तु मोक्ष माना जाने लगा हो।

समन्वय का प्रारम्भ

प्राचीन साहित्य में अहिंस और बर्हन् शब्द संस्कृति की दो धाराओं के लिए पाये जाते हैं। अहिंस लोग अहिंस के उपान्त थे और बर्हन् वे वेद और ब्राह्मणों को माननेवाले यज्ञ के उपान्त। 'बृहती' वेद को कहते हैं। उनके भक्त बर्हन् थे। वे वैदिक यज्ञ-कर्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे। अहिंस शब्द ऋग्वेद में आया है और अहिंस को-विश्व की रक्षा करनेवाले को श्रेष्ठ कहा गया है। इसमें तथा ऋषभ के ऋग्वेद में उल्लेख से लगता है कि समन्वय की प्रक्रिया ऋग्वेद-काल से शुरू हुई थी पर उसका पूर्ण विकसित स्वरूप हम पाते हैं महाभारत या उपनिषद्काल में। ऋषभ और ऋषभ शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। मेघ, वल, साँट, और अग्नि के रूप में उनका उल्लेख मिलता है जो कई स्थानों में कामनाओं की पूर्ति करनेवाला या कामनाओं की पूर्ति करने वाला माना गया है। किन्तु ऋग्वेद में दो जगत् परमात्मा के रूप में वर्णित हैं। उन्हे रू रूप में भी वर्णित किया गया है। इसलिए शिव या रुद्र के रूप में ऋषभ को मानने और शिव तथा ऋषभ एक ही हैं, इस बात को भी समर्थन मिलता है। अहिंस, ऋषभ को वैदिक साहित्य में प्रथम भी कहा गया है। जैनागमों में ऋषभदेव को धर्म का आदिप्रवर्तक कहा है तो भागवत में ऋषभदेव के अवतार का उद्देश्य वात्सल्य, श्रमण, ऋषियों के धर्म को प्रकट करना बताया गया है।

भारतीय संस्कृति की श्रमण और ब्राह्मण दोनों धाराओं में जिनका समान रूप में आदर है, वे हैं ऋषभदेव। दोनों ही धारा बर्हन् उन्हें पूज्य मानते हैं। आदर देते हैं। जैनियों के वे आदि तीर्थंकर हैं तो हिन्दुओं के विष्णु के माध्यान् अवतार। शिवपुराण में भी अष्टाईस योगावतारों में उन्हें गिनाया गया है।

अहिंस के उपान्त

अहिंस धर्म के माननेवालों में ब्राह्मण और पण्डित, ऐसा प्राचीन साहित्य के अध्ययन में लगता है। पण्डित भ्रातृ के व्यापारी थे जो अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न थे। वे केवल धनी ही नहीं थे पर ज्ञान-विज्ञान में भी उन्होंने काफी प्रगति की थी। वे देश-विदेश में व्यापार करने थे नया अग्नि-अफीका तक व्यापार के लिए जाते थे। वे यज्ञ-परायण संस्कृति को नहीं मानते थे और ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा भी नहीं देते थे। समय यह भी है कि पण्डित से पण्डित और आगे चलकर 'वर्णिक' बन गये हो—जो आज के बनियों के रूप में पहचाने जाते हैं। पण्डित वैश्य या व्य बन्यो थे।

अहिंस सन्तों या अहिंसों के उपान्त थे। ब्राह्मणों को धूमनेवाला माना भी कहा गया है। वे अध्यात्मवादी परम्परा को मानते थे जिसमें आत्मा को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है, ब्रह्म या ईश्वर को नहीं मानते थे। उनकी मान्यता थी कि आत्मा ही पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकती है।





ऋपभ शब्द की तरह ऋग्वेद में वातरक्षना शब्द का भी उल्लेख आता है और दोनों का सन्ध भी है।

मुनयो वातरक्षना पिशगा वसते मत्ता ॥
वातस्यानु ध्राजि यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
उन्मदिता मौनयेन वाता आतस्थियम वयम् ॥
शरीरे दस्माक मर्ता सो अभि पश्यय ॥

वेदों की गाथाओं के विषय में विद्वानों के अनेक प्रयत्न करने पर भी निगसदेह अर्थ बैठाना सम्भव नहीं हो पाया है तथापि सायण-भाष्य की सहायता से इस ऋचा का टा० हीरालाल जैन ने यह अर्थ किया है —“अतीन्द्रियायंश्वी वातरक्षना मुनि मल धारण करते हैं, जिससे पिंगलवर्ण दिग्यायी देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक लेते हैं तब वे अपने तप की महिमा में देदीप्यमान होकर देवता-स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सार्वलौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् उत्कृष्ट आनन्द महित वायु भाव को —अधरीरी ध्यान वृत्ति को प्राप्त हो जाते हैं। और तुम साधारण मनुष्य हमारे वाह्य शरीर माय को देख पाते हो। हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं।’ ऐसा वातरक्षना मुनि प्रकट करते हैं। वेद की उक्त ऋचाओं के माथ ‘केशी’ की स्तुति की गयी है।

केशयानि केशी विप केशी विभर्ति रोदसी ।
केशी विश्व स्वर्द्धंशे के शीव ज्योतिरुच्यते ॥

ऋग्वेद, १० । १३६ । १

केशी, अग्नि, स्वर्ग और पृथ्वी धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों के दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान ‘ज्ञान’—ज्योति, ‘केवलज्ञानी’ कहलाता है।

केशी की यह स्तुति उक्त वातरक्षना मुनि के वर्णन आदि में की गयी है, जिसमें प्रतीत होता है कि वेदी वातरक्षना मुनियों में प्रचलन है। ऐसा टा० हीरालाल जैन ने अनुमान निकाला है। वह उचित ही लगता है।

दोनों सस्कृतियों के समन्वय • ऋषभदेव

इसमें ऋग्वेद के वातरक्षना मुनि और भागवत में उल्लिखित वातरक्षना श्रमण ऋषि की सहज में यह तुलना की जा सकती है। उनके अधिनायक ऋषभदेवचरित्र का जैन साहित्य में जैसा वर्णन मिलता है लगभग वैसा ही भागवत में मिलता है। इससे कई विद्वानों ने यह अनुमान निकाला है कि जैन समाज में ऋपभ की जड़ें गहरी जमने के बाद जैन कथानक को भागवत में अपनाया गया हो। पर प्रजाचक्षु प० सुखलालजी का अभिमत इस विषय में भिन्न है। वे कहते हैं कि ऋषभदेव की मान्यता, पूजा, उपामना की यशोगाथा जैन परम्परा की तरह जैनतर परम्परा में भी कम या अधिक मात्रा में एकया दूसरी तरह अवश्य चालू थी। इसलिए यह भी सम्भव है कि जिन सम्स्कृत, प्राकृत पुराणों में ऋषभदेव के सम्बन्ध में भी कुछ न कुछ अश्वय लिखा हुआ होगा, जो वर्तमान भागवत में निदा गया है। सारी आर्य जाति में ममान रूप से ऋषभदेव की न्यूनाधिक मान्यता अति प्राचीन काल से चली आयी है। ऋपभ सारी आर्य प्रजा के देव हैं, इस विषय में मुझे लेशमात्र भी शका नहीं है।

भगवान् ऋषभदेव के कुटिल केशों की परम्परा, जो वेद ऋचाओं में केशी नाम से वातरक्षना मुनियों का वर्णन तथा भागवत में वर्णन है, उससे मिलती हुई है। क्योंकि जैन परम्परा में ऋषभदेव की मूर्तियों पर कुटिल केशों की परम्परा प्राचीन काल से चली आयी है और आज भी अक्षुण्ण है। सभी तीर्थंकरों की मूर्तियों में भिन्न ऋषभदेव की मूर्ति पर ही कुटिल केशों का रूप दिग्याया जाता है और वह उनका विशेष लक्षण है। केशरियानाथ यह ऋषभ देव का नामान्तर है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं। सिंह भी अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है। केशरियानाथ पर केसर चढ़ाने की प्रथा प्रचलित हुई हो पर ऋषभदेव का केसरियानाथ यह नाम उनके

केशों के कारण प्रचलित हुआ हो यह ज्योतिष बुद्धिमत्ता माना जाता है। जेजरिया की पूजा हिन्दू तथा आदिवासी भी कानिया वावा के नाम से करते हैं।

जैनियों के साहित्य में ऋषभदेव की जटाओं का वर्णन मिलता है। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरजना मुनि भागवत के ऋषभ जी वातरजना अथवा ऋषि एव जेजरियानाथ ऋषभ तीर्थंकर और उनका निरग्र्य संप्रदाय एव ही निश्चय होता है, क्योंकि ऋषभ जी केशी या एक स्थान पर वैदिक ऋचा में उल्लेख जाया है। जिनसे यह अनुमान निश्चयता है कि वातरजना मुनियों के निरग्र्य नायुओं तथा मुनियों के नायक केशी मुनि ऋषभदेव हैं। इनसे जैनधर्म की प्राचीन परम्परा या महत्त्वपूर्ण प्रमाण पड़ता है।

हई विद्वान् वेदों का चनागना ईसा में पूरा पांच हजार वर्षों में भी अधिक मानते हैं तो कुछ का कहना है कि वर्तमान वेदों की रचना ईसा में ४००० साल पहले हुई। इनमें यह मानता पड़ता है कि जैनधर्म हमने प्राचीन है। क्योंकि वेदों की रचना में पूर्व ऋषभदेव हुए होंगे तभी उनका उल्लेख हममें मिलता है।

भारत-जो-दो की तुलना में उपर्युक्त प्राचीनता के विषय में और भी अधिक समर्थन दिया है। वहाँ जो वायोत्पादित ध्यानस्थ योगी मुनियों हैं और वेद के चित्र वृद्ध हुए मिलते हैं उनमें प्राचीनता की बड़ी वक्ता तक जुड़ सकती है। उनका योगी होता उन बात में भी निश्चय होता है कि अबतक पन्थ में बग़ावत प्राण के कुछ लाभ हैं जिनकी मन्था अति नहीं है, या वे अन्न या एव अबतक परम त्राणी मानकर उसकी उपासना करने हैं और उनके द्वारा प्रतिपादित रचित ग्रन्थ या पालन करने हैं। उनमें पर में जागे बड़े हुए मन्थर ऋषभदेव को आदर्श मानकर उनके जीवन का अनुकरण करने हैं। यह आदर्श शरीर के विषय में निर्मोहिता निश्चयता है। उहाँ तक कि शरीर में कीड़ा चला जाय तो नाश उमे फैलना नहीं बल्कि नींद या शरीर जपण करने में उसे विदेश प्रसन्नता का अनुभव होता है।

ऋषभदेव केवल भारतीय जैन, वैदिक, हिन्दु या योग परम्परा के उपान्य देव ही नहीं हैं पर भारत के बाहर भी उनका प्रभाव होता चाहिये, ऐसा नाश्रम में हुई तुलना में ऋषभदेव की या काम्य मुनि मिली हमने पता चलता है। नेपिडनट रत्नन बिस्कोट ने एडिवाटिक मिचेंज वायुम-३ में लिखा है कि भारत और इजिप्ट के साथ प्राचीन-काल में सम्पर्क था। उन्होंने ईई शीरो की पाश्चात्तम में हिन्दुओं के शीलादि अथवा शीला की जपण आवश्यकता बताई है। उनका कहना ठीक था, क्योंकि नाश्रम की प्राचीन तुलना में श्री ऋषभदेव की काम्यमुनि मिली है।

जो भी शीरो ने पता चला है कि इजिप्ट, सुमेरियन आदि मन्थुनिया में अथवा मन्थुनि का प्रभाव था जो उन प्राचीन मन्थुनियों या अध्ययन करने में पता चलता है कि वे कुछ जगह में पैरिया में निगती जुती रही हैं।

प्राचीन जैन संस्कृति का स्वरूप

किन्तु प्रश्न यह बड़ा होता है कि जैन धर्म या आज का जैन धर्म है क्या ही प्राचीन काल में था या आज के जैन धर्म में कुछ अन्तर था? भारत या पाल-पड़ोस पर जिन मन्थुनि का प्रभाव पड़ा या उन मन्थुनि का रूप क्या था? भारतवर्ष में प्रचलित प्राचीन धर्म या विभागों में बट करने हैं। एक तो निवृत्तिपर दूसरे प्रवृत्तिपर। प्रवृत्तिधर्म में चा-आश्रम थे और निवृत्तिधर्म एव आश्रम पर अधिक भार देता है। हममें आत्मवक्त्याण के नियम केवल सन्ध्याम को ही प्राण्य दिया है। हममें ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम को स्थान न हा ऐसा नहीं, पर निवृत्तिधर्म में जानि, आयु या विशेष विचार न कर, चाहे जिन जानि और चाहे निम उम्र के स्त्री-पुरुष के निम समान रूप में त्याग और मन्थ्याम का उपदेश दिया जाता है। यदि कोई गृहस्थाश्रम करना पड़ता है तो निवृत्तिधर्म के अनुसार नाचारी ही मानी जाती है। पर प्रवृत्तिधर्म के अनुसार आश्रम के क्रम में प्रवृत्ति और निवृत्ति को स्वीकार किया जाता इष्ट समझा जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम में मीथा मन्थ्यामप्रवेश प्रवृत्तिधर्म में वर्ज्य समझा जाता है। लेकिन निवृत्तिपरक धर्म में कोई बाल या कुण्डल अवस्था में भी मन्थ्याम ने तो वह धर्म समझा जाएगा।

जैन समाज की दो तीन हजार वर्षों की परम्परा, जैन साहित्य, तथा जैन मान्यता का अवलोकन करने पर





मालूम होगा कि धर्म निवृत्तिप्रधान ही है। लेकिन पंडित सुगलालजी का मानना है कि जैन धर्म के मूल उद्गम में निवृत्तिप्रधान स्वरूप को नहीं पर प्रवृत्तिप्रधान स्वरूप को ही स्थान था।

सारी जैन परम्परा ऋषभदेव की वर्तमान युग के निर्माता आदिपुरुष के रूप में जानती है। उनका मागदसंक, कमयोगी, और पूर्ण पुरुष के रूप में मानती है, पूजती है। उनका चरित्र जैन परम्परा की तरह ब्राह्मण परम्परा में भी मिलता है। जैन परम्परा की मान्यता ब्राह्मण परम्परा की पुष्टि करती है। ऋषभदेव के जीवन की जैनों के द्वारा वर्णित अनेकानेक घटनाओं से अनुमान होता है कि प्राचीनकाल में जैन धर्म का रूप प्रवृत्तिमूलक होना चाहिये और यही कारण है कि प्रवृत्तिप्रधान वैदिक परम्परा ने उस परम्परा को अपनाया। वैदिक सस्कृति में जो विचार थे उसमें अध्यात्म, सत्य, योग, पुनर्जन्म, कैवल्य आदि बातों का प्रभाव श्रमण सस्कृति ने डाला और उसकी यज्ञ तथा इहलोक के सुखों पर जोर देनेवाली सस्कृति ने श्रमणसस्कृति के विचारों को अपनाया ही। और ऋषभदेव भी उनके पूज्य और आदरणीय बने ही। प्राचीन श्रमण सस्कृति और वैदिक सस्कृति के समन्वयकाल की यह घटना होनी चाहिये। उपनिषत्काल में वैदिक और श्रमणसस्कृति का समन्वय दिखाई देता है।

इस समन्वयात्मक सस्कृति में आगे चलकर आयी हुई विवृत्ति को दूर करने का काम पाण्डव, महावीर, बुद्ध आदि ने किया और जैनधर्म प्रमुख रूप से निवृत्तिप्रधान बनकर दोनों धाराएँ बिलकुल अलग अलग चली। इसका विश्लेषण करना आवश्यक होने पर भी वह समयक्रम के अनुसार आगे का विषय है। लेकिन प्रागैतिहासिक काल में श्रमणसस्कृति और उस सस्कृति के नायक ऋषभदेव ने वैदिक सस्कृति पर प्रभाव डाला था और वैदिक धर्म और श्रमणसस्कृति के समन्वय से उपनिषद्, भारत, भागवत आदि ग्रंथों की रचना हुई। उनमें इस समन्वय के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को जो उपदेश दिया था वह श्रीमद् भागवत में इस प्रकार है —

हे पुत्रो ! जो दुःखदायी विषयभोग, विप्राप्तानेवाले कुत्ते, सूअर आदि प्राणियों को मिलते रहते हैं, उन विषयभोगों के लिए ससार में यह मनुष्यदेह धारण करने योग्य नहीं है। इस मानसदेह से तो अन्तःकरण की शुद्धि करके अनन्त महासुख की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। विद्वान् कहते हैं कि सर्वत्र सम चित्त वाले, शान्त, प्रोषरहित और सदाचारी महापुरुष की सेवा मांस का द्वार है। परमपुरुष रूप परमात्मा में परम प्रेम ही जिसका ध्येय है, जितनी अपने शरीर के निर्वाह के लिए आवश्यक हो उतनी प्राप्ति का प्रयास करे उसे ही महापुरुष समझना चाहिए।

हे पुत्रो ! मनुष्य इन्द्रियों को सुख पहुँचाने हेतु जब कोई कर्म करता है तब वह प्रमादी होकर अवश्य ही पापकर्म करता है। जब तक अज्ञान के कारण मन की हार हुई होती है और देहादि के अहंभाव से कर्म करने में ही वृत्ति रहती है, वहा तक मनुष्य आत्मतत्त्व जानने की दृष्टि नहीं रखता। अविद्या में आत्मस्वरूप ढक जाने से जो कर्म मन को बंध में करता है, और फिर से कर्म करने के लिए आसक्त करता है। इसलिए जहा तक आत्मस्वरूप में उसकी प्रीति नहीं होती, वहा तक पुरुष देह के सवध से मुक्त नहीं होता।

हे पुत्रो ! मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो या विवेकी हो, पर जहा तक वह प्रमादवश इन्द्रियों के आधीन होकर उनका अनुसरण करता है, वहा तक मथुनसुख जिसमें प्रधान है, ऐसे गृह्यस्कार में फँसकर, वह त्रिविध ताप भोगता रहता है। विद्वान् कहते हैं—जब स्त्री-पुरुष दाम्पत्यभाव को लेकर मिलते हैं, तब उनको पञ्च दपतीभाव दूसरी हृदय-ग्रथि के रूप में बाँटा जाता है। उसका घर, क्षेत्र, पुत्र, धन आदि में “मैं मेरा” भाव उत्पन्न हो जाता है। अतः हृदय की यह ग्रथि जिन-जिन कर्मों में बधी हुई या दृढ़ हुई उन कर्मों को शिथिल किया जाय तभी दपतीभाव से निवृत्ति होकर सभी बन्धनों के कारणभूत अहंकार को त्यागकर मुक्त हुआ जा सकता है।

हे पुत्रो ! इस अहंकार का त्याग निम्न पञ्चीस साधनों के द्वारा हो सकता है विवेकी गुरु तथा परमात्मा के विषय में भक्ति और तत्परता। तृष्णा का त्याग। सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को सहन करना। इस लोक में तथा इसी प्रकार परलोक में सर्वत्र दुःख ही है, ऐसा ज्ञान। तत्त्व और अतत्त्व की जिज्ञासा। तप, काम्यकर्म का त्याग। ईश्वर में कर्मों का समर्पण। भगवत्कथा। भक्तों का नित्य संग। भगवान् के गुणों का कीर्तन। प्राणिमात्र के प्रति वैरबुद्धि का परि-

त्याग । सर्वत्र समभाव । ब्राह्म और आभ्यन्तर इन्द्रियों का जय । शरीर तथा गृह पर वह ममत्व का त्याग । अध्यात्म-योग । अध्यात्म शास्त्रों का अभ्यास । पदान्त प्रदेश का मेवन । प्राण-इन्द्रिय-मन का जय । श्रद्धा, ब्रह्मचर्य । नित्य व्रतमाद । वर्त्तव्यों का अत्याग । वाक्-नयन । सर्वत्र परमात्मा की भावनायुक्त अनुभवज्ञान और धैर्यपूर्वक प्रयत्न-विवेक-पूर्वक योग-समाधि ।

हे पुत्रों ! इस प्रकार के अप्रमादीपन में कर्मों के निवामन्वयान रूप तथा अविद्या में प्राप्त हुई हृदय की मोह तृप्ती गाठ के बंधन को धाग्यों के आदेशानुसार तोड़ देने के बाद उन उपायों में विराम लेना चाहिए । पिता, गुरु, राजा अपने पुत्रों, शिष्यों तथा प्रजा से ओप रहित होकर वैसा ही उपदेश देना चाहिए । नाग्न कि लोक-व्यवहार में पडा हुआ मनुष्य स्वयं अपने तन्मात्र-मानस में रहित होकर, कामयोग की अत्यन्त अभिनाया रखना हुआ, विषयों की इच्छा रखकर, काम्य-कर्मों में निरत रहता है । उसे कम कमाने के विषे उपदेश की आवश्यकता नहीं होती । इसलिए उसे काम्यकर्मों को करने का उपदेश देकर समार के गड्ढे में डालकर क्या पशपायें मिट्ट होगी ? जो मृत्युदण भी समार में कमे मनुष्यों को नहीं टूटा मरना वह गुरु होकर भी गुरु नहीं है, स्वजन होकर भी स्वजन नहीं है । वह पिता माता, देव या पति भी नहीं है ।

हे पुत्रों ! तुम मेरे शुद्ध, मन्त्रगुणमय हृदय में उत्पन्न हुए हो । उमने तुम अपने इस बडे भाई भरत की निष्कपट भाव में मेरा करना । ऐसा करने में तुम्हें परमात्मा की सेवा करने जैसा और प्रजा का पालन समझा जाएगा । तुम शिष्यों, मन्त्र रहित पवित्र होकर सब स्थावर-जगम प्राणियों को मेरा निवाम रूप मानकर क्षण-क्षण में उन्हें आदर देना क्योंकि प्राणिमात्र से उमी भानि सम्मान देना ही परमात्मा का पूजन है । मन, वाणी, दृष्टि तथा अन्य सभी इन्द्रिय-व्यापारों का परम फल यही है कि, उन सबमें परमात्मा की जागवना की जा सकनी है । इस प्रकार सभी प्रवृत्तियों को परमात्मा में अर्पण करनेवाला पुरुष आगधना के जितना मोहपूर्ण कानपाश में मुक्त होने में समर्थ नहीं होता ।

जिम अहिमा पर श्रमण या आहिन सन्कृति में अत्यधिक जोर दिया उन अहिमा के विषय में महाभारत में जो दृष्टिक भिन्नते हैं उनमें से कुछ ये हैं —

अभय सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनि ।

न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते स्वचित् ॥

जो मुनि सर्वभूतों का अभय देकर विचरता है, उसे किसी भी प्राणी ने कही भी भय नहीं उत्पन्न होता ।

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पशुपानिनाम् ।

सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कीजरे ॥

एव सर्वमहिमाया धर्मयैमपिधीयते ।

अमृत स नित्य वसति यो हिंसा न प्रपद्यते ॥

जैसे महानाग-हाथी के पदचिह्न में पैरों में चलनेवाले अन्य सब प्राणियों के पदचिह्न समा जाते हैं, उमी प्रकार सब धम और अर्थ एक में—अहिमामे—मन्निविष्ट है । जो पुरुष प्राणीहिंसा नहीं करता, वह नित्य अमृत होकर निवाम करता है—जन्म-मृत्यु के बन्धन में मुक्त हो जाता है ।

सर्वाणि भूतानि मुन्ये रमन्ते

सर्वाणि तु तस्य भूषा व्रसन्ते ।

तेषा भयोत्पादनजातयेद

कुर्यान् कर्माणि हि श्रद्धधान ॥

सर्व प्राणी मुझ में आनन्दित होते हैं । सर्व प्राणी दुःख में अति व्रस्त होते हैं । अत प्राणियों को भय उत्पन्न करने में खेद का अनुभव करता हुआ श्रद्धानु पुरुष भयोत्पादक कर्म न करें ।





दानं हि भूताभयदक्षिणाया
सर्वाणि दानान्यधिष्ठतिह ।
तीक्ष्णां तनु य प्रथमं जहाति
सोऽप्यन्तमाप्नोत्यभयं प्रजाम् ॥

ससार में प्राणियों का अभय की दक्षिणा का दान देना सब दानों से बढकर है । जो पहले ही हिंसा का त्याग कर देता है, वह सब प्राणियों से अभय हुंकर मोक्ष प्राप्त करता है ।

यदग्न्येविहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुष ।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥

जिस अन्यकृत व्यवहार को मनुष्य अपने लिए नहीं चाहता वह व्यवहार, वह दूसरो के प्रति भी न करे । वह जाने कि जो व्यवहार अपने को अप्रिय है, वह दूसरो को प्रिय कैसे होगा ।

जीयते य स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽप्यप्रघातयेत् ।
यद् यदात्मनि चेच्छेत् तत् परस्यापि चिन्तयेत् ॥

जो स्वयं जीना चाहता है, वह दूसरो की घात कैसे कर सकता है ? मनुष्य अपने लिए, जो चाहे वही दूसरे के लिए भी साधे ।

योऽभयं सर्वभूतानां स प्राप्नोत्यभयं पदम् ।

जो सर्व भूतों को अभय देनेवाला होता है, वह अभय-पद को प्राप्त कर लेता है ।

यस्मादुद्विजते लोकः सर्वो मृत्युमुखादिव ।
वाक्कूरः, दण्डकूरः स प्राप्नोति महद्भयम् ॥

जो वाक्कूर, दण्डकूर होता है और जिसमें सर्वलोक वैसे ही उद्वेग को प्राप्त होते हैं जैसे मृत्यु के मुख से, वह पुरुष महान् भय को प्राप्त होता है ।

यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किञ्चित् कथञ्चन ।
अभयं सर्वभूतेभ्यः स प्राप्नोति सदा मुने ॥

जिसमें कोई भी भूत किसी प्रकार किञ्चित् भी उद्वेग को प्राप्त नहीं होता वह सदा सर्व भूतों से अभय प्राप्त कर लेता है ।

अव्यवस्थितमयदि विभूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
सशयात्मभिरव्यवर्तते हिंसा समनुवर्णिता ॥

जो पुरुष मर्यादा में अनवस्थित है, विभूढ है, नास्तिक है, जिनकी आत्मा में संशय है एवं जिनकी कही प्रसिद्धि नहीं है, ऐसे लोगो द्वारा ही हिंसा अनुमोदित है ।

अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतमं मतम् ।
एतत् पदमनुद्विग्नं वरिष्ठं धर्मलक्षणम् ॥

सब प्राणियों की अहिंसा ही सर्वोत्तम कर्तव्य है — जानियो ने ऐसा माना है । यह पद उद्वेग रहित, वरिष्ठ और धर्म का लक्षण है ।

शरण्यं सर्वभूतानां विश्वास्यं सर्वजन्तुषु ।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा ॥

अहिंसक सर्व प्राणियों का शरणभूत होता है । वह सशका विश्वासपात्र होता है । वह लोक में प्राणियों को उद्वेजित नहीं करता और न कभी किसी से उद्विग्न होता है ।

न हि प्राणात् प्रियतर लोके किञ्चन विद्यते ।
तस्माद् दया नर कुर्याद् ययाज्मनि तथा परे ॥

लोक मे प्राणो मे बढकर प्रिय बन्नु दूसरी नही है । अन मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया चाहता है, उसी तरह दूसरे पर भी दया कने ।

प्राणदानात् पर दान न भूत न भविष्यति ।
न ह्यात्मन प्रियतर किञ्चिदस्तीह निश्चितम् ॥

प्राण-दान ने बढकर दूसरा कोई दान न हुआ है जो न होगा । यह निश्चित है कि प्राणो मे प्रियतर बन्नु दूसरी कोई नहीं है ।

अहिमा परमो धर्मस्साहिमा परो दम ।
अहिंसा परम दानमहिमा परम तप ॥

अहिमा ही परम धर्म है, अहिंसा ही परम दम है, अहिंसा ही परम दान है और अहिंसा ही परम तप है ।

अहिमा परमो यज्ञस्तथाहिमा पर फलम् ।
अहिमा परम मित्रमहिमा परम सुखम् ॥

अहिंसा ही परम यज्ञ है, अहिंसा ही परम फल है । अहिंसा ही परम मित्र है और अहिंसा ही परम सुख है ।

हम समन्वय की दृष्टि मे महाभारत का ज्ञान करने के लिये मानते हैं, जिस काल मे जैनो के तीर्थंकर नेमिनाथ हुए थे और हिन्दुओ के अवतार श्रीकृष्ण । नेमिनाथ ने अहिंसा ने प्रवर्धित होकर समार त्याग किया था । जैन शास्त्रों मे उन्हें श्री कृष्ण का गुरु बनाया गया है । बौद्ध विद्वान् बर्मनन्द नेमिनाथ को आगिरम बताते हैं जो श्रीकृष्ण के गुरु थे । इसमें तो सन्देह है ही नहीं कि जगिदन्मि यादवगुरु के थे और श्रीकृष्ण के निकट सम्बन्धी । श्रीकृष्ण को भले ही वैदिक या ब्राह्मण मन्त्रि ने बाद मे अपनी मन्त्रि का महान् पुरुष माना हो पर वे वैदिको के देव इन्द्र के समानक नहीं थे बल्कि इन्द्र-पूजा के विरोधी थे । यह सब होते हुए भी श्रीकृष्ण ने समन्वय का उपनाम था । उनिये वे भी दोनों मन्त्रियों मे आदरणीय बने । ब्राह्मण या हिन्दु मन्त्रि ने उन्हें अवतार माना है और श्रमण मन्त्रि उन्हें अपना भावी तीर्थंकर कहती है ।

इन प्रकार भाग्यनीय प्राग् ऐतिहासिक मन्त्रि जी वैदिक मन्त्रि का समन्वय हुआ ।



श्रमण-संस्कृति का केन्द्र : श्रावस्ती

डा० हरीन्द्रभूषण जैन.

एम ए., पी एच.डी. साहित्याचार्य,

विक्रमविश्वविद्यालय, उज्जैन



परिचय तथा इतिहास—

उत्तर प्रदेश में उत्तर-पूर्वी रेलवे की गोडा-गोग्गपुर लाइन पर स्थित बरारामपुर नगर में पश्चिम की ओर ११ मील की दूरी पर कुछ गण्डहरों के ढेर हैं। यह स्थान आजकल 'महेठ-महेठ' नाम से जाना जाता है। १८६३ ईस्वी में श्री कनिष्क महोदय ने उस स्थान की खोज कर यह सिद्ध किया कि यह स्थान ही जैन और बौद्ध धर्मों में श्रद्धा और आदर के साथ स्मरण की जाने वाली 'श्रावस्ती' है। तब से लेकर उस स्थान के गवारा में अनेक खोजें हुईं और अनेक योडा-सा भी सदेह नहीं रहा कि वर्तमान 'महेठ-महेठ' ही प्राचीन श्रावस्ती है। 'महेठ-महेठ' का कुछ भाग उत्तर प्रदेश के गोडा जिले में तथा कुछ भाग बहराइच जिले में है। बरारामपुर में बहराइच जाने वाली मुख्य गल्ले 'महेठ-महेठ' होकर जाती हैं। इस सड़क पर चलने वाली गजनमेट-रोडवेज की बसों द्वारा मरारना ने श्रावस्ती पहुँचा जा सकता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में इस नगरी के अनेक नाम उपलब्ध होते हैं—श्रावस्ती, श्रावस्ति, शरावती, धर्मपत्तन, धर्मपुरी, चम्पकपुरी, चन्द्रिकापुरी कुणाल आदि। उसका सबसे प्रमुख एवं प्राचीन नाम श्रावस्ती है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार राम ने भरत को राज्य देकर वन जाने की इच्छा प्रकट की मन्तु भरत ने राज्य की निन्दा करने हुए राम से निवेदन किया कि वे अयोध्या का राज्य लव और कुश को प्रदान करें। तदनुसार कुश को दक्षिण-कोशल का और लव को उत्तर-कोशल का राज्य दिया गया। उनके पदचान् लव ने जिम नगरी को राजधानी के निमित्त बनाया उसका नाम 'श्रावस्ती' प्रसिद्ध हुआ।

“कोशलेषु कुश वीरमुत्तरेषु तथा लवम् । अभिविच्य महात्मानामुभौ राम कुशीलवौ ।

— वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, १०७-१७

“श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह ।”

— बहो उत्तरकाण्ड १०८-५

कालिदास ने रघुवंश में इसी घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि राम ने, अपने मधुर वचनों से सज्जनों की आँखों से आँसू की धार बहाने वाले लव को 'शरावती' का राजा बनाया।

“स निवेद्य कुशावत्या रिपुनागाङ्कुश कुशम् । शरावत्या सता सुवर्तैर्जन्ताश्रुलवं लवम् ।

— रघुवंश, १५-६७

शरावती, श्रावस्ती का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। संभव है कालिदास के समय में यह नगरी शरावती कहलाती हो। 'धर्मपत्तन' और 'धर्मपुरी' इन दो नामों की मूलना वही एम० आण्टे के 'सम्कृत-अंग्रेजी-शब्दकोष' में प्राप्त होती है। 'चम्पकपुरी' और 'चन्द्रिकापुरी' श्रावस्ती के ये दो प्राचीन नाम, आर्क्योलॉजी विभाग, इण्डिया द्वारा प्रकाशित 'श्रावस्ती' नामक पुस्तिका (पृ० २) में प्राप्त है।

जैनागम पन्नवणा (पञ्चापना) में आर्य क्षेत्र के रूप में जिन २५ देशों का वर्णन है उनमें श्रावस्ती का कुणाल नाम से उल्लेख किया गया है (प्राकृत साहित्य का इतिहास, डा० जगदीशचन्द्र जैन, पृ० ११४ फुट नोट)

आध्यात्मी मन्दिर का वर्तमान 'मंहेठ-मंहेठ' नाम ने क्या मन्त्र है, यह जानना उचित है। आध्यात्मी का पार्श्व नाम है 'माध्यात्मी' और यह अविनाश सम्भव है कि माध्यात्मी शब्द परिवर्तित होते होते 'मंहेठ' बन गया हो और मंहेठ के अनुस्मरण पर ही बना 'मंहेठ' शब्द उसके मन्त्र प्रयुक्त होने लगा हो। प्रायः यह प्रतीति प्रयुक्ति देवी जानी है कि वे किसी नाम के साथ उसका विद्वान् रूप भी प्रयोग करने लगते हैं। जैसे गौरी-मोरी, पानी मानी आदि।

यह नगरी नगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध, दोनों ने ही जयित्वा प्राचीन है। सम्राट् के अनुसार उनके गम के पुत्र एवं ने बताया था और महात्मान के अनुसार उनका निर्माण 'आध्यात्मी' नाम के राजा ने किया था और यह 'आध्यात्मी' नाम ने प्रसिद्ध हुई। पुण्य में उनके स्थानों पर उनका उल्लेख 'उत्तर कीर्ति' की राजधानी के रूप में पाया जाता है।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में पूर्व का आध्यात्मी का इतिहास प्रसारण में है। उनके पञ्चान् महावीर तथा बुद्ध, दोनों ने समान रूप से आध्यात्मी की गौरवान्वित किया। इस कारण में प्रमेनजित आध्यात्मी के नाम थे। जैनशास्त्रों में उन्हें जैन तथा बौद्ध शास्त्रों में उन्हें बौद्ध कहा गया है। जैन शास्त्रों के अनुसार उनका नाम 'जिनमनु' था।

महावीर एवं बुद्ध के पञ्चान् तृतीय शताब्दी ईसापूर्व में मौर्य-सम्राट् अशोक के पूर्व नर का आध्यात्मी का इतिहास पुनः अज्ञान है। अशोक ने पूरे भारतवर्ष के बौद्धनीतियों की परीक्षा के प्रसंग में जैनधर्म तथा आध्यात्मी की भी यात्रा की थी। ह्युएन्सांग (Huen Tsang) के अनुसार जैनधर्म ने जैनधर्म के पूर्वी दरवाजे में दाहिनी ओर बाईं ओर ७०-३० फीट ऊँचे दो स्तूप स्थापित किए थे। इनमें से एक स्तूप के ऊपर चक्र तथा दूसरे स्तूप के ऊपर वरुण का चिह्न था। अशोक के समय में आध्यात्मी जैनधर्म उल्लेख प्रख्यात में था।

कुमान राजाओं के काल में आध्यात्मी का पुनरुद्धार हुआ। इस समय यह स्थान बौद्धों के परामर्शवाद सम्प्रदाय का गढ़ था। कुमान काल में यहाँ अनेक स्तूप तथा बुद्ध की प्रतिमाएँ स्थापित की गईं।

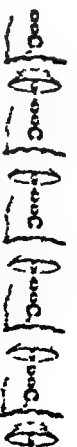
गुप्तशासक ब्राह्मण धर्म के अनुदय का काल था जब आध्यात्मी की विशेष प्राप्ति तो नहीं हुई फिर भी यहाँ का जैनधर्म बुद्धनीति के रूप में प्रसिद्ध रहा। इस काल में यहाँ हुए बड़े-छोटे बौद्धमन्दिरों को हिन्दूमन्दिरों के रूप में परिवर्तित किया गया है। यही कारण है कि यहाँ के बौद्धधर्म में कुछ परस्पर मिश्रण के ऐसे बुद्धि प्राप्त हुए हैं जिनमें 'महाया' की तथा ने स्थापित दृश्य अस्तित्व हैं। फाह्यान के समय में यहाँ विजयनादित्य नाम के राजा का राज्य था जो समस्त बौद्ध गुप्तवर्ग का विजयनादित्य विन्दधारी राजा होता।

राजा हर्ष (ईस्वी ६०६-६४७) के शासनकाल में चीनी यात्री ह्युएन्सांग ने भी आध्यात्मी की यात्रा की। उसने यहाँ पर मुद्गल और अशुक्तिनाथ के स्तूप, प्रचारित विद्वानों का विभाग, अशोक के दो स्तूप और एक बुद्ध-मन्दिर देखा था। उस समय तक आध्यात्मी में बौद्ध धर्म का पराजित प्रभाव पड़ गया था।

ह्युएन्सांग के पञ्चान् आध्यात्मी का कोई प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। शरीर के दण्डुमान्तरण में (५ वीं शताब्दी) धर्मवर्धन को आध्यात्मी का राजा बताया गया है।

जैनधर्म की तीर्थस्थली—

आध्यात्मी उत्तम प्राचीन काल में जैनधर्म और जैनमन्दिर की पुण्यस्थली रही है। यह तीर्थ तीर्थेक सम्भवतः और जाड़ों तीर्थेक चन्द्रधर्म की उत्पत्ति होने में जैनों का पवित्र तीर्थ नहीं है, साथ ही पञ्चान् महावीर ने भी अपने शासन के उस काल में ही पवित्र किया था। उत्तरपूर्व में, पञ्चान् महावीर ने जिन दिन नगरी में चन्द्रधर्म दिनांक उनके उल्लेख हैं। उनमें आध्यात्मी में भी उनके चतुर्मास करने का उल्लेख है। (श्रावण मासिक का उल्लेखान्तरण ३० ज्योतिषाचार्य, पृ० १५६)





जैनागमों में यत्र तत्र श्रावस्ती के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वहाँ हमें श्रावस्ती और श्रावस्ति दोनों रूपों में उल्लेखित किया गया है। स्थानाङ्ग के दशवें अध्यायन में जिन दश राजधानियों के नाम गिनाये गये हैं उनमें श्रावस्ती या एक है। इसका यह अर्थ हुआ कि यहाँ पर अवश्य शक्तिशाली जैन राजाओं का राज्य रहा होगा।

भगवतीसूत्र में, श्रावस्ती के वैशालिक श्रमण (महावीर के श्रावक) पिगल और म्कदक पत्रिवाजक के बीच लोक आदि के सवश्र में प्रशनात्त होने का उल्लेख है। (वही पृ० ६७)

प्रथम छेत्रमून निमोह (निशीय) के अनुसार श्रावस्ती उन १० अग्निपिक्त राजधानियों में से एक थी जहाँ राजाओं का अभिषेक किया जाता था। (वही पृ० १८१)

पन्नघणा (प्रजापता) नाम के उपाङ्ग में आर्य क्षेत्र के जिन २५ देशों का उल्लेख है उनमें श्रावस्ती का कुणाल नाम में उल्लेख किया गया है। (वही-पृ० ११४-फुटनोट)

आवश्यक चूर्णि में महावीर के केवलज्ञान होने के १२ वर्ष पश्चात् श्रावस्ती में भयकर बाढ़ आने का उल्लेख है। (वही० पृ० २५४)

जैन पुराणों में भी अनेक स्थानों पर श्रावस्ती के उल्लेख मिलते हैं। यह सब हम बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन काल में श्रावस्ती जैन सस्कृति का सशुद्ध केन्द्र रही है।

तीर्थङ्कर सभवाय की जन्म-भूमि होने के कारण यहाँ, प्राचीन काल से शोभनाथ मन्दिर है। शोभनाथ यह सभवाय, सभवाय का ही परिवर्तित रूप है। तीर्थङ्कर चन्द्रप्रथ की जन्मभूमि होने के कारण किसी जैन राजा ने उसे चन्द्रिकापुरी नाम दिया होगा।

'जैमिनी भारत' नाम की एक मध्यकालीन रचना में 'ध्वज' अन्त वाले ऐसे अनेक राजाओं का वर्णन है जिनकी राजधानी चन्द्रिकापुरी थी। इनमें सबसे अंतिम राजा का नाम सुहृद्-ध्वज था जिसके विषय में माना जाता है कि उसने सुलतान महमूद गज़नी और उसके सेनापति सालार मसूद के साथ ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ में युद्ध किया था। उसने तथा उसके परिवार के लोगों ने श्रावस्ती में जैनधर्म की अत्यधिक उन्नति एवं प्रभावना की थी। शोभनाथ मन्दिर के ध्वजावशेषों में उपलब्ध जैन तीर्थङ्करों की भूमियाँ अधिकतर इसी काल की हैं।

(श्रावस्ती, आर्क्यैलाजी विभाग, इण्डिया, पृष्ठ ११)

'सहेठ-महेठ' यह नाम, श्रावस्ती में स्थित खण्डहरो के दो ढेरों के लिए सयुक्त रूप में प्रयुक्त हुआ है। प्रथम खण्डहरो का ढेर सहेठ है जो बौद्ध साहित्य में सुप्रसिद्ध विहार 'जैतवन' के नाम से वर्णित है। इस स्थान से लगभग आधा मील दूर, दूसरा खण्डहरो का ढेर महेठ है। यही प्राचीन श्रावस्ती है। इसका क्षेत्रफल सहेठ की अपेक्षा बड़ा है। यह अचिरावती नदी (राप्ती) के दाहिनी ओर स्थित है। अचिरावती यहाँ से कुछ फर्लांग दूर पर बहती है। इस नगर के चारों ओर मिट्टी का सुदृढ़ प्राकार था जिसके ऊपर ईंटों की दीवार थी जो अभी भी ध्वस्त अवस्था में विद्यमान है। इस प्राकार का पूरा घेर सवा तीन मील का है और इसमें भीतर प्रवेश करने के लिए चार मुख्य दरवाजे हैं।

शोभनाथ दरवाजे में प्रवेश करने के पश्चात् सामने जो इमारत दिखाई पड़ती है वह शोभनाथ का मन्दिर है। यह एक ऊँचे टीले पर स्थित है। उस स्थान को लोग जैन तीर्थङ्कर सभवाय का जन्मस्थान मानकर पूजते हैं। मध्यकाल में मुसलमान शासकों ने इस स्थान को अपनी सस्कृति के अनुकूल रूप देने का प्रयास किया और इस पर कुछ गुम्बज जैमा आकार भी बनाया।

इसके थोड़े नीचे की ओर एक और जैन मन्दिर है जो पर्याप्त ध्वस्त अवस्था में है। इसमें अनेक काल की वनावटें स्पष्टतः प्रतीत होती हैं। इसके पूर्व की ओर एक आयताकार पक्का बरान्धा है जिसका क्षेत्रफल ५६ फीट

(पूर्व-पश्चिम) + ४६ फीट (उत्तर-दक्षिण) और जो ईंटों की दीवाल में घिरा है। इसके पीछे की ओर की दीवाल में अनेक आले हैं जिनमें अनेक तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित थीं, जिनमें कुछ नीचे पड़ी हुई प्राप्त हुई हैं। इस वराण्डा के उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम कोनों की ओर दो आयताकार कमरा के अवशेष पड़े हैं जिनका भूमिभाग वराण्डा के समान ही पक्का है। वराण्डा में प्रवेश करने के लिए पूर्व की ओर मोटिया है।

वराण्डे के उत्तर-पश्चिम कोने की ओर वाले कमरे में, प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की अत्यन्त मनोज्ञ प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा अत्यन्त प्रगल्भ पद्मासन मुद्रा में स्थित है। यह एक छोटे आमन पर बठी हुई है जिनकी दोनों ओर दो लेटे हुए सिंह हैं और जिनके बीच में प्रथम तीर्थंकर का चिह्न बैल, अति मनोज्ञ स्थिति में बँठा है। दो सिंहों के बीच में टोटे में निर्भय बैल की मधुर मूर्ति मानो यह कहती-सी प्रतीत होती है कि भगवान् ऋषभदेव के साम्राज्य में प्राणिमात्र अपने स्वाभाविक वर को भी भूलकर पूर्ण अहिंसा धर्म का पालन करते हैं। सिंहों की मुद्रा और आमन दर्शनीय है। सिंह जैसे हिंस्र पशु को एक कोहनी भूमि में टेककर तथा दूसरे हाथ को ठोड़ी से लगाए हुए विश्राम मुद्रा में चित्रित किया है। सिंह की ऐसी विलक्षण प्रगल्भ मुद्रा अत्यन्त दुर्लभ है।

मूर्ति के पूरे मिर पर वालों का गुच्छ दिखाई देता है कि जिसकी दो लट्टें दोनों कानों का महारा लेकर कन्धे तक लटक आई हैं। मूर्ति के दोनों ओर दो इन्द्र चक्र घोर रहे हैं। मूर्ति के ऊपर तीन छत्र हैं जिनके दोनों ओर दो हाथी हैं। दोनों हाथियों के ऊपर, नीचे तथा बगल में चौबीस तीर्थंकरों की छोटी छोटी मूर्तियाँ हैं जिनमें मूर्ति के बाईं ओर के ऊपर कोने में एक मूर्ति टूट गई है। मूर्ति के आगे निकले हुए अंग प्रायः घिस गए हैं।

महेठ के प्राकार के भीतर घोमनाथ मन्दिर के अतिरिक्त 'पक्कीकुटी' और 'कच्ची कुटी' नाम से दो टीले और हैं जिनके मध्य में अभी तक स्पष्ट रूप में कुछ भी निर्णय नहीं हो पाया है कि ये स्थान वास्तव में क्या हैं? कनिष्क महोदय पक्कीकुटी को अगुलिमाल का स्तूप होने का अनुमान करते हैं जिन्हें चीनी यात्रियों (हुएन-त्सांग तथा फाह्यान) ने देखा था। होए महोदय (Hoey) इसे राजा प्रमेनजित् द्वारा महात्मा बुद्ध के निवास एवं उपदेश के लिए बनवाये गए भवन (Hall of law) के रूप में मोचते हैं। कच्ची कुटी को अनाथपिण्डिक के स्तूप के रूप में अनुमान किया जाता है।

इस मध्य में मेरा निवेदन है कि महेठ की ये दोनों कूटियाँ जैन मन्दिर ही होने चाहिए जो सुरक्षा के अभाव में ध्वस्त होकर आज टीले के रूप में दिखाई पड़ रहे हैं। श्रावस्ती, जैन और बौद्ध दोनों संस्कृतियों का केन्द्र रही है। बौद्धधर्म एवं संस्कृति का प्रत्यक्ष मध्य जेतवन में है जो श्रावस्ती से लगभग आधा मील दूरी पर स्थित है। यह सम्पूर्ण स्थान मान बौद्ध स्मारकों में भरा पड़ा है। जिन प्रकार जेतवन बौद्ध संस्कृति का केन्द्र था और उसमें जिस प्रकार अनेक बौद्ध स्तूप, विहार और मन्दिर स्थित थे, उसी प्रकार श्रावस्ती जैन संस्कृति का केन्द्र होना चाहिए और इसमें जितने भी स्वभावशेष पाए जाते हैं वे सभी जैनसंस्कृति के अवशेष होने चाहिए। यदि श्रावस्ती (महेठ) के मध्य में और खुदाई तथा अनुसंधान किये जायें तो मेरा विश्वास है कि पूरी श्रावस्ती में अनेक जैनसंस्कृति स्थान उपलब्ध होंगे। भगवान् महावीर के समय में लेकर जैनसंस्कृति में प्रगाढ़ रूप में संवधित श्रावस्ती में मात्र एक ही प्राचीन जैन मन्दिर हो ऐसा संभव नहीं है।

जेतवन में एक गधकुटी नाम का स्थान है। कहा जाता है कि इसे अनार्थपिण्डिक ने महात्मा बुद्ध के व्यक्तिगत उपयोग के लिए बनवाया था। 'गधकुटी' यह शब्द जैन-संस्कृति से घनिष्ठ संबंध रखता है। तीर्थंकरों के उपदेश के समय देवता 'गधकुटी' का निर्माण करते हैं। बौद्ध-संस्कृति में यह शब्द नितान्त अपरिचित एवं अप्रचलित है। मेरा विचार है कि भगवान् महावीर के आगमन पर श्रावस्ती में जिस गधकुटी का निर्माण हुआ होगा, उस स्थान की परम्परा कुछ काल तक वहाँ रही होगी। पश्चात् उम स्थान के, श्रावस्ती में नष्ट-भ्रष्ट हो जाने से अथवा अन्य किसी कारण से वह शब्द जेतवन में महात्मा बुद्ध से संबंधित किसी स्थान के लिए प्रयुक्त होने लगा होगा जो आज भी प्रयुक्त होता चला आ रहा है।





ऊपर कहा जा चुका है कि नीनी यात्री जैनराम ने मझाद् अशोक द्वारा स्थापित दो स्तंभ यहाँ दत्ते थे जिनमें एक स्तंभ पर धर्मचक्र तथा दूसरे पर बेल की मूर्ति स्थापित थी। जैनशास्त्र में अशोक को जैनधर्म का अनुयायी कहा गया है। राजाओं की यह नीति प्रायः रही है कि वे मनी धर्मा का आदर करते थे। मुक्त ऐसा प्रतीत होता है कि एक स्तंभ पर धर्मचक्र बौद्धधर्म का तथा दूसरे स्तंभ पर बेल जैनधर्म का प्रतीक हो, क्योंकि बेल प्रथम तीर्थंकर का चिह्न है। शोणनाथ के जैनमन्दिर से जो श्रृंगभदेव की मूर्ति प्राप्त हुई है उस पर बेल का गुम्फा चिह्न है।

'श्रावस्ती' यह नाम भी हमें जैनशास्त्र की ओर संकेत करता है। मगध के राजा 'श्रमणमणि' अथवा 'श्रावक-वसति' का अग्रज हो। श्रमण अर्थात् जैनसाधु तथा श्रावक अर्थात् जैन गृहस्थ है। वसति का अर्थ है निवास-स्थान। दक्षिण में आज भी 'वसति' का प्रयोग जैनमन्दिर के अर्थ में होता है, जैसे चन्द्रगुप्तवर्मन अर्थात् मझाद् चन्द्रगुप्त के द्वारा निर्मित जैनमन्दिर।

बौद्ध-संस्कृति का केन्द्र—

श्रावस्ती का जेतवन (सहेठ) ही बौद्धसंस्कृति का केन्द्र था। यह प्राचीन नगर की सीमा से बाहर स्थित है। इसका क्षेत्रफल १५०० फीट × ७०० फीट के लगभग है। यहाँ अनेक बौद्ध स्मारक भारत अथवा मगध में पाए हैं जिनमें विशाला द्वारा निर्मित पूर्वीराम, मधुकुटी, कौमर्यकुटी, बोधिवृक्ष, अनेक स्तूप, चैत्य एवं विहार मुख्य हैं।

बौद्ध साहित्य में जेतवन-विहार के निर्माण की बड़ी मनोरंजक कथा उपलब्ध है। बुद्ध के समय में श्रावस्ती में सुद्ध नाम का एक धनी एवं उदार व्यापारी था। अपनी उदारता के कारण वह 'अनाथपिण्डिक' के नाम से प्रसिद्ध था। अनाथपिण्डिक का अर्थ अनाथों को भोजन देने वाला। सुद्ध मगध के राजाश्वमेध में महात्मा बुद्ध ने मिला और उनका अनुयायी बन गया। उसने बुद्ध को श्रावस्ती आने का निमन्त्रण दिया किन्तु उस समय श्रावस्ती में बौद्ध साधुओं के ठहरने योग्य किसी विहार के न होने से बुद्ध ने उस निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया। सुद्ध ने इसी समय श्रावस्ती में एक विहार बनवाने का सफल किया। बुद्ध का शिष्य सारिपुत्र, विहारनिर्माण के कार्य में सहायता देने के लिए सुद्ध के साथ श्रावस्ती आया। उस समय श्रावस्ती में विहार-निर्माण के योग्य स्थान, राजा प्रसेनजित के पुत्र राजकुमार जेत का उपवन था जो 'जैतवन' के नाम से प्रसिद्ध था। सारिपुत्र ने कुमार जेत से जब अपना उपवन बौद्ध-विहार बनाने के लिए मांगा तो उसने उसके मूल्य के रूप में उसकी सुवर्ण-मुद्राएँ माँगी जितनी कि जेतवन में बिछाई जा सकती थी। सुद्ध ने पूरे जेतवन को सुवर्ण मुद्राओं से ढकना प्रारम्भ किया। जब थोड़ी सी जगह छोड़कर पूरे उपवन में सुवर्ण-मुद्राएँ बिछ गईं तो कुमार जेत ने सुद्ध को उस स्थान पर मुद्राएँ बिछाने से मना किया और उपवन में बिछी हुई समस्त मुद्राओं के धन से उस विामुद्रा वाले स्थान पर एक मन्दिर का निर्माण कर उसे बुद्ध को समर्पित कर दिया। सुद्ध ने पुनः और अठारह करोड़ सुवर्णमुद्राओं के धन से जेतवन में विहार के योग्य अनेक स्थानों का निर्माण कराया। कहा जाता है कि जो सुवर्ण-मुद्राएँ जेतवन में बिछाई गई थीं, उनकी संख्या भी अठारह करोड़ थी। श्रावस्ती की इस घटना का सुन्दर चित्रण, द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व के एक भरहुत के प्रस्तर-खण्ड में अंकित है जिसमें राजकुमार जेत, अनाथपिण्डिक, बेलगाडी में सुवर्ण-मुद्राएँ तथा जमीन पर सुवर्ण-मुद्राओं का बिछाया जाना आदि बड़ी सुन्दर रीति से दिखाये गए हैं। इसी प्रकार का एक चित्रण बोधगया के एक अन्य प्रस्तरखण्ड में भी अंकित है। भरहुत के प्रस्तरखण्ड में नीचे यह अंकित है—अनाथपिण्डिक, करोड़ों सुवर्ण-मुद्राओं द्वारा घरीदे गए जेतवन का दान कर रहे हैं।

महात्मा बुद्ध ने बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात् तृतीय वर्षाकाल के चार महीनों (वर्षावास) को जेतवन में बिताया और इसके बाद वे प्रायः यहाँ आने-जाने लगे। बौद्ध-साहित्य में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार बुद्ध ने जेतवन में चौबीस वर्षाकाल बिताये। बुद्धवश की अट्ठकथा के अनुसार बुद्ध स्थायी रूप से श्रावस्ती में रहने लगे थे। वे कभी जेतवन-विहार में और कभी पूर्वीराम-विहार में ठहरते थे। (हिन्दू सभ्यता, राधाकृष्ण मुकुर्जी, पृ० २४६)

भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिक विचार-पद्धति

डा० मंगलदेव शास्त्री

एम ए, डी फिल (आयसन)

भू० पू० उपकुलपति सस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी



भारतीय संस्कृति के स्वरूप, परम्परा और विज्ञान के प्रश्न पर जिन विद्वानों ने गम्भीर विचार किया है वे इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि भारतीय संस्कृति की समष्टि-दृष्टिमूलक तथा सहानुभूतिपूर्ण विचार-धारा के आधार पर ही भारतीय समाज की परम्परागत सकीण साम्प्रदायिक भावनाओं में ऐसी प्रान्ति लायी जा सकती है, जिनमें विग्रह, विघटन, सांप्रदायिकता, विचार-सकीर्णता, पदचार्जिता तथा अन्ध-वैद्विवाद के स्थान में त्रमश सग्रह, मघटन, अनाप्र-दायिकता, विचार-औदार्य आदर्शवादिता तथा प्रगतिवाद की भावनाओं को देश में स्थापित किया जा सकता है।

इस लेख में हम मुख्य रूप से उस नवीन वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वरूप को दिखाना चाहते हैं, जिसके द्वारा ही भारतीय परम्परा से प्राप्त और विभिन्न संप्रदायों तथा वर्गों से सम्बद्ध विस्तृत माहिर्य और लम्बे इतिहास का एक धारावाहिक जीवित परम्परा के रूप में अध्ययन किया जा सकता है।

उक्त वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वरूप और महत्त्व को स्पष्टतया समझने के लिए आवश्यक है कि पहले हम उस परम्परागत साम्प्रदायिक विचार-पद्धति को समझ लें, जो चिरकाल से भारतवर्ष के विद्वानों में प्रायेण चली आ रही है, और जिसके प्रभाव के कारण ही अब भी हमको देश और राष्ट्र की गम्भीर समस्याओं के विषय में गुले हृदय से विचार करने में कठिनाता प्रतीत होती है।

साम्प्रदायिक विचार-पद्धति

साम्प्रदायिक विचार-पद्धति का मौलिक आधार एकमात्र शब्द-प्रमाण की प्रधानता ही है।

शब्द-प्रमाण अपनी उचित सीमा के अन्दर सब को मानना पड़ता है। हमारे प्रतिदिन के जीवन में शब्द-प्रमाण का, अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ वैद्य, डाक्टर आदि की बात का कितना महत्त्व है, यह किससे छिपा है? अनुभवी विशिष्ट विद्वानों या लेखकों की बातों या शब्दों में अपने विचारों की पुष्टि या समर्थन पाकर हम कितने प्रसन्न होते हैं! ऐसे ही विशेषज्ञों को, जिन्होंने अपने अनुभव और परीक्षण से किसी तत्त्व को साक्षात् किया है, प्राचीन शास्त्रों की परिभाषा में आप्त^१ कहा जाता था, और उनके ही कथन को वास्तव में शब्द-प्रमाण^२ कहना और मानना चाहिये।

परन्तु ज्योंही शब्द-प्रमाण अपनी सीमा के बाहर चला जाता है, प्रत्यक्ष अनुभव और परीक्षण के मौलिक आधार से विच्युत हो कर जब केवल मान्यता और अन्ध-विश्वास पर स्थित हो जाता है, तो वह ऐसी विचार-पद्धति का जनक होता है, जो प्रायेण न केवल अपने ही को धोखा देती है, किन्तु ससार को भी व्यामोह में डालने वाली होती है।

१ अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कात्स्न्येन याथार्थ्यज्ञानवान् आप्तः ।

२. देखिये "आप्तोपदेशः शब्दः" (न्यायसूत्र १।१।७) ।

धार्मिक क्षेत्र में एक बार बुद्धिवाद, प्रत्यक्षानुभव तथा अन्य प्रमाण से निर्पेक्ष शब्द-प्रमाण के मान लेने पर, लोगों में माप्रदायिकता के अतीव भावों का आ जाना अनिवार्य हो जाता है। भान्तवर्ष की साप्रदायिक परम्परा में इसी दृष्टि का, शब्द-प्रमाणवादिता का, चिरकाल में सात्ताप्य रहा है। "शब्दप्रमाणता वयम् यच्छब्द आह तदस्माक प्रमाणम्" (अर्थात् हम जो शब्द शब्द को प्रमाण मानने वाले हैं। हमारे लिए तो जो शब्द में लिखा है वही प्रमाण है) व्याकरण-महाभाष्यकार पञ्चलि के इन शब्दों का अनुसार ही प्रायः हमारे माप्रदायिकों के विचार चिरकाल में चले जा रहे हैं।

"मनुष्या वा ऋषिपूजामस्तु देवानां ऋषिभ्यो न ऋषिभ्योऽप्यतीति।

तेभ्य एनं तर्कं प्रायच्छन्।" (निरुक्त, परिशिष्ट)

(अर्थात् मनुष्य या उन लोगों को बनाने वाले ऋषियों के जाल के समाप्त होने पर, मनुष्यों ने देवों से पूछा कि अब हमारा ऋषि या मापदण्डक कौन होगा? तब देवों ने मनुष्यों को तर्क-रूपी ऋषि को दिया।) इस प्रकार निरुक्त जैसे वेद-विषयक महत्त्व के अन्तर्गत तर्क या परीक्षण को मन्वावेपण में प्रमुख स्थान देने पर भी, वेदान्तसूत्र का यही कहना है कि तर्क का कोई ठिकाना नहीं है, शब्द-प्रमाण के पीछे पीछे ही तर्क को चलना चाहिए। धर्मशास्त्रों में भी इसी बात पर बल दिया गया है कि अपनी अपनी मान्यता के शब्दों के अविरोध से ही तर्क द्वारा अनुसन्धान करना चाहिये।

अनेक वैयक्तिक तर्कों को कुतर्का के मार्ग में बचाने के लिए ऊपर के सिद्धान्त के मानने में वास्तव में कोई प्राप्ति नहीं की जा सकती। पन्तु अब कुछ लोग स्वार्थ या जयविश्वाम के कारण अपने सम्प्रदाय की मान्य पुस्तकों के मानव-कल्याण की दृष्टि में मौखिक अभिप्राय को न समझ कर उनके शब्दों को ही पकड़ने लगते हैं, उसी समय ये माप्रदायिक महिष्मृता के स्थान में माप्रदायिक अमहिष्मृता, नशीयता और दुराग्रह का दुष्प्रभाव जनता में फैलने लगता है।

जैसे ही वाक्या से सजीव माप्रदायिक भावनाओं का प्रसार क्षेत्र में चिरकाल में चला जा रहा है। महन्तों अन्तर्गत इसी दृष्टि में लिखे गये हैं। हमारे धर्मशास्त्र पुण्य, यहाँ तक कि दार्शनिक ग्रन्थ भी, मकीर्ण माप्रदायिक भावनाओं से ग्रस्य नहीं रहे हैं। माप्रदायिक विचार-पद्धति का तात्पर्य वास्तविक मूल्य के अवहेपण में दटना नहीं होना, जितना कि अपनी मान्यताओं की (अथवा मान्य पुस्तकों की) पुष्टि में या हमारे सम्प्रदायों के उन्नयन में होना है। यही इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष है।

शब्द-प्रमाणवादिता-मूलक माप्रदायिक विचार-पद्धति मूल में बहुत-कुछ निदोष होने हुए भी, शनं शनं मन्वयजपानिता और सत्यान्वेपण की प्रवृत्ति से हटने-हटते प्रायेण अबुद्धिपूर्वक चिन्ता दूर चली जाती है, यही हम नीचे दिखाना चाहते हैं।

भान्तवर्ष में उपर्युक्त साप्रदायिक विचार-पद्धति के इतिहास और विकास पर ध्यान देने से प्रतीत होगा कि उससे उत्पन्न विचार-प्रवृत्तियों को मूल रूप से हम तीन रूपों में दिखाने लगे हैं—(१) एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति, (२) अर्थान्तर या व्याख्यानेद की प्रवृत्ति और (३) प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति। इनको क्रमशः हम नीचे स्पष्ट करेंगे।

१ तर्कप्रतिष्ठानान् (वेदान्तसूत्र २।१।११)।

२ आप्यं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्कणानुसंधसे स धर्मं वेद नेतर। (मनु० १२-१०६)





एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति

सिद्धान्त-रूप में सत्य की रक्षा करते हुए, परस्पर सहिष्णुता के आग्रह पर, विरोध में अविरोध की स्थापना के लिए प्रयुक्त एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति की उपयोगिता या उपादेयता का कौन स्वीकार नहीं करेगा? भारतीय मस्कृति की विचारधारा स्वयं इसी प्रवृत्ति का एक उत्कृष्ट निदर्शन है।

परन्तु सांप्रदायिक विचार-पद्धति में समुद्भूत जिस एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति में यहाँ हमारा अभिप्राय है, वह उक्त प्रकार की प्रवृत्ति में बहुत-बहुत भिन्न है। यहाँ हमारा अभिप्राय प्रायेण भीमाभा-पद्धति-मूलक उक्त एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से है, जिसका उपयोग भारतवर्ष में अपने-अपने सम्प्रदाय-मवद्ध साहित्य में पाये जाने वाले परस्पर-विरुद्ध या विरुद्ध रूप में प्रतीत होने वाले मतों में, किसी प्रकार के मझोच या विन्नार के द्वारा अविरोध, एकवाक्यता या समन्वय को स्थापित करने के लिए किया जाता रहा है।

प्रायेण सांप्रदायिक सधर्प के वातावरण में ही इस प्रवृत्ति का उदय नहीं तो विन्नार तो अवश्य ही हुआ था।

सांप्रदायिक सधर्प के दिनों में विरोधियों के आक्षेपों के कारण प्रायः इसका प्रयत्न किया जाता है कि अपने-अपने सम्प्रदाय में ही जो अवान्तर विरुद्ध मत पाये जाते हैं, उनमें किसी प्रकार अविरोध स्थापित किया जाए।

अतः भीमा के अन्दर यह प्रवृत्ति सर्वथा समुचित हो सकती है। किसी भी बुद्धिमान् व्यक्तित्व के लेखों या कथनों में जो विरोध दिखाई देना है, वह प्रायेण आभात ही होता है और उसमें अविरोध स्थापित करना समुचित माना जा सकता है।

परन्तु काल के भेद में या व्यक्तियों के भेद में पाये जाने वाले विचारों के भेद में आवश्यक रूप में आग्रह-पूर्वक एकवाक्यता या समन्वय के स्थापित करने का प्रयत्न करना स्पष्टतः उपयुक्त प्रवृत्ति की उचित भीमा का अति-क्रमण माना जाएगा।

भारतार्प में हम प्रकार औचित्य के अति-क्रमण की वहाँ तक चेष्टा की जाती रही है, इनको हम दो-चार निदर्शनों द्वारा दिखाना चाहते हैं।

विभिन्न कालों में और विभिन्न विचारों के द्वारा प्रतिपादित मतों के समग्र-रूप उपनिषदों में यह स्वभावतः सम्भव है कि विश्व के मूल-तत्त्व के विषय में मनुजों के विचारों में परस्पर थोड़ी-बहुत विभिन्नता पायी जाए। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि एक जगह उस मूलतत्त्व को ब्रह्म के रूप में, अन्यत्र प्राण या आत्मादि के रूप में वर्णन किया गया है। इस प्रकार का दार्शनिक मतभेद ससार में सब जगह और सब कालों में पाया जाता है। ऐसा होने पर भी, वेदान्त-सूत्र (उत्तर भीमाभा) की रचना का मुख्य उद्देश्य यही है कि किसी प्रकार उपनिषदों के अन्तर्गत विभिन्न मतों में एकवाक्यता दिखायी जा सके।

इसी प्रकार धर्मशास्त्रों और कर्मकाण्डों में पाये जाने वाले परस्पर विरोधों या विभिन्नताओं का समाधान, कालभेद से होने वाली स्वाभाविक परिवर्तनशीलता के आधार पर न मान कर, प्रायेण उक्त प्रवृत्ति के द्वारा ही दिखाने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

तथाकथित आस्तिक दर्शनों में जो परस्पर विरोध पाया जाता है, उसका समाधान भी प्रायेण उक्त प्रवृत्ति के द्वारा ही किया जाता है।

अपने-अपने सम्प्रदायों में शब्द-प्रमाण के रूप में अम्युपगत सिद्धान्तों की दृष्टि में प्राचीन साहित्य में पायी जाने वाली तद्विरुद्ध बातों के समाधान के लिये सांप्रदायिकों का यही सबसे पहला उपाय है। इतिहास में उनके अपने

विद्वानों के विरुद्ध घटनाएँ हुई हैं, उनको तो यथामुम्य के मानने ही नहीं। तालभेद ने विचारों में परिवर्तन होना रूढ़ता है, इसको भी प्रायः नहीं मान सकते। इन्हीं कारणों से विदेशी जातियों के लोगों की मदद में, इतिहास-प्रसिद्ध नास्तीयकरण से, अथवा इतिहास में मिथ्य दृग्-वेगान्तों के लिए भारतीयों की समुद्र-यात्रा से हमारे माप्रदायिक धर्म-शास्त्रों कोई महत्त्व नहीं देने। प्रचलित धर्मशास्त्रों के विरुद्ध विप्रवा-विवाह, अश्रित का मन्थन ग्रहण, ब्रह्म-विद्योपदेश या वर्णविभेदन जैसी कोई बात यदि प्राचीन ग्रन्थों में दृष्टिगोचर मिल जाती है तो उसका समाधान भी ये माप्रदायिक विद्वान इसी प्रकार उचित समन्वय-वाद की प्रवृत्ति के द्वारा ही करने हैं।

ऐतिहासिक बुद्धि के अभाव और विचार-स्वान्तर्गत के विद्वानों को न मानने के साथ-साथ, उक्त एकात्मता या समन्वय की प्रवृत्ति का एक बड़ा दोष यह भी है कि वह प्रायः अपने-अपने सम्प्रदाय में ही सीमित रहती है। यदि माप्रदायिक भावना से रहित होकर इन प्रवृत्ति या उपयोग विभिन्न सम्प्रदायों के परस्पर समन्वय के लिए किया गया होता, तो यह बड़ी अथिक्त उपयोगी मिथ्य होनी और भारतीय सभ्यता के पास तब हमें ला सकती। परन्तु मनुचित उपयोग के कारण इसमें माप्रदायिकता को ही बल मिलता रहा है।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, भारतीय सभ्यता की विचार-धारा भी एकात्मता या समन्वय की प्रवृत्ति का मानती है। परन्तु उसका दृष्टिकोण, मनुचित न हो कर, पाम उदार है। इसका कारण उसकी वैज्ञानिक विचार-पद्धति ही है, जिसका निर्देश हम आगे चरकर करेंगे।

एकात्मता या समन्वय की प्रवृत्ति से माप्रदायिकों का सब जगह काम नहीं चलता इसीलिए विवश होकर उन्हें अर्थान्तर या व्याख्या-भेद की प्रवृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। उसी के स्वरूप को हम नीचे दिखाते हैं।

अर्थान्तर या व्याख्या-भेद की प्रवृत्ति

एकात्मता या समन्वय की प्रवृत्ति के साथ-साथ माप्रदायिक विचार-पद्धति की दूसरी प्रवृत्ति शब्दों, वाक्यों या सम्पूर्ण ग्रन्थों के ही अर्थान्तर या व्याख्यान्तर करने की है। आनन्दवर्ष में यह प्रवृत्ति भी पराकाष्ठा तक पहुँची हुई मिलती है।

इस प्रवृत्ति का आरम्भ हमें ब्राह्मण-ग्रन्थों के जाल में ही मिलता है। उपनिषदों में भी यह प्रवृत्ति दिखायी देती है। किसी भी मन्त्र या मन्त्रा की व्याख्या कई प्रकार में की जा सकती है और इस प्रकार उससे अपने अभिप्राय या मत की पुष्टि की जा सकती है, प्रायः ऐसा मानकर ही वैदिक मन्त्रों या ऋचाओं के उद्धरण इन ग्रन्थों में दिये गये हैं।

यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती गयी। अन्त में तो पूरे पूरे ग्रन्थों की अपने-अपने मत के अनुसार व्याख्या करने का निवाह सा हो गया। इनका सबसे अधिक निदर्शन प्रश्नान्तरी (उपनिषद्, वेदान्तसूत्र और भगवद्गीता) को विभिन्न माप्रदायिक व्याख्याएँ हैं। शंकर, रामानुज, मध्व आदि माप्रदायिक आचार्यों को इन ग्रन्थों पर व्याख्याएँ तो प्रसिद्ध ही हैं। ऊपर नवीन माप्रदायिक विद्वानों ने अपनी-अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं।

अपने अपने विद्वानों को शब्द-प्रमाण-मूलक सिद्ध करने के लिए माप्रदायिक विद्वानों का बराबर यही प्रयत्न रहा है कि किसी न किसी प्रकार अपने पाण्डित्य के बल पर प्रामाणिक ग्रन्थों की अपने अनुसार व्याख्या करके अपने विद्वान्त की पुष्टि की जाए।

आजकल तो यह प्रवृत्ति उत्तम की सीमा तक पहुँच गयी है। वेद के मन्त्रों को कामदुष्ट मान कर, उनमें से अपने-अपने अभीष्ट अर्थ को निकालने की चेष्टा की जाती है। आधुनिक जगत् का कोई विज्ञान या आविष्कार ऐसा न होगा, जिसमें वेद में मिथ्य करने का प्रयत्न न किया जाना हो। रेल और तार का तो वेद में निवारणा साधारण सी-बान है। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि दूसरी द्वाग आविष्कृत विज्ञानादि की पुष्टि में ही ऐसा किया जाता है। ये वैदिक विद्वान म्योपज्ञ-रूप में कोई नया विज्ञान या आविष्कार वेद में नहीं निकाल पाते।



इन साम्प्रदायिक विद्वानों की कृपा से वेद भानमती का पिटारा बन गया है। हाथ डालते ही मनचाही वस्तु उसमें से निकाली जा सकती है। वेद के अनेक स्थलों में जहाँ एक पक्ष मृतकश्राद्ध, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, यज्ञों में पशुबलि, वेद में इतिहास आदि की पुष्टि करता है, वहाँ दूसरा पक्ष उन्हीं स्थलों से तद्विपरीत अर्थ निकालने का प्रयत्न करता है। एक पक्ष में स्त्रीकृत 'देवों को' जिनके मानने पर सारा वैदिक कर्मकाण्ड निर्भर है, दूसरा पक्ष 'विद्वानों' के अर्थ में लेता है। इस दृष्टि से वेद और वैदिक साहित्य में 'देव' 'पितर', 'मास' जैंग ग्रन्थों का भी अर्थ अनिश्चित हो रह जाता है। यदि वास्तव में ऐसा ही है, तब तो प्रश्न किया जा सकता है कि वेदों का महत्त्व ही क्या रह जाता है?

एकबार सन् १९४० के लगभग वेदों के एक प्रसिद्ध विद्वान ने हमारे सम्पादित्व में दिये गये मापण में 'माटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिफार्म' के अनुगारों या धारासभाएँ आदि भारतवर्ष में चलाई गयी थी उनके स्वरूप का वेदों के प्रमाणों से मित्र करके दिखाया दिया था। हमारा विश्वास है कि वही विद्वान् वर्तमान भारतीय मविधान को अथवा किसी अन्य मविधान को भी उसी सरलता से वेदों के आधार पर सिद्ध कर सकेंगे।

हम नहीं कह सकते कि इस प्रकार, वर्तमान को प्राचीन काल में आगेपिठ करने की प्रवृत्ति पर निर्भर, मनमाने अर्थ मान्य ग्रन्थों पर लाने से हम उनका गान बढ़ाते हैं या उनको उपहासास्पद बनाते हैं।

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि साम्प्रदायिकों की उपर्युक्त अर्थान्तर करने की उपहासास्पद प्रवृत्ति का मूल न तो इतना शब्द-प्रमाणवादिता में या सत्यान्वेषण की भावना में होता है, जितना कि "घट भित्त्वा पट ध्रुत्वा" के अनुसार सत्यार्थ का बलि भी दे कर अपने पक्ष की पुष्टि में होता है।

परन्तु अर्थान्तर करने की भी सीमा है। अनेक स्थलों में अर्थान्तर करने से भी साम्प्रदायिकों का काम नहीं चलता। वहाँ उन्हें प्रक्षिप्तवाद का आश्रय लेना पड़ता है। उनी का स्पष्टीकरण हम नीचे देते हैं —

प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति

सुरूप से शब्द-प्रमाण को ही मान कर चलने वाले साम्प्रदायिक लोग, जब अपनी मान्यता की कोटि के ग्रन्थों में ऐसे स्थल पाते हैं, जिनकी न तो अपने सिद्धान्तों से एकवाक्यता दिखायी जा सकती है, और न व्याख्यानतर ही किया जा सकता है, उस दशा में वे उन स्थलों को बिना किसी सकोच के आसानी से, प्रक्षिप्त (पीछे से मिलाया गया) कह देते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थों में, विशेषतः प्राचीन ग्रन्थों में, वास्तविक रूप में भी प्रक्षेपों का होना सम्भव है। परन्तु इनका क्षेत्र तथा प्रकार भी परिमित ही होता है। वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अनेक प्रकार के साक्ष्य से ही ऐसे वास्तविक प्रक्षेपों का निर्णय किया जा सकता है। केवल अपने सिद्धान्त के विरोध के कारण ही किसी स्थल को प्रक्षिप्त कह देना, सत्य की हत्या के साथ-साथ, दुस्साहस भी है। प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति के विशेष उदाहरणों के देने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी दो-चार उदाहरण देना यहाँ अनुचित न होगा।

मृतक-श्राद्ध, अवतारवाद, देवमंदिरों में मूर्तिपूजा, वैदिक कर्मकाण्ड में पशु-बलि आदि को न मानने वाले साम्प्रदायिक लोग जब मनुस्मृति जैसे ग्रन्थों में मृतक-श्राद्ध, भगवद्गीता में अवतारवाद, वाल्मीकि रामायण में देवमंदिरों में मूर्तिपूजा या इसी प्रकार की अन्य पौराणिक धर्म की बातें, तथा श्रौतसूत्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ में पशु-बलि के प्रतिपादक स्पष्ट स्थलों को पाते हैं, तब उनको प्रक्षिप्त कह कर ही किसी प्रकार विरोधियों से अपने प्राणों की रक्षा करते हैं। ये लोग कभी-कभी ऐसे ग्रन्थों के, तथाकथित प्रक्षिप्तांशों से रहित, 'विशुद्ध' संस्करणों के प्रकाशन का भी साहस करते हैं।

उपर्युक्त प्रक्षिप्तवाद से मिलती-जुलती ही साम्प्रदायिक विचार-पद्धति की कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ भी हैं, जिनका संक्षेप से निर्देशन करना यहाँ अनुचित न होगा।

मांप्रदायिक विचार-पद्धति की अन्य प्रवृत्तियाँ

सांप्रदायिक विचार-पद्धति शब्द-प्रमाण के प्राधान्यवाद पर निर्भर है, यह हम ऊपर बता चुके हैं। इसी कारण मांप्रदायिक लोग देश में परम्परा में प्राप्त धार्मिक साहित्य में या तो प्रामाणिकता की दृष्टि से तिरस्कार भाव की रचना करने हैं या उनको अशान्तिपूर्ण ही कहते हैं।

उदाहरणार्थ, पुराण-उपासना का बड़ा विमूल्य साहित्य भारतीय परम्परा में चला आया है। वर्तमान पौराणिक हिन्दू-धर्म के स्वल्प और विज्ञान की समझने के लिए उनको एक अथवा सेहम धार्मिक विध्वंसक कह सकते हैं। ऐतिहासिक मामलों की दृष्टि में भी उनका अद्वितीय महत्व है। देश की विदेश के विद्वान् अब उनके महत्व को सुझा-बूझ में स्वीकार करने लगे हैं।

ऐसा होने पर भी कुछ सांप्रदायिक दृष्टि के लोग उनकी निन्दा करने हुए नहीं थकते, उनको सर्वथा ह्यू ही समझते हैं।

उसी प्रकार धार्मिक साहित्य में स्वन प्रमाण और परम प्रमाण की कल्पना भी शब्द-प्रमाणवादी सांप्रदायिकों की ऐतिहासिक मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

मन्त्री निर्दोष सांप्रदायिक निष्ठा के आधार पर किसी अन्य विरोध में परिवर्तता और श्रद्धा की भावना दूसरी बात है। वह श्रद्धा नहीं, प्रगमनोर्ष भी हो सकती है। परन्तु उसी श्रद्धा के आवेग के कारण परम्परा में प्राप्त किसी विमूल्य साहित्य के प्रति विरोध और अग्रहिष्णुता की भावना किसी प्रकार श्रद्धा नहीं की जा सकती।

सर्वांग सांप्रदायिक मनोवृत्ति की एक दूसरी अग्रहिष्णुता की प्रवृत्ति और भी अधिक अलस्य होती है। ऐतिहासिक हमने नवीन वैज्ञानिक पद्धति और उनमें प्रवर्तित विज्ञानों और आविष्कारों के प्रति उनकी स्पष्ट या अस्पष्ट अग्रहिष्णुति में मिला है।

जहाँ तक भौतिक विज्ञानों या आविष्कारों का सम्बन्ध है, यह प्रवृत्ति दो रूपों में प्रकट होती है। यदि उनके विषय में गुण-पक्ष और दोष-पक्ष दोनों हो सकते हैं, तब तो उनके दोष-पक्ष पर ही बल दिया जाता है। केवल गुण-पक्ष के होने पर, गुण-पक्ष को नेत्र यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि उन विज्ञानों या आविष्कारों का उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

परन्तु जो नूतन विज्ञान और आविष्कार भौतिक नहीं हैं, उनके विषय में तो सांप्रदायिकवादियों का प्रायः यही कहना होता है कि वे वैज्ञानिकता के आधार में ही रहित हैं। १९वीं और २०वीं शताब्दियों ने माया-विज्ञान, मानव ज्ञान विज्ञान, पुनर्जन्म विज्ञान, पुनर्जन्म विज्ञान, मनोविज्ञान, आदि अनेक नवीन विज्ञानों को जन्म दिया है। इन विज्ञानों से अनेक प्राचीन धारणाओं को धक्का लगा है। प्रायः इनके प्रति सांप्रदायिकों में तीव्र विरोध भावना पायी जाती है। ऐसे सांप्रदायिक विद्वानों की कमी नहीं है, जो सांप्रदायिक मंत्र पर, जहाँ धर्म-मन्दाचार का ही उपदेश होना चाहिये, उन नवीन विज्ञानों की हसी उड़ाते हुए उनका खण्डन करते हैं। कभी-कभी वे यह भी कहते सुने जाते हैं कि इन 'वैज्ञानिक' विज्ञानों के चरम में पाश्चात्य विद्वानों का एक नया नरक पड़गुप्त है, जिसका अन्तरिमिप्राय केवल अपने देश के पाश्चात्य विद्वानों और धारणाओं को धक्का पहुँचाना ही है।

वास्तव में नवीन सांप्रदायिक मनोवृत्ति के अन्तर्गत, चाहे वह पश्चिम की हो या पूर्व की, ऐसी अनुदार भावना सर्वथा स्वाभाविक ही होती है।

ऊपर के प्रतिपादन में स्पष्ट हो गया कि मुत्तन ऐतिहासिक दृष्टि के न होने में, और अनुभव तथा परीक्षण आदि में निरपेक्ष शब्द-प्रमाणों की ही प्रधान पद देने में सांप्रदायिक विचार-पद्धति, सत्यान्वेषण के म्यान में, उलट





अनर्थ की संपादिका बन जाती है। उसमें एक ओर सत्य की हत्या का और दूसरी ओर विचार-स्वातंत्र्य के सर्वथा प्रतिषेध का भय उपस्थित हो जाता है।

उसका एक बड़ा दोष यह भी है कि वह अपनी दृष्टि सदा अपने ही संप्रदाय के ग्रन्थों में परिमित या बद्ध रखती हुई, न केवल अपने से भिन्न संप्रदाय के ग्रन्थों के विषय में किन्तु देश की लम्बी परम्परा के विभिन्न स्तरों से सबद्ध विशाल साहित्य आदि के विषय में भी प्रायः उपेक्षा ही दिखाती है।

ऐसे ही कारणों से भारतीय सस्कृति की विचार-धारा के लिए, जिसका सम्बन्ध भारत के समस्त साहित्य और इतिहास से ही है, सकुचित सांप्रदायिक विचार-पद्धति को छोड़ कर, वैज्ञानिक विचार-पद्धति का ही अवलम्बन आवश्यक हो जाता है। उसी के स्वरूप और महत्त्व को हम संक्षेप में नीचे दिखाना चाहते हैं।

वैज्ञानिक विचार-पद्धति

वैज्ञानिक पद्धति का मुख्य आधार उसकी तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रिया है। किसी विषय के स्वरूप को उपपत्ति और युक्ति के सहित समझने के लिए हमें उसके इतिहास और विकास के साथ-साथ उसकी वर्तमान आपेक्षिक परिस्थिति को भी ठीक-ठीक जानना आवश्यक होता है।

इसलिए व्यापक दृष्टि से भारतीय सस्कृति के स्वरूप, स्वभाव और विकास को, उसकी अत्यंत प्राचीन काल से आने वाली धारावाहिक जीवित परम्परा को, ठीक-ठीक समझने के लिए उसके इतिहास को जानने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके लिए सत्य के अन्वेषण में तत्पर, किसी प्रकार के पूर्वाग्रह तथा पक्षपात से रहित, विवेचनात्मक व्यापक ऐतिहासिक बुद्धि की आवश्यकता है। इस ऐतिहासिक बुद्धि के परिष्कार के लिए अन्य प्राचीन परम्परागत सस्कृतियों के परिविज्ञान के साथ-साथ भाषाज्ञान, मानवजातिविज्ञान, पुराणविज्ञान आदि नवीन विज्ञानों के सिद्धान्तों को भी जानने की अपेक्षा होती है।

भारतीय सस्कृति की कोई ऐतिहासिक विकासात्मक परम्परा है, यह दिखाने के लिए हमें अनिवार्य रूप से उसकी प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को मानना आवश्यक हो जाता है। प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को मान लेने पर ऐतिहासिक शोध में सांप्रदायिक विचार-पद्धति और उसकी पूर्वोक्त प्रवृत्तियों के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। सत्यान्वेषण की भावना से प्रवृत्त ऐतिहासिक का कर्तव्य है कि वह सब प्रकार के पूर्वाग्रह और पक्षपात से रहित हो कर भारतीय सस्कृति के विभिन्न कालों की वस्तु-स्थिति का निरूपण करे। इसलिए उसकी प्रयत्न करना पड़ता है कि उसकी विवेचना पर किसी सांप्रदायिक झुकाव का, किसी प्रकार का अनुचित प्रभाव न पड़े और वह प्रत्येक काल के साथ न्याय कर सके। ऐसी अवस्था में न तो उसे बलात् कृत्रिम एकवाक्यता या समन्वय की, और न प्रक्षिप्तवाद के आश्रयण की अपेक्षा होती है। वह किसी भी वस्तु-स्थिति को अच्छे या बुरे रूपान्तर में दिखाना अपनी न्याय-बुद्धि के विपरीत ही समझता है।

एक काल को दूसरे काल में अध्ययन या आरोप करने की प्रवृत्ति अबुद्धि-पूर्वक सांप्रदायिकों के अतिरिक्त अन्य लोगों में भी देखी जाती है। उदाहरणार्थ, वेदमन्त्रों की व्याख्या में आजकल यह प्रवृत्ति प्रायः देखी जाती है। सच्चे ऐतिहासिक को उस प्रवृत्ति की ओर से अपने को सदा सचेत रखना पड़ता है।

भारतवर्ष में हम लोगों की प्रायेण यही प्रवृत्ति रही है कि हम बड़े बड़े धार्मिक आन्दोलनों को, अवतारों महापुरुषों को और बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक घटनाओं को पूर्वापर परिस्थितियों से असंबद्ध तथा असंपृक्त अथवा आकस्मिक घटना के रूप में ही देखते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान् कृष्ण के अवतार के विषय में हमें इतने से ही संतोष हो जाता है कि कंस आदि पापियों के सहार के लिए ही वह अवतार हुआ था। देश की धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि पूर्ववर्ती परिस्थिति में उस अवतार की आवश्यकता को हम नहीं ढूँढ़ते। न यह जानना चाहते हैं कि देश की

पर्वणों परिस्थितियों पर उसका चिरस्थायी अथवा अचिरस्थायी क्या प्रभाव पड़ा। परन्तु वैज्ञानिक पद्धति के अनुसरण में हमें इन सब बातों का उत्तर देना आवश्यक हो जाना है।

ऐसे औत्तिक जगत् में छाधी के आने में पहले वायुमण्डल की एक विशेष अवस्था होती है और छाधी भी उसी अवस्था के कारण ही आती है। साथ ही, छाधी स्वयं समाप्त हो जाने पर वायु-मण्डल में अपने विशेष प्रभाव को छोड़ जाती है। इसी प्रकार महान् आन्दोलनों और अन्तर्गामी महापुरुषों की पूर्ववर्णों और पर्वणों परिस्थितियों में कार्य-कारण भाव की प्ररम्परा रहती है। वैज्ञानिक पद्धति का कर्तव्य है कि वह इसका पता लगाए और उसका निरूपण करे।

अतएव मैं, किमी भी इतिहास के समान ही, भारतीय संस्कृति का इतिहास भी उसी प्रकार की कार्यकारण-भाव की परम्पराओं में निहित है। हमारा कर्तव्य है कि हम वैज्ञानिक पद्धति के अवलम्बन में इस परम्परा की धारा का अध्ययन करें।

भारतीय संस्कृति के लम्बे इतिहास में कालभेद में जो विभिन्न स्तर पाये जाते हैं, हमारा कर्तव्य है कि हम न केवल उनके परस्पर सम्बन्ध का ही, किन्तु प्रत्येक स्तर की पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था का, उन-उन नृतियों का, जिनके कारण एक स्तर के पश्चात् अगले स्तर का आना आवश्यक होता गया, पता लगावें, और इस प्रकार धार्मिक-साहित्यिक जीवन परम्परा के रूप में भारतीय संस्कृति को हम समझ सकें। उपर्युक्त प्रकार के अध्ययन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के विभिन्न कालों के साथ हमारी न केवल समत्व की या तादात्म्य की ही भावना हो, किन्तु महानुभूति भी हो।



पालि वाङ्मय में निगण्ठ और निगण्ठ नातपुत्त

अणुव्रतपरामर्शक मुनिश्री नगराजजी



आगमो मे जहा बुद्ध के नामोल्लेख की भी अल्पता है, वहाँ त्रिपिटको मे महावीर-सम्बन्धी घटना-प्रसंगों की बहुलता है। वहाँ उन्हें 'निगण्ठ नातपुत्त' कहा गया है। 'निगण्ठ' शब्द सामान्यतः जैन भिक्षु का सूचक है। 'नात-पुत्त' शब्द भगवान् महावीर के लिए आगम-साहित्य मे भी प्रयुक्त है।^१ वे घटना-प्रसंग कहीं तक यथार्थ हैं, इस चिन्तन मे यदि हम न जायें तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वे बहुत ही सरस, रोचक और प्रेरक हैं। दोनों धर्म-संघों के पारस्परिक सम्बन्धों, सिद्धान्तों व धारणाओं पर वे पूर्ण प्रकाश डालते हैं।

महावीर और बुद्ध का एक-दूसरे से कभी साक्षात् हुआ, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। एक समय में एक ही नगर के विभिन्न उद्यानों मे वे रहे, ऐसे अनेक उल्लेख अवश्य मिलते हैं। गृहपति उपालि के चर्चा-प्रसंग व असिचक्र पुत्र ग्रामणी के चर्चा-प्रसंग पर दोनों धर्मनायक नालन्दा मे थे। मिह सेनापति के चर्चा-प्रसंग पर दोनों वैशाली मे थे। अभय राजकुमार की चर्चा मे दोनों के राजगृह मे होने का उल्लेख है। महासकुलुदायी सुत्तन्त मे तो सातों धर्मनायकों का एक ही वर्षावाम राजगृह मे होने का उल्लेख है। 'दिव्यशक्ति-प्रदर्शन' के घटना-प्रसंग पर सातों धर्मनायकों के एक साथ राजगृह मे होने का उल्लेख है।^२

साम्प्रदायिक सकीर्णता (Odium Theologicium)

त्रिपिटको मे आये सभी समुल्लेख भाव-भाषा से बुद्ध की श्रेष्ठता और महावीर की न्यूनता व्यक्त करते हैं। जातकट्ठकथा,^३ धम्मपद-प्रवृत्तकथा^४ के कुछ प्रसंग इस साम्प्रदायिक सकीर्णता (Odium theologicium) के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एक प्रसंग ऐसा भी है, जो सामान्य अवलोकन मे बहुत निम्न श्रेणी का लगता है पर मूलतः वह वैसा नहीं है। महावीर के निर्वाण-संवाद को लेकर पट्टचने वाले भिक्षु चुन्द मगधदेश को बुद्ध के पास ले जाते हुए आनन्द कहते हैं—“अस्मि खो इव, आवुसो चुन्द, कथापामत भगवन्त दस्सनाय” अर्थात्, आवुस चुन्द! भगवान् के दर्शन मे यह संवाद कथाप्राप्त (उपहार) होगा। सामान्यतः यह लगता ही है कि महावीर का निघन-संवाद पाकर आनन्द को कितना हर्ष हुआ है और उसने उसे उपहार-रूप माना है। मैंने अपने एक प्रावचन निबन्ध मे उसकी तथारूप आलोचना भी

१. कहीं-कहीं निगण्ठ नातपुत्त और निगण्ठ नाटपुत्त भी है।

२. दशवैकालिक सूत्र, ६, २०।

३. देखें इसी निबन्ध मे क्रमशः प्रसंग सख्या २, ६, १, ३, १३, और १७।

४. इस निबन्ध में प्रसंग सख्या ३४, ३५, ३६।

५. इस निबन्ध मे प्रसंग सख्या १७, १८, ४०।

की है।^१ पर नारिपुत्र के मृत्यु-नवादा को लेकर भी वहीं चुन्द आनन्द के पास जाता है, वहाँ पर भी आनन्द कहते हैं—
“अत्थि खो, आवुस चुन्द कयापाभत दस्सनाय”।^२ इसमें प्रमाणित होता है कि वह बौद्ध-परम्परा की या उस युग की उक्ति मात्र है। इसने कृत्मा अभिव्यक्त नहीं होती।

प्रसंगों की समग्रता

प्रस्तुत लेख में त्रिपिटक-साहित्य के उन समुल्लेखों का परिचय दिया गया है, जिनमें किसी न किसी रूप में महावीर का सम्बन्ध आता है। माय-माय वे समुल्लेख भी ले लिये गये हैं, जो निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के सवध से हैं। डा० हर्मेन जेकोवी ने ‘जैन ग्रन्थों’ की भूमिका^३ में त्रिपिटको में आये महावीर व निर्ग्रन्थो-सवधो समुल्लेखों का समीक्षात्मक सकलन प्रस्तुत किया है। वे समुल्लेख ११ हैं। डा० जेकोवी की धारणा में तब तक की प्रकाशित सामग्री का वह समग्र सकलन है। प्रस्तुत प्रकरण में वे समुल्लेख ११ की अपेक्षा ५१ हो गये हैं। इन नवीन प्रसंगों में से कुछ उन ग्रन्थों के हो सकते हैं, जो उन समय तक प्रकाशित न हुए हों, पर कुछ समुल्लेख ऐसे भी हैं, जो डा० जेकोवी की निगाह से बच रहे थे। क्योंकि एक ही ग्रन्थ के कुछ समुल्लेख डा० जेकोवी के सकलन में आये हैं और कुछ नहीं। डा० मलालशेखर^४ ने भी ‘निगण्ठ नातपुत्त’ ग्रन्थ पर जो सन्दर्भ व्यक्त किये हैं, वे भी परिपूर्ण नहीं हैं।

प्रस्तुत सवलन सम्बन्धित विषय का समग्र सकलन है ही, यह कह देना तो कठिन होगा, पर इस प्रयत्न में इतनी जागरूकता व्यक्त बरती गई है कि त्रिपिटको में कोई भी प्रसंग विलग न रह जाये। अटूटकथाओं व इतर ग्रन्थों के प्रसंग भी यथासम्भन्ध सकलन में ले लिये गये हैं। कहा जा सकता है, प्रस्तुत लेख ‘बौद्ध साहित्य में निगण्ठ नातपुत्त’ विषयक प्रसंगों का भग-पूरा और प्रामाणिक आवलन बन गया है, जो सम्बन्धित विषय के पाठकों व गवेषकों के लिए महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध होगा।

वर्गीकरण

प्रसंग मूल रूप से प्रकीर्ण हैं। प्रस्तुत आकलन में उन्हें तीन विभागों में बांटा गया है। १ चर्चा-प्रसंग, २ घटना-प्रसंग, ३ उल्लेख-प्रसंग। इन प्रसंगों की संख्या क्रमशः १३, ८ और ३० है। यहाँ इन समुल्लेखों के सन्दर्भ व नक्षिप्त परिचय दिये गये हैं तथा यथास्थान संक्षिप्त समीक्षा भी की गई है।

चर्चा-प्रसंग

१ सिंह सेनापति

यह प्रकरण विनयपिटक^५ का है। निगण्ठ नातपुत्त का श्रावक व लिच्छवियों का सेनापति सिंह बुद्ध से वैशाली में चर्चा करता है व उनका अनुयायी बन जाता है।

१ भिक्षुमृतिसंग्रह, ‘पाली वाङ्मय में भगवान महावीर’ शीर्षक लेख श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता १९६०, खण्ड २, पृ० ६ से १०।

२ सयुक्त निकाय, चुन्द सुत्त, ४५-२-३

३ SBE vol XLV, Introduction, pp XIV-XXIII

४ Dictionary of Pali proper Names, vol II, pp 61-65

५ विनयपिटक, महावग्ग, भैषज्य खण्डक, ६-४-८ के आधार पर।





समीक्षा

सिंह सेनापति और तथाप्रकार के उदन्त का आगम-साहित्य में कहीं आभास नहीं मिलता । महावीर के किसी अनुयायी का बुद्ध की शरण में आ जाना और बुद्ध के किसी अनुयायी का महावीर की शरण में आ जाना, कोई अद्भुत व असम्भव बात नहीं है, पर जैन परम्परा में इस घटना का यत्किंचित् भी समुल्लेख होता तो वह पूर्णतया ही ऐतिहासिक रूप ले लेती । असम्भव की कोटि में मानने का तो अब भी कोई आधार नहीं है ।

गुजराती साहित्यकार श्री जयभिक्यु ने अपने उपन्यास 'नरकेसरी' में सिंह सेनापति को महावीर के परम अनुयायी चेटक होने की समावना व्यक्त की है, पर वह यथार्थ नहीं है । बौद्ध परम्परा में चेटक का कहीं नामोल्लेख नहीं है, न उस प्रकार के किसी अन्य जीवनवृत्त की भी छापी वहा मिलती है । जैन परम्परा के अनुसार वह वैशाली गणतन्त्र का अधिपति (राजा) था^१ और उसके अधीन ६ मल्लकी ६ लिच्छवी, काशी-कोशल के १८ गणराजा थे ।^२ अतः सिंह सेनापति के रूप में उसे देखने का कोई आधार नहीं मिलता । डा० ज्योतिप्रसाद का कहना है—“महाराजा चेटक के दश पुत्र थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र वज्जीगण के प्रमिद्ध सेनापति थे ।”^३

सिंह सेनापति का विस्तृत वर्णन बौद्ध साहित्य में भी नहीं मिलता । इस घटना-प्रसंग के अतिरिक्त उमका नामोल्लेख अगुत्तरनिकाय^४ में बुद्ध से की गई दान-संवधि चर्चा में आता है या थेरीगाथा^५ में सिद्धा भिक्षुणी के गितुव्य के रूप में आता है ।

उक्त प्रकरण में महावीर को क्रियावादी व्यक्त किया गया है । क्रियावाद शब्द उस समय में बहुत व्यापक अर्थ का वाची रहा है । क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद के ३६३ भेद जैन परम्परा में माने गये हैं ।^६ पर क्रियावाद और अक्रियावाद के इन भेदों में महावीर का अभिगत नहीं है । वे सब पर-मत की चर्चाएँ हैं । महावीर को जो क्रियावादी कहा गया है, अपेक्षा-भेद से यह भी यथार्थ माना जा सकता है । इसका आधार सूत्रकृताग में मिलता है । वहा बताया गया है कि जो आत्मा को जानता है, जो लोह को जानता है, जो गति और अन्तर्गति को जानता है, जो नित्य-अनित्य, जन्म-मरण और प्राणियों के गति-क्रम को जानता है, जो तत्त्वों की वेदना को जानता है, जो आश्रय और सवर को जानता है, जो दुःख को तथा निर्जरा को जानता है, वही क्रियावाद को यथार्थ रूप से कह सकता है ।^७ जो इन तत्त्वों को जानता है अर्थात् स्वीकार करता है, वही क्रियावादी है ।^८

१ पृ० २३४ ।

२ वैशालिए नयरीए चेटकस्य रत्नो-निरयावलिकासूत्र, १६-२ ।

३ नवमल्लई नवलेच्छई कासी कोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो ।

—निरयावलिकासूत्र, प्र० आगमोदय समिति, पत्र १७-२ ।

४ भारतीय इतिहास—एक दृष्टि पृ० ५६ ।

५ अगुत्तर निकाय, ३-३८, ४-६६ ।

६ गाथा ७७-८१ ।

७ सूत्रकृताग सूत्र श्रु० १, गा० १, निर्युक्ति गाथा ११६-१२१

८ अत्ताण जो जाणति जो य लोम, गइ च जो जाणइ जाणइ च ।

जो सासय जाण असासय च, जाति च मरण च जणोववाय ।

अहो वि सत्ताण विउट्ठण च, जो आसव जाणति सवर च ।

दुक्ख च जो जाणति निज्जर च, सो भासिउमरिहई किरियवाद ॥

—सूत्रकृताग सूत्र, श्रु० १, अ० १२, गा० २०-२१ ।

९ 'यश्चैतान् पदार्थान् 'जानाति' अभ्युपगच्छति स परमार्थतः क्रियावाद जानाति ।'

—सूत्रकृताग वृत्ति, श्रु० १, अ० १२, गा० २१

वस्तुन तो महावीर ज्ञेयान्तवादी थे। उनका दर्शन तो आहुनु विज्जाचरण पमोक्ख^१ की उक्ति में व्यक्त होना है। जिसका हार्द है, ज्ञान और क्रिया की युगपत् स्थिति में ही मोक्ष की समावना है।

उक्त प्रसंग में बुद्ध ने भी तो मनो-दुश्चिन्ति, मन-मुचरित आदि के अपेक्षा-भेद से स्वयं को क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों ही बताने का प्रयत्न किया है।

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए मासाहार का स्पष्ट विधान इसी घटना-प्रसंग से बना है। अदृष्ट, अश्रुत व अपरिगृहीत मान को बुद्ध ने ग्राह्य कहा है। निगण्टों ने यहाँ उद्दिष्ट मान का विरोध किया है। आर्द्रककुमार प्रकरण^२ में भी उद्दिष्ट मान को गृहीत्स्विद कहा है।

२ गृहपति उपालि

मज्झिमनिकाय^३ के इस प्रसंग में निगण्ट नातपुत्त का माघु दीर्घ तपस्वी निग्रन्थ व श्रावक गृहपति उपालि नालन्दा में बुद्ध में चर्चा करते हैं। अन्त में गृहपति उपालि बुद्ध का घरणागत उपासक बन जाता है।

समीक्षा

उपालि नामक कोई वरिष्ठ उपासक महावीर का था, ऐसा आगम साहित्य में कहीं नहीं मिलता है। जैन भिक्षु इनर भिक्षुओं के प्रति कुशल-प्रश्न करे, ऐसी भी परम्परा नहीं है। दीर्घ तपस्वी निग्रन्थ और बुद्ध के बीच हुए वार्तान्ताप और सम्बोधन आदि में यह भी प्रतिबिम्बित होना है कि बुद्ध युवा हैं और दीर्घ तपस्वी निग्रन्थ वयोवृद्ध। इससे महावीर का ज्येष्ठ होना और बुद्ध का छोटा होना भी पुष्ट होता है।

‘दण्ड’ और ‘कर्म’ की चर्चा में दोनों ही शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। दण्ड शब्द का उपयोग आगमों में भी इसी अर्थ में मिल जाता है।^४ ‘मन-कर्म’ आदि का जैन परम्परा में कोई विरोध नहीं है। महावीर के मत को एकान्त रूप में कायिक-कर्म-प्रधान बनलाना उपाय नहीं है। पाप-पुण्य के विचार में जैन पद्धति के अनुसार मन वचन और काय—इन तीनों की ही मापेसता है। मन-कर्म की मान्यता के पोषक अनेक आधार जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का मनोद्वन्द्व, तण्डुल मत्स्य की मानसिक हिंसा, स्कन्दक मुनि का अपने प्राग्भव में काचर (फल-विशेष) का छीलना आदि इनके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

डा० जेकोबी ने उपालि के घटना-प्रसंग पर समीक्षा करते हुए लिखा है—“महावीर का कायिक पाप को बड़ा बनाना आगम-सम्मत ही है। सूत्रकृतांग २, ४ तथा २, ६ में इस अभिमत की पुष्टि मिलती है।^५ डा० जेकोबी की यह समीक्षा यथार्थ नहीं है कि क्योंकि वहाँ जो कहा गया है, उसका हार्द इससे अधिक नहीं है। काय-दण्ड भी एक पाप-वन्ध का निमित्त है, और उपहास मनोदण्ड की एकान्तवादिता का किया गया है। इन प्रसंग में निग्रन्थ को शीत-जल का परित्यागी व उष्णजलमेवी बताया है, जो जैन साधुओं की क्रिया में सुमंगत ही है।

१ सूत्रकृतांग सूत्र, श्रु० १, अ० १२, गा० ११।

२ धूल उरत्थ इह मारियाण, उद्दिट्ठमत्त च पगप्पएत्ता। सूत्रकृतांग सूत्र, श्रु० २, उ० ६, गा० ३७।

३ मज्झिमनिकाय, उपालि सुत्तन्त, २-१-६।

४ न्यायनाम स्या० ३, सू० १२६, आबश्यक सूत्र चतुर्थ अध्ययन।

५ SBE vol XLV, Introduction, p XVII



३ अभय राजकुमार

मज्झिमनिकाय^१ के इस प्रसंग में निगण्ठ नातपुत्र ने, आदेशानुसार अभय राजकुमार बुद्ध से राजगृह में चर्चा करता है और बुद्ध का शरणागत उपासक बन जाता है ।

समीक्षा

अभय राजकुमार का वर्णन दोनों ही परम्पराओं में विशद रूप से मिलता है । बौद्ध परम्परा जहाँ मानती है कि वह जैन में बौद्ध बना, जैन परम्परा के अनुसार तो महावीर के सध में दीक्षित हुआ और वहीं भिक्षु पर्याय में समकाल निधन हुआ ।

'अपदान' में भी अभय और महावीर के इसी घटना-प्रसंग का उल्लेख हुआ है ।^२ वहाँ अभय राजकुमार अपने अतीत जीवन की यात्रा में महावीर से विलग होकर बुद्ध की शरण में जाने की बात कहता है । उल्लेखनीय यह है कि बुद्ध की स्तुति में भी वह वहाँ 'कित्तियित्वा जिनवर, कित्तितो होमि सच्चवा' ही कहता है ।

४ निर्घन्थो का तप

मज्झिमनिकाय^३ के इस प्रसंग में बुद्ध ने निगण्ठो के साथ तपश्चर्या के विषय में हुए अपन वार्तालाप को महानाम श्राव्य को सुनाया है ।

समीक्षा

यहाँ सर्वज्ञता और कठोर तपश्चर्या का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह जैन मान्यता में प्रतिकूल नहीं है । अन्य वितर्क तो साम्प्रदायिक पद्धति के हैं ही ।

५ कर्म-चर्चा

यह प्रकरण भी मज्झिम निकाय^४ का है । इसमें निगण्ठो के साथ 'कर्म-सिद्धान्त' के विषय में हुई बुद्ध की चर्चा का विस्तृत विवेचन है ।

समीक्षा

उक्त प्रकरण में सर्वज्ञता और कठोर तपश्चर्या का वर्णन तो लगभग वैसा ही है, वैसा चुल्लुकपञ्चकसुत्त में किया गया है । इस प्रसंग की नवीन चर्चा वेदनीय श्रद्धेय कर्म की है । नवी प्रदनों का उत्तर निगण्ठो से निषेध की भाषा में दिलाया गया है । वस्तुस्थिति यह है कि जैन कर्मवाद में निकाचित कर्मावरथा की अपेक्षा से तो उक्त निषेध यथार्थ माने जा सकते हैं, किन्तु अन्य उद्वर्तन, अवर्तन, उदीरण, संक्रमण आदि कर्मावस्थाओं की अपेक्षाओं में अधिकांश निषेध अयथार्थ प्रमाणित होते हैं ।^५

६ असिक्खकपुत्र ग्रामणी

यह प्रसंग सयुत्तनिकाय^६ का है । इसमें निगण्ठ नातपुत्र का श्रावक असिक्खकपुत्र ग्रामणी के साथ बुद्ध चर्चा करते हैं और अन्त में उसे अपना उपासक बना लेते हैं ।

१ मज्झिमनिकाय, अभयराजकुमार सुत्तन्त, २-१-८ ।

२. अपदान, ५४-४-२१६ से २२१ ।

३ मज्झिमनिकाय, चुल्लुकपञ्चकसुत्तन्त, १-२-४ ।

४ मज्झिमनिकाय, देवदह सुत्तन्त, ३-१-१ ।

५ देखें कर्मावस्था के भेद-प्रभेद, स्थानाग सूत्र, स्था० ४ ।

६ सयुत्तनिकाय, सखसुत्त, ४०-८ ।

समीक्षा

आगम साहित्य मे अमिबन्धकपुत्र ग्रामणी नाम का कोई व्यक्ति नहीं मिलता । त्रिपिटक साहित्य मे भी 'ग्रामणी सयुत' के अनिरिक्त और कहीं इसकी चर्चा विशेषत नहीं मिलती । 'ग्राम का अगुआ' इन अर्थ मे इने ग्रामणी कहा गया है ।

अहिंसा, मत्त आदि चार यमो की चर्चा यहाँ की गई है । बुद्ध ने इनका उल्लेख किया है, पर यथार्थ मे वाक्-चानुर्य मे अधिक वह कुछ नहीं । वस्तुतः तो बुद्ध नव्य अहिंसा, मत्त आदि को इसी प्रकार मे उपादेय बतलाते हैं । पचशील मे भी चार शील चतुर्याम धर्म रूप ही तो हैं ।^१ प्रस्तुत प्रकरण मे मैत्री, कल्याण आदि चार भावनाओं का मधु-लेख हुआ है, जो पातञ्जल योगदर्शन^२ तथा जैन परम्परा^३ मे भी अभिहित हैं ।

७ नालन्दा मे दुर्भिक्ष

यह प्रसंग भी सयुत्तनिकाय^४ का है । इसमे निगण्ठ नातपुत्त की मलाह ने असिबन्धकपुत्र ग्रामणी बुद्ध के साथ चर्चा करते हैं । यह चर्चा नालन्दा मे तब होती है, जब वहाँ बहुत बड़ा दुर्भिक्ष था ।

समीक्षा

आगम साहित्य मे नालन्दा की दुर्भिक्ष-स्थिति का कोई उल्लेख नहीं है ।

प्रस्तुत प्रकरण मे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि महावीर और बुद्ध एक ही काल मे अपनी-अपनी भिक्षु-परिषद् नहिन नालन्दा मे थे ।

८ चित्र गृहपति

सयुत्तनिकाय^५ के इन प्रसंग मे बुद्ध का उपामक सिष्य चित्र गृहपति निगण्ठ नातपुत्त मे कुछ प्रश्नोत्तर करता है ।

समीक्षा

अवितर्क अविचार समाधि का उल्लेख शुक्ल ध्यान के द्वितीय चरण के रूप मे जैन दर्शन^६ मे प्राता है । चित्र गृहपति भच्छिकामण्ड ग्राम का निवासी व कोपाव्यस था ।^७ धर्म-क्रिया मे वह बहुत कुशल था । इसने ब्रह्मक, कामभू, गोदत्त, अचेल काश्यप आदि अनेक लोगों से चर्चा की थी ।^८ बुद्ध ने उसे धर्म-कथिको मे अग्रगण्य कहा ।^९

१. 'यो पाण नातिपातेति मुखावाह न भासति, लोके अदिन्नि नादियनि परदार न गच्छति ।

सुरामेरयपान च यो नरो नानुपुञ्जति, पहाय पञ्च वेरानि सोलवा इति बुच्चति ।'

—अगुत्तरनिकाय, पचकनिपात, ५। १८। १७६ ।

२. समाधिपाद, १। ३३ ।

३. शान्तमुवारम भावना १३ से १६ ।

४. सयुत्तनिकाय, कुलसुत्त, ४०-१-६ ।

५. सयुत्तनिकाय, निगण्ठसुत्त, ३६-८ ।

६. जैनसिद्धान्त दीपिका, ५। ३४ ।

७. Dictionary of Pali Proper Names, vol I p 865

८. संयुत्तनिकाय, शलायतन सुत्त, चित्तसयुत्त ।

९. अगुत्तरनिकाय, एतदगवग सुत्त ।





६ कुतूहलशाला सुत्त

यह प्रसंग भी सयुत्त निकाय^१ का है। वत्स-गोत्र परिव्राजक बुद्ध से मृत श्रावको की गति के विषय में प्रश्न उपस्थित करता है और बताता है कि निगठ नातपुत्र प्रभृति छोटे धर्मानायक अपने मृत श्रावको के विषय में किये गये प्रश्न का सही उत्तर देते थे।

समीक्षा

जैन धारणा के अनुसार मृत की गति को जान लेना बहुत साधारण बात है। महावीर तो कैवल्य-सम्पन्न थे। मृत की गति तो अवधिज्ञान से भी जानी जा सकती है।

१० अभय लिच्छवी

यह प्रसंग अगुत्तरनिकाय^२ का है। वैशाली में अभय लिच्छवी व पण्डित कुमार लिच्छवी बुद्ध के शिष्य आयुष्मान् आनन्द के पास आते हैं। अभय लिच्छवी के अनुसार निगठ नातपुत्र सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं, और तपस्या से कर्म-निर्जरा व दुःख-क्षय का निरूपण करते हैं। इस विषय में वह बुद्ध का अभिमत पूछता है।

समीक्षा

अभय लिच्छवी का उल्लेख प्रस्तुत प्रकरण के अतिरिक्त साल्ह सुत्त^३ में भी आता है। वहां भी वह साल्ह लिच्छवी के साथ बुद्ध से चर्चा करने के लिये प्रस्तुत होता है। यहाँ यह स्वयं प्रश्न करता है, वहाँ उसका सहवर्ती साल्ह लिच्छवी। अगुत्तरनिकाय के अग्रेजी अनुवाद में डा० बुडवर्ड ने अभय लिच्छवी और अभय राजकुमार को एक ही मान लिया है।^४ पर वस्तुतः ये दोनों ही व्यक्ति पृथक्-पृथक् हैं। अभय राजकुमार राजगृह का निवासी तथा राजा बिम्बिसार का पुत्र है जबकि अभय लिच्छवी वैशाली का कोई क्षत्रिय कुमार है।

प्रस्तुत प्रकरण में तप-विषयक जो चर्चा की है, वह जैन धारणा के सर्वथा अनुकूल ही है। 'निर्जरा' शब्द का उपयोग बहुत यथार्थ है।

११ लोक सान्त-अनन्त

अगुत्तर निकाय^५ के इस प्रसंग में बुद्ध के पास आकर दो ब्राह्मण पूरणकाश्यप व निगण्ठ नातपुत्र के लोक की सान्तता-अनन्तता विषयक सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं।

समीक्षा

उक्त प्रकरण में दो लोकायतिक पूरण काश्यप और निगण्ठ नातपुत्र के लोकसिद्धान्त की चर्चा करते हैं। उस चर्चा में सान्तता और अनन्तता का मतभेद भी व्यक्त होता है, पर उक्त प्रकरण में एक मौलिक असंगति यह है कि लोक सम्बन्धी धारणा में दोनों का मतभेद भी बताया जाता है और दोनों की धारणा समान रूप से अनन्त भी बताई जाती है। दोनों की धारणाओं में लोक अनन्त है, तो मतभेद कैसा ? इसी प्रकरण के अग्रेजी अनुवाद में ई० एम०

१ सयुत्तनिकाय, कुतूहलशाला सुत्त, ४२-६।

२ अगुत्तरनिकाय, तिकनिपात, ७४ (हिन्दी अनुवाद) पृ० २२७-२२८।

३ अगुत्तर निकाय, चतुष्क निपात, महावग्ग, साल्ह सुत्त ४-२०-१६६।

४ The Book of Gradual Sayings, vol I p 200

५ सुत्तपिटके, अगुत्तर निकाय पालि, नवक-निपातो, महावग्गो, लोकायतिक सुत्त, ६-४-७।

हेर पूरण काव्यप का लोक मान्त और निगण्ठ नातपुत्त का लोक अनन्त बतलाते हैं।^१ अनुवादक ने एक पाठान्तर के आधार पर ऐसा किया है। पर वह भी नहीं नहीं लगना। एक दूसरा पाठान्तर, जो अनुवादक ने टिप्पण में दिया है, उसमें पूरण काव्यप के साथ 'अनन्त' और निगण्ठ नातपुत्त के साथ 'अन्तवन्त' पाठ है।^२ वह सही लगना है, क्योंकि महावीर की लोक सम्बन्धी धारणा के वह नितान्त अनुकूल बैठता है। महावीर ने लोक को सान्त और अलोक को अनन्त माना है।^३ वैसे महावीर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से लोक की पृथक्-पृथक् व्याख्या की है। अर्थात्—

द्रव्य की अपेक्षा लोक—मान्त।

क्षेत्र की अपेक्षा लोक—मान्त।

काल की अपेक्षा लोक—अनन्त।

भाव की अपेक्षा लोक—अनन्त।^४

दो लोकान्वयियों की लोक-वर्चा क्षेत्रिक अपेक्षा में ही प्रतीत होती है, अतः “त्रैलोक्यो लोए मज्जे” यह आगम-पाठ अगुत्तरनिकाय के दूसरे पाठान्तर को पुष्टि कर देता है।

इस प्रश्न को बुद्ध ने बिना अपना मन्तव्य व्यक्त किये ही टाला है। वस्तुस्थिति यह है कि बुद्ध ने इसे तथा इस प्रकार के अनेको प्रश्नों का मज्झिमनिकाय आदि में ‘अव्याकृत’ कहा है।^५

१२ वप्प-जैन श्रावक

यह मनुस्मृत्य अगुत्तरनिकाय^६ का है। इसके अनुसार निगण्ठ नातपुत्त का श्रावक वप्प शाक्य पहले बुद्ध के प्रमुख निप्य आरुप्पान् महासीद्गल्लायन के साथ और बाद में बुद्ध के साथ चर्चा करता है और उनका उपासक बन जाता है।

समीक्षा

वप्प शाक्य राजा था और स्वयं बुद्ध का जूलपिता (पितृव्य) था।^७ हालांकि जैन परम्परा में इन सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। उल्लेखनीय तब यह है कि बुद्ध ने जो कुछ वप्प को समझाया है, लगभग वह सब निरन्त्र-धर्मगत ही है। आनन्द, निर्जरा आदि श्रद्धा के प्रयोग भी ज्यों के त्यों हुए हैं।

श्रीमती राइन डेविड्स ने पञ्चवर्गीय वप्प और इन शाक्य वप्प के एक होने की सम्भावना व्यक्त की है।^८ पर यह नितान्त अमम्भव है। दोनों वप्प कपिलवस्तु के थे, पर एक वणिष्ठ गोत्री ब्राह्मण था और दूसरा शाक्यवंशीय क्षत्रिय। पञ्चवर्गीय वप्प बुद्ध ने बहुत पूर्व दीक्षित हो चुका था। बुद्ध के बोधि-लाभ के पश्चात् अपने साथियों सहित वह अर्हत्-पद को प्राप्त हुआ।^९

१ The Book of Gradual Sayings, vol IV pp २८७-२८८

२ Ibid, p २८८ fn.

३ भगवतीसूत्र, ११-१०-४२१।

४ वही, २-१-६०।

५ मज्झिमनिकाय, जूलमालूक्य सुत्त, ६३, दीघनिकाय पोडुपाद सुत्त, १।६।

६ सुत्तपिटक, अगुत्तर निकाय पालि, चतुर्वक्क निपात, महाग्गो, वप्पसुत्त, ४-२०-५ (हिन्दी अनुवाद) १८८-१९२।

७ अगुत्तर निकाय, अट्ठकथा, खण्ड २, पृ ५५६।

८ “It is quite in the range of possibility that the vappa in Sutta 195 is one of those faire friends in whome the Sakyamuni sought fellow helpers”

—The Book of Gradual Sayings, vol II Introduction, p XIII

९ विनयपिटक, महावग्ग, महाखन्धक।





बुद्ध के पितृव्य या निर्ग्रन्थ-धर्म में हाना महावीर की ज्येष्ठता और निर्ग्रन्थ-धर्म की व्यापकता का भी परिचायक है। बुद्ध के विचारा में निर्ग्रन्थ-धर्म का यद्विचित्र प्रभाव आने का भी यह एक निमित्त हो सकता है।

१३ सकुल-उदायी

मज्झिमनिकाय^१ में वर्णित इस प्रसंग में सकुल-उदायी परिव्राजक बुद्ध के साथ निगठ नातपुत्र की सर्वज्ञता की चर्चा करना है।

समीक्षा

इस प्रकरण में 'कर्म-चर्चा' प्रकरण की तरह सर्वज्ञता की ही कुछ प्रकारभेद से चर्चा है।

घटना-प्रसंग

१४ निर्वाण-सवाद (१)

मज्झिमनिकाय^२ के इस प्रसंग में निगठ नातपुत्र के पावा में निर्वाण प्राप्त होने के सन्देश को बुद्ध समग्र-देश सामगम में बुद्ध के पास पहुँचाता है।

१५ निर्वाण-सवाद (२)

दीघनिकाय^३ के इस प्रसंग में भी वैसे ही निगठ नातपुत्र के निर्वाण का सम्वाद बुद्ध के पास पहुँचाता है।

१६ निर्वाण-चर्चा

दीघनिकाय^४ के ही इस प्रसंग में निगठ नातपुत्र के निर्वाण की चर्चा पावा में जाने पर आयुष्मान् सारिपुत्र अपने उपदेश में करते हैं।

समीक्षा

उक्त तीनों प्रकरणों की आत्मा एक है और उनके ऊपर का ढाँचा कुछ भिन्न है। प्रथम प्रकरण में बुद्ध इस सवाद-श्रवण के बाद आनन्द को उपदेश करते हैं और दूसरे में बुद्ध को, दोनों उपदेशों का शब्दविन्यास कुछ भिन्न है, पर भुकाव एक ही है। पहले और दूसरे में यह सवाद बुद्ध सामगम में सुनते हैं और वहीं उपदेश करते हैं। तीसरे प्रकरण में सारिपुत्र पावा में भिक्षुओं को महावीर-निर्वाण की बात कह कर उपदेश करते हैं। कुछ एक लेखकों ने माना है कि इन प्रकरणों में विरोधाभास है, अतः ये प्रामाणिक नहीं होने चाहिए। वस्तुस्थिति यह है—इतिहास किसी भी शास्त्र के समुल्लेख को अक्षरशः मानकर नहीं चला करता। किसी भी समुल्लेख का मूल हार्द यदि अमदिग्ध है तो इतिहास ले लेता है। मच बात तो यह है कि तीनों प्रकरणों के अन्तर परस्पर विरोधी हों, ऐसी बात भी नहीं है। पहले प्रकरण में उपदेश-पात्र आनन्द को और दूसरे प्रकरण में बुद्ध का जो बताया गया है, उसके अनेक बुद्धि-गम्य कारण हो

१ मज्झिम निकाय, चूलसुकुलदायि सुत्तन्त, २-३-६।

२ मज्झिम निकाय, सामगम सुत्तन्त, ३-१-४।

३ दीघनिकाय, पासादिक सुत्त, ३।६।

४ दीघनिकाय, सगीति-पर्याय-सुत्त, ३।१८।

मकते हैं। हो मकना है, दोनों ने वह उपदेश एक साथ ही श्रवण किया हो और मकन्नकारो ने अपनी-अपनी बुद्धि से एक-एक को मत्त्व दे दिया हो। हो मकता है, यह किंचित् कालान्तर मे बुद्ध ने दोनों को पृथक्-पृथक् उपदेश दिया हो। तीमरा प्रकरण अपने आप में स्वतन्त्र है ही तथा वह तो प्रत्युत पहले दो प्रकरणों का और पुष्टिकारक बन जाता है। पावा में यह घटना घटित हुई थी, अतः पावा मे आने पर माणिपुत्र का उम घटना को याद करना नितान्त स्वाभाविक ही हो मकता है।

भगवान् महावीर के निर्वाण प्रसंग पर अनुयायियों मे मत-भेद की चर्चा तीनों ही प्रकरणों मे की गई है। जैन परम्परा इस बात की कोई स्पष्ट साक्षी नहीं देती। हो मकना है, भगवान् महावीर के उत्तराधिकारित्व के विषय मे परम्पर चिन्तन चला हो। उद्भूत (गौतम स्वामी) प्रथम गणधर थे। सामान्यतया उत्तराधिकार उन्हें मिलना चाहिए था। पर वह पंचम गणधर मुग्धा स्वामी को यह कह कर मिला कि केवल तीर्थंकरों के उत्तराधिकारी नहीं बनने। सम्भव है, यह चिन्तन भी उम निष्कर्ष ने निकला हो। यह भी सम्भव तो नहीं माना जा सकता कि गौतम स्वामी के अनुयायी माधुओं और मुग्धा स्वामी के अनुयायी माधुओं मे उभी विषय पर यत्किंचित् विवाद न हुआ हो। इसी तनिक-सी झगड़ के उम बात मे भी मिलती है कि श्वेताम्बर परम्पराओं मे भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर मुग्धा स्वामी को माना जाता है, जब कि दिगम्बर-परम्पराओं मे गौतम स्वामी को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर माना जाता है। बौद्ध प्रकरणों मे जो 'श्वेतवस्त्रधारी' शब्द आया है वह भी 'श्वेल' और 'संचे' निरर्थकों के शब्दों को इंगित करता है। हो मकना है, बौद्धों ने उक्त तीनों प्रकरणों को बहुत बटावा दे दिया हो। एक सम्प्रदाय की तनिक-सी घटना का प्रतियोगी सम्प्रदाय के लोग अनिर्गुण करके ही बहुधा व्यक्त करते हैं। श्री धर्मानन्द कौशाम्बी ने जैन आगमों मे वर्णित गोशाठक के न्यूनतामूचक वर्णन को बहुत ही अतिरजित माना है।^१

१७ निगण्ठ नातपुत्त की मृत्यु का कारण

जब उपालि गृहपति बुद्ध का उपासक बन गया, तब बुद्ध के गुणात्कीर्तन की गाथाएँ मुनकर निगण्ठ नातपुत्त के मुख मे गर्म लून गिर गया। वहाँ मे उन्हें पावा ने गये और वहाँ वे कालगन हो गये।

ममीक्षा

जैन कथावस्तु मे तो इस प्रकार की घटना का उल्लेख ही नहीं। मूल मज्झिमनिकाय के उपालि मुत्त मे भी इस घटना को महावीर की श्रुति मे नहीं जोड़ा गया है। यह नितान्त अट्ठकथा का ही परिवर्द्धन है। जैन उल्लेख के अनुसार महावीर राजगृह मे विहार कर पावा जाते हैं। वहाँ वे वर्षावास करते हैं और कार्तिक अमावस्या को निर्वाण प्राप्त करते हैं। उतनी प्रत्यक्ष अस्वस्थता उनकी नहीं होती, ता अग्रज्य उमका कहीं उल्लेख मिलता, इस अवधि मे उनकी अस्वस्थता का नहीं उल्लेख नहीं है।

१८ दिव्य-शक्तिप्रदर्शन

यह प्रसंग विनयपिटक^२ तथा धम्मपद-अट्ठकथा^३ का है। निगण्ठ नातपुत्त आदि छह तीर्थंकरों की अमफलता व बुद्ध के शिष्य पिण्डोय मारद्वाज की दिव्य-शक्ति-प्रयोग की घटना का विवेचन किया गया है।

१ उक्त समाधान आनुमानिक है, किन्तु जो सकेत इसमे उभरे हैं, हो सकता है, गहराई में जाने से श्वेताम्बर और दिगम्बर के भेद का मूल भी यहीं कहीं निकल जाये। शोधशील विचारकों के लिए यह ध्यातव्य है।

२ देखें, पाश्चिमाय का चातुर्थाय धर्म।

३ विनयपिटक, बुल्लवर्ण, ५-१-१०।

४ धम्मपद-अट्ठकथा, ४-२।



समीक्षा

यह सारा उदन्त अतिशयोक्ति भरा है। पिण्डोल भारद्वाज का चन्दन पात्र के लिए ऋद्धि-प्रातिहार्य का दिस-लाना बुद्ध के द्वारा गृह्य बताया गया है। यह कल्पना भी कैसे की जा सकती है कि निगण्ड नातपुत्र उम चन्दन पात्र को लेने के लिए ललचाये होंगे और इस कौतुक में प्रयत्नशील हुए होंगे ? जैन परम्परा^१ में तो किसी भी ऋद्धि-प्रदर्शन का सर्वथा वर्जन है। लगता है, पिटको में जहाँ भी इतर तैयिकों की न्यूनता व्यक्त करने का प्रसंग होता है, वही निगण्ड नातपुत्र, पूरणकाश्यप आदि सारे नाम दुहरा दिये जाते हैं।

१९ छः बुद्ध

समुत्तनिकाय अट्ठकथा^२ के इस घटना-प्रसंग में श्रावस्ती के राजा द्वारा निगण्ड नातपुत्र आदि छहों धर्माचार्यों के बुद्धत्व की परीक्षा करने का तथा उनका तिरस्कार करने का उल्लेख है।

समीक्षा

एक अतिरजित कथा के अतिरिक्त इस अट्ठकथा का कोई महत्त्व नहीं लगता।

२० मृगार श्रेष्ठी

धम्मपद-अट्ठकथा^३ में आये हुए इस प्रसंग में निगण्डों के श्रावक मृगार श्रेष्ठी का उसकी पुत्रवधू विशाला द्वारा बुद्ध का उपासक बनाने की कथा है।

समीक्षा

यह सारा प्रसंग धम्मपद-अट्ठकथा का है, अतः अतिरजित होना तो सहज है ही। आगमों में किसी भी मृगार नामक गृहपति के निगण्ड होने का उल्लेख नहीं मिलता। मूल त्रिपिटकों में भी उक्त घटना-प्रसंग का कोई विवरण नहीं है।

२१ गरहदिम्न और सिरिगुत्त

धम्मपद-अट्ठकथा^४ के इस प्रसंग में निगण्ड नातपुत्र के श्रावक गरहदिम्न और बुद्ध के श्रावक सिरिगुत्त की कथा है।

समीक्षा

लगता है, साम्प्रदायिक मनोभावों से अनेक कथाएँ गढ़ी जाती रही हैं। उनमें से एक यह भी है। ठीक इसी प्रकार की एक कथा^५ जैन-परंपरा में भी प्रचलित है।

अन्य धर्मों के सन्ध से भी इस प्रकार के अनेकों कथानक दोनों परंपराओं में मिलते हैं तथा इन दोनों परंपराओं के सन्ध में इतर धर्मों में भी ऐसे ही कथानक मिलते हैं। लगता है, कोई युग ही आया था, जिसमें ऐसे कथानक गढ़ने की होड़ लगी थी।

१ प्रश्नोत्तर सत्त्वबोध, गोशालाधिकार, पृ० १६०।

२ समुत्तनिकाय-अट्ठकथा, ३-१-१।

३ धम्मपद-अट्ठकथा, ४-४।

४ धम्मपद-अट्ठकथा, ४-१-२।

५ राजा श्रेणिक और रानी चेलणा की कथा।

मिलिन्द-प्रश्न में कहा गया है—गरुदिन के घर बुद्ध के धर्मोपदेश करते समय ८४००० लोगों को श्रोता-पक्षिण्ड मिला ।^१ यह भी प्रत्युत कथानक की अवधार्यता का एक प्रमाण है ।

उल्लेख-प्रसंग

२२ श्रामण्यफल

दीधनिकाय^२ के इस प्रसंग में मगधराज अजातशत्रु राजगृह में गौतम बुद्ध के दर्शनार्थ जाता है । बुद्ध से श्रामण्य-फल पृष्ठना है । यह पूछे जाने पर कि क्या वह प्रश्न औरों को पूछा गया था, अजातशत्रु निगण्ठ नातपुत्त प्रभृति छ धर्माचार्यों का उल्लेख करना है ।

समीक्षा

इन चार प्रकरण का अभिप्राय अन्य माने धर्म-नायकों की न्यूनता बतलाकर गौतम बुद्ध की श्रेष्ठता बतलाना है । महावीर को चानुग्राम धर्म का निरूपक बनाना इस बात की ओर संकेत करता है कि बौद्ध भिक्षु पार्श्वनाथ की परंपरा ने मयुक्त रहे हैं और महावीर के धर्म को भी उन्होंने उन्हीं रूप में देखा है, जबकि वह पंचगिजात्मक था ।^३

चार याम जो यहाँ बनाये गये हैं, वे यथार्थ नहीं हैं । तथाप्रकार की व्रत-परिकल्पना और भी किमी नाम से जैन परंपरा में नहीं मिलती । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शीतोदक-वर्जन आदि के रूप में यह चार नियम जैन परंपरा ने विरुद्ध नहीं हैं ।

चण्डनकुट्टदायि मुत्त^४ में और श्रामणी-मयुत्त^५ में प्राणातिपात, अदत्तादान, कामेमुमिच्छाचार व भुसावाद से निवृत्त होने का उल्लेख है, पर वहाँ चतुर्थांश शब्द का प्रयोग नहीं है ।

महावीर का नाम अजातशत्रु का किंस भत्री ने सुझाया, यह उक्त प्रसंग में नहीं है । पर महायान परंपरा के शान्दकपुत्रमुत्त के अनुसार उक्त सुझाव अभयकुमार ने दिया था ।

यहाँ अन्य सभी धर्म-नायकों को चिन्-प्रव्रजिन और बयोऽनुप्राप्त कहा गया है, पर बुद्ध के लिए जीवक ने इन विशेषणों का प्रयोग नहीं किया है । इनमें मूचिन होता है, इन सबकी अपेक्षा में बुद्ध तरुण थे ।

२३ बुद्ध धर्माचार्यों से कनिष्ठ

यह प्रसंग मयुत्तनिकाय^६ का है । श्रावस्ती का राजा प्रसेनजित् कौशल बुद्ध ने प्रश्न करता है कि निगण्ठ नात-पुत्त प्रभृति छह धर्मानायकों की अपेक्षा अत्यव्यक्त और मद्य प्रव्रजित होने पर भी वे मय्यन् भवोवि-प्राप्ति का दावा कैसे करेंगे हैं ? बुद्ध के अनुसार भिक्षु को छोटा समझ कर उनकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए ।

१ मिलिन्द प्रश्न, ३५० ।

२ दीधनिकाय, सामञ्जस्य सुत्त, १-२ ।

३ चाउज्जामो २ जो धम्मो, जो इमो पंचमिस्सिओ । देस्सिओ बद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३, पा० २३ ।

४ मज्झिम निकाय, ७६ तथा प्रकरण में सम्बन्धित प्रसंगसख्या १३ ।

५ इसी प्रकरण में सम्बन्धित मट्ठा ६ ।

६ मयुत्तनिकाय, दहरमुत्त, ३-१-१ ।



समीक्षा

सब धर्म-नायको में बुद्ध की कनिष्ठता का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है। महावीर और बुद्ध की समसामयिकता के निर्णय में डा० जेकोबी आदि ने इस प्रसंग को छुआ तक नहीं है। यह उन्हें सुलभ हुआ होता, तो सम्भवतः वे भी महावीर की ज्येष्ठता निर्विवाद सिद्ध करते।

२४ सभिय परिव्राजक

यह प्रसंग सुत्तनिपात^१ का है। सभिय परिव्राजक निगठ नातपुत्र आदि छहो धर्माचार्यों को प्रश्न करता है। वे वयस्क और चिर-प्रव्रजित होने पर भी उसके प्रश्न का उत्तर नहीं देते। गौतम बुद्ध ने उनकी अपेक्षा आयु में कनिष्ठ और प्रव्रज्या में नवीन होने पर भी उसके प्रश्नों का उत्तर दिया। वह बुद्ध के पास प्रव्रजित हो ग्रहण हुआ।

समीक्षा

उक्त प्रसंग महावीर की ज्येष्ठता का अनन्य प्रमाण है। यहाँ बुद्ध की अपेक्षा सभी धर्म-नायको को 'जिण्ण, बुद्धा, महल्लका, अद्धगता, वयो अनुपत्ता, थेरा, रत्तञ्जु चिर पव्वजिता' अर्थात् 'जीर्ण, बुद्ध, वयस्क, चिरजीवी, अवस्था-प्राप्त, स्थविर, अनुभवी, चिर प्रव्रजित' कहा गया है। यह समुल्लेख सुत्तनिपात का है, इस दृष्टि से भी अधिक प्राचीन और अधिक प्रामाणिक है।

२५ सुभद्र परिव्राजक

दीघनिकाय^२ के इस प्रसंग में परिनिर्वाण के दिन सुभद्र परिव्राजक बुद्ध के पास जाता है और निगठ नातपुत्र आदि छ धर्माचार्यों के विषय में प्रश्न उपस्थित करता है।

समीक्षा

यहाँ बुद्ध की अन्तिम अवस्था तक महावीर के वर्तमान होने की बात निकलती है, पर यह यथार्थ नहीं है, क्योंकि ऐसे प्रश्न बहुत बार ढर्रे के रूप में भी हुआ करते हैं और यह प्रश्न तो छहो नाम साथ बोल देने के ढर्रे रूप ही हुआ है, यहाँ तक कि राजा मिलिन्द के साक्षात्कार के सन्ध में भी इन्हीं छ नामों का उल्लेख हुआ है,^३ जब कि राजा मिलिन्द का बुद्ध-निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् होना बताया गया है।^४ यह इससे भी स्पष्ट है कि उक्त नामों में मकखली गोशालक और पूरणकाश्यप के नाम भी आये हैं, जो कि सर्वसम्मत रूप से बुद्ध से पूर्व ही निधन-प्राप्त हो चुके थे। इस प्रकार उक्त प्रसंग बुद्ध की ज्येष्ठता का निणयिक प्रमाण नहीं बन सकता।

२६ राजगृह में सातो धर्मनायक

मज्झिमनिकाय^५ के इस प्रसंग में राजगृह में सकुल उदायी परिव्राजक के साथ बुद्ध का वार्तालाप होता है। निगठ नातपुत्र आदि छ धर्मनायकों की न्यूनता बताई गई है।

समीक्षा

इस उदन्त में उल्लेखनीय अभिव्यक्ति यही है कि सातो धर्मनायकों का एक साथ राजगृह में वर्षावास बताया गया है।

१ सुत्तनिपात, महावग्ग, सभिय सुत्त।

२ दीघनिकाय, महापरिनिर्व्वान सुत्त, २-३।

३ मिलिन्द-पञ्चो।

४ वही।

५ मज्झिम निकाय, महासकुलवायि सुत्तन्त, २-३-७।

२७ निगण्ठ उपोमय

यह प्रमग अगुत्तरनिकाय^१ का है। बुद्ध की प्रमुख उपानिका विगात्रा भृगात्र माता थावस्ती में बुद्ध ने 'उपोमय' के विषय में प्रश्नोत्तर करती है। बुद्ध तीन प्रकार के उपोमयों का वर्णन करते हैं—गोपाल उपोमय, निर्ग्रन्थ उपोमय और आर्य उपोमय।

समीक्षा

जैनथावक के बारह व्रतों में ग्याहवा 'पौषवन्न' है। प्रस्तुत प्रकरण में उसका विवृण ही चित्रण हुआ है और विवृण ही समीक्षा हुई है। पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं में १०० योजन उत्तरान्त पाप न करना, 'छूट दिग्विगति व्रत' का सूचक है। इनमें कुछ की हिंसा और कुछ की दया का दोष बनाना अर्थार्थ है। 'यथाशक्य विगमण' का अर्थ कुछ जीवों की हिंसा व कुछ जीवों की दया नहीं होता।

पौषवन्न में अमत्य और चौरों का दोष भी बनाया गया, पर यह वाग्-विरोध मात्र है। यथार्थ में पौषध का अभिप्राय है—एक अहोरात्र के लिए निर्ग्रन्थ-जीवन जीना। उनमें भी इनका विशेष कि वह अहोरात्र थावक निर्जल और निगहार बिनाये। बुद्ध ने स्वयं जिन तीसरी कोटि के उपोमय का प्ररूपण किया है, उसका भावना में और निर्ग्रन्थ-उपोमय की भावना में मुख्यतः कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। उन्होंने आर्य-उपासय में एकाहारी रहने की बात कही है और निर्ग्रन्थ-उपोमय में निराहारी रहने की बात है। बुद्ध ने भी तो उपोमय की भावना यही मानी है कि उपासक एक अहोरात्र के लिए अर्हत्-जीवन जीए। उनमें हिंसा, अमत्य, अदत्त, आदि के अहोरात्रिक त्याग बनलाये हैं। यदि जैन उपोमय में हिंसा, अमत्य, अदत्त आदि के दोष आर्यों तो फिर बौद्ध-उपोमय में क्यों नहीं आर्यों? बौद्ध उपोमक भी तो जहोरात्र के पञ्चात् माता को माता और पिताकापिता मानना है तथा अपने धन आदि का उपभोग-परिभोग आदि करना है। जब कि अहोरात्र के लिए अर्हत्-जीवन जीने नमय उस नव व्यवहार का वर्जन हो गया था।

२८ छ अभिजातियों में निर्ग्रन्थ

अगुत्तरनिकाय^२ के इस प्रकरण में पूरणकाव्यप द्वारा प्रतिपादित छ अभिजातियों के विषय में आयुष्मान् आनन्द बुद्ध से वार्तालाप करते हैं। निर्ग्रन्थों को लोहित अभिजाति में रखा गया है।

समीक्षा

छ अभिजातियां यहा पूरणकाव्यप के नाम से बनाई गई हैं, पर मूलन ये गोशालक द्वारा निरूपित हैं। दीघनिकाय के मामञ्जकल मुत्त में, सयुत्तरनिकाय के मन्ववग्ग में और मज्झिम निकाय के मन्वक सुत्त में इन्हें गोशालक द्वारा ही निरूपित बताया गया है। पूरण काव्यप के नाम में उनको प्रस्तुत प्रकरण के अतिरिक्त और कहीं नहीं बनाया गया है। तीन समुल्लेख जब समान रूप से मिलते हैं तो इस चतुर्थ समुल्लेख के मन्वन्व में यथार्थता यही लगती है कि शान्त्र-मन्वलिताओं की भूल ही में ऐसा हुआ है।

२९ सच्चक निगण्ठ पुत्र

मज्झिम निकाय^३ के इस प्रकरण में वैशाली में बुद्ध के साथ हुई सच्चक निगण्ठपुत्र की चर्चा का वर्णन है।

१ अगुत्तरनिकाय, निकनिपात, ७०।

२ अगुत्तरनिकाय, ६-६-५७।

३ मज्झिमनिकाय, अट्ठकया १-४५०।





समीक्षा

जैन परम्परा में इस नाम का कोई व्यक्ति नहीं मिलता । बौद्ध ने इसे सम्बोधन में सर्वत्र ही 'अग्निवैश्यायन' कहा है । यह हमका गोत्र था । महावीर को भी पिटक साहित्य में कुछ-एक स्थलो पर 'अग्निवैश्यायन' कहा गया है ।^१

हां सकता है, पिटकों के सकलन-काल में निगठपुत्र के अग्निवैश्यायन नाम का विपर्यास महावीर के साथ हो गया हो । डा० जेकोबी का कहना है, सुधर्मा के अग्निवैश्यायन होने के कारण यह विपर्यास हुआ है ।^२ 'निगठ नातपुत्र' और 'निगठपुत्र' के नाम साम्य में इस विपर्यास की अधिक संभवता लगती है ।

३० अनादवासिक ब्रह्मचर्य-व्रत

यह प्रकरण मज्झिम निकाय^३ का है । इसमें बौद्ध के शिष्य आयुष्मान् आनन्द सन्दक परिव्राजक के साथ चार अग्रह्मचर्यवास और चार अनादवासिक ब्रह्मचर्यवास के विषय में चर्चा करता है । निगठ नातपुत्र का उल्लेख सर्वज्ञ, सर्वदर्शी श्राम्ता के रूप में किया गया है ।

समीक्षा

यहाँ अजितकेसकम्बल आदि चार को अग्रह्मचर्यवास में माना है । अग्रह्मचर्यवास का अभिप्राय है — असन्यास, महावीर को अनादवासिक ब्रह्मचर्यवास में माना है अर्थात् वह सन्यास तो है, पर निर्वाण का आश्रयमान देने वाला नहीं, कुल मिश्रकर यह तो कहा ही जा सकता है, बौद्ध की दृष्टि में निगठ नातपुत्र अन्य धर्मनायकों की अपेक्षा तो श्रेष्ठ ही थे ।

३१ विभिन्न मतों के देव

मधुत्तनिकाय^४ के प्रस्तुत प्रकरण में छ देवपुत्र राजगृह में बौद्ध के पास आकर निगठ नाथपुत्र प्रभृति छ धर्माचार्यों की स्तुति करते हैं ।

समीक्षा

देवों के धर्म-चर्चा में रम लेने का उल्लेख आगमों में भी यत्र-तत्र मिलता है । कुण्डकोलिक से चर्चा करने वाला देव गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति को मानने वाला था, जब कि कुण्डकोलिक महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति में विश्वास करता था । शक्रडालपुत्र को सन्देश देने वाला देव महावीर का अनुयायी प्रतीत होता है, जबकि तब तक शक्रडालपुत्र गोशालक का अनुयायी था ।^५

३२ पिंगलकोच्छ ब्राह्मण

मज्झिम निकाय^६ के इस प्रसंग में श्रावस्ती में बौद्ध के पास आकर पिंगल-कोच्छ ब्राह्मण निगठ नातपुत्र आदि छ तीर्थंकरों के सन्ध में प्रश्न पूछता है ।

१ दीर्घनिकाय, सामञ्जसल सुत्त ।

२ SBE vol, XIV, Introduction, p XXI

३ मज्झिमनिकाय, सन्दक सुत्तन्त, २-३-६ ।

४ मधुत्तनिकाय, नाना तित्थिय सुत्त, २-३-१० ।

५ उपामकदशाग सूत्र, अ० ७ ।

६ मज्झिमनिकाय, चूल सारोपम सुत्तन्त, १-३-१० ।

समीक्षा

यह बुद्ध की अपनी विशेष शैली रही है कि उल्लङ्घन भरे प्रश्नों को वे बड़ी चतुरता से टाल देते थे। अनेक स्थलों पर उन्होंने ऐसा किया है।

३३ जटिल सुत्त

यह प्रकरण मयुत्तनिकाय^१ का है। थावस्सी के राजा प्रमनजिन् कोयन के गुप्पचर जटिल, निगठ परिव्राजक आदि की वेपथूपा में बुद्ध के पाम में गुजरते हैं और इनके विषय में राजा बुद्ध में प्रश्न पूछता है।

समीक्षा

यह प्रश्न तात्कालिक राज-व्यवस्था का बहुत ही गूढ़ परिचय देता है। गुप्पचर विभिन्न मतों के माधु बनकर गुप्पचरना करते, यह एक अद्भुत की बात है।

३४ धम्मिक उपासक

मुत्तनिपात^२ के इस प्रकरण में पांच मी उपानको-महित धम्मिक उपासक बुद्ध की स्तुति करते हुए कहता है—“जितने भी वादी तैयिक, आजीवक और निरन्त्य हैं, वे सब प्रजा में आपको बँसे ही नहीं पा सकने जैसे कि शीघ्र चलने वाले को खड़ा रहने वाला।

समीक्षा

यहाँ बुद्ध की प्रशंसा में निगठों का उल्लेख मात्र किया गया है। मुत्तनिपात अट्ठकथा के अनुसार ये पाँच-मी बौद्ध उपासक आकाशगामिनी विद्या के धारक थे व ‘अनागामी’ थे।

३५ महाबोधिकुमार

जातक-अट्ठकथा^३ के इस प्रश्न में निगठ नानपुत्त आदि पांच धर्मेनायकों का पूर्वजन्म में वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त ने पांच मिथ्यादृष्टि अमात्यों के रूप में होने का उल्लेख है।

समीक्षा

यह महाबोधि जातक तथा इस प्रकार के अन्य कथानक यही अभिव्यक्त करते हैं कि बौद्धों ने अपने प्रति-पक्षियों को हीन व कुछ प्रमाणित करने के लिए अनेकों अनगढ़ कथानक रचे हैं।

३६ मयूर और काक

जातक-अट्ठकथा^४ के इस कथानक में बुद्ध और निगठ नानपुत्त को पूर्वजन्म में क्रमशः मयूर और काक बनाया गया है।

समीक्षा

कथा नितान्त आक्षेपात्मक और गर्हा-सूचक है तथा परिपूर्ण नाम्प्रदायिक मनोभावों ने गढ़ी हुई है। यह कथा मूठ त्रिपिटकों की नहीं है, इसलिए इसका अधिक महत्त्व नहीं है। मूल जातक में भी गुणों की वर्तमानता में अव-

१ मयुत्तनिकाय, जटिल सुत्त, ३-२-१।

२. सुत्तनिपात (हिन्दी अनुवाद) बूलवग, धम्मिक सुत्त, पृ० ७५, ७७।

३. जातक-अट्ठकथा, महाबोधि जातक, ५२८, (हिन्दी अनुवाद) पृ० ३१२ से ३३०।

४ जातक-अट्ठकथा, वावेरु जातक, ३३६ (हिन्दी अनुवाद) भा० ३, पृ० २८६ से २६१।





गुणी की पूजा का उल्लेख है। यह उदन्त जातक-अर्थकथा का है, इसलिए भी काल्पनिक कथानक से अधिक इसका कोई महत्त्व नहीं दीख पड़ता।

३७ मासाहार-चर्चा

यह भी जातक अट्ठकथा^१ का प्रसंग है। सिंह सेनापति द्वारा बुद्ध को मासाहार करवाने पर जब निगठ नात-पुत्र ने बुद्ध की आलोचना की,^२ तब बुद्ध ने पूर्वजन्म के कथानक द्वारा बताया कि पूर्वजन्म में भी निगठ नातपुत्र मेरा आलोचक था।

समीक्षा

विनयपिटक और अगुत्तरनिकाय में जहाँ सिंह सेनापति की इस घटना का उल्लेख है, वहाँ चौराहो पर मासाहार की निन्दा करने के प्रसंग में निगठ नातपुत्र का नाम न होकर केवल निगठो का ही नामोल्लेख है। लगता है, अट्ठकथाकार ने जातक गाथाओं के साथ पूर्वजन्म की घटना को जोड़ने के लिए निगठ नातपुत्र को ही नगर-चर्चा का पात्र बना दिया है। अन्य अट्ठकथाओं की तरह इस अट्ठकथा का भी काल्पनिक कथानक से अधिक महत्त्व नहीं लगता।

३८ चार प्रकार के लोग

अगुत्तरनिकाय^३ के इस प्रकरण में 'अपने को तपाने वाले व दूसरी को कष्ट देने वाले' के आधार पर चार प्रकार के लोगो का प्रतिपादन किया गया है। 'अपने को तपाने वाले' लोगो के अन्तर्गत निर्ग्रन्थो की आचार-क्रिया का विवेचन किया गया है।

समीक्षा

इस प्रसंग में नामग्राह निर्ग्रन्थो का उल्लेख नहीं है, पर आचार बहुत कुछ निर्ग्रन्थो का ही बताया गया है। कुछ एक आचार तो दशवैकालिक सूत्र से शब्दशः मिलते हैं। इस प्रथम भग में निर्ग्रन्थो के अतिरिक्त आजीवक तथा पूरणकाश्यप के अनुयायियों के भी कुछ नियम बताये गये हैं, ऐसा प्रतीत होता है। "न वह मास खाता है, न वह मछली खाता है, न वह सुग पीता है, न वह मेरय पीता है"—यह आचार भी निर्ग्रन्थ आचार के सलग्न ही बताया गया है। जैन साधुओं के मासाहार के विपक्ष में यह एक अच्छा प्रमाण बन सकता है।

३९ निर्ग्रन्थो के पांच दोष

अगुत्तरनिकाय^४ के इस प्रकरण में बुद्ध ने निर्ग्रन्थो के पांच दोष बताये हैं—जीव-हिंसा, चोरी, असत्य, अन्नह्यर्च्य व मुरा-पान।

समीक्षा

यह उल्लेख 'उपसम्पदावर्ग' का है। इसमें आजीवक, जटिलक, परिव्राजक आदि के लिए भी ये ही पांच बातें कही गई हैं।

१ जातक, तेलोवाद जातक, स० २४६।

२ देखें, प्रसंग सख्या १।

३ अगुत्तर निकाय (हिन्दी अनुवाद) भा० २, पृ० १६७ से १६९।

४ अगुत्तरनिकाय (हिन्दी अनुवाद) भा० २, पृ० ४४२।

४० वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ

यह प्रमग धम्मपद-अट्ठकथा^१ का है। इसमें वस्त्रधारी निर्ग्रन्था को अचेलक भिक्षु की अपेक्षा बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अच्छा माना गया है तथा बुद्ध के साथ इस विषय में वार्तालाप होता है।

समीक्षा

इस घटना प्रमग में निगण्ठों के वस्त्र-धारण की चर्चा है, पर यह स्पष्ट नहीं होता कि किस प्रकार का वस्त्र वे धारण करते थे और उसका क्या प्रयोजन था ? पर इसमें इतना तो स्पष्ट होता ही है कि बौद्ध परंपरा को सचेलक और अचेलक दोनों ही प्रकार के निगण्ठों का परिचय है।

४१ मीद्गल्यायन का वध

धम्मपद-अट्ठकथा^२ के इस प्रमग में आयुष्मान् मीद्गल्यायन का वध करने वाले पांच सौ तैथिकों (निगण्ठों) को राजा अजातशत्रु भूमि में जीविन गट्ठा देता है।

समीक्षा

यह वृत्तान्त दो स्थानों में उल्लेख होता है—जातकट्ठकथा और धम्मपद-अट्ठकथा। जातकट्ठकथा में मीद्गल्यायन के वध-प्रमग में निगण्ठों का उल्लेख है और धम्मपद-अट्ठकथा में तैथिकों का। यथायं दोनों ही नहीं लगते। निगण्ठों व तैथिकों को गट्ठिन करने का ही मार्ग उपक्रम लगता है।

डा० मलालनेवर ने Dictionary of pali proper names^३ में तथा एच० जी० ए० वान मेयस्ट ने Encyclopaedia of buddhism^४ में लिखा है—“अजातशत्रु ने ५०० निगण्ठों का वध करवाया, इसलिए ही निगण्ठों का अभिप्राय अजातशत्रु के प्रति अच्छा नहीं रहा।” यह लिखना ग़र्राय नहीं है। वस्तुस्थिति तो यह है कि बौद्ध-परंपरा अजातशत्रु को बहुत स्थलों पर उपेक्षा करती है, जब कि जैन परंपरा मुख्यतया उसे सम्मानित स्थान देती है। अजातशत्रु निगण्ठों का वध कराये, यह जरा भी ममव नहीं लगता।

४२ मिलिन्दप्रश्न

यह प्रकरण मिलिन्दप्रश्न^५ का है। मागधनगर के राजा मिलिन्द^६ को उनके अमात्य निगठ नातपुत्त आदि छ घर्माचार्यों ने वार्तालाप करने का निवेदन करते हैं।

समीक्षा

राजा मिलिन्द बुद्ध-निर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् हुआ, ऐसा बताया गया है।^७ यहाँ भी बुद्ध के अतिरिक्त छहों धर्ममात्रकों के नाम गिनाये गये हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध साहित्य में ऐसी एक प्रथा ही रही है कि निगठ, आजीवक प्रभृति भिक्षुओं के मन्व्य में भी कुछ कहना था, तो उनके प्रवर्तक निगठ नातपुत्त, मक्खलि गोशालक

१ धम्मपद-अट्ठकथा, २२-८।

२ धम्मपद-अट्ठकथा, १०। ७।

३ vol I, p ३५

४ p 320

५ मिलिन्द प्रश्न, अनु० निक्षु जगदीश काश्यप, पृ० ४ से ६।

६ मिनान्दर (Minander) इंडोग्रीक समाद हो राजा मिलिन्द था, जिसकी राजधानी सागल (वर्तमान स्यालकोट) थी, ऐसा विद्वानों का अभिमत है। देखें, मिलिन्द प्रश्न (हिन्दी अनुवाद) पृ ४।

७ मिलिन्द प्रश्न, अनु० निक्षु जगदीश काश्यप, पृ० ४।





के नाम से ही कह दिया जाये। निगठ नातपुत्र की वर्तमानता में भी जहा-जहा उनका नाम आया है, अनेक स्थलों पर घटना का सबन्ध निगठ भिक्षुओं से ही हो सकता है। इसी घटना-प्रसंग पर भिक्षु जगदीश काश्यप का कहना है— “मालूम होता है, इन (छहो तीर्थंकरों) की अपनी-अपनी गहिया इन्हीं नामों से चलती होगी। जैसे भारतवर्ष में ‘शकराचार्य’ की गद्दी अभी तक बनी है। किन्तु इन गहियों का कब आरम्भ हुआ और कब अंत — इसका पता नहीं।”^१ शकराचार्य की तरह एक ही नाम से इन सबकी गहिया चलती हो, इसका तो कोई आधार नहीं है, पर उन मतों के सबध में यह एक कहने की पद्धति— Stock-Phrase रही है, ऐसा अवश्य लगता है।

४३ लका में निर्ग्रन्थ

यह प्रकरण महावश^२ का है। लका के राजा पाण्डुकाभय ने अपने नगर में जोतिय निगठ, गिरि निगठ, कुम्भण्ड निगठ आदि के लिए घर, देवालय आदि बनवाये।

समीक्षा

इस समुल्लेख से यह झलक मिलती है कि निर्ग्रन्थ-धर्म समुद्र पार विदेशों में भी गया था। पाण्डुकाभय (ई० पू० ३७०-३००) राजा सम्राट् अशोक से भी लगभग १०० वर्ष पूर्व होता है। महेन्द्र और सघमित्रा से बहुत पूर्व की यह घटना है। जैन साहित्य में इन निगठों की कोई चर्चा नहीं है। उक्त घटना-प्रसंग से यह भी स्पष्ट नहीं होता कि ये निगठ गृही थे या भिक्षु। जोतिय निगठ को महावश टीका में नगरवर्धक कहा गया है।

४४ वैशाली में महामारी

यह प्रकरण महावस्तु^३ का है। एक बार जब वैशाली में यक्षों द्वारा महामारी फैलायी गई, तब उन्होंने पूरण-काश्यप, निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र आदि छहों को एक-एक करके वैशाली में बुलाया। तब भी महामारी शान्त न हुई। अन्त में बुद्ध को वैशाली में बुलाने पर महामारी शान्त हुई।

समीक्षा

कथा सारी की सारी बुद्ध की क्लाषा में गढ़ी गई है। जहा बुद्ध रहते हैं, वहा महामारी आदि रोग नहीं रहते, इस विषय में जैन परम्परा की मान्यता है—जहा जिन रहते हैं, वहा चारों दिशाओं में पच्चीस-पच्चीस योजन तथा ऊर्ध्व और अधो दिशा में साठे बारह योजन तक ईति, महामारी, स्वचक्र-भय, परचक्रभय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, उत्पात आदि नहीं होते।^४

४५ नमो बुद्धस्स, नमो अरहन्तान्

यह कथा-प्रसंग घम्मपद-अट्ठकथा^५ का है। गुल्ली-डण्डा खेलते समय ‘नमो बुद्धस्स’ और ‘नमो अरहन्तान्’ बोलने वाले दो बालकों की कथा है।

समीक्षा

नमो बुद्धस्स और नमो अरहन्तान् का शब्द-प्रयोग तुलनात्मक अध्ययन के लिए बहुत ही रोचक हो जाता है। दोनों परम्पराओं का वन्दन सूक्त बहुत ही समान शैली से प्रसूत हुआ है। ‘सम्यग्-दृष्टि’ और ‘मिथ्या-दृष्टि’ के शब्द-

१ वही, बोधिनी, पृ० ६।

२ महावश, परिच्छेद १०, श्लो० ७७-७९ व ९१ से १०२

३ महावस्तु, 253 301, Mahavastu, Tr by J J Jones, vol 1, pp 208 to 249

४ समवायांग सूत्र, समवाय ३४।

५ घम्मपद अट्ठकथा, २१। ५।

प्रयोग भी दोनों परम्पराओं की नमान वारणाओं के सूचक है। जैन परम्परा भी उक्त अभिप्राय मे 'सम्यग्-दृष्टि' और 'मिथ्या-दृष्टि' का प्रयोग करती है।

प्रस्तुत घटना-प्रसंग का शेष महत्त्व एक दन्त कथा के रूप मे ही रह जाता है।

४६ निर्ग्रन्थों को दान

धम्मपद-अट्ठकथा^१ के इस प्रकरण के अनुसार मारिपुत्र का मामा प्रतिमान एक सहस्र मुद्राएं व्यय कर निर्ग्रन्थों को दान करना था।

समीक्षा

धम्मपद-अट्ठकथा के रचयिता ने धम्मपद की प्रत्येक गाथा पर कोई एक कथा लिख देना आवश्यक ही नमझा है, ऐसा लगता है। बहुत सम्भव है, इस हेतु उन्हें बहुत मारी कथाएं अपनी ओर मे ही गढ़ देनी पड़ी हो। निर्ग्रन्थ अपने लिए पकाया व अपने लिए 'त्रयी' अन्न, वस्त्र आदि ग्रहण नहीं करते। इन स्थिति मे यह कथा-वस्तु मद्दिग्ध ही रह जाती है।

मारिपुत्र के मामा को यहाँ निर्ग्रन्थ-उपासक माना गया है। बुद्ध के चाचा निर्ग्रन्थ-उपासक थे ही। इनमे इतना ना प्रतीत होता ही है कि निर्ग्रन्थ-धर्म और बौद्ध-धर्म अनेक परिवारो मे घुले-मिले ही चलते थे।

लगना है, दोनों परम्पराओं की दान-निषेध धारणा बहुत कुछ समान रही है। अपने-अपने भिक्षुओं का दिया गया दान ही दोनों परम्पराओं मे मुपात्र-दान माना है। फिर भी निर्ग्रन्थों को देने मे ब्रह्मलोक ही मिले, ऐसा कोई विशेष उल्लेख निर्ग्रन्थ-परम्परा मे नहीं मिलता।

४७ नालक परिव्राजक

महावम्बु^२ के इस प्रसंग मे नालक परिव्राजक एक-एक कर निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र आदि छहों वर्माचार्यों के पाम जाकर नस्त्र-वर्चा करता है और अन्न मे बुद्ध मे अपनी जिज्ञासा का मामाधान पाता है।

समीक्षा

यह प्रसंग महायान-परम्परा का है। हीनयान-परम्परा मे भी नालकपुत्र^३ मे यही कथा-प्रसंग उपलब्ध होता है, वहा बुद्ध के अनिरिक्त अन्य धर्मनायकों का उल्लेख नहीं है।

४८ जिन-श्रावकों के साथ

यह प्रसंग भी महावम्बु^४ का है। प्रव्रजित होने के पश्चात् बुद्ध क्रमश आराह कालाम और उदक रामपुत्र के पाम गये। वे अपने जिन-श्रावकों को "त्याग करो, त्याग करो" का उपदेश देते थे।

समीक्षा

यहाँ 'जिन-श्रावक' शब्द का प्रयोग आराह कालाम, उदक रामपुत्र व उनके अनुयायियों का निगण्ठ धर्मो हाना सूचित करता है। यह प्रकरण महावम्बु ग्रन्थ का है, जो महायान का प्रमुख ग्रन्थ है। पालि त्रिपिटको मे जिस

१ धम्मपद-अट्ठकथा, ८-१

२ Mahavastu, Tr by. J J Jones vol III pp 379-388

३ सुत्तनिपात, २७

४ Mahavastu, Tr by J J Jones, vol II, pp 114-117





अभिप्राय में 'निगण्ठ' शब्द आता है, उसी अर्थ में संस्कृत त्रिपिटको में 'जिन-श्रावक' शब्द आता है।^१

इस प्रसंग से यह तो विशेष रूप से स्पष्ट होता ही है कि बुद्ध ने 'जिन-श्रावको' के साथ रहकर बहुत कुछ सीखा व पाया।

४६ भद्रा कु डलकेशा

धम्मपद-अट्ठकथा^२ तथा थेरीगाथा-अट्ठकथा^३, दोनों में यह प्रसंग मिलता है। राजगृह के थ्रेष्ठी की कन्या भद्रा सत्युक चोर को प्राण-दण्ड देने से बचाकर उसके साथ विवाह करती है। एक बार चोर पति के द्वारा लुटे जाने की स्थिति होने पर उसे पर्वत से नीचे गिराकर भद्रा स्वयं श्वेतवस्त्रधारी निगण्ठों के सघ में प्रव्रजित हो जाती है और बाद में सारिपुत्र द्वारा बाद-विवाद में हार जाने पर बुद्ध की शिष्या हो जाती है।

समीक्षा

प्रसंग बहुत ही सरस व घटनात्मक है। बुद्ध की प्रमुख शिष्या का पहले निगण्ठ-सघ में दीक्षित होना, एक विशेष बात है। केश-लुचन व श्वेतवस्त्रधारी निगण्ठों का उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है।

५० ज्योतिर्विद् निगठ

चीनी धम्मपद-अट्ठकथा^४ के इस प्रकरण में गंगा-तट पर रहने वाले ब्रह्मचारी ज्योतिर्विद् निगठ और उसके पाँच सौ अनुयायियों का सघ बोधि-प्राप्त बुद्ध के पास प्रव्रजित होने का उल्लेख है।

समीक्षा

जैन कथा साहित्य में इस प्रकार के घटना-प्रसंग का कोई उल्लेख नहीं है। यह घटना इतना अवश्य व्यक्त करती है कि बुद्ध के बोधि-लाम से पूर्व भी निगण्ठ लोक बड़े-बड़े समुदायों में विद्यमान थे। जैन कथा-साहित्य में ऐसे प्रसंग बहुत अल्प हैं, जिनमें बौद्ध-मिक्षु निगण्ठ-शासन में प्रवेश करते हैं, जबकि बौद्ध कथा-साहित्य में प्रस्तुत प्रकार के कथाप्रसंगों की बहुलता है। इससे निगण्ठों की पूर्ववर्तिता स्पष्ट व्यक्त होती है। बुद्ध से महावीर के ज्येष्ठ होने का भी यह एक स्पष्ट आधार बनता है।

५१ धूलि-धूसरित निगठ

चीनी धम्मपद-अट्ठकथा^५ के इस प्रकरण में पाँच सौ ब्राह्मणों का गंगा के किनारे रहने वाले एक धूलि-धूसरित निगण्ठ के पास ज्ञान-प्राप्ति के लिए जाते समय यक्ष द्वारा प्रेरित होकर बुद्ध के पास श्रमण बनने का उल्लेख है।

•

१. cf Mahavastu, Tr by J J. Jones, vol II, p 114

२. धम्मपद-अट्ठकथा ८। ३

३. थेरीगाथा-अट्ठकथा, पृ० ६६

४. चीनी धम्मपद अट्ठकथा के आधार पर S Beal Dhammapada (tr from Chinese), Susil Gupta (India) Ltd Calcutta, 1952, pp 103-4

५. वही, पृ० ५४

द्वितीय कल्कियुग के तीन क्रान्तिकारी सन्त

डा० ज्योतिप्रसाद जैन

एम ए, एन-एल बी, पी-एच डी, लखनऊ



महावीर-निर्वाण मवत् (प्रारम्भ ईसापूर्व ५२८) के द्वितीय महाव्रत की अन्तिम शताब्दी, भार्गवर्ष के ही नहीं सम्पूर्ण मध्य विद्वत् के इतिहास में एक अत्यन्त घटनापूर्ण शताब्दी सिद्ध हुई।

प्राचीन जैन अनुश्रुतियों के अनुसार यह द्वितीय कल्कि का युग था। दूसरी शताब्दी ई० में हुए यतिवृषभाचार्यकृत तिलोपपत्ति में कथन हुआ है कि भ० महावीर के निर्वाणोपरान्त के प्रत्येक महाव्रत के अन्त में एक कल्कि होता रहेगा। ८८३ ई० में रचिय जिनमूरि पुन्नाट के ह्विचयपुण्य में भी यही कथन किया गया है।^१ महानिधीयमूत्र में भी कल्कि का उल्लेख हुआ है।^२ इन तीनों ही आधारों में कल्कि को एक विपरीत धर्मविध्वंसक महादुराचारी एवं अत्यन्त अत्याचारी शासक के रूप में चित्रित किया गया है।^३ प्रथम कल्कि का (५वीं शताब्दी ई० में) एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में भी चोन्हने का कल्पित विद्वानों ने प्रयत्न किया है।^४ उपर्युक्त अनुश्रुतियों में यह भी सर्वत्र पाया जाता है कि कल्कि के धर्म-विरोधी अत्याचारों के उपरान्त धर्मराज्य की स्थापना होती है।

हमें तो ऐसा लगता है कि भगवान् महावीर की श्रमणपरम्परा में जो भी आचार्य कल्किविषयक इन भविष्यवाणी का सर्वप्रथम पुरस्कर्ता रहा वह तत्कालीन ज्ञात विश्व के मानव-इतिहास का अच्छा ज्ञेयता था और इतिहास दर्शन का समाने उद्गार मनन किया था। उस काल की जैली में अनेक नव्य प्रतीकों के रूप में व्यक्त किये जाने थे और 'कल्कि' भी एक प्रायः सार्वदेशीय एवं सार्वकालिक मत्स्य का प्रतीक है। भार्गवर्ष के तत्पश्चात् अन्यत्र के भी मानवजाति के इतिहास में यह महज ही स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक महाव्रत के अन्त में लगभग कल्पित धर्मविरोधी, जनीतिपूर्ण विहितमार्गों में विकृतिया उत्पन्न करनेवाली और जनता की शान्ति एवं सुख का विध्वान करनेवाली आमुनी या दानवी शक्तियों का प्राबल्य हो जाता है। ये शक्तियाँ किसी एक या अनेक अत्याचारी जानकों या शासनव्यवस्था के रूप में उस काल में प्रकट होती हैं। उनके अथवा काल के प्रभाव से सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी जो व्यक्ति या वर्ग सत्ताधारी होते हैं उनमें भी गिरिलाचार और जनैकिकता का बोलबाला हो जाता है।

और यह दुर्गोष्ठ कुछ काल के लिए देश और जाति की झगड़कर रख देता है। सर्वत्र कुपान्तर, अशान्ति, अनैतिक, अधार्मिकता, उच्छृंखलता एवं पतनोन्मुखता दृष्टिगोचर होने लगती है। मौनान्त में ऐसी स्थिति सदैव बनी नहीं रह सकती। जब वह अतिरिक्त के निकट पहुँच जाती है तो उसी में से पुनर्निर्माण के, शान्ति, व्यवस्था एवं नैतिकता की पुनर्स्थापना के तथा धार्मिक पुनरुत्थान के अक्षुर भी प्रगट होने लगते हैं। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि प्रायः सभी क्षेत्रों में छोटी बड़ी शान्तियाँ होती हैं, आन्दोलन होते हैं और परिवर्तन होते हैं। एक बार फिर मुकाल

१. एव वत्स-महम्मे पुह कक्की हवेइ एक्केको।

२. मुक्किन् गते महावीरे प्रतिवर्षमहल्लकम्।

एक्केको जायते कल्की जिनमूर्मविरोधक ॥

३. होही—मिच्छदिट्ठी कक्की णाम रायाणो।

४. तिलोपपत्ति, चतुर्थ महाधिकार, भा० ६४, ६६, १००-१०४, हरिवंश सर्ग ६०, इतो ४५२, प्रबन्धपरिजात (५० कल्याणविजय)।

५. जैन हिन्दू, भा० १३, अ० १२ में डा० के० पी० जायसवाल, और डा० के० बी० पाठक के लेख, ना० रा० प्रेमो-जैनमाहित्य और इतिहास प्र० स०, पृ० ८, १६, २०-२१।



आता है और अपेक्षाकृत अधिक कालपर्यन्त बना रहता है। क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में ये दोनों स्थितियाएँ एक अनन्तर एक आती रहती हैं। जितनी तीव्र क्रिया होती है उतनी ही तीव्र और उतनी ही अधिक देश एवं कालव्यापी उसकी प्रतिक्रिया होती है।

धर्म और अधर्म के मृप्रसिद्ध सघर्ष के प्रतीक महाभारत युद्ध^१ के लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात्, ६ठी-१५वीं शती ईसापूर्व एक ऐसा युग था जिसमें यूनान और ईरान, फिलिस्तीन और चीन, तथा भारत के श्रमणों एवं ब्राह्मणों में इस प्रकार उस काल के प्रायः सम्पूर्ण मध्य विश्व में ज्ञान जाग्रति, तत्त्वचिन्तन और धार्मिक क्रान्ति की एक अत्यन्त प्रबल अभूतपूर्व लहर व्याप्त हो गई थी। ऐसी जबरदस्त एवं व्यापक प्रतिक्रिया प्रायः मायोगिक तो होती ही है किन्तु जिन परिस्थितियों में उसे जन्म और प्रेरणा दी वे भी अत्यन्त भीषण ही रही होंगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है, भले ही इतिहास के आलोक में वे भली प्रकार स्पष्ट न हो पाई हों। अतएव भ० महावीर के समय को कल्कि सवधी काल-गणना का, दूसरे शब्दों में उक्त आवधिक महाक्रान्तिकारी युगों की गणना का आधार बनाना सर्वथा मगत ही सिद्ध हुआ है। १५वीं शती के अन्त के लगभग गुप्त सम्राटों के स्वर्णयुग का अन्त और विद्यर्षी बर्बर हूणों के भीषण विश्व-सक आक्रमण तथा उक्त विनाश एवं पतन में से अद्भुत नवीन निर्माणक तत्त्व उस युग का प्रथम कल्कि-युग होना भली प्रकार चरितार्थ करते हैं। उसके एक सहस्र वर्ष उपरान्त, १५वीं शती ई० में फिर प्रायः वैसी ही परिस्थितियाँ थीं—यह द्वितीय कल्कि-युग जो था।

इसी शताब्दी के मध्य के लगभग, १४५३ ई० में तुर्क मुसलमानों ने यूरोपीय ईसाईजगत् के द्वार निर्णायक विजय प्राप्त की और क्रुस्तुन्तुनिया पर पूर्णतया अधिकार कर लिया। परिणाम-स्वरूप अनेक यूनानी, रोमन और ईसाई विद्वान अपने पाथीपत्र लेकर अपने-अपने उक्त सर्वमहान् केन्द्र में भाग गये और यूरोप के विभिन्न देशों में फैल गये। सम्पूर्ण यूरोप में ज्ञानजागृति (रेनेमान्स) की एक अपूर्व एवं अत्यन्त वेगवान् लहर व्याप्त हो गई। इस ज्ञानजागृति के फल-स्वरूप धर्मसुधार के प्रबल आन्दोलन चल पड़े, विभिन्न यूरोपीय देशों में राष्ट्रीय राजसत्ताएँ सुमगठित होने लगीं। यूरोपीय इतिहास के अन्धकारपूर्ण युग का अन्त हुआ और उसके आधुनिक प्रगतिगामी युग का प्रारम्भ हुआ।

अब सम्पूर्ण मध्य एशिया मुसलमान बन चुका था। बर्बर मंगोल भी इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुके थे। तुर्कों की शक्ति बढ़ रही थी। ईरान और चीन में भी पुनः जागृति हो रही थी। और मुगल बाबर के रूप में एक ऐसी नवीन शक्ति का उदय भी इसी शताब्दी के अन्तिम पाद में हो चुका था जो अगामी दो शताब्दियों में ही विकसित होकर विश्व को चमत्कृत करनेवाली थी।

१२वीं शती ई० के अन्त के लगभग मुहम्मद बिन माम शिहाबुद्दीन गौरी ने दिल्ली और अजमेर के चौहान नरेश पृथ्वीराज को तथा कन्नौज और वागणमी के गहड़वाल राजा जयचन्द को पराजित करके भारतवर्ष के प्राचीन 'मध्यप्रदेश' में जिसे अब हिन्दुस्तान कहा जाने लगा था, मुस्लिम शासन स्थापित कर दिया था। अगले डेढ़ सौ वर्षों में दिल्ली के क्रमशः गुलाम, खिलजी एवं तुगलक वंशी सुल्तानों के प्रयत्न से इस देश में इस्लाम और उसके राजनैतिक प्रभुत्व का द्रुतवेग में प्रसार हुआ जिसमें अटक में फटक और कश्मीर से कन्याकुमारी पर्यन्त देश के बहुभाग को आच्छादित कर लिया। ये नवागत मुसलमान बर्बर विदेशी थे, घन और राज्य के लोभ तथा इस्लाम के प्रचार और कुफ्र के विनाश की भावना में उन्मत्त थे। उनके रोमाचकांगी अत्याचार और उनकी अमानुषिक क्रूरता भारतवर्ष के लिए सर्वथा नवीन वस्तुएँ थीं। न्यायपूर्ण धर्मयुद्धों के आदी भारतीय वीर इन नृशंस घमर्निध बर्बरों की उस पैशाचिकता को समझ ही न पाये जिसमें आत्मसमर्पण करने वाले या युद्ध में बन्दी हो जाने वाले योद्धाओं को बरबस मुसलमान बना लिया जाता, अन्यथा भीषण यातनाएँ दे-देकर उनकी निर्मम हत्या कर दी जाती थी, भागते हुए शत्रुओं का पीछा करके उनका महार कर दिया जाता था, निहत्थी प्रजा पर लूटमार आदि भयंकर अत्याचार किये जाते थे, स्त्रियों की लाज लूटना और

१ आधुनिक भारतीय इतिहासकार इस युद्ध की तिथि ईसापूर्व १५वीं शती में निश्चित करते हैं, देखिये भा० वि० मदन वर्मा से प्रकाशित 'दी वैदिक एज'।

अमहाय वक्त्रों, म्बियों एवं वृद्धों का भी वध कर देना एक खेल था। गड़ों खेनी को उजाड़ देना, गावों को भस्म कर देना, विशाल नगरी और दुर्गों का विनाश करना, धर्मापननों और देवमंदिरों का विध्वंस करना, देवमूर्तियों को तोड़ना, ग्रन्थों को जला डालना, माधुओं, मुनियों, त्यागियों और तपस्वियों को भी पीड़ा देना, इत्यादि साधारण बातें थीं। इस तूफानी आयी के मन्मथ भाग्यीय जीवन एकदम स्तम्भित हो गया, उनके राजनैतिक एवं सांस्कृतिक शक्ति-स्रोत एक-वारगी शूक्रप्राय हो गये और सर्व प्रकार की नैतिक दुर्बलताएँ जड़ पकड़ने लगी। १५वीं-१६वीं शती तक प्रायः यही वस्तुस्थिति बनी रही। इसमें भी संदेह नहीं कि १४वीं शती में ही मुसलमानों की केन्द्रीय शक्ति का द्रुतगति से ह्रास होने लगा था, यहाँ तक कि १४वीं शताब्दी में दिल्ली के मयद (१४१४-१४५० ई०) और लोदी (१४५१-१५२६ ई०) बनी मुल्तानों का अधिकार प्रायः वर्तमान पूर्वी पंजाब, दिल्ली और पश्चिमी उत्तरप्रदेश तक ही सीमित रह गया था। कश्मीर, सिंध, गुजरात, मालवा, दक्षिणबंगाल-बिहार, पूर्वी उत्तरप्रदेश आदि में दिल्ली राज्य के प्रांतीय शासक (सूबेदार) ही स्वतंत्र मुल्तान बन बैठे थे। राजस्थान के मेवाड़ आदि कई स्वतंत्र राजपूत राज्य, खालियर के तोमर राजा और दक्षिणपथ में विजयनगर के सम्राट गैर-मुस्लिम शक्तियों में प्रमुख थे और उनके राज्यों में ही धर्मापननों और धर्मात्माओं की कुछ सुरक्षा थी। किन्तु क्योंकि ये अनेक मुसलमान एवं राजपूत राज्य निरन्तर परस्पर युद्धों में मग्न रहते थे, शान्ति और सुरक्षा कहीं भी अधिक काय तक स्थायी रह ही नहीं पाती थी। १४वीं शती ई० के अन्त में मध्य एशिया के नूतन तुर्क सम्राट तैमूरलंग के तूफानी आक्रमण ने तो विघटन की दून प्रवृत्तियों के लिए द्वार उन्मुक्त कर दिया।

अन्तु, १५वीं शती ई० में दिल्ली में १४१४ में १४५० तक चार मयद मुल्तानों ने नाममात्र का शासन किया। तदुपरान्त लोदी वंश का अविचार हुआ और बहलोल लोदी (१४५१-१४८८) ने दिल्ली राज्य की शान्ति और विस्तार में वृद्धि करने का कुछ सफल प्रयत्न किया। उनका पुत्र एवं उत्तराधिकारी बिकन्दर लोदी (१४८९-१५१७) इस वंश का सर्वाधिक सुयोग्य शासक समझा जाता है किन्तु वह कट्टर मुसलमान था और अन्य सभी धर्मों के प्रति अनहिष्णु था। मथुरा आदि नीचस्थानों के अनेक मंदिर और मूर्तियाँ भी उसने तोड़ी और धार्मिक अत्याचार भी किए। उनके समय में आगरा प्रदेश में एक भीषण भूकम्प भी आया था। उनका उत्तराधिकारी एक निरक्षर, मूर्ख, निर्दयी और अत्याचारी शासक था। उसी के समय खालियर के जैनधर्मसहिष्णु स्वतंत्र तोमर राज्य का अन्त हुआ। बंगाल में स्वतंत्र मुस्लिम शासन था और वहाँ गृहकलह गुप्त हत्याओं, पड़यनों तथा प्रजा पर किए जाने वाले अत्याचारों का बोलबाला था। जौनपुर के शर्मा मुल्तानों ने भी हिन्दुओं और जैनों पर जुर्म किए ही थे और अनेक मन्दिरों एवं मूर्तियों को तोड़कर भस्मिद्ध बनवाई। उन राज्य का अन्त बहलोल लोदी ने १४७६ ई० में कर दिया था। मालवा के सुल्तान भी अन्य मुल्तानों के प्रतिरूप थे, १५०१ के बीच होने वाले दो सुल्तान अपेक्षाकृत मृगामक थे किन्तु नासिरुद्दीन (१५०२-१२) जो स्वयं अपने पिता की विधवा द्वारा हत्या करके सुल्तान बना था, अत्यन्त निर्दय एवं दुराचारी था। गुजरात का सुल्तान अहमदशाह (१४११-४१) शक्तिशाली था किन्तु हिन्दुओं और जैन मंदिरों को तोड़ना, उन पर अत्याचार और जोर चूम करना, इस्लाम का प्रचार एवं मुसलमानों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करना, अन्य अधिकांश तत्कालीन सुल्तानों की भाँति उसका भी खल था। उसके उत्तराधिकारी फीरोज खाँ ने तो मंदिरों और मूर्तियों के विरुद्ध विशेष रूप से जिहाद बोला। तदुपरान्त महमूद बेगडा (१४५६-१५११) भी इस दिशा में अपवाद नहीं था। कश्मीर में मूर्तिभजक उपनाम ने प्रसिद्ध अत्यन्त अत्याचारी बिकन्दर के पश्चात् जैनुल आबदीन (१४१७-६७) का सुशासन रहा, किन्तु उसके उपरान्त फिर अयोग्य एवं अत्याचारी शासकों का शासन रहा। दक्षिण के बहमनी राज्य का इतिहास तो हिन्दु, जैन आदि गैरमुस्लिमों के रक्त में ही लिखा गया है। मुहम्मदशाह प्र० (१३५८-७३) अत्यन्त नृशम हत्यारा था, नरसंहार में उसे आनन्द आता था। इस नरपशु ने पाँच लाख गैरमुस्लिम प्रजा की हत्या की-कराई बताई जाती है। सुल्तान फिरोज (१३६७-१४२२) इस दिशा में उसमें भी आगे बढ़ गया। उसके समय में भयंकर अकाल भी पड़ा। अलाउद्दीन द्वि० (१४३५-५७) बड़ा शराबी एवं विषयामक था। हुमायूँ (१४५७-६१) इनका भारी हत्यारा था कि अपने उन्मुक्त जुन्मों के कारण वह 'जालिम' नाम से पुकारा जाने लगा। मुहम्मद तृ० (१४६३-८२) के समय में भी अनेक मन्दिर-मूर्तियाँ नष्ट की गईं और उनके अभिभावकों का महार किया गया।





उस प्रकार राजस्थान के दो-तिहाई में अधिक भाग पर इन नृपम धर्मविद्वत्सक विधर्मों आगतों का आगम था जो उस काल में उम देव के गैरमुस्लिमों, हिन्दुओं और जैनों के विरुद्ध एक अविच्छिन्न हिंसक जहाद था। किन्तु प्रजा का अधिकांश भाग उन्हीं गैरमुस्लिमों का था, उन्हीं पर उनके रूपों एवं धर्मों में इन मुस्लिम आगमकों को निम्न रहना पड़ता था और उनके सामूहिक विद्रोह में स्वयं अपनी सुरक्षा पक्ष में पड़ जाती थी, यह भय भी बराबर बना रहता था। यह कारण ही ऐसे ही जो मुसलमान आगमों के अत्याचारों का विरोध इस तरह की मायावद्ध करते थे। देश के शेष भाग में दक्षिण में विजयनगर साम्राज्य में तथा राजस्थान, उत्तरीय पहाड़ी प्रदेशों, गालियर आदि के राजपूत राज्यों में अल्प ही स्थिति मिलती थी, किन्तु उत प्रायः सभी राज्यों को इन पड़ोसी मुसलमानों के साथ निरन्तर युद्धों में व्यस्त रहना पड़ रहा था। मुसलमानों के सत्ता की उन्नति प्रजाओं को भी भोगना पड़ रहा था। ऐसी परिस्थिति में धर्म और भक्तिकी ओर ध्यान देने का कौन सा अवसर था? तब तो प्रत्येक प्रजापति गृहस्थ मन्त्र और साधु, भट्टारक और यति, विद्वान और कलाकार जितना उनमें बनता, यज्ञ-नय जैम-नैम धर्म की रक्षा करते और मस्तुति का मरक्षण करते।

ऐसे अशान्त अवस्था में अत्यन्त विविध आचार-विचारों में विभिन्न प्रकार की आचार-विचारों की विधितियों, विधिविचारों, रूपमूर्तताओं, रीतिरिवाजों एवं अर्थविचारों का समाज में पावने लगा था। सामान्यतया सम्पूर्ण गैरमुस्लिम भारतीय समाज ही यही दशा थी। जैन जगत उत ही अपवाद नहीं था। दक्षिणापथ तो रामानुजाचार्य के श्रीवैष्णव और वागम के लिंगायतों (लीरगों) के तीव्र साम्प्रदायिक विद्रोह का आवेष्ट बनकर विगत दो सताब्दियों में अपनी क्षति, सन्ध्या और पश्चात् की भारी क्षति उठा चुका था। १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और १७ वीं के पूर्वार्ध में विजयनगर-सम्राटों के गतिविधियों द्वारा उस समय के लिए कथित मुसलमानों की भी क्षति थी किन्तु १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कई कारणों ने विजयनगर में भी प्रतिवृत्त परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा था। उत्तरागम में मुसलमानों के ही अत्याचार पर्याप्त थे। दिगम्बर परम्परा में उस समय में भट्टारकीय प्रभाव बढ़ ही चुका था। भट्टारक परम्परा के वन मंदिरों और मठों में रहने थे, सम्पत्ति का दान लेने थे और मरक्षण करने थे। अपने अपने प्रभावक्षेत्र में श्रावकों पर मनमाना शासन करते थे। मुनिमार्ग प्रिय हो गया था—मन्त्रों के विरोध दिगम्बर मुनि दृष्टिगोचर ही नहीं होते थे। अपने साथ साथ श्रावकों के आचार-विचारों का शिथिल बनने में भी ये भट्टारक-निराश्रित साहित्य तथा अपने उपदेशों-आदेशों द्वारा प्रयत्नशील थे। पूजा, प्रणिष्ठा आदि में जाटम्बर उठना जाना था, ब्रह्मपुत्रानों का जोर बढ़ता जा रहा था और जनसमाज के रूप में उन्मुखता के उदय होने लगा था। अकेले दिल्ली पट्टाधीन भट्टारक जिनचन्द्र (१४५०-१५०६ ई०) ने राजस्थानान्तर्गत मुठाला नगर के मेठ जीवराज पापटोवाल ने मुनिभक्त मुल्तान सितन्दर लोदी के शासनकाल में ही (विद्रोह १४६१ ई० में) असह्य जित प्रतिमाओं की प्रणिष्ठा कराई थी जिन्हें छत्रों में भर-भर कर उत्तर और मध्य भारत के अनगिनत स्थानों में वितरित किया गया। जैन साधारण श्रावक श्राविकाओं में शिक्षा ही वृद्धि थी। जातिपानों के भेद और अनेक अन्धविश्वास एवं कुरीतियाँ स्त होती जा रही थी। पड़ोसी हिन्दु सम्प्रदायों का भी प्रभाव अत्यधिक पड़ रहा था। जैन धर्म की महज गादगी, आध्यात्मिकता, परीक्षाप्रधानता, सदाचारप्रणयता वस्तुतः उनकी मौलिकता ही नष्ट होती जा रही थी और प्रायः बहुत कुछ ऐसी ही दशा स्वैताम्बर सम्प्रदाय के मातु एवं श्रावक समाज की थी। इनमें भी अनेक साधु मठाधीन बनने, विहित मार्गों के विपरीत आचरण करने, पूजादिक के आदम्बर का पोषण करने और आचार विचार के वैधर्म्य एवं विकृति को प्रथम देने में दिगम्बर भट्टारकों ने भी बाजी मार ले गये थे। श्रीपूज्यों और कुलगुरुओं की सन्ध्या तो हम दिशा में अतिरेक को प्राप्त कर गई थी।^१ स्वैताम्बर श्रावक-श्राविकाओं के आगमादि प्राचीन धर्मशास्त्रों के पठन-पाठन पर भी कड़ा प्रतिबन्ध यतियों ने लगाया हुआ था^२। मुनि कल्याणविजयजी तो उस

१ पट्टावलीपरागसंग्रह (५० धर्मपानविजयगणीकृत) पृ० ३६०-३६२।

२ वही पृ० ३६७।

काल में चले 'मिथिलावा' के निरक्षर वेग' का उल्लेख करने हुए यहाँ तक कहते हैं कि 'उम समय कनिषय यति ही मिथिलावागी नहीं हुए थे जिनसे मना उन समुदाय ही मिथिलावा था—अधिकार यतिगर्ग की स्थिति यहाँ तक विगड चुकी थी कि मिथिलावा के बिना बिभुत्त के अमाना का जन्मिन् 'हना मुश्किन था' उम काल में यदि कोई जिज्ञासु श्रवण विधी यति के विनयकृष्ण भी कोई शरा बना प्रथवा मायुजी के जामबिरीत आचरण पर कोई आक्षेप कर देता तो यति महागज ने दुर्ग नष्ट कर दिया जाता और नाना अययन्द मुनना ।' यतियों में एक प्रकार की वडेवन्दी चल पड़ी थी । उनके नाम पर उनकी दुर्गानागी बन गयी थी और श्रावक उनके विषय आमाभी मात्र थे । राजनैतिक आदिश एव उम नामयित रीति पणिम्यितियों में उम उम का गरीब श्रावकममुदाय एक प्रकार में अपने धर्मगुरुओं के ज्ञानावागी का भी मिथिला बना हुआ था ।

क्षेत्र में यह कहा जा सकता है कि उत्पन्न विभिन्न एव विविध सम्भागविगेयी, प्रगति-अवरोधक एव सुगुणानि की चरित्रों दानवी इतिहास के रूप में ही १५वीं शती ई० में द्वितीय कल्कि प्रकट हुआ था । उसकी उम काल में विदमानता का उम बड़ा और उम प्रमाण होता है जो उक्त कल्कि रीति पणिम्यितिमगम में ही कल्किपुत्र के धर्मगुरु का उम होना था, का १६वीं शती में स्थापित होने वाले मी एव नदनन्तर सुगुणगामन के रूप में राजनैतिक क्षेत्र में उम मुजगम आशयना और वैचारिक या सामित रान्तियों के रूप में सामाजिक एव धार्मिक क्षेत्रों में हुआ हो । उम प्रकार की विचाररान्ति के रूप में उम मर्म का उपपुत्र था । यूरोप आदि के रेनेसान्स और रिफार्मेशन की बात पहले कहना है । भारत में ईसा १५वीं शती में गानानन्द और बल्लभाचार्य, कबीर और नानक, मुन्दरदाम और दादू, जान-देव नामदेव और तुकाराम, गिद्यारानि और चैतन्य, जो सब ही उन शताब्दी के मर्म करने हैं अथवा उनके आनयाम हुए उन्हीं आनय विचाररान्ति का तुषार आनान्त के पुनर्गर्ग के जो दृष्ट रान्तिक के धर्मगुरु का प्रतिनिधित्व करते हैं । उन शतक में ही उम जन्म होता है । उनके स्थितिरानक वग में भी दोनों ही सम्प्रदायों में कनिषय विद्वान् एव प्रभावशाली आनय नाना कई विद्वान् गुरुगम मुजगम एव माहिम्यका उदिन हुए और लोकाशाह, कटुवाशाह, ताण-स्वामा प्रन्ति कई महान् आनिरागी भी प्रकट हुए निरन्तर द्वाग स्थापित नवीन सम्प्रदाय और आन्याय आज पर्यन्त चलते आते हैं ।

यह है वह वैविध्य एव वैचित्र्य का पृष्ठभूमि निम्ने परिप्रेक्ष्य में जैन जगन् के द्वितीय कल्कि के इन धर्मरक्षक धर्मगुरुगम तुषी लोकाशाह, कटुवाशाह एव ताणस्वामा की तथा उनके द्वारा की गई विचाररान्ति का मूल्यांकन करना चाहिए ।

मागमाग जी, ऐतिहासिकता अनन्तर है, किन्तु उनके जीवन में सबधिन कनिषय तथ्यों में कुछ मतभेद हैं । पूर्वी क्षेत्रों में एव प्रामाणिकता के साथ उनका जीवचरित्र अभी स्थिर नहीं हो पाया है । उनका जन्म एक धार्मिक धीमाग कृष्ण में हुआ था । पिता का नाम दूत और माता का बूडा था, किन्तु एक अन्य स्रोत में हरिश्चन्द्र और मृगायादी उचित किया गया है । तन्मस्थान नहीं मीगष्ट का लीबटी ग्राम, वही नागनेरा नदवर्ती एक ग्राम, कहीं अहंटावाडा और कहीं अहंटावाडा बताया है । लोकाशाह की तन्मति १४०५ ई० बताई जाती है । किन्हीं स्रोतों में १८०० ई० का उल्लेख है । उन्हीं प्रमाण तुष्टुतिथि भी १८०५, १८०६ और १८०७ ई० के रूप में भिन्न भिन्न बताई जाती हैं । बिना और माता की मृत्यु हो जाने के कारण १६ वर्ष की आयु के गमग लोकाशाह गुजरान की गजवानी

१ निबन्धनिचय, पृ० २०८-२०९, पट्टावलीपाठमंग्रह, पृ० ८६७-४६८, ४६९-४६२ भी इस सवध में दृष्टव्य हैं ।

२ वही, पृ० ३६० ।

३ इन मतभेदों के निराकरण के लिए मन्त्रवेमरी मुनिश्री मिथीमलजी म० की 'धर्मवीर लोकाशाह' पुस्तक दृष्टव्य है । उसके कनिषय अग इन प्रकार हैं—(मन्पादक)

मिथोही शहर में ८-१० फीम उत्तर दिशा में अहंटावाडा नाम का एक गाव था । वह सिरौही राज्य का एक बड़ा शानार था । नाना प्रदाय के धान्य और व्यापारिक वस्तुओं का यहाँ अच्छा सपह और लरीद-फरोस्त होने के कारण मनप्रत इसका नाम अहंटावाडा पड गया—वत्तमान में एक छोटा-सा गाव 'अहंटावा' नाम से कहा





अहमदाबाद में आ बसे। कोई कहता है कि यह एक बड़े साहूकार थे, तो कोई कहता है कि यह अहमदाबाद में नाणान्त का व्यापार करते थे। कुछ अन्य उन्हें एक राजकर्मचारी प्रदर्शित करते हैं तो कुछ मात्र एक साधारण लहिधा (शाम्भ-लिपिक) ही। उन्होंने बिनाह किया या नहीं और उनके कोई मन्तान हुई या नहीं, इस विषय में अनुश्रुतिमा मौन हैं। हमें प्रायः मतैक्य है कि यह एक धर्मशास्त्रा व्यक्ति थे, गृहस्थ श्रावक का आचारविचार निष्ठापूर्वक पारते थे, मात्र ही भारी जिज्ञासु थे और आगमसाहित्य का अध्ययन करने धर्म का वास्तविक स्वयं जानने में निग बड़े उत्सुक थे। किन्तु यतियों द्वारा श्रावको के स्वाध्याय पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाया हुआ था, इसी में विषय थे। मगों में ज्ञानचक्र धूरि नामक एक यति ने उनके लेखन की सख्छता एव सुन्दरता से प्रभावित होकर उन्हें शाम्भो की प्रतिनिधिया बनाने का कार्य सौंप दिया। लौकाशाह ने इस सुयोग का पूरा लाभ उठाया और प्रायः सभी उपलब्ध आगमों तथा तत्सम्बन्धित बहुत से साहित्य का अध्ययन कर लिया और अनेक सूत्रग्रन्थों की एक-एक प्रतिनिधि अपने उपयोग के लिए भी बनाकर रखी। ये विचारशील थे ही और बुद्धि भी प्रगट की, अतः जामगित साहित्य के निरन्तर विवेकपूर्ण पटन-चिन्तन से शाम्भमर्मज्ञ भी बन गये। आगमों में वर्णित धर्म के तथा यतियों के आचार-विचार के स्वरूप में और उस काल के यतियों के आचार-विचार, विविधाचार, मूर्तिपूजा के नाम में वृद्धिगत आटम्पर, समाज में प्रविष्ट अनेक विकृतियों एवं गुरीतियों में उन्हें आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई दिया। यतियों के सम्मुख घट अपनी शक्ति रखने लगे किन्तु प्रत्युत्तर में प्रायः मदैय उन यतियों द्वारा फटकार गये, तनोत्साहित निधे गये। उनके कोप के भाजन बने। अतएव १४११ ई० के लगभग वह यतियों का गुला विरोध और आशेनन करने लगे, जिनके लिए उन्हें अधिक लाछित, अपमानित, तिरस्कृत एवं त्रिष्टुन हुआ पडा, यहा तक कि उन्हें अहमदाबाद छोड़कर लीउरी जाना पडा। वहा उनके फुहरे भाई अथवा मित्र लगभग एक सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति थे और राज्य की ओर में वामदार के पद पर नियुक्त थे। लौकाशाह के विचारों को मुनकर लगभग मीघ ही उनके पक्ष में आगये और फिर अन्त तक उनके मतके पचार में उत्साह के साथ अपना गहनयोग देते रहे। शनैः शनैः अनेक व्यक्ति लौकाशाह के मत में आगये। इस विषय में भी मतभेद है कि लौकाशाह अन्त तक गृहस्थ अवस्था में ही रहे अथवा कि जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्होंने माधुवेप ग्रहण कर लिया था? उनका निधन हुआ उसी वर्ष उन्होंने भाणजी को अपना मित्र बनाया और उत्तराधिकारी नियुक्त किया। भाणजी ऋषि ने माधु वेप ग्रहण किया और उसी में लौकागच्छ की साधुपरपरा एवं पट्टपरपरा चली। लौकाशाह ने मदिरो के निर्माण और मूर्तिपूजा का निषेध किया। श्वे० यतियों की चर्चा से भिन्न एक पृथक् माधुमार्ग की स्थापना की, उपलब्ध आगमग्रन्थों में से केवल ३२ को ही मान्य किया, दोष को अमान्य। उनके देवलोकागमन के पश्चात् उनके मत का प्रचार द्रुतवेग से होना गया। धामे चलकर एक माधु ने उनके और सब मन्तव्य तो मान्य रखे किन्तु मूर्तिपूजा का विरोध नहीं किया अतएव लौकागच्छीय मूर्तिपूजक यतियों की परपरा चली।

रह गया है।—वहा ज्ञाति में अग्रसर चौधरी (नगरसेठ) हेमाभाई नाम के एक गृहस्थ रहते थे। गवाभाई उनकी गृहिणी थी जो पतिव्रतपरायणा धर्मभवत थी। काल पाकर हेमाभाई को पुत्रजन्म के समाचार मिले। हमारे चरित-नायक लोकचन्द्र का जन्म स० १४७२ में कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को हुआ था।

लोकचन्द्र छोटी उम्र के होने पर भी व्यापारकला में फुझा होने के कारण आसपास के स्थानों में व्यापार के लिए जाया करते थे। सिरौही तो उन्हें बार-बार जाना पडता था। एक दिन सिरौही के रहस ओसवाल कुलभूषण ओधवजी शाह ने उन्हें एक जोहरी की दुकान पर मोती की परीक्षा करते देखा।—

दूसरे दिन अरहटवाड़े आए और हेमाशाह के घर उतरे। ओधवजी ने अपनी हादिक आकाशा प्रकट करते हुए कहा—चौधरीजी, मैं अपनी एकमात्र कन्या सुदर्शना का विवाह-सम्बन्ध आप के पुत्र के साथ करने के लिए आया हूँ।—माघ सुदी पचमी स० १४८७ को लौकाशाह का विवाह सुदर्शना देवी के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ।—धर्मवीर लौकाशाह पृ ११-१५

शाहजी अपने उद्देश्य की पूर्ति होती देख परम हर्षित हो स्वयं भी वि० स० १५३८ मगसर सुदी ५ को ज्ञानजी ऋषिजी महाराज के शिष्य सोमसेनजी के पास दीक्षित होगए। ३५ व्यक्ति आपके साथ और भी शिष्य रूप में दीक्षित हुए।—वही, पृ० ५६

किन्तु लोकागच्छीय माधुओं का बहुभाग साधुमार्गी ही रहा और कालान्तर में स्थानकवासि सम्प्रदाय के नाम में प्रसिद्ध हुआ। १७वीं शती के मध्य के लगभग उसका दुँडक या दुटिया नाम भी पड़ा, जहाँ जहाँ यह सम्प्रदाय २२ टोलो या या उपसम्प्रदायों में भी विभक्त हुआ और १८वीं शती के मध्य के लगभग स्थानकवासी सम्प्रदाय में ने ही भोपमजी का तैरापयी सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ। इन भेदो-प्रभेदों के बावजूद लोकाग्राह का मत विस्तारप्राप्त होता गया। इनके साधुओं और श्रावकों को ध्वे० यतियों और उनके भक्तों के कटु विरोध सहन करने पड़े, वे मामलों मुकदमों में भी खिंचे गये, उन्हें कभी कभी जाति-वहिष्कार भी सहने पड़े। स्वयं लोकाग्राह को लुका, लुकट, लूपक, लहिया आदि अपमानकारक उपनाम दिये गये। किन्तु उस सन्त द्वारा १५वीं शताब्दी में जिस विचारक्रान्ति का सूत्रपात हुआ था उसी के परिणामस्वरूप आज सम्पूर्ण ध्वेताम्बर समाज का आवे में अधिक भाग लोकाग्राह ही साधुमार्गी परम्परा का अनुसरण है। गुजरात और पंजाब तो उनके प्रमुख गढ़ रहे हैं, अन्यत्र भी प्रायः सर्वत्र उनके बड़े बहुत अनुयायी पाये जाते हैं। इस परम्परा के साधुओं की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि वे जनसाधारण के अति निकट सम्पर्क में घाते रहे हैं। जैन अजैन, बड़ी जानियों के लोग, नगरवासी ही नहीं, छोटे में छोटे ग्रामों के निवासी भी उनका लाभ उठाते रहे हैं।

कटुवागाह भी महगृहस्थ थे। गुजरात के कडुगई नामक ग्राम में १४३८ ई० में श्रीमानागर जातीय कानजी की धर्मपत्नी कनकादे की कुंज में उनका जन्म हुआ। प्रारम्भ में वह वैष्णव रहे प्रतीत होते हैं और बाल्यावस्था में ही एक कवि के रूप में प्रसिद्ध होने लगे थे। एक अचलगच्छीय श्रावक के प्रभाव में यह जिनभक्त हो गये। साधुसमागम की गति बढी और विज्ञाना में धर्म के धार्मिक स्वरूप को जानने का अवसर दिया। हरिकीर्ति नामक एक उदार विचारों वाले यतिजी की कृपा में कटुवागाह को दार्शनिक आदि आगमों के पढ़ने का सुयोग प्राप्त हुआ। तत्कालीन ध्वेताम्बर यतियों के आचार-विचार को देखकर इनके हृदय में भी अनेक शकाएँ उत्पन्न हुईं। गुरु ने उनका समाधान भी किया और अधिकांश शकाओं को उचित भी बताया। कटुवागाह ने साधुजीजा लेकर सच्चे यति का उदाहरण प्रस्तुत करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु गुरु ने परामर्श में वह विचार त्याग दिया और गृहस्थ 'सवरी' के रूप में ही अपने विचारों का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उन्होंने तत्कालीन यतियों की खाली आलाचना की और साधुसमागम एक साधुमार्ग का ही विशेष किया। मंदिरों और मूर्तियों के विषय में वह तटस्थ रहे, न विशेष ही किया और न विशेष ममथन ही। मूल आगमों को पढ़ने और उनके अनुसार धर्माचरण करने का ही गृहस्थों को उपदेश दिया। कटुवागाह ने उत्तरी भारत का भ्रमण भी बहुत किया और सर्वत्र अपने मन का प्रचार किया। अनेक स्त्रीपुरुष यत्र तत्र उनके अनुयायी हो गये। १५०६ ई० में ६८ वर्ष की आयु में कटुवागाह का निधन हुआ और उनके उपरान्त उनके गृहस्थ 'सवरी' गिण्यों को परंपरा कई सौ वर्ष तक चली रही—गुजरात आदि की ओर उनके अनुयायी धावद अब भी कुछ पाये जाते हैं। इस परंपरा के सब ही गुरु 'शाह' कहलाये।

तारणन्वामी का जन्म १४४८ ई० में हुआ। बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत पुहुपावती नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता गतामाव सम्पन्न और प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। दिल्ली के सुल्तान बहलोल लोदी (१४५१-१४८८ ई०) ने उन्हें एक राजकीय पद पर नियुक्त किया हुआ था। तारणन्वामी बाल्यावस्था में ही विरक्तचित्त थे और साधु-मगनि में इनको रस मिलता था। उनका पितृकुल दिगम्बरधर्मानुयायी था और उसी के मस्कार उनके हृदय पर पड़े थे। तत्कालीन मठों की प्रवृत्तियों को देखकर यह दुःख होने लगे थे। शायद यह भी अनुभव करते थे कि यह युग और यह क्षेत्र सच्चे दिगम्बर मुनियों की अवस्थिति के लिए उपयुक्त नहीं था। आगे दिन मंदिरों और देवमूर्तियों की तोहफोह, विध्वंस और अविनय देखकर, विशेषकर सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१७ ई०) के समय में, उन्होंने मूर्तिपूजा और मंदिरनिर्माण का भी विरोध किया। जनसाधारण के निकट सम्पर्क में आकर सीधीमादी मधुक्कड़ी भाषा में उन्होंने धर्म का उपदेश दिया और जनता को नैतिक सबल प्रदान किया। तारणतरणश्रावकाचार, तारणश्रवेणी, ज्ञान-समुच्चयमात्र, ममलपाहुट, विभगीमार, सुनस्वभाव, मिदुस्वभाव, पंडितपूजा, छद्मस्वभाषी, नाममाला, कमलवत्तीसी आदि अनेक ग्रन्थों की सरल मधुक्कड़ी भाषा में ही उन्होंने रचना की। यह झुल्लक के वेष में रहते थे। बुन्देलखण्ड और मध्यभारत में उनके अनेक अनुयायी बने जिनके अनेक वंशज अबतक तारणपथी अपरनाम नमैया जैनियों के रूप में चले आते हैं। १५१५ ई० में तारणन्वामी का निधन हुआ। ग्वालियर के निकट महारगढ़ में इनकी समाधि बनी है जिसे



निशियाजी भी कहने हैं। इस पथ के अनुयायियों का वही परम तीर्थस्थान है। तारणस्वामी के ग्रन्थ यहाँ विराजमान हैं। इनकी कोई पट्टपरपरा नहीं चली किन्तु गृहस्थ त्यागी ब्रह्मचारियों के रूप में शिष्यपरपरा चलती रही है।

इस प्रकार इन तीनों ही सन्तों ने द्वितीय कटिपत्रार्थ अर्थात् १७वीं पत्नी में जन्म लिया और उनके उत्तरार्ध में विभिन्न क्षेत्रों में अपने क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार किया, धर्मसंस्था का मशौघा करने का प्रयत्न किया, शक्तियों और भट्टारकों के शिथिलाचार और अज्ञाचार का तीव्र विरोध किया, पूजापाठादि के आडम्बर का अनौचित्य प्रदर्शित किया, लोकग्रह—जनसम्पर्क द्वारा सामान्यातिमामान्य जनता का सान्त्वना दी और धर्ममार्ग में लगाये रखने का प्रयत्न किया। उन सन्तों द्वारा पुरस्कृत क्रान्ति का मन्त्र्य इसी बात से स्पष्ट है कि वह मात्र सामयिक तरीकों वगैरह नवीन पथों के रूप में फैल जाने और सैकड़ों वर्षों पर्यन्त यही रहने की क्षमता में युक्त थी।



१. पुरातात्विक वस्तुएं (Archeological Finds)
२. रिवायतें और अनुश्रुतिया (Traditions)
३. लोककथाएँ और पौराणिक कथाएँ (Myths and Legends)



- ४ रीति रिवाज (Customs and usages)
- ५ धार्मिक प्रथाएँ और दार्शनिक मिथ्यान्त (Religious Beliefs & Practices).
- ६ वैदिक, पौराणिक, जैन और बौद्ध साहित्य (Literature)
- ७ शिलालेख और टिकड़े, ताम्रपत्र और सिक्के ।

इस स्थल पर यह कहना अनावश्यक न होगा कि भारत का इतिहास बनाने के लिए जहाँ इसकी उपर्युक्त सामग्री बड़ी महत्त्वशाली है, वहाँ ईरान, असीरिया, बेबीलोन, फिलिस्तीन, अरब, मिथ्र और चीन आदि देशों की ऐतिहासिक गवेषणायें, जिनके साथ कि इसका घनिष्ठ सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध रहा है, अथवा मैगस्थनीज, हेरोडोटस, स्ट्रेबो, फाहियान, हुआनसांग, इस्मिग, अलख्वानी, इब्नेबतूता प्रभृति विदेशी यात्रियों के उल्लेख, जो भारत के सम्बन्ध में लिखे गए हैं, कम महत्त्व की चीज नहीं हैं ।

भारतीय इतिहास के साथ ग्रन्थाय

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भारत की प्राचीन सस्कृति अपनी सत्ता और स्थिरता, अपनी गहराई और विभूति, अपने विकास और उत्थान के लिए दो प्रभावों की श्रेणी है—श्रमण और ब्राह्मण । इनमें श्रमण-प्रभावों के प्रतिनिधि आज ज्यादातर शैव, शाक्त, जैन और बौद्ध लोग हैं, और ब्राह्मणिक प्रभावों के प्रतिनिधि आज ज्यादातर वैदिकधर्म-अनुयायी हैं । इसलिए भारतकी सस्कृतिके और इसके इतिहासकी समझने के लिए जरूरी है कि इन पांचों ही वर्गोंके साहित्य और कलाका मिलसिलेवार परीक्षण किया जाय, और पांचोंकी ही अनुश्रुतियों, पौराणिककथाओं, मान्यताओं और प्रथाओंका समन्वय और एकीकरण किया जाय । इनमें से किसी एक को छोड़कर भारतीय इतिहासको बनाना इतिहासके साथ अन्याय करना है । ऐसा इतिहास भारतीय इतिहास कहलानेका अधिकारी नहीं हो सकता । वह भारत का केवल एकजातीय व साम्प्रदायिक इतिहास ही कहा जा सकता है । ऐसे इतिहास में हम भारत का सर्वांग दर्शन नहीं कर सकते । यह एकानि वृत्त है, एक अधूरी कहानी है ।

परन्तु खेद है कि भारतीय इतिहास बनानेके लिए आजतक जितना साहित्य और कलाका परीक्षण हुआ है, वह अधिकतर ब्राह्मणिक कृतियों का ही हुआ है, और उन ही के आधारों से प्राप्त भारत की प्राचीन अनुश्रुतियों और पौराणिक उपाख्यानो का संग्रह किया गया है । ब्राह्मणोत्तर धर्मों के साहित्य और अनुश्रुतियों का, जैन आदि उपर्युक्त वर्गों की अपनी पुरानी स्थितिपालकता (Conservatism) के कारण—कि दूसरेको अपने तथ्य बताना, अपने ग्रन्थ दिखाना पाप है—प्रथम तो कोई परीक्षण ही न हुआ, और यदि इधर-उधर से सामग्री प्राप्त करके इनका कोई परीक्षण हुआ भी है, तो वह अव्यग्रन्थित होने के कारण बहुत अधूरा हुआ है । इसमें भी विद्वानों को पुरानी ब्राह्मणिक धारणायें सदा आड़े आती रही हैं । इसका यह दुष्परिणाम हुआ है कि भारत के पुर्ण धर्मों की सत्ता से ही इन्कार कर दिया गया है । उन्हें केवल वैदिक धर्मकी ही शाखा मान लिया गया है । भारतीय इतिहास का आरम्भ वैदिक आयों से किया गया है, और भारतीय सस्कृति, भाषा, मूपा, वस्त्राभरण, अस्त्र-शस्त्र, वाहन, व्यसन, व्यवसाय, नगर, ग्राम आदिका मूलधार ब्राह्मणिक सस्कृति को ठहरा दिया गया है ।

३ ब्राह्मणोत्तर साहित्य का इतिहास में स्थान

इस इतिहास का अध्ययन करने में ऐसा प्रतीत होता है, मानो वैदिक आयों से पहले भारतवर्ष की न कोई अपनी वस्ती थी, न अपनी कोई सस्कृति । यदि कोई वस्ती व सस्कृति थी तो वह जगली भील लोगो अथवा असम्य क्रूरकर्मा द्रविड लोगो की थी । परन्तु अब ज्यो-ज्यो शैव, शाक्त, जैन और बौद्ध साहित्य का प्रकाशन होने लगा है, और साथ साथ में पुरातत्व की नित्य नई खोजों का भी पता लगने लगा है, ब्राह्मणिक साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मन्थन होने लगा है, त्यों-त्यों सब ही इतिहासज्ञ अपनी पुरानी धारणा को छोड़कर एक स्वर में कहने लगे हैं कि भारतीय इतिहास का उपर्युक्त निष्कर्ष नितान्त अमत्य है । ऐसा निष्कर्ष न केवल ब्राह्मणोत्तर अनुश्रुतियों के विरुद्ध है बरिक्त स्वयं ब्राह्मणिक अनुश्रुतियों के भी विरुद्ध है ।

उन मन्त्रार्थों का पता लगाने के लिए जिनका प्रामाणिक भाव के विनाश साहित्य में मिश्र है, उनमें भी अधिक विषय बौद्ध के मोहनजोदड़ों और पञ्चम के गंधी बौद्ध के दृष्टि के प्राचीन ध्वजावशेषों में प्राप्त पुनर्जात नामों से मिले हैं।^१

४ जैन साहित्य की विशेषता

हिन्दू साहित्य और जैन में उन राजनीति और प्रमाण प्रभावों का ऐसा सम्मिश्रण हुआ है कि उन्हें आज पूर्वक पूर्वक करना और उनके मूल्य को अलग-अलग चीजों में बहुत मुश्किल है, परन्तु जैनो का साहित्य और कला बौद्ध लोगों में राजनीति प्रभावों की उदाहरण के तौर पर प्राचीन असा मन्त्रों का अनायास है, विमुक्त रूप में सामने आये हुए है। उसी जैन साहित्य में असा लोगों के आचार-विचार के मूल और मूल्यों के अस्तित्व के लिए यह प्रमाण प्रमाण है।

१ महावीर ने पहले के जैन साहित्य में असा मन्त्रों के असा दर्शन की, दुर्गति की कथा की गई है। यदि यही उमरा उल्लेख भी किया है तो वह मूल्य प्रमाणित है। उसमें हमें जैन के एक ही साधन दिया गया है, उसके नाम हमें एक अज्ञानता का पता दिया गया है, उनके प्रति हमें अज्ञानता की और अज्ञानता का भाव प्राप्त किया गया है। उनके नाम प्रकट है कि असा मन्त्रों में राजनीति की चीज नहीं है। हमारी जानकारी के लिए राजनीतिक साहित्य की दृष्टि से ऐसा है कि जैन साहित्य में जैन-प्रमाणों को जैन। हाँ, महावीर ने पीछे के साहित्य में असा महावीर का जैन मूल्य प्रमाण पता है, जिसके कारण महावीर जैन साहित्य असा मन्त्रों के प्रभावों में अज्ञानता है।

२ राजनीति की दृष्टि से राजनीतिक नहीं है, इसलिए उनके साहित्य और जैन की दृष्टि भी महा काल्पनिक नहीं रही है। उनमें सब ही राजनीति-प्रमाणों का महा अज्ञानता का लिए हुए अज्ञानता दिव्य रूप में जाहिर किया गया है। हमें विपरीत अज्ञानता की दृष्टि महा राजनीतिक नहीं है मानुषिय नहीं है। हमी वास्तु उनके साहित्य और कला की दृष्टि भी अज्ञानता (Reply) नहीं रही है। यही कारण है कि उनके साहित्य और कला में सब ही राजनीति-प्रमाणों का अज्ञानता अज्ञानता लिए हुए मानुषिय रूप में प्राप्त किया गया है, जिसमें वह बहुत मुगम है।

३ जैन साहित्य में असा अज्ञानता अज्ञानता प्रायः उसी रूप में बड़े आ रहे हैं। उनमें पीछे के किसी तरह की अज्ञानता और अज्ञानता नहीं की गई है। हमें वह साहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक है।

४ हिन्दू साहित्य ने उन्हें महापुरुष अज्ञानता है, जिन्होंने बाहरी ज्ञान, कौटुम्बिक मर्यादा, सामाजिक व्यवस्था, राष्ट्रीय गठन का अज्ञान अज्ञान और कायम रूप में अन्य अज्ञान और पुनर्जात दिया है। इसके विप-

- १ (अ) "Hitherto it has been commonly supposed that the pre-Aryan peoples of India were on an altogether lower plane of civilisation than their conquerors, mentally, physically, socially and religiously their inferiority to their conquerors was taken for granted, and little or no credit was given them for the achievement of Indian civilisation that the Indus people of the 4th and 3rd millenia B C were in possession of a highly developed culture, in which no vestige of Indo-Aryan influence is to be found" Sir Jhon Marshall "Mohanjadaro and Indus Civilisation" Vol I, 1931—preface pp V-X
(आ) R B Ram Pershad Chanda—"Memories of the Archeological Survey of India" No 41—1924 pp 25-33
(इ) A P Banerji Shastri—"The Asura India" Patna, 1926, pp. 1-xviii





रीत जैन साहित्य के महापुरुष वे हैं जिन्होंने मनुष्यको अपने प्रचारदल से सर्वोच्च आदर्श दिया है, अपने ज्ञानबल से सबसे बड़ा सत्य दिया है और अपने आचार-जलसे अक्षय मुक्तका मार्ग दिया है ।

५ इतिहास में मयन कहे यदि कोई तत्व जीवनोपयोगी निकाला जा सकता है तो वह है स्याद्वाद, जैन साहित्यकी अपूर्व देन । बिना आदर्शके विधान निष्फल है और बिना विधानके आदर्श कल्पना है । दोनों एक दूसरे के सहयोगी हैं । बिना निश्चय सकल व्यवहार निरर्थक भवभ्रमण है और बिना व्यवहार सकल निश्चय निरा एक खाल है । बिना आदर्श सकल विधान एक निरर्थक मार है और बिना विधान सकल आदर्श निरा एक खाल है । इन दोनों में सहयोग होना नितान्त आवश्यक है । जब कभी किसी जाति और सम्प्रदाय ने एकत्रित में काम लिया है, एक को छोड़ दूसरे को अपनाया है, तब ही उस जाति और सम्प्रदाय ने अपने को भूलों में डाला है, मुगीपतों में फँसाया है, दुष्टों में अपना अन्त किया है । इसलिए 'एकान्त मयं वजयेत्' भारतीय मस्कृति का निचोड़ है । यह तत्व ही जातुपुत्र भगवान महावीर के स्याद्वाददर्शन की आधारशिला है । वीर-दर्शन क्या है, गोया भारतीय मस्कृति का मार है, भारतीय विचार-धाराओं का सगम है, भारतीय मान्यताओं की व्यस्था है । जो विचार भाग्यमें विकसित हुआ है, उसने जरूर वीर-दर्शन में स्थान पाया है । जिसने वीर-दर्शन में स्थान नहीं पाया है, वह भारत का विचार भी नहीं है । इसलिए भारतीय विचारधाराओं का स्थान जानने के लिए जैन साहित्य का जानना बहुत जरूरी है । वैदिक साहित्य के आध्यात्मिक और पौराणिक प्रकरणों को ठीक-ठीक समझने के लिए जैन साहित्यकी अनुश्रुतियों और मान्यताओं से परिचित होना बहुत जरूरी है ।

६ जैन साहित्यमें देवताओं में अधिक महत्त्व मनुष्यत्व को दिया गया है । वह तप के प्रभावसे ऋद्धि-सिद्धिको प्राप्त कर सकता है । देवता मनुष्योक्त कुछ भी नहीं करते बल्कि मनुष्य ही अपने तप के प्रभावसे देवताओंको कुछ भी करनेके लिए बाधित कर देने हैं । देवता जन धर्मोपदेश सुननेके लिए तरसते हैं तथा तीर्थंकरोंकी पण्डित में आते हैं । वे योगियों के अनुचर हैं ।

७ जैन साहित्य में देव, सास्त्र, गुरु व धर्म के जिन आध्यात्मिक आदर्शों को उनके लक्षणों के रूपमें ग्रहण किया गया है, वह इसकी ही एक विशेषता है, क्योंकि अन्य किसी भी साहित्य में उनको इस रूपमें नहीं माना गया है ।

८ जैन साहित्यमें कर्मबाण्डकी अपेक्षा सदाचारको महत्ता दी गई है । स्वयं अर्द्धे घुरे कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है । कोई भी शक्ति इन फल को टालने में समर्थ नहीं । इसलिए ब्राह्मण-मान्य हिंसात्मक यत्नोका कडा विरोध किया गया है और अहिंसाको ही जीवनका आदर्श माना है ।

९ जैन साहित्यके अनुसार यह जगत अकृत्रिम तथा अनादिनिधन है । यह पुरुषाकार है । यह सागर है, दुष्पथ है तथा महा विस्तीर्ण है । यह परिवर्तनशील है, इसलिए समय समय पर स्वयं प्रलय व सृष्टि को प्राप्त होता रहता है । इसमें भोगभूमि व कर्मभूमि रूप दो रचनाएँ होती हैं । पहिले भोगभूमि रहती है, पीछे कर्मभूमि आती है । भोगभूमि में अराजकता रहनेसे वह विराट होती है पीछे आवश्यकता पड़ने पर राज्य शासनव्यवस्था की जाती है । वही ब्रह्मा ही सृष्टि करी गई है । ब्राह्मणों की भांति जगत के निर्माण को सृष्टि नहीं माना गया है ।

१० जैन साहित्यमें ब्राह्मणमान्य वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया गया है । इसकी वर्ण व्यवस्था जन्मानुसार न होकर गुण कर्मके अनुसार होती है । इसमें पहले तीन ही वर्णोंकी व्यवस्था की गई थी । पीछेमें धर्मानुरागी विवेकवान व्यक्तियों के लिये ब्राह्मण वर्ण की व्यवस्था भी कर दी गई थी ।

११ ताक्ष्य, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ नागवशी थे । वैदिक साहित्यमें जिन ब्राह्मण व यति जनो का उल्लेख निन्दापरक किया गया है, वे जैन साहित्यकी विभूति हैं । ब्रह्मा होने से ब्राह्मण और मोक्षमार्गमें यत्नशील होनेसे यति, इस प्रकार जैन साधुओंकी ही ये मनाएँ हैं, जिनका अधिकतर वास पश्चिमी व पूर्वी सागर पर रहता था । बिहार देश में रैवत पर्वत व पार्श्वनाथ हिल इसी कारणसे प्रसिद्ध हैं ।

जैन व वैदिक साहित्य के जन्म की निम्न प्रकार पटा जा सकता है —

जैन	वैदिक
१ आध्यात्मिक आत्मिक दृष्टि	आधिदैविक आत्मिक दृष्टि
२ पारमार्थिक नून ग उददेश्य	दार्शनिक नुस्खा उद्देश्य
३ मोक्ष पुण्यार्थ	अर्थ अर्थ काम पुण्यार्थ
४ अद्वैत धर्म	मकान धर्म
५ महापुरुष व पुण्यार्थवाद	अवनारवाद, देवतावाद व देवतावाद
६ नदानी व अद्वैतवाद	श्रियाकाण्ड व हिमक यज्ञवाद
७ स्वतन्त्र नृपतिवाद	ईश्वरकृत नृपतिवाद
८ पुण्यमंत्र व पुण्यमंत्र	जन्मकृत वर्णव्यवस्था
९ शास्त्रों व धर्मियों की प्रशंसा	शान्ति व धर्मियों की निन्दा
१० नमन भाषा	केवल सम्मनभाषा
११ नमो जति व वक्तु के	केवल शान्ति के

५ जैन साहित्य का विस्तार

जैन साहित्यका विस्तार बहुत बड़ा है। जहाँ जैन धर्मकी दृष्टि विश्वव्यापी और अनेकान्तात्मक है, कि विश्व को विविध पक्षोंमें देखनेवाली है, जीवनसी सभी भावनाओं और आवश्यकताओं को निभाने वाली है, वहाँ इसका सृजन बिना बड़ा साहित्य भी विश्वव्यापी ही अनक प्रकाशक है। यह निग पारमार्थिक ही नहीं है लौकिक भी है, यह निग धार्मिक ही नहीं है व्यावहारिक भी है, निग दार्शनिक ही नहीं है वैज्ञानिक भी है। साहित्यका कोई विषय ऐसा नहीं, जो इसमें स्थान पाने में बाकी रहा हो, कोई उपयोगी विषय ऐसा नहीं, जो इसमें प्रकाश पाने में अड़ता रहा हो।^१

जहाँ जैन मान्यताएँ अनुष्ठान मन्त्र ज्ञानसी भाग्यी दुनिया की सब ही विद्याओंमें परिपूर्ण है, वहाँ इसके आधार पर निम्न होने वाला साहित्य भी स्वभावतः सब ही विद्याओं में परिपूर्ण है। इसमें न्याय, दर्शन, योग, आचार, पुराण, इतिहास, ज्ञान, व्याख्यान, जीवनी, स्तुति, नीति शीति, विभिन्न विद्या, मोक्ष, काव्य, नाटक, चम्पू, छन्द, अलंकार, निम्न, शिक्षा, शोध, व्याख्यान, भूगोल, ज्योतिष, गणित, कविता, मन्त्र, तन्त्र, शकुन, मातृद्विक अष्टांग, आयुर्वेद, नाडी प्राण विद्या, वनस्पति विद्या, मृग पक्षी विद्या, वायु ज्ञान, मृति कला, चित्र कला, संगीत और वादित कला आदि सभी विद्याओं का समावेश हुआ है। इसलिए यदि जैन भाग्यी या विश्वमान्य कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।^२

१ "There is scarcely any province of Indian Literature in which the Jains have not been able to hold their own"

Dr Winter Nitz—'Hist of Indian Lit' Vol II, p 483

२ "The Jains have extended their activities beyond the sphere of their own religious Literature to a far greater extent than the Buddhist have done, and they have memorable achievements in the secular sciences to their credit in Philosophy, grammar, lexicography, poetries, mathematics, astronomy, astrology and even in the science of politics In one way or other there is always same connection even of these profane works with religion"

Dr Winter Nitz—'Hist of Indian Lit'—Vol II, 1933 pp 594-595





जैन साहित्य मौलिक कृत्यों के अतिरिक्त टीका, वृत्ति, चूर्णि, भाष्य और वार्तिकोंसे भी भरपूर है। इसमें गाथा, श्लोक, सूत्र, सब ही भारतीय लेखनपद्धतियोंको अपनाया गया है।

जहाँ जैन धर्म विश्वका कल्याणकारी और प्राणी मात्रका उद्धारक रहा है, वहाँ इसके प्रवचन और लेखनकी भाषा भी विश्वव्यापिनी रही है। इसने कभी किसी विशेष भाषासे माह नहीं किया। यह सदा आम जनताकी बोलचाल की भाषाओंको अपन सन्देशका माध्यम बनाता रहा। यह जिन जिन देशोंमें गया, जिन जिन फालोंमें से गुजरा, उन्हें उन्हीं की प्रचलित बोलियोंमें ज्ञान देता चला गया। इसीलिए इसका साहित्य प्राकृत, संस्कृत, मागधी, बौरसेनी, महाराष्ट्री, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, तामिल, तेलगू, कन्नड़ी आदि भारतके उत्तर और दक्षिणकी, पूर्व और पश्चिमकी सब ही पुरानी और नई भाषाओंमें लिखा गया है।

जहाँ जैन धर्म वर्ण और जातिके भेदभाव रहित सब ही को अपनी शरणम लाता रहा है, सब ही को अपनी शिक्षा-दीक्षा देता रहा है, सब ही को अपने श्रावक श्राविका मुनि आर्या के चतुर्विध सचमें दागिल करता रहा है, वहाँ इसके लेखक और कलाकार भी सब ही जातियों, सब ही वर्णों, सब ही आश्रमों वाले बने रहे हैं। यति, मुनि, भट्टारक, श्रावक, राजा, मन्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब ही इसके साहित्य का उद्धार करते रहे हैं।

जैसा कि जैन इतिहाससे प्रगट है, जैन धर्म सदा क्षत्रिय कुलोंका धर्म बना रहा है। यह सदा राजघरानों से उगता रहा और राजघरानोंमें पलता रहा है। प्रागैतिहासिक काल के सिवाय भगवान् महावीरके कालमें भी इसे पूर्वी और मध्य भारत के मगध, भवन्ती, सिन्धु, कौशल, मथुरा, काशी आदि देशोंके सब ही प्रमुख राजवंश, अमात्यवर्ग और श्रेष्ठिजनका आश्रय पाने का गौरव प्राप्त रहा है। वीर-उपरान्त कालमें भी इसे मगध, उड़ीसा, गुजरात, राजस्थान और दक्षिणके सब ही—शिशुनाग, नन्द, मौर्य, ऐर, खारवेल, राठीर, परमार, चौहान, गङ्ग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसल आदि प्रमुख राजवंशों, अमात्यवर्ग और श्रेष्ठि जनका आश्रय प्राप्त रहा है। यह सदा धूलधूसरित वीर तपस्वियोंके परिभ्रमण द्वारा सब ही दिशाओंके दूर दूर देशों, दूर दूर नगरों और ग्रामोंमें फैलता रहा है। वीर-उपरान्त कालमें भी यह दिगम्बर और श्वेताम्बर धर्मणोंके अनेकों सच, गण और गच्छों की अध्यक्षतामें भारतके कोने कोनेमें फैला है। इसी लिए आज जैन साहित्य और कलाकी अगणित कृतिया तारा-राशिकी तरह भारतके सभी भागोंमें फैली हुई हैं।

मुगल सम्राट् और जैनधर्म

श्री दिगम्बरदास जैन

एडवोकेट, महारनपुर



वाच (१५०६-१५३० ई०) मुगल वंश का पहला बादशाह हुआ है। उसने दीलखाना लोदी और इब्राहिम लोदी को हराकर मेवाड़ के राजा सांगा ने जीता लिया। बाबर भारत आता था^१। पानीपत की ग्वाल्मी में कई दिन तक युद्ध हुआ। वह धर्मात्मा और दृष्टवन्त था। उसने अपनी विजय के लिए भगवान् से प्रार्थना की और प्रायश्चित्त रूप में मदिरा पी, जिसके पीने का वह बहुत अभ्यासी था, मरदा के जिरे त्याग कर दिया। सांगा सांगा बड़ा वीर और योद्धा था। बड़ी योग्यता से लड़ा, परन्तु अपनी कृप और बाबर की विश्वास तथा संगठित सेना के कारण उसकी विजय हुई। बाबर चन्देरी में आ गया। उस समय वहाँ का राजा वहाँ न था। रानी ही तलवार हाथ में ले चण्डी देवी के ममान बाबर की सेना पर दृष्ट पड़ी और इतनी अतिशय भावना की कि बाबर ने उसकी वीरता देखकर लडाई बन्द कर दी और कहा —“बाबर स्वयं ने नहीं लड़ना। भारत की स्त्रियाँ सितनी वीर और देशभक्त होती हैं इसका परिचय आपने दे दिया। अब मैं आप मेरी बेटी के ममान हूँ। स्वनन्दना में राज्य करो। जब भी मेरी सहायता की आवश्यकता हो याद करना।”

बाबर बड़ा दयावान् था। शत्रुओं को अपनी दोनों बगलों में दबाकर किले की दीवार पर दौड़ लगाया करता था। वह बड़ा उदार स्वभाव का था। अश्वघोषों का शलनी स्वीकार करने पर क्षमा कर देता था। बड़ा धर्मात्मा और अहिंसाप्रेमी था। उसका पुत्र हुमायूँ बीमार हो गया, जनक उपाय करने पर भी अच्छा न हुआ तो उसने हुमायूँ के पदों के ३ चक्र परमात्मा से प्रार्थना की कि मेरा पुत्र अच्छा हो जाए चाहे मेरा जीवन समाप्त हो जाए। बाबर की मृत्यु हो गई और हुमायूँ अच्छा हो गया।

बाबर स्वयं विद्वान् था। उसने बाबरनामा, आत्मकथा और तुर्की दिवान आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। वह विद्वानों का आदर करता था। बाबर अहिंसा तथा अन्य धर्मवालों का किनासा करता था, उसकी वसियत में मालूम होता है, जो हुमायूँ के नाम पर है। उसने लिखा है —“ऐ मेरे पुत्र! भारत में अनेक धर्मों के लोग रहते हैं। सब धर्मा का सम्कार करना तुम्हें लाजिम है। तीव्र को समाप्त करो क्योंकि इसके बिना तुम भारतवासियों के हृदय को नहीं जीत सकते। ऐसा करने में देश के लोग तुम्हारे वफादार रहेंगे।”^२

महाचन्द्र एक बहुत बड़े जैन-कवि बाबर के समय हुए। बाबर इनका बड़ा सम्मान करता था। इन्होंने इसके राज्य-राज में मोरार्वे तीर्थंकर श्रीमान्तिनाथ भगवान् पर ५५ हजार ३०० श्लोक प्रमाण ग्रन्थ की रचना की जो आज भी धर्मपुरा देहली के जैन मन्दिर में सुरक्षित है।^३

साहू साधनप्रसाद एक जैन मेठ थे, जिनका बाबर पर बहुत प्रभाव था। इन्होंने बाबर की आज्ञा से एक दिगम्बर जैन मन्दिर बनवाया।^४

१ उर्दू मिलाप, नई देहली २०-६-६७ पृ० १२

२ ‘तेज’ देहली ३१-५-६७ पृ० ५

३-४ देहली जैन डाइरेक्टरी पृ० ८



सेठ नेमीदास सेठ तोसड राय के ज्येष्ठ पुत्र थे। इन्होंने बाबर के राज्य में मोने, हीरे, मूंगे की ऋपभदेव, शीतलनाथ, विमलनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ आदि जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ बनवा कर जैन मन्दिरों में स्थापित की। पंचकल्याणक उत्सव और पूजाएँ कराई, बाजारों में विशाल रथोत्सव निकलवाए।

यशकीर्ति एक बहुत बड़े जैन त्यागी हुए जिन्होंने बाबर के गगनरं मुन्तरक शाह के जैन मन्त्री हेमराज के अनु-रोध पर पाण्डवपुराण और हरिवंशपुराण रचे।^१

राणा सागा पर जनाचार्य धर्मरत्न मूरि का बड़ा प्रभाव पड़ा। उनका हाथी-घोड़ों, गार्जेवाजों से सजगत् करता था। उनके उपदेश से राजा ने सदा के लिये मांस-मदिरा का त्याग कर दिया था। जैन मन्दिरों का बड़े-बड़े दान दिये। यह बहुत बलवान् योद्धा राणा था। अनेक घमासान युद्ध जीते। युद्धों में छाती पर अस्मी धाव लगे। एक हाथ कट गया, एक आँग चली गई, फिर भी जब बाबर ने उसके देश पर आक्रमण किया तो स्वयं युद्ध के लिये तलवार उठाई और इतनी मारकाट की कि मुगल सेना के छक्के छूट गये। राणा सागा मामत्यागी और अहिंसाधर्मी था फिर भी देशसेवा के लिये सदा उसकी तलवार म्यान से बाहर रहती थी। इमने कई बार बाबर को हराया। तातारी सेना इसके नाम से कापती थी। एक बार इमने बाबर को एक तंग रास्ते में रोक लिया,^२ वह चाहता तो बाबर को जान से मार देता। परन्तु उसकी वेदमी को देखकर और राजपूत ने उसकी सेना को तो मार भगाया परन्तु बाबर को छोड़ दिया। बाबर ने अपनी फौज को इकट्ठा करके वेगवरी में धोखे से आक्रमण कर दिया जिसके कारण राणा सागा को फिर उससे लोहा लेना पड़ा। राणा सागा की सेना के कुछ आदमी बाबर में मिल गये। ऐसा विश्वासघात देखकर भी अहिंसाधर्मी राणा घबराया नहीं। इसके मन्त्री उस समय लड़ना उचित नहीं समझते थे। राणा सागा को रजामन्द न देखकर दुराचारी मन्त्रियों ने राणा को विष दे दिया।^३ इस प्रकार मुगल राज्य की स्थापना भारत में हो गई।

तारण स्वामी के पिता देहली के सम्राट् बहुलोल्लाखी लोदी के ऊँचे अधिकारी थे। इन्होंने अनेक जैन धार्मिक ग्रंथ रचे और बाबर के राज्य में जैनधर्म का पुनः प्रचार किया। लाखों हिन्दू और मुसलमान जैन बन गये।^४

गुरु नानकदेव बाबर के ही समय हुए, जो मिश्रों के प्रथम गुरु हुए हैं। ये अहिंसा के बड़े प्रचारक हुए हैं, इन्होंने कहा—

जे रत लगे कपड़े, जाम हो पलीत।

जो रत पीये मानुपातिन मयानर्गल चित्त॥

—बाबा नानक बार मास माई महरला १ पृ० १४०

गुरुजी ने यहाँ तक कहा है कि ६८ तीर्थों की यात्रा में भी वह फल प्राप्त नहीं होता जो अहिंसा और दया पालने से होता है—

अडसठ तीरथ सफल पुन, जीवन दया प्रधान।

जिसनू देवे दया कर, सोई पुरुष सुजान॥

—माई महरला ५ बरामाह (माघ माह)

गुरु नानक देव ने पशुओं को अपने पुत्र के समान प्रिय बताते हुये कहा कि पशुओं में भी मनुष्यों के समान जान और आत्मा है इसलिये उनकी मारना और कष्ट देना उचित नहीं—

किया बकरी किया गाये, किया अपना जाया।

सबका लहू एक है, गुरु नानक ने फरमाया॥^५

१ प्रशस्तिप्रसंग (शोलापुर) भाग द्वितीय प्रस्तावना पृ० १७।

२-३ साप्ताहिक 'हिन्दू' जासधर बलिदान अंक २३ जून १९६३ पृ० ४७।

४ विस्तार के लिये Jain Antiquary भाग १२ पृ० ५६-६१

५ विस्तार के लिये हमारा 'शान्ति के अग्रदूत श्री वर्धमान महावीर' पृ० ६७-६८

हुमायूँ (१५३०-१५८०) के राज्य में जैनियों के धार्मिक कार्यों में कोई बाधा न थी। जैन मन्दिर बने। नग्न दि० जैन नाचुओं का विहार बिना गेज-टोक होता था। खोल्मव ठाठ में निकलने थे। यह जीवहिंसा और पशुबलि पसन्द नहीं करता था।^१ जैन ग्रन्थ लिखे जाते थे। मेठ का कृष्ण देहली दि० जैन मन्दिर में न० ३५६ पर एक गुटका है जो हुमायूँ के राज्यकाल में पोष मुनी ३ वि० न० १५२० में देहली के पाम नौनीन जिला करनाल में लिखा गया था।^२ इमी के राज्यकाल में १५३३ ई० में प्रमदान नामक थाक ने घनदत्तचरित्र की रचना की।^३ मल्लिकार्जुनजी ने हुमायूँ के राज्यकाल में १६ वे तीर्थंकर श्री शाल्मिनाथ की विद्याल मूर्ति का निर्माण करवाया।^४ ज्येष्ठाम्बर जैनाचार्य पद्म-मुन्दरजी के गुरु पद्ममेरुजी का हुमायूँ ने बड़ा सम्मान किया था। इन्होंने हुमायूँ के राज्य में अनेक ग्रन्थ रचे।

गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने चन्द्रगिरि पर आक्रमण कर दिया। वहाँ की रानी बड़ी बीमारी में लगी और नहायना के लिये हुमायूँ को राखी भेजी। उस समय हुमायूँ बाल में बड़े शाह सूरि में लड़ रहा था, पन्तु गान्धी पहुँचने ही उसे याद जा गया कि मेरे पिता ने चन्द्रगिरि की रानी को अपनी बेटी बनाया था। मेरी बहन ने आपत्ति के समय याद किया है। वह बेशर्माह जैसे भयानक शत्रु के मुकाबले के लिये अपने मेनापति हँवर मिर्जा को छोटी मेना सौत कर स्वयं चन्द्रगिरि की रानी की नहायना के लिये चल दिया। समाप्त का मौमिम खराब रान्ना, दूर का फामला, जाने में कुछ दिन लग गये। इनमें में बहादुरशाह ने चन्द्रगिरि के किले पर कब्जा कर लिया। रानी ने अपने मनीष के रक्षा के लिये अनेक वीर महिलाओं के साथ दहकती चिन्ता में कूद बीरगति प्राप्त की। हुमायूँ पहुँचा, परन्तु उसे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि अपनी हिन्दू बहन को न बचा सका। उसने गुड़ करने बहादुरशाह को निकाल दिया और चन्द्रगिरि को स्वतन्त्र करवाया और रानी के वारिस को ही गद्दी पर बैठाया।

हुमायूँ अपनी जान का धनी और बड़ा दयानु था। एक बार जेरगाह सूरि ने उसे घेर लिया। अपनी जान बचाने का कोई दूसरा रान्ना न मिलने पर उसने जग्गा छोड़ा गया में डाल दिया। पानी अधिक था, वह डूबने को ही था कि एक भिन्नी ने अपनी मगक ने उसकी जान बचाई। उसके बढने में उसने उसे एक दिन का देहली का राज्य दिया। भिन्नी ने चमड़े का मिक्का चानू कर दिया। हुमायूँ ने मोने-चादी के बढले वह नव निकले ले लिये। हुमायूँ गोमास का त्दागी था। एक दिन एक नया नौकर भूल में गोमास उसके भोजन में ले आया। उस दिन उसने भोजन नहीं किया और नौकर को भारी दण्ड दिया।^५

शेरशाह सूरी (१५४० में १५५५ ई०) का अमली नाम फरीद था। वह एक दिन जगल में जा रहा था। एक घेर ने उसपर आक्रमण कर दिया। इसने बड़ी बीरता से उसपर विजय प्राप्त कर ली थी। उस दिन में ही उनका नाम गेरखा पड़ गया और जब वह बादशाह हुआ तो शेरशाह कहलाने लगा। जिन ग्राम में चोरी, डकैती आदि होती उन न्याय के मुखिया और धामक को भी उतना ही दण्ड देना था जिनका अपराधी को। उमीलिये इसके राज्य में चोरी आदि नहीं होती थी। लोग खुले किबाड सोते थे। जनता के आगम के लिये उसने कलकत्ते में पेशावर तक एक बड़ी सड़क नवसे पहले बनवाई जिसको आजकल जी० टी० रोड (ग्रान्ड ट्रन्क रोड) कहते हैं। इसके दोनों ओर दूध लग-बाये, मरायें बनवाई, और झुए खुदवाने।

यह बड़ा दानी था, पीने दो लाख स्वर्ण मुद्राएँ हर नाल मन्दिरों, मनजिदों और स्कूलों को दान देता था। इसके राज्य में जाति-पाति का भेद-भाव न था।^६ योग्यता के अनुसार पद मिलता था। हिन्दू और जैन बड़े-बड़े पदों

१ Romance of Cow (Bombay Humanitarian League) पृ० २७

२ विस्तार के लिये 'सन्मति सन्देश' देहली (फरवरी १९६७) पृ० ३५।

३ विस्तार के लिये 'अनेकान्त' अंक ५ पृ० ५० तथा भट्टारक सम्प्रदाय पृ० २४१।

४ भट्टारक सम्प्रदाय (शोलापुर) पृ० २५६

५ 'कल्याण' गोरखपुर २०-१०-१९४५ पृ० २१५।

६-७ सामाजिक शिक्षा (पंजाब शिक्षा विभाग, सातवीं कक्षा) पृ० ८३-८६।

८ सामाजिक शिक्षा (पंजाब शिक्षा विभाग, सातवीं कक्षा) पृ० ८३-८६।



पर नियुक्त थे। राजा टोडरमल जैन था, अहिंसा धर्म मली प्रकार पालता था, उसको मालगुजारी दी तथा एक सेना का मेनापति बना रखा था।

इसके राज्य में जैनधर्म मूब फूला-फला था।^१ मूरि राज के समय श्रीचन्द्र, माणिकचन्द्र, देवाचार्य, क्षेमकीर्ति आदि अनेक प्रसिद्ध दिगम्बर, त्यागी और सत्त हुए जिनका राज्य में सम्मान था। इसी समय फ्रेंच यात्री Bernier तथा Tavernier ने भारत-भ्रमण किया। इन्होंने जैन नग्न साधुओं की बिना किसी रोकटोक के बड़े-बड़े गहरी और वाजाग में चलते-फिरते पाया।^२ जैन नग्न साधुओं के दर्शन न केवल पुरुष बल्कि नवयुवक तथा सुन्दर से सुन्दर स्त्रियाँ तक भी बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति में करती थी। जैन मुनियों ने अपने मन और इन्द्रियों पर इतनी विजय प्राप्त कर रती थी कि उनमें बातचीत करके इनके हृदय में कोई विकार उत्पन्न न होता था।^३ स्वयं शेरशाह के ऊँचे अधिकारी भक्तिक माहम्मद जायसी ने अपने पद्मावत (१६०) नामक ग्रन्थ में जैन मुनियों को हमारे साधुओं से अधिक सत्कारयोग्य बताया। सम्राट् सिकन्दरसूरि (Sikandar Suri) ने जैन गुरु विशालकीर्तिजी का सम्मान किया।^४ मार्कोपोलो (Marco Polo) का कहना है कुछ योगी विल्कुल नग्न रहते थे। कारण यह बताया कि वह इस समार में नग्न उत्पन्न हुए और समारी वस्तुएँ वह ग्रहण करना नहीं चाहते।^५

शेरशाह सूरि ने फरमान जारी कर रखा था कि जनता की बहुत अधिक सख्या के धर्म का आदर करना राज्य का कर्तव्य है। इसलिये मोक्षच वन्द किया जाता है। जो ऐसा नहीं करेगा उसको कठोर दण्ड दिया जायगा।^६

अकबर (१५५६-१६०७ ई०) शेरशाह की शक्ति के सामने एक बार हुमायूँ को भी भागना पड़ा। उसने जोधपुर के राजा मालदेव से महायत्ता मागी परन्तु शेरशाह मूरि के भय से उसने इन्कार कर दिया। हुमायूँ की बेगम हमीदा खातून गर्भवती थी। हुमायूँ ने कई राजाओं को अपनी बेगम के बच्चा होने के समय तक शरण देने को कहा लेकिन कोई नैवार नहीं हुआ। आखिर हुमायूँ बेगम सहित अमरकोट (सिंध प्रान्त) पहुँचा। वहाँ का राजा जैन था। सिंध में प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ देव के समय से जैनधर्मी सम्राटों और जैन धर्म का प्रभाव था। मोहम्मद बिन कासिम के आक्रमणों के समय सिंध का राजा ताहरसेन था। हुमायूँ ने अमरकोट के राजा को कहा। एक जैन राजा शरण में आये हुए को कैसे इनकार कर सकता है? उसने हमीदा खातून को अपने महलों में रख लिया। अहिंसाधर्मी, मासत्यागी, शुद्ध आचार-विचारों का प्रभाव बेगम पर पड़ा। माता के सत्कारों का प्रभाव गर्भ में ही बच्चे पर पड़ना आरम्भ हो जाता है। अभिमन्यु ने चन्द्रव्यूह भेदने की विद्या जब अर्जुन अपनी स्त्री को बता रहा था, गर्भ में ही सीख ली थी। इन्ही गर्भ के सत्कारों के कारण अकबर का जैन गुरुओं और अहिंसा सिद्धान्तों पर गहरा और अटल विष्वास रहा। उसने सदा के लिये मास का त्याग कर दिया। सात में लगभग छ महीने जैनियों के पवित्र पर्वों और त्योहारों के समय अपने समस्त राज्य में जीव-वध बन्द कर दिया था और इस कानून के न पालने वालों को बड़ा कठोर दण्ड दिया जाता था।^७

हीरविजयसूरि उस समय के एक बहुत बड़े सन्त थे। प्रो० राम स्वामी आयरगर के अनुसार अकबर जैनधर्म में श्रद्धा रखता था। उसे जब हीरविजयसूरि की मान्यता ज्ञात हुई तो उसने गुजरात के सूबेदार माहवसिंह को उन्हें बुलाने को लिखा। मुनिगज अनेक प्रकार की सवारियों का राज्य की ओर से प्रवन्ध होने पर भी गुजरात में आगरा पैदल आये। क्योंकि जैन मुनि किसी प्रकार की भवारी का प्रयोग नहीं करते। अकबर ने द्वाही शान में उनका स्वागत किया और उनके

१-२ 'वीर' देहली (१-३-१९३२ ई०) पृ० १५५

३ Dr Bernier's Travels in Mugal Empire, p 317.

४ Saletor, Karnatak Historical Review IV p 78-81

५ Yiel's Marcopolo, Vol II p 566

६ दैनिक उर्दू 'मिलाप' देहली, (१४-१२-१९६६) पृ० ३।

७ विस्तार के लिये हमारा 'वर्द्धमान महावीर' पृ० ४९० से ४९३ तक।

उपदेश ने जैनधर्मी बन गया था ।^१ अकबर ने इनको जगद्गुरु की पदवी दी थी ।^२

शान्तिचन्द्र जैन मुनि का अकबर पर बड़ा प्रभाव था । ईद ने एक दिन पहले इन्होंने अकबर ने कहा—“आज मैं यहाँ से जाऊँगा ।” अकबर ने कारण पूछा । मुनिगान ने कहा कि कल यहाँ हजार्तों नहीं लायों जीवों का वध होगा । फिर इन्होंने कुरान शरीफ की आयतें दिखाई कि कुरबानी का मान छुदा को नहीं पट्टवता दल्लि परहेजगारी पट्टवती है ।^३ गेटी श्री नवनी जाने में श्री राजा मदीना हो जाना है । अकबर ने मौलविया ने पूछा । उनका मनुष्यजनक उत्तर न पाकर अकबर ने अपने राज्य में मुनादी मदीना कि ईद के दिन कोई जीव-वध न हो ।^४ अकबर ने १५८८ ई० में शान्तिचन्द्रजी को जीवहिंसा बन्द करने का करमान दिया ।^५

भानुचन्द्र जैन आचार्य पर अकबर की बड़ी श्रद्धा थी । एक दिन अकबर केम ने बहुत दद था । अनेक उपाय करने पर भी आराम न हुआ तो उसने भानुचन्द्र को बुलाया और दर्द दूर करने का कहा । आचार्य महाराज ने कहा—“मेरी वैद्य या हकीम नहीं हूँ ।” अकबर ने कहा—“आप मत्स्यवादी हैं । आपका शब्द भूत नहीं हो सकता । केवल इतना कह दें—दर्द जाता रहे ।” अकबर को आचार्य ने कहा “आपका दद जवय्य जाता रहेगा ।” अकबर की पूर्ण श्रद्धा और भानुचन्द्रजी के चरित्र के प्रभाव ने अकबर का दर्द मिट गया ।^६ इस मुर्गी में दरबारियों ने ५०० गायें वध करने को मगवाई । अकबर ने पना बचा तो कहा—“मेरा कष्ट दूर हो जो दूसरों की जान निकले यह कहा का क्या है ?” मुत्तल मव गायों का अभयदान दिया ।^७

विजयनिह सूरि का अकबर ने लाहौर बुलवाया और उनका ३६३ विद्वानों में इस विषय पर वाद-विवाद कराया कि ईश्वर कर्ता-हर्ता नहीं है और उनके बुद्धिमग्न तर्कों में प्रभावित होकर इनको ‘भवार्थ’ की पदवी प्रदान की ।^८

अबुल फजल ने केवल अरबी और फारसी का विद्वान् था, वह मस्कृत और हिन्दी का भी अच्छा विद्वान् था । उसने जैन-ग्रन्थों का स्वादपाव और जैन नस्त्रों का मनन किन गहराई में किया, इसका अनुमान उसकी लिखी पुस्तक आदना-ए-अकबरी में सामानी में लग जाना है, जिसमें उसने लगभग ५० पृष्ठ जैनधर्म के सिद्धान्तों और उनके महत्त्व तथा आवश्यकता पर लिखे ।^९ और बताया कि अकबर पर दिम्बर जैन गम् मुनियों का अधिक प्रभाव था ।^{१०} उसका कहना है कि अकबर ने राजाजाना द्वारा काश्मीर की भीलों ने मछलियों का शिकार करना बन्द कर दिया था । जैन तीर्थों से यात्रा-कर लेना बन्द कर दिया था । प्रत्येक जैन पर्व, दस लक्षण, अठाई आदि तथा हर पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी आदि जैन त्यौहार, नव मिश्रकर माल में छह मान जीव हिंसा कानून द्वारा बन्द कर दी थी ।^{११} अकबर ने मान-भक्षण त्याग दिया था और जनता को कहना था—

यह उचित नहीं कि मनुष्य अपने उदर की पशुओं की कवर बनावे । कनाई आदि जीवहिंसा करनेवाले

१. Bhandarkar Commemoration Vol I P 26

२. ‘अकबर और जैनधर्म’ (श्रीआत्मानन्द जैन ट्रस्ट सोसायटी अम्बाला शहर) पृ० ८-१० ।

३. कुगल शरीफ, पारा १६, हज मुरा, स्क ५ आयत ३८ ।

४. ‘सूरीश्वर और सम्राट्’ पृ० १४४ ।

५. अकबर और जैनधर्म, पृ० ५० ।

६-७. ‘सूरीश्वर और सम्राट्’ पृ० १४६ ।

८. अकबर और जैनधर्म पृ० १० ।

९. अनुवाद हिन्दी जैन सदेश शोधक १०-१०-६३ पृ० २१८-२३३ ।

१०. Ayn-i-Akbari Vol III (Lucknow) P 519.

११. S N Banarji's Religion of Akbar, P 81





शहर में बाहर रहते हैं तो मामाधियों को आवादी में रहने का क्या अधिकार है ? जो माम नहीं त्याग सकते वह मेरे शरीर का माम या लिया करें, मेरा शरीर इतना बड़ा हो जाए । मैं स्वयं माम का त्याग करता हूँ ।^१

टोडरमल का जन्म उत्तरप्रदेश के जिला मीतापुर के ग्राम लहरपुर में हुआ था । वे बड़े धर्मात्मा और अहिंसाधर्म का पालन करते हुए भी तलवार के धनी थे । भूमिफर (मालगुजारी) के उन्होंने ऐसे नियम बनाये जिनका मुगलो एवं अंग्रेजों ने उपयोग में लिया था तथा उनकी छाप आज तक मौजूद है । वह भगवान् की पूजा किये बिना कोई काम तथा योजना नहीं करते थे । टा० कस्तूरचन्द कासलीवाल तथा प० अनूपचन्द न्यायनीय के शब्दों में टोडरमल जैन-धर्मानुयायी थे ।^२ इनका पुत्र राघोदाम भी जैन था । श्री महाश्री अतिशय क्षेत्र में प्रकाशित राजस्थान के जैन धाम्प्रगुप्तों की ग्रन्थसूची के चौथे भाग की भूमिका में दि० जैन मन्दिर पाटोदी के धाम्प्रगुप्त में नयावाला कृत जानराणि टीका की प्रणप्ति में लिखा है कि यह टीका मुगलमराट् अकबर के राजमन्त्री टोडरमल के पुत्र राघोदास के पठनार्थ लिखी गई । जिससे सिद्ध होता है कि राजा टोडरमलजी के समान उनकी पुत्र भी जैनधर्मी था ।^३

टोडरमल जैन कवि राजमल के बड़े सहायक थे ।^४

वीरवल कितना बुद्धिमान और हाजिरजवाब था, यह अकबर वीरवल के चुटकुलों एवं लतीफों में भरी प्रकार सिद्ध है । वीरवल बुझिया तहमील जगाधरी का रहन वाला था । वह भी जैनी था । उनके बुझिया के महल के पण्डित आज तक मौजूद हैं जो आज भी रगमहल के नाम में प्रसिद्ध है, जिनको हमने स्वयं देखा है । उनमें लकड़ी और लोहा नहीं लगा फिर भी बहुत सुन्दर और मजबूत है ।

भारमल नाँवर के राजा थे । वे जैनधर्मी थे । उन्होंने लाखों स्वर्णमुद्राओं का दान किया और जैनधर्म की प्रभावना में कंगेड़ों रुपये मर्च किये । उनकी अपनी टकमाल थी । अकबर का मुकुटधारी राजगुमार मलीम उसके दरबार में मिलने जाया करता था और सूचना भेजकर इस बात की प्रतीक्षा में रहता था कि वह इसको मिलने के लिये बुलावे । राजा भारमल का सम्मान अकबर के समान था । इसकी प्रत्येक दिन की आय एक लाख स्वर्णमुद्राओं में अधिक थी । पचास हजार स्वर्णमुद्राएँ तो प्रतिदिन यह अकबर के खजाने में जमा कराया करता था । अकबर पर इसका बड़ा प्रभाव था । इसमें स्वयं और अकबर से जैनधर्म की प्रभावनाओं के अनेक काम करवाये ।^५

राजमल एक जैन महाकवि थे, जिन्होंने अकबर के लिये अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थ लिखे । उनके प्रभाव से अकबर का जीवन ही बदल गया और वह जैन सिद्धान्तों का आचरण करने लगा ।

प० बनारसीदास भी अकबर के दरबार के महाकवि थे । समयसार नाटक जैसे महान् उपयोगी ग्रन्थ रचे । पगड़ी बेचने का काम करते थे । उनकी प्रतिज्ञा थी कि एक आना रुपये से अधिक लाभ नहीं लेंगे और १ रुपये से अधिक एक दिन में नहीं कमायेंगे । अकबर ने उनके व्रत की परीक्षा करने के हेतु आज्ञा दी कि कल मेरे दरबार में सब पगड़ी बांध कर आये । पंडितजी जिनेन्द्र भगवान् की पूजा आदि से निवृत्त कर १० वजे दूकान पर जाते और चार वजे दूकान बंद कर देते थे । इसलिये सुबह से ही उनकी दूकान पर भीड़ लग गई परन्तु वह समय पर आये और (१६) गोलह पगड़ी बेचकर दूकान बंद करने लगे । लोगों ने कहा—“चाहे जो दाम ले ला, पगड़ी दे दो । कल दरबार में बिना पगड़ी नहीं जाया जा सकता ।” तब उन्होंने बाकी पगड़ियाँ बिना लाग के बेच दी । अगले दिन हजारों पगड़ियाँ देकर अक-

१ Ayn-i-Akbari Vol III p 330

२ सन्मति सन्देश, देहली (फरवरी १९६३) पृ० २३-२४ ।

३ सन्मति सन्देश, देहली (फरवरी १९६३) पृ० २४-२५ ।

४ Todarmal under the imperial service of Akbar was Digambar Jain He patronised Jain poet Rajmal—Jambu Swamicharit (Bombay) P 7-8

५ For details Jain Antiquary Vol XII, P. 57

वर ने कहा—“५० बनारसीदाम ने बड़ा काम उठाया होगा।” लोगों ने बताया कि १६ पगडिया ब्रेचने के बाद उन्होंने बिना नया लिटे पगडिया ब्रेची तो वह पण्डितजी के परिश्रमपरिमाण जन और मन्ताप को देखकर चकित रह गया। अकबर के दरबार में तबिसन्नेलन हुआ करने थे। एक बार तबिसान की समस्या थी—“नो जान करो नु अकबर की”। पण्डितजी ने अपनी यह तबिसान पटी—

जिया बहुत वेदा घरे जग मे, छवि भागई आन दिगम्बर की।
नव चिनामणि घर मे प्रकटी, तब कौन जहन्न अडम्बर की॥
जिन ताण तरण मेय लियो, परवाह नहीं सुजवर की।
जिन आम नहीं पग्मेवर की, मो आम करे सु अकबर की॥

अन्तिम कटी मुने ही भागे दरबार मे प्रवेश मच गई। नवका विद्याम था कि पण्डित जी को कठोर दण्ड दिया जावेगा। पण्डित उन्वर पण्डित जी की मन्त्राई और निर्भयता ने बड़ा प्रभाव हुआ और कहा—माग। क्या मागते हो? पण्डित जी ने कहा—जो मेरे पाम है मैं उगी मे मन्तुष्ट हू। अकबर ने बहुत जोर दिया ता पण्डित जी ने कहा—हुआ न दरबार मे आन मे मुझे मुक्ति दें। अकबर ने कहा—मे दरबार मे जाने का ना बहन बडे-बडे आदमी इच्छुक हैं। पण्डित जी ने कहा—वह टण्डितमुख चाहते हैं जो मुझे आध्यात्मिक मूव मे जानन्त आता है जिनमे यहा आने के काय बाधा पट जाती है। अकबर और नव दरबारी पण्डित जी के तब-न्याय मे चकित हो गये। अकबर ने कहा—आप मे पावदी उठाई जाती है, पण्डित फिर भी जव-जव समय मिले अवश्य आने रहना।

सेठ आनिदास अहमदनगर के नगरसेठ थे। उन्होंने अकबर की आज्ञा मे जनेक जैन मन्दिर करोड़ों रुपये की लागत मे बनवाये। उनका अकबर पर बड़ा प्रभाव था।^१ बाजरो मे रज उत्सव निकलवाय।

गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी गमायण के प्रसिद्ध लेखक थे। पण्डित बनारसीदाम की आध्यात्मिक प्रशंसा मुनकर गोस्वामीजी ५० जी मे मिलने गये जो अपनी गमायण की एक प्रति उन्हें भेंट की। ५० बनारसीदाम ने पाठवनाय की म्मुनि की प्रति गोस्वामी जी को भेंट की जिसका उनका बड़ा प्रभाव पडा। यह ५० बनारसीदाम के आत्मबल का प्रभाव है कि गोस्वामीजी ने जैन-सिद्धान्तों का आद करने हुए अहिंसा (दया) का धर्म की जड कहा—

“दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब तक घट में प्राण ॥

जैन कर्मफिलोसफी की प्रशंसा करने हुए गोस्वामी ने कहा—

“सकल पदार्थ हैं जग माही, कर्महीन नर पावत नाहीं।

रहीम भी एक महाकवि था। अरबी, फारसी के समान हिन्दी और संस्कृत का भी विद्वान् था। ५० बनारसीदाम का इनपर भी उनका अधिक प्रभाव पडा कि जनेक आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर दोहे लिखे।

५० त्पचन्द्र भी अकबर के समय हुए। बडे प्रसिद्ध कवि थे। जैनधर्मी थे।

कबीर माहव भी उनकी समय हुए। जैन-सिद्धान्तों का उनपर किनारा प्रभाव था, यह उनके दोहों मे सिद्ध है।

(१) दुर्वल को न मताइये, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की स्वास से, लोह नस्म हो जाय ॥ (अहिंसा)



(२) कविरा तेरी झोपड़ी है गठकटो के पास ।

जंसा करे वंसा भरै, तू क्यों हुआ उदास ॥ (कर्मसिद्धांत)

सहारन-वीर अकबर के खजाची थे । यह जैन थे । इनकी सेवा एव ईमानदारी से प्रभावित होकर अकबर ने उनको जागीर में बहुत-सी भूमि दी जिसमें उन्होंने नगर बसाया जो उनके नाम पर सहारनपुर कहलाया है ।^१ सहारनवीर जिनेंद्र भगवान् के भक्त थे । यही कारण है कि सहारनपुर में १२ जैन-मन्दिर हैं ।

तानसेन ससार का एक बड़ा प्रसिद्ध संगीतज्ञ था, जिसके गान में जादू का असर था । अकबर के दरबार का सर्वोत्तम गवैया था ।

ब्रह्मगुलाल जैनधर्मी था । स्वाग भरने में समस्त ससार में केवल एक ही था । एक बार चन्दवार के राजा कीर्तिसिन्धु ने उसे शेर का स्वाग दिखाने को कहा । उसने कहा—“डम भेप में मनुष्य तक की प्राणहत्या होने का भय है ।” उन्होंने तीन खून माफ कर दिये । ब्रह्मगुलाल ने ऐसा उत्तम भेप बनाया कि सब उसे अमली शेर समझकर भागने लगे । राजकुमार ने कहा—“यह शेर कहाँ ? किसी को खाता तो है नहीं, यह शेर नहीं, गीदड़ है ।” जवान का घाव तलवार के घाव से अधिक दुःखदाई होता है । उसने राजकुमार पर ऐसा झपट्टा मारा कि राजकुमार मर गया । राजा को बड़ा दुःख हुआ, परन्तु वचन दे रखा था, चुप रहा । दूसरी बार उसे दि० नमन मुनि का भेप धारण करने को कहा गया, उन्होंने ऐसा भेप बनाया कि उसके वैराग्य और उपदेश का सब पर बहुत प्रभाव पड़ा । वह जगल में जाने लगे तो लोगो ने कहा कि यह तो स्वाग है, समाप्त हो गया । ब्रह्मगुलाल ने कहा—“मुनिभेप ऐसा भेप नहीं जो एक बार धारण करके छोड़ दिया जाय । उसके सदा के लिये घरवार छोड़ते देख राजा को भी वैराग्य आ गया । वह भी जैनमुनि हो गया और ब्रह्मगुलाल के समान तप करने लगा ।

पन्ना धाय जिसने महाराणा उदयसिंह की जान बचाने के लिये अपने प्रिय इकलौते पुत्र को बलिदान किया जैनधर्मी थी ।

आमाशाह जिन्होंने अपनी जान जोखिम में डालकर महाराणा उदयसिंह को धारण दी और बनवीर जैसे बलवान् तथा क्रूर सम्राट् से भयानक युद्ध करके, विजय प्राप्त कर उदयसिंह को सिंहासनाट्ट किया, जैनधर्मी था ।

भामाशाह अहिंसा धर्म का अनुयायी जैनधर्मी कितना योद्धा था । महाराणा प्रताप जैसे महायोद्धा वीर ने उसे अपना सेनापति बना रखा था । इस जैन देशभक्त ने अपनी अपार सम्पत्ति देशरक्षा के लिये महाराणा प्रताप को भेंट दी । इन सबके विस्तार के लिये हमारा लिखा ‘वर्द्धमान महावीर’ पृ० ४८१-४८५ देखो ।

महाराणा उदयसिंह, महाराणा प्रताप आदि-आदि इतने जैनधर्मप्रेमी अकबर के समय हुए हैं कि चार-चार लाइन भी एक-एक के सम्बन्ध में लिखें तो हजार पृष्ठों में भी न आवें । हम श्रीकृष्णभदेव से लेकर आजतक का सचित्र इतिहास लिख रहे हैं उसमें अधिक वर्णन करेंगे । यहाँ केवल एक सत्यवादी की कथा देते हैं ।

रघुपतिसिंह महाराणा प्रताप का वीर मरदार था । अकबर की सेना की इसने इतनी मारकाट की कि अकबर को उसके मारने या पकड़ लाने के लिये बहुत बड़ा पुरस्कार घोषित करना पड़ा । रघुपति का इकलौता पुत्र सख्त वीमार हो गया । स्त्री ने खबर भेजी पुत्र का मुह देखना हो तो तुरन्त आ जाओ । रघुपति के घर पर पहरा था

१ The City of Saharanpur was founded by a Digamber Jain Shri Saharanbir Singha who got the locality in Jagir from Akbar His son Gulabrai migrated to Delhi, when he built a Jain temple in Kucha Sukhanand—C F No 280 in the list of Muhammadan and Hindu Manuments quoted in Ratandeep Kiran II (Rajeshwarbhawan Green Park) Vol I, P 50

फिर भी वह घर गया। मूल लियाही ने रोका तो उसने कहा कि मैं अपने बीमार पुत्र को देखने जाया हूँ अभी बापिस जाऊँ। तब मुझे यह मूढ़ भाग्य पुष्कार प्राप्त हुआ। मैंने जो यह सुनकर अपने पुत्र की याद हो आई और पुत्रप्रेम का स्मरण कर उसे ढाँचा दे दी। श्रुति स्त्री और पुत्र ने मिया। पुत्र बहुत बीमार था और कुछ समय का ही मेहमान था कि भी वह बापिस जाने लगा। स्त्री ने रोका तो उसने कहा—‘मैंने मुगल मैनिज का वचन दिया है कि मैं बापिस जा रहा हूँ अब नरुद्ध हूँ।’ उसने मैनिज ने कहा—‘मैं आ गया हूँ, मुझे पकड़ कर पुष्कार प्राप्त करा’ मैनिज श्रुति की सचाई और बीमारी ने बड़ा प्रभावित हुआ और उसने उसे छोड़ दिया।^१ किसी ने यह बात शकवर ने वह दी तो बड़ा शोचित होने के समाने मन्नाति का पुष्कार में मन्मानित करते हुये कहा कि यह मेरे पित्रे गर्व की बात है कि मेरे सम्बन्धों दया, अहिंसा, प्रेम और सत्य का आदर करते हैं।

अकबर के समय में एक रुपये में गेहूँ १०५ रतल, चावल १११ तन, जौ २१११ तन २१ रतल, दूध ८६ रतल, जवार २२२ रतल, बाजरा २१११ रतल, तमक १३१ रतल, चीनी १८ रतल, और गेहूँ का भाड़ा १८८ रतल मिला था।^२

अकबर के फरमान (१) १५ जून सन् १५८४ को जैनाचार्य श्रीविजयजी को दिया कि पशुपण (मादपद नाम में होने वाले पर्व) के दिनों में जैन जादवाओं के किसी नाम में किसी भी पशु की हत्या न की जावे। (२) १५६० को, लिम्बे द्वारा दूना-मन्नाजय के मन्त्र जैन तीर्थस्थान चैतियों के मुकुट जिये जाने हैं ताकि वहाँ किसी प्राणी की हत्या न हो। (३) अकबर का फरमान ५-६-१५६३ कि मोग दिवस न जिया जावे। गिकार न खेज जावे। विष्णार के लिये ‘कम्प्या’ गोग्गुपुर, एकद्वार १६४१ पृ० २०५ देखा।

महावीर-निर्वाण-दिन मनाते के लिये बीबात्री को अपने किले की ऊँची मीनार पर चढ़कर एक बहुत बड़ा दीपक, जिसमें २॥ मन्त्र के छाला चला था, खोल कर जालों में जलाकर उसे प्रणाम करता था। गरीबों को मिठाई और गन्म उपड़े इस पवित्र उद्यम पर वादता था। फिर माँ नगर में दीपक जलते थे।^३

बी० ए० स्मिथ ने ‘जैन टीचर आफ अकबर’ ग्रन्थ भाग पेज ३८६ पर लिखा है कि जैन साधुओं ने नि-मन्दर अकबर को अर्पण कर अपने धर्म की शिक्षा दी जिसके प्रभाव से उसने जैन प्रभावना के होने आचरण किये कि लोग यह समझने लगे कि अकबर बादशाह जैनी हो गया। पोंचुगीज पादरी Pinheiro अकबर के राज्यकाल में भारत आया था। अकबर के आचरणों और आज्ञाओं को देखकर उसने अपने बादशाह का ३ सितम्बर १५६५ को एक पत्र लिखा कि अकबर ‘नैनधर्मानुयायी है—‘He (Al bar) follows Jainism’ प्रमाण तथा अकबर के सम्बन्ध में अधिक जानने के लिये हमारा ‘शान्ति के अग्रदूत श्रीवर्धमान महावीर’ देखें।

जहागीर—(१६०४ में १६०८) जैनसाधुओं का बड़ा मत्कार करता था। जैनाचार्य श्रीजिनसिंह के ज्ञान और चाग्रि ने प्रभावित होकर इन्होंने उनको ‘दुष्टाग्रान’ (मन्त्र में बचने महान्) पदवी प्रदान की थी।^४ इन्होंने जैन आचार्य श्रीरविन्द सूरि, श्री विजयसेन और श्री जिनचन्द्र जी का बड़ा सम्मान किया।^५ जैन तीर्थों और इनके निकट

१ विष्णार के लिए ‘उर्दू मिलाप देहली (७-१२-६०) पृ० १३।

२ W.H. Marel in his article “The Value of money the Court of Al bar” in Journal of Royal Asiatic Society 1918 P.P. 375 to 385 A V Smith also gave the rates in his ‘Akbar’ P 390 which are almost the same

३ बनारसीविलास (बम्बई सम्पकरण) प्रस्तावना।

४ New Indian Antiquary Vol I, P 520

५ जे० के० नगीमान सम्पादक ‘बम्बई शानिकल’ उर्दू दैनिक मिलाप कृष्ण न० अगस्त १६२५ पृ० २०।





जीवहिंसा न करने के आज्ञापत्र निकाले ।^१ दस लक्षण जैन पर्व में ता निरन्तर दस दिन तक गमस्त राज्य में हूँ प्रसार की हिंसा बंद करदी थी ।^२ जैन त्योहारों और पवित्र धार्मिक दिनों में हत्या बंद रहने का एक करमान जहांगीर ने १६०८ ई० में ५० विशेषहर्ष को दिया था ।^३ जहांगीर बड़ा दयालु और आहिंसाप्रेमी था ।^४ अकबर ने जिनने दिन पशु-वध न होने के बचा रखे थे, जहांगीर ने उन दिनों में बढ़ातरी कर दी थी ।

५० वनारगीदास जैन आध्यात्मिक कवि थे । उनका विषय एक दम्बारी ने जहांगीर में शिकायत की वह अपने जिनेन्द्र भगवान् के गिनाय और किंगी को नमस्कार नहीं करते । जहांगीर ने उनको नमस्कार करने को कहा तो उन्होंने कहा—

जाके परमाय आगे भागे पर-भाव सव
नगर नवल गुप्त सागर की सीम है ।
सवर का रूप धरे, साथे श्रिय-राहु ऐसी,
ज्ञानी पातशाह ताको मेरी समतीम है ।

यह दोहा सुनकर जहांगीर बहुत प्रगल्भ हुआ और उगने पड़ा—“आपको मुझे नमस्कार, बंदना या समलीम करने की आवश्यकता नहीं ।”^५

भगवत्सीदास जैनजगत् के मुनिम्यात कविज्वर जहांगीर के ही गमग हुए । यह बुडिया जिला अम्बाला के निवासी थे और देहली के भट्टारक श्री महेन्द्रमेन के शिष्य थे । उन्होंने जहांगीर के समय संस्कृत और हिन्दी में अनेक ग्रंथों की रचना की ।^६

हीरानन्द देहली के निकट जहानाबाद के जैन विद्वान् थे । उन्होंने जहांगीर के राज्य में पञ्चात्मिकाय-टीका लिखी और समयमरणन्ताय, द्रव्यसंग्रह और एकीभावना आदि अनेक रचनाएँ की ।^७

सेठ धान्तिदास ने पशु जयन्ती में शान्तिनाथ तीर्थकर का एक विशाल मन्दिर बनवाया ।^८ प्रहमदावाद गज-टियर के अनुसार धान्तिनाथ का यह मन्दिर ऐतिहासिक है ।^९

अर्जुनदेव सिंगो के पाचवें गुरु जहांगीर के समय में हुए । उन्होंने ‘धी सुत्रमणी साहब’ एक बड़ा उपयोगी ग्रन्थ रचा जिसके आरम्भ में उन्होंने लिखा “एक अकार सत्य गुरु प्रसाद” जिसका अर्थ देहली के प्रसिद्ध हिन्दूधर्मोपासक पत्रिका “मार्तण्ड” ने मार्च १९६३ के पृ० ६ पर यह किया—“ओम् भगवान् का नाम है जो मक्के गुरु की उपामना से प्राप्त होता है । जो जन्म-मरण और आवागमन के दुःखों में डरते हैं उन्हें सच्चे साधु की धारण लेना चाहिये ।” गुरु महाराज राग-द्वेष त्याग कर ब्रह्म (आत्मिक) ज्ञानप्राप्ति की शिक्षा देते हुए कहते हैं—

“ब्रह्मज्ञानी सदा नित्य । जैसे जल माँही कमल अलेप ॥

१ Jahangir forbidden hunting, fishing and other slaughtering of animals during the ten days of Parushan in his reign—Alfred Master ICS, Virnirvanday in London (W.J M) P 4

२-३-४ ‘कल्याण’ गोरखपुर १९४५ पृ० २०४, २२५, २२६ ।

५ सन्मत्तिसदेश, जनवरी १९६७, पृ० ३२ ।

६ देहली जैन टाइम्स १० ।

७ विस्तार के लिये सन्मत्तिसदेश (मई १९६६) पृ० २६ ।

८ Epigraphica India Vol II

९ According to Ahmedabad Gazetteer Vol III 1879, this Jain temple of Shanti-das is Historical one most beautiful and worthseeing—Bombay Prant Ke Jain Smarak P. 43

गुरु गोविन्दसिंह भिखारों के दमर्चे गुरु थे। इन्होंने दशम ग्रंथ साहब की रचना की। जिसमें इन्होंने लिखा है कि जैनधर्म के स्यापक अर्हन्त देव (ऋषभदेव) थे। इस ग्रंथ के श्लोक हमारे लेख में जो 'बाइन आफ अहिंसा' १९५७ के ऋषभदेव अंक में छपे हैं, देखें।

ऐतिहासिक प्रमाणों में मिश्र है कि जहांगीर के राज्य में जैनमंदिर बने। लाहौर में मोलहवं तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ का मंदिर इनका मुन्दर था कि जहाँगीर भी आकृष्ट हुए बिना न रह सके। विस्तार के लिये (अहिंसावाणी १९५६, पृ० २०७)। जैनधर्म के अनेक प्रसिद्ध ग्रंथ और उनकी टीकाएँ लिखी गईं। नग्न जैनमुनियों का विहार बिना किसी रोक-टोक के होता रहा। जैन रथयात्राउत्सव और अनेक जैनधर्म की प्रभावना के कार्य होते रहे जिनमें राज्य की ओर ने सहयोग दिया जाना रहा।

शाहजहा (१६२०-१६५८ ई०) जैनियों की नचाई, ईमानदारी और अहिंसामय आचरण में बड़ा प्रभावित था। इसने हिमालय (पंजाब) के जैन नेठ दीपचन्द को हिमालय में देहली बुलवाया। रहने के लिये ४-५ बीघे भूमि तथा जामा, चादर, जोड़ा कलगी, खिलजन आदि प्रदान कर उनका बड़ा सम्मान किया। उन्हें अपने राज्य का प्रधान खजांची बनाया। उन्होंने जैनमन्दिर बनवाने की आज्ञा मागी तो मंदिर के लिये बिना मूल्य भूमि दी और जैनमन्दिर के बनवाने में बड़ा सहयोग दिया। शाहजहा का एक मेनापति जैन था, जो जिनेन्द्र भगवान् का इतना भक्त और उपामक था कि लडाइयों में भी भगवान् का प्रतिदिन साय रचना या और फौजी कार्य आरम्भ करने में पहिले उनकी पूजा करता था। उसकी बीरता में प्रमत्त होकर शाहजहा ने लाल किले के नामने स्वयं भूमिदान देकर २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् का जैनमंदिर बनवाने की आज्ञा दी जो लाल किले के नामने लाल मंदिर कहलाता है और आज भी देखने योग्य है।^१ इसमें पार्श्वनाथ की १८६६ ई० की प्रतिष्ठित मूर्ति है।^२ शाहजहा भी जैन महाकवि प० बनारसीदास का बड़ा सम्मान करता था।^३ शाहजहा के राज्यकाल में जैन विद्वान् शालिवाहन ने आगरा में हरिवंशपुराण की रचना की।^४ शाहजहा के राज्य में ही देहली दरवाजे के निकट दि० जैन मन्दिर का निर्माण हुआ।^५ सन् १६३५ ई० में जैन महाकवि प० दीपचन्द ने पाठ सनवन्गण की रचना की थी।^६ शाहजहा के पचहत्तारो उमराव और जाफर खा के दीवान (मन्त्री) अमरगज जैन थे। इनके पुत्र जगजीवन एक महाकवि थे जिन्होंने अनेक जैनग्रंथों और कविताओं की रचना की।^७

शाहजहाँ के राज्यकाल में दि० जैन नग्न नाथुओं का आगमन और विहार हर म्यान पर बिना किसी रोक-टोक के होता था।^८ श्री जी० के० नागीमान मन्सादक 'बम्बई क्रानिकल' के अनुसार शाहजहा ने जीवहिंसा रोकने और जैनधर्म की प्रभावना के फरमान अकबर और जहांगीर में भी अधिक उपयोगी घोषित किये थे।^९ सेठ शान्तिदाम ने अहमदाबाद में १६३८ ई० में करोड़ों रुपये की लागत में ऐसा मुन्दर विशाल देखनेयोग्य अतिशयपूर्ण शान्तिनाथ भगवान् का जैनमंदिर बनवाया जो आज चिन्तामणि मंदिर कहलाता है।^{१०}

औरंगजेब ने, जब वह राजकुमार था, लगभग १६४६ ई० में इस ऐतिहासिक जैनमन्दिर को मजिद में

- १-२. विस्तार के लिये 'नवभारत टाइम्स' देहली, १०-८-१९५२ पृ० ३।
३. बनारसीविलास (बम्बई मस्करण) प्रस्तावना।
४. जैन मिथान नास्कर, वर्ष ६ पृ० १२६।
५. Delhi Jain Directory (Jain Sabha Delhi) P 10
६. List of Mohemadan and Hindu Monuments Vol I
७. जैन ग्रंथ प्रशस्तिग्रह पृ० १५।
८. बीर देहली (१-३-१९३२) अंक ६ पृ० १५५।
९. दूरू दैनिक मिलाप, देहली, कृष्ण न० अगस्त १९३६, पृ० ३६।
१०. Archaeological Survey of India Report Vol XVI Cousing





बदल दिया तो जैनियो ने शाहजहा को शिखायत की तो वह औरंगजेब ने नाराज हुआ और उसके डग काय की निन्दा करते हुए फिर से पहले के समान आकर्षक मन्दिर बनाने की आज्ञा दी और उसके बनवाने का सब मन्त्र गाहो खजाने से किया गया और उसमें पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति अपनी आज्ञा में विराजमान कराई।^१

शाहजहा की हीरो की बटी परख थी। बढिया मे बढिया हीरे, जवाहरात, मानी-पन्ने उसके छजाने मे थे। उसने सात मन बढिया हीरे, जवाहरात, लाल, जमुद, मोती और ४० मन मोने मे एक तम्ब ५३ कगोट रुपयो मे राज्य के सर्वोत्तम कलाकारो द्वारा रात-दिन परिश्रम करना कर गात माल मे मोर की शक्ल के ममान बनयाया। मोर को फारसी मे ताऊन कहते हैं। इसलिये उस मोर के समान शाल वाले तम्ब को तम्ब-मे-ताऊन ब्रह्ते है।^२

राजा जुस्तारसिंह शाहजहा के समय बुन्देलण्ड का राजा था जो जैनधर्मी और बडा योग था। उसकी वीरता से खुश होकर शाहजहा ने उसे दक्षिण का शासक बना दिया था और लिखत भी प्रदान की थी। इनका विश्वास था कि न्याय वह है जिसको प्रजा न्याय कहे। इसलिये वह सदा प्रजा का मुन रगता था।^३

लोगो का अनुमान है कि आगरा का रोजा ताजमहल शाहजहाँ का बनवाया हुआ है परन्तु अनेक विद्वानों की नई राजों से यह विश्वास हो गया है कि वह एक राजपूत राजा का महल था। आपकी जानकारी के लिये हम केवल श्री पी० एन० ओक के नेच का उद्धरण देते हैं। उनके अपने शब्दों में—

"New direct three fold evidence is available to prove conclusively that the famous Taj Mahal is infact nothing more and nothing less than a Hindu palace —

(i) Shahjahan's "Badshah Nama"—a court chronicle, written at his own command, Mulla Abdul Hamid Laheri unambiguously admit on Page 403 of its Vol I Mansingh's Manzil (Palace) was chosen for Mumtaz's burial"

(II) Mr Narul Hasan Siddiqui's book "The City Of Taj" says on page 31 that it was Man Singh's Palace which Jai Singh was made to hand over for Mumtaz's Burial in exchange of which, says the book, he was given a lofty edifice by Shahjahan

(III) French "Tavernier" who was a visitor to Shahjahan's Court has recorded on Page 14 of his Travels in India translated by Dr V Ball, Published by Macmillan & Co London (1889) the cost of the scaffolding was more of the entire work (of manuseolum) Had Shahjahan built the edifice, the cost of Scaffolding would have formed an infinitesimal part of entire expenditure But since he took over a ready lofty Palace all he had to do was to erect a costly scaffolding"

औरंगजेब (१६५८-१७०७ ई०) यह सत्य है कि वह बहुत मुतासिब (कट्टर) था। ऐसा करने से उसने इस्लाम की सच्ची सेवा करने के स्थान पर अपने राज्य को कमजोर बना लिया परन्तु अपनी सचाई, ईमानदारी और

१ Bombay Prant Ke Smarak P. 6

२. दैनिक 'उर्दू मिलाप' देहली (१२-६-६५) पृ० ३।

३ नीनिधि (प्रेमचन्द) सररवती प्रेस, वाराणसी, पृ० ३।

४ For details see Organiser, Delhi, June 11, 1967 P 6

चरित्रबल के कारण जैनधर्म का भयानक समय में भी फूलना-फूलना रहा ।^१ शा० बरियर औरगजेब के राज्यकाल में भाग्य आया । उसका कहना है कि "मैंने नान मुनियों को बड़े शहरों में बिहार करने देखा । मिया व लडकिया तक उनके बिना किसी गोरदोक के दर्शन करनी थी ।^२ उनके राज्यकाल में रथ-यात्राएँ निकली, जैनमंदिर बने, जैन धार्मिक-ग्रंथों की रचनाएँ हुईं । जैन मुनियों और जैन विद्वानों का औरंगजेब महाराज करता था । जी० के० नारीमान, मन्सादक 'बम्बई शान्तिदान' के शब्दों में औरगजेब ने जैनियों के तीर्थस्थानों पर दण्ड प्रभाव की जीर्वाहना न किये जाने के फरमान जारी कर देने में ।

मैठ शान्तिदान जीहरी अम्बरनगर का जैनधर्मी और जिनेंद्र भगवान् का श्रद्धालु उपासक था । वह नगर-मैठ था । औरंगजेब ने उसे अपना हथवारी बनाया था ।^३

अरण मणिजी जैन आचार्य ने उनके समय १६५६ ई० में दूकने नीरंजण जजिननाथ की जीवनी—जजिननाथ पुण्य की रचना की ।^४

न्यायराय एक उद्भूत बड़े जैन विद्वान् थे । यह कवि भी थे । उन्होंने भी उनके राज्यकाल में अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों की रचनाएँ की ।^५

प० बनारसीदास जी का औरंगजेब ने विशेष स्तार दिया था । उन्होंने भी उनके राज्यकाल में अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों की रचनाएँ की थीं ।

प० विनोदोदाल ने उनके राज्यकाल में जैन मुनि श्रीविद्वत्भूषण जी के भक्तानामर की सम्बन्धितका वि० म० १७१६ में की थी । उसमें उन्होंने जोश देना हल लिखा कि औरगजेब के राज्य में जैनियों की जिनेंद्रमठिन (मूर्ति-पूजन) आदि शिष्टाचारों की व्यवस्था की ।^६

औरंगजेब के समय १६८६ में चादमेठी जिला छोटा (राजस्थान) में भगवान् महावीर का मन्दिर बनाया गया । पक्कालाग पूजा हुई । मन्सादा निराली । प्रतिबिम्ब की स्थापना हुई ।^७ प्रो० रामान्धारी आयगर के शब्दों में जैनियों के चरित्र, न्याय, विद्या और ज्ञान उनका अनुग्रह था कि उन्होंने अल्लाहवीर खिलजी और औरगजेब जैसे परके सुल्तान बादशाहों ने भी सम्मान प्राप्त किया था ।^८

१ Although Aurangzeb was famous for his despotism the profound learning and vigorous feelings to do good to mankind at large, the Jain saints so much affected the heart of the despotic emperor that he was in clind to entertain and honour their chiefs

२ I have seen them (Naked Saints) wall start naked through a large town, women and girls looking at them without any more emotion, females often bring them alms with devotion—Dr Benior's Travels the Mugal Empire p 317

३ Aurangzeb opppointed Johari Shantidas, Jain, jeweller of Gujarat as one of his Darbari—Der Jainis Mus P 67

४ अरणमणिद्वन अजितपुण्य इति० ४०-४१ ।

५ विस्तर के लिये 'अनेकान' (१६६४) पृ० १३३ ।

६ विनोदोदाल दून भक्तानामर स्तोत्र श्लोक ३६, ४०, ४२ ।

७. Jainism in Rajasthan, P 36

८ Jainacharyas by their charactor, attainment and scholarship commended the respect of even Mohammaden sovereigns like Allauddin Khilji and Aurang Padasha (Aurangzeb)—Studies in South Indian Jainism Vol II, P 132





लालकिले के सामने लाल जैन मंदिर के नीचे खाने में प्रतिदिन नगाडा बजा करता था। शाहजहाँ को तो उसमें कोई आपत्ति न थी लेकिन औरंगजेब मुतासब था। उसने यह कहकर कि इसके घोर से सरकारी काम में बाधा होती है नगाडा बन्द करने की आज्ञा दे दी। उमरी आज्ञा के अनुसार नगाडा नहीं बजाया गया तो भी नगाडा बराबर बजता रहा। पता चलने पर औरंगजेब स्वयं जैन मन्दिर में आए और स्वयं अपनी आँखों से बिना बजाये अपने आप नगाडा बजते देखकर चकित रह गये। तुरन्त अपना पहला हुक्म वापिस लेकर सदा के लिये जैन मंदिर में नगाडा बजाने की आज्ञा दे दी।^१

गुरु अर्जुनदेव ने ग्रन्थ साहब की रचना इसी समय की। इनको मुसलमान बनने को कहा। इनके इन्कार पर इनके नगे शरीर पर शङ्खभूजे की भट्टी से गर्म रेत डलवा कर अत्यन्त भारी कष्ट दिया। धन्य है इस बीज की, दो दिन के जीवन की लालसा में धर्म नहीं छोड़ा।

गुरु तेग बहादुर से कश्मीर के ब्राह्मणों ने फरियाद की कि घोर अफगान गैर जबरदस्ती हमें मुसलमान बनाना चाहता है। उन्होंने कहा कि समय एक महापुरुष की वरिष्ठ चाहता है। उनके पुत्र गोविन्दसिंह ने कहा कि आप से अधिक महापुरुष इस समय कौन है? गुरुजी ने कहा “उमे कह दो कि गुरुजी मुसलमान हो जायेंगे तो हम मर जायेंगे।” औरंगजेब ने गुरुजी को देहली बुलाया। घोर तेगबहादुर मृत्युदण्ड भुगतने को तैयार हो गये मगर धर्म न छोड़ा। इनकी याद में ही चादनी चौक देहली का गुरुद्वारा आज तक शीपगज कहलाता है। इसने सरहन्द के नवाब द्वारा गुरु गोविन्दसिंह के दो पुत्र फतेहसिंह और जोरावरसिंह का जीवित दीवार में चुनवा दिया परन्तु वे घोर बालक अपने पिता और पितामह के समान धर्म पर सुदृढ़ रहे। सियालकोट के घोर बालक हकीमत राय का सर काट दिया परन्तु वह धर्म पर स्थिर रहा। यह अत्याचार और महापुरुषों का वलिदान कब खाली जा सकता है? परिणाम यह हुआ कि जनता में उसके विरुद्ध नफरत पैदा हो गई और मुगल साम्राज्य समाप्त-सा ही हो गया।

बहादुरशाह (१७०७ से १७१२ ई०) के समय अनेक जैन मंदिर बने, रथयात्रा उत्सव निकले। जैनियों को धार्मिक कार्यों में कोई बाधा नहीं आई। इसके बाद एक साल जहाँदार शाह ने १७१२-१७१३ ई० तक राज्य किया।

फख्र बहादुर (१७१३ से १७१८ ई०) के शाही पञ्जाबी घासीराम जैन थे, जिन्होंने देहली में कूचा घासीराम बनाया। इन्होंने जैनधर्म की प्रभावना की। रामचन्द्र छावड़ा ने जैनमंदिर बनवाया। १७८६ ई० में श्वेताम्बर जैनमंदिर का निर्माण हुआ।

मोहम्मद शाह (१७१९ से १७४८ ई०) अहिंसाधर्मी था और जैनियों को बड़ा आदर करता था। इसके राज्यकाल में १७४६ में जैन विद्वान पं० रामचन्द्र ने आदि—(ऋषभदेव) पुराण की प्रतिलिपि लिखी जो आज भी धर्मपुरा देहली के पचायती दि० जैनमन्दिर में सुरक्षित है। मोहम्मद शाह के शाही पञ्जाबी हिसार (पंजाब) के राजा हरमुखराय ने धर्मपुरा में एक बड़ा मन्दिर जैनमन्दिर बनवाया जिसकी वेदी के समुप सिंहयुगल की पच्चीकारी का काम आगरे के ताजमहल से भी अधिक बारीक और उत्तम है। सिंहों की मूर्तियों के बाल अलग-अलग पत्थरों से अकित करने का कार्य तो निःसंदेह ही उत्तम है। राजा हरमुखराय और उनके पुत्र सेठ सुगनचन्द ने अनेक स्थानों पर ५७ जैनमन्दिर बनवाये।^२

सहारनपुर में मोहम्मदशाह का स्थानीय नवाब—मोहल्ला सध्यान में मसजिद बनवा रहा था और मना करने पर भी न माना। मोहल्ले के लोग बादशाह से मिले। उसने आज्ञा दी कि मसजिद के स्थान पर पार्श्वनाथ का दि०

१ नवभारत टाइम्स देहली, ता० १०-८-१९५९ पृ० ३।

२ विस्तार के लिये ‘अनेकान्त’ अप्रैल, १९३६।

जैनमंदिर मरगाही उचें पर बनेता । चुनावे मोहना मध्यान् का मंदिर ऐतिहासिक मंदिर है और मुगल सम्राट के खर्च में बना, आज भी देखने योग्य है ।^१

छत्रमान कुटुम्बट के नये जैनधर्मों ने । बटे सोझा और अतिप्रेमी थे । उनको २५ साल का बूटा जानकर मोहम्मद शाह ने उनका आश्रय कर दिया । दशरथ ने जैन सम्राट कब पीछे रह सकना था ? बिनार तथा बूटे होने पर भी सेना के स्वयं राक्षसों में पहुँचे और उन दोनों ने उसे कि सम्राट का सेनापति मुहम्मद खा मदान उ'दर' भागा । और उम्माद न हमरा पीछा करने के लिया, यह विश्वास दिलाकर कि फिर आपके देश पर आक्रमण नहीं करेगा, जैन सम्राट ने मरि जनी पटी ।^२

अहमदशाह (१७६८-१७८०) के समय अनेक जैनमंदिर बने, चबारा उत्सव देहली आदि अनेक स्थानों पर हुए ।^३ १८११ में जयपुरमण के मर्ग । रामचन्द्र श्रवटा ने जैनमंदिर बनवाया ।

आत्ममर्गी द्वितीय १७८१-१७८३ के शासनकाल में ईरान के कोटपनियापासी तम्बद, छट्टा (मिथ) आए । छट्टा में उनकी नैत जैन धर्म में । रामचन्द्रजी ने उन्हें जिनके चारित्र और उपदेश ने प्रभावित होकर वह कंगेटी की सम्पत्ति गरीबों में बाँटकर जैनधर्माभ्यासी हो गये । जैन धार्मिकों का स्वागत करने में उन्हें मृत्यु का पता चढ़ गया और ममत्त बसारे मनुष्य त्याग — तम दि० जैन साधु हो गए । गार्मारी ने कहा कि तुम जैनधर्म व्यापक फिर जन्म स्वर्गार कर के बना मुहूर्त कीवित की खातिर कहा की जायगी । मरमद ने कहा शरीर तो एक दिन नष्ट होना ही है । कि टांगे साह तया ? अनादि तार न धर्मा की धर्मा मिलने रह है । उन भावना में कि वह दिन आव, मैं मम-मरण की आर्द्रादि पराजितना त पुन हाऊँ, मैंने जैनधर्म धारा है । कि धर्म का मोह ? ऐसे पवित्र और अतिनाशी मुक्त के द्वारा का तैम उ'दर द ? आत्ममर्गी ने तार म जाकर जीवित ही उसके शरीर की खातिर जीवने की आज्ञा दी । अन्य है उन अतिशय और त्याग की सच्ची धर्म को कि जन्माद उनका जीवित धर्मा की खातिर उतार रहा था परन्तु मरमद के चेहरे पर मु'दुराहट थी ।^४

अमयचन्द्र ईनाचार की धार्मा में वह जाहू या कि मरमदों जैन उनके उपदेश ने प्रभावित होकर जैन हो गये । यह उनके ही उपदेश का फल था कि तार विदेशी बहरी अपनी आत्मा की शक्ति को शरीर में मिल जानकर धर्मा की सम्पत्ति और हर प्रकार की सामाजिक जागमामशी प्राप्त होने पर भी स्वयं छट्टा ने त्यागकर साधु हो गये और अपनी हट अहंता प्रान्त की कि जीवित अविद्यान का दिया परन्तु जैनधर्म न छोड़ा । जीवित शरीर की छाल खींचे जाने पर 'मो' तन नहीं की । दुःख ना अपने मन में है । जिसे विश्वास हो गया यह वस्तु मेरी नहीं, उसे उसके नष्ट होने का क्या दुःख ? यही निज-पर का भेद मरमदशन है जिसकी प्राप्ति के बिना मास असम्भव है ।

बहुत ही मर्त्य में, अनेक महन्वर्णों पटनाओं एवं अनेक महापुरुषों का वर्णन न करने पर भी लेख लम्बा हो गया । जिसके लिए हम पाठकों में क्षमायाचना करते हैं ।

१ विन्मार के लिये 'मन्मत्तिसदेव', मर्ग १९६० ।

२ 'धर्मपुग' (बम्बई), १८ अप्रैल १९६५, पृ० ५० ।

३ देहली रथ यात्रा ।

४ श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डे, मन्मादक 'विश्ववाणी', इलाहाबाद 'मन्मत्तिसदेव' (अप्रैल १९६३ ई०) पृ० ५-६ ।



मालव भूमि के दो आचार्य : कालिदास और वात्स्यायन

पद्मभूषण डा० सूर्यनारायण व्यास

उज्जैन



संस्कृत साहित्य-रसिकों के लिए कामशास्त्र के अप्रतिम विद्वान् आचार्य वात्स्यायन का नाम सुविदित ही है। उनका ग्रन्थ कामसूत्र अपन विषय का सर्वश्रेष्ठ एव मार्मिक है। उनकी समता की कोई अन्य रचना कामशास्त्र पर नहीं हुई है। यह रचना वैज्ञानिक है। मानव-गनोविज्ञान का जिस सूक्ष्मता और गहराई में लेखक ने अध्ययन किया है और सूत्रों में उसका जैसा निचोड़ प्रस्तुत किया है वह सर्वथा अप्रतिम ही है। वात्स्यायन ने और ग्रन्थ भी निर्मित किए हैं। किन्तु उसकी महत्त्वपूर्ण तथा अमरकृति कामसूत्र ही है। वैसे कामसूत्र के पूर्व भी उक्त विषय पर ग्रन्थ लिखे गये हैं। कामसूत्र में उनका उल्लेख भी किया गया है, पर आज ये ग्रन्थ या तो अप्राप्य हैं या लुप्त हो गये हैं। वात्स्यायन कहा का निवासी था, उसका कार्यक्षेत्र कहा था, यह विद्वानों में विवाद का विषय बना हुआ है। कुछ समय पूर्व बिहार के एक विद्वान ने लिखा था, सम्भवत यह पश्चिम भारत का निवासी था। उसे अवती की राजनगरी उज्जैन का निवासी बतलाया था।

अवध ही कुछ शुग-विश्रम काल गुप्त एव परमार प्रभुत्व में अवती विद्या एव वैभव की दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध रही है। ज्ञान-विज्ञान की प्रचण्ड-धारा वहां प्रवाहित होती रही है। अनेक विषयों का अवती में प्रणयन हुआ है। भारतीय-साहित्य-संस्कृति को अवन्ती की अमर देन रही है।

बेदिद्रुमा और उत्तर-पश्चिम भारत से सबसे बड़े वन्दरगाह भूगुफ्फु तक जाने वाले व्यापार के समस्त राजमार्ग उज्जैन से होकर ही निकलते थे। इस कारण उज्जैन उत्तरी भारत के प्रसिद्ध नगरों से सम्बन्धित रहा है। इस कारण भी उसकी सम्पन्नता और समुन्नति स्वाभाविक थी। ऐसे ऐश्वर्य-सम्पन्न नगर में विलासोपभोग, रसिकता का रहना स्वाभाविक ही है। वात्स्यायन ने जिन लोगों का अपने ग्रन्थ में विस्तार में वर्णन किया है, वह तत्कालीन उज्जैन के अनुकूल ही है। अवश्य ही उज्जैन का जनजीवन रम-विलासितामय रहा है। विलामोन्माद में उसने कभी कभी अपने शौर्य और पीरूप को भी एकान्त में ढकेल दिया था, यह शूद्रक के नाटक से प्रतीत होता है कि उसमें जिस राज्यक्रान्ति का संकेत दिया है उसकी पृष्ठभूमि में विलासिता ही रही है। वाण, कालिदास तथा जैन-साहित्य की कालक कथा से भी इसका समर्थन होता है। कालिदास के काव्य के निम्न उद्धरणों से भी यही ध्वनित होता है —

य पण्यस्त्रीरतिपरिमलगोरिभिर्नागराणाम् ।

सुरतग्लानिमगानुकूल

शिप्रावात. ॥

तथा

वशपुरयधूनेत्रकौतुहलानि,

आदि ।

अवन्ती की परम सुन्दरी वसन्तसेना तो साहित्य में भी अमर बनी हुई है, यद्यपि वह वेदया थी, किन्तु उसका कला के अतिरिक्त पण्य-स्त्री का रूप नहीं है। वह राज के जैसे सम्पन्न का शिकार न बन दरिद्र-चारुदत्त के चरणों में न्योछावर हो गई और एक राज्यक्रान्ति का कारण बन जाती है, इसी प्रकार पद्म प्राकृतक और पाद जैने

जाते थे भी रहा की विगमिना या चित्र दिखाई देना है। वात्स्यायन ने मात्र प्रदेय की मनोवृत्ति, रत्न-महत्, वेप-
मूषा या भी चित्र प्रतिन किया है उसमें विदिन होना है कि वह प्रदेय के अनरग ने मुपरिचिन या।

वात्स्यायन ने कालिदास की चर्चा की है और कवि मुक्त्यु ने वात्स्यायन का उल्लेख किया है। इसलिए
कालिदास, मुक्त्यु पूरुषर्षी के गण्ट ही द्वितीय चन्द्रपुत्र के ने पूव हुए हैं। कुछ विद्वान् वात्स्यायन के काममूत्र की रचना
को इनकी चर्चा के मध्य की रचना मानते हैं। राममूत्र में जिस मामाजित स्थिति का चित्रण किया है वह भी यही
प्रमाणित करता है। नीचे अचार्य का व्याख्यान भाष्य भी है। एक अन्य स्थल में मुख्य-नामद्विक गन्ध निमित्त करने का भी
उल्लेख मिलता है। नाचमणि तथा हेमचन्द्र ने वात्स्यायन को 'पण्डित स्वामी' नाम से भी ज्ञापित किया है, सर्वदर्शन-
मंत्र में भी यही नाम उल्लेखित है।

वात्स्यायन ने पानजलि और शीटिल्य के उद्धरण दिये हैं, इनमें तीसरी चर्चा का प्रतीत होता है।

पश्चिम स्वामी नाम के शब्द कुछ लोगों ने द्रविड समझने की सम्भावना मानी है। द्रविडों के जाहा-विहार
की भी राममूत्र में चर्चा हुई है किन्तु वात्स्यायन ने सभी प्रान्तों के मानव स्वभाव का, रत्न-महत् का वर्णन किया है,
अन्यथा सावदेशिक विवरण का वर्णन कैसे कर सकता था।

वात्स्यायन ने विन प्रान्त के मानव जी-उत्ताओं का वर्णन किया है उसमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह
मालव प्रांत का निवासी होना चाहिए। इनमें तमस्र के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार वात्स्यायन
के विधानों पर शीटिल्य का व्याख्यान प्रभाव पड़ित होना है, उसी प्रकार पानजलि के महाकाव्य के उद्धरणों का उप-
योग करने के कारण यह प्रतीत होता है कि ई०पू० १५० वर्ष के पश्चात् निकटवर्ती काल में रहा है। दूसरे भास
के नाटकों में जिस तरह के समाज का चित्रण किया हुआ है वात्स्यायन में भी वैसे ही मिलता है। वात्स्यायन ने अवि-
ज्ञान की कथा का उल्लेख किया है। उसमें भास के पद्यवर्गी काल में होना चाहिए। कालिदास ने भी स्पष्ट ही भास
का उल्लेख किया है। एक स्थान पर वात्स्यायन ने यह कहा है कि शकुन्तला की तरह अन्य कुमारिकाओं की बात कह
कर अपनी पददगी के अनुरूप दिन प्रकाश मुक्त, वन गयी आदि।

(पद्यान्य भादिनानाजतीया गद्या) शकुन्तलाया स्वयुध्या
नर्तार प्राप्य मप्रपुत्रा मोदन्तेस्म नात्वात्या निवर्तयेन् (पृ० २७८)

इसमें विदिन होना है कि जिस प्रकार अविभारत-प्रणेता नाम से वह परिचित है, उसी प्रकार शकुन्तल निर्माता
कालिदास से भी वह परिचित है। शकुन्तला का वृत्त महाभास में प्रसिद्ध है, किन्तु अविभारत का भी उसी प्रकार है।
परन्तु दोनों ही नाट्य रूप में जनप्रिय बनकर प्रभावशाली बन गये हैं।

कालिदास और वात्स्यायन का अन्त्य ही अविन सम्बन्ध होना चाहिए, कालिदास ने रघुवंश में कामामक्त
अग्निवर्ष की प्रियातिना का जैगा वर्णन किया है, ठीक वैसी ही व्याख्या राममूत्र में प्राप्त होती है। यही नहीं शब्द-
प्रयोगों में भी साम्य है। मोरहर्षे श्लोक में कवि ने जिसे 'मधाम' शब्द का प्रयोग किया है, उसी का विशेष प्रतिनधाम
(काममूत्र ३०३) तथा उसी अर्थ में प्रयोग वात्स्यायन ने किया है और उसी मर्म के ३१वें श्लोक में भी देखिए—

मित्रकृत्यमपदिदय पादवर्त ।
प्रस्थित तमनवस्थित प्रिया । (१६-३१ रघु)

वात्स्यायन ने भी अपने प्रेमी को जो विरक्त बन रहा है किन प्रकार पहचाना जाय, उनका उल्लेख करते हुए
लिखा है—

मित्रकृत्यमपदिदय अन्यत्र शते । (३२३)





इसी प्रकार अज और इन्दुमति के विवाह का वर्णन करते हुए कालिदास ने कहा है—

आसीद्वर* कटकितप्रकोष्ठ ।
स्विन्नागुलि सववृत्ते कुमारी ।

अर्थात् जब अज ने इन्दुमति का पाणिग्रहण किया तब अज के हाथों में रोमाच हाँ उठा, और इन्दुमति की अगुलिया पसीनों से भर गयी थी ।

वात्स्यायन ने ऐसे ही प्रसंग पर वही शब्द प्रयुक्त किये हैं—

कन्या तु प्रथमसमागमे स्विन्नागुलिवन्त मुह्यी च भवति पुरुषस्तु रोमाचितो भवति

दूसरी जगह कालिदास ने इसी बात को थोड़ा पलट कर कहा है—

रोमोद्गम प्रादुरभूदमाया ।
स्विन्नागुलि पुण्यकेतुरासीत् ॥ (कुमार सभ)

कामसूत्र निर्माता ने महाकवि के स्वाभाविक-मनोवैज्ञानिक वर्णन को सामने रख कर ही अपनी व्याख्या वर्णित की होगी । यदि कवि ने वात्स्यायन की व्याख्या को लक्ष्य में रख कर यह गद्योक्ति किया होता तो रघुवत्ता और कुमारसभ में विभिन्नता नहीं करता । इससे यही स्पष्ट होता है कि वात्स्यायन ही पर महाकवि का प्रभाव है ।

और भी देखिए—कालिदास की शकुन्तला का यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने ।
भर्तृविप्रकृतापि रोयणतया मास्म प्रतीपगम ॥

शाकुन्तल के इस श्लोक के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ चरण की सूचनाओं का वात्स्यायन ने अपने सूत्रों में स्पष्ट उपयोग किया है, जो सर्वथा समानार्थक है । श्लोक के प्रथम दो चरणों का भाव ग्रहण किया है और तीसरे चरण का तो शब्दशः उपयोग किया है । वात्स्यायन का वह सूत्र इस प्रकार है—

द्वयश्रुश्वशुरपरिचर्या तत्पारतन्त्र्यमनुत्तरवादिता
भोगेष्वनुस्तेक, परिजने वाक्षिण्य । (कामसूत्र पृ० २३०)

तीसरे प्रकरण के भार्याधिकरण स्तम्भ में कामसूत्रकार ने सपत्नी के सम्बन्ध में लिखा है—

नायकापचारेषु किञ्चित् कलुषिता नात्यर्थं निर्वन्देत् । साधिक्षेपवचनत्वेन ।
मित्रजनमध्यस्थमेकाकिन वाप्युपालभेत नच भूलकारिकास्यात् । (पृ० २२७)

शाकुन्तल के पंचम अंक में एक स्थान पर दुष्यन्त ने कहा है—

नागरिकवृत्त्या सज्ञापयन्मां ।

ठीक उसी प्रकार और इसी अर्थ में कामसूत्र में 'नागरकवृत्तम्' विवरण प्रस्तुत किया है ।

शाकुन्तल के प्रथम अंक की कुछ बातों का वात्स्यायन के 'कन्याविस्त्रग प्रकरण' से बहुत अधिक साम्य है ।

“जिस समय किसी तरुणी को यह पता चल जाये कि कोई युवक उसका प्रणय प्राप्त करने को उत्सुक है, तब वह दोनों ओर की परिचिता सखियों द्वारा सदेश व्यवहार आरम्भ करे । उस समय निम्न मुखी वन मदस्मित करे, सखी द्वारा अतिशयोक्ति करने पर रोय प्रकट करे, झगड़ पड़े, तब सखी कहें कि 'उसी न तो कहा था ।' और जब

नहीं एक ओर निरत जाव तथा प्रियतम के मन्दापन का जबरार मिले, नद कुट न बोलें और प्रिय के अत्यधिक आग्रह पर कहें कि 'मातव में ऐसी बात नहीं कर सकती' इस समय निरशी नवरा ने देखनी जाए, तथा मदन्मित करे' (कामसूत्र १६४)।

मानों यह प्रियतम और कनूषा ने ही विवाद चला रहा है, तथा दुष्यन्त के साथ इसकी परिणति हो रही है, यह कालिदास के शास्त्रकार का चमत्कार ही सिद्ध होता है।

वात्स्यायन प्रथम शती का है। यह अपने समय की जयन्ती (उज्जयिनी) को मातव देश में मानता है। अर्थात् प्रथम शती में जयन्ती को मातव समझा जाता था। जो बात यह मानने है कि मातव पलाश में आए और ४-६ठी शती में इस प्रदेश को मातव कहा गया है उसकी सम्भावना यह कहने कि—

आप्रतिपत्ता उज्जयिनी-देशमया त एव मातवस्य (कामसूत्र १००) आप्रतिपत्ता-उज्जयिनी म देशोत्पत्तौ ज्ञेया है ये ही अन्तर्भाव है।

वात्स्यायन के चेतन उल्लेख में, मातव के विचारकों ने यही ज्ञान होना है कि वह मातव का था। मभवत मातव के उत्पत्ति का मत है।

युग के अन्तिम शतकों के चरित्र-चित्रण आदि का दृष्टि उमरा जाना हुआ जाना चाहिए, क्योंकि ऐसे नरेशों की उमरे आगे-पीछे की है। जो मन्दापन का महत्त्व दिया है। मभवत युगोत्तर-मातव-रथ का नागरिक रहा था। नागरिक जीवन के शरीर के भी यही प्रतीक होता है, वात्स्यायन ने देश की भौगोलिक और सामाजिक स्थिति का जैसा चित्रण किया है और वही कालिदास के शायो और मातव के चित्रण है। जिस युग के नागरिकों का मुखमय, बला-विश्रामपूर्ण जीवन वात्स्यायन ने देखा है उसका चित्रण किया है, कालिदास के साहित्य में उमरे कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता।

यामरदत्ता व निमाणा युग्म ने वात्स्यायन का उल्लेख किया है। युग्म युग ही चन्द्रगुप्त द्वितीय के पूर्व होता है। उसके उल्लेख तथा कालिदास के जन्म का समय ज्ञान होने उद्देश्यों में स्पष्ट है कि वात्स्यायन युग काव के पूर्ववर्ती है और कालिदास व सुप्रसिद्धि शतों के शायो प्रथम शती में जाना सम्भावित है। नाम एवं कौटिल्य ने प्रभावित होने के कारण यह उनके पदानुसार मातव में रहा है।

आचार्य-मन्त्राद् युग्म शान्तरा के विषय में वात्स्यायन ने एक उद्धरण दिया है—

कर्त्तव्यां श्रुतम् शान्तर्षी शान्तवाहो महादेवी मलयवती जयान (कामसूत्र १४६)

जो 'यामरदत्ता' के मतानुसार इस आचार्यों पर मारखे ने ई.स. पूर्व १७१ में आक्रमण किया था, (गं वि० श्रौ० सि० १० नं० १११ पृ० ८८१-८८२)

कुल्लु ई० गं० के आक्रमण में उत्पन्न हुआ था, इस प्रमाण के आधार पर वात्स्यायन प्रथम शती या इसके अग्र-मग रचना है और कुल्लुदेश्वर शीतल में सम्प्रतिष्ठित-कालिदास भी उसी काल में स्थिर होता है।

वात्स्यायन ने और इसी प्रकार के वर्णनक्रम का स्वरूप उतनाया है जिस तरह कालिदास ने अपने साहित्य में वर्णन किया है।

कालिदास पाटलिपुत्र और मगध को विशेष कोई महत्त्व नहीं देता। वात्स्यायन न भी देश के विभिन्न भागों, गौतम गिराजों का वर्णन किया है, परन्तु मगध का महत्त्व नहीं दिया है। यह धनया है कि जिस समय मगध का महत्त्व गिरा हुआ था तथा युग-प्रतिष्ठित प्रवृत्ति हो गई थी, तथा सिद्धि में राजधानी बन गई थी, उसी समय कालिदास और वात्स्यायन के साहित्य का सृजन हुआ है।





वात्स्यायन ने नागरिक जीवन का वैभव-विलासितापूर्ण, सुखी, एवं कलामय जीवन अंकित किया है, भास-अश्वघोष कालिदास में भी ऐसा ही चित्र मिलता है, मुद्रावीन-धवल-प्रासाद, रम्य-चित्र-कलाकित दीवारें, कलापूर्ण रत्नमय, धरणी तल, कलाकण, मनोरम उद्यान, लताकुज, सुरभित सुमन, सुन्दर स्नानगृह, शीन-समीर के लिए स-चदनाम्बु-व्यजन, विश्राम गृह, रहस्यमय-विलास स्थान अन्तःपुर की रचना का वर्णन वासवदत्ता, चारुदत्त अश्वघोष, कालिदास की मालविका और मेघदूत ऋतुसंहार में इतना साम्य रखता है कि समकालीन वर्णन हो, तथा तत्कालीन सुखी-समाज का प्रत्यक्ष अनुभव तब उन्होंने साहित्यरचना की है। नागरिकों की दिनचर्या का वर्णन देखकर चारुदत्त का ही चित्र प्रत्यक्ष हो जाता है। भ्रान्तिमित्र और मेघदूत के विलासी यक्ष के साथ तुलना कर सकते हैं, शरीर प्रगाधन, सुरभित लेपन, केय-संस्कार, धूप, सुरभित सुमनमाला, नयनों में कज्जल, पैरों में अलवत्तक, अधरो पर अरुण-राग-रजन, करागुलीय, आदि का साम्य चारुदत्त, यक्ष, नन्द के प्रासाद के अन्तःपुर में रू-रमणिया के प्रसाधन रम-विलास से सहज की जा सकती है। कुंकुम-केशर चर्चिन-रत्नेश्वर कालिदास के ललन कुंकुम केशराज के समान ही प्रतीत होता है। वात्स्यायन की तरह ही प्रथम-शती में विरचित 'ललित-विस्तार' में भी सुरभित-माधनों के प्रयोग, अनुलेपन, स्नानीय-सुरभित द्रव्य, फेनिल पदार्थों का प्रयोग, नव, स्तन, अधरो की रगानुरजित करने की विधियों का जैसा वर्णन भास, वात्स्यायन, ललित-विस्तार में हुआ है, वह विशेष मनोहारिता के साथ कालिदास के साहित्य में सुलभ होता है। पशु-पक्षियों के पालन भी प्रवृत्ति, नृत्य, संगीत, वादन, नाट्य अभिनय, गोष्ठी आदि भी ठीक उसी प्रकार है, जैसे कालिदास ने वर्णित की है। शिलालेखों में प्रमाणित होता है कि वात्स्यायन के समय सु-संस्कृत-समाज की व्यवहार भाषा संस्कृत रही है, और जनसाधारण की प्राकृत, यह शाकुन्तल एवं मालविका के पात्रों के प्रयोग से प्रमाणित है।

वात्स्यायन ने उस समय के समाज में गोष्ठी-प्रथा का प्रचलन बतलाया है, भास के आदिनाटक और दूसरे नाटकों में भी ऐसे वर्णन हुए हैं। कालिदास के साहित्य में यह स्थिति सहज देखी जा सकती है। कालिदास ने मनोरजन के लिए कथा कहानियों को महत्त्व दिया है, 'उदयन कथा कोविद ग्रामवृद्धाण' 'पात्र गोष्ठि' आदि यही बतलाती हैं। इसी तरह उद्यान-भोज, वन परम्परा, मदनोत्सव, वसतोत्सव, अशोकोत्सव, कौमुदी महोत्सव, आदि की चर्चा समानरूप से भास, कालिदास, वात्स्यायन में प्राप्त होती है। नागरिक जीवन के इन वर्णनों में सुखी समाज, वैभव विलासिता का जो रूप वर्णित है, यह प्रमाणित करता है कि तत्कालीन साहित्य-सृष्टा-वर्ग भारत के अतीत काल और स्थान विशेष की प्रवृत्ति से प्रभावित है। 'प्रिय शिष्या ललिते कलाविधी' का रूप मालविका में स्पष्ट है। वात्स्यायन की सुन्दरी लावण्यवती सुसज्जित-श्रु गारित-सालकृत-नारी का रूप यक्षपत्नी और मालविका में दिखाई देता है। पति के प्रवाम विरहकाल में पाल के व्यवहारों का वर्णन—भास और वैदिक—परम्परा में प्राप्त है वही वात्स्यायन में मिलता है, और यक्षिणी की स्थिति को कालिदास द्वारा उद्धृत भ्रलका में भी अनुभव कर सकते हैं और हमारे समक्ष एक सरीखा चित्र प्रस्तुत हो जाता है।

वात्स्यायन के समय में भी जनसाधारण में प्रायः एक पत्नी की प्रथा रही है। 'एक चरित्र' शब्द से यही लक्षित है। वात्स्यायन के घनिक-जन प्रायः बहुदारप्रिय रहे हैं। राजाओं की भी यही स्थिति रही थी। ललितविस्तार के शुद्धोधन की भी कई पत्नियाँ थीं, उनमें श्रेष्ठ मायादेवी थी। कालिदास के 'बहुवल्लभा राजान' से इसका साम्य है। यद्यपि वात्स्यायन ने प्रणय के लिए 'परदार-प्रणय' का प्रसंग प्रस्तुत किया है किन्तु वात्स्यायन नागरिकों के पतन का पुरस्कर्ता नहीं है। वह शील और मर्यादा का उपदेशक भी है। निरकुशता को उसने तिरस्करणीय बतलाया है। कालिदास के 'अनिर्वचनीय परकलत्रम्' से वह सहमत है।

वात्स्यायन ने नारी के कलाशिक्षण को महत्त्व दिया है, जिस प्रकार गणदास से मालविका कला-शिक्षा लेती है। कुलीन कलाकारों को सत्परिवारों में, राज्य के अन्तःपुरों में प्रवेश मिलता था।

कामसूत्रप्रणेता ने जिन स्त्रियों को तापमी, साध्वी के रूप में रहने की सूचना की है, उनमें बुधू, श्रमण, क्षण, और ब्राह्मण-साध्वी का उल्लेख है और इन्हें नागरिक नारियों में कम सम्बन्ध रखने की सूचना है। वात्स्यायन

ने इसका वाग्ण यह बतलाया है कि इन भिक्षुणियों के द्वाग प्रणय-नदेन-व्यवहार होना था। मालविकाग्निमित्र की 'कौशिक' इसका प्रमाण है। मालवीमाधव में तो बहुत स्पष्ट रूप में यही न्यति है। वात्स्यायन और कालिदास इस स्थिति में पर्याप्त परिचित थे।

वात्स्यायन के समय चित्रकला का विकास पर्याप्त हो गया था। दीवार, पट्ट फलक आदि पर चित्राकन होना था। चित्र-क्याएँ अकित की जाती थी। चंदन दाम के घर पर चाणक्य के गुणचरों ने यम-पट्ट का दहन किया था। मुद्राराक्षस में वर्णन हुआ है, रंगपेटी, कुमारियों को देने का उल्लेख है। चारुदत्त के वर्णन में, रंग, रंग-पात्र, नित्ति-चित्रों की चर्चा है। वात्स्यायन ने रा, और चित्रों की चर्चा के विषय में रस, भाव, आदि की सुन्दर व्याख्या की है। कालिदास का दृष्ट्यन्त चित्रकार और चित्रप्रेमी है। राजभवन में चित्राकन का शाकुन्तल में तथा मालविका के चित्र-रूप का सुन्दर वर्णन हुआ है। प्रतिकृति-चित्राभ्य में स्पष्ट विदित होना है कि पुरुषों और युवतियों के चित्रों का विवाह में पूर्व राज-परिवारों में आदान-प्रदान होना था। इस प्रकार कालिदास और वात्स्यायन में अद्भुत साम्य है। दोनों ही समान वातावरण और न्यति में अनुप्राणित प्रेरित-प्रभावित हैं। कालिदास-माम आदि मालव भूमि में ही सम्बन्धित हैं, यह उनकी अनुराग-भूमि और कार्यक्षेत्र रहा है। इसमें मतभेद का अवसर नहीं है। ऐसी अवस्था में वात्स्यायन में जो प्रत्येक पहलू में नम-रूपना दिखाई देती है, वह इसी प्रदेश में उनके अस्तित्व का समर्थन करने वाली है। चतुर्भाषी के पद्म-प्राभृत्क और पादनाडितक के रम-विलास वैभव का जो प्रत्यक्ष-चित्र अवन्ती के वातावरण में ओतप्रोत था वह प्रमाणित करता है कि वात्स्यायन के काममूत्र-प्रणयन के लिए इनसे सुन्दर, मर्बया अनुकूल एवं प्रेरक वातावरण अन्यत्र मिलना मुश्किल नहीं हो सकता था।



आचार्य सोमदेव'

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

आचार्य, स्नातदाय जैन महाविद्यालय, वाराणसी



सोमदेव के दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—यशस्तिलक^१ और नीतिवाक्यामृत ।^२ प्रथम को 'यशोधरमहाराजचरित' भी कहते हैं । इसके आठ अध्यायों में, जिन्हें आश्वास कहा गया है, गद्य तथा पद्य में महाराज यशोधर की कथन कथा वर्णित है । दूसरा ग्रन्थ राजनीति से सम्बद्ध है । इसमें ३२ अध्याय हैं तथा मूत्रों द्वारा विविध विषयों की चर्चा की गई है । ऐसा प्रतीत होता है कि नीतिवाक्यामृत यशस्तिलक के पश्चात् रचा गया है ।

सोमदेव ने यशस्तिलक^३ के अन्त में अपने सम्बन्ध में स्पष्ट सूचना दी है । यह देवगण के अनुयायी थे और यशोदेव के प्रशिष्य तथा नेमिदेव के शिष्य थे । नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति उल्लेखनीय है कि सोमदेव महेंद्र देव के छोटे भाई थे और 'रयाद्वादाचलमिह' 'ताकिरुचणकनी' 'वादीनपञ्चानन' 'वाक्कल्लोलयोनिधि' और 'कविबुल्लराज' उनकी उपाधियाँ थीं । तथा सोमदेव ने 'यशोधरमहाराजचरित' पणवतिप्रकरण' 'महेंद्र-मातली सारूप' और 'युक्तिचिन्तामणिसूत्र' नामक ग्रन्थों की रचना की थी । इनमें से अन्तिम ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध में कुछ मन्देह है क्योंकि पाटन के जैन भण्डार में, सवत् १२६० में लिखी हुई नीतिवाक्यामृत की एक प्रति में उसका नाम 'युक्तिचिन्तामणिस्तव' दिया है ।

सोमदेव आगे कहते हैं कि शक सम्वत् ८८१ में (६५६ ई०) सिद्धार्थसयस्तर में चंद्रमाम की मदन प्रयोदशी के दिन यशस्तिलक रचा गया । उस समय कृष्णराजदेव, पाड्य, सिंहल, चोल, चेर आदि राजाओं को जीतकर मेलपाटी में अपना राज्य फैला रहा था । सोमदेव का यह कथन ऐतिहासिक सत्य की दृष्टि से उल्लेखनीय है क्योंकि महान् राष्ट्र-कूटसम्राट् कृष्णराज तृतीय के करहाड दानप्रवादों में इसका समर्थन होता है । यह दानप्र सोमदेव के यशस्तिलक की समाप्ति में कुछ ही सप्ताह पूर्व ६५६ ईस्वी की ६ मार्च को मेलपाटी में जारी किया गया था । सोमदेव की तरह इस शिलालेख में भी कृष्णराज तृतीय को चोल, चेर, पाड्य, सिंहल तथा अन्य देशों का विजेता लिखा है तथा यह भी लिखा है कि उसने रामेश्वर में एक विजयस्तम्भ स्थापित किया ।

यह लिखना मनोरंजक होगा कि पुष्पदन्त ने भी अपने अपभ्रंश भाषा के महान् काव्य महापुराण में कृष्णराज तृतीय के मेलपाटीशिविर का उल्लेख किया है । जिस वर्ष में (६५६ ई०) सोमदेव का यशस्तिलक पूर्ण हुआ, उसी वर्ष में महापुराण का आरम्भ हुआ । और ६६५ ई० में वह पूर्ण हुआ ।

१ प्रो० कृष्णकान्त हन्विकरी के 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर' के आधार पर लिखित—'लेखक'

२ निर्णयसागर प्रेस बम्बई में मुद्रित ।

३ भाणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित ।

४ 'श्रीमानस्ति सदेवसघतिलको देवो यश पूर्वक, शिष्यस्तस्य यभूय सद्गुणनिधि श्री नेमिदेवाह्वय । तस्याश्चर्यतप स्थितेस्त्रिनयतेर्जेतुर्महायाविना, शिष्योऽभूविह सोमदेव इति यस्तस्यैव काव्यक्रम' ।।

५ 'शकनृपकालातीतसयस्तरशतेज्यवृष्टस्वेकाशीत्यधिपे पु गतेषु (अकत ८८१)

सिद्धार्थसयस्तरान्तर्गतचैत्रमासमदनप्रयोदश्यां—मेलपाटी प्रवर्धमान राज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति' ।

महापुरुष मे पुनरुदन्त लिखने है—

त वृहमि पुराणु पमिद्ध णामु, सिद्धत्ववरिमि भुवणाहिरामु ।
उबद्धदृष्टु भूभग नीष्टु, तोडेप्पिणु चोडहो तण्ड सीसु ।
भुवणेसरुगमु रायाहिराड, जहि अच्चइ तुडिगु महाणुमाड ।
त दोणदिण्णवणरुणयपयह, महि परिममत्तु मेपाडिणयह ।

अर्थान्—मिथ्याये वर्ष मे महापुरुष का प्रारम्भ हुआ । उस समय राजाधिराज 'तुडिग' जिसे टिप्पण मे कृष्ण-राज कहा है, चालुयुवराज या फिर काट डालने के बाद मेन्पाडि मे वर्तमान था । टिप्पण मे मेपाडि को मेल्पाटीय-नगर लिखा है जो मेन्पाटी है ।

पुनरुद न ने मेन्पाटी नगर को आनन्द मे मग्न लिखा है और लिखा है कि वहाँ गरीबों को धन-सोना दिया जाता था । यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि उस वर्ष मेन्पाटी मे कृष्णराज तृतीय अपने दक्षिणविजय का उत्सव मना रहा था और इन उत्सव के कारण नगर आनन्द मे मग्न था । दक्षिण भाग के इतिहास में ६५६ ई० का वर्ष क्रमदिग्ग रूप मे सार्वभौमिक जी० मान्युनिक महत्त्व का था । क्योंकि इस वर्ष दक्षिण में राष्ट्रकूट आधिपत्य की पूर्णा ही नहीं देखी बल्कि भारतीय साहित्य के दो स्मरणीय ग्रन्थों का आरम्भ और समाप्ति भी देखी ।

यद्यपि सोमदेव कृष्णराज तृतीय का समकालीन था किन्तु उसका ग्रन्थ राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यवेष्ट मे नहीं रचा गया । बल्कि एक अप्रतिष्ठ स्थान गंगाग्राम मे रचा गया । यह गंगावासी सम्भवतः कृष्णराज^१ के करद राजा चालुक्य मामन्त अश्विमेध के बड़े पुत्र प्रागगन की राजधानी थी ।

'प्रागगज' नाम के पटने ने कुछ मन्देह है । यद्यपि यगन्तिशर की मुद्रित प्रति मे और एक अन्य मुलिखित प्रति मे 'प्रागगज' ही पढ़ा जाता है । किन्तु सिन्धी प्रतियों मे वाड्यराज पढ़ा जाता है । और प० नाथुराम प्रेमी ने एक प्रति मे 'वाड्यगज' पढ़ा है । शुद्ध नाम वड्डिग प्रतीय होता है, वाड्यराज और वाड्यगज उसी का संस्कृत रूप है ।

पुनः ईदगाग्राम ग्रन्थ के परवर्ती नामन स्थान मे एक ताम्रपत्र पर संस्कृत मे अंकित मिलालेख मिला है । उसमे सोमदेव की यगन्तिशर की रचना के मात वर्ष पञ्चान्त की केवल झलक ही नहीं दी, किन्तु जिनके राज्य मे रहकर सोमदेव अपनी रचना की थी उन चालुक्य मामन्तों की वशावली भी दी है । राष्ट्रकूटों के इन करदाताओं की वशावली ई० स० ६४१ तक तो हमें ६४१ ई० में जैन रवि वर्म के द्वारा रचे गये कल्लि शापा के ग्रन्थ 'भारत' मे ज्ञात है । उन मिश्रणों ने ई० ६६६ तक ज्ञात हो जाती है । यह तालिका नीचे लिखे अनुसार संकलित की जा सकती है—

शुद्धमन्त्र प्रथम, अग्निमेग्नि प्रथम, नर्मिह प्रथम (भद्रदेव), शुद्धमन्त्र द्वितीय, वड्डिग प्रथम, शुद्धमन्त्र तृतीय, नर्मिह द्वितीय, अग्निमेग्नि द्वितीय (उमन एक राष्ट्रकूट राजसन्धा लोकाश्रयिका मे विवाह किया), भद्रदेव, अग्निमेग्नि तृतीय, वड्डिग द्वितीय (वाड्यग) अग्निमेग्नि चतुर्थ ।

इनमे मे अग्निमेग्नि द्वितीय पश्य बवि का आश्रयदाता था और वड्डिग द्वितीय अथवा वाड्यग के राज्य मे सोमदेव ने अपनी प्रसिद्ध रचना की थी जैसा कि ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है । उक्त ताम्रपत्र मे शक सवत् ८८८ अथवा ६६६ ई० मे अग्निमेग्नि चतुर्थ के पुत्र वाड्यग के द्वारा सोमनाथ को एक गाव दान मे देने का उल्लेख है । यह दान वुड्पाटन नाम की अपनी गजधानी मे वाड्यग के द्वारा वनवाये गये एक जैन मन्दिर की, जिसका नाम शुभधाम जिनालय था, सम्मान और मूर्त्ति के लिए दिया गया था । उस गाव का नाम 'वनिकुट्ट पुलु' था ।

१ श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविन — चालुक्यकुलजन्मन सामन्तचूडामणे श्रीमदरिकेसरिण प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्गणराजप्रधर्मानवसुधगया विनिर्मापितमिदं काव्यमिति ।





उक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि ६६ ई० में सोमदेव शुभधाम जिनालय के अधिकांश थे और शान्तिपूषक अपने साहित्यिक कार्य में मग्न थे। जैसा कि शिलालेख में उन्हें यशोधरगिरि के साथ साथ एक अथवा अनेक अन्य ग्रन्थ स्याद्वादोपनिषद् का कर्ता लिखन में प्रतीत होता है। यह भी लिखा है कि समकालीन विद्वान् सोमदेव का बहुत सम्मान करते थे और राजा तथा सामन्त उनके चरणों में आदरपूर्वक सिर झुकाते थे।

किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है शिलालेख में कम से कम दो नाम ऐसे हैं जो भ्रम पैदा करती हैं। प्रथम तो सोमदेव के दादा गुरु यशोदेव की गी० मध का अनुयायी बतलाया है। शिन्तु काग० म० लि० लि० लि० है कि सोमदेव ने स्वयं यशोदेव को देवसध का अनुयायी बतलाया है। दूसरे, अग्निगिरि चतुर्थ की राजधानी (जें) बुलपाटक बतलाई है, जिसके विषय में निश्चित रीति में कुछ भी ज्ञात नहीं है। यद्यपि यह पुनः हीररावाद राज्य में किसी जगह हो सकती है।

यह विचारणीय है कि अब तक हमें जोला प्रदेश पर शासन करने वाले तीन बालुच्य सामन्तों की राजधानी के नाम ज्ञात हो सके हैं। प्रसिद्ध कन्नड कवि पम्प का आश्रयदाता अरिकेमरी द्वितीय पुलीगेरे में राज्य करता था। सोमदेव के लेखानुसार बाह्यग गगधारा में राज्य करता था। और उसका पुत्र अरिकेमरी चतुर्थ करता है कि (ज) बुलपाटक उसकी राजधानी थी। यह भी उल्लेखनीय है कि जैसे सोमदेव ने बाह्यग के पिता अरिकेमरी का कृष्णराज का करदाता बतलाया है वैसे ही प्रस्तुत शिलालेख बाह्यग के पुत्र अरिकेमरी का बिल्कुल उसी रूप में उसी प्रदेश का करदाता सामन्त बतलाया है।

जब कि सोमदेव कृष्णराज तृतीय और बाह्यग के समकालीन थे, यह स्पष्ट नहीं होता कि इन दोनों में से कोई एक उनका आश्रयदाता था या नहीं। सम्भवतः सोमदेव का कोई आश्रयदाता नहीं था। सोमदेव एक जैनधर्मी थे। उन्होंने बड़े आदर के साथ अपने गुरु का उल्लेख किया है। इसके विषय में वह एक राजनीतिक विचारक थे और अपने नीतिवाक्यामृत में उन्होंने राज्य की नमस्कार किया है किसी राजा को नहीं। फिर भी यह निश्चित है कि वह राज-दरबार के जीवन में सुपरिचित थे और उन्होंने राष्ट्रकुटों की राजधानी में कुछ समय बिताया होगा। उन्होंने यशो-लक के तीसरे आश्रय में राजसभा का जिस बारीकी में वर्णन किया है, गगधारा जैसे प्रदेश के धुन जागीरदार में उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। वह तो किसी ऐसे साम्राज्य के लिए ही उपयुक्त हो सकता है, जो हमारे देशों के राजकुलों का स्वागत तथा दुराग्रही राजाओं के विरुद्ध युद्ध-प्रोत्साहन करता है तथा अपनी इच्छानुसार हिन्दुस्तान के विभिन्न भागों से सैन्यदल बुला सकता है। नीतिवाक्यामृत के रचयिता सोमदेव राष्ट्रकुट साम्राज्य के एक स्वदेशी-मानवी नागरिक थे। उन्होंने राज्यकार्यपद्धति के सिद्धान्तों और राज्यहित पर बहुत ध्यान दिया है। तथा अपनी महान् कृति में युद्ध और शान्ति पर प्रभाव डालनेवाली शासकीय समस्याओं पर प्रकाश डालने के विषय राजसभा का अच्छा चित्र खींचा है।

पूर्ववर्ती शताब्दियों की तरह दसवीं शती का समय संस्कृत, प्राकृत और कन्नड जैन-साहित्य की उन्नति का काल था। यदि हम सोमदेव के काल की सोमा वाचना चाहें तो बिना किसी बाधा के कृष्णराज तृतीय के राज्यकाल ६३६ से ६६६ ई० तक के साथ उसकी अवधि बैठई जा सकती है। इस काल के विद्वत्ता और साहित्य के इतिवृत्त में हमें अनेक विशिष्ट नामों का परिचय मिलता है। ६४१ ई० में प्रसिद्ध कन्नड कवि पम्प ने दो काव्य लिखे — एक आदिपुराण, जिसमें प्रथम जैन तीर्थंकर का इतिवृत्त वर्णित है, और दूसरा विक्रमाजुंनविजय, जिसमें महाभारत की अथवा वस्तुतः अर्जुन की कथा है। ई० ६५० के लगभग इस शताब्दी के दूसरे महान कन्नड कवि पोन्न ने कृष्णराज तृतीय के मरक्षण में 'शान्ति पुराण' लिखा जिसमें सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का पौराणिक इतिवृत्त वर्णित है। कृष्णराज ने कवि पोन्न को उसकी कन्नडी और संस्कृत दोनों भाषाओं में प्रवीणता के लिए 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' की प्रतिष्ठासूचक उपाधि प्रदान की थी। कृष्णराज तृतीय के राज्य के ठीक आरम्भकाल में इन्द्रनन्दि ने संस्कृत में ज्वालामालिनोकल्प नामक ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ ६३६ ई० में मान्यवेद में रचा गया था और इसमें कृष्णराज का उल्लेख है। सोमदेव के अति निकट

समकालीनों में ने हमारी भेंट दो विशिष्ट व्यक्तियों ने होनी है। उनमें एक हैं पुष्पदन्त और दूसरे हैं मुजायवादी घघल भट्ट। इनमें ने हम पुष्पदन्त का उल्लेख कर चुके हैं। पुष्पदन्त ने ई० ६५६ में कृष्णराज तृतीय के मंत्री भरत की सख्तवना ने अपना महापुराण आरम्भ किया था और भरत के पुत्र तथा उत्तराधिकारी नन्द की मन्त्रकता में दो ग्रन्थ लिखे थे—एक 'जमदग्निचरित' जिसमें सोमदेव के यशस्विलक की तरह यशोवर्ग को कहा है, और दूसरा 'नायकुमारचरित' अथवा नागकुमार की कथा।

पुष्पदन्त ने अपभ्रंश में लिखा है। अब तक की जोड़ के फलस्वरूप वह अपभ्रंश भाषा में सब ने प्रमुख जैन कवियों में से है। उसका विलक्षण साहित्यिक व्यास दसवीं शती में अपभ्रंश साहित्य को अद्भुतत दशा का साक्ष्य है। ६८८ ई० में हरिषेण ने अपभ्रंश भाषा में अपनी धर्मपरीक्षा लिखी है, उसमें उसने अपभ्रंश भाषा के तीन विशिष्ट कवियों का उल्लेख किया है—पुष्पदन्त, स्वयम्भु और चतुर्मुख। तथा पुष्पदन्त स्वयं भी महापुराण^१ (१-६) में स्वयम्भु और चतुर्मुख का उल्लेख करता है। स्वयम्भु का दा रचनाएँ—पद्मचरित और रिट्ठनेमिचरित उपलब्ध हैं। उसका पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भु भी कवि था और उसने अपने पिता की कृतियों को पूरा किया है। स्वयम्भु का समय आठवीं अथवा नौवीं शताब्दी स्थिर किया जा सकता है क्योंकि उसने अपने पद्मचरित में पद्मचरित के रचयिता हरिषेण (७वीं शती) का उल्लेख किया है और पुष्पदन्त ने स्वयम्भु का उल्लेख किया है। चतुर्मुख स्वयम्भु से प्राचीन है क्योंकि स्वयम्भु ने अपने रिट्ठनेमिचरित में तथा ग्रन्थ ग्रन्थ में चतुर्मुख का निर्देश किया है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि स्वयम्भु ने अपनी स्वयम्भु-छन्द नामक छन्दशास्त्र की एक अन्य पुस्तक में अपभ्रंश भाषा के अन्य अनेक कवियों को उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है। इनमें स्पष्ट है कि सोमदेव के समय में और उससे पहले अपभ्रंश भाषा की एक मुख्यस्थित साहित्यिक परम्परा थी। और यह निस्सन्देह है कि अपभ्रंश भाषा के फैलने हुए प्रवाह के प्रभाव में सोमदेव कुछ प्रभावित थे, क्योंकि उन्होंने अपने यशस्विलक के कुछ पद्यों में अपभ्रंश भाषा के विभिन्न छन्दों का उपयोग बड़ी चतुराई में किया है। एक ऐसे लेखक के लिए, जिसने सुबन्ध और बाण की मीठी व उच्च कोटि की साहित्यिक मन्त्रन लिखने का उपक्रम किया है, संस्कृत कविता में अपभ्रंश छन्द का उपयोग करना एक नवीन प्रयोग है। किन्तु यह बतलाता है कि सोमदेव के साहित्यिक माधन्यों की परिधि विस्तृत थी और नत्कालीन देशी भाषा के साहित्य में उनकी अतिरिक्त थी।

सोमदेव और पुष्पदन्त की रचनाओं में विभिन्नता होने हुए भी कभी कभी वे दोनों एक ही साहित्यिक सामग्री का उपयोग करते हुए प्रतीत होते हैं। इसका उदाहरण यशोवर्ग की कथा स्वयं है। तथा जब कि सोमदेव ने जमदग्नि और दा पक्षियों की कथा या व श्रीभूति और भद्रमित्र की कथा को यशस्विलक के छठे और सातवें आधवास में स्वयं कथा के रूप में दिया है, पुष्पदन्त के महापुराण में ये कथाएँ धार्मिक और पौराणिक जैन कथाओं की एक विस्तृत योजना का भाग हैं।

मुजायवादी घघल भट्ट का परिचय हमें गगराज भारमिह (६६३ ई०) के कूडनूर दानपत्र से मिलता है। भारमिह कृष्णराज तृतीय का बरद मामल था। उसने वादी घघल भट्ट को एक गाव दान में दिया था। उसी का दानपत्र में उल्लेख है। उस लेख में वादी घघल भट्ट के प्रभाव और योग्यता का वर्णन है। वह लोकायत साह्य और बौद्ध-दर्शन में तथा वेदाद्विचार में दक्ष था तथा जैन सिद्धान्तों का समझ और एक श्रेष्ठ कवि था। गग नरेण बुडिग द्वितीय, कृष्णराज तृतीय और गण्डकुटी की राजधानी में उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। साहित्यविद्या में उसकी निर्दोष व्याख्यान-निपुणता की देखकर गगा गागेय गज (बु) उसका धिप्य बन गया था। वल्लभराज की राजधानी के विद्वानों ने उसकी राजनीति-विद्या में प्रभावित होकर उसका सम्मान किया था। यह वल्लभराज कृष्णराज तृतीय ही प्रतीत होता है, क्योंकि कर्नाड दानपत्र में उसे वल्लभनरेन्द्रदेव लिखा है, और पुष्पदन्त के ग्रन्थों में वल्लभ नरेन्द्र और वल्लभराज लिखा है। उक्त लेख में कृष्णराज का स्पष्ट उल्लेख है। लिखा है कि कृष्णराज देव ने अपने मामलों के साथ वादी घघल भट्ट का सम्मान किया क्योंकि उसने भट्ट की मन्त्राह पर चल कर देशों को जीता था।

इससे यह प्रकट होता है कि जब कि सोमदेव राजनीति के सिद्धान्तों में ही लीन था तब वादी घषल भट्ट एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था और राष्ट्रकूट सम्राट् के राजनीतिक परामर्शदाता के रूप में कार्य करता था। अस्तु,

कहा जाता है कि दो प्रमुख जैन कवि वादिराज और वादीभसिंह सोमदेव के शिष्य थे। श्रुतिसागर सूरि ने यशस्तिलक की टीका में एक वाक्य^१ उद्धृत किया है जिसमें सोमदेव के द्वारा यह कहा गया है कि वादीभसिंह भी मेरा शिष्य है और वादिराज भी मेरा शिष्य है। किन्तु सोमदेव के दोनों उपलब्ध ग्रन्थों में यह कथन नहीं पाया जाना तथा न तो वादिराज और न वादीभसिंह ही अपने किसी ग्रन्थ में यह लिखते हैं कि सोमदेव हमारे गुरु हैं। पार्वनाथचरित के अन्त में वादिराज कहते हैं कि मेरे गुरु मत्तिसागर हैं। इसके सिवाय वादिराज नन्दिसिंह के थे जबकि सोमदेव देवघष के थे। इसी तरह वादीभसिंह ने गद्यचिन्तामणि के प्रारम्भ में अपने गुरु पुष्पदन्त के प्रति गहरी कृतज्ञता प्रकट की है। किन्तु कालक्रम के अनुसार वादिराज और वादीभसिंह का सोमदेव के शिष्य होना अमभव नहीं है क्योंकि वादिराज ने स्वयं पश्चिमीय चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय के राज्य में शक सम्बत् ६४७ (१०२५ ई०) में अपने पार्वनाथचरित की रचना का निर्देश किया है। अब रहे वादीभसिंह, सो जयसिंह द्वितीय के १०३६ ई० के बेलगाव दानपत्र में वादीभसिंह और वादिराज दोनों का निर्देश है। तथा वादीभसिंह के क्षत्रचूडामणि नामक काव्य के अन्त में 'राजराज' नरेन्द्र का निर्देश है। यह निर्देश अवश्य ही महान् चोल नरेश राजराज का है जिसने ६५५ से १०१४ तक राज्य किया है। इस तरह से यह सिद्ध है कि वादिराज और वादीभसिंह ग्यारहवीं शती के प्रथम चरण में हुए हैं। अब यदि श्रुतसागर के कथन को मच मान लिया जाय तो कहना होगा कि वे दोनों वचपन में श्रुतसागर के शिष्य रहे हैं। किन्तु फिर भी यह बात विचित्र है कि वे दोनों अपने पूर्वगुरु सोमदेव के विषय में एकदम चुप हैं।

युगनिर्माता सोमदेव

सोमदेव एक युगनिर्माता थे। उनके बाद भारत के विभिन्न भागों में जितना जैन-साहित्य रचा गया, उसमें प्रायः उनका अनुसरण पाया जाता है। सोमदेव के पूर्वजों में, नौवीं शती के आरम्भ से लेकर दसवीं शती के पूर्व भाग तक हमें जो उल्लेखनीय नाम मिलते हैं, वे हैं—

वीरसेन (धवला और जयधवला टीका के रचयिता), जिनसेन (जयधवला को पूर्ण करने वाले और आदिपुराण आदि ग्रन्थों के रचयिता), गुणभद्र (उत्तरपुराण और आत्मानुशासन के रचयिता), जैन वैयाकरण शाकटायन, विद्यानन्द (अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक वगैरह के रचयिता), सिद्धपि (उपमितिभवप्रपञ्चकथा के रचयिता), और हरिपेण (बृहत्कथा कोश के रचयिता) तथा अन्य। सोमदेव के निकटतम उत्तराधिकारियों में, दसवीं शती के अन्तिम चरण में लेकर ग्यारहवीं शती के प्रथम चरण तक, हम जिन उल्लेखयोग्य व्यक्तियों से मिलते हैं वे हैं कन्नड ग्रन्थकार—जैसे चामुण्डराय, (जिन्होंने गद्य में चामुण्डरायपुराण लिखा), रन्न (जिसने अजितपुराण और गदायुद्ध लिखा), और नागवर्मा (वाणकी कादम्बरी के कन्नडी अनुवादक), सिद्धान्तिक ग्रन्थकार जैसे नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (जिन्होंने प्राकृत में गोमट्टसार, द्रव्यसंग्रह तथा अन्य ग्रन्थ लिखे), दार्शनिक साहित्य के रचयिता—जैसे न्यायकुमुद चन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड के रचयिता प्रभाचन्द्र, तथा कवि और विद्वान् जैसे, वादिराज^३ (जिन्होंने पार्वनाथचरित, काकुत्स्थ चरित और यशोधरचरित लिखा, वादीभसिंह (गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि के रचयिता), धनपाल (तिलकमञ्जरी के रचयिता), अमृतगति (सुभाषितरत्नसदोह, धर्मपरीक्षा आदि के रचयिता, असग (वर्धमानचरित के रचयिता), महासेन (प्रद्युम्नचरित के रचयिता), चोरनन्दि (चन्द्रप्रभचरित के रचयिता), और सम्भवतः कनकामर (जिसने अपभ्रंश में करकण्डु चरित लिखा), तथा अन्य ग्रन्थकार जैसे—वैयाकरण दयापाल (रूपसिद्धि का लेखक और वादिराज का समकालीन)।

१ 'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्य श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्य' इत्युक्तत्वाच्च ।

२ राजता राजराजोऽय राजराजो महोदय ।

तेजसा वपुषा शूर क्षत्रचूडामणिर्युग ।

३ वादिराज दार्शनिक भी थे। अकलक के न्यायविनिश्चय पर इन्होंने टीका लिखी है जो मुद्रित हो चुकी है—ले० ।

यद्यपि सोमदेव ने जैन धार्मिक साहित्य को ठोस मान्यता प्रदान की है, किन्तु उनकी साहित्यिक महत्ता और क्रियाशीलता इन मनुचिन मीमा में आवृष्ट नहीं है और सम्पूर्ण मनुचिन साहित्य के सम्बन्ध में ही उनके कार्य का मूल्य आका वा मक्ता है । वह भारतीय साहित्य के इतिहास में सर्वोच्च प्रतिभाशाली पुष्पो में से हैं । और उनकी अपूर्व कृति प्रगल्भिक उनकी कल्पना और बुद्धिचानुय के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डालती है । वह गद्य और पद्य दोनों के निद्वन्द्व लेखक हैं, स्मृति के आगार होने के साथ ही साथ अत्यन्त व्युत्पन्न और जैन-मिथ्याओं के अधिकारी विद्वान् हैं । नमस्कारोन्मर्श दर्शनों के एक चतुर आलोचक हैं । शान्तकला के मर्मज्ञ हैं और इन दृष्टि ने उनका प्रगल्भिक और नीति-वाक्यामृत एक-दूसरे के पूरक हैं । वह प्राचीन लोककथाओं और धार्मिक कहानियों के मफल नग्राहक हैं और नमस्कारानुसार नाटकीय वानचौन में अपना चातुर्य प्रदर्शित करते हैं । इनमें कोई मन्देह नहीं है कि मनुचिनसाहित्य में सोमदेव का स्थान अद्वितीय है ।

यद्यपि यह सत्य है कि सोमदेव के इस यश का आधार उनका प्रगल्भिक और नीतिवाक्यामृत है किन्तु आदि में वह एक जैन नत्त्वज्ञानी थे और लाभग आवा प्रगल्भिक तथा नमस्वत उनके अनुपलब्ध ग्रन्थ जैन मिथ्याओं के वर्णन और मरम्भ में ओनग्रात हैं । वह स्वयं इन ग्रन्थों को स्वीकार करते हैं और हमें विश्वास करना पड़ता है कि उनकी कविता उनके दर्शनग्राम्य-ग्रन्थों की परम्परा उपज है । प्रगल्भिक के आरम्भ में एक पद्य^१ द्वारा वे प्रकट करते हैं कि जैसे गाय धाम खाकर दूध देती है वैसे ही जन्म ने शुक्र तर्कग्राम्य का अभ्यास करनेवाली भेगी बुद्धि ने काव्यामृत की मूर्तियों को जन्म दिया है । यथार्थ में सोमदेव का बाल्यविक व्यवसाय तर्क था । उनकी प्रतिष्ठापूचक ताकिक्चक्रवर्ती और वादिपञ्चानन उग्राधिया बनलाजी हैं कि अपने समय के अनेक ताकिकों की तरह ही सोमदेव की शक्ति का बहुभाग प्रभावशाली प्रतिवादियों का खण्डन करने में हुआ था । वास्तव में वह समय ही ऐसा था, जैसा कि उस समय के जैन विद्वानों और ग्रन्थकारों के पाये जानेवाले वादिराज, वादीमहिम्, वादी घट्ट, वादीघघल, परवादिसल्ल, वादिकोलाहल आदि विचित्र किन्तु मार्थक नामों ने स्पष्ट है । चीनी यात्री इत्सिंग ने ईसा की सातवीं शती के अन्त के लगभग भारत में प्रचलित शिक्षा का जो विवरण दिया है उसमें भी उनका वान का समर्थन होता है ।

नीतिवाक्यामृत की प्रगल्भिक सोमदेव की ताकिक्ता का समर्थन करती है और इस बात की घोषणा करती है कि ममस्व वादियों में वह श्रेष्ठ थे । उदाहरण के लिए, प्रगल्भिक के एक पद्य^२ में एक प्रतिवादी से यह पूछा गया है कि जब तू तर्क में अकलक नहीं है, नैदान्तिक उक्तिओं में हस मिथ्यान्तदेव नहीं है और वचनविशाल में पूज्यपाद नहीं है तो सोमदेव के साथ तू वाद करने का साहस कैसे करता है । प्रगल्भिक के अन्तिम पद्य में कहा है कि सोमदेव की मिह-गर्जना को मुनकर प्रतिवादी रूपी हाथियों के हृदय अर्थात् उठने थे और बृहस्पति भी उसके साथ ग्रास्त्रार्थ करने में अमर्ष थे ।

यद्यपि इन आत्मप्रशंसा और गुणगान को लोकाचार कहा जा सकता है फिर भी यह सोमदेव के बौद्धिक साधनों की प्रकट करना है । सोमदेव का यह वचन कि मैंने वचन में तर्कशास्त्र का अभ्यास किया है, बनलाता है कि उन्होंने तर्क, अध्यात्म और नमस्वद विषयों के विद्यार्थी के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया । इसमें ऐसा प्रतीत होता है कि कविता की उन्होंने वाद में अपनाया । किन्तु कविता के प्रति उनका प्रेम विलकुल यथार्थ था और स्पष्ट रूप में वह मानना पड़ा कि कविता पिशाचनी है । प्रगल्भिक के प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है—

निद्रा विद्वर्यसि शास्त्ररस रणनि सर्वेन्द्रियार्थमसमर्थविधि विषत्से ।

चेतश्च विभ्रमयसे कविते पिनाचि लोकस्तथापि सुकृती त्वदनुग्रहेण ॥

१ आजन्मसमम्यस्ताच्छुक्रास्तकात्सृणाविध ममात्स्या ।

मत्तिमुदमेरमवविद सूचितपयः सुकृतिना पुण्यं ॥

२ सकनसमयतर्क नाकलकोटि वादी, न भवसि समयोक्ती हंसमिथ्यान्तदेव ।

न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्व, वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥





‘हे पिशाचनी कविते । तू निद्रा को दूर भगा देती है, शास्त्रों के रसास्वादन को रोकती है, इन्द्रियों को दुबल कर देती है और मन को भ्रम में डालती है । फिर भी जिस पर तेरी कृपा हो जाती है वह मनुष्य भाग्यशाली है ।’

तर्क और कविता का संयोग जैसा कि सोमदेव में पाया जाता है, भारतीय साहित्य के इतिहास के लिए कोई एकदम अद्भुत घटना नहीं है । इस प्रकार की प्रवृत्ति का अत्युत्तम उदाहरण नैपथ्यचरित और खण्डनखण्डखाद्य का रचयिता कवि श्रीहर्ष है । अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध कवियों में भी यदाकदा इस प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है । उदाहरण के लिये हम त्रैलोक्य को उत्स्यन कर सकते हैं । त्रैलोक्य कवि बारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में कश्मीर में जन्मा था । मखन ने श्रीकण्ठचरित में उसका उल्लेख करते हुए तुतातित अथवा कुमारिल से उसकी तुलना की है और उसे तर्क-काठिन्य में दृढ़ तथा कविता में प्रौढ़ बतलाया है ।

बिना किसी बाधा के इस बात को मच माना जा सकता है कि यशस्तिलक को सोमदेव ने उस समय रचा है जब उसकी कवित्वशक्ति पूर्ण रूप से परिपक्व हो चुकी थी । सोमदेव ने अपनी इस अपूर्व कृति के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें कही हैं जिनकी सूध्म छानबीन होना आवश्यक है ।

प्रथम, वह लिखता है—

‘असहायमनादर्श रत्न रत्नाकरादिव । मत्त काव्यमिदं जातं सता हृदयमण्डनम् ।

अर्थात् जैसे समुद्र से रत्न उत्पन्न होता है वैसे ही बिना किसी की सहायता के और बिना किसी आदर्श को सामने रखते हुए मैंने इस काव्य को जन्म दिया है ।

यहाँ यह बतला देना अनुचित न होगा कि अपनी कृति की मौलिकता का दावा सोमदेव के इस विचार के अनुरूप है कि कवि को केवल अपने प्रयत्नों का ही भरोसा रखना चाहिये और न तो दूसरों की नकल करनी चाहिये और न कुछ दूसरों से उधारही लेना चाहिये । वह लिखता है—

कृत्वा कृती पूर्वकृता पुरस्तात् प्रत्यादरता पुनरीक्षमाणा ।

तथैव जल्पेदयं योऽन्यथा वा स काव्यचोरोऽस्तु स पातकी च ॥ (१-१३)

अर्थात् जो कवि अपने सामने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों की कृतियों को रखकर बार-बार उनका अवलोकन करता है, वह उसी रूप में अपनी रचना करे अथवा उसमें भिन्न रूप में करे, वह काव्यचोर और पापी है ।

किन्तु जो कवि दूसरों की कृतियों को नहीं देखता, उसकी उक्तियाँ यदि कदाचित् अन्य कवियों की उक्तियों के समान होती हैं तो इससे उसके कवित्व में कोई हीनता नहीं आती ।

कृति परेपामविलोकमानस्तद्वितचवतापि कविर्न हीन । (१-१२)

इसमें मन्देह नहीं है कि सोमदेव का यह सिद्धान्त कि ‘कवि को केवल आत्मनिर्भर होना चाहिए’ थोड़ा अत्युक्तिपूर्ण है किन्तु इतना निश्चिन है कि उसने अपनी इस विश्वकोप रूप कृति की रचना केवल अपने ही प्रयत्नों से की है । अन्तु,

दूमरे, सोमदेव कहता है कि जिसे इस ग्रन्थ को पढ़ने की उत्सुकता है वह यदि इसे पढ़ेगा तो उसे कवित्वमय उक्तियाँ, अवसर के योग्य सूक्तियाँ और समस्त शास्त्रों की युक्तियाँ मिलेंगी । यथा—

उपनय कविताफान्ता सूक्तयोऽवसरोचिता ।

मुषतय सर्वशास्त्रान्तास्तस्य यस्यात्र कौतुकम् ॥ (१-१५)

उक्त कथन कोरा अहंकार नहीं है । कविता सम्बन्धी विशेषताओं को अलग रखकर भी यदि देखा जावे तो

उनमें कोई संदेह नहीं है कि यशस्विलक विभिन्न दर्शनों और विविध शास्त्रों की युक्तियों का भंडार है और ग्रन्थ का यह रूप साहित्य पर लिखनेवालों द्वारा तथा स्वयं सोमदेव के द्वारा अपनाये गये व्युत्पत्ति के सिद्धान्त के अनुरूप है। सोमदेव कहते हैं —

किञ्चित् काव्य श्रवणमुनय वर्णनोदीर्घवर्ण ।
किञ्चित् वाच्योचितपरिचय हृच्चमत्कारकारि ॥
अत्रासूयेन् क इह मृदुनो किन्तु युक्ता तदुक्ता ।
यद् व्युत्पत्त्यर्थं सख्यविषये स्वस्य वाक्यस्य च स्यात् ॥ (१-१६)

अर्थात्—कुछ काव्य तो कानों को प्रिय और वर्णनों में जातप्रोत होते हैं, कुछ काव्य अर्थ में परिपूर्ण होते हुए हृदय को आश्चर्यचकित करने वाले होते हैं।। तब बुद्धिमान् उस प्रकार के काव्यों की निन्दा क्यों ? किन्तु ठीक और उचित काव्य तो यही है जो मन प्रियता में स्वयं ग्रन्थकार तथा अन्य पाठकों के लिए व्युत्पत्तिकारक होता है।

सोमदेव के द्वारा निदिष्ट व्युत्पत्ति के दो रूप हैं। यदि ही व्युत्पत्ति में मतलब है विद्वत्ता की गौली में उनका मिश्रण और यह विचार, साहित्यशास्त्र पर लिखने वाले उन अन्यधिक ग्रन्थकारों में, जो शक्ति अथवा प्रतिभा की दृष्ट करने वाले पूर्ण अनुमान के रूप व्युत्पत्ति के महत्त्व पर जोर देने हैं, पाया जाता है। किन्तु कवि मन्त्रक अपने श्रीवाचकत्व में व्युत्पत्ति अथवा पाठित्य पर जोर देना है। कुछ ग्रन्थकार जैसे मम्मट और विष्णु रूप ने राजशेखर, निम्बिका छन्दस्य अनुमन्त्र शास्त्रानुमान के चर्चिता हेमचन्द्र और वाग्भट्ट ने नया कविकण्ठाभरण में छेमेन्द्र ने किया है, स्पष्ट रूप में लिखा है कि उन विभिन्न शास्त्रों का निर्देश करते हैं, जिन सब का, अथवा उनमें से कुछ का ज्ञान कवि को होना ही चाहिये। उस दृष्टि में विचार करने पर सोमदेव का यह कथन कि उसका काव्य समस्त शास्त्रों का भंडार है, ग्रन्थ में वर्णित विषयों की परीक्षा करने में बहुत कुछ प्रमाणित होता है। और साहित्यशास्त्र में ऐसे ग्रन्थ बहुत थोड़े हैं जिन्होंने व्युत्पत्ति की परिभाषा की उनकी परिपूर्णता में निश्चय है जितना सोमदेव के यशस्विलक ने।

दूसरे ही व्युत्पत्ति में ज्ञान यह है कि काव्य के पढ़नेवालों का शास्त्रीय विषयों का ज्ञान प्राप्त हो, क्योंकि काव्य की चित्रलापूर्ण विचार-धाराओं के एक प्रकार के प्रत्याविक रूप में देखा जाता है। व्युत्पत्ति के इस रूप की दृष्टि में सोमदेव का दृष्टिकोण भामह के मन में मिलता है। भामह ने अपने काव्यालंकार (अ० ७) में लिखा है “प्रायः” शास्त्र दुर्बो धारण हैं और अल्पबुद्धि लोग उनमें टूटते हैं। किन्तु जैसे लोग पहले शब्द को चाटकर कड़वी औषधि पी जाते हैं वैसे ही यदि उन शास्त्रों में स्वादिष्ट काव्यरस मिठा दिया जावे तो अल्पबुद्धि लोग भी उनमें लाभ उठा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, जो लोग शास्त्रीय गौली को उनके अम्ली रूप में निगलने में असमर्थ हैं उनके लाभ के लिये उसे कविता की मिठाई में ढाक देना चाहिये। कविता के द्वारा शास्त्रों के कठिन विषयों को आनन्ददायक और मरल बनाया जा सकता है। और अपने ज्ञान में उनका वर्णन करते कवि ऐसा कर सकता है। तदनुसार भामह का कहना है कि ऐसा कोई शब्द नहीं है, ऐसा कोई अर्थ नहीं है, ऐसा कोई न्याय नहीं है, और ऐसी कोई कला नहीं है, जो काव्य का जग न हो सकती हो। अर्थात्, कवि का भार महान् है।” इस तरह यह स्पष्ट है कि यह विचार कि काव्य को अपने पाठकों के लिए शिक्षण या एक माध्यम होना चाहिये, दमवी शरी के बहुत पहले से प्रचलित है। और इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस विचार ने सोमदेव के यशस्विलक की रचना को बहुत प्रभावित किया है।

सोमदेव का कहना है कि कविता में परिवर्तन करने की अद्भुत शक्ति है। वह लिखते हैं—

त एव कवयो लोके येषां वचनगोचर ।
मधुरापूर्वतामर्थो यात्यपूर्वं मधुरताम् ॥ (१-२५)

- १ 'प्रायेण दुर्बोधतया शास्त्राद् विभ्यत्यमेधम ।
स्वादुसाधरमोन्मिश्रशास्त्रमप्युपयुञ्जते ।
प्रथमानुदमधव पिबन्ति कटुभेषजम् ॥'





वास्तव में वे ही कवि कवि हैं, जिनके वचन प्रसिद्ध को अप्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अर्थ को प्रसिद्ध बनाते हैं ।
सोमदेव और भी कहते हैं—

ता एव सुकवेर्वाचस्तिरश्चामपि या श्रुता ।
भवत्यानन्दनिष्पन्नामन्वरोमाञ्चहेतव ॥ (१-२६)

अर्थात् सुकवियों के वचन सुनकर पशु-पक्षी भी आनन्द से रोमाञ्चित हो जाते हैं ।

सोमदेव ने कवियों की दृष्टि से कितने ही पद्यों में कविता के गुण-दोषों का विचार किया है । वह लिखते हैं—

अबुधेऽप्युचितयुचितज्ञे कवीनामुत्सवो महान् ।
गुणा किं न सुवर्णस्य व्यज्यन्ते निकपीपले ॥ (१-२८)

कवि लोग ऐसे व्यक्ति को पारकर परम प्रसन्न होते हैं जो विद्वान् न होते हुए भी उचित के रहस्य को समझता है । दूसरे शब्दों में कविता के गुण-गूढ़ के लिए विद्वत्ता का होना आवश्यक नहीं है । उदाहरण के लिये, पुष्पों के गुण क्या कसौटी पर व्यक्त नहीं होते ?

अवपताऽपि स्वयं लोक काम काव्यपरीक्षक ।
रसपाकानभिज्ञोऽपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम् ॥ (१-२९)

जो लोग कवि नहीं हैं वे भी काव्य के परीक्षक हो सकते हैं । क्या मिष्ठान्न को खाने वाला मिष्ठान्न बनाना न जानने पर भी मिष्ठान्न के स्वाद को नहीं जान लेता ?

युथा धवतु भ्रम सर्वो निविचारे नरेश्वरे ।
प्राज्यभोज्यविधिं क. स्थातृणास्वादिनि देहिनि ॥ (१-३०)

विचाररहित राजा के सामने कवि का समस्त धर्म व्यर्थ होता है । पास खानेवाले पशु के सामने उत्तमोत्तम भोजन रखने से क्या लाभ है ।

अगनावत् गिरो गण्वा प्रायेणान्यपरिग्रहात् ।
स्वयं विचारशून्यो हि प्रसिद्ध्या रज्यते जन ॥ (१-३१)

जैसे स्त्री के सौन्दर्य का तभी आदर होता है जब कोई उसका पाणि-ग्रहण कर लेता है, वैसे ही कवि की वाणी का आदर भी लोग तभी करते हैं जब दूसरे उसका आदर करते हैं । क्योंकि विचाररहित जनता प्रसिद्धि से ही अनुरक्त होती है ।

काव्यकथासु त एव हि कर्तव्या साक्षिण समुद्रसमा ।
गुणगणमन्तर्निदधाति दोषमलं ये ब्रह्मिण्य कुर्वन्ति ॥ (१-३६)

अर्थात् जैसे समुद्र रत्नों को अपने भीतर रखता है और कूड़ा-कंकट बाहर फेंक देता है वैसे ही जो गुणसमूह को ग्रहण करते हैं, दोषों को बाहर ही छोड़ देते हैं, ऐसे समुद्र के समान सज्जनों को ही काव्यवर्चस्वों में निर्णायक बनाना चाहिये ।

गुणेषु ये दोषमनीयमान्वा दोषान् गुणीकर्तुं मथेशते वा ।
श्रोतुं कवीना वचनं न तेऽर्हा सरस्वतीब्रोहिषु कोऽधिकार ॥ (१-३८)

जा बुद्धिदोष के कारण गुणों के विषय में अन्धे हैं और दोषों को गुण प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं, वे कवियों के वचन सुनने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि जो सरस्वती के शत्रु हैं उन्हें उसके अद्ययन का क्या अधिकार है ?

अथ कविर्नैष कवि विमत्र हेतुप्रयुक्ति कृतिनिविधेया ।

थोत्र ननरचाय जन नमर्य दारुणयो स्थनित्पणाय ॥ (१-३६)

'यह तबि है' जरा 'यह तबि नहीं है' এমন নন-বিতর্ক करने में क्या प्रयोजन है ? क्योंकि शब्द और अर्थ के प्रत्यक्ष स्वरूप तो जन-जाति के लिए स्पष्ट और नन ह । वे ही उनका निर्धारण कर देंगे कि अमुक व्यक्ति कवि है या नहीं ।

सोमदेव ने सन्तुष्टभाषा के सम्बन्ध में सम्पादन के मापनो को परिपूर्ण करने का अद्भुत कार्य किया है और वह उच्चकोटि के साहित्यिक प्रयत्नकारों की श्रेणी में बैठने का अधिकार रखते हैं । किन्तु सम्पूर्ण पद्य रचना में जैन साहित्य में प्रयुक्त होनासे प्रयोगों के प्रसार में वह अपने को जड़ता नहीं रख सके । इसका ज्वलन्त उदाहरण 'गनि' के स्थान में 'उमै' का प्रयोग है । प्राकृत रूप का प्रयोग कुछ अन्य जैन सन्तुष्ट ग्रन्थकारों की कृतियों में भी पाया जाता है । अनेक स्थानों में सोमदेव ने 'जैनभाषा' लिखा है, यह प्रयोग भी उच्चकोटि के साहित्य में प्रयुक्त होनासे प्रयोग में स्पष्ट ही मंजूर नहीं जाना । व्याकरण सम्बन्धी एक गम्भीर भूल नीचे के पद्य में मिलती है—

मुत्पनिषपूषामोन्लामप्रिय धयदाकृति ।

प्रथममये चन्द्रोद्योतस्तजाम्नु मुदे मदा ॥ (३-८८०)

यहाँ पर 'धयम्' यद्यपि वह बहुव्रीहि नाम का अग बना हुआ है, 'प्रियम्' तो अनुशामित करता है । यद्यपि निर्गममागरी सम्बन्ध के सम्पादन में 'उचिधय' पढ़ने का चुनाव दिया है । किन्तु केवल मुद्रित प्रति में ही नहीं बल्कि भैंस जिन नाम प्रयोगों का देना उनमें भी उक्त जगह पर ही मिलता है ।

रचना की शिथिलता का एक उदाहरण पद्य २-१३० में 'हीनाशर्कलि अनवाप्तप्रिय' पद है । टीकाकार ने दोनों पदों के बीच में 'प्रति' शब्द का प्रयोग करने का आग्रह का व्याख्यान इस प्रकार किया है—'हीनाशर्कलि यमकीडा प्रति अनवाप्तप्रिय अमानुद्धा शत्रुसंग नायावीत्यर्थः' । यद्यपि इस प्रकार के व्यक्तिक्रम कतिपय कवचित् ही हुआ तथा अन्य ही शिथिलता का चिह्न करने हुए उपलब्ध है ।

ग्रन्थगत सोमदेव की बहुमती उल्लेख विशेषताओं में से एक विशेषता यह है कि वह दुर्लभ और अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग बहुमात्र में करते हैं । उनके द्वारा प्रयुक्त हुए अधिकांश शब्द सम्पूर्ण साहित्य में अन्यत्र नहीं पाये जाते । शब्दकोष पर प्रामाण्य ने यथेष्टता में सन्तुष्टशब्दरचनानिर्माणशास्त्र का अमाप्य रूप में लाभदायक उद्गम स्थान बना दिया है । किन्तु यथेष्टता का प्रयोग सभी-कभी ग्रन्थों में पाठित प्रदर्शित करनेवाला बना देना है । परन्तु यह निम्नान्ते में ही सोमदेव जगदीश जायेंदर नहीं हैं । अमुन वह एक विद्वान् अन्वेषक है, जिन्होंने लुप्तप्राय शब्दों का प्रयोग में जान का प्रयत्न किया है ताकि पाठकों को ज्ञान के अन्त में समन लिखा है —

"अगच्छानव्यालेन ये लीटा माम्प्रत तु ते ।

शब्दा श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ॥"

अर्थान् मुद्रित काष्ठरूपी अक्षर जिन शब्दों का चट कर गया, सोमदेव के द्वारा वे शब्द अब पुन जीवित किये जाते हैं । उनमें आश्चर्य ही क्या है ।

इस प्रकार जहाँ सोमदेव चिरन्तन में विमृति के गर्भ में विनीत शब्दों को पुनर्जीवित करने का दावा करते हैं, वहाँ यह भी कहते हैं कि उन्होंने साम्य रूपी समुद्र के तल में चिरन्तल में निमग्न शब्दरूपी रत्नों का उद्धार करके सम्बन्धी के लिये एक बहुमूल्य आभूषण तैयार किया है —

उद्धृत्य शाम्भ्रजलधेनितले निमग्नं पर्याणतैस्त्रि चिरदमिधानरत्नं ।

या सोमदेवविदुषा विहिता विभूषा बाग्देवता बहुतु सम्प्रति तामनयार्थम् ॥





इस पद्य में सोमदेव ने स्पष्ट रूप से उन अप्रसिद्ध वाद्यों और शास्त्रीय पारिभाषिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, जिनका उन्होंने अपने काव्य में उपयोग किया है। यथार्थ में, और मुख्यरूप से उत्तर काल में यह काव्य साहित्य का एक लक्षण था। किन्तु इस दृष्टि से भी सोमदेव अपने समय के अन्य किसी भी ग्रन्थकार से आगे बढ़ गये हैं।

भवभूति की तरह सोमदेव भी कभी-कभी अपनी सामर्थ्य पर अत्यधिक आत्मविश्वास प्रदर्शित करते हैं और ऐसा दावा करते हैं मानो कवित्व पर उनका एकाधिकार है। यथा —

“मया वागर्थसभारे भुक्ते सारस्वते रसे ।

कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजना ॥”

एक अन्य स्थान पर वह कहते हैं कि यदि कवित्व और सांसारिक ज्ञान में प्रवीण साधु पुरुष हैं तो वे सोमदेव कवि की सुक्तियों का सम्यक् रूप से अभ्यास करें। पद्य इस प्रकार है—

“लोकवित्त्वे कवित्वे वा यदि चातुर्यचञ्चलम् ।

सोमदेवकवे सूतयोः समभ्यस्यन्तु साधय ॥” (३, ५१३)

यह पद्य बतलाता है कि सोमदेव स्वयं एक निष्णात कवि और लोकज्ञ थे और यह बात उनके यशस्तिलक से प्रकट है। सोमदेव को कवि और लोकवित् मानना उनका सर्वोत्कृष्ट अभिनन्दन है, क्योंकि आदिपुराण के रचयिता जिनसेन के समय में भी किसी को कवि और लोकवित् कहना उत्कृष्ट अभिनन्दन माना जाता था, और यह इस बात से स्पष्ट है कि जिनसेन ने अपने आदिपुराण के प्रारम्भ में ध्वला टीका के सम्माननीय रचयिता अपने गुरु वीरसेन को कवि और लोकवित् कहा है—यथा —

“लोकवित्त्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम् ।

वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥” (१-५६)

यशस्तिलक की रचना से लगभग आधी शताब्दी पूर्व सिद्धार्थ ने अपने महान् रूपकमय कथाग्रन्थ उपमितिभव-प्रपञ्च कथा की रचना की थी।

किन्तु यह उल्लेखनीय है कि यशस्तिलक के आरम्भिक पद्य में सोमदेव ने अपने ग्रन्थ के विषय में अति विनम्र निवेदन किया है। वह कहते हैं कि वर्तमान में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे सर्वज्ञतुल्य पुरातन कवियों ने न देखा हो। फिर भी जब कोई आधुनिक कुशाग्रबुद्धि भी कवि उनके सदृश कथन करता है तो यह एक आश्चर्य ही है। अपने काव्य के विषय में वह लिखते हैं कि यह काव्य दुर्जनो के लिये विनोदकारक होगा और विद्वानों के लिये बुद्धिदायक होगा। किन्तु मध्यस्थ लोग इसके विषय में चुप नहीं रह सकेंगे। उन्हें आशा है कि जैसे मिष्ठ रस का अत्यधिक सेवन करने वालों को नीम की पत्तियाँ आनन्ददायक लगती हैं वैसे ही सुकवियों के माधुर्यपूर्ण प्रबन्धों के अत्यधिक सेवन से जिनकी जड़ता अत्यधिक वृद्धिगत हो गई है उनकी रुचि मेरे सदृश कवियों की उक्तियों की ओर होगी।^१

एक ग्रन्थकार के रूप में सोमदेव का सर्वत्र प्रभाव होते हुए भी, जैन धार्मिक साहित्य की परिधि में बाहर विचारधारा के किसी भी विभाग पर उसका प्रभाव क्वचित् ही प्रतीत होता है। अर्जुन विद्वानों ने पूरी तरह से उनकी

१ सूर्यशकलर्प कविभिः पुरातनैरवीक्षितं वस्तु किमस्ति सप्रति ।

ऐवयुगीनस्तु कुशाग्रधीरपि प्रवर्तितं यत् तत्सदृशं स विस्मय ॥१.२॥

२ दुर्जनानां विनोदायं बुधानां मतिजन्मने ।

मध्यस्थानां न मौनं न न्ये काव्यमिदं भवेत् ॥

सुकविकथामाधुर्यप्रबन्धसेवातिबृद्धजाड्यानाम् ।

पिचुमन्दकन्दलीष्विव भवतु रुचिर्मद्विधेयितेषु बुधानाम् ॥

उपेक्षा की है। जी-आनुनिश मोक्षो के उनकी ओर आकृष्ट होने के कारण ही उनकी साहित्यिक पूर्वस्थिति का परिचय मिल सकता है। उनके यशस्विन्य के लिये एक जैन अनुमाग्न मूरि की टीकाकार मिला, जिसने १६वीं शताब्दी में अपनी टीका बनाई। उनके नीतिवाक्यामृत पर एक विना नाम की टीका है, जिसका समय भी ज्ञात नहीं है। फिर भी यह टीका प्राचीन स्मृतिवाक्य और नीतिवाक्यों के उद्धरणों में भरी हुई है। उनका रचयिता कोई अर्जन या क्योंकि उसने टीका के प्रारम्भ में श्रीं का नमस्कार किया।

धार्मिक पक्षपात और साम्प्रदायिक भेदभाव के द्वारा एक प्रतिभासम्पन्न ग्रन्थकार की महान् कृति के प्रति की गई उपेक्षा बर्नी जा सकती है, उन पर सोमदेव का गार्हस्थ्य भाग्य एक दुःखपूर्ण भाष्य है। किन्तु, जैना कि हम देखेंगे सोमदेव स्वयं उन प्रश्नों के रंग में रंगे हुए थे और उन्हें कठिनाता में ही यह आशा होगी कि मेरे सहृदयियों के दायाद के बाहर मेरी कृति को जानाया जायेगा। जहाँ तक जैन सिद्धान्तों के वर्णन का सम्बन्ध है, सोमदेव मदा एक अग्रणी ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किये गए हैं। जी-यह बात उल्लेखनीय है कि अनुमाग्न मूरि ने कृदकुन्द के भाव-पाण्डु की टीका में जो रत्नरत्न श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें सोमदेव की गणना जैनधर्म के महान् गुरुओं में की गई है।

निम्नलिखित पञ्चमश्रम की टीका, जनगारयमामृत पर आचार्य की टीका, योगीन्द्र देव के परमात्मप्रकाश पर सहृदेव की टीका और कृदकुन्द के प्रान्तों पर अनुमाग्न मूरि की टीका आदि उत्तरकालीन जैन साहित्य में यशस्विन्य के पद्य उद्धरण के रूप में प्राप्त पाये जाते हैं। यशस्विन्य का नीचे उद्धृत पद्य थोड़े से पाठ भेद के साथ शिवकोटि की स्मृतियों में पाया जाता है। प्राचीन शिवकोटि में यह शिवकोटि भिन्न है। वह पद्य इस प्रकार है—

मर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।

यत्र सम्मन्वहानिर्णयः यत्र न व्रतद्वयणम् ॥ (८, ३५)

यशस्विन्य के नीचे बाने तीन श्लोक शुभचन्द्र के ज्ञानागव में पाये जाते हैं—

ज्ञानहीने क्रिया पुमि पर नारभते फलम् ।

ततोदृष्टायेव किं तन्मया सन्श्रीनष्टदृष्टिभिः ॥

ज्ञान पगौ क्रिया चान्ये निश्रद्धे नार्यकृद् द्वयम् ।

नतो ज्ञान क्रिया श्रद्धा त्रय तत्पदकारणम् ॥

हन् ज्ञान क्रियाशून्य हता चाज्ञानिन क्रिया ।

धावन्नप्यन्वयो नष्ट पश्यन्पि च पगुल ॥ (६-१)

यहाँ यत्र वनला देना आवश्यक है कि तीसरा श्लोक सोमदेव का नहीं है। किन्तु 'उक्त च' करके उद्धृत है। यशस्विन्य का एक और श्लोक ज्ञानागव में 'उक्त च स्थानान्तर' करके उद्धृत है। श्लोक इस प्रकार है—

मृदत्रय मदश्चाष्टी तथानायतनानि यद् ।

अष्टी शकादयश्चेति दूदोषा पञ्चविंशतिः ॥ (६-२१)

नामदेव का भाग्य का पद्य सर्वदर्शनममुच्चय के जैन दर्शन वाले परिच्छेद में बिना किसी नाम के उद्धृत है—

१ अकलको महाप्राज्ञ सोमदेवो विदापर । प्रभावको नेमिचन्द्र इत्यादि मुनिसत्तम ।

यच्छान्त्र रचितं नूनं तदेवादेयमन्यकं । विसर्ग रचितं नैव प्रमाणं साध्वपि स्फुटम् ॥



कर्त्ता न तावविह कोऽपि धियेच्छया वा ।
 दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि स प्रसंग ।
 कार्यं किमत्र सवनाविषु तत्तत्कार्य-
 राहत्य चेत् निभुवन पुरुष करोति ॥ (२.१३६)

एक श्लोक जो यशस्तिलक के पाचवें आस्त्रास के अन्त में पृष्ठ २५७ पर पाया जाता है, पगीनासुख सूत्र पर अनन्तवीर्य की टीका में नीचे लिखे रूप से उद्धृत है—

तथा घोषतम्—
 तवहर्जस्तनेहातो रसोदृष्टेर्भञ्जस्पृते ।
 भूतानन्वयनात् सिद्ध प्रकृतिज्ञ सनातन ॥ इति

शी० पी० और वरार के संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों की हर्षालम्बित प्रतियों की सूची में श्रीलाल ने लिखा है कि "स्तोत्रचतुष्टयटीका में विद्यानन्द ने सोमदेव सूत्र के 'ध्यानपद्धति' से उद्धरण लिये हैं और बारबार उगका निर्देश किया है। सम्भवत यह उनकी कोई अन्य रचना है।" किन्तु यद्यपि भी सत्य है कि यह ध्यानपद्धति काई स्वतंत्र ग्रन्थ न हो और यशस्तिलक के आठवें आस्त्रास में जो ध्यानविधि बतलाई है उसी से यह रूप ले लिया हो।

एक कवि के रूप में, काव्यसाहित्य की सोमदेव का दान, माघ कवि का वाक्य उत्तराधिकारी होने के उनके दावे का व्याख्य ठहराने के लिए काफी ठोस है। सोमदेव की कविता की मूढम पगीक्षा अन्वय की जायगी और यह देगा जायेगा कि सोमदेव केवल काव्य में प्रचलित विषयों का ही व्यवहार नहीं करते किन्तु काव्यसाहित्य में साधारणतया व्यवहृत न होनेवाले विषयों का ही व्यवहार करके मस्कृत कविता के मूढम कोश में वृद्धि भी करते हैं। वह सान्द्रवार के सुगन्धित विविध चित्र अंकित करते हैं जो अन्यत्र नहीं पाये जाते, और उनकी यथार्थता का स्पष्ट कारण यह है कि वे व्यक्तित्व निरीक्षण और अनुभव के आधार पर, चित्रित किये गये हैं। उन्होंने जीवन के ग्रन्थ रूपों का भी सुन्दर चित्रण किया है और बालजीवन, दमशानभूमि और देवी चण्डमारी का वर्णन करनेवाले पद्य उनके सर्वोत्तम उल्लेखनीय पद्यों में सम्मिलित किये जा सकते हैं।

पशुओं के प्रति सोमदेव की दृष्टि बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण है। और पशुजीवन पर उनके कुछ पद्य मस्कृतसाहित्य में अनुपम हैं। उन्होंने जैनधर्म के सिद्धान्तों का वर्णन काव्यात्मक शैली में किया है और बारह अनुप्रेक्षा सम्बन्धी उनके पद्य साहित्य को उनकी बहुमूल्य देन हैं। मस्कृत पद्यों में प्राकृत भाषा के छन्दों का उपयोग भी एक उल्लेखनीय प्रयोग है। और इस सम्बन्ध में सोमदेव ने पद्यों की गायन के योग्य बनाने का प्रयत्न किया है। पूर्ववर्ती होने के कारण संभव है यह प्रयत्न जयदेव के गीतगोविन्द की रचना में प्रेरक हुआ हो।

सम्भवत यशस्तिलक का वह पद्यभाग सबसे अधिक आनन्ददायक है, जिममें राजमन्त्रियों के दोषों का वर्णन है। और प्रस्तुत भाग मस्कृत कविता में राजनैतिक आलोचनात्मक कवितानिर्माण के लिए क्रमबद्ध रूप में किया गया प्रथम प्रयत्न है। उसे देखकर क्षेमेन्द्र की इसी प्रकार की कविता का स्मरण हो जाता है। क्षेमेन्द्र ने अपनी नममाला में काव्यस्थ अथवा कादमीर की दफ्तरी में काम करनेवाली जाति की अच्छी खबर ली है। क्षेमेन्द्र की लेखनी यद्यपि हल्की है किन्तु उसकी रचना ठोस वर्णनों से परिपूर्ण है और सोमदेव के प्रस्तुत पद्यों की अपेक्षा उसका क्षेत्र विस्तृत है। क्षेमेन्द्र की कृति का उद्देश्य मन-बहलाव की अपेक्षा प्रायः ज्ञानोन्नति है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि में दोनों ही ग्रन्थकारों का निरूपण महत्त्वपूर्ण है क्योंकि दोनों ने ही अपने समय की कुछ गुरादों पर प्रकाश डाला है। इसकी अपेक्षा यह कहा जा सकता है कि सोमदेव ने संस्कृत कविता में एक नये विषय को समाविष्ट किया, जिसे बाद में क्षेमेन्द्र ने विस्तृत वर्णन के साथ पुष्ट किया।

सोमदेव कोई बड़े भारी दैवी कवि नहीं है, कहीं-कहीं वह कृत्रिम हो जाते हैं और वाक्यप्रपञ्च में फसकर विचारों की पुनरुक्ति करते हैं। किन्तु उनकी कविता समकालीन जीवन के प्रवाह से प्रायः स्पन्दित है। और काव्य-

नी गो बाल के बाहन के मन में जानने-पाने की मन्त्रित शक्ति से उनका स्थान सर्वोच्च है। उनके विचार उन्होंने स्वयं ही कुछ उन्नत गीतों में व्यक्त करने पर प्रभाव डालने किया है। यही हम एक उल्लेखनीय बात होने के लिये बुद्धि के दृष्टि से प्राचीन काल के विचार मानि जाया है —

अज्ञानमयादुर्भाग्याद्वा कूर्वाते चेत् कोऽपि जन उन्मदम् ।

नवापि मर्द्दिम प्रियमेव चिन्त न मध्यमानेऽप्यसूते विष हि ॥

‘अज्ञान से उत्पन्न दुर्भाग्य से यदि कोई मनुष्य दुर्दशा में जाता है, किं भी मनुष्यो को मर्द ही करने के विचार उत्पन्न हो जाय। परन्तु मदन करने पर भी मदन उन्मद ही रहता है विष नहीं होता।’

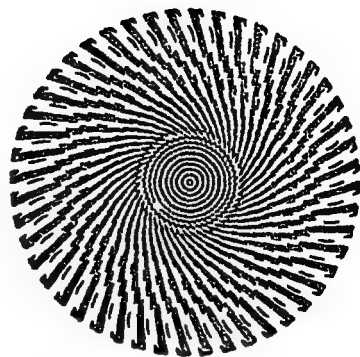
यह छंद है ‘न मा-मी-मा-मि-मि’ का यही विचार गया नहीं है। उदाहरण के लिये हम एक प्राचीन वीर-काव्य की उद्धृति दे सकते हैं—
‘मोमदेव के उन्मद से उत्पन्न दुर्दशा से ही मदन उन्मद ही रहता है। मोमदेव के उन्मद से उत्पन्न दुर्दशा से ही मदन उन्मद ही रहता है।’



अभय जैनग्रन्थालय में सुरक्षित राजस्थानी भाषा के प्राचीन पट्टे, परवाने और पत्र

अगरचन्द नाहटा

बीकानेर



जैनधर्म का प्रचार राजस्थान में २-२॥ हजार वर्षों से क्रमशः बढ़ता चला आ रहा है। जैन आचार्यों, विद्वानों ने राजस्थान के गांव-गांव में घूमकर भगवान् महावीर की वाणी का प्रचार किया। राजाओं से लेकर एक तक सभी वर्ग के लोग जैनधर्म के प्रति आकर्षित हुये और यहाँ तक प्रभावित हुये कि लाखों व्यक्तियों ने हमेशा के लिये जैनधर्म स्वीकार कर लिया। ओसवाल, श्रीमाल, पोरवाड, खडेलवाल, अग्रवाल आदि अनेक जातियों की स्थापना हुई और एक-एक जाति के अनेक गोत्र हो गये। इसी तरह जैन मुनियों के अनेक सघ, गच्छ और शाखायें राजस्थान के ग्राम-नगरों के नामों से प्रसिद्ध हुईं। अनेक राजाओं ने भी जैनधर्म स्वीकार किया। उन्होंने जैनमन्दिर बनवाये और आचार्यों को अपना गुरु माना। राजाओं के अधिकांश मंत्री, कोषाध्यक्ष आदि जैन ही थे। समय-समय पर उनके द्वारा बहुत बड़ी धर्म-प्रभावना हुई। आचार्यों एवं मुनियों को राजाओं से बड़ा सम्मान मिला। उन्हें कई गांवों की जागीरें मिली। राजाओं के दिये हुये पट्टे, परवानों की संख्या बहुत बड़ी है। अनेक गच्छ राजस्थान में हैं। उनके श्रोतृज्यो एवं यतियों आदि को राजाओं ने समय-समय पर भक्तिपूर्वक पत्र भी लिखे। वे पट्टे, परवाने एवं पत्र अधिकांश जैन उपाश्रयों, श्रोतृज्यो के ठिकानों और जैन-ज्ञानभण्डारों में मिलते हैं। अब वे अधिकांश काम के नहीं रहे इसलिये पहले तो जिनके पास ऐसे कागजात थे उन्हें बड़ा सुरक्षित रखा जाता था और किसी को दिखलाया भी नहीं जाता था किन्तु अब वे यों ही नष्ट कर दिये गये या रूढ़ी में बेच दिये गये, इस कारण वे पुराने कागजात अब प्राप्त नहीं होते। जहाँ कहीं वे पड़े हैं उनकी खोज, संग्रह एवं संरक्षण का भी प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में थोड़े दिनों में ही वे सत्र समाप्त हो जायेंगे।

करीब ३७ वर्ष पूर्व हमने प्राचीन भंडारों का अवलोकन करने के साथ-साथ हस्तलिखित प्रतियों आदि सामग्रियों के संग्रह का कार्य प्रारम्भ किया तो १६वीं से लेकर २०वीं शताब्दी तक के हजारों पत्र जो निकम्मे समझकर कूड़े-कचरे में डाल दिये गये थे, हमें मिले और वे हमारे अभय जैनग्रन्थालय की अमूल्य निधि हैं। सम समय पर उनमें से कुछ पत्रों की नकल ग्रन्थों एवं लेखों में हम प्रकाशित भी करते रहे हैं। कई पत्र संस्कृत में हैं और कई राजस्थानी भाषा में। उनमें से यहाँ राजस्थानी भाषा के पत्रों को ही प्रकाशित किया जा रहा है।

हमारे संग्रहालय के पत्र अनेक प्रकार के हैं। अनेक व्यक्तियों के लिखे हुये हैं। कई पट्टे परवानों के रूप में हैं और कई आपसी पत्र-व्यवहार के रूप में। सबसे पहला पत्र सन् १६०५ के आसपास का खरतरगच्छ के आचार्य जिनमाणिक्यसूरिजी को बीकानेर से दयातिलक आदि का लिखा हुआ है। यह पत्र संस्कृत में विस्तृत समाचारों से परिपूर्ण है। प्रारम्भ का अंश बहुत कुछ नष्ट हो गया है। इसे 'राजस्थान भारती' में प्रकाशित किया जा चुका है। ऐसे संस्कृत-पत्र १३वीं शताब्दी से मिलने लगते हैं। पाटण के जैनभंडार में ताडपत्र पर लिखे हुये ऐसे ही कुछ पत्रों के अंश मुनि जिनविजयजी को मिले थे। त्रिज्ञप्ति-त्रिवेणी नामक ग्रन्थ की भूमिका में मुनिजी ने उनका उल्लेख किया है। गद्य और पद्यमय संस्कृत में लिखे हुये ऐसे संकड़ों पत्र साहित्य और इतिहास इन दोनों दृष्टियों से मूल्यवान् हैं। १५वीं

स्वयं श्री त्रनेर मन्त्र मुन जोषमा बीरमानान नाशगन्धर्वगज महागज श्रीवर्जानिधिवी महागज
 गगनश्रीश्रमैरिप देव पुगुजी मातेव श्रीहृन्निचन्द्र मृगीजी बेगानी श्रीबीरानगरी दीने मुप्रमादा वाचना । जप्रक आगे नासारा
 मुद्रा श्री नो अय ओटी ने देवमद पत्रागेजा ना तारे किता अर माजन पिा जररे माये पिा आरा बा नो अवे आप
 जमापानर गजने पाठा प्राय मोवन पधराजाने । माजना न पिा दीर दुद्रामा देई ने आप लगे निता पधराज । आपरो
 पैगा देगा ने जितार हीनी नो मुं जागेने गज देवू । जय जिगी वान री चिता फिन् रात्रमो नही ओं आपने मारी
 वरक नृ गाम पाव ।) पाव जररे भेट ग्हाता । प्रथम ना गाव देनापा द्वयो गाम भावी नीमरो गाम दादाई चौया
 गाम दुदो पावना गाम अटगटा । जे पाचोई गाम आररे भेट कर देवू ओं आपने माही धुानव रो चरव ही ने जा मुं
 आपने दीना जामू ओं नने रोटी मिलने ना उग्वी राटी आपने देई ने जामू । मागे वनने जापी वन रवे जहा ताईखाया
 पाय जामे । और आररे आगने जवन पावन आपरो बैठक दगंवाना ने जामा बैठक है नो मावत है आगा मुं आप





पावो हो जिण मुजव पाया जावोगा । आप समुद्र ने छोडी ने नाडा माथ कु जाय विराजिया छे । आप चूडावतां रा ठिकाणा सँ पार नही पाडोगा । सोई वरम जाता मारा ठिकाणा सँ पार पाडोगा चूडावता रा ठिकाणा सँ पार नही पाडोगा । आप कोई बात री मन मे बिता फिर राखो मतो । आप बीच नें म्हा बीच श्रीमुरलीधरजी छै, श्री माताजी छै । आपरो हुकम माथे छै और गुरदेव तो बडा छै म्हा रा ठिकाणा माहे आज दिन सुधी गुरुदेव रोप्रताप छै । और मारै गुरु माईन छी सेवक ऊपरै कृपा महरवानगी करे ने वेगा पधारसी और घणे काई लिखू थोडी लिखिया जादा जाणसी । आपने मे रोटीरु दीधी सो साजत छै । म्हा री गजी युगी सँ म्हा री अकल हुमीयारी सँ दोनुई वाप वेटा गीली ने छातरी रो पटो तीन मोरासाही कर दीधी सो रावत छै । मारै गुराजी री रोटी माहे जो कोई मारा वस रो वसी जो कोई मारा गुरदेवारी री रोटी माहे कसर पाडोगा नही । जो कोई मारी कः दीधी रोटी माहे मारा वस रो वसीज कोई कसर पाडेगा जीनै गो मारीया की हत्या लागसै । जी ने गवायन गाल लागसै कोई कामेती फीजदार कोटवाळ जो काई लोपगी, जीने श्री मुरलीधरजी पूगसे, जीने श्री माताजी पूगसे । म्हा रो वस ने गुराजी रो वस रैवै जा सुधी पाट्या जसेज । कोई श्रोगटा नु धापन करैस, जीणरी मा रैन ऊपर गयो चढसी । हींदु ने गउ, मुमुलमान कु सूअर मारीया पाप लागसे । सूरज चन्द्रमा तपै जा सुधी पाल्या जावमी । राजा अजितसिध रो ऊपरलो लिखियो मही छै सवत् १७६७ ना वरये मीगसर सुद ११ गुरु दसकत कुंवर अर्धसिध रा छै । आ पोतरी पुद जोधपुर गढ नी छै मुकाम कोट हुवै श्रीमुख ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥

×

×

×

×

स्वस्ति श्री सिध श्रीजोधपुर महाराजाधिराज महाराजा श्रीविजैसिधजी देवेपु गुराजी साहेव श्री वेणीदामजी चेलाजी महाराज श्रीमयाचद देवगढ प्गेलगण मालम बेसी । अन्ना रा समाचार भला है । आपरा सदा सर्वदा आरोग्य चाहिजे । तो छोरु नें परमसुख होय अठा सँ सूर्यमल भडारी ने मीयानो लेई ने मेलीयो है सो गुरुदेव । सेवक ऊपरै कृपा करि ने मीयाना मे विराज के अठे म्हा रो सरीर आराम नही है सो गुरुदेव जाणसी । प्रथम तो मने ताव घणा आवै छै दूसरो उरुसो सास घणो चढै है ती हे जजाल गणा आवै है । मुं घणो दुरी छै । गुरुदेव आराम करै तो ठीक है । नही तर तो मारी जीवारी आम है नही । आगं ही आप उप पाच सात वखत कागद मेलिया सो गुरुदेव पदारिया नही, इसी तो कुसमानो गुरुदेव रो सेवक ऊपर जाण्यो नही । आप पेल पने मुं सोजत पधारीया सो जदी सेवक गुरुदेव नें पचमुग्री हनुमान जत्र के वास्ते अरज कीधी सो हाल तक सेवक रे आयो नही, सो इसी भूल तो गुरुदेव ने चाबे नही । गुरुदेव रे तो मा जिस्या सेवक घणा छै पण एक सेवक तो मुज छु । आप आपने राजा अजीतसिधजी महर घड उया आपने पटो करी ने बरुस्या भो पटो सावत छै । आपरी लाग मारा ठिकाणा मे परपरा सँ चली आवै सो सावत छै । फेर म्हा री तरफ सँ दादा साहेव रो बगीचो मटोहर मे जमी भेट कर देम् । आप चूडावत (का ठि) काणा सँ पार नही पडेगा । आपनै बारपवर नही पडै है, पिण पाछे जाता आप पिछताबोला और घणी काई लिखू जो गुरुदेव ने पूगै है पण मानणो तो गुरुदेव रै हाथ है बोलवो तो मोर के हाते है वरसवो तो इन्द्र के हाते है । इतरी बात मे गुर (सा) री समज बेसी, मारे तो गुरुदेव रो ढाल रा जीतरो जोर छै । मारे ठेकाणा मे है आछो पुन्य प्रताप गुरुदेव री छै । मारे ठुकराण रे पीण मेली रो चाली छै । घणा उपाय कीधा पण कण-रोई उपाय लागो नही । पाच सात हजार रुपयाई कुलवान हुया देव सारी सजाई लेता पधारसी, भूल राखसी नही । मने सजाई री मालम पडे नही सो जाणसी और आप रावत जस ने दो चार वयन कागद भेजा सोई आपर पुछडे कागद को समाचार लया नही सो आपरे लखा थी इणा ने कोई समाचार सो इणा ने रीस लागी, जीणी सु अमारा सु द्वेप गये सो मारो काई करै गुरुदेव राजी तो मगलाई राजी । सवत् १८४६ चैत्र सुदि १३ बुधे । द० लखमीचन्द पोकरणा ना छै । मुकाम जोजावरढवे श्रीमुख चेलाजी महाजने लेता पधारसी । दप ओछव मारा हाथ सु बेसी । गुरुदेव पर भरोसो छै । भेता मुलतानमल रो पगे लागणो मालम बेसी । आछा रेसी ने वे सी ॥ श्री ॥ श्री ॥

×

×

+

+

श्री दीवान वचनात श्री दीकानर रे माहाजन खरतरगछ आप्रठकीय छै । जिके जती उपासर माहे आगे छै सु मास १ माटे विहार करसी पछै रहण पावे नही पडावु जती आमी सु दिन ७ रहसी पछै विहार करसी वखण

पञ्चवर्ण गठ गी गीन करनी नवी जनी चीमाम आर्मी नु मन्त्र हूवे पछे जाटनी ने जनी मूमनमेर विनेमेर गो मगडाओ चैत
बदि १ ताड रहनी बीनो गहा पावे नहि ।

म १६२६ मगमेर मुदि १० नु मूं ही मनियावटगठ गी हूवे छै ते भटारक आचारज री हूवे छै ते करमी
उमर काग पावे मही ।

/ / X X

श्रीराजोन्नयति

मही

स्वस्ति श्री महागजाधिगज महागज श्री कर्णमिहजी वचनात् भटारकीये अचारजिया
गन्गाठ विहवाहना नु भेग जीरा उ ज्यो दगै भेग हागना निव हाग्यै नै महाजन आप माहे एक हूवा छै नै
जनीया गी आगठ छै मात १६ ताट भटारकीया अचारजीया आप माहे मग्गो करन श्री बीकानेर माहे आग्यै कदाम आप
महे मरवे नही ता-मान माना पछै ज्यो बीकानेर आग्ये नेनु माहाजन मानमी दिना एक मेला हुई ने वेई उपामर
मात ही महाजन पहाग गग्यै नै पछै दिन १० महाजन मगग ही लाटै उपामर जाग्यै ता पछै वई उपामर
ज्यो गग ताट मेला हुवना निव हूयैउत्तर आप पावे नही हूवे वात गी जॉटै उत्तर करै सु रूपीया २१००) ईकवोम
नै पावग देमी । आगठ श्री बीकानेर ने महाजन मगग ही भेला हूटै नै थापी छै । ममत १६२६ मीगमर मुदि १०
मीमगा मुक्काम मुटै । बुद्धा देहे ने भटारकीया आज नाट, जा हक नै रहनी तीय रह्यै ।

सही—

स्वस्ति श्रीमहागजाधिगज श्री कर्णमिहजी वचनात् भटारकीये अचारजिया तीया उपामगे
बही भटारकी महाजना गो छै नु भटारकीय दीन छै नु भोट्ट देजो महाजन भटारकी नु खग य छै मवत १७०५
बैमात्र बट ५ मु० श्री अवगावाद ।

/ / X X

स्वस्ति श्रीमहागजाधिगज महागज श्री कर्णमिहजी वचनात् भटारकीये अचारजिया आप(स) मे असग्गो
हूना नु आचारजी महाजन पावे आगो ही नु ट्ये तिनम पग्गानो दिख दीन्हो छै—

देहै चांदीमटै मानय कीरै—उमे जिनम बा माग ।

१ मोनघ	५॥	भटारकीया निम्ये
१ मोनघ	२॥	अचारजीये करिम्ये
१ मोनघ	१	भादवा मुदि १ री करमी
१ मोनघ	१	
१ मनघ	१	चोदगी देवानी

/ / X X

श्री परमेस्वरजी मय छै

स्वस्ति श्रीमहागजाधिगज महागज श्री कर्णमिहजी वचनात् भा माहामिह हर की मदान दिसे मुप्रमाद वाचजे
बटाग ममाचार मगग छै या हा ग दे जो अग्राच ॥ भटारक जिणवद मुग्गी गजनी उपाध्या सुमत विजै पडत
रनमी हट्टर आप फिरी ताद रगे जु म्हानी महर मै गहन न दै उपामरा म्हाय थोरा दीया नु आगे या नु परवानो
मीम नुमी गिमाय मेम्यो थो मु ये अमठ न दीयो नु कीरै वान्नी ही मेजी कोई उपामरी नव रायो छै जु ईणा रे हवालै





की जी फेर हजुर फरीयाद नावै सु कीजी सरावक या नु माने सु या नु मान जी वानु मानै सुवा नु मान जी या रा उपासरा मै औरो वारा उपासरा वर है और कोई आयस मै जोरे ज्याजती करण नु पावै मीती काती सुद ७ सवत १७१६ दुवै । श्री मुख मु काम जा हा ना वाद—

रजुदफत्र

रजुद फत्र पा महासौंय

इस पत्र मे उल्लिखित महाराजाधिराज रायसिंह कौन थे ? यह विचारणीय है । क्योंकि इसमे जो सवत १७१६ मुकाम जहानाबाद का उल्लेख है उस समय बीकानेर महाराजा रायसिंह तो विद्यमान थे ही नहीं । अन्य किसी रायसिंह को महाराजाधिराज का पद भी उस समय प्राप्त था या नहीं, विचारणीय है । पत्र उसी समय का लिखा हुआ है । उसके पीछे की ओर 'रजुदफत्र, और 'पा माहामिध' लिखा हुआ है ।

भट्टारक जिनचन्द्रसूरिजी बीकानेर गद्दी के श्री पूज्यजी उस समय विद्यमान थे । और भी खरतरगच्छ की किसी शाखा मे अन्य जिनचन्द्रसूरि भी हो सकते हैं ।

×

×

×

×



स्वांस्त श्री महाराजाधिराज महाराजा श्री अनूपसिंहजी वचना महाजन खरतरा ओसवाल जोग्य सुप्रसाद वाचजोजी तथा श्रीपूज्यजी श्री बीकानेर चौमासे छै सो ये घणी सेवा भगत करजो, काण कुरव राखजो ।

स० १७५२ आपाढ सुदि १ मुकाम गढ सागर ।

महाराजा अनूपसिंहजी के एक परवाने की नकल मैंने 'राजस्थान भारती' मे प्रकाशित की है । वह परवाना नाजर आणदराम को दिया गया है । उससे तत्कालीन शासन-व्यवस्था आदि के सबन्ध मे बहुत ही महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है, महाराजा ने इसे स० १७४६ मिंगसर वदी १३ को आदणी मुकाम मे लिखाकर भेजा है ।

महाराजा अनूपसिंहजी के लिखे हुये दो सस्कृतपत्र और जिनचन्द्रसूरिजी के महाराजा को दिये हुये तीन सस्कृत पत्र भी हमारे संग्रह मे हैं ।

नाजर आणदराम के दिये हुये सस्कृत और राजस्थानी भाषा के पत्र भी हमारे संग्रह मे हैं ।

×

×

×

×

श्री बीकानेर रा माडईया लिखावतु रिणी रा माडईया जोग तथा पुज्य श्री जिनसुखसूरजी री छतडी पादका रे पूजा नु टका १५ । अखरे पन्तरै चलु यितीया देज्यो म्हे थानु मुकाते मा भुजरै भर देसा । स १७८३ मगसर सुद ४ हुता चलु देजाइ ।

उपासरै भटारका रै देजो ।

महाराजा सुजानसिंहजी के दिये हुये जिनसुखसूरिजी के २ पत्रों की नकल 'बीकानेर जैन लेख संग्रह' जैन सिद्धान्त भास्कर, और 'धर्मवन्दन ग्रन्थावली' आदि मे छप चुके हैं ।

नाजर आणदराम ने स० १७७६ मिंगसर सुदि १ बुधवार को जिनसुखसूरिजी को पत्र दिया था । उसमे सस्कृत के साथ-साथ राजस्थानी भाषा में भी निम्नोक्त समाचार लिखे हुए हैं—

उपराच उपाध्याय श्री भागचन्दजी ने साहजहनाबाद रो आदेश छै सु हिंडी कै साल आदेश श्री बीकानेर रो

देस्यो। जो जा महरवानगी म्हा ऊपर करस्यो जो, वर जती नैणमीजी आप खनै छै, मु एक बार उहा नै अठै म्हालस्योजी ।

मवत् १८०० के फागुण वदि १० को नाजर आपदराम ने जिनभक्ति मूर्तिजी को पत्र दिया है । वह उस समय की बोली में लिखा हुआ है ।

श्री परमेश्वरजी सत्य छै

स्वस्ति श्रीभुजनगर भुनमृधाने पूजि परम पूजि नरव ओपमा विराजमान सतश्रिया नावधान जंगम युगप्रधान पूजि भट्टारकजी श्री १०५ श्री जिनलाममूरजी नूरि नुरान चरण कमलान नागोर श्री मदा मेवग आज्ञाकारी मिषवी फनैचन्द निश्चित वदणो पौ लागणो अवधारजो। अठारा नमाचार श्रीपूजजी कृपा नू भला छै । आगरा मदा आगम्य चाही-जैजी । आप बडा छी पूजि छी । नेवग नू मदा कृपा भाव हेन गखौ छी । तिण श्री विनेप रखावजो। सेवग लायक काम चाकरी होय नो कृपाकर लिखाया कगवज्याजी । अररच वणारम श्रीनैणमीजी आपरै हजूर आया छै नू अरज करपी—श्रीगजाधिराजजी फुरमायो छै नैणमीजी नै उगाधाय पदवी दिगवजो मु आप कृपा करनै इणाने उपाध्याय पदवी देनै नीख दिगवज्यो। नैणमीजी मारी दाता लायक छै । पडिन छै । सु आप कृपा फू मावस्यो हूँ। जजी । बाहटना कागद कृपा भाव कः दीगया कगवजो ।

सवत् १८०४ रा फागुण वदि ५ ।

“पूजि भट्टारकजी श्री १०८ श्री जिनलाम मूरिजी चरण कमलान”

५

५

५

५

श्री परमेश्वरजी सत्य छै

स्वस्ति श्री भट्टारक मिरि पूज श्री जिनलाममूर्तिजी जाग्य गजाधिराज श्री बखतसिधजी लिखावत नमस्कार वाचजो । तया वणारम नैणमीजी गज कनै आया छै गी माहा जोग छै पडिन छै इणाने उपाध्याय पद दिगयनै मीन दिराजो मवत् १८०४ रा फागुण वदि १३ ।

×

×

×

×

इम पत्र के अन्त मे एक महत्त्वपूर्ण निर्देश है कि आप मेरे को जो पत्र लिखावे वह पावरी भाषा मे ही लिखावे सम्मन्त्र मे नहीं । इसलिए इम पत्र की नकल नीचे दी जा रही है ।

स्वस्ति श्रीनगद ओपमान लायक परमनुवदायक मवै गच्छा मिर नायक नेवका मनभायक । अनेक ओपमा विराजमान पूज्य श्री पूज्यजी श्री श्री श्री श्री जिनभक्तिमूरजी चरण कु मला नू आज्ञाकारी मदा मेवग नाजर आपद-गम लिखत आदेश वनणा धनै मान अवधारजो। अठारा नमाचार श्री पूज्यजी की कृपा नू भला छै । श्रीपूज्यजी सदा आराग्य चाही जै । अत्रच श्री पूज्यजी बडा छी म्हारै श्रीपूज्यजी उग्रान और काई वान न छै मेवग आपरी जाण सदा कृपाभाव राजो छी निण नू विनेप राखज्यो। अत्रच कृपा पत्र १ आपरो माह नुदि १९ की मिति गे आयो । बानीया नू आपरै दरमण लीया की ओ मुख हूँ। अत्रच आप लिखियो जु जप जा नुमरण वेला म्हे यानू याद करा छो नू आप आपरी मेवग जाण म्हानू कृपा राखी छी सु आप बडा छौ । आपनू आहिज चाहीजै। और अवर के चौमाने रो आप किमी नैड गी विचार राखो छो नै रो व्योरो लिख मेल्हज्यो ज्यू म्हाई उवर पडे अर म्हा ने तो आप मदा आपरी नेवा हीज मे जाण तारस्यो। अठै नरीखौ काय काज हूँ मु घणी लिखना रहियौ और म्हानू आप कागद पतर लिखावी नू पावरी भाषा हीज मे लिखाया कज्यो मैम्हन मे मनी लिखावज्यो। छाडड ता कागद सदा देख्यो। सवत् १८०० वर्षे निनी फागुण वदि १० दिन ।

खरनरगच्छ के जाचारों ने आज्ञाओं को जो पत्र लिखे उनमें ने एक पत्र का आवश्यक अंग नीचे दिया जा





रहा है । यह पत्र नवहर से भ० जिनगुप्तसूरिजी ने बीकानेर के महाराजा सुजानसिंह को दिया था । इसके अन्त के कुछे में महाराजा की विजय का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है—

अगरच श्री महाराजजी री प्रीति पत्र आयी । वाची मन राची साची प्रीति जाणि सुख पायी । श्रीमहाराजा जी नै शुभ आशीर्वचन करता सदा सर्वदा श्री महाराजजी री चढती प्रताप उदै अभ्युदय चाह्यो छ । आप पिण पूर्व प्रतीति प्रीति रीति धरी छी तिण थी विशेष धरवी मोटा धरणीधर छउ

बोहा—वैरी साधि चलाई चित, कते करी इक फाल ।

महाराज आए महल, सुनि हम नए खुस्याल ॥

छाप

महाराजाधिराज महाराज श्री जोरावरसिंहजी वचनात् राठीड भीयासिंहजी कुशलसिंहजी मुहता रघुनाथ योग्य सुप्रसाद वाचजो तिथा सरसै में जती अमरसीजी छै सु थाने काम काज कहै सु कर दीज्ये ऊपर घणो राखजो । कागुण सुदि ४ स० १७६६ ।

×

×

×

×

श्रीलक्ष्मीनारायण
जीभगतराज
राजेधर माहारा
जा शिरोमण माहा
राजाधिराज मा
हाराज कुवार श्री
राजसिंह स्व मुद्रका

श्रीरामजी

स्वस्ति श्रीजगम जुगप्रधान भट्टाङ्क श्री जिणचद सूरिजी सुरेश्वरान माहागजाधिराज महाराज महाराज गुनार श्री राजसिधजी लिखावतु नीमस्कार वाचजो अठारा समाचार श्रीजे रे तेज प्रताप कर भला छै धौहरा सदा भला चाहिजै अप्रम मे म्हाणे पूज्य छी था सनाथ और कोई बात न छै गदा म्हासु कृपा रागी छी जिण सु विसैप रखाजो । और थे भीमामे उनरीया गताय बीकानेर आव जो म्हा नुं थासुं मीलण री चाह्यो छै अठारी हकीकत सारी गुण्जी तेजमाल नाहटे मनगुप्त रे कागद मु जाणजा । सवत् १८४० गिती कानी वद १ गुणम गाव ।
वेसणोक — ५ — ५ — ५ — ५ — ५ — ५ —

१ जगमे जुगेप्रभ

जिणचद सूरजी सुरेश्वरान

×

×

×

×

स्वस्ति श्रीगजराजेधर महाराजाधिराज महाराजा शिरामणि महाराजा श्री सूरतगिहजी महाराज कुंवर श्री रतनगिहजी वचनात् परतरा रे उपासरे री मीव म पयचदीयी बाजो बाजवण न पयवाणा न्हदुरसिधजी री अरज गु कर दीयो थी तै ऊपर पयतरा कयश श्री दरबार मे अरज कीवी या रो गाजी प्राजी जाये नदे ही बाज्यो नही हमार थी

नवी रीत करी छै तँ उपर श्री दरवार मुँ आ फुग्माही आगँ मदा मद मरजाद चली आवै छै ते रीत हुमी परवाणी पायचदीया नुं वहादरसिधजी अरज मुँ मिनी पोह वद ५ गे कर दियो छै मु उ परवाणी हमै रद छै आगँ मुँ तपा पाय-चदीया लौका खरतरा कवला री नीव मे बाजा नैव झाग्न वजावण पावै नही अर परवाणी एक इण ही भगत कवनै गच्छ नु कर दिगो छै सवन् १८६० मिनी पोह वद १२ । मुकाम पाय तखत श्री बीकानेर कोट दावल ।

×

×

×

×

श्री ब्रजराज स
हाय महाराजाधिरा
जा महारावतजी श्री
गजसिध जी कल्प
मुद्रिका

मिद श्री माहाराजाधिराज महारावतजी श्री गजसिधजी वचनात् गुग मदासुखजी विसी वदनावाचनो तथा हकीमत मारी प्रोहत नेवाराम ना फुग्माय मेन्थो छै मो कहे सँ अठे वार हन आवो तो था रो कुज कायदा उठ ज्याइ रहैमी फेर टटा रे रुीया देना हकीमत नागे नेवाराम कहै नै सवन् १८८४ रा मिनी मेघर सुदि ५

×

×

×

×

दमकत खात

श्री पूजजी मुँ म्हागे नमस्कार वदना वाचनो उपरच म्हारै फुरमायो मु आ काम कियो छै सु फेर तो म्हाँ विराजता परमानर रे श्रीपूजजी ट्यै रत्ने न वृगमा इयै मे कमर न जाणमी बडै महाराजजी रुनी लिख दियो छै ते मुजब ही मरजाद रहैमी इयै मे कमर न पडमी म्हारा वचन छै थे म्हारा मुप्रचितक छो पीटीया सुँ लगाय था सबाय और न छै । चिन्तामणजी महावीरजी मनाउन—गवाड मे मदामद जुँ बाजै छै तँ मुजब वाजमी म्हा विराजता कसर न पडती मे १८८६ मिनी जेठ बदी २ ।

×

×

×

×

दमकत खाम मु० श्रीदुमन दोमी मुप्रना (व)वचै अप्रच ठाकुर बीरीसाल नैदेमणाक नु लपेट लायो पछै श्री ठाकुरजी रे दमण नै गयो जारा ठाकुर नै ल रे हाथी रे खुवानी मे चाडो तो ही पैट गे मैल गयो नही पछै मागनै बगमी ठाकुर नै अमरावता नै राजी बाजी कर विदा किया माठ ह्मार ल्पीया जिया मु था उठे मारी मुणी हुयो । धोमाना जी नै मट मे वीम नैम नवल कीया हीदु मुमलमान रे मुन हुवै छै मु मारा नीमा अमरावता गे हाथ ठाकुरभालो ठाकुर ग हाथ अमरावता झागे इमी मुन कर विदा ह्वा भाज नै जाय पकड लीया पछै एक एक नै वाडना गया इमी केना गया हजूर ईयाद करै छै था मुँ एकना करमी थे केना मारैकोट रीछाया तीन बाग पडै छै मु बा छाया केय जारा देवीनीघ ठरुणी री, उवै इमी कही उ था छाया कोट मुँ वार आसी जारा ठीक पडमी मु आकर गयो हमे पुगल गयो छै । पुगल बानी जैसलमेर गयो छै मु हमै हुवै सु ठीक पडमी ईयै देखना तो ठाकुराव जैसलमेर गे रावल न्देग एव छै । लारली कुवव मारी रा ट्या की छै दीमै तो इमी छै । दुजा ममाचार मारा मु० मुलचन्द रैवा मुनमी मानीराम रावाकिननै रै कागदा मुँ जाणनी कुववपद गे चानर छैमात पीढी गे चानरछैमाम धरमीचाकरै छैमु जैसलमेरी हुकम मगाय देपैलकं जु न हुवै सवत् १८८७ मीनी मावण मुद ५ भादवा सुद दुज नै डेरा दाखल हुना ताकीदी सुँ उथला आवै सु करे अठे मोटी काम





तो थारें नयाचार आया जाव करमां पुगल रो कम तो पैली करसा जेज रो काम न छै थारी चाकरी छै । मजो तो पेल को बदली लीयो सँ छै । १ रु को खा स ।

श्री दीवान वचनात् वडे उपामरें रे श्रीपूजजी श्री १०८ श्री सोभागसूरजी ने गुरु पदवी देय दीवी छै सु वडे उपामरे री पीढी सँ मरजाद रा परवाणा बा छाप रा कागद सीव रात्रा सामग्री रा धरणे रा कर दिया छै तिके परवाणा मुज्र मनी छै और नया मरजाद मो बाध दिवी छै । वडे उपामरे री साध साधवी मे चुक पड जावे उव रो दुसमण मा म अरज नरें ते मुणे नही थीपूज्य थी उवा नै दड प्रायच्छित देर सुध कर लेसी । कदाय श्रीपूजजी री इग्या नहीं मानसी आप मन्दा बेमना फर उवा नै परस्पर समझासी समझया लागसी नही तो उव दरवार सँ अरज करासी अँ साधसाधवी म्हारी इग्या मे नही चाले छै आप मुराद वेवे छै ताग दरबार सँ बाने वढाय सिजा देसी तारवा श्रीपूजजी नै कवासी अम आपरी इग्या उलगा नहीं ओलगा तो जिन इग्यारो लोपी हुवा तारा अरज कर छोडासी और साध साधवी सह्र मे अगान ग भीदर करासी व गाव मे कगासी तारै श्रीदरवार रो हुकम छै फेरु अरज करावण रो काम नहीं मास १३ मुचनण बेसर धूप दीप रो दीया जामी जिके दिन सँ मिदर कराया जिके दिन दिन सँ लेखो कर दिराय देजी और वडे उपामरे री सीरणी री मरजाद बाध दीवी छै सा राज रोदा मवारी वा० लणयत सँ डरनो वा ओर ओर गुन वालो मुनद। महुकार और दीकोड दुजी उपासरें गरण जाय वँठमी ते नै श्रीदरवार सँ वा० लणायत न उठासी, उठागी ते नै दरवार सिजा देसी और श्री बीकानेर रो बसीवान सह्रकार वा० दुजी पटवा श्रीपूज कीया छै तेन न मानमी जो कोई मानसी वारा श्रीदरवार और किसी नै बी पुरो मानणी सावित हुय जासी तो बाने सिजा दी जासी इयै मरजाद मेटण री कोई चाकर अरज करसी तो परम हरामखोर हुमी इयै मे कसर नही पडसी म्हारी वचन छै । द० मुहतो लीलाधर स० १८६७ भीती माघ सुद १३ ।

×

×

×

×

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराज राज राजेध्वर नरेन्द्र शिरोमणि श्री सिरदारसिंहजी वचनात् श्री बीकानेर रा साहुकार परदेस मे छै, तिका समसुता दिसी सुप्रसाद वने अपरच भट्टारक श्रीपूजजी पूजजी श्री जिनहस सूरिजी नै भट्टारक श्री पूजजी श्री जिनमुगत सूरिजी रा थाव मान्या हुवै तो ये इया नै मानजो नही तो कुँही मानण रो मुदो नही सबत् १६१२ मितो काती वद १४ मुकाम पाय तखत श्री बीकानेर कोट दारना —

महाराजाजी के स्वयं के लिखे हुये कई खास रुके हमारे सग्रह मे हैं जिनमे से ज्ञानसारजी को महाराजा सूरत-सिंहजी के लिखे हुये कुछ पत्रो की नकलें हमारे 'ज्ञानमार ग्रन्थावली' मे दी गई है । ऐसे महत्त्वपूर्ण पत्र बहुत से हैं और इनमे तत्कालीन राजकीय स्थिति का इतना महत्त्वपूर्ण पता चलता है जो अन्य किसी साधन से नहीं चल सकता । आपसी वा-व्यापार मे दिल चोलकर वास्तविक समाचार लिखे जाते हैं इसलिये ऐतिहासिक दृष्टि से उनका सर्वाधिक मूल्य है । जैनचार्य अपने आज्ञानुवर्ती मुनियो-यतियो का आदेशपत्र भेजते थे कि अमुक जगह चौमासा करने के लिये पहुँचो और उन यतियो के आचार्यो एव वडे-छोटे मुनियो थावको के लिखे हुये समाचार पत्र भी वडे महत्त्व के हैं, जो सैराट्टा की सग्या मे हमारे सग्रह मे हैं ।

गोपाचल की मध्यकालीन साहित्य-कला साधना

डॉ० राजाराम जैन

एम० ए०, पी०एच० डी०, आरा



गोपाचल भारतीय साहित्य एवं साहित्य का प्रमुख केन्द्र रहा है। जनसांस्कृतिक, साहित्य एवं कला की दृष्टि में भी उसका मुद्गर अतीत तो स्वर्णिम रहा है किन्तु उसका मध्यकाल और विघटन १५-१६ वीं सदी का काल विशेष महत्वपूर्ण रहा है। उस युग में कई विघात एवं उत्तुंग जैन मन्दिर, जगणिन जैन मूर्तियाँ तथा अनेक स्वाध्याय-शालाएँ बनी तथा विद्यालय मौलिक एवं टीका-साहित्य का सृजन हुआ। प्राचीन ग्रन्थों का पुनरुद्धार, उनका प्रतिलिपिकारण तथा उनके मन्त्रगुणी दृष्टि में तो यह काल अभूतपूर्व ही कहा जा सकता है। गोपाचल के नगरमेंटों ने भी एक जोग जहा राज्य की जायिक समृद्धि में अपना महान् योगदान किया, वहीं राजनीति के क्षेत्र में भी युगानुरागी आदय महसूस दिया। नगराजिन नेज अपने जनेन मप्रिमडन में जैनों को महत्वपूर्ण स्थान देने रहे। इनके साथ-साथ ही जैन-साहित्य, साहित्यकारों एवं कलाकारों को अपने यहां प्रथम देकर इन नगरमेंटों ने जो अनुपम कार्य किये एवं गोपाचल को नीचस्वर्ण बना दिया, गोपाचल (ग्यात्रियर) का कण-कण आज भी उनके प्रति अपनी कुनजना या भाव प्रदर्शित करता हुआ प्रतीत हो रहा है। किन्तु यहां इन सभी नद्यों की चर्चा सम्भव नहीं, क्योंकि वे एक विद्यालय ग्रन्थ का आकार ले सकते हैं। जन साथ साहित्य-प्रणयन, लेखन, मन्त्रण तथा प्रसंगवश जैन-कला सम्बन्धी कुछ तथ्यों की ही यहां संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि में ज्ञान वानावरण हान के साथ-साथ तात्कालिक राजाओं की साहित्य एवं कला के प्रति मुक्त, पुनराग, उनकी धार्मिक महिष्णुता एवं उदारता आदि ही साहित्य एवं कला के विनाश के प्रमुख कारण हैं। गोपाचल में भीभाग्य में उक्त सभी संयोग एक के बाद एक जुटते गये। उन विविध मौल्य वानावरण को देखकर एक फारसी कवि ने गोपाचल को "भारत का शीराज" तक कह दिया था। महाकवि गुरु न भी अपने ग्रन्थों के प्रशस्तिपत्रों में अनेकों बार उन्हें 'कुवेर नगरी', 'इन्द्रपुरी', 'महाकवि', 'महापण्डित' एवं 'गुरुणा गुरु' की उपाधि से सम्मानित किया है।

ताम्रबोध की गोपाचल-शाखा के नौ राजाओं ने गोपाचल में मन् १३६८ ई० से १५०० ई० तक शासन किया। उनमें से तीसरे शासन बिन्दुमदेव (अपरनाम बीरमदेव—१४०२-१४२४ ई०) के काठ में गोपाचल में साम्प्रतिक एवं साहित्यिक वानावरण की विशेष नृष्टि हुई तथा जैन-कवियों को राजकीय सम्मान एवं संरक्षण प्राप्त हुआ। ऐसे श्रवियों में महाशक्ति नरचन्द्रमूरि एवं मन्दारक गुणतीति प्रमुख थे। महाकवि रघू का यह उदयकाल था। कविता के क्षेत्र में वे अपने चरण बटा रहे थे।

१ नगर सेठों के विशेष परिचय के लिये मेरे द्वारा लिखित निम्न स्मृतिग्रन्थ कलकत्ता (१९६१ ई०) मुनिश्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ व्याकरण (१९६५) एवं मध्यप्रदेशसन्देश ग्वालियर (जुलाई १९६५) में प्रकाशित मेरे विस्तृत शोध-निबन्ध पढ़ें।

२ मानमिह और मानकुतूहल (ग्वालियर, १९५३) पृ० १५६।

३ तोमरवंशी सभी राजाओं के विस्तृत परिचय के लिये मेरे द्वारा लिखित विस्तृत शोध निबन्ध मध्यप्रदेश सन्देश (१९६६) में पढ़िये।



महाकवि नयचन्द्र सूरि अपने समय के प्रमुख कवि एवं सट्टककार थे। उनकी दो कृतियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—हम्मीर महाकाव्य^१ एवं रम्भामजरी^२ गट्टक। हम्मीर 'महाकाव्य' वीररस प्रधान महाकाव्य है जिसमें १४ सर्ग एवं विविध प्रकार के छन्दो, अलंकारो एवं रसों में समन्वित १५७२ श्लोक हैं। इसकी भाषा मस्कृत है। इसके प्रणयन में राजा विजयदेव की प्रेरणा ही प्रमुख कारण है। नयचन्द्र सूरि की कवि-प्रतिभा को उकमाने के हेतु उन्होंने एक बार मने दरबार में कहा—“पूर्व कवियों के समान काव्यों की रचना आजकल संभव नहीं।”^३ विक्रम की यह बात महा-कवि को लग गई, अतः कवि ने ‘हम्मीर महाकाव्य’ का प्रणयन किया। कवि ने म्यय लिखा है—“विक्रम की बात सुनकर मैं शृंगार, वीर एवं अद्भुत रस में युक्त प्रस्तुत काव्य लिख रहा हूँ।”^४

‘हम्मीर महाकाव्य’ राजा हम्मीरदेव के रणनीय एवं धीर वीरमृत्यु की तेजस्विनी काव्यकथा है जिसे पढ़-कर आज भी बाहुएँ फड़क उठती हैं। जिस समय यह काव्य लिखा गया था वह युद्धों का काल था। सर्वत्र छोटी बड़ी बातों अथवा कामिनी, काचन या राज्यलिप्ता को लेकर आपस में कलह ठन जाती थी। विक्रम के राज्य की शान्ति एवं समृद्धि की ओर भी दिल्ली एवं मालवा के मुसलमानों के सेनापति झुकाव था एवं प्रियया जी आँखें गड़ी रहती थी। अबसर पाकर वे हमले बोल दिया करते थे जिसमें शान्तिप्रेमी विक्रम को तलवार उठाकर अपना पुरुषार्थ दिखाना पड़ता था। यद्यपि विजय उसी के हाथ में रहती थी किन्तु कभी-कभी उसके मन में विजयप्राप्ति के प्रति आकांक्षा होने लगती थी। सधप एवं निराशा की उन घड़ियों में सम्भवतः ‘हम्मीर महाकाव्य’ ही उसे प्रेरणा, उत्साह एवं स्फूर्ति प्रदान करता रहा हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। नयचन्द्र सूरि एवं राजा विक्रम का यह घनिष्ठ सम्बन्ध कार्लद्वारा एवं विक्रमादित्य, भामाशाह एवं महागणा प्रताप तथा चन्दवरदाई एवं पृथ्वीराज चौहान के युग का स्मरण कराता है।

नयचन्द्र सूरि की दूसरी रचना रम्भामजरी सट्टक है। इसमें प्राप्त कथानक के अनुसार राजा जैत्रचन्द्र की रात रानियाँ थी। उनके अतिरिक्त उनका प्रेम लाटनरेश देवराज की पुत्री रम्भा से हो गया जो आगे चलकर विवाह के रूप में परिणत हो गया।

महान् सट्टककार राजनेश्वर (९-१० वीं सदी) के अनुसार “सट्टक में अक, प्रवेशक एवं विष्कम्भक नहीं होते”। इनके अतिरिक्त सट्टक नाटिका का अनुकरण करती है। हाँ, सट्टक आद्यन्त प्राकृत भाषानिबद्ध होती है।” इनके अतिरिक्त गट्टक की अन्य विशेषताओं में से इसका नायक राजा होता है जो स्वभावतः स्वर्ण होता है। वह लुक-छिप कर नायिका से प्रेमव्यापार करता है और पट्टरानी को धोखा देकर उसके साथ विवाह कर लेता है। इसमें शृंगाररस प्रधान होता है। समस्त कथानक चार जवनिकान्तरो में विभक्त होता है।^५

सट्टक की उक्त सभी विशेषताएँ ‘रम्भामजरी’ में उपलब्ध नहीं होती। चार जवनिकान्तरो में से प्रस्तुत रचना में कुल तीन जवनिकान्तर ही उपलब्ध हैं। प्रथम में राजा जैत्रचन्द्र का रम्भा के साथ विवाह एवं दूसरी तथा तीसरी जवनिका में उनके प्रेमव्यापार का वर्णन है। इन तीनों जवनिकाओं में नाटक के फल का वर्णन एवं भरतवाक्य अनुपलब्ध है। इसमें ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम चतुर्थ जवनिका नष्ट हो गई।

१ निर्णयसागर० बम्बई (१८७६ ई०) से प्रकाशित।

२. निर्णयसागर० बम्बई (१८८६) से प्रकाशित।

३-४ काव्य पूर्वकवेर्न काव्यसदृश कश्चिद्विधाताधुने—

त्युक्ते तोमरवीरमक्षितिपते. सामाजिक ससदि।

तद्भूचापलकेतिबोलितमना शृंगारवीराद्भुत,

चक्रे काव्यमिदं हम्मीरनुपतेर्नव्य नयेन्दु कवि ॥ हम्मीरकाव्य १४।४३

५ कर्पूरमजरी (Edited by N G Suru, Bombay, 1960) १।६

६ प्राकृत भाषा और साहित्य (दिल्ली, प्र० सं०) पृ० १२१

नरचन्द्र ने तृतीय जननिशा के अन्त में उसे 'नाटिका' कहा है। जब कि नट एवं मूत्रधार के माध्यम से उम्मेद उसे 'मट्टक' कहा है। उसी प्रकार इसमें प्राकृत के साथ मन्थन का मिश्रण भी बहुलता से प्राप्त है। नट, रानी वनननेना रम्भा प्रतिहारी विदूषक और चेटो प्राकृत में वार्ताकार करते हैं तथा इनके पत्र-प्रयोग भी प्राकृत में हैं, हाँ चेटो मन्थन-पत्र का प्रयोग नहीं है। हमारी जोंग मूत्रधार, राजा, नायकदान एवं मन्थपाठक अपना बालालाप मन्थन में करने हैं जिन पत्र में मन्थन एवं प्राकृत दोनों का ही प्रयोग करने है। उनका ही नहीं हमका एक प्रतिहारी ना मन्थन प्राकृत के साथ-साथ नाटो का भी प्रयोग करना है।

उन दिग्गजनाथों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नरचन्द्र ने मट्टक एवं नाटक में कोई विशेष भेदभाव नहीं माना। वे 'नट' के फर्क से हैं। युग के अनुसार उन्होंने जो उचित समझा, वही किया। 'पुण्यमित्येव न नाशु सर्व' बाणी उक्त नरचन्द्र का पूर्णतया लागू होता है। वस्तुतः मट्टक के क्षेत्र में कवि का यह एक नया शान्ति-कारी प्रयोग था जो प्राचीनता से सर्वानता का समन्वय व्यवसाय निर्वाह ही उनकी अपनी मौलिक विशेषता थी। हमकी भाषा में प्रोट है। हमसे प्रयुक्त मन्थन के अंश को पढ़ने समय गदम्वरी के लम्बे-लम्बे ममामान पदों का व्यवसाय समझ आ जाता है।

मूत्रधार के माध्यम से नरचन्द्र ने अपना जो पश्चिमा दिया है, उसमें यह स्पष्ट विदित है कि वे मरम्भनी के वरुण पुत्र एवं पाण्डव विज्ञान थे। हमारा उन्हें सब भी था। राजम्वरी की स्फूर्तमजरी नामक मट्टक को भी उन्होंने नाश मन्थना। नरचन्द्र को अपने नाटिक प्रयोग करने की प्रेरणा सम्भव महाकवि पुण्यदन्त से मिली होगी, क्योंकि इस समय पाण्डव ने पुण्यदन्त के महापुत्रा एवं नमस्कृति का पठन-पाठन बड़ा मोहप्रिय था। पुण्यदन्त ने अपनी विद्वता का पश्चिमा देन हुआ जाने को "अभिमानमेव" "अभिमानचिह्न" जैसे विशेषणों से विभूषित किया है। तथा मरम्भनी को उन्होंने चर्चनी की है कि ने दिना उसे नहीं प्रत्यक्ष मिलेगा। नरचन्द्र ने अपनी मुखरता के साथ ना अपना एक व्यवसाय नहीं किया है किन्तु अपने नाट्यकीयता से उन्होंने अपना जैसा पश्चिमा दिया है उसमें पुण्यदन्त के जैसे सब की प्रति व्यवसाय ही सुनाई दे जाती है।

१ "ममामान रम्भापञ्जरीनाम नाटिका"।

२ नट — ना कि पशोऽजनाविमेम पटिज्जिज्जय एम सट्टयप्पवधमरप्पारमो । रम्भा० १।१८

मूत्रधार — एम त पण्णोदि अट्टमनिय एयम्मि मट्टे वगे । रम्भा० १।१९

३ जग पेशिना मन्थरावरी केसरातापु । नरी पण्णयना मण्णवे पिच्छप्रतापु । जरि नयनविपयू केलावेणी दडु ।

नरि माझाज्जाना भ्रमरश्रेणीदटु । जरि दूगोचरी जाना विनान नालु । तरि अर्धचन्द्र मडलु । मडला ऊर्णापु जालु ।

मृगमट्टपु नापु शशास्त्रदेवनाचे मडलु ।

कण्ठद्वय जैसे सर्वलोक आशा विधापु

रम्भा १।१२ पृ० ११

४ उन्माना मुकवित्तुनिर्गमो जो माग्दावेयमा—

द्विन्त्योत्तरप्पमायवमउ गयाण जो रजगो ।

जो पुब्बाग कईण पयपट्ठो एयस्म सो नारगो,

त्रिक्काओ नयचट्टणाममुकई भीममविज्जाणिहो ॥ रम्भा० १।१२ तथा १।१५-१६

५ कप्पूमजरीए कह रम्भापञ्जरी न अहिययग ।

कप्पुगड न रंभा रभाओ जेण कप्पुगे ॥ रम्भा० १।१८

६ त मुणेवि भण्ड अहिमाणमेर ॥ महापुण्य १।३।२२

७ वयसजुनि उत्तममत्ति वियनियमकि अहिमाण कि । जमह० ४।३।१३

८ कं याम्यम्यनिमानरत्नन्त्य श्री पुण्यदन्त विना ॥ महापुराण स० ४५ एवं

पाण्डवो मदिरि पित्रमन्नु, सलु अहिमाणमेर गुणगमहत्तु ॥ शायकुमारचरित १।२।२





विक्रमदेव स्वयं तो साहित्य-रसिक था ही। उसके मश्रिमडल का एक प्रमुख सदस्य कुशराज जैन^१ भी कम साहित्य-रसिक न था। उसका कलाप्रेम इसीसे जाना जा सकता था कि उसने गोपाचल में एक विशाल उत्तुंग चन्द्रप्रभ जिनालय^२ का निर्माण कराया था। यद्यपि वह स्वयं साहित्यकार न था, किन्तु साहित्यकारों के प्रति दृढ़ आस्थावान्, श्रद्धालु, भक्त एवं उनका आश्रयदाता था। उसके आश्रय में रहकर पद्मनाभ कायस्थ ने संस्कृत-भाषा-निबद्ध 'यशोधरचरित' नामक एक काव्य लिखा था। महाराज यशोधर का चरित जैन-साहित्य में अहिंसा-संस्कृति का प्रतीक एक आदर्श उज्ज्वल चरित माना जाता है जिस पर लगभग १०० छोटी-बड़ी रचनाएँ विविध भारतीय भाषाओं में विविध कालों में लिखी गईं। उन्हीं में से एक उक्त 'यशोधरचरित' भी है।

पद्मनाभ कायस्थ कृत यशोधरचरित का दूसरा नाम 'दयासुन्दर काव्य' है। इसमें ६ सर्ग एवं कुल १४६१ श्लोक हैं (यथा-सर्ग १ श्लोक १४६, २-७६, ३-१५३, ४-२३४, ५-१७६, ६-१८०, ७-१७४, ८-१६१, ९-१०६, एवं प्रशस्ति श्लोक १३)। अन्त्य प्रशस्तिखण्ड के दस पद्यों में कुशराज का विस्तृत परिचय दिया गया है।

ग्रन्थकार स्वयं कायस्थ था किन्तु उसके गुरु जैन भट्टारक गुणकीर्ति (वि० स० १४६८-७३) थे। उन्हीं के उपदेष्टे से उसने उक्त ग्रन्थ लिखा था।^३ कई भक्तों ने उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा भी की थी।^४

भट्टारक गुणकीर्ति एक साधक तपस्वी विद्वान् थे। उनकी स्वतन्त्र रचनाओं का तो पता नहीं चल सका, किन्तु अन्य प्रमाणों के आधार पर यह सुनिश्चित है कि उनके अनुज एवं शिष्य भट्टारक यश कीर्ति, महाकवि रङ्गू प्रभृति द्वारा रचित विशाल साहित्य उन्हीं की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रेरणा का सफल है। सन् १४१६ ई० में उन्होंने एक जैन मूर्ति^५ की स्थापना भी कराई थी।

अग्रिय (विक्रम) जैन (नयचन्द्र एवं कुशराज) एवं कायस्थ (पद्मनाभ) यह जातियों एवं सम्प्रदायों का अद्भुत समन्वय है। सुदूर पश्चिम एवं दक्षिण में ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते थे लेकिन उत्तर-भारत में ग्वालियर का तोमरवंश सम्भवतः प्रथम राजवंश था, जिसने धर्मनिरपेक्षबुद्धि में राज्यशासन किया तथा व्यक्ति की शक्ति, प्रतिभा एवं बुद्धिगुण के आधार पर सभी की शक्ति का यथोचित सम्मान एवं सदुपयोग किया। तोमरवंश में सर्वधर्म-समन्वय

१ ज्ञाता श्रीकुशराज एव सकलक्षमापालचूडामणि ।

श्रीमत्तोमरवीरमस्य विदितो विश्वासपात्र महान् ॥

मन्त्री मन्त्रविचक्षण क्षणमय क्षीणारिपक्ष क्षणात् ।

क्षोण्यामीक्षण-रक्षण-क्षममति-जैनेन्द्र-पूजार्त ॥

येनैतत्समकालमेव रचिर भव्य च काव्य तथा ।

साधु श्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्तिश्चिरस्थापकम् ।

(दयासुन्दराभिधान काव्य अन्त्यप्रशस्ति श्लोक ६)

(यह ग्रन्थ अप्रकाशित है और जैन सिद्धान्त भवन आरा में सुरक्षित है) दे० पृ० ५३ ख

२ स्वर्गस्पर्द्धि समृद्धिकोऽतिविमलचन्द्रैत्यालय कारितो ।

लोकानां हृदयगमोद्बुधनैश्चन्द्र प्रभस्य प्रभो ॥ वही० अन्त्यप्रशस्ति श्लोक ८

३ उपदेशेन ग्रन्थोऽयं गुणकीर्तिमहामुने ।

कायस्थपद्मनाभेन रचित पूर्वसूत्रतः ॥ वही० अन्त्यप्रशस्ति श्लोक १३

४ सतोष जैसवालैः सत्पुत्रेण प्रमोदिता ।

अतिश्लाघितो ग्रन्थोऽयमर्थसंग्रहकारिणा ॥ वही० ६।१०८

साधोर्विजयसिंहस्य जैसवालान्वयस्य च ।

सुतेन पृथ्वीराजेन ग्रन्थोऽयमनुमोदितः ॥ वही० ६।१०९

५ दे० भट्टारक सम्प्रदाय (शोलापुर, १९५८) लेखांक ५५६ ।

का प्राग्भूत विग्रह ने विज्ञा जो उत्तरात्तर वृद्धिगत होना रहा। यदि उसने समय में राजनैतिक उथल-पुथल न होनी तो क्या एक माहिर्न के क्षेत्र में जा पाया होता वह अभूतपूर्व होता।

यह तो हुआ मौलिक साहित्य का मजिष्ठा परिचय। इसके साथ-साथ विग्रहकाल में प्राचीन जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थों की सुस्था एवं प्रतिनिधि का महत्त्वपूर्ण कार्य भी होता रहा। ऐसे ग्रन्थों में 'छत्रकम्भोदयम्', 'तत्त्वदीपिका' एवं 'पञ्चाम्बिका' प्रमुख हैं।

'छत्रकम्भोदयम्' (पद्ममोदयम्) अपभ्रंश की एक महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें १८ सन्धिया है जिनमें देवपूजा, गुरुपूजा, स्वाध्याय, समय, तप एवं दान—इन छह निष्कर्मों का दृष्टान्त रूप क्या-कहानियों सहित सुन्दर उपदेश है।

उक्त रचना के लेखक जमरनीति ने उसकी रचना वि० स० १२४७ में गुजरात के महीराठा प्रदेश के गोहहय गोश्रा) नगर में की। यदि नागरवर्गी चर्चिया और गुणवान नामक माता-पिता के पुत्र थे। परवर्ती काल में वे मातृ-पुत्र के लुप्त हो गये के लिये ही परमेश्वर उन्हें जमिनगति में लेकर वर्गित की है। अपन भ्राता अवाग्रमाद की प्रेरणा से उन्होंने व्याख्यान रचना की थी। जमरनीति ने वि० स० १०८४ में 'नेमिनाथ चरित' की भी रचना की थी। 'उत्तरकम्भोदयम्' की प्रस्ताविका के अनुसार उन्होंने महावीरचरित, यथाध्यायचरित, धर्मचरितदिग्दर्शन, मुद्रापितरत्ननिधि, धर्मोदयचूडामणि एवं ध्यानप्रदीप आदि ग्रन्थ लिखे थे।^१

उक्त 'उत्तरकम्भोदयम्' की प्रतिलिपि का काय वि० स० १४७६ आषाढ सुदी ५ बुधवार को किसी पण्डित रामचन्द्र ने सम्पन्न किया था।^२

उसी प्रकार आचार्य तुन्दकुन्दकृत 'प्रवचनमार' पर अश्वतथन्द्राचार्य द्वारा लिखित 'तत्त्वदीपिका टीका'^३ की प्रतिलिपि का काय वि० स० १८६६ में एक भट्टारक गुणकीर्ति की प्रेरणा से एक अग्रवाल साध्वी देवधरी ने आचार्य तुन्दकुन्दकृत 'पञ्चाम्बिका' की एक प्रतिलिपि कराई थी।

प्रतिनिधित्व के मात्र-मात्र विग्रहकाल में टीका-साहित्य भी लिखा गया जिसमें आचार्य देवनेनकृत 'तत्त्वमा-टीका' पृ० ५० जमरनीति द्वारा लिखित एक नवीन टीका प्रमुख है।

विग्रह के बाद गोपाचल की राजगद्दी पर गणपतिपुत्र राजा डूंगरसिंह आसीन हुए तथा उनके बाद उनके पुत्र राजा कीर्तिनिधि। इन दोनों का राज्यकाल क्रमशः १८६१-१९१० एवं १९१०-१९३५ वि० स० के लगभग माना जाता है। यह राज गोपाचल के स्वराज्य का वस्तुतः जीवनकाल था। ये दोनों पिता-पुत्र जीवनभर मम्कृति एवं साहित्य के परम श्रद्धानुक्त थे। उनका एक उत्तम प्रमाण यही है कि इन दोनों के राज्यकाल में लगभग ३३ वर्षों तक गोपाचल दुर्ग में तैमस्तुतियों का निरन्तर निर्माण होता रहा।^४ यदि निम्नलिखित दृष्टि से गोपाचल का मध्यकालीन इतिहास लिखा जाय तो उसका प्रायः अधिकांश भाग जीवनभर, समाज, साहित्य एवं मम्कृति का इतिहास होगा।

डूंगरसिंह जब राजगद्दी पर बैठा तब सम्भवतः उसने प्रथम बार यह अनुभव किया था कि राजसिंहामन गुलाब के फूलों की सीध्या नहीं है। उसके समय में शत्रुओं ने चतुर्दिश आक्रमण जारी कर दिये थे। मालवा के हुजगसाह

१ ना० प्र० पत्रिका ५०१३-४।

२ प्रशस्तिमग्रह (जयपुर, १९५०) पृ० १७३-८।

३ जीवनग्रन्थ प्रशस्तिमग्रह भा० १ (दिल्ली १९५४), पृ० नमिका-४।

४ भट्टारक मम्प्रदाय, लेखाक ५५६।

५ Archaeology of Gwalior (1934) Page 17

६ डूंगरसिंह पर मेरा विस्तृत शोध-निबन्ध "मध्यप्रदेश-मन्देश" (१९६६ ई०) में पढ़िये।





एव दिल्ली के मल्लू इकवाल ने उसे चैन से सास नहीं लेने दी। किन्तु डूंगरसिंह ने अपने शौर्य, पराक्रम एवं कुशल सूक्ष्म-वृक्ष से सभी जन्तुओं के छक्के छुड़ा दिये थे। इंग्लैंड की महारानी एलिजाबेथ के राजमुकुट में आजकल जो बहुमूल्य कोहिनूर हीरा लगा है उसे महाराज डूंगरसिंह ने उक्त हुशंगशाह, जिनके पास हीरा, मोती, माणिक आदि का अमूल्य संग्रह था, से छीनकर अपने खजाने में सुरक्षित किया था जो दुर्भाग्य में तोमरवंश के अन्तिम राजा विक्रमादित्य के हाथों छिनकर हुमायूँ के राजमुकुट में जा लगा और कालक्रम से सान ममुद्र पार जा पहुँचा। अस्तु, इस प्रकार उसने राज्य की सीमाएँ सुरक्षित कर आन्तरिक शान्ति के लिये जो कुछ किया तथा सभ्यता, सस्कृति एवं साहित्य के निर्माण-विकास में जो योगदान दिया, उसे देखकर समाद्वितीय अशोक एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल का स्मरण हो आता है। इन सम्राटों के 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' किये गये कार्यों की परम्परा डूंगरसिंह के राज्यकाल में स्पष्ट देखी जा सकती है। उसे भारतीय इतिहास एवं सस्कृति का अच्छा ज्ञान था। राजा बीसलदेव, महामात्य वस्तुपाल एवं तेजपाल एवं सारंग साहू के कार्यों के प्रति वह नतमस्तक था। 'नग्वर' के सुप्रसिद्ध दुर्ग में तोमर वंशावली के इतिहास की सुरक्षा के हेतु निर्मित 'जयस्तम्भ' भी इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है।

महाराज डूंगरसिंह की कवि-प्रतिभा के सम्बन्ध में सागोपाग जानकारी प्राप्त करने के साधन अनुपलब्ध हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि उसने साहित्यकारों को मुकुट का मणि माना था। उसके समय में भट्टारक यश कीर्ति, महाकवि रङ्गधू, विबुध श्रीधर, थलू कायस्थ प्रभृति विद्वान् दृष्टे जिनका उसने जी खोलकर सम्मान किया। महाकवि रङ्गधू के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा थी, अतः उन्हें अपने राजमहल में रहकर ही साहित्य-साधना करने की सविनय प्रार्थना की थी। कवि ने उसे रवीकार भी कर लिया था।^१ यही कारण है कि कवि ने २५ से भी अधिक मौलिक प्रबन्ध एवं खण्डकाव्यों की रचनाएँ कीं। उसी की प्रेरणा से गोपाचल दुर्ग में अगणित छोटी-बड़ी कलापूर्ण जैन मूर्तियों का निर्माण हुआ।^२ एक विशाल आदिनाथ की मूर्ति पर उनके द्वारा प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख भी प्राप्त हुआ है।^३ कवि ने अपने सभी ग्रन्थों में राजा डूंगरसिंह एवं उनके पुत्र कीर्तिसिंह^४ के सुन्दर कार्यों का मूल्यांकन किया है जिससे जैनकला एवं सस्कृति के साथ-साथ गोपाचल के तोमरकालीन इतिहास पर कई प्रामाणिक तथ्य प्राप्त होते हैं।

भट्टारक यश कीर्ति इस युग के महान् आध्यात्मिक सन्त एवं प्रेरक तथा सर्जन साहित्यकार थे। ये भट्टारक गुणकीर्ति के गिण्य एवं अनुज भ्राता थे।^५ साहित्य के क्षेत्र में गोपाचल में यश कीर्ति का वही स्थान था जो हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का, जो स्वयं तो साहित्य प्रणयन करते ही ये साथ ही उदीयमान प्रतिभाओं को हर प्रकार की सहायता प्रदान करके उन्हें साहित्य लेखन में प्रगतिशक्ति करते थे।

यश कीर्ति ने अपने जीवनकाल में पाण्डवपुराण, हरिवंशपुराण, आदित्यवार कथा (अपर नाम रविव्रत कथा), जिनरात्रि कथा नामक ग्रन्थों की रचना की थी। पाण्डवपुराण की रचना वि० सं० १४९७-९८ के लगभग की थी, जिसे उन्होंने सम्भवतः दिल्ली के सुलतान मुबारिकशाह के राजस्वमन्त्री एवं वीरसाहू के पुत्र श्री हेमराज अग्रवाल के लिये लिखा था। यह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में है जिसमें ३४ सन्धियाँ हैं। इसकी समाप्ति कवि ने कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार वि० सं० १४९७ में की थी।^६

१ रङ्गधू ग्रन्थावली भा० प्र० १।३६

२ गोपाचल-दुर्ग में निर्मित जैन-मूर्तियों के इतिहास के सम्बन्ध में मेरा विस्तृत शोध-निबन्ध महावीर जैन विद्यालय वम्बई के स्वर्णजयन्ती स्मारक ग्रन्थ (१९६६-६७) में पढ़ें।

३ Journal of Asiatic Society of Bengal XXXI P 404

४ कीर्तिसिंह (अपरनाम करणसिंह) पर मेरा शोध-निबन्ध 'मध्यप्रदेश-सन्देश' (१९६७) में देखिए।

५ रङ्गधू ग्रन्थावली भाग ५ भूमिका।

६ जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भाग २ (सपा० प० परमानन्द जी) दिल्ली, १९६३ भूमिका पृ० ८१-८२।

इनकी दूसरी रचना का नाम 'हविर्गुरुगण' है जिसे उन्होंने योगिनीपुत्री के दिवदा मातृ के लिये बनाया था। इस ग्रन्थ की रचना भाद्रमास की शुक्ला एकादशी गुस्वार वि० सं० १५०० में जलाल खाँ के राज्य में स्थित इन्द्रपुर नामक नगर में समाप्त हुई थी। इस रचना में १० मन्त्रियाँ एवं २६५ कवक हैं। इसमें पदटिप्पण-छन्द के साथ-साथ हैला, उपाधियाँ, बन्धुवन्धु एवं उद्योग प्रभृति छन्दों की विविधता दर्शनीय है। प्रत्येक मन्त्रि के प्रारम्भ में मन्त्रश्लोक मन्त्रन भाषा में उपलब्ध है जिसमें अनुष्टुप वसन्तविराट्, मारदलविराट्, आदि प्रभुत्व है।

कवि की तीसरी रचना 'विष्णु रत्ना' है जिसका अर्थ नाम आदित्यरा' रखा है। इसमें रविवामनीय ग्रन्थ के मन्त्र पर प्रकाश डाला गया है।^१

यस रीतिरुक्त 'वन्द्यवर्चस्वि' नामक एक ग्रन्थ की रचना जानी है किन्तु उसका हृदिन्व विवादास्पद है।^२

यस रीति ने नववैष्णव के माध-माध प्राचीन तीर्थ-शीर्ष ग्रन्थों के पुनरुद्धार सम्बन्धी कार्य भी किये। उन्होंने गोपाचल के निरुद्धवर्मा 'कुमार' नामक जिलाध्यक्ष में बैठकर महाकवि स्वयम्भू (द्वितीया नदी) कृत शीर्ष-शीर्ष एवं उद्दिष्ट पदमन्त्रि एवं हविर्गुरुगण की प्राचीनतम प्रति की प्रतिनिधि कर उनका उद्धार किया था।^३ इन ग्रन्थों में ने 'पदमन्त्रि' का प्रकाशन हो चुका है। महापतिन गुरु मातृत्यायन का मत है कि गोस्वामी तुलसीदासकृत राम-चरितमानस में उक्त 'पदमन्त्रि' की प्रेरणा ही नहीं दल्लि रही-कही उनके अपभ्रंश पद्यों का अनुवाद भी प्राप्त है।^४ महाकवि पुराणन (द्वितीया नदी) के महापतिन एवं उद्दिष्ट का पाठ्यपत्र भी सम्भवतः यहाँ उस समय प्राप्त हुआ था।

प० विदुष श्रीधर^५ उन काल के तीसरे प्रमुख विद्वान् के लिये मन्त्रन, प्राटन एवं अपभ्रंश पर समानाधिकार था। उन्होंने मन्त्रन-भाषा में विषयदलचरित एवं अपभ्रंश में 'मुकुमाचरित' नामक ग्रन्थों की रचना की थी। विषयदलचरित के माध्यम में कवि ने मध्यमार्थीन समुद्रप्राथा एवं व्यापारिक मार्गियों के आयात-निर्यात पर सुन्दर प्रकाश डाला है। उनके प्रकाश में यस रीति की प्रेरणा ही दल साधन था।

एक अन्य कवि श्री नेमिचन्द्र भी उसी समय दृग जिन्होंने 'द्विमन्थान काव्य'^६ पर एक सुन्दर टीका ग्रन्थ किया था। उसी दृग प्रतिनिधित्व भी उस समय की गई जा प्रचार की दृष्टि में अन्य नगरों के शास्त्रागारों में प्रेषित की गई।

राजा दृगविष्ट के समय में ही एक और प्रयत्नीय व्यक्ति हुआ जो मीन माधरा या और जो मन्त्रन, प्राटन, अपभ्रंश एवं हिन्दी का अच्छा जाना था। उसका नाम था बलू नायन्य। उसकी स्वतन्त्र रचना तो देखने में नहीं आ सकती किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने कुछ किया जग्य था। वह प० विदुष श्रीधर का साहित्यिक महायक (Literary Assitt) सचक एवं प्रतिनिधित्व था। इन दृष्टि में भी साहित्य सेवा में उसका कम योगदान नहीं।

राजा दृगविष्ट का काल जैनसाहित्य एवं जैनकला के चमक विग्राम का काल तो है ही, इनके समय में

१ मन्त्रवती भट्टार जैनमन्त्रि इन्दौर की हस्तलिखित प्राचीन प्रति के आधार पर।

२ जैन ग्र०, प्र० सं० भाग २ पृ० ८० सूचिका।

३ अपभ्रंश साहित्य (दिल्ली प्र० सं०) पृ० २३८-३९।

४ भारती (अग० १९५५) में प्रकाशित राहुल साहत्यायन का लेख देखें तथा जट्टारक सम्प्रदाय लेखक ५५८-५५९।

५ हिन्दी काव्यधारा (मपा० राहुल साहत्यायन) सूचिका।

६ मध्यप्रदेशीय भाषा पृ० १४०।

७ राजन्याय के जैनशास्त्रमंडारों की सूची (चतुर्थ भाग) पृ० १७२।





कई भट्टारकीय गद्दियों की स्थापनाएँ भी की गईं। खालियर मही भट्टारक पट्ट की स्थापना की गई थी जिस अन्तर पर भट्टारक सकलकीर्ति ने “पुण्याहवाचना” नामक मन्त्रग्रन्थ का ममारोहपूर्वक आख्यान पाठ किया था।^१

इसी समय मुजर्नाचल (सोनागिर) में भी एक भट्टारकीय गद्दी की स्थापना भ० कमलकीर्ति (वि० स० १७०६-१०) के शिष्य भट्टारक जुगचन्द्र^२ (वि० स० १५३०) ने की थी।

डूंगरसिंह ने उत्तराधिकारी पुत्र कीर्तिसिंह की चर्चा पूर्व में ही हो चुकी है। उसके कार्यों का वर्गीकरण कुछ जटिल है। उस्तुत इसके कार्य अपने पिता डूंगरसिंह के अधूरे कार्यों के पूरक ही रहे हैं। महाकवि रङ्ग ने उसके समय में ‘सावयचरित’^३ एक सम्भवत ‘पुण्यासवकहा’^४ की रचना की थी। उसके पूर्णलिपित ‘गिरिवाल चरित’^५ एक हेमचन्द्राचार्यकृत ‘शब्दानुशासन की वृत्ति’^६ की प्रतिलिपि (वि० स० १७२७ के लगभग) भी डूंगी के राज्यकाल में सम्पन्न हुई। डूंगी प्रकार वि० स० १७२१ आपाठ सुदि ६ सोमवार के दिन भट्टारक गुणमर के आम्नाय में ‘जानार्णव’^७ (जुगचन्द्र) की एक पुनिराज नेत्रनन्दि को समर्पित करने हेतु वि० स० १७२१ ज्येष्ठ शुक्ल १० बुधवार को ‘पठमचरित’^८ नामक ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराई गई। जैनमूर्तियाँ तो उस काल में अगणिन बनीं ही, जिनका उत्पत्त्य पूर्व में किया जा चुका है।

राजा कीर्तिसिंह के बाद जैन-साहित्य एक काल के विक्रम की दृष्टि से राजा मानसिंह तोमर का काल (वि० स० १५४३-१७७६) महत्त्वपूर्ण है। यह समीप तथा साहित्यकार तो था ही, भवन-निर्माण कला का भी बड़ा प्रेमी था। उसके द्वारा निर्मित मानमन्दिर, मूजरीमहल एक मोनीझील गोपाचल की भवन-निर्माण कला के श्रद्भुत नमूने हैं। संगीत के क्षेत्र में उसे कई राग एवं रागिनियों का जनक माना जाता है। इस विषय पर उसके द्वारा लिखित ‘मानकतुहल’ नामक संगीतग्रन्थ त्रिदश के श्रद्भुत ग्रन्थों में से एक माना जाता है जिसका अनुवाद फारसी आदि कई विदेशी भाषाओं में हो चुका है।

मानसिंह तोमर के काल में जो मौलिक साहित्य का प्रणयन हुआ वह प्रायः हिन्दी में है। ऐसे ग्रन्थों में कवि परिमलकृत श्रीपालचरित^९, एक चतुष्कमलकृत नेमोदवरगीत प्रमुख हैं। श्रीपालचरित जैन-साहित्य का अत्यन्त लोकप्रिय आख्यान है, जो विभिन्न कालों में विविध भाषाओं में लिखा जाता रहा। परिमल का श्रीपालचरित महाकवि रङ्ग के ‘गिरिवालचरित’ से पूर्णतया प्रभावित है। कहीं-कहीं तो रङ्ग के कई पद्यों का हिन्दी अनुवाद भी कर लिया गया है। उदाहरणार्थ :-

रङ्ग^{१०}—जहिं साहमु तहिं सिद्धि ।

परिमल^{११}—जहं गाहस तहं सिद्धि ।

रङ्ग—तहु कच्चर सुमिदु ।

परिमल—तसु काचरा सुमीठ ।

१ राजस्थान के जैनशास्त्रभण्डारों की ग्रन्थ सूची भाग २, पृ० ३६ ।

२ रङ्ग ग्रन्थावली भा० १ (भूमिका) ।

३-५ रङ्ग ग्रन्थावली भाग ५ भूमिका ।

६ राजस्थान के जैनशास्त्रभण्डारों की ग्रन्थसूची भाग ४ पृ० २६५ ।

७ भट्टारक सम्प्रदाय लेखाक-५६७ ।

८ भट्टारक सम्प्रदाय लेखाक-२५५ ।

९ वि० जैन पुस्तकालय सूरत (१९५६) से प्रकाशित ।

१० रङ्ग-ग्रन्थावली भाग २ ।

११ श्रीपालचरित पद्य-१६६३-१७०१ ।

गडधू—कामु पियावउ ओर ।
परिमल—काम पिवाउ ओर ।
गडधू - मो मड कहव न दिटु ।
परिमल—मो में कहैं न रीठ ।
गडधू - मो तहि काड कण्डे ।
परिमल—मो नमु काय करेय ।

मक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अत्यन्त परिवर्तनों के अनिश्चित परिमल के 'वीरपावनचरित' का प्रणयन गडधू के 'मिन्वाचरित' के साथ में ही टाला गया है ।

उन नेमीन्दगीन की रचना वि० स० १५७१ में हुई थी जो अभी तक अप्रकाशित है ।^१

'ठिनार्ड चरित' उस समय की सुप्रसिद्ध शोकगाथा मानी जाती है । उसका लेखक नागयणमिश्र (जैनेन्द्र) या किन्तु बीच में ही उसकी मृत्यु हो जाने में उसके उत्तरार्ध की समाप्ति विषट् केमचन्द्र की प्रेरणा में देवीमुन देवचन्द्र ने की थी । ये केमचन्द्र जैन थे तथा महाकवि गडधू के साहित्य के बड़े प्रेमी भक्तों में से एक थे । उनका ठिनार्ड चरित मयचन्द्रमूरि-कृत इन्दीवराक्षस में पूर्णतया प्रभावित है ।

नागमिश्र नाम के राजतराज में सम्मिलित हुए प्राचीन ग्रन्थों सम्बन्धी प्रतिलिपि-कार्यों में से कवि अमरकोश-कृत छन्दोमोक्षणम् (वि० स० १५५८, चैत्र मूदी १०, सोमवार चैपा नक्षत्र), वि० स० १५५८ आ० शु० १० को नागकुमार पचमी (चैत्र—?) तथा वि० स० १५५९ में महाकवि गडधूकृत 'पठमचरित' की प्रतिनिधियों की गई ।

जैनमूर्तियों का निर्माण इस काल में स्थिर नहीं हुआ । हाँ, वि० स० १५४८ वैशाख मूदी पचमी को स० गुणमठ के आम्हार में एक चौबीसी मूर्ति की प्रतिष्ठा सम्मिलित हुई थी ।

यह तो हुआ सोमकाशीन गोराचल की जैन-साहित्य एवं कला-साधना । उसके बाद भी वहाँ यह कार्य-परम्परा चरती, रही । यद्यपि रामायण की समाप्ति के बाद वहाँ की राजनैतिक स्थिति काफी अस्थिर हो गई अतः साहित्य-सृजन का मूर्ति-निर्माण की गति मड पड़ गई । फिर भी छुट-फुट साहित्य लेखन का कार्य चलता रहा और अगले ३-४ सौ वर्षों में जो कुछ काय हुआ उसमें ब्रह्मगुणालङ्कृत नेपथ्यश्रिया (हिन्दी, वि० स० १९६५), लालजीतकृत अष्टाश्विजिनचरित-प्रसङ्ग (हिन्दी, वि० स० १८८२) आदि प्रसिद्ध हैं । इसी प्रकार प्रतिलिपि के कार्यों में नमोऽर्चन मिन्वाचरित (अभ्रम, वि० स० १५२३) ब्रह्मगम्भीर नाग-द्वारा लिखित हरिवंश पुगण (जिनमेन विरचित) एवं पचकल्याण विज्ञान (मुनेन्द्रनृपाङ्कन), गदिवन तथा (हिन्दी, मुनेन्द्रकीर्तिङ्कन) एवं पचनन्दि पचविगनिका प्रमुख हैं ।

उस प्रकार गोराचल में मध्यकालीन जैन-साहित्य एवं कला के लिये विक्रमदेव तोमर का काल उदयकाश, दुर्गरनिह एवं कीर्तिमिह का काल मयराज (अथवा बीरनगर) एवं राजा मानमिह का काल अत्यन्त माना जा सकता है । उन १०६ (वि० स० १६००-१५७६) वर्षों के राजकाश में गोपाचल में जो कार्यकलाप हुए, मक्षेप में उनके कुछ नमूने मात्र ही यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं । उन्हीं के आधार पर यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि गोपाचल मयराजीन जैनसाहित्य-साधना का प्रमुख केन्द्र था एवं गोपाचल के लिये महाकवि गडधू द्वारा प्रयुक्त 'सौर', 'सु' एवं 'गु' के विशेषण उपयुक्त ही थे ।



कुवलयमाला में वर्णित ७२ कलाएं : एक अध्ययन

प्रेमसुमन जैन,
एम० ए०, शास्त्री,
शोध-स्नातक—हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी ।



उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला बृहद् ८ वीं शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। तथा और साहित्यिक दृष्टि से वह जितनी महत्त्व की है, उतने अधिक भाषा-विज्ञान तथा सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से महत्त्व की है। सामुद्रिक यात्रा, वाणिज्य एवं व्यापार, ललित-कला और शिक्षा-विज्ञान, शिक्षा एवं साहित्य तथा इतिहास आदि सांस्कृतिक विधाओं की इसमें पुष्टि ही नहीं होनी, बल्कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्याय में कुवलयमाला की विविध सामग्री बहुत कुछ अपना सम्बन्ध जोड़ती भी है।

प्रस्तुत निबन्ध में यद्यपि कुवलयमाला में वर्णित शिक्षा और साहित्य-विषयक समग्र सामग्री को प्रस्तुत करने का विचार था, किन्तु वह अपने आप में इतनी विस्तृत और विविध है कि उसका वर्गीकरण करना ही उचित लगा। और इसलिए यहाँ, अध्ययनीय विषय के अन्तर्गत जिन ७२ कलाओं का उल्लेख है, उनकी समीक्षा ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। दृष्टव्य है, स्वयं ग्रन्थकार ने इन कलाओं का न्यावहागिक जीवन में कितना उपयोग कराया है।

प्राचीन भारत में अध्ययनीय विषयों के अन्तर्गत उन्हीं बातों को सिखाया जाता था जिनका दैनिक जीवन एवं मानसिक विकास के उत्थान में उपयोग होता था। उन सब बातों को कला के नाम में अभिहित किया गया है।

कर्म-कुशलता ही कला है। कला और मनुष्य का सम्बन्ध अविभाज्य है। मानव के द्वारा कला की प्रतिष्ठा हुई है और कला के द्वारा मानव ने आत्मवैतन्य एवं आत्मगौरव प्राप्त किया है। कला के द्वारा ही मानव-जीवन में माधुर्य और मीनदर्य भावना का जन्म हुआ। कर्तव्य-कर्म सुन्दर और मधुर बना।

भारतीय साहित्य में कलाएँ

अध्ययनीय विषयों के अन्तर्गत पुरुषों एवं स्त्रियों के लिए कलाओं के परिज्ञान का उल्लेख प्रायः प्रत्येक भारतीय साहित्य में मिलता है। 'कला' शब्द का प्रयोग शायद सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र में ही मिलना है।^१ पीछे कामसूत्रोक्त्यान्वर्तनीति आदि में इसका वर्णन किया गया है।^२

ग्रन्थात्

१. कुल्लोत्त १ रामायण २ महाभारत (१४-८६-३) ३ शुक्लीति ४ वाक्यप्रदीप ५ कलाविलास-शेमेन्द्र ६-दशकुमार-चरित ७ ब्रह्माण्डपुराण ८ भागवतपुराण की टीका ९ महिम्नस्तोत्र टीका १० शृङ्गारप्रकाश ११ काव्यादर्श १२. जीवतनय १३ सप्तशती टीका १४ सौभाग्यसाम्बर आदि हिन्दू ग्रंथों में कला के उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्रायः

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १६६ ।

२ 'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला-नाट्यशास्त्र, प्र० अ० इत्योक्त ११६ ।

३ हिन्दी विश्वकोश, खण्ड २, पृ० ३७८ ।

समी में ६८ कलाएँ ही वर्णित हैं। केवल लेमेन्द्र ने कलाविल्लास में कला के भेद प्रभेदों की चर्चा की है और उनकी संख्या १०० में भी अधिक गिनायी है।^१

द्वीद्वयों में अग्निविस्तार (पृ० ११६) में प्रमुख रूप से विविध कलाओं का वर्णन है। इसमें कलाओं की संख्या ८६ गिनायी गई है। दिव्यावदान में (पृ० ५८, १०० एवं ३६१) भी कलाओं के उल्लेख हैं।

जैन साहित्य में जहाँ कहीं भी अध्ययनीय विषयों की चर्चा हुई है वहाँ पर कलाओं का वर्णन विस्तार में हुआ है। १. ज्ञानार्थमंथरा २. समवायागमूत्र ३. औपपत्तिक सूत्र ४. राजप्रश्नीय सूत्र ५. कल्पसूत्र ६. विपाकसूत्र ७. अगशास्त्र ८. पृथ्वीचन्द्र चरित ९. समरादिप्रकाश १०. कुवलयमाला ११. प्रबन्धकोश १२. प्राकृतमूकनरलमाला^२ आदि ग्रंथों में ७० कलाओं एवं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि में ६८ कलाओं का उल्लेख मिलता है। हरिभद्रमूर्ति ने यद्यपि ८६ कलाएँ गिनायी हैं, परन्तु जैन-साहित्य में सामान्य रूप में पुस्तकों के लिए ७० 'वाचस्पतिकलापट्टियावि पुरिमा' एवं निम्नियों के लिए ६४ कलाओं का विधान किया गया है। नायकुमारचरित एवं यशस्तिलकचम्पू आदि कुछ ग्रंथों में यद्यपि कलाओं की संख्या नहीं गिनायी गयी किन्तु भी प्रायः सभी कलाओं का प्रकाशान्तर में वर्णन किया गया है।^३

कुवलयमाला की ७२ कलाएँ

प्रायः हर जगह कलाओं का वर्णन राजकुमारों के विद्याभ्यास के समय किया गया है। उदात्तनसूरि ने भी इसी अवसर का उल्लेख किया है। कुवलयमाला में जब कुवलयचन्द्र अपना अध्ययन समाप्त कर आचार्य के माथ राजधानी वापिस लौटते हैं तो उनके पिता महाराजा दृढवर्मन आचार्य से पूछते हैं—'उवज्जाय, कि अभिगमो कला-कलावो कुमारो ग चा।'।

प्रथम तो आचार्य ने यह कहकर कि 'कुमार ने एन भी कला को ग्रहण नहीं किया' राजा को विन्मय में डाल दिया। किन्तु बाद में 'स्वयम्भवा'^४ कलाओं ने स्वयं कुमार को ग्रहण कर लिया है' कहकर राजा को हर्षित कर दिया और उनके पुत्र पूछने पर निम्न ७० कलाओं का आचार्य ने परिचय दिया —

१ जालेक्ष (जालेक्ष) २ गृह (गृह) ३ ज्योतिष (ज्योतिष) ४ गणित (गणित) ५ गुणा य रचना (रत्नपरीक्षा) ६ वाग्विद्या (वाग्विद्या) ७ वेद-मुद्र (वेद-मुद्र) ८ गव्य (गान्धर्वकला) ९ गद्य-जुती (गद्य-युक्ति) १० नख (नख) ११ ज्योति (योग) १२ वर्णमण्डप (वर्ण या वर्ण का परिज्ञान) १३ होरा १४ हेतुमत्त (न्याय-शास्त्र) १५ छन्द (छन्द ज्ञान) १६ विनि (वृत्ति) १७ निरुक्त (निरुक्त) १८ मुमिपय-मत्त (स्वप्नशास्त्र) १९ मन्त्र-नाथ (मन्त्रज्ञान) २० अन्तर्ज्ञान २१ तुर्याय लक्षण (अन्तर्लक्षण) २२ हृत्वीण लक्षण (गजलक्षण) २३ वस्तु (वस्तुपरीक्षा) २४. वट्टा (पट्टा) २५ वेदुडे (श्रीडा) २६ गुहाग (पानालमिद्धि) २७ इदजाल (इन्द्रजाल) २८ वतकय (शार्थाज्ञान की कला) २९ तवकय (नावे की कला) ३० लप्यक-कम्माह (लेप्यकर्म) ३१ विनियोगे (विनियोग) ३२ नव्व (काव्य) ३३ पन्थेज्ज (पन्थेज्ज) ३४ फुल्लविही (फूल उगाने की कला) ३५ अलक्षम्म (नमस्कार की कला) ३६ धाउज्जागे (धानुवाज) ३७ अल्लवाड्या (पाना लेखन की कला) ३८ तताड (तथादि) ३९ पुप्फ (पुष्पकला) ४० नक्की (नक्की) ४१ अल्लरममय (अल्लरममय) ४२ गियट्टु (निषट्टु) ४३ रामायण ४४ भारताह (महाभारत)



१. भारत कोश, भाग ३ —मुरेशचन्द्र बन्धोपाध्याय।
२. जैन आगमसाहित्य में भारतीय समाज, पृ० २६६।
३. पादयमहमहणव, पृ० २३०।
४. नायकुमारचरित, यशस्तिलकचम्पू।
५. कुवलयमाला पृ० २१ पं० २०।
६. वही २१-२६।



४५ कालायसकम्म (कृष्ण-लोहकर्म) ४६ सुवण्णकम्म (सुवर्णकर्म) ४७ चित्तकला-जुत्तीओ (चित्रकला) ४८ जूय (घृत) ४९ जतप्पओगो (यन्त्रप्रयोग) ५० वाणिज्ज (व्यापार) ५१ मालाइत्तण (माली) ५२ वत्थकम्म (वत्स्य बनाने की कला) ५३ आलकारियकम्म (आभूषणकला) ५४ उयणिसय (मुगटनी कला) ५५ पणयर-तत्त (प्रश्नोत्तर तन्त्र) ५६ सव्वेणाडय (सर्वनाटक) ५७ जोगा (योग) ५८ कथा-णिगघ (कथा-निबन्ध) ५९ धणुव्वेओ (धनुर्वेद) ६० देसीओ ६१ सूव-सत्थ (पाकशास्त्र) ६२ आरुहिय (आरोहण) ६३ लोगवत्ता (लोकवार्त्ता) ६४ ओमोवणि (अवस्वापिनी निद्रा) ६५ तालुग्घाडणी ६६ मायाओ (मायाकपट) ६७ मूलकम्म (मूलकर्म) ६८ लावघ-कुवकुड-जुड ६९ समयण (शयन) ७० आसनो (आसन) ७१ कालेदाण दक्खिण्णया एव ७२ मउयत्तण महरहा (मधुर बोलने की कला) ।^१

वर्गीकरण

उपर्युक्त ७२ कलाओ का वर्गीकरण प्राकृत कुचलयमाला के गुजराती अनुवादक आचार्य हेमसागर सूरि ने अपनी सुविधानुसार किया है। किन्तु इनमें से कुछ कलाएँ ऐसी हैं जिनका भेदकर उन्हें अलग अलग किया जाना चाहिए और कुछ कलाओ को एक कला के अन्तर्गत ही समाहित होना चाहिए था।

उक्त वर्गीकरण में न० २४ 'वट्टा' एव न० २५ 'खेड्ड' को दो भिन्न कलाएँ माना गया है किन्तु वट्टा-खेड्ड एक ही कला का नाम है, जिसका अर्थ है वस्त्रक्रीडा अर्थात् सूती, ऊनी, रेशमी और तसर वस्त्रों की कलात्मक जानकारी अथवा वस्त्रों द्वारा नाना प्रकार की क्रीडा करने की कला। आचार्य हरिभद्र ने कलाओ के प्रसंग में न० २१ वें न० पर 'वत्थखेड्ड' नामक कला का उल्लेख किया है ।^२

इसी तरह ३९ 'पुप्फ' एव ४० 'सकडी' इन दोनों कलाओ को भी 'पुप्फसयडी' (पुष्पकटी) नाम से एक कला ही मानना चाहिए। इसका अर्थ है—पुष्पो द्वारा गाड़ी को सजाना या पुष्पो में गाड़ी बनाना। भागवत पुराण की व्याख्या में उल्लिखित कलाओ के अन्तर्गत ४९वें न० पर 'पुष्पसकटिका-निमित्तविज्ञानम्' नाम से इसका उल्लेख हुआ है और फिर अन्यत्र कहीं 'पुष्प' और 'सकटी' के अलग-अलग उल्लेख भी तो नहीं मिलते।

इसी प्रकार ११ 'जोग' एव ५७ जोगा नाम से योग का ग्रन्थ में दो बार प्रयोग जरूर है, किन्तु किसी एक 'जोग' का ही 'योग-दर्शन' अर्थ किया जा सकता है। अच्छा यही होगा कि ५६ 'सव्वेणाडयजोगा' को एक ही कला माना जाय।

उक्त छहो कलाओ का तीन में अन्तर्भाव कर देने से ७२ कलाओं में ३ कलाओ की कमी का प्रश्न उठ सकता है, किन्तु अन्य तीन कलाओ को जोड़ देने से उक्त मरुघा पूरी हो जाती है। वे कलाएँ इसी प्रसंग में हैं।

४५ 'कालायसकम्म' के बाद और ४६ 'सुवण्णकम्म' के पूर्व 'सेवकणिण्णओ' शब्द का प्रयोग हुआ है ।^३ यह शब्द किसी कलाविशेष का नाम ही होना चाहिए। यद्यपि 'सेवक' का काफी प्रयत्न के बाद भी अर्थनिर्णय नहीं हो सका फिर भी क्षीघ्र निर्णय ले लेने की दक्षता अथवा सीके आद वनाने की कला से इसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। बगाल में सीके वनाने की कला आज भी मशहूर है। उद्योतनसूरि ने 'सेवक' शब्द सम्भवतः नया प्रयुक्त किया है।

इसी प्रकार ५१ मालाइत्तण के बाद एव ५२ वत्थकम्म के पूर्व 'खारो' शब्द का प्रयोग ग्रन्थ में हुआ है ।^४ इसका भी सम्बन्ध किसी कला से हो सकता है। 'खार' का अर्थ ढाह शब्द के साथ 'धार बनाने की भट्टी' एव तत्

१ 'आलेख्य गृह जोइस—कुमारम्म ॥'—कुचलयमाला पृ० १-१०।

२ समराइच्चकहा अष्टम भव, पृ० ७३३।

३ कालायसकम्म सेवकणिण्णओ सह सुवण्णकम्म च। कुव० २२-६।

४ वाणिज्ज मालाइत्तण च खारो य वत्थकम्म च। वही २२-७।

शब्द के मान 'वार्जाकरण' आपसि बनाने की विद्या' किया गया है।^१ अतः 'क्षारविद्या' नाम की कला का यह उल्लेख होना चाहिये।

६८ 'लावय-कुक्कुड जुद्ध' को दो कलाओं में विभक्त किया जा सकता है—लावय-जुद्ध (पक्षी-युद्ध) एवं कुक्कुड-जुद्ध (कुक्कुट-युद्ध)। अन्य ग्रन्थों में भी इनके इन्हीं प्रकार उल्लेख हैं।^२

विशिष्ट कलाओं का परिचय

७२ कलाओं के उक्त वर्गीकरण में अधिकांश कलाओं का अर्थ स्पष्ट है। किन्तु कुछ कलाएँ ऐसी हैं जिनका अर्थ पूर्णतया समझ में नहीं आता। और वह तब तक नहीं आ सकता जब तक तत्कालीन परिवेश को ध्यान में रखकर न मोचा जाय। कलाओं के अर्थनिश्चय में कुछ मतभेद भी हो सकता है, कुछ नवीनता भी। निम्नकलाओं का वैशिष्ट्य दृष्टव्य है

२० **आयुज्ज्ञान** इसमें आपातत आयुधज्ञान का बोध हो सकता है किन्तु इसका वास्तविक अन्वयार्थ है आतोद्यज्ञान। अर्थात् विविध वाद्यों का ज्ञान, मगीनकला।

चार प्रकार के वाद्य-वादिशों को आनांछ कहते हैं 'चतुर्विधमिदं वाद्यवादिशतोद्यनामकम्'।^३

२३ **वत्यु** इसका अर्थ विद्वान् अनुवादक ने 'वस्तुपरीक्षा' किया परन्तु वास्तुकला में इसका सम्बन्ध होना चाहिए। क्योंकि कलाओं के इस वर्णन में अन्यत्र कहीं वास्तुकला का उल्लेख नहीं है, जबकि ७२ कलाओं में वह मात्र प्रमुख कला मानी गयी है। अगशास्त्र एवं समरादित्यकथा में क्रमशः 'वत्युविज्जा'^४ एवं 'वत्युगाव'^५ का उल्लेख हुआ है, जिनका अर्थ है—गृहनिर्माण को जानने एवं बनाने की कला। अतः उक्त 'वत्यु' को म्यापन्यकला में ही सम्बन्धित होना चाहिए।

२८ **दत्तकय** हाथीदान की कला। किन्तु 'दन्तरजन' की कला भी इसका अर्थ हो सकता है। क्योंकि इसके पूर्व भागवतपुराण की व्याख्या में इसका दन्ती कला के रूप में उल्लेख हुआ है।^६

३१ **विणिओग** उद्योगनमूरि ने कला के रूप में इस शब्द का नया प्रयोग किया है। प्राचीन भारत में प्रचलित निरोग प्रथा में तो इसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। विणिओग का अर्थ उपयोग या ज्ञान किया गया है।^७ सम्भवतः यह विशिष्ट प्रकार के ज्ञान रखने की कला हो। किन्तु इससे उपयुक्त इसका अर्थ 'प्रशामन-कला' करना चाहिए। क्योंकि 'विणिओग' का अर्थ—आज्ञा, हुक्म आदि भी मिलता है।^८ 'नियोजित करना' अर्थ भी प्रशामन में सम्बन्धित रहता है।

३५ **अलक्षम्** अलक्ष का शाब्दिक अर्थ कोशकार ने 'अक्ष' किया है, जिसका अर्थ दिन या दिवस भी होता है।^९ अतः इसमें हम 'दैनिक-व्यवहार की कला' का भी अर्थ ग्रहण कर सकते हैं। अनुवादक ने शायद इसी अन्ति-

१ पाइअसहस्रहणवो, पृ० २७५।

२ समरादित्य कथा, अगशास्त्र, आदि।

३ अमरकोश, १-५।

४ अगशास्त्र पृ०

५ समरादित्य कथा अष्टम नव, पृ० ७३४।

६ भागवतपुराण।

७ अर्थभागवी कोश भाग ५, पृ० ५५०।

८ अर्थभागवीकोश भाग २, पृ० ६३६।

९ पाइअसहस्रहणव, पृ० ७४।



प्रायः मे उगका अर्थ 'नमस्कार की कला' किया है किन्तु यदि 'अह' का अर्थ 'आर्द्र' किया जाय तो गहज ही उक्त कला चिचनकर्म से सम्बन्धित हो जानी दे। ३४-पुष्पविधि कला के बाद इसका उल्लेख भी 'चिचनकर्म' का ही समर्थन करता है।

३७ अवस्थाद्वया इसका अर्थ, आख्यायिका के अर्थ में कहानी लिखने या कहने की कला किया जा सकता है। अन्य ग्रन्थों में भी उगका यही अर्थ है। अनुवादक ने 'पागा खेजने की विद्या' इसका अर्थ किया है।

४५ कातायसकम्म कृष्ण लोहे को भाग में गलाकर उसमें शस्त्र आदि नाना की कला। आजकल लोहार मिम गाय का करते हैं।

५१ मालादत्तण • पुष्पों के हार आदि गूथने की कला। माली का कार्य।

५४ उपनिषय • इसका अर्थ उपनिषय ही सकता है किन्तु औपनिषदक अर्थ करना अधिक मगत है। उपनिषद् विद्या का अर्थ रहस्यविद्या है। ऐसी विद्या, जिम गुरु अपन विनिष्ट धिष्य को ही पढाते थे और जिमको गोपन रखने की शिक्षा का प्रतिज्ञा करनी पडती थी। अनुवादक ने इसका अर्थ 'गुगुटनी कला' किया है।

६४ औसोषणि अवस्थापिनी विद्या, जिमके प्रभाव में दूसरे को गाल निद्राधीन किया जा सके ऐसी विद्या। देवानन्दा ब्राह्मणी को अवस्थापिनी विद्या में मुलाकर हरिणगमपी ने मन्दादीर का गर्महरण किया था।^१ अनुवादक ने 'अवस्थापिनी निद्रा' इसका अर्थ किया है। निद्रा की जगह विद्या कहना अधिक मगत है।

६७ मूलकम्म पाथमिक उपचार का ज्ञान। समरादित्यकथा में एक घायल व्यक्ति का औपधिवलय में उपचार करने को 'मूलकम्म' कहा गया है।^२

उम तरह उक्त विवेचन के बाद भी य कलाएँ अभी भी अधिक गवेषणा की अपेक्षा रखती हैं।

अन्तर्भाव

उद्योतनमूरि ने जिन पूर्वोक्त ७२ कलाओं का उल्लेख किया है उनमें बहुत कुछ ऐसी कलाओं के भी नाम हैं, जो बहत्तर और चौगठ तथा हरिभद्र द्वारा प्रणीत ८६ कलाओं के अन्तर्गत भी नहीं आते। और जिन नामों का अर्थ ग्रन्थों में वर्णित कलाओं से साम्य है, उनके अन्तर्गत उद्योतनमूरि ने समस्त कलाओं का समावेश करने की भरमसा कोशिश की है। उसे एक श्रेय प्रयत्नकार ने जहाँ परम्परा का निर्वाह किया है, वहाँ दूसरी ओर अपनी मौलिकता का विस्तृत करन का क्षेत्र भी तैयार किया है।

कुवलयमाला में नृत्य के अन्तर्गत—गीत, वादित्य, स्वरगत, पुष्करगत और समताल का, रत्नपरीक्षा के अन्तर्गत—मणिशिक्षा, हिरण्यवाद, सुवर्णवाद, मणिवाद का, ज्यातिप के अन्तर्गत चन्द्रचरित, सूर्यचरित, राहुचरित, ग्रहचरित कलाओं का, उन्द के अन्तर्गत—आर्या, प्रहेलिका, गाथा, गीति और श्लोक का, गज और अश्वकला के अन्तर्गत गी, कुम्भट और मेघलक्षण कलाओं का, वस्तुपरीक्षा या वास्तुकला के अन्तर्गत—चक्र, छत्र, दण्ड, असि और मणिलक्षण कला का अथवा नगरमान, वास्तुयान, स्कन्धावार-निवेशन, नागर-निवेश, वास्तुनिवेश आदि कलाओं का^३, देवीभाषा ज्ञान के अन्तर्गत प्राकृत, गम्कृत, पैशाचिक एवं अपभ्रंश भाषा के ज्ञान की कलाओं का^४, शवककुम्भुड युद्ध कला के अन्तर्गत पक्षियों की युद्धकला के अतिरिक्त बाहु, दण्ड, मुष्टि एवं अस्थि-युद्ध कलाओं का भी अन्तर्भाव किया गया है।^५

१ कल्पसूत्र २, २७ पृ० ४४ अ। ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १८६।

२ समरादित्य कथा, छठा भव।

३ समरादित्यकथा की ८६ कलाओं में से।

४ कल्पसूत्र की ७२ कलाओं में से।

५ समरादित्यकथा अ० भ० पृ० ७३४।

साम्य-वैदस्य

कलामय आदि ग्रन्थों में वर्णित कलाओं के नामों का कुवलयमाला में वर्णित कलाओं के नामों में जो साम्य है, वह इस प्रकार है

कलामय की उद्योतिष, व्याकरण, निम्बति, निघट्ट, इन्द्रजाल, पातागमिद्धि (गुणगय), देवभाषा, योगा और धनुनजान इन ६ कलाओं का, अगमामय की गणित, जालिम्य, काव्य, नृत्य, धून, वन्दविधि, पत्रच्छेद, अद्वलक्षण, गज-लक्षण और धनुर्वेद, इन १० कलाओं का,^१ पृथ्वीचन्द्रचरित की नाटक, आगेहण, प्रत्युत्तर एवं वाणिज्य इन ४ कलाओं का तथा सम्राट्चक्राक्ष की होरा, गणनविधि, धानुवाद, वस्त्रक्रीडा एवं धुवर्णकर्म इन ५ कलाओं के नाम उद्योतनमूरि ने उन्हीं के लिये कुवलयमाला की ७२ कलाओं के जन्मदान दिये हैं। अन्य कलाओं को उन्होंने अपनी सुविधानुसार नाम दिये हैं।

वेद-धृति, गान्धर्व, माग्य, योग, वर्षा का ज्ञान, न्यायशास्त्र, वृत्ति, स्वप्नशास्त्र, दत्त-कथ, तन्त्रय, लेपनकर्म, विनियोग, अलङ्कार, आत्म्याश्रय, पुष्प शकटी, कालायनकर्म, मेककणिष्णभो, खारो उपनिषद, मूपशास्त्र, लोकवार्ता, अवन्त्राश्रय विद्या, नानुशास्त्री, मायकर्म, मूर्तकर्म और कालेदाण दक्षिणया कुवलयमाला की इस प्रकार की कलाएँ हैं, जिनका जनभाव जन-साहित्य में वर्णित ७२ कलाओं की मर्यादा में सम्मिलित नहीं है। ये कलाएँ उद्योतनमूरि की अपनी मौलिक उद्भावनाएँ हैं।

यह बात विचारणीय है कि कुवलयमाला की इन ७२ कलाओं में कहीं भी युद्धकला का उल्लेख नहीं है, जो कि एक प्रधान बात थी और जिसमें कई भेद-प्रभेदों का भी अन्य जन-ग्रन्थों में उल्लेख किया है। अलवत्ता धनुर्वेद का उल्लेख उन्होंने किया है। सम्भवतः इसका कारण कुवलयमाला का ही कथानक है, जिसमें कहीं भी युद्ध का विशेष महत्त्व व वर्णन देखने को नहीं मिलता। उद्योतनमूरि ने प्रायः ऐसी कलाओं का निर्देश नहीं किया जिनका वर्णन करना ग्रन्थ में उन्हें अपेक्षित नहीं था।

व्यावहारिक पक्ष

अध्ययनीय विषयों के अन्तर्गत विभिन्न कलाओं का समावेश कर देना ही काफी नहीं होता, बल्कि उन कलाओं का वास्तविक महत्त्व तो तब है, जब वे जीवन के व्यावहारिक पक्ष में उपयोगी हों। उनका रचनात्मक कार्यों में प्रयोग हो।

उद्योतनमूरि ने कुवलयमाला में उक्त कलाओं का उल्लेख करके ही नहीं छोड़ दिया, बल्कि ग्रन्थ में जगह-जगह उनका प्रयोग कर उनकी सम्यक् व्याख्या भी की है। जिस कला का जहाँ वे वर्णन करने लगे हैं वहाँ उन्होंने तत्-विषयक विविध और विस्तृत नामांश प्रस्तुत कर ही विव्याप्त लिखा है। उदाहरणार्थ कुछ कलाओं के वर्णनात्मक प्रयोग यहाँ प्रस्तुत हैं—

नृत्य कुवलयमाला में कई जगह नृत्य का उल्लेख है। किसी गाँव में यदि नृत्य करने वालों का दल पहुँचता था तो पूरे गाँव को निमन्त्रण दिया जाता था। लोग बहुत भारी सख्या में नृत्य देखने पहुँचते थे। चढतोम अपनी पत्नी को वहिन के पाम छोडकर नृत्य देखने गया।^२ क्योंकि रगगाला में अतीव मुन्दर सैकडो युवक-दुवतियों का जमघट होता था।^३

१ समवायाग और औपपातिक सूत्र की कलाओं से भी उक्त नामों का साम्य है।

२. कुवलयमाला, पृ० ४६-१८।

३. वही, पवित्र १७।





ज्योतिष इम विषयक ता अपार सामग्री ग्रन्थकार ने प्रस्तुत की है। नक्षत्र विद्या, राशिफल,^१ जन्मोत्पन्नमयविचार, विवाह का लग्न विचार^२ आदि सबका विस्तृत वर्णन है। उदाहरणार्थ 'सर्वच्छ्रेण भणिय, देव, जह्मणवेसि त्ति, णिसुणेसु सबच्छरो, एग आणदो, उदूसरअ-ममओ, मामो कत्तिओ, तिहो विजया, वारो बुहस्स, णवउत्त हत्थो, रागो कण्णो, मुहम्मो जोगो, सोम-गह् णिविण्णय नम, उच्च-ट्ठाणट्ठिया मन्ने वि गहा।'^३

व्याकरण मठों में व्याकरण गढ़ाने का अलग विभाग था। जहाँ 'पयइ-पचय-नोवागम-उण्ण-विनागदेम-ममामोवम-ण-मग्गणाणिउण वागण वक्काणिज्जत्ति।'^४

ग्रन्थकार ने इस प्रसंग में माल्य, योगादि गमी दर्शनो के मन्तव्यों की सम्म्यक् चर्चा की है।

तुरगलक्षण अथर्वो के विषय में जो जानकारी उद्योतनमूरि ने प्रस्तुत की है अन्यत्र कहीं एक जगह नहीं मिलती। कुवलयमाला में १८ प्रकार के घोड़ों की जातियों का वर्णन है 'तुरयाण ताव अट्ठारस जाईओ'।^५

धातुवाद कुवलयमाला में धातुवाद का विस्तृत वर्णन है।^६ प्राचीन भारत में धातुवाद द्वारा म्यर्ण मिद किया जाता था। यह एक रामायणिक प्रदिया थी। धन कमाने के लिए लोग इसकी मीरते में 'धाड्डयाय धमिनोत्ति तेण ते कि पि सिक्खिविया'।^७ किन्तु मनी को इसमें सफाता नहीं मिलती थी।

चित्रकला वस्त्रचित्रो एव भित्तिचित्रो का फुटकर तो उल्लेख ग्रन्थकार ने किया ही है,^८ किन्तु एक जगह जितना विस्तृत चित्रों का वर्णन किया है, उतना अन्यत्र कहीं एक स्थान पर देने की नहीं मिलता। कुवलयचन्द्र को समार-चक्र का ज्ञान कराने के लिए एक उपाध्याय स्वचित्रित चित्रपट को दिखाता है। 'कुमार, मां चित्तवडो लिहिओ, त ता पेच्छह कि सुन्दरो कि वा ण य।' कुमार की अंत में चित्रपट देखकर कहना पड़ता है—

'दिट्ठं च मए त पुहइए णत्थि ज तत्थ ण लिहिंय।

ज च तत्थ णत्थि त णत्थि पुहइए वि ॥'^९

वाणिज्य कुवलयमाला का सम्पूर्ण कथानक वाणिज्य के उपकरणों द्वारा ही गतिशील हुआ है। वाणिज्य के विविध अंगों—८४ प्रकार के बाजार^{१०} व्यापारियों की मण्डिया, उनकी व्यवस्था,^{११} सामुद्रिक यात्राएँ,^{१२} देश-विदेशों से वस्तुविनिमय,^{१३} धनार्जन के विविध उपाय^{१४} आदि का विस्तृत वर्णन ग्रन्थ में हुआ है।

- १ वही पृ० १६-१३।
- २ वही, १७०, ५-१५।
- ३ वही, १६, ४-६।
- ४ वही, १५०, २६।
- ५ कुवलयमाला, २३-२२।
- ६ वही, १६५, पूरा पृ०।
- ७ वही, १६१ २४।
- ८ वही, २३३, ६-२३।
- ९ वही, १८५, १५।
- १० कुवलयमाला, पृ० ८।
- ११ वही, १५२-५३।
- १२ वही, ६७ आदि।
- १३ वही ६६।
- १४ वही, १६१-१-१३।

देशीभाषापरिज्ञान उस कला का उल्लेख कर उद्योतनमूरि ने अपने भाषा विषयक विस्तृत ज्ञान को प्रस्तुत करने का जेन बना लिया है। मन्दन, प्राकृत, जगन्नाथ और पैशाची भाषाओं का उल्लेख उन्होंने किया ही है।^१ ग्रामीणों की बोहियों,^२ शबरी की भाषा^३ एवं १८ देशी बोहियों का भी विस्तृत वर्णन उन्होंने प्रस्तुत किया है।^४ उस विषय में डा० ए० एन० उपाध्ये का महत्त्वपूर्ण निबन्ध दृष्टव्य है।

उस प्रकार उक्त कुछ कलाओं के मन्दन एवं और उनके व्यावहारिक उपयोग को सिद्ध करते हैं, दूसरी ओर इनसे यह भी स्पष्ट होता है कि कुवलयमाना न केवल अपने समय की बरिष्ठ मूर्तुर्ग भारतीय साहित्य में सांस्कृतिक महत्त्व की दृष्टि में अपना एक विमिश्रित स्थान रखती है।

७२ कलाओं के इस अध्ययन को कुवलयमाना जैसे विद्यापति एवं मन्दन त्रय के मन्दन में एक तगण्य-ना प्रयत्न ही कहा जायेगा। फिर भी हमसे उम्मा ता स्पष्ट है कि उद्योतनमूरि ने उन कलाओं में ज्ञान के सभी अंगों को समाविष्ट कर लिया है और उन्हें अयंवना भी प्रदान की है।

•

१ कुवलयमाना, ७१, १-८।

२ कुव० ६३ १२४।

३ वही, १२८-१२९।

४ वही, १५०-५३।



चित्रकला में अभिव्यंजनवाद

प्रोफेसर परमानन्द चौयल,
उदयपुर



अभिव्यंजनवादी कला का जन्म गायानुभूति के मूल में होता है। गायानुभूति मानव की स्वाभाविक प्रकृति है अतः इस कला का उद्गम सीधे मानव-हृदय में मानना चाहिये जहाँ वाह्यी दृश्य के दृग् चित्र वा गेमा ध्यान-प्रतिधात होता है कि उफन-उफन कर यह गाय-आत अन्तर में बाहर बहने लगता है। यह आदि मानव न चली आई प्रकृति है। अतः इस कला का वाद के रूप में सन् २० वीं सदी के जर्मन कलाकारों में ही नहीं है बल्कि आदि मानव की कहानी में भी है। आधुनिक कला की भयानुरालोकन व मानव की आकृतियाँ, दुःखी, तण्डुल, दर्द पैदा करने वाले फूलों के गुच्छे, दृश्य चित्र की भारी भरकम आकृतियाँ ये सब धिना भेदना के थोड़े से जाने-मफेद स्थानीय रंगों में उनी-गिनी रेखाओं द्वारा बनाये जा सकते हैं। मोटे, तीखे तेज, बेसिनसिलेदार ध्वजों में पुनी ये ग्रामीण फूहड़ छात्रनियाँ यथाय रूपों को प्रस्तुत नहीं करती बल्कि इनमें झलकता है पददलित भावना की अभिव्यक्ति का प्रयत्न। अत्यधिक दुःख को व्यक्त करने का यह सहज साधन है। वास्तव में यह अभिव्यंजनमान ही नहीं है—यह एक नये गत्य की परिभाषा है। अभिव्यंजनवाद कला का एक नया मोड़ है जिसने हमारे देवने का तरीका ही बदल दिया—तबु को एक नये गिरे में देखने की जिज्ञासा जगा दी।

व्यक्ति-वैचित्र्य के कारण यह सत्य मानव की स्वयं की अनुभूति के अनुसार अलग-अलग हो सकता है अतः अलग अलग अनेक हैं पर लक्ष्य एक। अभिव्यंजनवाद को शैली विशेष में बाध देना उसकी विशाल परिधि को सीमित करना है। शैली से कहीं ऊपर इसका स्थान जीवन के प्रति एक दृष्टिकान प्रस्तुत करना है। ससार को यह अन्तर से देखने की प्रक्रिया है।

यदि इतिहास को टटोलें तो अभिव्यंजनवादी कला के तत्त्व प्रागैतिहासिक, पुरातत्त्व, वाद की प्राचीन कला, मध्यकालीन एवं १७ वीं सदी की कला में देखने को मिलते हैं। बेराक^१ काल की कला में गाथिक^२ से उत्पन्न कला-धारा है और अभिव्यंजनवादी बेराक से प्रद्युत्पन्न। इसका उद्गम सीधे आदि मानव की कला में माना जाना चाहिये जिसमें स्वयं के तत्त्व मुख्य हैं। अभिव्यंजनवाद की सामग्री अधिकतर 'पेराडॉक्सिकल म्यूजियम' (Paradoxical museum) से ली गई है जिसमें अधिकतर ऐशिया, विजटान, रोमन अद्भुत आकृतियाँ, कोलम्बिया के पूर्व काल की कला, नीग्रो तथा दक्षिणी भाग की मूर्तियाँ व कृत्रिम चेहरे आदि शामिल हैं। इनकी कला में कल्पना का उद्भूत चमत्कार है। इसमें पिछड़ी जातियों एवं प्राचीन व ग्रामीण कला को प्रथम स्थान दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अभिव्यंजनवादी कला ने जर्मन के व स्विस् के ड्यूरेर, फ्रांक, गुनिवालड, उर्स, ग्राफ तथा मेनुअल ड्यूरा इटली के क्रिबेली, तुरा

१ (Baroque) १६०० से लेकर १८०० तक की यूरोप की प्रसिद्ध कलाशैली।

२ (Gothic) ११५० से १४०० तक की यूरोपीय कला की शैली जिसका वास्तु से अधिक संबंध है। यह जर्मन शब्द है जिसको पहले घुणा के रूप में प्रयोग किया गया था बाद में शैली की सशक्तता के कारण यह आदर का नाम बन गया।

३ प्राचीन कला संबंधी संग्रहालय। इस तरह की कला में जाबुई तत्वों की व अनोखी कल्पना की अधिकता होती है।

जोमा एव ल्यूका सिग्नेरोली, स्पेन के वाल्टेस्पीर, एल ग्रीको, गोया आदि कलाकारों ने प्रेरणा ली है। जेरिको^१ के अरपनाउ में बनाए पागलों के चेहरे तथा उन लोगों के चेहरे जो फासी के नलों पर लटकने मरणान्त ये सब इस कला की सीमा में आते हैं।

१९ वीं शती के मध्य में यूरोप में प्रभाववाद आंदोलन ने कला की दृष्टि को विमृश करना शुरू कर दिया था। कलाकार पीछा तब पीछेपछी कला अभिव्यक्ति का एक नया मार्ग ढूँढ़ रहे थे। फ्रान्सिस फ्राम में १९ वीं शती अंत तक, प्रभाववाद (Neo-Impressionism), संश्लेषवाद (Synthetism), नबीवाद^२ (Nabism), फाविज्म (Fauvism)^३ आदि नई कलाधाराएँ बढ़ उठीं। २० वीं शती के आरम्भ होते ही हर देश कलाभूषण के प्रति चेतन्य हो गया। पिछले २ शताब्दी के उत्तर मॉडर्निज्म में धनवाद (Cubism) की उत्पत्ति हुई जिसमें कला में एक नई ही आत्मा उत्पन्न हो गई, अभिव्यक्ति का एक नया माध्यम खोज गया, परम्परा के बंधन टूट गये ग्रीक कलाकार मुक्त पछी मा खुले आकाश में उड़ान भरने के स्वप्न देखने लगे। इसी समय कला-क्षेत्र में आन्दोलन के रूप में अभिव्यजनवाद के नी बीज प्रस्फुटित होने लगे।

धनवाद व अभिव्यजनवाद के बीच का भेद केवल कृत्रिम धारणा है। फाविज्म की उत्पत्ति फ्रान्स में हुई पर जिस कलाकार में इसके तत्पर मौजूद थे वह वान गॉग था—उच्च कलाकार। उसमें सब लक्षण विद्यमान थे—तेजी में बुझ चलाता, यथार्थ रंग पोनना, इन्फाइरो का स्वतंत्र चुनाव करना, मोछी ट्राइंग बनाना तथा वेगेंदार् व धुमावदार आकृतियों के प्रति लगाव दर्शाना आदि। अभिव्यजनवादी चित्र की दृष्टि पर भीतिक प्रतिक्रिया होनी चाहिये। फावी (Fauve) को यदि हम मिथिल स्फुटित गिनें तो अभिव्यजनवाद को भी उसी श्रेणी में रखना होगा।

यदि धनवाद में उगल्ल नवीन उत्तम विधि हमारे सम्मुख न आती व फावीवाद (Fauvism) के रंग नही आते तो अभिव्यजनवाद कदाचित् एक प्रकार का प्रतीकवाद ही रह जाता। इस दृष्टि में धनवाद, व फावीवाद व अभिव्यजनवाद एक समान ही हैं। नीग्रो तथा दक्षिणी मागर की प्रतिमाओं का फावी व धनवाद दोनों पर ही गहरा असर पड़ा था। १९०० में ही हेनरी मातिम अमिश्रित स्वच्छ रंगों में चित्रण करना शुरू था। मुच^४ व वुलार्ड^५ इनमें भी पूर्व इसी ढंग में रचना कर चुके थे—पाँच सिगने^६ में भी यही वान देखने को मिलती है अतः इनके निर्माण में कई धीनियों का मिश्रण है। जर्मन कलाकारों ने फ्राम के नैबियों में प्रेरणा ली और इस धीनी का विकास अपने यहाँ उन्होंने अपने ही ढंग में किया—नयानक नेत्रों से, उग्रता निंदे हुए एक अल्टर्ड आदिवासी के समान। डिमडेव (जर्मनी) के अभिव्यजनवादी फावी के ही समान थे। उन्होंने रंगों की लय पर नाटकीय ढंग में जोर दिया। जितने ही इस प्रवृत्ति में वे घुमते गये उनकी ही दर्दनाक एवं विद्वेष्ट विवृति (Distortion) उनकी आकृतियों (Forms) की होती गई। इधर फ्रान्स में यही प्रवृत्ति पिछले के 'एन्स्यू पीगियड' तथा मोदेग्लानी, रूजों आदि के चित्रों में भी दिखाई देती है। वान गॉग के ये शब्द कि "मैं लाख पीने रंग में धारणी वामना को अभिव्यक्त करना चाहता हूँ"। अभिव्यजनवादी कला का आदर्श माने जा सकते हैं। इसके बाद रंग आवृत्ति पर आवृत्ति नहीं रहे। बन्धु ने इनका अंगना ही निजम्ब हो गया। बिना दृष्टान्तक रूपों के ही भावाभिव्यक्ति संभव होने लगी। इस समय में पिछले का यह दृष्टिकोण कि 'कला में मानविक

१ फ्राम का 'रोमांटिक' शैली का कलाकार।

२ कला में दार्शनिकता का आरोप देकर उपदेश देनेवाले कलाकारों की विशेष धारा।

३ हेनरी मातिम द्वारा प्रतिपादित धारा जिसके कलाकारों को शुरू में जंगली पशु कहा गया था।

४ (Munch) जर्मन का अभिव्यजनवाद के आरम्भ होने से पूर्व का कलाकार।

५ (Vullard) नेवी कलाधारा का कलाकार (फ्रांस)।

६ (Paul signae) ल्यो प्रभाववाद का फ्रांस का कलाकार।

७ यथार्थ रूपों का कला में सदा से चित्रकार के मानसिक रूपों के अनुसार रूपान्तर होता चला आया है। कला में distortion हमी का प्रतिक्रम है।





आकृति की अधिक अपेक्षा है बनिस्वत भौतिक आकृति के' कितना सत्य है। गोगा ने प्रभाववाद का दोष बताते हुए जब अपने विचार प्रस्तुत किये तो उनमें भी यही ध्वनि सुनाई देती है। उसने कहा 'प्रभाववाद ने केवल दृश्यात्मक क्षेत्र की खोज की, विचारों का रहस्यात्मक केन्द्र उसकी परिसीमा से अछूता ही रहा। संगीत के समान चित्रकला में भी कथात्मकता के वजाय सकेतात्मकता द्वारा बहुत कुछ दर्शाया जा सकता है। हेफ्टमेन के मतानुसार कलाकार को चाहिये कि दृश्यात्मक जगत् को अदृश्यात्मक रूपों में प्रस्तुत करे। विचार व रचना पूर्णतया मौलिक, स्वेच्छाकारी व अनूभूतिपूर्ण होनी चाहिये जिसमें किसी प्रकार के तौर-तरीकों की रुकावट न आवे। उसकी रचना में कलाकार का व्यक्तित्व व आंतरिकता झलके। इन विचारों का अभिव्यजनवाद पर बेहद असर पड़ा। चाहे दृश्य चित्र हो अथवा व्यक्तिचित्र या वस्तुचित्र (Still-Life) अभिव्यजनवादी चित्र में कलाकार का उत्पीडन अथवा बीखलाहट झलकेगी ही।

अभिव्यजनवादी धारा में इतने तकनीक (Technique) दिखाई देते हैं जितने कि चित्रकारों के अकन के कोई समान नियम नहीं हैं फिर भी लगना है कि भावात्मक दृष्टि से ये सभी एक सूत्र में बंधे हैं। स्वभावजन्य आवेश अथवा अन्य आंतरिक अस्थिरता का अभिव्यजनवाद पर काफी प्रभाव पड़ा है। ये कलाकार गहरे अंधेरे में जैसे अंतर की वेदना से छटपटा रहे हों। उनके रहस्य के उद्घाटन को प्रतिक्षण उनकी तूलिका फड़कती रहती है। अंतर के उद्घाटन में उन्हें प्रकृति व जीवन एक भुलावा देनेवाला नाट्य सा दिखता है। कलाकार इसी अतिरेक-स्थिति में रचना करते हैं जिसके कारण बाह्य रूपों के अनुरूप उनकी रचना नहीं हो पाती। ऐसा लगता है जैसे कलाकार तद्रा में खो गया है और उसकी कला, जो आंतरिक उत्पीडन की उत्तेजना का प्रतिफल है, उसका माध्यम बन गई है।

अभिव्यजनवादी कला-सृजन के चरम आवेश में आनन्द की उपलब्धि होती है। बौद्धिक रचना करते-करते भी अभिव्यजनवादी कलाकार अन्त में हृदय-तरंगों में डोलने लगता है। चाहे वे कितनी क्षुद्र क्यों न हों उसकी कला में उसके आंतरिक भावों की मामिकता अवश्य होती है।

उसकी रेखाएँ फावी से अधिक चंचल व भावानुवर्ती होती हैं। वे रुढ़ व कठोर हो सकते हैं—काल्पनिक एवं अनियंत्रित, शांत व आनन्दपूर्ण, पर उनमें एक प्रकार की तीव्रता, असमजसता एवं टीस अवश्य होती है। रंग कलाकार की मानसिक स्थिति से पैदा होते हैं। चित्र अक्सर गहरे काले व धूरे से आरम्भ होते हैं फिर एकाएक केनवास की इस गम्भीर धुंधली पृष्ठभूमि का आवरण फोड़, लाल, पीले, बेजनी, हरे, नीले रंग उभर पड़ते हैं। इन रंगों का प्रयोग ऐसा दिखता है मानो खूब वेग से मन की धुमडन के साथ-साथ किया गया हो। गहरे चमकीले रंगों में खूब विरोधाभास होता है।

२० वीं सदी में एक साथ ही कई स्थानों में अभिव्यजनवादी प्रवृत्ति उभर पड़ी। जर्मनी, फ्रांस, स्केन्डेनेविया फ्लैंडर्स, आस्ट्रीया, हॉलैण्ड व एशिया में यह आन्दोलन प्रसारित हुआ और एक विशेष शैली का इसने दर्शन कराया। पूरे उत्तर व मध्य यूरोप में शीघ्र ही यह शैली फैल गई। फिर बेल्जिको के राइवेरा, ओरोस्को, डॉमियो, सिम्बियो, स्टेट के वेन, डिक्किंग आदि कलाकारों में इसके लक्षण दिखने लगे। बाजील के पोतिनारी व सेगाल आदि में भी इसका प्रभाव फैल गया। भारत की लोककला में एवं आरम्भिक राजस्थानी कला में भी यही तत्त्व देखने को मिलते हैं। २०वीं शती में अमृत शेरगिल शैलेन मुकर्जी, प्राणनाथ मागो, गुजराल, रामकुमार आदि के चित्रों में यत्र-तत्र ऐसे लक्षण देखने को मिलते हैं।

अभिव्यजनवाद में नॉर्डिक की करुणा, स्लेन की रहस्यात्मकता, फ्लेमिश की मासलता, ज्यूइश का उत्पीडन एवं जर्मनी की हर प्रकार की स्थूलता की झलक मिलती है। इस आन्दोलन की उत्पत्ति व प्रसार में जर्मनी का गहरा हाथ है। इसकी सस्कृति के प्रति नास्तिकता, भेदभेद की कमी एवं सर्वत्र व्याप्त सौंदर्य के निश्चित मानों पर प्रहार करने की वृत्ति के कारण कुछ लेटिन मूल के कलाकार इस आन्दोलन में अग्रद्वार रखते थे। इनमें पिकासो व रुआ आदि मुख्य हैं। इतने विघटन, घासिक अनियंत्रण व अनात्म्यता के होने पर भी अभिव्यजनवाद ने कलाक्षेत्र में अनुपम उदाहरण पेश किये हैं। प्रकृति व समाज के बीच अभिव्यजनवादी कलाकार प्रागैतिहासिक व आदि मानव सा निर्दोष व भोलाभाला दिखाई देता है।

जर्मनी के बेकमेन को छांडकर अभिव्यजनवाद की वास्तविक प्रतिभा नोल्डे, किर्चनर, हेकल, गिमिड्ट, रोड-लुफ एव दूसरे गुट^१ के मार्क, मेके केन्डिनिस्की आदि कलाकारों में दिखती है। इन कलाकारों ने इस रचनाप्रवृत्ति को अधिक विषयान्मक बनाया। शुद्ध आकृति (pure form) की अपेक्षा ने कई वैयक्तिक गैलियाँ उत्पन्न कर दी। इसके बाद अभिव्यजनवाद को गैलीविशेष कह देना उचित नहीं जचना। देखा गया है कि केन्डिनिस्की, फनिंगर तथा जोलम्की आदि की कला में तात्विक अन्तर न होने पर भी अकनविधि में आसानीत भिन्नता है। उस समय बहुत से कलाकार अभिव्यजनवादी थे परन्तु ज्यू राइडर के गुट के कलाकारों की प्रवृत्ति वस्तुनिरपेक्षता (abstraction) की ओर अधिक होने लगी।^२ इनकी स्थापना १९१३ में हो गई थी। इसी में वस्तु निरपेक्ष अभिव्यजनवाद (Abstract Expressionism) की व्युत्पत्ति हुई। केन्डिनिस्की की स्वयम् अमूर्त आकृतियों का तथा पॉल क्ली की काव्यात्मक एव प्लास्टिक गैली का अभिव्यजनवाद पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि आज भी कलाकारों के बीच इनके बीच विद्यमान है।

पेरिस, ड्रिगडेन व म्यूनिख की कला में रगचेतना अधिक उग्र हो गई। कुछ समय बाद इसमें अमूर्तवाद धन-वाद व अयथार्थ कला की ओर ध्यान बँट गया।

पहले महायुद्ध के पूर्व जर्मनी में फास के कई प्रसिद्ध कलाकार प्रदर्शन कर अपना प्रभाव जर्मनकला पर डाल चुके थे। जर्मनकला में इसमें काफी जाग्रति आ गई थी। अभिव्यजनवाद की देन धनवाद व अतिथयार्थवाद (Surrealism) ने किसी भाँति बम नहीं है। मानवस्वतंत्रता में भी जर्मन कलाकारों ने काफी हाथ बढ़ाया है। मेकेक मार्क की १९१८-१९१९ में पहले महायुद्ध में मृत्यु हो गई। फाम में भी द्यूगम, विलो आदि युद्ध के कारण १९१८ व २५ में मारे गये। जर्मन में राष्ट्रीय नीति के कारण जर्मनकला को अत्यन्त अति पहुँचाई गई। जर्मन अभिव्यजनवादियों के चित्र दीवारों में उन्हाड़ फेंके गये। उन्हें नष्ट कर दिया गया। चित्रकारों ने रचना करनी छोड़ दी। उनके प्रदर्शन बंद कर दिये गये। नोल्डे व रोडलुफ को चित्र बनाने का निषेध कर दिया गया। म्यूस्त्रियम पर ताले ठोक दिये गये। १९३७ की प्रदर्शनी में अन्य अभिव्यजनात्मक रचनाएँ नहीं रखी गईं। १९३८ में स्त्रामिक, रुआ, पिकामो व ब्राँक के म्यूस्त्रियम में मगहीत चित्र बेचने की मरकार ने बाली लगा दी। एक प्रेम ने अभिव्यजनवादियों को घोर चेतावनी दी। किर्चनर यद्यपि उस समय स्वयं में मुरझित था फिर भी उसके मस्तिष्क पर इसका इतना भय छाया कि उसने आत्महत्या करली। डिक्म को कैद कर लिया गया। दूसरे कलाकार जर्मनी छोड़ भागे। पॉल ल्की स्विटजरलैण्ड लौट आया। केन्डिनिस्की फाम चला गया। बेक मेन ने एम्सटरडम में शरण ली। कोकेश्का भागकर इंग्लैण्ड जा पहुँचा। ८९ वर्ष का बूढ़ा क्रिप्पन रत्फ तथा वालेंग भूतिकाकार गरीबी व भूख से तड़प-नडाकर मर गये। कई जर्मन व आस्ट्रियन कलाकार आत्मिक मूल्यों की रक्षा करते-करते मर गये। जेम्स अरनेस्ट व विल्हम आदि फास की पुलिस द्वारा १९३९ के पोनी युद्ध में कैद कर लिये गये। जर्मनी के कलाकार जो जा नहीं सके थे, जर्म के मारे छिपे छिपे फिर रहे थे। उनके चित्रों की गैलरी बंद कर दी गई थी। चित्रों के व्यापारी भी भाग गये थे। ग्रालोचक भी खिसक गये थे। पॉल वेन्थीम मेक्सिको चला गया था। कर्न जाइन्स्टाइन, जिम्के नाम वारन्ट था, अपनी अनडियाँ फाड नदी में डूब मरा। १९३२ में हरवर्थ वाल्डन ने मास्को के लिये विज्ञा लिया पर किसी ने नहीं जाना कि वह गया या नहीं।

दूसरे महायुद्ध में जर्मन की कला नष्ट हो गई। अधिकतर कलाकारों के स्टूडियो बम से विध्वस्त हो गये। मगहकर्त्ताओं की नामग्री नष्ट हो गई फिर भी जर्मन अभिव्यजनवादियों ने इसमें अपनी आस्था नहीं छोड़ी। बर्लिन के अभिव्यजनवादियों को देशनिकाला दे दिया गया। लिबरमेन के साथ भी यही वर्तव किया गया।

युद्ध की प्रतिजिया ने जो इस आंदोलन को उत्तम कर दिया पर चूँकि यह प्रवृत्ति मानवप्रवृत्ति है—आदि प्रवृत्ति है इसलिये नष्ट नहीं हो सकी। अभिव्यजनवाद हर काल में हर देश में जिंदा रहेगा। यह एक अतर-

१ जर्मन में अभिव्यजनवाद का पहला आन्दोलन 'दि वृज ग्रुप' के नाम पर तथा दूसरा आंदोलन 'दि ब्लू राइडर' के नाम पर चला।

२ केन्डिनिस्की को अभिव्यजनवाद में वस्तुनिरपेक्षता अथवा अमूर्तवाद लाने का श्रेय है।





राष्ट्रीय आंदोलन है। वस्तु-रूपात्मकता व निरपेक्षता के बीच का झीना पर्दा इसने उठा दिया। जेवमन, पोलक, गोर्की, गोद्लिन, न्यूमेन, क्लाइव, टिकूनिंग, ट्वारकाड, साम, फेंसिस आदि कलाकार युद्ध के बाद भी इसको जीवित रखने में सलग्न रहे। इजराइल के कलाकार अरिखा, जायानी कलाकार सुगाई, के सातो, कितो, इमाड व जाओ-यू-की की कृतियों में भी यही भावना भरी है। आस्ट्रिया के हण्डर्टनासर जर्मन के ब्रूनिंग, इटली के दोवा व भुर्री, स्पेन के टपिक्स व सूर्या आदि की कला में शैली-विभिन्नता होने पर भी अभिव्यजना की पराकाष्ठा दिखाई देती है। इनकी रचि अमूर्त भावाभिव्यक्ति की ओर अधिक है। आद्रे मेगन के भयानक युद्ध के चित्र भी इसी सीमा में आते हैं। अभिव्यजनवादी कलाकार वस्तु में सार देखने का यत्न करता है। एक अमरीकी कलाकार ने इस कला पर इस प्रकार अपने विचार प्रस्तुत किये हैं—“यदि चित्र में भावनाएँ व्यक्त करने की क्षमता न हो तो उसके विधान की कोई कीमत नहीं है। चित्र रेखाओं, रंगों व आकृतियों का सतुलित संयोजन मात्र है, यह कह देना नीरस बात है। अभिव्यजनवाद क्या है—एक तरह की स्वच्छदता, रूढ़ि के प्रति विद्रोह। हमारी सौंदर्यात्मक भावनाओं को इससे गति व स्वतंत्रता मिलती है अभिव्यजनवाद भौतिक जगत् की कमियों को दूर करता है तथा आदमी को केंद्र विशेष से छुटकारा दिलाता है।”

अभिव्यजनवाद में आदिमक अनुभूति की मुख्यता रहनी है, गौतम सौंदर्य की अभिव्यक्ति गौण। इस कला में आकस्मिकता या निराशा का प्रभाव नहीं पड़ता। यह प्राचीन कला, आदिवासियों की कला व ग्रामीण कला की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है।

अभिव्यजनवाद जर्मन व बेल्जियम में मूलतः प्रचलित हुआ पर विश्वकला के रूप में यह अब भी विद्यमान है। जो स्वप्निल जगत् में घूमना चाहते हैं, जो स्वतः चलित दुनिया से लड़ना चाहते हैं, जो आजादी चाहते हैं उनके लिये अभिव्यजनवाद एक नया ससार पैदा करता है।

धार्मिकता और राष्ट्रीयता में समन्वय

दयाचन्द जैन साहित्याचार्य,

सागर



मानव विश्व में बुद्धिमान् एव सुन्दर आकृतिवाला प्राणी है। उसका जन्म राष्ट्र में होता है, जीवननिर्वाह समाज में होता है और विकास आत्मा में होता है। व्यक्ति समाज का मूलधार एव महत्त्वपूर्ण इकाई है। अतः व्यक्ति के विकास में समाज का, समाज के विकास में राष्ट्र का और राष्ट्र के विकास में विश्व का विकास होना स्वन सिद्ध है। मानव के जीवन की यात्रा राष्ट्रीय तत्त्वों पर और आत्मा का विकास धार्मिक तत्त्वों पर निर्भर है। राष्ट्रीय तत्त्वों और धार्मिक तत्त्वों के सहयोग के बिना मानव का सर्वांगीण विकास होना असम्भव है।

मानव के पतन में समाज का पतन और समाज के पतन में राष्ट्र का पतन होने में जरा भी विलम्ब नहीं होता। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का पतन एक साथ ही होता है। इसी प्रकार विकास भी एक साथ होता है। क्योंकि प्रत्येक मानव समाज और देश का अंग है। जिस प्रकार शरीर का कोई भी अंग विकृत हो जाने के साथ ही शरीर विकृत हो जाता है उसी प्रकार समाज या राष्ट्र के किसी भी सदस्य (नागरिक) के विकृत हो जाने से समाज या राष्ट्र का विकृत होना स्वाभाविक है।

पण्डितप्रवर श्रीआशाधर जी ने गृहस्थ या नागरिक के चौदह वर्त्तव्यों में 'आर्यसमिति' इस शब्द से मानव को सम्यगस्माज या सदस्य घोषित किया है। राजनीति के वेत्ता अरस्तू ने लिखा है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है एव बिना समाज के वह एक क्षण भी नहीं रह सकता।"

व्यक्ति का विकास धार्मिकता और राष्ट्रीयता के बिना नहीं हो सकता और व्यक्ति के विकास के बिना समाज एव राष्ट्र का विकास नहीं हो सकता, यन् समाज तथा राष्ट्र के निर्माण का मूलधार व्यक्ति है। जब मानव अधिष्ठित, अमन्य, अमान्य, अधर्मी अनुमाननहीन और कर्तव्यहीन हो जाता है तब उसके पतन में, धार्मिकता और राष्ट्रीयता के उचित नामजस्य का अभाव ही मुख्य कारण होता है।

सर्वोदय मिढान्त के अनुसार मानव का सर्वांगीण विकास होना मानवता है। मानव को अपने पूर्ण विकास के लिये एक हाथ में धार्मिकता और दूसरे हाथ में राष्ट्रीयता को लेकर, दोनों का समन्वय करते हुए पुरुषार्थ करना आवश्यक है। धार्मिक तत्त्वों के बिना राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय तत्त्वों के बिना धार्मिकता विकसित नहीं हो सकती है। जीवन में यथायोग्य दोनों का सहयोग ही कार्यकारी हो सकता है।

जिस प्रकार राष्ट्रीयता के उत्थान के लिये अहिंसा, सत्य, अचीर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच प्रमुख धर्ममिढान्तों की आवश्यकता है उसी प्रकार धार्मिकता के उत्थान के लिये राजनीति, न्याय, अनुशासन, शिक्षा, सस्कृति, कला, व्यापार, सैनिक शिक्षा, कृषि, शिल्पकला, स्वास्थ्यरक्षा, पशुरक्षा, वनस्पतिरक्षा, सहकारिता, राष्ट्रनिर्माण, विज्ञान समाजव्यवस्था आदि राष्ट्रीय तत्त्व भी अत्यावश्यक हैं। बुद्धिजीवी मानव उक्त तत्त्वों का स्याद्वादशैली से यथायोग्य समीकरण करता हुआ अपना सर्वांगीण विकास करता है। धार्मिक तत्त्व अथवा राष्ट्रीय तत्त्व एकांगीरूप में अथवा दोनों परस्पर निरपेक्ष रूप में मानवजीवन का प्रायः उत्थान करने में समर्थ नहीं हैं। यदि धर्मतत्त्व निश्चयमार्ग है तो राष्ट्रीयतत्त्व व्यवहारमार्ग है, अतः मानवजीवन को शुद्ध आदर्श तथा उन्नत बनाने के लिये दोनों मार्गों का समन्वय करना आवश्यक है।

मानव का स्थितिकरण

पुराण और इतिहास ग्रंथ कहते हैं कि इस अवसर्पिणी (ह्राम) काल के अतिप्राचीन प्रारम्भिक विभाग की प्रसिद्धि 'भोगयुग' के नाम से थी। इसको इतिहासकारों के शब्दों में पापाणयुग से भी पूर्व का युग कहा जा सकता है। इस युग में मानव, वस्त्राग-भोजनाग आदि दश प्रकार के कल्पवृक्षों के द्वारा विविध जीवनोपयोगी वस्तुओं को प्राप्त कर सुखशान्तिपूर्ण स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करता था। भोगयुग समाप्त हो जाने पर कल्पवृक्ष भी लुप्त हो गये थे। तत्पश्चात् कर्मयुग के प्रारम्भकाल में मानवों का जीवन अमहाय, अव्यवस्थित तथा सकटमय हो गया। उस विचित्र परिस्थिति में क्रमशः अवतरित प्रत्युत्ति आदि चौदह मनु (कुलकर) महापुरुषों ने आवश्यक धार्मिक तथा लौकिक कर्तव्यों का निर्देश कर मानवों के जीवन को व्यवस्थित, शान्त और निर्वाहयोग्य बनाया। उस समय जब मानवों को सबसे प्रथम भूख-प्यास के रोगों से सताया तब क्रूरतन्त्रविमूढ मानव दुःखित होते हुए श्रीऋषभनाथ के निकट गये। उन्होंने स्वयं उत्पन्न इक्षु (गन्ना) के रसपान द्वारा सर्वप्रथम भूख-प्यास को शान्त करने का समाधान किया। पश्चात् सेव, अनार आदि फलों का अन्वेषण कर शाकाहार द्वारा क्षुधा शान्त करने का आदेश दिया। प्रेमपूर्वक व्यवहार, रहन-सहन भूपा और भाषा का प्रयोग दर्शाया। यह स्थितिकरण आज तक परम्परया चला आ रहा है।

वशों की स्थापना

मानव का जीवन व्यवस्थित और शान्त हो जाने के पश्चात् विवाह की प्रथा का श्रीगणेश हुआ। जब मानव की सन्तान बढ़ने लगी तब श्रीऋषभदेव ने व्यक्तियों के संगठन को कुटुम्ब या वंश के नाम से स्थापित किया। सर्वप्रथम श्रीऋषभदेव के वंश की प्रसिद्धि 'इक्ष्वाकुवंश' के नाम से हुई थी, क्योंकि श्रीऋषभनाथ ने सर्वप्रथम जनता के कष्टों को दूर करने के लिये इक्षु-वनस्पति का अन्वेषण किया था, अतः श्रीऋषभदेव का स्मरण इक्ष्वाकु नाम से किया गया और उनका वंश 'इक्ष्वाकुवंश' नाम से प्रसिद्ध हुआ। धर्मग्रंथों में प्रमाण है कि "इक्षु इति शब्द अकतीति अथवा इक्षुमाकरोतीति इक्ष्वाकु" (अहिंसावाणी ऋषभ वि० पृ० ३०)। इस वंश का दूसरा नाम सूर्यवंश भी प्रसिद्ध हुआ था। पश्चात् श्रीऋषभदेव ने कुर्वश की स्थापना कर राजा सोमप्रभ को उसका नायक बनाया। हरिवंश का नायक राजा हरि को, नायवंश का नायक राजा अकम्पन को, और उग्रवंश का नायक राजा काश्यप को घोषित किया। इन प्रधान-वंशों की शाखा-प्रशाखारूप अन्य वंश भी समयानुसार स्थापित होते रहे हैं। उनकी परम्परा आज भी प्रचलित है।

सर्वोदय समाज की स्थापना

वंशों की वृद्धि हो जाने से मानवों की समीचीन व्यवस्था सम्पन्न करने के लिये समाज का निर्माण होता है। सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ ने वंशों का संगठन कर सर्वोदय समाज की स्थापना की। समाज के प्रत्येक सदस्य को मैत्रीभाव, सहयोग और समान व्यवहार करने का उपदेश दिया। मानवों की सख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होने से तत्काल उपस्थित अनेक जटिल समस्याओं का समाधान किया गया। जैसे भोजननिर्माणविधि, वनस्पति का उपयोग, पशुपालन, वर्तननिर्माण, गृहनिर्माण, जलाशयनिर्माण आदि लौकिक सभ्यता तथा स्वस्थता, नागरिक कर्तव्य, कुलाचार, सस्कृति आदि धर्मतत्त्वों के उपदेश में मानव-जीवन की यात्रा को सरल, शान्त तथा पवित्र बनाया गया। अतएव कृतज्ञ जनता ने श्रीऋषभदेव को "प्रजापति" पद से विभूषित किया।

मानवजीवन को शुद्ध, सुसंस्कृत और सुशिक्षित बनाने के लिये विविध सम्कारों की रचना की गई और समाज में उनको प्रचलित किया गया। इसके अतिरिक्त समयोपयोगी अन्य आवश्यक साधनों एवं क्रियाओं का निर्माण किया गया जिससे कि समाज का सर्वांगीण विकास हुआ था। अनेक शताब्दियों के व्यतीत होने पर वह समाज विकृत हो गया है। अब इस युग में पुनः सर्वोदय समाज की आवश्यकता है। राष्ट्र के नेता इस दिशा में प्रयत्नशील हैं।

राष्ट्रों की स्थापना

समाज की रचना होते ही राष्ट्र की आवश्यकता होती है अतः प्राचीन काल में श्रीऋषभदेव ने वृद्धिगत

समाजों का संगठन कर राष्ट्रों की स्थापना की। मानवसमाज का 'राष्ट्र' एक बड़ा संगठन है। इनमें समाज की सभी शक्तियों का तथा सभी वर्गों का एकीकरण किया जाता है। राष्ट्र की पूर्ण उन्नति के लिये प्रत्येक नागरिक में राष्ट्रीयता का विकास होना आवश्यक है।

राष्ट्र की परिभाषा

“युगान्यहिरण्यसम्पदा राजते इति राष्ट्रम्।”

(नीतिवाक्यामृत, जनपदसमुद्देशसूत्र-१)

अर्थान्-युग, धन तथा सुवर्ण आदि सम्पत्तियों में घोसायमान क्षेत्र को राष्ट्र कहते हैं। 'मर्तुर्दण्डकापट्टादि दिशनीति देश' (नीति० जन० सू० २) अर्थान् जो क्षेत्र स्वामी को सैन्य और काय की वृद्धि देता है उसको देश कहते हैं।

“जनस्य वर्णाश्रमव्यवस्थाम् द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्यान्नमिति जनपद” (नीति० जन० सू० ५) अर्थान्-जो स्थान, शत्रिय आदि वर्णों में और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों में विद्यमान मानवों का निवासस्थान हो तथा धन का उत्पत्ति-स्थान हो उसे जनपद कहते हैं। यह राष्ट्र का समन्वयात्मक लक्षण है। इसमें राष्ट्र को, धार्मिक तथा राष्ट्रीय तत्त्वों से परिपूर्ण मानवों का निवासस्थान कहा गया है।

अयोध्यानगरी का निर्माण

श्रीनाभिराज प्रारम्भिक कर्मयुग के अन्तिम कालकर (मनु) थे। उनकी पत्नी श्रीमरुदेवी की कुक्षि में जब प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभनाथ ने अवतार लिया तब भारत के उत्तर में विशाल अयोध्यानगरी की रचना की गई और उसमें देवसमाज तथा मानवसमाज ने मिलकर ऋषभदेव का जन्मोत्सव मनाया। इस नगरी के मानवों के पाम कोई आयुध (धन्त्र) नहीं थे, वे परस्पर मित्रता में रहते थे इसलिए इस नगरी का मार्क्य नाम 'अयोध्या' रखा गया। श्री ऋषभदेव, अपने पिता के उत्तराधिकारी, इस नगरी के प्रथम नामक थे और नकल कलाओं के महान् शिक्षक थे।

उदीयमान उस कर्मयुग में मानवों के निवासगृह, शिक्षा आदि सकल व्यवस्थाओं को सम्पन्न करने के लिये श्रीऋषभदेव ने आर्यक्षेत्र में नगर, देश एवं राष्ट्रों की व्यवस्था की। उनमें सर्वप्रथम भारत या जिनका नामकरण स्वर्गीय ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम से किया गया।

तन्नाम्ना भारत वर्णमिति ह्यासीज्जनास्पदम्।

हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्र चरुभूतामिदम् ॥१५६॥ आदिपुराण पर्व १५

अर्थान्-श्रीऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र प्रथम चक्रो भरत के नाम से, आर्यजनों के रहने का स्थान यह भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ है जो हिमालय में नैकर दक्षिणादि दिशाओं में तीनों ओर समुद्र में वेष्टित है। यह चक्रवर्तियों का क्षेत्र है।

अग्नीध्रसूनोर्नामिस्तु ऋषभोऽभूत्पुत्रो द्विज।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताद्वर ॥३६॥

हिमाद्व दक्षिण वर्ष भरताय पिता ददौ।

तन्मातु भारत वर्णं तस्य नाम्ना महात्मन ॥४१॥—मार्कण्डेयपुराण अ० ५०

अर्थान्-नाभिराज के पुत्र ऋषभदेव हुए और ऋषभदेव के पुत्र भरत अपने शत भ्राताओं में ज्येष्ठ थे। ऋषभदेव ने हिमालय के दक्षिण में क्षेत्र भरत को दिया। इस कारण उस वीर के नाम से देश का नाम 'भारतवर्ष' प्रसिद्ध हुआ।





नामे पुत्रश्च ऋषभ, ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।

तस्य नाम्ना त्वद् वर्ष, भारत चेति कीर्त्यते ॥५७॥

—विष्णुपुराण द्वि० अक्ष अ० १

तत्पश्चात् श्रीऋषभदेव ने अनेक देशों की स्थापना की । जिनमें कुछ प्रसिद्ध नाम उल्लेखनीय हैं—सुकोशर, कुरुजागल, अग, वग पुङ्ग, उण्ड, अरुमरु, रम्यक, कुरु, काशी, कल्गि, समुद्रक, काश्मीर उशीनर, आवत, वत्स, पञ्चाल, मालव, दशाणं, कच्छ, मगध विदर्भ, करहाट महाराष्ट्र सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कोशल चोल, केरल, दाह, अभिसार, सीवीर, गुरसेन, अपरान्त, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, कम्बोज, आरद, वाल्मीक, तुरुङ्ग, शक, मरु, केरुय इत्यादि । अहिंसावाणी ऋषभ वि० पृ० १०

नगरी या नगरो के कुछ नाम — मथुरा माया काशी काञ्ची थावस्ती कोशाम्बी वाराणसी चन्द्रपुरी काकन्दी-पुर मन्त्रिपुर सिंहपुर चम्पापुर कम्पिलापुरी रत्नपुर हस्तिनागपुर नागपुर मिथिला राजगृही सीरं पुर कुण्डलपुर ताल पुरिमतालपुर इत्यादि ।

समय की गति के अनुसार इस आर्यक्षेत्र में अनेको देशों, नगरों तथा ग्रामों की रचना होती रही और प्राचीन देशों नगरों आदि का विध्वंस भी होता गया । यत् इस विध्वंस की दशा परिवर्तनशील है । वर्तमान में वे देश-नगर आदि परिवर्तितरूप में हैं, और अनेको का अस्तित्व भी नहीं पाया जाता है । उन में से कुछ के नाम वही हैं, कुछ परिवर्तित हैं और कुछ विनष्ट हो गये हैं ।

राष्ट्रों की राष्ट्रीयता

राष्ट्रों की स्थापना होने पर उनमें राष्ट्रीयता का होना भी राष्ट्र की सत्ता, उन्नति और शान्तिपूर्ण व्यवस्था के लिये अत्यावश्यक है । यह राष्ट्रीयता राष्ट्र का प्राण है । नीतिवाक्यामृत में कहा गया है—“अन्योऽन्यरक्षक खन्याकरद्रव्यनागधनवान् नातिवृद्धनातिहीनग्रामो बहुसारविचित्रधान्यहिरण्यपण्योत्पत्तेरदेवमातृक पशुमनुष्यहित श्रेणिद्रुकपंकप्राय इति जनपदस्य गुणा ” (जनपदसमुद्देश—सू० ८)

अर्थात्—राष्ट्र के गुण (राष्ट्रीयता) इस प्रकार हैं (१) राजा देश का रक्षक और देश राजा का रक्षक हो । (२) सुवर्ण आदि धातुओं की तथा गन्धक, नमक आदि द्रव्यों की खानों से युक्त हो । (३) रूपा आदि धन तथा हाथी आदि पशुओं से परिपूर्ण हो । (४) न अत्यधिक और न अति कम जनसंख्यापूर्ण ग्रामों तथा नगरों से शोभित हो । (५) उत्तम पदार्थ, अन्न-सुवर्ण और व्यापार योग्य वस्तुओं से परिपूर्ण हो । (६) मेघजल की अपेक्षाहीन कृषिवाला हो अर्थात् रहट, विद्युत्तम्प आदि यन्त्रों से कृषिकार्य वाला हो, (७) मानव तथा पशुओं की सुखदायक हो । (८) कलाकार, कारीगर, श्रमिक, कृषक और विद्वान् व्यक्तियों में शोभित हो ।

राज्य की परिभाषा

राष्ट्र की एकता, व्यवस्था, रक्षा और उन्नति का न्यायनीतिपूर्ण राज्य एक प्रबल आधार है । राज्य सार्वभौम होता है । “राज्ञ पृथ्वीपालनोचित कर्म राज्यम्” (नीतिवा पृ० ६३ सू० ४)

अर्थात्—राजा के पृथ्वी की सुरक्षा एवं उन्नति के योग्य कर्म (सन्धि विग्रह यान आसन सशस्त्र द्वैधीभाव) को राज्य कहते हैं । श्रीऋषभनाथ ने राज्य का आविष्कार करते हुए स्वयं राष्ट्र का शासक बनकर सर्वप्रथम न्यायपूर्ण राज्य का आदर्श उपस्थित किया था । उन्होंने अपने राज्य में सुरक्षा शान्ति न्यायविधि (कानून), स्वास्थ्य, शिक्षा, उद्योग, आवागमन, व्यापार, समाजकल्याण, पशुपालन, वनस्पतिविज्ञान आदि के आविष्कार द्वारा कृतयुग का वातावरण प्रारम्भ कर दिया था । इसके अतिरिक्त उन्होंने समाज में शासन करने योग्य मानवों की क्षत्रियवर्ग, अर्थविद्या एवं कृषिकला में प्रवीण मानवों को वैश्यवर्ग और श्रम तथा शिल्पकला में प्रवीण मानवों को प्रजावर्ग के नाम से विभाजित कर उनको अपने कर्तव्यों पर नियुक्त कर दिया था । अपना राज्यकाल

समाप्त कर रूपभेदे ने उत्तरभारत का राज्य श्रीमन्त्र चन्नी को और दक्षिणभारत का राज्य श्री ब्राह्मण को दे दिया था। चन्नेय भन्त ने धार्मिक क्रियागण्ड एवं शिक्षा देने में प्रवीण विद्वान् व्यक्तियों को ब्राह्मणवर्ग के रूप में घोषित किया और उनका धर्मनिरपेक्ष के कार्य में निपुण किया। राष्ट्र की यह श्रेष्ठ शाननव्यवस्था ही नवयुगी राज्य अथवा गणराज्य के नाम से विश्व में विद्वान हो गई। वह राज्यम्भरा आज तक चली आ रही है।

धार्मिकता का आविष्कार

राष्ट्र में राष्ट्रीयता का आविष्कार करने के साथ ही सम्राट् रूपभनाय ने लोककल्याण एवं आत्मकल्याण के लिये धार्मिक नस्वों का प्रचार किया। यन आत्मशुद्धि के लिये धर्मनस्वों का ज्ञान एवं आचरण करना अत्यावश्यक है। धर्म का अर्थ है—

धर्मं प्राणिदया मत्य क्षान्ति शीघ्र वितृप्तता ।

ज्ञानवैराग्यसम्पत्तिरधर्मस्तद्विपर्यय

॥१॥ आदिपुराण पर्व १०

अर्थात्—जीवदया, मत्स्य, क्षमा, मन शुद्धि, अपरिग्रह तथा ज्ञान और वैराग्य को धर्म कहते हैं। इनमें विपरीत हिंसा, अनृत्य, राग, द्वेष, मोह जादि को अधर्म (पाप) कहते हैं। व्यक्तिगत आत्मशुद्धि का कारण होने में राज्य में शान्ति एवं नैतिक मन्थना के लिये भी धर्मनस्वों की महती आवश्यकता है। अहिंसा मत्स्य अर्थात् ब्रह्मचर्य अपरिग्रह ये पंच अंगु-श्रम अथवा पञ्चशील रूप मिथ्या राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय शान्ति और आध्यात्मिक उत्थान का मूल कारण हैं। वर्तमान की विश्वशान्ति, निःशस्त्रीकरण आदि अनेक समस्याओं का हल उक्त मिथ्या में निहित है। आवश्यकता जनमानस में उनके विकास करने की है। धार्मिकता के विस्तृत भेद इस प्रकार है १ अहिंसा २ मत्स्य ३ अर्चार्थ ४ ब्रह्मचर्य ५ अपरिग्रह ६ जात्मविज्ञान ७ तत्त्वविज्ञान ८ मन्त्रचरित्र ९ क्षान्ति १० विनय ११ निष्कपटता १२ योगशुद्धि १३ मद्यम १४ तप—वृत्तान्त १५ त्याग—दान १६ समताभाव १७ दर्शनविशुद्धि १८ व्रताचरण १९ स्वाध्याय २० विरागता २१ धर्मात्मा का मन्त्रण २२ गुणोजनन २३ धान्यभक्ति २४ प्रायश्चित्त २५ प्रतिक्रमण २६ धार्मिक प्रचार २७ विश्ववन्दन दशादि ।

राष्ट्रीयता के विकास के साधन

अभिर्मानं कृषिर्विद्या वाणिज्य शिल्पमेव वा ।

कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥ —आदिपुराण

अर्थात्—कर्मयुग के प्रारम्भकाष्ठ में सम्राट् रूपभनाय ने प्रजा के जीवनसंरक्षण के लिये छह प्रमुख साधनों का मन्त्रप्रथम आविष्कार किया था—(१) अग्नि (२) मणि (३) कृषि (४) विद्या (५) वाणिज्य ६ शिल्पकला ।

१ अग्नि

मैत्रिय शिक्षा, व्यायाम, मन्त्राभ्यासचालन, विविध खेल, आसनप्रयोग, प्राणायाम, धनुर्विद्या, अश्ववाहन, गजवाहन, रथवाहन, राष्ट्र की सुरक्षा के अन्य साधन आदि ।

२ मणि

अ २ ३ आदि ब्राह्मीलिपि, वर्तमान में भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी की नागरीलिपि का लेखन, राज्यकार्य-लेखन, धान्यलेखन, पत्र तथा विद्याओं का लेखन, चित्र तथा प्राकृतिक दृश्यों का लेखन, गणित की राशि एक से पराध तक मान, उन्मान, अवमान, प्रतिमान, बीजगणित, रेखागणित आदि गणितविद्या का लेखन ।

इसके अनिवार्य अष्टाष्ट महालिपियाँ का लेखन—१ हमत्रिपि २ भूतलिपि ३ यज्ञलिपि ४ यावनी ५ तुरकी ६ किरा ७ द्राविडी ८ मन्त्रकी ९ मालवी १० नडी ११ नागरी १२ लाटी १३ पारसी १४ अनिमित्ति १५ चाणाकी १६ मौलदेवा १७ गजकी १८ उट्टी । अथवा १ गौडी २ गौडी ३ टाहली ४ कानडी ५ गुजरी ६ सौरहठी ७ मरहठी ८ कौन्पी ९ खुगामनी १० मागरी ११ मिहली १२ हाडी १३ कौडी १४ हम्मीरी १५ पारसी १६ मसी १७ मालवी १८ महागौडी—अहिंसावाणी रूपन वि० पृ० ८८ ।



३ कृषिविज्ञान

हल आदि कृषि के साधनों का प्रयोग, क्षेत्र की सुरक्षा, बैल आदि पशुओं का उपयोग, बीज का वपन, अन्न का उत्पादन, इक्षु का उत्पादन, फल, शाक आदि वनस्पतियों का उत्पादन, उद्यानों का निर्माण, कूप तथा जलाशयों का निर्माण, लतागृह इत्यादि ।

४ विद्या (कला) का आविष्कार

पुरुष की बृहत्तर कलाओं का पुरुषसमाज में प्रचार एवं प्रसार होने से राष्ट्र की उन्नति होती है । लेखन, गणित आदि से लेकर शकुनिस्त पर्यन्त बृहत्तर कलाएँ हैं ।

श्रीआदिनाथपुराण के अनुसार कुमारी ब्राह्मी और सुन्दरी ने अपने पिता ऋषभदेव से नारियों की चौसठ-कलाओं का शिक्षण प्राप्त कर महिला समाज में उनका प्रचार किया था । वर्तमान युग में भी नारियों को सुशिक्षित बनाना आवश्यक है यत नारीसमाज, मानवसमाज का प्रमुख अंग एवं ममभाग है ।

५ वाणिज्यकर्म

राष्ट्र तथा समाज की दरिद्रता को दूर करने के लिये और मानव के जीवननिर्वाह के लिये अर्थ की आवश्यकता होती है तथा अर्थ की पूर्ति या आर्थिक उन्नति प्रायः वाणिज्य एवं व्यापार से होती है । अतः गृहस्थ को न्याय-पूर्वक व्यापार तथा वाणिज्य करना चाहिये । राजकीय मुद्रा (सिक्का) व्यापार का एक सरल माध्यम है, मापनीय के साधन भी माध्यम है । अतः शासन के अनुकूल उनका उचित व्यवहार और प्रयोग करना आवश्यक है ।

६ शिल्पकर्म

राष्ट्र की उचित व्यवस्था और मानवसमाज के जीवनव्यवहार के लिये शिल्पकर्म की आवश्यकता है । शिल्पकला अनेक प्रकार की होती है, जैसे कुम्हार की कला, लोहार की कला, रथकारकला, चित्रकला, वस्त्रकला, नाई की कला, गृहनिर्माणकला, मूर्तिकला, कुटीर उद्योग इत्यादि । वर्तमान में वैज्ञानिक कला, तथा यन्त्रों का भी आश्चर्यजनक आविष्कार हुआ है जो प्राचीन शिल्पकला का ही विकास है । इसमें राष्ट्र तथा समाज की उन्नति होती है ।

धार्मिकता के विकास के साधन

कर्मयुग में जिस प्रकार राष्ट्रीय लौकिक उन्नति के लिये असि मसि आदि छह कर्म कहे गये हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिये भी भ० ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों द्वारा छह साधन—पट्कर्म दर्शाये गये हैं । वे इस प्रकार हैं—

देवपूजा गुरुपारित स्वाध्याय सयमस्तप ।

दान चेति गृहस्थानां पट्कर्माणि दिने दिने ॥

अर्थात्—(१) जीवन्मुक्त आत्मा (अरिहन्त) एवं परमात्मा (सिद्ध) के गुणों का श्रद्धापूर्वक स्मरण करना । (२) सच्चरित्र आचार्य, उपाध्याय, साधु तथा विद्वान् गुरुओं की सगति में रहकर शिक्षा और सदाचार प्राप्त करना । (३) स्वाध्याय (शिक्षाप्रद ग्रंथों का अध्ययन) करना तथा लेख कविता पुस्तक आदि के रूप में साहित्य का निर्माण करना (४) सयम अर्थात् इन्द्रियों तथा मन पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास करना और समस्त प्राणियों की सुरक्षा का यथा-शक्ति प्रयत्न करना । (५) तप-त्र्योष, मद, छल, वृष्णा इन चार विकारों को त्यागकर बढ़ती हुई इच्छाओं को रोकने के लिये अनशन एकाशन रमत्याग आदि नियमों की साधना करना । (६) दान या त्याग-द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार आवश्यक खाद्य वस्तु, ज्ञानप्राप्ति के साधन ग्रन्थ आदि, रोगविनाश के साधन औषध आदि, प्राणिरक्षा के साधन गृह

वस्त्र इत्यादि का त्याग करना) परोपकार करना, सेवा करना आत्मकल्याण के लिए धार्मिक कर्तव्यों का पालन करना ।

धार्मिक तत्त्वों के साथ राष्ट्रीय तत्त्वों का समन्वय

राष्ट्र में राज्य का संचालक राजा या शासक होता है । राजा वह है जो धार्मिक एवं राष्ट्रीय भावों का निर्विरोध समीकरण का मानवमात्र एवं प्राणिमात्र को निर्भय, सुखी, शान्त और व्यवस्थित कर दे, अपने राज्य को न्यायपूर्ण गमगात्र बना दे । राजा का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

“प्रतिपन्नप्रयमाश्रम परे ब्रह्मणि निष्पातमतिरुपासितगुरुकुल सम्यग्विद्यायामधीतो कौमारवयोलकुर्वन्
क्षत्रपुत्रो भवति ब्रह्मा” —नीतिवाक्यामृत

अर्थान्—ब्रह्मचर्याश्रमप्रविष्ट, ईश्वरभक्त, ब्रह्मचारी, गुरुकुल का उपासक, सकलराजविद्याकुशल, युवराज, क्षत्रियपुत्र राजा ब्रह्मा के समान गौरवशाली कहा जाता है । यदि शासक की आत्मा में धर्म तत्त्व और राष्ट्रीय तत्त्व की समीकरण का भावना है तो प्रजा में भी यही महत्त्वपूर्ण भावना रहनी है जिससे राष्ट्र में और अन्तर्राष्ट्र में शान्ति तथा न्याय का शासन जीवन रहना है । धर्ममूलक शासन ही रामराज्य के नाम से प्रसिद्ध है । वर्तमान में राष्ट्र के नेताओं को ईश्वर ध्यान देना चाहिए ।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव कर्मयुग के प्रथम समन्वयवादी शासक थे । इन विषय में महर्षि समन्ममद्राचार्य का कथन है—

प्रजापतियं प्रथम जिजीविषु क्षाम कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा ।

प्रबुद्धतत्त्व पुनरनुनोदयो, ममत्वतो निविदे विदावर ॥२॥

—बृहत्संख्यम्भूस्तोत्र, श्लोक २

अर्थात्—प्राणिजीवन के मरक्षक जिन ऋषभदेव ने प्रजा के लिये कृषि आदि पट्कर्म का उपदेश दिया, पञ्चात् विवेकबुद्धि ने विद्व के तत्त्वों का परिज्ञान प्राप्त कर क्षणिक वैभव ने मोह का त्याग कर दिया था ।

मोहहर्षे तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ का समन्वयवाद इन भाति है—

चक्रेण य शत्रुनयकरेण जित्वा नृप सर्वनरेन्द्रचक्रम् ।

ममाधिकरेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ॥७७॥

—बृहत्संख्यम्भूस्तोत्र, श्लोक ७७

मागध-नगवान् शान्तिनाथ ने शत्रुओं की भयप्रद शासनचक्र से विरोधी राजममूह को जीतने के पञ्चात् आत्मध्यान स्वी चक्र ने साधारण जनो के लिये अजेय मोहस्य चक्र को जीत लिया था ।

इन प्रकार तीर्थंको तीर्थंको के जीवन में धर्मतत्त्व और राष्ट्रीय तत्त्व का, जीवन और मुक्ति का या प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय चमत्कारप्रद मिष्ट होता है ।

जैन साहित्य में गृहस्थ के लिए जो भग्नकामना या शान्तिप्रार्थना करना आवश्यक कहा गया है उसके कुछ श्लोकों पर दृष्टिपान नीजिये—

सम्पूजकाना प्रतिपालकाना, यनीन्द्रसामान्यतपोवनानाम् ।

देशस्थ राष्ट्रस्थ पुरस्थ राज करोतु शान्ति भगवान् जितेन्द्र ॥६॥

—शान्तिपाठ श्लोक, ६

अर्थान्—परमात्मा के आराधकों को, नेताओं, शासकों, मरक्षकों को, आचार्यों एवं माधुजनों को, जीवन में शान्ति प्राप्त हो तथा राष्ट्र, देश, नगर को एवं उनके राजा को सुख-शान्ति प्राप्त हो ।



क्षेम सर्वप्रजानां प्रभवतु धनवान्धार्मिको भूमिपालः

काले काले च सम्यक् चिकित्सु मधया व्याधयो यान्तु नाशम् ।

दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगता मात्म भूज्जीवलोके

जिनेन्द्र धर्मचक्र प्रभवतु सतत सर्वसौख्यप्रदायि ॥७॥ शा० पा०

जिनेन्द्र अर्चा के प्रभाव में विद्वत् के मानवों का कल्याण हो, क्षामऋतु न्यायी, धार्मिक एवं प्रबल हो, मम पर उचित जलवृष्टि हो, रोगों का नाश हो, राष्ट्रीय दुर्भिक्ष चोरी डकैती कभी न हो, मन्त्रामक रोग प्लेग, कालरा आदि का प्रसार न हो और विश्व में शान्तिप्रद अहिंसा सत्य आदि मिद्वान्ता का चक्र मदैव चलता रह ।

प्रध्वस्तघातिकर्माण केवलज्ञानभास्करा ।

कुर्वन्तु जगत शान्तिं धृपमाद्या जिनेश्वरा ॥८॥ शा० पा०

अर्थात्—कमलरहित, केवलज्ञान से तेजस्वी, ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर विद्वत् को शान्ति प्रदान करें ।

धार्मिकता और राष्ट्रीयता के गामजस्य के विषय में वैदिकग्रन्थों का समर्थन निम्न प्रकार है—

प्रहृष्टमुचितो लोकस्तुष्ट पुष्ट सुधार्मिक । निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षमयवर्जित ॥

नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च । नित्यं प्रमुदिता सर्वे यथा कृतयुगे तथा ॥

—भूलरामायण श्लो० ६०-६३

सारांश—श्रीरामचन्द्र के राज्य में मानव हृष्ट-पुष्ट सन्तुष्ट धर्मात्मा मानसिक तथा शारीरिक रोगों से रहित और अकाल के भय से रहित थे । ग्राम, नगर और राष्ट्र धनधान्य आदि में परिपूर्ण थे । सब प्राणी मत्स्ययुग के समान श्रेतायुग में भी आनन्दित थे ।

शीलेन हि त्रयो लोका शक्या जेतु न शक्य ।

न हि किञ्चिदसाध्यं यं, लोके शीलयता भवेत् ॥१४॥

एकरात्रेण मान्धाता, अहेण जनमेजय ।

सप्तरात्रेण नाभाग पृथिवी प्रतिपेदिरे ॥१६॥

एते हि पार्थिवास्सर्वे, शीलवन्तो दयान्विता ।

अस्तेषां गुणक्रीता, वसुधा स्वयममागता ॥१७॥

—महाभारत-शीलनिरूपणाध्याय

भावार्थ—शील (श्रेष्ठ स्वभाव, अहिंसा, आदि) में तीन लोक के राज्य पर भी विजय प्राप्त हो सकती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । शीलवान् पुरुषों को लोक में कोई वस्तु या कार्य असाध्य नहीं है । राजा मान्धाता ने एक दिन में, जनमेजय राजा ने तीन दिन में और नाभाग नृप ने सात दिन में पृथिवी का राज्य प्राप्त कर लिया था । ये सब राजा शीलवान् और दयालु थे इसलिये अपने गुणों के द्वारा उन्होंने पृथिवी का राज्य विशेष प्रयत्न के बिना ही प्राप्त कर लिया था ।

प्रजानां धनयाधनाद् रक्षणाद् भरणादपि । स पिता पितरस्तासां, केवल जन्महेतव ॥

स्थित्यैर्दण्डयतो दण्ड्यान् परिणेतुं प्रसूतये । अप्यर्थकामो तस्यास्ता धर्म एव मनोविण ॥

—रघुवश प्र० स० श्लो० २४-२५

अर्थात्—प्रजा का नम्रता सदाचार आदि की शिक्षा देने में, आपत्तियों में रक्षा करने में और अन्न-जल आदि के द्वारा पालन करने में राजा दिलीप ही वास्तव में प्रजा का पिता था । प्रजा के पिता तो केवल जन्मदाता ही थे ।



चालुक्यवंशी - कीर्ति वर्मा, विजयादित्य आदि १६ महाराजा । राठीरवशी—सम्राट् - अमोघवर्ध, साहसतुग, कृष्ण-राज आदि ६ नृप । सोलकी वीर— भीम, कर्ण, सिद्धराज, कुमारपाल आदि । परिहारवशी—राजा भोज, तोमर कीर्ति-सिंह ग्वालियर । परमारवशी—राजा भोज, शुभचन्द्र, यशोवर्मा । वुन्देल वीर—महाराज छत्रसाल आदि । ब्रह्मक्षत्रवशी महाराज चामुण्डराय आदि । राजस्थान के वीर—दानवीर भामासाह, विमलसाह तोलासाह, कर्मासाह, आशासाह, दयालदाम, करमचन्द्र आदि । (वीर-जैनवीराक, वर्ष ११)

आधुनिक समस्याओं का समन्वयात्मक समाधान

वर्तमान राष्ट्रो के समक्ष आज कुछ जटिल समस्याएँ हैं जिनका पूर्ण समाधान करने में सभी राष्ट्र उलझे हुए हैं । अभी तक उनका कोई समुचित समाधान नहीं प्राप्त हो रहा है । विद्व की ओर विशेषतया भारतीय समस्याओं का समाधान धर्म-तत्त्वों और राष्ट्रीय तत्त्वों के उचित समन्वय से ही सम्भव है । किन्तु इस तथ्य को भुलाया जा रहा है । आधुनिक लोग विज्ञान की वरदान मानकर उसी के सहारे इन समस्याओं को मूलझाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु जिस विज्ञान ने समस्याओं को उन्नीचाया है वही कैसे सुलझा सकता है ? हम यहाँ कुछ समस्याएँ और उनका समन्वयात्मक समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे हमारा आशय अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है—

क्रम	राष्ट्रीय समस्याएँ	समन्वयात्मक समाधान
१.	जनसंख्यावृद्धिनिरोध	ब्रह्मचर्यव्रत, सयम, श्रुगारत्याग, परिवारनियोजन ।
२	श्रान्तोत्पादन	शाकाहार, शुद्धाहार, एकासन, उपवास, कृपिकला, यन्त्रप्रयोग, वनस्पति उत्पादन, पशुरक्षण आदि ।
३	देयारक्षा	पराक्रम, मैत्रीभाव, पक्वशील, शान्तिसेना, नैतिकशिक्षा ।
४	सुवर्णनियन्त्रण	परिग्रहपरिमाण, सन्तोष, आभूषणश्रुगारत्यागादि ।
५	विध्वंसमुद्रशान्ति	अहिंसा, सत्य, निक्षेत्रीकरण, मदलोभत्याग, आदि ।
६	साम्प्रदायिकतानिरोध	अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, समता, क्षमा, सहयोग ।
७	समाजमुधार	साम्यभाव, सर्वोदय, धार्मिकशिक्षा, मित्रता, सेवा ।
८	दहेजप्रथानिरोध	आदर्श धार्मिक विवाह, सामूहिक विवाह सहयोगादि ।
९.	चोरी डकैतीनिरोध	अचौर्याणुव्रत, शिक्षा, उद्योग, सन्तोष, समाजवाद ।
१०	भ्रष्टाचार, घूसखोरी निरोध	सदाचार, सत्य सन्तोष, सेवा, अनुशासन, न्यायादि ।
११	गुण्डाशाही निरोध	सदाचार, मूलगुणसेवा, व्यसनत्याग, दया, शासनसहयोग ।
१२	भामाहार-मद्यनिषेध	शाकाहार, मूलगुणसेवा, व्यसनत्याग, उच्चचिन्तार, दया ।
१३	बेकारी, गरीबी निरोध	अर्थशिक्षण, कुटीरउद्योग, हस्तकला, क्राफ्ट, समयोपयोग, मितव्ययिता ।

उपसंहार

कला बहत्तर पुष्प की तारें दो सरदार ।

एक जीव की जीविका दूजे जीव उद्धार ॥१॥ —कथिवर चानतराय

आत्मा की उन्नति धार्मिक तत्त्वों से और जीवन की उन्नति राष्ट्रीय तत्त्वों से होती है । ये दोनों विद्याएँ सब कलाओं में श्रेष्ठ हैं । धार्मिकता और राष्ट्रीयता की उन्नति एकामो पुष्पार्थ से सम्भव नहीं है । उक्त दोनों तत्त्वों का समन्वयपूर्ण वीर्य ही उन्नति का प्रबल साधन है । उसी की जीवन में आवश्यकता है । वह सर्वांगीण पुष्पार्थ ही व्यक्ति, समाज और विश्व के विकास, तथा उत्कर्ष का नेता है ।

परोपकार की भूमिकाएं

ले० डॉ० इंद्रचंद्र शास्त्री,

एम ए, पी-एच डी वेदान्तवारिधि, शास्त्राचार्य,

दिल्ली



दुसरे के साथ हमारा संबंध तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है — १. हिमाश्रुतक, २. विनि-
मयश्रुतक, ३. प्रेमश्रुतक। हिमाश्रुतक संबंध में हमारा ध्यान अतिशय जी-दूरी के कर्तव्य पर रहता है।
दोनों की व्याख्या हम अपने स्वार्थ एवं निरर्गल अहंकार की पूर्ति की लड़ में रूढ़ कर लेते हैं। हमारा कोई आशय
या नश्यत जाधार नहीं होता। राजनीति में नैतिक-प्रिय की अधिकार का व्यापपूर्ण आधार माना गया है। बनाने की
आवश्यकता नहीं है कि हम बिना का-एन केवल गणकीय या बीना नहीं होना। मित्रा प्रचा, छल-कपट,
विश्राम-दान, विषप्रयोग, आदि एव वामुकतापूर्ण प्रत्यामन, सभी इसके जलनर्ग हैं। यहा हार जाना ही सबसे बड़ा अप-
राध नया पाप है। पुढी या अनिष्टम यह बनाना है कि ना-दोष पराजित पर मट दिया गया। प्रत्येक विजेता राम
बन गया और पराजित रावण।

नामाश्रित संबंध का हमारा विनियम है। जब एक व्यक्ति यह देखता है कि वह वन-प्रयोग द्वारा स्वार्थ
सिद्ध नहीं कर सकता तो दूसरे के साथ समझौता करना है। दोनों विनियम द्वारा एक-दूसरे की स्वार्थपूर्ति करते हैं।
प्रथम प्रकार में प्रतिदान के लिए स्थान नहीं है। किन्तु यहा यह आवश्यक है। कि भीदृष्टि अधिकार पर रहनी है। कोई पक्ष
दूसरे की विवशता में गान उठाने में नहीं हिचकिचाता। जब लोग वस्तु दुष्टम हो जाना है तो आगारी अधिकाधिक
गान उठाना अपना अधिकार मानता है। उनका ही नहीं दुष्टिम अभाव ब्रह्म करने का प्रयत्न भी करता है। इन सब
बानों को व्यापारकीयल कहता है। हममें और वो" में उनका ही अन्तर रहता है कि वह राजदूत स बच जाता है और
चोर नहीं बन पाता। इस बचाव के लिए राजनीतिक अधिकारिया की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में रिवत देना व्यापार
की नैतिकमहिता में अपराध नहीं माना जाता।

अधिकतर विनिमय-मूलक संबंध का पर्यवमान हिमा में होना है। कहीं प्रत्यक्ष हिमा होने लगती है और
कहीं अप्रत्यक्ष। अनवान मकटग्रन्थ मजदूर को श्रृण देने के लिए उनका घर गिरवी रख लेता है। मृद की अन्यधिक दर
होने पर भी वह शवा करना है कि मैंने मकट में गरीब की मर्यादा की। परिस्थितिबध मजदूर समय पर श्रृण नहीं
चुका पाता। व्यापारी उनके घर की नीलाम कर देता है और उसके बाल-बच्चे भीष मांगने एवं मर्दों में छिड़ने के
लिए विवश हो जाते हैं। अनवान इन व्यवहार का अन्त्य या हिमा नहीं मानता। क्योंकि कानून उन पर औचित्य की
माहृ रगा देता है।

एक वान और है। वस्तु अपने आप में भूत्पादन का आधार नहीं होनी। हमारा आशय एक बार हमारी
आवश्यकता और दूसरी ओर वस्तु की दुष्टमता होनी है। जहा स्वाभाविक आवश्यकता नहीं हानी वहाँ दुष्टिम आवश्यक-
ता उत्पन्न की जानी है। इसके लिए विलमिता, निव्वालोलुपता, बह्वार आदि वृत्तियों को उभागा जाता है। इसी
प्रकार स्वाभाविक दुष्टमता न होने पर कृत्रिम दुष्टमता उत्पन्न की जानी है।

ये सब हिमात्मक उदाय विनिमय-मूलक सम्बन्ध के अवस्थावादी परिणाम है। कहीं-कहीं विनिमय प्रेम में
परिणत हो जाता है। वहाँ दोनों पक्ष अपने स्वार्थ के साथ दूसरे के स्वार्थ का भी ध्यान रखते हैं। और इनकी मात्रा
ज्यों-ज्यों बढ़ती है, विनिमय प्रेम में बदलता जाता है। सात्विक और नोकर का सम्बन्ध प्रारम्भ में विनिमयमूलक होता है,



किन्तु यदि दोनों एक-दूसरे की आवश्यकता एव सुखदुःख का ध्यान रखते हैं तो वह प्रेम का रूप ले लेता है। ऐसी स्थिति में दोनों की दृष्टि अपने-अपने अधिकार को छोड़कर वस्तु पर रहने लगती है। वहाँ स्वामी और सेवक, छाते और वडे की भावना समाप्तप्राय हो जाती है।

तीसरा प्रकार प्रेममूलक सम्बन्धों का है। इनमें व्यक्ति का ध्यान अपने कर्त्तव्य और दूसरे के अधिकार पर रहता है। वह अधिक से अधिक देना चाहता है, किन्तु बदले में कुछ नहीं माँगता। प्रेमपान का सुख ही उमड़ा सुख हो जाता है और प्रेमपात्र की प्रसन्नता उसकी प्रसन्नता बन जाती है। हिंसा एव विनिमयमूलक मवधों में पद-पद पर कटुता एव समस्याएँ खड़ी होती रहती हैं। किन्तु यहाँ वे अपने आप समाधान ढूँढ लेती हैं। इतना ही नहीं कष्ट भी सुख देने लगते हैं। उलझन मनोरंजन बन जाती है और सघर्ष क्रीडा का रूप ले लेता है।

जब हमारा आकर्षण व्यक्ति के प्रति होता है तो उसे प्रेम कहा जाता है। और जब दूसरे की आवश्यकता, सकट या अभाव को ध्यान में रखकर कुछ किया जाता है तो उसे परोपकार कहते हैं। हमें प्रेमपान का सहवास अच्छा लगता है। अधिकतर प्रयत्न इसी सुख को लक्ष्य में रखकर किए जाते हैं, किन्तु परोपकार में यह इच्छा भी नहीं रहती।

बौद्धों की महायान शाखा में परोपकार के स्थान पर कृपा शब्द आया है। वहाँ इसकी तीन श्रेणियाँ बताई गई हैं।

(१) स्वार्थमूला—जहाँ प्रेम या सहायता का आधार वास्तविक या सम्भावित स्वार्थपूर्ति होता है, उसे स्वार्थ-मूला कृपा कहा जाता है। माता-पिता सतान का पालन इस आशा से करते हैं कि वह उन्हें भविष्य में सुख देगी। पति-पत्नी आदि का सवध भी प्रारम्भ में इसी प्रकार का होता है।

(२) सहेतुकी—इसका अर्थ है व्यक्तिगत स्वार्थ न होने पर भी दूसरे को कष्ट में देखकर उसकी सहायता करना। हम किसी व्यक्ति को रोग, अभाव या अन्य कष्ट के कारण दुखी अवस्था में देखते हैं। उसका साक्षात्कार हमारी चेतना में एक प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न कर देता है और इस वेचैनी को दूर करने के लिए हम उसकी यथाशक्ति सहायता करते हैं। हम यह अनुभव करते हैं कि हमारा प्रयत्न किसी के कष्ट को दूर या न्यून करने में सहायक सिद्ध हुआ। यह अनुभूति सात्त्विक सुख प्रदान करती है। इस कृपा या उपकारवृत्ति का जन्म दूसरे के कष्ट से होता है। इसीलिए इसे सहेतुकी कहा जाता है।

(३) अहेतुकी—जहाँ परोपकार का आधार न कोई स्वार्थ होता है और न दूसरे का कष्ट, उसे अहेतुकी कृपा कहा जाता है। इसकी उपमा बादलों से दी जाती है। वे सर्वत्र बरसते हैं। इस बात का विवेक नहीं करते कि यह सूखी मरुभूमि है, हरा-भरा वन या समुद्र। बरमना उनका स्वभाव होता है। भगवान् बुद्ध की कृपा इसी प्रकार की बताई गई है। दूसरों के उद्धार के लिए प्रयत्न करना उनका स्वभाव होता है। इसके लिए वे पात्रपात्र का विवेक नहीं करते।

बौद्ध साधना में दस पारमिताएँ बताई गई हैं। पारमिता का अर्थ है उत्कृष्टता। बोधिसत्त्व अर्थात् वह व्यक्ति जिसके मन में बुद्ध बनने की भावना जाग उठी है, अपने जीवन में गुणों का सचय करता है। प्रत्येक गुण अपनी चरम अवस्था में पहुँचकर पारमिता बन जाता है। सबसे पहली दानपारमिता है। इसकी तीन शर्तें हैं —

(१) बोधिमत्त्व अपना सर्वस्व दूसरों के हित में लगा देता है, अपने लिए कुछ नहीं रखता। धनसंपत्ति ही नहीं अपने शरीर एव सुख को भी दूसरों का कष्ट मिटाने के लिए अर्पित कर देता है। बुद्ध के लिए कहा जाता है कि बोधि प्राप्त कर लेने पर उनमें सासारिक दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है। निर्वाणद्वारा वे समस्त वधनों से मुक्त हो सकते हैं। फिर भी उस निष्क्रिय अवस्था को स्वीकार नहीं करते। उनके मन में यह भावना जाग्रत होती है कि जब तक दूसरे प्राणी दुःख भोग रहे हैं, मैं सुखी कैसे हो सकता हूँ। दूसरों के दुःख को ही वे अपना दुःख मान लेते हैं और उनके लिए निर्वाण को स्थगित कर देते हैं और जानबूझकर जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहने हैं।

(२) दान-पारमिता की दूमरी शक्ति है बदले में कुछ न चाहना। वहाँ देना ही स्वार्थ बन जाता है।

(३) तीसरी शक्ति है क्षेत्र की अनिमित्तता। बोधिमत्त्व जना मयस्व अपित करने समय क्षेत्र की मर्यादा नहीं रहना। प्रत्येक प्राणी उसने दान का अधिकारी होता है।

दानपारमिता के इन्हीं स्वरूपों को शून्य-साधना कहा जाता है। जहाँ साधक अपने-आपको शून्य में मिटा देता है। वेदान्त में यही मध्य मार्ग के मध्य में उल्लिखित किया जाता है। वहाँ स्व इत्यादि विस्मृत हो जाता है कि पर कुछ नहीं रहता। स्व और पर का भेद समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में अर्पण का प्रश्न ही नहीं होता। केवल इतना ही शून्य है कि समस्त प्रवृत्तियों का केन्द्रबिन्दु मनुष्य 'स्व' न होकर सर्वप्राणी 'स्व' हो जाता है।

भगवद्गीता ने मनुष्यों को चार कोटियों में विभक्त किया है—

- १ मनुष्य—वे लोग, जो स्वार्थ छोड़कर दूसरे का हितसाधन करते हैं।
- २ सामान्यजन—जो स्वार्थ को क्षति न पहुँचाते हुए परहित-साधन करते हैं।
- ३ मानव-राक्षस—जो स्वार्थ के लिए दूसरे को क्षति पहुँचाते हैं।
- ४ पशु-राक्षस—जो बिना स्वार्थ के दूसरे का क्षति पहुँचाते हैं।

भगवद्गीता ने चौथी कोटि के लिए कोई नाम नहीं दिया। ऐसे व्यक्तियों के लिए 'ते के न जानीमहे' कहकर छोड़ दिया है।

उपर्युक्त चार कोटियों में से प्रथम दो परापूर्वकार में आती हैं और अन्तिम दो स्वार्थ या पर-धीटन में। इनके साथ एक कोटि और जोड़ी जा सकती है और वह उन लोगों की है, जो स्वयं क्षति उठाकर भी दूसरों को क्षति पहुँचाना चाहते हैं, उक्त 'उन्मत्त-राक्षस' कहा जावेगा।

अहिंसा की दृष्टि से परोपकार की भूमिकाएँ

अहिंसा या हिंसा के आचार पर भी परोपकार की कई श्रेणियाँ हो सकती हैं। हिंसा के तीन आधार हैं—

- (क) स्वार्थवृत्ति—किसी स्वार्थ में प्रेरित होकर दूसरे को क्षति पहुँचाना।
- (ख) क्रूरा—स्वार्थ न होने पर भी दूसरे को क्षति पहुँचाना।
- (ग) अपराध—हिंस्र या अपराधी या निरस्य होना।

(१) हिंसा की दृष्टि से निम्नतम भूमिका उन व्यक्तियों की है जो स्वयं क्षति उठाकर भी दूसरे को क्षति पहुँचाना चाहते हैं। उनकी दृष्टियों उनकी दूर ही है कि दूसरे को कष्ट में देखकर आनन्द आता है। अतः निजी स्वार्थ के न होने पर भी दूसरे को क्षति पहुँचाना चाहते हैं। इतना ही नहीं, उनके लिए क्षति उठाने का भी नैपथ्य रहने है। आश्रय या द्वेषवृद्धि उनकी चेतना का अभिन्न कर लेती है। ऐसे व्यक्तियों को विद्रोह या उन्मत्त कहा जायगा। उनकी विवेकशक्ति मर्यादा लुप्त हो जाती है। दूसरे की क्षति तो दूर रही, वे अपनी क्षति भी नहीं देखते।

(२) दूसरी कोटि उन व्यक्तियों की है जो प्रयोजन न होने पर भी दूसरे को क्षति पहुँचाना चाहते हैं किन्तु उसमें निज स्वयं क्षति उठाने की नैपथ्य नहीं है। ऐसे व्यक्तियों में क्रूर-वृत्ति होने पर भी चेतना का सर्वथा लोप नहीं होता। दूसरे को कष्ट देकर उनका मनोरंजन होता है किन्तु अपने लिए स्वयं कष्ट नहीं उठाना चाहते।

(३) तीसरी कोटि उन व्यक्तियों की है जो दूसरे को बिना स्वार्थ क्षति नहीं पहुँचाते किन्तु स्वार्थ के लिए निरस्य होने पर भी क्षति पहुँचाने में नहीं सिद्धरते। ऐसे व्यक्ति प्रायः अर्थलोलुप होते हैं। उनकी चेतना पर लोभ-वृत्ति छाई रहती है। प्रत्येक प्रवृत्ति में उसी की प्रेरणा रहती है।





(४) चौथी कोटि उन व्यक्तियों की है जो स्वार्थ या प्रयोजन होने पर भी निरपराध को हानि नहीं पहुंचाते किन्तु अपराध का बदला लेना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। जैन दृष्टि में यह भूमिका श्रावक की है जो सम्य नागरिक होता है।

(५) पाचवी कोटि उन व्यक्तियों की है जो अपराधी को भी क्षमा कर देते हैं।

(६) छठी कोटि उनकी है जो अपराधी के कल्याण की कामना करते हैं किन्तु उनके लिए स्वयं हानि उठाने को या स्वार्थ छोड़ने को तैयार नहीं होते।

(७) सातवी कोटि उनकी है जो स्वयं हानि उठाकर भी दूसरे का कल्याण करना चाहते हैं।

स्वार्थ एवं परोपकार तथा उसके तारतम्य का निणय नीचे लिये चार तत्वों से होता है

(१) क्षेत्र की व्यापकता

(२) त्याग-वृत्ति

(३) उद्देश्य की पवित्रता

(४) परिणाम की मंगलमयता

१ क्षेत्र की व्यापकता

पर-हित या क्षेत्र जितना व्यापक होगा परोपकार में उतनी ही उत्कृष्टता आती जायगी। जब वही क्षेत्र बढ़ते-बढ़ते अग्रिम विषय तक पहुंच जाता है, तो परमार्थ बन जाता है। इसका प्रारम्भ कुटुम्ब में होता है, अर्थात् व्यक्ति जब निजी सुख-दुःख एवं इच्छाओं को भूल कर उन्हें अपने परिवार के सुख-दुःख के साथ मिला देता है, परिवार के सुख में मुग्ध तथा उसके दुःख में दुःखी होने लगता है, यह परार्थ की ओर पहला कदम है। मानवशास्त्रियों का कथन है कि मनुष्य में इनकी भी परोपकार वृत्ति न होती तो वह कभी का नष्ट हो गया होता। उसने यह पाठ जीवन एवं अस्तित्व के रक्षण के लिए सघर्ष करते हुए सीखा है। अतः त्यागवृत्ति के स्थान पर स्वार्थ की भावना अधिक है।

परिवार से आगे बढ़कर मनुष्य वंश या कुल तक जाता है। पुरानी असभ्य जातियों में अपने वंश या कुल तक तो परम्पर परोपकार एवं सहानुभूति की भावना रहती थी, परन्तु उस परिधि से बाहर उत्पीड़न की। परिणाम-स्वरूप विभिन्न कुलों में परम्पर युद्ध होते रहते थे और विजेता कुल विजित कुल को समाप्त कर देता था। इस प्रकार का परोपकार कुल-धर्म होने पर भी आध्यात्मिक धर्म या पुण्य की कोटि में नहीं आता, क्योंकि वह क्षेत्र की दृष्टि से सकुचित तथा परिणाम की दृष्टि में अमंगल है।

कुलों में आगे बढ़कर मनुष्य ने जाति, धर्म, राष्ट्र या ऐसी अन्य परिधियों तक परोपकारी और उनके बाहर स्वार्थी बनकर रहना सीखा। यहूदी धर्म में पाप और पुण्य की परिभाषा भी इसी प्रकार है। एक यहूदी यदि दूसरे यहूदी पर अत्याचार करता है, तो वह पाप है, किन्तु उस परिधि के बाहर किसी को लूटना-मारना, स्त्रियों पर बलात्कार करना या अन्य किसी प्रकार अत्याचार करना पाप नहीं है। ईसाई तथा मुसलमान धर्मों ने सिद्धान्त रूप में तो विश्व-व्युत्पत्ति को आदर्श माना, किन्तु व्यवहार में अपने-अपने धर्म की परिधि से बाहर अत्याचार करने में पाप नहीं माना। आर्या ने भी प्रारम्भ में भारत के आदिवासियों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया। भारत में धर्म की परिधि का प्रभाव अभी तक विद्यमान है। राष्ट्रीय परिधियों का प्रभाव तो सारे विश्व को घेरे हुए है और वही विभिन्न राष्ट्रों में गुटबंदी, परम्पर भय एवं युद्ध की विभीषिका का कारण बना हुआ है।

क्षेत्र की दृष्टि में परोपकार का सर्वोत्कृष्ट रूप विश्व-मैत्री है। उपनिषदों ने समस्त चराचर-जगत का आधार-भूत एक तत्त्व बताया और प्रत्येक व्यक्ति से कहा—तू वही है (तत्त्वमसि)। इस प्रकार सार्वभौम एकता का सदेश दिया। यौद्ध एवं जैन-परंपरा ने उन्नी तत्त्व की विश्व-मैत्री के रूप में उपस्थित किया। ईशानमगीह का जो सदेश पर्वतीय प्रवचन

(Sermon on the mount) में मित्रता है, वह भी इसी कोटि का है। बुद्ध, महावीर, ईसा मसीह आदि कुछ विद्वानों ने उन सद्मान् जादों को जीवन में कर भी बनाया।

क्षेत्रविज्ञान के मापपरोपकार श्रेष्ठ तथा उद्योग होता जाना है। किन्तु स्वार्थ निम्न में निम्नतर होता जाना है। प्राचीन समय में मैन्ट्रिग, आदिगहाह आदि बहुत से अनन्याधियों ने व्यापक रूप में लुटमार की जोर दिव्य के लिए अमंगल देने। जब व्यक्ति की पानविक वृत्ति को धर्म का समर्थन मिल जाता है, तो वह और भी दूर हो जाती है। धर्म-युद्ध के नाम में नगर में जो अन्याचार हुए हैं वे इसका उदाहरण हैं। यहाँ स्वार्थ का अभिप्राय जानने की आवश्यकता है। जहाँ तक भौतिक आवश्यकताओं या साधारण आकांक्षाओं की पूर्ति का प्रश्न है, उन्हें स्वार्थ कहा जा सकता है। किन्तु जब व्यक्ति को उद्योग विद्या सब मीमांशों को पार कर जगत् बन जाती है, जब वह केवल अपना आत्मक जमाने, दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने, दूसरों के स्वायत्त अधिकार को छीनने के लिए अत्याचार करता है तो वह स्वार्थ की सीमा में नहीं रहता और भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित चौरी कोटि में जाता है। अमेरिका ने हिरोशिमा तथा नागासाकी पर अणुबम गिराकर जो लाखों निर्दोष व्यक्तियों को मरम कर डाला उसे भी इसी कोटि में रखा जायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों का मन है कि जापान उससे पहले ही पराजय स्वीकार कर चुका था, किन्तु अमरीकी वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ अपने नए आविष्कार का प्रयोग करना चाहते थे, उनके लिए उन्होंने एक पराजित राष्ट्र को चुना जिनके जीवन का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य न था।

त्यागवृत्ति

परोपकार का दूसरा तत्त्व त्याग-वृत्ति है। अपने सुख तथा स्वार्थ को छोड़ने की भावना जितनी प्रबल होगी, परोपकार उतना ही उच्च कोटि का माना जायेगा। विभिन्न धर्मों में त्याग का उपदेश दिया गया है। साथ ही फल का प्रलोभन भी। इस जन्म में दान देने से अगले जन्म में सैकड़ों गुना धन प्राप्त होगा। इस जन्म में काम-भोगों का त्याग करने से स्वर्ग में जम्पराएँ मिलेंगी। इस्लाम में बताया गया है—इस जन्म में मदिरापान न करने से बर्हिश्म मिलेगा, जहाँ जराब की नदियाँ बह रही हैं। गुरुआचार्य ने इस प्रकार के त्याग को बणिक्-वृत्ति कहा है। वह एक प्रकार का व्यागर है, जहाँ थोड़ी पूर्णता के अधिक पूर्ण प्राप्त करने की आशा की जाती है। परोपकार में त्याग के लिए त्याग किया जाता है। वह अपने-आप में सुख है। उसने मानविक आनंद की वृद्धि होती है। मनुष्य दूसरे के लिए त्याग करने-करते जब चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब 'स्व' कुछ नहीं रहता, सब कुछ 'पर' हो जाता है। इसी को सुफी परंपरा में 'बाकपरस्ती', वेदान्त में 'ब्रह्मल्य', बौद्ध धर्म में 'शून्यविलय' तथा जैन धर्म में 'मोहनाश' कहा गया है।

इसने विपरीत दैविकतुल्य सुख की भावना जितनी उत्पन्न होगी, स्वार्थ उतना ही निम्नकोटि का होता जायेगा। इस उत्पत्ति के कई मापदंड हैं।

जो व्यक्ति सामाजिक, राजकीय तथा धार्मिक सभी प्रकार के प्रतिबन्धों को तोड़कर स्वार्थ-माधन करता है, अर्थात् जो सामाजिक दृष्टि में दुष्टाचारी, राजकीय विधि के अनुसार अपराधी तथा धर्मशास्त्र के अनुसार पापी भी है, वह निम्नतम कोटि पर है। बहुत से व्यक्ति राजकीय नियमों को तो नहीं तोड़ते, किन्तु सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों का भंग करते हैं। राजकीय कानून का समर्थन प्राप्त होने के कारण वे अपने को अपराधी नहीं मानते, फिर भी दुष्टाचारी एवं पापी तो हैं ही। दूसरी ओर कुछ व्यक्ति अपराधी होने पर भी अत्याचार एवं पाप की दृष्टि में अपेक्षाकृत उच्चतर पर होते हैं। चरित्र की दृष्टि से राजकीय एवं सामाजिक विधान की अपेक्षा धर्म का अधिक महत्त्व है। जो व्यक्ति धर्म के शास्त्रन नियमों का उल्लंघन करता है, वह निम्नतम कोटि पर है। किन्तु यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि धार्मिक नियमों का अर्थ सांप्रदायिक नियम नहीं है। सांप्रदायिक नियमों का निर्माण मनुष्य अपने मंगल के लिए स्वयं करता है और धार्मिक नियम शास्त्रन होते हैं। योगसूत्र में उन्हें देव, काल एवं परिस्थिति की परिधि से परे मानवभोग कहा गया है। सांप्रदायिक मर्यादाएँ मुख्यतया सामाजिक नियमों की काटि में आती हैं।

सामाजिक तथा राजकीय नियमों का उल्लंघन भी चरित्रविकास की दृष्टि से ह्य है। किन्तु उनमें निर्णायक तत्त्व उद्देश्य है। बहुत से सामाजिक नियम या कटिबान् जन्म-काल में उपयोगी होने पर भी धीरे-धीरे निर्वीज हो जाती





है और विकास में बाधाएँ उपस्थित करने लगती हैं। बहुत से राजकीय नियम भी इसी प्रकार के होते हैं। ऐसे नियमों का उत्प्लवण पाप के स्थान पर धर्म हो सकता है। अतः सामाजिक या राजकीय नियमों का पालन सापेक्ष है। अर्थात् उनका पालन करते समय उन्हें स्वमगल तथा परमगल की कसौटी पर परखने की आवश्यकता है। यदि वे उनमें सहायक हों तो स्वीकार करने योग्य हैं, अन्यथा हेय। इनके विपरीत धार्मिक नियम शाश्वत हैं। उनका आधार तात्कालिक स्वार्थ नहीं होता।

३ लक्ष्य-शुद्धि

परोपकार का तीसरा तत्त्व लक्ष्य-शुद्धि है। अर्थात् दूसरे की भलाई करते समय लक्ष्य जितना पवित्र और आध्यात्मिक होगा, परोपकार उतना ही उच्च कोटि का माना जायगा। धन-प्राप्ति, वासनापूर्ति या अन्य प्रकारकी भौतिक कामना के लिए दूसरे की सहायता करना परोपकार की कोटि में नहीं आता। ये सब स्वार्थ के अन्तर्गत हैं। उनमें भी लक्ष्य जितना हिंसा, वासना या अन्य पापवृत्तियों वाला होगा, उतना ही स्वार्थ निम्न कोटि का होगा। व्यक्ति जब भौतिक कामनाओं से ऊपर उठकर, केवल सात्त्विक इच्छाओं से प्रेरित होकर पर-हित करता है वही से परोपकार प्रारम्भ होता है।

व्यक्ति को परोपकार एवं परमार्थ की ओर प्रेरित करने के लिए धर्मसंस्था ने विविध प्रकार के प्रलोभन दिए हैं। इसी प्रकार स्वार्थवृत्ति को दूर करने के लिए भय वताए हैं। कहा गया है—जो तपस्या द्वारा कामभोगों पर नियंत्रण करता है, उसे चक्रवर्ती का राज्य या स्वर्ग का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार हिंसा, भ्रूट, चोरी तथा दुराचार आदि के कारण इस जन्म में विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं तथा दूसरे जन्म में नरक एवं पशुयोनि के कष्ट भोगने पड़ते हैं। इस प्रकार भय या कामना-पूर्ति के लक्ष्य से प्रेरित होकर जो पर-हित या धर्म-साधन किया जाता है, वह लक्ष्यशुद्धि की दृष्टि से निम्नकोटि का ही माना जायगा।

४ परिणाम की मगलमयता

परोपकार का चौथा तत्त्व परिणाम की मगलमयता है। इस दृष्टि से सर्वोत्तम रूप वह होगा जो सभी के लिए मगलमय है। जो आदि में मगल है, मध्य में मगल है और अन्त में मगल है—ऐसा परोपकार परमार्थ ही जाता है।

इस तत्त्व में क्षेत्र, भावना या लक्ष्य की अपेक्षा समझ या विवेक की अधिक आवश्यकता होती है। पिछली तीनों बातों के होने पर भी यदि करने वाले में विवेक नहीं है, तो उसका कार्य परोपकार के स्थान पर पर-पीडन बन जाता है। धार्मिक एवं सामाजिक संगठनों में इस प्रकार का अविवेक सर्वत्र पाया जाता है। धर्म के नाम पर विविध प्रकार के आडम्बर किए जाते हैं और समझा जाता है कि उनसे धर्म का उत्कर्ष होगा। किन्तु उन्हीं आडम्बरों के कारण धर्म की आत्मा घुट कर मर जाती है। उसके अन्दर रहा हुआ 'जिव' समाप्त हो जाता है और केवल शव बाकी रहता है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि हमारी दृष्टि इस लक्ष्य से न हटने पाये कि धर्म मगलमय है। पुराने सम्कार और अहंकार, अस्मिता, मोह आदि विकारों के कारण वह दृष्टि से ओझल न हो।

महाकवि रवीन्द्र ने गीताजलि में प्रश्नोत्तर के रूप में कहा है—'दीपक क्यों बुझ गया ?

मैंने उसे अपनी चादर में ढँक दिया और वह बुझ गया।'

वास्तव में हम धर्म के दीप पर अस्मिता की चादर डाल देते हैं और प्रकाश का स्रोत समाप्त हो जाता है।

गीताजलि में दूसरा प्रश्न किया गया है—

'फूल क्यों मुरझा गया ?

मैंने उसे तोड़कर अपनी छाती से चिपका लिया, अतः फूल मुरझा गया।'

नहापुण्यो की तपस्या एवं माधना-रूपी खाद प्राप्त करके धर्म-रूपी पुष्प खिलता है और चारों ओर सुगंध फैलाने लगता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम त्याग और तपस्या के बल से इस लता को सींचते रहे, फूल अपने आप खिले जायेंगे। कुछ दिन सुगंध फैलाकर उनकी पत्तड़ियाँ भूमि पर जाएँगी और नये अकुरों को जन्म देंगी। इस प्रकार भाग्य प्रदेश पुण्यों में भग्न जायेगा और उनकी सुगंध दूर-दूर तक फैलने लगेगी। किन्तु अहंकार के मिथ्या अभिनिवेशों में प्रेरित होकर स्वार्थी मानव इसे तोड़कर अपनी छानी में चिपका लेता है। न स्वयं सुगंध लेता है, न दूसरों को देने देता है। दीपक के प्रकाश और फूल की सुगंध पर एकाधिपत्य की भावना मगलमय मिष्ट नहीं हुई। यदि धार्मिक मगलमयी या उद्देश्य लता या नीचता है, तो उनकी उपयोगिता नमस्त्र में आ सकती है, किन्तु यदि वे फूल को तोड़ने का प्रयत्न करने हैं, तो उन-रक्षक के स्थान पर धर्म नष्टक बन जाते हैं।

परिणाम की जमाव-जमाव का एक और रूप भी धार्मिक इतिहास में मिला है। सहस्राब्दियों में एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय या अपना अनुयायी बनाने के लिए प्रयत्न करना आ रहा है। इसके लिए पंडित, नैतिक आक्रमण, प्रचोदन आदि नाना उपायों का आश्रय लेता रहा है। प्रत्येक मगलमयी का यह दावा होता है कि वह मिथ्यात्व नाश करने के मार्ग पर चलने वालों को धर्म के मार्ग पर ला रहा है और इस प्रकार परोपकार के मार्ग पर चल रहा है। किन्तु दूसरे को धर्म-पथ पर लाना तो दूर रहा, स्वयं पाप-पथ पर चला पड़ता है। दूसरों को मोक्ष और स्वर्ग का सुख देना चाहता है और इसके लिए उन्हें उस लता के मुँह में बलपूर्वक वचन भर देता है। वास्तव में वह धर्म की आड़ में उदात्त अहंकार तथा नूतन त्रुटियों की पुष्टि की जाती है। यह अविवेक के कारण होता है और परिणाम मगलमय नहीं है।

बौद्ध-परम्परा में भगवान् बुद्ध के तीन कार्य अर्थात् शरीर माने गए हैं। सर्वप्रथम शरीरकाय है, इसका अर्थ है स्थूल शरीर, जिसमें हाथों के उठाना-गिराना, ठठाना-बैठाना आदि क्रियाएँ करते हैं। दूसरा धर्मकाय है। इसका अर्थ है वह मगलमयी जिम्मेदारों के समप्रचार करने हैं। त्रिभुवन तथा पारलोक्य इस कोटि में आते हैं। तीसरा निर्माणकाय है। इसका अर्थ है वे तत्त्व जिन्हें वे विज्ञान में प्रकाश के रूप में छोड़ जाते हैं। सर्वसाधारण यह भूल जाता है कि उनका प्रतिपादक हीन या मध्य उनका निमग्नता के मान संबंध है। केवल उनमें प्रकाश प्राप्त करके अपने पथ का निश्चय करता है। वे उन सुगंध के पदानों में हैं जिन्हें लिए हम नहीं जानते कि निमग्नता में आ रहा है अथवा किम फूल की है। परोपकार की दृष्टि में धर्ममयता का उच्चतम रूप नृनीय काय में मिलता है।

परमाय के दो रूप

ऊपर द्युत रूप में स्यादं एवं परोपकार की चर्चा की गई है। यथास्थान यह भी बताया गया है कि परोपकार ही अपनी चरम सीमा को प्राप्त करने पर परमाय बन जाता है। उपनिषदों में ईश्वर का विराट् के रूप में वर्णन किया गया है, जो दिव्य का नामान्वर है। विद्वत् की सेवा ही परमात्मा की सेवा है। बुद्ध ने कहा है— 'माता जिस प्रकार अपने छोटे पुत्र में प्रेम करती है, इसी प्रकार उन्मत्त प्रेम समस्त विश्व में फैला दो। जैनदर्शन में भी राग और द्वेष की नींव पर निर्भरता पर बल दिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी धर्मों में परोपकार ही नाना परिधियों को प्राप्त करने पर परमाय बन जाता है।

बौद्धों की महायानपरम्परा में माधना का उल्लेख, अशुभ वासना का क्षय और शुभवासना का विकास बताया गया है। परिणामस्वरूप प्रवृत्तिमान का निर्गोध होना। किन्तु जन्म प्रवृत्ति रोककर शुभ प्रवृत्ति का विकास दिया जाता है। विविध प्रवृत्तियों की परीक्षा के रूप में दम पारमिताएँ बताई गई हैं, जिनका अभ्यास बोधिसत्व करते हैं। ईसाई-परम्परा भी इसी मार्ग का समर्थन करती है। भगवद्गीता में निवृत्ति-मार्ग साध्य अर्थात् ज्ञान-योग की अपेक्षा में है और प्रवृत्ति-मार्ग कर्म-योग एवं भक्ति योग की अपेक्षा से। दोनों मार्ग व्यक्ति की मनोवृत्ति पर अवलंबित हैं। जिसकी जितनी अभिरुचि हो, वह उसे अपना सकता है। दोनों ही परम मगलमय माने गए हैं। साथ ही यह भी कहा गया है—'ततोऽस्तु धर्ममन्यातात्कर्मयोगो विधिप्यते' अर्थात् निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति श्रेष्ठ है। वैष्णव परम्परा





मे कहा गया है— परमात्मा की भक्ति मुक्ति से भी बड़ी है । (भक्तिमुक्तेर्गंगीयगी) । तुलसीदास का वचन है मिया-राममय सब जग जानी, करतु प्रणाम जोरि जुगपानी' अर्थात् मैं ममस्त विश्व को मीरा और राम के रूप में देखता हूँ और प्रत्येक व्यक्ति को हाथ जोटक प्रणाम करता हूँ । इसमें प्रतीत होना है कि भक्ति-मार्ग विद्वत् का भगवान् से भिन्न नहीं मानता । जनता को ही जनादेन मानकर भक्ति का संदेश देता है ।

जैनपरम्परा इस तथ्य को अहिंसा अथवा जीवरक्षा के रूप में उपस्थित करती है । उगवा मान है कि मनुष्य दो नहीं पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनरपतियों में भी जीव है । उन्हें किसी प्रकार का आघात पहुँचाना हिंसा या पाप है । अहिंसा के लिए उन सबके प्रति प्रेम एवं मित्रता आवश्यक है । जैनधर्म इसे चरित्र की उच्च भूमिका के रूप में प्रस्तुत करता है । यहाँ परोपकार के त्रिधपक्ष को छोड़कर निषेधपक्ष पर बल दिया गया है । बौद्धों की हीन-यान क्षाया में भी प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति पर अधिक बल है । अद्वैत वेदांत तथा साम्यदर्शन में भी दुःखमात्र को सुख बताया गया है ।

न्याय-दर्शन में मोक्ष का क्रम बताते हुए कहा है—तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है, मिथ्याज्ञान के नाश से दोष का नाश, दोष के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश में जन्म या नाश और जन्म के नाश से दुःख का नाश और दुःख का नाश ही 'मोक्ष' है ।

उपर्युक्त परम्पराओं में प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति पर अधिक बल है । हम इसकी विस्तृत चर्चा में न जाकर इतना ही कहना चाहते हैं कि परोपकार का नैसर्गिक रूप निवृत्ति ही है । किन्तु उसमें पहले प्रवृत्ति की साधना आवश्यक है । जो व्यक्ति अपने लिए समस्त प्रवृत्तिर्था करता है और दूसरे का प्रश्न आने पर निवृत्ति का उपदेश देता है वह सत्य में दूर चला जाता है । जैनधर्म में समता की नैतिकता का आचार माना गया है । इसका अर्थ है हम अपने लिए जिस व्यवहार या वस्तु को आवश्यक मानते हैं, दूसरे के लिए भी उग आवश्यकता की अनुभूति करें । जो व्यक्ति उच्चतम साधना द्वारा अपने शरीर का मोह छोड़ चुका है उससे यह आशा नहीं की जाती कि वह दूसरे की प्राणरक्षा करे । किन्तु जो अपने लिए सब कुछ करता है और दूसरे का प्रश्न आने पर निवृत्ति का उपदेश देने लगता है वह वैषम्य का पोषक होने के कारण धर्म से दूर चला जाता है । प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों परोपकार की भूमिकाएँ हैं । साधक को किम समय किमका आश्रय लेना चाहिए यह उसकी जीवनस्थिति पर निर्भर है ।

धर्म-निरपेक्षता

डा० सुशीलचंद्र दिवाकर,

एन ए, बी राम, एन-एन बी, पी-एच टी
प्रोफेसरमं वाराणसी, नवम्बर (म० प्र०)

[illegible]

"Religion to the master class had been the opium of the people and to Lenin it was a kind of spiritual opium in which the slaves of capital draw their human perception and the demand for any life worthy of a human being."

[illegible]

"Religion" was intended to living peace on earth and good-will towards man, whatever tendency to hatred and persecution, however correct in the latter must be utterly wrong in the spirit"

देहायामि नमोऽतीत धर्मं वर्मान्निग्रहं यम् ।
मगाह्यमन ननवान् यो धत्त्युत्तमे सुये ॥

नामा नर है नि तो नमस् - दुःखों में वचान नीय से उत्तम सुख प्राप्त करवें वह धर्म है । डा० राधा-
कृष्णन के अनुसार 'अथ तथा न्याय से उपलब्धि से तथा हिंसा के परित्याग' को धर्म कहना चाहिये । ईसाई धर्म के
दस आदेश (Ten commandments) और मनुस्मृति पर गीता के दस धर्मों में इसी ध्यान का पोषण किया है । एक
ब्रह्म आचार्य उपाध्यायी न तर्को प्रख्यात इति तत्त्वार्थमूत्र में धर्म का विवरण करने हुए दस धर्मों के नाम इस प्रकार



गिनाय ह—उत्तम क्षमा, मादच, आर्जव, मत्य, जीव, मयम, तप, त्याग, आर्चिचम्य, और ब्रह्मचर्य । अत यदि मम इम उत्तम क्षमा, मानहीनता, गरुता, अपग्रह, मयम आदि को सीम देते हुये पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिये आदेश और प्रेरणा देना है तो क्यों उमे बुग कहना चाहिये ? क्या हिंसा और इन दस धर्मा के विरोधी तत्त्वों में उन्नति हो सकती है ? यदि नहीं तो धर्म का तिरस्कार करना व्यावहारिक मूर्खता ही है । भारतीय संस्कृति में मशी कार्या में धर्म का ही आधारभूत माना है । लेकिन यहा प्रश्न यह उठता है कि धर्मपालन क्यों होना चाहिये ? भारतीय संस्कृति न व्यक्तित्व को प्रज्ञानता देते समय कुछ कारणों पर विचार कर लिया है । प्रत्येक व्यक्ति और प्राणी में आत्मा का सद्भाव है और उगकी उन्नति के लिये धर्मपालन अनिवार्य है । अधर्म में कुछ समय के लिये शरीर, मन और वैभव में वृद्धि हो सकती है, किन्तु आत्मा का कदापि उत्कर्ष नहीं हो सकता । जब आत्मा का उत्कर्ष होना है, तब व्यक्ति का वास्तविक उत्कर्ष और व्यक्ति-मनुष्यायी समाज का उत्कर्ष अनिवार्य रूप से होता है । अत धर्मपालन में व्यक्तिगत और सामाजिक उत्कर्ष को गुला क्षेत्र दिया गया है । इतिहास साक्षी है कि बन्तुन धार्मिक क्षामनो में समाज सुग्री था । और धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि सहज ही हुआ करती थी । 'रामराज्य' के बारे में यह वचन है कि, 'अयोध्या में कोई कामी पुरुष न था, न कजूस, न अनपढ़, न निर्दयी और न कोई नास्तिक था । आज के जडवादी युग में ऐसी बात पर विश्वास नहीं होता और यह उपहासास्पद प्रतीत होती है । किन्तु यह अपने गस्कार की बात है, अन्यथा राजा और प्रजा के धार्मिक रहन पर यह मगलमय स्थिति स्वाभाविक ही थी ।

तो फिर धार्मिकता के फलस्वरूप क्या इतिहास के अनुसार सयानक विनाश और कलह का बाजारगर्म हुआ ? फ्रांस इटली भारत और चीन आदि मशी गण्टों का इतिहास इस बात की गार्क्षी दे रहा है । यदि हम प्रतीकारात्मक तर्कों का आश्रय न लेकर प्रहारात्मक तर्कों में काम लें तो सहज ही यह प्रश्न उठता है कि धर्महीन विज्ञान के फलस्वरूप हिंसाविनाश में एतद्वयम से भी तो लाखों निरीहों की हत्या हुई है और दो महायुद्धों की आशा की जान लगी है । धार्मिकता के नाम में किए गये पतन में यह पतन लाग्यो गुणा उठा है । फिर क्यों धर्म की वृगई की जानी चाहिये ? लेकिन हमें क्या धर्म पतन और कलहकारी सिद्ध होता है ? यह धर्म का तो कदापि ध्येय और रूप नहीं है । क्या च द्रकिरणों में भी ताप हो सकता है और झीतल जल रो भी कोई जल सकता है ? अवश्य ही धर्म के बदले किमी अन्य चीज ने ऐसा गेल गला है कि जिनमें आज हमारे हृदय में भ्रमवशा धर्म से ही घृणा हो उठी है । अपने माधारण जीवन में ही हम अपने गर्वोच्च हितों में भ्रमवशा घृणा और विद्वेष करने लगते हैं । यह तो हम देव ही चुके हैं कि यथार्थ रूप में धर्म मानव की सुगति और सुख देने का कार्य करता है । लेकिन यदि हमने कुछ दिव्याई देता है तो निश्चय ही मूल में गूल निधमान है । आज हमने धर्म की आत्मा को ही नहीं पहिचाना है । हम उमके चोगे में अपनी गलतियों द्वारा ही उलझ गए । हमने तत्त्व की विस्मरण कर दिया और अपने-अपने धर्म के अधमवत्त बन बैठे । धर्म के मम में न जान हमने अपना पतन प्रारम्भ कर दिया । म्नीरयुक्त नद हमारे सामन में सदा बहता रहा है और हमने उसमें अपवित्रता डालने के अतिरिक्त उसका कुछ भी उपयोग न किया । हमने धर्म और धर्मदाता महावीर राम आदि का क्या दोष ? दोष तो हमारा है जा धर्म को न जानकर धर्मविरोधी ईर्ष्या कलह हिंसा परिग्रह में उलझते गये । धर्म तो कभी भी विद्वेष करना नहीं सिगाता । और यदि हम विद्वेष करते हैं तो निश्चय ही यह धर्म के बदले अधर्म का ही कार्य है, जो पाप है, पतनकारी है । ऐसे ही भ्रम में बेचाग औरगजेव पड गया था । उमने सोचा कि जो धर्म यह मानता था वही एक मात्र गान्ध मिद्वान्त था अन्य सन मिथ्या, त्याज्य और घृणास्पद था । औरगजेव में धर्म के स्थान पर अधर्म ने प्रवेश किया जिनके फलस्वरूप इतिहासप्रसिद्ध हिन्दुविध्वम हुआ था । हमने ही जब धर्म के स्थान पर अधर्म ने प्रवेश किया तब कुछ धर्म के ठेकेदारों के आदेशानुसार तत्कालीन राजाओं ने परधर्मियों के प्रति हत्याकाण्ड का गन नटव मचा दिया । उच्च छोटि का साहित्य इमी विद्वेष (अधर्म) के फलस्वरूप अग्निसात् कर दिया गया । एक विद्वान् श्री प्रो० आर० ताताचाय एम० ए० टी० का जीवनर्म के बन्ध ग्राहित्य के विनाश का यह उद्धरण इस विषय पर प्रकाश डालता है ।

"Religious persecution, intolerance bigotry, conservatism and the like have done much to put keep from the public all that is valuable in Kannada Jain

literature Thousands of basts have been destroyed and the libraries set on fire Several thousands palmyra manuscript have been thrown into Kaveri or Tungabhadra and the havoc of worms has been equally destructive of the vast treasures of learning "

न केवल यह ही किन्तु जैनियों का विनाश भी ऐसे ही किया गया। बुद्ध धर्म का अपनी जन्म-भूमि भारत में उगड़ जाने में यही विद्वेष कायकारी रहा आया है और भारत के विभाजन में तो उन विद्वेष के मन्दिर पर काग़ारोहण ही कर दिया है। यूरोप में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिकों का विरोध विनाश है। अमेरिका में एन्ग्लिक के नाम पर पार्त-गीजों द्वारा किए गए ज़्यादा भी हमें रोमाञ्चित कर देते हैं। खुदाई किताब के नाम पर कितने ही मुसलमान बादशाहों का नाश में अन्धधाय, सगोप्य ग्रन्थ के नाम पर बौद्धों और जैनों के प्रति निर्मम्वार भाव आदि के परिणामस्वरूप यदि तयारयित धर्म में आने के बुद्धिवादी ने उक्त यह कह दिया कि We have just enough religion to make us hate, but not enough to make us love one another ? तो कोई अन्धवाह्यारिक बात नहीं बड़ी गढ़ी है। यदि विचारक उग्रमोक्ष का यह वाक्य इसी प्रकार के तथ्यों पर आधारित है तो मज ही ऐसे धर्म को प्रणाम है—

"Religion has reduced Spain to a Guitar, Italy to a hand organ and Ireland to exile "

यह विद्वान् यदि आज भारत को देखता तो उग्रमोक्ष वचन में "and India into" भी जोड़ देता।

यह सब निराशा प्रेम की बेतुगी आगधना या दुःखारिणाम है। हम पहले ही कह चुके हैं कि अपने यथार्थरूप में धर्म का कभी यह काम नहीं है। धर्म कभी प्रकृति का विनाश नहीं करता। उसकी आड़ में जो पाशविकता का परिचय दिया गया है उसने बुद्धिमानों को बड़ी भारी चेतावनी दी है।

एक विनाश देव में, विनोदकर भारत मनुष्य अर्ध-मनुष्य में अगणित प्रमो को पालना अपनी-अपनी पद्धति के अनुसार होता है। जानुनिक युग में, जब कि नुस्वादिता ने बढ़ने जननशील जामन या बोलबाला हो, यह कभी भी मनुष्य नहीं है कि एक ही धर्म के माननेवाले जामन या मार ममालें। अब तो एक गज्जनीन-मल्ल जामन का कारोबार ममालता है, जिसमें सभी प्रमो और जानियों के व्यक्ति रहा करने है। यथा, काँग्रेस में हिन्दु, मुसलमान, पाली, ईसाई जैन, बौद्ध, शैक्षण, अधिप, वैद्य सभी ने योग दिया है। पूर्वकाल में जब एक गजा होना था तब तो वह अपन व्यक्तिगत अधिकार के सम्बन्ध में प्रमो-विशेष का पाठन करता या प्रमो कि प्रमज अथवा प्रमोज रूप में किसी न किसी प्रमज में अपन धर्म का प्रचार और प्रसार करता था। यदि वह निर्दयी होता तो तत्वार के बल पर, और यदि नीतिमान पर दयालु होता तो प्रेम और बुद्धिमत्ता में ऐसा करता था। भारत का इतिहास औरगजेव और अगोक के रूप में इन दोनों पद्धतियों का परिचय देता है। किन्तु जब स्थिति बदल चुकी है। ऐसा तो अवाछनीय हो गया है कि जामन किसी धर्म को आग्रह दे, उसकी अनिवृद्धि में जामन की ओर से व्यय करे और अन्य धर्मों के प्रति घृणा और उग्रभा भाव वनांव में रावे। जिन दिनों ब्रिटिश राज्य हमारे देश में था उन दिनों ही मानवजातियों ने मदा ही राज-कोष के उन व्यय का उदा विरोध किया था, जो ईसाई धर्मप्रचार के लिए धार्मिक-न्याय (Ecclesiastical Department) के नाम पर किया जाता था। उन दिनों के फलस्वरूप ही भारत के लिए अत्यन्त नवीन ईसाई धर्म का जन्मप्रिक प्रचार हो गया और स्वदेशी धर्मों में जेनेक कुगडियों का प्रवेश हो गया। यह तो ब्रिटेन के ही हित में था कि भारत के धर्म नष्ट और उनमें अमर कुगडों का प्रवेश हो, ताकि भारतवासी अपने धर्म की ओर में विमुख हो जावें। यह एक प्रचार की साम्यवादी रीति का प्रचार था, जिसके अनुसार वैसे ही जनता जब गरीब तब ही प्रान्ति नहीं कर पाती तब साम्यवाद का आग्रह लेनी है। ठीक वैसे ही ब्रिटेन ने चाहा कि जब भारतीयों को अपन धर्म में किसी भी प्रकार की गथा नहीं रहेगी तब आप ही आप ईसाई धर्म का वे आग्रह लेंगे। "बुद्धिनि किम् न करानि पापम्" के अनुसार करोड़ों भारतीयों ने स्वधर्म और सम्कार



[illegible]

धर्मनिरपेक्षता मानन को, जो धर्मान्व और धर्मविरोधी शासन का अंतप्रतिपक्ष विरोध रहता है, आधुनिक युग के सभी मन्त्र देशों ने स्वीकार किया है। उन प्रथम पर नवजाग्रत इण्डोनेशिया के राष्ट्राध्यक्ष श्री मोर्कार्ना की, अफगान मुसलिम-भूमि त्रिनिदाद में 'धर्मनिरपेक्षता मानन' की घोषणा निराला महत्त्व रखती है। यह ध्यान रहे कि हिन्दोनेशिया विश्व का सबसे बड़ा मुसलिम राष्ट्र है फिर भी श्री मोर्कार्ना की यह घोषणा उनकी विगलता और समय की जीत का परिचय देती है। मनुष्य राष्ट्र दिवस को मनाने हुए अकार्ता में उक्त नेता ने ८ नवम्बर १९५१ को कहा था 'इण्डोनेशिया' या यह मुन्दर राष्ट्र बड़ा भाग्यवान है, क्योंकि हमें प्रत्येक नागरिक को अपनी पद्धति के अनुसार ईश्वर की पूजा करने का पूर्ण स्वतन्त्र्य है। यद्यपि यह देश मुसलिम बहुमत वाला है, फिर भी महा ईसाई, हिन्दू काम्पूगियन आदि भी रहते हैं। हमने धर्म-निरपेक्ष राज्य का चुनाव स्वेच्छा से किया है क्योंकि हमें विश्वास है कि धर्म व्यक्ति और ईश्वर के बीच का मसला है। हमका अर्थ यह नहीं कि हम नास्तिक राज्य (अधार्मिक राज्य) चाहते हैं। हमें इस बात से बड़ा हर्षपूर्ण प्रभाव मिला है, जिसका हमें गर्व है, कि हमारे पूर्वजालीन दीर्घ इतिहास में, जबकि हम उत्तरार्ध की चरम सीमा पर पहुँच चुके थे, सभी भी हिन्दोनेशिया ने ऐसा कार्य नहीं किया जिसे अपने पड़ोसियों की भूमि के लिए आक्रमणालय या आलसपूर्ण कहा जा सके। हमारे अतन्त्राल में गालि और खामोशी की विरासिताया है। इस मुसलिम बहुमत वाले राष्ट्र का यह प्रोग्राम धर्मान्त्रियों के लिए एक चुनौती है। जो देश एशिया का बृहत्तर एशिया में परिवर्तन करना चाहते हैं, उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि बिना धर्मनिरपेक्षता के पवित्र सिद्धान्त को अपनाये कोई भी कार्य नफरत न हो। यदि पाकिस्तान बार-बार मध्यपूर्व के मुस्लिम राज्यों में इस बात की प्रार्थना करता है और उनसे मानने प्रस्ताव प्रस्तुत करता है कि वे सब मिलकर मुसलिम राज्यों के एक मध्य का निर्माण करें तो बृहत्तर एशिया का स्वप्न धूल में मिटा जाता है। जैसा कि डाक्टर मोर्कार्ना ने कहा है "धर्म एक व्यक्तिगत चीज है," तो यो उवाहर-लाल नेहरू ने बार-बार कहा है—कि धर्म (लेवल वाले धर्म) का राजनीति में चलने का अधिकार नहीं है। बार-बार उन्होंने डाह-या है कि "माप्रदायिता से हमें नष्ट कर देना है।" इसका तो यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि नेहरूजी यह चाहते हैं कि हिन्दु अपना धर्म छोड़ दें। इसमें यही मार है कि धर्म के नाम पर घृणा और द्वेष की अग्नि को अदृशता से जलाना चाहिये, धर्मांगता को त्याग देना चाहिए। अन्यथा इतिहास अपने को दोहरावेगा और कभी भी यह सम्भव है कि माप्रदायिता के नाम पर हम पवित्र भूमि को पुनः महाभारत जैसी आपसी कलह में लाल होना पड़े। मध्य बनाना जो उनके नियमों का पालन करना अनुचित नहीं है। प्रत्येक मप्रदाय में महापुरुष हुए हैं। उन महापुरुषों ने जीवन को अधोनिर्मय करने का पवित्र मन्देश जगती को दिया। और जैसा कि कहा जाता है, सभी महापुरुष एकमात्र मोक्षार्थी हैं, उनको जानें सभी मप्रदाय के महापुरुषों की एकमात्र प्रतीति होती हैं। दार्शनिक सूक्ष्मता में अवश्य ही उनमें अन्तर होता है, जो विशेष ज्ञान से वृद्धि पर आधारित है। किन्तु जीवन को उज्ज्वल बनाने वाले आचारविधान में सब एकमत हैं। गौरव से हमें जानना ही ता यह विवेचना रही है कि सभी महापुरुषों ने आत्मा की स्थिति को स्वीकार किया है। आत्मा की अनुभूति में तो सभी धर्म किसी न किसी तरह नहमति ही प्रकट करते हैं। केवल आत्मोन्मत्ति से मात्र निम्न है। जो मानता है कि हमें कोई मार्ग निश्चय ही अंत प्रतिगमन सत्य हो। किन्तु जब सब अपने अपने मार्ग से चलने हैं तो क्यों अन्य पर पथर फेंकना और उसे बुरा कहना? अपने मार्ग को सभी अच्छा कह सकते हैं। अपना एकमात्र कुल्य पुत्र भी माना तो राजकुमारों ने अधिक प्रिय प्रतीत होता है। यह तो प्राकृतिक नियम है। अतः मप्रदायप्रेम का अनुचित या बुरा नहीं यह मानते। माप्रारण जीवन में मनुष्य अपने कुटुम्ब, शरीर व देश में प्रेम करना है। सभी प्रकार वह अपने मप्रदाय में भी प्रेम करना है। किन्तु जब अपने शरीर की रक्षा के लिए एक दूसरे का रक्त पीना चाहता है और अपने कुटुम्ब के मरण के लिये दूसरे के धन का अपहरण करना चाहता है, तब अवश्य ही ऐसा अनोखा प्रेम निरम्भ्यता का पात्र है। और सभी प्रकार जब हमारा सम्प्रदायप्रेम उचित सीमा का उत्प्लवन कर अन्य सम्प्रदाय बाह्य पर उदात्त तथा प्रहार करने लगता है तो वह भी अवाञ्छनीय और घृणास्पद बन जाता है। ऐसी माप्रदायिकता में सभी का अहित होता है और धर्म का प्राण तो निश्चय ही समाप्त हो जाता है। धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर युद्ध की बेनी बजाने वाला जो यह नहीं बूलना चाहिये कि उनके जिस काय में भी अनाति, हिंसा और ईर्ष्या की भावना का प्राप्ताहन मिलता है वह किसी भी प्रकार धर्म की कोटि में नहीं आ सकता। हमें बलिष्ठ और स्वस्थ होने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये किन्तु हमें पर आक्रमण करने की भावना में बलिष्ठ और स्वस्थ बनना उपयुक्त





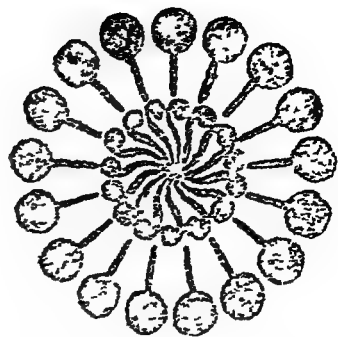
नहीं है। वह हमारे मन में मालिन्य बढ़ाता है और मनोभावनाओं में सङ्गान पैदा करता है। यह भी वाछनीय नहीं कि हम दूसरों पर व्यर्थ ही सन्देह करते रहे कि कहीं वह आक्रमण न कर बैठे। यदि हम अपनी व्यवस्था ठीक बनाये रखने के लिये, अपने महापुरुषों के सन्देश को कार्यरूप में परिणत करने के लिये एवं आत्मोन्नति करने के लिये अपने समाज या सम्प्रदाय को सबल बनाने का प्रयत्न करते हैं तो यह कभी भी अवाछनीय नहीं कहा जा सकता। साथ ही जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी संपत्ति और जीवन की सुरक्षा का अधिकार है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय को अवाछनीय आक्रमणों से भी अपनी रक्षा करने का अधिकार है। परन्तु प्रारम्भ में ही क्यों हम मदेह ईर्ष्या और कलह पर अपने सांप्रदायिक कार्यों को आधारित कर दें? इससे तो ध्येय और भी दूर होता जाता है। क्योंकि विरोधात्मक कार्यों में विधायक कार्यों की अपेक्षा सदा ही अधिक शक्ति का अव्यय होता है और हम केवल इसी में अपना ध्येय सीमित कर बैठते हैं। तथा वास्तविक बातों की ओर मन को न झुकाकर ईर्ष्या-द्वेष में ही जीवन को मगान्त कर देते हैं।

सांप्रदायिकता पर अभी तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। हमारा अभिप्राय तो केवल यही बनाने का है कि धर्म-निरपेक्ष शासन में सांप्रदायिकता को तगिक भी स्थान नहीं होता। लेकिन इसका कार्यरूप में परिणमन परीक्षा की बात होती है। अपने धार्मिक संस्कारों के फलस्वरूप हो सकता है कि राष्ट्र का सर्वोच्च अधिकारी अपने धर्म को ही मुख्यता देना चाहे। उदाहरणार्थ भारत में, धर्म निरपेक्ष शासन की उपयुक्त घोषणा की गई है, तो भी कभी सोमनाथ के मन्दिर में अतुलराशि का व्यय अन्य धर्मावलम्बियों के लिये छटकने की चीज बन जाता है। यदि केवल प्रधान धर्मों या राजनैतिक प्रावलय वाले धर्मों के सत्तोप के लिए यह हों तो ऐसी नीति को कौन बुरा कहने का प्रयत्न न करेगा? जैनधर्म सदा भारत के अत्यन्त प्राचीन धर्म के प्रति उपेक्षा का भाव रखा जाता है। जैन धर्मावलम्बियों द्वारा दिये गये सम्मान को देहली में राष्ट्रपति बड़े हिचकिचाते हुए स्वीकार करते दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर अन्य धर्म के लिये कितनी उदारता और सहृदयता दिखाई जाती है। शासक को ध्यान रखना चाहिये कि राष्ट्र के एक छोटे से अंग की उपेक्षा एक बड़ा रूप धारण कर सकती है और उससे जो अमन्तोष फैल सकता है वह बड़ा अप्रिय होता है। इसी प्रसंग में ध्यान देने योग्य बात यह कि जब शासक अपने राष्ट्र को "धर्मनिरपेक्ष" बनाने का कार्य करे तब किसी भी प्रकार ऐसी तानाशाही न मचा दे कि राष्ट्र के धर्मों पर उनकी परम्परा और प्रचलित रूढ़ियों एवं भाग की पूर्ण रूप से उपेक्षा कर मनचाहा परिवर्तन किया जावे। किसी भी धर्म के मामले में शासक को बहुत सोच विचार कर दम्तदाजी करना चाहिये। उसके धर्माचार्यों का आदरपूर्वक सहयोग और समर्थन प्राप्त करना चाहिये। शासक का यह सोचना बड़ा भागी भ्रम होगा कि उसके द्वारा इच्छित परिवर्तन के अभाव में देश का नाश हो जायगा। राष्ट्र की ज़िदगी दो चार वर्ष की नहीं होती, वह हजारों वर्ष के जीवन वाला होता है। क्या गारंटी है कि राजनीति के पारगत विद्वान् धार्मिक विषयों के भी पारगत होते हों, जब राजनैतिक विषयों पर उनके निष्कर्ष व सरूप मिथ्या और अलाभकारी सिद्ध हो जाते हैं, तो फिर धर्म के नवीन विषयों में भी उनका एकांगी काय हानिप्रद सिद्ध हो सकता है। बहुधा धर्माचार्य और धर्म के पोषक राजनीति में भाग लेकर व्यवस्थापक मन्त्रा में पहुँचना पसन्द नहीं करते। परन्तु सर्वतोभद्र जनतन्त्रीय शासन में ऐसे महान् साधकों की उपेक्षा करना पापपूर्ण कार्य ही समझना चाहिये। समाज के विचारक और साधक यदि राजनीति में नहीं पड़ते तो राजनेताओं को स्वयं उनके पास पहुँचकर पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना चाहिये। चन्द्रगुप्त का भद्रबाहु और चाणक्य के पास पहुँचना, अशोक का वीर साधुओं के समीप पहुँचना, राम का वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचना, इसी तथ्य के परिचायक हैं।

दानवीर भामाशाह-परिवार

श्री रामवल्लभ सोमानी,

जयपुर



भारत के इतिहास में भामाशाह का नाम स्वर्णसिरो में लिखा रहेगा। देशभक्ति, अपूर्व त्याग और स्वाभि-
भक्ति के लिए आज भी इन्हें आदर्श माना जाता है। मेवाड़ के लिए इनकी नेवारों की प्रशंसा उल्लेखनीय है जिस
प्रकार गुजरात के विने वस्तुपाल नेजपाल की।

मेवाड़ के महाराणा सागा की मृत्यु वि० नं० १५८८-८९ में खानवा युद्ध के कुछ समय पश्चात् हो गई।
उनके उत्तराधिकारी उनके समान शक्तिशाली नहीं थे। भान में उस समय भाना के विनेमुग और अफगान मजदूर कर रहे थे
और हुमायूँ ने धरवनी मुल्तान की हटाकर अपना खाना हुआ राज्य वापस प्राप्त कर लिया। पीछे समय पश्चात् उनकी
मृत्यु हो गई। इसका उत्तराधिकारी अकबर, अन्यन्त शक्तिशाली था। इनने कई राजधानियों में वैवाहिक सम्बन्ध स्था-
पित कर अपने राज्य की नींव दृढ़ कर दी। इनने मेवाड़ पर वि० स० १६०८ में आक्रमण किया। उस समय वहा का
महाराणा उदयसिंह नामक था। राजपूतों ने महाराणा को पहाड़ों में भित्तों के चिलोड दुर्ग का भार जयमल मेडितिये
की मोप दिया। राजपूतों की शर हो गई और उदयसिंह कुम्भलगट की नफ चला गया। वि० नं० १६०९ की लिखी
सम्बन्धकथाकौमुदी की प्रति आमेर-शान्धमडा में नगुहीन है जिसमें कुम्भलगट में उक्त राणा के शासनकार में प्रयत्न
का उल्लेख है। जिसने कुम्भलगट में उनके राज्य की पुष्टि की है। धीरे-धीरे अकबर ने मेवाड़ के अधिकांश भाग को
अधिकृत कर लिया। यहाँ के महाराणा के पास उस समय धन और नैतिक सामान दोनों की व्यवस्था करने वाले
पुष्प की आवश्यकता थी। उस समय भामाशाह प्रधान था किन्तु वह इनका उपयुक्त नहीं था। उसे हटाकर उदयसिंह
के वंशज महाराणा प्रताप ने भामाशाह को अपना प्रधान नियुक्त किया। स्थानों में लिखा मिलता है 'भानी परधानों
के, रामी जीवो गद्दी'।

भामाशाह के पूर्वज

भामाशाह कावडिया गोत्र का शोभवाल था। इनके पूर्वज जलवर क्षेत्र के रहने वाले थे और सागा के समय
इसका पिता भारमल ग्ययशोन में किलेदार के पद पर था। वह इस पद पर कई वर्षों तक सफलतापूर्वक कार्य करता
रहा।

महाराणा सागा ने अपने अन्तिम दिनों में इस दुर्ग को अपने पुत्र विक्रमादित्य एवं उदयसिंह को दे दिया

१. सन् १६२५ वर्षे शाके १४६० प्रवर्तमाने दक्षिणायने मार्गशीर्षशुक्लपक्षे पष्टम्या शनी श्री कुन्तलेरु दुर्गे रा० श्री
उदयसिंह राज्ये खरतरगच्छे श्री गुणलाल महोपाध्याय स्ववाचनार्थ लिखापित। (सम्बन्धकथाकौमुदी प्र० नं०
१६१०, आमेर-शान्धमडा)

२. ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ६६२।



था । ये दोनों अपनी माना हाडी करमेती के साथ यही रहा करते थे ।^१ बाबर ने अपनी जीवनी तुजके बाबरी में लिखा है कि सागा की मृत्यु के पश्चात् उक्त रानी ने चित्तौड़ के राज्य को प्राप्त करने^२ में उसकी मन्हायना चाही थी एवं रण-भोर उसे देने का वचन भी दिया था कि तु राणा सागा का ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तगधिकारी रतनसिंह शीघ्र ही मार डाला गया एवं हाडी करमेती का पुत्र विक्रमादित्य स्वतः चित्तौड़ का स्वामी हो गया । इतना होते हुए भी रणभोर पर मुसलमानों का अधिकार हो गया । अमेर-शारत्रभंडार में उक्त बाल की लिपि कुछ ग्रंथों की प्रतिया उपलब्ध हैं जिनमें स्थानीय नासक का नाम मिच्छया दिया हुआ है ।^३ अतएव प्रतीत होता है कि इस राजनैतिक परिवर्तन के अवसर पर यह परिवार भी रणभोर से चित्तौड़ चला आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं । क्योंकि उस समय हाडी करमेती के पुत्रों का ही राज्य चित्तौड़ में था । यह घटना वि० स० १५६०-६५ के मध्य सम्पन्न हुई होगी ।

भामाशाह की सेवाएँ

भामाशाह का जन्म चित्तौड़ में आपाठ कुल १० वि० स० १६०४ (२८ जून १५४७ ई०) को हुआ था ।^४ लूकागच्छीय पट्टावली से प्रतीत होता है कि यह परिवार वि० स० १६१६ के पूर्व अवश्यमेव चित्तौड़ में बस चुका था और किसी दक्षिणी क्षेत्र की कृपा से इस परिवार के पाम कराडों रूपों की सम्पत्ति हो गई थी । मूल वर्णन देपागर मुनि के वर्णन के साथ आता है जो परिशिष्ट के रूप में दिया गया है ।

हल्दीघाटी के युद्ध और इसके पश्चात् निरन्तर युद्धों में व्यस्त रहने के कारण प्रताप की लगभग सारी सम्पत्ति विनष्ट हो गई । आजादी का दीवाना प्रनाप देश की स्वाधीनता के लिये जंगलों की ग्राक छानता फिर रहा था । इन भयंकर विपत्तियों के समय भी वह अपने दृढ़ निश्चय पर अडिग रहा था । किन्तु धनाभाव ने दुःखी होकर वह सदैव के लिये मेवाड़ छोड़कर जा रहा था । ऐसे समय में भामाशाह ने अपनी सागी सम्पत्ति लाकर के उसके समुप रख दी । कर्नल टाड के द्वारा दिये गये वर्णन के अनुसार यह सम्पत्ति इतनी अधिक थी कि प्रताप २५ हजार सैनिकों को १२ वर्ष तक निर्वाह करा सकता था ।^५ सम्पत्ति देने के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद नहीं है । श्रीगोरीशंकर हीराचंद घोषालिखते हैं कि भामाशाह महाराणा का विद्वामपात्र प्रधान होने के कारण उसी की सलाहके अनुसार मेवाड़ राज्य का पञ्जाना सुरक्षित स्थानों पर रखा जाता था जिसका व्योम वह एक वही में रखता था और आवश्यकता पड़ने पर इन स्थानों में द्रव्य निकालकर लड़ाई का त्वरं चलाया जाता था । यह मत मुझे मत्त नहीं लगता है । बहादुरशाह के मेवाड़ पर दो बार आक्रमण हुए और एक बार शेरशाह का आक्रमण हुआ । इसके बाद अकबर के साथ उदयसिंह का भयंकर युद्ध हुआ । इन युद्धों से मेवाड़ का राजकोष खाली-सा हो चुका था ।^६ बहादुरशाह को भागा द्वारा छीने हुए मालव के सुल्तान के बहुमूल्य जेवर,

१ दयातो मे लिखा है कि करमेती पर राणा सागा का विशेष प्रेम था । एक दिन करमेती ने निवेदन किया कि आप अपने जीवनकाल में ही अपने २ पुत्रों को, जो रतनसिंह से छोटे हैं, रणभोर की जागीर दिला दें और सूरज-मल हाडा को नियुक्त कर दें तो अधिक अच्छा रहे । सागा ने ऐसा ही कर दिया । किन्तु उसके मरने के बाद रतनसिंह और सूरजमल में विद्वेष बना रहा और दोनों इसी मामले को लेकर आपस में मन-मुटाव रखने लगे । इसके परिणामस्वरूप दोनों ने एक-दूसरे पर घातक आक्रमण कर अपनी अपनी जान से हाथ धोया ।

२ तुजके बाबरी (अंग्रेजी अनुवाद) पृ० ६१२-६१३

३ राजस्थान के जैन भंडारों की सूची, भाग ३, पृ० ७३

४ श्रीर दिनोद, भाग २, पृ० २५१ । ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ७४

५ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ७३

६ ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ६६१-६६२

७ ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ४६३-६५ । इसमें महाराणा अमरसिंह के समय की सम्पत्ति का उल्लेख किया गया है । जहागीर को दिये गये रत्नों का उल्लेख भी है किन्तु प्रताप ने अपने अन्तिम वर्षों में मेवाड़ में फिर से समृद्धि और शांति ला दी थी अतएव उस सम्पत्ति से प्रताप के सरुद के मगय की सम्पत्ति से तुलना नहीं हो सकती है ।

जहाज मुकट, मोने की कमरपेटी आदि तक देने पड़े थे । अतएव उस समय जो राशि भामाशाह ने दी थी वह स्वयं उनके परिवार की ही थी । लूकागच्छीय पट्टावली के वर्णन के अनुसार इस परिवार के पाम करोड़ों की सम्पत्ति थी । इस सम्पत्ति के अतिरिक्त महाराणा ने भामाशाह और उनके छोटे भाई ताराचंद को मालवा में सम्पत्ति लूट कर लाने को भेजा । दोनों भाइयों ने २०,००० मोहरें लूट करके ला कर महाराणा को प्रस्तुत की ।^१ अकबर के सेनापति शाहवाज-जा ने पीछा किया और लड़ते-लड़ते वसी ग्राम के पाम ताराचंद घायल हो गया । तब वसी का स्वामी भाईदाम उनको उठाकर ले गया और उपचार की समुचित व्यवस्था कराई ।

इस प्रकार विशाल सम्पत्ति के मिलजाने में प्रताप ने अपनी खोई हुई भूमि को वापस प्राप्त करने में मफलता प्राप्त कर ली । मेवाड़ में चितौड़ कुंभलगढ़ के महत्वपूर्ण दुर्गों को छोड़कर भेष मारे भाग पग उनका अधिकार हो गया था ।

भामाशाह और ताराचंद दोनों कुशल सैनिक भी थे । हल्दीघाटी के युद्ध में दोनों मफलतापूर्वक लड़े थे । भामाशाह द्वारा जारी निम्ने गये कड़े ताम्रपत्र भी मिले हैं । ये महागणा प्रताप के शामनकाल के हैं और वि० स० १६३३ में लेकर १६४१ तक के मिलने हैं ।^२ ताराचंद उस समय गाड़वाड़ में मादड़ी राम रा हानिम था । इनने इस नगर की बड़ी मुन्दर व्यवस्था की थी और शाहवाजखा को इसमें अधिकृत नहीं करने दिया था ।^३ नाडोल की तरफ में

१ डा० गोपीनाथ शर्मा-मेवाड़ एण्ड मुगल एम्परर्स ।

२ बीर विनोद, नाग २, पृ० १५१ । ओला-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ४३२

३ महागणा प्रताप के समय के कुछ ताम्रपत्र जिनपर भामाशाह का नाम प्रधान के रूप में अंकित है, इस सम्बन्ध में उल्लेख है —

(१) वि० स० १६४४ का दिगम्बर जैन मंदिर स्तूपनदेव का ।

(२) वि० स० १६३३ का कुंभलगढ़ का ताम्रपत्र—“महाराजाधिराज महाराणा श्री प्रतापसिंह आदेशात् आचार्य वानाजी वा किमनवास दलभद्र कस्य ग्राम १ सथाणो मया कीधी उदके आपाटे दत्ता कुंभलमेर मध्ये मवत् १६३३ वर्षे नादवा सुदी ५ रवी श्रीमुख प्रति हुक्म दी दो रायजीमाहनामो पहला पतर ले गया लुटगो गयो सु मवो कने नया कीधी”—(मेवाड़ एण्ड मुगल एम्परर्स, पृ० २०८)

इन ताम्रपत्र से स्पष्ट है कि इन सब त्रु अवश्यमेव वह मेवाड़ का प्रधान हो चुका था ।

(३) वि० स० १६४४ का ताम्रपत्र जहाजपुर का —

“मिधश्री महाराजाधिराज महाराणाजी श्री प्रतापसिंहजी आदेशात् तिवाडी साहल नाथण भवान काना गोपाल टीला घरती उदक आगे राणाजी नी जी ता - रा पग करावे दीधी थो प्रगणे जाजपुर रा ग्राम पडेरमट्टे हलं धन्ती बीणा गारा करे दीधी श्रीमुख हुकम हुआ । साह भामा । सबत् १६४५ काती सुदी १५ ।”

(४) वि० स० १६४१ का ताम्रपत्र—

“महाराजाधिराज महाराणा श्री प्रतापसिंह आदेशात् चौधरी रोहितास कस्य ग्राम मय कीधी ग्राम डईलापा बडा माहे पेत ४ घरमाली रा उदक स० १६४१ वर्षे आपोज सुद १५ दव श्रीमुख बीदमान सा० भामा ।”

इन उपरोक्त चिह्नों से उक्त वर्षों में उसके बराबर प्रधान रहने की बात सिद्ध होती है ।

४ शाहवाजखा बराबर इस क्षेत्र में लड़ रहा था । रामपुरा नवाब की लाइब्रेरी में सुरक्षित तारीख-ए-अकबरी जो हाजी मोहम्मद आरिफ कधारी ने लिखी है, इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है । इसमें वि० स० १६३३ में ही अकबर ने शाहवाजखा को इस क्षेत्र में लगा दिया था । जैसलमेर भडार में भोजचरित की हस्तलिखित प्रति सप्रतीत है जिसमें वि० स० १६३४ की प्रशस्ति दी है जिसमें कुंभलगढ़ के लिये लिखा है—“कुंभलगढ़ दुर्ग विग्रहो विजयो भवति” एवं वहाँ अकबर का राज्य भी उल्लिखित किया है आदि । शाहवाजखा को पूर्ण विजय वि० स० १६३५ में मिली थी । उस समय भी घोड़े और चालाकी से । कधारी ने “सिद्धाव और फरेबवादा” शब्द प्रयुक्त किये हैं । इस प्रकार निरन्तर दो वर्षों तक शाहवाजखा इस क्षेत्र में बराबर लड़ता रहा था ।



बादशाह की ओर से आश्रमण होते रहने थे। इनका उतने मकलनापूर्वक मुखावल्या श्रिया था।^१

बीर-विनोद में दिये गये वृत्तान्त के अनुसार भामाशाह^२ को अश्वरुद्धीम ग्मानगाना ने महागणा को अश्वर को अग्रोचना में उतने के दिये बहुत समझाया था और हर तरह से इने नाम दिया गया था किन्तु त्यागमूर्ति भामाशाह ने उमे नवागत्मन उत्तर दे दिया।

नू कागच्छ की सेवायें

भामाशाह-परिवार लूनागच्छ का मानने वाला था। उक्त पट्टावर्तन में दिये गये वृत्तान्त के अनुसार भीष्मर प्रादि सेवाएँ के कई ग्रामों में लूनागच्छ के फैलाव के लिये समन बड़ी सहायता दी थी। कई दिग्भर परिवारों तक से समन दोक्षित कराया था। लोगों का राजा रूपों की धन में भी सहायता दी थी। ताराचद ने भी गोटवाड में सम कार्य को किया था। मान्यत्राल दलोचद देसाई^३ लिखते हैं कि भामाशाह के बाद ताराचद को गोटवाड की शक्ति मिलने ही वह माटरी में रहने वाले लूनागच्छोंय माधुओं का पल लेने लगा। उसने मृनिपूजा बन्द नहीं छोटी किन्तु पुष्पादि वस्तुओं इन्से दिये बर्जित करादी। इसके प्रभाव के कारण कई लोग लूनागच्छ में आ गये। उसने मृनिपूजा को पर कई अन्याचार किये। श्री देसाई ने अन्याचार का उक्त कथन श्री जैन ध्वनाभ्य मृनिपूजा गोडवाड और नादही लूना-मतियों के मतभेद का दिग्दर्शन नामक पुस्तक के आचार पर लिखा है जो कहा तक नहीं है कहा नहीं जा सकता।

कलाप्रेमी ताराचद

ताराचद बड़ा कलाप्रेमी था। उसने आदही में विद्यालय बावटी बनवाई थी और उस पर एक मिलात्रेन भी लगवाया था। यह बावटी इसके मरने के बाद इनके पुत्र ने पूरी की थी। इनका मिलात्रेन अनी जीर्णोद्धार के समय बड़ा में हटा लिया गया प्रतीत होता है। मरने कुछ वर्ष पूर्व इसकी छाप दी थी और उसे प्रकाशित भी कराया था।^४ यह बावटी न्यायनगर का एक उत्कृष्ट नमूना है। ताराचद के यहाँ कई मीनस भी थे। माटरी में उसकी छत्री के समीप उसकी चार स्त्रिया की मूर्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त एक खवान, ६ गायिकाएँ, एक गर्दया और एक गर्वना की इनी की मूर्तियाँ भी बूदी हुई हैं। इन पर वि० १० १६४८ वैमान्य बदि ६ के लेख हैं। उससे प्रतीत होता है कि उनको कादर बड़ा सम्मान था। बावटी में उनके बैठने का स्थान दर्शनीय है। यह माहित्यप्रेमी भी था। हेयरनन ने प्रसिद्ध गोग-बादर चौसाई^५ इसके पान रहकर ने ही लिखी थी। उसकी प्रशस्ति में प्रताप के अन्तिम दिनों में इस परिवार की स्थिति का पता चलता है।

१ बीर विनोद, भाग २, पृ० २५७

२ उक्त पृ० १५६। ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ४४६

३ जैन माहित्यतो नक्षिप्त इतिहास, पृ० ५६६

४ मरु भारतो अंक ३, पृष्ठ २ से १०

५ सवन् मोलदस पणयान्।

श्रावण सुदी पक्षमी सुविसाल ॥

पृथ्वी पोंठि धनु पर गही।

मखल पुरी मोहद सादटी ॥

पृथ्वी परगट राण प्रताप।

प्रतपट दिन दिन अधिक प्रताप ॥

तम मश्रीमर बुद्धिनिधान।

कावेटिया कुन तिनक निधान ॥

सामिधरमी धुरी जामुनाह।

वयरी धन विधुपण राह ॥

(पूगानन्वमदिज जोधपुर की एक प्रति में) यहाँ 'सामिधरमी' शब्द विशेष उल्लेखनीय है।

भामाशाह के वंशज

भामाशाह की मृत्यु वि० सं० १६५६ में हुई थी।^१ महाराणा प्रताप के बाद उनके पुत्र अमरसिंह के समय में भी वह उस पद पर विद्यमान रहा था। उसी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जीवाशाह मेवाड़ का प्रभान बनाया गया। कर्णसिंह के तार पक्ष के समय वह जयपुर बादशाह के पान गया था।^२ इसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अख्य-राज मेवाड़ का प्रधान बना था। उसके बाद समय इनके राज्यों को वह अधिकार प्राप्त नहीं हो सका। किन्तु उनकी सभ्यता यथार्थ बना रहा। महाराणा स्वयंभुवसिंह के समय एक विवाद उठ खड़ा हुआ कि ओषवालों की स्थिति में प्रथम किताब लिखी गयी अथवा दूसरी महाराणा ने वि० सं० १६१२ ज्येष्ठ १५ बुधवार को एक पट्टा लिखकर भामाशाह के परिवार वालों की प्रतिज्ञा उनको देने और उनको प्रथम तिलक करने का आदेश दिया।^३

उन प्रभान भामाशाह की पेशाओं में मेवाड़ की ही रक्षा नहीं हुई अपितु समस्त हिन्दू जाति का महान उद्वेग हुआ। अगर स्वतन्त्र धर्म की स्थापना भामाशाह-परिवार नहीं देना तो नभवत् प्रताप मेवाड़ छोड़कर चले जाने। तथा तब प्रतिज्ञा कृष्ण की हो गयी। प्रताप की रण्य बलिदान और अपूर्व माहम की कहानी के साथ साथ भामाशाह की स्थापना और देवमति की तात्पर्य सदैव गाई जाती रहेंगी।

मादही का दिव्यनिर्देश

तादसी में उस समय मादही का गिराविल महाराणा अमरसिंह के सामनाल के प्रारम्भिक वर्षों का है। उसमें भामाशाह के पिता नामाशाह ने राजाओं की हुई है। उसमें कुछ २२ पत्नियाँ हैं। निम्न वि० सं० १६५४ वैशाख वदि २ म म। नामाशाह उस समय स्वस्थ ही हुआ था। उसके पुत्र मुन्नारा ने उसकी प्रतिष्ठा कराई थी। लेख में भामाशाह की माता का नाम भी उल्लेख है। यह तब उत्पन्न भी महत्वपूर्ण है कि महाराणा प्रताप के अन्तिम दिनों में उन क्षेत्र की सुतन्त्रता के पूर्ण रूप में पुनर्स्थापित था। उस साल की पुष्टि वि० सं० १६५१ के देवना (गांड-वाट) नामक तब की है। यह नामाशाह के हस्ताक्षरों से जाना गया था।

परिशिष्ट १

नागपुरीय लुकागच्छीय पट्टावली में भामाशाह का वर्णन

“नवद्वे श्री देवाय मूर्तों बन्धने पनीक्षक दशोया कोट्टानिमेपेतनी नामा जनक धनयसी जन्मी, तामोपुते चात्रि पदमणि त्रयैरानम् । तवत् १६१६ चित्रशुद्ध महादुर्गे कावडियाय्ययो भारमत्तो धनी तपा-

१ ओमा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ६६२-६३

२ उद्यम ना २ पृष्ठ ० ६६३

३ उद्यम

४ “स्यम्नि श्री उदयपुर मुनमुयाने महाराजाधिराज महाराणा श्री सत्पमिधजी आदेशात् कावडया जंचद कुनने धीरचन्द बम्ब अग्रच याग बटा वाता नामो कावडयो ई राजम्हे सामग्र काम चाकरी करी जिकी मरजाद टेम्पु डया है—महाजना की जातम्हे वावनी त्या चोरा को जीमण वा भीग पूजा होवे जीम्हे यह लय पहेली नमक पारे हो तो हो सो अगला नगर सेठ बेणीदास कासो क्यो अर वेदयोफत तलक पारे नहीं करवा दीदो अदारयारी सालसी दीयो मो नगे करी अर न्यात म्हे हकमर मालुम हुई सो अब तलाक माफक दस्तुर के ये यागे कराया जाजो आगा मु यारा हुक्म कर दीदो है सो पेसी तलक पारे होवेगा। प्रवानगी मेहता मेरसाध मवत् १६१२ ज्येष्ठ सुदी १५ बुधो ॥”



गणीयोऽभूत् । तेन देपागरसूरीणामभिधानं शुद्धक्रियाधारकत्वं च श्रुतम् । तदादित एव तद्गुणगञ्जितचेतस्कोऽवदत्
श्लोक —

धन्यो देपागरस्वामी प्रदीपो जैनशासने ।

एष एव गुरुर्मेऽस्ति धन्योऽहं तन्निदेशकृत् ॥

इति भावनया शुद्धात्माऽभूद् भारमल्ल । तस्मिन्नावसरे नरत्यो भामा नामो नाहटोऽस्ति । तद्गृहे पृथ्वीयोगाद्
दक्षिणवर्त्तं शङ्ख प्रादुरभूत् तत्मानिध्याद् गृहेऽष्टादशकोटयो धनस्य प्रकटी भवन्ति एकदा नत्र वन्तारुचैर्गङ्गा-
पाछो धर्मध्यानं विदधत् माधुगुणभामाभिराम श्रीदेपागरस्वामी शुद्ध नरोऽने भारमल्लेन दृष्टो विधिवद् वन्दितश्च ।
शुद्धधर्मोपदेशामृत पीत श्रवणाभ्याम् । जति प्रसन्नेन भारमल्लेन विमृष्टमहं । महान् भाग्योदयो मे प्रकटितोऽदीदृश गुण-
गौरवाद् दृष्ट । सर्वेऽर्थो मे भैलस्यन्ति । तदा भारमल्लान्वये च बहुव्यय आका जाता नागोरी लूङ्कगणीया । अथ भारमल्ल-
स्य भामानामकसुतोऽजनि । महान् महं कृत । नवन दानादिनार्थजननमनोरथा पूरिता । अन्येपि तागचन्द्रादयः पुत्रा
अभूवन् । तत्र भामाणाहताराचद्री विश्रुती जाती । स्वर्गच्छागणेण बहुव्यय जना स्वर्गणे ममानीता । पुन श्री राणाजी-
तोऽमात्य पदं लात्वा बलिनी जानी । ताराचद्रेण सादटी नाम नगरं स्थापितम् । सर्वत्र पीपथ शालादिकानि स्थानानि
कारतानि । म्याने स्थाने पुरे पुरे ग्रामे ग्रामे बहुजनेभ्यो धनं दाय दायं स्व गणीया कृता । श्री नागोरी लुकाटगणोऽस्तित्या-
तिमाप । पुन भामाशाहेन दिगम्बरमतगा नरभिवपौरा स्वर्गणे ममानीता । बहु स्व दत्त्वा १७०० गृहाणि तेषामात्मो-
यानि कृतानि । भिण्डरकादि पुरेषु तदा च जात आवरुगृहाणा चतुर्ग्योतिमहन्नाधिकं लक्षमेकम् ।

(विविधगच्छीय पट्टावली मे)

परिशिष्ट २

सादड़ी का तारावावडी का शिलालेख

मूल शिलालेख

- (१) ॐ ॥ श्री गणेशाय नमः । श्री ब्राह्मणेन नमः ।
- (२) (श्री) लक्ष्मीनारायणाय नमः ॥ श्री उमामहे —
- (३) इवराय [राभ्या] नमः ॥ अथ श्री नृपविष्णुमार्कं नमः (या)
- (४) त् ॥ सवत् १६५४ वर्षे शके १५२० प्रवर्तमाने
- (५) महामागल्यप्रदवैद्यापम (१) मे कृष्णपक्षे द्वि-
- (६) तीयाया तित्थी बृहस्पति (ति) वामरे श्रीमादडी
- (७) नगर ॥ महाजाधिराज महागणा श्री श्री
- (८) अमरगधजी विजयरज (ज्ये) उमवाली जाती
- (९) य कावेडीय गोत्र आवरुवर्गद विराजमान
- (१०) साह श्री भारमल्लतःपूर्या श्रीलालकारघा-
- (११) रणी अनेकतुल्य पुरुषाद (पेन्थ) महापुण्यकार-
- (१२) णी नादेचा गात्रमायि (य) त्रिंगाजल-निर्मला
- (१३) माइ श्री कर्पूरनाम्नि नयस (तस्या) पुत्रस्य

- (१४) तारचदम्य एसादशनतीमडिन (१) मपुययं (पुष्पयार्थं)
- (१४) श्रेयार्थं श्रीनागवाग्निनामक तीर्थ कारिन
- (१६) नपुम्रेण साह मग्नाच (पुरश्चाज) जीनाम केन प्रन (नि)
- (१७) पम्यमान बिजीरोना (विजयाना) [म्] शुन भवन्तु । ठ
- (१८) यायन् कृम्मंघना घना विजयने यायद्भुजगा-
- (१९) दिप पानादे पयमानपूग्निननुयार्थद्वयि
- (२०) इचद्रग्मा । तपतिष्ठन्तु नौर्यमनमदल वा-
- (२१) पी महामदना साह श्री मुरनाणकेन वि
- (२२) हिन मान्पयुष्टिप्रद ॥ श्रीरम्भु । श्री ॥

•



	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100	101	102	103	104	105	106	107	108	109	110	111	112	113	114	115	116	117	118	119	120	121	122	123	124	125	126	127	128	129	130	131	132	133	134	135	136	137	138	139	140	141	142	143	144	145	146	147	148	149	150	151	152	153	154	155	156	157	158	159	160	161	162	163	164	165	166	167	168	169	170	171	172	173	174	175	176	177	178	179	180	181	182	183	184	185	186	187	188	189	190	191	192	193	194	195	196	197	198	199	200	201	202	203	204	205	206	207	208	209	210	211	212	213	214	215	216	217	218	219	220	221	222	223	224	225	226	227	228	229	230	231	232	233	234	235	236	237	238	239	240	241	242	243	244	245	246	247	248	249	250	251	252	253	254	255	256	257	258	259	260	261	262	263	264	265	266	267	268	269	270	271	272	273	274	275	276	277	278	279	280	281	282	283	284	285	286	287	288	289	290	291	292	293	294	295	296	297	298	299	300	301	302	303	304	305	306	307	308	309	310	311	312	313	314	315	316	317	318	319	320	321	322	323	324	325	326	327	328	329	330	331	332	333	334	335	336	337	338	339	340	341	342	343	344	345	346	347	348	349	350	351	352	353	354	355	356	357	358	359	360	361	362	363	364	365	366	367	368	369	370	371	372	373	374	375	376	377	378	379	380	381	382	383	384	385	386	387	388	389	390	391	392	393	394	395	396	397	398	399	400	401	402	403	404	405	406	407	408	409	410	411	412	413	414	415	416	417	418	419	420	421	422	423	424	425	426	427	428	429	430	431	432	433	434	435	436	437	438	439	440	441	442	443	444	445	446	447	448	449	450	451	452	453	454	455	456	457	458	459	460	461	462	463	464	465	466	467	468	469	470	471	472	473	474	475	476	477	478	479	480	481	482	483	484	485	486	487	488	489	490	491	492	493	494	495	496	497	498	499	500	501	502	503	504	505	506	507	508	509	510	511	512	513	514	515	516	517	518	519	520	521	522	523	524	525	526	527	528	529	530	531	532	533	534	535	536	537	538	539	540	541	542	543	544	545	546	547	548	549	550	551	552	553	554	555	556	557	558	559	560	561	562	563	564	565	566	567	568	569	570	571	572	573	574	575	576	577	578	579	580	581	582	583	584	585	586	587	588	589	590	591	592	593	594	595	596	597	598	599	600	601	602	603	604	605	606	607	608	609	610	611	612	613	614	615	616	617	618	619	620	621	622	623	624	625	626	627	628	629	630	631	632	633	634	635	636	637	638	639	640	641	642	643	644	645	646	647	648	649	650	651	652	653	654	655	656	657	658	659	660	661	662	663	664	665	666	667	668	669	670	671	672	673	674	675	676	677	678	679	680	681	682	683	684	685	686	687	688	689	690	691	692	693	694	695	696	697	698	699	700	701	702	703	704	705	706	707	708	709	710	711	712	713	714	715	716	717	718	719	720	721	722	723	724	725	726	727	728	729	730	731	732	733	734	735	736	737	738	739	740	741	742	743	744	745	746	747	748	749	750	751	752	753	754	755	756	757	758	759	760	761	762	763	764	765	766	767	768	769	770	771	772	773	774	775	776	777	778	779	780	781	782	783	784	785	786	787	788	789	790	791	792	793	794	795	796	797	798	799	800	801	802	803	804	805	806	807	808	809	810	811	812	813	814	815	816	817	818	819	820	821	822	823	824	825	826	827	828	829	830	831	832	833	834	835	836	837	838	839	840	841	842	843	844	845	846	847	848	849	850	851	852	853	854	855	856	857	858	859	860	861	862	863	864	865	866	867	868	869	870	871	872	873	874	875	876	877	878	879	880	881	882	883	884	885	886	887	888	889	890	891	892	893	894	895	896	897	898	899	900	901	902	903	904	905	906	907	908	909	910	911	912	913	914	915	916	917	918	919	920	921	922	923	924	925	926	927	928	929	930	931	932	933	934	935	936	937	938	939	940	941	942	943	944	945	946	947	948	949	950	951	952	953	954	955	956	957	958	959	960	961	962	963	964	965	966	967	968	969	970	971	972	973	974	975	976	977	978	979	980	981	982	983	984	985	986	987	988	989	990	991	992	993	994	995	996	997	998	999	1000	1001	1002	1003	1004	1005	1006	1007	1008	1009	1010	1011	1012	1013	1014	1015	1016	1017	1018	1019	1020	1021	1022	1023	1024	1025	1026	1027	1028	1029	1030	1031	1032	1033	1034	1035	1036	1037	1038	1039	1040	1041	1042	1043	1044	1045	1046	1047	1048	1049	1050	1051	1052	1053	1054	1055	1056	1057	1058	1059	1060	1061	1062	1063	1064	1065	1066	1067	1068	1069	1070	1071	1072	1073	1074	1075	1076	1077	1078	1079	1080	1081	1082	1083	1084	1085	1086	1087	1088	1089	1090	1091	1092	1093	1094	1095	1096	1097	1098	1099	1100	1101	1102	1103	1104	1105	1106	1107	1108	1109	1110	1111	1112	1113	1114	1115	1116	1117	1118	1119	1120	1121	1122	1123	1124	1125	1126	1127	1128	1129	1130	1131	1132	1133	1134	1135	1136	1137	1138	1139	1140	1141	1142	1143	1144	1145	1146	1147	1148	1149	1150	1151	1152	1153	1154	1155	1156	1157	1158	1159	1160	1161	1162	1163	1164	1165	1166	1167	1168	1169	1170	1171	1172	1173	1174	1175	1176	1177	1178	1179	1180	1181	1182	1183	1184	1185	1186	1187	1188	1189	1190	1191	1192	1193	1194	1195	1196	1197	1198	1199	1200	1201	1202	1203	1204	1205	1206	1207	1208	1209	1210	1211	1212	1213	1214	1215	1216	1217	1218	1219	1220	1221	1222	1223	1224	1225	1226	1227	1228	1229	1230	1231	1232	1233	1234	1235	1236	1237	1238	1239	1240	1241	1242	1243	1244	1245	1246	1247	1248	1249	1250	1251	1252	1253	1254	1255	1256	1257	1258	1259	1260	1261	1262	1263	1264	1265	1266	1267	1268	1269	1270	1271	1272	1273	1274	1275	1276	1277	1278	1279	1280	1281	1282	1283	1284	1285	1286	1287	1288	1289	1290	1291	1292	1293	1294	1295	1296	1297	1298	1299	1300	1301	1302	1303	1304	1305	1306	1307	1308	1309	1310	1311	1312	1313	1314	1315	1316	1317	1318	1319	1320	1321	1322	1323	1324	1325	1326	1327	1328	1329	1330	1331	1332	1333	1334	1335	1336	1337	1338	1339	1340	1341	1342	1343	1344	1345	1346	1347	1348	1349	1350	1351	1352	1353	1354	1355	1356	1357	1358	1359	1360	1361	1362	1363	1364	1365	1366	1367	1368	1369	1370	1371	1372	1373	1374	1375	1376	1377	1378	1379	1380	1381	1382	1383	1384	1385	1386	1387	1388	1389	1390	1391	1392	1393	1394	1395	1396	1397	1398	1399	1400	1401	1402	1403	1404	1405	1406	1407	1408	1409	1410	1411	1412	1413	1414	1415	1416	1417	1418	1419	1420	1421	1422	1423	1424	1425	1426	1427	1428	1429	1430	1431	1432	1433	1434	1435	1436	1437	1438	1439	1440	1441	1442	1443	1444	1445	1446	1447	1448	1449	1450	1451	1452	1453	1454	1455	1456	1457	1458	1459	1460	1461	1462	1463	1464	1465	1466	1467	1468	1469	1470	1471	1472	1473	1474	1475	1476	1477	1478	1479	1480	1481	1482	1483	1484	1485	1486	1487	1488	1489	1490	1491</
--	---	---	---	---	---	---	---	---	---	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	------	--------



चतुर्थ खण्ड



• साहित्य

का नाम मात्र उल्लेख पाया जाता है जबकि कई शब्दों की विवृत व्याख्या भी मिलती है। जा सधर उग ग्रन्थ में उल्लेख है, वे निम्न प्रकार से दिये जाते हैं—

ज्ञान, दान, काय, राग, मोह, द्वेष, देय, मार्ग, श्रमण, मुनि, जिन, अचेलक, ध्यान, प्रज्ञा, तप, पुण्य, पाप, निदान, श्रद्धा, निर्वाण, ब्रह्मचर्य, तृष्णा, वेदना, राजा, योनि, ममाधि, मदाचार, इन्द्रिय, मयम, त्याग, गर्वज, अहं, नरक, म्वर्ग, चक्रवर्ती, अपरिग्रह, क्षत्य, दुःख, आत्मपाद, अनात्मपाद, धर्म, आश्रय, गवर, भावता, योचार, जित्त निग्रन्थ, सम्यग्दृष्टि, योनि, अउज, औषपाति, जरागुज, मोक्ष, ईर्ष्या, केवली, गति, गुप्ति, पुद्गल, त्रिमुक्ति, मयगुटो, निराय, मयान हत्मादि।

इन शब्दों में से निम्नलिखित शब्दों का विवेचन मिलता है —

- (१) सम्यग्दृष्टि
- (२) भावता
- (३) निर्वाण
- (४) योनि
- (५) क्षत्य
- (६) इन्द्रिय
- (७) स्वय-नरक
- (८) आश्रय
- (९) गति

(१०) जिन, अहं, मुनि, केवली, मोक्ष।

सम्यग्दृष्टि —

मज्झिमनिकाय (१-१-६) में सम्मादिट्ठि मुत्तन्त नामक सूत्र है। उसमें सम्यग्दृष्टि का वर्णन किया गया है। आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है। उसकी दृष्टि सीधी, वह धर्म में अत्यन्त श्रद्धावात् और इस सद्धर्म को प्राप्त होता है। आर्य श्रावक अकुशल को जानता है। अकुशल-मूल को जानता है। कुशल को जानता है और कुशल-मूल को जानता है। "तने मे आवुसो। आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है।"

इस ग्रन्थ में अकुशल की गणना १० तथा अकुशलमूल की गणना ३ में बताई गई है।

(१) प्राणातिपात (हिंसा) (२) अदत्तादान (चोरी) (३) काम (स्त्रीपरायण) में मिथ्याचार (४) मृपावाद (भूत बोलना) (५) पिशुन वचन (चुगली) (६) परुष वचन (फटोर भाषण) (७) मप्रलाप (बगवाद) (८) अभिघ्ना (लालच) (९) व्यापाद (प्रतिहिंसा) (१०) मिथ्यादृष्टि (भूरी धारणा)। यह आवुसो अकुशल रहा जाता है।

(१) लोभ (२) द्वेष (३) मोह अकुशलमूल है। इनके विपरीत कुशल और कुशलमूल का विवेचन इसी सूत्र में किया गया है।

जैनदर्शन के अनुसार सम्मददर्शन साधना का मूल है। साधना में बाधा डालने वाला मोहधर्म है। मोहधर्म मूल रहने के कारण ही व्यक्ति अपनी साधना करने में असमर्थ रहता है। मोह में राग और द्वेष भी सम्मिलित रहते हैं अर्थात् राग, द्वेष और मोह ही व्यक्ति की साधना में अत्यधिक बाधक हैं। इसी प्रकार मज्झिमनिकाय में वृण्डियों की जड़ लोभ, द्वेष, और मोह बताया गया है।

मज्झिमनिकाय (१५३) में एक प्रश्नोत्तर मिलता है। सम्यग्दृष्टि के ग्रहण में कितने प्रत्यय हैं? दो प्रत्यय हैं (१) दूसरी में धोप (उपदेय श्रवण) और (२) योनिश मनस्कार (मूल पर विचार करना)।

दूसरी प्रकार जैनधर्म में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के दो कारण बतलाए गए हैं। आचार्य उमास्वाति ने लिखा

है कि मम्मग्दशन की उत्पत्ति मे दो कारण होने हैं (१) अश्रम नी- (२) निनगं । उनका तात्पर्य वही है जो मज्झिमनिकाय मे बताया गया है ।

अब हमें यह देखना है कि मज्झिमनिकाय मे जिन कुशल धर्मों का गिनाया है (१-१-६) उनमें जैनमतानुसार कति महाव्रतों के र्थमे सामान्य स्थापित किया जा सकता है ?

भावना की पांच भूमिकाएँ होती हैं, उनमें सर्वप्रथम मम्मग्दशन का ही स्थान दिया गया है । उनमें बाद विगति को स्थान मिला है । इन पांच होने हैं—

(१) अहिंसा (२) मत्त (३) अर्चयं (४) ब्रह्मचय (५) अपग्रह ।

हम देखते हैं कि मम्मग्दशट्टि मुत्तल मे जिन १० कुशल धर्मों का उल्लेख आया है, वे सब ५ महाव्रतों के अनुकूल ही देखते हैं ।

महाव्रत	कुशल धर्म
(१) अहिंसा	(१) प्राणातिशय (६) ध्यापाद मे विगति
(२) मत्त	(१) मृपावाद (५) पिशुनवचन (६) पण्य वचन
(३) अर्चयं	(७) मप्रलाप मे विगति
(४) ब्रह्मचय	(२) अद्रस्तादान मे विगति
(५) अपग्रह	(३) काम मे मिथ्याचार मे विगति
	(८) अभिध्या मे विगति

इन सभी का मूत्र (१०) मिथ्यादृष्टि मे विगति ही है इसलिए कुशल धर्मों मे उसे भी जोड़ दिया गया है । जैनधर्म मे भी इन धारणा करने के पूर्व मिथ्यादर्शन मे रहित होने के लिए कहा गया है । इसका जना अग्रिम महत्त्व प्रदर्शित किया गया है कि मम्मग्दशन के अभाव मे मन्त्रा चारित्र्य ही नहीं मन्त्रा ।

भावना^१

मम्मग्दशन के साथ ही भावना का बान आता है । भावना निरन्तर चिन्तन करने योग्य है । महात्मन वग के अन्तर्गत जूल अम्मपुत्र मुत्तल मे भावना का वर्णन आता है ।

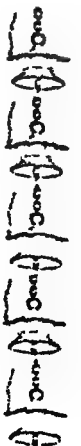
‘मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा की भावना करने वाला आध्यात्मिक शांति प्राप्त कर सकता है । भिक्षुओं ! भिक्षु श्रमण मामीची प्रतिपद् (मन्त्रा श्रमण बनाने वाले मा) पर कैसे आम्ह हो सकता है ? भिक्षुओं ! जिस किसी अभिध्यानु भिक्षु की अभिध्या (चोम) नष्ट होती है, मिथ्यादृष्टि नष्ट होती है (वह) इन श्रमण मनों के विनाश मे श्रमण मामीची प्रतिपद् पर मार्गात् कहता हूँ । (फिर) वह उन सभी पापक अनुगल धर्मों मे अपने को विमुक्त देवता है, अपने को विमुक्त देवता है । (फिर) इन सभी पापक० जनों मे अपने को विमुक्त० विमुक्त देने वाले इन (पुण्य) को प्रमोद उत्पन्न होता है । प्रीतिमान् की वाया म्बिर होती है । म्बिर मनी मुत्र अनुभव मन्ता है । मुग्गि ता चित्त ममाहित (एकार) होता है । वह मैत्रीयुक्त चित्त मे एव दिशा तो प्पाविन का विहता है ओ दूनी दिशा० ओर तीनरी० और चौथी० इसी प्रकार ऊपर नीचे निरुडे मन्त्री इच्छा मे सबके ऊपर सभी लोग का विपुत्र, महान, अप्रमाण, जवर, द्वेपहित, मैत्रीपूर्ण चित्त मे प्पावित कर विहता है ।

तत्त्वार्थ सूत्र^२ के मन्त्रम अध्याय मे व्रतों की भावना या वर्णन है । उसके अन्तर्गत निरन्तर चिन्तन करने योग्य चार भावनाएँ आती हैं । मैत्री, प्रमोद, वात्सल्य और माधुर्य्य भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए । उन सूत्र

१ तत्त्वार्थसूत्र—तल्लिसर्गादधिगमाद्वा १-३

२ मज्झिमनिकाय १-४-१०

३ मैत्रीप्रमोदवात्सल्यमाधुर्य्यानि च मन्त्रगुणाधिरुचितदयमानाऽविनयेषु त० सू० ७-१६





मे यह स्पष्ट किया गया है कि क्लिप्त के साथ कमी भावना करना चाहिए। प्राणी मात्र में भिन्नता की भावना रखना, अधिकगुणों के धारी जीवों को देखकर आन्तरिक प्रमत्तता प्राप्त करना, दुर्गो जीवों को देखकर उनके प्रति उपकार करने की भावना रखना तथा निर्गोधियों के प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना ये ४ भावनाएँ हैं। इन भावनाओं को पं० जुगलकिशोर मुस्तार ने बेरी भावना में सुन्दर ढंग में रखा है—

मैत्री भाव जगत् में मेरा गव जीवों में नित्य रहे ।
दीन दुर्गी जीवों पर भरे उर में रक्षा स्यात् वहे ॥
दुर्जन क्रूर कुमार्गरतां पर क्षोभ नहीं मुझमें आवे ।
साम्यभाव रखूँ मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे ॥
गुणी जनों की देख हृदय में मेरे प्रेम उर उर आवे ॥

दोनों धर्मों में उल्लिखित चार भावनाओं का समावेश उपाय होता है। भिन्न पक्षों के लिए मुद्रिता तथा माध्यस्थ्य के लिए उपेक्षा शब्द का प्रयोग किया गया है लेकिन अर्थ में कोई भिन्नता नहीं है।

निर्वाण

आरोग्य परम लाभ है। निर्वाण परम गुण है।^१ जो वह तृणकाष्ठ के उपादान को लेकर जली, उसके पर्यादान में और अन्य (तृण काष्ठ) के अनुपहार में आहार उतना कुछ गई (निर्वाण प्राप्त) यही नाम जाना है।^२

जिम रूप में (उन्हे) जलताया जाता, वह रूप (ही) तवागन का प्रतीक (नष्ट) हो गया, उच्छिन्न मूल, शिरकटे ताड़ जैसा, अभाव प्राप्त, भस्म में उत्पन्न न होने लायक हो गया।^३

पाँच अक्षर भागीय मयाजनों के क्षय में औपपातिक (देव) हो उस दिव्यलोक में निर्वाण प्राप्त करने वाला, उस लोक से लौटकर न आने वाला हो।^४

मज्झिमनिकाय (१-३-४) में निर्वाणमार्ग का पूरा वर्णन मिलता है। इसके अनुसार बताया गया है कि शीलविशुद्धि तभी तक है जब तक कि पुरुष चित्तविशुद्धि को प्राप्त नहीं होता, नित्तविशुद्धि तभी तक है जब तक कि दृष्टिबिशुद्धि को प्राप्त नहीं होता, दृष्टिबिशुद्धि तभी तक है जब तक कि वाक्शान्तिरक्षण विशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। वाक्शान्तिरक्षण विशुद्धि तब तक है जब तक मार्गमार्ग ज्ञान दर्शन विशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। मार्गमार्ग ज्ञानदर्शन विशुद्धि तब तक है जब तक कि प्रतिपद् ज्ञान दर्शन विशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। प्रतिपद् ज्ञानदर्शन विशुद्धि तब तक है जब तक कि ज्ञानदर्शन विशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। ज्ञानदर्शन विशुद्धि तभी तक है जब तक कि उपादान रहित परि-निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।^५

अजात (जन्म रहित) अनुत्तर (सर्वोत्तम) योगक्षेम (मंगलमय) निर्वाण की पर्येषणा करना है।^६

आत्मवादी का परम या चरम साम्य मोक्ष है। इसलिए जैनदर्शन के विवेचन का मुख्य उद्देश्य आत्म-विकास है। आत्मविकास का अर्थ है आत्मा की स्वाधीनता अर्थात् उसका कर्म की परमन्यता में लुप्तकार। यह तीन रूप से होता है —

(१) शरीरमुक्ति

१ मज्झिमनिकाय २।३।५

२ वही २।३।२

३ वही २।३।२

४ वही २।३।३

५ वही १।३।४

६ वही १।३।६

(०) वचनमुक्ति

(३) नित्यामुक्ति

वाच का प्रत्याख्यान, इन्द्रिय मर्गागत, शरीर मय, वाणी मय, मानसाया पण्डित, श्रुति, स्मृति और मुन के योग्यता द्वारा, उदयम अहिंसा, जवाय, मन्द, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अमा, ध्यान, योग और शयन-श्रुतियों- के अन्तर्गत है। पतिन उनके द्वारा मोक्ष का परिणाम बनता है।^१

नित्यामुक्ति मे मोक्ष या निर्वाण का मातृ रूप मे सम्पूर्णदर्शन, सम्पूर्णज्ञान और सम्पूर्णचरित्र की गतता बनती गई है।^२

निर्वाण कोई क्षेत्र का नाम नहीं, मुक्त आत्मा ही निर्वाण है। दे शोक में रहती है। इसी उपचार दृष्टि मे उसे भी निर्वाण कहा जाता है। मुक्त जीव अनाद मे प्रतिष्ठित है, शोकाल मे प्रतिष्ठित है मनुष्यशरीर मे शरीर मुक्त और मित्र के क्षेत्र मे के निद्रा हुआ है।^३

मुक्त जीव जगती ही रहने है। मुक्ति दशा मे आत्मा का किसी दूरी में प्रतिष्ठित मे विद्यमान नहीं होता। मुक्त जीवों की विद्या की स्थिति मे भेद नहीं होता। उसी मत्ता स्वतन्त्र होती है। मत्ता का स्वतन्त्र मोक्ष की स्थिति का वाक्य नहीं है।

मुक्त दशा मे आत्मा समस्त वैचारिक, औपचारिक विवेचनाओं मे विरहित हो जाती है। मुक्त होने पर पुनरावर्तन नहीं होता।

यदि होता दशकों मे जगति निर्वाण के विवेचन पर दृष्टिगत किया जावे तो कहा मार्ग की एकरूपता दृष्टिगत होती है, वही निर्वाण के सम्बन्ध मे सर्वत्र प्रतिष्ठित दृष्टिगत कहा गया है। निर्वाण के मार्ग मे सम्पूर्ण विद्या, ज्ञान और अन्त-विचार को दोनों मे प्रधानता दी है परन्तु कहा बौद्धमतानुसार द्रव्य मत्ता का अभाव ही निर्वाण है वही जैनमत आत्मा की शुद्ध अवस्था का निर्वाण कहा है। मार्ग के परिणाम का अभाव उममे ही होता है अर्थात् मुक्तजीव मार्ग मे उत्पन्न होने लगता नहीं रहता। इस दृष्टि मे उसे अभावप्राप्त मान लेने मे कोई हानि नहीं है परन्तु द्रव्य का ही योग मान लेने मे कई जटिलता उत्पन्न हो जायेगी, जिनसे द्रव्य-व्यवस्था ही भग हो जायेगी।

यौनि

संज्ञिमनिकाय मे यौनि के चार भेद कहे हैं।^४

(१) अट्टक यौनि—जो प्राणी जगह के कोय हो फोड़कर उत्पन्न होते हैं, यह अट्टक यौनि कही जाती है।

(२) जगज्ज यौनि—जो प्राणी वनस्पतियों (जरायु) को फोड़कर उत्पन्न होते हैं।

(३) म्हेदज यौनि—जो प्राणी मटी मट्टी, मुर्दे, कुम्पाय चन्दनिका (तडहे) और गिल्ल (गडही) मे उत्पन्न होते हैं।

(४) औपपानिक यौनि—देवता, नरक के जीव, कोई-कोई मनुष्य और कोई-कोई विनिपानिक (नीचे गिने जाने), यह औपपानिक यौनि कही जाती है।

जैनमत मे यौनियों के भेद जन्म मे गिनाए हैं।^५ परन्तु जन्म के भेद मे जो वर्णन आया है, वह बौद्ध दर्शन के यौनिभेदों मे मिलता-जुलता है। सम्पूर्ण, गर्भ और उपपाद के भेद मे जन्म तीन प्रकार का होता है।^६

१ सूत्रकृताय १।८।२।३८

२ सम्पूर्णदर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्षमार्ग - १।१

३ औपपानिक सूत्र

४ म० नि० १।०।०

५ तत्त्वार्थसूत्र ०।३०

६ वही २।३१





गर्भ जन्म मे जरायुज, अण्डज और पोतज इन तीन भेदों का समावेश किया गया है।^१ इस प्रकार अण्डज और जरायुज गर्भ जन्म के अन्तर्गत आते हैं। सम्मूर्द्धन जन्म और स्वेदज का वर्णन वित्तुल एक सा है। अपमानिक और उपपाद मे अन्तर नहीं है। सिर्फ एक बात पर ध्यान देना है। मज्झिम-निकाय मे देव और नागों को उपपाद योनि वाला बताया है। साथ ही कोई-कोई मनुष्य और कोई-कोई विनिपातिक भी उपपाद योनि वाला बताया गया है। जैनदर्शन मे कई देवता मध्यलोक मे निवास करते हैं और कई देव रत्नप्रभा पृथ्वी (गहला नगर) के मध्य भाग तथा पक्काग मे जन्म लेते हैं। मालूम पड़ता है कि इन्हीं बातों को प्रकट करने के लिए ऐसा कहा गया है।

प्राणियों के वर्णन मे इनके भेद विस्तार से बताये गये हैं।^२ प्राणी दो प्रकार के होते हैं—चर और अचर। अचर प्राणी पाच प्रकार के होते हैं। पृथ्वीकाय, अप्वाग, तेजमाय, आधुकाय और धनरपनिक्काय। चर प्राणियों के आठ भेद होते हैं—

(१) अण्डज—अण्डों मे उत्पन्न होनेवाले प्राणी अण्डज कहलाते हैं। जैसे—माप, केचुआ, मच्छ, कतूतर, काक आदि।

(२) पोतज—जो जीव पुने अग मे उत्पन्न होते हैं, वे पोतज कहलाते हैं। जैसे हाथी, नशुल, बूढ़ा, बगुली आदि।

(३) जरायुज—जरायु एक तरह का जाल जैसा रक्त एव मांस मे लथपटा हुआ आवरण होता है और जन्म के समय वह बच्चे के शरीर पर लिपटा हुआ रहता है। ऐसे जन्मवाने प्राणी जरायुज कहलाते हैं। जैसे—मनुष्य, गौ, भैस, ऊँट, घोड़ा आदि।

(४) रसज—मद्य आदि मे जो कृमि उत्पन्न होते हैं, वे रसज कहलाते हैं।

(५) सस्वेदज—स्वेद (पसीने) मे उत्पन्न होने वाले गस्वेदज कहलाने हैं।

(६) सम्मूर्द्धिम—किसी सयोग की प्रधानतया अपेक्षा नहीं रखते हुए यन्त्र-गुप्त जो उत्पन्न हो जाते हैं, वे सम्मूर्द्धिम कहलाते हैं। जैसे—चीटी, मकड़ी, आदि।

(७) उद्भिद्—भूमि को भेदकर निकलने वाले प्राणी उद्भिद् कहलाते हैं। जैसे—टिट्ठी आदि।

(८) उपपातज—जैय्या एव कुम्भी मे उत्पन्न होने वाले उपपातज हैं। जैसे—देवता, नारकी आदि।

शल्य^३

यहाँ यह अर्थ है—ग्रण (घाव) यह ६ आध्यात्मिक (शरीर सम्बन्धी) आयतनों का नाम है। विषदोष यह अविद्या का नाम है। शल्य यह तुष्णा का नाम है। एषणा यह स्मृति का नाम है। शस्त्र यह आयप्रज्ञा का नाम है। शल्यकर्ताभिषक् यह तथागत अर्हत् सम्यक् समुद्ध का नाम है।

सुनवसत्, जो भिक्षु ६ स्पर्शयितनों (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन के विषयों) मे मयमी है। उपाधि (विषय संग्रह) दुःख का मूल है—इसे जान उपाधि मे रहित हो उपाधि के क्षय मे मुक्त हो गया है, वह उपाधि मे काया को लगावेगा या चित्त देगा, यह सभव नहीं।

तत्त्वार्थसूत्र^४ मे जहाँ धर्मों का वर्णन आया है, वहाँ बताया गया है कि धर्मधारण करने वाले व्यक्ति को शल्य-रहित होना चाहिए। जो आत्मा को काटे की तरह दुःख दे उसे शल्य कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—१ माया शल्य (छल-कपट करना) २ भिव्यात्व शल्य (तत्त्वों का श्रद्धान न होना) ३ निदान शल्य (आगामीकाल मे विषयों की वाञ्छा करना)।

१ वही २। ३३

२ जैनदर्शन के मौलिक तत्व पृ० ८५। ८६

३ म० नि० ३। १। ५

४. त० सू० ७। १८

बौद्ध ग्रन्थानुसार पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे मयम रचने के लिए कहा गया है ।

इन्द्रिय^१

पाँच इन्द्रियाँ हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय । इन पाँच इन्द्रियो का प्रतिग्रह मन है । मन इनके विषय का अनुभव करता है ।

पाँच काम गुण हैं ।^२ (१) चक्षु ने विज्ञेय रूप (२) श्रोत्रविज्ञेय शब्द (३) घ्राणविज्ञेय गन्ध (४) जिह्वाविज्ञेय रस (५) कायविज्ञेय स्पर्श ।

आचाराग सूत्र के शम्भुपरिज्ञा अध्यायन मे इन इन्द्रियो का वर्णन आया है, जिनमे कहा गया है कि रूप, रस, गन्ध, शब्द व स्पर्श अज्ञानियो के लिए आवर्त रूप हैं, ऐसा समझकर विवेकी को इनमे मूर्छित नहीं होना चाहिए । यदि प्रमाद के कारण पहले इनकी ओर मुकाब रहा हो तो ऐसा निश्चय करना चाहिए कि अब मैं इनमे वशूँगा—इनमे नहीं फँसूँगा—पूर्ववत् आचरण नहीं करूँगा ।

स्वर्ग-नरक

मज्झिमनिकाय^३ मे स्वर्ग नरक जाने के कारण बनाए गए हैं । अवर्माचरण के कारण कोई प्राणी काया छोड़कर मरने के बाद नरक मे उत्पन्न होने है । वर्माचरण के कारण गृहपतियो । कोई प्राणी सुगति, स्वर्गलोका मे उत्पन्न होते हैं ।

[कायिक ३] हिंसक, अदिन्नादायी (चोर), कामो मे मिथ्याचारी [वाचिक ४] मिथ्यावादी, चुगनबोर, परुषभाषी, प्रलापी [मानसिक ३] अभिध्यानु, व्यापन्नचित्त, मिथ्यादृष्टि लोग नरक मे जाते हैं ।

इसके विपरीत कार्यों के करने मे प्राणी मरकर स्वर्ग मे उत्पन्न होते हैं ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति मे गनियो मे उत्पन्न होने का विषय विवरण मिलता है । उसमे कहा गया है कि व्रत, मयम, धील, तप आदि कारणो मे यह जीव मरकर देवगति मे उत्पन्न होता है । देवगति मे उत्पन्न होने के कारणों मे ममानता अधिक है, विषमता कम है ।

आलस्य

आलस्य को रोकने के उपायो मे मन, वचन, काय की क्रिया को ठीक करने के लिए कहा गया है ।^४ उनमे मे जो वह व्यक्ति अगणरहित होना है, उमे ठीक से जानता है, उमने आशा होगी कि वह शुभ निमित्त को मन मे न करेगा, शुभ निमित्त को मन में न करने मे राग उसके चित्त मे न चिपटेगा, इन प्रकार वह रागद्वेष मोह मे रहित, अगणरहित एव निर्मलचित्त रह मृत्यु को प्राप्त होगा ।

तत्त्वार्थसूत्र के ३वें अध्याय मे आलस्य तत्त्व का वर्णन आया है । उसका प्रथम सूत्र है—“कायवाद्मन कर्म योग.” और दूसरा सूत्र है—“म आश्रय ” अर्थात् काय, वचन और मन की क्रिया को याग कहते हैं और वह योग ही आलस्य कहा जाता है । इन प्रकार दोनों मतों मे आलस्य का वर्णन है ।

गति^५

गतियाँ पाँच होती हैं । नरक, तिर्यग्, प्रेत्यविषय, मनुष्य, देवता । इन गतियो मे जैनदर्शन के अनुसार

१ म० नि० १।५।३

२ वही १।७।४

३ म० नि० १।५।१

४ म० नि० १।१।७

५ वही १।२।२





प्रेत्यविषय और देवता एक ही कोटि के माने गए हैं। भले ही निवास ही दृष्टि में दो भेदकर दिग जावे परन्तु क्षीर व गति आदि की दृष्टि में एक ही है। जैनदर्शन में ४ गतियों का वर्णन मिलता है।^१

जिन, अर्हत्, केवली, मुनि, शैक्ष्य

मेरे मेरे ही मन्व जिन होते हैं, जिनके कि आश्रय (क्लेश मन) नष्ट हो गए। मैंने पाप धर्मों को जीन लिया है इसलिए ह उपर। मैं जिन हूँ।^२ वहन् क्षीणान्न (राग जादि में मुरा) ब्रह्मचर्यराम गमाप्त मर चुका, कृत्-करणिय व अवहितभार (भार का फेर चुका) मन्वे पदार्थ का पा चुका, भयभयन का वाट चुका, यथार्थ ज्ञान द्वारा मुक्त हो चुका।^३ जो वह वहन् क्षीण आश्रय (ब्रह्मचर्य) राम समान, कृत्कृत्य, भाग्यमान, मन्वदार्थ रा प्राप्त, मववधन रहित, सम्यग्ज्ञान द्वारा मुक्त है, वह मार गी घाग में तिरछे वाटरु स्वस्मिपूजा पात्र जावेग।^४ जो भिक्षु अर्हत् (मुक्त) है, वह उन पाच बातों में असमर्थ है (१) जानकर प्राण नहीं मार सकता (२) चानी नहीं कर सकता (३) मयुमेवन नहीं कर सकता (४) जानकर भूट नहीं बोझ सकता (५) क्षीणान्न भिक्षु पत्रित व काम-भोगों को भोग करने के अयोग्य है जैसे कि पहले टूटी हाते भोगना था। जो रागों ने बिल्कुल मुरा विदुष्ट चित्त को जानना है, जन्म-मरण जिनका नष्ट हो गया, ब्रह्मचर्य (पूरा हो गया वह) केवली है। जो पूर्वजन्म रा जानना है, स्वगतरप को जानता है और (जो) जन्म के क्षय को प्राप्त अभिज्ञा तत्पर (है, वह) मुनि है। जिनको अभी मीमना बारी है, पहुँचे हुए मन वाला नहीं है, सर्वोत्तम योग क्षेप की चाह में विहरता है।

जैनदर्शन के अनुसार जिन अर्हत् और केवली में कोई अन्तर नहीं है। वे नामान्तर ही हैं। केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारण प्रदर्शित करते हुए उमास्वाति ने लिखा है कि मोहनीय कर्म का क्षय होने में अन्तर्मूर्च्छा पर्यन्त क्षीण कपाय नामक १२वा गुणस्थान पाकर बाद में एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनान्तर और अन्तर्गम्य कम रा क्षय होने में केवलज्ञान उत्पन्न होता है। स्पष्ट है कि जिन, अर्हत् या केवली के राग-द्वेष मोह का मर्त्यक्षय हो जाना है। जन्म-मरण के चक्र से भी टूटकाग मिल जाता है और उसकी आत्म-माता (ब्रह्मचर्य) भी पूरी हो जाती है। मुनि, माधु, श्रमण साधक, शैक्ष्य आदि मुनियों के नाम हैं। शैक्ष्य मुनि वह कहलाता है जो ध्याना के अध्ययन में तत्पर हो।

इस प्रकार जैन शब्दावलि पर विवेचन प्रस्तुत किया गया। बौद्धधर्म के समस्त ग्रन्थों का आलोचन करने के उपरान्त जैनधर्म के महत्त्वपूर्ण मित्रान्तो पर विवेचन प्रस्तुत करना नाभरारी मित्र हो सकता है। आशा है, विद्वज्जन इस ओर ध्यान देंगे।

•

१ त० सू० ८-१०

२ म० नि० १३६

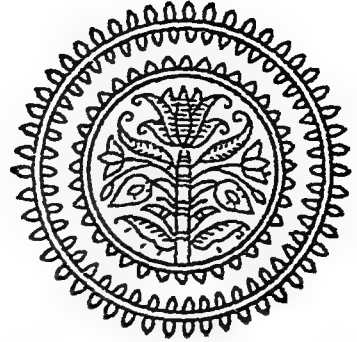
३ वही १११

४ वही ६४४

प्राकृतकथा-साहित्य और उसकी विशेषताएँ

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री

ज्योतिषाचार्य, एम०ए०, पी०एच०डी०, डी०लि०



उत्पत्ति

सूक्तकथा में कथामाहित्य दो वर्गों में विभक्त किया गया है—लोककथा-साहित्य और अभिजात्यकथा-साहित्य। लोककथाओं में लोकमान्य की महत्ता और स्वाभाविक अभिव्यक्ति रहती है। कथाकार जो कुछ कहता-सुनता है उसे समझ की बागी बनाकर और समझ में घुसमिच कर। ये कथाएँ लोकचिन्तन में सीधे उत्पन्न होकर सर्व-साधारण को आन्दोलित, चर्चित और प्रभावित करती हैं और जनता की बोली में लिखी जाती हैं। इन कथाओं में मानवजाति की आदिम परम्पराओं, प्रथाओं और उनके विभिन्न प्रकार के विद्वानों का सम्बन्ध पाया जाता है। वृद्ध, जादू, टोना, मम्मोहन, बघीरथ, भाग्य, गुरुन, रोग, मृत्यु, कृषि के नायक-प्रकार सामाजिक प्रथाएँ आदि भी लोककथाओं के लक्षण हैं। अभिजात्यकथाओं में शिक्षित, सम्पन्न एवं सुनसुद्ध समाज के विलास, वैभव, परम्परा, गीति-रिवाज एवं आचार-विचार का निरूपण होता है। अभिजात्य कथाएँ सम्पन्न समाज की नहीं अभिजात्य वर्ग की होती हैं। इस प्रकार की कथाएँ जनता की बोली में नहीं लिखी जाती, बल्कि किसी सामन्तीय परिवर्द्धन भाषा में निबद्ध की जाती हैं। सुन्दर भाषा में लिखी गयी कथाएँ भाषा और सामन्तीय वर्गविशेष का चित्रण करने में अभिजात्यवर्ग की हैं। इनमें चित्रित समाज और संस्कृति उन्नतवर्ग की है, जनसामान्य का चित्रण इन कथाओं में नहीं है।

प्राकृतकथा और उसके नामान्तर

प्राकृत कथाएँ लोककथाओं के संस्करण के रूप में मानी जा सकती हैं। इनमें निम्न और उन्नत दोनों प्रकार के समाज का चित्रण पाया जाता है। प्राकृत भाषा भी जनता की भाषा थी, जबकि सुन्दर भाषा अभिजात्यवर्ग की। इन भाषा की दृष्टि से भी इन कथाओं को लोककथा के निकट मानना युक्तिमय है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृतकथाकारों ने लोककथाओं को धार्मिक कथा के लक्ष्य में उन्नत का प्रयत्न किया है जिससे इनमें लोकसंस्कृति का पूर्ण प्रतिफल उपलब्ध है। प्राकृत कथाओं का लक्ष्य मूलतः कर्मफल, पुनर्जन्म, जातमृष्टि, जन्मावना एवं तपश्चरण द्वारा मानव में भगवान् बन जाने का उद्देश्य देना है। आत्मभावना किसी एक भव में सम्पन्न नहीं होनी, इसके लिए कई जन्म-रन्मान्तरों में प्रयास करना पड़ता है। जो व्यक्ति किसी के साथ मनुष्यता, मित्रता या अन्य किसी प्रकार का भाव रखता है, उस भाव की निर्जग किसी एक भव में सम्पन्न नहीं होती। वैर-विराट अनेक जन्मों तक चलता रहता है, जिसमें व्यक्ति को शत्रु के लिए भव-भवान्तर तक यात्रा की आवश्यकता रहती है। कर्मफल इतना प्रबल है, जिसमें प्रेम, राग, द्वेष, ममता-मोह, घृणा-कलह आदि के भावाभी समाप्त किसी एक जन्म में सम्भव नहीं है, अगणित जन्मों तक उन्नत संस्कारों की परम्परा चलती जाती है। पुनर्जन्म के उद्घाटक जैनमिच और कमवाद के भोक्ता नायक-नायिका के शीलम्यापत्य के मन्दर्भ में लोककथाओं के अनेक रूप प्रकट होते हैं।

प्राकृतकथाओं के विषय पात्र, यौनी और भाषा की दृष्टि से भेद-प्रभेद किये गये हैं। विषय की दृष्टि से



अथकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रितकथा ये चार भेद किये गये हैं।^१ पात्रों के प्रकारों के आधार पर दिव्य, मानुष और दिव्यमानुष ये तीन भेद किये हैं। जिनमें दिव्यलोक के व्यक्तियों के क्रियाकलाप से कथानक और कथा-वस्तु का निर्माण होता है, वे कथाएँ दिव्य कहलाती हैं। मानुष कथा में पात्र मनुष्यलोक के ही रहते हैं, उनके चरित्र में पूर्ण मानवता सन्निविष्ट रहती है। कथा के पात्र सजीव और क्रियाशील होते हैं। दिव्यमानुषीकथा बहुत सुन्दर मानी गयी है। उस कोटि की कथा का कथाजाल मधन और कथात्मक होता है। चरित्र और घटना, विभिन्न परिस्थितियों के विषय और मार्मिक चित्रण, हास्य-व्यंग्य का सम्मिश्रण एवं सौन्दर्य के विभिन्न रूप इस कथा में समवेत रहते हैं।^२

शैली के आधार पर सकलकथा, गण्डकथा, उल्लासकथा, परिहामकथा और सकीर्णकथा ये पांच भेद किये गये हैं।^३ सकलकथा में चारों पुरुषार्थ, नवरस, आदर्श चरित्र एवं जन्म-जन्मान्तर के संस्कार वर्णित रहते हैं।^४ प्राकृत भाषा में लिखा गया कथासाहित्य गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। लेखकों ने उसमें जनजीवन का पूर्णतया चित्रण कर साहित्य को अपूर्व निधि प्रदान की है।

प्राकृत-कथासाहित्य का सर्वेक्षण

प्राकृतकथा-साहित्य के बीज आगम ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। निर्युक्ति, भाष्य, कृष्णि प्रभृति व्याख्या-ग्रन्थों में छोटी-बड़ी सभी प्रकार की महत्त्वपूर्ण कथाएँ प्राप्त हैं। आगम-साहित्य में धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन तथा नीति-नैतिकार का प्रणयन कथाओं के माध्यम में किया गया है। सिद्धान्तनिरूपण, तत्त्वनिर्णय एवं दर्शन की गूढ़ समस्याओं को कथा के माध्यम से सुलझाने का प्रयत्न आगमग्रन्थों में उपलब्ध है। अग और उपाग साहित्य में ऐसे सवेदनशील अनेक आख्यान आये हैं, जो ऐतिहासिक और पौराणिक तथ्यों की प्रतीति के साथ बखरता की निमग्न घाटी पर निरुपाय लुब्धकी मानवता को नैतिक और आध्यात्मिक भाव-भूमि पर ला मानव को महान् और नैतिक अधिष्ठाता बनाने में सक्षम है। प्राकृत कथाकारों ने समाज और व्यक्ति के जीवन की विकृतियों पर जितना प्रहार किया है, उतना अन्य भाषा के कथाकारों ने नहीं।

यह सत्य है कि आगम-साहित्य में प्रयुक्त कथाओं में घटनाविहीनता, मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता एवं शीलनिरूपण के लिए आवश्यक वातावरण और कथनोपकथन की कमी है, पर धार्मिकता का समाहार रहने से जीवन को उसके समस्त विस्तार में देखने की प्रवृत्ति चतुर्मान है, जिससे इन कथाओं में स्थापत्य की दृष्टि से विरूपता नहीं है। इनमें पूरा चरित्र, कोई पूरा व्रत, कोई वर्जना, कोई आचार तथा सजीव क्रमयुक्तता वर्तमान है। जातीय संस्कृति के आधार पर चरित्रों के व्यक्तित्व का संगठन, उनका नियमन उस विशिष्टता से इन कथाओं में हुआ है कि चरित्र का निश्चया-

१ अथकथा कामकथा धम्मकथा चैव भीसिया य कथा ।

एतो एकैककावि य णेगविहा होइ नायव्या ॥ —वशवैकालिक, हरिभद्रायवृत्ति गा० १८८ पृ० २१२

एत्य सामप्रभो चत्तारि कहाओ हवति । त जहा—अथकथा कामकथा धम्मकथा सकिण्णकथा य—

—समराइच्चकहा, याकोवी संस्करण पृ० २

२ दिव्व, दिव्वाणुस, माणुस च । तत्य दिव्व नाम जत्य केवलमेव देवचरिअ वणिज्जइ ।

—समराइच्चकहा याकोवी संस्करण पृ० २

त जह दिव्व-माणुसी माणुसी तहच्चेय । —लीलावई गा० ३५

एमेय मुद्धजुयई—मणोहर पाययाए भासाए ।

पविरत्तदेसि-मुल्लख कहसु कह दिव्वमाणुसिय ॥ —लीलावई गा० ४१ पृ० ११

३ ताओ पुण पचकहाओ । त जहा—सयलकहा खडकहा उल्लावकहा परिहासकहा तहावरा कहिय त्ति सकिण्ण कहत्ति ।

—कुबलयमाला पृ० ४, अनुच्छेद ७

४ समस्तफलान्तेति वृत्तघर्णना समरादित्यवत् सकलकथा । —हैन-काव्यनुशासन ५।६ पृ० ४६५

त्मन प्रभाव अन्तर्गत पड़ ही जाता है। आगमशास्त्रीय तत्त्वज्ञानों की यह विचारणा है कि उन्नीसवीं शताब्दी में हृदयना का अवलम्बन ग्रहण कर जनता को यथोचितज्ञानों की ओर धिक्कृत किया है। इस प्रकार की उत्पत्ति उपमान, रूपक और प्रतीकों के आधार पर हुई है।

आगमशास्त्रीय कथाओं के पञ्चान् प्राकृतकथा साहित्य का दूसरा युग टीकापुष्प है। आगम-शास्त्र "वर्णजो" द्वारा घोषित थी। कथा का अन्य किसी नामों के द्वारा ही समान शक्ति का प्रभाव पर पड़े की ओर मनेन दिया जाता था, पर टीकापुष्प में यह प्रवृत्ति न रही और तत्त्वज्ञानों में साहित्यिक मान्यताएँ पड़ीं। दूसरी विशेषता यह आयी कि पुराणना के स्थान पर विविधता और नवीनता का प्रभाव होने लगा। टीकापुष्प की दृष्टि में पात्र, विषय, प्रवृत्ति, वातावरण, उद्देश्य रूपगठन का नैतिकमूल्य आदि सभी में आगमशास्त्रीय तत्त्वों की अपेक्षा टीका-कथाओं में अधिक नवीनता पायी जाती है। इस युग की कथाओं में पवित्रता परान्त स्थित। तन्त्र कथा का रूप या स्थापत्य का बानों पर निर्भर करना है—प्रथम यह कि कथा विषय साधारण में पड़ता हो सके, उसके विचार, सीमा और निर्धारक तत्त्व सीमा-सीमा में हों विषय के बाद पात्रों के उद्देश्य विषय प्रसार पड़ता हो सके हों? कथाओं की स्थापना का प्रभावित करनेवाले निर्धारक तत्त्व की उद्देश्य के प्रति विचारणीयता का भी ध्यान बोधपूर्ण करने में उसकी किन्ती क्षमता है?

कथा के रूपरूप की निर्धारित करनेवाली दूसरी वस्तु है उसकी आगमशास्त्रीय। सीमा की विषय-वस्तु की पूर्ति के लिए कथा निर्धारित होती है, उसके प्रतिपादन का उद्देश्य तत्त्व का तथा उस उद्देश्य की अभिव्यक्ति का प्रकार सम्पूर्ण हुई है यह भी कथामाहित्य के रूपविधान में सम्मिलित है। टीकापुष्प की कथाओं में स्थापना-वस्तु भाष्य या व्याख्या के निमित्त के नैतिक या किसी तत्त्व की पूर्ति के रूप में ही प्राप्त है। आगमशास्त्रीय तत्त्वों साम्प्रदायिक धार्मिकता ने अभिवृत्त थी, उनमें मनो-ज्ञान और तत्त्व का प्रायः प्रभाव था। तन्त्र कथाओं की श्रुतता ही किसी चरित्र या वज्रना का रूप प्रस्तुत करती थी किन्तु टीकापुष्प की प्राकृतकथाओं में तत्त्वों की नमाविष्ट है। आकार-प्रकार भी मलिन हो गया है तथा विभिन्न विषयों में सम्बद्ध होने के कारण उनमें अनैक्यता है। ऐतिहासिक, अद्वैत-ऐतिहासिक एवं पौराणिक पद्धतियाँ का उद्घाटन भी किया गया है।

विशुद्ध कथासाहित्य का अन्तर्गत तत्त्वज्ञानों में माना जा सकता है। प्राकृतिक शक्ति के इस तत्त्वज्ञान की रचना विश्व सत्त्व की नीसरी धर्ती में की है। तरंगवती का दूसरा नाम सत्त्वज्ञान भी है। तरंगवती के सत्त्वज्ञानों नेमिचन्द्र गणि ने इस नाम का उद्देश्य किया है। यह प्रेमकथा है उसकी अन्तिम परिणति निर्धारित में पड़ती है। तरंगवती का नाम्नी नगरी के श्रुतमन्त्र श्रेष्ठ की पत्नी थी। वसुधा की प्रार्थना के कारण ही उसने के नाम उसका नाम तरंगवती रखा गया था। वनविहार के समय तन्त्रिणों के साथ वे उसे पुराण का स्वरूप से पाया था। कथा में बताया गया है कि तत्त्वज्ञान की तत्त्व पर उसका चारों निरास करने के। एक दिन वह पितारी गया। उसने जंगली हाथी को मारने के लिए श्राप चलाया, पर वह श्राप भूत ने चलाया था। चला ही श्राप उठाया चारों वृद्धन हुआ। पितारी को भी चला ही श्राप ने पड़नाकार श्रापों के उन्नीसवीं शताब्दी में उसका नाम दाहमन्त्रा सम्पूर्ण किया। जबकी प्रेममग्न उसी निरास में जलता भग्न हो गयी। इसी चारों का तीसरा तत्त्वज्ञान के रूप में उत्पन्न हुआ। तरंगवती ने अपने श्राप की प्राप्ति का प्रसार किया और तत्त्व के द्वारा निरास पक्ष में जीव पक्षदेव ने सम्पूर्ण हो गया।

१ प्रसन्नपदगाम्भीर्यव्याप्त-सिधुनाश्रया ।

पुण्या पुनाति गङ्गां या तरङ्गवती कथा ॥ —संक्षिप्त तरंगवती प्रस्तावना पृ० १३ ।

को न लब्धो हरिनिज्जड तरंगवद-वदयर गुणेज्ज ।

इयरे पदधर्तिष्ठुव पाविद्या जीव मुररान ॥

सीमा कहिय न कुट्ट उमम्म पालित्तप हन्तर । उमम्म मुरनेज्जरातो तरंगवतीनामं यदा ॥

—पृ० ४० वि० पृ० २६

संक्षिप्त-तरंगवती-प्रस्तावना



समस्त कथा उत्तमगुण्य मे वर्णित है। कथन, शृंगार और घान्त रग की विशेषी गमन कथा में प्रवाहित है। प्राकृत भाषा की इस मधुद कथावृत्ति के अन्वयोंकन में यह अनुमान महज मे लगाया जा सकता है कि प्राकृत भाषा में आधुनिक उपन्यास के रूप में कथावृत्तियों का निर्माण गुणवत्ता के पहलू से ही हो चुका था। यद्यपि विमुद्ध-कथा की यह प्रणाली आठवीं शती के मूख चरित्रात्मक गद्यावली के रूप में प्रचलित रही है, ता भी चरित्रग्रन्थों में महत्वांगी कथाओं के रूप में निबद्ध कथाएँ अपने मौलिक रूप में उपलब्ध हैं।

चरित्रात्मक कथाग्रन्थ के रूप में समुद्रेश्वरिणी का नाम आता है। इस ग्रन्थ के २१ गण्ट हैं, प्रथम गण्ट के कर्ता मधदास गणियाचक और द्वितीय गण्ट के कर्ता धम्मेश गणि है। प्रथम गण्ट में २६ लघु और द्वितीय में ७१ लम्बक हैं। यह ग्रन्थ 'वृहत्कथा' के समान कथाओं का कोष है। समुद्रेश्वर भ्रमण के माय नीरवर्गों एवं अन्य घटना-काव्युक्तियों के जीवनवृत्त भी वर्णित हैं। यस्या, जुवांगी प्रभृति व्यक्तियों के चरित्र निरूपित करने के हेतु कई मनोरंजन कथाएँ निबद्ध भी गयी हैं। इसमें वसन्ततिवज या पञ्चमोना गणिका का आगमन आया है, जो आगे के चरित्रात्मक ग्रन्थों में बहुत प्रिय रहा है। सुचक्रवर्ति नाटक की कथावृत्ति का स्थान भी समुद्रेश्वरिणी का उक्त आगमन प्रतीय होता है। जिग प्रकार मरुदत्त बाल्य में उपजीव्यकाल्य के रूप में वृहत्कथा, महाभारत और रामायण को माता गया है, उसी प्रकार प्राकृतकाल्य और कथा में विराम गत स्थात के रूप में समुद्रेश्वरिणी को उपजीव्य माता जा सकता है।

चरित्रग्रन्थों में विमानसूत्रि का पञ्चमचरित्र और हरिश्चन्द्रचरित्र दोनोंकाव्य का चरणन्महापुरिमचरित्र गुणवान मुनि का जयचरित्र, अनेश्वर का मुग्ध-रसरीचरित्र, नेमिचन्द्र का मृगशूद्ररायचरित्र, गुणवन्द गणि का गामनाह-चरित्र और महावीरचरित्र, देवेन्द्रसूरि का मुदमणचरित्र और वृष्टचरित्र, मातुग मूरि का जयप्रोक्कण, चन्द्रप्रभ महत्तरि का चन्द्रोपनीचरित्र, देवचन्द्रमूरि का गतिनाहचरित्र, शान्तिमूरि का पुत्रीचरित्र, मन्त्रांगीरमचन्द्र का नेमि-नाहचरित्र, श्रीचन्द्र का मुनिमुदयगामिचरित्र, देवेन्द्रमूरि के निम्न श्रीचन्द्रमूरि का मणकुमारचरित्र, सामप्रभमूरि का सुमनिनाहचरित्र, नेमिचन्द्रमूरि का अनन्ताहचरित्र एवं रत्नप्रभ का नेमिनाहचरित्र प्रसिद्ध चरित्रात्मक कथा ग्रन्थ हैं। इनमें तथा और आख्याना का अग्रम सम्मिश्रण है। कथावृत्तियों में बुद्धिमादात्म्य, नीतिक आचार-व्यवहार, सामाजिक प्रथाएँ एवं राजनीतिक परिस्थितियों का गंभीर चित्रण किया गया है। पर उनका मत है कि उन रचनाओं में 'कथाग्रन्थ' की अपेक्षा 'चरित्र' की प्रधानता है। अतः इन्हें विमुद्ध कथावृत्तियों में परिगणित नहीं किया जा सकता है।

तरंगवती या तरंगलोला के पश्चात् विमुद्ध कथावृत्तियों की मगद्धि हरिभद्र की 'तमराच्छकहा' में होती है। इस कथाग्रन्थ की आधारभूत प्रकृति प्रतिसोष भावना है। यह भावना विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है। अग्निवर्मा गुणमेन के प्रति अत्यन्त तीव्र घृणा के कारण विद्वान् वाचना है। यह घृणा ज्या की त्यो अगने भनों में दिग्ग-लायी पड़ती है। कथा भी भनों तक चरती है, तथा इन भनों में नायक शुभ परिणति को घुद्ध परिणति के रूप में परिवर्तित कर शाश्वत सुख प्राप्त करता है और प्रतिनायक या गलनायक अनन्त गमन का पात्र बनता है। आचार्य हरिभद्र का समय ईस्वी सन् ७३०-८३० ई।^१

धूर्वास्थान हरिभद्रमूरि की व्यंग्यप्रधान रचना है। इसमें पुराणों में वर्णित अगमव और अत्रिदयगीय वानों का प्रत्याख्यान पाँच धूर्तों की कथाओं के द्वारा किया गया है। भागनीय कथावृत्तियों में इस ग्रन्थ का धूर्तों की दृष्टि से मूधन्य स्थान है। नाक्षत्रिक धूर्तों में इस प्रकार की अन्य रचना दिग्गनायी नहीं पड़ती है। इन दो कथाग्रन्थों के अनि-रिपत दर्शनात्मक टीका में ३० महत्त्वपूर्ण लघुकथाएँ और उपदेशपद में लगभग ७० लघुकथाएँ आयी हैं। हरिभद्र मूरि की इन प्राकृत लघुकथाओं में मनोरंजक धूर्तों में वागनाओं का उदात्तीकरण किया गया है।

धर्मकथा साहित्य में समराट्छकहा का जो स्थान है, वही 'प्रेमाख्यानक आख्यायिका' के रूप में कौतूहल कवि की कथावृत्ति 'लीलावर्द्ध' का। दोनों कथावृत्तियाँ अपने-अपने क्षेत्र में बेजोड और मर्म्य हैं। दोनों का स्थापत्य

एक होने पर भी दोनों की दिशाएँ दो हैं। इस कृति में प्रतिष्ठान के राजा मानवाहन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी लीलावती की प्रेमकथा वर्णित है। अवान्तर कथा-विधान के पञ्चानु प्रधान कथा का प्रवेश होता है। सिंहलगज्ज की पुत्री लीलावती का जन्म वनमन्त्री की बहन विद्याधरी शारद्वी में हुआ था। एक दिन लीलावती प्रतिष्ठान के राजा मानवाहन के चित्र को देखकर मोहित हो गयी। बाद में उसने उसे स्वप्न में भी देखा। माता-पिता की आज्ञा लेकर वह अपने प्रिय की चोंच में निकल पड़ी। उसका दल मार्ग में गोदावरी-नट पर आकर ठहरा, वहाँ उसे अपनी मौमी की पुत्री महानुमती मिली। महानुमती, कुन्दावली और लीलावती तीनों ही विगृहीतियाँ एक साथ रहने लगीं। अपने मन्त्री विजयानन्द द्वारा गोदावरी के तट पर निवास करनेवाली लीलावती का समाचार ज्ञात कर मातवाहन वहाँ उपस्थित होना है। मानवाहन लीलावती के कथनानुसार मानवानिल और भीषणानन्द का उद्धार करता है और तीनों राजकुमारियों का विवाह अपने-अपने शिरों में सम्पन्न हो जाता है। इस ग्रन्थ की रचना वि० स० ८०० के लगभग हुई है।

‘लीलावर्द्ध कथा’ के पञ्चानु ‘कुचलयमाला’ का नाम आता है। इस कथाकृति के रचयिता हरिभद्र मूरि के शिष्य उद्योतन मूरि हैं। यह धर्मकथा होने हुए भी प्रेमकथा है। इसमें श्रोत्र, मान, माया, शोभ और मोह इन पाँचों विकारों का परिणाम प्रदक्षिण करने के लिए अनेक अवान्तर कथाओं का गुम्फन किया गया है। कदनी-स्नान के समान कथाजाल स्पष्ट है। कथानक का जितना विस्तार है, उसमें कहीं अधिक वर्णनों का बाहुल्य है। व्यास के साथ काव्यात्मकता भी विद्यमान है। आरम्भ में ही काव्यात्मक मकेन उपपन्न होने लगने हैं। मृत में कुमार महेंद्र का प्राप्ति होना राजा हटवर्मा को पुत्रप्राप्ति का नवेन करना है। व्यास के विकास में कथानकों की चमत्कारपूर्ण योजना की गयी है। मनोऽञ्जन, उपदेश, कुतूहल और मनोव्ययन का सुन्दर मयाजन पाया जाता है। कथा और चम्पूशाला के गुण एक साथ इस कृति में समाविष्ट हैं। मवादों की प्रभावोत्पादकता और अलङ्कारपदों की मनोहरता इस कृति की विशेषता है। इस कृति का प्रायनकाल एक सन् ७०० में एक दिन कम बनाया है।^१

‘जिनेश्वर मूरि की त्रिर्वाङ्गीलीलावती’ कथा प्राकृत-पद्यों में लिखी गयी है। मूल कृति अभी तक उपलब्ध नहीं है पर इसका सार्वभौमिकत्व नामा में जिनमूल मूरि कृत प्राप्य है। कोप, मान आदि विकारों के नाथ हिमा, मूठ, चोरी, अभिचार एवं परिग्रह-मन्त्र जादि पापों का फल जन्म-जन्मान्त तक भोगना पड़ता है, इस तथ्य की अभिव्यञ्जना राजा द्वारा की गयी है। कथा उत्तमपुत्र में वर्णित है और समरसेन आचार्य ने अपना आत्महृत् कहकर सिंहलगज्ज और गौरी लीलावती की सम्बुद्ध किया है। इस कृति में कथानक की अपेक्षा उपदेशमन्त्र की प्रधानता है। रचनानाव वि० स० १०८०-१०९५ के मध्य है।

‘कथाकोप प्रकरण’ के ‘चरित्रा जिनेश्वर’ मूरि हैं। मूलग्रन्थ में ३० कथाएँ हैं और वृत्ति में मुद्रन कथाएँ ३६ और अवान्तर कथाएँ ४-५ हैं। इस कथाकोप की समस्त कथाएँ जिनपूजा, जिनमूर्ति, वैयाकरण, दान, धर्मोत्साह की प्रेरणा प्रभृति विषयों की अभिव्यञ्जना करती हैं। कथाओं का कथानक कर्मसंस्कारों के ताने-बाने में बुना गया है। व्यास ने चमत्कार और कुतूहल का बनाये रखने के लिए प्रगल्भ गौरी को अपनाया है। धार्मिक कथाएँ होने पर भी शृंगार और नीति का यथेष्ट समावेश किया है। इस कथाकोप की समाप्ति वि० स० ११०८ मार्गशीर्ष कृष्ण पञ्चमी रविवार को हुई है।

अभरदेव की प्रायः नाम जिनेश्वर मूरि के शिष्य जिनचन्द्र ने ‘नवेग-रगजाना’ नामक रूपक कथा की रचना की है। स्वर्गनाथ का निरूपण करने के लिए इस कृति में अनेक कथाओं का गुम्फन किया गया है। मुद्ररूप से महासेन राजपित्री की कथा वर्णित है। राजा नमार त्यागरु मुनिदीक्षा धारण करना चाहता है पर गौरी अपने तर्कों द्वारा राजा को घर में ही रहना चाहती है। वह तपश्चरण, उपवास और परीपह का आतक दिखलाती है। आराधना के स्पष्टीकरण के लिए मधुराजा, कौशलमुनि, वक्रव्रत, कूनवान, मगु, श्रेणिक, नेमिराजा, वमुदरा, मयविरा, कुम्भचन्द्र





और वज्रमित्र के कथानक आये हैं। इस कथाकृति के पात्र पौराणिक हैं, उनके चरित्र का विनाश मनोवैज्ञानिक दृष्टिको के बीच नहीं हो पाया है। कथारस में तरलता का अभाव है, कथाओं में मनोज्ञक पङ्क्तिगत श्यापता भी नहीं हो पायी है। इसका रचनासमय वि० स० ११२५ है।

‘नाणपचमी कहा’ की रचना महेश्वर सूरि ने की है। इस कृति में श्रुतपचमी ग्रन्थ का माहात्म्य प्रतिपादन करने के लिए दस कथाएँ संकलित हैं। प्रथम कहा ‘जयसेण कथा’ है। इसमें नागी की मायनाओं, चेटाओं एवं विचांग का अच्छा निरूपण हुआ है। कथातत्त्वों की दृष्टि में भी इसे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। कुतूहल और मयोंग आद्यन्त व्याप्त हैं। दूसरी ‘नन्द कथा’ में नन्द का शील-उत्कर्ष पाठकों को मुग्ध किये बिना नहीं रह सकता। तीसरी ‘गद्राज्या’ रोचक अवश्य है पर चरित्रों का विकास नहीं हो सका है। चौरकहा और कमलकहा में आन्तरिक द्वन्द्व है, पर कथा की गति सरल रेखा के रूपमें घटित हुई है, जिससे जिज्ञासा घृति अन्त तक नहीं रह पाती। ‘गुणागुराग कहा’ एक आदर्श कथा है, नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के प्रति आकृष्ट होना मानवता है। जिस व्यक्ति में उदारता, दया, दानिष्ण आदि गुणों की कमी है, वह व्यक्ति समाज और राष्ट्र के लिए उपयोगी नहीं हो सकता है। विमल और घण्टाहाजी में कथा का प्रवाह बहुत तीव्र है। ‘गनिसयत्त कहा’ सुन्दर कथा है, उगी कथा के (ग्रीक और रोमन) ग्रहण कर अपभ्रंश भाषा में धनपाल कवि ने अत्यन्त श्रेष्ठकथाग्रन्थ लिखा है। इस कथाकृति में भविष्यदत्त और बन्धुदत्त तथा कमल-श्री और नागस्वरूपा विरोधी प्रवृत्तियों के पुरुष एवं स्त्रियों के युगल है। कथाकार ने नागस्वरूपा में सपत्नीमुल्लस ईर्ष्या का और कमलश्री में दया-ममता का सुन्दर चित्रांकन किया है। भविष्यदत्त अपने नीतिने भाई बन्धुदत्त ने स्नेह करता है, उसका भगल करना चाहता है, पर बन्धुदत्त सर्वदा भविष्यदत्त से ईर्ष्या-द्वेष करता है। कथाकार ने मानव-स्वभाव का अच्छा परिचय प्रस्तुत किया है।

इस कथाकृति में अलौकिक सत्ताओं एवं जिनियों का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। कथानकों का गठन पौराणिक पृष्ठों में किया है। मानव के छल-रूपट और राग-द्वेषों के विनाश के साथ इसमें मनुष्यता की विजय दिखलाई गयी है। इस कथाकृति का रचनाकाल विरुम मवत् ११०६ है। कथा का स्रोत पौराणिक है, जिसका प्रचार-प्रसार निरन्तर होता रहा है।

देवभद्र सूरि या गुणचन्द्र ने ‘कहारयणकोस’ की रचना वि० स० ११५८ में की है। इस कृति में कुल ५० कथाएँ हैं। ग्रन्थ में दो अधिकार हैं—प्रथम में ३३ कथाएँ और द्वितीय में १७ कथाएँ निबद्ध हैं। इस कृति की सभी कथाएँ रोचक हैं। उपवन, ऋतु, रात्रि, युद्ध, श्मशान, राजप्रासाद नगर आदि के सरस वर्णनों द्वारा कथाकार ने कथा-प्रवाह को गतिशील बनाया है। जातिवाद का खण्डन कर मानवतावाद की प्रतिष्ठा इन सभी कथाओं में मिलती है। इन कथाओं में आदर्श गार्हस्थिक जीवन-यापन करने की ओर गन्तव्य किया गया है। भौतिकवाद के घेरे से निवालग्र आध्यात्मिक क्षेत्र में उपस्थित करने का प्रयास किया है। सम्यक्त्व, श्रुत और समय के शुद्ध उपदेशों की कथा के माध्यम से पर्याप्त सरस बनाया है। मुदत्त और नागदत्त की कथाएँ पर्याप्त रोचक हैं, साम, बहू, नन्द और वच्चों के स्वाभाविक चित्रण में कथाकार ने पूरी कुशलता प्रदर्शित की है। सुजसधेष्ठि और उसके पुत्रों की कथा में बालमनो-विज्ञान तत्त्व विद्यमान है। धनपाल और बालचन्द्र की कथा में वृद्ध विलासिनी वेश्या का चरित्र बहुत सुन्दर चित्रित हुआ है।

नेमिचन्द्र सूरि ने ‘आख्यायनमणिकोश’ की रचना की है। इस ग्रन्थ पर आम्नदेव सूरि ने ई० सन् ११३८ में टीका लिखी है। यह ग्रन्थ प्राकृत पद्यों में लिखा गया है। इस कृति में ४१ अधिकार हैं और १२७ आख्यायन। आख्यायनों में प्राकृत भाषा के साथ संस्कृत और अपभ्रंश का भी प्रयोग पाया जाता है। इन आख्यायनों में अभ्याख्यानक में बताया गया है कि चण्डपद्योत नृपति अपनी पुत्री वासवदत्ता को संगीत-शिक्षा देने के लिए उदयन को नियत करता है। आख्यायन भास कवि के नाटक ‘प्रतिज्ञा योगन्वरायण’ की कथावस्तु से समता रखता है। कथानक में नायिका को कानी और नायक को कोडी बताया गया है। गुरु और शिष्या एक-दूसरे के मुखदर्शन से आमन्त्रित न हो जायें, अतएव पर्व लगाकर शिक्षा का प्रारम्भ होता है। पर्व हटाकर वे आपस में देख न सकें, अतएव विकलाग होने की बात कही जाती है। अन्त में भेद जुल जाता है और वे दोनों आपस में प्रेम करने लगते हैं। तथा उनका विवाह भी हो जाता है।

ये समस्त आख्यान मिश्ररूप में किसी एक भाव, मन स्थिति और घटना का चित्रवत् स्वरूप उपस्थित करते हैं। चण्डबूड या आख्यान मानवस्वभाव पर प्रभाव डालता है। उपक्रान्ता और तपस्वी के आख्यान में मानसिक द्वन्द्व पूर्णतया वर्तमान है। ऐतिहासिक, अध-ऐतिहासिक एवं पौराणिक पात्र अपने व्यक्तित्व में मण्डित हैं। कार्य-कारण, परिणाम-आरम्भ एवं उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्वाह भी आख्यानों में सुन्दर रूप में हुआ है। लघु कथाओं का यह संग्रह कई दृष्टियों में महत्त्वपूर्ण है। टीकाकार ने आख्यानों का पूर्ण बनाने का प्रयास किया है।

'जिनदत्ताख्यान' के रचयिता जानार्जुन मुनि मरि हैं। इस ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि वि० सं० १०८६ की पायी जाती है, जो उसी रचनाकाल वि० सं० की १३वीं शताब्दी में पूर्ववर्ती है। यह एक सरस कथाग्रन्थ है, इसमें जीवन के हृष-विषाद, ध्वनि-दुर्बलता, मोन्दर्य-कुम्पना आदि पक्षों का सुन्दर उद्घाटन किया गया है। इन सीधे आख्यान में श्रीमती और जिनमुन्दरी के प्रणय-सम्बन्ध तथा नायक द्वारा उनकी प्राप्ति के लिए किये गये माहमिक कार्यों का उल्लेख वही जीवन की विविधता और विचित्रता के साथ दान और परमेश्वर का भाग प्रदर्शित किया है। जिनदत्त की धृन्मात्ति और उसके परिश्रम का निष्पन्न रूप मूढकथावस्तु के मोन्दर्य को पूरी तरह चमकाया है। यह सत्य है कि यह आख्यान मोहोद्भूत है और जिनदत्त को वसन्तपुर के उद्यान में शुभकर आचार्य के समक्ष दीक्षा दिलाकर मात्र आदर्श ही उपस्थित करना अभीष्ट है। उसे फलाम की न्यति तो कहा जा सकता है, पर कथा की वह मार्मिकता नहीं है, जो पाठक को भटका दकर विनाश की वैभवं में विरत कर 'पट भरो पेटो न भरो' की ओर ले जा सके। कथाकार ने नायक के शक्ति में महदयता, निराशता, जोर उद्धारता इन तीनों गुणों का समावेश किया है।

रचना-विधान की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञान होना है कि पूर्वजन्म के सम्कारों का फल दिखलाने के लिए जिनदत्त के पूर्वजन्म की कथा वर्णित है। घटित होनेवाली छोटी-छोटी घटनाएँ मगडिन तो हैं, पर स्थापत्य कला की विशेषता प्राकृत नहीं हो पायी है।

'नर्मदामुन्दरी' की कथा का प्रणयन महेंद्रमूरि ने वि० सं० ११८७ में किया है। नर्मदामुन्दरी का विवाह महेश्वरदत्त के साथ सम्पन्न हुआ। उनाजन्म के हेतु महेश्वरदत्त मपलीक भवनद्वीप गया। मार्ग में पत्नी के चरित्र पर सन्देह हो जाने से राजा उसने वहाँ मोती हुई नर्मदामुन्दरी को छोड़ दिया। जागने पर नर्मदा ने बहुत विलाप किया। कुछ समय के पश्चात् उसका चाचा शेरदाम आया और वह उसे बख्तरकून ले गया। यहाँ हरिणी नाम की एक प्रसिद्ध गणिका निवास करती थी, वह नाम भी गणिकाओं की स्वामिनी थी। अन्य गणिकाएँ उनके लिए धन कमाकर आती थीं। वह उन का पुत्र भाग राजा को भेंट करती थी। शेरदाम के वहाँ पहुँचने पर उस हरिणी ने चतुराई में नर्मदामुन्दरी को अपने पास बुला लिया। शेरदाम ने नर्मदामुन्दरी की बहुत प्रशंसा की, पर जब उसे पता न लगा तो वह अपने देश चला गया। हरिणी ने नर्मदामुन्दरी को बेध्या बनाने का पूर्ण प्रयास किया, पर वह अपने व्रत में अटल रही। हरिणी द्वारा दिये गये नाना प्रकार के प्रलोभन व्यर्थ मिट्ट हुए। अनेक प्रकार के घाम दिये गये, किन्तु नर्मदा मुन्दरी विचित्रित न हुई। वहाँ करिणी नामक एक अन्य बेध्या भी रहती थी, नर्मदामुन्दरी उसके यहाँ रमोई बनाने का कार्य करने लगी। हरिणी भी श्रुत्यु के पश्चात् नर्मदामुन्दरी को प्रचलन गणिका के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। शेरदाम राजा को जब नर्मदामुन्दरी के अनुपम मोन्दर्य का पता चला तो उसने मैनिको द्वारा उसे वहाँ बुलाया। वह स्नान कर और वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो चली। मार्ग में एक बावड़ी में पानी पीने के लिए उतरी और जानबूझकर गड्ढे में गिर गयी। उसने अपने शरीर पर कीचड़ लपेट ली और बकवाद करने लगी। उसने उन्मत्त जैमा आचरण करना आरम्भ किया। राजा ने उसकी चिकित्सा करायी, पर सब निष्फल गया। अन्त में नर्मदामुन्दरी जिनदेवनामक ब्राह्मण ने मिली और उसने शेरदाम के पास उसे पहुँचा दिया। नायिका ने कुछ समय उपरान्त मुहम्मदमुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली।

यथा का गठन सुन्दर रूप में हुआ है। कुतूहल आग्रन्त व्याप्त है। महेश्वरदत्त का वर्मपरिवर्तन करना और नर्मदामुन्दरी के मोन्दर्य में आकृष्ट हो उनके साथ विवाह सम्पन्न करना, पश्चात् परित्याग करना जिज्ञासापूर्ण है। हरिणी बेध्या के प्रत्याचार और शीलरक्षा के हेतु नर्मदा की दृढता तथा बुद्धिमत्ता कथाप्रवाह में रोचकता उत्पन्न करती है।





सोमप्रभसूरि द्वारा विरचित 'कुमारपाल प्रतिबोध' भी प्राकृतकथाओं का सुन्दर कोश है। इसमें ५४ कथाएँ हैं। मूलदेव की कथा अधिक रोचक और सरस है। कुमारपाल को प्रतिबुद्ध करने के लिए आहिमा, सत्य आदि व्रतो से सम्बद्ध कथाएँ लिखी गयी हैं। नल-दमयन्ती का कथानक कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। शीलवती की कथा मनोरञ्जक और चित्ताकर्षक है। शीलवती एक दिन अर्धरात्रि के समय घड़ा लेकर घर से बाहर गयी और बहुत विलम्ब कर लौटी। इससे उसके श्वसुर को शीलवती के चरित्र पर आशंका हो गयी, अतः वह उसे रथ में मवार कर उसके पितृगृह पहुँचाने के लिए चला। मार्ग में एक नदी आयी, शीलवती के श्वसुर ने कहा 'वह जूते उतार कर नदी पार करो'। पर उसने जूते नहीं उतारे। श्वसुर ने सोचा यह उद्दण्ड है। आगे चलने पर एक मूँग का खेत मिला। श्वसुर ने कहा, 'देखो यह खेत कितना अच्छा फल रहा है? खेत का स्वामी इस धन का उपयोग करेगा'। शीलवती ने उत्तर दिया—'वात ठीक है, यदि यह खाया न जाय तो'। श्वसुर ने मोचा यह अर्थ ही ऊट-पटाँग बोलती है। आगे चलने पर दोनों एक नगर में पहुँच गये। वहाँ के लोगो को आनन्दमग्न देखकर श्वसुर ने कहा—'यह नगर कितना सुन्दर है'। शीलवती—'वात ठीक है, पर कोई इसे उजाड़ दे तो क्या होगा?' कुछ दूर चलने पर एक कुलपुत्र मिला। श्वसुर—'यह कितना शूरवीर है'। शीलवती ने उत्तर दिया—'यदि पीट दिया जाय या रोग हो जाय तो क्या स्थिति होगी?'

कुछ दूर चलन के उपरान्त शीलवती का श्वसुर एक वटवृक्ष के नीचे विश्राम करने बैठ गया। शीलवती दूर ही बैठी रही। श्वसुर ने विचार किया कि यह वटू सदा उल्टा कार्य करती है। थोड़ी दूर चलने पर शीलवती के मामा का गाँव आया। भोजन के पश्चात् श्वसुर रथ के अन्दर लेट गया। शीलवती रथ की छाया में बैठी रही। इतने में बबूल के पेड़ पर बैठे कौवे को बार-बार कोंव-कोंव करते देखकर उसने कहा—'क्यों तग करत हो, एक बार तुम लागो की बोली सुनकर कार्य करने से तो घर में निकलना पड़ रहा है, अब दूसरी गलती करने पर तो प्रियतम से मिलन भी नहीं हो सकेगा।

श्वसुर द्वारा पूछे जाने पर उसने अपना स्पष्टीकरण दिया कि मैं पशु-पक्षियों की बोली को समझती हूँ। उस दिन अर्धरात्रि के समय गीदड़ का गूँव सुनकर मैंने जाना कि नदी में बहुमूल्य आभूषण पहने हुए मुर्दा वह रहा है। मैं वहाँ गयी और आभूषण लेकर लौट आयी। यहाँ यह कौवा कह रहा है कि इस बबूल के वृक्ष के नीचे स्वर्ण गढ़ा है। शीलवती का श्वसुर अधिक प्रगल्भ हुआ और उसने गढ़ा हुआ सोना निकाल लिया। शीलवती ने श्वसुर के अन्य प्रश्नों का भी तर्कपूर्ण उत्तर दिया, जिससे उनका श्वसुर बहुत प्रभावित हुआ। उसने अपनी बहू को बहुत ही बुद्धिमती समझा और घर ले आया।

कुछ दिनों के पश्चात् शीलवती का पति अजितसेन राजा का प्रधानमन्त्री बन गया। राजा ने शीलवती के शील की परीक्षा के लिए अपने चरमित्रों को भेजा, जिन्हें शीलवती ने अपने यहाँ कैद कर लिया। यहाँ यह आख्यान कथासरित्सागर (१-४) से मिलता-जुलता है।

इस प्रतिषाध की अन्य कथाएँ भी अत्यन्त सरस और मनोरञ्जक हैं। चरित्र का उत्थान अनेक परिवेशों में दिगालाया गया है। कथारस सभी आम्षानों में पाया जाता है। पात्र सभी वर्गों से ग्रहण किये हैं। पञ्चम प्रस्ताव की 'जीवमन तरणसलापकथा' एक रूपक काव्य है, इसमें जीव, मन और इन्द्रियों का वार्तालाप सुन्दर रूप में निबद्ध किया गया है। देह नामक नगरी लावण्यलक्ष्मी का निवास स्थान है, नगरी के चारों ओर आयुर्कर्म का प्राकार है, जिसमें सुख, दुःख, क्षुधा, तृप्ता आदि अनेक मार्ग हैं। इस नगरी का 'आत्मा' राजा है, यह बुद्धि नामक महादेवी के साथ रहता है। मन इसका प्रधानमन्त्री और पाँच इन्द्रियाँ प्रबान पुरुष हैं। कथाकार ने इनका सरस सन्वाद अंकित किया है। यह कथा अपभ्रंश भाषा में लिखी गयी है। इसके साथ ऐतिहासिक तथ्य भी उल्लेख होते हैं। नन्दराज, स्थूलभद्र एवं कोशा आदि के कथानक भी प्रवाहपूर्ण हैं। इस कथाग्रंथ का रचनाकाल विक्रम मवत् १२४१ ई।

'प्राकृतकथासंग्रह' बारह प्राकृतकथाओं का एक संग्रह ग्रन्थ है। इस कथाग्रंथ की एक पाण्डुलिपि विक्रम सवत् १३६८ की उपलब्ध है। अतः इसका रचनाकाल वि० स० की १४ वीं शती के पूर्व है। ग्रन्थ से रचयिता और रचना-काल के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती। इन कथाओं में दान के महत्त्व को प्रकट करने के लिए

घनदेव-प्रदत्त कथा, सम्यक्त्व का प्रभाव बनाने के लिए घनश्रेष्ठि कथा, दान के विषय में चडकथा, दान देने में दृष्टान्त दिखाने के लिए दृष्टाश्रेष्ठि कथानक, शील का प्रभाव व्यक्त करने के लिए जयलक्ष्मी, देवी कथानक और मुन्दरीदेवी कथानक, नमस्कार-मन्त्र का फल अभिव्यक्त करने के लिए नीमाग्यमुन्दरी कथानक, तप का प्रभाव बनाने के लिए शृगाङ्कुरा कथानक और घट कथानक, भावना का प्रभाव व्यञ्जित करने के लिए धमदत्त और बहुवृष्टि कथानक एवं अनित्यता के सम्बन्ध में समुद्रदत्त कथानक आया है। इन कथाओं में दान, शील, तप, भावना, सम्यक्त्व, पमोकार्गमन्त्र एवं अनित्यता आदि का विस्लेषण किया गया है।

अनुग्रह के लिए कराकार ने परिस्थिति और वानावरण का वर्णन ही मुन्दरी चित्रण किया है। कृपण-श्रेष्ठि की कथा में नरगीनित्य नमक एक कज्जल में का बड़ा ही जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। कराकार ने उनकी दृष्टान्त ही अभिव्यञ्जना के लिए रत्न मर्मस्थान अतिरिक्त किये हैं। वह अपने पुत्र को पान पाने देकर दुःखी होता है। उसकी पत्नी का बच्चा उत्पन्न हुआ है पर वह भोजन देने में कज्जली करता है। दान न दत्ता पड़े, इस भय में वह मातु-महात्माओं के दशन करने नहीं जाता।

मुन्दरी की प्रेमकथा तो जगन्मन मन्त्र और मनोरञ्जन है। कराओं में माहम, प्रेम, त्याग और भावना का समन्वय पाया जाता है। पुत्रदत्त और विज्ञाना के मन्त्रों में घटनाओं को पिरोया गया है। भागों में उदार-चटाव एवं मानसिक द्वन्द्वों की स्थिति अनेक स्थानों पर वर्तमान है। मुन्दरी अत्यन्त चतुराई और कुशलता में अपना प्रेमपत्र विकसित करने की सेवा में भेजती है। उस कथानक की कराआ की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं —

१. कथानक संयोग और देवी घटनाओं पर आश्रित।
२. कराओं में तहसा दिशा का परिवर्तन।
३. आरागीन सामाजिक समस्याओं का उद्घाटन।
४. महादत्त की अल्पता या उभाव, किन्तु घटनाओं द्वारा कराओं में गतिमत्त्व धर्म की उत्पत्ति।
५. गौतमाना मन्त्रविन्दु नर-हनी है, इसके आगे कथानक की एकता के कारण आकर्षण भाव की स्थिति।
६. जीवन के शाब्दिक मन्त्रों का संयोजन—प्रेम, त्याग, शील, दान, नयम प्रभृति सिद्धान्तों की घटनाव्यापार द्वारा अभिव्यञ्जना।
७. निपटार में जीवन की विविध प्रवृत्तियाँ और कार्यव्यापारों का समावेश।

‘मिरिबाल कथा (श्रीपादकथा) का मकान बृहद् गच्छीय वज्रमेनमूरि’ के प्रशिष्य और हेमतिनक मूरि के शिष्य गन्धर्व मूरि ने किया है।^१ इसका मकान कान वि० सं० १८२८ है। यह कथा बहुत ही रोचक है, इसका उद्देश्य सिद्धचक्र प्रज्ञा का साहाय्य प्रदर्शित करना है। इसके प्रमुखपात्र पृथ्वीपाल और उनकी दानों पत्नियाँ नीमाग्य-मुन्दरी और समुद्रदत्त, उनकी दोनों कन्याएँ—मुरमुन्दरी और मदनमुन्दरी एवं श्रीपाल हैं। श्रीपाल की माँ और अमात्य मनिताग भी करावन्तु में सम्मिलित हैं। उन कुल में एक धार्मिक उपन्यास के सभी गुण वर्तमान हैं। पात्रों के चरित्र का उत्तम-वर्णन, कथाप्रवाह की गति में विभिन्न प्रकार के मोड़, मरमना और रोचकता आदि गुणमहाहित हैं। प्राक्कित कराओं का गुम्फन एवं घटनाओं में सम्पादन करने की प्रशिक्षण रोचक है। पृथ्वीपाल जैसा निष्ठुर पिता, जो रक्त होकर अपनी कन्या को सोटी का मर्दन नर देना है, आधुनिक यथार्थवादी पिता है। प्रतिशोध की भावना का प्राच्य एवं कथा के प्रति निष्ठुरता का प्रदर्शन उसे यथार्थवादी कोटि में प्रतिष्ठित करने के लिये पर्याप्त प्रमाण है। मा के हृदय की ममता और पिता के हृदय की कठोरता विरोधाभास का समुच्चय उदाहरण है। भाग्यवादिनी मदन-मुन्दरी भी आधुनिक धर्म-उद्घाटनारी में कम नहीं है। उनमें अपूर्व आत्मविश्वास और बल है। ध्वजमेठ जैसे कृतघ्नी पात्रों की आज भी कमी नहीं है। ऐसे निम्न न्यायी व्यक्ति मदा में समाज के लिए कष्टक रहे हैं। अजितसेन जैसे

१ मिरिबालमेण गणहरपट्टपट्टहेमतिनमूरिण ।

सीमेहि ग्यणमेहरमूरिहि इमाह सकलिया ॥

चउदम अट्ठावीसो ।



राज्यलम्पट और मतिसागर जैसे त्रिदासभाजन आज भी विद्यमान हैं। राजकुमारी मदनमजरी का त्याग और मान-सिक द्वन्द्व किसी भी काव्य के लिए उपकरण बन सकते हैं। पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं का चित्रण व्यापक रूप में अंकित हुआ है।

इस कथाकृति में भावुकता को उभारने की पूरी शक्ति वर्तमान है। दुधमुहे श्रीपाल का अपने चाचा के अत्याचारों और आतकों से द्रस्त हो भा के साथ जंगल में चला जाना और वहाँ कुछ रोगियों के संपर्क में रहने में उम्पर कुष्ठ विषेप से पीड़ित होना प्रत्येक पाठक को द्रवित करने में समर्थ है। दूसरी ओर अपनी सुन्दरी और गुण-वती कन्या की स्पष्टवादिता से रुष्ट हो कोढ़ी में उसे ब्याह देना भी हृदयहीनता का परिचायक है। जीवनदर्शन का लेखक ने अपनी इस कथाकृति में समझने का पूरा यत्न किया है। परिवार का रसार्थ के कारण विघटन होता है और यह विघटित परिवार सदा के लिए दुःखी हो जाता है। अतः सामाजिक सम्बन्धों को स्थिर करने के हेतु समाज के सभी घटकों और उनकी प्रतिश्रियाओं को उदारभाव से ध्यान देना होगा। प्रेम, मेवा, सहयोग, महिष्णुता, अनुशासन एवं आज्ञापालन आदि गुणों के अभाव में स्वस्थ और मजबूत समाज का गठन नहीं हो सकता है।

‘रयणगेहरनिबन्धा’ (रत्नशेखरचूपाकथा) के रचयिता जिनहूँ गूरि हैं। इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १४८७ है। यह जायमीकृत पद्मावत की कथा का मूलस्रोत है। पर्व के दिनों में धर्मसाधन करने का माहात्म्य बतलाया गया है। रत्नशेखर चूपाति रत्नपुरनगर का रहनेवाला था, इसके प्रधानमन्त्री का नाम मतिसागर था। राजा बन्त-विहार के समय किन्नरदम्पती के वातालाप में रत्नवती की प्रशंसा सुनता है और उसे प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो जाता है। मतिसागर जोगिनी का रूप धारण कर मिहलद्वीप की राजकुमारी रत्नवती के पास पहुँचता है। रत्नवती अपनी वर-प्राप्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करती है और जोगिनी वेपथारी मन्त्री उत्तर देता है—“जा कामदेव के मन्दिर में छूतनीडा करता हुआ वहाँ तुम्हारा प्रवेण रोकेगा वही तुम्हारा पति होगा।”

मन्त्री लौटकर राजा को समाचार सुनाता है, राजा रत्नशेखर मिहलद्वीप को प्रस्थान कर देता है और वहाँ कामदेव के मन्दिर में पहुँचकर मन्त्री के साथ छूतनीडा करने लगता है। रत्नवती अपनी मणियों के साथ काम-देव की पूजा करने आती है। दोनों का साक्षात्कार होता है। युद्ध के पश्चात् विवाह सम्पन्न हो जाता है। पर्व के दिनों में राजा अपने शीलव्रत का पालन करता है, जिससे उसे परम शान्ति प्राप्त होती है।

यह एक सुन्दर प्रेमकथा है। लेखक ने प्रेम के मौलिक रूप का सार्वभौमिक विवेचन किया है। इन्द्रियों के व्यापारों और वासनात्मक प्रवृत्तियों के विश्लेषण द्वारा कथाकार पाठकों के हृदय में आनन्द का विकास करता हुआ विषय-वामना के पक्ष से निकालकर उन्मुक्त भावक्षेत्र में उन्हें ले गया है। राग का उदात्तीकरण विराग के रूप में हुआ है। पाशाधिक वासना परिष्कृत हो आध्यात्मिक भावभूमि को प्राप्त होती है।

इस कृति में उपन्यास के समस्त तत्त्व वर्तमान हैं। कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, संवाद, वातावरण और उद्देश्य की दृष्टि से यह सफल है। घटनाओं और पात्रों के अनुसार वातावरण तथा परिस्थितियों का निर्माण सुन्दर रूप में किया गया है। समस्त तत्त्वों के सामंजस्य ने कथा के शिल्प-विधान को पर्याप्त गतिशील बनाया है। मूल-कथा के साथ प्रासंगिक कथाओं का ताता लगा है। दैवी चमत्कारों और अतिमानवीय तत्त्वों का बाहुल्य भी निहित है। अंतः परीक्षा के सदर्भ में घटित घटनाएँ सगम और प्रभावोत्पादक हैं।

‘महिपालकथा’ (महीपालकथा) के रचयिता वीरदेव गणि हैं। यह परी-कथा और निजन्वरी इन दोनों का मिश्रित रूप है। इसका रचनाकाल १५वीं सदी है। कथा में बताया गया है कि उज्जयिनी नगरी के राजा नरमिह के यहाँ कलाविचक्षण महीपाल नाम का राजपुत्र रहता था। राजा ने रुष्ट होकर महीपाल को अपने राज्य से निकाल दिया। वह अपनी पत्नी के साथ भड़ोच आया और वहाँ से जहाज में सवार होकर कटाह द्वीप की ओर चला। रास्ते में जहाज जलमग्न हो गया और बड़ी कठिनाई से वह किसी प्रकार तट पर पहुँचा। कटाह द्वीप के रत्नपुर नगर में पहुँचकर उसने राजकुमारी चन्द्रलेपा से विवाह किया। अब वह अपनी प्रथम पत्नी सोमश्री को ढूँढ़ने चला। राजा ने साथ में अथर्वण मन्त्री को भी भेज दिया। महीपाल का जलयान समुद्र में चला जा रहा था, कि अथर्वण मन्त्री के मन में लोभ

प्रसिद्ध हुआ। उसने राजकुमारी चन्द्रदेवी और घन के नाम से महीपान को मयूर में गिरा दिया। राजकुमारी उस दुष्टता से बच निकली चन्द्रेश्वरी देवी की उपासना में लग गई। महीपान मयूर पार कर जितगुरु राजा के यहाँ पहुँचा, राजा ने प्रभावित हो अपनी कन्या धर्मिप्रभा के साथ उसका विवाह कर दिया। वहाँ उसे तीन बन्धुएँ उपलब्ध हुई—विचित्रलकुट, गदवा, और सर्वकामद दिया। इन तीनों बन्धुओं के बगैरे वह रत्नमचयपुर नगर में गया और वहाँ चन्द्रेश्वरी के मन्दिर में उसे तीनों स्त्रियाँ प्राप्त हो गई। उस नगर के राजा ने अपनी पुत्री चन्द्राक्षी के साथ महीपान का विवाह सम्पन्न किया। महीपान अपनी चाचा पत्नियाँ के साथ उत्तरी चला आया और वहाँ नरनिह राजा के यहाँ रहने लगा। ब्रह्मराज मुनि ने उससे मुनिरत्न उनके मन में विरक्ति उत्पन्न हुई और धर्मपदीक्षा ग्रहण कर नरचरण किया।

यह कथा साहित्यिक कथा है। महीपान से स्वभाव और प्रकृति के अनुसार ही मारी पटनाएँ घटित हुई हैं। चन्द्रदेवी या प्रत्युत्पन्नचरित्र और अपनी शौर्यता के लिए उसका अपर प्रेम से स्नेह है, जो मानव-जीवन में एक नयी दिशा और स्फूर्ति प्रदान करने है। उस कथा में मानवीय प्राचीन है, जबकि ने पौराणिक आख्यानों में कथाबन्धु को केवल एक नयी कथा का प्राशन किया है। अवान्तर कथाओं में नाम के टोप का निरूपण करने के हेतु लिखी गयी नन्द गेट की कथा बहुत सुन्दर है। इनमें कार्य-व्यापारों की नींवना निहित है।

उन प्रमुख कथावस्तुओं में अतिरिक्त चरित्रों की मूर्ति ने आगममोहकता, पैटिभयगवाहकता, पुष्कलकता, धान्यगदजरा, गौहृतकता, वस्त्रागदिवरता, मुष्टकता, नीलकुमारकता, मन्त्रवाक्यकता, मलवाहकता, पादलिप्ता-चारित्र्यकता, निर्वर्णनविवाहकता, नागदन्तकता, कामिनीकता, मेताग्रमुनिता, उर्वरकता, पद्ममेहकता, नगाम-मृगकता, चन्द्रकता, कथा पर नरमुष्टकता का प्राशन किया है। देवचन्द्रमूर्ति का कानिकाचार्यकथानक और अज्ञाननामप्राणी की भी मध्यमूर्ति कथा भी सुन्दर रचनाएँ हैं।

उपदेशप्रद कथाओं में प्रमदाम गणि की उपदेशमाता, इन्द्रिन्द्र मूर्ति का उपदेशपद, उग्रामिन्द्र मूर्ति की उपदेशमाता, माहट की विद्वेष्टमूर्ति मूर्ति मुष्टमूर्ति का उपदेशग्लानाग, गुप्तवर्धन गणि की वर्धमानदेशना एवं मोमविमल की दगद्वान्तगीता आदि रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं में कथा का सर्वांगीण विकास प्रमुख नहीं है। किन्तु समय, शीत, शन, नय, त्याग और वैराग्य की भावनाओं का विकास मुख्य रूप से दिक्काली पटना है। कथानकों, उदाहरण आख्यानों एवं दृष्टान्तों का संयोजन उक्त श्रेणी की समस्त रचनाओं में पाया जाता है। जबकि ने मनो-रज नरगा का भी समावेश किया है। उपदेशप्रद कथाओं में नगर, वन, मरौवर एवं शीतलानों का चित्रण हुआ है, पर उद्दीप्त स्वर उपदेश का ही है। मदाचार जिनसे और शील का निरूपण पद-पद पर होता चला गया है। बुद्धिवादी रणों भी इस वर्ग के साहित्य में निवृत्त हो गयी हैं।

प्राकृत-कथामाहित्य की विशेषताएँ और उपलब्धियाँ

हिन्दी और उपभ्रम के प्रेमाम्बान कथाओं का विकास प्राकृत कथाओं से हुआ है। यह प्राकृत-कथाकारों ने प्रमद-कथाओं से शृंगार-रस से पूर्ण प्रेमाम्बानों का संसाधन कर कथाओं को लोकोपयोगी बनाया है। मदन-महोत्सव, वान-जीवा, प्रेमपद, माहमिन्द्र घटनाएँ, प्रेमी-प्रेमिकाओं की विभिन्न मानसिक दशाएँ, प्रेमानुराग, प्रेमालाप, हान्य-विनाश आदि का पूर्णतया समावेश किया है। रूपविधान की दृष्टि से प्राकृत-कथाएँ 'शीतलवर्मा' हैं। कथावीज ने एक गिगाट वस्तुत्वं उत्पन्न होता है और अनेक अवान्तर प्रासंगिक कथायान्त्राएँ निकलती हैं, जो सभी धार्मिक अन्तश्चेतना में प्राणतन्त्र ग्रहण करती हैं।

प्राकृत कथाओं में विशेषतः कथोत्पन्नगद मिल्य पाया जाता है। प्याज के छिलकों के समान अथवा केले के स्तम्भ की पत्तों के समान जहाँ एक कथा से दूसरी कथा और दूसरी कथा से तीसरी कथा निकलती जाय तथा वह के प्रागेष्ट के समान शाखा पर शाखा फूटती जाये, वही इस शिल्प की माना जाता है। इस स्यापत्य का प्रयोग समस्त प्राकृत कथाओं में विद्यमान है। मनोरंजन के साथ वर्णनशीली को सहज बनाया गया है। जिन प्रकार वृत्त को कई अंगों में विभाजित किया जाता है और उन अंगों की पूरी परिधि में वृत्त की समग्रता प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार





कथोत्थप्ररोह के आधार पर उन्नित्रा की समस्त गतिविधि प्रकट हो जाती है। वाग्म्य में वटप्रराह के गमान उपस्थित कथाओं में सकेतात्मकता और प्रतीकारत्मकता की योजना सुन्दर हुई है। पत्रियों या पत्रियमण्डनों का नियोजन भी जीवन और जगत् के विस्तार को नायक और प्रतिनायक के चरित्रगठन के रूप में समेटे हुए है। रचना में सम्पूर्ण इतिवृत्त को इस प्रकार गुञ्जित करने से विभक्त किया गया है, कि प्रत्येक मण्ड अथवा पत्रियेन्द्र अपने पत्रिय में प्रायः पूर्णसा प्रतीत होता है और कथा की समष्टि-योजना प्रभाव को उत्कर्षाभिमुख करती है।

साहित्य में चरित्रों का विकास विनाल्लग्न और प्रगल्भता की अपेक्षा गद्य पद्य मिश्रित प्राकृत कथाओं में माना अधिक तत्त्वगत है। इन प्राकृत में कथाओं को रोचक बनाने के लिए गद्य-पद्य दोनों का ही प्रयोग किया गया है। पद्य भावना का प्रतीक है और गद्य विचार का। प्रथम का सम्बन्ध हृदय में है और द्वितीय का मस्तिष्क में। अतएव प्राकृत कथाकारों ने अपने कथन की गुष्टि, कथानक के विकास, मार्गोपदेश, मित्रान-निर्माण एवं कथाओं में प्रभावोत्पादकता लाने के लिए गद्य में पद्य की छोक और पद्य में गद्य की छोक लगायी है। समस्त चरित्रों और कुशल्यमाला की यह गद्य-पद्यमयी विशेषता चम्पूविधा की उत्पत्ति के लिए कारण हो जाती है। मरुधर में चरित्रमय भट्ट के मदानाचम्पू और ननचम्पू से पहले कोई चम्पू ग्रन्थ उपलब्ध नहीं आता। उड़ीस चम्पू की परिभाषा दी है, पर प्राकृत में दण्डी के पहले की गद्य-पद्य मिश्रित शैली में लिखी गयी कथाएँ रची हैं। इन हमारी दृष्टि में ससृजत की चम्पूविधा का मूलस्रोत प्राकृत कथाएँ हैं।

प्राकृत कथाएँ लोककथा का आदिमरूप हैं। समुद्रदेहिण्डी में लोककथाओं का मूलस्रोत सुश्रुत है। गुणादय की बृहत्कथाओं में कि पेशाची प्राकृत में लिखी गयी थी, लोककथाओं का विद्यकोप है। अतः प्राकृत कथाओं का लोककथा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जातीय गौरव, वीरपूजा, जीवन की नवीन व्याख्या एवं सकेत विरोध की उपलब्धि प्राकृत कथाओं में पायी जाती है। विविध तथ्यों, सामाजिक और राजनैतिक प्रभावों का यथान्वय चित्रण एवं गहन समस्याओं के समाधान प्राकृत कथाओं में निहित है। कथाओं का दर्शन लोककथा का है, प्राकृत लेखकों ने इसी धरातल पर दार्शनिक कथाओं का निर्माण किया है। माधवराव प्राकृत कथाओं का स्वरूप पालिकथाओं के समान प्रतीत होगा, किन्तु अन्तर्ग यह दिखलायी पड़ेगा कि पालिकथा-साहित्य में पूर्वजन्म कथा का मुख्य भाग रहता है, जबकि प्राकृतकथाओं में यह केवल उपमार्ग का कार्य करता है। पालिकथाओं में बोधिमत्त या भविष्य बुद्ध ही मुख्यपात्र रहते हैं और कथा की चरम परिणति उपदेशकत्वा के रूप में हो जाती है। ममस्त जातक कथाएँ एक ही पिटी-पिटार्ई शैली में लिखी गयी हैं। पर प्राकृतकथाएँ भूत नहीं, वर्तमान की होती हैं। प्राकृत कथाकार जन्म-जन्मान्तरी का सम्बन्ध वर्तमान के साथ ही जोड़ देता है। सिद्धांत की प्रतिष्ठा भी सीधे-साथ रूप में नहीं की जाती है, बल्कि पात्रों के कथा-पकथन और क्षीननिर्माण आदि के द्वारा उसकी आम व्यञ्जना की जाती है। प्राकृतकथाकार अपने पात्रों को गीधे नैतिक नहीं दिखाते। चरित्र के विकास के लिए वे किसी प्रेम-कथा अथवा अन्य किसी लोककथा के द्वारा उनके जीवन की विवृतियों का उपस्थित करते हैं। लम्बे सघर्ष के पश्चात् पात्र किसी आचार्य या केसरी को प्राप्त करता है और उनके सम्पर्क से उसके जीवन में नैतिकता आती है। इसी स्थल पर सिद्धांत की स्थापना भी इतिवृत्त के सहारे होती जाती है। कथानक और घटनाओं का विकास मनोरंजन क्षेत्रों में होता है।

प्रो० हर्टल प्राकृतकथाओं की विशेषता में अत्यन्त आग्रह है। उन्होंने बताया है—'कहानी कहने की कला की विशिष्टता प्राकृतकथाओं में पायी जाती है। ये कहानियाँ भारत के भिन्न-भिन्न वर्गों के लोगों के रस्म-रिवाज को पूर्ण सचाई के साथ अभिव्यक्त करती हैं। ये कथाएँ जनमाधारण की शिक्षा का उद्गम-स्थान ही नहीं हैं, बल्कि भारतीय सभ्यता का इतिहास भी हैं।'

इसमें गन्देह नहीं कि भारतीय मस्तिष्क और सभ्यता का यथावत ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राकृत कथा-साहित्य बहुत उपयोगी है। जनसाधारण से लेकर राजा-महाराजाओं तक के चरित्रों को जितने विस्तार और सूक्ष्मता के साथ प्राकृतकथाओं ने चित्रित किया है, उतना अन्य भाषा के कथाकारों ने नहीं। विम्वर्षेणों के व्यक्तियों का

यथार्थ मूल्यवान् प्राकृतकथाओं में समाहित है। इन कथाओं का केवल धार्मिक कथाएँ ही नहीं माना जा सकता। अनेक कथाओं में प्रचुरता के कारण इनमें मनो-जन, कुतूहल और प्रभावान्विति पूर्णरूप से वर्तमान रहने में उन्हें उत्तम श्रेणी की कथाएँ भी माना जा सकता है। जीवन के विचार में जिनकी समझ और परिस्थितियाँ आती हैं जिनमें नाना प्रकार के मूल्य और विचार निहित होते हैं, उनका उल्लेख समावेश कथाओं में हुआ है।

इन कथाओं में पात्रों की विशालता और वनावट नाना प्रकार की आवश्यकताओं का ध्यान रखती है। इन कथाओं में ऐतिहासिक समस्याओं के चित्रण, पार्श्वीय समस्याओं के समाधान, धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण, अज्ञान की अज्ञानता के निदर्शन एवं जनता की व्यापारिक कुतूहल के उदाहरण समाहित हैं। पशु-पक्षी-प्राणी तथा विषम भी प्राकृतकथाओं में हुआ है। मनुष्य में गुणनामाज के पुनर्जागरण के पश्चात् नीति या उपदेश देने के लिए पशु-पक्षी-प्राणी चित्रित की गई हैं। पर 'नायासम्पन्नताओं' में कुएँ का मेटक, जंगल के कीड़े, दो बूटल आदि कई मनुष्य-पशु-पक्षी-प्राणी चित्रित हैं। जाचर और घरेलू का उपदेश पशु एवं अन्य प्राणियों के दृष्टान्तों से देते हुए नाना प्रकार के चित्रण और घटनाओं द्वारा उपस्थित किया गया है। 'नायासम्पन्नताओं' की पशु-पक्षी कथाएँ स्वयं भगवान् महाराज के मुख से कथित की गई हैं। निरुचिता में गज, सूकर, हिरण्य और वानर आदि पशुओं की कई कथाएँ उपलब्ध हैं। बन्धुन पञ्चतन्त्र, शिरोपदेश आदि ग्रन्थों में पशु-पक्षी कथाएँ प्राकृतकथाओं में ही निहित हैं।

प्राकृतकथाओं में ऐतिहासिक समस्याओं के चित्रण, पार्श्वीय समस्याओं के समाधान, धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण मनो-जन-प्राणी कथाओं के मुख्य उदाहरण एवं विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के अन्तर्गत होते हैं। इन कथाओं का उद्देश्य मनो-जन करना ही नहीं है, प्रत्युत व्यक्ति के निर्माण और चरित्र का उत्कर्ष दिखाना है। इनमें सर्वांगीण रूप के प्रति बराबर की गई है। मानवमत्त्व का सिद्धान्त तथा जन्म-मरणचक्र के चित्रणों का अमिट प्रभाव और समस्त की विशालतावाचिना सिद्ध की गयी है।

रचाना के विचार में सामान्य चित्रण और अप्रत्याशित वाक्य-व्यापारों के माध्यम से मनोवैज्ञानिक दृष्टि की स्थितियों का भी चित्रण किया गया है, जिनमें कथाओं के सिद्धान्तों का स्पष्ट और पात्रों का चरित्र चित्रित होता गया है।

प्राकृतकथा-साहित्य की रचना की अवधि का इजाजत नहीं है। इस लम्बे समय में उनके शिल्प में भी वास्तविकता का चित्रण हुआ है। विभिन्न समय, परिस्थितियाँ और वनावट में निहित इन कथाओं के शिल्प में भी कई नए दिग्दर्शक पड़ते हैं। इन व्यापक-विक्रम की दृष्टि में प्राकृतकथाओं में अनेक प्रकार की विशेषताएँ परिचित होती हैं। भारतीय साहित्य में साहित्य-विचारों के विकास की दृष्टि में प्राकृतकथाओं का अध्ययन परम आवश्यक है।

प्राकृतकथा-साहित्य की एक अन्य विशेषता यह भी है कि कथा में आये हुए प्रतीकों की उत्तरार्थ में वैदिक-साहित्यिक व्याख्या कर ली जाती है। उदाहरणार्थ बभ्रुदेवचरित्र का 'इन्द्रपुस्तकहाण्य' का उपसंहार अशुद्ध किया जाता है —

"जहा मा गणिषा, तत्रा मम्ममुनि। जहा ने गयमुनि तहा मुर-मण्डुमुनिभोगिणो पाणिणो। जहा आभरणाणि, तहा देवविनिमहिणाणि तवोपहाणाणि। जहा मा इन्द्रपुस्तक, तहा मानसकपी पुरियो। जहा परिच्छाकोमल्ल, तहा मम्मन्नाण। जहा रयणापपीड, तहा मम्मदमण। जहा रयणाणि, तहा महद्वयाणि। जहा रयणविणिओगा, तहा निव्याणपुडनामोति।"—बभ्रुदेवचरित्र पृ० ४।

विष्टमन्त्र ने भी प्राकृतकथा-साहित्य की प्रथमा करने हुए लिखा है—

प्राकृतकथा-साहित्य मनुष्य के विशाल है। इसका महत्त्व केवल नृनानामक परिकथा साहित्य के विशारदों के लिए ही नहीं है, बल्कि साहित्य की अन्य शाखाओं की अपेक्षा इसे हमें जनसाधारण के सामाजिक जीवन की भाँसा भी मिलती है। जिस प्रकार इन कथाओं की भाषा और जनता की भाषा में अनेक साम्य है उसी प्रकार इनका उपयोग भी विभिन्न वर्गों के सामाजिक जीवन का विश्व हमारे सामने उपस्थित करता है। केवल राजाओं





और पुरोहितों का जीवन ही उस कथामाहित्य में निहित नहीं है, अतः मायागण व्यक्तियों का जीवन भी अंकित है।”

उत्तुत प्राकृतकथाओं के माय कथामाहित्य में किसी ममस्या का नेत्र उपस्थित होने है। वे कथा के प्राग्भ्य में नेत्र उपमहार तक अपा जीवन की अन्त पीठाओं के माय उस ममस्या का दान चलने है। अनित्यता का अधिक जमघट रहने पर भी कथाप्रवाह में कोई कमी नहीं आने पायी है। कथाओं के माउ राचयता उत्पन्न करने में सहायक हैं। मुख्य कथा का मिद्वान्त अन्तर्गत कथाओं द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्राकृत वी लघुकाओं में घटना और उद्देश्य वे दोनों तत्त्व उपलब्ध होते हैं। मूल और लाफोनिगों द्वारा लघुकथाओं में मातृजक बनाया गया है।

प्राकृतकथाओं में व्यवहृत प्रमुख कथानक-वर्तिका

कथाओं में बार-बार व्यवहृत होनेवाला एक-जैसी घटनाओं अथवा एक-ने निचारों का कथानक रूटि की मजा दी गयी है। यह शब्द ‘अप्रेजी’ के किम्मत माट्टर का मर्याप है। जानार्थ राजागीप्रमाद द्विवेदी ने किया है— ‘हमारे देश के साहित्य में कथानक की गति और घुमान देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत शीघ्रवाक में व्यवहृत होते आये हैं, जो बहुत दूर तक यथाय होते हैं, और जो आगे चलकर कथानकरूटि में बदल गये हैं’।^१ कथानकरूटियों का प्रयोग कर संस्कृति के साथ कथातत्त्वों की भी योजना करना है। सामान्यतः कथानकरूटियों द्वारा निम्नलिखित गुणों का समवाय किया जाता है—

- (१) कथानकों में गतिमत्त्व-कर्म की निष्पत्ति।
- (२) कथानकों और घटनाओं में नया मोड़ उत्पन्न करना।
- (३) कथा में विस्तार का सम्पादन।
- (४) मकेतो द्वारा कथोद्देश्य या स्पष्टीकरण।
- (५) प्रक्षेपकों द्वारा कथामृगों का अध्याहार करना।
- (६) भावी घटनाओं का समूचन।
- (७) पुरातन संस्कृति और प्रवृत्तियों का गयोजन।
- (८) घटनाओं में आवृत्ति द्वारा उत्पन्न नीरमता का निराकरण।

प्राकृतकथा-साहित्य में प्रयुक्त समस्त कथानकरूटियों का विश्लेषण करना उस पुराण निबन्ध में सम्भव नहीं है, अतएव यहाँ कतिपय प्रमुख कथानकरूटियों की तालिका प्रस्तुत की जाती है।

१ छोटे का आग्रेट के समय निर्जन-वन में पड़ने जाना, मार्ग भूलना, मगुद्रयात्रा करते समय यान का भग हो जाना और काष्ठफलक के सहारे नायक-नायिका की प्राणरक्षा, जैसी घटनात्मक रूटियाँ उस कोटि के अन्तर्गत हैं।

२ स्वप्न में किसी पुरुष या किसी स्त्री को देखकर उस पर मोहित होना अथवा अभिषाप, यन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना के बल से रूप-परिवर्तन करना आदि निचार या विषयों का समवाय।

३ महान् शक्तिशाली व्यक्ति के जन्म के पूर्व स्वप्नदर्शन का होना एवं भविष्यसूचक शुभशकुनों का प्रकट होना।

४ भविष्यवाणी और आकाशवाणी की योजना। नायक-नायिका को रहस्यमयी घटनाओं की सूचना देने हेतु उक्त वाणियों का प्रयोग, उनको कर्तव्य की सूचना एवं भावी-फलाफल।

५ राक्षस और व्यन्तरो के वातालाप, व्यन्तरी की प्रेमवाचना और स्पान्तर द्वारा नायक को धोखा देना एवं विद्याधरो द्वारा नायक के कार्यों में सहयोग देना।

१ ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग दो, पृ० ५४५।

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, प्रथम सम्करण पृ० ७४।

६ कठिन कार्य के सम्पादन के निमित्त महायक के रूप में देवताओं का अवतरित होना विशिष्ट अवसरों पर देव का प्रकट होकर कामनायक अथवा नायिका के प्रण की स्थापना

७ किसी निमित्त-विशेष में पूर्वजन्म की स्मृति जाना जाने पर नायक या नायिका का अपने पूर्वजन्म के प्रेमी को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना, मन्त्र-श्रीपवि-पट-गुटिका आदि के चमत्कार का प्रयोग और इनके द्वारा विचक्षण राजों का सम्पादन एवं किसी नगर के राजा की मृत्यु होने पर देवाधिपति धन्वन्तरियों द्वारा नये राजा का निर्वाचन होना ।

८ वैराग्यप्राप्ति के निमित्तों की योजना निरन्तर स्थान में ध्वस्त तथा या नवन की प्राप्ति, वहाँ पर गहन या ध्येय का उद्भव, किसी रूपवती राजकुमारी या श्रेष्ठिकन्या का सम्भार, नायक का उस कन्या के साथ विवाह सम्पादन आदि आदि एक नायक की भाग्य-प्रत्याशा । वनवास द्वारा नायक को मनुष्य में गिरा देना नायक का वचन निरन्तर आना, नायिका के शीघ्र पर देवनायक का आगमन पर-नायिका की हृदय और जन्म में किसी जन्मदिन या अन्य धर्मस्थान में आश्रित के मरण यापना में व्याप्त होना, कानान्त में नायक का भित्त और उनकी विपत्ति का अन्त ।

९ विग्रह द्वारा पूर्वजन्म के नायक या नायिका का अन्वेषण, विग्रह में विज्ञ और मर्या के अन्तर विराह का होना । छोटे भाई ने बड़े भाइयों की हत्या, उसका नग-त्याग, पुत्रादन में छोटे भाई का बलाजन और अन्त में बड़े भाइयों का भी उसी के ग्राह पड़ना जाना ।

१० जन्म-उत्थानों की शृङ्खला तथा एक जन्म के शत्रु का अगले जन्म में भी शत्रु के रूप में अवतरित होना प्रतिशोध करने के लिए अनेक प्रकार के कष्ट देना एवं सृष्टिसंहिता बनकर जनता की महानुक्ति प्राप्त करना ।

११ छोटी गनी के प्रेम में जानकर हा राजा द्वारा धन गनिया और उनके पुत्रों पर जयाचार, पुत्रादा विदेश गमन, धनार्जन एवं धर्मसम्पादन, छोटे प-राजा द्वारा स्वागत और बर में यथोचित स्थान ।

इन प्रकार प्राकृतकथाओं में विभिन्न कथानकन्दियों का प्रयोग होने में उनकी प्राचीनता का सिद्ध होती है, साथ ही साहित्यिक महत्त्व भी प्रकट होता है । सामाजिक परम्परा, नीति-रिवाज, कला-कौशल, विद्या-बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान आदि की अभिव्यञ्जक यथायथ कथानकन्दिया प्राकृतकथा-साहित्य में समवेत हैं । हमें मन्देह नहीं कि भारतीय मन्दित, साहित्य और प्राचीन परम्पराधियों के परिज्ञानाथ प्राकृतकथा-साहित्य अत्यधिक उपयोगी है ।



जैन-कथा-साहित्य और उसका श्रेय

गणेशप्रसाद जैन, वाराणसी



भारतीय-साहित्य का बहुभाग प्रायः कथासाहित्य है जिसमें विभिन्न काव्य-विधाओं में रचे गए एक में एक सुन्दर गद्य उपलब्ध होते हैं। इन रचनाओं में जहाँ लोक-संस्कृति की झलक मिलती है वहीं उस युग में बोनी जाने वाली भाषा का यथाथ रस भी मिलता है। इन रचनाओं के पठन में व्यायाम की आवश्यकता नहीं पड़ती।

विश्व के सम्पूर्ण साहित्य का बहुभाग एवं सर्वाधिक जन-प्रिय अथ मृगी न किमी रूप में व्यात्मक-साहित्य में ही पाया जाता है। लौकिक साहित्य-क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि धार्मिक साहित्य-क्षेत्र में भी यही स्थिति है। जैन-साहित्य का भी लोकदृष्टि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राक्षक एवं जन-प्रिय अथ उसका कथामाहित्य ही है।

जैनधर्म को प्रसारित व प्रचारित करने के लिए जैनान्धियों ने अपूर्व प्रेरणाप्रद और प्राज्ञ नैतिक-कथाओं की सारगर्भित परम्परा का उद्घाटन किया है। भारतीय लोक-कथामाहित्य में जैनकथाओं का विशिष्ट स्थान है। सख्या भी उनकी पर्याप्त है। विषय-विवेचन में एक मौलिकता है, संसार के समस्त अनुभवों को अपने आचल में छिपाये हुए, इन कथाओं ने विरक्ति और सदाचार को विदोषित प्रतिफलित किया है।

कहानियों के माध्यम से जिस उपदेश की धारा विस्तृत होती है, वह मानस पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव छोड़ जाती है और मानव वंश आचरण करने को आतुर हो जाता। घटनाओं के क्रमिक उत्थान व पतन का संयोग इस प्रकार होता है कि पाठकों की उत्सुकता सदैव जीवित रहती है, और आनन्द की रसमयी धारा का उद्रेक होता रहता है। सरल, सुबोध और सुगम्य वर्णनात्मक शैली कथाओं में बार-बार लगती है, और उस उपदेशात्मकता को विशेष प्रेरणाप्रद बनाती है।

जैनधर्म के कथाग्रन्थों में ऐसे अनेक चिरगूढ़ सवेदनशील आख्यान उपलब्ध हैं, जो ऐतिहासिक तथ्यों की प्रतीति कराने के साथ बर्बरता की निर्भय घाटी पर निरुपाय लुढ़कती मानवता को नैतिक एवं आध्यात्मिक भावभूमि पर महान् और नैतिकता का अधिष्ठाता बनाने में सक्षम है। ये कथाग्रन्थ संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश भाषा में होने के कारण जन-साधारण में प्रसारित नहीं हो सके। यदि कुछ राजस्थानी बोली और पुरानी हिन्दी के माध्यम से आये भी हैं तो उनसे पर्याप्त मात्रा में लाभ नहीं पहुँच सका है।

यथार्थवाद के धरातल पर निर्मित इनकी रूपरेखाओं में आदर्शवाद का ही रंग गहरा है। उन्होंने एक बार नहीं, हजारों बार बतलाया है कि मानव का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है, उसमें सफल होने के लिए विरक्त होना ही पड़ेगा। यद्यपि पुण्य सुखकर है और पाप की तुलना में इसकी उपलब्धि श्रेयस्कर है, फिर भी पुण्य की कामना का परित्याग एक विशेष परिस्थिति में आत्म-शुद्धि के लिए आवश्यक है।

कर्म-सिद्धांत के निरूपण से इन कथाओं में पाप-पुण्य की विषद व्याख्या हुई है। प्रत्येक जीव को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है, इस अटल सिद्धांत की परिधि के बाहर न देवता जा सकते हैं और न नरपति। ऋषि-मुनियों को भी अपने कृत्यों के शुभाशुभ परिणामों का अनुभव करना पड़ता है।

जैन-धर्म पुनर्जन्म के सिद्धांत में भी पूर्ण आस्थावान् है। इसलिए कमवाद की अभिव्यक्ति अधिक प्रभाव-शाली बन जाती है। किसी कालखंड में यदि जीव अपने वर्तमान जीवन में अपने कर्मों का फल नहीं भोग पाता तो उसे इनमें जन्म में अवश्य भोगना पड़ेगा।

शोधन में जो भी आवश्यकता, उनके प्रयोग, उसी उपयोगिता यदि पर अनेको कहानियां हैं जो उज्ज्वल जीवन को समुचित करने में सक्षम हैं। उन कहानियों के मूलतः चिन्तन और मनन में एक प्रकार की प्रेरणा पाकर मानव आत्मिकता और परिश्रम की जीव-प्रवृत्ति होती है।

जैन धर्मशास्त्रियों की चिन्ता करने वाले जैनधर्म के सिद्धान्तों में 'सर्वभूतहित' की भावना नदैव सम्पादित होती है। वाग्देव जैन धर्मशास्त्रियों की कल्पना के लिए यज्ञ स्थान है ही नहीं। पशु-पक्षी, देव-दानव, राजा-रक्षक और दैत्य को भी ममान रूप में धर्मोपदेश सुनाकर जैनधर्मशास्त्रियों ने अपनी उदारता का परिचय दिया है। जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझने के लिए जिन कथाओं का सहारा लिया है, वह काल्पनिक नहीं हैं बल्कि उनकी कथा-वस्तु में यथार्थता है, तथा वादनावाद की दृष्टि में उनका अवमान दृष्टा है। इस प्रकार में भारतीय लोक-कथा-साहित्य में जैन-कथा साहित्य का विशिष्ट स्थान है।

कथा-रस की विशेषताओं के उदाहरणस्वरूप हम जैन-कथाओं को उपस्थित कर सकते हैं। भारतीय जनता के प्रवृत्ति का के आचारा-विचारों एवं व्यवहारों के विषय का उनमें यथार्थ एवं सविस्तर परिचय प्राप्त होता है। जैन-कथा-साहित्य का भारतीय मन्त्रणा व मन्त्रुति के इतिहास-क्षेत्र में भी अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। जैन-कथा-साहित्य की मूलवस्तु धर्म को वर्तमान के सम्मुखित्व वाली हुई अपने सिद्धान्तों का सीधा उपदेश नहीं देनी, उसके स्थान पर ही प्रायः अप्रत्यक्ष रूप में अपना उद्देश्य प्रकट करने रहते हैं।

जैन-कथाओं में कथाना मनु-जीवी का ही चरित्र निर्वाह है, फिर भी उनमें भावनाओं का उत्थान-पतन, जीवन का अभिरुचि-विचार एवं मानदता का उच्च मन्देश निहित है। जैन कथा साहित्य की शृंखला का निर्माण धार्मिक और नैतिक विचारों के क्षेत्र में उद्घटित होता है।

जैन-कथा-साहित्य अत्यंत विचार, व्यापक विभिन्न-भाषामय एवं विविध है। लोक-कथाओं, दान्तकथाओं, नैतिक आख्यायिकाओं, प्रेम-कथाओं, साहित्यिक कहानियों, पशु-पक्षी की कहानियों, जमानवी देवी देवताओं से सम्बन्धित कथाओं, उपनिषद्, नाट्य कथा, चरित्र, दोहा (दूहा) टाल, राम, रूपक, प्रतीकात्मक आख्यायिका इत्यादि समय-समय पर एवं प्रदेश-प्रदेश अथवा विविध भाषाओं में प्रचलित विभिन्न शैलियों एवं रूपों में जैन-कथा-साहित्य उपलब्ध है। जैन-कथाओं की वृद्धता है पर जैन-कथाओं की परम्परा सम्बद्ध शृंखलाएं भी हैं। कुछ छोटी कहानियां हैं तो अनेक बृहद्-कथाओं में भी उपलब्ध होती हैं।

कथाओं के विविध प्रकारों में से दो मुख्य हैं, एक नीतिक कथा दूसरा धार्मिक। धार्मिक-कथाओं में आध्यात्मिकता का पूर्ण-पूर्ण पुट का रहता है, आन्तरिक जीवन-घटनाओं से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। उनमें तर्कों का मदनपुष्टान करनेवाले मध्य शब्दों की धार्मिक मर्यादा के साथ नैतिक जीवनचर्यों का भी अच्छा चित्रण पाया जाता है। यह ही मर्यादा के समय मुहूर्त रहकर विजय प्राप्त करने का वर्णन भी स्पष्ट रहता है। मत्पुरुषों के उच्चतर जीवन के विचार और नैतिक चरित्र में अपने चरित्र में विकास सम्भव है।

जैनधर्म प्रायः मौलिक है, कुछ महाभाग्य आदि जैनधर्म ग्रंथों में भी ग्रहण की गई हैं। अनेक मौलिक प्रचलित लोक-कथाओं का भी उनमें समावेश हो गया है, किन्तु ये सब जैनधर्म के साथ में टकराकर ही प्रस्तुत हुई हैं।

जन-साधारण में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए जैन मातु कथाओं को सबसे सुलभ व प्रभावशाली साधन मानते हैं और उन्होंने इसी दृष्टि में मनी भाषाओं में गद्य-पद्य दोनों में ही कहानीकला को चरम-सीमा में पहुँचा दिया है। उसी कारणे दैनिक जीवन की सरल में सरल भाषा में होती थी। कोई-कोई घटनाएँ तो केवल एक ही साधारण कथा दृष्टा रहनी थी, पर अप्रकाश कथाओं में बहुत-सी गौण-कथाएँ चलती रहती हैं, जैसे पंचतन्त्र।





डॉ० सत्यकेतु (एम०ए०,पी०एच०डी०) ने जैन लोककथाओं पर विचार प्रगट करते हुए लिखा है कि "जैन-साहित्य में ता बीहो ने भी अधिक कहानियों का भण्डार मिलता है। वे कहानियां कुछ ता त्रमं-मिद्वान्त ग्रंथों में आनी हैं। ये बहुधा तीर्थंरों तथा उनके ध्रमण अनुयायियों तथा घलाका-गुरुपा की जीवन-भनकियों के रूप में जहाँ-हाँ मिलती हैं।"

डॉ० याकोबी इनके उद्भन का उत्तरण करते हुए लिखते हैं कि कानन-माहित्य का उद्भन ईमा के एक घतावदी बाद के उत्तरार्द्ध में माना जाना चाहिए।

मुप्रमिद्ध यूरोपियन विद्वान श्री सी० एच० टान ने अपने ग्रंथ "ट्रजरी आफ ग्टागेज" की भूमिका में स्वीकार किया है कि जैनो के कथा-राप में मगरीत कथाजा न यूरोपीय कथाओं में अत्यन्त निवट माम्य है।

प्रो० मैसपूलर ने तथा गर्डेज डैविड्स ने अपने ग्रंथों में इस बात का मिद्ध करने के निग पर्माण प्रमाण दिये हैं कि भारतीय बीह-कथाएँ लाकण्डो के माध्यम से पर्सिया में यूरोप गई हैं।

पूवमध्य-काल में ही अनेक जैनकथाएँ भारत के पश्चिमी तट में अरब पट्टची तथा में ईरान, और ईरान में यूरोप। अनेक जैनकथाओं को तिब्बत, हिन्द एशिया, रूस, दूनान, गिमात्री और इटली के तथा यहूदियों के माहित्य में पहचानकर ग्योज निकाना गया है। इसी कारण जैन-कथा माहित्य को अगिल भारतीय संस्कृति का प्रनीक माना जाना चाहिए और यथायत है भी यही।

श्री टाने, हर्टल, व्हटर, ल्यूमेन, नेस्मितीरि, जैकोबी आदि अनेक यूरोपीय प्राच्यविदों ने जैन-कथा माहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ की हैं।

विदेशी लोक-कथाओं के परिशीलन में जान होता है कि अनेकों जैनकथाएँ गागर पार कर वहाँ गई, और वहाँ की मान्यताओं की बेप-भूपा में ढलकून हो गयी, किन्तु उनकी भूनभूत आत्मा जो की त्यो मुद्रित रही।

जैन-कथाकार अपनी उन्मुक्त स्वतन्त्रता के कारण जीवन की प्राय प्रत्येक भौतिक, मानसिक, दैनिक अथवा भावनात्मक परिस्थितियों को अपनी कथा में आत्मसात् कर लेता है, जिसमें जैन-कथावे जन-जीवन के प्राय प्रत्येक अंग का स्पर्श करती हैं, और वह आवाल-टुद्ध, स्त्री-पुरुष जन-माधारण का स्वस्थ मनोऽनन करती हुई नान्विक, दाननिक, मैद्वान्तिक तथा नैतिक तथ्यों की टाप टाल देती हैं, जिसमें जीवन श्रेयस्-उन्मुख होने लगता है।

जैन-कथाएँ अवाधगति में अग्रसर होती रहती हैं। कोई कथानक या पात्र हो, कोई भी घटना-प्रम अथवा स्थिति का चित्रण हो, उसे जैन-कथाकार अपने साँचे में टालकर, अपना मन्तव्य रोचक और वस्तुपरव टग में कहकर समर्थन प्राप्त करता है। कथाकार कहानी के अन्त में दार्शनिकता न पुण्य-पाप के मुफ्त निष्कर्षों को बड़ी ही गनीगता-पूर्वक उपस्थित करता है, जिसमें पाठकों अथवा श्रोताओं पर धार्मिक श्रद्धा की छाप पट जाती है।

जैन-भाषुओं का कथा कहने का ढग भी अन्यो की अपेक्षा कुछ विधेपतापूर्ण है। कथा के प्रारम्भ में वे अपने किसी प्रमिद्ध श्रमं-वाक्य या पद्यास द्वारा मगनाचरण कहते हैं और पण्चान् कथा कहना प्रारम्भ करने हैं। कथा की लम्बाई-ठोटाई पर वह कभी भी ध्यान नहीं देते। उनकी कथाएँ घटनापूर्ण होती हैं। कथा के प्रारम्भिक भाग में प्रमुन पात्र अथवा पात्रों का परिचय व निवास-स्थान आदि की चर्चा की जाती है। कथा के अन्त में वक्ता-श्रोताओं अथवा पाठकों से सम्बन्धित पात्रों को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं। कथा-पात्र अरिहन्त भगवान् से ससार के दुखों में छुटकारा प्राप्त करने का उपाय पूछता है, प्रत्युत्तर में केवली भगवान् जैन-धर्म के मुख्य-मुख्य तत्त्वों का निरूपण करते हैं। वे वतलाते हैं कि प्राणी को पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप ही सुख-दुख की प्राप्ति होती है। अपने कथन के उदाहरण में वह कहानी के पात्रों के जीवन में घटित घटनाओं के वर्णन द्वारा उसे स्पष्ट रूप में समझाते हैं।

जैनतर विद्वानों ने लोक-भाषाओं को गीण मानकर जहाँ-संस्कृत आदि अन्य भाषाओं में कथा-साहित्य की सृष्टि की है, वही जैन विद्वानों ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों ही भाषाओं में कथा-साहित्य का भण्डार परिपूर्ण किया है। इस प्रकार की रचनाएँ कथा, चरित और पुराण-ग्रंथों के रूप में हमें उपलब्ध हैं। इतना ही नहीं बल्कि

भारतीय विविध प्राणीय भाषाओं, मराठी, गुजराती, हिन्दी जादि में नज्जिन रचनायें भी कथा-साहित्य भण्डार की अमूल्य निधि हैं ।

प्रसिद्ध जैन महत्त्वपूर्ण जैन कथा-ग्रंथों में हरिपेण का वृहन्कथा-कोष, प्रभाचन्द्र, श्रीचन्द्र, नेमीदत्त आदि का आराधना कथा कोष, जिनेश्वर गूरि एवं भद्रेश्वर भूषि की कथावर्णियाँ, रामचन्द्र का पुण्याश्रवकथा कोष इत्यादि उल्लेखनीय हैं ।

मदनन्द काश्यां में लगवती कहा, समानाञ्जन कहा, धूर्ताभ्यान्, कुवलयमाना, उपमितिभवप्रपञ्चकथा, धर्म-परोक्षा सम्प्रदाय चौमुदी, निम्बकमजरी, धर्माभूत, शुक्लपति, त्त्वचूड की कथा आदि विशेषतः महत्त्वपूर्ण हैं ।

जैनकथा-साहित्य के प्रधान मूल श्रोत 'पञ्चनाथों' को तथा भिवायें की 'भगवती आराधना' को माना जाता है । गुणाद्य की प्रसिद्ध वृहन्कथा या आधार काणभूति द्वारा जूनभाषा में रचित जिन ग्रंथ का माना जाना है, वह जैन विद्वान् बाण भिक्षु, का प्राकृत-कथा ग्रंथ प्रतीत होता है । ज्वेनाम्बर आगम-सूत्र और दिगम्बर पौराणिक-साहित्य में भी अनेक जैनकथाओं के उद्गमस्थान हैं ।

०



जैन-कथासाहित्य : एक अनुदृष्टि

प्रोफेसर श्रीचन्द्र जैन

एम० ए०, उज्जैन



कहानी साहित्य की एक प्रमुख विधा है जिसे सबसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। विश्व के सर्वोत्कृष्ट काव्य की जननी कहानी ही है। कथा के प्रति मानव मात्र का सहज आकर्षण है। फनन जीवन का कोई भी ऐसा क्षण नहीं है जिसमें कहानी की मधुरिमा अभिव्यजित न हुई हो। मृत्यु तो यह है कि मानव अपने जन्म के साथ कथा को लाया है और वह अपनी जिन्दगी की कहानी कहता हुआ समाप्त करता है। कहने और सुनने की उत्कण्ठा सार्वभौम है। मानव-विक्रम की गाथा में एक ऐसा भी चरण था जब मनुष्य कानना में ही रहकर पशु-पक्षियों के साहचर्य में अपनी नीरस जीवनयात्रा को सरस बनाता था। उस समय धरे-भरे पेड़ उसे छाया देते थे, गगनचारी विहग मधुर गीत सुनाकर उनकी थकान मिटाते थे और पशु अपनी उल्लासभरी क्रीड़ाओं से उसका मनोरंजन करते थे। इसी मान्निष्ठ्य में मानव का पशु-पक्षियों का मित्र बनाया है और कई युगों के बीत जाने पर भी आज का इमान इन्हे भूल नहीं पाया है। सुसंस्कृत होने पर मानव ने अपने इस स्नेह को कहानियों के माध्यम से विकसित किया। परिणामतः कथा के आकर्षण को सफल बनाने के लिए प्राकृतिक सुषमा कहानी-साहित्य में एक विशिष्ट उपकरण के रूप में मान्य है।

हमारे प्राचीनतम साहित्य में कथा के तत्त्व जीवित हैं। ऋग्वेद में, जो समार का सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है, स्तुतियों के रूप में कहानी के मूलतत्त्व पाये जाते हैं। ऋग्वेद के मंत्र १ सूक्त २४।२५, मंत्र ३० (दोनों में मिनाकर) में ऋषि शुन क्षेप का वह प्रसिद्ध आन्वयान है जिसमें उन्होंने 'वरुण' की प्रार्थना की है, उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। अप्सरा-आमेयी के आदर्श नागीचरित्र ऋग्वेद में आए हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में भी हमें अनेक कथाएँ उपलब्ध होती हैं। शतपथ ब्राह्मण की पुरुरवा और उवशी की कथा का किस को ज्ञान नहीं है ?

ये कहानियाँ उपनिषत्काल से पूर्व की हैं। उपनिषत्काल में आकर इन्हें कुछ नया रूप मिला है। गार्गी-याज्ञवल्क्य सवाद तथा सत्यकाम-जावाल आदि की कहानियाँ उपनिषद्-युग की प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। छान्दोग्य उपनिषद् ४।१।३ में जनश्रुति के पुत्र राजा जानश्रुति की कथा का चित्रण मिलता है। पुराणों में कहानी सुल्कर आई है जिससे वेद के गूढार्थ का प्रतिपादन होता है। यह कहना कि पुराणों में वेद की व्याख्या है, निराधार नहीं है। पुराण वेदाध्ययन की कुजी हैं। वेदों की मूलभूत कहानियाँ पुराणों की कथाओं में पल्लवित प्रस्फुटित हुई हैं। पुराण कथा-कहानियों का अतुल भंडार है।

रामायण और महाभारत में भी बहुत से आन्वयान जुड़े हैं। रामायण की अपेक्षा महाभारत में यह वृत्ति अधिक है। एक प्रकार से देखा जाय तो महाभारत कहानियों का काप है।^१

इस प्रकार कथासाहित्य की एक प्राचीन परम्परा है जिसमें पंचतंत्र, हिनोपदेश, बेताल पंचविशतिका, सिंहासनद्वान्विशिका, शुकसप्तति, ब्रह्मकथामञ्जरी, कथासरित्सागर आख्यानयामिनी, जातक कथाएँ आदि विशेषतः उल्लेख्य हैं।

कथा साहित्य-मरिता की बहुमुखी धारा के वेग को क्षिप्रगामी बनाने में जैन कथाओं का योगदान उल्लेख-

नीय है। जैनो के सूत्र आगमों में द्वादशांगी प्रधान और प्रत्यान है। उनमें नायायम्मकहा, उवामगदमाओ, अन्नगट, अनुत्तरोपपानिक, विपाकपूत्र आदि समग्र रूप में कथात्मक है। इनके अतिरिक्त भूगडांग, भगवती, ठाण्ण आदि में भी अनेक रूपक एवं कथाएँ हैं जो अनीत्र भावपूर्ण एवं प्रभावजनक हैं। तत्त्वज्ञानी, समग्रतत्त्वज्ञान तथा कुशलप्रमाण आदि अनेकानेक तत्त्वज्ञ कथाश्रित्य विषय की सर्वोत्तम कथाविभूति है। यदि अध्ययन विविक्त तथा इतिहास-क्रम में इन साहित्य का किया जाय तो कई नवीन तथ्य प्रकाश में आवेंगे और जैन कथा-साहित्य की प्राचीनता वैदिक कथाओं में भी अधिक पुगली परिलक्षित होगी। जैनो का पुरातन साहित्य तो कथाओं में पूर्णतः पन्विष्ट है। डॉक्टर बानुदेवशरण अग्रवाल 'लोक-कथाएँ और उनका समग्रकार्य' शीपक निबन्ध में लिखते हैं—“बौद्धों ने प्राचीन ज्ञानको की शैली के अतिरिक्त अवदान नामक नये कथा-साहित्य की रचना की जिसके कई ग्रन्थ (अवदानगणक विद्यावदान आदि) उपलब्ध हैं। किन्तु इन क्षेत्र में जैमा मार्का जैन लेखकों ने किया वह विस्तार, विविधता और बहुभाषाओं के माध्यम की दृष्टि में भारतीय साहित्य में अद्वितीय है। विक्रम संवत् के आरम्भ में लेकर उन्नीसवीं शती तक जैन साहित्य में कथाग्रन्थों की अविच्छिन्न धारा पायी जाती है। यह कथा-साहित्य इतना विद्याल है कि इसके समुचित संपादन और प्रकाशन के लिए पचास वर्षों में कम समय की अपेक्षा नहीं होगी।

जैन साहित्य में लोक-कथाओं का सुलभ स्वागत हुआ। भारतीय लोक-मानस पर मध्यकालीन साहित्य की जो छाप अभी तक सुगम है उसमें जैन कहानी साहित्य का पर्याप्त अंश है। सदयवच्छ सार्वलिंग की कहानी का जायसी ने पद्यावत में और उसमें भी पहले अब्दुल रहमान ने मदेशगसक में उल्लेख किया है। वह कहानी बिहार से राजस्थान और विद्यप्रदेश के गाव-गांव में जनता के कठ-कठ में बसी है। कितने ही ग्रन्थों के रूप में भी वह जैन-साहित्य का अंग है।^१ जैन कथाओं को विद्वान् लेखकों ने मस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश आदि कई भाषाओं में लिखकर एक ओर भाषा की समृद्धि की है और दूसरी ओर जनता की भावना को परिष्कृत किया है। जनपदीय कालियों में भी जैन लेखकों ने कथामाहित्य का पर्याप्त मात्रा में लिखा है। इन कथाओं में जैन सम्प्रदाय तथा सम्यक्ता विविध रूपों में मुखरित हुई है। लोक-जीवन के बड़े मोड़ों पर चित्र इन कहानियों में चित्रित हैं जिन्हें देखकर आज का समाज अपने विगत वैभव का ज्ञान सुगमता से कर सकता है। लोक-जीवन को कई रूपों में अपनाने वाली इन कथाओं में यद्यपि उपदेश की भावना अधिक प्रबल है, फिर भी जैन लेखकों ने इनमें मानव की सुख-दुःख तत्त्वक अनुभूतियों को भी मरस रूप में अंकित किया है। जैनाचार्यों ने इन कथाओं के माध्यम से गहन सैद्धान्तिक तत्वों का सुगम बनाया है तथा श्रावकों एवं साधारण जनता ने इनके द्वारा अपनी महज प्रवृत्तियों को विशुद्ध बनाने का सतत प्रयास किया है। जैन लेखकों ने इन आख्यानों में मानवजीवन के ध्येय तथा व्याम दाना रूपों का अपनाया है लेकिन आख्यान की परिमार्पित पर ध्येय रूप को ही प्रधानता देकर आदर्शवाद को स्थापित किया है।

डॉ० यादव के मतानुसार “कथामाहित्य की दृष्टि में जैन साहित्य बौद्ध साहित्य की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। जैन कहानियों में तीर्थंकर, अमणो एवं शनाकापुरणों की जीवनकथाएँ मुख्य हैं जिनमें धर्म के निदानों का स्पष्टीकरण होता चलता है। इनमें धार्मिक दृष्टि का पुष्ट करने के लिए जैन कहानीकार साधारण कहानी की समार्पित पर 'केवली' (मुक्ति के अविनाशी मातृ) के द्वारा दुःख-सुख की व्याख्या पूर्वजन्म के कर्म के आधार पर कर देता है। वन यही पर ये जानको में मिलते हैं। जैन कथाओं में भूत, वनमान दुःख-सुख की व्याख्या या कारणनिर्देश के रूप में आता है। वह गौण है। मुख्य है वर्तमान। जब कि बौद्ध जातकों में वर्तमान अमुख्य है। वहाँ बोधिसत्व की स्थिति विगत काल में ही रहती है। इनमें अनेक रूपक कहानियाँ भी हैं। एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। एक तालाब है। उनमें खिले हुए कमल भरे हैं। मध्य में एक बड़ा कमल है। चार ओर में चार मनुष्य आते हैं और वे उस बड़े कमल को हथियाना चाहते हैं। प्रयत्न करते हैं परन्तु सफल नहीं होते। एक भिक्षु तालाब के किनारे से कुछ शब्द बोलकर उस बड़े कमल का प्राप्ति कर लेता है। यह सूयगड (सूत्रकथा) आगम की रूप-कहानी है। इस रूपक





के द्वारा यह समझाया गया है कि विषयभोग का त्यागी साधु राजा महाराजा आदि का गसर मे उद्धार कर देता है ।

उस प्राचीन कथासाहित्य मे, जिनका ऊपर वर्णन हुआ है, तत्त्व ग्रहण कर आगे के लेखकों ने सम्प्रति, प्राकृत, और अपभ्रंश मे अनेक कहानियाँ रची हैं । अपभ्रंश के पञ्चमचरित (पञ्चचरित्र) एवं भविष्यनरुहा (भविष्य-दत्तकथा) नामक ग्रन्थ कहानी साहित्य की अमूल निधि हैं । इनमे अनेक उपदेशप्रद कहानियाँ उपलब्ध होती हैं । अधिक क्या कहा जाए, कथाओं के समूह के समूह जैन आचार्यों ने रच डाले हैं जिनके द्वारा जैनधर्म का प्रचार भी हुआ है और धार्मिक गिद्धान्तों को बल भी मिला है ।^१

इस कथासाहित्य के कथानक बड़े ही मर्मरपशी हैं और गाय ही गाय व्यापक हैं । जीवन के शाश्वत तत्त्वों का इनमे निरूपण हुआ है । तथा पात्रों का चरित्र रसात्मक रूप में होने के कारण मर्मग्राह्य बन गया है ।

कथनोपकथन पात्रानुक्रम हैं । वातावरण इन कथाओं की भाव-भूमि को मनोरम बनाता है तथा पात्रों की विचारधारा में वैशिष्ट्य समुपन करता है । देश काल में सम्प्रति कथा-सूत्र सरकारीन शक्ति, सामाजिक एवं ऐतिहासिक तत्त्वों को प्रदर्शित करते हैं और पाठकों के समुदाय विशिष्ट चित्रावलिओं को प्रस्तुत कर अपनी मार्मिकता का परिचय देते हैं ।^२ शैली में सरलता है, गरमता है तथा एक विशिष्ट परम्परा का अलङ्कार है । उद्देश्य के सम्बन्ध में यही कहना पर्याप्त है कि जैन लेखकों ने कथाओं के द्वारा आध्यात्मिक पक्ष की प्रतीति को ही प्रधानता दी है । स्थूल आकाशों से दूर रहकर ही मानव अपने प्राणों की पहिचान सकता है । यही मिद्धान्त मध्य धर्मित हुआ है । मुनिश्री महेंद्रमुनि जी प्रथम — “सचित्र जैन कहानियाँ” नामक पुस्तक के दूसरे भाग की भूमिका में लिखते हैं - ‘परिस्थितियाँ ही मनुष्य को बनाती या बिगाड़ती हैं, यह सत्य है । इसमें तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती । वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य ही अपना ब्रह्मा-स्रष्टा, विष्णु-सारक व महेश सहायक है । उनकी सावधानी या असावधानी पर उसका सारा भागी जीवन अलङ्कित होता है । वह अपनी धरोहर की गोता है,^३ सुरक्षित रखता है या सुसज्जित करता है । यह उसके कर्तव्य पर आधारित है । प्रस्तुत जैन कहानियाँ पाठकों के समक्ष यही नज़र आती प्रस्तुत करती हैं । इन कहानियों में नायक के पूरे जीवन-चित्र प्रस्तुत नहीं हैं अपितु वे ही हैं जिनमें वह अपने कर्तव्य

१ हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य, पृ० ३४६ ।

२ विचारों के प्रकट करने के ढंग को हम शैली कह सकते हैं । साधारणतः लिखने और कहने की गति को यदि शैली कहा जाय तो ठीक ही है । “प्रसिद्ध यूनानी विचारक अफलातून या प्लेटो का मत है - जब विचार को सात्त्विक रूपाकार दे दिया जाता है तो शैली का उदय होता है । — बर्नार्ड शा का विचार है कि प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व ही शैली का अर्थ और इति है । हमारी समझ में शैली अनुभूत विषयवस्तु को राजाने के उन तरीकों का नाम है जो उस विषयवस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं । शैली अभिप्रेती ‘स्टाइल’ का अनुवाद है ।”

— हिन्दी साहित्य कोश — भाग २ पृ० ३८७ ।

जैन कथाओं की शैली एक परम्परा को अपनाए हुए है जिसमें भावों को सहज रूप में अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है । कहावतों, मुहावरों एवं सूक्तियों का समावेश होने से यह शैली बड़ी सरस बन गई है । प्रत्येक कहानी के प्रारम्भ में भगवाचरण-स्वरूप जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति-परक कुछ पक्तियाँ होती हैं तथा कथा की समाप्ति में भी भगवद्भक्ति की कामना की जाती है — “ससार का हित करने वाले जिनेन्द्र भगवान् की प्रसन्नतापूर्वक नमस्कार कर शुभ नाम के राजा की कथा लिखी जाती है ।” कथा की परिसमाप्ति पर लेखक की कामना इस प्रकार अभिव्यक्त होती है — “जिनके वचन पापों के नाश करने वाले हैं, सर्वोत्तम हैं, और ससार का भ्रमण मिटानेवाले हैं, वे वेदों द्वारा पूजे जाने वाले जिन भगवान् मुझे तब तक अपने चरणों की सेवा का अधिकार दें, जब तक कि मैं कर्मों का नाशकर मुक्ति प्राप्त न कर सकूँ ।”

अराधनाकथाकोश-तीसरा भाग पृष्ठ ६१ । पद्यात्मक कथाओं की शैली मुख्य पृथक् होती है । उम्पू शैली में लिखी हुई कथाओं की शैली अधिक प्रभावोत्पादक मानी गई है ।

से या तो बहुत अधिक निवृत्त उठा है या वह काला स्याह हो गया है। जीवन का पूर्वार्ध या पश्चिमार्ध यत्र-तत्र आया भी है तो वह एक स्रोतक वृत्तना के रूप में ही उपस्थित हुआ है। इन कहानियों में एक ओर त्याग भावना व वैराग्य की प्रचुरता है तो साथ ही माय जीवन के व्यावहारिक पहलुओं को छूने वाले भी अनेक प्रकरण हैं जिनमें आध्यात्मिकता और भौतिकता का समन्वय स्वर है।”

इहानियों में कथोक्तयन के माध्यम से केवल विरोध ही नहीं होना अपितु उनमें जीवन की मरन अनुभूतियों के साथ मस्कुति, मम्यता, दर्शन व धर्म का निचाड़ भी होना है। सामान्यतया दर्शन में तात्त्विक उलम्भन, धर्म में आचरणशील पहलुओं की विविधता तथा मस्कुति व मम्यता में प्राचीनता व अर्वाचीनता का विवाद होना है। जिज्ञानु व्यक्ति उनके गहरे विश्लेषण का पटना है पर उसमें से उसके हृत्पगत बहुत थोड़ा होता है। कई बार तो दो-चार दुःख-विषयों पर भी व्यक्ति को खानी हाथों नीटना पड़ता है। कुछ इने-गिने व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो उस विश्लेषण में मुक्तता पा सकते हैं। किन्तु मस्कुति, दर्शन व धर्म कुछ एक व्यक्तियों की ही धरोहर नहीं होती। वे तो प्रत्येक व्यक्ति की पवित्र निधि होते हैं, जिनके बिना एक कदम चलना भी असम्भव होता है। ऐसी स्थिति में उनका मरल मार्ग कहानीसाहित्य ही होता है। इस भाग में दर्शन के दुर्लभ प्रश्न, मस्कुति का गहग चिन्तन व धर्म के विविध पहलु मरनता में हृदयगत किन्ने व बगने जा सकते हैं। इसमें उन सब की वोदनी हुई आत्मा होती है। मित्रसम्पन्न व ज्ञानासम्पन्न उपदेश भी इसी माध्यम में प्राप्त होता है जो श्रुति में मधुर, जाचग्न म सुन्दर व हृदय को छूने वाला होता है।”

मुनि जी का यह कथन प्रायः समस्त जैन कथाओं के सम्बन्ध में मान्य कहा जा सकता है। सामारिज वैभव-विनाश में विरक्ति उत्पन्न करने के लिये जैन-कथाएँ अधिक प्रयोजनवती सिद्ध हुई हैं। उनमें जिन सूक्तियों का समाविष्ट किया गया है वे भी इन प्रमुख मन्त्रों को मार्गक बनानी हैं।

जैन-कथाओं का वर्गीकरण

जैन-कथाओं का एक विभाग भाण्डार है जिसे निश्चित रूपों में विभक्त करना मरल नहीं है। फिर भी विद्वानों ने कथानकां, पात्रों, एवं उद्देश्यों के अनुसार कथाओं का वर्गीकरण किया है। कथा-साहित्य-विशारदों ने अभिप्रायों के आधार पर इन्हीं विभाजित करने का प्रयत्न किया है। दीर्घनिकाय के इन्द्राजानमुत्त में एक स्थान पर कथाओं के जो अनेक भेद दिये हैं वे इस प्रकार हैं—(१) राजकथा (२) चोरकथा (३) महामात्यकथा (४) मेन-कथा (५) नरकथा (६) युद्धकथा (७) अलकथा (८) पानकथा, (९) वस्त्रकथा (१०) धनकथा (११) माला-कथा (१२) गधकथा (१३) ज्ञानिकथा (१४) यानकथा (१५) ग्रामकथा (१६) निगमकथा (१७) नगरकथा (१८) जनपदकथा (१९) स्त्रीकथा (२०) पुत्रकथा (२१) नृकथा (२२) विशिष्टाकथा (वाजारु गर्ण) (२३) कुम्भयानकथा (पनघट की कहानियाँ) (२४) पूर्वप्रेत कथा (गूजरों की कहानियाँ) (२५) निरर्थककथा (२६) नोकाम्पायिका (२७) समुद्राख्यायिका (दीर्घ निकाय १।८)।

साधारणतः जैन कथाओं को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है —

- (१) धर्म सम्बन्धी कथाएँ।
- (२) अर्थ सम्बन्धी कथाएँ।
- (३) ग्राम सम्बन्धी कथाएँ।
- (४) यौव सम्बन्धी कथाएँ।

इन वर्गीकरण में भी यौवविषयक-भावना मन्त्र विद्यमान है। इसके अन्तर्गत विरक्ति, त्याग, तपस्या, पूजन, आदि धार्मिक चिन्तन एवं कृत्य स्वयं ही मन्त्रित है, क्योंकि जैन कथाओं का लक्ष्य जैन धर्म की महिमा को बताना तथा जैन-धर्म-प्रतिपादित आचार का प्रचार करना है।





प्रकारान्तर से जैन कथाओं को इस प्रकार भी—वर्गीकृत किया जा सकता है (१) धार्मिक (२) ऐति-
हासिक (३) सामाजिक (४) उपदेशात्मक (५) मनोरजनात्मक (६) अलौकिक (७) नैतिक (८) गद्य-पद्य गवधी
(९) गाथाएँ (१०) श्लाघ-वरदान विषयक (११) व्यवसाय सम्बन्धी (१२) विविध (१३) यात्रासम्बन्धी (१४)
गुरु शिष्य सम्बन्धी (१५) देवीदेवता सम्बन्धी (१६) शकुनापशकुन सम्बन्धी (१७) मन्त्र-तन्त्रादि सम्बन्धी (१८)
बुद्धिपरीक्षण सम्बन्धी (१९) विविध जाति-वर्ग सम्बन्धी (२०) त्रिशिष्ट न्याय विषयक (२१) कात्पनिक कथाएँ,
एव (२२) प्रकीर्णक ।

कतिपय कथाकोशों का संक्षिप्त परिचय

(१) कथाकोश (कथानवकोश अथवा कथाकोश प्रकरणम्)—उसके रचयिता श्रीवर्धमानसूरि के शिष्य
जिनेश्वरसूरि हैं । प्राकृत के इस ग्रन्थ में २३६ गाथाएँ हैं । इस ग्रन्थ की संस्कृतटीका में गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग
किया गया है । यद्य-तत्र किं गणं संस्कृतं, प्राकृतं तथा अपभ्रंश के उद्धरणों में यह कृति विशेष आकषक बन
गई है ।

(२) कथाकोश — इसके रचयिता का नाम अज्ञान है । १७ कथाएँ हममें मशहूर हैं । इन कहानियों में लोक-
कथातत्त्व निष्पन्न दृष्टव्य है । संस्कृत में निम्नित इस कृति में प्राकृत गाथाओं का भी समावेश है ।

(३) कथाकोश (कथारत्नकोश) सवत् ११५८ में लिखित कृति के रचयिता श्रीप्रसन्नचन्द्र के शिष्य श्री देवभद्र
हैं । मुनिमार्ग के विवेचन के लिए आदर्श कथाओं को प्राकृत में लिखा गया है तथा यद्य-तत्र संस्कृत के पद्यों को भी
उद्धृत करके कथा-कोशकार ने बड़ी निपुणता में गहस्थ के कर्त्तव्यों को प्रतिपादित किया है ।

(४) कथाकोश (भारतेश्वर बाहुवली-वृत्ति)—प्राचीन जैन-साहित्य में निविष्ट धार्मिक महापुराणों की जीवन-
कथाओं को प्राकृत में लिखकर लेखक ने अपनी कथाप्रणयन अभिरुचि का सुन्दर परिचय दिया है । प्राकृत की इस
रचना में संस्कृत का भी प्रयोग हुआ है । यह कृति सवत् ११०६ में निमित्त हुई थी ।

(५) कथाकोश (व्रतकथाकोश)—संस्कृत की इस रचना के प्रणेता श्रीश्रुतसागर हैं । व्रतों में सम्बन्धित
कथाएँ इसमें संगृहीत हैं तथा विक्रम सवत् की १६ वीं शताब्दी की यह कृति है । इस कृति के रचयिता के गुरु
विद्यानदि थे ।

(६) कथाकोश—उसमें प्राकृत में लिखित १४० गाथाएँ हैं । कृति के लेखक श्रीविजयचन्द्र हैं ।

(७) कथामणि-कोश (आर्यायनमणिकोश)—प्राकृत में रचित इस पद्यात्मक ग्रन्थ के रचयिता कवि श्री-
देवेन्द्रमणि हैं जिन्हें नेमिचन्द्र भी कहा गया है । श्री देवेन्द्र अपनी सरल शैली के लिए प्रसिद्ध हैं । यह बृहत् ग्रन्थ ४१
अध्यायों में समाप्त हुआ है । इस कोश की संस्कृतटीका के लेखक श्रीजिनचन्द्र के शिष्य श्रीभरतदेव हैं । टीका सवत्
११६० में लिखी गई थी ।

(८) कथामहोदधि (कर्पूरप्रकर अथवा सूक्तावली)—१७६ छन्दों में लिखा गया यह ग्रन्थ धार्मिक तथा
नैतिक सिद्धान्तों की विवेचना करने में पूर्णरूपेण सक्षम माना गया है । प्रत्येक छंद में एक अथवा दो कथाओं का उल्लेख
हुआ है । इसके रचयिता श्रीवज्रसेन के शिष्य श्रीहरिपेण हैं ।

(९) कथारत्नसागर—उसमें १५ तरंग हैं । श्रीदेवभद्र सूरि के शिष्य नरचन्द्र सूरि इस 'सागर' के निर्माता
हैं ।

(१०) कथारत्नाकर—संस्कृत की इस रचना के प्रणेता श्रीउत्तमपि हैं ।

(११) कथारत्नाकर—सवत् १६५७ में रचित इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीकमलविजय के शिष्य हेमविजय
गणि हैं । इसमें संगृहीत कथाओं में से कुछ तो सुनी हुई कथाएँ हैं और कुछ कात्पनिक हैं । दस तरंगों में २५८ कथाओं
की विस्तृत चर्चा हुई है । सरल संस्कृत में लिखी गई यह कृति बड़ी सरस एवं नैतिकता की शिक्षा है । संस्कृत,
प्राकृत, अपभ्रंश, पुरातन हिन्दी एवं प्राचीन गुजराती के उद्धरणों को पर्याप्त सख्या में अपनाया गया है ।





देशाटन बताना है कि मध्ययुग यूरोप और भारत के बीच दूध कथाएँ (मुग्धदशमी कथा की कथाएँ) का आदान-प्रदान हुआ है। मैक्समूलर व हेटन आदि अनेक विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय कथाओं का यह अद्भुत प्रवाह अति प्राचीन काल में पश्चिम की ओर प्रवाहित होता रहा है जिसमें प्लूटार्क, वेदव्यासी, जानरु मगरी तथा पचतथ इतिहासकार व कथागर्भितामर आदि भारतीय साहित्य में विद्वद्व अनेक लोक-रस-पाठ्यात्ययों में जाकर बड़ा के सातारण के अनुकूल हेर-फेर, नस्ति प्रचलित हुई है। उन युगाधीन कथा के मध्य प्राचीन लेखक चार्ल्स मरैट का जीवनपाठ मन् १६२८ में १७०३ तक माना गया है। उनमें पूर्व दूध कथाओं के यूरोप में प्रचलित होने का कोई प्रमाण हमारे सम्मुख नहीं है। इसी तुरन्त में भारत की मुग्धदशमी कथा की परम्परा अति प्राचीन है। इसी मरैटी अनुवाद जितामर द्वारा मन् १७०६ के लगभग, मरैटी अनुवाद धृतमरैटी द्वारा व गुजराती अनुवाद जिनराम द्वारा मन् १४५० के लगभग, एवं अग्रज की मूल रचना मन् ११५० ई० के लगभग हुई पाई जाती है। उन बाई आधुनिक नदी जो अन्य भारतीय कथाओं के मध्य दूध कथा का भी देशान्तर-गमन हुआ हो, जिनका प्रचार-प्रम गणनीय है।^१

धर्म-पूर्वक यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो हजारों ऐसी जैव-रस उपनयनों की सामान्य परिवर्तना के साथ पाठ्यात्यय कथामाहित्य में गुम्फित है।

जैन-कथा-साहित्य का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन

भाषा-विज्ञान की दृष्टि में जैनकथाओं का कम महत्त्व नहीं है। यदि प्राकृत, मगधी, अग्रज आदि भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तथा कतिपय कथाओं के विविध अनुवादों को सामने रखा जाय तो पाठक को ज्ञात होगा कि किस प्रकार शब्दों के रूपपरिवर्तन होने हैं तथा प्राकृत या एक शब्द मगधी में आकर किस रूप में उच्चारित होता है तथा यही शब्द अग्रज आदि भाषाओं में प्रयुक्त होकर कौनसी विधि की परिधि में आवद्ध होता है। लेकिन इस प्रकार भाषावैज्ञानिक अध्ययन उन अध्येताओं को ही प्रिय लगेगा जो गृहभाषाविद् हैं तथा जिनकी भाषाविज्ञान में विशेष अभिरुचि है। शब्दों के अर्थ-परिवर्तन को समझने के लिए ये क्याएँ बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती ह।

जैन-कथाओं के अनुशीलन में हमें हजारों ऐसे शब्द प्राप्त होते हैं जिनमें जैनो की सांस्कृतिक भावना अभिव्यजित है। उन प्रकार के शब्द उन युग की चेतना को भी दर्शाते करते हैं जब कि जैनो की मधुविषय व्याग-प्रवृत्ति चरम-सीमा को छू रही थी।

यहाँ कुछ ऐसे विशेष शब्द दिये जाते हैं, जो हिन्दी जैन-कथाओं में प्रयुक्त हुए हैं तथा उनका भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

१ न्योता (निमन्त्रण) २ कोहवर (कोतुकगृह) ३ मटवा (मण्डप) ४ ककन (ककण) ५ मिन्होरे (मिन्हू-दानी) ६ पितरनरेती (पितृनिमन्त्रण) ७ उदरिया (वह्निगा) ८ पोमर (पुष्कर) ९ गौरा (गौर), १० कीआप (काक-पक्षी) आदि।

जैन-ग्रंथों में आए हुए निम्न कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ जैनान्ध्या के अनुकूल ही मान्य होगा। यह विनिष्ट अर्थ शब्दों की अभिव्यञ्जना-गति का चेतक है —

- १ ताक—पुत्र।
- २ दरखल्ल—ग्राम-प्रधान अथवा ग्रामाद।
- ३ गराशन—जाति-वहिष्कृत।
- ४ प्रतिमा—व्याग की एक सीमा।
- ५ नेव्या—भावना।

- ### लैन-नदालो में चित्रित लोक-संस्कृति

संस्कृति, अन्तः की तथा बाह्य जीवन की अभिव्यक्ति है। इसके अन्तर्गत हमारे जीवन के सभी भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्य आ जाते हैं। साम्प्रतिक में हम समाज के मूल में कुछ नैतिक मूल्य, धार्मिक विश्वास, सम्मान, सामाजिक नियम तथा अन्य सामाजिक क्रिया-कलाप होते हैं जिनको सामाजिक तथा धार्मिक स्वीकृति प्राप्त होती है। उन मूल्यों की दृष्ट-अभिप्रेत में दुःख-सुखों में बढ़ा जाता इतिहास छिपा रहता है। हर देश तथा समाज की संस्कृति संस्कृति की आद्यावधिता बताता है जो संस्कृति समाज होता है। सभी लोक समाज की संस्कृति लोक-संस्कृति कहलाती है। लोक-संस्कृति पन्थि-वद्ध बोटों के साथ नहीं अपितु एक मानसिक बरोह तथा विश्वास है जो लोक-मानव को युगों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी विद्यमान के रूप में मिल रही है। यद्यपि संस्कृति इस संस्कृति में सामाजिक परिवर्तन करती रहती है, परन्तु लोक-मानव इस संस्कृति की उसी संस्कृति को मानता है तथा मानना चाहता है। यदि यह परिवर्तन करना भी है तो परिस्थितियों विद्यमान के कारण ही करना पड़ता है। इसीलिए किसी भी देश की लोक-संस्कृति में स्थायित्व होता है।



पाप पुण्य एवं धर्म-अधर्म का साधन मरण है। अब अन्तर्धार तथा धर्माधार के विचार में मनुष्य और मानवता सकलमोक्षार्थ मित्र हुई है। फिर भी दुष्टता का अभाव होता था-वर्नाश्रमों का। धर्माधार न था तो मोक्षार्थ आकर्षणहीन बन सकता है। उसी प्रकार दुर्जितर गजजंगल के पशुओं में अभिप्रेत करता है। ऐसी स्थिति में इन कथाओं की कथायन्त्रु दोनों को लेकर आगे बढ़नी है, लेकिन परिणामार्थ पर दुर्जनता प्रभावहीन बनकर मरण पाट हो जाती है और मौजन्म विचार की भाँति प्रकाशित होता है। आजीविता के अन्तर्धार / फिर भी धर्माधार तथा धर्मों की प्रामाण्य प्राचीनकाल में उत्पन्न है। नीलनी के प्रति जाता का अधिक आकर्षण न था। था प्रभाव मानव दान के प्रति उत्सुक रहता था, एवं धार्मिक श्रुत्या में जी साधन स्थापित करता था। तत्पश्चात् ही अथवा ईश्वर्य का सुनिश्चित न होने देती थी। समस्त धर्मों के प्रति अनुगम होनेपर भी जाता सर्वोप धर्म-धर्माधार में मग्न रहती थी। तमान सुगठित था, तथा विराधी-धर्मों का स्मरण सामुद्रिक रूप में हुआ करता था। इन तत्त्वों में धर्माधार-धर्माधार, भाग-१०, जैन-कथाओं, साधनार्थ की पहचान, एवं पुण्याधन का-साधन धर्म है। जाता धर्म के धर्मार्थों में भी कुछ लोग मग्न रहते थे लेकिन उनकी मग्नता न थी। महाभारत की सुनिश्चित रूपों के विचार मानव के तत्त्व नीलनी मग्नता प्रस्तुत की जाती थी। परिणामस्वरूप युद्ध एवं-धर्मार्थों के तत्त्व सुनिश्चित स्वार्थ प्रकाशित थी। (देविने धीनप्रती मुद्राधन एवं नीलनी और अज्ञात गर्तों की कथाएँ)। नारी का प्राचीन रूप में विशेष सम्मान था तथा मनाज इन्हें समय समय पर आदर देकर आसन उपस्थित करना था। (मौरी मीता की कथा इस मर्म में विद्यमान उल्लेख्य है।) सुनिश्चित रूप धर्म परामर्श थी और अपने पति की भी धार्मिक बनाने में पूर्ण सहयोग देती थी। (देविने भावदेव और नागना धीपंक ज्ञानी)। यहि प्रथा प्रचलित पाश्चत्य थी लेकिन जैन-कथा नाट्य के अन्तर्धान में प्रकट होता है कि जाता ने इसका मर्म विगोच किया है। (देविने जयमेत राजा की कथा आगधना कथा तीव्रता भाग)।

यद्यपि वैवाहिक धर्मों में उदात्ता प्रशस्ति की जाती थी फिर भी जैन-धर्मों का विचार तत्त्व का प्रायः वजित था। नीली की कथा, आगता कथा कोन दूसरा भाग)। मध-धर्म पर लभता था प्राचीन काल में अधिक विद्वान् था। तत्पश्चात् धर्मों की साधना में मग्नधारी उन जाते थे तथा साधनार्थ व्याधियों की भी धार कर देते थे। (पाराधर मुनि की कथा, भा० क० कोन भाग २)। धर्मों के धर्मार्थ में दायी तो प्राणदण्ड की मजा दी जाती थी। (मुकुमान मुनि की कथा भा० १० कोन भाग दूसरा)। बहुधर्मों प्रथा का भी पचता था। (श्रीराम मुनि की कथा भा० क० कोन भाग दूसरा)। तत्पश्चात् धर्मों पुनी के विचार के मग्न दामाद को देवे में बहुत दुःख था मग्नानि दिया करते थे। (धर्ममेत धीवर की कथा भा० क० कोन भाग दूसरा)। धर्मधर्म-धर्मों की कथाएँ ११-१३६, १३-३१, २४-३८ ७-८७ बताती हैं कि अन्तर्धारों को मध पर देखाकर मोक्ष-मग्न में पुमाया जाता था तथा उसकी सम्पत्ति को राज्याधिकार में कर दिया जाता था। काले धर्म तथा धर्मों के धर्मों का धर्मधर्म ने इन उपमानजनक समझा जाता था। धर्मधर्म कोन धर्मधर्म १७७-१०)।

भक्तधर्म-धर्मों के अनुशीलन में स्पष्ट है कि मग्नान् जिने इन्द्र के परम श्रद्धालु जैन विपत्तियों में छुटकारा पाने के लिए तथा साधनार्थ धर्मों की प्राप्ति के लिए धर्मों की निधि करने हैं तथा विजया, प्रभावनी अजिता, आह्मी, जलदेवी, महिदेवी, वन्देवी, महादेवी, मोहिणी देवी, धृतरात्री, पद्मावती देवी आदि अनेक देवियों की प्रामाण्य प्राप्त कर मग्न मनोरथ होने हैं। इन कथाओं के अनुशीलन से यह भी प्राप्त होता है कि पुरातन काल में मोक्ष-जीवन विशेष सप्रद एवं सुखमय था। ऋषि में रूपका को पर्याप्त ज्ञान होनी थी तथा साधन पदार्थ अत्यन्त मूल्य में प्राप्त हो जाते थे। सब ओर ममूद्रि परिलक्षित होनी थी। धार्मिक धर्मधर्म मोक्षी जाति के सुन्दर आभूषण पहनने थे तथा महिलाएँ भी विविध मोने-चादी के अलंकारों में मग्न मनोरम धारी को मग्नधर्म दिया करती थी। अनेक प्रकार के मुरभिन लेपों के प्रयोग में इन रमणियों का मोक्षार्थ नदव धाकक का रहता था। धीर्य की कमी न थी तथा साधारण ग्रामवासी भी मकड़ा गाया को रखता था। उपमानधर्म मूल्य में मग्न आनन्द आदि धर्मधर्मों के यहा हजारों गाये थी। दूध, दही, घी, शाकर विविध दालें, सुगन्धित चावल, आचार, मिठाईया आदि भोजन के प्रमुक्त तत्त्व थे। रमण वस्त्रों के प्रति कामिनीयों की अधिक रुचि थी। बालक बालिकाएँ भी अलंकारों में मग्न रहते थे। रेशमी वस्त्र मनुष्य अधिक पहनते थे। सुन्दर गृहों में रहकर सम्मान व्यति अपने पमीपत्रों मित्रों को भी

सुन्दी बनाने का प्रयत्न करने थे तथा आवश्यकता पड़ने पर धन-अन्न वस्त्रादि में उनकी सहायता करते रहने थे। मनोविनोदार्थ कई प्रकार के खेल भी खेले जाते थे। चीनड तृत आदि का भी प्रचलन था। इस प्रकार कथाओं में चित्रित लोक सन्धुनि बड़ी सुहावनी लगती है।

जैन-कथाओं की प्रकृष्टि

कथाओं के निर्माण में प्रन्टियों का विशेष महत्त्व है। जिस प्रकार गृह के आकार का म्यूल रूप देने के लिए ईंट, पत्थर, चूना, लकड़ी आदि की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार कथा के स्वरूप में स्थिरता लाने के लिए, उसे विशेष मनोव्यञ्जक बनाने के लिए तथा उसमें रामायण की अभिवृद्धि के हेतु प्रन्टियों का प्रयोग अत्यावश्यक माना गया है। प्रन्टि को अभिप्राय भी कहते हैं। इसे ज़ेरो में 'माटिव' नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ० व्यामाचरण दुवे इस अभिप्राय को क्या का भूत भाव मानते हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे कथानक-रूढ़ि के रूप में स्वीकृत करते हैं जबकि कृष्णानन्द गुप्त ने इस अभिप्राय को कथानक का मुख्य लक्षण कहा है। डॉ० कन्हैयालाल महल मोटिव के लिए प्रकृष्टि शब्द को अपनाते हुए लिखते हैं—“प्रकृष्टि शब्द में जावृत्ति और गति दोनों का भाव एक साथ पाया जाता है इसलिए 'मोटिव' के रूप में प्रकृष्टि शब्द अपनाया जा सकता है।”^१

“कथानकों के लिए अभिप्रायों का वैसा ही महत्त्व है जैसा किसी भवन के लिए ईंट-पत्थर का अथवा किसी मंदिर के लिए नाना भानि में उकेरे हुए शिनापट्टों का।”^२

“कथानक रूढ़ि—सामान्यतया रूढ़ि और अभिप्राय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता है। अभिप्राय जिसे अंग्रेजी में माटिव कहते हैं उस शब्द अथवा भाषे में ढले हुए उस विचार को कहते हैं जो समान परिस्थितियों में अथवा समान मन स्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जानि की विभिन्न कृतियों में बार-बार आता है। विभिन्न कथाओं के अपने अलग अलग अभिप्राय होते हैं। चित्रकला में अभिप्राय का अर्थ होता है—“कोई चित्र या अचित्र, मजीब या निर्जीब, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु जिसकी अलंकृत एवं अनिरञ्जित आकृति मुख्यतः मजाबट के लिए किसी कथाकृति में बनाई जाय।” प्रत्येक देश के साहित्य में भी अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ साहित्यिक सम्प्रदायी रूढ़ियाँ बन जाती हैं और यात्रिक ढंग में उनका प्रयोग साहित्य में होने लगता है, इन सभी रूढ़ियों का साहित्यिक अभिप्राय करते हैं।

भारतीय साहित्य में परकायप्रवेश, लिंगपरिवर्तन, पुनर्जन्मों की बात चीन किसी बाह्य वस्तु में प्राणों का बसना, अदि जिनमें ही अभिप्राय है। ये सभी कथानक-रूढ़ियाँ प्रचलनवादी दो प्रकार की हैं—एक लोकविद्वान् पर आधारित दूसरी कविकल्पित। हिन्दी साहित्य में सबसे पहले हजारीप्रसाद द्विवेदी ने “हिन्दी साहित्य का आदिकाल” में उन साहित्यिक अभिप्रायों की जो ध्यान आकर्षित किया।”^३

ये प्रकृष्टियाँ कथावस्तु में नए-नए मोड़ों को जन्म देती हैं और कथानक को अधिक आकर्षक बनाती हैं। इनके माध्यम से लोक की मान्यताओं एवं विश्वासों का भी चित्रण किया जा सकता है।

इन अभिप्रायों से कथा की व्यापकता सिद्ध होती है तथा विविध रूपों में फैलती हुई कहानियों की एक-स्यक्तता या परिज्ञान इन प्रकृष्टियों से ही सहज में हो जाता है। कथा की रोचकता में अभिवृद्धि करने वाले अभिप्राय निरन्तर बढ़ते रहते हैं।

जैन-कथाओं में कुछ ऐसे विशिष्ट अभिप्राय उपलब्ध होते हैं जो जैनसन्धुनि के मूल तत्त्वों को अनावृत करने हुए एक ऐसी प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करते हैं जो कई युगों में मानवीय जीवन को प्रभावित कर रही

- १ लोक-कथाओं की कुछ प्रकृष्टियाँ-उपरुम
- २ लोककथा अंक—आजकल, मई १९५४ पृष्ठ ११
- ३ हिन्दी साहित्य कोश, भाग १ पृष्ठ २०५





है । इस सदसर्ग में निम्नलिखित कुछ अभिप्राय उल्लेख्य हैं —

- १ विलीन होते हुए मेघ को, खेत केश को, शव को, विजली की चमक को, वृद्ध को, नृत्य करती देव्या को मृत्यु को या कोढ़ी को देखकर विरक्त होना ।
- २ अवधि ज्ञानी मुनि के द्वारा आयु की समाप्ति जानकर मुनिदीक्षा ग्रहण करना ।
- ३ जैनमुनि के दर्शन या धर्मोपदेश से वैभव का परित्याग कर साधक बनना ।
- ४ जैन-मुनि से पूर्वभव अथवा अपना भविष्य सुनकर विरक्त होना ।
- ५ स्वकीय पापों की आलोचना करते हुए विरागी बनना ।
- ६ शास्त्र-श्रवण से सासारिक भोगों से विरक्त होना ।
- ७ मन्त्रों के द्वारा सप्त-दश का शमन होना ।
- ८ मन्त्रों की सिद्धि से विपुल धन की उपलब्धि ।
- ९ मन्त्रित पादुकाओं से आकाश में उड़ना ।
- १० श्मशान में पुत्र-जन्म ।
- ११ द्वा साध्य कार्यों की पूर्णता से बुद्धि-परीक्षा ।
- १२ भाग्यपरीक्षा ।
- १३ राजकुमार के चुनाव में हाथी द्वारा माल्यार्पण ।
- १४ धन से परिपूर्ण जहाज का डूबना ।
- १५ जलदेवी द्वारा आशीर्वाद ।
- १६ अगारों को छूकर निर्दोषिता प्रमाणित करना ।
- १७ अग्नि-कुण्ड में कूदकर निर्दोषिता सिद्ध करना ।
- १८ सौतेली माता के दुर्व्यवहार से गृह-परित्याग ।
- १९ शिशु को सद्रूप में वन्द करके जल में प्रवाहित करना ।
- २० चन्द्र-ग्रहण काल में मन-सिद्धि ।
- २१ प्रहेलिकाएँ पूछ कर बुद्धि की परीक्षा करना ।
- २२ मुनि के आशीर्वाद से रोग का शमन होना ।
- २३ गधोदक से कुष्ठ-रोग की समाप्ति ।
- २४ पद-प्रक्षालन से पति की पहचान ।
- २५ पद-स्पर्श से कपाटों का खुलना और इस प्रकार सच्चरित्रता को प्रमाणित करना ।
- २६ पूर्व जन्म के पाप-पुण्य का अगले जन्म में भोगना ।
- २७ अपनी बात मनवाने के लिए स्त्री का हठ करना ।
- २८ पुण्य-फल के रूप में समस्त कलाओं की गीघ्र प्राप्ति ।
- २९ मरणासन्न पशु-पक्षी का नमोकार मन्त्र सुनकर स्वर्ग में जाना ।
- ३० अमृत फल खाकर अमर बनना । अतिशयशाली जैन मुनि के प्रभाव से शुष्क वृक्ष का पुष्पित होना या छ मृत्युओं का एक साथ आविर्भाव ।
- ३१ कुपित सिंह का मन्त्र के प्रभाव से नतमस्तक होना, युद्ध में विजय प्राप्त होना, क्षुब्ध सागर का शांत होना, अक्षय भंडार होना ।
- ३२ स्तोत्र के पाठ से असाध्य रोग से मुक्ति, सर्प-विष का नाश, कारागार से मुक्ति एवं बन्धनों का विच्छिन्न होना ।
- ३३ भव्य पशु-पक्षियों द्वारा जैन मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर मांस का परित्याग ।
- ३४ जादू-टोना से असाध्य कार्यों का साध्य होना ।
- ३५ पुण्य के प्रभाव से अग्नि का जल के रूप में परिवर्तित हो जाना ।

[illegible]

नैन-ख्याओं की विशेषताएँ

[illegible]

- (१) चिन्तन
- (२) चिन्तन-साधन की भाँति - भाषांतर ।
- (३) भाषा-रस की व्याख्या ।
- (४) तत्त्वज्ञान का चिन्तन ।
- (५) चिन्तन-साधन का व्याख्यान का भाषांतर ।
- (६) जीवन का चरम अर्थ का चिन्तन ।
- (७) मनुष्यों को तत्त्वों की प्रेरणात्मक अनुमति ।
- (८) भाषा-विज्ञान की अग्रगण्यता का भाषा-चिन्तन ।
- (९) भाषा की उदात्त भाषा-विज्ञान की अभिव्यक्ति ।
- (१०) चिन्तन का पदार्थ-तत्त्वज्ञान ।
- (११) मानवीय तत्त्व का अधिक ज्ञान-साधन के हेतु अमानवीय तत्त्वों का समानुदानिक प्रयोग ।
- (१२) भाषा-विज्ञान को ज्ञान-साधन के विषये अतीति-साधन की अभिव्यक्ति ।
- (१३) भाषा-जीवन का सफल अभिव्यक्ति ।
- (१४) भाषा-विज्ञान का यथाशक्ति के समन्वय-साधन दृष्टिकोण का समन्वित चिन्तन ।





- (१५) विषुद्ध शृ गार का चित्रण एव अदलील शृ गार का पूर्ण अभाव ।
- (१६) विविध विषयो (गणित, ज्योतिष, न्याय, राजनीति, व्याकरण, इतिहास, दर्शन आदि की चर्चा का समावेश ।
- (१७) पाप पुण्य की राचक व्याख्या ।
- (१८) प्रकृति का रमणीय चित्रण ।
- (१९) भारत के प्राचीन वैभव की अनुपम अभिव्यजना ।
- (२०) ऐतिहासिक तत्त्वों की निष्पक्ष एव समुचित व्याख्या ।
- (२१) वर्णन की स्वाभाविकता ।
- (२२) कहानी की सुन्दर परिणामाप्ति ।
- (२३) तान्त्रिक दृष्टि से आत्म-चिंतन का प्राचुर्य ।
- (२४) सूक्तियों के प्रयोग ।
- (२५) कल्पना का उचित उपयोग ।
- (२६) रूपों एव प्रतीकों का विभिन्न रूपों में प्रयोग ।
- (२७) लोक-प्रचलित उदाहरणों के माध्यम से सैद्धान्तिक गहन विषयों का सुगम निरूपण ।
- (२८) विभिन्न भाषाओं एव बोलियों की शब्दावली का उदारतापूर्वक प्रयोग ।
- (२९) जैनधर्म की उदारता को प्रमाणित करने के हेतु जाति-ग्रन्थन के जैयित्य का चित्रण ।
- (३०) पशु-पक्षियों का मानवीकरण ।
- (३१) जैन-तपस्वियों की सहनशीलता एव महानता का अनौकिक अंकन ।
- (३२) परम्पराओं उत्सवों एव मंगलमय आचारों तथा व्यवहारों का सहज उल्लेख और विवरण ।
- (३३) वर्ग विशेष के सांस्कृतिक चित्रण के साथ-साथ एक विशाल संस्कृति की सुहावनी अभिव्यजना ।
- (३४) यथावसर विभिन्न कलाओं का स्वाभाविक वर्णन ।
- (३५) मर्मस्पर्शी भावाभिव्यजना एव सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् की मूर्त अभिव्यक्तियाँ ।
- (३६) समयानुवर्तिनी सम्यक्ता का गतिशील वर्णन ।
- (३७) मानवीय नैसर्गिक प्रवृत्तियों का सीमावद्ध चित्रण ।
- (३८) स्थानीयता का पुट ।
- (३९) सशक्त वातावरण की अभिव्यक्ति ।
- (४०) अतीत काल के साथ वर्तमान की अभिवृद्धि की कामना ।
- (४१) कृत्रिमता का पूर्ण अभाव आदि ।

अभिप्राय यह है कि जैनकथासाहित्य विश्वसाहित्य के विशाल भंडार की एक बहुमूल्य निधि है । जिसकी अपनी विशेषतायें हैं, मौलिकता है । इस साहित्य का विशेष प्रचार और प्रसार होने पर ही पूरी तरह मूल्यांकन किया जा सकता है ।

जैन-तंत्र-साहित्य

श्री अमरचन्द्र नाहटा

श्रीकानेर



जैनधर्म भाग्य या एग प्राचीनतम धर्म है। उसके प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर भाग्य-भूमि में ही पैदा हुए, यहीं मोक्षता कर उन्होंने मिट्टि प्राण की। भावान् ऋषभदेव, जिनका पावन चरित्र भागवन आदि पुराणों में भी पाया जाता है, सब् पेटों में भी नामोल्लेख प्राण है, जैन मान्यमानुसार मारे जान-विज्ञान या मर्त्युति के प्रवर्तक आदि पुरुष थे। इनीलिए उन्हें आदिनाथ या आदीश्वर कहा जाता है। नाथपथ के प्रवर्तक भी आदिनाथ माने जाते हैं पर मभव हैं वे दाद के कोई अन्ध ध्यति हो। प्राचीन जैनागमों के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने पूर्व यह आर्यावर्त भोग भूमि थी। अर्थात् उन समय के गौ वृजों के पनादि ने अपना जीवननिर्वाह करने थे। अग्नि-मणि और वृषि का व्यवहार तब तक नहीं था। एक बात और यादगार का घुम मात्र ही जन्मना और बयस्क हो जाने पर उनका सम्बन्ध पत्नि-पत्नी का हो जाता था। उनकी नमन आवश्यक्ताओं की पूर्ति उस प्रकार के कल्पवृक्षों में होती थी, इसलिए परवर्ती माहिन्य में कल्पवृक्ष की उपमा टप्प अर्थ में रह हो गई कि जिनके दादा भर्तावाञ्छित की पूर्ति हो जाय और वस्तु प्राण हो जाय वह कल्पवृक्ष के समान हैं।

भगवान् ऋषभदेव के समय में कल्पवृक्ष फल कम देने लगे और तत्कालीन युवाक श्री-पुरुषों की आवश्यकताएं प्रवर्धित हो गई, फलन मरप होने लगा। उनके बाद-विवादों और अनैतिक कार्यों को रोकने के लिए शासन-व्यवस्था व राजा की आवश्यकता हुई। भ० ऋषभदेव ने पहले जानकों की नीति 'हंकार' 'भंकार' और विकार की रही। उन जानकों की मजा कृतकर बन गई गयी है। भ० ऋषभदेव के पिता तानि अग्निम कुलकर थे। भ० ऋषभदेव इस भग्नक्षेत्र के प्रथम राजा हुए। मन्त्र हृदयवाले उन युवाकों के कष्टनिवारणार्थ भगवान् ने अग्नि (गन्ध), नमि (नेत्रन), और वृषि आदि कार्यों की उन्हें जब जिज्ञा दी तब ने यह भूमि भोगभूमि की जगह कर्मभूमि बन गई। भ० ऋषभदेव के बड़े पुत्र भरत के नाम से हमारे देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा। जैनागमों में उन्हें प्रथम चक्रवर्ती कहा है। भ० ऋषभ के अग्र्य २२ पुत्र थे और ७ पुत्रियाँ थी। इनमें में बड़ी ब्राह्मी को ऋषभदेव ने लिपि अर्थात् लेखन विद्या निव्वलाई। इसलिए भाग्य की प्राचीनतम लिपि को 'ब्राह्मी' लिपि कहा जाता है। दूसरी पुत्री मुन्दरी को अक्ष अर्थात् गणितविद्या निव्वलाई। जवद्वीपप्रज्ञप्ति नामक उपाग मंत्र में भ० ऋषभदेव एवं भरत का चरित्र मलेप में वर्णित है। उसमें कहा गया है कि पुरुषों की ७० बनावों और स्त्रियों के ६८ गुणों या विद्या की शिक्षा भ० ऋषभदेव ने दी। इन बनावों और विद्याओं में जीवनोपयोगी सभी बातों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार जैनआगमों की यह मान्यता है कि मन्त्र और तन्त्र के प्रवर्तक आदि पुरख भगवान् ऋषभदेव हुए।

महाभारतगीर्वाण 'वसुदेव-हिण्डी' नामक पाँचवीं शताब्दी के प्राकृत-कथा-ग्रन्थ के चतुर्थ लम्बक में भ० ऋषभदेव का चरित्र जवद्वीपप्रज्ञप्ति की अपेक्षा अधिक विस्तार में दिया है। इनमें एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख इस प्रकार है—जिसका सम्बन्ध तन्त्र-मन्त्र नाम्ब में है। कहा गया है कि भ० ऋषभदेव ने जब मुनिदीक्षा ग्रहण की तो उनके शिष्य कच्छ और महाकच्छ नामक दो कुमांगों के पुत्र नमि-विनमि वहीं वाहर गए हुए थे। ऋषभदेव ने राज्य-वृद्धि आदि १०० पुर्यों में गौ दी और स्वयं मन्थनी बन गए। बाद में नमि एवं विनमि आगे और ऋषभदेव की खोज



करने हुए उनके पास जा पहुँचे। जब भगवान् ध्यान करने में, वे हाथ में तन्त्राक्षर लेकर उनकी सेवा में गये रहते। एक बार ऋषभदेव को वन्दन करने के लिए नागराज धरणी शर्वात् धर्मोन्मत्त आये और उन्होंने नमि-निमि को सेवा में उपस्थित देखाकर पूछा कि तुम लोग भगवान् की सेवा लिए उल्टे पक्ष में क्यों गये हो? उन्होंने कहा - प्रभु ने मन्त्र पुत्रा को अगनी भूमि व सम्पत्ति पॉट दी, हम उस समय दूर थे, इसलिए अब सेवा में आये हैं। प्रभु उपा कर हम भी गयाचिन दये। नागराज ने हठाकर कहा—अरे भाई, ये मन्त्र कुछ त्याग चुके हैं। उन्होंने राग और गन्याम को गहण कर लिया। अब उनके पास क्या है सो सुम्ह दये? और, तुमने लम्बे समय तक भगवान् की उपासना की है, उमरा फन तो सुम्ह मिलना ही चाहिए। मैं तुम्हारी सेवा में प्रसन्न होकर वेताद्वय पर्यन्त के दाना और की दो श्रेणियाँ और विशाए देना। तुम दोनों यहाँ जाकर नरती बगाओ और आनन्द में रहो। बनावट पर्यन्त पहुँच दूर है, यहाँ पहुँचने के लिए आकाश-नागिनी आदि विद्याएँ देता हूँ। उन्होंने नरती प्रियव्रता ने उा विद्याओं को ग्रहण लिया। नागराज ने महा-राहिणी, प्रजप्ति, शीरी, विष्णुमुगी, महाज्जागा, निरुक्तणी, वरुणा आदि गन्या और पद्मगो को १८ हजार विशाए उम्हें दी। उन्होंने नागराज की कृपा में वेताद्वय की उत्तरव दक्षिण गेणी में प्रसन्न विभिन्न ने गनवत्तन आदि ६० नगर बगाये और नमि ने रघुपुत्र चक्राल आदि ५० नगर बगाये। विद्याओं के भारक होने में कारण ने विद्याधर रहनाये। उन विद्याधरों की कुछ विद्याओं और नामों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि शीरी विद्या ने शीरी, मनु ने मनु-पूर्वक, गान्धारी ने साधार, मानवी ने मानव, तेजिना ने तेजिकपूरक, भूमि तुष्टा विद्या के अभिपति भूमि-तुष्टक, मूल-वीर्या में मूलवीर्य, धनुता में धनुता, पाणी से पाणी, तालिफी ने तालिफ, मातगी में मानग, पायनी में पावतैय, वक्षलना में वक्षलता, पागुमूलिका से पागुमूलक, वृक्षमूलिका में वृक्षमूलक, तालिका में तालिका, १६ प्रकार १६ विद्याएँ (वर्ण) हुए। तमि शीरी विभिन्न ने ८-८ विद्याएँ ग्रहण किये। एक प्रकार मनुष्य होने हुए भी विद्याधर ने उम्हें देव के समान भोग भोगे और सुग प्राप्त किया। अपने नगरी के गन्धर्वों में भगवान् ऋषभदेव की स्थापना की और अपने अपने विद्याएँ व उम विद्याएँ की विशा के अभिपति देवता की स्थापना का गई। यहाँ विद्याधर का श्रम मन्त्र-तन्त्र ही अभिप्रेत है। पर्यन्ती जैनसाहित्य में भी यह दृष्टि पाय इसी श्रम में प्रचुरता ने प्रयुक्त होता है। १६ पूर्व प्रथो में एक विशाप्रवाद पूरा भी है जिसमें प्रयुगता में विशाओं शर्वात् तन्त्र-मन्त्र का ही वर्णन था। दिग्गज श्रमों के अनुसार उम गालसी श्रम विशाया, राहिणी आदि ५०० महाविद्याया एव उम्हें साधन करने की विधि और मिद्ध-विद्याओं के फन व अनेक विद्यातिशयो का वर्णन था। ध्येताम्य श्रम समुदायाग के अनुसार विद्यानुवाद में १५ वर्णन थी। चौदह पूर्वों का समावेश दृष्टिवाद नामक अग्रगुण में होता है और यह अग्रगुण विच्छेद हो चुका है, इसलिए हम जैन मन्त्र तन्त्रवाद के बहुत बड़े साहित्य में बर्चित हो गये हैं। इतना ही नहीं, इस विषय में कई प्राचीन ग्रन्थ जो जैनसाधना में उपाएँ थे, वे भी अब नहीं मिलते। जैन गन्धों के अनुसार विशाधरों की संख्या बहुत विचाल थी और चिरकाल तक उनकी परम्परा चलती रही है। जैनसाधना के ४ कुला में एक विद्याधर कुल भी था, उस कुल की परम्परा में भी अनेकों विद्याया के ज्ञाता और उनके प्रयोग में नामकारिक मिद्धि प्राप्त आचार्य हागये हैं। जैनसाधना में ऋद्धि शर्वात् विशेष प्रकार की सामत्कारिक प्रसिद्धावने मनुष्यों के छ भेद बतलाये हैं। १ अग्रिह्न २ चक्रन्ती ३ बलदेव ४ वासुदेव ५ चारुण—जघा-चारुण, विद्याचारुण साधु, ६ विद्याधर शर्वात् विद्याधरों का एक नम विशेष था जो मन्त्र-तन्त्रादि में निपुण होते थे। अपनी विद्याओं के मन में वे विमानों द्वारा आकाश में यात्रा करते थे और अनेक सामत्कारिक सिद्धियाँ उम्हें प्राप्त थी। चारुण मुनियों में विद्याचारुण को अग्रग स्थान दिया गया है। वे किन्ती मन्त्राक्षर का उच्चारण करते ही आकाश मार्ग में उड़कर उच्छिन्न स्थान में पहुँच जाते थे। एम आकाशगामिनी विद्यावाले अनेक मुनियों के उत्तम जैनग्रन्थों में प्राप्त हैं। तप-निर्लेप के द्वारा भी शरीरिक सिद्धियाँ प्राप्त की जाती थी, जिनकी राजा 'लवि' पाई जाती है। ये लविधायी अनेक प्रकार की होती थी, इनका विषय वर्णन भी जैनग्रन्थों में मिलता है।

विद्यानुवाद पूर्व के अतिरिक्त वर्ण्य अग्रगुण प्रसन्नव्याकरण म भी मन्त्रविद्या और विद्यातिशयो का वर्णन था। रोय है कि यह अग्रगुण भी लुप्त होगया। आज उसके बदले में उगी नाम का जो गुण प्रसिद्ध है वह मूलगय से सर्वथा भिन्न है।

पर्यन्ती प्रथो में रशी-देवताधिष्ठित को विद्या और पुरुष देवताधिष्ठित को मन्त्र माना गया है। अथवा पाठ करने मात्र से जो ज्ञान में साधक हो उसे मन्त्र व जप होम आदि विधिसाध्य हो उसे विद्या कहा जाता है। वसुदेव हिप्पी

मे जो मोनह निकाय बननाये हैं, उनमे आगे चलक कुठ पण्डितन हुआ मानूम देना है। इसलिए पीछे के ग्रंथो मे विद्याग्रो की अविष्टात्री १९ देवियो के नाम इन प्रकार मिलते हैं—

१ रोहिणी, २ प्रजति ३ वज्रगुन्धला ४ वज्राकुंगी ५ अग्रनिचत्रा ६ पुरपदना ७ काशी ८ महाकाली ९ गौरी १० तान्वागी ११ महाज्वाला १२ मानवी १३ वैट्ठ्या १४ अच्छुप्रा १५ माननी १६ महामाननी।

निग्यावनी नामक उपाङ्ग के पुष्पचूला नामक चतुर्थ वर्ग के १० अध्ययनों मे निम्नोक्त १० देवियो के पूर्व-भवो का वर्णन पाया जाता है। इनमे से कुछ के नाम तो मन्त्राङ्गो मे बहुत ही प्रसिद्ध हैं, इसलिए इन देवियो के पूर्व-भवो के वर्णनवाला यह पुष्पचूला वर्ग विशेष महत्त्व का है। चतुर्थ वर्ग के दस अध्ययनों मे १० देवियो के नाम इन प्रकार हैं—

१ श्री २ ह्रीं ३ धृति ४ कीर्ति ५ बुद्धि ६ लक्ष्मी ७ इलादेवी ८ मुगदेवी ९ रत्नदेवी १० गवदेवी।

प्राचीन जैनाग्रंथो मे तो तीर्थङ्गो के साथ यज्ञ और यज्ञिणी का कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता। पर निर्वाण-कलिका, निनोत्पण्णति आदि ग्रंथो मे चौबीस तीर्थङ्गो मे से प्रत्येक का सेवक एक देव और एक देवी होना बतलाया गया है। इन्हे धामनदेव और धामनदेवी कहा गया है। चूँकि जैनधर्म के अनुसार तीर्थङ्कर तो निष्ठ, बुद्ध और मुक्त हो गये अतः वे न तो किसी पर प्रसन्न होते हैं और न रष्ट ही। चाहे उन्हें कोई माने या न माने, इनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिए यह मान्यता प्रचलित हुई कि जो तीर्थङ्कर की भक्ति करते हैं, उन भक्तो के मनोरथ उन तीर्थङ्करो के सेवक यज्ञ और यज्ञिणी पूर्ण करने हैं। २८ तीर्थङ्गो के यज्ञ और यज्ञिणी सम्प्रकार हैं—

१ गोमुख २ महायज्ञ ३ त्रिमुक्त ४ यक्षनायक ५ नृवर ६ कुमुद ७ मातंग ८ विजय ९ अजित १० ब्रह्मा ११ यक्षगद् १२ कुमान १३ पद्मव १४ पानाल १५ किन्नर १६ गरुड १७ गान्धर्व १८ यक्षगज १९ कुबेर २० वरुण २१ अक्रुति २२ गोमेध २३ पाद्व २४ ब्रह्मगान्धि।

यज्ञिणी—१ अग्रनिचत्रा (चक्रेश्वरी), २ अजिनवला (३) दुर्गिता ४ कालिका ५ महाकाली ६ व्यामा ७ धान्ता ८ मृकटि (ज्वालामालिनी) ९ मुनाका १० अमोरा ११ मानवी (श्रीवत्सा) १२ प्रचण्डा (चडा) १३ विदिना (विजिया) १४ अक्रुता १५ कन्दर्प (प्रजति) १६ निर्वाणी १७ वला (अच्छुनवला) १८ धारिणी १९ धरण-प्रिया २० वरदना (अच्छुता) २१ गावानी २२ कूष्माण्डी (अम्बिका) २३ पद्मावती २४ मिद्वयिका।

इन यज्ञ—यज्ञिणियो के वाहन, वर्ण, भुजाग्रो, अस्त्रो आदि का वर्णन निर्वाणकलिका तथा धान्तुनार आदि ग्रंथो मे पाया जाता है। इनमे से चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, अम्बिका और पद्मावती देवियो की उपासना विशेषरूप से प्रचलित है।

इनके अनिर्दिष्ट सम्बन्धी देवी की उपासना भी जैनमहाज मे पर्याप्त प्राचीनकाल मे प्रचलित रही है। भारत मे मने प्राचीन मरम्बनी की मूर्ति मयुरा के जैनपुगतत्त्व मे ही मिली है। मध्यकालीन अनेक भव्य और सुन्दर जैन सम्बन्धी की मूर्तियाँ प्राप्त हैं जिनमे पल्लू मे प्राप्त दो प्रतिमाएँ तो अपनी उत्कृष्ट कला के कारण विश्वविख्यात हैं। समय समय पर कई जैनाचार्यो व मुनियो ने मरम्बनी देवी की आराधना करके बहुत ही सफलता प्राप्त की थी। राज-स्थान के अजाग गाँव की मरम्बनी मूर्ति बहुत ही चमत्कारी मानी जाती है। उपर्युक्त २८ शासनदेव और देवियो की मूर्तियाँ अविष्टायक और अविष्टात्री के रूप मे प्रायः सभी जैनमन्दिरों मे पायी जाती हैं। अर्थात् जिन तीर्थङ्कर की मूर्ति मूलनायक के रूप मे जिन मन्दिर मे स्थापित होती है, उसी तीर्थङ्कर के यज्ञ-यज्ञिणी की मूर्ति उन मन्दिर मे अलग अलग या देही मे प्रतिष्ठित की जाती है। अम्बिका, पद्मावती, ज्वालामालिनी, वैरोट्या, चक्रेश्वरी आदि के स्वतन्त्र मंदिर या देवकुलिकाएँ कई स्थानो मे हैं। इन देवियो के स्तोत्र, स्तुति, कल्प आदि प्रचुरपरिमाण मे उपलब्ध हैं। जैनो के अतिरिक्त





जैनैतर भी इन्हें मानते-पूजते हैं। पार्वनाथ के स्तुति, स्तोत्र, मन्त्र आदि श्लाघाधिक मिलते हैं। अम्बिका पर्यन्ती माहिन्त्य मे तो नेमिनाथ की शासनदेवी के रूप में प्रसिद्ध है पर प्राचीन तीर्थकर-मुनियों को देखने में निश्चिन्त होता है कि अम्बिका का सम्बन्ध केवल नेमिनाथ से ही नहीं, अन्य तीर्थकरों के नाम भी माना जाना रहा है। जैन मान्यता के अनुसार ये यक्ष और यक्षिणियाँ मनुष्यों में ही मरुपर देवरूप में उत्पन्न होने के पश्चात् प्रसिद्धि पानी हैं। इगर्नाएँ अम्बिका आदि कई देवियों के पूर्वजन्म की कथाएँ भी जैनग्रन्थों में प्राप्त हैं। प्रभावचरित्र में वैरोट्या के पूर्वजन्म की कथा पायी जाती है। ज्वालामालिनी देवी की आराधना दिगम्बर ममाज में अधिक की जाती है।

उपर्युक्त देवी-देवताओं के अतिरिक्त कुछ जैनैतर और बौद्ध देवी देवताओं की पूजा भी जैन-ममाज में प्राग्भ हो गई जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। पार्वनाथ परम्परा के उपदेश गच्छीय रत्नप्रभुमणि ने श्रोगियाँ की चामुण्डा देवी को अपने वन में करके श्रोगियाँ की कुलदेवी रूप में मान्य बना दिया। जो गच्छाधियाँ के नाम में प्रसिद्ध है। या दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनों में बहुत सी जातियाँ प्रायः किसी न किसी देवी को अपनी कुलदेवी मानकर उसकी पूजा-उपासना करती हैं। घण्टाकण सम्भवतः बौद्ध-मान्य शिव या, शिव के गणों में भी उल्लेख माना गया है, जैनों ने उल्लेख अपना दिया। घण्टाकार्य कल्प नामक एक रचना भी मिलती है। बीजापुर, बम्बई के महावीर जितानय आदि में तो घण्टाकण की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई हैं और वे काफी चमत्कारी मानी जाती हैं। उग्री नरक तपागच्छ में माणिभद्र यक्ष की अतिरिक्त मान्यता है और गच्छ गच्छ में प्रसिद्ध चार दादा गुरुदेवों के भक्त के रूप में बाने और गौरी भैरोंजी की। जैन लोग उग्री प्रकार स्थानीय देवी-देवताओं को मानने लगे। यदि लोग वर्णपिशाचिनी आदि देवियों की उपासना कर चमत्कारी सिद्धियाँ प्रदर्शित करने लगे। सम्मेलनगरजी महातीर्थ के भोमिया जी, नारोटा पार्वनाथ के भैरोंजी आदि भी बड़े चमत्कारी माने जाते हैं। इस प्रकार अनेक देवी देवताओं की मान्यता जैन ममाज में प्रचलित है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है कि जैनममाज में शाक्त तन्त्रों की भाँति पञ्च-मकारादि को कोई स्थान नहीं दिया गया है। जैन मुनियों का आचार विचार तन्त्रा बढोर है कि तन्त्रोक्त उपासना उनके लिए किसी भी प्रकार अनुकूल नहीं थी। इसलिए उन्होंने तन्त्र की अपेक्षा मन्त्र और यज्ञ की ही अधिक महत्त्व दिया। उच्चकोटि के आचार-विचारवाने ब्रह्मचारी और गार्हपत्यिक जैनमुनियाँ भी देवी देवताओं की आराधना कभी भी दान्, मास आदि कुत्सित वस्तुओं द्वारा नहीं करनी पड़ी। मन्त्र-जप आदि द्वारा देवी देवता स्वयं उनके भक्त बन गये। भगवान् महावीर ने जैन मुनियों के लिए मन्त्र-जप आदि करने का गर्वया निषेध किया है। उत्तराध्ययन मूत्र के पन्द्रहवें अध्यायन में अन्य अनेक वानों के साथ मन्त्रादि में दूर रहनेवाले मुनि को ही गच्छा भिक्षु बनलाया गया है।

मतमूल विविह येज्जचित्त यमण-विरेयण धूमणेतसिताण ।

आउरे सरण तिगिच्छिय च त परिप्राय परिच्यए जे स भिषू ॥

पर जैन शासन की उन्नति के लिए आचार्य आदि को मन्त्रादि विद्या सम्पन्न होना आवश्यक भी माना है और आठ प्रकार के प्रभावकों में विद्यावान और सिद्ध को भी प्रभावक माना गया है। ऐसे प्रभावकों के चरित्र विषयक कई ग्रन्थ प्राप्त हैं। स० १३३४ में प्रभावचरित्र द्वारा रचित प्रभावचरित्र में विद्यासनन बज्जम्बामी, पादलिप्तसूरि, मान-देवसूरि, वीरगणि, वीरसूरि और सिद्ध प्रभावक के रूप में श्रायं मणु, कालिकामूर्ति, विजयसिंह नूरि, जीवदेवमूर्ति, मानतुग सूरि आदि आचार्यों के चरित्र दिए हुए हैं। प्राप्त जैन माहिन्त्य से ध्वनित होता है कि व्यक्तिगत स्वायं और इहलौकिक कामना से मन्त्र-तन्त्रादि साधना जैनमुनियों के लिए निषिद्ध है। श्रयोग्य व्यक्ति विद्याओं का दुरुपयोग न कर बैठे, इसलिए बहुत सावधानी रखी गई। परिणामतः अनेक महत्त्वपूर्ण विद्याओं में सम्मन्वित ग्रन्थ लुप्त भी हो गए। इन ग्रन्थों में सबसे प्राचीन चौदह पूर्वों में विद्यानुप्रवाद पूर्य था। इसके बाद सिद्धप्राभृत, योनिप्राभृत निमित्तप्राभृत और विद्याप्राभृत ग्रन्थों का उपयोग जैनाचार्य करते रहे, वे भी अब लुप्त प्रायः हैं। योनिप्राभृत का कुछ अंश ही प्राप्त है। इन ग्रन्थों में क्या-क्या चमत्कार दिखाये गये और कौन-कौन आचार्य इनके विशेष जानकार थे ? इसका विवरण मुनि कल्याणविजय जी द्वारा लिखित 'आपणा प्राभृतो' नामक गुजराती लेख में दिखाया गया है, जो जैन श्वेताम्बर कार्कस, बम्बई की

पत्रिका "जैन युग" के प्रथम वर्ष के दो अंकों में छपा था। पूर्वों के ज्ञान के क्रमशः लुप्त होने की चर्चा भी जैन ग्रन्थों में पायी जाती है। आचार्य भद्रबाहु तक १४ पूर्वों का ज्ञान था। उनके पास आचार्य स्थूलिभद्र ने दश पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद पूर्वों की विद्याओं का प्रयोग अपनी महत्ता बतलाने के हेतु किया तो आचार्य भद्रबाहु ने उन्हें आगे के पूर्व पढ़ाना बंद कर दिया। अन्त में मय के अनुरोध ने चार पूर्व पढ़ाये, पर उनका अर्थ नहीं बतलाया। अतः स्थूलिभद्र के पश्चात् चार पूर्वों का ज्ञान लुप्त हो गया। इसी तरह वज्रस्वामी अंतिम दश पूर्वधर थे।

जैन इतिहास में स्पष्ट है कि आचार्य भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे। उनके समय में बारहवर्षी दुष्काल पड़ा। इसके कारण जैनमुनियों के आचार-विचारों में कुछ वैयर्थ्य आगया और वह फिर बढ़ता ही गया। आचार्य वज्रस्वामी ने आचार्यराज मूत्रगत महापरिजा अध्ययन में आकाशगामिनी विद्या का उद्धार किया था। इसके बाद तो वह अध्ययन ही लुप्त हो गया। फिर भी बीच-बीच में आकाशगामिनी विद्या सपन कई जैनाचार्य हुए हैं। और भी अनेक प्रकार की विद्याएँ एवं निद्रियाँ जैनाचार्यों को प्राप्त थीं। वे क्रमशः लुप्त होती गईं। प्रभावक चरित्र के जीवदेवमूर्ति प्रबन्ध में मुवर्णकीर्ति के लिए लिखा है कि उन्होंने अपने गुरु श्रुतकीर्ति से अप्रतिचक्रा विद्या का आम्नाय और परकाय-प्रवेशिनी विद्या प्राप्त की थी। जैनाचार्यों के जीवनचरित्रों में से ऐसे अनेक मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र एवं विद्याओं आदि के चमत्कारों की जानकारी मिलती है। बह्वन्मा साहित्य लुप्त होनेपर भी लगभग ५०० छोटी बड़ी जैन रचनाएँ इस विषय की आज भी प्राप्त हैं, जिनकी जानकारी पाँच-दस व्यक्तियों के अतिरिक्त और किसी को नहीं है। जैन ज्ञान भंडारों में ऐसी अनेक रचनाएँ मिलती हैं और उनमें से कतिपय प्रकाशित भी हो चुकी हैं। कुछ ग्रन्थों के केवल उल्लेख ही मिलते हैं, ग्रन्थ प्राप्त नहीं होने। जैन १४ वीं शताब्दी में पद्मावती-वर-मन्त्र महामदतुगलकप्रतिबोधक खरतरगच्छाचार्य जिनप्रभसूणि जी ने 'गृह्य कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ बनाया था। उसका समकालीन उल्लेख लघुस्तववृत्ति में मिलता है। इस ग्रन्थ का थोडासा अंश बीकानेर के बृहद ज्ञानभंडार की एक प्रति में लिखा हुआ मिला है पर पूरे ग्रन्थ का कहीं पता नहीं है। अब मैं प्राप्त जैन साहित्य का कुछ विवरण अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत करता हूँ।

उपलब्ध जैन साहित्य में तान्त्रिक प्रभाववाला देव-देवियों के वर्णन, तथा प्रतिष्ठादि विधि विधान सम्बन्धी ग्रन्थ "निर्वाण क्लिका" है। इसके रचयिता पादलिपिमूर्ति का समय प्रथम शताब्दी माना जाता है, पर मुनिकल्याण-विजयजी के मतानुसार दूसरी शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तीसरी का पूर्वार्द्ध माना गया है। इसमें दश दिक्पाल, नौग्रह, ब्रह्मास्त्र, क्षेत्रपाल तथा मुद्राओं आदि का भी वर्णन है। श्रीमोहनलाल भगवानदास भवेरी द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ बम्बई में प्रकाशित हुआ है। इसकी २० पृष्ठों की अंग्रेजी प्रस्तावना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। श्रीभवेरी ने जैनमन्त्र शास्त्र सम्बन्धी गृह्य अध्ययन किया था और 'कम्पैरेटिव स्टडी ऑन जैनमन्त्र-ग्रन्थ' नामक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा जा सारा भाई नवाब द्वारा प्रकाशित औरव-पद्मावती वरप के साथ छप चुका है। श्वेताम्बर जैन मन्त्र तन्त्र साहित्य की सर्वाधिक जानकारी इसी ग्रन्थ में मिलती है। एतद्विषयक दिगम्बर जैन साहित्य सम्बन्धी एक लेख 'अनेकान्त' के प्रथम वर्ष में प० जुगलकिशोर मुन्शी ने प्रकाशित किया था। श्री नागभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद ने जैन मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों के प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। औरव-पद्मावती कल्प आदि उन्हींके प्रकाशन हैं।

जैनधर्म में मन्त्रों प्राचीन और महत्त्वपूर्णमन्त्र नवकारमन्त्र माना जाता है। भगवतीमूत्रादि के प्रारम्भिक मंगलाचरण में इसी मन्त्र का उपयोग हुआ है। श्वेताम्बर जैनसमाज में तो इसके सम्बन्ध में इतना बड़ा साहित्य उपलब्ध है कि नवकार सम्बन्धी स्तुति, स्तोत्रादि के संग्रह एक प्राकृत और एक मन्त्र का बड़ा ग्रन्थ जैनसाहित्य विकास मण्डल, बम्बई में प्रकाशित हो चुका है। नवकार मन्त्रकल्प आदि का एक अच्छा संग्रह सर्वप्रथम बीकानेर के जेनेतर सम्मन्त्र विद्वान् प० जयदयालजी शर्मा ने 'मन्त्रराजगुणकल्प महोदधि' के नाम से सन् १९२० में प्रकाशित किया था। तब से अब तक लगभग ३०-३५ ग्रन्थ केवल नवकारमन्त्र के सम्बन्ध में प्रकाशित हो चुके हैं। जैन मान्यतानुसार मन्त्रों में सर्वश्रेष्ठ, इहलौकिक और पारलौकिक सिद्धि का सर्वोत्तम मावन इस नवकार मन्त्र को ही माना जाता है।

नमस्कार सूत्र के ५ पदों में ४ पद और जोडकर एक नवपद या निद्रचक्र यन्त्र तैयार किया गया। गत ६००





वर्षा में दिगम्बर और श्वेताम्बर समाज में इस मिश्रचक्र यत्र विधान और उपासना का बहुत ही प्रचार रहा है। इसकी आराधना की महिमा को बतानेवाले श्रीपालचरित्र मस्यन्धी ६० ग्रन्थ प्राप्त, मस्युन, अपभ्रंश, हिन्दी, गजस्थानी, गुजगती और कन्नड भाषाओं में प्राप्त हैं। इसका विवरण 'अनेकान्त' में प्रकाशित मेरे दो लेखों में दिया जा चुका है। वर्ष में दो बार हजारों व्यक्ति इस मिश्रचक्र या नवपद की आराधना में भक्तिभाव में करते हैं। उभय सम्प्रदायों में आराधनाविधि आदि में अन्तर होनेपर भी उसका प्रचार समान रूप में है। मन्दिरों में मिश्रचक्र विधान या नवपद मण्डन की रचना की जाती है।

श्वेताम्बर समाज में आचार्य के लिए मूर्तिमन्त्र कल्प की आराधना आवश्यक मानी जाती है। उनके नाम के पीछे जो मूर्ति विशेषण रहना है वह इसी मूर्ति मन्त्र की आराधना का सूचक है। मूर्तिमन्त्रकल्प छट्टी शताब्दी में पैरार पन्द्रहवीं शताब्दी तक के अनेक मिलते हैं जिनका एक सग्रह माराभाई मणिलाल नवाब ने 'मूर्तिमन्त्र कल्पादि' के नाम में प्रकाशित किया था और पत्राकार रूप में तीन चार ग्रन्थ मुद्रित हो चुके हैं। अभी ऐसे मूर्तिमन्त्र कल्प कई अप्रकाशित भी हैं जिन्हें सम्पादन कर प्रकाशित करने का प्रयत्न जैनसाहित्य विकास मण्डन की ओर से चल रहा है।

नवकार मन्त्र की भाँति लोगस्य (चतुर्विंशति स्तव), णमुत्तुण (मन्त्रस्तव), उवमगगहर स्तोत्र, तिजयपहुन, भक्तामर, कल्याणमन्दिर, ऋषिमण्डल आदि स्तोत्रों के मन्त्र व कल्प भी प्राप्त हैं जिनमें से ऋषिमण्डल मन्त्र व कल्प का विशेष प्रचार है। दिगम्बर व श्वेताम्बर उभय सम्प्रदाय इसे मान्य करते हैं और दोनों के ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। भक्तामर व कल्याणमन्दिर स्तोत्र भी उभय सम्प्रदायमान्य हैं और मन्त्र, यन्त्र गान्ति ये दोनों स्तोत्र बड़े प्रभावशाली माने जाते हैं। गार्गभाई ने नवस्मरण, भक्तामर, कल्याणमन्दिर तथा अन्य स्तोत्रों के मन्त्र और साहित्य भी प्रकाशित किया है। वर्द्धमान विद्या एव ह्रीकार कल्प या मायाबीजकल्प का भी श्वेताम्बर समाज में अच्छा प्रचार है। आचार्य के मूर्तिमन्त्र की तरह उपाध्याय के लिये वर्द्धमान विद्या का आराधन भी आवश्यक माना गया है। श्री धीरजलाल टोकरमी शाह लिखित 'मन्त्र साधन, केटलाक यन्त्रों, तन्त्रों नु तारण,' उवमगगहर स्तोत्र आदि ग्रन्थ जैन मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र सम्बन्धी अच्छी जानकारी देते हैं।

अब दिगम्बर जैन तन्त्र-मन्त्र सम्बन्धी कुछ ग्रन्थों की जानकारी दी जा रही है। श्री जुगलविश्व जी मुन्नार ने श्री जैनमन्त्र शास्त्र और ज्वालामालिनी मन्त्र नामक लेख में सबसे पहला ग्रन्थ इन्द्रनन्दि योगेन्द्र का 'ज्वालानी मन्त्र' बतलाया है। यह ग्रन्थ शक संवत् ८६१ अक्षयतृतीया को मान्यपेट में रचा गया है और श्लोक संख्या ५०० है। मंगलाचरण व ग्रन्थ रचना की प्रतिज्ञा के श्लोकों के अनन्तर इसमें ज्वालानी देवी का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है —

"दक्षिण भारत के अन्तर्गत मलयदेश के हेम ग्राम में (जिसे टिप्पणी में कर्णाटक भाषा में होन्नूर ग्राम बतलाया है) द्रविडगण के अधीश्वर एक श्रीमान् मुनि महात्मा रहते थे। जिनका नाम 'हेलाचार्य' (टिप्पणी में इन्हें एलाचार्य रूप में भी उल्लिखित किया है) था। कमलश्री आपकी सिध्या थी, जो सम्पूर्ण दाम्नों को जाननेवाली मानी श्रुतदेवी ही थी। कर्मयोग से वह ब्रह्मराक्षस नाम के किसी रौद्र ग्रह के द्वारा ग्रस्त हुई। इसलिए सध्या के समय वह कभी हाहाकार करके रोती थी, कभी अट्टहास करती थी, कभी जप करने लगती थी, कभी वेदों को पढ़ने लगती थी और फिर कहकहा लगाकर हँस पड़ती थी, कभी गर्व के साथ कहने लगती थी कि ऐसा कौन भ्रमवादी है जो अपनी भयवृत्ति से मुझे छुड़ाए, और कभी विकार भाव को लिए जमाई लेने लगती थी। उसे इस प्रकार अनि दुष्टग्रह से परिपीडित देखकर और उसके प्रत्युपाय के विषय में क्लिप्तव्यविमूढ होकर वे मुनि महाराज बहुत ही आकुलचित्त हुए। अन्त में उन्होंने कमलश्री का ग्रह छुड़ाने के लिए उस ग्राम (होन्नूर) के निकट नीलगिरि पर्वत के शिखर पर विधिपूर्वक ज्वालामालिनी देवी की माघना की।

सात दिन की माघना के बाद वह देवी प्रत्यक्ष होकर मुनिमहाराज के सामने खड़ी हो गई और बोली—हे

आर्य ! कहिये, आपका क्या नाम है ? इनपर हेलाचार्य बोले—हे देवी ! मैंने काम-आदि किसी लौकिक फलनिधि के लिए तुम्हें अवश्य नहीं किया है—नहीं रोका है—किन्तु कमलश्री ग्राह टुटाने के लिए रोका है, अतः ग्रह मे छुटकारा दिलाइये । इनका ही मेरा कार्य है ।' आचार्य श्री के वचन को सुनकर देवी ने कहा—यह कौनसी बड़ी बात है ? आप मन मे जग भी खेद न कीजिये और टन मत्र मे ग्रह का मोचन कीजिये, यह कहकर मृदुतर आनन पत्र पर मत्र को लिखकर उसे मुनिजी को दे दिया । उस मत्र की विधि को न जानते हुए मुनिजी ने फिर देवी ने कहा—मैं इस मत्र की बाबत कुछ भी नहीं जानता हूँ अतः स्पष्ट करके मन्त्रागधन क्रम को बतलाइये । तब उस ज्वालामालिनी देवी ने एला-चार्यजी को मत्र का भाग हस्त्य व्याख्या करके नमभाया और फिर उनकी भक्ति के द्य बह मत्र उन्हें वनीर मिद्ध विद्या के दे दिया एवं नाच ही यह कह दिया कि आप होम-जप के बिना भी जिन किसी को नाचन विधि मे यह मत्र दिये वह भी मिद्ध-विद्य हो जायगा । और यदि नहीं दोगे तो जो निद्धि बग्ना चाहे वह रमणीक उद्यान-वन मे, जिन मन्दिर मे, नदी के किनारे, पुलिन पर, गिरिगिर पर अथवा अन्य किसी निर्जंतुक स्थान पर स्थित होकर द्रव्य मनमे अधिष्ठित भाव मन के द्वारा एक लक्षप्रमाण मत्र का जाप करके श्री दम ह्वार मत्स्या प्रमाण होम करके सिद्धि को प्राप्त करें ऐना कहकर वह देवी अपने स्थान को चली गई ।

एलाचार्य ने तब वही बैठे हुए उन दुष्ट ब्रह्मराक्षस को दहनाक्षरो के द्वारा ददह्यमान चिल्लवन करके रोते चिल्लाते हुए निकाल बाहर किया । एक ही नूतनदहन-स्वरूप '१ १ १ १' बीजाक्षर का ध्यान करके जब ग्रह निर्वात हो जाना है तो शेष दमनिग्रहों के लिए ऐसा कौनसा ग्रह है जो अमाध्य हो ? कोई भी नहीं । अस्तु, देवी के आदेश ने उन मुनि महागज ने तब 'ज्वालिनी मत' नाम के धाम्त्र की रचना की । वह धाम्त्र उनके गिष्य गाङ्गमुनि को प्राप्त हुआ । फिर क्रमशः नीलश्रीव, बीजाक्षरान्त, आर्या क्षान्तिर-मन्त्रा और शुक्ल विस्वदृष्ट को उसकी प्राप्ति हुई । इस गुरु परिपाटी मे वह अविच्छिन्न मन्त्रदाय के द्वारा चला आया और तब उनका ज्ञान कन्दर्पाचार्य को हुआ । उन्होंने अपने पुत्र नमान गणनदि मुनि को उपदेश सहित 'ज्वालिनीमत' की व्याख्या की । इन दोनों मुनियों (कन्दर्पाचार्य और गणनदी) के पान मे इन्द्रनदि मुनि ने उन धाम्त्र का मूत्र रूप तथा अय रूप मे नविशेष अध्ययन किया । प्राप्तन शास्त्र क्लिष्ट ग्रन्थ है, ऐसा विचारकर उनी इन्द्रनदि मुनि ने ललित आर्याद्य-दो तथा गीतादि छंदो मे इस ग्रन्थ की रचना की है । इसमे हेलाचार्य का कहा हुआ अर्थ ही ग्रन्थ द्वारा वर्तन (शब्दादि परिवर्तन) के द्वारा निबद्ध हुआ है । यह ग्रन्थ नकल जगन को अपूर्व विस्मयजनक तथा जनमग्रह के लिए हितकारी है, अतः इसको सुनो ! इस कथन के पिछले दो पद्य इस प्रकार हैं —

क्लिष्टग्रन्थप्राक्तनशास्त्र तदिति त चेति निषाय ।
तेनेन्द्रनन्दिमुनिना ललितार्यावृत्तगीताद्यं ॥२६॥
हेलाचार्योक्तार्य ग्रन्थपरावर्त्तनेन रचितमिदम् ।
मकलजगदेकविस्मयजनन जनहितकर शृणुत ॥२७॥

इन पञ्चमे ने यह स्पष्ट जाना जाना है कि यह धाम्त्र और भी अधिक प्राचीन है और इनकी प्रथम सृष्टि हेलाचार्य के द्वारा हुई है जिन्हें हेलाचार्य भी कहते हैं । इन्द्रनदि ने महज गपादिक अथवा शब्द-छन्दादिक के परिवर्तन द्वारा उसे कुछ सरल बनाकर यह नूतन सम्पूर्ण उपस्थित किया है । इसीमे ग्रन्थ की सब मन्त्रियों मे ग्रन्थ का विशेषण हेलाचार्य प्रगीतार्य दिया है जिसका एक नमूना इसप्रकार है —

“इति हेलाचार्यप्रगीतार्य श्रीमदिन्द्रनन्दियोगीन्द्रविरचितग्रन्थसम्बर्धे ज्वालिनी-मते मन्त्रिलक्षणनिरूपण-धिकार प्रथम ॥”

इस मत्र धाम्त्र मे १ मथी, २ ग्रह, ३ मुद्रा, ४ मडल, ५ कटुतेल ६ वज्रयत्र ७ नुतत्र ८ स्तनपनविधि ९ नीराजनविधि, १० नाचनविधि नामके दस अधिकार हैं जिनमे क्रमशः विषय का वर्णन किया गया है । इनमे से कुछ का



परिचय 'अनेकान्त' की अगली किरण में दिया जायगा और उसमें पाठकों को वितनी ही नई बातें मालूम होंगी और यह समझ में आ सकेगा कि मन्त्र-साधन करनेवाला मन्त्री कैसा होना चाहिए? कौन इस मन्त्र का पात्र तथा कौन अपात्र है? गृहा के कितने भेद हैं? कैसे पुरुष-स्त्रियों को ग्रह लगने हैं? और विष ग्रह के लगने में क्या चेष्टा होनी है? इत्यादि।"

इन्द्रनन्दि के बाद सबसे बड़े दिग्गज मन्त्रविद् और धुरन्धर विद्वान् मल्लिपेण ग्याह्वी शताब्दी में हुए हैं। मन्त्रशास्त्र का सबसे बड़ा ग्रन्थ विद्यानुगामन इन्हीं के द्वारा रचित बनलाया गया है, जिसमें २४ अध्याय और पांच हजार मन्त्र होने का उल्लेख श्री जुगलकिशोरजी मुन्शर ने किया है। भैरवपद्मावती कल्प के अतिरिक्त उनके रचित सरस्वतीमन्त्र-कल्प और ज्वालिकाल्प भी प्राप्त हैं। भैरवपद्मावती कल्प के उपर्युक्त मागभाई नवाव के अतिरिक्त एक श्रीर सम्पूर्ण दि० जैनपुस्तकालय, मुरत में ५० चन्द्रोपनिषद् शास्त्री की हिन्दी भाषा टीका सहित छपा है। ग्रन्थ के अन्त में ४६ यन्त्र भी दिये गये हैं। यद्यपि मागभाई के सम्पूर्ण में भी ४५ यन्त्र हैं पर दोनों ग्रन्थों में पार्यन्त है। मागभाई वाले सम्पूर्ण में सम्पूर्ण टीका और गुजराती अनुवाद तो दिया ही है, पर परिशिष्ट में श्री भी बहुतनी महत्वपूर्ण सामग्री दे दी गई है। जिनमें से इवे० श्रीचन्द्रसूक्ति कृत अद्भुत पद्मावतीकल्प, इन्द्रनन्दि विरचित पद्मावतीपूजनम्, अज्ञात-कृत कर्त्तृक रक्तपद्मावतीकल्प, पद्मावती व्रतोद्यापनम्, पद्मावती स्तोत्र, पद्मावती यन्त्राग्राह्य विधि, महन्नाम स्तोत्र, स्तुति, चौपाई आदि केवल पद्मावती सम्बन्धी रचनाएँ ही नहीं, पर मल्लिपेणरचित मन्त्रकल्प, कल्पभट्टिसूत्रिष्टन सरस्वतीकल्प, अम्बिका, चक्रेश्वरी, चौमठ योगिनी, ज्वालामालिनी मन्त्रस्तोत्र आदि रचनाओं के साथ अद्भुत विरचित अनुभव मिद्ध मन्त्र द्वाविगतिता, मानदेवसूत्रिकृत लघुशक्ति वृत्ति भी दे दी गई है। दिग्गज मन्त्र यन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में विद्यानुगामन भी बड़ा ग्रन्थ है। जयपुर के ज्ञानभंडारों में इसकी प्रतियाँ मिलती हैं। यह एक तरह का मन्त्रग्रन्थ है जिसके सप्ताहक सुकुमारमेनमुनि हैं। ५० चन्द्रोपनिषद् शास्त्री ने लिखा है कि इस विद्यानुगामन में बतलाया गया है कि २४ तीर्थकरों की २४ धामन देवियों के कभी चौबीसों कल्प उपस्थित थे। मुकुमारमेन ने भैरवपद्मावती कल्प, ज्वालामालिनी कल्प, अम्बिका कल्प और चक्रेश्वरी कल्प देवे थे। श्री जुगलकिशोरजी मुन्शर ने इनके अतिरिक्त भारतीयकल्प, कामचन्द्रावली कल्प, श्री देवताकल्प, नमस्कार मन्त्रकल्प, ऋषिमण्डल यन्त्र पूजा, गणधरवल्लय कल्प, बीजकोष, हनुमत् पताकाविधि और कई स्तोत्रादि का उल्लेख किया है। जयपुर के दिग्गज भंडारों में विद्यानुगामन, मनिमागर रचित चिन्तामणिग्रन्थ, विजयग्रन्थ विधान, यक्षिणीकल्प, प्रभावनीकल्प, माया बीजविधि, प्रत्यगिरामिद्ध मन्त्रोद्धार, भक्तामर ऋद्धि मन्त्र, महामृत्युञ्जय मन्त्र, नमोकारकल्प (मिषनदि) आदि की प्रतियाँ भी हैं। इनमें से मनिमागरकृत विद्यानुगामन मन्त्रों सहित सप्ताहग्रन्थ है जिसकी १७८ पन्नों की प्रति सन् १४३० की लियी हुई है। दिग्गजगचार्य श्री शुचिचन्द्र के ज्ञानार्णव में पदस्थ ध्यान के प्रथम में कई जैनमन्त्रों की अच्छी जानकारी दी गई है। और भी कई जैनग्रन्थों में प्रथमग्रन्थ मन्त्रों सम्बन्धी जानकारी है।

ध्वेताम्बर विद्वानों के लिये गए मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र सम्बन्धी समस्त छोटी-बड़ी रचनाओं की मत्स्या श्री धीरजलाल टोकरमी शाह ने १०० के लगभग होने का उल्लेख किया है। जिनमें से 'तन्त्रो नु तारण' नामक ग्रन्थ में उन्होंने १४८ रचनाओं की सूची दी है—

१ नमस्कार मन्त्र कल्प, २ पञ्च नमस्कार कल्प, ३ पञ्च परमेष्ठि महामन्त्र, यन्त्र, तन्त्र वृहत्कल्प, ४ भयूरवाहिनी विद्या, ५ चन्द्रप्रभ विद्या, ६ चन्द्रपद्मनि मन्त्र साधना, ७ ओंकार कल्प, ८ ह्रींकार कल्प, ९ उवमगह्वर कल्प, १० शान्तिकर स्तवन आग्राह्य, ११ तिजय पद्मस्तोत्र आग्राह्य, १२ सत्तरिसय यन्त्रविधि, १३ नमिऊण कल्प, १४ भक्तामर कल्प, १५ कल्याणमन्दिर कल्प, १६ लोगस्त कल्प, १७ शान्तव (णमोत्युण) कल्प, १८ चिन्तामणि कल्प, १९ चिन्तामणि कल्प सागर, २० चिन्तामणि मन्त्रप्रदाय, २१ चिन्तामणि मन्त्राग्राह्य, २२ चिन्तामणि

(त्रिभुवन विजय पताका दन्त्य) मन्त्र पद्धति, २३ मन्त्राविराज कल्प, २४ अर्द्धमर्द्ध-मन्त्र कल्प, २५ चण्डोन्त्र मन्त्र कल्प, २६ कलिकुण्ड दन्त्य मन्त्र कल्प, २७ त्रिकुण्ड आराधना, २८ श्री पार्व्वनाथ कल्पद्रुम मन्त्राम्नाय, २९ शीघ्र सम्पत्ति कर पार्व्वनाथ मन्त्र, ३० पार्व्वनाथ मन्त्राराधना, ३१ जीराजला पार्व्व मन्त्र कल्प, ३२ पार्व्व स्तम्भनी विद्या, ३३ वज्रकर-गौरी गाथागी पार्व्व मन्त्र, ३४ उवमगगहर पार्व्व मन्त्र, ३५ विपापहार पार्व्व मन्त्र, ३६ पुत्रकर पार्व्व मन्त्र, ३७ सर्व कार्य-कर जगद्वल्लभ पार्व्व मन्त्र, ३८ नतिकर पार्व्व मन्त्र, ३९ वाद विजयकर पार्व्व मन्त्र, ४० पार्व्व चक्र मन्त्र, ४१ ऋषभ चक्र मन्त्र, ४२ अग्निष्ट नेमि चक्र मन्त्र, ४३ वर्द्धमान चक्र मन्त्र, ४४ भीमचर मन्त्र, ४५ धग्गेन्द्र लक्ष्मीकर मन्त्र, ४६ धग्गेन्द्र कष्टापहार मन्त्र, ४७ रक्त पद्मावती कल्प, ४८ रक्त पद्मावती वृहद् पूजन विधि, ४९ शैवागमोक्त पद्मावती पूजन रक्त पद्मावती, ह्म पद्मावती, नरन्त्री पद्मावती, मन्त्री पद्मावती, ५० कामेश्वरी पद्मावती मन्त्र साधना, ५१ शैवी पद्मावती मन्त्र साधना, ५२ त्रिपुत्र पद्मावती मन्त्र साधना, ५३ नित्य पद्मावती मन्त्र साधना, ५४ पद्मावती दीपावतार, ५५ पद्मावती कज्जलावतार, ५६ महामोहिनी पद्मावती विद्या, ५७ पुत्रकर पद्मावती मन्त्र, ५८ पद्मावती स्तोत्र कल्प, ५९ पद्मावती न्वपन मन्त्र साधन, ६० पद्मावती कल्प जना, ६१ पद्मावती मन्त्र कल्प (मित्रुग एव दूमने के) ६२ शत्रु भय नाशिनी पार्व्व विद्या, ६३ परविद्यादि पार्व्व विद्या, ६४ मूर्ति मन्त्र कल्प, ६५ वर्द्धमान विद्या कल्प, ६६ गाथा विद्या कल्प, ६७ चतुर्विधनि तीर्थकर विद्या, ६८ विद्यानुगामन, ६९ मुखाणि वज्रपाणि मन्त्र, ७० वज्रेश्वरी (अप्रतिचक्रा) कल्प, ७१ अम्बिका (कुम्भाण्डी) कल्प, ७२ ज्वालामालिनी (ज्वालिनी) कल्प, ७३ मिड्यापिका (कामचटालिनी) कल्प, ७४ कुरुकुन्ता मन्त्र साधन, ७५ पद्मावतिका कल्प, ७६ प्रन्त्रगिरा कल्प, ७७ उच्छिष्ट चाण्डालिनी मन्त्र साधन, ८८ कर्ण-पिनाचिनी मन्त्र साधन, ८९ वज्रेश्वरी न्वपन मन्त्र साधन, ९० न्वपनावती मन्त्र साधन, ९१ अम्बिका मन्त्र न्वपन साधन, ९२ अम्बिका दृष्ट-दृष्ट दर्पण जन दीपावतार, ९३ श्रुतदेवता घटावतार, ९४ घासन देवी मन्त्र, ९५ श्री ऋषभ विद्या, ९६ श्री शानिनाथ विद्या, ९७ धाति देवता मन्त्र साधन, ९८ धोणमा मन्त्र, ९९ अपराजिता महाविद्या, १०० गेगापहा-ग्नि विद्या, १०१ वानुपूज्य आम्नाय, १०२ अच्युप्ता मन्त्र, १०३ ब्रह्माग्नि मन्त्र, १०४ गज मुख यज्ञ मन्त्र, १०५ पौड्य विद्या देवी मन्त्र, १०६ भाग्नी कल्प, १०७ दाग्वादिनी कल्प, १०८ नागम्बन महा विद्या, १०९ श्रुतदेवता विद्या, ११० अपराजिता विद्या, १११ श्री देवी कल्प, ११२ लक्ष्मी मन्त्र, ११३ महालक्ष्मी मन्त्र, ११४ योगिनी मन्त्र साधन, ११५ यक्षिणी मन्त्र साधन, ११६ मिदचक्र कल्प, ११७ ह्री मण्डल कल्प, ११८ श्री विद्या कल्प, ११९ ब्रह्म विद्या कल्प, १२० मणिमन्त्र कल्प, १२१ घटाकर्ण कल्प, १२२ उग्र विद्या कल्प, १२३ क्षेत्र देवता मन्त्र साधन, १२४ वृष्ण-नौरक्षेत्रपाल मन्त्र साधन, १२५ खोडिया क्षेत्रपाल मन्त्र, साधना, १२६ र्जन्व मन्त्र साधन, १२७ वटुक शैरव मन्त्र साधन, १२८ न्वर्णाकर्पण शैरव मन्त्र साधन, १२९ चतुर्पट्ट योगिनी मन्त्र, १३० गौतम स्वामी मन्त्र, १२१ श्री वज्र स्वामी मन्त्र साधन, १२२ श्री जिनदत्त सूरि मन्त्र साधन, १२३ श्री जिनकुजल सूरि मन्त्र साधन, १२४ श्री जिनचन्द्र सूरि मन्त्र साधन, १२५ श्री हेमचन्द्राचार्य वृत्त मन्त्र, १२६ पञ्चीर साधन, १२७ ज्ञानार्णव मन्त्र, १२८ दीपा कल्प, १२९ पडरिका कल्प, १३० उवमगगहर स्तोत्र की विविध वृत्तिया, १३१ स्वकार्यकर चतुर्विधति दन्त्र, १३२ वैसठिया कल्प, १३३ बहुतरिया कल्प, १३४ विजय मन्त्र कल्प, १३५ विजयपताका कल्प, १३६ जैनपताका कल्प, १३७ अर्जुनपताका कल्प, १३८ हनुमान पताका कल्प, १३९ शैलोक्य विजय मन्त्र, १४० चण्डाला मन्त्र, १४१ वज्र पञ्ज महायन्त्र कल्प, १४२ वज्र पञ्ज-रागधना, १४३ मृत्युञ्जय साधन, १४४ चन्द्र कल्प (जगत सेठ वाला), १४५ सन्धान मन्त्रो, १४६ औपधि कल्प (श्वेतार्क) श्वेतगु जा, अमराजिना, रुदनी, मयूर जिना, सहदेवी, शियाल गृह्णी, मार्जारी, १४७ मन्त्रावली, १४८ प्रतिष्ठा कल्प ।

अब हम प्रकाशित साहित्य का सक्षिप्त परिचय दे रहे हैं । जैना कि पूर्व मे कहा गया है, जैन नमाज का नवसे प्राचीन और नवोदिक महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध महामन्त्र नवकाग मन्त्र है । यो तो प्राचीनकाल मे ही इसके प्रति बडी अद्धा और भक्ति दिखाई देती है पर अग्नी कुछ वर्षों मे तो इसका नूव प्रचार हुआ है । निम्नोक्त ३० ग्रन्थ तो इसके मन्त्रान्व मे विविध दृष्टिकोण मे लिखे गए प्रकाशित हैं—

१ मन्त्रराज गुण कल्प महोदधि—प० जयदयालजी शर्मा लीकानेर ने यह ग्रन्थ सवत् १९७६ मे प्रकाशित



किया है। इनमें जिज्ञासुता मूर्च्छित पञ्च परमेश्वरमस्वाग् स्तोत्र व्याख्या, गुणगल कृत णमो अग्रिहाण के ११० अर्थ एव अन्य अनेक विषयों का संग्रह है।

२ नयकार मन्त्र या पञ्च परमेश्वर—प० सुगलाल जी प्र० चन्द्रलाल गोकलदास साह स० १९८३ अहमदाबाद

३ नयकार मन्त्र संग्रह, फलदायक विधि सहित—मास्टर नानालाल मगनलाल, स० १९६९ अहमदाबाद

४ नयकार महामन्त्र कल्प—चन्दनमल नागोरी, छोटी सादडी (स० १९९० से २०१७ तक इस ग्रन्थ की चार आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं।

५ नमस्कार महामन्त्र साहात्म्य—चन्दनमल नागोरी, छोटी सादडी।

६ श्री नमस्कार महामन्त्र साहात्म्य—(हिन्दी अनुवाद सहित) स० भद्रकविविजयजी म०, प्र० दाकरलाल मुणोत, व्यावर।

७ श्रीनमस्कार महामन्त्र—ते० भद्रकविविजय, प्र० केशरबाई जैन ज्ञान-मन्दिर, पाटण (गुजरात) पृ ३८६ स्तोत्र, गीत आदि संग्रह ग्रन्थ।

८ नमस्कार महामन्त्र—ले० श्री हरिसत्य भट्टाचार्य, प्र० श्री जैन आत्मानन्द समा, भावनगर। मूल अंग्रेजी में प्रकाशक कलकत्ता विश्वविद्यालय। गु० अनुवाद प्रो० जयन्तीलाल।

९ महामन्त्र की आराधना—स० अभयसागर जैन, श्वेताम्बर सप्त पेढी इन्दीग (गुजराती में)।

१० श्री पञ्च परमेश्वरी महामन्त्र—चरणविजय, प्र० केशरबाईजैन, ज्ञान-मन्दिर, पाटण। (गुजराती) पृ ६०८।

११ नयकार स्वरूप—हर्ष विमल, पृ ६४, स० १९४९।

१२ नमोकार मन्त्र साहात्म्य—उमा स्वामी, प्र० धरणेन्दुप्रसाद जैन, वाराणसी।

१३ श्री नमस्कार महामन्त्र—गुणानन्द विजय, प्र० नयमल टीकमचन्द जैन शिवपुरी, स० २०११।

१४ श्री नमस्कार महामन्त्र भोक्तिरुमाला—सुशील विजय, प्र० ज्ञानोपासक समिति बोटाद स० २०१७।

१५ नमस्कार महिमा—वीरविजय, प्र० धीरजलाल शाह, बम्बई पृ १०८।

१६ महामन्त्र नयकार—अमरमुनिजी, प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा पृ १०४।

१७ महामन्त्र की साधना—कुन्दकुन्द विजय।

१८ श्री नमस्कार महामन्त्र नु दर्शन—कान्तिलाल मोहनलाल पारेष।

१९. " " विज्ञान— " " प्र० श्री जैन साहित्य समा, बम्बई।

२० श्री नयकार साधना—मफनलाल सधवी, रिमाला बाजार टीसा।

२१ विद्वत्प्राण श्री नयकार— " " " "

२२ अपूर्व नमस्कार— " " " " श्री मफनलाल सधवी द्वारा संपादित

‘वर्मन्त्र’ व ‘अमीधारा’ मानिक पत्रों में भी नवका मंत्र के सम्बन्ध में काफी लेख प्रकाशित हुए हैं।

२३ नमस्कारगीतगगा—भद्रगुप्त विजय, प्र० सोमचन्द्र डी० यादव, पानीपत।

२४ नमस्कार रत्न गगा— “ “ “

२५ नमस्कार मन्त्र कल्प—जैन ध्वेताम्बर मित्र मण्डल, कलकत्ता।

२६ नमस्कार महामन्त्र—प० कैलाशचन्द्र शान्नी, प्र० भारतीय दि० जैन मध, मयुरा।

२७ मंगलमंत्र लोकोकार—(एक अनुचिन्तन) डा० नैमिचन्द्र शास्त्री, आग (विहार)। इसकी द्वितीयावृत्ति मन् १६६० में छपी है। ३४८ पृष्ठ का यह ग्रन्थ बहुत ही महत्वपूर्ण है।

२८ लोकोकार मंत्र आहात्म्य—ले० धरमेश्वर प्रसाद जैन, मित्र मण्डल वाराणसी।

२९ लोकोकार मन्त्र कल्प—

३० श्री नमस्कार स्वाध्याय—(प्राकृत विभाग) तत्त्वानन्द विजय प्र० जैन साहित्य विक्रम मंडल, बम्बई।

३१ “ “ (संस्कृत विभाग) स० बुरन्धर विजय “ “ “

नवकार पाठावली, परमेश्वर नमस्कार आदि १-७ ग्रन्थ गुजराती में प्रकाशित हैं।

सूरिमन्त्र कल्प कई प्रकाशित हो चुके हैं। मुनि प्रीतिविजय नपादिन श्री सूरि मन्त्र वृहत् कल्प विवरण एव जिनमन्त्रमूर्ति रचिन (२) श्री सूरिमन्त्र आराधन विधि देवेन्द्र सूरि रचिन, प्रकाशक—डाह्या भाई महोक्मलाल, अहमदाबाद की पत्रकार प्रनियाँ तो हमारे मन्त्र हैं। इनके अनिरिक्त मलबारी राजशेखर सूरि, राजगच्छीय हमराज सूरि, जन्म गच्छीय जिनमन्त्र सूरि आदि के सूरि मन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित होंगे, ऐसी सूचना श्री मुनिमन्त्र आराधन विधि के अन्त में दी गई है।

सूरिमन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का एक मन्त्र श्री नागनाई नवाब ने प्रकाशित किया था जिनमें (१) मेस्तुग सूरि रचिन सूरिमन्त्र मूल्य कल्प (२) दुर्गपद विवरण (३) सूरिमन्त्र कल्प (४) मलबारी गच्छीय सूरिमन्त्र कल्प (५) सूरि मन्त्र आम्नाय (६) माया बीज कल्प (७) ह्रींकार कल्प (८) नालिकेर कल्प (९) निहलिक सूरि रचिन वर्द्धमान विद्या कल्प गुजराती अनुवाद सहित छपे हैं और अन्त में जिन प्रमसूरि रचिन वर्द्धमान विद्या कल्प स्तवन, स्तोत्रादि छपे हैं।

मुनि कल्याणविजयजी ने ‘आपणा प्राभृतो’ शीर्षक गुजराती लेख में जैन मन्त्र तन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जैनो में आज जितने भी मन्त्र और विद्याएँ मौजूद हैं उनमें सबसे प्राचीन सूरिमन्त्र और वर्द्धमान विद्या उल्लेखनीय है। जैन छेद भूष महाविद्यालय के अन्त में वर्ण विस्लेष करके लिची हुई वर्द्धमान विद्या मिलती है। जैन मण्डलों में प्राप्त इस विषय की निम्नोक्त रचनाओं के नामोल्लेख किये हैं —

(१) सूरि मन्त्र कल्प (२) सूरि मन्त्र आरोहण (३) सूरि मन्त्र प्रदेश विवरण (४) वर्द्धमान विद्या कल्प (५) मन्त्र वाहिनी साधन (६) मन्त्र शास्त्र (७) विद्यानुद्यान (८) पद्मावती कल्प (९) नरन्वरी कल्प (१०) अष्ट मन्त्र कल्प (११) ह्रींकार कल्प (१२) मन्त्राविराज कल्प (१३) ऋषि मंडल कल्प (१४) चिन्तामणि पार्ष्व कल्प



(१५) ज्वालामालिनी साधन (१६) प्रत्यगिरा कल्पसारोद्धार (१७) घटाकर्ण कल्प (१८) पचागुली कल्प (१९) उद्योतकर स्तव कल्प (२०) शक्र स्तव कल्प (२१) परमेष्ठि मन्त्र कल्प (२२) उपमर्गहर कल्प (२३) तिजय-पहुत्त स्तोत्र कल्प (२४) भयहर स्तव कल्प (२५) भक्तामरस्तोत्र कल्प ।

वसुधारा के अतिरिक्त जागुली विद्या भी जैनो में प्रसिद्ध है और वे दोनों ही बौद्धों से आई हैं । विद्या प्राश्रुत के सम्बन्ध में भी मुनि कल्याणविजयजी ने अच्छी जानकारी दी है ।

श्री धीरजलाल बाहू ने अपने मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र सम्बन्धी पुस्तिकाओं में उपर्युक्त १४८ ग्रन्थों की सूची तो दी ही है, साथ ही कुछ ग्रन्थों के सम्बन्ध में विशेष बातें भी बतलायी हैं । जैसे—मन्त्राधिराज नामक महान् जैन तन्त्र ग्रन्थ में जप के १३ भेदों का उल्लेख किया है । मूड बिद्री की हस्तलिखित प्रतियों में समन्तभद्र रचित 'मन्त्र-व्याकरण' नामक एक महत्त्वपूर्ण कल्प है जिसकी प्रतिलिपि धीरजभाई के पास है । जैन ग्राम्नाय का बीज सग्रह बृहत् विद्या विधि अपर नाम मन्त्रसागममुच्चय में होने का उल्लेख किया है । गुणनन्दिविरचित ऋषि-मण्डल यन्त्र पूजा में दि० ५० मनोहरलाल शास्त्री ने यन्त्र दिये हैं वे ठीक नहीं हैं, ऐसा धीरज भाई का मत है । जमोत्युण यन्त्र की खोज में तो उन्होंने दक्षिण भारत तक की यात्रा की थी । खेद है कि जैन मन्त्र, यन्त्रों के विशेषज्ञ भट्टारक चन्द्रसागरजी का कुछ वर्ष पूर्व स्वर्गवास हो गया । उसी तरह ध्वेताम्बर आचार्यों में इस विषय के ज्ञाता श्री जयनागर सूरि जी थे, उन्होंने सारा भाई नवाब को अनेक जैन ग्रन्थों के मन्त्र बनाकर दिये थे—उनका भी स्वर्गवास हो गया है ।

ऋषिमण्डल, भक्तामर, कल्याणगदिर स्तोत्रों का प्रचार ध्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में है और इनके यन्त्र, मन्त्र सम्बन्धी कई ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं, जिनमें से श्री चन्दनमल नागौरी सम्पादित (१) ऋषिमण्डल स्तोत्र कल्प, (२) सिंहतिलक सूरि रचित ऋषि मण्डल स्तव यन्त्र लेखनम् (प्र० जैन माहित्य विकास मण्डल, बम्बई) (३) ऋषि मण्डल स्तोत्र यन्त्र चित्र संहिता—स० यशोविजयजी, ये तीन ध्वेताम्बर समाज की ओर से और अन्य १-२ दि० समाज की ओर से भी प्रकाशित हो चुकी हैं । इसी तरह भक्तामर मन्त्र ग्राम्नाय सहित ध्वेताम्बर दि० दोनों के ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । इनमें साराभाई नवाब के प्रकाशित नवस्मरण और भक्तामर-कल्याण मन्दिर सम्बन्धी ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं ।

मुनि प्रीतिविजयजी ने जिनप्रभ सूरि रचित 'बृहत् ह्रीकार-कल्प-विवरण' और 'वर्धमान-विद्या-कल्प' दोनों एक साथ पत्राकार रूप में सा० डाह्याभाई मोहकमलाल, अहमदाबाद से प्रकाशित किए हैं । वर्धमान विद्या का भी ध्वेताम्बर समाज में काफी प्रचार रहा है । कई प्राचीन वस्त्रपट्ट वर्धमान-विद्या सम्बन्धी मिलते हैं जिनमें से एक हमारे सग्रह में भी है । सूरि-मन्त्र और ह्रीकार-मन्त्र आदि के भी वस्त्रपट्ट पाये जाते हैं ।

श्री चन्दनमल नागौरी ने उपरोक्त नवकार और ऋषिमण्डल के अतिरिक्त घटाकर्ण-कल्प और यन्त्र-मन्त्र-कल्प-सग्रह नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित किये हैं । इनके प्रथम भाग में यन्त्रों का सग्रह है । जिसमें जयपताका, विजयपताका, वर्धमान पताका, यन्त्र उल्लेखनीय हैं । दूसरे भाग में मन्त्र-सग्रह है । तीसरे भाग में कल्प-सग्रह है, जिसमें लोगस्स-कल्प, महदेवी-कल्प, मंगल-कल्प, धर्मो-मंगल-कल्प, स्वर्णसिद्धि-कल्प, बीसा यन्त्र कल्प आदि उल्लेखनीय हैं । श्री नागौरीजी के सग्रह में इस विषय की और भी महत्त्वपूर्ण सामग्री है ।

श्री एस० के० कोटेचा, घुलिया में महावीर ग्रन्थमाला द्वारा भद्रगुप्ताचार्य रचित 'विद्यारत्नमहोदधि' आदि ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किए हैं । इनमें से विद्यारत्नमहोदधि वास्तव में भैरव पद्मावती-कल्प के परिशिष्ट में प्रकाशित 'अनुभवसिद्ध-मन्त्र-द्रात्रिशिका' ही है । कोटेचा-प्रकाशित उबसगृह मन्त्र यन्त्र, मेघविजय रचित अनुभूत मिद्ध बीसा यन्त्र (अर्जुन पताका) आदि ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं । जातसुन्दरी-प्रयोगमाला में भी कुछ मन्त्र प्रकरण हैं । नागार्जुन के आकाशगामिनी-विद्या-कल्प और गोपी चक्र-कल्प भी छप चुके हैं ।

श्री नागभाई नवाव के मन्त्र-मन्त्रावली—(१) महाप्रभाविक नव मण (२) भैरव-पद्मावली-कल्प (३) श्री मृगमन्त्र-कल्प-मदोह का उल्लेख उपर किया जा चुका है। इनके अनिर्दिष्ट (४) श्री जैन-यन्त्रावली (५) श्री मन्त्राधिगज-चिन्तामणि (६) महाचन्द्रावली-दीना-यन्त्र-कल्प, (७) श्री वटाकरण मणिमन्त्र मन्त्र-तन्त्र-कल्पादि सग्रह, तथा मणि-कल्पादि-ग्रन्थ और श्री जैन-चित्रपट्टावली भी प्रकाशित हुए हैं।

श्रीनिर्वाणकनिका का उल्लेख पहले किया जा चुका है। प्रणिष्ठा-कल्पादि ग्रन्थों में भी नवग्रह, दश दिग्पाल पूजादि में तांत्रिक प्रभाव पाया जाता है। ऐसे प्रणिष्ठा-कल्प कई हैं जिनमें नक्षत्रचन्द्र का प्रणिष्ठा-कल्प अधिक प्रसिद्ध है। वैन आचार-दिनकर के द्वितीय भाग में भी प्रणिष्ठा विधि दी गई है। श्री मिद्धचक्र यन्त्रद्वारा आदि अन्य रचनाएँ भी प्रकाशित हैं।

नास्त्रि के अनिर्दिष्ट वस्त्रपट्ट पर लिखे हुए अनेक प्रकार के मन्त्र जैन भण्डारों में प्राप्त होते हैं। १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ का एक पार्श्वनाथ-चिन्तामणि यन्त्र का चित्रपट्ट हमारे नाहटा कलाभवन में है। १५वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध का एक चिन्तन विजय यन्त्र के पट्ट का छोटा भी नाहटा कलाभवन में है। वह मूल वस्त्रपट्ट बोमून के म्युजियम में प्रदर्शित है। वर्तमान विद्या का भी एक प्राचीन वस्त्रपट्ट हमारे मन्त्र में है तथा और भी अनेक वस्त्रपट्ट, वस्त्र और कागज पर लिखे हुए हमारे कला भवन तथा बीकानेर के बड़े ज्ञान-भण्डार में सुरक्षित हैं। कई मन्त्रपट्ट प्रकाशित भी हो चुके हैं। जिनमें से मिद्धचक्र और ऋषिमण्डल के यन्त्र विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री मन्त्र आदि के भी यन्त्र पट्टों के ब्लाक ग्रन्थों में छप चुके हैं। श्री नागभाई द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों तथा दिगम्बर नमाज की ओर में प्रकाशित कई ग्रन्थों में मन्त्रों के ब्लाक छपे हैं। श्री धीरजान्त शाह के 'केटलाक यन्त्र' नामक पुस्तक में पत्निया, बीसा, मोलिया, बीवीमा, चालीमा, पेनडिया और नाविया यन्त्र दिये गये हैं। जैन यन्त्र लोग यन्त्र का काफी प्रयोग करते थे, यन्त्र अनेक प्रकार के मन्त्र जैन भण्डारों में लिखे हुए मिलते हैं। इनमें तर्ह फुटकर हजागे मन्त्रों की प्रतियाँ प्राप्त हैं। अप्रकाशित साहित्य प्रकाशित साहित्य की अपेक्षा कई गुना है। ५० भगवानदाम जैन, जयपुर के सग्रह में (१) सूरि मन्त्र-कल्प-मानवेव मूनि, (२) धर्मघोष मूनि, (३) जिनमन्त्र मूनि द्वाय तथा (४) पन्नागुलि-कल्प, (५) मन्त्राधिगज, कल्प-मागवरचन्द्र मूनि द्वाय आदि कई अप्रकाशित रचनाएँ हैं।

हमारे मन्त्र में उदमगगहर मन्त्र मन्त्र कल्प, शम्भुव कल्प, नवसार कल्प, विजय पट्ट कल्प, लोहमन्त्र कल्प, मन्त्राधम मन्त्र कल्प, विजय मन्त्र त्रिविध, चिन्तामणि-कल्प (धर्म घोष मूनि) घटाकरण कल्प, मन्त्रावली कल्प आदि कई कल्प और विविध-विधान मन्त्रावली प्रतियाँ हैं। इनमें तर्ह अन्य भण्डारों में भी अनेक प्रतियाँ खोजने पर मिलेंगी।

दक्षिण भाग के भण्डारों में गणधर-कल्प, गणधर चलय यन्त्र, गणधर कल्प मन्त्र जप विधि, पार्श्वनाथ मन्त्राष्टक (इन्द्रनदि चित्त) पञ्च नमस्कार-चन्द्र, बृहद् नान्ति विधान, काम-चन्द्रालिनी कल्प (मल्लिपेता), बीज-भर-कोप विद्यानु-नादाग, मन्त्रावली-कल्प, (विजयदीर्घा) श्री देवता-कल्प (अष्टिनेनि), पञ्च नमस्कार कल्प, वातगृह, चिक्लिमा यन्त्र मन्त्र मन्त्र आदि ग्रन्थ प्राकृत, संस्कृत, वा कन्नड भाषा और लिपि में पाये जाते हैं।

जिस तर्ह कागज और वस्त्र पर अनेक मन्त्र लिखे मिलते हैं उसी तर्ह तावा, पीतल और चाँदी के भी अनेक यन्त्र जैन मन्त्रिणों में पूजे जाते हैं। बीकानेर के मन्त्रिणों में मिद्धचक्र मन्त्र यन्त्र, मन्त्रोद्यम यन्त्र, चक्रेश्वरी निधान यन्त्र, कलिकुण्ड-यन्त्र, ह्रींकार यन्त्र आदि तावे और पीतल के हैं। दि० मन्त्रिणों में पौडवाकाण यन्त्र, सम्यक्-दर्शन-यन्त्र, दश धर्म यन्त्र, नम्यक् चरित यन्त्र, चिन्तामणि यन्त्र, सम्यक् ज्ञान यन्त्र, मिद्ध परमेष्ठि यन्त्र, कलिकुण्ड यन्त्र, पञ्च परमेष्ठि और त्रीश्रीम नौयंक् यन्त्र, गणधर चलय यन्त्र, शान्तिनाथ यन्त्र, नवमन्त्रों का यन्त्र, चोकोर यन्त्र, ऋषिमण्डल यन्त्र, महालक्ष्मी यन्त्र, मिद्धचक्र यन्त्र, अन्तल यन्त्र, मिद्ध यन्त्र, निद्धि यन्त्र, नवग्रह यन्त्र आदि पाये जाते हैं।

मिद्धचक्र विधान की तर्ह अनेक प्रकार के विधान दिगम्बर नमाज में प्रचलित हैं। ऐसे कई विधान सम्बन्धी





ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं। विधि-विधानों के अनेको ग्रन्थों में तांत्रिक प्रभाव दिसाई देता है। मन्त्रों का प्रयोग तो है ही।

जैन विद्वानों की दो विशेषताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक तो उन्होंने मन्त्र के आदि अक्षरों का सम्बन्ध जैन महापुरुषों से जोड़ दिया है। जैसे अकार जैन मान्यता के अनुसार पच परमेष्ठि के ५ अक्षरों से बना है। अग्रहन्त या अग्रिहन्त का अ, सिद्ध अक्षरों होने से अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ, और मुनि का म्, इन अ × अ × आ × उ × म् से ओ शब्द बना है। इस तरह ह्रीकार की ह्री में २४ तीर्थंकरों का समावेश किया जाता है। ओकार ह्रीकार के ऐसे कई चित्रपट्ट, जिनमें पच परमेष्ठि और २४ तीर्थंकरों के चित्र प्रस्थापित किये गये हैं, प्रकाशित भी हो चुके हैं।

दूसरी विशेषता, उदार दृष्टिकोण है। जैनैतर देवी-देवताओं और रचनाओं को भी उन्होंने अपनाया, पर उनमें जो हिंसात्मक विधान थे उन्हें नहीं अपनाया। जैसे ओमियाँ (राजस्थान) की चामुंडा देवी को ओमवालों की कुल देवी मान्य रखी पर देवी के आगे जो पशुओं का बलिदान होता था उसे बन्द करके मेवा-मिष्ठान्न, फल-फूल, घूप, दीपक आदि से देवी की पूजा प्रचलित की। इसी तरह भैरवी को भी उन्होंने अपनाया, किन्तु उनके आगे जो मांस-मदिरा चढ़ाने की पद्धति थी उसे नहीं अपनाया। अर्थात् जैनधर्म के मूल-भूत विधि-विधानों एवं तत्त्वों में किसी तरह की आपत्ति हो ऐसा नहीं किया। घटाकर्ण आदि कई देवी-देवता मूलतः जैनमान्य नहीं थे, पर आज उनकी मात्स्रिक पूजा जैन-ममाज में प्रचलित है। बौद्धों के धारणियों आदि को भी जैनो ने अपनाई। विशेषतः वसुधारा धारिणी नामक बौद्ध कृति का प्रचार गत ५०० वर्षों से जैन ममाज में काफी रहा है। हमारे संग्रह में सवत् १५४८ की लिखी हुई वसुधारा की प्रति है। इसके बाद की तो एक दर्जन से अधिक प्रतियाँ हैं। बौद्धों में प्रचलित वसुधारा में वहाँ क्या परिवर्तन किया है, यह तो मिलान करने पर ही मात्स्र्य हो सकता है। चूरे की सुराणा लायब्रेरी में बौद्ध वसुधारा की प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त हैं। बौद्ध वसुधारा काफी विस्तृत है। जैन विद्वानों ने उसका संक्षिप्त रूप अपनाया प्रतीत होता है। इसी तर्ह अन्य जैन मन तत्र सम्बन्धी ग्रन्थों का जैनैतर ग्रन्थों से तुलनात्मक अध्ययन करने पर नये तथ्य प्रकाश में आयेंगे।

जैसा कि पहले कहा गया है, प्राचीन काल से जैनाचार्य और मुनियों ने मन्त्र एवं विद्याओं का समय-समय पर प्रयोग करके बहुत चमत्कार दिखाया है, पर उनका उद्देश्य जैन-शासन-रक्षा, सब की विपत्ति निवारण, जैन धर्म की उन्नति व प्रभाव स्थापित करना रहा है और ऐसे कामों में ही इन साधनों का अधिक उपयोग किया है। जैन विद्वान् सदा से लोक-सम्पर्क में अधिक रहे हैं। वैसे बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं को भी उन्होंने प्रभावित कर शासन प्रभावना की है। साधारणतया लोग चमत्कार को नमस्कार करते हैं, इसलिये उन्हें जब जैसा अवसर आया जनता या अधिकारियों को धर्मानुरागी बनाने के लिए चमत्कार भी दिखलाये। ऐसे अनेक प्रसंग जैनाचार्यों के चरित्रों में प्राप्त हैं। उदाहरणार्थ—रत्नप्रभसूरि, जिनदत्तसूरि आदि ने लाखों अर्जनों को जैन बनाया, चमत्कार दिखाकर ही। कई बार शास्त्रार्थ में भी मन्त्रादि विद्याओं का प्रयोग आवश्यक हो जाता था।

मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। तांत्रिक साहित्य को आगम कहा जाता है और प्राचीन जैन ग्रन्थों को भी आगम की सजा प्राप्त है। जिस प्रकार निव और शक्ति के कहे हुए ग्रन्थ शैवागम कहे जाते हैं उसी तरह जिनेश्वर के कहे हुए वचनों का संग्रह जिस ग्रन्थ में हो उसे जैनागम कहा जाता है। वैदिक धर्म, कर्म-काण्ड, यज्ञ-पूजा आदि प्रवृत्तियों को अधिक महत्त्व देता है। जैनधर्म अहिंसा, त्याग, तपस्या आदि निवृत्ति मार्ग को प्रधानता देता है। इसलिए जैनो में पंचमकार आदिक तांत्रिक विधि-विधान कभी स्वीकृत नहीं हुए। यद्यपि भैरव-पद्मावती कल्प आदि में कहीं-कहीं जैनधर्म को मान्य न होने वाले विधान भी देखने को मिलते हैं। दस दिग्पाल आदि की पूजा में बलि का विधान भी है पर वहाँ पशु-बलि नहीं, अन्य साद्य पदार्थों की बलि दी जाती है। इस तरह जैन धर्म में तांत्रिक प्रभाव बहुत कुछ स्वधर्मसम्मत आदर्शों के लिए हुए है और तन्त्र की अपेक्षा मन्त्र और यन्त्र को अधिक अपनाया गया है।

जैनसाहित्य में रामकथा

पं० गोकुलचन्द्र जैन

एम० ए०, साहित्याचार्य



मर्यादा पुरुषोत्तम राम का पावन चरित्र पुष्पनलिला भागीरथी की निर्मल धारा के समान आदि कवि वाल्मीकि की सुवार्त्तापिणी लेखनी ने प्रवर्तित हो कर नाना तीर्थ बनाना हुआ निरन्तर विकास को प्राप्त हुआ है। वैदिक, जैन और बौद्ध धाराओं के अनेक महारथी साहित्यकारों ने भगवान् राम के चरित्र को लिपिवद्ध करके अपना अहोभाग्य माना और इस त्रिवेणी-मग्न के पावन तीर्थ में मग्न करके अनेक महापुरुषों ने प्रेरणा पायी।

हिन्दुओं ने विष्णु का अवतार मान कर राम की पूजा की। जैनो ने मोक्षगामी महापुरुष मान कर तीर्थंकरों के समान आदर दिया और बौद्धों ने उन्हें बुद्ध का अवतार मान कर अपना आराध्य बनाया। इस प्रकार भारत का सम्पूर्ण जन-मानस प्राचीन काल में राम की पूजता चला आया।

रामकथा को साहित्यकारों ने और लोककथायात्रा ने अनचाहा मोड़ दिया। यहाँ तक कि अपनी-अपनी विचारधारा और मान्यता के अनुसार कथा के पात्रों को हिन्दू, जैन और बौद्ध भी बना डाला। कुछ मनचले लोगों ने तो सारी कथा को अद्भुत ही बना दिया जो बाद में अद्भुत रामायण के ही नाम से प्रसिद्ध हो गयी। इतना होने पर भी मजा यह कि राम का चरित्र उज्ज्वल में उज्ज्वलतर और उज्ज्वलतम होता गया। हीरे को ज्यों-ज्यों सान पर चढ़ाया उसका रंग निखरता गया। राम मानव से ऊँचे उठकर भगवान की कोटि में पहुँच गये।

भगवान की उपामना जिसे जिन रूप में अच्छी लगी उसने उसी रूप में उसकी आराधना की। किसी ने गीता में गा कर, किसी ने ध्यान में ध्याकर तो किसी ने अपने मन-मन्दिर में बिठा कर। भक्तवत्सल भगवान को भक्तों के अनुकूल बनना पड़ा। अपने चरित्र को भी उनकी अभिरुचि के अनुसार मोड़ देना पड़ा। हिन्दुओं के राम हिन्दू थे इसलिए उन्हें हिन्दुत्व का चौगा पड़ना पड़ा और कथा को उनके अनुकूल बनाया गया। बौद्धों के राम बुद्ध के अवतार थे इसलिए उन्हें वाराणसी में जन्म लेना पड़ा और सीता को यशोधरा और भरत की आनन्द बनना पड़ा। जैनो के राम ही जैन नहीं थे प्रत्युत कथा के सनी पात्र जैनधर्म के मन्चे अनुयायी थे। यहाँ तक कि रावण भी जैनधर्म का कट्टर शत्रु था।

जैन साहित्य में जब रामकथा लिपिवद्ध होना शुरू हुई उस समय तक कथा के कई रूप चल पड़े थे। वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त शायद अद्भुत रामायण तथा बौद्धों का दशरथ जातक भी लिपिवद्ध हो चुका था। यही कारण है कि उत्तरपुराण की कथा का जानकी-जन्म अद्भुत रामायण के ढंग का है। और दशरथ की वाराणसी का राजा बताना बौद्ध जातक के अनुरूप है।





रामकथा सर्ववन्धी जैन-साहित्य

उपलब्ध जैन साहित्य में रामकथा का वर्णन करने वाला सबसे पहला ग्रन्थ विमलसूरि का पञ्चम-चरिय मिलता है। विद्वानों ने इसे चौथी शती की रचना माना है। कुछ लोग इसे इसमें भी पूर्व का मानते हैं। विमलसूरि के उल्लेख के अनुसार रामकथा का अवतरण जैन साहित्य में उनमें पूर्व हो चुका था। उन्होंने पञ्चम-चरिय में लिखा है कि—मैं नामवली में निबद्ध और आचार्यपरम्परा से प्राप्त समस्त पद्मचरित (रामायण) आनुपूर्वी के अनुसार संक्षेप में कहूँगा।

तिलोपपण्णत्ति ग्रन्थ में जिन त्रेपठ शालाकापुरुषों की गणना है उनमें राम की भी गणना की गयी है। बाद के ग्रन्थकारों में स्वयम्भूदेव का पञ्चम-चरित (अपभ्रंश), गुणभद्र का उत्तरपुराण और रविपेणाचार्य का पद्मचरित या पद्मपुराण विशेष उल्लेखनीय है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने त्रिपण्डितशालाकापुरुषचरित नामक ग्रन्थ में रामकथा को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। जिनदास कृत रामपुराण (१५ वीं शती), पद्मदेव विजयगणिकृत रामचरित (१६ वीं शती) तथा सोमसेन कृत रामचरित (१६वीं शती) भी रामकथा का वर्णन करने वाले स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इन रचनाओं के अतिरिक्त अनेक जैनकथा ग्रन्थों में राम की कथा आयी है। भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में भी जैन साहित्यकारों ने भगवान राम के उज्ज्वल चरित का अंकन किया है।

जैन रामायण के दो रूप

उपर्युक्त समस्त जैन साहित्य में रामकथा का विकास दो धाराओं में हुआ है। पहली धारा विमलसूरि के पञ्चम-चरिय को आधार मान कर चली है और दूसरी गुणभद्र के उत्तरपुराण को।

विमलसूरि की परम्परा और पञ्चम-चरिय की कथावस्तु

पञ्चम-चरिय की कथा राक्षस तथा वानर वंश के वर्णन के साथ प्रारम्भ होती है। राजा सेणिय (श्रेणिक) ने भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गोयम (गीतम) गणधर से रामकथा को जानने की इच्छा प्रकट की। इस पर गोयम पञ्चम-चरिय सुनाता है। कथा-वस्तु इस प्रकार है—

राक्षस वंशीय राजा रत्नश्रवा तथा कैकसी के चार सन्तान थी। रावण, कुम्भकर्ण, चन्द्रनखा और विभीषण। जब रत्नश्रवा ने पहले-पहल अपने पुत्र रावण को देखा तब शिशु माला पहने हुए था। इस माला में पिता को रावण के दस मिर दियार्ई दिये, इस कारण शिशु का नाम दशानन या दशग्रीव रखा गया। अपने सीमेरे भाई का विभव देखकर रावण आदि भाई बड़ होने पर तप करने के लिए चले गये और तप के द्वारा अनेक विद्याएँ प्राप्त की। इसके बाद रावण ने मन्दोदरी आदि ६००० कन्याओं के साथ विवाह किया और दिग्विजय में बहुत से राजाओं को परास्त किया। इसी विजय यात्रा में रावण ने नलकूबर की पत्नी का प्रेम-प्रस्ताव ठुकरा दिया तथा किसी केवली का उपदेश सुनकर धर्म-प्रतिज्ञा की कि 'मैं विरक्त परनारी का भोग नहीं करूँगा।'

इसके बाद बालि, मुग्रीव, हनुमान आदि का वर्णन है।

२१वें पर्व से मूल कथा आरम्भ होती है। जनक तथा दशरथ की वशावली के बाद दशरथ की तीन पत्नियों का उल्लेख है। गौणल्या, मुमिन्ना तथा सुप्रभा ये तीन रानी थी। एक दिन नारद ने रावण से कहा कि आपकी मृत्यु जनक की पुत्री के कारण दशरथ के पुत्र द्वारा होगी। इस पर रावण ने अपने भाई विभीषण को इन दोनों को मार डालने के लिए भेजा। वहाँ नारद ने जनक और दशरथ को रावण के इस समाचार से पहले ही सावधान कर दिया

था। दोनों अपने-अपने रूप का एक-एक पुतला अपने-अपने महल में रख कर गुप्त रूप से परदेश चले गए। विभीषण ने इन दोनों मूर्तियों को ही वास्तविक जनक और दशरथ समझकर उनके निरुपस्थित होने का उद्देश्य समझ लिया। परदेश में दशरथ कैकेयी के स्वयम्बर में पहुँचे और कन्या ने दशरथ के गने में माला डाली। इस पर अन्य राजा विगड खड़े हुए। फलस्वरूप उनसे राजा दशरथ का युद्ध हुआ। कैकेयी की पुत्री सीता भी इसलिए उसने स्वयं दशरथ का रथ चलाया। राजा दशरथ अपने पराक्रम और उनकी चतुराई में युद्ध में विजयी हुए और अयोध्या वापस आकर राज्य करने लगे। कैकेयी की चतुराई ने प्रसन्न होकर दशरथ ने उसे मनचाहा वर मागने को कहा। कैकेयी ने यह कहकर कि मेरा वर भण्डार में रहे, अब आवश्यकता होगी तब माँगूँगी, वर को मुगलित कर दिया।

कैकेयी महिन राजा के चार गनियाँ हो गयीं। इनके चार पुत्र उत्पन्न हुए। कौमल्या से राम, जिनका दूसरा नाम पद्म था, सुमित्रा ने लक्ष्मण, कैकेयी ने भरत और सुभद्रा से सुगन्धर्व।

राजा जनक के विदेहा नामक गनी ने एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुई। पुत्र का नाम नामण्डल तथा पुत्री का नाम सीता रखा गया। बड़े होने पर सीता का स्वयंवर हुआ। स्वयंवर में राम ने धनुष चढ़ाया तथा उसका सीता के माथे बिगाह हो गया। उसके बाद राजा दशरथ राम को राज्य देकर तपस्या के लिए जाने की आज्ञा देने लगे, मन्त्री कैकेयी ने राज्यभण्डार में मुगलित अपना वर माग कर भरत को राज्य मागा। यह सुन कर राम, लक्ष्मण और सीता सीता की आज्ञा को मान ली। कैकेयी और भरत ने वन में जाकर राम से लौट चलने का अनुरोध किया पर नव व्यर्थ हुआ। राम अयोध्या नहीं लौटे।

इसके बाद वनभ्रमण का विस्तार के साथ बपन है। वन में राम और लक्ष्मण के श्लेच्छ राजाश्री ने अनेक युद्ध हुए। कई विपत्तिग्रस्त लोगों को राम ने सहायता दी थी। अटायु में भेंट होने के बाद राम दण्डक वन में रहने लगे।

इसके बाद सीताहरण और उसकी खोज का वर्णन है। चन्द्रनगा तथा खरदूषण के पुत्र शम्भूक ने सूर्यहाम नदी की प्राप्ति के लिए घोर तपस्या की, जिनके फलस्वरूप वहाँ सूर्यहाम प्रकट हुआ। लक्ष्मण मयोग ने वहाँ पहुँचे और शम्भूक मद्य ने इसके पूर्व ही उन्होंने उसे उठा लिया। खरदूषण की परीक्षा के लिए उन्होंने वहाँ पाम के एक वान-मन्दप पर उसने प्रहार किया। उसी वानमन्दप में बैठा शम्भूक तपस्या करता था। इसलिए लक्ष्मण के इन प्रयोग ने वानों के साथ उसका भी निरुपस्थित किया। चन्द्रनगा ने आकर जब अपने मृत पुत्र को देखा तो वह बहुत विलाप करने लगी और बापम आने पर अपने पति ने सारा समाचार कह सुनाया। खरदूषण के साथ लक्ष्मण का भयंकर युद्ध हुआ। इसी समय खरदूषण के आह्वान पर रावण उसकी सहायता के लिए आया और सीता को देखकर उस पर मोहित हो गया। रावण सीता के अपहरण का उपाय सोचने लगा। उसने अपनी विद्या के बल से जाना कि राम को सहायता देने बुनाने के लिए लक्ष्मण ने सिंहनाद का मंत्र बनाया है, इसलिए वह प्रपञ्चपूर्ण सिंहनाद करता है जिससे राम लक्ष्मण की सहायता के लिए सीता को अवैली छोड़ कर चले जाते हैं। इसी समय रावण सीता को अकेली पा कर हर ले जाना है।

सीताहरण के बाद राम बहुत दुःखी होते हैं। इसके बाद सुग्रीव के साथ राम की मंत्री का वर्णन है। माहसगनि ने सुग्रीव का स्वयं धारण कर सुग्रीव की पत्नी का अपहरण कर लिया था। राम ने उसे मार कर सुग्रीव को उसकी पत्नी प्राप्ति करा दी। सुग्रीव की आज्ञा ने विद्याधर सीता की खोज करते हैं। कुछ ही समय में गन्धर्वी नामक विद्याधर आकर बताना है कि सीता का हरण रावण ने किया है। रावण एक महान बलशाली राजा था इसलिए विद्याधर ने उसके साथ युद्ध करने से इन्कार कर दिया, किन्तु जब उन्हें अनन्तवीर्य केवली का यह वचन पाद आया कि जो व्यक्ति कोटि-दिना को उठायेगा वही रावण को मारेगा तो सबने कोटिदिना उठाने की परीक्षा की। लक्ष्मण ने शिला उठा दी। विद्याधर अब भी रावण ने डरते हैं और हनुमान को लका भेजने की सलाह देते हैं। हनुमान





लका जाते हैं और वहाँ पर अनेक तरह का विनाश करके सीता का सन्देश लेकर राम के पास नीट आते हैं।

इसके बाद युद्ध का वर्णन है। सुग्रीव आदि विद्याधरो के साथ राम लका के लिए प्रस्थान करते हैं। मार्ग में वानर वशी विद्याधरो की सेना को समुद्र नामक राजा रोकता है जिससे युद्ध होता है। अन्त में समुद्र की पराजय होती है। राम कृपा करके उसका राज्य उसे वापस लौटा देते हैं। सेना नका पहुँचती है। वहाँ रावण के साथ भयंकर युद्ध होता है। अन्त में रावण लक्ष्मण पर चक्र चलाता है, किन्तु वह चक्र लक्ष्मण को लगने के बदन में उनकी प्रदक्षिणा देकर हाथ में आ जाता है। लक्ष्मण इसी चक्र से रावण का वध करते हैं।

तदनन्तर राम अयोध्या लौट कर राज्य करने लगते हैं। भरत विरयन हो दीक्षा ले लेते हैं। लोकापवाद के भय से राम सीता को वन में छुड़वा देते हैं। सीता वन्यजघ के आश्रम में रहनी हैं। वहीं उनके लवण और अकुश दो पुत्र होते हैं।

बड़े होने पर लवण और अकुश का राम और लक्ष्मण के साथ युद्ध होता है। बाद में नारद के द्वारा पारम्परिक परिचय होने पर पिता-पुत्री में मिलाप होता है। हनुमान, सुग्रीव, विभीषण आदि के कहने पर राम सीता को बुला लेते हैं। सीता अग्नि-परीक्षा देती है और उममें सफल होने के बाद आर्यिका (जैन साध्वी) हो जाती है।

किसी दिन दो देव राम और लक्ष्मण के स्नेह की परीक्षा करने के लिए आते हैं और लक्ष्मण को असत्य राम की मृत्यु का समाचार सुनाते हैं। लक्ष्मण अपने भाई की मृत्यु के समाचार सुनते ही अपने प्राण त्याग देते हैं। अब राम को लक्ष्मण की मृत्यु का समाचार मिलता है तो वे अत्यन्त दुःखी होते हैं और विक्षिप्त हो जाते हैं। अन्त में लक्ष्मण की अन्त्येष्टिक्रिया करने के बाद राम मुनि हो जाते हैं और साधना करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

यहाँ पञ्चम-चरित्य की कथा समाप्त होती है।

गुणभद्र की परम्परा और उत्तरपुराण की कथावस्तु

उत्तरपुराण की कथा बौद्ध साहित्य के दशरथ जातक की तरह प्रारम्भ होती है। कथा का संक्षेप इस प्रकार है—

वाराणसी में दशरथ नाम के राजा राज्य करते थे। उनके चार पुत्र थे—राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न। राम सवाला के गर्भ से, लक्ष्मण कँकैयी के गर्भ से तथा साकेतपुर में राजधानी स्थापित होने के बाद भरत और शत्रुघ्न किसी दूसरी रानी के गर्भ से (जिसका नाम नहीं दिया) उत्पन्न हुए थे। दशानन (रावण) विभिन्न विद्याधर वंश के पुलस्त्य का पुत्र था। किसी दिन उसने अमितवेग की पुत्री मणिमती को तपस्या करते देखा और उस पर मोहित होकर उसकी साधना में विघ्न डालन लगा। मणिमती ने निदान किया कि "मैं तेरी ही पुत्री होकर तेरा नाश करूँगी।" मृत्यु के बाद वह रावण की रानी मन्दोदरी के गर्भ में आयी। उसके जन्म के बाद ज्योतिषियों ने रावण को बताया कि यह तुम्हारा नाश करेगी। अतः रावण ने भयभीत होकर मारीच को आज्ञा दी कि वह उसे कहीं छोड़ आए। एक रत्नमञ्जूपा में रख कर मारीच उस कन्या को मिथिला देश में गाढ़ आया। हल जोतते समय वह रत्नमञ्जूपा दिखाई पड़ी और लोग उसे लेकर राजा जनक के पास ले गये। जनक ने खोलकर देखा तो उसमें से एक सुन्दर कन्या निकली। जनक ने उसका नाम सीता रखा और पुत्री की तरह उसका लालन-पालन करने लगे।

बहुत समय के बाद राजा जनक ने राम और लक्ष्मण को अपने यज्ञ की रक्षा के लिए बुलाया। यज्ञ समाप्त होने के बाद राम का सीता के साथ विवाह हो गया और वे दशरथ से आज्ञा लेकर वाराणसी में रहने लगे।

नारद ने रावण के नामने सीता के सौन्दर्य का वर्णन किया जिसने रावण ने सीता को हर लाने का मकल्प किया और अपनी बहिन सूर्यपत्नी को सीता के मन की परीक्षा करने के लिए भेजा। सूर्यपत्नी ने लौट कर बताया कि सीता के मन को चलायमान करना असम्भव है।

एक दिन जिन समय राम और सीता वाराणसी के निकट चित्रकूट बाटिका में विहार कर रहे थे उस समय मागीच स्वर्ण मृग का रूप धारण करके राम को दूर ले गया, इनमें से रावण राम का रूप बना कर आया और सीता से कहने लगा कि मैंने मृग को मार लिया है। वह सीता को पालकी पर चढ़ने की आज्ञा देता है। यह पालकी वास्तव में पुष्पक विमान है जो सीता को ले जाता है। रावण अपनी आकाशगामिनी विद्या नष्ट होने के डर से पतिव्रता सीता को स्पर्श नहीं करता।

दशरथ को स्वप्न द्वारा यह पता चला कि रावण ने सीता का हरण किया है। उन्होंने यह समाचार राम के पास भेज दिया। इसी मौके पर सुग्रीव और हनुमान बाली के विरुद्ध महायुद्ध भागने राम के पास पहुँचे। हनुमान को लज्जा भेजा गया और वे सीता को आत्मा देकर वहाँ से लौट आये। इसके बाद लक्ष्मण ने बाली का वध किया और सुग्रीव को उसके राज्य का अधिकार दिलाया।

इनके बाद बानरों और राम की सेना ने लंका के लिए प्रस्थान किया। लंका में भयंकर युद्ध हुआ और अन्त में लक्ष्मण ने रावण का निर काट लिया। दिग्विजय के बाद सब लौट आये। सीता के आठ पुत्र उत्पन्न हुए। सीता ने त्याग का यहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता। लक्ष्मण की एक अनाथ रोग से मृत्यु हो जाती है और राम लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वीमुन्दर को राजपद पर तथा सीता के पुत्र अतिमज्ज को युवराज पद पर अभिषिक्त करके मुनि दीक्षा ले लेते हैं और तप करके अन्त में मोक्ष पाते हैं। सीता भी अनेक रानियों के साथ दीक्षा ले लेती है और तप करके स्वर्ग प्राप्त करती है। इन तरह कथा समाप्त होती है।

जैन साहित्य में रामकथा की इन धाराओं का पर्याप्त विकास हुआ है। पहली धारा का आधार लेकर जिन ग्रन्थों की रचना हुई उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

१—विमलमूर्ति का पद्मचरित (तीसरी-चौथी शती) प्राकृत

२—रविप्रेम का पद्मचरित (६६० ई०) संस्कृत

३—स्वयम्भूदेव का पद्मचरित (७००-८०० ई०) अपभ्रंश

४—हेमचन्द्र का जैन रामायण (१२ वीं शती) यह त्रिपिटकालाङ्गणचरित में मिलता है, अलग से भी छप गया है। संस्कृत।

५—जिनदास का रामपुराण (१५ वीं शती) संस्कृत

६—राघवदेव विजयगणि का रामचरित (१६ वीं शती) संस्कृत

७—मोक्षनेन का रामचरित (१६वीं शती) संस्कृत

इन रचनाओं के अतिरिक्त अनेक कथाकोषों में भी रामचरित की सामग्री मिलती है। उदाहरण के तौर पर हरिप्रेम का कथाकोष, रामचन्द्र मुमुक्षु का पुण्याश्रवकथाकोष तथा जिनरत्न-कथाकोष आदि में रामचरित की पर्याप्त सामग्री मिलती है।





दूसरी परम्परा के ग्रन्थों में निम्नलिखित मुख्य हैं—

- १—गुणभद्र का उत्तरपुराण (६वीं शती) संस्कृत
- २—कृष्ण कवि का पुण्यचन्द्रोदयपुराण (१६वीं शती) मग्नृत
- ३—पुष्पदन्त का तिसद्वी महापुरिसगुणालकार (१०वीं शती) अपभ्रंश
- ४—चामुण्डराय का त्रिपटिशालाकापुरुषपुराण (१०वीं शती) कन्नड ।
- ५—वन्धु वर्मा का जीवन सम्बोधन (१२वीं शती) कन्नड
- ६—नागराज का पुण्याश्रवकथासार (१३३१ ई०)

इनमें पुण्यचन्द्रोदय को छोड़ कर बाकी ग्रन्थों में अन्य ६३ महापुराणों के चरित भी मिलते हैं ।

इसके अतिरिक्त भारत की विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में भी जितना रामकथा सम्बन्धी साहित्य जैन साहित्यकारों द्वारा लिखा गया है वह उपर्युक्त दोनों परम्पराओं में से ही किसी एक को आधार मान कर निबद्ध हुआ है ।

जैन साहित्यकारों द्वारा निर्मित रामकथा सम्बन्धी इस विशाल साहित्य को देखा कर रामकथा में जैन समाज की प्रगाढ़ अभिरुचि का पता चलता है । वर्तमान में भी जैन समाज में रामकथा सम्बन्धी साहित्य का तुलसीदास की रामायण की तरह बड़े चाव से पठन-पाठन होता है ।

कथावस्तु की दृष्टि से वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य में उपलब्ध रामकथा में बहुत-सी समानताएँ और असमानताएँ पायी जाती हैं । यहाँ तक कि वैदिक साहित्य में भी रामकथा का एक रूप नहीं मिलता । उदाहरण के लिए सीता की उत्पत्ति के प्रश्न को ही ले लिया जाए—महाभारत की नीता जनक की पुत्री हैं तो वाल्मीकि रामायण की सीता पृथ्वी की । वहीं सीता विष्णुपुराण और भागवतपुराण में रावण की पुत्री हो गयी । इसी तरह दशावतार की सीता कमल से उत्पन्न होती है और आनन्दरामायण की अग्नि से ।

इस तरह की नाना विप्रतिपत्तियों के होते हुए भी रामकथा का प्रचार अत्यधिक मात्रा में हुआ है । मूल रामचरित की कथावस्तु क्या थी अथवा क्या होना चाहिए आदि के पचड़े में न पड़कर यदि हम वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों धाराओं के रामकथा सम्बन्धी साहित्य को उठा कर देखें तो ज्ञात होगा कि कथा-वस्तु में पाये जाने वाले अन्तर के बावजूद रामकथा के पात्रों का चरित्र चमक निखरता ही गया है । केवल राम को ही नहीं रामकथा के अन्य सभी पात्रों को एक नयी ध्वलिमा, एक नया रूप, एक नयी चेतना और एक नया विकास आगे-आगे के साहित्य में मिलता है ।

हिन्दू रामायण में राम ने केवल रावण का ही वध नहीं किया बल्कि बालि, शम्बूक तथा अनेक राक्षसों का भी काम तमाम किया । अहिंसा की मूल भित्ति पर प्रतिष्ठित होने वाला जैनधर्म यह बात कैसे बरदाश्त कर सकता था कि राम जैसा महापुरुष जिसे इसी जीवन से मोक्ष प्राप्त करना है, एक वध नहीं अनेकों मनुष्यों की हत्या का पाप करे । भले ही वह राक्षस रावण हो या शूद्र शम्बूक । इसी कारण राम के चरित को वेदांग रचने के लिए जैन रामायणकारों ने रावण, बालि और यहाँ तक कि शम्बूक का नाश भी लक्ष्मण के हाथ से कराया और राम को नर-हत्या जन्म पाप के पक से अद्भुत बचा लिया ।

बौद्ध साहित्य के राम जब साक्षात् दया के अवतार बुद्ध ही मान लिए गये तो यह कैसे सम्भव था कि दया-

मिन्तु 'राम नर-महार' करें। इसी कारण बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध होने वाली रामकथा में बालि वगैरे का जिक्र तक नहीं आया।

हिन्दू रामायणकारों ने हनुमान और सुग्रीव के चरित्र को उल्लन रखते हुए भी आखिर उन्हें बन्दर बना ही दिया। जैन रामायणकार चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महा भी आगे रहे। उन्होंने हनुमान और सुग्रीव को केवल मनुष्य ही नहीं बनाया प्रत्युत उन्हें विद्यायन्त्र कहकर आकाशगामिनी आदि अनेक विद्याओं में युक्त मित्र किया।

रावण का चरित्र हिन्दू रामायण में जिस रूप में प्रस्तुत हुआ है उसमें किसी भी व्यक्ति के मन में उसके प्रति महान् प्रेमा उत्पन्न हो सकती है, पर जैन दृष्टि किसी भी व्यक्ति को चारित्रिक दृष्टि से गिरा हुआ स्वीकार नहीं कर सकती। इसलिए उसने रावण को भी नीचे नहीं गिरने दिया। रावण में लाख बुद्धियाँ थीं फिर भी उनकी एक छोटी सी प्रतिज्ञा के आधार पर जैन रामायणकारों ने उसे उपा उठा लिया। 'जो स्त्री स्वेच्छा से मुझे अंगीकार नहीं करेगी उसके नाम में बनान् भोग नहीं करूँगा।' रावण ने यह प्रतिज्ञा इस दर्प में की थी कि "क्या दुनिया में ऐसी भी कोई स्त्री होगी जो मुझ जैसे दक्खिणाली और प्रभुनामस्मन्त मन्नाट को स्वीकार न करना चाहे।" सीता एक ऐसी महान् नारी थी जिसने जन्म तक रावण को नहीं चाहा और विनया महान् था रावण भी कि उसने अन्त तक अपनी प्रतिज्ञा को रक्षा की।

राम के उज्ज्वल चरित्र में रामकथा के सभी पात्रों के पाप धुल गये। रामचरित की मुघा-पारा में नहा कर सभी पवित्र हो गये। राम मदा के लिए अमर हो गये, राम के साथ रावण भी अमर हो गया। हनुमान अमर हो गया, सुग्रीव अमर हो गया और अमर हो गया शम्भूक जैसा तुच्छ व्यक्ति भी। रामचरित्र को गाने वालों का कल्याण हुआ, मुनने वालों का उद्धार हुआ और राम मदा-मदा के लिए जन-जन के भगवान् बन गये।

रहे राम तुम नर में नागयण होके ही।



कन्नड में जिनभक्ति-साहित्य

प्रो० गुरुनाथ जोशी,

एम० ए० जे० एस० एस० कालेज, धारवाड



कर्नाटक में जैनधर्म

कर्नाटक अनेक दया-धर्मों का सगम एवं आयय स्थान है। परधर्मसहिष्णुता उसकी नस-नस में संचारित है। इस कथन के सबल समर्थक कर्नाटक में उपलब्ध शिलालेख हैं। सन् ११५१ के एक शिलालेख में यह श्लोक आया है।

जयति यस्यावदतोपि भारती—
विभूतयस्तीर्थं कृतेपि नंहिते (?)
शिषाय धात्रे सुगताय विष्णवे
जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥

शिव, ब्रह्म, सुगत (बुद्ध), विष्णु और जिन इनमें अभेद को बताने वाला यह श्लोक यह भी बताता है कि कर्नाटक में शैव, बौद्ध, वैष्णव और जैन बहुत समय से रहते आ रहे हैं।

कर्नाटक में जैनधर्म एक प्रबल धर्म के रूप में रहा है। प्राचीन कर्नाटक में तो वह एक अत्यन्त प्रबल धर्म था। उसका सार इस प्रकार सग्रह किया जा सकता है

“आत्मा अपनी स्वाभाविक शुद्धता पाकर केवल-ज्ञान को पावे, यही जीवन का ध्येय है। वह एक अलौकिक स्थिति है। तब आत्मा को समस्त पूर्णताएँ प्राप्त रहती हैं। उपनिषदों के उपदेशों की भाँति इसमें भी मोक्ष का अर्थ है पाप और पुण्य के परे हो जाना। इस स्थिति को पाने के लिए ‘विरल’ अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य की साधना के साथ-साथ योग की साधना भी आवश्यक मानी गई है। इस साधना से मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है, यदि यह जानना चाहें तो ध्यान में रखना होगा कि जीव और अजीव में सम्बन्ध करने वाला कर्म ही है। कर्म अत्यन्त सूक्ष्म जडवस्तु है। आत्मा अपनी अलौकिक स्थिति में ऐसी जडवस्तु से व्याप्त होती है। अजीव के प्रभेद इस कर्म से मुक्ति पाना ही उसका प्रधान लक्ष्य है। कर्मवधन और उससे मुक्ति के विषयों का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है पहली बात यह है कि कर्म अन्दर बहकर आता है (आसव), दूसरी बात यह है कि इसके कारण वधन होता है (वध), शुभाशुभ क्रियाओं के फलस्वरूप कर्म आत्मा में बहकर आता ही रहता है, उससे मुक्ति ही नहीं। परन्तु एक आशा-किरण यह है कि इस प्रकार बहकर आने वाले कर्म को रोकना जा सकता है। इसीलिए जैनधर्म में ‘विरल’ का विधान है। बहकर आने वाले कर्म को रोकना (सवर) आवश्यक है और पहले सचित्त कर्म का नाश करना (निर्जरा)

भी जरूरी है मोक्ष प्राप्ति के लिए। तब और निर्बल में कर्म का लय हो जाने पर (आत्मा) जीव को मोक्ष अपने आप मिल जाता है। तब वह बादलों ने छुटका पाये हुए पूनम के चांद की तरह अपनी मूल स्थिति को पाता है और अनन्तान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्त मुन ने विगजमान होना है।

“मोक्ष एक पविपूर्ण स्थिति है। मतलब यह कि जैनधर्म ने एक परमात्मा के अस्तित्व को यद्यपि नहीं माना है तथापि पविपूर्णता के रूप में दिव्यत्व की भावना को बचा लिया है। ये पांच कर्म-प्रवाह (आन्व), उनसे बचन (वच), उनको गौगना (मवर), उनका कटना (निर्जग) और दुष्टफारा (मोक्ष) के साथ जीव और अजीव को मिलाकर कुल मान तब जैनधर्म में माने गये हैं।” ये मान तब सम्यग्दर्शन में समाविष्ट हैं।

‘निर्गन्तसाधना’ का द्वितीय स्त है सम्यग्ज्ञान। “किसी मध्य विषय के बिना जीवादि तत्वों की निज स्थिति को जानना ही सम्यग्ज्ञान है। वह भी मति, ध्युन, अवधि, मन पर्यय और केवल, इस तरह पांच प्रकार का है।”

‘निर्गन्तसाधना’ का तृतीय स्त सम्यक्चारित्र्य है। “ममार के त्याग के लिए तैयार करने वाले सम्यक्-ज्ञान ने प्रेग्नि भव्य जीव की बाह्य और भीतरी त्रिया निवृत्ति सम्यक्चारित्र्य है। यह भी पांच प्रकार का है—जैसे सामायिक, छेदोन्मापना, परिहारविमुक्ति, नूधन मरगाय और यथाव्यात।

“बुद्धिपूर्वक श्रद्धा, भक्तिपूर्वक भाव, क्रियालिप्त आचार ये ही इन धर्म के मूल लक्षण हैं। ‘आचार परमो-धर्म’ इस धर्म की विशेषता है। आचार्यों के लिए रहे गये २६ गुणों में इन धर्म के परमोच्च आचाराश ये हैं

- १ पचाचार ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, चारित्र्याचार, और वीर्याचार।
- २ बाह्य तप ६ अनशन, अवमोदयं, वृत्तिपरिमृगान, रम परित्याग, विविक्त शय्यासन, कायकेश।
- ३ अंतरंग तप ६ प्रायश्चित्त, विनय, वैवाचित्य, स्वाध्याय, उत्तमं, ध्यान।
- ४ पटावस्थक : ममता, स्तवन, वदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याभ्यास, कायोत्तमं।
- ५ दशधर्म उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तममार्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आश्रित्य, उत्तम त्रह्यचर्य।
- ६ त्रिगुणिया मनोगुणि, वाग्गुणि, कायगुणि।

“मर्दप में जैनधर्म अहिंसा, नत्य अन्वेष, ब्रह्मचर्य तथा नि परिग्रह नामक पांच श्रुतों से युक्त है। इन्हीं की ‘पंचशील’ के नाम से सदाचार की माला में पिण्डरग भगवान बुद्ध ने उपदेश दिया है।” महात्मा गांधीजी ने इन पांच श्रुतों, के साथ और छ श्रुतों को मिलाकर ग्यारह श्रुतों का उपदेश दिया है। यही यह स्मरणीय है।

जैनधर्म भी दो प्रधान सम्प्रदायों में विभक्त हो गया ध्वेताम्बर और दिगम्बर। आजकल उत्तर भारत में ध्वेताम्बर सम्प्रदाय और दक्षिण भारत में दिगम्बर सम्प्रदाय विशेष प्रचार में है। प्राचीन कर्नाटक में जैन दिगम्बर सम्प्रदाय ही प्रधान रूप में था। पाचवीं सदी के बड़व नरेन्द्रों के काल के ताग्रपटों में ध्वेताम्बर महाभ्रमण मध और निर्गन्त महाभ्रमण मध का उल्लेख मिलता है। इससे विदित होता है कि कर्नाटक में ध्वेताम्बर जैन भी थे। परन्तु उनका प्रभाव अधिक नहीं था।

ध्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के बीच में मानों समन्वय स्थापित करने के लिए और एक सम्प्रदाय का





उदय हो गया था जो 'यापनीय' संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इस संप्रदाय का प्रचार विनोद रूप से उत्तर कर्नाटक में रहा है। कुछ विद्वानों ने इसे सुधारवादी संप्रदाय कहा है, क्योंकि इस संप्रदाय ने दिगंबर संप्रदाय के कठोर नियमों में कुछ परिवर्तन सुझाये और उसके प्रधान तत्त्व तीन हैं—(१) परशासने मोक्ष (अन्य मतावलंबियों को भी मोक्ष है।), सग्न याना मोक्ष (ससारी लोगों को भी मोक्ष है), (२) स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष (स्त्रियों को भी इसी जीवन में मोक्ष प्राप्ति हो सकती है)। ये तत्त्व श्वेताम्बर संप्रदाय के भी हैं, परन्तु इस यापनीय संप्रदाय के मुनि दिगंबर ही रहे हैं। इस संप्रदाय के केन्द्र कर्नाटक में गुनवर्गा जिले के आडकी, सेड, और वेलगाव जिले के हनसी तथा धारवाड जिले के दोणि, नवलगुद आदि भागों में थे। इस संप्रदाय के मुनियों को कदम्ब राजाओं का प्रोत्साहन भी प्राप्त था।

पहले ही कहा जा चुका है कि कर्नाटक में दिगंबर जैनसंप्रदाय ही प्रचल रहा है। इसकी मूल के पूर्व ही भद्रबाहु के नेतृत्व में दिगंबर जैन संप्रदायवाले कर्नाटक आये और विनोद तपानुक्कल एवं दात वातावरण के स्थान कोप्पल और श्रवणबेलगोल में बस गये।

कर्नाटक में जैनधर्म कदम्ब, गग, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसल राजाओं के आश्रय और प्रोत्साहन से बारहवीं सदी तक उन्नतावस्था में था। वैदिक संप्रदाय के होंते हुए भी कदम्ब राजाओं ने जैनधर्म को आश्रय दिया था। उनके काल के एक ताम्रपत्र में जो वाक्य पाए जाते हैं उनका हिन्दी रूपांतर यह है

“जिस देश में जिनेन्द्र की पूजा होती है उस देश की उन्नति होती है, नगर निर्भय हो जाते हैं और उस देश के राजा की तरक्की होती है।”

कन्नड साहित्य के ग्रन्थों में तथा शिलालेखों में जैनधर्म के तत्वों और कार्यों आदि का उल्लेख, कई जैन मुनियों के कठोर तप का वर्णन, मुनियों और जैन सन्नामिनीयों अर्थात् कसियों की विद्वत्ता की भूरि प्रशंसा का वर्णन, कर्नाटक में विद्यमान श्रमणसंघों तथा जैन मन्दिरों का वर्णन, अलावा इनके समाधिमरण, निपीदिका, तथीहार, यक्ष-यक्षी की आराधना का वर्णन भी हम पाते हैं। इन सब वर्णनों के आधार पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जैनधर्म का प्रभाव कर्नाटक में काफी रहा है। पर क्या जैनधर्म वैदिकधर्म से अद्वैता ही रह गया था? उपलब्ध साहित्य और शिलालेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म पर वैदिकधर्म का प्रभाव अवश्य पड़ा था। इस बारे में डा० एम० चिदानन्दमूर्ति कहते हैं

“बसदियों में (जैन मंदिरों में) कुछ पक्कूट के और कुछ चिकूट के थे। उनका भीतरी भाग सुगन्धमिश्रित काले भगव-धूप के धूम से महकता रहता था। बाहरी भाग ध्वज, मकर, तोरण, मानस्तम्भ से अलंकृत थे। तीर्थंकर दिव्यत्वप्राप्त मानव थे। तो भी ईसवी के प्रारम्भ से ही उनको देवता पुरुष मानकर जैनों ने उनकी पूजा की। क्योंकि उनका विश्वास था कि ऐसी पूजाओं से कर्म का क्षय होता है, पुण्य की वृद्धि होती है, लौकिक ऐश्वर्य विभववादि में वृद्धि होती है। केवल-ज्ञान प्राप्त तीर्थंकर सिद्धशिला में विराजे रहते हैं, उनकी सत्ता के प्रति अनासक्ति रहती है, अतः अर्चना तथा स्तोत्र उनको पहुँच नहीं पाते। उनसे सीधे व्यक्ति के कर्मनाश में कोई सहायता नहीं होती। ‘भगवत्कृपा या कृणा’ (Divine Grace) को जैनधर्म में कोई स्थान नहीं है।

“(इस दृष्टि से जैनधर्म ने पुरुष-प्रयत्न को जो ऊँचा स्थान दिया है वह अन्य धर्मों में नहीं दिया गया है। व्यक्ति को अपने प्रयत्नों से ही कर्मों का क्षय कर लेना चाहिये।)

“ तीर्थंकरों की पूजा लौकिक ऐश्वर्यादि की प्राप्ति के लिए करना जैनधर्म के तत्वों के विरुद्ध है। तो भी जैन हिन्दुओं के प्रभाव के कारण जैन मंदिरों में अष्टविधार्चन करने लगे और पूजादि में विस्तार आ गया। जैन मंदिरों में देवदासियों के नृत्य भी होने लगे। शायद वैदिकधर्म के प्रभाव से जैन मंदिरों में होमादि भी होने लगे। (वहने की

जन्म नहीं कि उनमें प्राणिबन्धि नहीं दी जानी थी ।) मोमदेव ने अपने 'यमस्तिलक' में जैनगृहस्थ को यदि वह चाहे, वैदिक पंचयज्ञ करने की सूचना भी दी है । ाष्ट्रकृतों के कतिपय ताम्रपटों में उल्लेख है कि जैनमंदिरों में वलिचर दान, वैष्णवदेवादि का आचरण करने के लिए कुछ जायदाद दान में दी गई है । बारहवीं सदी के ताम्रपट में उल्लेख है कि केवल ज्ञान का महाहिम पूजा विधानों में एक है । मोमदेव इन अन्य धर्मों के आचरणों को तब तक करने की अनुमति देना है जब तक वे जैनधर्म के तत्त्वों के विरोधी नहीं हैं । इन बातों से ऐसा लगता है कि जैनधर्म ने काल पणिम्यति के अनुसार अपने में भी परिवर्तन का लेने का प्रयत्न किया है । ये जैनमंदिर विद्या के बड़े-बड़े केन्द्र भी रहे हैं ।'

जैन भी अनेक श्रेणियों में विभाजित हैं । उनमें 'जीव दयापटमी' और 'नदीश्वरापटमी' मुख्य हैं । उनका उल्लेख गिलांगियों में मिलता है । ये श्रेणियाँ जैनधर्म को अधिक प्रचार में लाने में सहायक होनी हैं और हुए हैं । जैनधर्म को और भी महान् बनाने के लिए और उसकी और नामान्य जनता को आकर्षित करने के लिए यक्ष-यक्षियों की आराधना तथा उपासना करने कुछ जैनधर्मावलम्बी कतिपय सिद्धियाँ भी प्राप्त करने लगे । कर्नाटक में पद्मावती और ज्वाला-नाथिनी नामक यक्षियों को विशेष गौरव प्राप्त है । इन यक्ष-यक्षियों की आराधना से तनिका आगे बढ़कर कई जैन मठारक या महाधीन मठ-मठ विद्या में भी प्रवीण हो गये । गृहदेवता की कल्पना जैनधर्म की विरोधिनी है, तथापि दिगम्बर जैनों में भैरव और शक्तिरादेवी आदि की बुलदेवता-देवी की तरह मान कर उनकी पूजा करने की रीति भी है ।

'बारहवीं सदी के मध्य भाग तक कर्नाटक में जैनधर्म उल्लत स्थिति में था । उसके बाद बी-सवीं के विरोध में उसकी अवनति शुरू हुई । जैनधर्म ने राजाध्वज भी खो दिया । जैन मंदिर सिब एव विष्णु मंदिर बन गये । जैन-धर्म का मुर्दाबुध होत गया ।

जिनभक्ति-साहित्य

कर्नाटक के राजाओं ने जैसे जैनधर्म की उन्नति के लिए महायाना पट्टचाई देने कन्नड कवियों ने भी अपनी रचनाओं द्वारा जैन धर्म की वटनी में अपना हाथ बँटाया । यह कहने की जरूरत नहीं कि वे जैन थे और जो नहीं थे वे जैनधर्म के प्रभाव में आकर, जैनधर्म की दासा नेत्र जैन बन गये थे । जैनधर्म ने कर्नाटक की सम्प्रदायकारिणी सम्प्रदाय के विचार में अनुस्यूत देने दी और ऐसे जैनधर्म के अनुयायी कवियों ने कन्नड साहित्य को जो देने दी है वह उपमानित है ।

काठवीं सदी में या नौवीं सदी में एक प्रसिद्ध जैन भग्वती (अनुभव) मन हो गये हैं । उन्होंने 'परमात्म-प्रदान' और 'योगमार्ग' नामक ग्रंथ लिखे हैं और उनका मपादन सुप्रसिद्ध विद्वान् आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्वय ने करके 'योगमन्त्र जैन शास्त्रमाला' में प्रकाशित किया है । उक्त जैन भग्वती सत का नाम है जोड्डु । उनके 'परमात्म-प्रदान' में "वे मनी विदीपनार्थ मिलनी है जो उन युग के बौद्ध, शैव, शाक्त आदि योगियों और तांत्रिकों के ग्रंथ में मिलनी है ।" मन जोड्डु कहते हैं—

मत्स्य पठतु विहोड जटु, जो प हण्ड विषयु ।

देहि वसतु वि जिनमलड, नचि मण्ड परमण्ड ॥

"नाथाय्य जनता मुक्ति तक की बात सोचती है । जो युग के सभी नाथक नाना मार्गों में चल कर एक ही परम नन्थ तक पहुँचते थे । वह परम नन्थ वह है कि यह शरीर ही परमात्मा का आवास है, देवता कहीं बाहर नहीं है, विविध भाव से विषयीभूत तत्त्वों का सामरन्थ ही वह स्वस्वदेवता है जिसके अनुभव से बढ़कर आनन्द दूसरा नहीं





हे । आत्मा इसी रस का अनुभव करके अपने परम प्राप्तन्य को पा जाता है । यह जो चेला-चेनियो का टाट वाट है, पोथियो का ढूँह है, इनके चक्कर में पड़ा हुआ जीव निस्सदेह प्रसन्न होता है, परन्तु यह मोह है, परम पद का अन्तराय है । जो ज्ञानी है वह इनसे लज्जित होता है —

चेला चेल्नी पुठियर्हा,

नूपइ मूडु णिभतु ।

एवह लज्जइ णाणियड,

वधइ हेउ मुणन्तु ॥

क्या ८-११वीं सदी के इन जैनधर्मी सत जोइदु के विचारों और तत्वों से कर्नाटक के जैन भाषा और कवि प्रभावित नहीं हुए होंगे ? इन जैन सत के भाव के सम्बन्ध में हमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलते । परन्तु कर्नाटक के शिला-लेखों, ताम्रपटों तथा कन्नड के जैन कवियों के साहित्य के अवलोकन से ऐसा लगता है कि वे जोइदु के ही वया अन्य धर्मावलम्बी साधुओं और सतों के विचारों से भी प्रभावित हुए हैं । उनकी कृतियों में भक्ति-मार्ग की सभी बातों का पुट लक्षित होता है । अब हम देखें कि कन्नड के कतिपय प्रतिनिधि जैन कवियों की रचनाओं में भक्ति भागीरथी कैसे बह चुकी है ।

पप (१४१) के पूर्वज वत्स गोत्र के ब्राह्मण थे । पर पप के पिता जैन बने तो पप वैदिक मतावलम्बी चालुक्य नरेश अरिकेसरी का दरबारी कवि बना । राजा का क्षत्रिय तेज और पप कवि का ब्राह्मण रक्त मिल गये, फलस्वरूप वेदव्यास का 'महाभारत' पप का 'विक्रमार्जुनविजय' बन गया । अपने आश्रयदाता अरिकेसरी की कीर्ति के लिए 'विक्रमार्जुनविजय' लिखने के उपरांत पप ने सहर्षमियों के कल्याणार्थ एव आत्मकल्याणार्थ 'आदि पुराण' लिखा ।

'विक्रमार्जुन विजय' में व्यास 'भट्टारक' के प्रति भक्ति तथा विनय प्रदर्शित करके पप ने 'आदिपुराण' में अपने परम श्रद्धेय गुरु देवेन्द्र मुनि का भक्ति से नामस्मरण किया है ।

पप की कृति 'विक्रमार्जुनविजय' की अपेक्षा सामान्य जनता का मन 'आदिपुराण' की ओर ही झुक जाता है, क्योंकि उसमें तीर्थंकर के चरित में जन्मावली की कथाएँ और जैनधर्म की प्रक्रियाएँ भरी हैं । अलावा इसके इस 'आदिपुराण' में पप की धर्म श्रद्धा, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं ।

पप ने अपनी भक्ति के प्रदर्शन के लिए सर्वप्रथम तीर्थंकर पुरुदेव की ही 'आदिपुराण' के लिए धर्मनायक के रूप में चुन लिया और प्रथम चक्रवर्ती उसके पुत्र भरत को वीर-नायक के रूप में । इस काव्य के प्रारम्भ में कवि ने प्रार्थना की है—“जगत् के स्वामी, अगाधबोध निलय, दुर्वारससार-विच्छेदोपाय नियुक्त सूक्ति आदिब्रह्म हमें मुक्ति-श्री सुखावाप्ति देने की कृपा करे ।” तदुपरान्त कवि ने इस पुराण की विशेषता बताई है और उसका सार स्वर्गीय कन्नड के सुप्रसिद्ध श्रद्धेय साहित्यकार वी० ए० श्रीकठय्या ने इस प्रकार सग्रह किया है

“प्रधानतः अर्थ कामो की तृष्णा से किये गए शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप तिर्यक्, मनुष्य, नारक, देव नामक चार गतियों के ससार में तड़पने वाला जीव जिनधर्म में श्रद्धा रखकर, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र्य, सम्यग्ज्ञान नामक रत्नत्रय से परिशुद्ध होकर, दानधर्म, वैराग्य और तपादि से उत्तम जन्म पाते हुए, अवावली के शिखर पर अहर्निध्न बन के लोक में रहकर, परिशुद्धात्मा बनकर मनुष्य लोक में आकर चरमदेही होकर वैराग्य से समस्त को त्याग कर, तप करके कर्मक्षय कर तीर्थंकर बनके जैनधर्म का उपदेश लोक को देकर निर्वाण पद पाता है । यही तीर्थंकर के पुराण (आदिपुराण) का साराण है ।”

कन्नड-कविकुलतिलक, आदिकवि पप की इन कृतियों में भक्तिभावना से भरे कुछ प्रसंग-हैं । 'विक्रमार्जुन-

विजय' में एक स्थान में घटी-घड़ी शिव की स्तुति दिखाई पड़ती है। अर्जुन के जन्म के लिए उसके माता-पिता शिव की आराधना करते हैं। तीर्थयात्रा में रहनेवाला अर्जुन भी "गोवर्धनाय गौरीनाथ श्वनि-पवन-गगनदहन-तरणि सन्नित-गुहिनकर यजमान भूति शैलोक्यमगोतरोति को देव हाथ जोड़कर 'सर्व जिगता गुरु गरिमुतापति पातु न'" कहकर चंद्रभोनि की प्रार्थना करता है। इन्द्रकीन पर्वन पर आनेवाले शिव-पारम्य का क्या कहना! "यह शिव भक्ति केवल भारत क्या से ही नहीं आई हुई है, राजा के दृष्ट देवता के निर्देश के लिए भी नहीं है, पप के घर का उपासना पन भी है।" इस तरह वैदिक मनावल्लो की भांति भारत की क्या लिखते हुए भी पप अपने स्वीकृत जैनधर्म की सूचना देते हुए कहता है "जिनपदानांज-वरप्रनादोत्पन्न है मेरी कविता।" इन रचना में पप ने शैव एवं जैन भक्ति भाव को ममता की दृष्टि से, समन्वय की दृष्टि से वर्णन किया है। यह उसकी उदारता, सर्वधर्मममन्वय की दृष्टि का ध्योतक है।

कन्नड के साहित्यकारों की दृष्टि में पप का 'आदिपुराण' तो 'वाक्य माणिक्य कोश' है। उनमें से कुछ भागों को चुनकर सुप्रसिद्ध कन्नड साहित्यकार जी० पी० राजरत्नम् ने 'श्री कवि पप' नामक पुस्तक में संग्रहीत किया है। जिन-धर्म प्राणिगाम' धर्यान् 'जिनधर्म प्राणियों को समर्थ आनय' नामक भाग में ललिताग के अवसान काल में उससे सामनिक देव कहते हैं—

जिनचन्ध आतम चदिमु जिनपदपदा गल दिग्यमप
चन्नेयिदं नचिनपिदचिमु जिनन नमस्कार मश गतोत् भा
वनेय तात्तदल्लित्तिगिदं जिनमहिमेगत्तं माटुनी भव्यनं म
त्तिन मिष्याजानिबोल् नी तरलतेवेरसिते के विश्रातनम्पं

भावार्थ—जिनों के मंदिर-मूह का वंदन करो। जिनके पाद-पद्मों की दिव्य अर्चना से, भक्ति से अर्चना करो। जिन के नमस्कार मंत्रों में भावना पाकर प्रीति से जिन-महिमाओं में भावना करो। तुम श्रव्य हो (जिन भक्त हो)। अन्य मिष्या जानी की तरह तुम चचनना से ऐसा क्यों विभ्रान हो गये हो।

वज्रग्रथ को एक चरणमृनि उपदेश देते हैं—

ई ससारानोधिय
नीमुव निनगिदुये नावे तटिगाप्पेयना
यासदोले निग्गे मुषित
प्रासाद मन हरतिवुवे सोपानगल्

भावार्थ—यम मना सागर में तैरने वाले तुम को यही (सम्पत्त्व ही) नौका है। इसके द्वारा तुम आनानी में जिनारे तक जाओगे। मुक्ति न्पी प्रासाद पर चढ़ने के लिए ये ही (नम्यकदर्शन, ज्ञान और चारित्र) तुम्हारे सोपान हैं।

श्री० जी० पी० राजरत्नम् की दृष्टि में पप कवि का 'श्री जिनराज स्तव' प्राचीन कन्नड के स्तोत्र साहित्य में मुक्तामजरी है। इनमें आदि तीर्थंकर से की गई प्रार्थना के पद हैं जो प्रथम चक्रवर्ती भरतेश्वर द्वारा गाये गये थे। उनका नमूना देखिये।

त्रिदशेन्द्र भोलि मणिशो

णदीप्तिगल् पुदिदु पोलेवलक्तक रसवि





पुविदतोष्पिर्पहंत

पद्मगलेमगीने तडेपवहंतपद्म ।

अमरेंद्रोन्नति सेचरेन्द्र विभव भोगीन्द्र भोग महें
द्र महैश्वर्यमिवेल्लम ध्रुवमिव वेलपत्तु वेललेलेतु
उत्तमदीक्षा विधियु समाधिमरण कर्मक्षय बोधिला
भममोघ बोरेकोलुबुबकेमगे मुषित श्रीमनोवरलभा ।

भावार्थ—स्वर्ग के इन्द्र के मुकुट मणियों की लाल दीप्ति से मानो भरे, चमकने वाले अलक्ष्मण रत्न से मानो भरे अर्हत के चरण हमें शीघ्र अर्हत पद दें ।

भुवनेश्वर ! तुम्हारे रूप का स्तोत्र, पदार्थ का स्तोत्र, गुणों का स्तोत्र अमरेन्द्र वामुकि (भोगीन्द्र) आदि बड़े-बड़े लोग ही नहीं कर पाते हैं तो क्या मैं कर पाता हूँ ।

अर्हत ! समस्त वस्तुएँ मापी जा सकती हैं, तोली जा सकती हैं, गिनी जा सकती हैं । लेकिन तुम्हारे गुण-समूह इस लोक के जनो से न मापे जा सकते हैं, न तोले जा सकते हैं, न गिने जा सकते हैं ।

अर्हत जहाँ रहता है वह स्थान मेरु का जितना ऊँचा है, वह जहाँ रहता है वह स्थान सागर के समान गम्भीर है, वह जहाँ रहता है वह स्थान आकाश के जितना विस्तृत है । सफल जगन्नुत्तम, तुम्हारे गुणों की उन्नति भुवनो के अन्तर में भी व्याप्त है ।

अनाकुल स्थान की खोज करके, आकुल होकर ही घूमा-फिरा । तीनों लोकों में ऐसा स्थान न पा सका । तुम जिस स्थान में रहते हो वही सर्वोच्च शाश्वत स्थान है । उसी को मुझे देने का अनुग्रह करो अर्हत ।

भवमयन ! भवरूपी शृङ्खलाएँ तोड़ दो । भवसागर के पार पहुँचाओ । भव की महत्तर पीड़ा का नाश करो । शीघ्र से शीघ्र भवार्तक भवन (ससार का नाश करने वाले जिनका घर—मुषित स्थान) पर मुझे ले जाओ ।

मरण और जनम की चेड़ी जो लगी है उसके छूटने तक है जिन, तुम्हारा स्मरण करना अणोरण्वत्तर व्यतिक्रमण मात्र भी क्या भूल जाऊँगा ?

सकल भक्तों के तिलक (जिन) को भक्तों को वक्ष में कर लेना आवश्यक है ? जड़ जनता भीतरों रहस्य नहीं जानती ! हे जगत्तिलक जिन, तुम्हारे पादरूपी चन्दन का तिलक तो जरूर तीनों लोकों को वक्ष में कर लेने वाला होगा ।

अमरेन्द्र की उन्नति, सेचरेन्द्र का विभव, भोगीन्द्र का भोग, महेंद्र का ऐश्वर्य ये सभी अद्भुत हैं । इनको मांगने वाला मूर्ख मैं नहीं हूँ । हे मुषितरूपी श्री के मनोवल्लभ अर्हत, उत्तम दीक्षाविधि, समाधिमरण, कर्मक्षय, बोधिलाभ जरूर हमें प्राप्त हो ।

महाकवि पद्म के ये भक्ति भरे पद भारत के किसी पहुँचे भक्त कवि के पदों से किसी हालत में कम दर्ज के नहीं हैं ।

पौन—(६८५ मे ६५०) नामन राजा के दरबार में था और वह सम्मृत तथा कन्नड में कविता रचता था, इनने 'उमय कवि चरित्र' लिखा था। वह जैनग्रन्थ का महापंडित था और यति की भाँति जीवन बिताता था। हमने 'जिनाक्षर माना' नामक पुस्तक में ३६ पृष्ठों में जिन की स्तुति की है। इन छोटी-सी रचना में कवि की उत्कृष्ट जिनभक्ति प्रकटित हुई है। जिन ने 'विद्या' 'शान्तिपुगा' में तीर्थंकर गानिनाथ का चर्चित है और उनमें भी भक्ति के स्वर पाये जाते हैं।

बाबु डराय—(६७८) सम्मृत, प्राकृत और कन्नड का प्रसिद्ध पंडित था। गंगराज राजमल्ल का मंत्री और जैनचन्द्र सिन्हाति का मित्र था। वह कई मठों में जीतना प्रसिद्ध भी हो गया था। जिन ने श्रवणबेलगोल के गोम्मटदेवर के दिग्गज की स्मृति लिखी थी। उनमें 'त्रिपट्टि लक्षण महापुगा' भी लिखा जो 'बाबु डराय पुगा' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके प्राकृत में तीर्थंकर की स्तुति की गई है, कहने की जरूरत नहीं कि वह भक्तिमत्त था।

रत्न (६६३) भी कन्नड का एक श्रेष्ठ कवि है। वह सुयोग में पैदा हुआ, दक्षिण जाकर श्रवणबेलगोल में शान्तिनगर के बाबु डराय के दरबार में कार्य करने लगा। इनने गोम्मटदेवर की पूजा की और 'अजितपुगा' तथा 'गार्हा भीम विजय छंद' 'दादुल' नामक ग्रंथों की रचना की। इनने अपने 'अजितपुगा' में अजित तीर्थंकर का चर्चित किया और जिनमें "भक्ति, ज्ञान, वैराग्य का पावन चिह्न कहे अपनी अद्भुत वाक्यरचना प्रतिभा दिग्गज है।"

नागचन्द्र (अभिधायक—१०००) इनके जिन का आचार्य था। श्रेष्ठ कवि था। इनकी दो प्रधान रचनाएँ हैं—(१) भक्तिनाम प्रकाश, (२) नामचन्द्रकान्ति पुगा। इन दोनों में अश्वि तेजस् और वीरम की अपेक्षा भक्ति वैराग्य का चिह्न ही प्रकाशित है। "पता चलने के बाद जिनमें 'जिनस्तुति' में अमिनव पद में जो जिनस्तुति की है उसमें बाबु डराय का नाम ही है।" कन्नड की १०० और १००० में अमिनव पद की गुणवत्ता की है।

दोनों भक्ति पदों का मनुष्य देखिए—

जय जिनपूजिन जिनेश्वर
दयानवी-पूजिन राजहंस भवामो
दिय तटियनेयदिनेन
नयनिक्षेप प्रयाणराजदिनर्हा।

जिनने रमभोदे शातमे
जिनेन्द्र मनना रसावुपियोनगदगा
हृत्तमिदं मिथर रसम
कनसिनोन नेनेयवनु माटेनगर्हा।

.. ..

नित्य सुखमात्म रूप
नित्य मुरा मोहरूपमेव विवेक
सन्ध स्वरूप मदरोल
गयतानुभव विभवमवदेनगर्हा ॥





भावाय—हे अर्हंत, तुम दुखों को जीतने वाले जिनेश्वर हो, तुम्हारी जय हो । दयानदी-मुनि-राजहंस, मुझे शीघ्र से शीघ्र इस भवसागर के किनारे लगाओ ।

हे अर्हंत, एक शान्तरस ही तुमको अभीष्ट है । मेरा मन घातरस रूपी अघुघि में ही अवगाहन करे । उस रस को छोड़ कर दूसरे रस का स्मरण स्वप्न में भी मुझे न हो, ऐसी कृपा करो ।

हे अर्हंत, नित्य सुख आत्मरूप है । अनित्य सुख मोहरूप है, यह विवेक ठीक है, पर, तुम्हारी कृपा हो कि उसमें भी सत्यस्वरूप के अनुभव का विभव ही मुझे प्राप्य हो ।

अलावा इसके 'रामचन्द्रचरित्र पुराण' राम की जिनस्तुति और जनक की जिनस्तुति में भवितरस का सुन्दर चित्रण मिलता है ।

एक कति अथत्ति जैन सन्यासिनी अभिनव पप के समय में थी । उसके और अभिनव पप के बीच में जो भवाद हुआ है उसमें समस्यापूर्ति की बातें हैं । अभिनव पप कति को एक समस्या देकर उसकी पूर्ति करने के लिए कहता है । कति पद्य में समस्यापूर्ति करती है । उसके समस्यापूर्ति के पद्यों में भक्ति की पावन रसधारा है । कति कवि का सुनाती है—

घनमतिमिननुदय दोल

विनयवि फलपुष्पवेरसि भक्तिय भरदि ।

मनशुद्धिवडेव परम जि—

मनिगे नमस्कार माड़े कैवल्य सुख ।।

भाषाय—तडके उठकर विनय से फल-पुष्प सहित, भक्ति से, शुद्ध मन से जिन को नमस्कार करने से कैवल्य सुख मिलता है ।

कति के ऐसे पद काफी मिलते हैं जिनमें भक्तिरस के पावन करने का मजुल नाद सुनाई पड़ता है ।

अगल (११८६) के 'चन्द्रप्रभपुराण' और 'वर्धमानपुराण' में पार्श्व पंडित (१२०५) के 'पार्श्वनाथपुराण' में, जन्न (१२०६) के 'अनतनाथपुराण' में जिन भक्ति के सुन्दर पद मिलते हैं ।

जिनभक्ति परंपरा का स्रोत शैवमत के प्रभाव से कुछ क्षीण होने पर भी सूखा नहीं । पन्द्रहवीं सदी के प्रारम्भ में भास्कर नामक कवि ने मूल संस्कृत 'जीवधर चरित' के आधार पर कन्नड में 'जीवधरचरित' लिखा है । उसने अपने 'जीवधरचरित' में कुछ परिवर्तन किये हैं और उभर कर दिखाई पड़ने वाले परिवर्तन में ऐसे जिनस्तुतिपरक पद्य मिलते हैं कि उनमें उपनिषदों और भक्तिमार्ग के विचार और विशेषण पाये जाते हैं । उदाहरणार्थ—'भक्तवत्सल लयविहीन महेश मायातीत', 'सर्वगत सर्वज्ञ सर्वभक्त सर्वमय • सर्वलोकेश्वर सर्वभूतात्मक', एवं 'दोष रहितनु नीने, कृष्णावास नीने, महेश नीने, सुरेशनुत नीने, सस्तुतिसिद्धनु जिनपतिय' अर्थात् 'तुम ही दोषरहित हो, तुम ही कृष्णावास हो, तुम ही महेश हो, तुम ही सुरेश से स्तुति हो, कहकर जिनपति की अच्छी तरह से स्तुति की ।' इन पक्तियों का उद्धरण करके डा० मुगली जी कहते हैं कि भास्कर कवि पर भागवत तत्त्वज्ञान और उपासना का प्रभाव पड़ा होगा ।

चन्द्रम (१६४६) कवि के कार्कल के 'गोम्मटेश्वर चरित्र' में गोम्मटेश्वर के सुन्दर स्तुतिपद्य मिलते हैं जिनमें भक्ति का उज्ज्वल पट है । एक दो नमूने लीजिये

आवि जिनेशन सुकुमारनण्णो, ल् कादि गेलिड बलु धीर ।

मेदिनी जनके मवार नम्मन् कायो, आवरदि गुम्मदेश ॥

+

+

+

यत्न देयरिणे नीनगलनेंबुव, सो-सुतिदे दिव्य देह ।
धरितव गुम्मत स्वामि निग्नय पाव, पल्लवकानेरगुवेनु ॥

भावायें आदि जिनेश के मुकुमार बटे भाई के समान युद्ध करके विजयी बने बटे धीरे तुम इस भूमण्डल के लोगो के लिए मदार स्वरूप गोमटेश्वर, हमारी रक्षा करो ।

...

..

तुम्हारा दिव्य शरीर कहा रहा है कि गर्व देना मे तुम उठे हो । ते जानी गुम्मत स्वामी, तुम्हारे पाद पल्लवों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

कन्नड के जैन कवियों के साहित्य में जिनभक्ति परम्परा बिलगुल गूरा ही नहीं गई, यह जैनों में आज तक चली आ रही है, उनका प्रत्यक्ष अनुभव तब होगा जब कोई श्रमणप्रलयगोल और कार्कल जाकर गोमटेश्वर की पूजा करने वाले जनगणों को देखेगा ।

कन्नड के जैन कवियों में ही नहीं किन्तु जैन मिलानियों में भी जिन स्तुति के श्लोक पाये जाते हैं । जो हो, कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो यह समझते हैं कि जैनमत में भक्ति के लिए गुजाड्य ही नहीं है, अगर वे कन्नड के जैन कवियों के साहित्य या और मिलानियों का सूक्ष्म अवलोकन करेंगे तो उनको उनमें जिनभक्ति की तरफ वाचन गगा बहती नजर आयेगी ।

प्रधान संदर्भ ग्रन्थ

- १ कन्नड धार्मिक साहित्यिक अध्ययन
- २ कन्नड कविता (मधु-२)
- ३ कन्नड साहित्य चरित्र
- ४ श्री कवि पद
- ५ कर्नाटक परम्परा
- ६ कन्नड जैन पुराण

- लेखक डा० एम० चिदानन्दमूर्ति ।
लेखक बी० एम० श्रीकण्ठय्या ।
लेखक डा० आर० एन० मुगली
लेखक प्रो० जी० पी० राजरत्नम्
लेखिका डा० सराजिनी महिपि
लेखक डा० मदानन्द नायक



मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य में शान्त भक्ति

डा० ग्रंथसागर जैन,
एम० ए०, पी-एच० डी०



पहले के आचार्यों ने 'शान्ति' को साहित्य में अनिवर्चनीय आनन्द का विधायक नहीं माना था, किन्तु पण्डितराज के अकाट्य तर्कों ने उसे भी रस के पद पर प्रतिष्ठित किया। तब से अभी तक उसकी गणना रसों में होती चली आ रही है। उसे मिलाकर नौ रस माने जाते हैं। जैन आचार्यों ने भी इन्हीं नौ रसों को स्वीकार किया है किन्तु उन्होंने 'शृङ्गार' के स्थान पर 'शान्त' को रसराज माना है। उनका कथन है कि अनिवर्चनीय आनन्द ही सच्ची अनुभूति, राग-द्वेष नामक मनोविकार का उपशम हो जाने पर ही होती है। राग-द्वेष में सम्मिश्रित अन्य आठ रसों के म्यायी भावों से उत्पन्न हुए आनन्द में वह गहरापन नहीं होता, जो 'शान्त' में पाया जाता है। स्थायी आनन्द की दृष्टि से तो शान्त ही एकमात्र रस है। कवि बनारसीदास ने 'नवमो रान्त रमनि की नायक' माना है। उन्होंने तो आठ रसों का अन्तर्भाव भी 'शान्तरस' में ही किया है। डॉ० भगवानदास ने भी अपने 'रसमीमांसा' नाम के निबन्ध में अनेकानेक सस्कृत उदाहरणों के साथ, 'शान्त' को रसराज सिद्ध किया है।

जहां तक भक्ति का सम्बन्ध है, जैन और अर्जुन सभी ने 'शान्त' को ही प्रधानता दी है। यदि शाण्डिल्य के मतानुसार 'परानुरक्तिरीश्वरे' ही भक्ति है, तो यह भी ठीक है कि ईश्वर में 'परानुरक्ति' तभी हो सकती है, जब 'अपर' की अनुरक्ति समाप्त हो। अर्थात् जीव की मन प्रवृत्ति समार के अन्य पदार्थों में अनुगम-हीन होकर, ईश्वर में अनुगम करने लगे, तभी वह भक्ति है, अन्यथा नहीं। श्रीग नमार को अमार, अनित्य तथा दुःखमय मानकर मन का आत्मा अथवा परमात्मा में केन्द्रित हो जाना ही शान्ति है। इस भाँति ईश्वर में 'परानुभक्ति' का अर्थ भी शान्ति ही हुआ। स्वामी सनातनदेव जी ने अपने 'भावभक्ति की भूमिकाये' नामक निबन्ध में लिखा है, "भगवदनुगम करने से अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति मन में वैराग्य हो जाना भी स्वाभाविक ही है। 'भक्ति-शास्त्र' में भगवत्प्रेम की रस प्रारम्भिक

- १ "प्रथम सिंगार और डूजो रस, तीजो रस कलना सुलदायक ।
हास्य क्षतुर्थ रस रस पचम, छटम रस धीमच्छ विभायक ॥
सप्तम भय अट्टम रस अद्भुत, नवमो रान्त रसनिको नायक ।
ए नव रस एई नव नाटक, जो जहँ मगन सोई तिहि लायक ॥"

—बनारसीदास । नाटकसमयसार, प० बुद्धिलाल श्रावक की टीका सहित, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, जम्बई,
१०१३३, पृ ३६१।

अथवा का नाम ही 'गान्धर्व' है।¹ नाद ने भी अपने 'मन्त्रिण' में 'नाम्बम्बिन् पञ्चप्रेमरूपा अनृतम्बररूपा च' को मन्त्रि माना है।² इसमें आता है 'पञ्च प्रेम' पद में यही ध्वनि निक्षेपनी है कि समार में वैराग्योन्मुख होकर एकमात्र ईश्वर में प्रेम किया जाय। गान्धि में भी वैराग्य की प्रधानता है। 'मन्त्रिणामृतमिन्दु' की उक्ति 'अल्पाभिलाषिणामूल्य कृत्वापुनोन्नत उत्तमा भूम्नि'³ उर्ध्वरूप जगत् का ही समर्पण करती है। यह रहता उपरुक्त नहीं है कि अनुक्ति में सर्वत्र जगत् होती है, चाहे वह ईश्वर के प्रति हो अथवा मन्त्रा के, क्योंकि दोनों में भेदभङ्ग है। नामाञ्च अनुक्ति दुःख की प्रतीक है और ईश्वरानुलिप्ति द्विध भूत हो जन्म देती है। पहली में जगत् है तो दुःखी में जीवनता, पहली में अभावता है, तो दुःखी में परिवर्तता और पहली में पुन-पुन अन्ता की बात है, तो दुःखी में मुक्त हो जाने की सुनिश्चिता।

उत्पत्तिवादी ज्ञानि के पक्ष समर्थ हैं। उन्होंने एक मन के, ग-द्वेषों में विभु होकर दीर्घा पथ पर चलने की ही क्षमता कहा है। उसे प्राप्त करने के लिये उपाय है—नन्द-चित्तन श्री दीर्घागो की वक्ति। दीर्घाग में श्रिया या प्रवृत्ति नामाग नाम की जोष्टि में मही आना। 'नन्दो' में ज्ञाननाम की वा द्रव्यवाये महीना की है—प्रथम द्रव्यवा वर ह् उक्त मन की प्रवृत्ति, द्रव्यगन्तव्य महीना में द्रव्य आत्म-सोपन की श्री मुदनी है। यह व्यापक और महत्त्वपूर्ण दत्ता है। दूसरी द्रव्यवा में उक्त प्रभाव या परिणाम विना जाता है, जिसके कारण महीना के मु-द्वेष महीना है। तैली द्रव्यवा ह् उक्त विषय-आत्मनाओं का पूर्ण प्रभाव होने पर निर्मल ज्ञाना की अनुप्राप्ति होती है। चौथी द्रव्यवा वैदिक ज्ञान के उपाय होने का पूर्ण आत्मनुप्राप्ति को महीना है। ये चारों द्रव्यवाये आचार्य शिखराज के द्वारा कही गई—मुक्त, विभुता की द्रव्यगन्तव्य दत्ताओं के समान जानी जा सकती है। इनमें स्थित 'धर्म' नाम ही महीना की दत्ता होती है।

नैनाचार्यों ने 'धुमिदह' में 'नना' को स्वीकार नहीं किया है, यद्यपि वहाँ विज्ञान पूर्ण शालि को नाना है। अर्थात् नन्न वा अर्धेन न्न न्न न्न नना' में है, तभी न्न उन्गी 'शालि' शालग्रन कहलानी है, मिट्टी या मुक्क होने पर नहीं। 'धुमिदह' तन्त्रयोग में — ती परिभाषा दिती है, "न्यलेन्या तन्मनाऽनुप्रयत्ने एति 'ना' अर्थात् शलग्राम की अनुमति को न्न उन्गे है। मिट्टी-पत्थर में अन्तर्गता अनुमति में उपर उदर आनन्द का पुञ्ज ही हो जाती है, अतः अनुमति की आनन्दरत्ना ही नहीं होती। नैनाचार्य वाग्भट्ट ने अपने 'वाग्भट्टाचार्य' में 'न' का निरूपण करने का दिता है—

विभक्तं गुणान्तरं, नास्ति च धर्मनिधारिणि ।
 आगेप्यनाप उक्तं म्यायीनव स्तुतो रम् ॥

अयं विभाव, अनुभाव, नास्त्विक आं व्यभिचारिणो के द्वारा उत्पन्न को प्राप्त हुआ म्यायी भाव ही 'रम' म्भाना है। निद्रावस्था में विभाव, अनुभाव आं व्यभिचारी आदि भावों के अभाव में 'रम' नहीं बन पाना।

१. श्यामी गगननन्देय 'री, भावनल्लिनी भूमिकाएँ, दन्त्याण, भक्ति विशेषण, वर्ष ३२, अङ्क १, पृष्ठ ३६६ ।
 २. देखिए 'नान्दमोहन भक्तिसूत्रम्' जैनालीनान एण्ड मन्त्र, वागणमो, पहला मूत्र ।
 ३. मन्त्रिनामृगनिगु, गोमनामी दामोदर शम्भोरी सम्पादिन, प्रच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी । वि० सं० १६८८, प्रथम सम्पन् ।
 ४. बुद्धचरित्पुस्तकनामानवन्धितो य शम्भ म एव यन ।
 रमनामेनि तदास्मिन्त्रायदि न्यतिद्व न विद्वा ॥
 —आचार्य विदयनाथ, माहिल्यदर्पण, शालिग्राम शम्भोरी जी हिन्दी व्याख्या सहित लखनऊ, द्वितीयावृत्ति, वि० सं० १६६१, ३१७०, पृ १६८ ।
 ५. अग्निधान राजेन्द्र कोश, 'रम' शब्द ।





जैनाचार्यों ने भी अन्य साहित्य-शास्त्रियों की भाँति ही 'शम' को शान्तरस का स्थायीभाव माना है। भगवज्जिनसेन ने 'अलंकारचिन्तामणि' में 'शम' को विशद करते हुए लिखा है—“विरागत्वादिना निर्विकारमनस्त्व शम” अर्थात् विरक्ति आदि के द्वारा मन का निर्विकार होना शम है।^१ यद्यपि आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' को 'शान्तरस' का स्थायीभाव माना है, किन्तु उन्होंने 'तत्त्वज्ञानजन्यनिर्वेदस्यैव शमरूपत्वात्' लिखकर 'निर्वेद' को शम रूप ही स्वीकार किया है।^२ आचार्य विश्वनाथ ने 'शम' और 'निर्वेद' में भिन्नता मानी है और उन्होंने पहले की स्थायीभाव में तथा दूसरे की संचारीभाव में गणना की है।^३ जैनाचार्यों ने वैराग्योत्पत्ति के दो कारण माने हैं—तत्त्वज्ञान, इष्टवियोग-अनिष्ट संयोग। इसमें पहले से उत्पन्न हुआ वैराग्य स्थायीभाव है और दूसरा संचारी। इस भाँति उनका अभिमत भी आचार्य मम्मट से ही मिलवा-जुलता है। इसके साथ-साथ उन्होंने मम्मट तथा विश्वनाथ की भाँति ही अनित्य जगत को आलम्बन, जैनमन्दिर, जैन तीर्थक्षेत्र, जैनमूर्ति और जैनसाधु को उदीपन, घृत्यादिकों को संचारी तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह के अभाव अर्थात् 'सर्वसमत्व' को अनुभाव माना है।

शान्ति का अर्थ है निराकुलता। आकुलता राग से उत्पन्न होती है। रत होना राग है। इसी को आसक्ति कहते हैं। आसक्ति ही अशान्ति का मूल कारण है। सासारिक द्रव्यों का अर्जन और उपभोग बुरा नहीं है, किन्तु उसमें आसक्त होना ही दुखदायी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जैसे अरतिभाव से पी गई भट्ठिया नशा उत्पन्न नहीं करती, वैसे ही अनासक्त भाव से द्रव्यों का उपभोग कर्मों का बन्ध नहीं करता।^४ कर्मों का बन्ध अशान्ति ही है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि यह बन्ध जिनेन्द्र के चरणों की स्तुति से स्वतः उपशान्त हो जाता है, जैसे कि मन्त्रों के उच्चारण से सर्प का दुर्जय विप शान्त हो जाता है।^५ जैसे ग्रीष्म के प्रखर सूर्य से सतपन हुए जीव को जल और छाया से शान्ति मिलती है, वैसे ही ससार के दुखों से बेचैन प्राणी भगवान के चरण-कमलों में शान्ति पाता है।^६ मुनि शोभन शास्वत

१ भगवज्जिनसेनाचार्य, अलंकारचिन्तामणि, तीसरा अध्याय।

२ आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ १६४।

३. आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, लखनऊ, ३।२४५-२४६, पृ० १६६।

४. जह मज्ज पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरितो।

दब्बुवभोगे अरवो णाणी वि ण वज्जदि तहेव ॥

—आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, श्री पाटणी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, मारवाड, १९५३ ई०, १९६६वाँ भाग, पृ २९६।

५ ऋद्धाशोविषदष्टदुर्जयविषज्वालावली विक्रमो,

विद्यानेपजमभ्रतोयहवर्नैर्याति प्रशान्ति यथा।

तद्वत्ते चरणाभ्युज्जुगस्तोत्रोन्मुखाणा नृणाम्,

विघ्ना कायविनाशकाश्च सहसा शामन्त्यहो विस्मय ॥

—आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत शान्तिभक्ति, 'दशभक्ति', शोलापुर, १९२१ ई०, दूसरा इलोक, पृ ३३५।

६ न स्नेहाच्छरण प्रयान्ति भगवन्पादद्वय ते प्रजा,

हेतुस्तत्र विचित्रदुखनिचय ससारघोराण्व।

अत्यन्त स्फुरदुधरस्मिनिकरव्याकीर्णमूमण्डलो,

ग्रंथ कारयतीन्दुपादसलिलच्छायायानुराग रवि ॥

—आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत शान्तिभक्ति, दशभक्त्याविसग्रह, सलाल, साबरकाठा, गुजरात, पहला इलोक, पृ १७४।

शान्ति चाहते हैं। उनका विश्वास है कि भगवान की वाणी का श्रवण करने मात्र में वह उपलब्ध हो सकती है।^१ आचार्य गोमदेव शिव-मुनि देने वाली शान्ति चाहते हैं। वहीं अवदुःखपी अग्नि पर धनामृत की वर्षा कर सकती है। वह शान्ति भगवान शान्तिनाथ प्रदान कर सकते हैं।

“भवदुःखानलाशान्तिर्धर्माभृतवर्षजनितजनशान्ति ।
शिवजर्माम्बुशान्ति शान्तिकर स्ताञ्जिन शान्ति ॥”

जैन ग्रन्थों के अल्पिमात्रावर्ण प्रायः शान्ति की याचना में ही समाप्त होने हैं। शान्ति भी केवल अपने लिए नहीं, मर, आचार्य, गुरु, धार्मिकजन और राष्ट्र के लिए भी। आचार्य पूज्यपाद का—

सपुनरुत्थाना प्रतिपालकाना यर्नान्द्रमामान्यतपोधनानाम् ।
देजस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राष्ट्र कर्णेनु शान्ति भगवान् जिनन्द ॥’

‘मी का शोधन २। १० श्री मेरादी के ‘यममग्नश्रावणाचा’ का भगवानावर्ण भी ऐसा ही है। उन्होंने भी ‘राष्ट्र-प्रजा आ’ मुनि, मनो के लिए शान्ति चाही है।’

शान्ति को प्रदान की जाती है—शाश्वत और अस्थिर। पृथ्वी का सम्बन्ध मोक्ष में है और दूसरी का भौतिक समाप्ति में। भवनजन दोनों के लिए समानांतर हैं। जिनन्द की अनुसूची में उन्हें दोनों की प्राप्ति भी हुई है। इस दिशा में जैन ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। जैनो का प्राचीन मन्द ‘मोक्षमन्द’ है। उसने पंच परमार्थों को नमस्कार दिया गया है। पूरा मन्द है—‘ममा श्रद्धाया, मनो मित्राया, मनो दायायाया, मनो उदययायाया, मनो लाए सम्बन्धनाया।’ उमरा अर्थ है—श्रद्धा को नमस्कार हो, मित्रों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और गुरु के सर्वनामों को नमस्कार हो। जैन आचार्यों ने उन मन्द में अप्रवृत्ति स्वीकार की है। आचार्य पुनरुत्थान विद्याम है—

“महा, मित्रायाया उदयाया साह पचपरमेष्टी ।
उदे पच जमोयाग भवे-भवे मम सुह दिनु ॥”

१ शान्ति धम्ममुताग्नियोऽनुगमनाच्छन्नंमार्चनंयं ,
रक्षोभ जन हेतुना छिनमदोदीर्घाजाल वृत्तम् ।
तत्पूज्यजंगना जिर्ण प्रवचन द्रव्यकुवाद्यायली ,
रक्षोभ जनहेतुनाछितमदो दीर्घाज जालवृत्तम् ॥

—मुनि शोभन, चतुर्विंशतिजिनमुनि, काव्यमाला, सप्तम गुच्छर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तीसरा श्लोक, पृ १३३।

२. K. K Handipani, Yasastila's and Ind an Culture, Sholapur, 1949, P 311.

३ दशमकव्यादिग्रह, १४वा श्लोक, पृ १८१।

४ शान्ति स्याज्जिनशान्तस्य सुखदा शान्तिनृपाणा सदा,
मुप्रजशान्तयोभग्भूता शान्तिर्मुनीना सदा ।
श्रोतृणां कविताकृता प्रवचनव्याख्यातृकाणा पुन ,
शान्ति शान्तिरयानिजीवनमुच श्री मज्जनस्यापि च ॥

—पण्डित श्री मेरादी, परमप्रह्लादश्रावकाचार, अन्तिम प्रशस्ति, प्रशस्ति सग्रह, जयपुर, १९५० ई०, ३५वा श्लोक, पृष्ठ २४।

५ पचगुरुभक्ति, दशभक्ति, शोलापुर, १९२१ ई०, ७वीं गाथा, पृ ३५८।





अर्थात् गह्रन्त, मित्र, आचार्य, उपाध्याय और गाधु के लिए लिए गए नमस्कार मुझे भय-भय में मुग देखें। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि यह 'पचनमन्त्र' मन्त्र मंत्र पाषाणों को नष्ट करने वाला है और जीवों का नष्ट करने में सबसे ऊपर है। मुनि वादिगज ने 'एकीभाष्यमोत्र' में लिखा है, "जब पाषाणकारी गुत्ता भी पचनमन्त्र मंत्र को सुनकर देख हो गया, तब यह निश्चित है कि उग मन्त्र का आप करने से यह जीव दृष्ट की तथ्य को पा गया है।" श्री जिनप्रभसूरि ने 'विविधतीर्थकल्प' के 'पचपरमेष्ठिमन्त्रकल्प' में स्वीकार किया है, "इस मन्त्र की आराधना करने वाले योगीजन, त्रिकोण के उत्तम पद को प्राप्त कर लेते हैं। यही नहीं, किन्तु नष्टों को पाषाणों का सम्पादन करने वाले और सैकड़ों जन्तुओं की हत्या करने वाले विषय भी इस मन्त्र की शक्ति में स्वयं में घटने जाते हैं।" जैनसमर्थों ने 'पचनमन्त्र' की शक्ति को देवता कहा है। उममे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों ही प्रकार की शक्तियाँ सम्मिलित हैं। यह मोक्ष के दुःखमन को रोकने में पूर्ण रूप में समर्थ है। जैन परम्परा में यह मन्त्र अनादि नियम माना जाता है। बड़े भगवान् ने अपने भगवत्प्रेम को इसी विद्या प्रदान की थी। विद्यानुवाद नाम के पुत्र या प्रारम्भ पचनमन्त्र ने ही हुआ था। विद्यानुवाद मन्त्र-विद्या का प्रथम ग्रन्थ था। श्री मोक्षनान भगवान् नाम भगवत्प्रेम ने जैनमन्त्र शास्त्र का प्रारम्भ ईसा से ८५० वर्ष पूर्व, अर्थात् तीर्थंकर पाण्डिताथ के समय में स्वीकार किया है। जो समझते हैं कि पाण्डिताथ के समय में भी '१८ पूर्व', 'पहले में आदि हुई विद्या' के रूप में प्रतिष्ठित हो। उपर्युक्त पुनरावृत्ति सामग्री के आधार पर 'पचनमन्त्र' का प्राचीनतम उल्लेख हाथी गुफा के शिलालेख में प्राप्त होता है, जिसमें निम्नलिखित मन्त्राट् पाण्डित ईसा से १७० वर्ष पूर्व हुए हैं।

१ एष पचनमन्त्रकार सर्वपापप्रणाशन ।

मगलाना च सर्वेषां प्रथम मगल भवेत् ॥

—वेदिए यही, सातवां श्लोक, पृ० ३५३

२ प्रापद्देव तव नृतिपदेर्जीवप्रेनोपदिष्टं. पाषाणकारी मरणममये साग्रेयोऽपि सोऽय ।

क सदेहो यदुपलभत चासत्यश्री प्रभुस्य जयज्जाप्यमणिभिरमलैर्यत्प्रमस्कार चक्र ॥

—एकीभाष्यस्तोत्र, काव्यमाला, सप्तमं गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १२वां श्लोक, पृ० १६।

३ एतमेव महामन्त्रं समाराध्यैह योगिन

त्रिलोकप्रापि महीयन्तेऽधिगता परम पदम् ।

कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च

अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि विव गता ॥

—जिनप्रभसूरि, पचपरमेष्ठि नमस्कार कल्प, विविधतीर्थकल्प, मुनि जिनविजय सम्पादित, शान्ति-निकेतन, १६३४ ई०, प्रथम भाग, ५-६ श्लोक, पृ० १०८।

४ स्तम्भं दुर्गमं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहन ।

पापात्पञ्चनमास्त्रिक्याक्षरमयी साराधना देवता ॥

—धर्मध्यानदीपक, कलकत्ता, ३ श्लोक, पृ० २।

५ The original doctrine was contained in the fourteen Purvas—old texts, which Mahavira himself has taught to his Ganadharas "

'Life in ancient India as depicted in Jain Conons', Dr J. C Jain, New Book Company Ltd, Bombay, 1947, P 32

६. कहा जाता है मुनि सुकुमारसेन (७वीं शताब्दी ईस्वी) के विद्यानुशासन में विद्यानुवाद की बिलारी सामग्री का सकलन हुआ है। विद्यानुशासन की हस्तलिखित प्रति जयपुर और अजमेर के शास्त्रभण्डारों में मौजूद है।

७. Dr A S Altekar, 'Mantra Shastra and Jainism' Jain Cultural Research Society Banaras Hindu University, Banaras, P 9

८ V A Smith, Early History of India, Oxford, 1908, P 38, No 1

शान्ति का आचार केवल 'गणेश मन्त्र' ही नहीं है, अन्य अनेक मन्त्र भी हैं। यहाँ नवका उल्लेख सम्भव नहीं है। वे एक पृथक् निबन्ध का विषय हैं। मन्त्र-श्रेष्ठ में यन्त्रों की भी गणना होती है। उनमें एक 'शान्ति यन्त्र' भी है। मन्त्रों में इनकी स्थापना की जानी है और उनकी पूजा-अर्चा होती है। 'मन्त्राधिराज' ग्रन्थ नाम के ग्रन्थ में 'शान्ति यन्त्र' की पूजा दी हुई है। उनके रचयिता मागरचन्द्रभूषि थे। उनका समय १५वीं शताब्दी माना जाता है। उन्होंने एक स्थान पर 'शान्ति यन्त्र' की महत्ता के सम्बन्ध में लिखा है, "अमयनिद्रुग्निश्रेणि दमयन्परिमन्त्रति मततमनी। पुणानि भाग्यनिचय मुणानि व्याघिनम्बाधाम् ॥" तात्पर्य है—शान्ति यन्त्र की पूजा से रोग, पाप, शत्रु और व्याधियाँ उपशान्त हो जाती हैं, और नीमाय का उदय होता है। शान्ति के लिए 'शान्तिपाठ' भी किये जाते हैं। वे मन्त्र-गमिन होते हैं। अनेक दिन बिगिबन् उनका पाठ होता है। आज भी उनका प्रचलन है। प्रति वर्ष अनेक स्थानों पर उनके पाठ का आयोजन किया जाता है। उन मन्त्र-यन्त्रों में इहलौकिक शान्ति की अमोघ शक्ति मानी गई है, किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य पारलौकिक आश्विन शान्ति ही है। उनका मूलस्वर 'आध्यात्मिक' है 'भौतिक' नहीं। यही कारण है कि उनमें वज्रयानों मान्दिक मप्रदाय की भाँति व्यभिचार, मदिरा और मांस वाली बात नहीं पतप नहीं। जैन देवियाँ मन्त्र की शक्ति-रूपा थीं। उन्हें मन्त्र के बल पर ही साधा जा सकता है। किन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ कि उन मन्त्रों के माध्यम से नीचकुलोत्पन्न कन्याओं के आनेवन की बात चली हो। ऐसा भी नहीं हुआ कि भाद्रपद की अमावस की रात में एक नीच मोनह कुआरी, मुन्दरी कन्याओं की बर्त में वे यन्त्रिष्णु भी प्रमत्त हुई हो। वे कराला थी, किन्तु उनकी कर्मावस्था व्यभिचार या मदिरा-मांस से तृप्त नहीं होती थी। मनुष्यों का प्रदर्शन ही उन्हें मनुष्य बना सकता था। इसी भाँति जैन माधु मन्त्र विद्या के पागल विद्वान् होते थे, किन्तु उन्होंने गण-वर्द्धक पदार्थों में उनका कभी उपयोग नहीं किया। जैन मन्त्र मानासि वैभव के देने में सामर्थ्यवान् होने हुए भी वीरगामी बने रहे। वीररागा ही शान्ति है। उनका जैसा शानदार नमस्ते जैन मन्त्र कर रहे, अन्य नहीं।

जैन भक्तिकाव्य और मन्त्रों की नव-श्रेष्ठ विवेचना है उनकी शान्तिपूजा। कुत्सित परिस्थितियों और मगनियों में भी वे शान्तन में दूर नहीं हटे। उन्होंने कभी भी अपनी ओट में शृंगारिक प्रवृत्तियों को प्रश्रय नहीं दिया। दाम्पत्य-गति-मूला भगवद्भक्ति भी भक्ति की एक विद्या है। जैन काव्यों के आध्यात्मिक विवाह इसी कोटि में आते हैं। नेमीचन्द्र और राजुल की नेम-धनश कवियों का निर्माण हुआ। वे मनी सात्विकी भक्ति के निदर्शन हैं। उनमें कहीं भी जगन्मानाओं की मुहावरों का नग्न विवेचन नहीं है। जिसे मा कहा, उनके अग-प्रत्यग में सादकता का रंग बना उपपुष्प नहीं है। इनमें मा का भाव विगुप्त होता है और मुन्दरी नवयौवना नायिका का रूप उभरता है। शनान्तेय में आबद्ध दम्पती भने ही दिव्य नोच-कामी हो, पाठक या दर्शक में पवित्रता नहीं भर सकते। भगवान् पनि की आत्मी के लिए भगवती पत्नी का अगृहीत प-खड़ा होता ठीक है, किन्तु माय ही पीनमनो के कारण उनके हाथ की पूजा-शान्ति के पुष्पों का विग्न जाना कहा नर भक्ति-वक है^१। 'गणेश मन्त्र' के 'नेमिनाथपात्र' में राजुल का अनुसम नौन्दर्य अस्ति है, किन्तु उनके चारा ओ-एक ऐसे पवित्र वानावप की सीमा लिखी हुई है, जिसमें विनामिता की महलन प्राप्त नहीं हो पाती। उनके नौन्दर्य में जनन नहीं, शीतलता है। वह मुन्दरी है किन्तु पावनता की मूर्ति है। उनको देव का श्रद्धा उन्मत्त होती है। मैंने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' में लिखा

१ श्री मागरचन्द्रभूषि, मन्त्राधिराजकव्य, जैनस्तोत्रमन्दोह, भाग २, मुनिचतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, सन् १९३६ ३३वां श्लोक, पृ० २७७।

२ पादाग्रस्थितया मुहु स्मनभरेणानीतया नञ्जता

शम्भो सम्पूहलोचनत्रयपथ यान्त्या तदाराजने।

ह्रीमन्या शिरसीहिन सपुनकन्धेदोद्गमोत्कम्पया

विश्लिष्यन्कुमुमाञ्जलिगिरिजया सिप्तोऽन्तरे पातु व ॥

—श्रीहर्ष, रत्नावली, प्रथममगलाचरण।





है, "जहाँ भगवान के मंगलाचरण भी वागना के कमरे में रखे जा रहे थे, नमीध्वज और गजुन में सम्बन्धित भागनिक पद दिव्यानुभूतियों के प्रतीक भए ही रहे। उन्होंने अपनी पावनता का परिग्याण कभी नहीं किया।" जिन-पद्मसूत्र के 'शूलिभट्टकागु' में कादा के मारक मोन्दर्य और कामुक विनाग चेष्टाओं का चित्र गीता गया है। युवा मुनि स्थूलभद्र के गयम को गिगाने के लिए गुजरी कोशा ने अपने विनाग-भवन में अधिराधिक प्रयाम रिया, विन्तु 'गन्धर्व' न हुई। यदि को कोशा की मारका निरग करना अभीष्ट था, अतः उनके रति-रस और ताम्रु भावा का आन ठीक ही हुआ। तप की दृष्टि नहीं है, जब वह उत्तम में उत्तम मोन्दर्य के आगे भी रह गया रहे। कोशा गन्धर्वगता नहीं, देखा थी। देखा भी गेमी वेंगी नहीं, पाटनियुत्र की प्रगिद्ध देखा। यदि जिनपद्मसूत्र उमरे की रस को उन्मुक्त भाव में भूतिमग्न न करने तो अन्धभावितना रह जाती। उमरे तप मुनि का गयम गुह्य प्रमाणित हुआ। हमने यहाँ अन्धीनता नहीं है। मन तो यह है कि दाम्पत्य रति के रस को रस ही रहना चाहिए था, किन्तु जब उमरे रसकत्व तो रहा नहीं, रति ही प्रभु। हो गई तो कि अन्धीनता का उभरना भी ठीक ही था। जैन कवि और काव्य हमने घटे रहे। उमी कारण उनकी शान्तिपराता भी बनी रही।

हिन्दी के जैन भवन कवियों ने मरुधर-प्रागत की शान्तिधारा का अनुगमन किया। बनारसीदास ने जो 'नाटक मयगा' में 'नवमा गाय रगति की तारक' स्पष्ट रूप में गीता रिया। उसी रचनाय हमकी प्रतीक है आगे के कवि उनके प्रभावित हैं। हिन्दी के इन जैन कवियों का मन्त्र, यन्त्र और शान्तिपाठों की रचना में मन न लगा। हमने सम्बन्धित हिन्दी काव्य सगुण-प्राकृत शब्दों के अनुवाद-भर है। देवी पद्मावती, अम्बिका आदि भवाधिष्ठात्री देवियों की स्तुतिया भी पूरे शब्दों की छाया ही हैं। उनका मन लगा मगार की आहुति और गगन-ध्वजों के विधावन में। उन्होंने पुन-पुन मन को वीनगगता की ओर आर्पित किया। हम दिशा में उनका पद-काव्य अनुपम है। मानव की मूल्युक्तियों के सम्बन्ध में उने भावभीना बना दिया है। वे शास्त्रियर रनिया हैं। उनमें उपदेश की स्थिता नहीं निश्चिन्मात्र भी नहीं है। कोई भी बात, चाहे उपदेश-भर ही क्यों न हो, भावों के माध्यम में बन कर शास्त्रिय बन जाती है। जैन हिन्दी के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष काव्यों का भी मूल स्वर धारण ही है। अन्य रस भी है, किन्तु उनका समाधान शान्तरस में ही हुआ है। ऐसा करने में नहीं भी गीनतान नहीं है, सब कुछ प्रामाणिक और स्वाभाविक है।

जैन हिन्दी के भक्ति-शास्त्रों में यदि एक ओर सामाजिक गगन-ध्वजों में विरगित है, तो दूसरी ओर भावान् में चरम शान्ति की याचना। उनकी शान्ति नहीं चाहिए किन्तु अन्धायी नहीं। वे उम शान्ति में उपायक हैं जो कभी गमाए न हों। जब तक मन की दुविधा न मिटेगी, वह शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। और यह दुविधा जिननाथ निरञ्जन निषिक्कार के मुमिन करने में ही दूर हो सकती है। यदि बनारसीदास अपनी चिन्ता व्यवन करने हुए कहते हैं, "न-जाने कब हमारे नेत्र चातक अक्षय-पदरूपी धन की धूँ दे चंग लवेंगे, नभी उनको निरातुन शान्ति मिलेगी। और न-जाने वह घटी का आयगी जब हृदय में समनाभाव जड़ेगा। हृदय के अन्दर जब तक मुगुर के दन्तों के प्रति दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न नहीं होगी, परमार्थ गुप्त नहीं मिल सकता। उमके लिए तभी नालता का उपवन होना भी अनिवार्य है, जिनमें घर छोड़ कर वन में जाने का भाव उदित हुआ हो।"

कवि बनारसीदास ने 'शान्तरस' को आत्मिक रस कहा है। उसका आस्वादन करने में परम आनन्द मिलता है। वह आनन्द कामधेनु, चित्रावेलि और पंचामृत भोजन के समान समझना चाहिए।" इस आनन्द को साक्षात् करने

१ देखिए मेरा ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', प्रथम अध्याय, पृ० ४।

२ 'शूलिभट्टकागु', प्राचीन गुर्जर ग्रन्थमाला ३, स० २०११, पृ० ३-७ पर प्रकाशित हो चुका है।

३ बनारसीविलास, जयपुर, १८५४, अध्यात्मपदपत्ति, १३वा पद, पृ० १३१-३२।

४ अनुभी की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभी को स्वाद पच अमृत को कीर है ॥

—बनारसीदास, नाटकसमयसार, दम्बरई, उत्पानिका, १९६४ पृ० १७-१८।

बाबा जैन जिन्हे घट में पिगयता है, उस विनाश का वनाग्नीदान ने उन्धना की है।^१

यह जीव ममात् के बीच में अटारना पिना है, जिन्नु उसे शान्ति नहीं मिलनी। वह अपने अष्टादश दोषों में प्रपीडित है और आगुत्ता उस ममात् की होती है। भैया भगवनीदान का तथन है, "हू जीव। इस ममात् के अत्य तौटि मात् तो पीर भी नृ प्याता ही है और उस ममात् के द्वीरों में जिनना अन्न भग है, उनकी सावर भी नृ भूता ही है। यह मत् कुछ अटारना दोषों के राग्य है। वे तभी जीने का मग्ने हैं जे नृ भावान जिनेन्द्र का ध्यान करें और उनी पर का अनुत्ता तने, जिन्म पा के स्वय चने थे।" भैया की उष्टि में अष्टादश दोष ही अशान्ति के कारण हैं और वे भगवान् जिन के ध्यान में जीने का मग्ने हैं। तभी यह जीव उस शान्ति का अनुभव करेगा, जो भगवान् जिनेन्द्र में साधना ही हो उठी थी। भैया का गण्ट गमिना है कि गण्ट-द्वेष के कारण ही यह जीव अपने परमात्मा-स्वय के दर्शन का ध्यान नहीं ले पाता। अर्थतः यह विद्वानन्द के पुत्र में दू हो रहता है। गण्ट-द्वेष का मुख्य कारण है माह, जिनका मोह के विद्या में गण्ट-द्वेष स्वय नाट हो जायेंगे और गण्ट-द्वेष के टटने में मोह तो यत्किञ्चित् भी न हो पावेगा। तम ही उपाधि को जमान् मत्त का भी यही पर उपाय है। जट के उपाय टालने में भना कुछ तने टह मरता है^२ और पिना जटों काट-काट, फट-फट भी कुम्हना जायेंगे। तभी विद्वानन्द का प्रयास होगा और वह जीव मित्राग्या में अन्न मुत्त विरम भोगेगा।

“मोह के निवारि राग-द्वेष हू निवारि जाहि,
गण्ट-द्वेष टारें मोह नेपटू न पाइए।
कम की उपाधि के निवारिबे को पंच परै,
जट के उपायें वृक्ष हंसे उट्टाडए।
टाट-पाट फल-फूल सबें मुष्ट-गण जाय,
कर्मन के वृक्षन को ऐमे के नमाइए।
तब होय विद्वानन्द प्रगट प्रयास रूप,
जिनिमें अन्न मुत्त मिद में पराइए ॥”

अन्न मुत्त ही तम शान्ति है। भैया ने पर पुन्ना-मे पद में जैन मन को शान्ति-म का मन कहा है। शान्ति को प्राप्त करने वाले ही जानी हैं, अन्न को मत् अन्न ही रह जायेंगे।^३

भूत-दा-भी के ममात् की शान्त तो जनिम मग्नी है कि वे तमय और सम्पूर्ण शान्ति-प्रदायक गुणों में युक्त हैं। भूत-दा-भी को उनका अन्न उदा भोगेगा है। उन्होंने जन्म-जन्म आदि बैगिया को जीन लिया है और मरन की

- १ मत्त-मत्त मदा जिहू रं,
प्रगट्यो अष्टादश मिप्यान निवदन।
मानदमा निहू की पहिचानि,
करं पर जोरि बनारमि वदन ॥

—वही, उठा पय, पृ० ७

- २ भैया भगवनीदान, अष्टादशान, जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९०६ ई०, शतशब्दोत्तरी, १६वां कावित्त, पृ० ३०।

- ३ अष्टादशान, मिप्यान-विषय न चतुर्दशी, द्वा वचित्त, पृ० १२१

- ४ शान्तमवाते पहुँ मन को निवारि रहूँ।

वे ई प्राणप्यारे रहूँ और मत्त वारे हूँ ॥

—अष्टादशान, ईद्वरनिर्णयपञ्चीमी, ६ठा वचित्त, पृ० २५३



देव ने छुटकारा पा गये हैं। उागे भूधरदाम अजर और अमर पाने की प्रार्थना करने हैं। क्योंकि जब तब यह मनुष्य जन्म-मरण से छुटकारा नहीं पायेगा, भान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जैन परम्परा में देवों को अमर नहीं रहने। यहाँ अमरता का अर्थ है मुक्तदशा, जहाँ किसी प्रकार की आशुता नहीं होनी। ऐसा भान्ति वह दे सकता है, जिसने स्वयं प्राप्त कर ली है। वे समान 'गाह्वि', जो वाग्भ्यां जन्मते हैं, मरने हैं, और जो स्वयं भिन्न हैं, दूसरों का श्राद्धिक कामें हर सकते हैं।'

भगवान 'शान्तिजिनन्द', जो स्वयं भान्ति के प्रतीक हैं, महज में ही अपने मेवों के भव-द्वन्द्वों को हर सकते हैं। भूधरदास उन्हीं में ऐसा करने की याचना भी करते हैं।' यह जीव मागागि क्रव्यों के करने में तो बहुत ही उदारता रहता है, किन्तु भगवान के मुमग्न में सीरा हो जाता है। जैसे कम करना है, वैसे फल मिलने है। काम करता है अशान्ति और आशुलता के, किन्तु फल में भान्ति और निगमना चाहिए है, जो कि पूजनया आत्मव है। आक बाँवेगा, आम कैसे मिलेगा, नग हीरा नहीं हो सकता। जैसे यह जीव त्रिपया के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, वैसे ही यदि प्रभु को निरन्तर जपे तो मागागि अशान्ति को पार कर निश्चय भान्ति पा सकता है।'

भान्तभाव को स्पष्ट करने के लिए भूधरदाम ने एक पृथक् ही ढग अपनाया है। वे मागागि वंशों की क्षणिकता को दिमाकर और तज्जन्य वेचनी को उद्घोषित कर चुप हो जाते हैं और उगमे में भान्ति की ध्वनि, मगीन की भकार की तरह से फूटती ही रहती है। धन और यौन के मद में उन्मत्त जीवों को सम्बोधन करने हुए उन्होंने कहा, "ए निपट शवार नर ! तुझे घमण्ड नहीं करना चाहिए। मनुष्य ही यह काया और माया भूटी है, अर्थात् क्षणिक है। यह सुहाग और यौवन कितने समय का है, और कितने दिन इन समाग में जीवित रहता है। हे नर ! तू क्षीय ही चेत जा और विलम्ब छोड़ दे। क्षण-क्षण पर तेरे वय बढ़ने जायगे, और तेरा पल-पल ऐसा भारी हो जायगा, जैसे भीमने पर काली कमरी।" भूधरदाम ने एक दूसरे पद में पञ्चननगीलना का सुन्दर दृश्य अतिन विया है। उन्होंने कहा, "इन ससार में एक अजय समाग हो रहा है। जिसका अस्तित्व ताल स्वप्न ही भाति है, अर्थात् यह समाशा स्वप्न की तरह क्षीय ही समाप्त भी हो जायगा। एव के घर में मन की आशा के पूर्ण हो जाने में मगल-गीत होते हैं, और दूसरे घर में किसी के वियोग के कारण नैन निगदा में भर-भर कर रोते हैं। जो लोग सुरगों पर चढकर चलते थे, और रामा तथा मयमल पहनते थे, वही दूसरे क्षण नगें होकर फिरते हैं, और उनको दिलासा देने वाला भी कोई दिवाई नहीं देता। प्रात ही जो राजतरन पर बैठा हुआ प्रगल्भ-वदन था, ठीक दोपहर के समय उसे ही उदाम होकर धन में जाकर निवास करना पडा। तन और धन अत्यधिक अस्थिर हैं। जैसे पानी का बरनाग। भूधरदामजी कहते हैं कि इनका जो गय करना है उसके ज-अ को निराग है।" यह मनुष्य मूर्ख है, देने हुए भी अन्धा वगता है। इमने भरे जीवन में पुग का वियोग देगा वैसे ही अपनी नागी को कान के मार्ग में जाते हुए निगया और उगने उन पुण्यवानों को, जो मर्देव यान पर चढे ही दिवाई देते थे, रक होकर जिना पनही के मार्ग में पैदल चलते हुए देखा, फिर भी इसका धन और जीवन में गग नहीं घटा। भूधरदाम का वचन है कि ऐसी मूमे की अनेगी के राज-राग का कोई इलाज नहीं है।

१ भूधरवास, भूधरविलास, कलकत्ता, १३वा पद, पृ० ३०।

२ भूधरविलास, ३४वा पद, पृष्ठ १६।

३ वही, २२वा पद, पृष्ठ १३।

४ वही, ११वा पद, पृष्ठ ७।

५ वही, ६वा पद, पृष्ठ ६।

“देखो भर जीवन मे पुत्र को वियोग आयो,
तैसे ही निहारो निज नारी कान मग मे ।
जे जे पुण्यवान जीव दीसत हैं यान ही पं,
रक भए फिर तेऊ पनही न मग मे ॥
ऐते पं, अभागे धन जीतव सों घरं राग,
होय न विराग जानं रूगो अलग मे ।
आग्नि विलोकि अघ नूमे की अघेरी,
कर एने राजरोग को इगज कहा जग मे ॥”

एत वृद्धपुत्र की दृष्टि घट गई है, मन ही ठवि पनट चुकी है, गति बर हो गई है और बमर भुक्त गई है । उनकी पत्न्यानी भी मृद चुकी है, और वह अन्धकार में होकर पतन में ला गया है । उनकी नार (गर्दन) काप गयी है और मृद में तार न गयी है । उनमें मन आ-उपग पुगने हो गये हैं, किन्तु हृदय में नृणा ने और भी नवीन रूप धारण किया है । अब मनुष्य की मौन आनी है, तो उनमें ममा में स्वभाव के जो कुछ किया है, सब कुछ यहा ही पडा है माना है । भूष-दामजी ने कहा है, 'नीत्रापी नृग, पुन्दर गी मे गे हुए ग्य, ऊचे-ऊचे मत्त मनग, दाम और ब्राम, गगनपुम्बी अट्टानिगाए और गीरो की नम्पनि मे भरे हुए कोप, उन सबको यह नर अन्न में छोडकर चला जाना है । शमाद उठे-के-उठे ही रह जाते हैं, राम यहा ही पडे रहने हैं, धन-नम्पति भी यहा ही डली रहनी है और धा नी यहा ही घरे रह जाते हैं ।”

“नेज तुरंग सुरग भले रय, मत्त मत्ता उतग परे ही ।
दाम ब्राम अयाम अटा, धन जोर करोरन कोश भरे ही ॥
ऐने बडे ती कहा भयो है नर, छोरि चले उठि अन्त छरे ही ।
धाम परे रहे काम परे रहे दाम डरे रहे ठाम घरे ही ॥”

श्री धाननाराय ने भी भगवान् जिनैन्द्र को शाल्तिप्रदायक ही माना है । वे उनकी शरण में डमलिये गये हैं कि शाल्ति उपलब्ध हो नयेगी । उन्होंने कहा, “हम तो नेमिजी की शरण में जाते हैं । क्योंकि उन्हें छोडकर और कही इनाम मन भी तो नहीं लगता । वे ममा के पापों की ज्जन तो उपयम करने के लिए बादन के समान हैं । उनका विन्द भी नाग्न-नग्न है । इन्द्र, परागिन्द्र और चन्द्र भी उनका आन रहते हैं । उनको मुत्र मिलता है और दुख दूर हो जाता है ।” यहा बादन ने भग्ने वाली मोनलता परम शाल्ति ही है । शाल्ति को ही मुच कहते हैं और वह

१. भूषरदाम, जैनशनक, कलकत्ता, ३५वा पद, पृष्ठ ११ ।

२. “दृष्टि घटी पलटी तन की छवि बर भई गति लख गई है ।
हस्त रही पगनी घरनी अति रक भयो परियक लई है ॥
कापन नार बहे मुय लार महामति लगनि छारि गई है ।
अग उपग पुगने परे तिमना डर और नवीन भई है ॥

—जैनशतक, कलकत्ता, ३८वा सर्वथा, पृष्ठ १२ ।

३. यही, ३९ वा पद, पृष्ठ ११ ।

४. “अत्र हम नेमि जी की शरण ।

और डोर न मन लगन है, जडि प्रभु के शरण ॥॥

मकन भनि-अध-बहन बारिद, विरद तारन-तरन ।

इन्द्र चन्द फनिन्द ध्यावे, पाप सुख दुख हरन ॥२॥

—धानत-पद सग्रह, कलकत्ता, पहला पद, पृष्ठ १ ।



भगवान् नेमिनाथ के सेवकों को प्राप्त होती है। छानतगय की दृष्टि में भी गगन्द्वेप ही अग्रान्ति है और उनके भिट जाने से ही 'जियग सुय पार्यगा', अर्थात् उगरी शान्ति मिलेगी। अग्रहन्त का स्मरण करने में गगन्द्वेप विलीन हो जाते हैं, अतः उनका स्मरण ही सर्वोत्तम है। छानतगय भी अपने वाक्यें मन को सम्मान करने हुए कहते हैं, ह वाक्यें मन। अग्रहन्त का स्मरण कर। शान्ति, लाभ और पूजा को छोड़कर अपने अन्तर में प्रभु की ली लगा। तू नर-भय प्राप्त करके भी उसे ध्येय में ही रो रहा है और विषय-भोगों को प्रणवा दे-देकर बड़ा रहा है। प्राणों के जाने पर है मनवा। तू पछतायेगा। तेरी आयु धन-क्षण कम हो रही है। युवती के शरीर, मन, सुत, मित्र, परिजन, गज, तुरग और य में तेरा जो चाव है, वह ठीक नहीं है। ये साक्षात्क पदार्थ स्वयं की माया की भाँति हैं, और आग मीचते-मीचते समाप्त हो जाते हैं। अभी समय है, तू भगवान् का ध्यान कर ले और मगन-मीन गा ले। और अधिा कहा तब कहा जाये फिर उपाय करने पर भी नख नहीं मकेगा।"

मुनलध्यान में निरत तीर्थंकर शान्ति के प्रतीक होते हैं। उनमें ने गभी प्रसार की वैचनिया निबल चुकी होती है। उन्हें जन्म में ही पूवसंस्कार के रूप में बीनगगता मिलती है। उगी रर में वे पलने, बढने, भोग-भोगों और दीक्षा लेते हैं। कभी विलामों में तेरते-उनगते, यभी गज्यों का मचानन करते और कभी शत्रुआ को पराजित करते, किन्तु वह स्वर मर्दव पयन की भाँति प्राणों में भिदा रहता। अग्रग पाते ही वह उन्हें वन-पय पर ले छोड़ता। बिन्नाये स्वत पीछे रह जाती। बीतगगता मुनलध्यान के रूप में पूरा उठती। नागिना के अग्र भाग पर टिकी दृष्टि 'चिन्ताभिनेध' को स्पष्ट कहती। वह पुराग्रता की वान कहती ही रहती। और फिर सुय पर आनन्द का अनवान प्रताप टिटन उठता। अनुभव रर अपनी परमावरण में प्रगट हो जाता। उसकी शक्त में तीर्थंकर का मोन्दर्य शलीरिण रूप को जन्म देता, जिसे देय इन्द्र, सूर्य और चन्द्र जंगे रूपवन्तो ग गव विगनित हो बह जाता। यह गन है कि उन परमदानि का अनुभव करते तीर्थंकर के दशन से 'अशुभ' नामधारी कोई कम टिर नहीं मरना वा। फिर यदि उनसे स्मरण में अनहद बाजा बज उठना हो तो गलत क्या है। जगगम ने तिया है—

"निरति मन मूर्ति कंती राजें ।
तीर्थंकर यह ध्यान करत हैं, परमात्म पद काजें ॥
नासा अग्र दृष्टि की धारें, मुन मुलकित मानीं गाजें ।
अनुभी रस भलकत मानी, ऐसा आसन शुद्ध विराजें ॥
अद्भुत रूप अन्धम महिमा, तीन लोक में छानें ।
जाकी छवि देखत इन्द्रादिक, चन्द्र सूर्य गण लाजें ॥
घरि अनुराग विलोकित जाकों, अशुभ कर्म तजि आगें ।
जो जगराम वन सुमरन ती, अनहद बाजा बाजें ॥"

१ अग्रहन्त सुमर मन बावरे ।

ध्याति लाभ पूजा तजि भाई, अन्तर प्रभु ली लावरे ॥६॥

नर भव पाय अफारथ खोवें, विषय-भोग जु बढावरे ।

प्राण गये पछित है मनवा, छिन-छिन छीज आवरे ॥२॥

युवती तन धन सुत मित परिजन, गज तुरग रथ चावरे ।

यह ससार सुपन की माया, आस भौंच दिताराव रे ॥३॥

ध्याय-ध्याय रे अब है दाव रे, नाहीं मगल गाव रे ।

छानत बहुत कहा ली कहिये, फेर न कछु उपाय रे ॥४॥

—छानतपदसग्रह, ७०वा पद, पृष्ठ २६-३० ।

२ पदसग्रह रा० ४६२, पत्र ७६, बघीचन्दजी का मन्दिर, जयपुर ।

मना के दुःखों में अन्त यह जैन शान्ति चाहता है। यहाँ शान्ति का अर्थ शाश्वत शान्ति है। अर्थात् केवल श्री निर्बन्धना दोनों ही में उसे शान्ति नहीं मिलती। अथवा वह मानासिक वैभवों में उत्पन्न सुख-विलास को शान्ति नहीं मानता। गा चारों मय्यनि में मय्यन्धित हो या पुत्र-पौत्रादिक में, सदैव दाहताही ही होता है। भवमल और कमन्दाव के गहो प पडे लोगो को भी वैभवों में तडफते देना गया है। दूसरी ओर गरीबी को नागिन जैसी जहगीली होती ही है। पुत्र-दान की यह पद्धति "कृत् न सुख ममत्वं मे स्व जा देसो छान" देश-काल में परे एक चिन्तन तथ्य है। इहलौकिक प्राप्तिना में मत्तप यह जीव भगवान की मार्ग में पहुँचना है और जो शान्ति मिलती है, वह मानो सुखाचा का बमना ही है, चिन्तामयिन्ना और नवनिधि का प्राप्त करना ही है। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे आगे भवमल गया हुआ है। उसकी अग्निपापों पूर्ण हो जाती हैं। अग्निपापों के पूर्ण होने का अर्थ है कि मानासिक रोग और मन्ताय नदा-मदा के लिए उपशम हो जाने है। फिर वह जिस सुख का अनुभव करता है वह कभी क्षीण नहीं होता और उसमें अनुमृद शान्ति भी कभी घटती-बढ़ती नहीं। कवि कुमुदचन्द्र की यह विनयी शान्त्यन्त की प्रतीक है—

“प्रभु पाप लागो कहे सेव पागी,
सुन सुन तो भरज श्री जिनराज हमारी।
घणों फट करि देव जिनराज पाम्पी,
हूँ नर ननारनों दुख वाम्पी।
जय श्री जिनराजनों रूप दरम्पी,
जब तोचना सुप सुधाधार बरस्पी ॥
नह्या ग्तनछिन्ना नवनिधि पाई,
मानों प्राणों फलपनर आजि आयो।
मनबाछित दान जिनराज पायो,
गयो रोग सताप मोहि सख त्यागो ॥”

ममत्वं की परिवर्तनशील दशा के अन्त में जैन कवि अनुपम हैं। परिवर्तनशीलता का अर्थ है—अग्निकता, विनष्टता। ममा का यह स्वभाव है। अत यदि यहाँ मयो मिलने पर कोई आनन्द-मग्न और विषोग होने पर दुःख-मनन होना है तो वह अज्ञानी है। यहाँ तो जन्म-मरणा, मय्यनि-विपनि, सुख-दुख चिन्महत्त्व है। ममा में यह जीव नाना प्रकार में विविध अवस्थाओं को भोगता हुआ चक्कर लगाता है। वह नट की भाँति नाना रूप और रूप धारण कर नृत्य करता है। नृत्य करने की बात मृगदान में भी, 'अय मे नाचो बहूनु गुमान', शीर्षक पद में भली-भाँति स्पष्ट की है। यहाँ नृत्य का अर्थ है कि जीव का ममा के चक्कर में फसना और तज्जन्य सुख-दुःख भोगना। वह जब तक आवागमन के चक्कर में फसा है, उसे नाचना पड़ेगा। यदि वह हृष और शोक को ममान ममम्भक सहज रूप में उसमें उदासीन हो जावे तो वह जानी रहता है और शान्ति का अनुभव करे। गीता का यह वाक्य 'सुखदुःखे ममे वृत्ता' जैनशासन में पूर्ण रूप में प्रतिष्ठित है। कवि त्रिभुवनचन्द्र (१७वीं शताब्दी) ने उसका सुन्दर निरूपण किया है—

जहा है मयोग सहा होन है विषोग सहो,
जहा है जन्म बहा मरण की बान है।
मय्यनि विपनि दोऊ एक ही भवनदामी,
जहा बस सुप बहा दुप को विलास है ॥
जगन में बाग-बार फिर, नाना परकार,
करम अवस्था झूठी थिरता की आस है।
नट बंसे नेप और रूप होहि बान
हरय न सोग ग्याता सहज उदास है ॥”

१. देमिए गुटका न० १३१, लेखनकाल वि० स० १७७६, मन्दिर गेलियाँ, जयपुर।

२. अग्निधपचाशन (पाण्डुलिपि), लेखनकाल वि० स० १६५२, गुटका न० ३५, लूणकर जी का मन्दिर, जयपुर





ससार में आनेवाला यह जीव एक महर्षि तत्त्व से समन्वित है। वह है उसका निजी चेतन। उसमें परमात्म-शक्ति होती है। वह अपने आत्म-प्रकाश से सदैव प्रदीप्त रहता है। किन्तु यह जीव उसे भूल जाता है। इसी कारण उसे ससार में नृत्य करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। और इस प्रकार भव-चन में 'भरमते-भरमते' उसे अनादिकाल बीत जाता है। उसे सम्बोधन कर पाण्डे रूपचन्द्र ने लिखा है—अहो जगत के राग। तुम क्षणिक इन्द्रिय-सुख में लगे हो, विषयो में लुभा रहे हो। तुम्हारी तृष्णा कभी बुझती नहीं। विषयो का जितना अधिक सेवन करते हो, तृष्णा उतनी ही बढ़ती जाती है, जैसे खारा जल पीने से प्यास और तीव्र हो जाती है। तुम व्यर्थ ही इन दुःखों को भेल रहे हो। अपने घर को क्यों नहीं सम्भालते? अर्थात् तुम्हारा घर शिवपुर है। तुम शिवरूप ही हो। तुम अपना घर भूल गये हो। तुम इस ससार के मालिक हो। चेतन को यदि यह स्मरण हो जाये कि वह स्वयं भगवान् है तो समार के सभी दुःख स्वयं उपशम हो जायें—जहाँ-के-तहाँ पड़े रहें। ससार में जन्म लेने के साथ ही यह जीव विस्मरणशील मनोवेग साथ लाता है। कस्तूरीमृग को यह विदित नहीं रहता कि वह सुगन्धि उमड़ी नाभि में मौजूद है, जिसके लिए वह भटकता फिरता है। मन्दिर, मस्जिद और कावे में परमात्मा को ढूँढनेवाला यह जीव नहीं जानता कि वह तो उसके भीतर ही रहता है। इसलिए जीव अज्ञानी कहलाता है। इसीलिए वह सांसारिक आशुलताओं में व्याकुल बना रहता है। उसकी धानि का सबसे बड़ा उपाय है कि वह अपने को पहचाने। पाण्डे रूपचन्द्र ने लिखा है—

अपने पद न विचारि के, अहो जगत के राग।
भव चन छाया हो रहे, शिवपुर सुधि विसराय ॥
भव-भव भरमत ही तुम्हें, बीतो काल अनादि।
अब किन घरों में सवारई, कत दुख देखत यादि ॥
परम अतीन्द्रिय सुख सुनो, तुमों गयो सुलभाय।
किंचित् इन्द्रिय सुख लगे, विषयन रहे सुभाय ॥
विषयन सेवते भये, तृष्णा तें न बुझाय।
ज्यों जल खारा पीवते, गाढ़े तृष्णाधिकाय ॥

श्री सुमित्रानन्दन पत ने 'परिवर्तन' में लिखा है, "भू-द्वी नयन मूल्य की रात, खोलती नवजीवन की प्रात, शिथिल की प्रलयकर बात, बीज बोती अज्ञात ॥" उनका तात्पर्य है कि भीत में जन्म और जन्म में भीत छिपी है। यह ससार अस्थिर है। जीवन अमर नहीं है। समार के सुख चिरन्तन नहीं हैं। श्री पतजी की कविता का यह स्वर जैन 'टोन' है। यदि यह कहा जाये कि पतजी की अन्य कविताओं का आध्यात्मिक स्वर जैन परम्परा में बूबहू मिलता-जुलता है, तो अत्युक्ति न होगी। जैन सांस्कृतिक परिप्रक्ष्य में उन मक्का अध्ययन होना आवश्यक है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ (१७०५) में एक जैन कवि ५० मनोहरदास हुए हैं। भावधारा की दृष्टि से उन्हें श्री पतजी का पूर्ण मस्करण ही कहा जा सकता है। उन्होंने एक जगह लिखा है, 'हे लाल। दिन-दिन आव घटती है, जैसे अजली का जल घाने-अने रिसकर नितान्त बू जाता है। ससार की कोई वस्तु स्थिर नहीं है इसे मन में अली-भाति समझ ले। तूने अपना बालपन खेल में खो दिया। जबानी मस्ती में बिता दी। इतने राग-रगो में मस्त रहा कि वृद्धावस्था में शक्ति विलकुल क्षीण हो गई। यदि तूने यह सोचा था कि वृद्ध होने पर जप-तप कर लूँगा, तो वह तेरा अनुमान अमत्य की छाया हो था। तू ससार के उन पदार्थों में तल्लीन है, जिनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। वे मेमर के पून की तरह फूटते हैं। प्रात के ओसकणों की भाँति क्षीघ्र ही विलुप्त हो जायेंगे।" वे पक्तियाँ हैं—

दिन-दिन आव घटे है रे लाल,
ज्यों अजली की नीर मन माहि ला रे।
कीयो जाय ठोकर लं रे लाल,
चिरता नहीं ससार मन माहि ला रे ॥



'भैया' भगवतीदास ने 'ब्रह्मविलास' में भगवद्नाम की महिमा का नाना प्रकार से चित्रण किया है। उनकी मान्यता है कि "भगवान का नाम तत्पद, कामधेनु, चिन्तामणि और पापम के समान है। उसमें हम जीव की इच्छाएँ भरती हैं, कामनाएँ पूर्ण होती हैं। चिन्ता दूर हो जाती है और दाग्निष्प दूर जाता है। नाम एक प्रसादा का अमृत है, जिसके पीने से जरा रोग नष्ट हो जाता है। अर्थात् मृत्यु की आशंका नहीं रह पाती। यह जीव मृत में अमृत की ओर बढ़ जाता है। मीन का भय ही दूर है। उसके दूर होने पर मृत्यु स्वाभाविक हो जाता है। ऐसा मृत्यु जो दीर्घ नहीं होता। इसे ही शाश्वत आनन्द कहते हैं। किन्तु धीतराग का नाम का ही ने मक्का है जो स्वयं धीतरागता की ओर बढ़ रहा है।' ऐसी बातें तुलसी ने 'ज्ञान-भक्ति-विवेचन' में भी लगायी हैं। उनकी दृष्टि में हर कोई भगवान का नाम नहीं ले सकता। पहले उसमें नाम लेने की पायता चाहिए। इनका अर्थ यह भी है कि पहले मन का भगवान की ओर उन्मुख होना आवश्यक है। ऐसा हुए बिना नाम लेने की बात नहीं उठती। उसके लिए एक जैन पाणिनिपुत्र शब्द है 'भव्य'। उसका तात्पर्य है—भवसागर से तटने की तरफ। जिनमें वह नहीं हम पर भगवान की कृपा नहीं होती। भव्य-व उपार्जित करता अनिवार्य है। यदि भगवान के नाम को कोई भव्यजीव लेता है तो उसके भवसागर तटने में कोई बाधा नहीं रहती। इस भव्यत्व को वैष्णव और जैन दोनों ही ऋषियों ने स्वीकार किया है।

भारतीय भक्ति परम्परा की एक प्रवृत्ति रही है कि अपने आराध्य की महत्ता दिवाने के लिए अन्य देवों को छोटा दिवाया जाये। तुलसी ने राम और गुरु के कृष्ण की ब्रह्मा, शिव, गंगा, स्यन्दन आदि सभी देव आराधना करने हैं। तुलसी ने यहाँ तक लिखा कि जो स्वयं भोग मारने हैं वे भक्तों की मातामनाओं को बने पूरा करने। गुरुदास ने अन्य देवों से भिक्षा मागने को गंगा का व्यर्थ प्रयास कहा है। तुलसी का रचन है कि अन्य देव माया में विभक्त हैं। उनकी शरण में जाना व्यर्थ है। तुलसी की दृष्टि में राम ही शील, शक्ति और नीन्द्य के सार्वभौमिक हैं। कृष्ण भी बैसे नहीं हो सकते। गुरु का मधुवा 'भ्रमर गीत' निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप में ही गंगा-मा प्रतीत होता है। जैन ऋषियों ने भी सिवा जिनैन्द्र के अन्य किसी को आराध्य नहीं माना। मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन हिन्दी भक्ति साहित्य और पवि' में भक्ति-धारा की इस प्रवृत्ति का समर्थन किया है। मेरा तर्क है कि भक्त ऋषियों ने यह काम आराध्य में एवनिष्ठ भाव जगाने के लिए ही किया होगा। किन्तु माय ही मैंने यह भी स्वीकार किया है कि हम 'एवनिष्ठता' की दृष्टि में वैष्णव और जैन दोनों ही कड़ाहट नहीं रोक सके। दोनों ने शालीनता का उत्प्रेषण किया। फिर भी प्रपेक्षाकृत जैन पवि प्रभिर उदार

- १ "तेरो नाम कल्पवृक्ष इच्छा को न राखे उर,
तेरो नाम कामधेनु कामना हरत है।
तेरो नाम चिन्तामन चिन्ता को न राखे पास,
तेरो नाम पारस सो दारिद डरत है॥
तेरो नाम अमृत पिये तँ जरा रोग जाय,
तेरो नाम सुखमूल दुख को बरत है।
तेरो नाम धीतराग धरँ उर धीतरागो,
भव्य तोहि पाय भवसागर तरत हैं॥

—सुषय कुपय पञ्चोक्तिका, ब्रह्मविलास, भैया भगवतीदास, पृ० १८०।

- २ "भाव सहित खोजइ जो प्राणी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥"

—देखिए रामचरितमानस, ज्ञानभक्ति विवेचन।

- ३ "जाचक पं जाचक कह जाचँ। जो जाचँ तो रसना हारी॥"

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, ३४वाँ पद, पृ० ३०।

- ४ "देव अनुज मुनि नाग अनुज सब माया-विषया विचारे।

तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अप्रुनपी हारे॥"

—विनय-पत्रिका, पूर्वार्ध, १०१ वाँ पद, पृ० १२२।

नहे । उनमें अनेक ने तो पूर्ण उदात्ता बरती । यह इतिहासप्रसिद्ध बात है कि प्रभानपहन के सोमनाथ के मन्दिर के उद्धार में मन्नाट कुमाग्याल को आचार्य हेमचन्द्र ने पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त था । हेमचन्द्र ने बिना तरनमाश के उस देव को नमस्कार किया, जिनके नागादिक दोष छय को प्राप्त हो गये हों, फिर वह देव ब्रह्मा विष्णु, हर या जिन कोई भी हो । उनका रहना है—

“भवदीजाकुरजनना गगाद्या क्षयमुपागता यन्म ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमन्तस्म ॥
यत्र तत्र नमये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यथा तथा ।
वीनदोषकनुष स चेद्भुवानेक एव भगवन्भोस्तु ते ॥”

उनी भक्ति एक अन्य जैन भक्त कवि देवी पद्मावती की आत्मा करने को उद्यत हुआ तो अन्य देवियों की निन्दा न करता । उनमें कहा कि देवी पद्मावती ही मुगतागम में नाग, दैवागम में गौरी, कौलिकगामन में बज्रा और गान्ध्यागम में प्रवृत्ति पहचानी है । उनमें कोई अन्तर नहीं है । कोई ओटी-बटी नहीं है । कोई महान लघु नहीं है । सब समान है । उनकी शक्तिया समान हैं । उन का भावनी में नमन् विष्ट प्राप्त है । ऐसा आशय ही मन्वा भक्त है । जिनमें दूमरा के प्रति निन्दा और ग्लानि का भाव आ गया, वह नास्तिकता की वान नहीं कर सकता । उनका भाव दूषित है । जिनमें भक्ति के क्षेत्र में भी पार्टीजन्दी की वान की वह भक्त नहीं होना चाहते कुछ हो । ऐसा व्यक्ति शान्ति का हामी नहीं हो सकता । उनका गम छय होगा और आधना निष्फल । वीनगणियों की भक्ति पूर्ण रूप से अहिंसक होनी चाहिए थी, यदि नहीं हुई तो वह भक्त के भावों की विवृति ही माननी पड़ेगी । किन्तु इन क्षेत्र में बहुत हद तक अहिंसा को प्रथम मिला, वह निष्ठा नहीं है । उपर्युक्त स्तोत्र है—

“तारा त्व मुगतागमे, भगवती गौरीनि शंवागमे ।
बज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्मावती विभ्रुता ॥
गायत्री श्रुतिगालिनी प्रकृतिरित्युक्तासि साध्यागमे ।
मानभारनि कि प्रभूत भणिर्न, व्याप्त समस्त त्वया ॥”

यह पावनता जैन हिन्दी कवियों में भी पनपी । उनके काव्य में अपने आगन्ध की महत्ता है । अन्य देवों की बुगई भी । किन्तु अनेक न्यय तर्गतमान में ठप्प उठे हैं, या उन्हें बचाने निरन्त गये हैं । महात्मा आनन्दधन का ब्रह्म अस्पष्ट गन्य था । अस्पष्ट मत्प वह है जो अविशेषी हो, अर्थात् उनमें किसी भी दृष्टि में विरोध की सम्भावना न हो । कोई धर्म या आदर्श, जिनका हमने धर्मों में विशेष हो, अपने को अस्पष्ट गन्य नहीं कह सकते । वे खण्डरूप से मत्प हो सकते हैं । आनन्दधन का ब्रह्म राम, श्रीम, महादेव, ब्रह्मा और पारमनाथ मन कुछ था । उनमें आपस में कोई विरोध नहीं था । वे सब एक थे । न उनमें तर्गतमाश का और न उनके रूप में भेद था । महात्माजी का कथन था कि जिस प्रकार निद्रा एक होकर भी पात्र-भेद में अनेक नामों में पुकारी जानी है, उसी प्रकार एक अखण्ड रूप आत्मा में विभिन्न वस्त्रनाओं के कारण अनेक नामों की कल्पना करनी जानी है । उसी दृष्टि में निज पद में रमने वाला राम है, रहम करने वाला ह्मान है, कर्मों का रूप में रमने वाला कृष्ण है, निर्वाण पाने वाला महादेव है, अपने रूप का स्पर्श करने वाला पारम है, ब्रह्म की पहचानने वाला ब्राह्म है । वे इन जीव के निष्कर्म जवन को ब्रह्म कहते हैं । उनका कथन है—

१ आचार्य हेमचन्द्र का श्लोक, देखिए मेरा ग्रन्थ ‘हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि’, पहला अध्याय, पृ० १२ ।

२ पद्मावती स्तोत्र, २०वां श्लोक, नैरव पद्मावती कल्प, अहमदाबाद, परिशिष्ट ५, पृ० २८ ।





“राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कही महादेव री ।
 पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ॥
 भाजन भेद कहायत नाना, एक मृत्तिका रूप री ।
 तैसे सण्ड कल्पना रोपित, आप अण्ड स्वरूप री ॥
 निज पद रमै राम सो कहिए, रहिम करे रहमान री ।
 कयै करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री ॥
 परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्ह सो ब्रह्म री ।
 ग्रह विधि साधो आनन्दधन, चेतनमय निष्कर्म री ॥”

इस प्रकार की उदार परम्पराओं में जैन ग्रन्थों में शान्ताभक्ति के रूप को आनीतिता के साथ पुष्ट किया था । इसी शान्ति में माया की बात भी का जाती है । गाय, मोह और जीवन पर्यायवाची हैं । मन्त्र, वैष्णव और जैन तीनों ही कवियों ने शान्ति के लिए उसके निरमन को अनिवार्य माना । वह भ्रान्त की प्रतीक है । उसके कारण ही यह जीव ससार के आवागमन में फँसा रहता है । यदि वह हट जाय तो ममस्व त्रिव्य ब्रह्मरूप प्रतिभासित हो उठे । यह दो प्रकार से हट सकती है—ज्ञान से और भक्ति से । सांख्यकारिका में एक अत्यधिक मनोरञ्जक दृष्टान्त आया है । प्रकृति मुन्दरी है और पुरुष को लुभाने में निपुण है, किन्तु जब पुरुष उसे ठीक से पहचान जाता है, तो वह सज्जा से अपना बदन ढँक दूर हो जाती है । ठीक से पहचानने का अर्थ है कि जब पुरुष को ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह प्रकृति के मूल रूप को समझ जाता है तो वह (प्रकृति=माया) पलायन कर जाती है ।^१ जैन गिदान्त में ज्ञान ही आत्मा है । यही आत्मा का अर्थ है विशुद्ध आत्मा । अर्थात् जब जीवात्मा में विशुद्धता आ जाती है तो मोह स्वन ही हटता जाता है । जैन आचार्यों ने आठ कर्मों में मोहनीय को प्रबलतम माना है । ‘स्व’ को सही रूप में पहचानने में वह ही सबसे बड़ा बाधा है । उसकी जड़ को निर्मूल करने में ज्ञानी आत्मा ही समर्थ है । बनारसीदास का कथन है, “माया बेली जेनी तेनी रेतें में धारेती सेवी, फदा ही को कदा सोदे सेती को सो जोधा है ।”^२ सांख्य-कीर्त्तनी बात भैष्या भगवतीदास ने ‘ब्रह्म विलास’ में कही है । उन्होंने लिखा कि कायारूपी नगरी में चिदानन्द स्त्री राजा राज्य करता है । वह मायारूपी रानी में मग्न रहता है । जब उसका सत्यार्थ की ओर ध्यान गया, तो ज्ञान उपलब्ध हो गया और माया की विभोक्ता दूर हो गई, “काया सी जु नगरी में चिदानन्द राज करे, माया-सी जु रानी में मग्न बहु भयी है । ऐसी राजधानी में अपन गुण भूति रह्यो, सुधि जब आई तब ज्ञान आप गह्यो है ।”^३ कबीरदास ने भी जब उसका भेद पा लिया तो वह बाहर जा पड़ी । उनका भेद पाना ज्ञान प्राप्त करना ही है । ज्ञान के बिना माया मजबूत चिपकन के साथ समानी जीव को पकड़े रहती है ।

१. महात्मा आनन्दधन, आनन्दधनपदसंग्रह, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, ६७वा पद ।

२. प्रकृते सुकुमारतर न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।

या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥”

—सांख्यकारिका, चौलव्या सस्कृत सौरीज, प्रथम सस्करण, वि० सं० १९६७, ६१वा श्लोक ।

३. नाटक समयसार, मोक्षद्वार, तीसरा पद्य ।

४. शत श्रुत्योत्तरी, २८वा सर्वथा, ब्रह्मविलास, पृष्ठ १४ ।

तुलसीदास ने भक्ति के बिना माया का दूर होना अनम्भव माना है। इस सम्बन्ध में रघुपति की दया ही मुख्य है। वह भक्ति ने प्राप्त होती है। तुलसी ने विनयपत्रिका में लिखा, “माधव अस तुम्हारि यह माया, करि उपाय पवि मरिय तरिय नहि, जब लगि कहु न दाया।”^१ जैनकवि भूषरदास ने मोहपियाच को नष्ट करने के लिए ‘भगवन्त-भजन’ पर बल दिया। उसको भूलने पर तो मोह ने कोई छुटकारा नहीं पा सकना। उन्होंने लिखा है, “मोह पियाच छल्यो मति मारै, निज कर कब बमूला रे। नज श्री राजमतीवर बूबर, दो दुरमति निर घूला रे ॥ भगवन्त भजन क्यों भूला रे ॥”^२ कबीर की दृष्टि में माया ने छुटकारा प्राप्त करने के लिए मतगुरु की कृपा आवश्यक है। कबीर ने सतगुरु की गोविन्द ने बड़ा माना है। उनका कथन है कि यदि गुरु की कृपा न होनी तो वह इस जीव को नष्ट कर डालती, क्योंकि वह भीठी मक्कर की भाँति घोरनी होती है।^३ जायसी ने भी माया का लोप करने के लिए मतगुरु की कृपा को महत्त्वपूर्ण समझा था। उन्होंने लिखा कि जब तक कोई गुरु को नहीं पहचानता उसके और परमात्मा के मध्य अन्तराल बना ही रहता है। जब पहचान नेता है तो जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं। उनका मध्यान्तर मिट जाना है। जायसी की मान्यता है कि यह अन्तर माया-जन्य ही है।^४ नैया भगवतीदास को पूरा विश्वास है कि मतगुरु के वचनों से मोह विलीन हो जाना है और आत्मरत्न प्राप्त होता है।^५ कवि बनारसीदास ने गुरु को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। मोह-जन्य वैचैनी दूर होने का एकमात्र उपाय गुरु का उपदेश है। यदि आत्मा ‘अलख अखय निवि’ लूटना चाहती है तो उसे गुरु की मद्भाषी ने लानान्वित होना ही चाहिए। उनका कथन है, “गुरु उपदेश सहज उदयागति, मोह विकलता छूटै। कहते बनारसी हूँ कश्नारनि अलख अखयनिवि लूटै ॥”^६ इस घट में नुवा-नरोवर मरा है, जिससे सब कुछ विलीन हो जाते हैं। उन सरोवर का पना लगना आवश्यक है। वह मतगुरु ने लग सकता है। मतगुरु भक्ति से प्रसन्न होते हैं। उन पर मन केन्द्रित करना पड़ता है। कवि विनयविजय ने लिखा है—

“नुवा सरोवर है या घट में, जिसमें सब कुछ जाय।

विनय कहे गुरुदेव दिलावे, जो लाऊँ दिस ठाय ॥

प्यारे काहे कूँ ललचाय ॥”^७

आत्मरत्न ही नञ्ची आत्मा है। वही अलख अखयनिवि है। वह अनुभूति के बिना नहीं होता। ब्रह्म की, भगवान की या परमात्मा की अनुभूति ही आत्मरत्न है। अनुभूति के बिना लाखों-करोड़ों भवों में जप-तप भी निरर्थक है। एक स्वाम की अनुभूति जितना काम करती है, भव-भव की तपस्या और साधना नहीं। शानतराय ने लिखा है, “लाख कोटि नव तपस्या करतैं, जे तो कर्म तेरो जर रै। स्वाम उस्वाम माहि सो नासैं जब अनुभव चित धर रै ॥”^८

१ विनयपत्रिका, पूर्वार्ध, ११६ वाँ पद।

२ भूषर विलास, कलकत्ता, १६ वाँ पद, पृ० ११।

३ “कबीर माया मोहनी, जैसी भीठी खाड़।

सतगुरु की कृपा नई, नहीं तो करतो नाइ ॥”

माया की श्रम, ७वीं साक्षी, कबीर ग्रन्थावली, काशी, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३३।

४. “जब लगि गुरु की अहा न चीन्हा। कोटि अन्तरपट बीचहि चीन्हा ॥

जब चीन्हा तब और न कोई। तन मन जिठ जीवन सब सोई ॥”

—देखिए जायसी कृत पद्यावत।

५ ‘सतगुरु वचन धारिले अबके, जातें मोह दिलाय।

तब प्रगटै आत्मरत्न नैया, सो निश्चय ठहराय ॥”

नैया भगवतीदास, परमार्थ पदपत्रित, २५ वाँ पद, अष्टविलास, पृ० ११८।

६ बनारसीदास, अष्टपदी भट्टार, ८ वाँ पद्य, बनारसीविलास, जयपुर, पृ० २३६।

७ विनयविजय, ‘प्यारे काहे कूँ ललचाय’ शीर्षक पर, अध्यात्म पदावली, काशी, पृ० २२८।

८ शानतपद संग्रह, कलकत्ता, पद ७३ वाँ, पृ० ३१।



बनारसीदास ने अनुभूति का अनुभव कहा है। उसका आनन्द वागधेनु, चित्रावेलि के समान है। उसका स्वाद पचामृत भोजन जैसा है। कवि रूपचन्द्र ने 'अध्यात्म सर्वैया' में स्वीकार किया है, "आत्म-ग्रह की अनुभूति से यह चेतन दिव्य प्रकाश से युक्त हो जाता है। उसमें अनन्त गान प्रगट होता है और यह अपने आप में ही लीन होकर परमानन्द का अनुभव करता है।"¹ आत्मा के अनुपरस का सवेदन करने वाले अनाकुलता प्राप्त करते हैं। आकुलता बेचैनी है। जिसमें बेचैनी दूर हो जाय, वह रस अनुपम ही कहा जायेगा। यह रस अनुभूति में प्राप्त होता है, तो अनुभूति करने वाला जीव शाश्वत सुख को विलसने में समर्थ हो जाता है। प० दीपनन्द शाह ने ज्ञानवर्षण में लिखा है, "अनुभी विलास में अनन्त सुख पाइयतु। भव की विकारता भी भई है उधेदना ॥" उन्होंने एक दूगरे स्थान पर लिखा, "अनुभी उल्हाम में अनन्तरस पायो महा ॥" यह अलण्ड रस चीर कुछ नहीं गाथातु ग्रह ही है। अनुभूति की तीव्रता इस जीव को ग्रह ही बना देती है। आत्मा परमात्मा हो जाती है। अनुभव से ससार का आवागमन मिटना है। यदि अनुभव न जगा तो, "जगत की जेती विद्या भासी कर रेखावत, फोटिक जुगातर जो महातप कीने है ॥२ अनुभी अग्रण्डग्न उरमें न आयी जो ती, सिव-पद पावै नाहि पररस भीने हैं ॥"² किन्तु यह महत्त्वशाली तत्त्व भगवान की कृपा से ही प्राप्त हो सक्ता है। महात्मा आनन्दधन का कथन है, "मोको दे निज अनुभव स्वामी, निज अनुभूति नियास स्वधामी।"³ उम अनुभूति से जो सयुक्त है वही अनन्त गुणात्म धाम है। अनुभव रूप होने के कारण ही 'मगवान' नाम भी दुःख हरण करने वाला और प्रतिभव को दूर करने वाला है। महात्मा का कथन है कि प्रभु के समान और कोई नटवा नहीं है। उसमें-से हेयोपादेय प्रगट होते हैं। अनुभव रस का देने वाला द्रष्ट है, वह परम प्रकृष्ट और नग कटो से रहित है। उसकी अनुभूति ही चित्त की भ्रांति को हर सकनी है। वही सूर्य की किरण की भांति अज्ञान के तमस को नष्ट करती है। वह माया रूपी यामिनी को काट कर दिन के प्रकाश को जन्म देती है। वह मोहा सुर के लिए काल-रूपा है—

“या अनुभूति राघरी हरं चित्त की आनि ।
सा शुद्धा सुख भानु की किरण जु परम प्रशान्ति ॥
किरण जु परम प्रशान्ति तिमिर यवन जु को नासं ।
भाया यामिनी मेदि कोप दिवसं जु दिभासं ॥
मोहासुर क्षयकार ज्ञानमूला जु विभूती ।
भायै दोलति ताहि राघरी या अनुभूती ॥”⁴

जैनकवियों के प्रबन्ध और खण्डकाव्यों में 'शान्तरस' प्रमुख है। अन्य रसों का भी यथा-प्रसंग सुन्दर परिपाक हुआ है, किन्तु वे सब इसके सहायक-भर हैं। जिस प्रकार अवान्तर कथायें मुख्य कथा को परिपुष्ट करती हैं, उनी प्रकार अन्य रस प्रमुख रस को और अधिक प्रगाढ करते हैं। एक प्रबन्धकाव्य में मुख्य रस की जितनी महत्ता होती है, सहायक रसों की उससे कम नहीं। प० रामचन्द्र शुक्ल अवान्तर कथाओं को रस की पिचकारिया कहते थे, सहायक रस भी वैसे ही होते हैं। वे अवान्तर कथाओं और प्रासंगिक घटनाओं के संगठन में सन्निहित होते हैं और वहाँ ही काम करते हैं। एक महानन्द के जलप्रवाह में सहायक नदियों के जल का महत्त्वपूर्ण योगदान होना है, वैसे ही मुख्य रसों की गति भी

१ रूपचन्द्र, अध्यात्मसर्वैया, मन्विर पथीचन्द्र जी, जयपुर की हस्तलिखित प्रति।

२ दीपचन्द्र शाह, ज्ञानवर्षण, तीनों उद्धरण, क्रमशः पृष्ठ न० १८१, १७१, १२६, सकलित अध्यात्म पञ्चसग्रह, प० नाथूलाल जैन सम्पादित, तुकोगज, इन्दौर, वि० सं० २००५, पृ० ६१, ५६, ४४ क्रमशः।

३ महात्मा आनन्दधन, आनन्दधनपत्रसग्रह बम्बई, २१ वा पद।

४ प० दीलतराम, अध्यात्म वारहलक्ष्मी, वि० जैन पचायती मन्विर, बडोद, १९८८ वा पद।

अन्य रसों में परिपुष्ट होती हुई ही वेगवती बनती है। किन्तु इनका तात्पर्य यह नहीं है कि मुख्यरस केवल परिणति होता है, प्रारम्भ नहीं। यद्यपि प्रत्येक रस अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र और बलवान होता है किन्तु उनके अन्तरंग में मुख्यरस का स्वर-नदैव हल्के मिनार की भाँति प्रतिध्वनित होता ही रहता है। एक प्रबन्ध काव्य में घटनाएँ, कथाएँ तथा अन्य प्रसंग होते हैं, जिनमें मानव-जीवन के विविध पहलुओं की अभिव्यक्ति, रहती है। किन्तु, उनके जीवन में मुख्यरस एक प्राणत्व की भाँति निद्रा रहता है और उनमें मानव की मूल मनोवृत्तियों को खल खलने का पूरा अवसर मिलता है। मुख्यरस और मुख्य कथा भी होती है। दोनों में कोई विरोध नहीं होता। दोनों दूध-पानी की भाँति मिले रहते हैं। अतः जैन काव्यों के विषय में डॉ० शिवप्रसादसिंह का यह कथन, “जैनकाव्यों में शान्ति या शम की प्रशानता है अवश्य किन्तु वह प्रारम्भ नहीं परिणति है। सम्भवतः पूरे जीवन को शम या विरक्ति का क्षेत्र बना देना प्रकृति का विरोध है।” उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अन्य काव्यों की भाँति ही जैन काव्य है। इनमें भी एक मुख्यरस और अन्य-रस रहते हैं। केवल शम को मुख्यरस मान लेने में प्रकृति का विरोध है, गृहार या वीर को मानने से नहीं। यह एक विचित्र तर्क है, जिसका समाधान कठिन है।

जैन महाकाव्य शान्ति के प्रतीक हैं। किन्तु इनका तात्पर्य यह नहीं है कि मानव जीवन के अन्य पहलुओं को दबा दिया गया है या छोड़ दिया गया है और इन प्रकार बड़ा अस्वाभाविकता पनप उठी है। जहाँ तक जैन अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों का सम्बन्ध है, उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है—स्वयम्भू का ‘परमचरित’, पुष्पदन्त का ‘महा-पुगण’, वीर कवि का ‘जम्बूस्वामीचरित’ और हरिमल्ल का ‘शेमिगाहचरित’ पौराणिक शैली में तथा धनपाल धक्कड़ की ‘नवमयत्तकथा’, पुष्पदन्त का ‘शान्तुमारचरित’ और नयनदि का ‘मुदमणचरित’ रोमांचक शैली में लिखे गये हैं। हिन्दी के जैन प्रबन्ध काव्यों में पौराणिक और रोमांचक शैली का सम्बन्ध हुआ है। सवार का ‘प्रद्युम्नचरित्र’, ईश्वरसूरि का ‘नलिनाचरित्र’, ब्रह्मरायमल्ल का ‘सुदर्शनगम’, कवि परिमल्ल का ‘श्रीपालचरित्र’, मालकवि का ‘भोजप्रबन्ध’, लालचन्द्र लखोदय का ‘पद्मिनीचरित्र’, गमचन्द्र का ‘मोताचरित्र’ और भूधरदाम का ‘पाश्वर्पुगण’ ऐसे ही प्रबन्ध काव्य हैं।^१ इनमें ‘पद्मिनीचरित्र’ की जायसी के ‘पद्मावन’ में और ‘सीताचरित’ की तुलसी के ‘रामचरितमानस’ से तुलना की जा सकती है।^२ स्वयम्भू के ‘परमचरित’ की, महापण्डित राहुल साह्यायन ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। उनका पूरा विश्वास है कि तुलसी बाबा का रामचरितमानस, ‘पञ्चरिङ्ग’ में प्रभावित है।^३ पुष्पदन्त के महापुगण का श्री पी० एल० बेंद्य ने सम्पादन किया है। उनकी मान्यता है कि महाकाव्यों में वह एक उत्तमकोटि का ग्रन्थ है। ‘नवमयत्त कथा’ की खोज का श्रम जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० जैकोबी को है। उन्होंने अपनी भारत यात्रा के समय इन काव्यों को अहमदाबाद में सन् १९१८ में प्राप्त किया था। यह सत्रों पहले श्री नी० डी० दलाल और पी० डी० गुरे के सम्पादन में शास्त्रवाह ऑरियण्टल मीरिज बहादा से सन् १९२३ में प्रकाशित हुआ। जैकोबी ने भाषा की दृष्टि से और श्री दलाल ने काव्य की दृष्टि से इसे मधुचे मध्ययुगीन भारतीय साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृति कहा है। डा० विण्टरनिस्स ने लिखा है कि इसकी कथा में थोड़े से अचित्र कहने का गुण कूट-कूट कर मरा है। कार्यान्वित भी आदि से अन्त तक

१ डा० शिवप्रसादसिंह, विद्यापति, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९६१ ई०, पृ० ११०।

२ इन्फा विषय परिचय मेरे ग्रन्थ ‘हिन्दी जैनमन्त्रि काव्य और कवि’, अध्याय २ से प्राप्त किया जा सकता है।

३ पद्मिनीचरित्र और सीताचरित्र की हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख मेरे उपर्युक्त ग्रन्थ में पृष्ठ क्रमशः २२५ व २३१ पर हुआ है।

४ महापण्डित राहुल साह्यायन, हिन्दी काव्यधारा, प्रथम संस्करण, १८४५ ई०, किताब महल, इलाहाबाद, पृष्ठ ५२।





बराबर बनी हुई है।^१ 'णायकुमारचरित' की भूमिका में डॉ० हीरालाल जैन ने उसे उत्तमकोटि या प्रबन्धकाव्य प्रमाणित किया है।^२ मधुकर के 'प्रद्युम्नचरित्र' के प्रावचन में डॉ० भावाप्रसाद गुप्त ने उसे एक उज्ज्वल तथा मूल्यवान् रत्न माना है।^३ भूधरदाम के पार्श्वपुराण की प्रसिद्ध पं० नाथूराम प्रेमी ने भीलिका, मोन्दय तथा प्रसादगुण में युक्त कहा है।^४ लालचन्द्र लघोदय के पद्मिनीचरित्र और रायचन्द्र के गीताचरित्र की, पाण्डुनिषिषा के रूप में मीने पढ़ा है और मैं उन्हें इस युग के किमी प्रबन्धकाव्य में निम्नकोटि का नहीं मानता। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश और हिन्दी के नेमीनाथ तथा राजुल से सचनियत गण्यकाव्य हैं। उनका काव्य-सौन्दर्य अनूठा है। मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन हिन्दी भक्तिकाव्य और कवि' में यथा-स्थान उनका विवेचन किया है।

उन विविध काव्यों में युद्ध है, प्रेम है, भक्ति है, प्रकृति के मजीब और स्वाभाविक चित्र हैं। मवाद-मीष्टव की अनुपम छटा है। भाषा में लोच और भावों में अनुभूति की महार्द्ध है। यही छिछलापन नहीं, यही उदाम वामनाशों का नग्न नृत्य नहीं। केवल शान्तरम के प्रसुरम होने से क्या हुआ। प्रबन्धकाव्य में कोई-न-कोई रस तो मुख्य रस होगा ही। उसकी पृष्ठभूमि में समूचा मानव-जीवन गतिशील रहता है, यह प्रबन्ध काव्यों की भूतविधा के जानकारी से छिपा नहीं है। प्रबन्धकाव्य की कमीटी पर गये उतरते हुए भी शान्तरम का मुनिवर्त जैनकाव्यों की अपनी विशेषता है और वह धीतरागी परिप्रेक्ष्य में ही ठीक से समझी जा सकती है। ऐसा होने पर ही उसका आनन्द भी ठीक हो सकता है।



१ एम० विन्टरनित्स, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, १९३३ इ०, खंड २, पृष्ठ ५३२।

२ देखिए णायकुमारचरित, भूमिका भाग, डा० हीरालाल जैन लिखित।

३ सपाद, प्रद्युम्नचरित्र, पं० चेतमुखदास सपादित, महावीर भवन, सवाई भानसिंह हाईवे, जयपुर, प्रावचन, डा० साताप्रसाद गुप्त लिखित, पृ० ५।

४ पं० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, होराबाग, लम्बई, जनवरी १९१७, पृ० ५६।

आयुर्वेद को जैनाचार्यों की देन

राजकुमार गोयल,

रिसर्च स्कालर, जामनगर



भारतवर्ष के अधिष्ठाता धार्मिक साहित्य में भी आयुर्वेद का कुछ-कुछ उल्लेख अवश्य मिलता है। प्राचीन काल में ऋषियों ने जहाँ तात्त्विक जनना को आत्मा का उद्घाटन करने वाले भाषण दिए, वहाँ उन्होंने 'शरीरमाद्य सखु धर्म-साधनम्' को ध्यान में रखते हुए धर्मसाधन के मूल शरीर को स्वस्थ एवं आनुगवस्था में आरोग्य प्रदान करने के लिए सफल, स्वानुमूल नया प्रगल्भीकृत उपायों, प्रयोगों का मार्ग भी दर्शाया था।

आयुर्वेद कैसे उत्पन्न हुआ, यह कहना कठिन है, फिर भी हम श्लोक में—

त सौर्यनायमधिगम्य विनम्रमूर्च्छा,

सप्तप्रातिहार्यविभवादिपरीतमूर्तिम् ।

सप्रश्रया त्रिकरणोद्भूतप्रणामा,

पञ्चद्वारित्यमखिल भरतेद्वराद्या ॥

जो प्रमाण मिलता है, इससे यह निश्चित होता है कि जब मत्सर में तपश्चर्या, उपवास, अध्ययन, ब्रह्मचर्य, व्रत, प्रभृति उनमौलिक कार्यों में जीवन यापन करने वाले पुरुषों में भी नाना प्रकार के विघ्नों को पैदा करने वाले रोगों का मूलपात हुआ, तब भगवत् चक्रवर्ती आदि भव्यों ने भगवान् आदिनाथ की सेवा में जाकर मविनय वन्दना की और स्वास्थ्य-रक्षा के लिए योग्य उपाय पूछा। भगवान् ने जो उत्तर दिए वही में आयुर्वेद का आरम्भ हुआ।

जैनाचार्यों ने रोगाविष्टान दो बताये हैं—शरीर और मन। शरीर का रोगग्रस्त होना प्रत्यक्ष दिखाई देता है। मन का व्याधिग्रस्त होना लक्षणों के आधार पर अनुमान द्वारा निश्चित किया जाता है। जिन रोगों का प्रभाव प्रथम शरीर पर पड़ता है उन्हें शारीरिक और जिनका प्रथम मन पर प्रभाव पड़ता है उन्हें मानसिक रोग कहते हैं। शारीरिक रोग यथा—ज्वर, अनिद्रा, ग्रहाणा, अर्श, कास, श्वान, प्रमेह, कुष्ठ, शोथ, शोषादि। मानसिक रोग यथा—काम, श्रेय, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, शोक, भयादि। कुछ रोग ऐसे भी होते हैं जिनका अविष्टान दोनों—शरीर और मन होते हैं, जैसे—मूर्च्छा, उन्माद, अपम्यार आदि। जैनाचार्यों ने रोगों के चिकित्सार्थ जिन-जिन प्रयोगों को अपनाया और जिन-जिन औषधियों पर उन्हें सफलता प्राप्त हुई, उन्होंने उन औषधियों को जनकल्याणार्थ लिपिबद्ध किया। इस विषय में जैनाचार्यों (दिगम्बरो एवं श्वेताम्बरो) की महान् देन रही है।

महिता-ग्रन्थों में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है। जैन परम्परा में द्वादशांग शास्त्रों में दृष्टि-



वाद नाम का जो १२ वाँ अंग है, उसके ५ भेदों में से एक भेद पूर्वगत है। इसके भी चौदह विभाग हैं। इन विभागों में जो 'प्राणवाद' नामक पूर्वगत शास्त्र है, उसमें विस्तार के साथ अष्टांगायुर्वेद—(१) काय-चिकित्सा (२) शाल्यचिकित्सा (३) शालाक्यचिकित्सा (४) भूतविद्या (५) कौमार भृत्य (६) अगदतन्त्र (७) रसायनतन्त्र (८) बाजीकरण का कथन मिलता है, यही मूल आयुर्वेदशास्त्र अथवा मूलवेद है।

रोगशमन के लिए प्राचीन काल में तरह-तरह के होम यज्ञादि हुआ करते थे, रोगविशेषों में बलि का भी विधान था। किन्तु जैनाचार्यों ने 'अहिंसा परमो धर्म' को ध्यान में रखते हुए, अपने ग्रन्थों में औषधप्रयोग के सिवाय मद्य, मांस, मधु, यज्ञादि का उपयोग नहीं बताया जैसा कि कल्हड़-आपा के इस श्लोक में ज्ञात होता है —

सुकर तानेन पूज्यपाद मुनिगल् मुपेत्स्व कल्याणका-
रकम वाहट सिद्धसार चरकाष्टुष्टम सदगुणा-
धिकम वर्जित मद्यमांसमधुक कणादिकं लोकर-
क्षमा चित्रवदागे चित्रकवि सोम पेत्स्वर्नि ततितयि ॥

विपत्तिबाल में भी अहिंसा का इतना प्रबल उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलता। इसका मुख्य कारण यह है कि जैनाचार्य व्यक्तियों को पारमार्थिक स्वास्थ्य की ओर ले जाना चाहते थे जो अतीन्द्रिय मोक्ष सुख रूप है।

जैनाचार्यों ने जहाँ अष्टात्म, दर्शन, काव्य, न्याय, आदि विषयों पर अद्भुत प्रकाश डाला है, वहाँ उनसे ज्योतिष एव आयुर्वेद विषय भी अज्ञात नहीं रहा। उन्होंने आयुर्वेद पर सँकड़ों ग्रन्थ लिखे जिनमें से बहुत-से अब लुप्त-प्राय हैं। फिर भी अन्य ग्रन्थों में उनके उद्धरणों से उनके अस्तित्व का पता चलता है।

"वसवराजीय" एक सग्रह-ग्रन्थ में "सिन्धूरदर्पण तद्वत्पूज्यपादोयमेव च" इत्यादि रूप से उल्लेख मिलता है। पूज्यपादजी ने अपने ग्रन्थों में जैन प्रक्रिया का ही अनुसरण किया था। जैन प्रक्रिया कुछ भिन्न रही है यथा — "सूत केसरी गन्धक मृगनवासार इमम् ।" यह रससिन्दूर तैयार करने का पाठ है। इसमें 'केसरी' महावीर का चिह्न है, जो २४ वे तीर्थंकर हैं। अतः केसरी शब्द से २४ सखा ममङ्गनी चाहिए। मृग १६ वे तीर्थंकर का चिह्न है, अतः मृग से १६ सखा लेना चाहिए। आशय यह है कि पारद २४ भाग और गन्धक १६ भाग लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त 'वसवराजीय' सग्रहग्रन्थ में पूज्यपाद के अनेक योगों का वर्णन मिलता है। यथा —

- (१) "नाम्नाय चण्डभानु सकलगदहरो भाषित पूज्यपाद ।—नित्यनाथीये
- (२) 'रसकालाग्निरुद्रोऽय पूज्यपादविनिमित ।—वसवराजीय, प्र० पृ० १३
- (३) 'पूज्यपादकृतो योगो नराणा हितकाम्यया ।—त्रिकुटनस्य-प० प्र० व० रा० पृ० १११
- (४) 'शोकमुद्गरनाम्नाय पूज्यपादेन निमित । आदि

जैनाचार्य कोप लिखने में भी किसी से पीछे नहीं रहे, किन्तु उनकी दौली औरों में भिन्न थी। यथा — आचार्य अमृतनन्दी का कोप, जिसमें २२ हजार शब्द हैं, महत्वपूर्ण है। इसमें वनस्पतियों के नाम जैन पारिभाषिक रूप में आये हैं, जैसे—अमव्य—हसपादी। अहिंसा-ट्टिककाली। अनन्त-सुवर्ण। ऋपन—पावटे की लता। ऋपभा—आमलक। वर्धमाना—मधुर भातुलुग। वीतराग—ग्राम। आदि।

इसके अलावा अन्य ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का भी उल्लेख मिलता है, यथा—

ग्रन्थ नाम	कर्ता
(१) रसावनार	माणिक्यचन्द्र
(२) रसायनप्रकरण	मेरुगुप्त नाम के जैन मुनि ने १३८० में बनाया ।
(३) हिजोददेश	जैनाचार्य श्रीकृष्ण मूरि
(४) योगरत्नाकर	जैन नागनाथेश्वर ने १६७६ में लिखा ।
(५) औषध तन्त्र	मुनचन्द्र
(६) वैद्यसारस ग्रह	गंगादाम मूरि
(७) लक्षणप्रकाश	ईश्वर मूरि के पुत्र हेमचन्द्र ने १८६० में लिखा ।
(८) कल्याणकारक	उग्रादित्य
(९) योगरत्नाकर	नयनदेव गहन (१६८० ईसवी)

इन्होंने अनिरुक्त (१) श्रुतिसेन (२) कुमारसेन (३) वीरसेन (४) पात्रकेसरी (५) सिद्धसेन (६) मेघनाद (७) निहनाद (८) समन्तनर (९) उग्राचार्य आदि आचार्यों के नाम भी आयुर्वेदमेवा के लिए विभिन्न उल्लेखनीय हैं ।

आचार्य उग्रादित्य ने अपने 'कल्याणकारक' ग्रन्थ में, जो कि आज भी उपलब्ध है, उपर्युक्त आचार्यों का उल्लेख किया है । उन्होंने लिखा है—

पूज्यपाद आचार्य ने 'धानात्मन्य' लिखा था जिनमें जवु के ऊपर मुद्रा, नासा, गिर, कर्ण और चक्षु गत रोगों का वर्णन किया था ।

पादम्बानी ने नाना प्रकार के मृदा, काष्ठ, पाषाण, धूलि, लोह, बाल, नख, पूय, दूषित व्रण, अन्त गत्य, गर्भगत्य आदि को निकालने के लिए तथा रुन्ध, शूल, क्षय, क्षी, अग्नि के प्रयोगों एवं व्रणविनिश्चयाय शल्यशास्त्र लिखा था ।

आचार्य निहनाद ने रसायन (यज्जगध्याविबिधसो जेपत्र तद् रसायनम्) अर्थात् जिम औषधि के द्वारा जरा, व्याधि नष्ट होकर युवावस्था प्राप्त होती है उसे रसायन कहते हैं) का वर्णन किया था । जैसा कि इस श्लोक से साबित होता है —

शालाग्र पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्रं ।

स्वामिप्रोक्त विषोप्रग्रहशमनविधिः सिद्धमेतं प्रसिद्धे ॥

काये वा सा चिरित्वा दशरथगुरुनिमेषनार्यं शिशूना ।

वैद्य धृष्य च दिक्षामृतनपि कथितं सिहनादेमुनीन्द्रं ॥

महापि समन्तनर पूज्यपाद से पूर्व हुए हैं । आप जहाँ न्यायदर्शन के अद्वितीय विद्वान् थे, वहाँ आयुर्वेद में भी निष्णात थे । आयुर्वेदज्ञों में उनका ऊँचा स्थान था । आपने 'निदानात्मन्य' नामक ग्रन्थ लिखा था जिसमें १८ हजार श्लोक थे । उद् ग्रन्थ आज सम्पूर्ण नहीं मिलना जित्नु ७-३ हज्जार श्लोक यत्र तत्र देखने को मिलते हैं ।

मुग्धत देव मुनि—उन्होंने मेरुगुप्त नामक वैद्यक ग्रन्थ लिखा था ।

चिदनागार्जुन—उह पूज्यपाद के भानजे थे । इन्होंने 'नागार्जुनकल्प' 'नागार्जुन कक्षपुट' आदि ग्रन्थों का निर्माण किया था ।



हृपंकीर्ति सूरि — इन्होंने 'योगचिन्तामणि' नामक स ग्रन्थ स स्मृत भाषा में गद्य-पद्यात्मक लिखा था । ये नागपुरीय तपागच्छीय साधु थे ।

जैनाचार्यों ने आयुर्वेद जैसी लौकिक विद्या के विषय में अपनी जो कलम चलाई, उसके पीछे अनेक हेतु थे । उनमें एक मास मदिरा जैसी अभक्ष्य और हानिकारक वस्तुओं के सेवन का निषेध करके अहिंसा भावना को व्यापक बनाना था । प्राचीन काल में अनेक चिकित्सक इन वस्तुओं का प्रयोग करते थे । जैनाचार्य आयुर्वेद को हिंसा से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे । निम्नलिखित श्लोक से यह तथ्य प्रमाणित होता है—

एयातश्रीनृपतु गवल्लभममहाराजाधिराजस्थित ,
प्रोद्यद्भूरिसमान्तर चहुविधप्रख्यातविद्वज्जने ।
मासाशिक्षकरेन्द्रताखिलभिषग् विद्याविदामप्रत ,
मासे निष्फलतां निरूप्य नितरा जैनेन्द्र यद्यस्थितम् (?)

इससे विरकुल स्पष्ट है कि नृपतु ग वल्लभ महाराजाधिराज के दरबार में जहाँ मासाशन का समर्थन करने वाले अनेक विद्वान् थे, उनके सामने मास की निष्फलता सिद्ध करने वाले श्री जैनेन्द्र भी वहाँ उपस्थित थे । नृपतु ग अयोधवर्ष प्रथम का नाम है, और अयोध वर्ष को ही वल्लभ और महाराजाधिराज की उपाधि थी । नृपतु ग भी उसकी उपाधि थी ।

इस प्रकार आयुर्वेद का सूत्रपात करने का श्रेय जहाँ भगवान् आदिनाथ को है, वहाँ उसे पल्लवित करने का श्रेय जैन आचार्यों को भी है । इस विषय में यदि गहरी छानबीन की जाय तो ऐसे तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं जिनकी कल्पना आज विज्ञानों को भी नहीं है ।

चम्पूकाव्य

पं० के० भुजवली शास्त्री

विद्याभूषण, सिद्धान्ताचार्य

कर्नाटक विश्वविद्यालय धारवाड (मैसूर)



हमें सर्वप्रथम (१) चम्पू काव्य की व्याख्या (२) चम्पू काव्यों का काल (३) चम्पू काव्यों उद्गम-स्थान (४) चम्पू काव्यों के जन्मदाना और (५) चम्पू काव्यों ने सर्वप्रथम किन भाषा में जन्म लिया ? इन बातों पर विचार करना है।

१ चम्पू शब्द की व्याख्या—'नचम्पू' के उपोद्धान में श्री नन्दकिशोरजी शर्मा ने मन्दननिन्दन को लक्ष्य करके गणितीय अर्थ में चम्पू की व्याख्या 'चम्पयति चम्पति इति चम्पू' यों की है। बल्कि अपने इस उपोद्घात के पुटनोट में इन्होंने इस सम्बन्ध में 'चम्पू' गुणानि महदयान् विन्मयीकृत्य प्रनादयतीति चम्पू' इस प्रकार श्री हृदिदान महाचार्य के अनिष्टास की भी व्यक्त किया है। किन्तु ऊपर की ये दोनों व्युत्पत्तियाँ सतोपदायक नहीं हैं। इसमें स्पष्ट विदित होता है कि मन्दनपंडितों की 'चम्पू' शब्द का बाल्नाविक अर्थ मालूम नहीं हुआ है। ज्ञात होता है कि चम्पू शब्द इस प्रकार है।

कर्नाटक के सुप्रसिद्ध कवि मिश्रवर श्री द० १० वेंद्रे, एम० ए० बाग्वार की राय से चम्पू शब्द का सीधा सम्बन्ध जैन तीर्थंकरों के पंच कल्याणों में है। उनका स्पष्ट मत है कि 'पंच-पच' शब्द ही 'गम-गम' की तरह 'चम्पू' शब्द बना है। नाय ही नाय उनका कहना है कि निमन्देह नास्तिक-मनास की चम्पू काव्य जैनो की अनुपम देन है। ज्विजी का यह भी कहना है कि कल्लट और तुलु भाषाओं में 'मपु' और 'चपे' के रूप में जो शब्द उपलब्ध हैं, उनका अर्थ सुन्दर और मिष्ट होता है। बहुत करके इन्हीं शब्दों ने चम्पू शब्द निष्पन्न हुआ होगा। आज भी कल्लड और तुलु भाषा के केन् केन् ये मूल शब्द केपु केपु के रूप में निष्पन्न होकर सुन्दर और मनोहर अर्थ को प्रदान करते हैं। गद्य-पद्य मिश्रित गद्य विशेष की जनता ने सर्वप्रथम सुन्दर एवं मनोहर अर्थ में केपु के नाम से पुकारा होगा और वही बाद में लट्टि के वन में चेम्पु या चम्पु के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा। इस नव या नान्वय यह है कि चम्पू शब्द मन्दन का न होकर निमन्देह शक्ति भाषा का है।

२ चम्पू काव्यों का काल—गद्य-पद्य मिश्रित महाकाव्यों की प्रौढ़ नरणी सब से पहले हमें दशवी शताब्दी के कवि शिविप्रभु मद्र हन 'नचम्पू' एवं सोमदेव मृच्छिन् 'ययन्विलक चम्पू' में उपलब्ध होती है। श्री नन्दकिशोरजी शर्मा ने नचम्पू के उपोद्धान में लिखा है कि सभी विद्वानों की राय है कि यह नचम्पू सर्वप्रथम चम्पू-काव्य है। हाँ हरिचद्र का जीवन्व-चम्पू भी एक प्रौढ़ जैन चम्पू काव्य है। पर विद्वानों की राय है कि यह काव्य ई० सन् नववी शताब्दी के बाद का है। पर अभी तक यह निश्चिन नहीं हो सका कि हरिचद्र का काल नववी शताब्दी के बाद कब का

है। यद्यपि इस समय रामायण चम्पू, भारत चम्पू आदि कई चम्पूग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, पर वे सभी ग्रन्थ दशवी शताब्दी के बाद के हैं। उपलब्ध चम्पूकाव्यों में हमें दशवी शताब्दी के पूर्व का कोई चम्पूकाव्य दृष्टिगोचर नहीं होता है।

अब आप कन्नड-चम्पू काव्यों की ओर आइये। उपलब्ध कन्नड साहित्य में भी हमें दशवी शताब्दी के चम्पू-काव्य ही प्राप्त होते हैं। ये चम्पूकाव्य सुप्रसिद्ध जैन कवि पप, पोन्न और रन्न के हैं। यद्यपि अधिकांश विद्वानों का मत है कि 'पप-भारत' ही कन्नड का सर्वप्रथम महाकाव्य है। इन्हीं जो नहीं मानते हैं, वे पप के आदिपुगण अथवा पोन्न के शांतिपुराण को प्रथम स्थान में रच सकते हैं। ठीक, यह त्रिपयातर है। यहाँ पर बाल्मिकि विषय यह है कि सुदृढ़ प्रमाणों से मालूम होता है कि कन्नड में चम्पूकाव्य दशवी शताब्दी से पूर्व ही रचे गये थे।

'कविचरिते' में नववी शताब्दी के कवि प्रथम गुणवर्म का उल्लेख मिलता है। इसने 'धूद्रक' और 'हरिवश' नामक दो ग्रन्थों की रचना की है। यद्यपि ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए हैं, परन्तु इन ग्रन्थों में उद्धृत पद्य हमें व्याकरण और सकलन-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। अभिनवरादी विद्यानन्द ने अपने 'काव्यसार' नामक मञ्जन-ग्रन्थ में गुणवर्म के 'धूद्रक' ग्रन्थ से नामनिर्देश के साथ अनेक संस्कृत वृत्त, कद, और एक गद्य भाग को उद्धृत किया है। इसी में 'हरिवश' की अवतर्णिका भी दी गयी है। यद्यपि 'काव्यसार' १६वीं शताब्दी का ग्रन्थ है, फिर भी कतिपय पद्यों के सिवा इसमें उद्धृत सभी उद्धरण चम्पूकाव्यों के हैं। गुणवर्म के 'धूद्रक' और 'हरिवश' से उद्धृत पद्य उपलब्ध चम्पू-काव्यों के पद्यों से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि गुणवर्म के ये दोनों ग्रन्थ चम्पूकाव्य थे।

गुणवर्म के पूर्व भी कन्नड में चम्पूग्रन्थ रचे गये थे, इस बात का समर्थन करने के लिए यद्यपि हमारे पास सुदृढ़ प्रमाण मौजूद नहीं हैं, फिर भी इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें अवश्य विचारणीय हैं। १६वीं शताब्दी के कवि मगरस एव दोड़डय्य के उल्लेखों को आधार मानकर, 'कविचरिते' के मान्य लेखक आर० नरसिंहाचार्य का कहना है कि उपयुक्त उभय कवियों के द्वारा निर्दिष्ट श्रीविजय का 'चन्द्रप्रभचरितचम्पू' 'कविराजमार्ग' में प्रतिपादित कवि श्रीविजय के द्वारा ही रचा गया होगा। विद्वानों का मत है कि श्रीविजय का काल ८वीं शताब्दी या नौवीं शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिए। इस हिसाब से कन्नड में चम्पूकाव्यों का काल श्रीविजय तक चला जाता है। अर्थात् श्रीविजय के काल में कन्नड भाषा में चम्पूकाव्यों का प्रचार अवश्य रहा।

इन समय उपलब्ध संस्कृत एवं कन्नड चम्पूग्रन्थ दशवी शताब्दी के हैं। किन्तु उपलब्ध न होने पर भी निश्चित आधारों से कन्नड चम्पूग्रन्थों में ८वीं ९वीं शताब्दियों में ही जन्म लिया था, यो मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हाँ, इससे पूर्व भी कन्नड में चम्पूग्रन्थ मौजूद थे, इस बात को मनवाने के लिए सुदृढ़ प्रमाणों की आवश्यकता है। इस विषय में सिर्फ अनुमान ही कार्यकारी नहीं होगा। इस परिस्थिति में संस्कृत से पूर्व जन्म पाने वाला चम्पू रूप संस्कृत साहित्य तथा काव्यों के प्रभाव से यथेष्ट प्रभावित होने पर भी, स्वतन्त्र है और वास्तव में यह चम्पू रूप संस्कृत साहित्य को कन्नड भाषा में द्वारा प्रदत्त एक अमूल्य देन है, यो मानने में विद्वानों को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

३ चम्पूकाव्यों का उद्गम स्थान—चम्पूकाव्यों का उद्गम स्थान कर्णाटक ही है। इसके लिए निम्नलिखित पक्षियाँ अवश्य द्रष्टव्य हैं। कन्नड के आदि कवि पप का आश्रयदाता राष्ट्रकूटशासक तृतीय कृष्ण का सामंत अरिकेसरी था। संस्कृत महाकवि सोमदेवसूरि का आश्रयदाता भी यही अरिकेसरी रहा। जब पप ने अपने 'भारतचम्पू' को अरिकेसरी के चरित सूचक इतिहास रूप में रचा, तब उसी अरिकेसरी के आश्रय में रहने वाले महाकवि सोमदेवसूरि ने अपने 'यशस्तिलक' को भी रचा। पप ने अपने द्वितीय ग्रन्थ 'आदिपुराण' को ई० सन् ९४१ में समाप्त किया। इसी प्रकार सोमदेव सूरि ने अपने ग्रन्थ 'यशस्तिलक' को ई० सन् ९५९ में पूर्ण किया। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पप के बाद ही सोमदेव सूरि का 'यशस्तिलक चम्पू' रचा गया है। हाँ, 'नलचम्पू' इससे पूर्व रचा गया होगा। पर उसका समाप्तिकाल मालूम नहीं हुआ है।

इस 'नलचम्पू' को त्रिविक्रम भट्ट ने राष्ट्रकूटशासक तृतीय ड्र (ई० सन् ९१४-१८) के आश्रय में रचा। पूर्वोक्त राष्ट्रकूटशासक तृतीय कृष्ण से 'कविक्रवर्ती' की उपाधि पाने वाले महाकवि पोन्न ने दशवी शताब्दी में ही 'शान्तिपुराण' की रचना की थी। इन बातों पर विचार करने पर मालूम होता है कि प्रारम्भिक सस्कृत चम्पूयथ कर्णाटक राजाओं के आश्रय में, कर्णाटक में ही रचे गये और उन सस्कृतकवियों को कन्नड कवि एवं पण्डित ही आदर्श रहे। इस निर्णय पर पहुँचने पर यह बात विदित हो जाती है कि प्रारम्भ के सभी कन्नड कवि जैन रहे और उन्होंने ही कन्नड में चम्पूरूप को जन्म दिया। बाद में सस्कृतकवि सोमदेवसूरि और त्रिविक्रम भट्ट इन दोनों ने पूर्वोक्त कन्नड कवियों का ही अनुसरण किया। हा, यहाँ पर इस निर्णय की बाधाओं पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

'अग्निपुराण' और दंडि के 'काव्यादर्श' में चम्पू का उल्लेख तथा लक्षण जो आया है, वह पूर्वोक्त निर्णय में बाधक माना जा सकता है। अब इन ग्रन्थों में से 'अग्निपुराण' को पहले लीजिये। पहले यह 'अग्निपुराण' एक अति प्राचीन ग्रन्थ माना गया था अथर्व, पर डच के संग्रहण में यह ग्रन्थ ई० सन् सातवी शताब्दी का माना गया है और उनमें भी इसका अलंकार भाग ई० सन् ९वीं शताब्दी का। ऐसी परिस्थिति में पूर्वोक्त निर्णय के लिये अग्निपुराण बाधक नहीं हो सकता।

द्वितीय 'काव्यादर्श' को लीजिए। यह पता नहीं लगता है कि १० वीं शताब्दी के पूर्व के, दंडि के परिचित सस्कृतचम्पू ग्रन्थ कौन से हैं? हरिचन्द्र का 'जीवधरचम्पू' नहीं हो सकता। हा, इस सन्दर्भ में सहाय यह विचार उठ खड़ा होता है कि महाकवि दंडि के परिचित चम्पूग्रन्थ तमिल एवं कन्नड के क्यों नहीं हो सकते? क्योंकि विद्वत्वासी दंडि बाद में कवि के पल्लवों के आश्रय में आ गया था। ऐसी दशा में दंडि का तमिल एवं कन्नड चम्पूकृतियों से परिचित होना आमान और स्वाभाविक है।

४ चम्पूकाव्यों के जन्मदाता — उपर्युक्त आचार्य से यह बात सिद्ध हो जाती है कि कर्णाटक-वासी दिगम्बर जैन कन्नड कवि ही चम्पूकाव्यों के जन्मदाता हैं। श्रीमान् वेद्रे का निर्दिष्ट मत है कि श्रीविजय आदि कन्नड जैन कवियों ने ही चम्पूकाव्यों की बुनियाद डाली। वस्तुतः कन्नड जैन कवियों ने ही कन्नड में चम्पूपरम्परा को प्रारम्भ कर, कन्नडसाहित्य को सर्वोपरि शिखर पर पहुँचाया। निम्नदेह इन चम्पूकाव्यों की शैली बहुत ही प्रौढ़ है। सस्कृतभाषा के परिज्ञान के बिना इन काव्यों को जानना आमान नहीं है। इन बातों को निर्विवाद रूप से मानना होगा कि विशेषतः चम्पूकाव्यों ने जैन पुराण एवं लौकिक काव्यों में जो वैशिष्ट्य शामिल किया है, वह सस्कृत साहित्य के लिए नवीन है।

सस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड, तमिल आदि किसी भी भारतीय भाषा का जैन काव्य हो, वह उनमें महाकाव्य के सभी लक्षणों से युक्त होकर भी, सिर्फ रम में शृंगारादि रसों को विशेष स्थान न देकर, शास्त्ररसों को ही अपनाता है। क्योंकि जैनधर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है। इनका अंतिम लक्ष्य एक मात्र मुक्ति है। इसीलिए इनमें शान्तरस को स्थान देना सर्वथा स्वाभाविक ही है। पर पाठक, इस असाधारण गुण को जैन कृतियों में ही पायेंगे। जैन काव्यों में मत्तत्त्व, नीति, कथा आदि आवश्यक सभी विषय समाविष्ट हैं अवश्य फिर भी पाठकों को इन काव्यों में द्राक्षापाक का सुख ही मिलेगा। इनका अनुभव एक मुक्तभोगी ही कर सकता है।

५ चम्पूकाव्यों ने सर्वप्रथम किस भाषा में जन्म लिया—इसका उत्तर ऊपर आ चुका है। फिर यहाँ पर भी उसे दुहराया जाता है। वस्तुतः चम्पूकाव्यों ने कन्नड एवं तमिल भाषाओं में जन्म पाकर, बाद में सस्कृत भाषा में प्रवेश किया क्योंकि चम्पू शब्द सस्कृत का नहीं है। वह कन्नड का है। यह बात ऊपर स्पष्ट कर दी गयी है। अब इन विषय में और लिखना केवल पिष्टपेषण होगा। इस विषय पर अन्य संग्रहक विद्वान् भी अवश्य प्रकाश डालें।

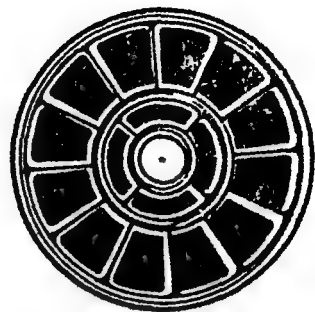


कन्नड-साहित्य में जैन-काव्यों की लौकिक परंपरा

(१० वीं से १२ वीं सदी ई० तक)

सु० रामचन्द्र

प्राध्यापक हिन्दी विभाग, कर्नाटक कालेज, धारवाड



प्राचार्य विनोबाजी ने साहित्यिको से चर्चा करते समय एक स्थान पर मकेन किया है कि 'श्रेष्ठतम साहित्य का निर्माण या तो पूर्ण विरक्त द्वारा या सृष्टि के उपासक भक्त द्वारा सम्भव होता है। जो पूर्ण विरक्त नहीं है या सृष्टि का उपासक नहीं है, वह स्फूर्तिदायक आश्रय में अपनी प्रतिभा का विकास करने में समर्थ होता है।' कन्नड का यह सुयोग ही माना जाना चाहिए कि उसे आरम्भ से ही ऐसे साधकों का स्नेहदान मिला जो विरक्त थे, सृष्टि के उपासक भक्त थे और स्फूर्तिदायक राजाश्रय में सम्मानित भी थे। राजदरबारों में रहकर इन कवियों ने 'प्राकृत जन गुनगान' में ही अपनी मौलिक प्रतिभा का अव्यय न होने दिया। ये कवि कभी आश्रित नहीं रहे। आश्रयदाता ही इन कवियों की उपस्थिति से निज को गौरवान्वित मानने लगे थे।

इन युग की दूसरी विशेषता साहित्य का संप्रदायान्तर होना है। ये साहित्यिक अपने-अपने संप्रदाय का समर्थन करते हुए सभी पक्षों संप्रदायों में भिन्न तथा परे दिखाई देते हैं। यही कारण है कि ये समसिद्ध कविस्वर चिरनन साहित्य-निर्माताओं की श्रेणी में आते हैं और युग-जीवन के यथार्थ को युग-वाणी में चरितार्थ होने देते हैं। अधिकतर कवि जैनधर्म के अनुयायी थे। आदिकवि पद्म 'जिनममयदीपक' की उपाधि से विभूषित थे ही। पर उन उदात्त महापुरुषों ने जैन राजदरबारों में अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया और प्राचीन जैनदर्शन के आलोचकों में सगर्वता की आराधनाओं में लगे रहे। वाणी की यह उपासना प्रेम-श्रेय की समन्वित साधना में गरिमामंडित रही। मस्तिष्क की महती परम्परा से पोषित इस साधना में जीवनदर्शन तथा अभिव्यक्ति शैली की नवीनता काव्यक्षेत्र में गोचर होने लगी। युगीन आदर्शों के अनुरूप परम्परागत आस्थानो-पानों की अवतारणा होने लगी। चतुर् काव्य-शैली में तत्सम तथा देशज पद-विन्यास का चमत्कार लक्षित होने लगा। कवियों ने एक ओर रामायण, महाभारत जैसे आकर ग्रन्थों से कथानक तथा पात्र अपनाये और दूसरी ओर जैन पुराणों के आदर्श पर तीर्थंकरों की काव्यात्मक जीवनीया प्रस्तुत की। पहली श्रेणी की कृतियाँ लौकिक और दूसरी 'आगमिक' रचनाएँ मानी गईं। प्रत्येक कवि ने इन द्विविध काव्यविधाओं में अपनी अदभुत रचना पटुता का परिचय दिया। कलात्मक भावों का उत्कृष्ट तथा मद्भिचार के प्रतिपादन का महोन्नत आदर्श दोनों शैलियों में लक्षित हुए। इस लेख में जैनकाव्यों की लौकिक परम्परा का विश्लेषण प्रस्तुत करना हमारा अभिष्ट है।

आरम्भिक युग में कन्नड साहित्य के 'रत्नत्रय' के नाम से विख्यात पद्म, पोन्न और रत्न हैं। इनमें आदिकवि पद्म द्वारा प्रवर्तित साहित्यिक संप्रदाय ही परवर्ती कवियों के लिए राजपथ सिद्ध हुआ। 'विक्रमाजुनविजय' महाकाव्य के प्रणेता 'कवितागुणार्णव' पद्म (६४१ ई०) 'सुदविजननोमानसोत्त सद्स' ही नहीं, 'सगर्वसि मणिहार' भी माने गये। जैन ही नहीं,



जैनज्ञ कवियों ने भी इन्हें 'काव्यचरित्रों' 'कविकुलनार्वशीम' मुक्कठ में घोषित किया। इनमें स्पष्ट है कि कन्नड साहित्य में आदित्रिवि पर 'अमट्टा, अपूर्वं रत्न-भाव-अज्ञान' के अनुपम प्रेरणा-स्रोत थे।

जैन काव्यों की लौकिक परंपरा में आज गुण की प्रशानना है, उत्साह की अद्भुत व्यञ्जना है, चरितनायक के पौरुष-वर्णन में अपने आश्रयदाता के पान्थम की नकेलिन करने का चमत्कारपूर्ण श्लेष-विधान है, परंपरागत पात्रों के मनोभावों का निरूपण करने में यत्नोपनिबन्धन-मन्मथ यथार्थवादी मानवीय दृष्टिकोण, जैन तथा वैदिक सस्कृतियों के सार-तत्त्व का समन्वित मूल्यांकन एवं आत्मप्रतीति के नाथ उच्चका स्पष्ट प्रतिपादन है। अविरोधी मानवीय जीवनादर्शों के प्रति आन्यावान् ये कवि काव्य-रचना को चमक उत्कृष्ट पर पट्टचाने में ममय हुए हैं। इस परंपरा में 'विक्रमार्जुनविजय' (६४१ ई०), 'साहसनीमविजय' (६८२ ई०) तथा 'गमचरित्र पुराण' (लगभग ११०५ ई०) तीन अनुपम आन्यानकाव्य हैं जिनमें ऊपर वर्णित सारी विनोदनाएँ सहज ही दिखाई देती हैं। अब हम से इनका परिचय नीचे दिया जा रहा है।

'विक्रमार्जुनविजय' या 'पंपभारत'

यह महाकाव्य चालुक्यवर्ष के नरेश अरिकेमरी के पराक्रम में मबद्ध रचना है। चालुक्यों की राजधानी पुलिगेरे—बागवाड जिले का 'नक्षेत्र'—थी। अरिकेमरी गुणार्णव नाम ने विख्यात था। सोमदेव के 'यशस्तिलक' (६५६ ई०) ग्रन्थ में भी इसकी शृंगार-वीरगा का उल्लेख है। आदित्रिवि पंथ ने अरिकेमरी की महिमा का गुणगान करने के लिए महामारत के वीरपत्नी अर्जुन का चित्रण किया है। कवि ने महर्षि व्यास-रचित महामारत का ही अनुसरण किया है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसमें निम्नलिखित परिवर्तन कर लिए हैं

यहाँ का प्रधान पात्र अर्जुन है। द्रौपदी पाँचों पांडवों की नहीं, केवल अर्जुन की जीवनमहिनी है। हस्तिनापुर में अर्जुन तथा मुनद्रा के मिहामनारुह होने ही कथा समाप्त हो जाती है।

महाकाव्य के आश्रय या मर्ग के लिए कोई विशिष्ट शीर्षक नहीं है। पर कवि ने सर्ग के अन्त में सर्वत्र लिखा है कि 'यह विक्रमार्जुनविजय कवितानुगुणार्णवविरचित है'। कवि प्रमल्ल-गम्भीर-वचन-रचना-चतुर है। यह विविध विद्वज्जन-विद्वान् जिनपदांभीज वर प्रमादोत्पन्न है। कवि ने वर्णित प्रमुख घटनाओं का मार स्वयं दे दिया है और यह दावा किया है कि मैंने कोई प्रमग छोड़ा नहीं है, सभी घटनाएँ यहाँ समाविष्ट मिल जायगी। राजधानी पुलिगेरे की पण्डित कन्नड में रचित यह चपूकाव्य इनका लोकप्रिय हुआ कि इसके नामने पूर्ववर्ती काव्य फीके पड़ गये और परवर्ती काव्य इसका अनुकरण-मात्र रह गये।

चौदह आध्यायों में प्रगीन इस चम्पूकाव्य के आरम्भ में चरितनायक का परिचय कराया गया है—'चालुक्य वंश में युद्धमल्ल नाम का अशीश्वर था। सपादनल प्रदेश पर वह शासन करता था। इसका कुमार अरिकेमरी था जिन्होंने निरुपमदेव के राज्य पर आक्रमण किया। अरिकेमरी के नरसिंह तथा भद्रदेव दो लड़के थे। दुग्धमल्ल नरसिंह का मवने बटा लड़का हुआ। बछेगा दुग्धमल्ल का ज्येष्ठपुत्र था। बछेगा ने ४० लडाइयाँ लड़ी और भीम को परास्त किया। वह बड़ा उदार था। दुग्धमल्ल और नरसिंह क्रम में बछेगा के पुत्र और पौत्र हुए। नल, नहुप, पूयु, भगीरथ आदि से ना नरसिंह प्रतापी था। नात्र उसने पण्डित हुए, गुर्जर सेना उसमें हार गई और महीपाल के पैर उसके सामने उबट गये। जातवे, नरसिंह की रानी थी। अरिकेमरी इनका मपूत था। शैशव में ही इसकी शूरता सर्वविदित थी। अपने पूर्वजों में सर्वाधिक शक्ति मपन्न होने के कारण कवि ने उसे अपना चरितनायक चुना है, अर्जुन से उसकी समानता दिखाई है और काव्य रचना आरम्भ की है।

उसमें पढ़ते जो मगनाचरण हैं वह भी कवि के उदान दृष्टिकोण का पञ्चायक है। कवि उदारानारायण की वदना के बाद उदार महेश्वर, प्रचण्ड, तार्ताड, महल मनोज, मरन्वति, दुर्गाजी और विनायक का स्तवन कहते हैं।



कवि की दर्प-दीप्त मनोवृत्ति का आभास हमें इस कथन से मिल जाता है कि कविता गुणार्णव ही कवियों में सर्व-श्रेष्ठ है और चरितानायक गुणार्णव ही राजाओं का राजा है। मैं महर्षि व्यास का अनुगमन करता हूँ, पर उस स्तर पर मैं अभिनन्दन का पात्र नहीं हूँ। गुणार्णव की महिमा का परिचय कराना मेरा ध्येय है और गुणार्णव ही अर्जुन में बराबरी का दावा कर सकते हैं।'

इतनी भूमिका बाँधने के बाद कवि महाभारत का आख्यान आरम्भ करते हैं। तीसरे आश्रम में अर्जुन में द्रोपदी स्वयंवर का वर्णन है। तेरहवें आश्रम में दुर्योधन का विलाप मामिकना से वर्णित है। कर्ण के वध पर दुर्योधन अधीर हो उठा है। धृतराष्ट्र और गांधारी के परामर्श के बाद भी दुर्योधन पाटवों से मुलह करने को तैयार नहीं है। शल्य के नेतृत्व में युद्ध जारी रखा जाता है। धर्मराज से झुझने शल्य का प्राणांत होता है। उद्विग्न दुर्योधन रणक्षेत्र में अकेले ही फूट पड़ना चाहता है। सत्रय इस दुस्साहम में उसे मना करता है। भीष्म से विचार-विनिमय का सुभाव देता है। पितृमह से मिलने जाते समय मैदान में द्रोण, कर्ण, द्रुपसेन, दुःशासन तथा अन्य मुहूर्तर वीरों के मृतक शरीर देख दुर्योधन मरहित हो जाता है। पितृमह से मिलकर उनकी मलाह माँगता है तो वे भी शांति की अनिवार्यता का स्मरण दिलाते हैं। दुर्योधन को यह बात रुचनी नहीं। उनका रूप पहचानते हुए पितृमह यह उपाय बनाते हैं कि धाम को बलराम के लौट आने तक दुर्योधन चुप रह ले और उनकी महायत्ना पाकर सघर्ष जारी रने। पितृमह दुर्योधन को जलमय की दीक्षा देते हैं और बैसपायन सरोवर में छिपे रहने की सलाह देते हैं। दुर्योधन को रणक्षेत्र में लापता देख पांडव चकित हो जाते हैं। भीम बड़ी चतुराई में उसकी चाल का पता लगा लेता है। वह सरोवर के समीप पहुँच कर चुमती हुई बाणी से दुर्योधन को ललकारता है। वीरवर स्वाभिमानी दुर्योधन इस ताने से आग-बबुला हो जाता है और पानी से बाहर निकल कर गदा फेरने लगता है। भीम के गदा-प्रहार से दुर्योधन की जाघ टूट जाती है और उसके प्राण पड़ेरु उड़ जाते हैं। अर्जुन राज्य का सर्वाधिकारी हो जाता है। यहाँ विस्तार से इस आश्रम का विवरण देने का आशय यही है कि परवर्ति कवि रत्न ने इसके आधार पर 'माहसभीमविजय' या 'गदायुद्ध' महाकाव्य रचा है।

चौदवें आश्रम में हस्तिनापुर में अर्जुन तथा मुसद्रा का राज्याभिषेक—सिंहामनारोहण—वर्णित है। यहाँ कवि के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाले वृत्त का भी उल्लेख मिलता है। कवि कहता है कि 'वैगमिडल प्रदेश में वैगियलु नाम का सुन्दर नगर है। कोट्ठूर, निडगुदि, विक्रमपुर नाम की वस्तियाँ इसमें लगी हुई हैं। विक्रमपुर में वत्स गोत्री माधव मोमयाजी निवास करते थे। अभिमानचन्द्र, कुमारय्या, अभिरामदेवराय क्रम से इनके पुत्र, पोत्र, प्रपोत्र थे। अभिरामदेवराय जैन धर्मावलम्बी हुए। कनिना गुगार्णव पप इनके सपूत थे। अरिकेसरी के दरबार में पप सम्मानित थे और उनकी इच्छा रखने हेतु यह महाकाव्य रचा गया है।

कवि ने अपनी अमाधारण प्रबंधपटुता का परिचय इन शब्दों में दिया है—'पुलिगेरे की परिष्कृत कल्लह में पप सफल काव्य-रचना करते हैं। 'पपभारत' तथा 'आदिपुराण' पूर्ववर्ती समस्त कृतियों को फीका बनाने में समर्थ रचताएँ हैं। कवि ने केवल छ माह में 'भारत' और तीन माह में 'आदिपुराण' समाप्त किया है। महर्षि व्यास की परम्परा में कवि पप 'पुराणकवि' होने का गौरव पा चुके हैं। इसमें वर्णित महापुरुषों की महिमा का प्रताप है कि यह भारत सर्वत्र सम्मानित है।'

इस लम्बे उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पप कवि के पूर्वज ब्राह्मण थे, उनके पिताजी जैनधर्म में दीक्षित हुए और प्रतिभामय कवि ने जैनदर्शन के आलोक में लौकिक 'आगमिक' काव्य-विधाएँ प्रवर्तित कीं। पर इस धर्म-परिवर्तन के आदेश में कहीं भी कटुता या प्रतिस्पर्धी मनोभाव व्यक्त नहीं हैं जो आज भी धर्मान्तर प्रेमियों के लिए अनुकरणीय आदर्श है।

पप कवि की वर्णन-शैली में कालीदास, बाण, भारवी आदि महाकवियों की शिल्पचातुरी तथा रामायण, महाभारत

की अद्भुत रचना-प्रक्रिया की छाप दिखाई देती है। यहाँ सस्कृत की स्वर-माधुरी, प्राकृत की ध्वनि-लहरी कन्नड कस्तूरी का सौरभ बढाने में महायक हुई हैं। यहाँ महाकाव्योचित वस्तु-व्यापार वर्णन तो है ही, रमानुभूति में सहायक भाव-व्यंजना, अनुभाव-विधान तथा अलंकार योजना भी है। पात्रों का स्वभाव अंकित करने में कवि की संवेदनशीलता का उत्कर्ष दिखाई देता है। अपने चरित्रनायक का गुणगान तो प्रत्येक कवि करता है, पर अपने आदर्श नायक के प्रति-स्पर्धी की बड़ाई विरल ही देखने को मिलती है। पणभारत में अर्जुन के वीरोचित व्यापारों का व्योरेवार वर्णन है ही, माय ही कर्ण की त्यागशीलता का प्रमादपूर्ण चित्रण भी है। अर्जुन की वीरगाथा का कर्णरमायन की सजीवता के समन्वित विकास में पर भारत के रचयिता को बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। कन्नड के कविवर पूज्य वेद्रेजी ने ठीक ही कहा है कि 'अर्जुन की महिमा भारत का हृदय रमायन है जो कर्ण की कीर्तिगाथा उनका कर्ण रमायन है।' कर्ण का स्मरण हो आते ही कवि का कर्णकलिन अतः करुण वरम पड़ता है और काव्यक्षेत्र में खलनायकों के प्रति ममवेदना दर्शनों की नई परंपरा चल पड़ती है।

मृष्टि के उपानक भवन कवि पप का प्रकृति-श्रेम श्रमिकों का आकर्षण-केन्द्र है। यहाँ का प्रकृति-श्रेम निर्मल हृदय की पुनीत भावधारा का पर्याय है। महाकवि के लक्षणों में निद्रिष्ट प्राकृतिक रूप-व्यापार का उल्लेख भी हुआ है। पर आलंबन रूप में प्रकृति-चित्रण में कवि की तन्मयता व्यक्त हुई है। ऐसे स्थलों में कवि की सहज मौन्यमानुभूति का उन्मेष आकर्षक लगता है, अलङ्कृत शैली का कौतुक गौण हो जाता है। कवि बनवामी^१ की प्राकृतिक विभूतियों पर विनोद-अनुरक्त है और वहाँ के वन-प्रान्तर की बहुविध भूमिमात्रों का 'पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेग' अंकित किया है।

शृंगार के प्रकरण में प्रकृति का उद्दीपक चित्रण यहाँ अधिक हुआ है। प्रकृति के रूप-व्यापारों में प्रेमानुभूति के पोषक तत्वों का विस्मृत समावेश पद्य-वर्णन में दिखाई देता है। आम, बेला इन दोनों पर तो कवि विशेष मुग्ध है। कवि की दृष्टि में ये दोनों 'ममार मार सर्वस्व फल है।' वष भर प्रचुर परिमाण में ये दोनों मिल जाएँ तो क्या कहना है। वनन का विलास आम में तथा बसन और कामदेव का प्रभुत्व-विस्तार बेला में अनुभव करने को मिलते हैं। अगणिन पादपां-पुष्पों का भी उल्लेख हुआ है, पर आम तथा बेला पर कवि तन-मन निछावर कर चुका है। प्रत्येक श्रुति का महिलिष्ट चित्रण भी कवि की सूक्ष्म-निरीक्षण-श्रमता का परिचायक है। मेघावृत नम में इन्द्रचाप का इद्रजाण अनोखा वर्णन है। शरत् का आगमन लगता है मानो समार नदी आँवें पा गया हो। शमि-रवि के उदय का दृष्ट्यांकन भी मनोरम है। इस चित्रण-विधान में अर्यग्रहण का कुतूहल कम, विम्बग्रहण की कल्पनाप्रभूत अनुभूति की तीव्रता अधिक है। कवि ने इस महाकाव्य में मन्थन के वर्णवृत्तों के माय कन्नड के निजी छन्दों का भी प्रयोग किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विरुनाजु नविजय अपने युग के समन्वयात्मक जीवनदर्शन का प्रतिनिधि काव्य है।

‘साहस भोम विजय’ या ‘गदायुद्ध’

यह भी एक प्रसिद्ध चपूकाव्य है और प्राजल कन्नड की अनुपम रचना है। रचयिता कवि रत्न ने अपने आश्रयदाता नैनप द्वितीय के राजकुमार इरिवेडग की वीरता का गुणगान करने हेतु इसका प्रणयन किया है। इस

१ भंसूर राज्य में उत्तर कर्नाटक के सिरसी नगर से १८ मील पर स्थित ऐतिहासिक प्रदेश है। कहा जाता है कि इसी सदी के आरंभ में यही अति-परंपरा में प्राप्त जैन पद्विड आगम के मूल सूत्र पहली बार लिपिबद्ध हुए। आचार्य भुजबल शास्त्री जी की इस सूचना के लिए मैं उनका गंदा आभारी हूँ।





काव्य में परमभट्टारक सत्याश्रय (इरिवेडग) के रण कौशल का भीम के अमृतु पराक्रम के रूप में उत्साहवर्धक चित्रण हुआ है। अतः इसका नाम 'साहसभीमविजय' पड़ा है।

काव्य का वर्ण्य विषय गदायुद्ध है। दुर्योधन-भीम के हस्तलाघव के वर्णन द्वारा कवि ने चरितनायक इरिवेडग की अनन्य शक्ति गावर्धन का महाकाव्योचित उद्घाटन किया है। यह आदिकवि पप के 'विजयमार्जुनविजय' के तेरहवें आश्वास पर आधारित अनुपम कलाकृति है। उद्देश्य-मिद्धि के लिए कवि ने भूल कथानक में आवश्यक परिवर्तन कर लिया है। महाभारत का दुर्योधन स्वभाव से ही दुष्ट है, अतः अनिष्ट का उपभोग करने को विवश है। यहाँ का दुर्योधन बड़ा तेजस्वी है, श्रेष्ठ-गुण सम्पन्न है, वीरों की परंपरा में गौरवान्वित होने योग्य है, पर नियति की निष्ठुराई के कारण अभाग्य आहत होता है और सबकी सहानुभूति का पात्र बन जाता है। कर्ण एवं अभिमन्यु के वध पर दुर्योधन के विलाप में कृष्णा का नया स्रोत ही उगड़ा दिखाई देता है। धर्मराज के चरित्र-चित्रण में नई उद्भावनाओं के द्वारा कवि ने उदात्तता व्यक्त होने दी है। महाभारत की भाँति गदायुद्ध त्रासद (Tragedy) नहीं है। यह सुखात बन गया है और आदि, मध्य एवं अंत में लोक मंगल की ध्वनि व्यक्त हुई है। पूर्ववर्ती 'विजयमार्जुनविजय' ही इसका आदर्श है। इधर-उधर कवि पप की उक्तिता भी ज्यो-के-त्यो उद्धत कर दी गई हैं। कोई कोई इसे 'विजयमार्जुनविजय' की प्रतिच्छाया भी कहते हैं। जो भी हो, इतना अवश्य सही है कि महायुद्ध के प्रणयन में पपभारत से कवि विशेष प्रभावित हैं। रत्न कवि की मौलिक प्रतिभा का पता इतने से लगाया जा सकता है कि कवि ने एक सीमित वृत्त को विस्तृत पटल पर बहुरंगी ताने-बाने से सुशोभित किया है और दस आश्वासों में एक आश्वास की कथा का वितान ताना है।

गदायुद्ध दस आश्वासों-सर्गों में वर्णित महाकाव्य है। प्रथम सर्ग भीमसेन की प्रतिज्ञा का प्रकरण है। प्रथम रत्न में कवि ने विष्णु, शिव, ब्रह्म, सूर्य आदि की वंदना की है। मयूरवाहिनी यक्षिणी से चालुक्य वंश की विजय की याचना की है। चालुक्य नरेश का मन्मथ के अनुरूप स्तुतिगान किया है। बाणी से अनुग्रह की आकांक्षा व्यक्त की है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाण आदि कविपुंगवों का अभिवादन किया है। अंत में गधवारण उपाधि से विभूषित राजकुमार इरिवेडग—सत्याश्रय—की वीरता का स्तवन किया है।

कवि सत्याश्रय को इस चपूकाव्य का चरितनायक घोषित करता है। उसका पराक्रम अंकित करने के लिए भीम का शौर्य निरूपित करने का सकल घोषित होता है। पीछे अपना परिचय देते कवि कहता है कि—'मैं कवि रत्न हूँ। सामंतों से सम्मानित, मण्डलेश्वर से गौरवान्वित तथा चक्रवर्ती से पुरस्कृत हूँ। ससार में यहाँ अमर हूँ। धन अशाश्वत है। संपत्ति के मोहजाल में फसते क्यों हैं? आनन्दानुभूति हो, परंपरा से परिचित हो, जनभाषा से अभिरुचि हो तो काव्य निर्माण द्वारा जीवन सार्थक बनाया जा सकता है। मैं तैलप चक्रवर्ती के साम्राज्य का कवि सम्राट हूँ। पूर्ववर्ती कवियों में से किसी ने अपनी प्रतिभा से वाग्देवी क भांडार की मुहर तोड़ी नहीं। रस-भाव के मौलिक स्वरूप-भेद को पहचानते हुए अनुकूल वग-विन्यास द्वारा उसे काव्य-रूप देने में चतुर्मुख के समान हूँ। गगमडलेख की कृपा से मैं अनर्घ्य रत्न हूँ। वसुधाधिपति की सेना में स्वर्ण-विजडित रत्न के गमान 'महारत्न' नाम से विभूत हूँ। मेरी कन्नड प्रांजल कन्नड है, संस्कृत मधु-गम्योत्पल है। मैं अभय कविता-विशारद हूँ, गुणाढ्य हूँ। मेरा काव्य 'कृतिरत्न' है। इसे परखने का पराक्रम है किसमें? इसमें सिंहावलोकन क्रम से समूचा भारत चित्रित किया है। पूर्ववर्ती महाकाव्यों की तुलना में रत्नी भर भी यह चम्पू घटिया नहीं है। काव्य में सहज ही गोचर गुण-दोष की आलोचना करने वाला दोषी नहीं माना जाता। सपन्न को उदार होना है, वाक्सपन्न को अमत्सर होना चाहिए। ऐसी दशा में कवि भी कृतार्थ हो सकते हैं। सरस्वति के चर के अनुपात में स्वर सधान में लीन होने वाला कवि पुष्पात्मा है। दण्डनायक केशि ने इसका अवलोकन किया है, अतः यह कृति 'यथा श्री-वनिता की अलकृति' हो गई है।'

इस आत्मपरिचय में कवि ने अपनी बड़ाई के अलावा काव्य के स्वरूप तथा प्रयोजन पर अपना विचार भी व्यक्त किया है। लगता है कि आवेश में पड़कर कवि ने अपने प्रेरणा-स्रोत पप कवि का कही भी नाम लिया नहीं है। भट्टनारायण की कृति 'वेणीसहार' का भी उल्लेख नहीं किया है जिस पर यह चपूकाव्य कुछ हद तक आधारित है।

यह निर्विवाद है कि गदायुद्ध एक अनमोल 'कृतिगल' है। इसकी कला अनुकरणीय है। प्रसंग के अनुरूप शैली का उत्कर्ष इसकी विशेषता है। मनोवृत्तियों की सहज दशा का जितना मार्मिक विश्लेषण संभव है, उतना यहां लक्षित होना है। रत्नकवि मानव-हृदय का पारवी है। बी, शृंगार दोनों का प्रभावशाली चित्रण यहां हुआ है। उल्हाह रति की भांति शोक की भी बेजोड़ व्यंजना हुई है। भीम के पौरुष के वर्णन में भीम-द्रोपदी के स्नेहपूरित दृष्टि-पात्र में तथा दुर्योधन के विनाश में इसका प्रमाण देना जा सकता है। माना-पिता एवं पितामह से विदा मागने वाले दुर्योधन का चित्रण मर्म पर आघात करने वाला है। युद्ध-जन्य हाहाकार के वर्णन में कवि की पैनी दृष्टि विस्मय जगाने वाली है। सर्वत्र कवि की मृज्जनील प्रतिभा का उल्लान गोचर होता है, धिनी-पिटी पक्षि योजना का अभाव है।

यही कारण है कि गदायुद्ध की श्रद्धांजलि में सुस्पष्टता है। यहां के पात्र मजबूत हैं, वीरगाथा युग के सर्वे प्रतिनिधि हैं। ये कवि के हाथों कठुनानियाँ नहीं हैं। कवि प्रत्येक पात्र के नाय साक्षात्कृत स्थापित करता है और पाठकों को उनके अनुकूल-प्रतिकूल आचरण के अनुरूप निर्णय की दृष्टि दे देता है। अतः पात्र अपनी सफलता-दुर्बलता के साथ ईमानदारी के साथ पाठक के सामने पेश हो जाते हैं और अपना स्वभाव व्यक्तित्व रखते हैं। इसलिए यह रचना काव्यकला का ही नहीं, एक समूचे युग की मूर्ति की प्रतिविम्बित करने वाली मानी गई है। कवि की प्रतिभा की छाप सर्वत्र अक्षिप्त मिलती है। मरल से मरल तथा जटिल से जटिल प्रसंगों के वर्णन में कवि की बेफिकरी और मस्ती साफ जाहिर होती है।

प्रसंगोचित नृत्तियाँ—मन्त्र, प्राकृत, कन्नड गीतों, की—चोकोक्तियों के प्रयोग से शैली में चप्टी आ गई। 'उचितोक्ति, अर्थदृष्टि, अलंकार' रत्न की शैली की मूलात्मक ध्याव्या है। मूक रूप में जीवन का मर्म के उद्घाटन करने में कवि बड़ा मकन हुआ है। अनायास ही उन्मुक्त हृदय ने विमल विचारों से तथा मज्ज कल्पना से वादेवी की आगवना में लम्बीन रहने वाले ऐसे कलौषालक बड़े विरल हैं। 'अमहान् अयं रत्नभाव व्यंजना' के अनुरूप पद-योजना रत्न कवि की मकन बड़ी देन है। बिन्दु में बिन्दु की समाहित करने की समाह्वर शक्ति भी इनमें अद्भुत है। रसा-स्वादन में ही रत्न की पक्षि के नाय न्याय किया जा सकता है, अनुवाद में नहीं।

गदायुद्ध में पात्रों का शील-निरूपण नाटकीय कौशल का उत्तम विकास सूचित करता है। आलोचकों ने इन Dramatic poem या नाट्यकाव्य भी माना है। ज्ञानक का विकास पात्रों के नवादी तथा घटना व्यापारों द्वारा होता जाना है। ऐसा लगता है कि कवि ने दृश्यवाच्योचित मीन्द्र्य का निर्वाह इस अर्थ काव्य में करने का मकल किया है। यहां के सभी पात्र परंपरागत आदर्शों के नाँव में टूटे हुए हैं। फिर भी कवि ने मानवीय दृष्टिकोण से ही इनके स्वभाव का वर्णन किया है। भीम और दुर्योधन यहां के नायक और प्रतिनायक हैं। सत्य तथा द्रोपदी का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

भीम आरत में ही प्रलयकारी रौद्र की मजबूत प्रतिभा है। उनका क्रोध अकारण भी नहीं है। दुर्योधन ने अपमानित, निरुद्ध और पीड़ित पाठकों में प्रतिशोध की ज्वाला में भुना हुआ जीव अकेला भीम है। भीम का प्रण है कि द्रोपदी के अपमान का बदला जब तक न लिया जाय तब तक जीना बेकार माना जाय। द्रोपदी की झिड़की उसे और भी उन्नेजिन कर देती है। दुर्योधन रणक्षेत्र में लापता है। अकेला भीम उसी खोज में लग जाता है। रौद्र की व्यंजना का जितना अनुकूल अवसर कवि ने यहां निकाल लिया है, वह देखते ही बनता है। रोपाविष्ट भीम वम-गज के नम्बुव उपस्थित हो अपनी माँ की भीम को व्यक्त करता है 'मुझमें द्रोपदी का कुछ देखा नहीं जाना, महा नहीं जाना। तुम तो हृदय हीन हो। आज के दिन तुम्हें अपना बड़ा भाई नहीं मानना। इस मामले में मैं तुम्हारी बात मानने को तैयार नहीं। मुझे जाने दो। मैं दुर्योधन की दफना के ही दम दूंगा।' भीम की उद्दिष्ट मनोदशा का जोता-जागता चित्र यहां उमर आया है।





यहाँ से भीम गाधारी के सामने जाता है। माता के सामने उसके प्रिय मुत के वध का सकल्प दुहराता है। यहाँ उसके रोप की परकाष्ठा अकित है, साथ ही उसके उद्धत स्वभाव का बोध होता है। अन्त में वंशपायन सरोवर के पास पहुँचकर वह जल में छिपे दुर्योधन को जो ललकारता है, वह क्रोध का चरम उत्कर्ष ही है। गिन-गिन कर गदा का जो प्रहार वह करता जाता है और प्रति प्रहार के साथ जो हुकार भरने लगता है, वह भीम के स्वभाव के अनुरूप ही है। भीम दुर्योधन का मुकुट गिरा देता है और उसकी जाँघ तोड़ देता है। द्रोपदी का वेशी-सहार करने के बाद भीम धरती पर गिरे दुर्योधन पर लात जमा देता है। ये रोपावेग, भयकर गर्जन, श्रद्धालु भीम के लिए कोई अमहज नहीं प्रतीत होते। इसके विपरीत प्रतिनायक दुर्योधन के चित्रण में कवि की मौलिकता अधिक निखर उठी है।

विद्वत् साहित्य के महोन्नत पात्रों की श्रेणी में कविरत्न के दुर्योधन की गिनती होती है। कन्नड साहित्य-प्रेमियों में तो रत्न का दुर्योधन धरेलू चर्चा का विषय है। गदायुद्ध की यह खूबी है कि यहाँ नायक भीम की अपेक्षा प्रतिनायक दुर्योधन सहृदय का रजन करने वाला बन गया है। काव्य के दूसरे आद्वय में छठे आद्वय के आगे भाग तक दुर्योधन की ही चर्चा है। दसवें अर्थात् अंतिम आद्वय में दुर्योधन भीम की बराबरी का पात्र अकित मिलता है। काव्य में वर्णित प्रसंग ही ऐसा है कि दुर्योधन की नीचता ओझल-नी हो जाती है और उसकी महानता उभरती जाती है। पाँडवों के साथ हुए अत्याचार का विस्तृत वर्णन यहाँ भी होता, तो दुर्योधन हमारी महानुभूति का अधिकारी न होता। भीम की उक्तियों में इसकी स्मृति क्षणभर के लिए जागृत होती है। अन्यथा काव्य में दुर्योधन मानवीय धरातल पर आचरण करने वाला असाधारण वीर पुरुष ही अकित मिलता है।

दुर्योधन के व्यक्तित्व में परस्पर विरोधी तत्वों का समावेश हुआ है। गुण-दोष के सघात से निर्मित इस जटिल स्वभाव के व्यक्तित्व का भव्य विश्लेषण यहाँ मिलता है। दुर्योधन में राग-द्वेष, दम-दप, छतकपट, स्वजनप्रेम-मित्रप्रेम, आत्मप्रशंसा-परनिंदा, शौर्य-मात्सर्य, स्वयं-श्रीदाम आदि बेमेल चित्तवृत्तियों का योग हुआ है। अतः उसके सकल अवसाद पर सभी की आँखें गीली हो जाती हैं। काव्य के आरम्भ से पूर्व द्रोण, कर्ण, जयद्रथ, दुर्गासन आदि महारथी कालकवलित हो गये हैं। 'समरधीर, महाधूर, छली, सकलभोगलक्ष्मीपति, अभिमानधन' दुर्योधन एकाकी रह गया है। सजय के साथ यह टरावने लड़ाई के मैदान में जा रहा है। सजय पाँडवों की बड़ाई करता है और उनसे समझौता करने को दुर्योधन से अनुरोध करता है। दुर्योधन के रोम-रोम से रोप प्रकट होता है। वह पाँडवों को पीन डालने का प्रण करता है। दुर्योधन सजय की निष्ठा, सेवापगयणता और प्रामाणिकता से आदरित है। इसलिए उसके मुँह से पाँडवों की प्रशंसा सुनने का आदी हो गया है। वह किसी भी मृत से समझौते के लिए तैयार नहीं है। छल से लिया गया राज्य लौटाने को भी प्रस्तुत नहीं है। इस विषय पर घृतराष्ट्र-गाधारी की नेक मलाह मानना भी उसे पसन्द नहीं है। उनकी भीठी बात भी इस सपून के लिए कड़वी घूँट प्रतीत होती है। उसे अपनी कुदिलता पर सकोच नहीं उल्टे गर्व होता है। शोकमागर में गीते खाने वाला यह वीर अपने को 'वज्रमन' वाला मानता है। रणक्षेत्र में स्वजनो-मित्रों की निर्जीव देह देख सहसा वह द्रवित हो जाता है। लक्ष्मणकुमार, भाई दुर्गासन, साथीकर्ण इनकी याद में तड़पने वाला दुर्योधन दमनीय हो उठता है। दूसरे ही क्षण उसके प्रतिगोध से यह शोक दब जाता है।

भीष्म पितामह से मिलने पर पल भर के लिए दुर्योधन अपने पाप-क्रम पर पछताता है। लेकिन पितामह के आदेशानुसार गाँति स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। हाँ, उनकी इच्छा रखने के लिए वंशपायन सरोवर में छिपने को राजी हो जाता है। पाँडव इस सरोवर के समीप आकर उम पर व्यगोक्तियाँ बरमाने हैं। भीम की ललकार सुनते ही 'उबलते रोप के साथ पानी में पसीने से लथपथ दुर्योधन साहसगर्वालिङ्गित हो बाहर निकलता है। भीषण सघर्ष छिड़ जाता है। भीम एक बार मूर्च्छा खाकर गिर जाता है। वेहोशी की हालत में दुर्योधन उम पर कोई हमला नहीं करता। वीरोचित्त-उदारता का, आदर्श रणनीति का कैसा सुन्दर नमूना है! होश में आते ही भीम दुर्गुने वेग से उस पर दूटता है, वक्त पाकर उसकी जाघ तोड़ देता है। भीम की प्रतिज्ञा सफल होती है। दुर्योधन का जीवन सार्थक हो जाता है। उसका अन्त भयभेदी अवश्य हुआ है।

दुर्योधन के चरित्र-चित्रण में अहंभाव की पराकाष्ठा प्रलय की भी चुनौती देती हुई-नी वर्णित है। कवि ने उनके आत्मविद्वान्ताप को पग-पग पर धीन होने दिखाकर उसकी मृत्यु पर महदय की संवेदना सिहर उठने दी है। रणा-गण में प्रेता के साक्षात्कार के विधान द्वारा कवि ने दुर्योधन के आत्मप्रत्यय को ग्रियल होते अंकित किया है। सजय के साथ साथों में पटे मैदान में आते समय एक प्रेत दुर्योधन में अट्टहासपूर्वक कहता है—‘मैंने गुरु द्रोण के रक्त का स्वाद लिया है। भीम ने तुम्हारे अनुज का रक्तपान किया है। पितामह का उष्ण रक्त पीने को मिलेगा ही। अब तुम्हारा रक्त चग्ने की बटी इच्छा हो रही है।’ कौरव सम्राट् के आसन्न पतन का कितना विडम्बनापूर्ण चित्रण है। प्रेत की क्लृप्तियाँ! सम्राट् के सामने! भाग्य का फेर नहीं तो क्या है! नियति की निर्मम चपेट नर माय को साबित नहीं रहने देनी।

दुर्योधन इस अट्टहास-उपहास की उपेक्षा कर आगे बढ़ता है। उसका पैर एक जर्जर खोपड़ी पर पड़ जाना है। मजय की आशंका होती है कि जाँघ में चोट लगी होगी। दुर्योधन ने ‘चोट क्या लगगी?’ जवाब पाकर मजय आश्चर्य होता है। इन्हीं बीच एक प्रेत दुर्योधन ने बोले उठता है—‘कौ-वेम्बर! भीम के क्रोध से तेरी जाँघ टूटे बिना रहेगी कैसे?’ इसकी छेड़छाड़ की परवाह किये बिना दुर्योधन आगे बढ़ता है तो प्रेत चुटकी बजाकर कहता है—‘ए फणिगजकेतन! लाक्षागृह में विष-मिश्रित अन्न का सेवन कराकर वधुजनों का मत्सरभाव से बच करने का आयोजन जितने किया वह धोखे में पड़ा है या नग में आहुत जीवों से तृप्त होने वाले हम बोले में पड़े हैं? इनमें अन्नर देख ले नला!’ दुर्योधन निरुत्तर बहम बटाना जाना है। उस वक्त प्रेत चुनौती देता है—‘घूँटों की शपथ है यदि बोले बिना आगे बढ़े।’ घूँटों दोनों के लिए गुरु जो हैं! इससे भी दुर्योधन अभिभावित है तो प्रेत भीम की मौगव खाने लगता है। भीम का नाम लेने ही दुर्योधन भभक उठता है और प्रेतों पर गदा फेरने लगता है। प्रेत भी लड़खलाने सामना करने लग जाते हैं। गदाधारी दुर्योधन कहीं, लड़खलारी प्रेत कहीं। विधि की वामलीला का हमने प्रभावशाली अंकन हो क्या सकता है?

कवि रत्न की उर्वर प्रतिभा का ही परिणाम है कि अव्यकाव्य में ऐसा दृश्य काव्योचित कथा-प्रवाह और पान-निरूपण हो सका है। यहाँ प्रकाशानर में मानव मन के मत्-अमत् का भी विराट् मर्षण अंकित है और असत् की पात्रय का महज दिग्दर्शन भी है। कन्नड काव्य साहित्य में ‘गदायुद्ध’ का अपना अनोखा स्थान है।

‘गदायुद्ध’ का हिन्दी में अनुवाद गिबभोगा जिला स्थित आनवट्टी गाँव के सरकारी बेमिक ट्रेनिंग इन्स्टिट्यूट के हिन्दी-कन्नड के विद्वान् पटित श्री के जगन्नाथ शम्भूजी ने किया है। यह अभी पाण्डुलिपि की अवस्था में भेरे पाम है। कोई धनी-मानी साहित्यप्रेमी इसे प्रकाशित करा सके तो हिन्दी-कन्नड दोनों का भला हो।

‘रामचन्द्रचरित पुराणम्’ या ‘पंपरामायण’

पूर्ववर्ती दोनों रचनाएँ महाभारत पर आधारित थीं। पंपभारत तथा गदायुद्ध व्यास-विरचित के आदर्श पर निर्मित महाकाव्य थे। आदिकवि पंप तथा छूडीहार होकर भी कविचूडामणि रत्न दोनों ने युगीन आदर्शों के अनुरूप उनमें आवश्यक संस्कार परिष्कार किया। उसे उन्होंने अपने आश्रयदाताओं का ‘विजयाम्बुदय’ गाने का एक सुन्दर मानन बना दिया।

रामायण की कथा अंकित करने वाला ‘रामचन्द्रचरितपुराणम्’ पुराण होकर भी लौकिक काव्य परम्परा में आने वाला विख्यात चम्पू है। ‘पंपरामायण’ भी इसका नाम है। यहाँ की रामकथा पूरी की पूरी जैन दर्शन, धर्म-मप्रदाय पर आश्रित है, आदि कवि वाल्मीकि की रामकथा से सर्वथा भिन्न है। रविपेण-रचित ‘पंचपुराण’ एवं विमल-सूरि के ‘पद्मचन्द्रि’ के आदर्श पर रचयिता कवि नागचन्द्रजी ने इसका प्रणयन किया है। रचना के प्रति आश्वास के अन्त में कवि ने चरितनायक के माय्यम से अपने लिए ‘कवितामनोहर’ ‘भारती-कर्णपूर’, ‘साहित्यविद्यावर’ इनमें से एक उपाधि का प्रयोग किया है और कन्नड साहित्य में ‘अमिनव पंप’ की ख्याति पाई है।





वन्तुविग्रान् श्रीर चरित्रचित्रण की दृष्टि से यह गमायण विलक्षण है। यह रामकथा विपुलाचल में गीतम ने मगध नरेश ने कही है। गुप्तरपण में वियुक्त इस कथा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

इस कथा में जिन-मुनियों ने कइयों को जन्मान्तर का मर्म समझाया है। इन्हें के वधन में उन्हें छुटकारा दिना जैनधर्म में दीक्षित किया है।

इसका नायक राम नहीं, लक्ष्मण है। राम के केवल तीन तथा लक्ष्मण के अनेक विवाह यहाँ वर्णित हैं।

इसमें पुनर्कामेष्टियाँ की चर्चा नहीं है। राम की माता का नाम अपराजिता है। लक्ष्मण मुमित्रा का एकमात्र पुत्र है। शत्रुघ्न सुप्रभा का मपूत है।

राम लक्ष्मण बलाच्युत हैं, कारणपुरुष हैं। लक्ष्मण के इतर नाम हैं—अष्टम केशव, ज्येष्ठ, वामुदेव, वृष्ण, नारायण, लक्ष्मीधर, पुरुषोत्तम, जनार्दन आदि। लक्ष्मण नायक है। लक्ष्मण श्यामवर्ण हैं, राम गौरवर्ण हैं।

विश्वामित्रजी का कही उल्लेख नहीं है। नारदजी सीताजी पर अनुरक्त हो गये हैं।

प्रभामंडल मेघनरेश इन्द्रगति का पालित पुत्र है, सीताजी का बड़ा भाई है। नारद-निमित्त सीता के चित्र पर वह मुग्ध हो जाता है। अनजान में हुए इस अपचार से अन्न में खिन्न होता है, पदचात्ताप प्रकट करता है।

मेघनरेश इन्द्रगति के पास बच्चावर्त, मागवर्त नामक दो धनुष थे। जनक ये दोनों धनुष मिथिलानगरी ले आये। पहला धनुष राम ने और दूसरा धनुष लक्ष्मण ने तोड़ा। अन्न से सीता और चन्द्रध्वज की युगल कुमारियों से दोनों का विवाह हुआ।

राम लक्ष्मण की विभक्तपदा तब भक्त विषाद से मलिन हुए, विरक्त हुए। केकई के परामर्श पर जनक के अनुज धनक की कन्या से विवाह किया।

विजय यात्रा के दौरान में लक्ष्मण के कई विवाह संपन्न हुए।

एक पत्नीव्रतवारी राम के साथ सुग्रीव की कन्या, द्विमुग्रनगर की राजकुमारी, रत्नपुरावीश की कुमारी, इनके विवाह संपन्न हुए।

यहाँ जनक-मृगवेधवारी मारीच राम के अनुकरण पर आर्तनाद नहीं करता, रावण के वध में रही अवलो-
किनी विद्या लक्ष्मण के अनुकरण पर मिहनाद करती है।

सुग्रीव तथा उनके अनुयायी कपिध्वज सेचर हैं।

सुग्रीव की छोटी बहिन श्रीप्रभा रावण से व्याही गई थी।

बाली कैलाश पर तपस्या में लीन था। रावण वह पर्वत उठाने गया। बाली ने अगूठे में पर्वत दबा दिया। रावण दब गया और चीयने लगा। इस चीय के कारण 'रावण' इसका नाम पड़ा।

कार्णवीर्याजुन—मह्यबाहु—यहाँ रावण को बंदी नहीं बनाना, स्वयं रावण उसे बन्दी बना लेना है।

रावण की छोटी बहिन चन्द्रमुखी की कन्या अनगपुण्या हनुमान से व्याही गई थी। दहेज में रावण ने हनुमान को वरुणकु टलपुर नगर दिया था। रावण ने उसकी मैत्री की। सीताहरण के समय से वह रावण का विरोधी हो गया और राम की ओर से उसके साथ लड़ाई लाने ली।

रावण का बध गम से नहीं, लक्ष्मण से होता है।

उपर्युक्त विवेचनोक्तियों के अलावा सोलह आदिकान्त वाले इन चतुर्काव्य में अन्य मनोरञ्जक स्थल भी सहृदयों को आकर्षित करेंगे। प्रमत्तानुकूल मन्दन-प्राकृत की पद्ययोजना में कवि ने लालित्य, माधुर्य, गाम्भीर्य आदि का मफल निर्वाह किया है। 'हिममिन्-मृदुवचनगौरी' का उल्कण्ड नमूना है पप्रामायण। पुरानी कन्नड की प्रवाहपूर्ण अभिव्यञ्जना के आचार्य के नाते अभिनव पप काव्य-जगत् में अमर हो गये हैं। प्रकृति की शोभा मुपमा का काव्य-सौन्दर्यवर्धक रूप में चित्रण नागचन्द्र की चित्रोपम भाषा और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का परिणाम है।

पप्रामास्त के कर्ण, गदायुद्ध के दुर्योधन आदि की नाँति नागचन्द्र रचित पप रामायण का रावण अपूर्व व्यक्तित्व-सम्पन्न पात्र है। पाण्डित्य काव्यगान्धर्व के दुरत नायक (Tragic character) के नारे लक्षण यहाँ के रावण पर खरे उतरते हैं। कन्नड काव्यश्री के उपासक भक्त स्व० 'वी० एम० धी' (वी० एम० श्रीकृष्णायनी) ने पहले-महल 'A Tragic Ravana' शीर्षक अंग्रेजी लेख में इसका विस्तृत विवर्णन किया है। रावण के व्यक्तित्व को उभारने वाले चतुर चित्ररे नागचन्द्र को उन्होंने 'कन्नड का मेरा प्रथम प्रिय कवि' घोषित किया।

यहाँ का रावण शुचिभूत है। 'परागताविरति व्रत' का पालन करने वाला है। यह शील-निधान रावण परमात्री-प्रणय-पिपासा में पीड़ित हो उठे, यह विद्या का अदृष्टान्त नहीं तो और क्या है। अपमानित छोटी बहिन का प्रणिशोष लेने निकले वीर रावण का स्थिरचित्त रूपनी जानकी पर डोल गया। पद्मपत्र पर ज्योतिष जलविदु बायु के भँके ने जिन प्रकार धूलधूमरित हो उठना है, उसी प्रकार नास्तिक शील-शिरोगेमणि रावण का पावन मन बासना के आवर्ण-विवर्त से अपावन हो गया, मलिन हो गया। इन विचार ने उमङ्गा मत्त्वशोषण होने लगा।

इनसे पहले एक बार उपरमा प्रणय-निष्ठा माँगने रावण के पान पट्टची थी। रावण ने उसे नदाचार का पाठ पढ़ाया और आत्मविनाश में बचाया था। अल्पगमों के रूपजाल में बच निराला रावण मानवी के मोहजाल में अनायास फँस गया। पर परिस्थिति एक बार भी उसके प्रतिकूल न हुई। वह वामना के गर्न में ऊपर उठा, अपने आचरण पर पछाने लगा। 'बहुरूपिणी विद्या' के प्रनाप में सीताजी को राम-विमुख बनाने और अपने सग माम्राज्य के उपभोग का प्रलोभन दिवाया। सीताजी टम-मे-मस्त न हुई। राम के जीते जी रावण में कलङ्कित हो जाने की आशंका मात्र से शरीर हो गई, अचेत हो गई। रावण का विवेक जागा। मलमग जल हिल जाने पर कालान्तर में जिन प्रकार निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार वामना के भँके ने विद्वत रावण सहज ही सीताजी से विरक्त हो उठा, आत्मनिरीक्षण का वरदान पा गया। यह मन्त्री गानि थी जिनने उसके मन की मलिनता को नदा के लिए धो डाला। रावण को लगा कि 'विपयानवमत्तचेनम्' ही नारे अनर्थ की जड़ है। लेकिन वह नहून ही हार मानने को तैयार न था। उसने मन-ही-मन कहा—'मैं इसी क्षण सीताजी को राम के हवाले कर दू तो मेरा दम, दर्प, वैभव, पराक्रम, साम्राज्य आदि रजवण में भी धुँद हो जाएंगे। मैं गम-लक्ष्मण को लडाई में बन्दी बना लू और पीछे में सीताजी को उन्हीं माँप दू तो ठीक होगा।'।

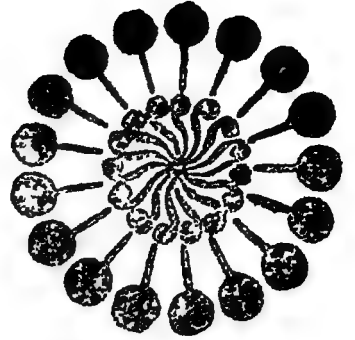
स्वामिमानी रावण का पात-नित्यपण बड़ी कुशलता के साथ कवि करता गया है। रावण की रूपशोभा तथा नाना मनोदशाओं के चित्रण के लिए कवि ने सलिल से सवद्ध व्यापार का ही सर्वत्र आचार लिया है। अत नागचन्द्र का रावण 'जलरावण' नाम से विवृत है।

पप्रामायण की कथा जैन प्रामायण की छाया है। पर उसकी वर्णनशैली और पात्रयोजना कवि पप के कला-आदर्श में प्रभावित है। पप्रामास्त और गदायुद्ध की अपेक्षा पप्रामायण में जैनधर्म का अध्यात्म-पक्ष अधिक सुन्नित है। अत काव्यप्रेमियों में पहली दोनों की नाँति यह तीसरी कलाकृति प्रसिद्ध नहीं। फिर भी इतना तो मानना पड़ेगा कि जैन काव्यों की लौकिक परंपरा में विन्मार्जुनविजय, साहयसीमविजय और रामचन्द्रचरितपुराणम् इन तीनों कृतियों का महत्वपूर्ण स्थान है।



भारतीय गौरव-ग्रन्थ भरतेशवैभव और महाकवि रत्नाकर

वर्धमान पी० शास्त्री,
विद्यावाचस्पति, विद्यालकार, न्यायकाव्यतीर्थ
समाजरत्न, धर्मालकार



साहित्य-ससार में कर्नाटकसाहित्यकारों का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा है। महाकवि पप, रत्न, जन्न, पोन्न, आदि उद्दाम साहित्यगर्जकों से साहित्यजगत् परिचित है ही, परन्तु मध्ययुगीन काल में अपनी कृतियों से विद्वत् को चमत्कृत करने वाले महाकवि रत्नाकर का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसीलिए भारतीय साहित्य अकादेमी ने उसके द्वारा रचित 'भरतेशवैभव' की भारतीय गौरव-ग्रन्थों में गणना की है। विशेष क्या, इस राष्ट्र का जो नामाभिधान बहुत प्राचीन काल से 'भारत' हुआ है, उसके लिए इस ग्रन्थ का प्रमेय ही कारण है। जिस आदि सम्राट् भरतेश्वर के समग्र वैभव का इसमें कथन किया है, उसी के कारण से इस देश का नाम भारत पड़ा, इस विषय को अब इतिहासवेत्ता मान्य करने लगे हैं, ऐसे ग्रन्थ व ग्रन्थकर्ता के सम्बन्ध में भारतीय नागरिकों को परिचित होना आवश्यक है। इसलिए यह प्रयास है।

ग्रन्थ-परिचय

इस ग्रन्थ का नाम भरतेशवैभव है। ग्रन्थ में ८४ सधि (अध्याय) और करीब १०००० श्लोक हैं, कर्नाटकसाहित्य के सागत्य छंदों से निर्मित है। मुख्यतः ग्रन्थ को पाँच विभागों में विभक्त किया है, (१) भोगविजय (२) दिग्विजय (३) योगविजय (४) मोक्षविजय और (५) अर्ककीर्तिविजय। इन्हे पच पत्थाणों के नाम से कवि ने उल्लेख किया है। ग्रन्थ की महत्ता के सम्बन्ध में संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि महाकवि ने काव्य को अत्यन्त सरस, सुन्दर व मधुर शैली में प्रस्तुत किया है। हाथ में लेने के बाद पढ़ते ही जाइये, नीचे रखने की इच्छा नहीं होती है। यह इसकी विशेषता है। दस हजार श्लोकों के चारों ही चरणों में अनुप्रास साधने का गुरतर कार्य कवि ने अनायास साध्य किया है। कवि पर सरस्वती का बरद हस्त था, इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है।

ग्रन्थ के सम्बन्ध में स्वाभिमान के साथ कवि स्वयं ही कहता है—

अय्यय्या चेन्नादु वेने कन्नडिगरु ।

अय्या भचिदि येने तेलुगा ।

अय्यय्य येच पोत्तडिडु त्तुवरु ।

मेय्युद्वि फंस वेक ०० ॥

(भरतेशवैभव १-७)

कवि ने इस श्लोक में यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि मेरा काव्य सर्वप्रिय होगा, सर्वभाषाभाषी इसे बड़ी



कर रहे हैं, फिर अधीनता के लिए आह्वान करने वाला यह कौन ? चलो ! पिताजी से ही न्याय करावेंगे । तत्काल समवमरण में पहुँचते हैं । पिता से सर्व घटना निवेदन करते हैं । प्रभु का आदेश होता है कि भरत को चक्रवर्ती होने का नियोग है । वह पुण्य आप लोगों को नहीं है । यदि राज्य चाहिए तो उसकी आधीनता मजूर करो । यदि वह मजूर न हो तो आत्मराज्य पाने के लिए मेरे पास रहो । सवने प्रभु के पास रहना स्वीकार किया । बाहुबली वीर, कामदेव और स्वाभिमानी था । वह सीधा जाना नहीं चाहता था । युद्ध में अपने बाहुबल का परिचय देकर ही जाना उसे इष्ट था, अतः युद्ध सन्नद्ध होकर आया । भरत ने अपने छोटे भाई के साथ युद्ध न करके वचन—चातुर्य से ही उसे जीत लिया, जिता भी दिया । बाहुबलि अपनी कृति के लिए दुःखी हुआ, पश्चात्ताप से दग्ध होकर दीक्षित हुआ । जिन योगी वना, भरतेश्वर ने आनन्द के साथ नगरप्रवेश किया । (३३ अध्याय)

विद्वेचनचातुर्य व सामंजस्य

भरत और बाहुबलि, दोनों सहोदर जिस समय समरभूमि में आकर युद्ध के लिए खड़े हुए तब उभय पक्ष के प्रमुख नेता चिंतित हुए । दोनों सहोदर तद्भवमोक्षगामी, अव्याघाती, तीर्थनायक के पुत्र, व समान बल वाले हैं, इनका कुछ भी विगडने वाला नहीं है, व्यर्थ ही सेनाओं की हानि होगी । अतः सेनाएँ परस्पर न लड़कर दोनों व्यक्तिगत युद्ध करें । अध्वर्यु जनों की सलाह दोनों का मान्य हुई, दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध, ये तीनों युद्ध निर्णीत हुए । तीनों युद्धों के लिए दोनों सहोदर आमने-सामने खड़े हैं । भरतेश ने सोचा कि करोड़ों सैनिकों के सामने सहोदर का यह विरोध प्रदर्शनीय नहीं, इसलिए अनुज को एक बार समझाकर देखें, अगर समझ में आया तो वह कटु प्रसंग टल जावेगा । इसी हेतु से भाई को बोधित किया—

भात बाहुबलि । आज तुम और मुझ में दुर्गाव से युद्ध हो रहा है, इसका क्या कारण है ? अकारण तो कोई प्रवृत्ति नहीं करते हैं, तुम्हारी संपत्ति मैंने नहीं छीनी, मेरी संपत्ति तुमने नहीं छीनी, पहिले से पिताजी ने मुझे राजा, तुम्हें युवराज बनाया है ।

भाई-भाई में भी द्वेष होता है परन्तु उसके लिए कोई कारण होना चाहिए । मैंने भाई को केवल देखने की इच्छा से बुलाया तो इतना प्रोध क्यों ? क्या मैं तेरा शत्रु हूँ ? यदि प्रभु के पुत्रों में ऐसा विचार हो तो सामान्य लोगों की बात क्या होगी ?

कदाचित् तुम सोचोगे कि युद्ध से डरकर बातों में लगाया है । परन्तु ऐसी बात नहीं । युद्ध तो करूँगा ही, पहले अपने मन की बात कहकर दोष टाल रहा हूँ, दूसरा कोई मेरे सामने होता तो क्षण भर में भगाता, भाई ! सोचो, सहोदरों के युद्ध को लोक पसन्द नहीं करेगा । हम दोनों गिलाडी हैं, ये लोग दर्शक हैं । कितनी शर्म की बात है । तुम मुझे जीतोगे तो क्या तुम्हें कीर्ति मिलेगी ? या तुम्हें मैं जीतूँ तो मुझे यश मिल सकेगा ? अपने इस बालिश व्यवहार को देखकर नरमुर-नागलोक के सज्जन छिन्न कहे बिना नहीं रहेंगे । तुम युद्ध के लिए आये हो न ? युद्ध में जीत की इच्छा सबकी रहती है । माघारण लोगों के समान लड़ने की क्या जरूरत है ? तुम जीत गये, मैं हार गया । जाओ अब तो प्रसन्न हो न ?

भरतेश्वर के वचन को सुनकर मंत्री, मित्र, राजा, महाराज आदि सभी ने कान में उगली देकर कहा कि हाय ! यह क्या कहते हैं । आपकी कभी हार है ? सम्राट् ने कहा कि आप लोग क्या कहते हैं ? कामदेव से कौन नहीं हारते है ? मेरे भाई जी जीत सो मेरी जीत है । बाहुबलि ! उपचार के लिए मैंने तुम्हारी जीत का उल्लेख नहीं किया । अच्छी तरह मुनो, मेरी सेना भी मुने, स्पष्ट कहता हूँ—

दृष्टियुद्ध में तुम्हारी जीत है, क्योंकि तुम मुझसे २५ घनुष अधिक ऊँचे हो, इसलिए मुझे सरलता से देख सकते हो, मुझे तुम्हें ऊर्ध्व दृष्टि कर देखना पड़ेगा, मुझे कष्ट होगा, तुम जीने, मैं हारा ।

भगनेश्वर के इस वचन को सुनकर मंत्री मित्रों ने कहा—जो अपने महान की छत्र पर बैठकर सूर्यविमान पर स्थित अट्टमिम जिन-प्रतिमाओं का दर्शन करता है, उसे २१ अनुग्रह देवते के क्या कष्ट होगा ? यह केवल भाई को सम्मान के लिए कह रहे हैं ।

भगनेश ने पुनः कहा—भाई ! जलपुत्र में भी तुम्हारी जीत है । तुम ऊँचे हो, तुम मुझे पानी में डुबा सकते हो, मैं तुम्हारी छाती तक पानी फेंक सकता हूँ । अब इसमें भी तुम्हारी जीत ही है ।

मंत्री मित्र कहते लगे—सम्राट् यह क्या कह रहे हैं ? जो अनेक इच्छित वृद्धाचार स्वन बनाकर आकाश पर पानी फेंकने की शक्ति रखते हैं उनके लिए २४ वनुष की बात क्या है ? यह भाई को बुझाने की बात है ।

भगनेश्वर ने पुनः कहा—भाई ! मन्त्रपुत्र को तो मन्त्र ही क्या है ? पिताजी ने तुम्हारा नाम ही बाहुवर्ति रखा है । वह अत्यन्त शक्ति प्रकाश हो सकता है ? भुववन में तुम प्रचल हो, मुझे सहज उठा सकते हो । पिताजी ने मेरा नाम भग्न रखा, मैं भग्न भूमि का अधिपति हूँ । तुम्हारा नाम भुजवर्ति रखा है । तो भुजवर्त में तुम मुझे उठाओगे ही, इसमें भी मैं हार नहीं कर सकता हूँ ।

मंत्री मित्रों ने कहा—जाना है सम्राट् ! नाम के समान कोई पात्रम भी दुनिया में होना है ? कभी नहीं । छोटी-सी उँगली ने पाँचों मार्ग मेला जो उठाया । बड़े-बड़े पर्वतों का जो सूखे पत्तों के समान उठा सकता है, वह क्या कामदेव को नहीं उठा सकता है ? यह भाई को सम्मान की बात है ।

भगनेश्वर के चतुर्थ जो देवकर बुद्धि और तर्कागति दा रह जानी है । अनेक प्रत्यकारों ने प्रत्यक्ष युद्ध करके चक्रवर्ती का पाल्य कराया है, यह अपने चरित्रनायक के वैभव में यत्किञ्चित् भी न्यूनता महाकवि को लानी नहीं थी । अब उसे लोक की दृष्टि से जिताया, जो स्वयं के मुख ने हाथ स्वीकार करके रखा । किन्तु विवेकपूर्ण वाग्वि है ।

अब एक सम्राट् कामदेव से हाँ गया तो दयाँ दिशाओं में अन्धकार छा गया । आग के बिना धूम निभला, मेला प्रकाश गई, बाहुवर्ति के मन में भी विवेक जागृत हुआ कि मैंने अच्छा नहीं किया । अब भाई की ओर सीधा देखने का भी धैर्य नहीं । भगनेश्वर को भी उस पक्ष में कुछ उपाय-नी हो गई । पुनः संबोधित करने लगे—

भाई, नुनो ! मैंने इस चक्रवर्ती की अभिलाषा नहीं की थी । आयुवशाला में वह अपने आप उदित हुआ और सारे देश में प्रसार लाया । व्यर्थ ही तुम लोगों के हृदय में वेदना पड़वाई । मैं इन मसक्तियों को पुण्यकर्म का फल जानकर उद्योगी भाव में भोगता हूँ । मुझे विन्तुन इनमें शान्ति नहीं, तुम इनको स्वीकार करो, यह राज्य तुम्हारा है । तुम्हारे लिए मैं यदुनड को बगल कर आया हूँ । अब उसे तुम लो, गव्यपद को स्वीकार करो, अयोध्या में मुख ने राज्य करो मुझे एक छोटा सा राज्य दो, मैं वहाँ पर रहूँगा । तुम्हें प्रसन्न करने के लिए नहीं बोल रहा हूँ । निरजित मित्र ही हमें माझी है । आन, इससे अधिक बोलने की इच्छा नहीं है, स्वीकार करो इस राज्य को । शेष का परित्याग करो । शांत हो ।

बाहुवर्ति अन्ध-अन्ध ही चरित्त हो रहा था । अब सीधा नष्ट होकर जेष्ठ भ्राता से बोलने की हिम्मत नहीं है । महीष, राज्य और वेदना में मन व्याकुल है ।

भगनेश्वर इस समय उस चक्रवर्ती को उगाने हैं—हे चक्रवर्ती ! अब जाओ, अब तुम्हारी मुझे जरूरत नहीं है । तुम्हारा अधिपति यह बाहुवर्ति है, मेरा भाई है, उनके पाम जाओ ।

इस प्रकार भगनेश्वर की आज्ञा होने पर भी चक्रवर्ती आगे नहीं बढ़ रहा है, कारण चक्रवर्ती को धारण करने





का भाग्य कामदेव को नहीं है। चक्ररत्न से वंचित होने तक का हीनपुण्य भरतेश्वर भी नहीं हुआ है। इसलिए चक्ररत्न सामने आकर खड़ा हुआ।

भरतेश्वर को क्रोध आगया—अरे चक्रपिशाच ! भाई के पास जाने के लिए कहता हूँ। तू सुनता नहीं ! तेरे ही कारण से भाई-भाई में सचर्य हुआ। मुझे तेरी जरूरत नहीं, भाई के पास जा।

फिर भी चक्ररत्न वहीं खड़ा रहा तो भरतेश्वर ने जबर्दस्ती धक्का दे दिया। यद्यपि बाहुवली ने उसकी प्राप्ति के योग्य मातिशय पुण्य न होने से तथा भरतेश्वर के उसे खोने योग्य हीन पुण्य न होने से वह पशोपेक्ष में पड़ा, वह आगे जाकर बीच में खड़ा रहा।

लोगों ने फलना की—भाई को मारने के लिए चक्ररत्न का प्रयोग किया। क्या मोक्षगामी जीव अपने भाई की हत्या करने की भी भावना कर सकते हैं ? तीर्थंकर के पुत्र तद्भवमोक्षगामी जीवों में ऐसी निंद्य खेप्टा हो सकती है ? कभी नहीं, महाकवि ने प्रमग के सामाज्य को बहुत ही उचित ढंग से बैठाकर महापुरुषों के जीवन की महानता का समीचीन दर्शन कराया।

बाहुवली को तत्काल वैराग्य उत्पन्न होना है। समरभूमि से ही अमर भूमि की ओर प्रस्थान करता है। भरतेश्वर निराश भाव से नगर-प्रवेश करता है।

दिग्विजय

घोर तपश्चर्या करने पर भी बाहुवली को आत्ममिद्वि नहीं हुई, यह समाचार सुनकर भरतेश्वर प्रभु के समवसरण में पहुंचता है। वहां ज्ञात होता है कि बाहुवली योगी के मन में एक विकल्प है कि अभी तक मैं भरत की भूमि पर खड़ा हूँ। जब तक भरत-भू पर खड़ा रहूंगा तब तक आहार नहीं लूंगा। इस विकल्प के कारण निर्विकल्पक समाधि नहीं हो रही है। उसी समय भरतेश उस तपोवन में पहुंचते हैं और उस विकल्प को दूर करते हैं। तत्काल ध्यान की सिद्धि होकर केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। भरतेश्वर की माता यथास्वती भी अनन्तवीर्य केवली से दीक्षित होती है। कैलाशपर्वत पर जो जिनभवनों का निर्माण भरतेश्वर ने कराया उसका प्रतिष्ठासमारंभ भी इसी अवसर पर पूर्ण कराया जाता है। एव धर्म की अपूर्व प्रभावना होती है। (अध्याय ६)

योगविजय

भरतेश्वर के सौ पुत्र विद्याध्ययन कर रहे थे। अकस्मात् एक दिन उनको समाचार मिला कि मेघेश दीक्षा लेकर चला गया है। उन्हें भी ससार में वैराग्य हुआ। सीवे ही समवसरण में चले गये। इस प्रसंग में महाकवि ने उनका वैराग्य समवसरण, तत्त्वोपदेश, दिव्यध्वनि, आदि का जागृत वर्णन किया है। पुत्रों ने दीक्षा ली, वृत्त जानकर चक्रवर्ती को दुःख हुआ, तत्काल वे समवसरण में पहुँचते हैं। वहाँ पर अब पुत्र नहीं, पूज्य परिव्राजक हैं। उन्हें देखकर वन्दना की। तीर्थनाथ की वडे वैभव से पूजा की, दूसरे दिन नगवान आदि प्रभु को निर्वाण पद की प्राप्ति हुई।

सम्राट् ने पुनः अयोध्या में पहुंचकर कुछ काल राज्य किया। एक दिन दर्पण में मुख देखते हुए एक श्वेत वेद्य को देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ। तत्क्षण अर्ककीर्ति का पट्टाभिषेक किया, तदनन्तर स्वयं ही गुरु होकर दीक्षा ले ली। गुरुरो के पान पहुँचने तक का समय नहीं था। निश्चल ध्यान के बल से केवल अतमुहंत में केवल्य को प्राप्त किया। (१६ अध्याय)

मोक्षविजय

अर्ककीर्ति भी राज्य में उदास रहने लगा। पिता के पुण्य से प्राप्त मर्व वैभव धीरे-धीरे अदृश्य होने लगे। राज्यवैभव से मोह का परित्याग कर अपने छोटे भाई आदिराज के साथ जिनदीक्षा ले ली व क्रमशः भूलोत्तर गुणों का

पालन करते हुए कुछ समय के बाद निम्न ध्यान के बल से आत्मनिद्रा को प्राप्त किया। (२ अध्याय)

अर्ककीर्तिविजय

इन प्रकार ८४ अध्यायों में वर्णित विशाल कथावस्तु का यह संक्षेप-भार है, दिग्दर्शन मान है। यथार्थ आनन्द मूल ग्रन्थ के प्रकरणक्रम से अध्ययन में ही मिल सकता है।

महाकवि परिचय

महाकवि का जन्म पुण्यक्षेत्र भूखण्डि में हुआ था जहाँ आज भी अनेक प्राचीन देवालय तथा ध्वलादि विद्वान्त्रयों की मूल प्रतिमाँ विद्यमान हैं। अनेक अनर्थ रत्नों की जिन-प्रतिमाओं की पुण्यभूमि में ही इन कविरत्न रत्नाकर का उदय हुआ। यह सूर्यवंश के देवराज का पुत्र था। माना-पिना ने इसका रत्नाकर नामकरण किया।

यह बाल्यकाल में ही कुशाग्रबुद्धि, अनेकगाम्यप्रवीण एवं विद्वान् था। यह काव्यालंकार-संक्षेपशास्त्र में प्रवीण, संगीत में चतुर, मन्त्रशास्त्र में निष्णान, अध्यात्म व शृंगार शास्त्र में दक्ष मुकवि था। इनके गुरु चारुकीर्ति योगी थे। एक जगह महेंद्रकीर्ति या देवेन्द्रकीर्ति का भी उल्लेख है, हो सकता है कि प्रसंगवश महाकवि का दो गुरुओं का सान्निध्य मिला हो, क्योंकि कवि की जीवन-घटनायें ऐसी विचित्र स्थितियों का दर्शन कराती हैं। महाकवि के जीवन के सबब में कलङ्क साहित्य के ऐतिहासिक ग्रन्थ राजावली कथा में देवचन्द्र ने निम्नलिखित उल्लेख किया है—

महाकवि रत्नाकर भैरव राजा के दरबार में आभ्यास कवि था। उस समय उसे देवकर राजकुमारी मोहित हुई। महाकवि भी उस पर अत्यन्त प्रभावित हुए। उसने मिलने के लिए वायु घाण के प्रयोग में, दशवायुओं को वन में कर महल की खिड़की में वहाँ पहुँचकर राजकुमारी में प्रेमालाप करता था। क्योंकि वह योगाभ्यास में भी निपुण था। जब धीरे-धीरे राजा को ज्ञान हुआ तब उसी रात को महेंद्रकीर्ति गुरु ने अगुवन दीक्षा लेकर आगमाम्नाय में निरन हुआ। अनन्तर विजयकीर्ति भट्टारक के शिष्य विजयगुरु के द्वारा रचित द्वादशानुषंग ग्रन्थ को हाथों के ऊपर विराजमान कर जुगम निकाला जा रहा था तब रत्नाकर ने अपने द्वारा रचित सरनेश्वरमव को भी हाथों के ऊपर विराजमान करना चाहिए इस प्रकार निवेदन किया। किन्ती काण्वश भट्टारकजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। बात ही बात में विवाद बढ़ा। भट्टारकों का उस समय बड़ा प्रभाव था। महाकवि का भट्टारकजी ने निरस्कार कर ७०० श्रावकों के घर में उसे कोई आहार न दे, इस प्रकार का कटा आदेश दे दिया। तब वह अपनी बहिन के घर में ही भोजन करता था, परन्तु इस कटु व्यवहार से उपग्न होकर उसने जैनधर्म को ही निलाजलि दी। वह वीरशैव-मतानुयायी बना, वहाँ भी अनेक ग्रन्थों की रचना की अनन्तर विवेक जागृत होने पर पुनः जैनधर्म में आकर आत्मकल्याण किया।

महाकवि के सबब में एक कथा इस देश में और भी प्रचलित है। उसका भी उल्लेख करना अनिवार्य है। महाकवि बाल्यकाल में ही चारुकीर्ति योगी में दीक्षित होकर योगाभ्यास में निरन रहता था। प्रातः काल उठते ही अपने शिष्यों को एवं अनुयायियों को उपदेश देने की उसकी परिपाटी थी। प्रतिदिन शिष्यों का समुदाय बटना जा रहा था। इसकी लोकप्रियता को देख कर कुछ ईर्ष्यालुओं के हृदय में द्वेषाग्नि बरक उठी, इसलिए किन्ती भी तरह इसकी निन्दा हो, इसका वे प्रयत्न करने लगे। एक दिन प्रातः काल होने के पहिले ही कवि के काष्ठशयन (चाट) के नीचे एक बेग्या को लोगों ने छिपाकर रखा। उसके शिष्य पढ़ने आये। जब वे पढ़ रहे थे तब बेग्या ने कानों की आवाज की। विरोधियों ने जो उसी समुदाय में बुद्धिपुरुष स्वर बैठे थे, उसी समय उस बेग्या को बाहर निकाला। महाकवि का अपमान किया। नत्तन कवि ने इसकी कुचेष्टा की जाना। वहाँ में उठा, किन्तीमें कुछ भी न बोलकर चलने लगा, नगर में बाहर गया, लोगों ने बहुत रोका, रका नहीं। मुझे उन दुष्टों की मर्ति की आवश्यकता ही नहीं, मैं जाना हूँ, मुझे उन धर्म की ही जरूरत नहीं, यह कहकर एक पहाड़ पर चला गया। वहाँ पर एक जैव ग्रन्थ का हाथी पर जुगम निकल रहा था। महाकवि ने उस ग्रन्थ को देखा। राजा ने कहा कि इस ग्रन्थ में कोई खाम विशेषता नहीं, रम नहीं, फिर इसका इतना सम्मान क्यों? राजा ने कहा—मैंने तो महाकाव्य समझा उसका सम्मान किया। परन्तु तुम कहते हो





कि उसमें रग नहीं तो रस क्या होता है ? तब रत्नाकर ने ६ महीने की अवधि मांगी, और ६ महीनों में भरतेधर्मभव की रचनाकर राजा के दरबार में सुनाया। सभी प्रसन्न हुए। राजा ने बड़ा सत्कार किया।

कवि की प्रतिभा व योगसामर्थ्य से प्रमत्न होकर राजा ने उसे वीरशैवधर्म को अधिकार करने के लिए आग्रह किया। राजा के आग्रह से वह वीरशैव मत में दीक्षित हुआ, परन्तु बाहर में वीरशैव होने पर भी अन्दर से जैन ही था, मरे मरण काल में जैन पद्धति से ही उत्तरत्रिया होनी चाहिए इस प्रकार उसने धर्त की। मरणसमय में स्पष्ट कहा कि मैं बाहर से वीरशैव होने पर भी अन्दर से जैन था। मैंने लिंगवधन नहीं किया था, उममें एक गुपारी को बाधा है। उस परिस्थिति में भी उसने अनेक वीरशैव गंधों की रचना की।

इन दोनों कथाओं को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर एक बात गत्य प्रतीत होती है कि कवि का पूर्व जीवन जन धर्म में, मध्य जीवन जैनियों के किसी दुष्ट व्यवहार से वीरशैव मत में, और अन्तिम जीवन पुन जैनधर्म में व्यतीत हुआ। हममें कोई सदेह नहीं रहता।

मतांतर को प्राप्त करने के बाद महाकवि ने स्वयं वहाँ गचित सोमेश्वरशतक में निम्नलिखित श्लोक का उल्लेख किया है, परन्तु वह श्लोक आधुनिक सुद्रित (सोमेश्वरशतक में पाया नहीं जाता है, परन्तु प्राचीन ताटपत्र के ग्रंथों में उक्त श्लोक पाया जाता है। उससे भी स्पष्ट होता है कि महाकवि एक बार वीरशैव हो गया था तथापि उससे उसे आन्तरिक समाधान नहीं था। सोमेश्वरशतक का वह श्लोक इस प्रकार है—

धरतभ्यक्तव्य सुधर्म जैनमत दोलतां पुष्टिवादीक्ष्य

धरिणी सन्नुत काव्यशास्त्रगलुष निर्माणमभासुत।

धररत्नाकर योगियेंदु निरत वंशगद्यदेरला।

हरदीक्षा व्रतनाथेन हरहरा श्रीचैन्न सोमेश्वरा ॥

अर्थात् मैं उत्तम सम्यक्त्वम्प जिनमत में उत्पन्न हुआ। दीक्षाग्रहण कर अनेक काव्यशास्त्रों की रचना की और यह रत्नाकर योगी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु किसी कारण से विरचित उत्पन्न होने पर हर दीक्षा (शैवदीक्षा) ली, हरहर। श्रीचैन्न सोमेश्वरा, ऐसा क्यों हुआ ? कवि के द्वारा विरचित अनेक अध्यात्मगीतों में भी इस सवध में पश्चात्ताप का स्वर निगलता है। कुछ भी हो, यह निश्चय है कि श्रुतार, अध्यात्म, त्याग, योग, मन्त्र, तन्त्र, आदि समस्त विद्याओं में महाकवि सिद्ध योगी था। यह उसकी कृतियों से सूर्यप्रकाश के समान स्पष्ट होता है।

कालपरिचय

महाकवि के द्वारा विरचित त्रिलोकशतक में स्वयं इस ग्रंथ के रचनाकाल के सवध में कवि ने उल्लेख किया है “मणिशैलगतद्विदुशालिक काल सविरत्” इस वाक्य में कवि ने इस ग्रंथ की रचना शालिवाहन शक १४८६ और ई० सन् १५५७ में की है यह स्पष्ट होता है। इससे कवि का काल १६वीं शताब्दी का मध्ययुग मानने में कोई आपत्ति नहीं है। साधारणतः इतिहासविद् विद्वानों ने महाकवि के काल के सवध में इस प्रकार उद्घापोह कर निणय किया है।

महाकवि का जन्म करीब सन् १५३२, त्रिलोकशतक की रचना करीब सन् १५५७, भरतेधर्मभव की रचना करीब सन् १५६७, मतांतरित होना करीब सन् १५७२, पुन जैनधर्म में आना करीब सन १५७५, रत्नाकरशतक की रचना करीब सन १५७७, अपराजितशतक की रचना करीब सन १५८२, अध्यात्मगीतों की रचना करीब सन १५८३, महाकवि का महाप्रयाण करीब सन १६०० के बाद, इस प्रकार संक्षिप्त कालविवेचन है।

महाकवि की इतर रचनाएं

भरतेधर्मभव महाकाव्य के अलावा कवि ने शतकत्रय नामक सुन्दर गद्य की रचना की है। यह ग्रंथ “रत्नाकरशतक अपराजितशतक और त्रिलोकशतक के नाम से प्रसिद्ध है। पहले रत्नाकरशतक में विशेषतया वैराग्यबोधक तत्त्वोप-

देव का वर्णन है, अपाजितशत्रु ने भक्ति व वैराग्य का सुन्दर उपदेश है। यह दोनों कृतियाँ कवि की प्रौढ़ प्रतिभा का दर्शन करती हैं। विविध छन्दों में, अनेक उदाहरणों में सुन्दर विषयविवेचन से अध्यात्मप्रेमियों का चित्त इनकी ओर आकर्षित होता है। तीनों त्रिलोकजनक में त्रिलोकसन्धी वर्णन है। यह जैन भूगोल को समझने के लिए सरल काव्य है।

इनमें अनाया कवि ने करीब २००० में भी अधिक अध्यात्मगीतों की रचना की है, जिसमें से सैकड़ों तो अभी उपलब्ध हो चुके हैं। उनमें से अनेक प्रकाशित भी हो चुके हैं। उन अध्यात्मगीतों की रचना में भी कवि की अध्यात्मप्रियता प्रोनप्रोन है।

कन्नड़ साहित्य का गौरव

प्रबुद्ध विषयविवेचन के प्रमग में कन्नड़ साहित्यकारों की परम्परा के सन्ध में मक्षिण उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा। कर्नाटक साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन होने पर भी उसकी महत्वपूर्ण कृतियाँ साधारणतः पप के साहित्यकाल में ही उपलब्ध होती हैं। करीब १०वें शताब्दी में महाकवि पप ने आदिपुराण व भारत की रचना की। एक धार्मिक पुराण व दूसरा लौकिक पुराण। इस प्रकार लौकिक व धार्मिक, दोनों परम्परा के रत्नों का महाकवि ने उपहार दिया। इनके बाद के प्रसिद्ध कवियों ने भी इसी का प्रायः कुछ परम्परा तक अनुकरण किया। पप के बाद पोन्न ने 'शान्तिनाथ पुराण' और 'सुवेर्नामान्द्युध' की रचना की। इनमें भी एक धार्मिक, दूसरा लौकिक काव्य है। इसका तीनों त्रिलोकजनक हैं, तदनन्तर रत्न कवि ने 'अजितनाथपुराण' (धार्मिक) व 'साहमभीमविजय' (लौकिक) की रचना की। इसमें परमगुणमन्त्रि, चन्द्रचरित, ये दो कृतियाँ सभी अनुपलब्ध हैं। पप, पोन्न और रत्न ये उस युग के ब्रह्मरत्न कहलाने हैं।

तदनन्तर चामुण्डायुग ने चामुण्डायुग व शिवकोटी ने बह्मरावना की रचना की। ये दोनों गद्यकाव्य हैं। तदनन्तर के कवियों में नागचन्द्र का उल्लेख बहुत आदर के साथ किया जा सकता है, जिसने रामचरित और मल्लिनाथपुराण की रचना की। यह अपने कृतिचानुर्य में अभिनव पप कहलाया। इनके बाद महाकवि जन्न के द्वारा विरचित यशोवर्चस्वि, अन्नन्तनाथपुराण (चपूसाव्य) मानव के द्वारा विरचित सम्यक्त्वकौमुदी जयनृपकाव्य, प्रमज्जनचरित, श्रीपालचरित, नेमोपजिनमगति आदि, मानव का भात एवं दौष्टव्य का चन्द्रप्रभपुराण आदि साहित्यजगत् के गौरव की दृष्टि में सहायक हुए हैं। इनके बाद मातल्युग का प्रारम्भ होता है, जिनका उद्घाटन महाकवि रत्नाकर ने किया अर्थात् बाद के कवियों ने विशेषतः अनुकरण किया।

भारतीय साहित्य का गौरव

उन प्रकार भारतीय साहित्य के गौरव को बढ़ाने में कर्नाटक जैन-साहित्यकारों ने भी बहुत बड़ा योगदान किया है। निरवहना, कर्नाटक साहित्य की उद्दामा प्रौढ़ कृतियाँ जैन कवियों द्वारा विरचित हैं। आज विश्वविद्यालयों के पठनक्रम में भी उन कृतियों की नियुक्ति बहुत समादर के साथ की जाती है, यह जैन साहित्य भारतीय साहित्य-समाज के लिए ही नहीं समग्र के लिए भी गौरव का विषय है।

महाकवि रत्नाकर ने युग की भाग को स्वीकार करते हुए अपनी रचना द्वारा साधारण मानवों तक पहुँचने का मनुष्य प्रयत्न किया है। उस विमुक्त ध्येय के कारण ही आज उनके साहित्य लोकप्रिय होकर जनसाधारण के हित में सर्वोपरि उनमें साधन मिष्ट हुए हैं।

आज जनतन्त्रमानव के युग में सर्वजनहितार्थ रचित साहित्य के लिए आदर का स्थान प्राप्त होना अनिवार्य एवं साहजिक है। इन महाकवि रत्नाकर के द्वारा रचित भग्नेजवैभव को भारतीय गौरव ग्रन्थ का स्थान सामन-साहित्यविभाग ने दिया है, वह सर्वथा औचित्यपूर्ण उपक्रम है।

(लेखक द्वारा रत्नाकर का यह ग्रन्थ व अन्य जनक साहित्य हिन्दी में अनुदित होकर प्रकाशित हुए हैं। जिनकी कई आनृतियाँ होकर लोकप्रिय हुई हैं। इतना ही नहीं, गुजराती, मराठी, आदि भाषाओं में भी प्रकाश में आये हैं, अंग्रेजी में आने की प्रतीक्षा में है।)



अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य मुनि कान्तिसागरजी



भारत की पुरातन विद्याओं में स्वास्थ्यविद्या का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है, इसे आयुर्वेद की मज्ञा से अभिहित किया गया है। इसका तात्पर्य, प्राण, स्वास्थ्य और दीर्घआयु से है। विश्व का प्रत्येक प्राणी स्वास्थ्यकामी है, यहाँ तक कि पशु भी स्वस्थ जीवन की कामना करते हैं। वे अपनी भावी प्रजा के प्रति पूर्णतया सजग रहते हैं, मनुष्य बुद्धि-जीवी प्राणी होने के साथ सामाजिक भी है, अतः उसे अपने समाज तथा भावी पीढ़ी के लिए स्वास्थ्य दृष्ट्या स्वभावतः ही सावधान रहना पड़ता है। निरोगी जीवन केवल वैयक्तिक समस्या नहीं होकर समष्ट्यात्मक है, सुदृढ़ और रोग रहित मानव ही स्वस्थ और प्रेरक समाज की रचना कर सकता है। समाज का मानसिक गहन चिन्तन और विकास भी उत्कृष्ट स्वास्थ्य पर अवलम्बित है, कहने की सम्भवतः आवश्यकता नहीं कि मानव-संस्कृति के विकास में पशुओं का योग भी कम नहीं रहा है, यहाँ वन, लता और गिरि-कंदराएँ अनुपेक्षणीय हैं। हमारी संस्कृति का विकास ऐसे ही प्राकृतिक वायुमण्डल में हुआ है। आयुर्वेद प्रणालिका के प्रोत्साहक ऋषि-मुनियों ने स्वास्थ्य का विचार करते समय जिम व्यापकता का परिचय दिया है वह आज के प्रगतिशील युग में भी विस्मयजनक है। पशुआयुर्वेद और वृक्षायुर्वेद विषयक रचनाएँ इस कथन के समर्थन में उपस्थित की जा सकती हैं, इतिहास के प्रकाश में आयुर्वेद की कालप्रणालिका, अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अधिक उलझी हुई है। ऐसी कोई प्रामाणिक और आलोचनात्मक कृति भी उपलब्ध नहीं कि इसके क्रमिक विकास पर मार्मिक प्रकाश डाल सके। वेद और तत्परम्परानुयायी साहित्यानुशीलन से सिद्ध होता है कि वेद-पूर्व काल में भी आयुर्वेद का अस्तित्व था, कारण कि वेदों में ऐसी अनेक ऋचाएँ संग्रहीत हैं जिनमें आयुर्वेद से संबद्ध विविध विषयों का सकलन एवं निर्देश है, वेदों में दीर्घायु के संबन्ध में मूल्यवान् विषयों की व्याख्या की गई है। प्राण-तत्त्व की प्राप्ति ही वैदिक आयुर्वेद का लक्ष्य था। प्रकृति के रहस्य को आत्मसात् कर स्वास्थ्यमूलक नियमों का परिपालन ही चिकित्सा का उद्देश्य था। दीर्घायु का ही अपर नाम अमृत है, प्राण ही अमृत है—‘अमृतं वै प्राणा ।’ वैदिक साहित्य इसी प्राण-विषयक समालोचना से परिपूर्ण है।

सुथुत और काश्यपादि संहिताकारों के अभिमत से भूतल पर मानवोत्पत्ति के पूर्व आयुर्वेद का प्रणयन हो चुका था, यथा —

इह खल्वायुर्वेदं नाम मनुष्यागमयद्वेदस्यानुत्वाद्दीर्घं प्रजा कृतवान् स्वयम्भू ।—सुथुत

अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रजा सित्सु प्रजानां परिपासनायमायुर्वेदमेवाग्रेऽपूजत् सर्ववित् ।

—काश्यपसंहिता

चरक प्रजापति को ही आयुर्वेद का उद्भावर मानने हैं —

ब्रम्हणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापति ।

जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्तत ।

च.क० नूत० अ० १-४

जिन्नी भी वैदिक महिला में पठ धातु की अनुपनधि ही इस बात की ओर मनेन करती है कि उन दिनों श्रवण और मनन का ही महत्त्व था, छान्दोग्योपनिषद् और गीता में दोनों का विविष्ट महत्त्व प्रतिपादित है। अध्ययन अध्यापन उस बान में प्रवचन द्वारा ही सम्पन्न जिसे जाने थे। आयुर्वेद के मूल ग्रन्थों में भी यही ध्वनि होता है। उदाहरणार्थ मुश्रुनमहिता में सुश्रुत पृष्ठन है और दिवोदान उचरदाना। यह पद्धति सर्वत्र थी। जैनाग्रम-माहिन्य भी इसका अपवाद नहीं है।

बौद्धिक क्षीयता, प्रज्ञा और युग की माँग के कारण महामनीषियों ने आयुर्वेद को निषिद्ध किया। अनन्तर ग्रन्थमय साहित्य का चरक और नागार्जुन आदि विद्वेपनों द्वारा प्रतिनिराकरण हुआ। प्रतिनिराकरण में मक्षिण तथ्य का विस्तार एवम् अतिविस्तृत या मत्तपीकण हुआ। जैनाओं की वाचना के नाग आयुर्वेद की परिपक्वता के माध्यम में भी समय-समय पर परिर्वर्द्धन होता गया। कालान्तर में पृथक्लिखित वैज्ञानिक विषयो पर अपने-अपने अनुभवों द्वारा मनीषियों ने स्वतन्त्र चर्चा की। इन प्रकार आयुर्वेद पलायनियों के अनुभव के कारण परिपुष्ट होता गया। इस निवध में श्री ऐनै ही प्रयासों का परिणाम प्रतिनिराकरण हुआ है।

उमने जोई मन्वेह नही रि आन आनुवेद के प्रनि भाग्नीय जन नमुदाय पुषपिजया त्रिकि आरुष्ट है, नद्विषयक गहिय भी पयजि प्रताय मे आया है, मूत्र पिटाता भी समीक्षा भी दृष्ट है—हाती जा रही है, इन सब वानो के वाच-
वृद्ध भी कहना पठ "हा है रि प्रणाग्नि गहिय ने भी त्रिभि रचनाए आज प्रकाशन की प्रतीक्षा मे ह, अनेक आयुर्वेद
नयी रचनाए पुरातन मउ मदिरों मे दिगानुदिन रीटयो का "इय वन "ही ह श्री- इनरी अतिविन परम्परा का प्रवाह
नो जता व्यपन है मि यदि उगम व्यस्मिन मन्वा रिता ताय नो बई ऋड तैयार हो सक्ते हैं, इन पर हमाा व्यान
अनी नहीं गया है । रम, धानु, द्रव्यगुण विज्ञान श्री- निदान मे सबद्ध नई रचनाए आज भी ऐसी हैं जिनका अन्वेषण
निम्नलिखित बांछनीय है उन नर दृष्टियों या मह्य उमणि भी है कि दनादिदो पुर के प्रयोगो का प्रत्येक नमय मे जैना
उपयोग होता रहा श्री- उनमे बने नामदिग परिवर्तन हए आदि का ज्ञान पर्वनी रचनाओ द्वारा ही मभव है ।

एक मन्त्र या जप अंग्रेजित ज्ञान की अर्पणा ने साधन प्राप्त करने में यह भ्रम फैलाया कि प्राचीन भारतीय लोग ने आध्यात्मिक, धार्मिक और नास्तिक विषयों में ही प्राचीन प्राप्त किया था। भौतिक विषय उनमें अज्ञान ही है, परिणामतः भौतिक याने प्रयत्न की न समझ करने की पद्धति हिंदू मन्त्रों में आधुनिक रूप में उभर आई है, अध्यात्म विज्ञान की आन्तरिकता के भी बाह्य समता भागीदार में नहीं रही, यह आधुनिक आधुनिक पर भी चर्चायें होता है। मन्त्र साहित्य में मन्त्रिणी थी ए० ए० मेरिनोस का वक्तव्य प्रेक्षणीय है —

I 'With regard to the intrinsic value of the works of the old Indian writers on medicine, the opinion of competent Judges who have hitherto examined them is not favourable. Nor is it likely that the Indian mind, since it never showed any spiritude for natural science, should have accomplished anything great in this direction. Probably the only valuable contribution to surgery to which India can lay claim is the art of forming artificial noses.'





उपर्युक्त वाक्यावली में पूर्वग्रह का स्पष्ट प्रदर्शन है। एक जर्मन विद्वान् ह्याम ने तो यहाँ तक वह टाला कि हिन्दुओं की धैर्यक चिन्ता का विकास १० से १५ शताब्दी तक का ही है किन्तु हारयारपद विक्षेपण है। परन्तु परवर्ती विद्वान् जोशी ने इन मतों का निरसन हिस्ट्री आफ इंडियन मेडिसिन में गनी-गति कर दिया है।

श्रद्धाजीवी मानग कभी-कभी भावुकतावश कह बैठता है कि पूर्णतया आध्यात्मिक जीवनयापन करने वाले मुनियों का आयुर्वेद जैसे भौतिक विषय से क्या संबंध ? इन स्वरो में प्राणीमात्र को मुख्य पहचाने की प्रवृत्ति धूमिल हो जाती है। वे अहिंसा की व्यापकता एवं सूक्ष्मता में परिमित होने और सर्वथा दया का वास्तविक गर्भ आत्ममान् किये होने तो संभवतः यह विचार ही उनके मरिचक पटल पर अवित्त न होता। इतना ही नहीं प्राचीन जैन वैदिक साहित्यानुशीलन से अवगत होता है कि आयुर्वेद की समस्त शाखाओं के विकास में त्रिशास्त्रीय आचार्यों का प्रधान सहयोग रहा है। प्रमा-यक आचार्यों को सर्व विषयों में निष्णात होना आवश्यक माना गया है। रसायन शास्त्रों के परम विद्वान् नागार्जुन के मुख आचार्य पाललिप्तसूत्रिणी को यदि चिकित्सा का ज्ञान और अनुभव न होता तो पाटलीपुत्र के मुरण्ड राजा के मस्तक रोग का निवारण संभव न था। कालिकाचार्य रसायनशास्त्र के न केवल सैद्धांतिक विद्वान् ही थे अपितु इसका उन्हें सक्रिय ज्ञान भी था। तात्पर्य है कि न केवल मुनियों ने स्वतन्त्र आयुर्वेद के प्रामाणिक और महत्वपूर्ण ग्रन्थों का ही प्रणयन किया, अपितु, एतद्विषयक दुर्बोध कृतियों पर विरतृत एवं आलोचनात्मक टीका टिप्पणी लिखकर सर्वाधिक लोक भोग्य भी बनाया। सम्प्रदायाभिन्न प्रेमियों के लिये कई रचनाओं पर मन्वक-ट्या और बालाचन्द्रोदय या अनुवाद कर उसे सुरक्षित रखा। जो सेवा आयुर्वेद जगत की की है वह आज के वैज्ञानिक व जोष के युग में भी अभिनन्दनीय ही नहीं, अपितु अनुकरणीय है। नागार्जुन रचित योगरत्नमाला जैसे कतिपय ऐसे ग्रंथ हैं जिन पर जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत सुबोधवृत्ति ही समुपलब्ध है। ऐसी रचनाएँ उन दिनों की हैं जिन दिनों स्वल्प श्रैष्ठ्य भी समाज की दृष्टि में अक्षम्य अपराध माना जाता था। अपने पारस्परिक आचार और शास्त्रीय नियमों का पूर्णतया दैनिक जीवन व्यवहार में साकार करने वाले परम निस्पृह गुणि ही इस कार्य के अधिकारी हो सकते थे। वे अपनी गायना और अनुभवों को छिपाने की अपेक्षा जनकल्याणार्थ सार्वजनिक प्रदर्शन करने में तनिक भी सकोच नहीं करने थे। प्रयोग छिपाने से हमारी चिकित्सा के क्षेत्र में कितनी हानि हुई है यह बताने की आवश्यकता नहीं। यहाँ जैनों द्वारा रचित आयुर्वेद की समस्त शाखाओं को परिपुष्ट करने वाले साहित्य की न तो समीक्षा करनी है और न क्रमबद्ध इतिहास ही उपस्थित करना है, पर यह कहने का लोभ भी सदैव नहीं कर सकता कि आज ६ दशक से अधिक एतद्विषयक रचनाएँ प्राप्त हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो जहाँ तक राजस्थान का प्रश्न है, विशुद्ध आयुर्वेदीय परम्परा को सुरक्षित रखने और अधिकाधिक लोकभोग्य बनाने में सर्वाधिक सक्रिययोग जैन यति-मुनियों का ही रहा है। यह एक ऐसा ऐतिहासिक मत्त्य है जिसकी गवाही में शताधिक मौलिक और सर्गलिन कृतियाँ समुपस्थित की जा सकती हैं।

सकलनों से मेरा सकेत आम्नाय ग्रन्थों की ओर है। सम्पूर्ण भारत में इस प्रकार की अनुभूत प्रयोगों की शता-धिक पोथियाँ उपलब्ध हैं, पर राजस्थान के जैन भंडारों में तो इनका इतना बाहुल्य है कि यदि सबका सामूहिक प्रकाशन किया जाय तो कई जिल्दे सरलता से तैयार हो जाती हैं। पुन-पुन प्रयुक्त शास्त्रीय प्रयोगों की छाप तो ऐसे सकलनों पर होती ही है पर प्रारम्भिक अनुभवमूलक योग भी हजारों की संख्या में पाये जाते हैं, जो तत्काल अपना मूल्यवान् प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। ऐसे योग केवल कालादिक औषधों से ही सन्नद्ध नहीं रहते अपितु रासायनिक-धातु परिवर्तन और विधोषविधोषों से मन्वक रखने वाले योग भी मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ सिंघफ ही लें, शास्त्रीय दृष्टि से इसे गौ या महिषी के पय में गरलका सात बार नीबू के रस में घोड़कर शुद्धि की पद्धति पचलित है, पर पुराने अनुभवमूलक पत्रों में इसे प्लाण्ट, धृत और प्लाण्डु रस समुक्त, नागरबेल के पान के साथ, वच्छनाग के धूर्ण में रत्नकर या उत्तम मद्ययोग से शुद्ध करने की कई प्रक्रियाएँ मिलती हैं। भत्तातक के हिंगुला मिश्रित कई प्रयोग विभिन्न रोगों पर इन पद्धतियों के लेखक ने शताधिक बार अनुभव किया है, पूर्ण सफलता प्राप्त हुई, रासायनिक प्रयोग अर्थ्य प्रमाणित हुए। जिन विशिष्ट रोगों को दूर करने के लिए जिन धातुओं का वर्णन शास्त्रीय कृतियों में आया है उन-उन रोग निवारणार्थ सन्नद्ध कालादिक वनिस्पतियों के रस में यदि उन्हें प्रभावित कर काम में लाया जाय तो कोई कारण नहीं कि चिवित्सक को असफलता या अयश का सामना

करना पड़े। जैसे मनुमेह के निम्न के लिये प्रयुक्त मन्त्रों को इन मन्त्रावेग नाथक वनस्पतियों के रसों के योग में बनाए तो मन्त्रर फल मिल जाता है। इन पक्वियों के वैचक्र ने हिगुन तथा मनुमेह पर यह प्रभाव पड़े कई बार प्रयुक्त की हैं। ऐसे आन्त्राय ग्रन्थ १८ वीं जन्मी में मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं, मानव है इन पूर्व के भी प्राप्त होते हैं, पर मेरे मन्त्र की कृतियों में जो मन्त्राधिक प्राचीन हैं वे रचनाएँ १८ वीं की ही हैं और मुग्रमिद्व जैनाचार्यों की पारम्परिक आम्नायें हैं। मुझे इन प्रयोगों ने सभी अचरित नहीं दिया। १० मन्त्र इन पक्वियों के वैचक्र के मन्त्र में हैं। यद्यपि इनके प्रयोग बहुततरा वानस्पतिक होते हैं अतः अन्यव्ययी मन्त्र भी उनमें लानाचित हो सकते हैं। यहाँ स्मरणीय है कि ऐसी रचनाओं में केवल प्रयोग ही मन्त्रहीन हो मो वात नहीं है, कई तो निराल मनुष्य भी प्राप्त हैं। १६ मन्त्रों का एक मन्त्रन मेरे मन्त्र में है जिनमें आपाद-मन्त्रक नवांग का वात, रोग, शक्ति, परिचर्या और चिकित्सा का विवाद और प्रामाणिक विवेचन मन्त्रित है। इनमें मन्त्रकर्ता को जो योग जिन-जिन महानुभाव ने प्राप्त हुआ है उनके नाम भी विद्यमान हैं। जिन पर प्रयोग किया गया उनके नाम भी मिलने हैं, जैसे मिहमाह्वी गुटिका के नाथ महाराणा कुभा का नाम जुड़ा है।

हा तो मैं कहते यह जो नहा था जिन् प्रकाश मन्त्रीय कृतियों के गवेषण व प्रकाश और अनुमान पर आज बन दिया जा रहा है उसी प्रकार ऐसे मन्त्रनात्मक साहित्य पर नवाधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। यह हमारे पूर्वजों की वर्यो को मन्त्राधिकार की पवित्र अनुमति निधि है। उन मन्त्रात्मक रचनाओं के अतिरिक्त भी अनपट जनता और दयः प्राप्त मानव के लोभ में महान् औपनिषद्-प्रयोग वर्यो ने चले आ रहे हैं। उनका भी निषिद्ध हो जाना अनन्त बाधनीय है। कभी-कभी अनुभव लिया गया है कि जहाँ दिग्गज विद्वान् हो गए हैं वहाँ ये ग्रामीण कहलाने वाले मानव मन्त्र हो जाते हैं।

आज का युग ज्ञान और श्रद्धा प्रदान है। अनुसन्धितुओं ने अपनी सूत्रबान् सावनाओं द्वारा कई ऐसी वस्तुओं पर प्रकाश डाला है कि उन वस्तुओं में श्रद्धापूर्वक हो जाना पड़ता है। आयुर्वेद के उद्धारार्थ भी प्रचुर प्रयत्नों की आवश्यकता है। यहाँ एक ऐसी रोगनिवारणपद्धति है जिनमें मन्त्राद्विद्या में मानव के स्वास्थ को सुरक्षित करने में बहुमूल्य योग प्रदान किया है। आज के मन्त्रित अनुसन्धानों ने प्रमाणित कर दिया है कि आयुर्वेद की शक्ति अपार है। मन्त्रदत्तों की शक्तियों की पहचान और मन्त्रात्मक की अर्थ-प्रतीति है। उन द्वारा प्रणीत और प्रकाशित आयुर्वेदिक साहित्य में भी अभी सूत्रबान् चर्या अग्रगण्य प्रस्था में पड़ी हुई उद्धार की प्रतीति में हैं। प्राचीन ज्ञानागारों में, मन्त्रालय पक्वियों में और मन्त्र-मन्त्रियों में न जाने कितना साहित्य दिनानुदिन नष्ट हुआ जा रहा है, दीमक का भोजन उन रहा है जिसका पक्व और प्रकाश नष्टनीय है।

अन्तर में मैं अपने मन्त्र के कतिपय अंगत या अल्पप्राप्त प्रयोगों पर पक्व दे रहा हूँ जिनका समय आयुर्वेद में है। जो तो मन्त्रनात्मक प्रयोगों के १० वृद्धि पर मन्त्र तथा मन्त्र पर इतने अधिक हैं कि उनकी संख्या १००० में कम नहीं है, पर यहाँ जो केवल उन्हीं का उल्लेख होगा जो मन्त्र कृतियाँ हैं। यदि कोई आयुर्वेदप्रेमी इनके प्रकाशन की व्यवस्था कर सके तो उनमें है।

योगसुधानिधि

मन्त्रनाथ के मुग्रमिद्व विद्वान् जो पाम साहित्यमेरी अष्ट-केटलोस केटलोस में इन कृतियों का उल्लेख, जहाँ मन्त्र के मन्त्र है, आया है और बताया गया है कि उसी एक प्रति इटाली ओफिस लाटिनी लून और मन्त्रों में जिनो के मन्त्रनाथ में है। अष्टावर्ष प्रगति की शीर्षा, दुर्गासद्व केवलमम मन्त्रों, अष्टावर्ष गुणादि द्वारा अष्टावर्ष आयुर्वेद मन्त्र में जिनो भी मन्त्रनाथ में मन्त्र उल्लेख नहीं हुआ है। सर्वप्रथम यहाँ इनका पक्व प्रयुक्त किया जा रहा है। उस मन्त्रनाथ चर्या के प्रतीति मन्त्रों में पक्व दिग्गज है। वैचक्र ने अपनी इन कृतियों में विवेचन दान और मन्त्र चिकित्सा पर ही विचार दिया है। वैचक्र परम्परा आनुवंशिक मन्त्र के रूप में वैचक्र को प्राप्त है वैचक्र मन्त्र ने मन्त्र है। यदि के पूर्वज की मन्त्रात्मक मन्त्र कुल वंश और चिकित्सा में। यदि मन्त्र ने कृत म कई प्रयोगों में अपने पूर्वजों द्वारा प्रवर्तित मन्त्रादी है। यदि को मन्त्रीय चिकित्सा पद्धतियों का भी अनुभव था जैसा कि



निनामी की चिकित्सा मे इस प्रकार उल्लेख किया है 'तरिमन्गुर्जरदेवजातसुयवा क्षारस्य घूर्ण क्षिपेदल्पपान विधानतो हरति तद्वाल्पस्यनिर्नामिकाम्"

ग्रथकार ने बालक जन्म से लगाकर जब तक वह ब्यस्क नहीं हो जाता तब तक की पूरी चिकित्सा का वर्णन किया है। बिल्कुल अल्पावस्था मे औपधि लेने की स्थिति नहीं होती उसके लिए लेप और धूप की व्यवस्था की गई है या माता को दवा देने का विधान निर्दिष्ट है। सर्व प्रथम दुग्ध शुद्धि और लक्षण का परिचय वर्णित है। तदनन्तर पण्डिपूजा, कार्तिकपूजन, वशपूजा, शखपूजा, नारायणपूजा, षोडश मातृका पूजा, कुलदेवतापूजा, हलपूजा आदि कृत्यों के बाद सूर्यावलोकन सस्कार सपन्न किया जाना बताया गया है। तथा रोगो मे दाह, कुक्कुण, नाभि शोथ, गुदापाक, मुखसाव, दतोद्भेद, निनामी, ज्वर, कास, हिवका, स्वास, छर्दि, मूर्च्छा, भ्रम, उन्माद, अपस्मार, मूत्र के कई रोग, गुल्म, यकृतप्लीहाशोथ, हृदयरोग, श्लीपद, विद्रधि, गृध्रसी, अस्थिसधान, भगदर, नाडीव्रण, उपदश, कुप्ट, शूक, अम्लपित्त, अतिसार, दूध फँकना, विसर्प, विस्फोट और क्षुद्र रोगादि पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। कामला पाण्डु की चिकित्सा का उदाहरण देना उपयुक्त जान पड़ता है—

अथ पाण्डुरोगे चिकित्सा

गोमूत्रशुद्धमण्डूर सर्पिषा मधुना सह ।
अक्षयैत्पाण्डुरोगघ्न, पक्षितमूलहर शिशो ॥
लोहपात्रे स्थित क्षीर सप्ताह पथ्यभुविशिशु ।
पिबेत्स्वावामपहर, ग्रहणी सोक नाशनम् ॥

अथ कामलायाम्

अजयेत्क्षामलात्ताना चक्षुषी दोषशान्तये ।
निशा गैरिक धात्रीभिर्ब्रौणिवृषो रसेन च ॥
गङ्गुचीपत्र कल्क तु 'पिबेत्तक्रेण वा शिशु ।

उपर्युक्त सभी प्रयोग लेखक के शतशोनुभूत है।

कृति के अन्त परीक्षण से विदित होता है कि लेखक को शास्त्रीय ज्ञान भी पर्याप्त था। अपनी चिकित्सापद्धति को प्रमाणभूत बनाने के लिये रावण कृष्ण कुमारतत्र का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। विशेष कर स्त्री चिकित्सा वाले प्रकरणो मे तो वृद्धत्रयी का पूरा उपयोग परिलक्षित होता है। कोन-सा प्रयोग कहा से लिया, यथास्थान सकेत स्पष्ट है। दोनों विभागी मे लेखक ने अनेक स्थान पर मन्त्र और यन्त्रो द्वारा भी रोग निवारण का उपदेश दिया है। प्राचीन ग्रन्थ एतद्विषयक कृतियों मे इस प्रकार की परम्परा पाई जाती है। विद्वत्परिचयार्थ कृति का आदि भाग उद्धृत है—

श्री गणशाय नम

नत्वा घन्वतरीं भक्त्या चिकित्सा क्षीरनीरघिम् ।
विलोष्य बुध्या बहुश कलाभि सकलकृत ॥१॥
गदघर्मात्तं बालाना सुखाय भिषजा तथा ।
क्रियते वन्दिमिश्रेण सोढय योगसुधानिधि ॥६॥
रोराज्यरम्य पुरभिष्टकास्य, मनोरम ओत्रियमदिरश्च ।
अगस्तिगोत्रो वसतिस्म तत्र, स वैद्यपुज्यो हि भवानिदास ॥३॥

पुत्रोय द्विकराजवन्दितपद. श्रीनात्तन वल्लभ. ।

सूहादगोत्रधरो बभूव निपजा माग्यस्य नारायण ॥४॥

एत्यापोऽन्य गुनस्मन्मनुवनानन्दहेतु तनो ।

जानोनी उगदीश्वरो मुनिगतो दिग्गारिवाशब्दयम् ॥५॥

विन्दमिषेपाभजेनाम्य सोय ग्रथ पु सा व्यापिदवायवद ।

सर्वे योगा यममन्त्रादयोऽस्मिन्निषद्धाएव श्रीभवानीवरेण ॥६॥

जगन्नाथ ने ज्ञानमूल देने में बृहन्नाथ की ही है। जहाँ में मुझे यह प्रति प्राप्त हुई उन मन्त्रों का जगन्नाथ है जिन्होंने प्रणम्य मेरे यह प्रतिद्विष्ट रहा है जिसे नावमित्र के ज्ञान से जिन्हीं रचना नावप्रकाश प्राप्त है। परन्तु वह जो कि विवेकही है, उसके पीछे कोई दोष आचार नहीं है, उन ज्ञानमूल ऐतिहासिक साधन जब तक न मिले तब तक इनका अस्मिन्व मन्त्र अज्ञान के गर्भ में ही रहे। हाँ नावमित्र का मन्त्र मुनिचित होना तब भी कोई बात नहीं थी, पर उनका भी ज्ञान जगन्नाथ ही है। यहाँ तो जगन्नाथ ही निम्नोक्त कहा जा सकता है कि यह प्रति आग्न मन्त्र के बाद की है अर्थात् महावैद्यानादी के अन्तर्गत ही इसका प्राप्ति हुआ होगा, क्योंकि इनमें सदैव का स्पष्ट उल्लेख है। अनुमानितार्थों से विवेक निवेदन है कि यदि किसी के मन्त्र में उनकी अन्य प्रति प्राप्त हो तो इन पक्षियों के लेखकों को सूचित करने का स्पष्ट है। इनकी मुद्रा बोध प्रतिनिधि में नैवार कर ली है। इसका प्रकाशन निजाल बाठनीय है।

गुणरत्नमाला

हिन्दी आर्य इतिहास मेडिसेन में मुद्रादि आयुर्वेद गवेषक श्री जीनी ने उपर्युक्त प्रति का उल्लेख करते हुए सूचित किया है कि इसकी एक प्रति जगन्नाथ के "इतिहास आग्नि" ग्रन्थालय में सुरक्षित है। श्रीजगन्नाथ कुशाग्रचर भाई केवलमन्त्रों ज्ञानी ने भी अपने आयुर्वेद के इतिहास में इसी बात को दुहराया है। हमें यही फलित होना है कि ज्ञान में वही भी उनकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त नहीं है। मेरे उपर्युक्त निबन्ध वरन्ध्या स्थानीय विद्वान् श्री आलमनाथ ज्ञान सा० ने मुझे अपने मन्त्र के पुर्ण हस्त के लिये बहुत पन्नों का टुकड़ा बनाया। उनमें यह प्रति आकस्मिक रूप में प्राप्त हो गई थी। उनके अपने मन्त्र के लिये मन्त्र समर्पण भी कर दी। मन्त्र है अन्य विद्वानों के वैयक्तिक मन्त्र में भी इनकी प्रति उपलब्ध हो जाय, इस प्रति के प्रारम्भ में २ में ज्ञान १४ पत्र विमुक्त है।

अनी तत्र नावमित्र की केवल एक ही रचना "नावप्रकाश" प्रसिद्ध थी और जब इस प्रति का नाम अनुमानकों ने सुना तो बड़ी प्रसन्नता हुई होगी। अन्यथा या यह माना निषम रहा है कि किसी भी इतिहास की आत्मा को यदि पहचानना है तो उनकी ज्ञानार्थों का अनुमानित निजाल बाठनीय है। जैना कि मैं पूर्व ही अपने आयुर्वेदिक मौलिक ज्ञान का उल्लेख कर चुका हूँ, तबपि मैंने जिन की दृष्टि में नावप्रकाश को देना और गुणरत्नमाला को भी समझने का प्रयत्न किया तो पता चला कि यह प्रति मन्त्र ही स्वयं रचना प्रतीत होती हो परन्तु वस्तुतः यह नावप्रकाश का ही एक अंग है। या यों कहना चाहिए कि नावमित्रों ने प्रथम इसका प्राप्ति किया तदनन्तर इसी का विचार नावप्रकाश में किया, जहाँ कि प्रति का अधिक तो नहीं पर आधिक जो पनीजग्न ज्ञान और आलमनाथ वैद्य संपादित नावप्रकाश के बाद उनमें वर्तित विषयों का निरीक्षण किया तो स्पष्ट हो गया है कि इसमें केवल उक्त गुण विज्ञान का ही मन्त्रादेश है, और अनुसूच्य, पत्रिकाओं और मानाज्य वानादि के गुण दोषों की चर्चा है। और प्रति समाप्त हो जाती है।

उक्त गुण विज्ञान का सञ्चिन्तन मैं इसलिए कहना हूँ कि नावप्रकाश में वनस्पति नाम, पहचान के बाद गुणों का वर्णन किया है जब कि हमें केवल गुणों का ही विवेचन है। इससे सभी श्लोक नावप्रकाश में मिलते हैं। वर्णन क्रम भी नावप्रकाश के ही अनुसर है। मेरा तो यही अनुमान है कि नावमित्र ने बालबुद्धि वैद्यों के लिये, विद्याधियों के लिये ही सञ्चिन्तन में तैयार किया है। चिन्तिया जो छोड़कर यदि इस गुणरत्नमाला को नावप्रकाश का सञ्चिन्तन मत्करा कह दिया जाय तो अनुचित न होगी।





गुणरत्नमाला से इतना नवीन ज्ञातव्य अवश्य प्रकाश में आया कि सुप्रसिद्ध विद्वान् भावमिश्र के पिता का नाम लटकन मिश्र था ।

रसायनसार और सुखीजीवन प्रकाश

उदयपुर के निवासी सुखवाल विप्र की ये दोनों कृतियाँ हैं । ये अष्टावधि प्रकाशित हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में अनुल्लिखित कवि हैं । आयुर्वेद के इतिहास में भी इनका नाम नहीं मिलता है । इन कृतियों का अपना-अपना महत्व है । दोनों का सञ्ज रसायन शास्त्र से है जिनका उद्देश्य वातुपरिवर्तन विद्या से है । इन कृतियों का उद्धार कवाडियो ने किया गया है ।

आयुर्वेद में रसायन की उपयोगिता सर्वविदित है । एक धातु को किसी दूसरी मूल्यवान् धातु में परिवर्तन कर देना भारतीयों का ही कौशल है । नागार्जुन इस विषय के आचार्य माने जाते रहे हैं । यद्यपि इन कृतियों पर वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले महानुभाव बहुत ही स्वल्प विश्वास करते हैं, पर जिनकी रुचि इन ग्रन्थों में है और वर्षों से जो परिश्रम करते रहे हैं वे नफल ही हुए हैं । चिकित्सा के क्षेत्र में भी रसायन का अपना बहुत ही ऊँचा स्थान है । रसचिकित्सा जीव फलदायिनी होती है । रस का तात्पर्य पारद मिश्रित औषध से भी है ।

कवि की प्रथम कृति 'रसायनसार' है जिसमें रसायन निर्माण की ३२ प्रक्रियाओं का विशद् विवेचन है । दूसरी रचना में धातुओं की शुद्धि और कृत्रिम मणिरत्नों का विधान दिया गया है । तावरा को स्वच्छ कर माणिक के रस में कैसे परिवर्तित किया जाता है और अहिफेन आदि का निर्माण कैसे होता है, रत्नों पर पानी कैसे चढ़ाया जाता है आदि कई उपादेय विषयों पर कवि ने अनुभवमूलक प्रकाश डाला है । इन आश्चर्योत्पादक प्रयोगों पर सामाजिक विश्वास होना ठठिन ही है, अतः कवि ने बार-बार जनता से आग्रह किया है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, अनुभव और गुरुगम के आधार में ही लिखा है, अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है । इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि में और भी इस विषय की रचनाएँ और स्फुट प्रयोग देखने में आये हैं । नहीं कहा जा सकता है इस में कितना सत्यार्थ है । कृत्रिम मोती के लिए तो आज के युग में प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं रहती ।

कवि ने कृति में जो रचनासवत् दिया है उस से पता चलता है कि वह स० १७०० में विद्यमान था । "गजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज" भाग एक में इनकी एक और कृति "शकुन सबद्धसार" उल्लिखित है । इसका रचना काल मेनारियाने स० १७६० दिया है जो विचारणीय है कारण कि रसायनसार में कवि ने आत्मवृत्त देते हुए इसका प्रणयन समय स० १७०० भाद्रपद शुक्ला ५ रविवार बताया है । श्री मोतीलाल मेनारिया ने इन्हीं हृदयानन्द जोशी को महाराणा सप्रामसिंह द्वितीय (राज्य काल स० १७६८-१७९०) वर आश्रित बताया है पर अपने इस कथन के समर्थन में एक भी सम-सामयिक तथा कवि द्वारा स्वीकृत ऐसा कोई अकाट्य प्रमाण उपस्थित नहीं किया है । मेनारिया स्वयं उदयपुर के निवासी और कथित अन्वेषक भी माने जाते हैं । कहीं ऐसा तो नहीं है कि उनमें अपनी ही रिपोर्ट में प्रदत्त "नेउत्रै" शब्द को नहीं मान कर महाराणा आश्रित रहने की कल्पना कर डाली हो ? रसायनसार में "सवत् सत्रह सइकरै" स्पष्ट अंकित है ।

कवि का लघुनाम "नन्द" था । ये भारती गुमाई के परम भक्त थे । कृति में बार-बार भारती जी को याद किया है और इस रचना का पूरा श्रेय भी उन्हीं को दिया है । यह बहने की यहाँ शायद ही आवश्यकता प्रतीत होती है कि उदयपुर के राजघराने से गुसाईयों का बहुत प्राचीन संबंध रहा है । १८वीं शताब्दी के जैन विज्ञप्तिपत्रों में और उदयपुर के तात्कालिक ऐतिहासिक वर्णनों में उनका वैभव वर्णित है । लाहवास के गुसाईं प्रसिद्ध हैं ।

यहाँ पर स्पष्टता वाञ्छनीय है कि यदि कवि महाराणा सप्रामसिंह द्वितीय का आश्रित होता तो कम-से-कम आश्रयदाता का नामोल्लेख तो करता ही जैसा कि राज्याश्रित कवि श्रयान्त में आश्रयदाता की ही कृति बता दिया करते

धे, बल्कि इनके विपरीत मेनारिया ने जो उद्धरण दिया है उनमें तो ऋषि का उद्धरण का होना तक प्रमाणित नहीं होना। आज भी सदाबतु में इस जगति के पर्याप्त घर हैं। विद्वत्पत्रिचयाने इति के आदि और अत भागों के उद्धरण प्रस्तुत हैं—

कवि ने ग्नायन्माग का नाम “रत्नाज बोधप्रज्ञा” भी सूचित किया है—

रत्तराजबोध प्रकाश

आदि—

श्री गणेशाय नमः

अथगुनाई भारतीजी कृत रत्नायन ग्रंथ सितयते

दोहा

इनमें गुरु एक भारती जिन घट कियो उजास ।
छोर अनेक सुशिल्य गुरु बचने बचन प्रकास ॥१॥
जिनतें बन्तु जलो मिलें सोई सतगुरु जान ।
दस्तु मुला दै गाँठ की सो कुसंग कुषयान ॥२॥

चन्द्रयनो

सप्त घात उप घात चतुरदस जानीयै ।
इनमें सब ही क्खाल पिलार बपानीयै ॥
उत्तपत्ति है बँध पिलारी सब कहै ।
हरि हा बँसी गुरुगम होय सो तैसी बिष लहै ॥३॥
घात हि घात बँध कहो उपघात यो ।
बहो घात उपघात आदि उषु जानियौ ॥
उत्तपत्ति सब क्खाल पिलारी यो कहै ।
चिरता बँध फलक बयो पैहचानिये ॥४॥

अन्त भाग—

सवत सत्रह सड़करै नावों उज्जल पक्ष ।
तिथि पाँचम रविवार युत, रचना रची सु दक्ष ॥
मिथिवाल नि में सोभतो जोसी हृदयानन्द ।
चागिन गोत्रं चापुण्डा, पिता सु ताराचन्द ॥
नगर उदपुर के बिषे कवि नद की वास ।
सद्य रसायन ग्रंथ को जग में कर्षी प्रकास ॥

इति श्री ताराचन्द मुन निपत्राल गोत्रे हृदयानन्द विरचिते “रत्नगजबोध प्रकाश ग्रंथ धातुवाद विचारनीय

समाप्त ॥





सुख सजीवन प्रकाश

आदि—

सुखसजीवन प्रकाश भाषा जोसी हृदयानन्द कृत लिप्यते ।

दोहा

कहै नन्द कर जोरि कं सुनि दशनामी राम ।
सुखसजीवनप्रकाश की सतगुरु कथा सुनाय ॥१॥
जो मति सुनि जीधै चिदुर, नित प्रति चपल उपाय ।
विधि-विधि वस्तु अनेक 'जिहा', पराधीन दुप पाय ॥२॥
जो सब विद्या जगत मे जिनमें पोत न होय ।
कै हैं कृपासु भारयी सुप सु जीव उपाय ॥३॥

अन्त—

पल एक हीरा हींग सु सुद्ध मगाइयै ।
दुगुनो नागरमोथ मध्य मिलाइयै ॥
लपन फुली इक पोत सु प्यार पल का हियै ।
हरि हा अष्ट निबोरो मींग सु पाली सराहोयै ॥
उडब मुग की पिष्ट सुकीरम जानिये ।
घोलागिरक बलीस परपक ठानिये ।
हरि हाँ टांक एक अफिम मसाला मानिये ।
गाडर दूध मिलाय रु वस्त घसाइयै ॥
अति सूक्ष्म जब होई पौड बघाइयै ।
आले गढ के चर्म ताहि भराइयै ॥
इति हींग पचस विधि सम्पूर्ण

सुखसजीवन प्रकाश जोसी हृदयानन्द कृत भाषा बार्डसमी विधि समाप्त ।

लघनपथ्य निर्णय

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति मे पथ्य और लघन का अमुक रोगो मे विशिष्ट महत्व है । वस्तुतः पथ्य स्वास्थ्य के लिए आवश्यक तत्त्व है । रोग निवारण मे दोनों की उपयोगिता असंदिग्ध है । इस विषय पर मनीषियो ने गभीरता पूर्वक विचार किया है । वह वैद्यक का ऐसा अंग है जिस पर ध्यान देना परमावश्यक है । स्वास्थ्य को प्रकृतिस्थ बनाए रखने के लिए भी माह मे एकाधवार लघन करना समुचित ही है । जिस रचना पर यहाँ विचार किया जा रहा है वह सूचित परिचर्या का एक अंग ही है । किस-किस रोग मे कितने दिनों तक अनाहार रहा जाय और किन-किन रोगो मे क्या पथ्य ग्रहण किया जाय आदि बातों का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत है । यह वक्ताने की शायद ही आवश्यकता प्रतीत होती हो कि पथ्य भी देशज होते हैं । इस मे विशेषतः मारु और जागलादि राजस्थान के जलवायु की ध्यान मे रखते हुए रोगी के पथ्य की व्यवस्था है । औषधि के परम सहयोगी तत्व पर पाश्चात्य-चिकित्सको ने सम्भवतः इतना ध्यान नहीं दिया है ।

इन कृति के प्रणेता हैं चरनरत्नच्छीय आचार्य श्रीजिनदत्तसूरिजी के पारम्परिक मुनि लक्ष्मीनाथ वाचक जो दयानिलक के शिष्य थे। महामहोपाध्याय दयानिलक स्वयं ज्वि और नम्रभी सत थे। इनकी अन्य रचनाएँ १८वीं शती के दूसरे चरण की मिलती हैं। वाचक लक्ष्मीनाथ ने लघनपथ्य निर्णय का प्रणयन महागजा जयसिंह के राज्य में उन्हीं के पाटनगर जयपुर में म० १८६० माघ शुक्ला प्रतिपदा बृहस्पतिवार को किया। इसमें विदिन होता है कि उनका मन्वृत्त भाषा पर अधिकार था। अपने अनुबन्धमूलक विचारों को बद्धत ही मरल और मुबोध भाषा में उपन्यस्त कर नामान्य या स्वल्प-बुद्धि वालों के लिए सहस्रप्रकार किया है।

“जैन मिद्वान्त भास्कर” भाग ५, किष्क २, पृष्ठ ११५ पर लघनपथ्य विचार नामक कृति का उल्लेख है। इसका प्रणयन समय म० १७६० ही है, पर वहाँ प्रणेता का नाम दीपचन्द्र दिया है।

कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

आदि—

श्रीसर्वज्ञ नमस्कृत्य त्रयतापनिवारक ।
चतुर्गतिप्रहर्ता च सर्वसौख्यप्रदायक ॥१॥
परमात्मा परं ज्योतिर्विचदानन्दमय मह ।
अज्ञानवृत्तान्त नष्टम्य केवलज्ञानदायक ॥२॥
सुखेवा च नमोक्षा च मुक्ताभरणभूषिता ।
हसबाहिनी या सा शारदा धरदास्तु न ॥३॥
गणनाथ नमस्कृत्य किल विघ्ननिवारक ।
मगल श्रेयकर्ता च गौर्यापुत्र नमोऽस्तु ते ॥४॥
धन्वतरि नमस्कृत्य सर्वरोगापहारक ।
श्रावधेदम्य वक्ता च श्रावधेदाता यशप्रद ॥५॥
महामहोपाध्याय श्रीपूर्वदयातिलक सद्गुल्फ ।
सच्चरणं प्रणम्यादौ मया प्रय विरच्यते ॥६॥
पंचतान्त्रमस्कृत्य पंचते विघ्नवारका ।
पंचते श्रेयकर्ता च पंचते च यशप्रद ॥७॥

अन्त भाग—

विद्वज्जनान्य संपूज्य नमस्कृत्य गुणप्रति ।
सर्वशास्त्रादि सवीर्य आत्मबुद्धयानुसारत ॥३३५॥
द्विनन्दमुनिभूषणं मासे च माघ सजके ।
शुक्ले प्रतिपदाया च वासरे भृगुर्मजके ॥३३६॥
संपूर्णं किरते ग्रथ निर्णयपद्मलघनम् ।
श्रीजयपुरे महारम्ये राज्ये जयसिंहभूषते ॥३३७॥
पूर्णग्रन्थ मनोहास्य चंदाना च हितावहे ।
मुखाधीत कृतो येन विद्वन्मध्ये तु शोभते ॥३३८॥
कपोल कलित चास्ति पूर्वाचार्यानुसारत ।
वाचक लक्ष्मीनाथेन एकत्री कृत शास्त्रत ॥३३९॥





मया च सबयुद्धया च दुर्ग्यात्स्थ च निर्णय ।
 बुद्धाद्बुद्ध च विज्ञाप्य मम कोषो न फल्यता ॥२४०॥
 कृपा कुरुष्व नो भतो मम विज्ञाप्य एव च ।
 यावद्विजयते पथ तावन्नृपद विद्यापरो ॥२४१॥
 इति श्री सधनपट्टनिषय श्रय सत्पूर्ण
 शुभ भूषात् श्रीकृष्णाव णमस्तु ॥

वैद्यदोष

इसके प्रणेता चरणदामी सप्रदान के सन्तप्रभ श्री अर्गन्गमजी हैं। ये न केवल आध्यात्मिक माधव ही थे अपितु जनसेवा भी उनका आवश्यक श्रत था। प्रस्तुत रचना में उनके आयुर्वेद विषयक ज्ञान का पाण्डित्य परिलक्षित होता है कवि ने उषरदण्ड, वृद्धविनोद, मधुप्रदाश, सन्निपात-लक्षण, प्रिज्ञाति योगविज्ञामणि, योगशतक, वीरविहासलोच, कालज्ञान, कुमारतन्त्र और दानचिदिन्मा जैसे वैद्यक के प्रमाणिक ग्रंथों का आधार रचान-स्थान पर टिप्पणी किया है। इन्होंने उनका अध्ययनसाथ भलरचना है। कृति में कवि ने दो बातों पर विशेष ध्यान दिया है एक तो यह कि रोगनियामणायें जो भी औषधियाँ हैं सभी वाण्टि ही ह जो लगभग राजस्थान में ही भरलता में सर्वत्र उपलब्ध हो जाती हैं। दूसरा अतिवक्त उन रोगों का ही विवेचन है जिनका सन्ध्य मुग्रयतया राजस्थान की जनता से है। यद्यपि रोगों का जहाँ तक प्रश्न है उन्हें किसी प्रान्त विशेष की सीमा में आवद्ध नहीं किया जा सकता है पर तो भी प्रान्तीय जलवायु की प्रतिक्रिया कुछ वैविध्य को लिए हुए तो रहनी है। कुछ रोग तो राजस्थान की ही देन हैं जैसे नेहरु।

मेरे पास इस की मूल प्रति लगभग ७ वर्षों में है और मैंने इसके कई प्रयोग अजमाये हैं, सफलता ही मिली है। इसमें पक्षाघात की चिकित्सा बहुत सुन्दर और विस्तार से लिखी है।

पक्षाघात का तैल

सूचित बीमारी का प्रयोग यहाँ दे देना आवश्यक है—

देवदार, बूठ, भारगी, दोनों हल्दिये, त्रिकुटा, त्रिफला, पुष्करमूल, पापाणभेद, कुशवीज वच, चित्रक, विद्यारा, क्षालपणी, पृष्ठपणी ककोल, पद्म, खग दोनों अजवाहन, नागरमोच, पत्तीम, अनीम, अजमोद, सनावरी, पुनर्नवा, कुलिजन, जाय फल जावत्री, कायफल, लौंग, अहिफेन, राई, मालकागणी, कपूर काचरी, इन सब वस्तुओं को बूट कर तैल बनाना चाहिए, इसमें आकड़ा, धतूरा, भागरा, कुमार, अरडी, सरजना, अहूना, कटेरी, निगुण्डी आदि का रस पाचक करना आवश्यक है। विधिबत् इस तैल की मालिश से कैसा भी पक्षाघात क्यों न हो तत्काल लाभ मालूम देगा। मैं इस का व्यवहार ७ वर्षों से कर रहा हूँ, सामान्यतः यह तैल चोट, मोच, लग जाना, वादीआजाना, चणक आदि अनेक बात विषयक रोगों पर आशीर्वाद सिद्ध हुआ है। जो-जो लक्षण कृति में बताये हैं तदनुसार अनुभव होने पर इसकी मालिश अधिक दिनों तक भी की जा सकती है। कवि ने तो परहेज बहुत विस्तृत बताया है पर विषय ध्यान इस बात का रखना अनिवार्य है कि शीतल भोजन और पेय सर्वथा निषिद्ध है।

इसमें भी वील और स्थोत्रिवित्ता के स्तवत्र प्रकरण हैं। कई रोगों पर तो अनेक अद्भुत प्रयोग हैं और कतिपय पर तो एक ही प्रयोग है, पर वह रामबाण ही प्रमाणित हुआ है। आल का केवल एक ही योग है, पर सभी चक्षु रोगों पर लाभदायक सिद्ध हुआ है।

मूलपाठ में भाषा की त्रुटियाँ हैं, मौलिकता की रक्षा की दृष्टि से पाठ ज्यों का त्यों मुद्रित किया जा रहा है—सं०

कवि का विगण वृत्त जानने के लिए 'भारतीय साहित्य' का प्रथमांक देखना चाहिए जो आगरा विश्व-विद्यालय ने प्रकाशित है।

चिद्वत्सर्गिन्वायं वृत्ति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

आदि भाग—

श्री गणेशाय नमः

अर्चाम वृत्त वैद्योद्योत प्रथम भाग निम्न—प्रथम श्रीगणेशजी कू मंगलाचरण कहत है—

छप्पै

एक रदन गज पदन सफल तत्वारथ आसी ।
जोग जुक्ति प्रहेनिसि भात इक चद प्रकासी ॥
पाटवर बनि पोति द्विद दरमीइ हुअ छिय ।
भुज कण्ठ नो जाति लास मुक्ताहु लसछिय ।
अलैराम गनपति सुमिरि बुद्धि अपूर्व बल दीजिये ।
सरस उकति इछा तपी नथित प्रणम तुव कीजिये ॥१॥

सुन्दरदेवजी कू स्तुति करत है—

दोहा

दिग अवर द्विज पुत्र है, ध्याये अलख अर्चव ।
लोक तीन मे गति सदा जय-जय श्रीसुन्दरदेव ॥२॥

बहुरि हरिदेवजी कू स्तुति करत है—

दोहा

जै जै श्री हरदेवजी तुम देवन के देव ।
तुम सेवन पातक नस लहै अमरपुर भेव ॥३॥
निराकार आकार हरि अगम अगोचर देव ।
कई रूप निह रूप ही कोईय न पाये भेव ॥४॥
गुरु किरपा जानी यही हरि सिन और न कोय ।
चिर चर कीट प्रजत में व्याप रह्यो हरि सोय ॥५॥

बहुरि चरनदाजी कू स्तुति करने है—

दोहा

चरणदास सतगुरु तपां चरण नमू निस दीस ।
अलिय विषन दूरै हरै निदवय जानै जगोस ॥६॥

बहुरि छानाजी की स्तुति करत है—

दोहा

गुरु छानां गुन आगरे दया दृष्टि अतिसार ।
साहि कृपा करि कीजिये वैद्य अथ विस्तार ॥७॥





गुरु छौनां किरपा करी सहु प्रथन की भेद्य ।
 बुद्धि बुद्धिमोहि दीजिय अघिनासो गुरुदेव ॥८॥
 गुरु छौनां परताप स तुम अज्ञान तसाय ।
 गुप्त यात परगट सहै आनन्द नाहि समाय ॥९॥
 अखेराम के सदगुरु गुरु छौना सुख बन्द ।
 चिता टारन भै हरन भेटत सब सुख बन्द ॥१०॥
 तुच्छ बुद्धि मग अलप है प्रथ करन की छाव ।
 जैसे विगल पुरष की गिरि बड्ढी की याव ॥११॥
 अखेराम की बीनती गुरु ईश्वर गुनि तेह ।
 बुद्धि बुद्धि सुख धाम के मो हिरदे सुग देह ॥१२॥
 चार बार परनाम कर कर जोडु सरि नाय ।
 सतगुरु तुम्हरी सरन हौं सब सदेह मिटाय ॥१३॥

अन्त—

चौपाई

बंधबोध यह नाम दलान्यो बहुत प्रथ की भेद मु ठान्यो ।
 मन मति अतप कहा उनमाना ग्रन्थ अपार अधि सम जाना ॥
 गुरु किरपा तं ज्ञान लह्यो है बंधबोध यह प्रथ कह्यो है ।
 पुनि वष देति चिकित्ता कीजै यथता-युक्त विचार जु दीजै ॥
 देस काल अरु दन्हि विचारो व्याधि औषधि सब चित्त धारी ।
 इह विचार करि दीजै सोई अखेराम भावित इह होई ॥

अथ ग्रन्थ वचन—

तैल नीर मियो जु कहेई इनसे रिखा करि तुम लेई ।
 तिलक प्रथ ते रिखा कीज्यो मूढ धीय के कर मति दीज्यो ॥

छप्प

ल-सर-नाग तुम जानि रूप धरि सवत कहिये ।
 माघ मास पुनि नाम पक्ष प्रथमा सुख लहिये ॥
 पुनि चिरचि तिय जानि सूर्य सुतवार बरानू ।
 ता दिन प्रथ सभाप्ति होत अति हर्षित जानू ॥
 श्री सवाई जयनगर मे प्रथ पूर्णता जानिये ।
 गुरु प्रसाद ते इह सहो बंधबोध बलानिये ॥

इति श्री अखेराम कृत बंधबोध भाषाया वात रक्त उरस्थभन ग्राम वात परिणाम सूल सूल उदावृत्त हृद्रोग
 मृशकृच्छ्रादि प्रमेह—।

इन पक्तियों के लेखक ने इनके कतिपय प्रयोगों को—पक्षाघात, मधुमेह, श्वास, आँख आदि आदि—ऊँई बार
 अजमाया है, पर असफलता न मिली ।

1. 2. 3. 4. 5. 6. 7. 8. 9. 10. 11. 12. 13. 14. 15. 16. 17. 18. 19. 20. 21. 22. 23. 24. 25. 26. 27. 28. 29. 30. 31. 32. 33. 34. 35. 36. 37. 38. 39. 40. 41. 42. 43. 44. 45. 46. 47. 48. 49. 50. 51. 52. 53. 54. 55. 56. 57. 58. 59. 60. 61. 62. 63. 64. 65. 66. 67. 68. 69. 70. 71. 72. 73. 74. 75. 76. 77. 78. 79. 80. 81. 82. 83. 84. 85. 86. 87. 88. 89. 90. 91. 92. 93. 94. 95. 96. 97. 98. 99. 100. 101. 102. 103. 104. 105. 106. 107. 108. 109. 110. 111. 112. 113. 114. 115. 116. 117. 118. 119. 120. 121. 122. 123. 124. 125. 126. 127. 128. 129. 130. 131. 132. 133. 134. 135. 136. 137. 138. 139. 140. 141. 142. 143. 144. 145. 146. 147. 148. 149. 150. 151. 152. 153. 154. 155. 156. 157. 158. 159. 160. 161. 162. 163. 164. 165. 166. 167. 168. 169. 170. 171. 172. 173. 174. 175. 176. 177. 178. 179. 180. 181. 182. 183. 184. 185. 186. 187. 188. 189. 190. 191. 192. 193. 194. 195. 196. 197. 198. 199. 200. 201. 202. 203. 204. 205. 206. 207. 208. 209. 210. 211. 212. 213. 214. 215. 216. 217. 218. 219. 220. 221. 222. 223. 224. 225. 226. 227. 228. 229. 230. 231. 232. 233. 234. 235. 236. 237. 238. 239. 240. 241. 242. 243. 244. 245. 246. 247. 248. 249. 250. 251. 252. 253. 254. 255. 256. 257. 258. 259. 260. 261. 262. 263. 264. 265. 266. 267. 268. 269. 270. 271. 272. 273. 274. 275. 276. 277. 278. 279. 280. 281. 282. 283. 284. 285. 286. 287. 288. 289. 290. 291. 292. 293. 294. 295. 296. 297. 298. 299. 300. 301. 302. 303. 304. 305. 306. 307. 308. 309. 310. 311. 312. 313. 314. 315. 316. 317. 318. 319. 320. 321. 322. 323. 324. 325. 326. 327. 328. 329. 330. 331. 332. 333. 334. 335. 336. 337. 338. 339. 340. 341. 342. 343. 344. 345. 346. 347. 348. 349. 350. 351. 352. 353. 354. 355. 356. 357. 358. 359. 360. 361. 362. 363. 364. 365. 366. 367. 368. 369. 370. 371. 372. 373. 374. 375. 376. 377. 378. 379. 380. 381. 382. 383. 384. 385. 386. 387. 388. 389. 390. 391. 392. 393. 394. 395. 396. 397. 398. 399. 400. 401. 402. 403. 404. 405. 406. 407. 408. 409. 410. 411. 412. 413. 414. 415. 416. 417. 418. 419. 420. 421. 422. 423. 424. 425. 426. 427. 428. 429. 430. 431. 432. 433. 434. 435. 436. 437. 438. 439. 440. 441. 442. 443. 444. 445. 446. 447. 448. 449. 450. 451. 452. 453. 454. 455. 456. 457. 458. 459. 460. 461. 462. 463. 464. 465. 466. 467. 468. 469. 470. 471. 472. 473. 474. 475. 476. 477. 478. 479. 480. 481. 482. 483. 484. 485. 486. 487. 488. 489. 490. 491. 492. 493. 494. 495. 496. 497. 498. 499. 500. 501. 502. 503. 504. 505. 506. 507. 508. 509. 510. 511. 512. 513. 514. 515. 516. 517. 518. 519. 520. 521. 522. 523. 524. 525. 526. 527. 528. 529. 530. 531. 532. 533. 534. 535. 536. 537. 538. 539. 540. 541. 542. 543. 544. 545. 546. 547. 548. 549. 550. 551. 552. 553. 554. 555. 556. 557. 558. 559. 560. 561. 562. 563. 564. 565. 566. 567. 568. 569. 570. 571. 572. 573. 574. 575. 576. 577. 578. 579. 580. 581. 582. 583. 584. 585. 586. 587. 588. 589. 590. 591. 592. 593. 594. 595. 596. 597. 598. 599. 600. 601. 602. 603. 604. 605. 606. 607. 608. 609. 610. 611. 612. 613. 614. 615. 616. 617. 618. 619. 620. 621. 622. 623. 624. 625. 626. 627. 628. 629. 630. 631. 632. 633. 634. 635. 636. 637. 638. 639. 640. 641. 642. 643. 644. 645. 646. 647. 648. 649. 650. 651. 652. 653. 654. 655. 656. 657. 658. 659. 660. 661. 662. 663. 664. 665. 666. 667. 668. 669. 670. 671. 672. 673. 674. 675. 676. 677. 678. 679. 680. 681. 682. 683. 684. 685. 686. 687. 688. 689. 690. 691. 692. 693. 694. 695. 696. 697. 698. 699. 700. 701. 702. 703. 704. 705. 706. 707. 708. 709. 710. 711. 712. 713. 714. 715. 716. 717. 718. 719. 720. 721. 722. 723. 724. 725. 726. 727. 728. 729. 730. 731. 732. 733. 734. 735. 736. 737. 738. 739. 740. 741. 742. 743. 744. 745. 746. 747. 748. 749. 750. 751. 752. 753. 754. 755. 756. 757. 758. 759. 760. 761. 762. 763. 764. 765. 766. 767. 768. 769. 770. 771. 772. 773. 774. 775. 776. 777. 778. 779. 780. 781. 782. 783. 784. 785. 786. 787. 788. 789. 790. 791. 792. 793. 794. 795. 796. 797. 798. 799. 800. 801. 802. 803. 804. 805. 806. 807. 808. 809. 810. 811. 812. 813. 814. 815. 816. 817. 818. 819. 820. 821. 822. 823. 824. 825. 826. 827. 828. 829. 830. 831. 832. 833. 834. 835. 836. 837. 838. 839. 840. 84

100





साधु सत वयाल की कृपा भई हित फाल ।
 वाल बुद्धि के कारण प्रगट करि जो विचार ॥
 पूर्व ग्रथ की साख्य करि ग्रन्थ बुद्धि अनुसार ।
 अद्वा शुद्ध जो होय करि बुध जन लेहु सुधार ॥
 धुधजन लक्ष्मीचन्द कृत आतम हित के काज ।
 तुच्छ बुधि करि कौजिये पूरण ग्रथ समाज ॥
 दोहा सवैया चौपई छप्पय सोरठा जान ।
 एक सहस्र श्रव सातन उपरि बीस छावाण ॥
 ॥ इति श्रीलक्ष्मीप्रकाश ग्रथ संपूरण ॥

मिति वैशाख कृष्णा ३० सं० '१९४५ का लिपीकृत ब्राह्मण गमनाथेन' सापूणि मध्ये लिलेख ॥ पठनाय
 बाबाजी श्री श्री १०८ जुगगजजी के ताई ॥

निघंटु

किसी भी देश की चिकित्सापद्धति में द्रव्य गुणविज्ञान का महत्व सर्वोपरि होता है। जब तक हम तत्त्व का समुचित ज्ञान नहीं होता तबतक वैद्य चिकित्सा अधिकारी नहीं माना जाता। प्राचीन भारतीयों ने इस पर बहुत ध्यान दिया है। चरक काल पर दृष्टि केन्द्रित करने से विदित होता है कि उस समय वैद्यों का इस पर ध्यान आकृष्ट हुआ था। चरक के अनुपानविधि (भू अ २७) अध्याय में खाद्य वस्तुओं की विवेचना करते हुए प्रत्येक के गुण दोषों पर वैद्यक प्रकाश डाला गया है। सूत्र स्थान के ३८वें अध्याय में ३७ द्रव्यगुणों की परिगणना है—जो वैद्यकीय प्रगति की परिचायिका है। वाग्भट भी इसी का अनुसरण करते हैं। यहाँ ऐनिहात्मिक दृष्टि से विचार करने के पूर्व उस बात का स्पष्टीकरण बाध्य है कि द्रव्यगुण विज्ञान के बीच चरक में होने के बावजूद भी इसके पृथक् विवेचन का युग बृहस्पति के बाद का है। प्राप्त निघंटुओं में सर्वप्राचीन धन्वतरि निघंटु का माना जाता है, पर वनस्पतिशास्त्र के पर्यालोचन से उमारी प्राचीनता असंदिग्ध नहीं है। ४वीं शती के मुनिन्द्र विद्वान् श्री कौण्डकार श्रमरमिह ने भी वनस्पतियों के नाम दिये हैं, पर उनका दृष्टिकोण भिन्न था, वैद्यकीय नहीं था। मालवपति भुज के समकालिक कवि हल्लायुध की अभिधान रत्नमाला और चक्रवर्त्त के द्रव्यगुणसंग्रह को प्राचीन निघंटु मानने में आपत्ति नहीं है। दोनों कृतिकार चरक में परिचित थे। धन्वतरि का प्रभाव भी इन पर नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इस की कृति को द्रव्यावलि की सजा में अभिषिक्त किया गया है। बारहवीं शती के गुजराती विद्वान् शोडन को हम विस्मृत नहीं कर सकते जिनने वनस्पतियों का प्रत्यक्ष अनुभव कर अपने विचारों को विस्तार से उपस्थित किया। भेद प्रभेदों पर प्रकाश डाला। यह पहला व्यक्ति है जिसने न अपने गदनिर्गम में अहिफेन का उल्लेख किया है। वैद्य वैशय प्रणीत सिद्धमन्त्र भी अनुपेक्षणीय नहीं। अति प्रसिद्धि प्राप्त यदि कोई निघंटु है तो वह मदनपाल निघंटु है जिस की रचना १४ वें शतक में होना प्रमाणित है। डा० राजेन्द्रलाल मिश्र और महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथजी रेड्डी ने इसे कनीज का गहरवार वशीय माना है, पर प्रकाशित निघंटु की प्रशस्ति से स्वतः सिद्ध है कि ये जमानाटोय काच्छ देशीय नरेश थे जिसकी अवस्थिति दिल्ली में उत्तर की ओर रही है। मदनपाल ने अपने निघंटु की रचना करने समय एतद्विषयक अन्य नामग्री का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। उस समय और निघंटु रहे होंगे। अभिधानबुडायणि भी एक मूल्यवान् कृति है जो मदनपाल, अभिधानरत्नमाला, विश्वप्रकाश, श्रमरकोश आदि के निरीक्षण के पश्चात् लिखी गई है। आयुर्वेदीय ग्रीपविद्यान्त्र के क्रमिक विकास की दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्व है। विस्मृत वनस्पतियों के नाम भी इस में विद्यमान हैं। मापेक्षत यह ग्रीपों के अधिक नाम देना है। यहाँ क्षेम क्षमा के "क्षेम कुतूहल" को विस्मृत नहीं कर सकते

जिनकी रचना म० १६०५ में हुई है। पाठ्यात्म्य का विग्रह विवेचन इसी में प्राप्त होता है। कवि ने आत्मवृत्त देने हुए सूचन किया है कि मेरे प्रणिनामह ने दिल्ली के मुलतान की सेवा कर ११ ग्राम प्राप्त किये थे। कवि ने स्वयं भी विदमनेन राजा की सेवा कर कुछ ग्राम पाये थे। पर वह कहीं का नरेश था, कहना कठिन है। इसने उस समय के प्रचलित अन्य प्रथा का उल्लेख किया है, पर वे आज अप्राप्य हैं। उनके अनिगिन् राजवल्लभ वृत्त द्रव्यगुणसंग्रह (रत्ना वान म० १-६० ई०) भाष्य वृत्त द्रव्यावलि, आदि कई निघटु मञ्जक रचनाएँ प्राप्त हैं।

सूचन निघटुओं में गज निघटु के बाद सर्वोत्कृष्ट जो सूचना देने वाला निघटु उपलब्ध है वह है भावप्रनाथ जिनकी रचना भावमित्र द्वारा हुई और उनकी एतद्विषयक एवं और रचना गुणरत्नमाला है जिनका पञ्चम्य इसी प्रबन्ध में ऊपर की पंक्तियों में दिया जा चुका है।

उन्नीसवीं शताब्दी में जीवित रहने वाला, वानस्पतिक ज्ञान का विकास होता गया। वैद्यों के लिये इसका प्रत्यक्ष ज्ञान निम्नलिखित आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। बिना पञ्चम्य के भैषज्य कल्पना असंभव है। पर आज बहुत कम ऐसे चिकित्सक हैं जिन्हें वनस्पतियों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो। पमागियों पर निर्भर रह कर सफल चिकित्सक नहीं बना जा सकता है। ऊपर की पंक्तियों में निघटुओं का विस्तृत प्रबन्धन इनलिये करना पडा कि मेरे संग्रह में एक ऐसा निघटु है जिनका पञ्चम्य यहाँ दिया जा रहा है। यद्यपि यह कृति उच्छिन्न है पर फिर भी उसका मूल्य कम नहीं होता। रचनाकाल और रचयिता अज्ञान है। इसका महत्व इसलिए भी है कि यह प्राचीन निघटुओं की अन्तिम कड़ी है। सम्भव है १८-१९वीं शताब्दी की रचना हो। इसमें प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रत्येक वनस्पति का नाम, गुण और किन् प्रदेश में अधिक प्राप्त होती है तथा वहाँ उसका क्या ग्रामीण नाम है, तन्मूल्य जनता उसे किन् काम में विशेषतया लाती है आदि अनेक मूल्यवान् सूचनाओं का इसमें उपादेय मग्न किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इसकी रचना भावप्रकाश ने बाद की है, कारण कि जहाँ कवि ने वनस्पतियों का वर्णन किया है वहाँ यह भी मकेन किया है कि अमुक वनस्पति के भावप्रकाश ने इनने विशेष नाम दिये हैं, और कैय देव तथा वनवन्तरि ने इनने दिये हैं। प्रमाणस्वरूप गुणरत्नमाला का भी उल्लेख पर उल्लेख है। ग्रन्थकार अमरकोश और इन्द्रकोश के नाम भी देता है। इसकी दूसरी विशेषता है धायुर्वेद में प्रचलित औषध युनानियों में क्या स्थान रखते हैं और उनके गुणों में वे क्या अन्तर बनाते हैं। साथ ही युनानी और पाषाणिकों का पूरा परिचय देकर दोनों पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर वैद्य समाज पर महदुस्कार किया है। इसमें कई प्राणीय नूतन वनस्पतियों का भी विस्तृत वर्णन है जिनका उल्लेख अद्यतन निघटुओं में नहीं मिलता। जो औषध प्राचीनज्ञान में विदेशों से आते थे उनकी सूची पृथक् दे रखी है। प्राणीय औषध जैसे चोहवान कूर्माचल में प्राप्त होता है, समीर चीन में, गोपा सिन्धु तेल बनना है, बुरहानपुर प्रान्त में अधिक मिलता है। अन्नपर्वत में ऐसा प्रतीत होता है कि इनका विस्तृत वर्णन तो भावप्रकाश में उपलब्ध नहीं। परवर्ती साहित्य में विकसित नव्यों का समाविष्ट होना स्वाभाविक है।

यहाँ कुछ उद्धरण देना आवश्यक है—

जन मिलाया—“अन्नात्तक मञ्जा मिलोनी इति दक्षिणदेशे प्रसिद्ध बहुधा तत्रैव भोजनादौ प्रचार ।

भृंगमारी—मानवे च प्रसिद्ध पुष्पविशेष नाम, क्वचित्भाषायां भटवास इति प्रसिद्ध । आन्नस्य वाटिकायां (भैंठा) भेटन मृज्जायने चिन्तिनिरा हस्तद्वयोच्चमान, पत्राणि ताम्बूलसदृशाणि—।

सोप—अनमदने तत्काष्ठस्य दन्धावन कुर्वति जना ।

भाण कद—वृणदेशे मानकछरि प्रसिद्ध ।

भाई—भावप्रकाशे पश्चिमदेशे मोर्दे आर्दनि लोके प्रसिद्ध इति वृक्ष विशेष ।

शाह पमद—स्यात् स्याह पमद न नता नेद एवं हि पर्वत प्रान्त तद्वानदेशेयि समुगगत जायते लक्ष्मणपुर (लखनऊ) प्रान्ते तद्विजमारुण ।





सुरवाली—इद्रप्रस्येति प्रमिद्धा, अजदेवे मिततीति प्रसिद्धा वर्षाकाले अवापितवक्षेत्रे जायते तत्पत्र नलिका-
याश्च शाक कुर्वन्ति जना । तद्बीजानि सूक्ष्माणि कृष्णवर्णानि कातियुतानि भवन्ति ॥ निघट्टादौ-
सुनिपण सितवार इति नाम्ना विख्यात । मदन विनोदे तु सुनिपण सितवारी पृथक् लिखितौ
अन्य निघटेषु भावप्रकाश रम्यदेव प्रभृतिषु एकैव लिपित ॥

कपूर—अथ चीनकोपि अस्त्यौवभेद लोके चीनिया इति प्रसिद्ध तस्य नामगुणा
चीनकश्चीनकपूर् ? कृत्रिममोघवल पदु ।

मेघसारस्तुषारस्तु दीपकपूर्जस्मृत ।
चीनक कटु तिक्तोष्ण इत्येतत्कफाम्, ॥
कठवोष हरोमेध्य पाचनकिमिनाशन ।
पित्त प्रशमन प्रोक्त कृष्टकटुति नाशनम् ।
छवि प्रणाशन. सर्वव्याधिजन्मैककारणम्
तदुत्पत्तेर्विशेष लक्षणम्
शिरोमध्यतलश्चेति कपूर्स्त्रिविधस्मृतः
शिरस्तभाग्र सजात मध्यपर्णतलेतल ॥
पुलकभावविशदशिरोजात तु मध्यमे ।
सामान्यपुलक स्वल्प तलेच्छुण तु गौरव ॥
स्तम्भगर्भस्थित श्रेष्ठ स्तम्भवाह्ये च मध्य ।
स्वच्छमोषद्वहिरिद्राभ शुभत-मध्यज स्मृतं ॥
अदृष्टशुभ्र रुक्षतु पुलकवाहज स्मृत ।
स्वच्छ भृ गामपत्र सघुतर विशद तोलनेतिवक्तव्यं च ।
खादेशेऽप्य मृदुह्य बहलपरिमल मोदसौरभदायो ॥
मिस्नेह दार्व्यपत्र शुभतरमृतिचेद्राज्य योग्य प्रशस्त
कपूर् चान्यथाचेद्वहतरमशने स्फोटवापिप्रणाम ॥

अपर च भीमसेनी कपूर् इति लोके विख्यात तस्य नेत्ररोगेषु विशेषतः प्रचार जयपुरे दक्षिणदेशेचास्यप्राप्ति
निघट्टवादी तदुत्पत्तिर्लक्षणं न दृश्यते परन्तु बृद्ध पुरुषेभ्य एव श्रूयते पुराकलमद्रदेशे लाहोरनामकनगरे भीमसेनानामा-
वणिजजनोन्यवसत् स च नानाविधोपधीनाक्रयविक्रय व्यवहारार्थं बहुसग्रहं कृतवान् तत्र कपूर्स्यापि प्राधिम्य मभवत्
पुनश्चैवदैवयोगेन कदाचिदग्निनातदग्रहे दाहंजाते सर्वोपधिनामपि दाहोजातस्तत्रकपूर्स्तुनानाविधोपधि सर्वघेन-
उद्धीयतद्गृहस्थोर्ध्वस्थितवाष्ठा दीमलग्न सच तमालोक्यतिष्ठुभ्र सुसुगन्धगुणवत्तर च सर्वतः सगृहीतवान् पुनश्चयस्य-
कस्यापि जनस्यनेत्र व्ययायातर प्रयोगे प्रयोजितवान् तेनारोग्यमभवत् सच त भीमसेन कपूर्रमिदमित्यभिधायस्थापिवान्
इति सचायुनावहुकालेनोच्छिन्न एवासीत् आयुक्तास्तु सामान्यकपूर्रकस्तूरीकेशरादिनाना सुगन्धिद्रव्य सयुक्तं बन्दिनाउद्धी-
नविधाय भीमसेनकपूर्रम्याने सएवायमितिज्यबहरति यत्रतत्रभीपध्यादि मयोपि प्रयोजयति ॥

नही कहा जा सकना भीमसेनी कपूर् की उत्पत्ति की किंवदन्ती में कितना सत्याश है । पर कथा को रोचक
पुन बनाया गया है । सूचित कपूर् कृत्रिम है यह तो सही है ही ।

आगे चल कर चाय मावुन और मोडे का भी ऐसा ही रोचक इतिहास और उसकी प्रयोग विधि बताई है,
पर स्थान सीमित होने से उसे उपेक्षणीय रखना पड़ रहा है ।

इसकी रचनावली बहुत सुन्दर और आकर्षक है । भाषा सरल और बोधगम्य होने के साथ वस्तु तत्त्वका
बोझाटन कर देती है । इसमें वर्णों का विभाजन वस्तुपरक न होकर अकारादि श्रमानुसार है, उदाहरणार्थ जैसे कका-
रादि वर्ण लिया तो कादि मूचक सभी वस्तुएं इसमें आ गई हैं, चाहे वह लता हो, वृक्ष हो, या अन्न हो ।

क्या ही अच्छा होता उसकी पूर्ण प्रति समुपलब्ध हो जानी ।

उन रचनाओं के प्रतिष्ठा मण्डपों चिह्निष्ठा पद्धति हनराज कुन भिषक् चक्रवर्तीत्सव आदि कई कृतियां हैं जिनका वैद्यक शास्त्रों में अपना महत्त्व है, पर उन सबकी विषय चर्चा का यह स्थान नहीं है ।

यहाँ सूचित करना अनिवार्य है कि जिस प्रकार निषेधों में वनस्पतियों का विवेचन नान्विष्ट है उसी प्रकार औषधियों के भी निषेध प्राप्त होने हैं, जिनमें एक ही औषधिना मायिक महत्त्व प्रदर्शित रहता है और साथ ही गोनियाशास्य भी प्रयोग माहोत रहने हैं । जिस प्रकार मय गन्धिन न्युनिया रखी जाती थी उसी प्रकार औषधि गन्धिन चनाए भी निमित्त दृष्टा कानी थी । इस प्रकार की रचनाओं के विषय का श्रेय जैन बलाकारों को है । आचार्य श्री अनन्तदेवद्विजि या ऐसा एक नशेषधि गन्धिन प्राप्त भी है ।

प्रकीर्णक आम्नाय संकलन

एक ओर जहाँ प्राचीन पद्धति का अनुकरण करने वाले मौलिक ग्रन्थ हैं, वहाँ दूसरी ओर गुरुपरम्परा-प्राप्त आम्नाय-ग्रन्थों की भी कमी नहीं है । गनादियों में प्रयुक्त योगों का उपादेय मन्त्र ऐसी ही रचनाओं में सुरक्षित रहता है । गेगनिवारण के लिये उपयोगिता विज्ञान मौलिक और शास्त्रीय दृष्टि में सम नहीं है । मद्य फलदायक इस प्रकार का साहित्य ही घन आयुर्वेदिक जगत में सर्वोच्च उपजातीय रहा है । राजस्थान के ज्ञानागारों में, मदिरों में और मंत्रों में जिनका भी साहित्यिक महत्त्व है उन्हीं पश्चिमीय रचनाओं में है । एक समय था जब कि स्वास्थ्य और शिला का अनुरोधित मन्त्रों का रचियों के मुहट्ट रंगों पर था, नार गुरु का आसन या ही मुशोभित नहीं किया जा सकना था, ऐसी स्थिति में सभी मन्त्रदाओं के धामिर स्थान इस प्रकार के साहित्य में परिपुष्ट रहे हों तो क्या आश्चर्य है ? उन्हें ऐसे मानन देने दें ? जिनमें चात्रिषयाय आचार्यों की आम्नायें उन्हीं के नाम से उल्लिखित हैं ।

आयुर्वेद की सभी कृतियां भारतीय भाषा विज्ञान और भाषा तोन के समिक विज्ञान और प्रमाण पर भी आभिर प्रमाण प्राप्त होती हैं । उनभाषा का साहित्यिक स्वस्व उनमें उपलब्ध हो जाता है और किन-किन प्रदेश में कौन कौन सा भाषा प्रचलित था और जिनमें कौनों का नेर रहा प्रचलित था आदि अनेक सूचकान् तथ्यों की जानकारी महज ही मन्त्रनाम रचनाओं में मिल जाती है । वही-वही तो मुद्राओं का भी उल्लेख होता है, उदाहरणार्थ म० १६७५ का एक आयुर्वेद का मुद्रा के मन्त्र में है जो जयपुर के निरुदवर्ती स्थान जोबनेर में प्रति लिखित है । इसमें जितने भी नाम हैं सभी नेरसाही मुद्रा में हैं । इनमें साफ जाहिर है कि उन दिनों भी योग्याह के निकट राजस्थान में प्रचलित थे । और विविध प्राचीन मुद्राओं का भी उल्लेख है जिनका अपना महत्त्व सम नहीं है ।

सूचनात्मक अनुपूर्ति

प्राचीन भाषाओं में क्षेत्रीय आयुर्वेदिक रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हैं, उनका मशोधन अनिवार्य है । प्रगति रचनाओं की पुगनी प्रतियों पर ध्यान देना भी आवश्यक है । सम विषयक ऐसे कई ग्रन्थ हैं जिनका प्रकाशन होने के बाद ही पुगनन सम्पूर्ण महत्त्व रहने है । मेरे मन्त्र में १५वीं शताब्दी के रस रत्नाकर के कनिषय पत्र हैं जिनमें पाण्डु शुद्धि के विवेचन के साथ नद्विषयक विविध यत्र दिने गये हैं ।

आयुर्वेदिक शास्त्र है आयुर्वेदिक विस्तृत इतिहास की, क्योंकि आज तक स्फुट इतिहास के अतिरिक्त विषय और आयुर्वेदनामक अनिष्ट नैयाम नहीं दृष्टा । पुराने प्रयोगों के उद्धार और इतिहासलेखन पर यदि चिकित्सक समाज ने ध्यान दिया तो बहुत बड़ा फायदा हो जायगा । यह प्रमाण भी वाछनीय होगा कि आयुर्वेदिक कृतियों की स्वतंत्र शोध क्वार्टर जय श्री उनका आयुर्वेदिक इतिहास भी प्रकाशित हो, जिससे पता तो चले कि इस विषय की कितनी माघन-नामकी दृष्टि पाम सुरक्षित है । वैज्ञानिक युग में भारतीय चिकित्सापरम्परा को जीवित रखना है एक साम्प्रदायिक पद्धति में टकराव नहीं है तो उस क्षेत्र में मन्त्र सशोधन को प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए, अन्यथा ऋषि मुनियों की दुहाई देने मात्र में कार्य-मिद्धि अमम्भव है ।

१ निषेध में चर्चित कृतियों की मूल हस्तलिखित प्रतियाँ लेखक के सग्रह में सुरक्षित हैं ।



आचार्य माणिक्यनन्दी और

उनका परीक्षामुख

श्री गोपीलाल अमर

एम ए, शास्त्री, काव्यतीर्थ, सा रत्न

पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म प्र)



आचार्य माणिक्यनन्दी

व्यक्तिगत परिचय

भारतीय न्यायशास्त्र के महान् सूत्रकारों में आचार्य माणिक्यनन्दी का स्थान उल्लेखनीय है। ये नन्दिसध के एक गण्यमान्य आचार्य थे, यह इनके नाम से तो ज्ञान होता ही है, विन्ध्यगिरि की सिद्धरवस्ती के एक स्तम्भलेख से भी सिद्ध होता है। यह स्तम्भलेख शक सं० १३२० (१३६८ ई०) का है। इसमें नन्दिसध के आठ आचार्यों की नामावली दी गई है। और उनमें आठवाँ नाम आचार्य माणिक्यनन्दी का है। वि० सं० ११०० (१०४३ ई०) के एक अपभ्रंश काव्य मुद्रमणचरित्र से आचार्यजी की गुरुपरम्परा का ज्ञान होता है। इस काव्य के प्रणेता भृगु नयनन्दी आचार्यश्री के शिष्य थे। यह गुरुपरम्परा इन प्रकार है आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय में क्रमशः पद्मनन्दी, वृषभनन्दी (समस्त चतुर्मुखदेव), रामनन्दी, माणिक्यनन्दी, नयनन्दी। मुद्रमणचरित्र की एक अन्य प्रति^१ में गुरुपरम्परा ऐसी है, आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय में क्रमशः पद्मनन्दी, विष्णुनन्दी, नन्दनन्दी, विष्णुनन्दी, वृषभनन्दी, रामनन्दी, श्रीलोक्यनन्दी, नयनन्दी। इन दोनों परम्पराओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं है और इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आचार्य माणिक्यनन्दी के दो गुरु थे, रामनन्दी और श्रीलोक्यनन्दी। उनकी शिष्यमण्डली में नयनन्दी के अतिरिक्त प्रभाचन्द्र जैसे नमय आचार्य भी थे।

आचार्य माणिक्यनन्दी धारानगरे भोज के समकालीन और उनके दरबार में सम्मान प्राप्त विद्वानों में से थे।^२

१ मुद्रमणचरित्र की इन दोनों प्रतियों के परिचय के लिए देखिए प० दरबारीलाल शेट्टीया आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृ० ३०, ३३।

२ जैसा कि पूर्वोक्त दोनों गुरुपरम्पराओं में ज्ञात होता है।

३ जैसा कि आप्त, मप्रमाण कहा जाने जाता है।

४ विस्तार के लिए देखें, आप्तपरीक्षा, प्रस्ता०, पृ० ३१।

सज्जनो के आत्मादक तो थे ही, एकान्तवादी भी मालिन्य के मशोधक भी थे और थे वे सर्वोपरि जैनमत के माक्षात् समुद्र ।^१ मुनिवयनन्दी ने आचार्यश्री को अपने गुदसणचक्रि में महापण्डित कह कर स्मरण किया है । उन्होंने अपने सकल विधिविधान से उन्हें महापण्डित तो कहा ही है प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाण रूपा जल में परिपूर्ण नयनपी तरंगों से गभीर और उत्तम सप्तभङ्गपी कललोला से उच्छन्नित जिन आसनरूपी महासंगेव में अवगाहन करने वाला भी निगमा है ।^२ प्रमेयरत्नमालाकार आचार्य अनन्तवीर्य ने उन्हें अकनकन्यायरूपी समुद्र में परीक्षामुग्गरूपी अमृत का उद्धार करने वाला लिखा है । प्रमेयरत्नमाला के टीकाकार आचार्य अजितमेन उनका मादर स्मरण करते हैं ।^३ वे कहते हैं कि गुरु की भक्ति से ही मैं अपना कार्य सम्पन्न कर सका हूँ ।^४ स्वयं पण्डिताचार्य चारुतीर्णि अपार श्रद्धा और भक्ति से कामना करने हैं कि गुरुमाणिवयनन्दी उन्हें हर्षमय बनावें ।^५ उनके समक्ष वे अपनी अत्यन्त तुच्छता प्रकट करते हैं ।^६ प्रत्येक पण्डित के और ग्रन्थ के अन्त में वे अनेक महत्वपूर्ण विशेषण देकर उनके प्रति अपनी प्रगाढ़ आस्था व्यक्त करते हैं ।

इनमें सदेह नहीं कि माणिक्यनन्दी अपनी जीली के अद्वितीय आचार्य हुए हैं ।

१. गभीर निखिलार्थगोचरमल शिष्यप्रबोधप्रद
यद् व्यक्तं पदमद्वितीयमखिल माणिक्यनन्दिप्रभो ।
सद् व्याख्यातमदो यथावगमतः किञ्चिन्मया लेशत
स्थेयाच्छुद्धधिया मनोरतिगृहे चन्द्रकन्तारावधि ॥१॥
मोहध्वान्तविनाशिनो निखिलतोविज्ञानमुद्धिप्रद.
मेयानन्तनभोविसर्पणपटुर्दयस्तूक्तिभाभासुर ।
शिष्याब्जप्रतियोधन समुदितो योऽग्रे परीक्षामुखात्
जीयात् सोऽत्र निवन्ध एष सुचिर भातंश्चतुल्योऽमल ॥२॥
गुरु श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दितामोपसज्जन ।
नन्दिताद् दुरितकान्तरजा जैनमतार्णव ॥३॥
श्रीवयनन्दिसंद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालय ।
प्रभाचन्द्रश्चिर जीयात् रत्ननन्दिपदे रतः ॥४॥

—वही, अन्तिमपद्य न० १-४ ।

२. पञ्चकक्षपरोक्षपमाणरीर णयतरलतरगावलिगह्वीर ।
यरससभगिकलोलमाल जिनससणसरिणिम्मन्सुसाल ॥
पडियच्चूडामणि वियुहचट्ट माणिक्यणदि उप्पण्णु कट्टु ।
—जैनग्रन्थप्रशस्ति संग्रह, भाग १, पृ० २६ ।
३. श्रीवर्धमानमकलङ्कमनन्तवीर्य माणिक्यनन्दिचिभूभापितशास्त्रवृत्तिम् ।
भक्त्या प्रमेन्दुरचिता लघुवृत्तिदृष्ट्या नत्वा यथाविधि वृणोमि लघुप्रपञ्चम् ॥
न्यायमणिदीपिका (जैन सि भवन, आरा की पाण्डुलिपि), पद्य १ पाद्वं १ ।
४. अफलङ्कुरत्ननन्दि प्रमेन्दुसदनन्तवीर्यगुणभक्त्या ।
एतद्विद्या वालो निरुद्धवानेष किं न गुरुभक्त्या । — वही पत्र १६६, पाद्वं २ ।
५. यत्सुप्रजजचन्द्रिकारसभर नित्य समास्वादयन्
भव्योत्तसमुधीचकीरविकर सर्वोपि समोदते ।
सोम सार्यपथीनधीबुधमन सीधाप्रफेत्तीशुको
हर्षं धर्पंतु सन्तत हृदि गुरुमाणिक्यनन्दी मम ॥ प्रमेयरत्नालङ्कार, (जैन सि० भवन आरा की पाण्डुलिपि), आदिपद्य
६. माणिक्यनन्दिरचित क्य नु सुप्रवृन्द क्वात्पीयसी मम मतिस्तु तदीयभक्त्या ।
तादृक्प्रमेन्दुवधसां परिशीलनेन कुर्वे प्रबन्धमधुना बुधहर्षकन्दम् । वही ।

परीक्षामुख

स्वरूप

परीक्षामुख आचार्य माणिक्यनन्दी की एकमात्र वृत्ति है। यह नमुनेगो और दो मी दन सूत्रों के माध्यम से उन ग्रन्थ में सम्पूर्ण प्रमाणशास्त्र का अद्भुत एवं अमूल्य समावेश किया गया है। ग्रन्थ के आदि और अन्त में एक-एक श्लोक भी है। इन श्लोकों का यह प्रथम ग्रन्थ ग्रन्थ है।

सूत्र के सभी आशयों 'रूप' परीक्षामुख के सूत्रों में घटित होते हैं। महर्षि पाणिनि श्री आचार्य उमान्वामी के सूत्रों के मुताबिक आचार्य माणिक्यनन्दी के सूत्र नहीं भी पोंटे नहीं हैं। यही कारण है कि इन एक ही ग्रन्थ का प्रणयन उनके आचार्य माणिक्यनन्दी अपना श्वात भारतीय न्यायशास्त्रों में सर्वोपरि बना गये है।

नामकरण

नामकरण की दृष्टि में भी परीक्षामुख का विशेष महत्त्व है। इन नाम में दो शब्द हैं, परीक्षा और मुख। दोनों शब्दों के चयन का ऐतिहासिक कारण प्रतीत होता है। आचार्य माणिक्यनन्दी के समक्ष ऐसे अनेक न्यायग्रन्थ थे जिनके अन्त में 'परीक्षा' शब्द का प्रयोग है, जैसे दिव्या के आशयपरिज्ञा और विज्ञानपरिज्ञा धर्मवीर का सम्बन्ध-परिज्ञा, 'प्रमाण' का प्रमाणपरिज्ञा और विद्यानन्दी के आशयपरिज्ञा, परपरिज्ञा, प्रमाणपरिज्ञा, और न्यायानन्दपरिज्ञा। इसी तरह कुछ ऐसे भी ग्रन्थ उनका समक्ष थे जिनके अन्त में 'मुख' शब्द का प्रयोग है, जैसे हेतुमुख और न्यायमुख आदि। अतः इन्हीं बहुप्रचलित 'परीक्षा' और 'मुख' शब्दों में प्रयोग पारस्परिक आचार्य माणिक्यनन्दी ने अपनी वृत्ति को 'परीक्षामुख' का नाम दिया होगा।

यदि इन नाम की अपनी निजी माधुर्यता भी है। अन्य विषयों अनेक उत्तियों की प्रबलता और निर्बलता के विचारों के लिए दिया जाने वाला विचार परीक्षा कहना है और यहाँ परीक्षा से तात्पर्य है न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्र में। मुख का अर्थ है प्रवेष्टा। जो प्रमाणशास्त्र का प्रवेष्टाद्वार ही उसे परीक्षामुख नाम देना ही मान्य है।

उद्गम और प्रभाव

परीक्षामुख का अन्तर्निरीक्षण करने में जान होता है कि इसका उद्गम अनेक ग्रन्थों में, विशेषतः अकलङ्कदेव के ग्रन्थों में हुआ है और अनेक ग्रन्थों का, विशेषतः वादिद्वन्द्व के प्रमाणनयनत्ववालों तथा आचार्य हमचन्द्र की प्रमाणमीमाणा का उद्गम इन ग्रन्थों में हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि आचार्य माणिक्यनन्दी ने प्रमाणम्बरूप आदि में

१ अन्वयसरभक्तन्दिग्रन्थ सारवत् प्रिश्चतोमुखम् ।

अन्तोभमनवध च सूत्र सूत्रविदो विदुः ॥

२ चिरद्विनायुक्तिप्रारम्भद्वयद्वयधाराणाय प्रवर्तमानो विचार परीक्षा ।

—आचार्य धर्मभूषणयति न्यायदीपिका, पृ० २, प० १८ ।

३ प० दरबारीलालजी कोटिया द्वारा परीक्षामुख की अनेक ग्रन्थों से की गयी तुलना के लिए देखें, अनेकान्त, वर्ष ५, फिरण ३-४, पृ० ११६-१२८ ।





शब्दावली का प्रयोग, अपने पूर्वाचार्यों की परंपरा से जग हटकर जैनतर आचार्यों की परम्परा के अनुरूप किया है।'

भाषा और शैली

इस ग्रन्थ की भाषा सरल किन्तु सघन सस्कृत है। सूत्रमय होकर भी यह ग्रन्थ विलप्ट या दुर्वोध नहीं है। शब्दों के चयन में परीक्षामुलकार के समक्ष अनेक समस्याएँ थी। उन्हें अपने पूर्वाचार्यों की परम्परा का निर्वाह तो करना ही था, एक सूत्रग्रन्थ की गर्यादा की रक्षा भी करनी थी। उन्हें जहाँ आचार्य अरुलद्दु के ग्रन्थ-समुद्र को मथकर सूत्रामृत निकालना था^१ वहाँ उस सूत्रामृत पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप भी छोड़नी थी। उन्हें सूत्र जैसे सक्षिप्ततम माध्यम से न्यायशास्त्र के सिद्धान्त तो प्रस्तुत करने ही थे, तात्कालिक मत-मतान्तर्गो का खण्डन-मण्डन भी करना था। इन तमाम समस्याओं के रहते भी, हम पाते हैं कि परीक्षामुल अपनी भाषा की दृष्टि से, न्यायशास्त्र के प्राथमिक जिज्ञासुओं को भी कठिन नहीं, बहुत सरल है।

सूत्रकार की शैली भी, भाषा भी भाँति सरल बन पड़ी है, विषय को स्पष्ट एवं सुजोष बनाने के लिए न्यान-स्थान पर दिये गये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं। शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ में सिद्धान्तों का कोरा प्रस्ताव न रहकर परमत-निराकरण और स्वमत स्थापन की प्रक्रिया स्पष्टत आ गई है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ पर अनेक, विस्तृत एवं गम्भीर टीकाएँ लिखी जा सकी हैं।

विषयवस्तु

जैसा कि कहा जा चुका है, सम्पूर्ण ग्रन्थ को छह समुद्देशों में विभक्त किया गया है। प्रथम समुद्देश में प्रमाण सामान्य का स्वरूप, द्वितीय में प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप, तृतीय में परोक्ष का स्वरूप, चतुर्थ में प्रमाण का विषय, पञ्चम में प्रमाण का फल और षष्ठ में प्रमाण के आभासों का विस्तृत विवेचन है।

विभाजन

परीक्षामुल की लघुतम इकाई है सूत्र और उसमें तीन से सत्तानवे सूत्रों तक के छह अध्याय हैं जिन्हें परिच्छेद नाम दिया गया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नालङ्कार में यही नाम स्वीकृत है जब कि प्रमेयरत्नमाला में समुद्देश।

परिच्छेदों के विभाजन में प्रमेयरत्नमाला और प्रमेयरत्नालङ्कार एकमन है और वैज्ञानिक भी। परन्तु प्रमेयकमलमार्तण्ड में, कह नहीं सकते किस उद्देश्य से आचार्य प्रभाचन्द्र ने पञ्चम परिच्छेद के तीनो सूत्रों को चतुर्थ परिच्छेद में सम्मिलित किया है और षष्ठ परिच्छेद को उसका अन्तिम सूत्र छोड़कर पञ्चम परिच्छेद माना है तथा षष्ठ परिच्छेद के केवल अन्तिम सूत्र को षष्ठ परिच्छेद के अन्तर्गत रखा है। इस विभाजन में कोई विशेषता तो नहीं ही है, कुछ अवैज्ञानिकता भी है, कदाचित् इसीलिए इस विषय में पण्डित महेन्द्रकुमारजी भी मौन रहे हैं। यदि प्राचीन प्रतियों से छान-जीन की जाय तो मेरा यह अनुमान पुष्ट हो सकता है कि लिपिकार ने किसी पाण्डुलिपि में, परिच्छेद के समाप्तिसूचक पद्यों और पुष्पिकावाक्यों को तितर-वितर कर दिया हो और उसी प्रति या उसी की परम्परागत प्रतियों पर से प्रमेयकमलमार्तण्ड के मुद्रित संस्करण निकाले गये हो। यदि हम पञ्चम परिच्छेद की समाप्ति-सूचक पद्यों को

१ परीक्षामुलम् (सेन्डे बुक्स ऑफ दि जैनस, जिल्द ११) की प्रस्तावना।

२ आभास गदित प्रमाणमखिल सख्याफलस्वार्थत,

सुव्यक्तं सकलार्थसार्थविषयं स्वल्पं प्रसन्नं पदं।

येनासौ निखिलप्रबोधजननो जीयाद गुणाम्भोनिधि,

चावकीर्त्यो परमालयोऽसतन भाणिक्यनन्दिप्रभु ॥ प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ६७५।

इसलिए कि वे इन्हें पृथक्-पृथक् मानते ही नहीं ये अतः उनकी पृथक्-पृथक् व्याख्या करने का प्रयत्न ही उनके सामने नहीं था। पण्ड परिच्छेद में भी दो स्थान ऐसे हैं जिन पर विचार होना चाहिए। 'दमवे और ग्याग्रहवे सूत्रों' को प्रमेयकमलमातण्ड और प्रमेयगन्तमाना के अधिकृत मस्करणों में एक ही सूत्र माना गया है, वदचित् इसलिए कि दमवे सूत्र के पश्चात्, दोनों ग्रन्थों में कोई व्याख्या नहीं है। दो या दो से अधिक सूत्रों के बीच व्याख्या न होने में ही उनमें एकना रथापित नहीं हो जाती और फिर दो टीकाओं में नहीं रही, एक टीका प्रमेयगन्तालङ्कार में तो दमवे सूत्र के पश्चात् भी व्याख्या है। अतः उसे पृथक् सूत्र माना जाना चाहिए। टीका यही स्थिति इसी परिच्छेद के तीसरे और इकनीमवे सूत्रों के साथ भी है।

महत्त्व

परीक्षामुग्न द्वारा तात्कालिक न्यायमन्वन्वी मान्यताओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ इस ग्रन्थ का हम 'एवपूर्वायं व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्' सूत्र लें। इसमें प्रमाण की परिभाषा दी गई है। परिभाषा में स्व, अपूर्व, अर्थ, व्यवसायात्मक और ज्ञान, ये पाँच शब्द हैं। स्व शब्द में भीमामयसम्मत ज्ञान के परोक्षवाद, भाष्यों के अन्वयवेदनवाद तथा नैयायिकों के ज्ञानान्तर वेद्यज्ञानवाद के स्पष्टन की दृष्टि मिलती है। अपूर्व शब्द में प्रयुक्त होता है कि गृहीतग्राही या धारवाही ज्ञान की भी प्रमाण रूप में मान्यता रही है। अर्थ शब्द में मुख्यतः तीन मान्यताएँ प्रकाश में आती हैं, बौद्धों का विषयज्ञानाद्वैतवाद और धूम्याद्वैतवाद तथा वेदान्तियों का ब्रह्माद्वैतवाद। व्यवसायात्मक शब्द में बौद्धों की वह मान्यता प्रकाशित होती है जिसके अन्तर्गत वे प्रत्यक्ष प्रमाण को निर्विकल्पक या अनिदध्यात्मक मिद्ध करते हैं। ज्ञान शब्द में प्रधान रूप में चार मान्यताएँ स्पष्ट होती हैं, युवन्नैयायिक का सन्निकर्षवाद, जगन्नैयायिकों का कारकमाकल्य-वाद माह्य का द्वित्रिव्यापारवाद और प्रभाकर का जातृव्यापारवाद।

और भी ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनका शब्दविन्यास तात्कालीन मान्यताओं और न्यायकारों की दृष्टिगत करके ही किया गया है। हम दो सूत्र और लें—'भाव्यतीतयो मग्नजाग्रदबोधयोरपि नारिष्टौ द्वौ धौ प्रति हेतुत्व।' और 'नद्व्यापाराश्रित हि तदभावभावित्वम्' उन सूत्रों द्वारा भाविकाग्नवाद एवं भूतकारणवाद के समर्थक प्रभाकर गुप्त की समालोचना की गयी है।

१ असम्बद्धे तज्ज्ञान तर्काभासम् ॥१०॥

यावास्तत्पुत्र स श्यामो यथा ॥११॥

२ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्ध ॥३०॥

अपरिणामी शब्द कृतकत्वात् ॥३१॥

३. समुद्देश १, सूत्र १

४ अ० ३, सू० ५७, ५८

५ अविद्यमानस्य करणमिति कोऽयं ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षयाऽपि समान-तयैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयाऽपि । न चानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धन, व्यवहितस्य करणत्वात् ।

गाढमुप्तस्य विज्ञान प्रबोधे पूर्ववेदनात् ।

जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥

तस्मादन्वयत्यतिरेकानुविधायित्व निबन्धनम् ।

कार्यकारणभावस्य तद् भाविन्यपि विद्यते ॥

भावेन च भावो भाविनाऽपि लक्ष्यत एव । मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहार,

यदि मृत्युर्न भविष्यन् भवेदेवमृतमरिष्टमिति । —प्रभाकरगुप्त प्रमाणवार्तिकालङ्कार, पृ १७६ ।

परीक्षामुख का महत्त्व इसलिए भी है कि वह अपने समय तक की जैन न्याय की अनेक विकीर्ण मान्यताओं को मुख्यवस्तिन एवं वर्गीकृत रूप देता है। एक उदाहरण लीजिए। प्रमाण के लक्षण में, आचार्य सिद्धमेन और स्वामी नमन्तभद्र एव विशेषण 'स्वपगवभामक' समान रूप से लेते हैं और आचार्य अकलङ्क वही 'अनधिगतार्थक' कही 'अविमवादि' और वही 'स्वपगवभामक' विशेषणों का प्रयोग करते हैं लेकिन परीक्षामुख में, आचार्य सिद्धमेन और स्वामी नमन्तभद्र द्वारा स्थापित एवं आचार्य अकलङ्क द्वारा विकसित परम्परा का 'स्व' एवं 'अपूर्वार्थ' पदों के समावेश द्वारा सुन्दर संग्रह देखने को मिलता है।

इसलिए भी परीक्षामुख का महत्त्व बहुत अधिक है कि वह अपने समय तक के प्रायः सम्पूर्ण जैन न्यायग्रन्थों का नवनीत हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देता है। अकलङ्कन्याय का प्रतिनिधित्व करनेवाला तो, परीक्षामुख की भाँति कोई ग्रन्थ ही नहीं।

अनेकानेन ग्रन्थवागे ने परीक्षामुख की परम्परा और पद्धति का अनुसरण किया इसमें भी उनका महत्त्व कम नहीं बढ़ता।

जिन्नी भी ग्रन्थ पर अनेक विज्ञानाकार एवं गम्भीर टीकाओं का लिखा जाना भी उनके महत्त्व का द्योतक है। परीक्षामुख पर तीन टीकाएँ उपलब्ध हैं। इनके अनिरिक्त एक टीका उनके केवल प्रथम सूत्र पर ही है जो स्वयं एक स्वतन्त्र पुस्तिका बन गयी है।

टीकाएं

प्रमेयकमलमार्तण्ड—परीक्षामुख की प्रथम, बृहत्तम और अवश्रेष्ठ टीका है प्रमेयकमलमार्तण्ड जिसे परीक्षामुखालङ्कार भी कहते हैं। यह आचार्य प्रभाचन्द्र की कृति है। इसके दो सम्करण प्रकाशित हो चुके हैं, प्रथम स्व० प० वसीधरजी शास्त्री गोलारपुर द्वारा सन् १९१२ में और द्वितीय स्व० प० महेन्द्रकुमारजी वाराणसी द्वारा सन् १९४१ में। इसका आकार १००० अनुष्टुप श्लोकों के बराबर है।

जैन न्याय का कदाचित् ही कोई ऐसा विषय होगा जो इस ग्रन्थ में समाविष्ट न हो। यह जैनन्याय के प्रति-निधि ग्रंथों में से एक है। इसके प्रणेता, आचार्य अकलङ्क के परवर्ती आचार्य हैं और उन्होंने उनके लघीयग्रन्थ पर भी एक टीका लिखी है जिसे न्यायकुमुदचन्द्र कहते हैं। अकलङ्क न्याय की भूमिका पर परीक्षामुख की रचना हुई है और अकलङ्क न्याय के मर्मज्ञ आ० प्रभाचन्द्र जब परीक्षामुख पर टीका लिखें तब उसका अत्यन्त उच्चकोटि का बन पड़ना स्वाभाविक ही है।

न्यायकुमुदचन्द्र के प्रथम भाग की प्रस्तावना में प० कैलाशचन्द्रजी मि० शास्त्री ने और उसके द्वितीय भाग की एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्तावनाओं में स्व० प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने आचार्य प्रभाचन्द्र और प्रमेय-कमलमार्तण्ड पर विस्तार से विचार किया है अतः यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

प्रमेयरत्नमाला—प्रमेयरत्नमाला न्याय का एक बहुप्रचलित ग्रन्थ है। आचार्य लघु अनन्तवीर्य की यह एकमात्र उपलब्ध कृति है। आचार्य माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख पर यह टीका के रूप में लिखी गयी है।^१ इसके विषय-

१ तन्मोपरोधवशतो विशदोक्तौ,
माणिक्यनन्दिकृतज्ञास्त्रमगाधबोधम।
स्पष्टीकृत कतिपर्यवचनैरदारै,
बालप्रबोधकरमेतदनन्तवीर्य ॥





प्रतिपादन की शैली श्रीर खण्डन-मण्डन की प्रवृत्त शक्तता को देखकर नत्थार्यभूषण पर निर्मा गयी आचार्य गृन्थपाद की टीका सर्वार्थगिद्धि वा ही स्मरण हो आता है ।

अकलङ्कन्याय एक महामुद्र है जिनमें जनमाधारण की गति नहीं । परीक्षामुद्र उगम में मयूर निवास गया अग्रुत है' जो तर्वाधारण के हाथ नहीं लग सनता । श्रीर प्रमेयरत्नमार्ण्ड, परीक्षामुद्र की मुद्रा भूमिका पर प्रतिष्ठापित महाप्रागाद है जिनमें प्रवेक रा प्रवेक सम्भव नहीं । आचार्य लघु अनन्तवीर्य को यह एक जटिन गमन्या प्रतीत हुई । उगीके समाधान के लिए उन्होंने प्रमेयरत्नमाला वा मृजन पर आला । इसका प्रमाण लगभग एर हजार मान सी अनुदुष्ट शक्तों के बराबर है । इसके चार नाम प्रनमित है—प्रमेयरत्नमाला, परीक्षामुद्रवृत्ति, परीक्षामुद्रवृत्ति और परीक्षामुद्रपञ्जिका ।

प्रमेयरत्नमाला की भाषा गद्यमय संस्कृत है । न्यायशास्त्र की स्वाभाविक नीरमता और सूत्रों के द्वारा उपस्थापित विच्छिन्नता के रहते हुए भी इसमें भाषा की सरमता और प्रवाह कायम रखा गया है । विषय वा गम्भीर एवं सूक्ष्म विम्बेपण किया गया है, मण्डन-मण्डन के गहन वन में प्रवेक किया गया है, फिर भी भाषा वही दुर्लभ नहीं होने पायी है ।

इस ग्रन्थ की तर्जनी परम्परागत होकर भी नवन और अकाद्य है । तारा की शैली अवश्य परम्परागत है लेकिन जो तक दिये गये हैं उनमें से अनेक मौनिक भी हैं । कुछ परम्परागत तर्कों का त्याग भी किया गया है क्योंकि या तो ये अत्यन्त अनिवार्य न होने से ग्रन्थार को ग्रन्थ-विस्तर के ही कारण महसूस हुए या उनका इतना अधिक परिष्कार कर दिया गया कि उन्हें परम्परागत नहीं कहा जा सनता ।

प्रमेयरत्नमाला की दो संस्कृत टीकाएं हैं, प्रथम आचार्य अजितसेन की न्यायमणिदीपिका और द्वितीय पण्डिताचार्य चारुकीर्ति की अर्थप्रकाशिका, और ये दोनों ही अप्रकाशित हैं । पं० जयचन्द्रजी छाबड़ा, जयपुर निवासी ने इसकी हिन्दी वचनिष्ठा भी लिखी थी जो प्रकाशित हो चुकी है ।^१ म्यय प्रमेयरत्नमाला का प्रकाशन विभिन्न संस्थाओं में लगभग पाँच बार हो चुका है ।

प्रमेयरत्नालंकार

प्रमेयरत्नालङ्कार संस्कृत गद्य और नव्य शैली में लिखा गया जैन न्याय का एक महत्त्वपूर्ण व्याख्याग्रन्थ है । परीक्षामुद्र इसका व्याख्येय है ।

इसके पूर्व प्रमेयरत्नालङ्कार का नाम प्रमेयरत्नमालालङ्कार गचलित रहा^१ जिसका कारण है उन पाण्डुलिपि

१. अकलङ्कवचोऽम्भोषेरुद्धरे येन धीमता ।

न्यायविद्याभूत तस्मै नमो माणिक्यनन्दने ॥ —प्रमेयरत्नमाला आदि श्लोक नं० २ ।

२. प्रकाशक मन्त्री, मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, काल्यादेवी रोड, बम्बई ।

३. 'जैनदर्शन' (प्रथम संस्करण) के पृ० ६२८ पर पं० महेश्वरकुमारजी ने श्रीर आप्त-परीक्षा की प्रस्तावना के पृ० २७ पर पं० दरबारीलालजी कीठिया ने उपर नाम का ही उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त, डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये और पं० के० भुजबली शास्त्री आदि ने भी मुझे लिखे गये अपने पत्रों में इसी नाम की ओर संकेत किया था ।

४. यह पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्तभवन आरार में सुरक्षित है । इसके विस्तृत परिचय के लिए देखिए, जैन सन्देश, शोषाङ्क १६, पृ० १६२ ।

पण्डिताचार्यजी के समय तक जैन न्याय में नव्य शैली लोकप्रिय हो चुकी थी, पर उसे अधिकधिक प्रतिष्ठा देने का उद्देश्य भी प्रमेयरत्नालङ्कार की रचना का एक कारण हो मरना है। इसके अतिरिक्त, ऐसा कोई उद्देश्य ग्रन्थकार ने व्यक्त नहीं किया है जैसा अमुक व्यक्ति को पढ़ने आदि के लिए प्रमेयरत्नमालाकार आदि ने किया है।^१

यदि हम पण्डिताचार्य चारुकीर्ति को उच्चतम कोटि का शब्दशैली कहें तो प्रमेयरत्नालङ्कार की भाषा उसके लिए ज्वलन्त उदाहरण होगी। न्याय में भी काव्य की-सी रमणीयता पण्डिताचार्य जैसे विद्वान् ग्रन्थकारों का ही कार्य है। न्यायशास्त्रों में प्रायः सर्वत्र पायी जाने वाली शुद्धता, दुर्लभता और प्रवाहमयता प्रमेयरत्नालङ्कार में कदाचित् कहीं भी नहीं मिलेगी। न्याय की नव्य शैली की सुदीर्घ पदावली भी इस मुन्दरता से प्रस्तुत की गयी है कि भाषा में उद्देश्यकारी विचित्रता के बदले एक आकर्षक प्रवाहमयता प्रस्तुत हो गयी है, ये देखिए दो भावियाँ

‘ननुक्तरीत्यापूर्वाथव्यवसायस्यैव प्रमात्वे भगवद्ज्ञाने केवलान्ध उक्तवक्षणाव्याप्तिस्मन्य निश्चितार्थ विषय-
त्वेनापूर्वार्थविषयकत्वाभावात् । न चार्थेषु प्रतिक्षण विभिन्ना पर्याया उत्पद्यन्ते । तदुक्तम्,

‘अनादिनिघने ब्रह्मे स्वपर्याया प्रतिक्षणम् ।

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकलोलवज्जले ॥’

इति । तथा च तत्तत्पर्यायविशिष्टतया पूर्वमग्रहान्नाव्याप्तिरिति वाच्य, तथा सति केवलज्ञानस्य सदा कतिपर्यायग्राहित्वेन कदापि सर्वविषयकत्वानुपपत्ते इति चेन्न अपूर्वार्थविषयकत्व च सर्वविषयकत्वाभावगृहीतग्राहिव्योभयाभाववत्त्व धारावाहिक-
द्वितीयादिज्ञानेपूर्वमयसत्त्वाद् व्यावृत्तिः ।’^२

“नैयायिकास्तु ‘पदानां बोधजनकतावच्छेदशक्तिमत्त्वरूपयोग्यत्वमप्रामाणिकमेव, शक्तिरूपपदार्थान्तरस्यैवाप्रामा-
णिकत्वेन बहून्यादावपि दाहानुकूलशक्तेरभावात् । किन्तु अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसत्केन एव शक्तिगन्धेनोच्यते
स एव पदपदार्थयोः सम्बन्ध, इति वदन्ति ।”

अप्रचलित, कठिन या कटु शब्दों का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। गण्डन-मण्डन के चक्र में पड़कर भी भाषा कहीं असयत नहीं होने पायी है।

संक्षेप में हम कहेंगे कि प्रमेयरत्नालङ्कार सरल, सरस और प्रवाहमय संस्कृत शब्दों में लिखा गया है।

न्याय की नव्य शैली की स्थापना विक्रम की तेरहवीं शती में गङ्गा उपाध्याय ने की थी। अवच्छेदकावच्छिन्न की भाषा में जकड़ी हुई भी यह शैली उत्तरोत्तर लोकप्रिय होती गयी। सत्रहवीं शती तक आते आते यह अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गयी। उपाध्याय यगोविजय के खण्डनखण्डखाद्य आदि ग्रन्थ इसी युग की देन हैं। इसी परम्परा और शैली में प्रमेयरत्नालङ्कार की रचना हुई। शेष बातों में शैली की दृष्टि से प्रमेयरत्नालङ्कार में पूर्वाचार्यों की परम्परा का ही अनुकरण किया गया है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ श्रीवर्धमान के भजन से होता है। फिर आचार्य अकलङ्क, माणिक्यनन्दी और प्रभाचन्द्र की वन्दना की जाती है। इसके पश्चात् ग्रन्थ-रचना की प्रतिज्ञा लेकर ग्रन्थकार ने अपनी लघुता प्रकट की है। प्रारम्भिक

१ ‘वैजयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधतः ।

ज्ञान्तिदेषार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका ॥’ —परीक्षामुख, आदि पद्य सत्या ५ ।

२ प्रमेयरत्नालङ्कार की मेरी पाण्डुलिपि ।



पणितान्त्रिकों ने तुलनात्मक अध्ययन प्रस्ताव करने भी एक सही ही सचछी प्रवृत्ति लगी जाती है। वे अपने मन के साथ प्रभान्द्राचार्य, सन्यासियों और शक्तिवाद (व्याधिमणिविचारण) आदि के साथ भी उद्भूत करने हैं और उनसे अपने मनोहर या सहाय या निर्देश करने चलने हैं।

इसमें सबसे बड़ी ही परीक्षामुक्त या पणितान्त्रिकों ने सभी शैली और नये दृष्टिकोण में अपने समय गया है। परीक्षामुक्त साहित्य में प्रमथनात्मक रूप से सभी चीजें धानी में प्रकाश हैं।

प्रमेयकण्टिका

यह शान्तित्रयी की एक उपकाय रचना है और परीक्षामुक्त के प्रथम सूत्र 'आध्यात्मिकप्रणयानां ज्ञान प्रमाणम्' पर लिखी गयी है। इसका अर्थ है 'सही मोक्षप्राप्त के सूत्र 'प्रमाणपर्यायणम्' पर लिखी गयी 'धर्म-भूषणम्' की व्याख्याविषय'। 'व्याख्याविषय' की भी भाँति यह भी सफा सच में लिखी गई है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ पाँच भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में प्रमाण और कल या परम्परा सम्बन्ध तथा उक्त तथ्यान्त में भेदभेद का समर्थन है। द्वितीय में साध्य, प्राभाकर, नाट्य, योग और मुक्त्यर्थिता आदि द्वारा सम्मत प्रमाणसम्बन्ध का वर्णन किया है। तृतीय भाग में प्रमाण की भाँति और उपनिषद् की शक्तियों के अन्तर्गत योगात्मक प्राभाकर, मुक्त्यर्थिता और नैयामिक के साथ का वर्णन है। चतुर्थ में सविष्ट किया गया है कि प्रमाण का विषय सत्यनैयमित्व है। और अन्तिम अंश में, विचार के साथ जगत्सृष्टि का वर्णन करने हुए सत्यत्व की सिद्धि की गयी है।

इसकी एक पाण्डुलिपि मुझे १० दरबारीपत्रों की कोठिया के मौजब में प्राप्त हुई थी। इसमें ८१"-१-६१" आकार के ८६ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में दोहों और २० पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में २० अक्षर हैं। ३८ व पत्र के प्रथम पाठ्य पर ग्रन्थ का समाप्त कर दिया गया है और द्वितीय पाठ्य पर कुछ अन्त पुनः किया गया है। यह ग्रन्थ निम्नलिखित द्वारा ग्रन्थ के मध्य में बड़ी छूट गया प्रतीत होता है किसे सत्य में विश्वास दिया गया है। इस ग्रन्थ का भी अन्तिम अन्त अधूण है जिससे लिए ही यदाचित्क आगे में दो अतिरिक्त पत्र ग्रन्थ लिए गये हैं। ग्रन्थ का सङ्गतात्मक देखिए—

‘श्रीं जिनाय नम ॥ श्री रम्भु ॥ श्रीधर्म नम ॥
श्रीधर्ममानमानस्य विष्णुं विद्वज्जगत् हरम् ॥
परीक्षामुक्तसूत्रप्रकाशप्रार्थनं विष्णुभ्यो ॥’

पुस्तिकाकावय भी देखिए—

‘श्री शान्तिवर्णविरचितार्थ प्रमेयकण्टिकायां स्तव्यम् ।’

और देखिए अन्तिम अन्त—

‘प्रमेयकण्टिका जीयात् प्रतिद्वानेकसद्गुणा ।
सत्तन्मातृण्डसाश्रययोयराज्यस्य कण्टिका ॥
सत्तिष्णत्सु (१) जनयतु तर्कं
आधायितर्को भव तर्करत्ने ।
केनानिदा अष्टवृत्त पञ्च-
दशवृत्तस्य किं सुवर्णकारण न ॥’

अन्य में ग्रन्थकार की प्रशस्ति नहीं है। किन्ती अन्य प्रकार में भी ग्रन्थकार ने अपनी गुरुपरम्परा आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है।^१ न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं को प्रमेयकण्ठिका एक मुष्टक भूमिका है। इनकी सूत्रानुरूप भाषा प्रमाण देती है कि इनके माध्यम से प्रमेयशास्त्र को कण्ठस्थ किया जा सकता है। यह अभी तक अप्रकाशित है और इसके प्रकाशन की अत्यधिक आवश्यकता है।

ग्रन्थकार का अध्ययन गम्भीर एवं धैर्य प्रौढ़ है। न्यायदोषिकाकार वसंभूषणयति की भाँति शान्तिवर्णी भी विस्तृत विषय को नक्षिण शब्दों द्वारा सरलता से व्यक्त कर देते हैं। उनका अपना व्यक्तित्व है जो पदे-पदे उनकी तर्क प्रणाली द्वारा प्रकट होता है। परीक्षामुक्त के सम्पूर्ण विषय को उनके एक ही सूत्र की व्याख्या में समाविष्ट कर देना शान्तिवर्णी जैसे मारगही का ही कार्य है।

श्री शान्तिवर्णी ने अपनी कृति में अपना कोई परिचय नहीं दिया है। भूडविद्वी के जैन भवन में 'अनन्तकुमारी-चरित' की दो ताडपत्रीय पाण्डुलिपियाँ विद्यमान हैं।^१ अनन्तकुमारीचरित के लेखक श्री शान्तपण वर्णी हैं। यदि शान्तिवर्णी और शान्तपण वर्णी को एक ही व्यक्ति माना जावे तो हम कह सकेंगे कि प्रमेयकण्ठिकाकार भारगीपुर के निवासी थे और उन्होंने अनन्तकुमारीचरित की रचना शालि० शक १७८६ (१८६४) में पूर्व की थी। इससे अतिरिक्त, योगरत्नाकर^२ और योगामृत^३ के लेखक शान्तिगम, पुरदेवचरित के लेखक शान्तिभूमि, चतुर्विधतितीर्थकरपुराण^४ और पार्श्वनाथचरित^५ के लेखक शान्तिकीर्ति, मुकुमाचरित^६ के लेखक शान्तिनाथ, पञ्चविधतिमन्वानकाव्य^७, शान्तिगजक-विप्रशस्ति^८ और सत्सजनचिन्तामणि^९ के लेखक शान्तिगज कवि तथा जैनतर्कवानिकवृत्ति^{१०} के लेखक श्रीमच्छान्ताचार्य के नाम भी विचारणीय हैं। समग्र है कि इनमें से किन्ती एक या एकाधिक के साथ हमारे शान्तिवर्णी का समीकरण किया जा सके। साथ ही, न्यायावतारवानिकवृत्ति की प्रस्तावना में श्री० दलमुख मालवणिया ने जिन मंत्रह (१०-१७=१७) शान्तिभूमि एवं शान्ताचार्य नामक आचार्यों का उल्लेख किया है^{११} उनमें से भी कोई एक या अनेक, प्रस्तुत शान्तिवर्णी हो सकते हैं। न्यायावतारवानिकवृत्ति के कर्ता शान्तिभूमि^{१२} और प्रमेयग्लमा^{१३} के कर्ता शान्तिपेण^{१४} के साथ हमारे शान्तिपेण का समीकरण नहीं हो सकता। यदि मेरा अनुमान सत्य सिद्ध हुआ तो ये शान्तिवर्णी वह शान्तिपेण होना

१ विशेष विवरण के लिए देखिये, जैन सन्देश, शोधाङ्क, १४ मार्च '६३, पृ० १६३।

२ इन प्रतियों का परिचय श्रीमान् प० के भुजबली शास्त्री ने इस प्रकार दिया है—'ग्रन्थ न १५५। अनन्तकुमारी चरित। वर्णी शान्तपण। पत्र सं० १७। पक्ति प्रतिपत्र ६। अक्षर प्रतिपक्ति ७२। लिपि कन्नड। भाषा कन्नड। विषय चरित। वस्तु ताडपत्र। लेखनकाल शालि० शक १७८६। पूर्ण तथा शुद्ध। दशा उत्तम। विशेष—इस ग्रन्थ के रचयिता वर्णी शान्तपण भारगीपुर के निवासी हैं। प्रतिलिपिकार भूडविद्वी पडुवसदि पुरोहित पद्मय्य इन्द्र के पुत्र चम्पय्य इन्द्र हैं।' अनन्तकुमारीचरित की दूसरी प्रति का ग्रन्थ न० १७५ है।

देखिए, कन्नडप्रान्तीय ताडपत्रीय-ग्रन्थसूची पृ० २२६।

३ वही, पृ० ७६।

४. वही, पृ०, ८०।

५ वही पृ० १५५

६. वही, पृ० १४६।

७ वही, पृ० १५४।

८ वही, पृ० २६६।

९ वही, पृ० २६१।

१० वही, पृ० २६८। ११ वही, पृ० २६२।

१२ प्रकाशक—ई० जे० लाजरस एण्ड कं०, मेडीकल हॉल प्रेस, बनारस केण्ट (१९१७ ई०)।

१३ पृ १४६ से १४६ तक। १४ वही, पृ० १५१।

१५ यह ई० की १३ वीं शती की रचना है। अभी अप्रकाशित है। इसकी एक पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्त भवन, आरा में उपलब्ध है। स्व० प० महेश्वरकुमारजी न्यायाचार्य जैनदर्शन, पृ० ६२८।

१६ वही, पृ ६०८।



चाहिए जिनके निमित्त मे आनाय धनमन्वीय न प्रमयन्लमाला निती गी।' ये शक्तिपेण ही पढ़ रिमयन ओर कदाचित् दीक्षा लेकर शान्तिनर्णी ले गये हों। यह प्रत्याभाविष नही है। प्रमेयरत्नमाला के माध्यम मे परीक्षामुक्त का मर्म समझकर उम पर, उनसे द्वाग टीका निती जाता भी स्वाभाविक ही है।

उपसंहार

उम विवेचन मे, हमन मन्देह नहीं जा जाता कि परीक्षामुक्त का महत्त्व श्री व्यास मे ही नहीं बल्कि मपूर्व भारतीय व्यास मे भी उत्प्रेरणीय है। इसके मर्म, हिन्दी और संस्कृत टीकाओं के साथ और सम्पूर्ण प्रकाशित है। सुते है, किन्तु भी उमने एक ऐसे मर्मरूप की निम्न आस्था है जिसे अन्याय १८८२ मृत का रिमयन मर्म भारतीय व्यास के प्राम मे लिया गया हो और त्रिमते साथ पापुत्र प्रकाशित तथा धातुनिक टीकी के परिशिष्ट मन्त्र हो। उनी प्रकाश उमकी टीकाओं के भी, निम्न मे कुछ अभी प्रकाशित ही है, धातुनिक टीकी मे सम्पादित सम्पूर्ण प्रकाशित होता चाहिए। ऐसे मर्म का प्रकाशन एक सम्पन्न होती है, उमने कई कारण है। त्रिम यह है कि हमने श्री भी मर्म परीक्ष पर परा की प्रवृत्ति नहीं है। दूसरा, धनिक बग का ध्यान साहित्य प्रकाशन की ओर पर्याप्त रूप मे नहीं गया है। तीसरा कारण यह है कि प्रकाशित मर्मरूप ओ मर्म या चातु रिमयन का साहित्य प्रामिका मे प्रकाशित रहती है। और चौथा, धनिक जोखनीय कारण यह है कि रिमयन मुक्त भी प्रती अधिकतम शक्ति या तो व्यापा आदि मे समाप्त कर देते हैं, या उते या चातु साहित्य के मर्म मे गया देते हैं। उा सबका परिणाम यह होता है कि परीक्षामुक्त उमे पर्वानम धेवी के अन्य भी उत्प्रेरणीय प्रकाश मे यति रह जाते है। आशा है, शीघ्र ही परीक्षामुक्त की ओ हमारा योचित ध्यात पहुँचेगा।

राजस्थानी साहित्य के विविध रूप और जैन काव्य

डा० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
एम० ए०, पी-एच० डी०



साहित्य का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जा सकता है । प्राचीनकाल में साहित्य मौखिक और लिखित दो रूपों में प्राप्त होता रहा है । प्राचीनकाल में दृष्टि और मुद्रण के साधन सुलभ नहीं थे, इसलिए विद्या को कठम्व करने पर बल दिया जाता था । नदनुमाग "विद्याकठे" की उक्ति प्रचलित हुई है । मौखिक और लिखित साहित्य को क्रमशः श्रुतिनिष्ठ और निपिनिष्ठ भी कहा जा सकता है ।

आचार्य व्यास ने काव्य को तीन रूपों में वर्गीकृत किया है —

१ अथ, २ अभिनेय और ३ प्रकीर्ण—“अथ चैवानिनेयच प्रकीर्णं सकलौक्तिभिः ।”^१

आचार्य भामह ने काव्य एवं साहित्य के पद्य और गद्य नामक दो भेद बताये हैं । भाषा भेद की दृष्टि से भामह ने मन्वृत्त, प्राकृत, और अपभ्रंश नामक तीन विभाग बताये हैं । भामह ने वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से—(१) वृत्त-देवादिवर्णिगणि, (२) उत्पाद्यवस्तु, (३) कथाश्रय और (४) शास्त्राश्रय नामक भेद बताये तथा काव्य का स्वरूप-भेद की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण किया—

१ मग्वन्ध (महाकाव्य) २ अभिनेयार्थ (नाट्य), ३ आख्यायिका ४ कथा और ५ अनिवद्ध ।”

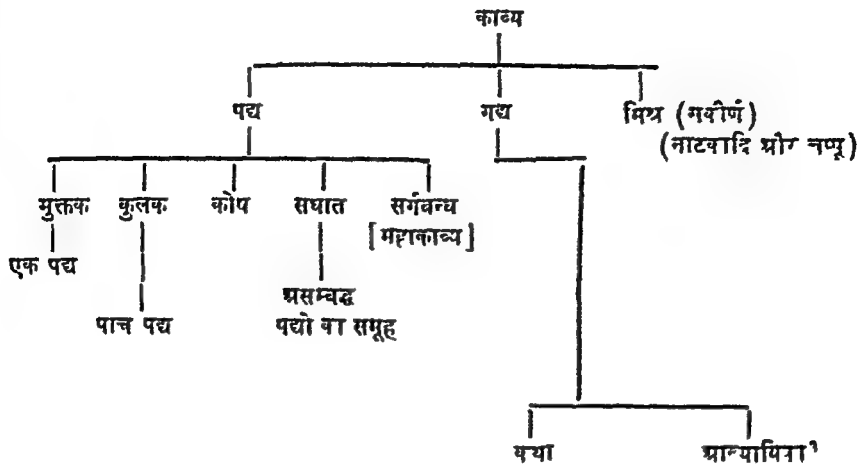
आचार्य दण्डी ने साहित्य को मन्वृत्त, प्राकृत, अपभ्रंश और स्थि भाषाओं के अन्तर्गत रखते हुए काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया—

^१ अग्निपुराण,

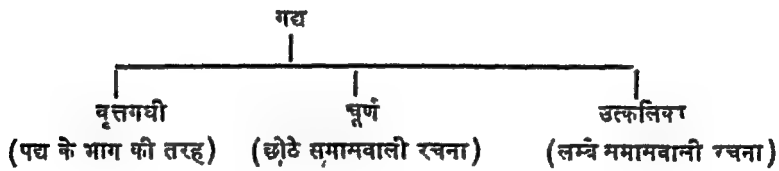
३३७ । ३६

२ काव्यालंकार,

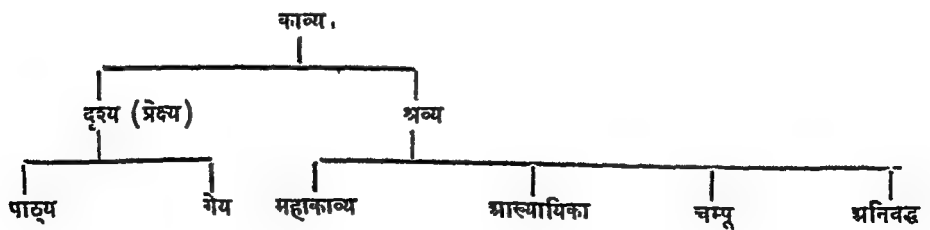
प्रथम परिच्छेद ।



आचार्य वामन ने 'काव्यालकार सूत्र' में काव्य के पद्य और गद्य दो रूप मानते हुए गद्य के तीन रूप बताये हैं —

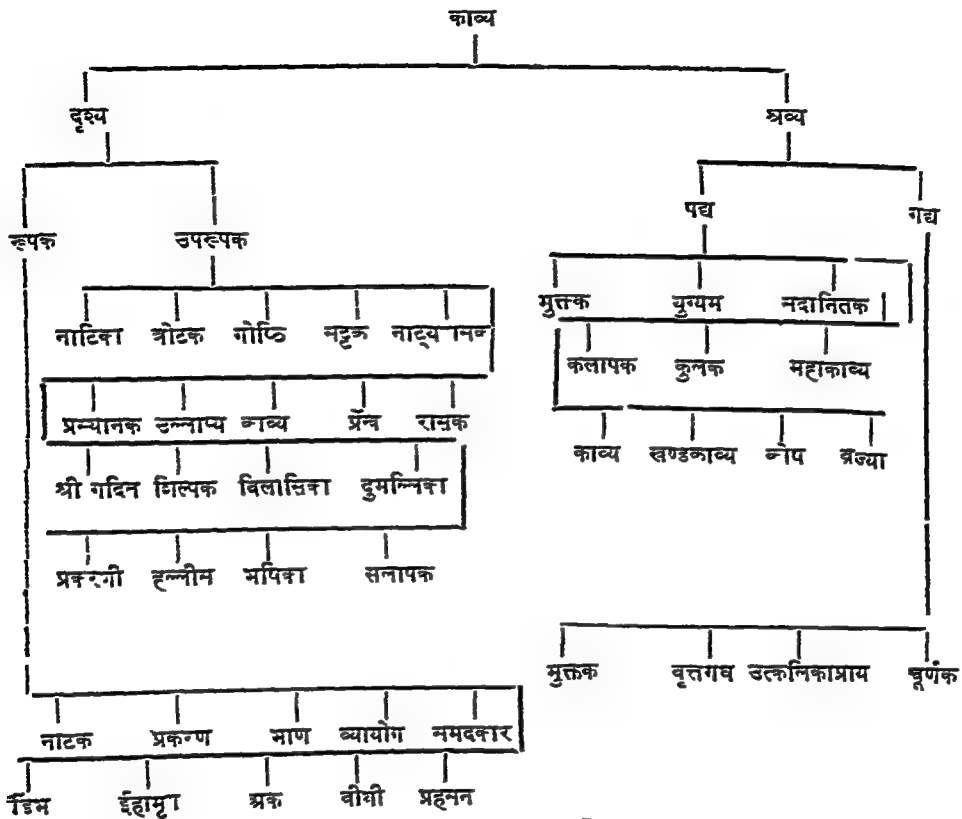


आचार्य हेमचन्द्र ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और ग्राम्यापभ्रंश भाषाओं को गद्य-भाषा हुए काव्यमानने का वर्गीकरण इस प्रकार किया—



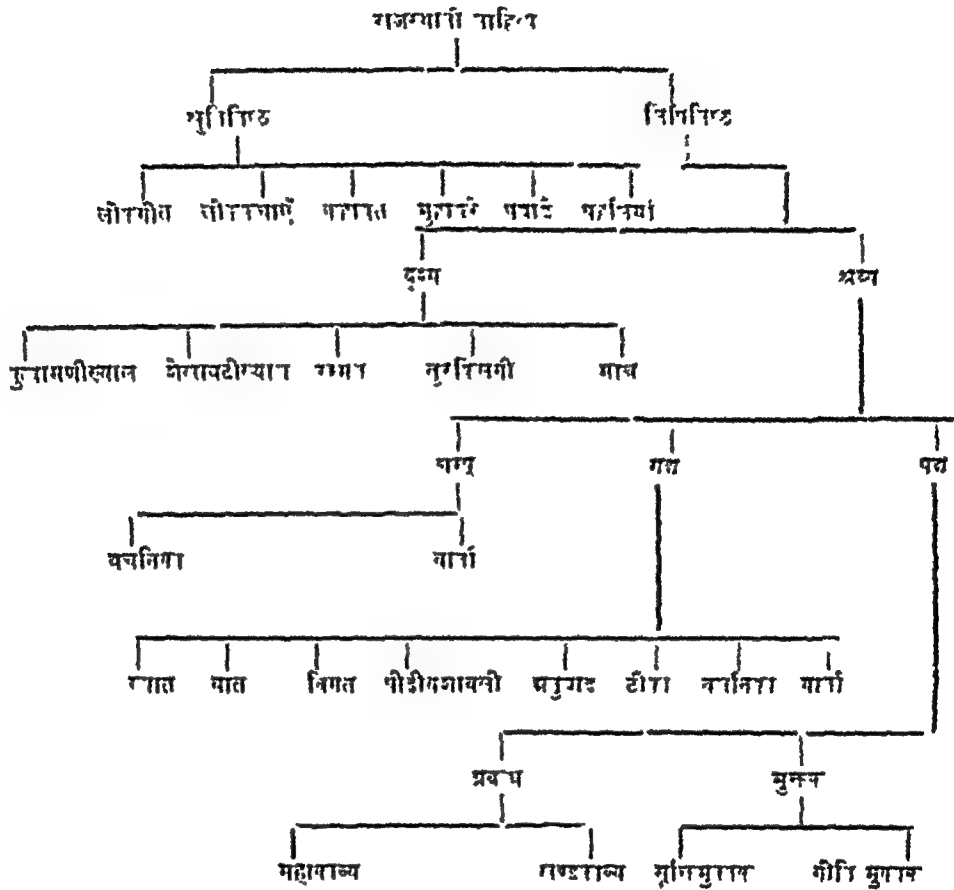
१ काव्यादर्श,
१।१।१।४२३३१,

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के अन्तर्गत काव्य के दृश्य और श्रव्य नामक दो भेद मानते हुए काव्य का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया है—





विपिनित्ठ और श्रुतिनित्ठ राज्यानी गतिव पा चर्चा र्ग्य विमतिगित रूप में वर्गा उरि र्ग्य—



प० नरोत्तमदास जी स्वामी ने राजस्थानी साहित्य की तीन शैलियाँ मानी हैं—(१) जैन शैली (२) चारणी शैली और (३) लौकिक शैली ।^१

उक्त शैलियों के अतिरिक्त राजस्थानी साहित्य की पिगल, भक्ति एवं सन्त काव्य और आधुनिक साहित्यिक शैलियाँ भी हैं जिनका समावेश उक्त वर्गीकरण में नहीं हुआ है । चारणी शैली से चारणों द्वारा अपनाई गई शैली का ही बोध होता है । रावो, राजभूतो, मोतीसरो, डाढ़ियों और ब्राह्मणों आदि ने भी चारण कवियों की भाँति अनेक डिगल रचनाएँ प्रस्तुत की हैं । अतएव “चारणी” शब्द उक्त अर्थ को प्रकट नहीं करता है । नाथ ही “चारणी” शब्द “चारण” भुक्तिग शब्द के स्त्रीलिंग रूप का भी बोधक है ।

श्री अग्रचन्द जी नाहटा ने ११५ प्रकार के काव्य रूप व्रतये हैं —

(१) रास, (२) सधि, (३) चौगाई, (४) फागु, (५) घमाल, (६) विवाहचो, (७) घवल, (८) मगल, (९) बेलि, (१०) ननोरु, (११) नवाद, (१२) वाद, (१३) ऋगडो, (१४) मातृका, (१५) वावनी, (१६) कक्का, (१७) बारहमामा, (१८) चौमामा (१९) पवाडा, (२०) चचरी (चाँचरी), (२१) जन्माभिषेक, (२२) कलग, (२३) तीर्थमाला, (२४) चैत्यपरिपाटो, (२५) सघ वर्णन, (२६) डाल, (२७) डालिया, (२८) चौडालिया, (२९) छडालिया, (३०) प्रवन्ध, (३१) चरित, (३२) मन्वध, (३३) आत्मानक, (३४) कया, (३५) नतक, (३६) बहोत्तरी, (३७) छत्तीसी, (३८) मत्तरी, (३९) वत्तीनी, (४०) डक्कीनी, (४१) डक्कीमो, (४२) चौवीसी, (४३) बीमी, (४४) अष्टक, (४५) स्तुति, (४६) स्तवन, (४७) स्तोत्र, (४८) गीत, (४९) मज्झान, (५०) चैत्यवन्दन, (५१) देववदन, (५२) बीननी, (५३) नमस्कार, (५४) प्रभाती, (५५) साम्, (५६) वधावा, (५७) गहँली, (५८) हीयाली, (५९) गूढा, (६०) गजल, (६१) लावणी, (६२) छन्द, (६३) नीसाणी, (६४) नवरमो, (६५) प्रवहण, (६६) पारणो, (६७) वाहण, (६८) पट्टायली, (६९) नुवाँनी, (७०) हमचडी, (७१) हीच, (७२) मालामालिका (७३) नामामाला, (७४) रागमाला, (७५) कृतक, (७६) पूजा, (७७) गीता, (७८) पट्टाभिषेक, (७९) निर्वाण, (८०) माम, (८१) पद, (८२) मजनी, (८३) रमावली, (८४) रमायन, (८५) रमलहरी, (८६) चन्द्रावला, (८७) दीपक, (८८) प्रदीपिका, (८९) फुलडा, (९०) जोड, (९१) परिश्रम, (९२) कल्पलता, (९३) लेखा, (९४) विरह, (९५) मूँदडी, (९६) नत, (९७) प्रकाश, (९८) होरी, (९९) तरंग, (१००) तरगिनी, (१०१) चौक, (१०२) हुडी, (१०३) हरण, (१०४) विलाम, (१०५) गवा, (१०६) बोली, (१०७) अमृतध्वनि, (१०८) हालरियो, (१०९) रमोई, (११०) कडा, (१११) झुनगा, (११२) जकडी, (११३) दोहा, (११४) कुडलिया और (११५) छप्पय ।”^२

श्री नाहटाजी ने काव्य रूपों की संख्या ११७ दी है । किन्तु मगन रूप माका ८ और ५५ दो बार आ गया है और नट्या ८१ पर मयमत्री विवाह वर्णन, विवाह-परक रचना है । ऐसी रचनाओं का समावेश विवाह-विवाहला रूप में ही हो जाता है ।

श्री नाहटाजी की उक्त ११५ काव्य-सजाओ की सूची में डिगल और पिगल काव्य-रूप नहीं हैं तथा साखी, मवद, परिचयी और भक्तमाल जैसे काव्य-रूप भी छूट गये हैं । आधुनिक राजस्थानी काव्य-रूपों का भी उक्त सूची में समावेश नहीं है । अतएव श्री नाहटाजी द्वारा प्रस्तुत काव्य-रूपों की उक्त सूची एकांगी प्रतीत होती है ।

भाषा-शैली की दृष्टि से राजस्थानी काव्य के निम्न लिखित भेद किये जाने चाहिए—

१ राजस्थानी साहित्य एक परिचय,
नवयुग ग्रन्थ कुटोद, बीकानेर, पृ० २३

२ प्राचीन काव्यों की रूप-परम्परा, भारतीय विद्या मंदिर, शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर पृ० २-३ ।





(क) जैन काव्य, (ख) डिगल काव्य, (ग) पिगल काव्य, (घ) भक्ति एव मन्त काव्य, (ङ) लोक काव्य और (च) आधुनिक काव्य ।

जैनकाव्य का वर्गीकरण (अ) कथाकाव्य अथवा चरितकाव्य, (आ) ऋतु काव्य, (इ) उत्सव काव्य (ई) नीतिकाव्य, (उ) स्तवन, (ऊ) ढाल, (ए) टव्या एव बालावबोध और (ऐ) ज्योतिष वास्तुशास्त्र आयुर्वेद, रीति ग्रन्थ आदि शास्त्रोप विषयो पर आधारित काव्य के रूप में किया जा सकता है ।

(अ) कथाकाव्य अथवा चरितकाव्य जैनकाव्य के अन्तर्गत आदर्श व्यक्तियों के चरित्रों में सम्मिश्रित अनेक कथाकाव्य उपलब्ध होते हैं । इन काव्यों के माध्यम में दानशील, तप और भावना नामक ग्राह्य गुणों और श्रोत्र मान माया और लोभ नामक त्याज्य पर अवगुणों पर विशेष बल दिया गया है । इन विषय में कहा गया है—

दान शील तप भावना, चारु चरित मह्यम् ।

श्रोत्र मान माया बली, लोभादिक पभण्णम् ॥^१

कथा अथवा चरितकाव्यों के रूप निम्नलिखित हैं—

(१) राम, रासो, (२) चौपाई, (३) सधि, (४) चरचरी, (५) प्रबन्ध, चरित, आभ्यासक कथा ।

(१) रास, रासो

राम परक काव्यों की परम्परा हमारे साहित्य में प्राचीन है । राम अथवा रासो-काव्यों को रासव, रासी, राइसो, राइसी, रायसो, रायसड, रासु, रायसा और रासा आदि भी लिखा गया है । राम शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं—

१ बीसलदेव रास में रसायन शब्द प्रयुक्त हुआ है । इसी “रसायन” शब्द से रासो की उत्पत्ति हुई है—
आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ।^२

२ रासी शब्द की उत्पत्ति “राजसूय” से है—गासिद तासी ।^३

३ रासो शब्द की उत्पत्ति “रहस्य” से है—श्यामसुन्दर दास ।^४

४ रासो शब्द की उत्पत्ति “राजयश” से है ।^५

५ “रासो के मायने कथा के हैं । यह रूढि शब्द है । एकवचन रासो, बहुवचन रासा ।”—भुंशी देवीप्रसाद ।^६

६ “राजादेश” से रासो की उत्पत्ति हुई है ।”—डॉ० जार्ज ग्रियर्सन ।^७

-
- १ हेमरत्न कृत “अमरकुमार चौपाई” से, हस्त प्रति श्री अमय जैन प्रथालय, बीकानेर ।
 - २ हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशीनागरी, प्रचारिणी सभा (स० २००३), पृ० ३२
 - ३ हिन्दुई साहित्य का इतिहास ।
 ४. हिन्दी शब्द-सागर ।
 - ५ भारतीय विद्या, वर्ष ३, अंक १, पृ० ६६.
 - ६ सरस्वती, भाग ३, पृ० ६८
 ७. वही, पृ० ६७.

७ रासा शब्द की उत्पत्ति मन्टन शब्द के सम है ।^१ डा० गोरीशंकर हीराचन्द श्रोमा ।

८ रामो शब्द की उत्पत्ति राम अथवा रासक से है ।^२ प० मोहनलाल विष्णुलाल पट्टा ।

९ “राम” शब्द बन्नुन मन्टन भाषा का नहीं है, प्रत्युत देशी भाषा का है जो संस्कृत बन गया है ।” डा० दशरथ श्रोमा ।^३

१० चरित्र-काव्यों में रासो-ग्रन्थ मुख्य हैं । जिस काव्य-ग्रन्थ में निम्नी राजा की कौतूहल, विजय, युद्ध, वीरता आदि का विस्तृत वर्णन हो, उसे रामो कहते हैं । प० मोतीलालजी मेनारिया ।^४

११ विष्णुनाथप्रसाद मिश्र के मतानुसार ‘रामक’ शब्द को रामों की उत्पत्ति के लिये ग्रहण किया जा सकता है ।^५

१२ रास या रामक मूलतः नृत्य के माय गाई जाने वाली रचना विशेष है ।—के का शायरी ।^६

१३ उद्यम या पंचडे आदि भी रासो के अर्थ लिये गये हैं ।^७

१४. रास मुख्यतः गेय छन्दों में लिखा जाता था ‘गरवो’ को रास का उत्तराधिकारी भी बताया गया है ।^८

१५ प० हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने इसको मिश्र गेय-रूपक मानते हुये रामो और रासक का पर्याय माना है । उनके मत में हेमचन्द्र के काव्य के आधार पर यह मिश्र गेय है ।^९

१६ विविध प्रकार के राम, रामावलम्ब, रामा और रामक छन्दों, रासक और नाट्य-रासक उपनाटको रामक, राम तथा रामो नृत्यों और नृत्तों में भी रासो-प्रबन्ध-परम्परा का निकट का सम्बन्ध रहा है ।” डा० माताप्रसाद, गुप्त ।^{१०}

१७ पहले ‘रामाओं’ का वर्णन मुख्य हेतु था । किन्तु उपदेश में कथानक और चरित्र-मकीर्तन आदि तत्वों का समावेश हुआ । साहित्य-स्वरूप की दृष्टि से रामक एक नृत्य-काव्य अथवा गेय-रूपक है ।^{११}

१. सम्मेलन पत्रिका भाग ३३, संख्या १०, ७, पृ० ६७

२. रासो की प्रथम भरसा, उदयपुर ।

३. हिन्दी नाटक . उद्भव और विकास, पृ० ७० (द्वितीय संस्करण)

४. राजस्थान का पिपल साहित्य, पृ० २४, सन् १९५०

५. सम्मेलन-पत्रिका, भाग ३३, संख्या १२, अक्टूबर २००३.

६. आपणा कवियों, भाग एक, पृ० १८३-१५२ और ४१६-४३२

७. साहित्य-सन्देश, मई १९५१

८. दो केटनाग आफ दो गुजरानी एण्ड राजस्थानी, इन दो इण्डिया ओफिस लायब्रेरी, आश्मफोर्ड युनोवर्सिटी प्रेस १९५४,

९. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५६, सन् १९५०,

१०. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ४, अंक ४,

११. मंजुलाल र० मजुमदार गुजरानी साहित्यना स्वरूपो, पृ० ६६ तथा ७१,





१८ डॉ० शोमप्रकाश के अनुसार तीन विधेयताएँ रासो में पाई जाती हैं—(अ) वस्तु-वर्णन, (आ) गीती, (इ) सगित्य चित्र ।^१

१९. रास शब्द का प्रयोग श्रीमद्भागवत में गीत-नृत्य के लिये हुआ है—

“रासोत्पन्न सम्प्रवृत्तो गोपी मण्डल मण्डित”^२

इसमें ध्रुपद आदि रागों का भी प्रयोग मिलता है—

“तदेव ध्रुवमुन्नित्ये तस्मै मान च बहुदात्”^३

२० विजयराय कल्याणराय चैद्य के अनुसार रास छन्द धार्मिक कथाओं के तत्वों से युक्त है ।^४

२१ ‘रास’ के नृत्य, अभिनय और गेय वस्तु-इन्हीं तीनों अंगों से समय पाकर परस्पर मिलते-जुलते किन्तु साहित्य की दृष्टि से विभिन्न तीन प्रकार के रासों की उत्पत्ति हुई। कुछ नृत्य-विधेय रास कहलाए। इसी प्रकार श्रव्य रास और रासक उपरूपक बने ।^५

२२ विरहाक के वृत्तजातिसम्मुच्चय के ‘रासश्च और स्वयम्भू छन्द के रासा’ को बताते हुये डा० हरिवल्लभ भायाणी ने मदेम गमक में प्रयुक्त ‘रामा’ नामक छन्द की भी चर्चा की है ।^६

२३ पृथ्वीराज रागों में पाँच स्थलों पर रामो छन्द होने की सूचना डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी ने दी और बताया—

“इतना तो कहा जा सकता है कि एक समय रासा या रासो काव्य में अनेक विविध छन्दों का व्यवहार इष्ट होकर शास्त्रोक्त हो गया था ।”^७

२४ रामक या राम को छन्द-प्रभाकर^८ और हिन्दी छन्द-प्रकाश^९ में एक छन्द विधेय बताया है ।

२५ अनेक विद्वानों के मतानुसार रसपूर्ण होने से यह रचना राम कहलाई। धानिभद्र मूरिकृत ‘पंच पाँडव चरित्तु’ (संवत् १८१०) में लिखा है—“रासि रसाउलु चुणीजई” ।^{१०}

२६ जिनदत्त मूरि के “उपदेश रसायन रास” में लगुड-रास और ताला-गम का पता चलता है। ये राम रोले भी जाते थे। कवि के अनुमान दिन में लगुड-रास और रात्रि में ताला-रास के खेल बजित हैं—

“ताला रासु विदिति न रयणिहि,
दिवसि वि लउडारसु सहु पुरिनिहि ॥”

१ हिन्दी काव्य और उसका सौंदर्य, पृ० १८-२०

२ स्कन्ध १०, अध्याय ३३, श्लोक ३,

३ १०।३३।१०

४ गुजराती साहित्यनी रूपरेखा, पृ० १६-२० (आवृत्ति पहली)

५ डा० दशरथ शर्मा, साहित्य-संदेश अंक १, जुलाई १९५१

६ संदेश रासक मुनि श्री जिनविजयजी, भारतीय विद्याभवन बम्बई, प्रस्तावना

७ रेखातट-समय, भूमिका पृ० १३४-१३५,

८ श्री जगन्नाथप्रसाद ‘मानु’ कृत, पृ० ५६

९ श्री रघुनन्दन शास्त्री कृत, पृ० २४५

१०. गुर्जर रासावली जी ओ एस अठारह

इनकी पुष्टि उन उद्धरणों में हो जानी है—

“नाला गनु ग्यणि नहि देड, नडडा गनु मूलह कारेड ।”

श्रीः—

‘पीछे ताला उन पडइ बहु भार पडठा ।

अनड नुठुट राम नोईड तिला नाचना ॥”

श्रीः—नेवततिणि गान (सं १७८८)

“रतिहि अरे रमई ओ गनु गिणि विजयमेण नूरि निम्मविडए ।”

जिनोदय मूनि पट्टाभिर्येक गान (सं १८१५)

“नारटि अरे नया विद्याल, चदवयणि मन नय नय ।

नयगि अरे गनु रमनि, तेना येनिय नुप पविरे ॥

नाहटदे गान (सं १५१०)

पन्था मनोर पृगी आन, ठामि ठामि दिवगई गान ।”^३

०: भाव प्रसार में साहित्यिक ने तीन प्रकार के नामों का वर्णन किया है—

नानागान नाम स्यादन्त्येषा राग नवेन ।

अष्टांगानमेनु नया मण्डलगानम् ॥

श्री गान नामक गेय-नाट्य या उल्लेख उपलब्धों में किया गया है—

“गाय न प्रेक्षा नाट्य गान नामक तथा उल्लोप्य च हल्लीगम्य दुर्गल्लीकटपि च ॥”

हेमचन्द्र—

गेय-प्रेक्षित-भाण प्रगान-शित-मणिका-प्रेक्ष-गायत्रीः हल्लीगम-गान-गोष्ठी-श्रीगदित राग गानादि ।^४

वाग्भट्ट (दिनान्त) श्री कवि विष्णुनाथ—

“नाटिका गोटक गोष्ठि मट्टक नाट्यगानम्

प्रन्थानोल्लाप्यगान्यनि प्रेरण रानम् तथा ।”^५

गान में अनेक मात्र और तब ६६ तक के युगल और कोमल उद्धृत-गेय रूपक तथा अनेक नर्तकियाँ भी होती हैं—

“अनेक मनरी योज्य चित्र ताल नयान्वितम् ।

आचतु पण्डि युगलाद्रामक मृगणोद्धनम् ॥

१ जगद् रचित, सम्यक्त्वमाई ।

२ मन्त्रक्षेत्री रास (प्रा० गु० का० सं० पृ० ५०)

३ पृ० ५६, पट १, २३६

४ वाग्यानुशासनम् ।

५ वही ।

६ साहित्य दर्पण, ५, परि० ६ ।



डा० क्यामरुन्दराम^१, श्री बालेन्दु^२ श्री ब्रजरत्नदाम^३, आदि ने हिन्दी साहित्य में उपयोग के १८ भेदों में से नाट्यरामन को भी एक भेद माना है।

२८ हिन्दी साहित्य कोष के अनुसार रामों नाम से अभिहित कृतियों में प्रकार भी है—एक तो गीत-नृत्य परक जो राजस्थान तथा गुजरात में विशेष रूप में मगृज हुई और दूसरी छन्द-वैविध्य परक जो पूर्वी गजस्थान तथा शेष हिन्दी प्रदेश में अधिक विकसित हुई।^४

श्रीमद्भागवत के रामलीला प्रसंग से ज्ञात होता है कि राम का सम्बन्ध मूलतः शृंगारिक नृत्य-गीत में है। निम्नलिखित ग्रन्थों से भी राम का सम्बन्ध शृंगारिक नृत्यगीत में प्राप्त होता है—‘पादचलच्छो नाममात्र’ के रामो हल्लीरात्रो, देशी नाममाला के हल्लीरा रासा^५।^६ मण्डलेन शृंगारानृत्यम् तथा कुरुषो रामय^७ और पाद्य मह-महणयो के रास रामय^८ और रिपुदमण रास।^९

रास मूलतः लौकिक और शृंगारिक गीत रहे हैं जिनके आधार पर जैन रवियों ने धार्मिक राम रचिने। धीरे धीरे इन रास-गीतों में परिवर्द्धित होते हुये काव्य शैली का रूप धारण कर लिया।

(२) चउपई—

चउपई अर्थात् चौपाई छन्दों में रचित होने से इन रचनाओं को “चउपई” संज्ञा में अभिहित किया गया।

(३) संधि

अनेक महाकाव्यों में सर्गों से तात्पर्य संधि लिया गया है। हेमचन्द्राचार्य ने महाकाव्य के लक्षण बताते हुये लिखा है—

“पद्य प्राय सरगुन प्राकृतावधन ग्राम्य भाषानिरुद्ध भिन्नभूतमगादिशामगन्धवन्धन्य बन्धसत्सधियन्धार्य वैचित्र्योपित महाकाव्यम्” कुछ संधि-विषयक काव्य निम्न हैं—

(१) आनन्द संधि,—विनयचन्द्र, (२) गोतम संधि (१४वीं शताब्दी) ह० प्रति श्री अभयजैन ग्रन्थावयवीकानेर, तथा जै० गु० क० भाग १, ६, (३) मृगापुत्र संधि (१४५०) कल्याणतिलक (४) नन्दन मणिहार संधि (१५८७)—चार चन्द्र (५) उदाह राजाणि संधि (१५६०) तथा गजसुकुमाल संधि (१५६०) समयमूर्ति (६) जिनपालित जिन रक्षित संधि (१६२१) कुणलजाम, (७) गजसुकुमाल संधि (१५५३) मूलप्रभ (८) मुवाहु संधि (१६०४) पुण्यसागर (९) हरिकेशी संधि (१६४०) कनक्य मोग (१०) चउमरण प्रतीर्ण संधि (१६३१) चरित्र सिंह (११) भावना संधि (१६४६) जयगोम (१२) अनाथी संधि (१६४७) विमल चिन्तय (१३) कवयन्ता संधि (१६५१) गुण विनय आदि।

१ रूपक रहस्य।

२ हिन्दी नाट्य-साहित्य।

३ हिन्दी काव्य-शास्त्र।

४ पृष्ठ ६५६

५ धनपाल कृत ॥६७॥

६ हेमचन्द्र कृत ॥८६१॥ (कलकत्ता)

७ वही, २।३८

८ पण्डित हरमोघिनंद दास, भीकचन्द्र सेठ (कलकत्ता १६८५)

९ मधुभारती, वर्ष ४, अंक २, जुलाई १९५६, डा० दशरथ शर्मा रिपुदमण रास।

(४) चर्चरी

मगीनवद्ध रचना गगन-गनियों में बाँध कर नृत्य के नाथ में गाई जाती है, वह चर्चरी कहलाती है। जिनदत्त मूरि की रचना जिनबन्धनमूर्ति की स्तुति उपपन्न काव्यप्रयोग में है।^१ हिन्दी और प्राकृत पैगलम् में इसको छन्द बताया गया है।^२ ये रचनाएँ चौदहवीं शताब्दी में मिनना आग्न्ध हुई हैं।^३

(५) अ—प्रबन्ध चरित, आर्यानाक और कथा

जैन कवियों ने अनेक रचनाएँ प्रबन्ध, चरित, आर्यानाक और कथा काव्यों के अन्तर्गत लिखी हैं। सम्बन्धित चरित्र अथवा मुख्य घटना या उल्लेख इन नामों में पहने कर्ने की परम्परा रही है।

आ—ऋतु काव्य

ऋतु काव्यों के अन्तर्गत (१) फागु (२) बमाल और (३) बाग्हमामा-परक रचनाओं का समावेश होता है।

(१) फागुकाव्य

बमन्त ऋतु में गेय है। होली के अवसर पर फागु के नाथ इन रचनाओं का सम्बन्ध होने में इन्हें फागु कहा गया। फागु शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं—

१ टॉ० भोगीनान माटेनग—सम्भृत फागु>प्रा० फगु>फागु।

२ शृंगारिक विषयों के आधारे पर के० का० शम्भरी ने इसे फागुकाल कहा है।^४

३ श्री ताल्लिनाथ वरदेयाम व्यास के मतानुसार—स० फागुन>अ० फगु पु० प० ग० फागु। फागुन में बमन्त अपने पूर्ण जीवन पर होती है। उस समय में मादकता से भरे हुये गान को फागु कहते हैं।^५

४ जिस प्रकार सम्भृत में बमन्तवद्ध अनुप्रासमय काव्य होते हैं। वैसी रचना को भाषा में फागुबन्ध कहा जा सकता है। —डायट्ज शम्भानाथ प्रेमानन्द शाह।^६

५ श्री तालचन्द गाँधी के मतानुसार फागु शैली विषय के आधार पर विविध तत्वों से युक्त है।^७

६ अक्षयचन्द धर्मा के अनुसार यह मनुमहोत्सव रूपी गेय रूप है।^८

७ फागु श्रुत में जोन साहित्य का गीत स्वरूप है। —डॉ० म० २० मजुमदार।^९

८ देशी नाममात्रा में बमन्तोत्सव कहा गया है—फगू महच्छरणे^{१०} सम्भृत फगु में भी इसकी उत्पत्ति इसी आधार पर दिखाई गई है।^{११}

१ गायकवाट ओरियन्टल सिरीज में प्रकाशित।

२ हिन्दी छन्द-प्रकाश पु० १३१ तथा हिन्दी काव्य शास्त्र पु० २०४।

३ जैन मत्त-प्रकाश, वर्ष १२, अंक ६ में श्री हीरालाल कापडिया का 'चर्चरी' नामक लेख।

४ आपणा कविश्री पु० २३३।

५ बमन्त-विलास, नूमिका पु० ३८।

६ जैन सत्य प्रकाश, वर्ष १० अंक ५-६ पु० १६५।

७ वही, वर्ष ११ अंक ७ पु० २१२।

८ नागरी प्रचारिणी-पत्रिका वर्ष ५६ अंक १ सवत् २०११ पु० २५।

९ गुजराती साहित्यना स्वरूपों, पु० २०१।

१०. पृष्ठ वर्ग ॥८२॥ पु० २४३ (फलकला)।

११. गुजराती साहित्यना स्वरूपों पु० १६६ टिप्पणी।



स० फल्गु>प्रा० फगु (अथवा देश्य फगु)>जू० गु० फागु>फाग ।

६ डिगल कोप में भी फालगुण और फागण, फाल्गुण के पर्याय दशादि गये हैं ।^१

फागु काव्य गेय होने के साथ ही नृत्य के साथ अभिनेय भी होने थे । धूमिभट्ट फागु [१८वीं शताब्दी] में लिखा है—

सर्गतर गच्छि जिण पदम मूरि तिय फागु रमेवउ ।

ऐला नानइ चैत्र माणि रगिहि गावेवउ ॥^२

जैन कवियों द्वारा लिखित फागु काव्यों में शृंगार का अभाव होता है । शृंगार रस परक फागु काव्य जनता में लोकप्रिय थे । 'वसन्त-विलास' नामक फागुकाव्य शृंगाररस का उत्तम उदाहरण है ।^३ जैन कवियों ने लोक प्रचलित शृंगाररस पर फागुण काव्य-परम्परा का अनुसरण करते हुये शान्तरस परक काव्यों की रचनाएँ की ।^४

(२) धमाल

राजस्थान में होली के अवसर पर गेय गीतों को धमाल कहा जाता है । होली के अवसर पर गाई जाने वाली एक राग का नाम भी धमाल है । जैन कवियों ने धमाल-परम्परा में अनेक आध्यात्मिक धमालें लिखी हैं । यथा आप्याढ भूति धमाल, आर्द्रकुमार धमाल (कनक गोम) नेमिनाथ धमाल (माल देव) आदि ।

(३) वारहमासा

वारहमासा-काव्यों में मुख्यतः विप्रलभ शृंगार का समावेश होता है । कवि वर्ष के प्रत्येक मास की परिस्थितियों का चित्रण करते हुए नायिका का विग्रह वर्णन करते हैं । वारहमासा का वर्णन आप्याढ में प्रारम्भ होता है । जैन कवियों ने वारहमासा-परम्परा के अन्तर्गत अनेक कृतियाँ लिखी हैं । जैसे—नेमिनाथ वारमास चतुष्पदिका (१३५३) —विनय चन्द्र मूरि^५, नेमिनाथ गजिमति वारमास चरित्र कलश^६ नेमिनाथ वारमास वेल प्रबन्ध (१६५०) गुण सौभाग्य ।^७ श्री अण्णरचन्दजी नाहुटा ने अपने एक निबन्ध में "वारहमासा की प्राचीन परम्परा" पर विस्तृत प्रकाश डाला है ।^८

(४) उत्सव-काव्य

उत्सव काव्यों के अन्तर्गत विवाह दीक्षा आदि उत्सवों का वर्णन रहता है । जिस काव्य में विवाह का वर्णन रहता है उसको विवाहलउ, विवाहलो, विवाहला आदि तथा विवाह के अन्तर्गत गाये जाने वाले गीतों को धवल और मंगल कहा गया है । विवाहना परक रचनाओं में जिनेश्वर सूरिकृत "मयम श्री विवाह वर्णन राम" और "जैनोदय मूरि विवाहला" अथ तत् प्राप्त हुई रचनाओं में प्राचीनतम हैं । तेहरवी मदी में रचित जिनप्रांत मूरि "धवनगीत" धवल परक रचनाओं में प्राचीनतम मानी गई है ।^९ विवाहात्मक सम्बन्धी कतिपय रचनाएँ इस प्रकार हैं —

१. परम्परा डिगल कोप—कविराज मुरारीदान, पद १७२ पृ० १८८ ।

२. श्री सी० टी० दलाल, प्राचीन गुजर काव्य संग्रह, पृ० ४१ ।

३. प्रकाशित, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ।

४. "राजस्थान फागु काव्य की परम्परा और विशिष्टता" सम्मेलन पत्रिका में अण्णरचन्द जी नाहुटा का निबन्ध ।

५. प्राचीन गु० का० सा० ।

६. गुजराती साहित्यना स्वस्वो, पृ० २७६,

७. वही, पृ० २८२-८३

८. हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६, अंक ४, स० २०१०

९. जैन सत्यप्रकाश वर्ष ११ अंक १०-११

- (क) आर्द्रकुमार विवाहलउ (१४६३)
 (ख) महावीर विवाहलउ (१५ वीं शताब्दी) कीनिरल्ल सूरि,
 (ग) नेमि विवाहलउ (१५०५) जय मागर,
 (घ) शानि विवाहलउ (१६ वीं शताब्दी),
 (ङ) शानिमद्र विवाहलउ (१४६८) लक्ष्मण,
 (च) जम्बू अतरण गम विवाह-नो (१५७२) महज मुन्दर,
 (छ) पार्श्वनाथ विवाह लु (१५८१) से प्हने—पेचो,
 (ज) शानिनाथ विवाहलो-खल प्रबन्ध (१५६१) आणद प्रमोद,
 (झ) मुपार्श्वजिन विवाह लो (१६३०) ब्रह्मविनयदेव,
 (ई) नीति काव्य

जैन कवियों ने प्रायः प्रत्येक छति में उपदेश, ज्ञान एवं नीति का किसी न किसी रूप में समावेश किया है। जैन कवियों का मुख्य दृष्टिकोण धार्मिक प्रचार करना रहा है। नीति विषयक जैन रचनाओं की मत्स्या विस्तृत है। नीति काव्य के अन्तर्गत अनेक सवाद, कक्का, मात्रिका, बावनी, गुलक और हियाली परक रचनाओं का समावेश होता है। सवाद-परक रचनाओं में दो विरोधी पक्षों के सवाद मिल कर बनाये गये हैं। इनमें जैन कवियों ने अपने पक्ष की अन्त में विजय बनाई है। सवाद-परक रचनाओं के द्वारा जैन कवियों ने अपने मिथ्यान्तों को प्रचार की दृष्टि से सरल रूप में प्रस्तुत किया है। सवाद-सम्बन्धी कतिपय रचनाएँ इस प्रकार हैं —

- (क) महज मुन्दर, शानि-ज्ञान सवाद, यौवन-जग सवाद,
 (ख) नावप्यमनय कर-सवाद (१५७५) रावण-मन्दोदरी सवाद, गोरी-नावली गीत।
 (ग) हरि कनक जीन-दान-सवाद (१६८३) मोनी-कणामिया-सवाद (१६०६)
 (घ) जीगपल्ली पार्श्वनाथ गम
 (ङ) नरपति जिह्वा-दान सवाद, मुम्बड पचक सवाद (१६वीं शताब्दी)
 (च) श्रीधर रावण-मन्दोदरी-सवाद (१५६५)
 (उ) कक्का

कक्का इन रचनाओं को कहते हैं जिनमें वर्णमाला के बावन वर्णों में से प्रत्येक वर्ण ने रचना का प्रारम्भ किया जाता है। कक्का सम्बन्धी रचनाओं को बाह्मडी भी कहा जाता है। कक्का-बाह्मडी परक रचनाएँ तेरहवीं सदी में उपलब्ध होती हैं।^१

(ऊ) स्तवन

स्तुति परक काव्यों को स्तवन कहा जाता है। ऐसे काव्यों को स्तुति, स्तोत्र, मङ्गलाय, वीनती और नमस्कार भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध तीर्थकरों, महापुरुषों तीर्थों, मावुओं और महामतियों आदि में होता है।^२

(ए) ढाल

अनेक जैन काव्य लौकिक शैलियों में गये हैं। इन शैलियों को देशी अथवा ढाल कहा जाता है। रचना के प्राग्भ में लौकिक गीत की पक्ति भी कभी २ दी जाती है। इस प्रकार अनेक लोकगीतों की प्राचीनता ज्ञान हुई है। श्री मोहनलाल दलीचन्द देमाई ने टाई हजार टालों की सूची भी प्रकाशित की है।^३

१ प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह।

२ राजस्थानी भाषा और साहित्य,—डॉ० माहेश्वरी, पृ० २८५

३ जैन गुर्जर कविग्रंथ, खंड ३।



(ऐ) टब्बा और बालावबोध

मूल रचना के स्पष्टीकरण हेतु पत्र के किनारों पर टिप्पणियाँ लिखी जाती हैं, इन्हें टब्बा कहते हैं और विस्तृत स्पष्टीकरण को बालावबोध कहा जाता है।

(ओ) ज्योतिष, वास्तु शास्त्र, आयुर्वेदादि शास्त्रीय विषयों पर आधारित काव्य

जैन कवियों ने धार्मिक विषयों के साथ ही ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, आयुर्वेद आदि शास्त्रीय विषयों पर भी काव्य की रचना की है। हरीकलशकृत 'जोइसहीर'^१ शकुन सोलही^२ आदि अनेक ग्रंथ 'शास्त्रीय' विषयों पर लिखित उपलब्ध होते हैं।

१ नास्कर-किरण, दो भाग ४

२ अभयजैन ग्रंथालय, बीकानेर।

राउलवेल के दो नखशिख और उनकी शब्दावली

डा० हरीश

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर



राउलवेल हिन्दी साहित्य के आदिकाल का प्राचीनतम और श्रेष्ठ काव्य है। राउलवेल के सम्बन्ध में सबसे बड़ी भ्रान्ति यह प्रचलित कर दी गई है कि यह काव्य दक्षिण कोसली का है। इस धारणा में हमारा मतभेद है। हमारी मान्यता है कि राउलवेल मानवा का काव्य है, जो उस समय दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान का प्रदेश था। राउलवेल की इस भाषाजन्य उत्पत्ति पर हम 'राउलवेल की भाषा' नामक लेख में विस्तार से प्रकाश डाल रहे हैं ताकि उसके वैज्ञानिक अध्ययन में भाषाशास्त्र के अध्येताओं को कचि हो।

प्रस्तुत लेख में हम राउलवेल के नखशिखों में प्रयुक्त शब्दावली का परिचय प्रस्तुत करेंगे। ताकि विद्वानों को उनकी शब्दावली की नम्य जानकारी हो सके। इन शब्दों का उस समय की उपलब्ध राजस्थानी कृतियों के शब्दों से तुलनात्मक अध्ययन भी उपेक्षित है। हमने ऐसा प्रयास किया है। राउलवेल में वर्णित सातों नखशिखों में डा० माताप्रसाद गुप्त ने मान विभिन्न भाषाओं के दर्शन किए हैं और हमारा मन यह है कि इस पूरी कृति में एक ही प्रधान भाषा है, और कुछ शब्दावली इतर भाषाओं की आ गई है, जिनका आना भाषा वैज्ञानिक नियमों के आधार पर भी सहज सम्भव है।

यहां प्रस्तुत लेख में हम राउलवेल के आदि अन्न भाग तथा प्रारम्भ के दो नखशिखों की शब्दावली का विधेयणात्मक परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं, वह इस प्रकार है—

राउलवेल की भाषा पर एक अन्य लेख में हमने विभिन्न विद्वानों के मतों के साथ अपनी मान्यता भी प्रस्तुत की है कि यह गिनाम्ति काव्य दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान, गुजरात और मालवा प्रदेशों की भाषा के तत्त्वों की प्रस्तुत करती है तथा उत्तर अफ़ग़ानिस्तान या पुरातनी हिन्दी में लिखा गया है, जिसमें उक्त प्रदेशों की बोली की अच्छी खासी शब्दावली प्रयुक्त हुई है। कवि ने राउलवेल में इस अलौकिक शब्दावली का प्रयोग रचना को सुघट एवं सज्ज बनाने के लिए ही किया है। रचना प्रधानतया पश्चिमी अफ़ग़ानिस्तान की ओर राजस्थानी में लिखी गई है। इस विविष्ट औत्तिक में मालवी एवं प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का विविष्ट सम्मिश्रण विद्यमान है।



यहाँ हम रचना के आदि अन्त एव प्रथम दो नखशिखों की शब्दावली को लेते हैं और उनका इस आधार पर परीक्षण करना चाहते हैं कि उसमें राजस्थानी या मालवी श्रौक्तिक भाषा की कितनी शब्दावली है। जिन महत्वपूर्ण शब्दों को हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, प्रसन्नता की बात है कि उन शब्दों में से अनेक शब्द राजस्थानी और उसकी विशिष्ट बोली मालवी में बोलचाल में आज भी व्यवहृत होते हैं। साथ ही इन शब्दों के लिए हम प्राचीन राजस्थानी की आदि-कालीन काव्यकृतियों के उद्धरण भी प्रस्तुत करेंगे, जिन काव्यों में राजलवेल में प्रयुक्त भाषा की शब्दावली के अनेक शब्द यथावत मिल जाते हैं। ये शब्द वहाँ के जनपदीय भाषाकाव्यों में आदिकाल से लेकर आज तक प्रयुक्त होते रहे हैं। हमारा यह सारा प्रयास वहाँ के प्रदेशों के लोकभाषा-तत्त्व एव बोल-चाल के शब्दों पर ही आधारित है। हमारा मत है कि हमारा यह प्रयास कदाचित् राजलवेल में प्रयुक्त एक ही श्रौक्तिक भाषा के स्थिरीकरण में कुछ योग दे सके। कृति के आदि अन्त की शब्दावली प्रस्तुत है—

आदि

“रोडे राजल बेल बखानी”

(१) राजल शब्द राजस्थानी में राजपुरुष के लिए प्रयुक्त होता है। राजल शासक को एव राजभवन को राजला या राबला कहते हैं। राजल शब्द का उत्तर अपभ्रंश के प्राचीन राजस्थानी काव्यों में प्रयोग अनेक बार किया गया है। राजल शब्द के साथ राजत शब्द भी मिल जाता है, जो आजकल “राबत” रूप में वहाँ की बोलियों में बोला जाता है। इसका अर्थ भी राजपुरुष ही होता है। यही नहीं स्त्रीलिंग में राजल नाम राजस्थान एव गुजरात में नायिकाओं के लिए प्रयुक्त होता था। राजल राज, राब एव राजत सभी शब्द पुल्लिंग में केवल मात्र राजपुरुष के लिए ही आए हैं, देखिए

आदि अन्त

राजल—(स्त्री०)—१ राजल भणी गई पाधरी,
ऊमी रही विनीत करी—(२०६-१)

राजल—(पु०)—२ राजल भणइ इत्थूँ का कीघउ—(२२७-१)
(कान्हड दे प्रबन्ध)^१

राजत—१ राजत राजत वर रहीय,
मनि भू भइ गतिवत तु (३८) (भरतेश्वर बाहुबलि रास)^२

२ भयणराय पह राजत राजत
किर अति धीरू—(१६) (जम्बूस्वामी फाग)^३

१ देखिए कान्हड दे प्रबन्ध में राजल शब्द के लिए स्थल-खंड ४ पद्य २६१, २३२, १४८, १०७, १४४, ३०७, २१३, २२७, २२२, १७८, ३-३७, १-१३०, ४-२६१, २०६, १०६, १४३ आदि।

२ भरतेश्वर बाहुबलि रास, पद्य ३८ शालिभद्र सूरि कृति स० १२४१

३ प्राचीन फागु काव्यसंग्रह, पृष्ठ २७, प्राचीन गुजरात्यमाला ग्रन्थ ३, बडोदा।





(३) ग्रीह श्रीर कोह क्रमय प्राचीन राजस्थानी उत्तर अपभ्रंश के हैं।

(४) काजल-काज, तबोलें-तबोली (राजस्थानी)

मोहि—मृते तथा रो, कोक, तारु, जगु, जा, जो, (गव०) एव नाग (जूनी एव प्रायुनिग गुजराती) तथा विशेषणों में।

आछड-आछयो, गाढउ गाढी, गाढ, गतउ-गती, चागड-चगां राजस्थान की बोली के शब्द हैं।

(५) क्रियाओं में—गावड—भावे, भावअ, रचड—रचे, रचअ, माटीजड—माटिजे, गाडिज्य, पागड मुहावर, दीजड—दीजे, रचड—रचज्ये, तथा अव्ययों में कोउ, गणु मणु, विणु आदि राजस्थानी की वानियों में आज भी प्रचलने में प्रयुक्त होते हैं।

टाँ० गुप्त ने प्रथम नगशिव की भाषा पश्चिमी हिन्दी लिखी है, उसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। यन्तु पश्चिमी हिन्दी की उक्त शब्दावली हमारे मन में एकदम राजस्थानी की ही शब्दावली है। इस तरह उक्त नगशिव में—तगल, तर, मोहयि, एहक, बाभड, आनु, लुछड, तानरि, मोह लूलीम्ब, आहरणें—आदि प्रथम नगशिव के कुल ११ शब्द ऐसे हैं जो बोलचाल की राजस्थानी में प्रायः प्रयुक्त नहीं होते। पर यह निश्चित है कि ये शब्द उस समय अवश्य ही श्रौतिक के रहे होंगे। येय इस नगशिव के अधिकतम शब्द राजस्थान में बोले जाते हैं।

द्वितीय नलशिव

इसमें राजस्थानी श्रीर जूनी गुजराती के जनपदीय शब्दों की स्थिति इस प्रकार है—

(१) श्रीर शब्द बारण के अर्थ में सीगन्ध (सपथ) लेकर छोड़ देने या लगी बात के लिए प्रकृति द्वारा रोक दिए जाने के अर्थ में, बोट-श्रीर (आठणा) के अर्थ में, काछडा-काछडो-काछकडो, मेढी-मीढी, काचु-काचो (कच्चा) तथा काचुली (कचुकी पाहमिया-पगहाम, काठी-कठ रूप में बोलचाल में प्रयुक्त होते हैं।

(२) जोवगु-जोवन, वेसु-वेग, वेस, मेस, मयणु-मदन रूप में, लाठा-लाट्यो (तगडा) लंटा (कपडा विशेष), आदि, गोह (गोहली गोहरा—जंहरा ले जन्तु), एव गोयगे, गोयली रूपों में, दीठि-दीठ, दीठा, दीठो (दृष्टि सूचक अर्थ), रेस (यथावत्) तागो-धागो, (नागो डोरे एव सूत्र-दूटने के लिए), गोलें-गोलो (दरोगा अर्थात् दास के अर्थ में), रीठ-रीठो, भण (यथावत् वाद्य वन्धन) बाघ, माघ, लोणचि-लूण (नमक) सलूणो अलूणो, गम्भोरिम्ब-गवाग गमार-वार-नवारचो (एवं मेवाडी जाति) रूपों में, पडिह-पट, पटा, पट्टो, डुपटो (बस्त्र), दड-(सुगठित) दड दडो, आनि-आण, लान्ह-नान्ह न्यान, नानो (छोटा) तथा गाढी (यथावत्), अइमी (यथावत्) पातली, पातनी (पतली-स्त्री) पातलिया (पति), बांढा ठांडो (बूँडों ठांडी रूप में) बोल्लें-बोल, आढी-आढी, माढी-माढी ऊजल-ऊज (ऊज धो) आदि रूपों में मिलते हैं।

इस नगशिव में उक्त शब्दों के जो शब्द राजस्थान की बोलियों में प्रयुक्त नहीं होते वे निम्नांकित हैं—

सान्ह, आनिक, आबिल, आपुली, आवु, आदि

(३) श्रियाओं ने इन नवविध जी आनन्द मनी क्रियाओं गजस्थानी में दोनचार बी भाषा में प्रयुक्त की गयी है, जैसे—

वायु, नाद, आत्मा तथा दिव्य हृदय-देवन, अष्ट-उड-हे, उ, विद्यमान हैं ।

(४) अन्वयों में जो नहीं मिलते हैं वे ये हैं—पृ. ७८, उक्त, निम्न -

उत्तम स्वर्णिम की भाषा को डॉ० गुप्त ने प्राचीन नाट्यी का बोंडें का रत्न है, निम्नकी अविकसित शब्दावली का प्राचीन एवं शर्वाचीन रूप हमने ऊपर नाट्य दिया है।

मगरी के चा के चा प्रन्द के चा ही मनवन के हमको मगरी नाया बू गए हैं, परन्तु माठी के इन प्रन्दों का त्रयांग डिग्न ही प्रसिद्ध कृति 'श्मिन स्मन्तो नी वेन' में मिल जाते हैं।

गजस्थानी भाषा में प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य वदनीप्रसाद नागिया ने भी हमने 'चा, ची, चै' प्रत्ययों का प्राचीन गजस्थानी में सम्बन्ध पूछा। उनका निश्चिन्त मन है कि 'चा, ची, चै' प्रत्यय समस्त 'न' में भूतन प्राचीन गजस्थानी के हैं। वे प्रत्यय माटो में भी गजस्थानी में ही गए हैं। उन दसों भूतन माटो मान लेना प्राचीन गजस्थानी की शब्दावली को चुनौती देना है।

कृति के छादि जल नदी दोनों नवनिर्मा की मज्जावनी की हमने तथा परीक्षा की है तथा इनमें स्पष्ट होता है कि मज्जावनी के जल नवनिर्मा के में दो नों विद्युत् रूप में प्राचीन जलस्थानी के ही है । इनमें दक्षिण बोमल की कही छोटा नहीं । शेष पाँच नवनिर्मा की मज्जावनी की इसी प्रकार परीक्षा हम प्रत्यक्ष प्रदत्त करेंगे ।



कवि जिनहर्षकृत मलयसुन्दरी चरित्र : एक पर्यवेक्षणा

श्री ईश्वरानन्द शर्मा एम० ए०,
प्रवक्ता डू गार महाविद्यालय, बीकानेर



भारतीय सस्कृति में दर्शन और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । यहाँ की विचारधाराएँ धर्म-भावना में सन्तुलित रही हैं । यही कारण है कि यहाँ का साहित्य भी उनमें प्रभावित दृष्टिगोचर होता है । यहाँ मर्यादा विचार-स्वातन्त्र्य पनपता रहा, और समन्वय की अजस्रधारा प्रवाहित होती रही । चाहे वह ब्राह्मणमण्डित हो या श्रमण-संस्कृति, अविच्छिन्नरूपता समान ही रही है । इन दोनों धाराओं ने जन-जीवन को माधना-पय की ओर अग्रसर किया है । सरस सहृदयसंवेध होने से काव्यकला विशेषतः परिगृहीत हुई । उनकी अमृतमयी भावधारा से मानवता अभिपिन्धित होकर अमर बन गई । अन्य कवियों के साथ जैन कवियों ने जो उत्तरदायित्व निभाया है वह स्पृहणीय है । ज्यों-ज्यों जैन कवियों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व गम्भीर होता जा रहा है त्यों-त्यों मान्य मान्यताओं की परिपुष्टि एवं नवीन मान्यताओं की पुनः संस्थापनायें सम्भव हो रही हैं । हमारे चरितनायक जिनहर्ष द्वितीय विनिष्ट कृतिवार हैं जिनकी बृहत्परिमाण रचनाओं में से "मलयसुन्दरी चरित्र" का पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है । मर्यादित इसकी परम्परा प्रस्तुत की जा रही है ।

मलयसुन्दरी और महाबल की कथा अत्यन्त लोकप्रिय कथा रही है । अनेक कवियों ने इस पावन कथा से अपनी वाणी का शृंगार किया है । प्राकृत और संस्कृत कवियों ने भी इसे अपनी पद्धति से अपनाया है । जर्मन भाषा में इसका अनुवाद भी किया गया है । इस प्रकार इस कथा की एक परम्परा उपलब्ध होती है जो निम्नांकित है —

- १ मलयसुन्दरी चरित्र—भाषा प्राकृत (कवि अज्ञात) ।
- २ महाबलमलयसुन्दरी चरित्र—शान्तिशूरि स० १४५६ के लगभग ।
- ३ महाबलमलयसुन्दरी चरित्र—भाषा संस्कृत (माणिक्यसुन्दर) स० १४८० के लगभग ।
- ४, मलयसुन्दरी रास—उदयधर्म स० १५४३ ।
- ५ महाबलमलयसुन्दरी रास—चारुचन्द्र स० १५८० के लगभग ।
- ६ महाबलरास—स० १६४० से पूर्व ।
- ७ मलयसुन्दरी चौपाई—लम्प्योदय स० १७४३ [गोधूदा में रचित] ।
- ८ मलयसुन्दरी महाबलरास—उदयरत्न स० १७६६ ।
- ९ महाबलमलयसुन्दरी रास—शान्तिविजय स० १७७५ ।
- १० महाबल मलयसुन्दरी रास—विनयचन्द्र स० १८६० के लगभग ।
- ११ मलयसुन्दरी कथा—धर्मचन्द्र [जर्मन भाषा में अनूदित] ।

अठारहवीं शताब्दी के महान् कवि जिनहर्ष ने मलयसुन्दरी चरित्र की रचना पाटन में स० १७५१ में की थी । इसमें चार प्रस्ताव (खंड) हैं । प्रथम में मलयसुन्दरी का जन्म, द्वितीय में महाबल के साथ उसका परिणय, तृतीय

में उनका स्वमुकुलामन तथा कलकित होकर वहाँ में उनका निष्कामन, चतुर्थ में उनके अवदातशील एवं पूर्वभव का वपन है। प्रथम प्रस्ताव में १३८० पद्य, द्वितीय में ११६५, तृतीय में ७३७ तथा चतुर्थ में ११८० पद्य हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ ३३७१ पद्यात्मक है। श्री प्रमाविजय ने इनकी निधि नं० १८२१ में की थी जो अमय जैनग्रन्थालय वीकानेर में मुद्रित है।

इसमें भाग के दक्षिण में स्थित चन्द्रावती नदी की राजकुमारी मलयामुन्दरी, श्री पृथ्वीम्यानकपुर के राज-कुमार महावन की कथा गुम्फित है। कनकवती, व्यन्त, मगवावेष्टा, मयमाधक योगी, लोहनुगा चौर आदि की कथाएँ भी हैं। कवि ने गुगवर्मा की कथा में उनका आम्भ लिया है, जो प्रस्तावना-कथा प्रतीत होती है। अर्थात्कि तत्त्वों से परिपूर्ण प्रस्तावना कथा का घटनाक्रम तथा अवान्तर कथाओं का बाहुल्य पाठक की जिज्ञासावृत्ति को अधिक उभार देता है। मूलकथा तक पहुँचने में पहिले पाठक-श्रोता इन कथाओं के श्रवण में अधिक महानुभूतिशील तथा एकाग्रचेता हो जाता है। प्रस्तावना कथा के अभाव में भी मूलकथा में कोई स्थूलता नहीं आती।

इसका कथानक अत्यन्त विपुल और व्यापक है। नायक महावन और नायिका मलया के नमस्म जीवनवृत्त के साथ बीरप्रव्रत तथा चम्पकमाला के समग्र जीवन की कथा भी आ गई है। महावन के माना-पिता दुग्पाल और पद्मावती की कथा भी इसमें समाहित है। वर्तमान जीवन के साथ पूर्वभव की कथाओं का भी स्पर्श किया गया है। प्रामाण्य पताका और प्रसंग कथाओं की भूमिका है। जीवन के विविध व्यापारों के उद्घाटन में कथा में वैविध्य आ गया है। अन्तर्गत महाकाव्यों के स्थान का परिणाम इसमें उज्जित नहीं होता है। आधिकांश कथा का महत्व मुग्गि करने हुए अवान्तर कथाओं का मरदन दिया गया है। महान कालार में देवी कनकेश्वरी का अवतार कथानक के मरदन में भावनार्थ का निदर्शन है जिसमें अन्तर्द्वन्द्व का उदय हुआ है। कवि अपने कर्मकीर्ण में कथाविराम और श्रीमन्त्रवृद्धि के लिए उचित अर्थात् प्राप्त क अवान्तर कथाओं का बीजागोपण करना चतुरा है। ये बीज अन्य कथाओं की मगनि-विमगनि में पल्लविन हाक उगो हो फलित होने को होते हैं जो हो कवि किसी न किसी अन्य अवान्तर कथा का बीजागोपण कर देता है। इन अवान्तर कथाओं के समुष्पन में कवि का कौशल परिलक्षित होता है। इसमें से अनुस्यूति बनाये करने के लिए मयोगतत्व और अवान्तर कथाओं का आश्रय लिया गया है। इनके कारण इसमें विच्छिन्न होने में बच गया है। इन चरित्र में अनेक वक्ता और श्रोता हैं जिनमें आचार्य पर कथाविरति विकसित हुई है। कथाएँ प्रायः पात्रों के परिणाम भ्रमाशील दृष्टिगोचर होती हैं। प्रत्येक चिरुद्धा हुआ पात्र अपने अनुभव अवग्रह मुनाना है। अस्मितापूर्ण कथाएँ "आपसीनी" के रूप में पात्रों के मुख में कहलवाई गई हैं जो अधिक विचरनीय और प्रभावक हैं। कथानक सीधी मरपट मरपट पर न होकर जित्ताज पद्धति पर है। अवान्तर कथाओं के तन्तुबान में मूलकथामुत्र को बाँधा नहीं दिया में से ममाने के लिए श्रोता-पाठक को मजा रहना पड़ता है।

इसका कथानक कथानक-रुटियों और प्रतीतिक तन्त्रों का आचार्य है। छोटी में छोटी और मोटी में मोटी घटना में किसी न किसी अर्थात्कि तन्त्र का प्रत्यक्ष या प्रत्यन्त हाथ रहता है। कथानक का वातावरण अनिमानवी क्षिप्रगतियों में अभिभूत है। अनिष्टाद्वय धनिय्या मानवी धनित पर हावी हैं। उनके वर्गदान में कल्याण तथा अभिशाप में अकल्याण निश्चित है। चमत्कारी वस्तु घोरों के रूप में प्राप्त कर उसे पुनः न लौटाना और शापित होना, तत्पन-गती को दूँते दूँते गुगवर्मा की उगाड नगर में प्राप्ति, वहाँ एक मुन्दर पुत्र का ना होकर पर मित्रता, विजया का दक्षिण के रूप में उगाड नगर में पट्टचना, वहाँ उसका निवास, लालन या अधिपत्य गधन का चोरीकाक पुरुष द्वारा उनके तलवे में तैरमर्दन में रहना, बाटपलक का तैरने आना, महना चम्पकमाला का मिलना, बदलीवन में किसी स्त्री के रन्दन स्वर को उदय कर तदभिमुख निशीथ में चन पटना और माँग में एक तपस्वी योगी में मिलना, स्वर्ण पुत्र की नाथना, योगी का उत्तमर्दन कटाक्ष में निगन, मणिग्रन्थ के पीछे चक्रक गुफाद्वार दूँतना, शिरगूल उन्मूलन के लिए उत्तम पुत्र की भूमि प्राप्त करने का छल, पितृ दानि के लिए छिन्दन पर्वन में आय मगाना, आदि कथानक रुटियों





का प्रयोग खुलकर किया गया है। जानू की डोरी, लिंगपरिवर्तन, रूप परिवर्तन भी अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। कथा का अधिकांश भाग अलौकिक क्षणितियों का चमत्कार प्रतीत होता है। गुणधर्मा की कथा में मिथुन के तूफान का वर्णन आया है जिसके स्पर्शमात्र से लोहा सोना बन जाता है। विजयचन्द्र अतिसारी तपस्वी की सेवाकर स्तम्भनवागी, वरीरगुण विद्याएँ प्राप्त करता है। गुटिका की मुँह में रक्ताक्ष महाजन का चम्पकमाला बन जाना, आकाशगामी हस्त के रूप में व्यन्तरी का महाबल का वस्त्र चुराना, महाबल का उस हाथ को पकड़कर भूमि जाना और लटकते हुए सैरों की भीता की आकाश यात्रा विस्मयोत्पादक है। गिद्ध गुटिका को आभरण में घिस कर लगाने में स्त्री का पुरुष बन जाना, वटवृक्ष पर व्यन्तरी का परस्पर वार्तालाप, महाबल के द्वारा उसको मुनना और समझना, वटवृक्ष का आश्रम में उठ जाना और गन्तव्य स्थान पर जग जाना, 'हुँ' की गावाज के साथ ही उगी वृक्षवट का पूर्व नियत स्थान पर उठकर जग जाना, भीमकाय गुण साप का लक्ष्मीपुत्र हार उगलना, मलया का दिव्य परीक्षण में पतिव्रत एवं निष्पराध मिथुन होना, मृतक का उठना, उठ-उठ कर मिरना, उसका रोगाचक्र भी है और विस्मयकारी भी। ये घटनाएँ, अनौपचारिक तत्व से प्रसून हैं। इनसे पाठक एक काल्पनिक दुनिया में पहुँच जाता है। जिसमें उसकी जिज्ञासापूर्ति गन्तुष्ट होती रहती है और अधिकाधिक सदीप्त भी। यहाँ पर कवि उन अलौकिक लोकविश्वासा में अधिक प्रभावित जान पड़ता है जो मानवमन्यता के आरम्भ से लेकर अब तक किसी न किसी रूप में हम या अधिक मात्रा में समाज में परिगूहीन होते रहे हैं।

इसमें मलयसुन्दरी और महाबल के उत्कृष्ट चरित्र को अंकित किया गया है। वाक्य होते हुए भी कथा, आस्था-यिका, धर्मकथा के तत्वों में भी प्रभावित है। चरित्रवाच्यों में ग्राह्यिक कथों का निदर्शन कराया जाता है। महाबल और मलया मिथुन से निकट परिस्थितियों से जुड़े हैं। मरणान्तिक यानना प्राप्त करते हैं। जीवन में जितनी कष्ट परम्परा हो गयी है इन दोनों ने मही है। इनका साहस और शील मदा उल्लत रहा है। चरित्रवाच्यों की शैली जीवन चरित की शैली होती है जिसमें माता-पिता एवं यम का वर्णन रहता है। भवांतर का वर्णन भी किया जाता है। उसमें बचि का ध्यान नायक-नायिका के अलौकिक अद्भुत व्यक्तित्व को प्रभावक रूप में प्रस्तुत करने की और विशेष रहता है और वस्तुवर्णन एवं ऋतुवर्णन की शिक्षा में कम। यहाँ प्रेम, वीरता, वैराग्य भावना का समन्वय हुआ है। यह कथा मात्त्विक प्रेम की उत्कृष्ट व्यञ्जना है। आदि में अन्त तक यह प्रेमधारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हुई है। बीच-बीच में प्रसंगबद्ध वीरभावना को अभिव्यक्त होने का अवसर प्राप्त हो गया है। अवसान शान्त रूप में होता है। महाराज वीरधवल, चम्पक माला, महाबल, मलया आदि सभी वैराग्य धारण कर लेते हैं। इसमें कम-पदा की प्रधानता दिगार्त गई है। जीवन का शाश्वत सत्य यही है। कथानक ग्यातवृत्त और अनुत्पाद है। वह विमृत और पद्यबद्ध भी है प्रत्येक सग का नाम घटना के आधार पर है। इसके सगों में विपुल और व्यापक कथानक समाहित हुआ है। प्रागणिक कथाओं का प्रवाह मूल कथा की ओर है, जिनसे उसे सम्पुष्टि प्राप्त होती है।

महाकाव्य का दूसरा प्रधानतत्व नायक होता है। वह मध्वशोत्पन्न, सयमी, क्षमावात्, गम्भीर, दृढनिश्चयी, चिन्तनी और धीरोदात्त है। यह धार्मिक भगोवृत्ति का मत्प्रिय प्रतापी राजकुमार है। मयम, सदाचार, एवपत्नीव्रत, पितृभक्ति का वह साकार स्वरूप है। उमा का शीर्ष अग्रनिहतगति है। भय, कायरता निषिद्धता उसके जीवन में नहीं है। वडे में वडे सकट को भेजने के लिए गहनतम विरक्त परिस्थिति की दुर्दान्तदरी में माहम साथ वह प्रवेसोद्यत रहता है। वह अपराजय योद्धा है। वह स्त्रीया में अनुरक्त अनुगम पनि है। अलौकिक क्षणितियों का साप-वरदान उसे उपलब्ध है। वह कमक्षेत्र के सदावहार कर्णव्यक्तित्व के रूप से अवतरित हुआ है। उसका महान् व्यक्तित्व जनजीवन की भावनाओं का आश्रयस्थल है। वह देश और सत्कृति का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। उसका सबल स्वरूप समाज के लिए शिक्षाकर है। उमा का उत्तराध्या का जीवन महान् त्यागी, तपस्वी का जीवन है। जो अपने उदीप्त वर्चस्व से गुणगर्भ-मामंडित बन गया है।

मलयसुन्दरी इस रास की नायिका है जो पतिप्राणा, संयमी और पतिव्रता है। अपना सर्वस्व गँवा कर भी वह अपने शील की रक्षा करती है। उस जैसा कष्टसतप्त जीवन अन्यत्र दुर्लभ है। ज्यों-ज्यों वह अग्निपरीक्षा में तपाई

गई, उसका चरित्र स्वर्ण के समान अधिकाधिक दिव्य बनना गया। विवाह से पूर्व उसे अपने पिता का कोप भाजन बनना पड़ा। भग्य की विद्वत्ता ने विवाह हुआ धनुर्गृह में उसे कनकितो समझा गया। दोहावस्था में गृहनिष्कामन हुआ। वन में उसके शील के अनेक शत्रु जा गये। शीत-आर्य उसे अपनी एकलौती मन्तान में भी विमुख होना पड़ा, शरीर से रक्तनिष्कामन स्वीकार करना पड़ा, भौतिक वेदनाएँ सहनी पड़ी। कन्दर्प राजा के अत्याचार ने वचने के लिए वह क्षमा भी कर गयी है। मनसा में भागीय मनो की घटग्न मुखरित है। मन, वचन, कर्म में भवमवात्मनो में उसे अपने एक ही पति का ध्यान छूट है। पणिमिनियों की दुःशात्म्यता ने उसके चित्त को महनमपद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उसका महनग माखी का चरित्र तो और भी निर्मल है। वह गया ने भी पवित्र श्री परोपकारिणी है। उनका चरित्र शीलमहत्त्व का प्रेरक है — “भविष्य शीलनागा पत्न जाय”।

वीरघवल प्रजापालन महान् राजा है। उसकी सम्पत्तिमाना अनिन्द्यमुन्दरी गुावनीपटगनी है। कनकवती का चरित्र नल मनोवृत्ति का प्रतीक है। मनसा को कष्ट पहुचाने का उसका मन्त्र था कि मणिमाला के मूत्र के समान प्रच्छन्न और अमिष्यक है। वह महाकाव्य का स्थिर पात्र है जो मिट सकता है पर स्वभाव को नहीं छोड़ सकता। ‘स्वभावो दुरनिष्कम’। सुधान महावन का पिता वीर राजा है। उनकी स्त्री पद्मावती महावन की माता है। लक्ष्मीपूज-हार के गुम हो जाने पर वह शोकमल्लज होनी है और हार न मिलने पर १६ दिन मरण-भ्रम कर लेती है। उसके इन कठिन प्रग ने महावन को तो मरुट में डाल ही दिया पर क्याकर को ननिमकट ने बचा लिया। लोहचुग भयकर माह-मिक चो, कन्दर्प रूपिमानु, मानवाह बलमार मन्तानेच्छुक पर साथ ही परमात्मिनापी है। ये सभी जीवन के विभिन्न पार्श्वों का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। अनीतिक पात्रों में उपाङ्गिणी चण्डेवनी, अपकारिणी व्यलगी, श्री मगदिता पर महदना विद्याधी देवी है। चन्द्रका केवली परमवीरगा भव-भवात्मनो के ज्ञाता, परमज्ञानी के रूप में चित्रित हुए हैं।

रम की दृष्टि ने यह राम अत्यन्त समृद्ध है। नात्रो की मरूप में पण्डित हूच और महदयमवेद्य बन पड़ी है। उसका प्रधानरम गृहा और गीतगो ने हाम्य, अद्भुत, वीर, भजानक, वीरमन्त्र, गीत, करण तथा वल्लल का उल्लेख किया जा सकता है। यह शाल मयप्रवनारी महाकाव्य है। कानन की विविधता और व्यापकता के कारण प्रायः सम्पूर्ण म्यायी नात्र रमदशा तक पहुच गये हैं। गृहा रम की व्यापकता महत्त्वपूर्ण है। गृहा के दोनों पक्षों मयोग तथा विप्रलम्भ के साथ-साथ देवगु विपन्न रनि-भाव या वानप्रमग भी आया है। कार्यकारणवध गृहा रमानाम का प्रकरण भी प्रस्तुत हो गया है। यहाँ मयोगगृहा री ओला विप्रलम्भगृहा की अविक अवकाश प्राप्त हुआ है। उनके मार्मिक स्थलों को जिस जीगन ने अनुसूत्रिगम्य बनाया गया है वह प्रगमनीय है। मनसा के हृदय में महावल के लिए अकुरित प्रथम प्रेम का प्रमग बहा ही मुन्दर बन पड़ा है।

“ध्यामोहित कुमरी भई देखी रूप अनग’।

पचधारण बाणें करी वीधाणो सर्वग ॥

गजकुमारी का मुख मन मन्देह-आन्दोलन पर पैा माने लगता है। वहाँ मन्देहालकार इस प्रकार अमिष्यक हुआ है —

“कुमरी मनमां चिन्वे ए कुरण देवकुमार ।

के विद्याधर गजवी के रतिपति अवतार ॥

कुमारी का लुब्ध मन महावन के अनुपम मीन्दर्य का अगम मायाकारकता है। अरुण अनीकपत्र के समान रमान चरण, दर्पणोज्ज्वल नख, कृङ्कल-जघाधुगन, मुष्टिग्राह्य कटिप्रदेश, गम्भीर नाभि, सुन्दर त्रिवली, मुहद विमाल वक्षस्थल, दीर्घ रमान भुजदण्ड को आँखों ने पाल करनी हुई श्री स्वभावोचित आकाङ्क्षोद्गात्र प्रकट करती है —

“धन्य लै स्त्री आलिग मे, वक्षस्थल लुविशान रे ॥

कहने कण्ठे लागने, भुजदण्ड दीर्घ रसाल रे ॥





मलया का अनुरक्त मन महाबल के रूप-रत्नाकर में गहग पँठ जाता है। वह प्रेम की शृंगला में आवद्ध है — 'चिनपटे जोई रही मजडि प्रेम-जजीर रे।'

कुमार महाबल भी वातायनस्था कुमारी को देखता है। लावण्य की अनुपम राशि कुमारी उमरूपावास स्वर्ग-अम्बरा सी प्रतीत होती है। वह मधुप्रथम यही सोचता है कि यह राजपुत्री अविवाहित है अथवा नहीं? राजकुमारी भी उसी क्षण यही मौचती है कि यह गुणनिधान कुमार किसका पुत्र है? दोनों के विचार तत्कालीन सामाजिक प्रथा में प्रभावित हैं। राजकुमार को विवाहित राजकुमारी अभीष्ट नहीं थी जबकि मलया को विवाहित राजकुमार स्वीकृत था। स्नेहगिस्त नयनों से निरन्तर निरयक कुमारी मलया ने महाबल का चित्त चुरा ही लिया। कुमार उससे मिलने के लिए ध्यस्त हो उठता है। समागम से पूर्व प्रत्यक्षदर्शन से हृदय में उत्पन्न यह मनोविकार पूर्वानुराग की कोटि में आता है। विषयनाथ के मतानुसार इसका मजिष्ठाराग है यह शोभित भी है और स्थायी भी। मलया महाबल से प्रथम ही प्रेमपाश में बँध हो चुकी थी। इसलिये कवि ने उसे प्रेमातुर बताकर उसकी प्रियमिलन-आतुरता को इस प्रकार अभिव्यजित किया है—

“चतुरंगी चन्द्रानना प्रेमातुर सुकमल रे ॥

लुब्धमुग्धा मलया भोजपत्र पर दो पद्य लिखकर वह भोजपत्र तथा रवगीय प्रेमप्रवण मन दोनों एक साथ ही महाबल को गमपित कर देती है। प्रेमपाती पाते ही महाबल के सात्विक अनुभाव अत्यन्त रजक बन पड़े हैं। पत्र पाकर वह रोमांचित हो उठता है, हृषं की सीमा नहीं रहती। राजकुमारी ऊपर वातायन में और राजकुमार ठीक उसके नीचे। प्रेम पत्र पढ़ने ही राजकुमार ने रमपूगित, प्रेमविह्वल आकुल नेत्र ऊपर उठाये राजकुमारी के पिपासु नेत्र पहले से ही तड़प रहे थे। परस्पर नेत्र सयोग में आनन्द लहग उठा। एकरस युगनद नेत्र अत्र अलग हो ही नहीं रहे थे। इस प्रसंग में कविने अग्रस्तुन वर्णन के व्याज से जो कीशल उपम्यापिन किया है वह अत्यन्त मनोहारी है —

“मलयसुन्दरी गुणवरी, जोवे कुंवर नरेन्द्र ।

कुमरी पण जोई रही जिम ध्यानमग्न योगीन्द्र ।

विह्वला नयण मिली गया ०० पहली नयण करस्त ॥

अपरिवर्तनी को परस्पर ऐसे मिलना देने वाले जहाँ सन्धि भी नहीं दीखती, नेत्रों को दुर्लभ सयोजक कहना अविक उपयुक्त होगा। उसी समय राजकुमार को बुलाने के लिए दूत आता है। उसके साथ जाता हुआ महाबल वातायनस्था सुग्रीवा मलया को पुन पुन देखता है। उसका मन मलया के पास ही रह जाता है। पूर्वराग विप्रलम्भ का यह आह्लादक प्रसंग देखते ही बनता है। प्रस्तुत प्रसंग में शृंगार का स्वागिभाव, विभाव, अनुभाव, सचारिभाव के सयोग से सचेतनों के लिए शृंगार रस रूप में निष्पन्न हो गया है। यहाँ नायक-नायिका दोनों के परस्पर आश्रय और उद्दीपन होने से प्रेम की एकागिता समाप्त हो गई है और उभयतः प्रेमात्मुवतय के कारण पाठक का रमिक हृदय आनन्दाम्बुध में अवगाहन करने लगता है। यहाँ महाबल के प्रति मलया का आकर्षण मोहान्दान्धभाव नहीं अपितु 'गुणा पूजास्थानम्' की चरितार्थता है। कवि ने परम्परित नायिका का नखशिख वर्णन भी प्रस्तुत किया है। महाबल महाटवी में भयकर अजगर के मुग से मलया की रक्षा करता है। उस समय सोनादासी के माध्यम से कवि ने इस प्रकार का वर्णन प्रस्तुत किया है—

“चन्द्रमुखी मृगलोमणी पिकवयली रतिरूप ।

हसगमणि कृश हरिकटी लावण्य सुगुण अनूप ॥

गागर में सागर भरने वाला अनिसक्षिप्त नायिकारूप वर्णन परम्परित नायिकानखशिख वर्णन का मफल निदर्शन है।

कवि ने वियोगात्रसानिक सयोग शृंगार के मर्म को भी पहिचाना है। यह मन की वह स्थितिविशेष होती है जिसमें वियोग की दारुण ज्वाला की ऊष्मा सर्वथा शान्त नहीं हो जाती और प्रियमिलन का अपार आत्सुक्य भी बिना

नाचे नहीं मानता । विषाद के अन्तर्गत मूर्खविम्ब को उग्राग्र की प्रथम विरणों के हास का आनाम देने का भाव उस मन्दर्भ में होता है । फलस्वरूप प्रिय को देखने ही आँसू की झड़ी पड़ जाती है । गला रुध जाता है । बाणी स्वरित होने लगती है । भावों का नाच उमड़ने लगता है और पात्र की भीत अनुभूति शतशः मुखर अभिव्यक्तियों में बाजी मार लेती है । प्रस्तुत गम में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ वियोगावनानिर्गमियों का वर्णन मिलता है ।

मद्योऽश्रुतांशुः शीतलो विप्रलम्भ मे प्रभावात्पादवन्ता अविश हन्ती है । हृदय की अनेकानेक दशाओं का उद्घाटन यहाँ में सम्भव होता है । अश्रुतांशु ने अश्रुतांशु नवागी भावों का स्फुटगन्धर्व भी यहाँ है । यहाँ विप्रलम्भ का नाचोत्तरी परिपाक उत्पन्न होता है । विप्रलम्भ के चार भेदों में से प्रवृत्त प्रवान्, आँसू कण विप्रलम्भ आलोच्य रूप में मिलते हैं । केवल मानविप्रलम्भ का अभाव है । मद्यो का वर्णन भी सफर वन पड़ा है ।

मलयान् मलया के मलय में मलयाम पहुँचना है । प्रेयसी में मितरुग् वह गमनोद्यत होता है । मलया के आँसू उमड़े रोक देने हैं । विप्रलम्भ के बिना उमड़े प्राण नहीं रह सकते । यदि वह जाना ही चाहता है तो मलया को जलाञ्जलि देकर जाकरना है । मलया निराल विरग तथा निरुपाय है । वह जन के प्रिया मन्त्रीनी हो जावेगी । बहते हैं आँसू जो चेन नहीं रहता । मलया भी पुन पुन विप्रलम्भ को गमन में रोवती है । प्रम विज्ञान मलयाहार के व्याज में कुमार के गले में ज्यमान शान देती है । उस प्रसाद उमड़े अनामिन् मन्दन्त व्यापिन का लेती है । वह अपनी दाम्पत्यप्रीति बनाकर विरगवर्चनी का पद पाने की अभिलाषिणी है । वह सब कुछ कह सकती है, केवल प्रियविग्रह नहीं मह सकती ।

कुमार के चेने जाने पर वह उमड़े प्रल नहीं पाती है । क्या अभी गोपी जन को विस्मृत का सकता है ? उन प्रसाद में मलया श्रुति का नरक वर्णन उपपन्न होता है । उसकी दृष्टि में वह तम एव नश्य रहता है । उन मन्त्रों में यहाँ दिग्गम्य प्रदर्शित किया गया है । ऐसे अन्य रम्यो का हमने पूर्ण परिपार हुआ है ।

प्रस्तुत गम में कलात्मक का पूर्ण परिपार हुआ है । उन गम में शोक म्यायी भाव इष्टनाश में उद्बुद्ध होता है, अनिष्ट प्राप्ति में नहीं । वीरवचनम्पदमाला प्रसाद शीत मलयवधादेवप्रसाद ही प्रमुख स्थल है, जहाँ शोक-भाव अत्यन्त परिपुष्टता को प्राप्त हुआ है । ऐसे मन्दर्भ में महदय मामाजिकों की आँखों में अश्रु स्वन छलछता उठते हैं । चम्पकमारा को मृत्यु का सन्देश देकर जाने वाली दानी के अनुभावों की मयतना शीत न्वग दर्शनीय है—

कर भूँ सिंग तादन्ती चेटी, वेगवनी आबी नृपनेटी ।

आँसू पागई मुख घोती नृपने बयण कहे इम रोती ॥

दानी के मुख में प्राणप्रिया चम्पकमारा की मृत्यु का दुःख नमाचार मुनरुग् राजा वीरधवल का शोक इस प्रकार फूट पड़ता है—

‘हा हा प्राणप्रियारी नारी कहिह बने किए पापो मारी ।’

तुम्ह पाये किए नाहरं सरने, तुम्ह बिल कुण मुम्ह नू हित धरते ॥

यहाँ दैव्य, स्मरण, आशोक, शैवचिन्ता आदि नवागी भावों की अहमहमिका, रदन अश्रुपात आदि अनुभावों की नाच उपस्थिति अत्यन्त मार्मिक वन पड़ी है ।

श्रीकाव्य राजा वीरधवल मुग्ध हो गिर पड़ता है । कवि ने उनका वर्णन इस प्रकार किया है—

‘मुग्धगित राजा मली सानलि दासी बात

ब्रह्म जेम छेद्यो पडे तिभि भूपति मुह पात ।’

राजा का शोक शीत भी धनीभूत हो जाता है । रोता है, विनयना है, उनकी आँखें प्रिया को ढूँढती है । उसके न मिलने पर रोती है । वह कभी मन्त्रक पीटना है तो कभी छाती कूटना है । उनके दीर्घ निश्वास हृदय में दुःख





न समाने का सवेत करते है। पृथ्वी पर लोट रहा है। बिखरे बाल उठ रहे हैं। नाक आँगो का पानी मुँह के ऊपर से बह रहा है। वह कभी भाग्य को दोष देना है तो कभी निर्मोही पत्नी पर दोषारोपण करता है—

“नयणो वरसे नीर, मस्तक कूटे, फीटे हियडू रे हाथि बिलूरे शरीर’

वह अनेक बार मुच्छिन होना है, प्रकृतिस्थ होता है, विलाप की भंडी लगा देता है। अनकृत महाकाव्य में इतना विस्तृत कर्णरुदन किसी नायक का नहीं मिलता है।

कर्ण का दूसरा प्रसंग मलया के बधादेश से सम्बद्ध है। निर्दोष मलया स्वयं भी रोती है। उसमें मर्मान्तक-वेदना है। माता चम्पकमाला का शोक भी कम प्रभावक नहीं है। इस निर्दोष बधादेश ने प्रजा के नेत्र मजल कर दिए। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार का कर्ण रस कदाचित् प्रथम प्रसंग ही है। बध्यस्थान की ओर ले जाती हुई का विलाप हृदयद्रावक है।

“राजनरी बेटी थकी रे, चालन्ती पद चारि।

पडती पडती उठती रे खलती राजकुमारि।

माता चम्पकमाला का विलाप चरमसीमा को पहुँचा हुआ है। वह एक बार पुत्री को हृदय से लगाना चाहती है। मातृस्नेह स्वकरपालित पुत्री को कैसे विस्मृत कर सकता है। माता का विह्वल हृदय शोकसागर-तट को अभिभूत कर देता है। माता का अनुभाव छाती कूटना-गिरना-बिलखना, स्पष्ट पङ्क्तिबद्ध होता है। इसमें कहीं ऊहापोह का अवकाश नहीं है। जो कुछ है वह हादिक कथा है। भावो का उगार-बठाव, अनुभावो के वैविध्य और सचारियों के अत्यन्त सक्रिय होने के कारण इस प्रकार का कर्णरस हिन्दी साहित्य में अभावधि उपलब्ध नहीं है। अलंकारो की लड़ी की लड़ी स्वतः प्रतिष्ठित हो गई है।

भयानक रस का परिपाक दो प्रसंगों में सम्पन्न हुआ है। प्रथम प्रसंग कुदावर्धनपुर पर राक्षस के आक्रमण से सम्बद्ध है। यहाँ भय नामक स्थायी भाव का आश्रय प्रजावर्ग है, राक्षस आलम्बन, उसकी विकट चेष्टाएँ उद्दीपन हैं। आस, धाका, ग्लानि, मोह सचारी भाव हैं। अनुभावो की छटा भी द्रष्टव्य है—

जीव लेइ आप आपणा नारण मय सह ना ठारे।

अद्धि सिद्धि सह भूक गया हरि हिरणा जिनि भाठा रे।

यहाँ अलंकार का भी छटातिशय है। शून्याटवी में संप्राप्त रानी चम्पकमाला की आपबीती कहानी कितनी मार्मिक है। भयावह वातावरण की सर्जना अनुठी है। डरना, कापना, इधर-उधर बचाव के लिये देखना अनुभावो के साथ आस मोह आदि सचारियों का स्फुरण भी आकर्षक है।

सूनी अटवी मौहि डरूँ एकली।

भूय भ्रष्ट चलचित्त हुवे जिम हिरणली॥

भूयभ्रष्ट हरिणी में रानी का भृगाक्षी होना व्यंग्य है। हिरणली से अवस्थ्यासीकुमार्यं। पात्र की कोमलता ने कोमलकान्त पदावली को भयानकरस-प्रसंग में दोष होने से बचा लिया है।

इसमें अलौकिक तत्वों की भरमार होने से अद्भुत रस का परिवेश प्राप्त हो गया है। कहीं हाथ उठते हैं, शव उठते हैं, व्यन्तर घोलता है, वृक्ष के वृक्ष हवाई यात्रा करते हैं, दिव्यपरीक्षण, मर्ष के द्वारा हार उगलना, भारड पक्षी के द्वारा मलया को उठाकर आकाश में उड़ा ले जाना, मकरपृष्ठ पर बैठकर समुद्रसतरण अद्भुत रस से सम्बद्ध है। वीरधवल और चम्पा के प्रसंग में एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

बाँत सूँ दात घणो पीसन्ती दीठो सबमन खम्पोरे

इक कहते “उम्पो आकाशे दूड लोक तमासो रे

मनसा के स्वयम्बर प्रमग ने, महावन, वीरघवन, मृगपात्र के तुद्धावनर पर, वीर रस का परिपाक प्राप्त होता है। वीरों का उत्साह दर्शनीय है। 'नरका', 'मानान मिहन्', 'हाथी, घोड़े पदानियों की टक्कर, धृति में मूर्ख का आवृत्त हो जाना उल्लेखनीय है।

गोचरों वचनोच्चारण इत्यादि में गीत रस का दर्शन होता है। विषयानुकूल भाषा ने अपना परिधान स्वन ने लिया है।

वीर रस के साथ ही नाय गीत रस की उदात्त अपूर्व है—

नह महु नउनउ उडिया कटकट मारिवा हाय हथियार भाने,
एहना आमरो किमो नय मन करी, एहने बौधाय्या एक नाले।

आदि प्रमग दर्शनीय हैं।

वीररस का श्रवण व्याख्यान प्राप्त हुआ है। रक्त की नदी का बहना, योगिनियों का रमण भग्न-भर रक्तपान, आनन्दियों का विदाग, इत्यादि प्रमगों में वीररस का परिपाक निपन्न हुआ है—

“मीन गोला पडे चक्रहिन घडहट वहे रगन परनाल बरमानू।
जिमा घणा नदिया तरा झुर चाला

कवि ने मनसा के वीरों का चित्रण करने में वन्द्य रस को पुनर्कृत किया है। आश्रय वीरघवन और चम्पकमाला हैं। आनन्दन मनसा, उद्दीपन उनकी दासमुखन चेष्टाएँ हैं। हर्ष मन्त्रांगी नाव में बानावन, मधुगन्ध वन पड़ा है।

पगने चाने धूनतारे, रनिधाता वे बाल।
निम निम हने तेहना रे, माना पिता मन माहि,
रमक नमक पाय सोवनी रे, धुग्धनिया घमराय।
बानानररा विगनिया रे जने देवकुमार।

मनसास्वयम्बरप्रमग में एक स्वयं पर ज्ञान्य की उपस्थिति भी प्राप्त होती है। गौरीय वज्रमात्र धनुष को उठाने का अस्मय प्रयास करना है। वह उसके साथ ही जमीन पर गिर पटना है। दर्शकों के ज्ञान ने बानावनर गुञ्जित हो जाता है। यह नाट्य आनन्दपर्यवसायी है। धर्मगुरुओं की देशना में आनन्द रस का प्रमग आया है। जहाँ जहाँ देववन्दना की गई है उसे भक्ति-रस का स्थान कहा जा सकता है। यह रस उनकी दृष्टि में पूर्ण समृद्ध है।

महाकाव्य में कवि दर्शनत्रासाय को महत्त्व देता है। कवि स्वयं नारा विचारों को विक्रमावनर वर्णना-स्मरना में ही प्राप्त होता है। वर्णन जितना ही उगन और मनोह्र होता वाक्य उनका ही सुन्द और रोचक होगा। वर्णन की नीना अन्यत्र व्यापक होती है। मानस और मानवेतर नमस्त्र म्रिया—आपा—इत्यादि क्षेत्र होता है। आन-नागिने ने नगरात्रा, युद्ध, आनन्द, वन, परन, नन्द, मन्त्रा, मृगचन्द्रमा आदि के वर्णन को महाकाव्य का आ माना है। महाकवि जिनहर्ष वर्णनपटु है। पात्रों की प्राणप्रतिष्ठा और व्यक्तित्व अवन में उनका वर्णन-वैभव अन्यत्र सूक्ष्म है। नीला चम्पकमाला का वर्णन उन्हे प्रेम, स्नेह, मोह, शीत, उदात्तभाव को उन्मेषित करना है।

चम्पकमाला गगणी रे, अभिनव चम्पकमाल।
मीठीवाणी बोफिलोरे, चन्द्रवदन सुकमाल॥

नरकवनी के निगम रस रसार्थ वर्णन आया है—

धनि बीजी नृपसामनी रे, कनकवती अभिधान।
रेंना से य हारवी रे, सोहे सोवनवान—





दोना ही रानियों के आधन्त स्वरूप को कवि ने इस प्रसंग में स्पष्ट कर दिया है। रास की नायिका मलया-मुन्दरी के जीवन का वर्णन अत्यन्त मनोहारी है। परम्परित उपमान धाराप्रवाह से आते हैं। भावों के उल्लास में भाषा का लास्य थिरकने लगता है। शब्दों की ध्वनि नायिका के हाव, हेला को व्यजित करती जाती है। नये उपमानों का संयोजन भी कलापूर्ण है। वर्णन में स्वयमागत अलंकार चार चाद लगा देते हैं।

हिंदे ऊमरी जीवन बंदो, उलस्यो अंग अनंग।

स्निग्ध चपल हरिणी हृषी मुखराका पतिसंग ॥

जेहनेए धरती हृस्ये लोक कहे ते धन्य।

शृंगार का प्रसंग हो या शृंगारेतर, कवि का वर्णन सर्वत्र प्रभावक और आह्लादक है। उसमें विम्ब उपस्थित करने की अद्भुत शक्ति है। दिव्य परीक्षण के लिए मगाये गये सर्प का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

“मोरी काया विषमर्यो जी कज्जल भाभा जास।

फू फू कार करे घणा जी घमणी परे से सांस ॥

इसी प्रसंग में रूपपरिवर्तन का वर्णन भी द्रष्टव्य है—

इसी प्रकार राजा की निरकुशता, निर्दोष कन्या पर अत्याचारजनित शोक, युद्धवर्णन, नगर, पुण्यमहत्त्व, शील उपकार, उपवन, कान्तर, नदी, वर्षा ऋतुवर्णन भी समृद्ध बन पड़ा है। कवि के व्यापारवर्णन में जडजगत् की स्वाभाविकता और चेतनजगत् की मनोवैज्ञानिकता कही भी विस्मृत नहीं हुई है।

भारतीय समाजव्यवस्था में नीति और धर्म का अक्षुण्ण महत्त्व है। इसका उत्सर्ग वैदिक वाङ्मय है। अनेकानेक धाराएँ वही से विविध रूपों में अद्यावधि प्रवहमान दृष्टिगोचर हो रही हैं। विधि और निषेध से शून्य जीवन की कल्पना जैसे भारतीय प्रज्ञा में है ही नहीं। वहाँ करणीय का ग्रहण और अकरणीय का त्याग प्रतिपादित किया गया है। विचारात्मक साहित्य के समान भावात्मक साहित्य भी विधेयोन्मुख ही रहा है। जिनहुँ मरलोचित साधु थे। उनको सरस्वती समाज की मंगलाशा में निरत थी। उन्होंने समष्टि को स्वस्थ एवं सतुलित पथ पर अग्रसर करने तथा व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति करने के लिए सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिक, धार्मिक, राजनीतिक विधिनिषेध का विधान किया। कवि का काव्य इतना व्यापक और विविध है कि उसमें धर्म, आचार, ईश्वर, दया, परोपकार, अहिंसा, व्यवहार, कुल, प्रतिवेशी, मूर्खता, विधा आदि विषयों पर प्रसंग प्राप्त उपयुक्त चर्चाये हुई हैं।

कवि के नीतिप्रसंग स्वानुभूति तथा परम्परानुभूति के दृढ़ आधार पर आधारित होने के कारण न काल्पनिक हैं और न अव्यवहार्य। इसके नीतिकाव्य में उपदेश, सूक्ति और अन्योक्ति शैलियाँ मिलती हैं। उपदेश-शैली में कवि ने उपदेश की बातें सीधी भाषा में बिना वाग्वदग्य के कही हैं। सूक्तिशैली में वह अपने श्रेष्ठतम स्वरूप में प्रकट हुआ है। अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, उदाहरण, विशेषोक्ति, कारणमाला आदि के कारण अभिव्यक्ति मनोहर और प्रभविष्णु हो गई है। अन्योक्तिशैली में अप्रस्तुत के द्वारा सदृश प्रस्तुत की प्रतीति कराई गई है। उपदेशशैली में लोभी की निन्दा इस प्रकार की गई है—

“लोभी प्रीति गये नहीं रे न गिणे सगपण नेह रे

मात पिता ने लोभियो रे लाल तुरत दिखावे छेह रे।

सूक्तिशैली में कवि का मन विशेष रमा है। वाग्वदग्य, अलंकारिता स्वतः उभर आये हैं। भाव कल्पनावुद्धि और अलंकारों का कट्टापकपण प्रायः नहीं दे। एक धर्म-कुटना के साथ प्रकृति मूल अग्रकृति मूज मजीठ का वर्णन करते हुए कवि लिखता है।

“कूट्या विन रस न चिदिये मूरख मूज मजीठ”

यहाँ धर्म का उपादान प्रकृत वस्तु के लिए हुआ है। प्रसंगवश उससे अप्रकृत पदार्थ भी प्रकाशित हो गये हैं। यहाँ दीपक अलंकार की दीप्ति स्पृहणीय है। वपास वदथना, तरवर ताप, और ईख, उत्पीडन सहकर भी परोपकारवृत्ति

नहीं त्यागते हैं। कवि के शब्दों में—

तडके, वाले मोटके रे लोढे पीलें जास,
काते सहे कदर्थना रे ढाँके अग्य कपाम।

कवि पुण्य को ऋद्धि-निद्ध का दाता समझना है। मान, सुख, यश भी पुण्य के फल हैं। मद्गूहिणी तथा पुत्र भी पुण्यप्रभाव में ही प्राप्त होते हैं—

पुण्यवी ऋद्धिसिद्धि लहि ई पुण्यवी बहुमान रे
पुण्यवी गुणवन्त नारी पुण्यवी सन्तान रे ॥

कवि का नीतिपक्ष अत्यन्त व्यापक और समृद्ध है। वह समाज को न्याय का अनुकरण कराने के लिए अपनी क्या क्या वाचक-विस्तार करता है। उनकी नीति में स्पष्टता, मर्यादा और सामोपायता है। वह कही पर प्रान्त तथा अनुभवधु प्रतीत नहीं होता।

कवि जिनहर्ष मर्मस्थलों के चतुर पाली थे। जीवन के व्यापक आयाम में उन्होंने अनेकानेक संवेदनशील प्रसंग चुने हैं जिनमें सहृदय सामाजिकों को पूर्ण आस्थादान प्राप्त होता है। कतिपय मर्मस्थल निम्नलिखित हैं—निर्दोष मलया को मृत्युदण्ड-विधान, मलया के लिए चम्पकमाला तथा नागजों का वरुण विलाप, नि मन्तानप्रमग, परित्यक्त मलया के पुत्रजन्म पर भाग्य की विडम्बना। कवि ने अपने कथ्य को अपने ढंग में प्रस्तुत किया है। वहाँ सर्वपरिचित पम्पगुड्ड नामाभ्य उपमानों की उपस्थित रोचकता बढ़ाने वाली है।

प्रकृति रान को बापा गुजगनी ने प्रभावित गजस्थानी है। उनमें प्रवाह प्राञ्जलता तथा अभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता है। स्थान-स्थान पर लोकोक्ति और मुहावरों का सफल प्रयोग किया गया है—

‘साहसिया सिर छत्र। अग लागे नहि खाबो।’
‘जाए वित्ता बोल’। आगि तला दावा जली रे,
आए तलो उपचार। उताबला सो बाबला।
राजा करे सो न्याव। मुँह माँग्या पासा बलमाँ इत्यादि।

मलयमुन्दरी विकसनशील महाकाव्य न होकर साहित्यिक महाकाव्य की कोटि में आता है। यह विशिष्ट कवि द्वारा प्रणीत है। इसकी रचनानियति और पांडुलिपिया उपलब्ध हैं। इसमें वक्ता और श्रोता तो अनेक हैं लेकिन उनकी कोई परम्परा दृष्टिगोचर नहीं होती। महाबल और मलया के पिता के आख्यान भी इसमें हैं पर उनका वश-विवरण नहीं है। प्रतिनायक की परम्परा का भी अभाव है। यत्र-तत्र उपदेशात्मक वर्णन उपलब्ध होता है पर वह प्रकर्षप्रधान और अनिसंक्षिप्त है। उसमें क्या के विकास में गतिरोध न हो आता। ग्रन्थ में कहीं पर स्तोत्र, महात्म्य, प्रशस्ति नहीं मिलती। मंगलाचरण की छान इसमें मिश्र है। काल स्थान और मलयागणना में अतिशयोक्ति में काम नहीं लिया गया है। जो कुछ वर्णित है वह पर्याप्त और सगुण प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ की शैली पौराणिक शैली नहीं है। अतीविक्रम अतिप्राकृत शक्तियों पर विश्वास, साहसिक कार्यपरम्परा, निद्ध गुटिकाप्रभाव बटवृक्षों का आकाश में उटना, मन्त्रनिधि ने शव का उठना, उडना, आवावलयित होना, भूतप्रेत, व्यन्तरो का अद्भुत क्रियाकलाप, कथात्मकता आदि तत्वों के कारण इसकी शैली रोचक शैली ही है, जिसकी एक लम्बी साहित्यिक परम्परा हमें उपलब्ध होती है।

यह एक महद्दृश्य चरित्रकाव्य है। वर्मानुसूल आचरित जीवन से धर्म काम मोक्ष की प्राप्ति होती है। नानात्रिक लोभ, आकर्षण और माया के क्लेशवान में अटिग रहने वाला सयमवैर्यवनी मानव ही जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शील मानसिक पवित्रता इस जीवन की अमूल्य निधि है। वैराग्यविरति के भाव में भी वर्मन रहकर इस अमर मरार के जीवों को सदुपदेश द्वारा नन्मागोन्मुख बनाना जीवन की सार्वकता है। क्यातक की व्यापकता, महच्चरित्रों की वशानुगत शालीनता, महद्दृश्य, इसमें गुरुत्व की मर्जना करते हैं। स्थाली पुलाकन्यायेन प्रस्तुत रान का दिडमात्र ही पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया गया है।



धर्मशर्माभ्युदय : एक अध्ययन

श्री पन्नालाल जी
साहिताचार्य, सागर



धर्मशर्माभ्युदय, महाकाव्य के लक्षणों से युक्त एक उच्चकोटि का काव्य है। कोमलकांत पदावली और नवीन-नवीन अर्थ इस महाकाव्य की सुपमा बढ़ा रहे हैं। इस काव्य का कवि, कल्पना के अन्तरिक्ष में उड़ान भरने में सिद्धहस्त है तो रस के अगाध सागर में डुबकी लगाने में भी अतिशय निपुण है। इसके प्रत्येक श्लोक में भाव का वह अनुपम माधुर्य प्रकट हो रहा है कि जिसे देख काव्य-मर्मज्ञ का हृदय बाँसो उछलने लगता है। इसकी सगं के इन महाकाव्य में नगर समुद्र पर्वत ऋतु पुष्पावचय जलक्रीडा चन्द्रोदय तथा मधुपान के मनोहर वर्णन के साथ जैनधर्म के पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का जन्म से लेकर निर्वाण पर्यन्त का पावन चरित्र वर्णित है।

संक्षिप्त कथासार

लवगसमुद्र के मध्य में कमल के समान शोभायमान जम्बूद्वीप है। इसके बीच में सुवर्णमय सुमेरु पर्वत है। दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र है, उसके आर्यखण्ड में उत्तर कोशल नामक देश है और उस देश में सुशोभित है रत्नपुर नाम का नगर। रत्नपुर के राजा महासेन थे। महामेन अपनी महनी सेना के कारण सबमुच ही महासेन थे। उनकी रानी का नाम सुव्रता था। सुव्रता जहा क्षील समय आदि गुणों के द्वारा अपने नाम को सार्यक करती थी वहाँ सौन्दर्य सागर की एक बेला भी थी वह। अवस्था ढल गई फिर सुव्रता के पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ, इस कारण राजा महासेन का मन चन्द्रहीन गगन के समान ध्यामल रहने लगा।

पुत्र के बिना राजा चिन्ता निमग्न थे। उसी समय वनमाली ने वन में अरुण नामक मुनिराज के आगमन की सूचना दी। मुनि आगमन का सुखद समाचार पाकर राजा का सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा। वह रानी सुव्रता के साथ गजेन्द्र पर आरुढ़ हो मुनिदर्शन के लिये चल पड़े। साथ में नगरवासियों की बड़ी भीड़ भी व्यवस्थित रूप में चल रही थी। वन के निकट पहुँचते ही राजा ने राजकीय वैभव—छत्र चमर आदि का त्याग कर दिया और पैदल ही चल कर मुनिराज के पास पहुँचे। प्रदक्षिणा और नमस्कार की प्रक्रिया को पूरा कर राजा ने उनके भुमारविन्द में धर्म का उपदेश सुना और अन्त में सकुचाते हुए सुव्रता के पुत्र न होने का कारण पूछा। मुनिराज ने कहा कि तुम्हारी इस रानी के गर्भ से तीर्थंकर पुत्र होने वाला है, चिन्ता क्यों करने हो? इतना कह कर उन्होंने तीर्थंकर के पूर्वभावों का भी निम्न प्रकार वर्णन सुनाया।

घातकी खण्ड द्वीप के वत्स देश में सुसीमा नाम का नगर था, जिसमें राजा दशरथ राज्य करते थे। एकदिन रात्रि में चन्द्रग्रहण देख कर उनका भवभीरु मन ससार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गया। राज्य वैभव को छोड़कर

मुनिदीक्षा लेने का विचार जब उन्होंने मना में रखा जब चावक मन का पक्षपाती मुमन्त्र मन्त्री परलोक का खण्डन करता हुआ राजा के जयल को भूवर्तापूर्ण बनाने लगा। परन्तु राजा ने सारगर्भित युक्तियों में मुमन्त्र की कुमन्त्रणा का निरस्तन कर निम्न ब्राह्मण मुनिगज के पास दीक्षा धारण कर ली। जो तपश्चर्या के फलस्वरूप उन्होंने तीर्थ पर प्रवृत्ति का वन्द्य किया। आयु के अन्त में नवौंमिद्वि विमान में अहमिन्द्र हुए। हे राजन्! छह माह के बाद उनी अहमिन्द्र का जीव तुम्हारी गनी मुद्रता के गर्भ में अवनीर्ण होगा और पन्द्रहवें दिन धर्मनाथ तीर्थ पर के रूप में प्रसिद्ध होगा।

मुनिगज के इन वचनों से राजा महामेन और रानी मुद्रता की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। अन्त में मुनि-राज की नमस्कार कर इतर राजदम्पती घर छोड़े उधर इन्द्र की आज्ञा में श्री ह्रीं आदि देवियों का समूह जिनमाता की सेवा के लिये गगन मार्ग में पृथ्वीतल पर अवतीर्ण हुआ और राजा की आज्ञा लेकर अन्त पुर में प्रविष्ट हो रानी मुद्रता की सेवा करने लगा। रानी ने नियोगानुसार उत्तम म्यज देखे और राजा महासेन ने उनका फल सुना कर उसे सन्तुष्ट किया। रानी गर्भवती हुई। ती माह धर्मीन होने पर माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन पुण्य नक्षत्र में उसने धर्मनाथ तीर्थ पर को जन्म दिया। तीर्थ पर जा जन्म होने ही ममन्त्र लोक में आनन्द छा गया। देवों ने जन्माभिषेक का उन्मत्त किया।

विन्यास श्रद्धा में बाल वेष को धारण करने वाले देवों के साथ भगवान धर्मनाथ बाल क्रीडा करने लगे। क्रम में धर्मनाथ ने जीवन अवस्था में पदार्पण किया। उनके शरीर की मुपमा यद्यपि जन्म में ही अनुपम थी तथापि जीवन की मयुर बेना में वह पहले में नहने गुणी हो गई। विदर्भ देश में राजा प्रतापराज ने अपनी पुत्री शृगारवती के स्वयवर में कुमार धर्मनाथ को बुलाने के लिये विशेष दूत भेजा। पिता की आज्ञा पाकर कुमार धर्मनाथ सेना सहित विदर्भ की ओर चल पड़े। बीच में गंगा नदी को पार करते हुए वे विन्ध्याचल पर पहुँचे। विन्ध्याचल के प्राकृतिक सौन्दर्य में मुग्ध हो उन्होंने वहाँ निवास किया। उनके पुण्योदय में विन्ध्याचल पर छह श्रुतुए प्रकट हो गई। वनक्रीडा के लिए माघ के मन्त्री-गुण्य विन्ध्याचल के वनों में विसर्जित गये। यकने पर नर्मदा के तीरे में सब ने जलक्रीडा की। मायकान आया, नमान को अनिन्दता ना पाठ पटाता हुआ नूर्य अन्त हो गया। रात्रि का सघन अन्धकार सर्वत्र फैल गया। थोड़ी देर बाद प्राची-मुरली के ललाट पर सफेद चन्दन बिन्दु की शोभा को प्रकट करता हुआ चन्द्रमा उदय हुआ। चन्द्रिका को रजन छाया में दम्पतियों ने मुखपूर्वक रात्रि वितार्ड। धीरे-धीरे प्राची में उषा की लाली छा गई, प्रातः काल हुआ और कुमार धर्मनाथ ने आगे के लिए प्रस्थान किया। नर्मदा नदी को पार कर वे विदर्भ देश में पहुँचे। वहाँ कुण्डिन-पुर के राजा प्रतापराज ने उनका भाव भीना स्वागत किया।

स्वयवर मण्डप में अनेक राजकुमार पहले में बैठे थे, कुमार धर्मनाथ के पहुँचने पर सब की दृष्टि उनकी ओर आकृष्ट हुई। अपनी मन्त्रियों के साथ राजपुत्री शृगारवती भी बहा आई। सब ने अनुक्रम में सब का परिचय दिया परन्तु शृगारवती की दृष्टि किसी पर स्थिर नहीं हुई। अन्त में धर्मनाथ की रूपाभासुरी पर मुग्ध हो उमने उनके गले में बसाना डाल दी। धर्मनाथ ने कुण्डिनपुर की मंडकी पर जब प्रवेश किया तब वहाँ की नारिया कुतूहल में प्रेरित हो अपने अपने कार्य छोड़ भग्नेजों में आ डटी। धर्मनाथ का विधिपूर्वक विवाह हुआ। उसी समय पिता का पत्र पाकर धर्मनाथ कुवेरनिमित्त विमान द्वारा अपने घर आ गये और मेना का सब भार सुपेण मेनापति के आधीन कर आये। रत्नपुर में कुमार धर्मनाथ का बहुत स्तकार हुआ। इनी बीच उनके पिता महासेन महाराज ममार से विरक्त हो गये। उन्होंने युवराज धर्मनाथ के लिये नीति का उपदेश देकर उनका राज्याभिषेक किया और स्वयं वन में जाकर दीक्षा धारण कर ली। धर्मनाथ ने राज्य का अन्धो तरह शासन किया।

सुपेण मेनापति अपनी मेना के साथ सकुशल वापिस आ गया। एक दूत ने अनेक राजाओं के साथ सुपेण के दृग दृष्ट ना वर्णन धर्मनाथ को सुनाया। जिसे सुनकर उन्होंने सुपेण की बहुत प्रशंसा की। दीर्घकाल तक राज्य करने के बाद उन्कापात देखकर भगवान धर्मनाथ का मन ममार ने विरक्त हो गया, जिससे समस्त राज्य को तृण के समान





त्याग कर उन्होंने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। केवल-ज्ञान प्राप्त होने पर इन्द्र की आज्ञा में समवसरण की रचना हुई। उसके मध्य में मिहासन पर विराजमान हो उन्होंने दिव्य ध्वनि के द्वारा जिन-सिद्धान्त का वर्णन किया। अन्त में सम्मेदाचल से मोक्ष प्राप्त किया।

इस सक्षिप्त कथा का वर्णन करने के लिए कवि ने धर्मशर्माभ्युदय के डक्कीस सर्ग पूरे किये हैं। ऐसा लगता है कि कवि का हृदय एक विशाल रत्नाकर है और उसमें ध्वज तथा अर्थ रूपा अगणित रत्न भरे हुए हैं। कवि उन्हें मुग्न्य द्वारा ने निकाल निकाल कर बाहर फेंकना जाता है। वे ध्वज और अर्थरूपी रत्न इतनी अधिक दीप्ति को लिये हुए हैं कि उन्हें असकृत् करने के लिये अन्य अनकारों की आवश्यकता नहीं। वे स्वयं ही अनकार रूप ही उठते हैं।

कथा का आधार

धर्मशर्माभ्युदय की कथा का आधार गुणभद्राचार्य का उत्तर पुराण जान पड़ता है। उसके ६१ वें पर्व में धर्मनाथ के पंच कथाणात्मक वृत्त का वर्णन है परन्तु उनमें उसके माता-पिता के नाम दूसरे दिये हैं। स्वयंवर का वर्णन नहीं है। धर्मशर्माभ्युदय के कवि ने काव्य की घोषा या सजावट के लिए उसे कल्पनाशिल्पि-निर्मित किया है। स्वयंवर यात्रा के कारण काव्य के कितने ही अंगों का अच्छा वर्णन बन पड़ा है। अन्त में समवसरण में मुनियों की जो सत्यादी है उसमें भी जहाँ कहीं भेद मालूम पड़ता है।

धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता महाकवि हरिचन्द्र

धर्मशर्माभ्युदय के प्रत्येक सर्ग के अन्त में दिये हुए पुष्पिका वाक्यों तथा उन्नीमवे सर्ग के ६८-६९ श्लोकों के द्वारा रचित पोटग दल कमल बन्ध से सूचित 'हरिचन्द्रकृतधर्मजिनपतिचरितम्' पद से एवं उसी सर्ग के १०१-१०२ श्लोकों से निमित्त चक्रबन्ध से निर्गत—

'आर्द्रदेवसुतेनेव काव्य धर्मजिनोदितम्।

रचित हरिचन्द्रेण परम रसमन्दिरम्॥

इस उक्ति में और उम्मी सर्ग के १०३-१०४ श्लोकों से विनिर्मित चक्रबन्ध में निर्गत 'श्री धर्मशर्माभ्युदय हरिचन्द्रकाव्यम्' इस उल्लेख से मिट्ट होता है कि इसके रचयिता महाकवि हरिचन्द्र हैं। ये हरिचन्द्र कौन हैं? किमके पुत्र हैं? इसका पता धर्मशर्माभ्युदय के अन्त में प्रदत्त प्रगति से चलता है। यद्यपि यह प्रगति कुछ प्रतियों में नहीं है, अतः समग्र हो सकता है कि किसी ने पीछे में जोड़ दी हो, परन्तु भाण्डारकर रिमर्क इन्स्टीट्यूट पूना में विद्यमान १५३५ विक्रम सम्बत् की लिखित प्रति में यह प्रगति विद्यमान है। इससे इतना तो फलित होता है कि यदि किसी ने पीछे में जोड़ी है तो १५३५ वि० स० के पूर्व ही जोड़ी है। इसके सिवाय अपने पिता 'आर्द्रदेव' का उल्लेख ग्रन्थकर्ता ने स्वयं ग्रन्थ में किया ही है। प्रगति के श्लोकों की भाषा महाकवि की भाषा से मिलती-जुलती है अतः बहुत कुछ संभव यही है कि यह ग्रन्थकर्ता की ही रचना है।

प्रगति से विदित होता है कि नौमक वंश के वायव्य कुल में आर्द्रदेव नामक श्रेष्ठ पुरुष रत्न थे। उनकी पत्नी ३१ नाम रथ्या था। महाकवि हरिचन्द्र इन्हीं के पुत्र थे। इनके छोटे भाई का नाम लक्ष्मण था। कवि ने यह तो निरा है कि गुरु थे प्रगाढ से उनकी वाणी निमल हो गई पर वे कौन थे, यह नहीं निरा। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुगामी थे।

हरिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान्

‘वर्णमर्मज्ञरी’ नाटिका में महाकवि राजशेखर ने प्रथम अवतिका के अनन्तर एक जगह विद्वपक के द्वारा हरिचन्द्र कवि का उल्लेख किया है।^१ यदि ये हरिचन्द्र धर्मगर्मान्मुदय ही के कर्ता हो तो इन्हें राजशेखर से पहले का— वि० स० ६६० में पहले का मानना चाहिये। इसी प्रकार ‘श्रीहर्षचरित्र’ में वाणभट्ट ने ‘पदयन्त्रोद्भवो हारी कृन्-वर्णमर्मस्थिति, भट्टाहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते’। इन शब्दों द्वारा हरिचन्द्र का स्मरण किया है। यदि ये हरिचन्द्र धर्मगर्मान्मुदय के ही कर्ता माने जायें तो इनका समय वाणभट्ट से भी पूर्व का मिश्र होता है। परन्तु हरिचन्द्र का गद्य-काव्य कौतूहल है^२ उनका अभी तक पता नहीं चला। यद्यपि ‘जीवन्धरचम्पू’ नामक गद्यपद्यात्मक काव्य हरिचन्द्र का रचित उपलब्ध है और उनके गद्य भी उच्चकोटि के हैं तथापि अन्य प्रमाणों में वे वाणभट्ट से पूर्ववर्ती मिश्र नहीं होते। धर्मगर्मान्मुदय के २१वें मर्ग में धर्मतन्त्र का जो वर्णन है वह चन्द्रप्रभचरित में प्रभावित है अतः उसके कर्ता वीरनन्दी से महाकवि हरिचन्द्र परवर्ती हैं, पूर्ववर्ती नहीं। एक हरिचन्द्र विश्वप्रकाश कोप के कर्ता महेश्वर ः पूवज चरकमहिता के टीकाकार साहमाङ्क नृपति के प्रधान वैद्य भी थे, पर धर्मगर्मान्मुदय के कर्ता हरिचन्द्र उनसे भिन्न ही जान पड़ते हैं।

महाकवि हरिचन्द्र का समय

जीवन्धर चम्पू की प्रस्तावना में धर्मगर्मान्मुदय तथा जीवन्धर चम्पू के तुलनात्मक अनेक उद्धरण देकर मैंने यह निश्चय करने का प्रयत्न किया है कि धर्मगर्मान्मुदय के कर्ता हरिचन्द्र ही जीवन्धर चम्पू के कर्ता हैं। जीवन्धर चम्पू का कथानक जहाँ वादीमर्मिहसूरि की क्षत्रघूनामणि और गद्यचिन्तामणि से लिया गया है वहाँ गुणभद्राचार्य के उत्तरपुत्रों में भी वह प्रभावित है। अतः हरिचन्द्र गुणभद्र से परवर्ती हैं। साथ ही इनमें आबक के जो आठ मूलगुणों का वर्णन है वह दशमिहसूरि ने ‘चिन्ता नोमदेव के मतानुसार है, इस कारण सोमदेव से परवर्ती हैं। सोमदेव ने दशमिहसूरि चम्पू की रचना १०१६ वि० स० में पूर्ण की है। पाटण के नववीं पाड़ा के पुस्तक भण्डार में धर्मगर्मान्मुदय की १०८७ वि० स० की निम्नी एक हस्तलिखित प्रति विद्यमान है उससे यह निश्चय अवश्य हो जाना है कि महाकवि हरिचन्द्र उक्त मवत् में पूर्ववर्ती ही हैं। इस तरह पूर्व और पर अवधियों पर विचार करने में जान पड़ता है कि ये ११-१२ शताब्दी के विद्वान् हैं। धर्मगर्मान्मुदय पर कालिदास के रघुवन्द भारवि के किरातार्जुनीय और माघ के शिशुपालवध की शैली का प्रभाव है, इनका आगे विचार किया जावेगा।

महाकवि हरिचन्द्र के ग्रन्थ

महाकवि हरिचन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थों में धर्मगर्मान्मुदय उनकी निश्चित रचना है। जीवन्धर चम्पू के विषय में आदर्शपूर्ण प्रेमीजी का स्थूल आक्षेप कि वह किसी दूसरे कवि की रचना है पर दोनों के तुलनात्मक अध्ययन में सिद्ध होता है कि दोनों ग्रन्थों के रचयिता एक ही हरिचन्द्र हैं।^३ आगत विद्वान् डॉ० कीय ने भी हरिचन्द्र को ही जीवन्धर-चम्पू का कर्ता माना है। इस तरह ‘धर्मगर्मान्मुदय’ और ‘जीवन्धरचम्पू’ ये दो ग्रन्थ महाकवि हरिचन्द्र के उपलब्ध हैं। दोनों ही ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं तथा काव्य जगत् में अच्छी प्रतिष्ठा को प्राप्त हैं।

१ विद्वपक (मन्त्रोद्य) ‘उज्जुष एव ता कि ण भणइ, अम्हाण चेडिआ हरिअ द णदिअन्द कोट्टिस हालप्पहुदीण पि पुरदो सुकत्ति, (अज्जेव तत्ति न भण्यते, अस्माक चोटिका हरिचन्द्र नदिचन्द्र कोट्टिस हाल प्रभूतीनामपि पुरत सुकविरिणि।

२ देखो, जीवन्धर चम्पू की प्रस्तावना पृ०, ३७-४०



धर्मशर्माम्युदय का काव्य वैभव

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के प्राचीन—प्राचीनतर लक्षणां का समन्वय करते हुए अपने रसगगाधर में काव्य का लक्षण लिखा है—‘रमणीयार्थप्रतिपादक’ शब्द काव्यम्’ रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्दसमूह काव्य है। वह रमणीयता चाहे अलंकार से प्रकट हो, चाहे अभिधा, लक्षणा या व्यञ्जना से। मात्र सुन्दर शब्दों से या मात्र सुन्दर अर्थ से काव्य, काव्य नहीं कहलाता किन्तु दोनों के संयोग से ही काव्य, काव्य कहलाता है। महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माम्युदय में शब्द और अर्थ दोनों को बड़ी सुन्दरता के साथ संजोया है। वे लिखते हैं कि भले ही सुन्दर अर्थ कवि के हृदय में विद्यमान रहे परन्तु योग्य शब्दों के बिना वह रचना में चतुर नहीं हो सकता, यथा श्वान को गहरे-से-गहरे पानी में भी खड़ा कर दिया तो भी जब वह पानी पीवेगा तो जीभ से चाट-चाट कर ही पीवेगा, अन्य प्रकार से उसे पानी पीना आता ही नहीं है।^१ (१।१४) इसी प्रकार सुन्दर अर्थ में रहित शब्दावली विद्वानों के मन को आनन्दित नहीं कर सकती जैसे कि धूहर से झरती हुई धूष की धारा नयनाभिराम होने पर भी मनुष्यों के लिये रुचिकर नहीं होती^२ (१।१५) शब्द और अर्थ के सदर्थ से परिपूर्ण वाणी ही वास्तव में वाणी है और बड़े पुण्य से किसी विरले कवि को प्राप्त होती है। देखो न, चन्द्रमा को छोड़ अन्य किसी की किरण अन्धकार को नष्ट करने वाली और सुवासना-विणी नहीं है। सूर्य की किरण में अन्धकार को नष्ट करने की शक्ति है पर वह भीषण आताप का भी तो कारण है। मणि की किरणें यद्यपि आताप का कारण नहीं हैं तथापि सर्वत्र व्याप्त अन्धकार को दूर करने की क्षमता उनमें कहाँ है? यह उभयविध क्षमता तो चन्द्रकिरण में ही उपलब्ध होती है^३ (१।१६) उक्त सदर्थ का तात्पर्य यही है कि धर्मशर्माम्युदय में शब्द और अर्थ दोनों का बड़ा सुन्दर सन्दर्भ बन पड़ा है।

उपमालंकार की अपेक्षा उत्प्रेक्षालंकार कवि की प्रतिभा को अत्यधिक विकसित करता है। हम देखते हैं कि धर्मशर्माम्युदय में उत्प्रेक्षालंकार की धारा महानदी के प्रवाह की तरह प्रारंभ से लेकर अन्त तक अजलजति से प्रवाहित हुई है। उपमा रूपक विरोधाभास श्लेष परिसंख्या अर्थान्तर न्यास और दीपक आदि अलंकार भी पद-पद पर इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। उदाहरण के लिये देखें—

श्लेष (१।१०)

लब्धात्मलाभा बहुधान्यवृद्धयं निर्मूलयन्ती घननीरसत्त्वम् ।
सा मेघसघातमपेतपङ्कजा शरत्सता सतदपि क्षिणोतु ॥

उत्प्रेक्षा (१।१६) (२।३६)

सक्रातबिम्ब लवविन्दुकान्ते नृपात्मये प्राहुरिकं परीते ।
हृत्ताननश्री सुदृशा चकास्ति काराधृतो यत्र श्वन्निवेन्दु ॥
प्रयाणलीलाजितराजहंसक विशुद्धपाणि विजिगीषुवत्स्थितम्
सदह्निमालोचय न कोपदण्डभाग् भिवेय पद्म जलदुर्गमत्यजत् ॥

१ अर्थं हृदित्येऽपि कविर्न कश्चिन्निग्रन्यगोर्गुम्फविचक्षण स्यात् ।
जिह्वाञ्चलस्पर्शमपास्य पातुं श्वः नान्यथाभ्यो घनमप्यवेति ॥

२ हृद्यार्थवन्ध्या पदचतुराणि वाणी बुधाना न मनो विनोति ।
न रोचने लोचनवज्जलापि स्नुही शरत्क्षीरसरिन्नेभ्यः ॥

३ वाणी भवेत्कस्यचिदेव पुण्यं शब्दार्थसदर्थविशेषगर्भा ।
इन्दु विनान्यस्य न दृश्यते द्युत्तमो ध्रुवाना च मुघा ध्रुवी च ॥-

रूपक और उपना का समीक्षण (२१५६)

अनिन्द्यस्तद्युतिफेनिलाधरप्रवालशालिन्युरलोचनोत्पले ।
तदास्य तावण्यबुबोदयो बभूवस्तरगन इवभगगुरालका ॥

इनेपोपमा (४१०३)

स्वभ्यो घृताच्छप्यगुरुपदेश श्रीदानवारातिविराजमान ।
यस्याकरोल्लासिनवज्रमुद्र-पीनो जने जिष्णुगिवावनाति ॥

अर्गन्तर न्याम (३१७३)

न वारितो मत्तमद्विधपोष प्रसह्य कामभ्रमशान्तिमिच्छन् ।
रजस्वला अण्यभजत्स्ववन्तीरहो महान्वस्य कुतो विवेक ॥

पनिन्द्या (२१३०)

निशामु नूनं मनिनाम्यरस्यति प्रगल्भकान्तामुरते द्विजशति ।
यदि शिवप मर्थविनाशनस्तव प्रमाणशास्त्रे परमोहम्भव ॥

विनोदानाम (२१३३) (३१७१)

चित्रमेनज्जगन्मित्रे नेत्रमर्शं गते रजयि ।
यन्मे जडाशयस्यापि पंरजात निमीलति ॥

महानदीनोऽप्यजडाशयो जगत्यनष्टमिद्वि परमेश्वरोऽपि सन् ।
बभूव राजापि निकारकारण विनाशरीणामयमद्भुतोदय ॥

दीपक (२१०३)

नभो दिनेशेन न्येन यिफनो वनं [मृगेन्द्रेण निशीथमिन्दुना ।
प्रतापनस्मी धनकातिशालिना विना न पुत्रेण च भाति न कुलम् ॥

धर्मशर्मान्युदय के कौतुकावह स्थल

महाकाव्य के लक्षण में गिना है कि कहीं-कहीं प्राप्ति में मञ्जनप्रशमा और दुर्जननिन्दा की जाती है। इस लक्षण को दृष्टिगत रखते हुए प्रायः सभी गद्य-पद्य काव्यों में मञ्जनप्रशमा और दुर्जननिन्दा का प्रकरण रक्खा गया है परन्तु धर्मशर्मान्युदय में यह प्रकरण (प्रथम मग १८-३१) सन्तुष्ट नाहित्य में अपनी उपमा नहीं रखता। गृहस्थ दम्पती के हृदय में पुत्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति गहरी है। उसने विना दम्पती का गार्हस्थ्य अपूर्ण रहना है। रघुवध में कानिदाम ने राजा दिलीप के पुत्रानाश स्वर्ग की दुःख का वर्णन किया है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में इम्का विन्तुन और नार्मिक उन्नेज किया है और चन्द्रप्रनवन्ति में महाकवि बीरन्दी ने भी इसी चर्चा की है पर धर्मशर्मान्युदय के द्वितीय मां के अन्त में (६८-७८) महामयि ने सुत्रना गनी के पुत्र न होने के कारण राजा महामेन के भुक्त से जा दुःख प्रकट किया है वह अतीव नार्मिक है और पटने ही हृदय में घेर कर लेता है। उदाहरण के लिए उम प्रकरण के दो उदाहरण देविये—

सहस्रधा मत्पपि गोत्रजे जने सुत विना वस्य मन प्रसीदति ।
अपादिताराग्रहमिदं भवेद्वृत्ते विधोर्ध्यामिलमेव दिमुत्तम् ॥७८॥
न चन्दनेन्दोवरहारयष्टयो न चन्द्रोर्ध्वापि न चामृतच्छटा ।
मुताग सस्यशमुलस्य निस्तुला कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ॥७९॥





तृतीय सर्ग का वनवर्णन कवि के वैदुष्य को प्रकट करने में अपनी शानी नहीं रगता। इस प्रकरण के निम्नाङ्कित श्लोक देखिए और कवि की श्लेषविषयक वैदुष्य की श्लाघा कीजिए—

कान्तारतरवो नन्ते कामोन्मादकृत परम् ।
अभवन्न प्रीतये सोऽप्युद्यन्मधुपराशय ॥२३॥
अनेक विटपस्पृष्टपयोधरतटा स्वयम् ।
वदत्युद्यानमातेय भकुलीनत्वमात्मन ॥२४॥
उल्लसत्केसरो रघतपलाश कुञ्जरजितः ।
कण्ठोरव इवाराम क न व्याकुसयत्यसौ ॥२५॥
एता प्रवासहारिणो मुवा भ्रमरसगता ।
मरुन्तर्कतालेन नृत्यन्तीव घने लता ॥२६॥

चतुर्थसर्ग (४१-४४) में चन्द्रग्रहण का जो कौतुकावह वर्णन महाकवि हरिचन्द्र ने किया है वह अन्यत्र नहीं मिलता। स्वर्गीय पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज को यह वर्णन बड़ा प्रिय था, वे जब तब बड़े हर्ष से निम्नाङ्कित श्लोक सुनाया करते थे—

अयेकदा व्योम्नि निरभ्रगर्भक्षेण क्षणपायां क्षणदाधिनाथम् ।
अनायनारीव्ययननसेव स राहुणा प्रैक्षत गृह्यमाणम् ॥४१॥
किं सीधुना स्फादिकपानपात्रमिदं रजन्या परिपूर्णमाणम् ।
चलद्विरेकोच्चयजुष्यमानमाकाशगगास्फुटकैरेव वा ॥४२॥
ऐरावणस्याथ करात्कथञ्चिच्छ्रुतः सपको विसकन्द एषाः
किं व्योम्नि नीलोपलदर्पणाभे सश्मधु वक्ष्य प्रतिबिम्बित मे ॥४३॥
क्षण वितर्क्येति स निश्चिकाय चन्द्रोपरागोऽयमिति क्षितीश ।
हृद्भीलनाविष्कृतिचित्तखेदमचिन्तयच्चैवमुदारचेता ॥४४॥

चन्द्रग्रहण का निमित्त पाकर राजा का चित्त ससार शरीर और भोगों से निर्विण्ण हो जाता है। उसी दशा में वह वृद्धावस्था का चिन्तन करता है। वृद्धावस्था में मनुष्य के दात झड़ जाते हैं, बाल सफेद हो जाते हैं, शरीर में बल पड़ जाती और कमर झुक जाती है। इन सबका वर्णन महाकवि हरिचन्द्र के शब्दों में देखिये कितना सुन्दर बन पड़ा है—

अन्याङ्गनासङ्गमतालसाना जरा कृतेष्वेव क्रुतोऽप्युपेत्य ।
आकृष्य कैशेषु करिष्यते न पदप्रहारैरिचवन्तभङ्गम् ॥४५॥
क्राते तवागे धलिभि समन्तान्श्यत्यनङ्गः किमसावितीव ।
वृद्धस्य कर्णान्तगता जरेय हस्त्युदञ्चत्पलितच्छलेन ॥४६॥
आकर्णपूर्णं कटिलालकोमि रराज लावण्यसरो यदग्रे ।
बलिच्छलात्सारणि घोरणीभि प्रवाह्यते तज्जरसा नरस्य ॥४७॥
असभृतं मण्डनमगयष्टेर्नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकाय पश्यन्नघोऽघो भुवि बभ्रमतीति ॥४८॥

चन्द्रग्रहण चरित्र के द्वितीय सर्ग का विस्तृत न्याय वर्णन काव्य के अनुरूप न होकर एक स्वतन्त्र दर्शन शास्त्र-

सा हो गया है पर धर्मशर्मान्युदय के चतुर्वर्ग में (६२-७६) चावीक सिद्धान्त का सुमन्त्र मन्त्री के द्वारा मण्डन और राजा दशरथ के द्वारा खण्डन किया गया है वह काव्य की अनुरूपता को नहीं छोड़ नका है ।

सप्तम सर्ग का (२०-३८) नुमेस्वर्गन कवि के अनुपम पाण्डित्य को सूचित करता है । इस प्रकरण के निम्न श्लोक गौर से देखिये—

महध्वनद्वंशमनेकतालं रसालनभावितमन्मथैलम् ।
भूतन्मरातङ्गमिवाश्रयन्तं वनं च गानं च सुरांगनानाम् ॥३०॥
विशालदन्तं धनदानवारि प्रसारितोद्गमकराग्रदण्डम् ।
उपेयुषो दिग्गजपुंगवस्य पुरो दधान प्रतिमल्ललीलाम् ॥३३॥
प्रथिश्रियं नीरदभाश्रयन्तीं नवानुदन्तोमतिनिष्कलानाम् ।
स्वर्नमुर्लगाञ्जिखिना दधानं प्रगल्भवेश्यामिव चन्दनालीम् ॥३३॥

यहाँ देवों के वाहन के रूप में आगत हाथियों, घोड़ों तथा बलों आदि का स्वाभावोचितमय वर्णन माध की शैली का स्मरण कराता है । अष्टमसर्ग व्यापी क्षीरनमुद्र एव जन्माभिषेक का वर्णन मालिनी छन्द में बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है । नवम सर्ग का पुत्रस्पर्शनवर्णन कालिदास के वर्णन में कहीं अधिक सुन्दर जान पड़ता है—

पुत्रस्य तस्यागस्तमागमक्षणे निमीलयन्नेत्रयुगं नृपो बभौ ।
अन्तः क्रियद्गण्डनिपीडनाद्बहु प्रविष्टमस्येति निरुपयन्निव ॥१०॥
उत्संगमारोप्य तमगजं नृप परिष्वजन्मीलितलोचनो बभौ ।
अन्तर्द्विनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृहे कपाटयोः सघटयन्निव हृयम् ॥११॥

—धर्मशर्मान्युदय

तमङ्गमारोप्य शरीरयोगजं सुखं निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वय ।
उपान्तस्तमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥२३॥

—रघुवंश तृतीय सर्ग

पुत्रराज धर्मेनाथ गृहारवती के स्वयंवर में समितित होने के लिये दक्षिणदिशा की ओर प्रयाण कर रहे हैं । उन समय का श्लेषमय वर्णन देखिये—(६-५१)

ता नैत्रपेया विनिशम्य सुन्दरीं सुधामलंकामयमानं वत्सुक ।
क्रामन्तपार्चीं हरिसेनया वृत्तो बभौ स काकुत्स्थ इवास्तह्वयणः ॥५१॥

ऐसा जान पड़ता है कि 'सुधामलंकामयमान' की मनोज मुरभि नैषध के 'चितो नल कामयते मदीयम्' तक जा पहुँची है ।

नवम सर्ग का (६८-७७) गंगा वर्णन माहिलिक दृष्टि में बहुत ही उच्च कोटि का है । दशम सर्ग का नाना छन्दों में रचा हुआ विन्ध्यगिरि का वर्णन माध के चतुर्थ सर्ग में व्याप्त नाना वृत्तमय रैवतकगिरि के वर्णन का स्मरण कराता है । दोनों ही जगह यमकालकार की अनुपम छटा छिटकी हुई है । माध से दारुक के द्वारा और इनमें प्रभाकर के द्वारा पर्वत का वर्णन कराया गया है । कालिदास ने रघुवंश के नवम सर्ग में चतुर्थपाद नम्रवन्वी यमक के साथ द्रुतविलम्बित छन्द का अवतार कर काव्यसुधा की जो मन्दाकिनी प्रवाहिनी की है उनका अनुसरण माध के पष्ठ सर्ग तथा धर्मशर्मान्युदय के एकादश सर्ग सम्बन्धी ऋतुवर्णन में भी किया गया है । जिस प्रकार नाक पर पहिने हुए मोती ने किसी शुभ्रवदना का मुखमण्डल विन उज्जा है उसी प्रकार इन एक पद का दो पदों के यमक ने द्रुत विलम्बित छन्द मुगोमित हो गया है ।





बारहवें सर्ग की वनश्रीडा छन्द और अलंकार की अनुकूलता के कारण माध भी वनश्रीडा से कही अधिक सुन्दर बन पड़ी है। समग्र त्रयोद सर्ग में व्याप्त जलश्रीडा ने भारवि की किरातार्जुनीय के अष्टम सर्ग में व्याप्त जलश्रीडा को अत्यन्त निष्प्रभ बना दिया है। चतुर्दश सर्ग का सायकाल रात्रि तथा चन्द्रोदय का वर्णन पाठक को आनन्दविभोर कर देता है। चन्द्रोदय होने पर कमल की लक्ष्मी चन्द्रमा के पास चली गई इसका वर्णन देखिये कितना मनोरम है।

तावत्सती स्त्री ध्रुवमन्युसो हस्ताग्रसस्पर्शसहा न यावत् ।

स्पृष्टा कराग्रं कमला तथाहि त्यपतारविन्दामिससार चन्द्रम् ॥५२॥

पञ्चदश सर्ग का मधुपान काव्य की दृष्टि से बहुत ही उच्चकोटि का है। मदिरा के नशे में जिसकी आवाज लडखडा रही है ऐसी एक स्त्री का वर्णन देखिये कितना हृदयहारी बन गया है—

त्यज्यतां विविविप्रिय पात्र वयितां मुमु मुपासव एव ।

इत्यमन्यरपदस्खलितोषित प्रेयसी मुदमद्यवाहयितस्य । २२॥

षोडश सर्ग का प्रातःकाल का वर्णन माध के एकादश सर्ग का स्मरण कराता है। माध के प्रातःकाल के वर्णन में मालिनी छन्द ने यद्यपि अधिक शोभा ला दी है पर धर्मशर्माभ्युदय की उत्पत्त्या उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर है। देखिये, चन्द्रमा अस्तोन्मुख है, पूर्वदिशा में अरुण की लाली छा रही है और दुन्दुभि का शब्द हो रहा है। इसका वर्णन धर्मशर्माभ्युदय में कितना हृदयहारी हुआ है—

राजान जगति निरस्य सूरसूतेनाक्रान्ते प्रसरति दुन्दुभेरिवानाम् ।

यामिन्या प्रियतमविप्रयोगदु खैर्हृत्सन्धे स्फुटत इवोद्भूट प्रणाव ॥५१॥

इसी सोलहवें सर्ग का सेना प्रस्थान माध के द्वादश सर्ग में वर्णित श्रीकृष्ण की सेना प्रयाण का स्मरण कराता है। सप्तदश सर्ग में शृगारवती के स्वयंवर का जो वर्णन है वह कालिदास के इन्दुमती के स्वयंवर वर्णन को पीछे छोड़ देता है। स्वयंवर सभा में आते ही शृगारवती राजाओं के मनोमानस में प्रविष्ट हो गई इसका श्लेषात्मक वर्णन देखिये कितना अद्भुत हुआ है—(१६-१७)

पयोधरश्रीसमये प्रसपञ्चारावली क्षालिनि सप्रवृत्ते ।

सा राजहसीव विभुदपक्षा महीभृतां मानसमाविवेश ॥

स्वयंवर के बाद शृगारवती के साथ राजपथ में जाते हुए धर्मनाथ को देखने के लिये स्थियों का कौतूहल यथार्थ में कौतूहल की वस्तु बन गई है। धर्मशर्माभ्युदय के इस वर्णन ने कुमारसम्भव और रघुवश के इस वर्णन को पीछे छोड़ दिया है। विवाह दीक्षा के बाद धर्मनाथ अपनी दुलहिन शृगारवती के साथ चौक के बीच सुवर्ण सिंहासन को अलंकृत कर रहे थे। उसी समय उन्हें पिता का एक पत्र मिला, जिसे पढ़कर वे एकदम कुवेरनिमित्त विमान पर आसढ़ होकर दुलहिन के साथ राजपुर की ओर चल देते हैं। यहाँ ऐसा लगता है जैसे कवि ने रस का अकण्ठछेद कर दिया हो। पाठक के हृदय में वहती हुई रस की धारा असमय में ही शुष्क होती जान पड़ती है। स्वयंवर के बाद होने वाले युद्ध से अज्ञता रखने के लिये ही मालूम होता है कवि ने धर्मनाथ की सीधा विमान द्वारा राजपुर भेजा है और युद्ध का दायित्व सेनापति के ऊपर निर्गम किया है।

अष्टादश सर्ग में ससार की माया ममता से विरक्त हो राजा महासेन दीक्षा लेने के लिये कृतसंकल्प हैं। वे युवराज धर्मनाथ को राज्याभिषेक के पूर्व जो उपदेश देते हैं वह काम्बरी के शुक्रनामोपदेश और गद्य चिन्तामणि के आर्पणन्युपदेश का सक्षिप्त संस्करण-सा जान पड़ता है। उन्होंने युवराज धर्मनाथ के लिये गुणार्जन का जो उपदेश दिया है उसे देखिये, कवि ने श्लेषोपमा के द्वारा कितना आकर्षक बना दिया है—(१८-१५)

भूश गुणानर्जय सदगुणो जनं क्रियासु कोदण्ड इव प्रशस्यते ।

गुणच्युतो बाण इवातिनीधम प्रयाति बलव्यभिह क्षणादपि ॥

उन्नीमवें सर्ग में युद्धवर्णन के लिये कवि ने जो छन्द और चित्रालंकार चुना है वह उस के अनुकूल नहीं है । यमक और चित्र अलंकार कवि के कौशल को परखने के लिये कसौटी का काम देने हैं । महाकवि हरिचन्द्र का कौशल उन पर खरा उनरा है । पर वीररम की वारा उससे कुण्ठित हो गई है । तीसवें सर्ग में कवि ने धर्मनाथ के राज्य, वैराग्य तपश्चरण और समवसरण का जो वर्णन किया है वह यद्यपि अपने आप में परिपूर्ण है तथापि ऐसा लगता है कि कवि, काव्य के इस प्रमुख कथानक को जल्दी निपटाना चाहता है । इक्कीसवें सर्ग का उपदेश विस्तृत और अनुरूप छन्द में युक्त है ।

इस प्रकार धर्मशर्मन्युदय काव्य के वैभव से युक्त उच्चकोटि का महाकाव्य है ।

धर्मशर्मन्युदय पर मण्डलाचार्य ललितकीर्ति के शिष्य प० यशस्कान्ति के द्वारा रचित 'मन्देहृद्वान्दीपिका' नामक संस्कृत की टीका है ।



राजस्थान के संस्कृत महाकवि एवं विचक्ष्ण प्रतिभासम्पन्न ग्रन्थकार

विनयसागर

साहित्यमहोपाध्याय, साहित्याचार्य, दर्शनशास्त्री,
साहित्यरत्न, ज्ञास्यविशारद



महोपाध्याय मेघविजय

महोपाध्याय मेघविजय १८ वीं शताब्दी के बहुमुखीप्रतिभासम्पन्न विशिष्टतम विद्वान् हैं। इनका जन्मसंवत्, जन्मस्थान और गृहस्थावस्था का ऐतिहासिक परिचय अद्यावधि अप्राप्त है। श्रीवल्लभोपाध्यायरचित, 'विजयदेवमाहात्म्य' पर मेघविजयजी द्वारा रचित विवरण की स० १७०६ की लिखित^१ प्रति प्राप्त होने से यह निश्चित है कि इस विवरण की रचना १७०६ के पूर्व ही हो चुकी थी। अतः यह अनुमान सहज भाव में लगाया जा सकता है कि इस रचना के समय इनकी अवस्था कम से कम २०-२५ वर्ष की अवश्य होगी। अतः अनुमानतः १६८५ और १६९० के मध्य इनका जन्मसमय माना जा सकता है। स० १७२७ में रचित 'देवानन्दमहाकाव्य' में विजयप्रभसूरि द्वारा प्रदत्त 'उपाध्याय'^२ पद का उल्लेख होने से निश्चित है कि स० १७१० और १७२७ के मध्य में इनको उपाध्याय पद प्राप्त हो चुका था, क्योंकि विजयप्रभसूरि का शासनकाल स० १७१० से १७३२ का है।

मेघविजयजी श्वेताम्बर जैन-परम्परा में तपागच्छीय अकबरप्रतिवर्धक जगद्गुरु हीरविजयसूरि की शिष्य-परम्परा में कृपाविजयजी के शिष्य हैं, जैसा कि इनकी ग्रन्थ-प्रशस्तियों से प्रकट है —

श्रीमत्तपागणपतिर्यतिमार्गचोर, श्रीहीरहीरविजयो जयवान् बभूव ।

यः प्रत्यवबुधदकबरराजराज्यं वाक्यं सुधातिमधुरैर्यवनाधिराजम् ॥१३॥

श्रीवाचक कनकतो विजया बभूवु—विज्ञानवक्ष्यक्षयो भुवि तद्विनेया ।

तेषां सुशीलविजया कवयो विनेया, शिष्यी बभूवतुरनुत्यमती तदीयी ॥१४॥

१. लिखितोऽयं ग्रन्थ पण्डितश्री ५ श्रीरगतोमगणिशिष्य-मुनिसोमगणिना स० १७०६ वर्षे चैत्रमासे कृष्णपक्षे एकादशी तिथी द्युधे लिखित राजनगरे श्रीतपागच्छाधिराज—स० श्रीविजयदेवसूरीश्वरविजयराज्ये ।

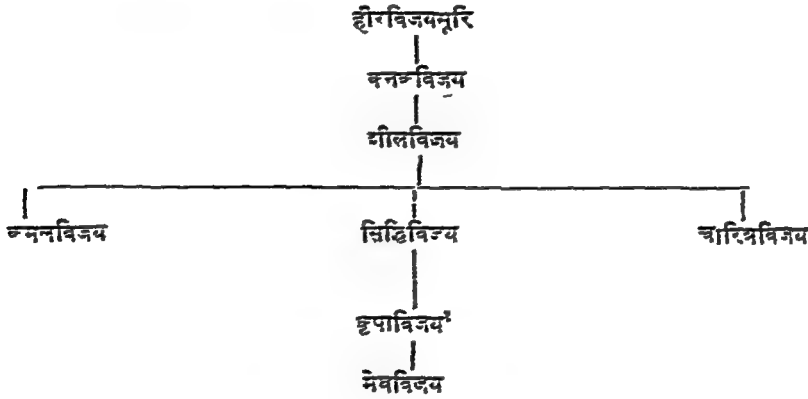
(विजयदेवमाहात्म्य, प्रान्तपुष्पिका ।)

२. देवानन्दमहाकाव्य, सर्ग ७, पद्य ८०

आद्य श्रीकमलादिमन्त्र विजयन्तस्यानुजन्मा वृषः,
श्रीसिद्धे विजयोऽत्र तो मम गुरोर्दक्षानुमित्रागुरुः।
श्रीसम्मानकनाम्नि वाम्नि महवो द्रगे विजित्य क्षणा-
ल्लुम्पाकेन्द्रगतान् जयधियममू सम्प्रापतुविद्युताम् ॥१५॥

य पट्टकविनकंककंभमनि साहित्यमिद्वान्विन,
प्रागन्नसिन्धि कृपादिविजय प्राज्ञो विनेयन्मयो ।
नन्वाद्राम्पुजम् गमेवविजयोनाव्यायलव्वान्नाना,
अन्यो मेरुहीवरावपि सिद्धिधियै नन्दतान् ॥१६॥
(मुक्तिप्रबोधप्रदानम्)

इन प्रगल्भी के अनुसार इनका वनवृक्ष इन प्रकार वनना है—



मेवविजयजीरचित ग्रन्थों को देखने पर यह भाविकार कहा जा सकता है कि ये एकदेशीय विद्वान् न होकर सार्वदेशीय विद्वान् थे। काव्य-साहित्य, पादपुत्रि, व्याकरण, छन्द, अनेकार्थ, व्याख्यान, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, सामुद्रिक, रत्न, मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र, अष्टात्मशास्त्र आदि अनेक विषयों के ये जगद् पटिन थे और इन्होंने अनेक विषय पर भाविकार बवंडरपूर्ण लेखनी बनाई है। उनका साहित्य-संस्कारा वि० सं० १७०६ से १७६० तक का तो निश्चित ही है। मात्र ही अजमेरनागर जी द्वारा सं० १८६१ में रचित स्तुति में स्पष्ट है कि उस समय तक आप विप्रमान थे। वर्तमान समय में प्राप्त इनकी रचित साहित्यसामग्री का विषयानुक्रम में सजिले परिचय इस प्रकार है—

महाकाव्य

१. सप्तमन्वान महाकाव्य—इसकी रचना वि० सं० १८६० में हुई है। इसमें ६ सर्ग हैं। सर्गक्रम ने

१. कृनाविजयो रचिन विजयप्रमनूरि निर्वातारान प्राप्त है।

२. विप्रसमुनीन्दुना (१७६०) प्रमाणान् परिवन्तरे।

कृतोज्ज्वल

पूर्वाचार्यव्याससिद्धि ॥

—(मत्तसन्धानप्रदानप्रदानम् :)



पद्यसंख्या इस प्रकार है—८२, २५, ८८, ४२, ५८, ६३, ४२, २८, ३२, प्रशस्ति के ३, कुल ४२३। इस काव्य के प्रत्येक पद्य से सात महापुरुषों का कथानक क्रमबद्ध चलता है। श्रद्धाभदेन, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर-स्वामी, रघुवशी रामचन्द्र और यदुवशी कृष्ण के जीवन-चरित्रमय यह महाकाव्य है। न केवल महाकाव्य की दृष्टि से अपितु अनेगार्थी साहित्य की दृष्टि से भी यह सर्वोत्तम कृति है। पहले भूलभान प्रकाशित हुआ था फिर श्रीविजयप्रभसूरि रचित 'सरणि' टीका सह यह ग्रन्थ जैन साहित्यवधक सभा सूरत में प्रकाशित हो चुका है।

२ दिग्विजय महाकाव्य—यदि ने इस ग्रन्थ में रचना समय नहीं दिया है। इस काव्य में तपागच्छीय जैनाचार्य विजयदेव सूरि के प्रशिष्य विजयसिंह सूरि के शिष्य गणाधीश विजयप्रभसूरि का जीवनचरित्र ग्रथित है। तत्कालीन राजनैतिक, भौगोलिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। महाकाव्य के लक्षणों से परिष्कृत १३ सर्गों का यह काव्य है। सर्गक्रम से पद्यसंख्या इस प्रकार है—८१, ५६, ६२, ७५, ७५, ५७, ७५, १४२, १५१, १५१, १३४, ११३, १०२, कुल १२७८। यह ग्रन्थ सिंधी जैन ग्रन्थमाला (भारतीय विद्या भवन) बम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

पादपूर्ति-काव्यसाहित्य

३ शान्तिनाथचरित्र—श्रीहर्परचित नैपथ महाकाव्य की समस्यामय पादपूर्ति से इसका दूसरा नाम नैपथीय समस्या भी है। नैपथकाव्य के प्रथम सर्ग की पादपूर्ति रूप यह काव्य है। मेघदूत की तरह अन्तिम चरण या एक चरण लेकर इसकी रचना नहीं हुई है, अपितु प्रत्येक चरण की चरणानुरूप पूर्ति करते हुए ६ सर्गों में उसकी रचना पूर्ण हुई है। कही-कही तो एक ही चरण की दो, तीन बार अनुवृत्ति भी की गई है। इस काव्य में सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का जीवन-चरित्र वर्णित है। सर्गानुक्रम से पद्य संख्या इस प्रकार है—१२६, १३०, ११७, ७८, ७१, ६३, प्रशस्ति ५, कुल ५६०। ग्रन्थकार ने प्रान्त में इसका समय नहीं दिया किन्तु आचार्य विजयप्रभसूरि का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि इसकी रचना वि० स० १७१० के पश्चात् और ग० १७३२ के बीच हुई है। यह ग्रन्थ जैन विविध साहित्य शास्त्र-माला, काशी से प्रकाशित है।

४. देवानन्दमहाकाव्य—महाकवि माघ रचित शिशुपालवध (माघ) महाकाव्य के प्रारम्भ के ७ सर्गों तक के प्रत्येक पद्य के चतुर्थ चरण की पादपूर्ति रूप यह महाकाव्य है। इस काव्य में भी सात सर्ग हैं। इसमें तपागणाधीश जैनाचार्य विजयदेवसूरि और विजयप्रभसूरि के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन है। पादपूर्ति के बन्धन में रहते हुए भी यदि ने इस काव्य की रचना इतनी सफलता के साथ की है कि रम-परिपूर्ण नवीन स्वतन्त्र काव्य का रसास्यादन होता है। इसकी रचना वि० स० १७२७ आश्विनशुक्ल विजयादशमी को सादडी नगर^१ में हुई है। सर्गों की पद्यसंख्या इस प्रकार है—७८, १३०, १७६, ८५, ७२, ६०, ८५ कुल ७१६। यह ग्रन्थ सिंधी जैन ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है।

५. किरातसमस्यापूर्ति—इसके सम्बन्ध में दिग्विजयमहाकाव्य की प्रस्तावना (पृ० ४) में प० अम्बालाल प्रेमचन्द शाह ने लिखा है—'आ काव्यनु नाम, शु छे ते जाणी सकायु नथी, पण तेमा किरातार्जुनीय काव्यनी समस्यापूर्ति

१ इति श्रीनैपथीयमहाकाव्यसमस्याया महोपाध्यायमेघविजयगणिपूरिताया पण्ड सर्ग सम्पूर्णः।

२ मुनिनयनाश्लेषुमिति धर्णे हर्षेण सादडीनगरे। ग्रन्थ पूर्णं समजनि विजयदशम्यामिति श्रेय। ८५

(देवानन्दमहाकाव्यप्रशस्ति)।

तो छेज, एनी एक प्रति आचार्य श्रीविजयेन्द्रमूरि पामे हनी जेनी प्रेसकापी मे केटलाये वपों अगाळ तेमने करी आपेनी, ते स्मरण ऊपरथी जगावु छु, ते प्रति मने मली शकी न थी । ते वे एक सर्गात्मकज हती, सभवत क्याई थी तेनी पूरी अनि पण मली आवे ।'

६ मेघदूतसमस्यालेख—जैमा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह लघुकाव्य महाकवि कालीदासप्रणीत मेघदूत खण्डकाव्य के चतुर्थ चरण को ग्रहण कर पादपूर्ति रूप में लिखा गया है । वस्तुतः विजयि स्वल्प स्वरूप को लिखा गया यह एक पत्र है, जो कि नवरत्नपुर^१-औरंगाबाद में कवि ने देवपाटण^२ में विराजमान आचार्य विजयप्रभमूरि को लिखा है । इनमें कवि ने रचना-समय नहीं दिया है किन्तु प्रान्त में लिखा है कि विजयदेव सूरि की भक्ति में माघकाव्य का समस्यापूर्ति श्री विजयप्रभमूरि के गुणोत्कीर्तन में मेघदूत समस्या लिखी है ।^३ जैमा कि ऊपर लिख आये हैं, देवानन्द महाकाव्य की रचना १८२७ में हुई है । अतः स्पष्ट है कि इसकी रचना वि० म० १७२७ के बाद हुई है । मेघदूत के १३० पद्य कवि ने स्वीकार किये हैं । यह काव्य जैन आत्मानन्द नभा भावनगर से स्वतन्त्र पुस्तिका रूप में श्री विजयिलेखसंग्रह प्रथम भाग में निधी जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित है ।

७ लघुत्रिपटिशलाकापुरुषचरित्र—कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र रचित त्रिपटिशलाकापुरुषचरित्र का यह नक्षिप संस्करण है । कोठारी वनराज^४ की अमर्यना से कवि ने लगभग पाच हजार पद्यों में इसकी रचना की है । हेमचन्द्र की तरह ही इनके १० पवों को पूर्वाह्न और उत्तराह्न में विनाजित किया है । इसमें कवि ने रचना-समय नहीं दिया है । यह ग्रन्थ अश्ववि अग्रकाशित है किन्तु इसका भावानुवाद गुर्जरभाषा में प० मफनलाल भवेरचन्द ने किया है जो छोटालाल मोहनलाल घाह उनावा (गुजरात) की तरफ से प्रकाशित है ।

कथा-साहित्य

८ भविष्यदत्त चरित्र—ज्ञान (श्रुत) पंचमी माहात्म्य पर इन चरित्र की पद्यमय २१ अधिकारों में रचना हुई है । कवि ने रचना-समय का उल्लेख नहीं किया है किन्तु विजयरत्नमूरि^५ का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि यह रचना वि० म० १७३० के पञ्चाश की है क्योंकि विजयरत्नमूरि १७३२^६ में आचार्य बने थे । यह चरित्र दानदया-भूतहिम्मतग्रन्थमाला अमदावाद में प्रकाशित हो चुका है ।

१. स्वन्तिश्रीमद्भुवनदिनहृद्वीरतीर्थाभिनेतु, प्राप्यादेश तपगणपतेर्मघनामा विनेय ।
उद्येष्टित्यया पुरमनुमरन् नद्यरग ससजं, स्निग्धच्छायातरु वसतिं रामगिर्यश्वमेधु ॥२॥
२. गम्भा चारं हचिरनगरी देवकात्सत्तनाख्या, बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधीतहर्म्या ॥७॥
३. माघकाव्य देवगुरोर्मेघदूतं प्रभप्रभो । समस्यार्थ समस्यार्थ निममे मेघपण्डित ॥१३॥
४. श्रीमेघविजयनामा विनयविलासे लघुत्रिपट्टीयम ।
चक्रे कीष्टागारिक-वनराजाऽन्यथनायोगात् ॥५६६॥

लघुत्रिपटिशलाकापुरुषचरित्र प्रान्तप्रशस्ति,

५. तपागणाम्भोजमहृभानु, सूरिर्जयो श्रीविजयप्रभाह्व ।
तत्पट्टदीप श्रमणावनीप प्रभासते श्रीविजयादिरत्न ॥७६॥

—भविष्यदत्तचरित्र प्रान्तप्रशस्ति

६. विजयप्रभमूरिराणा पट्टे ६३ विजयरत्नमूरि तेषा पिता हीरानन्द माता च हीरादे, पालनपुरे १७१० वर्षे जन्म,
१७२२ वर्षे दीक्षा, १७३२ वर्षे नागोरपुरे सूरिपद, सर्वायु ६३ वर्षाणि प्रवात्य स० १७७३ भाद्रकृष्ण द्वितीयाया
उदयपुरे स्वर्गं गत । भविष्यदत्तचरित्र प्रस्तावना पृ० ४०



६ पचास्यान—स० १७१६ में नवरगपुर^१ में इसकी रचना हुई है। कवि के कथनानुसार पूर्व में ४६०० श्लोक^२ परिमाण का जो 'पचास्यान' नामक ग्रन्थ था उसी का यह सक्षिप्त संस्करण है। संभवतः यह पचास्यान पूर्णमद्र रचित पचास्यान ही हो। इसकी भाषा सरल और प्रसादगुण युक्त है। यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी एक प्रति स० १७५१ की लिखित अनूपसम्स्कृत लायब्रेरी बीकानेर में प्राप्त है।

विज्ञप्ति पत्रकाव्य

पत्र-प्रेषक स्वीय आचार्य या गुरु को आलंकारिक भाषा में गरा, पद्य या गद्यपद्यमिश्र में जो विज्ञप्ति रूप पत्र लिखता है वह विज्ञप्ति-पत्र कहलाता है। जिस स्थान पर आचार्य विराजमान हों उम नगरी का, तत्रस्थ मन्दिर का और आचार्य का प्रभावशाली आलंकारिक वर्णन तथा स्वीय प्रवास, तीर्थयात्रा धर्मव्यान, पठन-पाठन, धर्मप्रचार के साथ स्वस्थित नगरी का वर्णन, इन विज्ञप्ति-पत्रों का प्रतिपाद्य विषय होता है। इस प्रागर के विज्ञप्ति-पत्र ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के होते हैं। ऐसे विज्ञप्ति-पत्रों में हमें सर्वप्रथम वि० स० १४४१ में जिनोदयसूरि द्वारा लोकहिताचार्य को प्रेषित 'विज्ञप्तिमहालेख' और वि० स० १४४८ में जयमागरोपाध्याय द्वारा विजयभद्रसूरि को प्रेषित 'विज्ञप्ति-त्रिवेणी', प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् तो सैकड़ों की मत्था में विज्ञप्तिपत्र प्राप्त होते हैं जिनमें से २५ विज्ञप्तिपत्र पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजयजी ने विज्ञप्ति लेखसंग्रह प्रथम भाग में प्रकाशित किये हैं।

मेघविजयजी लिखित विज्ञप्तिपत्र जो वर्तमान में प्राप्त होते हैं उनमें से मेघदूतसमस्यालेख का विवरण दिया जा चुका है, अवशेष का क्रमशः परिचय इस प्रकार है —

१० पाणिनिद्वयाश्रयवित्तिलेख—शिवनगरी^३ से यह पत्र गणनायक विजयप्रभसूरि को लिखा गया है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह द्वयाश्रय काव्य है। एक ओर जहाँ पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्रों का क्रम चलता है तो दूसरी ओर वहीं पद्य श्लेषयुक्त होकर विज्ञप्ति-पत्र के प्रतिपाद्य अर्थ को प्रकट करता है। इसमें चार विश्राम हैं। प्रथम विश्राम में सञ्ज्ञान्धि के साथ भगवान् ऋषभदेव का, द्वितीय विश्राम में अर्चमन्धि के साथ कुर्कुट नगरी का, तृतीय विश्राम में अर्चसन्धि के साथ शिवनगरी और चातुर्मासिक धर्मकृत्यों का तथा चतुर्थ विश्राम में हलसन्धि के साथ आचार्य विजय-प्रभसूरि का श्लेषालंकारयुक्त वर्णन है। चारों विश्रामों की पद्य सख्या इस प्रकार है — २५, ३८, ३६, ३६। यह पत्र अभी तक अप्रकाशित है। इसकी एक मात्र प्रति भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना में न० ए-२६६।१८८२-८३ पर है। इसी की प्रतिलिपि राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर में है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

आदि—स्वस्ति श्रिया सत्प्रकृतित्वभाजा, य. प्रत्ययात्मापरयोगशाली।

सयुज्य नानाविधिरूपसिद्धयै, भवेन्मुदे व स मारुदेव ॥१॥

कीमारत्पेऽपि कलाविशेषात्, सञ्ज्ञाभिवृद्धेर्विधिसाधवाच्च।

य पाणिनीय नयमादिदेश, सदाऽऽकृतव्यूहतया शिवात्मा ॥२॥

१ तन्त्रिच्छुर्मेघविजयो रसेन्दुनगम्भूमिते वर्षे व्यधादिम ग्रन्थ नवरगपुरे बरे ॥ ६ -

२ चतु सहस्री शतपटकयुक्ता श्रीनीतिशास्त्रप्रथित पुराऽभूत्।

सक्षिप्य तत्त्वानुखायगुर्ध्वं, व्यधत्त मेधाद्विजयो मनीषी ॥३॥ (पचास्यानप्रशस्ति)

३. एव च यस्मिन्नगरेऽतिविद्वान्, बालो युवा वा प्रवया जनोस्ति।

शिवाभिलाषी सुरसार्यसक्तस्तत् शिवाख्यान्नगरादमुष्मात् ॥ तृतीय विश्राम

विनिर्भना दूग् जघोन्न एत्य, माद्यादिव श्रीगुरुमीक्षमाण ।
निष्पागुमेधाद्विजय स्वकीय, भाव पत्र विजयत्य-मुष्मिन् ॥१२॥
(तृतीय विश्राम)

अन्त—एव जगद्भासनकारि यस्यानुशामन श्रीगणप्वामवस्य ।
जयत्यवस्या विजयप्रभाह्ण, मूरि मभूरिप्रभुनाद्भुतश्री ॥३६॥

इति श्रीपाणिनीयहल्मन्विश्लेषपालकाररम्ये श्री परमगुरुविजयपितिलेखे द्विचाश्रये गुरुवर्णनरूपश्चतुर्थविश्राम ॥

११ पाणिनीयद्विचाश्रयविजयपितिलेख—यह द्वितीय विजयपति लेख भी मेघविजयजी ने जिवनगरी से कुकुटनगर^१ स्थित युवराजमूरि^२ विजयगल्लसूत्रि को लिखा है। प्रथम लेख की तरह ही यह भी पाणिनीय के मन्त्रासन्धि, अक्षमन्धि और हल्मन्धि के माय श्लेषपालकार युक्त चार विश्रामों में विभक्त है। चारों विश्रामों की पद्यमस्या निम्न है — ११, २२, १५, १३। विजयरत्नमूरि म० १७३२ में आचार्य बने हैं अतः यह स्पष्ट है कि इसकी रचना १७३२ के पश्चात् हुई है।

इन दोनों विजयपितिलेखों को देखने में स्पष्ट है कि मेघविजयजी ने दोनों पत्र एक ही साथ लिखे हैं और एक साथ ही प्रेषित भी किये हैं, एक पत्र गणनायक के नाम से और दूसरा पत्र युवराजाचार्य विजयरत्नमूरि के नाम से।

इस लेख की भी एक मात्र प्रति आण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना में न० २६६, ए १८६२-६३ पर है। इसी की प्रतिलिपि राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान जोधपुर में है। यह भी अभी तक अप्रकाशित है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

आदि—स्वस्तिश्रये वररुचिर्जगतोऽपि शिक्षा-शाम्ने पटुर्जयति पाणिनिमूल शास्ता ।
योगे पतञ्जलिहिताय क्षतोपदेशम्यक्षूपदार्थविधिसाधनकृज्जयाय ॥१॥

अन्त—वपुस्तप स्यान्मिवाद्यमोऽनुस्वागम्यन् सत्यगिग गुरुणाम् ।
मनो मनोभू विजयात्पवित्र, चित्र तदस्यत्र जनानुरागम् ॥१२॥

एव यदीयो जगतोऽपि लक्ष्म्यो, जागन्ति निर्देशमणिर्भहिम्ना ।
तै सूरिरत्नविगलत्पत्रं (?)—त्रय प्रणाम स्वगिगोम्त्रिषायम् ॥१३॥

इति श्रीपाणिनीयद्विचाश्रये विजयपितिलेखे हल्मन्विश्लेषविशेषपालकाररुचतुर्थविश्राम ॥

१२ विजयपिका—मेघविजयजी ने यह विजयपिका तत्कालीन गणनायक श्री विजयदेवमूरि को लिखी है। विजयदेवमूरि का म० १७१३ में स्वर्गवाम हो गया था, अतः यह निश्चित है कि इस विजयपिका की रचना स० १७१३ के पूर्व ही हुई है। पद्यमस्या १२५ है। यह विजयपिका 'विजयपित्रेक्षमग्रह प्रथम भाग' में प्रकाशित है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

- १ यद् ह्रस्वदीर्घादिकृते स्वरणोपदेशित कुकुटवाव्दम्पम् ।
तदीश्वर कुकुटवाव्दपूर्वो यन्नास्मि तस्मिन्नगरे वरेण्ये ॥२२॥ (द्वितीय विश्राम)
- २ इत्याद्यतो कृत्यविधौ प्रवीण, सर्वोऽपि लोक समभूतदानीम् ।
निर्विघ्नताया युवराजसूरि, स्मृत्याऽपि हेतु शुभवल्लिखे ॥१५॥ (तृतीय विश्राम)





स्वस्ति श्रीगदमन्दमोदविनमद्देवेन्द्रमौलिस्फुरन्,
भागल्यागयवाकुराकरपरिग्लासाऽप्रयागादाया ।
यस्य श्रीजगदीश्वरस्य चरणाम्भोजमचिह्नच्छलात्,
तस्यौ पीनतनून्नुनयुग्मभाग् गोकर्णजस्तर्णक ॥१॥

×

×

×

तत्र श्रीमत्सारसिरसिकैरास्तिकै स्वेतपक्षै,
पूर्णं पूज्यप्रमजलरुहेर्नातिपद्माकर्त्तवे ।
सेवाप्रौढैर्मनसि हसित यर्मणा नर्मवाद,
कृत्वा तत्त्वाश्रयणविधये प्रेयत्येष मेघ ॥२८॥

×

×

×

पश्चाद् गुरोर्हृदिसुधाप्रवाहैराप्लाव्यमान दलमेव देयम् ।
स्मर्यश्च कार्येषु जिनायनानामे (?), भुजिष्यमुख्योऽस्त्विति मगलश्री ॥१२५॥

१३ गुरुविज्ञप्तिरेखरूप चित्रकोशकाव्य—मेघविजयजी ने सादही से यह लेख श्रीपुरस्थित तत्कालीन गण-
नायक श्री विजयप्रभसूरि को लिखा है। इनमें तीन अधिकार हैं। प्रथम अधिकार प्राप्त नहीं है और तृतीय अधिकार भी
अपूर्ण रूप में प्राप्त है। यह लेख चित्रबन्ध काव्यो में लिखा गया है। सिंहासन, श्रीवत्स, भक्त्ययुगल, स्वस्तिक, वीजपूरक
नन्दावर्त, भद्रासन, शरावसम्पुट, दर्पण, गोमूत्रिका कमल, अष्टारचक, नागसगम, मालती, सूर्यमुखी पुष्प, चतुर्दलदेवबुसुम
आदि चित्र एवं प्रश्नोत्तरजाति दिलिप्त काव्यो से यह लेख गुम्फित है। द्वितीय अधिकार में ४७ पद्य हैं और तृतीयाधिकार
के १ पद्य प्राप्त हैं। इसकी एकमात्र प्रति श्रीअगरचन्द्रजी नाहटा, बीकानेर के सग्रह में है। इसका आद्यन्त इस प्रकार
है —

आदि—यत्र चित्रभरचित्रिचैत्य-श्रेणिरुन्नततरा मनुजानाम् ।
नृत्यगुञ्जदुर्गमञ्जुमृदगनिस्वनैर्धनमिहाह्वयतीत्य ॥

अन्त—शिवागजो लब्धरजोगवासि, शुभाशय दास्तशय समासु ।
बभार शान्त श्रुतसारभाव, सदानमासन्नसमा न दास ॥६॥

१४ विज्ञप्तिपत्रम्—मेघविजयजी ने नाडुलाई से यह पत्र वर्गवटी (वगडी) नगर में विराजमान गणाधिप
श्री विजयप्रभसूरि को लिखा है। पद्यसंख्या १०१ है। प्रारम्भ में पद्य १ से २२ तक युगादिनाथ का वर्णन, पद्य २३-४७
तक वगडी का वर्णन, पद्य ४८ से ७६ तक नाडुलाई का चातुर्मासिक धार्मिक कृत्यों का समाचार है और अन्त में १ से २२
तक गच्छाधिप विजयप्रभसूरि का वर्णन है। इसकी एकमात्र प्रति राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर में ग्र० न०
२०४१५ है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है

स्वस्तिश्रियामाश्रयणीयभूति, सुरद्रवन्निमितकामभूति ।
स्फूर्तिर्यदीया महसस्त्रिलोक्या, सर्वाऽपि निर्वापितशशुकीति ॥२॥

×

×

×

तत्रामिरामप्रभुपादरेणो, पावित्र्यत पञ्चवटीकृत्यायाम् ।
स्फुटीभवेद् देवनटीस्तुताया, पुर्या पर वर्गवटीतिनाम्न्यायाम् ॥४७॥

करोति विजयिष्याममय, मेघादिसद्भाद् विजयन्त्रिसायम् ॥५८॥
 येपामिद विजयते वरपाणिपद्म-माहात्म्यमीहितममृदिकर जनानाम् ।
 तैर्विष्वपूज्यचरणैर्गन्धवारणीया, स्वीयानु प्रणमनप्रकृतिस्त्रिनायम् ॥१०१॥

१५. विजयिष्याममय—मेघविजयजी ने यह पत्र उदयपुर से रामपुर में विराजमान श्रीविजयप्रभसूरि को लिखा है। पद्यमह्या १६,३८ और ३९ अर्थात् ६० पद्य हैं। इसमें रामपुर का वर्णन, उदयपुर का वर्णन, नमाचार एवं आचार्य विजयप्रभ के कीर्ति-शौर्य का वर्णन है। अंतिम अंग अपूर्ण है। इसकी मात्रा प्रति रा प्रा० शाखा कार्यालय बीकानेर, मोतीचंद खजांची मद्रह 'अ' २८४ पर है जिसकी पत्रसंख्या ४-६ है और लेखन १८वीं शती है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

जयनि जगनि सीमा यस्य रामस्य नीते,
 नततविजयि राज्य लब्धवर्णेन वर्ण्यम् ।
 पुरमिदमिदमीयाख्याविशेषात्प्रतीत
 गुणगणगणनाया तस्य क शीतक स्यात् ॥१॥
 मनमि परिनिषाय स्वीयविजयिमेता
 रचयनि शुचिवृत्या मेघनामा भुजिष्य ॥१६॥
 तन्नातपादै प्रमरन्प्रमादैर्यगोमिरालिप्तिहिमाधुपादै ।
 नत्यन्त्रिसाय गिनुना क्रियन्ते, मा माननाध्यक्ष ...॥३६॥

१६ विजयिष्याममय—यह पत्र भी मेघविजयजी ने उज्जैन में मेदिनीपुर (मेढता) में स्थित आचार्य श्री को लिखा है। यह पत्र अपूर्ण है, पद्य म० ३१,३२,४ कुल ६७ है। हरिणी और वनस्ततिलका छन्द में गुम्फित है। इसकी एक मात्र प्रति रा० प्रा० वि० प्र० शाखा कार्यालय बीकानेर, खजांची म० 'अ' २८४ पर है जिसकी पत्र म० ४-६ है और लेखन १८वीं शती है, आद्यन्त इस प्रकार है —

जयनि नगं यन्मिदहंशिकेनन
 द्विविधतनुनृत्तापव्यापव्यपोहसचेतनम् ।
 अनुगुणगुणैर्मोदोवानात् कृतामूनचेतन,
 समहिमहिमच्छायामायाप्रमोदितकेतनम् ॥१॥
 यन्यामनेकमविवेकमहेन्त्यलोक-
 निर्मापिनाहंत महाभवनानि नूनम् ।
 उच्चै प्रमृत्वरमुधाकरदाकरेण,
 व्याघानघारि वग्धाम हन्ति कामम् ॥१॥
 गिष्यो भुजिष्य रुचिनन्ननुविदिष्य
 नाम्नाऽय मेघविजय किल त तनीनि ।
 विजयिष्याममय पल्लवन रतेन
 लेखान विरोजनविपल्लवन विधाय ॥८॥





१७ विज्ञप्तिपत्रम्—पत्र अपूण होने में यह अस्पष्ट है कि कवि ने यह पत्र कहा से कहा को और किमको लिखा है ? 'तपगणभृत पञ्चशास्त्रस्य पाणो' से अनुमान कर सकते हैं कि विजयमिहसूरि को यह पत्र लिखा हो। पद्य २८ और २९ है। इसमें पर्युपणा के वार्षिक कृत्यों के समाचार हैं। इसकी भी एकमात्र प्रति रा० प्रा० वि० प्र० ग्राह्य कार्यालय, बीकानेर, स्वजाची सग्रह 'श' २८४ पर है। पत्र सख्या ७-६ है। आद्यन्त निम्न है —

अथ गगनरमायाश्चित्रमायानुकांगी,
निजकङ्कनिकरेण ध्वान्तधारापहारी ।
समयरसिकयोगी भ्वान्तपद्मप्रचारी
धृततनुरिव बोध सूर्य आसीत्प्रकाशी ॥२॥
श्रीमान् सुरैर्यति विजयी लक्षणैः पञ्चशास्त्र-
श्चञ्चललक्ष्मी भरवितरणैर्नन्दित आद्वशास्त्र ।
सेव्य दाम्भद्विवुधनिवहैर्गवान्पारिजात,
प्रातर्भस्वानिव हृततमस्तेजसाऽपारिजात ॥२॥
वासीत्लासप्रकटकपटादुद्गिरन् पोष्यराग,
लक्ष्मीलीलाभवनविभया सूरिराजरय पाणि ।
अम्भोयोनेरपि च लभता सीरभेणोपमान,
दयामाभासा यदिह रमते भृगमालाक्षमाला ॥२॥

१४, १५, १६ सरयाक तीनो विज्ञप्तिपत्र अनुमानत स्वयं कवि द्वारा लिखित हैं, अक्षरों शब्दों और चरणों को स्थान-स्थान पर काट कर या हस्ताल फेरकर पुनः नव्य शब्द या चरण लिखे हैं।

व्याकरण

१८ चन्द्रप्रभाष्याकरण—जिस प्रकार पाणिनीय अष्टाध्यायी को भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी का रूप प्रदान किया है उसी प्रकार मेघदिग्गज ने अपने शिष्य भानुविजय के लिये हेमचन्द्राचार्यप्रणीत सिद्धहेमचन्द्रव्याकरण को कौमुदी का स्वरूप प्रदान किया है, इसीलिए इसे 'हेमकौमुदी' भी कहते हैं। इसकी रचना स० १७५७ ई. दीपमालिका के दिन आगरा में हुई है। इस ग्रन्थ का सशोधन सौभाग्यविजय और मेरुविजय ने किया है। इसका श्लोकपरिमाण आठ

- १ श्री मेघविजयनाम्नोपाध्यायोऽध्यायतत्पर परम ।
चन्द्रचन्द्रप्रभा चक्रे भानुदयद्विद्विद्विकरी ॥११॥
भट्टोजिनामा भवदीक्षितेन, सिद्धान्तयुक्ता वरकौमुदीया ।
श्रीसिद्धहेमानुगता व्यघ्रायि, सेवाधिया भानुविभोदयाय ॥१२॥
- २ विजयन्ते ते गुरव शैलनारयण्डु (१७५७) यत्सरे तेषाम् ।
श्रादेशाद देशपते स्थिति कृता राजधान्यन्त ॥७॥
- ३ चातुर्मास्यामस्या नाम्ना श्रीआगरा वराऽऽख्यायाम् ।
नानायोगैर्बर्चिते रक्षिता चन्द्रप्रभा सुधिया ॥८॥
- ४ हेमचन्द्रसुगुरो विनयस्य सिद्धे, शास्त्रार्णवोऽलभत पूर्णदशा रसेन ।
दीपोत्सवस्य दिवसे कुशलेन योऽसी, सौभाग्य-मेरुविजयादिभिरीक्ष्यमाण ॥१५॥

किया है। मूल ग्रन्थ के कुल २५ पद्य हैं जो प्राकृतभाषा में हैं और इस पर स्वयं ग्रन्थकार ने श्रुतभाषा में ४३००^१ श्लोक परिमाण की विशद-विवेचना पूर्ण टीका की रचना की है। ग्रन्थ में रचनासवत् का निर्देश नहीं है किन्तु विजयरत्नसूरि^२ के साम्राज्य का उल्लेख होने से इसकी रचना स० १७३० के पश्चात् ही हुई है। यह ग्रन्थ अष्टपददेव केदारीमन पेढी रतलाम से प्रकाशित हुआ है।

२३ धर्ममञ्जूषा—कवि ने उपाध्यायपद प्राप्ति^३ के पश्चात् इसकी रचना मेहता^४ में की है। इस ग्रन्थ में लेखक ने लुम्पक सम्प्रदाय के किसी अधिवारी के ५८ प्रश्नों के उत्तर अनेक शास्त्रों के आधार में दिये हैं। मुख्य ५८ प्रश्न हैं और १३ गीण प्रश्न हैं। ये प्रश्न किसने किये हैं या किन्हीं ने इन प्रश्नों का कोई ग्रन्थ बनाया है जिसे उत्तर में इसकी रचना हुई है, स्पष्ट नहीं है। ग्रन्थ प्रश्नोत्तररूप गद्य मङ्गल में है। भाषा सरल और युक्तिपूर्ण है। लेखक ने अन्त में लिखा है कि विशेष समाधान हानपिटृत हुण्डिका^५ में देयना चाहिये। हानपिटृत हुण्डिका ग्रन्थ अप्राप्त है। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है और इसकी प्रतियाँ बीकानेर दानसागर भंडार, चटोदा एवं आगरा के भंडारों में प्राप्त हैं।

ज्योतिष

२४ मेघमहोदय-वर्षप्रबोध—इस ग्रन्थ में रचना सवत् का निर्देश नहीं है किन्तु प्रशान्ति में गच्छनायन विजयप्रभसूरि और आचार्य विजयरत्नसूरि^६ का उल्लेख होने से यह निश्चित है कि इसकी रचना स० १७३२ के पश्चात् ही हुई है क्योंकि विजयरत्नसूरि को आचार्यपद स० १७३२ में प्राप्त हुआ था। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का सम्बन्ध और विषय स्थानागसूत्र^७ (जैनागम) से बतलाया है। प्राचीन एवं आर्वाचीन ग्रन्थ तथा भङ्गनी आदि लोकप्रचलित अनेक ग्रन्थों के आधार से इनकी रचना हुई है।^८ उद्धृत ग्रन्थों में मुख्य-मुख्य ग्रन्थ निम्न हैं—

१. चतु सहस्री श्लोकानां शतत्रयसमन्विता ।
प्रमाणमस्य ग्रन्थस्य निर्मितं तत्कृता स्वयम् ॥८॥
२. तत्पट्टसूपा महसातिपूपा, सुवर्णनर्मन्त्यविधानसूपा ।
विराजते श्रीविजयादिरत्न, प्रभु प्रभाध्यापितदेवरत्न ॥२१॥
तेषां राज्ये मुदाऽकारि, वाङ्मय युक्तिबोधनम् ।
मेघाद्विजयसत्तेन, वाचकेन तपस्विना ॥१२॥
३. प्राप्तोपाध्यायपदास्ते चक्रुर्धर्ममञ्जूषाम् ॥२॥
४. श्रीमेघपूर्वविजयाह्ववाचकोऽसौ, श्रीमेदिनीपुरवरे स्वदृश प्रमर्त्य ॥४॥
५. शेष श्रीहीरविजयसूरीऽरवच प्रबुद्धश्रीलुमाध्यापकिकश्रीमेघजीनामाचार्यसहचारयश्च^९ श्रीतपागच्छसामाचार्यगीकारक-
संद्धान्तिकमुख्यश्रीहानपिटृतहुण्डिकात् प्रतिपत्तव्यम् ।
६. श्रीमत्तपागणविभु प्रसारत्प्रभाव, प्रद्योतते विजयत प्रभनामसूरि ।
तत्पट्टपद्मतरणिविजयादिरत्न, स्वामी गणस्य महसा विजितद्युरत्न ॥६६॥
७. स्थानागसूत्रविण्ण्यीकृतवर्षबोध-ज्ञानाय यत्प्रकरणं विहितं वितत्य ।
भक्त्या व्यदोषि जिनदर्शनमेव तेन, लोक सुखी भवतु शाश्वतबोधलक्ष्म्या ॥६८॥
८. क्वचित्प्राञ्चवर्जितशयिरसात् श्लोककथनं,
क्वचिन्नव्यं श्रव्यं प्रकरणमभूदेतदखिलम् ।
सता प्रामाण्याय क्वचिदुचितं लोकोक्तिरुचितं,
जिनश्रद्धाभाजाभिमि चतुरराजा समुचितम् ॥१०१॥

१ अश्वकाण्ड, २ आर्गीय महिना, ३ गिन्धगानन्द, ४ चतुर्नासिदुर्ग, ५ जगन्मोहन, ६ जव्द्वीपप्रज्जन्मिन्मूत्र, ७ त्रिषिङ्गुलक, ८ त्रैलोक्यदीपक, ९ नग्गनिजयचर्चा, १० बालबोध ज्योतिष, ११ नहुनी, १२ भद्रवाहुमहिना, १३ भगवनीमूत्र, १४ रुद्रकृत मेघमाला, १५ ही-विजयमूर्ति कृत मेघमाला, १६ केवलीकीर्ति (दिगम्बर) कृत मेघमाला, १७ अ-नगन्धोद्य उपोष्याय मेघजी कृत मेघमाला, १८ रत्नमाला, १९ रामविनोद, २० वराहमहिना, २१ विवेकविधान, २२ नाग्यग्रह, २३ स्थानागमूत्र, २४ दुर्गादेव कृत पट्टिसवत्सर आदि ।

आश्चर्य है कि ही-विजयमूर्ति, अ-नगन्धोद्य मेघजी और केवल कीर्तिप्राप्त मेघमाला नामक तीनों ग्रन्थ आज अग्राप्त हैं ।

यह ग्रन्थ १३ अधिकार और २१ द्वारे में विभक्त है । देश, वान, देव, मवत्, शनिपञ्च वत्सर, अयन, मान पञ्च-दिन लिखना, अगस्ति वर्षगजादि जन्मलग्न अन्नप्रियुदादि कयन, गर्भकयन, तिथिफलकयन, सूर्याचार कयन, ग्रहणविमर्ग द्वान्चतुष्टय कयन और शत्रुन निरूपण नामक १३ अधिकार हैं ।

इस ग्रन्थ की महत्ता के सम्बन्ध में प० भावानदानजी जैन लिखते हैं —

‘जिस प्रतिदिन अनुशीलन किया जाय सो आले वर्ष में दुष्काल होगा या सुकाल, वर्षा बर और किन्ते दिन बरमेगी, याग्य नौना चादी आदि धानु, वषाण, मून और श्याणक वस्तु उन मन्त्रा तेजी होना या मदी, अच्छी तरह जान सके ह । नागि यही है कि भावी वर्ष का शुभाशुभ जानने के लिये कोई भी विषय इसमें नहीं छोड़ा है ।’ (भूमिना पृ० ८)

प० भगवानदानजी जैन कृत हिन्दी अनुवाद के नाथ यह ग्रन्थ प्रकाशित है ।

२५ जन्मपत्रीपद्धति—मुनि जिनप्रियरजी की मूचनानुसार इसकी एक प्रति मुनि बालिमागरजी के पास है । अनुसन्धन-नागरजी कीराने में भी ‘मेषीपद्धति’ की एक प्रति है पर उनके कर्ता का नाम नहीं है ।

२६ हस्तमजीवन—इसका दूसरा नाम निदृजान भी है । मून में ५२५ पद्य हैं । इस ग्रन्थ पर स्वयं ग्रन्थकार ने ‘तामुद्रिक नहीं’ नामक ५००० श्लोक परिमाण चिन्तन टीका की रचना की है—१ दर्शनाधिकार, २ स्पष्टनाधिकार, ३ रेखाविमर्शनाधिकार और ४ विशेषाधिकार । यह ग्रन्थ हस्तरेखा के सम्बन्ध में भारतीय तामुद्रिक शास्त्र का प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । टीका सहित यह ग्रन्थ मुनि मोहनमानजी जैन ग्रन्थमाला इन्दौर में प्रकाशित है ।

रमल

२७ रमलशास्त्र—यह ग्रन्थ अग्राप्त है । इनके तबध में प० अम्बानाल प्रेमचन्द शाह ने दिग्विजय-महाशाय की प्रस्तावना (पृ० ८) में लिखा है कि ‘मेषमहोदय’ों तेनी उल्लेख आवे छे । आ ग्रन्थ पण पोताना शिष्य मेरुविजय भाटे तन्वो हनो, लिन्नु मेघमहोदय का स्थान नेम्बक ने नहीं दिया है । जहा तक मेरा ख्याल है मेघमहोदय में इसका उल्लेख नहीं है ।

१. देखें पृ० २६२, ३४७

२. देखें, पृ० २६३, ३१२

३. देखें, पृ० १०८

४. त्रयोदशोदधिकारो ब्रूच्छास्यैस्मिन् शत्रुनाशये ।

तदेकविंशतिद्विर्प्रत्यो लभत पूर्णताम् ॥६७॥



२८ उदयदीपिका—इसमें प्रश्न निरालने की पद्धति का विस्तृत वर्णन है। स० १७१२ में श्रावक मदनमिह' के निम्ने प्रश्नोत्तररूप में ग्रन्थकार ने इसकी रचना की है। यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है।

२९ प्रश्नसुन्दरी—इस ग्रन्थ में प्रश्न-विधि का मक्षेप पद्धति में वर्णन है। इसकी रचना भी श्रीविजयप्रभसूरि के शासनकाल में हुई है। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। दिग्विजय महाकाव्य की प्रस्तावना (पृ० ८) के अनुसार इसकी एक प्रति आचार्य क्षमाभट्टसूरि के पास है।

३० बीसा यत्र कल्प—यन्त्र-शास्त्र इसे अर्जुनपताका और विजययन्त्र भी कहते हैं। इस ग्रन्थ की रचना विजयप्रभसूरि के साम्राज्य में हुई है। इस ग्रन्थ में १५ का यन्त्र, १६-१७ का यन्त्र, १९ का यन्त्र, २० का यन्त्र, पञ्चाकार बीसा यत्र, अर्हें एवं २० विहरमान के आधार में २० का यन्त्र, विजय यत्र आदि की रचना विभिन्न रूप में क्रम प्राण होनी है, इसका विस्तार के साथ वर्णन किया है। अन्त में पञ्चावली स्तोत्रान्तर्गत 'भूविष्ण्व' पत्र की व्याख्या करने हुये पञ्चावली बीसा यत्र का विस्तार में आलेखन किया है।

बीसा यत्र का विचार करते हुये लिया है कि बाहुवली' आदि मुनिगण इन बीसा यत्र की गतिभेद से स्वीकारते हैं। तो ये बाहुवली मुनि कौन हैं और उनका यन्त्र सम्बन्धी कौन-सा ग्रन्थ है? यह शोधकर्त्ताओं के निम्ने विचारणीय है।

यन्त्र ग्रन्थ अनुवाद सहित महावीर ग्रन्थमाला धूलिया से प्रकाशित है।

अध्यात्म

३१ आर्हद्गीता—भगवद्गीता के अनुकरण पर ३६ अध्यायों में ग्रन्थकार ने इसकी रचना की है। भगवान् कृष्ण एवं अर्जुन की तरह उसमें गणधर मोतमग्वासी द्वारा प्रश्न और श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उत्तर शैली में सरल शब्द रचना द्वारा जैन-दर्शन का सुन्दर दिग्दर्शन है। प्रत्येक अध्याय में २१ पद्य हैं। इसका दूसरा नाम तत्त्वगीता है। रचना सत्य का निर्देश नहीं है। यह ग्रन्थ महावीर ग्रन्थमाला, धूलिया में प्रकाशित है।

३२ मातृका प्रसाद—मातृका वर्ण 'ओम् नमः शिब्य' वर्णान्ताय पर विवेचन करने हुये, 'ओम्' के

१ मत्पार्हन्त पादार्जभास्वद्वेष शरोदधरस्थितम् ।

श्रीश्राद्धमदनात्सिंहे धर्मलाभ प्रतन्यते ॥१॥

(उदयदीपिका मंगलाचरण)

२. अथ केचिद्विद यन्त्र विज्ञतेर्गतिभेदतः ।

प्राहुः श्रीश्राद्धवत्याद्या मुनयो नयकोविदा ॥ (पृ० ३४)

३. इतोऽधिकं किञ्चन मातृकाय, व्याख्यानभावेति मया वित्तय ।

श्रीतत्त्वगीताहितसत्प्रतीताऽध्यायेषु सद्ध्येयधियोत्तरेषु ॥ (मातृकाप्रसाद)

—(देवानन्दमहाकाव्य-प्रस्तावना पृ० ६ की टिप्पणी)

रहस्य का विस्फोट करने हेतु अन्त्यात्मदर्शन का प्रतिपादन किया है। म० १३८७ धर्मनगर में इसकी रचना हुई है। यह प्रति कदा प्राप्त है? इस सम्बन्ध में प० वेङ्कटदासजी ने देवानन्दमहाकाव्य की प्रस्तावना में कोई उल्लेख नहीं किया है।

३३ अष्टबोध—यह ग्रन्थ अष्टावधि अप्राप्त है। अन्त्यात्म प्रेमचन्द आहं, प० वेङ्कटदास जीवाज दोषी, प० जगन्नाथदास जैन आदि ने इसको मेघविजयजी की आध्यात्मिक रचना मानी है, पन्तु जिन आचार्य ने? यह स्पष्ट नहीं है। नम्र है अष्टहोता की पूर्वपीठिका में श्रद्धा का निरूपण होने में इसी आचार्य पर यह पाम्या चढ़ पड़ी हो।

ऐतिहासिक

३४ सप्तगण्डपदावर्गोत्पत्त्यनुसन्धान—इसका नाम में ही स्पष्ट है कि मेघविजयजी ने पूर्व प्रणीत सप्तगण्ड पदावर्गों जिनमें जगद्गुरु की विष्णुमूर्ति का वर्णन था, उसकी पूर्ति के रूप में मेघविजयजी ने इसको रचना की है। जिनमें मृत का पत्र प्राप्त भाग में ४ श्लो इसकी व्याख्या मन्थन पत्र में है। आचार्य विजयनेनमणि, विष्णुदेवमूर्ति, विजयमिहमूर्ति आदि विद्वत्पुरुषों का म० १६३० में १.०३ तक अनुक्रम में ऐतिहासिक गुणधर्मों का वर्णन है। यह विविध महाशक्त के परिशिष्ट में प्रकाशित है।

टीका-ग्रन्थ

३५. विजयदेवमहात्म्यप्रकरण—अन्त्यात्मकीय ज्ञानविमोक्षाध्याय के निम्न श्रीवल्लभोपाध्याय ने स० १६८८ के आसपास सप्तगण्डकीय विजयदेवमूर्ति के यशोवर्णन का इस महाकाव्य की रचना की है। इस काव्य पर विवरण अर्थात् दुर्लभ छन्द का चयन का मेघविजयजी ने स्पष्टीकरण किया है। रचना मन्थन का निर्देश नहीं है किन्तु १८०६ की त्रिविध इत्यतिशय प्रति प्राप्त होने में यह स्पष्ट है कि इसकी रचना टुपी के आस-पास हुई होगी। यह ग्रन्थ जैन नाट्य संशोधन समिति की तर्फ से प्रकाशित हो चुका है।

३६ वृत्तमौलिक दुर्गमबोध—छन्द-ग्रन्थ, भट्ट चन्द्रसेन प्रणीत वृत्तमौलिक नामक छन्दोग्रन्थ के प्रथम खण्ड के प्रथम गाना प्रकरण के पत्र ११ में ८६ तक अर्थात् ३६ पत्रों की टीका है। इन ३६ पत्रों में प्रस्ताव का निरूपण हुआ है। प्रस्ताव देने दुर्गम विषय को मेघविजयजी ने गेवर एवं मत्त बना दिया है। इस टीका की रचना १७५४ में 'मानुविजय' ने पटनायें हुई है। इसकी सम्मान प्रति स्वयं मेघविजयजी द्वारा त्रिविध में मगह में है। यह टीका मेरे द्वारा सहायित 'वृत्तमौलिक' में राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान जोयपुर द्वारा प्रकाशित हो चुकी है।

- १ ओं नम मिद्धिम्यादेवर्णाम्पायस्य वर्णनम्
चञ्च श्रीमेघविजययोपाध्यायो धर्मसाधनम् ॥
मवत्परेऽजवाध्यायवभूमिने धौप सज्जवले ।
श्रीधर्मनगरे ग्रन्थ पूर्णश्रियमशिश्रिय ॥ (मानुकाप्रसाद-प्रशस्ति)
- २ दिविजय महाकाव्य-प्रस्तावना
- ३ देवानन्दमहाकाव्य प्रस्तावना
- ४ मेघमहोदय-वर्ण प्रबोध-प्रस्तावना
- ५ अष्टहोता पूर्वपीठिका पद्य ७-१४
- ६ श्रीवल्लभोपाध्याय के परिचय के लिये देखें, 'अरिजनस्तव'
- ७ सन्निध्यादेवभूवर्षे श्रीद्विरेपाजनवन्धिये ।
भान्वादिजययाध्यायहेतुन मिद्धिमाश्रिता ॥ (टीका प्रशस्ति)





३७ भक्तामरस्तोत्र टीका—आचार्य मानतुंगसूरिप्रणीत भक्तामरस्तोत्र पर यह टीका है। इस टीका की प्रति मेरे देखने में नहीं आई है।

३८ पञ्चतीर्थस्तुति सटीक—इसका उल्लेख दिग्विजयमहाकाव्य की प्रस्तावना में अबालाल प्रेमचंद शाह ने किया है। स्तोत्र के प्रत्येक पद्य के ५ अर्थ हैं जिनमें ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर की स्तुति की गई है और इसकी टीका की भी रचना स्वयं ने ही की है।

३९. देवा प्रभो स्तवावधूरि—जयानन्दसूरिरचित स्तोत्र पर यह अवधूरि है। इसकी रचना स० १७२४ में हुई है। इसकी प्रति बड़वाण के ज्ञानभंडार में प्राप्त हैं।

स्तोत्र

४० चतुर्विंशतिजिनस्तव —कवि ने एक-एक पद्य के द्वारा चौबीस तीर्थंकरों की क्रमशः स्तुति की है। रचना यमकालकारप्रधान है। इसकी एक मात्र प्रति मेरे संग्रह में है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

देवाधिदेवाधिकभाग्यलक्ष्मी, नाभेयनाभेयरुचस्तनो स्ते ।
भावेन भावे न विभावयेत्, केनाधिकेनाधिगन्तुं सतानो ॥१॥

अन्त —एव श्रीजिननायका स्तुतिपथ नीताश्चतुर्विंशति
श्रीनाभेयमुखा सुखाय सुमुखा देवायदेवान्तिमा ।

सूरिश्रीविजयप्रभप्रभुपदप्राप्तोदये सन्त्वमी,
मेघाख्ये सकृपा कृपादिविजयप्राज्ञेन्द्रगिष्ये मयि ॥२॥

४१ आदिजिनस्तोत्र—यह स्तोत्र अपूर्ण रूप में ही राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर अ० न० २०४१५ में प्राप्त हैं। आद्यन्त इस प्रकार है —

स्वस्तिश्रियाभ प्रतिरूपरूपा, सर्वेऽपि देवासुरमर्त्यभूपा ।
तासां विवाहस्थितिहेतवेय, प्रादुश्चकाराऽऽदिजिन विधाता ॥१॥
नय किमेन हृदये निधाय, मदोद्धुर दुर्द्धरतेजस तम् ।
आद्य प्रभुर्वाहुर्बलि निनाय, पद पद स्वेन सम समगलम् ॥२॥

४२ रावणपाशर्वनाथ स्तोत्र—शार्दूलविक्रीडित छन्द में ६ पद्यों में रावणपुर स्थित पार्श्वनाथ की स्तवना है। रावणपुर-ममवत अलवर का ही दूसरा नाम है क्योंकि कवि ने इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के निकट स्वीकार किया है —

जाने तज्जनकात्मजाव्यतिकर प्रोद्भूयमानानया—
न्मत्वात्त्व ननु भगमेव भगवन्मैतस्थले तस्थिवान् ।
सेवार्य भुवि रावणाख्यनगर तत्तेन सवासित
पार्श्वे चेन्द्रपथ सुलेन विहित तेनेन्द्रजिच्छर्मणा ॥५॥

यह स्तोत्र 'महाचमत्कारिक वीशायन्त्रकल्प' नामक पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है।

गुर्जर भाषा की कृतियाँ

४३ कुमनि निराकरण हण्डी स्तवन—७६ गाथा के इस स्तवन में दिगम्बर नमाज की मान्यताओं का उल्लेख है। श्रीमोहनलाल २० देगाट लिपिजैन गुर्जर कवियों भाग ३ के अनुसार इसकी प्रति महोपाध्याय रामलालजी माह बीकानेर में है।

४४ पादवंशमाला स्तवन—दीव में इसकी रचना हुई है। पद्य मन्त्रा ३७ है। म० १७०१ की लिखित प्रति में प्राचीन तीर्थंकरा भाग १ में प्रकाशित हुई है अतः म० १७०१ में इसकी रचना हुई है।

४५ विजयदेवसूरि निर्माण स्वाध्याय—इसमें कवि ने विजयदेवसूरि का मक्षिण जीवन-चरित्र प्रभाव आदि का उल्लेख करने हुए म० १७१० आपाट मुद्रि १० को निर्वाण का विस्तार में आलेखन किया है। इसमें ४ ढालें हैं, दोहो नहिन द्युन गाराएँ ४० हैं। जैन ऐतिहासिक गणमाना भाग २ में पृ १००-१०७ में प्रकाशित हो चुका है।

४६ विजयरत्नसूरि स्वाध्याय—इस स्वाध्याय में तत्कालीन गणनायक विजयरत्नसूरि के गुणों का कीर्तन किया गया है। गाथा ८० है। ऐतिहासिक मन्त्रावली भाग १ पृ० २१-२२ पर मुद्रित हो चुकी है।

४७ कृपाविजयनिर्वाण रास—इसका उल्लेख अम्बानाथ प्रेमचन्द शाह ने दिग्विजय महाकाव्य की प्रस्तावना में किया है। मन्त्रावली इसमें कवि ने अपने गुरु का जीवन-दिग्दर्शन करने हुए निर्वाण का वर्णन किया होगा।

४८-४९-५० जैनधर्मदीपक स्वाध्याय, ५१ जैन धामनदीपक स्वाध्याय, ५० आहारगवेषणा स्वाध्याय, ५१ चाँदीन जिनस्तवन, तथा ५२ दशमस्तवन आदि के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।

५३ मगनी पार्वनायस्तवन—इस स्तवन की ५ गाथाएँ हैं। इसकी प्रति मेरे मरहू में है।

५० बेचरदान जीवतज दोशी ने देवानन्दमहाराय की प्रस्तावना पृ० ६ में लिखा है कि ग्रन्थकार का एक स्वहस्तलिखित पत्र भी विद्यमान है और वह पत्र ग्रन्थकार ने म० १७५६ भाद्र मुद्रि २ को खालियर से अपने शिष्य मुनि मुन्द-विजय, जो निहानागढ़ (दिल्ली) नगर में चानुमान थे उन पर लिखा हुआ है। यह पत्र गुर्जर भाषा में है।

शोध करने पर कवि प्रणीत और भी अनेकों ग्रन्थ तथा विज्ञप्तिपत्र प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि कवि प्रतिवर्ष चानुमान के मध्य में तत्कालीन गणनायक को प्रार्थना एवं प्रार्थना मन्त्रन भाषा में कवित्व तथा वैदग्ध्यपूर्ण विज्ञप्ति-पत्र प्रेषित किया जाता था। वर्तमान में केवल ७-८ ही पत्र प्राप्त हुए हैं तथा श्रीअण्चन्द जी नाहटा की सूचनानुसार आत्मप्रभात मुनिगज श्रीगुणविजयजी को कुछ नये विज्ञप्ति-पत्र और प्राप्त हुए हैं।

ग्रन्थों के मक्षिण परिचय में स्पष्ट है कि महोपाध्याय मेखविजयजी का प्राह्वन, मन्त्रन और मरु गुर्जर भाषा पर तथा वाद्यनय के प्रत्येक क्षेत्र पर पूर्ण अधिराज था। कवि की प्रतिभा तथा कवि के प्रत्येक ग्रन्थ पर कलापक्ष और भावपक्ष की दृष्टि में विचार-विमर्श एवं मूल्यांकन किया जाय तो स्वतः ग्रन्थ तैयार हो सकता है जो कि इस निबन्ध के निम्ने उपयुक्त नहीं होगा अतः इस निबन्ध को मन्त्र १७६१ में अजयमाण गणि प्रणीत मेखविजयोपाध्यायमुति द्वारा पुष्पाञ्जली देना द्वारा पूर्ण करना है—

मेखविजय उवच्छाव जिमोमणि पूरण पुण्य निवान के भाग,
ग्यान के पूर्णें दूर जियो मरु लीकन के मति को अधियारा।





जा दिन लागि उदुग्गण मे रवि चद अनारत तेज है मारा,
ता दिन लो प्रतपो मुनिराज कहे कवि आज भवोदधि तारा ॥१॥

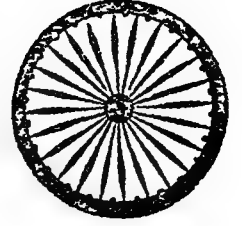
भानु भयो जिन के तप-तेज तै मद उद्योत सदा जगती मे ।
दूर गयो मरुदेश तैं नीकरि मूढपणो थरकी घरती मे ।
जा दिन ते फुनि मुह कयों इत कौ तुम सुन्दर पूरव ही मे,
ता दिनतैं दुख रोरव देश के दूर गये तजि के किन ही मैं ॥२॥

नाम जपै जिनके सुख होय बने अति नीको जगति मे मारे,
भूरितरो सखरो इतमाम अमाम बधे सुविधि दिन मारे ।
बानी मैं जाकै मिली मव आय सुघाई सुघाई तजी मुर मारे ।
मेघविजय उवभाय जयो तुम जा दिन लो दवि लोक मे तारे ॥३॥

धर्मशर्माभ्युदय-रचयिता महाकवि हरिचन्द्र

डा० स्वप्ना बनर्जी

एम० ए०, डी० फिल० इलाहाबाद विश्वविद्यालय



महाकवि हरिचन्द्र के जीवन-वृत्त के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। संस्कृत साहित्य के परिशीलन से पता चलता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक हरिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान् विख्यात हुए हैं। अष्टाङ्गसंग्रह की व्याख्या में 'इन्दु' ने एक वैद्य हरिचन्द्र का उल्लेख किया है।^१ विश्वप्रकाश कौश के रचयिता माहेश्वर ने साहसङ्ग नृपति के राजवैद्य का नाम हरिचन्द्र बतलाया है जिन्होंने चरक-संहिता पर एक अतिप्रसिद्ध टीका लिखी थी, जो अब उपलब्ध नहीं है।^२ 'माधवनिदान' के 'मधुकोप' व्याख्या में कई स्थलों पर हरिचन्द्र का नमोल्लेख आया है। माधवकर ने चरक, सुश्रुत, वाग्भटादि अन्यान्य प्रसिद्ध वैद्यों के नाम के साथ ही 'भट्टार-हरिचन्द्र' अथवा केवल 'हरिचन्द्र' का इतनी अधिक बार प्रयोग किया है कि ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त वैद्य हरिचन्द्र की चरक पर लिखी गई टीका को पर्याप्त प्रसिद्धि मिली थी। इसी कारण से बाद के टीकाकारों ने 'हरिचन्द्रा-दिमिव्यान्त्यान्तर पाठान्तर पठन्ति' कहकर उनको उद्धृत भी किया है।^३

चतुर्माषी के श्यामिलक विरचिन 'पादताडितक' नामक भाण में एक हरिचन्द्र भिषक् का नाम आया है।^४ पादताडितक ईसा की प्रथम शताब्दी में रचा गया है—यह सिद्ध है।^५ यहाँ हरिचन्द्र के साथ भिषक् विशेषण का

१ अष्टाङ्गसंग्रह (इन्दुटीका) कल्पस्थान, छटा अध्याय ।

२ साहसङ्गनृपनेरनवैद्यविद्यातरंगमुपपद्यमेव विभ्रत ।

यश्चन्द्रचारुचारितो हरिचन्द्रनामा स्वध्याप्यया चरकतन्त्रमलचकार ॥

—विश्वप्रकाश, कान्तवर्ग—५ ।

३ (क) अत्र केचित् हरिचन्द्रा दिमिव्यान्त्यान्तर पाठान्तर पठन्ति ।

—माधवकर-माधवनिदान, पृ० २२, प० १० ।

(ख) यदाह चरक — "सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वेदग्ध्वा तान् सुरान् प्रभु ।

वाण श्रोत्राग्नि सन्तप्तमसृत्सन्नाशनम् ॥" इति

एषा च ज्वरोत्पत्तिश्च चरकचिकित्से सविशेषा श्रोतव्या इति भट्टारहरिचन्द्र । वही, पृ० २५, प० १५ ।

४ तत्र भवान् कामचारो भानु लोमघोगुप्त अमात्यो, विष्णुदास शैव्य आर्यरक्षितो दाशरथी रुद्रवर्मा स्कन्द-
स्वामी हरिचन्द्रभिषक् आभीरक

आदयोऽयममवसन्निपात्या । चतुर्माषी, पादताडितक, पृ० १५६ ।

५ कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० २७० ।

प्रयोग किया हुआ है। कोप के अनुसार भिषक् का अर्थ वैद्य होता है।^१ ऐसा प्रतीत होता है कि सभी हरिचन्द्र नाम एक ही वैद्य हरिचन्द्र के हैं और ये ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए हैं। ये विद्वन्मूर्खन्य जैन रहे अथवा अजैन इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता।

श्री एस० के० दीक्षित ने वैद्य हरिचन्द्र और प्रयाग स्तम्भ के हरिपेण में अभेद स्थापित किया है।^२ इन्होंने कतिपय पदों को उद्धृत करके यह कहा है कि दो बार उत्पन्न हुए शबरस्वामी के छ पुत्र हुए। ब्राह्मणपत्नी से ज्योतिर्विद बराहमिहिर, क्षत्रिय पत्नी से राजा विक्रम और भर्तृहरि, वैश्य पत्नी से वैद्य हरिचन्द्र और शकु तथा क्षूद्र पत्नी से अमर उत्पन्न हुए।^३ साथ ही दीक्षित का यह भी विश्वास है कि इन पदों से किसी ऐतिहासिक तत्त्व का तो पता नहीं चलता केवल हरिचन्द्र के साथ प्रयुक्त 'वैद्यतिलक' शब्द ही ध्यान आकर्षित करता है। प्रयाग स्तम्भ के लेखक हरिपेण के साथ 'खाद्यटपाकिकस्य' विशेषण प्रयुक्त है।^४ व्यूलर ने खाद्यटपाकिक का अर्थ 'राजकीय भोजनालय का निरीक्षक' किया है। किन्तु दीक्षितजी का कहना है कि 'खाद्यटपाकिक' के साथ प्रयुक्त अन्य विशेषणों का अर्थ देखते हुए इसका यह अर्थ निरर्थक सिद्ध होता है। अतः उन्होंने इसका अर्थ 'वैद्यतिलक' अथवा 'धन्वन्तरि' माना है और इसे प्रकार वैद्य हरिचन्द्र और प्रयाग स्तम्भ के लेखक हरिपेण को आपने एक सिद्ध करने की चेष्टा की है।

वस्तुतः प्रयोग का यह स्तम्भ-लेख समुद्रगुप्त की विजयों का वर्णन करता है। इस अभिलेख में इसके लिखे जाने का समय यद्यपि नहीं दिया है तथापि यह समुद्रगुप्त की विजयों का वर्णन करता है अतः यह अवश्य ही उनके राज्य काल के अन्तिमांश में लिखा गया होगा। समुद्रगुप्त का राज्य चौथी शताब्दी के मध्य में था अतः यह शिलालेख उसी शताब्दी के अन्तिम पाद में लिखा गया होगा। इस प्रकार तो इसके लेखक हरिपेण का समय भी चौथी शताब्दी का अन्तिम पाद सिद्ध होता है। अब यदि श्री दीक्षितजी के (हरिपेण को वैद्य हरिचन्द्र मानना) मत को मान लिया जाय तो वैद्य हरिचन्द्र का समय भी चतुर्थ शताब्दी का अन्तिमांश ही मानना पड़ता है। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पादतादितक तथा वैद्यक ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि वैद्य हरिचन्द्र का समय ईसा की प्रथम शताब्दी है, अतः हरिपेण निश्चित रूप से कोई पृथक् ही व्यक्ति है, वैद्य हरिचन्द्र नहीं।

यहाँ एक मत और भी विचारणीय है—बाणभट्ट ने हर्षचरित में अपने पूर्ववर्ती कवियों की प्रशस्ति में एक भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है।^५ भट्टार विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि ये या तो स्वयं राजा रहे या किसी राजा के निकट सम्बन्धियों में से रहे। इतना निश्चित है कि ये बाण के पूर्ववर्ती कवियों में से रहे। इन्होंने 'मालती'

१ "भिषग्वैद्यो चिकित्सके।"—अमरकोष, २। ६। ५७

२ इण्डियन कल्चर, भाग ६, जुलाई १९३६, अप्रैल १९४०, पृ० २०८

३ "ब्राह्मण्यमभवद्बराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणी।

राजा भतहरिश्च विक्रमनृप क्षत्रात्मजायामभूत् ॥

वैश्याया हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शकु कृती।

क्षूद्रायाममर पडेव शबरस्वामीद्विजात्मज ॥"

—इण्डियन कल्चर भाग ६, पृ० २०६ में श्री एस० के० दीक्षित द्वारा उद्धृत।

४ एतच्च काव्यमेवमेव भट्टारकपादाना दासस्य समीपपरिसर्पणानुगोहोन्मीलितमते खाद्यटपाकिकस्य भट्टादण्डनायक-ध्रुवभूतिपुत्रस्य सन्निविष्टहिवकुमारामात्ममहादण्डनायकहरिपेणस्य सर्वभूतहितसुखायास्तु।"

—समुद्रगुप्तकालीन प्रयागस्तम्भलेख, कॉरपस इन्सक्रिप्शन्म् इण्डिकेरम्, भाग ३ जे० बी० प्लीट १

५ भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥ १। १३ हर्षचरित।

नाम की कोई प्रेम-कथा लिखी ऐसा श्री कृष्णमाचारी का मत है।^१ किन्तु प केदारनाथ शर्मा इनके लिखे गद्यग्रन्थ का नाम 'साहनाट्कचरित' बताते हैं।^२ ऐसा प्रतीत होता है कि प० केदारनाथजी साहनाट्क नृपति, राजवंध हरिचन्द्र और भट्टार हरिचन्द्र को एक मानते हैं और इसी आधार पर उन्होंने वाणोल्लिखित हरिचन्द्र के गद्यग्रन्थ का नाम साहनाट्कचरित' सोचा है। जो कुछ भी हो, भट्टार हरिचन्द्र का गद्य ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं। सम्भवतः वाण के समय में यह उपलब्ध रहा हो और वाण ने इसी के आधार पर कादम्बरी की रचना की हो। वाण का समय निश्चित है। ये हर्षवर्धन के समय में हुए और हर्षवर्धन ६३०-६४० के मध्य गद्दी पर बैठे। अतः वाण भी इसी समय में रहे होंगे। भट्टार हरिचन्द्र वाण से एक-दो गताब्दी पूर्व के अवश्य होंगे।

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा^३ तथा कर्पूरमञ्जरी^४ दोनों में हरिचन्द्र का उल्लेख किया है। दोनों में ही हरिचन्द्र को कवियों की श्रेणी में गिनाया गया है।

इसके पहले वाक्पतिराज ने 'गडडवहो' में भास, कालिदास और सुवन्धु के साथ हरिचन्द्र का उल्लेख किया है।^५ राजशेखर का समय आठवीं शताब्दी है। राजशेखर और वाक्पतिराज द्वारा उल्लिखित हरिचन्द्र एक ही हरिचन्द्र हैं।

श्री अमृतलालजी शान्शी ने वाण द्वारा उल्लिखित भट्टार हरिचन्द्र को और वेंध हरिचन्द्र को एक ही व्यक्ति माना है। दूसरी ओर राजशेखर द्वारा उल्लिखित काव्यमीमांसा तथा कर्पूरमञ्जरी के हरिचन्द्र को उन्होंने दो पृथक् व्यक्ति माना है।^६ शास्त्रीजी का यह मत कुछ चिन्त्य प्रतीत होता है। वेंध हरिचन्द्र वाण से पूर्ववर्ती रहे अर्थात् सम्भवतः उनसे एक शताब्दी पूर्व के रहे हों। ऐसी अवस्था में दोनों हरिचन्द्र भला एक कैसे हो सकते हैं? दूसरी आपत्ति यह है कि वेंध हरिचन्द्र और भट्टारक हरिचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं तो जितने स्थानों पर वेंध हरिचन्द्र का उल्लेख है उनमें से कहीं एक स्थान पर भी वेंध के साथ-साथ गद्यकार या कवि विशेषण प्रयुक्त होना चाहिए था। एक ही व्यक्ति यदि वेंध है, वेंधक पर टीका लिखता है और कवि भी है तो उस व्यक्ति का उल्लेख करते समय सर्वत्र उसके एक ही व्यक्तित्व का ग्रहण—कुछ उचित नहीं प्रतीत होता। वाण ने भी केवल गद्यकार हरिचन्द्र का नाम लिखा है, उसके साथ किसी विशेषण का प्रयोग नहीं किया है। अतः अवश्य ही वेंध हरिचन्द्र और भट्टार (गद्यकार) हरिचन्द्र पृथक्-पृथक् दो व्यक्ति रहे होंगे। दूसरी ओर काव्यमीमांसा तथा कर्पूरमञ्जरी के हरिचन्द्रों को दो पृथक् व्यक्ति मानना भी ठीक नहीं प्रतीत होता। दोनों ग्रन्थों में ही हरिचन्द्रों को कवि कहा गया है, यही नहीं उनकी गणना उच्च, स्थापित कवियों के मध्य की गई है।

१ कृष्णमाचारी—हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० १४६

२ "उनका लिखा गद्य ग्रन्थ भी प्रबन्धराज कहा गया है। यह गद्यकाव्य अभी तक उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि इसका नाम साहनाट्कचरित था।" प० केदारनाथ शर्मा—काव्यमीमांसा टीका, पृ० २७८

३ श्रूयते चोज्जयिन्या काव्यकारपरीक्षा ।

इह कालिदासमैठावशामरमूरमागवय ॥

हरिचन्द्र चन्द्रगुप्ती परीक्षितविह विशालायाम् ॥—काव्य मीमांसा, पृ० १४३ ।

४ उज्जयिना नाव कि न अण्ड, अम्हाण हरिचन्द्र—गदिअ दकोट्टिसाहालपुहुनन्दिचन्द्रदीण पि पुरदो सुकड ति। कर्पूरमञ्जरी, पृ० २१, काव्यमाना मिराज, १९०० ।

५ भानम्मि जनणमिन्ते कन्तीदेवे अजम्म गहुआरे ।

नौवन्धवे अन्नन्धम्मि हरिचन्द्रे अ आणन्दो ॥—गडडवहो, ८०० ।

६ महाकवि हरिचन्द्र (लेख,—प० अमृतलाल शास्त्री, जैन सन्देश (पत्रिका शोषाङ्क पृ० ७) ।



अतः काव्यमीमांसा तथा कर्पूरमञ्जरी दोनों के हरिचन्द्र अवश्य ही एक ही व्यक्ति रहे होंगे। वाक्पतिराज के उल्लेख में भी प्रतीत होता है कि ये हरिचन्द्र साहित्यकार थे। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने वाणोल्लिखित हरिचन्द्र की पहचान राजशेखरोल्लिखित हरिचन्द्र से करायी है।^१ उनका यह मत उचित प्रतीत होता है।

किन्तु संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध इन दो वैद्य और भट्टार हरिचन्द्रों को धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता हरिचन्द्र के साथ नहीं मिलाया जा सकता। कुछ विद्वानों का कहना है कि वाण ने गद्यकार हरिचन्द्र कहा है अतः ये उन हरिचन्द्र से पृथक् हैं जिन्होंने धर्मशर्माभ्युदय की रचना की है। किन्तु साहित्यकार हरिचन्द्र गद्यकार और कवि दोनों ही हो सकते हैं। केवल गद्यकार कहने से कवि हरिचन्द्र का निराकरण नहीं हो जाता। इस विषय में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय के प्रशस्तिपद्यों में स्वयं को 'रसध्वनि रसध्वनिमायवाह' कहा है। रसध्वनि सम्प्रदाय आनन्दवर्धन के द्वारा नवी शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। इस आचार पर धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र अवश्य ही नवी शताब्दी के बाद रहे होंगे। कीय^२ और विटरनित्स^३ ने भी धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र को नवी शताब्दी के बाद का ही बताया है।

इसके अतिरिक्त भी अन्य कई हरिचन्द्रों का नाम संस्कृत साहित्य में मिलता है। ऊपर गिनाये गये हरिचन्द्रों की तरह वे प्रसिद्ध तो नहीं हैं परन्तु उन सभी ने जैन संस्कृत साहित्य में अपना किञ्चित् योगदान दिया है। सर्वप्रथम हरिचन्द्र नाम के कुछ जैनाचार्य हैं जिनका नाम विभिन्न भण्डारों के गुटकों में मिला है। आचार्य नेमिचन्द्रजी शान्थी को पूज्याचार्य श्री महावीरकीर्तिजी के एक गुटके में छियासी जैनाचार्यों के नाम मिले हैं जिनमें से बयालिनब के नाम हरिचन्द्र है।^४ जैन सिद्धान्त भास्कर के इसी प्रति में अग्रचन्द्रजी नाहुटा ने नागौर के भट्टारकजी के भण्डार में कई गुटकों में मूलगण के नन्दी शाखा के बलात्कार गण की गुरु परम्परा की नामावली को देखने का विवरण दिया है। इस नामावली में एक हरिचन्द्र गुरु भी हैं।^५

किन्तु ये दोनों आचार्य-परम्परा वाले हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता नहीं हो सकते। धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता किसी आचार्य-परम्परा के न होकर किसी राजवंश या राजवंश में निवृत्त सम्बन्ध रखने वाले नौमक (?) वंश के हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य-परम्परा वाले दोनों हरिचन्द्र जैन ही हैं किन्तु उनके वंश और धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता हरिचन्द्र के वंश में कोई समानता नहीं। अतः इन दोनों को धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता रूप में नहीं माना जा सकता।

श्री जे० वी० पलीट ने सन् १८८८ में अहमदनगर के कलसबदरुस नामक ग्राम से एक ताम्रपत्र लेख खोज निकाला। इसका समय १०२५ (शक ?) बताया जाता है।^६ इस लेख को पढ़ने में यह पता चलता है कि देवगिरि

१ हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६।

२ धर्मशर्माभ्युदय प्रशस्ति पद्य—७।

३ कीय—हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३६।

४ विटरनित्स—दि जैन्स इन दी हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटरेचर, पृ० १६।

५ "न० ४२ सवत ६४८ तिथि अषाढ वदी ८ आचार्य हरिचन्द्र जाति वधेरकल हरवीस गृहम्यवर्ष ८-४-० दीक्षा वर्ष १४-८-० पट्ट वर्ष २६-१-८ अन्नरदिन ८ सर्ववर्षा ४६-१-२६।"—जैनसिद्धान्त भास्कर (भाग २२, किरण १, १६५५), पृ० ४४

६ "नयनन्दि हरिचन्द्रो महीचन्द्रो मलोजित।

माघवैकुण्ठक्षमीचन्द्रो गुणकीर्तिगुणाश्रया ॥ वही, पृ० ५५

७ "प्रवालपिप्यन्ति नृप सश्रामकृत्नाजलि मादरम् असमि तेषां वचनाद् विल्हणनृपते स सन्मिति रुद्रपण्डित-सुतेन। हरिचन्द्रनामाविदुषा ब्राह्मणहितेनैव रचिनम्।" ६१-६२ ताम्रपत्रलेख (पत्र तृतीय) इण्डियन एन्टिक्वेरी, XVII पृ० ११७।

के राजा विन्हा नृतीय की सभा में रत्न पण्डित के पुत्र कवि हरिचन्द्र गृह्ये थे। इन्हीं कवि हरिचन्द्र ने अपने आश्रयदाता राजा विन्हा नृतीय की आज्ञा से उनकी वशावली लिखी थी।^१ किन्तु धर्मशर्मानुदयकार हरिचन्द्र के पिता का नाम धर्मशर्मानुदय-प्रशान्ति में आर्द्रदेव मिलता है। पुनः इस तात्पर्य के हरिचन्द्र ब्राह्मण हैं, ब्राह्मण राजा के आश्रित हैं और और ब्राह्मणों के हित के लिए ही लेख लिखते हैं। अतः धर्मशर्मानुदयकार हरिचन्द्र इनमें भी मिला कोई अन्य ही व्यक्ति हैं।

यहाँ एक बात स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कुछ लोग हरिचन्द्र को हरिचन्द्र^२ भी कहते हैं। अपट्याध्यायी के आचार पर हरिचन्द्र को हरिचन्द्र भी कहा जा सकता है, उसमें कोई अशुद्धि नहीं होती।^३ किन्तु वास्तव में कवि का नाम हरिचन्द्र है न कि हरिचन्द्र करोति प्राचीन हम्पलिवित प्रति में हरिचन्द्र नाम ही उपलब्ध है।^४

धर्मशर्मानुदय के अन्तिम प्रशान्ति पद्या में महाकवि हरिचन्द्र ने अपना परिचय दिया है। उन प्रशान्तियों में पता चलता है कि ये किसी नोमक (?) का बेटे थे। इनके पिता का नाम आर्द्रदेव नया माता का रथ्या था। लक्ष्मण नाम का एक छोटा भाई भी इनको था। इनके बचपनी विशेषताओं में प्रतीत होता है कि ये किसी राजवंश से निकट सम्बन्ध रखने वाले थे। श्री नायूरामजी प्रेमी का कहना है कि नोमक (?) नाम का कोई राजवंश था, उससे इनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।^५ इनके पिता काव्यम्य थे। काव्यम्यो में जैनधर्म की उपमाणा साधारणतः नहीं दिव्याई पड़ती। कोप ने पता चलता है कि काव्यम्य कोई जाति नहीं अपितु लेखक का व्यवसाय है।^६ धर्मशर्मानुदय में स्वयं कवि ने भी काव्यम्य शब्द का प्रयोग लेखक अर्थ में ही किया है।^७ अपने काव्य में हरिचन्द्र ने गुप्तों के प्रसाद से अपने काव्य के निर्माण होने की तथा समय विद्वानों के द्वारा काव्य के परीक्षण होने की बात कही है। किन्तु ये समय विद्वान् कौन थे एवं इनके गुरु ही कौन थे इसका कोई उल्लेख कवि ने नहीं किया। यदि इन विद्वानों का नाम मिलता तो स्थिति कुछ स्पष्ट हो सकती थी। धर्मशर्मानुदय में दिए गए इस नखिल परिचय के आधार पर हरिचन्द्र का समय नहीं निकाला जा सकता। अतः इसके लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता है।

पाटा के संघवी पाठा के पुस्तक भण्डार में धर्मशर्मानुदय की ३६ न० (१८६ न०—नवीन वर्णन के अनुसार) की एक हम्पलिवित प्रति है इनमें १२॥ × १ साटन के १६४ पत्र हैं और इसका लेखनकाल वि० सं० १२८७ (१२३० ई०) है।^८ इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि वि० सं० १२८७ के पहले धर्मशर्मानुदय की रचना हो चुकी थी। बिनने पहले हुई थी यह पुनः अन्य प्रमाणों की अपेक्षा रखता है।

१ इण्डियन एन्टिक्वेरी, XVII, पृ० १०८, XXII, पृ० १०६।

२ वादिज्ञान के यशोधरचरित की लक्ष्मणरचित टीका की भूमिका में एवं श्री नायूराम प्रेमी ने भी इन्हें हरिचन्द्र कहा है।

३ प्रमत्तहृदिचन्द्रावृषि—६। १। १४४ पाठ

४ 'श्री हरिचन्द्रकविचिन्तित' ऐसा पाठ हम्पलिवित प्रति की प्रशान्ति में है।

५ जैन साहित्य श्री इतिहास—श्री नायूराम प्रेमी, पृ० ४६६।

६ काव्यम्यस्यान्निपिकर। २३, भूमिका-डे शूद्राध्याय, वैजयन्ती कोप।

७ काव्यम्य एव स्मर एष कृत्वा दृग्नेननी कञ्जनमजुला य।

शूद्रारसाभ्राज्यविभोगपत्र तादृश्यनक्ष्मा मुहुरी दिलेख ॥१४॥ ४८ वर्ष०

८ सन् १२८३ वर्षे श्री हरिचन्द्रकविचिन्तित धर्मशर्मानुदयकाव्यपुस्तिका श्रीरत्नाकरसूत्रादेशेन कीर्तिचन्द्रगणिना निखिनमिति भद्रम् ॥ संघवी पाठा भण्डार, पाटन की धर्मशर्मानुदय की १८६ न० की हम्पलिवित प्रति।





प० अमृतलालजी शास्त्री ने वाग्भट कृत नेमिनिर्वाण के साथ धर्मशर्माभ्युदय का तुलनात्मक अध्ययन करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वाग्भट महाकवि हरिचन्द्र के पूर्ववर्ती थे।^१ उनका कहना है कि नेमिनिर्वाणकाव्य और धर्मशर्माभ्युदय की लेखन शैली बिल्कुल मिलती है। धर्मशर्माभ्युदय नेमिनिर्वाण से काफी बड़ा है। नेमिनिर्वाण में पन्द्रह सर्ग हैं और धर्मशर्माभ्युदय में इक्कीस। नेमिनिर्वाण की श्लोक संख्या ६५६ है और धर्मशर्माभ्युदय की १६५५। अतः हरिचन्द्र ने नेमिनिर्वाण का अध्ययन अवश्य किया होगा। किन्तु श्री अमृतलालजी शास्त्री द्वारा दिये इन तथ्यों के आधार पर किसी कवि को किसी अन्य कवि से पूर्ववर्ती या परवर्ती सिद्ध करना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता।

इसी प्रकार श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री ने वीरनन्दि के चन्द्रप्रभाचरित और धर्मशर्माभ्युदय का तुलनात्मक अध्ययन करके यह वक्ताने की चेष्टा की है कि हरिचन्द्र ने चन्द्रप्रभाचरित का अध्ययन किया था। इसके लिए उनकी दो उपपत्तियाँ हैं। उनका कहना है, “हरिचन्द्र माघ आदि के टक्कर के कवि हैं किन्तु एक तो उनका कायस्थ कुल में जन्म लेना तथा दूसरे अपने को अर्हत्पादाम्भोरुहचञ्चरीक वताना यह सूचित करता है कि वे जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ नहीं थे। ज्ञाता अवश्य होंगे, किन्तु श्रद्धावश आगम की विराधना से भयभीत थे। इसलिए उन्होंने उक्त विषय में चन्द्रप्रभाचरित का अनुकरण किया।”^२ कैलाशचन्द्रजी का यह कथन ठीक है कि कायस्थ कुलोत्पन्न व्यक्ति जैनधर्म का ज्ञाता होने पर भी श्रद्धावश आगम की विराधना से भयभीत होता है। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आदिदेव कायस्थ अपने व्यवसाय के कारण कहलाए। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक कवि स्वयं को अपने इष्टदेव के चरण कमलों का भ्रमर कहता है। अतः “अर्हत्पादाम्भोरुहचञ्चरीक” कहने से कवि दार्शनिक सिद्धान्त का मर्मज्ञ नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता।

श्री अमृतलालजी ने और श्री कैलाशचन्द्रजी ने केवल शब्दों और भावों के मेल के कारण वाग्भट और वीरनन्दि को हरिचन्द्र से पूर्ववर्ती सिद्ध किया है। किन्तु इस प्रकार की तुलनाएँ अमूर्ण भी हो सकती हैं। भ्रम होना स्वाभाविक भी है क्योंकि धर्मशर्माभ्युदय में हरिचन्द्र ने जब कि वीरनन्दि और वाग्भट का नाम नहीं लिया है तब केवल शब्दों और भावों के दोनों में सामान्य होने के कारण हरिचन्द्र को भी वीरनन्दि और वाग्भट का पूर्ववर्ती कहा जा सकता है। श्री नाथूराम प्रेमी ने प० राजकुमार शास्त्री के २२-११-४१ के पत्र का उल्लेख करते हुए लिखा है—“नेमिनिर्वाण काव्य और धर्मशर्माभ्युदय का तुलनात्मक अध्ययन करने से ऐसा मालूम होता है कि वाग्भट ने धर्मशर्माभ्युदय का अच्छी तरह परिशीलन किया था। कई पद्यों को थोड़े से ही हेर-फेर के साथ उन्होंने अपना बना लिया है। उदाहरण के लिए दोनों का प्रथम पद देखिए। इसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय के पंचम सर्ग का और नेमिनिर्वाण के द्वितीय सर्ग का प्रारम्भिक शब्द भी मिलता-जुलता है जिसमें कि एक सुरागना आकाश से उतरती हुई राजा को दिसलाई देती है और इससे धर्मशर्माभ्युदय नेमिनिर्वाण के पहले का जान पड़ता है।”^३ इस प्रकार श्री बलदेव उपाध्याय का भी कहना है कि नेमिनिर्वाण की रचना धर्मशर्माभ्युदय के बाद हुई।^४ किन्तु इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन पूर्णतः निश्चिन्त नहीं कहे जा सकते।

“धर्मशर्माभ्युदय” “नेमिनिर्वाण” तथा “चन्द्रप्रभाचरित” से पहले लिखा गया अथवा वाद में इस विषय में श्री नाथूराम प्रेमी का अधोलिखित मत मान्य प्रतीत होता है। उनका कहना है कि “नेमिनिर्वाण” के कई श्लोक वाग्भटालंकार में उद्धृत हैं। वाग्भटालंकार (अन्य वाग्भटकृत) का समय वि० स० ११७६ के लगभग है। यदि

१ जैन सन्देश (शोधार्द्ध ८) जुलाई १९६०, पृ० २६२।

२ अनेकान्त, वर्ष ८, अंक १०-११ “महाकवि हरिचन्द्र का समय” श्री कैलाशचन्द्र जैन।

३ जैन साहित्य और इतिहास, श्री नाथूरामजी प्रेमी, पृ० ३०७।

४ संस्कृत साहित्य का इतिहास—श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २७५।

नेनिनिर्वाण के उद्धरण वाग्मटानुकार में उपन्यस्त हैं तो यह अवश्य ही वाग्मट के पूर्व लिखा गया।^१ इसी प्रकार चन्द्रप्रभात वि० की १०वीं शताब्दी में लिखा गया। चामुण्डराय ने अपने गोमटमार में अपने गुरुभार्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि की स्मरण किया है। ये वीरनन्दि ही चन्द्रप्रभात के उक्त हैं। चामुण्डराय राजाराचमन्त्र के सेनापति थे। राजमन्त्र का समय वि० न० १०३१-४१ तक निश्चित है। अतः चामुण्डराय भी उसी युग के रहे। अब यदि वीरनन्दि का नाम चन्द्रप्रभ ने लिया है तो ये अवश्य ही चामुण्डराय के पूर्ववर्ती या समकालिक रहे।

उक्त मयवी पाडा मण्डार में ही १७६ न० की धर्मशर्मान्युदय^२ की एक और हस्तलिखित प्रति है जिनमें २० X २½ के १८ पत्र हैं। इस प्रति में लिखने का समय तो नहीं दिया है किन्तु प्रति लिखने वाले की आचार्य परम्परा का भी उल्लेख है। इस प्रति के लेखक का नाम कृष्णक या और प्रति विस्तारित करने वाले का नाम विद्यालकीर्ति था।^३ श्री प्रेमीजी का मत है कि यदि किसी प्रकार में विद्यालकीर्ति का समय पता चल जाय तो हरिचन्द्र का समय भी निकाला जा सकता है।

एक हरिचन्द्र का नाम “शब्दार्णव की टीका शब्दार्णव चन्द्रिका” की पुष्पिका में आता है।^४ शब्दार्णव जैनेन्द्र-श्याङ्गण के मूत्र-पाठ के परिवर्द्धित मन्त्र का नाम है। इस शब्दार्णव चन्द्रिका के रचयिता श्री सोमदेव मुनि हैं। ये शिलाहार बगीच राजा नोजदेव के समय में हुए। शिलाहार बगीच नोजदेव का समय ११वीं शताब्दी है। सोमदेव ने वादीभवज्जाकुश विद्यालकीर्ति के वैयाचन में इन ग्रन्थ की रचना तक सन् ११२७ (वि० स० १२६२) में जोन्हापुर राज्य में की।^५ यदि मयवी पाडा पुस्तक मण्डार के १७६ न० (६०-१) की धर्मशर्मान्युदय की हस्तलिखित प्रति के विद्यालकीर्ति और “शब्दार्णव चन्द्रिका” में आये विद्यालकीर्ति को एक माना जाय तो हरिचन्द्र का समय जानने में पर्याप्त सुविधा होगी। शब्दार्णव चन्द्रिका वि० न० १२६२ (ई० स० १२०५) में लिखी गई होगी। अतः

१ जैन न० साहित्य का इतिहास, पृ० ३०३।

२- मयवी पाडा मण्डार, पाठन में मुझे न० ६०-१ की “धर्मशर्मान्युदय” नाम की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई जिनमें १४ पत्र हैं। पृष्ठों पर जान हुआ कि ग्रन्थ का यह नवीन वेष्टन न० है। पर ग्रन्थ के नामकरण के विषय में कोई मन्तव्यजनक उक्त न प्राप्त हुआ। सम्भवतः नवीन वेष्टन बनाने वाले की अज्ञता ही इसका कारण है।

३ “ज्योतिर्विजयसिंह श्रीविद्यालन्ध्र शिष्यो जितगुणमणिमाना यस्य कण्ठे सदैव।

अग्निमहिमरागेवर्मनायस्य कण्ठे निजमुक्कननिमिन तेन तस्मै वितीर्णम् ॥”

—धर्मशर्मान्युदय की १७६ न० (६०) की हस्तलिखित प्रति।

४ श्री-मूत्रमयजन्त्रप्रतिबोधनानामेकमुदीक्षितभुजगमुवाकुरन्त्य।

गद्वान्तोपनिधिविद्वन्स्य शृनिरेहेहोन्मुवतये वर दीक्षिनाय ॥२॥

—जैन साहित्य और इतिहास, श्री नाथूराम प्रेमी, पृ० ३६ में उद्धृत।

५ स्वस्ति श्रीशोन्हापुरदेशान्तवर्त्याङ्गुस्त्रिभामहाम्यानयुविष्ठिरावरासहामण्डलेश्वर गण्डरादित्यदेवनिर्मापित-
त्रिभुवननिजजिनालये श्री मत्परमपरमेष्ठि श्रीनेमिनाथ श्रीपादपद्मारावनवलेन -वादीभवज्जाकुश-
श्रीविद्यालकीर्तिराजपरमेश्वरपरमहंसारवपट्टिचमत्रवति—श्रीवीरभोजदेवविजयराज्ये शकवपैकसहस्रकशतम-
जविगति ११०७ तम श्रीवसनवत्सरे स्वस्ति समन्तानवद्यविद्या चक्रवर्तिषी पूज्य पादानुवतचेतसा
श्री मत्सोमदेवमुनिवरेण विरचितेय शब्दार्णवचन्द्रिकानामवतिरिति । इति श्रीपूज्यपादकृत जैनेन्द्र
महाव्याकरण सम्पूर्णम् ॥” श्रीनाथूराम प्रेमी द्वारा जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३४८ से उद्धृत।



१७६ न० की धर्मशर्माश्रमुदय की हस्तलिखित प्रति जिसे विद्यालकीति के शिष्य ने वितरित किया था, भी ऋम्भाक द्वारा अवश्य ही इसी समय लिखी गई होगी अतः सिद्ध होगा है कि धर्मशर्माश्रमुदय की रचना हरिचन्द्र ने १२वीं शताब्दी के अन्तिम पाद में की थी। अस्तु।

हरिचन्द्र का गोत्र

प्रश्न है कि हरिचन्द्र का गोत्र क्या है? धर्मशर्माश्रमुदय की प्रकाशित प्रति से उनका गोत्र 'नोमक' था ऐसा ज्ञात होता है।^१ किन्तु वास्तव में यह अशुद्ध है। पाटण की सघवी पाठा भण्डार में धर्मशर्माश्रमुदय की जो १८६ न० की हस्तलिखित प्रति है उसमें कवि का गोत्र नेमक लिखा गया है।^२ वास्तव में नोमक नाम का कोई गोत्र ही नहीं। नेमक ही गोत्र है। इस कथन की पुष्टि कालजर के एक शिलालेख से भी होती है जिसमें नेमक नाम का वंश आया है।^३

सम्प्रदाय

हरिचन्द्र ने धर्मशर्माश्रमुदय की प्रशस्ति में अपना जो सक्षिप्त परिचय दिया है कि वे जैनधर्म के अनुयायी और अनुरागी थे। "उन दोनों के अर्हत् भगवान के चरण-कमलो का भ्रमण हरिचन्द्र नाम का वह पुत्र हुआ जिसके कि वचन गुरुओं के प्रसाद में शास्त्रों में अत्यन्त निर्मल थे।"^४ किन्तु जैनो के किंग सम्प्रदाय को वे लोग मानते थे इसका पता नहीं चलता। धर्मशर्माश्रमुदय के अध्ययन से हम पर और थोड़ा प्रकाश पड़ता है। अलंकार शास्त्र के अनुसार महाकाव्य में कही-न-कही साधु-समागम का वर्णन अवश्य होना चाहिए—चाहे वह किसी सम्प्रदाय के साधु-समागम का वर्णन हो। धर्मशर्माश्रमुदय में भी कवि ने कुछ बार अपने सम्प्रदाय का नाम लिया है। प्रथम तो वनपाल राजा महासेन मुनि अवतरण की सूचना देते हुए कहता है—हे "राजन! पूर्णचन्द्र की तरह दिगम्बर पथ के अलंकरण भूत कोई चारण ऋद्धिधारी मुनि अभी-अभी आकाश से बाह्य उपवन में अवतीर्ण हुए हैं।"^५ मुनि अवतरण की सूचना पाकर राजा उनके दर्शनो को चले—"जिस प्रकार सूर्य प्रभा के साथ गमन करता है उसी प्रकार वह राजा भी अपनी प्रिया के साथ रथ पर आरुढ़ होकर दिगम्बर मुनिराज के चरणों के समीप चला।"^६

पुत्र जन्म के पूर्व मुमृता द्वारा देने गए पौंडस स्वप्नो का विस्तृत वर्णन है। दशेताम्बर सम्प्रदाय में चौदह स्वप्न ही बताये गये हैं, किन्तु दिगम्बर में सोलह स्वप्न बताते हैं। इसके अतिरिक्त बीच-बीच में कवि धर्मनाथ के ध्यान मुद्रा का वर्णन करते हुए उन्हें "स्वीकृतान्तवासा" कहा है।^७ आकाश को जिनमें वस्त्ररूप में स्वीकार किया है अर्थात् नग्न। "दिगम्बर" पद का भी यही तात्पर्य होता है। इससे सिद्ध होता है कि हरिचन्द्र दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

- १ "श्री मानमेयमहिमास्ति स नोमकाना वंश — धर्मशर्मा० प्रकाशित पुस्तक प्रशस्ति से।
- २ "श्री मानमेयमहिमास्ति स नेमकाना वंश — धर्म० की हस्तलिखित प्रति की प्रशस्ति से।
- ३ नेमकान्वयजेन्द्रकमुतदेहकेन भगवत्या कारितमण्डपिका प्रसक्षेन तदभार्यया लक्ष्म्या । एपि० इ० ए. पृष्ठ २१०।
- ४ अर्हत्पादाम्मोऽहचञ्चरीकस्तयो सुत श्री हरिचन्द्र आसीत् ॥
गुरुप्रसादादमला वभ्रुवु सारस्वने श्रोतसि यस्य वाच ॥ धर्म०, प्रशस्ति—४।
- ५ राकाका मुकवदिगम्बरपथालङ्कारभूतोऽनुधना ।
बाह्योदानमयतगद्ग्रहपथात्कश्चिन्मुनिशचारण । २।७७ धर्म०
- ६, दिगम्बरपदप्रान्त राजापि सह कान्तया ।
प्रतस्थे रथमास्थाय प्रमया भानुमानिव ॥ ३।८ धर्म०
- ७ मुक्ताहार सर्वदोषत्यकान्ताख्यप्रीति स्वीकृतान्तवासा । २०। ३७ धर्म०

उपनाम

हरिचन्द्र का नाम “चन्द्र” या। तेरहवीं शताब्दी में धर्मशर्मान्युदय का एक श्लोक जल्हग की भूक्तिमुक्तावली में “चन्द्रमूरि” नाम में उपलब्ध है।^१ ऐसा प्रतीत होता है कि जैनैतर विद्वान् जैन धर्मावलम्बी होने के कारण उन्हें मूरि कहते थे। गव्दांवाचन्द्रिका टीका में इनके यति नाम का भी पता चलता है।^२ जितेन्द्रिय को यति कहते हैं। नम्भवन हरिचन्द्र ने भी “हृन्म्य धर्म स्त्रीका” नहीं किया था तथा सत्सार-स्त्रागी होकर ‘यति’ विशेषण प्राप्त किया था।

हरिचन्द्र का स्थान

हरिचन्द्र का जन्म कहा हुआ अथवा उन्होंने अपनी ग्रन्थ-रचना कहां की इसका कुछ भी पता अभी तक नहीं चला है। विद्वानों ने भी इस विषय पर विचार नहीं किया है। स्वयं हरिचन्द्र ने भी अपने सम्पूर्ण धर्मशर्मान्युदय काव्य में तथा उनके प्रगल्भ पत्रों में अपने स्थान के विषय में कुछ संकेत नहीं किया।

११ वीं, १२ वीं शताब्दी के इतिहास का अध्ययन करने में पता चलता है कि उस समय जैनधर्म का प्रचार उत्तरी पर था—विशेषण दक्षिण में। दक्षिण में जैनधर्म उत्तर की ओर अग्रसर हो रहा था। किन्तु इनके पूर्व ६ वीं से लेकर ११ वीं शताब्दी के लगभग भ्रातृ में धर्मधर्म का बोलबाला था। इनका प्रभाव जैनधर्म पर भी पड़ा। लिगायनों के आश्रमण बराबर हो रहे थे। इनका आश्रमण जैनियों के विरोध में ही था। कलचुरी काल के अन्तिमार्ध (१२ वीं शताब्दी) में भी लिगायनों का आश्रमण हुआ था। यह वर्णन ‘विज्जलरायचरित’ नामक किसी जैन कवि द्वारा रचे गए ग्रन्थ में मिलता है।^३ किन्तु इन विकट परिस्थितियों में भी जैन धर्म प्रगति करता रहा। गुजरात और पाम के प्रदेशों में उस समय चालुक्य, नीलवी, राष्ट्रकूट, कलचुरी, शिलाहार आदि विभिन्न राजवर्षों का राज्य था। इनमें से प्रत्येक ने जैनधर्म की उत्तरी के लिए विशेष योगदान दिया। चालुक्य वंशीय राजा कुमारपाल के समय में ही हेमचन्द्र का प्रसिद्ध योगशान्त्र लिखा गया। कोल्हापुर में उस समय शिलाहार वंशीय राजाओं का राज्य था। सन १११० के लगभग शिलाहार वंशी राजा ने कोल्हापुर में शिव और बुद्ध मूर्ति के साथ अर्हन्त की मूर्ति स्थापित की।^४ धर्मशर्मान्युदय की मधवी पाडा पुस्तक मण्डार की १७६ न० (न० ६०-१) प्रति में गुर्जर (आधुनिक गुजरात) और विद्यापुर देश का नाम आया है।^५ विद्यापुर आधुनिक बीजापुर ही है। इन प्रति को लिखने वाले ऋषाक हुबड वंशीय थे। विद्यापुर और गुजरात में हुबडवंशीय जैनो की बस्ती अभी भी मिलती है। १० वीं शताब्दी के लगभग कहा हुबड वंश का आगमन राजस्थान में हुआ था। अतः हरिचन्द्र बीजापुर के अथवा गुजरात के किसी स्थान के रहने वाले होंगे।

हरिचन्द्र की रचनाएं

महाकवि हरिचन्द्र रचित एक ग्रन्थ जीवन्धर चम्पू उपलब्ध होता है। यह चम्पू धर्मशर्मान्युदयकार हरिचन्द्र का ही है अथवा अन्य किसी हरिचन्द्र कवि का इस विषय में कुछ विद्वान् पूर्णतः निश्चित नहीं। विटरनिल्स^६ और कीय^७ दोनों ने जीवन्धर चम्पू के धर्मशर्मान्युदयकार हरिचन्द्र द्वारा रचे जाने की मनावना मात्र व्यक्त की है। कुछ

१ धर्मशर्मान्युदय का २८८ श्लोक जल्हग (भूक्तिमुक्तावली) पृ० १८५ में चन्द्रमूरि के नाम में उपलब्ध है।

२ जैन साहित्य और इतिहास, श्री नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ३२ में उद्धृत।

३ कनेक्टेड वर्कम आरु श्री आर० जी० मण्डारकर, पृ० १२६।

४ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई, भाग १३, पृ० ४।

५ अश्वामि गुर्जरी देशों विन्नातो भुवनत्रये।

विद्यापुर पुर तत्र विद्याविभवमभवत् ॥ १७६ न० की धर्मशर्मान्युदय की हस्तलिखित प्रति पाठन से प्राप्त।

६ विटरनिल्स—जैन इन दी हिस्ट्री ऑफ सन्धुन लिटरेचर, पृ० १६

७ कीय—हिस्ट्री ऑफ सन्धुन लिटरेचर, पृ० २२६



विद्वानो का मत है कि जीवन्धरचम्पू किसी अज्ञातनामा कवि की कृति है। श्री प्रेमीजी ने लिखा है—“यद्यपि जीवन्धरचम्पू में धर्मशर्माभ्युदय के भावों तथा शब्दों तक में बहुत कुछ समानता है, इससे दोनों को ही एक कर्ता की सृष्टि कहा जा सकता है, परन्तु साथ ही यह भी तो कह सकते हैं कि किसी अन्य ने ही धर्मशर्माभ्युदय के भावादिते लिए हो।”^१

प्रेमीजी की सभावना ठीक ही है। किन्तु यह कैसे संभव है कि किसी अज्ञातनामा कवि ने धर्मशर्माभ्युदय के शब्द और भाव दोनों को ही ग्रहण कर उसे हरिचन्द्र के नाम पर चला दिया हो? दोनों के कर्ता महाकवि हरिचन्द्र हैं जैसा कि दोनों काव्यों की समाप्ति पर लिखा है।^२ जीवन्धरचम्पू की पुष्पिका में भी इसके कर्ता हरिचन्द्र का ही उल्लेख किया गया है—“महाकवि हरिचन्द्र कहते हैं कि चिरकाल बाद मेरी वाणी कृतकृत्य हो सकी क्योंकि उसने भाव जिनेन्द्र श्री जिनेन्द्र स्वामी को स्वयं ही वरण किया है।”^३ जीवन्धरचम्पू का सर्वप्रथम प्रकाशन टी०एस० कुप्पू स्वामी शास्त्री द्वारा सन १९०५ में किया गया। कुप्पूस्वामी ने उसमें जीवन्धरचम्पू और धर्मशर्माभ्युदय के श्लोकों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की है कि धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र ने ही जीवन्धरचम्पू की रचना की थी।^४ इस तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर दोनों रचनाएँ हरिचन्द्र की हैं यह बात बहुत कुछ सिद्ध हो जाती है। वास्तव में नकल-नकल ही है। कुप्पूस्वामी जैसे मर्मज्ञ विद्वान की दृष्टि में यह बात अवश्य आ जाती है कि कौन सी रचना असली है और कौनसी नकली। जिस प्रकार सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू के नीति भाग और नीति वाक्यामृत के एक कृत्तक होने के कारण अनेकों समानताएँ हैं उसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवन्धरचम्पू के भी एक कर्तृत्व होने के कारण अनेकों समानताएँ हैं। श्री पन्नालाल जैन ने जीवन्धरचम्पू के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना में दोनों रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है तथा लिखा है कि दोनों में ही क्रमशः वृषभदेव, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, महावीर, रत्नत्रय और जिनवाणी को नमस्कार किया गया है।^५

दोनों ग्रन्थों के ही कर्ता—हरिचन्द्र जैन हैं। किन्तु दोनों रचनाओं के दार्शनिक पक्ष के प्रतिपादन में कुछ नियमों का अन्तर है। यह बात विचारणीय है। धर्मशर्माभ्युदय में तीन प्रकार का त्याग और पाच उदुम्बर फल का त्याग ये आठ श्रावक के मूल गुण बतलाये गये हैं किन्तु जीवन्धरचम्पू में उदुम्बर फलों के स्थान पर पाच अणुव्रतों का धारण-करना बताया गया है।^६ इसी प्रकार शिक्षा-व्रतों के वर्णन में भी दोनों में कुछ वैशिष्ट्य है।^७ दार्शनिक मत के प्रतिपादन में इस अन्तर का कारण यह है कि जैनो में मूलगुण—शिक्षाव्रतों और गुण व्रतों का स्वीकारने में मतभेद है।

१ जैन साहित्य और इतिहास—प्रेमी, पृ० ३०३

२. (क) इति महाकवि श्री हरिचन्द्र विरचिते धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्ये ।

(ख) इति महाकवि श्री हरिचन्द्रविरचिते श्री मतिजीवधरचम्पूकाव्ये ।

३ भदीयवाणी रमणी चरितार्था चिरादभूत् ।

वज्रे जीवन्धर देव या भार्वजिननायकम् ॥ ११११ जीवन्धरचम्पू

४ जीवन्धरचम्पू,—हरिचन्द्र पृ० १४७-१५०, प्रकाशक, टी० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री, सन १९०५ ई० ।

५ जीवन्धरचम्पू, हरिचन्द्र पृ० ३७-४०, अनुवादक श्री पन्नालाल जैन, सन १९४८

६ मधुमासासवत्याग पचोदुम्बरवर्जनम् ।

(क) अग्नी मूलगुणा सम्यग्दृष्टो प्रकीर्तिता ॥ २११३२ धर्म०

(ख) हिसानृतस्तेयवधूव्यायपरिग्रहेभ्यो विरति कथंचित् ।

मथस्य मासस्य च मासिकस्य त्यागस्तथा मूलगुणाद्भेदो ॥ ७११६ जीव०

७ २१। १४६—१५२ धर्म० । ७१८ जीवन्ध ।

हरिचन्द्र ने सम्भवत दोनो में दो प्रकार की मान्यता को स्वीकार किया है। श्री पन्नालाल जैन ने भी कहा है—मूलगुण, गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो के नामोल्लेख में जैनाचार्यों में शासन भेद है। इतना अवश्य है कि आचार्यों ने एतद्विषयक से अन्य अपनी मान्यता का निराकरण किया हो यह देखने में नहीं आया। सम्भव है किसी ने एक ग्रन्थ में एक मान्यता का उल्लेख किया हो और दूसरी में दूसरी मान्यता का। धर्मशर्माभ्युदय में शिक्षाव्रतो का वर्णन करते समय 'अतिवि सविभाग' के विवक्ष्य में मन्नेखना का भी उल्लेख करते हुए कवि ने अपनी तटस्थता सूचित की है।^१ अम्बु

इन दोनों में से किम ग्रन्थ की रचना हरिचन्द्र ने पहले की, इस विषय में भी मतभेद हैं। श्री अमृतलालजी शास्त्री का कहना है कि हरिचन्द्र ने जीवन्वरचम्पू की रचना पहले की थी। क्योंकि धर्मशर्माभ्युदय के अन्त में प्रशस्ति पद्य दिया हुआ है। वे दोनों के रचयिता हैं अतः वाद के ग्रन्थ में प्रशस्ति दिया है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने जीवन्वर चम्पू का ही एक श्लोक उद्धृत किया है—“मेरी वाणी चिरकाल वाद कृतकृत्य हो सकी क्योंकि उसने भाव जिनेन्द्र तथा जिनेन्द्र स्वामी को स्वयं ही वरण किया है।”^२ वाणीचरितार्थाचिरादभूत् के आधार पर अमृतलालजी ने जीवन्वर चम्पू को प्रथम रचना स्वीकार किया है। किन्तु उन्होंने सम्भवत इसके पूर्व के एक पद्य की ओर ध्यान नहीं दिया जिसमें हरिचन्द्र ने कहा है कि गद्य और पद्य पृथक्-पृथक् दोनों आनन्द देते हैं किन्तु दोनों का मेल बहुत अधिक आनन्ददायी होता है। “गद्यावली और पद्य परम्परा ये दोनों पृथक्-पृथक् भी बहुत अधिक आनन्द उत्पन्न करती हैं किन्तु जहाँ दोनों मिल जाती हैं वहाँ की तो बात ही निराली हो जाती है, वहाँ वे दोनों गैरग और युवावस्था के बीच विचरने वाली कान्ता के समान बहुत अधिक आनन्द उत्पन्न करती हैं।”^३ जीवन्वरचम्पू के इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय की रचना पहले ही कर चुके थे। वाद में उन्होंने जीवन्वरचम्पू की रचना की। इसके अतिरिक्त कोई आवश्यक नहीं कि वाद के ग्रन्थ में ही प्रशस्ति पद्य लिखा जाय पहले में नहीं। धर्मशर्माभ्युदय की रचना महाकवि हरिचन्द्र ने अवश्य ही पहले की होगी। इसी कारण उसके प्रशस्ति पद्यों में जीवन्वरचम्पू का नाम नहीं है।

हरिचन्द्र लिखित एक 'जीवन्वर नाटक' का भी नाम मिलता है किन्तु इसकी कोई हस्तलिखित प्रति अद्यावधि उपलब्ध न होने के कारण इसके अस्तित्व में सन्देह है।^४ किसी हरिचन्द्र लिखित पुरुदेवचम्पू का भी उल्लेख है। पुरुदेवचम्पू अहंहान रचित उपलब्ध है। यह ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुका है। हरिचन्द्र रचित पुरुदेव चम्पू की भी जीवन्वरनाटक की ही तरह कोई हस्तलिखित प्रति नहीं उपलब्ध है। अतः हरिचन्द्र रचित इन दोनों ग्रन्थों के विषय में सन्देह है।

हरिचन्द्र का व्यक्तित्व

कवि अपने काव्य का रचयिता होता है। अतः उसका हृदय काव्य में झलकना है। जिस प्रकार साहित्य समाज का दर्पण माना जाता है उसी प्रकार काव्य कवि के हृदय का भी दर्पण है। काव्य में ही कवि का सच्चा व्यक्तित्व प्रकट होता है। प्रयत्नपूर्वक यदि स्वभाव-विरुद्ध रचना की भी जाय तो वह निम्न श्रेणी की कृति होगी। ऐसी कृति कवि के हृदय के सच्चे भावों से रहित होती है। जिसमें हृदय की अनुभूतियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं वही सच्चा काव्य है। राज-प्रदास्तियाँ इसी कारण अविश्व लोकप्रिय नहीं हो सकीं क्योंकि उन्हें कविगण जन की लालमा से लिखते थे। दूसरों को

१ जीवन्वर चम्पू की प्रस्तावना, श्री पन्नालाल जैन, पृ० ४०, १९५८

२ मदीयवाणीरमणी चरितार्था चिरादभूत्।

वन्नो जीवन्वर देव या भार्वजिननाटकम् ॥१११ जीव०

३ गद्यावलि पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहृति प्रभोदम्।

हर्षप्रवर्षं तनुते मिलित्वा द्राग्वात्पानरूप्यपतीव कान्ता ॥११६ जीव०

४ इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग ३६, टी० एन० कुप्पूस्वामी शास्त्री, पृ० २८५

५ कैटलॉगस कैटलॉगोन्स, प्रथम भाग, पृ० ७६१, १९६२





प्रसन्न करने के लिए, स्वार्थवश लिखे ऐसे काव्य में कवि स्वयं को चाहकर भी व्यक्त नहीं कर सकता। धर्मशर्माभ्युदय जैसे तो जैनो के पन्द्रहवें तीर्थंकर की कथा है किन्तु काव्य की सूक्ष्म ममीक्षा के समय विचारक को हरिचन्द्र के निजी व्यक्तित्व की कथा भी मिल जाती है।

हरिचन्द्र का विचार है कि किसी श्रेष्ठ वस्तु का महत्त्व जानने के लिए उसके विपरीत किमी दोषयुक्त वस्तु का रहना आवश्यक है क्योंकि काच के बिना मणि और अन्धकार के बिना सूर्य अपना गुण नहीं प्रकट कर सकते।^१ सगर्भ-दोष व्यक्ति को नष्ट कर देता है।^२ विनय को वे लक्ष्मी का ही नहीं सर्वकल्याणो वा ही मूल मानते हैं।^३

पुरुषों के स्वभाव के विषय में उनका मत देखिए—अत्यन्त कठोर प्रकृति धारण करने वाले जड़ पुरुष मध्यस्थ पुरुष का भी अभ्युदय नहीं सह सकते।^४ मनुष्य को कामुक नहीं होना चाहिए क्योंकि स्त्री-लम्पटी पुरुषों की कभी उन्नति नहीं हो सकती^५ और विषय-वासना के फेर में पड़ा मनुष्य बुद्धिहीन हो जाता है^६ और जो बुद्धिहीन नहीं होता है वह जड़ता के भय से आगत नीरस व्यक्ति का साथ स्वयं छोड़ देता है।^७ पुरुष का प्रेम स्त्री के प्रेम के अनुसार ही व्यक्त होता है।^८

स्त्री-स्वभाव के विषय में भी उनका अपना मत है। स्त्री को वे बहुत निकृष्ट चरित्र का समझते हैं। स्पष्ट उत्तम-पुरुष-वाचक शब्द के साथ उन्होंने एक स्थान पर कहा है—“हम स्त्रियों के अत्यन्त दुःख भाषापूर्ण चरित्र को दूर से नमस्कार करते हैं।^९ इसी प्रकार स्त्रियों के गहन चरित्र को कौन जानता है।^{१०} काम के प्रवल आयेग में मनुष्य को दिग्विदिग् ज्ञान नहीं रहता है। साधारण अवस्था में जो कार्य वह किसी कारणवश नहीं कर सकता कामावस्थामें वह उस कार्य को कर लेता है। इसी कारण हरिचन्द्र कहते हैं—“काम के पोरुष से स्त्रियों को असौख्य है ही क्या ?”^{११} सतीत्व बहुत बड़ी वस्तु है। थोड़ी से आच से भी वह नष्ट हो सकती है। अतः स्त्री को इस विषय में चैतन्य रहना चाहिए क्योंकि स्त्री तभी तक सती मानी जाती है जब तक कि वह अन्य पुरुष के हाथ का स्पर्श नहीं करती।^{१२}

हरिचन्द्र भाग्यवादी हैं। उनका विचार है—“जो स्वप्न-विज्ञान का अधिपति है, जहाँ कवियों के भी वचन नहीं पहुँच पाते और मन की प्रवृत्ति भी जिसके साथ सम्बन्ध नहीं रख सकती वह पदार्थ भी भाग्य द्वारा अनायास सिद्ध हो जाता है।”^{१३}

१ ऋते तमसि द्युमणिमणिर्वा विना न काचै स्वगुण व्यनक्ति ॥१२२ धर्म०

२ २।४० धर्म०

३ न पर विनयश्रीणामाश्रय श्रयसामपि ॥३४६ धर्म०

४ यदा नितान्तकविना प्रकृति भजन्तो ।

मध्यस्थमप्युदयिन न जडा सहन्ते ॥३१४ धर्म०

५ कुतोऽयवा स्यान्महोदय स्त्रीव्यसनलसानाम् ॥७१५ धर्म० -

६ नहि विषयान्धमति किमप्यगति ॥१३१८ धर्म०

७ ध्रुवमवगणयन्ति जाड्यभीत्या स्वयमपि नीरसमागत विदग्धा ॥—१३।६१ धर्म० ।

८ गुणान्पुरुन्द्री प्रेमानुरूप पुरुषो व्यनक्ति ॥१४।३७ धर्म०

९ ततोऽतिगहन स्त्रियश्चरित्रमत्र बन्धामहे ॥१०।३२ धर्म०

१० क स्त्रीणा गहनमवति तच्चरित्तम् ॥१६।३३ धर्म०

११ आरूढ चेतोभवपोरुषाणा किमस्त्यसाध्य हरिणेषणानाम् ॥—१७।६३ धर्म०

१२ तावत्सती स्त्री ध्रुवमन्यपु सो हस्ताग्रसस्पर्शसहा न यावत् ॥१४।२२६ धर्म०

१३ य स्वप्नविज्ञानगतेरगोचरश्चन्ति नो यत्र गिर कवेरपि ।

य नानुबध्नन्ति मन प्रवृत्य स हेत्यार्यो विधिनैव साध्यते ॥—६।३७ धर्म०

हरिचन्द्र धर्म के प्रबल अनुयायी हैं। वे अपने ग्रन्थ द्वारा तत्काल प्रचलित सभी दर्शनों का, धर्मों का निराकरण करते हैं। वे स्वयं मयम को धारण करते हैं। उनका जीवन दर्शन उच्च होने के कारण ही काव्य के प्रत्येक पात्र को उन्होंने उच्च विचार रखने वाला बनाया। अहन्तदेव की भक्ति के प्रभाववश दुःख सुख रूप में बदल जाता है। “पूर्वकृत कर्माणि तत्राहं मे शान्तं दुःखं दुःखं भी अहन्तदेव की भक्ति के प्रभाववश शीघ्र ही अपनी शक्ति का विपर्यय कर लेता है। सूर्य की तीक्ष्ण किरणों ने भयकर ग्रीष्म ऋतु बना जल के समीपस्थ वृक्ष की छाया में बैठे हुए शिशिर ऋतु नहीं बन जाती ?”^१

हरिचन्द्र का मत है कि मनुष्य को गुणवान् होना चाहिए। क्योंकि उत्तम गुणों से युक्त मनुष्य ही कार्यो में धनुष के समान प्रयत्नशील होता है, गुणों में रहित मनुष्य बाण के समान अत्यन्त भयकर होने पर भी क्षण भर में वैलक्ष्य दुष्ट को प्राप्त हो जाता है।^२

कुछ और उक्तियाँ हैं जिनमें हरिचन्द्र के व्यक्तित्व पर थोड़ा और प्रकाश पड़ता है। उनका मत है कि कार्य प्रारम्भ करने के पहले व्यक्ति को अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए—“विना विचारे कार्य करने वाले मनुष्य का निम्नदेह उम प्रकार नाश होता है जिस प्रकार कि तक्षक सर्प से मणि ग्रहण करने के इच्छुक मनुष्य का होता है।”^३ दुर्जन को शान्त करना बड़ा कठिन है—“जिस प्रकार समुद्र के भारी जल में बड़बानल शान्त नहीं होता उसी प्रकार अनुनय-पूर्ण वचनों से दुर्जन शान्त नहीं होता।”^४ एवं लाख प्रयत्न करने पर भी नीच नीच ही रहता है क्योंकि क्या बगुला चकवा और हंस के समान हो सकना है? अथवा कौमा मयूर जैसा हो सकता है ?”^५

१ दूरमुदितम् पाकोद्रेकात्पुराकृतकर्मणा भटिति घटयत्यहंभक्ते स्वशक्तिविपर्ययम् ।
उपजलतलच्छायाच्छन्ने जने जरठीभवद्दुःखमणिकिरणभीष्मो ग्रीष्मो न किं शिशिरायते ॥
—८।५६ धर्म०

- २ भ्रम गुणानर्जय सदगुणो जने क्रियामु कोदण्ड इव प्रशम्यते ।
गुणच्युतो बाण इवातिभीषणं प्रवाति वैलक्ष्यमिहक्षणापि ॥१८।१५ धर्म०
- ३ भ्रमशय स्यादविभूषकारिणो यणि जिवृक्षोरिव तक्षकात्क्षय ॥१८।२८ धर्म०
- ४ तथाप्यनुनयरेप शम्पसि स्म न दुर्जन ।
शीर्वस्तनूतपालीरेनीश्वेरिव भूगिभि ॥१९।४६ धर्म०
- ५ कक किं कोककेकोकी किं काक केकिकोऽकम् ।
कोक कुर्कक केक क केकाकाकुकाङ्कम् ॥१९।८० धर्म०



सीयाचरित : एक अध्ययन श्री परमानन्द शास्त्री



भारतीय साहित्य में राम, सीता, कृष्ण, पाण्डव, कौरवादि के विषय में प्रचुर साहित्य लिखा गया है। यदि उस साहित्य को साहित्य-सूची से पृथक् कर दिया जाय तो भारतीय साहित्य निम्नप्रभ हो जायगा। केवल राम और सीता पर विविध भाषाओं में जो विपुल साहित्य रचा गया है उससे उसकी लोकप्रियता का स्पष्ट भान हो जाता है। सीता के सम्बन्ध में लिखे गये कुछ ग्रन्थों का संक्षिप्त उल्लेख करते हुए अब तक अप्रकाशित एवं अज्ञात ग्रन्थ प्राकृत के 'सीया-चरित' का परिचय प्रस्तुत करना ही इस लेख का प्रमुख उद्देश्य है।

भारतीय नारियों में सीता का चरित्र अत्यन्त पावन और समुज्ज्वल रहा है। वह नारी जीवन के आदर्श के साथ धैर्य और विवेक की गरिमा को भी उद्भासित करता है। इतना ही नहीं, अनेक विषम एवं दुःखद प्रसंगों पर सीता अपने विवेक के सन्तुलन को कायम रखती हुई किसी को अपराधी नहीं ठहराती, प्रत्युत अपने पुराकृत अशुभ कर्म को ही दोषी मानती है। उस अवस्था में भी सीता का वह विवेक उसे मुदृष्टि प्रदान करता है। इस कारण वह समागत आपदाओं से रक्षमात्र नहीं घबराती, धैर्य और ममभाव से उन्हें सहती है। यही सब घटनाएँ उसकी लोक में प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा की द्योतक हैं।

रावण सीता का अपहरण करके ले जाता है, और उसे देव-रमण उद्यान में रखता है, उसे प्रसन्न करने के लिये विविध उपाय किये जाते हैं। वैभव का नजारा दिखाया जाता है, समझाया, डराया-धमकाया भी जाता है। किन्तु इन सब का उसके अन्तर्मानस पर कोई प्रभाव अंकित नहीं हुआ। उसकी आत्मनिर्भरता, महान् शक्तिशाली शत्रु के यहाँ अक्षुण्ण बनी रही। यही उसके सतीत्व की गरिमा का प्रतीक है। इससे पाठक सीता के सतीत्व की महत्ता का अंदाज लगा सकते हैं।

गर्मवती सीता को रामचन्द्र लोकापवाद के भय से कृतान्तवचन सेनापति द्वारा भीषण एवं हिंसक जन्तुओं से व्याप्त कानन में छुड़वा देते हैं। उस वन की भयानकता सीता की कोमलता और गर्भ-भार की विषमता को देखकर सेनापति का मानस भी रो देता है। जब सीता को सेनापति से ज्ञात होता है कि रामचन्द्र ने लोकापवाद के भय से मेरा परित्याग किया है, तब वह सेनापति से कहती है—“हे भाई, तुम स्वामी से मेरा यह सन्देश कह देना कि जिस प्रकार लोकापवादभय से मेरा परित्याग किया है, उसी तरह अपने धर्म का परित्याग न कर देना। पाठक देखें सीता के इस सद्विवेक को, जिसकी वजह से वह लोकपूजित हुई है। इसी कारण सीता की पावन जीवन-माथा पर विविध भाषाओं में जो साहित्य रचा गया है वह उसकी आदर्श जीवनी का दिग्दर्शन मात्र है, इसी से हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सीता की लोकप्रियता कम नहीं हुई।

जैन साहित्य में सीता के सम्बन्ध में जो साहित्य रचा गया है, उनमें में यहाँ कुछ ग्रन्थों का दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है—

१ “सीताचरित” —आचार्य भुवणतुंग की कृति है, जिसे उन्होंने प्राकृत गाथाओं में निबद्ध किया है। कृति में उमता रचनाकाल दिया हुआ है। अतः उनके रचनाकाल का निर्णय करना कठिन है। ग्रन्थ का आदि-अन्त भाग निम्न प्रकार है—

आदि—जन्म पय-पठम नहचद जुहजलजालित्वालयमलोह ।

नि जगपि सुईजाय त मुणिमुच्चयजिण नमिच ॥

अन्त—मौलगुणमवण सभूयवर परमाणदकारणारडय ।

चरित निणि भुवणतुंग पयमाहण होठ ॥ ४२ ॥

२. “सीताचरित” —महाकाव्य नगं ४, गाथा २५, २६, १४३, और २०६ है। कर्ना का नाम ज्ञात नहीं हुआ। यह कृति म० १३३६ के द्वितीय कानिक में निवे गए गुच्छक में मौजूद है, जो पाटन के मण्डार में सुरक्षित है।

३ “रामलक्ष्मण सीताचरित” —नाम की है, यह भी अज्ञात कर्ता की है। इसमें २०८ गाथाओं में उक्त चर्चित दिया हुआ है। ग्रन्थ का आदि-अन्त भाग निम्न प्रकार है—

आदि—नगिय मीराचरित पुत्रभवविवागनूयग किंवि ।

अह रामलक्ष्मणाग त लवामित्त पकित्तमि ॥

अन्त—रामो वि केवली विहृत्किग महिमडलमि सयलमि ।

पडिओहियमवज्जणो पत्तो मिवमपय विठन ॥ २०८ ॥

हिन्दी भाषा में भी सीता के चरित का अन्ठा चित्रण हुआ है। कुछ कृतियों का उल्लेख नीचे किया जाता है—

कविवर भगवनीदास अग्रवान ने सन् १६८७ में चैत्र शुक्ला चतुर्थी-चन्द्रवार के भरणी नक्षत्र में ‘सिहरदि’ नगर में “लघुसीता मत्तु” की रचना की है। रचना मुन्दर और भावपूर्ण है। ग्रन्थ में बारहमासों के मन्दोदरी-सीता प्रश्नोत्तर के रूप में कवि ने गवण और मन्दोदरी की चित्तवृत्ति का चित्रण करते हुए सीता के सतीत्व का कथन किया है। वह बड़ा ही मुन्दर और मनमोहक है। अतः ग्रन्थ सर्वमावागण के लिये बहुत उपयोगी और शिक्षाप्रद है। पाठकों की जानकारी के लिए आयाद मास का प्रश्नोत्तर नीचे दिया जाता है—

तव बोनऽ मन्दोदरी रानी, रनि अपाठ घन घट घहरानी ।
पीय गये ते फिर घर आवा, पावरनर नित मन्दिर छावा ।
लवहि पपीहे दादुर मोरा, हियरा उमग भरत नहि मोरा ।
बावर उमहि रहे चौपामा, तिय पिय विनु लिहि उमन उमासा ।
नन्ही बून्द करत भरलावा, पावम नभ आगमु दरसावा ।
दामिनि दमकत निगि अन्विषारी, विरहनि काम वान उरि मारी ।
भुगवहि भोगु सुनहि मिख मोगी, जानत काहे भई मति वारी ।
मदन रसायनु हइ जगसारु, सजमु नेमु कथन विवहार ।

दोहा—जब लगु हम दरीरमहि, तब लग कीजइ भोगु ।
राज तजहि मिसा भमहि इव भूला सबु लोगु ।





सोरठा—सुख विलसहि परवीन दुख देखहि ते बावरे ।
जिउ जल छाडे मोन, तटफि मरहि थलि रेत कइ ।
यहु जग जीवन लाहु न मन तरसाइए ।
तिय पिय सम सजोगि पगम सुहु पाइए ॥
जो हु समजगणहाय तिसहि सिख दीजिये ।
जाणत होइ अयाणु तिमहि क्या कीजिये ॥

शुक्र-नामिक भृग-दृग पिक-वदनी, जानुकि वचन लवइ सुगि रइनी ।
अपना पिउ पय अमृत जानी, अवर पुगिप रवि—दुग्ध-ममानी ॥
पिय चितवनि चितु रहइ अनन्दा, पिप गुन सरन बढत जसकन्दा ।
प्रीतम प्रेम रहइ मनपूरी, निनि बालिम मगु नाही दूरी ।
जिनि पर पुरिप तियारति मानी, लखेनि सो आठि विकानी ? ॥
करत कुशील बढत बहु पापू, नरकि जाइ तिर हइ मतापू ।
जिउ मधु बिन्दु तनू सुख लहिये, शील विना दुरगतिदुग्ध सहिये ।
फुगल न हुइ पर पिय रसमेली, जिउ मिमु मरइ उरग-मिउ खेली ।

दोहा—मुग्य चाहइ ते बावरी पर पति सगे रति भानि ।

जिउ कपि क्षीत विथा मग्द तापत गुजा आनि ॥

मोरठा—तृष्णा तो न बुभाइ जलु जब ग्यारी पीजिये ।

मिरगु मरइ घपि धाइ जल धोखइ थलि रेतकइ ॥

पर पिय सिउ करि नेहु सुजनमु ग बावना ।

दीपनि जरइ पतग सु पेनि सुहावना ।

पर रमणी रम रग कवणु नरु सुहु लहइ ।

जब कव पूरी हानि महति जिह अहि रहइ ॥

दूसरी रचना “सीताचरित” है जो हिन्दी का एक महत्वपूर्ण माध्य है जिसे कवि रामचन्द्र ने स० १७१३ में बना कर समाप्त किया है। रचना पद्यबद्ध श्रीग मध्यम दर्जे की है। परन्तु रचना में गतिशीलता (प्रवाह) है। पद्यों की मत्स्या अट्ठाई हजार में ऊपर है। ग्रन्थ में सीता के जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

सीमरी रचना “सीताचरपट्ट” है, जो ३२७ पद्यों की लघुकाव्य कृति है। इसके बंता खरतरगच्छ शाखा के समयध्वज हैं।

चौथी रचना “सीताप्रबन्ध” है, जो ३४६ पद्यों में रचा गया है, रचनाकाल स० १६२८ है।

पाँचवी रचना “सीताविरहलेख” है जिसमें ८१ पद्यों द्वारा कवि अमरचन्द ने सीता के विरह पर अच्छा प्रकाश डाला है। रचना सवत् १६७१ के द्वितीय आपाठ पूर्णिमा के दिन पूरा हुई है।

छटी रचना “सीतारामचौपई” है, जिसे कवि समयसुन्दर ने स० १६७३ में अपने जन्म स्थान माचीर में बना कर समाप्त की है।

सातवी रचना “सीता चरंपई” है, जिसे तपागच्छीय कवि चेतनविजय ने सवत् १८११ के वैशाख सुदी १३ को बगाल के अजीमगंज में रचा है।

इनके अतिरिक्त श्रीग भी अनेक रचनाएँ शास्त्रभट्टारी में हैं, जिन पर फिर कभी प्रकाश डाला जावेगा।

‘सीमाचरित’ प्राकृत भाषा का गद्य-पद्यमय एक चम्पू काव्य है। भाषा सरल और मुहावरेदार है। अनुमानतः इन्में ३००० शब्दार्थ और कुछ गद्य भाषा है। १४ को अनेक प्रतिया स्वनाम्बरोय शास्त्रमन्त्रों में उपलब्ध होनी हैं। ग्रंथ अनी एक अष्टकमित है। इन्में प्रति श्री आत्तवल्ली नाहदा के सौम्य से कल्याण के नाहर मन्दार से प्राप्त हुई है जिसकी मने जाती की है और बाद में दूसरी प्रति में मिनान भी किया है। जने बड़े ग्रंथ में कहीं नवि, सों या प्रख्यात वर्ग-ह नहीं है उनपरि ज्ञानक का मन्त्र भी मन्त्रा और दुम्ह हो गया है। पाठक को उसके ज्ञान में बड़ी कठिनाई होनी है। ग्रंथ में कितनी ही भाषाएँ विनयमयी के ‘पञ्चमचरित’ से समानता रखती हैं। जिनने ही विषयों में समानता दृष्टि-ओवर होती है, कहीं कुछ पाठ-भेद मिलता है। ग्रंथ में काव्य का विशेष प्रादुर्भाव नहीं है, नगर, देश, नदी, ग्राम, वन आदि का सामान्य वर्णन या नामोल्लेख मात्र मिला है। कुछ न वनों की पूर्व ज्ञानरत्नानुसार ही है। हा, जहाँ किसी व्यासक में विशेषता लाने का उत्तम अवसर मिला है। उदाहरणस्वरूप बज्रकालिकायन में कहा गया है कि वह धर्महित और शिकारी था। एक दिन वह वन में गिराव लेने जा और वहाँ उम्मे गनवती द्वितीय को बाग में मार दिया। बाग लगे ही हिंसी जमीन पर बहान ने गिरी और गिने ही उसके पैर में लड़खलाने हुआ एक बच्चा मिला। बज्रकां उस ब्रूणहत्या के महाराज ज्ञान्य व्यक्ति हुआ। और विज्ञान ने लगानि उस महाराज ने जैसे दत्त मन्त्रा है। ऐसा विचार कर वह उग्र-उग्र हो गया था कि उसकी दृष्टि महान एक शिवा पर बैठे हुए व्यानमय मुनि पर पड़ी। बज्रकां ने उन्हें मनन-करके पूछा—‘नगवन् आर उस जग में क्या करने हैं?’ मुनि ने कहा ‘मैं आत्महित करता हूँ।’ बज्रकां ने कहा—‘तब, प्यार, नहीं, नहीं की पीपह महे हूँ वन में लड़े के आत्महित होता है?’ तब मुनि ने उसे गृह्य और मुनिमं का स्वप्न समझाया, जिसने गदा को प्रतिबोध हुआ। अपने मन्त्र-मात्रादि के द्वारा के साथ मन्त्र-दान और आचरणों को अज्ञा किया और वह प्रतिज्ञा की कि मैं जितेन्द्रदेव और जिनगुन को छोड़कर अन्य किसी को नमस्कार नहीं करूँगा।’

ग्रन्थ काव्य में सीमा का अन्तिम पूर्व परम्परागुमा ही चित्रित किया है। यद्यपि कवि ने उसे विस्तृत रूप में लिखने का प्रयत्न किया है किन्तु वहाँ उस छोटे से पञ्चम्य केव में उनका अजित सार ही दिया जाता है। ग्रंथ में काव्यात्मक वैशिष्ट्य का प्रभाव, भाषा सरल है। कहीं-कहीं कुछ मुनासिब एक नीतिपरक पद्य उपलब्ध होने हैं जिसमें पाठक रुचता नहीं। मन्त्र जहाँ मन्त्र मुनींग और मित्रमयिनी है वहाँ कष्टमहति, पतिभक्त, विवेकवती, अन्वयप्राप्त आत्मगति और स्वशोषकमिनी है।

वह निराल के गदा जलक और विवेका की पुत्री है। वह युवातम्य में उत्पन्न हुई थी, किन्तु माँ के अप-

१ ल तस्य पिता ग्रहिय पादद्वौ घनबुद्धि-रहियम् ।

यद्वद्वतेन अगने मनाइ घायम् अणुदियह ॥

अन्मि दिने पहा हृषी दाने तेन रश्मवई ।

पटिओय तीए गदमो दगीय दूछीअ सहसति ॥

दृष्टा नटनदन मयमाव (सो) विमायमावतो ।

विनइ महाशय मए कयं ब्रूषाएण ॥

—सीमाचरित, का० पृ० २८





हूँ हो जाने के कारण उसका अकेले ही लालन-पालन और शिक्षा हुई थी। अयोध्या के राजा के पुत्र रामचन्द्र के साथ उनका विवाह हुआ। केकई के वर के कारण जब राम-लक्ष्मण वन को जाने लगे तब सीता भी साथ में गई। सीता अपने पति राम और लक्ष्मण के साथ वन-वन घूमती हुई क्रमशः दण्डक वन में पहुँची। वहाँ कुछ समय सुख से निवास करती है। वन में होने वाले कष्टों से वह न कभी खेद-खिन्न हुई और न समागत आपदाओं से घबराई। उसे स्वकीय कर्म का विपाक समझ कर सन्तुष्ट रहती थी।

कुछ समय बाद रावण कपट से उसे हरण कर ले जाता है। वह पुष्पक विमान में रोती-चिल्लाती, आँसू बहाती तथा आभूषणों को यत्र तत्र बिखेरती हुई जाती है। रावण लका में पहुँचकर उसे किसी उद्यान में ठहरा कर और रक्षकों की व्यवस्था कर अन्तःपुर में चला जाता है। सीता राम का अनुचिन्तन करती हुई अपने अशुभोदय का विचार करती है और प्रतिज्ञा करती है कि जब तक राम और लक्ष्मण का कुशल समाचार नहीं मिलेगा तब तक मैं अन्न-जल, स्नान और गंधमाल्यादि का ग्रहण नहीं करूँगी। वह कभी मन में पंच परमेष्ठी का स्मरण करती है, कभी राम लक्ष्मण का चिन्तन करती है और कभी अपने अशुभोदय की निन्दा करती है। सीता रावण के वैभव को तृण के समान तुच्छ गिनती है। यद्यपि रावण ने सीता को प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रयत्न किये किन्तु उसे किंचित भी सफलता नहीं मिली रावण की परिचारिकाएँ रावण से कहती हैं कि सीता जब भोजन की भी इच्छा नहीं करती, तब वह आपकी कैसे इच्छा कर सकती है ? यह सुन रावण का बड़ा दुःख हुआ। उसका शरीर मदनानल से झुलस जो रहा था। यह देख मन्दोदरी रावण से कहती है—‘तुम उसका बलात् सेवन क्यों नहीं करते ?’ तब रावण कहता है—‘मैंने मुनिपुत्र गव्य-अन्त-वीर्य के सम्मुख यह नियम लिया था कि जो स्त्री मुझे न चाहेगी मैं उसकी इच्छा न करूँगा।’

रोती हुई सीता को देखकर विभीषण ने पूछा—‘यह किसकी पुत्री और किसकी भार्या है ?’ सुनकर सीता ने कहा—‘मैं जनक की पुत्री, आमदल की बहिन तथा राम देव की प्रथम पत्नी हूँ, यह पापी (रावण) मुझे अपहरण कर ले आया है—

१—तह वि न इच्छइ सिनाण न भोयण गधमल्लाह ।

अच्छइ एगगमणा भायती राहव जिच्च ॥

भणइ भोग्गणविसए न जाव दइयस्स बधुसहियस्स ।

तद्धा कसलपउत्ती भुजामि न भोयण ताव ॥

—सीयाचरित पृ० ३८

२—सीयावइयरमावेइऊण रमणीहि रावणो नणइ ।

जा भुत पि न इच्छइ सा इत्थि इच्छइ कहे गु तुमए ॥

सोऊण इम वयणो मयणानलेण वदच्छमाणसव्वगो ।

पडियो वसणसमुदे दहवयणो दुक्खियो अहिय ॥

—सीयाचरित पृ० ८

३—किं पुण बला वि अबला तीए आत्तिगण विहेऊण ।

पूरेसि तुम नियए मणोरहे नाह साहेहि ।

एव पुच्छिओ पनणिओ दहवयणो—

अत्थि मए पडिवन्नो अभिगगहो अणतविरियपयमूले ।

अह भोत्तव्वा जुवई अणिच्छमाणा न कइयावि ॥

—सीयाचरित पृ० ६६

पुच्छइ विभीषणां त न्यमाणि मुयणु नम्म न दुहिया ।
कम्म वि भग्जा मा वि ह माहेड जुहटिय मव्व ॥

अविय—जणयस्स अह नणया भगिणी नामडनम्म गुणनिहिणी ।
गमम्म पटम घणिी अवहगियाणेण पावेण ॥

—सीयाचरित पृष्ठ ६३-६८

विभीषण सीता को आदवानन देना चना गया, वह मयुर उचना में रावण ने कहा है—“तुम पर-रमणी को क्यों नाह ? पत्नारी अग्नि-विना के समान है, विषयता, नागिन, और कुपित व्याघ्री के समान मताप, विनाश और दुःख का कारण है, पुन का बन्ध है, रक्त का घातक है, अनपेक्ष तुम पत्नारी को छोड़ो, दुर्गति में मत पड़ो ।” तब रावण ने कहा—‘मित्रा पृथ्वी मेरी है । तुमने विचार भी नही किया कि मैं तुम्हें पाल रहा हूँ, तब तुम्हें पालियेगा या प्रेम ही नहीं उठता ।’

आमारिउण सीय मङ्गलितं विनिगो भाउ ।
दहवया सीम गुण पम्मणी आणिया उहय ? ॥

हृयवहमिहिय, विवददिय, भुगमिय, कुविय वधिय पम्मणी हांड मताव-विताम-उहहंउ । मा आणमु कनक कुल्लम नामेमु । मा जम नियय, मा पडनु बोदीए, मु चनु एय पर पुरिय ।

—सीयाचरित पृष्ठ ६८

उपर तब तब अपने निजाम न्याय पर आये और सीता को वहाँ न देखा, तब बहुत नेदखिल और दुःखी हुए । इनने में लक्ष्मण भी सहृदय हो गए — छा गया । दोनों भाइयों ने सीता की खोज-खोज की पत्तु नहीं पता न चला ।

सीता को पता चलाने के लिए चारों ओर तो दोहा और मुरीय खबर भी पता लगाने के लिए गया । तब पता चला कि रावण सीता को हरे नारायण के मृतक विद्यालय भय में बांधे लगे । सिन्धु राम नरमना ने नरमना से उन्हा भय दूर किया । राम ने हनुमान को अपनी मुद्रिका और सब समाचार देकर कहा—‘तुम जाओ सीता ने सिन्धु उन्हा उद्दामनी सेने आना तब कहा का सब समाचार भी जाना, जिसने मुझे सीता के खबर में प्रत्यक्ष हो गये ।’

हनुमान ने कहा ने पदक कर प्रच्छल हो राम की मुद्रिका सीता से अंग के वस्त्र पर छोटी, उसे देख सीता उहने दली—‘तब की यह मुद्रिका कहा कैसे आई ? जो कोई इस मुद्रिका को कहा गया हो वह प्रकट हो पाय । तब हनुमान ने प्रकट होकर, अपने नाम, स्थात सब कुतादि का पवित्र देने हुए राम का सब समाचार सुनाया । सीता को विश्वास हो गया कि राम और लक्ष्मण उद्दामन हैं । वे सीता को कहा आगे । उसने सीता को प्रसन्नता हुई । हनुमान ने सीता से कहा—‘अब आराम से विश्वास पूरी हो गई, मोहन-मान रहा । तब सीता ने रात्रि के दिन पवनम्हारा भय का स्वरूप मोहन किया । पवनम्हारा हनुमान ने सीता से कहा—‘जैसे जने पर बैठ कर राम के पास पहुँचा दू । सीता बोली—‘तब की मेरी आशा नहीं थी कि तब प्रकाश जाना उद्दामन ही है । सीता ने अपनी वृद्धागि उन्हा रात्रि हनुमान की सीता को अपनी उन्हा उद्दामन को हनुमान की कहा जिसे मुन्हा राम की विश्वास हो गया कि सीता सीता है और वह मेरे दिनेश में पवित्र है ।’

राम ने सीता के पास दूर सेना और उद्दामन कि लक्ष्मण सीता की वारिद लक्ष्मणो अन्तरा बुद्ध ने निने नगर हो गये । तब उद्दामनी आ, उन्हा सीता को वारिद न कर बुद्ध किया जिम्हा नगीश उसे भागना पड़ा । राम-नगर का बुद्ध प्रसिद्ध ही है । उन्हा सीता का वारिद पवनम्हारा उद्दामन ने किया है । अन्त में लक्ष्मण के ज्ञान से तबका मारा गया । पवनम्हारा ने कहा ने उद्दामन होकर सीता को प्राप्त किया । तब ने बुद्ध मन्त्र मन्त्र कर





श्रीर विभीषण को लका का राज्य देकर राम सीता और लक्ष्मण सहित अयोध्या को चले । अयोध्या में राम सीता और लक्ष्मण का भव्य स्वागत हुआ । भरत ने जिनदीक्षा ले ली । श्रीर राम लक्ष्मण का राज्याभिषेक हुआ । दोनों भाई वहा सुख से राज्य करने लगे ।

अशुभोदय में विवेक

कुछ समय के बाद अयोध्या में सीता के सत्रध में लोकोपवाद की चार्ता सामने आई, राम ने उस बलक से बचने के लिये सीता के परित्याग का निश्चय किया । यद्यपि लक्ष्मण ने बहुत ममझाया पर राम अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और कृतान्तवन्ध सेनापति को बुना कर यह आदेश दिया कि सीता को वियावान जगल में छोड आओ । सेनापति सीता को रथ में बैठाकर ले चला और अयोध्या से बहुत दूर एक भयानक वनमें रथ को रोक कर सीता से बोना—आप उतर जाए ।

जब सीता हिमक जन्तुओं से भरे उस विकट वन में उतरी तो भय से नांपने लगी । सेनापति ने रोते हुए सीता से कहा—मुझे आप क्षमा करे, मैंने तो केवल स्वामी के आदेश का पालन किया है । सेनापति सीता की पिन्नमुद्रा, वन की भीषणता, नीरवता तथा गम के भार की पीडा को देख कर अत्यन्त द्रवित हो गया । उसने जगल में छोडने का कारण लोकोपवाद बतलाया । तब सीता ने जो कहा उसका उत्पेक्ष हम पहले ही कर चुके हैं । सेनापति सीता के विवेक और और धैर्य से अत्यन्त प्रभावित होता है, अपने क्रुत्य पर पश्चाताप करता है और कहता है—यह सब कार्य मुझे पगघीनता-वश करना पडा है । देवी, मेरा यह अपराध क्षमा करो । कवि के ये वाक्य इस प्रकार है —

सेवावित्ती पुरिसो पट्टवयणा विसइ जलणमि ॥

जणणीए की स जाओ सो पुरिसो जो करेइ परसेव ।

सेच्छाए जेण कओ न लहइ सो किंवि करणिज्ज ॥

तो खमियव्वो सामिणि मह अवराहो इमो अहन्नस्त ॥

एगाणिणी अरण्णे ज परिचत्ता मए तमिह ।

तमो बाहुल्लोयणाए सुदीणवयणाए भणिय सीयाए, कहेहि केण पुण वारणेण एसो अम्ह अयडं चेक चडो दडो काराविओ राहवेण ? तेण भणिय—देवि, सम्म न जाणामि । किन्तु मए वि सुओ जणप्पवाओ, जहा लकाहिचित्तिणा अवहरिय जीए सीलवररण मा सीया णियभवेण कह आणिया राहवेणेव ।

इयय सकल काउमन्ने भीएण पउभनाहेण ।

सुयणु तुम परिचत्ता णो अण्णो कोइ अवगाहो ॥

अह वा न तुज्ज दोसो दोमा महचेव पुब्ब पावस्स ।

अह नाह अह तुमए परिचत्ता आणइ अभावेउ ।

तह मा मुचसु सामिण जिणवयण पिसुणवयणेहि * ॥

मुक्कस्स मए पच्छा अवगणतस्स विगयविलियरस ।

इह चेव भवे तिव्व होही पिअयम महादुक्ख ॥

वितामणिसारिच्छो जिणवरधम्मे मए विमुक्क ।

नाणाविहुवखाण भवे भवे भायण होसि ॥

—सियाचरित का० पृष्ठ १३५

सेनापति के जाते ही सीता रोती और बिलखती है और अपनी निन्दा करती है, परन्तु वहा उसका कीन है, जो उसे उस दुःख में सान्त्वना दे, दाढस वधावे । वह कभी जिनदेव वा स्मरण करती है, कभी अपने माता-पिता और लक्ष्मण को याद करती है, कभी अपने भाई भागडल को याद करती है । और वभी अत्यन्त करण विलाप करती है ।

उसने उन बना बिनाप को मुनकर ब्रजजय की मेला रख गई। ब्रजजय ने सीता के शब्द सुने। उसने पाम, जय सीता ने उसका परिचय पड़ा, तब सीता ने अपना परिचय दिया और बनवास का कारण बतलाया।

ब्रजजय ने अपना परिचय देने हुए कहा—वर्मविधि में तुम मेरी बड़ी बहिन हो। सीता उसे अपना भाई मानकर उसके साथ नगर में चली गई। ब्रजजय सीता का सम्मान के साथ पालकी में लाया, और वहाँ उसके साथ भगिनी के योग्य व्यवहार किया। सीता ने वहाँ बाल-पुत्रों को जन्म दिया जिनका नाम 'लव' और 'शकुन' रक्ता गया। दोनों पुत्रों का वही लालन-पालन, शिक्षण और विवाह हुआ। उन्होंने द्विविजय की। पद्मान् अयोध्या आकर रामचन्द्र से युद्ध कर अपनी वीरता का परिचय दिया और आदि के साथ अयोध्या में प्रवेश किया।

अग्निपरीक्षा और आर्यिका की दीक्षा

कुछ दिनों के पश्चात् राम की स्वीकृति पाकर विनीषण, हनुमान, सुग्रीव और भामटल आदि राजा गण सीता को लेने के लिये पुटनीकणी नागों गए, और सीता को ले आये। किन्तु जब सीता राम के सम्मुख आई, तब राम ने उसे कहा—देवि, मैं तुम्हारे शीतल को जानता हूँ, किन्तु किसी कर्मोदयवश जो जनापवाद रूप बनक हुआ उसे घोर के लिये अग्नि में प्रवेश कर आत्म-शुद्धि करो।

नो गह्वरा पालनममुमन्त्रिणेण जपिय दइए ।
ज मणमि तुम नच्च मच्च पि हू नत्थि सन्देहो ।
जाणामि तुम्हो नील अणलमग्निं कुलीणय सज्ज ।
न नित्तिम च पेम्म जह तुह तह कम्म भुवणमि ।
नहविहू जणाववाओ केणड कम्मेण उच्छलिओ ।

पाविहिमि जम धवन लहिमि पमिडो जणमि मयलमि ।
ना जलपपवेमेण करेमु त अत्तणो मुडि ॥
हेमम्म च जेण मलो अयमकलसो नमुत्तरड ।
एमो मिय चिय तह मुन्दरि जाणइ मणनिव्वुइ अम्ह ॥

—मियाचरित का ० पृष्ठ १६०

सीता ने भी वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन करने हुए अपनी स्वीकृति दी।

अग्निकुण्ड तैयार करवाया गया और जब वह प्रज्वलित हो उठा सीता ने पञ्चमस्कामय का स्मरण कर सभा में बैठे लोगों ने कहा—यदि मैंने इस जीवन में अपने पति रामचन्द्र को छोड़कर अन्य पुरुष का स्वप्न में भी स्मरण किया हूँ तो मेरा यह शरीर इस अग्नि में जल जाये और न किया हो तो न जले, तत्पश्चात् सीता ने अग्नि में प्रवेश किया। लोग दृष्ट-श्राय करने लगे, किन्तु जब सीता अपने शीलव्रत-महामय में न जली तब सबने उसके शील की प्रशंसा की। कुण्ड में निकलने पर सीता ने ममता की अनियन्ता और यश-शता का अनुभव कर आत्मकल्याण करने का निश्चय किया। रामचन्द्र ने घा-चलने का आग्रह किया और यह भी कहा कि मैं तुम्हें मोलह हजार रानियों की पटरानी बनाऊंगा, किन्तु सीता ने अपने केशों का लुचन कर सर्वगुण मुनि के निकट आर्यिका की दीक्षा ले ली और विधिपूर्वक तपश्चरण द्वारा आत्मशुद्धि की।

सीयाचरित में सीता ने पवित्र जीवन की जो भाँकी दी गई है, उनका यह मखिन सार है, चरित अन्य मुन्दर व प्रकाशन योग्य है।

अथ का कानाक दिगवर परसरा को नये हुए है। उसमें कोई ऐसी बात नहीं है जिससे उसके विषय में मगध को अवज्ञा मिले। प्रसन्न अथ का तुलनात्मक अध्ययन करने में स्पष्ट ज्ञात होता है, कि कर्ता ने विमलमूर्ति परमचरित की अवश्य देना है, क्योंकि उनका प्रभाव उन पर अक्षित है। अथ के निम्न ही पद्य ज्यों के त्यों माधारण पाठ-भेद के साथ





पञ्चमचरित मे उपलब्ध होतें हैं । कुछ पद्य "अन्न च", 'अणिय' तथा 'ओट्ट' कह कर दिए गए हैं । ये उनसे उद्धृत किए गए जान पड़ते हैं । उदाहरणार्थ—

अन्न च—महिला महावगवला अदीहोही महाट्ट माहन्ना ।
त मे लमाहि पुत्तय ज पडिहून् कय तुम्ह ॥ १६६ ॥
तो भणइ पठमणाहो अम्मो कि यत्तिया अनियवाई ।
हुति महाकुलजाया नम्हा भरहो कुणउ रज्ज ॥
—सीताचरित १६७

महिला महाव गवना अदीहोही सहाउमाहन्ना ।
त मे लमाहि पुत्तय ज पडिहून् कय तुम्ह ॥ ३२-५१ ॥
तो भणइ पठमणाहो अम्मो कि यत्तिया अनियवाई ।
होन्ति महाकुलजाया, नम्हा भरहो कुणउ रज्ज ॥
—पञ्चमचरित ३२-५२

अणिय च—समणो गाथो विप्पा दत्थीओ आलुदुद्धरोगत्ता ।
एए न हु हन्तव्या कयावराहा वि धीरेहि ॥
—सीताचरित कापी पृ० ३८

समणा य नम्भणा थि य, गोपगु दत्थीय वालया बुद्धा ।
जइ थि हु कुणन्ति दोस, तह थि य एए न हन्तव्या ॥
—पञ्चमचरित ३५-१५

रच नाकाल

इस ग्रंथ का रचयिता कौन है और ग्रंथ कहा रचा गया, इसके जानने का कोई पुष्ट साधन अभी तक उपलब्ध नहीं है । ग्रन्थ मे रचनाकाल और गुरुपरंपरा का भी कोई उल्लेख नहीं है । किन्तु ग्रंथ के अंत मे एक गाथा निम्न प्रकार से उपलब्ध है ।

एय सीयाचरिय वज्जरिम सेणियस्म नरवइणो ।
जह गोयम तह महसूरिहि निवेइय किंचि ॥

इसमे बतलाया है कि सीताचरित को मोतम ने जैसा राजा खेणिक ने कहा वैसे ही महसूरि ने कुछ निवेदन किया । इस गाथा मे "मह" शब्द अपूर्ण जान पड़ता है और वह अन्य शब्द 'सेन' की अपेक्षा रखता है । पूरा नाम महसेन सूरि होना चाहिए । इतिहास मे महसेन और महामेन नाम के विद्वानों का उल्लेख मिलता है । बहुत संभव है कि इस ग्रंथ के रचयिता कोई महसेन नामक विद्वान हो ।

वघेरा के निम्न मूर्तिलेख मे आचार्य महसेन का उल्लेख स्पष्ट है, यह लेख सफेद पाषाण की लहंगासन मूर्ति के नाचे अंकित है ।

स० १२१५ वैशाख सुदी ७ श्री मरघुरसघे आचार्य श्री महसेने तदीक्षिता आर्यिका महादेवी श्री चन्द्रप्रभु प्रणमिति ।"

कुछ विद्वान् "मह" का अर्थ मुक्त बतलाते हैं पर यह सगत नहीं जान पड़ता ।

इस ग्रंथ की अनेक प्रतिया उपलब्ध हैं, संभव हैं उनमे से किसी पुरातन प्रति मे कर्ता का उल्लेख मिल जाय ।

रहस्यवाद : जैनधर्म और साहित्य

श्री देव कोठारी, एम० ए०
शोध-अध्यापक साहित्य सत्त्वान,
राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर



विश्व-रचना के रहस्य एवं परम-आत्मा ने मातात्मार के लिये मानव अनादिकाल से उत्पन्न रहा है और इनके लिये उसने विविध आध्यात्मिक मन-मनान्तर्गत एवं उनके मार्गों के आधार पर अनेक अनुभूतियां ग्रहण की हैं। कभी वह आध्यात्मिक नीमा तक ही सीमित रहा है, तो कभी उसने उन शक्ति के पास पहुंचने के प्रयास में महज प्राप्त अनुभूतियों की भाषा के माध्यम में अभिव्यक्त कर एक भाव-ममूह के रूप में संचित कर दिया है, उसी सचयन की साहित्यिक शब्दावली में "रहस्यवाद" के नाम से अभिहित किया गया है। "भूतत अपनी अन्त स्फुरित अपरोक्ष अनुभूतियों द्वारा सत्य, परमसत्त्व अथवा ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति ही रहस्यवाद है।"^१ इस प्रकार की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव की विनिष्ट, मौलिक, एवं अविनाश्य अंग रही है। मानवमन्यना के प्रायः प्रत्येक स्तर, देश और उसके काल में तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप यह प्रस्फुटित भी हुई है।

यही प्रवृत्ति जैनधर्म और उसके साहित्य में उनके प्रारम्भिक काल से ही पाई जाती है। कुछ विद्वान इस सत्य की स्वीकार करने में सकोच अनुभव करते हैं। उनका कहना है कि बौद्ध, चार्वाक, माध्यमिक, भीमामा, सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार आदि दार्शनिक मतों की तरह जैनदर्शन भी आस्तिकतावादी नहीं है, क्योंकि रहस्यवाद के लिये आस्तिकता अनिवार्य है जो उनके अनुसार जैनधर्म में 'नहीं' पाई जाती है। 'मध्यकाल में वेदान्त की स्वीकार करने वाले ही आस्तिक हैं'—ऐसा विघटनकारी आन्दोलन चल गया था, इस कारण जैनधर्म को भी उसका शिकार होना पड़ा। वास्तव में उस समय आस्तिकता की स्पष्ट परिभाषा भी नहीं थी, यन्त्र के शब्दों में वेदान्त की अस्वीकार करने वाला नास्तिक था तो कुम्भक नट के शब्दों में पग्लोक में विश्वास नहीं रखने वाला नास्तिक था। यहाँ तक कि आस्तिकता के प्रबल प्रचारक एवं पाशुपतोपनिषद् महाेश्वरों को नास्तिक करार देने वाले स्वयं शंकराचार्यों को भी नास्तिक होने का आरोप सहन करना पड़ा था।^२ नन्व तो यह है कि वह व्यक्ति जो नन्व-धर्म से च्युत हो चुका है, किंवा विमुख हो चुका है, वह नास्तिक है और जो नन्व धर्म को जानता है वह आस्तिक है, यथा —

१ साहित्य कोश, ज्ञान मण्डल प्रकाशन, सम्बत् २०१५—पृष्ठ ६३५

२ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ १६



सत्यधम्मच्युतात् पु स' कुट्टादाशीविवादिव ।

अनास्तिकोऽप्युद्विजते जन कि पुनरास्तिक ॥^१

वेदों की स्वीकृति अथवा गस्वीकृति के आधार पर ही आस्तिक नास्तिक निर्णय करना एकांगी दृष्टिकोण है, हिन्दुओं के प्रमुख ग्रन्थ 'महाभारत' के दलोक के अनुसार भी जैनधर्म को नास्तिक कहना बुद्धिगम्य नहीं है। वह आस्तिक दर्शन है और उसमें रहस्यवाद प्रारम्भ काल से ही पाया जाता है। यजुर्वेद तक में जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथजी तथा हमारे तीर्थंकर अजितनाथजी को गूढवादी (रहस्यवादी), बताया गया है।^२ "परमात्मप्रकाश" की भूमिका में भी डा० ए० एन० उपाध्ये ने क्रमशः प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथजी, चाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथजी तथा तेईसवें तीर्थंकर पादरत्ननाथजी को गूढवादी (रहस्यवादी) कहा है।^३ भगवान् महावीर की वाणी के संग्रहीत ग्रन्थ रूप आगम साहित्य के सर्वाधिक प्राचीन अंग "आचाराग सूत्र" में भी इसका स्पष्ट उल्लेख है —

जे एग जाणइ से सब्ब जाणइ ।

जे सब्ब जाणइ से एग जाणइ ॥^४

अर्थात् जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है और जो सब को जान लेता है वह एक को जान लेता है। विक्रम की पहली शताब्दी में कुन्दकुन्दाचार्य के "भावपाहुड" में रहस्यवाद की भावात्मक अभिव्यक्ति को प्रमुत्पत्ता दी गई है। इसके बाद अपभ्रंश की कृतियों में योगात्मक रहस्यवाद का स्वर पाया जाता है। मध्यकाल तक आते-आते भावात्मक अभिव्यक्ति एवं योगात्मक रहस्यवाद की दोनों धाराएँ समान रूप से पाई जाती हैं। तन्त्रवादियों का प्रभाव भी इस पर पड़े बिना नहीं रहा है फिर इसमें विकृति नहीं आ पाई है। यहाँ हम विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत जैनधर्म और उसके साहित्य में रहस्यवाद की स्थिति का क्रमशः अवलोकन करेंगे।

१ आत्मा, परम-आत्मा और ब्रह्म

आत्मा द्वारा परमात्मा या ब्रह्म से साक्षात्कार करने की स्थिति रहस्यवाद की आधारशिला है। यास्क ने अपने "निरुक्त" में आत्मा शब्द की निरुक्ति यों बताई है —

"आत्मा तत्ते वन्ति वापि वाप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूत इति"^५

अर्थात् आत्मा शब्द अत् धातु या अप् धातु से बना है। आत्मा को आत्मा इसलिये कहा जाता है कि वह सदा चलती रहती है या वह सदा जीवधारियों में व्याप्त रहती है। रामस्त हिन्दुदर्शन आत्मा के इसी स्वरूप को स्वीकार करता है और रहस्यवाद भी इसी से प्रभावित है किन्तु जैनधर्म का इससे थोड़ा मतभेद है। स्थानाग सूत्र के अनुसार^६ "दुविहे तच्चे पन्नत्ते, तज्जहा जीवे चेव अजीवे चेव" अर्थात् दो प्रकार के तत्त्व हैं—जीव और अजीव। आगे कहा गया है—

१ (क) महाभारत, आदि पर्व—

(ख) शब्दकल्पद्रुम मोतीलाल बनारसीदास संस्करण, पृष्ठ १६८ पर उद्धृत

२ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ ४७६

३ डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित "परमात्मप्रकाश एण्ड योगसार" (अग्रजी) इन्द्रीडवसन, पृष्ठ ३६

४ आचाराग सूत्र, ३।४

५ यास्क, निरुक्त, ३।१३।२

६ मुनि श्री रावेश कुमारजी, भगवान् महावीर का तत्त्वदर्शन, जैन भारती, १६ अप्रैल ६७, पृष्ठ ३८० पर उद्धृत

कि 'त एव मृतं वा मृत्युं वा भविष्यत् वा न जीवा अजीवा भविष्यन्ति, अजीवा जीवा भविष्यन्ति' अर्थात् न यह कभी हुआ, न होगा है और न हो॥ कि जीव कभी अजीव न हो पाएँगे और अजीव कभी जीव रूप धारण करेंगे। उन अज्ञान जैनधर्म में आत्मा न तो कभी अजीव बन पाएँगे और न अजीव कभी आत्मा का रूप धारण कर सकेगा है। आत्मा का जो स्वभाव अमिथ है, वह अज-अम है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार उनकी नीति श्रवणाएँ हैं —

बहिर्गन्त पण्डचेनि त्रिषामा भवन्वेहिणु ।

उपेयानत्र पणम मज्जोपायाद बहिम्यवेणु ॥४॥

बहिर्गन्ता शरीराद्यै ज्ञानान्मभ्रान्निगन्तर

विन्दोशान्मविभ्रानि पमत्मा तिनिसंन ॥४॥^१

अर्थात् बहिर्गन्ता उन श्रवणाओं का नाम है, जिनमें आत्मा अपने स्वरूप को नहीं पहिचान पाती तथा शरीर की दृष्टि में को ही अपना स्वरूप समझती है, अन्तर्गन्ता वह है जो चित्त मवरी शरीरों को अपना स्वरूप समझती है। बहिर्गन्ता की श्रवणा हमारी मज्ज विविध अन्तर्गन्ता होती है तथा यह शरीर को अपने में अन्तर्गन्ता है किन्तु पूर्ण नहीं बन पाती। पमत्मा वह विमिश्र श्रवणा है जहाँ आत्मा पूर्ण विभक्त प पद्वत जाती है और उमत्ता जन्म-मरण नहीं होना, वह अन्ति निर्मल रूप धारण कर लेती है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने भावव्याख्या में भी इसी का वर्णन किया है।^२ गुरुपाद में आत्मा के दो स्वरूपों को ही स्वीकार किया गया है, एक तो वह जिनमें वह परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकती और दूसरी वह जिनमें वह पमत्मा में विभक्त हो जाती है। जैनधर्म की पूज्यपाद के अनुसार उक्त श्रवणाओं में प्रथम दो श्रवणाएँ गुरुपाद की पहली आत्मा की गति की हैं और तीसरी उनकी दूसरी के समान।

इस प्रकार जैनधर्म में आत्मा की तीनों श्रवणा (पणम-आत्मा) आत्मा का ही एक अंग है, परम-आत्मा और आत्मा का अन्त अमिथ नहीं है अर्थात् आत्मा ही पणम-आत्मा है। आत्मा इनकी शक्तिशाली है कि वह स्वयं परम-आत्मा का रूप धारण कर लेती है, उमत्ता रूप विमिश्र हो जाता है, वह शरीर गति, दृष्टि रहित, मल रहित, विमुक्त परमपद में स्थित, केवलज्ञानी, मल कर्मों की विवेका, ज्ञानाकारि, शान्ति एवं निष्ठ हो जाती है, यथा —

मनरहिओ कवचली आरिद्विओ केवलो विमुद्धप्पा ।

परमेष्ठो परमनिरो मिक्करो सामओ निद्धो ॥^३

यथा आत्मा उसे 'मेरे' और 'उमरे' का भाव नहीं रहता उनके बिना यह स्थिति हो जाती है कि किनकी समाधि कर ? किनकी श्रवणा कर ? मर्गा-मर्ग का विचार कर किनका पत्थिण कर ? किनमें मित्रता और किनसे शत्रुता कर ? उहा कही देवता है, आत्मा ही दिखाई पड़ती है —

को ? मुनमाहि करउ को अचउ

छोपु-अठोपु करिबि को वचउ ।

१ आचार्य पूज्यपाद, "ममाधितन्त्र", चौर सेवा मन्दिर, दिल्ली ।

२. कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्षपादुड, चौथा और पांचवां श्लोक ।

३ (क) कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्षपादुड छठा श्लोक

(ख) महावीर जयन्ति स्मारिका, अप्रैल ६२ श्री बापुदेवसिंह के लेख में उद्धृत-पृष्ठ १७४



हल सहि कलह केण समाणउ,
जहि कहि जोवउ तहि उप्पाणउ ॥^१

आत्मा का यही शुद्ध रूप परम-आत्मा है, जैनधर्म में यही ब्रह्म का पर्याय है। ब्रह्म की व्युत्पत्ति 'वृह' (वडना) धातु से हुई है। जो वृहत्तम है जो सबसे बड़ा चड़ा हो, जिसमें वडना क्रिया के सभी अर्थ शामिल हो, उसे ब्रह्म कहा जाता है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि ब्रह्मवादियों ने अपने भाष्यों में ब्रह्म शब्द की यही व्याख्या की है।^१ परम-आत्मा, जैनधर्म में आत्मा का यही बड़ा चड़ा या वृहत्तम रूप है। आचार्य योगीन्दु के अनुसार^२—

“भूढ दियवलणु बभु परु अप्पा ति विहु हवेइ”

अर्थात् शुद्ध आत्मा ही ब्रह्म है, उसका कोई अलग स्वरूप या अस्तित्व नहीं है। इसका कारण यह है कि सिद्ध और ब्रह्म एक ही है —

जेहुउ गिम्मलु एणणमउ सिद्धिहि एिवसइ देउ ।
तेहुउ गिंवसइ बभु परु देहु म करि भेउ ॥^३

और सिद्ध, आत्मा का ही विकसित रूप है, जो आठ कर्मों^४ से मुक्त हो जाते हैं तथा उसके बाद जो सिद्धि प्राप्त करते हैं वे ही सिद्ध हैं।^५ इस प्रकार के सिद्ध अमूर्तिक, अव्यक्त, ज्ञानयुक्त और शाश्वत सुख के धारणकर्त्ता होते हैं।^६ श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने उसमें सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मता, अगुरुलघु और अव्यावाध नामक आठ गुण बताये हैं —

सम्मत्त एणण दसण वीरिय, सुहुम, तहेव, अवगहण ।
अगुरुलहुमग्वावाह अदठगुणा होंति सिद्धाण ॥^७

कबीर का निर्गुण ब्रह्म भी अमूर्तिक और अव्यक्त है।^८ अतः वह जैनधर्म के सिद्ध या परम-आत्मा के समान ही है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैनधर्म में आत्मा और परम-आत्मा एक ही है। हिन्दू धर्म भी यही मानता

१ योगीन्दु मुनि, योगसार, दोहा-४०

२ साहित्यकोश, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ ५२०

३ परमात्मप्रकाश, १।१३, पृष्ठ २२

४ वही १।२६, पृष्ठ ३३

५ आठ कर्म निम्न है — ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय मोहनीय आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ।

६ आचार्य पुण्यपाद, सिद्ध भक्ति, पहला श्लोक (दश भक्ति) शोलापुर, पृष्ठ २७

७ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी भक्ति काव्य और कवि, ज्ञानपीठ पृष्ठ ४५६

८ कुन्दकुन्दाचार्य सिद्धभक्ति (दशभक्ति), शोलापुर, पृष्ठ ६६

९ सतो घोखा कासू कहिये ।

गुण मे निरगुण, निरगुण मे गुण, बाट छाडि बयूं बहिये ॥

अजरा अमरा कयें सब कोई, अलख न कयणा जाई ।

नाति स्वरूप बरण नहि जाकैं, घटि-घटि रह्यो खमाई ॥

प्यड ब्रह्मण्ड कयें सब कोई, वाकैं आदि अरु अन्त न होई ।

प्यड ब्रह्मण्ड छाँडि जे कथिए, कहै कबीर हरि सोई ॥

है। आचारगमून में व्यक्त 'मोक्ष' (वह मैं ही हूँ)^१ तथा उपनिषदों के 'सोऽह' (वह मैं ही हूँ) या 'अयमस्मि' (यही मैं हूँ)^२ में कोई अन्तर नहीं है। 'तवममि' (वही तू है)^३ 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूँ)^४ तथा मुनिदिग्ग मूर्ति मनूर विन अल-हम्माज वा 'अन-हव' (मैं ही ब्रह्म हूँ)^५ आत्मा और परम-आत्मा (ब्रह्म) की अनित्यता व्यक्त करने वाले चिन्तन वाक्य हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में भी आत्मा और परम-आत्मा (ब्रह्म) की एकता को व्यक्त करते हुए कहा गया है—'तत्त्वमसि न आत्मा तत्त्वमसि' अर्थात् वह नृत्य है, वह आत्मा है, वह तू है।^६ इस प्रकार जैन कवियों एवं कबीर की आत्मा, परम-आत्मा (ब्रह्म) विषयक मान्यताओं में कोई मौलिक भेद नहीं है।

सद्गुरु

विश्व के मजने बड़े रहस्य परम-तत्व (परम-आत्मा या ब्रह्म) में साक्षात्कार करना बहिर्गता के लिए मजबूत नहीं है क्योंकि उस समय वह सामाजिक मूल्यों में तल्लीन रहता है। उसे अपने अस्तित्व का आभास तक नहीं होता, ऐसी स्थिति में उस रहस्य की ओर प्रवृत्त करना गुरु का कार्य है। गुरु ही आत्मा और परम-आत्मा को मिलाने में मध्यस्थ का कार्य करता है अर्थात् गुरु के द्वारा भवन के काम में भक्ति का मन्त्र फूँका जाता है, जिससे उनके ज्ञान स्पी नेत्र खुल जाते हैं। परम-आत्मा व उनमें साक्षात्कार के मार्ग को समझने लगता है।

जैन धर्म में मन्त्रगुरु और ब्रह्म (परम-आत्मा) में समानता का भाव है, जबकि कबीर का गुरु ब्रह्म से पृथक् और बड़ा है। इन कारण जैन साधकों की भक्ति में मन्देह की भावना कम रहती है। अर्हन्त, मित्र, उपाध्याय, आचार्य, माधु इन पञ्च परमेश्वरी के रूप में जैनधर्म में पाँच गुरु हैं और पाँचों परम-आत्मा के रहस्य की प्राप्ति के मार्ग में सहायक होते हैं। मन्त्रगुरु की योग्यता के ऊपर साधक की फल प्राप्ति निर्भर करती है, फलतः मन्त्रगुरु ऐसा होना चाहिए जिसमें शिष्य का हृदय मशय, भ्रम, मिथ्यात्व और मोह में मुक्त हो जाय, चूँकि आत्मा का स्वभाव नानात्मिक मोह में युक्त होता है। अतः उसे मन्त्रगुरु का मन्त्रा उपदेश भी अधिक नहीं लगता, इसलिए मन्त्रगुरु का सर्वांगीण होना नितान्त आवश्यक है।

कबीर का गुरु तो ऐसा है कि जिसके शब्द-बोध लगने ही शिष्य का मोह-जाल तत्काल नष्ट हो जाता है।^७ किन्तु जैनधर्म में मन्त्रगुरु के कोमल वचनों को सुनकर शिष्य मृग की तरह गीक जाता है—

कोमल वचन गुरु बोले मुख सेली सुन,
सुन मम रीकै-रीकै भ्रम सुनि नादिका ॥

इन भवनामर को पार करने के लिए गुरु स्त्री जहाज की बराबर आवश्यकता रहती है। भूधरदास (ग्रन्थ-रहस्यी शताब्दी) के गुरु तो ऐसे हैं कि वे स्वयं भी इस भवनामर में पार होते हैं और दूसरों को भी पार कराते हैं—

- १ आचारग के सूचन, अनुवादक श्री चन्द्रगाम पुरिया, पृष्ठ ६
- २ बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय चतुर्थ, ब्राह्मण चतुर्थ, मन्त्र बारहवाँ।
- ३ छान्दोग्य उपनिषद्, पृष्ठ प्रपाठक, अष्ट खण्ड, मन्त्र ७ वाँ।
- ४ बृहदारण्यक उपनिषद्, प्रथम अध्याय, ब्राह्मण चतुर्थ, मन्त्र दसवाँ।
- ५ साहित्यकोश, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ २६ पर उद्धृत
- ६ डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्यिक निबन्ध, पृष्ठ ४६० पर उद्धृत, (संस्करण १९६८)
- ७ सतगुरु साई कर्माण करि, बाह्यलागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सू, भीतरि रह्या शरीर।
८ आध्यात्मसर्वेया, आमेर शास्त्र मण्डार, जयपुर, २६ वे पद्य का पूर्वाद्ध





ते गुरु मेरे मन बसो, जे नव जलधि जिहाज ।

आप तिन पर तारहीं, ऐसे ही ऋषिगज ॥^१

मतगुरु का उपदेश आसबो के लिए दीवार, कर्म के कपाटो को खोलने वाला और मोक्ष के लिए पैडी का काम करता है —

यह सतगुरु दी देशना, कर आसब दीबाडि ।

लट्टी पंडि मोखदी, करम कपाट उधाडि ॥^२

गुरु की कृपा से ही परम-आत्मा की प्राप्ति होती है । सुन्दरदाम की आत्मा को गुरु की दयालुता ने ही परम-आत्मा तक पहुँचा दिया था ।^३

इसी तरह ब्रह्मजिनदास ने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को सतगुरु की कृपा से ही प्राप्त किया है —

तेह गुरे मे जाणी या ए, सद्गुरु तणे पसावतो ।

भवि-भवि स्वामी सेवसु, ए लागु सद्गुरु पाव तो ॥^४

इस प्रकार जैन धर्म में भी गुरु के अभाव में रहस्यमय ब्रह्म को पाना असंभव है क्योंकि वही सांसारिक मिथ्यात्व के आवरण को दूर कर परमसत्ता से साक्षात्कार के लिए उन्मुख करता है इसीलिए मुनि नथमल के गुरु, जो 'मुक्त तक पहुँच जाने में समर्थ है पूजनीय हैं —

‘मेरे पूजनीय ।

मैं तुम्हारी पूजा इसलिए नहीं करता —

कि तुम बड़े हो,

किन्तु इसलिए करता हूँ कि —

तुम मुक्त तक पहुँच जाते हो ।’

रागात्मक सम्बन्ध

रहस्यवाद में आत्मा और परम-आत्मा में एकता और उस एकता की रागात्मक अनुभूति का प्राप्त होना आवश्यक है । परम-आत्मा या ब्रह्म इन्द्रियातीत अगम्य होते हुए भी वह गम्य है, वह अलौकिक प्रेम द्वारा ही प्राप्य है । प्रेम या अनुराग या रागात्मक सम्बन्ध भक्ति के स्थायी भाव हैं । परम आत्मा के रहस्य से साक्षात्कार करने के लिए भक्ति के इसी रागात्मक सम्बन्ध को माध्यम बनाया जाता है । यह रागात्मक सम्बन्ध मानवेतर या स्वयं ब्रह्म से होता है, अतः लौकिक नहीं हो कर अलौकिक है ।

हिन्दी साहित्य में कबीर और जायसी ने परम-आत्मा की प्राप्ति के प्रयत्न में प्रेम की व्यास को खूब बुझाई है किन्तु कबीरदास ने ब्रह्म के अपार सौंदर्य को घट के भीतर ही रखा है, इसके विपरीत जायसी एवं जैन कवियों ने परम-तत्त्व के सौंदर्य को प्रकृति के कण-कण में उडेल दिया है, उनमें सेवेदनात्मक अनुभूति की अधिकता है । सतगुरु के द्वारा

१ भूधरदास, आध्यात्म पदावली, ज्ञानपीठ, पृष्ठ ८४

२ बनारसीदास, 'बनारसी विलास', जयपुर (१९५४) दोहा २३, पृष्ठ १३६

३ परमात्मसो आत्मा जुड़े रहे बहुकाल ।

सुन्दर मेला करि दिया सद्गुरु मिले दयाल ॥

४ ब्रह्मजिनदास, 'आदिपुराण', प्रशस्तिसंग्रह, जयपुर २०४

५ मुनि नथमल, 'मेरे पूजनीय', जन भारती, १० सित० १९६७, पृष्ठ ६५७

परम आत्मा का प्राप्त करने की जो प्रेरणा भक्त को मिलती है उसी की आवागमिला पर प्रारम्भ में उसे ईश्वर की कृपा का विश्वास व आशान होता है । तदनन्तर वह उसकी ओर आकर्षित होता है और अन्त में वह आकर्षण बिन्दु में बदल जाता है । बिन्दु में ब्रह्म में मिलने के लिए आत्मा अपनी व्याकुल हो जाती है कि उसके बिना उसको चैन नहीं पड़ती, हाथन यह हो जाती है कि भूत और प्यास नष्ट नहीं लानी —

मछी की अब तो रह्यो नहि जान ।
प्राणनाथ को प्रीति न विमरन, छल-छल छोजत जान ॥
नहि भूख नहि निषु लागन धरहि घरहि मुरमान ।
मनतो दरसी रह्यो मोहन नु, नेवन ही मुरन्नात ॥^१

और ऐसी हानन में ब्रह्म नही अति पार प्रेम के प्यास को नयाग किया है, उनको पीकर मनवाला ही परम-आत्मा की मृदुल्य के मकान है, दुनिया में ही नमाना देती रहे—

मनसा प्यासा प्रेम ममाना, ब्रह्मअग्नि पर जाली ॥
तन माटी अबटाई पिये कम आगे अनुभव लानी ॥
अगम प्यासा पीयो मतवाला, बिही आम्नातम वामा ।
आनन्दधन जनन ह्वे सेले, देखे लोक तमासा ॥^२

किन्तु भी उन्नी-उन्नी ऐसा होता है कि परम-आत्मा के पान पहुँचने-पहुँचने नया पत्रिय होने के कारण उनसे माध्याम्य नही पाते, भने ही उनमें टनने निकट हो जैसे हाथ-मे-हाथ या नाम-मे-नाम टकन जाये —

तुम ?
कि मेरे नामने जो
नवरा अव्यवहित, अनादित, अटिक-स्पष्ट
और नये पत्रिय की आँखों में म्वच्छन्द, निर्वन्ध,
उनने निकट कि
हाथ मे हाथ छ जाये
नाम मे नाम टकन जाये
कि भी एन दूमे की दू नहीं पाये ।^३

किन्तु प्रेम का नी-ऐसा अव्यव होता है कि उनके लगने के बाद मायक उनमें बच नहीं पाना । कबीर को भी जब मन्त्र की चोट लगती है तो उसे और कोटी ठी नहीं चली,^४ जायसी ने प्रेम-बाण के लगने के बाद की स्थिति बड़ी दुःखदायी बनाई है,^५ यही स्थिति जैन मायका की है—

- १ नटारक कमुदचन्द्र, हिन्दी पद संग्रह (श्री महावीर जी) पृष्ठ १६
- २ आनन्दधन पद संग्रह आध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, पद्य सत्या २८
- ३ मुनि रूपचन्द्र, 'कला-अकला' आदर्श साहित्य सघ, पृष्ठ १
- ४ नारायणत पुकारिया, पीठ पुकारे और ।
लागी चोट मवाद की, रह्या कबीरा ठौर ॥
- ५ जायसी—प्रेमघाव दुख जान न कोई
जेहि लागे जान ते सोई ॥





कहा दिखावू और कू, कहा समझाऊँ मोर ।
तोर अचूक है प्रेम का, लागे सो रहे ठोर ॥^१

और इस प्रकार जब उसे प्रभु की प्राप्ति हो जाती है तो वह उसमें मग्न हो जाता है, तन-मन की दुविधा विमरती है, दीनता दूर हो जाती है, अनुभव रस की प्राप्ति हो जाती है और चिदानन्द की भोज मच जाती है —

हम भगन भये प्रभु ध्यान मे ।
विसर गई दुविधा तन मन की, अचिरासुत गुन गान मे ॥
हरि-हर ब्रह्म-पुरन्दर की निधि, आव नहीं कीउ मान मे ।
चिदानन्द की भोज मची है, समता रस के पान मे ॥
इतने दिन तू नाहि पिछान्यो, जन्म गंवायो अज्ञान मे ।
अब तो अधिकारी हूँ बैठे, प्रभु गुन अखय एजान मे ॥
गई दीनता सभी हमारी, प्रभु तुझ समकित दान में ।
प्रभु सुन अनुभव इसके आगे, आवत नहि फौड ध्यान मे ॥^२

उपरोक्त प्रकार से परम-आत्मा के प्रति रागात्मक सम्बन्ध के माथ-माथ उठते, बैठने, खाने, पीने, सोने, जागते, सभी में उसी परम-आत्मा (ब्रह्म) को देखते रहना चाहिए। इस तरह की जाग्रतावस्था की स्थिति में ही उस अनन्त की ओर लगन स्थिर रहती है।

परम-आत्मा (ब्रह्म) प्राप्ति के मार्ग में बाधाएं

परम रहस्य से साक्षात्कार करने का मार्ग बड़ा कटकाकीर्ण है, उसमें अनेक बाधाएँ आती हैं, चूँकि मानव सामानिक जीव है अतः समार से सम्बन्ध-विच्छेद करने के उपरान्त भी नाना प्रकार के अवरोध परम-आत्मा की प्राप्ति के समय आते रहते हैं। माया उन्हीं में से एक है। कबीरदास ने माया का मनमोहन रूप बताया है। जो अपने रूप से सबको आकर्षित करती है।^३ पाणिनी, मर्षणी, ठगिनी, डाकूणी, विश्वामघातिनी आदि कबीर के अनुसार माया के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं तथा मान, आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सा, मद, ममता, मिथ्यात्व आदि सब माया के ही परिचारी हैं। इन्हीं के फेर में फगकर ममारी जीव परम-आत्मा (ब्रह्म) से विमुक्त हो जाता है। जैनधर्म भी माया को ठीक इसी रूप में देखता है। उसे विजली की आभा के समान माना गया है जो अज्ञानियों को ठीक उसी प्रकार ललचाती है जिस प्रकार क्षणभंगुर विजली की चमक—

धुनि ठगनी माया, ते सब जग ठग लाया ।
टुक विद्वांस किया जिन तेरा, सो भूरख पछताया ॥
आभा तनक दिखाय विजलु, ज्यो भूढ़मती ललचाया ।
करि मद अघ धर्म हर लीनो, अत नरक पहुँचाया ॥
केते कथ किये तँ कुलटा, तो भी मन न अघाया ।
किसहीसी नहि प्रीति निभाई, वह तजि और लुभाया ॥

१ आनन्दघन पद सग्रह, चम्बई, पद स० ४

२ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भवित काव्य और कवि, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ २०२ पर उद्धृत।

३ कबीर माया मोहनी, मोहे जाए सुजाण ।
भागा ही छटे नहीं, मरि-भरि मारे बाण ॥

‘भूधर’ छलत फिरत यह सबजों, नौद्व करि जग पाया ।
जो इस ठगनी को ठग बैठे, मैं तिनको शिर नवाया ॥^१

इन माया में छुटकारा पाना ही परमात्मा का प्रथम नोषान है । माया में निर्निष्ठ मनुष्य ही ब्रह्म के नान्विकट पहुँच सकता है । माया का सर्वाधिष्ठ प्रभाव मन पर पड़ता है अतः अन्तःकरण को शुद्ध कर मन की चञ्चलता पर विजय पाना आवश्यक है—

जग के माया बन्धन छोड़े,
पर मन के यदि बन्ध न तोड़े,
तो क्या, क्योंकि चित से बाहर,
जगत और सन्यास नहीं है ।
प्यास लगी जब नीर नहीं था,
नीर भरा अब प्यास नहीं है ।^२

अज्ञानता का नाश एक ज्ञान का प्रकाश होने पर माया हार मान जाती है । अतः रहस्यमार्गी को प्रज्ञावान होना चाहिए ।

भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति

रहस्य की अनुभूति का अनुभव हेमचन्द्र, रोकण, गाकर, या नाचकर विविध प्रकार में किया जा सकता है’ इन तरह की अनुभूति आज तब कितने ही जैन-जैनतर नाचकों ने प्राप्त की है, किन्तु हम सबको रहस्यवादी नहीं कह सकते । जैना कि प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है, परम-आत्मा में साक्षात्कार के प्रयास में सहज प्राप्त अनुभूतियों को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति कर जब एक भाव समूह के रूप में उनका एकत्रीकरण होता है तब ही उन एकत्र रूप को रहस्यवाद कहा जाता है और ऐसा करने वाले रहस्यवादी कहलाते हैं । कवीर, जायसी, प्रताप, पतन और महादेवी के साहित्य के समान ही हिन्दी जैन साहित्य में कुन्दकुन्दाचार्य, पूम्पपाद, बागीन्दु बना सीदान, भूधरदास, ब्रह्मजिनदास, बानत-राय, आनन्दधन, पाण्डे स्वचन्द्र, मुनि नयमन, मुनि स्वचन्द्र, मुनि हजारीमनजी व गणेशलालजी आदि ऐसे ही प्रमुख रहस्यवादी कवि हैं । इनका अधिकांश साहित्य रहस्यवाद में परिपूर्ण है । उनके साहित्य में “आत्म-ब्रह्म के प्रेम की अभिव्यक्ति रूपकों के द्वारा की गई है ।”^३ ये स्वयं भी बड़े सन्न हैं, किन्तु उनमें मयम की मात्रा अधिक है । एकदम भावुक होकर पानी की तरह बहने नहीं हैं । साहित्यिक गुणों की रक्षा के साथ-साथ परम-आत्मा की प्राप्ति में सहज प्राप्त अनुभूतियों का भी ब्यापक अंकन हुआ है । विशाल मात्रा में उपलब्ध ऐसे साहित्य पर तटस्थ अनुसंधान की सामायिक आवश्यकता है ।



१ (क) हिन्दी पद सग्रह, (दि० जैन अ० क्षेत्र, श्री महावीर जी) में संकलित, भूधरदास का पद पृष्ठ १५४

(ख) इस पद की कवीर के “माया महा ठगनी हम जानी,

निरगुन फान लिये कर डोले, बोले मधुरी बानी ” वाले पद से मिलाइये

२, मुनि श्री स्वचन्द्रजी, ‘कला-अकला’ आदर्श साहित्य सच प्रकाशन, पृष्ठ ५१

३ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ-६



संत कवि रायचन्द्रजी और उनकी रचनाएँ

मुनिश्री लक्ष्मीचन्द्रजी म०
(स्व० गुरुदेव श्री मुजानमलजी म० के शिष्य)



रयानकवामी परम्परा में कई प्रभावशाली संतकवि हो गये हैं। उनकी आचार्य जयमलजी म० की परम्परा ने हिन्दी साहित्याकाश को कई उज्ज्वल नक्षत्र प्रदान किये जिनमें आचार्य रायचन्द्रजी, आमकरणीजी, मवलदासजी, मुनि पीरचंदजी, ताराचंदजी, भगवानदासजी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। स्वयं आचार्य जयमलजी प्रभावशाली संत एवं कुशल कवि थे। उनके व्यक्तित्व को सूर्य से उपमित किया जा सकता है। उन्हीं से प्रेरणा पाकर उक्त कवियों का प्रकाश अधिकाधिक विकीर्ण होता रहा। आलोच्य कवि रायचन्द्रजी इसी सौरमंडल के कीर्तिमान ज्योतिष्पिंड थे।

जीवन-वृत्त

आचार्य श्री रायचन्द्रजी का जन्म स० १७९६ आश्विन शुक्ल एकादशी को जोधपुर में हुआ। इनके पिता का नाम विजयचन्द्रजी घाड़ीवाल तथा माता का नाम नन्दादेवी था। माता-पिता के धार्मिक सम्बन्धों से बालक रायचन्द्र का हृदय अध्यात्म-चिन्तन की ओर उन्मुख हुआ। जब आचार्य जयमलजी म० जोधपुर पधारे तो रायचन्द्रजी अपने माता-पिता के साथ इनके व्याख्यानोदि सुनने के लिए धर्म-स्थान में गये। जयमलजी प्रभावशाली वक्ता थे। उनमें तप, त्याग का ओज और शास्त्रीयज्ञान का अतुल बल था। साथ ही वे थे एक कुशल सहृदय कवि। उनके प्रवचन का रायचन्द्रजी पर उसी प्रकार प्रभाव पड़ा जैसा उपजाऊ भूमि में डाले गये किसी बीज पर पड़ता है। इनका परिवार भग-पूरा और सम्पन्न था। इनके दादाजी व नानाजी नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे। इनके दो बहिनें, एक भाई तथा माता-पिता जीवित थे। ऐसे चहुँकते हुए सासारिक बाग को छोड़कर ये जयमलजी म० के चरणों में जा पहुँचे और समय-मार्ग के पथिक बनने की भावना व्यक्त करने लगे। लोगों ने दीक्षा के दुर्गम मार्ग से इन्हें सूब परित्यक्त कराया पर वे अपने निश्चय पर दृढ़ बने रहे। अन्ततोगत्वा इन्होंने स० १८१४ में आपाठ शुक्ला एकादशी को पीपाठ बाहर में आचार्यजी जयमलजी से श्रमण दीक्षा अंगीकृत की।

पुत्र का दीक्षित होते देखकर पिता का मन भी विरक्त हो गया। कुछ समय बाद विजयचन्द्रजी भी दीक्षित हो गये। पिता-पुत्र दोनों साधनागम जीवन व्यतीत करते हुए ग्रामानुष्ठान विचरण करने लगे।

श्री रायचन्द्रजी आचार्य जयमलजी के प्रिय, विनीत शिष्यों में से थे। गुरु से प्रेरणा पाकर वे भी काव्य-साधना में प्रवृत्त हुए और इन्होंने काव्य क्षेत्र में कई नवीन काव्य-रूपों का उद्घाटन किया। इनकी समस्त रचनाएँ विभिन्न

भंडागे में हस्तलिखित प्रतियों के रूप में बिबरी पड़ी हैं। उनके मद्रह-सम्पादन की मही आवश्यक्ता है।

कवि होने के साथ-साथ रायचन्द्रजी चर्चावादी सन थे। अपने नर्कन, हेतु-दृष्टान्त एवं आगम प्रमाणों के आधार पर प्रचलित मिथ्या धारणाओं का चटन कर, तैल तत्त्व को मही रूप में प्रस्तुत कर, इन्होंने जिन सामन का बड़ा प्रचार-प्रसार किया। उनकी विवेचना इनकी तार्किक और मार्मिक होनी थी कि जो भी सुनता प्रभावित हुए बिना न रहता। नव दीक्षित साधु-साधियों के प्रति इनका माता-पिता की तरह ध्यान रहता था और वे उन्हें बड़े प्रेम से आचार धर्म की शिक्षा देने थे। अपने पिता एवं आचार्यश्री की प्रशिक्षण समय तक इन्होंने सम्मान भाव से सेवा की व समाधिमण में स्थापित रहे। इनकी योग्यता एवं विद्वानता से प्रभावित होकर जयमलजी ने अपनी उपस्थिति में ही उन्हें अपना उत्तर-गविकागी बना दिया।

आचार्यश्री के स्वभाव ने पश्चात् ये पट्टा आचार्य बने। इन्होंने ८५ वर्ष तक मिह की तरह ग्रामाग्राह्य विचारण कर धर्म-प्रचार किया। बाद में शीरीर दुर्बलता के कारण जोधपुर में स्थित विराज गये। यहाँ स० १८६१ में चैत्र सुदि १ को शारीरिक स्थिति को जीवनम देकर, आनोचना प्रतिमणपूर्वक नूवीरता के साथ मथान अगी-बाग किया और चैत्र सुदि २ को गेहिट ग्राम में स्वर्गामी बने।

आचार्य रायचन्द्रजी कवि होने के साथ-साथ सुन्दर लिपिकार भी थे। उनके द्वारा लिखे हुए कुछ पन्ने लेखक के पाव मगूहीन हैं। उनकी लिपि सुन्दर सुवाच्य और स्पष्ट है। इन्होंने अपनी प्रत्येक रचना के अन्त में प्रशस्ति रूप से प्राय रचना-मदन्, रचना-मयल, गुरु-प-स्पर्ग आदि का उल्लेख किया है। इनमें सूचित होता है कि जोधपुर, पानी, मोजन, बीकानेर, जयपुर भटना आदि इनके विशेष विद्या-क्षेत्र रहे हैं।^१

रचनाएँ

विभिन्न भंडागे में यन्त्र-विगरी हुई अब तक प्राप्त आचार्य रायचन्द्रजी की रचनाओं की सूची-नाम रचना काव, रचना-मयल व छंद-मय्या के ज्ञानव्य के साथ—यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

| क्र | रचना-नाम | रचना काल | रचना-स्थल | छन्द सत्या |
|-----|--|-------------------|-----------|------------|
| १ | भविष्य की क्या पर टाल, शोध कपाय पर चौपाई | १८०६ आनीज | नागौर | |
| २ | उपदेशी कटा | १८२० वैशाख सु ६ | बिबरी | |
| ३ | उपदेश टक्कीनी | १८२० वैशाख सु ६ | बिबरी | |
| ४ | उपदेशी टाला (विशेष मय्या में) | १८२० | बिबरी | |
| ५ | उत्पत्ति की मज्जाय | १८२० वैशाख सु ६ | बिबरी | |
| ६ | कड़ावा | १८२० वैशाख सु ६ | बिबरी | |
| ७ | गर्म बत्तीनी | १८२० | | |
| ८ | श्वानोश्वान की मज्जाय | १८२० | फलीदी | |
| ९ | काठ बमों पर चौपाई | १८२१ वार्षिक ब० ८ | नागौर | |

१ यह परिचय इनके शिष्य ग्रामकरणीजी द्वारा रचित एक सगीतिका के आधार पर लिखा गया है। इसकी रचना स० १८६१ चैत्र शुक्ला अष्टमी को रोहित में की गई। इसमें २२ गायार्ए हैं।





| | | | | |
|----|---|---------------------|---------|----|
| १० | जम्बू स्वामी की सज्जाय,
नन्दन मणिहार की चौपाई | १८२१ कर्तिक सुदि ८ | नागौर | १२ |
| ११ | आठ कर्मों पर ढाल | १८२१ | | १३ |
| १२ | बाबोय पण्डित की ढाल | १८२२ | निवरी | २२ |
| १३ | महात्रतो की ढालें | १८२२ | | |
| १४ | मल्लीनाथजी की चौपाई | १८२८ कार्तिक सु० १४ | नोजत | |
| १५ | नदन मणिहार व अभयमेन चोर को चौढालियो | १८२६ | बीमलपुर | १२ |
| १६ | बहुपतिया देवी नो चरित्र | १८२६ आसोज सुदि ३ | मेडता | |
| १७ | नमीराय ऋषि की सज्जाय | १८२६ | जानोर | |
| १८ | १६ तीर्थंकरों का स्तवन | १८२६ | | |
| १९ | चेतन पच्चीमी | १८२८ वैशाख सुदि ६ | निवरी | |
| २० | सुदर्शन चरित्र | १८२८ वैशाख सुदि ६ | | |
| २१ | हृत्किपी चरित्र | १८२८ | वीकानेर | १० |
| २२ | महावीरजी को चौढालियो | १८२९ कार्तिक व० | | |
| २३ | केलावती की चौपाई | १८३० आसोज सु ५ | मेडता | १६ |
| २४ | कमलावती की ढालें | १८३० आसोज | मेडता | |
| २५ | एवन्ता ऋषि की ढाल | १८३१ | पाली | ४ |
| २६ | गुरुजी की चेला को सींग | १८३१ | पाली | |
| २७ | निन्हव वावनी | १८३१ | पाली | |
| २८ | विभीषण की रावण को सींग | १८३२ | फरोदी | |
| २९ | गमफित्त नो चौढाल्यो | १८३३ जेठ व० ८ | पीपाड | |
| ३० | कपट पच्चीमी | १८३३ आसोज सु ३ | | |
| ३१ | रावण उद्धार रात ढालियो | १८३३ कार्तिक व० १५ | मेडता | |
| ३२ | उपदेवी ढालें (विशेष सरया मे) | १८३३ | मेडता | |
| ३३ | ममाथि पच्चीसी | १८३३ | मेडता | |
| ३४ | दम स्वप्नों की सज्जाय (म० महावीर
ने कवचगान होने से पहिले देखे) | १८३३ | मेडता | |
| ३५ | गौतम स्वामी को रास | १८३४ | वीकानेर | |
| ३६ | राजमनि नेमनाथ की चौढाल्यो | १८३४ | जोधपुर | |
| ३७ | आपाढभूनि मुनि की पंच ढालियो | १८३६ | नागौर | |
| ३८ | गजा चेडा की सात पुत्रियों के गुण | १८३६ | मेडता | ५ |
| ३९ | निन्हव छत्तीसी | १८३६ | पाली | |
| ४० | चेलणा राणी चौढालियो | १८३७ | गीया | |
| ४१ | मृगलेख्या चौपाई | १८३८ | जोधपुर | ६२ |
| ४२ | चितवल्लभ चौढाल्यो | १८३९ | नागौर | |
| ४३ | दीवाली स्नवन | १८३९ | नागौर | २० |
| ४४ | नमिगजा की ढाल | १८३९ पौष व० १३ | कुचेरा | |
| ४५ | गोलह मति की ढालें | १८३९ | नागौर | |

| | | | | | |
|-----|---|------|----------------|---------|----|
| ८६ | रिन्ददे जी को चग्नि | १८८० | प्राचीन मु० ५ | पौण्ड्र | ८३ |
| ८७ | नमीराय की टान | १८८० | पौन मु० १३ | दुर्वे | |
| ८८ | नरमदा की चौपाई | १८८१ | | जोयपुर | २८ |
| ८९ | गजमनि गृहेमी की मञ्जराय | १८८१ | | पौण्ड्र | |
| ९० | रर रर की चौपाई | १८८२ | | नागी | |
| ९१ | फुटकर बोन पद | १८८२ | | मेरना | |
| ९२ | वृत्त भेरी मवाद | १८८३ | | | ८ |
| ९३ | स्त्री पत्नी | १८८३ | | गजपुर | |
| ९४ | गजमनि को चौटानियो | १८८४ | आमोज | जोयपुर | |
| ९५ | मगवान महावीर के ज्ञानन मे नौ जीवो
मे तीर्थकर रमे उपार्जन किया जिनकी
टान | १८८६ | | | |
| ९६ | पुष्क वृत्ता की चौपाई | १८८७ | | जोयपुर | ८ |
| ९७ | देवकी गणो की टान | १८८७ | | नाचोर | |
| ९८ | मेनारज मुनि चग्नि | १८८९ | आमोज मुदि १५ | नागौर | २० |
| ९९ | गौतम गुण माला | १८८९ | | नागी | |
| ९० | पुत्र्य गुा माला | १८९३ | वैमान | | ३ |
| ९१ | ग्यनेमि गजमनि का पत्र टालिया | १८९४ | वैमान | जोयपुर | |
| ९२ | गज श्रेणिक को चौटानियो | १८९८ | चैत्र मुदि १५ | पानी | |
| ९३ | शानिमर पटशानियो | १९३१ | | नागी | |
| ९४ | वैर न्यामी की टान | १९५० | वात्तिक ग्र० ७ | जोयपुर | ८ |
| ९५ | विपापहार म्मोन व नेमिनाय म्मवन | | | | |
| ९६ | भूँठन आत्रफ नो चौटानियो | | | | |
| ९७ | मृग मुन्दरी चौटानियो | | | | |
| ९८ | गिवपुर नगर का म्मवन | | | | |
| ९९ | महामनी बेलणा की टान | | | | |
| १०० | योवन पञ्चमी | | | | |
| १०१ | गजाचन्द्रगुप्त के १६ म्मवन | | | | |
| १०२ | १० श्रावण की मञ्जराय | | | | |
| १०३ | चन्द्रह बोन जी मञ्जराय | | | | |
| १०४ | दम मुत्रा नी मञ्जराय | | | | |
| १०५ | लोम पञ्चमी | | | वांगनेर | |
| १०६ | दीक्षा की टान | | | | |
| १०७ | दीक्षा पञ्चमी | | | | |
| १०८ | महदेवी की टान | | | | |
| १०९ | मेणया जी चौपाई | | | | |
| ११० | विजयकुंजर को चौटानियो | | | | |
| १११ | तनकुंजर की टान | | | | |





८२ श्रियामकुवर की ढाल

८३ श्री चदनबाला मती को बसान^१**‘पच्चीसी’ सज्ञक रचनाएँ**

जैन कवियों ने काव्य-रूपी के क्षेत्र में कई नये प्रयोग किये। प्रचलित काव्यों के कई भेद कर राम, फागु चर्चरी, ढाल, बारहमासा, वेलि, सज्झाय, मगल आदि लिखे। सज्ञा सज्ञक रचनाओं में भी अष्टक, इक्कीसी, चौवीसी, पच्चीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, बावनी, बहोत्तगी, शतक, सतमई, हजारा आदि नामों में अनेक ग्रंथ लिखे। आलोच्य कवि रायचन्द्रजी ने जहाँ कई कथा-काव्य लिखे, स्तवन लिखे वहाँ ‘पच्चीसी’ सज्ञक भी कई रचनाएँ लिखी। इन रचनाओं में सम्बन्धित विषय के गुणावगुणों की चर्चा करते हुए आत्मा को उज्ज्वल बनाने की देशना दी है। अब तक ‘पच्चीसी’ सज्ञक जो रचनाएँ इस दृष्टि से प्राप्त हुई हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

| क्रम | रचना-नाम | रचना सप्त | रचना-स्थल, | छंद सख्या |
|------|--------------------|-----------|------------|-----------|
| १ | बय पच्चीसी | १८०६ | डीडवाना | २८ |
| २ | जोवन पच्चीसी | १८३० | भेडता | २५ |
| ३ | चित्त समाध पच्चीसी | १८३३ | भेडता | २६ |
| ४ | ज्ञान पच्चीसी | १८३५ | जोधपुर | २५ |
| ५ | चेतन पच्चीसी | " | जोधपुर | २४ |
| ६ | दीक्षा पच्चीसी | १७३६ | नागीर | २५ |
| ७ | क्रोध पच्चीसी | " | " | २४ |
| ८ | माया पच्चीसी | " | दीकानेर | २४ |
| ९ | लोभ पच्चीसी | " | " | २४ |
| १० | निन्दक पच्चीसी | " | " | २७ |

इनमें से ‘जोवन पच्चीसी’, ‘दीक्षा पच्चीसी’ और ‘चेतन पच्चीसी’ का मूल पाठ यहाँ दिया जा रहा है। ‘जोवन पच्चीसी’ में कवि ने नर-भाव एवं जवानों को व्यर्थ नष्ट करने वाले लोगों को उद्बोधित कर, जीवन के उत्साह उमग का सही उपयोग करने की प्रेरणा दी है। ‘दीक्षा देने वाले गुरुओं को दीक्षार्थी की पात्रता-अपात्रता पर विचार कर दीक्षा देने की बात कही गई है। ‘चेतन पच्चीसी’ में कज्जुम को अपने धन को लोकोपकारी प्रवृत्तियों में लगाने की प्रेरणा दी गई है।

जोवन-पच्चीसी

पुन्य जोग नर भव लियो टाणो, यँ तो करो रे धर्म, पाप खोटे जाणो
खीर खबरे विना गोत्या खावँ, पण गयो रे जोवन पाछो नहाँ आवँ ॥१॥

१ इनमें से अधिकांश रचनाएँ आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भंडार, जोध प्रतिष्ठान, जयपुर में संगृहीत हैं।

२ ये सभी ‘पच्चीसी’ सज्ञक रचनाएँ आचार्यश्री विनयचन्द्रजी ज्ञान भंडार जयपुर में संगृहीत हैं।

जोवन गमाई बूटो होय बैठो, बले पूगे रे मिथ्यात माइ पैठो ।
पाछे पर भव मे घणो पछतावै ॥२॥ पण ॥

हाथो ने बडा ने काना मे मोती, पहरनो थुरमान पीताम्बर धोती ।
काच देनी ने भेष बनावै ॥३॥ पण० ॥

केन भैवरा शारा हीना शारा गला माही पहरतो मोत्यारी माला ।
मुन नागर बेल रा बोडा चावै ॥४॥ पण०

धुग धुग निन गीना राचता, एतो रूप चुपडीना मरगोरा ।
मेला न जामा पहिया माना पावै ॥५॥ पण

घणा घेरना पहगतो बाग, उपर उपरेणी रा बध लाग ।
मूँछ मोउ बला चटावै ॥६॥ पण०

घन घन रे ओ नाग वनगि, या तो छै न्यागी न्यागी ।
मुग्गे घणी जरी नुवावै ॥७॥ पण०

बांध तो पाग तमरा चीरा, मिर पेच माहि जडिया हीरा ।
छाँगा छालै जो तेयागी जीवना ॥८॥ पण०

ठना भोजन तुगत त्यागी, आमा अयाणा अने तरकारी ।
बन्नु भावन तेवड मगावै ॥९॥ पण०

ममररी गारी ने तरिया, ए तो लोगा माणन बडा बकिया ।
रु जोडी जान मीम न मावै ॥१०॥ पण०

गारु बहे भाँवल रे भाया, ममार तो मपना गी माया ।
बादल जमे माया बगलावै ॥११॥ पण०

हूँ घग्नी धिगणी छुताती माती, ध्वाँगे बेटा बहुनाती गोती ।
गहना पहरे न वेन बणावै ॥१२॥ पण०

नर तो नारी रे अम पडिया, निकल मके नज जीरा जडिया ।
नारी राज घन कुमावै ॥१३॥

नारी हीनी कचन बग्णी, भोगी पुग्मा ग मन हरणी ।
घग्णी पण डपा गे गायो गावै ॥१४॥ पण०

काठ मे ठेनी परी बानी, बाग प्रीतम प्रीत नहीं पानी ।
तुगत लुगाई दूमरी लावै ॥१५॥ पण०

बाग बरडा गहणा नारी, तने धरम री बात नैणा नहीं सूकै ।
तगीया जाय नरक रा दुख पावै ॥१६॥ पण०

माधु कहें माभल रे भाई, तोने भाँत भाँत कर ममभाई ।
तू वामी टुकडो अपाव ॥१७॥ पण

माधा रे जाना नोने राज आवै, तु तो गाल गावा ने तुस्त जावै ।
पाछे पर भव मे घणी पिछतावै ॥१८॥ पण





तीन तमाशा भरता भेला, जठे लोग लुगाई घणा होवै भेला ।
 गैली लुगाई गीतज गावै ॥१६॥ पण०
 खेलता गेरया अने होली, ये तो अणगल नीर घणो ढोली ।
 होल्या मे अकल महु की जावै ॥२०॥ पण
 भुर्रा आइने जो वन जावै, दिने दिन बुढापो नेडो आवै ।
 साधू तो तोने जतावै ॥२१॥ पण०
 काची काया नै काची माया, साथ कहे साभल रे आया ।
 जमारो यो काइ गमावै ॥२२॥ पण०
 कुगुरु कुदेव तणो रसियो, हिमा धर्म मे गाढो वसियो ।
 दया धर्म दिल मे नही भावै ॥२३॥ पण०
 अनं घन लछमी घणी होती, नर भावती पण नहिं घाली ।
 खरची बिना आगे सूं खावै ॥२४॥ पण०
 ममत अठारह सो तीस कीयो, मेढते चोमास जस लीयो ।
 रिप रायचन्द अणगार गावै ॥२५॥ पण०

॥ इति सम्पूर्ण ॥

दिण्या (दीक्षा) पच्चीसी

ढाल—नणदल नी देसी । दीक्षा मति दीजो अयोग्य नै ॥ १ ॥ डेर ॥
 तीजा अग नै ठाँगे तीमरे, अरघ में इतरा बोल । मुनिवर०
 वेनकल्प मे यजिया, अरिहत नी आस्थो खोल ॥१॥ मुनिवर०
 दिण्या म दीजो अजोग नै, ठावी किया विन ठीरु । मुनि०
 पछै ही पिछताव सी, तिण मे भीन नै मेख ॥२॥ मुनि०
 अतही बूढो विद्या नही बले, निवले नानो बाल । मुनि०
 नपूतक नै रोगियो, चोर ने बलेह चडान ॥३॥ मुनि०
 कोई गय नो अपराधी हुवै, गैरी जैरी गुलाम । मुनि०
 आँयो ने बले अनमति, कुप्टी दुप्ट पणिणाम ॥४॥ मुनि०
 मोल नियो नै दिवालियो, हीणो हुवै कुलजात । मुनि०
 सुगार्ण गुध बाहरो, डरयँ दिन नै गत ॥५॥ मुनि०
 चूक बिना हँमटने करै, गर्भवती बले नार । मुनि०
 निणि नै चूंगँ छीकरी, तिण नै तजनिरुनै निग्धार ॥६॥ मुनि०
 कान नाक नै होठ छुटा, हुर्यँ चरुनु हीण मुष्ट मूँड । मुनि०
 दोष त्रणो नै मोह घणो, नाम हीण नै बागो भूँठ ॥७॥ मुनि०

वन कुण्ठ हीणो हूँ देने, अपछन्दो अविनीत । मुनि०
 ऋषी नै लपटी कदाग्रही, विणरो पूनी नही प्रनीत ॥८॥ मुनि०
 ओछी नै बने ज्ञेसिरी, लोन पीर मनै वाज । मुनि०
 चपन बाल बाकी बाहगे, नहि नंगा मे लाज ॥९॥ मुनि०
 नजम मे नमले नही, दीनी लागे सीख । मुनि०
 मूढचित्त नमके नही, नहि मुमन गुन रो टीक ॥१०॥ मुनि०
 पहली थे जीजे पारख्या, जिनम (न) लीजो जोय । मुनि०
 अवीग नै उनावगा, कदियन हृजो कोर ॥११॥ मुनि०
 मुन्ना नै मूड जो मती, जड मूद जडग । मुनि०
 मुलटी कह्यौ ललटो पडै, बने नागो भूगो भडग ॥१२॥ मुनि०
 गयो कूटियो घोडो ना हूँ, जो करै लय प्रकार । मुनि०
 गज श्चमु हलै नही, हाथी हडा भार ॥१३॥ मुनि० दीप्या०
 गाली ऊन कुमाणसा कदे दुजो न आवे रग । मुनि०
 काग न हाँवे लज्जलौ, जो न्हावै नदी गग ॥१४॥ मुनि०
 योग महु कृपात्र कहै, बने बरजै बाला नैण । मुनि०
 नेना नैवने छोडना, दोनुड बातौ दैण ॥१५॥ मुनि०
 छाँड्गौ पछै ही छिद्रत कैने णव्या न न्हँ रीन । मुनि०
 निण मू पैली बीजो पागव्या, निव बीजो मुविनीत ॥१६॥ मुनि०
 ब्रिकगा नै भेला बीया, पछै लजावै भेष । मुनि०
 उपजै आंगुणा निणमं ताव जो विमेष विवेक ॥१७॥ मुनि०
 कोई भन्न मय्यानी जोगी, जनीवले इकादुका भेष । मुनि०
 निण नै तुन न मुड जो, परव जो मान विचार ॥१८॥ मुनि०
 जे काई अण नैवां, आवियो, निणरी टीक न जाय । मुनि०
 जिणरो भगनो मन गन्तजो, जू जतन पोपी ग बाय ॥१९॥ मुनि०
 जिना निना नै मूडने, पूरै बेलागी चाय । मुनि०
 गलिहा गछै नागव्यो, ओगुण काडे जाय ॥२०॥ मुनि०
 गुर आदि वज्रै बलि, निणमै नही भलियाय । मुनि०
 इण भावंग अटकल लीजिये, चतुर लीजो चित्त मे विचार ॥२१॥ मुनि०
 ऐवन की रूप मे नासिया, घोडा मे बणी है नमान । मुनि०
 दीक्षा दीजै देखी नै, मन, मन नोभे विमान ॥२२॥ मुनि०
 ज़िभि महिमा हूँ जिनवर्म की, हूँ बणी जगा मोभाग्य । मुनि०
 बने चैनयावै चिन आपणा, नै लो॥ रे बने वैगव्य ॥२३॥ मुनि०
 दीव्या पचोसी परखवा, लिख गवचन्द ज़ही विमान । मुनि०
 नमत अटान्ह छनीन मे, नागीर महन चौमान ॥२४॥ मुनि०
 पैनी नो मिष वो तै भणी, बने आवि पैलागी पण पाल । मुनि०
 पूज्य जैमनजी प्रसाद थो, जुगन मु जोडी ढाल ॥२५॥ मुनि०





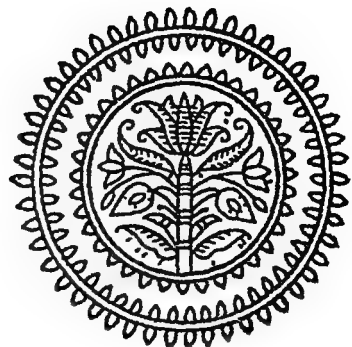
चेतन पच्चीसी

नीठ नीठ नर भव लह्यो, इन जग मे नर-नार चेतन०।
केड कर्म जोगै कृपण हुवा, महा लोभी पैले पार ॥१॥ चे०
किरण नै दान दो हलो, ते सत हीन नर सूत्र ॥२॥ चे०
दीसैं फर्रा फूटरा, जेथा हलवा थोथा तूँव ॥३॥ चे०
सुमा केरी सपदा, चोर कुपात्तर खाय ॥४॥ चे०
कै रोकीने लेवै रावलै, पिण दान दियो नही जाय ॥५॥ चे०
सूभ साधु ने देखने, फेरे मुंहडो पूठ ॥६॥ चे०
कै छिपाय देवे छल बल करी, कै कोई बीले भूँठ ॥७॥ चे०
घर मे घन पिण दलडी, जिके न देवै दान ॥८॥ चे०
सुणिया, भणिया, वाचिया, पिपा नही आयो ज्ञान ॥९॥ चे०
जीव कटै वलै माहिलो, अने देता धूजै हाथ ॥१०॥ चे०
मन माठो काठो घणो, किपला वाली बात ॥११॥ छे०
साधा नै आता देख नै, किरण देवै किवाड ॥१२॥ चे०
आउकार आपै नही, अने उत्तर तुरत तैयार ॥१३॥ चे०
किरण दाता किमत रो, कहै कदे न दीजे दान ॥१४॥ चे०
जो घररानें देता देख नै, तो तोडे जा सुंतान ॥१५॥ चे०
किरण कुडछी जाट कै, बलतो जलतो जेह ॥१६॥ चे०
उपजावे आसातना जू बले न आये जेह ॥१७॥ चे०
दाता रा ने देखने, करैं चावत दिन नै रात ॥१८॥ चे०
एक किरण बले कदाग्रही, कै खाक मेरी बात ॥१९॥ चे०
देता किरण देखनै, मुंह मोडे कुमृलाय ॥२०॥ चे०
पारकै दुखे डूबलो, कहो कठ लग जाय ॥२१॥ चे०
किरण रो घन कारयो, बर्यो रहै धूड रे माँह ॥२२॥ चे०
लेखे कही लागे नही, पापी रो पर लै लै जाय ॥२३॥ चे०
भाँड खावै माल वेश्या तर्णा, पिण भला भिनख नही खाय ॥२४॥ चे०
जिन लिछमी पुष्प हीण री, पाप रे पैडे जाय ॥२५॥ चे०
कीडी सचै कहे लोक मे, तेहनो तीतर खाय ॥२६॥ चे०
किरण कीडी सारखा, कहै लोक दुनि रे माय ॥२७॥ चे०
आगै नी हाणी कियो, साधुजी किरण नर नै देख ॥२८॥ चे०
हूँ बखतावर आवक हजौ, हूँ देवै अढलिग दान विमेल ॥२९॥ चे०
छाती फाटै सुँमरी, जो देता देखै दान ॥३०॥ चे०
काँई बस्तु जाँचे जेहने कर्ने, तो मुलन माडै कान ॥३१॥ चे०

दियो उपदेशज दान रो, किरपण ने किरपाल ।चे०।
 रोम पर भीजै नहीं, जिम कोरडमूरी दाल ॥१७॥ चे०।
 मुनक देइ यान नही, कोई किरपण केरी वात ।चे०।
 दीठा पिण दिलना ठरे, जिम अमावस री रान ॥१८॥ चे०।
 जान न्यात अने लोक मे, घर्ष कर्म रे माहि ।चे०।
 जन महिमा बले जेहनी, कोइ जो इन लार्म नाहि ॥१९॥ चे०।
 नाहो धन निछमी तणो, किरपण न लीनो कोय ।चे०।
 भगिये घन मे माली गयो, कृपण कलदर होय ॥२०॥ चे०।
 पुण्य बिना पर मोव मे, कूण बँटाव पीर ।चे०।
 एरु लडो दुन भोगवै, नैना न्हान नीर ॥२१॥ चे०।
 पाप जोगे पूवं भवै, बाँध दीना अन्तगय ।चे०।
 निण नू हुवो कृपण तूमडा, जा मु दान दियो किम जाय ॥२२॥ चे०।
 नि रायचन्द रहै भव जीवन, ये खरची लीजो लार ।चे०।
 आगे आडी आवसी, उत्तम करो विचार ॥२३॥ चे०।
 चेनल पन्चोमी चेनवा, मममै जानै दावाम ।चे०।
 पूज्य जैमलजी रे प्रनाद की महर जोधपुरै जीमाम ॥२४॥ चे०।



प्राकृतभाषा का एक मात्र अलंकार-शास्त्र : अलंकार-दप्पण अनुवादक- भंवरलाल नाहटा



[प्राकृतभाषा का विपुल और विविध विषयक साहित्य प्रकाश में आया है किन्तु कोई अलंकार ग्रंथ अब तक प्रकाशित नहीं हुआ। प्रस्तुत ग्रंथ के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ का अस्तित्व भी विदित नहीं है।

इस ग्रन्थ में अलंकार सम्बन्धी जो विवरण दिया गया है उससे इसका निर्माण-काल ८ वीं से ११ वीं शताब्दी का माना जा सकता है। रचना से कर्त्ता का पता नहीं चलता। प्राकृत भाषा की अलंकार सम्बन्धी यह एक ही रचना जैसलमेर के बड़े ज्ञानभण्डार में ताडपत्रीय प्रति में प्राप्त हुई है।

कवि ने प्रारम्भ में श्रुतदेवता को नमस्कार करके, काव्य में अलंकारों का औचित्य और उद्देश्य का वर्णन कर अलंकार-शास्त्र रचने की प्रतिज्ञा की है। पश्चात् पद्य ५ में १० तक में वर्णित ४० अलंकारों के नाम कहे हैं। अनन्तर प्रत्येक अलंकार के लक्षण एवं उदाहरण दिये हैं। इसमें कतिपय अलंकारों के लक्षण मात्र हैं तो कतिपय के उदाहरण मात्र ही हैं। प्ररूपित अलंकारों की संख्या ४५ होती है जबकि ग्रन्थकार ने पद्य १० में ४० संख्या का उल्लेख किया है, अतः प्रेमातिशय से गुणोत्तर पर्यन्त ६ अलंकारों को एक प्रेमातिशय के अन्तर्गत स्वीकार कर लेने से ४० की संख्या का औचित्य ठहरता है।

इस ग्रन्थ में निरूपित रसिक, प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर, उपमारूपक, उत्प्रेक्षायमक अलंकार अन्य लक्षण-ग्रन्थों में प्राप्त नहीं हैं। ये अलंकार नवीन निर्मित हैं या किसी प्राचीन अलंकारशास्त्र का अनुसरण हैं, निश्चित नहीं कहा जा सकता।

१३४ गाथाओं की यह रचना जैसलमेर भण्डार की ताडपत्रीय प्रति नं० ३२६ में १३ पत्रों में लिखी हुई है। प्रति १३ वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में लिखी गई जान पड़ती है। इसके साथ काव्यादर्श भी लिखा हुआ है।

आगमप्रभाकर मुनि श्रीपुण्यविजयजी जब जैसलमेरभण्डार का उद्धार एवं सुव्यवस्था कर रहे थे तब मैं अपने विद्वान् मित्र नरोत्तमदासजी स्वामी के साथ वहाँ पहुँचा और स्वामीजी ने इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की प्रतिलिपि की। जिसे मुनि पुण्यविजयजी ने मूल प्रति से मिला कर सशोधित कर दिया। तदनन्तर मेरे भ्रातृपुत्र भवरलाल ने इसकी संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद का कठिन कार्य यथामति सम्पन्न किया। अनुवाद में भूलों और कमी रह सकती हैं। केवल एक मात्र प्राकृत के अलंकारशास्त्र का सभी विद्वानों को परिचय हो जाय इसलिये श्रम किया गया है।

—अगरचन्द्र नाहटा]

मंगल और अभिषेय

सुन्दर-पञ्च-विण्णास विमलाल कार-रेहिय-सरीर
सुडदेविय च कव्व च पणविअ पवर-वण्णड्ड ।१।

मुन्द-पद-विग्राम विमलालङ्कारेणित (शोभित) शरीरम् ।
श्रुतदेवता च काव्य च प्रणम्य प्रवर-वर्णादयम् ।१।

१ — मुन्द-पद-विग्राम (श्रुतदेवता के चरणों की-साध्य के पद) की- विग्रह अलङ्कार ने मुन्द-शोभित शरीर वाले श्रेष्ठ वर्णों ने सम्पन्न (प्रधान यशस्वी) श्रुतदेवता व काव्य को नमस्कार करके मुन्द-पद-विग्राम (पदों का चयन, गमन, गति) वाली की- निम्न श्रवणार्थ (जाभूषणों) ने शोभित शरीर वाली की- श्रेष्ठ वर्ण वाली श्रुतदेवी (ज्ञान की देवी सम्पत्ती) की की- मुन्द-पदों ने विग्रामार्थ तथा निर्दोष अलङ्कार में भूषित शरीर वाले की- श्रेष्ठ वर्णों यान काव्य की प्रणाम करने-

मन्वाड कन्वाड मन्वाड जेण होनि भन्वाड
नमल कार भणिमोऽन कार कु-कवि-कन्वाण ।२।
मन्वाणि काव्यानि श्रव्याणि येन नवनि भव्यानि
तमनरकार नणामोऽनवार कु-कवि-काव्यानाम् ।३।

२ — जिनमें मनी काव्य और शी-भय (मुन्द) हो जाने हैं उन अलङ्कार का वर्णन करने हैं, जो कुकवि के शरीरों की की अलङ्कार (शोभित) करने वाला है ।

अच्छनमुन्दर पि ह निगल कार जणमि कीरत
कामिणि-मुहं व कन्व होड पमण पि विच्छाय ।३।
अग्रल-मुहमपि दनु निगलरार जने श्रियमाणम्
कामिनो-मुगमिज काव्य नवति प्रमल्लमपि विच्छायम् ।३।

३ — नममज मन्वा (पदा) जाना ह्या शब्द प्रवर्ण-हित होने में अग्रल मुन्दर और प्रवाद गुण-युक्त होने पर ही निम्न हो शोभा रहित होता है जिन मुन्दर की का मुन्द अलङ्कार-हित होने में अग्रल मुन्दर और विमल होने पर ही शोभा रहित होता है ।

ता जाणित्ठण णित्ठण तन्निज्जड वहुविहे अल कारे
जेहि अनकन्त्रिआट वर मणिज्जति कन्वाड ।४।
तत ज्ञान्या निपुण नटयन्ते वहुविधा अलङ्कार
संस्तुतानि च मयन्ते काव्यानि ।४।

४ — उन्हें अच्छी तरह जानना माना प्रवर्ण के अलङ्कारों के रक्षण यहाँ रहे जाने हैं, जिनमें अलङ्कार रूप काव्य बहुत प्रशंसित होते हैं ।

अलङ्कारनाम

उवमा-स्वय-दीव्य-गेहाणुपाम-अडमय-विमेष
अववेव-जाड-वडवेव-गमिअ-यज्जाअ भणिवाओ ।५।
उवमा-स्वय-दीव्य-गेवानुपाम-अतिशय-विशेषम
आक्षेप-जानि-प्रतिरेक-गमि-पर्याया नणिता ।५।

५ — उवमा, स्वय, दीव्य, गेहा, अनुपाम, अतिशय, विशेष, जाडवेव, पानिव्यतिरेक, गमि, पर्याय रहे गये हैं ।





जहामय (ख) समाहिअ-विरोह-ससअ-विभावणाभावा
अत्यन्तरणासो-अण्णपग्गिअरो तह महोत्ती अ ।६।

यथासङ्ग-समाहित विरोध-सशय-विभावना-भावा
अर्थान्तरग्यासोऽन्यपरिकरस्तथा सहोषितश्च ।६।

६—यथा-सङ्ग, समाहित, विरोध, सशय, विभावना, भाव, अर्थान्तरग्याम, परिकर तथा महोक्ति ।

उज्जा अवण्हवइओ पेम्माइसओ उदत्त-पग्गित्ता
दब्बुत्तर-किरिउत्तर-गुणुत्तरा वहुसिलेसा अ ।७।

ऊर्जा अप ए-ति प्रेमातिशय उवात्त परिवृत्ता
द्रव्योत्तर क्रियोत्तर-गुणोत्तरा बहुश्लेषाश्च ।७।

७—ऊर्जा, अहंभूति, प्रेमानिगय, उदत्तं परिवृत्त, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणात्तर बहुश्लेष (अलंकार) हैं ।

ववअस-धुई (ङ) समजोडआडअ-अपत्तुअपससा अ
अणुमाण आअरिसो उपेवखा तह अ ससिद्धी ।८।

व्यपदेश स्तुति समज्योतितारिका प्रस्तुत-प्रशंसाश्च
अनुमानमादर्श उत्प्रेक्षा तथा च ससिद्धि ।८।

८—व्यपदेश, स्तुति, समज्योति, अप्रस्तुत प्रशंसा, अनुमान, आदर्श एवं उत्प्रेक्षा तथा समिद्धि ।

आसीसा उवमा-एवअ च जाणइ णिअरिसिण तह अ
उपेवखा च अ (ओ) भेअ वलिअ जमअहि सजुत्ता ।९।

आशीरुपमारूपक च जानीत निदर्शन तथा च
उपेक्षा (वयध) उद्भिद वलित च अभेद वलित-यमकं सयुषता ।९।

९—आशीरुप, उपमा रूपक तथा निदर्शना एवं उत्प्रेक्षा अभेद उपेक्षा (वयध) (उद्भिद) वलित तथा यमक महित (अलंकार) जानी ।

अेतिअ-मित्ता एए कव्वेयु पडिट्ठिआ अल कारा
अहिआ उववकमेण वीसाओ दोणिण सखाओ ।१०।

एताव-मात्रा एते काव्येषु प्रतिष्ठिता अलंकारा
आख्याता उपक्रमेण द्वाविंशत्सख्याता ।१०।

१०—काव्यो मे इतने ये अलंकार प्रसिद्ध हैं, जो उपक्रम से बाईस अलंकार कहे गये हैं ।

उपमा अलंकार

उवमाणेण जा देसकालकिरिआवरोहपडिण
उवमेअरस सरिसअ लहइ गुणेण खु सा उवमा ।११।

उपमानेन या देश-कालक्रियावरोध प्रतीकेन
उपमेयस्य सदृशता लभते गुणेन खलु सा उपमा ।११।

११—जहाँ देश, काल, क्रिया और अवरोध के प्रतीक रूप उपमान के साथ उपमेय की गुण से सदृशता प्राप्त होती हो, वहाँ उपमा अलंकार होता है ।

पडिवत्तू गुणकलिआ अन्मा माला अ विउणत्वा अ
मपुण्णा, गूटा, मखला, मिलेसा, अ दरविक्का । १२।

प्रतिवस्तु गुणकलिता अन्मा माला विगुणरूपा च
मम्पूणा गूटा शृङ्खला च लेशा च दरविक्का । १२।

१०—प्रतिवस्तु, गुणकलिता, अन्मा, माला, विगुणरूपा, मम्पूणा, गूटा, शृङ्खला, लेशा, और दरविक्का (ग) ला ।

अेवक्कमा, पम्मा, तल्लिन्हा, णिदिआ, अडमआ अ
मुडमिदिआ, तह (अ) वि अप्पिआ अ नत्तरह उवमाओ । १३।

एन्मा प्रशला तल्लिन्हा निन्दिता अनिगया च ।
श्रुतिमिलिना तथा (च) विक्किपिआ च सप्पदश उपमा । १३।

१३—एन्मा, प्रशला, तल्लिन्हा, निन्दिता, अनिगया, श्रुतिमिलिना तथा विक्किपिआ यों १७ प्रकार की
उपमाए हैं ।

उपमा के भेदों का वर्णन

पडिवत्तू अेमा उवमा जा होड नमाण-वत्तु-त्ता अ
इव-मिव-पिवाइरिआ विमरिम-गुणपत्तु (च्च) आहिन्तो । १४।

प्रतिवस्तु एया उपमा या भवति समानवस्तुत्वा च
इवमिवापि वादिन्हिता विमदश गुणप्रत्ययेभ्य । १४।

१४—प्रतिवस्तु उपमा वह है जो समान वस्तु रूप होती है । यह इव, मिव, (प्राकृत में) अपि, वा आदि
सादृश्यवाचक शब्दों में रहित होती है, तथा विमदश (असमान) गुण वाले शब्दों के आश्रित (मनुक्त) होती है ।

पडिवत्तूवमा जहा — (प्रतिवस्तूपमा यथा)

मपत्तनिवग्गमुहा थोवा पुह्वीअ होति णरणाहा
महुर-फना-(य) नकुमुमा मिणिद्वपणा तर विरला । १५।

मद्राप्ताभिर्गमुमा स्तोका पृथिव्या च भवन्ति नरनाथा
मधुरफलाश्च सकुमुमा स्निग्धपत्रास्तरवी विरला । १५।

१५—एक पृथ्वी पर सुन्दर पुष्प और मधुर फलों में युक्त चित्रने पत्तों वाले वृक्ष विरल ही होते हैं, (वैसे
ही) त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) के मूत्र को प्राप्त नरेन्द्र (गजा) भी पृथ्वी में थोड़े ही होते हैं ।

गुणकलिआ मा भण्णड गुणेहि दोहि पि मारसआ अत्थ
उवमेओ किर जीअे उवमाण होड मा अममा । १६।

गुणकलिता सा नृपते गुणं द्वयोरपि मद्गता यत्र
उपमेय किल जयत्युपमान भवति साऽसमा । १६।

१६—गुणकलिता उपमा वह है, जहाँ (उपमेय और उपमान) दोनों के गुणों में सदृशता हो । और जहाँ
उपमेय उपमान को निश्चय ही जीत लेता है, (वहाँ) वह असमा उपमा होती है ।



गुण-कलिआ जहा—(गुणकलिता यथा)—

चपअलइव्व णवकुमुम-मुन्दरा महड विभ्रकडडव्व
वच्छत्थलम्मि लच्छी तमाल-णीले-महु-महम्मस । १७।

चम्पकलतेव नवकुसुमसुन्दरा शोभते धिन्ध्यकाटिरिव
वक्ष स्थले लक्ष्मी तमालनीले मधुमयस्य । १७।

१७—विन्ध्याचल की कटि में नये फूलों से मनोहर चम्पकलता की तरह, तमाल की तरह नील मधुमय (विष्णु) के वक्षस्थल के ऊपर लक्ष्मी शोभित होती है ।

असमा जहा—(असमा यथा—)

जोण्हा-णिम्मल-लाअणपसरि चिचडअसयलभुअणा (ड)
तुह तुज्ज व्व किसोअरि । समाण-त्ता जअे णरिथि । १८।
ज्योत्स्ना निर्मल-लावण्य प्रसारि चंचित (विभूषित) सकल नुवना (नि)
त्व तव इव कुशोदरि । समानरूपा जगति नास्ति । १८।

१८—हे कुशोदरि, चन्द्रिका के समान निर्मल लावण्य फैला कर सारे जगत् को सुशोभित (प्रकाशित) करने वाली तेरे समान रूपवाली जगत् में (अन्य) नहीं है । तेरे समान तू ही है ।

सा माला उपमाणाण जत्थ विविहाण होइ रिछोली
विउण सरिसोवमाअे विणिम्मिआ विउणरुअत्ति । १९।

सा माला उपमानाना यत्र विविधाना भवत्यावलिका ।
विगुण सदृशोपमाया धिनिमिता विगुणरूपेति । १९।

१९—जहाँ विविध उपमाना की आवलिका (समूह) हा वहाँ मालोपमा होती है । विगुण वस्तु के मद्दत उपमा होने पर विगुणरूपा उपमा बनती है ।

मालोवमा जहा—(मालोपमा यथा—)

हरि-वच्छ व सुकमल गअण व भमन्त-सूर-सच्छाअ
साअर-जल व करि-मअर-सोहिअ तुह घर-द्वार । २०।

हरिवक्ष इव सुकोमल गगनमिव भ्रमन्त सूर सच्छाय
सागरजलमिव करि-मकर-शोभित तव गृहद्वारम् । २०।

२०—तुम्हारे घर का द्वार हरि के वक्ष स्थल की तरह सुकोमल (मुलायम) भ्रमण करती हुई सूर्य की आभा वाले आकाश की तरह कान्तियुक्त और हाथी तथा मगरमच्छों से सुशोभित समुद्रजल की तरह है ।

विउणरूवोवमा जहा— (विगुणरूपोपमा यथा) —

णिव्वावारीकअभुअणमडलो सूर-णासिअ-पआओ
णाह । पओसव्व तुम पाउस-सरिसत्तण वहसि । २१।

निर्व्यापारीकृतभुवनमण्डल सूर्यनाशितप्रभाव
नाथ ! प्रदोष इव त्व प्रादुर्पसदृशत्व वहसि । २१।

२१—हे नाथ ! आप भूमण्डल को क्रियाशून्य करने वाले और सूर्य के प्रभाव को नष्ट करने वाले, अन्धेरी रात की तरह पावस (वर्षाकृत) की समानता धारण कर रहे हैं ।



लेसोवमा जहा—इलेपोपमा यथा—

सो ससारो असमो चलपेम्मो जो जणो सुहो सो किं
भासड ससाराओ णव जो (व्वणवड) ण रिछोली ॥२७॥

स ससारोऽ समश्चलत्प्रेमा यो जन सुमग स किं ?
भासते ससारे नवयौवनवतीनामावलिता ॥२७॥

२७—वह सगार (सम्यक् सार वाला भी) असम है (त्रिपम है या विजय-शान्ति रहित है) जा मनुष्य
चलित प्रेम वाला है, (जियका प्रेम अस्थिर) है वह कैसे (सुहत) भाग्यवाली है ? (उमे) ममार मे नवयौवना म्रियो
का झुण्ड ही (चारो ओर) दियाई देता है ।

मु (र) सरिसमा पखेव विअलड सच्चेव होड दरविअला
अेक्कक्कमोवमाणेहि होइ अेक्कक्कमा णाम ॥२८॥

सुरसरित्समा प्रक्षेप विगलति सा चैव भवति दरविगला
अेक्कमोपमानैर्भवति एकक्रमा नाम ॥२८॥

२८—(जो) गगा के ममान डाली हुई चीज निगल जाती है (अपने अन्दर ममा लेती है) वह दरविकला
उपमा होनी है । और जहाँ एक क्रम मे उपमान हा, वहाँ एकक्रमा नामक उपमा होनी है ।

दर विअला जहा—दर विकला यथा—

पीणत्थणी सत्ता पहपेसिअलोअणा सह-कठा (सउक्कठा)
लिहियव्व दारलगगा ण चलड तुह दसणासाए ॥२९॥

पीनस्तनी स्वस्था पयप्रेषितलोचना सोत्कण्ठा
लिखितेव द्वारलग्ना न चलति तव दर्शनाशाये ॥२९॥

२९—तुम्हारे दर्शन की आशा मे पीनस्तनी, रूपवती, मार्ग मे आँखें मिटाई हुई, उत्कण्ठित (और) चित्र
लिखित की तरह द्वार पर लग्न (स्थिर खड़ी हुई) नायिका विचलित नहीं हो रही है ।

अेक्कक्कमा जहा—एकक्रमा यथा—

पअइ विमलाओ दोणिण वि विनुहुजणे (हिं) णिन्नुई-कराओ अ
अेक्कक्कम सरिसाओ तुह किस्ती तिअमसरिआ अ ॥३०॥

प्रकृति विमलाद्वयोरपि विबुधजनं निर्व्यक्तिकराश्च
अेक्कम सदृशास्तत्र कीर्तिस्त्रिवशसदृशाश्च ॥३०॥

३० - प्रकृति से निर्मल तथा दोनों लोक के विबुध (विद्वान् या देव) जनों द्वारा प्रकट की जाने वाली एक-
क्रम के सदृश तुम्हारी कीर्तियाँ देवताओं की होती हैं ।

णिंदाओ सलहिज्जइ उवमेओ जत्थ सा पसमत्ति
अणुहरइ अइसअेण जा सत्वि (च्चि) अ होइ तल्लिच्छा ॥३१॥

निन्दया श्लिष्यते उपमेयो यत्र सा पश्नतेति
अनुहरत्यतिशयेन या सा चेत् भवति तल्लिप्सा ॥३१॥

३१—जहाँ उपमेय निन्दा के साथ श्लिष्ट होना है, वहाँ निन्दा-प्रशंसोपमा होती है । यदि वह अतिशय हो
तो तल्लिप्सा उपमा होती है ।

निदापनमा जहा—निन्दाप्रधाना यथा—

तुह मज्झम व गम्बर ! भुज्जड भिच्चेहि पाजडा लच्छी
हिज्जड काज्जम्भ व वज्जिज्जमज्जेण ओण्ह ॥३२॥
नव पट्टम्भेव जम्बर ! भुज्जने मृगं प्राकृता नम्मो
हृदयेन दानम्भ इव वज्जनीय-मयेन अपमरति ॥३३॥

३२—हे वृद्ध ! जम्बर ने गरम नईकर जो नष्ट निन्दा के नर ने मानों माने पर तुम्हारे प्राकृत (नैर्गुण) —नी का उरमो—तुम्हारे द्वारा किया जा रहा है ।

तल्लिच्छोदमा जहा—(तल्लिच्छोपमा यथा—

पाउमणिमानु मोहड जलपहाणेहि पण्डिया पुहडि
चक्रिज्जुद्ध-वाटगणिवडिअ न्वगन (णञ्जन्) मग्गिमेहि ॥३४॥
प्रावृन्निगामु सोमने चक्रवाहं पूतिता पृच्छी
चलनमिच्छुन्-नयवादनमिपत्तिनश्चमदृशं ॥३५॥

३४—यहाँ की गण्डिया में चलकर बिजली की जगमगे से दूधने से गिरने हुए मछलों के समान उल प्रदान (पेना) के तल्लिच्छुन् वृद्धों मुझा करती हैं ।

उपमेयो ग (णि) विज्जट दृड-वज्जंमेग जय मा पिदा
अमञ्ज भणिजा नविज्ज अल्ल (ड) आ भण्णजे उवमा ॥३६॥
उपमेयो निग्रने मुनिव्यपदेशेन यत्र मा निन्दा
उत्तराज भणिजा मा कंठ जतिगदिना नयने उपमा ॥३७॥

३६—जहाँ मुनि के दण्ड से उपमेय की निन्दा की जाती है, उहाँ निन्दोपमा जानी है । और जहाँ भनि-
जगतिन नर से उपमा की जाती है उहाँ भनिगदिना उपमा रही गई है ।

मुग्ग-गिदोवमा जहा—अननिन्दोपमा यथा—

तत्रोद-गज-मिलिअ जणेण अहंगेग मोहमि पओमे
कम्पणि (णि) गज जद्वल्लज्जनिमरिमेग पि 'हू' अन्थि ॥३८॥
ताम्भ-गामिनिताज्जनेन अदरेण सोममे प्रदाये
कम्पणिज्जमम्भ-कामिनिमदोनादि दम्भम् ॥३९॥

३८—तुम ताम्भ (गन) के (ता) —के मात अवन (रावण विन्) निचे हुए बाड़े पके तादुनों
(कम्पणि) की गति के समान है उ ने अद्वय म (नी नष्ट) जो नयमान हो रही हैं ।

अइमइयउवमा जहा—अनिशानिोपमा यथा—

जोग्गानअमग्गणाग-निमिरममूहेहि गिज्जिअमिअ क
मेदिज्जड वज्ज नाम-गव-मुह्हेहि भमनेहि ॥४०॥
जोन्नामयज्जगागननिमिरममूहेहिज्जिअमूडम्
मेयने दहन इदामगग्गलु-अंजगं ॥४१॥

४०—(तुम्हारा) वज्जगा में जीने वाला मुझ वज्जिगा के उर ने जम्भवा-ममूह की जगमगे जा हुए
इदाम की गग्ग म उद्य अमा द्वारा मयन किया जा रहा है ।





जा सरिसभेहि वज्झइ सदेहि सा हु होइ सुइमिलिआ
अवकाणिवकविअप्पणभेअण विअप्पिआ दुविहा ।३७।

या सदृशं बध्यते शब्दै सा हि भवति श्रुतिमिलिता
एकानेकविकल्पनभेदेन विकल्पिका द्विविधा ।३७।

३७—जो उपमा समान शब्दों द्वारा बद्ध होती है वह श्रुतिमिलिता होती है । एक अनेक आदि विकल्पो के भेद से विकल्पिका उपमा दो प्रकार की है ।

सुइमिलिउवमा जहा— श्रुतिमितितोपमा यथा—

ददूण पर-क नत्त छदो वडिअ मणोहर कव्व
खिज्जइ खलो विअ भइ दूसइ दोस अपेच्छन्तो ।३८।

दृष्ट्वा परकलत्र छन्द पतित मनोहर काव्यम्
सिद्ध्यते ललो विजृम्भते ब्रूयति दोषमपेक्षमाण ।३८।

३८—दूसरे की स्वच्छन्द पतिन मनोहर स्त्री को देखकर दुष्ट पुरुष (उसी प्रकार) खिन्न होता है, (जिस प्रकार) छन्दोबद्ध मनोहर काव्य को देख कर दुजन खेद पाता है । वह (किसी प्रकार का) दोष न देखते हुए भी दोष निकालता है और गर्जता (रहता) है ।

अवकत्यविअप्पिओवमा जहा— एकत्र विकल्पिकोपमा यथा—

परिभमण वइ णिवुच्चिअ सपीडिअ वहलरेणुणिच्छ (? च) अ (आ)वा
णहसु अणड वसा 'अ (ए) व' वावावत्ता मुणिज्जत्ति ।३९।

परिभ्रमण वती (? वायु) निर्बलित सम्पीडितबहलरेणुनिचया वा
नभसि अनतवशा एव वातावर्त्ता मन्यन्ते ।३९।

३९—चक्कर मारती हुई वायु द्वारा निष्पादित और बहुत सी बालू के ढेर को सम्पीडित करते हुए अनन्त वास ही आकाश में (गगनचुम्बी) वातावत्ता (अन्ध) माने जा रहे हैं ।

बहुहा विअपिउवमा जहा— बहुधा विकल्पिकोपमा यथा—

सूरम्मि दाव जल इव्व वोलिउ णहअर वअरस व
पच्छिम (?-दि) णिसिअरेण व तमेण कसिणीकअ सअस (ल) ।४०।

सूर्यो दाव जलधिरिव ब्रूडितो नभश्चर वज्जरसमिव
पश्चिमनिशाकरेणैव तमसा कृष्णीकृत सकलम् ।४०।
उपमा लक्षण समत्त— उपमा लक्षण समाप्तम्

४०—पिछली रात्रि के निशाकर के अन्धकार ने मानो सबको काला कर दिया है, ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य में दावाग्नि वाले समुद्र को अथवा आकाशचारी बादल को डुबो दिया हो ।

रूपक अलंकार

उवमाणेणुवमेअम्स ज च रूविज्जअे वि रूविअ सु
दव्व-गुण-सम्मअ त भणत्ति इह रूवअ कइणो ।४१।

उपमानेन उपमेयस्य यत् च रूप्यते विरूपितं तत्
द्रव्य-गुणसम्मतं तन् भणन्ति इह रूपकं कवयः ।४१।

४१—जहां उपमान के द्वारा उपमेय का द्रव्यगुण सम्मत चरित्र निरूपित किया जाता है, उसे कवि रूपक कहते हैं।

तत्रिञ्चद्विह जाअड समत्थपअत्थविरअण्णअणिअ
पढम वीअ अवेक्केक्क देसपरिसिठ्ठिअ होड ।४२।
तच्चेव द्वि-विधं जायते समस्तपदार्थविरचनाजनितम्
प्रथमं द्वितीयं अनेकं देशं पणिसन्धितं भवति ।४२।

४२—वह (रूपक) दो प्रकार का होता है, एक सम्मन पदार्थ-रचना ने जनित होता है और दूसरा एक-एक देश (अंश) रचिन होता है।

भेआ एआमेहि त्रिअ हरिअच्छाएहि रूव आणकया
अन्थो लभिज्जड च्चिअ सअले अर रूअ आहिन्तो ।४३।
भेदनाम्निश्चैप हरितच्छायं रूपकाणा कृता
अर्थो लभ्यते चैव सकले तर रूपकं रत ।४३।

४३—हरितच्छायावाले (सुन्दर प्रभावाले) नामों के द्वारा रूपकों के जनेक भेद किये हैं। इसलिए मकल (मवांग) और विकन (एकाग्र) रूपकों के द्वारा अर्थ पाया जाता है।

सकलवस्तू रूअअं जहा—सकलवस्तु रूपरुम् यथा—

गअग-सरोय पेच्छह पाउसम्मि तणुकिरणकेसरमणाह
ताराकुसुम मिववणं महाभरणमउल ममवक्कमड ।४४।
गगनमरोज प्रेक्षस्व प्रावृषि तणुकिरणकेसरसनायम्
तारा कुसुममिव वनं महाभरणं मुकुलं सनाक्रमति ।४४।

४४—वर्षाश्रु मे मूक्षम (पत्रों) किरण रूपी केसर ने युक्त गगनरूपी मराज को देखो, जो महाभूषण रूप मुकुट (कली) के समान तारा रूपी फूलों के वन को आक्रान्त कर रहा है।

अवेक्केक्कदेसरुअअ जहा—अनेकदेशरूपकं यथा—

अविरअ पसरिय घाराणि वा अणिट्ठविअ पथिअ-समूहो
मारिहड म सदडअ पि एणिकिओ पाउस विजाओ ।४५।
अविरतप्रसृतवारा निपात निस्थापित पथिकनमूह
मारियप्यति मां सदयित्तमपि निष्कूप प्रावृष् किरात ।४५।

४५—निरन्तर फँसती हुई (अपनी) जलघाराओं के निपात ने पथिकों के झुंड को रोक देने वाला निर्दय पावन रूपी किताब मृने प्रियतम नहीं (माय होते हुए भी) मार डालेगा।

दीपक अलकार

दीविज्जति पआड अवेक्काअे चेअ जत्थ किरिआअे
मुह मज्झमग (आ) एण भण्णड दीवि (?) अ ति-विह ।४६।





दीप्यन्ते पदानि एकया चैव यत्र क्रियया
मुखमध्यान्तगतेन मण्यते दीपक त्रिविधम् ।४६।

४६—जहाँ एक ही क्रिया से अनेक पद दीपित (शोभित) किये जाते हैं, वहाँ दीपक अलकार होता है।
मुख, मध्य और अन्त के भेद से दीपक तीन प्रकार का कहा गया है।

सुह-दीवअ जहा—मुखदीपकम् यथा—

भूसिज्जति गअदा मअेण सुहडा उ असिपहारेण
गइतुरअेण तुरवा सोहग्गुणेण महिलाओ ।४७।
भूययन्ति गजेन्द्रा मदेन सुभटास्तु असिप्रहारेण
गतिव्वरितेन तुरगा सौभाग्यगुणेन महिला ।४७।

४७—हाथी मद के कारण सुशोभित होने हैं, सुभट तलवार के प्रहार से विभूषित होते हैं, घोड़े तेज गति के कारण और महिलाएँ सौभाग्य गुण के कारण सुशोभित होती हैं।

मज्झदीवअ जहा—मध्यदीपक यथा —

सुकवीण जसो सूराना वी (धी) रिमा, ईहिअ णरिदाण
केण खलिज्जड पिसुणाण दुम्मई भीरयाण भय ।४८।
सुकवीणां यश सूराना वीरता (धीरता) ईहित नरेन्द्राणाम्
केन स्खल्यते पिशुनाना दुर्मति भीरुकाना भय ।४८।

४८—सुकवियों का यश, शूकवीरों की वीरता (धीरता) नरेन्द्रों की चेष्टा, चुगलखोरो की दुर्बुद्धि और ड-पाकों का डर कौन मिटा सकता है ?

अन्तदीवि(व)अ जहा—अन्तदीपकम् यथा —

सत्थेण वुहा दाणेण पत्थिवा गुरुत्तवेण जइ-एिवहा
रण-साहसेण सुहडा मही-अले पाअडा होति ।४९।
शास्त्रेण वुवा दानेन पायिवा गुरुत्तपसा यत्तिनिवहा
रणसाहसेन सुभटा महीतले प्रावृता भवन्ति

४९—शास्त्र के द्वारा विद्वान्, दान से राजा, उग्र तप से सयमी पुरुष, युद्ध में साहस से सुभट भूतल पर छा जाते हैं (व्यापक बनते हैं)।

रोध अलकार

अद्ध-भण्णिअ एरुभइ जस्सि जुत्तीअ होड सो रोहो
पअ-वण्णभेअभिण्णो जाअइ दु-विहो अणुप्पासो ।५०।
अद्धंभणित निरुध्यति यस्मिन् युषितश्च भवति स रोध
पद-वर्णभेदभिन्नो जायते द्विविधोऽनुप्रास ।५०।

५०—जहाँ आधा रुढ़ कर रुक जाता है, और जिसमें युक्ति होती-है, वहाँ रोध अलकार होता है, पद और वर्ण के भेद से अनुप्रास दो प्रकार का होता है।

रोहो जहा—रोवो यथा—

को ण वलड नेण विणा मा भणुअ पुलडजेहि पासेहि
३ड रहम जपिआड हवन्ति पच्छा अपरथाड ॥१॥
को न वन्पति नेन विना मा नणत अपुलकिन्ने. पाश्वे (सइ)
अनि रहम्य जल्पितानि नवन्ति पइचाद् अपय्यानि ॥१॥

११—उमके मिवाय कीन नहीं बोलना ? अर्थात् ममी बोलने हैं, अप्रमन्न पढीमियों के पास में रहने वालों के साथ मत बोलो । मननव, प्रमन्न पढीमियों के साथ जरूर बोलो । अत्यन्त रहस्य युक्त कथन बाद में अलंकारकारी होने हैं ।

पा(५) आणुप्पासो जहा—पद नुप्रामो यथा—

ममिमुहि मुहम्म लच्छी थणुमालिणि थणुह् पियेच्छती
नणुआजड नगुओअणि हलिमु ओ कहनु ज जुत्त ॥२॥
अशिमुरी मुखस्य लक्ष्मी स्तनशालिनी स्तनवग्मपि प्रेक्षमाणी
तनुतानितनुतोदरि हलोमु भो कथय यन् पुवत्तम् ॥२॥

५२—हैं चन्द्रमुखि, मुह की गोमा को, है स्तनशालिनि स्तनधर (बादल) को देखती हुई अत्यन्त कृण उदर-वाशी, नू मुखियों को जो उचिन हो, वह नह ।

वणगाणुप्पासो जहा—वर्णानुप्रामो यथा—

वाग्नि मज्जल जलहर जल लव मवलण सीअल-प्फमा
पुग्गल युअ धुअ कनुमच्छलन गधुदुरा पवणा ॥३॥
यान्ति मज्जल जनवर जल लव सबलन शीतल स्पर्शा
फुल्लिताधुर कनुमच्छलत् गधुदुरा पवना ॥३॥

५३—जल में पणिपूर्ण मेघों के जनरगों के मिलने में शीतल स्पर्श वाली एवं खिले हुए अध्रुक के फूलों से निकलनी हुई मृगज में पणिपूर्ण ज्वाग वह रही है ।

जय निमित्ताह्नि लोभा अवेकन्त गोचर वअण
विण्डज्जड मो तस्म अ अडमअ-णामो अलंकारो ॥४॥
यत्त निमित्तलंका अकान्त गोचर वचनम्
विचयन्ति न तस्य च अतिशय नाम अलंकार ॥४॥

५४—जहाँ हिन्दी निमित्तों में लाम एतान्तगोचर वस्तुओं की चित्रा करते हैं, उसका नाम अतिशया-लंकार नमजो ।

अतिसालंकागे जहा—अतिशयालंकारो यथा—

जड गध मिलिअ (अ) भमगण होड अवअम (म) चपअ-पनूअ
ता केण विभाविज्जड कउहल मिलिअ पट् तिम्मा ॥५॥



यदि गन्ध मिलित भ्रमराणा अवतस भवति चम्पक प्रसूनम्
तस्मात् केन विभाव्यते कुकूहल मिलित पथा तस्य ।५५।

५५—यदि सुगन्ध मिला हुआ चम्पा का फूल भ्रमरो का आभूषण हो जाता है, तो कौन जानता है, उसका (भी) मार्ग कुकूहल मिश्रित हो ।

विगते विपक्ष देसे गुणतरेण तु सवु (५) ई जत्थ
कीरइ विसेसपअडण कज्जेण सो विसेसोत्ति ।५६।

विगते विपक्षदेशे गुणान्तरेण तु सस्तुतिर्यत्र
क्रियते विशेष प्रकटन कार्येण सो विशेष इति ।५६।

५६—जहाँ विगत और विपक्षदेश में गुणान्तर से, स्तुति की जाती एवं कार्य के द्वारा जहाँ विशेषता प्रकट की जाती है वह विशेषालकार होता है ।

विसेसालकारो जहा— विशेषालकारो यथा—

णवि तह णिसासु सोहइ पिआण तवोलराकपध्वइओ
जह पिअमपीओ पडुरो वि अहरो पहाअम्मि ।५७।
नापि तथा निशासु शोभते प्रियाणा ताम्बूलरागप्रवर्जित
यथा प्रियतमपीतो पण्डुरोऽपि अधर प्रभाते ।५७।

५७—प्रियाओ के ताम्बूल (पान) के (लाल) रङ्ग से युक्त अधर (होठ) रात्रि में वैसे मुक्षोभित नहीं होते, जैसे प्रभातकाल में प्रियतम द्वारा पान किये हुए पाण्डु (हलके पीले) रङ्ग के अधर सुक्षोभित होते हैं ।

जत्थ एिसेहो व्व स (स) सी ह्मि कीरइ विसेस तण्हाओ
सो अक्खेवो दुविहो होन्ता अेकत्त भेओण ।५८।
यत्र निषेध इव ससिद्धय क्रियते विशेष तूष्ण्या
स आक्षेपो द्विविधो भवन्त-एकान्त भेदेन ।५८।

५८—जहाँ विशेष (वात प्रकट करने) की लालसा से सिद्ध करके निषेध सा किया जाता है, वहाँ आक्षेपालकार होता है, जो भवन्त और एकान्त के भेद से दो प्रकार का है ।

होतक्खेओ जहा— भवन्ताक्षेपो यथा—

जइ वच्चसि ता वच्चसु महु गहअ-दा (दी) ह-विरहग्गि-ताविअ तणूओ
वच्चइ तइ समअ चिअ अहवा कह जपिअ अेसा ? ।५९।
यदि व्रजसि तदा व्रजतु मधु गुरुक दीर्घं विरहानि तापित तनुक ।
व्रजति ते समय चेत् अथवा कथं जल्पितमेतत् ।५९।

५९—मधुमास (चैत्र) की भारी दीर्घ विरहानि के ताप से शरीर को तपन करने वाले, यदि तुम्हारा समय बीत रहा है और जाना चाहते हो तो चले जाओ अथवा यह वकवास क्यों ?

अेकन्तक्खेओ जहा— अेकान्ताक्षेपो यथा—

खग्ग-प्पहार-दढ-दलिअरिअ दलिअ-कु भ-वीढरय
तुअ णत्थि अन्त को महिहराण सचालणो होज्ज ।६०।

सङ्गप्रहार इदं दलितरिपुदल च कुम्भ-पीठस्य
तव नाम्नि अन्तरु महीधराणा सचालनो नवतु । ६०।

६० — तनवा के प्रहार ने दलनापूर्वक मयूदन को और हाथियों की पीठों का दलन करने वाले हे राजन्, तुम्हारा अन्तःकरण कदा कौन नहीं है । (अ) तुम राजाओं के मचालक बनो ।

होड महाओ जाई वेरगो (वडरेओ) उए विसेमकरणेण
उअणेण मणेही मआ अन्नेण वुज्झड कडिहि । ६१।
नवनि स्वभावो जानि वराण्य व्यतिरेक पुन विशेष करणेन
पुननेन मण्यते मदाज्येन बुद्धधने कविनि । ६१।

६१ — स्वभाव जानि अन्तरु होना है, उनमें कुछ विशेषता पैदा करने में व्यतिरेकालंकार हो जाता है, जो पहले में जनमात्राण इमेजा मानने हैं, ओ-इमने में कवि शरण (मनीषी) समझते हैं ।

जाई जहा जातिर्यथा—

मिर-यन्त्रि-कनम तोलि (णि) गवाहा जुअलाड गामतरणीअे
मण्णड विनामदिट्ठो भडदिट्ठ (ओ) पामरो पुहवि । ६२।
शिरो धूत-कल्ल-सूणीर वाट्ठपुणलया ग्रामतरण्या
मण्यते विनामदिट्ठो भ्रष्ट पामर पृथ्वीम् । ६२।

६२ — मिर पर रङ्ग धारण ती हुई, तथा दानों भुजाओं में नृणां की हुई ग्राम तरणों मानती है कि विनाग (सामना) में देखने बाग पामर पृथ्वी पर मिर गता ।

वडरेगो (वडरेओ) जहा— व्यतिरेको यथा—

हूमह पआ (भा) व पमगे सोमो म (ज) ड अरवल्लपहो तामि
निव्व जटाअणु दोण वि रवि ग्व (ह) र अह अच्छाहा । ६३।
हुम्मह प्रभाव प्रमग् सोमो यद्यस्सलितपयस्तेषाम्
तीअ जटाअणु द्वयोऽपि रजिग्य र्जो हतच्छाया । ६३।

६३ — चन्द्रमा यदि तुमह प्रभाव फैलाने बाग और जम्बूलिन परवाना बना है तो (उनका कारण) उन तीव्रगामी जटाओं में दानों (सूर्य चन्द्र) में मे मृग के ग्य की उड़ने वाली रज की छाया हो है ।

पुडमिगाराड र्जो रमिओ अह भण्णअे अल कारो
अण्ण ववअेम भणिअे विणिम्मिओ होड पज्जाओ । ६४।
स्फुट शृगागदि रस रसिक अथ मण्यते स्मकार
अन्य व्यपदेश भणिते विनिम्मितो भवति पर्याय । ६४।

६४ — जिसमें शृगागदि रस स्पष्ट (प्रगट) हो, वह रमिभावकार कहलाता है जो उनमें किसी हूमरे वा व्यपदेश कहे जाने पर (अन्य के विषय में कहे जाने पर) पर्यायान्तर बनता है ।

रमिओ जहा— रविको यथा—

हुई-विशद्ववअणाणु ववाडअं विअमिडं थडा
पडड मउणम उरे रमन्त रमणा कुर गच्छी । ६५।





दूती विदग्ध वचनानुवद्धा इतर विस्तमिषु स्तव्या
पतति सपुण्यस्य उरसि रसन्त रसना कुरङ्गाक्षी ।६५।

६५—दूती के चतुर वचनो मे वणी हुई और दूसरे का रोकने में स्तव्य (घमण्डी) रसोली जवान वाली मृगनयनी (नायिका) (किसी) पुण्यशाली के वक्ष स्थल पर गिर जाती है ।

पञ्जाओ भणइ जहा—पर्यायो भणति यथा—

गरुआण रगो (? थो) रियाए रमन्ति (ति) पथडे रयरस कत्तो
मा कुणसु तस्स दोस मुन्दरि ? विममट्ठिअे कउजे ।६६।

गुरुकाना गौर्याम् रमन्ति प्राकृत रतिरस कृत
मा कुरु तस्य दोष, सुन्दरि ! विषमस्थिते कार्ये ।६६।

६६—गुरुजनो की (वड आदमियो की) मुन्दरी में गवार आदमी ही रनिग्स (का सेवन) करता है । इसमें हे सुन्दरी (ऐसे) विषम परिस्थितिवाले कार्य में उसको दोष मत दे ।

जह् पिअ भणण्ड बहुआ परिवाडी पअटण जहा सख
किं पुण विउण तिगुण चउगुण होड कव्वम्मि ।६७।

यथानीत मण्यते बहुधा परिपाटी प्रकटन यथासत्य
किं पुन द्विगुण-त्रिगुण-चतुर्गुण भवति काव्ये ।६७।

६७—यथासक्य अलंकार वह कहलाता है, जहाँ यथा क्रम में बहुधा (प्रायः) परिपाटी (श्रेणी) पूर्वक (शब्द) प्रकट किये जाते हैं और तो क्या कहे ? काव्य में यथामग्य अलंकार द्विगुण, त्रिगुण और चतुर्गुण (यों तीन प्रकार का) होता है ।

विगुणो जहा—द्विगुणो यथा—

ह स-ससि कमल-कुवलय-भसल-मुणालाण पिज्जिअ लच्छी
तिस्सा गड मुह-करअल-जोअण-धम्मेल्ल-वाहाहि ।६८।

हस-शशि कमल कुवलय भ्रमर मृणालाना निर्जिता लक्ष्मी
तस्या गतिमुत्तरतलोचनधम्मिल्लबाहुभि ।६८।

६८—उसकी गति, मुप, करतल, नेत्र, केदापाश तथा भुजाओं ने क्रमशः हस, चन्द्रमा, कमल, कुवलय, भ्रमर और मृणाल (कमलदण्ड) की लक्ष्मी (शोभा) को जीत लिया ।

तउणो जहा—त्रिगुणो यथा—

जो वहइ विमल वेत्तलहल कसण सिअ सरिसिआ विसमिअको
मुद्धद्ध रयणीकर मउलिसमिअे त सिव णवह ।६९।

जो वहति विमल विल्वदल कृष्ण सित सरीसृपान विपमिथाद्ध
सूद्धाद्धि रजनीकर मौलि सधित त शिव नमत ।६९।

६९—जो निर्मल विल्वपत्र, काले और सफेद सापो तथा कालकूट त्रिप और चन्द्रमा को धारण करता है, जिसके मस्तक के अर्द्धभाग पर चन्द्र रूपी मुकुट आधार पाए हुए है, उस महादेव को नमन करो ।

चउगुणो जहा—चतुर्गुणो यथा—

नीले सम मडल-दीर्घो हि एण्मला-अव वव न सोर्धेहि
उमणा हर णअणेहि जिजाइ मणि जवय कमलाइ ।७०।

तथा सम मृदुक दीर्घ निर्मलाताम्र धवल गोमं
दशनाग्र नयनं जितानि कणियावक कमलानि ।७०।

७०—उम (नायिका) ने अपने सम (गर मरीचे) कोमल और दीर्घ, निर्मल लाल और धवल गोमं वान, होंठ और नेत्रों ने (अमर) यमन नाम की मणि (गो-बद्धी या चिन्टी) तथा कमल को जीत दिया ।

अग्न (गर्भ) विजय पद्म (वल्ल ? पत्त ?) महाबलपञ्चाशे ममाहिओ होइ
गुण-किरियाग विरोहेण अम भणिओ विरोहोति ।७१।

अनपेक्षित प्राप्त सहाय सपदा ममाहितो भवति
गुण क्रियाणा विरोधेन एव नयिनो विरोध इति ।७१।

७१—जग अनपेक्षित सहायता को सम्पदा प्राप्त होती हो, वही ममाहित अलंकार होता है । तथा गुण और क्रियाओं के विरोध के कारण यह विरोधालंकार कहलाता है ।

ममाहिओ जहा—ममाहितो यथा—

अच्यन्त कुविद्य पिय अव (म) पमाउणन्थ पअडमागीअे
उडओ चदो वि ननो अपमरिओ मलअगधवहो ।७२।

अत्यन्त कुपित प्रियतम प्रमादनार्थं प्रवृत्तमाया
उदिनश्चन्द्रोऽपि तन अपमृनो मलयगन्धवह ।७२।

७२—अत्यन्त कुपित प्रियतम को प्रमत्त करने में प्रवृत्त हुई नायिका के भाग्य में चन्द्रमा का भी उदय हो गया और मलयगन्ध की रक्षा भी चली गई ।

विरोहो जहा—विरोधो यथा—

तु-अ जमो हम्ममह ममुज्जलो मअन (य) व(य ?) एण्ण दित मवि
मडल (इ) ण (ह) वड वर वेरि वीर वहु वअण कमलाह ।७३।

तत्र यदा ह्य दशधर मयुक्ज्जन सकल प्रवर्जित दूहमपि
मयिन न भवति (?) वर वरिवीर वधू वदन कमलाभ ।७३।

७३—तुम्हाग श्रेष्ठ वीरियों की वीरगताओं के मुक्त कथन के समान यदा महादेव के (लगात पर स्थित) चन्द्रमा के समान उज्ज्वल है, वह ममम्भ जनों की निन्दाओं से दूह होने पर भी मयिन नहीं होता ।

उवमाणेण महअ भणिरुण भम्मअे जहि भेओ
हुड कण्णेण मदेहममिओ नो हु मदेहो ।७४।

उपमानेन स्वरूप भणित्वा भाष्यते यत्र भेद
स्मृति करणेन सदेह मथितसम्म तु मदेह ।७४।

७४—उपमान के द्वारा स्वल्प बनाकर जहा भेद (पुरुषगण वगैरे) कहा जाता हो, स्मृति करने में जहाँ भेद का आशय दिया गया हो, वहाँ यह मदेह अलंकार कहलाता है ।

सदेहो जहा— सदेहो यथा—

कि कमल मिण (णो) त सकेमर कि ससी ण तत्थ मओ
दिट्ठ सहि ? तुज्झ मुह सससथ अज्ज तरुणेहि । ७५।
कि कमलमिद ? तत्सकेसर ? कि शशी ? न तत्र मृग
दृष्ट ससि । तव मुल ससशय आयं तरुणं । ७५।

७५—क्या यह कमल है ? (पर) वह पराग के मद्दिन होता है । तो क्या वह चन्द्रमा है ? (पर वहाँ मृग तो नहीं है, हे सखि, (इस प्रकार) तुम्हारे मुँह को आर्य तरुणों ने मदेह के माथ देखा ।

णत्थि विहेओ किरिआ रसिअम्स वि होड जच्च फल रिट्ठी
भणएइ विभावणा सा कव्वल कार डत्ते हि । ७६।
नास्ति विभेय क्रिया रसिकस्याऽपि भवति यत्र फल श्रुटि
भण्यते विभावना सा काव्यालकारवित्तं । ७६।

७६—जहाँ विभेद (पुण्यकरण) न हा म्रियारसिक की भी जहा फल श्रुति होती हो, उसे काव्यालकारविज्ञ विभावना (अलकार) कहते हैं ।

विभावणा जहा— विभावना यथा—

वड्ढइ असित्तमूलो अणुप (? ओ) अर ताड पसरइ एहम्मि
सग्ग गओ (अस्स) वि अकण्हो अघो अ विमलो जसो तुज्झ । ७७।
वड्ढत्तेऽसित्तमूलमनुपरान्तमपि प्रसरति नभसि
(स्वर्गं) गतस्यापि अकृष्ण अधश्च विमल यज्ञस्तव । ७७।

७७—तुम्हारे स्वर्ग जाने पर भी, तुम्हारा अश्वेतमूलक और असीम यश आकाश में बह रहा है, (ऊपर) फैल रहा है, और नीचे (मर्त्यलोक में) भी पवित्र और श्वेत है ।

अनो चिअउ तरल्लिअ आज अ सा वाइ त स सजणिउ
डि (ड) विहो होइ जह तहा साहिअ त णिसामेह । ७८।
अन्य त्यजतु तरङ्गि तता च आश्रवादि त स सजनयितु
द्विविधे भवति यथा तथा साधित त निशामय । ७८।

७८—दूसरे चाहे चाचल्प को छोड़ें, आशावादी उसे करने के लिए तैयार रहता है । (वह) जैसे दो प्रकार का होता है उसे उस प्रकार सिद्ध किया गया, उसे सुनो ।

कतइ वअणाड जहि असुअहि उत्तरेहि णज्जति
सोउहि तरम्मि उहि अगूढ भावो सआ उत्तो । ७९।
कति वचनानि यत्र अश्रुतैस्तरं ज्ञायन्ते
सोऽभ्यन्तरं ऊहै अगूढ भाव सदा उच्यते । ७९।

७९—जहाँ कुछ वचन बिना उत्तर सुने हुए ही आभ्यन्तर तर्कों द्वारा ज्ञान हो जाते हो, वहा वह सदा अगूढभाव कहलाता है ।

जस्म हण्णोहि अण्णो ण ऽण्णो पवडिअ जजे जहि अत्थो
अग्गावअेम-गामो (नो) मिद्धो अत्थ आरेहि । ८०।

यस्य हृन्नि हृन्तो नान्य प्रकटित जगनि यत्रार्थ
अन्याव्यपदेश नामा य मिद्धो अर्थकार । ८०।

८०—यहाँ जिसका अन्य अर्थ जगत् न प्रकटित (प्रसिद्ध) अर्थ का हनन नहीं करना (हटाना नहीं) वह अर्थकारों की दृष्टि से अन्य व्यपदेश अलंकार नाम से प्रसिद्ध है ।

आतुर अलंकारो जहा— आतुरालंकारो यथा—

हा हा विह्वल करअना नहिअ मुअ डडइ
पडिआ गोआतुरेण मरसे ा मिसेण हलिअ मो हा । ८१।

हा ! हा ! विषत करतला लघ्य मुत दग्धम्
पतिना नद्यामातुरेण मदोऽन भियेन हलिकम्पुपा । ८१।

८१—हा ! (जब) विमान की पुनवत् ने पुत्र को जना हुआ पाया तो हाव डिलानी हुई समान आतुर (गो) के बहान नदी में गिर पड़ा ।

अग्गावअेमो जहा— अत्र व्यपदेशो यथा —

अण्णे मवव भोडणि णववच्छअसेणअ वडलस्म
आलोअ वत्त (? मेत्त) मृह्वो ण कज्जकरणवत्तमो अेमो । ८२।

अग्रे मन्त्रयनोगिनि नव वन्मो ऽमदृश बलीवर्हस्य
आलोक मात्र मुत्तद न कार्यरराक्षम एष । ८२।

८२—अत्र में सम्बन्ध का उपभोग करने वाली ! बैल का यह जमहल गया बलडा निकर देने में मुश्किल है, कार्य करने में समर्थ नहीं ।

पुव्व-भणिअमरिमि वत्तुणि भणण तह अण्ण ? परिकरो
ण न पण्णिरिओ अत्थ (त) व (र) णामो जहा

पूर्व भणिन सदो वन्मुनि नणन तथा च पण्णिर
न न परिकरित अर्थान्तर न्यायो यथा ॥

८३—यहने कहीं हुई मद्य वन्मु का बैला ही कपन करना अन्य पण्णिरालंकार कहलाता है । अगर वह परिकरित (उसी अर्थ का कपन) नहीं है ना उसे अर्थान्तरात्मक समझना चाहिए ।

विप्पुरड रवी उअआ अलम्मि णट्ट अत्थ महिहर निरत्थो
ते अग्निणो वि तेअ लट् ति ठाण लहेऊण । ८३।

विप्पुरति नत्र उदयाचले नहि अस्त महीधरशिर स्य
तेनस्विनोऽपि तेज लभन्ते स्थान लब्धा । ८३।

८३—यूर उदयाचल पर ही चमकना है, अन्धाल के निज पर रहा हुआ नहीं । तेजस्वी पुरुष योग स्थान पाकर ही तेज पाते हैं ।



अण्णपरिअरो जहा—अन्यपरिकरो यथा—

तुरियाइ (तु) रियगमणो णिअवभरमन्यराइ खलिअपओ
मग्गेण तीअ वच्चइ पेल्लावल्लीअ तरुणिजणो ।८४।

त्वरितातिस्वरितगमनो नितम्बभरमथरातिस्खलितपद
मार्गेण स्त्री व्रजति पीडयन् तरुणि(ण) जन ।८४।

८४—श्रीघ्रातिशीघ्र गमन करने वाला, और नितम्ब के भार से मन्द और अतिस्खलित चरणवाला तरुण जन मार्ग में स्त्रियों को धक्का मुक्की करते हुए जा रहा है । ?

बहु वत्थु च्चिअ किरिआ समकालपआसण स होजत्ति
गुस्वीर जाइ रडओ जाअइ उज्जा अलकारो ।८५।

बहु वस्तूचितक्रिया समकालप्रकाशन सहोक्षित
गुरुवीरजातिरचितो जायते ऊर्जालिकार ।८५।

८५—अनेक वस्तुओं के योग्य क्रियाओं को एक ही समय में प्रकट करना सहोक्षित कथन होता है । जहां महान् वीरो के स्वभाव का कथन होता हो, वहां ऊर्जालिकार होता है ।

उज्जा (? द्वा) लकारो जहा—ऊर्जालिकारो यथा—

वीसत्थ िच्चअ गेण्हसु वइ वि (रि) अणा वेगग णिविडिअ खग्ग
पहरत्त पडिअ पहरण मुण्ड करेसु णाससमत्थ ।८६।

विश्वस्त चैव गृह्णातु वैरिजनावेग-निपीडित खड्ग
प्रहरान्त पतित प्रहरण मन्यते करोतु नाशसमर्थम् ।८६।

८६—वैरीजनों के हीसलों को परास्त करने वाली तलवार विश्वस्त होकर पकड़ो । एक पहर तक गिरे हुए पर प्रहार करो, (वह) नाश करने में समर्थ माना जाता है ।

सहोत्ती जहा—सहोक्षित यथा—

णिद्दाइ समा लज्जा सरीर सो (स्मा) न्ता (भा) इ सह गआ किन्ती
समये तुह अणुरअणी तीअे वड्ढन्ति णीसासा ।८७।

निद्रया सम लज्जा शरीरस्यान्तेन शोभया (?) सह गता कीर्ति
समये तव अनुरजनी अतीते वड्ढन्ते निश्वासा ।८७।

८७—निद्रा के साथ लज्जा चली गई, शरीर के अन्त के (शरीर शोभा के) साथ कीर्ति चली गई । प्रत्येक रात्रि को समय के बीत जाने पर तुम्हारे निश्वास बढ़ते जाते हैं ।

उअमा इत्थ णिह्विअ णिअडासा अवण्हुई होइ
पीई अईसअेण पेमाइसओ भणेअव्वो ।८८।

उपमा अत्र (यत्र) निह्विता निकटा सा अपह्नुतिर्भवति
प्रीत्यतिशयेन प्रेमातिशयो भणितव्य ।८८।

८८—जहां निकट की उपमा छिपा दी गई हो, वहां अपहनुति होती है । जहां प्रीति की अतिशायिकता का वर्णन हो, उसे प्रेमातिशयालंकार कहना चाहिए ।

अवण्टुई जह।—अपह्नुति यथा—

णहु उच्च विडम मठिअ पहिट्ठकलअठि कलरवण्णमरो
मुण्ड वणविलमिअ पुण्णचावमहुरो रवो अेमो ।८१।

न तु उच्च विडप सम्मिअ प्रवृष्ट कलरवण्णमरो
भूयने वनविलमिअ पुण्णचाप मधुरो रवो एप ।८६।

८६—उच्च उच्च वेड पण वेडी हूई टीठ (वृष्ट) बोधन के करार का प्रसार नहीं है, किन्तु वन में विलास करने वाले कामदेव का यह मधुर स्व (यच्च) मुनाई देता है ।

पेमाइमओ जहा—प्रेमातिशयो यथा—

महमा तुअम्मि दिट्ठे जो जाओ तीअे प (र) हरिमाइसओ
नो जड पुणोवि होमड मुण्डर तुअ दमणु च्चेअ ।९०।

महमा त्वयि दृष्टे यो जात म्त्रय प्रहर्षातिशय
म यदि पुनरपि भविष्यति सुन्दर तव दर्शन चैव ।९०।

९०—महमा मुन्द्रे देखने पर मंत्री या जो हर्षातिशय हुआ है वह यदि पुन होगा तो तुम्हारा दर्शन सुन्दर ही है ।

गिद्धी-महागुभावन्नेहि दुविहो वि जाअड उदत्तो
नो पग्गित्तो वेण्ड जत्थ विमिट्ठ णिअ दाउ ।९१।

श्रद्धिमहानुभावस्त्वाभ्या द्विविधो ऽपि जायते उदत्तं
न परिवर्त्तो गृह्यते यत्र वैशिष्ट्य मिअ दातुम् ।९१।

९१—श्रद्धि और महानुभावना के भेद में उदत्तार्थका दो प्रकार का होता है । और पण्वित्तलिका वह कद्रवाना है, जहा अपनी विशेषता देकर (वताकर) आकर्षित किया जाता है ।

गिद्धी-उदत्तो जहा—श्रद्धि उदत्तो यथा—

तुह णग्ग्सेहर । विट्ठुग्गिरणकरिण (किरण) णिअरणासिअतमाड
मिच्चाणवि दीव-मिहामडनाड ण होति भवणाड ।९२।

तत्र नरमेव । विष्फुग्निरत्नकिरणनिकरनाशिततमासि
भूत्यानामपि दीप शिखा मलिनानि न नवन्ति भवनानि ।९२।

९२—हे नरमेव । तुम्हारे भवन चमकती हुई रत्न-किरण गति में अन्वहार को नष्ट करने वाले होने में अनुचर (के घर) की दीप शिखाओं में मलिन नहीं होते ।

महागुभाव जाडउदत्तो जहा— (महानुभाव जाति उदत्तो—

वेण्णल गमण (णि) थणहर पडिपेण्णिल विअड वच्च पीटावि
ण चलति महा-नत्ता मअणस्म सिंहे पअ काउ ।९३।

वि-वफनगमिस्तनधप्रतिपौडनविकटवृक्षपीठा अपि
न चनन्ति महा मत्वा मदनम्य शिरमि पद कर्त्तुम् ।९३।





६३—वित्त्वफल, रमणी तथा वादलो द्वारा विकट वृक्षपीठ प्रतिपीडित होने पर भी महासत्त्व (महापुरुष) कामदेव के सिर पर पैर करने के लिए (कामदेव को दवान के लिए) चिन्तित नहीं होते ।

परिभक्तो जहा— परिवर्त्तो यथा—

ससिमुहि । मुहपकजकन्तिपसरकरणवकम-विलासेण
दिट्ठि दाऊण तवो गहिआड जुआण हिआड ॥६४॥

शशिमुखि ! मुखपकजकान्तिप्रसरकरणक्रमविलासेन
दृष्टिं दत्त्वा ततो गृहीतानि युवाना हृदयानि ॥६४॥

६४—हे चन्द्रमुखी, तुमने उधर नजर मोड़ाकर अपने मुख कमल की कान्ति फैला कर तथा (अन्य) इन्द्रियो के क्रमशः विलास से युवकों के हृदय आकर्षित कर लिए ।

दव्व किरिआ-गुणाण पहाणआ जेसु कीरड कर्दीहि
दव्वुत्तर किरिउत्तर गुणुत्तरा ते अलकारा ॥६५॥

द्रव्य-क्रिया-गुणाना प्रधानता येषु क्रियते कविभि
द्रव्योत्तर-क्रियोत्तर-गुणोत्तरास्ते अलकारा ॥६५॥

६५—जहा (जिस काव्य में) कवियों द्वारा द्रव्य, क्रिया या गुणों को प्रधानता दी जाती है, वहा क्रमशः वे द्रव्योत्तर, और गुणोत्तर अलकार कहलाते हैं ।

दव्वुत्तरो जहा— द्रव्योत्तरो यथा—

वरकरितुर ग मदिरआणा अर सेवअ ? कएअ रअणाइ
चित्तिअमेत्ताइ चिअ हवन्ति देवे पसण्णम्मि ॥६६॥

वरकरितुरगमन्दिर-आज्ञाकरसेवककनकरत्नानि
चिन्तितमात्राणि चैव भवन्ति देवे प्रसन्ने ॥६६॥

६६—देवता के प्रमत्न होने पर श्रेष्ठ हाथी, घोड़े, महल, आज्ञाकारी सेवक, साना और रत्न चिन्तितमान से हो जाते हैं ।

किरिउत्तरो जहा— क्रियोत्तरो यथा—

मा रुअउ मा किसानउ मा खिज्जउ मा विहि उआलहुउ
जा णिक्किवा तुहु वहु वल्लहम्मस व (वि) रई पडे (?) पडिआ ॥६७॥

मा रुदतु मा विलसनातु मा खिद्यत मा विधिं उपालमता
या निष्कृप तव वहु वल्लमस्य विरति पदे पतिता ॥६७॥

६७—मत रोओ, क्लेश मत करो, छिन्न मत होओ और न विधि (देव) को ही उपालम्भ दो । तुम तों बहुवल्लभ (बहुजनप्रिय) हो, इसलिए जो निर्दया बन गई है, वह विरत होकर (तुम्हारे) चरण में पड़ेगी ।

गुणुत्तरो जहा— गुणोत्तरो यथा—

ससिसोम्म । सरल । सज्जण । सच्चवअ । रुहअ । सुवरिअ । सलज्ज ।
दिट्ठो सि जहिं रुअ ते ताइ (तुह) कह णु ण र्दिद ? ॥६८॥

शशिमीम्य ! सरल ! सज्जन ! सचचवम ! सुहृद ! सुचरित ! सलज्ज !
दृष्टोमि यत्र रूप, ते तावत् तव कथं नु न नरेन्द्र । ६८ ।

६८—हे चन्द्रमा के समान मीम्य सरल, सज्जन, सत्यव्रत, भाग्यशाली, अच्छी बात स्वीकार करने वाले, सलज्ज नरेन्द्र, जहाँ रूप देख लिया है, वहाँ वे तुम्हारे (अपने) कँसे नहीं होंगे ।

उवमात्रे उवमेव रुडज्जड जेण सो सिलेस ति
नो उण महोत्ति-उवमा-हेऊहितो मुणेअव्वो । ६९ ।

उवमया उवमेव रूप्यते येन न श्लेष इति
न पुन महोत्तिरूपमा हेतुभ्यो मन्व्य । ६९ ।

६९—जहाँ उपमा के द्वारा उपमेय का जिस शब्द (कारण) से निरूपण किया जाता है, वहाँ वह श्लेषालंकार होना है । वह महोत्ति, उपमा और हेतु को लेकर तीन प्रकार का समझना चाहिए ।

सहोत्ति-मिलेसो जहा — सहोत्तिश्लेषो यथा

पीणा घणा अ दूर नमुण्णवा णहविमत्ति अच्छावा
मेहा (हा) घणवाड तुह णिद्धवत्ति तण्हाउरो लोको । १०० ।

पीना घनाश्च दूर समुल्लता नमो (नख) विवर्तितच्छाया
मेघा घनतया तव निर्दिशति तृष्णातुरो लोको । १०० ।

१००—हे माँटे (पुष्ट) दूर तक उल्लत (ऊँचे) वाकाश में (नख पर) अपनी छाया फैलाए हुए पयोधरो ! (मनो) समता के कारण तृष्णातुर (नामातुर) लोग तुम्हारी ओर दीडते हैं (आकर्षित होते हैं) । (नोट—यहाँ मेघ और मन दोनों का शब्दों द्वारा महोत्ति श्लेष बताया गया है) ।

उवमासिलेसो जहा — उपमाश्लेषो यथा —

दूरहि चिअ णज्जड रक्ता सदस्स(न) नूडअ गमण
लहुडअमहिहरमत्ताणु मत्तहत्थीण व पहूण । १०१ ।

दूराच्चैव जायते रक्ता शब्दस्य समुचित गमनम्
लघूदित महीधन सतोन्मसहस्तीनामिव प्रभूणाम् । १०१ ।

१०१—छोटे-से उदीयमान महीधन (पर्वत और राजा) की सत्ता में उन्मत्त हाथियों की तरह प्रभुओं (राजाओं) का दूर में ही रक्ता (घण्टा के और रत्नों के) शब्द में सम्यक्तया (नलीमाँति) सूचन गमन मालूम होता है । (नोट—यहाँ हाथियों और राजाओं या उपमाश्लेष सूचन किया गया है) (हाथियों की सत्ता पर्वत पर और राजाओं की पृथ्वी पर) ।

हेउ मिलेसो जहा — हेतु श्लेषो यथा —

हेलाविमविमअण (ग) गणेण समपेच्छवा डअ जणस्स
अलिअपरम्मूह आअे भइ । अणणप्पहो त मि । १०२ ।

हेला विसर्पितमदनगणेन सम्प्रेक्षकादिक जनस्य
अनीक पराङ्मुखतया भद्र । नयनपथ त्वमसि । १०२ ।





१०२—हे भद्र, (तुमने) अनायाम (शैला पूर्वक) ही कामदेव के गण को दूर हटा दिया है। इमत्रिण भूठ म पराङ्मुखा के कारण प्रेक्षकादिजनो के लिए तुम ही नयनपथगामी हो।

(अच्युतभट) गुण सथुड वच्चमे (ववए) स वसेण सविमआ जत्थ
कीरड णिदा (?) णिदा) इत्थिआ मा ववअेमत्तुई णाम १०३।

अत्थुद्भट गुण सस्तुति-व्यपदेशणेन सविपया यत्र
क्रियते निन्दादि स्थिता (?) सा व्यपदेशस्तुति नाम १०३।

१०३—जहाँ अत्यन्त उद्भट गुण की स्तुति व्यपदेशवद् (वहाने को लेकर) विषय गदित निन्दादिस्थित विषयो के सहित की जाती है, उसका नाम व्यपदेश स्तुति है।

ववएसत्थुई जहा—व्यपदेशस्तुति यथा—

अकुलीणे पथत (ड) जटे अकज्जवके जीअे ससकम्मि
तुज्झ जमो णर-सेहर किज्ज मुअणाविअणामाड १०४।
अकुलीने प्रकृतिगड अकार्यवके जीअे ससके
तव यश नरसेखर ! फुर्यात् श्रुतज्ञापितनामादि १०४।

१०४—अकुलीन, प्रकृतिगड और अकार्य करने में वक्र जीव के समक होने पर है नरसेखर, तुम्हारा यश मूढने पर तुम्हारे नामादि का ज्ञापन करे।

गुणसरिसत्तण तण्हाड जत्थ हीणग्गस गुम्बअेण सम
होड समकाल किरिआ जा मा सम जोडआ साहु १०५।
गुणसदृशत्व तृणया यत्र हीनस्य गुणजेन सम
भयति समकाल क्रिया या सा समज्योतिता साधु १०५।

१०५—जहा गुण (महान्) के साथ हीन (छद्म) का गुण की समानता की तृणा ने जो सम (एक) कालिक्रिया होती है, वह समज्योतिताकार कहलाता है।

समजोद्धअ जहा—समज्योतिता यथा—

मअणस्स पर रज्ज कीरड रड तरल तप्पणि णिवहुम्म
ममआलचलिअमणिवलयमेहला णेउररवेण १०६।
खजनस्य पर राज्य करोति रतिस्तरलतरुणिनिवहुम्म
समकालचलितमणिवलयमेखलानुपुररवेण १०६।

१०६—रतिचल तरुणी समूह के एक जान (गाय) में चरित मणिजटित बलय कण्ठनी एवं नुपूर (नेऊर) की आवाज में स्वजन पर गज्य करती है।

अप्पत्थुअ-प्पमगो अहिआर-विमुक्क वत्थुणो भणण
अणुमाण लिगेण लिगी साहिज्जअे जत्थ १०७-१०८।
अप्रस्तुतप्रसंगो अधिकार-विमुक्क वस्तुत भणनम्
अनुमान लिङ्गेन लिगी साव्यते यत्र १०७-१०८।

१०—यस अंगो नुन (अंगो मे बाहो की) दना ता कथा रिया जाना हो, वहा अग्रमुन-
नामना ताता-हो । अंगो रिया (नाता) ते दाना रिया (माछा) निद्र रिया जाना हो वहा अनुमानावहार
होय ।

अप्रच्युतप्रमगो जहा - अप्रच्युत प्रमगो यथा -

માહતુ નોંધેમ ગયા હજી પદ્માવતી નુબા દેવડન
 પત્ની પુત્ર-પત્ની ટિ ઝગ-મજામાં જાને । ૧૦૮-૧૦૯।
 મા ઝગુ નોંધેમ ગયા હજી પદ્માવતી નુબા દેવડન
 પત્ની પુત્ર-પત્ની ટિ ઝગ-મજામાં જાને । ૧૧૦-૧૧૧।

[illegible]

सुखी, सुखी - सुखी न सुखी

[illegible]

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००.

आश्रमिनि न तानि विद्यमानेषां तु प्रकृत्या ?
 नीरवि पञ्चमसि तानि वा ३ आश्रमि १९९१
 धार १९९१ विद्यमानेषां तु प्रकृत्या
 तानि पञ्चमसि तानि वा ३ आश्रमि १९९१

[illegible]

अ.प्रतिनी १५—सदनों १५,—

निष्पन्नमगमाणां नृपकर्मस्य प्रजाजन्ता
 - तमे (वे) गदस्मिन्मन्त्रेण प्रजापतिं नृपति ॥११२॥
 दक्षिणमगमाणां तस्य स्पष्टोत्तममगमाणां नृपति
 ज्ञाता तस्य (वे २) नमः किम्पु नृपेण धारयिष्ये ॥११३॥

१०— अथा १. श्रीगणेशाय नमः ॥ २. श्रीगणेशाय नमः ॥ ३. श्रीगणेशाय नमः ॥ ४. श्रीगणेशाय नमः ॥ ५. श्रीगणेशाय नमः ॥ ६. श्रीगणेशाय नमः ॥ ७. श्रीगणेशाय नमः ॥ ८. श्रीगणेशाय नमः ॥ ९. श्रीगणेशाय नमः ॥ १०. श्रीगणेशाय नमः ॥

यांयोरमा नहि आ मनकिष्णा गुणानुजोषेण
अत्रि त्रि (व ?) त्रिष्व नामस्ये (त्वे ?) ओ पेत्मा होऽ माइमजा ॥११॥





स्तोकोपमादि सहिता शान्तकिरणा गुणानुयोगेन
अविवक्षितसामर्थ्यं उत्प्रेक्षा भवति सातिशया ॥११३॥

११३—गुण के योग से शान्त किरणवाली, थोड़े उपमादि मे सहित एव कहने की इच्छा (विवक्षा) का सामर्थ्य न होने पर जहाँ अतिशयिता होती है, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है ।

ओपेक्खा जहा—उत्प्रेक्षा यथा —

दीसइ पूरिअ सखो व्व मलय-मारुअ-णरे द सच्चलणे
दरदलियमल्लिआमउ नलग्गमुहगु जिरो भमरो ॥११४॥
दूइपते पूरित सख इव मलय-मारुत-नरेन्द्र सच्चलने
दरदलितमल्लिकामुकुललग्नमुखगुञ्जारवो भ्रमरो ॥११४॥

११४—मलयाचल के पवन रूपी राजा के चलने पर खिली हुई भोगरे की कली में लगा हुआ मुखवाला भ्रमर का गुंजारव सा मालूम होता है, मानो शब्द ध्वनि हो रही है ।

विविहेहि अलकारेहि अेक्क-मल्लिओहि होइ ससिद्धी
आसीसालकार आसिच्चाअ चिअ भणति ॥११५॥
विविधैरलकारै एकमलितैर्भवति ससिद्धि
आशीपालकार आशीर्वाद चैव भणन्ति ॥११५॥

११५—जहाँ विविध अलंकार एकत्र मिलते हो, वहाँ ससिद्धि अलंकार होता है । जहाँ आशीर्वाद कहा जाता है—दिया जाता है, वहाँ आशीपालकार होता है ।

ससिद्धी जहा—ससिद्धि यथा—

तुज्झ मुह ससिमुहि ! तुह मुह व णअ पल्लव (पा) करी चल (र) णा
थणआ सुहजलकलसोव्व सुन्दरा क ति (?ण) मोहत्ति (न्ति) ॥११६॥
तव मुख शशिमुखि ! तव मुख इव नवपल्लवकरचरणा (पादचलना)
स्तना शुभजलकलमिव सुन्दरा क न मोहयन्ति ॥११६॥

११६—हे चन्द्रमुखि, तुम्हारा मुख तुम्हारे मुख के समान ही है । नये पल्लव (कोमल पत्तों) के समान हाथ और चरण हैं, तुम्हारे दोनों स्तन शुभजलकलश के समान सुन्दर हैं वे कैसे नहीं मोहित करते ?

आसीसा जहा—आशीषा यथा —

आसीस तातस्सइ (वि) सअलकलुसाइ तुम्ह णासतु
दिअ गुरु-तवसि कुमार -सइअण सुअणेहि दिण्णाइ ॥११७॥
आशीपस्तातस्यापि सकलकलुषानि तव नाशयतु
द्विजगुस्तपस्त्रिकुमारस्वजन मुजने दत्ता ॥११७॥

११७—देव, गुरु, तपस्वीकुमार, स्वजन और सज्जनो द्वारा दिए हुए, पिताजी के भी आशीर्वाद तुम्हारे समस्त पापों का नाश करें ।

उवमा स्वअमेअ विरइज्जइ जत्थ त्यमे उवमा
णिअ रिमणा हु विसिट्ठा चदा चिअ उवभारहियाओ ॥११८॥

उपमा रूपकमेव विरचये यत्र रूपके उपमा
निदर्शनां सन्तु विमिश्रिता चद्रावितो उपमाङ्गिना, ११८।

११८—जहाँ जहाँ में उपमा नग्न की जानी हों, वहाँ वहाँ उपमाद्वारा अन्कार होना है। जहाँ चन्द्रावित (चन्द्रावित) उपमा में गङ्गा विमिश्रित उचित हो, वहाँ निदर्शनात्मक होना है।

उपमाहवयं जहाँ—उपमाहवयं यथा—

मैत्रिण्यं पञ्चमना रमणा रव नग्न मित्रिण्यं घर (?) ह ना
त्वलिङ्गं कुशाणा पमङ्ग मम्मह धाटिव्यं धवलच्छी ११९।

मप्रेषित नयन शरा रमना रव तरल मित्रिणा घर हमा
अस्मिन् युवाना प्रमग्नि मग्नि घाटीव धवलाली ११९।

११९—जहाँ जहाँ की दूरी की तरह धवलाली (मुन्दर नेश बागी) युवनी अपने नयनबागों का प्रेषित करती हुई चिह्न के शब्द में चित्र होत हों हों की मित्यानी हुई अनाम युवका को स्मृति करती हुई जा ही है।

पिछरिमणं जहाँ—निदर्शनं यथा—

दावलि जगहग मजल वमगवह ममाहटा
नपविहट्टनपण ममुल्ल (?) एग) ई रह अ कालकीलाओ १२०।

दवलि जगहग मजल वमगवह ममाहटा
सप विरट्टन् घन ममुल्लनी रहम्य काल कीडात १२०।

१२०—मकर दृष्ट (आकाश) की स्मृति पर जाहट शोक लघुव द्रविड हो रहे है (वम न ह)। सप मर में चित्र जाने वाले वादग की ममुल्लि (जैसे उठ जाना) त्वग्नि गति में बढने वाले शान की कीडा ने होनी है।

होड मिनेम छलेग मज्ज ता (ती ?) नखरेण अफुडेण
उपेक्खा, जेना मुआ उपेक्खावअव-थामा ह १२१।

भवति श्लेषेच्छलेन मार्जयन्ती हरकेनाम्फुटेन
उपेक्षा, एषा श्रुता उत्प्रेक्षावयवनाम्नी त्वु १२१।

१२१—जहाँ के छन (वर्णन) में अम्फुट रूपक के द्वारा जहाँ पत्तिनाजन (याघन) होना हो, वहाँ उपेक्षा-उपेक्षा होना है, इसका नाम 'उपेक्षावयव' भी मना गया है।

उपेक्षावयवो जहाँ—उपेक्षावयवो यथा—

ममवि कमण मपुण्य वगेण कुमुमाण र्वाणि विरचनि
उज्जोवड हवचदु दोडक्खेण प पडट्ठो १२२।

ममविक्कममम्पूनी वनेन कुमुनानि रत्तानि विरचनि
उज्जोवड हव चन्द्रोदयेक्षण उप प्रनिठ १२२।

१२२—ममानरूप में विरचित मम्पूनी उद्यान के द्वारा पुष्पों के पत्रग ले जा रहे हैं। जो अपने न्यान पर स्थित नर चन्द्र जो देवता (चन्द्रा की किशो) ने घोषित हा रहे हैं।





सा ओ भेउ व अत्थू जत्थ वत्थूहि होइ ओहेऊ
अभणिअ किप्पय ? अग्गभो पीओ तण (ह) णूण सट्ठेण । १२३।

सा उद्भिद वस्तु यत्र वस्तुमि भवति उद्भिदे
अभणत् 'किपद गभो' प्रियो तनु (तथा) 'न्यून' शब्देन । १२३।

१२३ — वह उद्भिद् अलङ्कार है, जहाँ वस्तु का दूसरी वस्तुओं द्वारा उद्भेद होता है, वह 'किपदगभ' 'प्रिय' तथा 'नून' से शब्द तीन प्रकार का कटा है ।

उद्भिओ भणिओ किपदगभो जहा—(उद्भिद्भणितो किपदगभो यथा—

आली विअच्छण साल (लेणा) णीअ हलिअस्स अमुणिअरसस्स
णिव्वासिअ सिर वीर मिच्छण मुह विअट्ठेण । १२४।

आली ! विचक्षण श्यालेनानीत हुलिकस्याज्ञातरसस्य
निर्वासितशिरोवीर इक्षणा मुख विवर्त्तेन । १२४।

१२४—अरी सपि, जिसे रम ज्ञात नहीं, ऐसे हालिक (हल चलाने वाले) के साले के द्वारा लाए हुए गन्नों का मुख विवर्त्त (फाड़ने) के कारण निर्वासित सिर वाले वीर की तरह विचक्षण लगता है ।

णूण सट्ठे जहा—

दर णिग्गअ ण पेच्छइ णूण सहआरम जरी अत्तज
तेण तुह वच्छ लोअण अहिओ (अ) वह (इ) मुहअद । १२५।

दर निर्गत न प्रेक्षते नून सहकारमञ्जरी अद्य
तेन तव वत्स लोचन अधिक वह मुखचन्द्रम् । १२५।

१२५—निश्चय ही आभ्रमञ्जरी आज थोड़े में बाहर निकले हुए मुखचन्द्र को नहीं देखती, इसके कारण है वत्स ! तुम्हारे नेत्र अधिक (गार) बहने करते हैं ।

यमक अलङ्कार

वर (र) वअण पालण किपअेण सहि (ह) रिसण खवलअ त्ति
जमअ सुइ सम भिणद्व (? त्थ) वअणे पुणुरुत्तआ भणिअ । १२६।

वरं वचन-पालन, किं पदेन, सहर्षण खवलय इति
यमक श्रुति सम भिन्नार्थ वचने पुनरुक्तता भणित । १२६।

१२६—वचन पालन करना श्रेष्ठ है पद से क्या मतलब ? (यह) महर्ष आकाशवलय है, श्रवण के साथ ही भिन्न अर्थ के कहने में पुनरुक्ति करना 'यमक' कहलाता है ।

वलिआलङ्कारो जहा — वलितालङ्कारो यथा —

किं तु रूअेण हला, रूअस्स स साम (मि ?) णिव्व सत्तीअे
अस्सा (स्स) ओच्छ अ घ इ ओ तस्स अ पाअेसु पडिआओ । १२७।

किं तु रूतेण हले, रूअस्स स्व स्वामिनीव सति
आस्य उत्सव धृता तम्य च पादेसु पतित । १२७।

१०३ - मन्त्री, गेने से क्या होता ? अपने स्वामी के होने हुए भी मानो वे इसके उत्पन्न को (मानती हुई) शरण करती हुई उस गोत्रे हुए के चरणों में गिर पड़ी।

आई नञ्जन गड गड (अ) भासो तहा यदि नित्रयो
गमिन्म-पाङ्ग-गड्डा जाड उमड पत्रिह् ॥१०३॥

आदि मन्त्रान्तर न प्राकृत भाषा लघावन्ति नित्रयोः
निद्रोपपाङ्गविन यानि जनकं पत्र-विषयम् ॥१०३॥

१०४ - आई मन्त्रान्तर गडमात्र, प्राकृती लिङ्ग निद्रोपपाङ्गविन से जनक पात्र प्रकाश का होता है।

पाङ्गड जनक जहा—पाङ्गादि जनकं यथा—

ना न ना शरं हि नि (आइ) द ड अ अड माङ्गनी
गड-गाह-गोड (अ) ना तामा-माना-माडगा गमिअ ॥१०४॥
ना अलु नाग हाग्य नित्रादिन उडं भावरी।
गणनामगौर ना तामा स्वाया माङ्गा गमिन ॥१०४॥

१०५ - एक मान का मन शरणे उडंगति नीड से कभी नहीं, अब वह जन के समान प्राणी मान के शरण से दृढ़ से प्रीति में गिर पड़ी है।

मन्त्रान्तर जनक जहा—मन्त्रान्तरजनक यथा—

जन्म पङ्गमेहि नञ्जन मन डिट्टु वड्डेण पञ्च विन विर
कडगो-गा-गारिअ उमडगा कलिअ
नहि हाडगा अविमर न अन अ
विमल कु (ग) न अ (न) र अण विड्डु जन जन
उम्य एवामे क्षनमम ममम् इण्ड द्रष्टा केन नृप्य विर विर
कडा (?) गेय चाग्नि उपनम कलिन
मन्त्रीपाङ्गा अविमरन्त अन्कम्
विमल कुंग तगल गल विष्टुष्टुजन जनम्

१०६ - विमर्श आदिना जनक के द्वारा वह मान नीड डाली गई आस्था में चिन्ता तक (प्र) तन्य है। मन्त्रान्तर पाङ्ग के द्वारा केदार की समानता से मन्त्रिन (?) एक मन्त्र से मान्यमन्त्र आविमरन्तरी शोभा निमन हुए के समान हुए मन्त्रान्तर प्राकृति विष्टु के समान उत्पन्न जन है।

मेड वड्ड मन्त्रु नन्म लञ्जन पाङ्ग भासो जनक जहा
कडगा वमवाग्नि लो द अ पयज चालज ॥१०६॥
मेनुवड्ड मनुजनन्मल्लमान पाद भासिन जनक यथा
कडगा धमवाग्नि उपनम प्रगवचानकम् ॥१०६॥

१०७ - अन्तमात्र से मन्त्रवत् (जिस पर पुन क्या हुआ है) मन्त्र के उच्च गिने हुए (जन के समान मानमान, मानमान धनर उत्पन्नता है। उदाहरण के द्वारा हुआ चाग्नि उत्पन्न को पुन वह दादलो के एक विन है।





आवली जमग्रो जहा आवलि यमको यथा—

हू भोग विज्जल पजल पजलणिभरे णिभग्गे ओण
सा सा सा मे मा मा म म अमोतु कलिओ ।१३२।

हे भद्र ! विद्युत्प्रज्वलप्रज्वलन-गरे निर्भरे कोण
सा अह ता मोक्तु कलित ।१३२।

१३२ हे भद्र, अग्नि के भाग में निभर होने में विजली जलाओ, वह मेरे लिए ऐसी ही है मैं भी उमर
लिए वैसा ही हूँ, मैं उसे छाड़न के लिए तैयार हूँ

सअल पग्र जमग्र जहा

तुह कज्जे माहमिआ केण कआ वदणेण माहसिआ
भणिऊण साहसिआ महिआहि फुट मा हमिआ ।१३३।

तय कायें सा हसिआ केन कूता वन्दनेन साहसिका ?
भणित्वा साहसिका सतिभि स्फुट सा हसिता ।१३३।

१३३—तुम्हारे कार्य (वै वाग) में वह हँस पड़ी थी, तब वन्दन न उम माहमिक बना दिया । (नष्ट)
माहसिका या धोल कर मणियों के साथ स्पष्ट (गिरगिला कर) हँसी ।

सकल पद यमक यथा—

असे विऊण अणेपाण (?) होति समग्ग आधिणो कव्वे
तेण वि अन्नो भावो पअेमो चैअ दट्ठव्वो ।१३४।

अश विज्ञाय च शेपाणा भवन्ति समग्राधीना काव्ये
तेनाऽपि अन्यो भाव प्रवेशो चैव द्रष्टव्य ।१३४।

१३४—काव्य में शेष (अलंकारों) का एक अद्य जानने पर वह समग्र रूप में अधीन हो जाते हैं (यानी समग्र
रूप में जाने जाते हैं) । उसमें भी अन्य भाव और प्रवेश देने लेना चाहिए, अर्थात् उसमें अन्य भाव गिरगिला हो ता
अन्य अलंकार का प्रवेश मालूम कर लेना चाहिए ।



इति अलंकार दर्पण सम्पत्त

॥ शुभ भवतु ॥



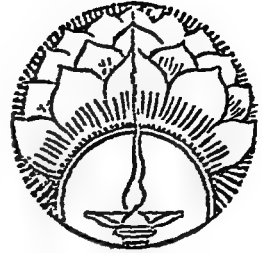
पंचम खण्ड



• जनपदीय संस्कृति

लोक और शास्त्र

अमयदेव शर्मा,
एन० ए० (मस्किन)



लोक-संस्कृति को आधुनिक काल में एक विद्या (branch of knowledge) का रूप अब लगभग प्राप्त हो चुका है, ऐसा कहा जा सकता है। मनुष्य ज्ञान-तरंग में कभी लोक-संस्कृति का समावेश, शिक्षा के क्षेत्र में, पाठ्य विषय के रूप में भी हो जाय तो आश्चर्य नहीं।

ऐसा तो नहीं है कि 'लोक'-वाद भी और प्राचीन भारत का ध्यान कभी गया ही न हो। पर आधुनिक काल में इनका विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन करने का, तथा भारत-विदेशी प्राचीन परंपरायुक्त देशों का ध्यान हम लोग उचितता के क्षेत्र में पाश्चात्य विद्वानों को है। मेरे अनुमान में, 'क्यामरिन्नागर' के दार्शनिक मटिप्पग अनेक अनुवाद ने ही सर्वप्रथम लोक-संस्कृति विषय की महत्ता की ओर भारत की पट्टी-निरी जनता का ध्यान विशेष-तौर से आकर्षित किया था। और हमने ताजी घटना, जिनमें लोक-संस्कृति को एक प्रकार से सामाजिक विषय बना देने का शौर्य प्राप्त किया है प्राचीन ग्रंथों के सामाजिक अध्ययनों, तथा सामाजिक में बिखरे हुए अमूल्य उन ग्रंथों के जो कि ज्ञान तो साहित्य में प्रविष्ट हुए ही नहीं और फलतः जिनके अस्तित्व तक में केवल नागर-संस्कृति में पड़े हुए लोग अनभिज्ञ हैं, अथवा जो कि साहित्य में तथा नागर-व्यक्तियों में बहुत कम प्रयुक्त हो पाये हैं, भंडार की खोज है। अपनी सीमित जानकारी में, इन दोनों ही क्षेत्रों को समीक्षित करने का गरिमायुक्त तथा मूर्धन्य प्रभाव विकीर्ण करने वाला कार्य, नवनवोन्मेष-धार्मिक प्रतिभा के धनी, श्री वासुदेवधरन अग्रवाल ने ही मनुष्य सर्वप्रथम स्वयं आरम्भ किया था, और अपनी प्रेरणा में अन्य अनेक लोगों ने भी कराया था।

इनका होने पर भी, नागर-संस्कृति में पड़े लोगों के लिए यह 'लोकायन'-ग्रन्थ अभी एक प्रकार की ऐसा बालश्रीला बना हुआ है जिनके प्रति बुद्धिमानों का कुतूहलमयित, हल्की कोटि का नाव डुबा करता है। यह दृष्टि-कोण ग्रामीण संस्कृति को समस्तता का पर्याय समझ लेने के कारण है। 'ग्राम-ग्रामीण' 'ग्राम्य' शब्द मुनते ही आम आदमी के मस्तिष्क में फूहड़, अशिक्षित, भोजन में शुक्ल, नाममय, 'मनुष्य' कहाने वाले होने पर भी मनुष्य के बलपूर्वक से रहित, मोटे-झोटे कपड़े पहनने वाले, अन्न-जल केन्द्रित जाने, देशी जूते पहनने या नंगे पैर वाले एक अजीब-से जीव का चित्र उभर जाता है। और, लोक-संस्कृति, जो वस्तुतः और मुख्यतः इनके ही जीवन और चरित्र का अध्ययन है, भला कैसे गंभीर अध्येय विषय हो सकता है, यह सोचने हुए नागर-संस्कृति का प्राणी वस्त्रमय मुक्ताएँ बिना रह नहीं पाना है।

ग्राम और पुर या प्राचीन शब्दों में उन्हें तो अरण्य और ग्राम का यह सामाजिक अन्तर आज का नहीं बल्कि काफ़ी पुराना है। हाँ, यह बात अलग है कि योरोपीय संस्कृति के प्रभाव ने इस अन्तर को दुर्लभ चौड़ी चाई बना दिया है। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में ग्राम और नगर का भेद ऐसा कभी नहीं रहा कि किसी एक ही दान को निनात ग्रामीण या निनात नागर कहा जा सकता हो। यों भी कह सकते हैं कि नागर-संस्कृति का भवन जिन कुर्मी या पीठिका पर खड़ा होता था वह ग्रामीण या लोक-संस्कृति ही थी। इन दोनों में उच्च स्तरभेद तो था, पर कोटि-भेद नहीं था। नगरों का नामों में बलिष्ठ भव्य बना रहना था। दूसरी ओर, ग्राम भी नगर के संपर्क में जाकर अपने को विस्तृत अवनवी-ना अनुभव नहीं करने के और यही मृदुणीय सामाजिक अवस्था है जो हर देश का भवन हानी चाहिए। किसी भी देश की अग्रिमतर जनता ग्रामों और वनों में निवास करती है। भौतिक सुविधाओं की चरमो-



पलट्टि से दूर, ये ग्राम और वन ही, शेष नागर जनता के अन्नदाता होते हैं। वेदो में 'जन', 'विश', 'प्रजा' कहाने वालो अथवा रियाया का अधिकांश ग्राम और वन में होता है। जो सामाजिक व्यवस्था और जो राजनीतिक ढांचा ग्राम और वन के बजाय नगर के रंग में अधिक रंगा हुआ होगा, वह भला, कम प्रजातन्त्री, वा लोकतन्त्री, व गणतन्त्री कहान का अधिकारी हो सकता है, उससे कैसे for the people, by the people तथा of the people का आदर्श चरितार्थ हो सकता है, यह गंभीर विचार के योग्य बात है। अस्तु।

प्राचीन भारत का समाज 'वर्ण' और 'आश्रम' इन दो पायों पर गढ़ा रहता था। वर्णों में ब्राह्मण, और आश्रमों में गृहाश्रम के अलावा शेष तीनों आश्रम, समाज वा समूह के बजाय, कहीं एकान्तप्रिय होते थे। ब्राह्मण के लिए 'अरतिर्जनममदि' का व्यवहार आदर्श माना गया था ताकि वह एकांतसेवनपूर्वक अध्ययन, अध्यापन और शास्त्र-प्रणयन में, विद्याओं, कलाओं और शिल्पों के विकास में रत रह सके। जनसमूह में अरति, ब्राह्मण के असामाजिक होने के बजाय, सांस्कृतिक निधि को समृद्धतर करने में उसके रतिभाव की दृष्टि से, अपने पर बलात् ओढ़ा हुआ, कण्ट-प्रद, कृच्छ्रतायुक्त, अभावों और तप के जीवन से उपेत, एक महान् उत्तरदायित्व थी जिसे सुधी और प्राज्ञ, तपस्वी और मनस्वी ब्राह्मण-वर्ग को स्वीकार करना ही होता था और इसी में उसका गौरव भी था। ब्राह्मण ही 'आरण्य' होता था। उसका मन ग्राम वा समूह में न रमता, नागर संस्कृति के लिए अरमणीय प्रतीत होने वाले अरण्य अर्थात् एकांत में अधिक रमता था। आचार्य विनोबा भावे ने इसी उदात्त अभिप्राय से एकत्र अपने को आरण्य जगली प्राणी बताया है। वैदिक दर्शन में भी पशुओं को आरण्य और ग्राम्य, दो प्रकार का माना गया है। 'आरण्य' अर्थात् एकाकी निवास का स्वभाव रखने वाले, यथा सिंह, और ग्राम्य अर्थात् झुंड में रहने वाले, यथा हाथी, भेड़, मनुष्य। वेद के शब्दों में 'सूर्य एकाकी चरति'-अपने मार्ग पर स्वयं के तेज से बढ़े जाने वाले साहसी 'आरण्य' प्रकृति के, अग्रणीकोटि के, जन-नायक होते हैं। वे सूर्यवत् स्वयंप्रकाश होते हैं। तद्विपरीत 'नवो नवो भवति जायमान'-स्वभाव वाला, 'जायस्व प्रिय-स्व' के चक्र में प्रवहमान रहने वाला चन्द्रमा 'ग्राम्य' प्रकृति का प्रतीक है। वह नक्षत्रपन्नियों के साथ समूह में रहता है। ग्राम्य संस्कृति परत प्रकाश है, वह आरण्य संस्कृति के पुजारी, विप्रों के निर्देशन और निरीक्षण में ही, शास्त्र के प्रमाण को गिर झुकाते हुए ही चलने वाली है। तो, जैसे ब्राह्मण वर्ण आरण्य वा प्राकृत संस्कृति का उपासक है, वैसे ही आश्रमों में वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम भी एकान्तोपासक होते हैं। वानप्रस्थाश्रम एकांत में साधना का साध्यावस्था वाला आश्रम है, तो सन्यास अंत में एकांतसिद्ध होकर भी लोक में अपने सर्वस्व वा न्यास कर देने रूप, प्रवृत्त्याभासरूप, 'धुरस्य धारा' रूप दुर्गम पथ है। सन्यासी अन्त में घोर एकांतशील रहकर लोक में सग्रहशील भासता है।

वन वा तपोवन की यह संस्कृति एक ओर थी, तो दूसरी ओर क्षत्रिय-वैश्य वृद्ध-वर्ग निर्मित गृही जनो की नागर वा पीर, वा जानपद, वा ग्राम्य संस्कृति थी जिसके लक्षण और स्वरूप बिल्कुल ही भिन्न थे। नगर के भौतिक, आराममय, शरीरपरायण बातावरण में जीवन की सरलता किण्वत हो जाती है। आत्मानुशासित बुद्धि के बजाय, देह-प्राण का अधीन मन नागर संस्कृति में जीवन का शासक होता है। यही वह ग्राम्य संस्कृति है जिसके उच्चावच दो स्तर थे, पुर (नगर) और जनपद (ग्रामाचल)। 'पीरजानपद' इस समस्त पद के प्रयोग प्राचीन भारतीय वाङ्मय में प्रायः उपलब्ध होते हैं। इन दोनों 'ग्राम्य' स्तरों में नगर स्तर का जनपद स्तर पर श्रेष्ठता का भाव होने से, समाज के अग्रणी राजा, अमात्यो, धनिकों आदि का राजधानी में प्रायः जमघट रहने से, पीर संस्कृति अपने से अवर जानपद संस्कृति का ही 'ग्राम्य' संस्कृति पुकारने लगी। परिणामतः ग्राम, ग्रामणी, ग्राम्य शब्द सरलतर जानपदीन जीवन के सूचक बनते हुए हीनभाव के द्योतक बन बैठे। नगरों में ही राजसभा में साहित्यकारों, शिल्पियों, कलाविदों, विद्वानों आदि को आदर और वैभव प्राप्त होता था। अतः संस्कृति के नवोन्मेषों के तथा सम्यता के अभिनव फैसलों के प्रधान उत्स नगर ही हो गए थे। नागर संस्कृति का एक प्राचीन चित्र यदि देवना हो तो वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' में देखा जा सकता है। काव्यादि का विकास भी नगरों में ही हुआ। अतः नाटको, गद्य-पद्य-चरित्र-काव्यों, कहानी-किस्सों में भी नागर संस्कृति के विभिन्न कालों के चित्र साहित्य में उपलब्ध हैं। जनजीवन के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष, नागर संस्कृति का लगभग पूर्ण और समृद्ध चित्र प्राचीन भारतीय वाङ्मय में विद्यमान है।

यह ग्राम्य, वा लोक-संस्कृति गृहस्थाश्रम का विषय है। गृहस्थ नाम और योग का आश्रम है। कह सकते

हैं कि 'गतिर्नममदि' लोकमन्वृति का प्राण है। जीवन में रस हूट कर उसी में आकण्ठ निमग्न रहकर, जीवन-रस का पान करने रहना, रसशीला, वा जीवन के भागवत रस को आनन्द पान करना ही लोकजीवन है। लोक में ही आश्वत्थोपेत ममाज और गजनीति का दावा बनता है। लोकानुरजन अत्रि का परमार्थ माना गया है। 'युवत प्रजानामनुरजते स्या', 'अनात् किन आवने दति' अथर्ववेद, आदि वचन राजा के रजन वा लोककल्याणार्थ के द्योतक हैं। लोक में ही विद्वद्भिर्यजुः 'प्रजा' रहती है। मनोपार्जन करना, आजीविका कमाना और परिवार बनाना जीवन की मुख्या के साथ, कर्त्तव्य, कर्मों का निर्वहण करते हुए, दृढ़ और पर जीवन की निद्रिपूर्वक विनाशा-यही लोकजीवन का स्वल्प रस है। जीवन की व्यथ्यप्रतापों और भ्रमण वृद्धिमान जटिलताओं के अनुस्यू नाना विद्याओं और कलाओं—विश्वों का जाल फैलता चला गया। मन्वृता जीव मन्वृति के जिन स्तरों पर विभिन्न देशों की प्रजाएँ ह वह लोकजीवन वा ग्राम्य मन्वृति की ही श्रेणी है, आरण्य, वा ग्राम्य मन्वृति की नहीं।

आरण्य और ग्राम्य वा ग्राम्य और लोक, वा जानपद और पौर मन्वृतियों का मध्यस्थान है ब्रह्मचर्याश्रम। ब्रह्मचारी का आचार पौर जानपद था। प वह शिक्षा पाना था गुरुकुलों में, जहाँ भगवत् में भी गणनता का बानावरण रहता था। ब्रह्मचारी को एक ओर माना-पिता-वर्युओं का प्यार-दुलार प्राप्त रहता था तो दूसरी ओर आचार्य की ताडना वा अनुज्ञापन उसे जीवन की अत्यन्त श्रद्धा का नामना करने की शिक्षा देनी थी। शिक्षा का आरम्भिक 'गार्गेय' पत्र वर्षाणि—रस जीवन 'ग्राम्य' बानावरण में बीनता था, तो 'दश वर्षाणि ताडयेत्' का विद्यार्थी-जीवन पाठशालाओं और गुरुकुलों के 'मानसिक एकान' के बानावरण में। उहाँ वह लोक में रहते हुए ग्राम्य का ग्राम में रहते हुए आरण्य मन्वृति वा ग्राम्यवाद का महण्डियों में रहते हुए भी तपोवन का जीवन जीना सीखता था। ब्रह्मचारी को लौटकर लोक में ही दाम्पत्य होना होता है। वह लोक में अरण्य में जाकर वापिस लोक में लौटना है। और, जीवन के मानव्य काल में उसे पुन आरण्य जाशमो-बानप्रस्थ और मन्थान में रातों का उल्लस मन्मुख रहना होता था। धर्मपूर्वक अर्थ और काम निद्रि के बाद धर्म और मोक्ष की प्राप्ति में ही उसे जीवन का 'इति धर्म' जगता चाहिए। इस प्रकार, भारतीय वर्गाग्रिम-व्यवस्था में ग्राम्य-आरण्य का लोक जीव ग्राम्य का अपूर्व और वृन्म नमन्त्र हुआ है। प्रवृत्ति और निवृत्ति, मुक्ति और भुक्ति, योग और योग, जीवन के दोनों पक्षों का, अथवा वैदिक भाषा में श्रद्धा और रस (ब्राह्मण मन्वृति और श्रमण मन्वृति) का सामजस्य ही भारतीय मन की प्रिय जीवनपद्धति है।

[२]

लोक और ग्राम्य का, अथवा ग्राम्य और आरण्य मन्वृति का मानव्य भाग्यीय वाङ्मय में आशोपल्ला द्वापन है। एक ओर 'आरण्यक' और 'उपनिषद्' नाम ने ऐसे ग्रन्थ विश्रमान हैं जो लोकजीवन में अनध्वेय एवं निषिद्ध माने गए हैं, तो दूसरी ओर कामग्राम्य, अर्थग्राम्य और धर्मग्राम्य हैं जिनका सम्बन्ध मुख्य लोकजीवन में है। लौकिक मानव्य जीव ग्राम्यीय वाङ्मय-ये दो कोटिया भारतीय ग्रन्थों की सर्वमान्य हैं। एक कोटि का 'स्मृति' और दूसरी को 'श्रुति' भी कहा गया है। व्याकरण की परिभाषाओं में इनका सम्य 'लौकिक' और 'वैदिक' (छान्दस) वाङ्मय कहा गया है। पतञ्जलि ने वेदवाक् और तौनवाक्-दो वाक् माना है। पाणिनीय 'गज्जानुज्ञान' (अष्टाध्यायी) वैदिक, —लौकिक दोनों भाषाओं को विवेचन करने वाला है।

ग्राम्य, श्रुति, वेद वा छठ कोटि में वे ग्रन्थ जिन हैं जो स्वन प्रमाण, स्वयंप्रकाश, बुद्धिपूर्व वाक् हैं। लौकिक, वा स्मृति ग्रन्थों को ग्राम्य का अनुज्ञान माना गया है। 'श्रुतेर् अर्थ स्मृतिग्व्याच्छन्' कहकर जतिदान ने 'गुणवत्' में इस परम्परा का मन्त्र दिया है। स्मृति श्रुत्यनुकूल ही ग्राम्य है। श्रुति परमप्रमाण है, स्मृति परत प्रमाण, परत प्रमाण, पीछे, मन पूर्विका वाक् है। श्रुति आत्मानुज्ञान, स्थितजन, बुद्धि ने प्रसन्न विद्वद्भाष्य हैं, तो स्मृति वेदग्रामानुज्ञान, आत्माबुद्धि के अनुज्ञान के अतीत, उच्छृंखल, चन्द मन ने अनुज्ञागित लौकिक वाङ्मय है जिनमें स्त्री, शूद्र, द्विज-वन्धुओं तक का मन गमता है। नाट्यग्राम्य की भाषा में 'वेद' वा ग्राम्य उपदेश-आदेश अनुज्ञान करना है, तो 'स्मृति' वा 'दोश' बानामित परामर्श वा शीघ्रीयक है जो शीघ्रा-माध्यम में मत्पथ में चित्त को रमाने के लिए है। द्विज ग्राम्यरुचि होते हैं, स्त्री गुहादि लोक-रुचि बाने हैं।





यहा प्रश्न उत्पन्न होना चाहिए कि लोक और शास्त्र, अथवा श्रुति और स्मृति में पीर्वापर्य क्या है, तथा कौन किसके अनुशामन में है। इस सार में एक आगम वचन का हठात् स्मरण हो जाता है कि 'देवकार्याद् द्विजातीना पितृकार्यं विधिष्यते'। देवपूजा-परक श्रुति यज्ञों में भी अधक महत्ता पत्र कर्मो-श्राद्ध, पितृयज्ञादि—की मानी गई है। ऐसा क्यों? इसमें तो यही ध्वनित होता है कि स्मृति पहले है, श्रुति पीछे। बात ठीक भी है। इसी प्रसंग में 'पुराण' शब्द पर भी ध्यान दे लेना चाहिए। 'पुराण' का अर्थ है 'पुरा-नव-पुराणा होने हुए नया। जो बृद्ध और युवा, दोनों एक साथ हो, अथवा, वेद की भाषा में, जो 'वाम-पालित' हो, वह 'पुराण' है। दूसरी ओर, सदाबृद्ध, एकरम, शाश्वत श्रुति परम्परा है जो उपदेश वा आदेशरूप होती हुई 'शास्त्र'-कोटि में है। परन्तु लौकिक वाङ्मय अथवा स्मृति-साहित्य विभिन्न ऋषिमात्रों में युक्त रमणीय साहित्य है जो हिमाचल-रूप एकरस आधार से निःसृत होकर भी नित रम्य और हठराती हुई सरिताओं के समान देश-काल में विविध रूप धारण करता है।

लोक पहले है। शास्त्र लोक का सार है—चिरस्मरणीय, और सभाल कर रखने योग्य तत्त्वसचय है। लोक की धारा सतत प्रवहमान रहती है। उसमें अच्छा, बुरा, रम्य, और हेय, सत्य और भ्रांति सब कुछ है। काल देवता अपनी कतरनी से क्षणिक और त्याज्य को छाटकर परे कर देता है और जो कुछ 'मन्यं शिवं मुन्दरं शाश्वतम्' काल और देश की परिधियों में यमाम्नि से दग्ध होने से बच रहता है, वही शास्त्र, श्रुति वेद, छन्द, के रूप में जीवित बच रहता है। संस्कृति और सम्यक्ता की दीर्घ यात्रा के जो स्मृतिचिह्न आज तक मानव को उपलब्ध हैं वे ही 'शास्त्र' हैं। शास्त्र अपने शाश्वत मूल्यों के कारण महेज कर रखने योग्य बन जाता है, और परंपरा उसे मरने में, कालरुबलित होने में बचाये रखती है। उधर, लोक-संस्कृति की धारा भी अपनी स्वच्छद, मस्त चाल से चलती रहती है। लोक-संस्कृति के छन्दों में छनकर, द्रोणकल्पा में भरा शास्त्ररम्य लोक-संस्कृति की परवर्ती धारा को प्रभावित करता है। जीवन की ठोकरो का यही तो उपयोग हो सकता है कि आगे वैसी ठोकरो में बचा जाये। वस, यही शास्त्र का उपयोग है, और यही लोक पर शास्त्र का, अथवा स्मृतिपर श्रुति का अकुश है। अतः जहाँ कालिदास का यह कथन कि 'स्मृति श्रुत्यर्थ का अनुगमन करती है' ठीक है, वहाँ यह आगमोक्ति भी ठीक है कि देवों से पितरों का वैशिष्ट्य अर्थात् श्रुति पर स्मृति का ज्येष्ठत्व है। लोक की आयु शास्त्र में अधिक है। लोक पहले है—शास्त्र लोक का निचोड़ है। पर शास्त्र का आधार है लोक ही। लोक में परिवर्तन होने पर, शास्त्र में परिवर्तन की अपेक्षा हो सकती है, और होती है। लोक पुराण होने पर भी नया है—अतः वह 'पुराण' है। पुराणों को स्मृति के अतर्गत माना गया है। एक उक्ति भी है कि 'आत्मा पुराणं वेदानाम्'। वेद वा शास्त्र का आत्मा-वा प्राण—, वा आधार पुराण परंपरा है। पुराण-परम्परागत ज्ञान ही 'वेद' है। एक और उक्ति है कि 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मण्यं स्थितम्'। पहले पुराण बने, फिर वेदादि शास्त्र बने। यहाँ वेदादि शास्त्रों की निन्दा करना पुराणकार की नीयत नहीं है, बल्कि वह शास्त्र का मूल लोकपरम्परा को बतला रहा है।

भारतीय समाज में लोक-परम्परा पर शास्त्रानुशामन की प्रधानता रही है। शास्त्र का ठाठ जब खड़ा हो जाता है तो फिर शास्त्र लोक पर शासन करने लगता है। यह बात भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में सही है। इसी को यों भी कह सकते हैं कि आम भारतीय का स्वभाव शास्त्र द्वारा बना दी गई लोक वा पद्धति वा परम्परा को सहज ही ग्रहण कर लेने का है। ग्रामाचलों में आज भी मूढ़ों ऐसी प्रथाएँ, ऐसे शब्द प्रचलित हैं जिनके उल्लेख हजारों साल पुराने काव्यादि में, तथा शास्त्रीय ग्रंथों में उपलब्ध हैं। प्रकारांतर से हम आज भी, कम-से-कम ग्रामाचल में तो, भास-, और कालिदास-कालीन जीवन जी रहे हैं, और महाभारतकालीन भाषा बोल रहे हैं। छोटी-से-छोटी हमारी आदतों, अतिसाधारण-भी लगने वाली कहावतों, मुहावरों की आयु बहुत-बहुत लम्बी है। पाश्चात्य विद्वानों की भाषा में कहें तो, यह ठीक ही है कि भारतीय स्वभाव से Conservative वा परम्पराभक्त होता है। यह परम्पराभक्ति शास्त्र का अनुशामन स्वीकार करने की हमारी प्रवृत्ति ही तो है। स्मृति, जो स्वभाव में देशकालानुसार परिवर्तनशील होती है, अपने क्षेत्र में परम्परा को त्याग कर नहीं चलती। और श्रुति तो है ही सुदृढ़ परम्परा का अपर नाम। इस प्रकार लोक में शास्त्रानुशामन, और शास्त्र में लोक का प्रतिफलन, भारतीय जीवन और संस्कृति की, अथवा योद्धे-वहुत रूप में मानव की मार्मिकीय संस्कृति की विशेषता रही है। परम्परा को सर्वथा मेटकर, मानव जी नहीं सकता। परन्तु लोक और शास्त्र, अथवा श्रुति और स्मृति का तारनम्य जब गड़बड़ा जाता है तभी लोक-जीवन में सशङ्क उत्पन्न हो

जानी है। परम्परा की अन्धी भक्ति भूटना और माहमहीनता है, तो तोड़ने के लिए परम्परा को तोड़ना उच्छृ-
ल्लता और वेवक्री है। दूसरों के अनुभवों के आलोक में भी ठोकर खाने से जो बचना नहीं चाहता, उस पर तरस
ही बाया जा सकता है। शान्त्रदीप नवनवोन्मेषधाली लोकजीवन की ताजगी को भुलसाने के लिए नहीं है वरन्
स्वच्छन्दता के निमिर को आलोक में परिणत करने के लिए है। कालिदास ने बड़ी मार्मिक वान ललित कलाओं के
प्रमग में कही थी कि 'पुराणमित्येव न माधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।' कोई चीज मात्र पुरानी, परम्परा पुष्ट-
गान्धीय होने में ही वर्णीय नहीं बन जाती है, और मात्र ही हर नई वस्तु चुनी नहीं होती है। यह भी कइ मन्त्र है
कि हर नई चीज, हर नया फंशन अच्छा ही हो और हर पुरानी परम्परा वा शास्त्रविधान बुरा ही है। ऐसा भी नहीं
है। बुद्धिमान् धानी आत्मानुगामिन बुद्धि ने परीक्षा करके ही किसी वान को ग्रहण करने वा छोड़ देते हैं। पर देह-
प्राण में बसीभूत मन की लगाम में वेबन बना हुआ प्राणी भूट ही कहनायेगा क्योंकि वह स्वयं निर्णय न कर परन्तु -
प्रमाण पर विश्वास करता है।

जीवन में आया कोई परिवर्तन जब चिरस्थायी हो जाए तो शास्त्र में उसे स्थान मिल जाना चाहिए।
शास्त्र प्रत्येक परिस्थिति में अपने अनुगामन का आग्रह न करे। उदाहरणार्थ, 'मत्स्य ब्रूयात्'—मत्स्य बोलना चाहिए यह
शास्त्र का आदेश है। पर किन परिस्थिति में सत्य का क्या रूप होगा, यह निर्णय करना म्युक्ति का काम है। किसी
निर्दोष की जीवन-रक्षा के लिए यदि कभी अयथार्थ भाषण करना पड़े तो वह नितात असत्य-भाषण की कोटि में नहीं
आता। अन्य प्रिय भी हों, अन्य को अप्रिय टग से बोलना ठीक नहीं, जाद्वि, आद्वि, स्मृति-परिधिया 'मत्स्य ब्रूयात्' इस
शास्त्रीय विधान को देश-कालानुगुण उपयोगी बनाने के लिए है। शास्त्र जब अडियल हो जाता है तो या तो उस
शास्त्र में अनुगामिन लोभ का जी घुटने लगना है, अथवा लोक उस शास्त्र को ठाकर मागकर परे फेंक देता है। व्या-
करण ने जब ग्लोक में बोली जाने वाली मस्कृत भाषा को अपने धिकजे में कमना आरम्भ किया तो भाषा की ताजगी
नष्ट होने लगी और अन्ततः भाषा का रूप ऐसा स्थिर हो गया कि अपनी परिधि में वह लोक-वहिल्फुन बन बैठी।
परन्तु भाषा की धारा अवरुद्ध नहीं हुई। मस्कृत को अपने ही टीले पर पड़ा छोड़कर, भाषा की धारा प्राकृत, अप-
भ्रंश, दधी भाषाओं के रूप में बह रही है और बहती रहेगी। काव्यशास्त्र ने जब लौकिक काव्य को धिकजे में कमना
आरम्भ किया, तो शास्त्रानुगुणता काव्य बानी हो चला। पर शास्त्रमुक्त काव्यधारा प्राकृत, अपभ्रंश काव्यों में से बहती
हुई देशीभाषा-काव्यों के रूप में आज भी प्रवहमान है। नोक रा उपामक कवि लीकवद्ध उपमानों के बजाय ताजे
उपमान डोजना है। वह 'विम्युक्ति की बगलों,' 'वेदना के बानायनों,' 'प्यार के बल्बों,' 'भुने हुए पापड के समान दूटे
हुए नपनों,' 'आत्मा के चक्के पर चढ़ाये जा रहे मकल्यगिन के लोहे के मजबूत जलन् टायरों,' 'भावों की सीपियों'
आदि, आदि नव-नव कलनाओं में रन रेता है और जीवनरन में अपने काव्य को ताजा बनाये रखता है। नाट्य-
शास्त्र ने नाटकों की रचना-प्रक्रिया को एक ही माने में ढाले जाने का जब आग्रह किया, तो नाटक-साहित्य बानी
पड़ गया, और उसके स्थान पर लोक-नाट्य की स्वच्छन्द धारा नाना रूपों में फूटती रही। वर्णाश्रमधर्म कभी लोक-
मगल का माधक था। पर इसकी परिधिया जब व्यक्ति की नामर्थ्य और अभीप्सा में बाधक बनने लगी तो वर्ण भर
गए और उनका स्थान जातियों, उपजातियों ने तथा वर्णमार्कय ने लिया, तथा आश्रमों का महत्त्व भी क्षीण होता
गया। नोक इन परिवर्तनों में जीवन जीने के लिए आज जो ग्रहण करता है। काम, शास्त्र भी लोक के अनुरूप अपने
को ढालने के लिए मन्द रहने जाये, तो ग्राम्य और आरण्य मस्कृति, अथवा लोक मस्कृति और नागर मस्कृति में
आजकल विद्यमान चीटी और गहरी ग्राई ममरमता के साथ पाटी जा सकती है। लोक मस्कृति का अन्वेषण और
अध्ययन शास्त्रीय मनोवृत्ति को ताजी और स्वस्थ रखने का माधन बने, तथा शास्त्र लोक को, वय, अमर्यादिन
होने में रोक्ने नया भुनगाई की टोकने में बचाए रखने तक अपनी हलचलों को सीमिन रखे—यही आदर्श सामज्य इन
दोनों में हो सकता है। इतिहास का कार्य वर्तमान और भविष्यत् को आलोचन रखना मात्र है।

१ भवानीप्रसाद मिश्र।

२ 'जज्ञेय'-इत्यलम्, पृ० १८०।

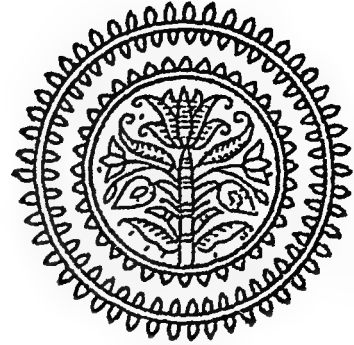
ये तथा अन्य ऐसे ही सदभे 'मानव-भावाभिद्यजक नए आलकांगिक प्रकृति-उपमान'

(नलिताप्रसाद सक्सेना) लेख (विश्वभारती पत्रिका, चैत्र-ज्येष्ठ, २०२४) से लिये गए हैं।



लोक-देवता

प्रो० चेतनप्रकाश पाटनी



वर्तमान काल में 'लोक' शब्द अंग्रेजी भाषा के फोक (Folk) का पर्यायवाची स्वीकृत किया गया है। फोक के विषय में 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' में लिखा है कि आदिम समाज में उनके समस्त सदस्य ही लोक (फोक) होते हैं और विस्तृत अर्थ में तो इस शब्द में सम्यक् राष्ट्र के समस्त जनसमूह का भी अभिहित किया जा सकता है, किन्तु सामान्य अर्थ में यह शब्द केवल उन्हीं का ज्ञान कराता है जो नागरिक-संस्कृति और मर्यादा-शिक्षा के प्रवाह में मुख्यतः पड़े हैं, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अथवा जिन्हें सामूलीय अज्ञान-ज्ञान है, ग्रामीण और गवाम।"

डा० राधेन्द्र के अनुसार "लोक" मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना में अज्ञान में मग्न है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जा तत्त्व मिलते हैं वे त्रोटकत्व कहलाते हैं।"

भारत गांवों का देश है। गांवों में उपर्युक्त 'लोक' में आने वाला समाज बसता है। ग्रामों के समूह जनपद हैं। गांवों और जनपदों का ज्ञान हमारे चारों ओर फैला हुआ है। इस भूमि के अधिकांश जन गांवों और जनपदों में ही बसे हुए हैं। गांव-वास्तव्य हमारी संस्कृति की धारणी हैं। उनकी संस्कृति देश की प्रधान-संस्कृति है।

इस संस्कृति का मूल अद्भुत अंग उसकी धार्मिक परम्परा है। डा० वामुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'इस परम्परा का इतिहास पान्च महर्षि वर्ण पुराणा है। पृथ्वीसूक्त ऋषि के अनुसार यह हमारी मातृभूमि अनेक प्रकार के जन को धारण करती है। यह जन अनेक प्रकार की भाषाएं बोलने वाला है और नाना धर्मों को मानने वाला है।"

जा विभ्रतो बहुधा विवाचस नाना धर्माण पृथिवी यथोक्तम् ।

—अथर्ववेद १२।१४७

भारत स्त्री उपवन सदा में कई भाषाओं और कई धर्मों स्त्री मुनियों में सहकला रहा है। इस विभिन्नता में भिन्नता की अपेक्षा एकता को ही जन्म दिया है। एकता की स्थापना करने वाली यही विचारधारा भारतीय संस्कृति का मुख्य दृष्टिकोण है।

समन्वय का सन्तान विद्या प्राण धर्म का है। इस प्राण में इनका अधिक विनिमय हुआ है कि किसी एक देश का मूल स्वरूप क्या था? किस प्रकार वह और मूलों को समेटता हुआ विकास को प्राप्त हुआ? और अंत में देश और काल दोनों की विस्तृत अवधि में फैल कर वह किस रूप में आज मान्य हो रहा है? यह अनुसंधान का विषय है।

भारतीय लोकजीवन को कहीं पर भी गहराई से देखा जाये तो उसमें सबसे प्राचीनता दृष्टिगत होती है। समाज किसी भी संस्था या पूजा-पद्धति के विषय में सन्नत नहीं होता, किसी का वलपूर्वक निराकरण नहीं करता। प्रत्येक धार्मिक संस्था अपने रस में जीवित रहती है और अपने रस में घटती-बढ़ती या रूप बदलती हुई हमारी संस्थाओं में घुलमिल जाती है।

ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, इन प्रमुख धर्मों में यदि घोष की जाय तो ज्ञान होगा कि पर्याप्त साम्य है। यक्षपूजा तीनों धर्मों में किसी न किसी रूप में गृहीत है। सम्पूर्ण भारत में वीर ब्रह्म (महावीर, ब्रह्मदेव) आदि को किसी न किसी रूप में आज भी पूजा जाता है।

भारतीय जन सर्वत्र से आस्थावान् रहता है। जीवन में प्रत्येक क्षेत्र में वह अपने में स्पष्ट शक्ति में आस्था रख कर चलता है। पद-पद पर वाय-मिद्धि के निये वह देवी-देवताओं की अनुकम्पा के निये प्रयत्नशील रहता है। लोक के प्रत्येक जन का व्यक्तिगत रूप में कोई न कोई देवता डप्ट रहता है। किसी को हनुमान का डप्ट है, तो किसी को भैरव का, तो किसी को शिवी अन्य का। व्यक्ति के बाद दम्पती (पति-पत्नी) के लिये भी प्रत्येक देवता है। शादी-दवाह के बाद या पुत्रप्राप्ति के अनन्तर लोक के लिये दम्पती अपने डप्ट के पान पहुँचते हैं। सम्पूर्ण परिवार की रक्षा के लिये फिर किसी न किसी बालदेवी की योजना है। प्रत्येक कुल की एक-एक देवी होती है और कुल की वृद्धि के निमित्त उसकी पूजा की जाती है।

कई पन्ना मिश्रण ग्राम बसाने हैं। पुन गाव की रक्षा करने के निमित्त गाव में एक डेट-मील दूर काँस्ट (ग्रामसीमा) के देवता की स्थापना की जाती है। वह सम्पूर्ण गाव को बीमारियाँ व अन्य आपत्तियों से बचाता है। किसी विशेष क्षेत्र की रक्षा करने के लिये 'क्षेत्रपाल' की स्थापना व पूजा की जाती है। इनो दिशाओं में दस दिक्पालों की कल्पना करके उनको पूजा जाता है। उनकी मुद्रा स्तियों का निर्माण किया जाता है। देवताओं की यह कल्पना माहिर्य, कला और उम्र तीनों में रूपता विस्तार रखती है।

क्षेत्र के बाद प्रान्त की स्थिति होती है। किसी विशेष प्रान्त के विशिष्ट देवता होते हैं। राजस्थान प्रान्त के चार महामूर्त देवता ये माने गये हैं। १ नागानेर का मागा बाबा, २ रणयम्भोर के गणेश, ३ एकलिंग जी, ४ हनुमान गट के हनुमान जी। पूर्वी भारत को कामाख्या देवी का, काश्मीर को त्रिपुरमुन्दरी का, महाराष्ट्र को गणेश का, तमिलनाडु को मुन्नल्लयम् का और मालवा को महाकाल का क्षेत्र माना जाता है। प्रान्त के अनन्तर सम्पूर्ण राष्ट्र का एक लोक-देवता स्वीकार किया गया है। भारत का लोक-देवता इन्द्र है। लकी के नाम पर भारत को इन्द्रद्वीप कहा जाता था।

एक सामान्य गाँव में घूमकर पता लगाने पर जिन लोकदेवताओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई उसे प्रस्तुत कर रहा हूँ। इन देवताओं का पशुरक्षक, कृषिवर्द्धक, आरोग्यदाता, उत्सव विशेष में सहायक आदि श्रेणियों में वर्गीकृत करके अध्ययन किया जा सकता है।

पशुरक्षक देवताओं में काला जी, गोग जी, छप्पन जी, पोपन्था खान, देवजी (तेजाजी) ताखाजी आदि आते हैं। ये सब वीर पुरुष ही रहे हैं। वेदों में 'पूषा' पशुरक्षक देवता है। सम्भवतः उनकी गुणों का इनपर आरोप किया गया है और इन तरह वीर पूजा का प्रचार चल पड़ा है। इन साम्य पुरुषों ने कभी सकट के समय पशुओं के समूह की रक्षा की। तभी ये देवता के गुणों का आरोप करके इन्हें देवत्व में मानने की प्रवृत्ति चल पड़ी है।

शेक में बहुमान्य देवता है—भैरव या भैरव जी। प्रत्येक अवसर पर इन देवता की उपासना की जाती रहती है। सामान्यतः प्रत्येक कुआँ, बावड़ी या जलस्थान इनका अग्रिष्ठान रहता है। कृषिकार्य में पूर्व जलस्थान पर कृपन इनकी पूजा अवश्य करना है। लोक में ५० भैरव और ६८ योगिनियाँ प्रसिद्ध हैं। कुछ प्राचीन कृतियों में वावन वीरों की नामावली मिलती है। जयसागर सूरिरचित जिनदत्तसूरि-चरित्र में यह नामावली है। सम्भवतः ये वावन-वीर ही लोक में ५२ भैरव के नाम से जाने जाते हैं। उनके नामों में ही यह ज्ञात हो जाता है कि ये किम-किस प्रकार के कार्य करने में समर्थ हैं? मध्यमान में पूजित मणिभद्र आदि यक्ष कहीं ये ही तो नहीं हैं?*

* १ इन्द्र २ अग्निदेव ३ यमदेव ४ नैऋत्य ५ वरुणदेव ६ वायुदेव ७ कुबेर ८ ईशान ९ धरणेन्द्र १० सोमदेव।

० वावनवीरों की ८ नामावलि १ डा० बासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' नामक ग्रन्थ (पृ० १४५-४७) में दी है। इनमें कुछ नाम समान हैं और कुछ में भिन्नता है।



स्यावड माय गाडा घालो आव ।'
भलो करणी माय, सिर दु से न पाव ।

१. चौसठ योगनियो की तीन नामावलििया डा० अप्रवाल ने 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' ग्रन्थ (पृ० १४७-४६) में दी हैं ।

बाँटना आदि। कुछ देवताओं को मायाहारी जानियों के लोग मडिग की पार चटाने या बकने आदि की बलि देते हैं। उन्हीं नष्ट अपना नाम हो जाने पर घनिष्ठ लोग देवताओं के नाम पर मन्दिर बनवाने हैं। कभी मोने-चादी के छत्र आदि भी चटाने हैं, परन्तु जोई भी ऐसा दन्ना नहीं है ना पन्पुष्प मात्र समर्पित करने वाले निधन में निर्यन व्यक्ति पर भी कृपानु न हो जाता है। नाम काम में सफलता के लिए बोलागी दावते हैं। देवताओं के थानक पर 'रमोई' दी जाती है जिसे 'जान' भी कहते हैं। सम्भवतः जान शब्द यात्रा का अपभ्रंश है। त्रिवाह के बाद विनायक का त्रिदा करने समय उनके थानक पर 'बोनाये' की रमोई दी जाती है। ऐसे समय देवमन्दिर पर नई चबड़ा चढ़ाई जाती है। पूजा के लिए गावों में 'धूप-नामी चढावा' मुहावरा चलता है। उसमें पता चलता है कि ऐसी पूजा को मायनहीन भी कर सकता है।

सांस्कृतिक देवपूजन तब किया जाता है जब गाव के ऊपर बाँटे देवी प्ररोप आया हुआ हो। महामारी आदि का जायका होने पर गाव भर में चन्दा दिया जाता है और जागी गन में ही कथम सब देवताओं की पूजा की जाती है। गाव में होकर 'धामभैरव' निकाले जाते हैं। एक मिट्टी के बड़े बर्तन में अग्नि जलाकर उसमें दूध और घृत की आहुति दत्ते हैं गाव की सीमा पर होकर घुमाया जाता है। ऐसा माना जाता है कि इस प्रकार में ग्रामसीमा को अग्नि-परिगोष्ठित कर देने पर महाभारी का प्ररोप समाप्त हो जाता है। मूया पटने पर भी मारे देवताओं की उन्हीं तरह पूजा की जाती है। नदी में बाट जा जाने पर यदि गाव में खनग पैदा हो जाए तो ढाल लगाकर बजाकर नदी की पूजा की जाती है। उससे देवी का मायात् रूप मानकर राधरा-तूगटा आदि समर्पित किए जाते हैं। लोगों का विश्वास है कि पूजा में मनुष्ट होकर नदी उतरने लग जाती है। सामूहिक पूजा का एक उदाहरण गगाऊ (गगात्मक) भी है। अज्ञान पटने पर मारे गाव के निवासी भित्तक यज्ञ करते हैं और एक दिन गाव की सीमा में बाह्य घनगाज करते हैं।

देवपूजा में जिन स्वर्णों का प्रचलन अब भी देखने को मिलता है उनके मूल रूप को राजे ना ज्ञात होगा कि मध्ययुग में प्रचलित विविध मन्त्रों में उनका विकास हुआ है जो मध्य वैदिक यज्ञ के परिवर्तित रूप थे। डा० वासु-देवधरण अग्रवाल ने अनुमंह, गिरिमह, इन्द्रमह, स्कन्दमह, नदीमह, कृष्णमह, नागमह, वृक्षमह, मागरमह, चैत्यमह, यक्षमह आदि का उल्लेख किया है। चैत्यमह की परम्परा में अत्र भी मन्दिरों में 'शेरे' हाते हैं। लोकजीवन में विविध उत्सव मनाये जाते देखे जाते हैं। उनका भी किसी न किसी देवता की उपामना में सम्बन्ध अवश्य है।

स्त्रियाँ स्वतन्त्र रूप में देवपूजा करके अपने मुहाग की अमरता, पुत्र और भाई को दीर्घायु, पारिवारिक समृद्धि, नीरोगी वाया आदि के लिए प्रार्थना करती हैं। गीरी तो उनकी पद-पद पर महायना करती हैं। स्त्रियाँ पूजा करके देवी-देवताओं की बहानियाँ मुनती हैं और गीत गायी हैं।

देवों के शान्तिघ्न में जीना, उनकी कृपा में जन्म लेना और मरकर उनके गण के रूप में शाश्वत-जीवन का उत्तराधिकार पा लेना—यह है ग्रामवामी मायनीय जन का जीवन और जीवनोंद्देश्य। देवताओं का सम्बल लेकर वह उन जीवन की वीतरंगी को ना पार ना ही जाना है, परन्तुक में भी शान्ति का लाभ करता है। वह आस्था घन्य है जिनमें जीवन में ऐसी दिव्यता भर दी है।



हमारी अद्भुत लोक-संस्कृति

डॉ० रामानन्द तिवारी

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० फ़िल्म०, शास्त्री,

महारानी श्री जया पालिज, भरतपुर



आधुनिक सांस्कृतिक धारणा में प्रायः ग्रामीण और अन्य लोगों की संस्कृति को लोकसंस्कृति माना जाता है। ज्यों-ज्यों नागरिक संस्कृति बढ़ती गई त्यों-त्यों यह लोक-संस्कृति पीछे छूटती गई है अथवा नागरिक लोग उससे दूर होते गये हैं। इस प्रकार यह लोक-संस्कृति एक अनागरिक संस्कृति है। नागरिक समाज के जीवन में उस लोक-संस्कृति का उतना स्थान और महत्त्व नहीं है जितना कि ग्रामीण लोगों और वन्य जातियों के जीवन में है जो उस संस्कृति को अपनी सत्ता का अभिन्न अंग मानते हैं।

पश्चिमी देशों में लोक-संस्कृति और नागरिक-संस्कृति का यह भेद अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। कदाचित् पश्चिम में ऐसी लोक-संस्कृति अधिक समृद्ध नहीं थी जो समाज के जीवन में अंतर्-प्रोत हो तथा इस कारण जो नागरिक संस्कृति के विकास के बाद नागरिक जीवन में भी सुगंधित और समाहित बनी रहे। किन्तु भारतीय लोक-संस्कृति इतनी समृद्ध और सार्थक रही है कि संस्कृति के विकास के साथ-साथ नागरिक जीवन में उसका विच्छेद नहीं हुआ। वह ग्रामीण और वन्य संस्कृति में सीमित नहीं रह गई है। समाज के सामाजिक जीवन ने उसका उतना घनिष्ठ सम्बन्ध रखा है कि नागरिक जीवन में भी उसका महत्त्व अक्षुण्ण बना हुआ है। यह भारतीय लोक-संस्कृति की एक अद्भुत विशेषता है जिसकी ओर संस्कृति के व्याख्याताओं ने समुचित ध्यान नहीं दिया है। इनका ही नहीं, पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव में आकर नगरों के निवासी अब अपनी इस लोक-संस्कृति की उपेक्षा कर रहे हैं, यद्यपि अब तक यह लोक-संस्कृति नागरिक जीवन की नीरसता में मधुरता और मीठपन का संचार करती रही है।

हमारी यह अद्भुत लोक-संस्कृति वास्तविक अर्थ में एक लोक-संस्कृति है। लोक का अभिप्राय एक देश के सम्पूर्ण समाज से है। सम्पूर्ण समाज की संस्कृति को ही वास्तविक अर्थ में लोक-संस्कृति कहा जा सकता है। जो संस्कृति सम्पूर्ण समाज में आदर नहीं पाती तथा केवल ग्रामीण और वन्य समाज में ही शेष रह जाती है, उसे लोक-संस्कृति न कह कर ग्रामीण संस्कृति अथवा वन्य संस्कृति कहना चाहिए। सामूहिक नृत्य के उदाहरण के द्वारा इस भेद को स्पष्ट किया जा सकता है। सामूहिक नृत्य विशेष रूप से ग्रामीण और वन्य संस्कृति में ही शेष रह गये हैं। नागरिक संस्कृति ने उन्हें त्याग दिया है।

किन्तु सामूहिक नृत्य का उदाहरण एक लक्षणवाद जैसा है। इसके अतिरिक्त भारतीय लोक-संस्कृति के ऐसे अनेक रूप हैं जो ग्रामीण और नागरिक संस्कृति में समान रूप से पाये जाते हैं। लोक-संस्कृति के कुछ रूपों के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि अधिक जनसंख्या और अधिक समृद्धि के कारण नागरिक जीवन में इनका रूप अधिक मजबूत बन जाता है। होली, दीपावली आदि के पर्यं इसके उदाहरण हैं। नगरों में इनकी शोभा ग्रामों की अपेक्षा अधिक होती है।

हमारे तीज त्योहार, पर्व-व्रत, उत्सव, मस्कार, मेले, तीर आदि हमारी इस अद्भुत लोक-संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। ग्रामीण और नागरिक दोनों प्रकार के समाजों में इनका समाज महत्त्व है। दोनों ही समाज लोक-संस्कृति के इन रूपों का समाज रूप में निर्वाह करने हैं। जैसा कि अभी कहा जा चुका है—अनेक बार लोक-संस्कृति के कुछ रूप ग्रामीण समाज की अपेक्षा नागरिक समाज में अधिक जनसंख्या और समृद्धि के कारण अधिक स्पष्ट रूप में सम्पन्न होते हैं। लोक-संस्कृति के कुछ रूपों की भूमिका मूलतः ग्रामीण कृषक समाज में बनी थी। किन्तु इस भूमिका के ऊपर इस लोक-संस्कृति का विकास ऐसे सुन्दर रूप में हुआ कि ये नागरिक जीवन में भी महत्त्व भाव में समाहित हो गये हैं।

दीपावली, होरी आदि के पक्ष हमारी इस अद्भुत लोक-संस्कृति के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। समाज का जन्म किसी संस्कृति में होने पर्व दिवसों की नहीं मिलेगा। प्रायः कहा जाता है कि समाज के जन्म देशों में भी रंग का पर्व होता है तथा दीपक जलाये जाते हैं। उदाहरण के तौर पर देशों की ये प्रथाएँ हमारी समृद्ध परम्परा का आधिक अनुसरण-मान हैं। हमारी दीपावली केवल दीपकों का पर्व नहीं है। दीपकों का जलना केवल हमारा एक अंग है। उदाहरण के तौर पर इस दीपकों की माला नहीं बनाई जाती और न दीपोत्सव को दीपोत्सव कहते हैं। अन्य देशों में लक्ष्मीपूजन नहीं होता। दीपकों के द्वारा लक्ष्मीपूजन के अनिश्चित चन्द्रमसी, चण्डिका, नव-चतुर्दशी, नवदीपन, घण्टों की सफाई-पुनाई मिलि जाते हैं, मिष्टान्नविन्यास, लाल-बन्नास, नवीन वस्त्र निर्माण, देव मन्दिरों तथा पड़ोसियों के घरों में दीप-दान आदि अनेक प्रथाएँ सम्पन्न हैं जो उन्हीं विदेशों के दीपोत्सव की अपेक्षा नहीं अतिरिक्त सम्पन्न और मार्थक बनानी हैं। दीपावली की प्रतिपदा की गंधर्वनृत्या तथा उसके बाद आनेवाली भानु-द्वितीया उसे और अधिक सम्पन्न बनाती है। दीपावली की इन सभी प्रथाओं का पानन ग्रामों और नगरों में समाज रूप में होता है।

जो प्रथा हमारी होरी केवल रंग का पर्व नहीं है। यह रंग केवल प्राकृतिक रंग नहीं है। इसके पीछे भावों का रंग तथा धीरे धीरे के भावमय जीवन की पवित्र भूमिका है। उसके अनिश्चित वसन्त-पंचमी में होली की स्थापना, रंग की लकड़शी में होली के रंगों का आगम होना, पूणिमा के ज्ञानिकादहन के पूर्व कन्याओं द्वारा कई दिन तक निरव्य होरियापूजन लकड़शी का आमननी पूजन, पूणिमा का ज्ञानिकादहन, नयान्न की जाहूनि, प्रतिपदा का धूनि बन्दन, अनिश्चितों का आमन्यास, अपराधियों का कण्ठमिलन, भ्रातृद्वितीया आदि सभी प्रथाएँ हैं जो दीपावली के पक्ष की भाँति होरी के पक्ष को भी उत्तम सम्पन्न और मार्थक बनाती हैं। ऐसे सम्पन्न और मार्थक पर्वों का उदाहरण समाज के किसी देश की संस्कृति में नहीं मिल सकता।

दीपावली और होरी के अनिश्चित अन्य अनेक तीज-त्योहार पक्ष आदि भारतीय जीवन का सुन्दर और जानबूझकर बनाने हैं। एक प्रकार से हमारा समूह वर्ष ही वर्षों और उत्सवों का निरन्तर रम है। कुछ दिन के अलग-अलग में निरव्य प्रतिपदा पक्ष और उत्सव आते रहते हैं। गणित के स्वर्गों की भाँति ये पर्व और उत्सव अनेक प्रकार के होते हैं जो—दृष्टी के माथ-माथ समय-समय पर पारिवारिक सम्बन्धों, मेरों आदि के सवादी-बाद्य हमारी जीवन लोक-संस्कृति को एक सम्पन्न गणित का रूप देने हैं। वर्ष के जारम्भ में नवरात्र की दुर्गापूजा, कौमार्य बन्दना, मातृ-पूजा आदि में आरम्भ होकर जलज नृतीया, वट-मावित्री, गंगा-दशहरा, ग्राम पूणिमा, रक्षाबन्धन, जम्माष्टमी, गणेश-चतुर्थी, त्रिपि-पंचमी, जलज चतुर्दशी, पितृ-पक्ष, गारुडिय नवरात्र, दीपावली, गोवधनपूजा, मकर-संक्रान्ति, वसन्त-पंचमी, और शिवरात्रि के स्वर्ग-संक्रान्तों में होकर हमारी लोक-संस्कृति की रागिनी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचती हैं। लोक-संस्कृति की इस परम्परा में व्रत, पर्व, उत्सव, त्योहार आदि गणित के विभिन्न स्वरों की भाँति ऐसे रम में मिलाये दिये हैं कि लोक-संस्कृति की यह योजना लोक-जीवन की एक सुन्दर रागिनी बन जाती है।

नवरात्र की हयमय शक्तिपूजा के शांत और मन्द स्वर में संस्कृति की इस रागिनी का आरम्भ होता है। शक्ति ही जीवन का आधार है। मातृत्व हमारा मूल है। कौमार्य के अभिनन्दन में समाज में शक्ति की परम्परा पोषित होती है। अतः इन तीनों के अभिनन्दन में वर्ष का जारम्भ करना उत्तम उचित है। गणित की मूल नख्याएँ भी ही होती हैं अतः यह तीनों दिन की शक्ति पूजा समुत्तम प्रतिदिन की शक्तिपूजा की प्रतीक है। शक्ति के अनेक रूप हैं। इन अनेक रूपों में शक्ति हमारे जीवन और हमारी संस्कृति का आधार है। नवरात्र के इस व्रत का ग्राम और नगर के लोग समाज रूप में पानन करने हैं। देवी के तीर्थों में होने वाले मेले इस व्रत में उत्सव का समुत्तम देते हैं और हमारी शक्ति को व्यावहारिक जीवन में अभिव्यक्त करते हैं।





अक्षय तृतीया भी एक प्रकार में शक्ति की अक्षय परम्परा के प्रसार की प्रतीक है। यह परशुराम की जयन्ती के रूप में भी मनाई जाती है। घड़ा, सत्तू, पक्वा, ऋतुफल आदि का दान शक्ति परम्परा में दान के महत्त्व को सूचित करता है और व्रत की विभूति को सामाजिक सम्बन्धों में अन्वित करता है। वट सावित्री का व्रत नारी की मजीबनी महिमा को अमर बनाता है। सत्यवान् को यम के पाम से लौटा लाने वाली सावित्री भाग्यी नारी का आश्रय बन गई है। ग्राम और नगर सभी स्थानों की स्त्रियाँ सावित्री के व्रत का पालन करती हैं। इस अवसर पर कोई भागी मेना या उत्सव तो नहीं होता, जीवन-मरण का गम्भीर अवसर इसके लिए उपयुक्त भी नहीं है फिर भी घर में इस व्रत के निमित्त से कुछ उत्सव का वातावरण ही बन जाता है।

गगादशहरा कोई व्रत न होकर गगास्नान का पर्व है। ग्रामीणों के लिए ज्येष्ठ के अवकाश काल में गगा-यात्रा और गगास्नान एक धार्मिक पर्व बन जाते हैं। गगा के निकट के नगर निवासी भी इस पर्व के पुण्य में भाग लेते हैं। गगातट के मेले इस पुण्य पर्व को उत्सव भी बना देते हैं तथा इसे आर्थिक एवं सामाजिक भूमिका में प्रतिष्ठित करते हैं। पिछले तीन व्रतों के बाद गगादशहरा के उत्सव में संस्कृति की रागिनी का स्वर बदल जाता है। व्यास पूर्णिमा गुम्बन्दना का पर्व है। प्राचीन शिक्षा-परम्परा में गुरुओं का बड़ा योग रहा है उन्हीं के तप-त्याग में निरूपयोगी होते हुये भी विद्या की परम्परा पोषित रही है। आपाङ्गी-पूर्णिमा का यह पर्व उन्हीं गुरुओं की महिमा का स्मारक है। स्वर्गाय्य में इसकी प्रथा मद हो चली है। किन्तु इस प्रथा का पुनरुज्जीवन राष्ट्र के पुनरुज्जीवन में बहुत कुछ सहायक हो सकता है।

रक्षावन्धन का पक्ष चर्पे का पहला सामाजिक पर्व है। श्रावणी का उपाकर्म और वहनों की रातों इसके दो पक्ष हैं। ये दोनों क्रमशः धार्मिक और सामाजिक उत्तरदायित्व के सूचक हैं। वैदिक उपाकर्म तो लोग प्रायः भूल चले हैं। किन्तु वहनों की रातों ग्राम और नगर दोनों के घर-घर में एक अद्भुत आनन्द की सृष्टि करती है। वहिन का सम्बन्ध एक अत्यन्त मधुर और पवित्र सम्बन्ध है। भारतीय संस्कृति में इसका सबसे अधिक आदर किया जाता है। रक्षावन्धन का पक्ष विवाहित स्त्रियों के पीहर के साथ सम्बन्ध को प्रतिवर्ष नया कर देता है और उनके शील की मर्यादा को सुरक्षित बनाता है। यह सुन्दर पर्व हमारी लोक-संस्कृति का भी रक्षावन्धन है। झूले के गीत और मधुर व्यजन इस पर्व के माधुर्य का विस्तार करते हैं।

रक्षावन्धन के आठ दिन बाद जन्माष्टमी का धार्मिक पर्व आता है। इसके व्रत और उत्सव दोनों का सम्बन्ध होता है। घरों और मन्दिरों में भी श्रीकृष्ण की आकृतियाँ सजाई जाती हैं और उत्सव के आनन्द में व्रत का पारण होता है। गणेश चतुर्थी में गणेश की पूजा होती है। महाराष्ट्र में इसकी विशेष महिमा है। किन्तु मगल के देवता के रूप में गणेश समस्त भारत में पूजे जाते हैं। ऋषि-पंचमी ऋषियों के स्मरण का पर्व है। इसमें वन्य आहार के द्वारा ऋषियों का स्मरण किया जाता है। अनन्त चतुर्दशी अनन्त परम्परा का व्रत है। ये दोनों व्रत ही माने जाते हैं। इनकी सात्विकता के कारण कदाचित् इनमें उत्सव का सगम नहीं हो पाया।

अनन्त चतुर्दशी के दूसरे दिन से पितृ-पक्ष का प्रारम्भ होता है। पितरों का श्रद्धापूर्वक स्मरण भी एक सामाजिक सत्कार और पारिवारिक उत्सव या अवसर बन जाता है। गरीब, अमीर सभी घर-घर पितरों का श्राद्धोत्सव करते हैं। यह रक्षावन्धन के समान ही एक व्यापक और सार्वभौमिक कृत्य है तथा हमारी लोक-संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

पितृ-पक्ष के बाद शारदीय नवरात्र का आरम्भ हो जाता है जो वास्तविक नवरात्र की आवृत्ति है। यह आवृत्ति जीवन में शक्ति के महत्त्व का समर्थन करती है। शक्ति का तत्त्व अत्यन्त रहस्यमय है। किन्तु तांत्रिक विद्वानों से लेकर ग्रामीण नर-नारियों तक असंख्य लोग नवरात्र का व्रत करते हैं। कार्तिक की कृष्णा चतुर्थी से दीपावली की भूमिका आरम्भ हो जाती है। करक-चतुर्थी सौभाग्य का व्रत है। उसके बाद अहोई-अष्टमी वात्सल्य का व्रत है। सौभाग्य और वात्सल्य दोनों का भारतीय-संस्कृति में अपार महत्त्व है। ग्राम और नगर की शिक्षित और अशिक्षित, गरीब और अमीर सभी स्त्रियाँ इन व्रतों को करती हैं। धन्वन्तरि ज्योत्स्नी का आयुर्वेदिक पर्व सागरारण जनों के लिये नये पात्र खरीदने का पर्व बन गया है। किन्तु अपने इस नये रूप में बहुत व्यापक है। नरकचतुर्दशी का यह 'यमदीन' अमावस्या की दीपमाला

का सूर्यगर्त बनता है। जमावस्था की रात में जमीनमूलक की दीपमालाएँ जाकान के नखों में सँपती करती हैं। एक छप के बाद गीत-मोतनर स्वच्छ बनाये हुये प्र-द्वार दीपों की प्रीति में जगमगा उठते हैं। श्रम, स्वाम्य, स्वच्छता नियम जी प्रज्ञा की रात महिमा ही जमीनमूलक का मम है। जलमयों में वेहर झोपटी एक दीपमाली या आगेक जीवन में उल्लास भरता है। गगनमय के बाद दीपमाली दूसरा व्यापक लोकमय है। प्रतिपदा की गोवधनमूलक लुप-तु के गोपान्त की मृत्ति को हरा रा देती है। रा-प्र में गोवर्धन की पत्रिका का अनित्य होना है। प्रातृ द्वितीया दीपमाली के उल्लास पर एक सामूहिक मर्यादा का निरन्तर चर्चा है। एतादमी के देवोत्पन्न में भात के भात देवता जाग उठते हैं और वेप की महान्दरूप फलन के संक्षण में लग जाते हैं।

दीपमाली के पव में लोक-मन्युति की रागिनी मध्यम मणक से पवन स्वर तक पहुँच जाती है। उसके बाद मन्द मणक की ओर उतरा जाता है। गीत में नाच विनोद के कागज भाग्यवातियों के लिये शीतलान् बटोर होता है। रागिनी जनों का शीतलान् घुस और आग का मेहनत करने कीवता है। जमीनिये दीपमाली के जो मम तक मोड़ बिट्टे पर नहीं होता। मकर मणक में उस उल्लास होता है। मन्युति की रागिनी मध्यम में नाच की 'गो' बटती है। नाचमय जी मणक में दनमय में रागिनी का नया आनाप जासम होता है। मकर मणक के बाद शिवरात्रि का महान् शोचन होता है। कृष्ण के मण्डि ग्राम में नहीं है। किन्तु शिवमण्डि गाव-गाव में होने के कारण शिवरात्रि का गुण गीतमय होता है। नाच की मृदम ही जाता है। मणारी में 'मकर' मणक तक शिवरात्रि की रागिनी मणक भाग्य के भाग्य मान राग्य पवित्र उल्लास में आन्दोलित हो देती है।

बसन्त पक्षी में होती की मृदमिष्टा धारम्य हो जाती है। आनन्द की एतादमी में गगनमय या मृदपान हो जाता है। शीतलान्-मणक का मणक-मणक गीत जी धर्म की भाति है। रागिनी के मणकमय, उन्मुक्त धृति-बन्धन, स्वच्छन्द गगनमय जी विदुष मणकमय में मन्युति की रागिनी अपने उल्लास में नाच पव पहुँचती है। चैत्र की प्रातृ द्वितीया पुन मर्यादा का निरन्तर देकर उसे मम प जाने का मकेन करती है। दश की रागिनी का जवमान होता है और नन्दमय के मणक में मये वेप की रागिनी जासम हो जाती है।

रा की इस अविच्छिन्न पक्ष-मणक की सामूहिक रागिनी जो जमीनमय, उन्मुक्त, शिवरात्रि आदि के मणकमय तथा मये, यात्राया आदि के उन्मुक्त की भाति एत आनाप और भी मणकमय एक मुक्त बना देती है। भाग्य-तीव्र लोक-मन्युति उस प्रकाश जीवन का एक जग मात्र नहीं है, जिस प्रकाश मन्युति की आधुनिक धारणा में कला, धर्म, दान, आदि की जीवन का जा जाता जाता है। लोक-मन्युति के मणी रूप जीवन में ममयेन है। पव, दन, मणक आदि मणी जीवन की भूमिका में प्रतिष्ठित है। भाग्य और सामूहिक जीवन ही इनमें सामूहिक रूप ग्रहण कर लेता है। भाग्यीय मन्युति की यह एक बहुमत विद्यमान है जो उसे मणक की मन्युतियों में अनुपम बनाती है।

जमीनमय, उन्मुक्त शिवरात्रि आदि मासमय जीवन के मणक है। इनमें मणकमय में होने वाले समाज व्यक्ति और समाज के जीवन को उत्सव का रूप देने हैं। शान्ति में भी मणकमय में ही मणकमय का आरम्भ होता है। किन्तु आज भी प्रायः जातधर्म या मणकमय मणी धर्म में होता है। जन्म जीवन का आरम्भ है। जातधर्म के द्वारा आरम्भ में ही जीवन का सामूहिक रूप मिलता है। उसके बाद ब्रह्म-धर्म, वांछित जाति दत्ते हुये जीवन के पवों में सामूहिक मणक या मणकमय करने हैं। उन्मुक्त मणकमय मणक में सामूहिक मणक का मणकमय करता है। ताम और मणक मणी मणक के लोग इन मणकमय का निर्वाह करने हैं। यद्यपि सामाजिक उदासीनता के कारण उन्मुक्त मणकमय होता जा रहा है, किन्तु अब भी उन्मुक्त वहन कुछ मणकमय वेप है। अनेक धर्मों में जातधर्म, ब्रह्म-धर्म, वांछित और उन्मुक्त के मणकमय समाज के माय होते हैं। उन समाजमय में व्यक्ति का जीवन ही नहीं वरन् परिवार और पण्डित समाज का जीवन भी कुछ समय के लिये सामूहिक मणकमय में आ जाता है।

उन मणकमय में मणकमय बड़ा शिवरात्रि का मणकमय है। शिवरात्रि जीवन का अन्तल महत्वपूर्ण मणकमय है। भारतीय समाज में उसे एक विद्वत् और महत्वपूर्ण भूमिका में प्रतिष्ठित किया गया है। दा व्यक्तियों का शिवरात्रि-मणकमय, पण्डित, बुद्ध और समाज के लिये एक अपूर्व उत्सव बन जाता है। शिवरात्रि का ऐसा समाजमय जग्य किसी देश में नहीं होता। अग्नि-वेदी, पुण्डित, वेदमय, मणकमय, जाति शिवरात्रि को सामूहिक पवित्रता प्रदान करने हैं। इनकी





और स्वजनो का सीहार्द, गीत, वाद्य, भोज आदि उसे एक उत्सव का रूप देते हैं। इस प्रकार विवाह का प्राकृतिक सम्बन्ध एक विशाल सांस्कृतिक उत्सव बन जाता है। अन्त्येष्टि की अधिक चर्चा उचित नहीं है। फिर भी इतना दिचारणीय है कि जिम रूप में अन्त्येष्टि का संस्कार होता है उस रूप में वह शोकप्रस्त घर से मृत्यु की अपवित्रता और उसकी विभीषिका का प्रभाव अपनी धार्मिक प्रक्रिया के द्वारा बहुत कुछ दूर कर देता है। दूसरी ओर जिस श्रद्धा और सद्भावना के साथ मृतक का संस्कार होता है उसकी कल्पना ही प्रत्येक जीवित मनुष्य का अपनी नियति के सम्बन्ध में बहुत कुछ सात्वना देती है। मृत्यु जीवन का अनिवार्य अन्त है। उसे कोई रोक नहीं सकता। अन्त्येष्टि संस्कार तथा श्रद्धा आदि के रूपों में जिस प्रकार भारतीय परम्परा में मृत्यु की इस अनिवार्य नियति का समाधान किया गया है तथा उसे सुन्दर और सह्य बनाने का प्रयत्न किया गया है उसमें जितनी अधिक सात्वना मर्त्य मनुष्य को मिल सकती है उससे अधिक सात्वना की आशा किसी समाज में नहीं की जा सकती।

इस प्रकार जातकर्म से लेकर अन्त्येष्टि तक के संस्कार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त जीवन को सुन्दर बनाते हैं। संस्कार का अर्थ परिमार्जन अथवा शोधन है। किन्तु संस्कार संस्कृति का मौलिक बन्धु है। अतः इन संस्कारों में परिमार्जन के साथ-साथ सौन्दर्य का सन्निधान भी होता है। पर्व और संस्कार दोनों मिलकर जीवन को द्विगुणित सुन्दर बनाते हैं। पर्वों की गति वर्ष के कालानुक्रम के अनुसार है। संस्कारों की गति व्यक्ति के आयुक्रम के अनुसार होती है। अतः प्रायः दोनों का संगम होता है। गान-वाद्य की संगति की भाँति दोनों की संगति जीवन और लोक संस्कृति की रागिनी को मनाहर बनाती है। संस्कार साक्षात् जीवन के पर्व हैं। इनमें सांस्कृतिक सौंदर्य को जीवन के यथार्थ में अन्वित किया जाता है। पर्वों में सांस्कृतिक सौंदर्य में जीवन के यथार्थ को अन्वित किया जाता है। इस प्रकार इस विविध और परिपूरक प्रक्रिया के द्वारा जीवन और सौंदर्य का द्विगुणित समन्वय जीवन को अपार सौंदर्य प्रदान करता है।

पर्वों और संस्कारों के अतिरिक्त तीर्थ-दर्शन, तीर्थस्नान, यात्रा, मेले आदि भी लोक-जीवन को अनेक प्रकार से सुन्दर और आनन्दमय बनाते हैं। तीर्थ धर्म के पीठ हैं। भारत में सर्वत्र इतने तीर्थ फैले हुए हैं कि सम्पूर्ण भारत को घमभीम कहा जा सकता है। पुण्य अवसरो पर तीर्थों में मेले भी होते हैं। इस प्रकार तीर्थों में धर्म और अर्थ का संगम होता है। तीर्थ-यात्रा, तीर्थ-दर्शन और तीर्थ-स्नान की प्रथा भारत में बहुत प्रचलित है। ग्राम और नगर सभी स्थानों के निवासी तीर्थों में श्रद्धा रखते हैं। यह तीर्थसेवन हमारी लोक-संस्कृति का एक धार्मिक अंग है और उतना ही लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण है जितने कि पर्व, उत्सव, संस्कार आदि हैं। यह भारतीय जीवन की पवित्र भावना का द्योतक है। हमारे व्रतों और पर्वों में भी धार्मिक भावना ओत-प्रोत है। तीर्थसेवन उस भावना की संगति को पूर्ण करता है तथा देश की भूमि के साथ में हमारी एकात्मता स्थापित करता है। पर्वों, व्रतों और उत्सवों की भाँति तीर्थसेवन के अवसरो की बहुसंख्यता धार्मिक भावना का जीवन के साथ व्यापक सामंजस्य स्थापित करती है।

तीर्थों के अतिरिक्त भी अनेक स्थानों पर छोटे-बड़े मेले लगते हैं। मूल रूप में तो ये मेले आर्थिक व्यवसाय के अस्थायी केन्द्र हैं जो समय-समय पर सक्रिय होकर आर्थिक जीवन की गतिविधि को सन्तुलित करते हैं। किन्तु साधारण जनो विशेषतः बालकों और स्त्रियों के लिये ये मेले आर्थिक व्यवसाय के साथ-साथ विहार और विनोद के केन्द्र भी बन गये हैं। बड़े नगरों का दैनिक बाजार ही मेले के समान होता है, किन्तु छोटे नगरों के जीवन में इन मेलों का बड़ा महत्त्व है। इनके निवासियों के लिये ये मेले एक नई चहल-पहल और नये उल्लास का अवसर लेकर आते हैं। समय-समय पर आकर ये मेले लोक-जीवन में एक नई स्फूर्ति और नवीन प्रसन्नता भर जाते हैं।

इस प्रकार पर्व, उत्सव, व्रत, संस्कार, तीर्थ, मेले आदि के अनेक रूपों से युक्त हमारी लोक-संस्कृति इतनी समृद्ध है कि उसकी तुलना कदाचित् ही किसी देश की संस्कृति कर सकेंगी। सांस्कृतिक रूपों की विविधता और विपुलता इस समृद्धि का एक लक्षण है। किन्तु संस्कृति की समृद्धि का एक दूसरा लक्षण भी है जिसकी दृष्टि से भी हमारी लोक-संस्कृति अनुपम और अतुलनीय है। संस्कृति की समृद्धि के इस दूसरे लक्षण को जटिलता कह सकते हैं। जटिलता का अर्थ उलझन नहीं वरन् अनेक तत्वों और पक्षों का संगम है। जटाओं में अनेक केश-तंतु मिल जाते हैं। इनीलिये जटिलता शब्द उलझन के अतिरिक्त तत्वों और पक्षों की अनेकता का भी सूचक है। हमारी लोक-संस्कृति

के अनेक रूपों में देय, नाच, नानवीय सम्बन्ध, उपकरण, विधि, निमित्त, रंग, मंगीन, देवता आदि अनेक विधेय तत्त्वों एवं पक्षों का समग्र रहना है। ये सब मिलकर सान्स्कृतिक आचार के प्रत्येक रूप को जटिलता की दृष्टि में सम्पन्न बना देते हैं। यही सम्पन्नता हमारी दीपावली और होली की विधियों में प्रचलित रंगलीता और दीपोत्सव में भेदक है। जटिलता की दृष्टि में संस्कृति के ऐसे सम्पन्न रूप कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेंगे। संस्कृति के जटिल रूपों की विपुलता और भी अधिक दुर्लभ है।

जैसा ऊपर मनेन किया जा चुका है हमारी यह लोक-संस्कृति जीवन में समवेत है। यह कहा जा सकता है कि यह लोक-संस्कृति जीवन का ही सान्स्कृतिक रूप है। लोक-संस्कृति की परम्परा में संस्कृति का सौन्दर्य जीवन में ही समवेत हो गया है। उस प्रकार हमारी यह लोक-संस्कृति उन अभिज्ञान संस्कृति में मिल है जिसे पश्चिमी धारणा के अनुसार संस्कृति का एक मात्र रूप समझा जाता है। यह अभिज्ञान-संस्कृति जीवन का सान्स्कृतिक पर्याय नहीं है बल्कि जीवन का एक अंग मात्र है। रंग, ध्वनि, कला आदि उसके पक्ष हैं। ये सम्पूर्ण लोक-जीवन के साथ समवेत नहीं हैं बल्कि जीवन के एक भाग ही बन रहे हैं। इस प्रकार यह अभिज्ञान संस्कृति जीवन और संस्कृति का अधिक रूप है। इन धारणा के अनुसार लोक-संस्कृति ग्रामीण और ग्राम्य समाज में शेष रह गयी है। नागरिक जीवन के निम्ने वह केवल अध्ययन और कौतूहल की वस्तु है।

किन्तु हमारी भारतीय लोक-संस्कृति इनकी मरुद और परिष्कृत है कि ग्रामीण और नागरिक समाज उसे समान आदर में धरनाते रहे हैं। नागरिक समाज ने उस संस्कृति का निरस्कार करने के स्थान पर इसके अनेक रूपों को अपने पैरों में मरुद बनाया है। नगर की दीपावली, होली, नागरिक मेले, नागरिक तीर्थ, नागरिक विवाह आदि इसके उदाहरण हैं। इनकी विधाएँ और मरुद लोक-संस्कृति का नागरिक जीवन में साथ इनका घनिष्ठ सामंजस्य कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेंगे। इन दृष्टि में हमारी लोक-संस्कृति समग्र में अद्भुत और अनुरनीय है।

उस लोक-संस्कृति की एक अन्य विशेषता बड़ी महत्वपूर्ण है। चित्रकला, मंगीन, साहित्य, धर्म आदि जो अभिज्ञान संस्कृति के अंग माने जाते हैं वे भी उसके जीवन रूप में समवेत हो गये हैं। चित्र-चित्रण, भूमि-आलेखन आदि चित्रकला के साधारण रूप हममें नमस्ते हैं। तारंगीनों के रूप में विपुल काव्य-साहित्य इस लोक-संस्कृति में समाविष्ट हो गया है। इनके अनिश्चित गीता, तमाशा, आल्हा, टोना जैसे श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थ भी उस लोक-संस्कृति की विभूति बन गये हैं। इन ग्रन्थों का विद्वानों में जितना आदर है उतने ही वे जनता में भी लोकप्रिय हैं। ग्रामों और नगरों में लोग समान श्रद्धा के अनुसार इनका पाठ और गायन करते हैं। भारतीय आकाशवाणी से लोक-साहित्य का जितना प्रसारण होता है उतना कदाचित् ही किसी अन्य देश की आकाशवाणी में होना होगा। मृग, तुलसी, मीरा आदि की चनाओँ में श्रेष्ठतम साहित्य का जैसा लोकप्रिय रूप मिलना है वैसा कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेगा। हमें तो भी हमारी लोक-संस्कृति में अद्भुत समन्वय हुआ है।

अन्तु, भारतीय परम्परा में लोक-संस्कृति का ऐसा श्रेष्ठ और सम्पन्न रूप विकसित हुआ है कि वह नागरिक जीवन में भी लोकप्रिय बना ही है। नागरिक जीवन में व्याप्त ऐसी मरुद लोक-संस्कृति का किसी भी अन्य देश में उदाहरण मिलना कठिन है। संस्कृति का निर्माण और प्रचार विराट् और महान् सकल-भक्ति के द्वारा होता है। प्राचीन भारत की जिन आठ विभूतियों में अपने विराट् और महान् सकल के द्वारा इस अद्भुत लोक-संस्कृति का निर्माण और प्रचार किया वे हमारे निम्ने सर्वत्र अर्द्धनीय रहेंगे।



लोक-साहित्य

श्री चम्पालाल गुप्त, एम० ए०

आयुर्वेदरत्न, नारतीभूषण



आधुनिक युग विज्ञान का युग है। विश्व के बाह्य चमत्कारों की चकाचौंध से चकित होकर मानव प्रत्येक वस्तु को अपने पूर्वजों की अपेक्षा भिन्न दृष्टिकोण से देखने लगा है। और अपने आप को अपेक्षाकृत अधिक सुसम्पन्न व सुसम्पन्न समझने लगा है। फिर भी जब हम आधुनिक साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें उसमें उस मूल सवेदना, नैसर्गिक वृत्ति, सरलता, स्वच्छन्दता और जीवन की व्यापकता के दर्शन नहीं होते जिसके लोक-साहित्य में होते हैं। भौतिक साधनसम्पन्नता और पदार्थवाद की बढ़ती उद्दाम प्रवृत्ति आज साहित्य में कृत्रिमता और प्रयत्न-साध्य ऊहापोह का पर्याय बन गई प्रतीत होती है। ऐसी अवस्था में हमारे ध्यान का लोक-साहित्य की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है, जिसमें सवेदनात्मक जीवन की रसमय व्याख्या हृदय की निश्छल भाषा में अभिव्यक्त हुई है और रागात्मक वृत्तियों के साथ पूर्ण सामंजस्य एवं तादात्म्य हुआ है।

साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियों और गवेषणाओं ने भी लोक-साहित्य के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने में सहयोग दिया है। वास्तव में साहित्य का लोक से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। लोक का अर्थ है—विराट् जनसमुदाय, जहाँ व्यक्ति और समष्टि का जीवन व्यापक चेतना के एक समस्तर पर आदोलित होता रहता है। उसकी सत्ता सर्वव्यापक एवं प्रकृति के अणु-अणु में व्याप्त है। उसमें भूमि और जन दोनों के अस्तित्व का भाव है। वस्तुतः व्यष्टि और समष्टि दोनों में अभिव्यक्त समस्त मनोभावनाएँ ही लोकचेतना हैं और यही सस्कृति, कला, साहित्य, धर्म, दर्शन व सम्यक्ता का प्रतिबिम्बित रूप हैं।

‘लोक’ शब्द की व्युत्पत्ति दर्शन अर्थवाची लोक् धातु से हुई है। लोक के अर्थ के विषय में अभी तक भारतीय और पाश्चात्य भाषाविदों में मनैक्य नहीं हो पाया है। ऋग्वेद में प्रयुक्त ‘देहि लोकम्’ के अनुसार लोक शब्द का स्थान के अर्थ में प्रयोग हुआ है, पर ब्राह्मण-ग्रन्थों, बृहदारण्यक उपनिषद् एवं वाजसनेयी संहिता में इन प्रकार की किसी भेदात्मक स्थिति का कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। लोक-परलोक, आकाश-पाताल, मृत्युलोक आदि में लोक की अभिव्यक्ति ‘लोक’ के सम्बन्ध में एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। लोक साहित्य जो आर्य या अनार्य परम्पराओं में विभाजित करके देखना न तो समाचीन ही है और न ही समब। लोक की व्यापक सत्ता को अस्वीकार कर कोई भी परम्परा अपने अस्तित्व को चिरस्थायी नहीं रख सकती। इसलिए वेद लोक को भी अपने साथ लेकर चलता है। वेदवेत्ता महर्षि वेदव्यास ने स्वयं लोक-धर्म और त्रिवान के प्रति आस्था प्रकट करते हुए कहा है—“प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।”^१ गीता का—अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितं पुरुषोत्तमं^२ यजुर्वेद में लोक के विराट् स्वरूप की कल्पना^३ एवं जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में उसका नाना रूपों में वर्णन^४ इसी सम्बन्ध को पुष्ट करता है। प्राकृत एवं अपभ्रंश में प्रयुक्त ‘लोकजता’ व ‘लोकप्पवाय’ शब्द भी लोक का महत्त्व व्यक्त करते हैं।

१ महाभारत, उद्योगपर्व, ४३। ३६।

२ गीता, अध्याय १५, श्लोक १८।

३ ‘सहस्र-शीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्’।

४ ‘बहु व्याहितो वा अथ बहुशो लोकः’।

पाश्चात्य दृष्टि में देखने पर चिदिन होता है कि आग्न भाषा में 'लोक' शब्द के अर्थ में फोक (Folk) शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसकी उत्पत्ति 'Folc' से हुई है। मभवन जमन का Volk शब्द ही एग्लो मैक्सन में Folc नाम से अभिव्यक्ति किया जाने लगा है। यहाँ फोक शब्द अमस्कृत तथा मूट समाज का द्योतक है, किन्तु सर्व-मान्य जी राष्ट्र के अवयवभूत समस्त जनो के लिए भी उन शब्द का प्रयोग करने में किसी सकुचित प्रवृत्ति को प्रयत्न नहीं दिया गया है।

जो भी हो 'लोक' एक ऐसा व्यापक शब्द है जो नृमान पर प्रमग्न समस्त मानव-समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त किया गया और वर्गभेद रहित व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं की श्रेष्ठ राशि रहित नवीन सम्यता वसन्तुति के विकास का द्योतक समझा जा सकता है। डा० बामुदेव शर्मा अवधान के शब्दों में—“लोक हमारे जीवन का महामुद्र है। उनमें सून, नविय्य वर्तमान सभी कुछ निहित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है, लोक कृष्ण ज्ञान और तन्मूर्त ज्ञान्यपन में सब धारणा का परंप्रमाण है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धारणा सर्वभूतमानता वृद्धी और लोक का व्यापक रूप मानव, यही हमारे नये जीवन का अध्यात्म धाम है। इसका स्मरण हमारी सुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक-पृथ्वी-मानव, इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याण-नमस्कार है।”

ऐसे सर्वव्यापी मान्यतादिन, महत्त्वपूर्ण 'लोक' की उपस्था कर कोई साहित्य धारण व चिरन्तन पद का अधिकारी नहीं हो सकता। साहित्य को 'लोक' के मगनकारी रूप का अपनाता पटा और इसके समायोजन व समवेष्ट में साहित्य की प्रतिष्ठा व महत्ता का किसी प्रकार की ठेग नहीं पहुँची बल्कि उसकी वृद्धि में ही सहायक हुआ। उनलिये 'लोक-साहित्य' को साहित्य के एक अमिन्न एवं अवयवभूत अंग के नाम से सम्बोधित किया जाये तो यह सत्यता का प्रतिपादन ही है, किसी प्रकार की अनिधायित्व नहीं।

कनिष्ठ लोगों के मनानुसार लोकसाहित्य अभिजात्य सम्कार, धार्मिकता और पाण्डित्य की चेतना व अहंकार में हीन ग्रामीण एवं अभिव्यक्ति लोगों की व्यापक मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करनेवाला साहित्य है। वास्तव में उन का यह विश्वास न तो सत्य है और न वास्तविकता पर आधारित ही। निम्नदेख 'लोकसाहित्य' लोक की मौखिक अभिव्यक्ति है और यह वाणी के माध्यम में पीढ़ी-दर-पीढ़ी गतिमान रहता है परन्तु इसीमें यह अभिव्यक्ति समुदाय की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला साहित्य नहीं बन जाता। इसमें लोक-जीवन की अभिव्यक्ति जितनी निष्पक्ष, स्वाभाविक, पूर्णता व सत्यता के साथ प्रतिपादित मिलती है उतनी छद्म, अल्पांगणिक के द्वारा नियमबद्ध मजार्ड गई भाषा द्वारा निमित्त साहित्य में भी नहीं मिलती। उनलिये यह नहीं अर्थों में जन-भावनाओं की अभिव्यक्ति व जन-साहित्य है जो समय-ग्रामीण व जनपर लोगों के साहित्य मात्र का आगेपण करना तकपूर्ण व न्यायसंगत नहीं है।

डा० देवराज उपाध्याय के शब्दों में—“साहित्य और दर्शन की गगनचुम्बी हिम-श्रेणिया के बीच में 'लोक साहित्य' एक ऐसा मजान आनोकोन्मन मेघ-गण्ड है जो न तो इनके दृढ़-दृढ़ कर गिरनेवाले गिलाखण्डों में दबता है और न इन श्रेणियों की सीमाओं में आवद्ध होकर नमीम बनता है, प्रत्युत गीन, नूतन एवं वार्ता आदि विविध-वर्णा किण्वों में स्नान हाकर साहित्य की उन उन्नत चोटियों का शृंगार कर जाता है और सगीत-नहरी के प्रत्येक स्पन्द-वर्णन के साथ उठकर उन विराटता के कोने-कोने को सादरना का मार्ग प्रस्तुत करता है।”

ऐसे लोकसाहित्य की महत्ता में सौन प्रकार केगा ? मानवमस्तिष्क की मूलभूत एवता का तो यह नवीनतम परिचायन है ही, साथ ही आज जबकि मानव कृत्रिमता, आत्म-प्रवचना, ईर्ष्या, द्वेष, भय, लूटपाट, परस्पर अविविधान की चट्टान में टकरा कर छिल-मिल होने जा रहा है, ऐसे समय में वह 'लोक-साहित्य' अपनी महज मानवीय भावनाओं में मानव-हृदय में रहता व आशा का जागृत आलोक निष्पदित करता प्रतीत होता है—

एक नाम, एक टांग वर्य के दुष्ट पवित्रा रे,
मरग उठनी एक उठत फिरे दिन रनिया रे।





चुगत-चुगत गई दूर सो दूसर अनमनिया रे,
मार्यों वियाधा ने वान रोवन तागी दोउ आखिया रे ।

यह हमारे विकास की अमूल्य निधि के समान है । जातीय हृदय की उथल-पुथल, मुक्-दु ख, मयोग-वियोग, सभ्यता, सस्कृति को प्रतिविम्बित करने वाला स्वच्छ मुकुर है । अनुभव की सरमता, मत्यता व सजीवपन का इसमें सुन्दर समावेश है । देश का सच्चा इतिहास और उसका नैतिक व सामाजिक आदर्श— इसकी मूक वाणी है । आशा-वाद और जीवन-स्फूर्ति इसका आलोकमय स्तम्भ है । जो स्थायी रूप से सत्य की शिला पर प्रतिष्ठित है । 'मत्य, शिव, सुन्दरम्' भावों का अपार सागर है ।

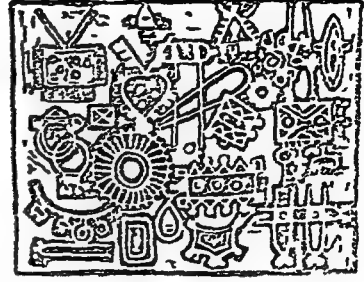
वास्तव में 'लोकसाहित्य' साहित्य की अमूल निधि और प्ररोह है । इसकी महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता । मनोवैज्ञानिक अध्ययन साहित्यिक चिन्तन और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से तो यह महत्त्वपूर्ण है ही, सांस्कृतिक एकता की स्थापना की दृष्टि से भी इसका योगदान महान् है । अतः इसका अध्ययन और सर्वांगीण विवेचन होना अपरिहार्य है । राजस्थान 'लोकसाहित्य' की दृष्टि से अन्य किसी प्रान्त में पीछे नहीं है । वार्ता, गीत आदि के रूप में यहाँ साहित्य की अपार निधि छिपी पड़ी है । सकार, आदर्श, उत्तमता, विशुद्धता और मनोरमता सभी दृष्टियों से वह सुन्दर व सुश्रुतसम्पन्न है । इसको प्राचीनता ने आवरण में देख कर ठुकरा देना अथवा भुला देना मूर्खता ही नहीं, जातीय आत्मघात के समान होगा । यह शुभ लक्षण है कि अब हमारे मनीषियों व विद्वानों का ध्यान साहित्य की इस अमूल्य निधि की ओर गया है और नये-नये रत्नों को इस अगार निधि में खोजकर निकाला जा रहा है । आशा है 'लोकसाहित्य' को अपना उपयुक्त स्थान शीघ्र ही प्राप्त होगा और आधुनिक साहित्य भी इसके सम्पर्क से अधिक गरिमायुक्त व गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर ज्ञान-भालोक से जनमानस को विशेष रूप से आलोकित कर सकेगा । डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का यह कथन सत्य है कि—

'लोक का अध्ययन बुद्धि का कौतूहल मात्र नहीं है । लोक-सम्पर्क के बिना सब शास्त्र अधूरे हैं । जो ज्ञान लोक-हित के लिए नहीं, वह अधूरा है, वह मानवी चिन्तन का छूँछा फल है ।'

लोक-दर्शन और धर्म का स्वरूप

डा० रामप्रसाद दाधीच

हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर



‘लोक’ शब्द आज एक विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन और अनुसन्धान के इस युग में अनेक जन-प्रचलित शब्दों को उनके सामान्य अर्थों के अतिरिक्त विशेष वैज्ञानिक अर्थ और मर्म दिए गये हैं। लोक का व्यापक मानवसमाज में अर्थ न लेकर लोकवार्ता-विज्ञान आज ‘मानव समाज’ के उस वर्ग में अर्थ लगाता है जो आभिजात्य सम्कार, साम्प्रदायिकता और पाटित्य की चेतना और पाटित्य के अहंकार से ग्रस्त है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।^१ एनमाइकलोपीडिया ब्रिटैनिका में ‘लोक’ शब्द से अर्थ उस मानव-वर्ग में लिया गया है जो नागरिक सम्प्रदाय और नवविधि शिक्षा की वाराओं में मुख्यतः परे है, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अथवा जिन्हें मामूली-सा ठोकर जान है—ग्रामीण और गवार।^२

‘लोक’ शब्द का उपयुक्त अर्थ और परिभाषायें यह स्पष्ट करते हैं कि लोक-मानस और हृदय महज और सारल्य मन्त्रित होता है, उसमें दिखावा नहीं होता, मानव-स्वभाव की वस्तुतयें और कुटिलतायें नहीं होतीं। प्रसिद्ध लोकवार्ताविद् जेम्स फ्रेजर ने इस लोकमानस और हृदय का स्पष्टीकरण करते हुये प्रस्थापित किया है कि वह विवेकपूर्वी (Prelogical) और मिस्टिक होता है।^३ फ्रेजर की इन मूलस्थापनाओं को लोकमानस और लोकवार्ता-विदों की पूर्ण महमति बख्शी नहीं मिल पाई किन्तु कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य हैं जिन्हें वे सभी स्वीकार करते हैं। ये तत्त्व मन्त्र में इस प्रकार हैं—(१) लोक-मानस यथार्थ और कल्पना में भेद नहीं करता (फैंटेसी थिंकिंग), (२) वह प्राणी-अप्राणी-जड़-चेतन को आत्मा में युक्त मानता है (एनिमिस्टिक थिंकिंग), (३) उसका यह विश्वास रहता है कि तुल्य से तुल्य पैदा होता है (मैजिकल थिंकिंग), (४) उसका यह अमिट विश्वास है कि विशेष विधि में काय करने में दृष्टिगत फल अथवा अभीष्ट की प्राप्ति होती है (रिच्युअल थिंकिंग)।^४ इन तत्त्वों के परिणामस्वरूप लोकजीवन में हमें ऐसे अनेक विश्वास, मान्यताएँ, आचरण, अभिचार और अनुष्ठान देखने को मिलते हैं जिनका औचित्य और उपयोगिता आज के बुद्धिप्रधान वैज्ञानिक युग में समझ में नहीं आते। इन्हीं के फलस्वरूप वह देवी-देवताओं, प्रकृति और पराप्रकृतिक शक्तिओं, भूतों और प्रेतों में विश्वास करता है। वह वृक्ष, पहाड़, नदी, नाले आदि को आत्मनस्त्व में युक्त मानता है—उसका विचार है कि चेतन मानवों की भांति यह सब काम करते हैं। मय, टोने और अनुष्ठानों की लोकजीवन में इसीनिष्ठ भरोसा रहता है। उसका विश्वास है कि विशेष विधि में वह अपने अभीष्ट और अभिप्रेत को प्राप्त कर लेगा।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन लोकजीवन की मानसिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करता है। अब हम इसके आधार पर लोक के दर्शन और धर्म को समझने की चेष्टा करेंगे। लोक किसी भी राष्ट्र की अमूल्य सम्पदा होता है। एक जाति

१ लोकसाहित्य विज्ञान, पृ० न० ३ टॉ० सत्येन्द्र।

२ फोक-थ्योर, इन साइकलोपीडिया ब्रिटैनिका, भाग १०।

३ दि गोल्टन वार-सर जेम्स फ्रेजर।

४ लोक साहित्य विज्ञान-पृ० स० ८८, डॉ० सत्येन्द्र

और राष्ट्र की गरिमा उसके लोक के जीवन में निहित होती है। उसकी सस्कृति, कला, धर्म, और दर्शन के वास्तविक स्वरूप के दर्शन नगरो में रहनेवाले अति-आधुनिक और सभ्य समाज के जीवन में नहीं हो सकते, ग्राम्याचलो के प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाले अनन्त लोग के जीवन में ही हमें वे दर्शन सुलभ हो सकेंगे।

इस निबन्ध में मैंने भारतीय लोक को ही आधार बनाया है। जब हम भारतीय लोक के दर्शन और धर्म पर दृष्टिपात करते हैं तो सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता जो हमें दिखाई देती है वह है, उसकी आध्यात्मिकता। यह आध्यात्मिकता भारतीय लोकजीवन का अविनश्यकर स्वरूप है।^१ वैदिक पूर्व-काल में लेकर आज तक लोकजीवन में आध्यात्मिकता की यह धारा अविरल गति में प्रवहमान मिलती है। आधुनिकता के प्रभाव से यह धारा यद्यपि क्षीण अवश्य हो रही है। लोक-हृदय समस्त जड़-चेतन में आत्म-तत्त्व के दर्शन करता है और उसमें अपनी अभेदता मानता है। भारतीय सस्कृति का सिद्धान्तसूत्र-‘सर्वभूतस्थमात्मानम्, सर्वभूतानि वात्मनि’ लोकदर्शन में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसी के फलस्वरूप भारतीय लोकजीवन में अलौकिक स्नेह और सौहार्द दिखाई देता है। इस आत्मा और परमात्मा के समन्वय-दर्शन से हमारा जन-जीवन अत्यन्त सघट हुआ है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, राधा, मीना, पावती, लक्ष्मी लोकदेवता, लोकदेविया-ये सब लोकजीवन और परिवार के अंग के रूप में ही लोकवार्ता और माहित्य में चित्रित हुये हैं। जिस प्रकार दुःख-सुख, हर्ष-विषाद, मिलन-वियोग जन्म-मृत्यु आदि ने साधारण मनुष्य अभिभूत होता है, उसी प्रकार उसके आराध्य ये देवी-देवता भी होते हैं। यह उसके अभेद-दर्शन का द्योतक है। शिव और पार्वती, कृष्ण और राधा, राम और सीता से सम्बन्धित शत-शत भारतीय लोक-कथाओं और गीतों को इस कथन के प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। केवल देवी-देवताओं में ही नहीं पशु, पक्षी, वनस्पति और अन्य प्राकृतिक उपकरणों में भी लोक की यही आत्मतत्त्वमयी अभेद-दृष्टि दिखाई देती है। इस प्रकार आत्मा और प्रकृति, व्यष्टि और समष्टि लोकदर्शन में एक-रस हो गये हैं।

लोक-दर्शन और धर्म की दूसरी प्रमुख विशेषता श्रम-साधना और कर्मनिष्ठा में दिखाई देती है। लोक का प्रत्येक सदस्य कुछ न कुछ कर्म अथवा श्रम करता है। वह पराश्रित नहीं रहना चाहता। अपने श्रम से ही वह जीविकोपार्जन करता है। आदिम लोकजातियों के दैनन्दिन जीवन, उनकी वस्तियों, गृहनिर्माण आदि पर दृष्टिपात करने से पता लगता है कि श्रम की भागीरथी में वे निरन्तर स्नान करते हैं। एक क्षण भी वे निष्क्रिय नहीं रहते। जीवन में इस श्रम-साधना की प्रतिष्ठा महाभारत के शान्तिपर्व में व्यासजी ने कराई है—

अहो सिद्धार्यता तेषां, येषां सन्तीह पाणय ।

अतीव स्पृहदेतेषां, येषां सन्तीह पाणय ॥

पाणिभद्र भय स्पृहास्माकं यथा तवघनस्त्वं ।

न प्राणिनामादधिको लाभ कश्चन विद्यते ॥

भारतीय लोकगीतों में कर्म और श्रम की इस महत्ता को देखा जा सकता है। आखेट, कृषि, पशु-पालन, कुटि-उद्योग और अब औद्योगिक उत्पादन में सम्बन्धित ऐसे सहस्रो गीत हैं जो लोकजीवन की कर्मनिष्ठा का परिचय देते हैं।

लोकदर्शन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है उसकी समाजवादी दृष्टि। लोककला, साहित्य और संगीत के माध्यम में जो लोक-चिन्तन हमारे सामने आता है उसमें व्यक्ति की सत्ता को कहीं स्वीकृति नहीं मिली, न वह तन्त्रा है और न सरक्षक। लोक के चिन्तन में समाज ही सर्वोपरि शक्ति है। वह ईश्वर से जो कुछ मागता है, व्यक्ति के लिये नहीं मागता, समूचे समाज के लिये मागता है। लोकसाहित्य में अभिव्यक्त सुख-दुःख, हास-रुदन तथा शोक आह्लाद व्यक्ति का नहीं है—वह समूचे लोक-मानस का है। संक्षेप में लोक का व्यक्ति अपने लिये नहीं जीता, अपने अस्तित्व को समाज में विलय कर समग्र लोक के लिये जीवित रहता है।



भारतीय लीरु-साहित्य में इस प्रकार के अनेक अन्धविश्वास आज भी उपलब्ध होते हैं जो लोकमानस की एक विशेष अवस्था का परिचय देते हैं। ग्रामीण, अल्प-शिक्षित, मरल स्वभाव के लोग अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों में पीड़ित हैं और उनका धर्म-भीम हृदय उनकी अवहेलना की कल्पना भी नहीं कर सकता। मूने भवनों और स्थानों में भूतों के रहने की कल्पना, विशेष श्रद्धा पर राजसों का निवास, शुभ कार्य, यात्रा, व्यापार के प्रारम्भ के समय शुभ मुहूर्त और शुकुन-अपशुकुन का विचार, राग और मृत्यु का कारण किसी देवता, और देवी अथवा भूत-प्रेत का आश्रय और फिर अभिचार और अनुष्ठान की विशेष विधि से उन्हें प्रसन्न करना इत्यादि अन्धविश्वासों लाकजीवन से अभिन्न रूप में सम्पृक्त मिलते हैं। इसी प्रकार बलि देने का रिवाज भी आदिम जातियों में इसी प्रकार के अन्धविश्वासों में जुड़ा हुआ है। आज भी देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये कुछ आदिम जातियों में तरबान की प्रथा मौजूद है। पशुबलि देना तो आम रिवाज है।

लोकदर्शन और धर्म के इस भक्षिण विवेचन में मिश्र हो जाता है कि आभिजात्य समाज में जो दर्शन और धर्म हमें आज उपलब्ध होता है, उसकी जड़ें लोकदर्शन और धर्म में हैं। शिष्ट और शिक्षित वर्ग की दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं की सही व्याख्या और स्पष्टीकरण लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन में ही सम्भव हो सकते हैं। लोक के टोने-मग्न, अनुष्ठान, शुकुन-अपशुकुन आदि इस दुष्ट और तर्क के युग में हमें विचित्र और अनुचित लग सकते हैं किन्तु लोक की समाजवादी दृष्टि, अमेद दर्शन, समष्टिगत चिन्तन, बुद्धि आचरण लोकतन्त्रीय जीवन प्रणाली के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहे जायेंगे। जीवन के वर्तमान सदर्भ में लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन और अनुसंधान की आवश्यकता है।

बन्धुन मृतः। तदा-पुनः-स्वाभावितं परिणामं ते अंग-पुनः ते सा-विन पुनश्चात् । यह स्पष्ट है कि अंग-पुनः के सा-विन-पुनः-स्वाभावितं परिणाम ही नया विनः ज्ञात, मोक्षप्राप्त के उद्घुष्ट विनः को भी प्रत्यक्ष ज्ञात पड़ता । यह स्पष्ट है कि-पुनः-स्वाभावितं परिणाम ही नया विनः ज्ञात है । उन विनः के परिणाम का स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त है—पुनः-स्वाभावितं परिणाम ही नया विनः ज्ञात है । उन विनः के परिणाम का स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त है—पुनः-स्वाभावितं परिणाम ही नया विनः ज्ञात है ।



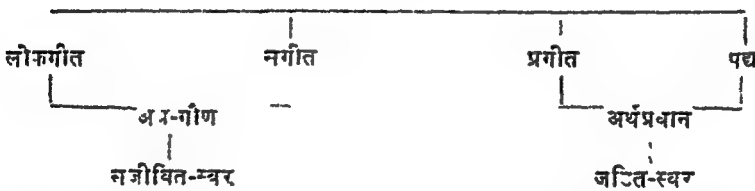
रूप अभिव्यक्ति का नहजात तत्त्व है। रूप, अभिव्यक्ति और अनुभूति का नित्य सम्बन्ध है, तो रूप के वैविध्य के साथ अभिव्यक्ति और अनुभूति का वैविध्य भी स्वीकार करना होगा। साहित्य में काव्यात्मक अनुभूति को मूल्य अर्द्ध ही मानना पड़ेगा। विविधता तो अनुभूति के अर्द्ध के विस्तार में ही निहित है - केन्द्र-बिन्दु जब अपनी अभिव्यक्ति के लिए आत्म-प्रसार करता है तो वह परिधि का निर्माण करना चलता है। परिधि देश काल को जन्म देते हुए ही उद्भूत होती है। बीज में दृढ़, उसकी शाखाएँ पल्लव, पुष्प तथा फल सभी सगाये हुए हैं, वे बीज के विस्तार के ही परिणाम हैं। अनुभूति भी इसी प्रकार अपने अन्तरंग निर्माण में वैविध्य समाहित किये हुए है। कवि की अर्द्ध अनुभूति को तो अनिवार्यतः वैविध्य युक्त होना हागा। हमारे भारतीय शास्त्रकारों ने बताया है कि तीन प्रकार के काव्य-उद्भव हो सकता है। (१) अक्षि निपुणता अथवा प्रतिभा द्वारा, (२) ज्ञानार्जन से (लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणम्) और (३) अभ्यास (काव्यज्ञशिक्षाभ्यास)

अक्षिनिपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवः॥

आरम्भिक अवस्था में मानव के पाम व्यवसाय कम और प्राकृतिक प्राणियों की भाँति चहक विशेष थी। यह या व्यवसाय कर्म के साथ भी लिप्त रहती थी और कोकिल की कूक की भाँति मभवत उल्लास-उन्माद के क्षणों में यही चहक लय-रस से युक्त होकर 'गीत' रूप में कठ में अभिव्यक्त हुई होगी। फलतः मानव की वाणी की ओर प्रवृत्ति आरम्भ में हुई - १—गीत तथा २—वात। गीत का उदय वात में पहले ही होना चाहिए। क्योंकि गीत प्राकृतिक उद्गार है। उसका भावोच्छ्वास से गहन सम्बन्ध बताना भी गीत के स्वरूप का ठीक में प्रतिपादन करना नहीं, वस्तुतः गीत स्वयं भावोच्छ्वास है। आदिमावस्था में भावोच्छ्वास के रूप में ही गीत उत्पन्न हुआ होगा, उस काल के मानव-जीवन में इस गीत ने प्रमुख स्थान ग्रहण किया था, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। उस अवस्था में मनुष्य की प्रत्येक क्रिया में ही वह व्यवसाय-वृत्ति में उद्भूत हो भावोच्छ्वासमयी रहती है। गीत तबने अबतक विकसित होकर निम्नलिखित रूप ग्रहण कर रहा है

गीत



लोकगीत ही आदिम गीत का यथाय उन्मूलक है और यह निरर्थक जगली गीत-ध्वनि से लेकर सार्थक सहरी म्यालो तक के विभिन्न प्रकारों में व्याप्त है। इसका प्रधान धर्म है सजीवित-स्वर का सहज उन्मुख उपयोग। मानव भावोन्माद में अपने को भूलकर जब गीत के हाथों अपने को लेब देता है, उसमें मन्त और शरीरत दोनों ही जाता है, तब वह लोकगीत रचता होता है। स्वर, ताल, ताल आदि भाव की गिरकन के साथ स्वयमेव आने जाते हैं। आगे उसमें परिभाषा और मन्त्रा टांग ऊँचाई अथवा अवनता के लिए शास्त्रीयता का सहारा लिया जाने लगता है तो वह नगीत हो जाता है। लोकगीत और नगीत का प्राण वह सजीवित-स्वर जब उच्छ्वास-गति के साथ मात्र लोग उसमें भी अतिरिक्त अर्थ के तत्त्व में जोड़ते, मन्त्र और लघुकाव्य होने लगता है तो प्रगीत अथवा गीत में परिणति प्राप्त हो जाता है। यहाँ तब स्वर पूर्णतः सजीवित रहते हैं अपने स्वाभाविक लोच और चक्क के साथ, उच्चारण-तत्त्व में अतिरिक्त रूप, विन्तु जब इन सजीवित स्वरों का जमा दिया जाता है, मात्रा की ताल में स्वर को नगी अथवा या वर्णों का बाँट दिया जाता है, और नाचे बना दिये जाते हैं तब वह गीत 'पद्य' का रूप ग्रहण कर लेता है। सामान्य नियमों का निर्माण तो अभ्यास की प्रवृत्ति तथा विचार-काटि तथा तन्त्र-काटि का स्वर नियम करने के लिए करता है, यह नियम तन्त्र के प्रयत्न बन जाते हैं, और मन्त्रादियों का स्वर ग्रहण करने देते हैं। इसमें निम्नलिखित वृत्ति में गहन और स्वाभाविक गति और लान का स्थान नहीं हो जाता। सामान्य मन्त्रावस्था को उभेगा

ही नहीं घृणा की दृष्टि में देखना पता है। यही कारण है कि साहित्य-आन्ध्र हाग पत्र में मान्य हुआ, गीत नहीं। वह गीत अपनी स्वाभाविकता सहित गीत में बनना रहता है।

गीत की अभिव्यक्ति या अभिव्यक्ति 'वान' अथवा वाना की अभिव्यक्ति में निहित होता है। गीत निश्चय होने हुए भी गीत रहता है। अतः उसमें भग्न जाना है। अर्थ का उसमें आरोप होता है। किन्तु 'वान' का जन्म ही उस प्रेरणा के लिए होता है—उन वान या प्रवान उस विचार-विनिमय-साधना है। उस काल में गीत और गाना वे ही गीतिका रूप प्रतीत होते हैं। वे साहित्य-आन्ध्र की शब्दावली में विचार और मन्त्राण प्राप्त करने के पश्चात् गीत और गाना रहता है। यही कारण है कि नामक, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने काव्य के रूप में सबसे पहले उन्हीं दो को ध्यान दिया है।

साहित्य और काव्य के रूपों का एक गीतिका वर्गीकरण हमें विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण में मिलता है—
यह निम्नान्त है—दृश्य और ध्वज काव्य में। हेमचन्द्र ने उसे प्रेरण और ध्वज नाम दिया। दृश्यानुभूति का पाठ्यान्वय ज्ञानेचनामान्त्रियों ने भी महन्द दिया है। उन्होंने तीन प्रकार की दृश्यानुभूतियाँ स्वीकार की हैं। निरव्यय (गैर) ऐतिहासिक या ऐतिहासिक (कालगत) तथा ऐतिहासिक (कालगत) दृश्य। दृश्य काव्य की नृति रवि हाग होने हुए भी, कवि की दृष्टि नहीं होती। पाठक अथवा श्रोता दृश्य काव्य की स्थिति का दर्शन करते समय यह विस्मय किये रहता है कि यह कवि है जो अपनी अनुभूति या ही साहित्य-साधना का रहा है। वह समझता है कि वह दृश्य वह प्रथम स्वर ही दे रहा है।

अथ दृश्य यन्तु—विशेषण होने ही यन्तु के अनिश्चित या अन्य मन्त्राण की उपस्थिति की भी सूचना देता है। यह वस्तु हमरा आता। अन्त-कार्य में वाना जो यन्तु प्रस्तुत करता है, वह श्रवण योग्य है, वह अपनी ही अनिश्चितता अपेक्षित है। दृश्य ही अन्य वे दोनों रूप वाना के आधार पर भेद ही है। दृश्य काव्य वह नहीं जा देता जो गीत, यन्तु दृश्य का वह वस्तु है, जिसमें दृश्य के गुण विद्यमान हैं और ध्वज यन्तु में पति और शब्द की वस्तु की उपास्थिति की सूचना देने में सक्षम जाना चाहिए।

पाठ्य में हेमचन्द्र—नाट्य, प्रकरण, नाटिका, मन्त्राण, उपास्थि, द्रिष्ट, स्तवयोग, उन्मृष्टाक, प्रहसन, भाग्य, शोभा, मृदु, आदि मानते हैं। 'नाट्य-नाट्यप्रकरण-नाटिका-मन्त्राण-उपास्थि-द्रिष्ट-स्तवयोग-उन्मृष्टाक-प्रहसन-भाग्य-शोभा-मृदु-आदि।'

गैर के लिए हेमचन्द्र की शक्ति यह है—

'गैर उन्मृष्टाभासप्रधानादिगणभाषिकप्रेरणाभासार्थदृष्टीमय-गमकगोष्ठीश्रीगदितगणकाव्यादि'। इन्हीं के नाम विशेष में हमने तीन गैर काव्य और बताये हैं शम्पा, उत्पति और द्विपदा।

गैर गान गीत होने तीन प्रकार का माना है—ममृण (गोमन), उदाहरण दाम्बिका। उदात्त, उदाहरण भाग और निध। यह विचारणीय है कि हेमचन्द्र ने भाग का पाठ्य में भी रखा है और गैर में भी।

गान के हेमचन्द्र ने गाना भेद किये हैं—उपास्थि, आन्यान्, निदगन, प्रवृत्ति, मन्त्राणिका, मणिकुन्धा पण्डिता, उदगता, मन्त्राणिका, उपास्थि और वृत्तगता। यह तो शम्पा के आधार पर काव्य के रूपों के विकास का चर्चा है। किन्तु शम्पा में हेमचन्द्र जब हम उस समय विद्यमान साहित्य या साधना करने हैं तो हमें लोकक्षेत्र में भी गीत नहीं उदाहरण दिखानी पड़ती हैं। उन उदाहरणों को तत्कालीन साहित्य-भाषा के रवियों ने मान्यता प्रदान की। आठवीं के चौदहवीं शती के अन्तर्गत् निम्न काव्य खटे हैं—गाथावय, दाहावय, पदविश्रवय, चौपाई-दाहावली रमणी, लणयवय, कृतिनी रम, गमा उप, चवरी या चवरी, पा, मापी, मवदी, दोहा, मोहा, पद, मगलकाव्य, चोनीमा, विप्रमनीमी, पनत, बेति, विगृह्य, द्विजो, रविमन्त्रा, वहरा, वधे, विनय, गीता, अवगवट, नहट्ट, गान, गम, भमगीत, मुकरी, दो यन्तु, अनमि, टोलेन, वभाव, पटञ्जल, वगमा, नवमि, दमम, दगावनार, नटीगा, नीवनी आदि। उनके अनिश्चित ध्यान देने में और भी कई नये रूप दिखायी पड़ जाते हैं—मतमई, मगल, महात्म्य, पन्चमी, पनीपी, पुराण, नवा, नटी, पनत, काव्य, चर्ग। उन रूपों पर विचार करने में विदित होना है कि उनके नामकरण के पाल आधार हैं—उद, गीत, गैरी, सन्ध्या, और विषय। किसी भी दृष्टि में उन रूपों का नामकरण





क्यों न हुआ हो, एक बात स्पष्ट दिखायी पड़ती है कि इन नव का मूल लोकोत्प्रेत है, और प्रत्येक रूप का लोकनृत्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

छन्दों के आधार पर जो खड़े हुए हैं उनके इतिहास में हमें ज्ञात होता है कि 'गाथा' काव्य रूप प्राकृत भाषा का एक प्रकार से पर्याय हो गया था। इसी प्रकार 'दोहा' अपभ्रंश का। 'दोहा वर' का अर्थ होता था, अपभ्रंश काव्य। पदद्विधा वध उत्तरकालीन अपभ्रंश अथवा अयत्तु से सम्बन्धित माना जा सकता है।

चौपाई-दोहा-वध रूप कथा अथवा चरित्र-काव्य में मागान्यत मबद्ध हो गया, और यह रूप हिन्दी के प्राचीन काव्य से चलकर बीसवीं शती के आरम्भ तक अत्यन्त दृढता के साथ प्रवाहित होता चला आया है।

इस समस्त छन्द-परम्परा का मूलतः लोकोत्प्रेत और लोकनृत्य से संबंध है। हमारा मर्म प्रबल प्रमाण तो इन छन्दों का स्वभाव है। ये छन्द स्वभाव से मात्रिक हैं। मात्रिक छन्द मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि 'मात्रा' का आधार मूलतः ताल है, और ताल का जन्म नृत्य के साथ हुआ। ताल वा जितना सम्बन्ध नृत्य से है, उतना संगीत से नहीं। क्योंकि निश्चय ही संगीत के दो रूप मूल में रहे हैं—एक लयबद्ध और दूसरा तालबद्ध। तालबद्ध संगीत नृत्य-बद्ध संगीत था। लयबद्ध युक्त-संगीत था। आगे दोनों प्रणालियाँ मिल गयीं। 'नृत्य' अथवा ताल में विराम लाने के लिए 'लय' संगीत का उपयोग होने लगा। इससे वैविध्य भी आया। यह 'लय' जब आरम्भ में उपयोग में आने लगी तो 'टेक' कहलायी। आज पर्यन्त नृत्य ताल में गुंथे हुए गीत में लय द्वारा विराम प्रचलित है। रसिया या चौबोलो को देगिने। रमिया जब अत्यन्त तीव्र-ताल-गीत में भ्रमाके के साथ रहते हैं तो किसी दोहे के रूप के 'लय' बद्ध छन्द का उपयोग किया जाता है। जीवन में ताल पर पहुँचने के लिए पहले दोहे के बोल रले जाते हैं, जिसका लय ही सम्बन्ध है। इस प्रकार तालबद्ध लो नृत्य गीतों में 'लय-विग्रह' का प्रणाली प्रचलित हुई। इस लय के आवरण में 'ताल' को अधिकाधिक लपेटा गया। आज यह देखा जा सकता है कि प्रत्येक संगीत में 'ताल' उसकी रीढ़ है और स्वर का उतार-चढ़ाव और लय उसके सौन्दर्य और माधुर्य प्रमाण के तत्त्व हैं। यह ताल नृत्य में विलग होकर गीत में रही। गीत में लय और उतार-चढ़ाव के तत्त्व जय जय होने लगे, और शब्द की, अर्थ की दृष्टि से, अधिकाधिक प्रबलता होने लगी, तब उनका सम्बन्ध मात्र गीत अथवा ताल में रह गया। ये, शब्द में वधने पर ताल 'समय की कला अथवा अक्षर', पर निर्भर नहीं कर गाने के उनके लिए शब्द में ही कोई आधार ढूँढना होगा, और यह आधार माना का था। एक 'मात्रा' इसकी इकाई बनी। यह एक मात्रा एक अक्षर के 'उच्चारण' के बाल की कला का मान प्रस्तुत करती थी। हिन्दी की मात्राओं के स्वरूप के अनुकूल ये मात्राएँ 'लघु और गुरु' में बाँट दी गयीं। 'लघु' मात्रा की एक इकाई है। गुरु मात्रा दो इकाइयों के समान। इस प्रकार 'शब्द' के निमार्ण अक्षरों में गुरु-लघु के माध्यम से वस्तुतः ताल को, 'ताल' का लघुतम कालकला (टाइम फैक्टर) को घनिष्ठतः बाँध दिया गया है। इससे यह सिद्ध है कि ताल का ही एक रूप मात्रिक छन्द-विधान है। मात्रिक छन्दों में 'सजीवित' शब्द स्वर भरते हैं। अतः मात्रिक छन्द स्वभाव से ही कठोर शास्त्रीय ढाँचे में नहीं बैठ सकते। एक आंतरिक स्वच्छन्दता उनमें रहती है, जो लोक-प्रकृति के अनुकूल है। इससे मात्रिक छन्दों में लोकतत्त्व रहता है। 'चौपाई' एक ऐसा छन्द है जिसमें यह लोकोत्प्रेत की अनुकूलता सबसे अधिक है। चौपाई विविध लयों में हो सकती है।

इसीलिये लोक-कथा के लिए यही छन्द विशेषतः चुना गया। इसमें रूप और वस्तु की दृष्टि से अद्भुतरूपेण लोकतत्त्व अभिमत है। विविध आवेग, विविध आवेश, विविध रस और विविध भाव इस छन्द में गुम्फित हो सकते हैं। इस छन्द में वणन, कथा, विचार और विवेचन सभी तप जाते हैं। अन्य जिन छन्दों के नाम से काव्यरूप खड़े किये गये हैं, वे हैं छप्पय, कुंडलिनी, रासा, दोहरा, कवित्त, सवैया, बरवै।

रासा छन्द का उल्लेख स्वयम्भू ने किया है। गाथा-ग्रन्थ जिस प्रकार प्राकृत का पर्याय हो गया था, दोहा वध अथवा 'दूहा-विधा' जैसे अपभ्रंश है, वैसे ही रासावध का सम्बन्ध अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के अधिकाल की कथा-चरित्र-काव्य की शैली वाली भाषा से विदित होता है। रासा-वध में पहले रासा छन्दों का ही बाहुल्य होता होगा, बाद में रासा का सम्बन्ध विषय से जुड़ गया, रासा छन्द गौण हो गया। धीरे-धीरे रासा काव्य में से इस छन्द का लोप हो चला, और रासा विषय में वैविध्य लाने के लिए छन्द वैविध्य का आश्रय लिया गया। अब रासा-काव्य-रासा-वध

नहीं रह गया। धुन्नीराज गानों में दोहा, छप्पय, गहा, पाघटी, नौजीराम, जडित्त आदि छन्दों का उपयोग हुआ है। उन छन्दों में दोहा घना का स्थानापन्न है। छप्पय और छंदिका प्रायः एक है। पाघरी पदगी ना पदटिका का ही स्थानापन्न है। इसमें इहा जयवा दोहा और पदगिया अपभ्रंश के अवशेष हैं तथा छप्पय में हिन्दी मन्त्र विमानित है। उन सब में के मन्त्र विद्यमान हैं, जिनका जन्म लोक-मेया में हुआ तथा जिन्हें श्रवियों तथा साहित्यकारों ने पहले लोक-क्षेत्र में प्रसार अथवा फिर उन्हें शास्त्रीय दृष्टि में सम्मान प्रदान किया।

यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि छन्द का नाम पहले पडा या वस्तु के कारण छन्द ने नाम ग्रहण किया। गीत-साहित्य में सामान्य परवेक्षण में यह विदिन होता है कि बहुधा छन्द का नाम वस्तु के नाम पर रखा गया। आज लोक में प्रचलित गीतों का तीजरे दोहा, घान्हा, निहायदे, रमिया, होरी, पवा, नाके, एकानेक लोक-गीत अपने विषयों के नाम पर ही गीत के प्रकार की भी अभिव्यक्ति करते हैं। ऐसे गीत साहित्यिक अभिव्यक्ति के अर्थ को सिद्ध करते हैं। मन्त्र, वस्तु और अनुभूति गीतों एक साथ एक-दूसरे में अविलक्षण ही अवनीर्ण होते हैं। लोक-गीतों में आज भी यह व्यवस्था विद्यमान है, उनमें प्रत्येक गीत का अपना धृक् गान होता है। चन्द्रावली का अपना गान है और वह चन्द्रावली गान ही है। 'विजगनी', भानवा, दनजाग, नटवा—ये सभी वार्ध विषयों के नाम हैं, पर प्रत्येक का गान निजत्व रखता है और वही नाम गान का भी रस जा सकता है। साहित्य के जिन रूपों में ऐसे छन्दों और विषयों का सामान्य व्यवस्था अर्थ है, वे भी लोक-प्रवृत्ति की प्रवृत्ति के साक्षी हैं।

छन्दों के उपयोग 'गीतों' में नाम पर काव्य-रस मिलने हैं। इन गीतों की स्थिति भी छन्दों की भाँति का विकास प्रस्तुत करता है। रमिया, होरी जयवा फाग में 'गीत' और वस्तु का सामान्य है और वस्तु इन रूपों का नामकरण उसी वस्तुओं के कारण ही हुआ है, जिनसे आज वह गीत का अपना नाम हो गया है, इसीलिए होली विषय का वर्णन यदि किसी अन्य गीत में होगा तो उस गीत से होनी नहीं कहा जायगा। इसी प्रकार 'होली' गान में होरी वर्णन के अनिवार्य भी कोई अन्य वर्णन होगा तो वह होरी ही कहना होगा। वस्तुतः तो होली विषय और होरी गीत में अर्थ ही है। होरी के वर्णन की भाँति होरी गीत में ही है।

गीतों में सामान्य छन्दों में अधिक्त गीत-मन्त्र विद्यमान रहता है। गीतों में वस्तुतः लोक का भावुक और मर्मपुर्ण अभिव्यक्ति रहता है। लोक-भावका के लिए एक मन्त्र गीत अवतरित होता है। छन्द जहाँ कदा जैसी प्रवृत्ति-वृत्ति का यन्त्रात्मकता के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, वही गीत गायक-वृत्तियों के लिए। गीतों में वह गीतों का रूप, बगल में धृक्-उत्पत्ति की आकांक्षा करने जाता है वह धाम्य के हाथों पटकर मगीत बला के बीज पड़ने लगते हैं, तथा लोक और मन्त्र के विविध मयों को गान-गानियों के नाम दिये जाते हैं। उनके निम्न स्त्रोत्र लिखे जाते हैं और उनके अन्तर्गत की दृष्टि प्रगति निर्धारित हो जाती है।

जिनसे इस शास्त्रीय प्रवाह में साथ लोक-प्रवाह निम्न रहता है। लोक-प्रवाह शास्त्रीय नियम और नाम की प्रवाह नहीं रहता। पद-साहित्य का दृष्टिकोण बनाना है कि इसका जन्म लोकभाषा या लोकक्षेत्र था, और जिन मन्त्रदाय में मन्त्र पढ़ते लोकमन्त्रदाय अथवा लोकिक-मन्त्र की प्रतिष्ठा का उद्योग किया उसने जहाँ लोकभाषा को अपने मन्त्रदाय का माध्यम बनाया वहीं उसी लोक-मन्त्र में प्राप्त गीत अथवा पद को भी चुना। बौद्ध सिद्धा ने पदों को अपनाया, तथा ने अपनाया, फिर मनो ने अपनाया। इसी प्रकार आवाग, बाउरो ने पद गाये और उनकी मन्त्र में वैष्णव मन्त्रों ने इनमें अन्तर्गत ही उत्कर्ष प्रकट किया। ये शास्त्रीय मन्त्र और शास्त्रीय नाट्यकला में अभिहित हुए, लोक-वेद की खाई पारने का काम किया गया। वे सभी मन्त्रदाय लोकमन्त्रों पर पोषित हुए हैं। इन्होंने ही लोक-मन्त्रों में मन्त्रित करने का उद्योग किया, लोक की विजय वैजयंती को बिना मुकाये। इन लोक-मन्त्रदायों की वाणी, छन्द या मन्त्र आदि नामों में अभिहित हुई। इनमें ही इन मन्त्रदायों के अग्रणियों ने अपने सिद्धान्तों की आध्यात्मिक अनुभूति प्रस्तुत की। ये पद प्रायः दो वर्गों में बँट १ निर्गुण वाणी तथा २ मगुण गान। और इन दोनों वर्गों में लोक की अनुभूति निम्न रहती है। एक ने लोक की आस्था को लोकपरिभाषा और लोकविवेक के साथ मगुण उनके गीतों का प्रचालन किया, दूसरे ने मगुण के आध्यात्मिक मन्त्र की मूर्त कल्पना को लोकभाव में अभिहित कर दिया।





अनीगत रूपों में 'अम्बरावट' पर ध्यान जाता है। अम्बरावट अथवा अक्षरावट स्वभावतः शास्त्रीय प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। अक्षर-रूप से अक्षरों को आदि में लेकर किमी चरण की अथवा छंद की अथवा काव्य-सद की रचना करने में जिम् बिलप्ट मनोवृत्ति का उपयोग होता है, वह मूलन शास्त्रीय प्रवृत्ति होती है। पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। अम्बरावट जैसी रचनाओं के मूल में शब्द ब्रह्म नहीं, अक्षर ब्रह्म की वह धारणा व्याप्त है जो आदिम मनुष्य के ऐनिमिस्टिक पदार्थ—आत्म-तत्त्व से सम्बन्धित है, साथ ही जो उस अक्षर—आत्म में अकारण रूप कार्यकारण परम्परा में किसी ऐसे तत्त्व की स्थिति मानती है जो उस अक्षर से आरम्भ होता है।

ना—नारद यह रोय पुकारा।

कि जुलाहे से मैं हारा। आदि

'ना' का नारद से सम्बन्ध उक्त लोक तत्त्व से ही चर्चितार्थ हुआ है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप 'अक्षरों' में सजीवित आत्म-गति का विश्रुति प्रकट होता है। जो केवल अक्षर अथवा शब्द विषयक शास्त्रीय गिनवाड नहीं रह जाती। ग्रंथीगन में अनामिका और ढकोसला तथा मुकुरी पर भी ध्यान जाता है। इन तीनों का जन्मदाता अमीर खुसरो माना जाता है। अमीर खुसरो का जन्म एटा में हुआ था, वह जन्म से ब्रज-क्षेत्र के थे। ब्रज में अनामिका और ढकोसला का एक प्रबल प्रवाह प्रवाहित है। यहाँ में अमीर खुसरो ने इन्हें लिया हुआ। क्योंकि इनमें अमीर खुसरोपन नहीं दीव्यता है।

विषय अथवा वस्तु के आधार पर गडे किये गये रूपों में नहलू अथवा भगल विशेष रूप में दृष्टव्य है। ये दोनों लोक तत्त्व पर निर्भर हैं। 'नहलू' एक मस्कार है। उस मस्कार पर जो गीत गाया जाता है, वह 'नहलू' कहा जाता है। उसका गीत-रूप-नाम अभिन है। वह वस्तु भी पूर्ण लौकिक है।

भगल का सम्बन्ध विवाह से होता है। विवाह के अवसर पर ही यह भगलगीत गाया जाता है। असम्भूत जातियों में तो इस भगल गीत को ही मन का स्थान मिला हुआ है और उसमें दी गयी विधियों से ही भावरें पड जाती हैं। इस प्रकार भगलगीत मूल में लोकप्रवृत्ति के ही परिणाम हैं। भगल का दूसरा नाम 'व्याहलो' भी है। यही स्थिति सोहर की है। 'सोहर या सोहिले' 'सोभर' अथवा सीरिगृह के गीत हैं जो मतान के जन्म के समय गाये जाते हैं। सख्या के आधार पर 'रूप' वस्तुतः मुक्तक के ही भेद हैं। क्योंकि उनमें मुक्तक छन्दों पर मुक्तक विषयों पर रचना रहती है, पर छन्दों की सख्या बोज हो जाती है। जैसे पच्चीसी, दसक, सतमई, दशक आदि। इन सख्याओं का रूप विशेष से सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। यह रूप—विभाजन अथवा नामकरण कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। केवल रचना की सख्या का ज्ञान कराता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट विदित होता है कि इस काल के प्रायः समस्त रूपों का मूल लोक-क्षेत्र में था। इन रचनाओं का विषय भी लोक-वस्तु से लिया गया था और अनेक व्यक्त मिद्वान्त भी लोक-मानस से घनिष्ठ सम्बन्धित थे। रीतिकाल के पूर्व का हिन्दी-साहित्य-लोकक्षेत्र से घनिष्ठरूपेण सम्बन्धित था। उस काल के पूर्व की प्रायः समस्त साहित्यिक-निर्मित लोक में मौखिक रूप में सुरक्षित सामग्री में से सकलित की गई थी और ऐसी महान् प्रतिभाओं ने उन्हें परिनिष्ठित क्षेत्र में स्थापित करने की चेष्टा की जो स्वयं लोकक्षेत्र के अंग थे जिन्हें समस्त पांडित्य लोकक्षेत्र के प्रवाह में से ही मिला था।

कवीर, जायसी, सूर, तुलसी सभी ऐसे थे जो महावीर की दृष्टि से 'मसि-कागद' नहीं छूटते थे। जिनके व्यक्तित्व का समस्त मौखिक निर्माण लोकप्रवाह में हुआ था। इन और इनकी परम्परा के सभी कवियों की स्थिति लोक-कवियों की स्थिति थी। इनके काव्य के समस्त ताने-बाने मूलतः लोक के ताने-बाने थे। उस पर कहीं-कहीं कभी मनीषी-परिचार किया गया। अतः सन्त सम्प्रदाय, कृष्ण सम्प्रदाय, राम सम्प्रदाय, और प्रेमगाथा प्रभृति सभी का साहित्य लोकभूमि के अत्यधिक निकट है।

लोककला का आधुनिक कला पर प्रभाव

श्री ओ३म्प्रकाश जोशी

प्राध्यापक समाजशास्त्र,

राजकीय महाविद्यालय, भीलवाड़ा (राज०)



मस्कृति एक व्यक्ति अथवा समूह द्वारा दिये गये सामाजिक, व भौगोलिक वातावरण से सामंजस्य स्थापित करने का साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी आवश्यकतापूर्ति का साधन प्राप्त करता है। यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में इन्सानपरिणत की जाती है ताकि हर आने वाली पीढ़ी हर ज्ञान को नये सिरे से नहीं छोड़े अपितु मकलित ज्ञान का उपयोग करे व उनमें अपनी जोड़ के अनुसार वृद्धि करे। मस्कृति उप-मस्कृतियों में बटी हुई हो सकती है। अध्ययन की दृष्टि से मस्कृति को तीन मुख्य भागों में बांटा जा सकता है। (१) उच्चवर्गीय मस्कृति (२) लोक मस्कृति (३) जनजातीय मस्कृति। प्रथम दो मस्कृतियाँ निरन्तर अन्तर्क्रिया करती रही हैं। लोकमस्कृति एकाकी अथवा उच्चवर्गीय मस्कृति में बटी हुई नहीं है। सागर की अधिकतर जनजातें इसी मस्कृति में जीती हैं तथा ऐतिहासिक परिवेश में भी लोकमस्कृति का अपना महत्त्व रहा है। यह मस्कृति मुख्य रूप से मौखिक आदर्शों, विचारों, कथानकों पर आधारित है, परन्तु उच्चवर्गीय लिखित मस्कृति का गहन रूप भी लोक-मस्कृति के आदर्श बने हैं। लोकमस्कृति को बिना उच्चवर्गीय की मस्कृति के जाने नहीं समझा जा सकता। वेद, गीता, राम्य आदि पढ़ीं उनी रूप में लोक-मस्कृति के अंग नहीं हैं जिस रूप में उच्चवर्गीय मस्कृति के, परन्तु लोकमस्कृति के प्रेरणा-स्रोत ये ही हैं। परन्तु यह सोचना भी गलत होगा कि लोकमस्कृति केवल उच्चवर्गीय साम्प्रदायिक गुणों के सरली-कृत रूप को अपना लेती है। इसके विपरीत लोकमस्कृति के गुणपरिष्कृत रूप में उच्चवर्गीय मस्कृति द्वारा अपना लिये जाते हैं।

यह सोचना कि लोकमस्कृति आविष्कारहीन है अथवा उच्चवर्गीय मस्कृति का सरल अनुकरण मात्र ही, उचित नहीं है। लार्ड रैगलन व प्रो० रेडफील्ड के इस कथन को पूर्ण नहीं माना जा सकता कि लोकसंस्कृति जो छोटी परम्परा है उच्चवर्गीय संस्कृति अथवा महान् परम्परा का अनुकरणमात्र ही है। लोकमस्कृति व उच्चवर्गीय मस्कृति में दो तरफा अन्तर्क्रिया होती रही है। इन विचारों को स्पष्ट करने हेतु लोकमस्कृति के महत्त्वपूर्ण पक्ष लोक-कला, वा अध्ययन व उनका आधुनिक कला पर रखा प्रभाव पड़ा है यह जानने का यत्न किया गया, ताकि इस प्रक्रिया को जाना जा सके कि लोकमस्कृति जिसे केवल अनुकरण मात्र कहा गया है कितनी सृजक भी है। लोकमस्कृति का व्यापक आयात में लोककला के माध्यम में अध्ययन किया गया है। लोकमस्कृति का रूप व आयात भाषा व भौगोलिक बाधाओं में सीमित नहीं हुआ है बल्कि कि हम अनेक उदाहरणों के आधार पर देखेंगे। लोकमस्कृति केवल ग्रामीण समाज तक ही सीमित नहीं रहती जा सकती। शहर व नगर के निम्नवर्गीय लोग भी लोकमस्कृति में जीते हैं। इसी प्रकार भारत में उच्चवर्गीय समाज की स्त्रियाँ भी लोकमस्कृति अपनाये होती हैं। इस रूप में लोकमस्कृति का अपना क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। इस लेख में लोकमस्कृति को लोककला के माध्यम में समझने का यत्न किया गया है।

लोककला किसे कहे ?

इस प्रश्न ने उत्तर में यह कहा जा सकता है कि लोककला लोकमानस की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। लोक-मानस सरल व स्पष्ट है तथा उसके विचारों वार्ता के झमेले से दूर है। लोककला आत्मस्वरहीन तथा स्पष्ट है व अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष माध्यम है। परन्तु उनका कहना लोककला की विवेचनाओं को स्पष्ट नहीं कर पाता। लोक-



कला जितनी सरल दीखती है उसनी वास्तव में है नहीं। लोककला को समझने के लिये कुछ परम्पराओं की जानकारी आवश्यक हो जानी है क्योंकि कला धीरे-धीरे एक स्थायी स्वरूप ग्रहण कर लेती है तथा कला का यह परम्परागत स्वरूप (conventionalized form) यथार्थ से दूर होता चला जाता है जिसे सहज ही समझना कठिन हो जाता है। जैसे त्योहार पर बनाया जाने वाला श्रवण का चित्र इतना ज्यामितिक हो गया है कि केवल तीन रेखायें ही श्रवण व उसकी कावड के प्रतीक हो गये हैं। इसी प्रकार लोक चित्रों में प्रयोग किये जाने वाले — भिन्न २ प्रतीक गूढ़ अर्थ वाले बन जाते हैं।

चित्रों के स्वरूप यद्यपि अनौगचारिक रूप से परम्पराओं द्वारा नियन्त्रित होने हैं परन्तु चित्रकार उनमें अपनी सृजनात्मक प्रतिभा के कारण बहुत परिवर्तन लाते रहते हैं।

लोककला धार्मिक भावनाओं से आतप्रोत है तथा इसमें धार्मिक कथा या लोकदेवताओं की कथाओं का चित्रण किया गया है। ये चित्र जिनमें कथायें चित्रित हैं अपने में एक चित्र होते हुये भी चलचित्र में दिखलाई देते हैं। लोक-कलाकार एक विस्तृत कपड़े पर लोकदेवता, लोकनायक या किसी प्रेमकथा का प्रदर्शन चित्रों के माध्यम से करता है। राजस्थान में मुरय रूप में ऐसे चित्र पङ्क कहलाते हैं। जिन्हें नक्के की तरह लपेट कर रखा जाता है, लोक गायक इस लिपटे 'पङ्क' चित्र को प्रदर्शन हेतु खोलता जाता है व मगीत के माध्यम से कथा कहता है। गीत को सरस बनाने के लिये एकतारा वाद्य या रावणहत्या का प्रयोग किया जाता है। राजस्थान के 'पङ्क' के विषय लोकदेवता देवनारायणजी, रामदेवजी, तेजाजी व पावूजी हैं। उनकी शौर्य-गाथा का वर्णन गीतों के माध्यम से किया जाता है। गायक मण्डली एक परिवार होता है जो गीत के बोलों को थोड़ा २ गाते जाते हैं व उन्हें चित्रों में दिखाते हैं।

राजस्थान के अलावा अन्य प्रान्तों में भी लोककला प्रचलित रही है। महाराष्ट्र में लोककला का विकास बहुत सुन्दर रूप में हुआ है। महाभारत का अवन वडे वडे पङ्क चित्रों में वदीवारों पर किया गया है। महानगर के अवध-मेध के वर्णन को चित्रों में अंकित किया गया है। कथा को स्थानीयकरण करने की प्रवृत्ति लोककलाकार व कलाकार में रही है। जैसा कि 'मेकिम मेरियट' ने अपने अध्ययन में बतलाया है कि लोक-संस्कृति अखिल भारतीय-संस्कृति का स्थानीयकरण कर लेती है। इसी प्रकार स्थानीय-संस्कृति का गुण अनेक बार अखिल भारतीय हो जाता है। यह प्रवृत्ति लोक-कला व आधुनिक कला के सदृश में भी देखी जा सकती है।

लोककला की विशेषता उसका सरल रूप है। स्थानीय रंगों में सपाट आधारों पर चित्र बनाये जाते हैं। लोककला के चित्र स्थानीय पर्यावरण से प्रभावित होते हैं। ये चित्र आडम्बरहीन होते हैं। तकनीक की दृष्टि से विभिन्न रंगों को रेखाओं से बांधा जाता है। ये रेखायें गहरे रंग, मुख्य रूप से काले रंग से बनाई जाती हैं। अनेक बार चित्र बनाते समय पहले रेखाओं से चित्र बनाया जाता है। उसमें रंग भर दिये जाते हैं। परम्परागत तरीके में पहले रंग भर कर रेखाओं से बांधा जाता है। रंगों की दृष्टि में लोक-कला में सीमित रंगों का प्रयोग होता है। भूरा, गोमवा, नैफेद, काला रंग ही प्रमुख होते हैं। छाया व प्रकाश को बतलाने की प्रवृत्ति लोककला में नहीं है। रंग सपाट अभिधित होते हैं तथा चित्र से आकारों की बहुतायत रहती है। पशुओं में घोड़े, हाथी आदि का चित्रण बहुतायत से हुआ है। गाली स्थानों की विभिन्न रंगों की मोटी रेखाओं द्वारा भरा जाता है। लोककलाकार नई तकनीकों को अपनाता है पर उन्हें परम्परा में बांध लेता है। लोककला के आकार स्थानीय रंग में रंगे होते हैं। अतः एक ही नायक अलग-अलग स्थानों पर अलग २ रूप से अंकित होता है। जैसे महाराष्ट्र में कृष्ण को महाराष्ट्रीय घोड़ी व गहनों में अंकित किया गया है और उसके चेहरे पर मूँछें भी अंकित की गयी हैं। इसी प्रकार अर्जुन मूँछ-दांडी से युक्त व विशिष्ट पगड़ी पहने हुये हैं। परन्तु सब लोगों की आँखों का आकार एक जैसा है। राजस्थान के पङ्क चित्रों में भी यहाँ की वेश-भूषा व आकारों का दर्शन होता है। स्त्री-पुरुषों का पहनावा स्थानीय व्यवहार से प्रभावित है। अलौकिक शक्तियों या नायकों का चित्रण अद्भुत आकार में किया गया है। जैसे—राक्षस का आकार बहुत बड़ा, सींग वाले चेहरे से चित्रित किया है। गज, तलवार व बाघ-शायन के माधन भी लोकसंस्कृति के तत्व हैं जो चित्रण के अंग बने हैं। चित्रण में पशुओं को आलंकारिक रूप दिया गया है। गर्जनात सिर वाले घोड़े गहनों व रंगों में सजे हुये हैं। इसी प्रकार सारे

चित्रण में वास्तविकता है। मुद्र के दृश्य भी इस दृष्टिकोण में नहीं बचे हैं। एक थोड़ा दूराव चलाये गये नीर ऐसे दिखाये गये हैं, जिनमें एक आन्तरिक टिप्पण का भ्रम होता है। यहाँ तक कि एक जो छाटकर दूसरे ती-सा रंग भी मिल रहा लगता है। नक्षत्रों में जोरकला एक स्पष्ट रूप रंगों वाली परन्तु वास्तविक कला है। राजस्थान में यह रंग धाँ की दीवारों तथा विभिन्न स्तूपों के उन्मूलों पर बनाये जाने वाले चित्रों में भी देखी जा सकती है। राजस्थान में जोरकला के विविध रूप हैं। जैसे—? यह चित्रण २ स्थानों अथवा विवाह पर मिली चित्रण ३ ज्ञान में प्रामाणिक चित्रण विविध रूपों में सादृश्य बनाये जाने हैं जो प्रतीकात्मक होते हैं। लोककला का उपयोग करते-ही कभी-कभी मजाने व उन पर कभी-कभी के चित्र बनाने के लिए भी किया जाता है। कुम्हार अपने बर्तनों पर रंग-चित्रों का निर्माण करते हैं, उन्हें सुन्दर रूप प्रदान करता है।

लोककला व आधुनिक कला का क्या सम्बन्ध है? उसे जानने के लिये आधुनिक कला के विकास का थोड़ा परिचय जानना है। आधुनिक कला का प्रारम्भ पश्चिमी समाज में हुआ है। आधुनिक-जीवन को आधुनिक-विधियों में चित्रित करना व जीवन के विभिन्न भाग-पक्षों को स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करना आधुनिक कला का उद्देश्य रहा है जिसके लिए नये-नये तकनीकों का विकास किया गया है। कला में अभिव्यक्ति, साधन व तकनीक अपनाये जाने गये हैं। आधुनिक कलाकारों ने नये विषयों को नये खोज निकाला, परन्तु तकनीकों व शैली के बारे में उन्हें लोच-लगाव था आदिवासी-कला के तकनीकों का महत्त्व लेना पड़ा। पिकासो जैसी-सी कला-कृतियों ने प्रभावित होने, जिनमें मानव ही महत्वपूर्ण रहा है, न कि निर्माण का तकनीक। इस प्रकार जोरकला में भी थोड़े बहुत मृदा के साथ जोर दिशित वर्णों की रंग का स्थान दिया गया है। इस मदर्शन में भाग में होने वाले कला के इस परीक्षण का एक महत्वपूर्ण सर्वेक्षण किया जा सकता है।

मानवीय कला पुराने समय में भी निम्न लोककला में प्रेमापूरी रही है। जैन-शैली जोरकला के दृश्य निरट है जिनमें प्रामाणिक रूपों व आकृतियों का प्रयोग है। जाँचें दोनों ही दिशाएँ गई हैं यद्यपि चेहरा धारा दिखता है। जाड़ा का रूप स्थिर है व सरल आकृतियों में जाड़ा की बनावट पर-पूरी है जो लोककला की विशेषता है। रंग में भी मृदु जैने रंग व ताल रंग का प्राथमिक रंगों का आश्रय है। आकृतियों व चित्र की मुद्रा-प्रति मराठ है जिसमें सुगल शैली जैसी बागीची नहीं है। न जदन्ता जैसा लाञ्छित है यह कहना कि जैन शैली अजन्ता की ही अभिव्यक्ति शैली है उचित नहीं कहा जा सकता। मेरा अनुमान है कि यह प्रचलित लोककला का थोड़ा परिचय रूप मात्र है। यह शैली अजन्ता से नॉर्वे की शैली नहीं आती अपितु सामान्य जन की शैली उपर की ओर गयी है। लोककला का उपयोग पेटेन्टिबे जों ने विशिष्ट उद्देश्य के लिए करना प्रारम्भ कर दिया था। अतः यह कहने में कोई अनियमावधि नहीं है कि जैन शैली की उत्पत्ति का आधार प्रचलित जोरकला ही था। सुगल शैली फार्म ने प्रेमापूरी शैली जैसा प्रार्थना, आश्चर्य के काठ वर भी फार्म जैसी का पूर्ण भारतीयकरण नहीं हो पाया। एक विपरीत दृष्टिकोण व मानवीय विषय दम्पु का चित्रण उपयुक्त नहीं हो सका। चित्रण के पात्र अनेक बार निर्जीव अथवा नान्वित होते हैं। मृदा शैली में चित्र शीघ्र भरे व बागीची लिये हुये रहें। यह शैली स्पष्ट दिशित वर्णों की शैली है। मृदा द्वाारा के रंग के विज्ञान का माय-माय मृदा चित्रणों ने साफ़ की धारियों में धारण की शैली चित्रण की पण्डित जैसी का विज्ञान द्वारा ऐसा माना जाता है। यद्यपि यह पूर्ण सत्य नहीं है। यदि सुगल चित्रण ही पण्डित कला के प्रयोग के तो प्रश्न यह कि दिशित शैली का उद्देश्य क्या हुआ? सामान्य उत्तर यह हो सकता है कि स्थानीय भौगोलिक व सामाजिक वातावरण का प्रभाव पड़ा होगा परन्तु चित्रों को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि पण्डित के उच्च गच्छों की चित्रण में वे केवल सादा व बर्तनों की ही रंग बहा के भौगोलिक वातावरण में स्पष्ट प्रभावित दिखाने देती है। अन्य गच्छों की कला में लोककला के नष्टपन, सरलता व प्राथमिक रंगों का उपयोग ही स्पष्ट होता है। अब यह सम्भव है कि मृदा कला में कुछ चित्रकार उस प्रदेश में जाये जो जिनको कुछ विज्ञानों में न-अप मिला था। जिनकी देखादेखी अन्य जागीरदारों का राजाओं ने स्थानीय लोककलाओं को दरबारी चित्रण का दर्जा दिया था और अनेक पश्चिम तकनीक व राजकीय कला में प्रभावित हो लोककला का यह दिशित रूप उभरा था। यह बात सम्भव है कि शिष्ट भी कही जा सकती है जिसमें विभिन्न गिद्यासनों के कलाकारों ने





स्थानीय कला को विशिष्ट दर्जा दिया। राजस्थान के राजे-महाराजे मुगल दरबार में जाते रहे जहाँ उन्होंने बादशाह से कला के प्रति सम्मान की भावना पाई। उसी का अनुकरण कर इन लोगों ने उन कलाकारों को जो लोक-जीवन को चित्रित करते थे, विशिष्ट कला के चित्रकार बना दिया। अतः यह कहना उचित है कि लोककला का अनेक बार अपने उसी रूप में अथवा परिष्कृत रूप में उच्चवर्गीय कला बनाने का गेय राज्यों को रत्ना है।

इस प्रक्रिया को आधुनिक कला के सन्दर्भ में और भी अच्छी तरह परखा जा सकता है। भारत में आधुनिक युग का प्रारम्भ १८४० ई० में कलागुरु अवनीन्द्रनाथ के कला के पुनर्स्थान के प्रयत्न में हुआ। अजन्ता व राजपूत शैली को शुद्ध कला मानकर उस स्तर तक पहुँचने का प्रयत्न किया गया। शान्तिनिकेतन में अवनिदास के अनेक शिष्य रहे जिन्होंने उनके दृष्टिकोण को ग्रहण किया। दूसरा प्रयत्न अश्रुता शेरगिल व गगनेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा हुआ जिन्होंने पश्चिमी तकनीक को अपनाया व भारतीय विषयों का चित्रित किया। परन्तु दोनों ही आन्दोलन आदिमिक अधिक हो गये। जिन्हें सामान्यजन व विशिष्ट-समाज अधिक समय तरफ़हारा नहीं दे सके। जेमिनीराय ने इस आन्दोलन के प्रति प्रतिक्रिया की तथा कला में सरल आकृतियों को अपनाया। लोकशैली का परिष्कार कर उसे विशिष्ट शैली का रूप दिया। चित्रों व लोककला के रूपों को उन्हीं आकारों में तथा वैसे ही रंगों से अधिक वागीकी व मुष्टता के साथ अंकित किया गया यद्यपि अलंकरण का वही रूप बना रहा जो लोककला में होता है। एक-सी आकृतियाँ प्राथमिक व गहरे भूरे रंग तथा रंगों का सपाट प्रयोग बना रहा। जेमिनीराय के समान ही श्रीनिवासलु नरसिंहम्मा व अन्य चित्रकारों ने भी लोककला का वैसा ही रूप अपनाया। परन्तु यह शैली भी कला का प्रचलित रूप नहीं बन सकी। क्योंकि इसकी समानरूपता उबा देने वाली है। आधुनिक कलाकारों ने कला में लोक-कला के तत्वों का अधिक अच्छा व सृजनात्मक प्रयोग किया है। जेमिनीराय की तरह इसे लोककला का परिवर्तन मान ही नहीं कहा जा सकता। आधुनिक कलाकारों ने लोककला को पचा लिया है तथा उनकी कल्पनाशीलता ने नये आयामों को जन्म दिया है। नये रूप व विम्बों का भी निर्माण हुआ है।

पद्मश्री मकदूल फिदा हुसेन अन्तर्राष्ट्रीय स्थाति-प्राप्त चित्रकार हैं जो लोककला से प्रभावित हैं। प्रारम्भ में उन्होंने एक छिलौने बनाने वाले के रूप में कार्य किया तथा वहाँ से लोकपरम्परा को उच्चवर्गीय कला में स्थापित किया। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे लोककलाकार हैं। रंग, नये रूप व आकारों की सरलता की प्रेरणा उन्हें लोककला से मिली पर इन रूपों को वैसे के वैसे ही बनाये रखने के बजाय उन्होंने इसे पचाकर प्रस्तुत किया। राजस्थानी लोककला में घोड़े का चित्रण बहुतायत से हुआ है। हुसेन ने घोड़े का अनेक बहुत ही सशक्त रूप से किया। घोड़ा तथा नारी उनके प्रसिद्ध चित्र हैं। बून्दी, चित्तौड़ व जैसलमेर पर बनाई गई फिल्म 'Through the painter's eye' उनकी प्रसिद्ध फिल्म है, जिसमें उन्होंने लोक-कला व लोक-जीवन के विम्बों को उभारा है।

इसी प्रकार स्वामीनाथन ने तांत्रिक प्रतीकों को नये रूप में प्रस्तुत किया है। श्री लक्ष्मण पें ने रामायण, महाभारत व रागमालाओं का चित्रण नयी शैली में किया है।

मूर्तिकला के क्षेत्र में भी राम-फ़िकर, धनराज भगत, अमरनाथ सहगल, रमनपटेल व अन्य मूर्तिकारों की कृतियों में लोक-कला का प्रभाव झलकता है यद्यपि इन मूर्तिकारों में अन्वी नकल की प्रवृत्ति नहीं रही है। उन्होंने सृजन के नये आयामों को समझा है तथा परम्परा को पचा कर नयी कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। राजस्थान में लोककला का प्रभाव आधुनिक कलाकारों की कृतियों में स्पष्ट देखा जा सकता है। श्री गोवर्धनलाल जोशी, रामनिवास वर्मा व कृपालसिंह शेखावत के चित्र लोककला की अभिव्यक्ति-शक्ति को पचा कर प्रस्तुत करते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोककला केवल उच्चवर्गीय सस्कृति का सरलीकृत रूप ही नहीं है अपितु स्वयं में मौलिक, सृजनात्मक रही है तथा लोकसस्कृति की मौलिक उपज को व खोजे गये तत्वों को उच्चवर्गीय सस्कृति ने सुधार कर परिष्कृत कर अपना लिया है। मूल रूप में लोक-सस्कृति जनमानस की अभिव्यक्ति है। लोक सस्कृति जड़-मात्र नहीं है। यह सक्रिय व नये तत्वों की उत्पादक है। नयी परिस्थितियों के साथ चल सकने की सामर्थ्य भी लोक-सस्कृति में है क्योंकि यह सृजनात्मक है।

वैदिक-परम्पराओं ने अनुमान आरम्भ यज्ञ की व्यवस्था राजा या अन्य राजपुत्र किया करते थे। महाभारत (शान्तिपर्व २३३:३१) के अनुसार अश्विनी ने लिए आरम्भ-यज्ञ, वेदों के लिए हविष्यज, ब्राह्मण के लिए तपोयज्ञ और दृष्ट ने लिए पश्चिमायज्ञ विहित हैं। यज्ञ की सम्पत्ति वेदमंत्रों का अभिमन्त्रण करने से होती है। अभिमन्त्रण या ता मन्त्राभिर्मन्त्रित पदार्थों का निर्माण — वे किया जा सकता है या वन जंगल में उन पदार्थों का श्रम करने अथवा उन पदार्थों की भावना करने। पदार्थ विधेय की भावना मात्र करके उमरी उपागितादि से समझन और तदनुसार उनके निर्माण से या तो वेदों का राम यमात्र के मुद्रित्रीय करने ह। यगिद इ उपाग मे लाने बाडे राग समाज मे प्रह-मन्त्रक होते ह, परन्तु अन्तर्मन्त्रक होने पर भी उन उपागी पदार्थ का निर्माण करने बाडे लोग समाज मे विधेय स्थान से अग्रि-रागी होते हैं। यज्ञ विधेयक आरम्भ-यज्ञ मे उन तीना श्रेणियाँ का आगों के मिलने का भावनात्मक आधार उपस्थित रहता है। अश्विनी धामर रामे समाज-सम्पन्नता का आवाहन किया करने थे। इन्द्रियुग के प्रारम्भ मे गणराज्य-व्यवस्था का प्रचारित होने का अद्वय मित्रा क्योकि पुत्रो गजवय मन्त्राभ्यन्तमुद्र मे समाज हो गये थे। गणराज्य के लिए समाज-समष्टि की आवश्यकता महसूस है। उन्नीतिग विभिन्न गणराज्यो मे यज्ञो के पुग मापेक्ष उत्सव रूप का विधान होता। महाभारत मे 'गणान् उत्सवमन्तान्' शब्दों द्वारा गणनीयता से अभिन्न जग उत्सवों की ओर संकेत किया



गया है। पुराणों और महाभारत में यह भी पता चलता है कि वैद्यों के उत्सव दीपावली का प्रारम्भ प्रजभूमि के वैज्य गणराज्य में हुआ था, वैद्यों के गणराज्य की सूचना 'वैद्यपाट' या 'वैमपाटा' छन्द में मिलती है। इसी तरह ब्राह्मण के श्रावणी-पर्व का सम्बन्ध ब्राह्मणों के साम्बन्ध गणराज्यों में था। नैमिषारण्य के अथवा पुराणों में 'ऋषपाट' कहा गया है। वह ब्राह्मणों का साम्बन्ध-गणराज्य रहा होगा। तपावन के ऋषि-आश्रम साम्बन्ध-गणराज्य ही हुआ कराने थे।

विजयादशमी क्षत्रिया का उत्सव है। इसका प्रारम्भ प्रायुजगीरी और राजघट्टापजीवी क्षत्रिय-गणराज्यों में हुआ। धूम वर्ण में सम्पन्न होनी पर्व का प्रारम्भ धूम्राभीर गणराज्य में हुआ। यद्यपि चारों वर्णों के इन उत्सवों का सम्बन्ध विशिष्ट वर्ण में रहा है, परन्तु इनको मनाने का उद्देश्य समाज को मगठित और मुख्यव्यवस्था करना था। उसलिये कालान्तर में ये सार्वजनिक उत्सव बन गये। क्षत्रियों के उत्सव क्षात्र-अग्नि को समाज के लिए विनियोजित करने के उद्देश्य में, ब्राह्मणों के उत्सव ब्रह्म-उग्र या सामाजिक हिनार्य में प्रवृत्त करने के उद्देश्य में वैद्यों के उत्सव त्रिस्तोत्र समाज के उपयोग में लाने के लिए विनियोजित करने के उद्देश्य में और धूम्रा के उत्सव श्रम अग्नि का राष्ट्र-निर्माण के लिए उपयोग में लाने के उद्देश्य में प्रचलित हुए। इनका लाभ समाज के सभी वर्गों को मिलता था। इसलिए सभी लोगों ने इन उत्सवों को अपना लिया और इस प्रकार ये उत्सव हमारे जातीय-जीवन के आ और साम्बन्ध-समन्वय के प्रतीक बन गये।

होली, दीपावली, श्रावणी-पर्व ऋषिपंचमी, विजयादशमी आदि उत्सवों के साथ किसी न किसी तह में अग्नि का सम्बन्ध है। हमें स्पष्ट है कि ये वैदिक-यज्ञों की परम्परा का विकास हैं। वैदिक-परम्परा में वैष्णव, शैव, शाक्त और तान्त्रिक परम्पराएँ समाहित हैं। जैन और बौद्धों की धर्म परम्परा वैदिक-परम्परा में भिन्न, किन्तु उनकी पूरक है। ये सभी परम्पराएँ इन उत्सवों में जैसे एक हो जाती हैं और इस प्रकार भारतीय समाज की एकाता का परिचय देने का सेहरा इन उत्सवों के सिर पर बाँध देना है।

दीपावली—दीपावली साम्बन्ध का परिचय देने वाला सबसे बड़ा पर्व माना जा सकता है। अमण-परम्परा में दीपावली महावीर के निर्वाण-दिन के रूप में प्रसिद्ध है। वैदिक परम्परा में पुराणों के अनुसार हमें उस दिन की स्मृति के रूप में मनाया जाता है जिस दिन मर्यादा पुरुषोत्तम गाय श्रावण की मार कर जगोष्ठा लौटे थे। वामन रूपधारी त्रिपु ने तीन चरणों से विश्व का नाप कर बलि को इर्मा दिन रमान्त में भेज दिया—ऐसा कहा जाता है। इन परम्परागत बातों में पृथक् रूप से देखें तो भी दीपावली पर्व का महत्व कम नहीं जात होता। त्रयोदशी को धनतेरस के रूप में मनाया जाता है। आरोग्य-दाना धन्वन्तरि की जयन्ती के रूप में धनतेरस का महत्व है। इसका किसी सम्प्रदाय में कोई सम्बन्ध नहीं है। धन्वन्तरि का अर्थ है—मरम्भ की नीला (धन्वन् + तनी)। नीरोगी वाया ही महम्बल की नौका है। दीर्घायु पाने की अभिलाषा जिसकी नहीं होती? घर-आगम की सफाई करके शरीर और मारे वातावरण को स्वच्छ बना कर और स्वास्थ्यप्रद भोजन करके आरोग्य लाभ किया जा सकता है। लोक में ऐसा करके ही धन्वन्तरि की जयन्ती मनायी जाती है। नरक चतुर्दशी का रूप चौदश भी कहा जाता है। कृष्ण ने नरकामुर की द्वासी दिन मारा था। जो रमणीय और कमनीय न हो उसे ही नरक कहा जाता है। अमुन्दर को जीत कर सुन्दर-जीवन का निर्माण करना—यही रूप-चौदश की पृष्ठभूमि में निहित भावना है। अमावस की घोर अन्धेरी रात में अगणित दीप जलाकर ज्योतिर्भय-जीवन की साधना में जुट जाना मानव की अपराजेय निष्ठा का द्योतक है। हम दिन सामाजिक-जीवन में लक्ष्मी का आह्वान करने के लिए त्रैयसितक-जीवन में श्री साधना की जाती है। समाज की शक्ति लक्ष्मी है और व्यक्ति के जीवन की सूत्रधारिणी श्री। जब व्यक्तित्व में सत्य, दया, क्षमा, वरुणा, विनय, श्रद्धा आदि मानवीय भावों के विकास के साथ चार्ित्रिक दीप्ति जागती है तभी समाज में नमृद्धि की अवि-ष्टात्री लक्ष्मी का आविर्भाव होता है। श्री और लक्ष्मी दोनों त्रिपु की पत्नियाँ हैं। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में चार्ित्रिक दीप्ति जगा कर सच्ची लक्ष्मी-पूजा करता है। वैयसितक साधना के द्वारा सामाजिक-हित-मात्रन की प्रेरणा देने वाला दीपावली-पर्व इस प्रकार हमारा जातीय पर्व बन गया है।

दीपावली को जगज्जित दीप जला का मनाया जाता है। दीपक वस्तुतः आत्म-ज्योति का प्रतीक है। जैन-परम्परा में नए नए ज्योति और जीव को ज्योतिस्थान कहा गया है—जीवों कोई तपो लीइटाण। बौद्ध मन में साधक को आत्मदीप जाले को प्रेम्हा दी गई है।—

किन्तु हाम किमानन्द नित्य प्रज्वलिते सति ।

अन्तःसामानदा हि प्रदीप न गदयेयव ॥ (धम्मपद)

उत्तम श्रावक है कि श्रमण-परम्परा में ज्योतिर्मय जीवन की प्राप्ति के लिए साधना पर बल दिया गया है। वैदिक-मायापद्धति में भी जीवन का लक्ष्य ज्योति प्राप्त करना है। आदिभूत-ज्योति के रह जाने के बिना अनेक जीवन को ज्योतिमय बना दिया है। साधक 'तपसो मा ज्योतिर्गमय' कहा ज्योति की कामना करने दे। ऐं नमस्वी पुण्य विनोप दम्बवो पा गृहस्थो मे मदाचार की प्रशिक्षा के लिए उनसे घर पर जाया करने दे। दीपावली के दिन गणेशान में मुहागिनें दीपक जलाकर पट्टीने के यहा ग्व धानी है। उन 'परम्या पाहुण' अर्थात् स्वयं किया हुआ प्रतिनि (मृत प्रादुर्गित) कहा जाता है। दीपक के रूप में अनिष्ट को पट्टीनी के यहा पहुँचाना उन वान को जो 'उत्तम' होता है कि 'आत्मज्योति' का नाम करने वाले मित्र पुण्यो को एक घर वाले सम्मानित करके अन पट्टीनी के यहा पहुँचा दिया करने ॥

प्रतिपदा को गोवर्द्धन-पूजन होता है और अनकट मनाया जाता है। रात्रि का कृपको के घणों में प्रदीप का पूजन होता है। तापो को दे एक दिन पहले ही पूज देने है। पूजा के समय पशुओं के बुद्धों ने स्वर्ग जी ग्वन के आनन्दता नया किया हुआ ज्योति ज्योति है। उनमें मरेन मित्रता है कि कृपक जाली समृद्धि को गो-पुण्य की दन जानता है और ज्योतिमय उनको अन्ध मानने की परम्परा बनी है। यज्ञों में भी इसी प्रथा में शम्भु को पशुओं में ज्योतिमय मरन्त दुष्टता जाता था कि शम्भु गो-बुद्धादि के उध के लिए नहीं होता। यह बात आज भी तापो में प्रचलित है। भारतीय जनजीवन में 'जाप' के उदया की इसी 'जाप' में यहाँ 'ज्योति' को परमपम जी' मद्राजत के रूप में मानना का विषय जानने वाले जैन और बौद्ध मनो में निमित्त स्थान पाया है। इनके बिना वैदिक-परम्परा की स्वयं ज्योतिमय 'जाप' ही 'ह' जाती। इसलिए उन मनो को भारतीय-सम्पत्ति के अन्तिम अ' के रूप में वैदिक परम्परा का पुनरुत्थान उचित होता, जिसे ही नहीं।

पूजा के उपरान्त पशुओं की मंगलमालिका (मगा) के बीच में निराता जाता है और 'गोद' पर बैठा में गोवर्द्धन कहाया जाता है। उन प्रक्रिया में पशुमग की भावना निहित है। पशुओं का ऐसे चारागाहों की पवना पा' चाना चाहिए जो श्मिक कीर्ति में रहित हो और 'नहीं पुष्टि' घाम प्रचुर माना में विद्यमान है। गोवर्द्धन-पूजन का यही तात्पर्य है।

मातृ-हिनीय या बहिनें भाइयों का टीका करके उनकी मंगलामना करती है। यज्ञों में नागी का स्थान पत्नी के रूप में ही सुगुप्त रहता था। यहा उन उन्मवों में नागी के अग्निनी रूप को भी प्रतिष्ठा मिली। यह हमारी साम्प्रतिक-जीवन में एक नया साट था।

उन प्रथा दीपावली उत्सव पाच दिन तक धूमधाम में मनाया जाता है। इसका वतमान स्वरूप वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों परम्पराओं के समन्वित प्रयत्न के फलस्वरूप मिला है। इसलिए इसे साम्प्रतिक समन्वय के प्रतीक के रूप में सर्वत्र स्मृत किया जाता रहा।

होली—दीपावली के बाद साम्प्रतिक-समन्वय के प्रतीक के रूप में होली का स्थान माना जा सकता है। मृत्यु श्रद्धा गणराज में प्रचलित होने पर भी यह योद्धा ही राष्ट्रीय उत्सव बन गया। यह धूर्ति-वन्दना का पर्व है। 'माना धूमि पुनोद्ग पुष्टि' का कट कर अपनी मानुषी के साथ पुत्रत्व का सम्बन्ध स्थापित करने वाले भारतीय होली के दिन माने केद पाव भुगा कर गते मित्रने है और पात्रि-रज में परस्पर अभिनन्दन करते हैं। समवन प्राचीन-





काल में पुष्परज में अभिनन्दन करके पारस्परिक-सम्मिलन में सौन्दर्य-निष्ठा को व्यजित किया जाता होगा। कभी अज्ञात रूप से पुष्परज का स्थान पाथिवरज ने ले लिया और अनजाने में ही जीवन में राष्ट्रीयता का मूलमन्त्र-मातृभूमि की धूल से सामाजिक-बन्धनों का दृढ़ बनाना, प्रतिष्ठित हो गया। यज्ञरङ्ग भारतीय समाज में धूर्ति-बन्धन की त्रिया को 'धूलेटी' (धूल-इष्टि) या धूलेण्डी (धूलि-वस्त्र) कहा जाने लगा। भारतीय इस बात को अच्छी तरह से जानते थे कि गन्धर्वा पृथिवी की धूल से सम्बन्ध जोड़कर ही जीवन में स्वराज्य-सर्साद की जा सकती है। आत्मदानी और कमशोल मानव धूल और पानी से युक्त भूमि में मातृ-रूप देखकर उसके सारे उपयोगी पदार्थों के उपभोग का अधिकारी स्वयं को बना लेता है (अथर्ववेद १२।१।६०)।

होली जलाने की प्रथा अग्निहोत्र का ही परिवर्तित रूप है। उसके साथ प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु के विरोध की स्मृति भी जुड़ गई है। प्रह्लाद मृत्यु की भी परवाह न करके सत्य के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलना रहा। होली निर्भीक बनने की प्रेरणा देती है। इस बात की पुष्टि हम दिन सम्पन्न होने वाली अन्य क्रियाओं से भी होनी जाती है। होली के पहले बालकों के लिए माताएं गावर की ढाल व लकड़ी की तलवार आदि बनाती हैं। होली जलाने समय 'डूले' ईंधन के ढेर में ढाल दिये जाते हैं। स्त्रियां पानी ढालकर होली की ज्वाला को दान्त करने की चेष्टा करती हैं, प्रोढ़ होली की ज्वाला में गेहूँ या जौ की दानियाँ सँक लेने हैं। प्राचीन समय में गृह्यसूत्रों के अनुसार इस समय यज्ञ में नवान्न की आहुति दी जाती थी। जब नवग्रन्थि के स्थान पर उत्सवगरम्भरा चली तो ढाल तलवार की आहुति देने की प्रथा चल पड़ी। तलवारी को जलाने से हिंसा में विरत होने की और ढाल को जलाने से अपनी आत्मशक्ति के विषय में पूर्ण रूप में विश्वस्त हो जाने और निर्भयता सम्पादित करने की सूचना मिलती है। लकड़ी की तलवार और गावर की ढाल-युद्ध को प्रवर्तित करने वाले आतंकवादियों की सम्म्यता का कैसा चित्र भारतीय जन-मानस में अंकित है। युद्ध छेड़ने वाला तो विश्व-चेतना के प्रति अपराधी है ही, साथ ही प्रतिरक्षा में नाम पर शस्त्रास्त्रों और सेनाओं की वृद्धि करने वाला भी नमान रूप से अपराधी माना जा सकता है। पूर्ण शान्ति की प्रतिष्ठा तभी हो सकती है जब युद्ध के साधन और प्रतिरक्षा के साधन-स्रोतों को समाप्त कर दिया जाय और जन-जन के आत्मबल में वृद्धि हो। सांस्कृतिक की पूर्ण विकासस्थिति का मानदण्ड निर्भयता का सम्पादन ही है। होली का उत्सव हमें यही सन्देश देता है। युद्ध की अग्नि को बुझाने में नारी-जाति महत्वपूर्ण योगदान कर सकती है। होली की अग्नि को जल से बुझाने का यही तात्पर्य ज्ञात होता है। होली की ज्वालाओं में अन्न की बालियाँ मँकने में यह प्रेरणा मिलती है कि धिक्केपूर्वक विनाश के साधनों को भी सृजन के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है।

श्रावणी पर्व—श्रावणी पूर्णिमा को यह पर्व मनाया जाता है। इसे रक्षा-बन्धन भी कहा जाता है। श्रुति वेद ज्ञान की मज्ञा है। प्राचीनकाल में शिक्षा-मन्त्र का प्रारम्भ इसी दिन में होता था। यज्ञोपवीत पहना कर सबसे पहले छात्र को व्यक्तित्व के सत्य, धृति, क्षमा, अन्तेय, नीच, धी, अक्रोध, विद्या और इन्द्रियनिग्रह इन नौ गुणों को अपनाने की प्रेरणा दी जाती थी। यज्ञोपवीत के तीन तारों से छात्र वेद-त्रयी, और उससे प्रेरित आचरण की शिक्षा भी लेता है। ऐसे आचरण द्वारा वह देव-ऋण, गितृ-ऋण और ऋषि-ऋण से मुक्त होने में सफल होता है। यज्ञोपवीत धारण करने के उपरान्त विद्यार्थी गुरु के साथ यज्ञ में भाग लिया करता था। वैदिक परिवारों में अन्न भी यज्ञ होता है। वहिर्भाद्यों के रक्षा-सूत्र बाधती हैं। राखी के सूत्र में कई बार इतिहास की धारा में मोड़ ला दिया है। वर्तमान काल में यह भाई-बहिन के पवित्र सम्बन्ध की उद्घोषणा करने वाला उत्सव बन गया है और इस प्रकार हमारी सांस्कृतिक-चेतना का महत्वपूर्ण वाहक कहा जा सकता है। रक्षा-सूत्र बाधकर पारस्परिक-सौहार्द का परिचय देने की परम्परा इस पर्व के साथ जुड़ी हुई है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस पर्व की इस विशेषता को देखकर इस दिन रक्षासूत्र बाधकर हिन्दू और मुसलमानों के बीच सांस्कृतिक-सेतु बनाने का प्रयत्न किया था ऐसी परम्पराओं को आगे बढ़ाना राष्ट्रीयता के हित में है।

ऋषि पंचमी—वैदिक परम्परा में इसे ऋषिपंचमी और जैन परम्परा में सवत्सरी कहते हैं। ऋषि-मुनि वर्षाकाल में चातुर्मास्य बिताने के लिए वनस्थों के निकट आ जाया करते थे। सामान्य गृहस्थ उनकी इस उपस्थिति का

नाम उठाया करते थे। ये लोग आगन्तु तपस्विधो से जीवन-यापन की विविष्ट पद्धतियों के विषय में जानकारी प्राप्त करके उनके सान्निध्य में आचार-विचार का अभ्यास किया करते थे। मवत्सरी मनाने वाले श्रमण-परम्परा के अनुयायी पुनर्वन्म-जीवन (ऐसे वत्स के समान जीवन, जो एक बार श्रमणी माना का द्वेष पीना छोड़कर पुनः नग जाय) के लिए मन्त्र करते थे। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रकृति माता का द्वेष पीने वाला, गृहस्थ आश्रम में ऐसा करना छोड़ कर, वानप्रस्थ और सन्यास में पुनः पीने लगता है। इसलिए आश्रमव्यवस्था को पुनर्वन्म-जीवन कहना उचित ही है। वैदिक-परम्परा पर आश्रित धर्म और जैन-बौद्धादि श्रमणधर्म के मूल में वत्स बन कर विश्व की परमशक्ति का वात्सल्य प्राप्त करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। जैनधर्म में सम्यक्त्व की साधना के अष्टांग मार्ग में वात्सल्य को भी गिनाया जाता है (चारित्र पाहूट, ७)। धर्मात्माओं का प्रियवचन और आचरण से अनुसरण करने वाले सम्यक्-दृष्टि जीव ही वात्सल्य अंग होना है (कार्तिकेयानुशेष ३५) वात्सल्य में वत्स और वत्सल दो पक्ष होते हैं। जैनमत में आदिजिन ऋषभ (पुगव) ही वत्सल हैं। साधक तप और श्रद्धा द्वारा ऋषभ का वात्सल्य प्राप्त करता है। बौद्धग्रन्थ चूलनिहम्मे में गोत्रतिको का उल्लेख मिलता है—‘गोत्रतिष्ठान गावो देवता।’ जैनमत में वात्सल्य प्राप्ति के लिए साधना करने की वान का समावेश गोत्रतिको में ही हुआ होगा। बौद्धमत में भी आर्यों के गोचर में लीन होने की बात कही गई है। जैन-वैदिक परम्परा में वत्स-जीवन की साधना को गोचरी ही कहा जाता है। पञ्चमहाव्रतों को अपना कर त्याग और तपपूर्वक जीवन चिन्ताने के जैन-परम्परागत मार्ग को मवत्स या पूर्ण-वत्स की साधना का मार्ग कहा जाता है और मवत्सरी ऐसे जीवन के लिए मन्त्र करने का उत्सव है। आर्य-मार्ग के अनुयायी इस दिन पुनर्वन्म साधना के लिए कृत-सकल्य होते हैं। आर्य और श्रमण परम्पराओं में समन्वय स्थापित करने वाला यह सबसे बड़ा पर्व माना जा सकता है।

विजयादशमी – विजयादशमी साधनजीवन में सम्बद्ध उत्सव है। हमारी मान्यता रही है कि मानव-शरीर कुछक्षेत्र है जिसमें देवी और आसुरी मनोवृत्तियों में जनवरत संघर्ष छिड़ा रहता है। इस युद्ध में देवी वृत्तियों को विजयी बनाने के लिए साधनारत प्रत्येक साधक क्षत्रिय है। इस प्रकार विजयादशमी आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी आत्मविजय की घोषणा करने वाला सबसे बड़ा पर्व है। इसी रूप में यह भारत के सभी समुदायों का समन्वय उत्सव बन गया है। दशहरे के पहले भक्ति-साधना के लिए नवरात्रव्रत किया जाता है। इस व्रत के अन्त में दुर्गापूजन के साथ कुमारी-कन्याओं का पूजन भी किया जाता है। कन्यापूजन भारतीय समाज में नाग-सम्मान की दिशा में एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करता है। रावण के पुतले को जलाना यज्ञ का ही परिवर्तित रूप है। आसुरी वृत्तियों को समाप्त करने में ही दिव्यभावनाओं की विजय संभव है।

यह कुछ ही उत्सवों का उल्लेख किया जा सका है। वैसे भारतीय-जाति को उत्सवप्रधान जाति कहा जा सकता है। यहां वर्ष के ३६५ दिनों में ३६६ उत्सव मनाने की बात कही जानी है जो अनुचित नहीं कही जा सकती। ये उत्सव समाज के वर्गविशेष में सम्बद्ध हो सकते हैं। परन्तु भारतीय-समाज का मगठन ही ऐसा है कि ऐसे उत्सव भी सर्वमान्य उत्सव बन जाया करते हैं। भारत में मनाये जाने वाले सभी उत्सव यहाँ प्रचलित विभिन्न सामाजिक परम्पराओं में समन्वय स्थापित करके राष्ट्रीय-एकता की भावना को सुदृढ़ करने वाले हैं। इस प्रकार जीवन को जीने के लिए भारत में जिस विविष्ट दृष्टिकोण का विकास हुआ है, वह भारत का अपना है, जिसमें सर्वांगता को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। हम अपने उत्सवों में प्रतिबिम्बित होने वाली इस सांस्कृतिक-समन्वय की प्रवृत्ति के आधार पर अपने आनीय जीवन का उचित रूप में विकास कर सकते हैं।



कहावती ग्रन्थों की जैन-परम्परा

डा० कन्हैयालाल सहल

अध्यक्ष हिन्दी-संस्कृत विभाग बी०आई०टी०एस०,
पिलानी



कहावते मानव-जाति की सर्वसामान्य सम्पत्ति है, उन पर किसी ज्ञानि अथवा राष्ट्र का एकाधिकार नहीं होता। जीवन के अनुभव का एक "लघुग्राम" सर्वत्र देखने को मिलता है जिसमें अग्नि-शक्ति यद्विष्य मार्गमित्र तथा चटपटे वाक्यों द्वारा कहावनों के रूप में पुरा काल से होनी आई है। इमालिखित किसी विद्वान् ने कहावतों को 'जीवन का लघुतम समापत्य' कहा है।^१

जाति-विज्ञान और संस्कृति के विद्वानों का कथन है कि जनता की विचारधारा जन-कथाओं, कहावतों और मुहावरों आदि में व्यक्त होती है तो यह बात गोलहो आने सही है। कहावतें और मुहावरे श्रमिक जनता की सम्पूर्ण और ऐतिहासिक अनुभूतियों के सक्षिप्त रूप हैं। लेखकों के लिए इस सामग्री का अध्ययन करना आवश्यक है। मैंने कहावतों और मुहावरों आदि में बहुत कुछ सीखा है।^२

राजस्थान में कहावतों का प्राचुर्य है। शिक्षा की दृष्टि में यह राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा भूरे ही पिछड़ा हुआ रहा हो किन्तु इसका लोक-साहित्य अत्यन्त विशाल और समृद्ध है। भारतवर्ष के किसी भी राज्य की तुलना में यहाँ का लोक-साहित्य निःसंकोच रूपा त्रा गरुता है। राजस्थान की कहावतों को लेकर ही विचार करे तो वे संख्या में १० हजार से कम न होगी। अभी राजस्थानी कहावतों का कोश तैयार नहीं हुआ है जिसके प्रणयन में लेखक वर्षों में शलग्न हैं। इसलिए मध्या आदि के सम्बन्ध में लिखित रूप में कुछ कहना निरापद तो नहीं नयापि इनका निःसन्देह सत्य है कि विविधता और प्राचुर्य की दृष्टि से यहाँ की कहावतों की समता सहज ही नहीं की जा सकती।

राजस्थानी सभ्यता और संस्कृति को समझने में जैन विद्वानों के ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिलती है। राजस्थानी कहावतों के सन्दर्भ में भी उन्होंने सराहनीय प्रयत्न किए हैं। स० १९९९ को पीप मास में श्री धनविजयगणि ने राजनगर के रामीप ऊमापुर नामक नगर में 'आमाण शतकम्' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें अनेक कहावतें ऐसी हैं जो राजस्थानी लोकवित्तियों का अनुवाद-भी जा पड़ती हैं। तुलना के लिए यहाँ कुछ ओम्मेक्तिमा उद्धृत की जा रही हैं—

(१) गता तिरियंथा पूर्व ब्राह्मणेन न वाच्यते।

तथा पुराकृत पाप धर्मिभित्तिमन्यते ॥२१॥

अर्थात् गई तिथि जैसे ब्राह्मण नहीं वाचता, उसी प्रकार पूर्वकृत पाप का धर्मात्मा अनुमोदन नहीं करते।

१ The L C M of Life has been expressed in every Country by Combination or words or pithy Sentences, which are called proverbs

(Prof Mukkhan Lal Roychoudhury, D Lit)

राजस्थानी कहावत

गड निरि तो वामग भो ज़ोनी वाचै ।

(२) स्वामीयाशुद्धधर्मन्य मिथ्यात्व वक्ति को जन ?

हुट्टाया को निजाम्बाया गाकिनीत्व प्रकाशयेन् ? ॥२७॥

अर्थात् कौन मनुष्य ऐसा है जो अपने जगुद्ध धर्म को मिथ्या बतलाता है ? अपनी हुट्ट माता को भी गाकिनी कौन कहना है ?

राजस्थानी कहावत

आपकी मा ने डाकण कुण बनावै ?

(३) बहुरक्षितबहुशिक्षितनीचजनो भजति नैव सम्मार्गम् ।

पुच्छमिष शुनो नालिकाघृतमपि सरल यथा न स्यात् ॥२८॥

अर्थात् नालिका में गन्नी हुई भी कुने जी पूछ जैसे मीठी नहीं होती, उसी प्रकार बहुरक्षित और बहुशिक्षित नीच मनुष्य सम्मार्ग का अनुगमन नहीं करता ।

राजस्थानी कहावत

कृत्ते की पूँछ १२ वर्ष नाली में गखी तो बी टेढी की टेटी ।

(४) यद्वचो धर्मनाशाय तद्वचो वक्ति क सुधी ?

यस्त्वर्ण कर्णनाशाय यथा तत्को निषेवते ? ॥४४॥

अर्थात् जिस वचन में धर्म का नाश होना हो उस कहने में कौनसी बुद्धिमानी है ? जिस सोने से कान का नाश होना हो, उसे कौन मंत्रन करेगा ?

राजस्थानी कहावत

बाल मोनूँ बान तोडै ।

(५) सयमेन विद्युवतस्य यद्वत्माधो क्रियाविधि ।

अधो ननस्य मर्त्यस्य मस्तदे मौलिव्रन्धनम् ॥५४॥

अर्थात् मयम-विहीन साधु की क्रियाविधि वैसी ही होती है जैसे कोई मनुष्य नीचे से नग्न हो और मस्तक पर मौलिव्रन्धन कर गन्ना हो ।

राजस्थानी कहावत

ऊपर तो लट्ठरूँ पण नीचे के पहरूँ ।

अर्थात् निर पर तो रंग-विरंगी पाग अथवा उहरिया घाग्ण कर रत्ता है पर नीचे क्या पहना है ?

(६) अगोपागादयो ग्रन्था द्वादशाग्या प्रतिष्ठिता ।

गवादीना यथा पादा हस्तिपादे महत्तरे ॥७३॥

अर्थात् अगागागादि ग्रन्थ द्वादशाग्या में प्रतिष्ठित हैं जैसे गाया आदि के पैर हाथी के पैर में समा जाते हैं ।



राजस्थानी कहावत

हाथी कै खोज मे सैका खोज समावै ।

(७) मधुरवचनेन युक्तं सव हितमेव वेत्ति न त्वहितम् ।

सकल धवल दुग्ध पश्यति बालस्तु नो तत्कम् ॥८८॥

अर्थात् जो भी मधुर वचन से युक्त है, उसे हित के रूप में ही ग्रहण करता है, अहित के रूप में नहीं । बालक, जो भी सफेद है, उसे दूध ही समझता है, छाछ नहीं ।

राजस्थानी कहावत

ऊ ताड़ छाय भी धोली, दूध भी धोली ।

अर्थात् उसके लिए छाछ भी सफेद है और दूध भी सफेद ।

(८) दातुर्दानं यथा स्वल्पमनल्पं न विचार्यते ।

धर्मधनोस्तथा दन्ता न विलोक्या हि धीधनं ॥८९॥

अर्थात् दाता के स्वल्प या अधिक दान पर विचार नहीं किया जाता । धर्म की गाय के दात नहीं देखे जाते ।

राजस्थानी कहावत

धर्मादे की गाय का दात कोनी देखा जाय ।

“आभाणशतकम्” के भी ऊई सौ वर्ष पहले कहावत-ग्रन्थों की रचना होने लगी थी । “ओहाणक स्तोत्र” की एक प्रति स० १४३० की लिखी मिलती है जिसमें से कुछ कहावतें यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

१ बलिकिय त सुन्न ज सुन्न तोडए कन्न ।

राजस्थानी रूप—बाल सोनू जो कान तीडे ।

२ चियकण घडए सामिय डलिकण पाणिय जाइ ।

राजस्थानी रूप—चीकणे घडे पर वून कोनी ठैरे ॥

३ पक्काण भडाण कि पहु कन्नाय लगति ।

राजस्थानी रूप—पाकै घडै के कानो कोनी लागै ।

४ जो मरेइ गुलेण चिय तत्स विस दिज्जए कीस ।

राजस्थानी रूप—जो गुड से मरे ऊ ने झैर क्यूँ देणो ?

५ नय मरइ न मचय देइ ।

राजस्थानी रूप—मरे न माचो छोडै ।

६ जइ नच्चाण पविट्ठा ता किं घुघट्टकरणेण ।

राजस्थानी रूप—नाचण हाली के बयाको घूमटो ?

७ हत्थटिठय ककणय को पुण जोएइ आरिसए ?

राजस्थानी रूप - हाथ जगण ने आरभी सू के काम ?

८ दुद्ध च दियइ छाली पुण भरिय मिगीणिय च ।

राजस्थानी रूप - वक्की दूद तो दे पण दे मीगणी करके ।

९ खीरी खड मिट्ठ परतोय केण पुण दिट्ठ ।

राजस्थानी रूप - जो नव मीठो, पग भव किण दीठो ?

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन विद्वानों ने लोक प्रचलित कहावतों को प्राकृत और संस्कृत के छन्दों में निबद्ध करने का नुतन प्रयास किया था ।

व्यावहारिक शिक्षा की दृष्टि में लोकोक्तिों में परिचय प्राप्त करना अत्यन्त उपादेय है ।¹

७

1 Acquaint thyself with proverbs for of them thou shalt learn instruction
(Ecclesiasticus 8, 8)



धर्मस्थानों का जैन लोक-साहित्य

महेन्द्र मनावत,

एस० ए०



धर्मस्थानों के लोक-साहित्य में सपना साहित्य, चौबीसियाँ, परवीगीत, साधु-माधवी सबधी गीत तथा बघावे, थोकडे, गर्भ चिताणियाँ तथा मृत्यु-पूर्व के गीत, तपस्या-गीत, चौरु, ढालें, तवन तथा भजन, कथाएँ, व्यावले, जान (वरात) श्रवण, कुडलीक, बालक-बालिकाओं के गीत तथा चौबीस तीर्थकरो, गणधरा एव सोलह सतियों सबधी साहित्य विशेष उल्लेखनीय है। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण विषयों पर यहाँ प्रकाश डाला जा रहा है—

सपना साहित्य—सपनों में विशेष रूप से तीर्थकरो सबधी गीत मिलते हैं। वैसे व्याह-शादियों में चाक-नूतने से लेकर शादी होने के दिन तक प्रतिदिन प्रातः काल ये सपने गाये जाते हैं परन्तु पर्युषण के दिनों में धर्मस्थानों में भी विशेष रूप से ये सपने गाये जाते हैं। इन सपनों के कई रूप एवं प्रकार मिलते हैं। इन सपनों में तीर्थकरो के विशेष-विशेष महत्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख रहता है और अतः में 'सामी सिध होयाजी' जैसा कड़ावा रहता है जिसमें उनके सिद्ध होने की बात व्यक्त होती है। कुछ सपनों तीर्थकरो की पूजा से सम्बन्धित होते हैं जिनमें सभी तीर्थकरो की पूजा के लिए विभिन्न पूजा-सामग्री का उल्लेख रहता है जैसे—श्रृपभदेव के लिए केमर, नेमिनाथ के लिए फूल, पार्श्वनाथ के लिए केवडा, महावीर स्वामी के लिए नारियल तथा शानिनाथ के लिए खारकें आदि। पूजा का थाल लेकर दूर-दूर से आई महिलायें दर्शन की लम्बी प्रतीक्षा-पश्चात् में खड़ी-खड़ी एक जाती हैं तो वे अपनी शिकायत भगवान तक पहुँचाने के लिए ललक पड़ती है—

सामी कदकी ऊबीने कदकी छडी रकबनाथ रे दरवाजे
सामी केसर घोटी-घोटी भयरि पियात्ता
तोईनी छोल्या दरवाजा रे ।
सामी पाव पूजन दोनी मुख देखण दोनी
म्हें दूरा स आयाजी ।

इन सपनों में तीर्थकरो के बाल्य-जीवन के भी कई सजीव चित्र मिलने हैं। उदाहरण के लिए नेमिनाथजी के सपने में उनका बालहठ विशेषरूप से छलक पड़ा है। सपनों के अंत में कई प्रकार के झूठे तथा चूदड़ गीत गाये जाते हैं जिनमें स्थान-स्थान पर भगवान का निवास बताया गया है। चूदड़ गीतों में तीर्थकरो की माताओं द्वारा चूदड़ें रगवाकर सावणीतीज जैसे त्यौहार मनाने की बात बड़ी भली लगनी है।

सपनों के अंत में सपने गाने का फल वैकुण्ठ की प्राप्ति तथा नहीं गाने वालियों को अजगर का अवतार होने का जिक्र रहता है, साथ ही गाने वाली को सुहाग चिह्न चूड़ा तथा चूदड़ एव जोड़ने वाली को पुत्ररत्न की प्राप्ति—जैसे भी संकेत मिलते हैं यथा—

जोरे रो सपनी जो गावे ज्या रो वं कुठ वासो जी ।
नहीं रे गावे नी सामे ज्यारो अजगर रो अवतारो जी ॥
म्हें रे गावा जी सामला जी म्हारो वं कुठ वासो जी ।
गावा बारी ने चूडा चूदड़ जोड़णवाली ने झोलण पुतो जी ॥

चौबीसों तथा पञ्चवीसों—परवी के दिन पार्विक खनन खासा (अनासा) के रूप में कई प्रकार की चौबीसिया गाई जाती हैं जिनमें एक दूसरे ने बारंबार अनासाचना की जाती है ।

पञ्चवीरा खनन खासा
जपजी पैसा रखनाय बंद मां
कई हुआ अनननाय देव
पञ्चवीरा खनन खासा ।

चौमसे की पवित्रों में उठता जाता पनाग छोड़कर प्याग खनन मार्ग दागुर की बलवनी भावनाओं की सुन्दर दमिध्रिणि मिलती है ।

मने लग रयो ममार जारो मुगन मे जावा हो
मने लग रयो मयम प्यागे मुगन में जावा हो ।

माधु-माध्वी सबछी गीन तथा बघावे — किन्ती गाव जयवा जहर ने माधु-माध्वियों के पधारने पर उनके स्वागत में कई प्रकार के स्वागत-गीत गाते जाते हैं जिनमें उस दिन की मोना तथा ग्लों वाला दिन बहक विशेष रूप एवं उत्साह प्रकट किया जाता है ।

जान मोना गे मूरज ऊगियो ।
आज मननां रो मूरज ऊगियो ।
ऊँचा मागमाग वैमागडी
नीचे पगगडा रो छोट ।
मुनर भगोनी रा बांजणा जी
जग्या गे छैय न पा
मारामा ओआज पित्तवाली मूरज ऊगियो ।

महागजध्वी के बह्मजसुर के पाल्यों पर भायों-जायों (धावक-धाविकाओं) की झार नीड बागदार बढना के लिए लुन-लुन दस्तरी है, इस समय लगना है जैसे चारे ही गाव में रत्नों की झिरझिर बरसान हुई है—

ककू रे पगल्ये मारासा पधारिया
केसर रे पाल्ये माराना पधारिया ।
ओरा गामा हींग मोनी निपजेजी
माणे गामा गतना री खान ।
थोडी भरज ओ घगी बिनती जी
मुल लुन लालू ली पांय ॥

माधु-माध्वियों के स्थानक में पधारने पर तो जैसे धावक-धाविकाओं के जन्म-जन्मान्तर के भाग्य जग गये हो और पूर्व जन्म के वन्दराय दूट गये हो, ऐसी ही कुछ अनोखी बात देखने में आती है और ऐसे अवसर पर ककु-केसर ने मोतियों का चौक प्रकाश जग तो क्या आश्चर्य ! यथावे के रूप में देखिये इस प्रसंग का चित्रना हुआ चित्र है—

मैया घणो ए बघावो
ककू-केसर घोट मोन्या चौक पुरां
ए धीरे-धीरे छाल हने लागणे जी ।
आजने दीयाहो जी नपाई मूरज ऊगियो





हरखे हिया मे जी उमावो म्हारा अग मे
करू म्हारा मारासारी सेवा
वरसण आऊ ली
गुण गाऊ आपरा
परमने वाध्याजी सामी जी अणी भवे उबर्या
आज दूटो अ तराय

थोकडा—लोक-गुण पर प्रचलित थोकडों का भी विवेचन महत्व है। ये थोकटे भी कई प्रकार के मिलते हैं जिनका अपना विवेचन 'टाइप' मिलता है। ये थोकडे प्रायः बड़े होते हैं जिनमें अनेकानेक कुकर्मों में छुटकारा पाकर सुखमों द्वारा सदगति पाने की भावना निहित रहती है। इन थोकडों के अंत में साक्षात्पक्ष में सारभूत भक्त मिलता है। साथ ही— 'यो थोकटो कोई सुणे, सामने, सामरता रो परायचित जावे। आगलो बोल पाछे बयो वे। पाछो बोल आगे बयो वे। काना मातर शुद्ध नी क्या वे। पाप दोष लागावे तो तस्स मच्छामि दुकड—' 'जैसी बात भी मिलती है। पाठकों की जानकारी के लिए यहां आत्मनिन्दा थोकडे का आदि और अंत भाग दिया जा रहा है।

आदिभाग—ये आत्मा, ये चेतना, कोई माझो वे। कोई पग्यो वे। रम गिर्दीपणा में खोटी-खोटी धर्मगी आणी वे तो दो घडी रे मर्म मे अमी चित्तावणा मत कर।

तेवारे कामराग मे। तेवारे सदे राग मे। तेवारे मन घन मे। तेवारे वचन मन मे। तेवारे काया सरण मे। तेवारे मत्या ध्रस्टी मे। तेवारे नील लेख्या। तेवारे कपोन लेख्या। तेवारे इरिगावगाई। तेवारे रसगारवाई। तेवारे मातागारवाई। आठकर्मा री एक सोने अडतालीम परकरति। अठेसण थानक थारा—जीव दोरा लागीर्या ने वापडा। सीलव्रत गाजो, भाग, तमानु, दाखरो, तजागे, अतरी हरी लीलोती रा होगन नेडने भागसी तो थाग जीवरी गरज कठासू मरसी रे वापडा।

ज्यू समुन्दर मे किनोरा उछरे छे। ज्यू थारी तिष्णारूपी किलोरा उछरे छे। अरे जीव यू करणी तो करे छे पर सूना मन मू करे। धरप मन सू करणी तो थारे लके लगाजी नीतर साही रूपे समान होमी। अतर जीवा ने वन कगीने आवो म्हारा पारस पुतर। आवो म्हारा चवदेरतन। आवो म्हारा नवलुध्यान। आवो म्हारा रमाण चतगाई। आवो म्हारा रसका घटका। आवो म्हारा अमरत रा कूपा। अतराजीवा ने वनकगीने सेठ वेङ्ग्या। सेनापति वेङ्ग्या। सामनी वेङ्ग्या। क्रोडम वेङ्ग्या। राजा वेङ्ग्या। मिस्त्री वेङ्ग्या। परधान वेङ्ग्या ने गमास्तो वेङ्ग्या। भिन भिन करीने पुदगल्या रो उपाव करी र्यो छे।

अन्तभाग—अने चेतन मातारी अग्या मे चाल। समगन मातारी अग्या मे चाल। मोख अछारा वीज ने बार। क्रोध, मान, माया, लोभरी चक्ररी ने पटरी पार। आकुल त्रिकलपणो थारे मटे नती। तग्मणा रूपी गा थाने वधे नती। अन्न आरे। पन्न आरे। अरस आरे। वरम आरे।। अन्न जीवा। पन्न जीवा। अरम जीवा। वरस जीवा। कण मचे जोग। यमावत ने वेरागवत। दमवती ने सरपवती। सातारे ठगाणे ने अमाता रे ठगाणे नती। पाचमी गति पावमी नती। कचण तो प्राप्ति करे ने पत्यर ने दूर करे। कचण तो कबु न मिलमी ने पत्यर यागी छाती पटसी। या सम या समाई तो घारी नही छे रे नही छे। या समाई तो वारी छे रे वारी छे। आनदजी, कामजी, भंखजी, पोकरजी, चदगुपतराजा, मुमनगेह, पुन्गानामा थावक या समाई तो वारी छे रे वारी छे। थानी समाई तो या छे रे या छे। रोदर क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, देस जगजगाग्मान होई र्या छे। थारी समाई तो या छे ने या छे। नतनतनती सू। नती सू के घंटा सू। घटा मू के पटा सू। पटा मू के भविमू। भवि मू के अभावसू। अभाव सू के दुर्भविमू। ग्यान तो ग्यानी मागज। मराने तो ते ते। दरीग डोटा। नदी रा हारा। सातारे ठगाणे। असातारे ठगाणे नही।

गर्भचिन्ताणिया और मृत्यु-पूर्व के गीत—हमारे यहां मरणासन व्यक्ति को मुनाये जाने वाले मृत्यु-पूर्व के

मीनों का भी विरोध नहूँ नहूँ है। इस प्रमा मे कई प्रकार के गीन मिलने हैं जिनमें भगे पूरे मनार को छोड़ नानी प्राय जाने के कई रूप देखने का मिलने हैं। मीनों मे इस समार मे मोह त्याग कर जिनदेव की स्तुति कर मद्गति गति को भवना भाई जानी है। पानी जीवन को बुनी तह लखेडा जाता है। कुकर्म जीवन को धिक्का जाना है। आत्मनिदा औ आत्ममर्त्यना के खुले पृष्ठों पर अवतक के जीवन को उना जाना है औ धन मे वैगमी जीवन की दगा पर आमुषो की गाग-यमुना बहाई जानी है। एक नमूना देखिये—

काचमुना मेला ऊपर सूनी छुटी ताणग
नाम्या मे थारे कोई न समझे आण गेवयो कठरे
महारा पयोडा मत पड पिजड सेंसार मार्यो जाय।
धनो करीने धन जोड्यो ताखा ऊपर जोड रा
मरती बेरा माननी थारा लिया कडोंग लोड ग
महारा पयोडा, मन पड पिजरे सेंसार मार्यो जाय।
ओरो बन्सर घरे लाया थाणे लियो ओडापरे
पूटी हाडी लारा लोदी उठ बल्या लीलधार रे
महारा पयोडा, मत पड पिजड सेंसार मार्यो जाय।
मान थारी मवाई झूरे वेन बारतेबार रे
घर को तिरिया नैन झूरे थने कईनी राखपहार रे
महारा पयोडा, मत पड पिजड सेंसार मार्यो जाय।

गर्भ चिनाणिया नी इसी प्रमा पर मुनाई जानी हैं जिनके छोटे व बड़े गानो रूप मिलने हैं। वैसे गर्भवती औगन्ना का भी ये गर्भ चिनाणिया मुनाई जानी हैं। धर्म मथ्यानों मे इनके पाठ महिला-ममुदाय तथा पुण्यवर्षा द्वारा कभी भी सुने जा सकते हैं। वेदक ने छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की गर्भ चिनाणिया नोट की है। यहा बड़ी गर्भचिनागी के कुछ स्थल दिने जा रहे हैं।

- (अ) नन्मानी ने मिहयाने मजोग। भोग त्या मसारा ग भोग। प्रभवती ओनानी वा गेती। भन्त जो भाकर पेट जो माय। नीचाणे मन्मक उचा जो पाय। लानी ममाण घोडा ग्यारे अपार। नेत्रकने दोई मुखिया। जट्टी थू उपन्यारे घर के मूजा। रुदय मुद राखी दत आण। थू चेते उ चेते मानवी।
- (ब) उठद जगा थू उपन्यो रे जीव। वाजेरी दीदी नम्मा मन्नेरी नीम। चामेवडी मू चेंटी र्यो। माताने बुदियाने वेदाने मूक। जिन दिन मे घगा भोगवती दुड। मूम प्राचागा इम केवे। मन खड पेन्नी ममाड गी लोन। मूई नमागी माडे तीन मे फोट। अण वरणलुई जाफरी। चापे दियोरे थाने मगो भरीग। माख गया भावन भावीरा। थू चेते उ चेते मानवी।
- (ग) गमगी तो गच्छी बेडरे ममाण। डेटाववुने मोइ परिवार। अन्त्यवयो जाणे अवमरा। क्या नु लोपे तोत नगीजग। हुकम थाण परचा लावनो। दाणीनो थारे ऊनी वेकर जोड। एके बुलावेने दम आवे दोट। परवलाजो पल परनाद म। मेगा ग टावाने खतारी मज। लाग रही थारे जगमग जोन। थू चेते उ चेते मानवी।
- (द) काग भमर थान होनाजी केम। जिन दिन खरतो नवा नवा, वेम। सैलमपाटा करनो घगो। चालत। नखनो थापणी पाण। तीजे तमानेने देखनो बाण। मानपिना ननी पृच्छनो। देनो रे ताण मगोडनो पृछ। चावे तो बिडिया ने मूछे तो फूठ। घरम बना थारे कई होमो। थू चेते उचेत मानवी।





(य) रतना रा प्यालाने सोनारी थाल । मूग मिठाई ने चावल दार । भोजन मली मली भातरा । गगाजल पाणी दोदो छे ठार । वन्नु मगावोने तुरत तियार । कमी ए नही कणी वानगे । वडा बडा होता रे राणा ने राव । सेठ मेनापतिने उमराव । खातर मे नही राखता । जी नर भोगन्ता शक भरपूर । देकता देकता होइ गया धूर । देकोरे गत ससार की । थू चेते उचेते मानवी ।

(र) परनारी सू लगावतो प्रीत । छोटा रे कर दिया सु सेरा नीत । परणीयो दायनु आवमी । माटी तो थारी रेती रे द्रस्ट । काचे लपेटे थू होइ गयो भ्रस्ट । देकोरे गत मँसार की । परवारी जाव थारे पचामें साक । दडत फडत काटे ती नाक । लोका माई फटफट करे । अभी कणी थने दीदी रे सीक । अब भव माय थू मागसी भीक । थू चेते उचेते मानवी ।

इम अवसर पर सथारे भी मुनाये जाते है जिनका विषय भी परम कल्याण प्राप्ति का ही रहता है—

सथारो प्यारो घणो
रतन चिंतामणि हेम हो भविष्य
पचमी गति पोचाये ।
सथारो प्यारो घणो ॥
आरपाणी आदरे नहीं
सब जीवारा छे खमाय हो भविष्य
पचमी गति पोचाय ।
करोनी सुघ आलोचना
लगावो मूगत्या सु ध्यान
ऐसी सदा ओ मुझमें धीरता हो भविष्य
होवे तरत कल्याण ।
सथारो प्यारो घणो ॥

चोक, ढाल, तवन तथा भजन

ढाल, तवन, भजन आदि की तरह एक प्रकार 'चोठ' का भी है । इन चोठो मे कर्म-जजाल, विषय-वासना, मोह-माया आदि से जीव को परे रखकर इन मजके ऊपर कमलवन् रत्न की सारभूत शिक्षाए मिलती हैं । उदाहरणार्थ कुछ नमूने दृष्टव्य है—

(अ) करम नचावे जू ही नाचे । ऊची होवण ने सब कस्ता । नीची होवणने कोइयन राजी । नन्द्या विरता क्यू करता । चवदे पूरव चार ग्यान का करमा से छूटा जो नहीं । ऊचा चढके पडे कीच मे ग्यानी वचन झूठा जो नहीं । सोयचाक मोटो मद पीस ओगण पारका थू क्यू गिच । थारा ओगण थने नहीं दीस । अनेक ओगण है मारे रे आतमा । ग्यानी वचन पकडे रस्ता ।

(ब) पन प्रकार का काम भोग है मेवे सेवाये सब कस्ता । शवद, वरण, गद, रम, फरश है जेर खाये के क्यू मरता । आगिर यू डीकता लोगा की करत आतमा भर करता । कीने सरावे कीने विसरावे हरक-हरक आनद घरता । आमवश ववुर खावे आमरस मुख किम पडना । रोग शोक करो दारिदर दुखमे दुम पैदा कस्ता । थागी मारी करता दिण जावे । आयारे सामा भाटा भिडावे । सुख मे दुख थू वेर गलावे । ज्यू दीयर मे पडे पतग्या चेतन दुरगत क्यू पडता ।

(स) होत का थू क्या सारे । अणोत क्या विसराता है । पुनपाप तो बाध्या जीवन जैसा ही फल पाता

है। किने माया दीदी जोगवने कोई रखवागे करता। जम अपजमदो वाध्या जीवने जैमा ही कारज माना। पाप अउरे मेधा जीवने इणमे गवही फमता है। म्वादवाद, रम, काम, भोग मे कूत्रा पुता का करना है। आर, थो और तुमानो मोगी पाप कर कटवा लगता।

तदनों और गजनों के ता मँचटो प्रकार मिलने हे। तदनों मे मत्तियो तथा तीर्थकरगे के अलावा रतनजी, जवूजी, गणवगे तथा गम-जीवन मन्वही तवन विशेष शोकप्रिय है। व्यावलो मे नेमजी (नेमीनायजी) का व्यावला विशेष प्रचलित है।

टारो मे भू, गन्, मेधकुमार, पवन कुमार, आवण, विजया नेठ तथा जवूजी की टारो उल्लेखनीय है। इन टारो मे छुटपुट जीवन की उर्द मुन्दर सावियाँ मिलनी हैं। ये गद्य और पद्य दोनों रूपों मे मिलनी हैं। गंदराजा की टार मे कवर और कवरी या वानार्याप बटा मामिक बन पडा है—

कवर—कायेगे थारे वेवडो ओजी कायेरी थारे नेज।

कायेरी थारे कृमरी एकवरी कई तो थारा मोलजी ॥

कवरी—जन मोडर ने वेवडो ओजी गेदामरी मारे नेज।

कमल फूलारी मारे कृमरी ओ कवरा लारे गीपारी मोल जी ॥

कवर—गारा रो थारे वेवडो ओजी सणकी थारे नेज।

गात्र पुयेरी थारे कृमरी एकवरी कोटी रो थारो मोल ॥

कवरी—बगर चितराया किने बोलिया ओजी बोलिया इ डेड बमार।

अतरनीना वाता कई करो ए कवरा घरे कमीक है नार ॥

कवर—थारा सरीकी मारे अत प्रणी ओजी छाणारी ठणीयार।

अन गलेने पाणी पीवे ए कवरी के नी मनरी बात ॥

कवरी—थाणा सरीका मारे अन घणा ओजी घोटा रा चरवादार।

अन लावेने पाणी पीवे ओ कवरा कोनी मनरी वान ॥

कथा-कहानियाँ—धर्म स्थानों में व्याप्त धार्मिक कथा-कहानियों की मात्रा सर्वाधिक है। इन कहानियों की आत्मा धार्मिकता के ताने बाने में गुंथी हुई होती है। ये कहानियाँ प्रायः सुखान्त होती हैं। अधिकतर कहानियों की समाप्ति सयममार्ग प्राप्ति करने—दीक्षा लेने में होती है। कहानियों में छोटी में छोटी तथा बड़ी में बड़ी कहानियाँ मिलेंगी जो गद्य, पद्य अथवा दोनों रूपों में मुनने का मिलनी हैं। जेखक ने ऐसी कई कहानियाँ नोट की हैं जिनमें से बहुत सारी प्रकाशित भी ऊँचाई है।

मोरठ की कहानी में मोरठ के पीछे-पीछे बीज्या भागना हुआ लपकना चाहता है कि इतने में साध्वियों का ठिकाना आ जाता है। मोग ने मोरठ वहा रुक जानी है और उसका सकट बच जाना है। साध्वियों ने वह दीक्षा लेने की भावना मानी है। साध्वियाँ दीक्षा की आज्ञा देने वाले का नाम पना पूछती हैं इस पर मोरठ कहती है— 'आज्ञा देने वाले भी आर हैं। मारने वाले भी आर हैं और तारने जाने भी आर है। साध्वियाँ उने दीक्षा दे देती हैं और बीज्या मुँह गटकाता रह जाना है।

यहा इमी प्रकार जी एक कथा देकर इन प्रकरण को समाप्त किया जाता है—

एक डोकरी ही जडे एक बेटो हो। छोटापणा मे इ डोकरी बटाने पगणई दीदो। पगणीने बेटो देमावर परो गयो। बेटागी बड मला घणागी ही। ना पणदो गावा पेरणी ने काम बतों करती, भ्यान-ध्यान करती। एकदन पाडो-





सण्या बोली—‘चालो लाडो बागा मे चाला ।’ वा बोली—‘नी आऊ ।’ अतराक मे बडी मामु बोली—‘लाटी जावो भलाई, मारे आडीऊ मनाई नी ।’ लाटी फाटागावा बोन्यानी ने बागमे गो । बागमे सब मखिया तो हिले, मिले, नाचे, कूदेने गीत गावे पण या एक जगा छानी मानी वेठी वेठी बणारा खेल्न तमस्या देवे । बारा बरस बतीतच्या ने बडो पति आयो । घरे देखे तो बड मलीनी । वणी होच्यो के कटे गरीता नेगी । माने पूछ्यो । मा बोली बाग मे गी है वेटा । यातोनी जावा लागी । पण मे गज बयो तोई फाटा गावा पेरीनगी । वेटो दोड्यो-दोड्यो बाग मे ग्यां देखे ता सब लुगाया तो हसी-सुनो मनाई री ने या एकूनी वेठी ।

जडी वो बोल्पो—लाबी गोरी पातरने गज गज लावा केश ।
सब सलिया सुहावणी रे थारे थू मेला वेश ।

वा बोली—आडा पञ्चत अति घणारे जापो वणी देश ।
पीऊतो परवेश वसे रे जणी सु मेला वेश ॥

वो बोल्पो—लाय रागावो हू गरिया ने फाटो वो वणी देश ।
पीऊतो हूजा करो ने नत नवा करो शृंगार ॥

वा बोली—अमर तारा आकाश में ने धरती धान न हाय ।
पाणी मे दीयलो जले जब पीऊ हूजा हीय ॥

अतरा केडने वो परोग्यो । पाछाऊ सब मखिया रे हाडे वा भी गी । जाइने देखे तो बोड अडो घणी है । वा पगा मे पडी । वो बोल्पो के मे तो यागी परीक्षा ली दी ही थू वणी मे खरी उतरी । आग्रकार वणी घणी तो हूजी थावी की दी है ने बऊ दवया लीने आपणी आत्मारो कल्याण कां दां ।

धर्मरथानो के माहित्य के बारे मे जितना जो कुछ कहा जाय उतना ही कम है । यह माहित्य इतना महान और मेधावी है कि किसी भी धर्ममाहित्य के समक्ष इसे ‘ए-वन’ की कोटि में रखा जा सकता है ।

राजस्थानी चित्रकला में लोकतत्त्व

डा० जयसिंह नीरज
राजपूत छात्रावास, अलवर



भारतीय चित्रकला की विभिन्न शैलियों में राजस्थानी चित्रकला का महत्वपूर्ण स्थान है। निंदे यहो है कि आज तक विन्माग में इस चित्रकला के मविधान, वर्गीकरण एव विभिन्न पहलुओं पर शोध-पूर्ण कार्य नहीं हुआ। राजस्थानी चित्रकला का उद्भव एव उत्कर्ष राजस्थान के प्रान्त में हुआ तथा यह अन्य भारतीय शैलियों में प्रभावित होनी हुई स्वतंत्र रूप में राजस्थान के वीर प्रदेश में पांषिण एव पल्लवित हुई। इसके विकास एवं सवर्धन में राजस्थान का प्राचीन इतिहास और भौगोलिक रचना का प्रमुख हाथ रहा है। वीर राजपूतों की वीरभूमि के कृण-कृण में उनके शौर्य की गाथाएँ, लोक-कथाएँ, सम्यता और मस्कृति के पद-चिह्न दाय्य, चित्रकला, स्थापत्य आदि के रूप में यत्र-तत्र विचरी पड़ी है। वास्तविकता तो यह रही है कि अपने प्राकृतिक निर्माण और मोहक वातावरण के कारण काव्य एव कला की उद्भावना के लिए राजस्थानी घरती अत्यधिक उपयुक्त रही है।

विशुद्ध राजस्थानी शैली का प्रारम्भ १५ वीं शती के उत्तरार्ध से १६ वीं शती के पूर्वार्ध के बीच १५०० ई० के लगभग माना जाता है। तब से लेकर १६ वीं शती के उत्तरार्ध तक राजस्थानी चित्रकला अनेक शैलियों में परिप्लवित होती रही है। इसका विकास एवं निमाण दूसरी अधिकांश शैलियों की भांति न तो एक स्थान में हुआ है और न ही कुछेक कलाकारों द्वारा। राजस्थान के जितने भी प्रमुख प्राचीन नगर, राजधानियाँ तथा धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठान हैं, वहाँ चित्रकला पनपी और प्रतिष्ठित हुई है। अर्म-प्रिय रियासतों के कला-प्रेमी राजाओं, सामंतों और जागीरदारों तथा सामान्य जन-जीवन का राजस्थानी चित्रकला के विकास एवं सवर्धन में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

धार्मिक प्रतिष्ठानों के अनिरिक्त कवियों, चित्रकारों, मगीतजों, गिल्पाचार्यों के दरबारी जमघट के कारण राजस्थानी चित्रकला की अजन्म द्वारा अनेक रियासती शैलियों को परिप्लवित करती हुई १७ वीं-१८ वीं शती में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची, जिसमें इसका समन्वित स्वरूप सामन आया। अधिकांश रियासतों के चित्रकारों ने जिन-जिन तौर तरीकों में चित्र बनाये, स्थानानुसार अपनी मौलिकता, भौगोलिक तथा सामाजिक लोक कलात्मक विशेषताओं के कारण वहाँ की चित्रशैली कहलाई। राजस्थानी चित्रकला इस प्रकार अनेक शैलियों का समन्वित स्वरूप है जिसमें मेवाड़, किशनगढ़, बूंदी, जयपुर, बीकानेर, मारवाड़, कोटा, अलवर आदि शैलियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

राजस्थानी चित्रकला के प्रमुखतया दो स्वरूप मिलते हैं—एक लोककलात्मक, और दूसरा दरबारी। प्रथम स्वरूप अधिकतर घम-पीठों एव जनमज्ज में अधिक पल्लवित हुआ है और दूसरा सामंतों परिरवेग में। निश्चय ही उपर्युक्त दोनों स्वरूप अबाध गति में प्रवाहित होते रहे हैं। प्रागम्भिक राजस्थानी चित्रकला लोककलात्मक अधिक है। मही बात तो यह है कि लोक-जीवन तो राजस्थानी कलाओं के कृण-कृण में समाहित है। भित्ति-चित्रण की परम्परा में विकसित राजस्थानी चित्रकला को लोकजीवन में विशेष मान्निध्य रहा है। भित्ति-चित्रण में लोक-जीवन का पुट अधिक रहता है। लोक कथाएँ, धार्मिक भावनाएँ, भगवान की चमत्कारी लीलाएँ तथा महापुरुषों की गाथाएँ राजस्थान में भित्ति-चित्रों पर प्राचीन समय में ही चित्रित की जानी रहीं हैं और यह परम्परा (अपने रुढ रूप में ही नहीं) आज भी प्रचलित है। राजस्थान के प्रमुख भित्ति-चित्रों में कृष्ण की विभिन्न चमत्कारी लीलाएँ व टोला मारु की कथा, पावूजी की कथा तथा

अन्य लोक-जीवन सम्बन्धी कथाओं का समावेश विशेष रूप से मिलता है। कोटा के राममठ, वूदी के छत्राल मठ, आम्बेर और जयपुर की अनेक छतरियाँ तथा शेखावाटी की विभिन्न अट्टालिकाओं या चित्रण लोक-जीवन एवं लोक-तत्वों के अधिक समीप है।

राजस्थानी चित्रकला का विकास ही प्रमुख रूप से अभिन्न शैली की दाय है, अतः अपनी पूर्ववर्ती शैली की रुढ़ता, भेदसपन, रेखाओं की मुटाई आदि लोकतत्त्व प्रारम्भिक राजस्थानी शैली में विशेष देगने को मिलते हैं। अत्यधिक नफासत पच्चीकारी और मीनाकारी तथा रेखाकन की वारीकी सामंती प्रभाव के कारण ही राजस्थानी चित्रकला में आयी है। प्रारम्भिक मेवाड़ शैली के चित्रों में इस प्रकार का भेदसपन विशेषतया द्रष्टव्य है। 'चारपचाशिका', 'दुर्गा सप्तशती' तथा 'गीत-गोविन्द' पर आधारित चित्र उपर्युक्त लोकतत्त्व के प्रमुख उदाहरण हैं। यह धारा १७ वीं और १८ वीं शती में भी सामंती चित्रण के साथ-साथ प्रवाहित होती रही है।

राजस्थानी चित्रकला में लोकतत्त्व को सर्वाधिक कृष्ण चरित्र ने उभारा है। कृष्ण का चरित्र अपने आप में लोक-जीवन का साक्षात् प्रतीक है। स्वच्छन्द वातावरण में कृष्ण का गौँवें चराना, जंगल में अनेक प्रकार के पेन रचना, पूतना से लेकर कस तक का उद्धार करना तथा गोवर्धनधारण, काली दमन, दान-लीला, मान-लीला आदि का चित्राकन विषय की दृष्टि से तो लोकजीवन से सबद्ध है ही, साथ ही चित्राकन की शैलीगत विशेषताओं के कारण भी लोकतत्त्व के अधिक समीप है। ऐसे चित्र प्रमुखतया धर्म-पीठों में तो बने ही हैं, साथ ही विभिन्न दरबारों की धार्मिक भावना के कारण भी विपुल रूप से अंकित किये गये हैं। हा १८ वीं शती के चित्रों की लोककलात्मकता में गामती परिवेश का प्रभाव अवश्य आ गया है। मेवाड़ शैली, वूदी शैली, मारवाड़ शैली के ऐसे चित्र विभिन्न संग्रहालयों में विशेष द्रष्टव्य हैं। जिनमें विषय और शैली की दृष्टि से लोककलात्मकता है।

चित्रकला के माध्यम से कृष्ण चरित्र को सर्वाधिक प्रसार दिया है मेवाड़ की उपशैली नाथद्वारा-शैली ने। नाथद्वारा में श्रीनाथजी के स्वरूप के स्थापित होने के साथ ही गुसाईयों के साथ अनेक चित्रकार भी ब्रज-क्षेत्र में अपनी जीविका उपार्जन हेतु आ बसे और श्रीनाथजी के स्वरूप एवं अन्य लीलाओं का चित्राकन करने लगे। स्थानीय जागड़ ब्राह्मण भी श्रीनाथजी के चित्राकन में जुट गये और इस प्रकार ब्रज के प्रभाव तथा मेवाड़ शैली के योग से १८ वीं शती के अन्त में नाथद्वारा शैली जोर-शोर से अपना विस्तार पाने लगी। ये चित्रकार अधिकतर कपड़े पर चित्राकन करते थे जो श्रीनाथजी की पिछवाइयों के रूप में प्रचलित हुआ। इन पिछवाइयों का अकन ठेठ लोक-कलात्मक शैली में हुआ है। माता यशोदा के चित्रण की प्रमुखता के कारण स्त्रियों की आकृति में प्रौढ़ता, शारीरिक स्थूलता और भावों में वास्तव्य की झलक विशेष दर्शनीय है। पुरुषों में गुसाईयों के पुष्ट कलेवर बाल-गोपालों की ग्रामीण आकृतियाँ तथा गाय, बछड़े, बूँ, निकुंज आदि का अकन सरस एवं सौम्य बन पड़ा है। इन चित्रों में लोक-जीवन की पूर्ण छाप है, इसलिये ये चित्र लोककला के सच्चे प्रतीक हैं।

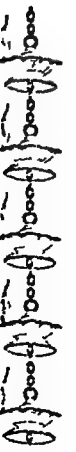
राजस्थानी चित्रकला की सबसे बड़ी विशेषता है काव्याकन। काव्य को आधार बनाकर चित्र अंकित करने की यहाँ परम्परा रही है। लोककथाओं पर आधारित चित्र तो लोककला के धारक हैं ही पर उच्चकोटि के साहित्य पर आधारित चित्र भी लोकतत्त्वों से प्रभावित हैं। प्रारम्भिक चित्र अपनी शैली-गत विशेषताओं के कारण लोक-कला से सबद्ध हैं। भक्तिकालीन साहित्य जैसे सूरमागर, परमानन्दसागर तथा अन्य फुटकर भक्ति पदों पर आधारित चित्रों में भी भक्तिकालीन लोकजीवन का यथेष्ट पुट द्रष्टव्य है। दूसरी ओर रीतिकालीन अर्थात् रसिक प्रिया, विहारी सतसई, रसराज आदि काव्यों को आधार बना कर जो चित्र मेवाड़, वूदी जयपुर, बीकानेर आदि शैलियों में निर्मित हुये हैं, उनमें रीतिकालीन मीनाकारी पच्चीकारी और वारीक अलकरण का विशेष प्रभाव है। ऐसे चित्रों में सामंती परिवेश की पूर्ण छाप देखने को मिलती है।

राजस्थानी चित्रकला में जो चित्र लोक-कलात्मक शैली में अंकित किये गये हैं उनमें रंगों का प्रयोग भी लोककलानुकूल ही है। मिट्टी और पत्थर से बनाये गये ऐसे रंगों का प्रभाव सहज मौलिक है। ऐसे चित्रों में रंगों का तालमेल अधिक नहीं हुआ है और वे अपनी सूचक अवस्था में ही प्रयुक्त किये गये हैं। सूचक अवस्था का सबन्ध प्राचीनतम

ग्यों में है। ऐसे लोकन्यात्मक गंग प्राण्य ऐतिहासिक सार की गुत्ताशा में निरुद्धक अवस्था थीं, जैन-गौरी, गुजरात
 जैनी और फिर गजस्थानी जैनी में विशेषतया प्रयुक्त हुये हैं। आगे चलकर रांगों की पर सूचक अवस्था दृष्टने उगी थी-
 ग्यों का मध्यम्य 'टोन' से आवद्ध होकर 'हाइमनी' की ओर अग्रसर हुआ। इस प्रकार राजस्थानी जैनी के लोकन्यात्मक
 गंग नामनी पवित्र की चमक-दमक में अपनी महान सूचक अवस्था जोर-एक इमने में पुन मिल गये। राजस्थानी
 चित्रकला के लोकन्यात्मक चित्रों में रंगयोजना भी अत्यधिक महत्व है। लाल, पीले, नीले, हरे, काले रांगों का व्यापक
 उपयोग महज प्रयोग भित्ति-चित्रण की परम्परा का परिचायक है।

संक्षेप में राजस्थानी चित्रकला के अधिकांश चित्र विषय जैनी एवं रंगयोजना की दृष्टि में लोकन्यात्मक में
 अत्यधिक प्रभावित हैं। आन्तर्वर्ष के ही नहीं मना भर के अनेक महात्म्य पोर्थाचित्रों, लघु-चित्रों, पिछवाटों तथा
 स्मिटरों पटों के रूप में इन चित्रों में सुशोभित है। वेद यही है कि अपनी अमूर्त धर्मग्रंथ तथा साम्प्रदायिक गम्भीरता के
 प्रति हम और हमारी मर्यादा तकनीक भी जागरूक नहीं हैं।

०



राजस्थान का किसान गाता है !

डा० मनोहर शर्मा

सेठ आर० एम० रूइया काले
रामगढ़ (दोगावाटी) राजस्थान



राजस्थानी लोकगीतों में कृषि का वा मधुन जीरा गाया गया है। येनी मधुनकी गोर्द भी राम नहीं है जिमके साथ अनेक गीत जुड़े हुए नही। जमीन को माक करने मे लेकर आना को घर पहुचाने तक के सभी प्रयोग गीतों से गुजायमान हैं। ये गीत श्रम को मरम उतान मे आगाधायण योग देते है। किसान का मन गीत की राग में इतना रम जाता है कि वह अपने तन मे किसी भी प्रकार के श्रम मे यत्न अनुभव नही मग्ता और वृषनया कर्मों जीवन वा आनन्द प्राप्त करता रहता है।

पेती के गीतों की रगधारा जठानमन के नाथ प्रवाहित गती है। मोगे के देश राजस्थान मे यहाँ—मगन के समान मुग्ध समय और क्या हो सकता है ? हम मगन जठ प्राणित और जेनन कीर सभी उन्मुक्त-विमिन हो उठते है। किसानों के लिए तो यह अमर जीवनधार ही है। ऐसे अमर पर उनके हृदय की राग अपने आप गूँज उठती है—

सुरगी रत आई म्हारे देस,
भलेरी रत आई म्हारे देस,
मोटो-मोटो छाट्या ओमर्यो, ए बदली,
तो छाट-घडे के मान, मेवा-मिसरी
सुरगी रत आई म्हारे देस, भलेरी० ॥
मुन्याणो भोज्याणो सँ मर्या, ए बदली,
तो धोल-पालियो ठेलम-ठेल, मेवा मिसरी,
सुरगी रत आई म्हारे देस, भलेरी० ॥
यो कृण बोये बाजरो, ए बदली,
तो यो कृण बोये हरिया मोठ मेवा मिसरी,
सुरगी रत आई म्हारे देस, भलेरी० ।
ईसरराम बावे बाजरो। ए बदली,
तो फान्हीराम बावे हरिया मोठ, मेवा मिसरी
सुरगी रत आई म्हारे देस, भलेरी० ॥

“हमारे देस मे सुरगीरतु आई है हमारे देस मे वडी भली रतु आई है। अरी बदली, तू काफी मोटो बूदो मे वरस पडी है एक एक बूद एक घडे के समान है। हमारे देस मे मेवा और मिश्री के समान सुरगी रतु आई है।”

“मुन्याणो” और भोज्याणो नामक कच्चे जोहड़ पूरे भर गये हैं। “धोलपालियो” नामक पक्का तालाव ऊपर तक लबालब हो गया है। बदली, हमारे देस में मेवा और मिश्री के समान सुरगी रतु आई है। हमारे देस मे वडी भली रतु आई है।

“बानरा कौन बो रहा है ? हरे मोठ कौन बा रहा है ? हे बदली, हमारे देश में मेवा और मिथी के समान ऋतु आई है, हमारे देश में बड़ी भली ऋतु आई है ।

“ईमरगम बाजग बो रहा है और कान्हीराम हरे मोठ बो रहा है । हे बादली, हमारे देश में मेवा और मिथी के समान नुरगी ऋतु आई है, हमारे देश में बड़ी भली ऋतु आई है ।”

उन्द्र देश के मिलन-महोत्सव में पृथ्वी अपना श्रु गार मजानी है । सर्वत्र योभा एव मुख का वातावरण प्रकट होता है । खेतों में हल चलने लगते हैं । राजस्थान का किसान बोता हुआ भी गाता है । गाये बिना तो उसमें रहा ही नहीं जाना है । जब प्रकृति में सर्वत्र आनन्द है । तो वह उसमें अप्रभावित कैसे रह सकता है ? जुलाई के समय का ‘तेजा’ गीत सुप्रसिद्ध है । यह गीत काफी लम्बा है और इसमें यो भक्त तेजाजी की जीवन गाथा गाई जाती है, जो एक लोहदेवता के रूप में पूजित है । गीत काफी ऊँचे स्वर में गाया जाता है । जब किसान इसे गाता है तो मानो सम्पूर्ण वातावरण भी उसके साथ गाने लगता है । तेजागीत राजस्थानी हलवाहों का स्वस्मिवाचन है । यह उनके जीवन का गीत है ।

गीत के प्राग्भिन्न बोल इस प्रकार हैं ।

भरियोजी भरियो मेवालिया जोम, म्हारा लाडेसर रे,
नरियोजी नरियो मेवालिया मे जोम रे,
कोई बोलण भी लाग्या रे, पपैया बेटा डूगरा ।
चालंजी चालं मेवालिया री वाल रे म्हारा लाडेसर रे ।
कोई खरसो तो उतर्यो रे, चौमासो बेटा लागियो ।
सू ज्योजी सू ज्यो घर घर हलसाज रे, म्हारा लाडेसर रे,
कोई अलिये तो अलिये का रे, सेती भी मे लागियो ।

‘हे मेरे लाटने बेटे, बादलों में पूरा वेग भर गया है और पहाड़ों में पपीहे पक्षी बोलने लगे हैं ।’

‘हे मेरे लाटले बेटे, बादलों की ठडी हवा चलने लगी है, अब गर्मी की तपन मिट गई है और चौमासा लग गया है ।’

‘हे मेरे लाडले बेटे, अब घर घर में हल का भाज तैयार किया जा रहा है और पाम पडोम के सभी लोग खेती के काम में जुट पड़े हैं ।’

खेत की बुवाई के बाद निराण अथवा निराई होती है । जब अनाज के पौधे कुछ बड़े हो जाने हैं तो अनाज-वश्यक और स्वयंरुह धान से उनकी रक्षा करना जरूरी है अन्यथा अनाज बह नहीं पाना और उसकी शक्ति समाप्त हो जानी है । इस कार्य में शीघ्रता की आवश्यकता होती है । अतः ममवेत-श्रम द्वारा इसे जल्दी ही पूरा करने की चेष्टा की जानी है धामपाम के मव किसान उस खेत में डकड़े हो जाते हैं, जिसकी निराई स्वयं किसान—परिवार पूरी नहीं कर पाता है । वे मव सामूहिक रूप में उसकी निराई कर डालते हैं । यह श्रम-महयोग देखने लायक होता है । ऐसे अवसर पर खेत के मालिक को मव साथियों के लिए अपनी ओर से मीठे भोजन का प्रवन्व करना पड़ता है । इसे लोक भाषा में “ल्हाम” कहा जाता है । “ल्हाम” के अवसर पर आये हुये श्रमवीर बड़े उत्साह और स्फूर्ति से काम करते हैं । वे काम करते समय गाते भी हैं । यह सामूहिकश्रमगान बड़ा प्रिय लगता है । इस समय विविध विषयों के प्रचलित दोहे ऊँचे स्वर में गाये जाते हैं इन्हें ‘सिन्वूडा’ कहते हैं और इनके मूल में प्रेरणा का भाव है कुछ चुने हुये दोहे द्रष्टव्य हैं—





घर जाता, ध्रम पलटता, जिया पडतां ताव ।
 तीन दिहाडा मरण रा दहा रफ कहा राव ॥ हो
 पाव फुल क परसराम भरजन फुल क भोंव ।
 तंरा परवाडा कुप गिण्या, धन घाघल का भोंव ॥ हो
 फालं मू हा की गावडी, पाया सूना खेत ।
 आसी फौज हमीर की, लेती खाल ममेत ॥ हो
 तिघ गमन सापुरत वच, केस फले इक बार ।
 तिरिया तेल हमीर हठ, चढे न दूजी घर ॥ हो

निराई के समय अनेक गीत भी गाये जाने हैं । समूहगान का एक नमूना यहां प्रस्तुत किया जाता है —

तन्नं धयाको फीकर लाग्यो, छोरा राम धनिया ।
 तू तो माटो कैया होगो, छोरा रामधनिया ।
 तेरे दो माया की जोडी, छोरा रामधनिया ।
 तेरे दो भायज कमावै, छोरा रामधनिया ।
 तेरे चढवा ने दो घोडी, छोरा रामधनिया ।
 तेरे दो दो ऊट लवोजं, छोरा रामधनिया ।
 तेरे दो दो भंस्या दूजे, छोरा रामधनिया ।
 तेरे च्यार च्यार गाया दूक्षे, छोरा रामधनिया ।
 तेरे ऊचे चोक तियारी, छोरा रामधनिया ।
 तू तो काला कैया पडगो, छोरा रामधनिया ।

“अरे रामधन, तुझे किस चीज की चिन्ता लगी है जो तू कमजोर हो गया है ?”

“रामधन, तेरे दो भाइयो की जोडी है और दो भाभी हैं, जो सब कामो में पूरा सहयोग देती हैं ।”

“रामधन, सवारी करने के लिए तेरे घर में दो घोडिया बंधी हुई हैं और बोझ लाने के लिए घर में दो ऊट हैं । ”

“रामधन तेरे दूध देने वाली दो भैंस और चार गाये हैं ।”

“रामधन, तेरे भकान का चीक ऊचा है और फिर उसमें तिवारी है । इनने सब ठाठ होने पर भी तू काला पड गया है, कैसे ?”

इस गीत में सुखी एवं सब प्रकार में सम्पन्न तथा सद्भावनापूर्ण गृहस्थ की यशोगाथा गाई गई है, जो खडी ऐनी के वातावरण में बड़ी सरस लगती है । ऐनी में कठिन काम करने के कारण और धूप की तेजी के कारण किसान का बेटा अपने स्वाभाविक रंग को छोड कर काला-सा प्रतीत होना है परन्तु यह उसकी तपस्या का रूप है । इस गीत में प्राचीन भारत के सुखी एवं सम्पन्न किसान जीवन का मनोरम चित्र देखते ही बनता है ।

निनाण के सामूहिक गीतों के बाद जिन में यही अवसर “लावणी” (ठट्टाई) के समय फिर देखने को मिलता है । इस अवसर के अनेक गीत और “मिन्धूडे” लावणी के समय फिर गाये जाते हैं परन्तु कई गीत अतिरिक्त भी हैं ।

उनमें 'दानियों' (हंसिया) गीत विभिन्न हैं। यह मध्य निमा के लिए अपनी तपस्या की फल-प्राप्ति का है। अतः उनकी पूर्ण उमर इन गीत में बर्णित है। तब इन प्रकार है। —

उज्ज्वल देव मे ओ देवर, आयगी ओ मल लावणी ।
देवर तो भोजई ओ आपा, करन्या ओ मल लावणी ।
नामू तो सराव मेरा देवर, करन्या, ओमल लावणी ।
नीम तले लुहारी ओ देवर, घडवा दे दातियो ।
तने जमन खेडी को घडवाधु ए भावज, यगे सो दातियो ।
डाडी तो दिवा दे ओ देवर, चन्दन काठ की ।
मैं तो बुडले के रत्नक मे ओ देवर, बाबूला दातियो ।
ये तो छिरंग के फटकार देवर, बाबोना दातियो ।
ये नो पूछे के रत्नक से भावज, बाबोना दातियो ।
ये तो घूघट के फटकारे भावज, बाबोना दातियो ।
मन घूघरिया घडवा दे देवर, रूपे के झोल का ।
मैं तो एडी के ठिणके से देवर, बाबूला दातियो ।
मैं तो टैर्या डैर्या बाबूला देवर, खरो सो दातियो ।

“मेरे देवर, पूरव की ओर जाने मेरी में बटाई का समय आ गया है। देवर भाभी मित्रकर ऐसी कटाई करें, जिनकी मरहना मेरी माय करने को ।”

“मेरे देवर, नीम के नीचे लुहारी है। उसने मुझे एक हमिया बनवा दा ।”

“भावज, तुम्हारे निग पक्के लोहे का अच्छा-भा हमिया बनवा दूंगा ।”

“मेरे देवर, उम हमिये का डाडा (पकड़ने का भा) चदन की लकड़ी का बनवाना । मैं अपने बुडले का हिलाने हुए तम पीछों पर चलाऊंगी और तुम अपना हमिया निग के छिरंगे को हिलाते हुये चलाना ।”

“भावज, तुम अपना हमिया हाथ का पूरा जार लगाने हुए चलाना । उसे अपने घूघटको हिलाते हुए चलाना”

“देवर, मेरे निगे चादी के घुंघरू भी लगवाना । मैं एडी के ठिणके से आवाज करने हुये अपना हमिया चलाऊंगी ।”

“मैं खेत की सभी डेरियों में जाने से हमिये का प्रयोग करूंगी ।”

इस गीत में भाभी-देवर का सवाद सर्वथा सहयोग और श्रम का सूचक है। हल में जो क्रिया प्रारम्भ होती है उसका फल हमिये में प्राप्त किया जाता है। पके हुये मूँगे-पूरे खेत में यह गीत आश्चर्यजनक निर्मल रस-पारा प्रवाहित करना है। जब इसका सामूहिक गान ऊँचे स्वर में गजने लगता है तो मानो सम्पूर्ण प्रकृति भी इसमें अपना योग देने लगती है।

खेती के गीतों में निमान के साथ उसकी पत्नी की साधारण श्रमक दिवाई गई है। परन्तु अपने पति के साथ उसे भी खेती की सफल बनाने में उस तपस्या नहीं करनी पड़ती।

आगे निमान-पत्नी के जीवन का एक सरल तथा स्वाभाविक चित्र द्रष्टव्य है, जिनमें कृषि-कर्म की सम्पूर्ण आकी प्रकट हुई है—





काली तो पीली ए मा मेरी बावली, घमक र वरस्यो मेह,
 बाबोजी ने, कहज्यो, हाली ने घेटी गल देई ।
 सोला बलदा को ए मा मेरी नीरणो ।
 भाठ हाल्या की झाझी छाक,
 बाबोजी न कहज्यो हाली न घेटी मत दीज्यो ।
 छोर जिठाण्या सं मा मेरी ओलणो,
 कुण उठावे झाझी छाक ॥ बाबोजी ॥
 ऊचो तो घालो ए बाई म्हारी चू तरी,
 मचक उठायो झाझी छाक बाबोजी ॥
 घोरा तो घोरा ए मा मेरी मै फिरी,
 कठे ए न लाग्रो म्हाने खेत ॥ बाबोजी ॥
 घोरे तो हलती ए मा मेरी आलडी,
 झक्कर दुलगी घाला छाछ ॥ बाबोजी ॥
 टीवं तो ओर्ल ए मा मेरी टीवडी,
 जे तले हालीडा रो खेत ॥ बाबोजी ॥
 देवर जेठा सं एमा मेरी ओलणो,
 कूण तो उतारै झाझी छाक ॥ बाबोजी ॥
 काठो तो कसल्यो ए बाई म्हारी लाडणो,
 मचक उतारो झाझी छाक ॥ बाबोजी ॥
 घीरा तो धोरा ए मा मेरी बाजरो,
 ढैरा मे कोङ्गाली जवार ॥ बाबोजी ॥
 छेरा तो छेरा ए मा मेरी काकटी,
 टीबा पर गुडे छं मतीर ॥ बाबोजी ॥
 फोठी तो कुठला ए मा मेरी स भरया,
 बाकी को गाड्यो ऊडी खास ॥ बाबोजी ॥

“सुसराल मे नई बहू आई है । खेती का मौसम है । बहू घर के धन्धो मे लग जाती है और अपनी माता को सुसराल के सम्बन्ध मे सदेश भेजती है । वह कहती है—

“काले-पीले बादलो की घटा उमड़ी और काफी जोर की वर्षा हुई । मेने बाबोजी को कहना कि उन्होंने हल चलाने वाले किसान को अपनी बेटी देकर बड़ा अच्छा किया ।”

फिर घर के काम का भारी बोझा उम पर अचानक आया तो वह कुछ घबरा गई और फिर उसने नया सदेश इस प्रकार भेजा —

“माता, यहा सोलह बैलो को चारा-पानी देना पडता है और आठ हल चलाने वालो के लिए भारी मात्रा मे खेत पर भोजन बनाकर पहुचाना पडता है । बाबोजी से कहना कि ऐसे किसान के घर मे आनी बेटी कभी न देवे ।”

‘मेरी देवरानी और जिठानी ठीक रहनी हैं। इसलिए इतनी बड़ी छाक (भोजन) मेरे मिर पर कौन उठावे ? बाबोजी ने कहा कि ऐसे किसान जो अपनी बेटी कभी न देवे।’

इसके उत्तर में उमरी माता सदेश भिजवाती है — “बेटी, बड़ा सा एक चबूतरा बना लो और उस पर छाक का पात्र रखकर फिर बार लाकर उसे उठाओ। ऐसे करने पर तुम्हें समुराल भली लगेगी।”

“माता, मैं मिर पर छाक का भार लेकर धोगे (टालों) में खूब घूमी, परन्तु मुझे ता वह खेत मिला ही नहीं। तुम बाबोजी से कहना कि ऐसे घर में अपनी बेटी न देवे।”

“माता, एक टीले में उतरते समय मेरा पैर जरा फिसला और छाक में रखी हुई छाछ बिखर गई। बाबोजी ने कहा कि ऐसे घर में अपनी बेटी न देवे।”

‘माता, एक बड़े टीले के पीछे छोटा टीला है। उसके दूसरी तरफ आखिर मुझे खेत मिला ही गया। बाबोजी ने कहा कि ऐसे घर में बेटी न देवे।’

“माता मेरे देवर और जेठ लठ हुये हैं। फिर इतनी बड़ी छाक का भार मेरे मिर पर से कौन उतारे ! बाबोजी ने कहा कि ऐसे घर में किसान को वह अपनी बेटी न देवे।”

माता ने उत्तर भेजा—“बेटी, अपने घाघरे के नाडे को अच्छी तरह कसओ और फिर जोर लगा कर सचके में मिर की छाक नीचे उतार लो। बाबोजी को यहां सदेश भिजवाना कि किसान को अपनी बेटी देकर उन्होंने अच्छा काम किया।”

अपने खेत का बैस्र देख कर अंत में उसने सदेश भेजा—“माता, हमारे खेत के टीलों पर भरपूर बाजरा खड़ा है और नीचे वाली घरती काकड़ी में भरी हुई है और टीलों पर मनी-फल लुटक रहे हैं। बाबोजी को कहना कि ऐसे घर में बेटी देकर उन्होंने बड़ा अच्छा काम किया।”

जब फसल पकने पर खेत का अनाज घर में आ गया तो फिर उसने अपने पीहर सदेश भेजा—

“माता, हमारे घर में जितने छाटे-बड़े कोठी-कुटाड़े (अनाज रखने के ढाड) हैं वे सब भग गये और फिर भी काफी अनाज सुरक्षित करने के लिये वचा तो उसे जमीन में गहरी सो “खास” (अनाज रखने का सुरक्षित स्थान) बना कर उसमें भर दिया। बाबोजी से कहना कि ऐसे किसान के घर में अपनी बेटी आगे भी सदा ही देते रहे।”

इस प्रकार हमारा किसान अपने श्रम में केवल अपने जीवन को ही नहीं, वह हमारे देश के जीवन को भी सुखी एवं समृद्ध बनाने में योगदान करता है। अतः वह सम्मान का पात्र है।

जय जवान, जय किसान !

●



राजस्थान की मण्डन-कला (मांडणा)

कु० स्नेहलता



बँठने के स्थान को कुत्ता भी पूछ से भाड लेना है। मनुष्य की विवेकता तो इसमें आगे बढ़ने में है। मनुष्य की पशु-जीवन से आगे बढ़ने की यही प्रवृत्ति उसे कला-प्रेमी बना देती है। घर का छोटा-बड़ा, कच्चा-पक्का होना ता गृहस्वामी की आर्थिक दशा पर निर्भर होता है, परन्तु उसका कलात्मक उपयोग निश्चय ही गृहस्वामिनी की सुवचि-सम्पन्नता का परिणाम होता है। इसीलिए 'गृहिणी गृहमुच्यते' की उक्ति लोक में प्रचलित हुई है। ममार के सबसे प्राचीन प्राप्त ग्रन्थ ऋग्वेद में भी कहा गया है—'जायेदस्तम्' अर्थात् जाया ही घर है। कला और ज्ञान-विज्ञान का आश्रय गृहस्थ-जीवन ही माना गया है और गृहिणी उसकी सूत्रधारिणी मानी जा सकती है। नारी से ही नर को भ्रष्ट से पूर्ण बनने का अवसर व सीमाग्य प्राप्त होता है। अपत्नीक जीवन-यज्ञ में भाग लेने का अधिकारी नहीं होता। श्रद्धा-स्वरूपा नारी से मिल कर पुरुष सत्य-स्वरूप बनता है और इन दोनों का उत्तम मिथुन स्वर्गलोका का गृजन करता है। फल का साधारण झोपड़ा भी नारी के हाथों से सस्कार लाभ करके ज्योतिर्गम्य-जीवन का अधिष्ठान बन जाता है।

बार और वधू के रूप में पहली बार मिलन झोपड़े को 'चतरसार' (चित्रशाला) में परिवर्तित कर देता है। यही पति की सहचरी बन कर वधू पहली बार अपने आगम को सजा कर नन्दन-वन का रूप देने और ओबरी को कला के बागे पहना कर देवलोक के विमान जैसा बनाने का सकल्प लेती है। जीवन भर उसका यह स्वरूप 'नवो नवो भवति जायमान' के रूप में साकार होता रहता है। अभावा में असमय मृत्यु को प्राप्त होती हुई आशाएँ—आकाक्षाएँ भी उसको इस सकल्प में नहीं डिगा पाती। कलाकृतियों के रूप में हृदय की भावनाओं को साकार रूप देते रहना ही उसके जीवन का धर्म बन जाता है और वह देवनाओं को मनाती हुई प्रार्थना करती है कि कहीं अपने धर्म को अधूरा छोड़ कर वह मर न जाय। इस रूप में उसका छोटा-सा सकल्प जीवन में मृत्युंजयी साधना का स्वागत सोपान बन जाता है। सुखदुःखमयी भावनाओं की लोकगीतों में अभिव्यक्ति होती है तो जीवन के उल्लाम और आभावाद तो लोक-कलाओं में अभिव्यक्ति मिलती है।

विवाह के उपरान्त पतिगृह में प्रवेश पाने पर पहला त्योहार आते ही कुलवधू में माडणें माडने के लिए कहा जाता है। नणद, जिठानी, पडोसिनें आदि माडणा माडने में उसकी सहायता कर सकती है, परन्तु माडणें की रेखाकृति तैयार करने का काम वधू ही करती है। यह एक प्रकार से उसकी सुघडता की परीक्षा ही होता है। वचपन से ही माता, बुआ, भोजाई आदि से उसे इसकी शिक्षा मिलती है। सबसे पहले वह 'भैरव' देती है।^१ इससे माडणा का स्थान समतल हो जाता है। सूख जाने पर वहा राती गार को गोबर में मिला कर लीपती है। जितने विस्तार में माडणा होगा उतनी जगह में वह पुन गोहली देती है और उस स्थान पर हिरमिच से माडणें की आधारभूत रीगटिया (रेखाएँ) 'ढोलती' है। उनके सहारे पाडु या खडिया मिट्टी से माडणें की रेखाकृति उठाती है। सीधी रीगटिया खींचने

१ भैरव शब्द संस्कृत भक्ति शब्द से विकसित हुआ है। राजस्थानी के भात, भैत, भँतल आदि शब्दों का प्रयोग भक्ति के अर्थ में होता है।

के लिए पुटे आदि का प्रयोग नहीं किया जाता। गोलाकार आकृतियों का उठान भी बिना किसी उपकरण के, आधार के ही उठाया जाता है। रेखाकृति का उठान तैयार हो जाने पर बीच के गोलाकार, तिकोने या चौकोर डांगों में आड़ी-तिरछी रीगटियों से भराव किया जाता है। भराव करने को भरण कहा जाता है। कहीं कापटे का, कहीं फूँ का औ—कहीं चोटी या नारियल का भरण किया जाता है। भरण पूरा हो जाने पर आसपास चार रीगटिया चीरण की बीच कर उनमें निरुद्धी रीगटियों से भरा जाता है। आमपाम लाडू, बबरे आदि बनाए जाते हैं। माँडणे के आसपास मूंग, चाद, वावडी, गाय के खुर, स्वस्तिक आदि माँडे जाते हैं। प्रत्येक माडणा विशेष प्रकार के प्रतीकात्मक अर्थ को ध्वनित करती है। इसीलिए प्रत्येक त्योहार के माडणे अलग प्रकार के होते हैं। बधू के लीपने, गोइत्री देने, ढोलने, रेखाकृति उठाने, भरण करने, चीरण मगने, अन्य महकृतियों के बनाने आदि जो घर की बड़ी बूढ़िया और पड़ोसियों बड़े घरान में देखनी हैं और अपने अनुभव के आधार पर बड़ों के जमे हुए ज्ञान को साक्षी बना कर इस नवीन गृहस्थी की सफलता की घोषणा कर देती हैं और नयी बधू की प्रशंसा करते नहीं बचती, परन्तु यदि बधू में कलात्मक रुचि की कमी हो, उसका ज्ञान शिल्प के क्षेत्र में जमा हुआ न हो अथवा जल्दबाजी के कारण वह इस पहले ही शकुन को बिगाड़े दे तो सब मयानी स्त्रियाँ जगह करने जाती हैं कि वह कभी गृहस्थी को सुख-मंगीन में भर सकेगी।

माडणे मारे नारन में ही माँडे जाते हैं, परन्तु राजस्थान की गृहिणी ने इस क्षेत्र में अपने गिनन-कौशल और वैविध्य-युक्त कलात्मक अभिरुचि का परिचय देकर इस प्रदेश को बहुत आगे बढ़ा दिया है। माडणे का कोई प्रतिन्य एक अवसर या एक स्थान हो तो कहा जाय। एक सूचना के अनुसार केवल बूढ़ी—आलावाड क्षेत्र में ही ३०० से अधिक माडणों के प्रतिन्य हो चुके हैं। वेद है कि माँडे राजस्थान के माडणा के प्रतिन्य अभी एकत्र नहीं किए जा सके और नाग-गिनन की इस अमूल्य विद्या को स्थायी रूप में सुरक्षित रखन की दिशा में अब तक कोई ठोस कार्य नहीं हुआ।

घर का सम्कार करने के लिए गृहिणी प्रतिवर्ष होली—दीपावली पर घर की भीतों को लीपती है। बाद में पाहू या ढाडिया में दीवागों को पोता जाता है। परने मकान को चूने में पोता जाता है। भीत का निचला हिस्सा लाल-मिट्टी में पोत दिया जाता है। फिर सीधी लकीरें खींच कर पोते दिये जाते हैं। कौनों में विविध प्रकार की भातें निकाशी जाती हैं। ऊँड़ गावों में पोते आधी दीवार में भी ऊँचे होते हैं। नीचे विविध पशु-पक्षियों के चित्र, पौराणिक या ऐतिहासिक महापुरुषों के रेखाचित्र या उनके किमी लोकविश्रुत कार्य के नाकेतिक-चित्र अंकित किये जाते हैं। मरुगान्ति, नव-वर्षारम्भ आदि के अवसर पर द्वार के कूले पर मंगल-कलश आदि, राखी पर चिड़िया, हाथी या श्वरा कृमार आदि तथा अन्य उत्सवों पर किसी न किसी प्रकार के नाकेतिक चित्र बनाये जाते हैं। अक्षय-तृतीया को कूले पर दोनों धोंग पीले रंग में ज्वार या बाजरे का पीछा फल-महिन अंकित किया जाता है। नव-वर्ष के लिए अच्छी फसल होने की शुभेच्छा का संकेत है। कभी केवल सायिया या हाथ की धाप ही मेहुदी में या हल्दी से अंकित की जाती है। दीपावली पर मेटे (द्वार का ऊपरी भाग) पर बरद गणेश का ऋद्धि-सिद्धि सहित चित्र अंकित किया जाता है। पुन-जन्म के अवसर पर दीवार पर गोहली लगा कर बेमाता^१ का चित्र बनाया जाता है। चौथे के व्रत का उद्यापन करने समय त्रिगूल और मात टपकिया लगा कर पूजा की जाती है। त्रिगूल प्रकृति के सत्त्व-रज-तम गुणों के प्रेरक शिव का और मात टपकिया मत्त-यह्नी या मत्तमातृका के रूप में मुजान मृज्जनशक्ति के प्रतीक हैं। दुर्गाष्टमी को हाथ की धाप दीवार पर लगाकर उसको सिन्दूर-चर्चित करके पूजा जाता है। हाथ क्रिया-शक्ति का प्रतीक है। ये सब शक्ति पर अंकित होने वाले माडणे हैं। विवाहादिक अवसर पर चित्ते में दीवागों पर चित्र बनाने की प्रथा भी प्रचलित है। इन चित्रों में राजस्थानी जन-जीवन की झाँकी देखने को मिलती है।

१ बेमाता या बृद्धिका-माता को बृद्धाया या बिहाई (अन्ध प्रान्तों में प्रचलित नाम) भी कहा जाता है। महा-भारत वनपर्व (२०।१६) तथा कादम्बरी में बृद्धा और बृद्धिका नाम प्रयुक्त हुए हैं। सूतिकागृह में इसकी पूजा की जाती है। यह ब्रह्मा की शक्ति-सृजकप्रकृति ज्ञात होती है। बिहाई के गीत भारत भर में प्रचलित हैं।





चित्तेरा तो अपना बाग फरके चला जाता है। दीवारों पर पीते देना आगन में चौक माडना, द्वार पर चौक पूरना, घर फर्श को माटणें ग सजाना आदि काम तो स्त्रियों ही ही करना पड़ता है। गृहिणी को ही पना रहता है कि होती दीपावली के माडणे तो लाल-चिट्ठी और गोबर में त्रिणे आगन में माडे जायेंगे और नीत्र आदि के माणें बर-मानी हरे मोक्षर से लीरी हुई आध्यात्म पर ज्यादा चलेगे। द्वार पर चौक पूरने के त्रिण गृहिणी हन्दी जोर आटा बेती है। मुलम होने पर रंग-विन्नी गुलाल का प्रयोग भी किया जाता है। मागरण समय पर लिये आगन में केवल पात्र या चट्टिया मिट्टी के माटे जाते हैं, झाली, दीपावली, सक्रान्ति आदि पर्वों या विवाहादि के अवसर पर रेखाकृति गेह या द्विगमित्र के तैयार की जाती है और मरण आदि में पात्र या खडिया का प्रयोग होता है। आगन बड़ा हुआ तो उसके बगें या आगताकार को हटित में रखते हुए बड़े माडणे माडे जाते हैं। आगन लम्बा अधिक हुआ तो दो या तीन माडणे भी चित्रित किये जा सकते हैं। ऐसा ही बड़ा माडणा विवाह के अवसर पर माया के घर में उनके मारे फर्श पर गणित किया जाता है। इसे राजस्थानी भाषा में पमरण (मभवत् प्रमरण-फैलाव का लोच-भाषा में विनमित रूप) कहा जाता है। विविध भक्तियों की दीवारों और पमरण से फर्श में सुसज्जित होने के कारण ही वदाचित् बर-वधू के प्रथम मिनन के स्थान उम घर को 'चतरसार' भी कहा जाता है। इन घर में प्रवेश की लोच ही नाम 'नर मे लेना' प्रचलित हुआ है।

केलदि श्रीवमवराजेन्द्र-विरचित 'शिवतत्परस्नाकर' में ६४ कलाओं में चित्रालेखन का भी उल्लेख है। 'सम-रागणसूत्रधार' नामक ग्रन्थ में इस कला का त्रिशद रूप में विवरण दिया गया है। वहा निम्नरत्ना के ६ अंग वर्णित हैं—१ रूपभेद अर्थात् रंगों की मिलावट आदि का ज्ञान, २ प्रमाण अर्थात् दूरी, गहराई, अनुपात आदि का ज्ञान, ३ भाव और लावण्य योजना, ४ मादृश्य, ५ वर्णिका अर्थात् रंगों का सामजस्य और ६ भग अर्थात् रचना-कौशल। भारतीय स्त्रिया इस कला में बड़ी निपुण होती थी। आज भी वे इस परम्परा को निभाती चली आती हैं। सामाजिक और धार्मिक उत्सवों पर दीवारों और फर्श पर चित्रित किये जाने वाले माडणे इसकी राखी देते हैं। सीमित माधनों और रंगों में स्त्रिया घर-आगन को चमका देती हैं।

राजस्थान के विशिष्ट माटणों में कुछ के नाम हैं—चौक, ओल टपणियों के रेखानिच और स्थानीय उत्सवों सम्बन्धी माडणे। चौक कई तरह के माडे जाते हैं—यथा, मुकुट का चौक, सिंहासन का चौक, जलहरी का चौक, जलेशी का चौक, स्वस्तिक-चौक आदि। राजमहलों आदि में युद्ध, आखेट, नौका-विहार आदि के चित्रों के चौक भी बनाये जाते रहे हैं, परन्तु अधिकतर ये चित्र भित्तियों पर ही अंकित किये जाते थे। दीपावली को गायों और बैलों को पूजा करते समय उनकी पक्ति के सामने एक लम्बा माडणा माटा जाता है जिसे ओल कहा जाता है। यह लगभग दो हाथ चौड़ी होती है और इसकी लम्बाई उतनी होती है जितनी दूर तक गायें या बैल पूजने के लिए खड़े किये जाते हैं। इसके पास सामने की ओर हल-जूड़ा भी माटा जाता है और पीछे की ओर गायों के खुर के निशान माडे जाते हैं। ऐसी ही बाल विवाह या गगोक्ष (गगोत्सव) की राखी के समय या घर में मेहमान आने पर जहा माडी जाती है जहा उनको भोजन के लिए बिठाना होता है।

टपणियों के माडणे महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रदेशों में भी माडे जाते हैं, परन्तु राजस्थान के ऐसे माडणे अपनी विशिष्टता रखते हैं। उनमें जालियों के नमूने अंकित किये जाते हैं। तीज, गणगीर आदि राजस्थान के विशिष्ट उत्सव हैं। इनमें सम्बन्धित माडणे राजस्थान की अपनी विशेषता रखते हैं।

ये माडणे गृहमज्जा के माधन तो होते ही हैं, इनका भावात्मक महत्त्व भी कम नहीं है। इसीलिए प्रत्येक उत्सव में सम्बन्धित माटणे अलग-अलग तरह के होते हैं। भारत की अध्यात्म-प्रधान संस्कृति की झलक इन माडणों में

३ माया के घर में विनायक बिठाने से लेकर अन्य सारे पूजाकार्य सम्पन्न होते हैं और इसी में सुहागरान की व्यवस्था की जाती है।



- ७ ढोलना—गेरु या हिरमिच की आधार रेखाएँ खींचना । सम्भवतः इसका अर्थ परिष्कार करना है । मृग साफ करने के लिए मृग ढोलना शब्द प्रयुक्त होते हैं । गोहली की सफाई करके उस स्थान पर रेखाचित्र अंकित करना ढोलना कहा जा सकता है ।
- ८ पूरना—आटा आदि भुरक कर माडणा तैयार करना । सूर ने कृष्ण-जन्म के समय भोतियों के चौक पूरे जाने का वर्णन किया है ।
- ९ पोते देना—लिपाई और पुताई के बीच में खडिया से सी-सी सीमा रेखा का अंकन ।
- १० रींगटिया-रेखाएँ ।
- ११ भरण-भराव करना ।
- १२ भँतल-भक्षितल, भक्षित वाला, पूरी माडणा माँटने की क्रिया का छोटक, अर्थात् कोच से केवल माडने के स्थान को समतल बनाने के लिए गारा लगाना व लीपना ।

कु० विद्या वंसल
दिशान्त (गल०)



कला का विकास नागों द्वारा हुआ है। वह अपने शरीर की मज्जा के लिए विविध वस्तुओं का प्रयोग करते हैं, मैकेनी, गणित आदि का उपयोग करने हैं और विभिन्न प्रकार की चीज़ें भी उपयोग करती हैं। उसी तरह अन्य पर ज्ञान की स्थापना के लिए भूमि-उत्खननों का प्रयोग करती हैं। माटंगा भूमि-उत्खननों में गिला जाता है। यह सब सम्बन्धी नष्ट सभ्यता धातु से व्युत्पन्न हुआ है। इस प्रकार हमका अर्थ है—समुचित करना या सोचना बढाना। माटंगा नष्ट या सभ्यता को कहते हैं। माटंगा उन कलाओं के नाम हैं जिन्होंने मृत्पात्रों का उपयोग तो मुनिजिन करने के लिए भूमि पर या घर की दीवारों पर बनायी हैं। भूमि-उत्खनन के लिए माटंगों का उपयोग भारत भर में होता है। गुजरात में उन्हें ‘साथिया’ महाराष्ट्र में ‘गांभी’ या गांभी (खाद्य) विशाल में ‘आयन’ नेपाल व उनके समीपवर्ती उत्तरप्रदेश के जिलों में ‘अयना’ या ‘अयना’, दार्जिलिंग में ‘अयना’ तथा मध्यप्रदेश में ‘बीर पूना’ या ‘मान खना’ कहते हैं। अथवा एक सम्बद्ध ‘अन’ धातु से व्युत्पन्न हुआ है और हमका अर्थ माटंगा के समान ही ‘समुचित करना’ है। संस्कृत में कहीं-कहीं माटंगों या इन्हीं आदि से स्थिति रूप तैयार किया जाता है और इसे ‘अयना’ कहते हैं या सम्बद्ध की ‘कल’ धातु का विकल्प रूप जान होता है। ‘इन’ या ‘अन’ धातु का प्रयोग मिना या विचारना अर्थ में होता है। राजस्थानी का उदाहरण एक माटंगों में रंगों का समुचित चित्रण और विचारपूर्ण भाषाविज्ञान तैयार करने की ओर संकेत करता है। माडगे गुरुमन्त्र के लिए अपनाई गई निश्चय रेखा-कल्पिता मात्र नहीं हैं, बल्कि वे विविध भावों के प्रतिपादन को दूना करने हैं। ये भारत की आध्यात्मिक मन्दिरों की प्रकृति होने वाली प्रतीक हैं जो कि ईश्वर की अनेक ऐतिहासिक भावों की मूर्ति करने वाले व्यापक-भावन को होते हैं।

अब तब की ओर से आचार्य पर यह प्रमाणित हुआ है कि गजस्थान माटों की एक नमूदा गीत वैदिक-
तुल्य परम्परा का संग्रह रहा है। यद्यपि अब तक माटों के नमूने एकत्र नहीं किये जा सके हैं, परन्तु यह निश्चय है
कि गजस्थान इन क्षेत्र में बहुत आगे है और वहाँ माटों की संख्या अन्य प्रांतों में बहुत अधिक है। एक बृद्धा स्त्री ने
पूछने पर कहा था कि अंग्रेजी हुकूमत के समय ११० माटों की रैन्दाहूतिगता जान है। वहाँ से माटों पर इन
प्रदेश की प्राकृतिक-सम्पदा, संगीतियों और वास्तव की परम्परा का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

गन्ध्यानी मादगों के प्रजा

गन्धर्वानि मातुर्गन्धर्वानि वा ज्योतिष्मन्तः सन्तः प्रजापतिः स्यात् तत्र मन्त्रा इति—

१. सर्वोत्पन्न-सम्पत्त्यां मांशे-मन्त्रानि, अष्टावृत्तीया आदि सर्वे एव तदा दीपावर्त्तनं, होमो आदि उत्सवो एव सति जाने माने साधने एव वर्गं नै आने है । उन साधनों के द्वारा एव या उत्सव में सम्पन्नित विभिन्न साम्प्रदायिक भावों को परिनिमित्त किया जाता है ।
२. सम्पत्त्यांस्त्वसम्पत्त्यां साधने—उत्तमोत्तम, सुख, लोभोत्तम, विद्या आदि सम्पत्तियों के समस्त मांशेय मन्त्रों में उत्सव मनाये गये हैं । उन उत्सवों पर इन उत्सवों में सम्पन्नित भावों को सुवर्णा देते जाने प्रतीकान्तर साधने साधने की प्रथा वर्गी आता है । ऐसे साधने उस वर्ग में परिनिमित्त किये जा सकते हैं ।

३ गृहसज्जा सम्बन्धी माडणें—वैसे तो सभी माडणों का उपयोग गृहसज्जा में होना है, परन्तु कुछ माडणें किसी प्रकार की प्रतीकात्मकता के बिना केवल गृहसज्जा के लिए उपयोगी होते हैं। फूल, पत्ती, वेल्लें, विविध प्रकार की जालियो आदि के रेखाचित्र इस वर्ग में आते हैं। अतिथि आन पर उसके स्वागत को ऐसे मौन्दर्य उपादानों में सजाया जाता है।

४ पूजा सम्बन्धी माडणें—पूजा के लिए गणेश, शिव, गौरी, गोवत्स, वैमाता आदि के रेखाचित्र बनाकर उनकी पूजा की जाती है। ऐसे देवविग्रहों के रेखाचित्र या उनके प्रतीकों के संकेतचित्र इस वर्ग में आते हैं।

भडनकार

विशेष अवसरों पर माटे जाने वाले इन माडनों को माडने वाले हाथ एक नहीं होते। सामान्यतः द्वार पर द्वाराचार के लिए चौक घर की नाइन पूरती है। मृत्यु आदि के श्रम पर सारा घर शोक-मत्त होता है, उस समय पर तीसरे, नवें या ग्यारहवें दिन लीपना और माडणें माडने का काम नाइन ही करती है। विवाह में कन्यादान के उपरान्त वर के पिता की गोद में कन्या को बिठाने की प्रथा प्रचलित है। उस समय वर के पिता को चौकी पर बिठा कर पूजा जाता है—बस्त्रादि देकर उसका सम्मान किया जाता है। चौकी के नीचे हल्दी-चून का चौक माडा जाता है। इसे कुल का राव या उसकी पत्नी माडती है। राखी के माटणें बहिन माडती है। अंबादूज पर भी बहिन ही इस कार्य को करती है। बालक को पहली बार पालने में सुला कर बड़ा करते समय, अन्नप्राशन के समय, उसके पहली बार कहीं बरात में जाकर लौटने पर या उपनयन आदि संस्कारों के समय माडणें माता माडती है। अन्य अवसरों पर कुल की शुभकामना से सम्बन्ध रखने वाले माडणें बहिन-बेटियां माडती हैं, जैसे घर में 'उकीरा' (विवाहपत्रिका) आते समय या भाई के पुत्रजन्म होने पर विविध उत्सवों सम्बन्धी माडणें कुलबधू द्वारा चिह्नित किये जाते हैं। पारिवारिक-जीवन के उल्लाम को व्यक्त करने वाले विवाहादि के चौक, माया के घर की पमरण आदि काकी-भाभियों द्वारा माडे जाते हैं। होली, गणगौर आदि के माटणें भी काकी-भाभियां ही माडती हैं। साक्षी के भित्तिचित्र कुंवारी कन्याओं या व्याह के पहले माल युवतियों द्वारा अपन पितृगृह में अंकित किये जाते हैं। अक्षय-तृतीया पर पोल के कूले पर पलाश के रंग से ज्वार के पीपे का चित्र ग्वाले की पत्नी या परिवार से सम्बन्ध रखने वाले चर्मकार की पत्नी माडती है। दीपावली पर ओल गृहस्वामिनी गोबर पाथने वाली सेविका की सहायता में माडती है। गोवर्द्धन पूजा के समय माडणें पासपड़ोस की नृणागिनों के साथ मिलकर गृहस्वामिनी माडती है। पुत्रजन्म के समय वैमाता का चित्र बालक की बुआ अंकित करती है। इस प्रकार लोकजीवन में माटे जाने वाली विविधता के दर्शन यहां भी होते हैं। विविध अवसरों पर माडने वाले हाथ एक नहीं होते।

माडणें के साधन

भीतों पर माटे जाने वाले माडणें हिरमिच या पलाण आदि के रंगों से माटे जाते हैं। कभी ऊँचे पोते लगा कर नीचे बची हुई जगह में ढंडिया या पाडू से भित्तिचित्र अंकित किये जाते हैं। नीचे जमीन पर अंकित किये गये माडणें भी खडिया या पाडू में ही माडे जाते हैं। इनकी प्रारम्भिक रेखाकृति गेरु या हिरमिच में अंकित की जाती है। इसी के आधार पर माडणें का उठान उठाया जाना है। रेखाकृति के लिए बजूर या काम की बारीक कूची बनाई जाती है। भरण के लिए सिंग के बालों की कूची बनाई जाती है। यह केवल पाडू आदि का धोल भरने और निश्चिन दबाव के साथ छोड़ते रहने के उद्देश्य से ही प्रयुक्त होती है। भेष काम तो माडणा माडने वाली की अगुली ही करती है। पूरे जाने वाले माडणों के लिए हल्दी, आटा, गुग्गुलु आदि का प्रयोग होता है। राजस्थानी नारी का हाथ इतना सधा हुआ होता है कि वह सीधी रेखा खींचने के लिए फुटे का, वृत्ताकार-आकृति बनाने के लिए प्रकार का अथवा अन्य प्रकार के उपकरणों का उपयोग नहीं करती। अन्य प्रांतों में ऐसे उपकरणों का प्रयोग होता है। साक्षी के भित्तिचित्रों में पत्ते, फूलों की पखुडिया, पत्नी आदि भी प्रयोग में आते हैं। स्थानीय स्वल्पतम साधना से सुन्दर कलाकृति तैयार कर देना कुशल नारी के कलात्मक रत्न से ही सम्भव है। राजस्थान की गृहिणी इस रत्न में बहुत आगे है।

अन्य प्रान्तो मे माङण के माधनोपकरणो की लम्बीसूची होती है। गुजरात मे मडनकार के पास चित्रकला के लिए अपेक्षित मार्गे मामग्री, यथा-कागज, त्रय, पक्का रंग, विविध रंगो की कठोरिया, रंग, फुटा आदि होता है। अन्य प्रान्तो मे भी विविध रंग आदि जुटाने पडते है। इसके विपरीत राजस्थानी नारी गेरु या लाल मिट्टी, खडिया या पाडू आदि मे ही भव्य माङणा तैयार कर देती है। वह नभी प्राप्न साधनो का यहाँ तक कि अपने वालो तक का उपयोग कर लेती है।

माङणो की रंग-मज्जा

भारत के दूनरे प्रान्तो मे माङणो मे विविध रंगो का उपयोग किया जाता है, परन्तु राजस्थान मे सामान्य-तया दो ही रंगो का प्रयोग होना है, वे है लाल और श्वेत। लाल रंग शौर्य का प्रतीक है जबकि श्वेत रंग हृदय की पवित्रता का सूचक है। इन रंगो के माध्यम मे राजस्थान की भूमि के सम्कार यहाँ के निवासियो के चरित्र में जागते है। इन प्रक्रिया के लिए राजस्थान मे एक मुहावरा प्रयुक्त होना है। यह मुहावरा है—“भूमक्या जागना”। जब लोगो मे अपने अपने क्षेत्र का भूमि के सम्कार जागने हैं तभी उनके द्वारा मच्चे राष्ट्र का निर्माण होता है।^१ इस प्रकार राष्ट्र उनके निवासियो भी उन गिनिष्ट मनानूमि का नाम है जो कला, शिल्प, साहित्य आदि मे विविध रूपो मे व्यजित होती रहती है।^२ राजस्थानी माङणे यहां के निवासियो मे राजस्थान की ‘भूमक्या जागने’ के श्रेष्ठ उदाहरण माने जा सकते है। लाल और श्वेत रंगो का आनिग्रह्य भी इनी बात को प्रमाणित करता है।

लाल रंग के लिए ‘रानी गार’ या गेरु का और श्वेत के लिए खडिया या पाडू का प्रयोग होता है। गहरी रालिमा लाने के लिए त्रिमिच का प्रयोग भी किया जाना है। ये माङणे राती गार मिले हुए गोवर के लीपणे पर अत्यन्त सुन्दर लगते हैं। श्रावण-भाद्र मास मे माङणा बरमाती हरे गोवर के लीपणे पर माडा जाता है। कुछ विशिष्ट माङणो मे पलाय के कमरिया और रंगीन गुलाल के विविध रंगो का प्रयोग भी होता है। भित्ति पर अंकित की जाने वाली साम्री मे फूलो की पद्यटियो आदि के द्वारा रंगमज्जा की जाती है। गुलवास के फूलो के गुलाबी, तुरई और कुम्हडे के फूलो के पीले, कुछ अन्य जगनो स्थानीय फूलो के नीले, लाल और उदई तथा पत्तो के हरे और पन्नी के चमकीले रंगो मे माभी की रंगाकृति अत्यन्त सुन्दर बन जाती है। अन्य प्रान्तो मे माङणो मे सूखे रंगो का उपयोग भी होता है, परन्तु राजस्थान मे हल्दी और चून आदि मे केवल द्वार पर चौक पूरे जाते हैं। स्थानीय साधनो की महायना मे दो-तीन रंगो द्वारा ही माङणो की सुन्दर रूपाकृतिया तैयार कर देना राजस्थानी गृहिणी की हस्तकुशलता का जीता-जगता प्रमाण है।

विशिष्ट भावनाओ के प्रतीक माङणे

ऊपर कहा जा चुका है कि गृहमज्जा के लिए बनाये जाने वाले कुछ माङणे किसी न किसी मानवीय-भावनाओ के प्रतीक होते हैं और उन प्रकार हमारी सांस्कृतिक भावनाओ को साकार करने वाले महत्वपूर्ण साधन माने जा सकते हैं। प्राचीन मन्दिरों, विहारों आदि के भित्ति-आलेखनो के प्रेरणास्रोत लोक की कलात्मक अभिव्यक्ति को व्याप्त करने वाले ये माङणे माने जा सकते हैं।

कलात्मक मज्जा मे प्रायः प्रकृति के क्षेत्रीय उपादानो की ही महायता ली जाती है। काश्मीर की कोई भी कलाकृति चिनार के पत्ते के बिना अवूर्गे मानी जाती है इसी तरह राजस्थान के आलेखनो मे स्थानीय फूलपत्तो, वेलो, पशुपक्षियो आदि को स्थान मिल जाना सर्वथा स्वाभाविक है। इस प्रकार रूपमज्जा की सामान्य सरल और सहिष्णु आकृतियाँ भी मानव पर स्थानीय प्रकृति के प्रभाव की सूचक होती है। अन्य जिन माङणो का अंकन ही किसी न किसी भाव की सृष्टि करने के लिए होता है उनका साम्प्रतिक महत्व तो अतुलनीय हागा ही।

१ डा० वद्रीप्रसाद पचोली-राष्ट्रकला विचार और व्यवहार, विश्वज्योति, मार्च १९६७

२ डा० वद्रीप्रसाद पचोली-वैदिक स्वराज्य-साधना, विश्वज्योति, दिसम्बर १९६६





प्रायः मस्कारात्मक सम्बन्धी माङ्गणे उन भावों के प्रकाशक होते हैं जो उन सम्कारों के उपलक्ष में की जाने वाली क्रियाओं के मूल में विद्यमान होते हैं। पुत्रजन्म के समय वैमाना या वृद्धिका देवी का चित्राकन करके उसकी पूजा की जाती है। ऐमा मन्तान के लिए दीर्घायुष्य की कामना से किया जाता है। अन्य देवताओं का अवन और पूजन मन्तान के लिए विविध प्रकार की ममृद्धि, आराग्य आदि की कामना करते हुए किया जाता है। द्वार पर मङ्गल-सूचक चौक पूरा जाता है। आगन में सिंहासन का चौक माडा जाता है जो सभ्यता माता की इस भावना का सूचक है कि उसके आगन में खेलने के लिए किसी दिव्य शक्ति का आविर्भाव हुआ है। उसी के स्वागत के लिए सिंहासन का चौक अंकित किया जाता है। यह कहना न होगा कि भारत में स्त्रीत्व की सार्थकता मातृत्व में मानी जाती है और प्रत्येक भारतीय माता अपनी गोद में 'नन्दलाल' और 'रामरघुनाथ' को छिलाने के लिए लालायित रहती है।

यज्ञोपवीत सस्कार के उत्सव के समय आगन में जनेऊ और स्वस्तिक-चौक माडा जाता है। जनेऊ के माङ्गणे के द्वारा यज्ञोपवीत के नी तारों से व्यक्त होने वाले आदर्श व्यक्तित्व के नी गुणों की ओर संकेत किया जाता है। स्वस्तिक चौक बालक की सर्वतोमुखी प्रगति की कामना को संकेतित करता है। स्वस्तिक का विकास प्रणव से माना जाता है।^३ इस माङ्गणे से प्रणव-साधना द्वारा आत्मोन्नति करने की प्रेरणा भी मिलती है।

विवाह सस्कार के समय माया के घर में माडी जानी वाली पसरण जीवन में आत्मीयता के विस्तार और पारिवारिक भावना के विकास की सूचक है। इस समय जलेबी चौक माडा जाता है। जो इस बात की सूचना देता है कि गृहस्थधर्म अनाडी के लिए जलेबी की तरह उलझन से भरा हुआ है। उसे लोक में निनानवे का चक्कर इसीलिए कहा जाता है। इस समय माया के घर में कुछ माङ्गणे भित्ति पर यौनभावनाओं के प्रतीक के रूप में भी अंकित किये जाते हैं।

ग्रन्थ सस्कारों के समय भी इसी प्रकार के भावपूर्ण माङ्गणे माडे जाते हैं। पूजा सम्बन्धी माङ्गणों में या तो देवता की मूर्ति भित्ति पर बनायी जाती है या उसके किसी प्रतीक-चिह्न को अंकित किया जाता है। यथा-दुर्गाष्टमी की भित्ति पर सिन्दूर में पंजे का चिह्न अंकित किया जाता है। हाथ का पंजा शक्ति का प्रतीक है। उसकी पांच अंगुलिया पञ्चतत्त्वों की प्रतीक ज्ञात होती हैं। शक्तिरूपा प्रकृति का प्रतीक हाथ के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। चौथे दिन शक्ति का ही एक अन्य प्रतीक त्रिशूल अंकित किया जाता है। उसके निम्न सिन्दूर की आठ टपकिया लगाई जाती हैं। ये टपकिया अष्टभूति शिव की और त्रिशूल त्रिगुणात्मिका प्रकृति या त्रिपुरमुन्दरी का प्रतीक है। गणेश पर गौरी का विग्रह अंकित किया जाता है। वट सावित्री के व्रत के दिन आगन में वट वृक्ष माडा जाता है। वट ससारी रूप अद्वैत वृक्ष का सूचक है। 'दा सुपणा मयुजा नम्याय' मंत्र की ईश्वर और जीव विषयक भावना को व्यक्त करने वाला एक चित्र मोहनजोदड़ो की एक मृणमुद्रा में उत्कीर्ण है। इसमें पता चलता है कि वृक्ष को ममार के प्रतीक के रूप में अंकित करना की परम्परा भारत में सिन्धुघाटी सभ्यता के काल में भी प्रचलित थी।

व्याग-पूर्णमा को गृहिणी पुस्तक और पलाशदण्ड माड कर अपने पुत्र का योग्य गुरु से उत्तमशिक्षा दिलवाने की कामना व्यक्त करती है। श्रावणी पूर्णिमा को द्वार पर श्रवणकुमार का रेखाचित्र अंकित किया जाता है। यह हमारी सत्कृति की मित्तमेया की भावना की ओर संकेत करता है। एक चिह्निका का अंकित करके उसके मुँह में राग्यी दी जाती है। पक्षी वैश्विक सुपणं विद्या का प्रतीक है। यह तथा चर्च आती है कि गायत्री सुपणं रूप धारण करके सीर-मडल में अमृत ले आई थी। यह चित्र उमी भाव का संकेतक ज्ञात होता है। राग्यी अमृत की स्थानापन्न है और इस बात की सूचक है कि वहिन इस मन्त्र मूय से गार्ई के लिए अमर-जीवन की कामना करने हुए वाँधती है।

कजत्री तीज का गृहिणी भूला और लहरिया माडती है। ये जीवन की रागात्मिका-वृत्ति के संकेतक हैं। विजयादशमी को घोड़े, गायें आदि के माङ्गणे माने जाते हैं। ये माङ्गणे हमारे राष्ट्रीय जीवन में ओतप्रोत वीरत्व का

सूचित करने हैं। दीपावली पर श्री और ममृद्धि की कामना को सूचित करने वाले अनेक भावपूर्ण माडण्डे माडे जाते हैं। एक जगहगी का चीक माडा जाता है जो पूर्ण-जीवन की कामना को व्यक्त करता है। मकरान्ति पर कूडा माडा जाता है जो कूडा भर कर घाघ्य पाने की भावना को व्यक्त करता है। हाली पर टाल, तलवा, गेहू की वागी आदि माडे जाते हैं। यह इम समय होली मेढाड तलवार जला दिये जाते हैं और होली की ज्वाला मे अनाज की वालिया मकी जाती हैं। इम बात का सूचक है ममाज मे आक्रमण के माधनों के माय मय के सूचक रक्षा-माजन भी नष्ट हो जाने चाहिए। उनका नामाजिक हिनकार्यों मे अन्यथा उपयोग कर लेना चाहिए।^१ होली ममाज मे पूरी तगड ने निर्भयता के सम्पादन करने की दिशा का मार्ग प्रदर्शित करती है और ये माडण्डे भी उमी भावना को व्यक्त करने हैं।

भारत पर्व और उत्सवों का देश है। उन पर सर्वत्र विधेपतया राजस्थान मे विधिष्ट भावनाओं के प्रतीक माडण्डे भी माडे जाते हैं। यहाँ पर कुछ ही मांडणों के विषय मे प्रतीकान्मक सकेत किये गये हैं। वस्तुतः इम दृष्टि मे राजस्थानी माडणों का विस्तृत अध्ययन होना चाहिए। इम प्रकार का अध्ययन हमारी मस्कृति के महत्वपूर्ण तथ्या पर प्रकाश डाल मकेगा यह आशा की जा सकती है। राजस्थानी माडणों का ऐना अध्ययन सम्पूर्ण भारत की मडन-कला के साम्कृतिक-अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर देगा।

●

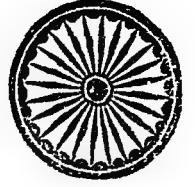


राजस्थान के देवी-देवताओं के गीत :

सांस्कृतिक मूल्यांकन

श्री भागचंद जैन, एम० ए०

राजकीय माध्यमिक शाला, किशनगढ़ (राज०)



लोकगीतों में देवी-देवताओं के गीतों का विशिष्ट स्थान है। इन गीतों में घुली हुई हार्दिक श्रद्धा, पावन प्रेम और पार्श्वारिक्त मत्प्रेम-भावना श्रवणी मगम में कम नहीं है। इनकी पवित्रता में कूट-कूट कर भरा हुआ आत्म-विश्वास उज्ज्वल अविष्ट की मधुर भावना का मार्मिक दर्शन कराता है—इनमें गहरे एवं हृदय-स्पर्शी भावों का उद्रेक सरल भाषा के माध्यम में हुआ है।

इन गीतों में भक्त-हृदयों की मविन-पूर्ण श्रद्धा झलकती है। वे अपना मयम मनुहार के साथ सादर समर्पण करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। राजस्थान में मनुहार का म्यान व्यावहारिक जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा इसे शिष्टाचार का प्रमुख अङ्ग माना जाता है। यही रूप भक्ति क्षेत्र में भी उभरा है। कहीं कहीं तो भोले बालक सी सरल, सहज एवं निष्कपट भावनाओं के दर्शन होते हैं। भारतीय संस्कृति का वास्तविक रूप इनकी प्रत्येक पंक्ति से शब्दवेधी बाण चलाता-सा प्रतीत होता है।

प्रस्तुत पवित्रता में विनायकजी (गणेशजी) की स्तुति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है। परम्परानुसार इनका स्थान सर्वोपरि है। शुभ कार्यों में मवप्रथम इनको स्मरण किया जाता है। विनायकजी प्रत्येक कामना को पूर्ण करने वाले हैं, ऐसा अटल विश्वास लोकजीवन में व्याप्त है—

गढ़ रणत भवर से आवो विनायक करो अनचीती विडवडी।

विडव विनायक दोनू जी आया, आय पवास्या सिलैबडतलै।

बूझत बूझत नगर पवास्या पोल बताओ वशरथ राय की ।

आपकी कृपा से सरवर का पानी भीतल हो जाता है, बाग हरे भरे हो जाते हैं तथा पेड़ों से पत्तियों का अमम छाया प्राप्त होती है—

पे' लो तो वासो सरवर बसियो, सरवर भरियो ठण्डे नीर से ।

दूजो तो वासो बाडी जी बसियो, बाडी भरियो बिसोवना ।

फल फूल बाडी सुफल फलियो, कुज्जा जी मरवा केवडा ।

अगणो लो वासो बड तले बसियो, बड नारेला छाईयो ।

विवाह के अवसर पर फेरो के समय वेदी पर बैठे हुए दूल्हा-दुल्हन के लिए मीमांसा एवं दीर्घायु प्राप्ति की प्रार्थना की जाती है। दुल्हन के पीहर व समुराल में आनन्द-मगल हो ऐसी सामूहिक प्रार्थना अद्वैत विश्वास के साथ प्रस्तुत गीत में द्रष्टव्य है—

छठो तो वासो फेराजी बसियो फेरा में बँट्या लाडो लाडलो ।

म्हारी लाटल को चीर वढ्ज्यो, राई वर की वढ्ज्यो बीटली ।

वढ्ज्यो वढ्ज्यो ए लाडी गोद थारी, एक पीहर दूजो सासरो ।

प्रत्येक घर में भटार भरपूर रहे, धन-धान्य में परिपूर्ण रहे तथा जीवन में लाभ ही लाभ में मंगलमय एवं सुखमय दिनों का आगमन होना रहे। प्रस्तुत पंक्तियों में आमावादी उच्च भावनाओं के भगवद्भजन होते हैं—

सातवो तो बासो ओवरहा वमियो, ओवरटो गुड धी भरियो ।
एक चून चावन कि एक मैदा, बरकत करो विनायकजी,
एक कोयलडी ब्रव देईयो, विनायक लाडने के बाप ने ।

ये अनेक जीवन में नम्रता, मधुरवाणी एवं आदर्श मनुक्क-परिवार का वत्सान भागने हैं। यही ना भावनाएं जीवन में जागे नजर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के विचार का आधार बननी है—

बा तो भीठी मो बोले, नमकर चले जम रवे बा के दयाह मे ।
एक बाँहडली बल देइयो विनायक लाडल के बीर ने,
एक नात मे जल देइयो विनायक लाडली के नाना मामा ने ।
एक आरत जम देइयो विनायक लाडल की नुवा भंज ने ।

विवाह में मंत्रप्रथम विनायक को निमन्त्रणपत्र टोल के टमके के माय दिया जाता है तथा अर्द्धा के माय उन पर जाता है नही पूरा विश्र्वात भी गया जाना है। उन गीतों में जोर जीवत में ध्यात आर्यवाद एवं आत्मिकता के पावन दर्शन होते हैं। उनकी दृष्टि में भगवान की प्रमन्नता पर ही सम्पूर्ण काय की सफलता निर्भर है।

आराध्यदेव की प्रमन्न करने के लिए मन्त्रांग मरा हृदय उटेल दिया जाता है तथा नम्रता के माय मुग्धिन वानावरण या आयोजन का परम्परागत विद्या दिने जाते हैं। जोर जीवन में ऐश्वर्यपूर्ण जीवन के भी दर्शन होते हैं—

एक आर्य गूल की दास मुगधी कृण ए सुहागण गणपत पूजियो ?
गणपत पूज लाट लई की माय सुहागण क्या घर बिटव उतावली ॥

दीपावली के अन्त में रानी-पूजन के समय विनायकजी को पहले स्मरण किया जाता है तथा उनका प्रतीक स्थानिक सर्व प्रथम जमिन पर उमरा पूजन भी दिया जाता है। यहाँ घर-घर इस पावन चिह्न के दर्शन होत हैं। सभी मांगणिक अवसर पर गणपति पूजन अगाव अर्द्धा के माय किया जाता है।

जीवन में मुग्धास्थ एव याति गीतलता आदि के लिए 'गीतना माना' का पूजन वाम अर्द्धा के माय किया जाता है। माना के मन्दिर को गया व टोला जाता है। चादी के बाग में सुकुम रोली, मोरी व नैवेद्य आदि माममी के माय मा के मुमग्धिन मठ में जाकर भक्ति-भाव में अर्चन किया जाता है। गठनफरमियों के फलस्वरूप उसे अग्रविश्राम का ही प्रतीक माना जाता है, परन्तु इसकी अनल गहराई में उतरने पर अनेक मूल्यवान विचार-रंग प्राप्त होते हैं। 'मा भी' (नम्रदायिनी, सभी प्राणियों का बार उठाने वाली वृत्ती मा) के प्रति पावन प्रेम व गहन अर्द्धा की मृत रूप दन में अद्वितीय योगदान देने है। नामूहक रूप में पूजन-गमाह सम्पन्न होना है। ऐसे गीतों, कार्ययमों में हमारी सन्धुति के मूठ आशा एतना, प्रेम व मध्यम के बीज अज्ञान रूप में विद्यमान है। गीतलता का पूजन यह पुत्रप्राप्ति के लिए करनी है—

“गज भन्नी की माना मठ में गिजाई, जो मठ पूजन जाऊ ए भवानी एक बाउटो देई ।”

नाम—पीगी पाटु भिजा ठावटो बह थे, मिद्ध चाल्या जी ।

यह—आन भक्ती की माना मठ में बिजाने वो मठ भोषण जीऊ ए भवानी-भोद जदरा देई ।

प्राचीन समय में प्रता व राना के मुख्य प्रेम और अर्द्धा का संचार करने में दन्ही गीतों का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। सुख, शान्ति का अजन्म-ज्ञान बहाने वाली ये ही गीत की पंक्तिया द्रष्टव्य है।





“(राजा का नाम लेते हुए) दरवाजा खोल था पर मैयाजी करछे माता शीतला ।
राजा द्वाग उत्तर-म्हाने कोई फरमावे माता शीतला ।

थान देसी गढ़ तिलडी रो राज शीतला ।

हमारी सस्कृति बडो के साथ श्रद्धापूर्ण व्यवहार तथा छोटी के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार, एफता व प्रेमपूर्ण समाज की व्यवस्था करती है । लोकगीतों में कुछ ऐसे हैं जो परिवार के अविवाहित सदस्यों के मरणोपरान्त गाये जाते हैं । वे प्रेम मंगलकामना और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों से प्लावित हैं । पारिवारिक मनाहारी उद्यान में वे कलियों, फूलों व लताओं के साथ खेलकर मरणोपरान्त भी वरदान-स्वरूप मिट्ट हो रहे हैं । प्रेम की अनूठी मीठी इनमें गीतूपधारा का रूप में प्रवाहित हो रही है—“दादामा ग बाग में उडयो चमेली रो रूख जी म्हारा छोटा-ता पीतर कनिया में खेर, मोगरा में खेल, हरख हरख फल देय ।

इसी प्रकार लोकगीतों के अन्तर्ग में छुपे हुए तत्त्व नारी-ममर में एफता, प्रेम व आदर्शभाव की प्रकट करते हैं । कभी कभी पुरुष प्रथम विवाहित स्त्री की मृत्यु के बाद द्वितीय स्त्री से विवाह करता है तो पहली वाली के लिए कितना श्रद्धापूर्ण स्थान हृदय में रहता है ? इन भावा का सुन्दर चित्रण निम्नलिखित पत्रित्यों में द्रष्टव्य है—

बडी जी तो आया जी ल्होडी के प्यारा पावणा ।
चोकी तो हलावा जी बडी जी थान वंसना,
दूध पला लाग पाव, बडी जी तो

नव-वधू बडी जी को श्रद्धाजलि अर्पित करने के साथ ही साथ उन्हें हमेशा अपने साथ ममभनी है । उनके अग प्रत्यग की शोभा का स्मरण हो आता है । उनके प्रति आराध्य देव के तुल्य सेवा-भाव प्रकट किया जाता है । गीत की पत्रित्यों में सेवा और त्याग का रूप दर्शनीय है—

“जीमत नीरखा जी बटी जी याग आगली, मुलकत नीरखागा थारा दात जी । भूगफरी सी जी बडी जी थारी थागली दात दाङ्क का बीज ।”

वहूराजी मसुराल में सास और श्वसुर का अपने माँ बाप की भाति ही आकर सत्कार करती है तथा उनके हृदय में मसुराल के सभी सदस्यों के लिए श्रद्धा और प्रेम की गंगा यमुना बहती रहती है । वह सर्वदा उनकी प्रगति, स्वास्थ्य आनन्द एवं समृद्धि के लिए भगवान में प्रार्थना करती है । उसका हृदय विद्याल मागर की भाति प्रेम-तरंगों से तरंगित रहता है, भेदभाव की तग गलियों को छोड़कर व्यापकता धारण करती है । हमरो के हित व सेवा-कार्य में ही अपने जीवन की सफलता मानती है । वह अपने अमर सुहाग के प्रतीक चुडले (पति के लिए) के लिए, अपने पुत्र (दादामा के पोत्र) के दीर्घायु होने के लिए देवी-देवताओं को ढोकती है—उनमें प्रार्थना करती है—

“सुसरा जी म्हारा ये हो धरम वा बाप जी म्हाग ये छो धरम का मायेत जी, थाग हम्तीणा सीणगा-गे म्हें वालाजी ने ढोकस्या ।”

कोडरा खातर भवण बोली छै जात ए भवण बोली छै जात ए

सुसरा—ये तो काहेरा खातर वजरग जी ने ढोकस्यो ।

बहू—कवग री खातर मे तो बोली छै जात जी म्हारै चुडलेरी खातर वालाजी ने ढोकस्या ।

उपर्युक्त पत्रित्यों में परिवार के ऐदवयं, पदाप्रिया के अभाव आदि का भी स्पष्ट संकेत मिलता है ।

इतना ही नहीं वह देवर और देवगिया के उज्ज्वल एवं मंगलकारी भविष्य के लिए भी उत्सुकता व हादिक कामना प्रकट कर आदर्श संयुक्त परिवार की स्थापना करती है । प्रस्तुत पत्रित्यों में देवर आदि से वालाजी ढोकने के लिए कह रही है—

“देवर म्हारा देवगिया चतुर मुजान जी, थारा करहलिया ललकारों म्हे वालाजी ने ढोकस्या,
कवरारी खातर बालाजी ने ढोकस्या जी, थारं जीवडा री खातर बालाजी ने ढोकस्या ।

पतिव्रता नारी की मन्दर एवं मन्दर भावनाएँ गीतों में उमड़ी पड़ती हैं। हमारे देश का साम्प्रतिक पक्ष इन दृष्टि में अत्यन्त मजबूत दृष्टिमान होता है। प्यार और त्याग में दूबा लोकजीवन सर्वदा एक दूसरे के प्रति मांगलिक-कामना करना रहता है तथा उज्ज्वल भावी जीवन के लिए हादिस-श्रद्धा ईश-चरणों में अर्पित करता रहता है।

लोक में व्याप्त हृग्जिम के माध्यम में प्रतिधिमत्कार की पुनीत भावनाओं के दर्शन होते हैं। लोग विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट रस भरे व्यजन तैयार कर अपने आराध्यदेव को मनुहार के साथ जिमाने के लिए हादिक अभिलाषा व्यक्त करते हैं। उनके लिए अनिधि देव ही आराध्यदेव के तुल्य है। प्रेमगूरित भावना है—

“म्हारी कुटिया में आवो दीनानाय जिभावु थाने मिखवानो ।

चावल शाल गुवा का फलका, छूव बनायो साग ।

पुडी, पकौडी और कचौडी मठडी बनाई मजेदार ।

गरीब व्यक्ति विभिन्न पक्वान्तों के अभाव में माश्राण भोज देने को उत्सुक है। उसमें घुला हुआ है श्रद्धा और प्रेम का मधुरम । वह अपनी दीन अवस्था के लिए अमा-याचना करते हुए श्रमाय को अपनाने की अनुनय विनय करता है। भगवान भाव के भूखे हैं। वे मुदामा के म्नेत्रपूणि चावलों का चवाने में नहीं चूकते, भीखनी के जूठे बेर खाने में नहीं हिचकिचाने तथा करमा बाई का खीचडा खाने में भी आगे-पीछे नहीं सोचते। लोक-गीतों में छुआ-छूत एवं छोटे बड़े की मर्णीय भावनाओं को प्रथम नहीं मिश्र है। वरन् प्रार्णामाय का प्यार करने की निर्मल भावनाओं के पावन-दर्शन होते हैं। ऐसी स्थिति में ही विज्वन्धुत्व की पुनीत-भावनाओं को बल मिलता है। यही हमारी मन्कृति या मूलमन्त्र व मुख्य लक्ष्य है।

प्रस्तुत है कर्माबाई को खीचडलो—

“थे तो आरोगीजी मदनगुपाल कर्माबाई को खीचडलो ।

मैं छू अनायनी नहीं जानु पूजा फन्द ।

नयो नवायो, झेलियो यो धन्वो गोकुलचन्द,

तू ही राखणियो भगत की बाजी श्याम ।

इसमें भक्त के मरल, मादगीपूर्ण एवं आहम्बग्हीन जीवन के पावन दर्शन होते हैं। उनके जीवन में परि-व्याप्त विनम्रता की स्पष्ट अभिव्यक्ति है।

अन्तु निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि राजस्थान के देवी-देवताओं सम्बन्धी लोकगीतों में जागाबाद मादगी, मरलता, श्रद्धा, प्रेम, नम्रता, आत्मिकता, एकता एवं महयोग ने पूर्ण जीवन के दर्शन होते हैं। यहाँ के लोक-जीवन में हर्षोल्लास की मधुर ध्वनि गुंजायमान है।

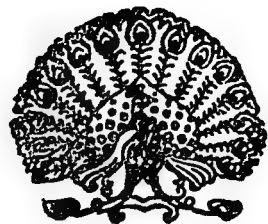
ये गीत लोकजीवन में वेदमन्त्रों की तरह ही व्याप्त हैं। गीतों के बिना जीवन की गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती। प्रत्येक हर्ष और उल्लास के समय लोग अपने कुलदेवता, कुलदेवी, गगाजी, भैरवी, बालाजी, पितर, नाग-देवता, कुआ-बावडी के थानक पर विराजने वाले विविध देवता आदि को याद करते हैं, अपने पशुधन की रक्षा के लिए हीरामन, तेजाजी आदि लाक-वीरों की स्तुति करते हैं और अपनी साम्प्रतिक-दाय को मुरझित बनाये रखने के लिए गम, कृग्य जादि अवतारी पुष्पों के चरितों का गान करते हैं। इन सबके लिए वे गीतों का उपयोग करते हैं। ऐसा कोई भी उत्सव नहीं है जो देवी-देवताओं के गीतों के बिना सम्पन्न हो जाता हो और ऐसा कोई भी धार्मिक या सामाजिक आयोजन नहीं होता जिनमें देवी-देवताओं की स्तुति नहीं जानी हो। इन गीतों और स्तुतियों में हमारे साम्प्रतिक-वैभव का स्पष्ट चित्र अंकित रहता है और लोक की मतरगी भावभूमि का स्पष्ट दर्शन होता है जिसको जाने बिना कोई राष्ट्र अपने स्वरूप को बनाये नहीं रख सकता ।



राजस्थान के चैत्र-मासीय पूजोत्सव- गीतों में नारी-जीवन

डा० रामप्रसाद शर्मा

गवर्नमेन्ट कालेज, किशनगढ़ (राज०)



साहित्य समाज का दर्पण है, पर जिन रचनाओं को साहित्यिक कहा जाता है उन पर तो रचनाकार वाञ्छित-अपेक्षित-व्यवहारों एवं मन्थना और साहित्य के निर्धारित आदर्शों का आवरण डाल देता है जिसके फलस्वरूप उसका वह साहित्य तो उक्त समाज का निखरा और कुछ कृत्रिम प्रतिबिम्ब ही प्रस्तुत करता है। यो कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सत्य, शिव, सुन्दर के आधार पर निर्मित साहित्य-दर्पण तो समाज का आदर्श और व्यवहार से समन्वित प्रतिबिम्ब ही प्रस्तुत करता है जो वास्तविकता में उतना ही परे होता है जितना 'फिनिशिंग' किया हुआ केमरे का फोटो। इसके विपरीत लोक-साहित्य द्वारा उक्त जनपद के जीवन का वास्तविक और अप्रच्छन्न रूप प्रकट किया जाता है। साहित्यिक गीतों और लोक-गीतों के माध्यम से प्रकट होने वाली सामाजिक-सांस्कृतिक जन-जीवन की झलकी में भी स्वल्पतः यही अन्तर विद्यमान रहता है।

लोकगीतों की गणना अपरिष्कृत-साहित्य में भले ही की जाती हो पर उनमें प्रकट होने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक तथ्य अत्यन्त स्पष्ट और मत्स्य होते हैं। यहाँ लोक-मानस का नग्न, अनादृत और विशुद्ध चित्र प्रकट होता है। लोकगीतों में मन का स्वच्छन्द-आलाप छन्द-स्वर से परे हटकर और यहाँ तक कि मनाविकारों-उद्देशों के स्वाभाविक प्रवाह को बाधित करने वाली सामाजिक मान्यताओं-सीमाओं को तोड़कर वन्यवायु की भाँति वेगवृद्ध चलता है। अस्तु लोकगीत ही जन-मन और जीवन की सत्यता को भाषित करने वाले होते हैं।

लोकगीत जीवन के अनेक सस्कारों, सामाजिक व्यवहारों, रीतिरिवाजों, वैयक्तिक अनुभवों साधारण-असाधारण परिस्थितियों से सम्बन्धित होते हैं जिनके आधार पर उक्त समाज के जीवन का अध्ययन किया जाता है। यहाँ हम राजस्थान के चैत्र-मासीय व्रत-पूजा-उत्सव-पर्वों पर प्रचलित लोकगीतों के आधार पर यहाँ के नारी-जीवन का चित्रण करना चाहते हैं। राजस्थान एक बृहद् भूभाग है जहाँ अनेक बोलियाँ और जनभाषाएँ व्यवहृत होती हैं जिनके समन्वित रूप को मरुभाषा या राजस्थानी कहा जाता है। मरुभाषा अथवा मारवाड़ी की साहित्यिक शैली ढिङ्गल है जो बोल-चाल व्यवहार की माधुर्य भाषा मारवाड़ी से भिन्न हो गई है। आज जिसे मारवाड़ी कहा जाता है उसी भाषा में यहाँ के व्रत-उत्सव-त्यौहार और सस्कार सम्पन्न किये जाते हैं। इसी माध्यम में यहाँ के विभिन्न उत्सवों-पूजापर्वों पर महिलाओं द्वारा गाते गाये जाते हैं जिनमें जनपदीय-जीवन की सामाजिक सांस्कृतिक-परम्पराओं का अध्ययन किया जा सकता है।

राजस्थान का नारी-समाज यम-प्राण है जिसके जीवन में आये दिन एक न एक पूजा और व्रतोत्सव का विधान है। वसन्त, पावस और शरद ऋतुएँ जीवन में विशेष स्फूर्ति और चेतना प्रदान करती हैं और यही कारण है कि हमारे जीवन में मारे पूजा-महोत्सव और त्यौहार लगभग इन्हीं ऋतुओं में आते हैं। होली, दशहरा, रक्षाबन्धन, दीवाली आदि त्यौहार और अनेक व्रत-उपवास पूजा के पर्व इन्हीं दिनों आते हैं। राजस्थान में फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा में चैत्र मास तक तीन महत्त्वपूर्ण पूजोत्सव मनाये जाते हैं—होली, शीतला और गणपौर। इन पूजोत्सवों में यहाँ के नारी

जीवन सम्बन्धी अनेक तथ्य निहित हैं। हालिवादहन में एक मास पूर्व फाल्गुन की प्रतिपदा को होली-रोपण किया जाता है और उसी दिन में गीतों की लहर उमड़ पड़ती है। गाँवों, शहरों, मोहल्लों में चंग और डफ पर फागु-गीत गाये जाते हैं। महिलाएँ और पुरुष अलग-जलग नमूनागान करने हैं। श्रुतगुज वमन की प्रेरणा में युवतियाँ लोफगीतों के माध्यम में न्यून शृंगार का चित्रण करती हैं। जिनमें मन की निरकुशता और काम परवशता व्यक्त होती है। हांकिवादहन के अवसर पर महिलाएँ भी पूजन करती हैं तथा वे होली में लोफमगल की कामना करती हैं। होलिका-पूजा के समय ग्रामीण बालाएँ जो गीत गायी हैं उसमें जीवन की मरलता, भोलापन और वसन्तोल्लस की भावना प्रकट होती है। आज उनके जीवन में होली और फून्नी में लड़ा वसन्त दोनों साथ-साथ आये हैं, इसी वेश में उनका कान्ह जैसा नन्हा मुकुमार भाई कैमगिया बस्त्र पहिने खेल रहा है। ऐसे मगल-जवमर पर उन्हें प्रह्लाद जैसे भाई की कुशलता के अनिश्चिन् और क्या चाहिये ? हर वर्ष होली पर उनका भैया प्रफुल्ल मन में खेलता रहे, यही उनकी चिर-अभिशापा है —

होली आई है फून्नी रो झोली झरमटियो ल ।
ओ कुण खेल' हे केसरियो बागा झरमटियो ल ॥
ओ खेल' हे म्हारो कान्हडो ओरो झरमटियो ल ।
ओ खेन' हे पह्लाद ज्यू प्यारो झरमटियो ल ॥

चैत्र मास की कृष्णा मन्मसी-जष्टमी को यहा शीतला पूजन किया जाता है जो प्रायः दो दिन तक चलता है। शीतला चैचक नामक भयकर रोग को धामन करने वाली देवी समझी जाती है। चैचक भारत का प्रचलित मरु-मरु रोग है जिसमें प्रतिवर्ष हजारों बच्चे मरने हैं और कुल्ल हो जाते हैं। अध्यात्म-प्राण मस्कृति में पलने वाले भारतीय नाग-समाज ने इस रोग को देवी का प्ररोप माना है और इसने बच्चे तथा स्वास्थ्य-नाश करने के लिए शीतला-पूजन का विधान स्वीकार किया है। वैज्ञानिक युग में चैचक के चमत्कारों टीको का आविष्कार हुआ चुका है फिर भी आज इसकी गोकयाम और इसका उपचार अमाध्य है। शीतला पूजन का परम्परागत विश्वास ही आज इस असाध्य रोग को मरने का आत्मबल देता है। चाहें हम उसे वैज्ञानिक-आलोचक ने अनभिज्ञ अर्द्धमन्य नारी-हृदय का अविविवात कहे, फिर भी पूजन का महत्व कम नहीं है जो मुकुमार अवस्था के बाल रोगी एवं उसके मनस मानु-हृदय को असीम कष्ट-महिष्मृता और आत्मबल देता है। शीतला की कृपा में असाध्य रोग में बच जाने का आत्मविश्वास रूपावस्था में प्राण फूँकना है। यही आंतरिक उपचार है जिसके अभाव में कितनी ही मूल्यवान ओपधिया देने पर भी छोटे रोग भी मृत्यु के कारण बन जाते हैं।

शीतला-पूजन यहा सभी वर्षों और जातियों की माताएँ करती हैं। इस दिन बही से बनी 'राबडी' या ओल्ला में देवी शीतला को शीतल किया जाता है। माताएँ दो दिन बारी भोजन करती हैं और शीतला में सतान के मगल की प्रार्थना करती हैं। यह व्रतोत्सव और पूजन माता के वात्सल्य का प्रतीक है। बच्चे माता के लिए अमूल्य निधि हैं। उन बच्चों के मोन्दर्य की सुरक्षा करने वाली तथा चैचक रोग में जीवन प्रदायिनी-माता शीतला ही यहा की माताओं के लिए सर्वपूजा सर्वेश्वरी देवी है—

और माता बालपाल मावो माता शीतला ।
गोरा ने काला करे काला ने किडकावरा ।

शीतला-पूजन नारी हृदय की देवी-प्राप्त्या, परम्परागत विश्वास और उसके पवित्र वात्सल्य-भाव का प्रतीक है जिसमें व्याप्ति और समष्टि के कल्याण की कामना निहित है। नारी हृदय के अगाध-वात्सल्य को व्यक्त करने वाला यह पूजन अवविश्वास-अज्ञान की परिधि में पड़े है। यह पूजन जिसित परिवार की महिलाएँ ही नहीं करती बरन् चित्रितमको-टावटरो की पत्नियाँ भी उसकी उपेक्षा नहीं करती। चाहें विज्ञान के विश्वासी इस आस्था को नारी का अवविश्वास ही कहे और चाहें न इसका विरोध ही करें न करें फिर भी इसका अस्तित्व स्थायी रहेगा क्योंकि यह





पुत्रवती नारी का आग्रह है जिसके सतानप्रेम की तुलना में पतिप्रेम भी नगण्य है। इस पूजन में प्रसविनी मातृ हृदय की दृढ आस्था है। जिसने प्रसव-पीडा का कटु-अनुभव किया है, क्या वह कठिन साधना में प्राप्त सतान की मंगल-कामनाओं के अवसर छोड़ देगी? नारी-हृदय अत्यन्त कोमल और भावुक होता है जिसे व्यष्टि से परे समष्टि की पीडा का अनुभव भी गीघ्र ही होता है। अतः वह कैसे सह सकती है कि चेचक का प्रकोप समाज पर हो और उसके तथा समाज के नौनिहाल महामारी द्वारा छीन लिये जायें? किसी की आँख चली जाय तो किसी के सौन्दर्य और प्राणों का अपहरण ही हो जाय? भावुक और करुण नारीहृदय किसी का रुदन नहीं देख सकता। उसकी छाती पराये दुःख से फटने लगती है। उसका हृदय वात्सल्यातिरेक से पड़ोसी के निवन पर भी सिमरिजा भरने लगता है, किमी बालक की सद्य मृत्यु पर वर्षों पूर्व की हृदय-द्रावक स्नानुभूतियाँ उसे स्वतः ही खलाने लगती हैं। नारी में सृष्टि की पालयित्री शक्ति का निवास होता है, जिसके स्तनों को दुग्ध-धारा में सृष्टि गलती है तो सहानुभूति में बहने वाली अश्रुधारा में लोककल्याण पलता है। 'आँख में है दूध और आँखों में पानी' वाले नारी व्यक्तित्व का यही रहस्य है। यह शीतला पूजन मातृ-हृदय के इन्हीं रहस्यों को प्रकट करता है।

शीतला-पूजन सप्तमी की अर्द्धरात्रि से प्रारम्भ होता है तथा अष्टमी तक चलता रहता है। गांव के किसी एक स्थान पर शीतला देवी का मंडप होता है जिसे हम चव्वारे के रूप में बना छोटा मंदिर कह सकते हैं, जहाँ सारे भेदभाव-जानपात को भूलकर सभी माताएँ पूजन करती हैं। महिलाओं के सरस-स्वर में बड़ी ही श्रद्धा के साथ बच्चों की रखवाली (बालूडी रखवाली) माना शीतला का पूजा गीत गाया जाता है। गाती हुई वे कहती हैं—“बछड़ों और बालकों के तन पर चेचक का आगमन हुआ है।” सेढल (शीतला) मा का देश में पधारणा हो रहा है, शिशु-घन उमी का है। उसका पूजन ही उपचार है। अतः हम पीले वस्त्र, दीपक अक्षतादि से उसे पूजेंगी। उसके मंडप को स्वच्छ करके सजायेंगी। शीतल भोजन करेंगी—

माता (सेढल) आई ई देस में हे माय । बालूडा रखवाली माता शीतला ॥

घडकी छ बालूडारी हे माय ॥

दडक्या छ टोडा-दोरडी य माय ।

माता रो मडो चूणस्या री माय ॥

माता रो मडो ढोलस्या हे माय ।

माता रो मडो चरबस्या हे माय ॥ बालूडा—

घर घर दीवलो जोवस्या हे माय ।

नी नेवज कर पूजस्या हे माय ॥

ऊजली अठाई पूजस्या हे माय ।

सइय सवारो पूजस्या हे माय ॥ बालूडा—

मोती रा आखा चढास्या हे माय ।

पीला पोटला सू पूजस्या हे माय ॥

टावर-दूबरा दुखास्या हे माय ।

बालूडा रखवाली म्हारी शीतला हे माय ॥

राजस्थान के स्त्री-समाज में राजतन्त्र के प्रति अगाध श्रद्धा विद्यमान है। सुयोग्य राजाओं के कुशल-उदार प्रशासन को वे आज भी कृतज्ञतापूर्वक याद करती हैं। शीतला के पूजागीत में राजतन्त्र के प्रति गहरी श्रद्धा और मंगलकामना प्रकट हुई है। इन गीतों में माताएँ आज भी स्वामीय राजाओं के मंगलमय भविष्य की कामना करती हैं तथा अपने से पूर्व उनकी पारिवारिक कुशलता एवं वंशवृद्धि की वलवती कामना करती हैं। गीतों में अपने पारिवारिक पूर्वजों से पूर्व क्षेत्रीय राजा का नामोच्चारण करती हैं। जो उनके हृदय का पुरातन मोह है। राजस्थान की सभी रियासतों का भारतीय सघ में विलीनीकरण हुये बहुत समय हो चुका है, पर स्त्रीशिक्षा के अत्यल्प प्रसार के कारण यहाँ

आज भी इन प्राचीन राजनारी-विज्जामो-परम्पराओं का अवमान नहीं हुआ है, गीतला-पूजन का प्रस्तुत गीत इसी तथ्य का द्योतक है—

सुमेरमिह सा (किशनगढ़ के वर्तमान राजा) हो दरवाजा खोल—
 था पर देया जी करेली माता सीतला ।
 म्हान' काई जी फुरमाय माता सीतला ॥
 थाने देसी जी गढ़ दिल्ली रो राज—
 थाने देसी जी भाई भतीजाडारो जोड—
 थाने देसी जी वेढा पोता री जोड । था पर—
 सासू-बुवा हो ओवलिया (कोटरी) खोल—,
 थाने देसी जी फून्डीया रो बेन—,
 थाने देसी जी पीलडो रो बेस—,
 थाने देसी जी सासू बुवा री जोड—,
 थाने देसी जी दोर जीठाणिया री जोड । था पर

राजस्थान के स्त्री-समाज का सर्वश्रेष्ठ उत्सव गणगौर पूजन है। ईसर-गणगौर का यह पूजन अपने मूल में जिव-पार्वती की युगलापासना है। यह पूजा चैत्र ऋणा प्रतिपदा में मोलह दिन तक चलती है। अविवाहित किशोरी बालिकाएँ—सुगंध वर की प्राप्ति के लिए तथा विवाहित युवतियाँ अपने सुत्र-मुहाग की मंगल-वृद्धि के लिए गौरी पूजन करती हैं। मोलह दिन तक पूजा और व्रत का विधान निरन्तर चलता रहता है। गौरी पूजा के लिए मोहल्ले के किनी एक घर पर जहाँ स्त्री-समूह मरलना ने एकत्र हो मरुता है, वहाँ ईसर-गणगौर का भित्तिचित्र बना लिया जाता है तथा वहीं पूजन क्रम चलता है। बालिकाएँ और युवतियाँ गौरी पूजा के लिए दूर्वादल और पुष्प लेने उपव्रतो में जाती हैं तथा जलाशयों में स्वच्छ जल के कलश भर कर लाती हैं। फिर दूर्वादल में मजे पवित्र जल के कलशों को माथे पर लिये प्रस्तुत गीत समवेत स्वर्गे में गाना हुई पूजामंथल पर चली आती है—

वाडी बाला, वाडी खोल, वाडी की किवाडी खोल, छोगिया आई दूध ने
 ये कुण्या जीरी बेटी हो, कुण्या जीरी नैण, काई थारो नाम छ ?
 म्हें बीरमा जीरी बेटी हा ईसरदास जी री नैण गौरा म्हारो नाम छ ॥
 म्हें आया ये फलसार वार घई घमोडा गुजरी ।
 घमोडाये ईसरदास घर नार आये घोली पायली ।
 म्हें पातलियाँ न पातलियाँ छार सीधामण बैठर्या ।
 म्हें देत्या तिलडी रो हार हरीया मुग मरोडर्या ॥ म्हें आया—गुजरी ।

ईसर—गणगौर के भित्ति-चित्र की पूजा दूर्वादल-पुष्प-जल में की जाती है और मोलहर्वे दिन आटे और गुड़ में व्रत 'फल' का भोग लगाया जाता है। पूजा करने समय प्रतिदिन निम्न वरदान गीत गाया जाता है—

गौर हे गणगौर माता खोल हे किवाडी ।
 वायर ञ्चरी थारो पूजन हारी ।
 पूजो हे पूजारीयाँ थार्याँ काई काई नागों ।
 म्हें मागा हलखल कूडो छाछ मचू डो ।
 हिया तवाणो गोवर मागा कड्या मवाणो लाद है ।
 अलजल जामी मागा राता देई मा है ।
 काण्ह कुवर सौ बीरो मागा राई सौ भोजाई ।
 बडा धूनालो काको मांगा चूडला वाली काकी ।





फूस उडावण फूफो मागा हांडाधोवण भुआ ।
 काजलियो वहण्योई मागा सदा सुहागण भँण हे ।
 महुला चढता साहिब मागा ज्याफी म्हें घरनार हे ।
 इतरा तो वे म्हारी गीरज्या इतरो सो परवार ।
 बाप तो फव' वेटी लाडली मा कव परदेस ।
 बीरो तो कव वनड बीजली चमक' छ चारों देस ।
 गाजू नो धोरु बीरा मालवरे बरसू बादाजी क देस ।
 बरस नोपजाऊ मोठर बाजरी र कोढ्याती जुवार ।
 टका रो मण बाजरो र पइसा रो मण मोठ ।
 झाला तो झाला बीरा बाजरी र गाढा गाढा मोठ ।

यदि हम राजस्थान की ग्रामवामिनियों के जीवन का दर्शन करना चाहते हैं, तथा उनके भारी जीवन के प्रति उनकी अभिलाषा-आशा, उत्साह उमग, व्यावहारिक परिकल्पना को परखना चाहते हैं तो गीत की व्याख्या कर लें । गणगीर से राजस्थानी युवतियां न केवल सुन-मुहाग, आमोद-प्रमोद ही मागती हैं वरन् वे उनसे मरल, श्रमसाध्य जीवन और सयुक्त परिवार का वरदान भी चाहती हैं । वे कहती हैं—हे गणगीर, आप हमें भरापूरा कृपक परिवार देना, जिसमें हल कुआ बँलादि घेती के समस्त साधन हों तथा जिसमें पूर दूध-दही होता हो । हम कर्म में चिन्वाम करती हैं, श्रम ही हमारा जीवन है अतः हमें बहुत-सा पशुधन देना जिसके गोबर लाद में हम अग्ने छेत भर दें । मरल हृदय वाले पिता देना, पचौला-रोबीला काका देना, सुन्दर भाई देना, राई-मी भोली भाली भाभी देना, बरपूर कपड़े देने वाली मा देना, सुन्दर बूड़े वाली काकी देना, कामकाज में हाथ बटाने वाले फूफा-फूकी देना, सजीला-रगीला बहनोई देना, मदा सुहागिन बहन देना, तथा निरन्तर हमारे ही साथ रमण करने वाला पति देना । मारवाड की सूखी मरुघरा के इस नारी-जीवन में कितना उल्लाम-उत्साह भरा हुआ है । वे श्रम और कर्तव्य के प्रति कितने सजग हैं ? उनमें सामूहिक परिवार की भावना किन्ती दृढ़ है ? उनका मानस कितना मरम और भावुक है ? तथा वे कितनी सयत् होकर आडम्बर रहित मच्चे आनन्दमय जीवन की परिकल्पना करती हैं ? यह जीवन शहरी आडम्बरो से परे, छुट्टी चमक-वमक और थोथी कल्पना में दूर कितना मरल और व्यावहारिक है ? जिसमें फूहड ग्राम्यत्व नहीं । आज पाश्चात्य परिधान में अपने तन को आधुनिकतम फैशन में सजाने वाली तथा मन को 'सिने-ससार' की आममानी कल्पनाओं में रगने वाली युवतियां क्या बतायें वे भी भारतीयता के पूर्ण ठोस व्यावहारिक जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं जिस जीवन का मूलाधार कृपि और पशुधन है ?

राजस्थान का यह गणगीर पूजापर्व सामंत-काल में आकर राजसी और शाही उत्सव बन गया । यदि हम ईसर-गणगीर के भित्ति चित्र को देखें तो उसमें राजपूतकालीन वेपथूपा और चित्रशैली दिखाई पड़ती है । राजस्थान के प्राचीन राज्यों में यह पर्व शाही तरीके से मनाया जाता था, प्रत्येक राज्य में ईसर-गणगीर की काण्ड-प्रतिमाएँ रखी जाती थी जिन्हें गणगीर पर्व पर खूब अलंकृत किया जाता था और धूम-धाम से उनकी सवारी निकाली जाती थी । आज भी जयपुर का गणगीरपर्व दर्शनीय बना हुआ है । गणगीर राज्य के मान-अपमान का प्रतीक भी बन गई थी, ऐनी कई घटनाएँ हुई हैं जब कि एक राजा ने दूसरे राजा की गणगीर प्रतिमा को बलपूर्वक भगवा लिया । इस प्रकार की छीना-झपटी और अप्रत्याशित लूट के कारण गणगीर-समारोह पर रक्तपात भी होता रहा था । स्वतंत्रता के बाद राज्यों के विलय में गणगीर का उत्सव अब उतना समारोह-पूर्वक और शाही ढंग से तो नहीं मनाया जाता फिर भी आज इस पर्व के प्रति प्रत्येक हिन्दू परिवार में पूर्ववत् उत्साह और आस्था वर्तमान है । आज भी वह प्रत्येक सुहागिन स्त्री के सुहाग का मंगल दिन बना हुआ है । प्रवासी प्रियतम इस दिन अवश्य आते हैं और अपनी पत्नी के सुख-सीमाय को सरसाते हैं । आज के दिन पति से अलग रहना पत्नी का दुर्भाग्य है और यदि पति गणगीर पर आने से किसी प्रकार अममर्थ रहता है तो वह इस गीत द्वारा लज्जित किया जाता है—“निकल गई गणगीर मोल्यो मोडो आयो ।” यो कहना चाहिए कि गणगीर आज दाम्पत्य जीवन के उत्साह और उमग का मंगलपर्व है जिसमें पत्नी ही गणगीर है और पति ईसर, और वे शिव-पार्वती के जोड़े की भाँति अपने लिए भी चिर-साहचर्य की कामना करते हैं ।

इस पर्व पर और भी कई पूजा-उत्सव गीत प्रचलित हैं जिनमें गणगौर-आरती, गणगौर पाणी प्यावण गीत, ब्रथावा, मोठना और बिदाई गीत गौर पूजा में सम्बन्धित हैं। अन्य उत्सव गीत हैं जो नारी-जीवन के सुख-सुहाग-विलाप के परिचायक हैं। इन गीतों में जीवन की उदात्त-भावना के दर्शन होते हैं।

साथ ही इन गीतों में स्त्री जीवन के परम्परागत-विधान भी समाये हुए हैं, जिनमें हमें राजस्थानी नारी के जीवन-मूल, वेपथूपा-अस्कार, आचार-विचार का भी ज्ञान होता है। मैमद (मृगमद-कस्तूरी का तेल) रखड़ी (वोग-सुहाग का प्रतीक शीर्ष अलंकार) कुण्डल, कंठी, वेणु, लहंगा, चूनड़ी, पायल आदि शब्दों के सहारे प्रस्तुत गीत में बर्णित आभूषणो-उल्लासों ने नारी राजस्थानी महिला का चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जाना है —

म्हारे माये न' मैमद ल्याय म्हारा हजा मार याहीं रहवो जी ।

म्हारे काना न कुण्डल ल्याय— — —

म्हारे गल में कठी ल्याय— — —

म्हारी नाक में वेणु ल्याय— — —

याहीं रहवो उगल्ला सूरज याहीं रहवो जी ।

— — बरमन्ता बादल — — ।

म्हारे काने छ गिणगौर म्हागी हजा मार याहीं रहवो जी ।

जावा छो नखराजी-छिणगारी नार जावा छो न जी ।

म्हारा भायला जोवे छ बाट मिरगान्णी नार जावा छो जी ।

म्हारा पुचा न चुड़लो ल्याय म्हाग हजा मार याहीं रहवो जी ।

— बाया न बाजुबन्द ल्याय — — —

— पगल्या न पायल — — —

— आगल्या न बीछिया — — —

याने आया पुजावा न' गिणगौर म्हागी मिरगान्णी जावा छो न जी ।

उन्हीं दिनों यहाँ की महिलायें जवांग-पूजन भी करती हैं। मिट्टी के पात्र में जो गेहूँ की पीस लगाई जाती है और प्रत्येक परिवार के पुरुषों का नाम लेकर खेत में मृग तोड़ने या मत्तन करती हुई महिलायें अपने पुरुषों को हृषिकार की ओर विशेष प्रेरणा देती हैं और गुरुनर भार को अपने और विश्व कल्याण के लिए निभाने का मधुरनम उपदेश देती हैं। ४-७ दिन गीत गाती हैं। गीत में प्रकट होता है कि —

म्हारां हरीआं जुआंरा सलीआ जुआंरा-जोह चिगन्ना मृगला ।

मृगा ताडो न लानचन्द जी का—कृष्ण लाल जी मृग ला—॥

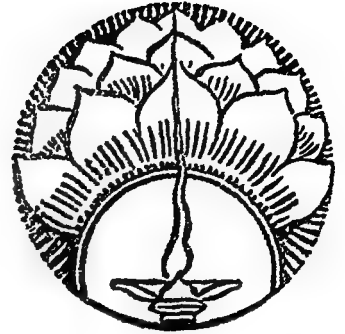
इस प्रकार हम राजस्थानी के इन चंद्रमानीय महत्वपूर्ण पूजोत्सव में यहाँ के महिला समाज के अनेक तथ्यों का उद्घाटन कर आये हैं। वास्तव में यहाँ के वर्णित नारी-जीवन में भाग्य की प्राचीन-सन्धिति आज भी साम ले रही हैं। यहाँ की नारी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व पति और पुत्र के कल्याण में समाया हुआ है और वह विश्वकल्याण का शोपक है।



हाड़ीती प्रहेलिका साहित्य की परम्परा

डॉ० नाथूलाल पाठक

एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०
गवर्नमेण्ट कालेज, कोटा (राज०)



हाड़ीती लोक में प्रचलित प्रहेलिका के नाम

हाड़ीती प्रदेश में पहेली के लिये दो शब्द-पयाली और पारमी-प्रचलित हैं। सामान्यतः पयाली शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है। पयाली शब्द संस्कृत के 'प्रहेलि' शब्द का विकृत रूप है। संस्कृत 'प्रहेलि' शब्द की व्युत्पत्ति प्र उपसर्ग हिल् धातु में ङ् प्रत्यय जाडकृ दृष्ट है। हिल् धातु केंचिक्रीडा या रगणेकटा प्रकट करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। मनोरंजन का साधन होने में पयाली ने अपने वास्तव्य को ही नहीं छोड़ा है। प्रहेलि शब्द के अतिरिक्त प्रहेलिका शब्द भी संस्कृत साहित्य में पहेली के लिये प्रयुक्त हुये हैं। वैदिक साहित्य में पहेली को ब्राह्मण कहा गया है। पहेली के लिये भारत की प्राचीन भाषा में भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग मिलता है। अथर्वी लोक-भाषा में इसके लिये 'हियाली' और हरियाणा की जनभाषा में फाली शब्द प्रचलित हैं, जो हाड़ीती पयाली में मिलने जुलते हैं। बुन्देली में पहेली को बुझोवल और पजाबी में बुझाग्न कहते हैं। कहीं इसको उग्याणा भी कहा जाता है।

हाड़ीती लोक भाषा में पहेली के अर्थ में प्रयुक्त दूसरा 'पारमी' शब्द विस्मयजनक-सा प्रतीत होता है। यह शब्द हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत अमीर खुसरो की कविता में इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। समझाने में कठिनाता के भाव को लेकर यह नामकरण किया गया है। पारमी भाषा की कठिनाई और पहेली की रहस्यमयता व दुर्गता का समन्वय होकर 'फारसी' या 'पारमी' पहेली का वाचक बन गया। आजकल भी विद्यालय में पढ़ने वाला बच्चा गाँव में जाकर अपने अशिक्षित परिवार वालों के सामने जब हिन्दी बोलता है, तब वे लोग यह कहते हैं कि अंग्रेजी बोला रहा है।

हाड़ीती लोक-प्रहेलिका की परम्परा

हाड़ीती की बौद्धिक-परम्परा में पहेली का अपना विशेष स्थान है। इन पहेलियों का मूकम अध्ययन करने पर ज्ञान होता है कि वैदिक युग के विकसित चिन्तन और परिष्कृत अभिव्यक्ति-पद्धति के मूल में जो परम्परा विद्यमान है, वही इनमें भी चली आ रही है। उदाहरण के लिये हाड़ीती लोकमुख में सचरमाण निम्न पहेली को देखा जा सकता है।—

“चार ठडा चार ताता, चार शरण्या क्षरे।

एक टाग सू वारा हरण्या, न्यारी च्यारी चरे ॥”

“चार ठडें हैं, चार गरम हैं और चार में भरने भरते हैं। बारह हरणिया एक पैर में खड़ी होकर अलग अलग चरती हैं।”

हाड़ीती लोक में प्रचलित इस पहेली में शीत, ग्रीष्म व वर्षा-तीन प्रधान ऋतुओं तथा बारह महीनों का संकेत किया गया है। इसके साथ ऋग्वेद के प्रथम मंडल के पिवानवें सूक्त का प्रथम मंत्र द्रष्टव्य है—

‘द्वे विरूपे चरत स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते ।

हरिरन्यस्या नवति स्वधावान् शुक्रो अन्यस्या ददृशे सुवर्चा ।

(ऋग्वेद १-६५-१)

अर्थात् (विरूपे) विभिन्न-रूपों में सयुक्त (द्वे) दोनों दिन और रात (स्वार्थे) गोभनप्रयोजन के लिये (चरत-) विचरण करते हैं । (अन्यान्या) दोनों ही अपने अपने (वत्स) बछड़े की (उपधापयेते) रखा करते हैं । (अन्यस्या) एक (रात्रि) के पान से (हरि-) नूर्य (स्वधावान् भवति) अन्न प्राप्त करते हैं और (अन्यस्या) दूसरे (दिन) के पात से (शुक्र) चन्द्र (सुवर्चा) शामनदीप्ति से युक्त होकर (ददृशे) प्रकाशित होने हैं ।

विद्वानों ने इनके गूढार्थों का स्पष्ट करने हुए दोनों को दिन और रात वतनाया है । उनके वत्स चन्द्र और सूर्य हैं । ऋग्वेद के इन मंत्र में वही चरते ज्यों में “चरत” क्रिया का प्रयोग किया गया है । हाडौती पहेली में बारह महीने तथा एक टांग में एक राशि का भाव प्रदर्शित होना है । दोनों स्थलों पर पशु के माध्यम में समय के रहस्य को बताया गया है ।

अपने रूपकात्मक कलेवर में हाडौती की उक्त पहेली ऋग्वेद के इन मंत्र के समकक्ष रखी जा सकती है । लाख प्रमिद्ध उपकरणों द्वारा वर्ण्य-विषय को ध्वनित करने वाले लाक्षणिक प्रयोगों ने युक्त इस प्रकार के अलङ्कृत प्रयोग हाडौती के प्राचीन लोक-साहित्य में अब भी उपलब्ध होते हैं । इससे प्रतीत होता है कि मानव-संस्कृति के विकास के साथ वैदिक युग में चिन्तन की अभिव्यक्ति-पद्धति के द्वारा सुसंस्कृत वर्ग वाले विद्वानों का अतुलनीय साहित्य प्रकाशमें आया । इसी और मूल्य मन्दन वर्ग में गणितीय अभिव्यक्ति का दूसरा रूप सामान्य-जीवन में पनपता रहा, जो लोकसाहित्य के रूप में समय-समय पर प्रकाश में आता रहा । इसीलिये आज भी दोनों धाराओं के मूल में विद्यमान चिन्तन की एकरूपता दृष्टिगोचर होती है ।

गहन्यमूलक अभिव्यक्ति का यह प्रकार मानव की महिमान-प्रवृत्ति है । इसी कारण विश्व की विभिन्न भाषाओं में यह पद्धति दृष्टिगोचर होती है । भारतीय साहित्य के अन्तर्गत वेद साहित्य में प्रहेलिका ने साहित्य और कर्मकाण्ड के क्षेत्र में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया है । ऋग्वेद को प्रहेलिकाओं का वेद कहें, तो अत्युक्ति न होगी । वैदिक युग में जिन समय ऋग्-सोम-यागों की परम्परा थी, उस समय सवनों के मध्य, अवकाश के समय यज्ञकार्य में प्रवृत्त ऋत्विज्यादि ब्रह्मोद्य द्वारा मनोरंजन किया करते थे । यही वैदिक परम्परा यज्ञानुष्ठानों के समान ही प्रचलित सत्कारादि विभिन्न उत्सवों और विभिन्न भागलिक अवसरों पर अत्यन्त आवश्यक समझी जाने लगी । यही प्राचीन परम्परा आज भी ममयानुकूल परिवर्तनों के साथ हाडौती समाज में चली आ रही है ।

हाडौती लोकप्रहेली का प्रयोजन

हाडौती लोक प्रहेलिकाओं का प्रमुख उद्देश्य बुद्धिविलास द्वारा मनोरंजन होता है । वक्ता के बुद्धि-वैभव के प्रदर्शन और श्रोता की बुद्धि-परीक्षा के लिये इनका उपयोग किया जाता है । बुद्धि को तीव्र करने, स्मरण शक्ति को बढ़ाने और वस्तु ज्ञान के प्रति मेधा को प्रेरित करने का कार्य प्रहेलिकाओं द्वारा सम्पन्न होता है । प्राचीन काल से इनका उपयोग क्रीडा, गोष्ठी और विनोदकाल में होता चला आ रहा है । भोजराज ने संस्कृत प्रहेलिकाओं के उपयोग के विषय में लिखा है कि खेल, गोष्ठी और विनोदकाल में प्रहेलिका जानने वाले नागरिक पारस्परिक विचार-विनिमय एवं श्रोताओं को आश्चर्यचकित करने के लिये इनका उपयोग करते हैं ।^१

हाडौती के गावों में जामाता की बुद्धिपरीक्षा के लिये समुराल में प्रायः फराली पूछी जाती है । यदि जामाता समुराल में अकेला ही पहुँचा हो तो गाव के युवक पहेलियों का उत्तर देने में उनकी सहायता करते हैं । हाडौती प्रान्त में

१ क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्जैराकीर्णं मन्त्रणे ।
परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका ॥





बालक और महिलायें ही प्रहेली कहते-मुनते देते जाते हैं। वैसे स्त्री-पुरुष सभी में उनके प्रति रुचि देखी जाती है, किन्तु प्रायः देखा गया है कि इस कला में स्त्रियाँ ही अधिक प्रवीण होती हैं। प्राचीन काल से पहेली को स्त्रियों की कला समझा जाता रहा है। जैन-कल्पसूत्र में प्रहेली को स्त्रियों की एक कला बनाया गया है। कल्पसूत्र में वर्णन आया है कि भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री सुन्दरी को जिन चौसठ कलाओं का बोध कराया था, उनमें एक प्रहेलिका भी थी। प्राचीन समय में पहेली द्वारा बर-बचू एक दूसरे के बौद्धिक स्तर का मूल्यांकन करते हुये परस्पर माधुर्य भाव का तादात्म्य स्थापित करते थे। इसीलिये यह विकसित परम्परा विकसित एवं अविकसित सभी परिवारों में पाई जाती है।

विवाहसंस्कार में कवर कलेऊ पर, वधू को लेने आये हुये अतिथियों के लिये, मगाई सम्बन्ध के अवसर पर, धाईजी को लिवाने के लिये नणदोई के प्राप्त होने पर अथवा मगधी-ममघिन के आगमन पर मध्या के समय हाडौती प्रदेश में गीत गवाने की प्रथा प्रचलित है। गाल-गीतो की समाप्ति होने पर अतिथि की बुद्धि-परीक्षा के लिये एकत्र हुई महिलाओं के द्वारा पहेलियाँ पूछी जाती हैं। स्त्रियाँ पहेलियाँ गाती हैं और अतिथि उनका उत्तर देने हैं। आज-कल भी यह पद्धति इसी रूप में विद्यमान है, किन्तु परम्परा का निर्वाह मात्र ही इस प्रथा का एक मात्र लक्ष्य प्रतीत होता है।

हाडौती लोक-प्रहेली पूछने का ढंग

हाडौती पहेलियाँ महिलाओं द्वारा गगविशेष भलापकर गायी जाती हैं। संगीत और साहित्य के इस अनुपम सामंजस्य से श्रोताओं की हृत्तंत्री झकृत हो उठती है। पहेलियों को गाते समय अपने प्यारे पाहुनों के लिये अनेक विशेषण लगाये जाते हैं। जामता के लिये कवर विहारी और राजकवार, समथी के लिये रसिया ब्याई जी, भोला ब्याई जी, चतर-विहारी आदि तथा सामान्य अतिथियों के लिये रगीला फाऊणा, छवीला फाऊणा और प्यारा फाऊणा विशेषण प्रयोग में लाये जाते हैं। कभी-कभी श्रोताओं के उत्साहवर्धन के लिये “पडन जोसी करो बच्च्यार, या साध्या में कृण सरदार”—इस अर्द्धालिका का पाठ किया जाता है। पहेली पूछने का ढंग निम्न प्रकार है —

जो बियाइजी, धोली जी धोली बेलडी, धोला छाया फल
फेरया सुं दुख नीपजं, लागे धणीं सरूप
चतर म्हाकी पयाली को फल खीज्यो जी
क अन्तर कपट्या छो जी बियाईजी,
धोली न, अमरत बोल ।

श्रोता की बुद्धि पर शाण चढ़ाने के लिये महिलायें पहेली पूछती हुई उत्तर अर्द्धालिकाओं में यहाँ तक कह देती हैं कि यदि हमारी पहेली का उत्तर न दे सको तो अपनी मा पत्नी को हमारे गिरवी रखकर इसका उत्तर पूछिये। यदि अतिथि पहेली का उत्तर न दे सके तो उसे हार स्वीकार करनी पड़ती है। पहेली प्रस्तुत करते समय ही महिलायें कह देती हैं कि हमारी पहेली न बता सको तो नाक कटा कर यहाँ से उठिये। यदि कोई अतिथि नकटा बन जाये और हार स्वीकार न कर सके, तो उसे स्त्रियों द्वारा गाव बलाई या भीणे का पुत्रकण्ठकर सम्बोधित किया जाता है। पयाली के फल को न बता सकने पर महिला मडल द्वारा नाको में तीर-चलाना तो साधारण बात है। इसके साथ ही हार जाने वाले श्रोता को चक्की—चपाने का विधान भी बता दिया जाता है। हर प्रकार उत्तर में विफल होते रहने पर महिलायें यहाँ तक कह देती हैं कि जो हमारी इस पहेली का फल न बतावेगा, वह कालीमिध नदी का पत्थर होगा। यहाँ तो उनकी वचनावलि की सीमा समझनी चाहिये, क्योंकि मेरा शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति की चेतना के स्पन्दन की यहाँ समाप्ति हो जाती है।

हाडौती प्रहेलिकाओं की प्रकृति

ज्ञान की वाह लेने वाली पहेलियों की रचना कई प्रकार में होती है। वक्ता भेद ने उनकी प्रकृति भिन्न-

भिन्न प्रकार की हो जाती है। प्रकृति के प्रनुसार हाडीती प्रहेलियों का वर्गीकरण निम्नप्रकार में किया जा सकता है —

- (१) सामान्य वर्णनात्मक
- (२) स्वयं चित्रात्मक
- (३) आत्मानुभूत
- (४) परबन्धु-निर्देशक

(१) सामान्य वर्णनात्मक प्रकृति वाली प्रहेलियों में वक्ता सामान्य वर्णन के द्वारा वर्ण्य विषय को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार की प्रहेलियों की संख्या सर्वाधिक है। उदाहरण के लिये निम्न प्रहेली देनी जा सकती है —

“एक नागड़ी अट्ट, जे बोलै चट्टूड ।
जौ की छाग छन्नादार, जीने गावे वत्सादार ।”

(२) स्वयं चित्रात्मक प्रहेलियों में वर्ण्य-विषय या उपस्थित स्वयं अपनी विशेषताओं या परिचय देता है। जैसे—

“जैपर झारो मामरो बूटी झारो कीर
कोटे झारो भाटली, ऊने झारो जीव ।”

(३) आत्मानुभूत प्रहेलियों में वर्ण्य विषय नहीं, बल्कि अपने अविवेक अनुभव को प्रदर्शित करते हुये प्रहेली प्रस्तुत करता है। जैसे —

“जन नरी झारो झारो मगाल धरी
मारो मारो नत नृ तो तमाया मरी ।”

(४) परबन्धु-निर्देशक प्रहेलियों में दो मन आकाशकी वस्तुओं का निर्देश किया जाता है। इस प्रकार के नाम साम्य वाली तीसरी वस्तु या नाम धारिता की स्थाणु शक्ति अथवा अनुभव में निरूपित है जैसे —

“एन तो मूड पसानन की, दूसरी सूड हायो की ।
तीसरी आप बता दीग्यो, न तर बापी लोटी नें गेने मैलो जी ।”

हाडीती प्रहेलिकाओं के वर्ण्य-विषय

हाडीती प्रहेलियों के वर्ण्य विषय विविध हैं। माध्याह्न ने माध्याह्न वस्तु भी प्रहेली का विषय बन जाती है। ज्यों ज्यों परबन्धुता या विराट् होता जाता है, तथा ज्यों ज्यों की संख्या बढ़ती जाती है। यह भी देखने में आता है कि एक ही वस्तु पर कई प्रतिमाओं या ध्यान जाने पर भिन्न-भिन्न प्रकार में उस वस्तु का चित्रण प्रस्तुत होता है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित चार प्रहेलियाँ दृष्टि-श्रवण में आती हैं।

(क) ऊंची सी छतरी दूध की, मोड़ण कतरे जी पान ।
कनक कतर बडला रूपा, चावो राजकमार ॥

(ख) रंग रंग्यो, तीन सींग्यो ।
धोनी पाय, दूध सीटो ॥





- (ग) कालो फाणी दमका कर, भँस्या पडो पचास ।
श्रोद्या श्रोद्या छाटज्यो, ज्या को दूध उफाणो जाये ॥
- (घ) रौंग गौंग्यो, तीन सौंग्यो ।
खाल कडडी, मास मोठो ।

प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की योजना का जो विधान पहेलीकार द्वारा प्रस्तुत किया जाता है उसमें श्रापीण वातावरण स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होता है। ऐसे उपमानों का संयोजन वर्ण्य विषय के साथ प्रायः नहीं किया जाता, जिनकी प्रतीति सामान्य मनुष्य की पकड़ के बाहर हो। विषय के अनुसार हाडीती पहेलियों को मोटे तौर पर निम्न लिखित वर्गों में बाटा जा सकता है—(१) धर्म सम्बन्धी (२) कृषि सम्बन्धी (३) प्राकृतिक पदार्थ सम्बन्धी (४) गृहवस्तु सम्बन्धी (५) वस्त्र भूषण सम्बन्धी (६) भोजन सम्बन्धी (७) वृक्षफलादि सम्बन्धी (८) पशुसरीमृपादि सम्बन्धी (९) व्यावसायिक वस्तु सम्बन्धी (१०) शरीरावयव सम्बन्धी ।

१ धर्म सम्बन्धी पहेलियों के अन्तर्गत ईश्वर, मन्दिर, धार्मिकसिद्धान्त तथा पूजा सम्बन्धी उपकरणों का समावेश किया जा सकता है। हाडीती की जनता आस्तिक है और भक्ति को प्रधानता देती है। भोजन करने से पूर्व प्रतिदिन मन्दिर में बैठे हुये भगवान के लिये एक पहेली इस प्रकार कही गई है—

“म्हा तो म्हाकँ आवा जावा, अन्न फाणी न खावा ।
म्हा तो म्हासू मुखण न बोली, गुण म्हा खुण का गावां ।”

इस पहेली का रहस्य ‘म्हा’ शब्द में छिपा हुआ है। एक आस्तिक भोजन से पूर्व मन्दिर पर नित्य दर्शन करने जाता है। भगवान की प्रतिमा मुह से नहीं बोलती, फिर गुणगान किसका किया जाये ? इस पहेली में मनुष्यों के प्रत्यक्ष व्यवहार को लेकर ईश्वर सम्बन्धी सामान्य व्यञ्जना प्रदर्शित की गई है। शब्द के सम्बन्ध में एक पहेली इस प्रकार है—

“भूरी भँस भराडो पाडो ।
पकड्यो सौंग, करयो अड्डाटो ।”

इस पहेली में भूरी भँस (शख का कीडा) ने भराडे (पाटे) पाडे को जन्म दिया है। शख के पिछले भाग रूपी पाडे के सौंग ज्यो ही पकडे, त्यो ही वह अर्द्धा उठना है अर्थात् शख को पकड़ कर फूक मारने से वह बज उठता है।

२ कृषि सम्बन्धी पहेलियों के अन्तर्गत कृषि-कर्म उपकरण, फसलें, खेत आदि आते हैं। चने के पीधे के के लिये एक पहेली इस प्रकार है—

“एक नर सूतो माल मे, ओढ्या हरी जी सोड,
नीचे लटक घूघरा, ऊपर मोत्या का पान ।”

एक नर माल में हरी (सोड) चादर ओढकर सो रहा है। नीचे घूघरे लटकते हैं और ऊपर मोती के पत्ते हैं। चना पुल्लिंग होने से नर कहा गया है। उसके शयन के स्थान और ओढने की दुलाई का संकेत करते हुये नीचे लटकते हुये गुच्छों द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान कराया गया है। पत्तों पर खार जम जाने से वे मोती जैसे चमकते हैं।

३ प्राकृतिक पदार्थ सम्बन्धी पहेलियों में ऋतु, मास, आकाश, चन्द्र, चन्द्रिका, नक्षत्र, नदी, पर्वत आदि प्राकृतिक पदार्थ उपमित होते हैं। चन्द्रिका का मानवीकरण करते हुये एक पहेली इस प्रकार कही गई है।

“घोली साडी घोली घाघरो, घोली मारणी को रूप ।
उजली बतीसी, बडला पान का, मोत्या तपे छै ललाट ।”

ध्वेन माडी, ध्वेन लहगा, ध्वेन रूप, ध्वेन टन्न-पक्कि और नक्षत्र हरी ध्वेन मोनी जिनके लग्न पर चमकने हैं चन्द्रिका के सर्व ध्वेनमय रूप की इस पहेली में आकी प्रस्तुत की गई है ।

नक्षत्रों के लिये निम्न पहेली द्रष्टव्य है —

“मानो की बाडी फुल री र लाल, जी ने तोडवा हालो कुण छे ?
रगौना फाऊगा रे लाल छुबीली फाऊगा रे लाल ।”

“ईश्वर स्त्री मात्री की आकाश स्त्री बाडी फूट रही है । इसे तोडने वाला कोई नहीं है । नक्षत्रों ने जने हुये आकाश का रूप इस पहेली में बाधा गया है ।”

(४) गृध्रस्तु मध्वन्धी पहेलियों में चक्की, मिश्राट, साकल, कुन्दा, ताला, मिाडी, पडा, टिन्टी, नवा बुग्गणा, चमचा, घावगा, रट, नगाजू आदि घर-गृहस्थी के प्रतिदिन उपयोग में आने वाली वस्तुओं पर बनी हुई पहेलिया आती हैं । छाउ बिनीने के लिये रट पर निम्न पहेली कही गई है—

‘जाग धड़कवा चक चक बोनी बोली अमरत बाणी ।
नर्या समवर मे जा पडी, ऊपर नू माँग्यो फाणी ।”

सर्व प्रथम दही के भाण्ड में रट टाँक घी में चलाई जाती है । उस समय वह चक चक गन्ध ऊरती है मानो अमृतमय बाणी बोल रही हो । मरे हुये (माट हरी) समुद्र में गिरने के पश्चात् भी ऊपर में पानी मागती है । मरखन निरालने के लिये माट में टण्डा पानी टाँक जाना है ।

अनाज पीसने की चक्की के लिये निम्न पहेली प्रस्तुत —

“एक मींग की टांगरी, जनरो नीरे, जतनोई काबै ।
चनर म्हासी पयाली को फल रेहो जी ।”

इस पहेली में चक्की को एक मींग की डांगरी (गाय आदि पशु-चार) कहा गया है । एक मींग ने तात्पर्य चक्की चाने के लिये लगे हुये हरे (जानली) में है । चक्की में जितना डालने है, उतना ही खा जाती है । इस पहेली में वस्तु मध्वन्धी मामग्री तो ऊपर की हो पत्ति में है । दूसरी पक्कि तो पाद पूति के लिये कही गई प्रतीत होती है ।

४ वस्त्राभूषण मध्वन्धी पहेलियों में पगडी, कचुकी, अगरखी, धानी आदि वस्त्र तथा बूडा, नय, कान की गुट्टी, मोनी बिछिया, फोलगी आदि आभूषण आते हैं । पाडो का रहस्य निम्न पहेली में कहा गया है । इसमें स्त्री बचना व्यक्तिगत अनुभव व्यक्त ऊरती हुई कहती है ।

“मोला सोना हात की साडी म्हारे सराणे धरी ।
मारी मारी रात म्हा तो म्हाई मनी ।”

पगटिया प्राय मोनह हाथ की टूटा करती है । साडी के स्थान पर उसका उपयोग नहीं किया जा सकता । यहाँ केवल पगटी की नम्बाई का और अगरे पर पहनी जाने में असमर्थता का नकेन करके रहस्य को छिपाया गया है । बूडे के लिये एक पहेली इस प्रकार कही गई है —

“हरियो जी पेली लीलडो, माय कसूमल रग ।
नारी ज्यू परण चहै, दन ऊतरे न रान ।”

हंग, पींग, नीना, मध्यम में कसूमल रा बाग, नारी के विवाह के समय में ही चटना है जो दिन और रात उतरता ही नहीं है । बूडा स्त्रियों का मुहावा चिल्ला माना जाता है । उनमें उक्त विविध रंग होते हैं ।





६ भोजन सम्बन्धी पहेलियों में दूध, दही, मक्खन, छाछ, रोटी, पापट, गदाटा, जलेबी नमक, मिर्च, गहूँ पान, सुपारी आदि वस्तुएं आती हैं। मक्खन विषयक निम्न उदाहरण है —

“सल दूध, लोडो तर, जल मे छायो पाप ।
एक अचम्बो मे मुण्यो, वेटी ने जायो वाप ।”

‘जिला दूधती = और बट्टा (लोडी) तैरता है। जल में पाप छा गया है। मैंने एक अचम्बा मुता है कि पुत्री ने पिता को पैदा किया है।’ इस पहेली का मन्थार्थ तो इस प्रकार है। इस में दही को सिला (जो पानी में डूब जाती है) और मलाई को उट्टा (जो पानी में तैरता है) कहा गया है। जब उल्टे ही मक्खन पाप के रूप में ऊपर छा जाता है। छाछ रूपी वेटी मक्खन रूपी वाप को जन्म देती है यह आश्चर्य की बात है। गहूँ के लिये निम्न पहेली उदाहरण है —

“वन कडलू, वन छुरचणो, वन फाणी वन भाग ।
सुन्दर सीरो फर रही, होयो बहोत सवाद ।”

बिना कडाही, बिना पलटे, बिना पानी और बिना अग्नि के मुन्दरी हलुआ बना रही है। वह बहुत ही स्वाद बना। गहूँ की मक्खी रूपी मुन्दरी द्वारा गहूँ का निर्माण का यह रूपक बड़ा हृदयग्राही है।

७ वृक्ष फलादि सम्बन्धी पहेलिया में आम, जामुन, तेंदू, अनाम, मिषाडा, रेंग, कैर, छजूंग, खरबूजा, इमली निम्बोली, मूंगफली, ककड़ी, बैंगन, नारियल, प्याज आदि पदार्थों ने सम्बन्धी पहेलिया आती हैं। आम की गुठली के लिये निम्न पहेली कही जाती है —

“गगन सतारा हँवती, मुण्डे पडती लाल ।
व्हाहीं जमारो धारती, चामडी चामडी बाल ।”

आम की गुठली आकाश में नक्षत्रों के साथ झूलती है। उसके मुख में लाल गिरती है। ऊपर ही जन्म लेती है और जिसकी चमड़ी पर बहुत अधिक बाल होते हैं। सिंघाड़े के लिये प्रस्तुत एक पहेली इस प्रकार है —

“ऊँची सी छतरी टूंक की, मोदण कतरें जी पान ।
कतर कतर धडला कर्या, चावो राजकवार ।”

जामाता का सिंघाड़े द्वारा मानसी स्वागत करने के लिये वातावरण के चित्रण द्वारा सिंघाड़े का रहस्य बताया गया है। टोक के बाहर की एक पहाड़ी के नीचे की एक झील में सिंघाड़े बहुत होने हैं। सिंघाड़े वाली स्त्रिया इनको सिकोना काटती हैं। पान की तरह इनको बना देती हैं। सिंघाड़े को चबाया जाता है। अब यहाँ चबाना निया का प्रयोग किया गया है, जो उपयुक्त है।

८ पशुपक्षीसरीसृपादि सम्बन्धी पहेलियों में सूकरी, साप, बिच्छू, दीमक, बीरबहूटी, आदि जीवों पर पहेलियाँ कही गई हैं। दीमक पर पहेली निम्न प्रकार है —

“अत्तर तोड़, पत्थर फोड़, फोड़ सीसम सीसा ।
बना फाणी के म्हेल वणादू, म्हे कारीगर कैसा ?”

“पृथ्वी की परत तोड़ने वाला, पत्थर और सीसे को फोड़ने वाला तथा बिना पानी के महल बना देने वाला कारीगर कैसा ?”

बीरबहूटी के लिये “हरया छेत में लोई को टपको” कहा जाता है। सावन के दिनों में हरियाली के बीच में बीरबहूटी की उपमा रक्त की बूंद से दी गई है।

६ व्यावसायिक वस्तु सम्बन्धी पहेंलियों में मिल-मिल उठाना की आवश्यकता वस्तुओं पर कही गई पहेंलियों सम्मिलित होती है। इन वर्ग में कागज, कपड़ा, तार, लोहा, लकड़ी, लकड़ पत्त आदि वस्तुएं आती हैं। मारपी पर एक पहेंली निम्न प्रकार है —

“बार चर चान्या चाकरी, लाया उटवो नार।
न तो छारै न जन पीवै, बोलै नागी रात।”

“बार चर” (मार्नेट) चाकरी में चने। एक उटवो नारी को ले गये। वह न खाती है और न पानी पीती है, सिन्हा मारी रात बोलती रहती है।” ऊपर की पंक्ति में वृत्तानुप्रास की छटा दर्शनीय है। थोड़ा की लकड़ार के विषय में पहेंली इस प्रकार है —

“छाली छी, कोडाली छी, काला बन मे रै छी।
नाल फागी पै छी, मरदा क पारै रै छी।”

“लकड़ार काटे म्यान में लगी जानी है। छार पर लकड़ बाली जन जोडाली जाती है। “कन कपी लाल पानी पीती है और मरों के ही कच्चे पर घोसा देती है। नामदे इसे धातु नहीं कह सकता।”

१० मरीगवयस सुन्दरी पहेंलियों में टाल, लाल, काल, हरेरी आदि का वर्णन होता है। आठ पर एक पहेंली निम्न प्रकार की जाती है —

“तल जननी सी लोवरी, जो जननी सी बराह।
जीमे मूढ़ नापटी, रपट पट्टा मोट्टार।”

मिन के बादर कोठरी और जो के बगवत जिवाह है। उनमें सुन्दर वन्द है। उनमें देखने ही दुख रात पड़ने हैं। सुन्दर नैनो के प्रति जाग्रत स्वभाव होता है। इसी प्रकार हरेरी के विषय में पहेंली इस प्रकार है —

“पाच पीपन्या पदम तलाई।”

मज्जा है कि कमरों की नट्या पर पाच पीपन के पेड़ उड़े हैं। किन्तु सुन्दर रूप है। हरेरी का उभय कमर में सर्वत्र दी गई है। हरेरी के मध्य भाग को कमरों की नट्या और पांच अंगुलियों का पाच पीपन की उभय दी गई है। हाथ जो कमर की उभय गिष्टमाहित्य में प्रचुर मात्रा में दी जाती रहती है।

बाल प्रहेलिकायें

छांटे-छांटे बच्चों में प्रहेलिका के प्रति जिज्ञासा भाव पैदा करने तथा उन्हें प्रहेलिका साहित्य का गिज्ञान देने के लिये बालोपयोगी प्रहेलिका हाइनी लोक साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। ये प्रहेलिका युवकों एवं प्रांत व्यक्तियों में प्रसिद्धि जाने वाली प्रहेलिकाओं की अनेका संग्रही होती हैं। इनमें सम्मिलित कम जानी हैं। बाल-मनाविज्ञान का पूर्ण-पूर्ण ध्यान उनमें रखा जाता है। जिस अवस्था में किन्तु वस्तुज्ञान अवेक्षण है, उनके अनुसार ही पहेंलिया होती हैं। बुद्धिमान, दृढ़ या नानी सोने समय रात्रि में बच्चों में प्रहेलिका प्रेषित हैं। बच्चे पहेंली की मज्जावरी को मावधानी से सुनते हैं। माता या मानासही के मुख में ल्यों ही “अरे घर में दो को दपरो” — पहेंली निम्नी कि बच्चे का सम्बन्ध वही जैसी मफेद और टाके पैसी गोत्र वस्तु की चीज में रखा जाता है। अब तक जिसने मज्जा और गोत्रपरायण समझे अनुभव में आये हैं उन मज्जा नकला उसके सामने आ जाता है। वह नहीं वही-बडा और लगी बलागा बनाने लगता है। जब माता या ही कहती जाती है और बालक की बुद्धि में बकावट बटती जाती है, तब वह वह उठता है कि मैं तू बला। तब माता “बादी का मया” कह कर उसका जिज्ञासा को शान्त कर देती है। इसी प्रकार थोड़े बड़े बच्चों में माता प्रेषित है —





“छोटो सो मनीराम, बड़ी भारी पूछ ।
ऊ गयो मनीराम पकड़ लाओ पूछ ।”

बालक के सामने यह पहेली आती है। उसको लम्बी पूछ वाले मनीराम की तलाश होती है। बड़ी पूछ वाला चूड़ा वाल-बुद्धि में आता है। इस प्रकार अन्य वस्तुओं का निर्देश करना हुआ बालक एक जाता है, ता माता सुई-डारा बताकर उसकी जिज्ञासा शान्त कर देती है। बालक के अनुभव और ज्ञान की परिधि में आने वाले विषयों पर ही बालकों से पहेलियाँ पूछी जाती हैं।

अनभ्यफल-प्रहेलिकायें

कभी कभी ऐसा अवसर उपस्थित हो जाता है कि पुरुष-श्रोता-यों महिलाओं द्वारा पूछी गई प्रहेलिकाओं का उत्तर देना नला जाता है और स्त्रियाँ पहेली कहते कहते थक जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में कुछ ऐसी पहेलियाँ कही जाती हैं, जिनका कोई उत्तर नहीं होता। इस प्रकार की पहेलियों को हाडौती लांक भाषा में “ओरावण्यो” कहा जाता है। ये ओरावण्यो पहेली का अर्थ बताते वाले को चक्क-मे डालने के लिये कही जाती हैं। जैसे ही श्रोता इन पहेलियों के अर्थ को जानने के लिये अपनी बुद्धि को दोड़ता है वैसे ही महिला समाज को कुछ विश्राम मिल जाता है। इन पहेलियों का अर्थ नहीं निकलना। प्रत्यक्ष रूप में तो यह विश्राम नहीं देता कि इनका कोई अर्थ नहीं है। ओरावण्यो के निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

“पैली सूना राखडी, पैली चणा की माल ।
रगीला फाऊणा रे लाल, छबीला—फाऊणा रे लाल ।”

दूसरी इस प्रकार है —

“चींटी ने मूत्या मूतणो, जी की धार बलींई जाय ।
रगीला फावणा रे लाल, छबीला फाऊणा रे लाल ।”

हाडौती पहेलियों की रचना बड़ी सरल है। इनमें अनुप्रास, रूपक, श्लेष आदि अलंकारों की छटा सर्वत्र देखने को मिलती है। कहीं ध्वनिवैचित्र्य और शब्दवैचित्र्य द्वारा वस्तु का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। कहीं-कहीं दृष्टिकूट नैली द्वारा चमत्कार उत्पन्न करके कौतूहल पूर्ण जिज्ञासा की सृष्टि की जाती है, जिनका सम्बन्ध ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता।

कुछ पहेलियाँ श्रु गारिक वातावरण प्रस्तुत करती हैं। कहीं-कहीं ऐसे शब्द-चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं, जो यौन विज्ञान से सम्बन्धित हैं। अर्धमस्य और असभ्य जातियों में ये शब्द चित्र पर्याप्त सस्या में मिलते हैं किन्तु अन्य जातियों में ये स्वल्प मात्रा में और सयत हैं। इस प्रकार की पहेलियाँ अवोध श्रोता के अवचेतन मन में विद्यमान यौन तत्त्वों को स्पन्दित कर देती हैं।

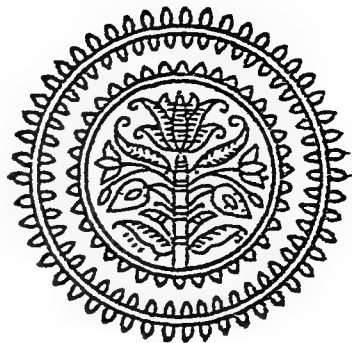
हाडौती पहेलियों का भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से अध्ययन अपेक्षित है। इनमें प्रयुक्त भावों और शब्दों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि कुछ भाव और शब्द तो अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। वैदिक साहित्य से उनका तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है। कालक्रम के अनुसार हाडौती पहेलियों का अध्ययन कष्टसाध्य है। इनके मस्यक् विश्लेषण, अध्ययन और मनन से ज्ञात होगा कि युगों से चली आती हुई प्रहेलिका की सबल परम्परा के अमिट स्वर आज भी लोक मानस में गुंजायमान हैं। हाडौती प्रहेलिका साहित्य की गरिमामयी परम्परा का अनुशीलन कर विद्वान प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य की रहस्यमय ग्रन्थियों को खोलने में समर्थ हो सकते हैं।

हाड़ौती लोकगीत में प्रकृति-चित्रण

डा० चंद्रशेखर मट्ट

एम० ए०, पी-एच०डी०

निदेशक, शिक्षा मूल्यांकन विभाग, अजमेर



हाड़ौती लोकगीतों में वनस्पति-जानु ना इन्हें गढ़े-गते ना उपाना, पशियों का चर-चर तरंगित संगीत आदि का मणिष्ट वान लोकगीतों के माध्यम में हुआ है। आकाश में मुक्त विचरण करते हुए पक्षी, मरिचा का निरन्तर विचित्र प्रवाह, गान में लैती हुई ऊया की जगमगाती और खली ने नागे से चविन नीलाकाश — यह समस्त प्रकृति का शृंगार मानव के मन के भावों का मौन्दर्य-स्मिति प्रदान करता है। आसू तथा वरमात की बूंदों का यथास्थान वान एक गीत में मग्न हुआ है —

नैन बने मेज पर ली,
आगण बसे मेह ।
होटा-होड ना रही जी,
इन मादण उन मेह ।

कौनों गुन्ना है एक विंगीनिनी आसुओं की मावण की अटी ने उधर बरसान की अटी है उधर उनके आसुओं की अटी है। उधर मावण का गे है, तो उधर मेह की कर्मी नहीं हैं।

मावण आने ही क्या क्या नाथ आ जाने ह इन्ना भी एक लोकगीत में वर्णन हुआ है—

लूम झूम नदिया नेहर
टोना वाग पतग भग बाय ।
मोरा, सोर ममोलिया रे
मावण लायो नाथ ।

एक और गीत में लहंगानी नदियों के बहने का मणिष्ट वर्णन है—

अण्ट-वरद भंद नदिया बहे छे
बीसे जल का धोग-बाबा में जी —
—याने टोकवा आई रे घाटी का भंद लाडला ।

आत्मन रूप में प्रकृति वान तीन रूपा में किया जाना है—

आह्लाद भाव में, आनन्दानुभूति में और आत्मनस्तीर्णता में

आह्लाद-भाव में प्रकृति दर्शन करने समय जन-रवि प्रकृति-वर्णन में रम जाना है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए रवि प्रकृति के रंग, रूप, ध्वनि आदि में मुक्त मौन्दर्य की कल्पना गहवाई में करता है, और इस कल्पना में फि प्रगट मृदु की अनुभूति का योग भी उपस्थित करता है। वह मौन्दर्य के प्रति आह्लाद की भावना गम्भीर और मृदुम कर जपना का आधार केर प्रिभिल रूप गृहण करती है। हाड़ौती गीत में पृष्ठों का आश्रय लेकर इस भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है —

फूल्यो जी करेलो, लटपट छा रही बेल
इत भरवो उत भोगरो, गुल तुर रौर गुलाब
मदमाती म्हेला चढी, पिय जाणें मेहलात्र,
प्यारा थाके आगन जी, फूल्यो जी करेलो
लटपट छा रही बेल ।
वागा जाओ सायबजी, नीधू लाज्यो चार
नारंगी मत ल्यावजो, सोकडल्या को सार
प्यारा थाके आगन फूल्यो जी करेलो,
लटपट छा रही बेल ।

आलम्बन की स्थिति में कवि की अनुभूति अधिक रहनी है । प्रकृति का यह सौन्दर्य रूपात्मक नहीं बरन्
भावात्मक साहचर्य के आधार पर ही स्थित है । इस प्रकृति के सौंदर्य साहचर्य में कवि स्वयं अपने को मजग पाता
है, और यह सजगता विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है—

चादा थारी चादणी सी रात रऽ
नणद भोजार्या पाणी निसरी,
घडल्या तो मेल्यो छें समवर तीर
नणद तो खींचे छें भोजाई झेले री
छूमकी तो टाकीं छे बोर्द्या झाड के
रमबा ने चाल्या चम्पा बाग मे ।

आत्म-तल्लीनता की स्थिति में जन-गायक प्रकृति सौन्दर्य की चेतना भूल जाता है । और उसके मन में यह
सौन्दर्य आनन्द के रूप में स्वयं अभिव्यक्ति की प्रेरणा बन जाता है—

हरियाला आवा क'नीचे पालणों घलायो
हरियाला नोम क'नीचे पालणो घलायो
चिडिया बोली चूँ चूँ चूँ
सो ज्या नन्हों यू यू यू
हरियाला रुखा पै बँठी
चिडियाँ बोली चू चू चू

ऐसे विरल सौन्दर्य-चित्र हाडती गीतों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं । एक विरहिणी तो पावस के जड़ीपत्र
चित्रों में अन्दर ही अन्दर सिमटती-सी जा रही है, उसे चारों ओर सूना ही सूना नजर आ रहा है—

काली काली बादली मे
विजली चमके रे
मेघा मेघा झरमर झरमर
मेवलो बरसे रे,
मीजे म्हारो नुई नुई कोर
झगर मे बोलरिया छें मोर,
दिन साजन भू तडफू एकली
क्रिया धराऊ धीज ।

इधर पपैया बोल रहा है उधर वह अकेली डोल रही है परन्तु—

पपड़यो बोल्हो एऊ
 एजी भू बागा फिर अकेली,
 भवर भागा मे आज्यो जी
 छैन बागा मे आज्यो जी
 वंरो पपड़यो कूरे, जी थे ।
 किण चिघ जीबू जी
 पपड़यो बोल्हो एऊ
 ए जी भू बागा फिर अकेली
 भवर बागा मे आज्यो जी ।

हाडीती गीतों में अठ्ठारों के माध्यम में कई सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये गये हैं—

रेत का तो खैन बणाया
 पानी की गुच्छायारी
 चाद मूँज का बँल बणाया
 गम लगाया हानो ।

इसी प्रकार एक अन्य गीत में गोरी की उपमा गुलाब के फूल से दी गई है—

गोरी फूल गुलाब की जी
 पड़यो पलग के बीच
 कलिया लूटो भवगजी ज ये
 लाल नणद का वीर

हाडीती जन-साहित्य प्रतिलिपि भी प्रचुर मात्रा में मिश्रित है जिनमें अलंकारों के माध्यम में प्रकृति का प्रस्तुत किया गया है—

जी ऊँची टाण चम्स का डोरा
 लाग्यो चार पातला, पाणत कण्ड
 गोरी फर फर जाय—(भँस)
 जी लम्बा नल की मोरडी
 बँटी आजम गल
 जी आछो पगल्यो नालवो
 आगो नाग चाल—(हुक्का)

प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आगम ही मानवीकरण है। यह प्रवृत्ति वैदिक काल में चली आई है। सूर्य, चन्द्र, वायु, जल और मेघ आदि को देवत्व प्रदान करना ही मानवीकरण की प्रवृत्ति को प्रष्ट करता है। वह अपने समाचार नोंते में कहती है—

उड रे सुवा तू पचरग्या
 जाजे रे मार पीयर, धू की आमलियाँ ।
 म्हाग दादाजी भले तो यू कीज
 थाकी बेट्या बने छँ पग्देम
 धू की आमलियाँ





म्हारा बीराजी मले तो यू कीजें
थाकी बहन वसे छै परदेस
धू की आमलियाँ

विरहिणी ऐसी दुखिनी होती है कि उसकी व्यथा में नारे जगल की बेलें, वृक्ष एवं लताएँ भी झुग्ने लग जाती हैं, एक विरहिणी कुरजा को मन्देश देती हुई कहती है—

कुजंडो भारी बेनजो, पाँख उदारिल्या
पीच मल्या उच्छ्व करा मे, भलकर पाछीछा
गगन उडा बैचु गा अदविच बासिल्या
मे परदेशी कुजंडा पाख कुणीन ददरा ।

एक भाई अपनी वस्त्रि से मिलने के लिये जा रहा है, वह पशु को भी अपने समान समझता है, उसमें तदात्म्य स्थापित करता है, और उसे जोश दिलाता हुआ कहता है—

चालो म्हारा बलछा उतावला रे
म्हारी माँ की जाई जीवे बाट
चाल्यो म्हारा धोल्या उतावला रे
म्हारी जामण जाई जीवे बाट
गाडो तो रत्की रेत मे रे बीरा
हो गई गगना—गोट
बलछा का चमबया सोंगडा रे
म्हारे बीराजी की पचरग पाग

रहस्यमय प्रकृति में जन-कवि परमतत्त्व के दर्शन करना है, और इस प्रकार प्रकृति विन्वात्म के दर्शन का माध्यम बन जाती है। 'शिकार गीत', जिसमें शिकार के माध्यम में लोगों को परम-तत्त्व की याद दलाई है।

अठौन' डू गर अठौन मारवर
अघ बिच घेरो घाल्यो राज
छोट छोड रे सपन सुरंगा
कई हठ लाग्यो रे

इधर मोह-ममता का फन्दा है, तो इधर माया ने अपनी हाट सजा दी है और बीच में भोला मानव दिग्भ्रमित मा चक्कर लगा रहा है, उसके चारों तरफ घेरा डाला हुआ है।

ऐ मानव, उठ ! निद्रा को त्याग । इन सुनहरे स्वप्नों को भूल जा, ज्यादा ठू ठीक नहीं हैं ।

इन गीतों में आध्यात्मिकता की गंगा प्रवाहित हुई है, वहाँ मीरा-जी तन्मयता भी है। पचरग चोला प्रेम माधुर्य में भीज रहा है—

काली काली बादली मे
बिजली चमके रे
मेघा मेघा झरझर झरझर
मेवलो बरसे रे ।
बीजे म्हारी नुई नुई कोर

हुगरिया मे बोले छे मोर
उमली चादर राखू ज्यू की ज्यू
रेण अघेगी बिजली चमके रे
काली कानी चादली मे
बिजली चमके रे

हाडीतो गीतो मे ऐसे प्रमाण प्रचुरता मे हूँ है। हिन्याली नूनन ता सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। जोर जीवन के लिये हिन्याली ने बटकर कोई अन्य मुख नहीं है। अनिष्ट मिनी भी समय, मिनी भी पर्व पर आगोवादि भी दिया जाता है जो हिन्याली ने बाहर के कोई उपमान ही नहीं मूलने। वहिन भाई का आगोवादि देता है, ना नहीं है

बघज्यो रे योग, बर पीपल ज्यू
फलज्यो रे योग, बटवे नीम ज्यू
बोरा बघज्यो ओ हरियाली हूँ।
बघज्यो रे योग बेना ज्यू
फलज्ये ए भावज, फल फूला ज्यू
बघज्ये ए, भावज, भावली हूँ ज्यू
योग फूलज्यो रे फलज्यो आमा गी टाल ज्यू

तहाँ पक्षियों ता उगन हाडीतो लोक-गीतो मे प्रचुरता मे हुआ है बर पशु भी पीछे नहीं रहे। विनाश के अवन पर घाटी ता पशु ही तहाँ चिगाता जाता है—

घोटी ने तुरत री टारप उटाय
बेमरियो नारो परगवा ने जाय
घोटी ने नीग नागर पान
बेमरियो बोरो परगवा ने जाय।

गाय उगने परिहार की मुख मदम्या है, गव आरगीत मे इनकी त्वन्ता का भी वर्णन हुआ है -

साथीटा म्हारा, गाया ने बेगी छोट रे
हा रे रग मरदाना
गाया ने बेगी छोटो रे
दनटो ऊगो आयो रे
मथोटा म्हाग गाया ने थोडी टावो रे
हा रे रग मरदाना
गाया ने थोडी टावो रे।

गाय जहा उमगी मातृ-म्वन्ता है, ना बँड उमके भाई है, मुख-दुःख के तासी, हिम्मत उग्राने बाने, अकाल और कष्ट ने गा उगाने बाँडे। फिर और-गायक तया उगहे भूल ताँ ? देनी हो रही है, भाई को वहिन के घर जाना है। कही देर न हो जाय, तही वहिन कुछ और न माच वे, वह बँडो को शीघ्रता मे चलने के लिये प्रोत्साहित करता है—

जानो म्हारा बलछा उतावला रे
म्हारी मा क जाई म्हाले बाट
जालो म्हारा धोल्या उतावला रे
म्हारी जामण जाई जोवे बाट।



गाडी तो रलकी रेल मे रे बीरा

हो रही गगनां गोठ

चलदा का चमक्या साँगठा रे

म्हारे बीरा जी की पचरगी पाग

भारतीय जीवन कृपि प्रधान है, यहा प्रकृति का मुक्त रूप देखा जा सकता है। भारत के विभिन्न गावों की तरह हाडीनी ग्रामो का भी एक अनोखा आकर्षण है। इन गीतों में रेत-जलियान, नदी-नाले, पग-डडिया, कच्चे-राम्ते गाडी-गडार, कुएँ, सरवरिया री पाल तथा उद्यानो आदि का सहज वर्णन हुआ है। हाडीनी जन-जीवन सामान्य जीवन है। पति खेत में हल चला रहा है, स्वयं बेलों को हाक रहा है।^१ स्त्री रोटियाँ और छाछ लाई है।^२ स्त्री गाव के किनारे स्थित सरोवर जाती है, रामवर तालाब से घडा भर कर लाती है।^३ उसका काकड बाँठा खेत है।^४ जहा उसका पति हल चलाता है। वह खुश है। अपने पति के विषय में बड़े भाई के प्रति आभार प्रदर्शन करती हुई कहती है, हे भाई ! धन्यवाद है। तुमने ठीक किया, मो हाली सा बहनोई चुना। हे पिता ! तुम भले ही परनाई इस घर में, अच्छा जवाई बँटा है—

भला ही जणो छी री म्हारी

राता देयड भाय

भलो ही हालीडो घर हेरियो

भला ही परनाई र म्हारा जरमर बामो बाय

कान्ह कवर बीर, भला ही हालीडों वर हेरियो।

उमे इसमें ज्यादा चाहिए क्या ? सुखी जीवन है, ग्राम है, स्वयं का निमित्त मकान है, सुन्दर पति है, खेत है, लल्लुहान है, उसका पति हल चलाता है, वह खाना पहुँचाती है और दोनों मिनकर हस-हस कर खाते हैं, इससे ज्यादा सुख उसे चाहिए ही क्या ?

घर लिये - पुते हैं, जिसमें गोबर और पीली मिट्टी होती है।^५ वह अपनी क्षोपडी को ही स्वर्ग समझती है, विशालमहलो के समकक्ष मानती है।^६ उसके महलो के बजर किवाड है।^७ उसके महल की ऊँचाई इतनी ऊँची

१ मू हल हाकू ए गोरी आपनू, वीड घडो भर ल्याव।

२ माथ' हो लीन्हों जी हाली भस की डाल, हाथ रोदया अर छाछ।

३ झड झड झडया छे हालण का मोर, बीडी गई कुवा बावडी देख्या देख्या समद तलाव।

४ कस्यो ओ बीखे री वाई थारो काकड खेत
तो वो हल हाक' री थारा घर धणी।

५ या तो गोबर पीली की कीच मची
म्हारो घर लीप्यो ई जाय।

६ भवर म्हारे मेला आज्यो जी
ऊँची अटाडी दिवलो बले।

७ तोडया जी तोडया बजर किवाड।

है कि वह चन्दे-बटने ही पर जानी है।^१ ऊपर बटन वह जपने पनि की बाट जाहनी है, भगोछे मे भावनी है।^२ घर उमरा निरा-गुना होना है, केसर जो हूँक की गा-टाणी जाती है, जो चदन चौक पूरा जाना है।^३

हाटीनी के बट्टे मोह-मीनी मे बाजार गलियो, दुकानो आदि रा बगन भी आया है।^४ प्रत्यक्ष तृप्त म वृक्ष रा शता शुभ माना गया है। विनोयन केने रा उर्जन मिलता है।^५

ग्राम-भागी पर डोटीनी हृष्ट वेलगाटिनी रा नौदर्य-उपन गीतो मे उठी ही स्वाभाविकता मे उतारा गया है। मार के री जा जाने बायी दाई री टर्न, धून ना उस केसर जो कुटुम मे भी उगादा गुहावनी लगनी है।^६

हाटीनी नार-गीत प्रकृति-चित्रण मे जोत-श्रोत है। प्रकृति के प्रत्यक्ष छाने मे छोटे उपन रा, दृश्य रा जयरा हृष्ट री उनकी लम्पता, स्वाभाविकता एव समस्पष्टिता मे टाला गया है कि उन भाले अज्ञान अनाम जन-गायरी के प्रति अज्ञा ने हमारे मन्दर गुर जाने है जिन्होंने ग्राम्य-मस्ति-हाटीनी लात मस्ति रा तदा के निचे, गीता मे बाजत श्रुता बना लिया है।

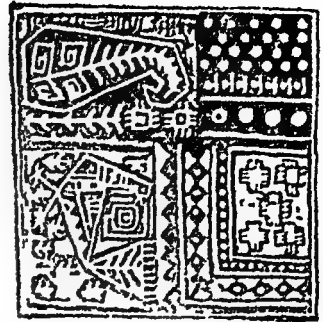
०

- १ बायी ती बायी बना गग जो ओ मेन,
चदना उतरता बाकी म्हारा गज।
- २ मेना चट्टी ने जोधू गज री ओ घाट।
- ३ केसर फूट की गार घुलाऊ चन्दन चौक पुगऊ।
- ४ कोटा रे बाजार मे ये पाटटा घडाइजो—।
- ५ सूरज नामी म्हारो रान री पोत आगणिये
में केन मयूरिया जो गाय।
- ६ म्हागे पोयणिये री गाडी ह्रीणी उटे रे गुलान
झीणी केसर कुआर माता जी ये आगल खोल ज्यो।



हाड़ीती अंचल के व्रत तथा उत्सव

श्री हरिवल्लभ 'हरि'
कोटा (राज०)



हाड़ीती अंचल का सम्पूर्ण जीवन उत्तमवय है, आवागच्छ-प्रतिता वर्ष भर किमी न किमी उत्तमव मे व्यस्त रहते हैं। उत्तमवा की परम्परा के उत्स की कल्पना करके हृदय आश्चर्य मे भर जाता है। जितना समृद्धिवाली हागा वह जीवन, कितना निद्वन्द्व और कितना निश्छन्द। जातीयता, सामाजिकता और राष्ट्रीयता की भावना से आंतप्रोत तत्कालीन लोक-जीवन मे तर्पणालाम मे परिपूर्ण जिन व्रतों और उत्सवों की उद्भावना हुई, वे आज भी लोक-व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाय हुए हैं।

प्रकृति ने रंग बदला और लोक-जीवन वर्षों से उत्तम होकर नाच उठा, युगान्तरकारी निमी धर्म प्रवर्तक का जन्मदिन आया और धर्मप्राण लोक-जीवन मे श्रद्धा तथा भक्ति की लहर डोड गई, व्यक्तिगत मन्का मृत्यु, विवाह, अठमासा भी आनन्द के प्रतीक बनकर सम्पूर्ण जाति एवं समाज के लिए उत्सुककारी बन गये। वर्षों का कोई महीना ऐसा नहीं जिम्मे कोई निश्चित उत्सव न मनाया जाता हो।

लोकोत्सव कुछ स्थायी होते हैं और कुछ सामयिक। स्थायी उत्सव निश्चित तिथि पर प्रतिवर्ष मनाये जाते हैं। होली, दशहरा, दीपावली जैसे बड़े उत्सव तो इसके अन्तर्गत हैं ही, तेजा दशमी, जैसे वीर-पूजात्मक भी इसी श्रेणी के हैं। कथाओं एवं स्थियों के अनेक वन भी उन्हीं कीटि म आते हैं। सामायिक उत्सव अतिरिक्त व्यक्तिगत होने हैं, किन्तु उनमें जातीयता एवं सामाजिकता का पूरा योग रहता है, लोकजीवन मे मैथिलीकरण गुप्त का इस पवित्र का बड़ा महत्व है —

‘सुख बढ़ जाता, दुख घट जाता, जब है वह बट जाना।’

लोक-जीवन व्यक्तिगत मूल और दुल को भी सब मे बाट कर भोगता है। फलत उत्साहकारी उत्सवों मे तो सम्पूर्ण जाति, समाज और परिवार का योग रहता ही है, मृत्यु जैसी भयकर, किन्तु सुनिश्चित चीज भी सामाजिकता का बाना पहनकर उत्सव बन जाती है।

लोक-जीवन जिन तत्त्वों से प्रभावित होकर आन्दोलन मनाने को ललक उठता है, वे व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक और प्रकृति जन्य होते हैं। पुत्रोत्पत्ति, पुत्र-पुत्री के विवाह, यज्ञोपवीत आदि अवसर तो व्यक्तिगत उत्साह के होते ही हैं, यहाँ तक कि मरण भी उत्सव बन कर लोक-जीवन मे व्याप्त मृत्यु-भय का निराकरण करने मे समर्थ होता है। किसी की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी द्वारा सामूहिक भोज (मृत्यु-भोज जिसे मरकार ने कानून से बन्द कर दिया है, पर लोक-जीवन मे आज भी वह अनिवार्य माना जाता है।) मरणोत्सव का ही प्रतीक है। लोक-रुढ़ि के अनुसार यह भोज मरने वाले व्यक्ति की आत्मा की शान्ति के लिए होता है, जिसे मृतव्यक्ति के ‘मुह की राख निकालना’ कहा जाता है, यह भोज लोक-जीवन मे उतना ही आवश्यक माना जाता है जितना मृतक की भस्मी को गंगाजी या किसी नदी मे प्रवाहित करना। यदि कोई पुत्र अपने माता-पिता की मृत्यु पर भोज देने मे असमर्थ होता है या समर्थ हारकर भी किसी सिद्धान्त-यग नहीं देता तो वह लोकउपालम्भ का शिकारी बनता है और यह मान

जिया जाता है कि उन 'कपूत' के मना-पिना को मरुति नहीं भिन सकती। फलतः आधुनिक शिक्षा प्राप्त तथा 'नुरते' के विरोधी युवक भी लोरोपवाद से बचने के लिए तथा अपने माता-पिता को स्वर्ग या मोक्ष प्राप्ति के प्रलोभन से किसी न किसी रूप में 'नुकना' कर ही देने हैं।

घाकट, मींगो वृत्तों जैसा जन-नानियों में तो आज भी घृत भोजों में दखल देने वाली पुलिस को येन केन प्रकारेण मरुट्ट का दिया जाना है और 'नुकना' निविधन सम्पन्न हो जाता है।

मरणोत्सव या इमना जवनर 'टोके' का होना है। मृत व्यक्ति घनी हो या निर्धन, उच्चवर्ण का हो या निम्नवर्ण का, जानि तथा व्यवहारी लोगों को उन्मयित में उनके उत्तराधिकारी को 'पगडी' बंधवाना तथा 'टीका' करना अनिवार्य प्रथा है। कहते हैं कि 'राजा मर गया, राजा कभी नहीं मरना'। इस मिथ्यान्त के अनुसार राजसिंहासन की खाली नहीं रहता। राजा के मरने पर उसकी अस्पृष्टि बाद में की जाती है, पहले उसके उत्तराधिकारी का अभिषेक होता है। लोक-जीवन में भी इस नियम की झलक मिलती है। मृत पिता की पगडी उत्तराधिकारी के मिर पर बाँधी जाती है। तत्पश्चात् समागत मन्त्रन्धी तथा व्यवहारी उसका तिलन करते अपनी-अपनी ओर से पगडी उतवा कर अपनी स्वीकृति की मुद्रा गाते हैं। उत्सव की समाप्ति यहीं नहीं हो जानी। एक-एक जन समुदाय उत्तराधिकारी को उसी रूप में मन्दिर पर ले जाता और भगवान को मात्री बनाकर उनके आर्ग्यवाद की उत्तराधिकारी के लिए याचना करता है। जागे-जागे टोठ बजना है। जिस पर डके की चोटें इस प्रकार मारी जाती हैं कि हर्षोत्सव एवं शोकोत्सव में स्पष्ट भेद किया जा सकता है। टोठ की ध्वनि को सुनकर ही पट्टाणा जा सकता है कि यह किस अवसर पर बजाया जा रहा है। छहर पर एक-दो गीत रम्मी तौर पर गाये जाते हैं और मरणोत्सव के माय-माय नये उत्तराधिकारी या टीकोत्सव सम्पन्न होता है।

यह मंत्री है कि उक्त उत्सव पर हर्ष तथा उल्लास की भावा नहीं होती, पर भोज, टीका, मन्दिर दर्शन, टोठवादन, गीत आदि मारी सम्मेलन होती हैं, जो घुम काय में होती हैं। इनके लिए तैयारी भी व्यक्ति के मरने के तीसरे दिन से ही प्रारम्भ हो जाती है। निमन्त्रण भेजे जाते हैं, परिवार सदस्यों की सूचना दी जाती है, जिसमें विवाह आदि सम्कारों के निमन्त्रणों के अनुसार 'दन च्या' पेली पधारज्या' जैसा आग्रह तो नहीं होता, पर 'द्वादशे' की तिथि दिन की सूचना अवश्य होती है। इस प्रकार यह व्यक्तिगत शोक या अवसर भी सामाजिक उत्सव बन जाता है।

जन्मोत्सव

हाडीती की लोक-मान्यता में 'जनम, परण और मरण' जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। मरणोत्सव का वर्णन मशेष में किया जा चुका है। पुत्र-पुत्री जन्म पर जो उत्सव मनाया जाता है, वह स्थितियों तक ही सीमित रहता है। पुत्र-जन्म पर अधिक खुशी मनाई जाती है। कन्या का जन्म अभिशाप माना जाता है, पर आवश्यक प्रथा मूरज पूजन, झूडा पहनना आदि रम्य जन्म पर भी की जाती है। प्रथम मन्त्रानोत्पत्ति पर लडकी के पीहर में 'जामणा' आने की प्रथा भी बहुप्रचलित है, जिसमें दामाद तथा कन्या के लिए वस्त्रों के अतिरिक्त नवजात शिशु के लिए कई जोड़ी झगुले, आम्रपूण, खिलौने आदि होते हैं।

विवाहोत्सव

'परण' (परिणय) जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण उत्सव है, समार की सभी जातियों में इसे विभिन्न रूपों में मनाने की प्रथा है। हाडीती में विवाहोत्सव लोक-जीवन में विविध स्थान रखता है। विवाह की निश्चित तिथि से लगभग एक महीने पूर्व से ही उत्सव प्रारम्भ हो जाता है। 'विनायक स्थापना' के साथ ही लडका-लडकी 'लाडा-लाडी' बन जाते हैं। मान्यता है कि 'विनायक आये, नाज लाये' अर्थात् विनायक स्थापना होते ही विवाहोत्सव की सारी मामूरी एकरह होने लग जाती है। लाडा-आडी गणेश-पूजन किये बिना भाजन नहीं करते। गणेश का मूर्तिमान्





प्रतीक कोई बालक जो 'वन्द्याक' (विनायक) कहलाता है, भोजन, पूजन आदि कार्यों में लाडा-लाडी के साथ रहता है और उसे प्राथमिकता दी जाती है।

इस उत्सव के साथ अत्यन्त आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रथा भी जुड़ी हुई है। लाडा-लाडी के सवधी तथा व्यवहारी उन्हें अपने घर पर निमन्त्रित करते हैं और सुम्बादु भोजन से उन्हें तृप्त करते हैं। व्यवहारियों की अधिकांशता होने पर कभी-कभी तो वर-वधू को दिन में चार-चार, पाच-पाच जगह भोजन करना पड़ता है।

वर-वधू के वैवाहिक वस्त्र भी ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। 'निकासी' के समय वर को चूड़ीदार पाजामा, धोती, टप्पने तक लम्बा कवचनुमा लाल या केसरिया रंग का गोटेदार झगा पहनाया जाता है। सिर पर उसी रंग की पगड़ी बाँधी जाती है, जिसको 'मार' की सुइयों (आलपिनो) में इतना मजबूत कर दिया जाता है कि तीन-चार दिनों तक वह ढीला न हो, क्योंकि इस समय बाबू गई पगड़ी विवाह करके लौटने के बाद ही उतरती है। पैरों में कामदार मलमली जूतियाँ पहनी जाती हैं और कमर में सात हाथ लम्बा केसरिया या कन्मुल रंग का दुपट्टा, जिसे 'मोल्या' कहते हैं, बंधा रहता है। पगड़ी पर भीर तथा कलगी की सोमा भी दर्शनीय होती है।

विवाह के लिए प्रस्थान करने से पूर्व वर की भाभी उसकी आँखों में काजल देती है और माँ अपने आचल का दूध पिलाने का अभिनय करती है। वर के कंधे पर तलवार रखती है और कमर में कटारी। इस रूप में वर को घोड़ी पर बिठाकर घुमाया जाता है, इष्ट देवताओं को दुकराया जाता है।

वर की इस युद्ध जैसी तैयारी से अनुमान होता है कि किसी समय वधू को विवाह करके लाना बड़ी टेढ़ी सीर होती होगी। एक कन्या के लिए दो या अधिक वर्णों के आने की आशंका बनी रहती होगी। माता पुत्र को अपना आचल देकर कामना करती होगी कि 'घेठा' मेरा दूब मत लजाना। 'वधू को लेकर ही लौटना।' इस अवसर पर वर को अपने इष्ट देवता का आशीर्वाद प्राप्त करना भी आवश्यक होता होगा।

इसी प्रसंग में वधू के घर पर 'तोरण' मारने की प्रथा भी उल्लेखनीय है। यह प्रथा उक्त अनुमान की पुष्टि करती है, वर घोड़े पर बैठकर वधू के दरवाजे पर टांगे हुए लकड़ी के तोरण को अपनी तलवार से स्पष्ट करता है और तत्काल वधू के घर में प्रविष्ट हो जाता है। तारण द्वार तक आते-आते निश्चय ही उसे अपने प्रतिद्वन्द्वियों से सघर्ष करना पड़ता होगा। इस बीच म कन्या पक्ष की आतुरता एवं व्याकुलता भी द्रष्टव्य होती है। कन्या से आयु तथा 'पग' में बड़े स्त्री-पुरुष उस दिन, दिन भर भूखे रहकर 'पनाल' करते हैं और 'फेरे' पड़ जाने के बाद ही अन्न ग्रहण करते हैं।

कन्याओं के व्रतोत्सव

वैयक्तिक उत्सवों में कन्याओं के व्रत का लोक-जीवन में उल्लेखनीय स्थान है। भावी वैवाहिक जीवन को सुखद एवं शान्तिमय बनाने के लिए हाडीती अचल में कन्याओं से अनेक व्रत करवाते हैं जो विवाह के बाद तक चलते हैं। ये व्रत भी दो तरह के होते हैं—(१) वार्षिक और (२) दैनिक। वार्षिक व्रत वर्ष में एक बार किये जाते हैं और कई वर्षों तक जब तक कन्या अविवाहित रहती है करने पड़ते हैं। दैनिक व्रत प्रतिदिन करने पड़ते हैं और वर्ष भर चलते हैं।

वार्षिक व्रतों में प्रमुख व्रत 'अमकारथा' (ओकार उपासना) है, जो मादो में शुक्ल पक्ष की अष्टमी को किया जाता है। इस दिन कन्या दिन भर निराहार रहती है, अग्नि में पकाया या सेंका हुआ अन्न ग्रहण नहीं करती और जब तक शिवपूजन करके तत्सम्बन्धी कहानी नहीं सुन लेती, मुँह में पानी की बूद तक नहीं डालती। यह व्रत पार्वती के व्रत और तपस्या का लघुतम संस्करण है जो उसने शिव का पति रूप में प्राप्त करने की कामना से किया था। तीन-चार वर्षों की आयु से ही यह व्रत आरम्भ कर दिया जाता है। कन्या का कम में कम नौ व्रत करने पड़ते हैं। नौ व्रत पूरे हो जाने पर कन्या स्वभावतः विवाह के योग्य हो जाती है।

कन्याओं के अन्य वार्षिक व्रत भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किए जाते हैं। उन सब व्रतों में विध्वंसी की पूजन तथा उनकी तस्वीरों प्रसूत होती हैं। माघन के महीने के चारों मोमवार, यादगी तीज, गणगीर आदि इसी प्रकार के व्रतोंमें हैं। इस प्रकार कन्या में कन्या की योग्य वर को प्राप्त हो जायगा, पर गृहस्थी के मचालन के लिए उनमें जिन गुणों की आवश्यकता है, उनका अभ्यास जब तक वांछ्य जीवन में नहीं होगा, तब तक उपरका गृहस्थ जीवन कैसे सफल, सुखी और समृद्ध हो सकता है? इसीलिए कन्या में कई दैनिक व्रत करवाये जाते हैं। मकर मन्थान के दिन कन्या एक या दो व्रत लेती है और जगदीश्वर मन्थान को बड़े उत्सव के साथ उनका समर्पण करती है। बीच में किसी दिन व्रत भंग हो जाने पर कन्या को प्रायश्चित्त स्वरूप उपवास करना पड़ता है। दैनिक व्रतों में मुख्य मुख्य ये हैं—

गो का छूटा—गो जीवन में गो का महत्त्व सर्वमान्य है। घर में गो का होना अनिवार्य और सीमावर्ती का चिह्न माना जाता है। गो के जाट में चने पाने पर उनके म्यान की स्वच्छता का काम गृहिणी के कर्म्म होता है। गो के लूटे को नीचने या व्रत कन्या को अपने गार्हस्थ्य जीवन में 'ठाग' को स्वच्छ रखने की शिक्षा देना है।

तुलसी, माधिया और तुलसी-चरणामृत—तुलसी-ठाणा की प्रत्येक घर में अनिवार्य रूप से होना है। तुलसी और गाँव की गृहस्थी का अंग बना कर हमारे पूर्वजों ने आर्थिक और शारीरिक स्वास्थ्य सम्मत्या को महज ही हल कर लिया था। 'तुलसी ठाणे' का चित्रित कर उसे आकर्षण बनाना तथा उसमें प्रतिदिन पानी देकर उसे हरा-भरा रखना गृहिणी का कार्य जाना है। कन्या को 'तुलसी ठाणे' पर हल्दी में स्वस्ति अंकित करने का व्रत लेना पड़ता है जो उसकी पूर्व नैयामी है।

मासी रोटी (सम्भुष गेटी)—यह व्रत बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह उस समय की याद दिलाना है जब अन्ते-बासी लोग आश्रमवासियों के लिए भोजन पत्र करने समीप गाँवों में जाते होंगे और गृहिणीयाँ उनके आने में पूर्व ही रात्र में भोजन लेकर अपने द्वार पर मौन खड़ी हो जाती होंगी। ब्रह्मचारी भी चुपचाप उनके द्वार में भोजन लेकर चर देने होंगे। इस व्रत में कन्या पन्नी गम रोटी लेकर द्वार पर मौन खड़ी हो जाती है। आने-जाने वालों में से कोई उस गेटी को ले लेता है। प्रत्येक वर्ष वह इसका अभ्यास करता है।

तारा-दाना—(ब्रह्ममुहूर्त में शय्या-स्थाप) —गृहिणी के लिए अकाश में तारा के रहते शय्यास्थाप कर गृहकार्यों के लिए तैयार हो जाना गार्हस्थ्य-सुख-समृद्धि की कुञ्जी है। कन्या को 'तारा-दातण' व्रत द्वारा इसी का अभ्यास कराया जाता है। उसे ब्रह्ममुहूर्त में लेगा दिया जाता है और कुल्ला-दानुन कराया जाता है। यह दूसरी बात है कि आज की कन्या फिर माँ जाना है और नृसिंह पर ही उठती है।

मासी मून (माघ्य मीन)—उसके दो प्रकार हैं—छोटी मून और बड़ी मून। विवाह के पूर्व जो 'मून' का व्रत लिया जाता है उसे 'छोटी मून' कहते हैं। विवाह के पश्चात् ही जाने वाली 'मून' बड़ी मून कहलाती है। 'छोटी मून' में कन्या सध्या होते ही किसी में 'राम-राम' कह कर मौन धारण कर लेती है और मध्याह्नक की समाप्ति पर, जब मन्दिरी में मध्या-आरती हो चुकती है, मौन तोड़ती है। मौन भंग करने का भी एक विशेष ढंग होना है। कन्या हाथ जोड़ कर किसी महिग के सामने खड़ी हो जाती है। वह निम्नलिखित पन्थिया बोल कर कन्या का मौन तोड़ती है—

‘मीना जी की बाड़ी में,
आमा मोर्या, नीमू मोर्या,
मोर्या दाइयू दाइ ।
मरीकमन जी मेवा ब्रह्मा,
राजा-गणी रामे ब्रह्मा ।





चड़ी चुड़गल्ला वागे वैठ्या ।
भालर वाज घडावल वाजी,
सध्या फूरी, तारा ऊग्या,
छोडो मून, सिताफल लाग्या
मूनी जी का मून छटी,
मूनी बाबा राम । राम ।।

और कन्या 'राम-राम' कह कर अपना मौन भग कर देती है ।

'चड़ी मून' मसुराल मे ली जाती है । कन्या अन्न बड़ी और रामझदार हो जाती है । इसलिए मौन लेते और भग करते समय किसी अन्य से 'राम-राम' कहने की आवश्यकता नहीं होती । सध्या का सुनहरापन आकाश में फैलते ही यह स्वतः 'राम-राम' कह कर मौन धारण कर लेती है और प्रथम तारे का दर्शन कर स्वतः ही 'राम-राम' कह कर भग कर देती है ।

गार्हस्थ्य-जीवन मे गृहिणी के लिए यह सध्याकालीन मौन अत्यन्त आवश्यक है, इसीलिए इसका अभ्यास एक-एक वर्ष के लिए दो बार कराया जाता है । पति, देवर तथा घर के अन्य लोग खेती, खानियानो मे दिनभर काम करके सध्या को हारे-थके घरों को छोड़ते हैं । श्रम से उनके स्वभाव मे चिड़चिड़ापन आ जाना स्वाभाविक है । उधर बच्चे भी खेल-कूद कर सध्या को घर पर आते हैं । सारा घर चर-पुल और कोलाहल मे भर जाता है । कोई कुछ चाहता है, तो कोई कुछ । कोई डाट-फटकार दिखाता है तो कोई तान मारता है । बेचारी अकेली गृहिणी और यह जजाल, किस-किसको उत्तर दे ? किस-किस को सतुष्ट करे ? अतः वह मौन रहकर अपना सध्याकालीन कार्य सम्पन्न करती रहती है । थकी वह भी कम नहीं होती, पर यदि वह भी चिड़चिड़ी होकर बड़बड़ाने लगे तो घर गृह-कलह का अड्डा ही बन जावे । सद्गृहिणी अपने मौन द्वारा घर को कलह की आग मे जलने से बचाती है । दोनों प्रकार के 'मौन' के अभ्यास का यही महत्त्व है ।

स्त्रियों के अन्य व्रतों-सव—कन्याओं के व्रत योग्य पति की प्राप्ति तथा भावी गार्हस्थ्य जीवन मे सुख और धान्ति की कामना से किये जाते हैं । विवाहिन स्त्रियों के व्रतों मे उम्र जीवन के स्थायित्व एवं सफरता की कामना सम्निहित होती है । गार्हस्थ्य जीवन मे धान्ति और सुख का मुख्य तत्त्व गृहस्थामोका स्वस्थ, मनुष्य एवं कर्मठ होना है । सध्या स्त्रियों के लगभग सभी व्रत पति की मंगल कामना के लिए ही किये जाते हैं । मच तो यह है कि भारतीय नारी का जीवन ही पतिमय है । पति के बिना वह अपने जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकती । अतः वह जीवन भर अपने पति की कुशल कामना के लिए व्रत किया करती है । इन व्रतों मे उनकी आराध्या पावती होती है । जिम्मे अपने अनेक जन्मों मे एकमात्र शिव को ही पति रूप मे वरण किया था । 'आठ मौभागती, करवा चौथ, गणगौर, थावणी तीज, बट सावित्री अमावस्या, आदि इसी प्रकार के व्रत हैं ।

नारी का सम्बन्ध दो कुल से होता है । एक कुल की वह पुत्री होती है, दूसरे की पुत्रवधू । एक कुल मे जन्म लेकर उसने अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण समय वचपन बिताया है और भावी जीवन की तैयारी की है, दूसरा कुल उसकी तैयारी का प्रयोग-स्थल है । एक कुल मे उसका जीवन श्रद्धाओं और किलकारियों मे बीता है, दूसरे कुल मे वह मर्यादित हो गई है । पति-गृह उसके शेष जीवन का आलम्बन होते हुए भी उसके लिए प्रारम्भ मे नया और अटपटा होता है । इस तथ्य मे अनभिज्ञ पतिगृह के व्यक्ति सास, ससुर, देवर, ननद, आदि कभी-कभी नववधू के मस्तिष्क मे उलझन पैदा कर देते हैं । वे उसके पीहर के लोगों की यदाकदा निन्दा करने मे ही अपनी प्रशंसा समझते हैं और नवागत वधू के समक्ष यह प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं कि उसके पीहर के घर तथा लोगों से हमारा घर धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, शिक्षा, सम्पत्ता आदि मे कहीं बढकर है । पीहर के उन्मुख वातावरण में स्वच्छन्द हिरणी के समान किलोल करने वाली कन्या इस नये जीवन मे घुटन का अनुभव करने लगती है । उसके जीवन की सारी आशाएँ

प्रमित हो जाती हैं। पतिगृह उनके लिए आगार बन जाता है। वह अनेक गीनों के माध्यम से अपने पिता-माता, भाई आदि को याद कर-कर के गीतों से और समय-समय पर ऐसे ब्रत बर्तनी है जिनमें उनके माता-पिता विशेष रूप से उनके भाई की मरण-शमना रहती है। मनुमान में पति और पितृगृह में भाई से दो ही उस अवस्था के आश्रयदाता हैं। अन वह जीवन भर उनकी के मुखमय दीर्घ जीवन की कामना करती रहती है।

यावना पूर्णिमा पर वह अपने भाई के शयन में गंगा का मृग (गङ्गा) बाँध कर उसे मनार के समस्त अनिलो-कणों से बचाने की कामना करती है, ताकि समय आने पर वह उनकी भी आशा का रहे। वर्ष में दो बार 'श्यावना' (श्रावण-मासा) पर भाई को निष्कृष्ट बना ब्रतन रा पवित्र कर्त्तव्य होता है। वह भाई के घर जाकर उनके समस्त पत्नी अंगन में निरुक्त करती और 'श्रावण' बर्तनी है। प्रातः काल अपने घर पर मिट्टी का आटे के शिव-पार्वती, सूर्य आदि बनाकर उनकी पूजा करती है। जिनकी स्थानीय स्त्री में रहानी मुननी है, जिनमें ब्रतन के ब्रत के प्रभाव से भाई की मचटों में आशा होकर भी जान होती है।

पति तथा भाई—उनकी दोनों की मरण-शमना के लिए वह कभी बटवृज की पूजा करती है तो कभी नाग-देवता की। ज्येष्ठ की उमावस्या का बटवृज की पूजा और नववर्षी जहाँना ना नागवर्षी को नागदेवता की पूजा होती रहती है। पति जीवन में अज्ञान कारण से प्रवृत्ति से रहानिया ही उनके लिए शान्ति बचन है। जहाँ वेद-शास्त्र, रामायण, भागवत, गीता आदि का पढ़ना मध्यम नहीं, जितना उन ज्ञानियों का है। मच ना यह है कि वेद शास्त्रों के लोक जीवन में नाम ही नाम है। लोक-हृदय की निष्ठुर अन्धता उन रहानियों का नाश-जीवन में सर्वोच्च ध्यान पर विराट् दिना है।

प्रकृति तथा सामाजिक उत्सव—वैयक्तिक जनों तथा उत्सवों की धारा नाग-जीवन में समस्त प्रवाहित रहती है। पुरुष जीवन में उनकी गति मन्द रह जाती है। पुरुषों के उत्सव अधिकतर प्रकृति की अनुकूलता पर निर्भर होते हैं। प्रकृति से उत्पन्न के साथ लोक-जीवन की उत्पत्ति हो उठता है। यह उत्सव उत्सवों के रूप में प्रकट होकर लोक-हृदय की मरणा, पवित्रता एवं निष्ठुरता की अभिव्यक्ति करना है। साधन आना है। प्रकृति अपने समुत्पन्न वैभव के साथ अपनी पत्नी अव्यक्ति होती है। प्रातः पति आने हैं। विचित्रों की सम्मानना भी प्रकृति के गानों के साथ उनकी गतिमयी और कभी मूर्खतापूर्ण बर्तन होन लगती है और दूसरे लोक-जीवन नामा उत्सवों, ब्रतों की स्वीकृति में ना जाना है। जलपाने, धाम्नी और टोकर खनर उठने हैं और नामहिम जाना की प्रातः बहने लगती है। प्रातः सोमवार की रात रातों की रातों में बाहर स्वच्छन्द प्रकृति की गाद में पलक जान हैं। जल्ने है, नाचने हैं और समस्त ब्राह्मणों को अपने नाम गीतों में समर्पण कर देने हैं।

उत्पत्ति हुई ब्रह्मानी नदिया, प्रकृति पर तवाकुति शम्भ, गीत में स्पष्ट हुआ पर लई इन्द्रिया, कृष्णजीन मृग, कृष्ण की हृष्ट कोटिगण एक ओर, और झूलो पर झूलती हुई राम ब्राह्मणों के रुक्काओं में निमृत्त जाना साव समन्वित रम्यो गीत, पुरुषों द्वारा अगोत्रों पर मन्त्री न गाये जान बाटे रमिया और मन्त्रा नया अनन्त रगों के केचरिया, कृष्णन बर्तनों की उठा झूलती ओर प्रकृति और पुरुष मानो समवेत हो जाते हैं।

ब्रतों में अन्तर बाजरा छाट दिया गया है, वह अकुति होकर बर्तनी के ऊपर आ गया। ब्रतों में ब्रतों को आपाट की प्रथमवर्षी के बाद ही 'मग' दिया गया है। गृहस्थिमा देव सोने में पूर्व ही अपने प्रियतम के घर गेट लाई हैं। घरों के 'श्रावण' पर गार्ड, कद्द और तूमटे की बेने ला गई हैं। उत्सव के सारे काग उपस्थित हैं। फिर लोक-जीवन में न प्रकृति की शिडाओं का नास्वादन करने के लिए उनकी गाद में जावे ?

वर्षों के बाद प्रसन्न का स्थान है। शोरी का नगठन पर्व-व्रतन में ही जाना है। लोक ऊच, छाटे-बड़े का अन्त भुजा कर नर-नारी, जलवृद्ध समस्त हो जाते हैं। रग जी-गुठाल के साथ कीचट और धूम भी एक दूसरे को विस्मय करके प्रेम प्रदर्शन करने के काम में आते हैं। समस्त इन्द्रिया में ही रग जी-गुठाल के स्थान पर कीचट और धूम की प्रविष्टा की है, पर वह लोक-जीवन के हादिक उत्सव को कम करने में समर्थ नहीं हो सकी।





होली जलाने की प्रथा के साथ कई वैदिक, पौराणिक तथा सांस्कृतिक परम्पराएँ जुड़ी हुई हैं, जिनमें से लोक जीवन ने होलिका और प्रह्लाद के कथानक को ही प्रकट रूप में स्वीकार किया है, परन्तु परोक्षरूप में वह 'वहंगी' (गेहूँ की बालें) को होली की आग में भेंक कर दिक नव शम्भेष्टि को तथा रंग वैंगुलाल और पारस्परिक मिलन के द्वारा उमरी सांस्कृतिक तथा सामाजिक महत्त्व का भी स्वीकार करता है।

वडगाँव की वनजाग जाति में होली का उत्सव विशिष्ट ढंग में मनाया जाता है। युवकों और युवनियों की टोलियाँ बन जाती हैं। नमक में गरी बोगी को एक लम्बे मोटे रस्से से बाँध कर रस्से के दूसरे सिरे को गुला छोड़ दिया जाता है। युवनियाँ हाथों में कोड़े और लाठियाँ लेकर बोगी की रक्षा पर डट जाती हैं। युवा, रस्से को खींचकर बोगी को ले जाने का प्रयत्न करते हैं। युवतियों के डण्डों की मार में बचते, मार खाते, युवक बोरी को खींच कर निश्चिन्त स्थान तक ले जाते हैं। इस प्रयत्न में कई युवक घायल हो जाते हैं और कई हिम्मत हार कर बैठ जाते हैं। अन्त में जो युवक बोरी को अग्न अघिकाश में फेंक देता है, उसे जयमाल पहनाई जाती है और रंग रंग, खान-पान में समवेत नर नारी निमग्न हो जाते हैं। इसे 'तेजा तोड़ना' कहा जाता है। पुरुषों के पुरुषार्थ तथा शौर्य की परीक्षा का कैसा अद्भुत ढंग है ?

जातिगत, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक कारणों से होली मनाने के विविध ढंग प्रचलित हैं, पर सब में एकत्व ही, सगठन की, मैत्री की और वैर भाव भुलाकर जीवन वित्ताने की भावना सन्निहित होती है।

होली में प्रारम्भ होकर उत्सवों की जो परम्परा चलती है वह अक्षयतृतीया पर जाकर विराम लेती है। नहान-होली, गणगौर, भैयादूज, बीतला-अष्टमी, दुर्गाष्टमी, रामनवमी आदि सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक उत्सवों में लोक-जीवन मलग्न रहता है। फलतः स्त्रियों में एक रहीं होती हैं, किसान और मजदूर के पास खेती सम्बन्धी विशेष-कार्य नहीं होता और लहलहाते हुए गेहूँ-बने अलसी के खेत उसे उमगित करते रहते हैं।

वीरपूजोत्सव — लोक-जीवन उन वीरों का प्रति वर्ष कृतज्ञता एवं श्रद्धापूर्वक स्मरण कर उत्सव मनाता है जिन्होंने कभी अपने सत्व वीरता एवं साहस में लोक-रक्षण के पवित्र कार्य में अपने प्राणों की आहुति दी थी। पौराणिक तथा ऐतिहासिक वीर पुरुषों की कहानियाँ तो लोक जीवन में मान्य हैं, पर पूजनीय वही लौकिक वीर पुरुष हैं, जो उसकी आवश्यकताओं, भावनाओं तथा आशाओं को पूरा करने में आज भी समर्थ माने जाते हैं। 'वीर तेजा' का नाम कौन नहीं जानता है ? जिन्होंने वस्तुओं से साहसपूर्वक लड़कर गायों की रक्षा की। लड़ते-लड़ते सारा शरीर घावों में जर्जर हो गया, पर तक्षक को दिय हुए वचन की रक्षा के लिए अपने अनाहत अंग-जीव को तक्षक के सामने कर दिया। लोकविश्वास के अनुसार साँव के काटे के गले में तेजा के नाम की 'डसी' (कपड़े की रस्मी) बाँध देने पर व्यक्ति मर नहीं सकता और तेजादग्नी के दिन तेजाजी के चबूतरे पर 'टमी' को काटने के बाद तो वह गर्प विष में सर्वथा मुक्त हो जाता है।

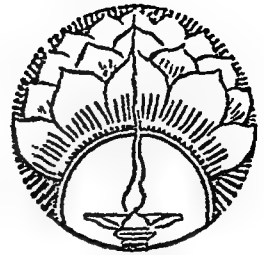
देव जी, फावूजी, हीरामन जी, ताया जी आदि भी ऐसे ही लोक पूज्य वीर देवता हैं, जिनकी जयन्तियाँ गावों में समारोहपूर्वक मनाई जाती हैं। स्थान-स्थान पर इनके नाम के थानक, चबूतरे आदि बने होते हैं, जो वर्ष में एक बार ढोल, नगारे, अलगोजा, बाँसुरी के वादन तथा लोगों के सस्वर गायन से सुश्रुत हो उठते हैं।

अन्त में एक ऐसे उत्सव का उल्लेख कर देना आवश्यक है जिसका सम्बन्ध केवल बालकों से होता है। मादा मुदी चतुर्थी को 'गणेशचौथ' के रूप में मनाया जाता है। गणेशजी विद्या बुद्धि प्रदाता हैं। बालकों को और क्या चाहिए ? इस दिन बालक अच्छे वस्त्र धारण पहन कर 'चतरा' बनते हैं। एक दिन पूर्व अच्छी तरह स्नान करके हाथों में मेहदी रचाने हैं और रंग-विरंगे सुडौल डंडे बजाते हुए एक-दूसरे के घर पर जाते हैं। डंडों के साथ अवसर के लिए लोक-प्रचलित कुछ पद्य पवित्राँ सस्वर उच्चरित करते हैं, जिनमें अन्ततः गणेशजी से बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना होती है। बालकों का घने पर प्रसाद के रूप में मोदक वितरित किये जाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व तक इस उत्सव में अध्यापकों का भी सहयोग रहता था, परन्तु अब शिक्षा के यन्त्रोत्करण तथा अतिवैदिकता के प्रभाव से शिक्षक अभिभावकों के इस अनाहत एवं अनौपचारिक सम्मेलन का अवसर ही समाप्त हो गया।

निमाड़ का जीवन और संस्कृति

श्री रामनारायण उपाध्याय

(खण्डवा म० प्र०)



हिन्दुत्वान के नरधे मे विन्ध्य औ मनपुडा के जवन मे जो भू-भाग बना है, वह निमाड के नाम मे परिचित ह । नाम की गामो की तरह नर्मदा और नाप्नी जिनके बायें और दायें होकर बही है । औ मव आर की स्वांगे या बुला स्वागत करने के लिये विन्ध्य औ मनपुडा जिनके दो छोरों पर बाह फैलाये मे बटे ह । मनपुडा की गर बाहें फुट ऊँची ओगी प- म्वित आमी-गट या म्मिन्हा यहा के प्राचीन इतिहास की कहानी सुना रहा है और हृदय की तरह मध्य मे म्वित ओगरेस्वर नामक नीर यहा की लल-लक्ष जन्मा के प्रणाम औ पूजा का केन्द्र रहा है । निमाडा यहा की लोरु भाषा है आ मोलहवीं कलावरी के महान् मन मियाजी ने अपने आध्यात्मिक भजनों को उन्नी के माध्यम मे जन-जन मे प्रमाणित किया है ।

गंगा के किनारे जाग गायो नभ्यता पनपी है तो नर्मदा की किनारे को मस्कृति के निर्माण का श्रेय रहा है । गंगा को जान या न्य माना गया है क्योंकि उसके किनारे अपिना ने ज्ञान की प्राप्ति की और पुनरा का प्रेम का प्रतीक माना गया है क्योंकि उसके किनारे भक्ति का प्रमाण हुआ । नर्मदा भी एक भावना का प्रतीक है और वह तपस्या और आनन्द की भावना । उसके किनारे अपियो ने तपस्या के द्वारा आनन्द की प्राप्ति की है । उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच बहा के कारण यह उत्तर की आर्य और दक्षिण की द्रविड संस्कृति का मेलन भी बहन करती है । यहाँ की ऊबड-खावड जमीन के बीच भी रह-रहाने वाली चेनी, अमाडी की मार्ज, और ज्वार की मोटी मे पुष्ट शान वाले जीवन और सुनमा देने वाली गरमी के बीच भी मुस्काने वाले पलाय के फूल मे मानो एक ही मेलन गूँज गया है—तपस्या का आनन्द ।

यहा की जमीन का ही तरह यहा के जानपद जन मटमला गेहुआ रंग लिये होना है । हनुकी नोक से जमीन की छानी पर उमड़े हुए टेलों की तरह जिनके चेहरे पर मदिरों का दु ख-मुत्र जानानी में पटा जा सकता है ।

स्वभावतः यहाँ का जानपद जन अत्यन्त ही मेहनती और महनशील होता है । यहा की ऊबड-खावड जमीन को समतल क्षेत्रों में बदल देने का श्रेय उसे ही रहा है । उसने इनने बाट महे है कि कष्टों को मुस्कराकर पार कर जाना उसके सम्प्रायोग में विद्य गया है । वह विस्वाम पर विक जाता है । उस पर झुक जाता है । सबकी सहता है पर कभी शिकायत नहीं करता, सबकी सुनता है पर कभी अपनी ओर मे नहीं कहता । वह कभी थककर नहीं बैठता, झुनझ नहीं चलता और पश्चिम मे भी विश्राम का आनन्द पाता आया है । दु ख का पहाड आ जाये या मुख की क्षीण रेखा, वह मदा मुस्कराना है और अकेले रह जाने पर भी अपनी गह चलना नहीं छोडता । यह अशिक्षित भवे ही हों, मुस्कान रहा है । स्नेह पारस्परिक-महयोग और सहकारिता जैसे गुण उनके जीवन के अविन्न अंग बन चुके हैं ।

धार्मिक रीति-रिवाज

यहा राम, कृष्ण, शिव और विष्णु की समान रूप मे उपासना की जाती है । उत्तर भारत की तरह यहा के प्रत्येक गांव मे एक हनुमान मन्दिर होता है । बिना हनुमान मन्दिर के कोई गाँव नहीं बसाया जा सकता । यह एक

वाश्चर्यजनक सयोग की बात है कि यहां के अधिकांश गांवों में मन्दिर प्रायः राम के पाये जाते हैं लेकिन घरों पर पूजा वालमकुन्द के रूप में कृष्ण की जाती है। भगवान राम का आदर्श जहां सार्वजनिक रूप से समूचे ग्राम को प्रेरणा देने की क्षमता रखता है वहां भगवान कृष्ण का बालस्वरूप पारिवारिक जीवन के अधिक से अधिक नजदीक पड़ना है। निमाड का यदि राम-कृष्ण के समन्वय का उपासक कहे तो भी अत्युक्ति नहीं, यही वजह है कि जिससे यहां रामलीला और राम-मण्डल दोनों समान रूप से मनाये जाते हैं। साथ ही रामकृष्ण के साथ शिव की उपासना भी की जाती है।

वेश-भूषा

यहां पर पुरुष धोती कुरता और सिर पर लाल रंग की पगड़ी पहनते हैं। कहीं मेहमान आदि जाने पर पगड़ी के ऊपर से एक पचा (हुपट्टा) लपेटने का भी रिवाज है। यह सम्मान सूचक माना गया है। कुछ बृद्ध पुरुष अंगरखा भी पहनते हैं। जिसमें बजाय बदन के बगल में कसने के बंद लगे रहते हैं। धोती दोनों मित्रों को पीछे की ओर कच्छ लगाकर पहनी जाती है।

स्त्रियाँ लहंगा साडी और काचलई (कचुकी) पहनती हैं कचुकी में बजाय सागने के पीछे की ओर बंद होते हैं। उत्तर भारत और दक्षिण भारत की सधि रेखा पर बसे होने के कारण यहां की वेशभूषा में दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है। कहीं पर साडी उत्तर भारत की तरह बिना कच्छ के पहनी जाती है और कहीं पर दक्षिण भारत की तरह कच्छ लगाकर।

बच्चों में झगगा, टोपी और चडडी पहनने का रिवाज है।

यहां पर पहने जाने वाले वस्त्रों के नाम निम्न हैं—

पुरुषों के वस्त्र

अंगा—अंग (शरीर) में पहनने का वस्त्र।

अगरखा—अंग (शरीर की) रक्षा करने वाला वस्त्र।

बालावडी—दोहरे पल्ले की बनियान।

हुपट्टा—दो पट्ट करके गले में डालने का वस्त्र।

पचा—पगड़ी के ऊपर लपेटने का सम्मान सूचक वस्त्र।

अगोछा—अंग लपेटना का छोटा वस्त्र।

मुकुम्तर—मुख वस्त्र।

धोती, पगड़ी, साफा, कुरता आदि।

स्त्रियों के वस्त्र

लुगडा—जनानी धोती।

काचलई—पीछे वाली बन्द कचुकी।

चोलई—सामने बंद वाली कचुकी।

अंगिया—अंग (शरीर) में पहनने का चुस्त वस्त्र।

परांगोर—श्रोतवस्त्र

घाघगा—पेरदार लहंगा।



पेलो—पीना बन्ध

मेवराटी—शाय की बनी माटी

पोलचो—कमल के फूल बाग बन्ध

कापडो—रुचुकी ना रुपडा

बच्चों के वस्त्र

लट्ठी के—कुटना, टोपी, चट्टी ।

नदकियों के—झा, बल्ली-गोटनी, धात्री-लट्ठा ।

खान-पान

यहा का मुख्य भोजन ज्वार की गेटी और मक्का, मूंग आदि की दाल में बनी नाग है। चावल का उपयोग बहुत कम होता है। ज्वार की गेटी गरम पानी में आटा मानक बनाई जाती है जिसमें वह धीमे हजम होने वाली तथा बिम्बुट की तरह आसानी से टूटने वाली होती है। जिसमें उसे खेत में काम करते समय भी खाने में सुविधा होती है। खान को घाट, दाठ (ज्वार की दालिया) जैसा चावल-दाल में बनी त्रिवर्णी खान का गिवाज है। भोजन दिन में तीन बार किया जाता है। बड़ी मुश्किल ज्वार की गेटी का नाचना करके खिमान खेत में जाता है। दोपहर का भोजन प्रायः खेत में ही होता है। खिया घर में गेटी बनाकर खेत में ले जाती हैं और उन्हे १० बजे में १ के बीच में खाया जाता है। शाम का भोजन, सूर्यास्त के बाद उन में खाने के पक्वान् ६ में ७ बजे तक चरता है। सुबह नाचना, दोपहर का भोजन, और शाम का पुनः हल्का फुल्का भोजन करने का गिवाज है।

आवागमन-निवास

यहा पर दो तरह के मकान बनाये जाते हैं एक झोपडीनुमा कच्चे घर, दूसरे ईंट मिट्टी के पक्के मकान। झोपडिया मिट्टी की दीवार में बनी जाती है और उनकी छत पर धाम फूस छाया होता है। गरीब लोग ज्वार और तूब के डालों से बाधक ऊपर में मिट्टी का प्लास्टर चटाकर दीवार बना लेते हैं। ऊपर मन की काही छाने का भी गिवाज है। जिसमें वे पुरे बूढ़ भी पानी टपकने नहीं पाना। दूसरे प्रकार के मकान, ईंट, मिट्टी और लकड़ी से बने होते हैं। दिन पर छान के त्रिधे गाँव में ही बने खपरे काम में जाये जाते हैं।

वर्तन

घरों में प्रायः नाच, पीनल के वर्तनों का उपयोग होता है। गरीब लोग एल्बुमिनियम और मिट्टी के वर्तन भी काम में लाते हैं। अनाज रखने के त्रिधे पहले मिट्टी की कोठिया और बेंत के बनने काम में लाये जाते थे, अब उनका स्थान गेहे की कोठिया लेने लगे हैं। लेकिन मिट्टी में उन्नत अनाज मिट्टी की कोठियों में जितना सुरक्षित रहना था उनका टीन की कोठियों में नहीं। मिट्टी की कोठियों में उसकी मोची गंध और ताजापन नष्ट नहीं होने पाना था जबकि टीन की कोठियों में वह ऐसा लगता है जैसे किसी ने अपने बच्चे को शिशु कल्याण केन्द्र में रख दिया हो जहा उसके मूत्र में बजाव डूब के दवाईयों को गंध आती है।

ताबे पीनल के वर्तनों के अलावा आज भी गावों में निम्नलिखित मिट्टी के वर्तन पाये जाते हैं।

नकोरा—रामनुमा पानी पीने का वर्तन

कूवा—लोटनुमा पानी लेने का वर्तन

घेंडई—लोटनुमा पानी रखने का वर्तन

माथली—बटरोडनुमा पानी रखने का वर्तन





मटका — पानी रखने का बड़ा वर्तन
राजण — काठीनुमा पानी रखने का वर्तन
हडी — दाल बनाने का वर्तन
दुतली — दूध दूहने का वर्तन
दधणी — दही बनाने का वर्तन
घागर — तेल गूँने का वर्तन
ढाकणी — इन सबका ढक्कन

आभूषण

यद्यपि बदलते हुये समय तथा बढ़ते हुए फैशन के कारण आभूषणों का रिवाज कम होता जा रहा है लेकिन निमाड में नग्न से शिख तक पहनने के निम्नलिखित आभूषणों का प्रचलन पाया जाता है ।

बेला — पैर के अंगूठे में पहनने का आभूषण
टीचा — पैर की सबसे छोटी अंगुली में पहनने का आभूषण
इच्छा और मच्छी — पैर की बीच की तीन अंगुलियों में पहनने का आभूषण
अनवट — पैर के अंगूठे के ऊपर पहनने का जजीरनुमा गुंथा हुआ आभूषण
पिंजणी — (पायल) पाव में पहनने का आवाजदार आभूषण ।
झाझरिया — छोटी छोटो घु घरियों से गूँठा हुआ पाँव में पहनने का आभूषण
रमझोल — चेन और घु घरियों में गूँठा हुआ पाव में पहनने का आवाजदार आभूषण
कडा — पाव का ठोस चादी का आभूषण
कल्ला — पाव का पोला आभूषण
तोटा — चादी का घुमावदार कड़ियों से बना पाव का आभूषण
गाम्या — पाव के पजे तक फैला हुआ टेडा कलात्मक आभूषण
कदरा — कमर में पहनने का आभूषण
मू दी या छल्ला — हाथ की अंगुली में पहनने का आभूषण
आरसी — हाथ के अंगूठे में पहनने का काच से जड़ा आभूषण
हाथ साकल्या — हाथ के पट्टे पर पहनने का जजीर से गुंथा आभूषण
वद — पट्टे पर पहनने का आभूषण
चूडा — हाथ में पकड़ने का लाख से बना नक्काशीदार मोभाग्य सूचक आभूषण
कावलड — हाथ में पहनने की चूडिया
करोदी — चूडिया के बीच पहनने का आभूषण
गजरी — कलाई पर पहनने का गुंथा हुआ आभूषण
कडा — कलाई में पहनने का ठोस चादी का आभूषण
भावट्या — बाह में पहनने का चादी के तारों का गुंथा आभूषण
बाजूवद — बाह में पहनने का आभूषण

दुःखी—गने का आभूषण
 हा-माकल्या—गने में पहनने का जजीनुमा आभूषण
 मंगलमृत—गने में पहनने का मौभाग्य सूचक आभूषण
 हार—गने का मोन का आभूषण
 नवउत्सो हार—गने का नौ मर का आभूषण
 टावरल्या—गने में पहनने का चादी के निक्की का आभूषण
 बजट्टी—गने का मोने के दानों में बना आभूषण
 तुम्मी—गने का मोने के दानों में युक्त आभूषण
 नागरी—गने का बद्धचन्द्राकार आभूषण
 झुमरा—नाक में झूलने वाला आभूषण
 टोटी—कान का फूलना आभूषण
 बाल्ड—कान का गोंठ आभूषण
 न-फूल—कान का फूलदार आभूषण
 लोलर—नाक में झूलने हुये पहनने का मोनी का आभूषण
 वेस—नाक में पहनने का आभूषण
 नय—मोनित्रों के गठा नाक में पहनने का सुन्दर आभूषण
 बाटा - नाक में पहनने का जजीनुमा आभूषण (मोने का)
 टीरी - मिर में गाने का मौभाग्य सूचक आभूषण (विदी)
 मकर—कपाट पर गाने का आभूषण
 झट्टी—कपाट पर गाने का आभूषण
 गखट्टी—मिर के दादों का झूलने का आभूषण



जैसलमेर के कतिपय लोक-विश्वास

मोहनलाल पुरोहित

बीकानेर (राज०)



लोक-विश्वासों की परम्परा बहुत ही लम्बी है। निसंदेह इनके पीछे इनका अपना हजारों वर्षों का इतिहास छिपा हुआ है। लोक-साहित्य की जहाँ अपनी एक विशेषता रही है-असम्भव को सम्भव मानकर चलता होता है, यहाँ अविश्वास नाम का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। तक को लोक-साहित्य में स्थान नहीं दिया जाता। ठीक इसी प्रकार हम लोक-विश्वासों में भी देखते आ रहे हैं—वे समाज में एक प्राचीन-परम्परा की लिए चले आ रहे हैं। लोग उन्हें क्यों मानते हैं? इसका यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं उठता। समाज में ऐसा ही लोक-प्रचलित-विश्वास है। अतः समाज इसे अपनी छाती से चिपाए, अपने पूर्वजों की छाती, बड़ी सावधानी से इसकी रक्षा किए, इसका आज भी पालन करता आ रहा है। स्थानीय गीति-रियाजों, विश्वासों, टोना-टोटकों और लोक-देवताओं की पूजा-पाठ को लेकर गले ही इनमें थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जा सकता है। लेकिन जो टोना-टोटका राजस्थान-प्रान्त में प्रचलित है सम्भव है वही मझागढ़, मध्यभारत, और बंगाल अथवा किसी अन्य स्थान में, किसी दूसरे रूप में प्रचलित हो सकता है। साथ ही विभिन्न-प्रान्तों एवं स्थानों में स्थानीय-विशेषताओं के साथ ही एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए नए-नए टोटकों और विश्वासों का प्रचलित होना भी स्वाभाविक है। अब यह समझलेना कि जो लोक विश्वास यहाँ दिए जा रहे हैं, वे राजस्थान भर में सर्वत्र ही समान रूप में प्रचलित हैं, अथवा उनकी संख्या एवं गणना इतने में ही इति श्री हो गई है—ऐसा नहीं है।

प्रस्तुत हमारा विषय तो जैसलमेर के कतिपय 'लोक-विश्वासों' को लेकर है। राजस्थान के अन्य जन-पदीय लोक-विश्वासों पर तो स्वतंत्र-रूप से लिखने की आवश्यकता है। अस्तु

चोप

आग में खेलते समय अथवा असावधानी वश चोट लगने में एक-प्रकार की लाली-सी आ जाती है—इसे चोप कहते हैं। चोप को निकालने के लिए बूढ़ी-बड़ेरी एक कासी के कटोरे में पानी भर लेती है। एक टुकड़ा मूज का ले लिया जाता है। उसे घी अथवा तेल में डुबो लेते हैं। फिर उसे जलाया जाता है। चुटिया अथवा चोप-निकालने वाली एक तरफ एक कोने में बैठ जाती है और उसके सामने वह व्यक्ति, जिसे चोप की पीड़ा हुई होती है, बैठ जाता है। चोप निकालने वाली उसे सावधान करते हुए विशेष आदेश देती है—इस कटोरे में ध्यान में देखते रहना, तुम्हारी चोप झड़ी जा रही है। और वह फिर इस प्रकार में वहना प्रारम्भ करती है—

चोप चोप झड़ जा
आड़ेरी, पाड़े री,
आए री, गए री,
मेलरी, छेलरी,
कुत्तरी, मिनी री,

तेलीरी, तबोलीरी,
बीचीरी, धोचीरी,
नाईरी, धोबीरी,
मोनीरी, लुहागी,
चाप चाप झड जा,

इस प्रकार चाप निकालने वाली मात बा- यह कह कर अन्त में, 'चाप-झड़, जाख ठरै' कहती है और चाप निकालने वाला "उमें हर बार यही उत्तर में कहता है, 'भई !'

ऐसा विश्वास किया जाता है, इस प्रकार में आखरी पीड़ा जो एक-प्रकार में होती है, ठीक हो जाती है ।

रोई-झोई

कभी-कभी ऐसा भी मयोग रहता है—शहर से बाहर ३-४ मील दूर एकसर मेले आदि में स्त्रियों को जाना होता है । छोटे-छोटे बच्चों को घर पर तो नहीं रखा जा-सकता अनेक में सम्भव २-३ वर्ष-वाले बच्चों के लिए ही ऐसा कुछ किया जाता है । उन्हें भी साथ लेना ही होता है । उस समय जब औरतें मेले आदि में बापिम जहर में जाती है, तो शहर के प्रमुख-द्वार पर अथवा उस दरवाजे के बाहर जहाँ से पहिले गमन किया जाता है—वहीं बैठ जाती हैं । वहाँ वे मान छोटी-छोटी पत्थर की ककरी लेती हैं । बच्चे के मिर के ऊपर में उन्हें सान-बाग घुमाकर हवा में ऊपर में फेंक देती हैं यह कहती हैं—

रोई झोई
रोवणिया रो कणिया गरै,
हमणिया कूदणिया आगै ।

उनका ऐसा विश्वास है—अदि ऐसी नहीं किया जाए, तो बच्चा पर जाकर फि राना ही सोना रहता है । वह चुप नहीं कर लेता, जब तक उसे शहर के बाहर नैकर, उन पर 'रोई-झोई' न की जाए ।

गूजर

एक व्यक्ति की पहली पत्नी के मर जाने पर उसकी जो दुवांग आदी होती है, उस पत्नी का हमारे यहाँ "लौड़ी" कहते हैं । और अदि दूसरी वाली यह पत्नी "लौड़ी" भी दुर्भाग्यवश मर जाए, और वह व्यक्ति यदि छोटी-उम्र में हो तो उसका तीसरा-विवाह भी सम्भव हो जाता है । ऐसे मौके पर उस तीसरी पत्नी को 'गूजर' की मजा दी जाती है ।

गूजर के साथ विवाह हो जाने पर भी व्यक्ति विशेष को एक-प्रकार का भय-मा रना रहता है—कही यह भी न मर जाए । अतः विवाह कर देने के बाद वह घर में प्रविष्ट होने से पूर्व इस प्रकार का टोका करता है । वह अपने दुपट्टे का छोर उस 'गूजर' के रगले मालू से बांधे घर के मुख्य दरवाजे पर आकर ठहर जाता है । फिर उस 'गूजर' के मिर पर दो-तीन छोटे पानी के बरे बर्तन रख दिए जाते हैं । कन्या-पक्ष में एक औरत 'गूजर' की ओर में बोलती है—

कोई तो भई, कोई ना दई,
कोई लो गूजर, मट काली,

और वर उसके उत्तर में कहता है—





हू लू मई,
हू लू गई,
हू लू गुजर मटकाली

इस प्रकार कन्या-पक्षवाली स्त्री मानवार ऐसा कहती है और वर उसके उत्तर में सात ही बार यही उत्तर देता है—

हू लू मई,
हू लू गई,
हू लू गुजर मटकाली,

ऐसा 'विश्वास' है—इस प्रकार का टोटका करने में व्यक्ति-विशेष की तीगरी वाली पत्नी की मृत्यु नहीं होती।

ठीक इसी प्रकार के अन्य कई टोटके एवं 'लोक-विश्वास' हैं, जिन्हें यहाँ विज्ञ-पाठकों की सेवा में संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

छोटे बच्चे को पानी के घड़े अथवा मटकियाँ आदि जहाँ रखी रहती हैं, वहाँ नहीं ले जाते। ऐसा ख्याल किया जाता है—इसे वहाँ ले जाने पर टट्टियाँ लग जाएगी। यह क्रम उनका मुँह-संस्कार न किया जाए, तब तक रहता है। यदि ऐसा कहीं असावधानी से हो जाता है—वह भाग दौड़ कर पानी की मटकियाँ जहाँ रखी हुई हैं, पहुँच जाता है, तो उसे टट्टियाँ लगनी प्रारम्भ हो जाती हैं। इसका प्रतिकार घर के ऊपर में पानी निकलने की मोरी (Out let) में अनाज डबेल कर किया जाता है। उस बच्चे विशेष के कपड़ों में बाजरी अथवा गेहूँ राखि में बांधकर उसके सिरहाने रख देते हैं। सुबह घर का कोई भी व्यक्ति चुप-चाप कोठे पर चढ़कर कुछ दाने तो चाटो-घोर चारों दिशाओं में उड़ाता है और शेष की मोरी, जिसे हमारे यहाँ 'रवाल' कहते हैं, उसके रास्ते में नीचे आगन में डबेलता है।

छोटे बच्चे को कहीं नजर न लग जाए। अतः माताएँ नाना-प्रकार के टोने-टोटके किया करती हैं। बच्चे के गले में घोड़े का खुर, जख्म का दान्त, छोटा-सा चाकू मजबूत डोरे में पिरो कर पहना देती हैं। उनके काली टीकी लगाते हैं और ललाट में एक किनारे पर काजल में चाद बना देती हैं। बच्चे के दोनों हाथों में भी काजल की टीकियाँ लगा देती हैं। बच्चे के नजर लगने पर उसके ऊपर से रुई की बाती को घी अथवा तेल में भिगोकर सात बार घुमा-फिराकर फिर उसे भीत पर चिपका देते हैं और बच्चे को उस ओर देखने के लिए कहा जाता है। नजर लग जाने पर रोटी और एक लोटा पानी का भर कर उसे सात बार बच्चे पर धोलकर बाहर पाराहें पर रोटी रख आते हैं और रोटी के चारों ओर एक गोल-वृत्ताकर कर दिया जाता है। नजर के लग जाने पर नमक लेकर उसे सात बार बच्चे के सिर पर से घुमाकर अग्नि में जला देते हैं। नजर लग जाने पर पीसी हुई लाल-मिर्चें भी इसी प्रकार सातवार बच्चे के ऊपर से घुमा-फिरा कर अग्नि में डाल देते हैं। इसी प्रकार नजर लगने पर फिटकरी को सातवार सिर पर से घुमा फिरकर उसे अग्नि में डाल देते हैं। फिटकरी के जल-भुन जाने पर उसे निकाल लेते हैं। फिर उसे अपने पैरों से कुचलकर बाहर गली में फेंक देते हैं। यह समझकर कि अशुभ व्यक्ति की कुदृष्टि, नजर बच्चे पर लगी है—उसके पैर की धूल (स्त्री हो तो दाया और पुरुष हो तो मोघा पैर) लेकर उसे भी सात बार सिर के ऊपर में धोलकर अग्नि में फेंक देते हैं।

बच्चों के दात बड़ी कठिनाई से निकला करते हैं। अतः इसी विश्वास से कि इन्हें कण्ट भी न हो और दात भी आसानी से निकल सकें इनके, उन्हें हाथी-दात की चूड़ियाँ पहना देते हैं। बच्चों को काच नहीं दिखाया जाता। ऐसा माना जाता है, इससे उनके दात कठिनाई से निकलते हैं। बच्चे के मुँह में अगुली भी इसीलिए नहीं डालते कि

उमके दात बठिनाई में निकलेगे। हा, यदि बच्चे की बूझा मुह में अगुली डाल दे, तो बच्चे के दात आसानी में निकला करते हैं—ऐसी हट-धारणा है।

छोटे-बच्चे अक्सर मूखने लग जाते हैं—वे मूखर काटा हो जाते हैं। हमारे यहाँ इसे 'मूख गी पट गी' कहते हैं। ऐसे मौके पर घर के ऊपर की छत पर दीवार के सहारे गोबर का एक पुतला (बच्चे के बराबर गोबर का तोलनर उतना बड़ा पुतला बनाया जाता है) बनाने हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है—जैसे जैसे यह गोबर का पुतला मूखता जायगा, बच्चा बटता चला जायगा। बच्चे का तुड के बराबर तोल कर, मुड गाथी को दे देने पर भी बच्चे न मूखना बन्द हो जाता है, एक ऐसा भी विश्वास किया जाता है। जंगल में 'खजड' के पेड की जड को जमीन न काफी ऊपर को उठी हुई हो—बच्चे को उसके नीचे में मात दार निवालने में भी मूख पन्न का रोग हट जाता है—ऐसी भी मान्यता रही है।

कभी-कभी बच्चों को Articaria हो जाती है। हमारे यहाँ 'पित्त' को 'छपाका' कहते हैं। उनके निकल जाने पर बच्चे को बेमन की हुई मिठाई टाट के मुगान्वा (माख्वा) में में मातवार नीचे-ऊपर को लेकर खिलते हैं। ऐसा विश्वास है—छपाका इस प्रकार के टोटके में ठीक हो जाता है।

बच्चे की आयु बटे, यह लड़े-वर्षों तक जीवित रहे, हर मा-बाप की ऐसी मनो-कामना रहती है। उनके गले में बूढ़े व्यक्ति के मगने पर उनके ऊपर में उछाले हुए १० पैसों को लेकर उनमें मुराख बनाकर पहना देते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है एक के बाद एक इस प्रकार व्यक्ति के कई बच्चे मर जाते हैं। अत बच्चे के नारु में 'बुलाक' अथवा मोने की वाशी टाल देने हैं। उसका नाम बहुत ही विचित्र एवं निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के समान रख देते हैं। उसे नमक के बराबर तोलकर मोल ले लेते हैं। किसी व्यक्ति को बेचकर, उसमें दुवाग पैस देकर मोल ले लेते हैं। उसे मागे हुए कड़े पहिनाते हैं।

अविन ऋकिया, बच्चिया किसी के पैदा होने पर उनका नाम 'बापि', 'गान्ति', आदि रखा जाता है। ऐसा विश्वास है। इस प्रकार के नाम रखने पर बच्चिया फिर पैदा नहीं होती।

रजस्वला स्त्री का पापटों को बनने समय देख लेने पर पापट विगटकर खड़े हो जाते हैं। उन्हें नेकने पर वे लाल रंग के हो जाते हैं—ऐसा विश्वास है।

गर्भवती-स्त्री को ग्रहण में बाहर नहीं निकलने दिया जाता। वह चन्द्र-ग्रहण अथवा सूर्य-ग्रहण नहीं देख सकती। कारण-ऐसा विश्वास है उसके ऐसा करने पर ग्रहण की छाया में होने वाले बच्चे के पागल होने की सम्भावना होती है। गर्भवती की भोजन-सम्बन्धी इच्छाओं पर समुचित ध्यान दिया जाता है। ऐसी मान्यता है—यदि उसकी इच्छाएँ पूरी न की जाए, तो होने वाली मन्तान के मुह में से लार टपका करनी है। यह एक विश्वास बड़ा ही वन प्राप्त कर चुका है—गर्भवती यदि काले साप को देखले तो साप अघा हो जाना है। गर्भवती को चिच्छु जादि काटने पर एवं भूत-भूतनी, प्रेत आदि लगने पर उस पर झाडा अथवा मंत्र करने वाले का झाडा एवं मन्त्र छोटा हो जाता है। गर्भवत्या में किसी स्त्री के मर जाने पर ऐसा दयाल किया जाता है—यह भूतनी ही होगी। कारण यह अशुद्ध अवस्था में मरी है, इसकी मद गति नहीं हो सकनी। ऐसे समय में उसकी अर्थों के पीछे काफी नादाद में राई उछाली जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि न तो वह इनकी राई बटौर ही सकेगी और न हमारे घर में फिर वे प्रविष्ट हो सकेंगी।

नए गहने पहिन्ने पर कहीं नजर न लग जाए। अत उन्हें काले डोरे में बांध दिए जाते हैं। नया मकान बनवाते समय भी नजर न भय, इसका भूत तो नवार रहता ही है। वन उसके दरवाजों पर छिडकियों के किवाडों पर, गोरवों पर, घर के छज्जों पर काले स्पड की छोटी-छोटी पट्टिया बांध देते हैं। खीर पकाते समय डग लगा





रहता है—दूध सफेद है और सफेद वस्तु पर हर किमी की कु-दृष्टि ठहर सकती है। अतः ग्रीष्म ऋतु के समय उममें एक कोयले का टुकड़ा डाल देते हैं। गाय के बच्चा देने पर, कहीं इसके दूध को नजर न लग-जाए, उसके थनों को तब की कलमस से काला कर देते हैं। दूध को शादी के समय नजर न लग जाए, उसके ललाट में एक किनारे पर काजल से चन्द्रमा का आकार बना देते हैं।

विवाह के समय दूल्हा एवं दुल्हन का हाथों में लोहे की छड़ी, जिसे हमारे यहाँ 'गोडीयो' कहते हैं, दिया जाता है। यज्ञोपवीत के समय भी ऐसा उसे रखने का आदेश रहता है। ऐसा विश्वास किया जाता है—इस प्रकार की क्रिया से प्रेतात्माओं से किसी प्रकार के अनिष्ट होने की आशंका नहीं रहती। बच्चे का पाली झूला नहीं झुलाया जाता। ऐसा करने से बच्चे का पेट दर्द करेगा। विश्वास किया जाता है। रात्रि में भी बच्चे का झूले में नहीं सुलाया जाता।

रात्रि के समय घर में बाहिर से मिष्ठान्न आदि नहीं लाया जाता। और यदि कभी सम्भव भी हो तो घर में लाने से पूर्व उसमें से हर मिष्ठान्न का थोड़ा-थोड़ा अक्ष तोड़कर बाहिर गली में फेंक देना होता है।

जहाँ गंधा लेटा हो, उस स्थान पर चलने में पावों में 'मरणों' (एक प्रकार का मीठा-मीठा थकान के समान दर्द) चलने लगती है, ऐसा विश्वास किया जाता है।

बिल्ली द्वारा रास्ता काट लेने पर आगे पाव रखना लड़ाई को निमन्त्रण देना समझा जाता है। जूता फेंककर फिर आगे पाव रखना, इस दोष का प्रतिकार करते देखा गया है।

दीवाली एवं अक्षय तृतीया आदि शुभ-पर्व के दिन बिच्छू आदि का निकलना शुभ माना जाता है। इस दिन बिच्छू को मारा नहीं जाना—मिट्टी की एक हड्डिया में गोबर, दही, शक्कर आदि डाल कर उसे घर में ही रख दिया जाता है। त्योहार आदि समाप्त हो जाने पर उसे बाहर छोड़ा जाता है।

राह चलते समय राह में रु० पैसा आदि का मिल जाना शुभ माना जाता है। इसे खर्च नहीं किया जाता—सम्भालकर भीतर पेटी में रखा जाता है अथवा पूजा में रखा जाता है। चांदी का इस प्रकार प्राप्ति होना शुभ एवं सोने को अशुभ समझा जाता है। मोना मिल जाने पर उसे मन्दिर में भगवान् के भेंट कर दिया जाता है।

घी का ढुल जाना अशुभ एवं तेल का ढुल जाना शुभ समझा जाता है।

स्याही की दवात का गिर जाना शुभ माना जाता है।

रसोई करते समय यदि तवा हलता हुआ दिखाई दे तो उसे शुभ समझा जाता है।

जूती का दूसरी जूती पर चढ़ जाना कहीं यात्रा करनी होगी, ऐसा विश्वास किया जाता है।

हिचकी आने पर ऐसा विश्वास किया जाता है हमारा स्वजन प्रवास में हमें अवश्य याद कर रहा है।

हमने यहाँ कुछ जैसलमेर के 'लोक-विश्वास' थोड़े से रखे हैं। विज्ञ-पाठक इससे सहज ही अनुमान लगा सकते हैं—ये सभी केवल अध-विश्वास मानकर अपेक्षित किए जाए, अथवा ये सभी अध-विश्वास मूलक हों, ऐसा नहीं है। इनमें लम्बी सख्या में बहुत से ऐसे भी हैं, जिन्हें स्वास्थ्य एवं विज्ञान की दृष्टि से सही माने जा सकते हैं। इन सब पर आज मनोविज्ञान की दृष्टि से मूल्यांकन करना आवश्यक है। इस प्रकार के 'लोक-विश्वास' सैकड़ों की सख्या में खोजने पर मिल सकते हैं। इन पर स्वतन्त्र-रूप से लिखा जाना आवश्यक समझा गया है।

भूत-व्याधि चिकित्सार्थ ब्रज के मंत्र

श्री रामशरणदास गुप्त एम० ए०

शोध-शास्त्र (हिन्दी विभाग) राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राज०)



विश्व की प्रत्येक सभ्यता में भूत-प्रेत की मत्ता में विश्वास किया जाता रहा है। भूत-प्रेत क्या हैं? लोक मान्यता के अनुसार मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसकी आत्मा ही भूत है। कुछ मनुष्यों की अनमय में मृत्यु हो जाती है। इस मृत्यु के कारण होने हैं आग में जलना पानी में डूबना, आदि। जिन मनुष्यों की अमामयिक मृत्यु होती है, वे भूत बन जाते हैं। लेकिन भूत बनने की यह अनिवार्य शर्त नहीं है। क्षेत्रीय सर्वेक्षण करने पर जान होता है कि कितने ही ऐसे मनुष्य हैं जिन की मृत्यु उस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं के कारण नहीं हुई लेकिन वे मृत्यु के पश्चात् भूत बने हैं। उत्तर प्रदेश के विभिन्न ग्रामों में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। ये भूत उन मनुष्यों को पीड़ित करते हैं जिनमें दमरी मानवीय-जीवन में समुदाय रही होती है अथवा जिनके द्वारा इनका किसी प्रकार का अहित हुआ होता है। जब किसी व्यक्ति को इस प्रकार की मत्ता पीड़ित करना है, उस समय वह उन्मादग्रस्त हो जाता है। लोक मान्यता के अनुसार बड़े-बड़े चोखना, उन्मादिनी स्थितिका होना, अनेक प्रकार की आचरण-हीन क्रियाएँ करना, गुम-गुम हो जाना, गर माथ बेहोश होना तथा इन क्रियाओं की पुनरुक्ति होना ही इस के बान के लक्षण है कि इस व्यक्ति पर भूत-प्रेत का प्रभाव हो गया है, इसी को उज, लटी बोलने, रानीजी आदि क्षेत्र में भूत का बाना, व्यारका झटका होना, व्यार का अमर होना, हवा का बाना आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया जाता है। इस की चिकित्सा के लिए लोक-चिकित्सक विभिन्न मंत्रों का प्रयोग करते हैं। मनुष्य में उस मानसिक विवर्तना इन भूतों के प्रभाव के कारण होती है अतः, हमने इन मंत्रों को उदा भूत-व्याधि चिकित्सार्थ मंत्रों की मत्ता में अभिहित किया है।

भूत-व्याधि चिकित्सा के लिए मंत्रों का प्रयोग विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में किया जाता रहा है। भारत में ही यदि हमें इतिहास पर विचार किया जाय तो लोक जीवन के अनिरक्त प्राचीन साहित्य में भी उसके मन्त्र ही नहीं बलिवु अनेक मन्त्र मिलते हैं जिन का उपयोग भूतापमारा के विरुद्ध किया जाता था। अथर्ववेद इसका उत्तम उदाहरण है। अथर्ववेद में इस प्रकार के अनेक मन्त्र प्राप्त होते हैं। बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों में भूत-प्रेत की मत्ता में विश्वास और निवारण हेतु मंत्रों के प्रयोग के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। डा० मथुराशरण शर्मा के अनुसार—We have clear refererces also to beliefs in ghosts, goblins, evil spirits and other Super-Natural beings meddling with man's affairs Spells were practiced to ward off their influences and schemes Some of spirits live on the earth and some in the air People stood in Constant Terror of them and appeared them by offerings ?

उपरोक्त मंत्र में इसप्रकार के विभिन्न जनिष्टकारी प्रभावों के मोचन हेतु निम्नलिखित मंत्र दिया गया है।—



“Tutte Tutte Vutte Vutte Patte Patte Katte Katte amale amale Vimale Vimale nime nime hime hime vame vame Kale Kale Kale Kale attc Matte vatte tutte mēttc Katte Katte latte Patte dime dime cale cale pace pace bandhi bandhi aīcīe mūcīe dutīe patīe arīke arīke sarkke sarakke Carīke Carīke dime dime hima hime la tu tu tu du du du du ru ru ru ru phū phū phū Svāhā (2)

इस प्रकार भूत-प्रेत व्याधि अथवा प्रभाव आदि के निमोचन हेतु मंत्रों के प्रयोग या इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। आज भी आगन्तव्य की विभिन्न जीवन वास्तविकताओं तथा समस्याओं में इस प्रकार के अनेक मन्त्र प्रचलित हैं। विभिन्न हिन्दी की उपभाषाओं एवं वास्तविकताओं में भूत-प्रेत व्याधि निवारण के विभिन्न मन्त्र आज भी प्रचलित हैं यथा इन मन्त्रों का निवेदन ग्रन्थ-भाषा क्षेत्र में प्राप्त सामग्रियों के आश्रय पर किया जाता है—

भूत-व्याधि चिकित्सा के लिए नोकर-मायिक तीन प्रकार के मंत्रों का प्रयोग करने हैं। प्रथम प्रकार के वे मन्त्र हैं जिन का प्रयोग भूत-प्रेत आदि के शय के निवारण-हेतु किया जाता है। यदि किसी व्यक्ति को मार्ग में जाने समय भूत आदि का शय प्रतीत होता है। या वह इन मंत्रों का स्वयं मन ही मन जाप करता है। इनके माध्यम से इन मंत्रों से मायिक छोटे-बच्चों को धाड़ा देते हैं। इस प्रकार इन मंत्रों द्वारा छाटा देने से बच्चों आदि पर भूत-प्रेत के प्रभाव का नश्व नहीं रहता। दूसरे प्रकार के वे मन्त्र हैं जिनका प्रयोग रागी-विशेष पर भूत को बुलाने के लिये किया जाता है। प्रायः ऐसा होता है कि भूत-प्रेत के प्रभाव में रोग-ग्रस्त व्यक्ति अत्यन्त अवस्था में या असामान्य अवस्था में नहीं रहते अपितु जिस समय भूत का प्रभाव होता है उसी वे एक उन्मादकारिणी अवस्था में हो जाते हैं लेकिन भूत के जाने पर उनकी सामान्य स्थिति हो जाती है। ऐसी स्थिति में नोकर-चिकित्सक ऐसे व्यक्ति की चिकित्सा करते समय मंत्र के प्रयोग में उन आधुनिक सत्ताओं को बुला लेता है। तत्पश्चात् रोगी की विविध चिकित्सा करता है। तीसरे प्रकार के मंत्रों का प्रयोग भूत-प्रभाव-निमोचन हेतु किया जाता है। इन्हें क्रमशः 'चौरी या भूत का अमर गोदने' 'भूत बुलाने या भूत बाधने' एवं 'भूत उतारने' के मन्त्र कहा जाता है। हम उन्हीं मन्त्रों में, भूत भयहारी भूताकर्षक एवं 'भूत-पसारक' मंत्रों की मजा दे सकते हैं —

भूत-भयहारी मन्त्र—भूतभयहारी मंत्रों का सम्बन्ध नरसिंह एवं हनुमान से है। अस्तु, इन्हें नरसिंह की चौरी तथा हनुमान की चौकी भी कहा जाता है। मंत्रों में प्रायः उस उद्देश्य को व्यक्त कर दिया जाता है जिसके लिये मन्त्र विशेष का प्रयोग किया जाता है। लेकिन उनमें इस प्रकार के किसी उद्देश्य या निवेदन नहीं हुआ है। नरसिंह ने सम्बन्धित मन्त्र का जाप करते हुए मायिक भूत-भय की आशंका में बुलाने के लिये जाटा दे देता है। मन्त्र इस प्रकार है।

“भनका मनका मनकवीर मनका हुरारी ।

तू कहिये पगचट बीर, तेरी नाँद डहारी ॥

बहली पीछे जाऊ, बह गार बजरगा ॥

तेरे ही अग्र दरक, तेरी बजरगा ॥

बाध गरज झूठे करे हाक देन नरसिंह ।

फरै मन्त्र ईश्वरी, मेरे गुरु का मन्त्र माना ॥”

हनुमानजी ने सम्बन्धित एक मन्त्र में प्रथम उनके पराक्रम का वर्णन है, तत्पश्चात् उनकी पूजा करने का विधान है और अन्त में हनुमानजी द्वारा सीता की खोज का वर्णन करने हुए मायिक ने अपने ऊपर कृपा करने का निवेदन किया है। यदि हनुमान उस पर कृपा नहीं करेंगे तो उन के प्रति अनेक शपथों का विधान भी मन्त्र में वर्णित है —

"जाग चले हनुमान समुद्र माहने बन्दु
 मन मे वही निम्न
 बीर बाज आगे दरे
 वज्र पीर की कान-त्रा वृक्ष की छाया
 मकर-पैर गेट-जोड़ हनुमान की चढ़ाया
 तेरी पूजा पान सुगन्धी
 दे पूजा अर्चना ले ओ
 दे पूजा अर्चना ले
 मन-मान कर देउ
 मेचिना म्हा-सी जैव दाग हनुमान
 आद-हजार मन्त्रों की
 बीर बीर मे-जै
 नरगिर बीर-मैरी की निन्दा करे
 उठाय पात्र गुदी पै-पर
 वे हनुमान जनी-लागु
 नीला माना की-गंगा बूँ-गये
 ऐसी-गंगा मेरी ना-जगोने
 नीलो-पैर-बीर-मे-अमान के-मारे-पगोने
 माना-अजनी का-दूर-पीर-हगन-कगोने
 फने-मयी-अदानी-बाबा-मेरे-गु-का-मकर-माचा ॥

हनुमान सम्बन्धी हमने मंत्र में हनुमान के साथ ही अन्य अनिमानवीर्य शक्तियों का समावेश किया गया है। इस में एक ओर हनुमान के पराक्रम का बतान है। हनुमान बख्शान हैं, उनके हाथ में त्रिशूल है और मुख में पान है। जब वे सोचते हैं तो गिरि, समुद्र, महाराज गति चतुर्धन हो जाते हैं। हमने ओं "अदश कक्षा बीर ममान" एवं "नाईया मन्त्रा मन्त्रा" में पान एवं दाप आदि का विचार नियो-जिना ही माग्ने हूँ (हने) सो माग्ने (हने) के लिये प्रार्थना की गई है। इस कार्य के हेतु उन्हें हनुमान की आज्ञा दी गई है। भोगों को राज के तागे को लाह की कुरी-गंगा-ज-रक्षा करने हेतु बँटने का आदेश दिया गया है—

'गिरि चने पर्यन चने
 चने समुन्द्र पान
 महाराज फिर नीमरी
 नव कोरे हनुमान
 अन्ना कर्मा बीर ममान
 नाईया मन्त्रा मन्त्रा बीर
 हने की हनिये
 पान दाप नहीं गनिये
 हनुमान बख्शान





हाथ मे लड्डू मुह मे पान
भैरो की चौकी हनुमान की आन
लोहे की तारी वज्र का तारा
ठोक बैठे भैरो मतवारे
इस बोले का हनुमन्त रखवारा ॥”

भूताकर्षकमन्त्र —ये मन्त्र काली, चामड एव महम्मदावीर से सवधित है । काली से सवधित मन्त्र मे काली का ब्रह्मा एव इन्द्र के साथ सबन्ध व्यक्त करते हुए उस से निवेदन किया गया है कि जहा मैं तुम्हारा स्मरण करू वहीं आकर उपस्थित हो । तत्पश्चात् काली देवी को इक्कीस लोग के जोडो एव पान के बीडो का प्रलोभन देकर नदी, नाले माडी, घाट आदि के भूत-प्रेत, खईस, मसान को वाप कर लाने का आदेश दिया है । यदि देवी मायिक के इस आदेश का पालन नहीं करती है तो वह धोवी की नाद तथा चमार के छोडे मे गिरेगी—

“काली काली महाकाली
विरम्हा की बेटी इन्दर की साली
दोनो हाथ बजावे ताली माला लिये खडी तेरो माली
जब सुमरू जब हाजिर ठाढो
खाय बोकरा पीवे दाख
नदी कू नवारे कू गैल के घाट कू
खईस कू, मसान कू, चुरैल कू, भूत कू
बाघ-बाघ कैं मुसकें चढ़ावैगी
इक्कीस लौंग की जोडा पान को बीडा पावैगी ।
मेरी बाचा ते टरेगी धोवी की नाद मे गिरैगी ।
चम्बाली के चमडे मे गिरैगी ।
जो मेरे वचन को टारैगी ।”

चामड से सम्बन्धित मन्त्र मे चामड के साथ काल भैरो एव नरसिंह वीर का समावेश किया गया है । मन्त्र के आरम्भ मे चामड की प्रार्थना और पूजा का विधान है—“हे चामडमाता ! तू गुणो को देने वाली है । मैं तेरा पुत्र हू, तू मेरी माता है । मैं तुझ पर घटाघोर (प्रचुर मात्रा मे) सिद्धर चढा कर ऊपर मे लाल शाल उढाता हू ।” तत्पश्चात् काल भैरो को भूत की छाती पर चढ कर (भूत की) मुसकें बाघने के लिए तथा नरसिंह वीर को भूत की गर्दन और पैर बाघकर सोते हुए को जगाकर, बैठे हुए को उठाकर लाने का आदेश दिया है —

चावड माता गुल की दाता
हू तेरा पुत्र तू मेरी माता
घटाघोर सद्धर चढाऊ
ऊपर सालू लाल उढाऊ
आगें लें कालिया भैरो
चढ छाती पै मुसकें बाघै

सोने कू जगाला, वँठे कू उठाना
गुदी पाव बदन
छोटा बटो नाहरमिह
देनू तेरा कीया
फर्न मन्त्री ईश्वर बाचा
मेरे गुरु का मन्त्र माचा ॥

मोहमदापीर मन्त्र मे मोहमद पीर जिद, ममान, छईम, भूत एव चुईम को बाध कर लायेंगे । —

“कारा घटा राग जीन
जा पग चई महमदापीर
महमदा घी-बहा चले ?
जजरी बन कू ।
जजरी बन मे कहा लाओगे ?
मया मन की नाग बनवा के लायेंगे
ममामन की जजरी बनवा के लायेंगे
जजरी ते कीन कीन-कू बाधि के लायेंगे ?
जिद कू बाधि के लायेंगे, ममान कू बाधि के लायेंगे ।
प्रेन कू बाधि के लायेंगे, छईम कू बाधि के लायेंगे ।
भूत कू बाधि के लायेंगे, चुईम कू बाधि के लायेंगे ।
कहा कहा के ?
मेरे के, मन्त्र के, गोटे के, गिरारे के
चाहि के, पनघट के, गैल के, घाट के
जनन कू बाधि के ना लायेगा
(नो) जानी माना जजरी का दूध पीके हगम करेगा ॥”

भूत उताग्ने के मन्त्र — भूत उताग्ने के मन्त्र कानी, चामड, हनुमान, ककाल शैरो, नरमिहवीर, विनीला नीर, मुहमदावीर 'कमाल'रा, जैनवा, टारिनी, विनमिल्ला, रहमान रहोम, अन्माइल जोगी से मन्त्रित है । उन मन्त्रों में मायिक के भूत-प्रेत आदि को भगाने के उद्देश्य की व्यञ्जना अत्यन्त तीव्र स्वर में हुई है । मायिक काली का मन्त्रोक्ति करने हुए कहता है — “दे रात्री काशी भद्राशायी । तेरा वचन जाली नहीं जाता है । तेरे दाहे हाथ में गदा है जोर बाए हाथ में शीश है । मातृ गप्पर में खानी है और धमाल में लेटती है । इस मन्त्र में ऐसा जोड़ है, जो तेरी पूजा न करे ? अर्थात् ममार में सभी तेरी पूजा करते हैं । (अस्तु) हे मा ! तू नदी, नाले, मार्ग, घाट, कुआ, पनघट आदि पर निजाम करने वाले भूत-प्रेत ममान आदि को बाध बाध कर डाल दे । यदि ऐसा नहीं करेगी तो काली मा नहीं कहनायेगी तथा माना के द्वय को पीकर हगम करेगी ।” चामड से सम्बन्धित मन्त्र में मायिक कहता है— “ह गुणों को देने वाली चामड माना, अपने पुत्र की रक्षा तू ही करेगी क्योंकि क्योकि तू पापी को छोड़ कर अर्मात्माया





की सहायता करने वाली है, तू माँ, घाट, कुआ आदि के खईस, चुडैल एव भून की बाध ले । यदि इन को बाध कर नहीं लायेगी तो वाली गऊ के रक्त में कीलारे के थान पर बैठ कर स्नान करेगी —

“चामड माता गुन की दाता

तू राखै पुत्र कू माता

देखू तेरे तरकने

देखू तेरे वामन वीर

चामड बिनीनी माची कहाई

पाप कू छोडि धर्म कू घाई

ऊध वाचा ब्रह्म वाचा

जो तू मेरी वाचा से हटे

वाधि ले जिद ममान, खईस, चुटैल भूत ।

गैल, घाट, कुआ, पनघट, गोडा, गिरारा में से,

छत्तीमौ कीमकू वाधि कौ नहीं लावैगी

वाली गऊ के रक्त में बैठिके

कीलारे के थान पे नहायगी

जो तू मेरी वाचा से टरैगी ॥

इसी प्रकार हनुमान, नरसिंह, कमालखा, विममल्ला रहमान रहीम को मात्रिक ने मार्ग, घाट, पनघट, नदी, नाले, पाम के पडोम के भून-प्रेत, त्रिदा, खईस, ममान, चुडेल, डाकिनी, बाबिनी आदि को गगी के चाम-चाम, गूद-गूद, हाडे-हाड, नोड नाडी एव बहत्तर मौ फोठों में घीच-बीचकर बाध-बाध कर लाने का आदेश दिया है । आदेश के न गानने पर इन अलौकिक सत्ताओं के प्रति अनेक प्रकार की शपथ एवं अभिसाप की अभिव्यक्ति की है ।

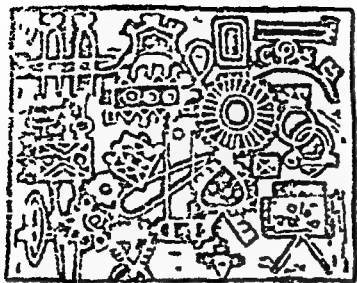
हनुमान के प्रति शपथ विधान उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है —

१ “तीन लोक चौदह अस्तान के मारे परीगे ।”

२. “राजा रामचन्द्र के मिहामन के मारे परीगे ।”

३ अजनी का पीर खँचो हनाल न कियो हगाम कियो ।”

इस प्रकार भूत-व्याधि चिकित्सा के त्रिधे प्रयुक्त अनेक मन्त्र लोक में प्रचलित हैं । इन मन्त्रों को गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त किया जाता है । गुरु मौखिक रूप से शिष्य को मन्त्र दिया करता है । शिष्य जब मन्त्र सीख जाता है, तब वह गुरु के निर्देशानुसार उन्हें मिद्ध करता है । मिद्ध करने के पश्चात् उनके गुरु द्वारा निर्देशित विधि के अनुसार ही प्रयोग में लाता है । इन मन्त्रों के प्रयोक्ता एक ग्राम में दूसरे ग्राम में अ-क विद्यमान हैं ।



षष्ठ खण्ड



अंग्रेजी-भाषा-निबन्ध

ANTIQUITY OF JAINA CULTURE

DR. MOHAN LAL MEHTA M.A., Ph.D



Culture is that complex which includes knowledge, belief, art, morals, rules, customs and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society. In other words, culture is the sum total of man's learned behaviour. The culture of the individual is mainly dependent on the culture of the society to which that individual belongs. Thus, the acquisition of culture is predominantly a social phenomenon. The application of a particular culture may be social as well as individual.

There are individual differences in a group or class or society. Similarly, we find social differences in the world. Some of these differences are purely non-cultural, whereas some differences are definitely cultural. A number of causes, individual as well as social, may be attributed to these cultural differences.

Indian Culture

Indian culture is remarkable for its peculiarities. It consists of two main trends - Śramanic and Brāhmanic. The Vedic, Aryan or Hindu (in a restricted sense) traditions come under the Brāhmanic trend. The Śramanic trend covers the Jain, Buddhist and similar other ascetic traditions. The Brāhmanic schools accept the authority of the Vedas and Vedic literature. The Jains and Buddhists have their own canons and canonical literature and accept their authority.

Jaina Culture

Jainism is one of the oldest religions of the world. It is an independent and most ancient religion of India. It is wrong to say that Jainism was founded by Lord Mahāvira. Even Lord Pārśva cannot be regarded as the founder of this great religion. It is equally incorrect to maintain that Jainism is nothing more than a revolt against the Vedic religion. The truth is that Jainism is quite an independent religion. It is even older than the Vedic religion. The Jaina culture, which represents now the Śramanic culture in India, is in negative terms, non-Vedic, non-Aryan and non-Brāhmanic. It has its own peculiarities. It is flourishing on this land from times immemorial. The Indus Valley civilization of Mohenjodaro and Harappa sheds some welcome light on the antiquity of the Jaina culture. Of course, we cannot deny that there has been a good deal of mutual influences on both the currents of Indian culture. In fact, Indian culture is a composite culture. The two most predominant currents in the stream of Indian culture are Brāhmanism and Śramanism. They have greatly influenced each other and, thereby, contributed to the composite Indian culture. It is true that they have some similarities and certain common principles. But it is equally true that they have their own peculiarities and marked differences.



Iconism and Nudity

The time assigned to the Indus Valley civilization is 3000 B C. The Indus culture is quite different from the Aryan culture in the Vedic period. A comparison of the Indus and Vedic cultures shows that they were unrelated. The Vedic religion is generally not iconic. At Mohenjodaro and Harappa iconism is everywhere apparent. In the houses of Mohenjodaro the firepit is conspicuously lacking. There have been discovered at Mohenjodaro many nude figures which depict personages who are no other than ascetic Yogis. Iconism and nudity have been two chief characteristics of the Jaina culture.

The nude figures of Mohenjodaro clearly indicate that the people of the Indus Valley not only practised Yoga but also worshipped images of Yogis. Along with the seated deities engraved on some of the Indus seals the standing deities on them also show the Kāyotsarga posture. This posture of Yoga or meditation is peculiarly Jaina.

Followers of Arhats

There existed in India sects different from the Vedic faith long before Mahāvīra and Buddha. Arhats and Arhat-cātyas were also in existence before their birth. The followers of those Arhats were known as Vratīyas. They had a republican form of Government. They had their own shrines, their non-Vedic worship and their own religious leaders. They with their well-built cities and non-violent, non-sacrificial cult were the indigenous rivals and enemies whom the first Aryans had to encounter for settling and extending in this country. In the Vedic period some saints were known as Yatis who probably belonged to the non-Vedic group, i.e., the Śramanic society. Some of the saints are described as naked which indicates that they practised stern asceticism. Such people who liked renunciation and abandoned all pleasures were the pillars of the Śramanic society, i.e., the society of the non-Aryans. The Brāhmanic view of life was quite different. It longed for long life, heroic progeny, wealth, power, abundance of food and drink and the defeat of the rivals. It seems that the idea of renunciation did not much appeal in the beginning to the Brāhmanic society, i.e., the society of the Aryans.

Jaina Philosophy

The Jaina philosophy, no doubt, holds certain principles in common with Hinduism and Buddhism, but this does not disprove its independent origin and free development. If it has some similarities with the other Indian systems, it has its own peculiarities and marked differences as well. Its animism, atomic theory, Karmic theory etc. are quite peculiar.

Jaina Culture and Dravidian Culture

In the opinion of some scholars the Jaina culture is identical with the pre-Vedic Dravidian Culture. Both are simple, unsophisticated, clear cut and direct manifestation of the pessimistic outlook. Jainism believes in pessimism, i.e., the conviction that life is full of misery. No trace of this type of pessimism is available in the optimistic attitude of the Vedic Aryans. An atheistic attitude and a kind of dualism between soul and matter characterize both the Dravidian religion and Jainism. The doctrines of transmigration and Karma are peculiar to both the religions. They were unknown to the early Brāhmanas. The general tendency of scholars has been in favour of the theory that the Indus people were of Dravidian stock. The Mohenjodaro people were Dravidian, their language was a purely Dravidian language and their culture was also Dravidian.

Jainism and Buddhism

Jainism and Buddhism now represent the Śramanic culture. If we examine the antiquity of Jainism from the Buddhist and Jaina records, it will be clear that Jainism is older than Buddhism. The Nigantha Nātaputta of the Buddhist scriptures is none else but Lord Mahāvīra, the last Tīrthāṅkara (Fordmaker) of the Jainas. The place of his death is mentioned as pāvā. The Buddhists often refer to the Jainas as a firmly established rival sect. Buddha made several experiments in the quest of enlightenment. But such was not the case with Mahāvīra. He practised and preached the old Nirgrantha Dharma. He made no attempt to found or preach a new religion. Buddha is even said to have entered the Śramanic (Nirgrantha or Jaina) order of ascetics in his quest of enlightenment.

The Sāmaññaphala-sutta of the Dīgha-nikāya refers to the four vows (Caturyāma) of the Nirgrantha Dharma. It shows that the Buddhists were aware of the older traditions of the Jainas. Lord Pārśva who preceded Lord Mahāvīra, had preached the four-fold law (Caturyāma Dharma). Mahāvīra adopted the same but added one more vow to it and preached the five-fold law (Pañcayāma Dharma). This is clear from the Uttarādhyayana-sūtra of the Jainas. There is a nice conversation between Keśi, the follower of Pārśva, and Gautama, the follower of Mahāvīra, in this canonical text. In this conversation the two leaders realise and recognise the fundamental unity of the doctrines of their respective teachers. They discuss the viewpoints of the four vows (non-injury, truth, non-stealing and non-possession) and five vows (chastity added) and come to the conclusion that fundamentally they are the same.

Historicity of Pārśva

The historicity of Pārśva has been unanimously accepted. He preceded Mahāvīra by 250 years. He was the son of King Asvasena and Queen Vāmā of Varanasi. At the age of thirty he renounced the world and became an ascetic. He practised austerities for eighty-three days. On the eighty-fourth day he obtained omniscience. Lord Pārśva preached his doctrines for seventy years. At the age of a hundred he attained liberation on the summit of Mount Sammeta (Parasnath Hills).

The four vows preached by Lord Pārśva are not to kill, not to lie, not to steal and not to own property. The vow of chastity was, no doubt, implicitly included in the last vow, but in the two hundred and fifty years that elapsed between the death of Pārśva and the preaching of Mahāvīra, abuses became so abundant that the latter had to add the vow of chastity explicitly to the existing four vows. Thus, the number of vows preached by Lord Mahāvīra was five instead of four.

Neminātha

Neminātha or Aristanemi who preceded Lord Pārśva, was a cousin of Kṛṣṇa. If the historicity of Kṛṣṇa is accepted, there is no reason why Neminātha should not be regarded as a historical person. He was the son of Samudravijaya and grandson of Andhakaviṣṇu of Sauryapura. Kṛṣṇa had negotiated the wedding of Neminātha with Rājīmātī, the daughter of Ugrasena of Dvārakā. Neminātha attained emancipation on the summit of Mount Raivata (Gimara).

Other Tīrthāṅkaras

The Jaina tradition believes in the occurrence of twenty-one more Tīrthāṅkaras. They preceded Neminātha. Lord Rśabha was the first among them. It is not an easy job to establish the historicity of these great souls.



Mahāvīra

Mahāvīra was the twenty-fourth, i.e., the last Tīrthankara. According to the Pali texts he was a contemporary of Buddha but they never met. The early Prakrit texts do not mention the name of Buddha. They totally neglect him. This indicates that Mahāvīra and his followers did not attach any importance to Buddha's personality and teachings. On the other hand, Mahāvīra is regarded as one of the six Tīrthankaras of Buddha's time in the Pali Tripiṭaka. This shows that Mahāvīra was an influential personality and a leading venerable ascetic.

According to the tradition of the Śvetāmbera Jains the liberation of Mahāvīra took place 470 years before the beginning of the Vikrama Era. The tradition of the Digambara Jains maintains that Lord Mahāvīra attained liberation 605 years before the beginning of the Śaka Era. By either mode of calculation the date comes to 527 B.C. Since the Lord attained emancipation at the age of 72, his birth must have been around 599 B.C. This makes Mahāvīra a slightly elder contemporary of Buddha who probably lived about 567-487 B.C.

There are many references in the Buddhist canon to Nātaputta and the Niganthas, meaning Mahāvīra and the Jains. The Buddhist canon refers to the death of Nātaputta at Pāvā at a time when Buddha was still engaged in preaching. According to Hemacandra, Mahāvīra attained liberation 155 years before Candragupta's accession to the throne. This leads to a date around 549-477 B.C. for Mahāvīra and places his death slightly later than that of Buddha. Some scholars support this view.

There is no doubt that Pārśva preceded Mahāvīra by 250 years. The Jain canon clearly mentions that the parents of Mahāvīra were followers of Pārśva whose death took place 250 years before that of Mahāvīra (527 B.C.). Since Pārśva lived for a hundred years, his date comes to 877-777 B.C.

Mahāvīra was not the inventor of a new doctrine but the reformer of a law already long in existence. The Uttarādhyayana-sūtra gives a good account of this fact. The following is the essence of this account —

There was a famous preceptor in the tradition of Lord Pārśva. His name was Kesi. Surrounded by his disciples he arrived at the town of Śrāvastī. In the vicinity of that town there was a park called Tinduka. There he took up his abode in a pure place.

At that time there was a famous disciple of Lord Mahāvīra. His name was Gautama. Surrounded by his pupils he too arrived at Śrāvastī. In the vicinity of that town there was another park called Koṣṭhaka. There he took up his abode in a pure place.

The pupils of both, who controlled themselves, who practised austerities, who possessed virtues, made the following reflection:

"Is our law the right one or the other? Are our conduct and doctrines right or the other? The law as taught by Lord Pārśva, which recognises only four vows, or the law taught by Lord Mahāvīra (Vardhamāna), which enjoins five vows? The law which forbids clothes for a monk or that which allows an under and an upper garment? Both pursuing the same end, what has caused this difference?"

Knowing the thoughts of their pupils, both Kesi and Gautama made up their minds to meet each other. Gautama went to the Tinduka park where Kesi received him. With his

permission Kesi asked Gautama "The law taught by Pārśva recognises only four vows, while that of Vardhamāna enjoins five Both laws pursuing the same end, what has caused this difference? Have you no misgivings about this two-fold law?" Gautama made the following reply "The monks under the first Tīrthāṅkara are simple but slow of understanding, those under the last are prevaricating and slow of understanding and those between the two are simple and wise Hence, there are two forms of the law The first can but with difficulty understand the precepts of the law and the last can but with difficulty observe them But those between them can easily understand and observe them" This answer removed the doubt of Kesi He asked another question "The law taught by Vardhamāna forbids clothes but that of Pārśva allows an under and upper garment Both laws pursuing the same end, what has caused this difference?" Gautama gave the following reply "The various outward marks have been introduced in view of their usefulness for religious life and their distinguishing character The opinion of the Tīrthāṅkaras is that right knowledge, right faith and right conduct are the true causes of liberation" This answer too removed the doubt of Kesi He, thereupon, bowed his head to Gautama and adopted the law of five vows

It is clear from the account of the Uttarādhyayana-sūtra that there were two main points of the difference between the followers of Pārśva and those of Mahāvīra The first point was relating to vows and the second was regarding clothes The number of vows observed by the followers (monks) of Pārśva was four, to which Mahāvīra added the vow of chastity as the fifth It seems that Pārśva had allowed his followers to wear an under and an upper garment, but Mahāvīra forbade the use of clothes Preceptor Kesi and his disciples, however, adopted the law of five vows without abandoning clothes Thus, Mahāvīra's composite church had both types of monks with clothes (Sācelaka) and without clothes (Acelaka)

Mahāvīra was the son of Kṣatriya Siddhārtha and Trisalā of Kundapura or (Kundagrāma), the northern borough of Vaiśālī He belonged to the Jñātr clan He was born on the thirteenth day of the bright half of the month of Caitra when the moon was in conjunction with the Hastottarā constellation As the family's treasure of gold, silver, jewels etc went on increasing since the prince (Mahāvīra) was placed in the womb of Trisalā, he was named Vardhamāna (the Increasing One) He was known by three names Vardhamāna, Śramaṇa (Ascetic) and Mahāvīra (Great Hero) The name of Vardhamāna was given by his parents He was called Śramaṇa by the people, as he remained constantly engaged in austerities with spontaneous happiness Since he sustained all fears and dangers and endured all hardships and calamities, he was called Mahāvīra by the gods

Vardhamāna lived as a house-holder for thirty years When his parents died, with the permission of his elders he distributed all his wealth among the poor during a whole year and renounced the world After observing fast for two days and having put on one garment, Vardhamāna left for a park known as Jñātrikhaṇḍa in a palanquin named Candraprabhā He descended from the palanquin under an Aśoka tree took off his ornaments, plucked out his hair in five handfuls and entered the state of houselessness with one garment He wore the garment only for a year and a month and then abandoned it and wandered about naked afterwards

The Venerable Ascetic Mahāvīra spent his second rainy season in a weaver's shed at Nālandā, a suburb of Rajagrha Gosāla, the Ājīvika, approached the Venerable Ascetic and



made a request to admit him as his disciple Mahāvīra did not entertain his request, Gosāla again approached the Venerable Ascetic when he had left the place at the end of the rainy season This time his request was, however, accepted and both of them lived together for a considerable period While at Siddhārthapura, Gosāla uprooted a sesamum shrub and threw it away challenging Mahāvīra's prediction that it would bear fruits Owing to a lucky fall of rain the shrub came to life again and bore fruits Seeing this Gosāla concluded that everything is pre-determined and that all living beings are capable of reanimation Mahāvīra did not favour such generalisations Gosāla, then, severed his association with Mahāvīra and founded his own sect known as Ājīvika

Mahāvīra had travelled up to Lādha in West Bengal He had to suffer all sorts of tortures in the non-Aryan territory of Vajrabhūmi and Śubhrabhūmi Many of his hardships were owing to the adverse climate, stinging plants and insects and wicked inhabitants who set dogs at him The Venerable Ascetic had spent his ninth rainy season in the non-Aryan land of the Lādha country

Mahāvīra passed twelve years of his ascetic life with equanimity performing hard and long penances and enduring all afflictions and calamities with undisturbed mind During the thirteenth year on the tenth day of the bright fortnight of the month of Vaiśākha the Venerable Ascetic obtained omniscience under a Śāla tree in the farm of Śyamāka on the northern bank of river Rjupālīkā outside the town of Jṛmbhikagrāma He preached the law (Dharma) in the Ardhamāgadhī language, taught five great vows etc, initiated Indrabhūti (Gautama) and others and established the four-fold order (monks, nuns, male lay-votaries and female lay-votaries)

Jamālī, who was the son-in-law of Mahāvīra and had entered his church, left the order after some time and founded a new sect known as Bahurata He is regarded as the first schismatic (Nihava) in the Jaina church

Lord Mahāvīra passed the last thirty years of his life as the omniscient Tīrthankara He spent his last rainy season at Pāpā (Pāvāpurī) On the fifteenth day of the dark fortnight of the month of Kārttika the lord attained liberation there at the age of seventy-two The eighteen confederate kings of Kāśī and Kosala (and eighteen Kings) belonging to the Mallakī and Lecchakī clans were present there at that time Thinking that spiritual light of knowledge has vanished with the passing away of the Lord they made a material illumination by lighting lamps

Lord Mahāvīra was the head of an excellent community of 14000 monks, 36000 nuns, 159000 male lay-votaries and 318000 female lay-votaries The four groups designated as monks, nuns, laymen and laywomen constitute the four-fold order (Tīrtha) of Jainism One who makes such an order is known as Tīrthankara Tīrthankara Mahāvīra's followers comprised three categories of persons ascetics, lay-votaries and sympathisers or supporters Indrabhūti (monk), Candanā (nun) etc form the first category Śākhā (layman), Sulasā (laywoman) etc come under the second category Śrenika (Bimbisāra), Kūnika (Ajātasatru), Pradyota, Udāyana, Cellanā etc form the third category The Tīrthankara's Tīrtha or Sangha consisted of only the first two categories

Sudharamun, Jambū, Bhadrabāhu and Sthūlabhadra

Of the eleven principal disciples (Ganadharas) of Lord Mahāvīra, only two, viz, Indrabhūti and Sudharman survived him After twenty years of the liberation of Mahāvīra

Sudharman also attained emancipation. He was the last of the eleven Ganadharas to die. Jambū the last omniscient, was his pupil. He attained salvation after sixty-four years of the liberation of Mahāvīra. Bhadrabāhu belonging to the sixth generation since Sudharman, lived in the third century B.C. He died 170 years after Mahāvīra. He was the last Śrutakevalin (possessor of knowledge of all the scriptures). Śhūlabhadra possessed knowledge of all the scriptures less four Pūrvas (a portion of the Dṛṣṭivāda). He could learn the first ten pūrvas with meaning and the last four without meaning from Bhadrabāhu in Nepal. Thus, knowledge of the canonical texts started diminishing gradually. There are still a good many authentic scriptures preserved in the Śvetāmbara tradition. Of course, some of them have, partly or wholly, undergone modifications. The Digambaras believe that all the original canonical texts have vanished.

Up to Jambū there is no difference as regards the names of successors in the Digambara and Śvetāmbara traditions. They are common in both the branches. The name of Bhadrabāhu is also common, although there is a lot of difference regarding the events relating to his life. There is no unanimity with regard to the name of his own successor too. Besides, the names of intermediary successors are also different. Judging from the total picture it seems that in fact there had been two different preceptors bearing the name of Bhadrabāhu in the two traditions. Probably they were contemporaries. The Śvetāmbara account mentions that the death of Śrutakevali Bhadrabāhu occurred 170 years after the liberation of Mahāvīra, whereas the Digambara tradition maintains that Bhadrabāhu died 162 years after Mahāvīra.

According to the tradition of the Śvetāmbaras, preceptor Bhadrabāhu had been to Nepal and remained there engaged in some specific course of meditation. Śhūlabhadra and some other monks went to Nepal to learn the Dṛṣṭivāda from Bhadrabāhu.

The Digambara tradition believes in a migration of Bhadrabāhu and other monks to South India. It holds that the head of the Jain church in the time of Candragupta's reign (322-298 B.C.) was Bhadrabāhu. He was the last Śrutakevalin. He prophesied a twelve-years famine and led a migration of a large number of Jain monks to South India. They settled in the vicinity of Śravana Belgolā in Mysore. Bhadrabāhu himself died there. King Candragupta, an adherent of the Jain faith, left his throne and went to Śravana Belgolā. He lived there for a number of years in a cave as an ascetic and finally embraced death.

Samprati

Śhūlabhadra's pupil Suhastin had won King Samprati, the grandson of and successor to Asoka, for Jainism. Samprati was very zealous in the promotion and propagation of Jainism. He showed his enthusiasm by causing Jain temples to be erected over the whole of the country. During Suhastin's stay at Ujjain (Samprati's capital), and under his guidance, splendid religious festivals were celebrated. The devotion manifested by the king and his subjects on such occasions was great. The example and advice of King Samprati induced his vassals to embrace and patronize Jainism. He had sent out missionaries as far as to South India. In order to extend the sphere of their activities to non-Aryan countries, Samprati sent there Jain monks as messengers. They acquainted the people with the kind of food and other requisites which Jain monks may accept as alms. Having thus prepared the way for them, Samprati induced the superior to send monks to those countries. Accordingly missionaries were sent to the countries of Andhra and Dramila in South India.



Khāravēla

Somewhere near Samprati's time there lived King Khāravēla of Kalinga. His inscription in a cave of Khandagiri, dating around the middle of the second century B C, tells among other things of how he constructed rock-dwellings and gave abundant gifts to Jaina devotees. There are some Jaina caves in sandstone hills known as Khandagiri, Udayagiri and Nālagiri in Orissa. The Hāthīgumphā or Elephant Cave, as it is now known, was an extensive natural cave. It was improved by King Khāravēla. It has a badly damaged inscription of this king. The inscription begins with a Jaina way of veneration.

Kālākācārya and Gardabhilla

In the first century B C, when Gardabhilla was the king of Ujjain, there lived a famous Jaina preceptor known as Kālākācārya. King Gardabhilla carried off Sarasvatī, a Jaina nun, who was the sister of Kālākācārya. After repeated requests and threats when Kālākācārya found that the king was not prepared to set the nun free, he travelled west of the Indus and persuaded the Śakas to attack Ujjain and overthrow Gardabhilla. The Śakas attacked Ujjain and established themselves in the city. Vikramāditya, the successor to Gardabhilla, however, expelled the invaders and reestablished the native dynasty. He is said to have been won for Jainism by some Jaina preceptor.

Jaina Stupa at Mathura

An inscription of the second century A D has been found in the ruins of Jaina stupa excavated in the mound called kankali Tila at Mathura. The inscription says that the stupa was built by gods. The truth underlaying this type of belief is that at that time the stupa was regarded as of immemorial antiquity. The sculptures and inscriptions found at Mathura are of great importance for the history of Jainism. They corroborate many of the points current in the Jaina traditions. For instance, the series of twenty-four Tirthankaras with their respective emblems was firmly believed in, women also had an influential place in the church, the order of nuns was also in existence, the division between the Śvetāmbaras and Digambaras had come into being, the scriptures were being recited with verbal exactitude.

Kumārāpāla and Hemacandra

Coming to the medieval period, King Siddharāja Jayasīma (A D 1094-1143) of Gujarat, although himself a worshipper of Śiva, had Hemacandra, a distinguished Jaina preceptor and writer, as a scholar member of his court. King Kumārāpāla (A D 1143-1173), the successor to Jayasīma, was actually converted to Jainism by Hemacandra. Kumārāpāla tried to make Gujarat in some manner a Jaina model state. On the other hand, Hemacandra, taking full advantage of the opportunity, established the basis for a typical Jaina culture by his versatile scientific work. He became famous as the Kalikālasarvajña, i.e., the omniscient of the Kali Age. In South India the Gangas, Rāṣtrakūṭas and Hoysalas were Jainas. They fully supported the faith.

Digambaras and Śvetāmbaras

There were both types of monks, viz. Sacelaka (with clothes) and Acelaka (without clothes), in the order of Mahāvīra. The terms Sacelaka and Śvetāmbara signify the same sense and Acelaka and Digambara express the same meaning. The monks belonging to the Śvetāmbara group wear white garments, whereas those belonging to the Digambara group wear no garment. The literal meaning of the word Digambara is sky-clad and that of the Śvetāmbara is white-clad. It was, probably, up to Jambū's time that both these groups

formed the composite church. Then they separated from each other and practised the faith under their own heads. This practice is in force even in the present time. The Śvetāmbaras hold that the practice of dispensing with clothing has no longer been requisite since the time of the last omniscient Jambū.

The following main differences exist between the Digambaras and Śvetāmbaras —

1 The Digambaras believe that no original canonical text exists now. The Śvetāmbaras still preserve a good number of original scriptures.

2 According to the Digambaras the omniscient no longer takes any earthly food. The Śvetāmbaras are not prepared to accept this conception.

3 The Digambaras strictly maintain that there can be no salvation without nakedness. Since women cannot go without clothes, they are said to be incapable of salvation. The Śvetāmbaras hold that nakedness is not essential to attain liberation. Hence, women are also capable of salvation.

4 The Digambaras hold that Mahāvīra was not married. The Śvetāmbaras reject this view. According to them Mahāvīra was married and had a daughter.

5 The images of Tirthankaras are not decorated at all by the Digambaras, whereas the Śvetāmbaras profusely decorate them.

The two main Jain sects, viz., the Śvetāmbara and the Digambara, are divided into a number of sub-sects. There are at present three important Śvetāmbara sub-sects: Mūrtipūjaka, Sthānakavāsī and Terāpanthī. The number of present important Digambara sub-sects is also three: Bīsapanthī, Terāpanthī and Tāranapanthī. The Mūrtipūjakas worship images of Tirthankaras etc. The Sthānakavāsīs are non-worshippers. The Terāpanthīs are also not in favour of idol-worship. Their interpretation of non-violence (Ahimsā) is slightly different from that of the other Jains. The Bīsapanthīs use fruits, flowers etc. in the idolatry ceremony, whereas the Terāpanthīs use only lifeless articles in it. The Tāranapanthīs worship scriptures in place of images. All these sub-sects have their own religious and other works in addition to the common ones. They have their own temples and other religious and cultural centres.

BIBLIOGRAPHY

- 1 Jainism—The Oldest Living Religion—Jyoti Prasad Jain—Jain Cultural Research Society, Banaras, 1951
- 2 Doctrine of the Jainas—Welther Schubring—Motilal Banarasidass, Delhi, 1962
- 3 Heart of Jainism—Sinclair Stevenson—Humphrey Milford, London, 1915
- 4 Sources of Indian Tradition—Motilal Banarasidass, Delhi, 1963
- 5 Cultural Heritage of India, Vol. I—Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, 1958
- 6 Philosophy of Culture—N. K. Devaraja—Kitab Mahal, Allahabad, 1963
- 7 Most Ancient Aryan Society—Ram Chandra Jain—Institute of Bharatological Research, Ganganagar, 1964
- 8 Jaina Sūtras—Hermann Jacobi—Motilal Banarasidass, Delhi, 1964
- 9 Archeology of World Religions—Jack Finegan—Princeton University Press, 1965
- 10 Pacifism and Jainism—Sukhlal Sanghavi—Jain Cultural Research Society, Banaras, 1950.





THE CONCEPT OF ARAHANTA (ARHAT) IN JAINISM

DR K C SOGANI, M A , Ph D

(Department of Philosophy, University of Udaipur, Udaipur)

The supreme objects of devotion enumerated by the Jaina are five, namely, Arahanta, Siddha, Acarya, Upadhyaya and Sadhu. The same may be expressed by saying that Deva, Sastra and Guru deserve our highest reverence. Again, we come across a different expression that the four objects, namely, Arahanta, Siddha, Sadhu and Dharma preached by Arahantas, are most auspicious and unexcelled in the universe. These ways of expression are essentially one, and each is inclusive of the rest. To make it clear, Arahanta and Siddha are comprised under the category of Deva, Acarya, Upadhyaya and Sadhu are styled Gurus, and the religion preached by the Arahantas is called Dharma or Sastra. Considered from the perspective of mystical realisation, Arahanta and Siddha stand at par. But as the former enjoys embodied liberation, and the latter, disembodied one, it is alleged that Siddha occupies a higher status. In view of this it may appear that disrespect is shown to Siddhas, inasmuch as Arahantas are everywhere bowed first, Siddhas, next. But the conviction of the Jaina is that it is through Arahantas that we have been able to recognise Siddhas, and it is through his intervention that Apta, Agama and Padartha have been made intelligible¹. Hence this supreme Guru is entitled to receive our preferential obeisance. Thus Arahanta is the perfect Guru owing to the delivering of sermons for general beneficence, and is also called perfect Deva on account of the complete actualisation of the divinity potential in Himself. It is through his medium that mystical life has been possible on earth. Hence he must have our highest gratitude and reverence.

Thus the concept of Arahanta in Jainism plays a double role: the role of the perfect Deva, and the role of the perfect Guru. And this is quite consistent with the view-point of spiritual experience, and the consequent upliftment of mankind at large through preaching. Guruhood refers to the outward manifestation of intuitive experience, while Devahood signifies simply the inward spiritual realisation. Thus the concept of Arhat stands for the consistent identification of Devatva and Gurutva, of the inward experience and the outward expression. In the state of the Siddha, there is no outward representation of mystical experience, which, on the other hand, is integrally connected with the life of Arahanta. Because of this double role, Arahanta is bowed first in preference to the Siddha who is simply the Deva on account of his being incapable of preaching Dharma. Prof A N Upadhyaya rightly remarks: "The magnanimous saint, the Jaina Tirthankara, who is at the pinnacle of the highest spiritual experience is the greatest and ideal teacher and his words are of the

highest authority” This does not imply the belittlement of the Siddha, but simply the glorification of the Arahanta as the supreme Guru, Gurutva being his additional characteristic.

Now, two kinds of Arahanta, namely Tirthankara and non-Tirthankara have been recognised. The distinction between the two is this that the former is capable of preaching and propagating religious doctrines in order to guide the mundane souls immersed in the life of illusion, and his sermons are properly worded by the Ganadharas, while the latter is not the propounder of religious faith or principles, but silently enjoys simply the sublimity of mystical experience. These two tendencies of the perfected mystics or Arahantas may be compared with the “activistic” and “quietistics” tendencies of the mystics¹. Thus the word Arahanta should be primarily esteemed as referring to the Tirthankara and only secondarily to the ordinary omniscient souls². It is only the privilege and prerogative of those rare souls to have the designation of Tirthankara Arahanta, who in the past or the present life have accumulated in themselves the potency of revealing truth by the performance of virtuous activities resulting from their dedication to the sixteen kinds* of reflections³. According to the Jaina dogma the number of Arhats in each cycle of time is limited, i.e., twentyfour⁴.

Thus Arahanta is the ideal saint, the supreme Guru and the divinity-realised soul; hence he may be designated as Paramatman or God. Siddha has also been called God. But “neither Arhat nor Siddha has on him the responsibility of creating, supporting and destroying the world. The aspirant receives no boons, no favours, and no curses from him by way of gifts from the divinity. The aspiring souls pray to him, worship him and meditate on him as an example, as a model, as an ideal that they too might reach the same condition”⁵. But it should not be forgotten that unified, singleminded devotion to Arahantas or Siddhas accumulates in the self the Punya of the highest kind, which, as a natural consequence, brings forth material and spiritual benefits. Samantabhadra observes that the adoration of Arahanta occasions great heap of Punya⁶. He who is devoted to him realises prosperity and he who

* The sixteen kinds of reflections are —

(1) Transcendental awakening, (2) Possession of reverential attitude towards the Guru and the spiritual path, (3) Observation of vows and renunciation of passions for the proper pursuance of vows, (4) Application of oneself constantly to the earning of spiritual knowledge, (5) Due apprehension of worldly miseries, (6) Charity in the matter of food, shelter and knowledge, (7) Pursuance of proper bodily austerities without the concealment of strength, (8) Removal of obstacles from the path of a Muni, (9) Nursing of the virtuous souls, (10) Devotion to Arhats, (11) Devotion to the Teacher, (12) Devotion to the Learned, (13) Devotion to the Sastra, (14) Performance of the essential duties, (15) Influencing the society through the medium of knowledge, austerity, charity, Bhakti and adoration, and (16) Having an affectionate attitude towards the spiritual brethren (Sarvartha VIII-9)

1 Mysticism in Maharashtra Preface P 28

2 Moksamarga P 6

3 Sarvartha VI 24

4 PP Intro P 36

5 PP Intro P 36

6 Svayambhu P 78



casts aspersions, sinks to perdition, in both these Arahanta is astonishingly indifferent¹ The aspirant, therefore, should not breathe in dependency for the aloofness of God. (Arahanta and Siddha) Those who are devoted to him are automatically elevated The ultimate responsibility of emancipating oneself from the turmoils of the world falls upon one's own undivided efforts, upon the integral consecration of energies to the attainment of divine life Thus every soul has the right to become Paramatman, who has been conceived to be the consummate realisation of the divine potentialities

We shall now dwell upon the characteristics of Arahantas, the effects of transcendental life, the effects which the realisation of Paramatman produces upon the perfected mystic The Acaranga tells us that the Arahanta is established in truth in all directions² He is Ātmasamāhita³ He has freed himself from anger pride, deceit, greed, attachment, hatred, delusion, birth, death, hell, animal existence and pain⁴ Arahanta leads a life of supermoralism, but not of amoralism It is inconceivable that the saint who has attained supremacy on account of the realisation of perfect Ahimsa may in the least pursue an ignoble life of Himsa, a life of vice He is no doubt beyond the category of virtue and vice, good and evil, Punya and Pāpa, auspicious and inauspicious psychical states, yet he may be pronounced to be the most virtuous soul, though the pursuit of virtuous life is incapable of binding him to the cycle of life and death⁵ Samantabhadra ascribes inconceivability to the mental, vocal and physical actions of Arhat, since they are neither impelled by desire nor born of ignorance⁶ Whatever issues from him is potent enough to abrogate the miseries of the tormented humanity Hundred of souls get spiritually converted by his mere sight, forsaking their sceptical and perverted attitude towards life His presence is supremely enlightening Even his body causes amazement to Indra in spite of his beholding it with thousand eyes⁷ As he has transcended human nature and is revered and worshipped even by celestial beings, he is supreme God⁸ Thus he is the embodiment of mystical virtues, and is the spiritual leader of society⁹ He is beyond attachment aversion and infatuation, and consequently, he is absolutely dispassionate¹⁰ By virtue of his intuitively apprehending the nature of reality, as also the implications of the sacred text, all his doubts have been resolved¹¹

The perfected mystic has been able to adorn himself with self-control, since he has abandoned all Himsa and has resisted the temptations of senses and mind He has also subdued anger, lust, greed etc by performing the internal and external austerities¹² In

1 Ibid p 69

2 Acara p 190

3 Ibid p 131

4 Ibid p 171

5 Jnana LXII-33

6 Svayambhu p 71

7 Ibid p 89

8 Ibid p 75

9 Ibid p 35

10 Prava p 1-14 and Comm Amṛta

mystical language we may say that with the emergence of the Atmanic experience and steadfastness in it, the conquest over the mind, the senses, and the passions becomes natural to him. i.e., a thing flowing from his intrinsic nature. By virtues of his self-realisation, and of having achieved sublime concentration and owing to his simultaneous establishment in the triune path of right belief, right knowledge and right conduct, he has transcended the dualities of friends and enemies, pleasure and pain, praise and censure, life and death, sand and gold¹. And yet in spite of this transcendence, he embraces reconcilable contradictions, he is self-established yet all pervading, is knowing all things yet detached, is associated with great longevity, yet devoid of senility². The transcendent mystic has manifested pure consciousness, has destroyed the destructive Karmas, and has attained supersensuous knowledge*, infinite potency and unique resplendence³. As a consequence of which all his desires for bodily pleasure and pains vanish immediately⁴.

The infinite life of the mystic has rendered possible the emergence of omniscience which possesses the potency of completely, simultaneously and intuitively or unassistedly** apprehending all the substances along with their present and absent modifications† in contradistinction to the limited life of sensuous knowledge which cognises substances incompletely, successively and intellectually or assistedly⁵. In view of the fact of possessing omniscience, it will not be contradictory to say that the omniscient being is all pervading, and that all the objects are within him, since Arahanta is the embodiment of knowledge and all the objects are the object of knowledge⁶. The omniscient being neither accepts nor abandons, nor transforms the external objectivity⁷, but only witnesses and apprehends the world of objects without entering into them, just as the eyes see the objects of sight⁸. Yogindu, in a similar vein, proclaims that the universe resides in the Parmatman, and he resides in the universe⁹ but he is not the universe. The pure soul, according to him, is all pervading in the sense that "when delivered from the Karmas he comprehends, by his omniscience, physical and superphysical words"¹⁰. The knowledge which is independent, perfect, immaculate, intuitive and extended to infinite things of the universe may be identified with bliss on account

1 Prava p 1-14, III—41, 42

2 Visapahara Stotra p 1

* That is called supersensuous knowledge which knows any substance, with or without space points, with or without form and those modifications which have not come into existence and those which are destroyed (Prava I-41 Trans Upadhya p 6)

3 Prava p 1-15, 19

4 Ibid I-20

** Unassistedly—Without the help of senses light, and mind (Sat Vol I, p 191)

† Absent modifications—Those which have never originated and those in fact that have been and are already destroyed are the absent modifications (Prava I-38, Trans Upadhya p 5)

5 Prava I-21, 51

6 Ibid I-26

7 Ibid I-32

8 Ibid I-29

9 PP I-41

10 Ibid I-32





of the absence of discomposure arising from the knowledge which is dependent imperfect, maculate, mediate¹ and, extended to limited things. In other words, the consciousness of the perfected mystic is not only omnipotent and intuitive but also blissful. Bliss is naturally consequent upon the destruction of the undesirable and accomplishment of the desirable.

The consummate mystic experiences unprecedented bliss, which originates from the innermost beings of self and which is supersensuous, unique, infinite, and interminable². A legitimate question is apt to be asked, what does the culminant mystic who has swept away the dense destructive Karmas, who intuits all the entities, who does not allow even an infinitesimal fragment of the objects to escape his all-comprehensive knowldg, and who is free from doubts, meditate upon? This may be replied by saying that the consummate Atman who is supersensuous, bereft of senses, free from all hindrances, permeated by knowledge and happiness, meditates upon the happiness supreme³. According to Kundakunda he is the real contemplator of the Atman who after removing the filth of delusion, overthrowing attachment and aversion, detaching himself from the objects of pleasure, restraining his mind, and attaining indifference to pleasure and pain, is established in the intrinsic nature of the Atman, he thus attains inexhaustible bliss⁴. The perfected mystic is the exemplary illustration of this sort of living. Thus the mystical or spiritual consciousness is intuitive, blissful and all-powerful. We may conclude by saying that the cognitive, conative and affective tendencies of the perfected mystic reveal their original manifestation in his supreme mystical experience, which is ineffable and transcends all the similes of the world⁵.

Bibliography and Abbreviations

- 1 Acaranga-Sutra (Sacred Books of the East Vol XXII) (Acara)
- 2 Jñānārṇava of Subhacandra (Jñānā) Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)
- 3 Mokṣamārgaprakasaka of Pt Toderamala (Moksamarga) (Bhāratiya Digambara Jaina Sangha, Chewasi Mathura)
- 4 Mysticism in Maharastra by R D Ranade (Oriental Book Agency, Poona)
- 5 Paramatmaprakasa, Introduction by A N Upadhyaya (PP Intro) Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)
- 6 Pravacanasāra of Kundakunda with the Commentary of Amṛtacandra (Prava Comm Amṛta) Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)
- 7 Sarvarthasiddhi of Puṣyapāda (Sarvartha) (Bhāratiya Jñānapitha, Kasi)
- 8 Satkhandagama Vol I of Puṣpadanta and Bhūtabali with the Commentary of Virasena (Ṣaṭ Vol I) (Jaina Sahitya Uddharaka Fund Karyalaya, Amroli)
- 9 Svayambhustotra of Samantabhadra (Svayambhu) (Viraseva Mandira, Delhi)
- 10 Viśāpahāra Stotra of Dhananjaya (Mulacanda Kisanadasa Kepadīya, Surat)

1 Prava I-50 and Comm Amṛta

2 Prava I-13

3 Prava II-105

4 Ibid p 100

5 Prava II p 103, 104

6 Jnana LXII p 76, 77, 78

JAINISM AT A GLANCE*

MRS SUSHILA S. SINGHVI



The word "Jain" is derived from a Sanskrit word "Jina" which means the conqueror who has conquered his lower nature, who has reached the divinity, and in whom the soul asserts the supreme and perfected powers. The saint is also termed as "Jina"—the victor, and his disciples, therefore, "Jainas"—the followers of the victor. The name Jainism indicates predominantly the ethical character of the system.

Historical Background

According to historians, the foundation of Jainism was systematically laid down by Lord Mahavira in 600 B C. Jainism is contemporary to Buddhism, and both faiths have prospered since then. However, the history asserts that Jainism is much older than Buddhism. The credit of recognizing the historical existence of Mahavira goes, surprisingly enough, to a German scholar in the field of Indology, Professor Herman Jacobi, who made an English translation for the first time of the Jain literature, and published it with a masterly introduction in the series called the 'Sacred Books of the East' in 1884. Ancient historical research has made some progress since then, and today Indian historians freely recognize not only that Mahavira was a historical personage but also his predecessor Lord Parshvanath had historical existence who lived 1200 years before Lord Mahavira.

According to Jainism there are twenty-four "Tirthankaras" or teachers. In "Kalpa-Sutra" a great religious book, we can find a brief life-history of all twenty-four teachers. The first teacher was Lord Rishabhdev, and the last teacher was Lord Mahavira whose life-history is given in a great detail in "Kalpa-Sutra".

Life of Lord Mahavira

Lord Mahavira, the last Tirthankara of Jainas, was a supreme personality and a leader of thought. He was born in 599 B C into the royal family of King Siddharatha and Queen Trishala. After His conception in the family, the family had increased in wealth, power and prosperity. So His parents named Him "Vardhamana"—the Increaser of Prosperity in the Family. Later on He was called by His followers as "Mahavira"—the great hero. Although a born prince, He showed great indifference to pleasure and pain from His very boyhood. At the age of thirty He renounced the world and remained engaged in deep meditation and hard penances for a full twelve years. At the age of forty-two, He had become "Kevlin"—Omniscient All Knowing Teacher. He then preached his lofty philosophy and message of

* This article is based on a speech delivered by Mrs Sushila S Singhvi at St John's Methodist Church, Dover, New Hampshire on February 13, 1966. The author expresses her sincere thanks to Mr Surendra S Singhvi and Dr D C Jain for their suggestions.



universal love and service far and wide for the next thirty years and attained salvation in 527 B C at the age of seventy two

Lord Mahavira's Teachings

Lord Mahavira's first and foremost principle is that of non-violence and universal love, which changed the very hearts of the people at that time. The principle of non violence or non-injury had visible effects. It has had salutary effect on man's habitual diet. Those who came under the influence of Lord Mahavira's personality and teachings gave up eating meat and fish for food and adhered to a vegetarian diet. The same principle served to mitigate the rigour and ruthlessness of the criminal injustice of ancient India. The principle of compassion was also encouraged by Him.

In His last sermon, when asked by one of His disciples, which principle is the most fundamental of His teachings, He replied "Of all my teachings, the first of my five commandments is the most important. Do not kill or hurt any living being by word, thought, or deed. Do not kill animals. Do not hunt or fish, never kill even the smallest creature at any time. Do not go to war. Do not step upon a worm on the roadside. Even the worm has a soul."

The message of "Ahimsa" or non-violence to living beings was the greatest heritage Lord Mahavira has left to mankind. The principal of non-violence may also be explained—if we cannot give life to a living being, what right do we have to take life of others. Mahatma Gandhi also followed and preached the same principle for freedom of India in the twentieth century.

The other four commandments of Lord Mahavira are

- 1 Never to tell a lie,
- 2 Never to steal any thing which belongs to others,
- 3 To lead a life of chastity, and
- 4 To renounce the pleasures in external objects

The Jain Philosophy

The Jain philosophy consists in attaining the infinite bliss. The ultimate object, according to Lord Mahavira, is "Nirvana," which consists in peace, deliverance, and liberation. This can be attained by leading a painful and hard life, by practising penances thereby destroying sinful deeds of past lives and not affecting to new ones.

Jainism believes in the birth and rebirth-cycle and emphasizes the doctrine of soul. The soul never perishes. The body is just the cover of the soul. One should not think for the comforts of the body, rather one should try to free his soul from birth and rebirth. This state of liberation can be attained by disregarding the comforts of the body and doing severe austerities. Today the world is becoming materialistic and there is rapid advancement in luxuries and comforts. Yet in spite of these comforts there is no real peace and happiness. People are constantly striving for happiness and peace but their approach is wrong because the infinite bliss, according to Lord Mahavira, can only be attained by leading a life of austerity.

Some other cardinal principles taught by Lord Mahavira sum up in the right knowledge, right faith and right virtue or conduct. There is no right conduct without right belief, and no right belief without right knowledge. The virtue can be attained by avoiding

sins. The path of right knowledge, right faith and right virtue leads to the destruction of sins and to perfection. Austerity and meditations are two other very important factors in Jain philosophy. These lead to 'Nirvana' a state of peace.

Classifications of Jainism

With respect to its sub-division, Jainism can be compared to Christianity. Just as Christianity has been divided into Catholicism and Protestantism, and Protestantism further sub-divided into Methodists and Presbyterians, Jainism has also been divided into Digambaras, whose monks are clad in white. Svetambaras are further sub-divided into Derawasi, or temple-goers and worship idolatrous, and Sthanakwasi those who believe in private worship, being non-idolatrous and having no temples, and Terapanthi, a small group which emphasizes on thirteen principles and is also non-idolatrous.

Just as all the Christians, whether Catholic or Protestant believe in Lord Christ, all Jainas whether Svetambaras or Digambaras worship the twenty-four teachers. The goal is the same for all Jainas although the means to achieve it differ slightly from each other.

About a Jain Monk

Leading the life of a Jain monk is like a hard nut to crack. A Jain monk or a nun lives away from his or her family and travels from one place to another on foot. For him, the whole world is his family. He usually lives in a group of five or six or more monks. He keeps very limited clothes and things which he gets from his followers. He does not keep money with him. The eldest among them lectures every morning and many followers visit them to listen to their lectures. One of the monks goes out from house to house in order to collect food. He is respected by all Jainas, and they feel greatly honoured if visited by a monk. The reason for collecting food from house to house is that he keeps himself away from monetary attachments. The whole day he studies religious books, meditates for a few hours and performs routine religious duties. During the rainy season for four months from July to October, he does not go out from one city to another city. If it rains the whole day he does not go out to collect food and observes fast on that day. The reason for not travelling from one place to another during the rainy season is that there are too many insects and worms on the roadside due to the rain and mud, and he is not supposed to kill them in keeping with the principle of non-violence. Thus in modern times also he lives a very hard life, observes several fasts a month, and does not eat before sunrise or after sunset.

Jain Temples

Temples are also important for those Jainas who are temple-goers. There are hundreds of Jain temples in India. Jainas visit them every day. Some of them are well known for their architecture. For example, Delwara Temple of Abu, which is located in North Western India on a mountain is very famous for its architecture and beauty. Among other temples, Palitana (Saurashtra), Kesariyaji (Rajasthan), Shikharji (Bihar), Ranakpura (Rajasthan), and others have greater historical significance.

Jain Festivals

The festivals of Jainas are of great interest. The important festivals are "Paryushana", "Samvatsari", "Divali", 'Gyan Panchami', and others. Since austerity is emphasized in Jainism to attain the infinite bliss, Jainas are supposed to observe fast on the festival days.





The fasts are very strict in which they do not eat or drink anything except boiled water during the day time

"Paryushana", the last eight days of the Jain year, is known as the festival of fasts. Some Jainas observe fast for one month, others for eight days, and many for one to three days depending upon their will-power and health. The last day of "Paryushana" is known as "Samvatsari". All Jainas are supposed to observe fast on this day. All the holy places are crowded with followers making their confessions. At the close of meetings everyone present asks forgiveness from his relatives, friends, and neighbours for any offence he may have committed intentionally or unintentionally. They also write letters to relatives and friends asking for their forgiveness.

"Divali", the festival of light is celebrated by all people in India. However, for Jainas it has special significance because on that day Lord Mahavira reached "Nirvana", a state of peace.

"Gyan Panchami" is another Jain festival when a fast is observed. On this day all Jain sacred books are worshipped.

Conclusion

So far we have discussed in brief the historical background of Jainism, the life and teachings of Lord Mahavira, the philosophy of Jain, the life of a Jain monk, Jain temples and festivals. Before concluding this article, a few additional important aspects need to be discussed here.

First, India is a country of vastness and variety. There is hardly any religion or faith that does not flourish on her soil. According to the 1961 census conducted by the Government, there are 366 million Hindus, 47 million Muslims, 11 million Christians, 7.8 million Sikhs, 3.3 million Buddhists and 2 million Jainas. Although the population of Jainas is very small in comparison with other religious groups, Jainas are inhabited in large numbers in a few states in India.

Second, there are many small scale schools where the principles of Jainism are taught to youngsters as well as to adults. In some schools, there are courses on Jainism offered along with other courses. At college and university levels, the teaching on Jainism is limited. Generally, Jainas learn about the religion at home and also at religious places by attending sermons given by monks and nuns.

Third, the World Jain Mission and the International Academy of Jain Wisdom and Culture was founded in 1951 by the late Dr. Kamta Prasad Jain. It brings out each month a journal called "The Voice of Ahimsa". The headquarters of the mission are located in Aliganj (U.P.), India. The objective of the mission is to propagate and spread Lord Mahavira's gospel of Ahimsa, and the Universal brotherhood, giving a spiritual trend to the erring humanity, and bringing peace and equality between people and people, through the "Voice of Ahimsa".

It seems that the fundamental principles of Jainism are of great importance to the present day troubled world. The challenge lies in spreading these principles across nations.

BIBLIOGRAPHY

Lord Mahavira, edited and published by the World Jain Mission, Aliganj, India, 1962

Dirakar, S C *Glances of Jainism*, Delhi, 1964.

Shastri, I C *Jainism and Democracy*, Delhi (All India S S Jain Conference), 1964

Lathe, A B *An Introduction to Jainism*, Delhi, Jain Mitra Mandal, 1964

Lalwani, Genesh (Compiled), *Thus Sayeth Our Lord* (Teachings of Lord Mahavira), Calcutta Jain Bhawan, 1965 (Pamphlet)

Dirakar, S C 'Jainism and Peace', *The Voice of Ahimsa*, Vol XV , No 7-8 (July-August, 1965)

Boolchand, *Lord Mahavira* Delhi, 1948

Law, B C. 'Mahavira,' *His Life and Teachings*

Stevenson, E *The Heart of Jainism*.



SRAMANIC FOUNDATIONS OF ANCIENT EGYPT

RAM CHANDRA JAIN, Advocate,
(Hon'y Director, Institute of Bharatological Research, Ganganagar)



Human society, through its long experiences, developed an understanding that in the motley of these ever-changing events, there is something permanent without which the changes would be unmeaningful. There is grief, suffering and woe which none cherishes, then why bring grief, suffering and woe to a fellow human being, nay, to any being on earth enjoying life. The discovery of the identity of something permanent in the plurality of living beings became the foundation stone of the human society. This permanent substance came to be called Ātman or soul. The discovery of soul was the result of the dialectical historical efforts of mankind. Human efforts conditioned the nature of society. The efforts of the individual members of the society reduced the woe and suffering of his fellow beings to the minimum. The ideal individual efforts began to be directed to the end which would cause the least suffering to the other living beings. This second discovery of the Efficacy of effort became the driving force of the Soul or Ātman. This is what we call Sama in Prākṛta and Srama in Sanskrit. Sama in Prākṛt¹ and Srama in Sanskrit² means Efforts. The rightness of the efforts is indicated by the word "N", both in Prākṛt¹ and Sanskrit¹. The word Samana or Sramana, thus, means Right Ātmic Efforts. The way founded on right Ātmic effort is called Sramanology. The basic foundations of the science of Sramanology are the five well-known tenets of Non-Violence (Ahimsā), Truth, Non-Stealing, Continence and Non-Attachment, (Aparigraha).

A group of expert mariners, led by great engineers and accompanied by spiritual leaders, under the supreme leadership of Menes, reached the shores of Egypt in the middle of the fourth millennium B.C. He was the first Pharaoh, the supreme leader of the people, who founded the great city of Memphis and excavated a lake on the north and west sides of the city.⁵ He peacefully developed the new country as the interpretation of the Slate Palette of Narmer indicates.⁶ Menes and his people remembered their original home as Punt. The root of the word is Pwn, the T being the usual feminine ending for a foreign country.⁷ The Pwn may be identified with Panī of Bhārata. Punt, thus means "the country of the Panis". The Panis of the Ahi sub-race were a great sea-faring adventures of Bhārata. Menes, thus, appears to be a great Panī leader who took his Sramanological culture and civilization from Bhārata to Egypt.

The Sramanological beliefs of the ancient Egyptians are contained in the Book, "The Manifestation of Light" misnamed "Book of the Dead". The essential parts of this book originated in the most ancient times. This book claims to be a revelation from Thoth. The oldest monumental evidence of the existence of Thoth is available in the oldest existing Egyptian temple belonging to the reign of Chefred (Shafra), the builder of the second pyramid. He belonged to the fourth dynasty and lived circa 2800 B.C. Thoth is the same as Tet. He flourished circa 3350 B.C. This Thoth was later regarded as essentially the god of learning,

he was the master of the words of god, i.e., Hieroglyphics, he was the scribe and messenger of the gods, he was the Measurer of time and the Mathematician Hesepti or Hesept is mentioned in several copies of the Book as the author of the two of its most important chapters. Thoth or Tet and Hesepti or Hesept, the plebians, certainly do belong to the first Dynasty and lived also during the times of Menes.

The Egyptians believed in Soul, its Right Effectiveness, Transmigration of Soul and its final Attainment (Siddhi). They believed in body and intelligence, Matter and Spirit. The five Sramanalogical tenets of the Egyptians are given with manifold details in the 125th chapter of the Book. This chapter "Hall of Truth" is very significant. This chapter contains 48 Sramanalogical tenets of Non-Violence, Truth, Non-Stealing, Continence and Non-Attachment along with three tenets of Right Knowledge, Right Conduct and final aim of Siddhi.¹⁰

These Sramanalogical beliefs of the most ancient Egyptians were at the foundations of their political, social and economic institutions.

Sramanalogy reflects itself in political institutions as a Republican system. Kingship, Ganapatiship and dictatorship is abhorrent to it. Menes was the first great personage at the dawn of the Egyptian history who united the two regions of upper and lower Egypt. Menes, Mena or M'ns means the establisher of the station.¹¹ He is the first pharaoh. At first no single minister stood between the Pharaoh and the various branches of the administration. There was no grand vizier. The vizierate was, however, introduced under the fourth Dynasty.¹² The Egyptian state was divided into various nomarchs. Nomarch was the local administrator resembling the modern pattern of a provincial executive head. Nomarch Nesutnefer, of the fifth Dynasty, is marked by his title as "Leader of the Land". He led the people; he did not govern them. Perhaps the people selected him and the Pharaoh nominated him. He enjoyed the confidence of both the pharaoh and the people. The election or selection of this official was dependant on the moral virtues of the incumbent of the office. The ideal official was the "silent man", who is respectful of established authority and just, since maat (which means Truth, Justice, Rightness) is part of the world order of which his royal master, the pharaoh is the champion. The silent man is not the meek sufferer, but the wise, self-possessed, well-adapted man, modest and self-effacing upto a point but deliberate and firm in the awareness that he is thoroughly in harmony with the world in which he lives.¹³ His idealism was not of the coward, it was of the brave. Pharaoh, the supreme leader of the people, possessed these qualities almost to a point of perfection. He was the best and the noblest servant of the people. Men of high moral fibre, possessing great intellectual and spiritual qualities, self-effacing, having little material possessions occupied high public offices with no hereditary rights. This ancient type of republican society flourished in Egypt till circa 2200 B.C.

Sramanalogy reflects itself in the social sphere as freedom, equality and progress of the individual and the group. This was the age of Tirthankar Mallinath when the first servant of Egypt, under the leadership of Menes, went from Bhārata to their new home. Egypt imported custom of matrilineal descent from here first immigrants. Monogamy was the general custom. The position of women was of equality and prestige. She was economically independent and enjoyed status and freedom. She would attain the position of a priestess. She could go anywhere without molestation. All landed property descended in the female line from mother to daughter.¹⁴ Family was the social unit and based on a single



individual was of necessity small. The marriage took place outside the family. Monogamy was compulsory. Polygamy was unknown to the inhabitants of the Nile Valley. Women constantly appeared in public, were equal in the eye of law, could ascend the throne and administer the government of the country. The Nobles also limited themselves to a single wife whom one made the partner of his cares and joys and treated her with respect and affection¹.

The economic life of the ancient Egyptians was marked by simplicity, equality, peace and progress. Though the people voluntarily granted certain privileges to the priests for their specific services, their general living was marked by simplicity¹⁶. The society generally was composed of middle classes. They lived in one-storeyed or two-storeyed simple houses. Side by side the houses of the common people, we find massive, huge, spacious and palatial buildings, pyramids and temples. Private houses and community buildings characterise the individual and state-governed economic life of the people. It was a mixed economy.

Egypt in the fourth millennium B.C. was the granary of the civilised world. The peasantry was simple. It was really free from the entire class of restrictions and interferences. It was not vexatiously interfered by the Government. It had freedom of choice with respect of crops and farming operations¹⁷. The common people were mostly tied to the land which they tilled for their own living and for the maintenance of the State¹⁸. The Egyptian peasants lived wonderfully simple and unpretending¹⁹. The Egyptians were good and industrious peasants and employed improved methods of husbandry. Their natural intelligence was remarkable as they were free tenants of their land. They had not to render forced labour. They employed elaborate system of canals, with embankments, sluices and flood-gates and constructed reservoirs for flood water. Land was extensively reclaimed from marshes for cultivation. They had abundant surplus yields.

The Egyptian industries were diversified and individual-owned. The most important Egyptian industries were building, stone-cutting, weaving, furniture-making, glass-blowing, pottery, metallurgy, boat-building and embalming²⁰.

The surplus agricultural and industrial outputs were stored by the society in the community buildings. It appears that the internal trade was left largely in private hands. The international trade was centrally organised by the community. Pharaoh was the wholesale merchant. Foreign trade was the royal monopoly²¹.

The earliest immigrants into Egypt peacefully developed their new home. Egypt shows its peaceful development till the fourth Dynasty. Snefru built a fleet of sixty ships of one type for trade purposes. His times were free from wars²².

This picture of the most ancient Egyptian people reveals their basic character. The society was organised on the basic principles of human freedom, equality and harmony. The people lived like brothers in peace and happiness. Though the pattern of family earning was private, there was no greed and vulgarity attached to it as private wealth was counter-balanced by community wealth. There was no private or public display of wealth. The disparities in incomes and possessions appear to be negligible hence there were no classes. There might have been high and low people but that was not on account of the differences in material possessions. That was due to the inherent merit in intelligence and character of the individual.

The society was happy and prosperous for want of social tensions. It was an integrated society.

This study of this integrated society of the most ancient Egypt is of prime importance in the present age of disintegration wrought by the Āryan materialism of history that established its hegemony over the whole world by the beginning of the first millennium B C. The communist tribalism and the capitalist tribalism both, the ultimate dialectical developments of the Āryan materialism, stand at the brink of self-annihilation. Matter is characterised by division and disruption. It has divided, disrupted and disintegrated the human soul and the human society. How the materialistic tribal force displaced the Sramanic free society is an interesting chapter of history. The fundamental way that would regain to humanity its lost freedom, equality and peace has to be rightly understood and followed. This is the imperative necessity of the age. The purpose of the age forces upon us the necessity of undertaking the Sramanalogical research on an international scale. The imperialistic necessity gave birth to the science of Oriental Research. The human necessity has to give birth to the science of Sramanalogical Research to discover the principles which may lead to the establishment of an integrated society of mankind.

REFERENCES

1. M D T Seth, *Pāi-Sadda-Mahāṇḍavo*, 1928, page 1081
2. Monier-Williams, *A Sanskrit-English Dictionary*, 1956, page 1096
3. H D T Seth, *op cit*, page 467
4. Monier-Williams, *op cit*, page 431
5. Herodotus, *The Histories*, 955, page 138
6. (1) M A Murray, *The splendour that was Egypt*, 959, Plate LXVIII on page 196
(2) R C Jain, *The Most Ancient Āryan Society*, 1964, Chapter 2, Sec VII "Origins"
The Plate is given detailed interpretation here
7. M A Murray, *op cit*, page XXI
8. (1) G Rawlinson, *Ancient Egypt*, 1881, Vol I, page 136, Vol II, pages 38, 31, 28
(2) M A Murray, *op cit*, pages 330, 161
9. J H Breasted, *Development of Religion and Thought in Ancient Egypt*, 1959, pages 52, 55, 56, 418
10. (1) James B Pritchard, *Ancient Near Eastern Texts, Relating to the old Testament*, 1955, page 34-36
(2) R C Jain, *op cit*, These tenets have been re-classified and re-organised in the chapter 'The Sramanic Way' of M A S
11. G Rawlinson, *op cit*, page 27
12. H Frankfort, *The Birth of Civilization in the Near East*, 1956, page 84
13. H Frankfort, *op cit*, page 87
14. M A Murray, *op cit*, pages 101-104
15. G Rawlinson, *op cit*, Vol. I, pages 534, 539, 552, Vol II, page 324
16. G Rawlinson, *op cit*, Vol I, page 439
17. G Rawlinson, *op cit*, Vol I, pages 151-155
18. H Frankfort, *op cit*, page 90
19. G Rawlinson, *op cit*, Vol II, page 42
20. G Rawlinson, *op cit*, Vol I, page 483
21. H Frankfort, *op cit*, pages 98-99
22. M A Murray, *op cit*, page 97



THE JAIN CONCEPTION OF AHINSA

G. L. AMAR
(M. A., Shastri, Kavyatirtha, Sahityaratna)



What is Ahinsa

Jainism¹ is a practical religion, and consistent with temporal activity and prosperity. It does not inculcate laziness, or inertness. It is not the fatalism of the idle do-nothing-fellow. It is a religion which can be practised while one is engaged in the daily transactions of life in this world. A good Jain may happen to be engaged in any kind of pursuit. He may be a king, a statesman, a military commander, a soldier, a trader, an artisan or an agriculturist, and yet he is in a position to adopt the vow of Ahinsa and other vows, to the extent of his limitations and capacities, situation and circumstances in life, and be a good and true Jain.

The word Ahinsa is the negative form of a Sanskrit word Hinsa meaning violence, killing, slaying, destruction, injury, mischief, wrong, harm, hurt, etc. in any shape or form. It is defined as injury to the vitalities, caused through want of care and caution. The vitality, literally Prana is of two kinds. Bhava Prana, conscious vitalities, are the attributes of Jiva, the soul, such as consciousness, peacefulness, happiness, power, etc. Dravya Prana, material vitalities, are ten: the five senses (Indriya) of touch, taste, smell, sight and hearing, the three forces of body, speech, and mind, and breathing and age. The conscious vitalities are possessed by all Jivas alike. So far as the material vitalities are concerned, a Jiva may possess at least four and at the most all the ten of them.

Ahinsa is either Autsargiki Nivritti or Apavadiki Nivritti. The first is defined as complete Ahinsa in nine ways, by self, through another, or by approbation, and in each case through mind, body and speech. That which is not complete, is Apavadiki, and its degrees and forms are innumerable, varying from the slightest to that which just falls short of being complete.

Hinsa is also classified as Sankalpaja or Arambhaja. Sankalpaja is what which is committed with the sole intention of Hinsa, without any justifying reason whatsoever behind it. Arambhaja is committed unavoidably, by householders in the performance of various duties and occupations. This kind of Hinsa may be sub-divided as Udyami, Griharambhi, and Virodhi. Udyami is Hinsa unavoidably committed in the exercise of one's profession. Griharambhi Hinsa is that which is unavoidably committed in the performance of necessary domestic purposes. Virodhi is Hinsa unavoidably committed in defence of person and

¹ This essay is based specially upon the PURUSHARTHASIDDHYUPAYA of Amritachandracharya, edited by Ajit Prasad



Even when simultaneously committed by two persons, the same Hinsa at the time of function, curiously enough causes severe retribution to one and a mild one to another. One goes out to kill another, and takes his servant with him. Both master and servant join the murder. The master all along feels an excitement, pleasure and satisfaction in having got rid of one whom he hated. The servant however, for fear of losing his job unwillingly joins the master in the foul deed and all along regrets, curses himself and repents for his weakness in serving such a master and enjoying such a foul deed. Both are equally guilty but the degree of culpability varies because of the degree of evil intentions entertained by them. In effect the same Hinsa committed by both, will affect them differently.

Because of intention, Hinsa is culpable sometimes before it is committed, sometimes at the time of commission, sometimes even after it has been committed, and sometimes for attempt to commit it, even when it is not committed, because of the intention to commit Hinsa. A person has been contemplating and devising schemes to commit murder, but for some reason incapacitated from carrying out his intention another commits murder, a third commits murder, and thereafter continues to gloat over his act, and a fourth attempts but fails in the attempt to murder. All the four are culpable, and have to suffer from Hinsa. It is the intention which makes one culpable.

Hinsa is committed by one, and there are many who suffer the consequences, many commit Hinsa, and only one suffers the consequence for Hinsa. A person commits murder. The many persons who look approvingly on, take interest in and applaud the deed, have to suffer the consequences thereof. Again a whole army fights and kills but the responsibility for all the carnage committed under his order lies with the king.

Hinsa gives to one at the time of fruition, the consequence of Hinsa only, to another the same Hinsa gives considerable Ahinsa rewards. A number of persons happen to witness lynching by a mob. One of them sympathises with the victim and puts forth his best efforts to save him from the fury of the assailants. Another excites and encourages the mob in the lynching. The latter is guilty of Hinsa and the former acquires the merit of Ahinsa.

In result, Ahinsa gives to one the consequence of Hinsa, to another Hinsa gives the benefit of Ahinsa. A person protects and saves an innocent victim of oppression. Another declaims against this act of Ahinsa, and wishes that the victim were not so protected and saved. By such thought he becomes liable for Hinsa. Again if the person who interferes to protect and save an innocent victim fails in the attempt he would acquire the merit of Ahinsa, though Hinsa has been caused by some one else.

Having thus correctly understood what is meant by Hinsa, its consequence, its victim, and perpetrator, persons who embrace the doctrine should always avoid Hinsa, to the best of their capacity.

Physical Sphere of Ahinsa

Those who desire avoiding Hinsa, should, first of all take care to renounce wine, flesh, honey and the five Udumbara fruits.

The five Udumbara trees are Gular, Anjeera, Banyan, Papeal and Pakar, all belonging to the fig class.

Wine stupefies the mind, one whose mind is stupefied forgets pity and the person who forgets pity commits Hinsa without hesitation. And wine is said to be the worth-place of many creatures which are generated in liquor, those who are given up to wine, necessarily commit Hinsa. Pride, fear, disgust, ridicule, ennui, grief, sex-passion, anger etc., are forms of Hinsa, and all these are concomitants of wine.

Flesh cannot be procured without causing destruction of life, one who uses flesh, therefore commits Hinsa, unavoidably. If the flesh be that of buffalo, ox, etc., which has died of itself, even then Hinsa is caused by the crushing of creatures spontaneously-born therein. Whether pieces of flesh are raw, or cooked, or in the process of cooking spontaneously-born creatures of the same genus are constantly being generated there. He who eats, or touches, a raw, or a cooked piece of flesh certainly kills a group of spontaneously-born creatures constantly gathering together.

Even the smallest drop of honey very often represents the death of bees. Even if one has honey which has been obtained by some trick from honey comb, or which has itself dropped down from it, there is hinsa in that case also, because of the destruction of creatures of spontaneous-birth born there.

Honey, wine, butter and flesh are extreme fermentations. Those with vows would not eat them. Therein are born creatures of the same genus.

The Udumbaras i.e. Gular, Anjli, Peepal, Banyan and Pakar are birthplaces of trouble beings. Therefore Hinsa of those creatures is caused by eating them. Again, if they, the above five fruits be dry, and free from mobile beings, on account of effect of time, even then in using them there is Hinsa, caused by the existence of an excessive desire for them. A person could not think of eating such prohibited things, unless he has strong desire for them, and one who has a strong uncontrollable desire is certainly injuring his pure character and is likely to be tempted into the use of the forbidden things. The practice of drying vegetables for use is reprehensible, because of the strong desire for the thing itself. Those pure intellects, who renounce the above eight things which cause painful and insufferable calamity, render themselves worthy of Jain discipline.

The use of all Ananta-Kaya vegetables must be given up, because in destroying one, infinite (one-sensed living being) are killed. Ananta-Kaya vegetable is that which infinite Jis adopt as their one and common body. Vegetables are either Pratyeka or Ananta-Kaya or Sadharana. In Pratyeka vegetable only, one Ji pervades through the body, whereas in Ananta-Kaya infinite Jis adopt the vegetable as their one and common body, and it is therefore called Sadharana also. There are many distinctive characteristics of Sadharana vegetables. Most of the vegetables which fructify under ground belong to the Sadharana class such as potato, ginger, radish, etc.

Fresh butter if not at once melted on fire and strained away, becomes the places for generation of innumerable Jivas. This is visibly apparent in what is called fermentation. Fermentation in the case of butter, actually commences at once, though it is not visible early. As examples of other prohibited articles may be mentioned, curd after twenty four hours of its preparation, milk if not boiled within forty eight minutes of its being taken out, water which has been kept in a leather vessel. Jivas do not generate in butter for forty eight minutes after its preparation. Even then it is prohibited, and has been included with wine, flesh and bone.





Those who take their meals at night cannot avoid Hinsa. Therefore abstains from Hinsa, should give up night-eating. Day is the natural time for work and taking food. Food is more easily, with greater care, and with less probability of injury to living beings prepared in the day than at night. The light of the sun makes it easy to pick out, to separate unwholesome stuff, and to remove the worms and small insects which find place in provisions. There are many insects which are not even visible in the strongest artificial light. There are also many small insects have a strong affinity for food stuffs and which do not appear in day light. It is not possible then to avoid Hinsa when food is taken day and night. Hearing this observation a carping critic might exclaim that one may well give up eating in the day and take his meals at night only. This is obviously improper. It is established that he who has renounced night-eating, through mind, body and speech, always observes Ahinsa.

International Sphere of Ahinsa

Those who have been impressed with the highest Ahinsa-Elixir, which leads to immortality, should not be distressed on being improper behaviour of the ignorant.

"Sacred religion is very subtle, and there is no wrong in committing Hinsa for the sake of religion." People should not allow themselves to be thus deceived in the name of religion and should never kill embodied beings. Never entertain the wrong idea that religion flourishes through Gods, and that therefore everything may be offered to them. It is a perverse notion that religion sanctions Hinsa, or that the Gods are pleased at sacrifices of living beings offered in their name. Gods are good, and religion is peacegiving, and can never encourage or sanction what gives pain to living being. Animals should not be killed for guests in the belief that there is no harm in killing goats, etc., for the sake of persons deserving respect. With the idea that a meal prepared from the slaughter of one living being is preferable to that produced by the destruction of many lives. One should never kill a living being of a higher grade.

Some people urge that the Jains believe that there is life in all vegetables, and further that there are innumerable, and even infinite Jivas in some vegetables. Vegetable food would therefore lead to the killing of innumerable lives, and it would be preference to kill one animal for food rather than cut up and cook a number of vegetables. This argument is misleading and false. It ignores the fact that the body of an animal has innumerable mobile and immobile beings therein. The presence of innumerable Amœbæ in a drop of blood is a matter which has been proved to demonstration by science, microscopic examination also show the presence of infinite germs in faces, urine and in all parts of the body. Thus there is, comparatively speaking, the least Hinsa in injuring the motionless one-sensed living beings belonging to the vegetable kingdom. The higher of vitalities possesses a Jiva, the greater it is Hinsa in killing it.

Beings which kill others should not be killed in the belief that the destruction of one of them leads to the protection of many others. The plausible argument is often raised by sportsman. They defend hunting on the ground that by doing so they protect humanity from the ravages of ferocious animals. The wanton shooting off birds, and fowls, of pig and fox, of deer and rabbit, and fishing or obviously indefensible. Lion hunt is a pastime. The hunters go in larger parties for the excitement of sports, and not for freeing mankind from the possible attack of the lion. In fact the poor lion is beaten and brought out from his seclusion for being shot at for the fun of the big men who level their guns at him from a safe distance.

and take pleasure in watching his death agonies. The rare case of a person going out to kill a man-eating tiger now requires to be discussed. In this case also, it may safely be said that the feelings which actuate him or the hope of a reward, praise, renown, the expectation of being called a bold man, and excitement of sport, rather than the pure desire of saving his fellow men. The argument, is in fact, and an apology and an excuse.

To proceed further. You cannot make some happy by destroying others. The feelings of animity, hostility, and revenge are the cause of pain and misery, dread and fear. It has been known that serpents and tigers have approached and gone past the saintly ascetics who, wrapped up in their meditation had in them no fear of, and no hostility towards them. The serpent or the tiger attacks man, not because, as is wrongly supposed, it is his nature to do so, but because it apprehends harm from man and strikes it self-defence. If man, the most intelligent of all creatures, himself cast aside all fear and looked at a serpent or a tiger fearlessly, eye to eye, it would simply be magnetised or hypnotised, would obey his will and never think of injuring him. This is the scientific explanation of the miraculous fact that tigers and serpents, bears and scorpions, crawled at the blessed feet of the Munis and Rishis of Yore.

"These kill many lives, and accumulate grave sin." Doing this act of mercy, those who injure others should not be killed. This is also a fallacious argument. Killing does not mean an extinction of life for ever. The only way to stop the accretion of bad deeds is by self-restraint. Loss of life is only a last of the opportunities for spiritual advancement. By killing such living being you incur sin and retard the spiritual progress of yourself and of those when you kill.

"Those in great suffering will on being killed soon obtain relief from agony." Do not even kill the distressed one by having grasped the sword of such misconception. The wrong notion that by killing a dog or a horse, permanently disabled, or suffering from incurable wounds. You would relieve his pain, and would then do good to him is very commonly prevalent. In Egypt some people considered it a pious religious duty to stab their old parents to death, in the belief that by doing so they relieved them of the miseries and infirmities of old age. This false belief arises from an ignorance of the law of Karma. The pain and suffering which a living being has to endure and go through is inevitable, and a necessary consequence. There is no possible escape from it. It must be undergone now, or hereafter, in this life or the next the bad Karmas which bring it about must be worked out. You cannot reduce the effect of Karmas. The chief influencing cause in the killing is that you cannot bear to see the misery of the suffering of the living being and wish to put an end to the disagreeable sight or the piteous means by the cheap process of killing him outright. Such an act of Hinsa. It is wrongly called and believed to be an act of mercy or commiseration. One may well help the distressed by nursing or helping otherwise. Veterinary hospitals should take as much care of the sub-human class, as other hospitals do for humanity. All hospitals should be free. There should be no fee charged for medicine, attendance, or surgical operations. This is the primary duty of individual citizens. Municipal Corporations, and of the State. Its neglect is a culpable omission.

It is difficult to obtain happiness. The happy shall, if killed, continue to be happy. Do not please adopt the weapon of this (false) reasoning for killing those who are happy. Happiness and misery depends upon one's own acts thoughts. We cannot make the happy



state, one is in, continue by killing him Cessation of one form of existence does not mean the wiping of all evil Karmas previously acquired, and the continuence of the good Karmas in operation at the time he is killed

A disciple desirous of piety should not cut off the head of his own preceptor when he, by means of constant practice has attained such perfection of concentration, as leads to a good condition of life Here is another illustration of Hinsa committed by misguided fanatics in the name of religion Some persons believe that if the soul of person in deep concentration, and thus in close communication with the super-soul, is separated from the body while in that condition, he will attain everlasting bliss This is a false belief The person in concentration, make, if he is sufficiently spiritually advanced continue the concentration throughout and enjoy the bliss of communion If he is not so advanced, death cannot add to his spiritual advancement The killing is not only useless, but positively harmful as bringing evil Karmas in bondage

Do not believe in the doctrine of "Pot-breaking immediate solvation" inculcated by Kharapatikas, impelled by their thirst for small riches, in inducing such belief in their pupils The sect of Kharapatikas now extinct, believed that the soul was imprisoned in the body, just like a light covered by a pot When the pot is broken the light becomes free and spreads out in all directions The body being destroyed the soul would be free This doctrine was inculcated by wicked priests in order to get rid of their votaries who stayed with them, and whose belongings were on their death likely to come into possession of the priests Much crime was once committed in the name of religion, and the unsuspecting credulity of ignorant people was exploited by criminal sophists

One should not kill himself by zealously giving one's own flesh as food to another starving person, seen approaching in front Self-sacrifice, literally speaking was also at one time considered an act of religious piety It is undoubtedly Hinsa Attempt at suicide is a criminal offence

Ahinsa in the Lyman's Life

One who has perfectly renounced Hinsa will not utter a word which is likely to give pain another, will not do any act which may cause injury to another, will not harbour any thoughts prejudicial to another, will not make anybody else utter words likely to cause pain another, nor commit acts likely to injure another, nor entertain feelings of ill will towards another, and will not opprobate or encourage other who by words, deeds or thought cause pain to another The nine-fold renunciation is Perfect Renunciation If the renunciation is limited in respect of mobile or immobile or of any one or more of the nine kinds of the commission, it would be Imperfect Those who, even offer listening to the doctrine of Ahinsa are not able to renounce the Hinsa of immobile beings should at least give up the Hinsa of mobile beings

Whatever any wrong statement is made through Pramada Yoga (careless activities of body, mind or speech), it is certainly known as falsehood Pramad Yoga having been stated to be the cause of all false speech, sermon, preaching the renouncement of vices and the performance of religious duties, would not be a falsehood, even it should be distasteful, or cause mental pain to the listener Pramada Yoga, chief cause of Hinsa is present in all the false Speeches, therefore Hinsa comes, certainly, in falsehood also Those who are not able to

give up Sa adya untruth (All speech - which makes another engage in piercing, cutting, beating, plaugning, training, stealing etc), as is unavoidable is arranging for articles of use, should renounce all the other untruth forever

The taking, by Pramada Yoga, of objects which have not been given, as to be deemed theft and that is Hinsa because it is cause of injury. The person to whom's of stealing, injures the purity of his own inner nature, and if detected in the act of stealing, he is punished and suffers pain. He causes pain to the person whom he deprives of the things stolen, which deprivation even bring about death, what to say, of inconvenience and trouble. The presence of desire and the injury to self in the form of a moral and a spiritual fall, and to the person deprived, resulting there from, constitute Hinsa. A layman is not able to follow this high discipline, but he also should obtain taking things which are not given him except such as may be appropriated without permission.

Adrahya is copulation arising from sexual desire. The vagina is said to be full of numerous living organisms, being constantly and spontaneously born there and those would of course, be killed in the function brought about or sexual intercourse. Again, whatever indulgence of the sex-passion is had in unnatural ways on account of lust, it also brings about Hinsa because it had its rise in desire etc. Many a householder is not sufficiently advanced to give up sexes altogether. It is only the ascetics who do so. The householder also should however, observe the vow of Brahmacharya to a limited extent by total abstinence from all sexual desire - with reference females other than his own wife.

Attachment itself should be understood to be Parigraha. It may be object that if Parigraha is defined as mental attachment to things then there can be no eternal Parigraha. The answer is that the Parigraha (Possession of goods) creates an attachment to them. It is therefore necessary to give up all eternal possession to avoid any possibility of an attractions for them. Thus Parigraha is of two kinds, external and internal, actual possession of property is external (Bahiranga), while an inclination for possession is internal (Antaranga). All the internal attachment should be suppressed and all external attachments whether living or non-living should also be avoided and if one is unable to wholly renounce cattle, corn, servants, buildings, wealth etc, he also should at least, limit them. Such limitation will act as a beneficial check on greed.

One should fix the limit of his activities, in all the ten directions and thus complete vow of Ahinsa as regards what is beyond these limits, because of total absence of non-restraint there. Then, again, one should fix a limit within those limits for a fixed time in order to shorten the area and duration of Hinsa. He who deliberately renounces all the unnecessary sins, e.g. evil thinking, evil instruction, careless dealings, gift of instruments of offence, evil-bearing and gambling etc leads his Hinsa to ceaseless, upto admirable victory. One with Partial Vows observes with 43 hours in the prescribed way, may, well, during the period, be said to have practically, reached the stage of a saint. He is not actually a saint because the Karmic tendencies which obstruct the observance of ideal conduct are not extinct. One with partial vows incurs Hinsa arising from the use of articles of Bhoga (enjoyment of an object which can only be used once, such as food and drink, fruit, and flowers), and Upabhoga (enjoyment of an object which can be used several times, such as furniture, dresses, ornaments, buildings), and not otherwise. He should therefore ascertain the reality of things, and renounce these two also, in accordance with his own capacity. In making a gift one gets over greed,





which is a form of Hinsa, and hence gifts made to a worthy recipient amount to a renunciation of Hinsa. Mutilation, beating, trying up, overloading, withholding food and drink, are the five transgressions of the vow of Ahinsa, such acts would not be transgressions if indicated for correction or by way of punishment, by one having due authority, and without ill will.

Thus knowledge and continued practice will bring about graduated renunciation, and hence it is that a limitation to the use of objects necessary for a healthy growth is inculcated. Graduated renunciation, with increasing enlightenment, will lead to total renunciation, and perfect conduct, the path of liberation. In the practice of Sallekhana (renunciation of the body), all passions, which cause Hinsa, are subdued. Like the other vows, this also helps, strengthens, and leads to Ahinsa. Sallekhana, also called Sannyasa, or Samadhimarana, is adapted when in the event of an incurable disease, extreme old age, famine, or calamity, one finds that death is certainly approaching. He then obtains forgiveness from all friends and relatives, and with perfect peace of mind, gives up all possessions, gradually reduces his meals, and engages in spiritual contemplation.

Conclusion

The philosophy of Ahinsa is liable to be misunderstood. Ahinsa must proceed from a perfectly disciplined mind. All moral weaknesses, Pramada, are manifested in the animal impulses of anger, pride, deceit and greed, and unless these mental and moral weaknesses are completely overcome, mere practice of external code such as a vegetarian diet and the like will not lead to the spiritual development. In one word a man aspiring for perfection must be spiritually free from animal passions and in external conduct must follow the path of non-resistance to evil. All discomforts, inconveniences and lack of creature comforts must be endured without resistance and with infinite forbearance. This is of course the ideal which can be lived and fulfilled only by saints. But the householder also has no immunity from the moral obligation. Purity of conduct must be the exponent of perfectly pure mind.

The concept of Ahinsa is not negative. One has no right to take the life of another creature for his self-gratification. Life cannot be restored to the victim, and it is nothing short of brutish barbarism to indulge in self-pleasure at the expense of other creatures who have the same charter of rights to live and work out their ultimate destiny. The tyrant is the worst coward, though he poses to be the boldest man. The true hero is he who has mastered the animal in him.

Ahinsa is in reality the basic social ethic. It takes its birth in sociality in human nature, and it builds its whole edifice on that principle. It emphasises all those qualities which would inexorably lead to the fortification of the social life of mankind by the ending of all conflicts based upon differences of race, religion and creeds. These conflicts, so say the psychologists, are born of human narrowness. Ahinsa therefore aims at the eradication of all the proclivities of men. Of all the forces which have functioned in human history as solvents of conflict, Ahinsa has naturally been by far the strongest and the most powerful.

REALITY AND RELATIVITY OF SPACE AND TIME IN JAIN METAPHYSICS AND MODERN PHYSICS

MUNI SHRI MAHENDRA KUMARJI "DVITEEYA"
B Sc (Hons)



Introduction

Human mind is an ocean of inquisitiveness and curiosity. Every now and then waves of question spring forth in it. Man tries to find answers to them by his rational, intellectual and intuitional power. Philosophy and Science are two powerful branches of the same stream of knowledge, which has been ceaselessly flowing to satisfy the curious mind of man. Some of the questions tackled by Philosophy as well as Science are regarding the nature of space and time. What are space and time? Do they really exist? Are they the forms of matter—or consciousness or some independent entities? etc

A comparative study of the views of Philosophy and Science can be of great assistance in answering these questions. The well-known modern physicist, Sir Edmund Whittaker rightly remarks, 'It is still true that many central philosophical questions cannot be discussed profitably without reference to the physical universe, and recent advances in physics have exhibited some classical philosophical problems in a new light. Among this is a question as to the nature of physical space.'¹

The different philosophies have given different solutions to the above problem. To give a full account of their efforts is a bit lengthy task. In this short paper, the concepts of Jain metaphysics and modern physics are discussed and compared.

1. Jain Metaphysical Concept

In Jain philosophy, a very elaborate, characteristic and systematic exposition of the theory of the universe is to be found. But we shall have to confine ourselves only to a brief review of its metaphysical exposition of space and time.

Space

Space, which is termed as '*Ākāśa*' is defined as that substance which acts as a container of other substances. It is an independent objective reality different from matter, energy and consciousness. It is infinite in extent and is composed of infinite number of space-points. It is eternal existence. It is immovable, continuous in texture, non-atomic and invisible. It is imagined to be divided into two parts, on account of the existence of other substances.

1. The portion of space, which is occupied by other substances is termed *Loka-Ākāśa* i.e. universal space.
2. The rest of space, which is empty is called *Aloka-Ākāśa* i.e. non-universal space.

¹ From Euclid to Eddington, p. 1



Thus the universe is infinite and is surrounded in all directions by the non-universe which is boundless. The problem of the finiteness of the universe is solved by the Jain theory thus. There are two substances, called *Dharmāstikāya* and *Adharmāstikāya*, which can be translated as 'positive ether,' and 'negative ether' respectively, for they are considered to be the indispensable media of motion and rest respectively. They exist only in the finite universal space, and hence, no substance can move or be at rest in the non-universal space. That is, in no condition or under no force, a substance can travel or stay in the non-universal space.

The *Loka-Ākāśa* or the universe has a definite size and shape.

Its volume is believed to be 313 cubic *Rajjus*. *Rajju* being an astrophysical unit. Though the value of a *Rajju* cannot be stated in round numbers, it is definitely greater than X light-years¹, where

$$\left(10^{131} \text{ times} \right)$$

$$\begin{array}{c} K \\ K \\ K \\ K \\ X=K \\ 13 \\ 10 \\ 10 \\ \text{where, } K=10 \end{array}$$

The space of the *Loka-Ākāśa* is similar to a solid figure consisting of three pyramids with rectangular base but with the tops chopped up, which are put one above another, smaller faces of the lowest and middle and the bigger faces of the middle and top touching together.

Time

While there is unanimity of opinion about the ultimate reality of space there is considerable disagreement amongst the Jainas themselves regarding time. One school does not accept time as an ultimate reality, but maintains that the unceasing mutability of other substances like souls and matter, etc. is in itself symbolised into an 'existent' called time. On the other hand, another school of thought considers it to be an ultimate reality. Both the schools, however, agree to the fact that the, *Samaya* is the absolute mathematical unit of time. The *Samaya* is defined to be the indivisible unit of time. Though it is beyond our numerical comprehension, it has a definite value. Roughly speaking, one second is greater than X *Samayas* the number 'X' being defined above.

1 For the discussion of *Rajju*, see the author's *Visva Prahelika*

2 For the discussion of the mathematical computation of *Samaya*, see *Ibid*

B Newtonian Concept

Newton conceived space as some absolute entity His concept of absolute space was "Absolute space, in its own nature, without regard to anything external, remains always similar and immovable" ¹ According to Newton, "All things are placed in space as regards order of situation" It means that the earth and the heavenly bodies are situated in an immovable container of boundless extent—which exists and has always existed, independently of whether it is observed by perceiving minds or not, and independently of whether it is occupied at any particular place or not, it is the scene of all that happens in the physical universe, at any instant, every material body is located somewhere in it, and has the possibility of changing from one location to another Its size is infinite, its character uniform, its texture continuous, and its geometry Euclidean ²

Newton's concept of time was "Absolute true, and mathematical time, of itself, and from its own nature, flows equally without regard to anything external" ³

C Theory of Relativity and Modern Concept

After the advent of the theory of relativity, the concepts of space and time were changed According to Dr Einstein, "Space and time are forms of intuition which can no more be divorced from consciousness than our concepts of colour, shape or size Space has no objective reality except as an order or arrangement of the objects, we perceive in it, and time has no independent existence apart from the order of events by which we measure it" ⁴

The philosophical interpretation of the theory of Relativity in Einstein's view is "The universe is a four-dimensional space-time continuum, which is not simply a mathematical construction, all reality exists both in space and in time, and the two are indivisible" ⁵

Some Scientists have interpreted the Theory of Relativity in a different way According to, Hans Reichenbach, "From conventionalism the consequence was derived that it is impossible to make an objective statement about the geometry of Physical space, and that we are dealing with subjective arbitrariness only, the concept of geometry of real space was called meaningless This is a misunderstanding Although the statement about the geometry is based upon certain arbitrary definitions, the statement itself does not become arbitrary once the definitions have been formulated, it is determined through objective reality along which is the actual geometry Let us use our previous example although we can define the scale of temperature arbitrarily, the indication of the temperature of a physical object does not become a subjective matter By selecting a certain scale we can stipulate a certain arbitrary number of degrees of heat for the respective body, but this indication has an objective meaning as soon as the co-ordinative of the scale is added On the contrary, it is the significance of co-ordinative definitions to lend an objective meaning to physical measurement" ⁶

Thus although Reichenbach has accepted the Theory of Relativity, he has maintained that the absolute space and time have objective existences In the concluding chapter of his

1 *Principia Mathematica*, Tr By Motte & Canjore, p 8

2 Cf Sir Edmund Whittaker, *From Euclid to Eddington*, p 13

3 *Principia Mathematica*, p 8

4 *The Universe and Dr Einstein* by Lincoln Barnett, p 21

5 *Ibid*, p 76

6 *The Philosophy of Space and Time*, p 37





work on space and time he observes "The statement that physical space has three dimensions has, therefore, the same objective character as, for instance, the statement that there are three physical states of matter, the solid, liquid and gaseous state, it describes a fundamental fact of the objective world

"We may therefore regard the following statement as the most general assertion about space-time order everywhere and at all times, there exists a space-time co-ordinate system

"This result implies the topological distinguishability of space and time In a space-time co-ordinate system one of the dimensions is to be considered as time and the three others as space"¹

D Newtonian Concept and Jain Concept

The Newtonian Concept of absolute space has striking similarities with the Jain Concept of *Ākāśa*. Both the concepts regard space as an independent objective reality which is single, continuous, infinite and immovable substratum of all other substances and which exist even in the absence of the external substances. Nevertheless, there is an important difference in the two Concepts. In the Newtonian physics, the problem of motion was tried to be solved by postulating a material medium called 'ether' which was supposed to fill the whole space and act as the medium of all kinds of motion including the wave motion. On the contrary the problem of motion and rest is solved in Jain metaphysics by the principal of *Dharmāstikāya* and *Adharmāstikāya* which are non-material media of motion and rest respectively. It was the postulation of material ether in Newtonian Concept, which was responsible for creating an insoluble enigma for the physicists, as a consequence of which they had altogether discarded in the new theory, viz. the Theory of Relativity. But, as far as the question of reality of Newton's space is concerned, it can be said that its logical consistency is still unobjected. The renowned western philosopher, Bertrand Russell accepting this fact observes "The Newtonian theory of absolute space meets the difficulty of attributing reality to not being. To this Theory there are no logical objections. The chief objection is that absolute space is absolutely unknowable, and cannot, therefore, be a necessary hypothesis in an empirical science. The more practical objection is that physics can get on without it"².

Thus it becomes clear that Newton's theory of absolute space and the Jain Theory of *Ākāśa* are irrefutable on logical basis. Newton believed that absolute true, and mathematical time exists, Jain metaphysics also asserts that the *Samaya*, etc. are absolute mathematical time-units. Thus both the concepts are quite akin to each other. There is however a slight variance in them. In Newton's physics there is no conception of finite velocity of light, and hence it does not accept the space-time relation which has emerged out because of the finiteness of the velocity of the light, whereas the Jain metaphysics has no objection to such relation.

E Post-Einsteinian Concept and Jain Concept

There are two aspects of the theory of relativity regarding the nature of space and time

- 1 The relativity of space and time
- 2 The reality of space and time

1 *The Philosophy of Space and Time*, p. 27

2 *History of Western Philosophy*, pp. 90-91

We shall first discuss the former

The special theory of relativity of Dr Einstein states "It is impossible to determine the absolute motion of any uniformly moving system by any experiment whatsoever" On the basis of the theory, it is usually interpreted that there is no existence of absolute space If this is the true interpretation, the Theory of Relativity does not become consistent with the Jain metaphysics But, fortunately, the above interpretation is not unanimously accepted, and it seems that is not the true interpretation

Subjective Inability or Objective Indeterminacy

First of all it is necessary to find out whether the 'impossibility' stated in the theory of relativity is 'subjective inability' or 'objective indeterminacy' If our inability to know the absolute motion of an system in uniform motion is, in reality, the subjective inability, then it does not mean that the absolute motion does not really exist On the basis of the Jain metaphysical concept it can be said that the said impossibility is a result of subjective inability, and not that of objective indeterminacy Reichenbach has very well explained this confusion in his well known treatise He observes

This is the case of having confused subjective inability with objective indeterminacy

"There are, indeed, many cases where physics is unable to make measurements Does this mean that the magnitude to be measured does not exist? It is impossible, for instance, to determine with the number of molecules in a cubic centimeter of air, we can say with a high degree of certainty that we shall never succeed in counting every individual molecule But can we infer that this number does not exist? On the contrary, we must say that there will always be a number which denotes this quantity exactly The mistake of the theory of relativity is supposed to consist in the fact that it confuses the impossibility of making measurement with objective indeterminacy"¹ Thus it becomes clear that it would be wrong to infer on the basis of the theory of relativity that the absolute space has no existence at all

Dr Heisenberg on Absolute Space

One of the top-most physicist of our age, Dr Heisenberg has also made an attempt to remove the above misunderstanding He writes, "The hypothetical substance 'ether', which had played such an important role in the early discussions on Maxwell's theory in the nineteenth century, had—as had been said before—been abolished by the theory of relativity This is sometime stated by saying that the idea of absolute space has been abandoned But such a statement has to be accepted with great caution"

Thus although Heisenberg has not accepted that there exists an independent reality called space, he has at least, accepted that abolition of material ether does not mean abolition of absolute space At another place, Heisenberg quotes an argument of the critics of the Theory of Relativity Here also though he has not accepted this view he has asserted "It is seen at once that this argument cannot be refuted by experiment, since it is yet makes no assertions which differ from those of the theory of special relativity"²

1 *The Philosophy of Space and Time*, p 28

2 *Physics and Philosophy*, p 107

3 *Physics and Philosophy*, p 120





The argument of the critics of the theory of relativity is

"The non-existence of absolute space and absolute time is by no means proved by the theory of special relativity. It has been shown only that true space and true time do not occur directly in any ordinary experiment, but if this aspect of the laws of nature has been correctly taken into account, and thus the correct 'apparent' times have been introduced for moving co-ordinate systems, there would be no arguments against the assumption of an absolute space. It would even be plausible to assume that the centre of gravity of our galaxy is (at least approximately) at rest in absolute space. The critics of the special theory of relativity might add that we may hope that future measurements will allow the unambiguous definition of absolute space (that is, of the hidden parameter of the theory of relativity) and that the theory of relativity will thus be refuted!"

Prof Margenau's Construct

Another Eminent Philosopher-scientist Prof Margenau calls absolute space a possible 'construct', which is his term for 'reality'. He writes "The advocate of absolute space bases his attitude on the simple fact that he can intuit three-dimensional space even when it is vacant of objects. This kind of space is a possible construct, and it is absolute within the frame-work of the initial question"¹

Further, Prof Margenau has explained that this kind of absolute space is not adopted by the scientist only because it is not useful to them. But it does not mean that the absolute space has ceased to exist.

The *Ākāśa* of the Jain metaphysics is also an absolute space, and this theory of *Ākāśa* cannot be refuted on the basis of the theory of relativity, yet we have to accept that in the empirical science, such passive space is of no use, and hence, the physicists may not take account of its reality, as stated by Russell. Thus, we may conclude that space is essential in the logical field, but it is not so in the field of empirical science. It should be remarked here that the scientists are not able to solve some other aspects of the enigma of the universe probably on account of their abandoning the absolute space.

The Reality of Space-time

The second aspect of the theory of relativity is regarding the reality of space and time. We have already seen that all the scientists are not unanimous regarding it. Whereas Einstein, Jeans etc consider space and time as merely the intuition of consciousness, Reichenbach, Hiesenberg do not deny their reality. To reach some definite conclusion, first of all it is necessary to clearly understand some scientific concepts, such as space, time four-dimensional continuum of space-time, gravitational field, meterical field, ether etc. It will be also fruitful to know their relation with the metaphysical concept of '*Āl āsa*' 'time' *Dharma* and *Adharma*.

Einstein, etc mean by space an 'order of things, Reichenbach etc conceive space as an independent reality, besides such an order, the Jain metaphysics define *Ākāśa* as an objective reality or real substance giving room to other substances. This concept of Jain metaphysics is quite different from the Einsteinian concept. But if we accept the Einsteinian concept, the problem of the substratum of the substances is not solved. We therefore, on the logical

¹ *Physics and Philosophy*, p. 12

² *The Nature of Physical Reality*, p. 153

grounds, have to abandon the Einsteinian concept, moreover the Einstein definition is not sufficiently clear. For the general theory of relativity unifies space with the gravitational field or the metrical field. Then space no more remains a mere order of things but takes the form of some reality or field which has curvature. Now the question is whether this field is an independent reality.¹ If the answer to this question is not in negative then this field would be probably not much different from the 'real space'.

It is generally believed that such a field or curvature is generated only due to the presence of the mass of the substances. That is to say, anything possessing the mass creates a gravitational field around itself, just as magnet creates magnetic field or an electric current creates an electromagnetic field around it. If this is so the gravitational field cannot be considered as an independent reality. But this is not strictly true. Even in absence of matter or mass, there exists a sort of residual curvature or field in the space. This is clearly expressed by Sir Arthur Eddington, the renowned physicist thus: "In a region where there is no recognised matter or electromagnetic field there is still a certain small natural curvature, viz that specified by the famous "cosmical constant". The mass, momentum and stress equivalent to this curvature ought therefore to be ascribed to whatever we suppose to occupy such a region, i.e. to the space, field or ether¹, whichever term we are using."² This question makes it clear that even in complete vacuum there exists something which we have to consider as an independent reality. The 'Ākāśa' of Jain metaphysics may be even different from this. The twin ethers *Dharma* and *Adharma* seem to be responsible for this natural curvature of space. Though we cannot say anything certainly about this, at least it becomes clear that the Einsteinian definition of space falls short in this respect. Also the above discussion makes it clear that the concepts of *Ākāśa*, which is given by the Jain metaphysics is not fulfilled by the concepts of space, ether or field of the modern physics.

Now, we shall consider the curvature or field, which is different from the natural curvature denoted by the cosmical constant, and which is created by the masses. The general theory of relativity proposed by Dr Einstein is supposed to replace the Newton's Law of Gravitation by its Law of Curvature of Space. According to this law, the properties of space or even the existence of space depends upon the material bodies and energy or masses that are present. Where there is a mass, a field or space is generated around it. If the mass is removed from that place, the field or space is also removed. In other words, as said before this field is connected with a magnet. The philosophical interpretation of this phenomenon would be that a gravitational field or metrical field is essentially an attribute of matter and not an independent reality in itself. Hence it is clear that the realities represented by *Ākāśa*, *Dharma* and *Adharma* of the Jain metaphysics are quite different from this gravitational field produced by a mass.

Next we consider the concept of four-dimensional continuum of space and time. This Einsteinian concept is a bit different to be understood. As said before Einstein, Jeans, etc

1 Sir Arthur Eddington has given a clear conception of ether. According to him the theory of relativity has abolished the material ether, but a non-material ether still exists. Also he believes that there is no space without ether and no ether which does not occupy space. Thus he makes ether, space and metrical field a single thing. (c.f. *New Pathways in Science*, p. 48-49)

2 *New Pathways in Science*, p. 47





consider it not to be an objective reality. The universe, in their view, is nothing but a four-dimensional continuum of space and time.¹

Also, they believe that the universe consists not of things but of events, and that these events are the various modes of the four-dimensional continuum of space and time. Such a picture of the universe is certainly quite confusing. On one hand, it is believed that the matter causes curvature in the four-dimensional continuum. This belief is clearly expressed in the following analogy: "Just as a fish swimming in the sea agitates the water around it, so a star, a comet, or a galaxy distorts the geometry of the space-time through which it moves."² On the other hand, all these objects which constitute the universe are taken to be the modes of the four-dimensional continuum itself. Such ambiguous concepts have weakened the philosophical or more precisely the metaphysical aspect of Einstein's theory. Contrary to this, Reichenbach's concepts are quite clear. He accepts the fact that space, time and matter are related to each other, but at the same time he does not deny their independent existences. Also it is his clear view that calling time a dimension of space on the basis of the concept of the four-dimensional continuum would be wrong. He remarks, "Whereas the conception of space and time as a four-dimensional manifold has been very fruitful for mathematical physics, its effect in the field of epistemology has been only to confuse the issue. Calling time the fourth dimension gives it an air of mystery."³ He concludes, "We may therefore retain the perceptual difference between space and time without fear of contradicting the mathematical representation. The properties of time which the theory of relativity has discovered have nothing to do with its treatment as fourth dimension."⁴

The Jain metaphysical concepts are more logical and clear than Einsteinian concepts. By accepting the *pudgala* (i.e. matter), *Ākāśa* (i.e. space) and *Kāla* (i.e. time) as independent substances. The Jain theory does not seem to contradict the theory of relativity. The Jain view is that the material attributes of *pudgala* such as mass, motion etc. should have no effect on the structure of *Ākāśa*. On the basis of the Jain concept, it can be said that the gravitational field, etc. generated by matter or material effects should be material and hence the changes or modifications brought about thus also should be connected with matter and not with space.

Russell's Conceptual Space

Russell's theory of space is of great value in understanding the confused concepts of the scientists. He, in the conclusion of a philosophical discussion on space, states "We have, on this view, two spaces, one subjective and one objective, one known in experience and the other merely inferred. But there is no difference in this respect between space and other aspects of perception, such as colours and sounds. All alike, in their subjective forms, are known empirically all alike in their objective forms are inferred by means of a maxim as to causation. There is no reason whatever for regarding our knowledge of space as in any way different from our knowledge of colour and sound and smell."⁵

The two kinds of space interpreted by Russell can be called perceptual space and conceptual space. The Jain metaphysical *Ākāśa* can be compared to the conceptual space of

1 *The Universe and Dr. Einstein*, p. 70.

2 *The Universe and Dr. Einstein*, p. 92.

3 *Philosophy of Space and Time*, p. 110.

4 *Ibid*, 112.

5 *History of Western Philosophy*, p. 144.

Russell, while the space of the physicists is akin to the perceptual space of Russell! But, on logical basis without accepting the reality of conceptual space, the problem of substratum of substances cannot be solved.

Zeno's Nest of Space

The Jain metaphysical concept of *Ākāśa* is based on the logical necessity of the substratum of all the substances. Against such a concept the general argument which is the well-known paradox of Zeno, is as follows: 'If all that exist were in space, space also would have to exist in space and so *ad infinitum*'.¹ The answer to this argument is as follows: If the substratum of the other substances is conceived to be a material substance, there would be a fallacy of *regressus ad infinitum*, for experience tells us that any material substance cannot stay without a substratum. We, therefore, have to conceive of some non-material substratum. Thus *Ākāśa* or space, which is a non-material substratum is defined as that substance, which is self-supported and upon which can support other substances. Hence we need not think of any other substance to support the space.

Thus we can conclude that the Jain metaphysical concept of *Ākāśa* is not only irrefutable by the theory of relativity but also unobjectionable on logical grounds.

Physical Aspects of the Theory of Relativity

After having discussed the philosophical aspect of the theory of relativity, now, we shall discuss some of its physical implications.

Shape of the Universe

Einstein's theory of the universe implies that the universe has no definite shape. This is expressed by Lincon Barnett thus: 'And the most remarkable of these assumptions is that the universe is not a rigid and immutable edifice where independent matter is housed in independent space and time, it is on the contrary an amorphous continuum without any fixed architecture. Wherever there is matter and motion the continuum is disturbed'. Such a picture of the universe does not seem to be logical, for, if the total mass of the universe is constant its effect on the four-dimensional continuum also should remain constant. Even when a body moves in the space from one place to another place there is no change in the total mass contained in the universe. Hence the total curvature of the universe which should depend upon the total mass contained in the universe should remain constant and subsequently, there should be no change or distortion in its architecture.

The Jain theory also states that the shape of the universe which is in fact the shape of the *Loka-ākāśa*, *Dharma* and *Adharma* remains the same in spite of the motion of the masses inside it.

Fitzgerald Contractions

One of the important implications of the theory of relativity in the field of physics is the contractions in space and time-dimension which are popularly known as Fitzgerald Contractions. Their mathematical values can be found by the Lorentz equation. According to this theory of contractions when a system moves there occurs a contraction in the space-and-time dimensions. In other words, the length of the moving body contracts in the directions of the

1. Cf. Margenau, *The Nature of Physical Reality*, p. 457





motion, and a clock placed in such a system moves slowly. Such contraction in the length of the moving body, is generally spoken of as the contraction in space. Now, if we consider it to be the contraction of the real space, it would not be correct. For this contraction is the result of the change in the state of the material substance, and not that of the non-material entity like space in which the material body exists.

The contraction in time-dimension is a bit difficult to comprehend. Let us take a simple illustration. Imagine that a star is 10 light-years away from the earth. Now, if a rocket moves with the speed of 210,000 Kilometers/second, how much time would it take to reach from the earth to the star? The theory of relativity gives the answers to this question —

(1) For the observer on the earth, the rocket will take

$$\frac{300000 \times 10}{210000} = 50 \text{ years}$$

to reach the star (300000 km/sec is the velocity of light)

(2) For the passenger who is travelling in the rocket, there will be contraction in the time-dimension according to the laws of Fitzgerald Contraction. This contraction will be in the ratio of 10 to 1. For the passenger in the rocket, it will take

$$\frac{50}{10} = 5 \text{ years}$$

to reach the star

This illustration explains the contraction in time-dimension. But, there is still a confusion in the philosophical aspect of this contraction. The question arises whether the natural processes of man (one of which is his age) are affected by this contraction, that is to say, whether the natural processes of man will take place according to the contraction in time created by his motion?

The scientists are probably not unanimous regarding its answer. Prof. Margenau, for example, states "That the length of rigid bodies is different when it is measured by an observer moving relative to these bodies from what it is when measured by an observer at rest with respect to them. Similarly, clocks have their tempo changed when read by moving observers. These are empirical facts which are not subject to metaphysical interpretation, they are true and real in every ordinary sense of these words."¹ Contrary to this, the famous physicist Sir Arthur Eddington in answer to the above question writes "In the early days of the theory of relativity one of the most frequent questions asked by my correspondents was, 'Is the Fitzgerald Contraction real or apparent? Is it really true that a rapidly moving rod becomes shortened in the direction of its motion?' The answer which I have given in *The Nature of the Physical World* (pp 32-34) is too long to quote here, but having pointed out with an example that we often draw a distinction between things which are 'true' and things which are 'really true', I explained that on the same principles the contraction of the moving rod would be described as true but not really true."²

This statement of the renowned scientist makes it clear that the contraction in space and time are not real from the point of view of absolute truth. Our commonsense also forbid

1. *The Nature of Physical Reality*, p. 110

2. *New Pathways in Science*, p. 278

us to believe that the age of man travelling in rocket will increase with his velocity. Thus, we can say that the absolute units of space and time have real existence, and that they are not affected by the external phenomena of motion, etc. If this had not been the case how the velocity of the light, could remain absolutely constant? For velocity is measured in space units per time—units.

The above contractions, when considered in the light of Jain metaphysics, seem to be only material changes, for only material can be relative and the ultimate units of space and time are absolute.

Space and time related to each other

In the theory of relativity space and time are related to each other, because of the finite velocity of light. Heisenberg has explained this in this way: 'In the theory of relativity we have learned that the situation is different. Future and past are separate by a finite time interval the length of which depends on the distance from the observer. Any action can only be propagated by a velocity smaller than or equal to the velocity of light. Therefore an observer at a given instant neither knows of nor influences any event at a distant point which takes place between two characteristic times. The one time is the instant at which a light signal has to be given from the point of the event in order to reach the observer at the instant of observation. The other time is the instant of the observation, when it reaches the point of the event. The whole finite time interval between these two instants may be said to belong to the 'present time' for the observer at the instant of observation'. Thus it becomes clear that the knowledge which we obtain through our senses and external equipment cannot be obtained faster than the velocity of light. Hence, the definition of simultaneity also depends upon the spatial distance between the event and observer. Consequently, in any event the space and time becomes related to each other. So far, it is unobjectedly acceptable. But, the question whether the velocity of light is the maximum possible velocity or not, is certainly not uncontroversial.

It is a fundamental assumption of the theory of relativity that the velocity of light is the maximum possible velocity. Now, if we re-examine this assumption in the light of Jain metaphysics, we find that this assumption is not strictly true. According to the Jain theory, out of the six substances constituting the universe, only matter and soul are capable of moving. The soul, besides capable of moving in space from one place to another, is also capable of getting knowledge of the things situated at far distances without taking help of the external means. The actual motion of soul takes place when any living thing moves from one place to another, when a soul transmigrates from one body to another, when an emancipated soul transgresses to the end of the universe and also when gods or persons with special powers travel with high speeds from one place to another. The epistemological motion is not the actual change of place in space, but in it the soul perceives, intuitively or transcends a distant object by its epistemological powers. In both the types of motions, a soul can travel at a velocity higher than that of light. In the transmigration, a soul can travel with a maximum velocity of one *Rajju* per one *Samaya*. Also, in epistemological motion, an omniscient soul can transcend an object *Rajju* away within a *Samaya*.

The above is the possibility of the velocity of soul. Now, matter is also capable of moving with surprising speeds. The ultimate indivisible particle of matter known as *parmanu*



(the ultimate atom), is also capable of moving with a velocity of 14 Rājās/Samaya. This is the maximum velocity of matter.

Now, if we examine the theory of relativity in light of the above facts, we find that the fundamental assumption of the theory of relativity may not hold good in microcosmos. Another interesting thing is that in accordance with the theory of relativity, the velocity of any thing may become greater than that of light, if it has no mass. The Jain metaphysics asserts that the ultimate atoms and certain types of bodies composed of infinite number of the ultimate atoms are completely massless. Mass, according to the Jain theory, is not the fundamental property of matter. Thus, if such massless bodies travel with a velocity greater than that of light the theory of relativity would have to accept it.

We may also note here that in the modern age, together with the developments of the techniques of space-travelling, the mind of the scientists are eager to cross the speed limit set by the velocity of light. In one of the advanced scientific works on the exploration of space Arthur Clarke expressing this possibility writes "Before closing this chapter we must deal with two questions which any discussion of interstellar travel inevitably raises. In the first place, despite the categorical remarks made a few pages ago, can we be absolutely certain that the speed of light will never be surpassed? The theory of relativity is, after all, only a theory. May it not one day be modified, just as it modified Newton's law of gravitation, which had remained inviolate for centuries and was generally regarded as being absolutely correct?"

"Any attempt to answer this question would lead us to the deep waters of Philosophy and would involve such ideas as the fundamental structure of space and time. It is doubtful if anyone alive today could contribute much of real value to such a discussion. The verdict must be left to the future."

The above question supports the plausibility that the barrier of velocity of light may be practically overcome one day, and if it actually happens, the foundation, on which the theory of relativity stands, itself would fall to the ground.

Macrocosmos and Microcosmos

The truthfulness of the theory of relativity will probably be certified only when the law of the macrocosmos would hold good in the microcosmos. The amount of knowledge about the microcosmos possessed by the present day physics is also quite small.

In such a condition nothing can be said finally about the truthfulness of the laws of physics. As far as the theory of relativity is concerned, its experimental basis is also not satisfactorily strong. The renowned atomic physicist, Werner Heisenberg himself has accepted this fact thus: "In the present state of astronomical observation the questions about the space-time geometry on a large scale cannot yet be answered with any degree of certainty. But it is extremely interesting to see that these questions may possibly be answered eventually on a solid empirical basis. For the time being even the general theory of relativity rests on a very narrow experimental foundation and must be considered as much less certain than the so called theory of special relativity expressed by the Lorentz transformation."

1. *The Exploration of Space*, p. 175

2. *Physics and Philosophy*, p. 111

In the articles and the books written on this aspect of science often it is expressed that if the future experiments of science disprove the laws of the past, it would not be much surprising. In one of such articles Robert C. Cowen has expressed a doubt about the theory of relativity. He remarks: "Thus even though the experimental basis of relativity has been substantially strengthened, physicist will continue to ask in this larger context—Was Einstein right?"¹ Cowen has tried to show in his article that in spite of the experimental verification of the theory of relativity, its certainty will always be doubted.

Even if we neglect the views of other scientists regarding Einstein's theory, we can not neglect Einstein's own wordings where he frankly states: "No amount of experimentation can ever prove me right, a single experiment may at anytime prove me wrong." This statement, on the one hand, shows the humbleness of this great scientist, whereas on the other hand, it also clearly manifests the imperfectness of science.

The whole discussion may be summarised as follows. Firstly the veracity of the concepts of space and time based on the theory of relativity is not unequivocal, secondly, its philosophical interpretation is not uncontroversial. The philosophical concepts of Einstein etc. are not clear and logical.

The Jain metaphysical theory presents more consistent and logical concepts of space and time. In fact the Jain theory is a philosophy of existence. The origin of its concepts and theories are not reason but intuition and transcendental knowledge in which the reality is directly experienced. Logic can only be a criterion for its theories. The why of reality probably may never be known through reason, physical equipments or sensory knowledge. Prof. Margenau has rightly remarked somewhere in the end of his famous work on the nature of reality: "I know how unwise it is now-a-days to write systematic philosophy—the why of experience and hence the why of reality are problems it does not endeavour to solve. To be sure, reality can have no cause in the physical sense of the word. This invalidates our phrasing of the questions but not its meaning. At this point, the scientist bows out, and the philosopher of existence enters the scene."²

★

1 "Was Einstein Right?" in *Bharat Jyoti*, Bombay, 31st July 1963

2 *The Nature of Physical Reality*, p. 458



THE NATURE OF REALITY IN JAINISM AND BUDDHIST PHILOSOPHERS

DR BHAGCHANDRA JAIN, Sahityacharya,
M.A. (Sanskrit), M.A. (Phil.), Ph.D. (Cephas)
Head of the Dept. of Phil & Prakrit, Nagpur University
Gandhi Circle, Sector, Nagpur



Conflicting views and heated arguments about the nature of reality could be the result of people to such a degree that it became essential to consider this common philosophical question in a conciliatory spirit. The important step was taken by the Jainas in their theory of Anekantavada, which postulates the theory of manifold truths as *Samanyas* (Niravada) and *Syādvāda* (Syādvāda).

According to Jain philosophy, reality is not a single entity which cannot be perceived all at once. Therefore one who perceives a thing partially, and therefore regarded as knowing one aspect of truth is his position partially correct. Even though he is not aware of the entire truth, the aspect he is aware of cannot be said to be correct or ignored.

The question arises as to how the whole truth of reality could be known. According to Jain standpoint, all the truths contain certain degrees of commonness and hence should be accepted from a certain point of view, but the nature of reality in its entirety can be perceived only by means of the theory of manifoldness (*Anekantavada*). The Jain philosophers synthesise all the opponents' views under this theory.

The nature of reality, according to this theory, is permanent in character. It possesses three common characters, viz. *utpāda* (origin), *vyaya* (destruction) and *dharma* (persistence through birth and decay). It also possesses the attributes (*guṇa*) which always co-exist with substance (*dravya*) and modification (*pariyāya*) which always succeed each other. Productivity and destructivity constitute the dynamic aspect of an entity and permanence is its enduring factor. This view is a blended form of the completely static view held by the Vedantins and the completely dynamic view held by the Buddhists.

All this has nicely been described by Dr Padmaraj in his book entitled *Jain Theories of Reality and Knowledge*. He also pointed out three different views with regard to the relation of *guṇa* and *pariyāya* with a substance (*dravya*), viz. the *bhedavāda*, *abheda* and the *bhedabheda*. The *bhedavāda* represents the view that the attributes and the modifications are a combination with the substance which gives birth to the triple characters (*dravya*, *guṇa* and *pariyāya*) of an entity. Both, *guṇa* and *pariyāya* are distinctive elements

1. *Utpādayayadhravayayuktam sat*, Tāṇ 5.30. *Saddharmasūtram*, Tāṇ 5.29. *Guṇaparavayavaddharmam*, Tāṇ 5.38. See for explanations the *Ātmaśāstra* of Akalanka.

2. P.P. 258. also see the *Darsanī aurī* Cantana, Khandi, 2, P. 163.

3. *Atho Khalu dāvamāo dāvamā gunapajāni bhaṇidāni*. *Pravacanasāra*, 110.

in this view. The former is called *sahabhāvī* or intrinsic, while the latter *kramabhāyī* or extrinsic.¹ This ideology was promulgated by Kundakunda and supported by Umāsvāmi, Samantabhadra and Pūjyapāda.

According to *abhedavāda*, the *gunas* and the *pariāyas* are synonymous signifying the conception of change inherent in which are both, external modifications of all realities without creating any contradictory position. Siddhasena Divākara is the chief supporter of this view and he is supported by Siddhasnagani, Haribhadra and Hemachandra.

The third view (*abhedabhadra*) held by Akalankadeva has been accepted by all his commentators and followers such as Prabhācandra, Vādirājasūri and Anantavīrya. This view appears in a more developed and harmonized form and clarifies further the relation between *guna* and *pariāya* in opinion of Dr. Padmarajah. On commenting on the Sūtra "Gunapariyavaddhavya" of the Tattvārthasūtra, Akalanka suggests that *gunas* are themselves a distinct category from, as well as identical with *pariāyas*.² It means *gunas* always exist with realities and their modifications which follow one after another. Prabhācandra³ gives a more critical and comprehensive explanation.

All these three views are not fundamentally different from one another, since they unanimously accept the common factors, *utpāda*, *vyaya* and *dhrauvya* simultaneity (*sahabhāvitva*) and modifications with successivity, (*kramabhāvitva*). The Buddhist philosophers are familiar with the first and last view but they do not make any distinction between them. This view shall be examined through the Buddhist literature itself.

Samantabhadra explains the triple characters which abide with a substance at one and the same time. They are not mutually independent. *Utpāda* can never exist without *vyaya* and *dhrauvya*. The other two characters are mutually dependent. Samantabhadra uses an example to clarify this view. If a jar made of gold is turned into a crown it will please a man who has an attachment to the crown, but it will displease a man who dislikes the crown, while the third man who is neutral about the crown but is interested in the gold, will have no objection to it at all. Here origination, destruction and permanence abide in one reality.

Another example is presented to make this controversial point clearer. He says he who takes a vow to live on milk, does not take curd, he who takes a vow to live on curd, does not take milk, and he who takes a vow to live on food other than that supplied by a cow, takes neither milk nor curd. Thus Samantabhadra concludes that *utpāda*, *vyaya*, and *dhrauvya* may exist in a relative sense.

Na sāmānyātmavodeṭi na vyeti vyaktamanvayāt
Vyavodeṭi viśeṣīte sahaikatodayādī sat
Ghatamaulīśarnārthī nāśotpādasthitiviyam
Śāpramodamādhvastyam jano yāti sahetukam.

1 Pravacanasūtra, Jayasena's commentary, p. 121

2 Sanmati Tarka Prakāraṇa, 29-14,

3 Gunabhāvādayuktiriti cet, na, arhatpravacanahrdadayadisu gunaopādesāt, guna evā pariāya itīti nirdeśah, viśeṣanānupapattirarthābhēdaditī cet, na, matāntaranivṛttyarthat at Tattvārtha Vārtika, 537 2-4

4 Nayaya Kumāuda Cand p. 363



Payovrato na dadhyatti na payotti dadhivratah
Agorasavrato nobhe tasmāttattvam trayātmakam¹

The etymology of the word "dravya" itself indicates that a thing is permanent-in-change taking a new form simultaneously with the disappearance of the previous form². This view was also accepted by Durvekamiśra according to Krdanta section³. Śāntarakṣita⁴ and Arcata⁵ have also recorded this conception in their respective works.

Trayātmakavāda and Arthakriyāvāda

The arthakriyākārtiva (causal efficiency) is the result of the doctrines of Bhedvāda, Abhedavā, and Bhedābhedavāda. The Satkāryavāda of Sāṅkhyas, Asatkāryavāda of Naiyāyikas and Buddhists and Sadasatkāryavāda of Jains are well-known to us in this respect. Here we are concerned with the views of the Buddhists and Jains.

The Buddhists assert that the "Particular is the only real element of an entity characterised as svalakṣaṇa (thing-in-itself). It is supposed to be momentary and a congregation of atoms. A thing accordingly is born and immediately afterwards it is destroyed⁶. The substance is nirhetuka (devoid of causes) in the sense that it originates without the assistance of causes other than its own cause of origination. Each moment produces another moment destroying itself and thus it presents a sort of continuity of existence. Thus it manages to maintain a cause and effect (kāryakāraṇabhāva) relationship.

According to Buddhism, momentariness (kṣaṇabhāṅguratā) and causal efficiency (kāryakāraṇabhāva) are inseparable. It treated momentariness, efficiency, causality and reality as synonyms, and hence argued that an entity is momentary because it was efficient and it was efficient because it was momentary. On the basis of this idea, the Buddhists criticise causal efficiency in a permanent thing. They say that entities come into being either simultaneously (yugapadena) or successively (krameṇa). But in a permanent thing, both these ways cannot be effective, since they are not able to originate it immediately due to the non-proximity of a cause. In the first alternation, the substance should originate all the possible effects in the very first moment of its existence. As regards the type of causal efficiency that takes place simultaneously, a permanent thing cannot have any effects, because it can be neither perceived nor inferred. As Śāntarakṣita say after having brought about all the effects simultaneously, the nature of a thing comprising its capacity for effective action, disappears, and therefore

1 Ātmanirmāṃsā, 59-61 quoted in Pramāṇa Vārtika Svavrti Tīkā by Karnagomin, p. 333, Durvekamiśra quotes one more kārika in the Hetubindutīkāloka, p. 371.

Na naśena vinā soko notpādena vinā dhṛtiḥ
Sthiyā vinā na mādhyasthyam tasmāt vastu trayātmakam

2 Laghīśāstrya, 30 Pramāṇanirmāṃsā, p. 24

3 Dravyaśabdena dravati paryāyena gacchati ti vutpatyā dharmī parināminītyo vivaśātah
Paryayaśabdena ca parisaṃantadetyeti dravyamiti vyutpatyādharmaḥ, Hetubindutīkāloka, p. 337

4 Tattvasaṅgraha, Atmaparīkṣā. I utilized its English translation in the article

5 Hetubindutīkā, p. 98

6 Yo yatraiva sa tatraiva yo yadaiva tadaiva saḥ

Na desakālayor vyāptir bhāvānāmīha Vidyate. Quoted in the prameyaratnamālā, p. 1
See Jaina theory of knowledge and reality. Also see the VIII chapter of the Tattvasaṅgraha

the momentary character of thing is an essential factor for causal efficiency. Further more, they point out that auxiliaries (sahāṭārī) must follow the things with which they are connected. These auxiliaries, as a matter of fact, cannot abide with permanent things, because the peculiar condition produced in a thing by auxiliaries would neither be similar nor dissimilar. If they make an difference, the efficiency of the permanent thing in producing the cause is compromised and becomes dependent upon other things in order to be efficient. If, on the contrary, they are not able to make an difference, the arguments for inoperative and ineffective (akriyākāra) elements in a thing have no meaning. The Buddhists, therefore, conclude that causal efficiency is the essence of the simple and unique moments each of which is totally different from the others.¹

On the other hand, the Jains believe that a substance is dynamic (parināmī) in character. It means thing is eternal from the real standpoint (niscayanayena) and momentary from a practical viewpoint (vyavahāranayena). Causal efficiency, according to them, is possible neither in a thing which is of the static nature (kūṭasthanitya) nor in a thing which does not suite to the doctrine of momentariness (īśanīyavāda), but it is possible only in a thing which is permanent-in-change. To clarification of this view, they say that efficiency takes place either successively or simultaneously. Both these alternations cannot be effective in the momentary existence, since the spatial as well as temporal extension which requires the notion of "before" and "after" for efficiency are absent from the momentary thing of the Buddhists. Saṁtāna (continuous series) is also not effective in this respect, since it is too momentary in the opinion of the Buddhists.

Pūrvam nasvarācchaktātārīyam kinnāvinasvarāt
Kāryotpattirruddhyeta na vai kāranasattayā
Yadyadā kāryamutpitsa tattadotpādanātmakam
Kāranam kāraṇabhedena na bhinnam kṣaṇikam yathā²

This view of the Jains is recorded by Durvekamiśra in the Hetubindutīkaloka. A writer of the Vādanyāya called Śyādvādaśeśarī who is supposed to be the same as Akalanka-deva, is said to have defeated the opponents and established the Jain Nyāya. Vādirāja pays homage to him by saying "tārīkalokamastikamaṇi" in the Nyāyaviniscaya-vivarana, and Prabhāchandra "Śyādvādaśeśarasatasatativramūrtiḥ" in the Nyāyakumudachandra.

According to Śyādvādaśeśarī, Durvekamiśra says, every entity is anāṅkāntika (having infinite characters), which is the basis of arthakriyā (casual efficiency). Kulabhūṣana, a commentator on the Vādanyāya explains this view that "anyathānupapatti" is the main character of reality, and arthakriyā is possible only in that character.

Tathācāvādīt vādanyāye Śyādvādaśeśarī—"aṅkīlasya vastuno'neṅkāntikaatvam sattvāt anyathārthakriyā lūtaḥ" itī etacca vyācal saṇena Kulabhūṣanena tīkārtā evam vyākhyātam-upapādanā

Anyathānupapannatvam yasyāsau heturisyate
Drastantau dvāvapistām vāyācā tau hi na kāranam³

- 1 See Tattvasaṅgraha, 340-346. Also see, HBT p 213
- 2 Siddhi Viniscaya, 3 11-12. Also see Nyāyakumudacandra, p 379.
- 3 Hetubindutīkaloka, p 373-74





He, then, on the basis of above view, tries to point out defects in the theory of absolute momentariness and absolute eternalism stating that causal efficiency is not possible in either of these theories of reality. Clarifying his own position, Kulabhūṣiṇa asks whether momentary character has causal efficiency during its own existence or in another. If the first alternative is accepted, the entire universe would exist only for a moment. The effect produced by a certain cause during its own existence would be a cause of others, despite being caused itself, and this series will never end. The argument "Cause makes an effect during its own existence and an effect comes into being during the existence of other," is not favoured, since an effect is supposed to be originated during the existence of its own cause and not of another. Otherwise, an effect cannot take place and there will be defect of "Samanantari-virodha", according to which the effect, would emerge in the distant future.

Tanna tāvadakeṣarīṇo bhāvah kāryam kṛtum śaknoti, tasya kramayugapadyābhyām arthakriyāvirodhāt nāpi kṣaṇīṇo bhāvah kāryam kṛtum prabhavati tathāhi kṣaṇīko bhāvah svasattākālī kāryakāraṇasvabhāva'thīnyadā. Yadi prathamavikalpastada tad uva kuryāt svasattākāṇe ca kāryakṛtau sarvam jagadkalāpavartī prāpnoti tathāhi kāraṇam svasattākāṇa eva yat kāryamakṛta tadapyanyasya kīraṇamiti tadapi tadaiva svakāryam kuryāt.¹

The next moment is also not powerful to generate the thing, since it is not a creator. Otherwise, what would be the difference between sat and asat, and kṣaṇika and akṣaṇika. We could conclude, therefore, that arthakriyā is possible only in permanent-in-change character.

Tarhi kīryamapi tadavotpadyata'nyada tatkālam parihṛtya kāryotpattirvirodhyata.²

Afterwards, Durvekaṃsra tries to criticise the view of dyāvidakeśarī not by advancing arguments but merely hurling insults. As a matter of fact, whenever the Buddhist philosophers came across people whose views were different to theirs, especially when they could not refute their theories, they resorted to the practice of ridiculing them by means of ironical speech. It is in this manner that the arguments of the Jainas against the theory of kṣaṇikavāda came to be dismissed by pandit Durvekaṃsra with cursory remarks that a wise-man should disregard the above objects raised by the "Ahrikas" or Digambaras (yadi nīmahrikoktirupekṣaṇīya prekṣāvātām).³ He then tries to show that only the momentary character has a capacity of casual efficiency.

Śāntaraṃśita also refers to a view which seems to belong to the Jaina tradition, but it is attributed to Bhadanta Yogasena, who is claimed by certain scholars to be a Buddhist philosopher. For instance, Bhattacharya says in his introduction to the Tattvasaṅgraha that "nothing definite is known about Yogasena, he is not mentioned in the Nanjio's catalogue of the Chinese Tripitaka nor in any of the Tibetan catalogues." He then tries to prove that Yogasena was a Buddhist philosopher on account of his appellation "Bhadanta" saying "But the word 'Bhadanta' is always used in the Tattvasaṅgraha to denote a Buddhist, or more preferably a Hīnayāna Buddhist. Our authors have not made a confusion in this respect anywhere in this book, and on this ground we can take Yogasena to be a Buddhist."⁴

1 Ibid p 371

2 Ibid p 374

3 Ibid p 374

4 Tattvasaṅgraha, introduction, p 1

But Śāntarāksita has not indicated anywhere that the word "Bhadanta" should be limited only to the Buddhist Āchāryas. It has been widely used in Jain literature as a term of respect to elder Bhikkhus.¹ It is, therefore, not impossible that Yogasena has been a follower of Jainism or has been influenced by its conceptions, as his views against Kṣāṇikavāda represent the Jain standpoint. Further Śāntarāksita did not mention anywhere explicitly the criticism made by Jainas against Kṣāṇikavāda. Moreover, it is unlikely that in such a comprehensive work he should forget to mention the refutation of the Buddhist theory of momentariness by the Jainas, when the Jainas were their greatest opponents.

Some schools of thought opposing the doctrine of momentary (kṣāṇikavāda) were rising even within the Buddhist system. For instance, Śāntarāksita refers to the views of Vātsaputrīyas who classified things under two headings momentary and non-momentary.² The conception of soul, according to them has been also refuted by Śāntarāksita.³ Stcherbatsky mentions the Vātsaputrīyas who admitted the existence of a certain unity between the elements of a living personality. In all probability they have been influenced by the Jain views as their arguments are very similar to the Jain arguments raised against the view of Kṣāṇikavāda and Anātmavāda.

There are, however, two important points of difference between the Buddhist and the Jain in the meaning they attach to dravyavāda in their common denunciation of the view which connects this notion of arthakriyākāntva with dravyavāda. First, the Buddhist is against dravyavāda of any kind, while the Jain is against ekāntadravyavāda. Secondly, the Buddhist attack actually turns out whatever his profession may be, to be on the hypothesis of the static (lūtaśthanīya) dravya whereas the Jain's attack is also on the same hypothesis but only as a contrast to his own theory of the dynamic (parināmī) dravya.⁴ We have already discussed the Jain's view against ekāntadravyavāda.

Dual character of an entity

Some systems of thought accept only the Universal (sāmānya) character of reality. Advaitvādins and the Sāṅkhya are the typical representatives of the view. Some other schools led by the Buddhists recognise only particular (viśeṣa) character of reality. The third school of thought belongs to Nyāya-Vaiśeṣikas, who treat Universal and Particular (sāmānya and Viśeṣa) as absolutely distinctive entities.

Śāntarāksita first establishes the Jainistic view on the nature of reality. He says that according to Jainism, an entity has infinite characteristics which are divided into two categories, viz. Universal and Particular. Just as different colours can exist in a lustrous gem without conflicting with each other, so the universal and particular elements could abide in a reality.

We find two kinds of existence of own nature (svarūpāstitva). The former tries to separate the similar (sajātīya) and dissimilar (vijātīya) substances and indicates their independence. This is called Vertical Universal (Urdhvatāsāmānya), which represents unity (anugata-

1 Uttarādhyayana, 20 15, 23 28, 26 9, 28 16, Bhagavati 73 209., Dasva 4 etc

2 Tattvasaṅgraha, 352

3 Ibid 336-349

4 Nanvanekātmakam vastu yathā mekakaratnavat,

Prakṛtyaiva sadādīnām ko virodhastathā satī Tattvasaṅgraha, 1709



pratyaya) in plurality of different conditions (vyāvṛttapratyaya) of the same individual. In other words, the permanent character of an entity is called Ūrdhvasāmānya.¹

Sādrasyāstitva, the so-called Tiryakasāmānya (horizontal) represents unity in the plurality of different individuals of the same class.² The word "cow" is used to denote a particular cow and it also refers to others of the same class, because of similarity.³ Likewise, Viśeṣa is also of two kinds, paryāya and vyatireka. The former distinguishes the two modes of same entity, while the latter makes a distinction between the two separate entities.

Thus each and every reality is universalized-cum-particularized (sāmānya-viśeṣātmaka) along with substance with modes (dravya-paryāyātmaka). Here "dravya" represents the particular character of a thing. The adjective "sāmānya-viśeṣātmaka" indicates the apprehension of Tiryakasāmānyātmaka and Vyatirekasāmānyātmaka, while "Dravyaparyāyātmaka" points out the ūrdhvasāmānya and Paryayaviśeṣātmaka character of a reality.

Both these types of sāmānya have dealt with by Śāntarakṣita, Karṇakagomin and Arcaṭa. They take the traditional example of a jar (ghata) made of gold which can be changed into several modes, while preserving gold as a permanent substance.⁴

Another example has been given by Buddhist philosophers on behalf of Jains. They say that the identical-in-difference (bhedābheda) between the substance and the modes is accepted by the Ahīkas as the nature of reality.⁵ When a substance is spoken of as one, it is with reference to space, time and nature, when it is spoken of as different, it is with reference to number, character, name and function. For instance, when we speak of a jar and its colour and its other attributes, there is difference of number, and name, there is also a difference of nature, inasmuch as an inclusiveness or comprehensiveness is the nature of the substance of the jar, while exclusiveness or distributiveness is the nature of successive factors in the form of colour and so forth. There is also a difference of function, inasmuch as the purpose served by the two are different. Thus the substance is not totally undifferentiated, as it does become differentiated in the form of the successive factors.

Desakālasvabhāvānāmabhedādekato cyate
Sankhyālakṣaṇasāñjānārthabhedāt bhedāstu varnyate
Rūpādayo ghataś ceti sankhyāsañjānā vibheditā.
Kāryānuvṛttivyāvṛtti lakṣanārthavibheditā
Dravyaparyāyayorevam naikāntenaviśeṣavat
Dravyam paryāyarūpeṇa viśeṣam yāti cet svayam.⁶

1 Tāsu tāsu hyavāsthāsu sa evāyam nara itī anuvṛttipratyayahetor naratva jāterūrdhvatā-sāmānya sabdābhilāpyastāsu cāvasthāsu Hetubindutīkāloka p 343 cf Parāpara-vivārtavyāpī dravyam ūrdhvatā mṛdiva sthasādisu, Pramāna Mīmāṃsa, 4 5 Ekasmin dravye kramabhāvināḥ pariṇāmāḥ paryayah ātmanī harṣaviśādivat, ibid, 4 8

2 Tiryakasāmānyavyāvṛttipratyayaheto—Hetubindutīkāloka, p 343, cf Sādrasaparīnamastiryaka khandamundadisu gotvavat Pramāna Mīmāṃsā, 4 4

3 Arthantaragato visadrasaparīnāmo vyatireka go-mahīṣādivat, p 4 9

4 Pramāna Vārtika, Svavṛtti Tīkā, p 333, Hetubindutīkāloka, p 369, etc.

5 Hetubindutīka, p 98

6 Tattva Sangraha, 313—315, also see, Hetubindutīka, pp 98

Karmalaśla explains the Jain view as to why it stresses on the Universal-cum-particular character. He says, as the Jainas assert: 'If the above doctrine is to be denied, all things would not be different from one. If a certain thing spoke of, for instance, as a jar was not different from other thing, such as cloth, then there would be no difference between the jar and the cloth (i.e. say, there is a thing that does not exist at all—hence an absurdity) (śāśvānām)'. Like a thing that is at all differentiated from all other things, can have no other character of its own. Consequently, the general character in shape or material etc., has to be admitted'.¹

Kāśīyaśāstrī astuṅatād sa aṅ ghaṭādirbhāḥ paṭīṇā bhāntārenatulyāh
śāśvānām. ānāṅgāḥ, tadā kṛpāspīṇaśāśvāśāśī, sarvathā vast antarād-
bhāntāḥ. ca paṭīṇāḥ antarād bhāntāḥ, ānāṅgāḥ sambhavatī, kṛpāspatām muṅtvā
tadāśāśvānām. astuṅatād bhāntāḥ, amabhyupagaccheat. bhāntārenatulyat am vastut am
nāmaśāśvānām upaṅgāḥ, paṭīṇāḥ am śāśvānām ānāṅgāḥ.²

Karmalaśla further explains the Jain conception of the particular character of an entity. He says that, if the jar, as devoid of dissimilarity, then the jar could not be regarded as an entity different from the cloth etc. in the form of 'this is jar', 'that is cloth', but in fact it is different from other things. Therefore the particular character is always present in reality.

As the Buddhists do not admit the universal character of an entity, the Jainas endeavour to connect the universal character merged in the particular character of an entity. Therefore the argument that if an entity is not similar to other things, it ceases to be an entity. For that which is excluded from an entity, could have no position, but non-existence, in the case of an entity.

śāśvānām atīṇāḥ, upaṅgāḥ, vastuṅatād
śāśvānām ni atam vastut amabhyate
vastuṅatād ni atīṇāḥ, ānāṅgāḥ sambhavatī gatiḥ
Lāṅgāte nāśvānām muṅtvā śāśvānām sarojavatī.³

In support of the aforesaid view, another argument is presented on behalf of the Jainas, that is, if an entity were not similar to or different from every other entity, how then is it possible that the common idea of "being an entity," found to appear only in connection with the jar and such things, and not in connection with the crow's teeth. It is so because the said restriction is due to have a certain capacity in their natures. Though, according to Jainism, all things in the form of entities are not different from one another, their capacity may be regarded as the required "communalities".⁴ This is also called the "Niyatavṛtti". Without accepting this limitation anything could be transformed into thing else.

1 Tattvasaṅgraha Pañjika, p. 157

2 Śāśvānām ghaṭādirbhāḥ, ānāṅgāḥ paṭīṇāḥ bhāntārenatulyāh yadatyatvam tena vihināḥ syāt tadāyam ghaṭāṅgāḥ, amabhyupagaccheat. ghaṭādirbhāḥ, na siddhyet, svarūpavat bhāntārenatulyatam. ānāṅgāḥ sambhavatī gatiḥ—TSP 187

3 Tattvasaṅgraha, 1712—13

4 Anāṅgāḥ, na sa buddhībalibhugdāsanāḍīḥ
Variatē niyatāḥ, bhāntāḥ, eti kim kṛtam
Sārūpyanī, amabhyupagaccheat sāmānyam ca tadeva nah





Later the Jainas dealt with the difference among things. They say that if a jar were entirely devoid of dissimilarity to those other things, then there being no difference between them, the jar could not be anything different from those things. This would involve a self-contradiction. When one is ready to accept some sort of difference among things, he has also to accept dissimilarity as a particular character.¹

Thus according to the Jainas view, like the gleaming sapphire, every entity, while being one has several aspects. Of these, some are apprehended by inclusive notions. Those that are apprehended by inclusive notions, are inclusive, and hence spoken of as "common", while others, which are apprehended by exclusive notions, are exclusive and hence said to be "particular". The inclusive notion appears in non-distinctive form of "This is an Entity", while the exclusive notion appears in the distinctive form "this is jar, not cloth".

Vastvekātmakamevedamanekāḷāramiṣyate
Te cānuvṛttivyāvṛttibuddhigrāhyatayā sthitaḥ
Ādyā ete'nuvṛttatvātsāmānyamiti kīrtitaḥ
Viśeṣāstvabhīdhyante vyāvṛttatvāttatato'pare.²

Refutation of Jaina conception of reality in Buddhist literature

The Buddhist philosophers criticised the Jaina conception of reality on the grounds of self-contradiction, commingling, doubt, etc. The main arguments of the foremost Buddhist logicians were as follows.

Nāgārjuna (about 150-250 A.D.), the profounder of Śūnyātvāda made the charge that the theory of triple character is itself a self-contradiction formula, as it cannot be associated with reality, since such a thesis is faulty on account of anavasthā-doṣa (regressus ad infinitum).³

Dharmakīrti remarks that the Anekāntavāda is mere non-sensical talk (praṭipamātra). He then mentions the Jainas' view "all is one, and all is not one" and points out why the Jainas do not recognize the jar or pot itself as a general character, since Dravyatva is in all of them according to Jainism (Sarvam sarvātmakam na sarvam sarvātmakam).⁴

Dharmakīrti is of the view that the Jaina theory of dual character, viz. universal and particular, is so formulated that the character of particularity is relegated to the background and made less significant. He explains this with reference to the famous example of camel and curd. If the particularity which distinguishes camel from curd or vice-versa is not an important factor, he says, one may as well eat a camel when he wants to eat curd. He tries by this argument to demolish the Jaina theory as he understood that curd is not only curd by itself (svarūpeṇa) but also camel in a relative sense (pararūpeṇa). According to Dharmakīrti, these cannot be a universal character between camel and curd and even if such a character

Svabhāvānugatāśaktiranenaivopavarṇitā

Atyantabhinnatā tasmādghaṭate naiva kaśyacit

Sarvam hi vasturūpeṇa bhidyate na parasparam —Tattva Sangraha, 171-176

1. Ibid

2. Ibid 1720-1721

3. Mādhyamika Karikā, 15-16

4. Pramāṇa Vartika, 1-183

exists, their mutual difference or particularity is all that matters for both identification and use

Sarvasyobhaya rūpatve tadvisesanirākṛtaḥ
Codito dadhi khādeti lumuṣṭram nābhīdhāvatī
Athāstyatisayah kascit yena bhedenā vartate
Sa eva dadhyonyatra nāstīyanubhayam param ¹

Prjñālaragupta (660-720 A D), the well-known commentator and a pupil of Dharmakīrti also refutes the Jaina theory of reality on the line of arguments submitted by Nāgārjuna. He says origination, destruction, and permanence cannot exist together. If it is destroyed how can it be a reality, if it is permanent, how can there be destruction, and if it is permanent, it should always be in mind. He then argues that the reality cannot be realised as both eternal and non-eternal. It should be accepted as either eternal or non-eternal ²

Samantabhadra's view mentioned in the "dravyaparivāyavayoraiḥ" and "sañjñāsan-khyāviśeṣaśca" has not been refuted by Dharmakīrti. Whatever may be its reason, it is criticised by his commentator Arcata who followed the arguments of Nāgārjuna ³. At another place he tries to refute the Bhedābhedavāda (identity-in-difference) conception which means the substance and its modes cannot be separated from a realistic standpoint, but they are different in name, number, nature, place, etc. from a practical viewpoint. It appears as if he does not see much difference between ubhava-vāda of Vaiśeṣikas and bhedābhedavāda of Jains. That is the reason why he conceives the substance as being completely different from its modes. He refutes the view first in prose under the heading "Ahrīkādīsammatasya dravya-paryāyayoh bhedābhedapaksasya nirāśah", and then the same arguments are repeated in fourty-five stanzas.

Arcata refers to the Jainas view that they analyse reality through sui-generis (jātyan-tara) which exposes the combination of identity and difference, although it makes a distinction between the particular and general character of reality. For instance, Narasimha is a combination of man and lion, which is not self-contradictory because of the theory of sui-generis.

Opposing this theory, Arcata points out that Narasimha is a compendium of atoms which cannot be transformed into Narasimha. Due to a combination of the forms which is called Śābalarūpa, a place of existence of diverse natures. How then could a unity in nature be proved? Arcata finally remarks that is the philosophy of block-heads (darsanākṛto'yam viprayāso mūḍhamatīnām).

This criticism is based on the understanding that the nature of reality is completely in two different forms. This is the view of Vaiśeṣikas, not Jains. This criticism made by Āraṇyakaś is answered by the later Jaina philosophers such as Vādirājasūri, Anantavīrya, Prabhācandra.

1 Ibid 1 184 185

2 Athotpādavyayadbrauvyayuktam yattatsadīsyate
Esameva na satvam syāt etadbhavadhiyogataḥ
Yadā vyayastadāsatvam katham tasya pratīyate
Pūrvam pratīte satvam syāt tada tasya vyayah katham

—Pramānavārtikalankāra p 142

3 Hetubindutīkā, p 233



of Narasimha which is criticised by the Buddhist philosophers Prabhāchandra says in response to the Buddhist criticism that it is neither nara nor simha, but because of their similarities they are called Narasimha. While having mutual separation they exist non-differently in relation to substance and like waves in water they emerge and sink in each other. Thus there is no self-contradiction in a dual character of an entity in relative sense, as the Jainas assert

Na narasimharūpatvan na simho nara-rūpatah
Śabdaviṇṇānakāryānām bhedāt jātyantaram hi tat
Na nara nara eveti na simhah simha eva hi
Samānādhiḥ aranyena narasimhah prakīrtitah ¹

Dharmakīrti urged with regard to the Universal-cum-particular character of reality that this theory compelled one to recognize the curd and camel as one entity. In connection with the fallacious middle term (hetu-vibhāsa), Akalanka points out that the Buddhist philosophers discover defects to censure the Jainas on the basis of invalid arguments (mithyājñāti) ². For instance, Dharmakīrti ignores the formula "sarvobhāvastadātat-vabhāvah" and tries to establish equality between curd and camel. Hence he questions why one who intends to eat curd, does not go to eat a camel in place of curd, since according to Jainism, both have the universal character.

Akalanka tries to disarm critics like Dharmakīrti by pointing out the definition of sāmānya and viśeṣa. Vādirāja, a commentator of Akalanka explains that the similar transformation of a thing into its modes (sārasaparīṇāmo hi sāmānyam) is called sāmānya ³. According to this definition the modes of curd and camel are not similar, they are really completely different, as well as similar. How is it then possible that these elements are mixed?

Another argument used for the refutation of the Buddhist standpoint is that the identity is only among the modes of curd, as hard, harder, hardest, etc., but they have never any sort of relation with the modes of camel. Hence, they can never be mixed with each other. Vādirāja refers here to a traditional fiction the Dharmakīrti proved himself as a Vidyūṣaka (jester) because a good knowledge of the opponents theory ⁴.

Akalanka again criticises the view of Dharmakīrti saying that if the argument that "the atoms of curd and camel may have been mixed sometimes before and the atoms of curd have still the capacity to be transferred into the modes of camel" is to be raised, it would not be advisable. For the past and the future modes of an entity are different, and all transactions and transformations run according to present modes. The curd is for the purpose of eating, while the camel is for riding. The words for them are also completely different from each other. The word "curd" can be applied only to curd, not camel. It is the same case with the word "camel" too.

Akalanka further points out that if in relation to past modes, the unity between curd and camel is derived then Sugata was Mrga (deer) in his previous birth and the same Mrga

1 Nyāya Kumuda Canda, p 369, Anekānta Praveśa Tīkā, p 15

2 Nyāyaviniścaya-vivarana, vol 2 p 233

3 Nyāyaviniścaya-vivarana, vol 2, p 233

4 Pūrvapakṣamaviṇyānāya dūṣko'pi viduṣakāḥ, Nyāyaviniścaya-vivarana, vol 2, p 233



become Sugata Why then should Sugata only be worshipped and Mṛga be considered edible ?¹

Sugato' pi Mṛgo jāto Mṛgo'pi Sugatah smṛtah
Tathāpi Sugato vandyo Mṛgaḥ khādo yathesyate
Tathā vastubalādeva bhedābhedavyavasthiteḥ
Codito dadhi khādeti kimuḥtramabhidhāvati

Thus he tries to prove that as the transformations of Sugata and Mṛga are quite different, and their being worshipped and eaten are related to their modes, all substances have the capacity to be transformed only to their possible modes, not to others Therefore the identity between the modes of curd and came cannot lead to the truth Their transformations do not have the tādātmyasambandha and nityatasambandha ⁴

In fact, Akalanka and other Jaina philosophers tried to meet the arguments of the Buddhist philosophers in forceful words The innumerable examples of scathing attacks against Buddhists can be seen in Akalanka's and other Jaina Ācāryas works The caustic remarks, such as "Jādyahetavaḥ", "ahnīkalakṣaṇam", Paśulakṣaṇam" etc made by Dharmakīrti himself on opponents' views are criticised by Akalanka in the Pramāṇa-saṅgraha ⁵

Thus the Jaina philosophers do not accept any self-contradiction in the nature of reality in Jainism Likewise, the other defects such as confusion, commingling etc which are based on the self-contradiction, are also proved as "mithyādoṣāropaṇa". And, according to them, the criticism made by the Buddhists or others is not effective in this context As matter of fact, in their opinion, the nature of reality in Jainism has no defects provided it is clearly understood

Nature of relation of an entity

The nature of an entity is also a controversial point among the philosophers For instance, the Naiyāyikas, the extreme realists, think that relation is a real entity According to them, it connects the two entities into relational unity through conjunctive relation (samavāya sambandha) Samavāya is said to be eternal, one, and all-pervasive ¹

The Vedāntins and the Buddhists, the idealists, are against the view of Naiyāyikas The Buddhists assert the subjective view of relations A relation, according to Dharmakīrti, is a conceptual fiction (sambandhaḥ kalpanāḥ itah), like universal, and hence it is unreal ² He also rejects the two possible ways of entering a relation in universal They are dependence (pāratantra sambandha) and interpenetration (rupasleṣa sambandha) ³

1 Nyāyaviniścaya, 2 201-5 Likewise at another place

Akalanka, commenting on the Buddhist Ācāryas, especially Dharmakīrti says

Dadhyādau na pravartete Buddhah tadbhuktye janah

Adṛśyam saugatim tatra tanum samsanī amānakah

2 Nyāyaviniścaya-vivaraṇa, pt II p 172

3 Pramāṇa Saṅgraha, p 115-116

4 Tarkabhāṣā, pt I p 5

5 Pramānavārtika, p 3 237

6 Nyāyakumudacanda, p 305

On the other hand, the Jainas, on the basis of non-absolute standpoint, try to remove the extreme externalism of the Naiyāyikas and the extreme illusionism of idealism of Buddhism and Advaitism. They maintain that a relation is a deliverance of the direct and objective experience. Relation is not merely as inferable but also as an indubitably perceptual fact. Without recognising relation, no object can be concrete and useful and atoms would be existing unconnected.¹

As regards the rejection of two possible ways of relation, the Jainas say, that they should not be rejected. For, *pīratantyāsambandha* is not mere dependence, as the Buddhists ascribe, but it unifies the entity. *Rupasleśa* is also untenable for this purpose.²

The two points are here to be noted: the first is that, according to Jainism, the entity never loses their individuality. They make internal changes having consistent internal relation with the external changes happening to them. In adopting this attitude the Jainas avoid the two extremes of the Naiyāyikas, 'externalism and the Vedāntin' internalism.

Another point is that the Jainas consider relation to be a combination of the reality in it as something unique or sui-generis (*jātyantara*). It is a character or trait in which the natures of reality have not totally disappeared but are converted into a new form. For instance, *nara-simha* is a combination of the units of *nara* and *simha*. They are neither absolutely independent, nor absolutely dependent, but are identity-in-difference. Hence the Jainas are of view that relation is the structure of reality which is identity-in-difference.³

Conclusion

From these comments we may conclude that .—

- (i) *Arthaśūnyā* is the essence of *Syādvāda* conception. According to Jainism, the *arthaśūnyā* is possible in only the dynamic (*parināmī*) substance.
- (ii) The nature of reality is universal-cum-particular, and the nature of relation of an entity is deliverance of the direct and objective experience.
- (iii) There is neither self contradiction nor any other defect which the Buddhist philosophers tried to point out in Jaina conception of reality.

★

1 Jaina Theory of Reality and Knowledge

2 *Nyāyakumudacanda*, p 307.

3 Jaina theory of reality and knowledge, p 233



JAINA ETHICS

Its Ideal and Viewpoint

S C JAIN
M A , Ph D



Indian systems of philosophy are marked for their spiritual and moral outlook. Almost all of them have a common feature of ethical inclination. Jaina system of philosophy is no exception to the general philosophic trend of the country. Some thinkers are of opinion that the most important part of Jaina philosophy is its ethics. "Metaphysics or epistemology-in fact, knowledge of any kind is useful for the Jaina in so far as it helps him to right conduct."¹ Still we find that Jaina has not been overpowered by this general trend of Indian philosophy but is sufficiently vigilant as regards the critical examination of the various ethical concepts. Ethics, Metaphysics and other branches of philosophy constitute the philosophic system. Jaina philosophy lays due emphasis on its various aspects. It recognizes the claims of all the branches of the system with respect to the system as a whole and also in their mutual relationship in accordance with the spirit of Anekanta philosophy.

So there is a close relation between ethics and Metaphysics without explaining the metaphysical intricacies of a system we may not be able to probe deep into its ethics. It is said that the postulates of ethics are the conclusions of Metaphysics. We fail to draw a clear line of demarcation between Metaphysics and ethics on account of their close relationship. William Rashdall remarks, "It is impossible that our views on the ultimate problems of ethics should not be influenced by our attitude towards Reality as a whole, or that our view of reality as a whole should not be influenced by our attitude towards morality."² Neither ethics nor Metaphysics can be studied well in their mutual isolation. In constructing an ethics without taking the necessary metaphysical problems into consideration we shall be constructing an ethics without necessary foundation, or shall be unwittingly assuming the validity of the implied metaphysical conceptions.

Like many other sciences ethics has a number of axioms and for the validity of these axioms we shall have to resort to Metaphysics. It is why a system of Metaphysics is said to build the foundation of the connected system of ethics. Metaphysics deals with the fundamental nature of reality which the Jaina finds to be *anekantika*. So Jaina Ethics cannot shut its eyes to this basic nature of reality. Actions performed by an individual may be attributed

1 Datta A Chatterjee An Introduction to Indian Philosophy, p 114

2 Willam Rashdall Theory of Good and Evil, p 193

to him is the primary postulate of morality¹ It may be a general postulate common to all systems of ethics, but different schools of metaphysics will give different answers to this problem of moral accountability In a similar way other postulate of morality like the immortality of the self, the existence of God, freedom of will and the real existence of evil in the world will be explained in different ways One more axiom seems to be admitted in Jaina Ethics, and it is the possibility of liberation i.e. the possibility of the attainment of the ethical ideal Jaina Ethics presupposes that 'liberation must be an actual event in the life history of the soul'² As regards the metaphysics behind this postulate it is said, 'this aspect of Jaina philosophy did not much attract the attention of the Jaina thinkers themselves Like others the, also did not doubt the possibility of liberation, because this possibility is the very hope for which an entire system of philosophy, is constructed'³ Jaina Ethics is not much in disagreement with other systems in respect of these axioms, but the connected metaphysics to explain them must be different on account of the anekanta nature of Jaina philosophy This anekanta reflection on the problems of Ethics is a singular contribution to the ethical studies by the Jaina and it has given a distinct feature to Jaina Ethics

No less important are the psychological researches to the study of ethics The Jaina writers show a satisfactory insight into the psychological aspect of the ethical problems The truth of psychological Hedonism seems to be admitted in the proposition 'All living beings in the three worlds desire su'ha (Happiness or pleasure) and fear pain'⁴ 'The summum bonum of life is the attainment of unalloyed bliss'⁵ but perhaps very few may be found to be conscious of this high ideal On account of the psychological factors this basic urge for unalloyed bliss is changed into a lust for pleasure The very capacity which, in the absence of obstructing conditions, could have been directed towards the ideal is turned towards the worldly pleasures The capacity for unalloyed bliss and worldly pleasures is fundamentally the same as Aurbindo has observed pleasure can become pain or pain, pleasure, because in their secret reality they are the same thing differently reproduced in the sensation and emotion⁶ A drift from the psychological Hedonism to the ethical one does not require a special proof, if the truth of Karma psychology is accepted Karma psychology explains the deviations from the pure functions of the self by means of Karma forces which vitiate and delimit its cognitive and conative energies in various ways

McDougall gives another psychological truth in the form of purposiveness He holds that purposiveness is the essence of mental activity We rightly feel that we did not act as a mere machine, but the action was a purposive action in which our nature was truly expressed, and we may confidently infer that the goal was foreseen, however vaguely and incompletely at the time of action"⁷ So purposiveness means that every living organism is guided by the idea of the end or purpose in view in its behaviour. It is not simply impelled to action by a push of causing factors from behind, but also feels a pull from ahead The idea of the end

1 Willam Rashdall Theory of Good and Evil, p 203

2 S C Jain The structure and the function of the soul in Jainism, p 295

3 Ibid p 300

4 Daulatram Chhahadhata, 1. 1

5 C R Jain Key of Knowledge, p 10

6 Aurbindo The Divine Life, p 339

7 McDougall An outline of Psychology, p 49





and the effort to attain it are the facts of psychology in which the truth of the ethical ideal is grounded. The vision of the ideal and the effort to attain it will be proportionately clear and energetic to the absence of the disturbing factors in one's psychology. Karma psychology conceives these disturbing factors as originating from the karma forces bound with a soul. Besides, psychological knowledge of the self proves very helpful to one who aims at ethical attainments. He can make a satisfactory diagnosis of his self for ethical purposes by introspecting his own mental states. At the same time he will be able to eliminate such components from his vision of the ideal and from his efforts to attain it as may be determined by his psychology. Right assessment of this vision and of the required efforts seems to be very essential in the path of ethical progress.

In ethics conception of the ethical ideal occupies the most important place. Every proposition in the sphere of ethics is formulated with respect to the ideal. Ethics is a study of reality with respect to the ethical ideal. Mainly two theories regarding the nature of the ethical ideal are in vogue. One is Hedonism for which the ethical ideal is sensibility varying from grossest pleasure to its most refined form. The other theory is Rationalism which defines the ethical ideal to the pure reason free from all sensibility. Just to reconcile these two diverse views there comes Eudaemonism—a theory which recognizes the due claims of sensibility and reason. All these theories are based on their conception of the self. Hedonism finds the self to be of sensuous nature, while for Rationalism it is all reason. Eudaemonism conceives the self as constituted of reason and sensibility both. The Jaina bases his theory of the ethical ideal on the possibility of riddance from karma forces. The state of the self which results from the breach of karma forces is the ethical ideal of Jaina philosophy. In this state the soul's capacities for cognition and feeling are free from the vitiating influence which brought about limited and deluded knowledge and an inclination for worldly pleasures. In the absence of the vitiating influence the soul becomes free to cognize every thing and enjoy unalloyed bliss. This is the state wherein there is no conflict between the cognizing and the feeling faculties of the soul.

Jaina ethics recognizes one ingredient of the ethical path in the form of right faith which implies such an attitude of the mind as would direct the process of cognition and conation in congruence with the ideal in view. In the presence of this attitude all knowledge and conduct are considered to be right i.e. leading to the ideal. Just as limited knowledge in the presence of right faith is found to be helpful in the attainment of the ultimate ideal, so the lower forms of conduct in the presence of right faith must be held equally helpful on the ethical path. Judged from this point of view we find no opposition between reason and sensibility, nor do we need the reconciliation effected by Eudaemonism. In the ethical ideal reason must develop into full knowledge and sensibility into an enjoyment of the pure state of the soul. Jaina Ethics does not totally condemn reason or sensibility, but when they are not directed towards the ideal of pure self for want of right faith, they become undesirable.

The true ethical ideal for an individual is the pure state of his own soul,¹ though he may get a good guidance from the study of other pure souls. 'Swasamaya or self absorption is the essential goal to be aimed at by the Soul struggling to be free from the fetters of mundane bondage of karmas'² Kundakunda's theory of samayasara or the essence of the soul

1 Amrtacandra Purusarthasiddhyupaya, verse 16

2 J L Jaini Commentary on Samayasara, p 2

refers to this ethical ideal. All this points to a distinction between the ideal and the actual. The ideal is implied by the actual, and the actual is actual only with respect to the ideal. There is nothing like the absolute actual and the absolute ideal. Advaita Vedanta's dictum 'that thou art' may be similarly interpreted. 'That' refers to the ideal and 'thou' to the actual. Kundakunda himself has differentiated his position from the Samkhya absolutism on this very ground¹. From this stand-point we find a newer type of consistency in Bradley's concept of 'my station and its duties'. One may be at any station in life, his duties must be in congruence with the ethical ideal. Ethically the actual must agree with the ideal. This is the way how we apply this criterion to judge the worth of lower Ethics. The Jaina has to justify the householders' Ethics in this very way. The lower ideals are simply means to the higher ones, and they are so admitted to make the gradual ethical progress possible. These very ideals, when not accompanied by right faith i.e. when they are not in congruence with the ultimate ideal, are said to be false ideals.

A closer study of the nature of the ethical ideal will provide a better faculty for moral judgment. An action found to be in agreement with the ethical ideal must be called moral. A motive itself is an action of the mind. If it is in agreement with the ethical ideal though only as a motive, will be morally valuable. Consequences are something external to the self, and they may be in agreement with the internal state of the self. If this agreement between the self and the consequences is conducive to the attainment of the ideal of pure soul, the consequences may also be said to be morally valuable. This problem of moral judgment is basically the problem of moral accountability which in Jaina Ethics is technically called the theory of the soul's bondage. The self bound by the karma forces gives us the structure of the self of the karma psychology. The actions which lead to this bound state of the self are said to have no ethical value, while those that bring about a free state of the self from such bondage are ethically valuable.

One more implication of the Jaina theory of ethical ideal is that in Jaina Ethics pure view point takes the most significant position. No doubt the ultimate ideal of Ethics is the pure soul. From the point of view of the ideal it must be found as self contained and free from all external vestiges². But according to Jaina logic no view point can be adopted in an absolute manner i.e. with total negation of other view points. The truth yielded by such view points is faithful to reality, if they are accommodating to each other³. So in spite of the fact that the ideal view point occupies a very important place in Jaina Ethics it must be accommodating to the actual view point. The latter view point sees the soul as it is found to be i.e. in relation with its setting and environment while the ideal view point presents to us the picture of our ideal, the actual viewpoint gives us the actual position and situation in which the self happens to be placed. Both the viewpoints are equally essential on the ethical path. If the ideal viewpoint is upheld in an absolute sense, there is a danger of falling into the position of the Sankhya for whom the Purusa is absolutely immutable. When we enter the region of Ethics we have to take cognizance of the actual condition of the self and have to keep the picture of our ideal always in view. The standpoint of Ethics just brings about what we call the division of the self into the higher and the lower. The higher self passes judgments and issues commands for the lower self. As the ethical ideal of an individual is the

1 Kundakunda Samavasaras, verses 126-127

2 Samavasaras verse 16

3 Samantabhadra Aptamimansa, verse 108





pure state of his own soul, the moral action is considered to be internal to the self. The same self when qualified by the vision of the ideal becomes the higher self, and when it is disenabled by the forces of karma it is called the lower self. Thus the constant consciousness of the ethical ideal proves to be the real guide of an aspirant on his path to the highest goal of life.

From the psychological point of view and also from the ethical point of view as seen above the individual nature of the self seems to be an unquestionable truth. Whether it is the theory of Hedonism, Rationalism, Eudaemonism or the Jaina theory of pure soul the individual nature seems to be admitted beyond doubt. Bentham and Mill think that the object of every rational being is to obtain the greatest portion of happiness for himself. In spite of this overwhelming egoistic tendency in their systems both of them try to accommodate Altruism, though at the cost of a serious deviation from their fundamental position. Every egoistic system has to answer the above question. The advocates of Altruism seem to presuppose that not only the psychological but also the ethical life of an individual is possible only in the society of selves. In other words the self is to be seen in its setting and environment and not as divorced from all its relations. The Jaina also has to face the problem. Anekanta system of thought propounds that a real is a compendium of the relational and the non-relational. A real has an existence which implies its identity as abstracted from its setting and also as related to its environment i.e. how it occupies its position in its setting. To think it as absolutely independent of its relations or as absolutely dependent on its relations is the one-sided view it yields. The anekanta nature of existence accounts for the egoistic cum-altruistic trend of Jaina ethics. To hold that a soul is the architect of his own destiny or that it accepts the influence of other factors is a partial way of thinking. We may adopt the one or the other view as it suits our purpose, but the true position is identified with neither. In this way a soul admits of the good of the other souls in achieving its ideal without losing its own identity and contributions in the process of self attainment. The way to attain the ideal is two fold i.e. with respect to the soul itself and also with respect to the other helping factors. The very fact that the soul is prepared to admit the influence of other factors, though after the fashion of 'nimitta' causation, opens an avenue for Altruism in Jaina ethics. Love of those who walk on the right path, propagation of truth among the people, care to bring those who have deviated from the right path back on the right path and due encouragement in the form of revealing the merits and concealing the faults of those who have faith in the right path are considered as the very organs of right faith, the most important constituent of the path to liberation. The admission that a right faith wanting in any organ will prove impotent in breaking the cycle of births is a clear proof of Altruism in Jaina Ethics. It may be said that the position of Altruism explained above is valid only from the practical view point, but one should bear in mind that the practical view point is at least a view point, and it yields, like many other view points, a partial truth. Hence in Jaina philosophy, if Altruism is taken to be condemned with respect to Egoism, then Egoism will be equally condemnable with respect to Altruism, while the true position is safe-guarded in Egoism-cum-Altruism. The very nature of existence, and hence of the self is antagonistic to absolute Egoism and absolute Altruism. On the ethical path the position of the soul seems enriched both by Egoism and Altruism, and the egoistic and the altruistic traits of the self are found in it simultaneously. Such a position does not give us any opposition between Egoism and Altruism, but the two are held complementary to each other and go to constitute the good of the self at the various stages of its ethical progress.

MAN-MADE GOD

K B JINDAL
(GALLBIRS)



More than half the world believes without question, or argument that "God created man in his own image"¹ Cool consideration will however show that it was man who created God in his own image, The gods of the Greeks were conceived as finite beings, differing from human being only in degree They lived in Olympus and thought and acted like any one of us Only, they thought more rationally and acted more wisely They were deified ancestors or apotheosized men The incarnated gods of Hindus were also human beings There was nothing supernatural about Rama He was the essence of all that is best and noble in man

As long as religion is a matter of individual conscience, and as long as no priestly caste comes in between God and man, God will continue to be like us Each has his own God and conceives Him after his own fashion And since most of us are similar in physiognomy our God tends to be one

The Church Fathers of the middle ages created a great gulf between God and man They made him a Deity and took him away from us as our brother-man They imputed to him the whole creation of the Universe, and such of man also There is much to fear from Him People cease to do wrong not because their higher self impels them to do so but because there is somewhere some mute glorious power that is their arbiter, They work lest the "talent" may lodge with them useless and God "returning on de" "The eternal selfconsciousness communicates to human consciousness the idea of social good"²

It is profoundly interesting to find Shelley laying down, a century ago, quietly in his room, the laws by which modern scholars govern themselves His "Essay on Christianity" is a blow directed against the popular and orthodox form of religion, as corrupted by churches into a despotism He speaks of Christ as an historical character and as a man To bind him up with miracles to enfeeble his influence When the miraculous elements are left out, Jesus Christ remains, not indeed Deity, but loving humanity Shelley's "Necessity of Atheism" sets abroad the spirit of free intellectual inquiry The spirit of science philosophy, and Geology questions the existence of God That earth was result of millions of years of formation is more reasonable than that God made earth in six days Engrossed in the problem of personal immortality, Tennyson and Browning reach a compromise in 1860 That compromise is embodied in three lines

1 Book of Genesis ch 1, verse 27

2 Greene's "Idealism"

"Nothing worth the proving can be proven
Nor yet disproven, therefore thou be wise
Cleave ever to the sunnier side of things "

For every individual the world is his own idea of it. The reality is not to be found in any intellectual theory but in the blind impulses of man. This is the "Pathetic symphony of the Nineteenth Century", and Hardy uses it to prove that God is a figment of the imagination, a mere make-believe. All his life Hardy was much troubled by the questions of good and evil, and how it should be that evil was permitted by Deity who could presumably have so easily checked it. Because there is sin and evil in this world, God has not created it for He could not be such an incompetent architect as to despoil his own creation.

"Are God and Nature at strife
That Nature sends such ugly dreams?
So careful of the type she seems
So careless of a single life "

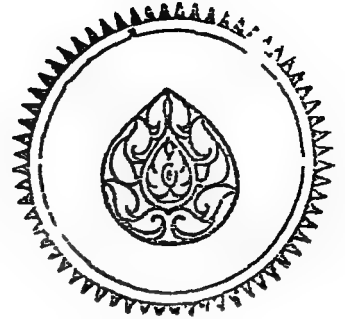
Thus God ceases to be our Redeemer, our King of kings, our Heavenly father. He has not made the Universe and so could not have "created man in his own image". It is man's infirmity to refuse to be satisfied with evolution. He demands a ruddier presentation of the sum of his experience. To nature and law, he prefers Destiny and God. Where reason fails he reduces every phenomenon, every circumstance to some suitable "mise-en-scene". Since the child has been brought up in the belief that there is some supernatural power who controls his and his parent's destinies, we can very well imagine the child's query as to what this power is like. And the child pictures God to something after his own shape. This is the inherent psychology when we pronounce that "God created man his own image."

Of all human institutions, religious beliefs and practices are the most tenacious. But they too must change with the changing times. The note of disillusionment has been struck by Schopenhauer, and we cannot raise the child's faculty of make-belief to the nth power. We are all the while conscious that God is our own creation and still we continue to say that God created us. We must march back through centuries and tear a page from Greek History. At best we can regard God as super-man, a super-soul, a PARMATMA. Man is his self-redeemer. He is God himself. The Jivatma will one day become Parmatma for—"God in man is one with Man in God"

JAIN SATIRISTS IN KANNADA LITERATURE

DR B S KULKARNI

M.A Ph D , Reader in Jainism, Karnatak University, Dharwar



Kannada literature has a history of one thousand years. The pioneers in the field are Jain poets, though Jainism is supposed to have come from the North. The Jain poets, though well-versed in Sanskrit and Prakrit, preferred to write in the local tongue. That is why Jain poets have become the pioneers in creating literature not only in Kannada, but also in Tamil. There are a good number of inscriptions in Kannada to show that good literature might have come up as early as 6th or 7th century A.D. But no written book is available till the 9th Century A.D. The first written book is "Kavirājamārga"—written in the court of Nripatunga—the Rāstrakūṭa King who reigned from 814-877 A.D. This is a book written mainly on Rhetorics. When a book comes out on Rhetorics it is sufficient proof to show that there must have come a lot of literature. But to one's surprise there is not a single work traced so far till we come to the 10th century A.D.

The first work on poetry is "Ādipurāṇa" written by the first Kannada poet "Ādipampa" in 941 A.D. in the court of Arikesari II a Chalukyan King. Pampa has written another master piece called "Pampa Bhārata". He has written these two works in Champu form. There is a fine blend of Sanskrit, Prakrit and Kannada in his works. In Ādipurāṇa the poet has tried to explain his own religion i.e. Jainism along with pure poetry. In his "Bhārata" the poet has given the story of Vyāsa Bhārata in Kannada. This method of the first poet was followed not only by the poets of his own times but by the poets of later centuries also. But the latter poets could not raise to the height of the poets of the 10th Century. That is why 10 Century is called the Golden period in the history of Kannada Literature.

The literature produced during this golden period does contain praise of the poet's of the poet's own religion. In Ādipurāṇa, Pampa gives unique picture of a controversy among different religions viz., Cārvāka, Buddhism and Jainism. The poet pleads in a very good sportive manner for each religion. His satire towards each religion is entirely objective. He never brings in low taste nor condemnation of any one religion. The same case is with poet Ranna. He praises Jainism but never depicts low taste for other religions.

But this attitude did not continue during the later centuries. During the 12th century a lot of change took over in the field of religious and social life of the people of Karnataka. Jainism began to decline. There was no royal help nor protection to Jain poets. Virasaiva



Śaraṇas and poets changed the course of Kannada literature. The Champu form gave way to Śaṭapadi, Tripadi, Sāṅgatyā, etc., and the common man's language was taken as the medium of expression in poetry also. Apart from all these things, the literature was made a direct means to propagate the religion. But during this period, the 10th century spirit was not maintained. The literature, of course, was used to propagate the religion, but the poets of this period brought in the literature, not only the praise of their own religion, but also the abuse of other religions. So the literature produced during this period, has become "Vāda Sāhitya" (वाद साहित्य) and contains satire of other religions. Jain poets of this period did not lag behind, even though, they were in a weak position. They did produce literature containing defence and praise of their religion i.e. Jainism and satire of other religions. Glimpses of this attitude, may be seen in many poets of this period, but in this article, mention may be made only to outstanding three poets. They are "Nayasena", 'Brahmaśiva' and 'Vṛttavilāsa'.

Poet "Nayasena" was a Jain monk and has written "Dharmāmṛita" in the year 1112 A.D. He lived in Mulgunda, now a village in the Dharwar District, Mysore State. "Dharmāmṛita" contains 11 chapters. In each chapter the poet has written a story connected with "Darsana" and its eight folds viz., Nisankṣā, niskāṅkṣā, nirvichikitsā, amūḍhadṛṣṭitva, upagūhana, sthūṭikarāṇa, vātsalya, dharmaprabhāvanā and five anuvṛitas viz., Ahimsā, Satya, Asteya, Brahmacharya and Aparigraha.

In all these stories the poet has tried to maintain the supremacy of Jainism. The follies of other Faiths are depicted in a very high type of satire. In one story a priest of another Faith condemns Jain monks. This very priest is made to live and eat like Jain monks for only a temporary period. The priest is made to eat food prepared out of Ghee etc., and is kept in a room duly locked. After some hours he feels thirsty but no water is given till the next day's food time. He is made to live without bath like Jain monks and within a week's time his body becomes abode of itches etc. He could not live like Jain monks and he openly admitted the greatness of Jain monks who have full control over all limbs. The fine satire in this story is clear evidence to show that poet "Nayasena" was a master in that art. Examples of such fine satire are full of his work. Nayasena has written his work in the Champu form. He is not in favour of writing a book mixing up both Kannada and Sanskrit. This attitude of the poet is seen throughout his book. Though there are Sanskrit words, his book contains pure Kannada spirit. Poet Nayasena uses Kannada proverbs and similes. His similes are another noteworthy point in his work. The poet gives similes one after another and they are all from the local stock and tongue. The effect of such fine similes is ever lasting and unforgettable pleasure. Because of this 'Deshī' (देशी) 'Dharmāmṛita' has earned a permanent place in the heart of Kannadigas apart from its religious tinge and satire.

Poet Brahamaśiva lived during the first half of the twelfth century and has written two works viz., "Samayaparikṣhā" and "Trailokyachudāmanistotra".

In "Trailokyachudāmanistotra" the poet condemns the worship of Tree, Sea, River, Sun etc., and says that they are all not gods. To be liberated, the poet advises, to follow the path of Jina. The 36 verses in this work depict poetry of high order.

"Samayaparikṣhā" is a masterpiece of poet Brahmaśiva. This work is a mirror to the contemporary society that existed in Karnatak during the first half of the 12th century from

religious, social and political points of view. All these aspects are depicted with historical sense. It is from this point of view that "Samayaparīkshā" gets unique place in the history of Kannada literature. The poet describes the decline of Jainism and all other different Faiths which had gathered in Karnataka claiming supremacy over each other and leaving the common man in despair. This work contains 15 chapters. The poet has tried to show that Jainism was a very ancient religion and held its sway all over the country. According to the poet every temple, religious place one day or the other, belonged to Jain Faith, and it is the best Faith to be followed. His verses in praise of 'Jina' display a very good poetry. Brahmasiva condemns blind or foolish beliefs. The poet takes references in the epics of other Faiths and describes the folly of them. He has done this part of satire without any mercy. He condemns the ten incarnations (avatāras) of Viṣṇu. He condemns the idea of 'Ardhanārīnāteshvara'. He does not believe in the "Śayambhu" (स्वयम्भु) existence of any man or idol. He mercilessly criticises the manners, food, drinks etc., of other Faiths. The satire of Brahmasiva may be felt harsh but as history admits with him, all the honour becomes due to him. His book really satisfies the saying that 'Literature is the mirror of contemporary life'. The satire of Brahmasiva has become a boon to the students of history and here lies the poet's greatness.

Poet Vṛttāśā has written two works viz., "Dharmaparīkshā" and "Śāstrasāra". He has not given any thing regarding his date, place, parentage etc. So it is difficult to say about his definite date etc. He is supposed to have lived during the year 1360 A.D. His 'Dharmaparīkshā' is based on poet Amitagati's "Dharmaparīkshā" written in Sanskrit. Vṛttāśā has written his work in the Crampu form. "Dharmaparīkshā" contains ten chapters. The poet has taken stories from Vaidic sources and has tried to show the follies there in. The satire is direct and forceful. His technique of telling the stories and condemning them is fine. He has taken two friends viz. Manovega and Pavanavega. Manovega was a believer in Jain "Siddhānta". Pavanavega was a believer in Vaidic system. Manovega wanted to make his friend a believer in right things and not in false ones. He wanted to do this without hurting the feelings of his friend. So, he adopted a method as if for a fun and at last converts his friend and brings him to the right path. He took his friend to Pataliputra (Patna) in different garbs such as woodcutter, hunter etc., and going to "Brahma" temple, in the debates, he defeated the learned party. Manovega followed the method of telling a fantastic story. The other party did not believe and questioned its reality. Then Manovega asked them about such stories which were in their religious books. Then told a story and asked "If this is true, mine is also true. If this is not true then mine is also not true". The story is a powerful medium to win over the minds of listeners. So, Manovega wins over his friend without hurting his feelings and brings him to Jain Siddhānta. When Manovega was in the disguise of a shepherd he told a story as follows: "We two went to a forest with our herd. We saw a tree full of fruits. Then we cut off our heads and went up the tree and ate fruits. As our heads ate fruits, the bellies of the bodies lying at the trunk of the tree became full. After eating a lot the heads come down and attached themselves to the bodies. Meanwhile the sheep are missing and we are in search of them. The learned people did not believe and questioned its possibility. Then Manovega gave a good number of examples from Vaidic Epics such as the birth of Jarāsandha, Ghatodgaja and Ravana cutting his heads and made them sit silent". During another occasion he took a cat and told the learned people that the price of the cat was 1000 'Varāhas'. Being surprised they asked the speciality of the cat





Manovega told that that cat could smell the presence of a mouse round about 1000 'Yojanas' When the cat was examined it was found that its ear was torn and it was bleeding When asked the reason for bleeding, Manovega said "Yesterday night when the cat was sleeping a mouse came and bite the ear" When they laughed Manovega told them stories of inconsistency from Vaidic sources The work is full of such interesting stories full of satire

Though "Dharmaparīkshā" is a translation it is very useful addition to the Kannada field Vrittavilāsa's satire and poetry is of very high standard

In his second work "Shāstrasāra" also poet Vrittavilas has tried to condemn 'mithyavāda' and has given 'Samyaktva' for common man But this work has not been published so far

To praise one's own religion is something But one should not condemn the religion of others Ofcourse this should be the spirit of the poets as well as common men in general But things shape themselves in the light of the time and circumstances So, one should not worry about such things In Karnatak, "Vādasāhitya" was produced in the light of the times, and Jain poets also contributed their might, though they were in a declining stage and the names of these satirists stand immortal in the history of Kannada literature

SOUL IN JAINISM

KHEM CHAND JAIN

M.A.



Almost all the Indian thinkers have accepted two entities i.e. soul (jeeva) and non-soul (Ajeeva). According to Jain view soul is that element which knows, thinks and feels. The fourfold characteristics of Anant-Jnana, Anant-Darshan, Anant-Sukh and Anant-Viarya are found in the soul. Ajeeva in all respects is the opposite of Jeeva. Touch, taste, colour, smell etc. are the attributes attached to it. Ajeeva is divided into Pudgal, Dharm, Adharm, and Kala.

Acharya Nemi Chandra Siddhant-Chikarvarti lays down the eight characteristics of Jiva

Jivo uvaogamao amutti katta sadehaparimano
Bhotta samsarattho siddho so vissasoddhagai

—Dravya Samgraha 1-2

The following verses from Panchastikayasamayasa by Kund-Kundacharya is exactly similar to this verse of Dravya-samgraha —

Jivotti ha vadi cheda uvaoga visesido pahu katta
Bhotta ya dehamatto nahi mutto kamma samjutto

—Panchastikaya Samayasara 27

Kamma mal vipa mukko uddham logassa ant-madhiganta

—Panchastikaya Samayasara 28

1 Upayoga

It is the sole characteristic of Jiva. It is a sort of inclination which arises from consciousness. This inclination is either towards Darshan or Jñana. The detailless knowledge or indefinite cognition is called Darshan. In Jñana the details are also known. If the attention is directed merely to an awareness that something is present to it but cannot be described, it is Darshnopayoga. If it is directed to know this something definitely, it is Jnanopayoga. Darshan is divided into four parts i.e. Chakshu, Achakshu, Avadhi and Kevala. So there are four kinds of Karma which obscure each of these varieties. By removal, cessation or mitigation of one or more of these varieties of Karmas the corresponding class or classes of Darshan is or are evolved. Jñana is of eight kinds viz, Mati, Śruta, Avadhi, Manah-parya, Kevala, Kumati, Kusurat, Kuavadhi. It is also divided into two pratyaksha and paroksha. Direct contact of

Jiva with the object is called, pratyaksha. Sense perception or mediate knowledge is paroksha. Avadhi Manah-parya and kevaljñan are pratyaksha and Mati and Srutajñana are paroksha.

Charvaka-view accepts sense perception as pratyaksha and gives maximum importance to sense perception, Jain view stands against it. The nyaya system recognises the difference between a quality and the possessor of a quality but by saying that Jiva consists of a quality Upavoga which is made up of Jñana and Darshan, the theory of nyaya is upset.

According to Vyavahara Naya the general characteristics of Jiva are said to be eight kinds of Jñana and four kinds of Darshana. But according to Shuddha Naya pure Jñana and Darshan are the characteristics of Jiva.

2 Amurta

Jiva in its natural or real state is invisible. When the soul is attacked by passions, desire etc. it takes on the Karmic material fit for the bondage of Karmas. The Karmic material mixes with the soul as milk mixes with water or fire with iron. Due to karmic material the Jiva becomes Samesari and it has to travel in to four Gatis. When the soul becomes free from karmic bondage it attains complete liberation or Moksha. According to Vyavahara Naya the Jiva is Murti or with karmic form and it is Amurta according to Nischaya Naya, i.e. without karmic bondage. It has no colour, taste, smell or touch.

3 Karta

According to Vyavahara Naya Jiva is the doer of Pudgalkarmas. According to Nischaya Naya, Jiva is the doer of Bhava-karmas. And according to Shuddha Naya (Jiva is the doer) of Shuddha Bhava.

Puggalā ammadinam katta vavaharado du nichechayado
Chandana lammīnada Shuddhanaya Sīdhabhavanam

—Dravya-Samgraha 1-8

Anger, pride, attachment, aversion etc. are the bhava-karmas of Jiva. Jiva being the doer of these karmas influences Pudgalkarmas or Dravyakarmas. Vyavahara Naya says that Jiva is doer of Dravyakarmas but in reality it is the agent of its own bhavas. Vedānta considers the whole universe as one spiritual brahman but Jainism asserts different units of Jiva. Unlike Christianity which declares that the universe is made up of matter only, it holds the view that universe has Jiva and Matter both. They act and react and a constant state of activity is going on. Sāṅkhya believes Purusha as indifferent or inactive where as Jain philosophy confirms Jiva as an agent or doer of actions.

4 Sūdratva-karmen

According to Vyavahara Naya the conscious Jiva becomes equal in extent to a small or big body by contraction or expansion, but, according to Nischaya Naya, it is existent in an indivisible प्रदेश. A soul can occupy the space represented by ant or elephant or a mountain found in the greatest ocean Svayambhūman. It may also occupy the body of a Nishida. As the possible oxygen or hydrogen fill up the whole of the space within different sized different capacities, so is the case with Jivas. Tatvartha Sūtram also confirms this principle.

Prādhīkṣaṇīya śāroabhyam pradīpāt

—Tatvartha Sūtram 5-16

5 Bhokta

Jiva enjoys misery and happiness, according to Vyavahara Naya. According to Nischaya Naya Jiva enjoys conscious bhavas only. Broadly Jiva has the thinking and action in terms of attachment and aversion. Due to this, these states of Jivas, there is influx of matter in them. Jiva has to undergo misery or happiness as the fruits of pudgal-karmas. As Jiva is an agent or doer of actions, it has to assimilate karmas. These karmas maintain a series of Sata (happiness) or Asata (misery) for coming incarnations. The fact that Atma is Karta and Bhokta refutes the doctrine of the Buddhistic philosophy that an agent does not enjoy the fruits of karmas.

In this world we see that 'A' is happy and 'B' is unhappy. 'A' is rich whereas 'B' is poor. 'A' is healthy and 'B' is unhealthy, why? Jainism gives satisfactory answer to these questions. The proverb, 'As you sow, so shall you reap' or Jo jas karahu so tas phal cha' na (Tulsidass) gives the proper reply. Every soul in the course of evolution is knower, enjoyer and the actor-jñata, Bhokta and karta. In Sankhya school purusha as a chetana entity is knower and enjoyer. But he is not karta. Pralīti (pudal) is considered karta. Jain thinkers object to this idea. They say if purusha is non-active (Akarta) how can he become brokta (enjoyer) of actions carried out by some other agency. Hence the tripolar declaration (jñata, karta and bhokta) of Jain school solves all such problems.

6 Samsarasth

Jiva or soul is mainly of two kinds—Samsara Jiva and Moksha Jiva. The soul with Karmic bondage is Samsara Jiva. It has to adopt the cycle of birth and rebirth. It has to take birth in four gatis or classes. The chaturgati bhraman-cycle is subject to birth and death. This cycle is called Samsara i.e. "Samsarnam Sansarah". "Each samsaric soul is born with a body and continues to live as embodied soul subject to growth, old age, decay and death, when it has to quit its body in search of another body, it acquires another body consistent with and determined by its own karmic conditions. This Samsara Jiva associated with its own corporeal existence is considered to be uncreated and therefore beginningless. For the Jain meta-physician Samsara is Anadi. Other schools of Indian thought agree in this particular point that Samsara is Anadi." *

7 Siddha

When the soul destroys eight karmas by constant Tapa and Nirjara, it becomes free from karmic bondage. It attains intrinsic purity. This perfect self attains a state of existence which is permanent, immutable and incomparable. A siddha has nothing to do with the cycle of Samsara. Moksha is a state of perfect liberation, peace and bliss.

Swami Samantbhadra defines Moksha —

Janam jara bhaya marnaer sho'kaer dukhaer Bhayaescharimuktam
Nirvanam Shuddhsukhi, Nishchreyasmishyate nityam

—Ratnakarand Sharavakachara 6-131

Mukta Jeevas enjoy four infinities—Anant Jñana, Anant Darshan, Anant Sukh and Anant-virya and enjoy them for ever. The following verse describes that every Mukta Jiva enjoys and will enjoy absolute self with four infinities

* Prof. A. Chakravarti—Samayasara, p. 644/1



Vidyadarshan shakti swasthya prahlad trapti sudhi yujah
Nirati shaya nirvadyo, Nishhreyasamavasanti sukham

—Ratnakarand Shravakachara 6-132

Every mukta Jiva like purest form of gold possesses the magnificance and radiance of its auspicious soul

8 Urdhvagami

A Jiva which destroys karmic fatters becomes liberated It goes upward, right vertically to the end of Loka or universe

Tadanantaamurddham gachhatya lokantat

—Tatvarthasutram, 10-5

Being void of eight Karmas a Jiva finds eight qualities in it They are Samyaktva, Jñāna, Darshan, Virya, Sukshma, Avagahena, Aurulaghu and Ayyavadha corresponding to the destruction of Mohaniya Jñānavaran, Darshanavarana, Antaraya, Nama, Aayu, Gotra and Vedaniya Karma

The upward motion of a Jiva is due to four considerations 1) Purvaprayogata—like a potter's wheel, 2) Asangatvat—like an empty gourd coated with clay, 3) Bandhachchadat—like the castor-been, 4) Tathagatiparinamat—due to the soul's nature to go upwards, like the flames of fire Because of the non-existence of Dharmastikaya or the medium of motion the soul does not rise higher than the extreme limit to Loka or universe All Siddha Jivas enjoy four infinities individually in Siddhaloka This refutes the doctrine of vedanta which accepts one supreme being and other souls being part of it

Stages of Atma

With the development or decrease of Ratnatraya i.e. Right belief, Right knowledge and Right conduct, the soul has three stages

- 1 Bahiratma —The soul which accepts his body as soul It does not believe in good or bad deeds, punya or paap The lack of self-confidence and right knowledge leads a Jiva to the circle of chaturgati
- 2 Antaratma —Antaratma is he who has faith in himself, who wants to attain salvation Antaratmas are of three types
 - (A) Uttamantaratma is he who has won over emotions, passions, avarice etc who has full faith in four infinities, who completely follows the principle of non-possessiveness and owns twenty-eight Moolgunas
 - (B) Madhyama Antaratma is he who has faith in Ratnatraya and follows five Anuvratas He is called Deshvrati Due to the chhayopsama Mohaniya-larma he cannot attain full conduct (purna charitra) like uttamantaratma
 - (C) Jaghanya Antaratma —It is also a laity or householder like Madhyama Antaratma He does not observe any vow Thus he is Abrati Still he has faith in his soul and strives for salvation without renouncing the social responsibilities

Paramatma—s of two types Sakal and Nikal Parmatma

- (A) Sakal Parmatma — At the end of twelvth gunasthana the aspirant destroys other ghati karmas and attains four infinities. This stage is known as Sayog kevali because the activity of mind, speech and body continues. A Sakal Paramatma is called 'Arhat'.
- (B) Nikal Paramatma — This is the highest stage of the soul. Here the soul is free from the bondage of Aghati Karmas. The soul being free from karmic bondage rests on the Siddhshila. Nikal Parmatma is the perfect self-enjoying Anant Chatustaya.

Conclusion

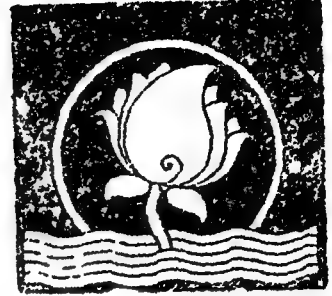
The chaos and the confusion in the present world is all due to the ignorance about the essential qualities and characteristics of the soul and the knowledge and faith that flow therefrom. The realisation of the self is the only panacea for the solution of the crisis of confidence and collapse of national character. "Live and let live" as preached by Mahavira and other great saints can be possible only when the individuals realize that their soul is akin to other souls and all are striving for perfection. The dreams of saints will become null and void and the whole universe will be thrown in to the abyss of universal destruction if we throw compassion, mercy, non-violence, peace and love—the true attributes for a happy life—over board.

•



THE BUDDHIST CONCEPT OF VINNANA

Prof P CHANDRA
University of Saugar



Vinnāna (variously translated as consciousness, cognition and intellect) is one of the most significant Buddhist concepts. Few others have attracted an equal amount of attention from the editors of the Pali Canon. This term has been used in a wide variety of meanings and contexts and no accuracy seems ever to have been maintained in this respect. Is it necessary, or even probable, that all the different imports of this word were prevalent at the same time? The Buddhist Canon, as is now almost universally accepted, was not produced at one time. There are discernible in it many strata of antiquity. Perhaps some ideas were peculiar to the earlier strata while others characterize the developed stage. *Vinnāna* is one of those few important ideas which seem to have been common to all the stages of the Canon's development. This can only mean that this particular concept must have had a process of growth all of its own. If it is true that there are earlier and latter strata in the Pali record and that *vinnāna* is referred to in both, a mere change of context would necessitate a change of meaning.

It is not intended here to take up the whole complicated issue of a sound and acceptable criterion for ascertaining the relative antiquity of Buddhist ideas. This problem has been us for a long time already, and we are not much nearer its solution. Here, we can at best try to discover why some meanings of the term *vinnāna* should be considered earlier than the others. And this can be done only in general term, on the basis of widely accepted tenets. Going into the merits and the details of the arguments, however, would be out of the scope of the present paper.

There are some considerations that may help us in this search. We have been told by generations of anthropologists that some form of animism—the belief that there is something within every living body which enlivens it—characterized all early religious thought. Questions based on this belief are found in as late a Buddhist work as the *Milinda-paṇḥo*¹. Similarly, there is little difference of opinion that there was a tendency towards a dualistic analysis of the human personality in almost all the earlier speculations on man. Dualism, it is said, comes naturally to a beginner in the field of philosophy. Finally, the movement of the thought-process is usually considered to have been from simple to complex, from homogenous, less exhaustive and less dogmatic to heterogenous, all-comprehensive and rigidly dogmatic.

1 *The Questions of King Milinda*, SBE vol 35, by T W Rhys Davids, 1890, pp 86 ff, vol 36, pp 85-86, where water is held alive

By a combined application of these ideas, we can discern two different connotations of the concept of *Vinnāna*. One occurs in an evidently dualistic analysis of the personality, with clearly animistic overtones and without the scholastic acumen usually found in the later texts. The other finds a place in the oft-repeated analyses of personality which are pluralistic in approach, free of animism and fairly critical and dogmatic. As Dr E J Thomas has observed, "The Buddhist conception of the individual, the person consisting of a material and immaterial part, is a quite definite theory, which at first appears without any polemics."¹ However, to quote him again, "It was the analysis into khandhas which became the established form for the analysis of the individual underwent further elaboration and comment."²

According to Rhys Davids and Stede the ecclesiastical dogmatic considers *vinnāna* under the categories of (a) *khandha*, (b) *dhātu*, (c) *paticca-samuppāda*, (d) *āhāra* (e) *kāya*.³ Now, it can hardly be doubted that such a thorough and exhaustive analysis could not have been the work of the earliest Buddhist monks. It apparently presupposes some development in acumen and much deliberation on the part of its propounders. Earlier under the same entry the two scholars inform us that *vinnāna* among other things meant "a mental quality as a constituent of individuality the bearer of (individual) life, life-force (as extending over rebirths), principle of conscious life, general consciousness (as functions of mind and matter) regenerative force, animation, mind as transforming (according to individual *kamma*) one individual life (after death) into the next." All these epithets fit only that conception of *vinnāna* which we have considered to be the earlier one.

The editors of the Pali Canon manifestly made no attempt to keep the two levels separate and distinct. In fact, we find both the dualistic and the scholastic analysis running side by side in the whole Canon. It is not uncommon to find that what almost looks like a problem needing interpretation when confined to one level becomes quite apparent the moment we take into consideration the other level also. An attempt to discern the two levels of antiquity in the use of this particular concept, therefore, would not be wholly unwarranted. However, we propose to confine ourselves to what we consider the early use, and to the reasons for considering it so.

II

Let us begin with the frequently recurring phrase, 'body-with consciousness' (*sa-vinnānaka-kāya*).⁴ It was obviously a way of pairing body and consciousness dualistically, and is almost equivalent to our modern way of speaking in terms of body-and-soul. It is plain that *vinnāna*, when thus used, must include all the mental or spiritual contents of the personality. Here it combines those attributes of personality which cannot be grouped under body or physical constituents. At one place, however, the term *saññā* replaces *vinnāna*. In the *Samyuttā-Nikāya*, the Buddha tells *devaputta* Rohitassa that the ill was in this 'fathom-long carcase with its impressions and ideas, (*Vyāmanatte kalevare saññīmhi*).⁵ Nevertheless, no change in the meaning is warranted by the context. The point of emphasis is their being non-material. That *vinnāna* or *saññā* are not to be confused with the factors of existence of

1 *History of Buddhist Thought*, 1933, p. 96

2 *Ibid* p. 97

3 PTS Pali-English Dictionary, qv

4 S N, II, 253, III, 80, 169, A N, I, 132, IV, 53 etc

5 I, 62





the same name, should also be quite plain. In the standard and detailed analysis of the personality, it is never admitted that any one of the four non-material factors could replace the other three. All the four are on the same plane. When one of them assumes the role of all, as here, the conclusion is forced on us that we are dealing not only with two different meanings, but also with two levels of antiquity. Such basic change of import is hardly understandable otherwise.

Almost the same thing can be said about the often-repeated phrase to which Oldenberg has referred¹ 'This is my body, the material, framed out of the four elements, begotten by my father and mother but that is my consciousness (*viññāna*), which clings firmly there to, is joined to it'. This way hardly differs from the common man's understanding of the subject. There is nothing specifically Buddhistic in it. Dr Thomas believes that, "Either we have here a more rudimentary analysis, or the sensations and thoughts are implicit in consciousness"². That is rudimentary is borne out by its nearness to the dualistic mode of thinking, and if it is dualistic, then all the mental attributes are bound to be implicit in consciousness.

III

If consciousness is synthetically attached to the body, without any way forming a part of it, it can be imagined that, if transmigration were accepted in the earlier strata of Buddhist thought, it would be left for consciousness to accomplish it. In other words, as the body cannot move from existence to existence, and as its destruction was visible to everyone, it certainly could not help in perpetuating the chain of existence. Consciousness, as we saw above, combines in itself all the spiritual functions, and hence if there is to be a moving on, it would be the moving on of the consciousness. And that is exactly what we find. Transmigration was accepted in Buddhism from the very beginning, and there are many passages which directly point towards *viññāna* when the need of finding out the link between two lives was felt. We are referring to the passages that talk about the "descent" into the mother's womb to form another name-and-shape. Foremost among such passages is the *Mahānidāna Sutta* of the *Dīgha-Nikāya*. The Buddha is explaining the links of the causal chain to Ananda. In what way does the *viññāna* cause the coming about of *nāma-rūpa* (name-and-shape)? "If *viññāna* were not to descend (*okkamissatha*) into the mother's womb, would *nāma-rūpa* take form therein?" He asks. In order to bring about new person, nothing short of the descent of consciousness into a new womb is needed. Further, if the *viññāna* become extinct after the descent the new person would not take birth. Consciousness is not only responsible for the origin of a new personality, it has to foster it into full growth as well³. This passage eludes all explanation unless some sort of a belief in animism is presumed on the part of early Buddhism. The very idiom is based on a prior acceptance of a living principle inside the body which moves on to form another person. And here also, it is difficult to see how consciousness could have been used in the sense it is used in the five-factor analysis. As we saw in the passage quoted earlier, the body is what is brought about by father and mother, but the consciousness comes from outside and joins it.

The way the Buddha mentions the descent in a *Samyutta* passage is interesting inasmuch as the Buddha, instead of offering it as an explanation, takes for granted as an established fact

1 *Buddha His Life, His Doctrine, His Order*, Tr by W Hoey, 1882, p 253

2 *op cit*, p 96

3 *DN*, 11, 63, *DB*, 11, 60



along with some disciples visited the scene—to find the *Māra* in the shape of a smoky cloud, going in all directions to find out where the *viññāna* of the deceased had established itself (*patipphan*). As it was established nowhere the deceased being a liberated person, he failed to find it¹. It is no use arguing that the Buddha might have been speaking in figurative terms. The physical reference is only too obvious. And here, as earlier, the *viññāna* cannot be treated in the limited sense of being one of the four non-material *khandhas*. It quite plainly represents the life itself. The *Māra*, in fact, is the power that maintains the cycle of rebirths. His failing to find somebody's consciousness means his inability to keep that person in the chain of rebirths. And how does he come to lose his hold upon a particular individual? Through that individual's succeeding in eradicating the fetters, and thus rendering the *viññāna* untraceable. And an untraceable entity cannot descend into a new womb. It has been asserted by Rhys Davids² and Childers that it was not any part of the personality that transmigrated but the individual's karma. However, the authors of this argument appear to have already decided against the possibility of the transmigration of the living principle, because they did find the transmigration of the soul maintained in the *Pali* Canon, and they had to ascribe rebirth to something. In the opinion Dr Thomas, 'no evidence has ever been given for this views'³.

V

It appears that *nāma rūpa* was another way of describing the personality dualistically. After an animistic descent in the womb, the *viññāna* caused the arising of the *nāma-rūpa* complex. Now what is *nāma rūpa*? Sāriputta explains in the *Sammā-diṭṭhi Sutta* by equating the *nama* with the mental attributes, *vedanā*, *saññā*, *cetanā* *phassa*, and *manasikāra* (feeling, perception, volition, contact, and attention, respectively), and *rūpa* with the four great elements⁴. This is good evidence of the fact that whatever the standard analysis of the person later became this dualistic interpretation was part of early Buddhism. *Viññāna* is related to the two in the same way in which a transmigrating soul is related to the newly-created being in the popular terminology. The soul causes the coming into being of a new person, but it never leaves the new person as long as he is alive. Probably in the same way, *viññāna* also caused a new *nāma-rūpa*, but stayed in it in the form of the mental attributes. Although *viññāna* was not equated with the *nāma*, it would not be unreasonable to suppose them denoting the same object, because the early Buddhists evidently realized the distinction between mental and physical, *viññāna* has elsewhere been identified with the mental factors. Thomas also considers *nāma rūpa* to have been adopted from popular usage, which failed to become the standard form for the analysis of the individual⁵.

VI

Nibbāna or liberation affected the *viññāna* in an inexplicable manner. It was certainly not annihilated, but it became untraceable. This has been told in many passages describing many happenings. As we saw above, in the case of the suicide, the *viññāna* became untraceable even to the *Māra*. Two more instance are now dealt with

1 *SN*, i, 122 and iii, 124

2 *Ibbert Lectures*, 1881, 4th ed, 1906, p 92

3 *op cit*, p 105

4 *MN*, i, 53

5 *op cit*, p 17

In the *Brahmī-jāla Sutta*, we are told that after winning the truth, the *Tathagata's* body (*kāya*) remains but that which binds him to rebirth is no more (*ucchinna-bhava-nettiko*)¹ He would become untraceable after death. Now, what is *bhava-rettiko*? And what is that which would become untraceable after death? Obviously, not the body, but some other factor which must have been there along with the body and on which depended the future becoming. That factor could only be the mental constituent, or *viññāna*, although it has not been specified in as many words. *Alagaddūpama Sutta* is more clear. "When his (a monk's) heart is thus delivered, not Indra or Brahma or Pajāpati with all their trains, can succeed in tracking down aught on which depends a truth-finder's consciousness. And why?—Because, say I, already, here and now, the truth-finder is untraceable."² Both these passages clearly define the role *viññāna* plays in transmigration. As long as something is left on which a person's *viññāna* could depend, in other words, as long as there are ignorance, cravings and the *āsava*s present in him—he cannot be liberated. After death, such a person's consciousness falls under the sway of the *Māra*, which means that it will move on to inhabit another womb. But if that person has conquered the fetters, his consciousness will have no support, and will thus be in a condition immune from the unpleasant liability to move on.

That the consciousness can persist only through depending on some object appears to have been clearly recognized in the Canon. Thus, in *Samyutta-Nikaya*, we learn that it is volition which furnishes a station for the consciousness, thus enabling it to grow and bring about the perpetuation of the series of suffering.³ There is no rebirth if the consciousness is refused a standing space. Similarly, at another place, the factors of body, perception, feeling and predispositions are declared to be the home of consciousness, and thus the latter becomes a "home-haunter."⁴ This can only suggest that at least some considered consciousness to be more fundamental than the other factors. Does it mean that there were two levels even among the five factors? It is declared later that it was through attachment to body and the *sankkhāras* (predispositions) that the *viññāna* persisted. There could be no coming or going or the decease or the rebirth of consciousness, without the other four factors. By abandoning lust for these four, one cuts off the platform for consciousness, and rebirth is no more.⁵ Almost the same idea is put forward in the *Anguttara*⁶ where *viññāna* is compared to a seed sown in the field of *karma*, which is fostered by the moisture of craving, and thus brings about rebirth.

It appears that all the passages where *viññāna* is coupled with body dualistically, or is treated as more fundamental than the other factors, or finally, is assigned a key role in the transmigration, should be considered as hinting at an earlier stratum of Buddhist teaching. The developed scholastic doctrine has assuredly none of these characteristics. No matter how intermingled these two currents are in the Canon, they can be sorted out by close examination. But this should not be understood as a denial of the modifications affected by the Buddhist monks in the somewhat naive and uncritical concept of *viññāna*. Passages suggesting such transformations are many.

1 D N, i, 46

2 M N, i, 140, Furth, Dial, i, 98-9

3 'ārammane sati patittha viññānassa hoti, tasmim patisshe viññāne virūlhe āyatim punabbhavābhiniṃbbati hoti' S N, ii, 65

4 'rūpadhātu kko gahapati viññānassa oko' etc S N, iii, 9 K S iii, 11

5 S N, iii, 53

6 A N, i, 233



VII

The special characteristic of Buddhist thought was its thorough and relentless emphasis on the facts of change, movement and becoming. These were, in fact, some of the points on which early Buddhism broke away from contemporary thinking. Oldenberg has correctly remarked that, 'We must here divest ourselves of all customary modes of thinking. Here as everywhere it (i.e. Buddhism) condemns that fixity which we are prone to give to the current of incidents that come and go by conceiving a substance to in which they might happen.'¹ It would be out of place here to go into the details of this point, but this much can certainly be said that of all the current ideas accepted by early Buddhism, not one remained unaffected by the dynamic point of view. The concept of *viññāna* could hardly have been an exception.

First let us examine the use of *viññāna* as an *āhāra* (sustenance) and see to what extent this usage is free of the standpoint of being. On being asked, 'Who feeds on consciousness-sustenance?' The Buddha replied, 'Not a fit question.' The possible reason for saying so could only have been his refusal to deal in terms of being, as is evident from the answer he actually did give. The proper question, according to him, would be 'of what' and not 'who', and the answer would be 'consciousness-sustenance is the cause of renewed becoming, of rebirth in future.'² Mark the basic shift in the emphasis. It is difficult to believe that the same text that talked of descent and of untraceability of consciousness at one place, could talk in these rigidly causal and dynamic terms unless the two passages were of different date.

The best example of the manner in which *viññāna* underwent transformation to suit the doctrine of becoming is found in the passage dealing with Sāti's heresy. The monk Sāti entertained the view that consciousness runs on and continues without break of identity (*viññānam sandhāvati samsarati, anaññan ti*).³ When the Buddha asked him to define *viññāna* he said that he meant by it 'that speaking and sentient (self) which experiences the ripened fruits of good or bad conduct in this or that earlier existence.' It is plain that Sāti is quite near the popular conception of the living principle, and even some Jain ideas can here be discerned. The Buddha replied, 'Have I not, foolish man, laid it down in many a figure that consciousness only arises by causation and that, without assignable conditions, consciousness does not come about?' Further, the Buddha explained that whatever form of consciousness arises from an assignable condition is known by that condition's name.

It hardly needs very great understanding of Buddhism to discover that what the Buddha was denying was not the fact of the movement of consciousness, but that it moves on unchanged. In fact, movement was part and parcel of early Buddhism. Only fixity or changelessness came into conflict with this philosophy of change. As Keith has observed, "Now the chain of causation explains clearly enough the possibility of change in consciousness, for it does not contemplate an autonomous consciousness, which, of course, adequately shows that there is alteration."⁴

The *Milinda-Panho* seems to carry this point of view further. The king asked, "Where there is no transmigration (*sañhamana*), Naga-sena, can there be rebirth (*paṭisandhāti*)?"

1 op cit, 253

2 K S, II, 9

3 M N, I, 256, Furth, Dial, I, 181

4 op cit, p 79

Nagasena declares that there could be, just as one lamp can be lighted from another, or a pupil can learn a verse from his teacher¹. In both these cases, one thing or person is causing something in another, without any actual movement. No descent is here spoken of.

That the Buddha was teaching a new doctrine is clearly hinted by the force and vehemence that he used against the popular conception, represented by Sāṃ. Could it be that the Buddha and Sāṃ were talking of two different objects? What we learn about the arising and naming of consciousness here would lead us to believe that it is fallacious to talk about the consciousness, as we do. Then we refer to descent or even to untracability. We should speak only of so many conscious moments, each produced by and named after a particular sensefaculty. How shall we reconcile these apparently incompatible ideas? There is at least some possibility, that at some earlier stage in his career, the Buddha did accept *vinñāṇe* in the then current sense. Sāṃ must have concluded that if the Buddha had gone to that extent in agreeing with contemporary thought, it would go all the way. Whatever, it may be, it does not seem that the simile of a stream of ideas is reflected in the earlier passages and the present one.

A NOTE ON ABBREVIATIONS AND REFERENCES :

| | |
|--------------|--|
| D N | Dīgha-Nikāya, Edited by Rhys Davids and Carpenter, 1890, reprinted 1932, in three volumes |
| D E | Dialogues of the Buddha, Tr by T W Rhys Davids and C A F Rhys Davids, in three volumes, SBB vols 2, 3, 4 |
| M N | Majjhima-Nikāya, Edited by V Trenclner and Lord Chalmers, in three volumes, reprinted 1935 |
| Further Dial | Further dialogues of the Buddha, Tr by Lord Chalmers 1926 |
| S N | Samutta-Nikāya, Edited by L Feller in five vols, reprinted 1932 |
| K S. | The Book of the Kindred Sayings, Tr in five volumes by Mr Rhys Davids and F L Woodward, 1917-1930 |
| A N | Anguttara-Nikāya, Ed by R Morris and E Hardy, in five volumes, 1885-1900 |
| G S | The Book of the Gradual Sayings, Tr by F L Woodward and E M Hare, 1932-1936 |



THE PLACE OF YAKSHA IN ANCIENT DEMONOLOGY

R N MISRA
Suzar University



Yak has been variously designated sometimes broadly and sometime, specifically, for instance, *amaraṇa*,¹ *varāṇa*,² *amanussa*,³ *ānāmantara* gods,⁴ *bhūmadēvas*,⁵ etc.⁶ This group of words indicates that Yikshas formed a kindred group *deva-gāṇa* (V. 1. 1. 16) along with other various gods such as *deva*, *Yaktha*, *Nāga*, *Gandharva*, *Agar*, *Vara*, *Kinnira*, *Suparna*, *Siddha*, *Siddhya* and *Vidyādhira*.⁷ Some of these are older than Yikshas. It would be interesting to study how the Yikshas may have derived some of their characteristics from them. The Yikshas shared characteristics with the Gandharvas in certain things like fragrance.⁸ They both were the fertility deities and granted

1. *Aśvamedha*, VIII. 10. 28 (*Itarajana*, in the *Pāppalāda* version) *Mahābhārata* XVIII. 1. 18.
2. *Bhāṣa* *śi* *Supra* III. 7. 167 p. 160.
3. *Uṣṇa* *Piṣa* I. 277, D. I. 116, S. I. 91, *amānusa* 111:1 Yikkha, a spirit, a ghost. The commentator explains that "they are either Yikkhas or men who, having departed, are the spirits" of *Uṣṇa* *Piṣa* I. p. 117 note 2. According to the *Pali* *English Dictionary*, *amānusa* "not human being (but not a sublime god either), a being half-god and half-ghost, or a being influencing people (partly helpful partly hurtful)".
4. *Uṣṇa* *Piṣa* *Supra* 20. 206. *Jambh* or *Vyāntara devatā* of *Tattvārtha Sūtra* IV. 1. 12 which enumerates four orders of gods of Jaina pantheon, namely *bhavaravartā*, *deva*, *Isa* *deva* and *devatā* and each of these four classes has ten grades, viz. *deva*, *devatā*, *deva*, *devatā*, *deva*, *devatā*, *deva*, *devatā*, *deva*, *devatā*. The gods of the *Vyāntara* realm are *Kinnara*, *Kimpurusha*, *Mahārāja*, *Candhara*, *Yakha*, *Rūṣa*, *Bhūta* and *Prāṇa*. All these seven classes of *Vyāntara* gods except *Rūṣa* live in the uppermost stratum of the first earth.

offspring¹ and had the same region as their habitat,² they possessed women,³ had control over speech⁴ and possessed the highest wisdom⁵ as well as great beauty⁶ Lastly, they were both music-lovers⁷ The Apsaras, etymologically meaning 'moving in waters' *ap sārīnī*,⁸ and being the 'celestial water-nymphs' according to their oldest conception, also have certain common features with the Yakshas In the post-Vedic literature they are very often spoken of as frequenting forests, lakes and rivers, in the later Samnitās their "sphere extends to earth and in particular, trees"⁹ They, like Yakshas, inhabit banian and the sacred *asvattha* tree in which their cymbals and lutes resound,¹⁰ or else they inhabit *adumbara* and *plaksha*¹¹ trees Like Yakshas, dancing, singing and playing are their favourite pastimes¹² Then both Apsaras and Yakshas are fond of dice and bestow at play,¹³ both are capable of causing mental derangement,¹⁴ great beauty¹⁵ as both are, they are occasionally enjoyed by human-beings¹⁶ The Vedic

- 1 *Pancavimsa Brāhmaṇa*, XIX 3 1 where Gandharvas along with Apsaras are praised for granting offspring and Yakshas in the *Vipāka Sūtra*, VII 28 p 84 f
- 2 *Gandharvasy dhruve padam*, *Rigveda*, I 22 14 Śāṇa explains *dhruve padam* as *artariksha* and quotes a statement of *Nṛsiṃha-Tāpinjyopaniṣad*, I 2 that the sky is inhabited by groups of *Yaksha*, *Gandharva* and *Apsaras* Also *Sutta Nipāta* Comm., I 370 (*Ākāśattha Vimāna*)
- 3 *Gandharva*, *Rigveda*, X 85 40-44 and *Yaksha* in *Dhammapada* Comm., III 208 f *Jātaka*, VI 194
- 4 Gandharvas are said to impart upon women an auspicious speech according to the *Yājñavalkya Smṛiti*, I 3 71 in the marriage ritual Cf *Kubera*, *Mahābhārata*, III 159 1 ff, *Shanti Parva*, 75 3
- 5 Gandharvas are described as the receptacles of secrets *Atharvaveda*, II 1 2 and Yakshas are repository of wisdom, they ask pungent questions regarding existence, cf, *Yaksha-Prasna*, *Mahābhārata* III 296-297, *Sutta Nipāta*, Hare, I 9 10, II 5
- 6 *Gandharva*, *Śatapatha Brāhmaṇa*, XIII 4 3. 7 and *Yakshas* in *Meghadūta*, II 19
- 7 Gandharvas are celestial singers in epics but not so in the Vedic literature Macdonell, *Vedic Mythology*, 137, *Yakshas* in *Vimānavatthu*, III 4 ff *Vimānavatthu Commentary*, 131 f
- 8 *Yāska*, *Nirukta*, V 13, *Rigveda*, X 10 4 calls them *apyā-yoshā*, "aqueous nymphs"
- 9 Macdonell, *Vedic Mythology*, 134, Vedic *Yakshas* too are immensely connected with waters Cf *Atharvaveda*, XI 2 24, G B I 1
- 10 *Atharvaveda*, IV 37 4, 5 for *Yakshas*
- 11 *Taittirīya Samhita*, III, 4 8 for *Yakshas*
- 12 Cf *Yakshas* in *Bharata's Nāṭyāśāstra* V 20, 47
- 13 *Apsaras*, *Atharvaveda*, IV 38, *Yakshas* in *Jātaka* VI 137, *Kathāsaritsāgara*, IX 17
- 14 *Apsaras*, *Atharvaveda*, II 2 5, for *Yaksha* *Sutta Nipāta*, Hare, I 10 p.29, *Carakasamhitā*, *Nidānasthānam*, VII 11 15
- 15 *Apsaras*, *Śatapatha Brāhmaṇa*, XIII 4 3 8, *Yakshas* *Manjusrimūlakalpa*, I 200
- 16 *Apsaras* in *Rigveda*, X 95 10-17, *Yakshas* in *Manjusrimūlakalpa*, II 293, *Bṛhatkathā-sloka-saṃgraha* XI X 75 ff and XIX 130 ff



In the epics the Yakshas are found brushing shoulders with Indra in being the opulent repository of wealth. As lord of wealth Kubera shared the role of Indra¹ with whom he shares the northern districts. Indra rains gold in the epics² and his wealth is proverbial, he is sometimes specially grouped with Kubera-Dhanesvara as contrasted with other divinities.³ But soon, Kubera, the lord of Yakshas, supplanted the other gods, e.g., Indra, Yama, and Varuna⁴ and became the "norm of exhaustless wealth".⁵

A common list of attendants is encountered in the *Mahabharata* in connection with the Yaksha king Kubera and Kārttikeya. Thus, one of the attendants of Kārttikeya as well as of Kubera and some of the latter's *grahas* (III 219-42) are all called *Dhanada*.⁶ While one attendant of Skanda is called *Vasudā*, 'the giver of wealth', still another has the name *Pingā-lshī*, an epithet of Kubera.⁷

The Yakshas and Devas are inseparably interconnected by their nature and attitudes as well as in carrying that designation.⁸ The elements of tree-worship which had been considerably popular during the prehistoric,⁹ the chalcolithic and the Vedic age,¹⁰ have been found in the Yaksha cult. Sometimes the deity living in a tree has been called *devatā* but that can be identified as Yaksha¹¹ from its various attributes. Besides, there were certain common features between the tree-spirit (called *devatā*) and the Yakshas such as that they granted wishes and their mode of worship was more or less similar. Just as trees were the abodes of the spirits they were also the abodes of Yakshas.

- 1 Indra is *Dhanada* and *Dhanapati* in *Rigveda* I 32.2
- 2 *Mahābhārata*, XII, 29.22f
- 3 Hopkins, E. W., *Epic Myth*, p. 146
- 4 *Ibid*
- 5 Cf *Mahābhārata*, II 52. Appendix I 37.25. For a proximity between Kubera and the Mothers. Cf Hopkins, op cit I, p. 146
- 6 *Ibid*
- 7 *Ibid* p. 145, 229
- 8 For details Cf my paper "A Semantic study of the words, Deva, and Yaksha" *Madhya Bharati* 1959 p. 1 ff. The words, 'Yaksha' 'Devata' are identical and voluntarily applicable for each other. Cf *Kindered Sayings*, I 273.9 note 1
- 9 Sri S. K. Pandey of the Department of Archaeology, University of Saugar has collected a number of pre-historic rock-paintings from Madhya Pradesh many of which indicate the idea of tree-worship
- 10 *Rigveda*, X 97, *Atharvaveda*, VI 136.1, *Taittiriya Samhitā*, II 1.5 (Plants hinder child-birth and their favour is procured by offering an animal victim). Cult of *Vanaspati* in *Rigveda*, X 64.8, Cf also Keith, op cit p. 184 ff., and Shine *Foundations of the Atharvamic Civilisation* B. O. I, Poona
- 11 *Petavatthu*, II 9. In sculptures also sometimes god of a particular tree is called *Yaksha* for instance, *Yaksha Candramukha* of *Vakula* tree. Cf *Sivaramamurti, Amaravati Sculptures*, p. 82



appears that Yakshas could not dislodge Guhyakas, their predecessors, from their proximity with Kubera so they chose to coexist with them and earned their connection with Kubera as also with the riches. Later, they have been identified with each other¹. Kubera is, however, referred to as *Guhyachāndrapati* in the *Mahābhāṣya* of Patanjali. There seems a complete identity between Yakshas and Guhyakas in so far as assumptions of any form,² possession of riches, its concealment and also the service of Kubera are concerned. They are more or less synonymous. However, the Yakshas inherited the lordship of Kubera from the Guhyakas as they inherited many other features already described³.

Kumbhandas were the other demi-gods in the service of Kubera. The name has an interesting etymological interpretation. It is said that they had huge stomachs and their genitals were as big as pots, hence their name⁴.

This attempt at comparison and reciprocities between Yaksha and a number of other demi-gods shows that Yaksha cult swelled as a result of borrowings. Although Yaksha is only Yaksha, he is none of Rāshasa, Gandharva, Apsaras, Pisāca or Kinnara but he is so closely associated with this kindred group that it is sometimes difficult to alienate him from another. Precisely, all these demi-gods or cult-personalities are manifestation of a folk-element in the society and therefore, a unity binds all of them. There has never been any remarkable difference among folk-gods upto the present times, because of the factor of their being manifestation of the simple popular beliefs. That the Yakshas were very much near the masses or the tribal settlements of India, can be specifically substantiated. The Jaina work *Āvasyaka Cūṛṇi* informs us that one Ādambara Jakkha, also known as Hiradika Jakkha was worshipped by Mātangas who were a 'low class people'. Similarly, Dombas worshipped a Ghanṭika-Jakkha⁵.

It is thus beyond doubt that Yakshas and other demi-gods were the gods of aboriginal settlers of India and with this idea in background it is perhaps not anachronistic to believe that the personality of Yaksha as also of other demi-gods should have imbibed the aboriginal's beliefs. For this reason probably various folk-gods have palpably similar characteristics which so much overlap that sometimes a dividing line is difficult to draw among them.

1 The *Vāyu Purāṇa* (Ch 69) says that Punyajana, Guhyaka and Devajana Yakshas, all under the category of Guhyakas. For more about Guhyakas, see Hopkins, *op cit*, p 148, Jain J C, *Life in Ancient India*, p 218 f and *Kathāsaritsāgara*, I. App I where it is said "They are often synonymous with the Yakshas".

2 Compare *Mahābhārat*, III 147 22 and *Māñjusrīmūlakalpa*, III. 626

3 Kubera on the other hand was earlier the kind of Rāshasas. Cf *Śatapatha Brāhmaṇa*, XIII 4 3 10 and *Supra*, p 1 note 6. Such types of adjustments pertaining to different cults and classes are as interesting as they are numerous.

4 *Pali-English Dictionary* sv Kumbhanda

5 Cf Shah, U P, *J O I*, III (i) p 59. In Karnataka there is still a *Jakkulu* community having ballad concert and theatrical activities as their traditional pursuits and it has been surmised that they may be the descendants of ancient Yakshas. I am thankful to Dr S V Joga Rao of Andhra University for this information. This Modern habitation of *Jakkulus* further corroborates the tribal connection of Yakshas.



Historically, Yikshas have been called the "remnants of ancient demonology" and regarded as of considerable folklorist interest as in them, the old animistic beliefs are incorporated and as they represent creatures of wild and forest.² It may suffice here to say that their demonological features are portrayed by their food habits their supernatural powers, physical features such as unwinking red eyes, the legs turned the other way, their malevolence as well as their beneficence and many other similar attributes and modes of worship etc. A rich folklore has also gathered round the personality of Yaksha as indicated by numerous references in the Brahmanical and non-Brahmanical texts. Mention may here be made of the *Narī Darit dhara*, the *Jātals* and the *Brihathkathāmājarī*. In the folklore as in literature traditional beliefs on various aspects of Yaksha exist in different parts of India, particularly in South where even the word Yaksha has been retained. The Yaksha as a potential malefic or village god exists in present times in all the villages of India either in the guise of different names or under specific terms such as *Jakharayya* in the Mathura region³ or *Jakkha* in Gujerat.⁴ Among the individual Yikshas mention may be made of Mīnik Pīr (Maqibhidra Yiksha) whose worship is still very much in practice in Bengal.

[illegible]

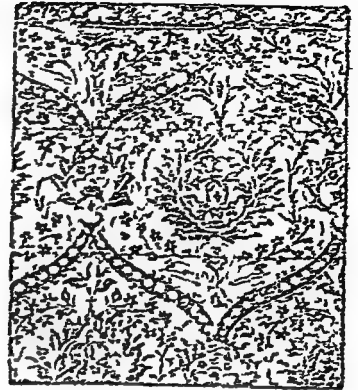
3. I am not prepared to conclude, just on the information about it

3. *Crooke* from the State of Northern India p 198 Crooke further says that in Western India are worshipped ten male gods called as Jukim, Jakhar, Johar, Akon, etc. i.e. Maximum about the village gods of all which are Village gods.

BANAVASI AND JAINISM

B R GOPAL

M A Ph D , Dharwar



Banavāsī is now a small town in the Sirsi Taluk of the North Canara district of the Mysore State. It is one of the very few cities which has a continuous history from at least the historical times. It has been referred to also as Vaijayanti and is mentioned in the Epics of India, specially the *Mahābhārata*. Banavāsī was one of the important centres of Buddhism right from the days of Asoka. Not only do we know from Buddhist literary sources like the *Mahāvamsa*, that Asoka sent his missionaries to Banavāsī besides several other places, but we have also an epigraphic evidence in the inscription found at Nāgārjunakonda, the Buddhist centre in Andhra Pradesh. This inscription is engraved on the pedestal of the Lord Buddha wherein it is stated that the Buddhist missionaries converted hordes of people of Kashmir and several other countries and regions of which Vanavāsa, i e , Banavāsī, figures as one.

It is, however, not so well-known that Banavāsī was also a centre for Jainism. In the history of the Jaina canonical literature, of the Digambara tradition, Banavāsī figures as a prominent place. Original canonical knowledge was preserved only by the word of mouth passed on from the Guru to his disciples and this continued right upto the middle of the 2nd century A D. All the Digambara *Pattavalis* begin from Bhadrabāhu II (c 37-14 B C) who had the knowledge of Nine Angas and his successor was Lohāchārya (c. 14 B C -38 A D). Thereafter there were five *ekāngaradhāris*, viz , Arhadbali, Māghanandi, Dharasena, Pasupadanta, and Bhūtabali. Of these the last three Dharasena, Pushpadanta and Bhūtabali are considered to have been responsible for the redaction of the surviving canonical knowledge. There is no unanimity of opinion among scholars regarding the dates of these Gurus. While some hold the opinion that they lived in the period between 38-156 A D, others think that the monks who undertook this task have to be assigned to a period after 156 A D. However all are agreed that the original canonical tradition in the memory of authorised saints survived upto 156 A D and that whereafter no such saint is known to have existed.

An interesting story regarding this redaction of the *Angas* is told and it is in this connection that Banavāsī figures prominently. Dharasena mentioned above was one of the very few who were considered as learned in canonical knowledge. It was feared that this knowledge may not be available to posterity unless somebody who was qualified enough could commit it to writing. With this desire, Dharasena sent an invitation to the saints (*āchāryas*) of the south who had assembled then at Mahima, which is described as Venākatatīpura. Vena

is obviously the river Krishnā known also as Krishnavena and the place has been identified with Mahimanagara in the Satara district. When this message reached them, they discussed the matter and chose Pushpadanta and Bhūtabali, two scholars of repute, to be sent to Dharasena.

To these two Dharasena revealed the canonical knowledge and they were asked to reduce it to writing. The subject he dealt with is said to be *Mahākarma-prakṛiti-prābhṛita*. After bidding farewell to the teacher and receiving his blessings, the two saints set on their homeward march. They first halted at Ankuleśvara (modern Broach) where they spent the rainy season.

Dharasena was living in the Chandra-gupha (Moon cave) of the mount Ūrjayat in Gīrnar i.e., Junagadh. It may be noted that Gīrnar is the place where the inscription of the grandson of Jayadāman (either Damaysada or Rudrasīmha I), of the 2nd century A.D. is found, besides the famous record of Rudradāman. This record refers to men who had attained perfect knowledge (*Kevali-Jñāna*) and were free from *Jarāmarana*, old age and death. This record is found engraved in a cave wherein symbols like the *svastika*, *bhadrāsana*, and *mīnayugula* are found carved suggesting that it was probably the abode of Jaina monks. It is probably here that Dharasena was residing. It may also be noted that this inscription is considered to be the earliest record that refers to the Jaina monks claiming the attainment of perfect knowledge.

When the rainy season came to a close the two monks rendered their march and of the two, Pushpadanta proceeded towards Banavāsī-desā while Bhūtabali marched on towards Dramiladeśa, i.e., Tāmīlnad. Pushpadanta had been joined by his nephew Jinapālita who was also initiated into the order. It was at Banavāsī that Pushpadanta composed the first twenty cardinal *sūtras* relating to *Satprarūpana-adhikāra* which was the first of the eight *adhikāras* of *Jīvasthana-khaṇḍa*.

It may be incidentally noted that according to the *Śrutāvatāra* of Indranandī the two monks spent their rainy season at Kurisvara-pattana from where they proceeded further. This place has not been identified but it is probably the same as Ankulesvara. From here they marched to Karahata which is the same as Karad in the Satara district of Maharashtra. It was here that Jinapālita joined his uncle.

Jinapālita was sent to Bhūtabali by Pushpadanta after he had completed the *Sūtras*, with the manuscript he had prepared. It was left for Bhūtabali to complete the work which came to be divided into six *Khaṇḍas*. Hence, it came to be known as *Shatkhaṇḍāgama-siddhānta*. The work was completed on the fifth day of the bright half of the month of Jyēṣṭha and this day is a day of festival among the Jainas. It is called *Śrutapanchamī* and on this day the Jaina scriptures are worshipped.

It has been said that Pushpadanta was responsible for the redaction of a part of this canonical work, and that he did so after he migrated to Banavāsīdesa. Where exactly in Banavāsīdesa he lived is not known and it is probable that he settled down at Banavāsī itself which by then was a prominent centre. We are not sure also as to when exactly these works were reduced to writing although obviously it was during the last years of the 2nd century A.D.

It is seen above that the work of reducing the canonical knowledge to writing took place probably only after c. 150 A.D. The Gīrnar inscription referred to is assigned to about the 2nd century A.D. It is tempting to suggest that it was at that time that Dharasena was

living But all this is based on traditions which came into existence much later Therefore, it is not possible to be absolutely sure about it

This traditional account of the redaction of the Jaina canonical knowledge is thus connected with Banavāsī Jainism, according to tradition, had been introduced into Karnataka much earlier, in the 3rd century B C, when Chandragupta Maurya and his teacher Bhadrabāhu came to the South Before the establishment of the Kadamba kingdom, the Banavāsī region was under the sway of the Śātavāhanas in the 2nd-3rd centuries A D and thereafter under the Chutus Traditions and legends incorporated in the literary compositions of the Jaina writers of later age suggest that the Śātavāhanas came under the influence of Jainism Pratiṣṭhanapura, i e, Paithan, which was their capital, was a stronghold of Jainism However, this was in the Andhra country and there is nothing to show that the Banavāsī region came under the influence of Jainism in this early period

The tradition around Śimbanandi who was responsible for the establishment of the Ganga kingdom suggests that the faith had continued its hold and it had facilitated his efforts in investing the princes Dadiga and Mādhava of the Ganga family with royal authority and making them rulers of the kingdom The date of the foundation of this kingdom has been much disputed However, there are reasons to suggest that the two earliest kingdoms of Karnataka, of the Kadambas of Banavāsī and the Gangas of Talakad came to be founded almost simultaneously in the early part of the 4th century A D However, while the Gangas are known to be the followers of Jaina creed, the Kadambas were definitely Hindus who worshipped Śiva

Yet, the Kadambas were tolerant towards other religions The Halsi copper plate refers to a grant of land situated in the village called Kheta, made by the Kadamba king Kākusthavarma to the Jaina general Śrutakīrti We have other records which register similar grants by kings like Mrigesavarma Several grants of this king were issued from Vijayanti, i e, Banavāsī He even had a *Jinālaya* built at Halasige His Devagiri grant of his 4th year of rule is interesting because it registers a gift of the village Kālavangā which was divided into three parts each of which was given respectively the great god Jinendra, the holy Arhat, to the Svetapatamahā Samgha and to the Vigranthamahāsramana Samgha This indicates the existence of the Svetambara sect also in this part of the country from very early times

But we know that a few centuries later Jainism became an influential religion in this part of Karnataka In spite of this, however, so far as Banavāsī is concerned it is surprising that there is no relic of such antiquity that would connect it with Jainism All that remains now is a Basadi which is of a much later date, and within the precincts of which a few *nishidi* stones are found with inscriptions of the XII-XIII centuries A D

The earliest of these records belongs to the period of rule of the Kadamba chief of Hāngal, Kāmadeva It is dated his 7th year of rule, the cyclic year Pingala, Māghasū 5, Monday The details of the given date are irregular, but the equivalent christian date would probably be 1198 A D, January 14 On this day, the record says, that a follower of Jina, whose name is not clear, passed away It mentions Desi-gana

The second record refers to the death by *Samādhi-vidhi* of Bhogave wife of Tippiseti of Sateya who was a disciple of Sakalachandrabhattāraka of Kondakunḍa-ānvaya, Desgana and Pustaka-gachchha The record probably belongs to the reign of Kadarba Kāmadeva, and the



details of date given, viz , year 12, Durmatī, Kārttika ba, 5, Monday, may possibly correspond to 1201 A D , October 18 The third record also probably belonging to the same chief, is fragmentary The extant portion refers to the cyclic year Īśvara, Vaiśākha, śu 3, Sunday probably corresponding to 1213 A D ?, April 10 This record is set up in memory of a Jaina devotee, Kāla-gāunda, son of Boppa-gāunda

Record No 4 refers to a Jaina teacher Nāgachandrabhaṭṭāraka of Mūla-sangha and Surastha-gana Other details of the record are not known as this also is a fragment The transliterated texts of these records are given below

I

- 1 Svastī Śrīmatu Kadamba chakravartī kaligalanṭu-
 - 2 sa Kāvadeva [va] rsha, 7neya Pimāḷa samvatsarada mā-
 - 3 gha śuddha paṃchamī Somavāradam-
 - 4 du Deśi-gaṇada mayābhara
 - 5 mudra mudipī su
- The rest of the record is lost

II

- 1 Svastī Śrīmatu Kadamba chakravartī kaligalamkuṣa gaṇdara davanī Vīra-
- 2 [Ka] mavarshada 12 Durmatī samvatsarada Kārttika bahula paṃchamī Soma
- 3 vāradamdu Deśi-gaṇada Pustakagachchha Komdakund-ānvayada Sakalacham-
- 4 dra-bhaṭṭārakara guddī Tīppiseṭṭī Sāteyana hemdatī Bhogave
- 5 samādhivīdhīyīm mudī [pī] sugatī prāptiyādalu
- 6 Maṃgala mahā śrī śrī śrī

III

- 1 siraschumbī chandrachāmarachārove trailokya
- 2 śambhave Svastī Śrīmatu Kadamba chakrava
- 3 Īśvara samvatsarada Vaiśākha śu 3 Ādivara
- 4 ya Boppagāunda na maga Kālagāvunda

IV

- 1 Śrī Mūlasamgha vīdita
- 2 tra Surasta sadgana nīśvara
- 3 Nāgachandra-bhaṭṭārakasya ta
- 4 kṛitavān achalam

THE HUNAS IN ANCIENT INDIAN LITERATURE

K L. AGRAWAL
University of Saugar



Homeless and lawless, the Hūnas are most prominent in ancient Indian history. They disturbed the peace and order of the Indian people, and during the last quarter of the 5th and the beginning quarter of the 6th Centuries ruled over the greater part of the North India. In order to have a clear picture of the Hūnas as described in ancient Indian literature, the topic will have to be discussed fully.

Epics

Epics are our earliest sources where the mention of the Hūnas is found. A casual reference to the Hūnas occurs in one of the manuscripts of the Rāmāyana,¹ though their elaborate description is never found. The next reference we find in the Sabhaparvan of the Mahābhārata where Arjuna is said to have led an expedition in the North-West, just as Raghu did in the Raghuvaṃśa of Kālidāsa. But there the Bālīkas, the Daradas, the Kambojas, the Rśibas and the Param-rśibas rather than Hūnas are mentioned as his main opponents.² Further in the same epic the Śakas, the Tusāras and the Kankas are said to have presented horses to Yudhishthira on the occasion of his Rājasūyayagñi.³

1 The St Petersburg Dictionary records only one reference to the Hunas in the Rāmāyana, namely as a *varia lectio* in the Bengal recension (ed. Gorresio, Paris 1845, IV, 40 25).

Here instead of दण्डकूलाक्ष, one manuscript has पल्लूणाक्ष ।

2 तन परमत्रिकान्तो बाल्हिकान् पाकशासनि ।

महता परिमर्देन वधे चक्रे दुरामदान् ॥

गृहीत्वा तु वल्गु सार फल्गु (वल्लु) चोत्सृज्य पाण्डव ।

दरदान् सह काम्बोजैरजयत्पाकशासनि ।

प्रागुत्तरा दिश ये च वनन्त्याश्रित्य दम्यव ।

निवमन्ति वने य च तान्स्वार्नजयत्प्रभु ॥

लाहान्परमकाम्बाजानृपिकानुत्तरानपि ।

महिमास्तान् महाराज व्यजयत्पाकशासनि ॥ Mbh. 2 27 22-27

3. चीनान्द्रणाञ्चकानोऽङ्गान्पावतान्तरवासिन ।

वाण्यनान्द्रहूणाश्च कृष्णान्हेमतास्तथा ॥ Mbh. 2 47 19

शकान्पुत्रा कङ्काश्च रोमशा ऋक्षिणो नरा ।

महागमान्द्रगमान्गणितानर्वद हयान् ॥ Ibid. 2 47 26

"Thence Raghu marched against the regions of Kubera Subjugding the northern
kings with arrows as the Sun drinks up the water with his rays

"His horse relieved of the fatigue of the journey by rolling on the banks of the
Vanṣu (Indus) shook their bodies which had saffron flowers clinging to their names

"There the redness of the Chee's of the Hūna queens testified to Raghus achievement
in which his powers was displayed against their husbands "

It is still controversial whether in the above cited verses, the reading 'Sindhu' is
correct or 'Vanṣu' Mallinātha the great commentator of the epic, Dr D R Bhandarkar¹
and Hodayal² are of the opinion that the reading 'Sindhu' should be accepted But Prof
K B Pathak³ challenging the view, argues that the correct reading is 'Vanṣu', and identifies
it with the oxus Drs S K Aiyanga⁴ and B C Law⁵ have also endorsed this opinion The
Nagpur stone inscription of Narvarmadeva dated VS 1161 (A D 1104-1105) is more helpful
in ascertaining the correct reading It elaborately describes the victorious campaign of
Lalsamadeva, the brother of Narvarmadeva One of the verses refers to the encampment of
Lalsamadeva, where his victory over the king of the Kīras is mentioned The translation of
the verse is as follows

"Being encamped on the banks of the Vanṣu, which were even softer than nature
made them, because the saffron filaments on them were withering under the rolling of the
team of frisky horses, presented by the Turuska, whom he had eradicated with ease, he taught
the Kīra chief to utter most flattering speeches, who on account of proximity of the Saraswati
was eloquent beyond measure and who was like a parrot shut-up in a big cage "

The first line of the verse is simply a repetition of the Raghuvaṃsa Dr Buddha
Prakash remarks that "a glance of the imagery and phraseology of these verses leaves no room
for doubt that the author of the Nagpur prasasti, who was probably Narvarmadeva himself,
had in mind the conception of Kālidāsa and recapitulated it in almost the same style " It
appears from above references that the Hūnas probably had some relation with India
Dr Buddha Prakash places this "conquests of Raghu to the oxus between 390 A D
and 399 A D and that Kālidāsa's reference to the Hūnas on the oxus belongs to that period "

Brhatsamhitā

The Brhatsamhitā composed in the glorious days of the Guptas contains important
details about Astronomy, Geography, Architecture, Sculpture, Medicine, Psychology,

1 JRASB, (Letters), Vol XII, (1947), pp 36-37

2 JBRAS, (1930), pp 282-83

3 Ind Ant, (1912), p 266

4 Ibid, (1919), pp 65, 74

5 Geographical Aspects of Kālidāsa's works, p 2

6 Ep Ind, Vol II, p 188.

उत्तोराननुद्वन्द्वदत्तविद्वद्वाहवर्गविल्लनन्नामन्नुकुमकेसगमिकन्ददीवृपकण्डस्ये ।

तेनावाप्य मन्वनीमविनान्नामिदवाक्पाटयत्तादनुत्कटपत्रपञ्चगन कीराविषोऽव्यापय ॥

7 Journal of Indian History, Vol XXXV, p 92

8 Ibid, p 125



Kuvala, amālā

We find an interesting account of the Hūna king, Toramāna, in a Jaina work called Kuvalayamālā (A D 778)¹ It is mentioned in the work that "on its bank (Chandrabhāgā) is the celebrated town of Pavvaya where lived Śrī Torāya or (according to the Poona manuscript Toramāna enjoying the sovereignty of the world"² Śrī N C Mehta³ says that "Torarāya is the celebrated Hūna monarch, Toramāna, who shook the Gupta empire to its very foundations and extended the sway as far as Mālwa (C 499-510 A D)

Navasāhasāṅkacarita

The Paramāra Siyaḷa II is mentioned in this historical epic to have conquered a Hūna chief, though his identity is not clearly known⁴ Dr H C Ray,⁵ however, conjectures that the Hūna prince might have died in the battle with Paramāra king The tenth Canto⁶ of this epic mentions that Sindhurāja, too defeated a Hūna king This fact is corroborated by the Udaipur Prasasti⁷ of the Mālwa king

Rājataranginī

Both the Hūna kings, Toramāna and Mihirakula, are referred to in the Rājataranginī, the chronicle of Kashmir One of the verse runs "Then his son Mihirakula, a man of violent acts and resembling Kāla (death), ruled in the land—which was overrun by hordes of Mlecchas"⁸ Kalhana, the illustrious author of this historical epic further mentions Mihirakula as a powerful king of Kashmir and Gandhāra, who conquered India and Ceylon His heart-rendering deeds of cruelty are briefly mentioned in the work Dr M A Stein,⁹ the translator of this great work, thinks this Mihirakula is undoubtedly identical with the great ruler of the Hūnas After making a careful and detailed study of the evidences of the inscriptions of Eran and Mandisor with the dates of Rājataranginī, Hiuen Tsang, Sung-Yun and coins Dr Fleet¹⁰ also holds the same opinion However, Dr R C Majumdar is of different opinion He argues that "Rājataranginī also refers to Toramāna, but he flourished long after Mihirakula, about eighteen kings intervening between the two The career of this Toramāna hardly fits in with what we know of the Hūna chief of that name from other sources, though the age assigned to him fits in with that of later"¹¹ In the absence of more corroborative

1 JBORS, Vol XIV, pp 28 ff

2 'Tirammī tiyapayada Pavvayanām rayanasohillā'
Jtthithi thie muttā puhajam siritrayena !!
JBORS, Vol XIV, p 34

3 In a recently published paper it has been suggested that "he (Toramāna) was a Huna king" IHQ, Vol XXXIII, p 33

4 अकङ्कणमकेन्द्रमनूपुरनूपुरमेव नम् ।
दृगावरोधवैद्य नोदादान् अयत्त य ॥ 11 90

5 DHNI, Vol, II, p 850

6 अयकनुमय समरे नवात्तभीमननापि हूणवृत्तिर्न वाञ्छति । 10 14

7 Ep Ind, Vol, I, p 235

8 I, 289 ff, III, 102 ff ed by Dr Stein

9 Translation, p 43

10 Ind Ant, Vol XV, pp 245 ff

11 Classical Age, p 35, Also, The Vākātaka-Gupta Age, p 197



dates it would, however, not be wrong to presume that Mihirakula of the Rājataranginī is identical with the Mihirakula of the epigraphs.

Kathāsaritasāgar :

An interesting story¹ of the king, Udayanī, is given in the *Kathāsaritasāgar*, 'the Ocean of Story'. It is mentioned in this work that king Udayanī who subdued the king of Sindhu at the head of cavalry, destroyed the Mlecchas as Rāma had destroyed the Rākshasas. The cavalry of the Turushas was shattered. The king beheld the Pīrasikas. This was the final blow to the Hūnas. Dr B N Puri remarks that "the value of this tale might be nil but it clearly throws welcome light on the grouping of these powers situated in the close proximity to each other. The Pārsis were at that time living some where in Rājputānī, close to Sindhu and nearer to the Hūna territory."²

Dvyāstrayakāvya

The Hūnas are also mentioned by Hemachandra, a Jaina writer, in his *Dvyāstrayakāvya*. It is mentioned there that the Chalukya king, Durlabhavarjya who succeeded the throne of Anhilapātānī in A D 1009, won his queen Durlabhadevi in a Svyāmvara and fought for her with a number of kings of Aṅga, Kāśī, Avantī, Hūnadēsa, Mathurā and Udhya.³

The Social Status of the Hūnas

The *Harakelīnātaka* throws welcome light on a different interesting aspect. It refers to that the Hūnas were no longer barbarians but had some literary taste. Some portions of this drama are found in the Ajmer slab inscription⁴ which was composed by Vigraharāja and engraved by Bhaskara, son of Mahipati and grandson of Govinda, who was born in a royal Hūna family. He was a favourite of King Bhoja. Rājasekhara⁵ also mentions that the Hūna ladies were noted for the lustre of their cheeks. Some of the medieval inscriptions have preserved a few examples of Hūnas and other chiefs being married into Brāhmaṇa families. Allata (10th Century A D)⁶ of the Guhilas of Mewar married a Hūna lady named Hariyādēvi. Similarly Karnadeva of the Kalachuri family married a Hūna princess, Āvildevī.⁷

The above analysis reveals that the Hūnas had started gaining favour in the Indian Society of that period. They are mentioned in the list of thirty-six royal clans of Rājputs, which is a further proof that they definitely earned a high social status.

1 मिन्धुगज वशीकृत्य हरिसैन्यैरनुद्रुत ।
क्षपयामास च म्लेच्छान्द्राघवो राक्षसानिव ॥ 15 ॥

हूणानि कृतस्तस्य भुगरीकृतदिङ्मुद्रा ।
कीर्तिद्वितीया गङ्गैव विचचार हिमाचले ॥ 108 ॥ *Bihar Rāstra-Bhāṣā* ed

2 JUPHS, Vol V, (new series), p 5

3 हणाण राइणा दठ उअ रायणो इमे पडु रमन्ते ।
अङ्गाण रणा राइणो तह सणेण राएण ॥ 161

4 *Ind Ant*, Vol XX, p 210 ff

'कुसुमपञ्चवर्चित हूणतरुणी ।'

5 *Bālarāmāyana*, VII, 59, p 198 Cf *Kāvya-mīmāṃsā*, (Boś), Chap XVIII, p 109

'हूणानाम् कुरुते मयुकुमुद्रलम् लावण्यमुठकम् ।'

6 *Ep Ind*, Vol XXIII, p 108

'(यस्य हूणक्षोणीशवशराजाहरियदेवी)', Also, p 373

7 *C II* Vol IV, p 289 ff

'कर्णदेव अजनि कलचुरीणा स्वामिना तेन हूणान्वय जतनिधिलक्ष्म्या श्रीमदावल्लदेव्या ।'

मरुधरकेसरी
अभिनन्दनग्रन्थ



परिशिष्ट

विद्वान् लेखक—जिनके चित्र प्राप्त हो सके



डॉ० नरेन्द्र भानावत



लालचन्द नाहटा



प० दरबारीलाल कोठिया



रित्तवराज कर्णवट



कन्ह्यालाल लोडा



शिक्षरचन्द कोचर



मिलापचद कटारिया



अनन्त लूणिया



जयन्तीप्रमाद जैन



हीरालाल शास्त्री



अजितकुमार शास्त्री



सोभाग्यमल जैन



निहालचद जैन



डा० कंलाशचद्र जैन



श्रुतिशील शर्मा



महेन्द्र राजा जैन



प० चंनसुखदास जैन



प्रेमसुमन जैन



दयाचन्द्र साहित्याचार्य



डा० मंगलदेव शास्त्री



पारसमल 'प्रसून'



डा० हरीद्रभूषण जैन



सुन्दरलाल बंघ



डा० ज्योतिप्रसाद जैन



डा० मोहनलाल मेहता



प० गोपीलाल अहर



श्री परमानन्द जैन



व० पी० शास्त्री



पुरुषोत्तमलाल मेनाररिया



श्रीचन्द्र जैन



डा० स्वप्ना बनर्जी



के० भुजबली शास्त्री



देव कोठारी



पन्नालाल साहित्याचार्य



राजकुमार गोयल



गुरुनाथ जोशी



डा० परमेश्वरीदास



सूर्यनारायण व्यास



डा० रन्ह्यालाल सहल



रन्ह्यालाल जयवाल



भागवद जैन, किशनगद



अनवरलाल नाहटा



भागवद जैन ,इटारसी



डा० रामानंद 'हरि'



श्री हरिवल्लभ



रामचन्द्र जैन



भागचन्द्र जैन



राजकुमार जैन



लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज'



रामनारायण उपाध्याय



डॉ० धनैन्द्रकुमार
रायपुर



डा० राजाराम जैन



डा० गोकुलचन्द्र जैन



डा० बी० एस० कुलकर्णी



गणेशप्रसाद जैन



अगरचन्द्र नाहटा



डा० जयसिंह नोरज



के० बी० जिंदल



डॉ० कन्हैयालाल सेठल



धेमचन्द्रजी जैन



जयभगवान वकील

अर्थ सहायक-चित्रावली (प्रथम-श्रेणी)



आप जागेवा निवासी, उदारमना आवक है। आपने श्री १०मीचन्द्रजी एवं शालिशाला जी दोनों मपुत्र बडे आजासगी एवं सेवाभावी हैं। आपका व्यवसाय उहा और मसूर दोनों जगह बडे मन्दर टग मे चल रहा है।

आप माजननिवासी स्व० महना बरनावर-मठजी के मपुत्र ह। आप मे वम के प्रति गहरी लगन है। आपने मपुत्र उन्नमचन्द्रजी आदि विनीत एवं मशीन है। व्यवसाय आवडमनपेट मे चलता है।



श्री घेवरचन्द्रजी गतडिया

श्री अन्नराजजी गदिया



आप जागेवा (मारवाड) के निवासी बडे उदारमना ह। आपने अपने स्वधर्मो भाटया व मन्वन्त्रियों की म्बिनि विचारणीय देव रर पूरा मन्वन्त्रेमगीनी म० के मन्मुख ही उनमे का १० हजार ररम भागने ये उने चमा कर जाने उगावर रर दिये। उनके जथावा आपन और भी समाज हित के काया मे भाग दिया। आपके आता श्री धनगजजी भी बडी मरठ प्रवृत्ति के मनुष्य ह। आपने दत्त पुत्र श्री पुवाजजी भी बडे मरठ एन आजासगी ह।



आप मारवाडमे कर्मावाम के निवासी है। आपका व्यवसाय नरसा बाजार मद्राम मे है। आप सरल हृदय व धर्म-प्रेमी सज्जन है। आपके आता श्री मिश्रीमलजी की तथा आपके मपुत्रा की लगन प्रशंसनीय है।

आप पीपलिया मारवाड के निवासी थे। अत्यन्त कृतव्यनिष्ठ तथा परिश्रमी व्यक्ति थे। आपके मपुत्र श्री फूठचन्द्रजी लुणिया भी बडे मिठनमार एवं निरमिमानी युवक है। लाखों रुमाने और लाखों दान दिया।



स्व० श्री किशनलालजी लुणिया



श्री दीपचन्दजी मूवा

आप जोबपुर निवासी श्री गणेशमलजी मुणात के सुपुत्र हैं। बड़े मेधावर्मी, व्यापार-कुशल, आधुनिक विचारों के सुधारवादी नवयुवक हैं। व्यवसाय जोधपुर में ही सुन्दर टग से चल रहा है।



आप मारवाड कापरठा के निवासी हैं। पिता का नाम श्री अनराजजी जागड़ा है। उदारमना, समपरायण तथा समाजसेवी हैं। जालना में अनराज पन्नालाल के नाम में प्रसिद्ध फर्म।

आप सादडी निवासी कुम्भनमलजी सा० मेहता के बड़े पुत्र हैं। पेंढी पूर्वविराज रतनचन्द के नाम में बम्बई में हैं। सादडी स्था० समाज के नेता, मूक सेवक और उदारदिल हैं।

आप 'शालिमद्र' के नाम में प्रख्यात हैं। दानी, सदाचारी, मितभाषी हैं। व्यवस्था-शक्ति बड़ी सुन्दर हैं। आपके सुपुत्र श्री पारसमलजी भी योग्य उत्साही नवयुवक हैं। आपका व्यवसाय व्यावर में ही चल रहा है।



आप चण्डीवल निवासी श्रीकेसरीमलजी मूवा के सुपुत्र हैं। आप सोजतरोड स्थानक-वासी समाज के प्रमुख हैं। धार्मिक लगन वाले उत्साही कार्यकर्ता हैं। आपकी सोजत रोड में जालमचन्द दीपचन्द नामक प्रसिद्ध फर्म है।



श्री निहालचन्दजी के० मेहता

श्री बस्तीमलजी बालिया



०

श्री धीमूलालजी मरलेचा

आप उत्साही, वेगविल, समान के स्वप्न रूप थे। आप छोटामनजी कावडिया के सुपुत्र थे। हजारा रुपया का मद्दपर किया। पना में श्री गजराज गजराज के नाम में आपकी प्रसिद्ध फर्म है।

आप साजन निवामी बाबू धीमूलालजी के पुत्र हैं। श्री मदनगानी सा० के उनिष्ठ भ्राता हैं। ज्ञानप्रेम मराठनीय हैं। मामाजिन रायों में हजारा का दान देते हैं। अपने मवडिया को व्यवसाय में मार्ग में स्वर मध्यान् बना दिया है। आपका व्यवसाय उद्यम में चल रहा है।



आप मारवाड में मालियों की कर्मावाम के निवासी हैं। व्यवसाय श्री चम्पालाल चैतन्यप्रकाश के नाम में वेगठोर में हैं। धर्म की लगन प्रशमनीय है। अपने ही परिश्रम में श्रद्धि उपाजित की है।

आप चावण्डिया निवामी श्री गुनावचन्द्रजी पोखरना के सुपुत्र हैं। उत्साही नवयुवक हैं। आपका व्यवसाय पैराम्बर मद्राम में चल रहा है। धर्म के प्रति उड़ी लगन है तथा आप गुरुदेव के जनन्य भक्त हैं।



श्री जवरीलालजी नाहटा

आप स्व० मेठ गुलाबचन्द्रजी मरलेचा के दत्त पुत्र थे। उर्मपरायण एवं दानवीर थे। किन्तु जल्द वय में ही स्वर्गवासी हो गये। आपके दत्तपुत्र श्रीगणनीतमलजी भी उत्साही युवक हैं।



श्री चान्दमलजी पोखरना



श्री मदनराजजी सुराणा

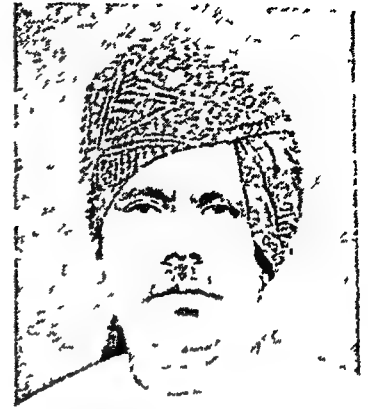


आप श्रीमान श्रीमूलालजी बोरुदिया के द्वितीय पुत्र थे। हजारों का दान किया। बड़े गुप्तदानी थे। अजमेर सम्मेलन पर खुले दिल में खर्च किया। श्री मदनराजकीसरीजी म० के अनन्य भक्तों में से एक थे। ३१ वर्ष की अल्पायु में ही काल कवलित हो गये।

आप भावी निवासी श्री श्रीमूलालजी सेठिया के सुपुत्र और मोहनलालजी के बड़े भ्राता थे। आप बड़े हौनहार नवयुवक थे किन्तु अल्प समय में ही आपका स्वर्गवास हो गया। आपके पिताजी तथा लघु भ्राता दोनों ही पिता-पुत्र वर्ग में स्तम्भरूप हैं। आपकी श्रीमूलाल साहनलाल सेठिया फर्म मैसूर में है।



श्री स्व० कु० सोहनलालजी सेठिया



आप विलाडा निवासी बहादुरमलजी कटारिया के सुपुत्र हैं। बड़े उत्साही एवं मिलनसार हैं। विलाडे में बादरमल चम्पालाल के नाम में आपकी फर्म प्रसिद्ध है।

आप मादलिया निवासी श्री हस्तीमलजी मूवा के वक्ता पुत्र हैं। आप स्थानिकवासी समाज के संकेटरी उदारमना शास्त्र-व्यवस्था प्रिय सज्जन हैं। आपने अपने कुटुम्बियों को आर्थिक दृष्टि से उन्नत एवं सुदृढ़ बनाया है।



श्री पारसमलजी मूवा

आप जोधपुर निवासी श्री मगनराजजी सा० के सुपुत्र थे। आप पुलिस विभाग में उच्च पदपर कार्य करते थे। आपने समाज की तन-मन से खूब सेवा की थी। उपाध्याय श्री हस्तीमलजी महाराज के शिष्य के दीक्षा-महोत्सव की व्यवस्था करते हुए आपका स्वर्गवास हो गया।

श्री अनूपचन्दजी बोहरा



आप अटपडा निवानी हैं। बड़े परिश्रमी
एव धर्ममाधना में लीन रहने वाले पुरुष हैं।

आप बुनी निवानी स्व० सेंट दीपचन्दजी
मेगजी के दल में पुत्र हैं। होनहार नवयुवक
हैं। आपके दान से हॉस्पिटल, जैन स्थानक,
बहुत सी प्याऊ एव धर्ममालाएँ बनी हैं।
व्यवसाय मुडागेरी [मैसूर] में है।



श्री देवीचन्दजी बोहरा

श्री सुन्दरबाई विनायकिया



आप श्रीमान् देवीचन्दजी विनायकिया
पट्टा की नर्मावास (मारवाड़) निवानी की
धर्मपत्नी हैं। श्री कियनलालजी की मानेज्वरी
हैं। धर्म कार्यों में रम लेनेवाली महिला हैं।
आपके परिवार में ध्वसाय नाम्बरम् मद्राम
में है।

श्री जुगराजजी वरमेचा



आप अटपडा मारवाड़ के निवानी हैं।
आपके श्रीवराजजी केवलचन्दजी दो छोटे
भाई हैं। नीना भाई धर्मप्रेमी, समाजसेवी
एव दानवीर हैं। चिकित्सालय भवन का
निर्माण कराना, हार्डस्कुल के और अन्य
स्थानक के निर्माण में पूरा हाथ रहा है।

आप बड़े मिठनमार एव उत्साही पुरुष हैं।
आपके सुपुत्र श्री जुगराजजी तथा श्री नम्पत-
राजजी होनहार युवक हैं। सामाजिक कार्यों
में अच्छा रम लेते हैं। आपका व्यवसाय
मिन्दगाबाद दक्षिण में चलता है। गुरुदेव के
अनन्य भक्त हैं।



श्री जुगराजजी मुणोत



श्री रूपचन्दजी बोहरा



आप वृसी निवासी सेठ चन्द्रमानजी बोहरा के सुपुत्र हैं। आपके ज्येष्ठ पुत्र श्रीमाणकचन्द जी अपना व्यापार मद्रास में सुन्दर ढंग से चला रहे हैं। बोहराजी धर्मप्रेमी तथा स्थानकवासी समाज के प्रमुख पुरुष हैं।



क० मंगलचन्दजी सहवास निवासी सेठ मियीमलजी कटारिया के सुपुत्र हैं। श्री माहनलालजी आपके कनिष्ठ भ्राता हैं। दोनों भाई सम्मिलित रूप से मद्रास में अपना व्यवसाय चला रहे हैं। गुरुदेव के परम भक्त हैं।

आप नीलम—मारवाड जकशन निवासी श्री फौजमलजी सा० के तृतीयपुत्र हैं। राणा-वास छात्रालय को एक मुक्त इक्कीस हजार रुपया प्रदान किया। लोकाशाह अर्ध सहस्राब्दी पर भी हजारों खर्च किये। बड़े भद्र, दानवीर एवं धर्मनिष्ठ हैं।



श्री एफ० लालचन्दजी मुणोत

व्यापारी-मारवाड निवासी श्री पन्नालालजी खोवसरा के चतुर्थ पुत्र हैं। आपने चारों पक्ष कर रखे हैं। बर्मादेशना में अग्रसर हैं। आपके बड़े भ्राता श्री साहबचन्द जी चिक-मगलूर में सुन्दर ढंग से व्यवसाय चला रहे हैं। उह भाइयों का सपन्न परिवार है।

आप सादडी निवासी वेद भूया हैं। आप का व्यवसाय बम्बई में है। आप समाजसेवा में सुन्दर सट्पोग करते हैं।



श्री हिम्मतमलजी मेहता



श्री पुत्रराजजी कटारिया



आप राणीबाई निवासी मेठ गणेशमनजी बोहरा के सुपुत्र हैं। आपके कनिष्ठ भ्राता श्री जवरीलालजी हैं। आप राणीबाई के सरपंच रह चुके हैं। आजकल प्रेमराज गणपतराज फेकड़ी पीतलिया (मारवाड) के भागीदार उत्साही, अमप्रिय, नवयुवक हैं।

पट्टा जी नर्माबाई (मारवाड) निवासी स्व० मेठ पुत्रराजजी विनायकिया की धर्मपत्नी तथा श्री मोहनराजजी मोहनशालजी विनायकिया की मातेस्वरी हैं। आप की प्रेरणा से बच्चों में धार्मिक प्रेम पनपा है। विवेकशील महिमा है। व्यवसाय ताम्बर में चलता है।



श्री चादाबाई विनायक्या



मिरगारी निवासी दानवीर सेठ विच्छलालजी के सुपुत्र हैं। आपके बड़े भ्राता श्री बच्छराजजी बड़े मिलनमार एव आदर्श नवयुवक हैं। धन एव अम दोनों कमाने में कुशल हैं। आपका व्यवसाय रत्नागिरि में है।

आप चाउडिया निवासी जीवरामजी सा० के पीछ और दृष्टिचन्द्रजी सा० के सुपुत्र हैं। श्री हीरालालजी तथा अमालकचन्द्रजी आपके चाचा हैं। आप उदारमनो नवयुवक हैं। व्यवसाय मद्रास में है।

नवाज निवासी श्री हिम्मतमनजी कटारिया के सुपुत्र हैं। बड़े बालू, दानवीर अर्धपरायण, बयोद्विज मज्जन हैं। आपके लक्ष्मीभ्राता श्री जल्लराजजी एव सुपुत्र श्री पारसमनजी मिलनमार तथा गुरुदेव के भक्त हैं।



श्री नवरीलालजी तिलेसरा

श्री राजमलजी मरलेचा



श्री कन्हैयालालजी जंत



श्री युगलचन्दजी तालेडा



आप गुडागिरी, सोजत रोड निवासी सेठ गणेशमलजी मरलेचा के वक्त पुत्र है। आपके सात पुत्र एवं पुत्रिया ह। आप विदेष मातृभक्त है। आपकी वामिक श्रद्धा अच्छी है।

आप जयतारण निवासी श्री देवराजजी सा० चौबरी की धर्मपत्नी ह। जीर श्री शान्ति-लालजी व श्री बर्मोचन्दजी की मातेद्वरी हैं। आप परम गुरुभक्त ह और भाग्यवती ह। आपके सुपुत्र तिरुपाति, मद्राम में प्रख्यात व्यवसाय का संचालन कर रहे ह।



श्री केली बाई चौधरी



कु० कन्हैयालालजी, मादलिया निवासी सेठ मिश्रीमलजी मूया के पोत्र तथा श्री सम्पतराजजी मा० के सुपुत्र है। आपके पिताजी १ अपना कारोबार कुणल तथा गगावती में चला रखा है। पिता-पुत्र की गुरुभक्ति, त्याग तथा तपस्या अनुकरणीय है।

आप सोजत निवासी श्री मिरमलजी पगारिया के सुपुत्र ह। आप क्रान्तिकारी विचार वाले खादीभक्त एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति है। आपके सम्पतराजजी बदरीचन्दजी आदि तीन सुपुत्र हैं। आपका कारवार निदमार रमेडी में सुन्दर ढंग से चल रहा है।



श्री पारसमराजी दगारिया

आपकी जन्मभूमि चाउण्डिया (भारवाड) है। आपके लघुभ्राता का नाम श्री जुगराजजी है। वैंगलोर में दोनों भाइयों का व्यवसाय सम्मिलित रूप में बड़े सुन्दर ढंग से चल रहा है। आप देव-गुरु के परम भक्त ह।



श्री सोहनराजजी कन्हैयालालजी जैन



आप आठवा की दवली के निवामी, सुन्दर गायक एव कवि हैं। अपने हाथों में ही सम्पत्ति उपाजित करके मनुष्ययोग करते रहते हैं। आपका जवाहिर प्रि० प्रेस के नाम से जोधपुर में प्रेस है।



आप खारिया (मीठापुर) निवासी श्री छगनमलजी खिचमरा के सुपुत्र हैं। दिल के बड़े उदार एव धर्मपरायण व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय मद्रास में है।

यह राणीवान निवामी बोहरा सोहनराज जी तथा गुड्डमलजी मुराणा की सयुक्त फर्म है। दोनों सज्जन समाज सेवा में खूब रम लेते हैं। बड़े कार्यकुशल नवयुवक हैं।



श्री मुकनचन्दजी बालिया



श्री पारसमलजी खिचसरा



आप पिच्याक (मारवाड) निवामी सेठ छाटमलजी मालिक फर्म श्री वेमचन्दजी मवरलालजी चोरडिया के दत्तक पुत्र हैं। आप प्रकृति में उत्साही वीर एवं हिम्मतवर व्यक्ति हैं। आपकी बड़ी जमींदारी है आप गहन संचालन में भी निपुण हैं।

आप सोजत निवामी श्री समर्थमलजी नावरिया के सुपुत्र हैं आप दिल के बड़े उदार एवं अर्भनिष्ठ हैं प्रकृति में मिलनसार व हममुख हैं।



श्री मुन्नालालजी नावरिया



श्री मोहनलालजी भडारी



आप विलाडा निवासी गणेशमलजी भडारी के सुपुत्र व स्था० जैन श्रावक मध के प्रमुख हैं। आपके कनिष्ठ भ्राता श्री पारसमलजी हैं। दोनों भाइयों का प्रेम राम-नक्षत्र सा है। दोनों उत्साही हैं। व्यवसाय विलाडे में ही हैं।

आप कुरडया निवासी सेठ मुन्नालजी के पुत्र हैं। आप बड़ी धार्मिक लगन वाले श्रावक हैं। आपकी प्रेरणा से गांव में धर्म का अच्छा प्रसार हो रहा है।

आप वृत्ती निवासी स्व० मेठ चन्दन-मलजी बोहरा के सुपुत्र हैं। आप में धर्म के प्रति लगन, समाज-प्रेम खूब है। आपकी गुरुभक्ति अनूठी है। आप आदर्श युवक हैं। आप से समाज को बड़ी आशाएं हैं।



श्री मोतीलालजी बोहरा



श्री माणकचन्दजी मेहता



आप माडरनिम मास्वाड के निवासी है ।
आपके पिता का नाम श्री जेवन्तराजजी है ।
पिता पुत्र दोनों ही समाज के रत्न हैं ।
गंगावती (राजपुर) में अपना व्यवसाय
चलाते हैं ।

बिन्दावा निवासी श्री गणेशराजजी बल-
वाणी के सुपुत्र हैं । बिन्दावा स्थानस्थानी
मन के प्रमुख हैं । राज्यसम्मानी श्रीमान्
हैं । आप के सुपुत्र पारममलजी एवं शान्ति-
लालजी व्यापार में अच्छा रस लेते हैं ।
आपकी अनेक बसे भी चढ़ती हैं ।



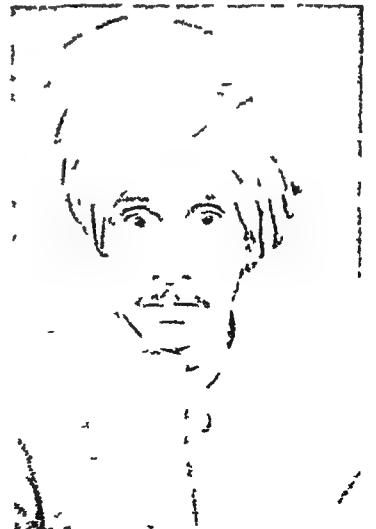
आप बगटी निवासी दिलेर, उत्साही और
शान्तिकारी विचारों के नवयुवक हैं । आपकी
अर्मपत्नी श्रीमती सज्जनकुंवर बाई भी बड़ी
अमपरायण एवं विवेकशील हैं । श्री काठेरजी
का व्यवसाय मद्रास में है । बगटी के हाईस्कूल
तथा छात्रावास के लिये आपकी सहायता
प्रशंसनीय नहीं है ।

चाउन्डिया निवासी श्री ताराचन्दजी के
सुपुत्र हैं । आपके लघुभ्राता श्री जुगराजजी
सब के भैया, एवं संगीतज्ञ हैं । आपकी बहन
धनकुंवरजी ने भागवती दीक्षा अंगीकार की
है । आपका व्यवसाय यहीं चल रहा है ।

आप जयतारणमारवाड के निवासी हैं ।
बड़े ही शाल, गम्भीर एवं गुरुमन्त व्यक्ति
हैं । आप में सज्जनता कूट-कूट कर भरी है ।
आपकी कुप्यल में माणकचंद सूरजमल नाम
की फम एवं ओइन मिल है ।



श्री पुखराजजी ललवाणी



श्री पुखराजजी काठेर

श्री जुगराजजी सचेतो



जाप सीरवादा-सोजतरोड निवासी स्व० मठ वक्तावरमलजी के सुपुत्र थे। कुशल व्यापारी, धर्मनिष्ठ एवं सहृदय थे। जाप गुरुदेव के परम भक्ता में थे। जापके बड़े पुत्र भवरलालजी हैं।

जाप चाउण्डिया निवासी गालचन्दजी बाहुरा के सुपुत्र जीर टीरुमचन्दजी, मरणच चाउण्डिया के बड़े भ्राता हैं। उदार और मित्रनसार नययुक्त हैं।



श्री पुखराज बोहरा

श्री लोहराजी बोहरा



श्री कुशलराजजी कटारिया



जाप चाउण्डिया निवासी बूड, उत्साही एवं धर्मपरायण व्यक्ति थे। जापके सुपुत्र श्री सुगलचन्दजी व अन्नराजजी मारवाड व मद्रास में अच्छा व्यवसाय चला रहे हैं।

जाप चाउण्डिया के निवासी हैं। जापका व्यवसाय आदनावरम् (मद्रास) में चलता है। जाप धर्मप्रेमी, उत्साही गुरुभक्त नययुक्त हैं।

जाप सोजत निवासी बूलचन्दजी कटारिया के सुपुत्र हैं। उत्साही गुरुभक्त हैं। जापका व्यवसाय द० भिरुन्दरावाद में चलता है।



श्री गुदडमलजी तालेडा



आप निरियागी-सोचन निवानी धर्मपरायण पुण्य हैं। खडर के पुण प्रेमी ह। सामाजिक कार्यों में गुप्त रूप से मदद करना बहुत पसंद करते ह। आपका व्यवसाय मनमाड में चल रहा है।

आप राम (माग्बाड) के निवानी श्री राजमलजी बोहरा के सुपुत्र हैं। प्रकृति में मद्र, उदार और धर्मप्रेमी मज्जन हैं। आपने सामाजिक क्षेत्रों में धन का अच्छा उपयोग किया। आपकी धर्मपत्नी श्री दावी वार्ट भी बड़ी धर्मपरायण महिला हैं।



श्री सम्पतराजजी बोहरा

श्री सुरजमलजी सकलेचा

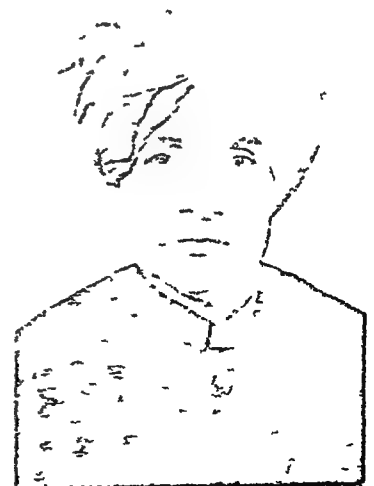


आपकी फर्म श्री हीराचन्द भीकमचन्द के नाम से जोधपुर में मशहूर ह। आपके पुत्र भाई सा० भीकमचन्दजी का स्वर्गवास हो गया है। आपके ननु भ्राता श्री इन्दरमल जी भी आप ही के समान, मरल, उदार एवं पूरे मादगी पसंद हैं। आप दोनों भाइयों को तथा श्री भीकमचन्दजी मा० के सुपुत्र श्री पारममलजी को समाज सेवा का बहुत चाव है। बड़ी महूदयता में समाज सेवा का लाभ लेते हैं। आप मरुपरकेमरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के मन्त्र हैं।



कुमलापुर निवासी प्रसिद्ध आवक ह। गोर तपस्वी हैं। कई मानखमण और ५१ दिनों तक की तपस्या की है। दानी हैं। आप के सुपुत्र फनेहचन्दजी चम्पानालजी मद्रान में व्यवसाय करते हैं।

आप चाउगिन्वा निवानी श्री चुन्नीलालजी तालेडा के सुपुत्र हैं। आप बड़े मद्र एवं धर्म-निष्ठ पुण्य हैं। मद्रान में विभिन्न स्थानों पर आपकी चार प्रसिद्ध फर्म हैं।



श्री गीसुलालजी तालेडा

श्री मिथीलालजी बाफणा



आप श्री हीरालाल जी माहव के सुपुत्र थे। श्री माहनलाल जी आपके लघुभ्राता हैं। बाफणा जी की उदारता और धर्मप्रियता प्रशंसनीय है।

आप करमावस (मालियाँ का) के निवासी श्री उगनमलजी के सुपुत्र हैं। आपके कनिष्ठ भ्राता मार्गिलालजी हैं। दोनों उत्साही, धर्मप्रिय एवं गुरुभक्त हैं। व्यवसाय मद्रास और बेलूर में है।



श्री भवरलालजी दूगरवाल

श्री बालावक्षजी बोहरा



आप राणीवाल मारवाड के निवासी श्री गुलाबचन्दजी बोंग के सुपुत्र हैं। आपके पुत्र चम्पालालजी विजयराजजी और मदनलालजी हानहार उत्साही और धर्मप्रिय हैं। उनमें विजयराजजी प्रत्येक कार्य में विशेष उत्साह से भाग लेते हैं।

आप चाउण्डिया निवासी धर्मनिष्ठ एवं तपस्वी श्रावक थे। आपके मदनलालजी विजयराजजी आदि तीन सुपुत्र हैं। आपका व्यवसाय रायपेट मद्रास में थंड सुन्दर ढंग में चल रहा है।



श्री केशवचन्दजी तिलेसरा

श्री मुलतानमलजी सूया



आप डासगा (मारवाड) के निवासी श्रमज श्रावक हैं। आपके श्री हस्तीमलजी ताराचन्द जी यदि पुत्रों में वैंगलार में सुन्दर व्यवसाय चला रहा है। हजारों का दान देते हैं।

आप चाउण्डिया निवासी वयोगृद्ध श्रावक हैं। आपके सुपुत्र भवरलालजी या माहनलाल जी समाजसेवा में गहन रत होते हैं। देव-गुरु के श्रद्धावान हैं।



श्री चन्दनमलजी तालेडा



द्वितीय श्रेणी

श्री स्व० सुजानमलजी बोहरा



आप मादलिया के निवासी मरल प्रकृति के व्यक्ति हैं। धर्म में आपकी पूर्ण जात्या है। मैसूर में केवलचन्द राममुख नाम की आपकी प्रतिष्ठ फर्म है।

आप बांग्लाई निवासी, उत्साही युवक हैं। आपका व्यवसाय मद्रास में चल रहा है। यहां भी अच्छी जमींदारी है।

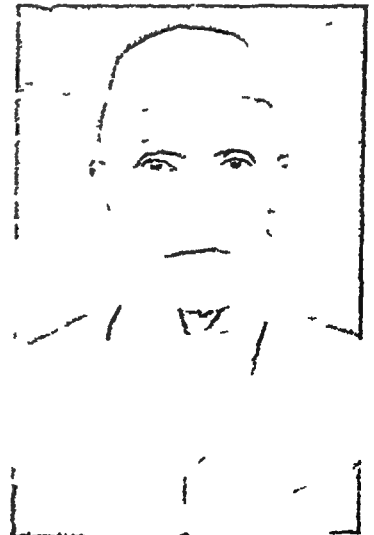


श्री रिक्वचन्दजी मरलेचा



आप वसपरायण, जनसेवी एवं उदार-मना व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय यवनमाल में अच्छे ढंग में चल रहा है।

आप बड़ बिनयवान विवकशील व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय यवनमाल में उत्तम रीति में चल रहा है।



श्री नेमीचन्दजी उदयचन्दजी वरलेचा

आप पीपाड (मारवाड) निवासी थे। आपके पुत्र श्री सम्पतराजजी बोहरा हैं। आपके ज्ञानदान में मेरे उपाध्याय श्री हृन्मीमलजी म० एवं महामनी श्री तेज-कंचरजी म० ने भगवती जैन दीक्षा ग्रहण की। आपका व्यवसाय यवनमाल में है।

श्री श्री० जवरीलालजी कटारिया



आप मोहन निवामी श्री चुन्नीदासजी कटारिया के पुत्र हैं। आपका व्यवसाय मैसूर में चल रहा है। आपकी बहन प्रेमल कुवरजी नम्रा० जैन भगवती बोधा अर्णकार की हैं। आप उत्साही युवक हैं।

आप बीजाजी का गुदा (मारवाड) के निवासी हैं। आप प्रमथ्यात में हठ और पत्रों के गुरुभक्त हैं। मारवाड में बीजाजी का गुदा श्री चिगनपेट मद्रास में आपका व्यवसाय चल रहा है।



श्री श्यामलजी सकलेचा

श्री घीमालालजी मूया



आप अटवडा निवासी हैं। आप बड़े भद्रिक एवं जनप्रिय मज्जन व्यक्ति हैं। आपके पुत्र श्री लादूरामजी राधननिर क्षेत्र के सुन्दर रायचर्ता हैं। आपका व्यवसाय मद्रास में अटवडा में चल रहा है।

आप वृद्ध एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं। आपका मादलिया में प्रेमराज जवरीलाल के नाम में फर्म चल रहा है।



श्री प्रेमराजजी लोढ़ा



आप कुशालपुरा निवासी समाज प्रेमी मज्जन थे। आपके सुपुत्र श्री धर्मप्रिय जोर परम गुरुभवन हैं।

४

आप अटपटा निवामी उदारमना समाज-सेवी मज्जन ह। आपने सुपुत्र श्री गिरनारीलालजी भी आपही के गुणों का अनुकरण कर रहे ह।



श्री धीसलालजी गधिया



आप कुमालपुरा मारवाड निवासी गाटमलजी वाहरा के सुपुत्र हैं। आपको जिन-वाणी श्रवण का बहुत शौक है। स्त्रोपाजित लक्ष्मी का सदुपयोग कर रहे हैं। आपके बाबूलालजी कृपभराजजी आदि चार सुशील व आज्ञाकारी सुपुत्र हैं। आपका व्यवसाय मारवाड एव मद्रास दोनों जगह चलता है।

आप धूँधला निवामी ह। समाज में क्रान्ति पैदा करने वाले तथा हट धर्म श्रद्धा वाले सज्जन हैं। आपके सुपुत्र श्री लाठचन्दजी एक योग्य व्यक्ति ह। आपका व्यवसाय मद्रास में है।



श्री हीराचन्दजी धोका



आप व्याजर निवामी श्री कंसरीमलजी गुलेच्छा के सुपुत्र हैं। आपके कनिष्ठ भ्राता का नाम श्री लीवराजजी था। वचन से ही आपमें धार्मिक लगन अच्छी है। आपके वक्ता पुत्र श्री उदयरामजी नवयुवक एवं सुदीन हैं।

आप मिरियारी (मारवाड) के प्रसिद्ध मेहता गानदान के पीतलिया गोश्रीय धर्मज्ञ पुरुष हैं। आपकी ओसवाल समाज में अच्छी ख्याति है। भगवद् वाणी के बहुत प्रेमी हैं। आपके परिवारजनों में अच्छी धार्मिक भावना है।



श्री कस्तूरचन्दजी पीतलिया



आप चौकडी (पट्टी) निवामी हस्ती-मलजी सा० काकरिया के सुपुत्र हैं। आप उत्साही एवं बड़े उदार व्यक्ति हैं। माय श्री कवि, गायक एवं कलाकार हैं। आजकल आप मद्रास में एनी जनरल इन्धारेन्स कम्पनी में उच्च पद पर कार्य कर रहे हैं।

आप श्री शिवराजजी थोकडिया के सुपुत्र हैं। आपमें धार्मिक लगन अच्छी है। आपकी जसराज नेमीचन्द के नाम से पाली में प्रसिद्ध फर्म है। आप मूलतः घागटा के निवासी हैं।



श्री लालचन्द थोकडिया

अर्थसहायको का संक्षिप्त परिचय, जिनके चित्र प्राप्त न हो सके

श्री एम० मिथीलजी मूया

आप जयनाथ निवासी श्री मिथिलमलजी मूया के सुपुत्र हैं। आप दृढ़ श्रद्धावान् एवं गुरुदेव के श्रद्धालु हैं। आप अपने ही परिश्रम से अंतरांगी उपाजित की हैं। एम० मिथीलमल जैन के नाम से ताम्बूल मद्रास में आपकी फर्म चली है।

श्री चम्पालालजी सरलेचा

आप बन्दा निवासी श्री धीमालाजी सरलेचा के बड़े पुत्र हैं। आप प्रसिद्ध व्यापारी, समाजसेवी, उदार दिल नवयुवक हैं। आपके सबसे छोटे भाई मिथिलालजी भी अंतरांगी नवयुवक हैं। दाना भाइयों का व्यवसाय मन्मिथिल रूप से जालना में चला है। बड़ा धीमाला चम्पालाल के नाम से आपकी फर्म प्रसिद्ध है।

श्री धीमालालजी रत्नवाजी पुनमिया

आप त्रादी प्रिय उमाही, समाजसेवी युवक हैं। आप लक्ष्मी के बड़े पुत्र हैं। सारी श्री एवं समृद्धि स्वापजित है। आपकी भाईगांव बम्बई में धीमाला रत्नवाजी नामक प्रसिद्ध फर्म है।

श्री बन्धनमलजी लालचन्दजी कोठारी

आप स्वामपुरा के निवासी हैं। आपका गाँव में आपका व्यवसाय लालचन्द मोहनलाल के नाम से चलता है। आप समाज में अग्रणी हैं। सर्व श्री नाथचन्दजी मोहनलालजी तथा चम्पालालजी चारों ही भाई बड़े श्रद्धालु एवं गुरुदेव के परम भक्त हैं।

श्री जयवन्तराजजी गुनेच्छा

आप मिठाटा के निवासी हैं। उदार दिल धर्मप्रेमि युवक हैं। आपके सुपुत्र श्री उदयरजजी मद्रास में बसंत करन हैं। आपका व्यवसाय आठनावरम् मद्रास में अच्छे स्तर पर चल रहा है।

श्री जयवन्तराजजी मुगलचन्दजी बाफना

आप कुनालपुरा निवासी हैं। आपका व्यवसाय बैंगनोर तथा मद्रास दोनों स्थानों पर अच्छा चलता है। आप दाना समर्थनी व्यक्ति हैं।

श्री नैवरलालजी राईना

आप ब्यावर के प्रसिद्ध एडवाइटर हैं। आप अच्छे नायक एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। आप एवं आपके पिता श्री तुंगानाथी गुरुदेव के परम भक्त हैं। आपकी ब्यावर जोरपुर, जबपुर, अजमेर, ब्यावर एवं दिल्ली में अच्छी चली है।

श्री रामचन्द्रजी मकलेचा

आप महाराज निवासी जुहारमलजी मकलेचा के पौत्र जीर श्री गणेशमलजी के सुपुत्र हैं। आप अमानुष, दयालु एवं परम विद्वान् व्यक्ति हैं। आपकी बजेरा में जुहारमल गणेशमल नामक प्रसिद्ध फर्म है।

श्री रत्नचन्दजी गांधी

आप गणायाम निवासी श्री नैनमलजी के सुपुत्र हैं। खादीप्रेमी समाजसेवी साम्बज, पुरुष हैं। आपकी बामिन लगे बड़ी सराहनीय है। आपका व्यवसाय यवतमाल में चलता है।

श्री पारसमलजी सुराणा

आप साजत निवासी श्री कैगरीमलजी सुराणा के सुपुत्र हैं। आपका नाम पारसमलजी सा० व फिन्ट्र प्राता श्री मदनराजजी तथा सुपुत्र मोहनलालजी एवं सुदशनलालजी जाँद गम्पूण परिवार धर्मोत्तर, विनयशील, पय समाजसेवी परिवार है। आप मुन्दर के जनम्य भ्राता हैं। आपका कुलनाम मद्रास नम मैमूर मे अच्छा व्यवसाय चल्ता है।

श्री नयमलजी भसाली

आप जाजणनाम निवासी श्री पन्नालालजी भगाला के सुपुत्र हैं। आप मरल हूय नमुरक हैं। आपका व्यवसाय अपन गाँव मे मद्रास मे पन्नालाल नयमल के नाम मे चलता है।

श्री फुटरमलजी राजमलजी बरलोटा

आप सादरी निवासी बरलोटा गानदान के हैं। आपन लीलागाह जैन गुरुकुल सादरी (मारमाड) का पय मुक्त वीम हजार तथा सादरी सम्मेलन के अवसर पर भी एक मुक्त वीम हजार फुटरमल दानमल के नाम मे दिये हैं। और जनेक सम्भाषा का आप पुत्रे जाया के दात दते रहते हैं। आपका व्यवसाय पूना मे सुन्दर दग मे चल रहा है।

श्री फूलचन्दजी धर्मोचन्दजी देगरवाल

आप जाजला निवासी हैं। स्व० फूलचन्दजी सा० ने निर दीनारों दिखाई थी। वे मना के प्रमुख व्यक्ति हैं। आपका स्मृति मे स्वानक का निर्माण कराया गया है। आप मन्तो की नीति मे जीन रहनेवाले मन्त्रा दर्शित हैं। आपका व्यवसाय बाजला मे ही चलता है।

श्री बिसनराजजी कटारिया

आप सहराज निवासी श्री बसनागरमलजी कटारिया के सुपुत्र हैं। उठे परीषदारी पय मयाजमवी पुष्ट हैं। आप मन्त्रधन्वा मे हूय रहते बलि हैं। आपका व्यवसाय मद्रास मे सुन्दर दग मे चल रहा है।

श्री नवरलालजी नौरतनमलजी सेठ

आपकी फर्म व्यावर मे गणेशदाम समीरमल के नाम से प्रसिद्ध है। आपन स्वाभाविक चरित्र नमः का मनुष्ययोग मे व्यय करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। आप उमपरायण एवं दानी हैं। दोनो भादवा का जट्ट मन्त्र है। आप अपनी जन्मभूमि निवाज मारवाड मे एक उठी माराधि दय परक धर्मवाना का निर्माण तथा रहते हैं। आपकी पूजनीया गाजाद साहू का दयालु महिनाओं मे बजाते हैं।

श्री राजमलजी नयमलजी बरलोटा

आप मारमाड सादरी के निवासी हैं। बड़े दानी एवं समझिवाली पुरुष हैं। आप लगभग चार गाँवों की फीसत की जमीन तथा ३१ हजार रुपये नरद श्री लाकागाह जैन गुरुकुल की समर्पित कर यद्यपि बन है। तथा जैन सादरी मे एक सुन्दर जैन स्वानक का निर्माण करवाना चाहते हैं। आपका व्यवसाय पूना तथा बैंगलोर मे चल रहा है।

श्री मिश्रीमलजी कटारिया

आप सहराज निवासी ससमलजी सा० के सुपुत्र हैं। स्वाभाविक लक्ष्मी का पूरा मनुष्ययोग कर रहे हैं। आपका व्यवसाय मद्रास मे चलता है।

श्री हेमराजजी सिंगी

आप कुसालपुरा निवासी नपस्वी, धर्मोत्तराणी, पय दृष्टप्रतिज्ञ पुरुष हैं। आपन अता जगहा पर अपनी चंचल लक्ष्मी का दान कर गच्छी लक्ष्मीपति होने का परिचय दिया है। यह जैन धर्माभ्यासी गरीब नाट्या के नियम

एक मुक्त पत्रहस्तार प्रसार दया प्रदान करके अपने अर्थप्रेम का परिचय दिया है। आपका व्यवसाय गायेंद मद्रान में मुक्तान रूप में चल रहा है।

जवरचंद जी बोहरा

आप दुधालपुरा निवासी शाह केमरीमलजी के सुपुत्र हैं। उत्साही, नवयुवक हैं, गुरुनक्त हैं। सामाजिक कार्य में नत्वा रहते हैं। साग्वार यही है।

श्री भैरवलालजी नकलेचा

आप बीजाजी के पुता के निवासी श्री गुलाबचन्दजी नकलेचा के सुपुत्र हैं। उत्साही, मद्र और सरल व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय बैंगलोर में है।

श्री बालावगलजी विजेराजजी बोरा

आप गणीवाल साग्वार के निवासी श्री गुलाबचन्दजी बारा के सुपुत्र हैं। आपके पुत्र चम्पालाजी विजय-राजजी और मदनलालजी नीलो जी बड़े हानहार उत्साही और बनप्रिय व्यक्ति हैं। उनमें विजयराजजी प्रत्येक कार्य में विशेष उत्साह में भाग लेते हैं। आपका व्यवसाय साग्वार, मद्रान, और गुजरात में बड़े सुन्दर ढग में चल रहा है।

श्री लालचन्दजी मोहनलालजी इगरवाल

आप कर्मावत निवासी हैं। व्यापार मिन्दराज में सुन्दर चल रहा है। दोनों भ्राता अमन, उत्साही और निवासी हैं।

श्री केवलचन्दजी चोपड़ा

आप मोहन निवासी दानवीर, समाजसेवा हैं। आपने गौतम जैन गुम्फत श्री उम्मेद गौशाला, यदि अनेक मन्थानों में नया सामाजिक कार्य के 'उने' लगभग तीन लाख रुपये व्यय किए हैं। आप सापालचन्दजी का० चोपड़ा के पुत्र हैं। आपके पास में कोई भी व्यक्ति महानार्थ पहुँच कर निराश नहीं होता। आप खट्टर भक्त हैं और तीन स्तम्भ भी रखते हैं। आपके लघु भ्राता श्री फलचन्दजी हैं। आपका व्यवसाय बम्बई में श्री केवलचन्द चम्पागार के नाम में चलता है।

श्री कुलीनालजी मय्यनराजजी बरडिया

कर्म न नवाधिकारी श्री मय्यनराजजी बरडिया जोधपुर के निवासी हैं। आपके दा कनिष्ठ भ्राता श्री गज हैं। दोनों भातों के सापरत्ता हैं। आप श्री महरक्केरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के मंत्री हैं।

श्री मदनराजजी नाहटा तथा श्री जवरीलालजी नाहटा

दोनों भाई हैं। आप मात्र निवासी बाबू पीमलालजी नाहटा के सुपुत्र हैं। आपके लघु भ्राता श्री जवरी-लालजी नाहटा हैं। दोनों भाइयों में असीम स्नेह है। आप बड़े विजाल हृदय के हैं। सामाजिक कार्य में मुक्ततम्भ में दान देने हैं। आपने परिवार तथा अन्य मन्थानों का अपने व्यक्तित्व का नानेदार बनाकर उन्हें भी सम्पन्न बना दिया है। आपका व्यवसाय स्टन-उडीना में चलता है। आप श्री महरक्केरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के सचिव भी हैं।

श्री प्रेमराजजी कामदार

आपका जन्म चाउण्डिया (साग्वार) में हुआ। आप जवानमलजी तालिडा के सुपुत्र हैं। आप राज्य शासन के सापराचार्य में उठते हुए हैं। वर्तमान में आपका व्यवसाय बैंगलोर शहर में चल रहा है। जहाँ आपने अच्छी ध्यानि प्राप्त की है।

श्री पुष्कराजजी सोसोदिया

आप व्यावर निवामी श्री हीरालालजी के सुपुत्र हैं। आप गौरवधर्मान गद्य के प्रमुख ह और अनेक संस्थाओं के प्रमुख कार्यवाहक हैं। श्री मन्दारकेमरी अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशन समिति के अध्यक्ष हैं। आप बड़े कुशाग्र-बुद्धि, व्यवसायकुशल, अमप्रेमी और अनुसामनप्रिय व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय पानूदान हीरालाल तथा हीरालाल पुष्कराज, नाम से व्यावर और अजमेर में चलता है। जिसकी और याचाएं भी हैं।

श्री बालचन्द्रजी वाफना

आप सादरी निवासी मन्तारुचन्द्रजी सा० वाफना के सुपुत्र हैं। आप श्रीलालसाहू जैन गुरुकुल सादरी के अध्यक्ष हैं। बड़े धर्मपरायण व्यक्ति हैं। आपने धर्मकार्य के लिये हजारों रुपये का दान मुक्त हस्त में दिया है। आपने अपन ही हाथों में सम्पूर्ण सम्पत्ति अर्जित की है। श्री शान्तिनल्ल रूपचन्द के नाम से आपकी पेंडी प्रसिद्ध है। आपकी अमपत्नी श्रीमती पानीबाई व सुपुत्र श्री रूपचन्दजी सर्वत्र आपका नाम के प्रति जागरूक हैं।

द्वितीय श्रेणी

श्री अन्नराजजी बुधराजजी कटारिया

आप सहाज निवामी श्री जयानमलजी कटारिया के सुपुत्र हैं। आप दाना भ्राता व्यापारकुशल गद्य मरल युवक हैं। व्यवसाय मद्रास में चल रहा है।

श्री रघुनाथमलजी तालेडा

आप माजत निवामी श्री गुलाबचन्द्रजी के सुपुत्र हैं। आपका बतूर मद्रास में बहुत बड़ा व्यवसाय है। आप बड़े परोपकारी हैं। बेतूर के मास्तबिरयात मिशन अस्पताल में रोगियों के चिकित्सा के लिये २ मंजा रोगी आते हैं उनको बहा स्थान दिलवाना और उनकी सेवा करना आपका नित्य कम बन गया है। इनमें जो बुद्ध भी मर जाते हैं वह आप सहन करते हैं। और ऐसा करने में अपना अहंभाग्य समझते हैं। आप पूण गुरुभक्त हैं।

श्री जयवन्तराजजी विजयराजजी बोहरा

आप जयतारण निवासी एवं जयवन्तराजजी विजयराजजी कर्म के मालिक हैं। आप जीर के बड़े प्रसिद्ध व्यापारी हैं। आपका समाज में उच्च स्थान है। आप मुख गुप्त मराने हैं। अभी २ आपने बैंगलोर, मद्रास जाति दूम्मे प्रान्ती में व्यवसाय हेतु रहने वान जयतारण निवासी स्वामी जन्मुआ ग मध्य अमण तरेके सहा लाग समय रूढ़ि के हिय हैं और यहा एक विशाल अमस्थानक का निर्माण करवा रहे हैं।

श्री पारसमलजी ओका

आप सोजत के स्थानरुवासी समाज के मंत्री हैं। बड़े उदारजी व धर्मानुरागी व्यक्ति हैं। बड़े व्यवसायकुशल हैं। पूज्य श्री रघुनाथ जैन पुस्तकालय के भी आप मंत्री हैं। आपने कठोर परिश्रम से पुस्तकालय का अपन पैरापर पडा कर दिया है।

श्री दीपचन्द्रजी हस्तीमलजी सकलेचा

आप सहाज निवासी पटवागी गुलाबचन्द्रजी सकलेचा के सुपुत्र हैं। दानो भाइयों के हृदय में अम की गहरी लालमा है। आपका व्यवसाय गुटियातम मद्रास में है।

श्री पुष्कराजजी रिसवचन्द्रजी राका

आप कुशालपुर निवासी, आधुनिक विचारों के नवयुवक हैं। आपका व्यवसाय मद्रास में है।

श्री पुष्कराजजी रायचन्द्रजी छाजेड

आप रायपुर निवासी, अमपरायण एवं योग्य व्यक्ति हैं। आपकी अमपत्नी श्री कूटगीबाई और तपस्विनी हैं। उनके निरन्तर एशान्तर चरना है। आपका बैंगलोर में बहुत ही व्यवस्थित व्यवसाय है।

श्री प्रतापसलजी मंगराजजी मलगढ

आप कैमगमिहजी का गुटा के निवासी हैं। नमात्र के प्रभुत्व आवक हैं। आप मन्त्र एवं मन्त्रियों की सेवा में दत्तचित्त रहते हैं। आपका व्यवसाय गाव में हा चला है।

श्री लिचमीचन्द्रजी खारीवाल

आप माजन निवासी नारमलजी खारीवाल के सुपुत्र हैं। आपकी धर्म के प्रति गहरी लगन है। आपका व्यवसाय बैंगलार में है।

श्री मिणगारबाई खारीवाल

आप नोजन निवासी नारमलजी खारीवाल की धनपत्नी हैं। आपके सुपुत्र लिचमीचन्द्रजी एवं गारमलजी बड़े आज्ञाकारी हैं और आप स्वयं अमरगण मद्रिदा हैं।

श्री सुगर्नीबाई खाविया

आप मानन गेड निवासी हेमराजजी खाविया की धनपत्नी हैं। आपके सुपुत्र श्री ललचन्द्रजी बड़े मित्र-नाथ धर्मोत्तुंगी व्यक्ति हैं। श्री सुगर्नीबाई गृहकार्य में दक्ष हैं। आपका स्वभाव वचन में ही ब्रह्म अच्छा है। आपका व्यवसाय मद्रान में है।

श्री हरकचन्द्रजी कल्यालालजी कोठारी

आप ब्रवाणपुरा निवासी हैं। आप मान नाड हैं। स्वर्गी प्रकृति सुन्दर एवं मिलनसार हैं, पूण उत्साही हैं। नमात्र के कार्य में दत्तचित्त रहते हैं। आपका व्यवसाय मद्रान, गाहन, एवं ब्रवाणपुरा में है।

श्री चम्पलालजी भीमचन्द्रजी राका

आप कुमाग्रपुरा मारवाड निवासी बावडी गले राका के नाम में प्रसिद्ध हैं। नमात्र में आपका गौरवपूर्ण स्थान है। आपका व्यवसाय मारवाड, मद्रान, खानीमगाव, और सायन्दर में चलता है। नमात्रालन के कामों में खूब हाथ प्रदान है और हमेशा अग्रणी रहते हैं।

श्री चम्पालाल खारीवाल

आप कुमाग्रपुरा निवासी अनगनजी खारीवाल के सुपुत्र हैं। आप मरन हृदय, सेवाभावी, एवं उदार-मना व्यक्ति हैं।

श्री मागीलालजी रेड

आप गोवपुर निवासी श्री मेहराजजी रेड के सुपुत्र हैं। आप ने जीवन में खूब उना चटाव देखे हैं। माहमी उत्साही मधुबुद्ध हैं। गुरुदेव के अत्यन्त भक्त हैं।

श्री तेमोचन्द्रजी बाठिया

आप बगरी निवासी गार्ह श्रीगचन्द्रजी के सुपुत्र थे। उदारमना थे। एकदुन नीम हवा बगरी तीन हाई-स्कूल का तथा तीन-चत्वार मोहन राट जैन म्यान्स का दिने तथा पञ्चान हवा प्रसीपक दान दिए। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती मदन कुम्हारजी आप के पद चिह्न और चला हुई उसकी का मद्रायोग पर गयी है। साधार जाग्राड मद्रान में चल रहा है।

श्री जयरचन्द्रजी बोहग कुशालपुरा

श्री चम्पालालजी खारीवाल कुशालपुरा

श्री मिश्रीमनजी नगराजजी गोठी, बिलाटा (बोलीबाकम)

आप नीना मज्जन नी परन उत्साही, धर्मप्रेमी और गुरुदेव के भक्त हैं।

तृतीय श्रेणी के सहायदाता

- १ श्री अमोलकचन्दजी छगनमलजी धारीवाल, बगडो (आरफानम)
- २ श्री अभयराजजी रामलालजी कोठारी, (डूगड) कुरडाया
- ३ श्री केशरीमलजी तेजराजजी भडारी, पीपाड (मंसूर)
- ४ श्री अमोलकचन्दजी भवरलालजी नाहर, कालू आनदपुर (मद्रास)
- ५ श्री कातिलालजी चादमलजी पुनमिया, सादडो
- ६ श्री गणेशमलजी चादमलजी काँडेड, कोटडा
- ७ श्री गणेशमलजी सुनराजी पोकरना, सामाजी का गुडा (मद्रास)
- ८ श्री गणेशमलजी लालचन्दजी पीतलिया, सिरियारी, (हेदरावाद)
- ९ श्री गहरीलालजी भवरलालजी पगारिया, विलाडा (मद्रास)
- १० श्री घीमूलालजी भवरलालजी लुकड, सोजत सीटी, (बंगलोर)
- ११ श्री जसराजजी चन्दनमलजी सोमावत, सिरियारी, (मद्रास)
- १२ श्री जेवतराजजी पारसमलजी कोठारी, (डूगड) कुरडाया
- १३ श्री जोगीलालजी कन्हैयालालजी हिरण, विलाडा
- १४ श्री जुगराजजी जवरीलालजी नाहर, हरियाडाणा, (मद्रास)
- १५ श्री जवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
- १६ श्री जुगराजजी गजराजजी कटारिया, सेवाज
- १७ श्री देवीचन्दजी रूपचन्दजी साकरिया, (साडेराव)
- १८ श्री धूलचन्दजी पुलराजजी सिंगी, सिरियारी (हेदरावाद)
- १९ श्री धनराजजी चम्पालालजी समदडिया, केलवाज, (बंगलोर)
- २० श्री प्यारी बाई, जालोर
- २१ श्री प्रेमराजजी मोतीलालजी मूथा, चारान्डिया, (मद्रास)
- २२ श्री पुलराजजी विरवीचन्दजी चौधरी, जेतारन (मद्रास)
- २३ श्री प्रेमराजजी विरवीचन्दजी गुगलिया, राणावास (सिकन्दरावाद)
- २४ श्री पुलराजजी विरवीचन्दजी गाधी, बुसी
- २५ श्री प्रेमचन्दजी बातूलालजी बोहरा, बुसी
- २६ श्री प्रेमराजजी हस्तीमलजी सोलकी, देवली जाऊवा की
- २७ श्री प्रतापमलजी दुलहराजजी कटारिया, सेवाज
- २८ श्री वसीलालजी मोठालालजी सिंगी, सोजत सीटी, (बंगलोर)
- २९ श्री वस्तीमलजी बाडिया, सोजतसीटी (मद्रास)
- ३० श्री भवरलालजी लुकड व चम्पालालजी नाहर, बंगलोर सीटी
- ३१ श्री भवरलालजी विरवीचन्दजी कोठारी, (डूगड) कुरडाया
- ३२ श्री मोतीलालजी काठेर, कोटडा (बंगलोर सीटी)
- ३३ श्री मगलचन्दजी नेमीचन्दजी मोहरा, केलवाज, (बंगलोर)
- ३४ श्री मिथीलालजी फूलचन्दजी दला, बीजाजी का गुडा (मद्रास)

३५. श्री मिथीलालजी जीवराजजी गुगलिया, राणावास, (सिकन्दराबाद)
३६. श्री मिथीलालजी मोतीलालजी नाहर, केलवा, (मद्रास)
३७. श्री माणरचन्दजी रगलालजी राऊ, कुसलपुरा (मद्रास)
३८. श्री मोहनराजजी गणेशमलजी नाहर, देवली (आऊवा की)
३९. श्री नन्दलालजी जयन्तराजजी मुगणा, नोजन (कुम्भकोणम्)
४०. श्री मोतीलालजी सरदारमलजी खोठारी (दूगड) कुन्डिया (मद्रास)
४१. श्री मिथीबाई शोनागमलजी की जमपली, जेतारण
४२. श्री लालचन्दजी सम्पतगजजी कोठारी, कुसलपुरा (बंगलोर)
४३. श्री लिलमचन्दजी नेमीचन्दजी कण्णावट, जोधपुर
४४. श्री बिनयचन्दजी हीराचन्दजी पीनलिया मोजतरोड
४५. श्री समलजी नवरलालजी गेन्डा, वडा गुडा (आरकोनम)
४६. श्री हम्मनमलजी प्रेमचन्दजी नाकरिया, साडेराव
४७. श्री मिथीलालजी चादमलजी जामड नयाल (मारवाड)
४८. श्री जनेराजजी वनमलजी सरलेचा जेतारण (मारवाड)
४९. श्री जेवतराजजी जेनरीमलजी मोलकी सादडी
५०. श्री मोहनलाल खुवालाल मदनलाल कावडिया सादडी

चतुर्थ श्रेणी के सहायदाता

१. श्री केशवचन्दजी जमलालजी कोठारी, बगडी (आरकोनम)
२. श्री रमलजी धनराजजी मुराणा, जामरवा
३. श्री गणेशमलजी बावलालजी गुगलिया, राणावास, (सिकन्दराबाद)
४. श्री गुणाचन्दजी जवलदामजी भडांगी, जोधपुर
५. श्री चम्पालालजी देवराजजी मोनोदिया, इन्दावड
६. श्री जीवराजजी उममराजजी दरडा, पुनल
७. श्री जमराजजी नीगमलजी मोहरा, कालू (मंसूर)
८. श्री जोगराजजी नेमीचन्दजी मोनोदिया, इन्दावड
९. श्री जयनाराजजी चम्पालालजी मिर्गी, कालू जामरवा (जाम्बुर)
१०. श्री जमराजजी पारममलजी देवाचन्दजी मिर्गी, सिरियारी (हैदराबाद)
११. श्री जमराजजी गमचन्दजी बगड, जेसरोमगजी का गुडा (हैदराबाद)
१२. श्री जोगराजजी नीकमचन्दजी काठेर, फेडडा, (बेलोपुरम्)
१३. श्री श्यामबाई (नवगंगाई) कन्हैयालालजी चोरडिया की धर्मपत्नी बादावतो का मोला
१४. श्री धनचन्दजी चादमजी ललबाणी, पारिया मोठापुर (मद्रास)
१५. श्री श्यामराजजी महावीरचन्दजी गादिया, मोजत (बंगलोर)
१६. श्री मुनराजजी मोनीलालजी लुणावन, बलुन्दा, मंसूर
१७. श्री मुनराजजी हीराचन्दजी जयमरा, बोपारी, (हैदराबाद)
१८. श्री जोगमलजी जेटमजी चोहरी, जालोर
१९. श्री बन्तमलजी शान्तिलालजी काठेर, मोजत
२०. श्री भानीलालजी शान्तिलालजी ममडिया, केलवा (बंगलोर)
२१. श्री मोहनलालजी मोहनराजजी रेड, मादलिया, मंसूर

- २२ श्री मगतचन्दजी मोठालालजी चौधरी, जालोर
 २३ श्री मोतीलालजी महावीरचन्दजी श्रीश्रीमाल, सोजत, (कुम्भकुलम)
 २४ श्री मागीलालजी काठेर, कोटडा
 २५ श्री रतनचन्दजी मोठालालजी आचलिया, कोटडा (मद्रास)
 २६ श्री शोभाचन्दजी लुणावत, वगडी (मंसूर)
 २७ श्री संसमलजी भवरलालजी वव सोजत, (मंसूर)
 २८ श्री साकलचन्दजी लालचन्दजी चौधरी, जालोर
 २९ श्री मिश्रीलालजी मोठालालजी सचेती धुवळा (काजीवरम)
 ३० श्री मोहनलालजी केवलचन्दजी काठेड वगडी (वीडकी)
 ३१ श्री सोहनलालजी रमेशकुमारजी सचेती, सोजतरोड
 ३२ रत्नचन्दजी, चान्दमलजी, मकाना नोमाज (चगल पेट)

अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति प्रबन्धकारिणी

- | | | |
|---|------|---------------------------------------|
| १ अध्यक्ष— श्री पुष्कराजजी शीसादिया, व्यावर | २६ " | श्री हस्तीमलजी मुलनानमलजी सूया, दामपा |
| २ उपाध्यक्ष— श्री बालचन्दजी बाफणा, सादडी (माग०) | २७ " | श्री पुष्कराजजी लुंगट, सोजत साठी |
| ३ उपाध्यक्ष— श्री केवलचन्दजी चौपडा, माजत सीटी | २८ " | श्री जुगगजजी कोठारी, चावडिया |
| ४ मंत्री— श्री सप्तगजजी वरडिया, जोवपुर | २९ " | श्री पुष्कराजजी गादिया, आगेवा |
| ५ सहमंत्री— श्री मदनराजजी तालेडा, चावडिया | ३० " | श्री पारसमलजी सूया, पीपाड सीटी |
| ६ सहमंत्री— श्री सोहनराजजी सुराणा, माजत सीटी | ३१ " | श्री जुगराजजी मुणोत, मागडा जफन |
| ७ सहमंत्री— श्री मदनराजजी नाट्टा, सोजत सीटी | ३२ " | श्री बदलचन्दजी वाकरिया, चोकरटी बडी |
| ८ सहमंत्री— श्री मदनराजजी वाडिया, साजत सीटी | ३३ " | श्री बीसूनालजी मेडिया, भावी |
| ९ कोषाध्यक्ष— श्री दन्तरमजी सकलेचा, जोवपुर | ३४ " | श्री निहलचन्दजी मेडना, मादडी |
| १० सहायकार— श्री पारसमलजी वाका, सोजत सीटी | ३५ " | श्री फूतचन्दजी लुणिया, पीकीया |
| ११. " | ३६ " | श्री चम्पालालजी डूगरान, करमावम, |
| १२. " | ३७ " | श्री वच्छराजजी गीतलिया, गिरियांगी |
| १३. " | ३८ " | श्री दीपचन्दजी सूया, साजत रोड |
| १४. " | ३९ " | श्री ठोतमलजी गिवगंग, बोपार्ग |
| १५ मदस्य— श्री सोहनलालजी गठोड, सोजत रोड | ४० " | श्री रानचन्दजी मकरेचा, मन्नाज |
| १६ " | ४१ " | श्री पन्नालालजी जागडा, जालणगा |
| १७ " | ४२ " | श्री पारसमलजी शालिया, व्यावर |
| १८ " | ४३ " | श्री गणेशचन्दजी मूया, कुणल |
| १९ " | ४४ " | श्री लालचन्दजी मुणा, मिहन्दगाव |
| २० " | ४५ " | श्री मुनीम मूया लादुरामजी कामवार, वर |
| २१. " | ४६ " | श्री पुष्कराजजी बोहरा, राणीवाव |
| २२. " | ४७ " | श्री मानमनजा चावडिया पिचिवाक, |
| २३. " | ४८ " | श्री रामलालजी कोठारी, कुरडाया |
| २४. " | ४९ " | श्री रघुचन्दजी लुणावन, पीपाड सीटी |
| २५. " | ५० " | श्री बन्नीमलजी सूया, पावी |
| ५१. " | | श्री भवराजजी राका एडकोट, व्यावर |

ग्रन्थ-प्राप्ति के स्थान

(१) श्री मरुधरकेसरी-अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति

श्री हिरालालजी भीकमचन्द

मुमेर नाकॅट, जोवपुर (राज०)

फोन न० ५८०

•

(२) श्री मरुधरकेसरी-अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति

श्री पुखराज सीसोदिया

लोहिया बाजार, व्यावर (राज०)

फोन न० ३१७

•

(३) श्री मरुधरकेसरी-अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति

श्री तेजमलजी पारसमलजी घोका

मोजत मोटी (राजस्थान)

